अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

विषय-सूची

अध्याय | पृष्ठ

भाग 1

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति : सैद्धान्तिक पक्ष
(INTERNATIONAL POLITICS : THEORETICAL ASPECT)

प्रथम खण्ड

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि
(INTERNATIONAL POLITICS : THEORETICAL FRAMEWORK)

भाग 2 U.C.L. J.U.L.

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति : व्यावहारिक पक्ष
(INTERNATIONAL POLITICS : APPLIED ASPECT)

भाग 1

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति : सैद्धान्तिक पक्ष

[INTERNATIONAL POLITICS : THEORETICAL ASPECT]

1

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति : विषय-प्रवेश

[INTERNATIONAL POLITICS : INTRODUCTION]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की जानकारी केवल प्रातःकालीन समाचार-पत्रों के अवलोकन मात्र से प्राप्त नहीं की जा सकती। वस्तुतः यह ज्ञान का एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें सुनियोजित चिन्तन की सबसे अधिक आवश्यकता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की मूल समस्या राष्ट्रों के आपसी व्यवहार तथा आचरण के बुनियादी सिद्धान्तों का पता लगाना है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विद्यार्थी यह मालूम करने का प्रयत्न करता है कि, राष्ट्र सहयोग क्यों करते हैं ? राष्ट्र युद्ध क्यों करते हैं ? राष्ट्र शक्तिशाली क्यों बनना चाहते हैं ? शान्ति के लक्ष्य की निरन्तर दुहाई देते हुए भी राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्था के आदेशों का पालन क्यों नहीं करते ? निःशस्त्रीकरण के सिद्धान्तों को विश्व-शान्ति के लिए अपरिहार्य मानते हुए भी राष्ट्र निरन्तर शस्त्रीकरण क्यों करते रहते हैं ? शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व में आस्था रखते हुए भी राष्ट्र अपनी विचारधारा का प्रसार क्यों करना चाहते हैं ? राष्ट्रों के विरोधाभासी राजनीतिक व्यवहार और इस प्रकार के आचरण को समझने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मूल तत्वों एवं सिद्धान्तों का विवेचन-विश्लेषण करना उपयोगी कार्य होगा।

द्वितीय विश्व-युद्ध के उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन एवं अन्वेषण में व्यापक प्रगति हुई है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अन्य ज्ञान शाखाओं में बिखरी हुई विषय-सामग्री के स्तर से एक स्वायत्त अथवा स्वतन्त्र ज्ञानशाखा के रूप में व्यवस्थित होकर थोड़े ही समय में वैज्ञानिक अध्ययन की ओर अग्रसर होना सिद्धान्तीकरण एवं सिद्धान्त निर्माण (Theory building) के क्षेत्र में निश्चय ही महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विज्ञान तथा अध्ययन के रूप में इसकी प्रगति यात्रा का उल्लेख करना निश्चित ही एक ज्ञानवर्द्धक है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का महत्व
(SIGNIFICANCE OF THE STUDY OF INTERNATIONAL POLITICS)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की मूल समस्या राज्यों के आपसी सम्बन्धों के मूल कारणों का विश्लेषण करते हुए एक स्थायी रचनात्मक विश्वव्यापी शान्ति की परिस्थितियों का निर्माण करना है, जि[illegible] सभी राष्ट्र सह-अस्तित्व के आधार पर अपना विकास कर सकें। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का महत्व इस प्रकार दर्शाया जा सकता है :

1. **अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान खोजना**—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का विश्लेषण करके उनका युक्तियुक्त समाधान खोजना है।

2. **विश्व राजनीति के आधारभूत तत्वों से परिचित होना**—विश्व राजनीति के अ स्वरूप को समझने के लिए इसके आधारभूत तत्वों से परिचित होना आवश्यक है। आधु विश्व राजनीति के निर्णायक तत्वों में निःशस्त्रीकरण, साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आदि प्रमुख हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन से ही विश्व राजनी निर्णायक तत्वों का हमें ज्ञान होता है।

3. **विश्व-शान्ति का आधार तैयार करना**—विश्व-शान्ति आज के युग की अप्र आवश्यकता है और प्रो. चार्ल्स मार्टिन के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन की समस्या दो विरोधी स्थितियों—विश्व-शान्ति तथा युद्ध का एक साथ अध्ययन करना होता युद्ध के कारणों की खोज करने के बाद विश्व-शान्ति स्थापित करने वाले तत्वों को यह f प्राथमिकता से प्रस्तुत करता है।

4. **विश्व सरकार की पृष्ठभूमि तैयार करना**—प्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसेल अनुसार विश्व सरकार के द्वारा ही विश्व-शान्ति की स्थापना की जा सकती है। जब तक राष्ट उग्र राष्ट्रीयता एवं सम्प्रभुता की भावना विद्यमान रहेगी, विश्व सरकार एक सपना ही बना रं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विश्व सरकार की अवधारणा का अध्ययन कराने वाला विषय है। माध्यम से विभिन्न राज्यों में विश्व सरकार के पक्ष में वातावरण तैयार किया जाता है।

5. **विदेश नीतियों का अध्ययन कराना**—फैलिक्स ग्रॉस का मत है कि अन्तर्रा राजनीति का अध्ययन वास्तव में विदेशी नीतियों के अध्ययन के अतिरिक्त कुछ नहीं है। र्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन निश्चय ही विदेश नीति के अध्ययन से जुड़ा हुआ है। अन्तर राजनीति एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से विभिन्न राष्ट्र अपने-अपने हितों की रक्षा का प्रयत्न करते हैं। क्योंकि यह प्रक्रिया प्रकट रूप में राज्यों की विदेश नीति के माध्यम काम करती है, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन से विदेश नीति के अध्ययन की काफी हद तक पूरी हो जाती है।

6. **शक्ति संघर्ष की राजनीति का अध्ययन**—हान्स जे. मॉर्गेन्थाऊ के अनुसार, 'अन्तर राजनीति सभी राजनीतिक उद्देश्यों की भाँति शक्ति के लिए-संघर्ष है।' आधुनिक प्रवृत्ति अन्त व्यवहार को शक्ति के आधार पर समझने की है। कई विद्वान यह मानते हैं कि प्रत्येक रा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में सम्पन्न किया गया प्रत्येक कार्य प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से शक्ति करने, प्राप्त शक्ति की वृद्धि करने, उसका प्रदर्शन करने आदि से सम्बन्ध रखता है। अ राजनीति विषय शक्ति की गूढ़ता को हृदयंगम करता है और शक्ति के परिप्रेक्ष्य में ही अ समस्याओं के मर्म को समझने का प्रयत्न करता है।

प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन पूर्णतया काल्पनिक आद आधारित था और इसका दायरा युद्ध और युद्ध की समाप्ति से सम्बन्धित था। पिछ युद्धों की पृष्ठभूमि में इसके अध्ययन में 'यथार्थवादी परम्परा' का विकास हुआ और स अध्ययन 'शक्ति' और 'सत्ता-राजनीति' के परिप्रेक्ष्य में किया जाने लगा।

इस विषय के कतिपय आलोचकों का मानना है कि यह विषय विज्ञान के नि कारण सिद्धान्तों पर आधारित न होकर मानवीय संवेगों, व्यक्तित्व के भिन्न रूपों, अभिप्रेरणाओं जैसे अमूर्त तथा परिवर्तनशील तत्वों पर आधारित है। अन्तर्राष्ट्रीय रा सार्थक विश्लेषण भी न तो युद्ध को रोक पाया है और न भविष्य में घटने वाली घ पूर्व निचोड़ प्रस्तुत कर पाया है। ऐसी स्थिति में 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' विषय के क्या महत्व हो सकता है?

संक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन हमारे लिए उपयोगी है क्यं

ता है कि निश्चित परिस्थितियों में व्यक्ति और राष्ट्र किस प्रकार का आचरण करते हैं और ज्ञान के आधार पर हम यह जान सकते हैं कि वांछित अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की स्थापना के किन परिस्थितियों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए और किन को नहीं। (1/2)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति : परिभाषाएँ एवं प्रकृति
(INTERNATIONAL POLITICS : DEFINITIONS AND NATURE)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक विकासोन्मुख विषय है और इसलिए इसके अर्थ को लेकर नों में गहरा मतभेद है। **'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति'** का अर्थ समझने के लिए **'राजनीति'** शब्द विवेचना करना आवश्यक प्रतीत होता है।

राजनीति (Politics)—प्लेटो और अरस्तू के जमाने से अब तक विभिन्न प्रकार से नीति की व्याख्या की गयी है। राजनीति की उत्पत्ति वस्तुतः इस तथ्य में से होती है कि क मनुष्य की कुछ **आवश्यकताएँ** हैं और जिन्हें पूरा करना उसके लिए बहुत आवश्यक है। मनुष्य इन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रयास करता है तो स्वाभाविक रूप से उसे व्यक्तियों के सम्पर्क में आना पड़ता है। इस सम्पर्क के परिणामस्वरूप **समुदायों** (Groups) रचना होती है। विभिन्न समुदायों (Groups) की आवश्यकताएँ और इच्छाएँ एक-सी नहीं , प्रायः एक समुदाय की आवश्यकता का हमें दूसरे समुदाय की आवश्यकता से टकराव दिखायी ा है। अतएव राजनीति का प्रथम स्रोत है, **'समूहों का अस्तित्व'** और दूसरा **'उन समूहों की सी प्रतिस्पर्द्धा'**। राजनीति की परिभाषा करते हुए **क्विन्सी राइट** ने लिखा है—"राजनीति ऐसी कला है जिसके द्वारा प्रत्येक समूह दूसरे समूहों पर किसी न किसी तरह नियन्त्रण रखकर े हितों को निरन्तर आगे बढ़ाने का प्रयास करता रहता है।"[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राजनीति की तीन अनिवार्यताएँ हैं—**प्रथम,** समुदायों का तत्व, (The existence of groups) **द्वितीय,** समुदायों के बीच मतभेद (Disagreement ween groups) तथा **तृतीय,** कुछ समुदायों द्वारा अन्य समुदायों के कार्यों को नियन्त्रित वा प्रभावित करने का प्रयत्न (Efforts of some to influence or control the actions others) इन तीनों में दूसरी अनिवार्यता का विशेष महत्व है। यदि मतभेद या विवाद नहीं है तो राजनीति नहीं हो सकती। बर्ट्रेण्ड ज्युविनल ने विवाद को ही राजनीति की जड़ माना है।[2] द ही राजनीति का आधार है। विवाद के कारण झगड़े पैदा होते हैं और झगड़ों के कारण द बना रहता है। वस्तुतः मतभेद या विवाद के कारण ही राजनीति चलती है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मतभेद इतने अधिक नहीं होने चाहिए जिससे कि सहयोग की वनाएँ ही समाप्त हो जायें। राजनीति न तो पूर्ण मतभेद की स्थिति में चल सकती है न पूर्ण सहमति की स्थिति में। शैल्डन वोलिन के शब्दों में, "राजनीति एक ऐसी प्रक्रिया है हम परिस्थितियों के अनुसार दूसरों के साथ ऐसे सम्बन्ध स्थापित करने का निरन्तर प्रयत्न रहते हैं जिनसे अपने लक्ष्य की अधिक से अधिक पूर्ति हो सके।"[3]

जब कोई समुदाय किसी दूसरे समुदाय के कार्यों को नियन्त्रित अथवा प्रभावित करने का करता है तो उसका लक्ष्य वास्तव में उस समुदाय के साथ अपने सम्बन्धों को इस प्रकार करना होता है जिससे वह उसका पक्षधर हो जाये। दूसरों के कार्यों को नियन्त्रित करने

Quincy wright would define Politics as "The art of influencing, manipulating or controing major groups as to advance the purposes of some against the opposition of others." -Quincy Wright, *The Study of International Relations* (New York, 1955), p. 130.

ertrand de Jouvenel, *The Pure Theory of Politics* (Cambridge, 1963), pp. 187-92.

heldon S. Volin, *Politics and Vision : Continuity and Innovation in Western Political* *ought* (London. 1960), p. 11.

की क्षमता को 'शक्ति' कहा जाता है और शक्ति राजनीति का अनिवार्य तत्व है। शक्ति की अनुपस्थिति में राजनीति की कल्पना नहीं की जा सकती। **शक्ति प्राप्ति के लिए किया गया संघर्ष ही राजनीति का मूल है।** राजनीति उस प्रक्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जिसके द्वारा शक्ति को उपार्जित किया जाता है, उसे कायम रखा जाता है, उसे प्रयोग में लाया जाता है तथा उसे विकसित किया जाता है। मूल रूप से राजनीति विभिन्न समूहों के हितों के पारस्परिक विरोध से जन्म लेती है। परन्तु व्यवहार रूप में राजनीति शक्ति लोलुपता के कारण पनपती है। इसलिए कभी-कभी राजनीति को **शक्ति का संघर्ष** (Struggle for Power) कहा जाता है।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति (International Politics)

'राजनीति' शब्द का अर्थ स्पष्ट करने के बाद 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' का विवेचन एवं परिभाषा करना आवश्यक है। मोटे रूप से हम राष्ट्रों के मध्य पायी जाने वाली राजनीति को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की संज्ञा प्रदान करते हैं।[2] दूसरे शब्दों में, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विभिन्न राष्ट्र अपने हित साधन के लिए आपसी सम्बन्धों में संघर्ष की जिस स्थिति में रहते हैं उसी का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विषय-वस्तु है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रसंग में 'राष्ट्र' समुदाय (Groups) हैं, उनकी आवश्यकताएँ और इच्छाएँ 'राष्ट्रीय हित' (National Interets) हैं और राष्ट्रों या हितों के बीच असहमति ही 'संघर्ष' (Conflict) है।[3] लेकिन शक्ति का तत्व ज्यों का त्यों रहता है। अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी शक्ति की वही भूमिका होती है जो राजनीति में होती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के तीन महत्वपूर्ण तत्व हैं—**राष्ट्रीय हित, संघर्ष एवं शक्ति**। राष्ट्रीय हित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का लक्ष्य है, संघर्ष उसकी प्रकृति है तथा शक्ति उसका **साधन** है। (Thus three important things relevant to International Politics are *National interest, Conflict and Power.* The first is the objective the second is the condition and the third is the means of International politics.) परन्तु इन तीनों तत्वों में संघर्ष या विवाद ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। संघर्ष या विवाद के बिना राष्ट्रीय हित और शक्ति जैसे तत्व महत्वहीन हो जायेंगे। किन्तु इससे यह अभिप्राय नहीं है कि शक्ति संघर्ष या विवाद ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मुख्य हेतु है। जिन राष्ट्रों के हित परस्पर समान होते हैं उनमें सहयोग भी देखा जाता है और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में संघर्ष और सहयोग दोनों सन्निहित हैं। फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में संघर्ष या विवाद का महत्व ज्यादा है। इसका मूल कारण यह है कि सहयोग स्वयं विवाद से ही उत्पन्न होता है। समान उद्देश्य तथा समान हितों वाले राज्य मिलकर अपने हितों की सुरक्षा के लिए संगठन बनाते हैं और शत्रुओं से रक्षा के लिए सन्धियाँ करते है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सहयोग और संघर्ष की प्रक्रिया साथ-साथ चलती रहती है। सन्धियों के कारण राष्ट्रों में परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध विकसित होते हैं और संघर्ष शत्रुतापूर्ण सम्बन्धों और युद्धों को जन्म देता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमरीका ने इंगलैण्ड, फ्रांस, बेलजियम, कनाडा आदि देशों के साथ मिलकर लोकतन्त्र और सुरक्षा के लिए नाटो (NATO) का संगठन बनाया और इसका सोवियत संघ के साथ शीतयुद्ध आरम्भ हुआ। भारत और चीन के सम्बन्ध 1949 से 1959 तक बड़े मैत्रीपूर्ण रहे किन्तु इसके बाद इन सम्बन्धों में शिथिलता आने लगी। अक्टूबर 1962 में चीन द्वारा भारत पर

---

1 "All politics by its very nature is Power Politics.......In fact Politics is nothing else but a process in which power is ecquired, maintained, used and expended .....The study of politics in the study of this process."

2 "Politics in relationships between nations is international politics."

3 "In the case of international politics, groups are nations and their needs and wants are called interest or national interest and disagreement among groups or between interests is called conflict."

हमला होने के बाद दोनों देशों में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई। पिछले कुछ वर्षों से दोनों देशों में संघर्ष को टालने और सहयोग के पुख्ता आधारों की खोज के प्रयत्न शुरू हुए हैं। वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन वास्तव में विवाद के नियन्त्रण और सहयोग की स्थापना का अध्ययन है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से इस बात का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है कि दोनों राष्ट्रों में संघर्ष क्यों पैदा होता है और इसका समाधान किस प्रकार हो सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जहाँ एक ओर विवादों के उत्पन्न होने की प्रक्रिया चलती रहती है वहीं दूसरी ओर शक्ति के माध्यम से उनका समंजन करने की। यह प्रक्रिया ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को गतिशीलता प्रदान करती है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की परिभाषा को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद हैं। कतिपय प्रमुख लेखकों द्वारा व्यक्त परिभाषाएँ यहाँ प्रस्तुत की जा रही हैं।

स्प्राउट के अनुसार, "स्वतन्त्र राजनीतिक समुदायों अर्थात् राज्यों के अपने-अपने उद्देश्यों थवा हितों के आपसी विरोध-प्रतिरोध या संघर्ष से उत्पन्न उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं और म्बन्धों का अध्ययन ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति है।"[1]

चार्ल्स श्लाइचर के अनुसार, "राज्यों के सभी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शामिल किये जा सकते हैं, यद्यपि वे यह मानते हैं कि सभी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध राजनीतिक हीं होते।"[2]

जेम्स रोजनाऊ के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक अत्यन्त हत्वपूर्ण उपखण्ड है।"[3]

थाम्पसन के शब्दों में, "राष्ट्रों के बीच छिड़ी प्रतिस्पर्द्धा के साथ-साथ उनके पारस्परिक म्बन्धों को सुधारने या बिगाड़ने वाली परिस्थितियों और संस्थाओं के अध्ययन को अन्तर्राष्ट्रीय जनीति कहते हैं।"

नॉर्मन पेडलफोर्ड और जार्ज लिंकन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को शक्ति सम्बन्धों के परिवर्तित ते हुए ढाँचों के भीतर एक-दूसरे से टकराती हुई राजकीय नीतियों के रूप में देखते हैं।[4]

फेलिक्स ग्रॉस के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन वास्तव में विदेश नीतियों अध्ययन के अतिरिक्त कुछ नहीं है।" (The Study of International Politics is Indencal to the Study of Foreign Policy)[5]

रसल फिफील्ड का भी लगभग यही मत है। उनके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का मूल त है राष्ट्रों के हितों का परस्पर विरोधी होना। प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के आचरण पर धिक से अधिक नियन्त्रण रखकर राष्ट्रहित की रक्षा करने का प्रयत्न करता है। यह नियन्त्रण ही देश नीति का मुख्य उद्देश्य है। विदेश नीति के माध्यम से राष्ट्र हित साधा जाता है। अपनी देश नीति द्वारा राष्ट्र एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। प्रत्येक देश की विदेश नीति का दूसरे शों की विदेश नीति पर प्रभाव पड़ता है। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को विदेश नीतियों का रस्परिक सम्बन्ध भी माना गया है। किन्तु फ्रेड साण्डरमान जैसे विद्वान इस मत को स्वीकार हीं करते। उनके अनुसार विदेश नीति का ज्ञान महत्वपूर्ण भले ही हो पर इस ज्ञान की उपलब्धि

Harold Sprout and Margaret Sprout, *Man-Milien Relationship in the Context of International Politics* (Princeton, 1966), pp. 8-16.

Charles P. Schleicher, *Introduction to International Relations* (New York. 1961), p. 31.

James N. Rosenau, *International Politics and Foreign Policy* (New York, 1961), p. 6.

Norman J. Padleford and George A. Lincoln, *International Politics : Foundations of International Relations*, (New York, 1954), pp 4-6.

Feliks Gross, *Foreign Policy Analysis* (New York, 1954), pp. 2-24.

अत्यन्त कठिन है, क्योंकि किसी देश की विदेश नीति समझने के लिए उस देश के ऐतिहासिक अनुभवों और उसकी शासन प्रणाली की पेचीदगियों को समझना आवश्यक है। साथ ही उस देश के नीति निर्धारकों के चरित्र एवं व्यक्तित्व की जानकारी भी जरूरी है। कतिपय विचारकों ने तो यहाँ तक कहा है कि जिन व्यक्तियों का नीति निर्धारण में हाथ होता है उनके दृष्टिकोण और उन पर अवचेतन में काम कर रहे दबावों की जानकारी के बिना विदेशी नीति को नहीं समझा जा सकता। इस प्रकार विदेश नीति को समझने का प्रश्न अपने आप में काफी उलझा हुआ है और इसी के समान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और विदेश नीति के सम्बन्ध का प्रश्न भी। संक्षेप में हम यों कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन निश्चय ही विदेशनीति से जुड़ा हुआ है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और विदेश नीति को एक-दूसरे का पर्याय नहीं माना जा सकता। विदेश नीति का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का एक महत्वपूर्ण पक्ष है।

मार्गेन्थाऊ के मत में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राष्ट्रों के बीच निरन्तर होने वाले शक्ति संघर्ष के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

पामर और पर्किन्स ने लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन राज्य-प्रणाली के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है।[1]

राबर्ट स्ट्रॉस ह्यूप ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तर्गत नागरिकों के कार्यों एवं राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण गैर-सरकारी गुटों के निर्णयों को शामिल करने का समर्थन किया है।

संक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रत्येक विद्वान लेखक ने अपने दृष्टिकोण से परिभाषा करने का प्रयत्न किया है। इनमें से कई परिभाषाएँ एकपक्षीय प्रतीत होती हैं। इन परिभाषाओं में विचारधारा, राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के क्रिया-कलाप का उल्लेख तक नहीं पाया जाता।

यथार्थ में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति उस प्रक्रिया का नाम है जिससे विभिन्न राष्ट्र अपनी नीतियों और कार्यों के जरिये अपने उन राष्ट्रीय हितों की सिद्धि के लिए बराबर कोशिश करते रहते हैं जो दूसरे राष्ट्रों के राष्ट्रीय हितों से टकराते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और विदेश नीति
(INTERNATIONAL POLITICS AND FOREIGN POLICY)

हम इस संकलपना से शुरू करते है कि विदेश नीति का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है किन्तु फिर भी दोनों समानार्थक नहीं हैं। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को विदेश नीतियों का पारस्परिक सम्बन्ध कहना समीचीन नहीं जान पड़ता। यद्यपि इस संकलपना को कई विद्वानों ने चुनौती दी है। उदाहरणार्थ, फैलिक्स ग्रास का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन वास्तव में विदेश नीतियों के अध्ययम के अतिरिक्त कुछ नहीं है। रसल फिफील्ड का भी लगभग यही मत है। वे लिखते हैं यथार्थ में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राज्यों की विदेश गीति के वुनियादी तत्वों का अध्ययन है।[2] इस मत के समर्थकों का कहना है कि विभिन्न देशों की विदेश नीतियों को समझे बिना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझना असम्भव है।

इसके विपरीत, कई विद्वान यह मानते हैं कि विदेश नीति से सम्बन्धित अनेक तत्वों का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरणार्थ, किसी देश की विदेश नीति समझने के लिए उस देश के ऐतिहासिक अनुभव, शासन-व्यवस्था का स्वरूप, नीति-निर्धारकों का

---

1 Norman D Palmer and Howard C. Parkins, *International Relations* (New York, 1953), p. 35.

2 Russell H. Fifield. "The Introductory Course in International Relations." *American Political Science Review* (Madison), December 1948, p. 1190.

व्यक्तित्व एवं चरित्र, उनके दृष्टिकोण और उन पर अवचेतना में काम कर रहे दबावों की जानकारी आवश्यक है। किन्तु इन सब तत्वों का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में घनिष्ठ सरोकार नहीं होता।

फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और विदेश नीति के अध्येताओं को एक-दूसरे का विरोधी न मानकर एक-दूसरे का पूरक ही माना जाना चाहिए। विदेश नीति का ऐसा कोई अध्येता नहीं होगा जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का गम्भीर अध्ययन नहीं करता हो और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का ऐसा कोई विद्यार्थी नहीं होगा जो विदेश नीति के ज्ञान को अपने लिए व्यर्थ मानता हो। आज तो विदेश नीति के अध्ययन का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में अपना विशेष स्थान है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से विभिन्न राष्ट्र अपने-अपने हितों की रक्षा करने का प्रयत्न करते हैं तो यथार्थ में यह प्रक्रिया राज्यों की विदेश नीति के माध्यम से ही क्रियाशील होती है।

संक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक विशाल विषय है और विषय-क्षेत्र की दृष्टि से विदेश नीति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अधीन है। हेराल्ड स्प्राउट ने विदेश नीति को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक उपश्रेणी (sub-discipline) माना है।

राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति
(NATIONAL AND INTERNATIONAL POLITICS)

हान्स जे. मॉर्गेन्थाऊ के अनुसार राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक ही सिक्के के दो भिन्न पहलू हैं और वह सिक्का है **शक्ति के लिए संघर्ष**। हर तरह की राजनीति—चाहे वह राष्ट्रीय राजनीति हो अथवा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति—की तीन मुख्य नीतियाँ उसके आधार होते हैं—वह या तो शक्ति बनाये रखना चाहती है, या शक्ति में वृद्धि करना चाहती है अथवा शक्ति का प्रदर्शन करना चाहती है। वस्तुतः राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सारतत्व यह है कि कतिपय उद्देश्यों की सिद्धि के लिए मुख्य समूहों पर अन्य समूहों के मुकाबले में अपना नियन्त्रण रखा जाये।

राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अन्तर इनके ध्येयों और इसमें भाग लेने वाली इकाइयों की दृष्टि से है। दोनों में प्रमुख अन्तर अधोलिखित हैं :

(1) राष्ट्रीय राजनीति की इकाइयाँ 'राजनीतिक दल' होते हैं जबकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की इकाइयाँ 'राज्य' होते हैं।

(2) राष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय राजनीति का आधार है और अन्तर्राष्ट्रीय कानून अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का। सामान्य तौर से राष्ट्रीय कानून अन्तर्राष्ट्रीय कानून से अधिक व्यापक है और अधिक अच्छी तरह लागू किया जाता है।

प्रायः सभी लोकतन्त्रीय देशों में कानून के शासन (Rule of Law) को सर्वोपरि माना जाता है, किसी व्यक्ति को कानून अपने हाथ में लेने का, अन्य व्यक्तियों या दलों के साथ हिंसापूर्ण या कपटपूर्ण व्यवहार या भ्रष्टाचार की कार्यवाही करने का अधिकार नहीं होता है। प्रत्येक देश ऐसे कार्यों को कानून द्वारा दण्डनीय अपराध बनाकर रोकता है। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में सब राज्यों द्वारा अनिवार्य रूप से माने जाने वाले कानूनों तथा इनका पालन कराने वाली राज्य जैसी संस्था का अभाव है। अतः विभिन्न राज्य यदि राष्ट्रीय स्तर पर वर्जित हिंसा, धोखाधड़ी आदि के अनैतिक उपायों का अवलम्बन करते हैं तो उन्हें रोकने या दण्ड देने वाली कोई अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति नहीं है।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में निषिद्ध विधियों की संख्या राष्ट्रीय राजनीति में निषिद्ध विधियों के मुकाबले बहुत कम है। उदाहरण के लिए हिंसा, चोरी और धोखाधड़ी पर राष्ट्रीय

राजनीति के क्षेत्र में कानूनी प्रतिवन्ध लगा रहता है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कम-से-कम सैद्धान्तिक रूप में युद्ध की अनुमति हमेशा रहती है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए युद्ध के उपायों का अवलम्बन करते हैं और यह समझा जाता है कि युद्ध में किये गये सभी कार्य उचित होते हैं, क्योंकि इस समय राष्ट्र अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए संघर्ष करते हैं और अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए सैनिक आवश्यकता (military necessity) के नाम पर किसी भी उपाय का प्रयोग न्यायपूर्ण माना जाता है।

(4) राज्यों के आन्तरिक क्षेत्र में शक्तिशाली सरकार का अस्तित्व होता है परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उनके वीच के सम्बन्धों को व्यवस्थित करने के लिए कोई कारगर सत्ता नहीं होती।

(5) राष्ट्रीय कानून का निर्माण करने वाली संस्थाएँ अधिक स्पष्ट होती हैं, जैसे भारत व इंगलैण्ड में संसद। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का संचालन करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण करने वाली स्पष्ट संस्थाओं का अभी तक अभाव है।

(6) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के समूहों अर्थात् प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों को अन्य राज्यों से सदैव खतरा वना रहता है। इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सब ध्येयों से बड़ा ध्येय प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों के अस्तित्व की रक्षा करना है। जवकि राष्ट्रीय राजनीति में किसी प्रभुत्वसम्पन्न राज्य के अस्तित्व को प्रत्यक्ष रूप से कोई खतरा नहीं होता। ज्यादा से ज्यादा किसी राजनीतिक दल को चुनावों में परास्त हो जाने से सत्ता से पदच्युत होने का खतरा हो सकता है।

(7) यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न दलों में शक्ति पाने के लिए होड़ और संघर्ष चलता रहता है किन्तु दोनों के स्वरूप में वड़ा अन्तर होता है। राष्ट्रीय स्तर पर यह संघर्ष प्राय: शान्तिपूर्ण होता है किन्तु कई वार लगभग समान शक्ति रखने वाले दो दलों में यह सशस्त्र सैनिक संघर्ष का रूप धारण कर लेता है। उस समय इसे गृहयुद्ध (Civil war) कहा जाता है। किन्तु विभिन्न राष्ट्रों में जव एक-दूसरे पर आधिपत्य पाने के लिए अथवा अपने विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए जो संघर्ष होता है तो वह युद्ध का रूप धारण कर लेता है, जैसे पोलैण्ड की प्राप्ति के लिए हिटलर द्वारा 1939 में छेड़ा गया विश्वयुद्ध अथवा कश्मीर की प्राप्ति के लिए पाकिस्तान द्वारा भारत के विरुद्ध छेड़ा गया 1965 का भारत-पाक युद्ध।

यहाँ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तर को वहुत अधिक वढ़ा-चढ़ाकर देखना ठीक नहीं है। व्यवहार में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। प्राय: देखा गया है कि विभिन्न देशों के गृहयुद्धों में महाशक्तियाँ हस्तक्षेप करती रहती हैं और उनकी आन्तरिक राजनीति का मसला अन्तर्राष्ट्रीय समस्या वन जाता है। उदाहरणार्थ, श्रीलंका में तमिलों की हत्या, दक्षिणी अफ्रीका में नामीविया की स्वाधीनता व रंगभेद का मसला, कम्पूचिया का मसला आदि अन्तर्राष्ट्रीय रुचि के मसले बन गये हैं। किसी देश का आन्तरिक संघर्ष कभी-कभी उसी प्रकार गृहयुद्ध के रूप में फूट पड़ता हैं जिस प्रकार उनका पारस्परिक शक्ति संघर्ष कभी-कभी अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध के रूप में फूट पड़ता है। गृह युद्ध का सम्वन्ध राष्ट्रीय राजनीति से है और अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध का सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और उसके विभेद
(INTERNATIONAL POLITICS AND OTHER TERMS)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विपय को व्यक्त करने के लिए **'विश्व राजनीति'**, **'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध'**, **'अन्तर्राष्ट्रीय मामले'**, आदि विभिन्न शब्दावलियों का प्रयोग किया जाता है। गहराई से देखने पर ये सभी शब्दावलियाँ हमारे प्रतिपाद्य विपय के मूल तत्व को प्रकट करने में असमर्थ हैं

और 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' नाम ही अधिक उपयुक्त एवं ठोस प्रतीत होता है। यहाँ हम संक्षेप में विभिन्न शब्दों के अर्थों पर विचार करेंगे।

विश्व राजनीति (World Politics)

स्पाइरों जैसे लेखकों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को 'विश्व राजनीति' कहकर पुकारा है। विश्व राजनीति का अर्थ 'विश्व' शब्द के समावेश से कुछ ऐसा बनता है जैसे 'राष्ट्र' को लेकर राष्ट्रीय राजनीति। चाहे किसी भी अर्थ से देखें विश्व राजनीति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति नहीं है। यथार्थ में विश्व राज्य के अभ्युदय के बाद ही विश्व राजनीति की कल्पना की जा सकती है। जैसे राष्ट्र-राज्य के निर्माण के बाद राष्ट्रीय राजनीति का चलन हुआ वैसे ही विश्व राज्य कायम होने के बाद विश्व राजनीति का अभ्युदय होगा। विश्व राज्य कायम होने के बाद राज्यों के बीच आपसी राजनीति विश्व संस्थाओं में चलेगी। आज विश्व राज्य के मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट राज्य सम्प्रभुता है। संयुक्त राष्ट्र संघ और उसके विभिन्न अंग विश्व के निर्माण की दिशा में सहयोगी संस्थाएँ हैं। जब तक विश्व राज्य का सपना साकार नहीं होता तब तक हमारे अध्ययन विषय को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कहना ही समीचीन प्रतीत होता है। डॉ. महेन्द्रकुमार के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति वर्तमान काल की घटना है और विश्व राजनीति भविष्य की।"

विश्व के मामले (World Affairs)

कतिपय विद्वान हमारे विषय को 'विश्व के मामले' कहकर भी पुकारते हैं। वे इस ऊपरी जानकारी के आधार पर हमारे विषय को 'विश्व के मामले' कहते हैं क्योंकि इनमें विश्व में घटित होने वाली घटनाओं का अध्ययन किया जाता है। विश्व में अनेक प्रकार की घटनाएँ घटित होती हैं और सभी घटनाएँ आवश्यक नहीं कि 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' (International Politics) से ही सम्बन्धित हों। 'विश्व के मामलों' के अर्थ में विश्व की हर बात या घटना आ जाती है, चाहे वह राजनीतिक हो, आर्थिक हो, सांस्कृतिक हो अथवा मनोरंजक हो। यदि विश्व की किसी महिला ने चार पैर वाले और चार आँख वाले बालक को जन्म दिया हो तो वह 'विश्व का एक प्रमुख विस्मयकारी मामला' है। जबकि ऐसी घटनाओं का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से कोई सरोकार नहीं होता। फिर भी इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि वर्तमान काल की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने के लिए विश्व के अधिक से अधिक मामलों का ज्ञान आवश्यक है। विश्व के मामलों से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विषय-वस्तु समझने के लिए कभी-कभी उपयोगी आधार-सामग्री प्राप्त हो जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय मामले (International Affairs)

'अन्तर्राष्ट्रीय मामले' शब्द 'विश्व के मामले' का समानार्थक लगता है। 'विश्व के मामले' शब्द की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय मामले शब्द का प्रयोग विश्व में या अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर होने वाले विविध दिलचस्पी वाले सारे मामलों का अर्थ व्यक्त करन के लिए किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध (International Relations)

'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' एक व्यापक शब्दावली है। राज्यों के आपसी सम्बन्धों का विवेचन ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के अन्तर्गत राष्ट्रों के आर्थिक, व्यापारिक सांस्कृतिक, शैक्षणिक, कानूनी, राजनीतिक, खोज एवं अन्वेषण सम्बन्धी और इसी प्रकार के सभी सम्बन्ध आ जाते हैं। इन शब्दों से वास्तव में विविध राष्ट्रों के सम्पर्क, सहयोग, क्रिया, प्रतिक्रिया का बोध होता है अर्थात् 'सम्बन्धों के जाल' का अर्थ निकलता है। जिमर्न ने लिखा है, "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विद्यार्थी को मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनयिक इतिहास, विधि, विधिशास्त्र, समाजशास्त्र, भूगोल, विविध भाषाएँ, संवैधानिक इतिहास आदि का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। साथ ही भौतिक विज्ञानों का भी उसे ज्ञान होना चाहिए। क्विंसी राइट ने एक स्थान पर

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र को स्पष्ट करते हुए एक चार्ट प्रस्तुत किया है, जिसमें 23 विभिन्न विषयों का प्राक्कलन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में किया गया है। इस चार्ट के चारों कोनों पर तकनीकी सहायता, अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार, युद्ध संचालन का कौशल तथा परराष्ट्र सम्बन्धों का नियन्त्रण करने के तत्व हैं। संक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सामाजिक सम्बन्धों का विवेचन है परन्तु मूलतः वह अन्तर्राष्ट्रीय समाज के राजनीतिक तथा कूटनीतिक सम्बन्धों को ही व्यक्त करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति
(INTERNATIONAL RELATIONS AND INTERNATIONAL POLITICS)

'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' शब्दावली में एक व्यापकता है और 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' शब्दावली से एक विशेष प्रकार के सम्बन्धों का बोध होता है। 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' शब्द इतना अधिक व्यापक है कि उसमें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विषय-वस्तु भी समाविष्ट हो जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध शब्द राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों के सब पहलुओं का वर्णन करता है, चाहे वे राजनीतिक हों या गैर-राजनीतिक, शान्तिमय हों या युद्धमय, आर्थिक हों या भौगोलिक, सरकारी हों या गैर-सरकारी, जबकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शब्द राष्ट्रों के केवल राजनीतिक सम्बन्धों का ही निरूपण करता है। दूसरे शब्दों में, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के राजनीतिक पहलू को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कहा जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की व्यापकता के कारण उसके अन्तर्गत वे सम्बन्ध भी आते हैं जो राजनीतिक नहीं हैं।

'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' शब्द अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सभी सदस्य राज्यों के मध्य सभी प्रकार के सम्बन्धों का परिचय करवाता है। राज्यों के राजनीतिक सम्बन्धों के साथ-साथ अन्य प्रकार के सम्बन्धों जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ट्रेड यूनियनों, अन्तर्राष्ट्रीय रेडक्रास, ट्यूरिज्म, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, आवागमन, संचार तथा अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता आदि भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अन्तर्गत आते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्येता सभी प्रकार के ऐसे सम्बन्धों से अधिक सरोकार नहीं रखता बशर्ते कि उनका राजनीतिक महत्व न हो। अन्तर्राष्ट्रीय आइस-हाकी टूर्नामेण्ट अथवा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विज्ञान परिषद् की विश्व कांग्रेस जैसी घटनाओं का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्यार्थी के लिए उस समय तक कोई महत्व नहीं होता जब तक कि वे अन्तर्राज्यीय सरकारी राजनीतिक सम्बन्धों पर तात्कालिक कोई प्रभाव नहीं डालते हों। 'पिंग-पोंग कूटनीति' खेल का राजनीतिक महत्व था क्योंकि यह चीन और अमेरिका के मध्य राजनयिक सूत्र स्थापित करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण था। जबकि आस्ट्रेलिया और भारत के बीच होने वाले किसी भी क्रिकेट मैच का क्या राजनीतिक महत्व हो सकता है? अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का विद्यार्थी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सभी पहलुओं में रुचि ले सकता है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विद्यार्थी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में तभी रुचि लेगा जबकि उसमें राजनीतिक उद्देश्यों के लिए आर्थिक धमकियाँ, पुरस्कार तथा दण्ड जैसे राजनीतिक तत्व शामिल हों।[1]

---

1 "As distinct from International Politics and Foreign Policy, the term international relations may refer to all forms of interaction between the members of separate societies whether government sponsored or not. International relations would include the analysis of foreign policies or political processes between nations, but with it interest in all facts of relations between distinct societies, it would include as well studies of international trade unions, the International Red Cross, tourism, international trade, transportation and the development of international values and ethics. The student of international politics is not concerned with these types of relationships, except where they impingn upon official government objectives, or where they are employed by governments as instruments of inducement to achieve military of political objectives."
—K. J. Holsti, *International Politics* (New Jersey, 1977), p. 22.

को स्वायत्त विषय मानने के प्रश्न पर तीन पृथक्-पृथक् विचार हैं। पहला विचार उन विद्वानों का है जो यह कहते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक अनुशासन है जिसका अपना अलग ज्ञानक्षेत्र है और पृथक् अध्ययन प्रणाली भी। इसकी विषय-वस्तु में अनेक विषयों से ली गयी ज्ञान सामग्री आती है—जैसे, इतिहास, अर्थशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान, विधिशास्त्र, अन्तर्राष्ट्रीय विधि, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन आदि। दूसरा विचार उन विद्वानों का है जो यह मानते है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन क्षेत्र में ऐसी कोई विलक्षण चीज नहीं है कि इसे अध्ययन का स्वायत्त विषय माना जाये। इन दो विचारों के अतिरिक्त एक तीसरा विचार भी है जो इस प्रश्न पर किसी तरह की बहस में पड़ना ही बिलकुल निरर्थक और अनावश्यक समझता है। पामर और पर्किन्स जैसे विद्वान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वायत्त विषय मानते हैं और उनका तर्क है कि इस विषय के अध्ययन हेतु विशिष्ट पद्धति, विशिष्ट सिद्धान्तों तथा एक विशिष्ट प्रकार के ज्ञान का प्रयोग किया जाता है। इसके विपरीत, सोवियत विद्वान इसे इतिहास का ही अंश मानते हैं।

1919 में वेल्स विश्वविद्यालय में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की पहली गद्दी (Chair) को सुशोभित करने वाले इतिहास के सुप्रसिद्ध विद्वान अल्फ्रेड जिमर ने यह कहा था कि 'शैक्षणिक दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति स्पष्ट रूप से एक पृथक विषय नहीं है। इसकी कोई एक निश्चित पाठ्य सामग्री भी नहीं है। यह एक विषय न होकर कई विषयों का समूह है। यह समूह जिन विषयों से बना है, वे हैं—कानून, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, भूगोल तथा इसी प्रकार के अन्य विषय, किन्तु इनका पूर्ण रूप से निर्धारण करना सम्भव नहीं है।"

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का ज्ञान की एक स्वायत्त शाखा के रूप में अध्ययन करने के लिए सर्वप्रथम सन् 1919 में अलग से आचार्य के पद की स्थापना वेल्स विश्वविद्यालय में की गयी थी और इस पद पर क्रमशः एल्फ्रेड जिमर्न तथा चार्ल्स वेबस्टर नियुक्त हुए। वे दोनों ही उस समय के ख्याति-प्राप्त इतिहासकार थे। इस प्रकार उस समय से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वतन्त्र विषय के रूप में अध्ययन करने की रुचि उत्पन्न हो गयी थी किन्तु इससे उस प्रवृत्ति की ओर भी संकेत मिलता है जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को राजनयिक इतिहास के पर्याय के रूप में ही देखना चाहती थी। राजनयिक इतिहास अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अंग अवश्य है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्येता की बौद्धिक रुचि इतिहासकार की रुचि से भिन्न होती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्येता की रुचि केवल अतीत में न होकर वर्तमान और भविष्य के अध्ययन में भी होती है। कालान्तर में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के जानकारों ने समसामयिक घटनाओं के अध्ययन पर जोर दिया और सामयिक उतार-चढ़ावों के तात्कालिक महत्व की व्याख्या से अपने आपको जोड़ा। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य के कालांश में अन्तर्राष्ट्रीय कानून और संगठन द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को संस्थागत बनाने पर जोर दिया गया। द्वितीय महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सैद्धान्तीकरण की खोज करने की एक निश्चित प्रक्रिया का प्रारम्भ हुआ।

यह एक तथ्य है कि द्वितीय विश्वयुद्ध तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन एक पृथक अथवा स्वायत्त ज्ञान शाखा के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हो सका था। एक ज्ञान शाखा के लिए आवश्यक है कि उसकी समुचित एवं निश्चित विषय सामग्री हो जो अन्य ज्ञान शाखाओं की परिधि से पृथक हो, व्यवस्थित, तथ्य संग्रह से युक्त तथा स्पष्ट अवधारणात्मक संरचना हो तथा उसके स्वयं के वैज्ञानिक सिद्धान्त हों जिनका व्यावहारिक महत्व हो। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विषय सामग्री इतिहास, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं व संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय विधि आदि में वितरित थी। इस अध्ययन के समर्थकों के समक्ष प्रमुख समस्या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से सम्बन्धित बिखरी हुई विषय सामग्री को एक पृथक स्थान पर एकत्रित एवं एकीकृत कर उसे व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने की थी। परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की समीक्षा से यह ज्ञात होता है कि (i)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति जैसा कोई स्वायत्त विषय सन् 1945 तक नहीं उभर पाया; (ii) एक पृथक विषय के रूप में इसका अस्तित्व अभी भी सन्देहास्पद है चूंकि इसका सार विशिष्ट, संक्षिप्त और तार्किक, सैद्धान्तिक दृष्टि स्पष्ट करना कठिन है तथा (iii) राजनीतिक चिन्तन, अन्तर्राष्ट्रीय विधि और संगठन, कूटनीतिक इतिहास आदि इसके प्रधान निर्माणक विषय हैं। (iv) 1945 से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विषय के लेखकों में सिद्धान्त निर्माण के सम्बन्ध में अरुचि पायी जाती थी।[1]

इन्हीं कारणों से सन् 1945 तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विषय स्वायत्त विषय का स्वरूप धारण नहीं कर सका। किसी भी विषय के अपने स्वायत्त अस्तित्व के लिए कतिपय अर्हताएँ आवश्यक मानी जाती हैं; जैसे **प्रथम**, समुचित एवं निश्चित विषय-सामग्री का होना; द्वितीय, विषय सामग्री का व्यवस्थित होना; तृतीय, स्वयं के वैज्ञानिक सिद्धान्तों का होना आदि आदि। अपनी शैशवावस्था में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विषय-वस्तु एकदम निश्चित नहीं थी। इतिहास, अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की परिधि में बिखरी हुई थी। इस बिखरे हुए व्यवस्थित माहौल में मूल समस्या यह थी कि निश्चित वैज्ञानिक सिद्धान्त के अभाव में सामग्री का एकीकरण किस भाँति किया जाये ?

फिर भी यह माना जाता है कि अमरीकन लेखकों, विचारकों और विद्वानों ने प्रथम विश्व-युद्ध के बाद से ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विषय के अध्ययन से वैज्ञानिक झुकाव का परिचय दे दिया था। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर प्रमुख विद्वानों द्वारा पृथक रूप से कुछ ग्रन्थ लिखे गये, इनमें पॉल, राइन्श, बर्न्स, जेम्स, ब्राइस, हर्बर्ट गिब्बन्स, रेमॉण्ड बुल, पार्कर मून, शूमां, एल्फ्रेड जिमर्न, ई० एच० कार० आदि प्रमुख थे। इनके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विषय-सामग्री को व्यवस्थित करने तथा अध्ययन क्षेत्र को निश्चित करने के भी प्रयत्न हुए। इस सम्बन्ध में पार्कर मून तथा एल्फ्रेड जिमर्न के नाम उल्लेखनीय हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विदेश नीति के विषय में सन्दर्भ ग्रन्थ सूची का भी संकलन किया गया। इस युग में सम्भवत: फ्रेंक रसेल ही ऐसे विद्वान थे जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सिद्धान्त के विषय में एक अध्ययन प्रस्तुत किया। इन ग्रन्थों के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि इनसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वायत्त ज्ञान शाखा के रूप में स्थापित होने में समर्थन मिला। फिर भी यह एक तथ्य है कि 1945 तक अन्तर्राष्ट्रीय-राजनीति विषय को वह दर्जा नहीं मिल पाया जो कि 'इतिहास'; अर्थशास्त्र' और 'राजनीति शास्त्र' आदि विषयों को मिल चुका था। नील और हेमलेट के अभिमत में "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन की खोज अमरीकन मस्तिष्क की उपज है·······प्रथम विश्वयुद्ध के बाद से ही अमेरिकन बुद्धिजीवी समाज ने दुनिया की खोज कर ली थी।"[2]

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वायत्त ज्ञान शाखा के रूप में अपना अस्तित्व कायम करने में काफी सुविधा हुई। युद्धोपरान्त दशक में अनेक पुस्तकें और

---

1 "A review of classical study of international relations and the development of its more formal study suggests : 1. That international relations did not exist as a separate academic field of inquiry until after World War II, 2. Its status as an independent academic 'Discipline' is still in doubt because its substance cannot be defined precisely-distinctly or narrowly delimited, 3. The study of Political Thought, international law, and organizations and diplomatic history constitute the essence of the traditional approach, and 4. It is totally uninterested in the formulation of theory, an essential characteristics of any scientific paradigm."—Richard Smith Bell, Theory and Scientific Study of International Politics. K. P. Misra & Richard Smith Beal, ed. *International Relation Theory*, 1980, p. 35,

1 Neal and Hamlett have asserted, "......international relations is an American invention dating from the time after World War I when the American intellectual community discovered the world." —F. Neal and B. Hamlett, "The Never Never Land of International Relations.", *International Studies Quarterly*; 13, 1960, p. 283.

शोध लेख प्रकाशित हुए । इन पुस्तकों और लेखों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विविध पक्षों पर कुछ सैद्धान्तिक निबन्ध तथा विश्लेषणात्मक अध्ययन का समावेश हुआ । अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में यह संक्रमण अवस्था थी जिसकी विषय-सामग्री तथा अध्ययन पद्धति के विषय में विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोण अपनाये । अभी तक के प्रयास संख्यात्मक अधिक थे जो विद्वानों में उत्सुकता का परिणाम था । वास्तव में इस समय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन, जैसा कि स्टेनले हॉफमेन ने लिखा है, एक असम्वद्ध तथा भीड़ भरी दुकान की भाँति हो गया ।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में नूनत आयाम दृष्टव्य हैं । ऐसे शोध लेखों एवं ग्रन्थों का प्रणयन हुआ जिनमें न केवल अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का विश्लेपणात्मक पुट पाया जाता है अपितु सिद्धान्तीकरण की दिशा में भी स्पष्ट प्रयत्न दिखायी देता है। पिछले एक दशक से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन परम्परागत-आदर्शवादी अध्ययम की परिधि लाँधकर एक व्यापक किन्तु निश्चित क्षेत्र ग्रहण करता जा रहा है । अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को स्वायत्त विपय का दर्जा दिलाने में अमरीकन विद्वानों विशेपकर मार्गेन्थाऊ, रिचार्ड सी. स्नाइडर, चार्ल्स मेकलेलेण्ड, फ्रेड सोण्डरमेन आदि का विशिष्ट योगदान है । अनेक अमरीकी विश्वविद्यालयों में इस विषय का अध्ययन-अध्यापन एक स्वायत्त विषय के रूप में आज हो रहा है । भारत में भी दिल्ली के जवाहर नेहरू विश्वविद्यालय में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विषय का अध्ययन-अध्यापन एक स्वायत्त विषय के रूप में हो रहा है और पिछले कई वर्षों से स्नातकोत्तर उपाधि भी उसी प्रकार प्रदान की जाती है जिस प्रकार इतिहास, लोक प्रशासन और राजनीति विज्ञान विषयों में उपाधियाँ दी जाती हैं ।

संक्षेप में 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' (अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध) इस समय पूरी तरह विकसित अनुशासन तो नहीं है पर इसमें स्वायत्त अनुशासन बनने की सम्भावनाएँ मौजूद हैं । स्वायत्त विषय यह तब बन जायेगा जब राज्यों के व्यवहार के बारे में कोई सिद्धान्त बनाने का वैसे ही प्रयत्न किया जायेगा जैसे अन्य सामाजिक विज्ञानों में अन्य सामाजिक घटनाओं की व्याख्या करने के लिए सिद्धान्त बनाये जाते हैं । सिद्धान्त निर्माण के ये प्रयत्न अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बड़े पैमाने पर किये जा रहे हैं और इसी कारण हमें आशा है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक स्वतन्त्र ज्ञान क्षेत्र के रूप में विकसित हो सकेगा ।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति (अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध) को स्वायत्त विषय का दर्जा मिलने की शर्त यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के एक सामान्य या व्यापक सिद्धान्त (General theory of International Politics) का विकास हो । इस प्रकार के **सिद्धान्त** के विकास का प्रक्रम चल रहा है । यद्यपि अब तक हमारे पास अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं है, फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के आंशिक सिद्धान्त बहुत से मौजूद हैं । हमें आशा है कि हम शीघ्र ही एक सामान्य सिद्धान्त का विकास भी कर सकेंगे । जब तक सामान्य सिद्धान्त का विकास नहीं हो जाता तब तक वर्तमान स्थिति में इसे अर्द्ध स्वायत्त विषय कहना ही उचित है ।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विज्ञान
(SCIENCE OF INTERNATIONAL POLITICS)

अभी तक हम यह मानते आये हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों के अध्ययन के रूप वैज्ञानिक हैं । किन्तु इस धारणा के सम्बन्ध में अनेक शंकाएँ उठायी गयी हैं । अतएव यह आवश्यक है कि हम इस विषय पर विस्तार से चर्चा करें ।

नार्थरोप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को विज्ञान मानते हैं जबकि केनेथ थाम्पसन तथा स्टेनली हॉफमैन इसे विज्ञान की श्रेणी में नहीं रखते कैनन के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कोई विज्ञान नहीं है और इसलिए इसे विज्ञानेतर विषयों या मानविकी में ही रखना चाहिए । क्विसी राइट के

अभिमत में निकट भविष्य में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विषय विज्ञान बनने की क्षमता रखता है।[1] अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के वैज्ञानिक स्वरूप के बारे में इस विवादास्पद मसले को निपटाने के लिए विज्ञान का अर्थ समझना आवश्यक है।

'विज्ञान' ज्ञान की वह शाखा है जो तथ्यों को व्यवस्थित रूप में सँजोती है और सामान्य नियमों को खोज निकालने का प्रयत्न करती है। सर्वप्रथम, यह तथ्यों को एकत्रित करती है और उनके पारस्परिक कार्य-कारण सम्बन्ध प्रदर्शित करते हुए कुछ मान्य निष्कर्षों तक पहुँचने का प्रयत्न करती है। हक्सले के अनुसार विज्ञान एक ऐसा सम्यक् ज्ञान है जो युक्ति और साक्ष्य पर आधारित है। शैपर्ड के अनुसार, इसके प्रमुख लक्षण हैं : (1) एक संक्षिप्त, संगत और सम्बद्ध ज्ञान की सम्भावना; (2) तथ्यों को क्रमबद्ध करना और उसमें कार्यकारण सम्बन्ध स्थापित करने के उपरान्त सामान्यीकरण कर सकने और पूर्वकथन (Prediction) करने की क्षमता; (3) प्राप्त सम्बन्धानुमानों और निष्कर्षों की जाँच की सम्भावना। इसमें कार्ल फ्राइडरिच ने दो नयी बातें जोड़ने का सुझाव दिया है। अध्ययन विधि के सम्बन्ध में व्यापक सहमति, और (2) इसके अध्ययन में लगे हुए व्यक्तियों का समुचित प्रशिक्षण। किन्तु पेल्लिगर के अनुसार, विज्ञान केवल युक्ति और तर्क पर आधारित होता है; प्रयोग और पूर्वकथन उसके लिए आवश्यक नहीं है। हाँ, उसके अध्ययन की सम्यक् प्रणालियाँ आवश्यक होनी चाहिए।

एक विज्ञान किसी विषय से सम्बन्धित उस ज्ञान राशि को कहते हैं जो विधिवत् पर्यवेक्षण, अनुभव और अध्ययन के आधार पर प्राप्त की गयी हो और जिसके तथ्य परस्पर सम्बद्ध, क्रमबद्ध तथा वर्गीकृत किये गये हों। अर्थात् विज्ञान में कार्य-कारण का सम्बन्ध, भविष्यवाणी करने की सामर्थ्य और तथ्यों के बारे में सर्वमान्यता होनी चाहिए। इस अर्थ में प्राकृतिक विज्ञान ही विज्ञान की श्रेणी में आते हैं; अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तो क्या समाज विज्ञान का कोई भी विषय इस अर्थ में विज्ञान की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

जो विद्वान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को विज्ञान मानने में संकोच करते हैं उनके तर्क इस प्रकार हैं : (1) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के लेखक इसकी अध्ययन विधि के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं; (2) इसके सिद्धान्त और निष्कर्ष सर्वमान्य नहीं है; (3) इसका विकास लगातार नहीं हुआ; (4) हमें यह ऐसी सामग्री प्रदान नहीं करता जिसके आधार पर हम यथातथ्य पूर्वकथन कर सकें; (5) अन्तर्राष्ट्रीय मामले इतने जटिल (Complex), परिवर्तनशील और अनियमित हैं कि खोज की वैज्ञानिक पद्धतियाँ उनके अध्ययन में कारगर नहीं हो सकतीं; (6) अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर प्रभाव डालने वाली बातें प्राय: अस्पष्ट और उलझी हुई होती हैं और उनको समझना अथवा उन पर नियन्त्रण रखना अत्यन्त कठिन है; (7) तथ्यों को एकत्रित करने, उनको विधिवत सजाने और उनसे निष्कर्ष निकालने में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के शोधार्थी का अपना व्यक्तित्व और उसका दृष्टिकोण भी कुछ-न-कुछ प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। अनासक्त होने पर भी वह भौतिक और प्राकृतिक विज्ञानों के समान पूर्णत: वस्तुनिष्ठ और निरपेक्ष नहीं रह सकता।

इन आलोचकों के तर्कों में सत्य का कुछ अंश है। वस्तुत: सामाजिक कार्य-कलापों तथा गतिविधियों के वैज्ञानिक अध्ययन में अनेक बाधाएँ हैं। प्रकृति से ही, सामाजिक अध्ययन भौतिक अथवा प्राकृतिक विज्ञानों की तरह यथातथ्य नहीं हो सकते। फिर भी, जब आलोचक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विज्ञान बनने की सम्भावना को नहीं मानते तब वे एक ऐसी 'अति' तक पहुँच जाते हैं जिसको नहीं माना जा सकता। सम्भवत: वे किसी अध्ययन के वैज्ञानिक होने के लिए यह आवश्यक समझते हैं कि उसके निष्कर्ष सुस्पष्ट और यथातथ हों और साथ ही उसमें पूर्वकथन करने की क्षमता

---

1 P. Chandra, *International Politics.* (New Delhi 1979), p. 15.

हो। यह विचार विज्ञान के स्वरूप को भलीभाँति न समझने के कारण फैला हुआ है। वस्तुतः प्राकृतिक विज्ञानों में भी 'ऋतु विज्ञान (Meteorology) आदि कुछ ऐसे ज्ञान हैं जो यथातथ पूर्वकथन नहीं कर पाते। किन्तु उसको 'विज्ञान' मानने में कोई आपत्ति नहीं करता। फिर, सामाजिक विज्ञानों के सम्बन्ध में एक भिन्न कसौटी क्यों हो?

यदि हम यह मान लें कि विज्ञान के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसके निष्कर्ष सर्वव्यापक हों और उनके नियम तथा पूर्वकथन यथातथ (exact) और अटल (invariable) हों, तो फिर हमें नये सिरे से विचार करना पड़ेगा कि किसी अध्ययन को 'वैज्ञानिक' बनाने के लिए उनका स्वरूप कैसा होना चाहिए। हमारा मत है कि इस परख में उस ज्ञान का रीति-विधान (methodology) ही निर्णायक होना चाहिए। यदि किसी ज्ञान की अध्ययन विधि वैज्ञानिक है और उसके अनुसन्धानकर्ता वैज्ञानिक ढंग से अपने अध्ययन और खोज में लगे हुए हैं तो कोई कारण नहीं कि हम ऐसे ज्ञान को 'विज्ञान' न कहें।

मारगेन्थाऊ ने अपनी पुस्तक 'पालिटिक्स अमंग' नेशन्स' के 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विज्ञान' शीर्षक अध्याय में लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दो प्रमुख उद्देश्य हैं। पहला तो उन शक्तियों को जानना व समझना जो कि राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों को निर्धारित करती हैं और दूसरा उन तरीकों को समझना जिनके द्वारा शक्तियाँ एक-दूसरे पर तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सम्बन्धों व संस्थाओं पर प्रभाव डालती है।

डॉ. ग्रेसन कर्क का भी मानना है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक अध्ययन के विषय के रूप आधुनिक इतिहास, प्रचलित घटनाओं, अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राजनीतिक सुधारों से भिन्न है। वे लिखते हैं; "अब तक संयुक्त राज्य में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन पर उन व्यक्तियों का प्रभुत्व रहा है, जिन्होंने निम्नलिखित तीन दृष्टिकोणों में से कोई एक दृष्टिकोण अपनाया है। सर्वप्रथम वे इतिहासकार हैं जो कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को केवल आधुनिक इतिहास समझते हैं, जिसमें स्वीकृत सामग्री पर्याप्त मात्रा में न होने के कारण विद्यार्थी को कठिनाइयाँ होती हैं। दूसरा वर्ग अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ताओं का है, जिन्होंने अपने आपको राज्यों के आपसी सम्बन्धों के कानूनी पक्ष के अध्ययन में संलग्न रखा है, पर जिन्होंने इस बात का कभी गम्भीरतापूर्वक प्रयत्न नहीं किया कि वे कौन-से आधारभूत कारण हैं, जिनके कारण यह वैधिक परिधि सदा ही अधूरी व अपूर्ण रहती चली आयी है। और अन्त में वे लोग हैं जो कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में यथार्थ रूप से अधिक रुचि नहीं रखते, बस उस आदर्श रूप में अधिक रुचि रखते हैं जो कि अपने आपमें पूर्ण हो, जिसे वे स्वयं निर्मित करना चाहते हैं। काफी समय पश्चात केवल आधुनिककाल में ही, ऐसे विद्यार्थी आये हैं; जिन्होंने विश्व राजनीति की आधारभूत व शाश्वत शक्तियों का अध्ययन प्रारम्भ किया है तथा उन संस्थाओं का अध्ययन जो कि उनकी शक्तियों को अपने में समेटे हुए हैं। यह अध्ययन न तो उनकी प्रशंसा अथवा दोषारोपण करने की नीयत से, वरन इस इच्छा से किया गया है कि उन आधारभूत हलचलों को समझें जो किसी राज्य की वैदेशिक नीति को निर्मित करती हैं। इस प्रकार अन्त में राजनीति वैज्ञानिक अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पदार्पण कर ही रहा है।"

मार्गेन्थाऊ तथा ग्रेसन कर्क के कथनों से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को विज्ञान बनाने के प्रयत्न चल रहे हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के लेखकों का उद्देश्य उन आधारभूत शक्तियों और घटनाओं का अध्ययन करना रहा है जो कि किसी राज्य की विदेश नीति और नीति निर्माण प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। आगे चलकर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सिद्धान्त निर्माण और मॉडल निर्माण की प्रवृत्ति उभरी।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की वैज्ञानिकता के समर्थन में कई तर्क दिये जा सकते हैं। (1) प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में परीक्षण और पर्यवेक्षण की पद्धति से तथ्यों का पता लगाया जा सकता

है। अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएँ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रयोगशाला है। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के सम्बन्ध में सभ्यता के आदिकाल से अब तक सैकड़ों प्रयोग हुए हैं और हो रहे हैं। उन सबका निरीक्षण करके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दिशा के सम्बन्ध में कतिपय सामान्य सिद्धान्त निकाले जा सकते हैं। (2) द्वितीय, यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नित्य नये-नये प्रयोग हो रहे हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ, राष्ट्र संघ जैसी संस्थाएँ एक प्रकार के प्रयोग हैं। गुट निरपेक्षता, सैनिक सन्धियाँ अथवा अरब लीग का निर्माण भी प्रयोग ही हैं। इन प्रयोगों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बारे में निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। (3) तृतीय, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी सीमित अर्थों में भविष्यवाणी की जा सकती है। यदि अमरीका वियतनाम में सैनिक हस्तक्षेप करता है अथवा सोवियत सेनाएँ अफगानिस्तान में सक्रिय हस्तक्षेप करती हैं अथवा हिन्द महासागर में महाशक्तियाँ अपने-अपने युद्धपोत रखना शुरू कर देती हैं तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विद्यार्थी सहज ही में सम्भावनाएँ व्यक्त कर सकता है। फाइनर के अनुसार, "हम भविष्य की सम्भावनाओं के विषय में तो अवश्य ही भविष्यवाणी कर सकते हैं, भले ही हम उसे पूर्ण निश्चय के साथ न भी कह सकें। ऋतुशास्त्र, भूगर्भशास्त्र आदि अनेक विषय विज्ञान कहलाते हैं जबकि उनके द्वारा की गयी भविष्यवाणियाँ अनेक बार ठीक नहीं होतीं।" चतुर्थ, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ज्ञान की एक पृथक शाखा है। इसकी सभी बातों का क्रमबद्ध रूप से अध्ययन किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वतन्त्र सामाजिक शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित करने तथा उसके सैद्धान्तिक आधारों को निश्चित करने की दिशा में विशेष प्रयत्न किया जा रहा है। अमरीकी विश्वविद्यालयों में तो द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त यह दृष्टिकोण मुखर हो गया था कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक स्वायत्त उप-विषय है जो राजनीतिशास्त्र से मूलतः भिन्न तथा पृथक है, जिसके अपने विशिष्ट सैद्धान्तिक आधार हैं। (5) पंचम, यह सच है कि भौतिक विज्ञान की तरह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कारण तथा कार्य में प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। फिर विशेप घटनाओं के अध्ययन से कुछ सामान्य परिणाम तो निकाले ही जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, यदि हम विश्व के संघर्ष स्थलों का विश्लेषण करें तो इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि सभी संघर्ष स्थलों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से महाशक्तियों का हस्तक्षेप अवश्य रहा है। चाहे वियतनाम समस्या हो या पश्चिमी एशिया का संकट, कश्मीर समस्या हो या अफगानिस्तान का मसला, महाशक्तियाँ किसी-न-किसी ढंग से हस्तक्षेप अवश्य करती हैं। (6) षष्ठम, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सार्वभौमिक सिद्धान्तों का जो अभाव है उसका कारण इसकी अवैज्ञानिकता नहीं है, वरन् मनुष्य का परिवर्तनशील स्वभाव है। निश्चितता और सार्वभौमिकता का अभाव भूगर्भशास्त्र, ऋतुशास्त्र तथा ज्योतिर्विज्ञान में पाया जाता है।

1950-60 के दशक से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सिद्धान्तीकरण के जबरदस्त प्रयत्न प्रारम्भ हुए। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के अनेक आंशिक सिद्धान्त अस्तित्व में आये। इस दृष्टि से मार्गेन्थाऊ, कापलान, सिंगर, डायच, चार्ल्स मेकलेलेण्ड, ऑरेन आर. यंग, केनेथ वाल्टज, बॉब्र बायनटन इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं।

इन सभी प्रयत्नों के बावजूद सत्य यह है कि तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के वैज्ञानिक अध्ययन का सर्वाधिक निराशावादी पहलू यह है कि अनेक अनुभववादी अध्ययनों के बावजूद विश्व राजनीति के व्यवहार का कोई सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं बन पाया है।

निष्कर्ष—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति भौतिक विज्ञान के समान विज्ञान नहीं है। इसके सिद्धान्त और निष्कर्ष अनिश्चित हैं और इसके पूर्व कथन शुद्ध नहीं होते। इसके सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के शोधार्थी अपने अध्ययन की समुचित पद्धति के सम्बन्ध में बहुत कुछ एकमत होने लगे

हैं। ऐसी दशा में हम अपने विषय को विज्ञान की संज्ञा दे सकते हैं, किन्तु हमें यह सत्य भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अभी भी सामाजिक विज्ञानों में सबसे कम विकसित विज्ञान है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विज्ञान का निर्माण करने के लिए अभी भी बहुत कुछ प्रयत्न करने होंगे। इसके लिए निरन्तर खोज और समुचित सिद्धान्त निर्माण की अत्यन्त आवश्यकता है। संक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक विज्ञान बन रही है (A science of international politics is developing)।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में कतिपय पूर्वाग्रह
(SOME BIASES IN THE STUDY OF INTERNATIONAL POLITICS)

अन्तर्राष्ट्रीय एक जटिल विषय है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्येता विद्वान अपने ऐतिहासिक अनुभवों, अपने सांस्कृतिक वातावरण अपने सामाजिक और राजनीतिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में विवेचन एवं विश्लेषण करते हैं। अमरीकी विद्वान अपनी दृष्टि से वियतनाम समस्या अथवा एशिया में चीन के अभ्युदय की घटना का विश्लेषण करते हैं तो सोवियत विद्वान एक भिन्न दृष्टि से इन घटनाओं को देखते हैं। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्यार्थी को उन पूर्वाग्रहों से परिचित रहना चाहिए[1] जिनके परिप्रेक्ष्य में अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को प्रस्तुत किया जाता है।

मोटे रूप से ऐसे दो पूर्वाग्रह हैं—**प्रथम**, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा विदेश नीति पर लिखी गयी अधिकांश पुस्तकें और शोध ग्रन्थ राष्ट्रीय समस्याओं के विवरण से भरे पड़े है। विदेश नीति पर लिखने वाले अधिकांश लेखकों ने अपने देश के पक्ष में ही विभिन्न घटनाओं की व्याख्या कर दी है। यदि किसी अन्तर्राष्ट्रीय समस्या या संवर्ष में कोई देश उलझा हुआ है तो उस देश के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अनुसन्धानकर्ताओं ने अपने देश को सदैव सही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है और दूसरे देशों को तर्कों द्वारा गलत बताया है। उदाहरणार्थ, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद रूस-अमरीकी शीतयुद्ध एक तथ्य अवश्य था किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की अधिकांश अमरीकी पुस्तकों में समस्त अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को शीतयुद्ध के परिप्रेक्ष्य में देखने की जो प्रवृत्ति विकसित हुई उसे मात्र एक अमरीकी पूर्वाग्रह ही कहा जायेगा। **द्वितीय**, द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद लिखे गये अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के ग्रन्थों में एक अन्य पूर्वाग्रह हिंसा के प्रति दिखायी देता है। ऐसा लगता है मानो विश्व राजनीति हिंसा, लड़ाई-झगड़े, संघर्ष, विवाद और मतभेदों का ही दूसरा नाम है। सभी प्रचार साधनों ने हमारा ध्याम अन्तर्राष्ट्रीय संकटों की ओर अनवरत रूप से आकर्षित किया है, मानो हम संकट के युग में रह हों जबकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तर्गत राज्यों के मध्य पायी जाने वाली सहयोग की प्रवृत्ति, आर्थिक और व्यापारिक सहयोग, विश्व शान्ति के लिए किये जाने वाले प्रयत्न भी शामिल है। हम सभी जानते हैं कि राज्यों के मध्य अधिकांश आदान-प्रदान शान्तिपूर्ण सौम्य, स्थायी और द्विपक्षीय सन्धियों के अनुसार सम्पादित है। किन्तु ऐसे उदार सम्बन्धों का प्रसार माध्यमों द्वारा अधिक प्रसार नहीं किया जाता है। हंगरी में सोवियत हस्तक्षेप की घटना अथवा वियतनाम पर चीनी आक्रमण की घटनाओं का खूब प्रसार किया जाता है जबकि भारत-वियतनाम सम्बन्ध अथवा भारत-सोवियत सहयोग का उतना प्रसार नहीं किया जाता। यही कारण है कि हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को 'शक्ति-संघर्ष' अथवा 'शीत-युद्ध' की राजनीति कहकर पुकारने लग जाते हैं, जबकि यथार्थ में युद्ध से बचने और शान्ति कायम रखने के लिए भी बहुत कुछ प्रयास हो रहे हैं।

समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने वाले तत्व
(FACTORS INFLUENCING CONTEMPORARY INTERNATIONAL POLITICS)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक गतिशील विषय है। इसका स्वरूप अनवरत रूप से बदलता

1 Holsti, n. 11, pp. 23-35,

जा रहा है। सन् 1945 के बाद इसके अध्ययन के सम्बन्ध में वैज्ञानिक सिद्धान्त प्रस्तुत करने की दिशा में कुछ सराहनीय प्रयास हुए हैं। इन प्रयासों को देखने से ऐसा लगता है कि शायद जल्दी ही हम कुछ ऐसे सामान्य सिद्धान्तों का पता लगाने में सफल हो सकेंगे जिनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रत्येक पक्ष को भलीभाँति समझा जा सकेगा।

डॉ. महेन्द्रकुमार के अनुसार द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक हो गया है और इस अध्ययन की पद्धति में अब अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गये हैं। ये परिवर्तन राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में कई तरह के नये तत्वों के उदय के परिणाम से हुए हैं। इन नये तत्वों में टैक्नॉलोजी का विकास, उपनिवेशवाद का बढ़ता हुआ उन्मूलन, नये राष्ट्रों का उदय और नये अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों का प्रकटीकरण प्रमुख स्थान रखते हैं।[1] परन्तु इन सबसे बढ़कर महत्वपूर्ण तत्व है अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के ज्ञान में एक सैद्धान्तिक एकरूपता ढूंढ़ने की जिज्ञासा।

संक्षेप में, समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने वाले कतिपय प्रमुख तत्व इस प्रकार हैं :

(1) **राज्यों की संख्या में वृद्धि**—राज्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के पात्र हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व अधिकांश राज्य साम्राज्यवादी शक्तियों के शिकंजे में बँधे हुए थे और इस कारण से राज्यों की संख्या कम थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय जगत में राज्यों की संख्या पहले से अब बहुत बढ़ गयी है। एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के महाद्वीपों में राज्यों की संख्या काफी बढ़ी है। सन् 1945 में जहाँ संयुक्त राष्ट्र संघ के 51 सदस्य राज्य थे वहाँ आज सदस्य राज्यों की संख्या 159 हो गयी है। नये प्रभुत्वसम्पन राज्यों के उदय से अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को कुछ गिनी-चुनी और जानी-पहचानी राजनीतिक इकाइयों के बीच होने वाले घटना-चक्र के रूप में नहीं देखा जा सकता। इन नवोदित राज्यों की अपनी आर्थिक, सामाजिक, प्रशासनिक समस्याएँ हैं। अब इन राज्यों की समस्याओं की उपेक्षा करके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को नहीं समझा जा सकता।

(2) **यूरोपीय राजनीति से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अभ्युदय**—प्रथम विश्वयुद्ध तक विश्व इतिहास को बुनियादी तौर से यूरोप के इतिहास के रूप में ही देखा जाता था और विश्व के अन्य भागों जैसे एशिया तथा अफ्रीका के इतिहास को यूरोपीय शक्तियों के मामलों की शाखा मात्र समझ लिया जाता था। विश्व के अधिकांश देश यूरोपीय शक्तियों के साम्राज्य के अंग थे। उप-निवेशों के जल्दी-जल्दी स्वतन्त्र होने से एशिया और अफ्रीका के राज्यों ने भी विश्व राजनीति में हिस्सा लेना प्रारम्भ किया। 'एशिया एशिया वालों के लिए' और 'अफ्रीका अफ्रीकियों के लिए' जैसे नारे प्रचलित हुए। अब साम्राज्यवादी यूरोपीय देश एशिया तथा अफ्रीका महाद्वीपों के देश के हितों के एकमात्र संरक्षक नहीं रह गये। पहले अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति यूरोपीय राजनीति का पर्यायवाची थी क्योंकि इसमें सक्रिय हिस्सा लेने वाले अधिकांश पात्र यूरोपीय महाद्वीप से सम्बन्धित थे। अब एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के अधिकतर राज्य राजनीतिक प्रक्रिया में सक्रिय भागीदार बन गये हैं जिससे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति वास्तव में 'अन्तर्राष्ट्रीय' हो चुकी है।

(3) **विदेश नीति का प्रजातन्त्रीकरण**—विदेश नीति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु है। पूर्व में विदेश नीति का निर्माण एवं संचालन एक छोटा-सा शासक वर्ग (elite) करता था। अधिकांश देशों में राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था विद्यमान थी और राजा के इर्द-गिर्द रहने वाला अभिजात्य वर्ग ही विदेश नीति सम्बन्धी निर्णय ले लेता था। जन सम्पर्क के साधनों के अभाव में लोकमत विकसित नहीं हो पाता था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद लोकतान्त्रिक

1 Mahendra Kumar. *Theoretical Aspects of International Politics* (Agra, 1267), pp. 11-19.

शासन व्यवस्थाओं वाले देशों की संख्या अनवरत रूप से बढ़ने लगी। जन सम्पर्क और प्रचार के साधनों; जैसे समाचार-पत्रों, रेडियो, टेलिफोन, टेलीविजन आदि का प्रयोग बढ़ने लगा। अब विदेशी मामलों में आम आदमी की बात पहले से अधिक सुनी जाने लगी। विदेश नीति के निर्माण में आम जनता अधिक और आसानी से हिस्सा लेने लगी। विदेश नीति पर सभी देशों में संसद और विधानमण्डलों में बहस होने लगी है। हम सभी जानते हैं कि सन 1963 में भारत सरकार भारत में 'वॉयस ऑफ अमरीका' को अपना एक ट्रांसमीटर लगवाने की स्वीकृति देने के लिए लगभग तैयार हो गयी थी, किन्तु भारतीय जनमत के प्रबल विरोध के कारण भारत सरकार को अपनी नीति बदलनी पड़ी। इसी प्रकार सन 1956 में ब्रिटेन ने फ्रांस और इजरायल के साथ मिलकर स्वेज संकट के समय मिस्र पर आक्रमण कर दिया था। किन्तु ब्रिटिश लोकमत के विरोध के कारण प्रधानमन्त्री एंथोनी ईडन को त्यागपत्र देना पड़ा। अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत के प्रबल विरोध के कारण ब्रिटेन और फ्रांस को अन्ततोगत्वा युद्ध बन्द करना पड़ा। संक्षेप में, अभिप्राय वह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अब पहले की अपेक्षा अधिक प्रजातान्त्रिक हो गयी है।

(4) **तकनीकी और प्रौद्योगिकी का विकास**—बीसवीं सदी को टेक्नॉलॉजी या प्रौद्योगिकी की शताब्दी कहा जाता है। इस सदी के उत्तरार्द्ध में तो टैक्नालॉजी का अनवरत रूप से प्रभाव बढ़ता जा रहा है। टैक्नॉलॉजी असल में विज्ञान की उपज है। टैक्नॉलॉजी ने हथियारों के स्वरूप में परिवर्तन कर दिया है और इसके जरिये अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप को भी बदल डाला है। तकनीकी विकास के कारण प्रथम बार मानव को ऐसी असीम शक्ति प्राप्त हुई जिसका उपयोग वह चरम उन्नति अथवा पूर्ण संहार के लिए एक साथ कर सकता है। परमाणु या नाभिकीय हथियार, जैट विमान, नाभिकीय बम फेंकने वाले प्रक्षेपास्त्र, परमाणु ऊर्जा से चलने वाले विमान तथा पनडुब्बियाँ, भू-उपग्रह, अन्तरिक्ष स्टेशन आदि तकनीकी विकास के द्योतक हैं। इन हथियारों के परिप्रेक्ष्य में आज राष्ट्रों की सैनिक शक्ति का स्वरूप बदल गया है। प्रौद्योगिकी का किसी राष्ट्र को सैनिक शक्ति बनाने और इस प्रकार युद्ध का रूप बदल डालने में महत्वपूर्ण योग होता है। प्रौद्योगिकी के कारण अब राष्ट्रों की सैनिक शक्ति में परिवर्तन इतनी तीव्र गति से होने लगे हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था अस्थिर-सी नजर आती है। संक्षेप में, तकनीकी और प्रौद्योगिकी विकास के सन्दर्भ में देखने से पता चलता है कि आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रक्रिया इतनी अधिक गतिशील है जितनी पहले कभी नहीं रही।

(5) **परमाणु शक्ति और शान्ति के लिए बढ़ती हुई चिन्ता**—परमाणु शक्ति के आविष्कार ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सर्वथा अपरिचित समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं। परमाणु शक्ति के सर्वनाश करने के सामर्थ्य को देखते हुए मैक्स लर्नर ने आज के युग को 'अतिमारकता का युग' (The age of overkill) कहा है। अर्थात् अमरीका और सोवियत संघ दोनों में अलग-अलग रूप से इतनी क्षमता है कि वे अपनी आणविक शक्ति से सम्पूर्ण संसार का कई बार सर्वनाश कर सकते हैं। आज सर्वत्र यह भय छाया हुआ है कि कभी भी कोई आकस्मिक घटना सर्वनाशकारी परमाणु युद्ध की चिनगारी भड़का सकती है। इसी कारण अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के शोधार्थी शान्ति के लिए चिन्तित लगते हैं और द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद शान्ति आन्दोलन की गति में वृद्धि हुई है। अब विदेश नीति के सब निर्णयों के पृष्ठभूमि में शान्ति का ध्यान रखना जरूरी माना जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का आज सबसे महत्वपूर्ण ध्येय यही माना जाता है कि युद्ध से कैसे बचें और शान्ति कैसे कायम रखें।

(6) **अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का बढ़ता हुआ महत्व**—अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप पर प्रभाव डालने वाला एक प्रक्रम माना जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सबसे बड़ी चिन्ता शान्ति की खोज है और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन शान्ति तक पहुँचने

का संस्थात्मक साधन है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के अस्तित्व से राष्ट्रों के आचरण की स्वतन्त्रता पर गम्भीर अंकुश लगने की सम्भावनाएँ बढ़ी हैं। युद्ध और शान्ति के मामलों में राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों जैसे संयुक्त राष्ट्र संघ अथवा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्देशों का पालन करना होता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के कायम होने की सम्भावनाएँ बढ़ती जा रही हैं।

(7) **व्यापार और वाणिज्य**—आजकल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में व्यापार और वाणिज्य का तत्व महत्वपूर्ण होता जा रहा है। अधिकांश राष्ट्र व्यापार और वाणिज्य के परिप्रेक्ष्य में विदेश नीति सम्बन्धी निर्णय लेने लगे हैं। अमरीका ने चीन में अपार व्यापारिक हितों को देखते हुए सन् 1971 में राजनयिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये। मध्य-पूर्व के तेल भण्डारों को देखते हुए अधिकांश देश अरब-इजराइल संघर्ष में अरबों का पक्ष लेते रहे हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का विकास
(HISTORICAL DEVELOPMENT OF INTERNATIONAL POLITICS)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक विकासशील विषय है। यह इतिहास और राजनीतिशास्त्र के वटवृक्ष से निकली एक प्रशाखा है जिसने अब स्वयं जड़ें पकड़ ली हैं और एक स्वतन्त्र सजीव इकाई के रूप में विकसित होने का प्रयत्न कर रही है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को स्वायत्त विषय मानने की आधुनिक धारणा पर विद्वान एकाएक ही नहीं पहुँचे हैं। इस विषय के कतिपय प्रमुख अध्ययन सोपान रहे हैं और विकास की महत्वपूर्ण मंजिलों को पार करके ही यह अपनी आधुनिक अवस्था में पहुँचा है। कैनेथ टोम्पसन के अनुसार बीसवीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विकास की चार प्रमुख अवस्थाएँ रही हैं :[1]

1. कूटनीतिक इतिहास का प्रभाव (Monopoly of Diplomatic Historians)।
2. समकालीन घटनाओं और समस्याओं के अध्ययन पर बल (Emphasized the Stucly of Current Events)
3. राजनीतिक सुधारवाद का युग (The age of Visionary Reformism)।
4. सिद्धान्तीकरण के प्रति आग्रह (Concerned with Theoretical Investigation)।

प्रथम अवस्था : कूटनीतिक इतिहास का प्रभाव
(FIRST STAGE : MONOPOLY OF DIPLOMATIC HISTORIANS)

अपनी शैशवावस्था में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विषय की निकटता 'इतिहास' और 'इतिहासकारों' से रही है। कूटनीतिक इतिहासकारों के लेखन का यह विशिष्ट क्षेत्र रहा और इसके अध्ययन में विशिष्ट ऐतिहासिक शैली का प्रयोग किया जाता रहा है। इतिहासकारों ने अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं की समीक्षा एवं विश्लेषण करने के बजाय तिथिक्रम के अनुसार उनका मात्र वर्णन करने का ही प्रयत्न किया है। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति अर्थात् 1919 तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विषय इतिहास का ही अंग माना जाता था। विभिन्न राज्यों के इतिहास का वर्णन करते हुए दूसरे देशों के साथ उनके सम्बन्धों एवं विदेश नीति के इतिहास के रूप में इसका प्रतिपादन किया जाता था। इसमें विभिन्न देशों के कूटनीतिज्ञों और विदेशमन्त्रियों द्वारा किये जाने वाले कार्यों का वर्णन होता था, अतः इसे कूटनीतिक इतिहास (Diplomatic History) भी कहा जाता था। इस काल के प्रसिद्ध इतिहासकार जिमर्न का मत था कि "यह भूत का सम्पर्क ही है जो मनुष्यों और समाजों को वर्तमान कार्यों के लिए तैयार करता है। वर्तमान जितना ही भौतिक चिन्ताओं और

---

1 Kenneth W. Thompson "The Study of International Politics : A Survey of Trends and Developments". *Review of Politics* (Notre Dame), (14 October 1952), pp. 437-67.

जटिलताओं के कारण तनावपूर्ण होता जायेगा, उतनी ही भूत से प्रेरणा प्राप्त करने की आवश्यकता बढ़ती जायेगी।" अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की यह शैशवावस्था प्रथम विश्व-युद्ध तक बनी रही।

इस काल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के 'अध्ययन के बारे में **सामान्य सिद्धान्त** का विकास नहीं हो पाया। राजनयिक इतिहासकारों ने यह समझाने का कोई प्रयत्न नहीं किया कि विभिन्न घटनाएँ और स्थितियाँ किस प्रकार अपने आपको अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के सामान्य ढाँचे में ढालती हैं। कूटनीतिक इतिहास निःसन्देह ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक अंग है परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्येता की बौद्धिक रुचि इतिहासकार की रुचि से भिन्न होती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्येता की रुचि केवल अतीत में न होकर वर्तमान और भविष्य के अध्ययन में भी होती है। इस काल की सबसे बड़ी उपलब्धि यही थी कि सन् 1919 में वेल्स विश्वविद्यालय में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन-अध्यापन हेतु आचार्य पद भी चेयर स्थापित की गयी और प्रसिद्ध इतिहासकार एल्फ्रेड जिमर्न को प्रथम आचार्य नियुक्त किया गया। इस घटना से इस बात का पता चलता है कि उस युग में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वतन्त्र विषय के रूप में अध्ययन करने की रुचि उत्पन्न होने लगी थी।

द्वितीय अवस्था : समकालीन घटनाओं और समस्याओं के अध्ययन पर बल
(SECOND STAGE : EMPHASIZED THE STUDY OF CURRENT EVENTS)

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति में बाद अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में समकालीन घटनाओं और समस्याओं (current events and problem) के अध्ययन पर बल दिया जाने लगा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को सामयिक घटनाओं से जोड़ने की प्रवृत्ति कूटनीतिक ऐतिहासिक अध्ययन के एक अभाव की पूर्ति का प्रयास था। किन्तु इस दृष्टिकोण में भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बारे में सम्पूर्ण दृष्टि का अभाव रहा। इस दृष्टिकोण में भूतकालीन घटनाओं की उपेक्षा करते हुए केवल वर्तमान के अध्ययन पर ही अधिकाधिक बल दिया गया। डॉ. महेन्द्रकुमार के शब्दों में, "इसमें वर्तमान के अध्ययन पर तो जोर दिया गया लेकिन वर्तमान और अतीत के पारस्परिक सम्बन्ध की महत्ता को बिल्कुल नहीं पहचाना गया और न ही युद्धोत्तर राजनीतिक समस्याओं को अतीत की तुलनीय समस्याओं के साथ रखकर देखने का कोई प्रयत्न किया गया।"[1] परिणामस्वरूप इस काल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन क्षेत्र में कोई समुचित सैद्धान्तिक अथवा विधिशास्त्रीय आधारशिला नहीं रखी जा सकी और ऐसे प्रयासों की स्थापना नहीं हो सकी जिनके द्वारा इतिहास की सम्पूर्णता के सन्दर्भ में वर्तमान घटनाओं के महत्त्व को समझा जा सकता।

तृतीय अवस्था : राजनीतिक सुधारवाद का युग
(THIRD STAGE : THE AGE OF VISIONARY REFORMISM)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विकास की द्वितीय अवस्था के साथ-साथ तीसरी अवस्था भी चल रही थी। विकास यात्रा की इन अवस्थाओं की शुरूआत प्रथम विश्व-युद्ध के आस-पास मानी जाती है और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यह स्वरूप द्वितीय विश्वयुद्ध तक बना रहा। इस युग में या यों कहें कि दो विश्वयुद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के संस्थाकरण (Institutionalisation) पर बल दिया गया। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के संस्थाकरण के इस युग में अन्तर्राष्ट्रीय विधि और संगठन पर पर्याप्त जोर दिया गया। राजमर्मज्ञों, चिन्तकों और राजनयिकों की धारणा थी कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का निर्माण कर दिया जाये तो विश्व समुदाय के सामने उपस्थित युद्ध और शान्ति की समस्याओं का निराकरण हो जायेगा। वुडरो विल्सन का कहना था, "राष्ट्र संघ शान्ति की एक गारण्टी है", "एक जीवित वस्तु उत्पन्न हुई है", "वह अन्तिम आश्रय है

1 Mahendra Kumar. n, 26, p. 2.

क्योंकि इसका ध्येय शान्ति का विधान है, युद्ध का एक संघ नहीं।", आदि। यह एक प्रकार से सुनहरे सपनों का युग था। प्रथम विश्वयुद्ध की विभीषिका से संत्रस्त विचारशील व्यक्ति उस समय संघर्ष का प्रधान कारण राष्ट्रीयता के संकीर्ण विचार, इससे उत्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता और इसे नियन्त्रण में न रख सकने वाली शक्ति का अभाव समझते थे। इसे दूर करने के लिए बड़ी सुनहली आशाओं के साथ राष्ट्र संघ की स्थापना की गयी। उस समय के राजनीतिज्ञों का यह विश्वास था कि उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को स्थापित करने का एक रामबाण उपाय ढूंढ़ निकाला है, यदि इस संस्था को सुदृढ़ बना लिया जाये तो अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान स्वतः हो जायगा। राष्ट्र संघ के निर्माण के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भावात्मक और कल्पनाशील तत्वों का प्रभाव बढ़ने लगा। ऐसी मान्यताएँ जोर पकड़ती गयीं कि केवल अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों और विधियों द्वारा ही विश्व शान्ति की स्थापना सम्भव है। इस दृष्टिकोण तथा राष्ट्र-संघ की स्थापना ने आरम्भ में इसके सम्बन्ध में अत्यन्त उज्ज्वल आशाएँ होने के कारण, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में एक आदर्शवादी (Idealistic), भावनात्मक सुधारवाद के नवीन उत्साह को इस प्रकार जागृत किया कि उस समय के अधिकांश विद्वान अपना सारा ध्यान इस बात पर केन्द्रित करने लगे कि आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय समाज का सृजन किस प्रकार किया जाए। मारगेन्थाऊ के शब्दों में, "इस अवधि में अध्येताओं का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की प्रकृति को समझना नहीं बल्कि ऐसी कानूनी संस्थाओं और ऐसे सांगठनिक उपायों को विकसित करना था जो उस काल के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के आधार को बदलकर उनकी जगह ले सकें।" संक्षेप में इस काल में, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्येताओं में भावनात्मक और कल्पनाशील सुधारवाद के तत्व प्रबल थे।

जॉन हे ने एक बार कहा था कि संयुक्त राज्य अमरीका की वैदेशिक नीति के आधार मुनरो सिद्धान्त गोल्डेन रूल थे। 16 जुलाई, 1937 में कार्डेल हल ने घोषणा की थी, "यह देश निरन्तर एवं दृढ़तापूर्वक शान्ति की रक्षा का समर्थन करता है। हम राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय आत्म-नियन्त्रण का समर्थन करते हैं। हम सभी राष्ट्रों के लिए नीति के अनुसरण में शक्ति के प्रयोग तथा अन्य राष्ट्रों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने से अलग रहने को कहते हैं। हम अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों का ईमानदारी से पालन करने को कहते हैं, आदि।" इस प्रकार के **'सिद्धान्त'** प्रतिवाद रहित हैं क्योंकि उनमें आदर्श का पुट पाया जाता है; परन्तु संसार जैसा है उससे बहुत कम सम्बन्ध रखते हैं; वे अमरीका के हितों के लिए भी अधिक लाभदायक नहीं तथा अमरीका की नीति के किसी भी व्यावहारिक आदर्श के रूप में प्राप्त नहीं किये जा सकते। इसी कारण जार्ज एफ. केनन लिखते हैं—"मैं अपने देश की विगत नीति के बनाने में बहुत गम्भीर दोषों को देखता हूँ; जो ऐसे स्थान पर हैं जिसे ये अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति कानून नैतिक पहुँच कह सकता हूँ। यह पहुँच, पिछले पचास वर्षों की हमारी वैदेशिक नीति में गुच्छे की तरह दिखायी देती है। यह विश्वास किया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में, न्यायिक नियमों तथा प्रतिबन्धों की किसी भी प्रकार की व्यवस्था की स्वीकृति से, सरकारों की व्यवस्थित एवं भयंकर आकांक्षा का दबाना सम्भव है। यह विश्वास निस्सन्देह रूप में व्यक्तिगत कानून के आंग्ल-सेक्सन विचार को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्थापित करने की आंशिक चेष्टा को प्रकट करता है तथा उसको उसी भाँति से सरकारों में लागू करना चाहता है जैसे कि वह देश में व्यक्तियों पर लागू किया जाता है।"

किन्तु सन् 1930 के बाद इस प्रकार के अध्ययन की निरर्थकता स्पष्ट होने लगी राष्ट्र-संघ द्वारा शान्ति की उज्ज्वल आशाओं और सम्भावनाओं को जापान, जर्मनी और इटली के तानाशाह शासकों से गहरा धक्का लगा। राष्ट्रसंघ मंचूरिया में जापान के, एबीसीनिया में इटली के और यूरोप में हिटलर के हमलों का प्रतिरोध करने में विफल हुआ। इससे राष्ट्र संघ की

नपुंसकता विश्वविदित हो गयी, यह भलीभाँति प्रमाणित हो गया कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की सुरक्षा राष्ट्र संघ और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अध्ययन से सम्भव नहीं है। सुप्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ कार (E. H. Carr) ने इस समय पढ़ाए जाने वाले विषयों की आलोचना की तथा एक अन्य प्रसिद्ध लेखक शूमां ने अपनी पुस्तक 'इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स (International Politics) में सन् 1935 में आदर्शवादी विचारधारा का विरोध करते हुए यथार्थवादी (Realist) सम्प्रदाय की प्रवृत्ति को पुष्ट किया। इसे क्विन्सी राइट की रचना 'दि स्टडी ऑफ वार (The Study of War : 1500-1940) से बड़ा बल मिला।

चतुर्थ अवस्था : सिद्धान्तीकरण के प्रति आग्रह
(FOURTH STAGE : CONCERNED WITH THEORETICAL INVESTIGATION)

1945 में द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के चतुर्थ चरण का श्रीगणेश हुआ। इस युद्ध की समाप्ति पर नागासाकी और हिरोशिमा पर गिराए गये अणु बमों ने तथा सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन में व्यवहारवाद (Behaviourism) पर बल दिये जाने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक सर्वथा नवीन पद्धति और दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाने लगा। अब अध्ययन का केन्द्र अन्तर्राष्ट्रीय कानून और संगठन नहीं रहे, किन्तु राज्यों के व्यवहार (Behaviour) को प्रभावित करने वाली शक्तियाँ और प्रभाव अनुशीलन का विषय बन गये। अब तीन बातों के अध्ययन पर अधिक बल दिया जाने लगा : (i) विभिन्न देशों की विदेश नीतियों को प्रभावित करने वाले विविध प्रकार के तत्वों, कारणों, घटनाओं का अध्ययन; (ii) विदेशनीति के संचालन की पद्धतियाँ; (iii) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों और समस्याओं के समाधान के उपाय।

अब तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का प्रधान विषय राष्ट्र संघ की संस्था थी, अब इसका स्थान विश्व की राजनीति ने ले लिया। संयुक्त राष्ट्र संघ (UNO) का अध्ययन अब वैधानिक दृष्टि से नहीं अपितु राजनीतिक दृष्टि से किया जाने लगा। एक अन्य बड़ा परिवर्तन यह हुआ है कि अब इन विषयों का अनुशीलन सर्वथा वैज्ञानिक पद्धति से तटस्थ एवं निष्पक्ष होकर किया जाने लगा है। इसमें पहले की भाँति शान्ति के आदर्श का अनुसरण करने वाली संस्थाओं की स्तुति एवं उनका विरोध करने वाली व्यवस्थाओं की निन्दा नहीं की जाती है, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मूल तत्वों की गहराई में जाकर यह अध्ययन किया जाता है कि विश्व की शान्ति को खतरे में डालने वाली परिस्थितियाँ क्यों उत्पन्न होती हैं, उनका यथार्थ स्वरूप क्या है, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के क्या उपाय हैं और विभिन्न देशों के नीति निर्माताओं को किस प्रकार इस बात की प्रेरणा दी जा सकती है कि वे एक अधिक अच्छी दुनिया के निर्माण में अपना सहयोग प्रदान कर सकें।

वस्तुत: द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में सिद्धान्तीकरण की प्रवृत्ति (theoretical investigation) दिखलायी देती है। सन् 1945 तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय में कोई वैज्ञानिक सिद्धान्त अस्तित्व में नहीं था तथा न ही किसी ने इस प्रकार के सिद्धान्त निर्माण (Theory building) की सम्भावनाओं पर विचार किया।

1950 के बाद अनेक ऐसे ग्रन्थों एवं शोध लेखों का प्रणयन हुआ जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और विदेश नीति के सम्बन्ध मे 'सिद्धान्त निर्माण' और आनुभाविक अध्ययन की अन्तर्दृष्टि दिखायी पड़ती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्तीकरण पर विद्वतापूर्ण साहित्य की प्रचुरता देखी गयी है। विद्वानों में यह धारणा जोर पकड़ने लगी कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सामान्य सिद्धान्तों की खोज में आधुनिक शोध को वरीयता दी जाये ताकि इससे सम्बन्धित उपलब्ध ज्ञान को परखा जा सके। सिद्धान्तों की खोज में एक महा योगदान था केनेथ वाल्टज का शोध लेख

'थ्योरी ऑफ इण्टरनेशनल रिलेशन्स'। **मारगेन्थाऊ** ने अपनी पुस्तक **'पॉलिटिक्स अमंग नेशन्स'** में 'यथार्थवादी सिद्धान्त' की रूपरेखा प्रस्तुत की और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त निर्माण के क्षेत्र में एक धमाका कर दिया। **मार्टन कापलन** की पुस्तक **'सिस्टम एण्ड प्रोसेज इन इण्टरनेशनल पॉलिटिक्स'** तथा **स्टेनले हॉफमैन** की पुस्तक **'कण्टेम्परारी थ्योरी इण्टरनेशनल रिलेशन्स'** इस दिशा में बहुचर्चित ग्रन्थ माने जाते हैं। **औरेन यंग** का शोध लेख **'दी पेरिल्स ऑफ आडिसस : आन कन्स्ट्रक्टिंग थ्योरीज ऑफ इण्टरनेशनल रिलेशन्स'** तथा **वारेन आर. फिलिप्स** का शोध लेख **'व्हीयर हेव आल दि थ्योरीज गोन'** नये आयामों की चर्चा करते हैं। आज तो स्पष्टतः सिद्धान्तीकरण में रुचि रखने वाले लेखकों की तीन श्रेणियाँ बन गयी हैं—पश्चिमी दुनियाँ के सिद्धान्तकार, तीसरी दुनियाँ के सिद्धान्तकार तथा मार्क्सवादी सिद्धान्तकार।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सैद्धान्तिक खोज में निरीक्षणकर्ता को जो सबसे बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है, वह है तथ्यों की दुरूहता। जिन घटनाओं को वह जानने का प्रयत्न करता है, वे स्वयं विलक्षण घटनाएँ हैं। वे एक विशेष प्रकार से इस बार ही घटित हैं और इस प्रकार न तो पहले ही घटी थीं और न घटेंगी; दूसरी ओर वे एक-दूसरे से मिलती-जुलती हैं क्योंकि वे सामाजिक शक्तियों का स्पष्टीकरण हैं। सामाजिक शक्तियाँ मानव स्वभाव का गतिमय रूप हैं। इसी कारण एक ही परिस्थिति के अन्तर्गत सामाजिक शक्तियाँ समान रूप में प्रकट होती हैं। अतः सिद्धान्तकारों की मूल समस्या यह है कि समान घटनाओं और विचित्र घटनाओं के मध्य रेखा कहाँ खींची जाय?

इस युग में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन हेतु अनेक आंशिक सिद्धान्त अस्तित्व में आये हैं। इन सिद्धान्तों में सन्तुलन सिद्धान्त (Theory of Equilibrium), संचार सिद्धान्त (Communication Theory), क्रीड़ा सिद्धान्त (Game Theory), यथार्थवादी सिद्धान्त (Realist Theory), शान्ति अनुसन्धान दृष्टिकोण (Peace Research Approach), विश्व-व्यवस्था दृष्टिकोण (World Order Approach) प्रमुख हैं।

संक्षेप में, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के सम्बन्ध में वैज्ञानिक सिद्धान्त प्रस्तुत करने की दिशा में कतिपय प्रशंसनीय प्रयास अवश्य किये गये हैं तथापि अभी यह कहना कठिन है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बारे में कोई सन्तोषजनक सार्वभौमिक सिद्धान्त बनाने में हम कब तक सफल हो जायेंगे।

आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सिद्धान्त निर्माण के विश्व में अनेक केन्द्र स्थापित हो चुके हैं। अमरीका के साथ-साथ स्केनेडेवियन राज्य, विशेषतः स्वीडन और डेनमार्क शान्ति अन्वेषण के प्रमुख केन्द्र बन चुके हैं। इंगलैण्ड, लेटिन अमरीका, भारत, अफीका आदि में सिद्धान्त अध्ययन पूर्णतः ग्राह्य बन चुका है तथा कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। यहाँ तक कि सोवियत संघ में भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सिद्धान्त के प्रति झुकाव बढ़ रहा है।

प्रश्न

1. "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन राष्ट्रों के बीच सम्बन्धों को समझने, उनके विषय में भविष्यवाणी करने, उनके मूल्यांकन तथा उन पर नियन्त्रण करने एवं विश्व समुदाय की स्थिति समझने में योगदान देते हुए एक साथ इतिहास भी है, विज्ञान और दर्शन भी है तथा कला भी है।" (क्विसी राइट)
   उक्त कथन पर टिप्पणी कीजिए और एक विषय के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अर्थ, प्रकृति और क्षेत्र की व्याख्या कीजिए।
   "The study of International Relations contributing to the understanding, prediction, evaluation and control of the relations among state and of the

conditions of the world community, is at the same time a history, a scicnce, a philosophy and an art." (Quincy Wright).
Comment on the above statement and discuss the meaning. nature, scope of International Relations as a discipline.

2. 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' से आप क्या समझते हैं? 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' और 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' में भेद कीजिए।
What do you understand by the term 'International Politics ? Distinguish between 'International Relations' and International Politics.

3. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन की प्रकृति और क्षत्र की विवेचना कीजिए।
Discuss the present nature and scope of the study of International Politics.

4. उन कारणों की विवेचना कीजिए, जो वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बदलते हुए स्वरूप के लिए उत्तरदायी हैं।
Discuss the factors that are responsible for changing pattern of International Politics,

5. किस सीमा तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक विज्ञान है ? इस सम्बन्ध में क्विन्सी राइट और हान्स जे. मार्गेन्थाऊ के जो विचार हैं उनका उल्लेख कीजिए।
To what extent is International Politics a science ? Describe the views of Quincy Wright and Hans J. Morgenthau in this respect.

6. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष में हुए अद्यतन विकास का एक सर्वेक्षण प्रस्तुत कीजिए।
Survey the new developments that have taken place in the field of theories of International Politics.

7. अध्ययन के एक विषय के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र की विवेचना करें।
Discuss tha scope of International Politics as a discipline.

2

राज्य प्रणाली तथा इसके उप-सिद्धान्त

[THE STATE SYSTEM AND ITS COROLLARIES]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए आधुनिक राज्य प्रणाली के गूढ़ार्थ को समझना अपरिहार्य है। इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि राज्य संस्था का विशिष्ट स्वरूप राज्य के आपसी सम्बन्धों को अत्यधिक प्रभावित करता है और राज्य की संस्था की संकलपना में परिवर्तन होते ही राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का स्वरूप भी बदल जाता है। वस्तुतः आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की कई मूलभूत समस्याएँ आधुनिक राज्य व्यवस्था के विशिष्ट लक्षणों की ही परिणाम हैं। उदाहरण के लिए, राज्यों की सार्वभौमिकता का अमर्यादित सिद्धान्त, राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त, राष्ट्रीयता, शीतयुद्ध आदि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के महत्वपूर्ण प्रसंग किसी न-किसी प्रकार से राज्य प्रणाली से ही जुड़े हुए हैं।

आधुनिक राज्य प्रणाली 159 राज्यों का समूह है जो विश्व के सम्पूर्ण क्षेत्रफल तथा जन-संख्या को आत्मसात करती है। सैद्धान्तिक दृष्टि से ये सभी राज्य आन्तरिक तथा बाह्य क्षेत्र में सम्प्रभु, पूर्णतया अनियन्त्रित, अमर्यादित, सर्वोच्च तथा स्वतन्त्र हैं। लेकिन वास्तविकता में राज्य अमर्यादित नहीं हो सकते क्योंकि उन्हें किसी-न-किसी रूप में अन्य राज्यों के सम्पर्क और बन्धन में रहना ही पड़ता है। फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रत्येक राज्य अपनी स्वतन्त्रता, राष्ट्रीय गरिमा भौतिक हितों की रक्षा के लिए राष्ट्रीय शक्ति का निर्माण करते हैं। राष्ट्रीय शक्ति के विकास के साथ-साथ राज्यों के स्वार्थों में टकराहट उत्पन्न होती है जिसका परिणाम युद्ध ही होता है। आज की परिस्थितियों में युद्ध साधारणतया विश्वयुद्ध का रूप ले लेता है।

वस्तुतः राज्यों के स्वार्थों तथा उनकी अनियन्त्रित शक्ति ने एक लम्बे समय तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप निश्चित किया है। आज भी अनियन्त्रित और असीमित शक्ति के धारक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सबसे महत्वपूर्ण इकाई हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप को समझने के लिए आधुनिक राज्य के स्वरूप राज्य प्रणाली तथा राज्य प्रणाली के उपसिद्धान्त (Corollary) को समझना आवश्यक है।

आधुनिक राज्य प्रणाली का विकास
(EVOLUTION OF THE MODERN STATE SYSTEM]

आधुनिक राज्य व्यवस्था कोई स्थिर संकल्पना न होकर एक विकास व्यवस्था है जिसमें निरन्तर बदलाव आ रहा है। आधुनिक राज्य प्रणाली एक निरन्तर क्रमिक विकास का फल है। पश्चिम में आधुनिक राज्यों का जन्म 17वीं शताब्दी में 1648 की वेस्ट-फेलिया की सन्धि से समझा जाता है। इसे अच्छी तरह से समझने के लिए पश्चिमी जगत

संक्षेप में 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' और 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' के अन्तर को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

1. **अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध विस्तृत है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति संकीर्ण है**—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अन्तर्गत एक सम्प्रभु राज्य के सम्पूर्ण सम्बन्धों को चाहे वे राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक या साहित्यिक ही क्यों न हों, लिया जाता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तर्गत केवल राजनीतिक पक्ष को ही लिया जाता है।

2. **अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध वर्णनात्मक है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विश्लेषणात्मक है**—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में उन सभी सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है जो एक सम्प्रभु राज्य के द्वारा सीमा से बाहर स्थापित किये जाते हैं। इन सभी सम्बन्धों को निरपेक्ष रूप से संग्रहित किया जाता है। यह अधिकांशतः ऐतिहासिक दृष्टिकोण का होता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति केवल उन सम्बन्धों को ही लेगी जो राजनैतिक महत्व की हैं। वह उन घटनाओं को तभी तक प्रयुक्त करेगा जब तक वे एक संघर्ष की स्थिति का विश्लेषण करते हैं।

वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक-दूसरे के निकट आ रहे हैं। आज दोनों की बुनियादी चिन्ता समान है। दोनों विश्व में स्थायी शान्ति स्थापित करने के लिए समान रूप से चिन्तित हैं। इसी कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के राजनीतिक पहलू के अध्ययन में रुचि रखने वाले लोगों को उसके गैर-राजनीतिक पहलू का भी अध्ययन करना होगा। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन करना चाहता है उसे कुछ अंश में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का भी अध्ययन करना चाहिए। जब विश्व में शाश्वत शान्ति की स्थापना हो जायेगी और विश्व राज्य की कल्पना साकार होगी तो हो सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अन्तर समाप्त हो जाये।

दोनों विषयों की समानताएँ इस प्रकार दर्शायी जा सकती हैं :

(1) **विषय सामग्री के आधार पर**—दोनों ही विषय अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं से सम्बन्धित हैं।

(2) **लक्ष्य की दृष्टि से**—दोनों के लक्ष्य में समान होने की प्रवृत्ति पायी जाती है। उदाहरण के लिए, शान्ति स्थापना का प्रयास एक ऐसा प्रयास है जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को भी प्रभावित करता है।

(3) **प्रकृति के आधार पर**—अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक सम्प्रभु राज्य द्वारा सम्बन्ध मुख्य रूप से राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही स्थापित किये जाते हैं। कोई भी सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में गैर-राजनीतिक नहीं हो जाता है।

संक्षेप में **'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति'** अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का **राजनीतिक पहलू** है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की उपश्रेणी (Sub-discipline) कहा जा सकता है। हान्स मॉरगेन्थाऊ तथा कैनेथ टॉम्पसन जैसे विद्वानों का विचार है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का मूल तत्व और मर्म (Core) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति है। "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सब तरह के सम्बन्ध आ जाते हैं, यानी वे सम्बन्ध भी जो राजनीतिक नहीं हैं, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र के मुकाबले अत्यधिक व्यापक एवं विस्तृत है।"

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र—विषय-वस्तु
(SCOPE OF INTERNATIONAL POLITICS—THE SUBJECT MATTER)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अपेक्षाकृत एक नया विषय है और इसलिए अभी तक इसका क्षेत्र या दायरा निश्चित नहीं हो पाया है। सन् 1947 में 'विदेशी मामलों की परिषद्' (The Council of Foreign Relations) ने एक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया था जिसमें एक सर्वेक्षण के आधार पर ग्रेसन कर्क ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विषय-वस्तु में पाँच तत्वों का अध्ययन श

किया था : (i) टेस्ट सिस्टम या राज्य व्यवस्था के स्वरूप एवं कार्य प्रणाली का अध्ययन, (ii) राज्य की शक्ति को प्रभावित करने वाले तत्वों का अध्ययन; (iii) अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति एवं महाशक्तियों की विदेश नीतियों का अध्ययन; (iv) वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास का अध्ययन; तथा (v) अधिक स्थायित्व वाली विश्व-व्यवस्था के निर्माण की प्रक्रिया का अध्ययन करना।[1] सन् 1954 में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के कार्नेगी संस्थान के तत्वावधान (Carngie Endowment for International Peace) में विन्सेण्ट बेकर द्वारा सम्पादित एक सर्वेक्षण के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विषय-वस्तु में निम्नांकित अंश शामिल किये जाने की अनुशंसा की गयी थी : (i) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप तथा प्रमुख प्रभावोत्पादक तत्वों का अध्ययन; (ii) अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संगठनों का अध्ययन; (iii) राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों का अध्ययन; (iv) राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के साधनों का अध्ययन; (v) राष्ट्रीय शक्ति की सीमाओं तथा नियन्त्रण के तरीकों का अध्ययन; (vi) महाशक्तियों की विदेश नीति एवं कभी-कभी छोटे राज्यों की विदेश नीति का अध्ययन; तथा (vii) ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करना।

विन्सेण्ट बेकर ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विषय-वस्तु मे कतिपय अन्य तत्वों पर भी बल दिया है जैसे—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक में सैद्धान्तीकरण पर बल, नीति-निर्माण की प्रक्रिया के अध्ययन पर बल, समाज विज्ञान के अन्य विषयों की शोध से लाभ लेने की प्रवृत्ति, तथा विभिन्न प्रकार की घटनाओं के विशेप अध्ययन (Case studies) पर जोर देने की प्रवृत्ति।[2]

चार्ल्स श्लाइचर सभी अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शामिल करते हैं। **पामर तथा परकिन्स** का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक राज्य-व्यवस्था (State System) से घनिष्ठ सम्बन्ध है। **रॉबर्ट स्ट्राउस्ज** अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में नागरिकों के कार्यों और राजनीतिक महत्व वाले गैर-सरकारी समुदायों के क्रिया-कलापों को भी शामिल करते हैं। **हान्स मारगेन्थाऊ** ने राष्ट्रों के राजनीतिक सम्बन्धों और विश्व-शान्ति की समस्याओं को केन्द्र विन्दु मानकर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विश्लेषण किया है।

क्विंसी राइट के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तर्गत इन बातों का अध्ययन अपेक्षित हैं—विश्व में तनाव एवं हलचल की सामान्य दशा, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक क्षेत्रों में राज्यों की पारस्परिक निर्भरता की मात्रा; कानून एवं मूल्यों का सामान्य स्तर, जनसंख्या तथा साधन, उपज और खपत, जीवन के आदर्श एवं विश्व राजनीति की स्थिति। **स्प्राउट** के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तर्गत हम एक ओर तो राजनेताओं और उनके घटकों की अभिरुचि तथा उनके द्वारा लिये किये अनिर्णयों का और दुसरी ओर उन निर्णयों के लागू किये जाने के परिणामों का अध्ययन करते हैं।

संक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विषय-वस्तु (Subject-matter) को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।[3]

(1) **अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रधान पात्र—राज्य** (States as actors)—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रमुख पात्र राज्य होते हैं और इसके अन्तर्गत राज्यों के बाह्य व्यवहार का अध्ययन

1 Grayson Kirk, *The Study of International Relations in American Colleges and Universities*, Harper for Council on Foreign Relations, 1947, pp. 27-29.

2 Vincent Baker, The Introductory Course in International Relations, Trends and Problems. *Universities and World Affairs Documents* No. 62, Carnegie Endowments for International Peacc, Nov. 1, 1954.

3 J. A. Naik. *A Text-book of International Relations* (New Delhi, 1978), pp. 3-11.

किया जाता है। राज्यों के आपसी सम्बन्ध में बड़े जटिल और कई प्रकारों के तत्वों; जैसे भू-राजनीतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, वैचारिक, सामरिक तत्वों से प्रभावित होते हैं। प्रत्येक देश का अपना भौगोलिक महत्व होता है और तदनुरूप ही उसे दूसरे पड़ौसी राज्यों के साथ सम्बन्ध रखने होते हैं। उदाहरणार्थ, भारत के पड़ोसी देश हैं—पाकिस्तान, सोवियत संघ, अफगानिस्तान, चीन, भूटान, नेपाल, बंगाल देश, बर्मा तथा श्रीलंका और इसी कारण भारत का सामरिक दृष्टि से विशेष महत्व है। दूसरी तरफ भारत के लिए भी ये सारे देश विशिष्ट महत्व रखते हैं। कहने का तात्पर्य है कि अन्तराष्ट्रीय राजनीति अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों के अध्ययन पर बल देती है।

(2) **अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति (Power) के अध्ययन पर बल देती है**—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जितना अधिक बल शक्ति पर दिया गया है, उतना कदाचित किसी और विषय में नहीं दिया गया है। प्रो. हान्स जे. मॉरगेन्थाऊ ने लिखा है—"अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति प्रत्येक राजनीति की भाँति शक्ति-संघर्ष है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अन्तिम लक्ष्य चाहे जो कुछ भी हो, शक्ति सदैव तात्कालिक लक्ष्य रहती है।" वस्तुत: अन्तर्राष्ट्रीय जगत में सभी राज्य शक्ति के उपार्जन के लिए प्रयत्नशील होते हैं और शक्ति का दृष्टिकोण ही उनकी विदेश नीति की रचना में सबसे अधिक निर्णायक भूमिका अदा करता है।

(3) **अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं तथा संगठनों का अध्ययन**—आधुनिक युग में राज्यों के सम्बन्ध द्विपक्षीय न होकर वहुपक्षीय बनते जा रहे हैं और राज्यों के बहु-पक्षीय सम्बन्धों के संचालन में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की भूमिका महत्वपूर्ण मानी जाती है। विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राज्यों के आपसी सहयोग के महत्वपूर्ण मंच माने जाते हैं। राज्यों के मध्य आर्थिक, सैनिक, तकनीकी और सांस्कृतिक सहयोग की वृद्धि करने हेतु ही अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण किया जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना ने अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के महत्व को बढ़ाने में एक बड़ा योगदान दिया है। आज संयुक्त राष्ट्र संघ ही एकमात्र अन्तर्राष्ट्रीय संगठन नहीं है अपितु अब अनेक प्रकार के प्रादेशिक संगठनों की स्थापना हो चुकी है। ये सभी संस्थाएँ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं :

आर्थिक—यूरोपियन साझा बाजार, विश्व बैंक, कोलम्बो योजना आदि।

सैनिक—नाटो, सीटो, वार्सा पैक्ट, सेण्टो आदि।

राजनीतिक—राष्ट्र संघ, संयुक्त राष्ट्र संघ आदि।

प्रादेशिक—अरब लीग, अमरीकी राज्यों का संगठन, अफ्रीकी एकता संगठन, आदि।

सांस्कृतिक और अन्य यूनेस्को, अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन, विश्व स्वास्थ्य संगठन आदि।

(4) **युद्ध एवं शान्ति की गतिविधियों के अध्ययन पर बल** (War and Peace Activity)—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विषय युद्ध एवं शान्ति के प्रश्नों से सम्बन्धित है। विभिन्न राष्ट्रों के बीच गम्भीर आपसी मामलों के समाधान हेतु कभी-कभी युद्ध हो जाना स्वाभाविक है। हम सभी जानते हैं कि अब तो राष्ट्रों से मध्य बिना बन्दूक चलाये भी युद्ध हो जाते हैं : आर्थिक प्रतिबन्धों के द्वारा राष्ट्र एक-दूसरे के विरुद्ध आर्थिक युद्ध लड़ सकते हैं। युद्ध की परम्परा में 'शीत युद्ध' ने निस्सन्देह एक नया आयाम जोड़ा है। शीत-युद्ध एक प्रकार का स्नायु युद्ध (War of nerv
अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अधिकांशत: युद्ध एवं शान्ति के प्रश्नों के इर्द-गिर्द चक्कर काटती है।

(5) **विदेश नीति निर्माण की प्रक्रिया का अध्ययन** (Foreign Policy Makin
फैलिक्स ग्रास का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन वास्तव में विदेश नीति
अध्ययन है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से विभिन्न राष्ट्र
अपने हितों की रक्षा करने का प्रयत्न करते हैं। क्योंकि यह प्रक्रिया प्रकट रूप में राज्यों की

नीति के माध्यम से ही काम करती है, इसलिए विदेश नीति के अध्ययन से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन की मांग किसी हद तक पूरी हो जाती है।

पूर्व में विदेश नीति की विषय-वस्तु (The Content) के अध्ययन पर ही बल दिया जाता था, किन्तु वर्तमान में विश्लेषणात्मक पद्धति पर जोर देने का कारण विदेश नीति की निर्माण प्रक्रिया के अध्ययन पर अधिक बल दिया जाने लगा है। उदाहरण के लिए, भारत की विदेश नीति को तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक कि भारत के ऐतिहासिक अनुभवों और शासन-प्रणाली की पेचदगियों को न समझा जाये। भारत की विदेश नीति का निर्माण प्रधानमन्त्री और विदेश-मन्त्री ही नहीं करते अपितु यह एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम होती है जिसमें विदेश मन्त्रालय, विभिन्न राजनयिकों, संसद, समाचार-पत्रों, राजनीतिक दलों, विश्वविद्यालयों तथा अनुसन्धान-कर्ताओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

(6) **अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अध्ययन पर बल**—स्वतन्त्र राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का संचालन करने में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का बड़ा महत्व है। जिस प्रकार समाज में व्यक्ति बिना नियमों, कानूनों एवं रीति-रिवाजों के नहीं रह सकता, उसी प्रकार कोई भी राज्य बिना अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के अन्य राज्यों से अपने विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध नहीं बना सकता। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अध्ययन पर बल देने वाला विषय है।

(7) **विदेशी व्यापार एवं अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संगठनों का अध्ययन** (Foreign Trade and International Economic Organisation)—राज्यों के आर्थिक हित राजनीतिक क्रिया-कलापों को प्रभावित करते हैं। विदेश व्यापार राज्यों के राजनीतिक सम्बन्धों को घनिष्ठ बनाता है। विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय नियम विदेशी व्यवसाय को नियन्त्रित करते हैं। विकसित देशों द्वारा विकासोन्मुख देशों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता, व्यापार और भुगतान समझौते, कार्टेल्स का प्रयोग आदि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्यार्थी की अभिरुचि के विषय हैं।

(8) **सैनिक संगठनों और राजनीतिक गुटों का अध्ययन**—द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् 'साम्यवादी गुट', 'स्वतन्त्र समाज', 'गुटनिरपेक्ष राज्य'; 'अरब समुदाय', 'अफ्रीकी देश' जैसे अनेक राजनीतिक गुट अस्तित्व में आये हैं। ये राजनीतिक गुट संयुक्त राष्ट्र संघ के मंच पर अथवा उसके बाहर अनेक मामलों पर मिल-जुलकर कार्य करते हैं। इन गुटों को जोड़ने वाले तत्वों, उनके मतभेदों तथा विवादों का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विषय-वस्तु के अन्तर्गत आता है।

जब ये राजनीतिक समुदाय अपने सदस्यों के बीच सैनिक सन्धियाँ कर लेते हैं तो ये सैनिक गुट का रूप ग्रहण कर लेते हैं। नाटो, सीटो, वारसा पैक्ट, सैण्टो आदि कतिपय ऐसे ही सैनिक गुट हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का ध्येय उन कारणों का अध्ययन करना है जिनके परिणामस्वरूप सैनिक गुटों का निर्माण किया गया है; सैनिक गुटों से विश्व में शक्ति-सन्तुलन किस प्रकार प्रभावित हुआ है तथा विश्व-शान्ति की समस्या से ये गुट किस प्रकार सम्बन्धित हैं आदि।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन की सीमा में छोटे-बड़े कई प्रकार के विषय शामिल किये जाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति : एक स्वायत्त विषय
(INTERNATIONAL POLITICS AS AN AUTONOMOUS DISCIPLINE)

लगभग अधिकांश देशों के विश्वविद्यालयों में किसी न किसी रूप में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति (अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध) विषय का अध्ययन-अध्यापन होता रहा है। परन्तु आज भी यह एक विवादास्पद प्रश्न उठाया जाता है कि क्या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक स्वायत्त और ज्ञान की पृथक शाखा है अथवा नहीं? क्या इसका अध्ययन ज्ञान की दूसरी शाखाओं जैसे राजनीति विज्ञान, इतिहास और अर्थशास्त्र के अंग के रूप में किया जाता है? मोटे रूप से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विषय

में राज्यों के विकास को संक्षिप्त रूप में जान लेना उचित होगा। यह विकास चार बड़े युगों में से होकर गुजरा है—

1. नगर राज्यों का युग,
2. रोमन साम्राज्य का युग,
3. सामन्तवादी युग,
4. आधुनिक राज्यों का युग।

1. **नगर राज्यों का युग**—यह 1500 ई० पूर्व में वर्तमान यूनानी प्रायद्वीप में उस समय हेलीन कहलाने वाली यूनानी जाति के बसने के साथ आरम्भ होता है। इस युग में अधिकांश राज्य नगर राज्य थे। एथेन्स, स्पार्टा इस प्रकार के राज्यों के प्रसिद्ध उदाहरण हैं। सिकन्दर की विश्व विजय से ये नगर राज्य समाप्त हो गये। 328 ई० पू० सिकन्दर ने नगर राज्य के स्थान पर विश्वव्यापी साम्राज्य स्थापित किया। उसकी मृत्यु के बाद यह विशाल साम्राज्य अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। यूनानी राज्यों में कूटनीतिक प्रतिनिधि भेजने की प्रथा थी। युद्ध के संचालन के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के नियम थे। यूनानियों में कुछ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का भी विकास हुआ। उनके संघ का नाम डेलियन ऐम्पिक टयोनी था।

2. **रोमन साम्राज्य का युग**—दूसरा युग रोमन साम्राज्य का था। 264 ई० में अफ्रीका के उत्तरी तट पर बसे कार्थेज के नगर के साथ युद्ध छेड़कर रोम ने अपने साम्राज्य के निर्माण का श्रीगणेश किया और पहली शताब्दी ई० में यह साम्राज्य उत्तरी अफ्रीका से स्कॉटलैण्ड तक और उत्तरी अन्ध-महासागर के समुद्र तट से कैस्पियन सागर व ईरान की खाड़ी तक विस्तीर्ण हो गया। इस साम्राज्य में रोमन लोगों ने सर्वत्र शान्ति, व्यवस्था तथा सुशासन स्थापित किया। रोमन साम्राज्य के आरम्भिक समय में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अधिक विकास हुआ जस जैन्शियम (Jus Gentium) अथवा जातियों के कानून नामक अन्तर्राष्ट्रीय कानून की आधारशिला रखी गयी।

3. **सामन्तवादी युग**—रोमन साम्राज्य के पतन के साथ सामन्तवादी युग का उदय हुआ। इसकी सबसे बड़ी विशेषता राज्य का सामन्तवाद के आधार पर संगठन था। रोमन साम्राज्य की समाप्ति पर यूरोप अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। इनमें कोई भी राज्य बाह्य आक्रमणों से और आन्तरिक उपद्रवों से रक्षा करने में समर्थ नहीं था। अतः रोम के पतन से उत्पन्न रिक्तता की पूर्ति करने के लिए शनैः-शनैः सामन्तवादी पद्धति का विकास हुआ। यह एक प्रकार की ऐसी सोपान पद्धति थी जिसकी सीढ़ी के सबसे निचले स्तर पर अपनी भूमि के साथ बँधा हुआ भूदास (Serf) और सबसे ऊपरी स्तर पर सम्राट होता था। कोई शक्तिशाली सरदार अपनी सेना की सहायता से किसी प्रदेश को जीतकर उसे अपने बड़े-बड़े सामन्तों में कुछ शर्तों के साथ आन्तरिक शासन और सुव्यवस्था के लिए बाँट दिया करता था। ये सामन्त लार्ड कहलाते थे, अपने राजा या स्वामी के प्रति राज-भक्ति की शपथ लेते थे, उसे निश्चित कर और उपहार देते थे। ये बड़े सामन्त इसी प्रकार की शर्तों के साथ अपने प्रदेशों को उप-सामन्तों या छोटे सरदारों में बाँट देते थे। ये छोटे सरदार इसी प्रकार अपने प्रदेश में रहने वाले अन्य निवासियों का नियन्त्रण करते थे और उनसे अपने लिए सब प्रकार की सेवाएँ प्राप्त करते थे। सबसे निचले स्तर पर अपने स्वामी की भूमि पर खेती करने वाले और इसे छोड़कर अन्यत्र न जा सकने वाले भूमिदास (Serf) थे जो स्वामी को विभिन्न सेवाएँ देने के बदले में उसे आन्तरिक उपद्रवों से सुरक्षा और संरक्षण प्रदान करते थे। प्रत्येक जमींदार या स्वामी अपने क्षेत्र में सर्वोच्च होता था, किन्तु वह अपने से ऊपर के सामन्त के प्रति निष्ठा रखता था और अपने अधीनस्थ व्यक्ति से उसी प्रकार की निष्ठा की अपेक्षा रखता था।

सामन्तवाद ने रोमन साम्राज्य के पतन के बाद यूरोप में उत्पन्न अराजकता को दूर करने में कुछ शान्ति और स्थिरता लाने का प्रयत्न किया किन्तु 13वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अनेक कारणों से इस व्यवस्था का अन्त होने लगा और आधुनिक राष्ट्रीय राज्य स्थापित होने लगे।

4. **आधुनिक राज्यों का युग**—1648 की वैस्टफेलिया की सन्धि से राज्य की उस व्यवस्था का जन्म हुआ जिसे आधुनिक राज्य व्यवस्था कहते हैं। इस व्यवस्था की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सब राज्य सर्वथा स्वतन्त्र, प्रभुसत्तासम्पन्न (Sovereign) और समान दर्जा रखने वाले समझे जाते हैं। इस सन्धि से पहले यूरोप के राज्यों की यह स्थिति नहीं थी। उस समय पवित्र रोमन साम्राज्य अथवा आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग वंशी राजाओं का साम्राज्य अन्य सभी राज्यों की तुलना में शक्ति और प्रतिष्ठा की दृष्टि से ऊँचा समझा जाता था। वैस्टफेलिया की सन्धि ने इन्हें फ्रांस, स्वीडन, इंगलैण्ड, स्पेन और डच गणराज्य के समकक्ष बना दिया। इस समय से अपने प्रदेश में सर्वोच्च प्रभुसत्ता (Sovereignty) का दावा करने वाले, उसकी रक्षा के लिए सदैव जागरूक रहने वाले आधुनिक राष्ट्रीय राज्यों का अभ्युदय हुआ। इन्होंने अपने राष्ट्रीय गौरव की दृष्टि से समुद्र पार के दूरवर्ती प्रदेशों में अपने उप-निवेश और विशाल साम्राज्य स्थापित करने शुरू किये। पुर्तगाल और स्पेन पोप के आदेश से पहले ही अमरीका और एशिया के विभिन्न विशाल प्रदेशों पर अपना साम्राज्य स्थापित कर चुके थे, अब इंगलैण्ड और हालैण्ड ने इन्हें चुनौती देते हुए अपने साम्राज्य का विस्तार आरम्भ किया। 18वीं शताब्दी में फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन में साम्राज्य स्थापित करने की होड़ शुरू हुई। दोनों देशों ने उत्तरी अमरीका, भारत, अफ्रीका और वैस्ट इंडीज के टापुओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। 1763 में इंगलैण्ड और फ्रांस का सप्तवर्षीय युद्ध समाप्त होने पर फ्रांस को अपना काफी बड़ा साम्राज्य खोना पड़ा।

इस समय प्रचलित वाणिज्यवाद (Mercantilism) की आर्थिक विचारधारा ने भी राज्यों के विकास में बड़ा सहयोग दिया। इस विचारधारा के अनुसार उस समय के विचारक और व्यापारी सोना-चाँदी को शक्ति और सम्पत्ति का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत समझते थे। इन्हें युद्ध करने के लिए आवश्यक साधन (Sinews of War) माना जाता था। इन्हें युद्ध करने के लिए आयात की अपेक्षा निर्यात की जाने वाली वस्तुओं पर अधिक बल दिया जाता था, सोना-चाँदी पाने के लिए उपनिवेश (Colonies) बड़े बहुमूल्य साधन समझे जाते थे और इनको पाने के लिए लड़ाइयाँ लड़ी जाती थीं। इसी समय यूरोप में शक्ति-सन्तुलन (Balance of Power) के सिद्धान्त का विकास हुआ। लुई चौदहवें के नेतृत्व में जब फ्रांस ने पश्चिमी-यूरोप में अपने प्रभुत्व का प्रसार करने का प्रयत्न किया तो उसके विरुद्ध पश्चिमी यूरोप के लगभग सभी देश स्पेन, आस्ट्रिया, स्वीडन, प्रशिया, हालैण्ड, पुर्तगाल और इंगलैण्ड संगठित हो गये, इन्होंने मिलकर लुई 14वें को पराजित किया। 1714 में एक सन्धि द्वारा यूरोप में शान्ति स्थापित हुई, किन्तु फ्रांस अपने अपमान को नहीं भूला और 1776 में उसने अमरीकी उपनिवेशों तथा क्रान्तिकारियों की सहायता की, इसमें स्पेन और हालैण्ड ने भी उसे सहयोग दिया। इसके परिणामस्वरूप इंगलैण्ड को अपने 13 उत्तर अमरीकी उपनिवेशों से हाथ धोना पड़ा, संयुक्त राज्य अमरीका के रूप में एक नये राज्य का अभ्युदय हुआ।

1789 की फ्रेंच राज्य क्रान्ति ने राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र के सिद्धान्तों को विफल बनाने के लिए यूरोप के सब राज्यों का आह्वान किया तो फ्रांस ने 1792 में प्रशिया और आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इसी समय नैपोलियन बोनापार्ट का उत्कर्ष हुआ, उसने आस्ट्रिया को हराने के बाद शनैः-शनैः अगले 20 वर्षों में लगभग सारे यूरोप और अफ्रीका के कुछ प्रदेशों को जीत लिया। अब फ्रांस की इस महाशक्ति के विरुद्ध इंगलैण्ड के नेतृत्व में यूरोप के देश संगठित हुए और अन्त में वाटरलू के रणक्षेत्र में इन्होंने नेपोलियन को पराजित किया। इसके बाद 1815 में वियना कांग्रेस ने यूरोप का विभिन्न सन्धियों द्वारा पुनर्निर्माण किया। इस सम्मेलन द्वारा की

गयी यूरोप की पुनर्व्यवस्था काफी अंशों में 1914 में प्रथम विश्व युद्ध छिड़ने तक चलती रही। इस सम्मेलन ने लगभग 300 छोटे जर्मन राज्यों को 39 राज्यों के एक संघ में पुनर्गठित किया। यूरोप की पुरानी व्यवस्था को बनाये रखने के लिए पवित्र संघ (Holy Alliance) का निर्माण किया। यह राष्ट्र संघ और संयुक्त राष्ट्र संघ का एक पूर्ववर्ती रूप था। 19वीं शताब्दी में राष्ट्रीयता की भावना के साथ-साथ लोकतन्त्र, उदारवाद पूंजीवाद की भावना भी यूरोप में प्रबल हुई। 1870 के बाद राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के आधार पर बिस्मार्क ने जर्मनी का और काबूर ने इटली का एकीकरण और नवनिर्माण किया। संयुक्त राज्य अमरीका और जापान की महाशक्तियों का विकास हुआ। जर्मनी यूरोप की प्रधान शक्ति बना। किन्तु इस समय ग्रेट ब्रिटेन का सबसे बड़ा शक्तिशाली राज्य था। भौगोलिक, आर्थिक, सैनिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने उसे एक विश्वव्यापी साम्राज्य स्थापित करने में सहायता प्रदान की। 1870 के बाद यूरोप की महाशक्तियों में अफ्रीका, प्रशान्त महासागर और पूर्वी एशिया में साम्राज्य स्थापित करने के लिए प्रबल होड़ हुई, चीन और ईरान में विभिन्न शक्तियों ने अपने प्रभाव क्षेत्र (Spheres of Influence) स्थापित किये। फ्रांस ने अफ्रीका और हिन्दचीन के विशाल प्रदेशों को जीत कर इंगलैण्ड के बाद सबसे बड़े साम्राज्य का निर्माण किया। संयुक्त राज्य अमरीका ने अलास्का खरीदने के बाद मध्य अमरीका के विभिन्न प्रदेशों में अपना प्रभाव स्थापित किया; फिलिप्पाइन, हवाई और समोआ को अपने साम्राज्य का अंग बनाया।

प्रथम विश्वयुद्ध से पहले यूरोप के राज्यों में दो बड़े गुट थे। बिस्मार्क ने फ्रांस के सम्भावित आक्रमण से सुरक्षा पाने के लिए 1882 में जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी तथा इटली से त्रिराष्ट्र मैत्री सन्धि (Triple Alliance) की तथा रूस को फ्रांस से पृथक् बनाये रखने के लिए 1887 में उसके साथ पुनराश्वासन सन्धि (Reinsurance Treaty) की। 1891 से 1894 के बीच रूस और फ्रांस ने जर्मन आक्रमण से सुरक्षा के लिए द्विराष्ट्र सन्धि (Dual Alliance) की। 1904 में फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन ने तथा 1907 में ब्रिटेन और रूस ने आपस में समझौते किये और अन्त में फ्रांस, रूस और ग्रेट ब्रिटेन की त्रिराष्ट्र मैत्री सन्धि (Triple Entente) हुई। 1900 के बाद से ग्रेट ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमरीका में परस्पर घनिष्ठता बढ़ने लगी। 1902 में ऐंग्लो-जापानी मैत्री सन्धि हुई।

इन सन्धियो से यह स्पष्ट है कि 28 जुलाई, 1914 को प्रथम विश्वयुद्ध शुरू होने से पहले न केवल यूरोप, अपितु विश्व के सभी बड़े राज्य दो गुटों में बंट चुके थे। इस गुटबन्दी के अनुसार प्रथम विश्वयुद्ध में विभिन्न राष्ट्रों ने भाग लिया। इस युद्ध में जर्मनी और उसके साथी पराजित हुए और 1919 के पेरिस के शान्ति समझौते द्वारा यूरोप एवं विश्व में राज्यों की नवीन व्यवस्था की गयी। इसमें राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को बड़ा महत्व दिया गया। इसी आधार पर पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया के नये राज्य बनाये गये। जर्मनी के साथ अत्यन्त कठोर शान्ति सन्धि की गयी।

इस युद्ध की समाप्ति के बाद आधुनिक राज्यों के विकास का पाँचवां युग शुरू होता है। इसकी प्रधान विशेषताएँ इंगलैण्ड, फ्रांस आदि यूरोप के राष्ट्रों की महाशक्ति के रूप में समाप्ति, रूस और अमरीका की दो नवीन सर्वोपरि (Super) महाशक्तियों का अभ्युदय, एशिया और अफ्रीका में राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की विजय, उपनिवेशवाद का अन्त तथा नवीन छोटे राज्यों का बड़ी संख्या में अभ्युत्थान, संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना तथा आणविक आयुधों का विकास है। इस समय के सभी राज्य राष्ट्रीयता (Nationalism) तथा प्रभुसत्ता (Sovereignty) के सिद्धान्तों पर बहुत अधिक बल देते हैं अतः आधुनिक राज्यों की दो बड़ी विशेषताएँ 'राष्ट्रीयता' और 'प्रभुसत्ता' हैं।

आधुनिक राज्य प्रणाली के उप-सिद्धान्त अथवा विशेषताएँ
(THE STATE SYSTEM : ITS COROLLARIES OR SALIENT FEATURES)

आधुनिक राज्य प्रणाली, जिसका उदय सन् 1648 के बाद हुआ, की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

1. **राष्ट्रीयता**—आधुनिक राज्य पद्धति की एक बड़ी विशेषता राष्ट्रीयता (Nationalism) की भावना है। इस समय अधिकांश राज्य राष्ट्रीयता पर आधारित हैं। अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर घटित होने वाली सब प्रमुख घटनाओं की प्रधान प्रेरणा यही भावना होती है, चाहे वह घटना अरब-इजराइल का संघर्ष हो, भारत-पाक युद्ध हो अथवा वियतनाम की लड़ाई हो। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि सभी वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के मूल में राष्ट्रीयता की भावना किसी-न-किसी रूप में पायी जाती है। अतः कुछ विचारकों ने इसे राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार (International Behaviour of States) को समझने के लिए एक अत्यन्त आवश्यक साधन बताया है। शार्प और कर्क के शब्दों में, "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्यार्थियों के लिए राष्ट्रीयता को समझना वैसा ही आवश्यक है, जैसा किसी भवन के सब कमरों में प्रवेश पाने के इच्छुक व्यक्ति के लिए एक ऐसी मास्टर कुंजी को पा लेना जिसकी सहायता से वह सब कमरों को खोल सके।" वस्तुतः वर्तमान समय में राज्यों के सब व्यवहारों की व्याख्या अधिकांश रूप में उनकी राष्ट्रीय आशाओं, आशंकाओं, महत्वाकांक्षाओं और संघर्षों के रूप में की जा सकती है। उदाहरणार्थ, पाकिस्तान के व्यवहार तथा विदेश नीति का मूल कारण उसकी यह राष्ट्रीय अभिलाषा एवं महत्वाकांक्षा है कि वह संसार में सबसे बड़ा और शक्तिशाली मुस्लिम राष्ट्र बने, उसे यह आशंका है कि उसका पड़ौसी भारत सदैव उसके इस उद्देश्य की पूर्ति में बाधक बना हुआ है, उसने कश्मीर को पाने के लिए भारत के साथ 1947, 1965 और 1971 में तीन बार सैनिक संघर्ष किये हैं। आजकल प्रत्येक देश के नेता अपने राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि समझते हैं। उनके मतानुसार राज्य के प्रति सब नागरिकों की सर्वोपरि निष्ठा और भक्ति होनी चाहिए, इसके लिए उन्हें अपने सर्वस्व का बलिदान कर देना चाहिए। वस्तुतः कई बार आधुनिक राज्यों मे राष्ट्रीयता की भावना नैतिक और धार्मिक विश्वासों से भी अधिक प्रबल हो जाती है, या एक नये धर्म का स्थान ले लेती है, हिटलर के समय में जर्मनी में यही स्थिति थी। सुप्रसिद्ध इतिहासकार आर्नोल्ड टायनबी ने इसे पश्चिमी जगत का नया धर्म बताया है।

राष्ट्रीयता की परिभाषा करना कठिन है। राष्ट्रीयता (Nationalism) राष्ट्र शब्द से बना है और राष्ट्र का सामान्य अर्थ एकता की भावना रखने वाला जनसमुदाय है। प्रायः आजकल राष्ट्र शब्द का प्रयोग राज्य के अर्थ में भी होता है जैसे राष्ट्र संघ (League of Nation) अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ (United Nations)। राज्य के अर्थ में राष्ट्र शब्द के प्रयोग के कारण उत्पन्न होने वाले संशय और भ्रान्ति को दूर करने के लिए अनेक लेखक राष्ट्र शब्द के स्थान पर राष्ट्रीय वर्ग (Nationality) का प्रयोग करते हैं। राष्ट्रीय वर्ग का अभिप्राय एकता और अनुभूति रखने वाला जनसमुदाय है, भले ही वह राज्य के रूप में राजनीतिक दृष्टि से संगठित हो या न हुआ हो। उदाहरणार्थ, बंगलादेश में रहने वाली बंगाली जनता दिसम्बर 1971 में इस देश के स्वतन्त्र होने से पहले अपनी एकता की अनुभूति रखने वाला एक राष्ट्रीय वर्ग था, स्वतन्त्र होने के बाद वह राष्ट्र और राज्य बना। 1919 में आस्ट्रिया तथा हंगरी के साम्राज्य का विघटन होने से पहले इसमें यूगोस्लाव, हंगेरियन, पोल, चैक, स्लोवाक आदि एकता की अनुभूति रखने वाले अनेक राष्ट्रीय वर्ग थे; पेरिस की शान्ति सन्धि के बाद यूगोस्लाविया, हंगरी, पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया के रूप में राष्ट्र तथा राज्य बने।

राष्ट्रीयता का सबसे अधिक सन्तोषजनक लक्षण करते हुए अर्नेस्ट बार्कर ने लिखा है कि 'राष्ट्र ऐसे मनुष्यों का एक समुदाय है जो एक निश्चित प्रदेश पर रहते हैं, जो सामान्य रूप में विभिन्न जातियों से मिलकर बने होते हैं, फिर भी एक सामान्य इतिहास के कारण उनमें एक प्रकार के सामान्य विचार और अनुभूतियाँ पायी जाती हैं, उनका धर्म लगभग एक ही प्रकार का होता है, वे अपने विचारों और भावनाओं को व्यक्त करने के लिए ही सामान्य भाषा का प्रयोग करते हैं, उनमें यह सामान्य इच्छा और भावना होती है कि वे अपना पृथक् राज्य बनाकर रहें। राष्ट्रीयता का गम्भीर अध्ययन करने वाले एक विद्वान हेज कोहन ने राष्ट्रीयता की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "राष्ट्र मनुष्य की पूरी निष्ठा और स्वतन्त्र राजनीतिक संगठन की आकांक्षा रखने वाला जनसमुदाय है।" एक अन्य विद्वान अर्नेस्ट रेनन ने लिखा है, "राष्ट्र का निर्माण एक भाषा बोलने वाले लोगों अथवा एक नस्ल से सम्बन्ध रखने वाले लोगों से नहीं होता है, अपितु ऐसे लोगों से होता है जिन्होंने अतीत काल में महान कार्य किये हों तथा भविष्य में भी ऐसे कार्य करने की आशा रखते हों।"

किसी देश की राष्ट्रीयता का निर्माण कई प्रकार के तत्वों से मिलकर होता है। इनको श्लीचर (Schleicher) ने दो वर्गों में बाँटा है—मूल तत्व और पोषक तत्व। मूल तत्व मानवीय प्रकृति एवं मनोवैज्ञानिक भावना, भौगोलिक परिस्थिति, नस्ल, धर्म, भाषा, इतिहास और परम्परा की समानता, आर्थिक परिस्थितियाँ, प्रजातन्त्र, असुरक्षा की भावना और सामान्य शासन है और पोषक तत्व विद्यालय, समाचार-पत्र, रेडियो, टेलिविजन, फिल्म, संगीत आदि विभिन्न प्रकार के प्रचार के साधन हैं। मानवीय प्रकृति का आशय यह है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह समान हित और उद्देश्य रखने वाले समूहों में सम्मिलित होता है। वह जिस स्थान पर रहता है और जो भाषा बोलता है, उससे उसका स्वाभाविक लगाव हो जाता है और वह उस स्थान के अन्य निवासियों के साथ एक प्रकार की ऐसी एकता की अनुभूति रखता है जो उसे दूसरे स्थान के निवासियों से भिन्न बनाती है। उसमें अपनी भूमि, भाषा, धर्म के प्रति अनुरक्ति और भक्ति की भावना उत्पन्न होती है। राष्ट्रीयता वस्तुतः एक मनोवैज्ञानिक भावना है, इसके न होने पर किसी राष्ट्र का निर्माण नहीं हो सकता है। ब्रिटिश शासन में हिन्दुस्तान-पाकिस्तान एक थे। ब्रिटिश संरक्षण में मुस्लिम लीग द्वारा जब मुसलमानों पर अत्याचार के बहुमत का हौआ दिखाया गया कांग्रेस के मन्त्रिमण्डलों द्वारा मुसलमानों पर अत्याचार के कपोल कल्पित वर्णन प्रस्तुत किये गये तो उनमें हिन्दुओं से पृथक् पाकिस्तान का राज्य बनाने की मनोवैज्ञानिक भावना उत्पन्न हुई।

वस्तुतः राष्ट्रीयता के अनेक निर्माणकारी तत्व हैं :

(1) भौगोलिक एकता (Geographical unity)
(2) जातीय एकता (Racial unity)
(3) विचारों या आदर्शों की एकता (Cultural unity)
(4) भाषा की एकता (Unity of Language)
(5) धर्म की एकता (Unity of Religion)
(6) विदेशी शासन के प्रति समान अधीनता (Common Subjection)

(1) **भौगोलिक एकता**—भौगोलिक एकता राष्ट्रीयता के विकास के लिए एक महत्वपूर्ण तत्व है। भौगोलिक स्थिति तथा जलवायु का मनुष्यों के चरित्र और शारीरिक गठन पर निश्चित प्रभाव पड़ता है। फलस्वरूप ऐसे मनोवैज्ञानिक गुणों की उत्पत्ति होती है जिनसे एक भौगोलिक सीमा के अन्दर बसे हुए लोगों में सहयोग और सहानुभूति पैदा हो जाती है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "एक निश्चित भूभाग पर निरन्तर एक साथ रहना राष्ट्रीयता के विकास के लिए आवश्यक है।"

(2) **जातीय एकता**—नस्ल की एकता के कारण लोगों में एक-दूसरे के लिए सहानुभूति और सामीप्य की भावना पैदा होती है। जिमर्न का कहना कि जातीय एकता राष्ट्रीयता के विकास के लिए सर्वप्रमुख तत्व है।

(3) **विचारों या आदर्शों की एकता**—बहुत-से लोगों की सामान्य राजनीतिक आकांक्षा उन्हें एक सूत्र में बाँध देती है। इस तरह की राजनीतिक आकांक्षा प्रायः स्वाधीनता की माँग के रूप में पायी जाती है। कुछ वर्षों पूर्व दुनिया का अधिकांश भाग गुलामी की जंजीरों में जकड़ा हुआ था। इसके विरुद्ध देशवासियों ने स्वतन्त्रता संग्राम चलाया। इस राजनीतिक आदर्श ने उन्हें एक सूत्र में बाँध दिया।

(4) **भाषा की एकता**—राष्ट्रवाद के निर्माण में भाषागत एकता एक महत्वपूर्ण तत्व है। सामान्य भाषा ऐतिहासिक परम्पराओं को जीवित रखने में सहायक होती है और एक ऐसे राष्ट्रीय मनोविज्ञान को जन्म देती है जिससे सामान्य नैतिकता और सामान्य राष्ट्रीयता का विकास सम्भव होता है।

(5) **धर्म की एकता**—धार्मिक एकता ने राष्ट्रीय एकता को जन्म देने और उसे सबल बनाने में बहुत-कुछ योग दिया है। यहूदियों, तुर्कों और अरबों में राष्ट्रीयता का विकास प्रमुख रूप से धर्म के कारण ही हुआ।

(6) **समान अधीनता**—कभी-कभी सुदृढ़ शासन की अधीनता भी राष्ट्रीयता का सबल कारण होती है। अँग्रेजी शासनकाल में भारत को राजनीतिक एकत्व प्राप्त हुआ जिससे राष्ट्रवाद की भावना बलवती हुई।

राष्ट्रीयता वर्तमान युग में वरदान भी सिद्ध हुई है और अभिशाप भी। इसका महत्वपूर्ण वरदान यह है कि इसने पराधीन देशों में राष्ट्रीयता के आधार पर स्वतन्त्र होने की आकांक्षा, इच्छा और आस्था को सुदृढ़ एवं पुष्ट किया; परतन्त्र देशों को स्वतन्त्र बनाया। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रूस, आस्ट्रिया और प्रशिया ने यद्यपि पोलैण्ड के विभिन्न प्रदेशों का बँटवारा करके इस राज्य को मानचित्र से मिटा दिया था, किन्तु वे इसकी राष्ट्रीयता की भावना को नहीं कुचल सके। प्रथम विश्व युद्ध के बाद न केवल पोलैण्ड का, अपितु उपर्युक्त साम्राज्यों द्वारा पददलित चैकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, हंगरी, फिनलैण्ड और बाल्टिक तटवर्ती लैटविया, इस्टोनिया आदि राज्यों का अभ्युदय हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एशिया और अफ्रीका में राष्ट्रीयता की लहर प्रबल होने से ये महाद्वीप उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त हुए और यहाँ भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, बर्मा, इंडोनेशिया, मलाया, वियतनाम आदि स्वतन्त्र राज्यों का अभ्युदय हुआ। राष्ट्रीयता ने करोड़ों लोगों को स्वाधीन बनाया, यह राष्ट्रीयता का सबसे बड़ा वरदान है।

किन्तु इसके साथ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि राष्ट्रीयता ने इस प्रकार स्वाधीन होने वाले राज्यों में उग्र राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करके राष्ट्र का दृष्टिकोण अत्यन्त संकुचित और संकीर्ण बना दिया है। वे अपने राज्य की सीमा से आगे कुछ भी नहीं देखते हैं। उसे पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न समझते हैं और अपने राष्ट्रीय हित के अतिरिक्त अन्य राष्ट्रों के हितों की कोई परवाह नहीं करते हैं। प्रत्येक राज्य द्वारा अपनी प्रभुसत्ता को अत्यन्त महत्व देने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गयी है। इसी राष्ट्रीयता के कारण विश्व में शान्ति की स्थापना के उद्देश्य से स्थापित किये गये राष्ट्र संघ को सफलता नहीं मिली और यही राष्ट्रीयता इस समय संयुक्त राष्ट्र संघ को विफल बना रही है। राष्ट्रीयता वर्तमान काल के अधिकांश युद्धों का प्रमुख कारण है। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध जर्मनी की उग्र राष्ट्रीयता से आरम्भ हुए थे। वर्तमान शताब्दी में होने वाले अधिकांश युद्धों के मूल कारणों का यदि विश्लेषण किया

जाय तो इन सबके मूल में राष्ट्रीयता की भावना पायी जायेगी। युद्धों को जन्म देने के साथ-साथ इसका एक अन्य दुष्परिणाम उप-निवेशवाद को तथा इसके लिए लड़े जाने वाले युद्धों को जन्म देना है। इस विषय में हेज ने यह सत्य ही लिखा है कि राष्ट्रीयता के कारण पहले मानवीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए संघर्ष का श्रीगणेश किया जाता है और बाद में यह शीघ्र ही राष्ट्र के विस्तार के लिए की जाने वाली विजयों, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के संघर्ष में बदल जाता है। इस प्रकार निरन्तर युद्धों का ऐसा दुष्चक्र चलता है जो कभी समाप्त होने में नहीं आता है। अमरीका जैसे लोकतन्त्र के प्रेमी देश ने 1889 में फिलिपाइन को साम्राज्यवादी दृष्टिकोण से हथियाया था। 19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में इसी उद्देश्य से इंगलैण्ड, जर्मनी, फ्रांस बेल्जियम आदि देशों ने एशिया और अफ्रीका के विस्तृत प्रदेशों को अपने साम्राज्यों का अंग बनाया।

राष्ट्रीयता एक अन्य प्रकार से भी युद्धों में सहायक होती है। प्रायः इसकी आड़ लेकर दूसरे देशों में रहने वाले अल्पसंख्यकों को अपने राज्य में मिलाने की दृष्टि से युद्ध छेड़े जाते हैं। हिटलर ने चैकोस्लोवाकिया में बसे सुडेटन जर्मन लोगों की मुक्ति के लिए और पोलिश गलियारे में बसे जर्मन लोगों की मुक्ति के लिए द्वितीय विश्वयुद्ध का श्रीगणेश किया। राष्ट्रीयता की भावना लोगों में इतने अधिक अहंकार और गर्व की भावना को भर देती है कि वे राष्ट्रीय प्रतिष्ठा में तनिक भी क्षति को इतना असहनीय समझते हैं कि युद्ध के लिए उतारू हो जाते है। इसी के परिणामस्वरूप राज्य आपसी विवादों का निर्णय करने के लिए शान्तिपूर्ण साधनों को अपनाने में अपमान समझते हैं। अपनी प्रभुसत्ता को सीमित करने वाले किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की सत्ता को स्वीकार नही करते हैं। लार्ड एक्टन ने राष्ट्रीयता को एक अन्य कारण से भी अभिशाप माना है। उनका यह कहना है कि राष्ट्रीयता की उग्र भावना व्यक्ति की स्वतन्त्रता और स्वाधीनता के लिए एक बहुत बड़ा खतरा सिद्ध हुई है। राष्ट्रीयता के नाम पर व्यक्ति के विकास के लिए महत्वपूर्ण स्वाधीनता की भावना को बिल्कुल कुचल दिया जाता है। हिटलर के समय का नाजी जर्मनी, मुसोलिनी के समय का फासिस्ट इटली और स्टालिन का रूस इसके सुन्दर उदाहरण हैं।

2. **प्रभुसत्ता**—आधुनिक राज्यों की एक बड़ी विशेषता प्रभुसत्ता है। यह ऐसा कानूनी सिद्धान्त है, जो प्रत्येक राज्य को पूरी स्वतन्त्रता और आन्तरिक मामलों में तथा अन्य राज्यों के साथ सम्बन्धों में उसे असीम, अमर्यादित और पूर्ण अधिकार प्रदान करता है।

बोदाँ के अनुसार प्रभुसत्ता राज्य का नागरिकों तथा प्रजाजनों पर सर्वोच्च अधिकार है और यह कानूनों द्वारा नियन्त्रित नहीं होता। इसका आशय यह है कि राज्य अपने नागरिकों के लिए किसी प्रकार का कोई भी कानून बनाने का पूरा अधिकार रखता है, उसे अपनी इच्छानुसार कोई भी कार्य करने का पूरा अधिकार है। उसकी इच्छा ही सबसे बड़ा कानून है। ऑस्टिन ने भी प्रभुसत्ता को सर्वोच्च, असीम, अमर्यादित, पूर्ण और अविभाज्य बतलाया था। विलोबी ने इसे राज्य का सर्वोच्च गुण माना है। उसके अनुसार, प्रत्येक राज्य को आन्तरिक और बाह्य क्षेत्रों में पूरी सर्वोच्च सत्ता प्राप्त है।

सुप्रसिद्ध विधिशास्त्री हालैण्ड ने प्रभुसत्ता का स्वरूप स्पष्ट करते हुए इसे दो प्रकार का माना है—बाह्य प्रभुसत्ता (External Sovereignty) तथा आन्तरिक प्रभुसत्ता (Internal Sovereignty)। पहले का अभिप्राय किसी राज्य का दूसरे देशों के बाहरी नियन्त्रण के अधीन न होना है, दूसरे का अर्थ अपने क्षेत्र में सब पर पूरा अधिकार रखना है। इसके अनुसार प्रत्येक राज्य को अपने देश का संविधान बनाने की तथा आवश्यक कानूनों का निर्माण करने की पूरी

स्वतन्त्रता है। उसे अपने देश की विदेश नीति निर्धारित करने की भी आजादी है। वह चाहे तो भारत की भाँति विभिन्न शक्तिशाली गुटों से पृथक् रहने (Non-alignment) की नीति अपना सकता है या पाकिस्तान की भाँति दूसरे देशों के साथ सैनिक सन्धियों की नीति को हितकर समझते हुए उसे ग्रहण कर सकता है। उसे दूसरे देशों के साथ युद्ध छेड़ने और सन्धि करने के पूरे अधिकार हैं। वह अपने देश के नागरिकों तथा अपने क्षेत्र में स्थित विदेशियों के साथ मनचाहा व्यवहार कर सकता है। उसे नागरिकों तथा विदेशियों की सम्पत्ति के ऊपर पूरा अधिकार है।

ऑस्टिन द्वारा प्रतिपादित प्रभुसत्ता का विचार सर्वथा सत्य नहीं है। राज्य की प्रभुसत्ता पूर्णरूप से अमर्यादित और असीम हो, ऐसी बात नहीं है। इस पर अनेक प्रकार के नियन्त्रण और मर्यादाएँ होती हैं। पहली मर्यादा राज्य द्वारा दूसरे देशों के साथ की गयी द्विपक्षीय अथवा बहुपक्षीय सन्धियाँ हैं। इनसे राज्य अपने ऊपर कई पाबन्दियाँ लागू करते हैं। दूसरी मर्यादा अन्तर्राष्ट्रीय कानून और नियमों की है। कोई भी सभ्य राज्य सामान्य रूप से इन नियमों का उल्लंघन नहीं करता है उदाहरणार्थ, प्रत्येक राज्य अपने नागरिकों या विदेशियों से मनमाना व्यवहार करने की स्वतन्त्रता रखते हुए भी इस बात का पूरा ध्यान रखता है कि उसका व्यवहार दूसरे देशों में क्षोभ या असन्तोष उत्पन्न करने वाला न हो। इसलिए अपने राज्य में आने वाले विदेशियों, राजाओं, शासनाध्यक्षों और राजनीतिक प्रतिनिधियों को विशेषाधिकार तथा राज्य के कानूनी बन्धनों से अनेक प्रकार की उन्मुक्तियाँ (Immunities) प्रदान की जाती हैं। प्रत्येक राज्य से यह आशा रखी जाती है कि वह अपने प्रादेशिक समुद्र की सीमा में विदेशों के व्यापारिक जहाजों को सुरक्षित रूप से गुजरने का अधिकार देगा। प्रत्येक देश यद्यपि दूसरे राज्य के प्रदेश की सीमा का उल्लंघन करने की स्वतन्त्रता रखता है, किन्तु वह सदैव ऐसा न करने का पूरा प्रयत्न करता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यों ने अन्य राज्यों के साथ शान्तिपूर्ण नीति के व्यवहार की प्रतिज्ञा करते हुए दूसरे देशों के साथ युद्ध छेड़ने के अपने अधिकार पर बहुत बड़ी पाबन्दी लगा दी है।

वर्तमान समय में राष्ट्रीयता की भाँति प्रभुसत्ता का विचार भी अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति, अराजकता और अव्यवस्था का एक प्रधान कारण बना हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह विचार राजाओं की निरंकुश सत्ता का समर्थन करने के लिए प्रतिपादित किया गया था। राजाओं की निरंकुश सत्ता समाप्त हो चुकी है, उसका स्थान अब राष्ट्रीय राज्यों की निरंकुश सर्वोच्च सत्ता ने ले लिया है। इसी कारण इस समय अशान्ति और अव्यवस्था है। अतः इस समय ऐसे विचारकों की कमी नहीं है, जो प्रभुसत्ता के विचार के विरोधी हैं और इसकी समाप्ति को अनिवार्य समझते है। लास्की ने 1916 में भविष्यवाणी की थी कि राज्य की प्रभुसत्ता का विचार उसी प्रकार समाप्त हो जायेगा, जैसे राजाओं के दैवी अधिकार (Divine Right of Kings) के विचार का अन्त हो चुका है।

लास्की की इस भविष्यवाणी के बावजूद निकट भविष्य में प्रभुसत्ता के विचार के परित्याग किये जाने की कोई सम्भावना प्रतीत नहीं होती है। संक्षेप में, यह वर्तमान राष्ट्रीय राज्यों की एक ऐसी मौलिक तथा प्रमुख विशेषताओं को प्रकट करती है जिसकी अभिव्यक्ति किसी अन्य पर्यायवाची शब्द द्वारा नहीं की जा सकती है। अतः पामर तथा पार्किन्स ने यह ठीक ही लिखा है कि "जब तक अन्तर्राष्ट्रीय समाज में राष्ट्रीय राज्य की व्यवस्था बनी हुई है, तब तक प्रभुसत्ता का विचार बना रहेगा और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन में इसका अनुशीलन अनिवार्य रूप से किया जाता रहेगा।" इस विचार ने ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शक्ति के लिए संघर्ष और शक्ति (Power) की राजनीति को उग्र बनाया है।

3. शक्ति (Power)—आधुनिक राज्य की एक बड़ी विशेषता यह है कि वह शक्ति (Power) रखता है। राष्ट्रीयता और प्रभुसत्ता की भांति राष्ट्रीय शक्ति भी वर्तमान राष्ट्र-पद्धति का एक अत्यावश्यक अंग है। शक्ति के माध्यम से राज्य अपनी घरेलू और विदेश नीतियों को कार्यान्वित करते हैं।

किन्तु सभी देशों की शक्ति समान नहीं होती है। कुछ देश बहुत बड़ी शक्ति रखते हैं। इनका अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बड़ा महत्व होता है जैसे द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस, और इस युद्ध के बाद रूस और अमरीका हैं। अन्य राज्यों के पास यह शक्ति कम मात्रा में होती है और वे छोटे अथवा निर्बल राष्ट्र समझे जाते हैं। राज्यों के पास भले ही शक्ति कम हो या ज्यादा, वे सदैव अपनी शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। राष्ट्रों में इसके लिए निरन्तर होड़ लगी रहती है और इसी को शक्ति के लिए संघर्ष (Struggle for Power) कहा जाता है।

निष्कर्ष—आधुनिक राज्य प्रणाली का मॉडल भी बदलता जा रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना तथा अनेक अन्तर्राज्यीय प्रादेशिक संगठनों के निर्माण से विश्व संघ के निर्माण की पृष्ठभूमि तैयार हो रही है। विश्व संघ की अवधारणा से सम्प्रभु राज्य की संकल्पना का भविष्य कुछ अन्धकार में नजर आता है।

प्रश्न

1. आधुनिक राज्य प्रणाली की विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
   Discuss the salient features of the modern state system.

3

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त : दृष्टिकोण की भिन्नता

[DIVERGENT APPROACHES TO INTERNATIONAL POLITICS]

हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वतन्त्र विषय (Autonomous discipline) के रूप में प्रतिष्ठित करने के प्रयत्नों में लगे हुए हैं और इसमें स्वतन्त्र विषय बनने की सम्भावनाएँ भी मौजूद हैं। यदि राज्यों के व्यवहार के बारे में कोई सामान्य सिद्धान्त बनाने में हम सफल हो जाते हैं तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक स्वतन्त्र ज्ञान क्षेत्र के रूप में विकसित हो सकेगी। द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बड़े पैमाने पर सिद्धान्त निर्माण के प्रयत्न किये जा रहे हैं। मार्टिन वाइट के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त राज्यों के आपसी सम्बन्धों के बारे में चिन्तन की एक परम्परा मात्र है जो राज्य सम्बन्धी चिन्तन के साथ जुड़ी हुई समझी जाती है और राज्य सम्बन्धी चिन्तन को 'राजनीति सिद्धान्त' का नाम दिया जाता है।"[1]

क्विन्सी राइट के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सामान्य सिद्धान्त का अर्थ एक व्यापक, ग्राह्य-सम्बद्ध, स्वसंशोधित ज्ञान संरचना से है जो राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा विश्व परिस्थितियों को समझने, भविष्यवाणी करने, विवेचन करने तथा नियन्त्रित करने में योगदान दे सके।"[2] अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में समुचित एवं सामान्य सिद्धान्त के विकास के लिए आवश्यक है कि सिद्धान्त निर्माण के लिए सर्वोत्तम वैज्ञानिक एवं विश्लेषणात्मक पद्धतियों का प्रयोग किया जाये, समाजशास्त्र के अन्य क्षेत्रों में विकसित पद्धतियों से सहायता ली जाये तथा उन कारकों की पूर्ण एवं व्यवस्थित जाँच हो सके जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं।

उपागम और सिद्धान्त : अभिप्राय
(APPROACHES AND THEORY : MEANING)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के कई उपागम अथवा दृष्टिकोण प्रचलित हैं और सिद्धान्त निर्माण के प्रयत्न किये जा रहे है। अतः यहाँ दृष्टिकोण (उपागम) तथा सिद्धान्त से अभिप्राय समझना आवश्यक है। दृष्टिकोण या उपागम के अन्तर्गत समस्याओं या प्रश्नों के चुनाव में प्रयुक्त कसौटियाँ और अनुसन्धान के लिए ली गयी आधार-सामग्री आती है। दूसरे शब्दों में, दृष्टिकोण का अर्थ है मानकों का एक समूह जिसके आधार पर सैद्धान्तिक विचार-विमर्श के लिए प्रश्न

---

1 Stanley Hoffman (ed), *Contemporary Theory in International Relations*, pp. 29-54.

2 Qunicy Wright, "Development of a General Theory of International Relations", in *The Role of Theory in International Relations* (edited) by H. V. Harrison, p. 20.

और आधार सामग्री लेने या छोड़ने का निर्णय किया जाता है। किसी भी घटना के अध्ययन के लिए अनेक दृष्टिकोण (उपागम) हो सकते हैं। किसी दृष्टिकोण की सर्वग्राहिता सब तथ्यों को अपने ही परिप्रेक्ष्य से देखती है और जिस घटना के बारे में यह विचार करती है उस घटना की व्याख्या भी उसी दृष्टिकोण से करती है।

दृष्टिकोण का अलग चरण 'सिद्धान्त' कहलाता है। जब दृष्टिकोण का कार्य विचाराधीन विषय के बारे में समस्याओं और आधार-सामग्री के चुनाव से आगे निकल जाता है तब दृष्टिकोण सिद्धान्त का रूप ले लेता है। कुछ लोग सिद्धान्त शब्द का प्रयोग किसी विवेचन या दृष्टिकोण के लिए करते हैं जबकि अन्य लोग इसे 'व्याख्या की चरम परिणति' कहकर पुकारते हैं। किसी भी विज्ञान के नियमों की व्याख्या (exposition of the principles of a science) ही सिद्धान्त है। *सिद्धान्त वे तर्कसंगत अनुमान हैं जो किसी भी घटनाक्रम के मूल कारणों की विवेचना करते हैं।* सिद्धान्त वे प्रस्थापनाएँ हैं जिनसे किसी वस्तु की व्याख्या करने का प्रयत्न किया जाता है। सिद्धान्त का मुख्य कार्य व्याख्या करना है। इसी आधार पर दृष्टिकोण का सिद्धान्त से निकट सम्बन्ध होता है। दृष्टिकोण के स्वरूप से सामान्यीकरण, व्याखया, पूर्वकथन (भविष्यवाणी) और विहितीकरण (प्रेस्क्रिपशन)—जो सब के सब किसी सिद्धान्त के मुख्य कार्यों में हैं—प्रकट होते हैं। वस्तुतः सिद्धान्त का स्वरूप दृष्टिकोण से निर्धारित होता है और दोनों को एक-दूसरे से विलग नहीं किया जा सकता।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति : दृष्टिकोण की भिन्नता
(INTERNATIONAL POLITICS : DIVERGENT APPROACHES)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बारे में दृष्टिकोणों की भिन्नता पायी जाती है। इसका मुख्य कारण है अन्तर्राष्ट्रीय वास्तविकता के बारे में विद्वानों द्वारा भिन्न दृष्टि का अपनाया जाना। अन्तर्राष्ट्रीय वास्तविकता को आदर्शवादी एक दृष्टि से देखते है और यथार्थवादी बिल्कुल भिन्न दृष्टि से देखते हैं। आगे चलकर इन्हीं दृष्टिकोणों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त निर्माण के आंशिक प्रयत्न किये गये। जॉन हर्ज ने द्विध्रुवीकरण और परमाणु युग की शस्त्र व्यवस्था में बदलती अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सम्यक् अध्ययन प्रस्तुत किया। जार्ज लिस्का ने *अन्तर्राष्ट्रीय साम्यावस्था* तथा मार्टिन कैपलेन ने *अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की व्यवस्था और प्रक्रिया* पर प्रकाश डाला है। आगे चलकर अर्नेस्ट हॉस, हेरल्ड डी. लासवेल, कार्ल मैनहीम, रावर्ट मैकाइवर तथा वेबर ने भी सैद्धान्तिक आधारों के विकास में योगदान दिया।

मोटे रूप से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के चार दृष्टिकोण या उपागम (approaches) प्रचलित हैं :

(1) आदर्शवादी दृष्टिकोण,
(2) यथार्थवादी दृष्टिकोण,
(3) परम्परावादी दृष्टिकोण,
(4) व्यवहारवादी दृष्टिकोण।

1. आदर्शवादी दृष्टिकोण
(IDEALIST APPROACH)

आदर्शवादी दृष्टिकोण का समूचा चिन्तन समाज में विकासात्मक प्रगति होने के व्यापक विचार के आधार पर खड़ा है। इस विचार का जन्म 18 वीं शताब्दी में हुआ था और आमतौर से यह माना जाता है कि अमरीकन और फ्रेंच क्रान्तियों का मुख्य प्रेरणास्रोत आदर्शवाद ही था। सन् 1795 में कोण्डरसेट ने अपने ग्रन्थ में एक ऐसी विश्व-व्यवस्था की कल्पना की जिसमें न युद्ध के लिए कोई स्थान था, न विषमता के लिए और न अत्याचार के लिए। उसने यह विश्वास प्रकट किया कि

मनुष्य अपनी बुद्धि, शिक्षा और विज्ञान के उपयोग से इतनी उन्नति कर लेगा कि भावी मानव समाज में हिंसा, हत्या, अनैतिकता सत्तालोलुपता और शक्ति के लिए संघर्ष की भावना सर्वथा लुप्त हो जायगी। आदर्शवाद भविष्य के ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय समाज की तस्वीर पेश करता है जो शक्ति राजनीति, अनैतिकता और हिंसा से सर्वथा मुक्त हो। इसकी यह मान्यता है कि वर्तमान समय के अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों का निवारण शिक्षा, और सुधार के प्रयोग से हो सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आदर्शवादी दृष्टिकोण का सम्बन्ध **'क्या होना चाहिए'** से है। आदर्शवादी चिन्तक इन प्रश्नों पर विचार करते रहे हैं कि विश्व में न्याय और शान्ति कैसे स्थापित की जा सकती है; युद्धों का उन्मूलन कैसे किया जा सकता है; अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग किस प्रकार विकसित हो सकता है; शक्तिशाली राज्यों द्वारा शक्तिहीन राज्यों का शोषण किस प्रकार समाप्त किया जा सकता है; आदि।

आदर्शवादी दृष्टिकोण संस्थावादी तथा विधिवादी अध्ययन की ओर प्रवृत्त है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की जटिल समस्याओं के समाधान के लिए यह तीन बातों पर बल देता है—**प्रथम**, राष्ट्रों को अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में नैतिक सिद्धान्तों पर चलना चाहिए और परम्परागत शक्ति राजनीति से दूर रहने का यत्न करना चाहिए। **द्वितीय**, शक्ति राजनीति के प्रबल पोषक सर्वाधिकारवादी दल रहे हैं। अतः ऐसे दलों के अस्तित्व को समाप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। **तृतीय**, विश्व सरकार की स्थापना करके शक्ति राजनीति को सदैव के लिए दफना देना चाहिए।

आदर्शवादी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को स्वयं में साध्य न मानकर केवल एक साधन मानते हैं जिसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का विकास करना है। जिस प्रकार राज्य का उद्देश्य नागरिकों की स्वतन्त्रता, समानता और कल्याण की वृद्धि करना है, उसी प्रकार वे मानते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इन्हीं मानवीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विदेश-नीति का संचालन होना चाहिए। संक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का आदर्शवादी दृष्टिकोण राजनीतिक नैतिकता, अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत, विश्व संघवाद, विश्व सरकार के आदर्श के साथ बँधा है। यह शान्ति और न्यायपूर्ण विश्व-व्यवस्था में विश्वास करता है।

आदर्शवादी दृष्टिकोण : समालोचना

इस सिद्धान्त की आलोचना निम्नलिखित तर्कों के आधार पर की गयी है : **प्रथम**, आदर्शवादी व्यवस्था तभी सम्भव हो सकती है जब सभी राज्य पारस्परिक सम्बन्धों में बल और सैनिक शक्ति के प्रयोग का परित्याग कर दें; इसके स्थान पर नैतिक सिद्धान्तों का पालन करें। किन्तु यह निकट तो क्या, सुदूर भविष्य में भी सम्भव नहीं प्रतीत होता है। मार्गेन्थाऊ ने लिखा है कि "इस विश्व में परस्पर विरोधी स्वार्थ और संघर्ष इतने अधिक प्रबल हैं कि इनके होते हुए नैतिक सिद्धान्तों को पूर्ण रूप से क्रियान्वित नहीं किया जा सकता है।" **द्वितीय**, आदर्शवादी व्यवस्था लाने के लिए उग्र, सैनिकवादी, हिंसक शक्तियों का पूरा दमन और विरोध किया जाना चाहिए। **तृतीय**, इस सिद्धान्त के अनुरूप राज्यों से उदात्त नैतिक सिद्धान्तों के पालन की आशा रखना मृग-मरीचिका मात्र है।

राष्ट्र संघ की स्थापना के कुछ ही वर्षों बाद आदर्शवादी दृष्टिकोण की दुर्बलताएँ स्पष्ट होने लगीं। इसके कई कारण थे **प्रथम**, राष्ट्र संघ तथा उससे सम्बन्धित संस्थाएँ कभी भी मानवीय भ्रातृभावना की प्रतीक नहीं हो सकीं, जो समस्त देशों में अधिकांश लोगों के प्रेम तथा भक्ति को उत्पन्न कर सकतीं, जिसके द्वारा उस प्रतिष्ठा एवं अधिकार का विकास हो सकता जिसकी एक प्रारम्भिक विश्व सरकार को आवश्यकता थी। **द्वितीय**, राष्ट्र संघ सत्ताधारी सरकारों में सहयोग

का एक उपायमात्र ही रहा। उनके प्रजानन तथा नागरिक राष्ट्रीय हितों में संलग्न देशभक्त ही रहे। कुछ राज्यों में, वे वंशीय विजय के स्वप्नों की ओर आकर्षित रहे; दूसरों में, उन्हें भय से निष्क्रिय कर दिया गया और भी अन्य राज्यों में उन्हें मदोन्मत्त करके धोखे में डाला गया। कहीं पर भी उन्हें सामान्य उद्देश्यों की प्रभावपूर्ण सेवा के लिए एक करने की चेष्टा नहीं की गयी। अतएव जेनेवा की लेमन झील के तटों पर स्थित एरियाना पार्क में संघ का श्वेत भवन, अन्त में एक समाधि बन गया। तृतीय, राष्ट्र संघ की व्यवस्था में छोटे और कमजोर राष्ट्रों का ब्रिटेन और फ्रांस जैसी बड़ी शक्तियों पर से विश्वास उठ चुका था। छोटे और कमजोर राष्ट्रों को यह समझने में देर न लगी कि महाशक्तियाँ न्याय और सच्चाई का साथ देने के बजाय अपने न्यस्त स्वार्थों को अधिक प्राथमिकता देती हैं।

18 सितम्बर, 1931 में जापान ने मध्य मंचूरिया पर अधिकार कर लिया और राष्ट्र संघ मूक दर्शक बना रहा। जब जर्मनी ने 7 मार्च, 1936 ई. को लोकार्नो सन्धि अस्वीकार करदी तथा राइनलैण्ड को फिर से सैनिक अड्डा बनाना शुरू कर दिया तब पश्चिमी शक्तियों ने संघ परिषद् के एक और प्रस्ताव के सिवाय अन्य किसी भी प्रकार के विरोधी कार्य की उपेक्षा की। इसके बाद के जर्मनी के पुन: शस्त्रीकरण तथा आक्रामक हलचलों की भी जेनेवा में कोई प्रतिध्वनि न हो सकी। हिटलर तथा मुसोलिनी के प्रति ब्रिटेन और फ्रांस की तुष्टीकरण नीति ने आदर्शवादी दृष्टिकोण की पोल खोल करके रख दी। मुसोलिनी द्वारा इथोपिया को हड़पना, हिटलर द्वारा आस्ट्रिया तथा चैकोस्लोवाकिया का जर्मनी में विलीनीकरण आदि घटनाओं के इस स्वार्थपूर्ण अनुक्रम में संघ के छोटे सदस्यों का कार्य भेड़ों के उस झुण्ड का कार्य था, जिसे भेड़ की खाल में गीदड़ों ने धोखा दिया हो।

जब इथोपिया के शासक हेली सिलासी ने कहा कि "मैं यहाँ पर उस न्याय की माँग करने के लिए हूँ, जो मेरी प्रजा का अधिकार है तथा उस सहायता के लिए भी, जिसका वचन 8 महीने पूर्व, 52 राष्ट्रों ने दिया था.......।" 12 मई, 1938 को लॉर्ड हैलीफैक्स ने जो उत्तर दिया उसने आदर्शवाद को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से पूर्ण तिलांजलि ही दे दी। हैलिफैक्स ने कहा था—"वास्तविकताओं का सामना करने से कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता, वरन् बहुत कुछ खोया जा सकता है। राष्ट्र संघ अवश्य ही महान है, परन्तु जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसका अस्तित्व है, वे उससे भी महान हैं, तथा उन उद्देश्यों में सबसे महानतम शान्ति है।"

राष्ट्र संघ की असफलता ने यह सिद्ध कर दिया कि न्याय और नैतिकता के सिद्धान्तों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का संचालन नहीं हो सकता। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की यथार्थता को समझने के लिए शक्ति युद्ध आदि वास्तविक तत्वों की ओर भी समुचित ध्यान देना अपरिहार्य है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की मूल यथार्थ प्रेरणाओं की उपेक्षा करने के कारण आदर्शवादी दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विश्लेषण में विशेष सहायक नहीं होता।

2. यथार्थवादी दृष्टिकोण
(REALIST APPROACH)

आदर्शवादी सिद्धान्त की प्रतिक्रिया का परिणाम था यथार्थवादी सिद्धान्त। वैसे 18वीं और 19वीं शताब्दी में यथार्थवादी सिद्धान्त की चर्चा हुई थी और मेकियावेली का समूचा दर्शन यथार्थवादी चिन्तन की आधारशिला प्रस्तुत करता है तथापि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में इसका पुनरुत्थान द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद हुआ है। हिटलर और मुसोलिनी के अभ्युदय, उनकी आक्रामक और विस्तारवादी अभिवृत्तियाँ, उनके द्वारा शक्ति और युद्ध की आवश्यकता पर जोर देना आदि ऐसे तथ्य हैं जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों को मानव स्वभाव एवं विश्व राजनीति की यथार्थता को समझने के लिए लालायित किया।

यथार्थवादी दृष्टिकोण का आधार है मैकियावेली का यह कथन कि "मनुष्य, शस्त्र, धन एवं रोटी युद्ध की शक्ति है, परन्तु इन चारों में प्रथम दो अत्यन्त आवश्यक हैं, क्योंकि मनुष्य एवं शस्त्र, धन एवं रोटी प्राप्त कर सकते हैं; परन्तु रोटी तथा धन, मनुष्य एवं शस्त्र प्राप्त नहीं कर सकते।" वस्तुतः यथार्थवादी दृष्टिकोण शक्ति, शस्त्र और युद्ध को मानव स्वभाव की विशेषताएँ मानता है। यह कहना अधिक उचित होगा कि यथार्थवाद विचारों का वह समूह है जो सुरक्षा और शक्ति के घटकों के ध्वनितार्थों को अपनी चिन्तन सामग्री मानता है इन विचारों का जन्म व्यक्ति के इस विश्वास से होता है कि दूसरे लोग सदा उसे नष्ट करने की कोशिश करते हैं और इसलिए उसे अपनी रक्षा के खातिर हर समय दूसरों को नष्ट करने के लिए तैयार रहना चाहिए। यथार्थवादी दृष्टिकोण की तह में मूल मान्यता यह है कि राष्ट्रों के बीच विरोध एवं संघर्ष किसी-न-किसी रूप में सदैव बने रहते हैं। यथार्थवादी इस विरोध एवं संघर्ष को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक शाश्वत नियम के रूप में देखते हैं, न कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की आकस्मिक घटना के रूप में। यथार्थवाद के अनुसार, "वाद तथ्यों के उचित मूल्यांकन के उपरान्त उनमें तर्कसंगत अर्थों को खोजने की प्रक्रिया है। किसी भी राज्य की परराष्ट्र नीति का पूर्वाभ्यास उस राज्य की राजनीतिक गतिविधियों, कार्यकलापों तथा घटनाक्रम के विश्लेषण से सम्भव है परन्तु केवल तथ्यों का विश्लेपण पर्याप्त नहीं है। यथार्थवाद के अनुसार राष्ट्र की शक्ति का विकास ही उसके हितों को पूर्ण करने का एकमात्र माध्यम है। प्रत्येक राज्य और राजनेता सत्ता और शक्ति के विकास से ही अपनी हित-पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। शक्ति और हित के आधार पर ही राजनीति के वास्तविक अभिनेताओं के कार्यो को समझा जा सकता है। यथार्थवादी दृष्टिकोण इस बात पर बल देता है कि विदेश नीति सम्बन्धी निर्णय राष्ट्रीय हित के आधार पर लिये जाने चाहिए न कि नैतिक सिद्धान्तों और भावनात्मक मान्यताओं के आधार पर।

यथार्थवादी दृष्टिकोण के विकास में कई विद्वानों का योगदान रहा है जिनमें जार्ज कैनन, राइनॉल्ड नेबूर, जार्ज श्वरजनबरगर, डॉ. हेनरी कीसिंजर तथा हान्स मॉर्गेन्थाऊ प्रमुख हैं। आज हान्स मॉर्गेन्थाऊ को यथार्थवादी दृष्टिकोण का प्रमुख प्रवक्ता माना जाता है।[1] मार्गेन्थाऊ के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की मुख्य कुँजी राष्ट्रहित है जिसे केवल शक्ति के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। मार्गेन्थाऊ के शब्दों में, "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, प्रत्येक राजनीति के भाँति शक्ति संघर्ष है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अन्तिम लक्ष्य चाहे कुछ भी हो, शक्ति सदैव तात्कालिक उद्देश्य रखती है।

यथार्थवादी दृष्टिकोण : समालोचना

यथार्थवादी दृष्टिकोण ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन को सैद्धान्तिक एवं वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि प्रदान की। यथार्थवादियों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को आदर्शवादी-कल्पनावादी पर्यावरण से मुक्ति दिलायी। यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार को स्पष्ट करने वाला उपागम है तथा विदेश नीति निर्माताओं के लिए एक आधार प्रदान करता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सामान्य सिद्धान्त निर्माण की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण प्रयास था।

फिर भी यथार्थवादी उपागम आलोचना से परे नहीं हैं। प्रथम, यथार्थवादी दृष्टिकोण शक्ति और सत्ता को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में निर्णायक तत्व मानता है। जबकि सच्चाई यह है कि सत्ता एवं शक्ति महत्वपूर्ण तत्व हो सकता है लेकिन वह सम्पूर्ण नहीं है। द्वितीय, यथार्थवादी

---

[1] हान्स जे. मॉर्गेन्थाऊ ने यथार्थवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन अपनी पुस्तक 'Politics Among Nations, *1948*' के अगले संस्करणों में किया है उनकी एक अन्य पुस्तक—In Defence of the National Interest, 1951 में राष्ट्रीय हित का यथार्थवादी विश्लेषण मिलता है।

विचारधारा में कई असंगतियाँ हैं। शक्ति अथवा सत्ता की परिभाषा करना अत्यन्त कठिन है क्योंकि राज्य की समस्त शक्ति कितनी है, क्या है, यह नापना अत्यन्त जटिल है, क्योंकि वह कई क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का परिणाम है। एक राजनीतिज्ञ केवल सत्ता की प्रतिद्वन्द्विता से ही संचालित नहीं होता वरन् अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सहयोग का भी अपना विशिष्ट महत्व होता है। प्रतिद्वन्द्विता और प्रतिस्पर्द्धा के स्थान पर सहयोगी प्रवृत्तियों का भी विशेष महत्व होता है। **तृतीय,** यथार्थवाद शक्ति संघर्ष के स्थायित्व को स्वीकार करता है और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में साधनों तथा उद्देश्यों जैसे प्रश्नों के प्रति उदासीन है। **चतुर्थ,** यथार्थवादियों का ध्येय राष्ट्रीय शक्ति का प्रसार मात्र माना जाता था और इसलिए उनकी नीतियाँ शान्ति विरोधी समझी जाने लगीं।

आदर्शवाद और यथार्थवाद : समन्वयवादी दृष्टिकोण
(IDEALISM vs. REALISM : ECLECTIC APPROACH)

यह एक विवादास्पद प्रश्न है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए आदर्शवाद का दृष्टिकोण उपयुक्त है अथवा यथार्थवाद का। यथार्थवाद और आदर्शवाद में परस्पर विरोध का सबसे बड़ा केन्द्रबिन्दु शक्ति की समस्या है। यथार्थवाद शक्ति संघर्ष के स्थायित्व को स्वीकार करता है और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में साधनों तथा उद्देश्यों जैसे प्रश्नों के प्रति उदासीन है। इसके विपरीत, आदर्शवादी दृष्टिकोण शक्ति राजनीति को इतिहास का सिर्फ असामान्य या अस्थायी दौर समझता है। वह ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की कामना करता है जो शक्ति राजनीति, अनैतिकता और हिंसा से सर्वथा मुक्त हो। इससे यह धारणा विकसित हुई कि यथार्थवाद के आधार पर बनी नीतियाँ सारतः राष्ट्रवादी और शान्तिविरोधी होती हैं और आदर्शवाद के आधार पर बनी नीतियाँ सारतः अन्तर्राष्ट्रवादी और शान्ति की पक्षपोषक होती हैं।

आदर्शवाद और यथार्थवाद के अतिवादी दृष्टिकोणों का परित्याग करते हुए दोनों के बीच का मार्ग समन्वयवादी दृष्टिकोण है। यह यथार्थवादियों के निराशावाद और आदर्शवादियों के आशावाद के बीच समन्वय का प्रयत्न है। यह दोनो में से किसी भी दृष्टिकोण को पूर्णतः सन्तोषजनक नहीं मानता। समन्वयवाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखता है। इसके अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्यार्थी को कोई पूर्वाग्रह या पूर्व मान्यता न रखते हुए विश्व की राजनीतिक गतिविधियों का तटस्थ भाव से पर्यवेक्षण कर तथ्यों के संग्रह तथा विश्लेपण के मार्ग पर बढ़ना चाहिए। क्विंसी राइट जैसे विद्वान विदेश नीति के निर्माण में दोनों ही दृष्टिकोणों की उपादेयता स्वीकार करते हैं। यथार्थवाद को उन अल्पकालीन राष्ट्रीय नीतियों का सूचक मानते हैं जिनका ध्येय तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है और आदर्श को उन दीर्घकालीन नीतियों का सूचक मानते हैं जिनका ध्येय भविष्य में पूरे किये जाने वाले उद्देश्यों की सिद्धि करना होता है। जार्ज कैनन ने भी यथार्थवाद के साथ आदर्शवादी दृष्टिकोण का सामंजस्य बैठाया है। उनका मत है कि हम केवल अपने हितों को जान और समझ सकते हैं। कोई भी देश किसी दूसरे देश की संस्थाओं और जरूरतों के बारे में फैसला नहीं कर सकता। इसीलिए उनका सुझाव है कि एक ओर तो हमें अपनी विदेश नीति और अपनी राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुसार कार्य करना चाहिए और दूसरी ओर उन नैतिक और आचार सम्बन्धी सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करना चाहिए जो हमारी सभ्यता की भावना के सहजात सिद्धान्त है।"[1]

आदर्शवाद पर अत्यधिक बल देने से निराशा का जन्म होता है और यथार्थवाद पर अटल विश्वास रखने से अक्सर यथास्थिति के पक्षपोषण और शक्ति संघर्ष को बढ़ावा देने वाली प्रवृत्तियाँ

---

1 George F. Kennan, *American Diplomacy* (Chicago. III, 1951), pp. 100-101.

जन्म लेती हैं। इसलिए एक ऐसे दर्शन की आवश्यकता महसूस की गयी जो राजनीतिक यथार्थवाद की तथ्यमूलक अन्तर्दृष्टि का नीतिशास्त्र और राजनीतिक आदर्शवाद के आदर्शों के साथ मेल करा सकें। जॉन हर्ज ने एक ऐसे ही दर्शन का ढाँचा खड़ा करने का प्रयास किया है जिसमें उसे काफी सफलता मिली है। इस दर्शन को उसने 'यथार्थवादी उदारवाद' (Realistic liberalism) कहा है। यह दर्शन हमें आदर्शवाद और यथार्थवाद की त्रुटियों से बचाता है। यह यथार्थवादियों के निराशावाद और आदर्शवादियों के आशावाद के बीच एक प्रकार का समन्वय करता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद होने वाली वैधानिक तकनीकी और प्रौद्योगिकी क्रान्ति के परिणामस्वरूप यथार्थवाद और आदर्शवाद के निकट आने की सम्भावनाएँ बढ़ने लगीं आणविक शस्त्रों, प्रक्षेपणास्त्रों और नाना प्रकार के सामरिक शस्त्रों की बढ़ती हुई होड़ से न केवल आदर्शवादी अपितु यथार्थवादी भी चिन्तित होने लगे। अब यह महसूस किया जाने लगा कि सुरक्षा के लिए लड़े जाने वाले युद्ध से आत्मघाती विश्वयुद्ध का खतरा पैदा हो सकता है। अब विश्व शान्ति अल्पकालीन उद्देश्य भी है और दीर्घकालीन उद्देश्य भी। कोई भी यथार्थवादी शान्ति की आवश्यकता के सर्वोपरि मूल्य की उपेक्षा नहीं कर सकता है।

3. परम्परावादी दृष्टिकोण
(TRADITIONAL APPROACH)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परम्परावादी दृष्टिकोण का आधार दर्शन, इतिहास और कानून है। यह इतिहास को एक ऐसी प्रयोगशाला के रूप में देखता है जिससे वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विश्लेषण एवं परीक्षण होता रहता है। इतिहास मानवीय प्रयोगों का भण्डार है जिससे शिक्षा लेकर समकालीन त्रुटियों को सुधारा जा सकता है। इतिहास का अध्ययन तथ्य-ज्ञान एवं सामान्यीकरणों की परीक्षा करने के साधन के अतिरिक्त विचारक्षितिज को विस्तृत बनाता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार कूटनीतिक इतिहास का अध्ययन आवश्यक है जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भूतकाल में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का क्या स्वरूप था तथा उन्हें किस प्रकार सुलझाया गया है। ऐतिहासिक उपागम विभिन्न देशों के विशिष्ट विकास और परिवर्तन पर हमारा ध्यान केन्द्रित करता है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के परिवर्तन क्रम को समझने में सहायता मिलती है। इस उपागम का मुख्य आधार है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में परिवर्तन राज्यों के विकास और परिवर्तन के साथ ही होता रहता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का समकालीन स्वरूप एक क्रमिक तथा दीर्घ विकास का फल है।

विधिवादी दृष्टिकोण के समर्थकों ने विधि के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझाने का प्रयास किया। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विधिनियमों का महत्व तथा इनके आधार पर स्थायी विश्व व्यवस्था का निर्माण विधिवादी दृष्टिकोण का उद्देश्य था। विधिवादी अन्तर्राष्ट्रीय कानून, सन्धियाँ, राज्यों के मध्य विधि-व्यवस्था, सांविधानिक उपबन्धों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अन्तरदृष्टि का विकास चाहते थे। इन्होंने विधि एवं व्यवस्था के आधार पर विश्व-निर्माण का सुझाव दिया।

ई. एच. कार, ऐल्फ्रेड जिमर्न, जार्ज श्वार्जनबर्गर, मार्टिन वाइट, रेमाँ आरों जैसे कई विद्वानों ने परम्परावादी दृष्टिकोण के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का प्रयत्न किया। लेकिन हैडले बुल ने सन् 1966 में वैज्ञानिक प्रणाली को चुनौती देते हुए परम्परावादी उपागम को अपने अध्ययन का केन्द्र बनाया।[1] बुल ने स्पष्ट कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की

1 Hedley Bull, "International Theory : The Case for a Classical Approach." *World Politics*, 18 (April 1966), pp. 361-77.

विषय-वस्तु का स्वरूप कुछ ऐसा है कि उसका अध्ययन वैज्ञानिक उपकरणों से नहीं किया जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सम्बन्ध मूलतः नैतिक प्रश्नों से है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्येता को प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों की संरचना और उद्देश्य, उनके बीच होने वाले विवादों, युद्धों, बल प्रयोग के औचित्य और अनौचित्य आदि प्रश्नों के हल ढूंढ़ने होते हैं। अतः इतिहास और दर्शन का समीचीन अध्ययन किया जाना चाहिए। इतिहास और दर्शन से ही आत्मलोचन के साधन प्राप्त हो सकते हैं। डेविड वाइटल के शब्दों में, "परम्परावादी दृष्टिकोण के दो प्रमुख तत्व हैं : प्रणाली और विषयवस्तु। प्रणाली के मामले में परम्परावादी दृष्टिकोण इतिहास, विधिशास्त्र और दर्शन से सीखने और विवेक या निर्णय बुद्धि पर भरोसा करने को आवश्यक मानता है और विषयवस्तु के मामले में वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में बल प्रयोग की भूमिका और राजनय के महत्व जैसे व्यापक प्रश्नों को विचारणीय मानता है।"

परम्परावादी दृष्टिकोण : समालोचना

पारम्परिक ऐतिहासिक-दार्शनिक उपागम की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह विभिन्न संस्कृतियों, सभ्यताओं का एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करके समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने का व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। इस उपागम से हमें मानव जाति, मानव प्रकृति, प्रेरणाओं तथा समाजों के उत्थान-पतन का एक स्पष्ट सूत्र भी प्राप्त होता है।

इस दृष्टिकोण की अनेक कमियाँ भी हैं। प्रथम, ऐतिहासिक विवेचना और शोधों के आधार पर यह एक प्रकार से 'अग्रिम निर्णयों' का रूप धारण कर लेता है और इस प्रकार समकालीन घटनाचक्र की व्यवस्थित तर्कसंगत व्याख्या का विरोधी हो जाता है। इसीलिए कहते हैं कि इतिहास के अत्यधिक प्रयोग से दृष्टि अनुदार हो जाती है। द्वितीय, ऐतिहासिक उपागम में दूसरी कमी यह है कि तथ्यों की इतनी बहुलता होती है कि हम अपनी रुचि के तथ्य छाँट लेते हैं जिससे हमारी पूर्वधारणाओं को और पूर्वाग्रहों को बल मिलता है। उन सब तथ्यों की उपेक्षा कर दी जाती है जो पूर्वाग्रहों की सीमा में उचित नहीं बैठते। पैडेलफोर्ड तथा लिंकन के शब्दों में, वर्तमान युग में केवल राजनयिक इतिहास का अध्ययन लाभप्रद होते हुए भी पर्याप्त नहीं है। आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्येता के लिए अतीत के इतिहास से प्राप्त जानकारी की अपेक्षा वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में नीति निर्धारण प्रक्रिया तथा राजनीतिक सौदेबाजी की कला का ज्ञान कहीं अधिक आवश्यक है।"

व्यवहारवादी दृष्टिकोण बनाम वैज्ञानिक दृष्टिकोण
(BEHAVIOURAL APPROACH vs. SCIENTIFIC APPROACH)

यह माना जाता है कि द्वितीय के उपरान्त व्यवहारवादी क्रान्ति हुई। अनेक कारणों से, जिनमें एक परम्परावादी राजनीति विज्ञान के परिणामों के प्रति असन्तोष भी था, राजनीतिक विद्वानों का ध्यान वैज्ञानिक पद्धति की ओर आकर्षित हुआ। व्यवहारवादी क्रान्ति के फलस्वरूप अधिकांश विद्वान नैतिक सिद्धान्तों को त्यागकर व्याख्यात्मक सिद्धान्तों को ही प्रतिपादित करने लगे। अद्वितीय घटनाओं (इडिओग्रैफिक) के स्थान पर विद्वान लोग राजनीतिक व्यवहार में पुनरावृत्त करने वाली नियमितताओं (नोमोथेटिक) की खोज को अपने अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु मानने लगे। संदिग्ध एवं अस्पष्ट संप्रत्ययों के स्थान पर ऐसे क्रियात्मक संप्रत्ययों का प्रयोग करने लगे जिनकी सहायता से की गयी व्याख्या का इन्द्रियानुभविक आधार पर परीक्षण एवं सत्यापन हो सके।

यह सत्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में कुछ विद्वानों ने व्यवहारवादी शोध द्वितीय महायुद्ध से पूर्व ही प्रारम्भ कर दिया था। जैसे क्विन्सी राइट वैज्ञानिक पद्धति का समर्थक था और द्वितीय युद्ध के समय किया हुआ उनका युद्ध सम्बन्धी शोध कार्य (A Study of War, Chicago, 1942) अभी भी व्यवहारवादी शोध में आदर के स्थान पर प्रतिस्थापित है। इसी

प्रकार के कुछ अन्य अपवाद हो सकते हैं। पर वास्तविकता यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में व्यवहारवादी शोध का प्रभाव 1960 तक प्रतिफलित नहीं हुआ। वस्तुतः व्यवहारवादी उपागम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन को अधिकाधिक वैज्ञानिक रूप प्रदान करने का प्रयास है। इसका मूल लक्ष्य व्यवस्थित और अनुभववादी सिद्धान्तों का निर्माण करना है ताकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मूलभूत स्वरूप को समझा जा सके।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में व्यवहारवादी 'प्रतिमान निर्माण' (मॉडल बिल्डिंग) और अन्य तकनीकों पर बल देते हैं और मानवीय मामलों में आकस्मिकता के तत्वों में कोई दिलचस्पी नहीं रखते। वे इस बात पर जोर देते हैं कि पहले तो हमें किसी विशेष स्थिति के सारे प्रासंगिक तथ्य इकट्ठे करने चाहिए, फिर उन तथ्यों को अपनी आधार-सामग्री मानकर उनका विश्लेषण करना चाहिए और अन्त में अपने निष्कर्ष और फैसले इस ढंग से पेश करने चाहिए कि मानो तथ्य स्वयं अपनी कहानी कह रहे हों। इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं प्रथम, अनुसन्धान के लिए छाँटी गयी समस्या या क्षेत्र छोटा होना चाहिए ताकि तथ्यों का संकलन आसान हो; द्वितीय, अनुसन्धान निष्कर्षों पर अपने व्यक्तिगत विचारों का प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। अर्थात् अनुसन्धान का फल अनुसन्धानकर्ता की व्यक्तिगत पसन्द से थोपा हुआ नहीं होना चाहिए।

डेविड ट्रूमैन के अनुसार, व्यवहारवादी उपागम से अभिप्राय है कि अनुसन्धान क्रमबद्ध हो तथा अनुभवात्मक तरीकों का प्रयोग किया जाये। किर्कपैट्रिक से अनुसार, व्यवहारवाद चार तत्वों का मिश्रण है—(1) विश्लेषण की इकाई के रूप में संस्थाओं की अपेक्षा व्यक्ति तथा समूह के आचरण का अध्ययन। (2) सामाजिक विज्ञानों की एकता पर बल तथा अन्तः अनुशासनात्मक अध्ययन पर बल। (3) तथ्यों के पर्यवेक्षण हेतु सांख्यिकीय तथा परिमाणात्मक तकनीकों पर बल। (4) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक व्यवस्थित आनुभविक सिद्धान्त के रूप में परिभाषित करना। व्यवहारवाद के अध्ययन की इकाई मानव का ऐसा व्यवहार है जिसका प्रत्येक व्यक्ति द्वारा पर्यवेक्षण, मापन और सत्यापन किया जा सकता है। व्यवहारवाद राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन से राजनीति की संरचनाओं, प्रक्रियाओं इत्यादि में बारे में वैज्ञानिक व्याख्याएँ विकसित करना चाहता है। वस्तुतः व्यवहारवाद एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसका लक्ष्य विश्लेषण की इकाइयों, नयी पद्धतियों, नयी तकनीकों, नये तथ्यों और एक व्यवस्थित सिद्धान्त के विकास को प्राप्त करना है। व्यवहारवादी उपलब्ध समस्त वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करना चाहते हैं ताकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को 'विज्ञान' बना सकें। व्यवहारवादी उपागम के प्रभाव में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कई सिद्धान्तों एवं अवधारणाओं का विकास एवं निर्माण हुआ जिनमें निर्णय निर्माण सिद्धान्त (Decision-making Theory), संचार सिद्धान्त (Communication Theory), व्यवस्था सिद्धान्त (System Theory), आदि प्रमुख हैं। मार्टन कैप्लन तथा डेविड ईस्टन जैसे थोड़े-से व्यक्तियों को छोड़कर व्यवहारवादी हमें अधिकतर आंशिक सिद्धान्त ही दे पाये। किन्तु इन आंशिक सिद्धान्तों के निर्माण में व्यवहारवादियों ने नयी तकनीकें अपनायीं जिनमें सांख्यिकी और गणित का प्रयोग; अन्तर्वस्तु विश्लेषण और खेल तकनीक और अनुरूपता की प्रयोगशाला वाली तकनीकें भी शामिल हैं। संक्षेप में, व्यवहारवाद के प्रमुख उपहार वैज्ञानिक विधियाँ, व्यवहारवादी दृष्टिकोण एवं मूल्य निरपेक्षवाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति द्वारा आत्मसात् कर लिये गये हैं।

परम्परावादी बनाम व्यवहारवादी दृष्टिकोण : एक महान बहस की शुरूआत
(TRADITIONAL vs. BEHAVIOURAL APPROACH : THE DEBATE)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के दो दशकों में व्यवहारवादी उपागम राजनीति विज्ञान के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर सर्वत्र छाने लगा। व्यवहारवादी क्रान्ति के प्रारम्भिक दौर ने परम्परागत विचारकों और व्यवहारवादी विचारकों के बीच शीतयुद्ध के जिस वातावरण को जन्म

दिया, वह आज समाप्त हो चुका है तथापि आज भी अनेक परम्परावादी विद्वान व्यवहारवाद की आलोचना करते हैं और उसकी कमियों की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं।

परम्परावादियों द्वारा प्रस्तुत तर्क इस प्रकार हैं—(1) व्यवहारवादी वैज्ञानिकों ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को जो स्वरूप प्रदान किया है उसने इसकी विषय-सामग्री तथा इसके वास्तविक अध्ययन को पृष्ठभूमि में ढकेल दिया और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन पद्धति प्रधान और तकनीक प्रधान बनता जा रहा है। विषय-सामग्री के स्थान पर व्यवहारवादी सिद्धान्तों में शब्द-जाल, शब्द आडम्बर ही है। यह तत्व से पृथक होकर तथ्य संग्रहालय की श्रेणी में आता जा रहा है। माइकल हैस ने इसे 'अति तथ्यवाद' कहा है। (2) व्यवहारवादी वैज्ञानिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में तकनीकी साधनों पर बहुत ज्यादा बल देते हैं और ऐतिहासिक अनुभवों की उपेक्षा कर देते हैं। अब यह प्रश्न पूछा जाने लगा है कि 'क्या हम विज्ञानविहीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिरहित विज्ञान की ओर अग्रसर हो रहे हैं ?' (3) परम्परावादियों का कहना है कि प्रकृति विज्ञान, गणित, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि के विद्वान जो अपने-अपने क्षेत्र में यथोचित सम्मान न पा सके वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में घुसपैठ कर एक विशिष्ट स्थान के अधिकारी बनने के लोभ से व्यवहारिकतावाद का प्रचार करने में लगे हैं। (4) राजनीतिक स्तरों पर और विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ गोपनीयता के कारण प्रत्यक्ष प्रेक्षण सम्भव नहीं हो सकता। परम्परावादी तो अपना आत्मनिष्ठ सूझ और प्रातिभ ज्ञान का सहारा लेकर अनेक घटनाओं का अनुमान कर लेते हैं। व्यवहारवादियों को अप्रत्यक्ष प्रेक्षण के लिए नये उपकरणों का आविष्कार करना पड़ता है क्योंकि वे अपने आत्मनिष्ठ अनुमानों को वैज्ञानिक नहीं मानते। राजनीति में इस अप्रत्यक्ष प्रेक्षण के लिए मिथ्याभासिक (सिमूलेशन) और अन्तर्वस्तु विश्लेषण की तकनीक विकसित करनी पड़ी है। इसी कारण परम्परा-वादियों का कहना है कि व्यवहारवादी राजनीति पर कम ध्यान देते हैं, शोध तकनीकी पर अधिक। (5) व्यवहारवादी अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में मूल्यात्मक अध्ययन की उपेक्षा करता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में आदर्शों का खण्डन करता है तथा स्वयं इस अध्ययन को लक्ष्य-विहीन छोड़ देता है। वास्तव में आदर्शों की उपेक्षा तथा मूल्यनिरपेक्षता के आधार पर आज के आणविक युग में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की कल्पना करना एक भयानक स्वप्न होगा। (6) परम्परा-वादियों का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अनेक आकस्मिक घटनाएँ होती रहती हैं जिन्हें ठीक से समझने के लिए व्यवहारवादी उपागम उपयुक्त नहीं है। (7) व्यवहारवादी मानव व्यवहार का विज्ञान प्रस्तुत नहीं कर पाये। अभी तक वे किसी समन्वयात्मक आनुभविक सिद्धान्त का निर्णय नहीं कर पाये। (8) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के तथ्य भौतिक विज्ञानों की तुलना में लचीले, जटिल एवं परिवर्तित हैं। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को भौतिक विज्ञान की भाँति 'विज्ञान' बनाने का प्रयत्न निरर्थक है।

परम्परावादियों द्वारा प्रस्तुत इन आलोचनाओं के बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक अध्ययन के विकास में व्यवहारवादियों के योगदान को नकारा नहीं जा सकता। व्यवहार-वादियों की मुख्य देन वे नयी तकनीकें हैं जिसका अन्तर्राष्ट्रीय घटना सम्बन्धी विस्तृत सामग्री को छाँटने और सम्भालने में उपयोग किया जा सकता है।

वर्तमान में इस धारणा पर बल दिया जा रहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में व्यवहारवादी और परम्परावादी दोनों उपागमों के प्रयोग से लाभ उठाया जा सकता है। डेविड सिंगर ने लिखा है, "विज्ञान अन्तरदृष्टि का स्थान नहीं ले सकता और प्रणाली विज्ञान का कठोरता

से पालन समझदारी का स्थान नहीं ले सकता। कल्पनाशक्ति और कठोरता दोनों ही आवश्यक हैं। पर दोनों में से एक भी अकेले काफी नहीं है।"[1]

उत्तर-व्यवहारवादी क्रान्ति
(POST-BEHAVIOURAL REVOLUTION)

1960 के दशक की समाप्ति से पहले डेविड ईस्टन के द्वारा व्यवहारवादी स्थिति पर एक शक्तिशाली आक्रमण किया गया। उत्तर व्यवहारवादी क्रान्ति उठ खड़ी हुई, जो कि संगति (Relevance) तथा कर्म (Action) को आधार बनाकर सामने आयी। व्यवहारवादी, जिन्होंने उत्तर-व्यवहारवादियों का रूप ले लिया था, यह मानते हैं कि उनके द्वारा नगण्य और प्रायः निरर्थक शोध पर बहुत अधिक समय खर्च कर दिया गया था। जबकि वे वैचारिक संरचनाओं प्रतिमानों, सिद्धान्तों और अधिसिद्धान्तों के निर्माण में लगे हुए थे, उनकी अपनी पाश्चात्य दुनिया को तीव्र सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संकटों का मुकाबला करना पड़ रहा था और वे स्वयं उनके सम्बन्ध में सर्वथा अनजान थे। जब व्यवहारवादी स्थिरता, स्थायित्व, सन्तुलन, प्रतिमान संरक्षण, आदि की समस्याओं से उलझे हुए थे और आधार सामग्री और विश्लेषण के लिए निर्माण की गयी विशेषीकृत तकनीकों के आधार पर कभी-कभी क्षेत्रानुसन्धान भी कर लेते थे, बाहर का समाज विघटन और टूट-फूट की स्थितियों में से गुजरता हुआ दिखायी दे रहा था। आणविक शस्त्रों का आतंक, अमरीका में बढ़ते हुए आन्तरिक मतभेद जिनके कारण गृहयुद्ध और तानाशाही शासन की सम्भावनाएँ भी सोची जा रही थीं, वियतनाम में अघोषित युद्ध, जो विश्व की नैतिक अन्तरात्मा पर प्रहार कर रहा था ये सब ऐसी स्थितियाँ थीं जिनके सम्बन्ध में व्यवहारवादी विचारकों ने कल्पना भी नहीं की थी। उत्तर-व्यवहारवादियों का प्रश्न था कि उस अनुसन्धान की उपयोगिता क्या थी जिसने समाज के इन तीव्र रोगों और समस्याओं पर ध्यान भी नहीं दिया था।

हैडले बुल ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उत्तर-व्यवहारवादी सिद्धान्त की तीन प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है।[2] **प्रथम**, अध्ययन पद्धति की ओर झुकाव एवं आग्रह में कमी आयी है। अब तात्विक तथा विषय-सामग्री को पुनः प्राथमिकता दी जाने लगी है। व्यवहारवादी उपागम में तकनीक और पद्धति सामान्यतः साध्य बन चुके थे। मूल विषय तथा विश्लेषण के आधार पर विषय सम्बन्धी निष्कर्षों की उपेक्षा हुई थी। अब पद्धतिशास्त्र की प्राथमिकता समाप्त होती जा रही है। अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की शोध में तकनीक की तुलना में सारवस्तु को अधिक उपयोगी माना जा रहा है। **द्वितीय**, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्तों में आदर्शों तथा मूल्यों के महत्व की पुनर्स्थापना करना है। अब मूल्य प्रधान आन्दोलन सक्रिय होकर गति पकड़ता जा रहा है। अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि मूल्यों की आधारशिला पर ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की इमारत खड़ी की जा सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में मूल्यों का बहुत अधिक महत्व है और वैज्ञानिकता के नाम पर राजनीतिक अध्ययन से मूल्यों को बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि वर्तमान में कई विद्वान एवं अन्वेषण केन्द्र 'शान्ति अन्वेषण' एवं 'शान्ति अध्ययन' को अपने शोध का प्रमुख पक्ष बना रहे हैं। **तृतीय**, उत्तर-व्यवहारवादी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त में न्यायपूर्ण विश्व व्यवस्था पर आग्रह है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सिद्धान्त अन्वेषण विश्वव्यापी बन चुका है। वैसे इस क्षेत्र में अमरीका की प्रमुखता एवं नेतृत्व रहा है किन्तु अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक अध्ययन में अमरीका का एकाधिकार समाप्त होता जा रहा

---

1 Vide J. David Singer, "The Behavioural Science Approach to International Relations: Pay off and Prospect," *SAIS Review* (Washington D. C., Summer 1966). p. 15.

2 Hedley Bull, "New Directions in the Theory of International Relations", *International Studies* (New Delhi), April-June 1975, pp. 280-83.

है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन एवं सिद्धान्त निर्माण के विश्व में अनेक केन्द्र स्थापित हो चुके हैं। स्केनेडेवियन राज्य विशेषतः स्वीडन और डेनमार्क शान्ति अन्वेषण के प्रमुख केन्द्र बन चुके हैं। इंगलैण्ड, लेटिन अमरीका, भारत आदि में सिद्धान्त अध्ययन पूर्णतः ग्राह्य बन चुका है तथा कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। यहाँ तक कि सोवियत संघ में भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सिद्धान्त के प्रति झुकाव बढ़ रहा है। संक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त का विश्व परिप्रेक्ष्य निर्मित हो रहा है।

निष्कर्ष

वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए उपयुक्त सभी अध्ययन मार्ग उपयोगी हैं। यह समझना नितान्त गलत होगा कि इन अध्ययन मार्गों में कोई पारस्परिक विरोध है। वास्तव में, ये परस्पर विरोधी होने के स्थान पर एक-दूसरे के पूरक हैं और एक-दूसरे की कमियाँ दूर करते हैं। हमारे अध्ययन का मूलाधार तो परम्परावादी उपागम ही रहेगा लेकिन व्यवहारवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए अधिकाधिक सम्भव सीमा तक वैज्ञानिक परिशुद्धता प्राप्त करने की चेष्टा की जानी चाहिए।

प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के समकालीन उपागमों की विवेचना कीजिए।
   Discuss the contemporary approaches to the study of International Politics.
2. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक मार्गों (अथवा उपागमों) की व्याख्या कीजिए।
   Examine the scientific and historical approahes to the study of International Politics.
3. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन सम्बन्धी 'आदर्शवादी दृष्टिकोण' से आप क्या समझते हैं? आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
   What do you understand by the 'Idealist Approach' of the study of International Politics ? Examine Critically.
4. "विज्ञान और परम्परावाद के बीच विवाद का मुख्य बिन्दु यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए कौन-से तरीके प्रयोग में लाये जाने चाहिए।" स्पष्ट कीजिए।
   "The central issue in the dispute between science and traditionalism is what methods should be adopted for the study of International Politics." Explain,

4

मॉरगेन्थाऊवाद : शक्ति का दृष्टिकोण

[MORGENTHAUISM : THE POWER APPROACH]

हान्स जे० मॉरगेन्थाऊ शिकागो विश्वविद्यालय (अमरीका) के राजनीति विज्ञान विभाग में प्राचार्य हैं। वे इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडी के सदस्य, वाशिंगटन सेण्टर ऑफ फॉरेन पॉलिसी रिसर्च के सहयोगी तथा अनेक विश्वविद्यालय में विजिटिंग प्रोफेसर रह चुके हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की यथार्थवादी विचारधारा के वे प्रतिनिधि प्रवक्ता हैं तथा वर्षों तक वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रधान सिद्धान्तकारों में अग्रणी रहे हैं। उनकी रचना 'पालिटिक्स एमंग नेशन्स' (*Poltics Among Nations*) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का पहला ऐसा ग्रन्थ है जिसका निर्माण सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि (Theoretical Framework) के आधार पर हुआ है। इसके प्रकाशन (1949) से आज तक इस विषय क्षेत्र की मौलिक कृतियों में इसकी गणना होती है। मार्गेन्थाऊ की अन्य प्रमुख कृतियों एवं शोध लेखों में 'साइण्टिफिक मैन बनाम पावर पालिटिक्स' (*Scientific Man vs. Power Politics*, 1946), इन डिफेन्स ऑफ दि नेशनल इण्टरेस्ट (*In Defence of the National Interest*, 1951) तथा 'डिलामाज ऑफ पॉलिटिक्स' (*Dilemmas of Politics*, 1958) हैं।[1]

मॉरगेन्थाऊवाद बनाम यथार्थवाद
(MORGENTHAUISM vs. REALISM)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त के रूप में मान्यता पाने के क्षेत्र में राजनीतिक आदर्शवाद और राजनीतिक यथार्थवाद दो प्रमुख प्रतियोगी दृष्टिकोण हैं। समस्त आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का इतिहास मुख्यतया इन्हीं दो दृष्टिकोणों—आदर्शवादी तथा यथार्थवादी विचारधाराओं के फलस्वरूप विकसित हुआ है। इन दोनों दृष्टिकोणों का मानव प्रकृति, समाज और राजनीतिक संस्थाओं के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण है। आदर्शवादी दृष्टिकोण मानव प्रकृति को मूलतः अच्छा मानकर चलता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार समस्याओं का जन्म मुख्यतया गलत सामाजिक व्यवस्था, उचित ज्ञान और अवबोध के अभाव के फलस्वरूप होता है। उसने एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय समाज की कल्पना की जिसमें तर्क, शिक्षा और विज्ञान का उपयोग करके मानव कल्याण के क्षेत्र में निरन्तर प्रगति होती रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आदर्शवादियों की धारणा थी कि शिक्षा और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की सहायता से विश्व को अधिक अच्छा और शान्तिमय बनाया जा सकता है। इसके विपरीत, यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार मानव स्वभाव में निहित अन्तर्विरोधों के कारण शुद्ध नैतिक मान्यताओं पर विश्व समाज का संचालन पूर्णतया असम्भव है। यथार्थवादी दृष्टिकोण में यह विचार

1 James N. Rosenau, *International Politics and Foreign Policy* (edited) (1967, London)' p. 170

निहित है कि विश्व के राष्ट्रों के बीच किसी-न-किसी रूप में वैमनस्य, संघर्ष आदि मौजूद रहता है अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय समाजों में शक्ति अथवा प्रभाव की प्रतिस्पर्द्धा सदैव चलती रहती है और किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून अथवा संस्था द्वारा इस संघर्षात्मक स्थिति को नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। अतः कूटनीति का प्रमुख कार्य यही है कि शक्ति प्रतिस्पर्द्धा पर किसी-न-किसी रूप में अंकुश लगाया जाये। संक्षेप में, यथार्थवाद विरोध एवं संघर्ष को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक शाश्वत तत्व के रूप में देखता है, एक ऐसे तत्व के रूप में जिसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा संस्था द्वारा नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। इसीलिए कूटनीति की चुनौती यही है कि ऐसे साधनों को विकसित किया जाये ताकि शक्ति संघर्ष में सफलता हासिल की जा सके।

मॉरगेन्थाऊ इसी यथार्थवादी दृष्टिकोण के प्रमुख प्रवक्ता हैं। मॉरगेन्थाऊ ने ही यथार्थवाद को सैद्धान्तिक आधार पर खड़ा किया है। डॉ० महेन्द्रकुमार के शब्दों में, "मॉरगेन्थाऊ केवल यथार्थवादी लेखक ही नहीं बल्कि पहले सिद्धान्तकार हैं जिन्होंने यथार्थवादी साँचे को वैज्ञानिक ढंग से विकसित किया।"[1] उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में यथार्थवादी प्रतिमान (Realist Model) विकसित किया है। इसी कारण गाजी एलगोसाबी ने मॉरगेन्थाऊवाद को यथार्थवाद का पर्यायवाची बताया है।[2]

स्टेनली हॉफमैन के शब्दों में, "यद्यपि यथार्थवादी सिद्धान्त के अनेक तत्वों की व्याख्या मॉरगेन्थाऊ से पहले अनेक विद्वानों ने की थी, किन्तु इसके सैद्धान्तिक रूप का सबसे अधिक विशद और विस्तृत प्रतिपादन मॉरगेन्थाऊ ने पहली बार अपनी पुस्तक 'पॉलिटिक्स अमंग नेशन्स' में इतनी सफलता के साथ किया कि यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक विशिष्ट सम्प्रदाय समझा जाने लगा।

मॉरगेन्थाऊ ने अपने मॉडल में 'शक्ति' (Power) पर मुख्य रूप से बल दिया है; इस लिए इसे 'शक्तिवादी दृष्टिकोण' (Power Approach) भी कहा जाता है। मॉरगेन्थाऊ की मान्यता है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मूल आधार 'शक्ति के रूप में परिभाषित हित की अवधारणा' (Concept of Interest defined in terms of Power) है। शक्ति के परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रहित की महत्ता पर बल देने के कारण मॉरगेन्थाऊ का दृष्टिकोण यथार्थवादी दृष्टिकोण बन जाता है। मॉरगेन्थाऊ के शब्दों में, 'उनका सिद्धान्त यथार्थवादी इसीलिए है कि वह मानव स्वभाव को उसके यथार्थ रूप में देखते हैं जो इतिहास में अनादिकाल से बार-बार परिलक्षित होता रहा है।"[3]

प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व ट्रीटस्के नीत्से तथा एरिक कॉपमन जैसे विचारकों ने भी शक्ति के इस दृष्टिकोण पर बल दिया है। इन्होंने शक्ति संचय, शक्ति प्रसार तथा शक्ति प्रदर्शन को राज्य की विशेषताएँ माना। फ्रेडरिक वाटकिन्ज, हैरल्ड लैसवेस तथा डेविड ईस्टन जैसे बाद के विद्वानों ने शक्ति की संकल्पना को सम्भवतः समकालीन राजनीति विज्ञान की मूल संकल्पना माना। इनके अनुसार 'राजनीतिक प्रक्रिया का अर्थ है शक्ति को आकार देना, शक्ति वितरण करना और शक्ति का उपयोग करना।'[4] सन् 1945 के बाद के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों जैसे ई. एच.

---

1 महेन्द्रकुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1977), पृष्ठ 83.

2 Ghazi A. R. Algosaibi, "The Theory of International Relations : Hans J. Morgenthau and His Critics", *Background* (Los Angeles), 8 February 1965), p. 251.

3 "This theoretical concern with human nature as it actually is, and with the historic processes as they actually take place, has eamed for theory presented here the name of realism."
—Hans J. Morgenthau, *Politics Among Nations* (1963), p. 4.

4 हैराल्ड डी० लासवेल और अब्राहम कैप्लन 'पावर एण्ड सोसाइटी : ए फ्रेमवर्क ऑफ पॉलिटिकल इन्क्वायरी' (येल यूनिवर्सिटी प्रेस, 1950), पृ० 75।

कार, जार्ज श्वारजनबर्गर, क्विंसी राइट, मॉरगेन्थाऊ आदि ने राजनीति विज्ञान की इस शक्ति संकल्पना को विस्तृत करके अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर भी लागू करने का प्रयत्न किया। हो सकता है कि इन यथार्थवादियों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति की भूमिका को लेकर मतभेद हों। यद्यपि इस तथ्य पर सभी में आम सहमति है कि 'शक्ति' अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अत्यन्त प्रभावक तत्व है।

मॉरगेन्थाऊ के राजनीतिक यथार्थवाद के छः सिद्धान्त
(MORGENTHAU'S SIX PRINCIPLES OF POLITICAL REALISM)

चूँकि मॉरगेन्थाऊ राजनीतिक यथार्थवाद के मुख्य प्रवक्ता हैं अतः यह समीचीन होगा कि उनके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के यथार्थवादी सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन किया जाये। मॉरगेन्थाऊ ने राजनीतिक यथार्थवाद के छः नियम प्रतिपादित किये हैं जो निम्नांकित हैं—

मॉरगेन्थाऊ : यथार्थवाद के छः सिद्धान्त

1. **राजनीति पर प्रभाव डालने वाले सभी नियमों की जड़ मानव प्रकृति में होती है।**
2. **राष्ट्रीय हितों को शक्ति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।**
3. **राष्ट्रहित का कोई निश्चित अर्थ नहीं होता है।**
4. **विवेक राजनीति का उच्चतम मूल्य।**
5. **राष्ट्र के नैतिक मूल्यों को सार्वभौमिक मूल्यों से पृथक् मानना।**
6. **राजनीतिक क्षेत्र की स्वायत्तता।**

1. **पहला नियम : राजनीति पर प्रभाव डालने वाले सभी नियमों की जड़ें मानव प्रकृति में होती हैं।** (First Principle : Politics is governed by objective laws which have their roots in human nature)—राजनीतिक यथार्थवाद का विश्वास है कि सामान्यतः समाज की भाँति राजनीति भी उन यथार्थवादी अथवा वस्तुपरक नियमों (Objective laws) से अनुशासित होती है जो मानव प्रकृति में निहित हैं।[1] राजनीति पर प्रभाव डालने वाले सभी नियमों की जड़ मानव प्रकृति में होती है। मनुष्य जिन नियमों के अनुसार संसार में क्रिया-कलाप करता है वे सार्वभौम हैं और यह नियम हमारी नैतिक मान्यताओं से हमेशा अछूते रहते हैं। अतः समाज अथवा राजनीति का स्तर ऊँचा करने के लिए इन वस्तुनिष्ठ नियमों का ज्ञान आवश्यक है और इनकी उपेक्षा से केवल असफलता ही हाथ लगेगी।

चूँकि यथार्थवाद राजनीति के वस्तुनिष्ठ सिद्धान्तों के अस्तित्व को स्वीकार करता है अतः मॉरगेन्थाऊ की मान्यता है कि इन सिद्धान्तों के तर्कसंगत आधार पर किसी सिद्धान्त (Theory) का निर्माण सम्भव है। यथार्थवाद की यह भी मान्यता है कि राजनीति में 'सत्य' एवं 'मत' में भेद करना सम्भव है। सत्य वस्तुनिष्ठ विवेकपूर्ण, साक्ष्य और तर्कसंगत होता है; जबकि मत व्यक्ति-निष्ठ, तथ्यों से निरपेक्ष पूर्वाग्रहों पर आधारित होता है।

जब से प्राचीन चीनी, भारतीय एवं ग्रीक दर्शनों ने राजनीतिक विधियों के अन्वेषण की चेष्टा की है, तब से मानव स्वभाव जिसमें राजनीति की विधियों की जड़ें हैं; अपरिवर्तित ही रहा है। अतः मौलिकता या नवीनता राजनीतिक सिद्धान्त का कोई आवश्यक गुण नहीं है और न ही राजनीति के किसी सिद्धान्त को इसलिए अमान्य किया जा सकता है कि उसका प्रादुर्भाव प्रागैतिहा-

1 "Politcal Realism believes that Politics, like society in general, is governed by objective laws that have their roots in human nature" —Morgenthau, n. 4, p. 4.

2 " Human nature, in which the *Laws of Politics* have their *roots*, has not changed since the classical Philosophies of China, India and Greece endeavoured to discover these laws. Hence, novelty is not necessarily a virtue in political theory. nor is old age a defect." —*Ibid*, p. 4.

सिक काल में हुआ था। शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त राजनीति में केवल इसीलिए अमान्य नहीं होता कि वह एक अत्यन्त प्राचीन सिद्धान्त है। राजनीति में अर्वाचीन अथवा प्राचीन जो भी सिद्धान्त तर्क अथवा अनुभव की कसौटी पर खरा उतरे वह मान्य होना चाहिए। "राजनीति का कोई भी सिद्धान्त विवेक व अनुभव की विविध परीक्षा के अन्तर्गत लाया जाना चाहिए।[1] यथार्थवाद के लिए तथ्यों को निश्चित करने तथा विवेक द्वारा उनमें सार प्रदान करने में ही सिद्धान्त निहित होता है।"

मॉरगेन्थाऊ का विश्वास है कि विदेश नीति का मूल्यांकन राजनीतिक गतिविधियों और उनके सम्भाव्य परिणामों की परीक्षा करने के बाद ही हो सकता है। किसी देश की विदेश नीति समझने के लिए यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम तो हम उस देश के राजनेताओं के विभिन्न कार्यों पर दृष्टि डालें और फिर अपनी तर्क बुद्धि से उनका विश्लेषण करके यह पता लगाने का प्रयत्न करें कि उन कार्यों के पीछे उन राजनीतिज्ञों के क्या उद्देश्य रहे होंगे।[2]

संक्षेप में वास्तविक तथ्यों और उनके परिणामों की पृष्ठभूमि में तर्कनापरक मूल संकल्पनाओं की सत्यता की परीक्षा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के तथ्यों को सार्थक बनाती है और राजनीति में एक निश्चित सिद्धान्त (Theory) की सम्भावना प्रस्तुत करती है।

2. दूसरा नियम : राष्ट्रीय हितों को शक्ति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। (Second Principle : The Concept of National Interest defined in terms of Power)—यथार्थवादी राजनीतिक सिद्धान्त का दूसरा तत्व है राष्ट्रहित की प्रधानता। मॉरगेन्थाऊ के शब्दों में, 'शक्ति के नाम से लक्षित स्वार्थों का विचार ही वह प्रमुख मार्गदर्शक है जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में यथार्थवाद का पथ प्रदर्शन करता है।'[3]

'शक्ति के रूप में परिभाषित हित की अवधारणा' अर्थात् राष्ट्रीय हितों की सिद्धि के लिए शक्ति का प्रयोग—एक ऐसा विचार है जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक तथ्यों और उन्हें समझने वाले विवेक के मध्य सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। हित का केन्द्रबिन्दु सुरक्षा है और हितों की सुरक्षा के लिए शक्ति अर्जित की जाती है। राजनीति का मुख्य हेतु हितों का संवर्द्धन है और इसीलिए हम राजनीति को भी शक्ति से पृथक करके नहीं समझ सकते। इसी आधार पर हम राजनीति को एक स्वतन्त्र विषय मानकर उसका अध्ययन कर सकते हैं। 'यथार्थवाद राजनीति को एक स्वतन्त्र क्रिया का क्षेत्र मानता है जो मानव जीवन के अन्य क्षेत्रों जैसे अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, धर्म आदि से भिन्न है।'

'शक्ति के रूप में परिभाषित हित' के आधार पर ही हम अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को सैद्धान्तिक रूप प्रदान कर सकते हैं। इतिहास के उदाहरणों को देखने पर स्पष्ट होता है कि राजनीतिज्ञ 'शक्ति के रूप में परिभाषित हित' की दिशा में ही सोचते और कार्य करते हैं। यही एक ऐसा विचार है जिसके आधार पर राष्ट्रों की विदेश नीतियों में निरन्तरता का आभास मिलता है। इसी सूत्र के आधार पर ब्रितानवी, अमरीकी तथा सोवियत संघ की विदेश नीतियों का एक तर्कसंगत ऐतिहासिक आधार ढूंढ़ा जा सकता है भले ही इन देशों की शासन प्रणालियाँ बदलती रही हों और कालान्तर से इन देशों के राजनीतिज्ञों का बौद्धिक नैतिक स्तर, उनकी प्रेरणाएँ और अभिरुचियाँ बदलती रही हों।

1 "A theory of politics must be subjected to the dual test of reason and experience." —*Ibid*, p. 4.

2 "It assumes that the character of a foreign policy can be ascertained only through the examination of the political acts proformed and of the foreseeable consequences of these acts." —*Ibid*, p. 5.

3 "The main signpost that helps political realism to find its way through the landscape of international politics is the concept of interest defined in terms of power." —*Ibid.*, p. 5.

मॉरगेन्थाऊ के अनुसार हम राजनीतिज्ञों के मन्तव्यों और प्रयोजनों को देखकर ही किसी देश की विदेश नीति को समझने का प्रयास करेंगे तो असफल रहेंगे और धोखा खायेंगे। राजनीतिज्ञों के वास्तविक प्रयोजनों के आधार पर ही हम यह निर्णय नहीं ले सकते कि उनकी विदेश नीतियाँ नैतिक दृष्टि से प्रशंसनीय तथा राजनीतिक दृष्टि से सफल रहेंगी। हम सभी जानते हैं कि चेम्बरेलन की तुष्टिकरण नीति अच्छे उद्देश्यों से प्रेरित थी और उनका ध्येय शान्ति की रक्षा करना था तथापि उनकी नीतियों ने द्वितीय विश्वयुद्ध को अवश्यम्भावी बनाने तथा करोड़ों को अकथनीय दुर्गति में पहुँचाने में सहयता दी। दूसरी ओर सर विंस्टन चर्चिल की विदेश नीति का प्रयोजन विश्वव्यापी न होकर व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय शक्ति की ओर कहीं अधिक संकीर्णता से उन्मुख था। तथापि चर्चिल की नीतियाँ चेम्बरलेन की शान्तिवादी नीतियों के परिणामों की अपेक्षा नैतिक और राजनीतिक दृष्टि से श्रेष्ठ समझी गयीं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यथार्थवादी सिद्धान्त इस बात की परवाह नहीं करता कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में क्या होना चाहिए और क्या हो रहा है अथवा उसमें क्या नैतिक है और क्या अनैतिक। वह तो केवल उन्हीं सम्भावनाओं की ओर ध्यान देता है जो किसी विशेष राष्ट्र के काल और स्थान की किन्हीं ठोस परिस्थितियों के अन्तर्गत आती हैं। राजनीतिक यथार्थवाद एक विवेकमय विदेश नीति को अच्छी विदेश नीति समझता है।[1] अर्थात् विदेश नीति का सम्बन्ध उसकी सफलता की राजनीतिक आवश्यकताओं से होना चाहिए, न कि किसी अन्य वस्तु से।

3. तीसरा नियम : राष्ट्रीय हित का कोई निश्चित अर्थ नहीं होता है। (Third Principle : Political Realism does not take a fixed or determined meaning of interest)—मॉरगेन्थाऊ राष्ट्रहित को कोई निश्चित अर्थ मानकर नहीं चलते।[2] राष्ट्रहित का विचार वस्तुतः राजनीति का गूढ़ तत्व है जिस पर परिस्थितियों, स्थान और समय का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। फिर भी इतिहास के एक विशिष्ट काल में राजनीतिक कृत्य को निश्चयात्मक रूप देने वाला उन राजनीतिक व सांस्कृतिक प्रकरणों पर आश्रित रहता है, जिनके मध्य विदेश नीति का निर्माण होता है।[3] मारगेन्थाऊ का विश्वास है कि राजनीतिक व सांस्कृतिक वातावरण राजनीतिक क्रियाओं को अनुप्राणित करने वाले हितों को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है, अतः शक्ति का विचार भी बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है।

इस प्रकार मॉरगेन्थाऊ का विचार है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मूल तत्व स्थायी हैं। किन्तु परिस्थितियाँ थोड़ी बहुत बदलती रहती हैं, अतः एक सफल राजनीतिज्ञ के लिए आवश्यक है कि वह इन मूल तत्वों को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार ढालने का प्रयत्न करता रहे।

4. चौथा नियम : विवेक राजनीति का उच्चतम मूल्य (Fourth Principle : Realism Considers Prudence to be the Supreme virtue in politics)—राजनीतिक यथार्थवाद राजनीतिक कार्य की नैतिक महत्ता के प्रति सचेत है[4] तथापि राजनीति और नीतिशास्त्र में स्पष्ट भेद स्वीकार करता है। अमूर्त्त विश्वव्यापी नैतिक मान्यताओं के आधार पर राष्ट्रों का कार्यकलाप

---

1 "At the same time political realism considered a rational foreign policy to be good foreign policy, for only a rational foreign policy minimizes risks and maximizes benefits and hence complies both with the moral precept of prudence and the political requirement of success." —*Ibid.*, p. 8.

2 "Realism does not endow its key concept of interest defined as power with a meaning that is fixed once and for all." —*Ibid.*, p. 8.

3 "Yet the kind of interest determining political action in a particular period of history depends upon the political and cultural contaxt within which foreign policy is formulated." —*Ibid.*, p. 9.

4 "Political realism it aware of moral significance of political action." —*Ibid.*. p. 10.

सम्भव नहीं है। राज्य के क्रिया-कलापों पर सार्वभौम नैतिक सिद्धान्तों को सार्वभौम अवधारणाओं के रूप में लागू नहीं किया जा सकता सकता।[1] इन नियमों में राज्यों को परिस्थितियों, समय तथा अवसर के अनुसार परिवर्तन करना पड़ सकता है। यथार्थवाद का आग्रह है कि राष्ट्रों को नैतिक सिद्धान्तों का पालन विवेक और सम्भावित परिणामों के आधार पर ही करना चाहिए। यथार्थवाद विवेक को राजनीति में उच्चतम मूल्य मानता है।[2] व्यक्ति अपने लिए कह सकता है कि न्याय किया जाना चाहिए, चाहे विश्व नष्ट हो जाय, परन्तु राज्य के संरक्षण में रहने वाले लोगों को राज्य से ऐसा कहने का कोई अधिकार नहीं है। कोई भी राज्य नैतिकता की दुहाई के आधार पर अपनी सुरक्षा को खतरे में नहीं डाल सकता। दूरदर्शिताहीन कोई भी राजनीति नैतिकता नहीं हो सकती अर्थात् वाह्य रूप में नैतिक कृत्यों के राजनीतिक परिणामों पर ध्यान न देने वाली कोई भी राजनीतिक नैतिकता असम्भव है।

अर्थात् राजनीति में राज्य का सबसे बड़ा गुण अस्तित्व रक्षा (Survival) है। नीतिशास्त्र किसी कार्य का मूल्यांकन शुद्ध नैतिक आधारों पर करता है जवकि राजनीतिक यथार्थवाद किसी भी कार्य को उसके राजनीतिक परिणामों से नापता है। सफलता प्राप्ति उसका सबसे बड़ा मापदण्ड है।[3]

5. **पाँचवाँ नियम : राष्ट्र के नैतिक मूल्यों को सार्वभौमिक मूल्यों से पृथक मानना** (Fifth Principle : Political Realism refuses of accept any identification between the moral aspirations of a particular nation and the moral laws which govern the universe.)—राजनीतिक यथार्थवाद किसी राष्ट्र के नैतिक मूल्यों को सार्वभौम नैतिक मूल्यों से पृथक मानता है। अर्थात् किसी राष्ट्र विशेष की नैतिक कामनाओं और हमारे सनातन सार्वभौम नियमों के बीच कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं है। यह विचारधारा जहाँ 'सत्य' और 'मत' में भेद करती है वहीं यह 'सत्य' और 'अन्धविश्वास' में भी भेद करती है। सामान्यतया राष्ट्र अपनी विशिष्ट आकांक्षाओं और नीतियों को स्वयं-सिद्ध आदर्श मानकर समूचे विश्व के लिए उपयोगी मानने की भूल कर बैठते हैं। यह मानना कि राज्यों को नैतिक नियम के अधीन रहना चाहिए, एक बात है और यह विश्वास करना कि सभी राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों के लिए एक ही नैतिक मान्यता है और एक ही राष्ट्र उसकी स्थापना कर सकता है दूसरी भिन्न चीज है।

यथार्थवादी दर्शन प्रत्येक राज्य को एक ऐसे राजनीतिक कर्त्ता के रूप में देखता है जो हमेशा शक्ति के माध्यम से अपने हितों की सिद्धि के कार्य में जुटा रहता है। यदि हम इस तथ्य को स्वीकार कर लें कि प्रत्येक राष्ट्र शक्ति का विकास अपने हितों के विकास की पूर्ति के लिए करता है तो यह मान्यता हमें एकांगी नैतिक आदर्शों की दुहाई की अनिवार्यता से और इसी प्रकार राजनीतिक भूलों के दुष्परिणामों से बचा सकती है। प्रत्येक राष्ट्र यह जानकर कि उसकी ही भाँति दूसरे राष्ट्र भी अपने राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि में लगे हुए हैं, अधिक सन्तुलित और यथार्थवादी नीतियों का विकास हो सकेगा। मॉरगेन्थाऊ के शब्दों में, "शक्ति के मानदण्डों में वर्णित स्वार्थ का विचार ही हमें उस नैतिक अति और उस राजनीतिक भूल—दोनों से ही बचाता

1 "Realism maint. ins that universal moral principles cannot be applied to the actions of states in their abstract universal formulation but that they must be filtered through the circumstances of time and place." —*Ibid.*, p. 10.

2 "Realism considers prudence to be the supreme virtue in politics. There can be no morality without prudence." —*I*.

3 "Political ethics judges action by its political consequences" —

है। क्योंकि अगर हम अपने राष्ट्र के साथ-साथ अन्य सब राष्ट्रों पर, निज के शक्ति नामधारी स्वार्थों को लक्ष्य करने वाली राजनीतिक इकाइयों के रूप में दृष्टिपात करें, तो हम उन सबके प्रति न्याय कर सकते हैं। अन्य राष्ट्रों की उसी भाँति आलोचना करने के पश्चात् हम उन नीतियों का अनुसरण कर सकने की सामर्थ्य रखते हैं, जो हमारे स्वार्थों की रक्षा व उन्हें उन्नत बनाने के साथ-साथ अन्य राष्ट्रों के स्वार्थों का आदर करती हैं।"

6. **छठा नियम : राजनीतिक क्षेत्र की स्वायत्तता** (Sixth Principle : Political Realism maintains autonomy of the political sphere)—राजनीतिक यथार्थवाद का अन्तिम नियम यह है कि वह राजनीति के क्षेत्र की स्वायत्तता में विश्वास करता है। राजनीतिक क्षेत्र उतना ही स्वायत्ततापूर्ण है जितना कि आर्थिक अथवा कानून के क्षेत्र को माना जाता है। मॉरगेन्थाऊ के शब्दों में, "राजनीतिक यथार्थवादी राजनीतिक क्षेत्र की स्वायत्तता का समर्थन करता है, जैसे अर्थशास्त्री, विधिवेत्ता व नीतिशास्त्र का लेखक अपनी-अपनी स्वायत्तता का समर्थन करते हैं। वह शक्ति नाम से वर्णित स्वार्थ के रूप में सोचता है, जैसे अर्थशास्त्री धन नामक स्वार्थ को लेकर विचार करता है, विधिवेत्ता कार्यों की वैधिक नियमों की अनुरूपता का और नीतिशास्त्र का लेखक कार्यों की नैतिक सिद्धान्तों से अनुरूपता का विचार करता है। अर्थशास्त्री प्रश्न करता है, "यह नीति समाज या उसके एक अंश के धन पर क्या प्रभाव डालती है?" विधिवेत्ता पूछता है, "क्या यह नीति कानून के नियमों से मिलती है?" नीतिशास्त्र का लेखक प्रश्न करता है, "क्या यह नीति नैतिक सिद्धान्तों के अनुकूल है?" और राजनीतिक यथार्थवादी प्रश्न करता है, "यह नीति किस प्रकार की शक्ति पर प्रभाव डालती हैं?"

राजनीतिक यथार्थवाद गैर-राजनीतिक नियमों अथवा तत्वों की उपेक्षा भी नहीं करता है। पर वह उन्हें राजनीतिक नियमों के अधीन मानता है। यथार्थवाद उन सभी विचारधाराओं *का विरोधी है जो राजनीतिक विषयों पर गैर-राजनीतिक नियमों को जबरदस्ती थोपने का प्रयत्न* करती है। प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का कानूनी, नैतिक और राजनीतिक पहलू होता है और राजनीतिज्ञ कानूनी और नैतिक मान्यताओं के महत्व को स्वीकार करते हुए उनका उतना ही उपयोग करते हैं जितना उपयुक्त होता है। कतिपय उदाहरणों से ये तथ्य स्पष्ट होते हैं :

(अ) 1939 में सोवियत संघ ने फिनलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। ब्रिटेन और फ्रांस के सामने इस समस्या के दो पक्ष थे—राजनीतिक और कानूनी। कानूनी दृष्टि से सोवियत संघ ने राष्ट्रसंघ का उल्लंघन किया था और इन दोनों देशों द्वारा राष्ट्रसंघ से सोवियत सघ का निष्कासन बिल्कुल उचित तथा वैध कदम था। परन्तु इस निर्णय के राजनीतिक परिणाम बड़े भयंकर थे। राजनीतिक दृष्टि से सोवियत आक्रमण का विश्लेषण कई पहलुओं से करना था, जैसे **प्रथम**, सोवियत संघ के इस कार्य ने किस प्रकार फ्रांस और ब्रिटेन के स्वार्थों को प्रभावित किया था; **द्वितीय**, एक ओर ब्रिटेन, फ्रांस और दूसरी ओर सोवियत संघ तथा अन्य ऐसी ही विरोधी शक्तियों जैसी जर्मनी आदि के शक्ति वितरण पर इसका क्या प्रभाव हो सकता था; **तृतीय**, फ्रांस तथा ब्रिटेन के स्वार्थों तथा भविष्य के शक्ति विभाजन पर इसका क्या प्रभाव हो सकता था।

ब्रिटेन और फ्रांस ने केवल कानूनी आधार पर निर्णय लिया और अपनी सेनाएँ सोवियत आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए फिनलैण्ड की ओर भेज दीं। यह तो एक संयोग था कि स्वीडन ने इन सेनाओं को फिनलैण्ड तक पहुँचने के लिए अपने तटस्थ क्षेत्र से गुजरने की मनाही कर दी थी, अन्यथा इन दोनों देशों को एक ओर सोवियत संघ से ओर दूसरी ओर जर्मनी के साथ

दो मोर्चों पर एक साथ लड़ना पड़ता और दूसरे विश्वयुद्ध का रूप ही कुछ निराला हो जाता। संक्षेप में, ब्रिटेन और फ्रांस ने कानूनी पक्ष पर ध्यान दिया और राजनीतिक पक्ष की पूर्णतः उपेक्षा कर दी।

(ब) चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना के बाद पश्चिमी देशों ने नैतिक दृष्टिकोण से विचार किया, न कि राजनीतिक दृष्टिकोण से। यह निष्कर्ष निकाला गया कि साम्यवादी चीनी सरकार की नीतियाँ पाश्चात्य विश्व के नैतिक आदर्शों के अनुकूल नहीं हैं, अतः उससे किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित न करना ही समीचीन है। यही कारण था कि वर्षों तक साम्यवादी सरकार को मान्यता नहीं दी गयी और नैतिकता के आवरण की आड़ में चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनने योग्य नहीं पाया गया।

1971 में अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन ने चीन-रूस के सीमा संघर्ष, दक्षिण वियतनाम में युद्ध के प्रति व्यापक बौद्धिक असन्तोष, वियतनाम की लड़ाई के लिए सेना में भर्ती के कारण अमेरिका में उत्पन्न भीषण रोष के कारण तथा अमेरिका की अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले भीषण और गम्भीर दुष्परिणामों की दृष्टि से यह निर्णय किया कि अमेरिका की शक्ति के प्रसार एवं राष्ट्रीय हित की दृष्टि से चीन को मान्यता देना उपयोगी होगा। पहले यदि अमेरिका ने चीन को मान्यता नहीं दी थी तो उसे मान्यता न देने का कारण नैतिक था। 1971 में उसे मान्यता देने का कारण राजनीतिक था, अमेरिका द्वारा अपने राष्ट्रीय हित की दृष्टि से ऐसा किया गया था।

(स) ब्रिटेन ने बेल्जियम की तटस्थता की गारण्टी दी थी और 1914 में जब जर्मनी ने बेल्जियम की तटस्थता को भंग किया तो उसे जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करनी पड़ी। क्या ब्रिटेन ने अपने नैतिक दायित्व को पूरा करने के लिए ही अपनी सेनाएँ भेजीं? राजनीतिक सत्य यह है कि इन नीचे प्रदेशों पर किसी शत्रु राष्ट्र का अधिकार ब्रिटेन की स्वतन्त्रता के लिए बहुत बड़ा खतरा माना गया था और इसलिए उसने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। यदि किसी मित्र राष्ट्र ने बेल्जियम की तटस्थता का उल्लंघन किया होता तो शायद ब्रिटेन युद्ध शुरू करने में इतनी शीघ्रता नहीं दिखाता। यहाँ वस्तुतः राजनीतिक और नैतिक पक्ष परस्पर पूरक हो गये थे।

उपर्युक्त उदाहरण इस बात को भली-भाँति स्पष्ट करते हैं कि राजनीतिक प्रश्नों को नैतिक, कानूनी, आर्थिक तथा अन्य दृष्टिकोणों से सर्वथा पृथक रखना चाहिए। केवल राष्ट्रीय हित और शक्ति के विस्तार की कसौटी से ही इन प्रश्नों का निर्णय किया जाना चाहिए।

राजनीतिक यथार्थवाद अन्तर्राष्ट्रीय समस्या के कानूनी, नैतिक और राजनीतिक पक्षों के उचित समन्वय पर बल देता है। राजनीतिक यथार्थवाद मानव स्वभाव के बहुलवादी रूप को स्वीकार करता है।[1] उसके अनुसार राजनीति का यथार्थ व्यक्तित्व उसके 'आर्थिक व्यक्तित्व', 'राजनीतिक व्यक्तित्व' तथा 'धार्मिक व्यक्तित्व' का उचित समन्वय है जो मनुष्य केवल 'राजनीतिक मनुष्य' है, वह एक पशु तुल्य होगा, क्योंकि वह नैतिक परिधियों से पूर्णतया स्वतन्त्र होगा, वह मनुष्य जो पूर्णतः 'धार्मिक व्यक्ति' है, एक साधु होगा क्योंकि उसमें सांसारिक इच्छाएँ नहीं होंगी।

1 "The realist defense of the autonomy of the political sphere against its subversion by other modes of thought does not imply disregard for the existence and importance of these other modes of thought It rather implies that each should be assigned its proper sphere and function, Political realism is based upon a pluralistic conception of human nature"

—*Ibid.*, p. 14.

मॉरगेन्थाऊ के सिद्धान्त का मूल्यांकन
(APPRAISAL OF MORGENTHAU'S THEORY)

मॉरगेन्थाऊ के यथार्थवादी सिद्धान्त की विभिन्न आलोचकों ने तार्किक आलोचना प्रस्तुत की है। उदाहरण के लिए, रावर्ट टकर का कहना है कि ये सिद्धान्त न तो वास्तविकता से मेल खाते हैं और न अपने आपसे। स्टेनली हॉफमैन का कहना है कि इस सिद्धान्त में असंगतियों की भरमार है। इस सिद्धान्त के आलोचकों के मुख्य तर्क निम्नलिखित हैं :

(1) मॉरगेन्थाऊ का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के केवल एक अंग के अध्ययन के लिए ही मार्गदर्शन का कार्य करता है और वह अंग है **'हित संघर्ष'**। वह इस बात को मानकर चलता है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सदैव विभिन्न राष्ट्रीय हितों में संघर्ष होता रहता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि विभिन्न देश अपने राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति के लिए संघर्ष करते हैं, किन्तु इसके साथ ही वे सहयोग भी करते हैं। मॉरगेन्थाऊ सहयोग के इस पहलू की सर्वथा उपेक्षा करता है। इसलिए उसका दृष्टिकोण एकांगी प्रतीत होता है।

(2) मॉरगेन्थाऊ का दावा है कि उनका सिद्धान्त मानव प्रकृति के यथार्थ स्वरूप से उद्भूत होता है। किन्तु मानव प्रकृति सम्बन्धी उनकी धारणाएँ वैज्ञानिक न होकर बहुत कुछ अनुमान पर आधारित होती हैं। वैरो वासरमैन का यह कथन ठीक है कि मॉरगेन्थाऊ का सिद्धान्त निरपेक्ष एवं अप्रामाणिक आवश्यकतावादी नियमों (Unverifiable Essential of Laws) पर आधारित है। 235446

(3) मॉरगेन्थाऊ का मानव प्रकृति के बारे में दोषपूर्ण तथा अवैज्ञानिक विचार है। वह निरीक्षण और परीक्षण की सर्वसम्मत वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर मनुष्यों के स्वभाव के सम्बन्ध में कोई परिणाम नहीं निकालता है, अपितु शुरू से ही कुछ ऐसे सामान्य सिद्धान्तों को स्वयं सिद्ध सत्य मानकर चलता है जिन्हें वस्तुतः उसे वैज्ञानिक रीति से सिद्ध करना चाहिए था। इसलिए उसके सिद्धान्तों में पारस्परिक विरोध भी पाया जाता है। वह यह मानकर चलता है कि सब मनुष्य और सब राज्य शक्ति की लालसा रखते हैं, उसे सदैव पाने और बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं, इस बात को उसने स्वयं सिद्ध सत्य मान लिया है। यदि इसे ऐसा मान लिया जाये तो यह भी मानना पड़ेगा कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सदैव कभी न समाप्त होने वाले शाश्वत युद्धों का एक अविच्छिन्न क्रम चलता रहता है। शान्ति तभी होती है जब राष्ट्र लड़ते-लड़ते थक जाते हैं और वह इस सामान्य नियम के अपवाद के रूप में पाई जाती है। फिर भी मॉरगेन्थाऊ शान्ति को वांछनीय समझता है और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इस स्थिति को अधिक पसन्द करता है। यदि यथार्थवाद के दृष्टिकोण को सही माना जाय तो संघर्ष की स्थिति ही वास्तविक है और शान्ति की स्थिति को वांछनीय समझना उचित नहीं है।

(4) मॉरगेन्थाऊ के सिद्धान्त के विरुद्ध यह भी आलोचना की जाती है कि यह एक अपूर्ण सिद्धान्त है। हैरल्ड स्प्राउट ने इस सिद्धान्त को इसलिए अपूर्ण बताया है क्योंकि उसमें राष्ट्रीय नीतियों के लक्ष्यों (आदर्शों) की उपेक्षा की गयी है। क्विन्सी राइट के अनुसार यह सिद्धान्त एकांगी है क्योंकि वह राष्ट्रीय नीति पर मूल्यों (values) के प्रभाव की उपेक्षा करता है।

(5) मॉरगेन्थाऊ ने शक्ति को साध्य माना है। राज्यों के समस्त सम्बन्ध शक्ति के अधिकाधिक संचय करने के लिए होते हैं। हॉफमैन के अनुसार सत्ता अथवा शक्ति केवल एक माध्यम है जिससे राज्य अपना लक्ष्य प्राप्त करते हैं। यह अधिक उचित होता कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त की व्याख्या साध्य को सम्मुख रखकर की जाती, न कि साधन की अवधारणा को ही साध्य मानकर।

(6) मॉरगेन्थाऊ सिद्धान्त रचना की उस सामान्य पद्धति को भी ग्रहण नहीं करते जिसके अनुसार सिद्धान्त का निर्माण तथ्यों के अनुभवात्मक सर्वेक्षण (empirical investigation of facts) के परिणामस्वरूप किया जाता है। वे कुछ ऐसी धारणाओं को लेकर सिद्धान्त बनाने (Theory-building) का प्रयत्न करते हैं जिन्हें वे देशकाल के प्रभाव से मुक्त मानते हैं। यदि वे यह कहते हैं कि मानव स्वभाव के अनुभवात्मक अध्ययन तथा राज्यों की नीतियों के व्यवहारवादी अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति और राज्य दोनों ही शक्तिलोलुप हैं, तो अधिक तार्किक होता। लेकिन उन्होंने अपने सिद्धान्त को एक परिणाम के रूप में न रखकर पहले उसे एक सत्य के रूप में रखा है और बाद में उसकी पुष्टि के लिए प्रमाण जुटाने का प्रयत्न किया है।

(7) मॉरगेन्थाऊ का यह कहना भी अतिशयोक्तिपूर्ण है कि प्रत्येक राष्ट्र शक्ति को प्राप्त करना चाहता है। सच्चाई यह है कि शक्ति राष्ट्र का एक लक्ष्य हो सकता है, परन्तु शक्ति के साथ में वह अन्य लक्ष्यों की भी आकांक्षा रखा सकता है। वह अपनी विदेश नीति का संचालन, आर्थिक लाभ, विश्वशान्ति आदि के परिप्रेक्ष्य में भी कर सकता है।

(8) मॉरगेन्थाऊ ने शक्ति पर बहुत अधिक बल दिया है। वह सभी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की व्याख्या एकमात्र शक्ति पाने की लालसा के आधार पर ही करना चाहता है। अधिकांश विद्वान अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को एक ऐसी अत्यन्त जटिल प्रक्रिया समझते हैं, जिसकी व्याख्या किसी एक कारण या तथ्य के आधार पर नहीं की जा सकती है। राष्ट्रीय हित को शक्ति के अतिरिक्त अन्य अनेक तत्व—शासन का स्वरूप, जनता के विश्वास और विचार, राज्य की आन्तरिक स्थिति प्रभावित करते हैं। मॉरगेन्थाऊ ने इस सबकी उपेक्षा की है।

(9) मॉरगेन्थाऊ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को कभी समाप्त न होने वाले शक्ति संघर्ष के रूप में देखते हैं। यदि हम इस तथ्य को स्वीकार कर लें तो हमें अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के विचार को हमेशा के लिए तिलांजलि देनी पड़ेगी। फिर अन्तर्राष्ट्रीय जगत में ऐसे बहुत-से कार्य और सम्बन्ध हैं जो गैर-राजनीतिक हैं और जिनका शक्ति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए, ओलम्पिक खेलों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह को राजनीतिक क्रियाएँ नहीं माना जा सकता और इनका स्पष्टतः शक्ति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। मार्टन कैप्लन के अनुसार, "मॉरगेन्थाऊ की शक्ति की परिभाषा मनुष्य के उन सभी सम्बन्धों को भी शामिल कर लेती है जिनका शक्ति नाम की चीज से कोई सरोकार नहीं है और जो एकदम गैर-राजनीतिक हैं।"[1]

(10) मॉरगेन्थाऊ का सिद्धान्त मानव प्रकृति से निकाले हुए निश्चयात्मक नियमों से प्रारम्भ होता है और वे उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार पर लागू करते हैं। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार अनिश्चित है और इसे इन नियमों की परिसीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। कैनेथ वाल्टज के शब्दों में मॉरगेन्थाऊ के सिद्धान्त में निश्चयात्मकता और अनिश्चयात्मकता का खींचतान कर मिलान किया गया है।

(11) राबर्ट टकर (Robert W. Tucker) और केनेथ वाल्ट्ज (Kenneth T. Waltz) के मतानुसार मॉरगेन्थाऊ के सिद्धान्त को यथार्थवादी नहीं माना जा सकता है क्योंकि उन्होंने 'चाहिए' शब्द का अपने सिद्धान्त में बहुत अधिक प्रयोग किया है। इस प्रकार के शब्द आदर्श सूचक होते हैं।

(12) मॉरगेन्थाऊ ने अपने विश्लेषण में कहा है कि राज्यों के कार्यों में अपनी नैतिकता निहित रहती है जो अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता से पृथक है। अगर इसे मान लिया जाये तो हम किसी भी राष्ट्र के कार्यों को अनैतिक नहीं ठहरा सकते हैं।

---

1 Morton A. Kaplan, *System and Process in International Politics* (New York, 1975), p. 13.

(13) मॉरगेन्थाऊ का कथन है कि "राष्ट्रहित राष्ट्र की नीति की आधारभूत कसौटी है।' राष्ट्रहित का पालन करने की इच्छा सभी राज्यों की होती है, लेकिन राष्ट्रहित का कोई निश्चित स्वरूप नहीं होता। समय-समय पर राष्ट्रहित की अलग-अलग ढंग से व्याख्या होती रहती है। एक समय पर राष्ट्रहित का एक स्वरूप होता है और दूसरे समय पर दूसरा। मॉरगेन्थाऊ का यथार्थवादी सिद्धान्त इस बात की कोई परवाह नहीं करता कि एक ही तथ्य या वास्तविकता के विभिन्न लोगों के लिए विभिन्न अर्थ हो सकते हैं।

स्टैनले हॉफमैन ने मॉरगेन्थाऊ के सिद्धान्त को 'पॉवर मॉनिज्म' (शक्ति का अद्वैतवाद) की संज्ञा दी है। रावर्ट टकर के अनुसार, यदि मॉरगेन्थाऊ का सिद्धान्त ठीक मान लिया जाये तो उसका मतलब होगा कि किसी राज्य का कोई भी कार्य अनैतिक नहीं माना जा सकता।[1] संक्षेप में मॉरगेन्थाऊ का यथार्थवादी सिद्धान्त शक्ति के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्य किसी भी पक्ष की व्याख्या नहीं करता, इसलिए इसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सामान्य सिद्धान्त (General Theory) के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।[2]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में मॉरगेन्थाऊ का योगदान
(MORGENTHAU'S CONTRIBUTION TO THE STUDY OF INTERNATIONAL POLITICS)

मॉरगेन्थाऊ के सिद्धान्त में अनेक कमियाँ हैं तथापि उनके यथार्थवादी सिद्धान्त का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक अध्ययन के विकास में कुछ-न-कुछ योगदान अवश्य रहा है। हमारे सामने विचारणीय प्रश्न है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक अध्ययन की परम्परा में मॉरगेन्थाऊ का क्या स्थान है? कुछ विद्वान उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्तकार बताते हैं तो अन्य आलोचक उन्हें पूर्वाग्रहों से ग्रसित सिद्धान्तकार मानते हैं। क्विंसी राइट ने उनके सिद्धान्त को अपूर्ण माना है क्योंकि उसमें राष्ट्रीय नीति पर प्रभाव डालने वाले तत्वों की कोई चर्चा नहीं की गयी है। रेमों आरों के अनुसार मॉरगेन्थाऊ का सिद्धान्त अधूरा है क्योंकि उसमें राष्ट्रीय नीति और विचारधारा के पारस्परिक सम्बन्ध को विस्मृत कर दिया गया।

जब हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि (Theoretical Framework) की खोज करते हैं तो मॉरगेन्थाऊ के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। उन्होंने यथार्थवाद को एक स्वरूप और दिशा प्रदान की है। राजनीतिक यथार्थवाद उनके हाथों में पहुँचकर कर विशिष्ट दर्शन के रूप में अन्तराष्ट्रीय गगन में चमक उठा है। उनका सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के संचालित होने का एक तर्कसंगत विश्वसनीय आधार प्रस्तुत करता है। 'सत्ता ही से स्वार्थ सिद्धि है'—यह मानो वह कुंजी है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के समस्त बन्द कपाट खुल जाते हैं। मॉरगेन्थाऊ ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सैद्धान्तिक अध्ययन की परम्परा स्थापित की। कैनेथ वाल्ट्ज के शब्दों में, 'मॉरगेन्थाऊ से हमें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का कोई सुनिश्चित सिद्धान्त चाहे न मिलता हो पर उनके सिद्धान्त रचना के लिए पर्याप्त सामग्री अवश्य मिलती है।" थॉम्पसन ने लिखा है—"मॉरगेन्थाऊ विश्व की राजनीति पर लिखने वाले समकालीन लेखकों में सबसे बड़ा है और उसे इस युग का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त का निर्माण करने वाला प्रमुखतम विचारक (Most Prominent theoretician) मानना चाहिए।" उनका सबसे बड़ा योगदान यह है कि उसने द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले आदर्शवाद के वातावरण में पलती हुई अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को यथार्थवाद का सुदृढ़ सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया। यथार्थवादी विचारधारा का प्रति-

1 Robert W. Tucker, "Professor Morgenthau's Theory of Political Realism", American Political Science Review (March 1952), p. [illegible]

2 [illegible] p. 198.

निधिस्व करने वाले इधर-उधर बिखरे हुए विचारों को शृंखलाबद्ध करके मॉरगेन्थाऊ ने उन्हें एक वैज्ञानिक सिद्धान्त के धरातल पर विठा दिया। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार का मानव स्वभाव से रिश्ता जोड़कर उन्होंने यथार्थवाद को एक ठोस दार्शनिक आधार प्रदान किया। मॉरगेन्थाऊ की मान्यताओं से हम भले ही सहमत न हों पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में शक्ति के महत्व को उजागर करके उन्होंने हमें अध्ययन और अनुसन्धान का एक ऐसा नया ढंग सिखाया जिससे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल की समस्याओं को देखा जा सके। संक्षेप में, मॉरगेन्थाऊ के सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एकपक्षीय सिद्धान्त के रूप में ही स्वीकारना समीचीन होगा।

प्रश्न

1. "यथार्थवादी द्वारा प्रस्तुत प्रतिरूप अठारहवों व उन्नीसवीं शताब्दियों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का सही नमूना है।" (स्टेनल एच. हॉफमैन)
   उपरोक्त कथन के सन्दर्भ में मॉरगेन्थाऊ द्वारा प्रतिपादित यथार्थवादी सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
   "The model of the realists is a highly embellished ideal type of 18th and 19th century international relations." (Stanley H. Hoffman)
   Critically examine in the light of the above statement the realistic theory as propounded by Hans J. Morgenthau.
2. "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में यथार्थवादी सम्प्रदाय (अथवा विचार शाखा) के विचार मुख्यतः 'शक्ति के रूप में परिभाषित हित' पर आधारित है।"
   प्रो० मॉरगेन्थाऊ के विचारों के विशेष सन्दर्भ में उपरोक्त कथन का परीक्षण करिए।
   "In international politics views of the Realist School are mainly based on interest defined in terms of power."
   Examine the above statement with special reference to the views of Prof. Hans J. Morgenthau.
3. मॉरगेन्थाऊ के 'राजनीतिक यथार्थवाद के छः सिद्धान्त' पर एक आलोचना लिखिए और इन सिद्धान्तों का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक कल्पना-क्षेत्र में नये विकास की दृष्टि से मूल्यांकन कीजिए।
   Attempt a study of Morgenthau's 'Six Principles of Political Realism', and evaluate the principles in the light of new developments in the field of International Political Theory.
4. हंस जे. मॉरगेन्थाऊ के राजनीतिक यथार्थवाद के छः सिद्धान्तों के विरुद्ध की गयी सामान्य आलोचना का परीक्षण कीजिये।
   Examine the Criticism generally put forward against Hans J. Morgenthau's Six Principles of Political Realism.

5

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कतिपय आंशिक सिद्धान्त

[PARTIAL THEORIES OF INTERNATIONAL POLITICS]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की मुख्य समस्या 'सिद्धान्त निर्माण' की है। इस दृष्टि से यह विषय अभी अपनी शैशवावस्था में ही है। मार्गेन्थाऊ, रेमैण्ड ऐरन, जे. डब्लू. बर्टन आदि ने इस ओर काफी कुछ प्रयत्न किये हैं तथापि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सामान्य सिद्धान्त का विकास नही हो पाया है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्तकारों ने मोटे रूप से समकालीन राजनयिक इतिहास का विश्लेषणात्मक अध्ययन सैद्धान्तिक दृष्टि से करने का प्रयत्न किया है। वर्तमान में सैद्धान्तिक पक्ष और अनुभवजन्य यथार्थ घटनाओं के विवेचन में अधिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया जाने लगा है। रिचार्ड सी. स्नाइडर के शब्दों में, "शुद्ध यथार्थ के तथ्यों के अंकन की प्रवृत्ति, विषय का अधिकाधिक स्पष्टीकरण तथा सैद्धान्तिक आधारों के निर्माण की प्रवृत्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है।"

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विषय में सिद्धान्त निर्माण की खोज में जिन आंशिक सिद्धान्तों का प्रचलन हुआ है, वे इस प्रकार हैं :

(1) सन्तुलन सिद्धान्त;
(2) खेल सिद्धान्त;
(3) निर्णयपरक सिद्धान्त;
(4) सौदेबाजी का सिद्धान्त;
(5) संचार सिद्धान्त।

1. सन्तुलन सिद्धान्त
(EQUILIBRIUM THEORY)

सन्तुलन सम्प्रत्यय का प्रयोग कई सैद्धान्तिक अनुशासनों में किया जाता है और खासतौर से अर्थशास्त्र में इसकी विवेचना हुई है[1] जहाँ माँग और पूर्ति में सन्तुलन कायम करना अपरिहार्य माना जाता है। टैलकट पार्सन्स ने सन्तुलन को एक अन्योन्याश्रित समाज व्यवस्था में सामाजिक नियन्त्रण की कई प्रकार की युक्तियों द्वारा कायम की गयी परिवर्तन की अवस्था या व्यवस्थित प्रक्रम बताया है। क्विंसी राइट के शब्दों में, "सन्तुलन किसी एक सत्ता या सत्ताओं के

---

1 James N. Rosenau, *International Politics and Foreign Policy* (London, 1961), p. 303.

समूह पर या उनके भीतर कार्य कर रहे बलों का वह आपसी सम्बन्ध है जिससे समष्टि में कुछ मात्रा में एक प्रकार का स्थायित्व दिखायी देता है।"[1]

सन्तुलन के मोटे तौर से दो प्रकार माने जाते हैं—स्थायित्व वाला सन्तुलन (Static equilibrium) और गतिशील सन्तुलन (Dynamic equilibrium)। स्थायित्व वाली सन्तुलन व्यवस्था में स्वचालित और स्वनियन्त्रित सन्तुलन स्थापित होता है। इस प्रकार का सन्तुलन किसी भी समाज व्यवस्था में नहीं पाया जाता, चूंकि समाज और राज्य मनुष्यों से बना होता है और मनुष्य स्थिर न होकर गतिशील होते हैं। गतिशील सन्तुलन एक वास्तविकता है और प्रभावक तत्वों के परिवर्तन के बावजूद किसी न किसी प्रकार से समाज और राज्य में उपस्थित रहता है।

सन्तुलन सम्प्रत्यय को दो अर्थों में प्रयोग किया जाता है—पहले को वैधानिक सन्तुलन (Constitutional Equilibrium) कहते हैं और दूसरे को सामान्य सन्तुलन (General Equilibrium) कहते हैं। वैधानिक सन्तुलन से अभिप्राय यह है कि समाज और राज्य में शान्ति और व्यवस्था बनी रहनी चाहिए और राज्यों के आपसी सम्बन्धों में भी किसी प्रकार अव्यवस्था अथवा अशान्ति नहीं होनी चाहिए। सामान्य सन्तुलन से अभिप्राय है कि राजनीतिक व्यवस्था में उसके सभी अंग अन्तःक्रिया की दृष्टि से अन्योन्याश्रित होते हैं और इन अंगों की क्रिया और प्रतिक्रिया के एक प्रक्रम में परस्पर सम्बन्धित होने के कारण अन्त में स्थायित्व की प्राप्ति होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सन्तुलन सिद्धान्त अपनाने वाले विद्वानों में जार्ज लिस्का और मार्टन कैप्लन के नाम उल्लेखनीय हैं। जार्ज लिस्का ने अपनी पुस्तक 'इण्टरनेशनल इक्विलिब्रियम' (International Equilibrium, 1957) में सन्तुलन सिद्धान्त की सुसंगत रीति से व्याख्या की है। लिस्का के शब्दों में, "मैंने सन्तुलन शब्द का प्रयोग एक सैद्धान्तिक मानक के रूप में भी किया है और राजनीतिक संस्थाओं में अस्थायी असन्तुलन की बदलती अवस्थाओं की ओर असली प्रवृत्ति के वाचक के रूप में भी।"[2]

लिस्का ने खासतौर से प्रगतिशील स्थायी और अस्थायी सन्तुलन के विचारों पर बल दिया है। लिस्का की अवधारणा को 'संस्थानात्मक सन्तुलन' की अवधारणा (Institutional Equilibrium) कहा जाता है जिसे खासतौर से अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की संरचना, सदस्यों की प्रतिबद्धता, इसकी प्रकार्यात्मक और भौगोलिक परिसीमाओं से सम्बन्ध किया गया है।[3]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के महत्व को स्वीकार करते हुए भी लिस्का इसका प्रयोग विश्लेषण के एक मानक के रूप में ही करता है। उसकी मान्यता है कि राज्य सन्तुलन की ऐसी व्यवस्था चाहते हैं जो शान्ति की संरक्षक हो। चूंकि शान्ति सन्तुलन की परिणति है अतः सन्तुलन की खोज एक आवश्यक मूल्य है। सन्तुलन की खोज में कतिपय व्यक्ति, सामाजिक समूह,

1 "Equilibrium is a relationship among the forces operating upon or within an entity or group of entities so that the whole manifests in some degree some form of stability."
—Quincy Wright, *The Study of International Relations*, New York, 1955. p. 514.

2 "I shall be using the concept of equilibrium in both of the accepted ways—first, as a theoretical norm or point of reference; second, as denoting an actual tendency toward changing states of temporary equilibrium in political institutions."—George Liska, "Towards an Equilibrium Theory of International Relations and Institutions" (Edited) James N. Rosenau, n. 1, p. 331.

3 "My central concept is that of institutional equilibrium, applied primarily to international organisation with respect to its structure, the commitment of its members, and its functional geographic scope."
—*Ibid.*

अर्थव्यवस्थाएँ और संस्कृतियाँ अनवरत रूप से कटिबद्ध रहते हैं।[1] व्यक्तियों और समूहों के मानसिक सन्तुलन पर सुरक्षा और असुरक्षा की भावनाओं का प्रभाव पड़ता है। अर्थव्यवस्थाओं के भीतर सन्तुलन आर्थिक वस्तुओं के विनिमय से स्थापित होता है। संस्कृतियों का सन्तुलन इस बात पर निर्भर होता है कि उनके नैतिक और भौतिक घटक स्थायित्व और परिवर्तन की माँगें पूरी करने में कहाँ तक समर्थ हैं। इस प्रकार लिस्का अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के माध्यम से एक ऐसा 'बहुल सन्तुलन' कायम करना चाहता है जिसमें राजनीतिक, सैनिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पक्षों के गतिशील तत्व समाविष्ट हो जाते हैं।[2]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर सन्तुलन सिद्धान्त लागू करने के सम्बन्ध में लिस्का ने तीन बातों पर बल दिया है : प्रथम, अलग-अलग राज्य सामूहिक संगठन के हिस्से हैं और यह सामूहिक संगठन किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्देशन में कार्यरत है। द्वितीय, राज्यों की नीतियों की परीक्षा, अधिकाधिक अन्तर्राष्ट्रीय एकीकरण की आवश्यकता के प्रसंग में करनी चाहिए। तृतीय, सन्तुलन सिद्धान्त को उस सामाजिक और भौतिक पर्यावरण की परीक्षा करनी चाहिए जिसमें राज्य एकतरफा कार्यवाही द्वारा अपनी स्थिति कायम रखने और सुधारने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार लिस्का के अनुसार सन्तुलन का सम्प्रत्यय एक एकीकरण का सम्प्रत्यय है जिससे एक विश्व व्यवस्था का जन्म होने में सुविधा होगी। जिस प्रकार एक स्वस्थ लोकतन्त्र में शक्ति के विरोधी तत्वों का सम्मिलन हो जाता है उसी प्रकार एक स्वस्थ अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में भी संस्थानात्मक, सैनिक, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक कारकों को सन्तुलित कर लिया जाता है।

मार्टन कैप्लन ने अपनी पुस्तक 'सिस्टम एण्ड प्रोसेस इन इण्टरनेशनल पालिटिक्स' (*System and Process in International Politics*) में अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का वर्णन करने में सन्तुलन सिद्धान्त का प्रयोग किया है। उसकी धारणा मार्गेन्थाऊ से मिलती-जुलती है। चूंकि उसने सन्तुलन की चर्चा 'शक्ति सन्तुलन प्रणाली' (Balance of Power Theory) के प्रसंग में की है अतः उसका मत है कि एकीकरण की प्रवृत्तियाँ सन्तुलन कायम करने की होती हैं और विघटन की प्रवृत्तियाँ असन्तुलन पैदा करने की होती है। अतः राष्ट्रीय कर्ताओं की सामूहिक शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सन्तुलन कायम करने का यत्न करती है। यदि एक बार सन्तुलन भंग हो जाये तो शान्ति भी भंग हो जाती है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित करने का आधार है अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में पूर्ण सन्तुलन स्थापित करने वाला सम्प्रत्यय।

सन्तुलन सिद्धान्त का मूल्यांकन
(APPRAISAL OF THE EQUILIBRIUM THEORY)

सन्तुलन सिद्धान्त 'शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त' से मिलता है। इसकी तर्कसंगत आधार यह है कि किसी राजनीतिक प्रणाली के समस्त अवयव कार्य की दृष्टि से अन्योन्याश्रित होते हैं और कार्यों की पारस्परिक निर्भरता के फलस्वरूप सन्तुलन एक ऐसा सम्प्रत्यय है जिसके द्वारा हितों का समायोजन किया जाता है। सन्तुलन सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रवृत्ति स्थायित्व और सन्तुलन की ओर है।

सन्तुलन सिद्धान्त की अनेक आधारों पर आलोचना की जाती है। प्रथम, आलोचकों का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सन्तुलन की स्थिर अवस्था स्थापित नहीं हो सकती क्योंकि इसका बाह्य पर्यावरण निरन्तर बदलता रहता है। द्वितीय, जे. ए. शुम्पीटर के अनुसार,

---

1 "Individual personalities, organised social groups, economies and cultures are all involved in the international equilibrium." —*Ibid.*

2 "In view of such ramifications, institutional organisation may be treated as part of dynamic interplay of institutional, military-political, and socio-economic factors and pressures constituting a multiple equilibrium." —*Ibid.*

सन्तुलन सिद्धान्त 'सन्तुलन के इर्द-गिर्द चक्कर लगाता है' पर यह सन्तुलन पर पहुँचता कभी नहीं। **तृतीय**, यह एक यथार्थवादी सिद्धान्त न होकर आदर्शवादी सिद्धान्त है क्योंकि यह सन्तुलन को एक वांछनीय नीति मानने का आग्रह करता है। **चतुर्थ**, आलोचकों का यह भी कहना है कि चूंकि मानव व्यवहार अनिश्चित होता है इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रभावक तत्व (Variables) माप-योग्य नहीं होते। इसलिए किसी समय विशेष पर सन्तुलन का अनुभव द्वारा सत्यापन सम्भव नहीं है इसलिए सन्तुलन सिद्धान्त में कोई तुक नहीं है। **पंचम**, सन्तुलन सिद्धान्त मोटे रूप से शक्ति सन्तुलन का ही पर्यायवाची बन जाता है क्योंकि सन्तुलन का अर्थ है समान अनुपातों में शक्ति का वितरण होने से उत्पन्न अवस्था। स्टेनले हॉफमैन के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में सदैव असन्तुलन रहता है और राजनीतिक प्रभावकों को मापा नहीं जा सकता। अन्त में यही कहा जा सकता है कि जार्ज लिस्का का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के सन्तुलन का सिद्धान्त है न कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्तुलन का।[1]

2. खेल सिद्धान्त
(GAME THEORY)

खेल का सिद्धान्त मुख्यतः गणितज्ञों और अर्थशास्त्रियों ने विकसित किया है। इस दृष्टिकोण में 'प्रतिमान निर्माण' की कला को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर लागू करने का प्रयत्न किया गया है। इसमें अनेक समानताओं के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक खेल मान लिया जाता है और उसके अध्ययन के लिए खेल जैसा एक प्रतिरूप या नमूना (Pattern) बनाकर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। इसमें गणितीय प्रतिमान (Mathematical Models) को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर लागू करने का विशेष प्रयत्न दिखायी देता है। खेल सिद्धान्त के महत्व को प्रतिपादन करने वालों में मार्टिन शुबिक, कार्ल ड्वाइच तथा आस्कर मॉर्गेन्स्टर्न के नाम उल्लेखनीय हैं। जर्मन गणितज्ञ लीबनिट्ज ने 1710 में इसकी आवश्यकता और महत्व को समझ लिया था, किन्तु इसके व्यापक प्रयोग का श्रेय जॉन न्यूमैन को है। उन्होंने इसका प्रयोग अर्थशास्त्र में किया। इसके बाद टॉमस शैलिंग ने इसका विकास किया। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में मार्टन कैप्लन, आर्थर ली बर्न्स तथा रिचार्ड क्वाण्ट ने खेल सिद्धान्त के प्रतिमानों को अपनाने का प्रयत्न किया है। इन विचारकों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने के लिए खेलों का माध्यम अपनाया है। वस्तुत खेल उपागम विश्लेषण का एक तरीका है और इसमें कई विकल्पों में से श्रेष्ठ विकल्प का चयन करना होता है। यह सिद्धान्त इस प्रश्न का उत्तर है कि किन परिस्थितियों में कौनसी क्रिया (निर्णय) अथवा विकल्प विवेकसंगत होता है? यह सिद्धान्त उन लोगों के लिए बहुत उपयोगी है जो एक विशेष समस्या पर निर्णय लेना चाहते हैं अथवा जो अपने विकल्पों की तुलनात्मक रूप से उपयोगिता देखना चाहते हैं।[2]

इस सिद्धान्त में यह मान लिया जाता है कि जिस प्रकार शतरंज आदि के खेलों में दो या अनेक प्रतिद्वन्द्वी एक दूसरे को हटाने के लिए विभिन्न प्रकार की चालें चलते हैं, इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विभिन्न राज्य नाना प्रकार की चालें चलकर अपने विरोधियों को परास्त करने का प्रयत्न करते हैं। दोनों में कई समानताएँ उल्लेखनीय हैं :

पहली समानता संघर्ष की स्थिति की है। इनमें दोनों पक्ष जीतने का पूरा प्रयत्न करते हैं। **दूसरी समानता** उद्देश्य की है। दोनों पक्षों का एकमात्र उद्देश्य संघर्ष में सफलता प्राप्त करने

---

1 "Liska's theory is taken as essentially a theory of international organisation rather than as a theory of international relations, it is of some use."

—P. Chandra, *International Politics*, p. 33.

2 "It is a method of analysis and also of selecting the best course of action....This theory attempts to answer the question what action is rational in which situation."

का होता है। जिस प्रकार शतरंज का खिलाड़ी अपने विरोधी को मात देने का प्रयास करता है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रत्येक राज्य अपने प्रतिद्वन्द्वी के साथ अधिक शक्ति पाने के संघर्ष में विजयी होना चाहता है। तीसरी समानता साधनों की है। शतरंज आदि खेलों का खिलाड़ी अपने विरोधी की चालों का सूक्ष्मतापूर्वक अध्ययन करता है उसकी सम्भावित चालों से बचने के लिए और उनकी काट करने के लिए अपनी सुविचारित चालें चलता है जिससे वह खेल में विजय प्राप्त कर सके। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी यही स्थिति होती है। प्रत्येक देश अपने विरोधी की सम्भावित चालों को पूरी तरह समझने का प्रयास विभिन्न साधनों से करता है और उन्हें विफल बनाने के लिए अपनी ऐसी नई चालें चलता है जिससे उसकी स्थिति सुदृढ़ हो, अन्तर्राष्ट्रीय जगत में उसके प्रभाव में वृद्धि हो और वह शत्रु द्वारा उसे हानि पहुँचाने के उद्देश्य से किये गये प्रयासों का सफल प्रतिरोध कर सके।

खेल सिद्धान्त में जिस खेल की चर्चा की गयी है वह युक्ति का खेल (Game of Strategy) है, न कि संयोग का खेल (Game of Chance)। एक खेल की भाँति इस सिद्धान्त में भी स्वयं के नियम (Rules), खिलाड़ी (Players), क्रियाएँ (Moves), रणनीति (Strategies) तथा क्षतिपूर्ति (Pay-off) आदि होते हैं। यह खेल प्रतिस्पर्द्धापूर्ण (Competitive) तथा सहकारितापूर्ण (Co-operative) दोनों ही प्रकार का हो सकता है। खेल के सैद्धान्तिक विश्लेषण की इकाई खिलाड़ी होता है। खिलाड़ी का अर्थ उससे है जो निर्णय लेता है। खिलाड़ी दो भी हो सकते हैं और उससे अधिक भी। खेल के नियम होते हैं। इन नियमों पर खिलाड़ियों का वश नहीं रहता। जैसे शतरंज का नियम है कि पैदल मोहरा एक बार में एक या दो घर पार कर सकता है। खेल के नियम ही यह निर्णय करते हैं कि एक खिलाड़ी क्या कदम उठायेगा। खेल में हर पात्र इस कोशिश में लगा रहता है कि वह अपने लिए अधिकतम लाभ अर्जित करे।

खेल सिद्धान्त के प्रमुख सम्प्रत्यय—इस प्रकार खेल सिद्धान्त मोटे रूप में पाँच सम्प्रत्ययों (Concepts) पर बल देता है। **प्रथम**, रणनीति तय करना अर्थात् दूसरे पक्ष की चालों को देखकर अपने लिए चातुर्यपूर्ण चाल निर्धारित कर लेना। **द्वितीय**, विरोधी का होना अर्थात् खेल सिद्धान्त में विरोधी का होना आवश्यक है। **तृतीय**, क्षतिपूर्ति का होना अर्थात् खेल के अन्त में क्या मूल्य प्राप्त होगा। **चतुर्थ**, नियमों का होना, अर्थात् खेल खेलने के लिए कतिपय आधारभूत नियम होने चाहिए। **पंचम**, सूचना का होना अर्थात् खेल में सभी विकल्पों की जानकारी खिलाड़ी के पास होनी चाहिए।[1]

खेलों के प्रकार—खेल भी कई प्रकार के होते हैं, जैसे—(i) Zero Sum Games—इसमें कुल खिलाड़ियों की हानियों (Losses) का अर्थ दूसरे खिलाड़ियों का लाभ (Gains) होता है। (ii) Constant-Sum Games—ये इस प्रकार के खेल हैं जिनमें किसी भी पक्ष को लाभ किसी दूसरे की कीमत पर नहीं मिलता। इस प्रकार के खेलों को समझने के लिए एक बाजार की कल्पना की जा सकती है जिसमें कुछ सामान एक निश्चित संख्या व कीमत में बिकता है। इस बाजार में प्रतिद्वन्द्वी को जो लाभ मिलेगा वह स्पष्टत: किसी पक्ष को हानि देकर प्राप्त नहीं होगा। सभी को समान लाभ मिलेगा। (iii) Non-Zero Sum Games—इस प्रकार का खेल उपरोक्त दोनों प्रकार के खेलों की बीच की स्थिति का द्योतक है। इसमें खेलों के विभिन्न पक्षों के बीच प्रतिस्पर्द्धा भी रह सकती है और सहयोग भी।[2]

1 Richard C. Snyder, "Game Theory and the Analysis of Political Behaviour", in James N Rosenau (ed.), *International Politics and Foreign Policy* (London 1967), p. 384.
2 *Ibid.*

खेल सिद्धान्त से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन—खेल सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक क्रीड़ास्थली मानता है, जहाँ राष्ट्र और राज्य अपनी व्यूह-रचना कर रहे हैं। जिस प्रकार सामाजिक संगठन सहयोग के प्रतीक हैं उसी प्रकार सामाजिक संघर्ष भी होते रहते हैं। संघर्ष जब अन्तिम सीमा तक पहुँच जाता है तो युद्ध होते हैं परन्तु मनुष्य की इस सामाजिक प्रवृत्ति को रचनात्मक ढंग से भी नियमित किया जा सकता है और उसका मुख्य उदाहरण है खेल का मैदान जहाँ दो स्पष्ट दल होते हैं, प्रतिद्वन्द्विता होती है और प्रत्येक दल केवल अपनी विजय चाहता है, अपने विरोधी को पराजित करना चाहता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के खेल सिद्धान्त में विश्वास करने वाले लोग खेल का एक मॉडल बनाते हैं और इस मॉडल को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन पर लागू करते है। इस मॉडल में शक्ति (Power), निर्णय (Decision), विवाद (Conflict) तथा सहयोग (Co-operation) प्रमुखतम अवधारणाएँ हैं। इस मॉडल में राष्ट्रों को राष्ट्रीय हित की पूर्ति के लिए प्रतियोगिता कर रहे खिलाड़ियों के समान समझा जाता है। जिस प्रकार खेल प्रतियोगिताओं के नियम बिल्कुल स्पष्ट और पूर्व-निश्चित होते हैं और एक निर्णायक बिलकुल तटस्थ होकर दोनों पक्षों को खिलाता रहता है और नियमों का पालन करवाता है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी स्पष्ट नियम होते हैं जिन्हें हम मानव स्वभाव के प्राकृतिक नियमों की संज्ञा देते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ एक रेफरी की भाँति देखता रहता है कि राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का पालन करते हुए आपस में परस्पर खेल की भाँति क्रिया (Interaction) करते रहें।

खेल सिद्धान्त वास्तव में तर्कसंगत व्यवहार का मॉडल पेश करता है। खेल सिद्धान्त इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करता है कि किस स्थिति में कौनसी कार्यवाही तर्कसंगत है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तर्कसंगत व्यवहार का अर्थ है कि हर राष्ट्र विदेश नीति के क्षेत्र में ऐसा निर्णय ले जिससे विजय के अधिकतम अवसर हासिल हों। रिचार्ड स्नाइडर ने 'फारमोसा' के बारे में लिखा है कि यदि टू-पर्सन-जीरो-सम-गेम का मॉडल अपनाया जाता तो राज्य सचिव डलेस को उसकी सुरक्षा के लिए इतना आगे बढ़ जाना चाहिए था कि बाद में चीन उन निर्णयों को बदलने में सामर्थ्यवान नहीं रह जाता। चूंकि नॉन-जीरो-सम-गेम में दोनों ही कर्ताओं (अमरीका या चीन) के हानि उठाने के अवसर बने रहते हैं। यदि अन्त में खेल का मूल्य 'युद्ध' रह जाता है तो वह और भी खतरनाक बन जाता है। यदि 'फारमोसा' की व्याख्या 'कान्सटेण्ट-सम-गेम्स' के परिप्रेक्ष्य में की जाये तो दोनों को ही समान लाभ होंगे।[1]

सामान्यतया खेल सिद्धान्त के समर्थक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में किसी संघर्ष (Conflict) के समय मोटे रूप से पाँच प्रश्न पूछते है—(i) आपके पास कौन-कौन सी युक्तियाँ हैं (What strategies are available to you); (ii) आपके विरोधी अथवा शत्रु के पास कौन-कौन सी युक्तियाँ हैं (What strategies are available to an opponent or an enemy); (iii) दोनों की युक्तियों की तुलना करने पर क्या परिणाम निकलते हैं (What is the outcome of a whole series of pairing of strategies); (iv) विभिन्न परिणामों के आप क्या मूल्य आँकते हैं (What value do you place on various outcomes); (v) ऐसे ही विभिन्न परिणामों के आपके विरोधी या शत्रु क्या मूल्य आँकते हैं (What value does your opponent or enemy place on these some outcomes)। इन प्रश्नों का उत्तर खोजने के लिए नीति निर्माताओं को अपनी नीतियों के परिणामों (Valuations) तथा सम्भावित अनुमानों (Probability Estimates)

1 *Ibid.*, p. 388.

के बारे में बड़े स्पष्ट निष्कर्ष निकालने पड़ेंगे तभी निर्धारित अनुमानों का प्रकटीकरण और पूर्व गणना (Calculation) सम्भव होगी।[1]

विगत कुछ वर्षों से मार्क्सवादी विचारकों ने खेल सिद्धान्त का प्रयोग भिन्न प्रकार से किया है। वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन करने के लिए वे विभिन्न प्रकार के साधनों एवं प्रक्रियाओं को काम में लाते हैं। पिछले दिनों अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों का अध्ययन करने के लिए विशेष तौर से जिस पद्धति को काम में लाया जाने लगा है उसे **"स्वरूपीकरण"** (Formalisation) के नाम से पुकारा जाता है। 'स्वरूपीकरण' से तात्पर्य है विभिन्न प्रक्रियाओं में ऐसी प्रक्रियाओं के स्वरूपों को छाँट लेना जो समान हैं तथा इन स्वरूपों को कालान्तर में निहित तत्वों के आधार पर सामान्यीकृत करना। अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों के अध्ययन में इस पद्धति का प्रयोग बड़ा सरल है। अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों के निश्चित स्वरूप होते हैं, जैसे विरोध, तनाव, झड़प, दौत्य सम्बन्धों को तोड़ना, आर्थिक नाकेबन्दी, युद्ध आदि। इन स्वरूपों के विश्लेषण से हमारे लिए यह सम्भव हो सकता है कि हम संघर्ष की प्रत्येक सतह में निहित खतरे का आकलन कर लें।

आजकल एक अन्य पद्धति **'मॉडेलिंग'** (Modelling) के द्वारा भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन सम्भव है। मॉडेल से अभिप्राय है कि हमारे अध्ययन की विषय-वस्तु को एक समतुल्य वस्तु के द्वारा प्रस्तुत करना। 'मॉडेल' की रचना उस समय की जाती है जबकि हमारे लिए प्रत्यक्ष परीक्षण करना सम्भव नहीं होता। सामाजिक प्रक्रियाओं तथा विदेश नीतियों का अध्ययन करने के लिए विस्तृत सामाजिक मॉडेलों की रचना अपेक्षित है। सामाजिक मॉडेल वे पद्धतियाँ हैं जिनके द्वारा सामाजिक प्रक्रियाओं तथा घटनाओं को सही तरीके से व्यक्त किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में मॉडेलिंग पद्धति का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों के विश्लेषण के लिए बड़ी सीमा तक हुआ है। चूँकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अत्यन्त विषम है और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएँ कभी स्थिर नहीं रहतीं, इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि मॉडेल भी अत्यन्त विषम हों तथा उनके द्वारा इतिहास के समस्त वस्तुनिष्ठ नियमों की अभिव्यक्ति हो।

खेल सिद्धान्त का मूल्यांकन
(APPRAISAL OF THE GAME THEORY)

खेल सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का 'सामान्य सिद्धान्त' नहीं बन पाया है। इस सिद्धान्त की अपनी कुछ समस्याएँ हैं जिनके कारण इसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर लागू नहीं किया जा सकता। अनेक विद्वान इसे वैज्ञानिक कहने को भी तैयार नहीं हैं। इस सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है :

(1) प्रथम, खेल सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विश्लेषण करने पर एक प्रकार की बिलकुल नयी शब्दावली का विकास करना पड़ेगा।

(2) द्वितीय, अन्तर्राष्ट्रीय क्रीड़ा मंच पर इतने अधिक खिलाड़ी हैं कि सबके अलग-अलग समूहों की कल्पना, उनके सम्बन्ध आदि का विश्लेषण कर पाना कि वे इस क्रीड़ास्थल पर कैसा आचरण करेंगे, वास्तव में बहुत कठिन है।

(3) तृतीय, खेल सिद्धान्त मे मानव स्वभाव के उस पक्ष पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है, जो विरोध, प्रतिद्वन्द्विता, प्रतिस्पर्द्धा से सम्बन्धित हैं।

(4) चतुर्थ, खेल सिद्धान्त की एक कमजोरी यह है कि इसे टू पर्सन्स-जीरो सम गेम्स (व्यक्तीय शून्य योग खेलों) के मामलों पर ही कुछ सफलता से लागू किया जा सकता है, पर

---
1 *Ibid*, p. 389.

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ऐसी स्थितियाँ बहुत कम ही होती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अवसर सविकल्प खेल होते हैं।

(5) पंचम खेल सिद्धान्त के सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई इसलिए उत्पन्न होती है कि जीरो सम (शून्य-योग) स्थितियों के विश्लेषण का अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की वास्तविकता से कोई समुचित मेल नहीं बैठता है। जीरो सम स्थिति के प्रतिमान के आधार पर केवल युद्ध की स्थिति का ही विश्लेषण किया जा सकता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विषय-वस्तु में अध्ययन का मुख्य हेतु मात्र युद्ध ही नहीं है। युद्ध के अतिरिक्त सहयोग और सामंजस्य के तत्व भी अत्यन्त प्रबल हैं और आज के इस अणुयुग में कोई भी राज्य युद्ध नहीं चाहता अतः इस सिद्धान्त का महत्व भी कम होता जा रहा है।

(6) षष्ठम, खेल सिद्धान्त एक अमूर्त धारणा है और कतिपय विशिष्ट परिस्थितियों में ही इस धारणा को मूर्त रूप दिया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के खिलाड़ी उतने विवेक-जन्य (rational) कदापि नहीं होते जितने कि इस सिद्धान्त के समर्थकों ने सोचा है। मार्टन कैप्लन के शब्दों में, "यह सिद्धान्त सीमित परिस्थितियों में ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की समस्याओं के बारे में लागू किया जा सकता है।"[1] इसका कारण बताते हुए कार्ल डॉयच ने लिखा है, "खेल सिद्धान्त की सामान्य धारणा है कि अधिकांश खेलों का अन्त हो जाता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ऐसा खेल है जो कभी खत्म नहीं होता और कोई भी महाशक्ति दूसरे का समूलोन्मूलन करके खेल के मैदान से हट नहीं सकती।"[2]

वस्तुतः खेल सिद्धान्त का क्षेत्र अत्यधिक सीमित है। इसे द्विव्यक्तीय शून्य योग खेलों के बारे में कुछ सफलता के साथ ही लागू किया जा सकता है, जहाँ भाग लेने वाले केवल दो राष्ट्र हों। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ऐसी परिस्थितियाँ बहुत कम होती हैं। अधिकांश परिस्थितियों में दो से अधिक देश भाग लेते हैं। अतः इसके प्रमुख प्रतिपादक टामस शैलिंग को यह स्वीकार करना पड़ा है कि युद्ध निवारण, आकस्मिक आक्रमण, परमाणु आतंक जैसी व्यापक समस्याओं के समाधान में इसका कोई विशेष उपयोग नहीं है।

खेल सिद्धान्त का महत्व—इस सिद्धान्त के समर्थक निम्न आधारों पर इसका समर्थन करते हैं :

1. प्रथम, यह सिद्धान्त अनुभव पर आधारित है और इसमें थोड़ी-सी भविष्यवाणी करने की क्षमता है।

2. द्वितीय, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की द्विध्रुवीय विश्व राजनीति (Bi-polar World Politics) को खेल सिद्धान्त के आधार पर अच्छी तरह समझा जा सकता है। इस खेल में तीन खिलाड़ी हैं—पूंजीवादी शक्तियाँ, साम्यवादी शक्तियाँ और गुटनिरपेक्ष शक्तियाँ। इनके सम्बन्धों, अन्तःक्रियाओं और खेल का अध्ययन करके खेल का एक सैद्धान्तिक मॉडेल बनाया जा सकता है।

3 तृतीय, खेल सिद्धान्त का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ऐसे तर्कसंगत व्यवहार का निर्णय करना है जो विदेश नीति निर्माण में निर्णयों और कार्यवाहियों का मार्ग प्रशस्त कर सकें।

संक्षेप में, विश्व की जटिल समस्याओं के अध्ययन में इस सिद्धान्त को लागू नहीं किया जा सकता है और विद्वानों में यह सिद्धान्त कोई गम्भीर समर्थन प्राप्त नहीं कर सका है।

---

1 Morton Kaplan, "It has only limited applicability to most problems of International Politics." Quoted in Palmer and Parkins, *International Relations* (Boston, U. S. A.) p XXI.

2 Karl W. Deutsh, "Game theory usually assumes that most games have an end but international politics resembles rather an unending game in which no great power can pick up its marbles and go home." —*Ibid.*

के बारे में बड़े स्पष्ट निष्कर्ष निकालने पड़ेंगे तभी निर्धारित अनुमानों का प्रकटीकरण और पूर्व गणना (Calculation) सम्भव होगी ।[1]

विगत कुछ वर्षों से मार्क्सवादी विचारकों ने खेल सिद्धान्त का प्रयोग भिन्न प्रकार से किया है । वस्तुत: अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन करने के लिए वे विभिन्न प्रकार के साधनों एवं प्रक्रियाओं को काम में लाते हैं । पिछले दिनों अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों का अध्ययन करने के लिए विशेष तौर से जिस पद्धति को काम में लाया जाने लगा है उसे **"स्वरूपीकरण"** (Formalisation) के नाम से पुकारा जाता है । 'स्वरूपीकरण' से तात्पर्य है विभिन्न प्रक्रियाओं में ऐसी प्रक्रियाओं के स्वरूपों को छाँट लेना जो समान हैं तथा इन स्वरूपों को कालान्तर में निहित तत्वों के आधार पर सामान्यीकृत करना । अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों के अध्ययन में इस पद्धति का प्रयोग बड़ा सरल है । अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों के निश्चित स्वरूप होते हैं, जैसे विरोध, तनाव, झड़प, दौत्य सम्बन्धों को तोड़ना, आर्थिक नाकेबन्दी, युद्ध आदि । इन स्वरूपों के विश्लेषण से हमारे लिए यह सम्भव हो सकता है कि हम संघर्ष की प्रत्येक सतह में निहित खतरे का आकलन कर लें ।

आजकल एक अन्य पद्धति **'मॉडेलिंग'** (Modelling) के द्वारा भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन सम्भव है । मॉडेल से अभिप्राय है कि हमारे अध्ययन की विषय-वस्तु को एक समतुल्य वस्तु के द्वारा प्रस्तुत करना । 'मॉडेल' की रचना उस समय की जाती है जबकि हमारे लिए प्रत्यक्ष परीक्षण करना सम्भव नहीं होता । सामाजिक प्रक्रियाओं तथा विदेश नीतियों का अध्ययन करने के लिए विस्तृत सामाजिक मॉडेलों की रचना अपेक्षित है . सामाजिक मॉडेल वे पद्धतियाँ हैं जिनके द्वारा सामाजिक प्रक्रियाओं तथा घटनाओं को सही तरीके से व्यक्त किया जाता है । अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में मॉडेलिंग पद्धति का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों के विश्लेषण के लिए बड़ी सीमा तक हुआ है । चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अत्यन्त विषम है और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएँ कभी स्थिर नहीं रहतीं, इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि मॉडेल भी अत्यन्त विषम हों तथा उनके द्वारा इतिहास के समस्त वस्तुनिष्ठ नियमों की अभिव्यक्ति हो ।

खेल सिद्धान्त का मूल्यांकन
(APPRAISAL OF THE GAME THEORY)

खेल सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का 'सामान्य सिद्धान्त' नहीं बन पाया है । इस सिद्धान्त की अपनी कुछ समस्याएँ हैं जिनके कारण इसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर लागू नहीं किया जा सकता । अनेक विद्वान इसे वैज्ञानिक कहने को भी तैयार नहीं हैं । इस सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है :

(1) प्रथम, खेल सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विश्लेषण करने पर एक प्रकार की बिलकुल नयी शब्दावली का विकास करना पड़ेगा ।

(2) द्वितीय, अन्तर्राष्ट्रीय क्रीड़ा मंच पर इतने अधिक खिलाड़ी हैं कि सबके अलग-अलग समूहों की कल्पना, उनके सम्बन्ध आदि का विश्लेषण कर पाना कि वे इस क्रीड़ास्थल पर कैसा आचरण करेंगे, वास्तव में बहुत कठिन है ।

(3) तृतीय, खेल सिद्धान्त में मानव स्वभाव के उस पक्ष पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है, जो विरोध, प्रतिद्वन्द्विता, प्रतिस्पर्द्धा से सम्बन्धित हैं ।

(4) चतुर्थ, खेल सिद्धान्त की एक कमजोरी यह है कि इसे टू पर्सन्स-जीरो सम गेम्स (व्यक्तीय शून्य योग खेलों) के मामलों पर ही कुछ सफलता से लागू किया जा सकता है, पर

1 *Ibid*, p 389.

और इनके ऐसे कम सम्भावित परिणाम होंगे जिन पर आपत्ति की जा सके। साइमन के शब्दों में, निर्णय को हम पूर्व विचारों में से निकाले गये निष्कर्ष मान सकते हैं। ये निष्कर्ष बड़े निर्णयों के लिए पूर्व विचार बन जाते हैं।

निर्णय की ये विभिन्न परिभाषाएँ स्पष्ट करती हैं कि निर्णय लेना एक प्रक्रिया है जिसमें एक निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है। निर्णयपरक दृष्टिकोण के दो मोटे उद्देश्य हैं—एक तो राजनीतिक क्षेत्र में उन 'मार्मिक संरचनाओं' को पहचानना जहाँ परिवर्तन होते हैं अर्थात् जहाँ निर्णय किये जाते हैं और जहाँ कार्यवाही का सूत्रपात और उसकी पूर्ति की जाती है। दूसरा उद्देश्य यह है कि उस निर्णयकारी व्यवहार का व्यवस्थित विश्लेषण किया जाये जिसकी परिणति कार्यवाही के रूप में होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में निर्णयपरक सिद्धान्त—निर्णयपरक सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक नये दृष्टिकोण से देखता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में मूल इकाइयाँ यद्यपि राज्य हैं तथापि राज्यों का समस्त कार्य संचालन प्रशासन के उच्चाधिकारियों द्वारा ही होता है। राज्य के नाम पर सारा निर्णय व्यक्ति ही लेते हैं। नाजी जर्मनी का व्यक्तित्व हिटलर के व्यक्तित्व का ही प्रतिबिम्ब था। स्वाधीनता के बाद भारत की विदेश नीति के निर्माण पर पं. नेहरू के व्यक्तित्व की अमिट छाप थी। सोवियत संघ की नीति पर स्टालिन के व्यक्तित्व और चीन की विदेश नीति पर माओ के व्यक्तित्व का अनूठा प्रभाव पड़ा है। इस प्रकार निर्णयपरक दृष्टिकोण उन कार्यकर्ताओं पर भी ध्यान केन्द्रित करता है जो निर्णयकर्ता कहलाते हैं और उन राज्यों पर भी जो निर्णय करने की प्रक्रिया में भाग लेते हैं। यह उपागम अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को व्यक्तिगत निर्णय पर आधारित मानकर चलता है जिसमें व्यक्ति विशेष के व्यक्तित्व का, उसकी रुचियों, अभिरुचियों, विचारधारा, संस्कृति, धर्म, निर्णय लेने की शक्ति का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार राज्य के कार्यों को निर्णयकर्ताओं के कार्यों के शीशे में देखा जाता है।

चीन ने 1962 में भारत की उत्तरी सीमा पर विशाल पैमाने पर सैनिक आक्रमण किया। सन् 1965 तथा 1971 में पाकिस्तान ने भारत पर हमले किये। सोवियत संघ ने 1979 में अफगानिस्तान में सैनिक हस्तक्षेप किया। 1983 में ग्रेनाडा के टापू में संयुक्त राज्य अमरीका ने अपनी फौजें उतारीं। इस प्रकार के निर्णय किन कारकों से, किस प्रकार, किन उद्देश्यों से प्रेरित होकर किये जाते हैं, इसका पता लगाना निर्णयकरण की प्रणाली का प्रधान उद्देश्य है।

निर्णय लेने में पर्यावरण का विशेष महत्व होता है। व्यक्ति विशेष के निर्णयों पर उसकी सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक योग्यताओं का प्रभाव तो पड़ता ही है, साथ ही राष्ट्र विशेष की परिस्थिति, उसके नागरिकों के राष्ट्रीय चरित्र, माँगों, दबावों का भी विशेष प्रभाव पड़ता है। इसके, अतिरिक्त समूची अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था, अन्तर्राष्ट्रीय संकट, महाशक्तियों की भूमिका आदि तत्व भी निर्णयों को प्रभावित करते हैं। दूसरे शब्दों में, किसी भी राष्ट्र की विदेश नीति से सम्बन्धित निर्णय एक विशिष्ट पर्यावरण में लिये जाते हैं। इस पर्यावरण का निर्माण करने वाले तत्वों को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—आन्तरिक पर्यावरण के घटक तत्व हैं—व्यक्तित्व, संगठन का स्वरूप, भौतिक और प्रौद्योगिक दशाएँ, बुनियादी मूल्य और समाज में कार्यशील प्रभावक तत्व, दबाव समूह (Pressure Groups) आदि। बाह्य पर्यावरण के घटक तत्व हैं—अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था, पड़ौसी राष्ट्रों की शक्ति की दृष्टि से स्थिति, महाशक्तियों से सम्बन्धों का स्वरूप आदि। इन समस्त बहुविध कारणों का सम्मिलित प्रभाव निर्णय पर पड़ता है। यदि इन सबका सम्यक् ज्ञान हो और इन तत्वों का उचित विश्लेषण हो सके तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर क्या दृष्टिकोण अपनायेगा। हैरल्ड और मारगेरट स्प्राउड विदेश नीति के अध्ययन में पर्यावरण के अध्ययन पर विशेष बल देते हैं और

3. निर्णय परक सिद्धान्त
(DECISION-MAKING THEORY)

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् रिचार्ड स्नाइडर, एच. डब्ल्यू. बर्क और बर्टन सापिन ने विदेश नीति के अध्ययन में निर्णयपरक विश्लेषण अपनाने का प्रयत्न किया है। सन्तुलन और व्यवस्था सिद्धान्त के प्रतिकूल यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों के बजाय उन अन्तर्राष्ट्रीय कर्ताओं के अधिमान्य व्यवहार के अध्ययन पर बल देता है जो अन्तर्राष्ट्रीय घटनाचक्र को निर्धारित एवं प्रभावित करते हैं। निर्णयपरक सिद्धान्त विदेश नीति निर्माण की लम्बी प्रक्रिया में लिये जाने वाले निर्णयों के अध्ययन पर जोर देता है।[2] अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन से पूर्व निर्णय परक सिद्धान्त का प्रयोग गणितज्ञ, समाज वैज्ञानिक अर्थशास्त्री और मनोवैज्ञानिक अपने-अपने विषयों के अनुसन्धान में करते रहे हैं। बाद में लोक-प्रशासन और राजनीति विज्ञान के अध्ययन हेतु इसका प्रयोग किया जाने लगा। लोक-प्रशासन में हरबर्ट साइमन ने प्रशासनिक प्रक्रियाओं को निर्णयात्मक प्रक्रिया (Decisional Processes) कहकर एक मॉडेल बनाने का प्रयत्न किया था। राजनीति विज्ञान में इसका प्रयोग मतदान व्यवहार, विधायिका में मतगणना और जनमत के अध्ययन में होने लगा है।

निर्णयपरक सिद्धान्त 'नीति निर्माण' संप्रत्यय से भिन्न है—निर्णयपरक सम्प्रत्यय नीति निर्माण के संप्रत्यय से भिन्न है। नीति निर्माण का संप्रत्यय विस्तृत है और इसका प्रयोग परस्पर संस्पर्शी निर्णयों के सामूहिक रूप के लिए होता है, जबकि नीति के अन्तर्गत और नीति के आधार पर ही निर्णय लिये जाते हैं। नीति का निश्चय निर्णयों की एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम होता है। नीति निर्धारित करते समय संगठन के शीर्ष अधिकारी अनेक विकल्पों में से कुछ को चुनते हैं। जब संगठन की नीति निर्धारित हो चुकती है तो बाद में लिये जाने वाले निर्णय इन नीतियों के अनुसार ही होते हैं। नीति द्वारा एक मार्ग निश्चित कर दिया जाता है और निर्णय प्रायः नीति द्वारा प्रदर्शित मार्ग के अनुसार ही बनाया जाता है। नीति अपेक्षाकृत विस्तृत होती है, अनेक समस्याओं को प्रभावित करती है। इसके विपरीत, निर्णय का सम्बन्ध एक विशेष समस्या से होता है।

निर्णयपरक विश्लेषण से अभिप्राय—जेम्स रॉबिन्सन के अनुसार, "निर्णयकरण एक सामाजिक प्रक्रम है जो निर्णय के लिए कोई समस्या छाँटता है और उसके कुछ थोड़े-से विकल्प निकालता है, जिनमें से कोई एक विकल्प कार्यरूप में परिणत करने के लिए छाँट लिया जाता है।" हैमेन के शब्दों में, 'निर्णय' निर्धारित की गयी एक ऐसी चीज है जो कार्य के वास्तविक रूप में सम्पन्न होने से पहले आती है। टेरी के मतानुसार, निर्णय दो या अधिक सम्भावित विकल्पों में से एक व्यावहारिक विकल्प को चुनना है। असल में निर्णय लेने वाले व्यक्ति के सम्मुख अनेक विकल्प होते हैं। इन विकल्पों के गुण-दोषों पर वह बौद्धिक रूप से विचार करता है और फिर यह निश्चित करता है कि उसे क्या करना चाहिए। एक निर्णायक की स्थिति उस राहगीर के समान होती है जिसके सामने रास्ते खुले हुए हों तथा उनमें से किसी एक को उसे चुनना हो। मेनले जोन्स का कहना है कि निर्णय एक समाधान होता है जो कुछ विकल्पों की परीक्षा करने के बाद छाँटा जाता है। इसे इसलिए छाँटा जाता है क्योंकि निर्णय लेने वाला यह पहले से ही देख लेता है कि उसके द्वारा चुने गये कार्य उसके लक्ष्य की ओर पहुँचने के लिए अन्य की अपेक्षा अधिक सहायता करेंगे

---

1 "Unlike the equilibrium and General Systems Theories, it concentrates on the persons who shape international events rather than on the international situation as such."

2 'The choose the focus of decision-making for the study of the processes of policy formulation.'

और इनके ऐसे कम सम्भावित परिणाम होंगे जिन पर आपत्ति की जा सके। साइमन के शब्दों में, निर्णय को हम पूर्व विचारों मे से निकाले गये निष्कर्ष मान सकते हैं। ये निष्कर्ष बड़े निर्णयों के लिए पूर्व विचार बन जाते हैं।

निर्णय की ये विभिन्न परिभाषाएँ स्पष्ट करती हैं कि निर्णय लेना एक प्रक्रिया है जिसमें एक निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है। निर्णयपरक दृष्टिकोण के दो मोटे उद्देश्य हैं—एक तो राजनीतिक क्षेत्र में उन 'मार्मिक संरचनाओं' को पहचानना जहाँ परिवर्तन होते हैं अर्थात् जहाँ निर्णय किये जाते हैं और जहाँ कार्यवाही का सूत्रपात और उसकी पूर्ति की जाती है। दूसरा उद्देश्य यह है कि उस निर्णयकारी व्यवहार का व्यवस्थित विश्लेषण किया जाये जिसकी परिणति कार्यवाही के रूप में होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में निर्णयपरक सिद्धान्त—निर्णयपरक सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक नये दृष्टिकोण से देखता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में मूल इकाइयाँ यद्यपि राज्य हैं तथापि राज्यों का समस्त कार्य संचालन प्रशासन के उच्चाधिकारियों द्वारा ही होता है। राज्य के नाम पर सारा निर्णय व्यक्ति ही लेते हैं। नाजी जर्मनी का व्यक्तित्व हिटलर के व्यक्तित्व का ही प्रतिबिम्ब था। स्वाधीनता के बाद भारत की विदेश नीति के निर्माण पर पं. नेहरू के व्यक्तित्व की अमिट छाप थी। सोवियत संघ की नीति पर स्टालिन के व्यक्तित्व और चीन की विदेश नीति पर माओ के व्यक्तित्व का अनूठा प्रभाव पड़ा है। इस प्रकार निर्णयपरक दृष्टिकोण उन कार्यकर्ताओं पर भी ध्यान केन्द्रित करता है जो निर्णयकर्ता कहलाते हैं और उन राज्यों पर भी जो निर्णय करने की प्रक्रिया में भाग लेते हैं। यह उपागम अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को व्यक्तिगत निर्णय पर आधारित मानकर चलता है जिसमें व्यक्ति विशेष के व्यक्तित्व का, उसकी रुचियों, अभिरुचियों, विचारधारा, संस्कृति, धर्म, निर्णय लेने की शक्ति का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार राज्य के कार्यों को निर्णयकर्ताओं के कार्यों के शीशे में देखा जाता है।

चीन ने 1962 में भारत की उत्तरी सीमा पर विशाल पैमाने पर सैनिक आक्रमण किया। सन् 1965 तथा 1971 में पाकिस्तान ने भारत पर हमले किये। सोवियत संघ ने 1979 में अफगानिस्तान में सैनिक हस्तक्षेप किया। 1983 में ग्रेनाडा के टापू में संयुक्त राज्य अमरीका ने अपनी फौजें उतारीं। इस प्रकार के निर्णय किन कारकों से, किस प्रकार, किन उद्देश्यों से प्रेरित होकर किये जाते हैं, इसका पता लगाना निर्णयकरण की प्रणाली का प्रधान उद्देश्य है।

निर्णय लेने में पर्यावरण का विशेष महत्व होता है। व्यक्ति विशेष के निर्णयों पर उसकी सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक योग्यताओं का प्रभाव तो पड़ता ही है, साथ ही राष्ट्र विशेष की परिस्थिति, उसके नागरिकों के राष्ट्रीय चरित्र, माँगों, दबावों का भी विशेष प्रभाव पड़ता है। इसके, अतिरिक्त समूची अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था, अन्तर्राष्ट्रीय संकट, महाशक्तियों की भूमिका आदि तत्व भी निर्णयों को प्रभावित करते हैं। दूसरे शब्दों में, किसी भी राष्ट्र की विदेश नीति से सम्बन्धित निर्णय एक विशिष्ट पर्यावरण में लिये जाते हैं। इस पर्यावरण का निर्माण करने वाले तत्वो को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—आन्तरिक पर्यावरण के घटक तत्व हैं—व्यक्तित्व, संगठन का स्वरूप, भौतिक और प्रौद्योगिक दशाएँ, बुनियादी मूल्य और समाज में कार्यशील प्रभावक तत्व, दबाव समूह (Pressure Groups) आदि। बाह्य पर्यावरण के घटक तत्व हैं—अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था, पड़ौसी राष्ट्रों की शक्ति की दृष्टि से स्थिति, महाशक्तियों से सम्बन्धों का स्वरूप आदि। इन समस्त बहुविध कारणों का सम्मिलित प्रभाव निर्णय पर पड़ता है। यदि इन सबका सम्यक् ज्ञान हो और इन तत्वों का उचित विश्लेषण हो सके तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर क्या दृष्टिकोण अपनायेगा। हैरल्ड और मारगेरट स्प्राउड विदेश नीति के अध्ययन में पर्यावरण के अध्ययन पर विशेष बल देते हैं और

वे इस तथ्य के अध्ययन पर बल नहीं देते हैं कि कोई निर्णय कैसे और क्यों लिया जाता है? इसके विपरीत अलेक्जेण्डर जार्ज और जूलिएट जार्ज विदेश नीति सम्बन्धी निर्णय के ठीक अध्ययन के लिए निर्णयकर्ताओं के व्यक्तित्व की विविध विधाओं का विश्लेपण करना आवश्यक मानते हैं। अर्थात् भारत की निर्गुट विदेश नीति को समझने के लिए जवाहरलाल नेहरू और इन्दिरा गाँधी के व्यक्तित्व को समझने से उस काल की विदेश नीति का स्वरूप समझने में सहायता अवश्य मिलती है।

कतिपय विद्वान उन कार्यकर्ताओं के व्यवहार के अध्ययन पर बल देते हैं जो विदेश नीति निर्माण में सही मायने में भाग लेते हैं। ऐसे कार्यकर्ता दो प्रकार के हैं—**एक तो** वे जो विदेश सेवा में अधिकारी के रूप में कार्य करते हैं। कोहन के विचार में विदेश नीति के निर्माण में हिस्सा लेने वाले सरकारी और गैर-सरकारी अधिकारियों के दृष्टिकोणों और विश्वासों के अनुसार ही विदेश नीति का व्यवस्थित विश्लेषण होना चाहिए। उनका कहना है कि विभिन्न महत्वपूर्ण निर्णय करने में जितना अधिक प्रभाव राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, विदेश मन्त्री आदि प्रमुख नेताओं तथा शासन के अधिकारियों का होता है, उतना अन्य तत्वों का नहीं होता है। अतः निर्णयकरण की प्रक्रिया में हमें निर्णय करने वाले व्यक्तियों के व्यक्तित्व के अध्ययन पर अधिक बल देना चाहिए। इस मत को अलेक्जेण्डर जार्ज तथा जूलिएट जार्ज ने प्रस्तुत किया है। प्रथम विश्व युद्ध में अमरीका के सम्मिलित होने और इस युद्ध के बाद वर्साय की सन्धि के महत्वपूर्ण निर्णयों का स्पष्टीकरण उन्होंने तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन के व्यक्तित्व के विश्लेषण के आधार पर प्रस्तुत किया है। उन्होंने 1956 में प्रकाशित अपनी एक पुस्तक **'वुडरो विल्सन एण्ड कर्नल हाउस'** में विल्सन की समूची जीवनी और व्यक्तित्व का तथा वर्साय की संधि में उनके प्रमुख परामर्शदाता कर्नल हाउस का विस्तृत विवरण देते हुए बताया है कि उनके व्यक्तित्व ने उनके राजनीतिक कार्यों और निर्णयों को किस प्रकार प्रभावित किया। अमरीकी राष्ट्रपति जॉन कैनेडी ने 1962 में प्रक्षेपास्त्र क्यूबा ले जाने वाले रूसी जहाजों को रोकने के लिए प्रभावशाली कार्यवाही की थी। 1971 में भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने बंगला देश की स्वतन्त्रता के लिए लड़ने वाली मुक्ति वाहिनी को सहायता देने का निर्णय किया था। इन निर्णयों का यथार्थ महत्व और स्वरूप इनके व्यक्तित्व के आधार पर समझा जा सकता है और इससे उस समय की विदेशनीति की व्याख्या सही ढंग से करने में बड़ी सहायता मिल सकती है। **दूसरा,** विदेश नीति निर्माण में विधायिका और कार्यपालिका की विशिष्ट भूमिका होती है अतः रोजर हिल्समैन के विचार में विधायिका और कार्यपालिका की संरचना, सदस्यों के आचरण आदि का अध्ययन किया जाना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में निर्णय विश्लेषण को लाने का श्रेय रिचर्ड स्नाइडर (Richard C. Snyder) तथा उनके सहयोगी एच. डब्ल्यू. ब्रुक (H. W. Bruck) व बर्टन सेपिन (Burton Sapin) को दिया जाता है। इन्होंने खासतौर से विदेश नीति के अध्ययन में निर्णय सिद्धान्त का प्रयोग किया है। इस दृष्टि से इनकी पुस्तक फारेन पालिसी डिसिजन मेकिंग—एन अप्रोच टू दि स्टडी ऑफ इन्टरनेशनल पालिटिक्स (*Foreign Policy Decision making—An Approach to the Study of International Politics*) विशेष महत्व की रचना है। इस पुस्तक में इन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र के कार्यकर्ताओं (Actors) के व्यवहार का सैद्धान्तिक अन्वेषण किया। वे उन घटकों का पूर्ण वर्णन प्रस्तुत करना चाहते थे जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रों के कार्यों का रूप निश्चित करते हैं और उन्हें प्रभावित करते हैं। स्नाइडर के विचार में निर्णय निर्माण करने वाले पदाधिकारियों के व्यवहार का विश्लेषण आवश्यक है। वस्तुतः स्नाइडर और उसके सहयोगियों का उद्देश्य उन वर्गों की एक संप्रत्यात्मक रूपरेखा (Conceptual

Framework) बनाना था जिसके आधार पर विदेश नीतियों के निर्णयों का अध्ययन करने के लिए आधार सामग्री का संग्रह किया जा सके। स्नाइडर द्वारा प्रतिपादित निर्णय सिद्धान्त के मूल में यह सीधा-सादा विचार है कि (अ) जो भी राजनीतिक कार्यवाही होती है वह कुछ विशेष व्यक्तियों के द्वारा ही की जाती है, और (ब) यदि हम कार्यवाही की गत्यात्मकता को समझना चाहते हैं तो उसे अपने दृष्टिकोण से नहीं बल्कि उन व्यक्तियों के परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए जिन पर निर्णय लेने का उत्तरदायित्व होता है।

स्नाइडर के अनुसार किसी भी राजनीतिक कार्य को ठीक रूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि (अ) किसने अथवा किन्होंने उन महत्वपूर्ण निर्णयों को लिया जिनके कारण वह महत्वपूर्ण कार्य किया गया, और (ब) उन बौद्धिक और अन्त:क्रियात्मक प्रक्रियाओं का मूल्यांकन करना जिनका अनुसरण करके निर्णय निर्माता अपने निर्णयों तक पहुँचें।

उन कारणों का विश्लेषण करते हुए जो निर्णय निर्माताओं को प्रभावित करते हैं, स्नाइडर उन्हें तीन समूहों में बाँटता है—आन्तरिक परिपार्श्व, बाह्य परिपार्श्व, और निर्णय निर्माण प्रक्रिया। आन्तरिक परिपार्श्व का अर्थ उस समाज से है जिसमें अधिकारी अपने निर्णय लेते हैं। इसमें जनमत के अतिरिक्त, मूल्यों के सम्बन्ध में प्रमुख मूल्य अभिविन्यास, सामाजिक संगठन की प्रमुख विशेषताएँ, समूह संरचनाएँ और प्रकार्य, आधारभूत सामाजिक प्रक्रियाएँ, सामाजिक विभेदीकरण, विशिष्टीकरण आदि आते हैं। बाह्य परिपार्श्व का अर्थ अन्य राज्यों से, जिसका अर्थ उन राज्यों के निर्णय निर्माताओं की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं से तथा उन समाजों से जिनके लिए वे काम करते हैं और उनके भौतिक पर्यावरण से है। तीसरा महत्वपूर्ण तत्व निर्णय निर्माण प्रक्रियाएँ हैं—जिनका प्रारम्भ प्रशासनिक संगठनों के गर्भ में होता है और जिनका वे एक भाग हैं। स्नाइडर के अनुसार निर्णय निर्माण प्रक्रिया के तीन प्रमुख उप-संवर्ग हैं—सक्षमता के क्षेत्र, संचारण व सूचना तथा अभिप्राय। इनमें आमतौर से प्रशासन की, और विशेषकर उन इकाइयों की, जो निर्णय निर्माण का काम करती हैं, भूमिकाएँ, आदर्श और प्रकार्य सम्मिलित है।

स्नाइडर का विश्वास है कि यद्यपि इस सिद्धान्त का विकास सबसे पहले अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सीमित क्षेत्र में किया गया था, राजनीतिक विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भी उसके प्रयोग की बहुत अधिक सम्भावनाएँ थीं।

स्नाइडर ने निर्णय निर्माण कारकों और प्रक्रियाओं का अध्ययन निर्णय निर्माण व्यवस्था के ढाँचे के अन्तर्गत किया था। अब तक राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रमुख पात्र माना जा रहा था और उसके व्यवहार को विश्व की स्थिति की वस्तुपरक यथार्थताओं के सन्दर्भ में समझने का प्रयत्न किया गया था। यह मानकर चला गया था कि राज्यों के लक्ष्य और व्यवहार को भौगोलिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक और तकनीकी परिस्थितियों के आधार पर समझा जा सकता था और राज्य के व्यवहार पर इतना अधिक प्रभाव मान लिया गया था कि—ये सब कारक चाहे कितने भी वस्तुपरक क्यों न रहे हों राज्य का व्यवहार वास्तव में निर्णय निर्माताओं का व्यवहार है, और वह इस पर निर्भर रहता है कि निर्णय निर्माता इन कारकों को किस रूप में देखते हैं। स्नाइडर ने इस बात पर जोर दिया कि निर्णय निर्माण की उन प्रक्रियाओं का, जो अधिकारियों (विदेश मन्त्री तथा राजनयिक) द्वारा क्रियान्वित की जाती हैं, आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों के उस मिश्रित सन्दर्भ में, जिसमें वे उन्हें देखते है, अध्ययन किया जाना चाहिए।

रिचर्ड सी. स्नाइडर के अतिरिक्त जोसेफ फ्रैंकेल, लोरेंस एडवर्ड कौसलो तथा कुछ अन्य लेखकों ने भी निर्णय निर्माण उपागम के सम्बन्ध में कुछ प्रतिरूपों का निरूपण किया है। लोरेंस कौसलो ने, जिसने निर्णय निर्माण उपागम का अपना अध्ययन मेक्सिको के सन्दर्भ में किया, परिपार्श्व को चार भागों में बाँटा है—(अ) आन्तरिक परिपार्श्व, (ब) बाह्य परिपार्श्व, (स)

विदेश मन्त्रालय, और (द) निर्णय निर्माण प्रक्रिया। आन्तरिक परिपार्श्व में ऐतिहासिक कारक, आर्थिक प्रभाव और सांस्कृतिक प्रभाव आते हैं। वाह्य परिपार्श्व में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, विदेश मन्त्रालय में मन्त्रालय का गठन, खेल के नियम, विदेश नीति की प्रक्रिया आदि और निर्णय निर्माण प्रक्रिया में निर्णय की प्रवृत्ति, वे व्यक्ति जिनका निर्णय से सम्बन्ध है निर्णय का अपेक्षित महत्व और समय व कार्य के दबाव आदि शामिल हैं।

जॉन बर्टन ने अपनी पुस्तक *'International Relations'* में 'शक्ति' के सन्दर्भ में निर्णय परक सिद्धान्त का विश्लेषण किया है। मॉडेलस्की का सन्दर्भ देते हुए बर्टन ने लिखा है कि राज्यों के आपसी सम्बन्धों के निर्धारण में शक्ति का तत्व महत्वपूर्ण रहा है तथापि विदेश नीति विश्लेषण में शक्ति की जाँच नहीं की गयी है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के कारक को स्वीकार करते हुए भी निर्णय निर्माण प्रक्रम में इसकी उपेक्षा हुई है। उसने शक्ति-आगत (Power inputs) तथा 'शक्ति-निर्गत' (Power outputs) प्रतिमान की रचना करते हुए विदेश नीति के निर्माण में निर्णयपरक सिद्धान्त के कारकों का निरूपण किया है। उसके अनुसार एक राज्य का 'आगत' दूसरे का 'निर्गत' होगा और दूसरे की प्रतिक्रिया को समझे बिना किसी भी निर्णय को लेना तर्कसंगत नहीं होगा। निर्णयों के विकल्प तैयार रहने चाहिए और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बदलते शक्ति समीकरण में उन विकल्पों से में किसी एक का चयन करना निर्णय प्रक्रिया का ही अभिन्न अंग होगा।[1]

निर्णयपरक सिद्धान्त का मूल्यांकन
(APPRAISAL OF THE DECISION MAKING-THEORY)

यह तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि इस उपागम से अन्तर्राष्ट्रीय आचरण और व्यवहार को समझने में अधिक सहायता मिल सकती है। यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को विदेश नीतियों की परस्पर क्रिया मानें तो इस परस्पर क्रिया को समझने के लिए एकमात्र उपयोगी दृष्टिकोण निर्णयपरक सिद्धान्त ही है। वस्तुतः जहाँ अन्य सिद्धान्तों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विदेश नीति निर्माण की प्रक्रिया के अध्ययन की उपेक्षा की है, वहाँ निर्णयपरक सिद्धान्त ने विदेश नीति की जटिलताओं को समझने में काफी योग दिया है।

फिर भी निर्णयपरक दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का आंशिक सिद्धान्त ही है। इसकी निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है :

प्रथम, निर्णयपरक दृष्टिकोण नीति विज्ञान का हिस्सा है।

द्वितीय, निर्णय क्यों लिये गये यह विश्लेपण इतना जटिल तथा उलझन में डालने वाला है कि अध्ययनकर्ता उसी में उलझ जाता है और जो तथ्य सामने आते हैं उनकी प्रामाणिकता नहीं जाँची जा सकती।

तृतीय, निर्णयकारी सिद्धान्त से समस्याओं के निदान में कोई सहायता नहीं मिलती, केवल इतनी व्याख्या होती है कि निर्णय क्यों लिया गया, परन्तु उस निर्णय के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जो समस्या खड़ी हो गयी उसका क्या समाधान हो सकता है, इस पर यह सिद्धान्त प्रकाश नहीं डालता है। अतः यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समुचित उत्तर नहीं देता है।

चतुर्थ, यह सिद्धान्त विदेशी मामलों के क्षेत्र किये गये निर्णयों का विश्लेपण करने की कोशिश करता है और इस बात की चिन्ता नहीं करता कि कौन-से निर्णय सही हैं और

---

1 J. W. Burton, *International Relations* (Allen and Unwin, 1971), pp. 144-45.

कौन-से गलत, इनका किया जाना उचित था या अनुचित। यह इस प्रकार के मूल्यविषयक प्रश्नों की उपेक्षा करता है।

पंचम, इसका संकीर्ण क्षेत्र है। इसके प्रमुख प्रतिपादनकर्ता स्नाइडर ने लिखा है कि निर्णयकरण की प्रक्रिया का एकमात्र लक्ष्य यह होता है कि निर्णयकर्ताओं ने जिस रूप तथा परिस्थिति में निर्णय किया था, उसका पुनः सृजन करते हुए अध्ययन किया जाये। यह पुनः सृजन निष्पक्ष एवं वस्तुनिष्ठ (Objective) दृष्टि से नहीं होता है। निर्णयकर्ताओं का ही अध्ययन होने से यह विदेशनीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सामान्य प्रश्नों की ओर ध्यान नहीं देता है। यह केवल विदेशनीति के विश्लेषण के लिए ही उपयोगी है, अन्तर्राष्ट्रीय जगत की सामान्य समस्याओं के लिए इसका कोई विशेष महत्व नहीं है।

इन त्रुटियों के कारण चाहे निर्णयपरक सिद्धान्त से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एक व्यापक सिद्धान्त की अपेक्षाएँ पूरी नहीं हुई हों तथापि इसने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को अधिक मानवीय बना देने और समझने का प्रयत्न किया है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में संचेतन, प्राणवान मानव का विशिष्ट महत्व है। राज्यों के निर्णय मूर्त व्यक्ति ही लेते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के वस्तुनिष्ठ अध्ययन के लिए इन मूर्त व्यक्तियों की भावनाओं, संवेगों और दृष्टिकोणों को समझना आवश्यक है।

4. सौदेबाजी का सिद्धान्त
(BARGAINING THEORY)

खेल सिद्धान्त से ही मिलता-जुलता 'सौदेबाजी का सिद्धान्त' है। खेल सिद्धान्त की कमियों को दूर करने के लिए शैलिंग ने सौदेबाजी का सिद्धान्त सुझाया है। खेल सिद्धान्त युद्ध की स्थिति में मान्य हो सकता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में युद्ध के अलावा सहयोग की भी स्थिति रहती है; राष्ट्र संघर्ष और विरोध के साथ-साथ सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध विकसित करने में लगे रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान में कूटनीतिक वार्ताएँ और विचार-विमर्श चलता ही रहता है। आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए वार्ता (Negotiations) का महत्व बहुत अधिक हो गया है। वार्ता द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की व्यवस्था की जाने लगी है। किसी भी वार्ता या व्यवहार में निपुणता, दूरदर्शिता और कौशल का प्रयोग करने वाला अधिकतम सौदेबाजी की स्थिति में होता है। सौदेबाजी उपागम के पीछे मूल धारणा यह है कि समझौता वार्ता करते समय राजनयिकों को अधिक से अधिक माँगें रखनी चाहिए और अपने विरोधी से जितने लाभ सम्भव हो सकें उतने प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

सौदेबाजी के सिद्धान्त में वार्ताओं का विशेष महत्व है और वार्ताओं के बारे में तीन अभिमत हैं—प्रथम, वार्ता में लगे पक्षों की माँगें स्पष्ट और स्थिर रहनी चाहिए। वार्ता के दौरान अपनी माँगों का स्वरूप बदलना तर्कसंगत नहीं है। द्वितीय, वार्ता के दौरान दोनों पक्षों को अपनी अधिमान्यता बदलने का अधिकार है। तृतीय, कुछ प्रकार की वार्ताएँ ऐसी होती हैं जिनमें कोई भी पक्ष समझौते पर नहीं पहुँचना चाहता है। परन्तु कोई भी पक्ष यह भी प्रकट नहीं करना चाहता कि दूसरे पक्ष को बाध्य होकर वार्ता तोड़नी पड़े। अतः सभी प्रस्ताव इस ढंग से पेश किये जाते हैं कि आम जनता उन्हें पसन्द करे किन्तु उनमें एक 'जोकर' (Joker) होता है अर्थात् ऐसा प्रस्ताव होता है जिसे दूसरा पक्ष किसी भी भाँति स्वीकार नहीं कर सकता और उसकी वजह से वह सारे दावे को अस्वीकार करने को विवश हो जाता है।

---

1 "A frequently preferred strategy in bargaining is to offer a set of such proposals which have a wider popular appeal but which contain a 'joker', that is "at least one factor that the other side could not possibly accept thus forcing a rejection of the whole claim."
—P. Chandra, *International Politics* (Vikas, 1979), p. 37.

ओरान यंग ने अपनी पुस्तक *The Politics of Force : Bargaining in International Crisis* में सरल सौदेवादी और युक्तिमूलक सौदेबाजी में भेद करने का प्रयत्न किया है। सरल सौदेवादी में सामान्य सूचनाओं के आधार पर कुछ ले-देकर समझौता करने की इच्छा रहती है। युक्तिमूलक सौदेबाजी में कूटनीतिक दाँव-पेचों का सहारा लेते हुए सारपूर्ण तथ्य प्राप्त करने की इच्छा रहती है और इसके पीछे शक्ति के प्रबल तत्व रहते हैं। सौदेबाजी का यह प्रकार 'शक्ति के साथ वार्ता' के विचार के बहुत निकट है। इस प्रकार सौदेबाजी हमेशा एक प्रकार का बल प्रयोग है।

सौदेबाजी का संप्रत्यय अभी पूर्णतः विकसित नहीं हो पाया है। अन्तर्राष्ट्रीय वार्ता के सामान्य सिद्धान्त का अभी विकास होना शेष है। सौदेबाजी उपागम का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को कई बार नैतिक दृष्टि से जाँचना आवश्यक हो जाता है। यह उपागम तभी महत्वपूर्ण होता है जबकि गम्भीर संकट की स्थिति उत्पन्न हो गयी हो और सम्बद्ध पक्ष इसके समाधान में बल प्रयोग से बचने में अपना पक्का हित समझते हों। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद निर्मित 'परमाणु युग की 'अनिश्चितता' और अतिमारकता के इस युग' (The age of Over kill) में सौदेबाजी के सिद्धान्त का महत्व बढ़ता जा रहा है।

5. संचार सिद्धान्त
(COMMUNICATION THEORY)

आजकल राजनीति विज्ञान के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'संचार सिद्धान्त' (Communication Theory) की चर्चा प्रमुख रूप से होती है। यह सिद्धान्त संचार या सम्प्रेषण सिद्धान्त कहलाता है और प्रशासन और राजनीति के कुछ निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संचालन और समायोजन की प्रक्रियाओं की उपयोगिता को उस अर्थ में देखता है जिसमें संचार वाहन को स्टियरिंग के द्वारा अभीप्सित लक्ष्य की ओर तेजी से दौड़ाया जा सकता है। प्रसिद्ध अमरीकी गणितज्ञ नारबर्ट वीनर को संचार सिद्धान्त का प्रवर्त्तक माना जाता है। वीनर ने सन्देश सिद्धान्त (Theory of Messages), साइबरनेटिक्स (Cybernetics) तथा फीडबेक सिस्टम (Feedback system) के आधार पर संचार सिद्धान्त का विकास किया। राजनीति विज्ञान तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में संचार सिद्धान्त को लागू करने का श्रेय हार्वर्ड प्रोफेसर कार्ल डायच को है। इस दृष्टि से डायच की कृति 'दि नर्वज ऑफ गवर्नमेण्ट' (*The Nerves of Government*) विशिष्ट महत्व की रचना है। इसके अतिरिक्त डॉयच का शोध लेख—'कम्युनिकेशन मोडेल्स एण्ड डिसीजन सिस्टम्स' जो कि जेम्स सी. चार्ल्सबर्थ द्वारा सम्पादित पुस्तक 'कण्टेम्परेरी पालिटिकल एनालिसिस' में प्रकाशित हुआ है—उनके विचारों को विस्तार से स्पष्ट करता है। संचार सिद्धान्त निर्णयों के परिणामों में उतनी रुचि नहीं लेता जितनी उनके निर्माण की प्रक्रिया में—यह शायद साइबरनेटिक्स के प्रतिरूप के अनुकूल ही है क्योंकि उसमें भी लक्ष्य से अधिक महत्व संचालन और समायोजन की प्रक्रियाओं को दिया जाता है।

कार्ल डायच संचार सिद्धान्त की अपनी व्याख्या का आरम्भ ही संचार-अभियान्त्रिकी (Communication engineering) और शक्ति अभियान्त्रिकी (Power engineering) में अन्तर बताने से करता है। डायच लिखता है कि शक्ति अभियान्त्रिकी में परिवर्तन प्रायः उसी अनुपात में होता है जिसमें शक्ति का उपयोग होता है। इसके विपरीत, संचार अभियान्त्रिकी में थोड़ी-सी शक्ति का प्रयोग भी कभी-कभी 'सन्देश' के 'प्राप्तकर्ता' की स्थिति में बहुत भारी परिवर्तन ले आता है। ऐसे परिवर्तन प्रयोगों में लायी गयी शक्ति के अनुपात में सहस्रों गुना बड़े होते हैं। संचार सिद्धान्त का समस्त आधार परिवर्तन पर है। परिवर्तन शक्ति के द्वारा लाया जाता है, परन्तु यह प्राप्त सूचना और उस पर अमल करने पर निर्भर रहता है। इसकी तुलना उस सूचना से की जा

सकती है जो बन्दूक की नली को किसी निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर मोड़ देने के लिए आवश्यक होती है। बन्दूक का कुन्दा दबाने में प्रायः कुछ भी शक्ति नहीं लगती, परन्तु जिस लक्ष्य की ओर बन्दूक का निशाना होता है उस पर जोरदार प्रभाव पड़ता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संकेत को ले जाने के लिए कितनी शक्ति की आवश्यकता पड़ेगी, यह जानना उतना लाभदायक नहीं है जितना यह कि उसके उपयोग का परिणाम क्या निकला।

संचार सिद्धान्त प्रशासन को विभिन्न सूचना प्रवाहों के आधार पर स्थित निर्णय निर्माण की एक व्यवस्था मानता है। संचार सिद्धान्त का आधार दो प्रकार की संकल्पनाओं पर टिका हुआ है—प्रथम, वे संकल्पनाएँ जिनका सम्बन्ध व्यवस्था का संचालन करने वाली संरचनाओं से है, और द्वितीय, वे संकल्पनाएँ जिनका लक्ष्य विभिन्न प्रकार के प्रवाहों और प्रक्रियाओं को समझना है। पहले वर्ग में वे संरचनाएँ आती हैं जिन्हें हम स्वागतकर्ताओं (receptors) या स्वागत व्यवस्थाओं (reception systems) का नाम दे सकते हैं। दूसरा वर्ग, जिसका सम्बन्ध सूचना प्रवाहों से है, अधिक महत्वपूर्ण है। प्रवाह की इस संकल्पना के साथ कई अन्य संकल्पनाएँ जैसे चैनल (Channels), भार (Load) और भारवाहिनी क्षमता (Load Capacity) जुड़ी हुई हैं।

डायच का विचार है कि सूचना का मापतोल और उसकी गिनती की जा सकती है और भेजी गयी सूचना किस मात्रा में सही या विकृत रूप में प्राप्त की जा रही है उसका अनुमान लगाने के लिए सम्प्रेषण सारणियों की उपलब्धि, क्षमता अथवा मर्यादा का परिमाणात्मक रूप से अध्ययन किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में जान पड़ता है कि डायच पर विद्युत अभियान्त्रिकी (electrical engineering) के क्षेत्र में किये गये गणित पर आधारित उच्चस्तरीय परिमापन का काफी प्रभाव है। डॉयच ने समूहों और समाजों, राज्यों और अन्तर्राष्ट्रीय समाजों, सभी प्रकार के संगठनों की संश्लिष्टता का मापन करने के लिए सूचना प्रवाहों के अध्ययन की पद्धति का प्रयोग किया है।

नकारात्मक प्रतिसम्भरण (negative feedback) को डायच के संचार सिद्धान्त की आत्मा माना जाता है। नकारात्मक प्रतिसम्भरण से उसका अर्थ उन प्रक्रियाओं से है जिनके माध्यम से निर्णयों और उनके क्रियान्वयन से उत्पन्न होने वाले परिणामों की सूचना व्यवस्था में इस ढंग से प्रवेश करती है वह व्यवस्था के व्यवहार को अप्रयास ही ऐसी दिशा में मोड़ देती है जो उसे सम्बद्ध लक्ष्यों की प्राप्ति के अधिक निकट ले जा सके। संचार सिद्धान्त की मूल मान्यता यह है कि लक्ष्यों तक पहुँचने के लिए नकारात्मक प्रतिसम्भरण का पर्याप्त मात्रा में होना आवश्यक है।

एक अच्छी व्यवस्था की पहचान यही है कि वह सूचना को अविकृत रूप में और ठीक समय पर प्राप्त कर सके और उसके आधार पर अपनी स्थिति और व्यवहार में समय रहते आवश्यक और पर्याप्त परिवर्तन ला सके। डॉयच मानता है कि राजनीतिक व्यवस्था में भी यह सारी प्रक्रिया उतनी ही सरल और व्यवस्थित होनी चाहिए जितनी किसी जीवित प्राणी की तन्त्रीय व्यवस्था में।

डॉयच ने संचार सिद्धान्त के विश्लेषण में चार परिमाणात्मक तत्व जोड़कर अपने संकल्पनात्मक ढाँचे को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। ये चार तत्व हैं—भार (Load), पश्चता (Lag), अभिलाभ (Gain) और अग्रता (Lead)। भार का अर्थ परिवर्तनों की उस व्यापकता और गति से है जो एक ऐसी व्यवस्था जो उद्देश्य को प्राप्त करना चाहती है, अपने लक्ष्यों की स्थिति में ला सकती है। पश्चता का अर्थ निर्णयों और कार्यों के परिणाम के सम्बन्ध में सूचना के समय पर और सही रूप में पहुँच जाने पर भी व्यवस्था के द्वारा उसे समझने अथवा उस पर

सही कार्यवाही करने में शिथिलता से है। अधिलाभ का अर्थ है प्राप्त होने वाली सूचना के प्रति अनुक्रिया (response) का व्यापक और प्रभावशाली होना। अग्रता का अर्थ है कि अपनी प्रस्तावित कार्यवाही के भावी परिणामों का पहले से ही अनुमान लगाकर व्यवस्था इस ढंग से कायम करे कि वह निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त कर सके।

डॉयच प्रतिसम्भरण के प्रतिरूप को परम्परागत विश्लेषण की तुलना में अधिक श्रेष्ठ मानता है। क्योंकि उसके द्वारा राजनीतिक व्यवस्थाओं की कार्यविधियों के सम्बन्ध में बहुत-से ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न पूछे जा सकते हैं जो विश्लेषण की परम्परागत पद्धतियों में सम्भव नहीं हैं। प्रशासन के लिए यह सम्भव होना चाहिए कि वह देश की आन्तरिक अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों में सम्भावित परिवर्तनों का समय पर और ठीक से जायजा ले सके, जिससे वह उनके सम्बन्ध में समुचित व्यवस्था कर सके। संचार सिद्धान्त की सहायता से प्रशासन इस बात का भी अन्दाजा लगा सकते हैं कि राजनीतिक नेतृत्व, हित समूहों, राजनीतिक संगठनों अथवा सामाजिक वर्गों का अनेक निर्णय-निर्माण व्यवस्थाओं पर किसी विशेष अवसर पर कितना भार पड़ रहा है।

डॉयच यह भी मानता है कि संचार सिद्धान्त किसी भी राजनीतिक व्यवस्था की मात्रा (degree of capability) के सम्बन्ध में सुनिश्चित सूचना दे सकता है। सुनिश्चित इस कारण कि उसका आधार परिमाणीकरण पर है; न कि ज्ञात और अज्ञात तत्वों के एक अनिश्चित ढेर पर। वह इस सिद्धान्त से यह भी अपेक्षा रखता है कि वह राज्य को अपने लक्ष्यों में परिवर्तन करने और अनुभव से सीखने की क्षमता भी प्रदान करें। इन संकल्पनाओं को अपने लक्ष्य परिवर्तन प्रतिसम्भरण (goal changing feedback) और अधिगम (learning) का नाम दिया है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए संचार सिद्धान्त

विश्लेपण की इस पद्धति की मूल इकाई सूचना का प्रवाह (information flow) है क्योंकि उसी के माध्यम से संचालन की प्रक्रिया को गति के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी निर्णय लेने के लिए सूचनाओं का प्रवाह आवश्यक है। जिन राष्ट्रों के पास सूचना संग्रह का पर्याप्त जाल बिछा हुआ है ये दूरदर्शितापूर्ण विदेश नीति का प्रयोग कर सकते हैं।

संचार सिद्धान्त की आलोचना—ओरन यंग ने लिखा है कि संकल्पनाओं को मूर्त रूप देने और परिमाणात्मक विश्लेपण की दिशा में यह उपागम अत्यन्त समर्थ है। परन्तु इस उपागम का आग्रह प्रमुखतः निर्णय निर्माण की प्रक्रिया पर है, निर्णयों के परिणामों पर बहुत कम। यह सूचनाओं के प्रवाहों का और उन विभिन्न संरचनाओं की प्रकृति का जो उन्हें दिशा देती है, अध्ययन करता है, परन्तु सूचना की सारवस्तु के सम्बन्ध में उदासीन प्रतीत होता है। यह सिद्धान्त एक अत्यधिक यान्त्रिक (Mechanistic) सिद्धान्त है और मानव व्यवहार को उसने मूलतः अभियान्त्रिकी रूप देने का प्रयत्न किया है। डॉयच द्वारा प्रयोग में लाया गया प्रतिमान इतना जटिल हो गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं को समझने में सहायता पहुँचाने के स्थान पर वह हमें और भी अधिक उलझन में डाल देता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में संचार सिद्धान्त के द्वारा निर्णय निर्माताओं के लिए शक्ति के केन्द्र और उसकी बहुत-सी गतिविधियों को पहचान लेना सम्भव हो सकता है। परन्तु शक्ति, जिसे सभी राजनीतिक क्रियाओं का आधार माना जा सकता है, एक विवादास्पद और गतिशील विषय है और डॉ. एस. पी. वर्मा में शब्दों में, 'जहाँ तक शक्ति की क्रिया-विधियों को समझने का प्रश्न है, संचार सिद्धान्त उसे समझने में सफल नहीं हो पाया है।'

प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में खेल के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।
   Discuss the Game Theory of the study of International Politics.
2. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन सम्बन्धी निर्णयपरक सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।
   Discuss the Decision-making Theory of the study of International Politics.
3. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :
   (क) सौदेबाजी का सिद्धान्त,
   (ख) सन्तुलन सिद्धान्त,
   (ग) संचार सिद्धान्त।
   Write short notes on the following.
   (i) Bargaining Theory,
   (ii) Equilibrium Theory,
   (iii) Communication Theory.

6

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का राजनीतिक व्यवस्था सिद्धान्त

[THE POLITICAL SYSTEMS THEORY IN INTERNATIONAL POLITICS]

सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त (General System Theory), व्यवस्था सिद्धान्त (Systems Theory), उपव्यवस्था सिद्धान्त (Sub-System Theory) आदि ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सिद्धान्तीकरण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योग दिया। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में व्यवस्था सिद्धान्त व्यवहारवादी क्रान्ति की उपज है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विद्वानों ने सामाजिक विज्ञानों में अन्तः-अनुशासनात्मक एकीकरण पर बल दिया और यही धारणा सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त की उपज का कारण थी। इस दृष्टिकोण के प्रतिपादकों का कहना था कि ज्ञान-विज्ञान को विभिन्न विषयों (टुकड़ों) में कठोरता के साथ विभाजित कर दिया गया था जिसके परिणामस्वरूप ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में तो एक-दूसरे के साथ आदान-प्रदान की क्रिया रुक ही गयी थी, ज्ञान के प्रत्येक विशिष्ट क्षेत्र की प्रगति में भी बाधा आ रही थी। यह स्थिति उत्पन्न हो गयी थी कि एक विज्ञान में होने वाले विकास की सहायता से दूसरे विज्ञानों की उसी प्रकार की समस्याओं को समझ पाना सम्भव नहीं रह गया था। अतः कतिपय विद्वानों का विचार था कि हमारे अध्ययन और शोध से एक ऐसा सामान्य ढांचा बनना चाहिए जिसमें विभिन्न अनुशासनों से प्राप्त ज्ञान को सार्थक ढंग से संघटित किया जा सके। इस प्रकार 'व्यवस्था सिद्धान्त' एक ऐसे आन्दोलन का परिचायक बन गया जिसका ध्येय विज्ञान और वैज्ञानिक विश्लेषण का एकीकरण करना है, एक ऐसे व्यापक सिद्धान्त की खोज करना है जिसकी सहायता से प्रत्येक विज्ञान को अपनी समस्याएँ अधिक अच्छी तरह समझने में सहायता मिल सके।

सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त : उद्गम और प्रारम्भिक विकास
(GENERAL SYSTEMS THEORY : ORIGIN AND EARLY GROWTH)

सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त का आरम्भ, सैद्धान्तिक रूप में, प्राकृतिक विज्ञानों और विशेषकर जीव विज्ञान में हुआ, परन्तु सामाजिक विज्ञान में उसका व्यवहार सबसे पहले मानव विज्ञान में होना आरम्भ हुआ। इसके बाद समाजशास्त्र में, उसके कुछ समय बाद मनोविज्ञान में और काफी समय बाद राजनीति विज्ञान और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसे प्रयोग में लाया गया।

सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त की संकल्पना सबसे पहले 1920 के दशक में लुडविग वौन बर्टलनफी नाम के प्रसिद्ध जीव-विज्ञानशास्त्री की रचनाओं में पायी जाती है। उसने 1920-30

में विज्ञान के एकीकरण की आवश्यकता पर बल दिया था। सामाजिक शास्त्रों में इसका प्रारम्भ सबसे पहले सामाजिक मानव विज्ञान में एमिली दुर्कहाइम की रचनाओं में और ए. आर. रैडक्लिफ ब्राउन और ब्रोनिसलॉ मालीनाओस्की की रचनाओं में स्पष्ट रूप से हुआ। सामाजिक मानव विज्ञान के क्षेत्र में इन दोनों लेखकों ने जो सैद्धान्तिक आविष्कार किये उनका प्रभाव राजनीतिशास्त्र पर दो समाजशास्त्रियों—राबर्ट के. मर्टन और टैलकॉट पार्सन्स के माध्यम से आया। 1960 के दशक के मध्य तक यह दृष्टिकोण राजनीति विज्ञान की खोज और विश्लेषण की प्रमुख प्रविधि बन गया था। राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में डेविड ईस्टन तथा ग्रेब्रियल आमण्ड और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में मॉर्टन कैपलन ने इस सिद्धान्त के विकास में महत्वपूर्ण काम किया।

सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त : अभिप्राय
(GENERAL SYSTEMS THEORY : MEANING)

व्यवस्था की अवधारणा विभिन्न अनुशासनों में विद्यमान कठोर विभक्तीकरण, शोध प्रयासों के अनावश्यक आवृत्तिकरण, प्रति अनुशासनात्मक अभाव से उत्पन्न परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए प्रस्थापित हुई है। विभिन्न विज्ञानों या अनुशासनों के बीच स्वतः ही दीवारें खड़ी होने लगी थीं, जिससे ज्ञान का एक अनुशासन से दूसरे अनुशासन की तरफ प्रवाह नहीं हो पा रहा था। इस स्थिति से निपटने के लिए अनेक विद्वान विभिन्न विज्ञानों के एकीकरण की बात करने लगे। इन लोगों की मान्यता थी कि विविध अनुशासनों में अनेक सामान्य बातें समान रूप से पायी जाती हैं अतः इनको एक तारतम्य में पिरोने के लिए कोई ऐसा अमूर्त ढाँचा निर्मित करना आवश्यक समझा गया जिससे कोई सामान्य सिद्धान्त बनाया जा सके और सभी अनुशासनों में समस्याओं को समझने में लागू किया जा सके। ऐसे सामान्य सिद्धान्त के निर्माण में प्रयत्नशील विद्वानों ने सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त की अवधारणा विकसित की जो 'व्यवस्था' के विचार पर आधारित है।

सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त विभिन्न अनुशासनों में एकता लाने वाली अवधारणाओं की खोज से सम्बन्धित है। इसका निर्माण 'व्यवस्था' की अवधारणा से हुआ है। भौतिक विज्ञानों के अन्तर्गत व्यवस्था का अर्थ सुपरिभाषित अन्तर्क्रियाओं के समूह से है जिसकी सीमाएँ निश्चित की जा सकें। शाब्दिक परिभाषा के अनुसार 'व्यवस्था' का अर्थ है, जटिल सम्बन्धित वस्तुओं का समग्र समूह, विधि संगठन पद्धति के निश्चित सिद्धान्त तथा वर्गीकरण का सिद्धान्त। इन अर्थों में महत्वपूर्ण शब्द 'सम्बन्धित', 'संगठित' और 'संगठन' हैं अर्थात् एक व्यवस्था संगठित होनी चाहिए अथवा उसमें संगठन हो, उसके अंग सम्बद्ध हों। यदि किसी भी स्थान पर हमें संगठन मिलता है अथवा जहाँ संगठित होने के गुण पाये जाते हैं और उसके सभी अंग एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं तो वहाँ 'व्यवस्था' विद्यमान है। बर्टलेन्फी व्यवस्था की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि 'यह अन्त-क्रियाशील तत्वों का समूह (a set of elements standing in interaction) है।'[1] हॉल एवं फैगन के अनुसार यह 'वस्तुओं में परस्पर तथा वस्तुओं और उनके लक्षणों के बीच सम्बन्धों सहित वस्तुओं का समूह (a set of objects together with relationship between the objects and between their attributes) है।'[2] कोलिन चेरी ने लिखा है कि 'व्यवस्था एक ऐसा सम्पूर्ण संघटक है जो लक्षणों के विभिन्न निर्माणक भागों से सम्मिलित रहती है'[3] (A whole which is compounded of many parts—as assemble of attributes)।

व्यवस्था सिद्धान्त का प्रयोग अनेक अनुशासनों में किया गया है और विभिन्न अनुशासनों

1 Luding Von Bertallanfy, 'General Systems Theory,' *General Systems*, Vol. I, 1956, p. 3.
2 A. Hall and R. Fagen, *'Definition of a System'*, Vol. I, 1956, p. 18.
3 Colin Cherry, *On Human Communication*, New York, Wiley, 1964, p. 507.

में व्यवस्था की विभिन्न परिभाषाएँ अपनायी गयी हैं। इसलिए कोई सर्वमान्य परिभाषा खोज निकालना सम्भव नहीं है। मोटे रूप से 'व्यवस्था' किन्हीं वस्तुओं या अवयवों का वह समूह है जिसमें वस्तुओं या अवयवों का एक-दूसरे के साथ कोई संरचनात्मक सम्बन्ध होता है। सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त की बुनियादी मान्यता है कि सम्बन्धों के कुछ-न-कुछ लक्षण सब प्रकार के निकायों में साझे होते हैं।

सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त 'संप्रत्ययों, संकल्पनाओं और प्रमाणित प्रतिज्ञप्तियों का एक संघटित और सामान्यीकृत समुच्चय है।'[1] सामान्य सिद्धान्त को कुछ तकनीकों का समुच्चय भी कहा जा सकता है जिनका किसी व्यवस्थित विश्लेषण में प्रयोग किया जा सकता है। वैज्ञानिक प्रणाली के समर्थक इसे वैज्ञानिक विश्लेपण का ढाँचा मानते हैं। अनाटोल रैपोपोर्ट का अभिमत है कि सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त वास्तव में सिद्धान्त नहीं वल्कि वैज्ञानिक प्रणाली के विकास की ओर ले जाने वाला एक मार्ग है।[2]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में व्यवस्था सिद्धान्त
(SYSTEMS THEORY IN THE STUDY OF INTERNATIONAL POLITICS)

पिछले कुछ वर्षों से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन व्यवस्था विश्लेपण के सन्दर्भ में करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। इस दृष्टिकोण के समर्थकों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का वैज्ञानिक अध्ययन तभी किया जा सकता है जबकि इसे एक 'व्यवस्था' (System) के परिप्रेक्ष्य में देखा जाये। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की धारणा की कल्पना सर्वप्रथम के. डब्ल्यू. थाम्पसन ने की और मॉर्टन कैप्लन ने इस धारणा का और अधिक विस्तार किया।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'व्यवस्था' शब्द तीन अर्थों में प्रयोग होता है—पहले अर्थ में व्यवस्था का अर्थ है अन्तर्राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं का ऐसा विन्यास-जिसमें परस्पर क्रियाएँ स्पष्ट रूप से पहचानी जा सकती हैं। व्यवस्था का दूसरा अर्थ है कि विशेप विन्यास जिसमें स्वयं विन्यास का स्वरूप ही राज्यों के व्यवहार की व्याख्या करने में सवसे महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है। तीसरे अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में विशेष प्रकार की प्रविधियों के प्रयोग को व्यवस्था कहते हैं। पहला अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय वास्तविकता का दिग्दर्शन कराता है। जेम्स रोजिनो ने इसी अर्थ में व्यवस्था सिद्धान्त का प्रयोग करते हुए इसे वर्णन का एक तरीका माना है। दूसरा अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय वास्तविकता की व्याख्या करता है। कैनेथ बोल्डिंग और चार्ल्स मैक्लेलैण्ड ने इसी अर्थ में व्यवस्था सिद्धान्त का प्रयोग करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के मुख्य चरों की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। तीसरा अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय वास्तविकता का विश्लेपण करता है। विश्लेपण प्रणाली के रूप में व्यवस्था का अभिप्राय एक ऐसे विशिष्ट दृष्टिकोण से है जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विस्तृत आधार सामग्री में सैद्धान्तिक व्यवस्था लाना चाहता है। जार्ज लिस्का और आर्थर ली बर्न्स ने ऐसे ही विशिष्ट दृष्टिकोण विकसित कर उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर लागू किया है।

संक्षेप में, विश्लेपण प्रणाली के रूप में व्यवस्था विश्लेषण की धारणा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक व्यवस्था के रूप में प्रतिपादित करने की चेष्टा है। जेम्स ऐन रोजेनाउ ने सन् 1960 में ही अपनी पुस्तक में लिखा था कि "अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों के अध्ययन में जो नवीनतम प्रवृत्तियाँ विकसित हो रही हैं उनमें से सम्भवतः सबसे अधिक महत्वपूर्ण और लोकप्रिय प्रवृत्ति पूरे अन्तर्राष्ट्रीय

---

1 "An integrated and generalised set of concepts hypotheses, and validated propositions", Oran Young, *Systems of Political Science*, p. 19.

2 Anatol Rapport, "General Systems Analysis", in David L. Sills. ed., *International Encyclopaedia of the Social Sciences* (New York, 1968), Vol. 15, p. 452.

जगत को व्यवस्था मानकर चलने की है।"[1] इस प्रवृत्ति का मूलाधार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक आचरण को भौतिकशास्त्र और जीवशास्त्र की स्पष्ट संकल्पनाओं के आधार पर समझने का प्रयत्न करना है। व्यवस्था विश्लेषण में अन्तर्राष्ट्रीय जगत को जीवशास्त्र के आधार पर एक सावयव इकाई मानकर चला जाता है। जिस प्रकार भौतिकशास्त्रों में भविष्य कथन (Predictions) किये जाते हैं, वैसे ही यहाँ भी करने का प्रयत्न किया जाता है। गणित में जिस प्रकार कार्यकारण का सम्बन्ध है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय जगत की भी विवेचना की जा सकती है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था एक क्रियाशील गतिमान व्यवस्था है और विशिष्ट काल में उसका विशिष्ट रूप रहता है, जैसे मानव शरीर में क्रम से बचपन, किशोरावस्था, यौवन और जरावस्था आती है। यदि एक व्यवस्था के समस्त अंग समान रूप से विकसित होते हैं तो यह स्वस्थ विकास होता है। जैसे सावयव में एक ही विशिष्ट अंग का बढ़ना रोग का लक्षण है वैसे ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में जब एक राज्य अत्यधिक शक्तिशाली हो उठता है तो युद्ध होते हैं। जिस प्रकार शरीर में बहुत अधिक असन्तुलन हो जाता है तो ज्वर आदि उस असन्तुलन को सन्तुलित करने के तीव्र कदम होते हैं, उसी प्रकार राज्यों में जब गहरे असन्तुलन होते हैं तो क्रान्तियाँ होती हैं और उसके उपरान्त नया सन्तुलन स्थापित हो जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था की परिभाषा करते हुए डी. कोपलिन ने लिखा है कि "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था को हम क्षेत्रीय आधार पर संगठित अर्द्ध-स्वायत्त कानूनी और तथ्यात्मक राजनीतिक इकाइयों के एक सेट के रूप में देख सकते हैं। इन राजनीतिक इकाइयों का अभिप्राय राष्ट्रों अथवा राज्यों से है जो इसे विश्व को घेरे हुए है और बड़ी संख्या में विभिन्न विवाद क्षेत्रों में एक-दूसरे के प्रति स्वतन्त्र और सामूहिक रूप से कार्य करते हैं।"[2]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था उन स्वतन्त्र राजनीतिक इकाइयों का संग्रह है जो कुछ नियमित रीति से पारस्परिक क्रिया करती हैं। अर्थात राज्यों में पारस्परिक क्रियाएँ नियमित भी होनी चाहिए और अनवरत भी। जहाँ ऐसी क्रियाएँ नहीं होतीं वहाँ किसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती। व्यवस्था विश्लेपण धारणा के अनुसार किसी राष्ट्र का व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था से कुछ लेने और उसे कुछ देने की दुतरफा क्रिया है। व्यवस्था दृष्टिकोण राज्यों के व्यवहार के अध्ययन पर बल देता है। राज्यों का व्यवहार अनवरत रूप से बदलता रहा है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में भी रूपान्तरण होता है। प्राचीनकाल में राज्यों की संख्या कम थी जिससे पारस्परिक अन्त:क्रिया भी कम होती थी। जैसे-जैसे राज्यों की संख्या बढ़ती गयी वैसे-वैसे राज्यों की पारस्परिक क्रियाएँ भी बढ़ने लगीं।

व्यवस्था विश्लेपण दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के भूत और वर्तमान से सम्बन्धित है। यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए एक विशुद्ध सिद्धान्त या संप्रत्यय अपनाने पर बल देता है। यह संप्रत्यय ऐसी संकल्पना का निर्माण करता है कि राज्यों का एक-दूसरे के साथ सम्पर्क पारस्परिक क्रिया के प्रक्रम से बनने वाले सम्बन्धों के एक जटिल ढाँचे में होता है।

मॉर्टन कैप्लन का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था सिद्धान्त
(INTERNATIONAL POLITICAL SYSTEM : MORTAN KAPLAN'S THEORY)

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में व्यवस्था उपागम को लोकप्रिय करने में मॉर्टन कैप्लन का विशेष हाथ है। 'शक्ति राजनीति' की धारणा को स्वीकार करते हुए उसने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था

---

1 James N. Rosenau, *International Politics and Foreign Policy* – A Readar in Research and Theory (New York), 1961, p. 77.

2 William D. Coplin *Introduction to International Politics – A Theoretical Overview* (Second edition, 1974), pp. 319-31.

की कुछ विशिष्ट आत्म-नियामक विशेषताएँ हैं। कैप्लन का अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था दृष्टिकोण कई सैद्धान्तिक मान्यताओं पर आधारित है : **प्रथम मान्यता** यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक पद्धति (व्यवस्था) के अन्तर्गत व्यवहारों के कुछ विशिष्ट एवं आवर्तनीय (repeatable) समुच्चय का अस्तित्व है। **द्वितीय मान्यता** यह है कि ये व्यवहार समुच्चय (Pattern) का रूप इसलिए धारण करते हैं कि इस समुच्चय के विभिन्न तत्वों में घनिष्ठ आन्तरिक सम्बन्ध होता है तथा इनसे अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय आवश्यकताओं की समान रूप से पूर्ति होती है। **तृतीय मान्यता** यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों के समुच्चय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भाग लेने वाले लोगों और संस्थाओं के चरित्र एवं उनकी विशेषताओं को प्रतिबिम्बित करने के साथ ही साथ उनके द्वारा सम्पादित किये जाने वाले कार्यों की विशेषताओं को भी प्रतिबिम्बित करते हैं। **चतुर्थ मान्यता** यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार कई तत्वों; जैसे सैनिक तथा आर्थिक क्षमता, संचार तथा सूचना, तकनीकी परिवर्तन, जनसांख्यिकीय परिवर्तन आदि तत्वों से सम्बद्ध रहते हैं और इनके सम्बन्धों को दर्शाया भी जा सकता है। कैप्लन का यह भी कहना है कि राजनीतिक व्यवस्था को अक्षुण्ण रखने के लिए शारीरिक बल कम-से-कम आखिरी उपाय के तौर पर काम में लिया जाना चाहिए। इन मान्यताओं के आधार पर कैप्लन ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न प्रतिमानों की कल्पना की है। उसका विश्वास है कि इन प्रतिमानों (Models) का व्यवहारवादी विश्लेपण सम्भव है तथा इनके विशिष्ट आधार वाक्यों की जाँच की जा सकती है।

कैप्लन ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक पद्धति (व्यवस्था) में छः प्रतिमानों की कल्पना की है :

1. शक्ति सन्तुलन व्यवस्था (Balance of Power System)
2. शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था (Loose Bipolar System)
3. दृढ़ द्विध्रुवीय व्यवस्था (Tight Bipolar System)
4. व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था (Universal International System)
5. सोपानीय अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था (Hierarchical International System)
6. इकाई वीटो व्यवस्था (Unit Veto System)

1. **शक्ति सन्तुलन व्यवस्था** (Balance of Power System)—शक्ति सन्तुलन व्यवस्था 18वीं और 19वीं शताब्दी में प्रचलित 'शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त' से मिलती-जुलती है। इसमें राजनीतिक उपपद्धति का अभाव होता है। इसमें दो प्रकार के कार्यकर्ता (actors) होते हैं—आवश्यक कार्यकर्ता और अन्य लघु कार्यकर्ता। महत्वपूर्ण आवश्यक राष्ट्रीय कार्यकर्ता हैं; जैसे—अमरीका, रूस, फ्रांस, ब्रिटेन, चीन, आदि। अन्य लघु कार्यकर्ताओं में छोटे-छोटे देशों को शामिल किया जा सकता है। कैप्लन के अनुसार, शक्ति सन्तुलन व्यवस्था के छः अपरिहार्य नियम हैं—(i) प्रत्येक आवश्यक कार्यकर्ता को अपनी क्षमता बढ़ानी चाहिए परन्तु युद्ध करने के बजाय समझौते का सहारा लेना चाहिए (Increase capabilities but negotiate rather than fight), (ii) यदि समझौते के कारण अपनी क्षमता बढ़ाना कठिन हो तो युद्ध का सहारा लेना चाहिए (Fight rather than fail to increase capabilities), (iii) किसी आवश्यक कार्यकर्ता को समाप्त करने के बजाय युद्ध बन्द कर देना ज्यादा अच्छा है (Stop fighting rather than eliminate an essential actor); (iv) अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के भीतर यदि कोई विशेष कर्ता या कर्ताओं का कोई विशेष संविद (Coalition) आधिपत्य स्थापित करना चाहे या उसमें सफलता प्राप्त करे तो उसका विरोध करो (Oppose any coalition or single actor which tends to assume a position of predominance within the system), (v) यदि कोई कर्ता या कर्ताओं का समूह अधिराष्ट्रीय (supernational) सिद्धान्त का पोषण करे तो उसे वैसा न करने को बाध्य करो (Constrain actors who subscribe to supernational organizational principles),

(vi) पराजित या अवरुद्ध आवश्यक राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं को व्यवस्था में फिर प्रवेश करने देना चाहिए। सभी आवश्यक कर्ताओं को सहयोगी मानना चाहिए। (Permit defeated or constrained essential national actors to re-enter the system as acceptable role partners. Treat all essential actors as acceptable role partners.)[1]

शक्ति-सन्तुलन वाली अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के पहले दो नियमों से प्रकट होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक पद्धति के अन्तर्गत किसी राजनीतिक उपपद्धति का अस्तित्व नहीं है। इसलिए आवश्यक राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं को अपनी सुरक्षा के लिए अपने सहयोगियों पर निर्भर रहना पड़ता है अथवा उनमें सदा इतनी क्षमता होनी चाहिए कि वे अपनी सुरक्षा स्वयं कर सकें। तीसरे नियम से यह तथ्य प्रकट होता है कि आवश्यक कर्ता अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक सीमा के बाहर भूमिका अदा नहीं कर सकते हैं क्योंकि यह उनके राष्ट्रीय हितों या राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के प्रतिकूल होगा। चौथे एवं पाँचवें नियमों से यह प्रतिबिम्बित होता है कि यदि किसी आवश्यक राष्ट्रीय कर्ता या कर्ताओं के समूह द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आधिपत्य कायम किया जाता है तो वह दूसरे राष्ट्रीय कर्ता या कर्ताओं के समूह के लिए खतरनाक सावित होता है। छठे नियम से यह स्पष्ट होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था की सदस्यता उन व्यवहारों पर निर्भर करती है जो व्यवहार 'शक्ति सन्तुलन व्यवस्था' के नियमों के अनुकूल है। यदि आवश्यक कार्यकर्ताओं की संख्या घट जाय तो 'शक्ति सन्तुलन वाली अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था' में अस्थायित्व आ जायेगा। यदि शक्ति सन्तुलन व्यवस्था अस्थायी हो जाती है तो यह निश्चय ही एक भिन्न व्यवस्था में परिवर्तित हो जायेगी इसलिए अस्थायित्व को प्रकट करने वाले सीमाचिन्ह के ऊपर आवश्यक कर्ताओं की संख्या को स्थिर रखना इस व्यवस्था के स्थायित्व की एक महत्वपूर्ण शर्त है।[2]

शक्ति सन्तुलन वाली अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था समाप्त हो जायेगी यदि आवश्यक राष्ट्रीय कार्यकर्ता खेल के नियमों के अनुसार न खेलें और यदि राष्ट्रीय कार्यकर्ता अधिराष्ट्रीय संगठन की स्थापना का प्रयत्न करें।

आधुनिक युग में शक्ति सन्तुलन की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के पतन के कई कारण हैं : सशक्त प्रतिकूलगामी (deisant) कर्ताओं का जन्म, अनुकूलगामी (non-deisant) सदस्यों द्वारा प्रतिकूलगामी सदस्यों के खिलाफ यथोचित कदम उठाने में विफलता, साम्यवादी गुट तथा इसके अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर संगठित राजनीतिक संगुट्ट का उदय आदि।[3]

मार्टन कैप्लन ने शक्ति सन्तुलन व्यवस्था के परिवर्तित रूप को 'द्विध्रुवीय व्यवस्था' (Bi-polar System) कहा है। इसके दो रूप बताये हैं—**शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था और दृढ़ द्विध्रुवीय व्यवस्था।**

2. **शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था** (Loose Bipolar System)—'शक्ति सन्तुलन वाली व्यवस्था' की व्यवहार में स्थापना नहीं हो सकी और उसके स्थान पर काफी समय तक विश्व राजनीति में अस्थिरता रहने के बाद शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था अस्तित्व में आयी। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद स्थापित शक्ति सन्तुलन की व्यवस्था धीरे-धीरे शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था बनती गयी। इसमें दो महाशक्तियों के चारों और लघु शक्तियों और निर्गुट राज्यों का समूह घिरा रहा है और जिसमें निर्गुट राज्यों का एक गुट-सा होने के कारण दो बड़ी शक्तियों की शक्ति शिथिल बनी रहती है।

---

1 Rosenau, n. 6, p. 344.
1 *Ibid*, pp. 344-45.
3 "The rise of powerful deisant actors, inadequate counter measures by non-deisant actors. non-international ideologies, and the growth of supranational organisations like the communist-bloc with its internationally organised political parties, sounded the death knell for the 'balance of power' international system." —*Ibid.*, p. 346.

यह व्यवस्था शक्ति सन्तुलन व्यवस्था से कई अर्थों में भिन्न है; जैसे प्रथम, शक्ति सन्तुलन व्यवस्था में सन्तुलन की भूमिका मूलतः विभिन्न राष्ट्रों को एकीकृत करने की भूमिका थी क्योंकि इसके अन्तर्गत किसी भी गुट को आधिपत्य जमाने से रोका जाता था। इसके विपरीत, शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था में एकीकरण की भूमिका वस्तुतः समझौता कराने की भूमिका है। इस भूमिका को अदा करने वाला कर्ता (जैसे निर्गुट राष्ट्र) किसी गुट का सदस्य न होकर प्रतियोगी गुटों में समझौता कराने की भूमिका अदा कराता है। द्वितीय, शिथिल द्विध्रुवीय अवस्था में हर गुट का एक प्रधान कार्यकर्ता होता है जबकि शक्ति सन्तुलन व्यवस्था में 'सन्तुलनकर्ता' उत्पन्न हो जाता है। तृतीय, शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था में कई प्रकार के कर्ता होते है जैसे गुटीय कर्ता (अमरीका और रूस), गैर-सदस्य कर्ता (निर्गुट राष्ट्र), सार्वभौमिक कर्ता (संयुक्त राष्ट्र संघ)। जबकि शक्ति सन्तुलन वाली व्यवस्था में 'आवश्यक राष्ट्रीय कर्ताओं' की ही प्रभावकारी भूमिका होती है।

कैप्लन ने शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था के निम्नलिखित बारह नियम बताये हैं :

1. पदसोपानीय तथा मिश्रित पदसोपानीय ढाँचों पर आधारित गुट दूसरे समान गुट को खत्म करना चाहते हैं।

2. पदसोपानीय तथा मिश्रित पदसोपानीय ढाँचों पर आधारित गुट युद्ध के बदले समझौता करना, बड़े युद्ध के बदले छोटे युद्ध लड़ना तथा विपक्षी गुट को समाप्त करने में असफल होने के बजाय निर्धारित खतरों एवं लागत को ध्यान में रखते हुए बड़ी लड़ाई लड़ना चाहेगे।

3. किसी गुट के सभी कर्ता दूसरे गुट के कर्ताओं की अपेक्षा अपनी क्षमता बढ़ाना चाहेंगे।

4. अशृंखलाबद्ध ढाँचों पर आधारित गुट युद्ध के बदले समझौता करना, अपनी क्षमता बढ़ाना, क्षमता बढ़ाने में असफल होने पर छोटी लड़ाई लड़ना चाहेंगे किन्तु वे हमेशा बड़ी लड़ाई से बचेंगे।

5. सभी गुटों के कर्ता विपक्षी गुट को आधिपत्य जमाने देने के बजाय बड़ी लड़ाई लड़ना चाहेंगे।

6 सभी गुटों के सदस्य (Bloc members) अपने विश्वव्यापी उद्देश्यों को गुट के उद्देश्यों के अधीनस्थ रखेंगे, किन्तु विपक्षी गुट के गुटीय उद्देश्यों को विश्वव्यापी उद्देश्यों के अधीनस्थ रखना चाहेंगे।

7. सभी निर्गुट सदस्य (non-bloc members) अपने राष्ट्रीय उद्देश्यों को विश्वव्यापी उद्देश्य का समर्थन करने वाले कर्ताओं के साथ सम्बद्ध करना चाहेंगे।

8. गुटों के कर्ता अपने गुट की सदस्यता में वृद्धि करना चाहेंगे।

9. गैर-गुटीय सदस्य दोनों गुटों के बीच युद्ध के खतरे को कम करना चाहेगे।

10. विश्वव्यापी कर्ता की भूमिका अदा करने की स्थिति को छोड़कर अन्य स्थितियों में गैर-गुटीय कर्ता किसी भी गुट का समर्थन करना नहीं चाहेंगे।

11. विश्वव्यापी उद्देश्यों के समर्थक कर्ता दोनों गुटों के पारस्परिक विरोध को कम करना चाहेंगे। (Universal actors are to reduce the incompatibility between the blocs.)

12. विश्वव्यापी उद्देश्यों के समर्थक कर्ता गैर-गुटीय सदस्यों को तब एकताबद्ध करना चाहेंगे जब कोई गुट खुल्लमखुल्ला शक्ति का प्रयोग जैसा कोई प्रतिकूलगामी कार्य करना चाहेंगे।

शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था में काफी सहज अस्थायित्व होता है। शक्ति सन्तुलन वाली अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के विपरीत इस व्यवस्था में भूमिका विभेदन (role differentiation) की मात्रा अधिक होती है। यदि किसी भूमिका का निर्वाह दूसरी भूमिका को नजरअन्दाज कर किया जाता है तो यह व्यवस्था रूपान्तरित हो जायेगी। उदाहरण के लिए, यदि एक गुट का कर्ता दूसरे गुट के कर्ता को समाप्त कर देता है, तो यह व्यवस्था पदसोपानीय अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में

परिवर्तित हो जायेगी। यदि विश्वव्यापी उद्देश्यों का समर्थक कर्ता अपनी भूमिका का ठीक से निर्वाह करता है तो यह व्यवस्था विश्वव्यापी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में रूपान्तरित हो जायेगी।[1]

3. **दृढ़ द्विध्रुवीय व्यवस्था** (Tight Bipolar System)—दृढ़ द्विध्रुवीय व्यवस्था एक तरह से शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था का रूपान्तरित रूप है जिसमें गैर-गुटीय (तटस्थ या निर्गुट) तथा विश्वव्यापी उद्देश्यों के समर्थक सदस्यों का या तो पूर्णतः लोप हो जाता है या वे महत्वहीन हो जाते हैं। परन्तु इस व्यवस्था के स्थायित्व की गारण्टी तभी होगी जब दोनों गुटों का सोपानीय रीति में संगठन हो। इस अवस्था में मध्यस्थीकरण से सम्बद्ध भूमिकाओं का अभाव होता है जिससे दुष्क्रियात्मक तनावों (dysfunctional tension) के बढ़ने की सम्भावना रहती है। यही कारण है कि दृढ़ द्विध्रुवीय व्यवस्था में स्थायित्व का अभाव रहता है।

4. **विश्वव्यापी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था** (Universal International System)—विश्वव्यापी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था एक शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था में आवश्यकताओं (Essential actors) के प्रकार्यों का विस्तार करने से बनता है। इसमें विश्वव्यापीकर्ता जैसे संयुक्त राष्ट्र संघ इतना शक्तिशाली होता है कि राष्ट्रीय कर्ताओं के मध्य होने वाले युद्ध को रोक सके। इस व्यवस्था में विश्वव्यापी उद्देश्यों के समर्थक कर्ताओं तथा गैर-गुटीय कर्ताओं का प्राबल्य रहता है। इसमें राष्ट्रीय कर्ताओं का व्यक्तित्व बना रहता है और वे अधिकतम शक्ति प्राप्ति का प्रयत्न भी करते रहते हैं। राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं अपने उद्देश्य विश्वव्यापी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के ढांचे के भीतर ही सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे। राष्ट्रीय हितों को विश्वव्यापी व्यवस्था के आगे गौण माना जायेगा और सब कार्यकर्ता अपने उद्देश्यों की सिद्धि के लिए शान्तिमय साधनों का सहारा लेंगे। विभिन्न राष्ट्रों के संघर्षों को अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के अनुसार तय किया जायेगा।

वस्तुतः विश्वव्यापी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था एक अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक व्यवस्था की उपव्यवस्था (Sub-system) के समान है। किन्तु यह उपव्यवस्था परिसंघात्मक (Confederation) किस्म की होती है अर्थात यह विभिन्न राष्ट्रों के भूभागों के आधार पर प्रचलित होगी, न कि मनुष्यों के ऊपर प्रत्यक्ष रूप से। जब तक विश्वव्यापी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के पास समुचित शक्ति का अभाव रहेगा तब तक यह व्यवस्था स्थायी नहीं बन सकती। इसका स्थायित्व इस तथ्य पर निर्भर करता है कि इसकी क्षमताओं एवं राष्ट्रीय कर्ताओं की क्षमताओं में सही अनुपात है या नहीं।

5. **सोपानीय अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था** (Hierarchical International System)—सोपानीय व्यवस्था भी एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था है। इसमें संगठन के भौगोलिक तत्वों की अपेक्षा प्रकार्यात्मक तत्व अधिक सुदृढ़ होते हैं। इसमें एक विश्वव्यापी कर्ता प्रायः सारे विश्व को समेट लेता है और केवल एक राष्ट्र बाहर रह जाता है। यह सोपानीय अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था निदेशात्मक और गैर-निदेशात्मक दोनों प्रकार की हो सकती है। यदि यह किसी निरंकुश राज्य (जैसे नाजी जर्मनी) जैसे किसी राष्ट्रीय कर्ता द्वारा की गयी विश्व विजय का परिणाम है तो निदेशात्मक होगी और यदि यह प्रजातान्त्रिक देशों में प्रचलित नियमों पर आधारित हो तो गैर-निदेशात्मक कहलायेगी। एकीकरण की अधिकतम मात्रा के कारण इस व्यवस्था में काफी स्थायित्व रहता है।

6. **इकाई वीटो अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था** (Unit Veto International System)—इकाई वीटो अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का सारतत्व है कि हर राज्य के पास अपने विरोधी को नष्ट करने

---

1 "Unlike the 'balance of power' international system, there is a high degree of role differentiation in the loose bipolar system. If any of the role is pursued to the exclusion of othsrs. the system will be transformed. If one bloc actors eliminates another, the system may be transformed into a hierarchical system. If the universal actor performs its function too well, the system may be transformed into a universal international system. Other variations are possible."
—*Ibid.*, p. 348.

की क्षमता रहती है। इसमें सभी कर्ताओं की क्षमता लगभग समान होती है। यदि एक कर्ता दूसरे पर आक्रमण कर विजयी बनना चाहता है तो उसे भी नष्ट किया जा सकता है। इस व्यवस्था में सभी कर्ता अपनी सुरक्षा के लिए अपनी सामर्थ्य पर निर्भर करते हैं। यह व्यवस्था पारस्परिक धमकी पर आधारित है। इसलिए इस व्यवस्था में दुष्क्रियात्मक तनाव (dysfunctional tension) अधिक होंगे। इकाई वीटो व्यवस्था तभी स्थायी रह सकती है जब सारे कर्ता धमकियों का मुकाबला करने को तैयार रहते हों। इसमें स्वयं को नष्ट करने का खतरा रहता है। ऐसी व्यवस्था तभी स्थापित हो सकती है जबकि सब कर्ताओं के पास इस तरह के हथियार (जैसे आणविक शस्त्र) हों जिनसे प्रत्येक कर्ता दूसरे को नष्ट करने में समर्थ हो सके।

कैप्लन के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था सिद्धान्त का मूल्यांकन
(APPRAISAL OF KAPLAN'S THEORY OF INTERNATIONAL POLITICAL SYSTEMS)

कैप्लन के व्यवस्था निकाय सिद्धान्त की प्रशंसा के बजाय आलोचना ही अधिक हुई है। इसकी कई तर्कों के आधार पर आलोचना की गयी है : **प्रथम**, कैप्लन द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का छः प्रतिमानों (models) में विभाजन वस्तुतः एक प्रकार से मनमाना बँटवारा है। इस प्रकार से तो कोई भी व्यक्ति प्रतिमानों की संख्या अन्य विश्लेषणात्मक ढांचे से कम-ज्यादा कर सकता है। **द्वितीय**, कैप्लन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के छः प्रतिमानों को दो भिन्न कसौटियों के आधार पर अलग-अलग वर्गों में बाँटा है। पहली कसौटी यथार्थवादी है और उसके आधार पर शक्ति सन्तुलन व्यवस्था और शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था 'वास्तविक प्रतिमानों' (actual models) की श्रेणी में आती हैं। दूसरी कसौटी आदर्शवादी या यूरोपियन है और उसके आधार पर अन्य चार प्रतिमान 'सम्भव प्रतिमानों' (Probable models) की श्रेणी में आते हैं। इन सम्भव प्रतिमानों के आधार पर कैप्लन ने भविष्य में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का एक सामान्य सिद्धान्त बनाने का प्रयत्न किया है, जबकि भविष्य की सम्भावनाएँ व्यक्त करना अत्यन्त कठिन है और यह कोरा आदर्श मात्र है। **तृतीय**, कैप्लन की यह मान्यता है कि इन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं में क्रमशः पहले से छठे की ओर चलने की प्रवृत्ति दिखायी देती हैं। शक्ति सन्तुलन व्यवस्था आगे चलकर शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था में परिवर्तित हो जाती है और शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था दृढ़ द्विध्रुवीय व्यवस्था में और वह फिर सोपानीय और विश्व व्यवस्था में बदल जाती है। इस प्रकार कैप्लन 'प्रक्रिया निकाय सिद्धान्त' (Process System Theory) अपनाता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि कैप्लन के सिद्धान्त के अनुसार ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था एक से दूसरे प्रतिमान में बदली जाती हो। **चतुर्थ**, कैप्लन की मान्यता है कि शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था से जो परिवर्तन होगा वह दृढ़ द्विध्रुवीय व्यवस्था में होगा जबकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के उभरते स्वरूप को देखते हुए ऐसा लगता है कि शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था का रूपान्तरण बहुध्रुवीय व्यवस्था में होना चाहिए। चूँकि दृढ़ द्विध्रुवीय व्यवस्था तो तभी बन सकती है जबकि निर्गुट देशों का अन्तर्राष्ट्रीय मंच से अवसान (लोप) हो जाये, जबकि आज की प्रवृत्ति गुटनिरपेक्षता की ओर है, गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। अब शक्ति के मात्र दो ही केन्द्र अमरीका और रूस नहीं रह गये हैं अपितु शक्ति के अनेक केन्द्रों का उदय हुआ है। ऐसी स्थिति से शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था दृढ़ द्विध्रुवीय व्यवस्था में न बदलकर 'बहुध्रुवीय व्यवस्था' (Multi-polar System) में बदलेगी। **पंचम**, कैप्लन यह मानता है कि विश्वव्यापी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था 'सोपानीय अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था' में बदल जायेगी जिसमें सिर्फ एक राष्ट्र सार्वभौमिक कर्ता के रूप में रह जायेगा। ऐसा परिवर्तन साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के पुनर्जीवित हो जाने पर ही सम्भव है। ऐसी व्यवस्था में सभी राष्ट्र व्यावहारिक रूप से एक प्रक्तिशाली राष्ट्र के नेतृत्व में आ जायेंगे। **षष्ठम**, कैप्लन की योजना में छठी और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था 'इकाई वीटो (निषेधाधिकार) व्यवस्था है जिसमें इस प्रकार

के घातक अस्त्रों का अस्तित्व होगा कि कोई भी राष्ट्र स्वयं नष्ट होने से पहले दूसरों को नष्ट कर देने में समर्थ होगा। यह एक ऐसी व्यवस्था होगी जिसमें प्रत्येक राज्य के पास मानो निषेधाधिकार होगा अर्थात् स्वयं के निर्णय ही अन्तिम होंगे। **सप्तम,** कैप्लन की इस छः प्रतिमानों वाली योजना में उन तत्वों पर विचार नहीं किया गया है जो राष्ट्रों के व्यवहार का पैमाना तय करते हैं राज्यों के व्यवहार का अध्ययन करने वाले किसी भी सिद्धान्त में उन गतिशील तत्वों का अध्ययन आवश्यक है जो उसको प्रभावित करते हैं। वस्तुत कैप्लन राष्ट्रीय हित की अवधारणा पर ही अधिक बल देता है। उसने इस तथ्य की उपेक्षा कर दी है कि राष्ट्रीय हित कैसे बनते है और वे राज्यों के सामूहिक व्यवहार को कैसे प्रभावित करते हैं।

कैप्लन के छः प्रतिमानों में से कुछ प्रतिमानों की सार्थकता अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में किसी न किसी रूप में अवश्य दिखायी देती है। 'शक्ति सन्तुलन' वाला प्रतिमान किसी-न-किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहा है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की विश्व-व्यवस्था को शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था कहा जा सकता है क्योंकि दो प्रमुख कर्ताओं—अमरीका और सोवियत संघ—के हाथों में अधिकतम शक्ति थी और निर्गुट राज्यों के अस्तित्व के कारण इन दोनों कर्ताओं की शक्ति शिथिल पड़ गयी थी। आज परमाणु देशों की बढ़ती हुई संख्या से हम इकाई वीटो व्यवस्था की ओर बढ़ रहे हैं।

कैप्लन के अतिरिक्त व्यवस्था प्रतिमान (model) के सम्बन्ध में सी. ए. डब्ल्यू. मैनिंग, रिचार्ड रोजक्रेन्स (Richard Rosecrance), चार्ल्स ए. मैक्लेलैण्ड (Charles A. McClelland), जॉन हर्ज (John Herz) तथा कैनेथ बोल्डिंग (Kenneth Boulding) का कार्य भी महत्वपूर्ण है।[1] सी. ए. डब्ल्यू. मैनिंग का विचार है कि राष्ट्र-राज्य पर आधारित परम्परागत (Classical) अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था अब भी पुष्ट और सशक्त है। जबकि जॉन हर्ज और कैनेथ बोल्डिंग मानते हैं कि पुरानी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था परमाणु युग में बेकार हो गयी है। यद्यपि राष्ट्र-राज्य का अस्तित्व मौजूद है तथापि राष्ट्र-राज्य की संरचना और प्रकार्यों में धीमी गति से बदलाव आ गये हैं। इन बदलावों से राष्ट्र-राज्य की बुनियादी विशेषता सम्प्रभुता की परम्परागत धारणा में भी कुछ गम्भीर परिवर्तन आये हैं जिनका प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के प्रकार्य और स्वरूप पर भी पड़ा है।

माइकेल हास नामक विद्वान ने इसी पद्धति का अनुसरण करते हुए 20 अन्तर्राष्ट्रीय उप-पद्धतियों (Sub-System) का विश्लेषण किया है। इनमें से 10 उप-पद्धतियाँ यूरोप में 1849 से 1963 तक की अवधि में प्रचलित थीं, 1689 से 1964 की अवधि में एशिया में पाँच का तथा 1738 से 1898 की अवधि मे हवाई मे पाँच पद्धतियों का प्रचलन था। रोजक्रेन्स नामक विद्वान ने 1740 से 1960 तक के यूरोप के इतिहास में 9 उप-पद्धतियों का वर्णन किया है।

बाद में सम्पूर्ण विश्वपरिप्रेक्ष्य में विभिन्न क्षेत्रीय व्यवस्थाओं जैसे मध्य-पूर्व, दक्षिण-पूर्व एशिया, पश्चिम यूरोप, पश्चिम अफ्रीका, लेटिन अमरीका का उप-व्यवस्थाओं के रूप में तुलनात्मक विश्लेषण हुआ है।[2] बर्टन ने भी व्यवस्था सिद्धान्त के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन प्रस्तुत किया हैं।[3]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में व्यवस्था विश्लेषण संप्रत्यय की सीमाएँ
(LIMITATIONS OF SYSTEM ANALYSIS IN INTERNATIONAL POLITICS)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में व्यवस्था विश्लेषण संप्रत्यय के प्रयोग मे दिलचस्पी बढ़ रही है,

---

1 See Mortan A. Caplan, *System and Process in International Politics* (New York, 1957) Charles A. McClelland, *Theory and the International System* (New York, 1966): Richard Rosecrance, *Action and Reaction in World Politics* (Bostan, 1963)

2 Cantori, Louis J., and Spiegal Steven L., *The International Politics of Regions : A Comparative Appraach*, 1970.

3 J. W. Bourton, *Systems, States, Diplomacy and Rules*, 1968.

की क्षमता रहती है। इसमें सभी कर्ताओं की क्षमता लगभग समान होती है। यदि एक कर्ता दूसरे पर आक्रमण कर विजयी बनना चाहता है तो उसे भी नष्ट किया जा सकता है। इस व्यवस्था में सभी कर्ता अपनी सुरक्षा के लिए अपनी सामर्थ्य पर निर्भर करते हैं। यह व्यवस्था पारस्परिक धमकी पर आधारित है। इसलिए इस व्यवस्था में दुष्क्रियात्मक तनाव (dysfunctional tension) अधिक होगे। इकाई वीटो व्यवस्था तभी स्थायी रह सकती है जब सारे कर्ता धमकियों का मुकाबला करने को तैयार रहते हों। इसमें स्वयं को नष्ट करने का खतरा रहता है। ऐसी व्यवस्था तभी स्थापित हो सकती है जबकि सब कर्ताओं के पास इस तरह के हथियार (जैसे आणविक शस्त्र) हों जिनसे प्रत्येक कर्ता दूसरे को नष्ट करने में समर्थ हो सके।

कैप्लन के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था सिद्धान्त का मूल्यांकन
(APPRAISAL OF KAPLAN'S THEORY OF INTERNATIONAL POLITICAL SYSTEMS)

कैप्लन के व्यवस्था निकाय सिद्धान्त की प्रशंसा के बजाय आलोचना ही अधिक हुई है। इसकी कई तर्कों के आधार पर आलोचना की गयी है : **प्रथम,** कैप्लन द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का छः प्रतिमानों (models) में विभाजन वस्तुतः एक प्रकार से मनमाना बँटवारा है। इस प्रकार से तो कोई भी व्यक्ति प्रतिमानों की संख्या अन्य विश्लेपणात्मक ढाँचे से कम-ज्यादा कर सकता है। **द्वितीय,** कैप्लन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के छः प्रतिमानों को दो भिन्न कसौटियों के आधार पर अलग-अलग वर्गों में बाँटा है। पहली कसौटी यथार्थवादी है और उसके आधार पर शक्ति सन्तुलन व्यवस्था और शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था 'वास्तविक प्रतिमानों' (actual models) की श्रेणी में आती है। दूसरी कसौटी आदर्शवादी या यूरोपियन है और उसके आधार पर अन्य चार प्रतिमान 'सम्भव प्रतिमानों' (Probable models) की श्रेणी में आते हैं। इन सम्भव प्रतिमानों के आधार पर कैप्लन ने भविष्य में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का एक सामान्य सिद्धान्त बनाने का प्रयत्न किया है, जबकि भविष्य की सम्भावनाएँ व्यक्त करना अत्यन्त कठिन है और यह कोरा आदर्श मात्र है। **तृतीय,** कैप्लन की यह मान्यता है कि इन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं में क्रमशः पहले से छठे की ओर चलने की प्रवृत्ति दिखायी देती हैं। शक्ति सन्तुलन व्यवस्था आगे चलकर शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था में परिवर्तित हो जाती है और शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था दृढ़ द्विध्रुवीय व्यवस्था में और वह फिर सोपानीय और विश्व व्यवस्था में बदल जाती है। इस प्रकार कैप्लन 'प्रक्रिया निकाय सिद्धान्त' (Process System Theory) अपनाता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि कैप्लन के सिद्धान्त के अनुसार ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था एक से दूसरे प्रतिमान में बदली जाती हो। **चतुर्थ,** कैप्लन की मान्यता है कि शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था से जो परिवर्तन होगा वह दृढ़ द्विध्रुवीय व्यवस्था में होगा जबकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के उभरते स्वरूप को देखते हुए ऐसा लगता है कि शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था का रूपान्तरण बहुध्रुवीय व्यवस्था में होना चाहिए। चूँकि दृढ़ द्विध्रुवीय व्यवस्था तो तभी बन सकती है जबकि निर्गुट देशों का अन्तर्राष्ट्रीय मंच से अवसान (लोप) हो जाये, जबकि आज की प्रवृत्ति गुटनिरपेक्षता की ओर है, गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। अब शक्ति के मात्र दो ही केन्द्र अमरीका और रूस नहीं रह गये हैं अपितु शक्ति के अनेक केन्द्रों का उदय हुआ है। ऐसी स्थिति से शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था दृढ़ द्विध्रुवीय व्यवस्था में न बदलकर 'बहुध्रुवीय व्यवस्था' (Multi-polar System) में बदलेगी। **पंचम,** कैप्लन यह मानता है कि विश्वव्यापी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था 'सोपानीय अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था' में बदल जायेगी जिसमें सिर्फ एक राष्ट्र सार्वभौमिक कर्ता के रूप में रह जायेगा। ऐसा परिवर्तन साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के पुनर्जीवित हो जाने पर ही सम्भव है। ऐसी व्यवस्था में सब राष्ट्र व्यावहारिक रूप से एक शक्तिशाली राष्ट्र के नेतृत्व में आ जायेंगे। **षष्ठम,** कैप्लन की योजना में छठी और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था 'इकाई वीटो (निषेधाधिकार) व्यवस्था है जिसमें इस प्रकार

7

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति : शक्ति-संघर्ष के रूप में

[INTERNATIONAL POLITICS : AS A STRUGGLE FOR POWER]

यथार्थवादी विचारक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को शक्ति-संघर्ष के पर्याय के रूप मे देखते है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रमुख यथार्थवादी विचारकों में मार्गेन्थाऊ का नाम उल्लेखनीय है। हान्स जे. मॉर्गेन्थाऊ ने ही अपने ग्रन्थ 'पालिटिक्स एमंग नेशन्स' में यथार्थवादी दृष्टिकोण को एक विशिष्ट विचारधारा के रूप में परिणत किया है। मार्गेन्थाऊ ने राष्ट्रहित को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की कुंजी माना है जिसे केवल शक्ति के परिप्रेक्ष्य में ही देखा जा सकता है।[1] वे शक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का केन्द्रबिन्दु मानते हैं। वैसे मार्गेन्थाऊ से पूर्व एरिक कॉपमैन ने शक्ति की दृष्टि से ही राज्यों के तीन लक्ष्य बताये थे : शक्ति संचय, शक्ति प्रसार और शक्ति-प्रदर्शन। यदि सभी राज्यों का हेतु शक्ति संचय, शक्ति प्रसार और शक्ति प्रदर्शन हो तो विश्व राजनीति शक्ति-संघर्ष का ही अखाड़ा सिद्ध होगी। वस्तुत: अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में संघर्ष इसलिए महत्वपूर्ण है कि संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय समाज से समाप्त नहीं किया जा सकता और संघर्ष का जारी रहना ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सारतत्व है।

चाहे शीतयुद्ध का मामला हो अथवा रूस-चीन मतभेद, कश्मीर का मामला हो अथवा वियतनाम पर चीनी आक्रमण की घटना, अरब-इजरायल समस्या हो अथवा अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप की घटना, सर्वत्र मूर्त और अमूर्त रूप से शक्ति-संघर्ष दृष्टिगोचर होता है।

वस्तुत: अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष अधिकांशत: अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की शोषणमूलक व्यवस्था से दूसरे देशों पर आधिपत्य करने तथा उनका शोषण करने तथा इसके बाद सैनिक शक्ति द्वारा इन अधिकृत क्षेत्रों की रक्षा करने की इच्छा से उत्पन्न होते हैं। 'तनाव और संघर्ष' छोटे-छोटे देशों को सैनिक कार्यवाहियाँ करने के आधार के रूप में प्रयुक्त करने के उसके प्रयासों से भी उत्पन्न होते हैं।

शक्ति-संघर्ष : सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि
(STRUGGLE FOR POWER : THEORETICAL BACKGROUND)

मार्गेन्थाऊ के अनुसार, "शक्ति की महत्वाकांक्षा, अन्य राजनीतियों के समान ही, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विशिष्ट तत्व है। अत: अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति वास्तव में आवश्यक तौर पर शक्ति-संघर्ष का रूप धारण कर लेती है।"[2] यद्यपि इस तथ्य को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के साधारण व्यवहार में मान्यता प्राप्त है तथापि अनेक विद्वान विचारक इसे स्वीकार नही करते

1 Mahendra Kumar, *Theoretical Aspects of International Politics* (Agra, 1967), p. 44.
2 Hans J. Morgenthau *Politics Among Nations* (Calcutta, 1963), pp. 31-32.

जैसे बेन्थम का विश्वास था कि उपनिवेशों के लिए होड़ ही अन्तर्राष्ट्रीय द्वन्द्व की जड़ है और यदि उपनिवेशों को स्वतन्त्र कर दिया जाये तो अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष एवं युद्ध लुप्त हो जायेंगे। कोबडेन व प्रूधों की मान्यता थी कि व्यापार सम्बन्धी रुकावटों को हटा देने से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति स्वयं लुप्त हो जायेगी। उनके समर्थकों की मान्यता थी कि पूँजीवाद अन्तर्राष्ट्रीय वैमनस्य तथा युद्ध की जड़ है और अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति-संघर्ष को समाप्त करके स्थायी शान्ति स्थापित कर देगा। सन् 1943 में मास्को परिषद् में, जिसने संयुक्त राष्ट्र संघ की नींव डाली थी अमरीकी विदेश सचिव कोरडल हल ने कहा था कि नया अन्तर्राष्ट्रीय संघ शक्ति-संघर्ष को समाप्त करके अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से एक नया युग प्रारम्भ करेगा।

इन आदर्शवादी धारणाओं के उपरान्त भी शक्ति-संघर्ष एक वास्तविकता है। शक्ति की लालसा मानव की विशेषता है और घरेलू राजनीति में भी शक्ति-संघर्ष दिखायी देता है। विभिन्न सामाजिक क्लबों में, भाईचारे की संस्थाओं में, शिक्षा संस्थाओं में तथा व्यापारिक संघों में विभिन्न गुटों के मध्य शक्ति संघर्ष निरन्तर दृष्टिगोचर होता रहता है, जिसमें एक गुट या तो उस शक्ति को कायम रखना चाहता है जो उसके पास है अथवा अपनी शक्ति की वृद्धि में संलग्न रहता है। व्यापारिक संगठनों में आपस में प्रतिद्विन्द्विता तथा मजदूर व पूँजीपति के मध्य संघर्ष भी अक्सर आर्थिक लक्ष्यों के लिए नहीं वरन् एक-दूसरे पर प्रभाव डालने की नीयत से प्रचलित होते रहते हैं, जो कि वास्तव में शक्ति-संघर्ष का ही एक रूप है। इसी प्रकार लोकतन्त्रात्मक राष्ट्र का सम्पूर्ण राजनीतिक जीवन शक्ति-संघर्ष का ही दृश्य उपस्थित करता है। निर्वाचनों में विभिन्न राजनीतिक दल विविध तरीकों से मतदाताओं को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। दबाव तथा हित समूह विधायिका तथा कार्यपालिका के निर्णयों को अपने पक्ष में प्रभावित करने का अनवरत प्रयत्न करते हैं। वे अपनी शक्ति की या तो रक्षा करना चाहते हैं या उसकी वृद्धि करना चाहते हैं। मार्गेन्थाऊ के शब्दों में, "सामाजिक सम्बन्धों में सामाजिक संगठनों के अन्दर शक्ति-संघर्ष की इस सर्वव्यापकता के कारण यदि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति-संघर्ष से परिपूर्ण है, तो यह क्या कोई आश्चर्य की बात है?"[1]

मार्गेन्थाऊ ने स्पष्टतः कहा है कि "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति प्रत्येक राजनीति की भाँति शक्ति-संघर्ष है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अन्तिम लक्ष्य चाहे कुछ भी हो, शक्ति सदैव तात्कालिक लक्ष्य रहती है।"[2] अर्थात् जब कभी राष्ट्र अपने लक्ष्य की पूर्ति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति द्वारा करना चाहते हैं तो वे सर्वप्रथम शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

यहाँ हम मार्गेन्थाऊ के विचारों की पृष्ठभूमि में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को शक्ति-संघर्ष की राजनीति के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

दार्शनिक आधार—मार्गेन्थाऊ के यथार्थवादी राजनीतिक दर्शन का सार तत्व है—**प्रथम,** प्रत्येक देश के राजनेता सदैव अपने राष्ट्र के हितों की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, **द्वितीय**

---

1 *Ibid*, p. 35.

2 "International Politics, like all politics, is a struggle for power. Whatever the ultimate aims of international politics, power is always the immediate aim, Statesmen and people may ultimately seek freedom, security, prosperity and power itself. They may define their goals in terms of a religions, philosophic, economic or social ideal They may hope that this ideal will materialise through its own inner force, through divine intervention, or through natural development of human affairs. They may also try to further its realization through non-political means, such as technical co-operation with other nations or international organizations. But whatever they strive to realize their goals by means of international politics, they do so by striving for power."

—*Ibid.*, p. 27.

प्रत्येक राष्ट्र का हित उसके भौगोलिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक प्रभाव के विस्तार में ही निहित है; और तृतीय, प्रत्येक राष्ट्र अपनी शक्ति और अपने प्रभाव का उपयोग अपने न्यस्त स्वार्थों की रक्षा के लिए करता है। अर्थात् प्रत्येक राज्य की विदेश नीति पूर्णतया शक्ति पर निर्भर है।

राजनीतिक शक्ति—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य मे जब हम शक्ति की चर्चा करते हैं तो हमारा तात्पर्य प्रकृति के ऊपर मनुष्य की शक्ति से नहीं होता; अथवा किसी कलात्मक माध्यम जैसे भाषा, भाषण, ध्वनि, रंग अथवा उत्पादन तथा वितरण के साधन अथवा स्वयं के ऊपर आत्म-नियन्त्रण के रूप में नहीं होता। मार्गेन्थाऊ के अनुसार जब हम शक्ति की चर्चा करते हैं तो हमारा तात्पर्य उस शक्ति से होता है, जो मनुष्य अन्य मनुष्यों के मस्तिष्क व कार्यों के ऊपर प्रयोग करता है।[1] दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि शक्ति से मार्गेन्थाऊ का अभिप्राय किन्हीं दो इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्ध की उस स्थिति से है जिसमें एक इकाई का दूसरी इकाई के कार्यों पर इस सीमा तक नियन्त्रण हो कि नियन्त्रित इकाई स्वभावतः ही नियन्त्रक इकाई की इच्छानुसार कार्य करती हो। वस्तुतः मार्गेन्थाऊ राजनीतिक शक्ति की चर्चा करते हैं और राजनीतिक शक्ति को शारीरिक वल अथवा सैनिक शक्ति से भिन्न मानते हैं। जब हिंसा वास्तविकता का रूप धारण कर लेती है तो यह सैनिक शक्ति के पक्ष में राजनीतिक शक्ति के पद त्याग का द्योतक होता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तो खास तौर से फौजी ताकत, धमकी अथवा उसमें निहित शक्ति के रूप में राष्ट्रीय शक्ति का सबसे महत्वपूर्ण भौतिक तत्व है, जो राजनीतिक शक्ति की पूर्ति करता है। जब यह युद्ध के रूप में वास्तविकता में परिणत होता है, तब यह सैनिक शक्ति द्वारा राजनीतिक शक्ति का स्थान ग्रहण करने को सूचित करता है।

शक्ति का प्रयोग करने वाले तथा जिसके विरुद्ध शक्ति प्रयुक्त होती है—इन दो राष्ट्रों के मध्य का मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध ही राजनीतिक शक्ति है। इसके द्वारा प्रथम दूसरे के कुछ कार्यों पर अपने उस असर के कारण नियन्त्रण रखता है, जो वह उसके मस्तिष्क पर डाल सकता है। यह प्रभाव तीन स्रोतों से उपजता है—कुछ लाभों की आशा, कुछ अहितकारी बातों का भय तथा उन व्यक्तियों अथवा संस्थाओं के प्रति आदर अथवा प्रेम की भावना। यह प्रभाव या तो आदेश अथवा भर्त्सना अथवा प्रोत्साहन अथवा पद की शक्ति द्वारा प्रयुक्त किया जाता है या फिर इसमें से कई के एक साथ सम्मिलित हो जाने से किया जाता है।[2]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में किसी भी राज्य की विदेश नीति का भौतिक लक्ष्य चाहे जो भी हो—जैसे कच्चे पदार्थों के स्रोतों या सामुद्रिक रास्तों पर नियन्त्रण अथवा भूमि सम्बन्धी परिवर्तन—इन सभी में दूसरे के मस्तिष्क पर प्रभाव डालकर उनके कार्यों पर नियन्त्रण लागू करने का तत्व व्याप्त होता है। राइन सीमा वर्षों तक फ्रांस की विदेश नीति का लक्ष्य रही जिसका राजनीतिक तात्पर्य यह था कि जर्मनी की आक्रमण करने की उत्सुकता को समाप्त कर दिया जाये अथवा उसके लिए शारीरिक तौर पर यह हमला अत्यन्त कठिन अथवा असम्भव बना दिया जाये। सम्पूर्ण 19वीं शताब्दी में ग्रेट ब्रिटेन की विश्व राजनीति में सुदृढ़ स्थिति इस कारण रही, क्योंकि उसने नपी-तुली विदेश नीति लागू की जिसके फलस्वरूप अन्य देशों द्वारा उसका विरोध करना या तो संकटपूर्ण था (क्योंकि वह बहुत ही शक्तिशाली था) या अनावश्यक प्रतीत होता था।

राष्ट्रीय हित—विदेश नीति का उद्देश्य है विदेशी सम्बन्धों का ऐसी नीति से संचालन करना जिससे राष्ट्रीय हित की सिद्धि यथासम्भव अधिक से अधिक अनुकूल रूप में होने की गारण्टी रहे। राष्ट्रीय हित क्या है? चार्ल्स और अब्दुल सईद के अनुसार, "व्यापक, दीर्घकालीन और सतत्

---

1 *Ibid.*, pp. 28-29.
2 *Ibid.*, p. 29.

उद्देश्य जिसकी सिद्धि के लिए राज्य, राष्ट्र और सरकार ये सब अपने को प्रयत्न करता हुआ पाते हैं।"[1] मार्गेन्थाऊ के अनुसार राष्ट्रीय हित के दो प्रकार हैं—दीर्घकालीन हित और अल्पकालीन हित। दीर्घकालीन हितों को मार्मिक हित भी कहते हैं। दीर्घकालीन हित राज्य के वे हित हैं जिन पर वह राज्य कोई भी रियायत करने को तैयार नहीं होता और जिनकी रक्षा के लिए वह जरूरत पड़ने पर युद्ध करने को भी तैयार हो सकता है। इसे सदा प्राथमिकता दी जाती है और राष्ट्रीय हित के अन्य सब पहलू इसके सामने गौण समझे जाते हैं। ऐसे मार्मिक और दीर्घकालीन हितों में सब राज्यों के लिए कुछ न्यूनतम चीजें आती हैं—जैसे स्वाधीनता और क्षेत्रीय अखण्डता की रक्षा और संरक्षण। अल्पकालीन हितों को गौण माना जाता है। अल्पकालीन हित प्रत्येक राज्य की वे आकांक्षाएं हैं जिनकी पूर्ति तो वे बेशक चाहते हैं पर जिनमें संरक्षण के लिए वे युद्ध में उलझने को तैयार नहीं। राज्य के ऐसे गौण राष्ट्रीय हित हैं; जैसे—जनता का भौतिक कल्याण, प्रतिष्ठा की रक्षा, व्यापार का संरक्षण आदि।

तीन प्रकार की विदेश नीतियाँ—मॉर्गेन्थाऊ के अनुसार, हर राजनीति, चाहे वह गृह राजनीति हो अथवा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, उसके तीन आधारभूत रूप हैं। दूसरे रूप में सभी राजनीतिक घटनाएँ निम्नलिखित तीन आधारभूत रूपों में से किसी एक के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं—राजनीतिक नीति या तो शक्ति को स्थायी रखने का प्रयत्न करती है या उसमें वृद्धि का प्रयत्न करती है या उसका प्रदर्शन करती है। इन तीन प्रकार के राजनीतिक रूपों के आधार पर ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तीन विशेष प्रकार की नीतियों का उदय होता है। वह राष्ट्र, जिसकी विदेश नीति शक्ति की रक्षा का प्रयत्न करती है और उसमें परिवर्तन नहीं चाहती, यथास्थिति की नीति (यथापूर्व स्थितिवादी नीति—Policy of Status quo) अपनाता है। वह राष्ट्र जिसकी विदेश नीति वर्तमान शक्ति सम्बन्धों को परिवर्तित कर उसमें वृद्धि करना चाहती है, दूसरे शब्दों में अपनी शक्ति के स्थान पर अनुकूल परिवर्तन करना चाहती है, साम्राज्यवादी विदेश नीति (Policy of Imperialism) का अनुसरण करता है। वह राष्ट्र जिसकी विदेश नीति अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहती है (चाहे उसको स्थिर रखने अथवा बढ़ाने के लक्ष्य से) वह प्रतिष्ठा की नीति (Policy of Prestige) अपनाता है।[2] यहाँ इन तीनों प्रकार की नीतियों का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है :

(1) **शक्ति संघर्ष : यथास्थिति की नीति अथवा यथापूर्व स्थितिवादी नीति** (The Struggle for Power : Policy of the Status quo)—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में यथास्थिति की नीति वही कार्य करती है जो गृह राजनीति में एक दक्षिणपन्थी नीति करती है। यथास्थिति की नीति इतिहास के किसी विशेष समय में शक्ति के विशेष बँटवारे को स्थिर रखने के लक्ष्य में यत्नशील रहती है, इतिहास का वह विशेष समय, जिसके सन्दर्भ में यथास्थिति की नीति का वर्णन किया जाता है, अधिकतर किसी युद्ध का अन्त होता है, जबकि शक्ति का वितरण किसी शान्ति सन्धि में

---

1 Charles O. Lerche, Jr. and Abdul A. Said, *Concepts of International Politics* Englewood Cliffs. 1963, p. 6.

2 Morgenthau. n. 2, p. 39, "All politics, domestic and international, reveals three basic patterns; that is. all political phenomena can be reduced to one of three basic types. A political policy seeks either to keep power, to increase power, or to demonstrate power."

To these three typical patterns of politics, three typical international policies correspond. A nation whose foreign policy tends toward keeping power and not toward changing the distribution of power in its favour pursues a policy of status quo. A nation whose foreign policy aims at acquiring more power than it actually has, through a reversal of existing power relations—whose foreign policy, in other words, seeks a favourable change in power status—pursues a policy of imperialism. A nation whose foreign policy seeks to demonstrate the power it has, either for the purpose of maintaining or increasing it, pursues a policy of prestige."

कानूनी रूप ग्रहण कर लेता है। यह इस कारण होता है कि शान्ति सन्धियों का लक्ष्य युद्ध द्वारा लाये हुए शक्ति के नये वितरण का सन्तुलन कानूनी तरीकों द्वारा प्राप्त किया जा सके। इसलिए यथास्थिति की नीति की यह एक विशेष प्रवृत्ति होती है कि वह पिछले महायुद्ध से उपजे हुए शान्ति समझौते के समर्थक के रूप में प्रकट होती है जो यूरोपियन सरकारें तथा राजनीतिक दल सन् 1815-1848 तक यथास्थिति की नीति के समर्थक थे, वे वास्तव में नेपोलियनिक युद्धों के उपरान्त 1815 के शान्ति समझौते के समर्थक थे। 'पवित्र मैत्री' का मुख्य लक्ष्य 'यथापूर्व स्थिति' को बनाये रखना था, जो कि नेपोलियनिक युद्ध के उपरान्त 1815 में स्थापित हुई थी। प्रथम महायुद्ध के अन्त में जो सत्ता वितरण हुआ, उसका कानूनी रूप 1919 की शान्ति सन्धियों में पाया गया। राष्ट्र संघ का यह मुख्य ध्येय बन गया कि वह 1919 की सन्धियों पर आधारित 'यथापूर्व स्थिति' की रक्षा करके विश्व शान्ति की रक्षा करे। इसी कारण दोनों विश्व-युद्धों के मध्य प्रमुख संघर्ष 'यथापूर्व स्थिति' के पक्ष अथवा विपक्ष में था। 1919 में स्थापित 'यथापूर्व स्थिति' के विरुद्ध राष्ट्र के लिए यह स्वाभाविक था कि वे राष्ट्र संघ से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करते, जैसा कि जापान ने 1932 में, जर्मनी ने 1933 में व इटली ने 1937 में किया।

केवल शान्ति सन्धियों तथा उनके पक्ष में की गयी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों में ही यथास्थिति की नीति का प्रकाशन नहीं होता। जो राष्ट्र एक विशेष प्रकार के शक्ति के वितरण को बनाये रखना चाहते हैं, वे इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु विशेष प्रकार की सन्धियों का साधन अपनाते हैं। जैसे— 'चीन से सम्बन्धित समस्याओं और सिद्धान्तों से सम्बन्धित नौ शक्तियों की सन्धि' जो वाशिंगटन में 7 फरवरी, 1922 को की गयी थी। इस सन्धि ने अमरीकन खुले द्वार की नीति को बदलकर उन देशों की सामूहिक नीति में परिवर्तित कर दिया, जो कि चीन से व्यापार करने में अभिरुचि रखते थे। उसमें उन सबने तथा चीन ने इस सन्धि को बनाये रखने की प्रतिज्ञा की थी। उसका मुख्य ध्येय चीन से सम्बन्धित इन राष्ट्रों के उस समय के आनुपातिक शक्ति वितरण को सन्तुलित करना था। इसी भाँति की अन्य सन्धि 'आपसी गारण्टी की सन्धि' थी जो जर्मनी, बेलजियम, फ्रांस, ब्रिटेन व इटली के मध्य 16 अक्टूबर, 1925 को लोकारनो में हस्ताक्षरित की गयी थी। इसका ध्येय 1918 में यथापूर्व स्थिति की उस आम गारण्टी की पुष्टि करना था जो राष्ट्र संघ की दसवीं धारा में निर्दिष्ट थी। सन्धि की प्रथम धारा, विशेषकर उस गारण्टी की ओर संकेत करती है, जिसके अनुसार जर्मनी व फ्रांस तथा जर्मनी व बेलजियम के मध्य भूमि की 'यथापूर्व स्थिति' बनाये रखने की स्थापना थी।

दोनों विश्व-युद्धों के मध्य जो मैत्री सन्धियाँ फांस ने सोवियत संघ, पोलेण्ड चैकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया तथा रूमानिया से स्थापित कीं, उनका लक्ष्य यथापूर्व स्थिति को कायम रखना था, विशेष रूप से जर्मनी द्वारा उनको परिवर्तित करने की सम्भावना को दूर रखना था। यही लक्ष्य सोवियत रूस व चैकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया व रूमानिया तथा चैकोस्लोवाकिया व यूगोस्लाविया की आपसी सन्धियों का था। सन् 1935 से 1939 के बीच जब इन सन्धियों की परीक्षा की घड़ी आयी तो इनकी विफलता जाहिर हो गयी और जर्मनी ने सन् 1939 में पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोपीय देशों के साथ पश्चिमी यूरोप के देशों ने आपस में तथा संयुक्त राज्य अमरीका के साथ जो सन्धियाँ कीं उन सबका लक्ष्य अपने-अपने प्रदेशों में महायुद्ध के उपरान्त शक्ति वितरण के आधार पर स्थापित 'यथापूर्व स्थिति' को बनाये रखना था।

संक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में यथापूर्व स्थिति की विदेश नीति इतिहास के किसी भी विशेष समय में वर्तमान शक्ति वितरण को स्थायी रखना अपना लक्ष्य समझती है। यह

नीति उस परिवर्तन के विरुद्ध है जो दो या अधिक राष्ट्रों के मध्य वर्तमान शक्ति वितरण को बदलता है।

2. **शक्ति संघर्ष साम्राज्यवाद** (The Struggle for Power : Imperialism)—यदि किसी राष्ट्र की विदेश नीति, जो उसकी शक्ति में वृद्धि के लक्ष्य से संचालित होती है, आवश्यकतावश अथवा स्वभावतः ही साम्राज्य का उदाहरण नहीं होती। साम्राज्यवादी विदेश नीति वह नीति होती है जो यथापूर्व स्थिति को पलट देने का प्रयत्न करती है अर्थात दो या दो से अधिक राष्ट्रों के बीच के शक्ति सम्बन्ध को बदल देने का प्रयत्न करती है। उदाहरण के लिए आस्ट्रिया व प्रशा के मध्य सन् 1866 के युद्ध अथवा जर्मनी व फ्रांस के सन् 1870 के युद्ध का कोई भी महत्वपूर्ण लक्ष्य आर्थिक न था। ये राजनीतिक युद्ध थे, वास्तव में साम्राज्यवादी युद्ध थे। उनका लक्ष्य सर्वप्रथम जर्मनी के अन्तर्गत प्रशा के पक्ष में तदुपरान्त यूरोपीय राज्य व्यवस्था में जर्मनी के पक्ष में नया शक्ति वितरण लागू करना था। सन् 1854-56 का क्रीमियन युद्ध, अमरीका व स्पेन के मध्य सन् 1898 का युद्ध, रूस व जापान के मध्य सन् 1904-05 का युद्ध, इटली व तुर्किस्तान के मध्य सन् 1911-12 का युद्ध तथा अनेक बलकान युद्ध राजनीतिक लक्ष्यों अर्थात् शक्ति वितरण को बदलने के ही द्योतक थे। प्रथम तथा द्वितीय विश्व-युद्ध सही मायने में राजनीतिक युद्ध थे जिनका लक्ष्य यदि सम्पूर्ण संसार का नहीं तो यूरोप का आधिपत्य था।

मार्गेन्थाऊ के शब्दों में, "यथापूर्व नीति को पलटने की नीति होने के नाते साम्राज्यवाद का वास्तविक चरित्र एक नीति के रूप में उस समय सबसे अच्छी तरह समझाया जा सकता है जबकि उन विशेष परिस्थितियों का ध्यान किया जाये जो कि साम्राज्यवादी नीतियों के पक्ष में प्रकट होती हैं तथा उन आन्तरिक व बाह्य परिस्थितियों के कारण एक जागरूक विदेश नीति से साम्राज्यवादी नीति आवश्यकतावश उदित होती है।"[1] वस्तुतः साम्राज्यवाद तीन प्रकार से उदित होता है—(*i*) **विजयी युद्ध**—यदि दो राष्ट्रों के बीच युद्ध प्रारम्भ हो जाता है—चाहे उनमें कोई राष्ट्र आत्म-रक्षा के लिए ही युद्ध प्रारम्भ करे—युद्ध की समाप्ति के बाद विजयी पराजित के मध्य के आपसी सम्बन्ध परिवर्तित होने लगते हैं। विजय के पास आते-आते वह युद्ध साम्राज्यवादी युद्ध में परिणत हो जाता है अर्थात् विजयी राष्ट्र का लक्ष्य यथापूर्व स्थिति में स्थायी परिवर्तन लाना बन जाता है। उदाहरणार्थ, वार्साउ की सन्धि एक साम्राज्यवादी नीति का प्रेरक थी—यह साम्राज्यवादी थी क्योंकि यह युद्ध के पूर्व की वर्तमान स्थिति बदल देना चाहती थी। (*ii*) **पराजित युद्ध**—यदि कोई राष्ट्र युद्ध में पराजित हो जाता है तो उसकी पराजय में उस आकांक्षा का बीज बोया जा सकता है जिसके अन्तर्गत उसमें विजय का पासा पलट देने की प्रेरणा हो। दूसरे शब्दों में, विजय की आशा के परिणामस्वरूप, विजय द्वारा संचालित साम्राज्यवादी नीति के उत्तर में पराजित पक्ष साम्राज्यवादी नीति के प्रति प्रेरित हो जाता है। पराजित राष्ट्र में प्रायः यह आकांक्षा रहती है कि जो कुछ उसने हारा है उसे पुनः प्राप्त कर लिया जाये। उदाहरणार्थ, 1919 से 1935 से जर्मनी की गुप्त रूप से यह नीति रही कि जो कुछ उसने खोया है उसे पुनः अर्जित किया जाये। सन् 1936 में उसने राइनलैण्ड पर कब्जा कर लिया और यह प्रकट हो गया कि वह वार्साउ की यथापूर्व स्थिति को मानने के लिए तैयार नहीं है और उसका लक्ष्य उस यथापूर्व स्थिति को पलटना है। (*iii*) **कमजोरी**—साम्राज्यवादी नीति को प्रोत्साहित करने का एक अन्य कारण कमजोर राज्य अथवा शक्ति-शून्यता की स्थिति है। दोनों ही एक शक्तिशाली राज्य के लिए आकर्षण हैं। नेपोलियन तथा हिटलर के साम्राज्यवाद कुछ हद तक इसी चरित्र के थे। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद साम्राज्यवाद शक्तिशाली तथा कमजोर राज्यों के आपसी

1 *Ibid.*, pp. 53-54.

सम्बन्धों से जन्मा है, जिसका उदाहरण सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोप के राष्ट्रों; जिन्हें पिछलग्गू कहा जाता है, के सम्बन्धों में दृष्टिगोचर होता है।

मॉर्गेन्थाऊ के अनुसार, साम्राज्यवाद के तीन लक्ष्य हैं साम्राज्यवाद का लक्ष्य सम्पूर्ण धरती के राजनीतिक रूप से संगठित प्रदेशों के ऊपर प्रभुत्व स्थापित करना होता है अर्थात् एक **विश्वव्यापी साम्राज्य** स्थापित करना अथवा यह एक **महाद्वीपीय सीमा** के अन्तर्गत साम्राज्य या नायकत्व की ओर लक्षित हो सकता है या फिर यह पूर्ण रूप से स्थानीय क्षेत्र में प्रभुत्व को अपना लक्ष्य बना सकता है। साम्राज्यवादी नीति जिस राष्ट्र को अपने आधिपत्य में लाने के लिए लक्ष्य बनाती है, उसकी शक्ति तथा विरोध ही साम्राज्यवादी नीति की सम्भव सीमा है। विश्व साम्राज्यवाद के असाधारण उदाहरण हैं—सिकन्दर महान, रोम, 7वीं तथा 8वीं शताब्दी में अरब तथा नेपोलियन व हिटलर की विस्तारवादी नीतियाँ। इन सब में एक सामान्य प्रवृत्ति विस्तार की ओर प्रकट होती है, जिसकी कोई भी विवेकपूर्ण सीमा नहीं है। भूगोल द्वारा सीमित महाद्वीपीय साम्राज्यवाद का स्पष्ट उदाहरण यूरोपीय शक्तियों की यूरोपीय महाद्वीप का प्रभुत्व प्राप्त करने की नीतियों में मिलता है। लुई चौदहवाँ, नेपोलियन तृतीय तथा विलियम द्वितीय इसके उदाहरण हैं। स्थानीय साम्राज्यवाद का रूप 18वीं व 19वीं शताब्दी के राजाओं की नीति में प्राप्त होता है। 18वीं शताब्दी में फ्रेडरिक महान, लुई पन्द्रहवें, मेरिया थेरसा, पीटर दी ग्रेट व कैथरीन द्वितीय इस प्रकार की विदेश नीति की संचालक शक्तियाँ थे। 19वीं शताब्दी में बिस्मार्क ऐसी ही विदेश नीति का जादूगर था।

मार्गेन्थाऊ के अनुसार; स्थापित साम्राज्यवादी नीति, महाद्वीपीय साम्राज्यवाद तथा विश्व साम्राज्यवाद में वही अन्तर है जो कि बिस्मार्क, विलियम द्वितीय तथा हिटलर की विदेश नीतियों का अन्तर है। बिस्मार्क मध्य यूरोप में जर्मनी का प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था, विलियम पूरे यूरोप में व हिटलर सम्पूर्ण जगत में।

मॉर्गेन्थाऊ के अनुसार साम्राज्यवादी नीतियों के क्रियान्वयन के तीन साधन हैं—सैनिक साम्राज्यवाद सैनिक विजय लक्षित करता है; आर्थिक साम्राज्यवाद अन्य लोगों का आर्थिक शोषण लक्षित करता है तथा सांस्कृतिक साम्राज्यवाद एक प्रकार की संस्कृति का दूसरी संस्कृति द्वारा हटाया जाना लक्षित करता है। परन्तु ये सब सदा एक ही साम्राज्यवादी लक्ष्य के साधन के रूप में काम करते हैं। वह लक्ष्य यथापूर्व स्थिति को पलट देना होता है।

3. **शक्ति संघर्ष : प्रतिष्ठा की नीति** (The Struggle of Power : Policy of Prestige)—अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर शक्ति संघर्ष की तीसरी आधारभूत अभिव्यक्ति प्रतिष्ठा की नीति है। प्रतिष्ठा की नीति का चाहे जितना भी बढ़ाकर अथवा हास्यास्पद रूप में प्रयोग किया गया हो, यह राष्ट्रों में आपसी सम्बन्धों का उतना ही स्वाभाविक तत्व है जितना कि व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों में प्रतिष्ठा की इच्छा।

यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय और गृह राजनीति एक ही सामाजिक तथ्य की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं। दोनों ही क्षेत्रों में सामाजिक मान्यता की अभिलाषा एक गतिमान शक्ति है, जोकि सामाजिक सम्बन्धों को निर्धारित करती है तथा सामाजिक संस्थाओं को जन्म देती है। व्यक्ति अपने सहचरों द्वारा अपने स्वयं के मूल्यांकन की पुष्टि चाहता है। व्यक्ति की सज्जनता बुद्धि तथा शक्ति को दूसरों के द्वारा की गयी प्रशंसा से ही बल मिलता है। इसी कारण जीवित रहने तथा शक्ति के संघर्ष में—जोकि वस्तुतः सामाजिक जगत का कच्चा माल है—यह भी उतना ही महत्वपूर्ण है, कि दूसरे हमारे बारे में क्या सोचते हैं जितना यह कि हम वास्तव में क्या हैं। हमारे वास्तविक रूप की अपेक्षा हमारे साथियों से मन पर अंकित हमारी छाप समाज में हमारी सदस्यता के रूप को निर्धारित करती है। यह भी हो सकता है कि वह छाप हमारे

वास्तविक स्वरूप का रूप ही हो। इस प्रकार हमारे बारे में सही धारणा प्रकट करने के लिए ही प्रतिष्ठा की नीति होती है। उसका लक्ष्य दूसरे राष्ट्रों पर उस शक्ति का प्रभाव डालना है, जो कि स्वयं अपना राष्ट्र उपभोग करता है या उस शक्ति का जिसमें वह राष्ट्र विश्वास करता है या चाहता है कि दूसरे राष्ट्र विश्वास करें।

मॉर्गेन्थाऊ के अनुसार प्रतिष्ठा की नीति की अभिव्यक्ति के दो साधन हैं—(1) कूटनीतिक रस्में तथा (2) सैनिक शक्ति का प्रदर्शन।

(1) **कूटनीतिक रस्में**—कूटनीतिज्ञों के आपसी सम्बन्ध स्वाभाविक तौर पर प्रतिष्ठा की नीति के यन्त्र बन जाते हैं, क्योंकि कूटनीतिज्ञ अपने देशों के सांकेतिक प्रतिनिधि होते हैं। जो आदर उनको दिया जाता है, वास्तव में, उनके देशों को दिया जाता है। जो आदर वे स्वयं देते हैं वह उनके देश द्वारा प्रदान किया जाता है। जो मानहानि उनके प्रति अथवा उनके द्वारा की जाती है वह वास्तव में उनके देश के प्रति अथवा उनके देश द्वारा की जाती है। इन तथ्यों के स्पष्टीकरण के अनेक उदाहरण हैं :

(अ) प्राय: सभी राज-दरबारों में यह परम्परा थी कि विदेशी राजदूतों का परिचय तो साधारण अफसरों द्वारा कराया जाता था, जबकि राजकीय राजदूतों का परिचय राजकुमार कराया करते थे। जब सन् 1698 में लुई चौदहवें ने वेनिस के गणराज्य के राजदूत का परिचय लोरेन के राजकुमार द्वारा देने दिया था, तो वेनिस की महान परिषद् ने फ्रांसीसी राजदूत द्वारा सम्राट को आश्वासन दिया था कि वेनिस सदा इस मान के लिए कृतज्ञ रहेगा और परिषद् ने लुई चौदहवें को उसके लिए एक विशेष पत्र भी भेजा था। इस हाव-भाव द्वारा फ्रांस ने यह संकेत दिया था कि वह वेनिस के गणराज्य को उतना ही शक्तिशाली मानता है जितना कि एक शक्तिशाली राज्य को और इस नयी प्रतिष्ठा के लिए वेनिस ने कृतज्ञता प्रकट की थी।

(ब) पोप अपने यूरोपीय दरबार में विभिन्न प्रकार के राज्यों के कूटनीतिज्ञ प्रतिनिधियों का विभिन्न महाकक्षों में स्वागत करता था। मुकुटधारी राज्याध्यक्षों तथा वेनिस के राजदूतों का स्वागत 'साला रेगिया' तथा अन्य राजकुमारों तथा गणराज्यों के प्रतिनिधियों का स्वागत 'सान्रा ड्यूकेल' में किया जाता था। ऐसा कहा जाता है कि जेनेवा के गणराज्य ने पोप को लाखों की रकम इसलिए प्रदान की थी कि उसके प्रतिनिधिगण 'साला रेगिया' में स्वागत प्राप्त करें, न कि 'साला ड्यूकेल' में। परन्तु पोप ने वेनिस के विरोध के कारण इस प्रार्थना का तिरस्कार कर दिया, क्योंकि वह यह नहीं चाहता था जेनेवा उसके बराबर का बर्ताव प्राप्त कर ले।

(स) सन् 1946 में पेरिस में विजयोत्सव के समय सोवियत विदेशमन्त्री को द्वितीय पंक्ति में बिठाया गया, जबकि अन्य महान शक्तियों के प्रतिनिधि प्रथम पंक्ति में बैठे थे, तो उसने गर्वोक्ति के साथ सभा भवन को छोड़ दिया था। एक राष्ट्र जो अन्तर्राष्ट्रीय समाज में काफी समय से समाजच्युत रहा था, उसने एक महान शक्ति की निश्चित रूप में उच्च स्थिति प्राप्त कर ली थी और वह इस नये पद की प्रतिष्ठा की माँग का आग्रह कर रहा था।

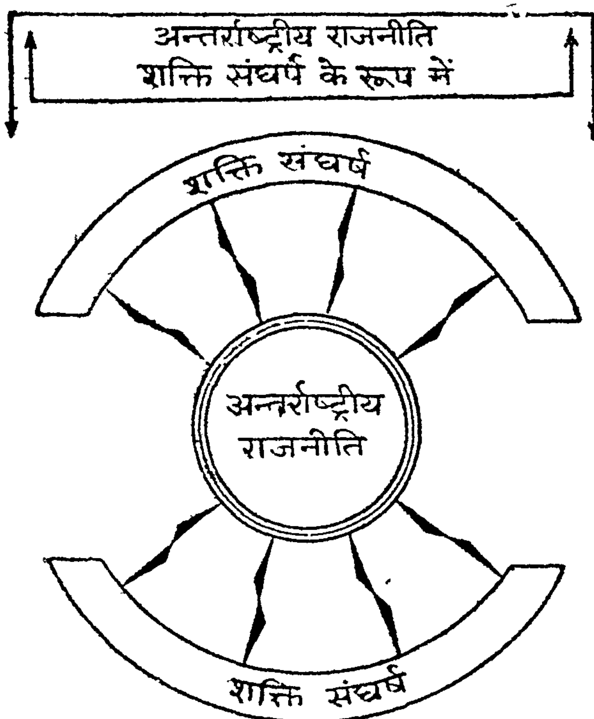
(द) पोर्टस्ड्म कान्फ्रेंस में सन् 1945 में चर्चिल, स्टालिन वा ट्रूमैन में आपस में यह समझौता नहीं हो पाया था कि सम्मेलन कक्ष में कौन सबसे पहले घुसे। अन्त में वे तीनों विभिन्न दरवाजों से एक ही समय में घुसे। ये तीन नेतागण अपने-अपने राष्ट्रों की शक्ति का संकेत कर रहे थे। इसी कारण इनमें से एक को अग्रगमन देना उसके राष्ट्र को अन्य दो राष्ट्रों के मुकाबले में उच्चता की प्रतिष्ठा प्रदान करना होता, जबकि उनका दावा शक्ति की समानता का था।

(य) प्रतिष्ठा की नीति एक राष्ट्र द्वारा अपनी उस शक्ति का प्रदर्शन की नीति के रूप में, जोकि उसके पास है, या जो वह सोचता है कि अन्य राष्ट्र विश्वास करें कि उसके पास है, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के स्थान के चुनने में विशेष फलदायक अभिव्यक्ति की भूमिका प्राप्त करती है।

जब परस्पर स्पर्द्धा वाले अनेक विरोधी दावे प्रस्तुत किये जाते हैं और समझौते द्वारा निबटाये नहीं जा सकते, तो अक्सर सम्मेलन का स्थान वह देश चुन लिया जाता है, जो प्रतिष्ठा की होड़ में स्वयं हिस्सा नहीं ले रहा हो। इसी कारण नीदरलैण्ड, दी हेग तथा स्विट्जरलैण्ड में जेनेवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के स्थान रहे हैं।

(फ) साधारणतः जब एक राष्ट्र के पास किसी क्षेत्र अथवा भू-भाग में शक्ति की प्रबलता होती है, तो वह यह बल देता है कि जो सम्मेलन इन मामलों से सम्बन्धित हों, वे उसके क्षेत्र के अन्दर अथवा समीप हों। इसी कारण प्रायः वे सभी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन जो सामुद्रिक प्रश्नों से सम्बन्धित रहे हैं, लन्दन में होते रहे हैं। जापान से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन या तो वाशिंगटन अथवा टोकियो में हुए हैं। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त यूरोप के भविष्य से सम्बन्धित प्रायः सभी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन या तो रूस की भूमि में हुए हैं, जैसे मास्को अथवा याल्टा में, या फिर उस भूमि में जहाँ रूस का कब्जा हो, जैसे पोटॅस्ड्म में या फिर रूस की भूमि के निकट, जैसे तेहरान में।

(2) **सैनिक शक्ति का प्रदर्शन**—प्रतिष्ठा की नीति सैनिक प्रदर्शन को अपने लक्ष्य की पूर्ति के साधन के रूप में प्रयोग करती है, क्योंकि सैनिक शक्ति एक राष्ट्र की शक्ति का स्पष्ट मापदण्ड है, उसका प्रदर्शन अन्य राष्ट्रों को उस राष्ट्र की शक्ति का ज्ञान कराता है। उदाहरण के लिए, शान्ति के समय विदेशी राष्ट्रों के फौजी प्रतिनिधिगण सेना तथा नौसेना की परेडों को देखने को



इसलिए आमन्त्रित किये जाते हैं कि उन पर व उनकी सरकारों पर अपने राष्ट्र की सैनिक तैयारी का प्रभाव पड़ सके। विदेशी प्रेक्षकों को सन् 1946 में प्रशान्त महासागर में किये गये अणुवम परीक्षणों के अवसर पर निमन्त्रण देने का यही ध्येय था। महान नौसेना शक्तियों द्वारा समय-समय पर सुदूर-पूर्व के बन्दरगाहों पर अपने जहाजी बेड़ों को भेजने का लक्ष्य वहाँ की जनता पर पश्चिमी शक्तियों की उच्चता का प्रभाव अंकित करना था। सन् 1946 से भूमध्यसागर से जो इटली, यूनान व तुर्किस्तान के बन्दरगाह में फौजी बेड़े घूम-घूमकर दौरा कर रहे थे, वे निश्चयपूर्वक ही

रूस की उस भू-भाग में महत्वाकांक्षाओं के उत्तर के रूप में थे। प्रतिष्ठा की नीति के सैनिक प्रकार का सबसे उग्र रूप सेना को अपूर्णतः या पूर्णतः युद्ध के लिए तैयार करना है। सन् 1936 व 1939 तक, रक्षित वर्गों में से कुछ को सैनिक रूप में बुलाना या सैनिक कार्यों के लिए कभी भी बुलाये जा सकने योग्य सैनिकों को सैनिक सेवा में बुलाना प्रतिष्ठा की नीति का एक प्रभावशाली साधन रहा है।

शक्ति संघर्ष : अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के वर्तमान सन्दर्भ में
(STRUGGLE FOR POWER : PRESENT PERSPECTIVE OF INTERNATIONAL POLITICS)

हम अधिक दूर न जाकर द्वितीय महायुद्ध के बाद की विश्व राजनीति का ही विश्लेषण करें तो मॉर्गेन्थाऊ की विचारधारा में सत्यता प्रतीत हो जाती है। ऐसे कई मुद्दे और कतिपय घटनाओं को लिया जा सकता है :

1. **शीतयुद्ध**—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सोवियत संघ और अमरीकी प्रतिस्पर्द्धा शक्ति संघर्ष का ही प्रतिरूप है। इसे सैद्धान्तिक और वैचारिक संघर्ष कहा गया है। यह दो भिन्न सिद्धान्तों, पद्धतियों एवं व्यवस्थाओं में युद्ध है। शीतयुद्ध पूंजीवाद और साम्यवाद, उदारवाद और सर्वसत्तावाद में संघर्ष है। यह ऐसा संघर्ष है जिसने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान करने के स्थान पर उन्हें उलझा दिया या उन्हें अधिक जटिल बना दिया। उदाहरण के लिए, शीतयुद्ध ने ही जर्मनी का विभाजन किया, जर्मन समस्या को अधिक जटिल बनाया तथा उसके एकीकरण की समस्या को अनिश्चित काल तक टाल दिया। पं० जवाहरलाल नेहरू का तो स्पष्ट मत था कि 'शीतयुद्ध दो सिद्धान्तों का नहीं, दो शक्तियों का संघर्ष है।' दोनों महाशक्तियाँ विश्व का नेतृत्व करना चाहती हैं, दोनों अपने प्रभाव क्षेत्रों का विस्तार चाहती हैं; दोनों पिछलग्गू एवं उपग्रही राज्यों की स्थापना चाहती हैं।

2. **चीन-रूस विवाद**—चीन और रूस दोनों साम्यवादी देश हैं, दोनों में विचारधारा की समानता है, दोनों पूंजीवाद का उन्मूलन चाहते हैं तथापि आज दोनों के सम्बन्धों में प्रतिस्पर्द्धा, तनाव और संघर्ष दिखायी देता है। इस संघर्ष के कारण हैं—साम्यवादी जगत पर एकमात्र नेतृत्व प्राप्त करने की अभिलाषा, एशिया में प्रभाव क्षेत्र स्थापित करने में बढ़ती हुई प्रतिस्पर्द्धा आदि।

3. **भारत पर चीनी आक्रमण**—20 अक्टूबर, 1962 को चीनी सेना ने भारत के उत्तर-पूर्वी सीमान्त तथा लद्दाख के मोर्चे पर एक साथ बड़े पैमाने पर आक्रमण किया किन्तु 21 नवम्बर, 1962 को चीन ने एकाएक अपनी ओर से एकपक्षीय युद्ध-विराम की घोषणा कर दी और युद्ध समाप्त हो गया। चीन ने जीते हुए भारतीय प्रदेशों को भी खाली करना प्रारम्भ कर दिया। युद्ध में बन्दी बनाये गये अनेक भारतीयों को भी रिहा कर दिया और भारत के कुछ सैनिक साजो-सामान को भी वापस कर दिया। आखिर चीन का उद्देश्य क्या था? सैनिक दृष्टि से भारत को हराकर चीन ने भारतीय प्रतिष्ठा को धूल में मिला दिया, भारत की निर्बलता जगत् प्रसिद्ध हो गयी। एशिया में चीन भारत को अपना प्रतिद्वन्द्वी समझता था और युद्ध में प्राप्त सैनिक सफलता से उसने एशिया के राष्ट्रों के सामने अपनी धाक जमाने का प्रयत्न किया था।

4. **हिन्द महासागर में रूस-अमरीकी प्रतिस्पर्द्धा**—पिछले कुछ वर्षों से हिन्द महासागर का शान्त जल अशान्त बनता जा रहा है जिसके कारण हैं नवीन परमाणु प्रक्षेपणास्त्रों एवं प्रौद्योगिकी की आवश्यकताएँ, हिन्द महासागर में तेल तथा अन्य खनिज पदार्थों की उपलब्धि की सम्भावनाएँ। अमरीका की नौसैनिक टास्क फोर्स नियमित रूप से सन् 1964 से हिन्द महासागर में गश्त करने लगी है और दियागो गार्सिया में उसने सैनिक अड्डा भी कायम किया है। अमरीकी उपस्थिति का प्रतिकार करने के लिए सोवियत संघ ने भी अपनी नौशक्ति का विस्तार करना प्रारम्भ कर

दिया है। अमरीकी प्रभाव को रोकने के लिए उसने सोकोत्रा और सेशेल्स टापुओं के निकट नौसेना बेड़ों के लिए विश्रामस्थलों की स्थापना की है।

5. **गुटनिरपेक्षता**—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद भारत तथा अनेक नवस्वतन्त्र देशों ने गुट-निरपेक्षता की विदेश नीति अपनायी। इसका मुख्य कारण था कि वे शक्ति संघर्ष की गुटीय राजनीति से दूर रहना चाहते थे। 7 सितम्बर, 1946 को जवाहरलाल नेहरू ने अपने रेडियो प्रसारण में कहा कि भारत को "एक दूसरे के विरोध में बँधे हुए मित्र दलों की शक्ति की राजनीति से अलग रहना चाहिए जिसके कारण दो विश्वयुद्ध हुए और जिससे एक विशाल पैमाने पर फिर दुबारा घोर संकट उत्पन्न हो सकता है।"

संक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति संघर्ष का मंच है। समस्या चाहे भारत और पाकिस्तान की हो, पाकिस्तान और अफगानिस्तान की हो, वियतनाम की हो, सोमालिया और इथियोपिया की हो, अरब और इजराइल की हो सभी में महाशक्तियों के हित निहित रहे हैं और उनमें शक्ति का अप्रत्यक्ष-प्रत्यक्ष संघर्ष दृष्टिगोचर होता है।

निष्कर्ष

मॉर्गेन्थाऊ ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एक पक्ष—संघर्ष पक्ष का ही चित्रण किया है। यह सच है कि शक्ति संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का एक महत्वपूर्ण भाग है तथापि दूसरे पक्ष—सहयोग पक्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती। आज संयुक्त राष्ट्र संघ और उसके विविध अभिकरणों के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सहयोग के भी अनवरत प्रयोग हो रहे हैं।

प्रश्न

1. "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, समस्त राजनीति के समान, शक्ति के लिए संघर्ष है।" स्पष्टीकरण कीजिए।
   "International Politics, like all politics, is a struggle for power," Elucidate,
2. "हर प्रकार की राजनीति की तरह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति भी शक्ति के लिए एक संघर्ष है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अन्तिम लक्ष्य कुछ भी हो; तत्काल लक्ष्य सदैव ही शक्ति है।" (हान्स जे. मॉर्गेन्थाऊ)
   उपरोक्त कथन के सन्दर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति की भूमिका का स्पष्टीकरण कीजिए।
   "International Politics, like all politics, is a struggle for power. Whatever may be the ultimate aims of International Politics, power is always the immediate aim." (Hans J. Morgenthau)
   Elucidate the role of power in International Politics in the light of the above statement.
3. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और शक्ति राजनीति (पावर पालिटिक्स) को एक समान क्यों माना जाता है? आप किस हद तक इस समीकरण से सहमत हैं?
   Why is International Politics equated with Power Politics ? To what extent are you in agreement with this identification ?

8

राजनीतिक शक्ति और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

[POLITICAL POWER AND INTERNATIONAL POLITICS]

"शक्ति" (The Concept of Power) आधुनिक राजनीति विज्ञान की केन्द्रीय धारणा है। राज्य, सम्प्रभुता, सरकार, कानून आदि में शक्ति को प्रमुख अन्तर्निहित तत्व माना जाता है। वेकर ने राजनीति को शक्ति से अपृथकनीय कहा है। कैटलिन और लासवेल ने राज्य विज्ञान को 'शक्ति का विज्ञान' कहा है। विलियम रॉब्सन राजनीति विज्ञान को समाज में शक्ति, उसकी प्रकृति, आधार प्रक्रियाओं, विषय-विस्तार तथा परिणामों से सम्बन्धित मानता है।

प्राचीन समय में राज-दार्शनिकों एवं चिन्तकों ने 'शक्ति' की धारणा की उपेक्षा नहीं की है। यह सच है कि उनका दृष्टिकोण परम्परावादी था और इसलिए उनका ध्यान संस्थागत अध्ययन एवं राज्य की उत्पत्ति के इतिहास की खोज आदि की ओर अधिक रहा। फिर भी मेकियावेली, हॉब्स, कौटिल्य, हीगल, बोसांके आदि प्रमुख विचारकों ने शक्ति और उससे सम्बन्धित तत्वों के अध्ययन की ओर प्रचुर मात्रा में ध्यान दिया। कौटिल्य ने तो स्पष्ट लिखा है कि 'समस्त सांसारिक जीवन का आधार 'दण्ड-शक्ति' ही है।'

आज इस तथ्य को स्वीकार कर लिया गया है कि 'शक्ति के अभाव में राजनीति अस्तित्व-विहीन है।' राजनीति का क्षेत्र चाहे आन्तरिक हो या अन्तर्राष्ट्रीय, दोनों में शक्ति को राजनीति से पृथक करना कठिन है। प्रो. हान्स जे. मॉर्गेन्थाऊ के शब्दों में, "हर प्रकार की राजनीति, चाहे वह घरेलू हो या अन्तर्राष्ट्रीय, शक्ति संघर्ष की एक प्रक्रिया है।" मैकाइवर के शब्दों में, समस्त गति, सभी सम्बन्ध, सभी प्रक्रियाएँ समस्त व्यवस्था और प्रकृति में घटित होने वाली प्रत्येक घटना शक्ति की अभिव्यक्ति है। वस्तुतः राजनीति में शक्ति की वही भूमिका होती है, जो हाट अर्थ-व्यवस्था (मार्केट इकोनॉमी) में धन या रुपये की होती है।

शक्ति की अवधारणा : परिभाषा की समस्या
(THE POWER CONCEPT : PROBLEM OF DEFINITION)

शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सबसे महत्वपूर्ण अवधारणा है। क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय राज-नीति का संघर्ष को सुलझाने से सम्बन्ध है तो किसी राजनीतिक समुदाय के अन्तर्गत शक्ति का वितरण ही यह तय करता है कि किस प्रकार संघर्ष को सुलझाया जाना है और क्या सभी पक्ष संघर्ष सुलझाने की शर्तों का पालन करेंगे।

'शक्ति' की परिभाषा के सम्बन्ध में अनेक समस्याएँ हैं। प्रारम्भ में ही हमारे सामने 'शक्ति', 'प्रभाव' तथा 'सत्ता' जैसे शब्दों की परिभाषाओं के विषय में सहमति नहीं है। राबर्ट डहल, हेरल्ड डी. लासवेल और रोवे ने शक्ति को 'प्रभाव' के अर्थ में प्रयुक्त किया है। कौटिल्य

ने शक्ति को बल प्रयोग के रूप में दर्शाया है। मॉर्गेन्थाऊ और केटलिन ने शक्ति को 'नियन्त्रण' के अर्थ में प्रयुक्त किया है। हॉब्स ने अपनी पुस्तक लेवियाथन में शक्ति को 'सामान्य प्रवृत्ति बताते हुए लिखा है कि शक्ति की इच्छा मानव की अविच्छिन्न एवं अनवरत इच्छा है जिसका अन्त मृत्यु में होता है। फिर यह भी एक समस्या है कि शक्ति को 'साध्य' माना जाये अथवा 'साधन'। किसी राष्ट्र की शक्ति को कैसे मापा जा सकता है?

राजनीतिक शक्ति : स्वरूप
(NATURE OF POLITICAL POWER)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हम जिस शक्ति की चर्चा कर रहे हैं वह 'राजनीतिक शक्ति' (Political Power) है। राजनीतिक शक्ति से अभिप्राय है अन्य मनुष्यों के कार्यों एवं मस्तिष्क पर नियन्त्रण करना। राजनीतिक शक्ति शारीरिक शक्ति से थोड़ी भिन्न है। जब हिंसा वास्तविकता का रूप धारण कर लेती है तो वह सैनिक शक्ति के पक्ष में राजनीतिक शक्ति के पद त्याग का द्योतक होती है। 'शक्ति' की कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं :

राबर्ट बायर्सटेड—'शक्ति बल प्रयोग की योग्यता है, न कि उसका वास्तविक प्रयोग।'[1]

मैकाइवर—'शक्ति व्यक्तियों तथा व्यवहार को नियन्त्रित करने, विनियमित करने तथा निर्देशित करने की क्षमता है।'

अर्नेल्ड ब्रेख्त—'शक्ति ऐसी योग्यता है जो अपनी इच्छा को कार्यान्वित कर सकती है।'

मॉर्गेन्थाऊ—'शक्ति को कार्यान्वित करने वालों तथा उनके बीच जिन पर उन्हें कार्यान्वित किया जा रहा है, एक मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध है। वह पहली श्रेणी में आने वालों को दूसरी श्रेणी में आने वालों के कुछ कार्यों को उनके मस्तिष्क पर प्रभाव डालकर नियन्त्रित करने की क्षमता प्रदान करती है।'[2]

राबर्ट डहल—'शक्ति लोगों के पारस्परिक सम्बन्धों की एक ऐसी विशेष स्थिति का नाम है जिसके अन्तर्गत एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष को प्रभावित कर उससे कुछ ऐसे कार्य कराये जा सकते हैं जो उसके द्वारा अन्यथा न किये जाते।'

गोलधमर तथा शिल्स—'एक व्यक्ति को इतना ही शक्तिशाली कहा जाता है जितना वह अपने लक्ष्यों के अनुरूप दूसरों के व्यवहार को प्रभावित कर सकता है।'[3]

आर्गेन्सकी—'शक्ति दूसरे राष्ट्रों के आचरण को अपने लक्ष्यों के अनुसार, प्रभावित करने की क्षमता है। जब तक कोई राष्ट्र यह नहीं कर सकता, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, चाहे यह कितना ही सम्पन्न क्यों न हो, परन्तु उसे शक्तिशाली नहीं कहा जा सकता।'

राजनीतिशास्त्र में जार्ज कैटलिन वह पहला व्यक्ति था जिसने एक ऐसे व्यवस्थित सिद्धान्त अथवा संकल्पनात्मक संरचना का विकास किया जिसमें शक्ति को केन्द्रीय स्थान पर रखा गया था। कैटलिन ने राजनीति के सम्बन्ध में मैक्स वेबर की उस परिभाषा को स्वीकार किया है जिसमें उसे "शक्ति के लिए संघर्ष अथवा उन लोगों को जो शक्ति में हैं, प्रभावित करने की प्रक्रिया" बताया गया है। उसकी दृष्टि में राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र "सामाजिक नियन्त्रणों के अध्ययन अथवा अधिक स्पष्ट रूप से कहा जाये तो, मानवीय और यहाँ तक कि पाशविक इच्छाओं के

---

1 बायर्सटेड : "पावर", ट्यूबिन द्वारा सम्पादित **ह्यूमन रिलेशन्स इन ऐडमिनिस्ट्रेशन**, 1967, पृ. 172.

2 "Power can be defined as the ability or capacity to control others and get them to do what one wants them to do and also to see that they do not do what one does not want them to do."

3 Herbert Goldhamer and Edward A. Shils, *Types of Human Relations, in Administration*, p. 334.

भी, सम्बन्धों को नियन्त्रित करने का क्षेत्र" है। कैटलिन ने इस बात पर जोर दिया है कि 'नियन्त्रण की प्रत्येक प्रक्रिया राजनीति विज्ञान का एक घटक' है। कैटलिन के अनुसार राजनीति-शास्त्र 'नियन्त्रण की उस स्थिति का अध्ययन है जो शक्ति (प्राप्त करने) के लिए एक मूलभूत, पर अनभिज्ञात, प्रेरणा के द्वारा निर्धारित होती है।

शक्ति की संकल्पना के अपने विश्लेषण में कैटलिन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि शक्ति से उसका अर्थ 'प्रभुत्व' की स्थिति अथवा सैनिक शक्ति से नहीं है। मॉर्गेन्थाऊ की उस प्रसिद्ध उक्ति की आलोचना करते हुए जिसमें उसने कहा था, "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के चाहे अन्तिम उद्देश्य कुछ भी क्यों न हों, उसका तात्कालिक उद्देश्य शक्ति प्राप्त करना होता है", कैटलिन ने सुझाव दिया कि 'सहयोग' भी शक्ति का एक रूप हो सकता है।

शक्ति संकल्पना का सबसे विस्तृत विश्लेषण हमें लासवेल और कैप्लन की रचनाओं में मिलता है। वे लिखते हैं, "शक्ति की संकल्पना सम्भवतः समस्त राजनीति की मूल संकल्पना है; राजनीतिक प्रक्रिया का अर्थ है शक्ति को आकार देना, शक्ति वितरण करना और शक्ति का उपयोग करना।"[1] लासवेल ने कैटलिन के इन विचारों का प्रशंसा के साथ उल्लेख किया है कि "राजनीति विज्ञान, एक सैद्धान्तिक अध्ययन के रूप में, मनुष्यों के आपसी सम्बन्धों के साथ जुड़ा हुआ है, ऐसे सम्बन्धों के साथ जिनका उद्देश्य समूहबद्धता और प्रतिस्पर्द्धा के क्षेत्र में हो सकता है और आज्ञा-कारिता और नियन्त्रण के क्षेत्र में भी, जहाँ तक वे किसी वस्तु के उत्पादन और उपभोग की खोज में लगे हुए नहीं हैं परन्तु दूसरे मनुष्यों को अपनी इच्छा के सामने झुकाना चाहते हैं। राजनीतिक सम्बन्धों का लक्ष्य सदा ही मनुष्यों के द्वारा शक्ति की खोज है।"[2]

बर्ट्रेण्ड रसेल की शक्ति की यह परिभाषा है कि वह "अभीप्सित प्रभावों की सृष्टि" है, व्यक्तियों और समूह दोनों के सम्बन्ध में व्यवहार में लायी जा सकती है। परन्तु राजनीतिक दृष्टि से जब हम शक्ति की बात करते हैं तो उसका अर्थ एक व्यापक रूप में अभीप्सित प्रभावों की सृष्टि नहीं होता परन्तु केवल उन प्रभावों की सृष्टि होता है जिनका सीधा सम्बन्ध दूसरे मनुष्यों से होता है। इस प्रकार राजनीतिक शक्ति में, जो अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करती है, और प्रकृति के ऊपर की शक्ति में अन्तर किया जाना आवश्यक है। फ्राइडरिश ने शक्ति की परिभाषा "एक विशेष प्रकार के मानवीय सम्बन्ध" के रूप में दी है[3] और टौनी ने उसे किसी एक व्यक्ति, अथवा व्यक्तियों के समूह, को दूसरे व्यक्तियों अथवा समूहों के व्यवहार को उस दिशा में जिसमें शक्ति का उपयोग करने वाला चाहता है, मोड़ देने की क्षमता बताया है।[4] शक्ति का अर्थ निर्णयों के निर्माण में सहभागिता बताते हुए लासवेल लिखता है, "निर्णयों का निर्माण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसका सम्बन्ध अन्य व्यक्तियों से होता है; उसमें यह निश्चय किया जाता है कि निर्धारित नीतियों पर वे अन्य व्यक्ति कैसे चलेंगे।"[5]

लासवेल यह आवश्यक नहीं मानता है कि शक्ति के प्रयोग का आधार हमेशा ही, अथवा सामान्य रूप से, हिंसा पर होता है; अथवा बल प्रयोग को हिंसा और शारीरिक क्रूरता के अर्थों में

---

1 हैरल्ड डी. लासवेल और अब्राहम कैप्लन, **पॉवर एण्ड सोसाइटी : ए फ्रेमवर्क ऑफ पोलिटिकल इन्क्वायरी**', न्यू हेवन और लन्दन, येल यूनिवर्सिटी प्रेस, 1950, पृ. 75.

2 जार्ज ई. जी. कैटलिन, **साइंस एण्ड मैथड ऑफ पॉलिटिक्स**, एल्फ्रेड ए नोफ; 1927, पृ. 262.

3 सी. जे. फ्राइडरिश, **कांस्टीट्यूशनल गवर्नमेण्ट एण्ड पॉलिटिक्स**, हार्पर, 1937, पृ. 12-14.

4 आर. एच. टौनी, **इक्वेलिटी**, हारकोर्ट प्रेस, 1932, पृ. 230.

5 हेरल्ड डी. लासवेल, **उपर्युक्त**, पृ. 75-76.

शक्ति की स्थिति का निचोड़ माना जा सकता है शक्ति का आधार विश्वास, निष्ठाएँ, आदत और निष्क्रियता भी उतना ही हो सकते हैं जितना हितों की खोज। यह भी आवश्यक नहीं है कि जब कभी नियन्त्रण लगाये जायें तो उनका रूप हिंसा का ही हो। शक्ति का तो केवल यही अर्थ है कि (दूसरे की) नीतियों पर प्रभावशाली नियन्त्रण रखा जा सके; इस नियन्त्रण को प्रभावशाली बनाने के साधन अनेक और विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं।

राजनीतिक शक्ति, वास्तव में एक ऐसी जटिल संकल्पना है जिसके पीछे सदा ही यह मान्यता होती है कि उसके कई रूप हो सकते हैं, जैसे सम्पत्ति, शस्त्रास्त्र, नागरिक अधिकार, लोकमत पर प्रभाव—जिनमें से किसी को भी किसी दूसरे पर आश्रित नहीं माना जा सकता। संक्षेप में, राजनीतिक शक्ति का अर्थ है—दूसरों के व्यवहार पर नियन्त्रण या प्रभुत्व। राबर्ट डहल ने अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'अ' उस सीमा तक 'ब' पर शक्ति रखता है, जिस सीमा तक वह 'ब' से वे कार्य करा लेता है, जिन्हें वह अन्यथा नहीं करता। याने राजनीतिक शक्ति एक सम्बन्ध (relationship) है। फिर भी, यह ऐसा सम्बन्ध है जो सदा स्पष्ट नहीं होता। इस प्रकार यदि अफगानिस्तान में सोवियत संघ की फौजें विद्यमान हैं और अमरीका के बार-बार धमकी देने के उपरान्त भी सोवियत संघ अपनी फौजें नहीं हटाता है तो हम कह सकते है कि सोवियत संघ के पास राजनीतिक शक्ति है। पर यह भी सम्भव है कि किन्हीं अन्य कारणों से सोवियत सेनाएँ अफगातिस्तान से हट जाती हैं और यह मात्र संयोग ही हो कि सोवियत सेनाएँ उसी समय हटना शुरू कर देती हैं जब भारत अथवा गुटनिरपेक्ष राष्ट्र प्रबल रूप से ऐसी माँग कर रहे हों तो इससे भारत या गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों की 'शक्ति' के वारे में कुछ भी साक्ष्य नहीं मिलेगा। अक्सर 'शक्ति सम्बन्ध' (power relationship) की स्थिति से यह मालूम करना वहुत कठिन है कि किसी व्यक्ति या गुट के व्यवहार में बदलाव क्यों हुआ?

मॉर्गेन्थाऊ के अनुसार, "जब हम शक्ति की चर्चा करते हैं, तो हमारा तात्पर्य उस शक्ति से होता है, जो मनुष्य अन्य मनुष्यों के मस्तिष्क व कार्यों के ऊपर प्रयोग करता है। राजनीतिक शक्ति से हमारा तात्पर्य जन शक्तिधारियों के आपसी सम्बन्धों व उनके तथा सामान्य जनता के सम्बन्धों से होता है।"[1]

राजनीतिक शक्ति के सम्बन्ध में तीन वातें कही जा सकती हैं—**प्रथम**, राजनीतिक शक्ति के धारण करने वालों में उच्च-अधीनस्थ सम्बन्ध (Superior-Subordinate Relationship) प्रकट होना स्वाभाविक है। **द्वितीय**, राजनीतिक शक्ति का प्रयोग अन्ततोगत्वा सामान्य जनता पर होता है और उसे सत्ता का प्रयोग करने वाले की बात माननी पड़ती है। **तृतीय**, राजनीतिक शक्ति मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध प्रकट करती है, न कि शारीरिक या भौतिक सम्बन्ध। मॉर्गेन्थाऊ के अनुसार, "शक्ति का प्रयोग करने वाले तथा जिसके विरुद्ध शक्ति प्रयुक्त होती है—इन दो राष्ट्रों के मध्य का मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध ही राजनीतिक शक्ति है।"

आर्गेन्स्की शक्ति को मुख्यतः उसके निषेधात्मक पहलू के रूप में ही देखते हैं। अर्थात शक्ति अधिकतर दूसरे राष्ट्रों को अनचाहा कार्य करने से रोकने की क्षमता (Capabilities) का नाम है। वैसे उनसे मनचाहा कार्य कराने की क्षमता का नाम भी शक्ति है। इस प्रकार शक्ति निषेधात्मक भी हो सकती है और सकारात्मक भी।

1 Political Power has been defined by Morgenthau as "the mutual relations of control among the holders of public authority and between the latter and the public at large."

2 "Political power is a psychological relation between those who exercise it and those over whom it is exercised." —*Morgenthau*

शक्ति और बल
(POWER AND FORCE)

हैरल्ड स्प्राउट और मारग्रेट स्प्राउट के अनुसार शक्ति का अर्थ है सैनिक शक्ति। आइनिस क्लॉड ने भी शक्ति के अपने विश्लेषण का मुख्य विषय सैनिक पहलू को ही माना है। मॉरगेन्थाऊ ने सैनिक पहलू को अपनी शक्ति की परिभाषा से बाहर रखा है और जब कभी वह शक्ति की चर्चा करता है तो उसका अभिप्राय राजनीतिक शक्ति से ही होता है।

शक्ति और बल प्रयोग (सैनिक शक्ति) में स्पष्ट अन्तर है। बल प्रयोग शक्ति का उपकरण है। यहाँ हम राजनीतिक शक्ति की चर्चा कर रहे हैं। यदि बल प्रयोग किया जाता है तो वहीं से राजनीतिक शक्ति का अन्त हो जाता है। बल प्रयोग हिंसा पर आधारित है जबकि शक्ति एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव है। शक्ति अदृश्य है जबकि बल प्रयोग दृश्य है। बायर्सटेड के शब्दों में, 'शक्ति बल प्रयोग की योग्यता है न कि उसका वास्तविक प्रयोग।

राजनीतिक क्रियाओं के अनेक प्रकार हैं जिनके द्वारा कर्ता दूसरों को प्रभावित कर सकता है। इन्हें तीन शीर्षकों में रखा जा सकता है :

(1) बल (force),
(2) प्रभुत्व (domination),
(3) क्रिया कौशल (manipulation)।

बल में भौतिक गतिविधि दिखायी देने वाली भौतिक शक्तियों का प्रयोग होता है। बल और प्रभुत्व साथ-साथ रहते हैं। प्रभुत्व को प्रभावशाली बनने के लिए बल का प्रयोग किया जाता है। संक्षेप में 'शक्ति' एक विस्तृत संकल्पना है जिसमें शक्ति के रूप में बल उसी प्रकार निहित है जिस प्रकार बादल में बिजली रहती है।

शक्ति और प्रभाव
(POWER AND INFLUENCE)

यदि शक्ति से 'बल प्रयोग', 'दण्ड' और 'हिंसा' को निष्कासित कर दिया जाय तो वह प्रभाव बन जाती है। प्रभाव एक बलरहित तत्व है। कार्ल जे. फ्रेडरिक के अनुसार, प्रभाव गुप्त शक्ति है। यह न्यूनाधिक मात्रा में शक्ति का अदृश्य रूप है।' राबर्ट डहल के अनुसार, 'प्रभाव व्यक्तियों, समूहों, समुदायों, संगठनों, राज्यों में सम्बन्ध है। यदि विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग किया जाय तो प्रभावकर्ताओं में सम्बन्ध है जिसमें एक कर्ता दूसरे कर्ताओं को किसी ढंग से कार्य करने के लिए प्रेरित करता है जिसे वे अन्यथा नहीं करेंगे।'

राजनीति में जब कोई निर्णय लिया जाता है तो उस पर मानवीय व्यवहार की अनेक घटनाएँ प्रभाव डालती हैं। जेम्स मार्च ने लिखा है कि 'निर्णय लेने की प्रक्रिया के अध्ययन के लिए प्रभाव उसी प्रकार महत्वपूर्ण है जिस प्रकार गति के अध्ययन के लिए ताकत है।'

प्रभाव और शक्ति में घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे को सबलता प्रदान करते हैं। प्रभाव शक्ति उत्पन्न करता है तथा शक्ति प्रभाव को। शक्ति सम्बन्धों की कोई भी स्थिति प्रभाव की कुछ न कुछ मात्रा के बिना नहीं होती। राबर्ट डहल ने प्रभाव और शक्ति को सम्बन्धात्मक माना है। प्रभाव में यह देखा जाता है कि 'अ', 'ब' से किस सीमा तक क्या कुछ करा लेता है जो अन्यथा वह नहीं करता। भौतिक बल प्रयोग के साथ संलग्न होकर प्रभाव भी शक्ति बन जाता है।

शक्ति और प्रभाव में अन्तर दर्शाया जा सकता। प्रथम, शक्ति के पीछे कठोर भौतिक बल एवं प्रतिबन्धों का प्रयोग होता है। प्रभाव में आग्रह, विनय और नैतिकता का पुट विद्यमान रहता है, जबकि शक्ति की प्रकृति बाध्यकारी होती है। द्वितीय, शक्ति भय और दण्ड पर आधारित होने के कारण अलोकतान्त्रिक है और 'प्रभाव' सहमति पर आधारित होने के कारण लोकतान्त्रिक

है। **तृतीय,** शक्ति के प्रयोग को देखा जा सकता है जबकि प्रभाव का केवल अनुमान लगाया जा सकता है। **चतुर्थ,** शक्ति बल प्रयोग और भौतिकशास्त्रियों पर आधारित होती है। अतः उसका प्रयोग सीमित ही किया जा सकता है किन्तु यदि एक बार प्रभाव अर्जित कर लिया जाय तो उसके प्रयोग की कोई सीमा नहीं रहती है।

अल्फोर्ड बुल्फर्स ने शक्ति और प्रभाव में अन्तर किया है। शक्ति से उसका अभिप्राय है धमकियों के द्वारा दूसरों को नियन्त्रित करने की सामर्थ्य और प्रभाव से अभिप्राय है प्रलोभन एवं अनुनय के द्वारा दूसरों को नियन्त्रित करने की कला। दूसरे शब्दों में, दण्ड और बल प्रयोग द्वारा प्राप्त किया गया नियन्त्रण शक्ति कहलाता है और अनुनय एवं प्रलोभनों द्वारा दूसरे के ऊपर प्राप्त किया गया नियन्त्रण प्रभाव कहलाता है।

कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि शक्ति की अवधारणा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तरंग का स्पष्टीकरण करने में असमर्थ है। शक्ति की अवधारणा केवल उस स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का वर्णन कर सकती है जिस स्थिति में वास्तविक संघर्ष चल रहा है। संघर्ष प्रारम्भ होने से पूर्व की अवस्था में 'प्रभाव' की अवधारणा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप की समुचित व्याख्या कर सकती है। डेविड सिंगर उन लेखकों में है जो 'प्रभाव' की अवधारणा को सर्वाधिक महत्व देते हैं। शक्ति की परिभाषा करते हुए वह सिर्फ प्रभाव डालने की क्षमता को शक्ति बताता है। शक्ति की अभिव्यक्ति वहाँ होती है जहाँ तीन बातें पायी जाती हैं—प्रथम, दो पक्षों के बीच मूल्यों का संघर्ष हो; द्वितीय, एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष की माँगों या जरूरतों की सचमुच पूर्ति की जाती हो; और तृतीय, एक पक्ष को दूसरे पर प्रतिबन्धों का भय पैदा करने का सामर्थ्य हो। वस्तुतः प्रतिबन्ध लागू करने या भय पैदा करने का सामर्थ्य ही वह तत्व है जिसके आधार पर प्रभाव रूप सम्बन्ध शक्ति रूप सम्बन्ध में बदल जाता है।

गत 4 नवम्बर, 1979 से 5 मई, 1980 तक के अन्तर्राष्ट्रीय घटनाचक्रों को यदि ईरानी राजनीति के सन्दर्भ में सिंहावलोकित किया जाय तो यह कहना पड़ेगा कि ईरान की तुलना में अमरीका शक्तिशाली होते हुए भी 'प्रभावपूर्ण' नहीं रहा। असफल बल प्रयोग करने के बाद भी अमरीका अपने प्रभाव को 'बन्धकों' के मसले पर 'शक्ति' में परिवर्तित नहीं कर पाया। अमरीका ने एक सभ्य राष्ट्र की तरह प्रतीक्षा की, विश्व जनमत को जगाया, संयुक्त राष्ट्र संघ और उसके अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के दरवाजे खटखटाये, आर्थिक और व्यापारिक दबाव डाले और यहाँ तक कि जब छः महीने तक कुछ भी नहीं हुआ तो बन्धकों को छुड़वाने की एक असफल सैनिक कार्यवाही भी की।

शक्ति के स्रोत
(SOURCES OF POWER)

शक्ति के स्रोतों की पूर्ण सूची देना सम्भव नहीं है क्योंकि विचारकों में इस सम्बन्ध में बहुत अधिक मतभेद है। धन सम्पदा, प्राकृतिक सम्पदा के साधन, मानव शक्ति और शस्त्र आदि किसी भी राष्ट्र की शक्ति के महत्वपूर्ण अवयव (Organs) हैं। पर उनका महत्व इस दृष्टि से आँकना होगा कि अन्य राज्यों के व्यवहार को प्रभावित करने के लिए उनका उपयोग कहाँ तक किया जाता है। निस्सन्देह धन सामान्यतया शक्ति का एक महत्वपूर्ण अवयव है, क्योंकि इसके द्वारा कोई राज्य दूसरे राज्य के व्यवहार को प्रभावित करने के लिए उसे पुरस्कार के रूप में बहुत कुछ दे सकता है। धन से शक्ति के अन्य अवयव खरीदे भी जा सकते हैं; जैसे बल प्रयोग के साधन। अरब देशों और ईरान के पास तेल के अटूट भण्डार है जिससे वे अन्य देशों के व्यवहार को प्रभावित करते है। पर धन या प्राकृतिक सम्पदा होने मात्र से शक्ति प्राप्त नहीं होती। उदाहरण के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में संयुक्त राज्य अमरीका की बहुत समय तक कोई विशेष शक्ति नही थी हालांकि वह बहुत धनी राज्य था। किसी राज्य या व्यक्ति

को शक्ति केवल सम्पदा के स्वामित्व से नहीं बल्कि उसके उपयोग से प्राप्त होती है। वही राष्ट्र या व्यक्ति शक्तिसम्पन्न है जिसके पास ताकत के स्रोत भी हैं और जो अन्य राष्ट्रों और व्यक्तियों के व्यवहार को प्रभावित या नियन्त्रत करने में अपने साधनों का सफलता से उपयोग करना भी जानता है। जर्मनी की स्थिति को देखिए। प्रथम विश्व-युद्ध से पहले वह संसार के सबसे शक्तिशाली राष्ट्रों में था। पर युद्ध में हारने के बाद उसकी स्थिति नगण्य सी रह गयी। अब फिर वह एक महाशक्ति के रूप में उभर रहा है। यह ठीक है कि दो विश्वयुद्धों में जर्मनी को धन, क्षेत्र और साधनों की हानि हुई; पर उसकी सबसे बड़ी हानि हुई कि दूसरे देशों को प्रभावित करने की उसकी सामर्थ्य जाती रही।

शक्ति के कई स्रोत हो सकते हैं। शक्ति का पहला स्रोत ज्ञान (Knowledge) है। ज्ञान के द्वारा व्यक्ति की अन्य विशेषताओं को इस प्रकार संचालित किया जाता है कि वे शक्ति के साधन बन सकें। व्यक्ति नेतृत्व का गुण, उसकी इच्छा की शक्ति, उसकी सहन शक्ति अपने आपको अभिव्यक्त करने की शक्ति आदि शक्ति के विभिन्न महत्वपूर्ण पहलू हैं। प्राप्तियाँ (Possessions) भी शक्ति का स्रोत है। प्राप्तियों के अन्तर्गत भौतिक सामग्री, स्वामित्व, आर्थिक साधन आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। ऐसा माना जाता है कि सम्पत्ति और सम्पदा राष्ट्र या व्यक्ति को अप्रत्यक्ष शक्ति प्रदान करते हैं। संगठन (Organisation) अपने आपमें शक्ति का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। 'संगठन ही शक्ति है' की कहावत पर्याप्त सत्यता रखती है। कभी-कभी राष्ट्र का आकार (Size) भी शक्ति का स्रोत बन जाता है। ऐसा माना जाता है कि राष्ट्र का आकार जितना बड़ा होगा उतना ही वह शक्तिशाली बनने की क्षमता विकसित करेगा।

शक्ति के प्रकार
(TYPES OF POWER)

राजनीतिक शक्ति तीन रूपों में अभिव्यक्त होती है—(i) शारीरिक शक्ति (Physical Power), (ii) मनोवैज्ञानिक शक्ति (Psychological Power), तथा (iii) आर्थिक शक्ति (Economic Power)।

1. **शारीरिक शक्ति** (Physical Power) प्रत्येक राष्ट्र की सरकार राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करती है किन्तु वह ऐसा इसलिए कर पाती है चूँकि सेना राजनीतिक सत्ता के अधीनस्थ होती है। जब-जब सेना की ऐसी अधीनस्थ स्थिति का अन्त होता है तब-तब राजनीतिक शक्ति सैनिक नेतृत्व के हाथों में चली जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में यह देखा गया है कि यदा-कदा सैनिक क्रान्तियाँ (Coup d'etat) होती रहती हैं और राजनीतिक शक्ति का राजनीतिक नेतृत्व से सैनिक नेतृत्व के हाथों में हस्तान्तरण होता रहता है। जिन देशों में लोकतान्त्रिक परम्परा का अभाव पाया जाता है और लोकमत की अवज्ञा होती है। वर्षों तक लेटिन अमरीका का शासन इसी ढंग से चलता रहा और संयुक्त राज्य अमरीका, जोकि इन लेटिन अमरीकन देशों की अर्थ-व्यवस्था को नियन्त्रित करता रहा, यथार्थ में अपनी केन्द्रीय गुप्तचर एजेन्सी (Central Intelligence Agency) के माध्यम से इन देशों की राजनीतिक शक्ति को भी नियन्त्रित करता रहा और समय पर इन देशों की सैनिक सत्ता के तख्ते पलटने में (Coups) अहम् भूमिका अदा करता रहा है।

प्रौद्योगिकी के तीव्र विकास के परिणामस्वरूप राज्य की शारीरिक शक्ति इसके कई घटकों में बँटी रहती है जिनमें स्थल सेना, जल सेना, वायु सेना और प्रक्षेपणास्त्रों वाले परमाणु शक्ति के केन्द्र प्रमुख हैं। सैनिक शक्ति के इस प्रकार विभाजन से राजनीतिक सत्ता को थोड़ी सुरक्षा प्राप्त होती है और बड़े देशों में आसानी से सैनिक क्रान्ति नहीं हो पाती है।

2. **मनोवैज्ञानिक शक्ति** (Psychological Power)—मनोवैज्ञानिक शक्ति ऐसे प्रतीकात्मक सूचकों (Symbolic divices) से मिलकर बनती है जो व्यक्तियों के मस्तिष्कों और भावनाओं को प्रभावित करते हैं।[1] यह प्रचार माध्यमों (Propaganda) के जरिए लोगों के विचारों और कार्यों को नियन्त्रित करने का तरीका है। राज्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बड़ी चतुराई से मनोवैज्ञानिक शक्ति का प्रयोग करते रहते हैं। अरब-इजराइल युद्ध के समय इजराइल ने बड़ी चतुराई से यह उद्घाटित किया कि उसके पास कुछ आणविक बम हैं। यथार्थ में ऐसी खबर फैलाने का ध्येय केवल अरब राष्ट्रों के मनोबल को कम करना ही था। गणतन्त्र दिवस परेड के समय भारत प्रायः विभिन्न टैंकों और विशिष्ट हथियारों का प्रदर्शन करता है जिसका ध्येय पड़ोसियों को यह दिखाना है कि अब भारत सैनिक दृष्टि से काफी शक्तिशाली है। अक्टूबर क्रान्ति की सालगिरह के दिन सोवियत संघ में भी रॉकेट्स और टैंकों के प्रदर्शन किये जाते हैं जो एक मनोवैज्ञानिक शक्ति के प्रदर्शन का तरीका है।

राज्य की जनता पर अपना प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित करने के लिए कई बार सरकारें प्रचार माध्यमों का सहारा लेती हैं। अपने मनोवैज्ञानिक प्रभाव की वृद्धि के लिए कई राज्य प्रतिदिन विशिष्ट रेडियो प्रसारण करते रहते हैं। रेडियो पीकिंग प्रतिदिन हिन्दी में प्रसारण करता रहता है। ताशकन्द रेडियो स्टेशन अपने में विशिष्ट 'पीस एण्ड प्रोग्रेस' हिन्दी कार्यक्रम के अन्तर्गत हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में प्रसारण करता है। बी. बी. सी. और वॉयस ऑफ अमरीका अनेक विदेशी भाषाओं में प्रसारण करते हैं। इन प्रसारणों का उद्देश्य शत्रु को कमजोर बनाना, उसके मनोबल को क्षीण करना और शत्रु अथवा विरोधी राज्य में अव्यवस्था फैलाकर उद्देश्यों की प्राप्ति करना है।

शक्ति का निहितार्थ यह है कि विपक्षी को कोई बात स्वीकार कराने के लिए मजबूर कर दिया जाये। सैनिक बल से ऐसा करने पर उसे हम सैनिक शक्ति की संज्ञा देते हैं, लेकिन कूटनीति, प्रचार आदि द्वारा भी किसी राष्ट्र को इस प्रकार विवश किया जा सकता है। जब हम प्रचार, कूटनीति आदि का प्रयोग इस रूप में करें कि दुसरा देश हमारी नीतियों को मानने के लिए विवश हो जाय तो यह मनोवैज्ञानिक शक्ति कहलायेगी।

3. **आर्थिक शक्ति** (Economic Power)—राजनीतिक शक्ति का प्रयोग व्यवहार में आर्थिक साधनों द्वारा होता है। किसी भी राज्य का विदेशी व्यापार केवल अपनी वस्तुओं का विक्रय करना और विदेशी मुद्रा कमाने मात्र से ही सम्बन्धित नहीं होता अपितु व्यापार के माध्यम से उस देश में अपनी राजनीतिक शक्ति का विस्तार करना भी अन्य महत्वपूर्ण ध्येय होता है। अपने विदेशी निर्यात के माध्यम से एक राज्य चाहे तो किसी भी अन्य राज्य को आर्थिक दृष्टि से अपने पर निर्भर बना सकता है। विदेशी आर्थिक सहायता के राजनीतिक प्रभाव इस प्रकार हैं: (i) विदेशी सहायता से देश आत्म-निर्भर नहीं बन सकता और आर्थिक तथा तकनीकी दृष्टि से परमुखापेक्षी हो जाता है; (ii) विदेशी सहायता से होने वाले तात्कालिक लाभ के फेर में देश पर कर्ज का भारी बोझ आ जाता है जिसको चुकाते-चुकाते नाक में दम आने लगता है; (iii) आर्थिक विकास के लिए विदेशी सहायता से भी अधिक महत्व आत्म-सम्मान का है। लम्बी आर्थिक परनिर्भरता से देश का मनोबल एवं आत्म-सम्मान क्षीण होता है।

जो देश भारत को विदेशी सहायता प्रदान करते हैं, वे चाहते हैं कि भारत उन्हीं के प्रभाव क्षेत्र में रह और अपना स्वतन्त्र चिन्तन तथा कार्य बन्द कर दे। ऐसा कहा जाता है कि सन् 1966

---

[1] "Psychological power consists of symbolic devices which appeal to the minds and emotions of men."
—Charles P. Schleicher, *Internationl Relations*, Prentice Hall of India, 1963, p. 254

में हमें अपने रुपये का अवमूल्यन विदेशी आर्थिक दबाव के कारण ही करना पड़ा। नेपाल और भूटान का अधिकांश व्यापार भारत से होता है अतः आर्थिक दृष्टि से वे भारत पर निर्भर हैं। अमरीका के बहुराष्ट्रीय निगम (Multinational Cartel's) लेटिन अमरीकी देशों की अर्थव्यवस्था को नियन्त्रित करने की स्थिति में हैं चूंकि उनका दो-तिहाई विदेशी व्यापार संयुक्त राज्य अमरीका से होता है। सन् 1975 में कनाडा की बड़ी कम्पनियों के 50 प्रतिशत शेयर अमरीकी बहुराष्ट्रीय निगमों के पास थे। पश्चिमी यूरोप तथा जापान का अधिकांश व्यापार संयुक्त राज्य अमरीका से होता है, अतः इन देशों की अर्थ-व्यवस्था अमरीका पर निर्भर बन गयी है।

शक्ति को प्रयोग में लाने की पद्धतियाँ
(TECHNIQUES FOR USE OF POWER)

दो राष्ट्र या व्यक्ति हैं 'क' और 'ख'। उनके बीच एक समस्या है। हम यह भी कल्पना करें कि 'क' कुछ करना चाहता है और 'ख' उससे भिन्न कुछ करना चाहता है। किसी भी वास्तविक परिस्थितियों में 'क' 'ख' को प्रभावित करने का प्रयास करेगा। प्रश्न है कि दोनों राष्ट्रों या व्यक्तियों को एक-दूसरे के आचरण को प्रभावित करने के लिए क्या करना चाहिए? सामान्यतः इनके पास चार विकल्प हैं। वे एक-दूसरे को समझा-बुझा सकते हैं, वे एक-दूसरे को प्रलोभन दे सकते हैं, वे धमकी को भी प्रयोग में ला सकते हैं और आवश्यकता पड़ने पर वे बल प्रयोग भी कर सकते हैं। डॉ. महेन्द्रकुमार लिखिते हैं—"राज्य अन्य राज्यों से अपना अभीष्ट व्यवहार कराने के लिए जो विधियाँ या तरीके अपनाते हैं, वे मुख्यतः चार हैं : अनुनय (Persuasion); पारितोषिक या पुरस्कार (Rewards); दण्ड (Punishment) और बल प्रयोग (Coercion)। यदि अन्य राज्यों का व्यवहार नियन्त्रित करने की सामर्थ्य को शक्ति माना जाय तो इन विधियों को शक्ति के प्रयोग के साधन भी कहा जा सकता है।"[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि शक्ति को प्रयोग में लाने के चार तरीके हैं **समझाना, प्रलोभन, दण्ड** और **शक्ति**। हम इन चारों तरीकों की संक्षेप में विवेचना करेंगे :

(1) **समझाना** (Persuasion)—शक्ति को प्रयोग में लाने का सबसे सुगम तरीका समझाने का ही है। अगर 'क' के समझाने-बुझाने को 'ख' मान लेता है तो उसका परिणाम स्थायी होता है। इस पद्धति को प्रयोग में लाने के लिए 'क' को केवल एक काम करना है और वह यह है कि वह सम्पूर्ण परिस्थिति को इस प्रकार परिभाषित करे जिससे 'ख' इस सम्बन्ध में अपना विचार बदल दे और उसकी बात मान ले। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राजनय (Diplomacy) का आधार समझाने की विधि ही है। राजनयिक प्रतिनिधि अन्य विरोधी राष्ट्रों के राजनयिक प्रतिनिधियों से अपने सुझाये तरीके के अनुसार व्यवहार कराने के लिए उन्हें तर्क और चातुर्य से प्रभावित करने की कोशिश करते हैं। एक राजनयिक की सफलता का मूल्यांकन इस आधार पर किया जाना चाहिए कि प्रलोभन, दण्ड और शक्ति की विधियों का सहारा लिये बिना 'समझाने की कला' का वह किस सीमा तक उपयोग कर सकता है?

(2) **प्रलोभन** (Rewards)—'क' के पास 'ख' के आचरण को अपने अनुकूल बनाने की जो दूसरी पद्धति उपलब्ध है वह प्रलोभन, पारितोषिक या पुरस्कार की है। इस विधि में एक राष्ट्र अन्य दूसरे राष्ट्रों को प्रलोभन का वचन देकर उनके व्यवहार पर प्रभाव डालने को कोशिश करता

---

1 के. जी. होल्स्टी ने छः विकल्प बताये हैं :
(1) Persuasion (2) The offer of rewards, (3) The granting of rewards, (4) The threat of punishment, (5) The infliction of non-violent punishment, (6) Force.—K. G. Holsti *International Politics* (Third edition, 1977), pp. 178-79.

2 महेन्द्रकुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1977), पृ० 215.

है। ये प्रलोभन चार प्रकार के हो सकते हैं—मनोवैज्ञानिक, भौतिक, आर्थिक और राजनीतिक। सामान्यतः प्रलोभन भौतिक होते हैं। 'क' राष्ट्र 'ख' को भू-प्रदेश, सैनिक सहायता, सैनिक अड्डे या प्रशिक्षण सुविधाएँ आदि का प्रलोभन दे सकता है। आजकल आर्थिक प्रलोभनों का विशिष्ट महत्व है। एक राष्ट्र दूसरे को अपनी तरफ मिलाने के लिए उसे कर्ज अथवा सहायता के रूप में धन दे सकता है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात अमरीका और सोवियत संघ द्वारा जो आर्थिक सहायता की नीतियाँ अपनायी गयीं उसे प्रलोभन द्वारा शक्ति के प्रयोग की विधि कहा जा सकता है। राजनीतिक प्रलोभनों के अन्तर्गत अधीनस्थ राज्य को स्वाधीन करने की बात किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में अन्य राज्य के दृष्टिकोण को समर्थन देने की बात आती है।

(3) **दण्ड** (Punishment) शक्ति को प्रयोग में लाने का तीसरा तरीका दण्ड की धमकी देना है। यदि 'ख' समझाने और प्रलोभन के बावजूद वह काम करता है जिसे 'क' अवांछनीय समझता है तो 'क' उस स्थिति में 'ख' को दण्ड की धमकी दे सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दण्डात्मक कार्यों की कार्यान्विति आये-दिन होती रहती है। परन्तु दण्ड को प्रभावशाली बनाने के लिए आवश्यक यह है कि उसकी केवल धमकी दी जाय, उसे प्रयोग में न लाया जाय।

(4) **बल या शक्ति** (Force)—शक्ति को प्रयोग में लाने का अन्तिम तरीका बल है। दण्ड और बल प्रयोग में भेद करने की आवश्यकता है। दण्ड की निरोध के रूप में धमकी दी जाती है। परन्तु जब सचमुच इस धमकी को अमल में लाया जाता है तो यह बल प्रयोग बन जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बल प्रयोग का सबसे अधिक उग्र रूप युद्ध है, वस्तुतः वह बल प्रयोग का अन्तिम चरण है। उसका प्रयोग केवल उस समय होता है जब सम्बद्ध राष्ट्र को समझाने से अथवा घूस से अथवा धमकी से अपने आचरण को बदलने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। शक्ति के प्रयोग साधन के रूप में बल प्रयोग का सहारा आखिरी हथियार के रूप में ही लिया जाता है।

शक्ति साधन है अथवा साध्य
(POWER AS AN END OR AS A MEANS)

आदर्शवादी विचारकों के अनुसार शक्ति के लिए वर्तमान संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अस्थायी लक्षण है और वे यह विश्वास करते आये हैं कि परिस्थितियों में परिवर्तन होते ही शक्ति की यह होड़ समाप्त हो जायेगी। बेन्थम के अनुसार, उपनिवेशों को स्वतन्त्रता देकर, प्रूँधा के विचार में व्यापारिक नियन्त्रणों को समाप्त करके तथा कार्ल मार्क्स के शब्दों में पूँजीवाद के समाप्त होते ही सत्ता के लिए होने वाली होड़ समाप्त हो जायेगी। आधुनिक युग में राष्ट्रसंघ तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना पर भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये गये थे। अमरीकी परराष्ट्र सचिव कार्डेहल ने 1943 में मास्को कान्फ्रेन्स से लौटते हुए कहा था कि संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना सत्ता राजनीति को समाप्त करके अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के नूतन अध्याय का सूत्रपात करेगी।

फिर भी शक्ति के द्वन्द्व, संघर्ष, प्रतिस्पर्द्धा और प्रयोग को आज तक समाप्त नहीं किया जा सका है। यह द्वन्द्व सार्वकालिक और निरन्तर गतिशील प्रतीत होता है क्योंकि जीवित रहने, सुरक्षित रहने तथा दूसरों को प्रभावित करके प्रभुत्व स्थापित करने की प्रवृत्ति मानव मात्र की प्रवृत्ति है। शक्ति के लिए निरन्तर होड़ आधुनिक राज्यों की मुख्य विशेषता है क्योंकि प्रत्येक राज्य अपनी स्थिति बनाये रखना चाहता है और जीवित रहना चाहता है। अपने आपको सुरक्षित रखने की भावना ही शक्ति संकलन की मूल प्रेरणा है। युद्ध, सैनिक तथा क्षेत्रीय विवर्धन, सुरक्षित रहने की मूल भावना से ही प्रेरित होते हैं। ई. एच. कार के अनुसार प्रथम विश्व-युद्ध में भाग लेने वाले अधिकांश राज्यों की दृष्टि में युद्ध रक्षात्मक तथा निवारक ही था। रेनहोल्ड नेबूर के शब्दों में, "सुरक्षित रहने की तथा शक्ति संचय की इच्छा में विभाजक रेखा खींच पाना

अत्यन्त कठिन है।" राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए शक्ति का संचय करना राज्य का मूलभूत अधिकार है; अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्वतन्त्रता की रक्षा अथवा परराष्ट्र नीति द्वारा अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए एक राष्ट्र को शक्ति का सहारा लेना ही पड़ता है। शान्तिकाल में भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र पर शक्ति द्वारा दवाव डालने की निरन्तर प्रक्रिया का ही दूसरा नाम है। वही राज्य अन्तर्राष्ट्रीय जगत में स्थान बना पाते हैं जो शक्ति सामर्थ्य भी रखते हैं तथा उसका प्रदर्शन व प्रयोग भी करते हैं। प्रत्येक राज्य स्वयं ही शक्तिशाली होकर शान्तिकाल में विदेश नीति में सफलता प्राप्त करता है तथा युद्ध में अपने सामर्थ्य से ही अपनी रक्षा में समर्थ होता है। इसलिए प्रत्येक राज्य का लक्ष्य अधिकाधिक राष्ट्रीय शक्ति का विकास करना होता है।

वह 'शक्ति' जिसको अपने राज्य में उत्सुकतापूर्वक सुरक्षित रखना तथा दूसरों में व्यग्रतापूर्वक देखना आवश्यक होता है, अन्तिम विश्लेषण के अनुसार सैनिक शक्ति अथवा युद्ध करने की योग्यता है। शक्ति का स्वतः अर्थ 'मित्रों को प्राप्त करने तथा लोगों को प्रभावित करने, सहानुभूति जाग्रत करने, आज्ञा-पालन करने का अधिकार प्राप्त करने, बल-प्रयोग प्रचार तथा सम्मान एवं सहयोग उत्पन्न करने वाले भौतिक साधनों एवं प्रवंचनाओं से सम्बन्धित उपायों द्वारा दृढ़तापूर्वक कार्य कर लेने की योग्यता ही है'। परन्तु वह शक्ति, जो राज सत्ताओं के अन्य राज सत्ताओं से व्यवहार करने से प्रधान रूप में सम्बन्ध रखती है, एक सुसंगिठत सरकार के ढाँचे के अन्तर्गत कार्य करने वाले राजनीतिज्ञों राजनीतिक दलों, दबाव डालने वाले समुदायों, गोष्ठीगृहों तथा मतदाताओं की शक्ति की अपेक्षा एक सरल, अधिक सीमित एवं अधिक अनिश्चित गुण है। यहाँ पर शक्ति का आशय लेने का अवसर कम हो जाता है तथा वास्तव में, बल प्रयोग की शक्ति पर एकाधिकार रखने वालों द्वारा दृढ़तापूर्वक रोक दिया जाता है। कपट एवं अनुग्रह-अर्थात् पूर्वाग्रह, विचार शक्ति एवं लालसा के प्रति अपीलों—का नियमित परिस्थितियों में प्राधान्य रहता है। परन्तु स्वतन्त्र राज्यों में प्रभाव के ये साधन प्रायः महत्वपूर्ण होते हुए भी अपने विस्तार एवं गुण में सीमित होते हैं। सम्राटों की अन्य सम्राटों के साथ व्यवहार करने का अन्तिम युक्ति, शक्ति ही है।

समस्त विगत अनुभव के आधार पर प्रत्येक राज्य के लिए यह आवश्यक है कि अन्य राज्यों के मुकाबले में अपने हितों की रक्षा करने तथा अपनी स्थिति को सुरक्षित करने की योग्यता, अपनी सशस्त्र हिंसा का प्रभावकारी रूप में प्रयोग करने की योग्यता पर निर्भर रहती है। कुछ अपवादों को छोड़कर, कोई भी राज्य, जो दृढ़तापूर्वक युद्ध करने की शक्ति न रखता हो, उचित रूप में यह आशा नहीं कर सकता कि दूसरे राज्य उसकी माँगों को पूरी करें, उसकी इच्छाओं की ओर ध्यान दें, अथवा उसके जीवित रहने तक के अधिकार को स्वीकार करें। कूटनीति का सौदा करने की प्रक्रिया में, 'मर्यादा' सबसे महत्वपूर्ण है। 'मर्यादा' का अर्थ शक्ति की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार कूटनीति प्रच्छन्न युद्ध है, ठीक जिस प्रकार कि युद्ध से तात्पर्य समझौते की बातचीत के स्थान पर सैनिक बल प्रयोग द्वारा राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति की चेष्टा है। दोनों ही अवस्थाओं में, शस्त्रों के चतुराईपूर्ण एवं सफल प्रयोग की योग्यता ही अधिकांशतः निर्णायक होती है। अतएव, शक्ति के अनुसरण का अर्थ प्रायः अन्य उद्देश्यों का साधन न होकर; स्वयं उद्देश्य ही हो जाता है। यदि राज्य के पास अपने अन्तिम उद्देश्य—आत्मरक्षा—को पूरा करने की शक्ति नहीं होती तो अन्य उद्देश्यों का कोई अर्थ नहीं होता। युद्ध करने की योग्यता के साथ बल प्रयोग इस तथ्य के कारण कि प्रत्येक राज्य, आदर्श रूप में अपनी शक्ति के विस्तार से ही उसको सुरक्षित रख सकता है तथा दूसरे लोगों को उनकी सुरक्षा से वंचित

करके ही अपनी सुरक्षा की गारण्टी कर सकता है, आन्तरिक भय के रूप में परिणत हो जाता है। प्रत्येक राजसत्ता, अपने पड़ौसियों तथा प्रतियोगियों की स्वतन्त्रता का अन्त करके ही, सभी सम्भावित धमकियों के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकती है। यदि उसके पास ऐसा करने के लिए यथेष्ट शक्ति है, तथा दूसरों के पास उसके प्रभाव को रोकने की काफी शक्ति की कमी है, तो वह गणितशास्त्री निश्चय के साथ, उन्हें अपने अधिकार के अधीन करने को अग्रसर होगी। वास्तविकता यह होने के कारण, प्रत्येक राज्य के लिए, जो जीवित रहने की आशा करता है, यह आवश्यक हो जाता है कि वह ऐसे रूप में ही अपनी शक्ति को कायम न रखे जो सम्भावित अनिश्चित घटनाओं का सामना करने को ही काफी हो, वरन् दूसरों की शक्ति की किसी भी ऐसी वृद्धि को रोकने के लिए यथेष्ट हो जिससे कि शक्ति के परीक्षण में उन्हें सफलता मिल सके।

शक्ति साधन है—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति क्या एक साधन है ? राज्य दूसरे राज्यों के व्यवहार को क्यों नियन्त्रित करना चाहते हैं ? जिस प्रकार धन एक साधन है और धन से अन्य कई चीजें खरीदी जा सकती है; उसी प्रकार शक्ति विदेश नीति का एक साधन है और शक्ति के माध्यम से विदेश नीति के लक्ष्यों (राष्ट्रीय हितों) को प्राप्त किया जा सकता है। शक्ति के माध्यम से एक राष्ट्र को प्रतिष्ठा, भूमि, कच्चा माल, सुरक्षा और मित्र प्राप्त हो सकते हैं। सन् 1962 मे चीन ने भारत पर आक्रमण करके यथाशीघ्र युद्ध बन्द कर दिया। सन् 1979 में चीन ने वियतनाम पर आक्रमण करके भी थोड़े ही दिनों में युद्ध बन्द कर दिया। ऐसा लगता है कि चीन का उद्देश्य अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना मात्र था। इसमें जहाँ उसे प्रतिष्ठा प्राप्त होने ही अभिलाषा थी वहीं थोड़ा-बहुत प्रादेशिक लाभ भी मिला। दोनों ही मामलों में चीन ने शक्ति को विदेश नीति के साधन के रूप में प्रयुक्त किया।

शक्ति साध्य है—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कभी-कभी व्यक्ति और राष्ट्र शक्ति को साध्य (The end) मानने की भूल कर बैठते हैं। राजनीतिज्ञों की अधिकतम शक्ति संचय की महत्वाकांक्षा और छोटे-छोटे महत्वहीन मुद्दों पर बल प्रयोग करने की प्रवृत्ति या धमकी 'शक्ति' को साध्य में परिवर्तित कर देती है। हिटलर और मुसोलिनी के लिए शक्ति साधन न होकर साध्य थी। मॉरगेन्थाऊ के राजनीतिक यथार्थवाद में छः सिद्धान्तों का निचोड़ यही है कि 'राष्ट्रीय हित को शक्ति के परिप्रेक्ष्य' (National interest defined in terms of Power) में परिभाषित किया जा सकता है। अर्थात् शक्ति ही राष्ट्रीय हित है। प्रत्येक राष्ट्र की विदेश नीति का अन्ततोगत्वा ध्येय 'शक्ति का अर्जन' है। शक्ति अपने आप में एक उद्देश्य है।

वस्तुतः शक्ति साध्य भी है साधन भी। जहाँ शक्ति अपने आपमें एक उद्देश्य है वहाँ वह दूसरे उद्देश्यों की पूर्ति का साधन भी हो सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति साधन इसलिए है कि इससे राष्ट्र-हित की पूर्ति होती है और साध्य इसलिए है कि शक्ति का आधिपत्य बना रहना राष्ट्र-हित की सुगम सिद्धि के लिए आवश्यक है। अमरीका और सोवियत संघ शक्तिशाली माने जाते हैं अतः कई बार छोटे राज्य उनकी संचित शक्ति के भय मात्र से उनकी बात मान लेते हैं। अतः अपने राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति के लिए संचित शक्ति अमरीका और रूस के लिए साध्य बन जाती है। शक्ति के इस आधिपत्य के कारण ही अमरीका और रूस के लिए वांछित लक्ष्यों की सिद्धि सुगम हो जाती है। सोवियत संघ द्वारा अफगानिस्तान में हस्तक्षेप सं. रा. अमरीका का ग्रेनाडा पर आक्रमण, भारत का बंगला देश की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न आदि शक्ति को साधन के रूप में प्रयुक्त करने के तरीके हैं ताकि वांछित राष्ट्रीय हितों की पूर्ति हो सके।

शक्ति कैसे नापी जाती है ?
(HOW POWER IS MEASURED ?)

शक्ति के सम्बन्ध में यह महत्वपूर्ण प्रश्न है कि क्या उसे नापा जा सकता है ? ईरान ने

छः महीने से भी अधिक समय तक पचास अमरीकी बन्धकों को छोड़ने से इन्कार कर दिया और अमरीका एक मजबूर राष्ट्र की भांति मूक दर्शक बना रहा। क्या इससे यह मान लिया जाय कि अमरीका की तुलना में ईरान अधिक शक्तिशाली है? कभी-कभी यह देखा गया है कि विशाल सेना और शक्ति वाले राज्य को भी विदेश नीति के क्षेत्र में सफलता हासिल नहीं होती। अमरीका वर्षों तक वियतनाम में लड़ता रहा किन्तु अन्त में उसे वहाँ से हटना पड़ा। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि अमरीकी वियतनाम की तुलना में कमजोर था। युद्ध के परिणामों से भी राष्ट्रीय शक्ति नहीं मापी जा सकती क्योंकि आजकल युद्ध में राष्ट्र अकेले नहीं लड़ते। मान लीजिए 'अ' और 'ब' दो राष्ट्र हैं जिनके बीच एक समस्या है तो उसमें हमारे लिए पहले से यह कहना कठिन है कि कौन-सा राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को प्रभावित कर सकेगा। परमाणु युग में तो शक्ति का मापन और भी कठिन है। किसी राष्ट्र की शक्ति का अनुमान इस आधार पर नहीं किया जा सकता कि उसके पास कितने परमाणु शस्त्र हैं और हमला करने की उसकी कितनी सामर्थ्य है, अपितु परमाणु शस्त्रों का प्रयोग होने अपना बचाव करने की उसकी क्षमता के आधार पर ही उसकी शक्ति नापी जा सकती है। छोटे और कमजोर राष्ट्रों का भी शक्ति संघर्ष की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपना विशिष्ट महत्व है। अमरीका और सोवियत संघ जैसी महाशक्तियाँ भी छोटे और कमजोर राष्ट्रों की मैत्री की उपेक्षा नहीं कर सकतीं। चूंकि संयुक्त राष्ट्र संघ में आज निर्णय मतदान के आधार पर होता है और महासभा में किसी छोटे राष्ट्र के मत का मूल्य भी महाशक्ति के मत के बराबर ही होता है, अतः आज अमरीका और सोवियत संघ अधिक से अधिक राष्ट्रों को अपना मित्र बनाने की प्रक्रिया में लगे हुए हैं, चाहे वह राज्य कमजोर ही क्यों न हों।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति का मूल्यांकन करते समय निम्नलिखित कारकों को ध्यान में रखना उपादेयपूर्ण है :

(1) **शक्ति के अनुमान और वास्तविकता में अन्तर**—शक्ति को नापते समय किसी राष्ट्र की वास्तविक शक्ति अनुमानित शक्ति में ज्यादा फर्क नहीं रहना चाहिए। किसी राष्ट्र की शक्ति केवल इस बात पर निर्भर नहीं करती कि वह दूसरे राष्ट्रों के व्यवहार को किस सीमा तक प्रभाविल कर पाता है बल्कि इस तथ्य पर भी निर्भर करती है कि दूसरे राष्ट्र उसकी शक्ति का क्या अन्दाजा लगाते हैं। उदाहरण के लिए, द्वितीय महायुद्ध के पूर्व इटली को एक बड़ी शक्ति माना जाता था, परन्तु युद्धकाल में यह बात स्पष्ट हो गयी कि इटली वास्तव में महाशक्ति नहीं था। यथार्थ में इटली की शक्ति का अनुमान उसकी असली शक्ति से अधिक लगाने के कारण ही द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व वह अन्य राष्ट्रों के व्यवहार को प्रभावित करता रहा था।

(2) **शक्ति का सापेक्ष होना**—शक्ति सदैव ही सापेक्ष होती है। प्रत्येक राज्य, कुछ राज्यों से अधिक शक्तिशाली, कुछ राज्यों के बराबर तथा कुछ राज्यों की तुलना में शक्तिहीन होता है। एक ही राज्य एक ही समय में एक अन्य राज्य की तुलना में बहुत अधिक शक्तिशाली तो दूसरे राज्य की तुलना में शक्तिहीन हो सकता है। जब हम यह कहते हैं कि अमरीका आजकल पृथ्वी के दो सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्रों में से एक है, तो हमारा वास्तव में यह अभिप्राय है कि यदि हम अमरीका की अन्य सभी राष्ट्रों की वर्तमान शक्ति से तुलना करें, तो मालूम होगा कि अमरीका एक को छोड़ अन्य सभी से अधिक शक्तिशाली है।

शूमां के शब्दों में; "इस प्रकार शक्ति, एक पूर्ण परिमाण होने के बजाय, सापेक्ष परिमाण ही है। किसी राज्य के लाभ का अर्थ, स्वतः ही, दूसरे को हानि होती है। और भी, प्रत्येक राज्य, समय अथवा स्थान का ध्यान में रखते हुए, अन्य सभी राज्यों से सम्बन्धित शक्ति से ही मतलब नहीं रखेगा। वरन् केवल ऐसे राज्यों से सम्बन्धित शक्ति का ध्यान रखेगा जिन्हें प्रतियोगी अथवा सम्भावित शत्रु समझा जाता है। शक्ति स्थानीय तथा सापेक्ष भी होती है। दूरी को कम करने

तथा दूर से दूर स्थानों पर शक्ति का दृढ़ता से प्रभाव डालने वाले उन्नत कला-कौशलों के युगों में भी दूरी के साथ विस्तृत करने से शक्ति की क्षमता कम हो जाती है।

शक्ति के इस सापेक्ष स्वरूप की अवहेलना करना और एक राष्ट्र की शक्ति को निरंकुश समझकर व्यवहार करना। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की बहुत ही तात्विक एवं बहुधा होने वाली भूलों में से एक है। दो विश्वयुद्धों के बीच फ्रांस की शक्ति का मूल्यांकन इसी का उदाहरण है। प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति पर सैनिक दृष्टि से फ्रांस पृथ्वी पर सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्र था। सन् 1940 की भयंकर पराजय के क्षण तक, जिसमें इसकी वास्तविक सैनिक दुर्बलता स्पष्ट हो गयी, फ्रांस को ऐसा ही समझा जाता था। सितम्बर 1939 में द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भ से लेकर 1940 के ग्रीष्म में फ्रांस की पराजय के समय तक, समाचार-पत्रों के शीर्ष लेख फ्रांसीसी सैनिक शक्ति के गलत अनुमान की कहानी अत्यधिक वाक्पटुता से कहते रहे। तथाकथित 'कृत्रिम' युद्धकाल में तो यह माना जाता था कि फ्रांस की बढ़ी-चढ़ी शक्ति के कारण जर्मन सेनाएँ उस पर आक्रमण करने का साहस नहीं करतीं और अनेक अवसरों पर फ्रांसीसियों के बारे में कहा जाता था कि उन्होंने जर्मन पंक्तियाँ तोड़ डाली हैं। इस गलत धारणा के पीछे यह गलत अनुमान था कि फ्रांस की सैनिक शक्ति दूसरे राष्ट्रों की सैनिक शक्ति के बराबर नहीं थी, वरन् पूर्ण स्वतन्त्र ही थी अपने आपमें, फ्रांस की सैनिक शक्ति, 1939 में कम से कम इतनी बढ़ी-चढ़ी थी, जितनी वह 1919 में थी, इसलिए फ्रांस 1939 में उतना सबल राष्ट्र समझा जाता, जितना कि वह 1919 में रह चुका था।

उस मूल्यांकन की सबसे अधिक घातक भूल इस तथ्य की जानकारी के अभाव में है कि 1919 में फ्रांस पृथ्वी पर केवल दूसरे राष्ट्रों की तुलना में सबसे अधिक सबल सैनिक शक्ति थी, जिनमें इसका निकटतम प्रतिस्पर्द्धी जर्मनी पराजित एवं निरस्त्र था। दूसरे शब्दों में, एक सैनिक शक्ति के रूप में फ्रांस की सर्वोच्चता फ्रांसीसी राष्ट्र की ऐसी स्वाभाविक विशेषता न थी जिसे कोई ऐसे ही पहचान सके वह जैसे फ्रांसीसी लोगों के राष्ट्रीय लक्षणों, उनकी भौगोलिक स्थिति और प्राकृतिक साधनों को निश्चयात्मक रूप से जान लेता है। इसके विपरीत, वह सर्वोच्चता शक्तियों के एक विचित्र रूप का परिणाम थी, जिसका अर्थ हुआ, एक सैनिक शक्ति के रूप में फ्रांस की दूसरे राष्ट्रों पर तुलनात्मक उत्कृष्टता। फ्रांसीसी सेना की गुणावस्था 1919 और 1939 के बीच वास्तव में घटी न थी। सेना, तोपखाने, वायुयानों की संख्या एवं गुणावस्था तथा अधिकारियों के कार्य के हिसाब से फ्रांसीसी सैनिक शक्ति का ह्रास नहीं हुआ था। इस प्रकार सर विंस्टन चर्चिल जैसे अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के चतुर विशेषज्ञ भी बाद में तीस वर्षों की फ्रांसीसी सेना की सन् 1919 की सेना से तुलना करते हुए यह घोषित कर सके कि फ्रांसीसी सेना ही अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की एकमात्र संरक्षिका है।

विंस्टन चर्चिल और उसके समकालीनों ने सन् 1937 की फ्रांसीसी सेना की तुलना उसी वर्ष की जर्मन सेना से न करके सन् 1919 की फ्रांसीसी सेना से की, जिसने उसी वर्ष अर्थात् 1919 की जर्मन सेना की समता प्राप्त करके अपनी प्रतिष्ठा स्थापित की थी। इस तुलना से स्पष्ट दिखायी पड़ता है कि 1919 में शक्तियों का जो रूप था वह बाद के बीस वर्षों में पलट गया। जहाँ फ्रांसीसी सेना संस्थापन (military establishment) 1937 में भी वैसा ही रहा जैसा वह 1919 में था, वहाँ अब जर्मन सेनाएँ फ्रांस की सेनाओं से कहीं अधिक उत्कृष्ट हो गयी थीं। वह फ्रांसीसी सैनिक शक्ति, जो पूर्ण समझी जाती थी, एकमात्र उसी पर ध्यान देने से प्रकट न हो सकी। यदि फ्रांस और जर्मनी की सापेक्ष शक्ति की तुलना की जाती तो वह तभी स्पष्ट हो जाती तथा राजनीतिक क्षेत्रों की भयंकर भूलों से बचा जा सकता था।

हान्स जे. मॉरगेन्थाऊ लिखते हैं—"जो राष्ट्र इतिहास के किसी विशेष क्षण में शक्ति के

शिखर पर पहुँच जाता है, वह बहुत आसानी से यह भूल जाता है कि सभी शक्ति सापेक्ष है। वह यह विश्वास सहज ही कर लेता है कि जो उत्कृष्टता इसने प्राप्त की वह एक स्वतन्त्र गुण है जिसे मूढ़ता अथवा कर्तव्य की उपेक्षा से ही खोया जा सकता है। ऐसी धारणाओं पर आधारित विदेश नीति को गम्भीर जोखिमें उठानी पड़ती हैं, क्योंकि वह इस तथ्य की उपेक्षा करती है कि उस राष्ट्र की उत्कृष्ट शक्ति केवल आंशिक रूप में ही उसके निजी गुणों का सम्बन्धित रूप है, जबकि वह आंशिक रूप में उस राष्ट्र तथा दूसरे राष्ट्रों के गुणों की सापेक्षता का परिणाम है।[1]

नेपोलियन के युद्धों के अन्त से लेकर दूसरे विश्व-युद्ध के प्रारम्भ तक ग्रेट ब्रिटेन की प्रधानता का प्रमुख कारण यह था कि द्वीप पर स्थित होने से वह आक्रमण से सुरक्षित था तथा विश्व के प्रमुख समुद्री रास्तों पर उसका आधा एकाधिकार था। दूसरे शब्दों में, इतिहास के उस काल में दूसरे राष्ट्रों की तुलना में ग्रेट ब्रिटेन को दो लाभ थे, जो किसी दूसरे राष्ट्रों को न थे। ग्रेट ब्रिटेन की द्वीपीय स्थिति बदली नहीं है और उसकी नौसेना संयुक्त राज्य अमरीका को छोड़कर किसी भी राष्ट्र से अधिक शक्तिशाली है। परन्तु दूसरे राष्ट्रों ने अणु नाभिकीय बम और नियन्त्रित प्रक्षेपणास्त्र जैसे अस्त्र-शस्त्र जुटा लिये हैं, जिनसे एक बड़ी सीमा तक वे दोनों लाभ, जिनसे ग्रेट ब्रिटेन की शक्ति बढ़ी थी, लुप्त हो गये। ब्रिटेन की शक्ति स्थिति में आया यह परिवर्तन द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व के वर्षों में होने वाली उस दुःखद द्विविधा पर प्रकाश डालता है, जिसका नेवायल चैम्बरलेन को सामना करना पड़ा। चैम्बरलेन ब्रिटेन की शक्ति की सापेक्षिकता को समझते थे। वे जानते थे कि युद्ध में प्राप्त विजय भी ब्रिटेन के पतन को नहीं टाल सकती। यह चैम्बरलेन के भाग्य की विडम्बना थी कि किसी भी मूल्य पर युद्ध को टालने के उनके प्रयत्नों ने युद्ध को अवश्यंभावी बना दिया और ब्रिटिश शक्ति को घातक समझकर जिस युद्ध से वे डरते थे, उसी युद्ध की घोषणा करने के लिए उन्हें विवश होना पड़ा। तथापि यह ब्रिटिश कूटनीतिज्ञता की सूझ-बूझ का प्रमाण है कि दूसरे विश्व-युद्ध के अन्त से लेकर ब्रिटिश विदेश नीति दूसरे राष्ट्रों की तुलना में अपनी शक्ति के पतन के प्रति बहुत हद तक जागरूक रही है। ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इस तथ्य से अवगत रहे हैं कि ब्रिटिश नौसेना, स्वयं में उतनी ही शक्तिशाली भले ही हो जितनी वह दस वर्ष पहले थी, चैनल उतनी ही चौड़ी और मुक्त भले ही हो, जितनी सदैव थी, किन्तु दूसरे राष्ट्रों ने अपनी शक्ति इस सीमा तक बढ़ा ली थी कि ब्रिटेन की इन दोनों सुविधाओं को बहुत हद तक बेकार कर दिया था।

(3) **तुलनात्मक स्वरूप**—राष्ट्रीय शक्ति का स्वरूप सदैव तुलनात्मक पद्धति से निर्धारित किया जाता है। जब हम किसी राष्ट्र को शक्तिशाली कहते हैं तो हमारे मस्तिष्क में उन राष्ट्रों का चित्र रहता है जो अपेक्षाकृत निर्बल होते हैं। किसी राष्ट्र को निर्बल कहते समय इसी प्रकार हमारे मस्तिष्क में शक्तिशाली राष्ट्रों की तस्वीर रहती है। राष्ट्र की शक्ति का निर्धारण इस प्रकार तुलनात्मक रूप से ही सम्भव है। ऐसा करते समय हम राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने वाले तत्वों को ध्यान में रखकर दूसरे राष्ट्र के तत्वों से उसकी तुलना करते हैं।

(4) **शक्ति की दृष्टि से दो राष्ट्र समान नहीं होते**—राष्ट्रीय शक्ति की दृष्टि से कभी भी कोई दो राष्ट्र समान नहीं हो सकते। यह उसी तरह सही है जिस तरह शक्ति की दृष्टि से कोई भी दो व्यक्ति समान नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त, राष्ट्रीय शक्ति के सभी तत्वों का महत्व समान होता है। यदि कोई राष्ट्र शक्ति के किसी एक तत्व को अधिक महत्व देकर उसके आधार पर अपनी विदेश नीति बनाये तो उसे निश्चय ही असफलता का सामना करना पड़ेगा।

(5) **शक्ति का विश्वसनीय होना**—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति का विश्वसनीय होना

1 Hans J, Margenthau, *Politics Among Nations*, 1966, p. 155.

परम आवश्यक है। जो धमकी विश्वसनीय नहीं होती उसका शक्ति के खेल में कोई अर्थ नहीं है। मान लीजिए कि राष्ट्र 'क' ने राष्ट्र 'ख' को यह धमकी दे दी कि उसकी इच्छानुसार व्यवहार न करने पर वह उसके खिलाफ बल प्रयोग करेगा और राष्ट्र 'ख' उस धमकी को गीदड़ धमकी ही समझे तो वह धमकी बिलकुल व्यर्थ है।

(6) **शक्ति की विशिष्टरूपता का महत्व**—यदि एक राष्ट्र के पास परमाणु अस्त्रों का भारी संग्रह है और उसका विरोधी यह मानता है कि वह उसका उसके विरुद्ध कभी प्रयोग कर ही नहीं सकता तो उन शस्त्रों के संग्रह का कोई महत्व नहीं है। यदि किसी राष्ट्र के पास कम विनाशकारी सामान्य शस्त्र हैं और उसका विरोधी यह मानता हो कि किसी भी समय उन शस्त्रों का उसके विरुद्ध प्रयोग किया जा सकता है तो वे कम विनाशकारी सामान्य शस्त्र परमाणु अस्त्रों से भी कहीं अधिक प्रभावक सिद्ध हो सकते है।

(7) **शक्ति परिवर्तनशील है**—शक्ति एक गतिशील वस्तु है और उसके विभिन्न तत्वों की स्थिति समयानुसार बदलती रहती है। यदि कल कोई देश सर्वोच्च शक्ति था तो आवश्यक नहीं कि आज या आने वाले समय में भी वह अपनी उसी स्थिति को बनाये रख सकेगा। इस सम्बन्ध में पामर एवं पर्किन्स ने लिखा है, "एक राज्य की सेनाओं के आकार में वृद्धि अथवा कटौती हो सकती है, उसका मनोबल गिर अथवा उठ सकता है, नेतृत्व बदल सकता है, कच्चे माल का अभाव या बाहुल्य हो सकता है, प्राविधिक प्रक्रिया में सुधार आ सकता है, युद्ध में प्रयुक्त होने वाले नवीन हथियारों का आविष्कार हो सकता है, महामारी, बाढ़ और भूचाल से उत्पादन में गिरावट आ सकती है और श्रमिकों का नाश हो सकता है तथा मनोबल गिर या टूट सकता है, सन्धियाँ की और तोड़ी जा सकती है—ये सभी अवस्थाएँ राष्ट्रीय शक्ति के अनेक अथवा एक तत्वों को प्रभावित करने की क्षमता रखती हैं और इस प्रकार किसी भी राष्ट्र की शक्ति स्थिति में परिवर्तन का कारण बन सकती हैं।"[1]

शक्ति : मूल्यांकन की विशेष भूलें
(POWER : TYPICAL ERRORS OF EVALUATION)

प्रो. मॉरगेन्थाऊ ने शक्ति के मूल्यांकन के सन्दर्भ में तीन विशेष भूलों की ओर संकेत किया है। **प्रथम** भूल यह है कि जब एक राष्ट्र स्वयं एक निरंकुश शक्ति बन बैठता है और दूसरी शक्तियों के सापेक्ष महत्व की अवहेलना करता है। **दूसरी** भूल यह है कि जब कोई राष्ट्र अतीत काल में निश्चित रूप से महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करने वाले अपने किसी एक शक्ति तत्व को ही स्थायी मान बैठता है और उस गतिमय परिवर्तन की उपेक्षा करता है जो अधिकांश शक्ति तत्वों को शामिल करता है। **तीसरी** भूल तब होती है जब कोई राष्ट्र अपने किसी एक ही शक्ति तत्व को निर्णयात्मक महत्व देता है और अन्य शक्ति तत्वों की परवाह नहीं करता। दूसरे शब्दों में, "प्रथम भूल, एक राष्ट्र की शक्तियों का अन्य राष्ट्रों की शक्तियों के साथ सामंजस्य स्थापित न करने में निहित है; दूसरी भूल, एक समय की वास्तविक शक्ति का भविष्य की सम्भाव्य शक्ति से सामंजस्य स्थापित न करने में है और तीसरी भूल, एक ही राष्ट्र के एक शक्ति तत्व का उसी राष्ट्र के अन्य शक्ति तत्वों के साथ सामंजस्य स्थापित करने में है।"[2]

1 Norman D. Palmer, Howard C. Perkins, *International Relations*, (Third edition, Calcutta), p. 80.

2 "In other words, the first error consists is not correlating the power of one nation to the power of the other nations. The second consists in not correlating actual power at one time to possible power at some future time, and the third consists in not correlating one power factor to others of the same nation." —Morgenthau, *Ibid.*, p. 153,

शक्ति के आधार पर राज्यों का वर्गीकरण
(POWER BASED CLASSIFICATION OF STATES)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में 160 से भी कहीं अधिक राज्य गतिमान हैं। शक्ति के आधार पर इनमें से कुछ राष्ट्र बड़े राष्ट्र कहलाते हैं और कुछ छोटे राष्ट्र। डेविड वाइटल के अनुसार, किसी देश के क्षेत्रफल और उनकी जनसंख्या के आधार पर यह निश्चित किया जा सकता है कि वह देश बड़ा है या छोटा राष्ट्र। बड़े और छोटे राष्ट्रों की श्रेणी के अतिरिक्त विभिन्न राष्ट्रों को शक्ति के आधार पर चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। पहली श्रेणी महाशक्तियों (Great Powers) की है। महाशक्ति उस देश को कह सकते हैं जिसके नीति-निर्माता यह समझते हैं कि वह देश अकेला ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर निर्णायक रूप से प्रभाव डाल सकता है। दूसरी श्रेणी उप-महाशक्ति (Secondary Powers) की है। उप-महाशक्ति उस देश को कहा जायेगा जिसके नीति-निर्माता यह समझते हैं कि उनका देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर कुछ प्रभाव तो डाल सकता है; चाहे वह प्रभाव निर्णायक न हो। तीसरी श्रेणी माध्यमिक शक्ति (Middle Powers) की है। जिस राष्ट्र के नेता यह समझते हों कि उनका देश अकेला अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित नहीं कर सकता और प्रभावक की भूमिका अदा करने के लिए उसे अन्य देशों के साथ मिलकर कार्य करना पड़ सकता है तो उसे माध्यमिक शक्ति कहा जायेगा। चौथी श्रेणी लघु शक्ति (Small Power) की है। जिस देश के नीति-निर्माता यह मानते हों कि उनका देश न तो अकेला अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित कर सकता है और न किन्हीं अन्य राष्ट्रों के साथ मिलकर ही प्रभाव बन सकता है तो उसे लघु शक्ति कहा जायेगा।[1]

शक्ति के आधार पर राज्यों के वर्गीकरण हेतु 'महाशक्ति' के संप्रत्यय का भी चलन हुआ है। इस संप्रत्यय का जन्म 1815 के वियना सम्मेलन में हुआ और इसलिए इसे 19वीं शताब्दी की अवधारणा कहा जाता है। इस संप्रत्यय के आधार पर राष्ट्रों को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—महाशक्ति (Great Power) तथा महानतम शक्ति (Super Power)। सोवियत संघ और अमरीका महानतम् शक्तियों की श्रेणी में आते हैं और फ्रांस, ब्रिटेन, चीन, भारत, जापान, जर्मनी आदि महाशक्तियों की श्रेणी में आते हैं। महाशक्ति से हमारा अभिप्राय किसी ऐसे राष्ट्र से होता है जो किसी दूसरे राष्ट्र या राष्ट्रों पर अपनी इच्छा तो थोप सके परन्तु उन दूसरे राष्ट्रों का उस पर कोई प्रभाव न हो। अमरीका और सोवियत संघ जैसी महानतम् शक्तियों के प्रादुर्भाव से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ऐसी अनेक महाशक्तियाँ थीं जो छोटे राष्ट्रों पर अपनी इच्छा लाद सकती थीं। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद द्विध्रुवीय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अभ्युदय हुआ। अमरीका और सोवियत संघ की सैन्य-शक्ति इतनी अधिक बढ़ गयी कि उनको एक विशिष्ट श्रेणी में रखना आवश्यक हो गया। यह विशिष्ट श्रेणी 'महानतम शक्ति' की श्रेणी है। चीन इस विशिष्ट श्रेणी में प्रवेश पाने का प्रयत्न कर रहा है। वह आणविक शक्ति और हाल में ही प्रक्षेपणास्त्रों का विकास कर चुका है। यथाशीघ्र अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विश्लेपक चीनी शक्ति का मूल्यांकन करके उसे अमरीका और सोवियत संघ की श्रेणी में रखने का निर्णय ले सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सोवियत संघ और अमरीका की भाँति चीन भी अपनी इच्छा छोटे राज्यों पर निर्द्वन्द्व होकर लादने लगा है। उसके क्रिया-कलापों पर जापान, भारत, ब्रिटेन आदि कोई भी बन्धन नहीं लगा सकते।

रांके के अनुसार केवल उसी देश को महाशक्ति कहा जा सकता है जो युद्ध में अन्य सभी देशों की सम्मिलित शक्ति का विजयपूर्ण स्थिति में रहकर मुकाबला कर सकता हो। इस

---

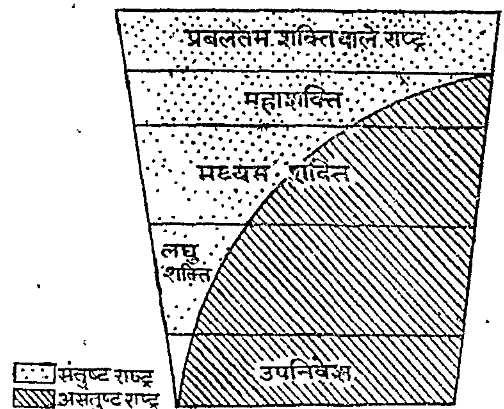
1 Robert O. Keohane, "Liliputians Dilemmas : Small States in International Politics" *International Organisation* (Boston). Vol. 23 (1969), p. 296.

परिभाषा के अनुसार न तो अमरीका को महाशक्ति कहा जा सकता है और न सोवियत संघ को ही, क्योंकि दोनों देश इस बात का दावा नहीं कर सकते कि वे विश्व के अन्य सभी देशों के विरुद्ध लड़े जाने वाले युद्ध में केवल अपनी निजी शक्ति के आधार पर विजयी होने की क्षमता रखते हैं।

ऐसा भी कहा जाता है कि 'महानतम् शक्ति' (Super Power) का संप्रत्यय निरर्थक है। आज ब्रिटेन, फ्रांस चीन का वह दर्जा नहीं है जो शक्ति की दृष्टि से अमरीका और सोवियत संघ को प्राप्त है। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद भले ही ब्रिटेन और फ्रांस सुरक्षा परिषद् के सदस्य हों किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महाशक्ति की भूमिका निभाने में असमर्थ रहे हैं। एक तरफ अमरीका और सोवियत संघ की शक्ति और दूसरी तरफ ब्रिटेन और फ्रांस की शक्ति में काफी अन्तर है। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद वही राष्ट्र महाशक्ति कहला सकता है जिसके पास किन्हीं अन्य राष्ट्रों के विरोध के बावजूद अपनी इच्छा दूसरे राष्ट्रों पर थोपने की क्षमता हो। यह क्षमता केवल अमरीका और सोवियत संघ (थोड़ी बहुत चीन में) में ही है; अतः उन्हें महाशक्ति (Great Power) कहा जाना चाहिए, न कि महानतम शक्ति (Super Powers)। हम ब्रिटेन और फ्रांस को महाशक्ति कहने की भूल इसलिए कर बैठते हैं कि द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह किया था।

आर्गेन्स्की ने अपनी पुस्तक 'वर्ल्ड पालिटिक्स' (*World Politics*) में शक्ति के आधार पर राज्यों को चार भागों में बाँटा है—(i) शक्तिशाली और सन्तुष्ट राष्ट्र (The Powerful and Satisfied); (ii) शक्तिशाली और असन्तुष्ट राष्ट्र (The Powerful and Dissatisfied); (iii) कमजोर और सन्तुष्ट राष्ट (The Weak and Satisfied); और (iv) कमजोर और असन्तुष्ट राष्ट्र (The Weak and Dissatisfied)।

शक्तिशाली और सन्तुष्ट राष्ट्र वे राष्ट्र हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को नियन्त्रित करते हैं। वर्तमान में अमरीका, इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, इटली और जापान को इस श्रेणी में लिया जा सकता है। ये राष्ट्र वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था से सन्तुष्ट हैं। दूसरे प्रकार के राष्ट्र शक्तिशाली तो है किन्तु वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था से असन्तुष्ट हैं और उसमें आमूल-चूल परिवर्तन चाहते हैं। चीन को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। शक्तिशाली असन्तुष्ट राष्ट्र विश्व-युद्ध की शुरूआत कर सकते हैं। तीसरे श्रेणी के राष्ट्र मध्यम शक्तियाँ हैं किन्तु वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था से सन्तुष्ट हैं। कनाडा, आस्ट्रेलिया, अर्जेण्टाइना को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। इन राज्यों से विश्व-व्यवस्था को कोई खतरा नहीं है।



चतुर्थ श्रेणी में वे राज्य आते हैं जो वर्तमान विश्व-व्यवस्था से पूर्णतया असन्तुष्ट हैं परन्तु उनके पास इतनी शक्ति नहीं है कि व्यवस्था को बदल सकें। एशिया और अफ्रीका के नवस्वतन्त्र देश इस श्रेणी में आते हैं। संलग्न चित्र द्वारा आर्गेन्स्की ने शक्ति के आधार पर राज्यों को श्रेणीबद्ध किया है।

शक्ति-शून्य की अवधारणा (The Concept of Power Vaccum)—विश्व के किसी भूभाग, महाद्वीप या क्षेत्र विशेष में महाशक्ति की अनुपस्थिति अथवा महाशक्ति का हटना 'शक्ति-शून्य (Power Vaccum) उत्पन्न करना है। महाशक्ति की उपस्थिति से उस भू-भाग में राज-

नीतिक स्थिरता का परिचायक माना जाता है। महाशक्ति की अनुपस्थिति से शक्ति शून्यता की स्थिति उत्पन्न होती है, जिसका परिणाम होता है—अन्य शक्तियों के बीच प्रतिस्पर्द्धा, युद्ध और राजनीतिक अशान्ति एवं अस्थिरता।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जब ब्रिटेन ने दक्षिण और दक्षिण-पूर्वी एशिया से अपने सैनिक बेड़े हटाने का निर्णय किया तो ऐसा माना जाने लगा कि इस भू-भाग में 'शक्ति-शून्य' पैदा हो जायेगा। हो सकता है कि साम्यवादी चीन इस शक्ति शून्य को भरने का प्रयत्न करे। अमरीका की यही चिन्ता थी कि कहीं इस क्षेत्र के राज्य चीन के प्रभाव क्षेत्र में न आ जायें? इसी कारण अमरीका ने 'सीटो' (SEATO) संगठन का निर्माण किया, वियतनाम में अमरीकी उपस्थिति इसी मनोभावना का परिचायक थी।

ट्रूमैन सिद्धान्त 'शक्ति शून्यता' की अवधारणा पर आधारित था। बात यह थी कि अमरीका के कथनानुसार मध्यपूर्व में ब्रिटिश प्रभाव के घट जाने से एक 'राजनीतिक शून्यता' कायम हो गयी थी और सोवियत संघ इस परिस्थिति से लाभ उठाना चाहता था। यह ब्रिटिश प्रभाव को समाप्त कर स्वयं इस क्षेत्र में अपना प्रभुत्व कायम करना चाहता था। इसके पहले तुर्की और यूनान की सहायता के नाम पर स्वयं अमरीका इस क्षेत्र में घुस जाना चाहता था।

आइजनहावर सिद्धान्त भी इसी अवधारणा पर आधारित था। 1956 का स्वेज युद्ध पश्चिम एशिया के इतिहास में वर्तन बिन्दु माना जा सकता है। इसने इस क्षेत्र में ब्रिटेन और फ्रांस के बचे-खुचे प्रभाव को सदा के लिए खत्म कर दिया। पश्चिम एशिया में सोवियत प्रभाव को बढ़ते देख अमरीका में घोर चिन्ता और निराशा हुई। अमरीका ने तो इस बात को कभी माना ही नहीं कि इस क्षेत्र की असल समस्या राष्ट्रवाद की है। अतएव, उसने अरब राष्ट्रवाद की उपेक्षा करते हुए शक्ति रिक्तता (Power Vaccum) के सिद्धान्त को मान्यता दी। इसका तात्पर्य यह था कि ब्रिटिश प्रभाव के हट जाने से इस क्षेत्र में एक तरह की राजनीतिक शून्यता आ गयी है और इस कारण इस बात का खतरा बढ़ गया है कि लन्दन द्वारा रिक्त किया गया स्थान कहीं मास्को न ले ले। अतएव, इस स्थिति का सामना करने के लिए 5 जून, 1956 को राष्ट्रपति आइजनहावर ने पश्चिम एशिया के सम्बन्ध में एक नीति की घोषणा की जिनको आइजनहावर सिद्धान्त कहते हैं।

शक्ति की अवधारणा : आलोचनात्मक मूल्यांकन
(THE POWER CONCEPT : CRITICAL APPRAISAL)

दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसेल वह पहला प्रमुख चिन्तक है जिसने राजनीति में शक्ति के स्थान की कड़े से कड़े शब्दों में भर्त्सना की है।[1] रसेल का विश्वास था कि मानव की स्वाधीनता के लिए धन की समानता अथवा वितरण से अधिक महत्व उस समानता का था जो शक्ति के वितरण से प्राप्त होती है। वह मानता था कि राज्य में, चाहे वह पूँजीवादी हो अथवा साम्यवादी, राजनीतिक शक्ति का केन्द्रीयकरण मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण से कहीं अधिक घातक था। बर्ट्रेण्ड रसेल मानता था कि जहाँ जिस मात्रा में भी शक्ति का प्रयोग होता है वहाँ उसी मात्रा में भी, स्वतन्त्रता समाप्त होती जाती है। बर्ट्रेण्ड रसेल ने मानव प्रकृति के मनो-

---

1 अपनी 'फ्री मैंस वर्शिप' से लेकर, जो लन्दन में 1912 में प्रकाशित हुई थी; 'अथोरिटी एण्ड दि इण्डिविजुएल' लन्दन, जार्ज एलेन एण्ड अनविन, 1939 के रूप में प्रकाशित 'रीथ व्याख्यानमाला' तक बर्ट्रेण्ड रसेल ने शक्ति के विरोध में अपना अभियान जारी रखा, परन्तु केवल अपनी 'पॉवर : ए न्यू सोशल एनालिसिस', लन्दन, जार्ज एलेन एण्ड अनविन, 1937 नाम की पुस्तक में उसने शक्ति की संकल्पना का विस्तार से विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है।

वैज्ञानिक विश्लेषण के द्वारा शक्ति के विरुद्ध दिये गये अपने तर्कों का समर्थन किया।[1] वह मानता था कि राज्य की शक्ति में वृद्धि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी उतनी ही खतरनाक थी जितनी घरेलू राजनीति के क्षेत्र में। वह उन्हें भी जो उसका प्रयोग करते हैं, उतना ही नुकसान पहुँचाती है, जितना उन्हें जिनके विरुद्ध उसका प्रयोग किया जाता है। एक स्थान पर उसने लिखा है, "शक्ति के प्रयोग की आदत प्रतिस्पर्द्धा की प्रवृत्ति अथवा आवेश को दृढ़ बनाती है, इस कारण वह राज्य जिसमें शक्ति का केन्द्रीयकरण होता है। उस राज्य की तुलना में जिसमें वह विकीर्ण होता है, अधिक युद्धप्रिय होता है।"[2]

एडमण्ड बर्क ने 1793 में शक्ति के उच्च शिखर पर खड़े अपने देश ब्रिटेन को स्पष्ट चेतावनी दी थी, "महत्वाकांक्षाओं को सीमित रखना होता है। मैं स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि मैं अपनी राष्ट्रीय शक्ति तथा महत्वाकांक्षा से स्वयं भयभीत हूँ....मानव होने के नाते हम उसका दुरुपयोग कर सकते हैं....अन्य राष्ट्र हमसे भयभीत हैं....इस अवस्था में अवश्य विरोध होगा। कभी न कभी राष्ट्रों का एक समूह ऐसा उठेगा जो हमें चुनौती देगा और हमारा नाश कर देगा।"[3]

शक्ति के संप्रत्यय पर हाल के वर्षों में गम्भीर आक्षेप किये गये हैं। किन्तु ये आक्षेप न तो इस आदर्शवादी विचार से प्रेरित हैं कि शक्ति बुरी चीज है और न लार्ड ऐक्टन के इस विचार से कि शक्ति मनुष्यों एवं राष्ट्रों को भ्रष्ट बनाती है। शक्ति के संप्रत्यय की आलोचना का मूल कारण यह है कि इसे अधिक से अधिक वैज्ञानिक कैसे बनाया जाये? शक्ति के संप्रत्यय की सबसे बड़ी कमजोरी इसकी अस्पष्टता है। जेम्स मार्च के अनुसार, शक्ति का एक निराशाजनक संप्रत्यय है।' स्प्राउट एण्ड स्प्राउट का कथन है कि "यदि शक्ति शब्द को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के शब्दकोश से बिलकुल निकाल फेंका जाय तो शायद राज्यों के सम्बन्धों के बारे में अधिक स्पष्ट ढंग से विचार करना सम्भव होगा।"[4]

शक्ति संप्रत्यय की चाहे कितनी ही निन्दा की जाय, फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राज्यों की विदेश नीति के निर्धारण में 'शक्ति' आज भी बुनियादी तत्व है। अपनी शक्ति कम आँकने से और दूसरों की शक्ति अधिक आँकने से शान्ति और यथापूर्व स्थिति (Policy of Status quo) की नीतियाँ अपनाने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती हैं और अपनी शक्ति अधिक तथा दूसरों की शक्ति कम आँकने से युद्ध और परिवर्तन की नीति अपनाने की प्रवृत्ति पैदा होती है।[5]

प्रश्न

1. राजनीतिक सन्दर्भ में शक्ति का अर्थ है—मनुष्य की शक्ति जो दूसरे मनुष्यों के मस्तिष्क और कार्यों पर प्रभावी हो।' (मॉर्गेन्थाऊ)
   विवेचना कीजिए।
   "Power in political context means, the power of man over the minds and actions of other man." (Morgenthau)
   Discuss.
2. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की शब्दावली में उक्ति एक बहुत ही सामान्य शब्द है। राज्यों को शक्तियाँ कहा जाता है और विश्व शक्तियों, महाशक्तियों, द्वितीय श्रेणी की शक्तियों, दुर्बल

---

[1] बर्ट्रेण्ड रसेल, ह्यूमन नेचर इन ईथिक्स एण्ड पॉलिटिक्स, लन्दन, जार्ज एलेन एण्ड अनविन।

[2] बर्ट्रेण्ड रसेल, प्रिंसिपल ऑफ सोशल रिकन्सट्रक्शन, लन्दन, जार्ज एलेन एण्ड अनविन; 1920, पृ. 47।

[3] Edmund Burke—*Remarks on the Policy of the Allies*, with respect to France works, Vol: IV (Boston, Little Brown and Company, 1899), p. 457.

[4] Harold Sprout and Margarget Sprout, *Foundations of International Politics*, p. 141.

[5] महेन्द्रकुमार, उपर्युक्त, पृ. 230-31।

शक्तियों आदि के रूप में वर्गीकृत किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक समाज में शक्ति के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया गया है।" (हैरल्ड एवं स्प्राउट)

स्पष्ट रूप से व्याख्या कीजिए।

"Power is one of the most common terms in the vocabulary of international politics. States are called powers and classified as super powers, world powers, great powers, second rate powers, weak powers etc. International Politics has been defined as the study of power in a society."

(Herald & Sprout)

Elucidate.

3. राष्ट्रीय शक्ति के मूल्यांकन में, पहली त्रुटि होती है एक राष्ट्र की शक्ति का दूसरे राष्ट्र की शक्ति के साथ सम्बन्ध स्थापित न करना, दूसरी एक समय पर वास्तविक शक्ति का भविष्य में सम्भावित शक्ति के साथ सम्बन्ध स्थापित न करना, तीसरी यह है कि एक ही राष्ट्र में एक शक्ति तत्व का दूसरे शक्ति तत्व के साथ सम्बन्ध स्थापित न करना।"

(मॉरगेन्थाऊ)

स्पष्टीकरण कीजिए।

"In the evaluation of national power, "the first error consists in not correlating the power of one nation to the power of other nations, the second consists in not correlating actual power at one time to possible power at some future time, and the third consists in not correlating one power factor to others of the same nation." (Morgenthau)

Elucidate.

9

राष्ट्रीय शक्ति का सार एवं तत्व (गैर-मानवीय तत्व)

[ESSENCE AND ELEMENTS OF NATIONAL POWER (LAND AND ITS RESOURCES)]

आधुनिक प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार को शक्ति (Power) के आधार पर समझने की है। प्रत्येक राष्ट्र द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सम्पन्न किया गया प्रत्येक कार्य प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से शक्ति प्राप्त करने, उसका प्रदर्शन करने और शक्ति की अभिवृद्धि करने से सम्बन्ध रखता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की बहुधा परिभाषा ही 'शक्ति के लिए संघर्ष' के रूप में की जाती है। शक्ति से हमारा तात्पर्य उस शक्ति से है, जिसे मनुष्य अन्य मनुष्यों के मस्तिष्क तथा कार्यों पर प्रयुक्त करते हैं। यह बात तो आसानी से समझ में आ जाती है कि व्यक्ति शक्ति की चाह रखता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि हम उस सामूहिक व्यक्तित्व की शक्ति की चाह को कैसे समझा सकते हैं, जिसे राष्ट्र कहा जाता है?

राष्ट्रीय शक्ति क्या है?
(WHAT IS NATIONAL POWER ?)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों ने राष्ट्रीय शक्ति को राष्ट्र का एक सबसे बड़ा केन्द्र बिन्दु माना है जिसके चारों ओर उसकी विदेश नीति के विभिन्न पहलू चक्कर काटते रहते हैं। मारगेन्थाऊ के अनुसार, राष्ट्रीय शक्ति राष्ट्र की वह शक्ति है जिसके आधार पर कोई व्यक्ति दूसरे राष्ट्रों के कार्यों, व्यवहारों और नीतियों पर प्रभाव तथा नियन्त्रण रखने की चेष्टा करता है। यह राष्ट्र की वह क्षमता है जिसके बल पर वह दूसरे राष्ट्रों से अपनी इच्छा के अनुरूप कोई कार्य करा लेता है।[1] पेडलफोर्ड तथा लिंकन के अनुसार, यह शब्द (राष्ट्रीय शक्ति शब्द) राष्ट्रीय शक्ति की भौतिक और सैनिक शक्ति तथा सामर्थ्य का सूचक है.....राष्ट्रीय शक्ति को हम शक्ति एवं सामर्थ्य का वह योग मान सकते हैं जो एक राज्य अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए तथा राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उपयोग में लाता है।[2] हार्टमैन के शब्दों में, राष्ट्रीय शक्ति में यह बोध होता है कि अमुक राष्ट्र कितना शक्तिशाली अथवा निर्बल है या अपने राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति करने की दृष्टि से उसमें कितनी क्षमता है।[3] आर्गेन्स्की लिखते हैं कि 'अपने हितों के अनुकूल दूसरे राष्ट्रों के व्यवहार को प्रभावित करने की योग्यता का नाम शक्ति है। जब तक कोई

1 Hans J. Morgenthau, *Politics Among Nations*, pp. 28-29.
2 Padelford & Lincoln, *International Politics*, p. 250.
Hartman, *The Relations of Nations*, p. 10.

राष्ट्र यह नहीं कर सकता, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, चाहे वह कितना ही सम्पन्न क्यों न हो, परन्तु उसे शक्तिशाली नहीं कहा जा सकता।[1] जार्ज शर्वनजनबर्जर ने शक्ति को अपनी इच्छा का दूसरों पर आरोपीकरण तथा अपालन की स्थिति में प्रभावकारी अनुशासनात्मक कार्यवाही करने की क्षमता कहा है। हॉस के शब्दों में, शक्ति वह बल है जो राष्ट्र अपने हित की पूर्ति के लिए दूसरे राष्ट्र पर डालता है।

राष्ट्रीय शक्ति के तत्व
(ELEMENTS OF NATIONAL POWER)

राष्ट्रीय शक्ति मूल रूप से सैनिक शक्ति ही है, किन्तु इस शक्ति की रचना में अनेक तत्व कार्य करते हैं और इसलिए वे भी शक्ति के घटक तत्व कहे जा सकते हैं।

वे तत्व क्या हैं जिनसे राष्ट्र शक्तिशाली बनता है। एक शक्तिशाली राज्य की कल्पना करते ही एक विशाल क्षेत्र, अतुल जनसंख्या, धन बाहुल्य, प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता, विकसित औद्योगिक संस्थान, उर्वरता, असीम सैनिक शक्ति, आधुनिकतम दृष्टि से संगठित सेनाओं का ध्यान आता है तथापि इनमें से कोई भी तत्व अकेला या सामूहिक रूप से भी शक्ति का निर्माण नहीं करता। ब्राजील आकार में बहुत बड़ा है, यथार्थ में उसका आकार सं. रा. अमरीका से भी बड़ा है, पाकिस्तान और बंगला देश के पास बहुत बड़ी जनसंख्या है, बेल्जियम औद्योगिक दृष्टि से बहुत विकसित है और स्विट्जरलैण्ड के पास आधुनिक सेना है, परन्तु उपरोक्त किसी भी राष्ट्र को शक्तिशाली नहीं कहा जा सकता। विशाल क्षेत्र और जनसंख्या होते हुए भी सन् 1940 तक चीन अत्यन्त कमजोर राष्ट्र था। आज चीन विश्व की प्रमुखतम शक्ति बन गया है। चीन के क्षेत्रफल, जनसंख्या अथवा औद्योगिक शक्ति में कोई व्यापक बुनियादी परिवर्तन न होते हुए चीन शक्तिहीन राष्ट्र से शक्तिशाली राष्ट्र बन गया क्योंकि साम्यवादी शासन में इन संसाधनों के प्रयोग का लक्ष्य बदल गया है। अतः केवल संसाधनों का होना मात्र शक्ति नहीं है वरन् उसका इस प्रकार से उपयोग करना कि वे दूसरे राज्यों को प्रभावित कर सकें, तभी शक्ति का अहसास होता है।

राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों को मोटे तौर से तीन वर्गों में बांटा जा सकता है: प्राकृतिक, सामाजिक और प्रत्ययात्मक। प्राकृतिक तत्वों में भौगोलिक विशेषताएँ, प्राकृतिक साधन और जनसंख्या आते हैं। सामाजिक तत्वों में आर्थिक विकास, राजनीतिक ढांचा और राष्ट्रीय मनोबल आते हैं। प्रत्ययात्मक तत्वों में नेतृत्व वर्ग के आदर्श, बुद्धि और दूरदर्शिता आते हैं।

मॉरगेन्थाऊ ने राष्ट्रीय शक्ति के दो प्रकार के तत्वों का उल्लेख किया है—वे तत्व जो कि सापेक्ष दृष्टि से स्थायी हैं तथा वे जो निरन्तर परिवर्तन से प्रभावित रहते हैं। इन दोनों वर्गों में समाविष्ट राष्ट्रीय शक्ति के तत्व मॉरगेन्थाऊ के अनुसार नौ हैं—भूगोल, प्राकृतिक साधन, औद्योगिक क्षमता, सैनिक तैयारियाँ जनसंख्या, राष्ट्रीय चरित्र, राष्ट्रीय मनोबल, कूटनीति का गुण और सरकार का गुण।

विलियम एब्रिन्स्टीन के विचार में, राष्ट्रीय शक्ति, जनसंख्या, कच्चे माल अथवा ऐसे ही अन्य संसाधनों के योग से भिन्न होती है। एक राष्ट्र की शक्ति केवल मात्रात्मक न होकर गुणात्मक होती है जो मित्रराष्ट्रों की संख्या, नागरिकों की देशभक्ति, उनके मनोबल, संस्थाओं के लचीलेपन, तकनीकी ज्ञान, रहस्यों को गुप्त रखने तथा कष्ट सहन की क्षमता जैसे अमूर्त गुणों का परिणाम होती है।

स्टीफन बी. जोन्स ने राष्ट्रीय शक्ति के निर्माणक तत्वों का वर्गीकरण इस प्रकार किया

1 Organski *World Politics*, p. 96.

है (i) भौगोलिक संसाधन यथा आकार, जलवायु, स्थल रूपरेखा आदि। (ii) प्राकृतिज संसाधन यथा खनिज पदार्थ, कच्चा माल, उपज आदि। (iii) मानवीय संसाधन यथा जनसंख्या, राष्ट्रीय जाति विन्यास आदि। (iv) सामग्री संसाधन यथा भण्डार, शस्त्र सामग्री, पूंजी तथा राष्ट्रीय आय।

पामर तथा पर्किन्स ने राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों को गैर-मानवीय (Land and its Resources) तथा मानवीय (People and their genius) वर्गों में विभाजित किया है। गैर-मानवीय तत्वों में भूगोल तथा प्राकृतिक साधनों को शामिल किया गया है तथा मानवीय तत्वों में जनसंख्या, तकनीकी ज्ञान, विचारधाराएँ, मनोबल और नेतृत्व को शामिल किया गया है।

1. भूगोल
(GEOGRAPHY)

राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों में भूगोल सबसे अधिक स्थायी तत्व माना गया है। भूगोलमूलक राजनीति के विद्वान कहते हैं कि शक्ति का मुख्य अवयव भूगोल है और किसी राष्ट्र की जड़ उस राष्ट्र के भूगोल में होती है।[1] नेपोलियन ने एक बार कहा था कि "एक देश की विदेश नीति उसके भूगोल द्वारा निधारित होती है।" हाल्फोर्ड जे० मैकिण्डर ने भूगोल कांफ्रेंस लन्दन में 25 जनवरी, 1904 में अपने प्रसिद्ध शोधपत्र 'इतिहास की भौगोलिक धुरी' पढ़ते हुए स्पष्ट कहा था कि विश्व राजनीति में भौगलिक प्रभाव व्यापक हैं। आज सारा विश्व भौगोलिक दृष्टि से इतना सीमित हो उठा है कि एक भूखण्ड में हुए सामाजिक, राजनीतिक परिवर्तन किसी भौगोलिक शून्य में विलीन न होकर सारे भूमण्डल को प्रभावित करेंगे। इस दृष्टि से विश्व राजनीति के अध्ययन में राजनीतिक, आर्थिक तथा मानवीय भूगोल के साथ-साथ भौतिक भूगोल का भी अध्ययन करना होगा।

भूगोल राष्ट्रों की शक्ति के लिए एक आधारभूत ढांचा प्रस्तुत करता है। सबसे महत्वपूर्ण भौगोलिक घटक हैं—किसी देश का क्षेत्रफल, उसकी जलवायु, स्थलाकृति और उसकी अवस्थिति। भूगोल से सम्बन्धित इन्हीं चार घटकों का यहाँ विवेचन किया जाना आवश्यक है :

(1) **क्षेत्रफल** (Size)—राष्ट्रीय भूमि का आकार स्वयं में एक शक्ति का तत्व है। श्लाइचर के अनुसार, अन्य बातों के समान होने पर एक देश जितना बड़ा होगा उसकी सुरक्षात्मक शक्ति उतनी ही अधिक होगी। क्षेत्र के विस्तृत होने से राष्ट्र की शक्ति में दो प्रकार से वृद्धि होती है—एक तो बड़े क्षेत्र वाला राष्ट्र अधिक जनसंख्या सम्भाल सकता है और दूसरा उसके पास प्राकृतिक सम्पदा भी अधिक और विविध प्रकार की हो सकती है। राष्ट्र का वड़ा आकार उसे निश्चित रूप से कुछ सैनिक लाभ भी पहुँचाता है। सन् 1937 और 1945 में जापान चीन को उसके विशाल आकार के कारण ही नहीं कुचल सका। अपने बड़े आकार के कारण ही रूस ने सन् 1912 में नेपोलियन के विरुद्ध और द्वितीय विश्वयुद्ध के समय नाजी जर्मनी के विरुद्ध सफलतापूर्वक अपनी रक्षा की। बड़े क्षेत्रफल वाले राष्ट्र आक्रमणकारी के सामने आत्म-समर्पण किये बिना पीछे हट सकते हैं। यदि आक्रान्त देश का आकार सुविशाल है तो आक्रमणकारी के सामने बहुत-सी कठिनाइयाँ, जैसे संचार और यातायात, आवश्यक वस्तुएं उपलब्ध कराने आदि की उत्पन्न हो जाती हैं यदि आक्रमणकारी देश के किसी भाग पर अधिकार कर लेता है तो वह स्थायी और प्रभावकारी नहीं हो सकता। यह कोई आकस्मिक बात नहीं है कि आधुनिक विश्व की दो महानतम शक्तियों—

1 Harold Sprout and Margaret Sprout, *Foundations of International Politics* (New York. 1962), pp. 287-364,

अमरीका और सोवियत संघ—का ही क्षेत्रफल बहुत बड़ा है। बड़े क्षेत्रफल वाले देशों को ही महाशक्ति का दर्जा मिलने की अधिक सम्भावना रहती है। लक्जमबर्ग, भूटान, नेपाल, स्वीडन आदि देश महाशक्ति बनने का कभी सपना नहीं सँजो सकते चूंकि क्षेत्रफल की दृष्टि से ये बहुत छोटे-छोटे देश हैं।

परन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि राष्ट्रों का आकार मात्र उनकी शक्ति के निर्माण के लिए पर्याप्त है। जब हम बड़े क्षेत्रफल की आवश्यकता पर बल देते हैं तो हमारा अभिप्राय यही है कि क्षेत्रफल उपयोगी होना चाहिए। जंगलों से भरा ब्राजील, रेगिस्तानों से भरा आस्ट्रेलिया, जमे हुए बर्फ का वीरान इलाकों वाला कनाडा क्षेत्र की दृष्टि से बहुत बड़े राष्ट्र हैं, किन्तु इससे उनकी राष्ट्रीय शक्ति में वृद्धि नहीं हो जाती। कनाडा और ब्राजील आकार की दृष्टि से संसार के तीसरे और चौथे राष्ट्र हैं परन्तु शक्ति की दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए हैं। जब हम अधिक क्षेत्र की चर्चा करते हैं तो हमारा अभिप्राय है कृषि योग्य भूमि का विस्तार, कच्चे माल की अधिकता एवं विविधता तथा अधिक जनसंख्या पालने की क्षमता रखने वाला क्षेत्र।

एक ओर बड़ा आकार शक्ति देता है तो दूसरी ओर शक्ति आकार को बढ़ाती है। पर आकार तथा शक्ति में कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। जापान ने 1905 में रूस को पराजित किया था अथवा दूसरे महायुद्ध में (1942 में) अपने लघु आकार के उपरान्त भी जापान अपना काफी विस्तार करने में सफल हुआ था। 1904 में रूस की विशालता ही उसके सैनिक संचालन में बाधक बन गयी, पर 1812 में रूस का विशाल क्षेत्र नेपोलियन को पराजित करने में आवश्यक तत्व था। जापान की लघुता द्वितीय विश्वयुद्ध में उसकी पराजय का कारण बनी क्योंकि अमरीका के लिए उसके आर्थिक औद्योगिक केन्द्रों को नष्ट करना आसान था।

संक्षेप में, विशाल क्षेत्रफल या आकार से कोई राष्ट्र शक्तिशाली नहीं बन जाता। सहारा जैसे विशाल आकार वाले रेगिस्तानी राष्ट्र से तो जापान और बेल्जियम भी अधिक शक्तिशाली है। क्षेत्र का महत्व प्रक्षेपणास्त्रों के इस युग में घटता जा रहा है। फिर भी आकार शक्ति का एक अप्रत्यक्ष स्रोत है क्योंकि वह अधिक जनसंख्या, सेनाओं, औद्योगिक संस्थानों तथा प्राकृतिक संसाधनों के बाहुल्य की क्षमता को बढ़ाती है।

तालिका : 1

क्षेत्रफल की दृष्टि से संसार के सबसे बड़े दस राज्य
(TEN LARGEST STATES IN THE WORLD IN AREA)

राज्य	क्षेत्रफल (वर्ग किलोमीटर)	स्थिति
1. सोवियत रूस	22,402,200	यूरोप-एशिया
2. कनाडा	9,976,139	उत्तरी-अमेरिका
3. चीन	9,556,961	एशिया
4. संयुक्त राज्य अमेरिका	9,363,130	उत्तरी अमेरिका
5. ब्राजील	8,511,965	दक्षिणी अमेरिका
6. आस्ट्रेलिया	7,682,300	दक्षिणी प्रशान्त सागर
7. भारत	3,280,483	एशिया
8. अर्जेन्टाइना	2,776,889	दक्षिणी अमेरिका
9. सूडान	2,505,813	अफ्रीका
10. अल्जीरिया	2,381,741	उत्तरी अफ्रीका

तालिका : 2

सैनिक शक्ति की दृष्टि से दस शक्तिशाली राष्ट्र 1973 : वार्षिक सैनिक खर्च के आधार पर

(TEN MAJOR MILITARY POWERS, 1973 BY ANNUAL MILITARY EXPENDITURE)

1. सोवियत संघ	86·0	बिलियन	डालर
2. संयुक्त राज्य अमरीका	78·5	,,	,,
3. चीन	15·0	,,	,,
4. पश्चिमी जर्मनी	11 8	,,	,,
5. फ्रांस	9·3	,,	,,
6. ब्रिटेन	8·5	,,	,,
7. इटली	4·1	,,	,,
8. पोलैण्ड	3·9	,,	,,
9. कनाडा	2·4	,,	,,
10. भारत	2·3	,,	,,

[*Source* : U. S. Arms Control and Disarmament Agency, World Military Expenditures, 1963-1973 (Washington, D. C. : U. S. Government Printing Office. 1974)]

(2) जलवायु (Climate)—प्राचीन काल से ही विद्वानों ने राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण में जलवायु के प्रभाव को मान्यता दी है। हेण्टिगटन ने लिखा है, "जहाँ भी सभ्यता उत्कृष्ट है, एक विशिष्ट प्रकार का मौसम व्याप्त है। अतीत में उसी प्रकार का मौसम उन स्थलों पर व्याप्त रहा जान पड़ता है जहाँ महान सभ्यताएँ उठीं। इसलिए ऐसा मौसम महान् प्रगति की एक आवश्यक शर्त जान पड़ता है।"[1] इसी विचार को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर लागू करते हुए हेण्टिगटन लिखते हैं, "विश्व के बड़े राष्ट्रों का विस्तार, बहुत हद तक, मौसमी परिस्थितियों द्वारा तय होता है। दिखायी पड़ता है कि ऊर्जा प्रदायक मौसम द्वारा, उत्प्रेरित प्रत्येक राष्ट्र ने, स्थल या समुद्र द्वारा अपनी ताकत पड़ोसी राष्ट्रों पर फैला ली है।"[2]

जलवायु अत्यन्त प्रभावक भौगोलिक तत्व है जिसका देश के उत्पादन, सार्वजनिक स्वास्थ्य और चरित्र पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। भूगोलमूलक राजनीति के विद्वानों की तो यहाँ तक मान्यता है कि कोई भी राष्ट्र महाशक्ति बनने की आकांक्षा केवल उस समय कर सकता है जबकि उसकी जलवायु समशीतोष्ण हो। यह भौगोलिक तथ्य है कि आज के सभी शक्तिशाली राष्ट्र शीतोष्ण कटिबन्ध में हैं। ऐसा माना जाता है कि प्राय: ठण्डे जलवायु वाले देशों के लोग गर्म जलवायु वाले देशों के निवासियों की अपेक्षा अधिक कर्मठ और परिश्रमी होते हैं। जलवायु की विषमता के कारण सहारा, जिसका आकार संयुक्त राज्य अमरीका के बराबर है, वीरान रेगिस्तान बनकर मानव निवास के लिए अनुपयुक्त हो गया है। अतिवृष्टि के कारण अमेजन बेसिन अनुपयुक्त है। अनावृष्टि और अतिवृष्टि भारत की जलवायु की मुख्य विशेषताएँ हैं और इसी कारण भारत कृषि की दृष्टि से पिछड़ गया है। उष्ण क्रटिबन्ध के प्रदेश और मरुस्थलीय इलाके महाशक्ति के रूप में उभरने की कम क्षमता रखते हैं, चूंकि जलवायु उनके मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। महाशक्ति का सपना संजाने वाले राष्ट्र की जलवायु शीतोष्ण होनी चाहिए। अच्छी जलवायु लोगों को उत्पादन

---

1 एल्सबर्थ हेण्टिगटन, **सिविलिजेशन्स एण्ड क्लाइमेट** (1925, येल यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हेवेन), पृ. 9 से उद्धृत एवं अनूदित।

2 हेण्टिगटन, **वर्ल्ड पावर एण्ड इवोल्यूशन** (1919, येल यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हेवेन), पृ. 24 से उद्धृत एवं अनूदित।

कार्य में लगने की प्रेरणा देती है। जलवायु से ही लोग उस प्रकार के कामों में लगते हैं जो किसी आधुनिक औद्योगिक राष्ट्र के लिए आवश्यक हैं। इस दृष्टि से 68 से 70 डिग्री फरनहाइट का तापमान और ऋतुओं का सन्तुलित परिवर्तन मानव के स्वास्थ्य और ओजपूर्ण जीवन के लिए उपयुक्त माना जाता है।

फिर भी राष्ट्रीय शक्ति के सन्दर्भ में जलवायु के प्रभाव को सीमित रूप में ही स्वीकार करना चाहिए। जलवायु एक सापेक्ष तत्व है। भले ही आधुनिक युग के यूरोपीय देश शीतोष्ण जलवायु के कारण शक्तिशाली बने हों, पर इतिहास में इस बात का प्रमाण है कि प्राचीनकाल की सबसे बड़ी सभ्यताएँ भारत, मिस्र अथवा चीन भिन्न जलवायु में विकसित हुईं। वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप आज जलवायु को बदला जा सकता है, गर्मी और सर्दी की उग्रता को कम किया जा सकता है। जिन देशों में वर्षा कम होती है, वहाँ कृत्रिम वर्षा की व्यवस्था की जा सकती है। आज जलवायु के बावजूद रेगिस्तानी इलाके शक्ति की दृष्टि से महत्वपूर्ण बनते जा रहे हैं। आस रेगिस्तान में पैट्रोल और यूरेनियममयुक्त खनिज मिल रहे हैं और परमाणु अस्त्र बढ़ाने के लिए यूरेनियम अनिवार्य वस्तु है।

(3) **स्थलाकृति** (Topography)—किसी राष्ट्र की शक्ति को निर्धारित करने में उसकी स्थलाकृति जलवायु से भी अधिक आवश्यक होती है। यथार्थ में किसी भी राष्ट्र की जलवायु वहाँ की भू-आकृति द्वारा निर्धारित होती है। सर्दी, गर्मी, वर्षा, तापमान, वायु का बहना आदि सभी कुछ वहाँ की स्थलाकृति से प्रभावित होता है।

स्थलाकृति के लक्षणों में राष्ट्रों के बीच की प्राकृतिक सीमाओं का निर्धारण होता है। नदियों, पर्वतों या समुद्रों से घिरे हुए राष्ट्र उन देशों से अधिक सुरक्षित होते हैं जिनकी सीमाएँ प्राकृतिक नहीं होतीं। जिन राष्ट्रों के मध्य पर्वत या नदी या समुद्र के जरिए प्राकृतिक सीमा रेखा होती है उनमें प्रायः सीमा सम्बन्धी विवाद और संघर्ष उत्पन्न नहीं होते हैं। स्थलाकृति के परिणामस्वरूप राष्ट्रों को सुरक्षित सीमान्त प्राप्त हो जाते हैं। पेरेनीज पर्वत शृंखलाओं के कारण स्पेन यूरोप के राजनीतिक व फौजी द्वन्द्वों की लपेट से परे रहा। पेरेनीज के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उसने स्पेन को एक दुर्ग बना दिया। इंगलिश चैनल ने ब्रिटेन को एक लम्बे समय तक सुरक्षा प्रदान की। आज भी अटलाण्टिक तथा प्रशान्त महासागरों से अमरीका को प्राकृतिक सुरक्षा की सुविधा प्राप्त हो रही है। आल्पस पर्वत शृंखलाओं द्वारा इटली की जो रक्षा रेखा बनी, उसने इतिहास में कई बार विदेशी आक्रमणों से इटली की रक्षा की। प्राचीन काल से ही हिमालय भारत की उत्तरी सीमा का प्रहरी माना जाता रहा है। स्थलाकृति से कुछ राष्ट्रों को स्वतः ही अच्छे बन्दरगाह उपलब्ध हो गये जिससे वे व्यापारिक दृष्टि से सम्पन्न बनते गये।

आज स्थलाकृति का पहले जैसा महत्व नहीं रहा गया है। आज कोई भी सीमान्त दुर्गम नहीं है, यदि वहाँ रक्षक सेनाएँ न हों। तिब्बत, जो अगम्य माना जाता था, चीन के संचार परिवहन से पराजित हुआ। सन् 1962 में भारत पर हुए चीनी आक्रमण ने हिमालय पर्वतमालाओं को महत्वहीन सिद्ध कर दिया है। आज इंगलिश चैनल एक खाई से अधिक महत्व नहीं रखती। प्राकृतिक सीमाएँ कई बार राष्ट्र के लिए बाधक भी बन जाती हैं, उनसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में रुकावट पड़ती है तथा राष्ट्रीय एकता की समस्या उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण के लिए, अफ्रीका की स्थलाकृति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मार्ग में बाधक है। पर्वतमालाओं की प्रचुरता के कारण बर्मा एक दीर्घ काल तक दुनिया से पृथक रहा।

(4) **अवस्थिति** (Location)—पामर एवं पर्किन्स ने लिखा है कि प्रादेशिक स्थिति एक राज्य की संस्कृति और अर्थव्यवस्था को प्रभावित करती है तथा उसकी सैनिक एवं आर्थिक शक्ति

पर भी व्यापक प्रभाव डालती है। एक देश की अवस्थिति वहाँ की राजनीति और युद्ध-कौशल का निर्धारण करने में भी सहयोग देती है। किसी भी राष्ट्र की जलवायु इस बात पर निर्भर करती है कि उसकी अवस्थिति भूमध्यरेखीय है अथवा विषुवतरेखीय अथवा इन दोनों के बीच में है। यह राष्ट्र की अवस्थिति पर निर्भर करता है कि वहाँ क्या उत्पादन हो सकता है, कौन-कौनसे खनिज पदार्थ मिल सकते हैं और औद्योगिक विकास की क्या सम्भावनाएँ हैं ?

ब्रिटेन, फ्रांस और संयुक्त राज्य अमरीका को अटलांटिक महासागर पर अवस्थित होने का बड़ा लाभ मिला है। यूरोप के महाद्वीप से अटलांटिक महासागर द्वारा पृथक होने के कारण संयुक्त राज्य अमरीका विशाल सेनाएँ और समुद्री बेड़े रखे बिना देर तक अपना आर्थिक विकास करता रहा। इसी कारण दोनों विश्वयुद्धों में उसकी औद्योगिक उत्पादन की क्षमता एवं सैनिक शक्ति ने मित्रराष्ट्रों को विजयी बनाया। ब्रिटेन की द्वीपीय स्थिति (Insular location) उसे महाशक्ति बनाने में सहायक सिद्ध हुई। इसी कारण वह यूरोप के राज्यों के आन्तरिक झगड़ों से पृथक रहते हुए अपनी नौसैनिक शक्ति, व्यापार एवं साम्राज्य का निर्बाध विकास करता रहा। उसकी इस स्थिति ने उसे यूरोप के शक्तिशाली राज्यों के आक्रमणों से सर्वथा सुरक्षित रखा।

अवस्थिति और विदेश नीति में घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। अवस्थिति का किसी न किसी रूप में राष्ट्र की नीति पर प्रभाव पड़ता है। अवस्थिति से ही 'भूगोलमूलक राजनीति' (Geopolitics) का चलन हुआ है। भूगोलमूलक राजनीति के विद्वानों का मानना है कि राज्य की विदेश नीति उसके भूगोल के अनुसार ही निर्धारित होती है। आस्ट्रेलिया अपनी स्थिति के कारण अलगाव की नीति अपनाता है; नार्वे, फिनलैण्ड, डेनमार्क अपनी अवस्थिति के कारण ही द्वितीय विश्वयुद्ध के केन्द्र बन गये थे; राष्ट्रों से घिरा होने के कारण ही वेल्जियम अपनी सुरक्षा तथा राष्ट्रीय हित की दृष्टि से फ्रांस और इंगलैण्ड का समर्थक रहा है। सोवियत संघ और चीन का पड़ौसी होने के कारण ही भारत को गुटनिरपेक्षता की विदेश नीति अपनानी पड़ी है। स्विट्जरलैण्ड जर्मनी, फ्रांस और इटली से घिरा हुआ है, अत: उसे अपनी इस स्थिति के कारण ही तटस्थता की नीति का अनुसरण करना पड़ा है। कनाडा अत्यन्त शक्तिशाली होते हुए भी अमरीका जैसी प्रमुख शक्ति का पड़ौसी होने के कारण अपने क्षेत्र में उतना प्रभावशाली नहीं हो सकता जितना कि उसे होना चाहिए। अवस्थिति के कारण ही डार्डेनलीज, बासफोरस, मलाका जलडमरूमध्य, स्वेज, पनामा, डिएगोगार्सिया, जिब्राल्टर, सिंगापुर आदि को सामरिक महत्व के स्थान माना जाता है और महाशक्तियों में इन पर कब्जा करने की प्रतिस्पर्द्धा देखी गयी है।

कई बार भौगोलिक स्थिति कुछ राज्यों के लिए हानिकारक भी होती है। स्वेज नहर के महत्वपूर्ण जलमार्ग के निकट अवस्थित होने के कारण मिस्र पर ग्रेट ब्रिटेन ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया, जबकि अफ्रीका महाद्वीप के मध्य मे अवस्थित अबीसीनिया का ऐसा भौगोलिक महत्व न होने के कारण वह 1935 तक स्वतन्त्र देश बना रहा। वेल्जियम और पोलैण्ड का यह दुर्भाग्य है कि वे शक्तिशाली पड़ौसी देशों के बीच में सामरिक महत्व के ऐसे स्थानों पर बसे हैं कि उन्हें बार-बार आक्रमणों का शिकार होना पड़ा है।

संक्षेप में, राष्ट्र की अवस्थिति का राष्ट्रीय शक्ति पर किसी-न-किसी रूप मे अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव अवश्य पड़ता है। अवस्थिति से स्पष्ट हो जाता है कि कोई राष्ट्र किस प्रकार की विदेश नीति अपनायेगा। फिर भी स्थिति एक सापेक्ष तत्व है। इण्डोनेशिया चारों ओर से समुद्र से घिरा हुआ है परन्तु कभी भी नौसैनिक शक्ति नहीं रहा। भारत के पास पर्याप्त समुद्र है फिर भी आज उसकी नौसेना पर्याप्त विकसित नहीं हो पायी है।

भूगोलमूलक राजनीति एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति
(GEOPOLITICS AND INTERNATIONAL POLITICS)

पिछले अनेक वर्षों से राजनीतिक व्यवहारों तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की व्याख्या तथा भविष्यवाणी भौगोलिक विशेषताओं का हवाला देकर करने की प्रवृत्ति दिखायी देती है। ऐसी भविष्यवाणी को भूगोलमूलक राजनीति या भू-राजनीतिक भाष्य कहा जाने लगा है। पैडलफोर्ड और लिंकन के अनुसार, भूगोलमूलक राजनीति विज्ञान तथा राजनीति के क्षेत्र को जोड़ने का एक प्रयास है। यह भौगोलिक सम्बन्धों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, राष्ट्रीय हित और राजनीति के रूप में मूल्यांकित करने का प्रयत्न है। इन भू-राजनीतिक विश्लेषकों को दो प्रमुख वर्गों में बाँटा जा सकता है—वे जो एक विशिष्ट राष्ट्र के व्यवहार की व्याख्या या भविष्यवाणी का उपक्रम करें और वे जो विशालतर—सार्वभौम या क्षेत्रीय राजनीतिक प्रतिरूपों की व्याख्या या भविष्यवाणी का उपक्रम करें। इन भाष्यों के मूल में मान्यता यह है कि स्थलों और समुद्रों का खाका, वह सुविधाएँ देता और सीमाएँ तय करता है जिनके भीतर राष्ट्रों के राजनीतिक रिश्ते विकसित हुए हैं और होते रहेंगे।

भू-राजनीति विज्ञान का आरम्भ कब और कैसे हुआ, इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहना कठिन है। ऐसा मानते हैं कि काण्ट ने सबसे पहले इसके विकास में योगदान दिया है और वे ही आधुनिक भूगोल राजनीति के जनक हैं। काण्ट के वाद फ्रेडरिक राशेल ने पहली बार राज्यों की नीति पर भौगोलिक तत्वों के प्रभाव की सैद्धान्तिक विवेचना की। रुडोल्फ जैलन ने "महान शक्तियाँ" (The Great Powers) शब्द का प्रयोग किया जो जर्मन भू-राजनीतिक विश्लेषकों के लिए वेद वाक्य ही वन गया। भू-राजनीतिक विश्लेषणों में कैप्टेन एल्फ्रेड थेयर माहान, सर हैलफोर्ड मैकिण्डर, कार्ल हाशोफर, स्पाइकमैन आदि प्रमुख हैं; यहाँ हम उनके विचारों का संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

मैकाइण्डर का दृष्टिकोण—मैकाइण्डर इंगलैण्ड के प्रसिद्ध भूगोलशास्त्री हैं। मैकाइण्डर के रचना वर्ष सन् 1900 से द्वितीय विश्वयुद्ध तक रहे। उनकी राजनीतिक प्रस्थापनाओं के दो युग रहे हैं। पहला सन् 1900 के बाद आरम्भ होकर प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त तक चला, जिसमें वे मुख्यतः विलियम द्वितीय के जर्मन साम्राज्य के विकास तथा आक्रामक रुझानों में वेग देखकर व्यग्र थे। उनकी मुख्य पृष्ठभूमि यह थी—'इतिहास के महान युद्ध—प्रत्यक्ष या परोक्ष में राष्ट्रों के विषम विकास' के परिणाम थे और यह विषय विकास पूरी तरह एक राष्ट्र में दूसरे से अधिक बढ़ी मेघा या ऊर्जा के कारण नहीं अपितु वड़ी हद तक पृथ्वी तल पर उर्वरता और राजनीतिगत सुविधाओं के विषम वितरण के कारण' हुआ। उनकी मुख्य अवधारणा यह थी कि 'स्थलों और समुद्रों तथा उर्वरता और प्राकृतिक मार्गों की हदबन्दी कुछ ऐसी है जिससे वड़े साम्राज्यों के और अन्ततः एकमात्र विश्व साम्राज्य का विकास अवश्यम्भावी है।'[1] दूसरा युग सन् 1920 के बाद से मैकाइण्डर की मृत्यु (1946) तक चला। इस युग में वह क्रमशः सोवियत संघ की वढ़ती क्षमताओं पर व्यग्र होने लगे और उन्होंने अपनी अवधारणा में मौलिक संशोधन कर डाला। पुनर्विचारित अवधारणा में उन्होंने कहा कि भूमियों और समुद्रों की हदबन्दी एक नहीं वल्कि अन्ततः दो महान राजनीतिक क्षमता-सम्पन्न केन्द्रों के पक्ष में है—एक यूरेशिया का हृदय जिस पर सोवियत संघ का प्रभुत्व है और दूसरा उत्तरी अटलाण्टिक महासागर के सामने वाले राष्ट्रों की गुटबन्दी।

मैकाइण्डर ने यूरोप, एशिया और अफ्रीका को विश्व द्वीपों के रूप में वर्गीकृत किया। उन्होंने यूरेशिया के आन्तरिक क्षेत्र को इस प्रदेश की केन्द्रीय भूमि (Heartland) वताया। यह

---

1 एच. जे. मैकाइण्डर, **डेमोक्रेटिक आइडियल्स एण्ड रियलिटी** (1942, हेनरी होल्ट एण्ड कम्पनी, न्यूयार्क, पृ, 1-2.

पश्चिमी जर्मनी से आरम्भ होकर सोवियत यूरोप में होता हुआ केन्द्रीय साइबेरिया तक पहुँचा है। उनकी प्रसिद्ध उक्ति है, "जो पूर्वी यूरोप पर शासन करेगा वह हृदयस्थल पर अधिकार रखेगा। जो हृदयस्थल पर शासन करेगा वह विश्व द्वीप (यूरेशिया-अफ्रीका) को नियन्त्रित करेगा, जो विश्व द्वीप पर शासन करेगा, वह पूरे विश्व पर प्रभुत्व रखेगा।"[1] मैकाइण्डर ने वोल्गा नदी, उत्तरी ध्रुवीय सागर, यांग्स्टी नदी तथा हिमालय पर्वत श्रेणी के बीच की भूमि को विश्व का हृदयस्थल माना है, वह हृदयस्थल दुर्गम और अभेद्य है क्योंकि सारी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति जल तथा थल शक्तियों की आपसी प्रतिस्पर्द्धा ही तो है।

वार्साऊ के शान्ति सम्मेलन के समय मैकाइण्डर ने कहा कि जर्मनी पुनः यूरोपीय रूस पर अधिकार कर मुख्य भूमि पर नियन्त्रण कर सकता है। सन् 1943 में उन्होंने कहा कि यदि रूस जर्मनी पर अधिकार कर लेता है तो वह आन्तरिक क्रीसेण्ट को जीत सकता है और उसके बाद विश्व साम्राज्य बनने की ओर अग्रसर हो सकता है। उनकी भविष्यवाणी सही निकली जब द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद लाल सेनाओं ने केन्द्रीय यूरोप और पूर्वी जर्मनी पर अधिकार कर लिया। मैकाइण्डर के विश्वास के अनुसार रूस और जर्मनी की सन्धि विश्व के अन्य राष्ट्रों के लिए खतरनाक होगी, क्योंकि उस स्थिति में 'संसार के साम्राज्य' का दृश्य दिखायी पड़ने लगा।

माहान का दृष्टिकोण—ए. टी. माहान मैकाइण्डर के समकालीन थे। उनके रचना वर्ष 1890 से 1910 तक चले। उनकी पुस्तक—'समुद्री ताकत का इतिहास पर प्रभाव, 1660-1783' का आज तक राजनीतिक तथा सामरिक विचारधाराओं पर प्रबल प्रभाव रहा है। माहान की प्रमुख मान्यता है कि समुद्र पर शासन राजनीतिक शक्ति का मुख्य रूप और राष्ट्र राज्यों के राजनीतिक रिश्तों में निर्णायक कारक है। उनका कहना था कि वे राष्ट्र जो भूमि से बँधे होते हैं, सामुद्रिक शक्तियों की अपेक्षा नीचे होते हैं। भूमि से घिरे देशों को अपनी प्रतिरक्षा के ऊपर अपेक्षाकृत अधिक खर्च करना होता है। यूरोप और एशिया की कोई भी महाद्वीपीय शक्ति ब्रिटेन या अमरीका के नौसैनिक नेतृत्व को सफलतापूर्वक चुनौती नहीं दे सकती। उनका विश्वास था कि समुद्र पर ही बड़े शक्ति युद्धों का निर्णय होता है। ब्रिटेन और अमरीका ऐसे देश हैं जिनके पास ऐसी स्थलीय सीमाएँ नहीं हैं जिनकी उन्हें रक्षा करनी होती है, अतः उन्हें नौसैनिक शक्ति को संगठित करने में जुट जाना चाहिए। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध में ब्रिटेन और अमरीका की सफलता का कारण उनकी नौसैनिक शक्ति थी। माहान के विचारानुसार महाशक्ति बनने के लिए एक देश को ऐसी सैनिक शक्ति का निर्माण करना चाहिए जो अपने देश से बाहर लड़ाई लड़ सके।

स्पाइकमैन का दृष्टिकोण—अमरीकी विचारक स्पाइकमैन के अनुसार विदेश नीति की रचना में भूगोल सर्वाधिक मौलिक रूप से प्रभावी तत्व है। एक देश की सापेक्ष शक्ति केवल उसकी सैनिक क्षमता पर ही निर्भर नहीं करती वरन् वह अन्य अनेक तत्वों पर आश्रित रहती है, जैसे प्रदेश का आकार, सीमाओं की प्रकृति, जनसंख्या, कच्चा माल आर्थिक और तकनीकी विकास आदि। उन्होंने 'हृदय भूमि' की अपेक्षा 'किनारे की भूमि' (Rimland) को अधिक महत्व दिया है। उनका कहना है कि जो यूरेशिया पर शासन करेगा उसी का हृदय भूमि पर भी शासन होगा और जो हृदय भूमि पर शासन करेगा वही संसार के भाग्य का स्वामी होगा। जिस समय संयुक्त राज्य अमरीका पार्थक्यकरण की नीति अपना रहा था उस समय उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि विश्व शक्ति में सन्तुलन स्थापित करने के लिए यदि अमरीका ब्रिटेन के साथ सहयोग करके

---

1 "Who rules Eastern Europe commands the Heartland. Who rules the Heartland commands the World Island (Eurasia-Africa), who rules the World-Island commands the world."

अपनी क्षमता का प्रदर्शन नहीं करेगा तो पुरानी विश्व शक्तियाँ नये विश्व को घेरने के लिए संगठित हो सकती हैं।

हाशोफर का दृष्टिकोण—जर्मन भूगोलशास्त्री हाशोफर ने बनाया कि उच्च जाति के जर्मनों के लिए पृथक क्षेत्र की आवश्यकता है। जर्मनी का यूरोपीय मुख्य भूमि पर नियन्त्रण होना चाहिए तथा भौतिक स्रोतों की दृष्टि से उसे आत्मनिर्भर बनना चाहिए। जर्मनी की इस महत्वाकांक्षा की पूर्ति में ब्रिटेन की नौसैनिक शक्ति तथा सोवियत संघ की थल शक्ति बाधक है, अतः जर्मनी के सामने युद्ध ही एकमात्र विकल्प है। हाशोफर के इन विचारों ने नाजियों को बड़ा प्रभावित किया।

भूगोल का घटता महत्व
(THE DECLINING OF GEOGRAPHICAL FACTOR)

राष्ट्रीय शक्ति के तत्व के रूप में भूगोल का महत्व दिन-प्रतिदिन घटता जा रहा है। आधुनिक विचारक भूगोलमूलक राजनीति का इतना अधिक महत्व स्वीकार नहीं करते। उनका विचार है कि राजनीतिक भूगोल आज क्रान्तिकारी परिवर्तनों के सन्धि-स्थल पर है। वैज्ञानिक और प्राविधिक आविष्कारों ने भूगोल का महत्व काफी कम कर दिया है। आणविक शस्त्रों, प्रक्षेपणास्त्रों, स्वचालित टारपीडो सज्जित पनडुब्बियों आदि से अवस्थिति का महत्व घट गया है। शक्ति के तत्व के रूप में भूगोल का महत्व वस्तुतः सापेक्ष है। भौगोलिक स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का निर्णायक तत्व न होकर केवल एक सहायक तत्व है। आज यह विश्वास अधिक दृढ़ हो चला है कि पृथ्वी के भौतिक रूप का महत्व भिन्न जातियों तथा राष्ट्रों के लिए भिन्न-भिन्न है। एक राष्ट्र के राजनीतिक, सांस्कृतिक स्तर में परिवर्तन आते ही भौगोलिक स्थिति का महत्व भी बदल जाता है और भौतिक स्थिति पर राष्ट्र के दृष्टिकोण, लक्ष्यों तथा तकनीकी विकास का विशेष प्रभाव पड़ता है। हेरल्ड तथा मार्गरेट स्प्राउट ने लिखा है, "*किसी देश की स्थिति की सामरिक या व्यापारिक विशेषताएँ केवल उसकी भौगोलिक स्थिति पर नहीं अपितु उससे कहीं अधिक प्रविधि की स्थिति, राष्ट्रों के समाज के राजनीतिक भूगोल, सन्धियाँ और अन्य रिश्तों के व्यापक प्रतिरूप और संचालनगत परेशानियों की उन किस्मों पर निर्भर होती हैं जिस पर विचार किया जा रहा हो*………।"[1]

फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय शक्ति के तत्व के रूप मे भूगोल का अपना महत्व है। मेकलेलन का यह कथन उचित है कि भूगोल वह नींव स्थापित करता है जिस पर कि सामर्थ्य, पारस्परिक निर्भरता एवं संघर्ष निर्भर रहते हैं। भूगोल का किसी राष्ट्र की सामर्थ्य पर प्रभाव पड़ता है कि वह अन्य राष्ट्रों से अनुनय कर सके और उन्हें पुरस्कृत या दण्डित कर सके।

2. प्राकृतिक संसाधन
(NATURAL RESOURCES)

राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व. राष्ट्र के प्राकृतिक संसाधन हैं। प्राकृतिक संसाधम प्रकृति में उपलब्ध उपयोगी सामग्री और पद्धति को कहते हैं। प्राकृतिक संसाधनों में मुख्यतया खनिज, ईंधन, भूमि तथा भूमि से प्राप्त अथवा निकले पदार्थ; जैसे कोयला, तेल, वनस्पति आते हैं।

जब हम प्राकृतिक संसाधनों के महत्व पर विचार करते है तो हमारी यह मान्यता कदापि नहीं है कि एक राष्ट्र, जिसका भू-भाग प्राकृतिक साधनों की सम्पदा से सम्पन्न हो तो अन्तर्राष्ट्रीय

---

[1] हेरल्ड तथा मार्गरेट स्प्राउट, **अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मूल तत्व** (अनुवाद, 1974) पृ. 399

रंगमंच पर महत्वपूर्ण भूमिका निभाने योग्य बन जाता है। यह तर्क भी हमारा नहीं है कि प्राकृतिक साधन ही एकमात्र महत्वपूर्ण पर्यावरण कारक हैं। हमारी मान्यता यह है कि किसी राष्ट्र के लिए बड़ी शक्ति बनने और बने रहने की एक आवश्यक शर्त पर्याप्त प्राकृतिक साधनों तक निरापद पहुँच जरूरी है। मॉरगेन्थाऊ के शब्दों में, "किसी राष्ट्र की अन्य राष्ट्र से सम्बन्धित राष्ट्रीय शक्ति के सन्दर्भ में सापेक्ष रूप से एक अन्य स्थायी तत्व उसके प्राकृतिक साधन हैं।" द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर पेंसिलवेनिया यूनिवर्सिटी में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रोफेसर राबर्ट स्ट्रास ह्यूम ने कहा—"राजनीतिक और फौजी शक्ति अधिकांशतः औद्योगिक शक्ति ही है। औद्योगीकरण की माँग है कच्चे माल, मुख्यतः खनिज की असीमित पूर्ति। कच्चे माल के समूह में, जिन्हें मनुष्य निकालता और काम में लाता है, आज शायद ही कोई एक ऐसा हो जो युद्ध के औजार बनाने में काम न आता हो। इसलिए शक्ति प्राप्ति में कच्चे माल पर नियन्त्रण शामिल है। अन्य सब बातें समान हों तो वे ही देश सर्वाधिक शक्तिशाली हैं जिनके हाथ में सभी 'आवश्यक', 'सामरिक' और 'संकटकालीन' कच्चे माल हों या जो, घर में अपने अपर्याप्त उपलब्ध, युद्ध सामग्री का समय रहते, यातायात मार्गों पर अपने स्वामित्व के बल पर, आयात कर लेने योग्य हों।"[1]

प्राकृतिक साधन किसी भी राष्ट्र की पूँजी कहे जा सकते हैं। प्राकृतिक संसाधन प्रकृति द्वारा प्रदत्त उपहार हैं। पामर एवं परकिन्स ने कच्चे माल, खनिज पदार्थ, औद्योगिक शक्ति के साधन, खाद्य पदार्थ तथा कृषि उत्पादन को प्राकृतिक संसाधन कहा है। मॉरगेन्थाऊ ने प्राकृतिक स्रोतों को खाद्यान्न और कच्चे माल कहकर पुकारा है। मोटे रूप से प्राकृतिक स्रोतों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—खनिज पदार्थ, वनस्पति उत्पादन तथा जीव-जन्तु।

खाद्य-सामग्री—वनस्पति उत्पादन तथा जीव-जन्तुओं को खाद्यान्न शीर्षक के अन्तर्गत लिया जा सकता है। खाद्य पदार्थों में कपास, रबड़, लकड़ी, लुग्दी, छालें, बाँस, मेवे, मसाले, माँस, दूध, ऊन, सिल्क, विशिष्ट तेल, समूर, हाथी दाँत आदि प्रमुख हैं। वह राष्ट्र जो खाद्यान्न के विषय में स्वावलम्बी अथवा प्रायः स्वावलम्बी है उस देश की अपेक्षा लाभपूर्ण स्थिति में होगा जो कि इस दृष्टि से स्वावलम्बी नहीं है और जिसे अपने लिए खाद्य पदार्थ आयात करना पड़ता है या फिर जो भूखों मरता है। इसी कारण ग्रेट ब्रिटेन की शक्ति और युद्ध के समय तो उसका जीवन ही इस बात पर निर्भर रहता था कि वह समुद्री रास्तों को कहाँ तक यातायात के लिए खुला रख सकता है ताकि उन मार्गों से देश के लिए बाहर से अन्न लाया जा सके। चूँकि द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व तक ब्रिटेन अपनी सम्पूर्ण आवश्यकता का केवल तीस प्रतिशत अन्न ही उपजाता रहा था।-जब कभी भी उसकी अन्न आयात की शक्ति को चुनौती दी गयी, जैसा कि दोनों विश्वयुद्धों के मध्य पनडुब्बियों के युद्ध तथा हवाई हमलों के द्वारा किया गया था, तो वास्तव में यह ग्रेट ब्रिटेन की शक्ति ही को चुनौती थी, क्योंकि इस चुनौती के फलस्वरूप उसका राष्ट्रीय जीवन स्वयं खतरे में पड़ जाता था। इन्हीं कारणों से जर्मनी, जिसकी खाद्य सामग्री ग्रेट ब्रिटेन की अपेक्षा तो अधिक थी पर अपनी स्वयं की आवश्यकता से कम रही है, किसी भी युद्ध से जीवित निकल आने के लिए इन तीन लक्ष्यों का अनुसरण करने के लिए मजबूर रहा है। प्रथम, एक लम्बी लड़ाई को टालना जो कि शीघ्र विजयी होने से ही सम्भव हो सकता है ताकि उसका जमा किया हुआ अन्न का भण्डार समाप्त न हो जाय; द्वितीय, पूर्वी यूरोप के अन्न पैदा करने वाले बड़े क्षेत्रों पर विजय तथा तृतीय, ब्रिटिश सामुद्रिक शक्ति का ध्वंस, जो कि जर्मनी की समुद्र पार अन्न के स्रोतों तक पहुँचने के मार्गों को रोक रखती थी। दोनों ही विश्वयुद्धों में जर्मनी अपने प्रथम तथा तृतीय लक्ष्यों की पूर्ति में असफल रहा था। मित्र राष्ट्रों ने जर्मन बन्दरगाहों की ऐसी जबर्दस्त नाकाबन्दी की कि जर्मन जनता को

---

1 राबर्ट स्ट्रास ह्यूम, **बैलेन्स ऑफ टुमारो** (न्यूयार्क, 1945), पृ. 119,

खाद्यान्नों के अभाव में भीषण कष्ट उठाने पड़े, उनका मनोबल शिथिल हो गया और यह मित्र राष्ट्रों की विजय के कारणों में एक प्रमुख कारण था।

स्वदेश में उपजाये अन्न की कमी ब्रिटेन और जर्मनी दोनों ही की कमजोरी का एक स्रोत रही है। अमरीका और सोवियत संघ जैसे देशों को अपनी राष्ट्रीय शक्ति व वैदेशिक नीतियों को प्राथमिक लक्ष्यों से हटना नहीं पड़ता, क्योंकि वे अन्न के मामले में आत्मनिर्भर हैं। वे निश्चित नीतियों का अनुसरण बहुत सफलतापूर्वक कर सकते हैं और उन्हें इस चिन्ता मे भी ग्रस्त नहीं होना पड़ता कि उनकी जनता युद्ध में भूखों मरेगी। इसके विपरीत, अन्न की स्थायी कमी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत की स्थायी कमजोरी का कारण रही है। अन्न उत्पादन में कमी आ जाने के कारण ही स्पेन विश्व की महान शक्ति के स्तर से गिरकर एक तृतीय श्रेणी की शक्ति बनकर रह गया है। अतः अन्न के क्षेत्र में आत्म-निर्भरता शक्ति का एक बहुत बड़ा स्रोत रहा है।

कच्चा माल—कच्चा माल अर्थशास्त्र का विशिष्ट शब्द है। इन संसाधनों का प्रयोग औद्योगिक विकास के लिए होता है। पैडलफोर्ड एवं लिंकन के अनुसार, "आधुनिक युग में औद्योगीकरण के बिना राष्ट्रीय शक्ति प्राप्त करना असम्भव है। औद्योगीकरण कच्चे माल विशेषतः खनिज पदार्थों की प्राप्ति पर निर्भर करता है।"

आधुनिक सैनिक बल के लिए अनेक प्रकार के कच्चे सामान की जरूरत होती है। युद्ध संचालन के बढ़ते हुए यन्त्रीकरण के कारण राष्ट्रीय शक्ति युद्ध तथा शान्ति के समय में कच्चे माल के नियन्त्रण पर अधिक से अधिक अवलम्बित होती चली गयी है। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि आज के शक्तिशाली राष्ट्र—अमरीका और सोवियत संघ आधुनिक औद्योगिक उत्पादन के लिए आवश्यक कच्चे माल के स्वामित्व में प्रायः आत्म-निर्भर हैं और यदि कुछ कच्चे माल उनके स्वयं के पास नहीं हैं, तो कम से कम उनके स्रोतों की पहुँच पर उनका नियन्त्रण है।

कच्चे माल की दृष्टि से दुनिया के लगभग सभी देश एक-दूसरे से भिन्न हैं। युद्ध संचालन के यन्त्रीकरण के साथ-साथ कुछ विशेष प्रकार के कच्चे माल का अन्य कच्चे माल के ऊपर महत्व बढ़ता गया है। एक समय था जबकि कोयले का बड़ा महत्व था किन्तु धीरे-धीरे पैट्रोल और यूरेनियम का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है। वैसे आज भी राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण पर सबसे सीधा प्रभाव डालने वाली प्राकृतिक वस्तुओं में लोहा, कोयला और पैट्रोल प्रमुख हैं।

19वीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति के बाद से कोयला कार्य ऊर्जा का कुल मिलाकर सबसे बड़ा स्रोत रहा है। प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से उस शताब्दी में ब्रिटेन की प्रभुता बहुत हद तक अच्छे किस्म के काफी परिमाण में और अपेक्षाकृत पहुँच के भीतर कोयले की उपलब्धि की देन रही है। आधुनिक जर्मनी का प्रभावशाली औद्योगिक ढाँचा कोयले की ही आधारशिला पर निर्मित था। अमरीकी औद्योगिक अगुआई की कुंजियों में एक था प्रचुर कोयला उत्पादन। प्रचुर कोयले के बिना सोवियत संघ का औद्योगीकरण धीमा और अधिक कठिन होता। आज चीन में बड़ी सुरक्षित कोयला खानें एक निधि हैं। कोयले की कमी इटली की प्रगति की एक बड़ी भौतिक बाधा है। कोयले की सर्वोपरि महत्ता उसकी विविध और उच्च वरीयता वाली उपयोगिताओं से उत्पन्न होती है। खनिज धातुओं का स्वत्व निकालने के लिए यह प्राथमिक ईंधन है। घरों में तापने के मुख्य स्रोतों में से यह एक है। जलपोतों और रेल इंजनों को चलाने वाली भाप पैदा करने के लिए इसी का अब तक व्यापक उपयोग होता है। विश्व की बिजली का बड़ा भाग, कोयले की आग से काम करने वाले बॉयलर देते हैं। ईंधन के रूप में इसकी आवश्यकता के अलावा रासायनिक उद्योगों की व्यापक श्रृंखला के लिए कोयला प्रमुख कच्चे माल के रूप में है। कोयले से निकलते हैं मानवकृत नाइट्रेट, मानवकृत रबर, मानवकृत मोटर ईंधन और औषधों,

प्लास्टिकों तथा अन्य उत्पादनों की एक बड़ी सूची । कोयला ऊर्जा में समृद्ध देश हैं (क्रम से)—अमरीका, चीन, सोवियत संघ, कनाडा, जर्मनी, ब्रिटेन, पोलैण्ड, भारत ।

परन्तु कार्य ऊर्जा के असंख्य स्रोतों में कोयला केवल एक है । उतने ही महत्वपूर्ण जल विद्युत, पैट्रोलियम तथा प्राकृतिक गैस हैं । जल विद्युत कार्य ऊर्जा का ऐसा संसाधन है जिसकी समाप्ति की सम्भावनाएँ कम हैं । जल सुलभता से प्राप्त हो जाता है तथापि जलधारा से विद्युत निर्माण अत्यन्त खर्चीली प्रक्रिया है । इसके लिए बड़े-बड़े बाँधों का निर्माण करना होता है । अमरीका तथा सोवियत संघ जल विद्युत शक्ति का अत्यधिक प्रयोग करते हैं । नार्वे, स्वीडन, फ्रांस, जर्मनी, चीन और जापान भी जल-विद्युत पर निर्भर करते हैं । प्राकृतिक गैस ऊर्जा निर्माण का नया स्रोत है । अमरीका की ऊर्जा का 20 प्रतिशत भाग प्राकृतिक गैस ऊर्जा द्वारा ही निर्मित होता है ।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद उद्योग व युद्ध के लिए शक्ति के स्रोत के रूप में तेल का महत्व बढ़ता जा रहा है । प्रायः हर यन्त्रचालित गाड़ी और हथियार तेल द्वारा चालू होता है । इसी कारण जिन देशों के पास मिट्टी के तेल के कुएँ अधिक हैं उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विशिष्ट महत्व प्राप्त कर लिया है । अरब देशों के उदाहरण से यह पता लगता है कि शक्ति के प्रसंग में तेल का स्थान कितना महत्वपूर्ण है । अरब राष्ट्रों का शक्ति के हिसाब से कोई खास महत्व नहीं है । परन्तु फिर भी महाशक्तियाँ उनका सिर्फ इस कारण लिहाज करती हैं कि उनके पास पेट्रोल है । प्रथम विश्वयुद्ध के समय क्लीमैन्स ने कहा था, "मिट्टी के तेल की एक-एक बूंद हमारे सिपाही के खून की एक-एक बूंद के बराबर कीमती है ।" द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमरीका और सोवियत संघ बहुत अधिक शक्तिशाली हो गये क्योंकि वे तेल की दृष्टि से आत्म-निर्भर हैं, जबकि ब्रिटेन काफी कमजोर हो गया, क्योंकि ब्रिटिश द्वीप में मिट्टी के तेल के कुएँ हैं ही नहीं ।

तालिका : 3

दस बड़े तेल उत्पादक राष्ट्र जो ओपेक के सदस्य हैं
(TEN RICHEST OIL PRODUCING MEMBERS OF THE OPEC)

राष्ट्र	प्रतिदिन उत्पादन (लाख बैरलों में)
1. सऊदी अरब	11·80
2. ईरान	6·60
3. कुवैत	3·30
4. यूनाइटेट अरब एमिरेट्स	3·02
5. इराक	2·80
6. नाइजीरिया	2·70
7. वेनेजुएला	2·60
8. लीबिया	2·50
9. इण्डोनेशिया	1·75
10. अल्जीरिया	1·10

मध्यपूर्व के क्षेत्र में ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्त राज्य और कुछ समय से फ्रांस ने उस क्रिया का श्रीगणेश किया जिसे ठीक ही 'तेल की कूटनीति' कहा जाता है । इसके अर्थ हैं कि अपने प्रभाव के उन क्षेत्रों का निर्माण करना, जिनमें प्राप्त मिट्टी के तेल के सभी कुओं तक पहुँचने वाले मार्गों पर केवल अपना आधिपत्य हो । तभी तो आनुपातिक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में जो महत्वपूर्ण भूमिका अरब प्रायद्वीप आज निभा रहा है वह उसकी सैनिक शक्ति से मिलती-जुलती किसी शक्ति पर निर्भर नहीं है ।

तकनीकी विकास के कारण कई देश सूर्य शक्ति (सौर ऊर्जा) का भी उपयोग करने लगे हैं। समस्त भू-मण्डल में ज्ञात, अज्ञात कोयले, पैट्रोलियम और प्राकृतिक गैस के भण्डारों की शक्ति सूर्य ताप शक्ति से केवल सौ दिन के बराबर है। यद्यपि सूर्य की शक्ति का विशाल पैमाने पर व्यावहारिक रूप में उपयोग सम्भव नहीं हो पाया है तथा सूर्य द्वारा प्राप्त शक्ति का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि एक ही दिन में सूर्य किरणों द्वारा उष्णकटिबन्धीय तथा शीतोष्ण प्रदेशों में जितनी शक्ति का विकिरण होता है वह सृष्टि के आदिकाल से समस्त मानव जाति द्वारा निर्मित अग्नि, विद्युत, जल तथा जनशक्ति के समस्त योग से भी अधिक होती है।

कोयले के बाद लोहा आधुनिक उद्योग का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत रहा है। हल्की धातुएं; मुख्यतः अल्यूमीनियम और प्लास्टिक, लोहे को अधिकाधिक अपदस्थ कर रही हैं, लेकिन सम्भावना यही है कि धातुओं की वरीयता क्रम में लोहे का उच्च स्थान बना रहेगा।

खनिज लौह, अनेक रूपों में, समृद्धि की विशेष सीमाओं के भीतर उपलब्ध है। पृथ्वी तल की ऊपरी पर्त में, कोयले की तरह खनिज लोहे की बड़ी खानें व्यापक किन्तु विषम रूप में वितरित हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व पाँच खानें विश्व के कुल लौह उत्पादन का 75 प्रतिशत दे रही थीं; वे क्रमशः थीं—अमरीका में लेक सुपीरियर क्षेत्र, पूर्वी फ्रांस में लोरां, दक्षिण-पश्चिमी रूस में क्रिवोइराग, उत्तरी स्वीडन में फिरूना, अलाबामा में बर्मिंघम जिला। ब्राजील और भारत में भी अच्छे किस्म के लोहे के बड़े आगार हैं। छोटे किन्तु कम महत्वपूर्ण भूगर्भ आगार व्यापक रूप से निम्नलिखित देशों में वितरित हैं—न्यू फाउण्डलैण्ड, क्यूबा, फिलीपाइन द्वीप समूह, स्पेन, इंगलैण्ड, चीन, अमरीका और सोवियत संघ और अन्यत्र अन्य असंख्य देशों में।

जिन क्षेत्रों में अच्छे किस्म का कोयला और लोहा, खानों के रूप में, पास-पास हैं वे स्वभावतः भारी उद्योग के लिए उपयुक्त स्थान हो जाते हैं। इनमें सबसे आदर्श है फ्रांस और जर्मनी के बीच की सीमा। आजकल कठोरता, दृढ़ता, टिकाऊपन, शक्ति आदि के विशेष गुण उत्पन्न करने के लिए इस्पात में अन्य धातुएँ मिलानी पड़ती हैं। इन धातुओं को फेरो एलॉय कहा जाता है। इनमें प्रमुख हैं मैंगनीज, निकिल, टुंगस्टेन, मोलीबेडनम, बेनाडियम आदि। कोयला, लोहा और फेरो एलॉय के अलावा आधुनिक उद्योगों में लोहेत्तर धातुओं की भारी खपत होती है। इनमें धातुओं की लम्बी सूची है जिनमें प्रमुख ताँबा, अल्युमीनियम, टीन और सीसा हैं। कई अधातुक वस्तुएँ; जैसे गन्धक, पोटाश, नाइट्रेट, क्लोराइड और व्यापक रूप से फैलते हुए रासायनिक उद्योगों के अन्य तत्व जिनसे युद्ध सामग्री से उर्वरक और औषध से प्लास्टिक तक बड़ी संख्या में वस्तुएँ बनती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्राकृतिक साधन

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वही राष्ट्र प्रभावकारी हैं जिनके खनिज पदार्थों का गुणात्मक तथा मात्रात्मक स्तर ऊँचा होता है। खनिज भण्डार की दृष्टि से अमरीका तथा सोवियत संघ की स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ है और आश्चर्य नहीं कि परिणामस्वरूप दोनों देशों की सैनिक शक्ति अपरिमित है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में संसाधनों का विषम वितरण विभिन्न राष्ट्रों को जहाँ एक ओर संशोधित नीतियाँ अपनाने की प्रेरणा देता है वहीं प्राकृतिक संसाधन और कच्चा माल युद्ध करने की योग्यता एवं राजनीतिक स्थिति को प्रभावित करते हैं। हम सभी जानते हैं कि तेल की कमी से हिटलर को सबसे ज्यादा कठिनाई हुई। इसी प्रकार अर्जेण्टाइना के गोमांस और श्रीलंका की रबड़ का ध्यान रखकर ही अन्य राष्ट्रों को उनके साथ अपने सम्बन्ध बनाने पड़ते हैं। प्रथम विश्वयुद्ध ने सिद्ध किया कि एक सरकार की फ़ौजी योग्यताएँ केवल उसके उत्पादक कारखानों पर ही नहीं बल्कि कच्चे माल की प्रचुर मात्रा और विविध किस्मों तक उसकी निरापद पहुँच पर भी निर्भर है।

1 "Large scale utilization of solar energy is not yet a practical possibility, but its potentialities stagger the imagination."
—Palmer and Perkins, *International Relations* (Third edition), p. 53.

बढ़ती हुई आवश्यकताओं के अनुरूप अपने को ढालने की योग्यता सब राष्ट्रों में एकसी नहीं होती। पहले तो उनमें यही बहुत बड़ा अन्तर होता है कि किस हद तक भारी बुनियादी आवश्यकताओं—भोजन, रेशे, कोयला, लोहा आदि उनके अपने शासित भू-भागों में पर्याप्त उपज सकता है। दूसरा अन्तर उनमें यह आ जाता है कि घरेलू स्रोतों को वे किस हद तक शत्रु कार्यवाही के विरुद्ध निरापद रख सकते हैं, तीसरा अन्तर यह है कि घर की कमी को विदेशी स्रोतों से पूरा करने की उनमें कितनी योग्यता है। चौथा अन्तर, अन्त में, यह है कि युद्धकाल में, बाहर प्राप्तव्य माल को घर तक लाने की उनमें कितनी क्षमता है।

ब्रिटेन इन सब शर्तों का दृष्टान्त दे देता है। ब्रिटिश द्वीप-समूह को प्रकृति से प्रचुर मात्रा में कोयला, खनिज, लोहा का कुछ परिमाण और कुछ अन्य आवश्यक साधन मिले थे। लेकिन औद्योगिक क्रान्ति के बाद ब्रिटेन आयातित भोजन सामग्री, औद्योगिक रेशे और संकटकालीन आवश्यक सामग्री की लम्बी सूची के लिए विदेशों पर बहुत निर्भर हो गया। 19वीं शताब्दी में वह वित्तीय दृष्टि से इस योग्य था कि हर महादेश के साधनों से अपने घर की कमी को पूरा कर ले और इस योग्य भी था कि ब्रिटिश द्वीप-समूह तक यह माल पहुँचाने वाले जहाजों को सुरक्षा दे सके। पनडुब्बियों और विमानों का दुर्धर्ष वाणिज्य ध्वंसज आयुधों के रूप में विकास होने के पहले ब्रिटेन की योग्यताएँ मुख्यतः विश्व भर में कच्चे माल तथा भोजन सामग्री के ऊपर प्रभुता पर निर्भर थीं। इन ध्वंसक आयुधों के विकास के बाद समुद्र पार स्रोतों पर ब्रिटेन की निर्भरता अधिकाधिक संकटपूर्ण होती गयी तथा ब्रिटेन की स्थिति और कमजोर हो गयी। इसी कारण द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटेन की गिनती कमजोर राष्ट्रों में होने लग गयी।

परमाणविक विस्फोटकों के विशाल परिमाण में ब्रिटेन ने कच्चे माल की समस्या में जाहिर तौर पर नये आयाम जोड़ दिये हैं। आज यूरेनियम के अणु से निकली हुई शक्ति और इस 'अणु शक्ति' के युद्ध में प्रयोग ने राष्ट्रों की आनुपातिक शक्ति के स्तर को वास्तविक व सम्भावित रूप में बदल दिया है। जो राष्ट्र यूरेनियम पदार्थ की खानों पर नियन्त्रण रखते है, वे शक्ति की दृष्टि से आगे बढ़ गये हैं; जैसे कनाडा, चैकोस्लोवाकिया, सोवियत संघ, दक्षिण अफ्रीका संघ तथा संयुक्त राज्य। अन्य राष्ट्र जिनके पास न तो यह पदार्थ है और न ही जो इस पदार्थ की खानों की पहुँच पर नियन्त्रण रख सकते हैं, वे पिछड़ गये हैं।

संक्षेप में, किसी राष्ट्र की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भूमिका और हैसियत, उसकी माँग को अन्य राष्ट्रों द्वारा दी जाने वाली इज्जत उसी अनुपात में घटती-बढ़ती रहेगी, जितनी उसकी अपनी माँग के समर्थन में युद्ध छेड़ने की योग्यता मानी जायगी। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकालना तर्कसंगत है कि घरेलू या विदेशी उपज वाले भौतिक साधनों की प्रचुरता एवं विविधता ही अतीत की भाँति, भविष्य में भी, राष्ट्र समुदाय में शक्ति तथा प्रभाव के प्रतिरूपों के निर्णय में एक प्रमुख चर बना रहेगा।

प्रश्न

1. राष्ट्रीय शक्ति में भूगोल और प्राकृतिक संसाधन के तुलनात्मक महत्व की विवेचना कीजिए। अपने उत्तर का उदाहरणों से स्पष्टीकरण कीजिए।
   Briefly discuss the relative importance of Geography and natural resources in national power. Illustrate your answer with examples.
2. राष्ट्रीय शक्ति की परिभाषा दीजिए। भूगोल एवं प्राकृतिक साधनों का विशेष उल्लेख करते हुए राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों के तुलनात्मक महत्व की व्याख्या कीजिए।
   Define national power. Discuss the relative importance of its various elements with particular reference to Geography and natural resources.

10

राष्ट्रीय शक्ति का सार एवं तत्व (मानवीय तत्व)

[ESSENCE AND ELEMENTS OF NATIONAL POWER (PEOPLE AND THEIR GENIUS)]

राष्ट्रीय शक्ति के गैर-मानवीय तत्वों (Land and its Resources) के अन्तर्गत हमने भूगोल एवं प्राकृतिक संसाधनों के महत्व की चर्चा की। राष्ट्रीय शक्ति की हमारी सम्पूर्ण संकल्पना को साकार करने के लिए इसके मानवीय घटकों का विश्लेषण आवश्यक है। एक राष्ट्र के जीवन में उसके निवासी सबसे महत्वपूर्ण होते हैं। क्योंकि वे राष्ट्र के चेतन तत्व हैं। राष्ट्र के निवासियों के चरित्र, मानसिक स्तर तथा श्रमशीलता पर ही एक राष्ट्र का विकास निर्भर करता है। यह वह तत्व है जो भौगोलिक एवं प्राकृतिक संसाधनों का प्रयोग करता है तथा राष्ट्र के विशिष्ट राष्ट्रीय चरित्र, मनोबल, नेतृत्व तथा प्रतिभा का मानदण्ड स्थिर करता है।[1] किसी ने ठीक कहा है कि "न तो प्राकृतिक साधन, न तकनीक और न अन्य कोई तत्व; केवल जन-साधारण ही किसी राष्ट्र की शक्ति के प्रमुख व निर्णायक स्रोत होते हैं।"[2]

राष्ट्रीय शक्ति के प्रमुख मानवीय तत्व इस प्रकार हैं :

1. जनसंख्या (POPULATION)

प्रो. हान्स जे. मॉरगेन्थाऊ ने लिखा है—"जब हम भौतिक तथा समन्वित, भौतिक तथा मानवीय तत्वों से हटकर केवल उन विशुद्ध मानवीय तत्वों पर विचार करते हैं, जिनके द्वारा किसी राष्ट्र की शक्ति निर्धारित होती है तो हमें उनके गुणात्मक तथा मात्रात्मक अंगों में भेद समझ लेना चाहिए। गुणात्मक तत्व राष्ट्रीय चरित्र, राष्ट्रीय साहस, नेतृत्व, कूटनीति की गुणावस्था तथा सरकार के साधारण गुणों से सम्बन्धित है। मात्रा की दृष्टि से हमें इस तत्व को आबादी के मापदण्ड से परखना चाहिए।"[3]

आज विद्वानों में इस बारे में कोई गम्भीर मतभेद नहीं है कि राष्ट्रीय शक्ति के स्रोत के रूप में आबादी का क्या महत्व है। श्लाइचर ने लिखा है कि 'जब तक उत्पादन और युद्ध के लिए मनुष्यों की आवश्यकता होगी, तब तक यदि अन्य तत्व समान रहें तो जिस राज्य के पास इन दो

1 Palmer and Perkins, *International Relations* (Third edition), p. 59.
2 "It is neither natural resources, technology, nor anything else, but the people who constitute the chief and decisive factor in a nation's power."
3 Hans J. Morgenthau, *Politics Among Nations* (Third edition), p. 191.

कार्यों के लिए बड़ी संख्या में लोग होंगे, वह सबसे अधिक सामर्थ्यवान होगा।"[1] मुसोलिनी ने इटलीवासियों से आबादी बढ़ाने का आग्रह करते हुए कहा था : "बात साफ-साफ सोचना ही ठीक होगा। नौ करोड़ जर्मनों और बीस करोड़ स्लावों के सामने चार करोड़ इटालियनों की क्या हस्ती है।"[2] इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि रोम साम्राज्य की शक्ति का मुख्य कारण उसकी विशाल जनसंख्या थी। आगस्टस से केवल दो पीढ़ियों बाद रोम के पतन का एक बड़ा कारण उसकी बढ़ती जनसंख्या थी। अरस्तू के विचार में यूनान के पतन का मुख्य कारण भी जनसंख्या में नियमित ह्रास था। स्पार्टा के नाश का मुख्य कारण जनसंख्या का अभाव था। माण्टेस्क्यू ने यूरोप के तीस-वर्षीय युद्ध की चर्चा करते हुए स्पष्ट लिखा है कि राष्ट्रों का नाश करने वाला सबसे बड़ा संहारक कारण जनसंख्या में निरन्तर ह्रास होना है।' 'ईश्वर सदा विशालतम बटालियनों की ओर है'—यह कोई नया विचार नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि अन्य बातें समान हों तो अधिक जनसंख्या निर्णायक हो सकती है। हमारी मान्यता यह है कि बड़ी आबादी से यह तय नहीं हो जाता कि राज्य बड़ी शक्ति हो ही जायगा, लेकिन कोई राज्य अपेक्षाकृत बड़ी जनसंख्या के बिना बड़ी शक्ति नहीं हो सकता। मॉरगेन्थाऊ लिखते हैं—"यह कहना तो सही नहीं होगा कि जितनी अधिक किसी देश की आबादी होती है, उतना ही शक्तिशाली वह देश हो जाता है, क्योंकि यदि आबादी के आँकड़ों व राष्ट्रीय शक्ति में ऐसा सम्बन्ध होता तो अपनी एक सौ करोड़ की आबादी से चीन विश्व में सबसे शक्तिशाली देश होता और सत्तर करोड़ जनसंख्या वाला भारत दूसरे नम्बर पर होता। सोवियत संघ पच्चीस करोड़ की आबादी से तीसरा तथा संयुक्त राज्य अमरीका इक्कीस करोड़ की आबादी से चौथे नम्बर पर होता। किन्तु यह सोचना बिल्कुल सही नहीं होगा कि यदि एक देश की आबादी अन्य तमाम देशों की तुलना में अधिक है, तो वह देश आवश्यकतावश उनकी तुलना में अधिक शक्तिशाली होगा ही। परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि कोई भी ऐसा देश न तो प्रथम श्रेणी का शक्तिशाली देश बन ही सकता है और न बनने पर रह ही सकता है, जो संसार के घनी आबादी वाले देशों में से एक नहीं है।"[3]

बड़ी जनसंख्या सैनिक और आर्थिक दृष्टि से किसी राष्ट्र की शक्ति में वृद्धि कर सकती है। प्रथम श्रेणी के सैनिक अथवा शक्तिशाली राष्ट्रों के लिए विशाल जनसंख्या का होना आवश्यक है। विशाल जनसंख्या से बड़ी फौजें अधिक श्रमिक और श्रेष्ठ व्यक्तियों के चयन की सुविधा होती है। किसी राष्ट्र के आर्थिक उत्पादन का परिणाम अनेक कारकों में से इस कारक पर भी निर्भर करता है कि उस देश के पास श्रमिक बल या मजदूर वर्ग कितना है जो ठीक अर्थव्यवस्था के लिए सर्वथा आवश्यक है। मॉरगेन्थाऊ लिखते हैं—"घनी आबादी के बिना यह असम्भव है कि आधुनिक युद्धों को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिए आवश्यक औद्योगिक कारखाने निर्मित तथा संचालित किये जा सकें; और न ही यह सम्भव है कि बड़ी संख्या में लड़ने वाले सिपाहियों की टुकड़ियाँ स्थल, जल तथा वायु में लड़ने के लिए प्रस्तुत की जायें; और न ही फौज के अन्य वे कर्मचारी हासिल किये जा सकते हैं, जिनकी संख्या लड़ाकू सिपाहियों की तुलना में कहीं अधिक होती है, जो लड़ाकुओं को खाना, यातायात के साधन, पत्र, सन्देश, अस्त्र तथा गोला-बारूद इत्यादि पहुँचाते हैं।"[4] वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक देश की सैनिक कार्यक्षमता सम्भाव्य औद्योगिक उत्पादन क्षमता पर निर्भर करती है और औद्योगिक उत्पादन क्षमता बड़ी जनसंख्या पर निर्भर करती है।

---

1 Charles P. Schlicher, *International Relations*, p. 241.
2 Quoted by David V. Vital, *The Struggle for Population* (Oxford. 1935), p 34.
3 Morgenthau, *Ibid*. p. 122.
4 *Ibid*.

यदि दो राष्ट्रों की वैज्ञानिक प्रगति, तकनीकी विकास, औद्योगिक स्तर तथा अन्य शक्ति तत्व समान हों तो विशाल जनसंख्या सदैव राष्ट्र की शक्ति बढ़ाने में अधिक सहायक होगी। एक देश जिसकी आबादी अपने प्रतिद्वन्द्वी की तुलना में कम है, अपनी जनसंख्या की गिरती हुई रफ्तार से उस समय बहुत चिन्तित हो जायगा, जबकि उसके प्रतिद्वन्द्वी की आबादी अधिक रफ्तार से बढ़ रही हो। यही परिस्थिति सन् 1870 से 1940 के मध्य जर्मनी की तुलना में फ्रांस की रही है। इस युग में फ्रांस की जनसंख्या चालीस लाख बढ़ी, जबकि जर्मनी की वृद्धि दो करोड़ सत्तर लाख रही। 1940 में जर्मनी के पास डेढ़ करोड़ व्यक्ति सैनिक सेवा के लिए उपलब्ध थे जबकि फ्रांस में ऐसे व्यक्तियों की संख्या केवल 50 लाख थी। सन् 1940 में फ्रांस के जर्मनी से पराजित होने का एक कारण यह भी था। सन् 1800 में प्रत्येक सातवाँ यूरोपीय व्यक्ति फ्रांसीसी था, सन् 1930 में प्रत्येक तेरहवाँ व्यक्ति फ्रांसीसी था। सन् 1940 में जर्मनी के पास डेढ़ करोड़ मनुष्य सैनिक शिक्षा के लिए प्राप्त थे, जबकि फ्रांस के पास केवल पचास लाख ही थे। इसी प्रकार सन् 1870 के बाद जर्मनी रूस की जनसंख्या को देखकर चिन्तित रहता था, जो जर्मनी की तुलना में अधिक बढ़ती चली जा रही थी, वस्तुत. रूस द्वारा द्वितीय विश्वयुद्ध में हिटलर की सेनाओं को हराने में उसकी विशाल जनसंख्या का बड़ा महत्व था। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में जब केवल ब्रिटिश साम्राज्य ही अकेली विश्व शक्ति था तो उसकी आबादी प्रायः चालीस करोड़ थी। यह जनसंख्या की प्रायः एक-चौथाई थी।

राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण में जनसंख्या की अधिकता का तो महत्व है कि चूंकि अधिक जनसंख्या की चेतना से राष्ट्र के सदस्यों का मनोबल ऊँचा हो सकता है और अधिक जनसंख्या वाला राष्ट्र किसी भी आक्रमणकारी के विरुद्ध निष्क्रिय प्रतिरोध भी सफलतापूर्वक चला सकता है, तथापि राष्ट्र का शक्तिशाली होना वास्तविक रूप से जनसंख्या की प्रकृति, उसके चरित्र और गुणों (Quality) पर निर्भर करता है। जनसंख्या के गुणों की दृष्टि से कई बातें महत्वपूर्ण हैं, जैसे—राज्य की जनसंख्या में वृद्धों की संख्या अधिक है अथवा युवकों की वहाँ की आबादी में पुरुष अधिक हैं अथवा स्त्रियाँ वहाँ के लोगों का स्वास्थ्य कैसा है, आबादी शिक्षित है अथवा निरक्षर, वहाँ जनसंख्या में अल्पसंख्यकों की संख्या कितनी है, लोग निर्धन हैं अथवा सम्पन्न आदि। जनसंख्या की दृष्टि से आयु के प्रश्न का सीधा सम्बन्ध आर्थिक विकास से जुड़ा हुआ है। सैनिक अथवा औद्योगिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए राष्ट्र की जनसंख्या में युवकों एवं प्रौढ़ों का बाहुल्य उपयोगी होता है। जिन राज्यों में अल्पसंख्यकों का अभाव होता है तथा जनसंख्या की रचना में एक ही प्रकार की जाति के लोग पाये जाते हैं, वे अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली होते है और वहाँ राष्ट्रीय एकता खण्डित होने जैसी कोई समस्या नहीं रहती। हम सभी जानते हैं कि भारत में धर्म और भाषा के आधार पर अल्पसंख्यकों की उपस्थिति कभी-कभी राष्ट्रीय एकता के लिए चुनौती उत्पन्न कर देती है। वस्तुतः राष्ट्रीय शक्ति जनता के ओज, चरित्र, उत्पादन क्षमता, स्वास्थ्य, शिक्षा स्तर तथा आर्थिक प्रोत्साहन का ही सम्मिलित नाम है। यही कारण है कि चीन तथा भारत विश्व के दो विशाल जनसंख्या वाले राष्ट्र हैं तथापि वे अमरीका तथा सोवियत संघ से कमजोर हैं।

जहाँ अधिक जनसंख्या राष्ट्र की शक्ति की अभिवृद्धि में सहायक होती है वह एक अर्थ में राष्ट्रीय शक्ति के विकास में बाधाएँ भी उपस्थित करती है। अधिक जनसंख्या के पोषण के लिए यदि राष्ट्र सक्षम नहीं है तो वह जनसंख्या उसके लिए विभिन्न समस्याओं का अम्बार खड़ा कर देती है। बड़ी जनसंख्या वाले देश में एक बड़ी समस्या राष्ट्रीय एकता की होती है और वहाँ बहुत से लोगों को जीवित रखने के लिए एक बड़ी मात्रा में खाद्यान्न की आवश्यकता होती है। भारत की विशाल जनसंख्या के सामने जिस प्रकार अन्न संकट हमेशा मुंह बाए रहता है, वह एक शोचनीय स्थिति है। कभी-कभी अधिक जनसंख्या बसाने के लिए राज्य अपने क्षेत्र का विस्तार

करने को बाध्य होते हैं जिससे साम्राज्यवादी विदेश नीति का प्रादुर्भाव होता है जो अन्ततोगत्वा विश्वशान्ति के प्रतिकूल ही है। हम सभी जानते हैं कि जर्मनी की विस्तारवादी आकांक्षा के मूल में बड़ा कारण जर्मनी की बढ़ती हुई जनसंख्या का था। किंग्सले डेविस के विचार में निर्धन देशों की जनसंख्या सबसे अधिक बढ़ रही है तथा निकट भविष्य में सबसे अधिक जनसंख्या और सबसे कम संसाधन होने के कारण ये देश क्रान्तिकारी नीतियाँ अपनाने को बाध्य होंगे।[1]

राष्ट्रीय शक्ति की रचना में जनसंख्या का योगदान

जनसंख्या राष्ट्रीय शक्ति का महत्वपूर्ण अवयव है, चूंकि वह सैनिक कार्यवाहियों तथा आर्थिक उत्पादन के लिए जन शक्ति की व्यवस्था करती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि किसी राष्ट्र के पास अपार जनशक्ति हो पर यदि वह सैनिक संगठन में न बँधी हो तो इससे राष्ट्रीय शक्ति की वृद्धि नहीं हो सकती। जनसंख्या से राष्ट्रों को यह भी सैनिक लाभ होता है कि विशाल जनसंख्या वाले देश को जीतना कठिन होता है और यदि उसे जीत भी लिया जाये तो उस विजय को स्थायी बनाना बहुत कठिन होता है। यह एक तथ्य है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के काल में जापान को चीन में इसी कठिनाई का सामान करना पड़ा था। अधिक जनसंख्या आर्थिक उत्पादन के क्षेत्र में वृद्धि को सम्भव बनाकर राष्ट्रीय शक्ति की अभिवृद्धि में अपना योगदान देती है।

असल में जनसंख्या की अधिकता से न तो शक्तिशाली सेना की गारण्टी हो सकती है और न उच्चकोटि के औद्योगीकरण की। यथार्थ में ये दोनों ही लाभ राष्ट्रीय शक्ति के अन्य कारणों पर निर्भर करते हैं; विशेष रूप से इस बात पर कि किसी राष्ट्र ने कितना औद्योगिक विस्तार किया है और अपनी सैनिक शक्ति एवं उत्पादन तन्त्र को किस सीमा तक आधुनिक स्वरूप प्रदान किया है।

तालिका : 1

जनसंख्या की दृष्टि से संसार के सबसे बड़े दस राज्य
(THE TEN LARGEST NATIONS IN THE WORLD POPULATION)

राज्य	जनसंख्या	स्थिति
1. चीन	1,051,551,000	एशिया
2. भारत	746,742,000	एशिया
3. सोवियत रूस	275,761,000	यूरोप-एशिया
4. संयुक्त राज्य अमेरिका	235,681,000	उत्तरी अमेरिका
5. इण्डोनेशिया	162,167;000	एशिया
6. ब्राजील	132,648,000	दक्षिणी अमेरिका
7. जापान	119,482,000	एशिया
8. बंगलादेश	98,464,000	एशिया
9. पाकिस्तान	98,971,000	एशिया
10. नाइजीरिया	92,037,000	अफ्रीका

2. तकनीकी
(TECHNOLOGY)

विज्ञान के व्यावहारिक ज्ञान को तकनीक का नाम दिया गया है।[2] तकनीकी या प्रौद्योगिकी के अन्तर्गत आविष्कार तथा वे सभी साधन आते हैं जिनसे राष्ट्र की भौतिक समृद्धि में सहायता मिलती है। तकनीकी उन्नति से अभिप्राय हैं नयी पद्धतियों का प्रयोग। यह एक प्रकार से पुराने

1 Olson and Sondermann, *The Theory and Practice of Interntional Relation*, pp. 151-52.
2 'Technology is often defined as applied science.'

तौर-तरीकों पर नूतन तौर-तरीकों की विजय है।[1] तकनीकी परिवर्तन एक जटिल सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें कई तत्व शामिल हैं; जैसे विधान, शिक्षा, अनुसन्धान, वैयक्तिक एवं सार्वजनिक क्षेत्रों में विकास, प्रबन्ध, प्रविधि, उत्पादन सुविधाएँ, श्रमिक और मजदूर संगठन।[2] क्विसी राइट के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रशिक्षण के रूप में तकनीकी ज्ञान वह विज्ञान है जो आविष्कार और भौतिक संस्कृति की प्रगति को विश्व राजनीति से संयुक्त करता है। यह यान्त्रिक पद्धतियों के विकास तथा युद्ध कूटनीति, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, यात्रा एवं संसार में उनके प्रयोग की कला है।"[3]

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र—कृषि, उद्योग, चिकित्सा, शासन व्यवस्था, शिक्षा उपकरण, संचार साधन, अर्थव्यवस्था तथा युद्ध संचालन में तकनीकी शोधों का अपूर्व प्रभाव है। चिरकाल से तकनीक ने राष्ट्रीय शक्ति की स्थिति के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है और यह माना जाता है कि तकनीकी ज्ञान की दृष्टि से एक राष्ट्र जितना आगे बढ़ जाता है वह उतना ही अधिक शक्ति की दृष्टि से भी आगे आ जाता है। तकनीकी विकास से राष्ट्रीय शक्ति अनेक रूपों में प्रभावित होती है—तकनीकी प्रगति राष्ट्र के स्वरूप को बदल देती है, पुराना परम्परावादी समाज और राष्ट्र आधुनिक एवं प्रगतिशील बन जाता है, इससे 'राष्ट्रों की शक्ति स्थिति में परिवर्तन आ जाता है, राष्ट्र की आक्रमणकारी शक्ति बढ़ जाती है, राष्ट्र की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति में परिवर्तन आ जाता है। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि आज अपनी तकनीकी प्रगति के कारण ही संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ की गणना संसार की महाशक्तियों में होती है। मोल्टोव ने 1955 में अमरीकी पत्रकारों से कहा था कि सोवियत संघ अमरीका से केवल एक ही चीज लेना चाहता है और वह है उसका तकनीकी ज्ञान।

तकनीकी प्रगति के तीन क्षेत्रों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को सबसे अधिक प्रभावित किया है : 1. सैनिक तकनीक; 2. औद्योगिक तकनीक; और 3. संचार तकनीक।

1. सैनिक तकनीक—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से सैनिक तकनीक में हुई प्रगति ने राष्ट्रीय शक्ति को बहुत अधिक प्रभावित किया है। राष्ट्रों तथा सभ्यताओं का भाग्य युद्ध की तकनीक के अन्तर के कारण बहुधा निर्धारित हुआ है। पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक के अपने विकास काल में यूरोप ने युद्ध तकनीक की दृष्टि से इतनी अधिक प्रगति की कि वह पश्चिमी गोलार्द्ध, अफ्रीका तथा निकटवर्ती तथा सुदूरपूर्व के देशों की अपेक्षा कहीं बढ़कर थी। चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं शताब्दियों में परम्परागत अस्त्रों में पैदल सेना, आग्नेय अस्त्र व तोपखाने के जुड़ जाने से शक्ति के वितरण में महत्वपूर्ण परिवर्तन उस पक्ष के अनुकूल हो गया, जिसने इनका प्रयोग अपने शत्रु से पूर्व प्रारम्भ कर दिया था। सामन्त एवं राजा लोग जो घुड़सवार सेना तथा दुर्ग पर अवलम्बित रहे, अब अपनी पहली प्रबल स्थिति को दुर्बल पाने लगे और नये अस्त्रों के सामने अपने को पूर्व स्थिति से विच्छिन्न अनुभव करने लगे। सैनिक तकनीक में परिवर्तन की प्रक्रिया को दो घटनाओं से स्पष्ट किया जा सकता है—प्रथम, सन् 1315 में मोरगारटन तथा सन् 1339 में लाऊपन के युद्धों में स्विस पैदल सेनाओं ने सामन्तवादी घुड़सवार सेनाओं

1 "Technological change reflects the actual adoption of new methods and products; it is the triumph of the new over the old in the test of the market and the budget."
—John T. Dunlop, "Introduction : Problems and Potential" in John T. Dunlop, ed., *Automation and Technological Change* (Englewood Cliffs, N. J., Prentice Hall, 1962), p. 4.

2 "Moreover it involves a complex social process including many elements : Science, education, research and development under private and public auspices, management, technology, production, facilities, workers and labour organisations." From "Final Report of the Twenty-First American Assembly." in Dunlop, p. 176.

3 Quincy Wright, *The Study of International Relations*, p, 369,

को विध्वंसपूर्ण पराजय प्रदान की थी, जिससे यह स्पष्ट हो गया कि आम जनता की संगठित पैदल सेना, सामन्तशाही की कीमती घुड़सवार सेना से उच्च होती है। दूसरा उदाहरण 1449 में फ्रांस के चार्ल्स अष्टम द्वारा इटली पर आक्रमण का है। पैदल सेना व तोपखाने द्वारा चार्ल्स अष्टम ने उन गर्वोन्मत्त इटालियन नगर राज्यों की शक्ति को ध्वस्त कर दिया था, जो उस समय तक दीवारों के पीछे सुरक्षित रहा करते थे।

बीसवीं शताब्दी में अभी तक युद्ध की तकनीक में चार नये परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। इन नये तकनीकी परिवर्तनों द्वारा एक पक्ष को विरोधी पक्ष के विरुद्ध कम से कम तात्कालिक लाभ प्राप्त हो गया, क्योंकि विरोधी पक्ष या तो उसे पहले प्रयोग में न ला पाया अथवा उनके विरुद्ध बचाव नहीं कर पाया। सर्वप्रथम, तो प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान ब्रिटिश जहाजों के विरुद्ध विशेष रूप में प्रयोग की गयी जर्मनी की पनडुब्बियाँ थीं। इनसे तो ऐसा विदित होने लगा था कि शायद वे जर्मनी के पक्ष में युद्ध के निर्णय का ही कारण बन जायेंगी। किन्तु ग्रेट ब्रिटेन ने उनके विरुद्ध जवाब में सशस्त्र रक्षक जहाजी-बेड़े का आविष्कार कर लिया। द्वितीय, जर्मनी के मुकाबले में ग्रेट ब्रिटेन ने प्रथम विश्वयुद्ध के अन्तिम दिनों में टैंकों का काफी बड़ी संख्या में तथा केन्द्रित रूप में प्रयोग किया था, जिससे मित्र राष्ट्रों को विजय के लिए महत्वपूर्ण पूँजी प्राप्त हो गयी थी। तृतीय, स्थल, जल और वायु सेना का युद्ध संचालन व व्यूह-रचना में चातुर्यपूर्ण प्रयोग द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ में जर्मनी तथा जापान के लिए उच्चता का कारण बन गया था। पर्ल हारबर तथा ब्रिटिश व डच द्वारा सन् 1941 व 1942 में जापान के हाथों खायी गयी विध्वंसकारी पराजय एक प्रगतिशील शत्रु के प्रहार के सम्मुख तकनीकी पिछड़ेपन की सजा ही थी। अन्त में, जिन राष्ट्रों के पास अणुशस्त्र तथा उन्हें फेंकने के साधन हैं वे अपने प्रतिद्वन्द्वियों की तुलना में तकनीकी दृष्टि से बहुत लाभपूर्ण स्थिति में हैं। अणु प्रक्षेपणास्त्रों के निर्माण के लिए उच्चस्तरीय संश्लिष्ट, गहन तकनीकी औद्योगिक ज्ञान की आवश्यकता है। अणु प्रक्षेपणास्त्रों के आधिपत्य के कारण आज अमरीका, सोवियत संघ और चीन की आक्रामक एवं संहारक शक्ति अपरिमित हो गयी है। इनकी तुलना में विश्व के अन्य राष्ट्र शक्ति की दृष्टि से नगण्य हो गये हैं। अतः आणविक तकनीक ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राज्यों के शक्ति परिमाण को मूलतः परिवर्तित कर डाला है।

2. **औद्योगिक तकनीकी**—औद्योगिक तकनीकी आर्थिक समृद्धि की स्थापना करके राष्ट्रीय शक्ति में वृद्धि करती है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कार्य करने की अधिक श्रेष्ठ, सक्षम, सुनियोजित, व्यवस्थित तकनीकी प्रक्रिया को ही औद्योगिक ज्ञान का विकास कहते हैं। औद्योगिक विकास का उद्देश्य तकनीकी ज्ञान से-उत्पादन क्षमता बढ़ाना, नियन्त्रण, वितरण तथा संचय की समस्याओं का निराकरण, उद्योगों का संगठन, वैज्ञानिक ज्ञान का उद्योगों में प्रयोग, श्रमिकों का प्रशिक्षण तथा राष्ट्रीय हितों के साथ श्रमनीति का सामंजस्य करना होता है। प्रो राल्फ टर्नर के शब्दों में, "भूमि में खनिज पदार्थ की अन्वेषण प्रक्रिया से लेकर धातु निर्माण की अन्तिम प्रक्रिया तक, इतना ही नहीं, इन धातुओं को अस्त्र-शस्त्र का रूप देने की तथा युद्ध-स्थल तक पहुँचाने की क्रिया औद्योगिक ज्ञान के उपयोग की क्रमिक अवस्थाएँ हैं। सम्पूर्ण रूप से सफल युद्ध संचालन की मुख्य समस्या, इस व्यापक औद्योगिक क्रम की निरन्तरता को बनाये रखना है।"

18वीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति ने औद्योगिक तकनीक के क्षेत्र में प्रगति के लिए महान् मार्ग प्रशस्त किया था और उसके उपरान्त विश्व के राज्यों के शक्ति सम्बन्धों में बुनियादी अन्तर आया। औद्योगिक तकनीकी के परिणामस्वरूप ही ब्रिटेन अपने उपयोग की आवश्यकता से बहुत अधिक उत्पादन करने में सफल हो गया। इस अधिक उत्पादन को बेचने के लिए उसे नयी मण्डियों की खोज करनी पड़ी, जिसके परिणामस्वरूप ब्रिटिश साम्राज्यवाद की स्थापना हुई। द्वितीय

विश्वयुद्ध के समय दक्षिणी-पूर्वी एशिया के रबड़ पैदा करने वाले देशों पर जब जापान ने अधिकार कर लिया तो अमरीका को रबड़ मिलना कठिन हो गया। परन्तु अमरीका ने अपनी सुविकसित औद्योगिक तकनीक के सहारे सिन्थैटिक रबड़ उत्पादित कर इस कमी को पूरा कर लिया और उसकी राष्ट्रीय शक्ति पर कोई कुप्रभाव नहीं पड़ सका।

औद्योगिक तकनीकी की सहायता से राष्ट्र के आर्थिक उत्पादन में वृद्धि होती है जिससे नागरिकों का जीवन स्तर ऊँचा उठता है। राष्ट्र के निवासियों का जीवन स्तर ऊँचा होने से अन्य राष्ट्रों द्वारा उसे प्रशंसा प्राप्त होती है। इससे राष्ट्र में पूँजी का बाहुल्य होता है और पूँजी बाहुल्य के कारण तकनीकी अथवा आर्थिक सहायता देने में राष्ट्र सक्षम हो जाता है। संयुक्त राज्य अमरीका की शक्ति का एक बहुत बड़ा कारण उसके द्वारा जरूरतमन्द राष्ट्रों को अलग-अलग ढंग की आर्थिक सहायता देने की सामर्थ्य है और इसके माध्यम से वह उनके व्यवहार को प्रभावित करने की स्थिति में आ जाता है।

3. **संचार तकनीकी**—संचार तकनीकी से अभिप्राय यह है कि आवागमन और संचार के आधुनिक साधनों का किसी राष्ट्र में किस सीमा तक विकास हुआ है। संचार तकनीकी के उन्नत विकास पर ही वस्तुओं, मनुष्यों और विचारों का आदान-प्रदान सम्भव है। आवागमन के आधुनिक साधन; जैसे सड़कें, रेल, मोटर, वायुयान न केवल किसी राष्ट्र को एकता प्रदान करते हैं अपितु दूसरे राष्ट्रों की आर्थिक समृद्धि एवं व्यापार सुविधाएँ बढ़ाने में भी बहुत बड़ा योगदान देते हैं। रेडियो, टेलीविजन आदि प्रचार साधनों से न केवल अपने राष्ट्र के निवासियों के मस्तिष्क पर अपितु दूसरे राष्ट्रों के निवासियों के मस्तिष्क पर नियन्त्रण स्थापित किया जाता है। इनसे जहाँ एक ओर किसी राष्ट्र को अपना मित्र बनाया जा सकता है वहीं दूसरी ओर शत्रु राष्ट्र के नागरिकों को भड़काया जा सकता है। सुविकसित प्रचार तकनीकों से अन्य राष्ट्रों के सम्मुख अपनी राष्ट्रीय शक्ति का प्रदर्शन भी किया जा सकता है। हम सभी जानते हैं कि साम्यवादी चीन ने भारत विरोधी प्रचार कर पाकिस्तान की मैत्री प्राप्त कर ली। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान हिटलर ने संचार माध्यमों से जर्मन राष्ट्र की शक्ति का ऐसा प्रदर्शन किया कि ब्रिटेन और फ्रांस जैसे देशों को भी तुष्टीकरण की नीति अपनानी पड़ी।

पैडलफोर्ड एवं लिंकन के अनुसार राष्ट्रीय शक्ति के तत्व के रूप में 'तकनीकी' पाँच प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करती है।—प्रथम, तकनीकी के कारण एक देश अपनी मान्यताओं और लक्ष्यों में परिवर्तन कर लेता है। अमरीका ने जिस समय अपनी पार्थक्यकरण की नीति को छोड़ा उस समय नयी तकनीकी के कारण उसकी आक्रामक क्षमता काफी बढ़ चुकी थी। द्वितीय, तकनीकी द्वारा अन्य तत्वों जैसे आर्थिक तत्व, जनसंख्या, मनोबल आदि को भी प्रभावित किया जाता है। तकनीकी से सम्पन्न जनसंख्या वाला देश ही महाशक्ति बनने के सपने सँजो सकता है। तृतीय, तकनीकी विदेश नीति की विषय-वस्तु को प्रभावित करती है। आणविक शस्त्रों के विकास करने की क्षमता का प्रदर्शन करने के बाद सन् 1971 में अमरीका ने चीन को मान्यता प्रदान कर दी है। चतुर्थ, तकनीकी राष्ट्र निर्माण का प्रचुर साधन है। यह औद्योगिक देशों को वह सामर्थ्य देती है जिसके आधार पर वे सम्पत्ति का प्रचुर निर्माण कर उसका निर्यात करते हैं। पंचम, तकनीक का विदेश नीति के संचालन पर क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ा है। इससे विदेश नीति का लोकतान्त्रिकरण हुआ है और विदेश नीति से सम्बन्धित प्रश्नों पर लोकमत का प्रभाव बढ़ा है।

यह सच है कि 'टेक्नॉलोजी ने शक्ति के स्वरूप तथा राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों में पूर्ण परिवर्तन कर दिया है।'[1] आज वे ही राष्ट्र शक्ति के उच्च शिखर पर हैं जिन्होंने तकनीकी दृष्टि

---

1 "Technology has completely changed the whole complex of power and relations among nations."

से काफी उन्नति कर ली है। भारत और चीन जनसंख्या की दृष्टि से बड़ी आबादी वाले राष्ट्र होते हुए भी तकनीकी दृष्टि से जापान, जर्मनी और फ्रांस से पिछड़े हुए माने जाते हैं और यही वजह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति की दृष्टि से उनका उतना प्रभाव नहीं है जितना जापान और जर्मनी का है। 1970 के दशक में चीन का महत्व और प्रभाव बढ़ने लगा क्योंकि तकनीकी दृष्टि से उसने कतिपय कीर्तिमान स्थापित कर लिये हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'तकनीकी प्रगति का सम्बन्ध राष्ट्र की पूरी अर्थ-व्यवस्था और सामाजिक पद्धति के साथ है।' केवल एक-दो आणविक परीक्षण करने मात्र से कोई देश तकनीकी दृष्टि से उन्नत नहीं मान लिया जाता। भारत जैसे देश में आणविक तकनीकी को विकसित करने का एक कुपरिणाम बेकारी में वृद्धि हो सकती है।

आणविक तकनीकी के विकास का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक अनिवार्य परिणाम यह होगा कि कई छोटे राष्ट्रों की शक्ति, अनेक विशालकाय राज्यों के समकक्ष हो जायेगी क्योंकि अणु-शक्ति क्षेत्रीय विशालता पर निर्भर न होकर तकनीकी ज्ञान पर निर्भर है। परमाणु तकनीकी के विकास के फलस्वरूप आज हम 'अति मारकता' के युग में रह रहे हैं। चीन, फ्रांस, भारत, इजरायल, पाकिस्तान आदि परमाणु शक्ति बनने के प्रयत्न कर रहे हैं। नये हथियारों का विकास होते-होते अन्त में एक ऐसी स्थिति उत्पन्न होना असम्भव नहीं जहाँ पहुँचकर उस सैनिक श्रेष्ठता का भी कोई अर्थ न रहे जो आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का उद्देश्य मालूम होता है।

3. विचारधारा
(IDEOLOGY)

विचार और विचारधाराएँ शक्ति के अवयवों का प्रत्ययात्मक भाग है। भूगोल और जन-संख्या राष्ट्रीय शक्ति के ऐसे तत्व हैं जिनके अस्तित्व को हम देख सकते हैं जबकि राष्ट्रीय शक्ति के कुछ ऐसे तत्व भी हैं जिनके अस्तित्व का हम केवल अनुभव कर सकते हैं। ये तत्व भौतिक न होकर मानवीय तत्व हैं जिनमें नेतृत्व, मनोबल और विचारधारा प्रमुख हैं।

विचारधारा शब्द का प्रयोग दो भिन्न अर्थों में किया जाता है। पहले अर्थ में विचारधारा विचारों एवं विश्वासों का ऐसा समुच्चय है जो एक सुनिश्चित विश्व दृष्टि पर आधारित हो और अपने को अपने आप में पूर्ण मानती हो तथा संसार की सारी वास्तविकता की व्याख्या करने का आधार प्रदान करने का दावा करती है। इस अर्थ में विचारधारा मनुष्य की प्रकृति के बारे में कुछ अभिग्रह लेकर चलती है और उनके आधार पर मनुष्य के इतिहास का एक सिद्धान्त, आचरण की एक नैतिक नियमावली, त्यागमय कर्तव्य भावना और कर्म का एक कार्यक्रम पेश करती है। दूसरे अर्थ में, विचारधारा को विदेश नीति के वास्तविक उद्देश्य छिपाने का आवरण कहा जा सकता है। इस अर्थ में प्रयोग करने पर विचारधारा विदेश नीति के तात्कालिक लक्ष्य के रूप में शक्ति प्राप्ति के बारे में तत्पर होती है। पैडलफोर्ड एवं लिंकन के अनुसार, "विचारधारा आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक मूल्यों तथा लक्ष्यों से सम्बन्धित विचारों का निकाय है जो इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कार्यों की योजना तैयार करती है।" स्नाइडर एवं विलसन ने लिखा है, "एक विचारधारा जीवन, समाज और शासन के प्रति निश्चित विचारों का वह समूह है, जिनका प्रचार मुख्यतया योजनाबद्ध सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक नारों के प्रतिपादन के रूप में अथवा युद्ध-कालीन नारों के रूप में निरन्तर उपदेशात्मक रूप में इस प्रकार किया गया है कि वह एक विशिष्ट समाज, समुदाय, दल अथवा राष्ट्र के विशिष्ट विश्वास ही बन गये हैं।"[1]

विचारधारा राष्ट्रीय शक्ति का तत्व है। आज सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विचारधारा के आधार पर ही लोकतान्त्रिक और साम्यवादी गुटों में विभाजित है। विचारधारा राष्ट्र के लोगों को जोड़ने में सीमेण्ट का कार्य करती है। विचारधारा से लोगों में समर्पण की भावना उत्पन्न होती

1 Richard C. Snyder and H. Hubert Wilson, *Roots of Political Behaviour* (New York, 1949), p. 511.

हैं। विचारधाराएँ समुदाय की भूमिका पर बल देती हैं और व्यक्ति की भूमिका को गौण मानती हैं। विचारधारा सरकार को अपने नागरिकों का समर्थन प्राप्त करने में मदद देती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मूलत: शक्ति पर आधारित है तथापि नग्न शक्ति को मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक दृष्टि से जनता तथा राष्ट्रों द्वारा ग्राह्य बनाना वैचारिकी का ही मुख्य काम है। कोई भी राज्य अपने दावों की पूर्ति शक्ति सामर्थ्य के आधार पर नहीं, वरन् एक विशिष्ट सिद्धान्त की दुहाई देकर करता है। मॉगेन्थाऊ लिखते हैं "जो राष्ट्र विचारधाराओं को त्यागकर स्पष्ट रूप से यह कह दे कि वह शक्ति चाहता है, और इसी कारण अन्य राष्ट्रों की समान महत्वाकांक्षाओं का विरोध करेगा तो वह इस शक्ति संघर्ष में अपने को निश्चित रूप से एक बहुत ही अहितकर परिस्थिति में पायेगा।"[1] अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विदेश नीतिनिर्माता और उसे कार्यान्वित करने के लिए जिम्मेदार लोग अपने राजनीतिक कार्यों का सच्चा स्वरूप राजनीतिक विचारधारा के मुखौटे के पीछे छिपाने की कोशिश करते हैं। एक सरकार जिसकी वैदेशिक नीति अपनी जनता के बौद्धिक विचार पद्धतियाँ, हर विचार की भाँति वे अस्त्र हैं, जो एक राष्ट्र की हिम्मत को बढ़ाकर उसके साथ ही साथ उस राष्ट्र की शक्ति बढ़ा सकते हैं और इस कार्य द्वारा ही विरोधी की हिम्मत को पस्त कर देते हैं। अमरीकी राष्ट्रपति वुडरो विलसन के चौदह सूत्रों (विचारधारा) ने प्रथम विश्व-युद्ध में मित्र राष्ट्रों की विजय में अत्यधिक योगदान दिया था, वह मित्र राष्ट्रों की हिम्मत को बढ़ाकर तथा धुरी राष्ट्रों की हिम्मत को पस्त करके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा के महत्व की प्रतिष्ठा का विलक्षण उदाहरण है। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री लायड जार्ज तथा अमरीकी राष्ट्रपति विलसन ने कहा कि वे प्रथम विश्वयुद्ध लोकतन्त्र और **राष्ट्रीय आत्म-निर्णय** जैसी उदार विचारधाराओं की रक्षा के लिए लड़ रहे हैं। हिटलर को सूझा कि यह राष्ट्रीय आत्म-निर्णय का सिद्धान्त (विचारधारा) अपनी राज्य विस्तार की नीतियों के आवरण के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। इस सिद्धान्त के आधार पर ही चैकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड के जर्मन अल्पसंख्यकों ने चैकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड के राष्ट्रीय अस्तित्व को कमजोर करने की कोशिश की। बाद में, वार्सा की सन्धि को यथापूर्व स्थिति के लाभान्वितों के पास अपने लाभों की रक्षा करने के लिए कोई विचारधारा नहीं थी।

राष्ट्रीय शक्ति में तत्व के रूप में विचारधारा राष्ट्र के सदस्यों के मनोबल को निर्मित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है। विचारधारा के माध्यम से लोगों में राष्ट्रीय लक्ष्यों के औचित्य में आस्था उत्पन्न होती है। हिटलर ने जब 'नयी व्यवस्था' का नारा दिया तो जर्मन जनता में युद्ध के औचित्य के सम्बन्ध में एक विश्वास उत्पन्न हो गया। साम्यवादी विचारधारा के सामाजिक, आर्थिक न्याय पर आधारित दर्शन से विभिन्न प्रकार की सोवियत राष्ट्रीयताओं को एकता के सूत्र में पिरोने में मदद मिली है। हिटलर ने विचारधारा के महत्व का लाभ उठाया और विदेशों में पंचमार्गियों (Fifth-Column) को संगठित किया। उपनिवेशों की जनता में राष्ट्रवाद स्वाधीनता की प्रेरणा देता था।

विचारधारा शब्द समकालीन सभी शक्तिशाली विचारधाराओं यथा सर्वाधिकारवाद, साम्यवाद, फासीवाद, नाजीवाद, मार्क्सवाद, समाजवाद, उदारवाद आदि अनेक वादों के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। लोकतन्त्र भी इस दृष्टि से एक विचार पद्धति ही है। मॉरगेन्थाऊ की दृष्टि से साम्राज्यवाद यदि एक सैद्धान्तिक वैचारिकी है तो बीसवीं शताब्दी के सबसे प्रेरक सिद्धान्त राष्ट्रवाद को भी सैद्धान्तिक वैचारिकी मानना होगा।

---

1 Morgenthau, *Ibid.*, p. 89.

4. राष्ट्रीय चरित्र
(NATIONAL CHARACTER)

राष्ट्रीय चरित्र राष्ट्रीय शक्ति का अमूर्त, सूक्ष्म तथा मानवीय तत्व है। कोलरिज ने लिखा है कि इतिहास इसका साक्ष्य है कि प्रत्येक देश के निवासियों में कुछ विशिष्ट गुण, कुछ सामान्य गुण, अवगुण अवश्य पाये जाते हैं जिन्हें हम सामूहिक रूप से राष्ट्रीय चरित्र के नाम से जानते हैं। मॉरगेन्थाऊ के शब्दों में, "राष्ट्रीय शक्ति पर राष्ट्रीय चरित्र का अनिवार्यतः प्रभाव पड़ता है क्योंकि जो कोई भी व्यक्ति युद्ध तथा शान्ति में राष्ट्र की ओर से कार्य करते हैं, चुनते हैं अथवा चुने जाते हैं, जनमत पर निर्णयात्मक प्रभाव डालते हैं, उत्पादन तथा खपत बढ़ाते हैं। ये सभी लोग अधिक या कम स्तर पर उन बौद्धिक तथा नैतिक गुणों की छाप से मुक्त रहते हैं, जो राष्ट्रीय चरित्र को निर्मित करते हैं।"[1]

किसी भी देश की राष्ट्रीय शक्ति का मूल्यांकन करते हुए राष्ट्रीय चरित्र को भले ही वह कितना ही अमूर्त हो, ध्यान में रखना होगा। राष्ट्रीय चरित्र के कारण जर्मनी तथा सोवियत संघ सैन्यीकरण पर आधारित विदेश नीतियाँ सरलता से अपना सकते हैं, जबकि अमरीका तथा ब्रिटेन ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि इन दोनों देशों का जनमानस मूलतः सैन्यीकरण के विरुद्ध है। रूसी राष्ट्रीय चरित्र की विशेषता उसकी अटलता, अविचलता (Persistence), शौर्य, अड़िगपन, धैर्य और विदेशियों के प्रति सन्देह की भावना है। बिस्मार्क ने रूसी कर्तव्यनिष्ठा और स्थिरता के दो उदाहरण दिये हैं: 1825 में सेण्ट पीटर्सबर्ग में बाढ़ आयी, किन्तु इसके आने पर भी रक्षा करने वाले प्रहरी अपने स्थान पर खड़े रहे और बाढ़ में बह गये, किन्तु उन्होंने अपना स्थान नहीं छोड़ा। 1877 में इसी प्रकार शिपका दर्रे में सैनिक अपने स्थान पर खड़े हुए बर्फ में दबकर मर गये। ये उदाहरण रूसियों के उस अविचल, अटल, अडिग निश्चय एवं दृढ़ संकल्प की और कर्तव्य पालन की भावना को सूचित करते हैं जिसके कारण उन्होंने द्वितीय विश्वयुद्ध में सैकड़ों मील भीतर घुसे हुए नाजी सैनिकों को अपने देश से निकाल भगाने में सफलता प्राप्त की थी। अमरीकी चरित्र की विशेषता है 'व्यक्तिगत प्रेरणा तथा आविष्कार की क्षमता' (the individual initiative and inventiveness), ब्रिटिश लोगों की 'कट्टरहीनता एवं साधारण सूझबूझ' (the undogmatic and common sense), जर्मन लोगों का 'आत्म-नियन्त्रण तथा सम्पूर्णता' (the discipline and thoroughness) वे गुण हैं जो सदा ही प्रकट होते रहते हैं। भारतीय बड़े से बड़े अन्याय को दर्शन के आधार पर सह लेता है परन्तु विषम परिस्थितियों से जूझने की उसमें अपूर्व क्षमता है। जब-जब भी किसी विशेष राष्ट्र के सदस्य व्यक्तिगत अथवा सामूहिक कार्यों में लिप्त होते हैं, तब-तब उनका राष्ट्रीय चरित्र व्यक्त होता चलता है। सैनिकवाद का विरोध, अनिवार्य सैनिक नौकरी तथा स्थायी सेना के प्रति विरक्ति अमरीकन तथा ब्रिटिश राष्ट्रीय चरित्र के स्थायी तत्व हैं। रूस में सरकार की प्रभुत्वकारी शक्ति की आज्ञापालन की परम्परा तथा विदेशियों के प्रति परम्परागत भय की भावना ने वहाँ की जनता को बड़े स्थायी सैनिक संगठनों को अपना लेने के लिए प्रेरित किया है।

जर्मनी, रूस, जापान और इजराइल के राष्ट्रीय चरित्र ने शक्ति संघर्ष में उन्हें प्रारम्भिक लाभ प्रदान कर रखा है क्योंकि वे शान्तिकाल में ही अपने राष्ट्रीय साधनों का एक बड़ा भाग युद्ध के यन्त्रों में प्रयुक्त कर सकते हैं। दूसरी तरफ ऐसे परिवर्तन के प्रति ब्रिटिश, अमरीकन और भारतीय जनता की उदासीनता, विशेषकर राष्ट्रीय संकट के समय को छोड़कर, वैदेशिक नीतियों को बहुत हद तक प्रभावित करती हैं। पाकिस्तान की सैनिकतावादी सरकार अपने स्वयं के चुने हुए क्षण में युद्ध की योजना बना सकती है, उसकी तैयारी कर सकती है और उसको

1 *Ibid.*, pp. 130-31.

कर सकती है, जबकि भारत जैसे शान्तिप्रिय राष्ट्र की सरकार इस प्रसंग में अपने आपको हानिकर परिस्थिति में पाती है क्योंकि अपनी जनता की आन्तरिक सैनिकतावाद विरोधी प्रवृत्तियो से वह बंधी रहती है। वस्तुत: जब वह युद्ध की घोषणा करती है तो प्राय: शत्रु की इच्छा से बाध्य होकर ही उसे ऐसा करना पड़ता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के पर्यवेक्षक को, जो विभिन्न राष्ट्रों की आनुपातिक शक्ति का मूल्यांकन करना चाहता है, राष्ट्रीय चरित्र के गूढ़ तत्व का ज्ञान रखना आवश्यक है। ऐसा न कर सकने की असफलता निर्णय व नीति की वैसी ही भूल का कारण बन सकती है, जैसी भूल प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त जर्मनी की फिर से शक्ति संचय करने की क्षमता को कम करके आंकने से हुई थी। मॉरगेन्थाऊ लिखते हैं—"वार्साऊ की सन्धि जर्मनी को राष्ट्रीय शक्ति के अन्य यन्त्रों में बाधित कर सकती थी, जैसे भूमि, कच्चे माल के स्रोत, औद्योगिक क्षमता तथा सैनिक संगठन है परन्तु वह जर्मनी को उन तमाम चरित्र व बुद्धि के गुणों से वंचित नहीं कर सकती थी जिनके सहारे दो शताब्दियों में ही उसने वह सब कुछ वापस कर लिया, जो कि उसने खो दिया और जगत में एकाकी रूप से सर्वशक्तिमान राष्ट्र के रूप में उदित हुआ।"[1]

भारतीय स्वाधीनता के बाद चीन और पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारतीय महत्वाकांक्षाओं को चूर करने का साहस आखिर क्यों किया? इसके लिए बहुत कुछ भारतीय चरित्र उत्तरदायी है। उदासीनता, सामंजस्य और सहिष्णुता की भावना, शान्तिवाद एवं अहिंसा में आस्था, सामाजिक विषमता एवं फूट भारतीय चरित्र की विशेषताएँ हैं। एक सबल देश के नागरिकों में जो गुण होने चाहिए, जैसे स्पष्टवादिता, अन्याय का प्रतिकार करने की भावना, पहल करने की क्षमता, ये भारतीय नागरिकों में आमतौर से कम पाये जाते हैं और इसी कारण चीनियों ने सन् 1962 में और पाकिस्तान ने 1965 में भारत को झटका दिया। जर्मन नागरिकों में जिस प्रकार की संगठन निर्माण की कुशलता पायी जाती है वैसे भारतीय नागरिकों में नहीं पायी जाती और यह भी भारत की कमजोरी का एक कारण है। गांधी की अहिंसावादी विचारधारा ने भारतीय चरित्र को शान्तिवादी (Pacifist type) बना दिया जिससे समझौतावादी और तुष्टिकरण की विदेश नीति का अभ्युदय हुआ।[2]

5. राष्ट्रीय मनोबल
(NATIONAL MORALE)

मनोबल राष्ट्रीय शक्ति का एक सूक्ष्म तथापि प्रभावकारी तत्व है। मनोबल वास्तव में वह अमूर्त भाव है, जो अपनी विशिष्ट निष्ठा, साहस, विश्वास, व्यक्तित्व तथा गरिमा को सुरक्षित रखने की भावना से प्रेरित होता है। मॉरगेन्थाऊ के अनुसार राष्ट्रीय मनोबल निश्चय का वह अनुपात है जिसके अनुसार एक राष्ट्र शान्ति एवं युद्ध के समय अपनी सरकार की विदेश नीति का समर्थन करता है।[3] यह किसी राष्ट्र के प्रत्येक कार्य में व्याप्त रहता है। मनोबल में राष्ट्र की सारी क्रियाएँ—औद्योगिक व कृषि उत्पादन तथा सैनिक तैयारियाँ व कूटनीतिक सेवाएँ समाहित होती हैं। लोकमत के रूप में यह वह अदृश्य तत्व प्रदान करता है, जिसके सहारे के बिना कोई भी सरकार चाहे वह लोकतान्त्रिक हो अथवा निरंकुश, अपनी नीतियों को पूर्ण प्रभाव के साथ कार्यान्वित नहीं कर सकती। मनोबल या हौसले की उपस्थिति या अनुपस्थिति तथा उसके गुण राष्ट्रीय संकट के समय प्रकट होते है, जबकि या तो राष्ट्र का जीवन ही दांव पर हो और वह आधारभूत निर्णय लेने की घड़ी हो, जिस पर राष्ट्र का जीवित रहना अवलम्बित हो।

---

1 *Ibid.*, pp. 131-32.
2 J. A. Naik, *An Alternative Polity for India* (S. Chand & Co. 1976), pp. 3-4.
3 Morgenthau, *Ibid.*, p. 133.

राजनीति के सन्दर्भ में मनोबल एक पूरे राष्ट्र का वह सामूहिक मानसिक दृष्टिकोण है जससे वह अपनी सरकार की नीतियों को हितकर मानकर उनका समर्थन करने को तत्पर होता। कोई भी सरकार तब तक कार्य नहीं कर सकती जब तक उसे यह विश्वास नहीं होता कि जनता उसकी आन्तरिक तथा बाह्य नीतियों को, उसके औद्योगिक, सैनिक, राजनयिक कार्यकलापों को जनता का समर्थन प्राप्त है। समर्थन के इस अमूर्त भाव से शासन का मनोबल विकसित होता है। मनोबल का एक अंश है बलिदान की तत्परता। इसी तत्परता का किसी राष्ट्र की सेना पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। पर किसी राष्ट्रीय संकट के समय आक्रमण का मुकाबला करने के लिए बलिदान करने और मुकाबला करने की तत्परता का आम जनता में होना भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना सशस्त्र सेनाओं में। बलिदान की तत्परता युद्ध काल में ही नहीं बल्कि शान्तिकाल में भी राष्ट्रीय शक्ति का निर्माण करने में सहायक होती है। शान्तिकालीन बलिदान का सबसे अधिक औचित्य असैनिक आबादी के ही प्रसंग में अधिक होता है।

राष्ट्रीय चरित्र के कुछ गुण इतिहास के किसी विशेष क्षण में एक जनता के राष्ट्रीय हौसले में अपने आपको प्रकट करते है, जैसे अंग्रेजों की सहज सूझ-बूझ, फ्रांसीसियों का व्यक्तिवाद, रूसियों की दृढ़ता इत्यादि, परन्तु किसी राष्ट्र के चरित्र के आधार पर यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि विशेष परिस्थितियों में किसी राष्ट्र का मनोबल क्या होगा।

राष्ट्रीय संकट के समय में जिस देश के निवासियों का मनोबल जितना ऊँचा होगा, वह उतनी ही सफलता से संकटों का सामना कर सकेगा। इसका सर्वोत्तम उदाहरण 1940 का ग्रेट ब्रिटेन है। उस समय हिटलर ने अपने विद्युतयुद्ध की नवीन रणनीति से समूचे पश्चिमी यूरोप को पदाक्रान्त करके उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था, एक मात्र ब्रिटेन पर वह इंगलिश-चैनल में ब्रिटिश नौसेना की प्रबलता के कारण अपनी सेनाएँ नहीं उतार सका था। किन्तु दिन-रात उसके शक्तिशाली बमवर्षक वायुयान इंगलैण्ड पर बमबारी करते रहते थे, उसे कहीं से भी कोई सहायता मिलने की आशा नहीं थी। फिर भी इस समय चर्चिल के नेतृत्व में अंग्रेजों ने दृढ़ संकल्प के साथ अपना संघर्ष जारी रखा और अन्त में अपने इस ऊँचे मनोबल के कारण ही ग्रेट ब्रिटेन को युद्ध में सफलता मिली। एक हार किस प्रकार किसी देश के मनोबल को निर्बल बनाती है, इसका उदाहरण 1917 में केपोरेटो के रणक्षेत्र में इटली की हार थी जिसमें 3 लाख इटालियन बन्दी बनाए गए। इसके बाद इटली की लड़ने की हिम्मत बिल्कुल टूट गई। 1971 के भारत-पाक युद्ध में बंगला देश में मिली सफलताओं के कारण भारतीयों का मनोबल बहुत ऊँचा था और पाकिस्तान का मनोबल अपनी विफलताओं से इतना अधिक मग्न हो गया कि बंगलादेश में पाकिस्तान के प्रधान सेनापति ले. जनरल नियाजी ने अपने 93 हजार सैनिकों के साथ आत्मसमर्पण किया। इतिहास में इतने कम समय में इतने अधिक सैनिकों के आत्मसमर्पण की यह अभूतपूर्व घटना थी।

राष्ट्रीय मनोबल की अन्तिम परीक्षा युद्ध है तथापि इसका महत्व प्रत्येक उस परिस्थिति में प्रकट होता है, जबकि किसी राष्ट्र की शक्ति किसी अन्तर्राष्ट्रीय समस्या के सम्बन्ध में उपयोग में लायी जाती है। यदि किसी राष्ट्र में लोगों का कोई भी अंग स्थायी रूप से यह महसूस करता है कि वह अपने अधिकारों व राष्ट्रीय जीवन में पूर्ण रूप से भाग लेने से वंचित है तो उस वर्ग में राष्ट्रीय मनोबल उन अन्य अंगों की तुलना से कम होगा जो कि ऐसे अभावों से ग्रस्त नही हैं। जब कभी किसी राष्ट्र की जनता गहरे मतभेदों द्वारा फूट का शिकार होती है तो विदेश नीति के पक्ष में जनता का समर्थन सदा अनिश्चित रहता है। यह समर्थन वास्तव में और भी कम होगा यदि उस विदेश नीति की सफलता अथवा असफलता का गृह संघर्ष की समस्या पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ने वाला हो। निरंकुश सरकारें, जो कि अपनी नीतियों के निर्माण के समय के जनता की इच्छा और अभिलाषा को दृष्टि में नहीं रखती हैं, अपनी वैदेशिक नीतियों के पक्ष में जनता के सहयोग

की आशा नहीं कर सकती हैं। इस दृष्टि से आस्ट्रिया का उदाहरण उल्लेखनीय है—आस्ट्रिया की विदेश नीति विशेषकर स्लाव राष्ट्रों से सम्बन्धित नीतियाँ उनको कमजोर करने के लक्ष्य से संचालित होती थीं, ताकि आस्ट्रियन राज्य के अन्तर्गत बसी स्लाव राष्ट्र जातियों को नियन्त्रण में रखा जा सके। इसके परिणामस्वरूप ये स्लाव राष्ट्र जातियाँ अपनी ही सरकार की वैदेशिक नीतियों के प्रति उदासीन रहती थीं और अपने निकृष्ट रूप में वे स्लाव सरकारों की अपनी ही सरकार के विरुद्ध निर्दिष्ट नीतियों का सक्रिय समर्थन करती थीं। प्रथम विश्वयुद्ध के मध्य आस्ट्रो-हंगेरियन फौज की सभी स्लाव टुकड़ियाँ रूसियों से जा मिली थीं। सोवियत संघ को द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य ऐसे ही हौसले की कमी का अनुभव हुआ था जबकि यूकरेनियनों व टारटार निवासियों की फौजों की बड़ी टुकड़ियाँ बगावत करके जर्मनों से जा मिली थीं। ग्रेट ब्रिटेन को भारत के सम्बन्ध में ऐसा ही अनुभव हुआ था, क्योंकि भारत की जनता ने एक वैदेशिक स्वामी की वैदेशिक नीतियों का समर्थन बिना इच्छा के तथा बेमन से किया था, परन्तु सुभाष बोस व उनके अनुयायियों की तरह द्वितीय विश्वयुद्ध में वैदेशिक स्वामी के शत्रु की क्रियाशील सहायता के लिए भारतीय प्रस्तुत नहीं हुए।

जिस देश में वर्णभेद की खाइयाँ बहुत गहरी हैं, वह देश अपने राष्ट्रीय हौसले को अनिश्चित अवस्था में पायेगा। जितनी अधिक निकटता से एक जनता अपनी सरकार के कार्यों तथा लक्ष्यों—विशेषकर उसके वैदेशिक मामलों से सम्बन्धित कार्यों से एकीकरण स्थापित कर लेती है, उतना ही राष्ट्रीय मनोबल के ऊँचा होने की सम्भावना है, और यदि ऐसा न हो तो ठीक उसके विपरीत होगा। अर्थात् राष्ट्रीय मनोबल की कसौटी यह है कि राष्ट्रीय सरकार पर उसके निवासियों की कितनी आस्था है। राष्ट्रीय मनोबल के दृष्टिकोण से किसी भी राष्ट्र की शक्ति उसकी सरकार में निहित रहती है। जो राष्ट्र अच्छी तरह शासित है, वहाँ के निवासियों का राष्ट्रीय मनोबल उन राष्ट्रों से अधिक होगा, जहाँ का शासन बुरा है। इसी कारण राष्ट्रीय मनोबल को बढ़ाने का एकमात्र साधन सरकार के गुणों को बढ़ाना है।

मनोबल को प्रभावित करने वाले तत्व—मनोबल एक गतिशील विचार है। यह हर परिस्थिति के अन्तर्गत समान नहीं रहता। यह सम्भव है कि एक राज्य जिसने एक कठिनाई में उच्च मनोबल प्रदर्शित किया था दूसरी कठिनाई के समक्ष बहुत शीघ्र ही टूट जाये। वास्तव में, कुछ ऐसे तत्व हैं जिनसे मनोबल प्रदर्शित होता है। वे निम्नलिखित हैं :

(क) राष्ट्रीय चरित्र—रहन-सहन, विचार, भाषा, धर्म, संस्कृति व एक वस्तु के प्रति अपनाये जाने वाले दृष्टिकोण की समानता को राष्ट्रीय चरित्र के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह राष्ट्रीय मनोबल पर बहुत अधिक प्रभाव डालता है। ब्रिटेन के निवासी अपनी संस्थाओं से प्रेम करते हैं, लोकतन्त्र के प्रति गहरी आस्था रखते है एवं क्रान्तिकारी परिवर्तनों की ओर उदासीन रहते हैं। यही कारण है कि ब्रिटेन दो विश्वयुद्धों की विभीषिका को झेलने के बाद भी पूर्ववत है, जबकि अन्य देशों में छोटे से छोटा संकट राज्य के स्वरूप को बदल देता है।

(ख) संस्कृति—संस्कृति व्यक्तियों के विचारों व मूल्यों को बौद्धिक स्तर प्रदान करती है। नवीन संस्कृति नवीन विचारों को लेकर आती है जो अधिक स्पष्ट व परिस्थिति के अनुकूल होने के कारण राष्ट्रीय मनोबल का निर्माण करती है।

(ग) लोकप्रिय नेतृत्व—मनोवैज्ञानिक आधार पर एक राज्य के निवासी अपने आपको एक नेता के साथ सम्बद्ध कर देते है। ऐसे लोकप्रिय नेता का आह्वान राष्ट्रीय मनोबल को ऊँचा उठाता है। चीन के 80 करोड़ नर-नारी माओ के साथ इसी प्रकार सम्बद्ध थे। हो-ची-मिन्ह के नेतृत्व ने वियतनामियों का मनोबल इतना ऊँचा कर दिया कि अमरीका को वियतनाम से वेआबरू भागना पड़ा।

(घ) सुयोग्य सरकार—एक योग्य सरकार राष्ट्रीय मनोबल को अत्यधिक बढ़ाने में सफल होती है। 1971 ई. के भारत-पाक संघर्ष में पाकिस्तान की हार का मुख्य कारण अयोग्य सरकार (Inefficient Government) का होना था।

(ङ) परिस्थिति—स्थिति या अवसर का मनोबल के ऊपर सकारात्मक एवं नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। राष्ट्रीय संकट के समय कई ऐसे अवसर आते है जिनमे सम्पूर्ण राष्ट्र एक हो जाता है। 1965 ई. के भारत-पाक संघर्ष में निरन्तर विजयों के कारण भारतीय राष्ट्रीय मनोबल अपनी पराकाष्ठा पर था। यह सकारात्मक प्रभाव माना जा सकता है। कभी-कभी राष्ट्र के समक्ष कठिन परिस्थितियाँ आ जाती हैं; जैसे—बाढ़, सूखा, दुर्घटनाएँ व नेताओं की मृत्यु। इन परिस्थितियों में जनता का मनोबल टूट जाता है। यह नकारात्मक प्रभाव है। वास्तव में मनोबल का मापदण्ड कठिन परिस्थितियाँ हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध में लगातार हारों के पश्चात् भी ब्रिटिश मनोबल ज्यों का त्यों बना रहा। यह उसके मनोबल की स्थिरता का परिचायक है। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चर्चिल ने राष्ट्रीय मनोबल को स्थिर बनाये रखने के सम्बन्ध में यह विचार दिये थे—'युद्ध में सूझ-बूझ, हार में धैर्य व शान्ति में महानता ही राष्ट्रीय मनोबल की रीढ़ की हड्डी के समान है।'

संक्षेप में, मनोबल राष्ट्रीय शक्ति का एक महत्वपूर्ण तत्व है। बिना राष्ट्रीय मनोबल के राष्ट्रीय शक्ति केवल एक भौतिक शक्ति के अलावा कुछ भी नहीं है।

6. नेतृत्व
(LEADERSHIP)

राष्ट्रीय शक्ति का एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व नेतृत्व है। नेतृत्व में ही राष्ट्रीय शक्ति के अन्य सभी आधार उचित दिशा निर्देशन पाते हैं। नेतृत्व शक्ति के अन्य तत्वों के विकास तथा अनुशीलन की प्रेरणा देता है। नेतृत्व अकेला भी कभी-कभी इतना प्रभावशाली होता है कि वह शक्ति का एक स्वतन्त्र तत्व माना जा सकता है।

नेतृत्व की अनुपस्थिति में राज्य की रचना भी नहीं हो सकती। दूर दृष्टि और कड़ी मेहनत वाले नेतृत्व के बिना सुविकसित तकनीक की भी कल्पना नहीं की जा सकती और उसके न होने की स्थिति में राष्ट्रीय मनोबल का कोई अर्थ नहीं हो सकता। नेतृत्व के मुख्य रूप से दो कार्य हैं जिनसे वह राष्ट्रीय शक्ति की अभिवृद्धि में सहायक होता है। प्रथम, नेतृत्व राष्ट्रीय शक्ति के अन्य तत्वों के बीच समन्वय की स्थापना करता है; द्वितीय, राष्ट्र अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त कर सके, इसके लिए भी उच्च गुणों वाले नेतृत्व का अस्तित्व आवश्यक होता है। हम सभी जानते हैं कि युद्ध में सैनिक नेतृत्व ने राष्ट्रीय शक्ति पर सदा से ही निर्णयात्मक प्रभाव डाला है। 18वीं शताब्दी में प्रशा की शक्ति वास्तव में फ्रेडरिक महान की सैनिक योग्यता का विलक्षण गुण व युद्ध सम्बन्धी चालों के लिए किये गये आविष्कारों की झलक मात्र ही तो थी। उसके बाद नेपोलियन ने प्रशा की सेना को ध्वस्त कर दिया जो उस समय (1806 में जेना की लड़ाई के समय) भी उतनी ही अच्छी तथा सबल थी जितनी कि फ्रेडरिक महान के समय थी। परन्तु महत्वपूर्ण बात यह थी कि फ्रेडरिक महान के पक्ष में लड़ने वाले सैन्य संचालकों में अपेक्षित सैनिक प्रतिभा का अभाव था। दूसरी ओर नेपोलियन जैसे अपूर्व सैनिक प्रतिभा का नेतृत्व था। सन् 1939 में जर्मनी की शक्ति का कारण हिटलर की प्रतिभा और नेतृत्व था।

नेतृत्व का स्पष्ट प्रभाव युद्ध में देखा जा सकता है। भूतकालीन युद्धों से सर्वथा भिन्न आधुनिक युद्ध केवल सैनिकों के बीच ही नहीं लड़े जाते अपितु उनकी लपेट में असैनिक जनसंख्या भी आती है। आधुनिक युद्ध का प्रभाव सर्वव्यापी होने के कारण जन-जीवन का प्रत्येक पहलू उससे प्रभावित होता है। अत: ऐसी स्थिति में युद्ध में संलग्न राष्ट्रों के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि राज्य में स्थित सभी संसाधनों की रक्षा, विकास एवं उनका उचित उपयोग किया जाये। आधुनिक

युद्धों में युद्ध निर्देशन एवं युद्ध नीति निर्माण का विशेष महत्व है। इसके लिए विपुल खाद्य सामग्री के भण्डार, औद्योगिक कच्चे माल की रक्षा, औद्योगिक कारखानों का संचालन, राष्ट्रीय मनोबल को बढ़ाने आदि कार्य करने होते हैं। स्पष्टतः ऐसे कार्यों का निष्पादन कुशल नेतृत्व के द्वारा ही हो सकता है। युद्ध काल में नेतृत्व का ही दायित्व होता है कि राष्ट्र की समूची शक्तियों के बीच इस प्रकार का समन्वय बैठाये जिससे युद्ध प्रयासों को समुचित रूप से संचालित किया जा सके। पश्चिमी एशिया में होने वाले अरब-इजराइल युद्धों में इजराइल के सैनिक नेतृत्व ने सदैव अरबों को निराश किया। यह माओ के नेतृत्व का ही परिणाम है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में चीन की सुसुप्त शक्तियाँ एवं क्षमताएँ गतिमान हो उठीं। चर्चिल के गतिमान नेतृत्व ने ही द्वितीय विश्वयुद्ध का पासा पलट दिया और ग्रेट ब्रिटेन को विजयश्री हासिल हुई। चर्चिल का यह कथन ब्रिटिश राष्ट्र में रक्त का प्रवाह कर देता है—"हम समुद्र तटों पर लड़ेंगे, हवाई क्षेत्रों में लड़ेंगे, खेतों में लड़ेंगे, और गलियों में लड़ेंगे। हम पहाड़ों पर लड़ेंगे लेकिन आत्म-समर्पण नहीं करेंगे।"

शान्तिकाल में एक देश में राजनीतिक नेतृत्व का राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण में ठीक वही योगदान होता है जो युद्धकाल में सफल सैन्य व्यूह-रचना का होता है। कूटनीतिक कौशल के कारण ही राष्ट्र का महत्व अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर उभरता है। शक्ति के सभी तत्वों का कच्चे माल की तरह से उपयोग करके कूटनीतिक चातुर्य, मानो निर्जीव तत्वों में शक्ति सँजोता है। राजनयिक नेतृत्व ही अपने राज्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में समन्वय लाता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपने राष्ट्र की शक्ति का चातुर्यपूर्ण ढंग से प्रदर्शन राजनयिक नेतृत्व ही करता है। अतः राजनयिक सेवा में श्रेष्ठ, प्रवीण एवं चतुराई वाले व्यक्तियों को कार्य करने का अवसर दिया जाना चाहिए।

संक्षेप में, नेतृत्व वह शक्तिशाली तत्व है जो राष्ट्रीय शक्ति के अन्य तत्वों को संगति देत है, उद्देश्यों को प्राप्त करने योग्य ढंग में परिभाषित करता है और रणनीति के मार्ग का निर्धारण करता है।

7. कूटनीति
(DIPLOMACY)

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का संचालन विदेश नीति के द्वारा होता है अतः एक सुनिश्चित, सुसम्बद्ध और तर्कसंगत विदेश नीति का होना जरूरी है। विदेश नीति को ठीक रीति के लागू करने का कार्य कूटनीति करती है। अतः कूटनीतिक कौशल भी शक्ति का एक आवश्यक अवयव है। मॉरगेन्थाऊ के शब्दों में, "उन तमाम तत्वों में से जो कि किसी राष्ट्र की शक्ति के निर्माण में योगदान देते है, सबसे महत्वपूर्ण तत्व कूटनीति की उत्तमता है, भले ही यह तत्व कितना ही अस्थायी क्यों न हो। अन्य सभी वे तत्व जो कि राष्ट्रीय शक्ति को निश्चित करते हैं, वास्तव में वह कच्चा माल है जिसके द्वारा किसी राष्ट्र की शक्ति गढ़ी जाती है। किसी राष्ट्र की कूटनीति की उत्तमता ही इन तत्वों को एक लड़ी में गूँथती है, उन्हें दिशा व गुरुता प्रदान करती है तथा उनकी सुप्त सम्भावनाओं को वास्तविक शक्ति से साँसें प्रदान कर जाग्रत करती है।"[1]

किसी राष्ट्र के वैदेशिक मामलों का उसके कूटनीतिज्ञों द्वारा संचालन करना राष्ट्रीय शक्ति के लिए शान्ति के समय उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना कि युद्ध के समय राष्ट्रीय शक्ति के लिए सैनिक नेतृत्व द्वारा चक्रव्यूह व दाँवपेचों का संचालन। यह वह कला है जिसके द्वारा राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों को अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में उन मामलों में अधिक से अधिक प्रभावशाली रूप में प्रयोग में लाया जाय, जो कि राष्ट्रीय हितों से सबसे स्पष्ट रूप से सम्बन्धित है।

यदि मनोबल राष्ट्रीय शक्ति की आत्मा है तो कूटनीति उसका मस्तिष्क है। यदि कूटनीति का दृष्टिकोण दूषित है, उसके निर्णय गलत है और उनके निश्चय कमजोर हैं तो भौगोलिक स्थिति

---

1. *Ibid.*, p. 139.

के तमाम लाभ; खाद्य पदार्थ, कच्चे माल, औद्योगिक उत्पादन की आत्म-निर्भरता, सैनिक तैयारी तथा आबादी के गुण व संख्या के लाभ अन्त में एक राष्ट्र के लिए कम योगदान दे पायेंगे। एक राष्ट्र जो कि इन लाभों पर गर्व कर सकता है, यदि उसकी कूटनीति चातुर्यपूर्ण नहीं है, तो वह अपनी प्राकृतिक पूँजी के बल पर केवल क्षणिक सफलताएँ प्राप्त कर सकता है। ऐसे राष्ट्र को उस राष्ट्र के सम्मुख झुकना पड़ेगा जिसकी कूटनीति अपने अन्य राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों का सम्पूर्ण प्रयोग करती है और इस प्रकार से अन्य क्षेत्रों की कमी की पूर्ति अपनी स्वयं की उत्तमता से करने में सफल हो जाती है। अपने राष्ट्र की शक्ति सम्भावनाओं का पूर्ण लाभप्रद प्रयोग करके एक योग्य कूटनीति अपने राष्ट्र की शक्ति उस सीमा से कहीं अधिक बढ़ा सकती है, जितनी कि अन्य तत्वों के समन्वय के उपरान्त कोई आशा कर सकता हो। उत्तम श्रेणी की कूटनीति वैदेशिक नीति के लक्ष्य तथा साधन का राष्ट्रीय शक्ति के प्राप्य साधनों से सामंजस्य स्थापित कर देगी। किसी देश के पास उसे महाशक्ति बनाने के अन्य साधन—उत्कृष्ट भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता, आत्मनिर्भरता, औद्योगिक उत्पादन की उन्नति, सैनिक तैयारी, अच्छी जनसंख्या होने पर भी वह इसका पूरा लाभ तब तक नहीं उठा सकता है, जब तक उसके कूटनीतिज्ञ उत्कृष्ट कोटि के न हों। इसका एक सुन्दर उदाहरण 1919 से 1945 तक का संयुक्त राज्य अमरीका है। इस समय उसमें एक शक्तिशाली राष्ट्र बनने के लिए सभी आवश्यक तत्व विद्यमान थे। किन्तु फिर भी इस अवधि में इसने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के सम्बन्ध में अपनी शक्ति के अनुरूप कोई प्रभाव नहीं डाला, क्योंकि इसने राष्ट्र संघ (League of Nations) में सम्मिलित न होने का निर्णय किया, पृथकतावादी (Isolationist) और यूरोप के झगड़ों में दूर रहने की नीति अपनायी। अमरीका के कूटनीतिज्ञ इसका अनुसरण करते हुए दूसरे राष्ट्रों पर अपना कोई प्रभाव नहीं डाल सके। राष्ट्र संघ से पृथक् रहने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं और घटनाओं पर इस समय के वाशिंगटन का प्रभाव नगण्य था। इस अवधि में अमरीका को महाशक्ति बनाने के लिए उसके पास आवश्यक भौगोलिक परिस्थितियाँ, प्राकृतिक साधन, औद्योगिक विकास और जनसंख्या आदि सभी तत्व विद्यमान थे, फिर भी अपनी कूटनीति उत्कृष्ट न होने के कारण अमरीका को इन परिस्थितियों से कोई लाभ नहीं हुआ।

इस बात का उच्चतम उदाहरण कि एक राष्ट्र अन्य पक्षों में बुरी तरह से पिछड़ गया हो परन्तु दैदीप्यमान कूटनीति (Brilliant diplomacy) के बल पर शक्ति के उच्चतम शिखर पर पहुँच जाय, सन् 1890 से 1914 के मध्य फ्रांस है। सन् 1870 में जर्मनी के द्वारा पराजित होने के उपरान्त फ्रांस एक द्वितीय श्रेणी की शक्ति रह गया था और बिस्मार्क की कूटनीति ने उसे पृथक् रखकर बराबर उसी स्थिति में रहने दिया। सन् 1890 में बिस्मार्क के हटने के बाद जर्मन विदेश नीति रूस से दूर होने लगी और उसने ब्रिटेन की भी थोड़ी कम ही परवाह की। जर्मन विदेश नीति की इन त्रुटियों का फ्रांसीसी कूटनीति ने पूरा लाभ उठाया। सन् 1894 में फ्रांस ने रूस से किये सन् 1891 के राजनीतिक समझौते में सैनिक सन्धि को जोड़ दिया और सन् 1904 तथा 1912 में ब्रिटेन से औपचारिक समझौता कर लिया। सन् 1914 में फ्रांस ने समृद्धशाली मित्र राष्ट्रों को अपना मददगार पाया, तब जर्मनी के एक मित्र इटली ने तो उसे धोखा ही दे डाला। यह कार्य फ्रांस के दैदीप्यमान कूटनीतिज्ञों की उस कतार का परिणाम था; जैसे कैमाईल बैरे, जो इटली में राजदूत थे अथवा जूल्स, कैम्बोन, जो जर्मनी में राजदूत थे या पॉल कैम्बोन, जो ब्रिटेन में राजदूत थे या फिर मोरिस पेलिओलोग, जो कि रूस में राजदूत थे।

प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध से मध्य अपने साधनों की तुलना में कहीं अधिक महत्वपूर्ण भूमिका अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रूमानिया ने प्रस्तुत की थी जिसका श्रेय उनके विदेशमन्त्री हिटुलेस्क्यु को था। 17वीं शताब्दी में स्पेन की कूटनीति ने तथा 19वीं शताब्दी में तुर्किस्तान

की-कूटनीति ने उनके राष्ट्रीय क्षय की खाई को कुछ समय के लिए पाटे रखा था। ब्रिटिश शक्ति के उतार-चढ़ाव ब्रिटिश कूटनीति की उत्तमता के परिवर्तनों से जुड़े रहे हैं। कार्डिनल वोल्से, कैसलरे तथा कैनिंग ब्रिटिश कूटनीति में उच्चतम शिखर का प्रदर्शन करते हैं जबकि लार्ड नार्थ तथा चैम्बरलेन दोनों ह्रास के द्योतक हैं। बिना रिचैल अथवा टेलेरां की कूटनीति के फ्रांस की शक्ति क्या होती? बिना बिस्मार्क के जर्मनी की शक्ति और बिना कैवूर के इटली की शक्ति क्या होती? हिटलर के मामले में जर्मनी की कूटनीति की दृढ़ता व कमजोरी स्वयं फ्योहरर के मस्तिष्क में निहित थी। सन् 1933 से 1940 तक जर्मन कूटनीति की विजय एक व्यक्ति के मस्तिष्क की विजय का परिणाम थी और उस मस्तिष्क के क्षय के कारण ही नाजी शासन के अन्तिम वर्षों में उसे विध्वंसकारी दुर्घटनाओं को झेलना पड़ा था।

8. शासन के गुण
(THE QUALITY OF GOVERNMENT)

राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण में शासनतन्त्र का स्वरूप भी एक महत्वपूर्ण कारण है। यह एक विवादास्पद प्रश्न है कि राष्ट्रीय शक्ति की दृष्टि से कौन-सी शासन प्रणाली को सर्वश्रेष्ठ माना जाये। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास से पता चलता है कि लोकतन्त्रीय और एकाधिकारवादी दोनों ही प्रकार की सरकारों को अन्य राज्यों के व्यवहार पर कारगर प्रभाव डालने में सफलता मिली है और इसलिए अपनी-अपनी सफलता की दृष्टि से दोनों प्रकार के राष्ट्र शक्तिशाली रहे हैं।

शासन का स्वरूप चाहे कुछ भी हो परन्तु राष्ट्रीय शक्ति इस बात पर निर्भर करती है कि राष्ट्र में सुशासन है अथवा नहीं। राष्ट्रीय शक्ति के स्रोत के रूप में अच्छे शासन के तीन अर्थ होते हैं—सर्वप्रथम तो राष्ट्रीय शक्ति में योग देने वाले भौतिक तथा मानवीय तत्वों का सन्तुलन; द्वितीय, इन तत्वों का विदेशनीति के संचालन में सन्तुलन और अन्त में विदेश नीतियों के समर्थन में लोक सम्मति की प्राप्ति।[1] संक्षेप में अच्छी सरकार वह है जो उपलब्ध शक्ति को ध्यान में रखकर विदेश नीति के लक्ष्यों एवं कार्य प्रणाली को इस प्रकार चुने जिससे अधिकतम सफलता मिल सके। एक राष्ट्र महान शक्ति की भूमिका बिना उसकी क्षमता रखे निभाने की महत्वाकांक्षा रख सकता है और इस प्रयास में सार्वनाश का भागी बन सकता है, जैसा कि दोनों विश्वयुद्धों के मध्य पोलैण्ड के साथ हुआ था।

9. औद्योगिक क्षमता
(INDUSTRIAL CAPACITY)

किसी राष्ट्र की शक्ति उसकी औद्योगिक क्षमता पर भी निर्भर करती है। औद्योगिक राष्ट्र ही महान शक्ति कहलाते हैं औद्योगिक स्तर में परिवर्तन शक्ति के स्तर में भी परिवर्तन उत्पन्न कर देता है औद्योगिक क्षमता के अभाव में कच्चे माल का कोई महत्व नहीं होता। बेल्जियम को कांगो में उच्च स्तर के यूरेनियम के भण्डार प्राप्त होते हैं, फिर भी उसने अन्य राष्ट्रों की तुलना में बेल्जियम की शक्ति को किसी विशेष प्रकार से नहीं बढ़ाया क्योंकि न तो बेल्जियम अधिकृत कांगो में ही और न बेल्जियम में ऐसा कोई औद्योगिक कारखाना था जो यूरेनियम के भण्डारों को औद्योगिक और सैनिक प्रयोग में ला सके। दूसरी तरफ अमरीका और सोवियत संघ में यूरेनियम प्राप्ति उनकी शक्ति में असीम वृद्धि की द्योतक है क्योंकि इन देशों में औद्योगिक कारखाने विद्यमान हैं जिससे यूरेनियम को शक्ति में परिणत करके प्रयोग में लाया जा सकता है।

---

1 *Ibid.*, p. 143.

तालिका : 2

राष्ट्रीय उत्पादन की दृष्टि से संसार के दस बड़े राष्ट्र
(RANK ORDER OF THE TEN COUNTRIES IN THE WORLD BY ESTIMATES OF GROSS DOMESTIC PRODUCT)

राष्ट्र का नाम	अनुमानतः राष्ट्रीय उत्पादन (लाख डालर में)
1. संयुक्त राज्य अमरीका	6,88,000
2. सोवियत संघ	2,67,000
3. पश्चिमी जर्मनी	1,16,713
4. ब्रिटेन	97,720
5. फ्रांस	94,044
6. जापान	85,207
7. चीन	58,046
8. इटली	56,742
9. भारत	49,623
10. कनाडा	49,104

लोह और कोयले के स्वामित्व द्वारा अमरीका और सोवियत संघ ने असीम शक्ति का संचय किया क्योंकि उनके पास वे कारखाने हैं जो कि कच्चे माल को औद्योगिक उत्पादन में परिणत कर सकते है। जब तक एक औद्योगिक राष्ट्र के रूप में ब्रिटेन का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था, तब तक वह सम्पूर्ण संसार में सबसे शक्तिशाली राष्ट्र था। जर्मनी की तुलना में फ्रांस की कमजोरी का कारण उसका औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ापन था। जब हम कहते हैं कि अमरीका और सोवियत संघ विश्व के दो परम शक्तिशाली राष्ट्र हैं, तो हम दोनों की शक्ति का माप उनकी औद्योगिक शक्ति के आधार पर ही करते है। भारत में कच्चा माल, लोहा, कोयला, आदि पर्याप्त पाया जाता है तथापि अभी तक उनकी औद्योगिक क्षमता विकसित नहीं हो पायी है जिससे वह अमरीका और सोवियत संघ की श्रेणी में रखा जा सके। भारत सम्भावना के रूप में एक महान शक्ति समझा जा सकता है क्योंकि बोकारो, भिलाई, दुर्गापुर, जमशेदपुर, बर्नपुर आदि स्थानों पर लोहे व इस्पात के आधुनिक कारखाने स्थापित किये गये हैं जिनकी उत्पादन क्षमता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।

10. सैनिक तैयारी
(MILITARY PREPAREDNESS)

सैनिक तैयारी पर राष्ट्र की शक्ति की निर्भरता इतनी स्पष्ट है कि उसके स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है। सैनिक तैयारी का अर्थ है उस सैनिक संगठन की तैयारी जो कि विदेश नीति के पालन में सहारा प्रदान करने में सफल हो सके। सैनिक दृष्टि में किसी राष्ट्र की शक्ति सैनिकों तथा शस्त्रों की संख्या तथा उनके सैन्य संगठन के विभिन्न अंगों के वितरण पर निर्भर रहती है। एक राष्ट्र के पास युद्ध सम्बन्धी नये तकनीकी आविष्कार की अच्छी समझ होने तथा उसके सैनिक नेतृत्व में युद्ध की नयी तकनीकी से सम्बन्धित व्यूह-रचना व दांव-पेच में विलक्षण गुण विद्यमान होने पर भी वह राष्ट्र सैनिक रूप से कमजोर हो सकता है, यदि उसके पास ऐसा सैनिक संगठन न हो, जो अपने सम्पूर्ण रूप में तथा विभिन्न अंगों की शक्ति की दृष्टि से राष्ट्र की आवश्यकता से न तो कम है और न अधिक ही। राष्ट्र शक्ति की दृष्टि से शान्तिकाल में भी राष्ट्रों के पास न केवल पर्याप्त सेना अपेक्षित है अपितु वह प्रशिक्षित और एकदम तैयारी की

स्थिति में होनी चाहिए। किसी ने ठीक ही कहा है कि 'बिना एकदम तैयार सेना के कूटनीति की वही स्थिति होती है जो बिना वाद्य यन्त्रों के बजने वाले संगीत की।"*

तालिका : 3

विश्व की दस प्रमुख सैनिक शक्तियाँ
(TEN MAJOR MILITARY POWERS OF THE WORLD)

राष्ट्र का नाम	सैनिक व्यय (Billion Dollars)	सशस्त्र सेनाएं (Million Men)	सैनिक व्यय प्रति व्यक्ति (Dollars)
1. सं. रा. अमरीका	78·5	3·5	23,000
2. सोवियत संघ	86·9	3·5	15,900
3. चीन	15·0	3.1	2,400
4. फ्रांस	9·3	0·5	12,100
5. ब्रिटेन	8·5	0·4	13,000
6. पश्चिमी जर्मनी	11·8	0·5	10,900
7. इटली	4·1	0·4	5,100
8· पोलैण्ड	3·9	0·3	6,100
9. कनाडा	2·4	0·1	17,500
10. भारत	2·3	0·1	1,400

राष्ट्रीय शक्ति के मूल्यांकन में तीन भ्रान्तियाँ
(THREE ERRORS OF EVALUATION OF NATIONAL POWER)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्येता उपर्युक्त तत्वों के आधार पर विभिन्न राज्यों की शक्ति का मूल्यांकन करते हैं; किन्तु ऐसा करते हुए वे प्रायः तीन प्रकार की भ्रान्तियों का शिकार हो जाते हैं और इस कारण राष्ट्रीय शक्ति का सही मूल्यांकन नहीं कर पाते हैं। ये भ्रान्तियाँ हैं :

1. **किसी राज्य की शक्ति को पूर्ण रूप से निरपेक्ष समझना**—विभिन्न देशों की राष्ट्रीय शक्ति में विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन आते रहते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि जो राज्य इस समय सबसे अधिक शक्तिशाली है, वह भूतकाल में भी ऐसा था या भविष्य में भी ऐसा बना रहेगा। उदाहरणार्थ, इस समय संयुक्त राज्य अमरीका और रूस सबसे अधिक शक्तिशाली देश समझे जाते हैं किन्तु इनको यह स्थिति 1945 में द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होने के बाद ही प्राप्त हुई है। इस युद्ध के छिड़ने से पहले ग्रेट ब्रिटेन सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य माना जाता था, किन्तु इस युद्ध के बाद उसकी स्थिति में गिरावट आ गयी और वह प्रथम कोटि की शक्ति नहीं बना रह सका। राजनीति में शक्ति सदैव सापेक्ष होती है। जब हम रूस और अमरीका को वर्त्तमान समय की सर्वोच्च शक्तियाँ कहते हैं—तो इसका यह अभिप्राय होता है कि इस समय अन्य देशों की तुलना में इनकी शक्ति सबसे अधिक है। यह आवश्यक नहीं कि उनकी यह स्थिति सदैव ऐसी बनी रहे। किन्तु कई बार हम ऐसा मानने की भ्रान्ति कर बैठते हैं।

इसका एक सुन्दर उदाहरण फ्रांस है। प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त होने पर फ्रांस की सैनिक शक्ति को यूरोप में सर्वोपरि समझा जाता था। 1939 तक इसे ऐसा समझा जाता रहा और यह भुला दिया गया कि इस बीच में उसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी जर्मनी ने अपनी स्थल और वायु सेना में असाधारण वृद्धि कर ली है। यद्यपि फ्रांस की सेना की शक्ति 1919 के बाद के वर्षों में घटी नहीं थी। किन्तु इसी बीच में जर्मनी की सैनिक शक्ति कहीं अधिक उत्कृष्ट

*"Diplomacy without power is like music without instrument"

हो गयी थी। इस कारण प्रबल शक्तिशाली समझे जाने वाले फ्रांस को 1940 में जर्मनी के सम्मुख नतमस्तक होना पड़ा।

प्राय: राष्ट्र अपनी शक्ति के उत्कर्ष के चरम शिखर पर पहुँचकर इस बात को भूल जाते हैं कि शक्ति सापेक्ष है और दूसरे देशों की शक्ति बढ़ जाने के कारण उनकी शक्ति में ह्रास आ सकता है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण ग्रेट ब्रिटेन है। 19वीं शताब्दी के पहले चरण में नैपोलियन को हटाने के बाद द्वितीय विश्वयुद्ध तक वह संसार की सबसे बड़ी शक्ति था। उसके शक्तिशाली होने के बड़े कारण थे—इंगलिश चैनल द्वारा उसका यूरोप के महाद्वीप से पृथक् होना, उसकी नौ सेना, विशाल साम्राज्य और उपनिवेश किन्तु दूसरे विश्वयुद्ध में हवाई जहाजों के विकास तथा इसके बाद अणुबमों तथा निर्देशित प्रेक्षपणास्त्रों के आविष्कार से इंगलिश चैनल का महत्व नगण्य हो गया। ब्रिटेन के उपनिवेश स्वतन्त्र हो जाने से और साम्राज्य समाप्त हो जाने से उसकी शक्ति का यह स्रोत सूख गया। इससे उसकी शक्ति में बड़ी कमी आ गयी। किन्तु ब्रिटिश राजनीतिज्ञ फिर इस तथ्य को काफी समय तक मानने से इनकार करते रहे।

2. राष्ट्रीय शक्ति के किसी तत्व को स्थायी एवं अपरिवर्तनशील समझना—1940-41 में हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी की सैनिक शक्ति अपने उत्कर्ष के चरम शिखर पर थी। उस समय यह समझा जाता था कि यूरोप पर जर्मनी का प्रभुत्व स्थायी रूप से स्थापित हो गया है। किन्तु दो वर्ष में ही यह मान्यता भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हुई, जबकि रूसियों ने स्तालिनग्राद में जमकर जर्मन सेनाओं से लोहा लिया और उन्हें हराकर पीछे धकेलना शुरू किया। इसके बाद यह भ्रान्तिपूर्ण विचार बल पकड़ने लगा कि रूस चिरकाल तक यूरोप और एशिया का अधीश्वर बना रहेगा। किन्तु 1945 में नागासाकी और हिरोशिमा पर अणुबम गिराने के बाद आणविक आयुधों पर एकमात्र आधिपत्य होने से यह समझा जाने लगा कि अब भविष्य में संयुक्त राज्य अमरीका विश्व की सर्वोच्च शक्ति बनेगा और अब अमरीकी प्रभुत्व की शताब्दी शुरू हो रही है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि लक्ष्मी की भाँति शक्ति भी चंचला है, वह किसी एक देश के पास सदैव नहीं बनी रहती है उसमें निरन्तर परिवर्तन होते रहते है। किन्तु हम भ्रान्तिवश किसी देश की वर्तमान शक्ति को स्थायी समझने लगते है।

3. राष्ट्रीय शक्ति के प्रमुख तत्वों में से किसी एक तत्व को असाधारण महत्व देना तथा अन्य तत्वों की उपेक्षा करना—प्राय: भौगोलिक स्थिति, राष्ट्रीयता और सैनिकवाद के तत्वों को असाधारण महत्व दिया जाता है; इनके आधार पर किसी देश को अतीव शक्तिशाली घोषित किया जाता है। मेकिण्डर ने 'भौगोलिक स्थिति' के कारण रूस को विश्व की सर्वोच्च शक्ति बतलाया और जर्मन भूराजनीतिज्ञ होशोफर ने जर्मनी की भौगोलिक स्थिति के कारण इसे संसार का सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य माना। ये सब विचार इसलिये भ्रान्तिपूर्ण हैं कि ये केवल एक तत्व भूराजनीति (Geopolitics) को असाधारण महत्व देते हैं।

संक्षेप में, किसी एक तत्व के आधार पर राष्ट्रीय शक्ति का मूल्यांकन नहीं किया जाना चाहिए। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि शक्ति के अन्य अवयवों की तुलना में प्राकृतिक सम्पदा और भूगोल का महत्व कम है। ब्रिटेन, इटली, जर्मनी और फ्रांस जैसे राष्ट्रों के पास प्राकृतिक सम्पदाओं का अभाव था फिर भी वे सब महाशक्तियों की भूमिका का निर्वाह कर चुकी है।

राष्ट्रीय शक्ति के तत्व : भारत के सन्दर्भ में
(ESSENCE OF NATIONAL POWER : INDIAN CONTEXT)

भारत एक विशाल देश है। आबादी की दृष्टि से पूरी दुनियाँ में चीन के बाद भारत का स्थान आता है। खनिज और प्राकृतिक सम्पदा के भारत में पर्याप्त भण्डार हैं। क्षेत्रफल की दृष्टि

से विश्व में भारत का स्थान सातवाँ है। लोहे और कोयले की दृष्टि से भारत आत्म-निर्भर है। भारत के पास काफी बड़ी सेना है। सन् 1974 में पोकरण में आणविक परीक्षण भी भारत ने कर लिया। तकनीकी दृष्टि से भी भारत आत्म-निर्भर बनता जा रहा है। जीपें, ट्रकें, टैंक, वायुयान और जलपोतों का निर्माण भारत में ही होने लगा है। स्पेस टेक्नॉलाजी की दृष्टि से काफी उन्नति हुई है और 'आर्यभट्ट' उसका नमूना पेश करता है। आज कई चीजों का भारत विदेशों को निर्यात करता है।

बंगलादेश के सफल निर्माण एवं 1974 के परमाणु विस्फोट के बाद यह माना जाने लगा कि भारत भी 'पावरगेम' का एक चतुर खिलाड़ी हो गया है। 'शक्ति' के महत्व को भारत ने अवश्य पहचान लिया है, जो भारतीय विदेश नीति में आये नये यथार्थवाद का द्योतक है। यह इस नये चिन्तन का प्रभाव है कि भारत ने आर्थिक प्रगति के साथ-साथ सैन्य क्षमता पर भी ध्यान देना शुरू किया। 1965 की लड़ाई ने उसे चेता दिया कि उसे एक साथ दो-दो फ्रन्टों पर युद्ध के लिए तैयार रहना पड़ेगा। एक के बाद एक शस्त्रों का जखीरा इकट्ठा करना भारत की मजबूरी हो गयी। मिराज 2000, मिग-23,29, पृथ्वी मिसाइल का परीक्षण धीरे-धीरे भारतीय बल का प्रतीक बन गये। भारतीय रक्षा बजट 80 के दशक में बढ़ कर दुना हो गया, लगभग 8·5 बिलियन डालर। 1986 में भारत विश्व का सबसे बड़ा शस्त्र आयातकर्ता था। 1987 में यह खरीद 5·2 बिलियन डालर थी। 1982 की तुलना में रक्षा सम्बन्धी विषयों पर होने वाले शीघ्र एवं विकास कार्यों पर व्यय चार गुना हो गया। 13,62,000 की सशस्त्र सेना विश्व में सोवियत संघ (50,96,000), चीन (32,00,000), अमरीका (21,63,200) के बाद चौथे नम्बर पर है।

1938 की अर्थव्यवस्था के आँकड़े भी काफी उत्साहवर्द्धक हैं। जी० एन० पी० 9%, कृषि उत्पादन 17-20%, खाद्यान्न उत्पादन 20-23%, औद्योगिक उत्पादन 9·3%, आयात 27·4%, निर्यात 24 4% तथा कुल विदेशी मुद्रा अर्जन 5967 मिलियन। मुद्रा प्रसार की दर 10% के आस-पास (मार्च 1988 तक) थी। आज भारत के पास सबसे बड़ा वैज्ञानिक समूह मौजूद है। इसके वैज्ञानिक अंटार्कटिका तक जा पहुँचे। सुपर कम्प्यूटर तक के परीक्षण हो रहे हैं। ये सारे आँकड़े किस ओर संकेत करते हैं?

इस सबके बावजूद भारत एक महाशक्ति नहीं है। गरीबी, महँगाई, बेकारी और अशिक्षा के कारण भारत की जनता का मनोबल ऊँचा नहीं है। पिछले कुछ वर्षों से जो राजनीतिक अस्थिरता और अनिश्चितता देखी गयी है उससे तो यही कहा जा सकता है कि जनता और सरकार के बीच तादात्म्य नहीं पाया जाता है। सूखे और अकाल के कारण जिस देश को विदेशों से खाद्य सामग्री, शक्कर और सीमेण्ट का आयात करना पड़ता हो वह महाशक्ति कैसे कहला सकता है? एक आणविक बम का परीक्षण कर देने मात्र से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति सन्तुलन भारत के पक्ष में नहीं हो जाता। इजरायली लोगों जैसा राष्ट्रीय चरित्र भी भारतीय नागरिकों में नहीं पाया जाता। आम भारतीय नागरिक निराश, उदास, सहिष्णु और रूढ़िवादी है जिसमें महत्वाकांक्षा का अभाव है। भारतीय समाज धर्म और जाति के टुकड़ों में बंटा हुआ है और उसमें बुनियादी एकता का अभाव पाया जाता है। भारतीय राजनयिक औपनिवेशक रंग में रंगे हुए रहते हैं और विदेशी भाषा का प्रयोग करते हैं। औद्योगिक क्षमता का पूरा विकास नहीं हो पाया है और तेल के लिए भारत अरब देशों की कृपा का सदैव आकांक्षी रहता है। भारत में यद्यपि लोहे और कोयले के विशाल भण्डार हैं, फौलाद तैयार करने के लिए आवश्यक मैंगनीज भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है, फिर भी भारत प्रथम कोटि के शक्तिशाली राष्ट्रों की पंक्ति में अपना स्थान नहीं बना सका है क्योंकि उसमें अभी तक अपनी इस बहुमूल्य खनिज सम्पदा को कारखानों में पूरा उपयोग करने की क्षमता का रूस अथवा अमरीका जैसा विकास नहीं हुआ। ऐसा स्थिति

में भारत को अमरीका, सोवियत संघ और चीन की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि निकट भविष्य में महाशक्ति बनने की उसमें सम्भावनाएँ झलकती हैं।

मार्च 1983 में भारत ने नयी दिल्ली में गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का शिखर सम्मेलन आयोजित किया जिसमें 101 राष्ट्रों ने भाग लिया। श्रीमती इन्दिरा गाँधी को तीन वर्ष के लिए गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। इस अवसर पर फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन के नेता यासिर आराफात ने कहा कि "हमारी नेता : गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की नेता" क्या निर्गुट सम्मेलन का अध्यक्ष पद प्राप्त करके भारतीय राष्ट्रीय शक्ति में वृद्धि हो जाती है ?

विदेश नीति गृह नीति का दर्पण होती है। आर्थिक शक्ति से ही किसी देश की आणविक शक्ति तथा प्रौद्योगिक जुड़ी होती है। औद्योगिक दृष्टि से 10वें स्थान पर होते हुए भी भारत आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ मुल्क है। निर्यात के लिए पिछले कई साल से रूस पर निर्भर है। 1981-82 में रूस ने भारत के कुल निर्यात का 80 प्रतिशत भाग खरीदा था। तेल के लिए अरब पर आश्रित भारत राजकुमार बदर को गोडावण के शिकार की अनुमति देता है और अमरीका भारत पर गेहूँ के रुपये खा जाने का आरोप इसलिए लगा सकता है कि भारत पराश्रित है, हाँ, आने वाले वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक समस्याओं के सन्दर्भ में भारत को निर्गुट आन्दोलन के नेता की हैसियत से अधिकारिक मत प्रकट करने की सुविधा मिलेगी।

वस्तुतः भारत की शक्ति इस बात पर निर्भर करेगी कि राष्ट्रीय उत्पादन में कितनी वृद्धि हुई, विदेश मुद्रा कितनी आयी, अकाल कितने कम पड़े, इत्यादि। चाहे समाजवादी रूस हो या पूँजीवादी अमरीका या मिश्रित अर्थव्यवस्था वाला भारत, विश्व राजनीति में उसी राष्ट्र का प्रभुत्व रहता है जो आर्थिक रूप से आत्म-निर्भर है और जिसमें पराश्रित मुल्कों को आपस में लड़ाने की क्षमता है।

प्रश्न

1. राष्ट्रीय शक्ति की परिभाषा दीजिए। विज्ञान, तकनीकी एवं नेतृत्व का विशेष उल्लेख करते हुए राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों के तुलनात्मक महत्व की व्याख्या कीजिए।
   Define National Power. Discuss the relative importance of its various element with particular preference to science, technology and leadership.
2. राष्ट्रीय शक्ति के तत्व क्या हैं ? यह तत्व भारत में किसी सीमा तक विद्यमान हैं ?
   What are the elements of National Power ? How far are these present in India ?
3. "टेक्नोलोजी ने शक्ति के स्वरूप तथा राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों में परिवर्तन कर दिये हैं।" उपरोक्त कथन को दृष्टि में रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में टेक्नोलोजी के महत्व का विश्लेषण करिए।
   "Technology has completely changed the whole complex of power and relations among nations." In the light of the above statement analyse the importance of technology in International Politics.
4. क्या आप इस मत में सहमत हैं कि न तो प्राकृतिक साधन ही और न तकनीकी और न कोई और वस्तु अपितु मानव (पीपुल) ही एक राष्ट्र की शक्ति में निर्णायक होता है ? अपने उत्तर के समर्थन में तर्क दीजिए।
   Do you agree with the view that it is neither natural resourees, technology nor anything else, but the people who constitute the chief and decisive factor in nation's power ? Give reasons in support of your answer.

11

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा की भूमिका
[ROLE OF IDEOLOGY IN INTERNATIONAL POLITICS]

आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'विचारधारा' का विशेष प्रभाव तथा महत्व है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा को यथार्थवादी तत्व माना गया है क्योंकि यह राष्ट्रीय शक्ति का प्रेरक तत्व है। विचारधारा को विश्व राजनीति में न केवल अशान्ति उत्पन्न करने वाला तत्व माना गया है अपितु विरोधमूलक विचारधाराओं के परिणाम अन्ततोगत्वा युद्ध ही होते हैं जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में दरार और तनाव उत्पन्न होते हैं। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रधान कारण विचारधाराओं की टकराहट ही थी।

आधुनिक समय में 'विचार' और विचारधारा' शब्द अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के शब्दकोश में सामान्य से जान पड़ते हैं। हमें यह पता है कि राष्ट्र और उनकी जनता को आजकल विभाजित करने वाले प्रमुख मुद्दे मोटे रूप से वैचारिक स्वरूप के हैं। राष्ट्रों में युद्ध के प्रमुख कारण विरोध-मूलक विचारधाराएँ हैं। वास्तव में विचारधारा क्या है ? यह 'विचार', 'विश्वास' और 'सिद्धान्त' से किस प्रकार भिन्न है। यह शक्ति का प्रमुख चर कैसे है ? विश्व राजनीति में विचारधारा अशान्ति उत्पन्न करने वाला तत्व क्यों माना जाता है ?

विचार और विचारधाराएँ शक्ति के अवयवों का प्रत्ययात्मक भाग है। भूगोल और जन-संख्या राष्ट्रीय शक्ति के ऐसे तत्व हैं जिनके अस्तित्व को हम देख सकते हैं जबकि राष्ट्रीय शक्ति के कुछ ऐसे तत्व भी हैं जिनके अस्तित्व का हम केवल अनुभव कर सकते हैं। ये तत्व भौतिक न होकर मानवीय तत्व हैं जिनमें नेतृत्व, मनोबल और विचारधारा प्रमुख हैं।

विचारधारा से तात्पर्य
(MEANING OF THE TERM IDEOLOGY)

विचारधारा शब्द का प्रयोग दो भिन्न अर्थों में किया जाता है। पहले अर्थ में विचारधारा विचारों एवं विश्वासों का ऐसा समुच्चय है जो एक सुनिश्चित विश्व दृष्टि पर आधारित हो और अपने को अपने आप में पूर्ण मानती हो तथा संसार की सारी वास्तविकता की व्याख्या करने का आधार प्रदान करने का दावा करती है। इस अर्थ में विचारधारा मनुष्य की प्रकृति के बारे में कुछ अभिग्रह लेकर चलती है और उनके आधार पर मनुष्य के इतिहास का एक सिद्धान्त, आचरण की एक नैतिक नियमावली, त्यागमय कर्तव्य भावना और कर्म का एक कार्यक्रम पेश करती है। दूसरे अर्थ में, विचारधारा को विदेश नीति के वास्तविक उद्देश्य छिपाने का आवरण कहा जा सकता है। इस अर्थ में प्रयोग करने पर विचारधारा विदेश नीति के तात्कालिक लक्ष्य के रूप में शक्ति प्राप्ति के बारे में तत्पर होती है। पैडलफोर्ड एवं लिंकन के अनुसार, "विचारधारा आर्थिक,

सामाजिक एवं राजनीतिक मूल्यों तथा लक्ष्यों से सम्बन्धित विचारों का निकाय है जो इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कार्यों की योजना तैयार करती है।" स्नाइडर एवं विल्सन ने लिखा है, "एक विचारधारा जीवन, समाज और शासन के प्रति निश्चित विचारों का वह समूह है, जिनका प्रचार मुख्यतया योजनाबद्ध, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक नारों के प्रतिपादन के रूप में अथवा युद्धकालीन नारों के रूप में, निरन्तर उपदेशात्मक रूप में इस प्रकार किया गया है कि वह एक विशिष्ट समाज, समुदाय, दल अथवा राष्ट्र के विशिष्ट विश्वास ही बन गये हैं।"[1]

चार्ल्स श्लाइचर के अनुसार, विचारधारा व्यक्ति में अमूर्त विचारों की व्यवस्था है। ये विचार वास्तविकता को स्पष्ट करते हैं तथा मूल्यात्मक लक्ष्यों की अभिव्यक्ति करते हैं। ऐसी सामाजिक व्यवस्था की प्राप्ति करने अथवा बनाये रखने का प्रयास करते हैं जिसमें उनमें विश्वास के अनुसार लक्ष्यों को श्रेष्ठ रूप में स्वीकार किया जा सके और विभिन्न राष्ट्र समान विश्वास, दृष्टिकोण व राजनीतिक जीवन के समान लक्ष्यों के कारण चुनौती मिलने पर संगठित हो जाते हैं।"

राष्ट्रीय शक्ति के तत्व के रूप में विचारधारा
(IDEOLOGY AS AN ELEMENT OF NATIONAL POWER)

विचारधारा राष्ट्रीय शक्ति का तत्व है। आज सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विचारधारा के आधार पर ही लोकतान्त्रिक और साम्यवादी गुटों में विभाजित है। विचारधारा राष्ट्र के लोगों को जोड़ने में सीमेण्ट का कार्य करती है। विचारधारा से लोगों में समर्पण की भावना उत्पन्न होती हैं। विचारधाराएँ समुदाय की भूमिका पर बल देती हैं और व्यक्ति की भूमिका को गौण मानती हैं। विचारधारा सरकार को अपने नागरिकों का समर्थन प्राप्त करने में मदद देती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मूलतः शक्ति पर आधारित है तथापि नग्न शक्ति को मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक दृष्टि से जनता तथा राष्ट्रों द्वारा ग्राह्य बनाना वैचारिकी का मुख्य काम है। कोई भी राज्य अपने दावों की पूर्ति शक्ति सामर्थ्य के आधार पर नहीं, वरन् एक विशिष्ट सिद्धान्त की दुहाई देकर करता है। मॉरगेन्थाऊ लिखते हैं, "जो राष्ट्र विचारधाराओं को त्यागकर स्पष्ट रूप से यह कह दे कि वह शक्ति चाहता है, और इसी कारण अन्य राष्ट्रों की समान महत्वाकांक्षाओं का विरोध करेगा तो वह इस शक्ति संघर्ष में अपने को निश्चित रूप से एक बहुत ही अहितकर परिस्थिति में पायेगा।"[2] अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विदेश नीति निर्माता और उसे कार्यान्वित करने के लिए जिम्मेदार लोग अपने राजनीतिक कार्यों का सच्चा स्वरूप राजनीतिक विचारधारा के मुखौटे के पीछे छिपाने की कोशिश करते हैं। एक सरकार जिसकी वैदेशिक नीति अपनी जनता के बौद्धिक विश्वासों तथा नैतिक मूल्यों के प्रति आकर्षण का भाव पैदा करती है, उस विरोधी वैदेशिक नीति के ऊपर अगणित लाभ प्राप्त कर लेती है, जो उन लक्ष्यों को चुनने में सफल नहीं हो पायी है। विचार पद्धतियाँ, हर विचार की भाँति वे अस्त्र हैं, जो एक राष्ट्र की हिम्मत को बढ़ाकर उसके साथ ही साथ उस राष्ट्र की शक्ति बढ़ा सकते हैं और इस कार्य द्वारा ही विरोधी की हिम्मत को पस्त कर देते हैं। अमरीकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन के चौदह सूत्रों (विचारधारा) ने प्रथम विश्व-युद्ध में मित्र राष्ट्रों की विजय में अत्यधिक योगदान दिया था, वह मित्र राष्ट्रों की हिम्मत को बढ़ाकर तथा धुरी राष्ट्रों की हिम्मत को पस्त करके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा के महत्व की प्रतिष्ठा का विलक्षण उदाहरण है। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री लायड जार्ज तथा अमरीकी राष्ट्रपति विल्सन ने कहा कि कि वे प्रथम विश्वयुद्ध लोकतन्त्र और राष्ट्रीय आत्म-निर्णय जैसी उदार विचारधाराओं की रक्षा के लिए लड़ रहे हैं। हिटलर को सूझा कि यह राष्ट्रीय आत्म-

---

1 Richard C. Snyder and H. Hubert Wilson, *Roots of Political Behaviour*-(New York, 1949), p. 511.

2 Morgenthau, *Ibid.*, p. 89.

निर्णय का सिद्धान्त (विचारधारा) अपनी राज्य विस्तार की नीतियों के आवरण के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। इस सिद्धान्त के आधार पर ही चैकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड के जर्मन अल्प-संख्यकों ने चैकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड के राष्ट्रीय अस्तित्व को कमजोर करने की कोशिश की। वाद में, वार्सा की सन्धि को यथापूर्व स्थिति के लाभान्वितों के पास अपने लाभों की रक्षा करने के लिए कोई विचारधारा नहीं थी।

राष्ट्रीय शक्ति में तत्व के रूप में विचारधारा राष्ट्र के सदस्यों के मनोबल को निर्मित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है। विचारधारा के माध्यम से लोगों में राष्ट्रीय लक्ष्यों के औचित्य में आस्था उत्पन्न होती है। हिटलर ने जब 'नयी व्यवस्था' का नारा दिया तो जर्मन जनता में युद्ध के औचित्य के सम्बन्ध में एक विश्वास उत्पन्न हो गया। साम्यवादी विचारधारा के सामाजिक, आर्थिक न्याय पर आधारित दर्शन से विभिन्न प्रकार की सोवियत राष्ट्रीयताओं को एकता के सूत्र में पिरोने में मदद मिली है। हिटलर ने विचारधारा के महत्व का लाभ उठाया और विदेशों में पंचमार्गियों (Fifth-Column) को संगठित किया। उपनिवेशों की जनता में राष्ट्रवाद स्वाधीनता की प्रेरणा देता था।

विचारधारा शब्द समकालीन सभी शक्तिशाली विचारधाराओं यथा सर्वाधिकार, साम्यवाद, फासीवाद, नाजीवाद, मार्क्सवाद समाजवाद, उदारवाद आदि अनेक वादों के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। लोकतन्त्र भी इस इस दृष्टि से एक विचार पद्धति ही है। मॉरगेन्थाऊ की दृष्टि से साम्राज्यवाद यदि एक सैद्धान्तिक वैचारिकी है तो बीसवीं शताब्दी के सबसे प्रेरक सिद्धान्त राष्ट्रवाद को भी सैद्धान्तिक वैचारिकी मानना होगा।

विचारधारा के बारे में मॉरगेन्थाऊ के विचार
(MORGENTHAU'S VIEWS ON IDEOLOGY)

मॉरगेन्थाऊ ने 'विचारधारा' का विश्लेषण विदेश नीति के सन्दर्भ में किया है। वे स्पष्ट लिखते हैं कि "कुछ विशेष प्रकार की विचारधाराएँ कुछ विशेष प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों से जुड़ी हुई होती हैं।"[1] इस दृष्टि से वे तीन प्रकार की विचारधाराएँ मानते हैं। (1) यथास्थिति की विचारधारा (Ideology of Status Quo), (2) साम्राज्यवाद की विचारधारा (Ideology of Imperialism), (3) अस्पष्ट विचारधाराएँ (Ambiguous Ideologies) **पहले प्रकार की** विचारधारा को **'यथास्थिति की विचारधारा'** (Ideology of Status Quo) की संज्ञा प्रदान की है। यथापूर्व स्थिति की नीति में विश्वास करने वाले राष्ट्र अपने व्यवहार को विचारधाराओं के आवरण में छिपाना नहीं चाहते। मॉरगेन्थाऊ का कथन है कि जो देश यथापूर्व स्थिति की नीति अपनाता है वह उस शक्ति की रक्षा का प्रयत्न करता है जो उसको प्राप्त है। यह बात विशेष रूप से तब होती है जब भूभागीय यथापूर्व स्थिति का संरक्षण नैतिक या कानूनी आक्षेप से मुक्त हो। स्विट्जरलैण्ड, डेनमार्क, नार्वे, स्वीडन जैसे राष्ट्र अपनी विदेश नीति को यथापूर्व स्थिति में रखने वाली नीति के रूप में व्यक्त कर सकते हैं क्योंकि इनकी यथापूर्व स्थिति को न्यायोचित मान लिया गया है। दूसरी तरफ ब्रिटेन, फ्रांस, यूगोस्लाविया, चैकोस्लोवाकिया और रूमानिया, जो कि दोनों विश्वयुद्धों के दौरान मुख्यतः यथापूर्व स्थिति की नीति का अनुसरण करते रहे, अपनी विदेश नीतियों के लिए खुलकर यह घोषणा नहीं कर सकते थे कि वे भविष्य में यथापूर्व स्थिति की विदेश नीति में आस्था रखेंगे। क्योंकि सन् 1919 की यथापूर्व स्थिति की कानूनी यथार्थता स्वयं इन राष्ट्रों के आन्तरिक व वाह्य क्षेत्रों में चुनौती का शिकार बन चुकी थी, अतः उन्हें उन आदर्श सिद्धान्तों को गढ़ना आवश्यक हो गया, जो कि इन चुनौतियों का सामना

1 *Ibid.*, pp. 89-90.

कर सकें। इसलिए इन राष्ट्रों ने एक और नयी विचारधारा का निर्माण किया जिसे शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय कानून की विचारधारा कहते है। शान्ति व अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आदर्श यथापूर्व स्थिति की नीति की सेवा में विशिष्ट रूप की विचार पद्धतियाँ हैं, क्योंकि साम्राज्यवादी नीतियाँ यथापूर्व स्थिति में गड़बड़ी पैदा करके प्राय: युद्ध की ओर अग्रसर होती हैं और उन्हें युद्ध की सम्भावना को सदा अपने दृष्टिकोण के सम्मुख रखना होता है अपनी यथापूर्व स्थिति की नीति को शान्तिवाद की शब्दावली में घोषित कर एक राजनीतिज्ञ अपने साम्राज्यवादी विरोधियों के ऊपर युद्धप्रियता का कलंक मढ़ देता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दुहाई किसी विदेश नीति के पल में सदैव यथापूर्व स्थिति की नीति के वैचारिक आवरण के रूप में प्रयुक्त होती है। कानून साधारणत: और अन्तर्राष्ट्रीय कानून विशेषकर एक स्थिर सामाजिक शक्ति है। वह शक्ति का एक विशेष वितरण निर्धारित करता है तथा उसे विशेष ठोस परिस्थितियों में स्थिर रखने के मानदण्ड तथा पद्धतियाँ प्रस्तुत करता है। यथापूर्व स्थिति की नीति का समर्थन करने के लिए राष्ट्र संघ और संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का भी प्रयोग किया जाता है। यह नीति सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की ओर भी प्रेरित हो सकती है क्योंकि यथापूर्व स्थिति के समर्थक देश इसे बदलने वाले देशों के विरुद्ध संगठित हो सकते हैं।

दूसरे प्रकार की विचारधाओं को मॉरगेन्थाऊ ने **"साम्राज्यवाद की विचारधारा"** (Ideologies of Imperialism) घोषित किया है। साम्राज्यवादी नीति को सदा ही एक विचारधारा की आवश्यकता होती है। उसे यह प्रमाणित करना होता है कि वह जिस यथास्थिति को पलटना चाहता है वह पलट देने लायक है और इसके बाद शक्ति का जो नये सिरे से वितरण किया जायेगा वह नैतिक एवं न्यायपूर्ण होगा। साम्राज्यवादी विचारधाराएँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दुहाई न देकर, एक ऐसे उच्च कानून (प्राकृतिक विधि) की दुहाई देती है जो कि न्याय की आवश्यकताओं की पूर्ति करता हो। नाजी जर्मनी ने वार्साउ की सन्धि की यथा-पूर्व स्थिति परिवर्तित करने की माँग मुख्यत: समानता के सिद्धान्त की दुहाई देकर की थी। साम्राज्यवाद को विचारधारा की सबसे अधिक आवश्यकता है क्योंकि उसे दूसरे राज्यों को जीतने के लिए किसी बहाने की आवश्यकता होती है जो उसके औचित्य का प्रतिपादन कर सके। 'सफेद लोगों का बोझ' (Whiteman's Burden), 'राष्ट्रीय कर्तव्य' (National Mission), 'पवित्र विश्वास' (Sacred Trust), 'क्रिश्चियन कर्तव्य' (Christian Duty) आदि साम्राज्यवादी वैचारिक नारों ने सभ्यता को पुष्ट करने की दुहाई दी या उपनिवेश को पिछड़ेपन से मुक्त कराने की या धार्मिक कर्तव्य पूरा करने की दुहाई दी। जापान की पूर्वी एशिया के लिए 'संयुक्त धन का क्षेत्र' (Co-prosperity Zone) की विचारधारा मानवतावादी आवरण के वैसे ही आवरणों का द्योतक थी। नेपोलियन का साम्राज्यवाद यूरोप भर में 'स्वतन्त्रता, समानता व भ्रातृत्व' की पताका फहराते हुए फैल गया था। चार्ल्स डारविन और हर्बर्ट स्पेंसर के प्रभाव में आकर साम्राज्यवाद की विचारधाराओं ने जैविकीय तर्क पेश किये। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में परिवर्तित पर करने 'सर्वशक्तिशाली के जीवित रहने की उपयुक्तता' का सिद्धान्त एक शक्तिशाली राष्ट्र की दुर्बल राष्ट्र के ऊपर उच्चता में स्वभावत: परिणत हो जाता है। साम्यवाद, फासिस्टवाद, नाजीवाद तथा जापानी साम्राज्यवाद ने इन जीव वैज्ञानिक विचारधाराओं को एक नया क्रान्तिकारी मोड़ दे दिया। जर्मन जनता एक क्षेत्रहीन जनता है, जो यदि रहने योग्य स्थान प्राप्त न कर पायी तो उसका दम घुटता रहेगा और यदि उसे कच्चा माल प्राप्त न हो पाया तो भूखों मर जायेगी।

तीसरे प्रकार की विचारधाराएँ वे हैं जिन्हें मारगेन्थाऊ **'अस्पष्ट विचारधाराओं** (Ambiguous Ideologies) के नाम से पुकारता है। चूंकि ये विचारधाराएँ आक्रमणकारी उद्देश्यो की

पूर्ति के लिए तथा साथ ही में यथास्थिति को कायम रखने के लिए प्रयोग में लायी जा सकती है इसलिए इन्हें अस्पष्ट विचारधाराएँ कहा गया है। हमारे युग में ऐसी तीन विचारधाराएँ पनपी हैं—राष्ट्रीय आत्म-निर्णय की विचारधारा, शान्ति की विचारधारा और संयुक्त राष्ट्र की विचारधारा। राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त की कल्पना राष्ट्रपति वुडरो विलसन ने पेश की थी। आपने मध्य यूरोप के राष्ट्रिक समूहों की विदेशी आधिपत्य से मुक्ति को उचित ठहराया था। वैचारिक दृष्टि से यह सिद्धान्त साम्राज्यवाद का विरोधी था। हिटलर को सूझा कि यह राष्ट्रीय आत्म-निर्णय का सिद्धान्त अपनी राज्य विस्तार की नीतियों के आवरण के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। इस सिद्धान्त के आधार पर उसने पोलैण्ड और चैकोस्लोवाकिया के जर्मन अल्पसंख्यकों को उकसाया।

संयुक्त राष्ट्र संघ को द्वितीय विश्वयुद्ध की विजय के उपरान्त स्थापित यथापूर्व स्थिति की रक्षा के क्षेत्र के रूप में संगठित किया गया था। किन्तु यह पाया गया कि संयुक्त राष्ट्र संघ की विचारधारा की विभिन्न राष्ट्र अपने-अपने ढंग से व्याख्या करने लगे। प्रत्येक राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र संघ का पूर्ण पोषक दृष्टिगोचर होता है और सभी राष्ट्र विदेश नीति के पक्ष में चार्टर की धाराओं की दुहाई देते है। इन नीतियों के विरोधाभासी होने के कारण संयुक्त राष्ट्र संघ का सन्दर्भ अपनी स्वयं की नीति को न्यायसंगत प्रमाणित करने के लिए और साथ ही उन नीतियों के वास्तविक चरित्र को ढांपने के लिए एक वैचारिक साधन बन जाता है।

इसी प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद, शान्ति की अस्पष्ट विचारधारा भी अस्तित्व में आयी। शान्तिमय इरादों के बारे में जो घोषणाएँ अक्सर की जाती हैं वे आमतौर से किसी विदेश नीति के बुनियादी उद्देश्य छिपाने के लिए प्रयुक्त मुखौटे ही होती हैं। अपने विरोधियों को बदनाम करने के लिए उन्हें 'शान्तिविरोधी', 'शान्तिघाती' एवं 'शान्तिविध्वंसक' कहने का रिवाज हो गया है। शान्ति की विचारधारा के आधार पर एक देश दो महत्वपूर्ण राजनीतिक कार्य करता है—प्रथम, वह अपनी वास्तविक नीति के उद्देश्यों को छिपाना चाहता है, और द्वितीय, वह अपनी नीतियों के लिए सर्वत्र सद्भावना प्राप्त करना चाहता है।

विचारधारा और हित (Ideology and Interests)—विचारधारा और हित दो भिन्न विचार हैं। 'हित' का आशय उस वस्तु से है जिससे वह सम्बन्धित है या जिसे वह अपने लिए महत्वपूर्ण समझता है या वह वस्तु जिसके साथ वह सम्बन्धित है तब अपने लिए महत्वपूर्ण समझता है। विचारधारा भावात्मक है जो व्यक्ति को ढीले रूप से जोड़ती है। यह सम्बन्ध घनिष्ठ हो सकता है अगर यह हित से उत्पन्न होता है। सामूहिक विचारधारा (Group Ideology) अधिक भावात्मक और अस्पष्ट है जबकि सामूहिक हित के साथ ऐसी बात नहीं है। सामूहिक हित स्पष्ट और सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत होता है। राष्ट्रीय सुरक्षा का विचार सामूहिक हित की श्रेणी में रखा जा सकता है।

इस थोड़ी-सी भिन्नता के बावजूद विचारधारा और हित परस्पर सम्बन्धित हैं। प्रत्येक दूसरे को कई रूपों में प्रभावित करता है। श्लाइचर के मतानुसार, "प्रत्येक दूसरे को प्रभावित करता हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि हित विचारधारा का निर्धारण कर सकता है तथा विचारधारा द्वारा निर्धारित भी हो सकता है। वे एक-दूसरे में विलीन होते प्रतीत होते हैं, यद्यपि दोनों एक नहीं हैं। प्रत्येक का सापेक्ष प्रभाव, जहाँ वे नहीं मिलते वहाँ वे परस्पर एक-दूसरे पर निर्भर अवश्य होते हैं।" विचारधारा और हित में इस प्रकार एक समरूपता है, एक घनिष्ठ सम्बन्ध है जिससे इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों के आधार पर ही अपनी विचारधारा का गठन करते हैं। यूरोप में अमरीका के हित 'साम्यवाद के सीमितीकरण' व प्रजातन्त्र की रक्षा की विचारधारा द्वारा उचित ठहराये गये हैं। विभिन्न राज्यों द्वारा विचारधारा का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में किसी घटना को उचित या अनुचित ठहराने के लिए भी किया जाता है दूसरे

राष्ट्र को प्रादेशिक भूमि पर आधिपत्य (संयुक्त राष्ट्र अमरीका द्वारा फिलीपाइन्स पर आधिपत्य) मानवतावादी विचारधारा के आधार पर उचित सिद्ध किया जाता है। फिलीपाइन्स को उसने सभ्य बनाने, ईसाई धर्म का प्रचार करने तथा बर्बरों को शिक्षित करने के लिए अधीन बनाया था।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा की भूमिका
(ROLE OF IDEOLOGY IN INTERNATIONAL POLITICS)

20वीं शताब्दी की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का आधारभूत प्रभावक तत्व विचारधारा है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा की भूमिका और प्रभाव निम्न प्रकार से देखा जा सकता है: (1) विचारधारा में वह शक्ति है जो असंगठित और अव्यवस्थित गतिविधि को एक सशक्त और संगठित राजनीतिक आन्दोलन में बदल देती है। जैसे नाजीवाद और फासीवाद का विश्व में प्रसार (2) विचारधारा विभिन्न राष्ट्रीयता वाले देशों को एकता के सूत्र में बाँधकर सैनिक शक्ति का सृजन करती है। जैसे अटलांटिक चार्टर में निहित सिद्धान्तों के आधार पर ही द्वितीय महायुद्धकाल में मित्र राष्ट्रों की एकता धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध हुई थी। (3) विचारधारा आक्रमण और विस्तार-वादी गतिविधियों को भी प्रोत्साहित करती है जिससे युद्ध होते हैं। पाकिस्तान में इस्लामिक विचारधारा की कट्टरता के कारण उसने भारत पर 1965 व 1971 में आक्रमण किया। (4) प्रति-योगी विचारधाराएँ मनमुटाव एवं वैमनस्य को जन्म देती है। शीतयुद्ध विचारधाराओं के संघर्ष का ही परिणाम है जो आज के युग की प्रधान विशेषता बन चुका है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय संकट बने रहते हैं। (5) विचारधारा में कट्टरता के तत्व आ जाने से कूटनीतिक समझौते तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की उपयोगिता असम्भव हो जाती है। (6) यह विदेश नीति को कठोर बनाती है, जैसे 1945 के बाद अमरीकी विदेश नीति 'साम्यवाद के अवरोधन' के लिए दृढ़ संकल्प रही।

पामर व पर्किन्स के शब्दों में, "विचारधाएँ वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का शक्तिशाली साधन होती हैं, किन्तु वे सभी संघर्षों के शान्तिपूर्ण समाधान के कार्यों को बहुत जटिल बना देती हैं।"

निष्कर्षतः विचारधारा को शक्ति प्राप्ति के उद्देश्य की सिद्धि साधन के रूप में सदा प्रयोग किया जाता रहा है। यदि विचारधारा में घोषित शक्ति उद्देश्यों और आचरण में दृष्टिगोचर होने वाले असली उद्देश्यों के बीच का अन्तर न पहचाना जाये तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के यथार्थ स्वरूप को समझ सकना कठिन है। इसलिए किसी विदेश नीति के वास्तविक रूप का अध्ययन वैचारिक दिखावे और आचरण में अपनायी गयी नीतियों के असली उद्देश्य के बीच स्पष्ट अन्तर के आधार पर करना अपरिहार्य है।

प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा की भूमिका की विवेचना कीजिए।
   Discuss the role of ideology in international politics.

12

राष्ट्रीय हित की अवधारणा

[NATIONAL INTEREST : THE CONCEPT]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय हित की अवधारणा का विशिष्ट महत्व है। यह विदेश नीति का प्राण तत्व है। विदेश नीति की सफलता और असफलता का मूल्यांकन राष्ट्रीय हित के परिप्रेक्ष्य में ही किया जा सकता है। यदि विदेश नीति राष्ट्रीय हित का रक्षण करने मे सफल होती है तो उसे सफल विदेश नीति कहा जाता है और यदि वह राष्ट्रीय हितों की रक्षा नही कर पाती तो उसे असफल विदेश नीति कहा जाता है। मॉरगेन्थाऊ के राजनीतिक दर्शन का मुख्य तत्व है राष्ट्रहित की प्रधानता। मॉरगेन्थाऊ ने राष्ट्रीय हित को शक्ति कहकर पुकारा है।

राष्ट्रीय हित : अभिप्राय
(NATIONAL INTEREST : MEANING)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भाग लेने वाले सभी देश अपने कार्यों का संचालन जिस नीति और सिद्धान्त के आधार पर करते हैं, उसे 'राष्ट्रीय हित' कहा जाता है। यह राष्ट्रीय हित किसी भी देश की विदेश नीति की आधारशिला होता है। दिसम्बर 1947 में जवाहरलाल नेहरू ने लोकसभा में भाषण देते हुए कहा था, "किसी भी देश की विदेश नीति का आधार उसके राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा है। भारत की विदेश नीति का ध्येय इसके राष्ट्रीय हित की सुरक्षा है।"

'राष्ट्रीय हित' एक बड़ा लचकीला तथा व्यापक शब्द है। प्रत्येक देश का राष्ट्रीय हित उसकी आवश्यकताओं के अनुसार अलग-अलग प्रकार का होता है। यह भौगोलिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों से निर्धारित होता है। प्रत्येक देश के आर्थिक तथा सैनिक तत्व, उसकी प्राचीन परम्पराएँ; आचार-विचार, रीति-रिवाज, धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक विचारधाराएँ और विश्वास राष्ट्रीय हित के निर्माण में भाग लेते हैं। इनके आधार पर प्रत्येक देश के व्यक्ति और शासक कुछ विशेष बातों को अपने राष्ट्रीय हित की दृष्टि से आवश्यक और उपयोगी समझते हैं और इनके आधार पर अपनी विदेश नीति का निर्माण करते हैं।

राष्ट्रीय हित की अवधारणा बड़ी अस्पष्ट है अत: इसकी परिभाषा करना कठिन कार्य है। रेमों आरों के अनुसार राष्ट्रीय हित की अवधारणा इतनी अस्पष्ट है कि यह अर्थहीन ही है या इसे अधिक से अधिक एक दिखावे की धारणा कहा जा सकता है। चार्ल्स लर्च तथा अब्दुल सईद के अनुसार, "व्यापक, दीर्घकालीन और सतत उद्देश्य जिसकी सिद्धि के लिए राज्य, राष्ट्र और सरकार

ये सब अपने को प्रयत्न करता हुआ पाते हैं, राष्ट्रीय हित है।[1] वॉन डिक के हित की परिभाषा एक ऐसी चीज के रूप में की जा सकती है जिसकी रक्षा एक दूसरे के मुकाबले में करना चाहते हैं।[2] राष्ट्रीय हित प्रभुत्वसम्पन्न राज्य की अभिलाषाएं ह जिसे वह अन्य राष्ट्रों के सन्दर्भ में प्राप्त करना चाहते हैं। अन्य राज्यों के मुकाबले में एक राज्य जो अभिलाषाएँ रखता है वे मोटे तौर से विदेश नीति के ध्येय होते हैं और इन ध्येयों को ही राष्ट्रीय हित के नाम से पुकारा जाता है। विदेश नीति के इन ध्येयों को लक्ष्य और उद्देश्य (Goals and objectives) भी कहा जाता है। विदेश नीति के लक्ष्य दीर्घकालिक हित हैं जबकि उद्देश्य केवल तात्कालिक या अल्पकालीन होते हैं।

यह एक विवादास्पद प्रश्न है कि क्या राष्ट्रीय हित विदेश नीति का उद्देश्य (Objective) है अथवा मूल्य (Value)। जो विचारक राष्ट्रीय हित को 'उद्देश्य' मानते हैं उनके अनुसार यह स्थायी, अपरिवर्तित तथा शक्ति से जुड़ी हुई अवधारणा है। (Those who regard the national interest as objective usually regard national interest as permanent, unchanging and related to power.) जो विचारक इसे मूल्यपरक अवधारणा मानते हैं उनके अनुसार यह शक्ति के अतिरिक्त मूल्यों से जुड़ी हुई अवधारणा है। (Those who regard the national interest as subjective usually affirm that it includes values other than power.) **पेडलफोर्ड और लिंकन** के अनुसार, "राष्ट्रीय हित की अवधारणा समाज के मूलभूत मूल्यों से जुड़ी हुई है। ये मूल्य हैं—राष्ट्र का कल्याण, उसके राजनीतिक विश्वासों का संरक्षण, राष्ट्रीय जीवन पद्धति, क्षेत्रीय अखण्डता तथा सीमाओं की सुरक्षा।" (Concepts of national interests are centred on core values of the society, which include the welfare of the nation, the security of its political belief, national way of life, territorial integrity and its self preservation.)

कभी-कभी 'राष्ट्रीय हित' शब्द का प्रयोग राष्ट्रीय लक्ष्यों के विश्लेषण के लिए भी किया जाता है। फलतः इसके अर्थ में अस्पष्टता का बोध होता है। **पॉल सोबरी** ने इस अस्पष्टता को व्यक्त करते हुए बताया है कि राष्ट्रीय हित' शब्दावली का प्रयोग कम से कम तीन अर्थों में होता है: **प्रथम**, राष्ट्रीय हित के विचार में भविष्य में प्राप्त होने वाले ऐसे आदर्श लक्ष्य सन्निहित हैं जिन्हें कोई राष्ट्र अपनी विदेश नीति के माध्यम से प्राप्त करना चाहता है। इसे राष्ट्रहित की आदर्शपरक नागरिक धारणा (Normative civic concept of national interest) के नाम से पुकारा जाता है। **द्वितीय**, राष्ट्रहित का अन्य महत्वपूर्ण अर्थ वर्णनात्मक (Descriptive) है। इस अर्थ में राष्ट्रीय हित का अर्थ उन लक्ष्यों से है जिन्हें कोई भी राष्ट्र निरन्तर अपने नेतृत्व के माध्यम से प्राप्त करने का प्रयास करता है। इस अर्थ में राष्ट्रीय हित कोई आध्यात्मिक वस्तु नहीं है, परन्तु यथार्थपरक है। **तृतीय**, अर्थ में राष्ट्रीय हित से अभिप्राय उन लक्ष्यों से है जिन्हें किसी राष्ट्र के कर्णधार स्वीकार करते हों।

जोसेफ फ्रेंकेल ने अपनी पुस्तक 'नेशनल इण्टरेस्ट' में राष्ट्रीय हित की व्याख्या राष्ट्र की

---

1 "National interest is the general, long term and continuing purpose which the state, the nation, and the government all-see themselves as serving."
—Charles O. Lerche and Abdul Said, *Concepts of International Politics*, 1963, p. 6.

2 "National interest is also defined as that which states seek to protect or achieve in relation to each other."
—Vernon Van Dyke, *International Politics*, 1957.

आकांक्षाओं, विदेश नीति के क्रियात्मक, व्याख्यात्मक तथा विवादों का निरूपण करने वाले तत्व के रूप में की है।"1

राष्ट्रीय हित के प्रकार
(KINDS OF NATIONAL INTEREST)

थामस राबिन्सन ने राष्ट्रीय हित के विभिन्न प्रकार को छः वर्गों में बाँटा हैं, ये है :

1. **प्रथम कोटि के हित** (Primary Interests)—वे हैं जो किसी राज्य के लिए सर्वाधिक महत्व रखते है और जिनकी रक्षा के लिए राज्य बड़े से बड़ा बलिदान और त्याग करने के लिए सदा तैयार रहते हैं। इस प्रकार का सबसे बड़ा हित राष्ट्र की सुरक्षा है।

2. **गौण हित** (Secondary Interests)—ये वे हित हैं जो प्राथमिक हितों से कम महत्व रखते हैं किन्तु फिर भी राज्य की सत्ता बनाये रखने के लिए आवश्यक हैं। इस वर्ग के हितों के उदाहरण है—विदेशों में अपने नागरिकों की सुरक्षा तथा इस बात को सुनिश्चित बनाना कि विदेशों में अपने देश के राजदूतों की राजनयिक उन्मुक्तियों (Diplomatic Immunities) की तथा नागरिकों के हितों की रक्षा की जाय।

3. **स्थायी हित** (Permanent Interests)—ये राज्य के लगभग सदैव बने रहने वाले, दीर्घकालीन लक्ष्य एवं प्रयोजन होते हैं। इनका एक सुन्दर उदाहरण ग्रेट ब्रिटेन द्वारा अपने उपनिवेशों तथा विदेशी व्यापार की रक्षा के लिए महासमुद्रों में नौचालन की स्वतन्त्रता (Freedom of Navigation) को बनाये रखना है। भारत का इस प्रकार का प्रयोजन देश का शान्तिपूर्ण आर्थिक विकास करना है।

4. **परिवर्तनशील हित** (Variable Interests)—राष्ट्र के ऐसे हित हैं जिन्हें कोई राष्ट्र किसी विशेष परिस्थिति में राष्ट्रीय हित के लिए आवश्यक समझता है। ऐसे हित प्रथम एवं द्वितीय कोटि के हितों से प्राय: भिन्न होते है। ये लोकमत तथा विभिन्न व्यक्तियों के विचारों से प्रभावित होते हैं।

5. **सामान्य हित** (Common Interests)—सामान्य हित वे परिस्थितियाँ होती हैं जो उस देश को सामान्य रूप से अथवा आर्थिक, व्यापारिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में लाभ पहुँचाने वाली होती है। ग्रेट ब्रिटेन के लिए यूरोप में शक्ति सन्तुलन बनाये रखना इसी प्रकार का सामान्य हित था।

6. **विशिष्ट हित** (Specific Interests)—ये सामान्य हितों से उत्पन्न होते है और उनके साथ गहरा सम्बन्ध रखते है। जैसे यूरोप में शक्ति सन्तुलन को बनाये रखना ब्रिटेन का सामान्य हित था, किन्तु इस हित को बनाये रखने के लिए यह भी आवश्यक था कि ब्रिटिश द्वीपसमूह के सामने इंगलिश चैनल के उस पार बेल्जियम और हालैण्ड के प्रदेशों में यूरोप की किसी महाशक्ति का अधिकार न हो। यदि नैपोलियन और हिटलर जैसा कोई सेनापति इस प्रदेश पर अधिकार कर ले तो वह यहाँ से इंगलैण्ड पर हमला करने की और उसे जीतने की योजना बना सकता था। दोनों ने ही ऐसा प्रयास किया था। अत: ब्रिटेन का सदैव यह प्रयत्न रहता है कि बेल्जियम सदैव

Joseph Frankal classifies the uses of the term National Interest into aspirational, operational and explanatory and polemical. On the aspirational level national interest refers to the vision of good life, to some ideal set of goals which the state would like to realise if this were possible. On the operational level, it refers to the sum total of its interests and policies actually pursued. On the explanatory and polemical level the concept is used to explain, evaluate, rationalise or criticise foreign policy.

—Frankal Joseph, *National Interest*, Macmillan, 1970, pp. 31-35

तटस्थ बना रहे और इस पर यूरोप की किसी महाशक्ति का प्रभुत्व स्थापित न हो। इस कारण यह ब्रिटेन का विशिष्ट हित था।

राबिन्सन ने उपर्युक्त छः प्रकार के हितों के अतिरिक्त तीन प्रकार के अन्य अन्तर्राष्ट्रीय हितों (International Interests) का भी वर्णन किया है। **इनमें पहला समान हित** (Identical Interest) है। इनका आशय ऐसे हितों से है जो दो या दो से अधिक राज्यों के लिए तुल्य रूप से लाभदायक और उपयोगी हों। जैसे अमरीका और ब्रिटेन दोनों ही यह चाहते हैं कि यूरोप पर सोवियत संघ या किसी एक महाशक्ति का आधिपत्य न हो। **दूसरे प्रकार के हित पूरक हित** (Complementary Interests) हैं। ये हित समान न होते हुए भी दो देशों में कुछ विशेष प्रश्नों पर समझौतों का आधार बन सकते हैं, जैसे ब्रिटेन और पुर्तगाल के हित। ब्रिटेन को पुर्तगाल के साथ मैत्री बनाये रखने में और उसे स्वतन्त्र बनाये रखने में यह लाभ था कि इसके द्वारा वह स्पेन की शक्ति पर नियन्त्रण रख सकता था और अन्धमहासागर में अपनी शक्ति का पूरा विस्तार कर सकता था। इसी प्रकार पुर्तगाल को भी ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध बनाये रखने और उसकी समुद्री प्रभुता को सुस्थिर बनाने में यह बड़ा लाभ था कि वह स्पेन के सम्भावित प्रभुत्व से सुरक्षा प्राप्त कर सकता था। **तीसरे प्रकार के हित परस्पर विरोधी हित** (Conflicting Interest) होते हैं। ये प्राय: दो देशों में संघर्ष का कारण बनते हैं। जम्मू-कश्मीर का भारत में वैध रूप से विलय हो जाने से यह भारत का अंग है; पाकिस्तान इसे अपने राज्य का अंग बनाना चाहता है। इसके लिए वह तीन बार भारत से विफल सैनिक संघर्ष भी कर चुका है। यह दोनों का परस्पर विरोधी हित है।

वस्तुत: राष्ट्रीय हित दो प्रकार के हैं—मार्मिक और अमार्मिक राष्ट्रीय हित अथवा दीर्घकालीन एवं तत्कालीन राष्ट्रीय हित। मार्मिक या दीर्घकालीन राष्ट्रीय हित किसी राष्ट्र के मूलभूत और अत्यन्त महत्वपूर्ण हित हैं। ये किसी राज्य के वे हित हैं जिन पर वह राज्य कोई भी रियायत करने को तैयार न हो और जिनकी रक्षा के लिए वह जरूरत पड़ने पर युद्ध करने को भी तैयार हो सकता है। किसी देश का मार्मिक हित इतना बुनियादी समझा जाता है कि अक्सर इसे स्थायी और दीर्घकालीन समझा जाता है। राष्ट्रीय हित के अन्य सब पहलू इसके सामने गौण समझे जाते हैं। इसमें राष्ट्रीय सुरक्षा, स्वाधीनता और अखण्डता की रक्षा आदि प्रमुख हैं। राज्य के मूलभूत उद्देश्य बाहरी शत्रुओं से सुरक्षा प्रदान करना तथा आन्तरिक क्षेत्र में सुव्यवस्था स्थापित रखना माने गये हैं। राष्ट्रीय सुरक्षा के हित में विदेश नीति निर्धारक पारस्परिक सुरक्षा सन्धियों में सम्मिलित होते हैं, सम्भावित शत्रु देश के विरुद्ध सन्धि व्यवस्थाएँ गठित करते है, उनकी कूटनीतिक घेराबन्दी करने के प्रयत्न करते है तथा उनके देशों के साथ आर्थिक, सांस्कृतिक, व्यापारिक सम्बन्ध जोड़कर या सुदृढ़ करके उन्हें अपने प्रभाव क्षेत्र में लाने एवं बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। प्रथम विश्वयुद्ध काल तक गुप्त सुरक्षा सन्धियों की व्यवस्था राष्ट्रीय सुरक्षा की सर्वप्रमुख तथा मान्य उपकरण थी। ये सन्धियाँ कितनी गुप्त रखी जाती थीं इसका अनुमान इसी से किया जा सकता है कि त्रिदलीय सन्धि, द्विदलीय सन्धि अथवा त्रिदलीय समझौते का पता सम्बद्ध देशों के कतिपय सर्वोच्च नीति निर्धारकों के अतिरिक्त अन्य किसी को भी नहीं रहता था। याल्टा शिखर सम्मेलन के कई निर्णय राष्ट्रपति ट्रूमैन को पद ग्रहण करने के उपरान्त ही मालूम हुए। राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमरीका और सोवियत संघ ने नाटो, सेण्टो सियाटो, रायो सन्धि संगठन की स्थापना की। इसके अतिरिक्त कई देशों के साथ द्विपक्षीय सुरक्षा सन्धियाँ सम्पन्न कीं। भारत ने गुट निरपेक्ष होते हुए भी सोवियत संघ के साथ बीस वर्ष की (1971) मैत्री सन्धि की।

जो हित मार्मिक नहीं होते, जो तात्कालिक महत्व के गौण हित होते हैं और जिनके लिए कोई राज्य युद्ध का खतरा मोल नहीं लेना चाहता, उन्हें अमार्मिक एवं अस्थायी स्वरूप के

राष्ट्रीय हित कहते हैं। ऐसे गौण हित जनता का भौतिक कल्याण, प्रतिष्ठा की रक्षा, विचारधारा का प्रसार, व्यापार की वृद्धि, संस्कृति का प्रसार आदि हैं।

मॉरगेन्थाऊ ने राष्ट्रीय हित की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं की है। उन्होंने तो केवल यही कहा है कि राष्ट्रहित का अर्थ अत्यधिक व्यापक है और उसका स्वरूप उन बहुत-से सांस्कृतिक तत्वों पर निर्भर है जिनके अन्तर्गत किसी राज्य की विदेश नीति निर्धारित की जाती है। उन्होंने राष्ट्रहित के दो मुख्य पक्ष बताये हैं। **एक है स्थिर, स्थायी अथवा आवश्यक और दूसरा है अस्थिर, अस्थायी अथवा अनित्य। स्थिर पक्ष** वह है जो प्रत्येक देश के लिए समान रूप से महत्वपूर्ण हो और **अस्थिर पक्ष** वह है जिसका स्वरूप प्रत्येक देश की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता हो। राष्ट्र की अस्तित्व रक्षा राष्ट्रहित की न्यूनतम आवश्यकता है और इसलिए यह तार्किक रूप में वांछनीय है। राष्ट्रहित के अस्थायी पक्ष का स्वरूप पहचानना अत्यन्त कठिन है चूंकि लोकमत, सरकार एवं राजनीतिक-नैतिक प्राथमिकताओं में परिवर्तन होने के साथ-साथ राष्ट्रहित के अस्थायी पहलू में भी परिवर्तन होता रहता है। फिर भी राष्ट्रहित के स्थायी तत्व अस्थिर तत्वों का स्वरूप निर्धारित करते हैं। विदेश नीति का प्रमुख कार्य यह है कि वह समय-समय पर राष्ट्र-हित के अस्थिर तत्वों को स्पष्ट करती रहे और स्थिर एवं अस्थिर तत्वों में सामंजस्य बिठाये रखे।

राष्ट्रीय हित एक गतिशील धारणा है; यह कोई स्थिर या शाश्वत वस्तु नहीं है। रेमों आरों के अनुसार राष्ट्रीय हित का स्वरूप निर्धारित नहीं किया जा सकता क्योंकि यह लोगों के समूहों से सम्बद्ध है, व्यक्तियों से नहीं। यह विदेश नीति का मार्गदर्शक है जिसका प्राथमिक कार्य अन्तर्राष्ट्रीय वास्तविकता की आलोचना करते रहना और नीति-निर्माताओं को दीर्घकालिक उद्देश्यों और तात्कालिक लक्ष्यों में से प्राथमिकताओं का क्रम सुझाते रहना है। डॉ. महेन्द्रकुमार के अनुसार राष्ट्रहित न तो 'अधिकतम इच्छित' (the desirable best) होता है और न 'अधिकतम सम्भव मात्र' (the possible best)। यह एक ओर तो 'अधिकतम अभीष्ट' और 'अधिकतम सम्भव' दोनों है और दूसरी ओर इन दोनों से अधिक कुछ और भी है।

राष्ट्रीय हित की अवधारणा का विकास
(EVOLUTION OF THE CONCEPT OF NATIONAL INTEREST)

विदेश नीति का लक्ष्य राष्ट्रहितों की प्राप्ति अथवा उनकी रक्षा करना है। लार्ड पामर्स्टन ने वर्षों पूर्व कहा था कि "हमारे कोई शाश्वत मित्र नहीं हैं और न ही हमारे कोई सदा बने रहने वाले शत्रु। केवल हमारे हित ही शाश्वत हैं और उन हितों का अनुसरण-संवर्द्धन हमारा कर्तव्य है।"[1]

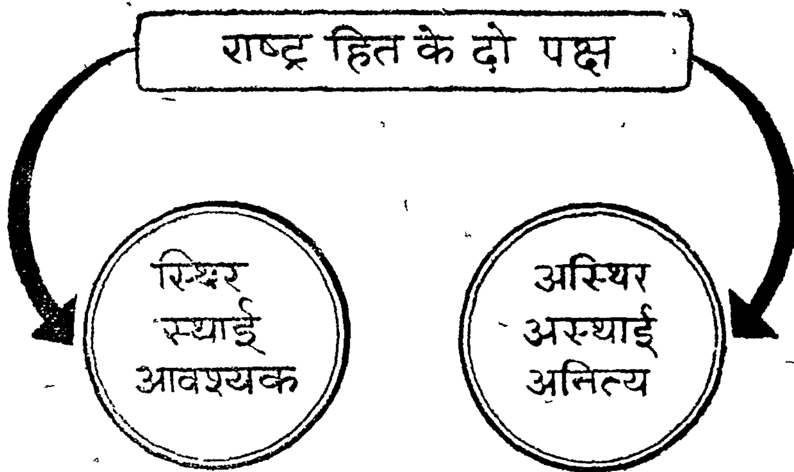
प्राचीन एवं मध्य युगों में, राज्यों के हित अधिपतियों में हित से भिन्न नहीं माने जाते थे। राजा अपने व्यक्तिगत गौरव के लिए युद्ध करता था, अश्वमेध या राजसूय यज्ञ करके चक्रवर्ती बनता था, राजा के गौरव में प्रजा भी गौरवान्वित होती थी। राजा पेशेवर सैनिक लेकर दिग्विजय करने निकलता था। वापस लौटने पर लूट का कुछ माल प्रजाजनों में भी वितरित कर देता था। अतः वह राजनीति सहज थी विदेश नीति मात्र युद्ध करने अथवा नहीं करने की नीति तक सीमित रहती थी।

राष्ट्र राज्यों के उदय के साथ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति इतनी सहज नहीं रह गयी। औद्योगिक क्रान्ति, व्यापारिक उन्मेष, वैज्ञानिक दृष्टि, यातायात तथा संचार के साधनों का प्रचार—इन सबके फलस्वरूप राजनीति केवल राजाओं, राजकुमारों, सामन्तों, सेनापतियों का ही खेल नहीं रह गयी।

---

1 'We have no eternal allies and we have no enemies. Our interests are eternal and those interests it is our duty to follow." (Lord Palmerston) Quoted in Joseph Frankal, *Key Concept in Political Scierce—National Inierest*, Mac-Millan, 1970 p. 11.

आधुनिक राष्ट्र राज्यों का सर्वप्रथम यूरोप में उदय हुआ। इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के स्वरूप में परिवर्तन हुआ। तदनुसार राज्यों की विदेश नीति भी नये आयाम लेकर रूपायित हुई।



अधिपतियों के व्यक्तिगत के स्थान पर राज्यों के हित का महत्व बढ़ा। स्पानी उत्तराधिकार अथवा आस्ट्रियाई उत्तराधिकार के युद्ध मात्र किन्हीं राजवंशों, राजकुमारों अथवा राजाओं के हित-अहित के लिए नहीं लड़े गये थे। उनके मूल में प्रकट-अप्रकट कई राष्ट्रों के हित-अहित सन्निहित थे।

विदेश नीति और राष्ट्रीय हित
(FOREIGN POLICY AND NATIONAL INTEREST)

राष्ट्रीय हित की अवधारणा विदेश नीति का मूलभूत सिद्धान्त है।[1] विदेश नीति निर्माण का प्रारम्भिक बिन्दु राष्ट्रीय हित है।[2] जब तक दुनिया राजनीतिक दृष्टि से राज्यों में विभाजित रहेगी तब तक विश्व राजनीति में राष्ट्रीय हित मार्मिक विषय रहेगा।[3] वास्तविक रूप से तो राष्ट्रीय हित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की कुंजी है। चाहे किसी राष्ट्र के कितने ही ऊँचे आदर्श हों और कितनी ही उदार अभिलाषाएँ हों, वह अपनी विदेश नीति को राष्ट्रीय हित के अतिरिक्त किसी अन्य धारणा पर आधारित नहीं कर सकता। यद्यपि विल्सन जैसे आदर्शवादियों की मान्यता है कि विदेश नीति का राष्ट्रीय हित की धारणा के आधार पर निर्मित होना एक खतरनाक प्रवृत्ति है। विदेश नीति के क्षेत्र में नैतिकता और उपयोगिता ही हमारा मार्गदर्शक होना चाहिए। हमारे अपने कोई न्यस्त स्वार्थ नहीं होने चाहिए।[4] इसके विपरीत, मॉरगेन्थाऊ तथा आरनोल्ड वूल्फर्स जैसे यथार्थवादियों की मान्यता है कि राष्ट्रीय हित ही विदेश नीति की आत्मा है। यह विदेश नीति का सार (Substance) है, यही उसकी प्रेरणा और आधारशिला है। राष्ट्रीय हित विदेश नीति की कुण्डली है तथा सर्वश्रेष्ठ तत्वों का निचोड़ है। मॉरगेन्थाऊ के शब्दों में, "विदेश नीति के

1 "National Interest is the key concept in foreign policy."
2 "The starting point in foreign policy making is the national interest."
—Norman Hill. *Contemporary World Politics*, 1954, p. 75.
3 "As long as the world is politically organised into nations the national interest is indeed the last word in world politics"—Morgenthau, Another Great Debate, *American Political Science Review*, XLVI, 1952, pp- 971-78.
4 "It is perilous thing to determine the foreign policy of a nation is terms of national interests.......We dare not turn from the principle that morality and not expediency is the thing that must guide us we have no selfish ends to serve." (President Wilson) Quoted in Padelford and Lincoln, *International Politics*, Macmillan, New York. 1954. pp. 311-12.

ध्येयों की परिभाषा राष्ट्रीय हित के अर्थ में अवश्य करनी होगी तथा इसका यथेष्ट शक्ति द्वारा अवश्य पोषण करना होगा।"

विदेश नीति का संचालन राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से किया जाता है। सिद्धान्तवाद की दुहाई दी जाती है लेकिन व्यवहार में किया वही जाता है जो आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार राष्ट्रीय हितों के अनुकूल हो। निष्पक्ष रूप में देखा जाये तो राष्ट्रीय हितों के अनुकूल वैदेशिक नीति का संचालन प्राचीनकाल से ही किया जाता रहा है और राष्ट्र अधिकांशतः अपने हितों की कीमत पर सिद्धान्तों की रक्षा में अडिग नहीं रहे हैं। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण आज के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षितिज में आन्तरिक विरोधाभासों के फलस्वरूप अपना प्रभाव खोता जा रहा है और वह राज्य की नीतियों के उद्देश्यों और लक्ष्यों की निरन्तरताओं का वर्णन करने में असफल रहा है। यदि हम ध्यान से देखें तो पायेंगे कि विभिन्न सत्ताधारी दलों और अपने-अपने निजी अथवा सार्वजनिक दर्शनों के बावजूद ब्रिटिश, अमरीकन, फ्रेंच और रूसी विदेश नीति में अनेक ऐसी एकताएँ विद्यमान हैं जो व्यक्तिगत विश्वासों अथवा सिद्धान्त का अतिक्रमण करती हैं। युद्धोत्तर काल के प्रारम्भ में इंगलैण्ड की श्रमिक सरकार ने देश के सारभूत रूप में उन्हीं हितों के संरक्षण की नीति अपनायी जिनकी सुरक्षा को टोरियों को ह्विगों ने शताब्दियों से आवश्यक माना था। इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका में डलेस-आइजनहोवर की विदेश नीति ने देश के उन्हीं केन्द्रीय लक्ष्यों पर ध्यान दिया जिन पर रूजवेल्ट और ट्रूमैन प्रशासन ने ध्यान दिया। अमरीकी व्यावसायिक और आर्थिक हितों की रक्षा के लिए निक्सन-किसिंगर ने चीन से दोस्ती का हाथ बढ़ाया। कहने का तात्पर्य है कि चाहे प्रविधियाँ, उपाय और साधन बदल जायें लेकिन एक देश के हित और उद्देश्य सापेक्षिक रूप में निरन्तर बने रहते हैं और इसीलिए विदेश नीति राष्ट्रीय हितों के अनुकूल ही संचालित की जाती है, उसमें लचीलापन रहता है, सिद्धान्तों पर अड़ियलपन नहीं। जो राज्यमर्मज्ञ विदेश नीति का निर्माण करते हैं उन्हें राष्ट्रीय हित का सर्वोपरि ध्यान रखना पड़ता है और इसलिए अपने विश्वासों, सिद्धान्तों आदि पर उन्हें अंकुश लगाना पड़ता है। यदि राष्ट्र की स्वतन्त्रता की रक्षा की जानी है तो उसकी भौगोलिक स्थिति, उसकी अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका, उसके हितों आदि का पूरा ध्यान रखना होगा और अपने सामाजिक, धार्मिक, दर्शन एवं सैद्धान्तिक विचारों को गौण मानना पड़ेगा। समय और परिस्थिति के अनुसार राष्ट्रीय हित की जो माँग है, उसी के अनुरूप विदेश नीति का संचालन किया जाना होता है। इसमें भी हितों का क्रम अथवा पदसोपान बैठाना होता है। प्राथमिक हितों की रक्षा पहले की जाती है और गौण हितों की बाद में कुछ ऐसे हित होते हैं जिनकी रक्षा हर कीमत पर करनी होती है। दूसरे ऐसे हित होते हैं जिनकी रक्षा कुछ विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत करनी होती है और कुछ ऐसे हित होते हैं जिनकी रक्षा यद्यपि वांछनीय है तथापि उनकी लगभग कभी भी रक्षा नहीं की जाती। यह विदेश नीति का कार्य है कि वह हितों के इस पदसोपान का उपयुक्त निर्धारण करे और दूसरे राष्ट्रों की विदेश नीति का मूल्यांकन करते हुए अपना मार्ग निश्चित करे। सैनिक विज्ञान और तकनीक में प्रगति, आर्थिक समृद्धि अथवा देश के विघटन आदि विभिन्न तत्वों के फलस्वरूप राष्ट्रीय हितों में सामयिक परिवर्तन आते रहते हैं और तदनुरूप विदेश नीति में बदलाव आता रहता है।

यह सच है कि प्रत्येक राज्य के राष्ट्रीय हित उसकी परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के आधार पर बदलते रहते हैं, पर कम से कम तीन बातें ऐसी हैं जिन्हें प्रत्येक राज्य को अपनी विदेश नीति में आवश्यक रूप से स्थान देना चाहिए। वे हैं (i) आत्मरक्षा (Self-Preservation), (ii) सुरक्षा (Security), तथा (iii) लोक कल्याण (Welfare of the nation)। आत्मरक्षा का अर्थ है प्रत्येक राष्ट्र को अपनी प्रभुसत्ता तथा राष्ट्रीय अखण्डता को बनाये रखना चाहिए। सुरक्षा से अभिप्राय है राज्य की बाह्य आक्रमण से रक्षा करना तथा लोक कल्याण से तात्पर्य है कि राज्य को अपने नागरिकों के सुख एवं समृद्धि की अभिवृद्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

संक्षेप में, राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखकर ही राष्ट्र अपने लक्ष्यों को निर्धारित करते हैं तथा विदेश नीति इन लक्ष्यों को प्राप्त करने का केवल साधन होती है।

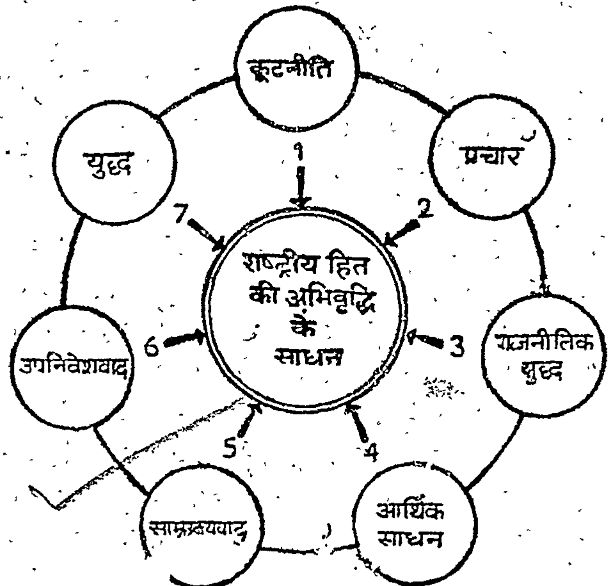
राष्ट्रहित : अन्तरमार्ग
(THE CORE OF NATIONAL INTEREST)

राष्ट्रीय हित कई कारकों के प्रभाव से बदलता रहता है। कभी-कभी नेतृत्व वर्ग या जनता के मूल्यों में परिवर्तन होने से मार्मिक राष्ट्रीय हित की अवधारणा बदल जाती है। उदाहरणार्थ, चीन के जन्मदाता डॉ. सुनयात सेन की यह मान्यता थी कि चीन का हित सोवियत संघ के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने में है परन्तु उनके उत्तराधिकारी च्यांग काई शेक की मान्यता इसके बिलकुल विपरीत थी। ट्रूमैन और आइजनहावर साम्यवादी चीन के अवरोध की नीति अपनाने में ही अमरीका की सुरक्षा समझते थे जबकि निक्सन और किसिंगर चीन के साथ देतान्त के मधुर सम्बन्धों की स्थापना में अमरीकी हितों की अभिवृद्धि समझने लगे।

विस्तार में राष्ट्रीय हितों में भिन्नता पायी जाती हो किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से सभी देशों के लिए राष्ट्रीय हित के मूलभूत तत्व (Core) एक जैसे हैं। सभी देश सुरक्षा चाहते हैं, राजनीतिक स्वाधीनता और क्षेत्रीय अखण्डता बनाये रखना चाहते हैं। सुरक्षा की चिन्ता पुराने राष्ट्रों को भी उतनी ही है जितनी नये राष्ट्रों को। सुरक्षा के बाद सभी देश अपने आर्थिक हितों का संवर्द्धन चाहते हैं, अपने लिए व्यापारिक सुविधाएँ चाहते हैं। सुरक्षा और आर्थिक समृद्धि राष्ट्रीय हित के हृदय हैं। इनके अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की सफलता भी राष्ट्रीय हित हो सकते हैं। इसी प्रकार 'विश्व क्रान्ति' (World revolution), 'साम्यवाद का अवरोध' (Containment of Communism), 'स्वाधीनता की सीमाओं की रक्षा' (Defence of frontiers of freedom) आदि भी किसी राष्ट्र के हित हो सकते हैं।

राष्ट्र हितों की अभिवृद्धि के साधन
(INSTRUMENTS FOR THE PROMOTION OF NATIONAL INTEREST)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राज्यों के राष्ट्रीय हितों में विरोध और संघर्ष पाया जाता है। भारत और चीन, भारत और पाकिस्तान, भारत और अमरीका के राष्ट्रीय हित कई बार एक-दूसरे के प्रतिकूल देखे गये हैं। इन देशों की विदेश नीति का उद्देश्य अपने विदेशी सम्बन्धों का इस ढंग से संचालन करना है जिससे राष्ट्रीय हित की सिद्धि यथासम्भव अधिक से अधिक अनुकूल रूप में होने की गारण्टी रहे।



राष्ट्रीय हितों की सिद्धि के लिए राज्य अनेक प्रकार के साधन अपनाते हैं। कौटिल्य ने लिखा है, "दुर्बल राजाओं को समझा-बुझाकर तथा यदि आवश्यकता हो तो कुछ देकर अपने अनुकूल बना लेना चाहिए, किन्तु जो राजा सबल हो उसको भेद और दण्ड द्वारा वश में करना चाहिए।"[1]

[1] कौटिल्य, अर्थशास्त्र 4, 16 (7)।

पामर और पर्किन्स के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के साधन निम्नलिखित हैं :[1]

(i) कूटनीति (Diplomacy as an Instrument of National Policy)

(ii) प्रचार और राजनीतिक युद्ध (Propaganda and Political Warfare as an Instrument of National Policy)

(iii) आर्थिक साधन (Economic Instuments of National Policy)

(iv) साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद (Imperialism and Colonialism)

(v) युद्ध (War as an Instrument of National Policy)

राष्ट्रीय हित की अवधारणा : आलोचनात्मक मूल्यांकन
(CONCEPT OF NATIONAL INTEREST : CRITICAL APPRAISAL)

आदर्शवादियों की मान्यता है कि 'राष्ट्रीय हितों' का सम्प्रत्यय एक खतरनाक धारणा है। यदि एक राष्ट्र अपने न्यस्त स्वार्थों या हितों को ही प्राथमिकता देता है तो अन्य राष्ट्रों के हितों की उपेक्षा होती है। आज दुनियां के राज्य एक-दूसरे पर अन्त:-निर्भर हैं और यदि अपने हितों को सर्वोच्चिता प्रदान करते हैं तो विश्वशान्ति; अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग आदि सम्प्रत्यय कोरी कल्पना बनकर ही रह जायेंगे।

प्रो० रेनोल्ड्स राष्ट्रीय हित दृष्टिकोण के कट्टर आलोचक हैं। वे कहते हैं कि किसी देश की विदेशनीति का उस दशा में एकमात्र राष्ट्रीय हित पर आधारित होना सम्भव है जब विभिन्न देशों के हित एक जैसे हों। किन्तु ये हित एक जैसे नहीं है। यदि प्रत्येक देश अपने-अपने हितों को ही सर्वोपरि समझते हुए विदेशनीति का संचालन करे तो इसमें सदैव संघर्ष बना रहना चाहिए। किन्तु वास्तव में ऐसी स्थिति नहीं है। अत: यह (विदेशनीति) केवल राष्ट्रीय हित पर आधारित नहीं है। यह एक भ्रान्ति है, जिसे राजनीतिज्ञ अपने वैयक्तिक स्वार्थों की सिद्धि के लिए उत्पन्न करते हैं। ये नेता जब आन्तरिक असन्तोष, कुशासन तथा आर्थिक कठिनाइयों के कारण जनता को क्षुब्ध तथा रुष्ट देखते हैं तो उन्हें यह आशंका होती है कि जनता इस दुरावस्था के लिए उन्हें उत्तरदायी समझेगी और उनकी विरोधी बन जायेगी, उन्हें वोट नहीं देगी। वे अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिए और जनता को बहकाने के लिए उसका ध्यान विरोधी देशों की ओर मोड़ देते हैं। उदाहरणार्थ; इण्डोनेशिया में जब आर्थिक और सामाजिक समस्याओं से जनता परेशान हुई तो राष्ट्रपति सुकर्ण ने उसका ध्यान बाँटने के लिए मलेशिया से टकराव की नीति को अपनाया राष्ट्रीय हित एवं सम्मान की रक्षा के लिए इस नीति का समर्थन किया।

प्रो० रेनाल्ड्स ने राष्ट्रीय हित के विचार की इसलिए भी आलोचना की है कि इसमें प्राय: व्यक्ति के हितों की उपेक्षा की जाती है और राष्ट्रीय हित की मर्यादाओं और सीमाओं को भुला दिया जाता है। मार्गेन्थाऊ ने राष्ट्रीय हित की मर्यादाओं की विवेचना करते हुए कहा है कि कई बार अधोराष्ट्रीय (Subnational), इतरराष्ट्रीय (Othernational) और अधिराष्ट्रीय (Supranational) हित राष्ट्रीय हितों पर हावी हो जाते हैं और इन पर अनेक प्रतिबन्ध लगाते हैं। **अधोराष्ट्रीय हितों** का अभिप्राय किसी देश के अल्पसंख्यक, आर्थिक और ऐसे जातीय समूह (ethnical groups) हैं जो अपने विशिष्ट वर्ग के हितों को राष्ट्रीय हितों का रूप प्रदान करते हैं। किसी देश में यदि पूँजीपति वर्ग प्रभावशाली है तो वह अपने धन के बल पर अपने वर्ग को विशेष लाभ पहुँचाने वाली नीतियों को राष्ट्रीय नीति का रूप प्रदान कर सकता है। **इतरराष्ट्रीय हितों**

1 Palmer and Perkins, *Internotional Relations* (Third edition), pp. 83-208.
राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के साधनों का अग्रिम पृष्ठों में विस्तार के वर्णन किया गया है।

का अभिप्राय यह है कि कई बार किसी देश का अल्पसंख्यक वर्ग किसी अन्य देश की सरकार से अपने को अभिन्न समझने लगता है और उसके हितों को अपना राष्ट्रीय हित मानने लगता है। वर्साय की सन्धि के बाद यूरोप में जो नये राज्य बनाये गये थे उनमें से कई राज्यों में जर्मन अल्पसंख्यक वर्ग थे। चेकोस्लोवाकिया में इन जर्मन लोगों को स्यूडेटन कहा जाता था। हिटलर का उत्कर्ष होने पर ये जर्मन विचारधारा के समर्थक बने और अपने देश की नीति तथा राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल जर्मन के साथ मिलने पर बल देने लगे। किसी देश के **अधिराष्ट्रीय हितों** का अभिप्राय धार्मिक संस्थाओं और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के हित से होता है। मध्ययुग के यूरोप में चर्च का संगठन बड़ा प्रभावशाली था। संयुक्त राष्ट्र संघ और उसके अनेक अभिकरण राष्ट्रों से ऊँचे हैं। वे उन पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगाते है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि भी राष्ट्रीय हितों को अनेक अंशों में मर्यादित करती है।

राष्ट्रीय हित को अपनी विदेशनीति का आधार बनाते हुए भी प्रत्येक देश को आजकल इस बात पर भी ध्यान देना पड़ता है कि वह दूसरे देशों के हितों को कोई बड़ी हानि पहुँचाने वाला कार्य न करे। आणविक युग में यह और भी अधिक आवश्यक हो गया है, क्योंकि इस समय यदि कोई देश अपने शत्रु को, अपितु अन्य देशों को भी हानि पहुँचा सकता है। अतः अपने-अपने राष्ट्र के हित के साथ दूसरे राष्ट्र के हितों को भी देखना आवश्यक हो जाता है। इस समय प्रत्येक न केवल अपने हितों पर अपितु अन्य राज्यों द्वारा किये जाने वाले कार्यो पर भी कड़ी दृष्टि रखता है। इस कारण प्रत्येक राष्ट्र को अपनी विदेशनीति का निर्धारण करते हुए अनेक नैतिक, कानूनी तथा परम्परागत नियमों का पालन करना पड़ता है। वे राष्ट्रहित पर प्रतिबन्ध का कार्य करते हैं।

प्रश्न

1. 'राष्ट्रीय हित' अवधारणा का विश्लेषण करिए तथा राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों को निर्धारित करने में राष्ट्रीय हित के महत्व का विवेचन करिए।
   Analyse the concept of 'national interest' and discuss its importance in determining relations among nation.

13

विदेश नीति के मौलिक तत्व

[FUNDAMENTAL PRINCIPLES OF FOREIGN POLICY]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सभी राज्य सदैव अपनी शक्ति को दूसरे राज्यों की तुलना में यथापूर्वक बनाये रखने और बढ़ाने का निरन्तर प्रयास करते रहते हैं। इस कारण प्रत्येक राज्य के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह अन्य देशों का सहयोग प्राप्त करे तथा अन्य राज्यों से आवश्यक सहायता पाने के समझौते व कार्यक्रम बनाये और अपने राजदूतों के माध्यम से इनकी पूर्ति का प्रयास करे। ये सब कार्य अपने राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखते हुए किये जाते हैं। राष्ट्रीय हित का अभिप्राय अपने देश की विदेशी आक्रमणों से सुरक्षा, प्रादेशिक अखण्डता, देशवासियों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना, औद्योगिक उन्नति, आर्थिक समृद्धि तथा सर्वांगीण उत्कर्ष है। इन हितों को दृष्टि में रखते हुए अन्य देशों से सम्पर्क स्थापित करने के सभी आर्यकलापों का समावेश **विदेश नीति** में होता है। यह नीति विदेश विभाग द्वारा शासन के उच्चतम अधिकारियों के निर्देशन और नियन्त्रण में निश्चित की जाती है और इस नीति के अनुसार अन्य देशों से सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं। इस प्रकार विदेश नीति अन्य देशों के साथ राष्ट्रीय हित की दृष्टि से किये जाने वाले कार्यकलापों का समुच्चय है।

विदेश नीति : अर्थ एवं परिभाषाएँ

(FOREIGN POLICY : MEANING AND DEFINITIONS)

एक राज्य अन्य राज्यों से किस प्रकार के सम्बन्ध रखकर अपना राष्ट्रीय हित प्राप्त कर सकता है यही विदेश नीति का मुख्य प्रयोजन होता है। दूसरे राज्यों से अपने सम्बन्धों के स्वरूप स्थिर करने के निर्णयों का कार्यान्वयन ही विदेश नीति है। जे. आर. चाइल्ड्स ने इसे 'वैदेशिक सम्बन्धों का सारभूत तत्व (The substance of Foreign Relations) माना है और राजनय (Diplomacy) को विदेश नीति को क्रियान्वित करने की प्रक्रिया कहा है।

प्रो. हिल के अनुसार, "विदेश नीति अन्य देशों के साथ अपने हितों को बढ़ाने के लिए जाने वाले किसी राष्ट्र के प्रयासों का समुच्चय है।

श्लाइचर के शब्दों में, अपने व्यापक अर्थ में विदेश नीति उन उद्देश्यों, योजनाओं तथा क्रियाओं का सामूहिक रूप है जो एक राज्य अपने वाह्य सम्बन्धों को संचालित करने के लिए करता है।

जार्ज मौडेल्स्की ने विदेश नीति की परिभाषा करते हुए लिखा है, विदेश नीति उन क्रियाकलापों का समुच्चय है जो किसी समुदाय ने अन्य राज्यों का व्यवहार बदलने के लिए और अपने क्रियाकलापों को अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के साथ समायोजित करने के लिए विकसित किया था।"[1]

---

1 George Modelski, *A Theory of Foreign Policy* (London, 1962), pp. 6-7.

रोडी तथा क्रिस्टल के अनुसार, विदेश नीति के अन्तर्गत ऐसे सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण और कार्यान्वयन सम्मिलित है जो किसी राज्य के व्यवहार को उस समय प्रभावित करते है जब वह अपने महत्वपूर्ण हितों की रक्षा अथवा संवर्द्धन के लिए दूसरे राज्यों से बातचीत चलाता है।"[1]

फेलिक्स ग्रॉस के शब्दों में, "अपने क्रियात्मक रूप मे विदेश नीति एक सरकार की दूसरी सरकार के प्रति, एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के प्रति अथवा एक सरकार द्वारा एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ के प्रति अपनायी गयी विशिष्ट क्रिया पद्धति (System of action) है।"[2]

अमरीकी राजदूत **हृजगिब्सन** ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "विदेश नीति की राहें" (The Road to Foreign Policy) में लिखा है कि विदेश नीति नियोजन (Planning) है। उनके मत में विदेश नीति जानकारी और अनुभव पर आधारित एक सर्वतोमुखी व्यापक योजना है, जिसके अनुसार एक देश विश्व के अन्य देशों के साथ अपने सम्बन्धों का संचालन करता है। विदेश नीति का उद्देश्य अपने राष्ट्रीय हितों का विकास और संरक्षण करना होता है।

हैण्डरसन के अनुसार, विदेश नीति राष्ट्रीय परम्पराओं से संचालित होती है। समस्याओं का अलग-अलग समाधान विदेश नीति नहीं है। विदेश नीति एक स्थायी नीति होती है जो राष्ट्रीय जीवन मूल्यों तथा सांस्कृतिक परिवेश से निर्मित होती है।

ब्रुकिंग शोध संस्थान के मत मे विदेश नीति एक देश द्वारा दूसरे देश के साथ अपने सम्बन्धों में पालन की जाने वाली एक संश्लिस्ट (Complex) और गतिशील राजनीतिक विधा (Course) है। राष्ट्र की विदेश नीति उसकी विदेश नीतियों के समस्त योग से अधिक होती है क्योंकि विदेश नीति मे उस राष्ट्र की वचनवद्धता, हितों और लक्ष्यों का वर्तमान स्वरूप तथा उसके द्वारा घोषित उचित आचरण के (आदर्श) सिद्धान्त भी निहित होते है।"[3]

इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि विदेश नीति राज्यों की गतिविधियों का एक व्यवस्थित रूप है जिनका विकास दीर्घकालीन अनुभव के आधार पर राज्य द्वारा दिया जाता है और जिसका उद्देश्य दूसरे राज्यों के व्यवहार अथवा आचरण को अपने हितों के अनुरूप परिवर्तित करना है और यदि यह सम्भव न हो तो अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का आकलन करते हुए स्वयं अपने व्यवहार में ऐसा परिवर्तन लाना है, जिससे अन्य राज्यों के व्यवहार अथवा क्रियाकलापों के साथ तालमेल वैठ सके।

गृह नीति और विदेश नीति
(DOMESTIC POLICY AND FOREIGN POLICY)

गृह नीति और विदेश नीति राष्ट्रीय नीति के ही पक्ष हैं जिनमें एक ही सिक्के के दो पहलुओं जैसा सम्बन्ध है।

विदेश नीति को गृह नीति की अपेक्षा किंचित विशिष्ट इसलिए माना जा सकता है कि इसकी सफलता-विफलता अथवा पक्षता एवं बुद्धिमत्ता के साथ निर्धारण संचालन पर देश की प्रतिष्ठा, गौरव, सुख-सम्पदा तथा अस्तित्व तक निर्भर करता है। विस्मार्क ने अपने कुशल विदेश नीति संचालन के वल पर जर्मन एकीकरण का युगों का सपना साकार कर दिया तथा उसे उत्कर्ष एवं प्रतिष्ठा के शीर्ष विन्दु पर पहुँचा दिया। परन्तु कैसर विलियम द्वितीय तथा उसके सलाहकारों की गलत नीतियों ने देश को अनावश्यक तथा अवांछित युद्ध में झोंक दिया एवं उसकी पराजय की भी राह प्रशस्त कर दी। विदेश नीति का सुरक्षा वजट से सीधा सम्बन्ध रहता है और वजट

---

1 C. C. Rodee, *Introduction to Political Science* (New York, 1967), p. 571.
2 Feliks Gross, *Foreign Policy Analysis* (New York, 1954), pp. 47-48.
3 Brookings Institute, *Major Problems of the United States Foreign Policy* (Washington,), p. 375.

सामान्य नागरिक के जीवन-स्तर को प्रभावित करता है। गृह नीति के निर्धारकों एवं संचालकों को सुरक्षा वजट के बाद अवशिष्ट वजट पर हीं निर्भर रहना पड़ता है। सुरक्षा प्रयत्नों का देश की औद्योगिक नीति एवं खाद्य आपूर्ति नीति, आदि पर सीधा प्रभाव पड़ता है। नात्सी शासन काल में जर्मनी की "मक्खन के वदले वन्दूक नीति की याद अभी ताजा है। भारत में भी 1962 के वाद से सुरक्षा चेतना इतनी प्रमुख हुई है जिससे केन्द्रीय सरकार की अनेक घरेलू नीतियां प्रभावित होती रही हैं।

विदेश नीति एवं गृह नीति वस्तुतः एक-दूसरे का पूरक-अनुपूरक होती हैं। उनके एक-दूसरे के निरपेक्ष होने अथवा पृथक रखे जाने की कल्पना नहीं की जा सकती। दोनों ही राष्ट्रीय नीति का अभिन्न अंग होती हैं। ब्रीसेन ब्रुक ने गृह नीति और विदेश नीति में घनिष्ठ सम्वन्धों पर टिप्पणी करते हुए ठीक ही कहा है कि "विदेश नीति देश की आन्तरिक नीतियों का विश्व रंगमंच पर विक्षेप है। किसी देश की विदेश नीति के उद्देश्यों पर उसके आन्तरिक (कम से कम उसके शासक वर्ग के) उद्देश्य हावी होते हैं।"[1]

विदेश नीति और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति (Foreign Policy and International Politics)

विदेश नीति और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अनेक बार समानार्थक शब्दों के रूप में प्रयोग किया जाता है। मसलन फैलिक्स ग्रास का मत है कि "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन वास्तव में विदेश नीतियों के अध्ययन के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं।"[2] लेकिन वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। विदेश नीति और अन्तरांष्ट्रीय राजनीति को एक-दूसरे का पर्याय कदापि नहीं माना जा सकता। विदेश नीति का राष्ट्र के सन्दर्भ में प्रयोग किया जाता है, जवकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक प्रमुख विवादास्पद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक मसला है और भारतीय विदेश नीति की राय में नयी विश्व अर्थव्यवस्था समानता और न्याय पर आधारित हो। यहाँ नयी विश्व अर्थव्यवस्था का विश्वव्यापी परिप्रेक्ष्य में प्रयोग हुआ है जवकि इस मसले के प्रति भारत की विदेश नीति राष्ट्र के सन्दर्भ में है। लेकिन यह नहीं समझना चाहिए कि दोनों इतने अलग हैं कि उनमें कोई सम्वन्ध नहीं है। वास्तव में, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विदेश नीति से जुड़ी हुई है। विदेश नीति का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का एक महत्वपूर्ण पक्ष है, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र विदेश नीति से व्यापक है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से विभिन्न राष्ट्र अपने-अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा करते हैं। यह प्रक्रिया राष्ट्रों की विदेश नीति के माध्यम से ही काम करती है जिस कारण विदेश नीति के अध्ययन से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन की माँग एक हद तक पूरी होती है। लेकिन विषय क्षेत्र की दृष्टि के विदेश नीति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अधीन है। इसी कारण हैरल्ड स्प्राउट और मारगेरट स्प्राउट ने विदेश नीति को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की उपश्रेणी माना है।[3] इस प्रकार विदेश नीति और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति भिन्न होते हुए भी दोनों एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं।

विदेश नीति और राष्ट्रीय हित (Foreign Policy and National Interest)

विदेशी मामलों में किसी देश द्वारा अपनायी गयी नीति को विदेश नीति कहते हैं। यह विदेश नीति राष्ट्रहितों पर आधारित होती है अर्थात् विदेश नीति और राष्ट्रहित में घनिष्ठ

---

1 Brosen Brooke, *The Soviet Union and Western Nationalism* (California, 1959), pp. 43-44.
2 Feliks Gross, *Foreign Policy Analysis* (New York, 1954), p. 2.
3 Harold Sprout and Margaret Sprout, *Man-Milien Relationship in the Context of International Poilitics* (Princeton, 1961), p. 6.

सम्बन्ध होता है, हरेक देश की विदेश नीति का उद्देश्य राष्ट्रहितों को प्राप्त करना होता है। राष्ट्रीय हितों के आधार पर विदेश नीति में अल्पकालीन हितों का और उनकी ही तरह दीर्घ-कालीन हितों की प्रवृत्ति निश्चित की जाती है, हरेक राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हित तय करता है और विदेश नीति का लक्ष्य उनको प्राप्त करना होता है। विदेश नीति का अस्तित्व शून्यता में नहीं होता। वह राष्ट्रीय हितों के सन्दर्भ में ही क्रियाशील रहती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि विदेश नीति और राष्ट्रीय हित में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, लेकिन इस घनिष्ठ सम्बन्ध के वावजूद यह नहीं मान लेना चाहिए कि दोनों एक ही है, दोनों का भिन्न अर्थ होते हुए भी वे एक-दूसरे से जुड़े हुए है।

"राष्ट्र हित विदेश नीति का आधारभूत सिद्धान्त है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विदेश नीति वह विधि है जिसके माध्यम से एक राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों को प्राप्त करने का प्रयास करता है। नारमेन हिल के शब्दों में, "राष्ट्रीय हित विदेश नीति निर्माण में प्रारम्भिक विन्दु होता है।" राष्ट्रीय हित के आधार पर विदेश नीति के लक्ष्यों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है :

(i) **प्राथमिक लक्ष्य** —प्राथमिक लक्ष्यों में राष्ट्र के उन हितों को सम्मिलित किया जाता है जो राज्य की आधारभूत मान्यताएँ हैं। ये आधारभूत मान्यताएँ इभ प्रकार है—**(क) राष्ट्रीय सुरक्षा**—अपनी प्रादेशिक अखण्डता को बनाये रखना प्रत्येक देश की विदेश नीति का मुख्य लक्ष्य होता है। इस लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ सन्धियाँ, समझौते एवं सैन्य गठवन्धन करता है। **(ख) आर्थिक हित**—आर्थिक हित विदेश नीति का ठोस आधार है। एक राज्य विदेश नीति में स्थिरता, परिवर्तन एवं संघर्ष के तत्व आर्थिक आधार पर सम्मिलित करता है। यूरोपीय राज्यों का अमरीकी समर्थक नीति का मुख्य कारण अमरीकी सहायता है जिसके विना यूरोपीय राज्य समृद्धि की ओर उन्मुख नहीं हो सकते। इसी प्रकार ब्रिटेन द्वारा यूरोप समर्थक नीति का कारण यूरोपीय साझा वाजार के माध्यम से आर्थिक विकास करना ही माना जा सकता है। **(ग) राष्ट्रीय शक्ति का संचय**—एक राष्ट्र के राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति तभी सम्भव है जव पर्याप्त मात्रा में राष्ट्रीय शक्ति भी उनके समर्थन के लिए हो। इसलिए विदेश नीति के माध्यम से एक राष्ट्र का उद्देश्य अधिक से अधिक आधुनिक हथियारों को एकत्रित करना होता है। भारत की विदेश नीति में सोवियत रूस का ओर झुकाव का मुख्य कारण यह है कि अमरीका ने भारत को इच्छित हथियारो के देने पर प्रतिवन्ध लगा दिया, जवकि सोवियत रूस ने भारत को मिग विमान प्रदान किये।

(ii) **मध्यवर्ती लक्ष्य**—मध्यवर्ती लक्ष्यों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, प्रतिष्ठा एवं अपने नागरिकों के हितों की रक्षा करना सम्मिलित होता है। जैसे—**(क) दवाव गुट व हित समुदाय**—प्रत्येक राज्य में कुछ ऐसे शक्तिशाली हित समुदाय होते है जिनके हित अन्तर्राष्ट्रीय होते है। ये समुदाय अपने हितों की प्राप्ति के लिए सरकार पर विभिन्न प्रकार का दवाव डालते हैं। सरकार को इनके दवाव को ध्यान में रखते हुए विदेश नीति में इनके लक्ष्यों को ध्यान में रखना पड़ता है। अमरीका की विदेश नीति यहूदी दवाव गुट के कारण ही इजराइल समर्थक है जवकि भारतीय मुसलमानों के कारण भारतवर्ष की विदेश नीति अरव समर्थक है। **(ख) गैर-राजनीतिक सहयोग**—विदेश नीति का लक्ष्य तकनीकी, वैज्ञानिक या अन्य गैर-राजनीतिक सहयोग को प्राप्त करना भी होता है। **(ग) राष्ट्रीय प्रतिष्ठा में वृद्धि**—विदेश नीति में ऐसे कार्यक्रम भी सम्मिलित किये जाते हैं जो राष्ट्र की प्रतिष्ठा की वृद्धि में सहायक होते है। भारतवर्ष की अणु शक्ति का विकास इसी श्रेणी में सम्मिलित किया जा सकता है।

(iii) **दीर्घकालीन लक्ष्य**—इन लक्ष्यों में कुछ दीर्घकालीन योजनाएँ, कल्पनाएँ व स्वप्न

सम्मिलित किये जाते हैं जिनके माध्यम से एक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में मनोवांछित परिवर्तन करने की इच्छा करता है। सोवियत रूस की विदेश नीति में सम्पूर्ण विश्व में साम्यवादी क्रान्ति लाना, या अमरीका की विदेश नीति में साम्यवाद को रोकना व समाप्त करना इसी प्रकार के लक्ष्य माने जा सकते हैं।

विदेश नीति और राजनय (Foreign Policy and Diplomacy)

अनेक वार 'विदेश नीति' और 'राजनय' (कूटनीति) शब्दों का प्रयोग लापरवाही एवं पर्याप्त समझ के अभाव में समानार्थक रूप से किया जाता है, लेकिन वास्तव में विदेश नीति और राजनय एक न होकर दो भिन्न अर्थों वाले शब्द हैं। विदेश नीति के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए राजनय का एक महत्वपूर्ण उपकरण या साधन के रूप में उपयोग किया जाता है, मसलन भारत द्वारा चीन से सम्बन्ध सुधारने के उद्देश्य के लिए दोनों देशों द्वारा एक-दूसरे की राजधानियों में राजदूतावास खोलकर राजनयिक सम्बन्ध स्थापित किये गये। यहाँ भारत-चीन सम्बन्ध सुधारना विदेश नीति का लक्ष्य है और राजदूतावास खोलकर राजनयिक सम्बन्ध बताना राजनय का एक उपकरण के रूप में उपयोग करना है, अर्थात् राजनय विदेश नीति का अंग है जिस कारण विदेश नीति का क्षेत्र राजनय से अत्यधिक व्यापक है। राजनय का विदेश नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए एक उपकरण के रूप में प्रयुक्त करने की ओर संकेत करते हुए **क्विंसी राइट** ने लिखा है: "वार्ता की कला, ताकि जिस निकाय में युद्ध की सम्भावना हो, उसमें कम से कम लागत से अधिक समूह उद्देश्य सिद्ध हो सके।"[1] इस प्रकार राजनय का विदेश नीति के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उपयोग किया जाता है।

विदेश नीति : अध्ययन के दृष्टिकोण
(APPROACHES TO FOREIGN POLICIES)

किसी भी देश की विदेश नीति का किस दृष्टिकोण से मूल्यांकन किया जाये, यह प्रश्न सदैव विवादास्पद रहा है। इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में विदेश नीति के विभिन्न विद्वानों-विशेषज्ञों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं। इन सभी दृष्टिकोणों के वारे में यहाँ जानकारी प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। इस कारण जो मुख्य-मुख्य दृष्टिकोण हैं उनके वारे में चर्चा करना समीचीन होगा। विदेश नीति के बारे में प्रमुख रूप से चार दृष्टिकोण निम्नांकित हैं: सैद्धान्तिक दृष्टिकोण, (व) विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण, (स) मार्क्सवादी दृष्टिकोण, और (द) ऐतिहासिक या वर्णनात्मक दृष्टिकोण। इनके वारे में विस्तृत विश्लेषण निम्नांकित है:

(1) **सैद्धान्तिक दृष्टिकोण**—सैद्धान्तिक दृष्टिकोण के समर्थकों की मान्यता है कि राज्यों तथा उनके मुकावले शेष विश्व की नीतियाँ मात्र प्रचलित राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक विश्वासों की अभिव्यक्तियाँ हैं। इस दृष्टिकोण को अपनाने वाले विद्वान विदेश नीतियों को प्रजातान्त्रिक या सर्वाधिकारवादी, उदारवादी या समाजवादी, शान्तिप्रिय या आक्रामक इत्यादि रूपों में वर्गीकृत करते हैं। यह दृष्टिकोण वैदेशिक सम्बन्धों, व्यवहारों या आचरण को मुख्यतः मनोवैज्ञानिक रूप में स्वीकार करता है। नेताओं या सरकारों के सिद्धान्तों और उद्देश्यों की नीति के एक पूर्ण निर्धारक तत्व के रूप में नहीं तो भी आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकार करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक लोकतान्त्रिक शासन एक विशिष्ट प्रकार की विदेश नीति का अनुसरण करता है, तो एक निरंकुश तन्त्र भिन्न प्रकार की नीति को अपनाता है। इसी प्रकार एक साम्यवादी सरकार एक विशिष्ट प्रकार की नीति अपनाती है तो प्रजातान्त्रिक समाजवादी सरकार भिन्न प्रकार की नीति का

---
1 Quincy Wright, *The Study of International Relations* (New York, 1955), p. 158.

अनुसरण करती है। इसका तात्पर्य यह है कि इस सैद्धान्तिक या वैचारिक दृष्टिकोण में विदेश नीति एक सक्रिय राजनीतिक नेताओं की आस्थाओं और रुचियों के अनुसार निर्धारित होती है।

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण का घटता प्रभाव

विदेश नीति के इस सैद्धान्तिक दृष्टिकोण का प्रभाव दिनोंदिन क्षीण होता जा रहा है। इस सिद्धान्त के आलोचकों का तर्क है कि आधुनिक विश्व के देशों की सरकारें चाहे वे निरंकुश हों या लोकतान्त्रिक पूँजीवादी हों या समाजवादी—सभी सैद्धान्तिक तौर पर लोकतन्त्र और शोषण के विरोध की बातें करती हैं किन्तु व्यवहार में उनमें से कुछ सरकारें कम हद तक अधिनायकवादी एवं शोषक होती हैं, तो कुछ ज्यादा मात्रा में अर्थात् सिद्धान्त का लिबास ओढ़कर शेष विश्व को आदर्शवाद का उपदेश देती हैं, अन्यथा व्यवहार में ठोस एवं महत्वपूर्ण राष्ट्रीय हितों की येन-केन-प्रकारेण पूर्ति करती हैं। राष्ट्रीय हितों की पूर्ति करते समय सरकारें यह नहीं देखतीं कि उनका सैद्धान्तिक रूप से घोषित उद्देश्य क्या है और किन गलत साधनों के जरिये अपनी आस्थाओं का अतिक्रमण करके वह विदेश नीतियाँ क्रियान्वित कर रही हैं। अमरीकी विदेश नीति का ही उदाहरण लें। अमरीका एक लोकतान्त्रिक देश है और दुनियाँ के लोकतान्त्रिक देशों को यथासम्भव सहायता देना उसका घोषित उद्देश्य है, लेकिन व्यवहार में वह लोकतन्त्रीय भारत के विरुद्ध अधिनायकवादी पाकिस्तान की मदद करता आया है। इस प्रकार विदेश नीति के सैद्धान्तिक दृष्टिकोण की प्रासंगिकता धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है।

(2) **विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण**—पिछले कुछ वर्षों से अनेक विद्वानों ने विदेश नीति के सैद्धान्तिक दृष्टिकोण के औचित्य पर प्रश्न-चिह्न लगा दिया है, तब से विदेश नीति के कई विशेषज्ञों ने विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण अपनाया है। इस सिद्धान्त के समर्थकों की मान्यता है कि विश्व सरकारें विदेश नीति के निर्धारण और क्रियान्वयन में राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि मानती हैं एवं अपने सामाजिक व राजनीतिक दर्शन, धार्मिक दृष्टिकोण तथा सैद्धान्तिक विचारों को गौण, इसीलिए तो कहा गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में किसी भी देश का न तो कोई स्थायी शत्रु होता है और न स्थायी मित्र, स्थायी सिर्फ राष्ट्रीय हित होते हैं। अर्थात् कोई भी देश राष्ट्रहितों की हर कीमत पर रक्षा करता है, भले ही उसे अपने घोषित सिद्धान्तों का अतिक्रमण ही क्यों न करना पड़े। स्वयं अपने देश का ही उदाहरण लें। भारतीय विदेश नीति का एक प्रमुख उद्देश्य विश्वशान्ति एवं सुरक्षा रहा है। वह शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की वकालत करता है। उसकी मान्यता है कि राष्ट्र के बीच विचारों का हल युद्ध के जरिये न होकर शान्तिपूर्ण वार्ता के द्वारा हो, लेकिन जब 1962 में साम्यवादी चीन ने भारत पर बर्बर सैनिक आक्रमण कर दिया तो भारत ने उस युद्ध का जवाब भी युद्ध से ही दिया। यदि शान्ति के सिद्धान्त को लेकर चुपचाप बैठ जाता तो उसके स्थूल राष्ट्रीय हितों को गम्भीर आघात पहुँचता, अतः जहाँ स्थूल राष्ट्रीय हितों की रक्षा का सवाल हो, कोई भी देश वैचारिक आदर्श को गौण मानता है और राष्ट्रीय हितों को सर्वोपरि। इस प्रकार विदेश नीति का विश्लेषणात्म दृष्टिकोण सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से अधिक प्रासंगिक माना जाता है, लेकिन इस व्याख्या के साथ-साथ यह भी स्पष्ट कर देना समीचीन होगा कि यह जरूरी नहीं कि हर समय राष्ट्रीय हितों और सिद्धान्तों में टकराव हो, अनेक बार विश्व सरकारें घोषित सिद्धान्तों पर आधारित विदेश नीति का निर्धारण एवं क्रियान्वयन करती हैं।

(3) **मार्क्सवादी दृष्टिकोण** - विदेश नीति के प्रति मार्क्सवादी दृष्टिकोण अत्यन्त निराला है। मार्क्सवाद के जनक कार्ल मार्क्स ने किसी भी नीति के मूल्यांकन के लिए मार्क्सवादी दृष्टिकोण दिया है। यदि विदेश नीति के क्षेत्र में इस दृष्टिकोण को अपनाया जाये तो इसे मार्क्सवादी दृष्टिकोण की संज्ञा दी जायेगी। मार्क्सवाद की विदेश नीति के सम्बन्ध में अनेक धारणाएँ हैं। मसलन एक साम्यवादी दूसरे साम्यवादी देश की मदद करता है। पूँजीवादी देश गरीब देशों का

आर्थिक शोषण करते हैं। पूँजीवादी देशों की विदेश नीति साम्राज्यवादी नीतियाँ अपनाती है। इसी प्रकार की अन्य कई धारणाएँ हैं जिनके आधार पर किसी भी देश की विदेश नीति का मार्क्सवादी दृष्टिकोण के आधार पर मूल्यांकन किया जाता है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अन्तर्विरोध

मार्क्स ने जो दृष्टिकोण दिया, उसे आगे के मार्सवादी चिन्तकों ने जहाँ एक ओर उसका विस्तार से विश्लेषण किया वहीं दूसरी ओर उस मार्क्सवारी दृष्टिकोण में आंशिक परिवर्तन भी किये। साम्यवादी सोवियत संघ और चीन में सैद्धान्तिक मतभेद होने के कारण, मार्क्सवादी दृष्टिकोण का प्रभाव और भी घटता जा रहा है। सोवियत संघ के राष्ट्रपति ब्रेझनेव "एशियन सेक्यूरिटी प्लान" का विचार प्रस्तुत करते हैं, तो साम्यवादी चीन उसे मार्क्सवादी सिद्धान्तों के खिलाफ बताता है। इसी प्रकार जब माओ ने अपनी 'थ्री वर्ल्ड थीसिस' में सोवियत संघ को प्रथम विश्व में रखकर उसको शोषक और अधीनस्थतावादी बताया तो सोवियत संघ ने माओ की इसके लिए आलोचना की। मार्क्सवादी दृष्टिकोण में मतभिन्नता आने से अब इस दृष्टिकोण का महत्व दिनों-दिन घटता जा रहा है।

(4) **ऐतिहासिक या वर्णनात्मक दृष्टिकोण**—परम्परागत रीति से विदेश नीति के अध्ययन का यह भी एक दृष्टिकोण है। इस दृष्टिकोण वाले चिन्तकों की मान्यता है कि हमें कूटनीति का अध्ययन यथासम्भव अधिक से अधिक परिशुद्धता से करना चाहिए। वर्णनात्मक दृष्टिकोण को अपनाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में रुचि नहीं रखते। वे सामयिक घटनाओं पर विचार करने से कतराते हैं। असल में यह दृष्टिकोण अत्यन्त पुराना है और एकांगी भी। इस दृष्टिकोण की मुख्य कमजोरी यह है कि यह राजनीतिक शक्ति और विदेश नीति के आपसी सम्बन्धों का महत्व कम करके आँकता है। इन्हीं कारणों से इस दृष्टिकोण का महत्व एकदम कम हो गया है।

विदेश नीति के विभिन्न दृष्टिकोणों का मूल्यांकन

विदेश नीति के उपरोक्त चारों दृष्टिकोणों—सैद्धान्तिक, विश्लेषणात्मक, मार्क्सवादी और वर्णनात्मक—के विवेचन के बाद यह कहना उचित होगा कि इनमें से कोई भी दृष्टिकोण अपने आप में पूर्ण नहीं है। हरेक दृष्टिकोण के कुछ गुण हैं तो कुछ अवगुण हैं। विदेश नीति आधुनिक युग में इतनी अधिक जटिल है कि उसको इन दृष्टिकोणों के बनावटी सैद्धान्तिक साँचों में नहीं ढाला जा सकता।

विदेश नीति के निर्धारक तत्व
(DETERMINANTS OF FOREIGN POLICY)

कोई भी देश अपनी विदेश नीति अपने राष्ट्रीय हितों के आधार पर बनाता है। विदेश नीति का लक्ष्य ही राष्ट्र-हितों की पूर्ति करना है। राष्ट्रीय हित अनेक प्रकार के हो सकते हैं। राष्ट्रीय हितों के निर्धारण में विदेश नीति निर्माता अनेक बातों को ध्यान में रखते हैं। विदेश नीति निर्धारण में जिन प्रमुख बातों को ध्यान में रखा जाता है वे हैं—जनसंख्या, भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक सम्पदा, औद्योगिक स्रोत, सैनिक शक्ति, भाषा, धर्म, नस्ल और संस्कृति, विचारधारा, नीतिनिर्माता, विश्व जनमत, विश्व संगठन, सम्बद्ध राज्यों की प्रतिक्रिया आदि। इन बातों को विदेश नीति के तत्व की संज्ञा दी गयी है, क्योंकि ये विदेश नीति-निर्धारण में आधारभूत- निर्देशक तत्वों की भूमिका अदा करते हैं। विदेश नीति निर्धारण के समय इन तत्वों को वस्तुनिष्ठ तरीके से मूल्यांकित किया जाता है, ताकि एक-यथार्थवादी (प्रेग्मैटिक) विदेश नीति का निर्माण और निर्धारण किया जा सके। इन तत्वों के वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन के बाद बनी विदेश नीति सफल होती है, अर्थात् किसी भी देश की विदेश नीति

की सफलता उसके निर्धारक तत्वों के वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन पर निर्भर है। यहाँ यह जरूर उल्लेख कर देना होगा कि समय, काल और परिस्थितियों के बदलते परिप्रेक्ष्य में इन तत्वों में एक-दूसरे की महत्ता घटती-बढ़ती रहती है। साथ ही हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि इनमें से कोई तत्व स्वतन्त्र रूप से कार्य करता है। असल में ये सभी तत्व एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, जिस कारण विदेश नीति-निर्माता इसके सम्मिलित प्रभाव को ही ध्यान में रखकर विदेश नीति निर्धारण करते हैं। विदेश नीति के इन निर्धारक तत्वों के बारे में विस्तृत विश्लेषण निम्नांकित है :

(1) **जनसंख्या**—जनसंख्या विदेश नीति के क्षेत्र में एक प्रमुख तत्व है। विदेश नीति निर्धारण में जनसंख्या के तथ्य को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। डेविड वाइटल के अनुसार, "किसी देश के क्षेत्रफल और उसकी जनसंख्या के आधार पर यह निश्चित किया जा सकता है कि वह देश महाशक्ति है या छोटा राष्ट्र।"[1] जनसंख्या के महत्व का मूल्यांकन दो दृष्टिकोणों से किया जाता है—जनसंख्या और गुणात्मक पहलू। चीन और भारत जनसंख्या की दृष्टि से सबसे बड़े देश हैं जिस कारण वे विशाल स्थल सेना रखने में समर्थ हैं। वे विशाल मानव-स्रोत को गुणात्मक दृष्टि से भी मजबूत कर सकते हैं। जनसंख्या का गुणात्मक पहलू भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जनसंख्या की संख्यात्मक दृष्टि से अमरीका और जापान हालांकि चीन और भारत से छोटे हैं किन्तु जनसंख्या की गुणात्मक दृष्टि से काफी बड़े है। गुणात्मक दृष्टि से सम्पन्न जनसंख्या वाले जापान, अमरीका, जर्मनी और ब्रिटेन विश्व में महत्वपूर्ण स्थिति बनाये हुए हैं। साथ ही यह उल्लेख करना भी समीचीन होगा कि जहाँ संख्यात्मक दृष्टि से बड़ी जनसंख्या वाला देश यदि अपने देशवासियों को गुणात्मक स्तर से समुन्नत कर दे तो वह विश्व में एक बड़ी शक्ति का स्थान ले लेगा। इस प्रकार विदेश नीति में जनसंख्या (संख्यात्मक और गुणात्मक दोनों दृष्टिकोण से) एक महत्वपूर्ण तत्व है।

(2) **भौगोलिक स्थिति**—किसी भी देश की भौगोलिक स्थिति विदेश नीति निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। यह स्थायी तत्व है जिसमें अधिकांशतया परिवर्तन नहीं होता। भारत की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि उसे स्थल सेना, नौसेना तथा वायुसेना तीनों का अपार व्यय सहन करना पड़ रहा है। नेपाल की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि उसे नौ सेना रखने की जरूरत ही नहीं है क्योंकि उसकी कोई भी सीमा समुद्र से लगी हुई नहीं है। इस प्रकार किसी देश की भौगोलिक स्थिति से उत्पन्न समस्याओं का कभी-कभी सामना करना पड़ता है तो कभी-कभी अन्य देश को उससे उत्पन्न फायदे भी अर्जित होते हैं। अतः भौगोलिक स्थिति विदेश नीति में एक प्रमुख स्थायी निर्धारक तत्व है, जिसकी विश्व का कोई भी राष्ट्र उपेक्षा नहीं कर सकता।

(3) **प्राकृतिक सम्पदा**—प्राकृतिक सम्पदा भी भौगोलिक स्थिति की तरह कमोवेश एक निश्चित और स्थायी तत्व है, लेकिन ऐसा नहीं है कि इसमें परिवर्तन हो ही नहीं। प्राकृतिक सम्पदा दोहन के बाद समाप्त हो सकती है। जैसा कि आजकल यह कहा जा रहा है कि चालीस-पचास वर्षों में विश्व की तेल सम्पदा समाप्त हो जायेगी जिस कारण तेल का कोई नया विकल्प ढूंढ़ा जाना चाहिए। प्राकृतिक सम्पदा की बहुलता के कारण ही आज अमरीका अत्यधिक समृद्ध राष्ट्र है। वह इतना अधिक सम्पन्न है कि विश्व के गरीब राष्ट्रों को विदेशी मदद देकर उनको अपने खेमे की ओर आकर्षित करता है अर्थात् प्राकृतिक साधनों के बल पर ही अमरीका छोटे देशों की विदेश नीतियों को अपने पक्ष में प्रभावित करता है। दूसरा दिलचस्प उदाहरण अरब देशों का है जो 'तेल' जैसी महत्वपूर्ण वस्तु के बल पर बड़ी शक्तियों की अर्थव्यवस्था तक को व्यापक रूप में प्रभावित कर रहे हैं। इसकी प्रतिक्रिया में अमरीका, सोवियत संघ और समस्त बड़ी शक्तियाँ इन

[1] David Vital, *The Inequality of States* (New York, 1967), p. 8.

अरव देशों से अच्छे सम्बन्ध कायम करने की कोशिश करती है। इस प्रकार विदेश नीति निर्धारण में प्राकृतिक सम्पदा के तत्व की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका है।

(4) **औद्योगिक स्रोत और क्षमता**—विदेश नीति निर्धारण में औद्योगिक स्रोत और क्षमता एक प्रभावशाली तत्व है। विज्ञान और टेक्नोलोजी के इस आधुनिक युग में औद्योगिकीकरण के चरण तेजी से बढ़ते जा रहे हैं। औद्योगिक रूप से समृद्ध देशों में अमरीका और जापान के नाम वरवस ही लिये जाते हैं। अमरीका आज सारी विश्व राजनीति को प्रभावित करता है। इसका कारण ही उसकी औद्योगिक क्षमता है। एक समय अमरीका को शत्रु समझने वाला देश चीन अव अमरीका से अपने औद्योगिक विकास के लिए मदद ले रहा है। अमरीका और जापान के अनेक देशों में उद्योग-धन्धे हैं जिनसे वे अरवों डालर प्रतिवर्ष कमाने के साथ-साथ उन देशों के आन्तरिक घटना-क्रम को भी अपने पक्ष में वनाते हैं। भारत भी औद्योगिक दृष्टि से विकसित होने के कारण विकासशील देशों को औद्योगिक मदद दे रहा है। औद्योगिक रूप से विकसित देश अन्य देशों को औद्योगिक मदद देकर उनकी विदेश नीतियों को प्रभावित करते हैं।

(5) **सैनिक शक्ति**—आधुनिक युग में विश्व राष्ट्रों के वीच शस्त्रों की होड़ दिनों-दिन वढ़ रही है। शस्त्रीकरण की इस प्रवृत्ति का मूल कारण राष्ट्रीय सुरक्षा और दुनियाँ में शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभरने की महत्वाकांक्षा है। वर्तमान में अमरीका और सोवियत संघ दोनों शक्तिशाली राष्ट्र माने जाते हैं। इसका सवसे प्रमुख कारण दोनों की अपार सैनिक शक्ति है। विश्व के अन्य राष्ट्र इन दोनों महाशक्तियों का उनकी सैनिक शक्ति के कारण सम्मान करते हैं। अन्य राष्ट्र इनसे हथियार खरीदते हैं। एक समय था जब अमरीका द्वितीय विश्वयुद्ध के वाद के प्रारम्भिक वर्षों में सैनिक दृष्टि से सवसे ज्यादा शक्तिशाली राष्ट्र था और इसी कारण विश्व के अन्य राष्ट्र उसके खेमे के अन्दर चले गये किन्तु जव कुछ वर्षों वाद सैनिक क्षेत्र में सोवियत संघ ने अमरीका के समकक्ष क्षमता प्राप्त कर ली तो अनेक देश सोवियत छाता का सहारा लेने दौड़ पड़े। आइनिस क्लॉड ने भी शक्ति के अपने विश्लेषण का मुख्य विषय सैनिक पहलू को ही माना है।[1] इससे स्पष्ट है कि विदेश नीति निर्माण में सैनिक शक्ति का अत्यन्त महत्व है।

(6) **भाषा, धर्म, नस्ल और संस्कृति**—विदेश नीति के क्षेत्र में भाषा, धर्म, नस्ल और संस्कृति की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका होती है। भाषा और नस्ल के कारण ही सीमान्त प्रदेश के पठानों के मसले को लेकर अफगानिस्तान और पाकिस्तान के सम्वन्ध खराव रहे हैं। रंगभेद की नीति के कारण दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार को विश्व के राष्ट्रों ने अलग-थलग डाल दिया है। अरव-इजराइल युद्ध के पीछे धर्म एक प्रमुख कारण रहा है। विदेश नीति में भाषा के महत्व का आज के युग में अंग्रेजी की लोकप्रियता से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। जिन देशों में भाषा, धर्म, नस्ल और संस्कृति में साम्यता हो उनमें सहयोग करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। धर्म के नाम पर मुस्लिम देश एक हो रहे हैं। इसी प्रकार ईसाई धर्म के नाम पर अनेक पश्चिमी देशों में एकता पायी जाती है, अतः स्पष्ट है कि विदेश नीति के क्षेत्र में भाषा, धर्म, नस्ल और सांस्कृतिक परम्पराएँ महत्वपूर्ण तत्व हैं।

(7) **विचारधारा**—किसी भी देश का समाज किसी राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक व्यवस्था पर आधारित होता है। यह व्यवस्था उस देश की विचारधारा से प्रभावित होती है, उस देश की वनने वाली विदेश नीति में भी इसी विचारधारा की एक प्रमुख भूमिका होती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के वाद यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक पटल पर दृष्टिपात करें तो पाते हैं कि विचारधारा के आधार पर विश्व अमरीका और सोवियत संघ के अलग-अलग नेतृत्व में विभाजित

---

1 Innis L. Claude, Jr., *Power and International Relations* (New York, 1962), p. 6.

हो गया। अमरीका ने पूंजीवादी विचारधारा का नेतृत्व किया तो सोवियत संघ ने साम्यवादी विचारधारा का। दोनों ने विश्व के अन्य देशों में अपनी-अपनी विचारधारा को फैलाने की नीति अपनायी। अमरीका ने सोवियत साम्यवाद के प्रसार को रोकने के प्रयास किये तो सोवियत संघ ने अमरीकी पूंजीवाद के। इसी प्रकार अन्य देश भी विदेश नीति निर्धारण में अपनी विचारधारा के सिद्धान्तों को अपनाते हैं। भारत अशोक और बुद्ध के जमाने से शान्तिप्रिय राष्ट्र रहा है। भारत द्वारा विदेश नीति के निर्धारण में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का सिद्धान्त उसकी विचारधारा की अमिट छाप को स्पष्ट करता है। वैसे अनेक विद्वानों ने यह कहा है कि विदेश नीति में विचारधारा की भूमिका क्षीण हो गयी है। किन्तु असल में ऐसा नहीं है। हाँ, वर्तमान में विचारधारा की भूमिका कम जरूर हुई है लेकिन अभी भी उसके महत्व को नकारना बुद्धिमत्ता नहीं होगी।

(8) **नीति-निर्माता**—विदेश नीति-निर्धारण में नीति-निर्माता एक प्रमुख मानवीय तत्व है। इसके अन्तर्गत प्रमुख रूप से राजनेताओं; विदेश मन्त्रालय के अधिकारियों तथा कूटनीतिज्ञों को सम्मिलित किया जाता है। नीति-निर्माता विदेश नीति का निर्माण करते हैं। विदेश नीति निर्माण के दौरान उसके प्रमुख तत्वों का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन करना उनकी प्रमुख जिम्मेदारी है, अतः नीति-निर्माता वह विशिष्ट वर्ग है जो देश की विदेश नीति के निर्धारण में सक्रिय भाग लेता है।

(9) **विश्व जनमत** - विदेश नीति के क्षेत्र में विश्व जनमत की प्रभावशाली भूमिका होती है। विश्व के किसी भी देश में संकट होने पर अन्य देशों की उस पर प्रतिक्रिया जरूर होगी। इसका प्रमुख कारण यह है कि अन्तर्निर्भरता के वर्तमान युग में किसी भी देश की विदेश नीति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के साथ अन्तःक्रिया करती है। कोई भी देश विदेश नीति-निर्माण के समय विश्व जनमत के अनुकूल या प्रतिकूल होने की सम्भावना पर विचार करता है। इसके अलावा आजकल विश्व के राष्ट्र विश्व जनमत को अपने पक्ष में करने के लिए भी अनेक प्रकार के प्रचारात्मक कार्य करते हैं ताकि विश्व समुदाय में उसके मित्र राष्ट्र ज्यादा से ज्यादा हों और शान्तिपूर्ण परिस्थितियों में वह चहुँमुखी आन्तरिक विकास कर सके। विदेश नीति के क्षेत्र में विश्व जनमत किस प्रकार प्रभावी भूमिका अदा करता है, इसका उदाहरण 1956 में ब्रिटेन, फ्रांस और इजराइल द्वारा स्वेज संकट के बाद मिस्र पर किये गये अपने आक्रमण को वापस लेना है। इस आक्रमण को वापस लेने का कारण यह था कि इस बर्बर सैनिक आक्रमण के विरुद्ध विश्व जनमत ने उग्र रोष एवं विरोध व्यक्त किया था। अमरीका विश्व जनमत के कारण ही वियतनाम पर बमबारी रोकने को बाध्य हुआ। इस प्रकार विदेश नीति पर विश्व लोकमत का गहरा असर पड़ता है।

(10) **विश्व संगठन**—हरेक देश की घोषित विदेश नीति विश्वशान्ति और सुरक्षा की स्थापना के समर्थन की हामी होती है। किसी भी विश्व संगठन की स्थापना का उद्देश्य भी विश्व-शान्ति और सुरक्षा कायम करना होता है। इस कारण राष्ट्र विश्व संगठन के सदस्य बन जाते हैं। उनका किसी अन्य देश से विवाद होने की अवस्था में वे इस विश्व संगठन से अपेक्षा रखते हैं कि वह विवाद के समाधान में सक्रिय भूमिका निभाये। दूसरी तरफ सदस्य राष्ट्र भी विश्व संगठन के उद्देश्यों और सिद्धान्तों तथा निर्णयों में बँध जाता है। 1945 में स्थापित संयुक्त राष्ट्र संघ का ही उदाहरण लें। इसके सदस्य राष्ट्र इसके चार्टर और घोषणा-पत्र से बँधे हुए हैं तथा वे उनके विभिन्न निर्णयों का पालन करते हैं। इस प्रकार विश्व-संगठन की सदस्यता स्वीकार करने के बाद सदस्य देश की विदेश नीति मर्यादित हो जाती है। अतः इसे विदेश नीति का एक तत्व माना जाता है।

(11) **सम्बद्ध देशों की प्रतिक्रिया**—हरेक देश विदेश नीति निर्माण के दौरान इस बात को सदैव ध्यान में रखता है कि किसी विशेष नीति अपनाने से सम्बद्ध देशों की प्रतिक्रिया क्या होगी ? प्रतिक्रिया अनुकूल होगी या प्रतिकूल ? उसे किस हद तक कौन-सी नीति अपनानी चाहिए

ताकि सम्बद्ध देश कम से कम नाराज हों। इन बातों पर बिना विचार किये किसी भी निर्णय के भयंकर परिणाम हो सकते हैं। यह बात अमरीका द्वारा चीन के साथ सम्बन्ध सुधारने के उदाहरण से अधिक स्पष्ट हो जायेगी। अमरीका ने साम्यवादी चीन से सम्बन्ध सुधारते वक्त ताइवान और सोवियत संघ जैसे सम्बद्ध देशों की प्रतिक्रिया का जरूर ख्याल किया होगा। ताइवान अमरीका का मित्र है और चीन का शत्रु, दूसरी तरफ चीन सोवियत संघ का शत्रु है। ऐसी परिस्थितियों से अमरीका ने चीन से सम्बन्ध सुधारने के पहले इस पर जरूर विचार किया होगा कि कहीं इस कदम से उसके सोवियत संघ और ताइवान पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा। यदि प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा तो वह किस हद तक होगा और उसके बारे में अमरीका को कौन-से सम्भावित कदम उठाने पड़ेंगे। इस प्रकार सम्बद्ध देशों की प्रतिक्रिया विदेश नीति का एक प्रमुख तत्व है।

विदेश नीति के लक्ष्य
(GOALS OF FOREIGN POLICY)

किसी भी देश की विदेश नीति के कुछ खास लक्ष्य होते हैं। यदि इन लक्ष्यों को संक्षेप में व्यक्त करने को कहा जाये तो मोटे तौर पर यह मानना उचित होगा कि विदेश नीति का लक्ष्य है—"राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति, पूर्ति एवं रक्षा।" लेकिन राष्ट्रहित शब्द अब तक भी सुस्पष्ट ढंग से परिभाषित नहीं हो पाया है। इसकी अस्पष्टता पर टिप्पणी करते हुए श्री के. जे. होल्सती ने 'लक्ष्य' शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने 'लक्ष्य' की परिभाषा करते हुए कहा है कि "भविष्य की वह वांछित स्थिति जिसे राज्य सरकारें अपने नीति-निर्माताओं द्वारा निर्धारित नीतियों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपने प्रभाव के प्रयोग द्वारा-दूसरे राज्य के व्यवहार को बदल कर अथवा उसे पूर्ववत बनाये रख कर प्राप्त करना चाहती हैं।"[1] यहाँ स्पष्ट कर देना उचित होगा कि यह जरूरी नहीं कि किसी देश की विदेश नीति के लक्ष्य सदैव वही बने रहें। आवश्यकतानुसार विश्व राष्ट्रों की विदेश नीतियों के लक्ष्य बदलते रहते हैं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि विदेश नीति के लक्ष्यों से आमतौर पर मूलभूत परिवर्तन किन्हीं विशेष परिस्थितियों और आवश्यकताओं के दौरान ही होता है। विदेश नीति के विभिन्न लक्ष्यों को अनेक विद्वानों ने अल्पकालीन, मध्यवर्ती तथा दीर्घकालीन की श्रेणियों से विभाजित कर विश्लेषित किया है। किन्तु उनको इस प्रकार विभाजित नहीं किया जा सकता क्योंकि विदेश नीति के लक्ष्यों का दायरा इतना लम्बा-चौड़ा है कि इस प्रकार की श्रेणियों में उनको रखने पर जड़ता की ही बू आती है। विदेश नीति गतिशील है और उसके लक्ष्य भी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बदलते परिप्रेक्ष्य में विदेश नीति के लक्ष्य भी उस मौजूदा वातावरण में अपने को ढालने का प्रयास करते हैं। इस स्पष्टीकरण के साथ विदेश नीति के लक्ष्यों का निम्नांकित विन्दुओं के अन्तर्गत अध्ययन करना उचित होगा :

(1) **राष्ट्रीय सीमाओं की सुरक्षा**—स्टेनले हॉफमैन की मान्यता है कि आज के जमाने में राष्ट्र के अस्तित्व की रक्षा सदैव दाँव पर लगी रहती है। इस कारण विश्व के सभी राष्ट्रों की विदेश नीति का सर्वप्रथम उद्देश्य उनकी राष्ट्रीय सीमाओं की सुरक्षा करना होता है ताकि उनकी अखण्डता बनी रहे। कोई भी राष्ट्र नहीं चाहता कि दूसरा राष्ट्र उस पर हमला कर दे। राष्ट्रीय सीमाओं की सुरक्षा के बाद ही राष्ट्र अपने आन्तरिक विकास का लक्ष्य पूरा कर पाते हैं। राष्ट्रीय सीमाओं की सुरक्षा के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विश्व के सभी राष्ट्र सेना का गठन करते हैं तथा बाह्य आक्रमण के संकट के दौरान सेना अपनी राष्ट्रीय सीमाओं की सुरक्षा के लिए जी-जान लगा

---

1 K. J. Holsti, *International Politics* (New Jersay, 1967), p. 126.

2 Stanley Hoffmann, "International Relations: The Long Road to Theory" in James Rosenau. ed. *International Politics and Foreign Policy* (New York, 1961), p. 423.

देती है । इस प्रकार हरेक राष्ट्र की विदेश नीति का सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य राष्ट्रीय सीमाओं की सुरक्षा होती है ।

(2) **विश्वशान्ति और सुरक्षा की स्थापना**—विश्व के अनेक राष्ट्र शान्तिप्रिय हैं, इस कारण उनकी विदेश नीति का एक प्रमुख लक्ष्य विश्वशान्ति और सुरक्षा स्थापित करना होता है । विश्वशान्ति और सुरक्षा के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जहाँ वे स्वयं युद्ध का सहारा नहीं लेते वहीं दुनिया के किसी भी भाग में युद्ध भड़कने पर उसकी आग को जल्दी शान्त करने के लिए अपना सहयोग देने को तत्पर रहते हैं । किन्हीं राष्ट्रों से तनावपूर्ण सम्बन्ध की स्थिति में वे संकट के समाधान में मदद करते हैं । वर्तमान युग में बढ़ती शस्त्रों की होड़ को विभिन्न उपायों द्वारा रोकने का प्रयत्न आदि भी करते हैं, ताकि विश्वशान्ति और सुरक्षा के समक्ष कोई खतरा उत्पन्न ही न हो । भारत सहित विश्व के अनेक देशों की विदेश नीति का एक प्रमुख लक्ष्य विश्वशान्ति और सुरक्षा की स्थापना है ।

(3) **चहुँमुखी आन्तरिक विकास**— विश्व के समस्त राष्ट्रों की यह महत्वाकांक्षा होती है कि चहुँमुखी आन्तरिक विकास को प्राप्त करें । इसी कारण इन राष्ट्रों की विदेश नीति का एक प्रमुख लक्ष्य चहुँमुखी आन्तरिक विकास करना बन जाता है । विदेश नीति राष्ट्रहितों की पूर्ति करती है और आन्तरिक विकास उससे घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है । चहुँमुखी आन्तरिक विकास के लिए राष्ट्र आपस में अनेक प्रकार के लेन-देन और समझौतों को सम्पादित करते हैं । इस प्रकार विश्व के सभी राष्ट्रों की विदेश नीति का प्रमुख लक्ष्य चहुँमुखी आन्तरिक विकास करना होता है । भारत ने विदेशी सम्पर्क और सहयोग के जरिये ही अपना औद्योगिक विकास किया है ।

(4) **आर्थिक उद्देश्य**— वर्तमान समय में 'अर्थ' का अत्यन्त महत्व है और इसी कारण आधुनिक युग को 'अर्थप्रधान युग' की संज्ञा तक दे दी गयी है । ऐसी परिस्थितियों में किसी भी देश की विदेश नीति द्वारा आर्थिक उद्देश्यों की उपेक्षा नहीं की जा सकती । हरक देश आर्थिक रूप से सक्षम बनना चाहता है और यह तब ही सम्भव हो सकता है जब विदेश नीति के आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति में ठोस कदम उठाये जायें । भारत अपने आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तीसरी दुनिया के देशों को मशीनरी व साज-सामान बेचता है । तेल निर्यातक देश ओपेक संगठन बनाकर तेल के ज्यादा से ज्यादा दाम वसूल कर अपनी अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करते है । अनेक बड़ी शक्तियाँ दूसरे देशों में पूंजी निवेश करके आर्थिक मुनाफा कमाती है । इस प्रकार आर्थिक उद्देश्यों को प्राप्त करने में सभी देशों की विदेश नीति सदैव सक्रिय रहती है ।

(5) **वैचारिक उद्देश्य**— हरेक राष्ट्र की अपनी एक विचारधारा होती है जिसके आधार पर वह अपने कार्यों का सम्पादन करता है । मसलन अमरीकी विदेश नीति पूंजीवादी लोकतन्त्र पर आधारित है । अमरीका की विदेश नीति का लक्ष्य यह रहता है कि विश्व राष्ट्रों में लोकतन्त्रतात्मक शासन व्यवस्था हो तथा इस शासन-व्यवस्था को अपनाने वाले देश मुक्त अर्थव्यवस्था का मार्ग अपनायें । इसके विपरीत, सोवियत संघ की विदेश नीति साम्यवादी दर्शन पर आधारित है जिस कारण उसकी विदेश नीति का वैचारिक लक्ष्य है— विश्व में साम्यवाद का प्रसार । इस प्रकार राष्ट्रों की विदेश नीतियों के वैचारिक लक्ष्य होते हैं ।

(6) **सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली बनना**— आज के युग में किसी भी राष्ट्र द्वारा सैनिक दृष्टि से मजबूत होना अनिवार्य-सा हो गया है । अन्यथा, शत्रु-राष्ट्र उस पर सैनिक हमला कर अवैध रूप से कब्जा कर सकते हैं । इसी दृष्टि से विश्व के राष्ट्रों की विदेश नीति का एक प्रमुख लक्ष्य सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली बनना होता हे । इसके लिए वे सैनिक शस्त्रों का निर्माण करते हैं तथा आवश्यक शस्त्रों के अभाव में बड़े राष्ट्रों से शस्त्र खरीदते है ।

(7) **राष्ट्रीय स्वाधीनता की रक्षा करना**—हरेक स्वतन्त्र राष्ट्र चाहता है कि वह अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता को बनाते रखे। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमरीका के अनेक देशों ने राष्ट्रीय स्वाधीनता पाने के लिए औपचारिक दासता के खिलाफ संघर्ष किया। स्वतन्त्र होने पर अधिकांश देशों ने गुट निरपेक्ष नीति अपनायी ताकि वे बड़े राष्ट्रों के प्रभाव से मुक्त होकर स्वतन्त्र मार्ग अपना सकें। इस प्रकार राष्ट्रीय स्वाधीनता का लक्ष्य अनेक छोटे एवं ग़रीब देशों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

(8) **धार्मिक उद्देश्य**—अनेक राष्ट्रों की विदेश नीतियों के धार्मिक उद्देश्य भी होते हैं। अधिकांश मुस्लिम बहुसंख्यक जनसंख्या वाले राष्ट्रों की आधारशिला धर्म पर ही रखी गयी। धर्म की समरूपता होने के कारण अधिकांश मुस्लिम राष्ट्रों की विदेश नीति का धार्मिक उद्देश्य उनमें "एकता" स्थापित करता होता है। संकट के समय वे एक-दूसरे की मदद करते हैं, एक मंच बना कर वे धार्मिक उद्देश्य प्राप्त करने का भी प्रयास करते हैं। भारत में हिन्दू-मुस्लिम दंगा होने पर पाकिस्तान द्वारा भारत में मुस्लिम समुदाय के पक्ष में आवाज उठाना उसका धार्मिक उद्देश्य बन गया है।

(9) **सांस्कृतिक उद्देश्य**—हरेक राष्ट्र की अपनी सभ्यता और संस्कृति होती है। वह विदेश में अपनी संस्कृति के प्रसार के लिए कार्य करता है। इस सांस्कृतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह विदेशों में सांस्कृतिक प्रतिनिधिमण्डल भेजता है और साहित्य बाँटता है, ताकि सांस्कृतिक प्रभाव के जरिये अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति कर सके।

डॉ. वेदप्रताप वैदिक ने अपनी पुस्तक 'भारतीय विदेश नीति : नये दिशा संकेत' में भारत के लिए सांस्कृतिक विदेश नीति का एक वैकल्पिक ढाँचा प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार, "इस समय आग्नेय एशिया, पश्चिमी एशिया तथा लातानी अमरीका में ऐसे लगभग 25 देश हैं जहाँ भारतीय सांस्कृतिक दूतावासों की स्थापना अविलम्ब की जानी चाहिए। इन दूतावासों का काम उन देशों में भारतीय भाषा, वेश-भूषा, भोजन, भजन और भेषज की कूटनीति चलाना होना चाहिए। भारतीय भाषाओं के प्रशिक्षण केन्द्र विदेशियों को तो भारत से जोड़ेंगे ही, प्रवासी भारतीयों के मन में भारत के प्रति अनुराग को भी तरोताजा रखेंगे।

विदेश नीति के उपकरण
(INSTRUMENTS OF FOREIGN POLICY)

कोई भी देश अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अनेक उपकरणों का सहारा लेता है। ये उपकरण वे साधन हैं जिनकी सहायता से सम्बन्धित देश राष्ट्रहितों की पूर्ति करते हैं। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न उपकरणों का सहारा लिया जाता है। अनेक बार एक साथ कई उपकरणों को प्रयोग में लाया जाता है। विदेश नीति के निर्धारण और क्रियान्वयन के दौरान प्रयुक्त किये जाने वाले प्रमुख उपकरण निम्नांकित हैं :

(1) **सन्धि-वार्ता**—जब दो या उससे ज्यादा राष्ट्रों के बीच विवाद हो तो उसका समाधान खोजने के लिए सम्बन्धित पक्ष सन्धि-वार्ता आयोजित करते हैं। इन सन्धि-वार्ताओं में सम्बन्धित देशों के प्रतिनिधि विचार-विमर्श करते हैं ताकि किन्हीं निर्णयों पर पहुँचकर विवाद के समाधान के रूप में सन्धि की जा सके। ये वार्ताएँ कभी-कभी कई दिनों व महीनों तक चलती हैं और अनेक बार तो विभिन्न चरणों में होती हैं। बन वार्ताओं के बाद जरूरी नहीं कि विवाद के

[1] डॉ. वेदप्रताप वैदिक, **भारतीय विदेश नीति : नये दिशा संकेत** (नेशनल, नयी दिल्ली, 1980) पृ. 118.

समाधान के रूप में सन्धि हो ही जाये । अनेक वार वार्ताएँ असफल भी हो जाती हैं । कुछ सन्धि-वार्ताएँ गुप्त होती हैं और कुछ वाकायदा खुले रूप में, जिसके अन्तर्गत सम्वन्धित सन्धिवार्ता के प्रवक्ता विश्व को जनप्रचार के साधनों के माध्यम से समय-समय पर वार्ता की प्रगति के वारे में जानकारी देते हैं । अतः सन्धिवार्ता विदेश नीति का एक ऐसा उपकरण है जिसके जरिये विवाद में उलझे राष्ट्र समाधान खोजने के लिए विचारों का आदान-प्रदान कर किन्हीं निर्णयों तक पहुँचने का प्रयास करते हैं ।

(2) **सन्धि**—सन्धिवार्ता के दौरान यदि विवाद के वारे में किन्हीं निश्चित निर्णय पर सहमति हो जाती है तो सम्वन्धित पक्ष सन्धि पर हस्ताक्षर कर लेते हैं । सन्धि एक ऐसा दस्तावेज है जिसमें समझौते की शर्तों का स्पष्ट उल्लेख किया जाता है । अच्छी सन्धि का सर्वप्रथम गुण उसकी स्पष्टता होता है ताकि हस्ताक्षरकर्ता देशों में उसके विश्लेपण के वारे में मतभेदों की गुंजाइश न रहे । प्राचीनकाल से ही विभिन्न राष्ट्र सन्धि करते आये हैं । प्रथम विश्वयुद्ध के वाद की गयी वार्साउ की सन्धि विदेश नीति के एक उपकरण के रूप में एक अच्छा उदाहरण है ।

(3) **क्षेत्रीय सुरक्षा सन्धि**—अनेक वार विश्व के किसी कोने के देश क्षेत्रीय सुरक्षा के दृष्टिकोण से सन्धि करते हैं । यह सन्धि उनकी विदेश नीतियों के उपकरण का कार्य करती है । इस क्षेत्रीय सुरक्षा सन्धि के जरिये क्षेत्र विशेष के देश जहाँ एक ओर आपस में सहयोग करते हैं वहीं दूसरी ओर वाहरी खतरे के समय एकजुट होकर उनका सामना करते हैं । द्वितीय विश्वयुद्ध के वाद अमरीका ने पश्चिमी यूरोप के देशों को अपने गठजोड़ के अन्तर्गत लेकर साम्यवादी खतरे का मुकावला करने के लिए क्षेत्रीय सुरक्षा सन्धि करके 'नाटो' नामक सैनिक संगठन की स्थापना की । इसी प्रकार सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोप के देशों को अपने साथ लेकर पूँजीवादी खतरे का मुकावला करने के लिए 'वारसा' सन्धि की । 'सेण्टो' और 'सिएटो' संगठनों की स्थापना भी क्षेत्रीय सुरक्षा सन्धियों के द्वारा हुई ।

(4) **आर्थिक सहयोग संगठनों की स्थापना**—विदेश नीति के उपकरण के रूप में आर्थिक सहयोग संगठन का प्रयोग भी किया जाता है । किन्हीं समान हितों से प्रेरित होकर कुछ देश ऐसा आर्थिक संगठन बना लेते हैं । ऐसे संगठन के माध्यम से सदस्य देश अपनी विदेश नीतियों के लक्ष्यों की पूर्ति के लिए आपसी आर्थिक सहयोग करते हैं । यूरोपीय आर्थिक समुदाय, कॉमन फार्म और यूरोपीय साझा-मण्डी को ऐसे आर्थिक सहयोग संगठनों की श्रेणी में रखा जाता है ।

(5) **युद्ध**—अनेक देश युद्ध को अपनी विदेश नीति के उपकरण के रूप में इस्तेमाल करते हैं । इसके अन्तर्गत युद्ध की धमकी देना, युद्ध लड़ना और शत्रु देश द्वारा आक्रमण करने पर उसके साथ युद्ध लड़ना सम्मिलित है । युद्ध के द्वारा सम्वन्धित पक्ष अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों को पूरा करने के प्रयास में लगे रहते हैं । युद्ध की दृष्टि से सदैव तैयार रहने के लिए राष्ट्र सैनिक तैयारियाँ करते हैं और असीमित व्यय करते हैं । कुछ राष्ट्र तो विवादों के समाधान के लिए अन्य शान्तिपूर्ण उपायों के वजाय युद्ध को ही प्राथमिकता देते हैं । मसलन भारत का पड़ौसी देश पाकिस्तान जो अपनी विदेश नीति की महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए भारत पर 1947, 1965 और 1971 में तीन वार सैनिक आक्रमण कर चुका है । शान्तिप्रिय भारत को भी इस हमले का मुकावला तथा स्थूल राष्ट्रीय हितों की रक्षा के लिए मजवूरीवश युद्ध का सहारा लेना पड़ा । इस प्रकार युद्ध विदेश नीति के उपकरण के रूप में इस्तेमाल किया जाता है । आज स्थिति यह है कि युद्ध लड़ना पड़े या नहीं, किन्तु विश्व के समस्त राष्ट्र युद्ध के सम्भावित खतरे से आशंकित रहते हैं और सैनिक तैयारी अवश्य करते हैं ।

(6) **दौत्य कूटनीतिक सम्वन्धों की स्थापना**—दौत्य सम्वन्धों का अर्थ दो राष्ट्रों के वीच

कूटनीतिक सम्बन्धों की स्थापना से है। इसके अन्तर्गत राष्ट्र एक-दूसरे की राजधानियों में अपने राजदूतावास खोलते हैं। इन दूतावासों में राजदूत और अनेक अन्य कूटनीतिक अधिकारी रहते हैं। दोनों देशों के बीच चहुँमुखी सम्बन्धों की स्थापना में ये कूटनीतिक अधिकारी सहायक एवं माध्यम की भूमिका अदा करते हैं। आधुनिक विश्व की अन्तर्निर्भरता को देखते हुए विदेश नीति के उपकरण के रूप में अन्य राष्ट्रों के बीच दौत्य कूटनीतिक सम्बन्धों की स्थापना का महत्व दिनोंदिन बढ़ता ही जा रहा है।

(7) **नयी सरकारों और नवोदित देशों को मान्यता देना**—नयी सरकारों और नवोदित देशों को मान्यता देना भी विदेश नीति का एक प्रमुख उपकरण है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अनेक अफ्रो-एशियाई और लातीनी अमरीकी देशों का औपनिवेशिक शासन की दासता के पंजे से स्वतन्त्र होकर नवोदित देश के रूप में उदय हुआ। तत्कालीन स्वतन्त्र देशों ने उन नवोदित देशों की नयी सरकारों को मान्यता दी। इस मान्यता के बाद ही मान्यता देने वाले तथा मान्यता प्राप्त करने वाले देश के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं। कभी-कभी मान्यता का प्रश्न नवोदित देश और नयी सरकारों के लिए विदेश नीति में अत्यन्त ही जटिल परिस्थिति पैदा कर देता है। 1949 में चीन में साम्यवादी क्रान्ति के उपरान्त अमरीका ने पीकिंग स्थित साम्यवादी सरकार को मान्यता प्रदान नहीं की। इसके विपरीत, फार्मोसा वाली चांग-काई-शेक की सरकार को उसने चीन की असली सरकार के रूप में मान्यता प्रदान की। बहुत लम्बे समय तक अमरीका ने साम्यवादी चीन की सरकार को विश्व समुदाय में अकेला छोड़ देने के लक्ष्य के रूप में इस मान्यता के प्रश्न को विदेश नीति के उपकरण के रूप में प्रयोग किया। अब अमरीका ने पीकिंग स्थित साम्यवा सरकार को चीन की असली सरकार के रूप में मान्यता दे दी है। यह भी उसने तब किया ज अमरीका को लगा कि चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता देने से उसकी सोवियत संघ साथ सौदेबाजी की स्थिति मजबूत हो जायेगी। इस प्रकार मान्यता को विदेश नीति के उपकरण रूप में इस्तेमाल किया जाता है।

(8) **कूटनीतिक सम्बन्धों को भंग करना**—किसी देश के साथ कूटनीतिक सम्बन्धों को भ या विच्छिन्न करना भी विदेश नीति का प्रमुख उपकरण है। कूटनीतिक सम्बन्धों को भंग क का कदम अत्यन्त नाजुक और सीमित परिस्थितियों में ही उठाया जाता है। इस कदम को उठ वाला देश इसके द्वारा दूसरे देश के प्रति अपनी नाराजगी और विरोध प्रकट करता है। कूटनीति सम्बन्धों को भंग करने के अन्तर्गत दोनों देश एक-दूसरे की राजधानियों से अपने राजदूत वा बुला लेते हैं और राजदूतावास हटा लेते हैं। इसका प्रभाव यह पड़ता है कि दोनों देशों के बी बातचीत का एक प्रमुख माध्यम नहीं रहता। इसके अभाव में मजबूरीवश सम्बन्धित राष्ट्र कि तीसरे देश की मध्यस्थता का आश्रय लेते हैं। स्पष्ट है कि कूटनीतिक सम्बन्धों के अभाव दोनों देशों को बातचीत प्रारम्भ करने के लिए अनेक अड़चनें उठानी पड़ती हैं। एक बार कू नीतिक सम्बन्ध विच्छिन्न कर पुनःस्थापित तभी होते हैं जब सम्बद्ध देशों में विवाद के प्रति थो सहमति हो जाये। सोवियत संघ ने इजरायल के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध-विच्छेद इसलिए वि ताकि अरब देशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करके वह अपने स्थूल राष्ट्रीय हितों की पू कर सके। अर्थात् सोवियत संघ ने इजराइल के साथ कूटनीतिक सम्बन्धों को तोड़कर उसका विं

शान्तिपूण उपायों से सुलझाया जा सकता है। इस प्रकार कूटनीतिक सम्वन्धों को भंग करना विदेश नीति का प्रमुख उपकरण है।

(9) **विरोध-पत्र या चेतावनी देना**—किसी एक देश द्वारा दूसरे देश को विरोध-पत्र लिखना या चेतावनी देना भी विदेश नीति का महत्वपूर्ण उपकरण है। हालाँकि यह कूटनीतिक सम्वन्धों के भंग करने से हल्का कदम अवश्य है किन्तु इसका इस्तेमाल विश्व के राष्ट्र आये-दिन करते रहते है। विरोध-पत्रों या चेतावनियों के जरिये देश अपने खिलाफ चल रहे देश के प्रति नाराजगी एवं विरोध अत्यन्त ही परिष्कृत तरीके से करता है, भद्दे व्यवहार या गन्दे शब्दों में नहीं। विरोध-पत्रों या चेतावनियों की भापा अत्यन्त संयत, परिष्कृत एवं कभी-कभी अस्पष्ट और दो अर्थ वाली होती है। अगन्त 1980 में भारत के अनेक शहरों में हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए तो पाकिस्तान के शासन वर्ग ने भारत सरकार पर इन दंगों का दोप मढ़ दिया। इसकी प्रतिक्रिया में भारत ने पाकिस्तानी सरकार ओ संयत भाषा में एक विरोध-पत्र लिखा जिसमें कहा गया कि यह भारत का आन्तरिक मामला है और इसमें किसी अन्य देश का हस्तक्षेप सहन नही किया जायेगा। अगस्त 1980 में पोलैण्ड में सोवियत समर्थक श्रमिकों ने सरकार के खिलाफ हड़ताल कर अपनी माँगें स्वीकार करवा लीं। अमरीका तथा अनेक पश्चिम यूरोपीय देशों ने पोलैण्ड के श्रमिकों का समर्थन किया तथा इस घटना को साम्यवादी व्यवस्था की हार करार दिया। इसके विरुद्ध सोवियत संघ ने अमरीका सहित पश्चिमी देशों की सरकारों को सार्वजनिक चेतावनी जारी की कि पोलैण्ड में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करें। चेतावनी में यह भी यह कहा गया कि सोवियत संघ पोलैण्ड में पश्चिमी देशों के किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप और दुष्प्रचार को सहन नहीं करेगा। इसका प्रभाव यह पड़ा कि पश्चिमी खेमा अपनी प्रतिक्रिया में थोड़ा सजग और संयत हो गया। इस प्रकार विरोध-पत्र एवं चेतावनियाँ विदेश नीति के प्रभावशाली उपकरण के रूप में प्रयोग में लायी जाती हैं।

(10) **अन्य देशों से आर्थिक सम्बन्ध**—विदेश नीति के अन्य देशों से आर्थिक सम्वन्ध कायम करने के उपकरण के रूप में किसी देश द्वारा अन्य देश में पूँजी न्यस्त करना, उसके बौण्ड खरीदना, प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता प्रदान करना, औद्योगिकीकरण एवं पुनिर्निर्माण में सहयोग देना महत्वपूर्ण रूप से उल्लेखनीय है। वस्तुतः आज की विश्व राजनीति में "अर्थ" विदेश नीति का एक आधारभूत तथ्य की तरह स्थापित हो गया है। आज विश्व राजनीति अर्थकेन्द्रित हो गयी है। द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् यूरोपीय देशों की ध्वस्त अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए अमरीका ने मार्शल योजना तैयार की जो लोक-कल्याण के उद्देश्य से कम और अमरीकी विदेश नीति के राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के दृष्टिकोण से ज्यादा प्रेरित थी। आज विश्व की वड़ी शक्तियाँ तीसरी दुनियाँ के गरीव देशों में पूंजी निवेश करने के साथ-साथ अपने राजनीतिक तथा अन्य उद्देश्य भी पूरा करती है। वड़ी शक्तियों द्वारा छोटे देशों को आर्थिक सहायता भी राजनीतिक उद्देश्य से प्रेरित होती है। अर्थात इस प्रकार के आर्थिक सम्वन्ध विदेश नीति के उपकरण के रूप में कार्य करते है।

(11) **अन्य देशों के साथ सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, शैक्षणिक आदि सम्बन्ध**—आधुनिक युग के वारे में कहा जाता है कि दुनियाँ धीरे-धीरे वहुत छोटी होती जा रही है। इसका अर्थ यही है कि विश्व के देश एक-दूसरे के साथ चहुँमुखी स्तर पर ही सम्वन्ध स्थापित करने में लगे हुए हैं। पहले राष्ट्र में सरकारी स्तर पर ही सम्वन्ध हुआ करते थे किन्तु आजकल एक देश की जनता भी दूसरे देशों की जनता के साथ राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, शैक्षणिक आदि तमाम क्षेत्रों में घनिष्ठ सम्वन्ध स्थापित करने में लगी रहती है और विश्व की आधुनिक सरकारें सम्वन्धों के इस आदान-प्रदान की इजाजत ही नहीं देती वल्कि इसे अनेक वार प्रोत्साहित भी करती हैं। जीवन के चहुँमुखी क्षेत्रों में सम्वन्धों की स्थापना विदेश नीति के एक प्रमुख उपकरण की भूमिका अदा करती है। चहुँमुखी क्षेत्रों में सम्वन्ध सरकारों के राजनीतिक सम्वन्धों को मैत्रीपूर्ण

बनाने में मदद करते हैं। इस सन्दर्भ में चीन की 'पिंग पोंग कूटनीति' का उदाहरण दिलचस्प है। चीन ने पिंग पोंग खेल प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए अमरीकी खिलाड़ियों को आमिन्त्रत कर अमरीका-चीन सम्बन्ध सुधारने का एक एक नया युग प्रारम्भ किया। इस प्रकार जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में दो देशों के बीच सम्बन्धों की स्थापना को विदेश नीति के उपकरण के रूप में प्रयुक्त किया जाता है।

(12) **विश्व संगठन का उपयोग**—विश्व समुदाय आमतौर पर शान्ति और सुरक्षा के वातावरण में रहना चाहता है। इसके लिए जब भी किसी विश्व संगठन के निर्माण का प्रस्ताव आता है तो एक बहुत बड़ी संख्या में राष्ट्र उसके सदस्य बनने को तैयार हो जाते हैं। विश्व संगठन विश्वशान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के साथ-साथ सदस्य राष्ट्रों में आपसी विवादों का हल भी ढूँढ़ने का प्रयास करता है। सदस्य राष्ट्र स्वयं विवाद की स्थिति में विश्व संगठन के माध्यम से संगठन का इस्तेमाल करते हैं। जब 1947 में पाकिस्तान ने भारत के कश्मीर राज्य पर अपना दावा पेश किया तो भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे विशाल संगठन को इस विवाद का हल ढूँढ़ने के लिए कहा। इसी प्रकार अरब देश इजराइल अधिकृत भूमि को उससे खाली करवाने के लिए अनेक बार संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में इसके लिए प्रस्ताव पारित करवा चुके हैं। अर्थात अरब देश संयुक्त राष्ट्र संघ के समर्थन से इजराइल पर दबाव डलवा कर अपनी भूमि पर से उसका कब्जा हटवाना चाहते हैं। इस प्रकार राष्ट्र विश्व संगठन का विदेश नीति के उपकरण के रूप में इस्तेमाल करते हैं।

(13) **गुप्तचर विभाग**—विज्ञान और टेक्नोलोजी के बढ़ते चरणों के इस आधुनिक युग में 'ज्ञान' का महत्व दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। किसी भी देश का गुप्तचर विभाग अन्य देशों में हो रहे घटनाक्रम की जानकारी रखता है तथा संकटकालीन स्थिति में गुप्तचर विभाग अपनी सरकार को उस संकट के बारे में प्रमाणिक एवं विश्वसनीय जानकारी देता है। इसके आधार पर वह देश उस संकट विशेष के बारे में विदेश नीति निर्धारण करता है। अमरीका की सी. आई. ए. और सोवियत संघ की के. जी. बी. विश्व के प्रमुख गुप्तचर संगठन हैं। ये खुफिया संगठन कभी कभी अन्य देशों में षड्यन्त्र कर विरोधी शासन का तख्ता तक पलट देते हैं। गुप्तचर विभाग अत्यन्त सजग रहता है क्योंकि उस पर अपने देश के राष्ट्रीय हितों की हर कीमत पर पूर्ति करने की महत्वपूर्ण जिम्मेदारी होती है। इसी कारण गुप्तचर विभाग का विदेश नीति निर्धारकों के लिए आँख और कान जैसा महत्व है। इस प्रकार गुप्तचर विभाग विदेश नीति का एक प्रमुख उपकरण है।

विदेश नीति : निर्धारण प्रक्रिया
(FOREIGN POLICY : PROCESS OF MAKING)

विदेश नीति निर्धारण प्रक्रिया का तात्पर्य किसी देश के वैदेशिक मामलों में कोई भी निर्णय किन के द्वारा लिया जाता है और यह निर्णय किस प्रकार प्रक्रिया के दौर से गुजरता है, से है। प्राचीन विश्व के अधिकांश देशों में समस्त शक्तियाँ राज्य के हाथों में केन्द्रित होती थीं जिससे विदेश नीति के निर्धारण की प्रक्रिया आसान थी। राजा अपने चन्द दरबारियों तथा सलाहकारों से परामर्श करके जल्दी ही निर्णय ले लेता था लेकिन आज विश्व बदल गया है। विश्व-राष्ट्रों में अब पहले की तरह न तो सर्वशक्तिमान राजा रहे और न ही वह पुरानी विश्व राजनीति, जिसमें राष्ट्रों के बीच अन्तर्क्रिया एवं अन्तर्निर्भरता कम थी। विज्ञान एवं टेक्नोलोजी के वर्तमान युग में विश्व के राष्ट्रों में हरेक स्तर पर अन्तर्क्रिया और अन्तर्निर्भरता बढ़ रही है जिस कारण राष्ट्रों की विदेश नीति को निर्धारण प्रक्रिया अपेक्षाकृत लम्बी एवं अत्यन्त जटिल हो गयी है। उसे विभिन्न चरणों से होकर

गुजरना पड़ता है। आज अमरीका या सोवियत संघ के राष्ट्रपति मनमानी विदेश नीति निर्धारित नहीं कर सकते।

विदेशी नीति निर्धारण प्रक्रिया के दो पहलू हैं—निर्णय तथा उसका कार्यान्वयन। विदेश नीति निर्धारण के दौरान दोनों पहलुओं पर सोचा जाता है कि क्या निर्णय लिया जाये और उसका कार्यान्वयन कैसे हो? विदेश नीति निर्धारण प्रक्रिया में दो प्रकार के अभिकरण होते हैं जो उसमें हिस्सा लेते हैं। ये हैं—सरकारी अभिकरण और गैर-सरकारी अभिकरण। ये अभिकरण विदेश नीति निर्धारण करते हैं और उसका कार्यान्वयन भी। ध्यान रखने योग्य बात यह है कि अन्तिम निर्णय नीति निर्धारण प्रक्रिया के दौर से गुजरता है जिसमें सरकारी अभिकरण प्रत्यक्ष रूप से भाग लेते हैं। इनके बारे में विस्तृत विवेचन निम्नांकित है:

सरकारी अभिकरण

सरकारी अभिकरण में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका दोनों को सम्मिलित किया जा सकता है। चाहे देश लोकतन्त्रीय हो या साम्यवादी, वहाँ सरकार के ये दोनों अंग जरूर होंगे। कार्यपालिका के अंगों में प्रमुख रूप से प्रधानमन्त्री या/और राष्ट्रपति, सम्बन्धित मन्त्रिगण तथा अन्तर्विभागीय संगठन के नाम गिनाये जा सकते हैं। व्यवस्थापिका के अन्तर्गत संसद के सदस्यों की सम्बन्धित संसदीय समितियों को रखा जा सकता है। सरकार के ये अंग विदेश नीति निर्धारण की प्रक्रिया में सक्रिय एवं निर्णयात्मक रूप से भाग लेते हैं।

प्रधानमन्त्री सरकार का प्रमुख होता है और विदेशमन्त्री विदेशी मामलों का। इनसे जुड़ा हुआ होता है देश का विदेश मन्त्रालय। रक्षा मन्त्रालय से भी इनका सम्बन्ध रहता है। विदेश नीति निर्धारण के समय कार्यपालिका के सदस्यों की सक्रिय एवं निर्णयात्मक भूमिका का कारण यह है कि ये जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि होते हैं जिन पर देश को चलाने का उत्तरदायित्व होता है। व्यवस्थापिका में जनता द्वारा चुने हुए वे सभी प्रतिनिधि आते हैं, भले ही वे कार्यपालिका के सदस्य हों या नहीं। ये जन प्रतिनिधि सदन में विदेशी मामलों में बहस के द्वारा अपनी राय प्रकट करते हैं और सरकार द्वारा विदेश नीति निर्धारण को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार सरकारी आक्रमण की विदेश नीति निर्धारण प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

गैर-सरकारी अभिकरण

विदेश नीति निर्धारण में गैर-सरकारी अभिकरण हालांकि नीति विषयक निर्णय नहीं लेते किन्तु नीति निर्धारण प्रक्रिया को काफी हद तक प्रभावित जरूर करते हैं। सरकार इनके विचारों की एकदम उपेक्षा कदापि नहीं कर सकती। गैर-सरकारी अभिकरण के अन्तर्गत राजनीतिक दल, हित-समूह, जनमत एवं विशेषज्ञों को रखा जा सकता है। ये विदेश नीति निर्धारण में सरकारी निर्णय को प्रभावित करते हैं।

लोकतन्त्र में इन गैर-सरकारी अभिकरणों की विदेश नीति निर्धारण प्रक्रिया में अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय भूमिका की गुंजाइश होती है क्योंकि ऐसी शासन-व्यवस्था में शक्ति का विकेन्द्रीकरण और विरोधी पक्ष को अपनी बात कहने का मौका दिया जाता है। मसलन हरेक राजनीतिक दल की अपनी एक विचारधारा होती है जिसके अनुसार चलकर वह राष्ट्र-निर्माण का कार्य सम्पन्न करना चाहता है। हरेक राजनीतिक दल की विदेशी मामलों में भी अपनी एक दृष्टि होती है। विकसित हित समूह भी अपने-अपने हितों के अनुसार किसी विशेष प्रकार की विदेश नीति की वकालत करते हैं। विदेशी मामलों में जनमत भी जाग्रत रहता है। विषय-विशेषज्ञ तो विदेशी मामलों पर रेडियो, टेलीविजन और समाचार-पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से अपनी राय तो व्यक्त करते ही हैं। सरकार विदेश नीति निर्धारण प्रक्रिया के दौरान इन गैर-सरकारी अभिकरणों के सभी मतान्तरों को दृष्टिगत

रखते हुए ही निर्णय लेती है ताकि सर्वसम्मत विदेश नीति निर्धारण का कार्यान्वयन पूरी ताकत से किया जा सके। हरेक सरकार इन गैर-सरकारी अभिकरणों की आलोचना से बचना चाहती है, जिस कारण वह उनके मत के एकदम विपरीत कम ही मामलों में निर्णय लेती है। इस प्रकार विदेश नीति निर्धारण प्रक्रिया में गैर-सरकारी अभिकरणों की सक्रिय एवं अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

विदेश नीति के रुझान
(NATURE OF FOREIGN POLICY)

विदेश नीति के रुझान का पता किसी देश द्वारा विश्व के अन्य देशों के प्रति अपनायी गयी नीतियों को विश्वव्यापी राजनीति के सन्दर्भ में रखकर लगाया जा सकता है। विश्व राष्ट्रों की विदेश नीति के रुझान को अनेक श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। किन्तु स्थानाभाव के कारण यहाँ यही उचित होगा कि हम विदेश नीति के प्रमुख रुझानों का ही अध्ययन करें। मोटे तौर पर आधुनिक विश्व राजनीति में विश्व राष्ट्रों की विदेश नीतियों में तीन प्रकार के रुझान पाये जाते हैं : (क) अलगाववादी रुझान, (ख) गुटनिरपेक्ष रुझान, और (ग) अधीनस्थतावादी रुझान। इनका संक्षेप में विवेचन निम्नांकित है :

(क) **अलगाववादी रुझान**—किसी राष्ट्र द्वारा विदेश नीति के अलगाववादी रुझान अपनाने का कतई अर्थ यह नहीं है कि वह राष्ट्र विश्व के अन्य राष्ट्रों से किसी प्रकार के सम्वन्ध रखे ही नहीं। असल में इसका अर्थ यह है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की उलझनों से अपने आपको दूर रखता है। वह न तो किसी राष्ट्र की तरफदारी करता है और न ही विरोध। वैसे अलगाववादी रुझान अपनाने वाला राष्ट्र ऐसी नीति किन्हीं विशेष कारणों से अपनाता है। अमरीका ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इस अलगाववादी रुझान को कुछ वर्षों तक अपनाया था।

(ख) **गुटनिरपेक्ष रुझान**—गुटनिरपेक्ष रुझान अपनाने वाला राष्ट्र विश्व राजनीति में गुटबाजी की राजनीति से अपने आपको दूर रखता है। गुटनिरपेक्ष राष्ट्र स्वतन्त्र विदेश नीति का पालन करते हैं। वे बड़ी शक्तियों द्वारा प्रवर्तित सैनिक संगठनों में भाग नहीं लेते। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद भारत सहित अनेक अफ्रो-एशियाई एवं लातीनी अमरीकी देशों ने अपनी विदेश नीति के क्षेत्र में गुटनिरपेक्ष रुझान को अपनाया। क्योंकि वे जहाँ एक ओर विश्व को गुटों में विभक्त नहीं करना चाहते थे वहीं दूसरी ओर बड़ी शक्तियों के प्रभाव से मुक्त स्वतन्त्र विदेश नीति का क्रियान्वयन करना चाहते थे।

(ग) **अधीनस्थतावादी रुझान**—अधीनस्थतावादी रुझान का अर्थ किसी देश द्वारा दूसरे देश की विदेश नीति पर वर्चस्व स्थापित करना है। इसके द्वारा बड़े देश छोटे देशों पर अप्रत्यक्ष रूप से वर्चस्व स्थापित करते हैं और छोटे देश इस स्थिति को स्वीकार कर लेते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अमरीका तथा सोवियत संघ ने क्रमशः अपने पूँजीवादी तथा साम्यवादी खेमे की ओर विश्व राष्ट्रों को आकर्षित कर वर्चस्व स्थापित किया। दोनों महाशक्तियों ने उनकी अधीनस्थता स्वीकार करने वालों को सैनिक एवं आर्थिक मदद प्रदान की। अमरीका ने 'नाटो', 'सिएटो' और 'सेण्टो' द्वारा इन सैनिक संगठनों के जरिये सदस्य राष्ट्रों पर वर्चस्व स्थापित किया। सोवियत संघ ने भी इसी प्रकार वारसा सन्धि संगठन के जरिये पूर्वी यूरोपीय देशों पर वर्चस्व स्थापित किया। इस प्रकार विश्व के अनेक राष्ट्रों की विदेश नीति का रुझान अधीनस्थतावादी होता है।

निष्कर्ष—विदेश नीति के निर्माताओं को दूरदर्शी होना चाहिए। प्रत्येक विदेश मन्त्रालय में एक नियोजन विभाग अवश्य होना चाहिए जिसका मुख्य कार्य आगामी घटनाक्रम का आभास देना होता है। दूरदर्शिता के आधार पर घटनाओं का पूर्वानुमान लगा लेना ही विदेश नीति का मुख्य

प्रश्न

1. किसी राज्य की विदेश नीति किस सीमा तक उसकी गृहनीति से प्रभावित होती है ? भारत-पाकिस्तान सम्बन्धों के सन्दर्भ में विचार कीजिए।
How far is the foreign policy of a state affected by the domestic policy ? Discuss this in the light of Indo-Pakistan relations.
2. विदेश नीति पर जनतन्त्रीय नियन्त्रण ने किस प्रकार राजनयिक व्यवहार को प्रभावित किया है ?
How has the democratic control of foreign policy affected diplomatic practie ?
3. "किसी राष्ट्र की परराष्ट्र नीति उसके वर्ग सम्बन्धों की अन्दरूनी व्यवस्था का कार्य व्यापार है, न कि इसका विलोम। क्या आप इससे सहमत है ? इस वक्तव्य की समीक्षा कीजिए।
"The foreign policy of a given state is a function of its inner system of a class relations and not vice versa." Do you agree ? Discuss this statement.
2. "विदेश नीति का विश्लेपण उत्तरोत्तर अधिक परिष्कृत होता जा रहा है, जिससे अधिक विस्तृत और सुनिश्चित अवधारणाएँ उपलब्ध हुई है। इन अवधारणाओं के द्वारा हम उस तथ्य को बटोर सकते हैं और उसका मूल्यांकन कर सकते हैं, जो राष्ट्रों तथा उनकी सीमाओं के बाहर की दुनियाँ को जोड़ता है। (**जे. एन. रोजनाउ**) विवेचना कीजिए।
"...the analysis of foreign policy has become increasingly sophisticated, giving rise to the development of more elaborate and more precis conceptual equipment with which to sort out and assess the complex phenomenon that link nations to the world beyond their borders." (*J. N. Rosenau*) Comment.

14

राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के साधन : कूटनीति

[INSTRUMENTS FOR THE PROMOTION OF NATIONAL INTEREST : DIPLOMACY]

टस्कनी के भूतपूर्व ड्यूक ने जो बहुत ही चतुर एवं उदार शासक था, एक बार वेनिस के राजदूत से, जो रोम में अपनी यात्रा के समय रात्रि में उसके साथ ठहरा था, शिकायत की थी कि वेनिस के प्रजातन्त्र ने, उसके दरबार में रेजीडेंट के रूप में, एक निरुपयोगी मनुष्य को भेज दिया था, जिसमें न तो निर्णय की क्षमता थी, न ज्ञान, और न कोई आकर्षक व्यक्तिगत गुण। राजदूत ने उत्तर में कहा था : 'मुझे इस बात से कोई आश्चर्य नहीं है, वेनिस में हमारे यहाँ बहुत-से मूर्ख हैं।' जिसको सुनकर ग्रांड ड्यूक ने उत्तर दिया था : 'हमारे यहाँ फ्लोरेंस से भी मूर्ख हैं, परन्तु हम उन्हें बाहर न भेजने की सावधानी बरतते हैं।'

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कूटनीति (राजनय) का अत्यधिक महत्व है। राष्ट्रीय शक्ति के जितने भी तत्व हैं कूटनीति उन्हें गतिशीलता एवं एकरूपता प्रदान करती है। राष्ट्रीय हितों की प्रगति के लिए शक्ति के विभिन्न तत्वों को अधिक प्रभावी बनाना कूटनीति द्वारा सम्भव हो सकता है। इसीलिए कूटनीति को स्वयं भी राष्ट्रीय शक्ति का एक प्रमुख तत्व माना जाता है। इसके अलावा कूटनीति राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का प्रमुख साधन है। विदेश नीति को चाहे कितनी ही अच्छी तरह योजनाबद्ध क्यों न किया हो, इसकी सफलता उत्तम कूटनीति पर निर्भर करती है। मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, "किसी राष्ट्र के वैदेशिक मामलों का इसके कूटनीतिज्ञों द्वारा संचालन करना राष्ट्रीय शक्ति के लिए शान्ति के समय उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना कि युद्ध के समय राष्ट्र शक्ति के लिए सैनिक नेतृत्व द्वारा चक्रव्यूह व दाँव-पेंचों का संचालन। यह वह कला है जिसके द्वारा राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों को अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में उन मामलों में अधिक से अधिक प्रभावशाली रूप में प्रयोग में लाया जाय, जो कि राष्ट्रीय हितों में सबसे स्पष्ट रूप से सम्बन्धित हैं।"[1]

कूटनीति राष्ट्रीय हितों को बढ़ाने में कितनी सहायक होती है, यह बात जर्मनी और इटली के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगी। पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दोनों देश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बंटे हुए थे। बिस्मार्क की कूटनीति ने न केवल जर्मनी के विभिन्न राज्यों को एक शक्तिशाली राज्य के रूप में संगठित किया, अपितु बीस वर्ष तक उसके विरोधियों में फूट डालकर और उनका ध्यान दूसरी ओर बंटाकर जर्मनी को यूरोप की एक महान शक्ति बनाने में सफलता प्राप्त की। कावूर के राजनयिक कौशल से इटली का एकीकरण हुआ, वह यूरोप का एक शक्तिशाली

परम्परावादी विचारधारा के अनुसार कूटनीतिक व्यवहार का प्रमुख उद्देश्य अन्य राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करके एक राज्य के राष्ट्रीय हितों की रक्षा एवं अभिवृद्धि करना है। इसके लिए प्रत्येक राज्य अपने राजनयिक अन्य राज्यों को भेजता है। ये रायनय अपने कुशल, बुद्धिपूर्ण एवं सद्भावपूर्ण व्यवहार द्वारा स्वागतकर्ता राज्य की जनता और सरकार का दिल जीतने का प्रयास करते है। कूटनीति (राजनय) अन्तर्राष्ट्रीय परिवार के विभिन्न सदस्यों के बीच सम्बन्ध जोड़ने का सूत्र है। इसके द्वारा अनेक सम्भावित अवसरों पर युद्ध रोका जाता है तथा राज्यों के आपसी विवादों को शक्ति प्रयोग के स्थान पर समझौते एवं वातचीत द्वारा हल किया जाता है।

आधुनिक कूटनीति, सैनिक शक्ति की भाँति, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के व्यवस्थित हल का साधन होने के साथ ही साथ, राज्य की शक्ति वढ़ाने का एक शस्त्र भी है।

कूटनीति या राजनय का अर्थ एवं स्वरूप
(THE MEANING AND NATURE OF DIPLOMACY)

कूटनीति' शब्द अंग्रेजी के 'डिप्लोमेसी' का समानार्थी है। सन् 1796 में एडमण्ड वर्क ने इस शब्द का प्रयोग किया था। 'डिप्लोमेसी' शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के 'डिप्लाउन' शब्द से हुई है जिसका अर्थ मोडना अथवा दोहरा करना (To fold) होता है। रोमन साम्राज्य में पासपोर्ट एवं सड़कों पर चलने के अनुमति-पत्र आदि दोहरे करके ही दिये जाते थे। ये पासपोर्ट तथा अनुमति-पत्र धातु के पत्रों पर खुदे रहते थे; जिनको 'डिप्लोमा' कहा जाता था। धीरे-धीरे 'डिप्लोमा' शब्द का प्रयोग सभी सरकारी कागजातों के लिए होने लगा। सन् 1693 में लैवनीट्ज तथा 1726 में ड्यूमाण्ट ने सन्धियों और शासकीय लेख-पत्रों का जो कोप तैयार किया था, उसमे 'डिप्लोमेटिक्स' तथा 'डिप्लोमेटिक' शब्दों का प्रयोग उन मूल राज्य प्रलेखों के लिए किया था जिनका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय विपयो से होता था। 'कूटनीतिक निकाय' उन समस्त राजदूतों, दूतों तथा कर्मचारियों के लिए प्रयुक्त होने लगा था जो विदेशों की राजधानी में एक स्थायी दूतावास के सदस्य होते थे तथा 'कूटनीतिक सेवाएँ' शब्द सार्वजनिक सेवाओं की उस विशिप्ट शाखा के लिए प्रयोग किया जाने लगा, जो विदेशों में स्थायी दूत मण्डलों के लिए कर्मचारियों को प्रशिक्षण देती थी।

हेरल्ड निकल्सन के अनुसार 'डिप्लोमेसी' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थो में किया जाता है। कभी-कभी इसका प्रयोग विदेश नीति के समानार्थक रूप में किया जाता है, इस कथन में कि 'दक्षिणी-पूर्वी यूरोप मे ब्रिटिश कूटनीति में ओज का अभाव है।' कभी इस शब्द द्वारा सन्धि वार्ता को इंगित किया जाता है जैसे 'इस समस्या को कूटनीति द्वारा सुलझाया जा सकता है।' 'कूटनीति' सन्धि वार्ता की प्रक्रिया एवं यन्त्र को भी इंगित करता है। कभी-कभी विदेश सेवा की एक शाखा को कूटनीति कह दिया जाता है। कूटनीति शब्द उस अमूर्त गुण या देन के लिए भी प्रयोग होता है जो अन्तर्राष्ट्रीय समझौता वार्ताओं के संचालन में कौशल का अर्थ ध्वनित करता है।[1]

हेरल्ड निकल्सन के शब्दों में, अपने श्रेष्ठ अर्थो में अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि वार्ताओं में कौशल का प्रयोग कूटनीति है तथा अपने निकृष्ट रूप में कूटनीति, छल छद्म या चालाकी का द्योतक है।

सर अर्नेस्ट सेटो ने कूटनीति की परिभाषा की है, 'कूटनीति स्वतन्त्र राज्यों की सरकारों के बीच अधिकारी सम्बन्धों के संचालन में बुद्धि और चातुर्य का प्रयोग है।'[2]

---

1 Harold Nicolson, *Diplomacy*, 1963, pp. 13-14.

2 'Diplomacy is the application of intelligence and tact to the conduct of official relations between the Government of independent states.......' —*Sir Ernest Satow*

आर्गेन्सकी के अनुसार, 'कूटनीति दो या दो से अधिक राष्ट्रों के सरकारी प्रतिनिधियों के बीच होने वाली सन्धि वार्ता की प्रक्रिया को इंगित करती है।'[1]

क्विंसी राइट ने कूटनीति को दो रूपों में परिभाषित किया है—लोकप्रिय अर्थ में तथा विशेष अर्थ में। लोकप्रिय अर्थ में कूटनीति का अर्थ है 'किसी सन्धिवार्ता या आदान-प्रदान में चातुरी, धोखेबाजी एवं कौशल का प्रयोग। अपने विशेष अर्थ में यह सन्धिवार्ता की वह कला है जो युद्ध की सम्भावनापूर्ण राजनीतिक व्यवस्था में न्यूनतम लागत से अधिकतम सामूहिक लक्ष्यों की उपलब्धि कर सके।'[2]

के. एम. पणिक्कर के शब्दों में, 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रयुक्त कूटनीति अपने हितों को दूसरे देशों से आगे रखने की एक कला है।'[3]

पेडिलफोर्ड तथा लिंकन के शब्दों में, 'कूटनीति को प्रतिनिधित्व एवं सन्धिवार्ता की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके द्वारा राज्य शान्तिकाल में परस्पर सम्पर्क रखते हैं।'[4]

मॉवट के मतानुसार 'कूटनीति राज्यों का प्रतिनिधत्व तथा समझौते करने की कला है।'[5]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्ररिप्रेक्ष्य में कूटनीति न तो बुद्धि और चातुर्य का प्रयोग है, न समझौता वार्ता करने की व्यवस्था का नाम है और न यह किसी देश का विदेश विभाग है। कूटनीति का काम है सहमति पर पहुँचना। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कूटनीति का प्रसंग वहीं आ सकता है जहाँ मतभेद मौजूद हों। यदि पूर्ण सहमति हो तो वहाँ इसका कोई प्रसंग नहीं होगा। कूटनीति का प्रयोग वहाँ होता है जहाँ असहमति या गलतफहमी के वास्तविक या सम्भावित क्षेत्र मौजूद हों। कूटनीति ऐसे क्षेत्र में कार्य करती है जहाँ बल प्रयोग की सम्भावनाएं मौजूद हों और कूटनीति का काम उन सम्भावनाओं को टालना है। कूटनीति में सफलता का अर्थ है अन्य राष्ट्रों को अपने दृष्टिकोण के अनुकूल बनाने में सफलता प्राप्त करना। कूटनीति ऐसे विरोधी हितों में सामंजस्य लाने की तकनीक है जो पहले तो मतभेद के प्रासंगिक तथ्यों का ठीक-ठीक पता लगाती है और फिर उनके समाधान की शर्तें निर्धारित करती है।

कूटनीति की उपर्युक्त परिभाषाओं के सन्दर्भ में निम्नलिखित तत्व स्पष्ट होते हैं :

(i) कूटनीति अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की व्यवस्था है;
(ii) यह समझौते और वार्ता की कला है;
(iii) यह राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का साधन है।

कूटनीति के लक्ष्य
(THE OBJECTIVES OF DIPLOMACY)

युद्ध एवं शान्तिकाल में कूटनीति राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का प्रमुख साधन है। राष्ट्रीय हित के अन्तर्गत देश की सुरक्षा, जन-कल्याण तथा अन्य लाभ सम्मिलित हैं। के. एम. पणिक्कर ने लिखा है कि "समस्त कूटनीतिक सम्बन्धों का मूलभूत उद्देश्य अपने देश के हितों की रक्षा करना होता है और हर-राज्य का मूलभूत हित स्वयं अपनी सुरक्षा करना होता है। परन्तु इस सर्वोपरि

---

1 A. F. K. Organski, *World Politics*, 1964, p. 341.
2 Quincy Wright, *The Study of International Relations* (New York, 1955), p. 158.
3 "Diplomacy used in relation to International Politics, is the art of forwarding one's interest in relation to other countries." —*K. M. Panikkar*.
4 "Diplomacy can be defined as the process of representation and negotiation by which states customarily deal with one-another in time of peace." —*Padelford and Lincoln*
5 " Diplomacy is the art of representing and of conducting negotiation." —R. B. Mowat, *Diplomacy and Peace*, London, 1935, p. 16.

लक्ष्य के अतिरिक्त आर्थिक हित, व्यापार और अपने देशवासियों की रक्षा भी ऐसे महत्वपूर्ण विषय हैं जिनका ध्यान रखना कूटनीति का उद्देश्य है।"[1]

के. एम. पणिक्कर ने कूटनीति के प्रमुख लक्ष्य इस प्रकार वताये है :

(i) मित्र राष्ट्रों के साथ सम्वन्धों को मजवूत वनाना और जिन देशों के साथ मतभेद हों उनसे यथासम्भव तटस्थ रहना।

(ii) अपने राष्ट्रीय हित की विरोधी शक्तियों को तटस्थ वनाये रखना।

(iii) अपने विरुद्ध दूसरे राष्ट्रों का एक गुट बनने से रोकना।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में कूटनीति के प्रमुख लक्ष्य निम्नलिखित है :

(1) **राष्ट्रीय हितों की रक्षा**—कूटनीति का मुख्य लक्ष्य अपने राज्य के हितों की रक्षा करना है। प्रत्येक राज्य का बुनियादी हित अपनी सीमाओं की रक्षा होता हैं। इसके अतिरिक्त आर्थिक हित, व्यापार, राष्ट्रिकों की रक्षा आदि भी महत्वपूर्ण विपय है तथा कूटनीति इनकी सुरक्षा का प्रयास करती है।

(2) **राज्य की अखण्डता की रक्षा**—कूटनीति का यह महत्वपूर्ण लक्ष्य है कि वह अपने देश की प्रादेशिक अखण्डता के साथ राजनीतिक एवं आर्थिक अखण्डता की भी रक्षा करे। आजकल केवल सैनिक आक्रमण से ही राज्य की सुरक्षा खतरे में नहीं पड़ती वरन् सामाजिक महत्व के क्षेत्रों पर नियन्त्रण करके आर्थिक दवाव एवं देश में राजनीतिक प्रभाव बढ़ाकर भी उसकी सुरक्षा को खतरे में डाला जा सकता है।

(3) **मित्रों से सम्बन्ध बढ़ाना तथा शत्रुओं को तटस्थ करना**—कूटनीति अपने राष्ट्रीय हितों की उपलब्धि के लिए मित्र देशों के साथ अपने मैत्री सम्वन्धों को दृढ़ वनाती है तथा ऐसी शक्तियों को तटस्थ बनाती है जिनसे राष्ट्रीय हितों को हानि पहुँचने की सम्भावना हो।

(4) **विरोधी शक्तियों के गठबन्धन को रोकना**—कूटनीति का एक लक्ष्य यह है कि अन्य राज्यों को अपने राज्य के विरुद्ध संगठित होने से रोके। इसके लिए उसे कुछ राज्यों के साथ समझौता करना होगा, कुछ को समर्थन देना होगा तथा कुछ को तटस्थ रखना होगा।

(5) **युद्ध का संचालन—युद्ध** आज भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक तथ्य है। यदि युद्ध छेड़ना आवश्यक वन जाये तथा सन्धि वार्ता के सभी साधन असफल हो जायें तो कूटनीति के दायित्व का रूप बदल जाता है। के. एम. पणिक्कर के अनुसार, "प्रभावशाली कूटनीति के बिना न तो युद्ध लड़े जा सकते हैं और न जीते जा सकते हैं। युद्ध से पूर्व गलत कूटनीतिक तैयारियाँ एवं युद्धकाल में प्रभावहीन कूटनीति एक शक्तिसम्पन्न राष्ट्र की हार एवं उसके विनाश का कारण बन जाता है।"[2]

(6) **आर्थिक एवं व्यावसायिक लक्ष्य**—पणिक्कर के शब्दों में 'पिछले तीस' वर्षों में व्यावसायिक कूटनीति अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का एक सर्वाधिक सक्रिय पहलू वन गया है।' अव प्रत्येक राज्य यह जान गया है कि व्यापार को राजनीतिक कार्यों में प्रमुख साधन के रूप में प्रयुक्त किया जाये। प्रत्येक राज्य दूसरे देशों में अपने उत्पादनों के लिए वाजार तलाश करता है, स्पर्द्धा को घटाता है, आर्थिक सतर्कता रखता है तथा अपने हितों की रक्षा के लिए अन्य उचित कदम उठाता है।

(7) **सद्भावना की स्थापना**—राष्ट्रीय हित की उपलब्धि के लिए कूटनीति को अपने सभी उपलब्ध साधनों द्वारा दूसरे देशों के साथ सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए।

---

1 के. एम. पणिक्कर, **कूटनीति के सिद्धान्त और व्यवहार** (हिन्दी), 1957, पृ. 4.

2 K. M. Panikkar, *The Principles and Practice of Diplomacy*, p. 26.

पामर एवं पर्किन्स ने लिखा है—"विदेश नीति की भाँति कूटनीति का उद्देश्य, सम्भवत: शक्ति साधनों द्वारा, लेकिन यदि युद्ध को नहीं रोका जा सका तो सैनिक गतिविधियों की सहायता प्रदान कर, राष्ट्रीय सुरक्षा प्रदान करना है। कूटनीति, जैसा कि निकल्सन ने कहा है, युद्ध काल में समाप्त नहीं हो जाती हालांकि युद्ध काल में उसे अलग भूमिका निभानी पड़ती है तथा विदेश मन्त्रियों की तरह कूटनीतिज्ञों का कार्यक्षेत्र अधिक व्यापक हो जाता है। इस शताब्दी के दो विश्व-युद्ध इस धारणा की पुष्टि करते हैं।"[1]

कूटनीति के कार्य
(THE FUNCTIONS OF DIPLOMACY)

कौटिल्य के अनुसार कूटनीति के कार्य हैं—अपने राज्य का सन्देश अन्य राज्य को तथा अन्य राज्य का सन्देश अपने राज्य को देना, सन्धियों का पालन कराना, अपने राज्य की शक्ति का प्रदर्शन करना, मित्र बढ़ाना तथा शत्रुओं में फूट पैदा करना आदि-आदि। के. एम. पणिक्कर के अनुसार कूटनीति का एक लक्ष्य अपने देश के प्रति दूसरे देशों की सद्भावना अर्जित करना है, जिसके लिए चार बातें आवश्यक हैं—(i) दूसरे देश उस देश की नीतियों को ठीक प्रकार समझें, (ii) ये उनके प्रति सम्मान के भाव रखें, (iii) वह देश दूसरे देशों के न्यायोचित हितों को जानें, तथा (iv) वह देश ईमानदारी का व्यवहार करें। मारगेन्थाऊ ने कूटनीति के चार कार्य बताये हैं—(i) कूटनीति का सबसे पहला काम राज्य की शक्ति को ध्यान में रखकर अपने लक्ष्यों को निर्धारित करना है, (ii) उसका काम दूसरे राज्य की शक्ति का भी वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन करना है; (iii) वह इस बात का भी पता लगाये कि विभिन्न राज्यों के लक्ष्य और उसके अपने राज्य के लक्ष्य एक-दूसरे के साथ किस सीमा तक मेल खाते हैं; (iv) अन्त में कूटनीति को अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए समुचित उपाय—समझौता, समझाना-बुझाना, बल प्रयोग की धमकी आदि काम में लानी चाहिए।

शस्त्र एवं मित्र युद्ध के औजार है। कूटनीति का कार्य बारूद को सूखी रखना तथा मित्रों को प्राप्त करना एवं लोगों को प्रभावित करना है।

संक्षेप में, कूटनीति के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं :

(1) **सन्धि वार्ता**—कूटनीति अपने तथा दूसरे राज्य के बीच विभिन्न विषयों पर समझौता वार्ता करने का महत्वपूर्ण माध्यम है। कूटनीतिज्ञ न केवल उस राज्य से सम्बन्ध रखता है जिसके लिए वह भेजा गया है वरन् अन्य राज्यों के साथ भी सन्धि वार्ता कर सकता है। कूटनीतिज्ञ अपने राष्ट्रीय हित में तर्क प्रस्तुत करता है। वह समझौता वार्ताओं में अपने देश के पक्ष में सौदेबाजी करता है तथा अपने देश के पक्ष में अधिक लाभ अर्जित करने का प्रयत्न करता है।

(2) **निरीक्षण**—कूटनीति का अन्य महत्वपूर्ण कार्य दूसरे राज्य की राजनीतिक परिस्थितियों का निरीक्षण करते रहना और उसका पूरा प्रतिवेदन अपनी सरकार को भेजना है। दूसरे देश के गुप्त भेदों को जानने के लिए तथा अपने हितों की पूर्ति के लिए कभी-कभी कूटनीतिज्ञ जासूसी कार्यवाही भी करते है।

(3) **संरक्षण**—कूटनीति का अन्य कार्य विदेश में स्थित अपने देश के नागरिकों की सम्पत्ति, जीवन एवं अन्य हितों की रक्षा करना है। यदि विदेशों में अपने देशवासियों के सम्मान एवं हितों को चोट पहुँचती है तो राजनयज्ञ वहाँ के विदेशमन्त्री से सम्पर्क करते हैं।

(4) **प्रतिनिधित्व**—कूटनीतिज्ञ दूसरे देशों में अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में अपने राज्य की सरकार का प्रतिनिधित्व करते है। एक प्रतिनिधि के रूप में कूटनीतिज्ञ अपने राज्य तथा

---
1 Palmer and Perkins, *International Relations*, 1970, p. 85.

सरकार का प्रतीक होता है तथा उनके विचारों की अभिव्यक्ति करता है। वह अपने देश के दृष्टिकोण को बड़ी चतुरता, स्पष्टता एवं संक्षिप्तता के साथ प्रस्तुत करता है।

(5) **जनसम्पर्क**—राजनयज्ञ निरन्तर अपने राज्य और उसकी नीतियों के प्रति सद्भावना बनाने के कार्य में संलग्न रहता है। इसके लिए वह प्रचार तथा जनसम्पर्क के दूसरे कार्य सम्पन्न करता है। पार्टियों एवं भोजों में सम्मिलित होता है, सार्वजनिक एवं अन्य अवसरगत भाषण देता है।

वियना अभिसमय (1961) में कूटनीतिज्ञ के पाँच कार्यों का उल्लेख किया गया है—(i) विदेशों में अपने राज्य का प्रतिनिधित्व करना, (ii) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार अपने राज्य के नागरिकों के हितों की रक्षा करना, (iii) अन्य राज्यों से विविध विषयों पर वार्ता करना, (iv) अन्य राज्यों की परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त करके अपने देश को सूचना एवं प्रतिवेदन भेजना, और (v) स्वदेश तथा ग्रहणकर्ता राज्यों के बीच आर्थिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक क्षेत्र में मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना करना।

कूटनीतिक वार्ता के उद्देश्य
(THE OBJECTS OF DIPLOMATIC NEGOTIATION)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जब दो या दो से अधिक राज्यों की सरकारों के बीच कूटनीतिक वार्ता आरम्भ होती है तो मोटे तौर से तीन उद्देश्य हो सकते है : (i) एक-दूसरे के उद्देश्यों तथा नीतियों को बदलना, (ii) यदि उनके उद्देश्य तथा नीतियाँ पहले से ही अनुकूल है तो उनमें यथा-स्थिति कायम रखना, (iii) किसी विवादास्पद प्रश्न का समाधान करने के लिए समझौता करना।

कभी-कभी कूटनीतिक वार्ता का उद्देश्य केवल विचारों का आदान-प्रदान होता है। इस प्रकार की बातचीत में कोई सौदेबाजी नही होती। कभी-कभी कूटनीतिक वार्ताओं का उद्देश्य जन-साधारण में भ्रम पैदा करना भी हो सकता है, यथार्थ में उनकी आकांक्षा कोई समझौता करने की नहीं होती। कभी वार्ता का उद्देश्य केवल प्रचार करना होता है। राजनयिक सम्मेलनों का प्रयोग लोकमत को अपने अनुकूल बनाने के लिए तथा प्रतिपक्षी की मोल-तोल करने की सामर्थ्य को कम करने के लिए किया जाता है।[1]

कूटनीति के साधन
(THE MEANS OF DIPLOMACY)

मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, "एक कुशल राजनय (Diplomacy) का, जो शान्ति संरक्षण के लिए तत्पर है, अन्तिम कार्य है कि वह अपने ध्येयों की प्राप्ति के लिए उपयुक्त साधनों को चुने। राजनय को तीन प्रकार के साधन प्राप्त होते है—अनुनय, समझौता तथा शक्ति की धमकी।"[2]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनय में प्रयोग में आने वाला मुख्य तरीका अनुनय का है और सफल राजनयज्ञ में अनुनय की कला होने की आशा की जाती है। वार्ता करने वाले पक्ष राष्ट्र होते है, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अनुनय का क्षेत्र बहुत बड़ा नहीं होता। कूटनीति सहमति पर पहुँचने की एक प्रक्रिया है। यदि सहमति होना असम्भव सिद्ध हो तो कूटनीति का क्षेत्र समाप्त हो जाता है क्योंकि उस स्थिति में बल प्रयोग का सहारा लिया जाता है और बल प्रयोग सहमति के बिना दूसरों को प्रभावित करने का एक तरीका है। कूटनीतिज्ञ पुरस्कार का वचन या दण्ड की

---

1 K. J. Holsti, *International Politics* (Third edition), pp. 197-98.
2 Morgenthau, *Ibid.*, pp. 540-41.

धमकी दे सकते है जो दोनों शक्ति के प्रयोग की विधियों में आते हैं। कूटनीतिज्ञ का पुरस्कार का वचन देने और दण्ड की धमकी देने की सामर्थ्य भी सीमित होती है। उदाहरण के लिए, वह वे पुरस्कार नहीं पेश कर सकता जो उसके राष्ट्र के पास नहीं हैं।

कोई भी कूटनीति जो अनुनय और समझौते पर भी निर्भर करती है, कुशल कहलाने के योग्य नहीं है। साधारणतया एक बड़े राष्ट्र के कूटनीतिक प्रतिनिधि को अपने देश के हितों और शान्ति के हितों की सेवा करने के योग्य होने के लिए एक ही समय में अनुनय का प्रयोग करना होगा, समझौते के लाभ उठाने होंगे तथा दूसरे पक्ष को अपने देश की सैनिक शक्ति से भी अवगत करना होगा। जैसाकि फ्रेडरिक एल. शूमां ने लिखा है, "कूटनीतिज्ञों का प्रथम कर्तव्य राष्ट्रीय सुरक्षा है····परन्तु सभी समयों एवं सभी परिस्थितियों में सुरक्षा शक्ति पर निर्भर रहती है तथा शक्ति उस समय तक व्यर्थ रहती है जब तक कि आवश्यकता पड़ने पर उसे सशस्त्र शक्ति के रूप में परिणत न किया जा सके।"

कूटनीति या राजनय के यन्त्र
(INSTRUMENTS OF DIPLOMACY)

कूटनीति के संगठित यन्त्र दो हैं—सम्बन्धित राष्ट्रों की राजधानियों में विदेश मन्त्रालय तथा विदेशी राष्ट्रों की राजधानियों में विदेश मन्त्रालय द्वारा भेजे जाने वाले राजनयिक प्रतिनिधि। **विदेश मन्त्रालय** नीति-निर्माण करने वाला अभिकरण है। यह विदेश नीति का मस्तिष्क है, जहाँ बाह्य संसार से अनुभव एकत्रित किये जाते है तथा इनका मूल्यांकन किया जाता है। जबकि विदेश मन्त्रालय विदेश नीति का मस्तिष्क है, **कूटनीतिक प्रतिनिधि** इसकी आँखें, कान, मुख अँगुलियाँ तथा एक प्रकार से इसके भ्रमणशील अवतार है।

कूटनीति तथा विदेश नीति
(DIPLOMACY AND FOREIGN POLICY)

कूटनीति तथा विदेश नीति साधारणतया पर्यायवाची माने जाते है। विदेश नीति और कूट-नीति दो पहिये हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की गाड़ी को आगे बढ़ाते है। आज भी राज्यों की कोई न कोई विदेश नीति होती है तथा उसे क्रियान्वित करने के लिए तदनुसार कूटनीति का सहारा लिया जाता है।

जे. आर. चाइल्ड्स ने कूटनीति और विदेश नीति में अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि विदेश नीति एक देश के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का सार है, तो कूटनीति वह प्रक्रिया है जिससे विदेश नीति कार्यान्वित की जाती है। एक नीति है तो दूसरा वार्ताक्रम। विदेश नीति एक विधायी प्रक्रिया है, जबकि कूटनीति कार्यकारी प्रक्रिया है। विदेश नीति के निर्माण में मन्त्रिमण्डल, संसद, लोकमत एवं शासनमर्मज्ञों का विशेष भाग होता है, जबकि कूटनीति का संचालन सन्धिवार्ता की कला में प्रवीण और अनुभवी व्यावसायिक व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। कूटनीति द्वारा विदेश नीति को क्रियात्मक स्वरूप प्राप्त होता है।

हेरल्ड निकल्सन ने विदेश नीति और कूटनीति में अन्तर करते हुए लिखा है—"जहाँ कूट-नीति समाप्त होती है वहीं विदेश नीति आरम्भ होती है। दोनों का लक्ष्य राष्ट्रीय हितों का अन्तर्राष्ट्रीय हितों से समायोजन है। विदेश नीति का मूल उद्देश्य राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है, जबकि कूटनीति साध्य न होकर साधन है, उद्देश्य न होकर एक माध्यम है। कूट-नीति वह अभिकरण है जिसके माध्यम से विदेश नीति अपने लक्ष्यों की प्राप्ति, युद्ध की अपेक्षा, प्राप्त करती है।"

आधुनिक संचार साधनों के विकास के बाद विदेश नीति और कूटनीति का वह अन्तर कम रहा है। संचार साधनों के आविष्कार के बाद कूटनीतिज्ञों की घटनाओं तथा निर्णयों को

प्रभावित करने की क्षमता कम होती जा रही है । आज का कूटनीतिज्ञ निरन्तर अपनी सरकार से सम्पर्क रखता है तथा विशेष समस्या उत्पन्न होने पर तुरन्त उससे परामर्श प्राप्त कर लेता है । लेस्टर पीयर्सन के अनुसार कूटनीति इस अर्थ में विदेश नीति है कि आजकल नीतिनिर्माता स्वयं ही कूटनीतिक प्रतिनिधियों का कार्य करते है तथा स्वयं अपनी नीतियों को कार्यरूप देते हैं । प्रतिदिन शिखर सम्मेलनां या विदेशमन्त्रियों के सम्मेलनों के समाचार सुनने में आते है, जिससे ऐसा लगता है कि नीति-निर्माता कूटनीतिज्ञ बनते जा रहे हैं ।

कूटनीति और राष्ट्रीय शक्ति
(DIPLOMACY AND NATIONAL POWER)

कूटनीति को राष्ट्रीय शक्ति से भिन्न करके नहीं देखा जा सकता । मॉरगेन्थाऊ तो राज्य के अन्य सभी शक्ति तत्वों को कच्चे माल की संज्ञा देता है, जिन्हें कूटनीति की कला एक विशिष्ट रूप से प्रयोग, संगठित और निर्देशित सम्पूर्ण राज्य की शक्ति का विकास करती है । कूटनीति ही एक राज्य की असंगठित शक्ति तत्वो को निश्चित दिशा देती है तथा छिपी शक्ति सम्भावनाओं का समायोजन करके उसे यथार्थ शक्ति का रूप देती है । राष्ट्रीय मनोवल जिस प्रकार शक्ति की आत्मा है, कूटनीति उसी प्रकार राष्ट्रीय शक्ति का मस्तिष्क । कूटनीति वह कला है, जो राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों का सामूहिक दृष्टि से इस प्रकार प्रयोग करती है कि तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों मे राष्ट्रीय हित को अधिकाधिक लाभ हो ।

कुशल तथा सक्रिय कूटनीति, एक देश की शक्ति को किस प्रकार घटा-बढ़ा सकती है, इसके अनेक स्पष्ट उदाहरण इतिहास में मिलते है । 19वी शताब्दी मे एक वहुत छोटे-से देश वेल्जियम का प्रभाव उसके दो सम्राटों लियोपोल्ड प्रथम व द्वितीय के कुशल राजनय संचालन को ही दिया जा सकता है । 17वी शताब्दी में टर्की ने राष्ट्रीय शक्ति के ह्रास की क्षतिपूर्ति अपने कूटनीतिक सम्बन्धों के योग्य संचालन से की । इसी प्रकार ब्रिटेन की शक्ति कार्डीनल वूल्जे, कैस्टरले व कैनिंग के हाथों विकसित हुई; रिजलू, जारिन व टैलीरेण्ड कूटनीतिज्ञों के अभाव में फ्रांस की, बिस्मार्क के अभाव में जर्मनी की तथा कैवूर के बिना इटली की क्या स्थिति होती, इसका हम अनुमान लगा सकते हैं। दो विश्वयुद्ध के अन्तराल में रूमानिया ने अपनी चातुर्यपूर्ण कूटनीति के कारण अपनी शक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों को प्रभावित किया, जिसका श्रेय उसके विदेशमन्त्री ट्टियुल्सु को है ।

राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि में कूटनीतिज्ञों का योगदान
(DIPLOMAT'S CONTRIBUTION IN PROMOTING NATIONAL INTEREST)

राष्ट्रीय हितों की अभिनृद्धि को ध्यान में रखते हुए विदेश नीति के उद्देश्यों तथा कूटनीति के लक्ष्य की प्राप्ति का प्रमुख उत्तरदायित्व कूटनीतिज्ञों पर होता है । कूटनीतिज्ञ ही विभिन्न कार्यों द्वारा नीतियों को साकार रूप प्रदान करते है । प्राचीनकाल से ही इन कूटनीतिज्ञों का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्व रहा है । इन कार्यों एवं महत्व के विषय में कौटिल्य ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक अर्थशास्त्र में लिखा है—"अपनी सरकार के दृष्टिकोण को दूसरी सरकार तक पहुँचाना, सन्धियों को वनाये रखना, अपने राज्य के हितों की रक्षा करना—यदि आवश्यक हो तो डरा-धमकाकर भी मित्र वनाना, फूट डालना, गुप्त संगठन वनाना, गुप्तचरों की गतिविधि के बारे में जानकारी प्राप्त करना, जो सन्धियाँ अपने राज्य के हित में न हों उन्हें निष्फल वनाना, उस देश (जिसमें वह नियुक्त हो) शासनाधिकारियों को अपनी तरफ मिलाना ये राजदूत के कर्तव्य हैं ।"[1]

---

1 के. एम. पणिक्कर, **उपर्युक्त**, पृ. 4.

कौटिल्य ने राजदूत के जिन कर्तव्यों का उल्लेख किया है, सामान्यत: ये सभी कूटनीतिज्ञों के लक्ष्य हैं जिनसे राष्ट्रीय हितों की पूर्ति होती है। कौटिल्य से भी पहले मनु ने मनुस्मृति में लिखा है कि युद्ध और शान्ति ये सब राजदूत के प्रयासों पर निर्भर हैं। इसी प्रकार पणिक्कर ने भगवान श्रीकृष्ण का उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया है कि जब वे पाण्डवों का पत्र लेकर कौरवों के दरबार में गये तो उनका लक्ष्य पाण्डवों के हितों का संरक्षण करना था।

यूनानी नगर राज्यों में भी, विशेषत: बाइजेण्टियम के राजदरबार में, कूटनीति एक परिमार्जित कला बन गयी थी तथा शासक वर्ग ऐसे व्यक्तियों का सदैव ही आदर करते थे। यह स्थिति प्रत्येक युग में बनी रही। धीरे-धीरे कूटनीतिज्ञों का स्थायी महत्व स्वीकार किया गया और राज्य कूटनीतिज्ञों की स्थायी नियुक्ति करने लगे। उनकी नियुक्ति किसी कार्य विशेष अथवा किसी सन्धि वार्ता की पूर्ति तक के लिए ही नहीं की जाती थी। ऐसे कार्य या वार्ता की समाप्ति हो जाने के बाद भी उनके पद का अन्त नहीं होता था। स्थायी कूटनीतिज्ञों का महत्व लगभग 15वीं शताब्दी से स्वीकार किया जाता है।

कूटनीतिज्ञों के प्रकार एवं वर्ग
(KINDS AND CLASSES OF DIPLOMATIC ENVOYS)

वियना की कॉंग्रेस ने 1815 में राजनयिक प्रतिनिधियों को तीन श्रेणियों में बाँटा। सन् 1818 की एक्स-ला-शैपल की कॉंग्रेस ने उसमें एक चौथी श्रेणी और जोड़ दी। 1961 के वियना अभिसमय ने इसको मान्यता दे दी है। वरिष्ठता के क्रम से वे श्रेणियाँ निम्नलिखित हैं :

(1) **राजदूत, पोपदूत तथा नंसियों** (Ambassador, Papal Legates and Nuncious) प्रारम्भ में शाही सम्मान से युक्त राज्यों द्वारा ही राजदूत भेजे जाते थे और स्वीकार किये जाते थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अन्य छोटे राज्य भी राजदूत भेजने लगे हैं। राजदूतों को उनके राज्य के अध्यक्षों का व्यक्तिगत प्रतिनिधि माना जाता है और इसलिए इनको विशेष सम्मान तथा अधिकार प्रदान किये जाते हैं। राजदूत का सबसे बड़ा अधिकार यह है कि वह राज्य के अध्यक्ष या राष्ट्रपति से सीधा मिल सकता है और वार्ता कर सकता है। राजदूतों को परमश्रेष्ठ (His Excellency) के रूप में सम्बोधित किया जाता है। इसके पीछे यह औचित्य है कि राजदूत राजा का व्यक्तिगत प्रतिनिधि होता है। धर्म के अधिष्ठाता पोप द्वारा जो राजदूत भेजे जाते हैं उन्हें पोपदूत या नंसियो कहते हैं।

(2) **पूर्ण अधिकारयुक्त मन्त्री और साधारण दूत** (Minister Plenipotentiary and Envoys Extraordinary)—इस श्रेणी के दूतों को राज्य के अध्यक्ष का व्यक्तिगत प्रतिनिधि नहीं माना जाता। अत: इनको राजदूतों जैसा विशेष सम्मान प्राप्त नहीं होता। वे राज्य के अध्यक्ष से व्यक्तिगत रूप से नहीं मिल सकते। वे प्रत्येक समय श्रोताओं की माँग नहीं कर सकते। वे सौजन्यतावश ही 'एक्सलेन्सी' से सम्बोधित किये जाते हैं।

(3) **निवासी मन्त्री** (Minister Resident)—दूतों की इस श्रेणी को द्वितीय की अपेक्षा कम गौरव और सम्मान प्राप्त होता है। इनको सौजन्यवश भी 'परमश्रेष्ठ' का सम्बोधन नहीं दिया जाता है। यह श्रेणी 1818 में एक्स-ला-शैपल की कॉंग्रेस द्वारा जोड़ी गयी थी। आजकल निवासी मन्त्री नियुक्त करने की प्रथा कम होती जा रही है।

(4) **कार्यदूत** (Charges Affairs)—दूतों के इस विशेष वर्ग की विशेषता यह है कि इन्हें एक राज्य के विदेश मन्त्रालय द्वारा दूसरे राज्य के विदेश मन्त्रालय के लिए भेजा जाता है। इससे भिन्न उसे तीनों श्रेणियों के दूतों को एक राज्य के अध्यक्ष द्वारा दूसरे राज्य के अध्यक्ष के लिए भेजा जाता है। कार्यदूतों को अन्य दूतों की भाँति विशेष सम्मान और गौरव प्रदान नहीं

किया जाता। ये अपनी नियुक्ति के प्रत्यय-पत्र राज्य के अध्यक्ष को नहीं वरन् विदेशमन्त्री को सौंपते हैं।

ओपेनहीम ने राजनयिक दूतों के दो प्रकारों का उल्लेख किया है—(1) वे दूत जिन्हें राजनीतिक सन्धिवार्ता के लिए भेजा जाता है और (2) वे दूत जो केवल समारोहपूर्ण कार्यों के लिए भेजे जाते हैं। दोनों प्रकार के दूत एक जैसा महत्व रखते हैं। राजनीतिक दूतों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(i) स्थायी अथवा अस्थायी रूप से किसी राज्य में समझौता वार्ता करने के लिए भेजे गये दूत; (ii) किसी कांग्रेस या सम्मेलन का प्रतिनिधित्व करने के लिए भेजे गये दूत। दूसरे प्रकार के राजनीतिक दूत यद्यपि जिस राज्य को भेजे जाते हैं उसमें वसते नहीं हैं किन्तु वे राजनयिक दूत ही होते हैं और इस पद के सभी विशेषाधिकारों का प्रयोग करते हैं।

पुरानी कूटनीति की विशेषताएँ (Characteristics of the Old Diplomacy)—फ्रेंच कूटनीतिक विधि को ही पुरानी कूटनीति कहा जाता है। इस विधि का अर्थ है अन्तर्राष्ट्रीय वार्ता के वे सिद्धान्त और व्यवहार जो रिशलू ने बनाये थे, कैलियरे ने जिनका विश्लेषण किया था तथा बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक जिन्हें अपना रखा था। हेराल्ड निकल्सन ने पुरानी कूटनीति की पाँच विशेषताएँ बतायी हैं—**प्रथम,** पुरानी कूटनीति में यूरोप को सबसे महत्वपूर्ण महाद्वीप माना जाता था। एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका को तो व्यापार, साम्राज्य तथा ईसाई धर्म के विस्तार का क्षेत्र समझा जाता था। यूरोपीय राज्यों द्वारा ही अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और युद्ध सम्बन्धी प्रश्नों का निर्णय किया जाता था। **द्वितीय,** कूटनीति की दृष्टि से छोटे राज्यों की स्थिति अपेक्षाकृत महत्वहीन थी, बड़ी शक्तियाँ अक्सर छोटी शक्तियों की उपेक्षा कर देती थीं। 1815 के वियना सम्मेलन में छोटे राज्यों का कोई प्रतिनिधि नहीं था। **तृतीय,** महाशक्तियों का यह दायित्व माना जाता था कि छोटी शक्तियों के आचरण का निरीक्षण करें। छोटी शक्तियों के बीच संघर्ष होने पर महाशक्तियाँ हस्तक्षेप करती थीं। **चतुर्थ,** प्रत्येक यूरोपीय देश में एक पेशेवर कूटनीतिक सेवा कायम कर दी गयी थी। **पंचम,** सारी समझौता वार्ताएँ गुप्त थीं। कूटनीति इस अर्थ में गुप्त थी कि आम लोगों को न तो वार्ताओं के स्वरूप के बारे में जानकारी दी जाती थी और न उन्हें विचार-विमर्श में कोई हिस्सा लेने या उन पर कोई प्रभाव डालने का मौका दिया जाता था। कूटनीति राजाओं और राजदूतों का विशेष क्षेत्र माना जाता था। वहीं इसके प्रमुख सूत्रधार होते थे और सारी राजनयिक बातचीत और पत्र-व्यवहार करते थे, राज्यों के विशाल प्रदेशों का बँटवारा राजा जनता से बिना पूछे या उसे बिना बताये मनमाने ढंग से किया करते थे। तीन बार पोलैण्ड का बँटवारा इसका प्रमुख उदाहरण है। गुप्त सन्धियों की प्रथा उस समय सार्वभौम पद्धति थी। विस्मार्क ने रूस, इटली और जर्मनी के साथ अनेक गुप्त सन्धियाँ की थीं। **षष्ठ,** इस समय राजनय का क्षेत्र राजदरबारों (Diplomacy of Courts) तक ही सीमित था। राजतन्त्र की पद्धति प्रचलित होने के कारण राजदूत राजाओं के प्रतिनिधि होते थे; उनके निर्देशों पर अपने सारे कार्य करते थे। जनता इस कूटनीति के संचालन में किसी प्रकार का कोई भाग नहीं लेती थी। 1815 के वियना कांग्रेस जैसे सम्मेलनों में यूरोप के मानचित्र का पुनः निर्माण करते हुए विभिन्न राज्यों की सीमाओं में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये थे, पराजित निर्बल राष्ट्रों के विशाल प्रदेश दूसरे राज्यों को दिये गये थे; किन्तु इसमें जनता की कोई सम्मति नहीं ली गयी थी।

कूटनीति की सीमाएं
(LIMITATIONS OF DIPLOMACY)

आधुनिक युग में संचार साधनों के विस्तार एवं जन-सामान्य की जागरूकता ने कूटनीति की 11वीं शताब्दी की भूमिका को अत्यधिक कम कर दिया है। द्वितीय महायुद्ध के बाद तो कूटनीति

की सफलता में इतनी अधिक कमी आ गयी है जितनी इतिहास में कभी न थी। मॉरगेन्थ.ऊ के अनुसार, "द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राजनय अपना महत्व खो चुकी है। इसके का। अब इतने कम रह गये हैं जितने राज्य व्यवस्था के इतिहास में कभी नहीं रहे थे।"

कूटनीति की सीमाओं का अभिप्राय प्रभावहीन होना नहीं है बल्कि इच्छित लाभ प्राप्त करने में असफल होना है। आधुनिक युग में विभिन्न राज्यों के मध्य कुछ ऐसी समस्याएँ पैदा हो गयी हैं जिनका समाधान करने में कूटनीति असफल रही है। उदाहरणार्थ, 1947 में भारत-पाक संघर्ष, 1962 में भारत-चीन संघर्ष, पश्चिमी एशिया में अरब-इजराइल संघर्ष आदि राजनय की सफलताएँ हैं। इस सन्दर्भ में आधुनिक राजनय की निम्नलिखित सीमाएँ स्पष्ट होती हैं :

(i) राष्ट्रों द्वारा अपने हितों व मान्यताओं के सम्बन्ध में कठोर रुख अपनाना।
(ii) राष्ट्रों के मध्य शक्ति सम्बन्ध।
(iii) अन्तर्राष्ट्रीय कानून।
(iv) हीन राजनयिक क्षमता।
(v) सौदेवाजी करने वाले राज्य की साख।
(vi) विश्व जनमत का भय या दबाव।

(i) **राष्ट्रों द्वारा अपने हितों व मान्यताओं के सम्बन्ध में कठोर रुख अपनाना**—आधुनिक युग में विश्व के विभिन्न राज्य कुछ मान्यताओं व हितों को लेकर चलते हैं जिनके सम्बन्ध में अगर ये समझौते के लिए तैयार हो जायें तो यह इनकी हार होती है जिससे इनका राजनीतिक प्रभाव समाप्त हो जाता है। इसलिए समझौते की इच्छा होते हुए भी ये हठधर्मी एवं दृढ़ता अपनाते हैं। राज्यों के मध्य इस प्रकार का राजनीतिक वातावरण राजनय की भूमिका को समाप्त कर देता है। उदाहरणार्थ जर्मनी के एकीकरण में पश्चिमी और साम्यवादी गुट द्वारा यही रुख अपनाया गया है।

(ii) **राज्यों के मध्य शक्ति सम्बन्ध**—कूटनीति की सफलता की सम्भावना दुर्बल या कम शक्तिशाली राज्यों के मध्य अधिक होती है लेकिन जहाँ वार्ता में दो बराबर शक्ति के राज्य हों वहाँ सफलता की आशा कम हो जाती है क्योंकि न तो धमकी और न ही दृढ़ रुख असर डालते हैं। आधुनिक युग दो महाशक्तियों के मध्य बँटा हुआ है। जब कभी ये महाशक्तियाँ विश्व समस्याओं में उलझी हैं उसका समाधान करने में राजनय असफल रहा है। उदाहरणार्थ, अमरीका और रूस के मध्य शक्ति सम्बन्धों के कारण जर्मनी का एकीकरण, कोरिया का एकीकरण तथा अरब-इजरायल समस्याएँ अनसुलझी रह गयीं।

(iii) **अन्तर्राष्ट्रीय कानून**—प्राचीन समय में अनैतिक और अवैधानिक तरीके भी राजनय की सफलता के लिए अपनाये जाते थे। लेकिन आज अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मान्य और नियमित हो जाने के कारण राजनय के अन्तर्गत बहुत-से कार्य नहीं किये जा सकते। यह भी एक सीमा बन जाता है।

(iv) **हीन राजनयिक क्षमता**—आजकल विश्व में ऐसे राज्यों की संख्या बहुत ज्यादा है जिनकी शक्ति की दृष्टि से स्थिति दुर्वल है। एक ओर मारीशस जैसा दुर्वल राज्य है तो दूसरी ओर अमरीका जैसा अत्यधिक शक्तिशाली राज्य। इसलिए जब एक निर्वल राजनय क्षमता वाला राज्य शक्तिशाली राज्य से विचार-विमर्श करता है तो सौदेवाजी की कम शक्ति होने के कारण राजनय असफल हो जाता है।

(v) **सौदेबाजी करने वाले राज्य की साख**—राजनय उस दशा में भी असफल हो जाता है जब वार्तालाप में सम्मिलित राज्यों के मध्य विश्वास न हो। विश्व में आज ऐसी ही स्थिति है। अमरीका और रूस वार्तालाप से पूर्व यह मानकर चलते हैं कि उन्हें धोखा देने के लिए दूसरा राज्य तत्पर है।

(vi) **विश्व जनमत का भय व दबाव**—संचार साधनों के विकास के परिणामस्वरूप विश्व में घटित होने वाली कोई घटना क्षेत्रीय न होकर विश्वव्यापी हो जाती है जिसके परिणाम-स्वरूप साधारण से साधारण व्यक्ति भी उन शर्तों के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी रखता है जो विभिन्न राजनयिज्ञों ने एक-दूसरे के समक्ष रखी हैं। साधारण व्यक्ति इन शर्तों को राष्ट्रीय मान-अपमान का प्रश्न बना लेता है तथा उस राजनयिज्ञ को कमजोर समझता है जो रियायतें दे दें। राजनयिज्ञ जनता की इस प्रतिक्रिया से सचेष्ट रहते हैं तथा रियायत न देना ही हितकर समझते हैं। चैम्बरलेन को म्यूनिच पैक्ट (1936) में हिटलर को रियायतें देने के कारण प्रधानमन्त्री पद त्यागना पड़ा। इसी प्रकार ताशकन्द समझौते में पाकिस्तान को दी गयी रियायतों व जनता की प्रतिक्रिया की सम्भावना लाल बहादुर शास्त्री मानसिक और शारीरिक रूप से न सह सके।

कूटनीति की अवनति
(THE DECLINE OF DIPLOMACY)

आज कूटनीति के परम्परावादी स्वरूप की अवनति हो रही है। परम्परावादी कूटनीति की विशेषता थी गुप्तता, छद्म, व्यक्ति विशेष का महत्व, रोमांचित कपट आदि। प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त के साथ कूटनीति की अवनति आरम्भ हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व की शताब्दी में विदेश नीति के निर्माण में कूटनीतिज्ञों द्वारा लिया गया भाग और भी कम हो गया तथा एक तकनीक के रूप में विदेशी सम्बन्धों के परिचालन में कूटनीति की अवनति और भी प्रत्यक्ष हो गयी। मॉरगेन्थाऊ ने कूटनीति की अवनति के पाँच कारण बताये है :

(1) संचार-व्यवस्था का विकास,
(2) कूटनीति का अवमूल्यन,
(3) संसदीय प्रक्रिया द्वारा कूटनीति,
(4) कूटनीति में नवागन्तुक,
(5) वर्तमान विश्व राजनीति का स्वरूप।

(1) **संचार व्यवस्था का विकास** (Development of Communication)—कूटनीति का महत्व उस समय अधिक था जब आवागमन एवं संचार के द्रुतगामी साधनों का विकास नहीं हो पाया था। प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व स्थायी कूटनीतिक प्रतिनिधियों के आवश्यक होने का कारण यह था कि सविस्तार सन्देशों को शीघ्रतापूर्वक एवं अविच्छिन्न रूप से भेजने की सुविधाएँ कष्टदायक थीं। लेकिन अब संचार-साधनों का इतना तीव्र विकास हुआ है कि कूटनीतिज्ञों को कहीं भी कुछ ही मिनटों में बेतार-व्यवस्था द्वारा निर्देश दिया जा सकता है। कुछ ही घण्टों में कूटनीतिज्ञ परामर्श करने के लिए विभिन्न देशों में आ-जा सकता है। इससे विदेश मन्त्रालय के प्रभाव में वृद्धि हुई है। मॉरगेन्थाऊ के शब्दों में, कूटनीति की अवनति का आंशिक कारण हवाई जहाज, रेडियो, तार, टेलीटाइप, दूरस्थ टेलीफोन के रूप में शीघ्र एवं नियमित संचार-व्यवस्था का विकास था।"

(2) **कूटनीति का अवमूल्यन** (Depreciation of Diplomacy)—कूटनीति एवं कूट-नीतिज्ञ शब्दों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। कूटनीति का सामान्य अर्थ चालाकी, धूर्तता, छल-कपट, झूठ आदि से लिया जाता है। लोगों में ऐसा विश्वास पनपता जा रहा है कि कूटनीतिक सेवाओं का परित्याग करना ही चाहिए क्योंकि ये शान्ति के मूल में केवल कोई योगदान ही नहीं देती, वरन् वास्तव में शान्ति को संकट में डालती हैं। कूटनीतिज्ञों के व्यक्तित्व पर अविश्वास किया जाता है तथा यह माना जाता है कि वह कोई भी अनैतिक कार्य को करने को तैयार हो सकता है। धूर्तता एवं कपट के लिए कूटनीतिज्ञ की प्रसिद्धि उतनी ही प्राचीन है जितनी कि स्वयं कूटनीति प्राचीन है। 17वीं शताब्दी के आरम्भ में एक अंग्रेज राजदूत, सर हेनरी वोटन द्वारा दी गयी एक कूटनीतिज्ञ की परिभाषा प्रख्यात है, कि "वह एक ईमानदार व्यक्ति होता है, जिसे अपने

देश के लिए झूठ बोलने के लिए विदेश भेजा जाता है।" जब वियना के सम्मेलन में मेटरनिक को रूसी राजदूत की मृत्यु की सूचना दी गयी, तो कहा जाता है कि उन्होंने विस्मयपूर्वक कहा, "क्या यह सत्य है?" उसका अभिप्राय क्या हो सकता है? इन धारणाओं से कूटनीति की प्रतिष्ठा कम होती गयी है।

(3) **संसदीय प्रक्रिया द्वारा कूटनीति** (Diplomacy by Parliamentary Procedures)—राष्ट्र संघ, संयुक्त राष्ट्र संघ आदि अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों ने कूटनीति को नया मोड़ दिया है। इन संगठनों के मंचों पर राष्ट्रीय उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए राजनयज्ञ अपने विचार प्रकट करते है तथा अन्त में मतदान द्वारा निर्णय लिया जाता है। अब राजनयज्ञों की बुद्धि, चातुर्य और व्यक्तित्व का उतना महत्व नहीं है जितना इन सम्मेलनों में अपने समर्थन में अधिक-से-अधिक मत जुटाने का महत्व है।

(4) **महाशक्तियाँ—कूटनीति में नवागन्तुक** (The Super Powers—New Comers in Diplomacy)—द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमरीका और सोवियत संघ को विश्व की महान शक्तियों का स्तर प्राप्त हुआ। अमरीका को कूटनीति में कम अनुभव था और 1917 की क्रान्ति के बाद रूस में भी प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञों का सफाया कर दिया गया। रूस में साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना से कूटनीति को और भी ठेस लगी। साम्यवाद और पूंजीवाद एक-दूसरे को समाप्त करना चाहते हैं, दोनों में इतने अधिक मतभेद हैं कि सहमति और समझौते की बहुत कम गुंजाइश है। कूटनीति का महत्व वहीं अधिक होता है जहाँ समझौते और आदान-प्रदान की गुंजाइश होती है।

(5) **वर्तमान विश्व राजनीति का स्वरूप** (The Nature of Contemporary World Politics)—आज विश्व दो गुटों में विभाजित है—विश्व अमरीका और सोवियत संघ के प्रभाव क्षेत्र में बंटा हुआ है। इन दोनों के हित परस्पर विरोधी हैं, दोनों एक-दूसरे का प्रत्येक स्तर पर विरोध करते हैं। कोई भी पीछे हटकर समझौता नहीं करना चाहता। पीछे हटने का तात्पर्य मूल हितों को त्यागना तथा आगे बढ़ने का अर्थ युद्ध जोखिम उठाना है। ऐसी स्थिति में कूटनीतिज्ञों की योग्यता प्रदर्शन का क्षेत्र समाप्त हो गया। मॉरगेन्थाऊ के शब्दों में, "संयुक्त राज्य एवं सोवियत संघ के बीच शक्ति सम्बन्धों की प्रकृति के कारण तथा इन दो अति शक्तिशाली राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों में वर्तमान मानसिक स्थिति के कारण कूटनीति के परिचालन के लिए बहुत कम अवसर हैं तथा इसके अप्रचलित हो जाने की सम्भावना है।"[1]

कूटनीति : नूतन प्रवृत्तियाँ
(DIPLOMACY : NEW TRENDS)

मॉरगेन्थाऊ ने जिस कूटनीति के पतन की चर्चा की है वह है परम्परागत कूटनीति। आधुनिक विश्व राजनीति में परम्परागत कूटनीति मुश्किल से ही राष्ट्रीय हितों की वृद्धि कर सकती है। वर्तमान में कूटनीति में नूतन प्रवृत्तियों का उदय हो रहा है। नये तरीकों, प्रक्रियाओं और साधनों को अपनाया जा रहा है। यहाँ हम कूटनीति के नये आयामों की चर्चा करेंगे :

(1) **प्रजातान्त्रिक कूटनीति** (Democratic Diplomacy)—20वीं शताब्दी तक इस नवीन कूटनीति के लिए प्रजातान्त्रिक कूटनीति शब्द प्रयोग होने लगा था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से इसका अर्थ ऐसी व्यवस्था से था, जिसमें सरकारें अपनी राजतन्त्रीय और कुलीन प्रवृत्तियाँ छोड़ रही थीं तथा राष्ट्रों की जनता, अपने प्रजातान्त्रिक प्रतिनिधियों तथा अनौपचारिक माध्यमों से एक-दूसरे से सम्बन्धित हो रही थीं।

---

1 Morgenthau, *Ibid.*, p. 551.

प्रजातान्त्रिक कूटनीति की विशेषताएँ इस प्रकार है—(i)—राजदूत मूलतः जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। आज का राजनयिक एक सार्वजनिक कर्मचारी है जो विदेशमन्त्री के अधीन है। विदेशमन्त्री मन्त्रिमण्डल का सदस्य है, मन्त्रिमण्डल संसद के बहुमत के प्रति उत्तरदायी है तथा संसद का बहुमत निर्वाचकमण्डल का प्रतिनिधि है। (ii) प्रजातान्त्रिक कूटनीति की दूसरी विशेषता यह है कि यह पद्धति गुप्त सन्धियों, रहस्यमय कूटनीति के स्थान पर खुले सार्वजनिक समझौतों और स्पष्ट कूटनीतिक सम्बन्धों में विश्वास करती है। (iii) प्रजातान्त्रिक कूटनीति की तीसरी विशेषता सन्धियों के अनुसमर्थन करने की विधि में है। आज सभी प्रजातान्त्रिक देशों में सन्धियों को मान्यता संसद के बहुमत से प्राप्त होती है।

नवीन राजनय प्रजातान्त्रिक उद्देश्यों की पूर्ति का एक साधन है। सन्धियां के अनुसमर्थन में संसद का प्रत्यक्ष भाग होने से जनता कूटनीतिक गतिविधियों से परिचित रहती है, विशेष राष्ट्रीय संकटों के अवसर पर आपसी मतभेद भुलाकर जनता शासन को पूर्ण समर्थन भी देती है।

(2) **सम्मेलनों द्वारा कूटनीति** (Diplomacy by Conference)—प्रथम विश्वयुद्ध के बाद सम्मेलन कूटनीति एक स्थायी प्रवृत्ति के रूप में विकसित हुई है। प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त राष्ट्र संघ की सामूहिक सुरक्षा की योजना अथवा प्रादेशिक संगठनों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का महत्व और भी अधिक हो गया है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान चार बड़ों के सम्मेलनों का निरन्तर प्रयोग किया गया, अन्तर-संश्रित (Inter-Allied) कमेटियों और स्थायी परिषदों का निर्माण किया गया। सर आर्थर साल्टर इन अन्तरराज्य परिषदों को अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति की एक नवीन प्रवृत्ति मानते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् सम्मेलन कूटनीति इतनी प्रचलित हो गयी है कि इसने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया है। संयुक्त राष्ट्र, सैनिक सन्धियों जैसे नाटो, सीएटो तथा गुटनिरपेक्ष राज्यों के तत्वावधान में सम्मेलन आयोजित होते ही रहते हैं। आँकड़ों के अनुसार प्रतिवर्ष 6 से 10 हजार अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन होते है। इनमें अधिकांश सम्मेलन संयुक्त राष्ट्र संघ-या इससे सम्बद्ध संगठनों तथा अभिकरणों के तत्वावधान में किये जाते है। आजकल इन सम्मेलनों का और बहुपक्षीय राजनीति का महत्व इतना अधिक बढ़ गया है कि संयुक्त राष्ट्र के सचिवालय में ऐसे सम्मेलन बुलाने और इनकी व्यवस्था करने के लिए एक पृथक् विभाग बनाया गया है और यह संघ की महासभा, परिषदों, आयोगों, समितियों और सम्मेलनों की बैठकें बुलाने का आयोजन संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में करता है।

(3) **व्यक्तिगत कूटनीति** (Personal Diplomacy)—जब कूटनीतिक विषयों के समाधान के लिए सरकारी अधिकारियों के स्थान पर सम्बन्धित देशों के अध्यक्षों, प्रधानमन्त्रियों अथवा विदेशमन्त्रियों द्वारा सीधा भाग लिया जाता है तो उसे व्यक्तिगत कूटनीति कहा जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध की अन्तःराज्य नीति के निर्माण और विकास में चर्चिल तथा रूजवेल्ट का विशेष हाथ था। संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में होने वाले सम्मेलनों में महासभा की बैठकों में सभी देशों के प्रधानमन्त्री प्रायः भाग लेते है। आवागमन के साधनों के तीव्र विकास ने व्यक्तिगत कूटनीति के प्रयोग में वृद्धि की है। अब तो थोड़े से भी महत्व वाले मामलों में व्यक्तिगत कूटनीति को अपनाया जाता है। कभी-कभी समस्त परम्परागत माध्यमों के स्थान पर राष्ट्रों के अध्यक्ष विशेष महत्वपूर्ण, गम्भीर, नाजुक स्थितियों को सँभालने के लिए अपने विशेष विश्वासपात्र व्यक्तियों का उपयोग करते है। हम सभी जानते है कि विल्सन कर्जन हाउस पर, रूजवेल्ट हैरी हापकिन्स पर, नेहरू कृष्णा मेनन पर, निक्सन हेनरी किसिंगर पर विशेष विश्वास करते थे। व्यक्तिगत कूटनीति का एक और रूप भी है कि राष्ट्रों के अध्यक्ष व्यक्तिगत रूप से सीधे ही विचार-विमर्श करें जैसे पूर्व में सम्राट मिलते थे। चर्चिल और रूजवेल्ट तो टेलीफोन पर सीधी बात करते थे और पत्र-व्यवहार

करते रहते थे। ऐसा कहा जाता है कि इस प्रकार की कूटनीति में अविवेक, भ्रम, द्विरूपता और रहस्योद्घाटन के अधिक अवसर रहते हैं। विशेपकर व्यक्तिगत रूप से यदि दो अध्यक्षों को एक-दूसरे का व्यक्तित्व रुचिकर न लगे तो समस्याओं के अधिक उलझने की सम्भावना रहती है।

(4) **शिखर कूटनीति** (Summit Diplomacy)—शिखर कूटनीति का अभिप्राय उस कूटनीति से है जिसमें विवाद हल करने के लिए राज्य या सरकार के प्रधान भाग लेते हैं। यह सम्मेलन और व्यक्तिगत कूटनीति का वड़ा ही प्रभावी ढंग है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान कई शिखर सम्मेलन हुए। गुट निरपेक्ष देशों के अव तक छः शिखर सम्मेलन हो चुके हैं।

(5) **वणिक कूटनीति** (Commercial Diplomacy)—आधुनिक कूटनीति पर व्यापार-वाणिज्य का विशेष प्रभाव पड़ा है। मुद्रा तथा वित्तीय समस्याओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रश्न इतने तकनीक़ी हो गये हैं कि विशेषज्ञ ही उनका संचालन कर सकते हैं। प्राचीन राजनय में राजदूत ही सभी प्रकार की व्यापारिक सन्धियाँ करते थे, परन्तु इधर अब वाणिज्य दूत ही ऐसी सन्धियों पर विशेष विचार करते हैं।

आधुनिक राज्य आर्थिक दृष्टि से एक-दूसरे पर निर्भर हैं अतः आर्थिक तरीकों का कूट-नीतिक प्रयोग होता है, जैसे सोवियत संघ द्वारा यूगोस्लाविया से आर्थिक सम्बन्ध तोड़ना, सोवियत संघ द्वारा 'कॉमन फार्म' को सुदृढ़ करना, अमरीका द्वारा समय-समय पर भारत को दी जाने वाली आर्थिक सहायता बन्द करना, आदि।

(6) **संगुट्टीय कूटनीति** (Alliance and Coalition Diplomacy)—संगुट्टीय कूटनीति की चर्चा हौस्ल्टी, स्टीवेन रोजेन, ऐडवीन फेडर, आर. जे. रूमेल, के. जी. हाल्स्टी आदि ने की है। संगुट्टीय कूटनीति में तीन वातों पर बल दिया जाता है—(i) संगुट के निर्माण (Alliance Formation) अर्थात् गुट का निर्माण क्यों किया जाता है तथा कोई राज्य संगुट को क्यों छोड़ता है? (ii) संगुट की भूमिका (Alliance Performance) अर्थात् किसी संगुट में प्रभावक शक्ति का वितरण किस भाँति होता है? संगुट के सदस्य राज्यों में सुदृढ़ता का क्या आधार है? (iii) संगुट के प्रभाव (Effects of Alliances)। क्या संगुटों से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सन्तुलन वना रहता है? आधुनिक युग में अनेक संगुटों का निर्माण हुआ है जैसे नाटो, वार्सा पैक्ट, सीएटो, सेण्टो आदि। शीतयुद्ध के उत्तरार्द्ध में संगुट व्यवस्था विखरने लगी थी। निक्सन ने लन्दन, पेरिस और टोकियो के वजाय पेकिंग और मास्को की तरफ झाँकना प्रारम्भ किया, जिससे संगुट्टीय कूटनीति में नयी प्रवृत्ति देखने को मिली।

(7) **सांस्कृतिक कूटनीति** (Cultural Diplomacy)—सांस्कृतिक कूटनीति अराजनीतिक तत्वों एवं समस्याओं पर वल देती है; जैसे विज्ञान, तकनीकी, शैक्षणिक आदान-प्रदान आदि पर। दूसरे देशों में अपनी सभ्यता, जीवन प्रणाली तथा विचारधारा का प्रचार करना सांस्कृतिक कूटनीति का अंग है। आजकल अमरीका और सोवियत संघ सांस्कृतिक प्रसार एवं विस्तार पर अधिक जोर दे रहे हैं।

(8) **प्रचार कूटनीति** (Diplomacy by Propaganda)—आजकल कूटनीति में प्रचार का महत्व काफी वढ़ गया है। कूटनीतिक निर्णयों को अपने अनुकूल वनाने के लिए प्रत्येक देश प्रचार तकनीकी का प्रयोग करता है। प्रचार द्वारा जनता में अनेक मिथ्या विश्वास एवं भ्रम उत्पन्न किये जाते हैं। इसके द्वारा समझौते पर विचार करने योग्य वातावरण तैयार किया जाता है। वैसे तो सभी राज्य प्रचार और प्रकाशन द्वारा कूटनीति का संचालन करते हैं किन्तु साम्यवादी राज्यों में इनका प्रयोग अधिक व्यापक रूप में किया जाता है।

(9) **संसदात्मक कूटनीति** (Parliamentary Diplomacy)—संयुक्त राष्ट्र संघ में कार्यान्वित कूटनीति संसदात्मक कूटनीति जैसी है। संयुक्त राष्ट्र संघ की बैठकों की प्रक्रिया राष्ट्रीय संसदों की प्रक्रिया के समान होती है। दोनों में एक ही निश्चित प्रक्रिया को अपनाया जाता है। राष्ट्रीय संसद की भाँति संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रस्ताव प्रस्तुत किये जाते हैं। उन पर वाद-विवाद होता है, पदाधिकारियों के चुनाव होते हैं, बजट बनता है तथा स्वीकार किया जाता है। जिस प्रकार संसदात्मक व्यवस्था में राजनीतिक दल, दबाव समूह आदि राज्य रीति-नीति को प्रभावित करते हैं उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी क्षेत्रीय तथा राजनीतिक गुट संयुक्त राष्ट्र संघ की निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। संसदीय कूटनीति की उपयोगिता यह है कि इसके फलस्वरूप विश्व लोकमत संगठित होता है तथा इसके माध्यम से राज्यों के सहयोगपूर्ण सम्बन्धों को प्रोत्साहन मिलता है।

राजनय की क्रान्तिकारी शैली
(RADICAL STYLE OF DIPLOMACY)

राजनय की क्रान्तिकारी शैली का अर्थ समाजवादी या साम्यवादी राजनयिक शैली नहीं है। क्रान्तिकारी शैली का प्रयोग करने वाले राज्य के लिए वास्तव में क्रान्तिकारी राज्य होना भी जरूरी नहीं है। अक्सर यह होता है कि आन्तरिक मामलों में जड़ या प्रतिक्रियावादी नीति से जनता का ध्यान हटाने के लिए विदेश नीति के क्षेत्र में नवोदित राष्ट्र राजनय की क्रान्तिकारी शैली अपना लेते है। सुकर्णोकालीन इण्डोनेशिया तथा ऐन्क्रुमा के अधीन घाना इस बात के अच्छे उदाहरण हैं। इसके विपरीत, क्रान्तिकारी राज्य अक्सर अपने राष्ट्रीय हितों के साधन के लिए पारम्परिक (औपनिवेशिक) राजनयिक शैली का अवलम्बन लेते है। स्टालिन और मोलोतोव, चाऊ एन लाई तथा उत्तर वियतनामी ले दुक तथा मादाम बिन्ह आदि से यही प्रमाणित होता है। 'क्रान्तिकारी शैली' का मतलब सिर्फ इतना लगाना चाहिए कि राजनय की वह शैली जो अन्तर्राष्ट्रीय जगत में स्वीकृत पारम्परिक राजनयिक शैली को चुनौती देती हो।

क्रान्तिकारी राजनयिक शैली में एक और प्रवृत्ति देखने में आती है। ऐसे राजनयिकों का आचरण सैनिक प्रकार के राजनय की तरह होता है। 'क्रान्तिकारी राजनयिक' राजनय के शिल्प को महत्वपूर्ण नहीं समझते। उनका रुझान अनभ्यस्त, अनिपुण कार्यशैली की ओर होता है। क्रान्तिकारी परिवेश में अनभ्यस्त, अनिपुण का आकर्षण राजनय ही नहीं अन्य क्षेत्रों में भी दिखायी देता है। इसे एक तरह से औपनिवेशिक विरासत को ठुकराना कहा जा सकता है। यदि क्रान्तिकारी राजनय प्रतिक्रियावादी नीतियों को ढँकने वाले आचरण के रूप में नहीं अपनाया गया है तो वह अनिपुण होने पर भी नवोदित देश की विदेश नीति से घनिष्ठ रूप से जुड़ा रहकर उसके राष्ट्रीय हित के साधन में समर्थ हो सकता है।

कूटनीति में नयी तकनीकें और नये विकास
(NEW TECHNIQUES AND DEVELOPMENT IN DIPLOMACY)

वर्तमान कूटनीति में कुछ महत्वपूर्ण तकनीकें एवं विकास इस प्रकार है—(i) **अन्तरराष्ट्रीय संगठन**—पहले व्यक्तिगत स्तर पर कूटनीति का व्यवहार होता था किन्तु आज सामूहिक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर कूटनीति का प्रयोग हो रहा है। (ii) **लोकतान्त्रिक नियन्त्रण**—वर्तमान में संसद और विधायिका के मार्फत कूटनीतिज्ञों पर जनता का नियन्त्रण रहता है। (iii) **वाणिज्य का महत्व**—पूर्व में कूटनीति राजनीतिक प्रश्नों को अधिक महत्व देती थी, अब व्यापार-वाणिज्य के मसलों पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया जाता है। (iv) **समाचार-पत्रों का महत्व**—कूटनीति में समाचार-पत्रों का महत्व बढ़ता जा रहा है। आज राजदूत को अपने स्वागतकर्ता देश के सभी प्रमुख समाचार-पत्रों का अध्ययन और विवेचन करना पड़ता है।

दूकानदार जैसी कूटनीति बनाम यौद्धिक कूटनीति
(SHOP-KEEPER DIPLOMACY vs. WARRIOR DIPLOMACY)

आर्गेन्सकी ने दुकानदार जैसी कूटनीति और योद्धा कूटनीति में अन्तर किया है। ब्रिटिश कूटनीति को दुकानदार जैसी कूटनीति तथा जर्मन कूटनीति को योद्धा जैसी कूटनीति कहा जाता है। दुकानदार की कूटनीति सतर्क, शान्तिमय और तर्कसंगत दृष्टिकोण पर आधारित होती है जबकि योद्धा की कूटनीति उसके प्रखर, झगड़ालू और गतिशील दृष्टिकोण पर आधारित होती है। हेरल्ड निकल्सन के अनुसार ब्रिटिश कूटनीति की सफलता के कारण उसका नरम, न्यायोचित व्यवहार, तर्कसंगतता और समझौते या लेन-देन पर आधारित होना है, जबकि हिटलर सन्धि वार्ता से प्राप्त लाभ की अपेक्षा युद्ध और शक्ति से प्राप्त त्वरित लाभों में अधिक विश्वास करता था। यौद्धिक कूटनीति समझौते में विश्वास नहीं करती तथा युद्ध के वातावरण को अधिकाधिक उत्तेजित करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहती है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कूटनीति का भविष्य : मॉरगेन्थाऊ के विचार
(FUTURE OF DIPLOMACY IN INTERNATIONAL POLITICS : MORGENTHAU'S VIEWS)

युद्ध एक तर्कसंगत साध्य की प्राप्ति का तर्कसंगत साधन था। किन्तु परमाणु युद्ध की सम्भावना ने युद्ध को अब आत्मघाती निराशा का साधन बना दिया है। परिणामतः युद्ध के विकल्पों की बात सोचना अपरिहार्य है। अब युद्ध और कूटनीति में से किसी एक को चुनने की गुंजाइश नहीं रह गयी है। अब तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कूटनीति का कार्य पहले से अधिक महत्वपूर्ण हो गया है, क्योंकि जिस कूटनीति का अन्त युद्ध में होता है, वह अपने प्राथमिक ध्येय में जो कि शान्तिपूर्वक साधनों द्वारा राष्ट्रीय हित का प्रवर्तन करना है, असफल रहती है।

यह सच है कि आधुनिक युग में कुछ ऐसे विकास हुए है जिनके परिणामस्वरूप 'राजनय' का महत्व कम हो गया है लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं कि राजनय बेकार है। आज भी राज्यों के सामने एक प्रभावशाली विकल्प के रूप में राजनय ही है। मानव को युद्ध, हितों का त्याग और राजनय में एक चुनना होगा। निःसन्देह मानव राजनय को ही चुनेगा क्योंकि आणविक हथियारों ने युद्ध को इतना आसान नहीं रहने दिया है तथा राष्ट्रीय हितों का परित्याग असम्भव है। इसलिए राज़नय (कूटनीति) को ही सफल बनाने के लिए राज्यों को प्रयत्नशील रहना होगा।

मॉरगेन्थाऊ ने कूटनीति के 'नौ नियमों' की चर्चा की है, जिनके माध्यम से यह 'समायोजन द्वारा शान्ति' (Peace through accomodation) स्थापित कर सकती है :

(1) **कूटनीति को धर्मयुद्धीन भावना से अवश्य रहित रहना होगा** (Diplomacy must be divested of the crusading spirit)—कोई मत या धर्म सत्य नहीं होता। अपने धर्म या मत को सत्य मानकर शेप संसार पर आरोपित करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। विदेश नीति के ध्येयों की परिभापा एक विश्वव्यापी राजनीतिक धर्म के रूप में नहीं की जानी चाहिए।

(2) **विदेश नीति के ध्येयों की परिभाषा राष्ट्रीय हित के अर्थ में अवश्य करनी होगी तथा इसका यथेष्ट शक्ति द्वारा अवश्य पोषण करना होगा** (The objective of Foreign Policy must be defined in terms of the national interest and must be supported with adequate power)—शान्ति-संरक्षण कूटनीति का यह दूसरा नियम है। एक शान्तिप्रिय राष्ट्र के राष्ट्रीय हित की परिभाषा केवल राष्ट्रीय सुरक्षा के अर्थ में हो सकती है तथा राष्ट्रीय सुरक्षा की परिभाषा राष्ट्रीय क्षेत्र एवं इसकी संस्थाओं की अखण्डता के रूप में अवश्य होनी चाहिए। तब राष्ट्रीय सुरक्षा वह न्यूनतम वस्तु है, जिसकी कूटनीति को यथेष्ट शक्ति द्वारा बिना समझौते के रक्षा करनी होगी।

(3) **कूटनीति को राजनीतिक क्षेत्र पर दूसरे राष्ट्रों के दृष्टिकोण से अवश्य देखना होगा** (Diplomacy must look at the political scene from the point of view of other nations)—कूटनीति को दूसरे राष्ट्रों के दृष्टिकोण, राष्ट्रीय हित आदि को भी ध्यान में रखना चाहिए। "आत्म पक्षपात की अतिशयता एवं अन्य लोग स्वभावत: क्या आशा अथवा किस भय से करते हैं, इस विचार के पूर्णत: अभाव के समान किसी राष्ट्र के लिए और कुछ भी घातक नहीं है।"

(4) **राष्ट्र को उन सभी प्रश्नों पर जो उसके लिए महत्वपूर्ण नहीं हैं, समझौता करने के लिए अवश्य इच्छुक रहना होगा** (Nations must be willing to compromise on all issues that are not vital to them)—प्रत्येक राष्ट्र के दो प्रकार के हित होते हैं—स्थायी हित और अस्थायी हित। अस्थायी हित ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं होते, अत: ऐसे राष्ट्रीय हितों पर समझौता करने की भावना रखनी चाहिए।

(5) **यथार्थ लाभ की वास्तविकता हेतु निरर्थक अधिकारों की प्रतिच्छाया का परित्याग कर दीजिए** (Give up the shadow of worthless rights for the substance of real advantage)—समझौता करते समय कूटनीतिज्ञ को मानवता, विश्वकल्याण जैसी अमूर्त बातों की अपेक्षा तथ्यगत वस्तुओं को ध्यान में रखकर विचार करना चाहिए।

(6) **अपने आप को कभी ऐसी स्थिति में न रखिए जहाँ से आप बिना प्रतिष्ठा गँवाये पीछे नहीं हट सकते तथा वहाँ से आप बिना गम्भीर संकटों के आगे नहीं बढ़ सकते** (Never put yourself in a position from which you connot retreat without losing face and from which you connot advance without grave risks)—अरक्षणीय स्थितियों में असावधान होकर गतिशीलतापूर्वक जाना और विशेषकर उचित समय में उनसे अपने को मुक्त करने से हठपूर्वक अस्वीकार करना अयोग्य कूटनीति का लक्षण है।

(7) **एक निर्बल संश्रित राष्ट्र को अपने लिए कभी निर्णय नहीं करने दीजिए** (Never allow a weak ally to make decisions for you)—कूटनीति की दृष्टि से शक्तिशाली राष्ट्र को चाहिए कि उसके लिए कोई निर्बल राज्य निर्णय न ले। अपने शक्तिशाली मित्र की सहायता द्वारा सुरक्षित होकर निर्बल संश्रित राष्ट्र अपनी विदेश नीति के ध्येयों और तरीकों को अपनी आवश्यकतानुसार चुन सकता है।

(8) **सशस्त्र सेनाएँ विदेश नीति की यन्त्र हैं, इसकी स्वामी नहीं** (The armed forces are the instruments of foreign policy, not its master)—सशस्त्र सेनाओं को विदेश नीति को क्रियान्वित करने का साधन होना चाहिए; उसका स्वामी नहीं बनना चाहिए। यदि किसी देश में सेना शासन पर हावी हो जाये, विदेश नीति के लक्ष्यों को निर्धारित करने लगे तो वहाँ शान्ति और समझौते की नीति सफल नहीं हो सकती है क्योंकि सशस्त्र सेनाएँ सदैव युद्ध का साधन और उपकरण होती हैं जबकि विदेश नीति का प्रधान लक्ष्य शान्ति बनाये रखना होता है।

परराष्ट्र सम्बन्धों का संचालन सेना को समर्पित करना, समझौते की सम्भावना को समाप्त करना है तथा शान्ति के हित को भी समर्पित कर देना है। सैनिक मस्तिष्क विजय एवं पराजय की एकान्तिक स्थितियों के बीच परिचालित होना जानता है। यह कूटनीति की उन धैर्यपूर्ण, जटिल एवं सूक्ष्म चालों के विषय में कुछ नही जानता, जिनका मुख्य उद्देश्य विजय एवं पराजय की एकान्तिक स्थितियों का परित्याग करना है तथा दूसरे पक्ष में वार्ता द्वारा किये समझौते के मध्यस्थ स्थान में मिलता है। सैनिक कला के नियमों के अनुसार सैनिक व्यक्तियों द्वारा संचालित विदेश नीति का अन्त केवल युद्ध में हो सकता है, क्योंकि हम उसी की तैयारी करते है, जो हम प्राप्त करेंगे।

विदेश नीति का संचालन अवश्य इस प्रकार से होना चाहिए कि शान्ति संरक्षण सम्भव हो सके तथा युद्ध का कोहराम अवश्यम्भावी न हो जाये।

(9) **सरकार जनमत की नेता है, इसकी दास नहीं** (The government is the leader of public opinion not its slave)—अन्तिम नियम यह है कि सरकार का संचालन करने वाले व्यक्तियों को लोकमत का नेतृत्व करना चाहिए और इसका वशवर्त्ती दास नहीं बनना चाहिए। दूसरे शब्दों में, राजनीतिक नेताओं को जनता का पथ-प्रदर्शन और नेतृत्व करना चाहिए। लोकप्रियता पाने के लिए जनता का अनुसरण करना उनके लिए घातक है। मॉरगेन्थाऊ के शब्दों में, "एक कूटनीतिज्ञ को लोक-भावावेश के झोंकों से अपने पाल को सुव्यवस्थित करना होगा तथा इसके साथ-साथ राज्य के जहाज को कुशल विदेशनीति के वन्दरगाह तक ले जाने के लिए उनका प्रयोग करना होगा। एक शब्द में, उसे अवश्य लोकमत का नेतृत्व करना होगा।"

कूटनीति का बढ़ता हुआ महत्व
(DIPLOMACY : INCREASING IMPORTANCE)

यदि कोई राष्ट्र कूटनीति को प्रयोग में नहीं लाना चाहता अथवा उसके पास कूटनीति को कार्यान्वित करने की क्षमता नहीं है तो वह अपने राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के लिए युद्ध के अतिरिक्त कोई दूसरे विकल्प का सहारा नहीं ले सकता। यदि वह युद्ध का सहारा नहीं लेना चाहता अथवा नहीं ले सकता तो उसे अपने राष्ट्रीय हितों का ही परित्याग करना होगा। आधुनिक तकनीकी उन्नति ने युद्ध की उपादेयता को संदिग्ध बना दिया है और इस बात की कोई गारण्टी नहीं कि द्विपक्षीय युद्ध आणविक युद्ध में परिवर्तित न हो जाये, अतः राज्यों के सामने कूटनीति के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं है।

आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कूटनीति का काम परमाणु वम का निवारण करना है। परमाणु युद्ध की समस्या एक भयंकर चुनौती है जिसका सामना कूटनीति को करना है। आज कूटनीति का कार्य अन्तर्राष्ट्रीय संकटों और समस्याओं का सामंजस्यपूर्ण हल खोजना ही नहीं है अपितु परमाणु अस्त्रों के फैलाव को रोकना है—तीसरे विश्वयुद्ध के खतरे को टालना है। जब हम यह कहते हैं कि युद्ध सम्भव है तो कूटनीति की कला में आये परिवर्तनों के कारण अब यह भी कहा जाने लगा है कि कूटनीति वार्ता द्वारा युद्ध से वचा जा सकता है।

मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, "कूटनीति शान्ति संरक्षण का सवसे उत्तम साधन है। कूटनीति आज की अपेक्षा शान्ति को अधिक सुरक्षित वना सकती है और यदि राष्ट्र कूटनीति के नियमों का पालन करें तो उस परिस्थिति की अपेक्षा विश्व राज्य शान्ति को अधिक सुरक्षित बना सकता है। तथापि, जिस प्रकार एक विश्व राज्य के विना स्थायी शान्ति सम्भव नहीं है, उसी प्रकार कूटनीति की शान्ति संरक्षण एवं लोकसमाज-निर्माण सम्वन्धी प्रक्रियाओं के विना एक विश्व राज्य सम्भव नहीं है। विश्व राज्य को एक अस्पष्ट कल्पना से ऊपर उठाने के लिए कूटनीति की समायोजक प्रक्रियाओं का, जिनसे संघर्ष मन्द एवं न्यूनतम होते हैं, अवश्य पुनः प्रवर्तन करना होगा।"[1]

प्रश्न

1. राजनय (कूटनीति) की राष्ट्रीय शक्ति के साधन के रूप में विवेचना कीजिए। राजनय और विदेश नीति में क्या अन्तर है?
   Discuss diplomacy as an instrument of national power. How is diplomacy different from foreign policy?
2. राजनय की परिभाषा कीजिए और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनाये रखने की दिशा में उसके योगदान का मूल्यांकन कीजिए। क्या आधुनिक काल में उसका महत्व कम हो गया है। क्यों?

1 Morgenthau, *Ibid.*, pp. 568-69.

Define 'diplomacy' and evaluate its contribution towards maintaining international peace. Has its significance decreased in modern times ? Why ?

3. वे क्या कारण है जो राजनय के ह्रास के लिए उत्तरदायी है ? राजनय का क्या भविष्य है ?
What are the factors that are responsible for the decline of Diplomacy ? What is the future of Diplomacy ?

4. राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के एक साधन के रूप मे कूटनीति की भूमिका की विवेचना कीजिए।
Discuss the role of Diplomacy as an instrument for the promotion of national interest.

5. "राजनय अब केवल कुलीन सामन्तो तथा व्यवसायी सैनिकों के एकाधिकार में नही है और न ही राष्ट्रीय राज्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एकमात्र महत्वपूर्ण अभिनेता हैं।" **(के. जे. होल्सटी)**
उपर्युक्त कथन के प्रकाश में 'नये राजनय' के मुख्य आधारों का विवेचन कीजिए।
"Diplomacy is no longer the monopoly of aristocrats and professional soldiers. Nor indeed, are nation states the only important actors in international politics." (*K. J. Holsti*)
Discuss the basic premises of 'New Diplomacy' in the light of the above statement.

15

राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के साधन : प्रचार

[INSTRUMENTS FOR THE PROMOTION OF NATIONAL INTEREST : PROPAGANDA]

राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए विदेश नीति का निमाण किया जाता है। विदेश नीति को सही ढंग से कार्यान्वित करने के लिए उत्तम कूटनीति और लोकमत की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। कूटनीतिक चालों का सही ढंग से प्रसार एवं विस्तार करने के लिए यह जरूरी है कि उनको ठीक तरह प्रस्तुत किया जाये ताकि अन्य-देश उसको स्वीकार करलें। कूटनीतिक क्षेत्र में यह कार्य प्रचार का है। राष्ट्रीय सरकारें अपने प्रतिपक्षी राष्ट्र के आचरण को अपने अनुकूल बनाने के लिए वहाँ की जनता को अपने प्रचार से अपने पक्ष में लाने का प्रयास करती हैं। अमरीका के भूतपूर्व विदेशमन्त्री डीन एचेसन ने प्रचार को कूटनीति का एक आन्तरिक अंग माना था। आजकल प्रचार का महत्व इतना बढ़ गया है कि कूटनीति और युद्ध के बाद इसे राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का तीसरा साधन मानते हैं। मॉरगेन्थाऊ ने लिखा है, "मनोवैज्ञानिक युद्ध या प्रचार कूटनीति तथा सैनिक शक्ति के साथ तृतीय साधन के रूप में सम्मिलित होते हैं जिनके द्वारा विदेश नीति अपने उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयत्न करती है। साधन चाहे कोई भी प्रयोग किया हो; विदेश नीति का अन्तिम उद्देश्य एक ही है, अपने विरोधियों के विचार परिवर्तन करके राष्ट्रीय हितों में अभिवृद्धि करना।····इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कूटनीति विरोधियों के हितों को सन्तुष्ट या नष्ट करने के बारे में फुसलाने वाले वचनों या धमकियों का प्रयोग करती है। सैनिक शक्ति से विरोधियों के विशेष हितों के अनुसरण की योग्यता पर वास्तविक हिंसा का शारीरिक प्रभाव डाला जाता है। प्रचार से बौद्धिक शक्तियों, नैतिक मूल्यांकनों और भावमय अभिरुचियों के प्रयोग द्वारा अपने हितों का समर्थन प्राप्त होता है। तब समूची विदेश नीति मानव हृदय के लिए संघर्ष है परन्तु प्रचार का विशिष्ट अभिप्राय यह है कि यह हितों के हेर-फेर या शारीरिक हिंसा के माध्यम की अपेक्षा मनुष्य के हृदय को प्रत्यक्ष रूप से ढालने का यत्न करता है।"[1]

आधुनिक लोकतन्त्रात्मक युग में प्रचार का विशिष्ट महत्व है। प्रचार द्वारा राष्ट्रीय हित के अन्य साधनों जैसे कूटनीति, साम्राज्यवाद आदि का अधिक कुशलता से क्रियान्वयन होता है, प्रचार द्वारा विश्व समाज में कोई भी राष्ट्र अपनी उच्च प्रतिष्ठा बना सकता है और अपनी नीतियों के प्रति दूसरे देशों की सक्रिय सद्भावना प्राप्त कर सकता है।

1 "All foreign policy, then, is a struggle for the minds of men : but propaganda is so in the specific sense that it endeavours to mould the minds of men directly rather than through the intermediary of the manipulation of interests of physical violence."
—Hans J. Morgenthau, *Politics Among Nations*, 1963, p. 339.

वर्तमान समय में प्रचार की कला से राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि करने वाले राज्यों में जर्मनी, इटली और सोवियत संघ के नाम उल्लेखनीय है। जर्मनी में हिटलर के समय में प्रचार की कला का उच्चतम विकास हुआ। हिटलर ने प्रचार के माध्यम से अपने देशवासियों को नाजी विचारधारा का समर्थक बनाया और इसके साथ ही विदेशों में ऐसा प्रचार किया कि ग्रेट ब्रिटेन जैसे देश जर्मनी द्वारा वर्साय की सन्धि की व्यवस्थाओं की धज्जियाँ उड़ाने को मौन भाव से देखते रहे और उन्होंने इसका कोई सशक्त प्रतिवाद नही किया। कुछ अंशों में यह हिटलर के प्रचार के जादू का असर था कि कुछ अन्य देश उसकी माँगों को न्यायोचित समझने लगे। आजकल संयुक्त राज्य अमरीका तथा रूस समूचे विश्व में अपनी विचारधारा का प्रचार करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील और कटिबद्ध है।

प्रचार : अर्थ एवं परिभाषा
(PROPAGANDA : MEANING AND DEFINITION)

राजनीति दर्शन के मनोवैज्ञानिक विचारक यह मानते है कि मानव की क्रियाओं में अन्त:-चेतन मष्तिष्क मे निर्मित प्रतीकों का प्रभाव पड़ता है। वाल्टर लिम्पमैन का विचार था कि मानव 'प्रतीकों' के माध्यम से ही ज्ञान व सूचनाएँ प्राप्त करता है। इसलिए अगर मानव को सरल भाषा में प्रतीक या वर्णन से कोई सूचना दी जाये तो उसे ग्रहण करने में अधिक भावुक हो जाता है।

'प्रचार' शब्द की परिभाषाएँ उतनी ही अधिक है जितनी कि इस विषय पर पुस्तकें और लेख लिखे गये है। प्रचार का अर्थ सामान्यत: उन कार्यों से लिया जाता है जो दूसरे व्यक्ति को अपना पक्ष समझाने तथा तदनुकूल आचरण कराने के लिए किये जाते है।

प्रचार वह कला है जिसके माध्यम से एक राज्य अपने राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के लिए जनमत के मस्तिष्क को प्रभावित करता है।

पाल एम. लाइनवर्जर के शब्दों में, "एक निश्चित सामान्य उद्देश्य के लिए सुनियोजित सामान्य संचार व्यवस्था के माध्यम से एक निश्चित वर्ग विशेष के मस्तिष्क, भावना व कार्यों को प्रभावित करने वाली व्यवस्था को प्रचार कहा जाता है।"

हालस्टी के अनुसार, "प्रचार जान-बूझकर किया गया प्रयास है जिसे कुछ व्यक्ति अथवा समुदाय संचार के साधनों को प्रयोग में लाकर इसे समुदायों के दृष्टिकोणों को इसलिए निर्मित, क्रियान्वित अथवा परिवर्तित करते है ताकि किसी निश्चित परिस्थिति में इस प्रकार प्रभावित होने वालों की प्रतिक्रिया प्रचार करने वालों के पक्ष में हो।"[1]

जोसेफ फ्रेंकेल के शब्दो में, "प्रचार से हमारा अर्थ सामान्यत: किसी भी ऐसे व्यवस्थित प्रयास से होता है जो किसी विशेष उद्देश्य के लिए प्रदत्त समूह के मस्तिष्कों को, भावनाओं को तथा क्रियाओं को प्रभावित करने के लिए किया जाता है।"

मॉल लिम्बारगर लिखते है कि, "प्रचार सार्वजनिक अथवा जनता द्वारा निर्मित संचार साधनो के किसी भी स्वरूप का वह नियोजित प्रयोग है जिसका उद्देश्य किसी निश्चित समुदाय के लोगों के किसी निश्चित सार्वजनिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मस्तिष्कों, भावनाओं तथा क्रियाओं पर प्रभाव डालना हो।"[2]

---

1 "Propaganda is the deliberate attempt by some individual or group to form, control, or alter the attitudes of other groups by the use of the instruments of communication, with intention that in any given situation the reaction of those so influenced will be that desired by the propagandist."

—Holsti, K. J. (Quoted) *International Politics*, New Jersy, 1967, p. 220.

2 Padelford and Lincoln, *Dynamics of International Politics*, 1968. p. 377.

हेरल्ड लासवेल के अनुसार, "प्रचार विवादास्पद दृष्टिकोणों को नियन्त्रित करने के लिए प्रतीकों का विस्तार है।"[1]

पामर एवं पर्किन्स लिखते हैं, "प्रचार का तात्पर्य है कि सरकारों या सरकारों के सदस्यों द्वारा व्यवस्थित प्रयास जिसके द्वारा राज्य के अन्दर समुदायों या विदेशी राज्यों को अपने समर्थन में नीतियों को ग्रहण करना—या कम से कम अपने विरोधपूर्ण नीतियों का ग्रहण न करना आदि के लिए प्रभावित करना है।"[2]

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में 'प्रचार' का लक्षण करते हुए कहा गया है कि "यह दूसरे लोगों के विश्वासों, प्रवृत्तियों, कार्यों को विभिन्न प्रकार के प्रतीकात्मक माध्यमों, शब्दों, हाव-भाव, संगीत आदि से प्रभावित और परिवर्तित करने का सुव्यवस्थित प्रयास है।"

इस परिभाषा से 'प्रचार' के बारे में दो विशेषताएँ प्रकट होती हैं: पहली विशेषता इसका जानबूझकर किया जाना है। दूसरी विशेषता प्रभावित करने की है। प्रचार यदि दूसरे व्यक्ति के विचारों को परिवर्तित और प्रभावित नहीं कर सकता है तो यह सर्वथा निरर्थक और अनुपयोगी है। उसे सच्चे अर्थों में अच्छा प्रचार नहीं कहा जा सकता है।

संक्षेप में, प्रचार से अभिप्राय है—(i) प्रचार व्यक्तियों (प्रायः सरकार) द्वारा व्यवस्थित प्रयास है। (ii) ये प्रयास मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित होते हैं क्योंकि जिन व्यक्तियों को प्रचार से प्रभावित करना है वे उसे अच्छी तरह ग्रहण कर लें। (iii) प्रचार के लिए कई साधनों, प्रतीकों आदि का प्रयोग किया जाता है। किस परिस्थिति में कौन-सा साधन या प्रतीकों का प्रयोग किया जाये यह प्रचार की रणनीति बनाने वाले पर निर्भर करता है। (iv) प्रचार का उद्देश्य यह है कि दूसरे लोग, समुदाय आदि प्रचार वाले राज्य या समुदाय की बात को स्वीकार कर लें या उनका विरोध न करें। (v) प्रचार न तो नैतिक होता है और न अनैतिक। किसी व्यक्ति के दृष्टिकोण को अपने अनुकूल बनाने को न तो अच्छा कहा जा सकता है और न बुरा। (vi) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से हमारा सम्बन्ध उस प्रसार से है जिसका निष्पादन राष्ट्रों की सरकारों के द्वारा होता है। इसमें गैर-सरकारी अभिकरणों द्वारा किये जाने वाले प्रचार को शामिल नहीं किया जा सकता।

प्रचार के उद्देश्य : राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि
(THE OBJECTS OF PROPAGANDA : PROMOTION OF NATIONAL INTEREST)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रचार साधनों का प्रयोग अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए राज्य करते हैं।[3] पेडलफोर्ड तथा लिंकन का कथन है कि "प्रचार का रूप चाहे कुछ भी हो अथवा इसमें किसी भी तकनीकी को अपनाया गया हो, इसका मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति होती है।" मूल रूप में सभी प्रचार सम्बन्धी कार्य राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, जिस समय अन्तर्राष्ट्रीय समझौते होते हैं उस समय निर्णयों को अपने हितों के अनुकूल मोड़ने के लिए कोई भी देश प्रचार का सहारा ले सकता है। किसी अन्तर्राष्ट्रीय समस्या या विशेष प्रश्न पर विचार करने के लिए कोई सम्मेलन आमन्त्रित करने हेतु उपयुक्त वातावरण तैयार करने के लिए भी प्रचार का सहारा लिया जाता है। प्रचार द्वारा राष्ट्र अपनी विचारधारा का विस्तार करते हैं। अपनी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों पर समर्थन प्राप्त करने के लिए भी प्रचार का सहारा लिया जा सकता है। प्रचार का महत्व युद्ध से पूर्व और युद्ध के बाद बहुत बढ़ जाता है। अन्त-

1 Lasswel and Blumenstock, *World Revolutionary Propaganda*, New York, 1939, p. 10.
2 Palmer and Perkins, *International Relations*, 1970, p. 110.
3 "It is an instrument used by governments for weilding influence in international politics."

राष्ट्रीय राजनीति का इतिहास बताता है कि प्रचार के माध्यम से युद्ध के परिणामों को भी बदला जा सकता है। पामर एवं पर्किस के शब्दों में, "प्रचार राष्ट्रीय नीति के सन्दर्भ में अधिकाधिक आवश्यक होता जा रहा है क्योंकि इससे राज्य में संगठित लोकमत तैयार होता है और विदेशों में अपने हितों की वृद्धि होती है।"

राज्य के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रचार कूटनीति का सहायक है और विदेश नीति का प्रमुख अंग है। जैसा कि पेडलफोर्ड एवं लिंकन ने लिखा है—"प्रभावशाली ढंग से विचार-विस्तार का उद्देश्य सामान्य नीतियों तथा उद्देश्यों के लिए प्रत्युत्तर प्राप्त करना है। विदेशों में भावों को उभारना स्वयं में उद्देश्य नहीं है किन्तु एक साधन है जिसके द्वारा राज्यहित में प्रभाव डाला जा सकता है।"[1] नाजी जर्मनी की राजनीति पूरी तरह प्रचार पर आधारित थी और हिटलर ने प्रचार की महत्ता को स्वीकार किया था। प्रचार को साधन के रूप में मानते हुए हिटलर ने लिखा है, "प्रचार एक साधन है और जिन उद्देश्यों की प्राप्ति करनी है उसी सन्दर्भ में प्रचार को देखना है। इसे इस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिए ताकि उद्देश्यों की प्राप्ति के योग्य हो सकें और यह बिल्कुल स्पष्ट है कि सामान्य उद्देश्यों का महत्व आवश्यकताओं के अनुसार बदलता रहता है इसलिए प्रचार का आन्तरिक रूप भी तदनुसार बदलता रहना चाहिए।"[2] शीत-युद्ध के इस युग में प्रचार के बिना कोई भी राज्य अपने उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं कर सकता। आज तो प्रचार को राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के साधन के रूप में ही स्वीकार नहीं किया जाता अपितु इसे राष्ट्रीय शक्ति का एक तत्व भी माना जाता है। एक राज्य चाहे सही कार्य करे यदि वह प्रचार का सहारा न ले तो कठिनाई में उलझ सकता है। प्रचार के द्वारा ही विदेश नीति की सत्यता को दर्शाया जाता है।

प्रचार के विभिन्न नाम और रूप
(FORMS OF PROPAGANDA)

वर्तमान समय में प्रचार कार्य का बहुत बड़े पैमाने पर अद्भुत विस्तार हुआ है। इसे अनेक नये नाम दिये गये हैं। लोकतन्त्रीय राज्यों में प्रचार कार्य को रोकने वाले विभाग को प्रायः सूचना विभाग (Information Department) का नाम दिया जाता है। इसका उद्देश्य जनता को सरकार द्वारा दिये जाने वाले कामों की सही जानकारी देना और विरोधी दलों तथा शत्रु राज्यों द्वारा प्रचारित की जाने वाली भ्रान्तियों का निवारण करना है। नाजी जर्मनी में यह विभाग हिटलर के समय **'जनज्ञान और प्रचार का मन्त्रालय'** (Ministry of Public Enlightment and Propaganda) कहलाता था। द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने पर जब संयुक्त राज्य अमरीका को ऐसे विभाग की आवश्यकता हुई तो उसने इसकी स्थापना 1942 में **'युद्ध सूचना कार्यालय'** (War Information Officc) के नाम से की। भारत में इसी समय इस विभाग की व्यवस्था हुई और यह यन्त्र **'सूचना तथा प्रसारण विभाग'** (Department of Information and Broadcasting) कहलाता था। इसका प्रधान कार्य सरकारी कामों का प्रचार करना है।

इसका दूसरा नाम प्रकाशन (Publicity) है, क्योंकि आजकल प्रचार का एक साधन प्रेस द्वारा प्रकाशित की जाने वाली सामग्री—दैनिक अखबार, मासिक पत्रिकाएँ, फोल्डर, पुस्तिकाएँ आदि होती हैं। इसी का एक अन्य नाम मनोवैज्ञानिक युद्ध (Psychological war) अथवा संक्षेप में मनोयुद्ध (Psychowar) है। इसका प्रयोग प्रायः युद्धकाल में किये जाने वाले उस प्रचार से होता है जिसका उद्देश्य हवाई जहाजों से शत्रु के प्रदेश में फेंके जाने वाले प्रचार साहित्य और रेडियो के

1 Padelford and Lincoln, *Dynamics of International Politics*, 1968, p. 357.
2 Adolf Hitler, *Mein Kemph* (abridged), pp. 156-57.

प्रसारणों से शत्रु के मनोबल को भंग करना होता है। यह प्रचार उन्हें किंकर्तव्यविमूढ़ बना देता है। प्रचार का सबसे अधिक उग्र रूप मस्तिष्क शुद्धि (Brain Washing) कहलाता है। चीनी साम्यवादियों ने अपने देश में पूँजीवादी विचार रखने वाले व्यक्तियों के विचारों को बदलने के लिए इस साधन का व्यापक रूप से प्रयोग किया है। इसमें पहले तो बुर्जुआ व्यक्ति के विचारों को व्याख्यानों, वादविवादों, गोष्ठियों, परिचर्चाओं द्वारा तथा कुछ निश्चित ग्रन्थों के विरनार स्वाध्याय से बदलने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें सफलता न मिलने पर कठोर उपायों का प्रयोग किया जाता है जैसे अत्यधिक श्रम करके थका देना, नाना प्रकार की यन्त्रणा देना, एकान्त स्थान में बन्द कर देना, धमकी देना, आदि। इन उपायों से व्यक्ति के मस्तिष्क से पुराने 'गन्दे' विचारों को पूरी तरह से धोने के बाद इसमें नये विचारों को भरा जाता है।

प्रचार और झूठ
(PROPAGANDA AND FALSEHOOD)

युद्ध के प्रचार में, मिथ्या का भी काफी लाभदायक स्थान है, बशर्ते कि सत्य बहुत शीघ्र न मालूम हो जाये। सेमुअल जॉन्सन ने कहा था : "युद्ध के समय में लोग केवल दो बातें सुनना चाहते हैं : अपनी भलाई तथा शत्रु की बुराई। तथा युद्ध के बाद, मैं नहीं जानता कि किससे अधिक भय खाना चाहिए : साधारण लेखकों से, जिन्होंने झूठ बोलना सीख लिया है, भरे हुए अट्ट से; अथवा उन सैनिकों से, जिन्होंने लूटना सीख लिया है, भरी हुई सड़कों से।" कूटनीतिक दस्तावेजों में, अपनी निजी सरकार की नैतिकता का झूठा विश्वास दिखाने तथा अपने शत्रु की दुष्टता दिखाने की दृष्टि से हेर-फेर करना, एक पुरानी कला है। इस प्रकार सन् 1914 ई. की फ्रांस की पीली किताब में वैदेशिक कार्यालय ने यह दिखाने की चेष्टा की थी कि रूस में सेना का आह्वान आस्ट्रिया-हंगरी में सेना के आह्वान से पूर्व होने के बजाय, बाद में किया गया। सन् 1948 ई. में जर्मनी द्वारा हस्तगत कूटनीतिक कागजों के राज्य विभाग द्वारा प्रकाशन का सम्पादन इस प्रकार से किया गया था जिससे यह दिखाने की चेष्टा की गयी थी कि पोलैण्ड पर नाजियों के आक्रमण का निर्णय, मई के स्थान पर 23 अगस्त, 1939 ई. के नाजी-सोवियत समझौते के बाद हुआ था, तथा रूस पर आक्रमण का निर्णय नाजियों ने अगस्त के बजाय दिसम्बर सन् 1940 ई. में किया था।

परन्तु ऐसे छोटे एवं पुरानी फैशन के छल-कपट, 'महान झूठ' की संज्ञा प्राप्त करने वाली कला की अपेक्षा, वास्तव में बहुत दुर्बल है। इसमें पूर्व पक्ष के आधार पर असत्यों को चतुराई से मढ़ा जाता है तथा उनकी पुनरावृत्ति की जाती है, ताकि बहुत-से लोग उस बात पर जो जोरदार शब्दों में बार-बार दुहराई जाती है, विश्वास करने लगेंगे, बशर्ते कि उनका तात्कालिक प्रतिपादन किया जा सकता हो अथवा समाधानकारी इन्कार न किया जा सकता हो। यहाँ पर वाक्छल की बहुत-सी उत्कृष्ट कृतियों की दृष्टि से, नाजी एवं साम्यवादी प्रायः एकसमान सम्मान के अधिकारी हैं। महानतम सफेद झूठों में ये दोषारोपण थे कि साम्यवादियों ने जर्मनी की पार्लियामेण्ट को जला दिया; यहूदियों ने जर्मनी के साथ विश्वासघात किया; साम्यवादी यहूदी हैं; यहूदी साम्यवादी हैं; चर्चिल, रूजवेल्ट तथा स्टालिन यहूदियों के नियन्त्रण में थे; हिटलर का प्रधान उद्देश्य साम्यवाद के विरुद्ध धर्म-युद्ध था, चेकों तथा पोलैण्ड निवासियों ने जर्मनों की हत्याएँ कीं; हिटलर का प्रत्येक प्रदेश पर अधिकार करना उसकी यूरोप में 'अन्तिम प्रादेशिक माँग' थी; जर्मनी बोल्शेविज्म के विरुद्ध सभ्यता की रक्षा कर रहा था, आदि। लाल रूस के महानतम असत्यों में से ये कथन हैं कि सोवियत रूस एक प्रजातन्त्र है; चीनी साम्यवादी केवल 'कृषि सम्बन्धी सुधारक' ही थे; साम्यवादी शान्ति के पृष्ठ-पोषक हैं, अमरीका एक आक्रामक युद्ध का षड्यन्त्र कर रहा है; मार्शल योजना यूरोप को दास बनाने तथा उसका शोषण करने के लिए अमरीकन षड्यन्त्र था; संयुक्त राष्ट्र के

उकसाने पर दक्षिणी कोरिया ने उत्तरी कोरिया पर आक्रमण किया; संयुक्त राज्य अमरीका कीटाणु युद्ध से काम लेता है, आदि ।

अमरीकन राष्ट्रपतियों, राज्य सचिवों और राष्ट्र संघ के राजदूतों ने यू-2 हवाई जहाज की रूस पर उड़ानों (1960) के विषय में झूठ बोला । क्यूबा के 'बे ऑफ पिग्स' पर आक्रमण (अप्रैल 1961), डोमिनिकन रिपब्लिक द्वारा सैनिक आधिपत्य (अप्रैल 1965) और वियतनाम युद्ध (1964) प्रत्येक मामलों में शीघ्रता से झूठ प्रमाणित हुआ और सभी की सामर्थ्य को धक्का पहुँचा । झूठ ऐसा हो कि कभी भी झूठ बोलने वाले को प्रकट नहीं करे, अन्यथा प्रचार तन्त्र अविश्वनीय हो जाता है ।

सभी युद्धों में, सभी प्रकार के प्रचार का पथ-प्रदर्शन करने वाले निर्देशक बहुत ही सरल होते हैं, यद्यपि उनका प्रभाव उनको उपयोग में लाने की चतुराई पर ही निर्भर रहता है । चार प्रसंग सार्वभौमिक है : (i) हम निर्दोष हैं, शत्रु दुष्ट है; (ii) हम शक्तिशाली हैं, शत्रु दुर्बल है; (iii) हम एक है, शत्रु विभाजित है; (iv) हम विजयी होंगे, शत्रु पराजित होगा । अधिक चतुराई-पूर्ण प्रचार से भी कोई आश्चर्यजनक कार्य सम्भव नहीं, क्योंकि सभी मनुष्य, जिसमें सर्वाधिकार-वादी राज्यों के लोग भी सम्मिलित है, बार-बार कलई खुल जाने के कारण, प्रचार के प्रभाव से मुक्त हो जाते है तथा क्योंकि सभी देशभक्त अपने निजी नेताओं के प्रचार को स्वीकार करने के, चाहे वे कितने ही अलोकप्रिय क्यों न हों, तथा शत्रु शक्तियों के प्रचार को अस्वीकार करने के, चाहे वे कितने ही ईर्ष्या के योग्य अथवा प्रशंसा के योग्य क्यों न हों, आदी हो जाते हैं । फिर भी "कार्यों के प्रचार" के साथ प्रतीकात्मक कौशल से किये गये प्रबन्ध का चतुराईपूर्ण समीकरण तथा वास्तविक घटनाओं तथा शत्रु के वास्तविक कुकृत्यों एवं भूलों से चतुराई से लाभ उठाने की क्रिया, बड़े महत्वपूर्ण रूप से घर तथा बाहर के दृष्टिकोणों को प्रभावित कर सकती है, तथा कभी-कभी इच्छित सैनिक एवं राजनीतिक परिणामों में योग दे सकती है ।

प्रचार : पद्धति एवं तकनीक
(METHODS AND TECHNIQUES OF PROPAGANDA)

प्रचार की तकनीकें उन विधियों से मिलती-जुलती हैं जिसे व्यापारी अपने माल का विज्ञापन करने तथा उसे देखने के लिए काम में लाते हैं । व्यापारी अपने माल को बेचने के लिए अपने ग्राहकों के पूर्वाग्रहों, भयों और इच्छाओं का विश्लेषण करता है । कभी-कभी प्रचारक एक वकील की भाँति काम करता है जो सावधानीपूर्ण अपने तथ्यों को इस प्रकार संगठित करता है कि उसका पक्ष सही हो । अपनी बात को सही बताने के लिए या अपनी झूठी बात को सही प्रस्तुत करने के लिए प्रचारकर्ता कई प्रकार की विधियाँ अपनाता है ताकि उसके पक्ष को अच्छी तरह प्रस्तुत किया जा सके । प्रचार की कई सारी तकनीकें है । हार्टर तथा सूलीवान ने प्रचार की 77 तकनीकों का उल्लेख किया है । पामर तथा पर्किंस ने प्रचार की तकनीकों को चार शीर्षकों में बाँटा है :

(1) प्रस्तुत करने की विधि,
(2) ध्यान आकर्षित करने की विधि,
(3) प्रत्युत्तर प्राप्त करने की विधि,
(4) स्वीकृति प्राप्त करने की विधि ।

(1) **प्रस्तुत करने की विधि** (Methods of Presentation)—किसी भी समस्या पर प्रचारकर्ता अपने विचार इस ढंग से प्रस्तुत करता है कि केवल उसी का पक्ष प्रकट हो । वह अपनी बात को ऐसे प्रस्तुत नहीं करता जिससे दोनों पक्ष व्यक्त हों । उसकी भूमिका एक वकील के तरीके से मिलती-जुलती है जो बड़ी सावधानी से अपने तर्कों को इस प्रकार संगठित करता है जिनसे

मुकदमे का एक पक्ष सिद्ध होता हो। वह उन तथ्यों को अपने तर्कों में से निकाल देता है जिनसे उनके पक्ष को क्षति पहुँचती है। अब्राहम लिंकन जिन दिनों वकालत करते थे उन दिनों एक न्यायाधीश ने उनके तर्कों पर आपत्ति करते हुए कहा कि 'लिंकन, इस मुकदमे में आप जो तर्क दे रहे हैं, वे आपके द्वारा ही एक अन्य मुकदमे में कल दिये गये तर्कों के प्रतिकूल हैं।' इसका उत्तर देते हुए लिंकन ने कहा कि 'हो सकता है मैंने कल जो तर्क दिये थे वे गलत हों किन्तु मेरे आज के तर्क पूर्णतः सत्य हैं।'

कभी-कभी प्रचारक जान-बूझकर असत्य बोलता है अथवा अपने पक्ष के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जाली दस्तावेज भी तैयार करता है। हिटलर ने इस 'झूठ पद्धति' का बड़ी खूबी से प्रयोग किया। जब हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया को हड़पने का संकल्प किया तो उसने अपने उद्देश्य को इस रूप में प्रस्तुत किया कि वह चेकोस्लोवाकिया के केवल उन्हीं प्रदेशों को प्राप्त करना चाहता है, जिनमें जर्मन भाषा-भाषी स्यूडेटन लोग बसे हुए थे। यह माँग आत्मनिर्णय के उस सिद्धान्त के आधार पर की गयी थी जो लोकतन्त्र का एक मौलिक सिद्धान्त था और जिसमें ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस आदि पश्चिमी प्रजातन्त्र पूरी आस्था रखते थे। इसी प्रकार इंगलैण्ड के सत्तारूढ़ दल ने 1924 में रूस को बदनाम करने के लिए एक जाली पत्र तैयार किया जिसे जिनोविव-पत्र (Jinovive Letter) के नाम से जाना जाता है। कश्मीर समस्या पर पाकिस्तान अपने तर्क सदैव तोड़-मरोड़-कर प्रस्तुत करता है। पाकिस्तान बराबर यही प्रचार करता रहा है कि कश्मीर पाकिस्तान का अंग है क्योंकि वहाँ की अधिकांश जनता मुसलमान है।

कई बार कई देशों द्वारा झूठी और कृत्रिम रूप से बनायी गयी घटनाओं से लड़ाइयाँ छेड़ी जाती हैं और साथ ही इस प्रकार का प्रचार किया जाता है कि दूसरे देश उन्हें लड़ने के लिए विवश या बाधित कर रहे हैं। 18 सितम्बर, 1931 को मंचूरिया में मुकदन नामक रेलवे स्टेशन के पास एक बम विस्फोट हुआ। जापान ने इसे अपने प्रचार द्वारा इस रूप में प्रस्तुत किया कि यह चीनियों द्वारा जापान पर हमला करने का प्रयास है और इसका प्रतिरोध करने के लिए उन्होंने चीन पर आक्रमण किया और उसके एक बड़े भू-भाग को जीतकर उस पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। वस्तुतः बम विस्फोट की घटना चीन पर हमला करने और सुनियोजित ढंग से उसे जीतने की सुविचारित योजना का अंग था।

(2) **ध्यान आकर्षित करने की विधि** (Techniques of Gaining attention)—अपने उद्देश्यों को निर्धारित करने के बाद प्रचारक उनके प्रति सम्बद्ध देशों के लोगों का ध्यान आकर्षित करता है। इसके लिए कई साधन अपनाये जाते हैं—दूसरे देश की सरकार के लिए समय-समय पर नोट्स, पत्र, विरोध-पत्र आदि भेजे जाते हैं। कभी-कभी राष्ट्र अपनी शक्ति का प्रदर्शन भी करता है, सेनाओं की परेडों आदि से भी दूसरे देशों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। विभिन्न देशों के दूतावास सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित करके अपने देश की संस्कृति, साहित्य, कला, रीति-रिवाज आदि से भी विदेशियों को परिचित कराते हैं। आजकल शासनाध्यक्ष एवं अन्य नेताओं की यात्राओं का भी इन्हीं कारणों से प्रयोग किया जाता है। इन सद्भावना यात्राओं द्वारा राष्ट्रों को दूसरे देशों में अपनी नीति के प्रचार के लिए अच्छा अवसर प्राप्त हो जाता है।

(3) **प्रत्युत्तर प्राप्त करने की विधि** (Devices for Gaining Response)—प्रचारकर्ता द्वारा लोगों की देशभक्ति, आत्मरक्षा एवं न्यायप्रियता आदि भावनाओं को प्रभावित करके अपनी इच्छानुकूल प्रतिक्रिया प्राप्त करने की कोशिश की जाती है। इसके लिए निम्नलिखित विधियाँ अपनायी जाती हैं—(i) प्रचारक लोगों के गर्व, प्रतिष्ठा, आकांक्षाओं तथा भावनाओं को उत्तेजित करते हैं जिनके द्वारा सम्बन्धित समुदायों को प्रभावित करने का प्रयत्न किया जाता है। (ii) नये नारों का निर्माण करते हैं जिससे लोगों में अनुकूल चेतना जाग्रत हो जाती है—जैसे 'स्वतन्त्रता,

समानता और भ्रातृत्व', 'राष्ट्रीय आत्म-निर्णय का अधिकार', 'दुनिया के मजदूरो एक हों', जनतन्त्र खतरे में है' आदि नारे विश्व राजनीति में प्रचलित रहे हैं। (iii) प्रतीकों का प्रयोग—जैसे राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रीय गीत आदि को काम में लेना। राष्ट्रों के प्रतीकों का काम कभी-कभी राष्ट्रीय नेताओं और सामाजिक चिह्नों से भी किया जाता है। इतिहास में सबसे प्रभावशाली प्रतीक की भूमिका नाजी जर्मनी में 'स्वास्तिक' ने की। यह हिटलर के उद्देश्यों, आकांक्षाओं और अभिलाषाओं का द्योतक था तथा जर्मन व्यक्ति बड़ी श्रद्धा और भक्ति भाव से इस प्रतीक की पूजा किया करते थे।

(4) **स्वीकृति प्राप्त करने की विधि** (Methods of Gaining Acceptance)—प्रचारक द्वारा ऐसे प्रयत्न किये जाते हैं जिनके द्वारा दूसरे देश उसकी नीतियों को स्वीकृति प्रदान करें। प्रचारक जिस समुदाय को प्रभावित करना चाहता है वह यह प्रयत्न करता है कि वह समुदाय उसे स्वीकार करले। प्रचारक और समुदाय में पूर्ण तादात्म्य स्थापित हो जाये। कभी-कभी लोक धर्म, जाति, विचारधारा का सहारा लेकर प्रचार-उद्देश्य समुदाय को अपनी ओर मिलाते हैं। हिटलर ने पश्चिमी देशों के जर्मन विरोध को कुण्ठित करने के लिए साम्यवादी खतरे का नारा बुलन्द किया था। आस्ट्रिया आदि को अपने आधिपत्य में करने के लिए हिटलर ने 'जर्मन जाति' से उन्हें अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया। जापान ने पश्चिमी देशों के विरुद्ध एशिया के लोगों का समर्थन प्राप्त करने के लिए 'एशिया एशियावासियों के लिए' का नारा लगाया था।

प्रभावशाली प्रचार की विशेषताएँ एवं नियम
(REQUISITES FOR EFFECTIVE PROPAGANDA)

प्रभावशाली प्रचार के लिए कौन-कौनसी बातें आवश्यक है ? अर्थात् प्रभावशाली प्रचार की विशेषताएँ और नियम इस प्रकार हैं :

प्रथम, प्रचार में सादगी होनी चाहिए। प्रचार के नारे सरल, सुगम और बोधगम्य होने चाहिए। प्रचार ऐसा होना चाहिए जो औसत व्यक्ति की समझ में आ सके।

द्वितीय, प्रचार सुरुचिपूर्ण होना चाहिए। प्रचार उस समय तक प्रभावहीन रहता है जब तक कि वह सुनने वालों को आकर्षक न लगे।

तृतीय, प्रचार विश्वसनीय होना चाहिए। छोटे स्तर पर झूठ का कम प्रयोग होना चाहिए और यदि कोई बड़ा झूठ बोला जाये तो उसे बार-बार दोहराया जाना चाहिए।

चतुर्थ, प्रचार के प्रभावशाली होने के लिए उसमें निरन्तरता पायी जानी चाहिए। वे राज्य जिनके प्रचार का आधार नित्य बदलता रहता है, उनकी बात को गम्भीरता से नहीं लिया जाता है।

पंचम, प्रचार दीर्घकालीन नीति के साथ संयुक्त होना चाहिए। किसी भी प्रचार पर तब विश्वास किया जाता है जब उसके अनुसार कार्य भी किया जाये। उदाहरण के लिए, सोवियत संघ काश्मीर के मुद्दे पर भारत का समर्थक है और समय-समय पर भारत को सहायता भी देता रहा है। यदि वह ऐसा न करे तो भारत के प्रति प्रदर्शित की गयी सहानुभूति का कोई अर्थ नहीं हो सकता।

षष्ठ, प्रचार के लिए ऐसे नारों और समस्याओं को अपनाना चाहिए जिनमें साधारण व्यक्ति दिलचस्पी ले सकें। जैसे साम्राज्यवादी व पूंजीवादी विरोध का प्रचार उस देश में किया जाना चाहिए, जहाँ निवासी इसे देख चुके हों।

सप्तम, प्रचार में ऐसी भाषा व समस्याओं को लिया जाना चाहिए जो एक विशिष्ट वर्ग को विदेशी न लगे।

प्रचार और सर्वाधिकारवादी राज्य
(PROPAGANDA AND DICTATORIAL STATES)

सर्वाधिकारवादी राज्यों में प्रचार का विशेष महत्व है। 1905 में लेनिन ने कहा था कि साम्यवादी दल की विजय के लिए प्रचार महत्वपूर्ण हथियार है। प्रचार के विभिन्न तरीकों के

विकास के लिए सोवियत नेताओं की विशेष अभिरुचि रही है। साम्यवादियों की प्रचार की अपनी अलग ही भाषा रही है। साम्यवादी 'बुर्जुआ लोकतन्त्र', 'दुनिया के मजदूरो एक हो जाओ', आदि नारों का प्रयोग करते हैं। वे लाल सितारा, हथौड़ा, हँसिया आदि प्रतीकों का प्रयोग करते हैं। साम्यवादी प्रचार का क्षेत्र मुख्य रूप से अविकसित देशों को बनाया जाता है। सोवियत प्रजातन्त्र यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि अमरीका द्वारा विभिन्न देशों को दी जाने वाली सैनिक और आर्थिक सहायता साम्राज्यवाद का ही दूसरा रूप है। सन् 1945-47 के काल में सोवियत प्रचार का उद्देश्य जनवादी लोकतन्त्र की स्थापना करना रहा। सन् 1949 में सोवियत संघ ने शान्ति अभियान शुरू किया। प्रचार द्वारा सोवियत जनता एवं विश्व के लोगों को यह बताने का भरसक प्रयत्न किया गया कि रूस अपनी पूरी शक्ति से शान्ति स्थापित करने के लिए तत्पर है तथा आणविक शस्त्रों को मिटाकर वह निःशस्त्रीकरण करना चाहता है।

नाजी जर्मनी में हिटलर ने प्रचार के राष्ट्रीय मन्त्रालय की स्थापना की जिसके मन्त्री गौबल्स थे। एक ही प्रकार के लोकमत की स्थापना के लिए संस्कृति के राष्ट्रीय मण्डल (National Chamber of Culture) की स्थापना की गयी। नाजियों के प्रसिद्ध नारे थे 'हेल हिटलर' (Heil Hitler), 'शासक जाति' (Master Race), 'एक राज्य, एक नेता और एक लोग' (One People, One State, One Furehrer)। जर्मन लोगों की एकता के प्रतीक के रूप में 'स्वास्तिक' चिह्नों का प्रयोग किया गया।

फासीवादी इटली में मुसोलिनी का प्रचारतन्त्र हिटलर से भी अधिक पुराना और संगठित था। उसने इटली को रोमन साम्राज्य के रूप में दर्शाया, एड्रियाटिक समुद्र को इटली की झील और मेडिटेरेनियन को इटली के समुद्र के रूप में प्रदर्शित किया। लोगों को प्रेरित एवं उत्तेजित करने के लिए नारों का प्रयोग किया एवं प्रतीकों का सहारा लिया।

सोवियत संघ विकासशील देशों को अपने प्रभाव में लाने के लिए तथा अपनी संस्कृति का निर्यात करने के लिए सांस्कृतिक कार्यक्रम, शैक्षणिक कार्य, संचार अनुसन्धान, शोध कार्य आदि का सहारा लेता है।

अमरीकी प्रचारतन्त्र
(PROPAGANDA MACHINERY OF THE U. S. A.)

अमरीका ने भी प्रचार को काफी महत्व दिया है। द्वितीय विश्वयुद्ध काल में सूचना कार्यालय (OWI) की स्थापना की गयी। शीतयुद्ध के काल में प्रचार यन्त्र को बड़े पैमाने पर संगठित किया गया। सन् 1948 में स्मिथ मण्ड ऐक्ट पास किया गया। सन् 1951 में स्टेट डिपार्टमेण्ट के अन्तर्गत एक पृथक् अभिकरण अन्तर्राष्ट्रीय सूचना प्रशासन स्थापित किया गया। 1953 में संयुक्त राज्य सूचना अभिकरण (U.S.I.A.) की स्थापना की गयी जिसे समुद्र-पार के सूचना कार्यक्रमों का उत्तरदायित्व सौंपा गया। यू. एस. आई. ए. असाम्यवादी देशों को परचे, पोस्टर, अखबार, व्यंग्यचित्र आदि सामग्री भेजता है। 'वाइस ऑफ अमेरिका' भी इसकी एक शाखा है जो 38 भाषाओं में प्रतिदिन प्रसारण करता है। सूचना कार्यक्रमों के अतिरिक्त अमरीका सांस्कृतिक माध्यम से भी प्रचार-कार्य संचालित करता है। विभिन्न देशों से सांस्कृतिक सम्बन्ध बढ़ाने के लिए विद्यार्थियों के आदान-प्रदान को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया गया है। प्रतिवर्ष कम कीमत की लाखों पुस्तकें अमरीका से विदेशों को भेजी जाती हैं। लाखों अमरीकी पर्यटक प्रतिवर्ष विदेशों में जाते हैं जिनसे विभिन्न देशों के साथ निकटता बढ़ती है।

सन् 1946 का फुलब्राइट ऐक्ट (Fulbright Act of 1945) संयुक्त राज्य अमरीका के सांस्कृतिक हितों के विस्तार का एक अन्य प्रचारात्मक उपाय है। इसके द्वारा विद्वानों का अन्य देशों से आदान-प्रदान किया जाता है और उन्हें विदेशी मुद्रा और वित्तीय ऋण की सुविधाएँ प्रदान

की जाती हैं। इसी प्रकार का स्मिथ-मण्ड एक्ट (Smith-Mundt Act of 1948) के अन्तर्गत कलाकारों, वैज्ञानिकों, व्यावसायिक, कार्यकारी और अन्य सांस्कृतिक क्षेत्रों में काम करने वाले लोगों का आदान-प्रदान किया जाता है। कैनेडी युग में (1961) 'पीस कॉर्प्स' (Peace Corps) शुरू की गयी थी जिसके अन्तर्गत विदेशी सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत विशेषज्ञ अन्य देशों को भेजे जाते थे।

प्रचार के उपकरण
(TOOLS OF PROPAGANDA)

प्रचार के अभिकरणों में रेडियो और समाचार-पत्र प्रमुख है। रेडियो का प्रयोग शत्रु राज्य के मनोबल को नीचे गिराने के लिए प्रचुर मात्रा में होता है। 'वॉयस ऑफ अमेरिका' सोवियत संघ तथा समाजवादी व्यवस्था के विरुद्ध प्रचार करता है और मास्को रेडियो अमरीकी साम्राज्यवाद का पर्दाफाश करता है। वॉयस ऑफ अमेरिका सप्ताह के सातों दिन और दिन के चौबीसों घण्टों में निरन्तर प्रसारण करता रहता है। प्रसारण के उपकरणों में अमेरिकन रिपोर्टर, अमेरिकन रिव्यू, स्पान, सोवियत भूमि आदि पत्र-पत्रिकाओं का भी विशेष महत्व है। इसी प्रकार प्रदर्शनी, चलचित्र, उपन्यास तथा नाटक भी प्रचार के शक्तिशाली माध्यम है।

प्रचार और राजनीतिक युद्ध
(PROPAGANDA AND POLITICAL WARFARE)

प्रचार राजनीतिक युद्ध नहीं है। प्रचार राजनीतिक युद्ध का एक उपकरण है। राजनीतिक युद्ध के संचालन में प्रचार-साधनों का अनवरत प्रयोग होता है। सामान्य प्रचार को हम राजनीतिक युद्ध की संज्ञा नहीं देते, लेकिन प्रचार का उद्देश्य यदि विरोधी राज्य को निर्बल बनाना, डराना या धमकाना अथवा अपनी नीति मनवाने के लिए विवश करना है तो वह राजनीतिक युद्ध का अंग बन जाता है। प्रचार को राजनीतिक युद्ध की परिधि में तभी लिया जा सकता है जबकि उसका उद्देश्य विवशकारिता हो।

प्रचार एवं कूटनीति
(PROPAGANDA AND DIPLOMACY)

कूटनीति के साधनों में प्रचार एक महत्वपूर्ण साधन है। प्रचार के माध्यम से मित्रराष्ट्रों के प्रति सद्भावनाएँ व्यक्त करने और उनमें वृद्धि करने तथा शत्रु राज्यों के प्रति विष उगलने में सुविधा रहती है। प्रचार द्वारा विरोधी पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर बदनाम किया जाता है। प्रचार की सहायता से किसी राज्य के साथ सन्धि के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार किया जाता है तथा सन्धि को प्रभावी बनाने के लिए स्वदेश और विदेश में लोकमत तैयार किया जाता है। प्रत्येक देश की विदेश नीति का यह मुख्य लक्ष्य रहता है कि विरोधी के विचारों को परिवर्तित कर अपने राष्ट्रीय हितों के अनुकूल बनाया जाय। प्रचार के माध्यम से एक राज्य अपने राष्ट्रीय हितों के अनुकूल विश्वास पैदा करने, नैतिक मूल्यों का विकास करने, भावनात्मक प्राथमिकताओं को उभारने तथा लोगों के मस्तिष्कों को बदलने का प्रयास करता है। प्रचार के माध्यम से विदेश नीति के लक्ष्यों को परिभाषित किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रचार की प्रभावशीलता
(THE EFFECTIVENESS OF PROPAGANDA IN INTERNATIONAL POLITICS)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रचार का कितना प्रभाव है, इसे आसानी से मापा नहीं जा सकता। किन्तु आज छोटे-बड़े सभी देश रेडियो प्रसारण को प्रचार के रूप में अनवरत रूप से

---

1 "The persuation of friendly diplomacy is not political warfare; neither is propaganda which does not seek to impair or limit another state's freedom of action."
—Palmer and Perkins, *International Relations* (Third edition), p. 135

प्रयोग में ला रहे हैं। सन् 1970 के आस-पास विश्व के अधिकांश देश प्रति सप्ताह 16,000 घण्टे विदेशी प्रसारण करते थे जिनमें से 2,000 घण्टे के तो सोवियत प्रसारण ही थे। आजकल सोवियत संघ 88 भाषाओं में प्रसारण करता है। रेडियो प्रचार का एक सस्ता साधन है और अविकसित देशों में इसका महत्व बढ़ता जा रहा है। चाहे इन रेडियो प्रसारणों में 'नये अनुकूल दृष्टिकोण' न भी उत्पन्न हों तब भी इनके माध्यम से विदेशी नागरिकों से सम्बन्ध बना रहता है। भारत में बी. बी. सी. प्रसारण का कितना महत्व है, यह हम सभी जागते हैं। आज भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'प्रचार' शक्ति के प्रयोग का एक महत्वपूर्ण पहलू है। वर्तमान परिस्थितियों में विश्व का कोई भी देश प्रचार की अवहेलना नहीं कर सकता, अन्यथा वह शक्ति संघर्ष की दौड़ में पिछड़ जायेगा। आज की विश्व राजनीति इतनी व्यापक एवं जटिल होती जा रही है कि बिना प्रचार के राष्ट्रीय हितों में अभिवृद्धि प्रायः असम्भव है।

प्रश्न

1. राष्ट्रीय नीति के एक साधन (उपकरण) के रूप में प्रचार की भूमिका का परीक्षण करिए।
   Examine the role of propaganda as an instrument of national policy.
2. प्रचार की एक प्रकृति तथा कलापटुता को स्पष्ट करते हुए यह बताइए कि यह राष्ट्रीय नीति का एक प्रमुख उपकरण किस प्रकार बन गया है?
   Examine the nature and techniques of propaganda. Show how propaganda can be an instrument of national policy.
3. राष्ट्रीय नीति में प्रचार और राजनीतिक युद्ध उपकरणों का क्या स्थान है? इसका परीक्षण कीजिए।
   Examine the role of propaganda and political warfare as instruments of national policy.

16

राजनीतिक हितों की अभिवृद्धि के साधन : राजनीतिक युद्ध

[INSTRUMENTS FOR THE PROMOTION OF NATIONAL INTEREST : POLITICAL WARFARE]

19वी शताब्दी के अन्तिम चरण से विश्व में या तो युद्ध स्थिति रही है या युद्ध तैयारी की स्थिति रही है। शान्तिकाल तो वड़ा कम रहा है। इस परिस्थिति में सामान्य विदेत नीति, कूटनीति और प्रचार कुछ अनुपयुक्त से प्रतीत होने लगे। राज्यो के सामने यह समस्या उत्पन्न हुई कि जव न तो युद्ध है और न शान्ति, ऐसी स्थिति में शत्रु को किस प्रकार निर्वल किया जाये। यही राजनीतिक युद्ध की पृष्ठभूमि है। युद्ध केवल सेना द्वारा हथियारों से रणक्षेत्र मे ही नही लड़े जाते। युद्ध के कई रूप होते है, जैसे मनोवैज्ञानिक युद्ध, सैनिक युद्ध, राजनीतिक युद्ध आदि। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान मनोवैज्ञानिक और राजनीतिक युद्ध सैनिक युद्ध के महत्वपूर्ण पूरक माने गये थे और द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् राजनीतिक युद्ध को 'शीत युद्ध' के प्रतिरूप के रूप में जाना जाता हे।

राजनीतिक युद्ध का अर्थ
(MFANING OF THE POLITICAL WARFARE)

'राजनीतिक युद्ध' की स्थिति मे कोई राज्य सैनिक शक्ति का प्रयोग नही करता, लेकिन शक्ति के किसी-न-किसी रूप का प्रयोग अवश्य होता है।[1] युद्ध का निहितार्थ यह हे कि विपक्षी को कोई बात स्वीकार करने के लिए मजबूर कर दिया जाय। सैनिक वल से ऐसा करने पर उसे हम युद्ध की संज्ञा देते है, लेकिन कूटनीति, प्रचार, मनौवैज्ञानिक साधनों से भी किसी राष्ट्र को विवश किया जा सकता है। जब हम प्रचार, कूटनीति, आर्थिक दवाव आदि का प्रयोग इस रूप मे करें कि दूसरे राज्य हमारी नीतियों को मानने के लिए मजबूर हो जायँ तो इसे राजनीतिक युद्ध कहा जायेगा।

स्ट्रोज-ह्यूप तथा पॉसनी ने राजनीतिक युद्ध की निम्नलिखित परिभापा दी है—"राजनीतिक युद्ध, सूक्ष्म में; एक व्यवस्थित क्रिया हे एवं अधिकतर गुप्त स्वभाव की हे, जो बिना शक्ति अथवा सैनिक अधिकार के दूसरे राज्य की नीतियो को प्रभावित एवं निर्देशित करते है।"[1]

---

1 "Political warfare is but the reflection in the realm of the political and military policies it seeks to support." —*Morgenthau*

2 "Political warfare, briefly, is a systematic activity, mostly of secret nature to influence and direct the policies of other nations without resorting to coercion by force or military occupation." —Strause-Hupe and Possony, *International Relations* (1954), p. 422.

पामर एवं पर्किन्स ने राजनीतिक युद्ध को इस प्रकार परिभाषित किया है—"सामान्यत: युद्ध छोड़कर इसमें वे साधन सम्मिलित हैं जिनका किसी विशेष शत्रु या शत्रुओं को निर्वल करने के लिए प्रयोग किया जाता है।"[1]

उपरोक्त विचारों की विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि राजनीतिक युद्ध राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि का आधुनिक विश्व राजनीति के सन्दर्भ में प्रमुख साधन है। राजनीतिक युद्ध, युद्ध न होते हुए भी युद्ध की-सी परिस्थितियों को वनाये रखने की कला है; जिसमें प्रत्येक विषय पर विश्व-शान्ति के दृष्टिकोण से नहीं बल्कि अपने संकीर्ण स्वार्थों को ध्यान में रखकर विचार और कार्य किया जाता है। राजनीतिक युद्ध ऐसा युद्ध है जिसका रणक्षेत्र मनुष्य का मस्तिष्क है। यह मनुष्य के मनों में लड़ा जाने वाला युद्ध है अत: इसे स्नायु युद्ध (war of nerves) कहा जा सकता है। यह विभिन्न देशों के सम्बन्धों को घृणा, वैमनस्य और मनोमालिन्य से गन्दा कर देता है। यह एक प्रकार का वाक्युद्ध है जिसे कागज के गोलों, पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो तथा प्रचार-साधनों से लड़ा जाता है। यह एक प्रकार का कूटनीतिक युद्ध भी है जिसमें शत्रु को अकेला करने और मित्रों की खोज करने की चाल का प्रयोग किया जाता है।

राजनीतिक युद्ध की प्रकृति कूटनीतिक युद्ध-सी है जो अत्यन्त उग्र होने पर सशस्त्र युद्ध को जन्म दे सकता है। राजनीतिक युद्ध में रत पक्ष आपस में शान्तिकालीन कूटनीतिक सम्बन्ध वनाये रखते हुए भी शत्रुभाव रखते हैं और सशस्त्र युद्ध के अलावा अन्य सभी उपायों से एक-दूसरे को कमजोर बनाने का प्रयत्न करते हैं। दूसरे देशों को प्रभाव-क्षेत्र में लेने के लिए आर्थिक सहायता देना, प्रचार शस्त्र को काम में लेना जासूसी, सैनिक हस्तक्षेप, शस्त्र सप्लाई, शस्त्रीकरण, सैनिक गुटबन्दी और प्रादेशिक संगठनों का निर्माण आदि राजनीतिक युद्ध के अंग हैं।

राजनीतिक युद्ध का उद्देश्य शत्रु को निर्वल बनाना है, उसके मनोबल का विघटन करना तथा शत्रु अथवा विरोधी राज्य में अव्यवस्था पैदा कर उद्देश्यों की प्राप्ति करना है। सामान्यत: ये ही कार्य कूटनीति, प्रचार अथवा अन्य साधनों के होते हैं। लेकिन ये राजनीतिक युद्ध से भिन्न हैं।

सामान्य प्रचार राजनीतिक युद्ध नहीं है। लेकिन प्रचार का उद्देश्य विरोधी राज्य को निर्वल बनाना, डराना या धमकाना हो तो वह राजनीतिक युद्ध का अंग वन जाता है। इसी प्रकार सामान्य कूटनीति भी राजनीनिक युद्ध के अन्तर्गत नहीं आती। लेकिन जैसे ही कूटनीति का प्रयोग दूसरे राज्य को आतंकित करना होता है यह राजनीतिक युद्ध बन जाती है।[2]

कौन-सी क्रिया सामान्य है या राजनीतिक युद्ध का तत्व है, यह उद्देश्य पर निर्भर करता है। पामर एवं पर्किन्स के अनुसार यह अन्तर उद्देश्य से सम्बन्धित है। उदाहरण के लिए, नाकाबन्दी (embargo) आर्थिक स्रोतों का संरक्षण करने के लिए की गयी है तो यह सामान्य क्रिया के अन्तर्गत आयेगी। लेकिन यदि नाकाबन्दी का उद्देश्य विरोधी राज्य को आर्थिक वस्तु से वंचित रखना है तो वही क्रिया राजनीतिक युद्ध के अन्तर्गत आ जायेगी। राजनीतिक युद्ध का वास्तविक युद्ध की शुरूआत से अन्त नहीं हो जाता किन्तु युद्ध के समय प्रचार, कूटनीति, आर्थिक साधन सभी राजनीतिक युद्ध के साधन वन जाते हैं और युद्ध में सहायता करते हैं।

संक्षेप में, राजनीतिक युद्ध का अभिप्राय एक राज्य द्वारा सामान्य रूप से लड़ाई के अतिरिक्त वे सभी कार्य हैं जिनके द्वारा कोई राज्य अपने शत्रु को निर्वल वनाने का प्रयत्न करता है।

1 "In general, it embraces the means, short of war, which a state takes to weaken a specific or specific enemies." —Palmer and Perkins, *International Relations* (1970), p. 125.

2 "One instrument which has come into vogue to operate in the twilight zone between diplomacy and war is political." —*Ibid.*, p. 124.

शत्रु के विरुद्ध किये जाने वाले प्रचार कार्य का भी इसमें समावेश होता है। जनता को सरकार के विरुद्ध विद्रोह के लिए उकसाया जाता है, उद्योग-धन्धों, कल-कारखानों और यातायात के साधनों की व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करने का प्रयास किया जाता है। इसके साथ ही प्रमुख नेताओं की हत्या करके जनता के मनोबल को तोड़ने का प्रयास किया जाता है।

राजनीतिक युद्ध के प्रमुख साधन
(DEVICES OF POLITICAL WARFARE)

(1) शत्रु राज्य में भ्रान्ति और मतभेद उत्पन्न करने के लिए प्रचार करना।

(2) विरोधी समुदाय को आतंकित करने वाला प्रचार।

(3) दूसरे राज्य को निर्बल करने वाले आर्थिक साधन प्रयुक्त करना। उदाहरणार्थ, 1971 के भारत-पाक युद्ध के समय अमरीका ने भारत पर दबाव डालने के लिए आर्थिक सहायता बन्द कर दी थी।

(4) दूसरे राज्य में अल्पसंख्यकों को विद्रोह के लिए भड़काना। साम्यवादी चीन ने भारत और बर्मा के सन्दर्भ में यह नीति अपनायी थी।

(5) दूसरे राज्य के राजनीतिक अपराधियों को संरक्षण देना।

(6) दूसरे राज्य में जासूसी गतिविधियों में वृद्धि करना। अमरीकी सी. आई. ए. और रूसी के. जी. बी. इसी प्रकार की गुप्तचरी करते रहते हैं।

(7) दूसरे राज्य के विरोध में निर्वासित सरकार को अपने देश में बनने देगा।

(8) दूसरे राज्य में राजनीतिक हत्याएँ करना।

(9) दूसरे राज्यों में आर्थिक तोड़-फोड़ की नीति अपनाना।

(10) दूसरे राज्य में क्रान्ति को प्रोत्साहन देना राजनीतिक युद्ध का बड़ा प्रभावशाली साधन है। साम्यवादी देश इस साधन का यदा-कदा प्रयोग करते रहते है।

(11) शक्ति का प्रदर्शन करना—आदि राजनीतिक युद्ध के प्रमुख साधन हैं।

इस साधनों का प्रयोग राज्य अपने राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के लिए करते है, लेकिन इनका प्रयोग सामान्यतः मित्र देशों के साथ नहीं किया जाता। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय नाजी जर्मनी ने उपरोक्त साधनों का खुलकर प्रयोग किया था।

राजनीतिक युद्ध : कतिपय उदाहरण
(SOME OF THE ILLUSTRATIONS OF POLITICAL WARFARE)

राजनीतिक युद्ध की कला का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से हो रहा है। आचार्य कौटिल्य ने बड़े विस्तार से इस बात पर प्रकाश डाला है कि शत्रु के प्रदेश में अपने गुप्तचर भेजकर उनमें किस प्रकार फूट पैदा की जाय और उनको निर्बल बनाया जाय। मध्यकाल में मेकियावेली ने राजनीतिक युद्ध के उपायों का उल्लेख अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिन्स' में बड़े विस्तार से किया है।

ट्रायजन घोड़े की कहानी (The Story of 'Trajan Horse) से हम सभी परिचित हैं। ट्राय नगर को जीतने के लिए यूनान ने राजनीतिक युद्ध का सहारा लिया। यूनानियों ने एक चाल सोची। उन्होंने अपने देवता को प्रसन्न करने के नाम पर लकड़ी का एक विशाल घोड़ा बनाना प्रारम्भ किया। वह घोड़ा अन्दर से खोखला था। इसके पेट में कई सैनिक चुपके से यूनानियों ने छुपा दिये; अपनी विजय की खुशियाँ मनाते हुए ट्राय के निवासी शहर के परकोटे को तोड़कर घोड़े को अन्दर ले गये। लेकिन घोड़े के पेट में यूनानी सैनिक छिपे बैठे थे। रात्रि को उपयुक्त अवसर देखकर यूनानी सैनिक बाहर निकल आये और चुपके से ट्राय नगर का दरवाजा खोल दिया। लगातार कई दिनों तक घमासान युद्ध हुआ और अन्त में यूनानियों की विजय हुई।

प्रथम विश्वयुद्ध के समय मित्र राष्ट्रों ने विल्सन ने 14 सूत्रों के आवरण में 'राष्ट्रीय

आत्मनिर्णय' के सिद्धान्त का लालच देकर स्लाव लोगों को अपने पक्ष में कर लिया। उन्होंने इटली के साथ गुप्त सन्धि करके उसे धुरी राष्ट्रों से विलग करने का प्रयत्न किया।

दो विश्वयुद्धों के मध्य साम्यवादियों ने चीन, हंगरी, बवेरिया तथा सेक्सनी में विद्रोह खड़ा किया, सोवियत रूस में क्रान्ति विरोधी तत्वों को दबाया, फ्रेंच प्रधानमन्त्री बारथू की हत्या (1934) करवायी; स्पेन में फासिस्टों एवं कम्युनिस्टों का हस्तक्षेप तथा आस्ट्रिया पर नाजी हमला राजनीतिक युद्ध के उदाहरण है।

आधुनिक युग में अल्पसंख्यकों को राज्य के विरुद्ध भड़काने की नीति का प्रयोग हिटलर ने आस्ट्रिया तथा चेकोस्लोवाकिया के कुछ भागों को हस्तगत करने में बड़ी कुशलतापूर्वक किया। जनरल फ्रांकों द्वारा स्पेन के गृहयुद्ध में इस पद्धति को सफलतापूर्वक अपनाया गया। स्पेन की राजधानी मेड्रिड पर चढ़ाई के समय उसे राजधानी को चारों दिशाओं में घेरने वाली अपनी सेनाओं के अतिरिक्त राजधानी के भीतर विद्यमान अपने समर्थक पचमाँगी दल (Fifth Column) से बड़ी सहायता मिली।

द्वितीय महायुद्ध के समय जर्मनी ने बराबर प्रयत्न किया कि अमरीका मित्रराष्ट्रों की तरफ से युद्ध में न कूदे और इसके लिए रिश्वत, चेतावनी और गुमराह करने वाले साधनों को अपनाया। युद्ध में फ्रांस के मनोबल को गिराने के लिए राजनीतिक युद्ध जैसे साधनों का प्रयोग किया गया। हिटलर की जीवनलीला समाप्त करने के लिए मित्रराष्ट्रों ने भी ऐसे ही तरीके अपनाये। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पूर्वी यूरोप के राज्यों को अपने प्रभाव-क्षेत्र में लेने के लिए सोवियत संघ ने भी स्टालिन के नेतृत्व में राजनीतिक युद्ध के तौर-तरीकों को अपनाया। भारत के विरोध में चीन और पाकिस्तान बराबर ऐसे ही तरीके अपनाते रहे हैं। चीनी विदेशी नीति के साधनों में राजनीतिक युद्ध के तरीकों को विशेष महत्व दिया गया है। अमरीका और सोवियत संघ के बीच चलने वाले शीतयुद्ध में राजनीतिक युद्ध के तरीके प्रयुक्त होते है। रूस-चीन मतभेद को देखते हुए दोनों देश राजनीतिक युद्ध के तरीकों को अपनाने में नहीं हिचकिचाते। एशिया के देशों के परिप्रेक्ष्य में चीन यदाकदा राजनीतिक युद्ध के उपायों का सहारा लेता रहा है।

प्रश्न

1. राजनीतिक युद्ध से आप क्या समझते है? प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध और इसके बाद के युद्धों में इसके कार्य और साधनों की विवेचना कीजिए।
   What do you understand by political warfare ? Discuss its devices and role during First and Second World War and in the Post War Period.
2. राष्ट्रीय नीति को प्रोत्साहित करने के साधन के रूप में राजनीतिक युद्ध और प्रचार की भूमिका की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।
   Discuss with illustrations the role of political warfare propaganda as instruments of promoting national policy.

17

राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के साधन : साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद

[INSTRUMENTS FOR THE PROMOTION OF NATIONAL INTEREST : IMPERIALISM AND COLONIALISM]

मानव समाज में साम्राज्यवाद की परम्परा मनुष्य के राजनीतिक जीवन के साथ आरम्भ हुई है। यह सम्भवत: मानव समाज की प्राचीनतम व्यवस्था है, क्योंकि पुराने समय से महत्वाकांक्षी राजा अपने राज्य की संकीर्ण सीमाओं से सन्तुष्ट न होकर चारों ओर पड़ोसी राजाओं पर हमले करके उन्हें अपना वशवर्ती वनाते हुए अपने राज्य को साम्राज्य में परिवर्तित किया करते थे। प्राचीन भारतीय साहित्य मे हमें ब्राह्मण ग्रन्थों के समय से चक्रवर्ती वनने वाले और राजसूय यज्ञ करने वाले राजाओं के वर्णन मिलते हैं। जिस राजा के रथ का चक्र अपने राज्य की सीमाओं से बाहर जितने वड़े प्रदेश में निर्वाध गति से चलता था और जितने राजा उसका प्रभुत्व स्वीकार करते थे, वह उन सभी प्रदेशों का चक्रवर्ती सम्राट कहलाता था। महाभारत में युधिष्ठिर द्वारा चारों दिशाओं में अपने भाइयों को भेजकर दिग्विजय करने के उपरान्त, राजसूय यज्ञ करने का और राजाओं द्वारा लायी गयी भेंटों का विस्तृत वर्णन मिलता है। पुराने जमाने में मिस्र, बेबीलोन, असीरिया, ईरान, यूनान, चीन के शक्तिशाली और महत्वाकांक्षी राजाओ ने तथा मध्ययुग में चोल और मुगल राजाओ ने और वर्तमान युग मे अंग्रेजो ने विशाल साम्राज्य स्थापित किये। सातवी शताब्दी में अरवों ने और उसके वाद मंगोलो तथा तुर्कों ने और सोलहवीं शताब्दी में स्पेन, पुर्तगाल, हॉलैण्ड, इंगलैण्ड और फ्रांस ने विश्वव्यापी साम्राज्य स्थापित किये।[1]

यह स्पष्ट है कि जव कोई राजा या राज्य सैनिक शक्ति द्वारा अथवा अन्य उपायों से अपनी सत्ता और प्रभुत्व का विस्तार अपने राज्य की सीमाओं से वाहर करने लगता है तो वह राज्य साम्राज्य का रूप धारण करता है और उसकी यह नीति साम्राज्यवाद कहलाती है। इसमें एक जाति अथवा राष्ट्र का शासन करने वाला वर्ग वलपूर्वक अन्य जातियों और राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का अपहरण करके उन पर अपना राजनीतिक आधिपत्य स्थापित कर लेता है, उनकी सम्पत्ति, भूमि, उद्योगों, व्यापार आदि का प्रयोग अपने स्वार्थ (राष्ट्रीय हित) और लाभ के लिए करने लगता है। साम्राज्यवाद का मूल तत्व एक राज्य द्वारा दूसरे राज्यो पर अपनी शक्ति का विस्तार है। आधुनिक काल में 'साम्राज्यवाद' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है—पहला आर्थिक और दूसरा राजनीतिक। आर्थिक साम्राज्यवाद का तात्पर्य एक देश द्वारा दूसरे देश के

आर्थिक शोषण तथा स्वामित्व से है। राजनीतिक साम्राज्य से एक देश द्वारा दूसरे देश के राज नीतिक शोषण का बोध होता है।

साम्राज्यवाद की परिभाषाएँ
(DEFINITIONS OF IMPERIALISM)

राज्य की यह सामान्य नीति रही है कि वे किसी न किसी रूप में अपना विस्तार करें। राज्यों का अपने प्रभाव और नियन्त्रण को इस प्रकार से फैलाना ही साम्राज्यवाद कहा जायेगा।- **इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका** के नवीनतम 15वें संस्करण में इसका लक्ष्य इस प्रकार किया गया है—"यह राज्य की ऐसी नीति है जिसका उद्देश्य अपने राज्य की सीमाओं से वाहर रहने वाली ऐसी जनता पर अपना नियन्त्रण स्थापित करना होता है जो सामान्य रूप से ऐसे नियन्त्रण को स्वीकार करने के लिए अनिच्छुक है।"[1]

रिचर्ड सट्टन ने इसके विस्तारवादी तत्व पर बल देते हुए लिखा है, "साम्राज्यवाद ऐसी राष्ट्रीय नीति है जो दूसरे देश अथवा इसकी सम्पत्ति पर अपनी शक्ति अथवा नियन्त्रण का विस्तार करना चाहती है।"[2] इस प्रकार का साम्राज्यवादी विस्तार करने में वही राज्य या शासक समर्थ होते हैं जो किसी प्रकार को तकनीकी दृष्टि से आगे बढ़े हुए होते हैं। उनके पास लड़ने के लिए अच्छे हथियार, योग्य नेतृत्व, उत्कृष्ट संगठन शक्ति, अपूर्व उत्साह, अद्भुत साहस आदि के वैयक्तिक गुण होते हैं। वाबर भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना इसलिए कर सका कि वह अपने साथ एक नवीन अस्त्र—तोपें लाया था। अंग्रेजों ने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना इंगलैण्ड से सेनाएँ लाकर नहीं की, अपितु यहाँ भारतीयों को भर्ती किया, उन्हें कवायद-ड्रिल आदि सिखाकर यूरोपियन ढँग से लड़ने की कलाओं में प्रशिक्षित करके तथा इस भाँति प्रशिक्षित सेनाओं की शक्ति से भारत जीता। अतः साम्राज्यवादी देश की एक बड़ी विशेषता तकनीकी ढंग से उष्कृट होना है। इंसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना में लिखा है—"साम्राज्यवाद तकनीकी दृष्टि से आगे बढ़े हुए समाज द्वारा पिछड़े हुए समाज पर अपने प्रभुत्व का विस्तार करना है।"[3]

प्रो. हॉजेस ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की दृष्टि से इसकी परिभाषा करते हुए लिखा है कि "साम्राज्यवाद का उद्देश्य विश्वशान्ति की दृष्टि से अधिक उन्नत देशों के हित की दृष्टि से पिछड़ी हुई ज़ातियों पर प्रभुत्व स्थापित करना है।" वर्तमान समय में चूँकि यूरोपियन जातियों ने सामान्य रूप से एशिया और अफ्रीका की जातियों पर प्रभुत्व स्थापित किया है, अतः इस दृष्टि से लक्षण करते हुए साम्राज्यवाद के स्वरूप का विशद् विवेचन करने वाले पार्कर टी. मून ने लिखा है कि "साम्राज्यवाद यूरोपियन राष्ट्रों द्वारा अपने से सर्वथा भिन्न गैर-यूरोपियन जातियों पर प्रभुत्व स्थापित करना है।" प्रो. शूमां ने लिखा है कि "शक्ति और हिंसा द्वारा अधीनस्थ जनता पर विदेशी शासन का लादा जाना ही साम्राज्यवाद है।" एच. जी. वेल्स के अनुसार, "एक राष्ट्रीय राज्य का विश्वव्यापक बनने के लिए प्रयतनशील होना ही साम्राज्य है।"

साम्राज्यवाद के मूल तत्व तथा विशेषताएँ
(BASIC ELEMENTS AND CHARACTERISTICS OF IMPERIALISM)

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर साम्राज्यवाद की निम्न विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं :

(1) साम्राज्यवाद अपने राज्य की सीमाएँ वढ़ाने में विश्वास करता है।

---

1 "The policy of a state aiming at establishing control beyond its border over people generally unwilling to accept such control." —*Encyclopaedia Britannica*

2 "Imperialism is a national policy that favours extending power or control over another country or its position." —*Richard Sutton*

3 "Imperialism is expansion of advanced society at the expense of society thought to be backward." —*Encyclopaedia Americana*

(2) साम्राज्यवाद का उद्देश्य होता है अन्य देशों को अपने अधीन करके उनका शोषण करना।

(3) वर्तमान में साम्राज्यवाद का उद्देश्य मुख्यतया आर्थिक शोषण होता है, परन्तु कभी-कभी सैनिक व राजनीतिक शोषण भी हो सकता है।

(4) साम्राज्यवाद के अन्तर्गत विविध राष्ट्रीय इकाइयों पर एक ही राष्ट्र का आधिपत्य होता है।

(5) साम्राज्यवाद का सम्बन्ध राष्ट्र की विदेश नीति से है।

(6) साम्राज्यवादी देश अपने अधीनस्थ राष्ट्रों के हितों की उपेक्षा करते हुए अपने हितों को प्राधान्य देते हैं। जब भारत ब्रिटिश साम्राज्य का अंग था तो भारत सरकार भारतीय हितों की उपेक्षा करते हुए इंगलैण्ड के हितों को अधिक महत्व देती थी।

(7) साम्राज्यवाद स्थापित करने वाले देश के पास अधीनस्थ राज्यों की अपेक्षा तकनीकी दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि के अस्त्र-शस्त्र, रणनीति कौशल, अधिक पूंजी और उत्पादन के उन्नत साधन होते है।

(8) मॉरगेन्थाऊ के अनुसार जिन राज्यों के पास शक्ति का बाहुल्य है, वे प्रत्येक क्षेत्र में अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे। ऐसे राज्यों की नीति होगी रिवीजनिस्ट या परिवर्तनवादी। किसी परिवर्तनवादी राज्य की शक्ति विस्तार की लालसा जब अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर दूसरों का शोषण करने लगती है तब वह राज्य साम्राज्यवादी नीति अपनाने लगता है। यथास्थिति-वादी राज्य इस बात का प्रयत्न करते है कि मौजूदा शक्ति सन्तुलन में कोई परिवर्तन न हो और इस सन्तुलन में उनकी जो भी स्थिति हो वह बराबर बनी रहे। परन्तु परिवर्तनवादी राज्य मौजूदा शक्ति सन्तुलन को उलटकर और अधिक शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते है।[1]

साम्राज्यवाद का विकास
(GROWTH OF IMPERIALISM)

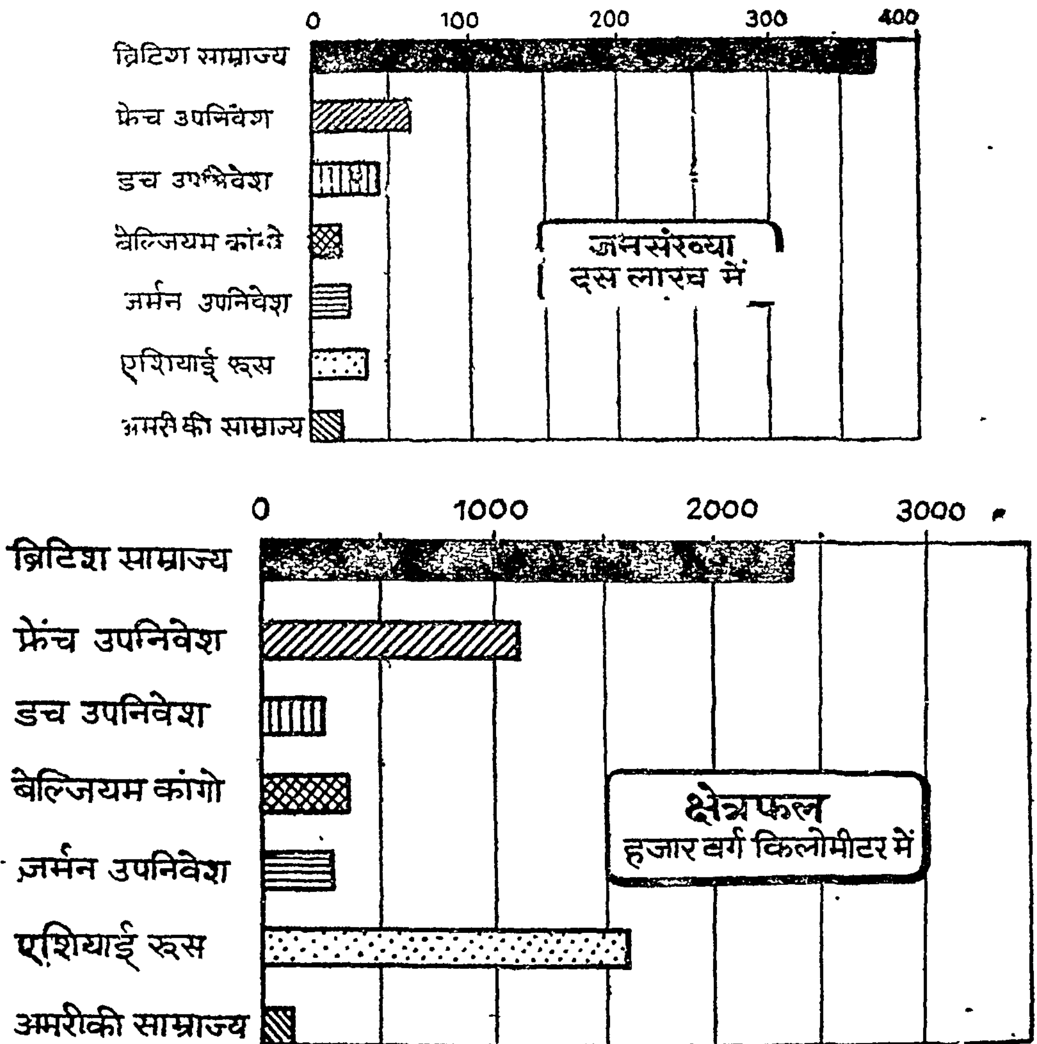
साम्राज्यवाद के विकास को मोटे तौर से प्राचीन और अर्वाचीन नामक दो युगों में बाँटा जाता है। 15वी शताब्दी तक प्राचीन साम्राज्यवाद का तथा उसके बाद से अब तक का अर्वाचीन साम्राज्यवाद का युग माना जाता है। प्राचीन साम्राज्यवाद के सबसे पुराने उदाहरण हमें मिस्र, मैसोपोटामिया, भारत, चीन, यूनान तथा ईरान में मिलते है। ये सब राजनीतिक साम्राज्य थे। ईसा की तीसरी शताब्दी ई. पू. से रोमन साम्राज्यवाद का उत्कर्ष हुआ। 7वीं शताब्दी में अरबों का विश्वव्यापी साम्राज्य बना। उसमें इस्लाम को सारे विश्व में फैला देने की प्रबल महत्वाकांक्षा थी। अपने अधिकतम उत्कर्ष के समय खलीफाओं का शासन स्पेन से सिन्ध तक विशाल प्रदेश पर विस्तीर्ण था। इन सभी साम्राज्यों में धर्म, भाषा और जाति की दृष्टि से बड़ी विविधता रखने वाले अनेक प्रकार के समुदाय थे। ये सब सैनिक शक्ति से एक सूत्र में आबद्ध किये गये थे। इनमें पूरी शासन सत्ता का केन्द्रीयकरण था और साम्राज्य में रहने वाली विभिन्न जातियों और अंगों का केन्द्रीय सत्ता में कोई प्रभावशाली प्रतिनिधित्व नही था।

16वीं शताब्दी से अर्वाचीन साम्राज्यवाद का श्रीगणेश हुआ। यह प्रधान रूप से आर्थिक कारणों से आरम्भ हुआ। इसका नारा था "साम्राज्यवाद का झण्डा व्यापार का अनुगमन करता है या व्यापार झण्डे का अनुगमन करता है।" औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप यूरोप के व्यापारियों ने पिछड़े देशों में साम्राज्यों की स्थापना की। यूरोप की अनेक व्यापारिक कम्पनियाँ एशिया और अफ्रीका के देशों में कार्य करने लगी। भारत के साथ व्यापार के लिए अँग्रेजों ने 1600 ई. में ईस्ट इण्डिया कम्पनी स्थापित की। इसी प्रकार की कम्पनियाँ डचों और फ्रेंचों ने भी स्थापित की।

---

1 Hans J. Morgenthau, *Politics Among Nations*, Third edition, pp. 44-71.

इनसे भी पहले स्पेन और पुर्तगाल ने अमरीका महाद्वीप और पूर्वी देशों में अपने व्यापारिक अड्डे व साम्राज्य बनाये। सन् 1880 तक अफ्रीका महाद्वीप का अधिकांश भाग स्वतन्त्र था। उसके बाद इसके विभिन्न प्रदेशों को अपने साम्राज्य का अंग बनाने के लिए यूरोप के देशों में प्रबल होड़ हुई। प्रथम विश्वयुद्ध शुरू होने से पहले पश्चिमी देशों के साम्राज्यवाद का उत्कर्ष निम्नांकित चित्र से स्पष्ट हो जायगा :



इस समय सबसे बड़ा साम्राज्य ग्रेट-ब्रिटेन का था। इसमें समूचे भू-मण्डल की चौथाई जनसंख्या और निवास योग्य धरती का चतुर्थांश सम्मिलित था। इनमें अँग्रेज लोगों की संख्या कितनी कम थी, यह इस बात से स्पष्ट हो जायेगा कि इसमें एक अँग्रेज के पीछे 30 काली जातियों तथा अन्य जातियों के सदस्य थे। इसमें 31 करोड़ भारतीय, 4 करोड़ अफ्रीका के काले लोग, 60 लाख अरब तथा मलय एवं 10 लाख चीनी और 1 लाख कनाडा के रेड इण्यिन थे। केवल अफ्रीका में ही फ्रांस के पास 41·50 लाख वर्ग मील, इंगलैण्ड के पास 35 लाख वर्ग मील, जर्मनी के पास 10 लाख वर्ग मील और इटली, वेल्जियम, पुर्तगाल जैसे छोटे राज्यों में प्रत्येक के पास 10 लाख वर्ग मील के प्रदेश थे। अफ्रीका में केवल दो राज्य ही यूरोपियन राज्यों के साम्राज्यवाद से मुक्त रह पाये थे—एक तो एवीसीनिया का राज्य जिसे इटली ने 1896 में अपने साम्राज्य में

लाने का विफल प्रयत्न किया था और दूसरा लाइबेरिया जिसे संयुक्त राज्य अमरीका ने स्वतन्त्रता प्रदान की।

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर राष्ट्रसंघ की स्थापना होने पर युद्ध में पराजित जर्मनी, टर्की आदि के विभिन्न उपनिवेश तथा प्रदेश मित्रराष्ट्रों ने मैण्डेट के रूप में प्राप्त किये। यह पुराने साम्राज्यवाद का नवीन रूप था। इस व्यवस्था मे राष्ट्रसंघ की ओर से इन प्रदेशो का शासन ब्रिटेन, फ्रांस आदि को इस दृष्टि से दिया गया कि वे इन्हें स्वशासन करने की दृष्टि से योग्य बनायें और इनके शासन की रिपोर्ट राष्ट्रसंघ को प्रतिवर्ष देते रहें। ब्रिटेन को टांगानिक्या, पैलेस्टाइन और इराक के, फ्रांस को सीरिया और दक्षिणी अफ्रीका के, दक्षिणी अफ्रीका को जर्मन-दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका के प्रदेश मिले। यूरोपियन शक्तियो का अनुसरण करते हुए जापान ने 1930 के वाद मंचूरिया के चीनी प्रदेश पर अधिकार कर लिया। इस समय विश्व की 84 प्रतिशत भूमि गोरी जातियों के साम्राज्यवाद का शिकार वन चुकी थी जवकि सन् 1942 में इनके पास केवल 9 प्रतिशत भूमि ही थी।

औद्योगिक क्रान्ति ने राष्ट्रीय स्पर्द्धा की भावना को तीव्र किया। यूरोपीय देशों को कच्चा माल चाहिए था और तैयार माल वेचने के लिए वाजार चाहिए थे। इस प्रकार साम्राज्यवाद ने आर्थिक स्वरूप ग्रहण किया। यूरोप के व्यापारी धन-लाभ के लिए पूँजी लगाने लगे जिससे उन्हें अधिक लाभ होने लगा। उपनिवेशों में व्यापार तथा विनियोग की सुविधा के साथ-साथ राजनीतिक और प्रशासकीय नियन्त्रण भी स्थापित किया गया। इस प्रकार पूँजीवाद से साम्राज्यवाद की स्थापना हुई। कालान्तर में पूँजीवाद के साथ-साथ साम्राज्यवाद का सम्वन्ध राष्ट्रीय गौरव और सैनिकवाद से भी जुड़ गया। वड़ा साम्राज्य सैनिक दृष्टि से उपयोगी था और उससे राष्ट्रीय अहं की तुष्टि होती थी। मुसोलिनी का कहना था कि फासिस्टवाद के लिए सीमा विस्तार अथवा साम्राज्यवाद अनिवार्य है क्योंकि इसके अभाव में राष्ट्र की आत्मा क्षीण हो जाती है। आज साम्राज्यवाद ने 'डॉलर साम्राज्यवाद' तथा 'सांस्कृतिक साम्राज्यवाद' का रूप ग्रहण कर लिया है। वड़ी शक्तियाँ आर्थिक सहायता और सांस्कृतिक सहयोग के नाम पर अपना प्रभाव-क्षेत्र वढ़ाने में लगी हुई है। कतिपय विद्वान 'साम्यवाद' को नूतन साम्राज्यवाद कहकर पुकारते है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के वाद साम्राज्यवाद का वड़ी तेजी से ह्रास हुआ है क्योंकि प्रधान साम्राज्यवादी देशो—इंगलैण्ड तथा फ्रांस—की शक्ति दूसरे विश्वयुद्ध में इतनी क्षीण हो गयी कि वे अव सैनिक वल से उपनिवेशों पर अधिकार रखने में असमर्थ हो गये। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के 25 वर्षो के भीतर ही अधिकांश उपनिवेश स्वतन्त्र हो गये। 1947 से 1963 के वीच में ब्रिटिश साम्राज्य के 75 करोड़ व्यक्ति स्वाधीन हुए।

प्राचीन तथा अर्वाचीन साम्राज्यवाद में अन्तर
(DISTINCTION BETWEEN ANCIENT AND MODERN IMPERIALISM)

16वीं शताव्दी से शुरू होने वाला अर्वाचीन साम्राज्यवाद प्राचीन साम्राज्यवाद से कई वातों में मौलिक भेद रखता था। इन दोनो के भेद निम्नलिखित है :

प्रथम, प्राचीन साम्राज्यवाद किसी महत्वाकांक्षी शक्तिशाली राजा द्वारा दूसरे देशों को जीतने की इच्छा का परिणाम होता था; किन्तु अर्वाचीन साम्राज्यवाद किसी विशेप राज्य की दूसरे देशों पर व्यापारिक अथवा आर्थिक प्रभुत्व स्थापित करने की इच्छा का परिणाम होता है।

द्वितीय, प्राचीन साम्राज्यवाद सैनिक वल पर आधारित था, जबकि आधुनिक साम्राज्यवाद वाणिज्य और व्यवसाय पर आधारित होता है।

तृतीय, प्राचीन साम्राज्य प्राय: अधीनस्थ प्रदेशो के राजाओं से नाना प्रकार की भेटें तथा कर लेते थे, किन्तु उनको आन्तरिक शासन में स्वतन्त्रता देते थे। आधुनिक साम्राज्यवाद पराधीन देशों के समूचे जीवन पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित करते है।

चतुर्थ, पुराने साम्राज्यों में दास बनाने की प्रथा थी किन्तु आधुनिक साम्राज्य पराधीन देशों को आर्थिक दृष्टि से ही दास वनाते हैं और पुरानी दास प्रथा को अमानवीय समझते हैं।

पंचम, पुराने साम्राज्यों में व्यापारिक होड़ और प्रतिद्वन्द्विता की भावना इतनी उग्र नहीं थी जितनी आधुनिक साम्राज्यवादी देशों में पायी जाती है।

साम्राज्यवादी सिद्धान्त सम्बन्धी सिद्धान्त
(THEORIES REGARDING IMPERIALISM)

आधुनिक युग में साम्राज्यवाद ने विश्व की राजनीति पर गहरा प्रभाव डाला है। साम्राज्यवाद के सम्बन्ध में कई सिद्धान्त अस्तित्व में आये हैं। साम्राज्यवाद का अध्ययन करने वाले विद्वानों में हॉब्सन, लेनिन, जोसेफ शुम्पीटर, विन्स्लो, फ्राज फेनोन, लार्ड फ्रेडरिक लगर्ड प्रमुख हैं। यहाँ साम्राज्यवाद से सम्बन्धित कतिपय सिद्धान्तों का विवेचन किया जायेगा।[1]

(i) सामाज्यवाद का मार्क्सवादी सिद्धान्त (The Marxist Theory of Imperialism)

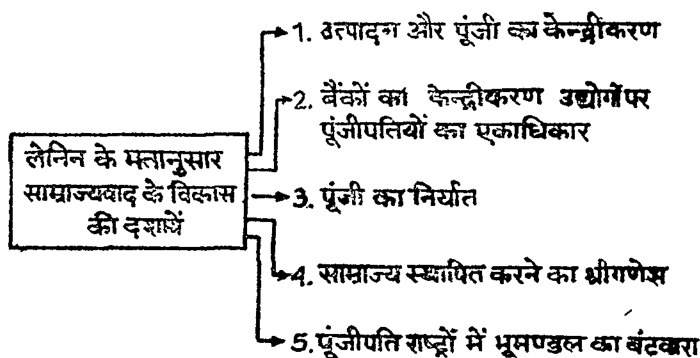
साम्राज्यवाद से सम्बन्धित मार्क्सवादी सिद्धान्त इस बौद्धिक विश्वास पर आधारित है कि प्रत्येक राजनीतिक घटना आर्थिक तथ्यों का दर्पण मात्र है, जो कि वास्तव में मार्क्सवादी विचारधारा का आधार ही है। साम्राज्यवाद रूपी राजनीतिक घटना उस आर्थिक व्यवस्था की उपज है जिसे पूँजीवाद कहते हैं। मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार पूँजीवादी समाज अपनी परिधि के भीतर अपनी उपज के अनुपात में व्यवसाय के लिए बाजार का पर्याप्त क्षेत्र प्राप्त नहीं कर पाता तथा अपनी पूँजी को फिर उद्योग में लाने का अवसर नहीं पाता। इसी कारण उनमें अन्य गैर-पूँजीवादी तथा अन्त में पूँजीवादी क्षेत्रों में दासता की प्रवृत्ति प्रवल हो उठती है। इससे उन्हें अपनी अतिरिक्त उपज की खपत के लिए पूँजीवादी देशों को भी अपना बाजार बनाना पड़ता है। इससे उन्हें अपनी स्वयं की अतिरिक्त पूँजी को नये उद्योग-धन्धों में लगाने का अवसर प्राप्त होता है।

काटस्की अथवा हिलफरडिंग जैसे उदारवादी मार्क्सवादी साम्राज्यवाद को पूँजीवाद की एक नीति मानते हैं। जबकि लेनिन तथा उसके अनुयायी, खासतौर पर बुखारिन पूँजीवाद और साम्राज्यवाद को ही एक घटना के दो रूप मानते हैं।

लेनिन के मतानुसार, "साम्राज्यवाद पूँजीवाद की उच्चतम विकसित और अन्तिम दशा है।" उसका यह कहना है कि पूँजीवाद का अधिकाधिक विकास होने पर क्रमशः एक-दूसरे के बाद आने वाली तथा कार्यकारण का सम्बन्ध रखने वाली पाँच दशाओं में से गुजरते हुए पूँजीवाद साम्राज्यवाद का रूप धारण करता है। इन्हें चित्र में दिखाया गया है (**पृष्ठ संख्या 241 पर**)। पूँजीवाद का विकास होने पर इसमें केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति बढ़ती है। विभिन्न उद्योगों के बड़े-बड़े संगठन, ट्रस्ट, मूल्य निर्धारक संघ (Cartel) बनने लगते हैं। सारे उद्योग मुट्ठी-भर पूँजीपतियों के हाथों में आते हैं। पहले विभिन्न उद्योगों पर पूँजीपतियों का एकाधिकार स्थापित हो जाता है। यही स्थिति वित्तीय क्षेत्र में आती है। वैंकों पर भी उद्योगपति नियन्त्रण स्थापित करते हैं। पूँजीपति अपने देश में पूँजी लगाने और उद्योग वढ़ाने से सन्तुष्ट न होकर दूसरे देशों में भी कम पूँजी लगाकर उद्योग स्थापित करने लगते है। इस प्रकार पूँजीपति न केवल अपने माल का, अपितु पूँजी का भी अन्य देशों से निर्यात करने लगते हैं। इसके तीन वड़े परिणाम होते हैं—पहला परिणाम साम्राज्यवाद का विकास है। पूँजीपति अपने देश से बाहर अन्य जिन देशों में अपनी पूँजी लगाते हैं वहाँ मुनाफा सुरक्षित रखने के लिए कच्चा माल पाने और अपने तैयार माल की खपत के लिए वे इस बात का पूरा ध्यान रखते है कि वे देश उपनिवेश या वशवर्ती प्रदेश बनकर उनके राजनीतिक प्रभुत्व में आ जायँ, उनके साम्राज्य का अंग बने रहें ताकि वे उपनिवेश-

[1] Morgenthau, *Ibid.*, pp. 44-50.

वासियों का शोषण करके अधिकतम लाभ उठा सकें। अंग्रेजों ने भारत में ऐसा ही किया था। दूसरा परिणाम इस साम्राज्यवाद से युद्धों का पैदा होना है। दूसरे देशों में पूँजी लगाने से पूँजीवादी देशों में साम्राज्य एवं उपनिवेश पाने के लिए प्रबल होड़ हो जाती है। इस होड़ के कारण विभिन्न देशों में गुटबन्दियाँ होने लगती है। विभिन्न देश अपने माल के लिए मण्डियाँ सुरक्षित रखने और उपनिवेश रखने के लिए युद्ध आरम्भ कर देते है। तीसरा परिणाम पूंजीवाद के विध्वंस तथा साम्यवादी क्रान्ति के पथ का प्रशस्त होना है, क्योंकि इस प्रकार के युद्ध एक



महान् अन्तर्विरोध (contradictions) पैदा करते है। पूँजीपति अपने स्वार्थों के लिए लड़े जाने वाले इन युद्धों में मजदूरों को बलि का बकरा बनाते है, किन्तु मजदूर जल्दी ही समझ जाते है कि उनका असली शत्रु विदेशी शक्तियाँ नही अपितु अपने देश के पूँजीपति है अतः वे इनके विरुद्ध विद्रोह करते हुए पूँजीवाद का विध्वंस तथा साम्यवाद की स्थापना करते है। 1917 में रूस की बोल्शेविक क्रान्ति मे ऐसा ही हुआ था।

आलोचना—निम्नलिखित तर्कों के आधार पर इस सिद्धान्त की आलोचना की गयी है :

(1) **युद्धों का आर्थिक कारणों से न होना है**—लेनिन ने यह मान लिया था कि साम्राज्यवाद ही सब आधुनिक युद्धों का मूल कारण है। लेकिन कुछ विद्वानों ने वर्तमान समय में होने वाले युद्धों के कारणों का गम्भीर अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि युद्ध आर्थिक कारणों से नही अपितु राजनीतिक कारणों तथा संकीर्ण राष्ट्रीयता की भावना से उत्पन्न होते हैं। उपनिवेशों से साम्राज्यवादी देशों को प्राप्त होने वाले लाभों को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया जाता है। सन् 1910 में नार्मन एंजिल ने, 1939 में राबिन्स ने तथा 1948 में मॉरगेन्थाऊ ने अपनी रचनाओं में इस बात का खण्डन किया था कि युद्ध आर्थिक कारणों से होते हैं। सन् 1960 में रिचर्डसन ने 1820 से 1929 तक 109 वर्षों की अवधि में लड़े जाने वाले युद्धों के कारणों का विश्लेषण करते हुए यह प्रदर्शित किया कि केवल 29 प्रतिशत युद्ध इस दौरान आर्थिक कारणों से हुए थे।

परिपक्व पूंजीवाद के सम्पूर्ण युग में बोअर युद्ध को छोड़कर कोई भी युद्ध महान शक्तियों के मध्य विशेषकर आर्थिक लक्ष्यों के लिए नही लड़ा गया। उदाहरण के लिए, आस्ट्रिया व प्रशा के मध्य सन् 1866 के युद्ध अथवा जर्मनी व फ्रांस के सन् 1870 के युद्ध का कोई भी महत्वपूर्ण लक्ष्य आर्थिक न था। वे राजनीतिक युद्ध थे, वास्तव में साम्राज्यवादी युद्ध थे। उनका लक्ष्य सर्वप्रथम जर्मनी के अन्तर्गत प्रशा के पक्ष में, तदुपरान्त यूरोपीय राज्य-व्यवस्था में जर्मनी के पक्ष में नया शक्ति सन्तुलन लागू करना था। सन् 1854-56 का क्रीमियन युद्ध, अमरीका व स्पेन के मध्य सन् 1898 का युद्ध, रूस और जापान के मध्य सन् 1904-05 का युद्ध, इटली व तुर्किस्तान के मध्य सन् 1911-12 का युद्ध तथा अनेक बालकान युद्ध—युद्ध लक्ष्यों में आर्थिक लक्ष्य को एक निम्न स्तर पर ही इंगित करते है। दोनों विश्व महायुद्ध राजनीतिक युद्ध थे जिनका लक्ष्य यदि सम्पूर्ण संसार का नही तो यूरोप का आधिपत्य था।

(2) **पूँजीवाद का साम्राज्यवाद से घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है**—रूस पूँजीवादी देश नहीं है, फिर भी उसने द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व फिनलैण्ड, लैटविया, लिथुआनिया, इस्टोनिया आदि प्रदेशों को अपने साम्राज्यवाद का शिकार बनाया। एडम स्मिथ, स्पेन्सर तथा कार्ल कौटस्की ने यह प्रतिपादित किया है कि पूँजीवाद अन्तर्राष्ट्रीय सोहार्द्र और शान्ति को बढ़ाने वाला है।

(3) **पूँजीवाद और उपनिवेशों का कोई सम्बन्ध नहीं**—लेनिन के सिद्धान्त में यह बात मान ली गयी है कि पूँजीवाद के विकास के लिए उपनिवेश आवश्यक है क्योंकि साम्राज्यवादी देश इसमें अपनी पूँजी लगाते हैं। किन्तु विभिन्न देशों में पूँजी लगाने के आँकड़ों का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने लेनिन की इस धारणा का खण्डन किया है कि साम्राज्यवादी देश अपने उपनिवेशों में पूँजी लगाते हैं। 1914 तक फ्रांस और जर्मनी की विदेशों में लगायी जाने वाली पूँजी का आधा भाग इसके उपनिवेशों में नहीं, अपितु स्वतन्त्र यूरोपियन राज्यों में लगाया गया था। प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने से पहले तक ग्रेट ब्रिटेन की विदेशों में लगी 50 प्रतिशत से अधिक पूँजी इसके उपनिवेशों में नहीं अपितु उत्तरी और दक्षिणी अमरीका के विभिन्न देशों में लगी हुई थी।

लेनिन का यह मत था कि जिन देशों के जितने अधिक उपनिवेश होते हैं, वे पूँजी का उतनी ही अधिक मात्रा में निर्माण करते हैं। किन्तु यह बात सत्य नहीं है। स्विट्जरलैण्ड पूँजी का निर्यात करने में अग्रणी देश है। किन्तु इतनी अधिक पूँजी का निर्यात करने पर भी स्विट्जरलैण्ड के पास कोई साम्राज्य नहीं है।

(4) **समृद्धि का कारण उपनिवेशवासियों का शोषण नहीं है**—लेनिन की यह मान्यता थी कि इंगलैण्ड, फ्रांस आदि साम्राज्य रखने वाले देशों के मजदूरों की समृद्धि का कारण उनके साम्राज्य में विद्यमान उपनिवेशवासियों का शोषण है, किन्तु यह बात सत्य नहीं है। नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क और स्विट्जरलैण्ड के पास कोई साम्राज्य नहीं है, फिर भी इनके निवासी विशाल साम्राज्य रखने वाले बेल्जियम तथा फ्रांस के मजदूरों की अपेक्षा अधिक समृद्ध हैं।

(5) **पूँजी का निर्यात गरीब देशों में नहीं होता है**—लेनिन के मतानुसार पूँजी का निर्यात उन्हीं देशों में होता है जहाँ गरीबी, बेकारी, भुखमरी का प्राधान्य होता है। किन्तु यह बात भी ठीक नहीं है क्योंकि अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड में चिरकाल तक इनके आर्थिक विकास के लिए दूसरे देशों की पूँजी लगती रही, फिर भी ये संसार के समृद्धतम देश हैं। इनमें निर्धनता और बेकारी की मात्रा बहुत कम है।

(ii) साम्राज्यवाद का उदारवादी सिद्धान्त (The Liberal Theory of Imperialism)

उदारवादी विचारधारा के अनुसार, जिसके प्रमुख प्रतिनिधि जे. ए. हॉब्सन हैं, साम्राज्यवाद पूँजीवाद का फल न होकर वास्तव में पूँजीवादी व्यवस्था के कुछ असन्तुलनों का परिणाम है। मार्क्सवाद की भाँति ही उदारवादी विचारधारा भी साम्राज्यवाद की जड़ अतिरिक्त उत्पादन व पूँजी में मानती है, जिसके लिए विदेशी बाजारों को ढूँढ़ना अनिवार्य हो जाता है। फिर भी हॉब्सन और उसकी विचारधारा के अनुसार यह अतिरिक्त उपज खरीदने की शक्ति के गलत सन्तुलन का परिणाममात्र है, उसका हल घरेलू बाजार के विकास में व्याप्त है जो कि खरीदने की शक्ति में वृद्धि तथा आवश्यकता से अधिक बचत की समाप्ति आदि से आर्थिक सुधारों द्वारा हासिल किया जा सकता है। साम्राज्यवाद के प्रति एक घरेलू विकल्प में विश्वास ही उदारवाद की मार्क्सवाद से पृथकता स्थापित करता है।

(iii) साम्राज्यवाद का दानवी सिद्धान्त (Devil Theory of Imperialism)

दानवी सिद्धान्त के अनुसार युद्ध के कारण जिन समुदायों या व्यक्तियों को लाभ होता है वे सदैव युद्ध को प्रोत्साहन देते रहते हैं ताकि वे स्वयं सम्पन्न बन सकें। इन युद्धों का परिणाम ही साम्राज्यवाद है। इसे 'न्ये कमेटी' का अधिकारिक दर्शन कहा जा सकता है। इसने कुछ विशेष

गुटों की ओर संकेत किया है जो स्पष्ट रूप से युद्ध से लाभ उठाते हैं जैसे युद्ध की वस्तुओं को बनाने वाले उद्योगपति, अन्तर्राष्ट्रीय बैंकर्स, आदि।

दानवी सिद्धान्त के अनुसार पूँजीपति सरकार को अपने यन्त्र के रूप में साम्राज्यवादी नीतियों को भड़काने के लिए प्रयोग में लाते हैं। किन्तु आलोचकों का कहना है कि साम्राज्यवादी नीतियाँ यथार्थ में अधिकतर सरकार द्वारा नियोजित की जाती हैं और उन्होंने बाद में पूँजीपतियों को उनके पक्ष में आने का निर्देश दिया। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर पूँजीपति का आधिपत्य, प्रोफेसर शूम्पेटर के शब्दों में "एक अखबारी परियों की कहानी है जो कि करीब-करीब मूर्खतापूर्ण है और तथ्य से परे है।"

साम्राज्यवाद के विभिन्न रूप
(DIFFERENT FORMS OF IMPERIALISM)

साम्राज्यवादी देश अपनी शक्ति का विस्तार करने के लिए प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में अनेक प्रकारों का आश्रय लेते रहे हैं। प्राचीनकाल में इसका सबसे प्राचीनतम रूप किसी दूसरे देश को सैनिक शक्ति से जीतकर अपने साम्राज्य का अंग बना लेना था और नवीनतम रूप नव-उपनिवेशवाद (Neo-Colonialism) का है, जिसमें किसी देश को राजनीतिक दृष्टि से पूर्णरूप से स्वाधीन रखते हुए भी उस पर अपना वित्तीय आर्थिक नियन्त्रण स्थापित किया जाता है। साम्राज्यवाद के प्रमुख रूप निम्नलिखित हैं :

(1) **परतन्त्र या स्वाधीन राज्य**—जब कोई साम्राज्यवादी देश किसी अन्य राज्य को सैनिक शक्ति से जीतकर अपना वशवर्ती बना लेता है और आन्तरिक तथा वैदेशिक मामलों में कोई भी कार्य करने की उसकी स्वतन्त्रता को पूर्णरूप से नियन्त्रित करता है तो इसे परतन्त्र या पराधीन राज्य कहते हैं। जैसे स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भारत, वर्मा और श्रीलंका क्रमशः इंगलैण्ड तथा हॉलैण्ड के पराधीन राज्य थे।

(2) **संरक्षित राज्य**—जब कोई निर्बल राज्य किसी शक्तिशाली राज्य के साथ सन्धि करके अपने आपको उसके संरक्षण में लाता है तो वह संरक्षित राज्य कहलाता है। इसके परिणामस्वरूप इस राज्य की नीति का निर्धारण तथा महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय एवं विदेशी सम्बन्धों का संचालन इसका संरक्षण करने वाले राज्य के हाथ में आ जाता है, जैसे 1914 से 1922 तक मिस्र और मलाया प्रायद्वीप अँग्रेजों के संरक्षण में थे। 1881 से 1957 तक ट्यूनिस फ्रांस का संरक्षित राज्य था।

(3) **पट्टेदारी**—बड़े शक्तिशाली देश निर्बल राष्ट्रों से उनकी जमीन अथवा क्षेत्र के किसी महत्वपूर्ण भाग को पट्टे पर खरीद लेते हैं। यह पट्टा प्रायः 99 वर्ष का होता है और ऐसी भूमि शक्तिशाली राज्य के लिए सामरिक और व्यावसायिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होती है। संयुक्त राज्य अमरीका ने 1899 में पनामा नहर के दोनों ओर का पाँच-पाँच मील का क्षेत्र पट्टे पर ले लिया था ताकि वह अन्धमहासागर तथा प्रशान्त महासागर को मिलाने वाले इस महत्वपूर्ण जलमार्ग पर अपना पूरा नियन्त्रण रख सके।

(4) **सहराज्य** (Co-dominion)—जब किसी विशेष प्रदेश या क्षेत्र पर दो या दो से अधिक विदेशी शक्तियों का संयुक्त नियन्त्रण होता है तो इसे सहराज्य कहा जाता है। 1899 में ब्रिटिश सेनाओं द्वारा सूडान की विजय के बाद एक सन्धि द्वारा मिस्र और ग्रेट ब्रिटेन का संयुक्त आधिपत्य स्थापित किया गया था और यह 1953 तक चलता रहा।

(5) **मैण्डेट या शासनादेश** (Mandate)—प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर मित्रराज्यों द्वारा जर्मनी और टर्की से जीते हुए प्रदेशों की व्यवस्था के लिए राष्ट्र संघ में संविधान की धारा 22 में इस पद्धति का प्रतिपादन किया गया था। इसमें विजित प्रदेशों को विजेताओं के साम्राज्य

का अंग बनाने के स्थान पर इन्हें राष्ट्र संघ की संरक्षता में लिखित समझौतों की कुछ शर्तों के साथ विजेता राज्यों को सौंपा गया तथा उन्हें इनके शासन का दायित्व दिया गया। ये समझौते राष्ट्र संघ द्वारा शासन के लिए दी गयी आज्ञाएँ या शासनादेश (Mandate) कहलाते हैं। इस प्रकार जिन भूभागों के लिए ये आदेश दिये गये थे वे आदिष्ट प्रदेश (Mandate) सभ्यता की दृष्टि से पिछड़े हुए थे। इनका उत्थान सभ्य राज्यों का पवित्र कर्तव्य समझा गया। मैण्डेट वाले प्रदेशों को विजेता देश राष्ट्र संघ की अनुमति के बिना अपने प्रदेश में नहीं मिला सकते थे। इसके प्रसिद्ध उदाहरण पैलेस्टाइन, इराक और सीरिया हैं।

(6) **न्यास पद्धति तथा क्षेत्र** (Trusteeship System and Territories)—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की धारा 75 में अनुसार इस विश्वयुद्ध में पराजित राज्यों से छीने गये प्रदेशों तथा मैण्डेट वाले प्रदेशों को न्यास-व्यवस्था के अनुसार विजेता देशों को सौंपा गया। विजेता राष्ट्रों को इन्हें एक पवित्र धरोहर या अमानत (trust) के रूप में इस दृष्टि से सौंपा गया कि वे इन्हें शीघ्र ही स्वशासन करने के योग्य बनाकर स्वतन्त्रता प्रदान करें। पराजित राज्यों से छीने गये प्रदेशों में इटली का सुमालीलैण्ड, जापान के प्रशान्त महासागर के टापू हैं। लगभग सभी न्यास प्रदेश अब स्वतन्त्रता प्राप्त कर चुके हैं।

(7) **उपनिवेश** (Colonies)—किसी बड़े राज्य द्वारा जीती गयी छोटी-छोटी बस्तियों, टापुओं और प्रदेशों को उपनिवेश कहा जाता है जैसे गोआ पुर्तगाल का और पाण्डिचेरी फ्रांस का उपनिवेश था। अधिकांश उपनिवेश अब स्वतन्त्र हो चुके हैं।

(8) **अधिराज्य** (Dominion)—इसका अभिप्राय साम्राज्यवादी देश के ऐसे प्रदेश से होता है जिसे साम्राज्यवादी देश स्वशासन के सम्बन्ध में लगभग पूरी सुविधाएँ दे देते हैं। इसके प्रसिद्ध उदाहरण ब्रिटिश साम्राज्य के कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका आदि अधिराज्य थे। द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले ब्रिटिश जनसंख्या रखने वाले इन प्रदेशों को ब्रिटेन ने अधिराज्य का दर्जा दिया था।

(9) **प्रभाव क्षेत्र** (Sphere of Influence)—कई बार साम्राज्यवादी देश किसी निर्बल राष्ट्र को विभिन्न कारणों से अपने साम्राज्य का अंग नहीं बनाते हैं, किन्तु आपस में समझौता करके यह निश्चित कर लेते हैं कि उसके किस प्रदेश में कौन-सा राज्य आर्थिक साधनों के विकास, दोहन या शोषण का कार्य करेगा। उदाहरणार्थ, इस शताब्दी के आरम्भ में तेल की दृष्टि से समृद्ध ईरान को इंगलैण्ड तथा रूस ने उत्तर तथा दक्षिण के दो क्षेत्रों में बाँट दिया था। इस प्रकार बाँटे गये दोनों क्षेत्रों को क्रमशः लन्दन और मास्को का प्रभाव क्षेत्र मान लिया गया। इसी प्रकार चीन में रेल बनाने, खान खोदने, व्यापारिक कार्य करने के अधिकारों की दृष्टि से इसके कुछ विशेष प्रदेशों को रूस, ब्रिटेन, जर्मनी तथा इंगलैण्ड ने अपने प्रभाव क्षेत्र में बाँट लिया था।

(10) **मुक्त द्वार नीति** (Open Door Policy)—जब किसी निर्बल देश के बारे में साम्राज्यवादी देश आपस में यह तय कर लेते हैं कि इसमें अन्य सभी देशों को व्यापार करने, उद्योग-धन्धों में पूँजी लगाने तथा कारखाने लगाने के समान अधिकार होंगे अर्थात् इस देश के द्वार सभी देशों के लिए समान रूप से खुले रहेंगे तो इसे मुक्त द्वार नीति कहा जाता है। 19वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में इंगलैण्ड, फ्रांस एवं जर्मनी चीन के विभिन्न प्रदेशों को अपने साम्राज्य का अंग बनाना चाहते थे। 1898 तक यह प्रतीत होने लगा था कि वे चीन के विभिन्न इलाकों का आपस में बँटवारा कर लेंगे, किन्तु इसी समय अमरीका ने इनकी इस नीति का घोर विरोध करते हुए सब देशों के लिए चीन को समान रूप से खुला रखने की नीति पर बल दिया। इसलिए साम्राज्यवादी देश चीन का आपस में बँटवारा नहीं कर पाये।

(11) **बन्ध द्वार की नीति** (Close Door Policy)—जब कोई देश खुले द्वार की

नीति के स्थान पर किसी निर्बल राष्ट्र पर ऐसा प्रभुत्व स्थापित करता है कि दूसरे देशों को इसमें व्यापार आदि के कोई अधिकार नही रहते है तो इसे बन्द द्वार की नीति कहा जाता है। इंगलैण्ड ने अपने अमरीकी उपनिवेशों के साथ और अमरीका ने फिलीपाइन्स द्वीप समूह में इसी नीति का अनुसरण किया था।

(13) **वित्तीय नियन्त्रण**—विभिन्न साम्राज्यवादी देश पिछड़े तथा अविकसित देशों के आर्थिक विकास पर जब अपनी वित्तीय-व्यवस्था और बैंकों द्वारा नियन्त्रण स्थापित करते है तो उसे वित्तीय नियन्त्रण कहा जाता है। इसमें कई बार तटकर नियन्त्रण (Tariff Control) को भी साम्राज्यवादी देशो के हितों की पुष्टि के लिए स्थापित किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि विकसित औद्योगिक देश पिछड़े हुए देशों को उनके यहाँ आयात किये जाने वाले माल पर तथा कच्चे माल के निर्यात पर भारी चुंगी न लगाने के लिए बाध्य करते है जिससे निर्बल राष्ट्र उन साम्राज्य का अंग न होते हुए भी उनके तैयार माल के लिए अच्छे बाजार बने रहें। अमरीका और रूस जैसे विकसित राष्ट्र इस समय आर्थिक दृष्टि से पिछड़े देशो को खाद्यान्न आदि की सहायता देकर उन पर अपना प्रभावशाली वित्तीय नियन्त्रण स्थापित करते है।

(13) **सैनिक गठबन्धन** (Military Pacts)—यद्यपि सैनिक सन्धियाँ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सदैव से होती रही हैं परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त क्षेत्रवाद के विकास के उपरान्त सैनिक सन्धियों का महत्व अधिक बढ़ गया है। नेहरू के शब्दों में, इन सैनिक सन्धियो द्वारा एक देश अपने संरक्षण के लिए एक अन्य शक्तिशाली देश का संरक्षण स्वीकार कर लेता है। अमरीका विश्वव्यापी सैनिक सन्धियों तथा नाटो, सीटो द्वारा कई क्षेत्रों पर अपना सैनिक प्रभाव स्थापित करने में सफल हुआ है। वारसा पैक्ट के अन्तर्गत ही सोवियत संघ पूर्वी यूरोप के देशो का सैनिक नियन्त्रण कर पाने मे सफल हुआ है।

साम्राज्यवाद के विकास में सहायक तत्व तथा प्रेरक कारण
(FACTORS AND MOTIVATING CAUSES FOR THE GROWTH OF IMPERIALISM)

साम्राज्यवाद के निम्नलिखित कारण बताये जाते है :

(1) **आर्थिक कारण**—वर्तमान साम्राज्यवाद की पहली प्रधान प्रेरणा व्यापार तथा आर्थिक लाभ है। यदि औद्योगिक देशों का अन्य देशों पर अधिकार रहे तो उन्हें वहाँ से कच्चा माल खरीदने तथा तैयार माल बेचने में सुविधा रहती है। उपनिवेशों मे पूँजी लगायी जा सकती है और आर्थिक लाभ कमाया जा सकता है। डॉ. आशीर्वादम के अनुसार, "उपनिवेशों का मूल्य कच्चे माल के उत्पादको की अपेक्षा तैयार माल के बाजारों के रूप में अधिक होता है।" जोसेफ चेम्बरलेन का कहना था कि साम्राज्यवाद का मतलब है वाणिज्य।

18वी शताब्दी में इंगलैण्ड तथा यूरोप के अन्य देशों में औद्योगिक क्रान्ति हुई। मशीनो से कम समय में सस्ता माल बहुत बड़े पैमाने पर तैयार होने लगा। इसके लिए कच्चे माल की तथा तैयार माल को बेचने के लिए मण्डियो की आवश्यकता थी। इंगलैण्ड में मैनचेस्टर और लंकाशायर की सूती कपड़े की मिलो को वस्त्र बनाने के लिए कपास भारत तथा मिस्र से मिल सकती थी और इस कपड़े की खपत भी इन देशो में की जा सकती थी। अतः पश्चिमी देशों को औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न परिस्थितियो में साम्राज्यवाद की बड़ी उपयोगिता प्रतीत हुई, क्योंकि उपनिवेश न केवल आवश्यक कच्चे माल की प्राप्ति और तैयार माल की बिक्री के स्रोत थे, अपितु वे इंगलैण्ड और यूरोपीय देशों के पूँजीपतियों द्वारा कमायी जाने वाली पूँजी को लाभदायक रूप से लगाने के लिए भी स्वर्ण अवसर प्रदान कर रहे थे।

(2) **धार्मिक कारण**—17वीं शताब्दी मे धर्म-प्रचार साम्राज्यवाद का महत्वपूर्ण कारण था। उस समय फ्रांस द्वारा स्याम का हस्तगत किया जाना अधिकतर जेसुइट धर्म-प्रचारकों का

काम था। लिविंग्स्टोन ने अफ्रीका में ईसाई धर्म के माध्यम से ब्रिटिश साम्राज्य का रास्ता खोल दिया। अमरीका के भूतपूर्व राष्ट्रपति कूलिज का कहना था कि जो सेनाएँ अमरीका के बाहर भेजता है वे तलवार के बजाय क्रॉस से लैस होकर जाती हैं।

(3) **मानवीय कारण**—गोरी जातियों की यह मान्यता थी कि भगवान ने उन्हें पवित्र नैतिक कर्तव्य तथा दायित्व सौंपा है कि वे अपने धर्म तथा सभ्यता के वरदानों को पिछड़ी जातियों तक पहुँचायें। श्वेत जातियों का यह कर्तव्य था कि वे अन्धकार में डूबी एशिया-अफ्रीका की काली-पीली जातियों का उद्धार करें। इसे 'श्वेत मनुष्य का कर्तव्य भार' (Whiteman's burden) कहा जाता है। ईसाई प्रचारक पिछड़ी हुई जातियों में सेवा व धर्म प्रचार के नाम पर पहले उन्हें स्वावलम्बी बनाते हैं। वे अपना नैतिक कर्तव्य बताते हुए कहते हैं कि सुसभ्य जातियों का पिछड़ी जातियों की नैतिक व सांस्कृतिक उन्नति करना कर्तव्य है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के उग्र समर्थक जोसफ चेम्बरलेन ने घोषणा की थी कि "अफ्रीका में सभ्यता का प्रचार करने के कार्य में भाग लेना हमारा कर्तव्य है।" अमरीकी राष्ट्रपति मैकिलनी ने घोषणा की कि "तुम फिलीप्पाइन द्वीपसमूह के सब टापू अपने अधिकार में ले लो और वहाँ रहने वाले फिलीप्पिनों को शिक्षित करो, ऊँचा उठाओ और उनमें ईसाइयत का प्रचार करो।" साम्राज्यवाद के प्रसार की खिल्ली उड़ाते हुए बर्नार्ड शॉ ने 1896 में अपने एक नाटक 'The Man of Destiny' में लिखा था कि "जब साम्राज्यवादी अंग्रेज को मैनचेस्टर के माल की बिक्री के लिए एक नई मण्डी की जरूरत होती है तो वह आदिम जातियों में बाइबल के सन्देश का प्रचार करने के लिए एक मिशनरी को भेज देता है। जब ये जातियाँ इसकी हत्या करती हैं तब वह इनके साथ लड़कर उन्हें जीत लेता है और इस नयी मण्डी को भगवान के प्रसाद के रूप में ग्रहण कर लेता है।"

(4) **राष्ट्रीय प्रतिष्ठा और गौरव बढ़ाने की अभिलाषा**—उपनिवेश विभिन्न राष्ट्रों के लिए गौरव का कारण समझे जाते हैं। अंग्रेजों को इस बात का गर्व अनुभव होता था कि उनका साम्राज्य ऐसा विश्वव्यापी है कि इसमें कभी सूर्य अस्त नहीं होता है। जर्मनी और इटली उपनिवेश नहीं होना अपने लिए गौरवपूर्ण नहीं समझते थे। उन्होंने अपने देश का गौरव बढ़ाने के लिए उपनिवेश प्राप्त करने की बड़ी चेष्टा की। इटली ने अबीसीनिया के उपनिवेश को प्राप्त करने के लिए पहला विफल प्रयास 1896 में किया। मुसोलिनी ने प्राचीन रोमन साम्राज्य की कीर्ति बढ़ाने हेतु 1936 में अबीसीनिया को जीत लिया। जर्मनी हिटलर के नेतृत्व में सदैव रहने के लिए स्थान की माँग करते हुए अपने साम्राज्य का विस्तार करता रहा। हैन्स कोहन ने लिखा है कि "सुदूरपूर्व में फ्रेंच साम्राज्यवाद की मूल प्रेरणा शुरू से आखिर तक राष्ट्रीय अभिमान की भावना थी।"

(5) **राष्ट्रीय सुरक्षा एवं प्रतिरक्षा के लिए सामरिक महत्व के स्थान प्राप्त करना**—कई बार अपने देश के व्यापारिक, आर्थिक तथा राजनीतिक हितों की सुरक्षा के लिए सामरिक महत्व रखने वाले स्थानों को प्राप्त करना और अपने साम्राज्य में मिलाना आवश्यक समझा जाता है। अपने भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से अंग्रेजों ने इसके समुद्री मार्ग पर पड़ने वाले जिब्राल्टर के जलडमरूमध्य माल्टा, साइप्रस के टापुओं पर, स्वेज, अदन तथा सोकोतरा के टापुओं पर अधिकार करना आवश्यक समझा। जापान ने 1910 में अपनी सुरक्षा की दृष्टि से कोरिया पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। बाद में इसी उद्देश्य से मंचूरिया तथा फारमोसा पर अधिकार किया। रूस इसी दृष्टि से पूर्वी यूरोप के देशों पर तथा जापान के साखालिन टापू पर अपना नियन्त्रण चाहता है। साम्राज्यवादी देश अपने अधीनस्थ प्रदेशों और उपनिवेशों से अपनी प्रतिरक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए न केवल तेल, रबड़, राँगा तथा अन्य आवश्यक कच्चा माल प्राप्त करते हैं, अपितु उपनि-

वेश लड़ने के लिए आवश्यक सैनिकों का भी बड़ा महत्वपूर्ण स्रोत होते हैं। प्रथम विश्वयुद्ध में फ्रांस को अपने उपनिवेशों से 5 लाख सैनिक और 2 लाख मजदूर प्राप्त हुए थे।

(6) **अतिरिक्त जनसंख्या**—कई साम्राज्यवादी देशों ने अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए निवास योग्य भूमि प्राप्त करने का कारण भी दिया है। विशेषकर जापान तथा इटली ने इस तर्क का बहुत अधिक उपयोग किया था। मुसोलिनी ने घोषणा की थी कि "इटली की अतिरिक्त जनसंख्या को बाहर बसने का अधिकार होना चाहिए।" 1925 से 1933 तक जापान अपनी बढ़ती हुई संख्या को चीन के विभिन्न प्रदेशों में बसाने के लिए प्रयास करता रहा।

(7) **अपनी विचारधारा और सिद्धान्तों के प्रसार की आकांक्षा**—वर्तमान समय में साम्राज्यवाद के प्रसार का एक कारण अपने राजनीतिक सिद्धान्तों को फैलाने की लालसा है। चीन और रूस समस्त विश्व में साम्यवादी विचारधारा का तथा अमरीका और पश्चिमी यूरोप के देश इसके विरोध में लोकतन्त्रीय विचारधारा का प्रसार करना चाहते हैं। अतः साम्यवादी और पूँजीवादी गुट अधिक से अधिक देशों को अपनी विचारधारा का अनुयायी बनाना चाहते हैं और इसके लिए अपने साम्राज्य का विस्तार करने में संकोच नहीं करते हैं।

(8) **व्यक्तिगत आर्थिल लाभ**—साम्राज्यवाद के विकास का एक कारण यह भी रहा है कि इससे साम्राज्य बनाने वाले देशों के व्यक्तियों को वैयक्तिक रूप से बड़ा लाभ होता है और इसलिए वे उसका प्रबल समर्थन करते है। पराधीन देशों में उन्हें बड़ी-बड़ी नौकरियाँ मिल सकती हैं, कल-कारखाने खोलने का मौका मिलता है तथा अनेक प्रकार की आमदनी के जरिये खुल जाते हैं। हॉब्सन के अनुसार, पूँजीवादी देशों में नौकरशाही तथा शिक्षित वर्ग ने आक्रामक तथा प्रसारवादी नीति को अच्छा समझा क्योंकि इस नीति के फलस्वरूप प्राप्त किये गये उपनिवेशों में उनको तथा उनकी सन्तानों को पद, धन तथा प्रभुत्व का आश्वासन मिलता था।

(9) **अतिरिक्त पूँजी**—उद्योग-धन्धों तथा व्यापार में वृद्धि के कारण साम्राज्यवादी देशों के पास काफी पूँजी एकत्र हो जाती थी। इस पूँजी को चालू रखने के लिए तथा उनसे अधिक पूँजी कमाने के लिए यह आवश्यक था कि उस पूँजी को दूसरे देशों में उत्पादन के लिए लगाया जाये। पराधीन देशों में निजी पूँजी को लगाकर साम्राज्यवादी देश उपनिवेशों के आर्थिक जीवन पर पूर्ण अधिकार कर लेते थे। भारत में चाय या जूट तथा ईरान में पेट्रोलियम के व्यवसाय में काफी ब्रिटिश पूँजी अभी भी लगी हुई है। अमरीका की डॉलर कूटनीति (Dollar diplomacy) इसी नीति का प्रतिफल है।

साम्राज्यवाद के तीन प्रलोभन
(THREE INDUCEMENTS TO IMPERIALISM)

मॉरगेन्थाऊ ने साम्राज्यवाद के तीन प्रलोभनों की चर्चा है :[1]

(1) **विजयी युद्ध** (Victorious War)—युद्ध में विजय प्राप्त करने वाले राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपनी शक्ति स्थिति को बदलने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, भले ही युद्ध प्रारम्भ होते समय उनकी स्थिति कैसी और कुछ भी क्यों न रही हो। इतिहास में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जबकि रक्षात्मक युद्ध भी साम्राज्यवादी युद्धों में परिवर्तित हो गये है। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् वार्साय सन्धि और उसकी उपसन्धियों का रूप साम्राज्यवादी बन गया था क्योंकि इसने युद्ध से पूर्व की यथास्थिति में परिवर्तन किया था।

(2) **पराजित युद्ध** (Lost War)—युद्ध में पराजय भी साम्राज्य के निर्माण में सहायक बनती है। पराजित राष्ट्र अपनी निम्न स्थिति को स्थायी रूप से ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं

[1] Morgenthau, *Ibid.*, p. 54.

होते तथा पुनः शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करतें हैं। युद्ध में विजयी राष्ट्र साम्राज्यवादी बनते हैं, तो पराजित राष्ट्र भी खोये साम्राज्य को पाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। सन् 1933 से द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति तक जर्मनी की साम्राज्यवादी नीति ऐसी ही भयानक प्रतिक्रिया की नीति थी।

(3) **कमजोरी** (Weakness)—कमजोर राज्य शक्तिशाली राज्यों के लिए साम्राज्य निर्माण का आह्वान हैं। ऐसे क्षेत्र जिनमें कोई भी शक्तिशाली राष्ट्र नहीं होता (राजनीतिक शक्ति शून्य की स्थिति) उपनिवेश निर्माण के आकर्षक स्थल होते हैं। हिटलर ने 1940 में यह स्पष्ट अनुभव कर लिया था कि यूरोप में उसका मुकाबला करने योग्य कोई शक्ति नहीं है। सोवियत संघ का पूर्वी यूरोप के देशों पर आधिपत्य भी इसी शक्ति-शून्यता का ही परिणाम है।

साम्राज्यवाद के तीन लक्ष्य
(THREE GOALS OF IMPERIALISM)

मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, साम्राज्यवाद तीन विशेष परिस्थितियों से उपजता है। इसी कारण साम्राज्यवाद तीन विशेष लक्ष्यों की ओर अग्रसर होता है।[1] साम्राज्यवाद का लक्ष्य सम्पूर्ण धरती के राजनीतिक रूप से संगठित प्रदेशों के ऊपर प्रभुत्व स्थापित करना होता है अर्थात् एक विश्व-व्यापी साम्राज्य स्थापित करना या फिर एक महाद्वीपीय सीमा के अन्तर्गत साम्राज्य अथवा नायकत्व की ओर लक्षित हो सकता है या फिर वह पूर्णरूप से स्थानीय क्षेत्र में प्रभुत्व को अपना लक्ष्य बना सकता है।

संक्षेप में, क्षेत्रीय विस्तार की दृष्टि से साम्राज्यवाद के तीन लक्ष्य हो सकते हैं :

(1) **विश्व साम्राज्य** (World Empire)—जब एक शक्तिशाली राष्ट्र सम्पूर्ण विश्व पर आधिपत्य स्थापित करना चाहता है और अपने साम्राज्य-विस्तार की किसी भी सीमा को स्वीकार नहीं करना चाहता तो विश्व साम्राज्यवाद होता है। सिकन्दर महान, रोमन साम्राज्य, 7वीं-8वीं शताब्दी में अरब, नेपोलियन तथा हिटलर की साम्राज्यलिप्सा विश्वव्यापी थी। इनके साम्राज्य विस्तार की कोई तर्कसंगत सीमा नहीं होती और इनके बढ़ते साम्राज्य को न रोका जाये तो इनका उद्देश्य पूरे अन्तर्राष्ट्रीय जगत पर एकाधिपत्य करना होता है।

(2) **महाद्वीपीय साम्राज्य** (Continental Empire)—एक निश्चित सीमा प्रदेश में अपने राष्ट्र की शक्ति को सुदृढ़ करना महाद्वीपीय साम्राज्यवाद कहा जा सकता है। यूरोप के राष्ट्रों ने समय-समय पर इसी नीति का पालन किया है। लुई चौदहवाँ, नेपोलियन तृतीय तथा विलियम द्वितीय का लक्ष्य पूर्ण यूरोप पर आधिपत्य स्थापित करना था। अमरीकी साम्राज्यवाद भी 19वीं शताब्दी में कुछ इसी प्रकार का था। मुनरो सिद्धान्त भी एक निश्चित क्षेत्र पर अपना प्रभाव स्थापित करने का सिद्धान्त था।

(3) **स्थानीय साम्राज्यवाद** (Local Preponderance)—18वीं और 19वीं शताब्दी में यूरोप के कई सम्राटों की नीतियाँ स्थानीय साम्राज्य की नीतियाँ थीं। महान फ्रेडरिक, लुई पन्द्रहवाँ, पीटर महान तथा कैथरीन द्वितीय की परराष्ट्र नीतियाँ स्थानीय साम्राज्यवाद की नीतियाँ थीं। 19वीं शताब्दी में बिस्मार्क ने इस नीति का सफलतापूर्वक संचालन किया और निश्चित क्षेत्र में प्रशा की शक्ति को सुदृढ़ किया।

मॉरगेन्थाऊ के शब्दों में, "इस प्रकार की स्थानीय साम्राज्यवादी नीति, महाद्वीप साम्राज्यवाद तथा विश्व साम्राज्यवाद में वही अन्तर है जो कि बिस्मार्क, विलियम द्वितीय तथा हिटलर की वैदेशिक नीतियों का अन्तर है। बिस्मार्क मध्य यूरोप में जर्मनी का प्रभुत्व स्थापित करना

[1] Morgenthau, *Ibid.*, pp. 55-56.

चाहता था, विलियम तमाम यूरोप में व हिटलर सम्पूर्ण जगत में।" इसी प्रकार रूस द्वारा फिनलैण्ड, पूर्वी यूरोप, बाल्कान तथा ईरान पर नियन्त्रण का प्रयत्न स्थानीय साम्राज्यवाद के उदाहरण हैं। यह एक शासन की शक्ति और इच्छा पर निर्भर करता है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को ध्यान में रखते हुए किस प्रकार के साम्राज्य का निर्माण करे।

साम्राज्यवाद के तीन साधन
(THREE METHODS OF IMPERIALISM)

मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, जिस प्रकार विशेष परिस्थितिवश तीन प्रकार का साम्राज्यवाद उदित होता है तथा अपने लक्ष्य के अनुसार भी तीन प्रकार के साम्राज्यवाद होते है उसी प्रकार साम्राज्यवादी नीतियों के साधन में भी तीन प्रकार की विभिन्नताएँ स्थापित करनी चाहिए—इन साधनों को मुख्यतया सैनिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के नाम से पुकारा जाता है। वास्तव में तो सैनिक साम्राज्यवाद सैनिक विजय लक्षित करता है, आर्थिक साम्राज्यवाद अन्य लोगों का आर्थिक शोषण तथा सांस्कृतिक साम्राज्यवाद एक प्रकार की संस्कृति का दूसरी संस्कृति द्वारा हटाया जाना लक्षित करता है, परन्तु ये सब सदा एक ही साम्राज्यवादी लक्ष्य के साधन के रूप में काम करते है। वह लक्ष्य यथापूर्व स्थिति पलट देना (Overthrow of the Status Quo) होता है, अर्थात् साम्राज्यवादी राष्ट्र तथा उसके होने वाले शिकार के शक्ति सम्बन्धों को पलट देना।

(i) **सैनिक साम्राज्यवाद** (Military Imperialism)—सैनिक साम्राज्यवाद साम्राज्य-निर्माण का सबसे स्पष्ट, प्राचीन तथा दमनकारी तरीका है। सैनिक साम्राज्यवाद प्रत्यक्ष सैनिक आक्रमण के द्वारा अपने लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। आधुनिक युग में इस तरीके का हिटलर, मुसोलिनी तथा तोजो ने प्रयोग किया था। एक साम्राज्यवादी राष्ट्र के दृष्टिकोण से इस पद्धति का लाभ यह है कि सैनिक विजय के फलस्वरूप जो नये शक्ति सम्बन्ध स्थापित होते हैं उन्हें पराजित राष्ट्र द्वारा भड़काये हुए अन्य युद्ध द्वारा ही बदला जा सकता है और इस युद्ध में सफलता की सम्भावना प्रायः उस पराजित राष्ट्र की उतनी नही होती जितनी साम्राज्यवादी राष्ट्र की होती है। साधारणतया इस भाँति का साम्राज्य-निर्माण में युद्ध और अधिक युद्ध का परिणाम होता है। सिकन्दर, नेपोलियन एवं हिटलर सभी ने साम्राज्य-निर्माण में युद्ध का सहारा लिया है। यह ठीक है कि युद्ध से साम्राज्य का निर्माण होता है तो युद्ध में पराजय से साम्राज्यों का विघटन भी हो जाता है।

(ii) **आर्थिक साम्राज्यवाद** (Economic Imperialism)—आर्थिक साम्राज्यवाद सैनिक साम्राज्यवाद की भाँति प्रभावशाली नही है, तथापि वह अविकसित देशों की घरेलू और विदेशी नीतियों को नियन्त्रित करने तथा उनका आर्थिक शोषण करने का प्रच्छन्न तरीका हे। यह औद्योगिक युग और पूँजीवाद की देन है। इसका आधुनिक उदाहरण 'डालर साम्राज्यवाद' है। अरब जगत में ब्रिटिश प्रभुता आर्थिक नीतियों की उपज थी जिसे 'तेल कूटनीति' कहा जाता है। आर्थिक साम्राज्यवाद में यह आवश्यक नही कि एक देश विजयी और दूसरा देश अधीन हो। दो पूर्ण स्वाधीन राष्ट्रों में भी यह सम्बन्ध हो सकता है। एक देश यहाँ क्षेत्रीय विजय से नहीं आर्थिक नियन्त्रण से दूसरे देश की समस्त नीतियों का नियन्त्रण कर सकता है। एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के अनेक राज्यों की अर्थव्यवस्था पश्चिमी राज्यों द्वारा नियन्त्रित है। बहुराष्ट्रीय निगमों के माध्यम से इन पिछड़े देशों में पश्चिमी राष्ट्रों की पूँजी लगी हुई है। इस प्रकार के पूँजी नियोजन से कई लाभ हैं—इससे राष्ट्रीय पूँजीपतियों को बड़ा मुनाफा मिलता है, इससे आवश्यक कच्चा माल सस्ते दामों पर प्राप्त हो जाता है, वस्तुओं के निर्यात के लिए मण्डियाँ मिल जाती हैं तथा अन्य राज्यों की अर्थव्यवस्था को नियन्त्रित करने का साधन मिल जाता है।

(iii) **सांस्कृतिक साम्राज्यवाद** (Cultural Imperialism)—सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का लक्ष्य भू-क्षेत्रों की विजय अथवा आर्थिक जीवन का नियन्त्रण नहीं होता, बल्कि लोगों के मस्तिष्कों पर विजय पाकर उन्हें नियन्त्रित करना होता है ताकि उनके माध्यम से दो राष्ट्रों के बीच शक्ति सम्बन्धों को पलट दिया जाये। यदि हम कल्पना करें कि 'क' राज्य की संस्कृति और विशेषकर उसकी राजनीतिक विचारधारा अपने तमाम ठोस साम्राज्यवादी लक्ष्यों के साथ 'ख' राज्य के तमाम नागरिकों के मस्तिष्कों को उसकी नीति के निर्धारण के लिए जीत लेती है तो 'क' की विजय किसी भी सैनिक विजेता अथवा आर्थिक स्वामी से कहीं अधिक पूर्ण होगी।

विशेषकर यह नियन्त्रण समाज के उस वर्ग पर होता है जो उस देश का शासक एवं नीति-निर्माता उसका नेतृत्व करता है। साधारणतया सांस्कृतिक साम्राज्यवाद सैनिक अथवा आर्थिक साम्राज्यवाद के सहायक के रूप में आता है। इसका एक प्रमुख आधुनिक उदाहरण है 'पाँचवीं पंक्ति' (The Fifth Column) जिसका प्रयोग द्वितीय महायुद्ध के पूर्व आस्ट्रिया में किया गया, जबकि वहाँ की नाजीवादी सरकार ने जर्मन फौजों को देश पर कब्जा करने के लिए आमन्त्रित किया। नाजियों की पाँचवीं पंक्ति ने फ्रांस और नार्वे में भी काफी सफलता प्राप्त की क्योंकि वहाँ की सरकार के भीतर और बाहर अनेक प्रभावशाली नागरिक देशद्रोही बन गये। वे नाजी दर्शन और उसके अन्तर्राष्ट्रीय लक्ष्यों के अनुयायी हो गये। मॉरगेन्थाऊ ने 1917 के बाद संसार के विभिन्न देशों में साम्यवादी विचारधारा के प्रसार को सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की अभिव्यक्ति माना है। संयुक्त राज्य अमरीका जब एशिया और अफ्रीका के देशों में अपने साहित्य का विशाल मात्रा में प्रचार करता है तो उसका मुख्य लक्ष्य सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का प्रसार होता है। सांस्कृतिक साम्राज्यवाद उपनिवेशवादी नीतियों में अभिवृद्धि के लिए ही अपनाया गया था। इसका उद्देश्य दूसरे देशों की जनता के आत्मसम्मान को नष्ट करना तथा हमेशा के लिए उनमें गुलामी की भावना को भरना है।

साम्राज्यवाद के राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि
(IMPERIALISM–INSTRUMENT FOR THE PROMOTION OF NATIONAL INTEREST)

साम्राज्यवाद से राष्ट्रीय हितों में अभिवृद्धि इस प्रकार होती है :

(1) **आर्थिक लाभ**—साम्राज्य-निर्माण करने वाले देश को आर्थिक लाभ होता है। उप-निवेश कच्चा माल प्रदान करते हैं और तैयार माल बेचने के लिए बाजार का भी कार्य करते है। साम्राज्यवादी देश प्रायः आर्थिक दृष्टि से समृद्ध बन जाते हैं।

(2) **शक्ति-निर्माण**—साम्राज्य सुरक्षा का भी कार्य करते हैं और शक्ति-निर्माण भी करते हैं। ब्रिटेन की शक्ति का आधार ब्रिटिश साम्राज्य था। उपनिवेशों से सैनिक प्राप्त हो सकते हैं। वस्तुतः अधीनस्थ देशों की सैन्य-शक्ति व उसके अन्य साधन साम्राज्यवादी शक्ति के अपने हो जाते हैं।

(3) **अविकसित देशों का कल्याण**—वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान को अविकसित देशों में पहुँचाना, असभ्य और बर्बर को सभ्य बनाना, अपने श्रेष्ठ ज्ञान से अविकसित देशों की भूसम्पदा को प्रकाश में लाना आदि साम्राज्यवाद के लाभ हैं। साम्राज्यवाद के समर्थन में यह कहा जाता है कि उसने आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी हुई अफ्रीका तथा एशिया की जातियों को विज्ञान एवं आधुनिक प्रौद्योगिकी के साधनों से समृद्ध बनाया।

साम्राज्यवाद : मूल्यांकन
(ESTIMATE OF IMPERIALISM)

साम्राज्यवाद प्रधान रूप से आर्थिक शोषण का एक बड़ा साधन रहा। पिछली शताब्दी जे. आर. सीली तथा जे. ए. क्रैब जैसे ब्रिटिश इतिहासकारों ने एवं जे. डब्ल्यू. बर्जेस तथा

फ्रेंकलिन एच. गिडिंग्स जैसे अमरीकी समाजशास्त्रियों ने ब्रिटिश, अमरीकी और जर्मन साम्राज्यवादों का बड़ा गुणगान किया। साम्राज्यवाद के समर्थक उसके लाभों का भले ही अतिरंजित चित्रण करें किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि साम्राज्यवाद ने विजित प्रदेशों को आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से बड़ी हानि पहुँचायी है। इसकी प्रधान हानियाँ और दोष निम्नलिखित हैं :

(i) **सांस्कृतिक और नैतिक पतन का कारण**—साम्राज्यवाद पराधीन देश के नैतिक और सांस्कृतिक पतन के लिए उत्तरदायी है। साम्राज्यवादी देश अपनी सभ्यता और संस्कृति को पराधीन जातियों पर लादने लगते हैं। फलस्वरूप पराधीन जातियों की निजी सभ्यता और संस्कृति नष्ट हो जाती है। अतः नैतिकता के आधार पर कभी भी साम्राज्यवाद का समर्थन नहीं किया जा सकता।

(ii) **युद्ध और सैन्यवाद को प्रश्रय**—साम्राज्यवाद युद्ध और सैन्यवाद को प्रश्रय देता है। युद्ध से ही साम्राज्यों का निर्माण होता है और साम्राज्य-निर्माण के बाद भी सेना द्वारा ही उस पर आधिपत्य रखा जाता है।

पहले तो यूरोपियन जातियाँ अपने साम्राज्य स्थापित करने के लिए एशिया-अफ्रीका की जातियों से लड़ीं। शुरू में साम्राज्य-निर्माण के लिए इतना खून बहाना पड़ा कि एक आधुनिक लेखक के शब्दों में, साम्राज्यवाद का पथ रक्तरंजित है। इसके बाद विजेता देशों में अपने उपनिवेशों को बढ़ाने और बनाये रखने के लिए आपस में भी युद्ध होते हैं। साम्राज्यवाद के कारण हुए युद्धों के कुछ उदाहरण हैं—1892 में अमरीका का स्पेन के विरुद्ध युद्ध, 1899-1902 का ग्रेट ब्रिटेन-बोअर युद्ध, 1904-05 का रूस-जापान युद्ध, 1911-12 का इटली-तुर्की युद्ध। प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्धों का एक बड़ा कारण जर्मनी व इटली की साम्राज्यलिप्सा थी। साम्राज्यवाद बहुत समय तक विश्वशान्ति के लिए बड़ा खतरा बना रहा है।

(iii) **शोषण व परतन्त्रता का हेतु**—साम्राज्यवाद के कारण कतिपय देशों को गुलाम बनाया जाता है। वहाँ के निवासियों पर अमानुषिक अत्याचार किये जाते हैं और उनका शोषण होता है। इस प्रकार साम्राज्यवाद मानवता के लिए घातक है।

(iv) **अधीनस्थ देशों का आर्थिक शोषण**—साम्राज्यवादी देशों का साम्राज्यवाद बनाने का प्रधान उद्देश्य अपने अधीनस्थ प्रदेशों का शोषण तथा उनकी सम्पत्ति का लाभ उठाना है। द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले तक ब्रिटेन की समृद्धि का प्रधान कारण उसके भारत जैसे विजित प्रदेश थे। उनका भारत में शासन करने का प्रधान ध्येय भारत की सम्पत्ति को लूटना था। पार्कर मून ने लिखा है कि 'अंग्रेजों का भारत में प्रवेश करने और यहाँ बने रहने का प्रधान कारण भारत को लाभ पहुँचाना नहीं, अपितु ग्रेट ब्रिटेन को लाभ पहुँचाना था।'

इस प्रकार साम्राज्यवाद अधीनस्थ देशों की आर्थिक बरबादी, मानसिक दासता, नैतिकता एवं चारित्रिक अधःपतन, राजनीतिक गुलामी और सांस्कृतिक सम्पदा के विध्वंस का प्रधान कारण होता है।

उपनिवेशवाद
(COLONIALISM)

उपनिवेशवाद 'नये उपनिवेशों' (New Colonies) को अर्जित (acquire) करने की नीति है। एक शक्तिहीन राज्य का अपने से शक्तिशाली राज्य के साथ सम्बन्ध मुख्यतया उपनिवेशवाद के अन्तर्गत आता है। उपनिवेश वह भू-प्रदेश है जो एक विदेशी राज्य द्वारा शासित है और जिसके अपने निवासियों को अपने शासन में पूरे राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं हैं। ऑर्गेन्स्की के अनुसार, "उन सभी क्षेत्रों को हम उपनिवेश कहेंगे जो एक विदेशी सत्ता द्वारा शासित हैं तथा जिसके निवा-

सियों को पूरे राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं है।"[1] यह एक श्रेष्ठ राज्य का अपने से निम्न राज्य के साथ सम्बन्ध है। उपनिवेशवाद की परिभाषा करते हुए हॉब्सन ने लिखा है कि 'उपनिवेशवाद अपने श्रेष्ठ स्वरूप में राष्ट्रीयता का स्वाभाविक प्रसार है और सफल उपनिवेशवाद का मापदण्ड ही यह है कि उपनिवेशवादी राज्य अपनी सभ्यता के मूल्यों को नये प्रदेशों के स्वाभाविक सामाजिक परिवेश में कहाँ तक स्थापित कर सका है।"[2]

व्यावहारिक दृष्टि से साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद में कोई विशेष अन्तर नहीं है। हॉब्सन ने भी दोनों शब्दों को पर्यायवाची माना है। उसके अनुसार, "जर्मनी और फ्रांस का उपनिवेशवादी दल अपने उद्देश्यों और कार्यविधि में इंगलैण्ड के साम्राज्यवादी दल के समरूप ही है।" तथापि ई. एफ. पैनरोज ने अपनी पुस्तक 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में क्रान्ति'[3] में उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद में निम्नलिखित अन्तर बताये हैं: **प्रथम**, साम्राज्यवाद में नये भू-प्रदेश और क्षेत्रों का समामेलन एकदम स्पष्ट और प्रत्यक्ष होता है तथा इन अधीन प्रदेशों पर साम्राज्यवादी देश की विधि-व्यवस्था तथा शासन-प्रणाली एकदम आरोपित कर दी जाती है, जबकि उपनिवेशवाद में अधीन प्रदेशों की विधि और शासन-व्यवस्था पर पूर्ण नियन्त्रण नहीं होता और मूल विधि व्यवस्था एवं शासन-प्रणाली की कई विशेषताएँ स्वीकार कर ली जाती हैं। **द्वितीय**, साम्राज्यवाद में नये प्रदेशों को पूर्ण आत्मसात् करने का प्रयत्न होता है। इन दोनों के निवासियों को बलात् वही सभ्यता, संस्कृति, जीवन-मूल्य, राजनीतिक संस्थाएँ, आर्थिक नीतियाँ अपनाने को बाध्य किया जाता है जो साम्राज्यवादी देश की होती हैं, जबकि उपनिवेशवाद में मूल निवासियों की सांस्कृतिक तथा सामाजिक विशेषताएँ जीवित रहती हैं। **तृतीय**, साम्राज्यवाद में तो पूर्ण विलयन हो जाता है, जबकि उपनिवेशवाद में राष्ट्रीयता के विकास के अवसर अधिक होते हैं।

ऑर्गेन्स्की ने उपनिवेशों का वर्गीकरण मुख्यतया दो प्रकार से किया है: (i) बिन्दु उपनिवेश तथा (ii) क्षेत्रीय उपनिवेश। बिन्दु उपनिवेश अत्यन्त छोटे भूखण्ड होते हैं जैसे महासागरों में नन्हें-नन्हें द्वीप अथवा किसी विशाल महाद्वीप का अत्यन्त लघु प्रदेश। इन्हें बिन्दु उपनिवेश इसलिए कहा जाता है क्योंकि विश्व मानचित्र में ये केवल एक बिन्दुमात्र ही होते हैं। इन बिन्दु उपनिवेशों का नियन्त्रण और उपयोग एक व्यापारिक केन्द्र अथवा अपराजित देशों के मध्य में एक पड़ाव के रूप में अथवा समुद्री, व्यापारिक एवं सामरिक महत्व के मार्गों पर ईंधन भरने के लिए किया जाता है। जिब्राल्टर, सिंगापुर, हांगकांग, पनामा नहर क्षेत्र बिन्दु उपनिवेश के उदाहरण हैं। क्षेत्रीय उपनिवेश वे विशाल भू-प्रदेश हैं जिन पर आर्थिक एवं राजनीतिक कारणों से नियन्त्रण किया जाता है। ये दो प्रकार के हैं—बस्ती उपनिवेश तथा शोषण क्षेत्र उपनिवेश। बस्ती उपनिवेश वे उपनिवेश है जहाँ कि जलवायु और ऋतु यूरोपियन लोगों के अनुकूल थी और वे बहुत बड़ी संख्या में वहाँ निवास करते हैं। शोषण क्षेत्र उपनिवेश वे क्षेत्र हैं जिनका प्रयोग केवल शोषण के लिए किया जाता है तथा इन उननिवेशों में यूरोपियनों की संख्या बहुत कम होती है तथा वे मुख्यतः शासक वर्ग, व्यापारी वर्ग, पादरी वर्ग एवं सैनिक वर्ग तक ही सीमित होती है।

उपनिवेश कच्चा माल, तैयार माल के लिए बाजार, सस्ते श्रम, सैनिकों की भर्ती, अधिक जनसंख्या के लिए निवास योग्य भूमि, महत्वपूर्ण सैनिक अड्डों के रूप में हमेशा लाभदायी होते हैं। 1948 में यूरोपीय देशों को 51 प्रतिशत बॉक्साइट, 45 प्रतिशत कच्चा टीन, 40 प्रतिशत

---

1 A. P. K. Organski, *World Politics*, New York, 1964, p. 223.
2 J. A. Hobson, *Imperialism a Study*, 1938, p. 7.
3 E. F. Penrose, *The Revolutions in International Relations*, pp. 67-71.

फॉस्फेट चूर्ण, 20 प्रतिशत मैंगनीज, 18 प्रतिशत तांबा, 15 प्रतिशत क्रोमाइट एस्वेसटास उपनिवेशों से ही प्राप्त होता था। कोई भी उपनिवेशवादी राज्य उपनिवेशों को सरलता से नहीं छोड़ता क्योंकि उपनिवेशों का शोषण करना और लाभ प्राप्त करना एक वहुत वड़ा आकर्षण है।

आज के उपनिवेश : स्वाधीनता की इन्तजार वाले देश
(COLONIES IN THE CONTEMPORARY WORLD)

लगभग साढ़े चार अरब की आवादी वाली दुनिया में आज भी 30 देश (इनमें हजारों की तादाद में फैले छोटे द्वीप शामिल नही) ऐसे है जो स्वाधीनता के लिए कसमसा रहे हैं, आज भी वे उपनिवेश है। कई उपनिवेश शान्तिपूर्ण ढंग से परस्पर वार्ता द्वारा अपने भूतपूर्व शासकों को समय की हवा से अवगत करने में सफल हो जाते हैं और स्वाधीनता प्राप्त कर लेते हैं तो कइयों को संघर्ष का रास्ता अख्तियार करना पड़ता है। कुछ ऐसे भी उपनिवेश हैं जो संयुक्त राष्ट्र की धरोहर हैं और उन्हें 'न्यास क्षेत्र' के तौर पर जाना जाता है। लेकिन न्यास क्षेत्र वाले सभी देशों को आजादी मिल ही जाती हो यह जरूरी नहीं। कुछ ऐसे भी उपनिवेश हैं—खासतौर पर छोटे-छोटे द्वीप—जो सुरक्षा या प्राकृतिक साधनों की कमी के कारण अपनी औपनिवेशक स्थिति में ही सन्तुष्ट हैं। उन्हें शायद एक तो अपने छोटे और कमजोर होने का सदैव अहसास रहता है और दूसरे साधनों की कमी की यथोचित जुगाड़ न कर पाने के कारण पड़ौसी देशों या अन्य देशों की ललचाई नजरें उनके अस्तित्व के लिए किसी समय भी खतरा बन सकती हैं।

इस ढाँचे को ढाल वनाकर जव हम विश्व की स्थिति का सर्वेक्षण करते हैं तो पाते हैं कि आज भी औपनिवेशिक शक्तियाँ मोटे तौर पर वही है जो आज से कुछ सदियों पहले थीं। अर्थात् ब्रिटेन, फ्रांस, पुर्तगाल, हालैण्ड, स्पेन, वेल्जियम आदि। अलवत्ता अमरीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका जैसे देश इस सूची में और जुड़ गये है जिनका, प्रभाव क्षेत्र उतना व्यापक नहीं, शुद्ध औपनिवेशिकता की दृष्टि से—जितना कि ब्रिटेन और फ्रांस जैसे देशों का रहा है। आज भी प्रशान्त सागर, कैरेवियाई द्वीप समूह में तमाम ऐसे छोटे-बड़े द्वीप छितरे पड़े है जो आजादी की बाट जोह रहे हैं।

20वीं सदी के शुरू में ऐसा लगता था कि आधी से अधिक दुनिया के पैरों में वेड़ियाँ पड़ी हुई हैं। प्रथम विश्वयुद्ध के समय विश्व के 50 प्रतिशत क्षेत्र की 31·5 प्रतिशत आवादी गुलाम थी। इसके-अलावा कुछ क्षेत्र अर्द्ध-औपनिवेशिक स्थिति में थे। इसे मिलाकर 72 प्रतिशत क्षेत्र की 69 प्रतिशत जनसंख्या औपनिवेशिक और अर्द्ध-औपनिवेशिक स्थिति में थी। 1905 में सोवियत संघ में जारशाही के विरुद्ध क्रान्ति ने लगता है लोगों को दिशा दी और द्वितीय विश्वयुद्ध के वाद फासीवाद की पराजय के वाद औपनिवेशिक प्रणाली बालू के टीले की तरह ढहने लगी। यद्यपि एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका में औपनिवेशिक वस्तियाँ अधिक थी तथापि द्वितीय विश्वयुद्ध के वाद स्वाधीनता की लहर एशिया में अधिक तेज थी; उस दौर में भारत, पाकिस्तान, इण्डोनेशिया, वियतनाम, वर्मा, चीन, श्रीलंका स्वाधीन हुए। उस समय सर विन्स्टन चर्चिल ने दावा किया था कि वह ब्रितानी हुकूमत का उन्मूलन होते नही देख सकते। वावजूद इसके उनके जीते जी अनेक देशों में यूनियन जैक के स्थान पर वहाँ का स्थानीय ध्वज फहराया था।

एशियाई देशों की जागरूकता ने अफ्रीकियों को भी उद्वेलित किया। लिहाजा 1950 के बाद मोरक्को, सूडान, घाना और गिनी आजाद हुए। 1960 को 'अफ्रीकी वर्ष' कहा जा सकता है। 1960 और 1970 के वीच 17 देशों ने स्वाधीनता प्राप्त की। अफ्रीका में फ्रांस और बेल्जियम की-बस्तियाँ थीं, लिहाजा इन देशों की आजादी से उनका वहुत वड़ा प्रभाव क्षेत्र समाप्त हो गया। 1960 मे ही संयुक्त राष्ट्र ने एक प्रस्ताव परित कर सभी बचे हुए उपनिवेशों और वहाँ के लोगों को स्वाधीनता प्रदान करने का आह्वान किया। इस घोषणा-पत्र के जारी होने के

वाद 55 देश आजाद हुए, इनमें 24 अफ्रीका के, 7 एशिया के, 10 लेटिन अमरीका के, 1 यूरोप का तथा 9 सागरीय देश थे। इन देशों में 14 करोड़ की आवादी थी और क्षेत्रफल एक करोड़ वर्ग किलोमीटर था। संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्य संख्या 1980 में 1945 के मुकाबले तिगुनी हो गयी।

वावजूद उपनिवेशवाद उन्मूलन की इस प्रक्रिया के आज भी 30 लाख (विश्व जनसंख्या का 0·3 प्रतिशत और क्षेत्रफल का 1 प्रतिशत) से अधिक लोग स्वाधीनता का इंतजार कर रहे हैं। नामीबिया के अतिरिक्त पश्चिमी सहारा (स्पानी बस्ती) और पूर्वी तिमोर (पुर्तगाली उपनिवेश) खासे चर्चित क्षेत्र हैं। यहाँ पर हाल ही के वर्षों में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष जोरों पर रहा है।

संयुक्त राष्ट्र की एक विशेष समिति प्रतिवर्ष स्वाधीनता प्राप्ति के लिए आतुर उपनिवेशों के बारे में अपनी रपट महासभा को देती है। 1980 की रपट में नामीबिया,[1] पश्चिमी सहारा; पूर्वी तिमोर के अलावा कुछ अन्य छोटे देशों का भी जायजा लिया गया। इनमें पश्चिमी प्रशान्त में स्थित माइक्रोनेशिया नामक एक स्थान है जिसके अन्तर्गत 2,100 द्वीप आते हैं। यह अमरीका की एक बस्ती है। यहाँ के कुछ द्वीपों में अमरीका अपने परमाणु परीक्षण भी करता रहता है। एक प्रस्ताव द्वारा महासभा ने यहाँ के लोगों का अपनी स्वाधीनता के लिए आत्म-निर्णय के अधिकार का समर्थन किया।

कुछ ऐसे भी गैर-स्वशासी क्षेत्र हैं जो आकार और संख्या दोनों में बहुत छोटे हैं। हिन्द महासागर में स्थित कोकास-कीलिंग द्वीप की आवादी केवल 490 है जवकि प्रशान्त में स्थित पिटकैरेन द्वीप की आबादी मात्र 724 है। इसके अलावा बहुत-से निर्जन द्वीप हैं, कुछ ऐसे द्वीप भी हैं जहाँ पर केवल कुछ खानाबदोश ही रहते हैं। लेकिन इन निर्जन द्वीपों का भी अपना महत्व है। औपनिवेशिक शक्तियाँ इन निर्जन द्वीपों को हवाई अड्डों, सैनिक भण्डारागारों, नये किस्म के अस्त्रों और परमाणु हथियारों के लिए सर्वश्रेष्ठ स्थान मानती हैं। यद्यपि आज उपनिवेशवाद का जमाना नहीं और संयुक्त राष्ट्र संघ ने विभिन्न मंचों पर उसके विरुद्ध आवाज भी बुलन्द की है; वावजूद इसके बड़े देश एक तरफ अपनी आर्थिक दृष्टि से और दूसरी तरफ राजनीतिक, सैनिक तथा सामरिक दृष्टि से इन छोटे-छोटे द्वीपों को अपने अधिकार में बनाये रखने के लिए कोई-न-कोई बहाना ढूँढ़ लेते हैं। आज भी ब्रिटेन के अधीन सबसे अधिक बस्तियाँ हैं। यद्यपि धीरे-धीरे उन्हें स्वाधीनता प्रदान की जा रही है, बावजूद इसके कुछ ऐसे उपनिवेश हैं जिन्हें वह आसानी से स्वाधीनता प्रदान नहीं करना चाहता। इनमें जिब्राल्टर, एनगुडला, हांगकांग, फॉकलैण्ड आदि क्षेत्र आते हैं। हिन्द महासागर में स्थित मॉरिशम और शेसल्स तो स्वाधीन हो चुके हैं लेकिन चागोस द्वीपसमूह जिसमें विवादास्पद दियागो गार्सिया द्वीप भी शामिल है, को स्वाधीन करने के लिए ब्रिटेन तैयार नहीं। दियागो गार्सिया को उसने अमरीका को वेच दिया है और वहाँ पर अमरीकी नौसैनिक गतिविधियाँ वड़ी तेजी से हिन्द महासागर में निरन्तर बढ़ रही हैं। सबसे अधिक उपनिवेश प्रशान्त सागर में स्थित है और ये सभी छोटे-छोटे द्वीप सारे सागर में विखरे पड़े हैं। दूसरी महत्वपूर्ण औपनिवेशिक शक्ति फ्रांस रही है; फ्रांस का दवदवा अफ्रीकी देशों पर अधिक था, लेकिन 1960 से 1980 के बीच अधिकतर अफ्रीकी देशों के स्वाधीन हो जाने के बाद अब उसका नियन्त्रण कुछ इने-गिने स्थानों तक ही सिमट कर रह गया है। कुछ स्थानों को तो फ्रांस अपने विदेशी

---

1 नामीबिया का क्षेत्रफल फ्रांस और इटली को मिलाकर भी अधिक है। 1966 में संयुक्त राष्ट्र ने एक प्रस्ताव पारित कर उस पर दक्षिण अफ्रीका का साम्राज्य समाप्त कर दिया था। पश्चिमी सहारा पर मोरक्को का बलात् कब्जा रहा और पूर्वी तिमोर पर इण्डोनेशिया ने कब्जा कर उसे अपना 27वाँ प्रान्त घोषित कर दिया।

विभाग के अन्तर्गत मानता है जबकि कुछ को वह उपनिवेश या क्षेत्र मानते हैं। रियूनियन, गुआदेलू, मार्तीनी, सेंट पियेरे, फ्रांसीसी गयाना उसके विदेशी विभागों में आते हैं जबकि फ्रांसीसी पोलिनेसिया, न्यू केलेडोनिया, वालिस और फूतुना द्वीप उसकी बस्तियों में माने जाते हैं।

बहरहाल, तीस-एक ऐसे देश हैं जो अभी स्वाधीनता प्राप्त करने की जद्दोजहद में जुटे हुए हैं। कुछ देशों के मुक्ति संग्रामी अपने देशवासियों की आवाज लोगों तक पहुँचाने में समर्थ हो जाते हैं तो कभी-कभी संयुक्त राष्ट्र की विशेष समिति के प्रतिनिधि यहाँ के लोगों की इच्छाओं से विश्व निकाय को अवगत कराते रहते हैं। लेकिन ये बड़ी शक्तियाँ जो इन देशों से प्राप्त कच्चे माल को पक्का बनाकर अपनी अर्थव्यवस्था को दृढ़ किये हुए हैं, आसानी से उन्हें अपने चंगुल से निकालने के लिए तैयार नहीं।

प्रश्न

1. "यदि साम्राज्यवाद को राज्यों में शक्ति के संघर्ष के दृष्टिकोण से देखा जाये तो इसके परिणामों का निर्णय इसके शक्ति राजनीति के योगदान के रूप में किया जाना चाहिए।" (**शूमां**) क्या आप इस विचार की अनुरूपता को वर्तमान शताब्दी में सिद्ध कर सकते हैं?

   "If imperialism is viewed as a phase of the struggle for power between states its result must be judged in terms of its role in power politics." (*Schuman*) Can you justify this view as relevant to the present century ?

2. "चाहे यह सत्य है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त साम्राज्यवाद अथवा वर्तमान उपयोग के अनुसार उपनिवेशवाद की बड़ी पराजय हुई हैं, परन्तु वह अभी अतीत की वस्तु बिलकुल नही हुआ है।" (**पामर और पर्किन्स**)

   इस कथन के प्रकाश में साम्राज्यवाद की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विभिन्न उद्देश्यों तथा प्रविधियों की व्याख्या कीजिए।

   "Although imperialism or, in present usage, colonialism has suffered tremendous reverse since World War II, it is by no means a thing of the past." (*Palmer and Perkins*).

   In the light of the above statement, discuss the various motives and techniques of imperialism in International Politics.

3. "साम्राज्यवाद में दूसरे देशों को जीतने का प्रयास निहित रहता है, परन्तु दूसरे देशों को जीतने की नीति को ही हम साम्राज्यवाद नहीं कह सकते।" इस कथन की रोशनी में साम्राज्यवाद की परिभाषा लिखिए।

   "Imperialism is a policy of conquest. But not every policy of conquest is imperialism in the light on this statement.

4. 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में साम्राज्यवाद का योग' विषय पर एक संक्षिप्त किन्तु विचारपूर्ण निबन्ध लिखिए।

   Write a brief but critical essay evaluating the role of imperialism as an instrument of international politics.

18

नव-उपनिवेशवाद : बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका के परिप्रेक्ष्य में

[NEO-COLONIALISM WITH REFERENCE TO THE ROLE OF MULTI-NATIONAL CORPORATIONS]

समय तथा युग के साथ-साथ साम्राज्यवाद का रूप भी बदलता गया है। **सैनिक तथा राजनीतिक साम्राज्यवाद** का युग समाप्त हो चुका है और उनका स्थान **आर्थिक साम्राज्यवाद** ने ले लिया है। आर्थिक साम्राज्यवाद से तात्पर्य ऐसे साम्राज्यवाद से है जिसमें प्रत्यक्ष रूप में कोई देश साम्राज्यवादी देश के नियन्त्रण से मुक्त होता है, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप में उसे साम्राज्यवादी शक्ति के निर्देशनों का पालन करना होता है। आज अमरीका और सोवियत संघ अविकसित देशों को आर्थिक सहायता देकर अप्रत्यक्ष रूप से उन पर अपने दवाव का प्रयोग करते है। अमरीका अविकसित तथा छोटे-छोटे देशों को डालर (Dollar) अर्थात् आर्थिक सहायता देकर उन पर अपने दवाव तथा प्रभाव का प्रयोग करता है और इसे 'डालर साम्राज्यवाद' (Dollar Imperialism) कहा जाता है।

जिस प्रकार साम्राज्यवाद के रूप में परिवर्तन हुआ है उसी प्रकार **उपनिवेशवाद** के स्थान पर **नव-उपनिवेशवाद** (Neo-Colonialism) की स्थापना हुई है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् साम्राज्यवाद का विघटन हो गया और विश्व के अधिकांश राष्ट्र उपनिवेशवाद के चंगुल से छुटकारा पा गये। एशिया तथा अफ्रीका के अधिकांश राष्ट्र राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र तथा सम्प्रभु हैं। प्रत्यक्ष में वे भले ही स्वतन्त्र हों परन्तु अप्रत्यक्ष रूप में किसी-न-किसी महाशक्ति के प्रभाव में है। ये तथाकथित राष्ट्र वास्तव में स्वतन्त्र नहीं है, वे वास्तव में पराधीन है। इस आधुनिक साम्राज्यवाद को ही 'नव-उपनिवेशवाद' कहते है। **'नव-उपनिवेशवाद' का मुख्य लक्ष्य राजनीतिक स्वतन्त्रता प्रदान करने के पश्चात् भी उनसे आर्थिक लाभ प्राप्त करते रहना है।** 'नव-उपनिवेशवाद' का लक्ष्य राजनीतिक तथा सैनिक प्रभुत्व के स्थान पर आर्थिक प्रभुत्व की स्थापना करना है। 18वीं शताब्दी में ब्रिटेन ने तेल राजनय (Oil Diplomacy) के द्वारा आर्थिक दृष्टि से अपने प्रभाव को स्थापित कर रखा था। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अमरीका के डालर साम्राज्यवाद (Dollar Imperialism) की स्थापना पश्चिमी यूरोप तथा एशिया एवं अफ्रीका के नव-स्वतन्त्रता प्राप्त देशों पर हुई। लैटिन अमरीका के देश वैसे तो सम्प्रभु राष्ट्र हैं, परन्तु वे पूर्ण रूप से अमरीका पर निर्भर हैं तथा कोई स्वतन्त्र नीति अपनाने में असमर्थ है। इसी प्रकार 'लौह आवरण' (Iron Curtain) के पीछे पूर्वी यूरोप के देश पूर्ण रूप से सोवियत संघ के प्रभाव क्षेत्र में है। अतः नव-उपनिवेशवाद' 'प्रभावक्षेत्र' (Sphere of Influence) का साम्राज्य होता है। साम्राज्यवादी शक्ति

आसानी से किसी ऐसे अधीन देश को अपने प्रभाव क्षेत्र से निकलने नहीं देती। हंगरी तथा चेकोस्लोवाकिया ने जब स्वतन्त्र नीतियों का अनुसरण करना चाहा तो सोवियत संघ ने शक्ति प्रयोग के द्वारा हस्तक्षेप किया।

नव-उपनिवेशवाद : अर्थ
(NEO-COLONIALISM : MEANING)

नव-उपनिवेशवाद आधुनिक जटिल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की नयी शब्दावली है। नव-उपनिवेशवाद की संकल्पना एक अत्यन्त आधुनिक संकल्पना है जिसका उदय द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त ही हुआ है। नव-उपनिवेशवाद में शक्तिशाली और अपेक्षाकृत कम शक्तिशाली राज्य का सम्बन्ध एक आर्थिक उपनिवेश या उपग्रह उपनिवेश (Satellite) का होता है। विकासशील और तीसरी दुनिया के नव-स्वतन्त्र देशों के सम्बन्ध कुछ इस प्रकार विकसित होते जा रहे हैं कि नव-स्वतन्त्र देश आर्थिक दृष्टि से दासता के शिकंजे में फँसते जा रहे हैं चाहे भले ही राजनीतिक दृष्टि से वे स्वतन्त्र ही क्यों नहीं परिलक्षित होते हों। 'व्यापार और विदेशी सहायता' ऊपरी तौर से तो नव-स्वतन्त्र देशों के हित में लगते हैं किन्तु यथार्थ में ये आर्थिक शोषण में परिवर्तित हो जाते हैं।[1]

राजनीतिक और सैनिक स्वरूप के उपनिवेशवाद का अन्त हो चुका है। एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के देशों पर से ब्रिटिश, फ्रेंच, डच, पुर्तगाली, बेल्जियन और स्पेनिश नियन्त्रण लगभग समाप्त-सा हो गया है। किन्तु बहुराष्ट्रीय निगमों के माध्यम से पश्चिमी देश नवोदित राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था में दीमक की तरह घुसते जाते हैं।[2] नवोदित राष्ट्रों की प्राकृतिक-सम्पदा पर धीरे-धीरे पश्चिमी राष्ट्र अधिकार करते जा रहे हैं। इसके लिए पूंजी निर्यात (export of capital), असमान विनिमय दरें (non-equivalent exchange), कच्चे माल की कीमतों पर कैंची का प्रयोग (price scissors for raw materials), बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा खनिज सम्पदा तथा उपभोक्ता व्यापार पर नियन्त्रण (control by the multinational corporations over the mineral wealth and commodity markets of the Third World) आदि साधनों का प्रयोग किया जाता है।[3] इस नीति का परिणाम होता है—ऐसे सम्बन्धों की स्थापना जिससे पश्चिमी विकसित राष्ट्रों और तीसरी दुनियाँ के राष्ट्रों के मध्य औद्योगिक माल तैयार करने वाले और कच्चा माल जुटाने वाले राष्ट्रों का स्वरूप बन जाये।[4]

नव-उपनिवेशवाद का लक्ष्य है नव-स्वतन्त्र देशों में विकास को पूंजीवादी दिशाओं में

---

1 "The essential objective of neo-colonialism is to maintain the flow of imperialist profits from former colonial territories after the concession of political independence."
—R. Palm Dutta, *Britain's Crisis of Neo-Colonialism*, Internationl Affairs, Moscow Jan., 1968, p. 17.

2 "Having lost political control over the third world the imperialist powers, chiefly through the multinational corporations, are continuing, seriously to influence the economics of the newly emergent states."
—Lev Comlev, *The New International Economic Order* (Sterling Publishers, New Delhi. 1981), p. 38.

3 "Until recently international imperialism has succeeded in robbing African, Asian and Latin American countries of their natural wealth practically without opposition. The imperialists has used and in many instances continue to use such tested instruments of new colonialist policy export of capital, non-equivalent exchange, "Price scissors" for raw materials and for manufacturers, and control by the multinational corporations over the mineral wealth and commodity market of the Third World." —*Ibid.*

4 "This policy aimed at perpetuating the pattern of relations between the industrialised west and its agricultural and raw materials periphery that took shape in the area of colonial empires." —*Ibid.*

निर्दिष्ट करना जिससे उन देशों के शोषण की सम्भावना कायम रहे।[1] इस राजनीतिक लक्ष्य की प्राप्ति की कोशिश में साम्राज्यवाद ने अपनी कार्यनीति बदल दी है। वह विकासशील देशों को पूँजीवादी राज्यों के एक प्रकार के "औद्योगिक कच्चा माल तैयार करने वाले दुमछल्ले" बना देने, उनके आर्थिक ढाँचों में गहरी जड़ जमाने, इन देशों को पूँजीवादी अन्तर्राष्ट्रीद श्रम-विभाजन की एक नयी (किन्तु पहले की तरह गैर-बराबर) व्यवस्था में आवयविक रूप में समाविष्ट करने, उन्हें "प्राविधिक पराधीनता" की श्रृंखलाओं में जकड़ने और इस प्रकार विकासशील देशों को व्यापक की जगह सघन शोषण का शिकार बनाने के लिए खास तौर पर जोरदार प्रयास कर रहा है।

वैज्ञानिक प्राविधिक क्रान्ति औद्योगिक दृष्टि से विकसित पूँजीवादी देशों में उत्पादक शक्तियों के क्षेत्र में गहनतम परिवर्तन ला देती है। इनकी नजीर 'नये प्रकार' की इजारेदारियाँ पेश करती है जो उन्नत से उन्नत प्रविधि पर आधारित उत्पादन का विस्तार करती है और जिन्हें अब इस बात में दिलचस्पी शेष नहीं रह जाती है कि वे पुराने उपनिवेशी श्रम-विभाजन को बरकरार रखें अर्थात् पिछड़े देशों को उपनिवेशी राज्यों के मात्र कृषि और कच्चे मालों के दुमछल्लों के रूप में उपयोग में लायें। यह तो स्पष्ट ही है कि विकासशील देश आज भी इजारेदारियों के लिए कच्चे माल के स्रोत और औद्योगिक मालों की मण्डी, तथा सस्ते जनबल के आपूर्तिकर्ता, इन दोनों ही रूपों में महत्व रखते हैं। इजारेदारियों के लिए आज यही जरूरी नहीं है कि विकासशील देश कच्चे माल की पैदावर बढ़ायें, बल्कि यह भी कि वे औद्योगिक उत्पादन में और भी अधिक प्रत्यक्ष रूप में भागीदार बनें। एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका में विकसित देशों की पूँजी 'सतही' उत्पादन केन्द्रों की स्थापना करना चाहती है। साथ ही वह यह भी चाहती है कि अपने उद्योग की उन शाखाओं को वह वहाँ स्थानान्तरित कर दे जिनमें श्रम की सबसे ज्यादा खपत होती हो (क्योंकि वहाँ सस्ता जनबल सुलभ है) तथा जो "गन्दे"—अर्थात् पर्यावरण के लिए हानिकर—हों।

नये प्रकार के एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन की योजना बनाने जा रही है जिसके तहत उद्योग सम्पन्न विकसित देश मुख्यतः उन प्राविधिक दृष्टि से सबसे 'आधुनिक' और पूँजी-प्रधान औद्योगिक शाखाओं को अपने देश के अन्तर्गत विकसित करेंगे जिनके लिए अत्यन्त हुनरमन्द जनबल की आवश्यकता हो, तथा विकासशील देशों को विश्व पूँजीवादी उत्पादन तन्त्र के "बिचले उत्पादों के कारखानों" में तथा "माल निर्माण और ढुलाई की श्रृंखला की बिचली कड़ियों" में बदल देंगे जिससे वे महत्वपूर्ण, प्राविधिक दृष्टि से समुन्नत, आरम्भिक और अन्तिम कड़ियों पर पूरी तरह आश्रित होंगे।

दूसरे शब्दों में, इजारेदारियाँ पिछड़े देशों के औद्योगीकरण की अवश्यम्भावी प्रक्रिया को इस तरह मोड़ देना चाहती हैं कि उससे वे खुद ही लाभ उठायें। विभिन्न आर्थिक शाखाओं में लगादी गयी पूँजी सम्बन्धी आँकड़े इसके सबूत हैं। उदाहरणार्थ, 1950 में दक्षिण-पूर्व एशिया में प्रोसेसिंग उद्योग में जो प्रत्यक्ष अमरीकी खानगी पूँजी लगी थी वह 19·1 प्रतिशत थी; आठवें दशक के आरम्भ में वह 25·7 प्रतिशत तक पहुँच गयी। लैटिन अमरीका में यह इसी दौर में 17·5 प्रतिशत

1 "Until recently the extraction and production of industrial and agricultural raw materials in the developing countries was wholly in the hands of the multinational corporations. What is more, the system of colonial and neo-colonial exploitation has produced a pattern of international division of labour in consequence of which the Third World countries have found themselves in the inferior position of raw material supplies to the industrialised capitalist countries. This system perpetuated the economic backwardness of the emergent states while at the same time creating most favourable conditions for the imperialist powers to enrich themselves.' —Lev Komlev, *Ibid.*, p. 56.

से बढ़कर 31·7 प्रतिशत पहुँच गयी। आज लैटिन अमरीका में लगायी जाने वाली समस्त खानगी पूँजी का 50 प्रतिशत से अधिक प्रोसेसिंग उद्योग में जाता है। 1965-72 के बीच सम्पूर्ण तीसरी दुनिया में कुल जितनी पूँजी लगायी गयी, उसका 40·6 प्रतिशत प्रोसेसिंग उद्योग को मिला।

इन आँकड़ों से पता चलता है कि विदेशी पूँजी पहले पिछड़े देशों के औद्योगीकरण में अवरोध पैदा करती थी किन्तु अब वही कुछ खास औद्योगिक शाखाओं में 'तावड़तोड़ पिल पड़ी है' जिससे वह उनके विकास की दिशा को ऐसा मोड़ दे सके जो उसके अनुकूल हो और इस प्रक्रिया पर अपना नियन्त्रण कायम रख सके।

यह सोचना निःसन्देह अनर्गल होगा कि अमरीकी, पश्चिम यूरोपीय और जापानी पूँजीपतियों ने एकाएक भूतपूर्व उपनिवेशों के औद्योगिक विकास की चिन्ता शुरू कर दी है। वे शुद्ध स्वार्थमूलक उद्देश्यों से प्रेरित होते हैं।

नव-उपनिवेशवाद की लाइन यह है कि "विकासशील देशों की नयी प्राविधिक पराधीनता की स्थापना की जाय, और इस पर सरकारी तौर पर तथाकथित 'समान साझेदारी' की अवधारणा की नकाब डाल रखी गयी है। उक्त नव-उपनिवेशवादी लाइन के लागू किये जाने के पीछे गुप्त मूलमन्त्र है "नियन्त्रण बढ़ाने के लिए कारखानों का निर्माण करना।"

पश्चिमी देश प्राविधिक विकास (Technological advances) की दृष्टि से सम्पन्न और उन्नत हैं। यदि तीसरी दुनिया के देश भी इस उन्नत प्रविधि का उपयोग करने लग जायँ तो उनके आर्थिक विकास की गति काफी तीव्र हो सकती है। किन्तु प्राविधिक विकास की दृष्टि से पश्चिमी दुनिया और तीसरी दुनिया के देशों में प्राविधिक अनुन्धान की दर में 141 : 1 का अनुपात है और इसी अन्तर के कारण पश्चिमी-देश और उनकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ विकासशील देशों का शोषण करती हैं।[1] जहाँ पूँजीवादी पश्चिमी देश प्राविधिक निर्यात और आयात दोनों करते हैं वहाँ तीसरी दुनिया के राष्ट्र मात्र 2-3 प्रतिशत प्राविधि सम्बन्धी पट्टों (Patents) का निर्यात करते हैं और प्राविधि के आयात में ही उनका सारा धन खर्च हो जाता है। जहाँ 1960 के दशक में विकासशील नव-स्वतन्त्र राष्ट्रों को प्राविधि के आयात के लिए अनुमानतः प्रतिवर्ष 1500 लाख डालर राशि खर्च करती होती थी वहाँ आ जउसे 3000 से 5000 लाख डालर धन खर्च करना पड़ता है। अंकटाड (UNCTAD) सचिवालय का अनुमान है कि सन् 2000 ई. में विकासशील राप्ट्रों को प्राविधि के आयात में 60,000 से 1,50,000 लाख डालर राशि व्यय करनी पड़ेगी जिससे उनकी अर्थव्यवस्थ चरमरा जायगी। कहने का अभिप्राय यह है कि प्राविधिक हस्तान्तरण (transfer of technology) एक ऐसा उपकरण है जिससे नवोदित राप्ट्रों को उपनिवेशवादी शिकंजे में अनवरत रूप से बाँधकर रखा जा सकता है।

संक्षेप में, नव-उपनिवेशवाद से अभिप्राय है—पूँजीवादी समृद्ध पश्चिमी देशों द्वारा तीसरी दुनिया के नव-स्वतन्त्र देशों का आर्थिक और तकनीकी शोषण। नव-उपनिवेशवाद के उपकरण (Instruments) हैं आर्थिक सहायत्ता, सैनिक सहायता, शस्त्रों की सहायता, तकनीकी का निर्यात व्यापार और उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार आदि। और इस प्रकार का आर्थिक शोषण भी तब जबकि अगर ईंधन को छोड़ दिया जाय तो विश्व के 40 से 45 प्रतिशत कच्चे माल संसाधन नव-स्वतन्त्र देशों में ही हैं और कुछ सबसे महत्वपूर्ण कच्चे मालों (तेल, टिन, बॉक्साइट, ताँबा और प्राकृतिक रबड़) के उत्पादन में वे संसार में सबसे आगे हैं।

---

[1] "The relation of the volume of per capita research and development activities in the industrialised countries and in the Third World is 141 : 1. This fact is exploited by the imperialist powers and their multinational corporations to bring pressure to bear on the Third World in Politics and international economic relations."

नव-उपनिवेशवाद के रूप (Types of Neo-Colonialism)

आर्गेन्स्की ने उपनिवेशवाद के तीन रूपों का वर्णन किया है—राजनीतिक उपनिवेशवाद (Political Colonialism), आर्थिक दृष्टि से पराश्रित देश (Economic Dependencies) तथा पिछलग्गू देश (Satellites)। राजनीतिक उपनिवेशवाद, उपनिवेशवाद का वह रूप है जिसमें किसी देश पर विदेशी सत्ता का प्रत्यक्ष तथा पूर्ण नियन्त्रण हो अर्थात् वह देश राजनीतिक दृष्टि से स्वाधीन न हो। आर्गेन्स्की ने उपनिवेशवाद के अन्तिम दो रूपों—आर्थिक दृष्टि से पराश्रित देशों तथा पिछलग्गू देशों को ही 'नव-उपनिवेशवाद' के अन्तर्गत शामिल किया है। यहाँ हम इन दोनों ही रूपों की चर्चा करेंगे।

(1) **आर्थिक दृष्टि से पराश्रित देश** (Economic Dependencies)—ये वे देश होते हैं जो राजनीतिक दृष्टि से तो स्वतन्त्र होते हैं परन्तु इनके उद्योग-धन्धे तथा व्यापार किसी विदेशी शक्ति द्वारा नियन्त्रित होते हैं। बहुत से ऐसे देश हैं जो आर्थिक दृष्टि से अपने मालिक नहीं हैं। ये देश आर्थिक दृष्टि से अविकसित राष्ट्र (Under-developed Nations) होते हैं। ऐसे देश की अर्थव्यवस्था का नियन्त्रण तथा संचालन उस देश की सरकार के द्वारा नहीं होता है। यह आवश्यक नहीं है कि विदेशी राष्ट्र सरकारी स्तर पर ही आर्थिक नियन्त्रण को स्थापित करें, बल्कि अधिकतर यह होता है कि अधिक से अधिक विदेशी पूँजी को लगाकर पराश्रित राष्ट्र में उद्योग-धन्धों की स्थापना की जाती है। यदि किसी देश के अधिकांश यद्योग-धन्धे तथा व्यापार विदेशियों के हाथ में हैं, तो उस राष्ट्र को पराश्रित राष्ट्र (Economic Dependency) कहा जायेगा। यदि किसी देश की राष्ट्रीय आय का 51 प्रतिशत भाग विदेशियों को प्राप्त होता है, तो निश्चित रूप से वह राष्ट्र एक पराश्रित राष्ट्र है। वैसे तो पराश्रित राष्ट्र स्वतन्त्र तथा सम्प्रभु होता है, परन्तु यदि उसकी अर्थव्यवस्था का नियन्त्रण विदेशियों के द्वारा होता है, तो यह निश्चित है कि वे इस देश की सरकार को भी प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। पराश्रित राष्ट्रों में आर्थिक साधन के माध्यम से विदेशी राष्ट्र की राजनीतिक सत्ता की स्थापना होती है।

(2) **पिछलग्गू देश** (Satellites)—पिछलग्गू देश उस राष्ट्र को कहा जाता है जो औपचारिक रूप में तो स्वतन्त्र होता है, परन्तु राजनीतिक तथा आर्थिक दोनों प्रकार से उस पर किसी विदेशी सत्ता का नियन्त्रण होता है। आर्गेन्स्की के अनुसार इस समय केवल रूस ही एकमात्र पिछलग्गू देशों वाला राष्ट्र है और चीन इस दिशा में बढ़ने का प्रयास कर रहा है। साम्यवादी देशों में अर्थव्यवस्था पर नियन्त्रण सरकार का होता है, अतः एक देश के द्वारा दूसरे देश के ऊपर आर्थिक नियन्त्रण बिना राजनीतिक नियन्त्रण के सम्भव नहीं है। इस प्रकार जिस राष्ट्र पर किसी विदेशी शक्ति का आर्थिक तथा राजनीतिक दोनों प्रकार का नियन्त्रण स्थापित हो जाता है, वह पूर्णरूप से पराधीन हो जाता है। ऐसे राष्ट्रों को ही पिछलग्गू राष्ट्र (satellite) कहा जाता है। आर्थिक दृष्टि से आश्रित राष्ट्रों के मुकाबले में पिछलग्गू राष्ट्रों पर विदेशी शक्ति का नियन्त्रण अधिक प्रभावशाली तथा मजबूत होता है।

आर्थिक दृष्टि से पराश्रित राष्ट्र पिछलग्गू राष्ट्रों के मुकाबले में अधिक स्वतन्त्र होते हैं। उन्हें यह स्वतन्त्रता होती है कि वे प्रजातन्त्र अथवा साम्यवाद में से किसी का चुनाव कर सकते हैं, लेकिन रूस के पिछलग्गू राष्ट्रों को यह स्वतन्त्रता नहीं है कि वे पाश्चात्य प्रजातन्त्र का रूप ग्रहण कर लें। पूर्वी यूरोप के देशों का हर प्रकार से नियन्त्रण रूस के द्वारा होता है तथा रूस में किसी नीति के परिवर्तन का प्रभाव तुरन्त पूर्वी यूरोप के पिछलग्गू राष्ट्रों पर पड़ता है।

नव-उपनिवेशवाद के प्रतीक—बहुराष्ट्रीय निगम
(NEO-COLONIALISM'S SYMBOL : THE MULTI-NATIONALS)

बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ या निगम साम्राज्यवादी देशों की नयी एवं उच्चतम किस्म की

विशालकाय इजारेदारियाँ है, जो अकूत संसाधनों को नियन्त्रित करती हैं और अधिकतम मुनाफा उपार्जित करने के लिए सस्ते श्रम, सस्ते कच्चे माल और अनुकूल बाजार की खोज में अपने देश के बाहर अपने क्रियाकलाप को फैलाती है तथा पूंजनिवेश करती है। इन्हें अपने देश की साम्राज्यवादी सरकार का आर्थिक, राजनीतिक तथा सैनिक समर्थन प्राप्त रहता है। ये निगम साम्राज्यवाद की नव-उपनिवेशवादी नीति के आर्थिक औजार हैं।

बहुराष्ट्रीय निगमों के क्रियाकलाप निम्नलिखित दो उद्देश्यों की ओर उन्मुख है : **प्रथम,** साम्राज्यवादी देशों की अर्थव्यवस्था के लिए कच्चा माल, तेल, लौह अयस्क, ताँबा, टीन, रबर, चाय, कॉफी जैसे कच्चे माल तथा प्राकृतिक साधनों की आपूर्ति की गारण्टी करना और **द्वितीय,** उन देशों में पूंजी निवेश से कारखाने खड़ा करना जहाँ सस्ता श्रम और कच्चा माल उपलब्ध हो।

अपने मुनाफे की रक्षा और वृद्धि के लिए ये कम्पनियाँ मात्र आर्थिक क्रियाकलाप ही नहीं करती हैं, बल्कि विभिन्न देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करती है, सरकारों पर दबाव डालती है, मन्त्री तथा अधिकारियों को खरीदती है, अस्थिरता पैदा करती है, हत्याएँ करती है और आन्तरिक प्रतिक्रियावादी शक्तियों से मिलकर प्रगतिशील सरकारों के खिलाफ प्रतिक्रान्ति तक संगठित करती है। संक्षेप में, मुनाफे के लिए ये बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ सभी अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों और मानवीय मान्यताओं को कुचलकर हर सम्भव अपराध करती हैं। एक पत्रकार ने इनके उपनिवेशवादी चरित्र को उजागर करते हुए लिखा है, "बहुराष्ट्रीय निगमों की राजनीतिक कार्यवाहियों अथवा प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप के मूल में इनके आर्थिक स्वार्थ ही होते है। इनका केवल एक ही उद्देश्य होता है—ज्यादा-से-ज्यादा अपना धन्धा बढ़ाना और पैसा कमाना। इस उद्देश्य के लिए ये निगम किसी भी सीमा तक जा सकते हैं, कितना ही नीचे गिर सकते है। हालाँकि इनके धन्धे बदलते रहते है। पहले ये विकासशील देशों में मूलत: कच्चे माल और खनिज तेल और खाद्य-सामग्री का व्यापार करते थे, उन्हें सस्ते दामों पर विकासशील देशों से खरीदकर विकसित देशों में बेचते थे। बाद में इन्होंने इन देशों में उद्योग भी लगाने शुरू कर दिये—विकासशील देशों की औद्योगिक प्रगति का वास्ता देकर जबकि वास्तव में इन्होंने उसकी अवनति ही की। ध्यान देने की बात है कि ये निगम कभी भी अपने उत्पादन का नुस्खा या भेद विकासशील देशों को नहीं बताते। भेद न खुले इसलिए अधिकांशत: वस्तु का उत्पादन पूरी तरह उस देश में नही करते। कोई पुर्जा सम्बन्धित देश में बनाते हैं तो कोई स्वदेश से आयात करते है। उल्टे नमूने की फीस के रूप में एक बड़ी रकम बराबर स्वदेश भेजते हैं।[3]

तृतीय विश्व में बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका के बारे में कतिपय अध्ययनों से पता लगता है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ भी साधारणतया शोषणकारी अन्तर्राष्ट्रीय व्यावसायिक प्रतिष्ठानों का नया रूप मात्र है जिनका मूल उद्देश्य लाभ कमाना ही है। इन अध्ययनों के अनुसार तीसरी दुनिया अपने माल के अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में विक्रय, मशीनों, साधनों और तकनीक की प्राप्ति के लिए पूरी तरह बहुराष्ट्रीय निगमों पर निर्भर है। इसके बदले बहुराष्ट्रीय निगम विकासशील देशों में प्रतिवर्ष 5 से 15 अरब तक डालर प्राप्त कर लेते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि बड़े पैमाने पर माल के स्रोत दक्षिण से उत्तर की ओर ले जाये जा रहे है।

बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की आर्थिक शक्ति (Economic Power of the Multi-Nationals)—गैर-समाजवादी दुनिया की कम्पनियों की कुल संख्या का कुछ प्रतिशत बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ है। सन् 1971 में इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने .50,000 करोड़ डालर के मूल्य का नया धन पैदा किया था जो विश्व के समग्र राष्ट्रीय उत्पादन (समाजवादी देशों को छोड़कर) का 5वाँ

[1] नरेश कौशिक, **'सरकारें गिराने वाली कम्पनियाँ', दिनमान,** 10-16 अगस्त, 1980, पृ. 27-28.

भाग था। गैर-समाजवादी जगत के औसत विकास दर से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का विकास दुगुना है, इसलिए अनुमान लगाया गया है कि 2000 ई. तक बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ विश्व के उत्पादन (समाजवादी देशों को छोड़कर) 60 प्रतिशत पर नियन्त्रण कायम कर लेंगी।

सन् 1971 में विश्व की सबसे बड़ी 10 कम्पनियों, जिनमें प्रत्येक की सालाना बिक्री 300 करोड़ डालर से अधिक थी, की कुल बिक्री 80 देशों के कुल राष्ट्रीय उत्पादन से भी अधिक थी। अमरीका की तीन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों—जनरल मोटर्स, स्टैण्डर्ड आयल और फोर्ड—की सालाना बिक्री भारत के कुल राष्ट्रीय उत्पादन के बराबर है। सन् 1970 में जहाँ भारत की कुल राष्ट्रीय आय 4897 करोड़ डालर थी, वहाँ जनरल मोटर्स, स्टैण्डर्ड आयल और फोर्ड की बिक्री क्रमशः 1875 करोड़ डालर, 1655 करोड़ डालर तथा 1498 करोड़ डालर थी।

अमरीका की 10, ब्रिटेन की 5 और स्विट्जरलैण्ड की 3 बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ पूंजीवादी जगत के कुल उत्पादन का क्रमशः 40 प्रतिशत, 30 प्रतिशत और 40 प्रतिशत पैदा करती है। दूसरे शब्दों में, विश्व की 18 बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ पूँजीवादी जगत के कुल दवा उत्पादन का 84 प्रतिशत पैदा करती हैं। युद्ध सामग्रियाँ पैदा करने वाली बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ सालाना 2,000 करोड़ डालर से भी अधिक के हथियारों की बिक्री करती हैं। यह रकम भारत की कुल राष्ट्रीय आय की लगभग आधी है। अमरीका की 500 बड़ी कम्पनियाँ हैं जो अमरीका के कुल उत्पादन के 60 प्रतिशत पर नियन्त्रण करती हैं और अनुमान लगाया गया है कि 1985 तक 90 प्रतिशत को नियन्त्रित करेंगी। इसी तरह अन्य साम्राज्यवादी देशों के संसाधनों के बड़े भाग पर मुट्ठी भर कम्पनियाँ नियन्त्रण करती हैं। अमरीकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ सर्वाधिक शक्तिशाली हैं और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के कुल संसाधनों के 2/3 भाग पर इनका नियन्त्रण है।

साम्राज्यवादी देशों में बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ और सरकारें पूरी तरह एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। उच्च सरकारी पदों पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के प्रतिनिधि भरे पड़े हैं। अमरीकी अर्थशास्त्री आर. बर्नेट ने गणना की है कि 1940 से 1967 की अवधि में अमरीकी प्रशासन के 91 अति महत्वपूर्ण पदों में से 70 पर बड़े वित्तीय घरानों के प्रतिनिधि थे। विदेश मन्त्री, उप-विदेश मन्त्री, प्रतिरक्षा मन्त्री तथा उनके सहायक जल सेना के सचिव, वायु सेना के सचिव, आणविक ऊर्जा आयोग के अध्यक्ष और सी. आई. ए. के निदेशक पदों पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के प्रतिनिधि बैठे थे। अमरीका का प्रथम प्रतिरक्षा मन्त्री जेम्स वी. फोरेस्टल विशाल डिलन रीड बैंक का निदेशक था। एन. एच. माकेलरी प्रतिरक्षा मन्त्री बनने के पहले दुनिया की सबसे बड़ी साबुन इजारेदारी प्रोक्टर एण्ड गामले का प्रधान था। प्रतिरक्षा मन्त्री बनने के पूर्व मैकनामारा फोर्ड मोटर्स का अध्यक्ष था।

सन् 1970 में एस. लैन्स ने अपनी पुस्तक **'सैनिक औद्योगिक कम्पलैक्स'** में बताया है कि अमरीकी प्रतिनिधि सभा के बहुतेरे सदस्य सैनिक औद्योगिक कम्पलैक्स में हिस्सेदार हैं। 19वीं अमरीकी काँग्रेस के 30 सिनेटर एवं प्रतिनिधि सभा के 100 सदस्य सैनिक औद्योगिक कम्पलैक्स के सुरक्षित या अवकाश प्राप्त अधिकारी थे। 93वीं काँग्रेस के 535 कुल सदस्यों में से 390 बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के भूतपूर्व अधिकारी थे।

बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अमरीका में अपने मनोनुकूल राष्ट्रपति बनाने के लिए धन बहाती हैं। इसका प्रमाण वाटरगेट काण्ड के इस रहस्योद्घाटन से मिलता है कि निक्सन के चुनाव प्रचार में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने 7 करोड़ डालर खर्च किये थे। सैनिक-औद्योगिक घटना से वे पुनः अमरीकी राष्ट्रपति के पद पर निक्सन को बैठाना चाहते थे, जिसकी युद्धवादी नीति से इन्होंने अरबों डालर उपार्जित किये थे। लगभग अब यह तथ्य स्पष्ट है कि राष्ट्रपति केनेडी की हत्या

सी. आई. ए. के द्वारा इन कम्पनियों ने करवायी थी, जो कैनेडी की कतिपय नीतियों को नापसन्द करती थीं।

बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के तौर-तरीके (Instruments of Multi-Nationals)—अपने न्यस्त स्वार्थों की पूर्ति के लिए बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के तौर-तरीकों का स्पष्टीकरण निम्नलिखित उदाहरणों से हो जाता है :

(1) मध्यपूर्व के तेल भण्डार के अधिकांश भाग पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का कब्जा है। इस क्षेत्र में साम्राज्यवाद, विशेषकर अमरीकी साम्राज्यवाद, कठपुलती इजराइल के माध्यम से उन अरब देशों पर अकारण हमला करवाता रहा है जो राष्ट्रीय प्राकृतिक संसाधनों पर अपना नियन्त्रण करना चाहते हैं।

(2) अंगोला के सोने, लोहे तथा तेल के भण्डारों पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का कब्जा था। एम. पी. एल. ए. के नेतृत्व में अंगोला की आजादी का अर्थ लोहे, सोने तथा तेल भण्डारों का बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हाथ से निकल जाना है। इसकी रक्षा के लिए अमरीका तथा दक्षिण अफ्रीका ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को ठुकराकर सन् 1975 में अंगोला की वैध सरकार पर हमला कर दिया।

(3) 1975 में अमरीकी बहुराष्ट्रीय इलैक्ट्रॉनिक कम्पनी ने मैक्सिको की सरकार पर दबाव डाला कि वह अपने श्रम कानून को, जो मजदूरों को थोड़ा संरक्षण देता है, बदल डाले। मैक्सिको की सरकार ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया तो कम्पनी ने अपना कारखाना बन्द कर उसे कोस्टारिका में स्थानान्तरित कर दिया। इसके परिणामस्वरूप 12,000 मजदूर बेरोजगार हो गये।

(4) चिली में अलेन्दे की सरकार ने अमरीकी बहुराष्ट्रीय कम्पनी के राष्ट्रीयकरण के कदम उठाये, तो जवाब में अमरीकी कम्पनियों ने अलेन्दे की हत्या करवा दी तथा सरकार को उलटवा दिया।

(5) लेटिन अमरीका के केला निर्यात पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का कब्जा है। केला निर्यातक देशों को केले के प्रति डालर आय पर मात्र 11·5 सेण्ट प्राप्त होता था। केले की आय से कुछ अधिक हासिल करने के लिए केले के 5 निर्यातक देशों ने अपना संगठन बनाकर केले पर निर्यात कर लगाया। जवाब में एक कम्पनी ने कर के बजाय 1,45,000 केले की पेटियों को नष्ट कर दिया, दूसरी कम्पनी ने अधिकारियों को 15 लाख डालर की घूस देकर 70 लाख बचा लिया।

(6) अपने उत्पादन के लिए अधिक-से-अधिक आर्डर प्राप्त करने हेतु और विभिन्न देशों की आन्तरिक राजनीति को अपने अनुकूल बनाने के लिए बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ विभिन्न देशों के मन्त्रियों तथा अधिकारियो को रिश्वत देती हैं। लाकहीड, नार्थरोप, गुडयर, फैजर आदि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा विभिन्न देशों में रिश्वत देने के समाचार हाल ही मे प्रकाश में आये है इस प्रकार रिश्वत देकर बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ सालाना 1500 करोड डालर का मुनाफा कमाती हैं।

बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ और भारत (India and the Multi-Nationals)—आजादी के पूर्व भारतीय अर्थतन्त्र पर विदेशी पूंजी, विशेषकर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का लगभग एकाधिपत्य था। तेल, दवा, चाय, जूट, आदि उद्योगों; व्यापार, यातायात, बैंकिंग, बीमा आदि सेवाओं पर उनका पूर्ण नियन्त्रण था। आजादी हासिल करने के बाद समाजवादी देशों, विशेषकर सोवियत संघ, के सहयोग से इस्पात, इन्जीनियरिंग, विद्युत, तेल आदि बुनियादी उद्योगों मे सशक्त सार्वजनिक क्षेत्र का विकास हुआ है। साथ ही साथ राष्ट्रीय निजी पूंजी का भी काफी विकास हुआ है। परन्तु साम्राज्यवाद के प्रति समझौता-परस्त नीति और साम्राज्यवादी मदद से आर्थिक विकास करने की भ्रमपूर्ण समझदारी के कारण बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को अपने क्रियाकलापों को जारी रखने तथा फैलाने की

उदारतापूर्वक छूट दी गयी। फलतः राष्ट्रीय पूँजी के समानान्तर इन कम्पनियों की पूँजी में भी अबाध गति से वृद्धि हो रही है।

मार्च 1948 में भारत में कुल विदेशी पूँजी 256 करोड़ रुपये के बराबर थी। परन्तु 1950 में केवल बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की पूँजी बढ़कर 1285·29 करोड़ रुपये के बराबर और 1972-73 में 2821·8 करोड़ रुपये के बराबर हो गयी। याने 22 वर्ष की अवधि में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की पूँजी में 10 गुनी से भी अधिक की वृद्धि हुई है। मई 1976 में संसद में दी गयी सूचना के अनुसार बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की 538 शाखाएँ (वैसी कम्पनियाँ जिनका मुख्यालय भारत के बाहर साम्राज्यवादी देशों में है) और 202 सहयोगी इकाइयाँ (वैसी भारतीय कम्पनियाँ जिनकी पेडअप पूँजी के 50 प्रतिशत से अधिक भाग किसी-न-किसी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा नियन्त्रित है) भारत में कार्यरत हैं। समग्र निवेश के आधार पर इण्डियन अल्यूमीनियम और बिक्री के आधार पर हिन्दुस्तान लीवर भारत में कार्यरत सर्वाधिक बड़ी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ हैं। इनके अतिरिक्त, डनलप इण्डिया, यूनियन कार्बाइड, फिलिप्स इण्डिया, बाटा इण्डिया, बर्मा शैल, साइमैन्स इण्डिया, अशोक ले लैण्ड, ब्रुक बाण्ड, गुडइयर, फाइजर आदि भारत में कार्यरत प्रमुख बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ हैं। संख्या तथा निवेश के आधार पर ब्रिटिश कम्पनियाँ प्रथम स्थान पर हैं और द्वितीय स्थान पर अमरीकी कम्पनियाँ हैं।

लगभग 10 प्रतिशत महत्वपूर्ण भारतीय आबादी पर इन कम्पनियों की जबरदस्त पकड़ है। आमतौर पर महिला की ड्रेसिंग टेबल पर पड़े तीन-चौथाई शृंगार प्रसाधन बहुराष्ट्रीय निगम के उत्पादन हो सकते हैं। उसका साबुन, उसका शैम्पू, क्रीम, लिपिस्टक वगैरह सब। सिगरेट पीने वालों में से ज्यादातर लोग हर कश के साथ ब्रिटिश निगम को रायल्टी दे रहे हैं। जिस माचिस से आप उसे सुलगाते हैं, हो सकता है स्वीडन की फर्म उसका अंश ले जाती हो। टूथपेस्ट और टूथब्रुश अमरीकी या स्विट्जरलैण्ड की फर्म का उत्पादन हो सकता है। रेडियो में हालैण्ड की टेक्नॉलॉजी का हिस्सा हो सकता है। उसमें लगने वाले टेप और रेकार्ड अमरीका, जापान अथवा ब्रिटेन की किसी कम्पनी का उत्पादन हो सकता है। आप जिस बस या स्कूटर अथवा साइकिल की सवारी कर रहे हो, उससे तमाम ट्यूब-टायरों में किसी-न-किसी बहुराष्ट्रीय निगम का हिस्सा है। यह भी हो सकता है कि हमारे जूते या चप्पल भी कनाडा अथवा ब्रिटिश निगम की पैदाइश हों। गाँव के दूर-दराज इलाकों में काम आने वाली टार्चों और बिजली के बल्बों के जरिये हालैण्ड, अमरीका और जापान के निगम हमारे गाँवों तक छा रहे हैं। यदि कोई बीमार पड़ जाये तो दवाइयों के लिए हो सकता है उसे दुनिया भर के निगमों की शरण में अनिवार्य रूप से जाना पड़ेगा। चाय, कॉफी, ठण्डापेय आदि से लेकर देश में बनने वाली विदेशी शराब की हर घूंट के साथ इनका हिस्सा जुड़ा हुआ है।

आजादी के बाद देश के अर्थतन्त्र में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को अपने क्रियाकलापों को तेजी से फैलाने की उदारतापूर्ण छूट देने और इनके साथ सम्पन्न किये गये आर्थिक एवं तकनीकी सहयोग-समझौते के पीछे तर्क यह रहा है कि इससे पूंजी विनियोग में वृद्धि, तकनीकी जानकारी की प्राप्ति, विदेशी मुद्रा की बचत और अर्थतन्त्र के सन्तुलित एवं तीव्र विकास में सहायता मिलती है।

बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को दी जाने वाली छूट के पीछे जो भी तर्क पेश किये गये हैं, वास्तविकता इससे पूर्णतः भिन्न है।

इन कम्पनियों का एकमात्र उद्देश्य भारत से अधिकाधिक धन लूट कर ले जाना है। बहुराष्ट्रीय तेल कम्पनियों का उदाहरण लीजिए। ये 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारत में आयीं। भारत की स्वतन्त्रता के समय देश के तेल उद्योग पर बर्मा शैल, कालटैक्स, बर्मा आयल कम्पनी तथा स्टैण्डर्ड वैक्यूयम आयल कम्पनी का एकाधिकार था। परन्तु इन कम्पनियों ने भारत में एक समन्वित

तेल उद्योग विकसित करने का प्रयास नहीं कर मात्र बिक्री संगठनों का विकास किया। इ। का उद्देश्य अपनी प्रधान इकाइयों द्वारा मध्यपूर्व एशिया मे उत्पादित तेल के लिए भारत को ा जार बनाये रखना था। इसलिए, इन कम्पनियों ने भारत में तेल की खोज-करने, तेल निकालने और तेलशोधक कारखाना खड़ा करने का कोई प्रयास नहीं किया। आजादी के वाद भारत के अपने यहाँ से निकाले गये तेल पर आधारित समन्वित ।ल उद्योग को विकसित करने के लिए एस्सो, वर्मा शैल और कालटैक्स आयातित तेल पर आधारित एक-एक तेलशोधक कारखाना लगाने के लिए सहमत हुए और 1951-53 के बीच सरकार के साथ समझौते सम्पन्न हुए। ऐसा कहते है कि ये समझौते हमारे राष्ट्रीय हित के खिलाफ थे। समझौते के तहत इन वहुराष्ट्रीय तेलकम्पनियों को शत-प्रतिशत अपने स्वामित्व में कारखाना लगाने की अनुमति, 30 वर्ष तक राष्ट्रीयकरण न करने का आश्वासन, कहीं से भी कच्चा तेल लेने की आजादी, कच्चे तेल के आयात पर कर की छूट, शोधित तेल के एक वड़े भाग को देश से वाहर ले जाने का अधिकार आदि रियायतें दी गयी। इन कम्पनियों ने काफी मुनाफा उपार्जित किया और उसका वड़ा भाग देश के वाहर ले गयीं। इन तेल कम्पनियों के अपने ही प्रतिवेदन के अनुसार तीनों तेलशोधक कारखानों को खड़ा करने में कुल 53 करोड़ रुपये खर्च किये और 1956-61 के वीच यह 83 करोड़ रुपये यानी लागत खर्च से 26 करोड़ रुपये अधिक भारत के वाहर मुनाफे के रूप में ले गयीं। तेल कम्पनियों के क्रियाकलापों की जाँच के लिए 1969 में भारत सरकार द्वारा नियुक्त समिति के प्रतिवेदन के अनुसार वहुराष्ट्रीय तेल कम्पनियों द्वारा उपार्जित मुनाफा विश्व के किसी भाग में उपार्जित मुनाफे से अधिक है।

दवा कम्पनियों के उदाहरण को लीजिए। भारत में कार्यरत वहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ दवा उद्योग की कुल पूँजी के 60 प्रतिशत और उत्पादन के 80 प्रतिशत को नियन्त्रित करती हैं। सन् 1973-74 के वित्तीय वर्ष में दवा उद्योग में विनियोजित कुल 225 करोड़ रुपये की पूँजी मे 135 करोड़ रुपये की पूँजी वहुराष्ट्रीय कम्पनियों की थी। ये कम्पनियाँ प्रतिवर्ष 80 करोड़ रुपये देश के वाहर भेजती हैं। कम्पनियाँ कफ सिरप, विटामिन, टॉनिक जैसी दवाओं के उत्पादन में विशेप दिलचस्पी रखती है, जहाँ मुनाफे की ऊँची दर है, भले ही जीवन रक्षा के लिए इनका कम महत्व है। दूसरी तरफ जीवन रक्षक दवाओं के उत्पादन में इन्हें कोई उत्साह नहीं है क्योंकि यहाँ मुनाफे की दर नीची है।

अमरीकी सरकार के व्यापार विभाग के अध्ययन के अनुसार भारत में निर्माण उद्योग में विनियोजित पूँजी पर अमरीकी कम्पनियों ने 1971 में 14·2 प्रतिशत और एक ही वर्ष वाद 1972 में 25·8 प्रतिशत मुनाफा कमाया। निर्माण उद्योग मे मुनाफे की यह दर विश्व में सर्वाधिक हैं।

ये कम्पनियाँ मुनाफे की ऊँची दर प्राप्त करने के लिए कर चोरी से लेकर सरकारी अधिकारियों की मदद से राष्ट्रीय अर्थतन्त्र को खोखला करती है। सन् 1976 मे संसद में पेश लोक-लेखा समिति के प्रतिवेदन में व्रिटिश-अमरीकी ग्रिडलैज वैंक द्वारा वड़े पैमाने पर कर की चोरी का रहस्योद्घाटन किया गया था। प्रतिवेदन के आधार पर आय-कर अधिकारियों ने 1959-60 से 1965-66 तक आय-कर के पुनरावलोकन करने की कार्यवाही प्रारम्भ की तो कलकत्ता उच्च न्यायलय में रिट याचिकाएँ पेश कर बैंक ने कार्यवाही स्थगित करादी। उपर्युक्त प्रतिवेदन के अनुसार वाटा कम्पनी ने 1968 से 1973 के वीच 10·64 लाख रुपये के राजस्व की चोरी की है।

भारत में कोयले का विशाल भण्डार है और तेल का अभाव है जिसकी पूर्ति के लिए विदेशी मुद्रा खर्च कर तेल आयात करना पड़ता है। इस हालात में कोयले से संचालित रेलवे इंजन भारत के लिए अनुकूल है। लेकिन रेलवे वोर्ड के अधिकारियों ने अमरीकी वहुराष्ट्रीय कम्पनी के इशारे पर अधिकाधिक डीजल इंजन के प्रयोग का निर्णय लिया और उनके आयात तथा निर्माण के लिए

एक अमरीकी कम्पनी के साथ समझौता सम्पन्न किया। इस कदम से अमरीकी कम्पनी मालामाल हो गयी और सैकड़ों डीजल इंजन आज बेकार पड़े हैं, जिससे रेलवे बोर्ड को करोड़ों रुपये का नुकसान हुआ।

तृतीय विश्व के देशों और खासतौर से भारत में इन बहुराष्ट्रीय निगमों के कामकाज को देखने के बाद ऐसा लगता है कि इनसे मिलने वाला लाभ ऊपरी-ऊपरी है। तकनीक के स्थानान्तरण का ही मामला लीजिए। तकनीक के स्थानान्तरण यदि मशीन निर्माण में आत्मनिर्भरता पैदा नहीं करे तो विकासशील देश विदेशों पर निर्भर हो जायेंगे। इसलिए यह कहना ही होगा कि ये बहुराष्ट्रीय निगम उपनिवेशवाद के संक्रमणकाल का एक नया चरण है।[1]

नव-उपनिवेशवाद का साधन : असमान व्यापार

बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा विकासशील देशों की लूट का एक माध्यम असमान व्यापार है। विकासशील देश कच्चा लोहा, तेल, ताँबा, टीन, मैंगनीज, अल्युमीनियम, ऊन, जूट, कपड़ा, चाय, कॉफी आदि विकसित पूँजीवादी देशों के हाथ बेचते हैं और बदले में औद्योगिक माल—मशीन, दवा, रसायन, खाद तथा अनाज खरीदते हैं। विश्व में पूँजीवादी देशों का नियन्त्रण व्यापार असमानता के आधार पर होता है।

राष्ट्रसंघ के व्यापार एवं विकास आयोग के एक अध्ययन के अनुसार 1952 से 1972 के बीच विकासशील देशों द्वारा बेची जाने वाली वस्तुओं की कीमत में प्रतिवर्ष औससन 2·2 प्रतिशत की यानी उपर्युक्त पूरी अवधि में 44 प्रतिशत की कमी हुई है। दूसरी तरफ विकसिक पूँजीवादी देशों की वस्तुओं की कीमत में इस अवधि में 200 से 300 प्रतिशत की वृद्धि है। इसके अतिरिक्त, पूँजीवादी देशों ने विकासशील देशों की 531 वस्तुओं पर भिन्न-भिन्न तरह के 850 प्रतिबन्ध लगाये हैं, ताकि विकासशील देशों की वस्तुएँ कम बिकें। इस अन्यायपूर्ण कीमत प्रणाली तथा प्रतिबन्धों के कारण विकासशील देश विकसित पूँजीवादी देशों के साथ व्यापार में विक्रेता तथा खरीददार दोनों ही रूपों में घाटे में रहते हैं। इस घाटे के व्यापार के कारण 1964 से 1973 के बीच 1943 करोड़ डालर का धन विकासशील देशों से चला गया और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने हड़प लिया।

नव-उपनिवेशवाद का साधन : प्रत्यक्ष पूँजी विनियोग

विकासशील देशों में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा पूँजी विनियोग का मुख्य उद्देश्य विकसित पूँजीवादी देशों के उद्योगों के लिए कच्चा माल तथा प्राथमिक उत्पादन की आपूर्ति की गारण्टी करना और सस्ता श्रम तथा कच्चे माल का उपयोग कर अधिकतम मुनाफा अर्जित करना है। इसलिए विकासशील देशों में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा विनियोजित पूँजी का विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि : (i) बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ बुनियादी उद्योगों में पूँजी विनियोग नहीं करती हैं। (ii) तेल, खदान, स्मेल्टिंग तथा कृषि में सर्वाधिक पूँजी विनियोजित करती हैं जहाँ से विकसित पूँजीवादी देशों को कच्चा माल तथा प्राथमिक उपादान प्राप्त होते हैं। (iii) सर्वाधिक मुनाफा देने वाली उपभोक्ता वस्तुओं—दवा, डालडा, पेस्ट, साबुन, तेल, पाउडर आदि में पूँजी विनियोजित करती हैं। (iv) व्यापार बैंक, यातायात आदि गैर-उत्पादक क्षेत्रों में पूँजी विनियोजित करती हैं।

विकासशील देशों में विकसित पूँजीवादी देशों द्वारा विनियोजित पूँजी का विभन्न क्षेत्रों में वितरण इस प्रकार है : कुल पूँजी का 22·1 प्रतिशत तेल एवं खदान में; 5·1 प्रतिशत स्मेल्टिंग में; 18·8 प्रतिशत कृषि में; 31 प्रतिशत उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में और 23 प्रतिशत गैर-

1 डॉ. प्रमोद के. मिश्र, 'तृतीय विश्व में बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका' **राजस्थान पत्रिका**, 1 जुलाई, 1987.

उत्पाद क्षेत्रों—बैंक, व्यापार आदि मे विनियोजित है। बुनियादी उद्योगों में वहुराष्ट्रीय कम्पनियों का पूंजी विनियोग शून्य है।

वहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ विकासशील देशों के प्राकृतिक साधनों तथा कच्चे मालों के अधिकांश को नियन्त्रित करती है। मध्यपूर्व, नाइजीरिया, वेनेजुएला तथा इण्डोनेशिया के तेल स्रोतों पर मात्र 19-20 वहुराष्ट्रीय कम्पनियों का लगभग पूरा कब्जा है। अफ्रीका की खदानों पर भी इन्हीं का नियन्त्रण है।

नव-उपनिवेशवाद का साधन : सर्वाधिक मुनाफा

विकासशील देशों में सस्ते श्रम, सस्ते कच्चे माल तथा शोषण की तीव्रता के कारण वहु-राष्ट्रीय कम्पनियों को विकासशील देशों में विनियोजित पूंजी से प्राप्त मुनाफे की दर सर्वाधिक ऊँची है। जहाँ यूरोप में विनियोजित पूंजी पर औसत 8 प्रतिशत का मुनाफा होता है वहाँ विकासशील देशों में 14-15 प्रतिशत मुनाफा होता है। कुछ क्षेत्रों मे तो यह और ज्यादा है। अफ्रीका मे मुनाफे की दर 20 प्रतिशत है। चिली के ताँवा उद्योग में यह 60 से 70 प्रतिशत है। वहुराष्ट्रीय दवा कम्पनियाँ विकासशील देशों में लागत पूंजी पर 200 से 300 प्रतिशत मुनाफा कमाती है।

अमरीकी व्यापार विभाग के आँकड़े के अनुसार 1950 से 65 के बीच अमरीकी वहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने यूरोप में विनियोजित पूंजी पर 74 प्रतिशत और विकासशील और विनियोजित पूंजी पर 264 प्रतिशत मुनाफा कमाया। मुनाफे की इस उच्चतर दर के कारण वहुराष्ट्रीय कम्प-नियाँ विकासशील देशों से प्रतिवर्ष मुनाफे के रूप में काफी धन अपने देश ले जाती है। मैक्सिको के एक अर्थशास्त्री के अनुसार 1965 से 1970 के वीच, पाँच वर्षों में विकासशील देशों में विनि-योजित पूंजी से 2200 करोड़ डालर मुनाफा कमाकर वहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ पूँजीवादी देशों में ले गयीं। मुनाफे की यह राशि 1960 से 70 के वीच विकसित पूँजीवादी देशों मे विकासशील देशों को प्राप्त कुल सहायता की दुगुनी है।

नव-उपनिवेशवाद का साधन : साम्राज्यवादी कर्ज

विकसित पूँजीवादी देशों के साथ व्यापार मे निरन्तर वढ़ते घाटे और वहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा मुनाफे के रूप में अकूत धन की लूट के वाद विकासशील देशों के पास जर्जर तथा पिछड़ी अर्थव्यवस्था के लिए वस्तुतः कुछ नहीं वचता है। फलतः विकासशील देश साम्राज्यवादियों से कर्ज लेने के लिए मजवूर हो रहे है। 7 से 8 प्रतिशत सूद की ऊँची दर पर प्राप्त कर्ज मूलतः गैर-उत्पादक कार्यों के लिए प्राप्त होते हैं। इसके परिणामस्वरूप पिछड़े देशों का विकास तो नहीं ही होता है, उलटे इन पर कर्ज का वोझ वढ़ता ही जाता है। 1968 में विकासशील देशों पर कुल विदेशी कर्ज की तुलना में सन् 1973 में दुगने से भी अधिक वढ़कर 11,900 करोड़ डालर हो गया। आज हालत यह हो गयी है कि कर्ज की किश्त तथा सूद के भुगतान में विकासशील देश प्रतिवर्ष 10 से 11 अरव डालर की रकम साम्राज्यवादी देशों को देते है। निर्यात से होने वाली आय का लगभग 50 प्रतिशत इस भुगतान में चला जाता है। साम्राज्यवादी मदद तथा कर्ज के साथ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे साम्राज्यवाद का समर्थन करना, वहुराष्ट्रीय कम्पनियों को राष्ट्रीय सम्पत्ति को लूटने की अवाध आजादी प्रदान करना, कर्ज तथा मदद की राशि से साम्राज्यवादी देशों से ही सामान खरीदना (जिनकी कीमत अन्तर्राष्ट्रीय कीमत से काफी अधिक होती है) आदि शर्मनाक शर्तें जुड़ी होती है।

नव-उपनिवेशवाद का साधन : हथियारों की सप्लाई

तीसरी दुनिया के आर्थिक विकास को रोकने के लिए वहुराष्ट्रीय कम्पनियों तथा साम्राज्य-वादी हुकूमतों ने तीसरी दुनिया में असंख्य सैनिक अड्डों का निर्माण कर रखा है और वे तीसरी

दुनिया को हथियारों से पाट रही हैं। 1950 से 1972 के बीच तीसरी दुनिया में अमरीका ने 852·2 करोड़ डालर के, ब्रिटेन ने 297·9 करोड़ डालर के तथा फ्रांस ने 165·3 करोड़ डालर के हथियारों का निर्यात किया।

साम्राज्यवादियों ने इजरायल, सऊदी अरब, जोर्डन, पाकिस्तान, दक्षिण अफ्रीका, रोडेशिया, दक्षिण कोरिया आदि देशों की कठपुतली तथा दलाल सरकारों को हथियारों से लैस कर विकासशील देशों को विकास कार्य छोड़कर प्रतिरक्षा व्यय बढ़ाने के लिए मजबूर किया है।

सांस्कृतिक उपनिवेशवाद (Cultural Imperialism)

अपनी सभ्यता, संस्कृति और मूल्यों का प्रचार और दूसरों के सांस्कृतिक मूल्यों को हीन बताना, उन्हें नष्ट करना, सांस्कृतिक उपनिवेशवाद है, सांस्कृतिक दासता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पश्चिमी देशों की सांस्कृतिक विस्तार की नीति, पश्चिमी सांस्कृतिक मूल्यों को विकासशील देशों पर अप्रत्यक्ष रूप से थोपने की प्रवृत्ति, विकासशील देशों के जन-मानस को मानसिक रूप से पश्चिमी रंगरूप में ढालने की प्रवृत्ति 'सांस्कृतिक उपनिवेशवाद' का जीता-जागता नमूना है। अमरीकी सांस्कृतिक केन्द्र, अमरीकी और ब्रिटिश पुस्तकालय, अमरीकी पत्र-पत्रिकाएँ, स्कालरशिप योजनाएँ, बी. बी. सी. और वॉइस ऑफ अमेरिका के प्रसारण पश्चिमी सांस्कृतिक उपनिवेशवाद के प्रमुख उपकरण हैं।

फ्रांस वह पहला बड़ा देश है जिसने सांस्कृतिक सम्बन्धों को सरकारी कर्तव्य बना दिया। ब्रिटेन के अपने उपनिवेशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध थे; इसलिए वह अधिकांश को शान्तिपूर्वक प्रादेशिक स्वतन्त्रता प्रदान करके राष्ट्रमण्डल के आधार पर उसने इस सांस्कृतिक सम्बन्ध को कायम रखने की व्यवस्था करली। ब्रिटेन की दूरदर्शिता के परिणामस्वरूप तथा अमरीकी मिशनरियों एवं अमरीकी सरकार के प्रयास से आज अर्द्ध-विकसित देशों के लगभग एक करोड़ से भी अधिक लोग अंग्रेजी पढ़-लिख सकते हैं तथा इनके माध्यम से ये सरकारें इन क्षेत्रों में आसानी से संचार व्यवस्था संचालित रख सकती हैं।

संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा अन्य देशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध बढ़ाने की दृष्टि से विद्यार्थियों के आदान-प्रदान को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया गया है। अमरीका के सांस्कृतिक कार्यक्रम की एक विशेषता यह है कि विदेशों को यहाँ से प्रतिवर्ष कम कीमत की लाखों पुस्तकें भेजी जाती हैं।

विकासशील देशों को अपने प्रभाव में लाने के लिए तथा अपनी संस्कृति का निर्यात करने के लिए सोवियत संघ, शोधकार्य, भाषा एवं अन्य विशेषीकृत प्रशिक्षणों पर धन खर्च करता है तथा प्रकाशित सामग्री वितरित करता है। सोवियत संघ में राष्ट्रों का एक 'मैत्री विश्वविद्यालय' स्थापित किया गया है जहाँ एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के देशों के युवकों को रूसी भाषा, विज्ञान, कला एवं साम्यवाद की शिक्षा प्राप्त करने के लिए आमन्त्रित किया जाता है। इन सम्पर्कों के माध्यम से यह आशा की जाती है कि जब ये युवक अपने देशों को वापस लौटेंगे तो साम्यवादी व्यवस्था के हित-संरक्षण का कार्य करेंगे।

नव-उपनिवेशवाद के परिणाम

बहुराष्ट्रीय निगम किसी देश के राजनीतिक जीवन में कितना हस्तक्षेप कर सकते हैं, इसके उदाहरण हैं—लोक हीड कार्पोरेशन, जिसने अपने अनुकूल निर्णय कराने के लिए जापान के उच्चस्तरीय एक राजनीतिज्ञ को घूँस दी। चिली में अलण्डे सरकार के पतन की कहानी भी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हस्तक्षेप की कहानी है। किसी भी देश में ये कम्पनियाँ दीमक की तरह घुस जाती हैं और उसके आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन पर छा जाती हैं। इससे नव-उपनिवेशवाद (Neo-Colonialism) पनपने लगा है।

वहुराष्ट्रीय निगम देशी सीमाओं में विश्वास नहीं करते और एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति, वर्ग और समाज तैयार करते है जो उनके उत्पादनों का खास शौकीन होता है तथा राष्ट्रवादी भावनाओं से शून्य लोगों की रुचियाँ, स्वभाव आदि हर बात को ये बदलते है बल्कि उनका अन्तर्राष्ट्रीयकरण करते है। समाज के प्रमुख लोगों और प्रभावशाली व्यक्तियों से साँठ-गाँठ करते है। वहुराष्ट्रीय निगम अपने हितों को बढ़ावा देने के लिए सबसे प्रभावी इस्तेमाल प्रेस और विज्ञापन का करते हैं। इन निगमों की चालाक व्यापारिक बुद्धि और प्रमुख प्रचार संचार साधनों पर अधिकार कर शीघ्र ही विकासशील देशों को उनका गुलाम बना देता है। यह गुलामी जाहिर है, सिर्फ आर्थिक ही नहीं होती सांस्कृतिक और सामाजिक भी होती है।

संक्षेप में, प्राचीन उपनिवेशवाद यदि राजनीतिक था तो नव-उपनिवेशवाद आर्थिक है।

प्रश्न

1. "आज अनेक तनाव-क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की समस्याएँ 'नव-उपनिवेशवाद' के कारण है।" क्या आप सहमत है ? अपने उत्तर के पक्ष में दलीलें तथा उदाहरण दीजिए।
   "Large number of tension areas and problems of contemporary international relations are due to neo-colonialism." Do you agree ? Give reasons and illustrations in support of your answer.
2. नव-उपनिवेशवाद, नव-साम्राज्यवाद तथा सामाजिक साम्राज्यवाद के अर्थ और प्रकृति की व्याख्या कीजिए।
   Discuss the meaning and nature of neo-colonialism, neo-imperialism and social imperialism.

19

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हस्तक्षेप

[EXTERNAL INTERVENTION IN INTERNATIONAL POLITICS]

जब एक राज्य दो राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में अथवा उन दोनों में से किसी एक राज्य के विषय में उन दोनों की अथवा किसी एक की सहमति के बिना दखल देता है तो उसे 'हस्तक्षेप' (Intervention) कहते हैं। अथवा जब एक राज्य किसी अन्य राज्य के आन्तरिक विषयों में बिना उसकी सहमति के वास्तविक आन्तरिक दशा को स्थापित रखने या उसमें परिवर्तन करने के लिए दखल देता है तो भी उसे 'हस्तक्षेप' कहते हैं।

ओपेनहीम के अनुसार, "हस्तक्षेप एक तानाशाही दखलन्दाजी है जो एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के मामलों को पलटने के लिए करता है।"[1] जैक्सन के अनुसार, "हस्तक्षेप एक तानाशाही अथवा आदेशात्मक अभिव्यक्ति है जो एक राज्य की स्वतन्त्रता के विरुद्ध हो।" ब्रियर्ली के मतानुसार, "यह अन्य राज्यों के आन्तरिक अथवा वैदेशिक विषयों में दखल देने के ऐसे कार्यों तक सीमित है कि जिनसे राज्य की स्वतन्त्रता भंग होती है। एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को उसके द्वारा स्वयं किये जाने वाले कार्य के विषय में केवल राय देना इस अर्थ में हस्तक्षेप नहीं कहला सकता। हस्तक्षेप का स्वरूप आज्ञात्मक होना चाहिए। या तो बलपूर्वक किया जाना चाहिए या इसके पीछे बल प्रयोग की धमकी होनी चाहिए।[2]

प्रत्येक स्वतन्त्र राज्य का यह अधिकार है कि वह अपना आन्तरिक प्रबन्ध अपनी इच्छानुसार करे। वह अपने राज्य के लिए अपनी इच्छानुसार संविधान बना सकता है और अन्य देशों के साथ वह अपनी स्वेच्छा से सन्धि अथवा युद्ध कर सकता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि अन्य एक अथवा अनेक राज्य उसकी इच्छा के विरुद्ध उसके आन्तरिक विषयों में दखल देते हैं, लारेन्स (Laurence) के अनुसार ऐसे कार्य को हस्तक्षेप कहते हैं।

हस्तक्षेप एक शत्रुतापूर्ण कार्यवाही है क्योंकि ऐसा करने से राज्य की स्वतन्त्रता पर आक्रमण होता है। कानून में इस कार्य की स्थिति छलात्मक है। जिस राज्य के क्षेत्र में हस्तक्षेप किया जाता है, यदि उसकी इच्छा से हस्तक्षेप न किया जाये तो, उसे युद्ध का कार्य समझा जाता है।

स्टार्क का कथन है कि "साधारणतया अन्तर्राष्ट्रीय कानून किसी दूसरे राज्य के भीतरी मामलों में हस्तक्षेप करने को मना करता है। यहाँ इस हस्तक्षेप का तात्पर्य साधारण दखल देने, मध्यस्थता या राजनीतिक सुझाव से कहीं अधिक बलवान है। जहाँ तक निषेध का सम्बन्ध है,

---

1 "Intervention is dictatorial interference by a state in the affairs of another state for the purpose of maintaining or altering the actual condition of things."

—Oppenheim, Vol. I, p. 305.

Brierly, *The Law of Nations*, p. 308.

इसमें अधिनायकत्व से भरा हस्तक्षेप होता है। इसका प्रभावित होने वाले राज्य की इच्छाओं के विरुद्ध प्रभाव पड़ता है और प्रायः सदैव ही ऐसा होता है।"

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से हस्तक्षेप के बारे में निम्न बातें स्पष्ट होती है :

(i) हस्तक्षेप एक शत्रुतापूर्ण कार्यवाही है।

(ii) हस्तक्षेप केवल परामर्श या मध्यस्थता नहीं होता।

(iii) हस्तक्षेप द्वारा एक राज्य दूसरे राज्य के मामलों में शक्ति का प्रयोग करता है।

हस्तक्षेप के प्रकार (Kinds of Intervention)

स्टार्क ने चार प्रकार का हस्तक्षेप बताया है—(1) कूटनीतिक हस्तक्षेप; (2) आन्तरिक हस्तक्षेप, (3) वाह्य हस्तक्षेप, और दण्डात्मक हस्तक्षेप।

(1) **कूटनीतिक हस्तक्षेप**—जब एक राज्य दूसरे राज्य पर राजनीतिक दबाव डालता है और सन्धि की शर्तो को जबर्दस्ती पूरा कराता है, तो उसे कूटनीतिक हस्तक्षेप कहते है। जैसे, सन् 1895 मे रूस, फ्रांस और जर्मनी ने जापान पर अपना कूटनीतिक प्रभाव डालकर उसे इस बात के लिए मजबूर किया था कि सन्धि द्वारा दिया गया लिआओटुंग का प्रायद्वीप चीन को लौटा दिया जाये।

(2) **आन्तरिक हस्तक्षेप**—जब दो राज्यों में पारस्परिक संघर्ष हो तो ऐसी दशा मे दोनों में से किसी एक को सहायता दी जाये। इस प्रकार के हस्तक्षेप को आन्तरिक हस्तक्षेप कहते हैं, जैसे जब दक्षिण कोरिया और उत्तरी कोरिया में पारस्परिक युद्ध हुआ था तब उत्तरी कोरिया को सहायता प्रदान कर चीन ने हस्तक्षेप किया। पूर्वी पाकिस्तान और पश्चिमी पाकिस्तान से संघर्ष के दौरान पूर्वी पाकिस्तान में 1971 के दिसम्बर में भारतीय सेना ने ऐसा ही हस्तक्षेप किया।

(3) **वाह्य हस्तक्षेप**—जब दो राज्यों में युद्ध हो और युद्ध करने वाले देश के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित हुआ जाय तो उसे वाह्य हस्तक्षेप कहते है। जैसे, द्वितीय विश्वयुद्ध में ग्रेट ब्रिटेन और जर्मनी के बीच युद्ध होने पर 11 जून, सन् 1940 को इटली ने जर्मनी की सहायता की और उसकी ओर से युद्ध में भाग लिया।

(4) **दण्डात्मक हस्तक्षेप**—जब कोई राज्य किसी राज्य को हानि पहुँचाता हे अथवा सन्धि भंग करता है तो राज्य इस कार्य का बदला लेने के लिए या उसे दण्ड देने के लिए जो कार्यवाही करता है, वह दण्डात्मक कार्यवाही कहलाती है। कभी-कभी किसी राज्य को सन्धि का पालन करने को मजबूर करने के लिए उसका शान्तिपूर्वक तटावरोध (Pacific Blockade) किया जाता है तो उसे दण्डात्मक हस्तक्षेप कहते हे। इसका प्रयोग अधिकतर बलिष्ठ राज्यों द्वारा निर्बल राज्यों पर किया जाता है।

हस्तक्षेप करने के उचित कारण (Grounds of Intervention)

स्टार्क ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार हस्तक्षेप करने के निम्नलिखित पाँच कारण बताये हे—(1) संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुसार कई राज्य सामूहिक रूप से किसी राज्य के मामले में हस्तक्षेप कर सकते है। जैसे, सन् 1950 में कई राज्यों ने मिलकर कोरिया के मामले मे हस्तक्षेप किया था। (2) यदि विदेश मे रहने वाले अपने नागरिकों की अथवा उनकी सम्पत्ति की रक्षा करने के लिए हस्तक्षेप किया जाय तो वह हस्तक्षेप वैध माना जायेगा। (3) यदि कोई राज्य किसी राज्य पर सशस्त्र आक्रमण कर दे तो उसके प्रतिरोध में आक्रामक राज्य के विरुद्ध हस्तक्षेप किया जा सकता हे। (4) यदि कोई राज्य किसी अन्य राज्य के संरक्षण में हे और उस संरक्षित राज्य पर कोई आक्रमण कर दे तो संरक्षक राज्य संरक्षित राज्य की सहायता के लिए हस्तक्षेप कर सकता हे। (5) यदि कोई राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन करे तो अन्य राज्य उसे अन्तर्राष्ट्रीय

विधि का पालन करने के लिए, सामूहिक रूप में उस पर आक्रमण करके, अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पालन करने के लिए मजबूर कर सकते हैं।

ओपेनहीम ने इन पाँच कारणों के अतिरिक्त दो कारण और वताये हैं—(1) यदि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार किसी राज्य पर कुछ प्रतिवन्ध लगाये जायें और वह इस प्रकार की सन्धि का उल्लंघन करे तो सामूहिक रूप में उसे उस सन्धि का पालन करने के लिए मजवूर किया जा सकता है। जैसे सन् 1914 में बेल्जियम की तटस्थता मम्वन्धी सन्धि के भंग होने पर इंगलैण्ड ने हस्तक्षेप किया था।

(2) जब सन्धि द्वारा एक निश्चित प्रकार का शासन निर्धारित कर दिया जाये, तो उस शासन प्रणाली में परिवर्तन होने पर हस्तक्षेप किया जा सकता है।

वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार निम्नलिखित कुछ ऐसे कारण हैं जिनके आधार पर हस्तक्षेप वैध माना गया है।

(1) **आत्मरक्षा के लिए हस्तक्षेप** (Intervention for Self-defence)—आत्मरक्षा के लिए हस्तक्षेप करना आवश्यक है। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की धारा 51 में वर्णन किया गया है कि "सुरक्षा परिषद् द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के उपायों का अवलम्वन करने से पहले तक" दूसरे राज्य के आक्रमण से रक्षा करने का अन्य राज्यों को अधिकार है।

सन् 1837 की कैरोलाइन (Caroline) स्टीमर की घटना इस कार्य का अच्छा उदाहरण है। इस समय कैनेडा में विद्रोह हुआ था और कैरोलाइन नामक अमरीकी जहाज नियाग्रा नदी द्वारा सैनिक तथा युद्ध की सामग्री ले जाकर उन विद्रोहियों की सहायता करता था। अमरीकी सरकार ने कैरोलाइन को नहीं रोका। इस पर कैनेडा के सैनिकों ने कैरोलाइन जहाज को अमरीका में जाकर नष्ट कर दिया। उस समय अमरीकी विधिवेत्ता हाइड ने ठीक ही कहा था कि ब्रिटिश सेना ने वही कार्य किया जो संयुक्त राज्य स्वयं करता।" इस विषय में अमरीकी विदेश सचिव डेनियल ने कहा था कि "आत्मरक्षा के लिए यह सिद्ध करना आवश्यक है कि यह कार्य तात्कालिक और प्रचुर है और अन्य साधन का विकल्प छोड़ने वाली या विचार के लिए समय देने वाली नहीं है। दूसरी शर्त यह है कि इस कार्य में की गयी कार्यवाही अत्यधिक नहीं होनी चाहिए। उदाहरण के रूप में, कैरोलाइन जहाज को नष्ट करके ब्रिटिश सेना का अपनी सीमा में लौट आना उचित ही था। यदि वह सेना अमरीकी प्रदेश पर अधिकार करती तो यह हस्तक्षेप अनुचित होता।

प्रथम विश्वयुद्ध के समय जर्मनी ने बेल्जियम पर आक्रमण करते समय आत्मरक्षा का वहाना वनाया था। इसी प्रकार 1931 में मंचूरिया पर अधिकार जमाने के लिए जापान ने आत्मरक्षा का प्रश्न उठाकर चीन पर धावा वोल दिया था। आत्मरक्षा के नाम पर रूस ने भी फिनलैण्ड पर आक्रमण कर दिया था। जर्मनी ने भी हालैण्ड, लक्जमवर्ग, नार्वे तथा स्वीडन पर आक्रमण करने का कारण आत्मरक्षा को ही बताया था। द्वितीय विश्वयुद्ध में कूदने से पूर्व संयुक्त राज्य अमरीका मित्रराष्ट्रों की शस्त्रों से सहायता कर रहा था। यह कार्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार तटस्थता के नियमों का उल्लंघन था। संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार ने इसे आत्मरक्षा की आड़ में छिपा लिया था।

आत्मरक्षा का प्रश्न विधिशास्त्रियों के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। हॉल के अनुसार, "सुव्यवस्थित समाजों में निवास करने वाले व्यक्तियों तक को आत्मसंरक्षण का पूरा अधिकार होता है, यही वात स्वतन्त्र राज्यों के साथ भी लागू होती है, प्रत्येक अवस्था में उन्हें अपनी रक्षा का अधिकार होता है। सम्पूर्ण रूप से राज्यों के सभी कर्तव्य आत्मसंरक्षण में समा जाते हैं।"

किन्तु ब्रियर्ली ने आत्मसंरक्षण के उपर्युक्त विचार को स्वीकार नहीं किया है। उसका तो कहना है कि आत्मरक्षा का प्रश्न तभी उठाना चाहिए, जब राज्य पर सीधा आक्रमण हो। ब्रियर्ली

ने विलियम ब्राउन जहाज का उदाहरण देते हुए बताया है कि जब यह जहाज आइसबर्ग से टकरा गया तब सवारियाँ जान बचाने वाली नौकाओं में उतर गयी। एक नौका मे छिद्र होने के कारण पानी आ रहा था। उस पर सवारियाँ अधिक थीं। उसके डूबने का डर था। एक व्यक्ति ने नौका को हल्का करने के लिए कुछ लोगों को समुद्र में धकेल दिया। इस व्यक्ति को न्यायालय में हत्या का दण्ड मिला। ऐसी दशा मे हाल द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रीय कानून के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून में आत्मरक्षा के सिद्धान्त को मानना भ्रान्तियुक्त है। 1956 में रूस ने हंगरी के विषय में तथा 1968 में चेकोस्लोवाकिया के मामले में हस्तक्षेप किया परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार ये बातें न्यायोचित सिद्ध नहीं की जा सकतीं।

(2) **सन्धियों को बलपूर्वक लागू करना** (Enforcement of Treatise by Coercion)—एक राज्य दूसरे राज्य के मामले में हस्तक्षेप करने का अधिकारी होता जाता है जबकि दूसरा राज्य पहले राज्य से की गयी सन्धि की अवहेलना कर देता है। इस प्रकार से हस्तक्षेप करना किसी राज्य की स्वतन्त्रता के अधिकार में बाधा डालना नहीं माना जाता, क्योंकि उक्त राज्य ने सन्धि की शर्तों पर हस्ताक्षर कर स्वेच्छा से अपनी स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाना स्वीकार कर लिया।

सन् 1831 तथा 1839 की लन्दन सन्धियों मे यूरोपीय शक्तियों ने स्वेच्छापूर्वक बेल्जियम की स्वतन्त्रता, एकता तथा तटस्थता की गारण्टी दी थी। जर्मनी ने जब इस सन्धि का उल्लंघन किया तो ब्रिटेन ने सन्धि के द्वारा प्राप्त अधिकार के कारण जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इसी प्रकार 1863 की लन्दन सन्धि मे रूस, फ्रांस तथा ब्रिटेन ने यूनान की स्वतन्त्रता की गारण्टी दी थी, अतः 1916 ई० मे जब यूनान में गड़बड़ हुई तो उक्त तीनों शक्तियों ने यूनान के मामले में हस्तक्षेप कर वहाँ संवैधानिक सरकार की स्थापना करायी।

(3) **मानवीयता** (Intervention for Human Grounds)—गोशियस, वैटेल और वेस्टलेक जैसे लेखकों ने उस समय हस्तक्षेप को कानूनी रूप मे उचित माना है जब लोगों को उनके मानवीय अधिकार से वंचित किया जाय। लारेन्स के अनुसार भी इस प्रकार का हस्तक्षेप वैध होता है। लारेन्स ने एक घटना का उल्लेख करते हुए कहा है कि जब तुर्कों ने ईसाइयों का कत्लेआम करना प्रारम्भ किया तो यूरोप की शक्तियों ने मिलकर टर्की के राज्य के मामलों में हस्तक्षेप किया। इसी प्रकार 1878 मे रूस ने ईसाइयों की रक्षा हेतु बल्गेरिया के मामले मे हस्तक्षेप किया। भारत ने दिसम्बर 1971 मे बंगला देश मे पाक अत्याचारों को रोकने के लिए हस्तक्षेप किया था।

(4) **शक्ति सन्तुलन के लिए हस्तक्षेप** (Intervention for Balance of Power)—17वीं शताब्दी से यूरोपियन शक्तियों के मध्य शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त को बड़ी मान्यता दी जाती रही है। सन् 1816 की वियना कांग्रेस, सन् 1856 की पेरिस कांग्रेस और सन् 1878 की बर्लिन कांग्रेस के अधिकांश निर्णय इसी सिद्धान्त के अनुसार किये गये थे। सन् 1886 और 1897 मे यूनान और टर्की के विषयों में बड़े-बड़े राज्यों ने इसीलिए हस्तक्षेप किया था। सन् 1913 में अल्बानिया का स्वतन्त्र राज्य बनाने के लिए टर्की में हस्तक्षेप किया गया था। इस सिद्धान्त का उद्देश्य राज्यों में शक्ति सन्तुलन को बनाये रखना है ताकि कोई भी राज्य अन्य राज्यों की तुलना में अधिक शक्ति सम्पन्न न हो।

(5) **वित्तीय विषयों के लिए हस्तक्षेप** (Intervention for Financial Matters)—ऐसा देखा गया है कि यदि किसी देश की आर्थिक दशा खराब हो जाती है तो आर्थिक सहायता देने वाले देश उसके आन्तरिक विषयों मे हस्तक्षेप करते है। पिछली शताब्दी में मिस्र इसी कारण से पराधीनता की जंजीरों में जकड़ा गया था। वह इंगलैण्ड और फ्रांस का ऋणी था। ऋण की प्राप्ति के

लिए इन दोनों देशों ने उस पर अपना दोहरा नियन्त्रण स्थापित किया था। सन् 1882 में फ्रांस इस विषय में पीछे हट गया था और इंगलैण्ड ने उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था।

(6) **गृहयुद्धों में हस्तक्षेप** (Intervention in Civil Wars)—किसी देश में आन्तरिक विद्रोह होने पर पड़ोसी राज्यों पर उसका प्रभाव पड़ सकता है। सन् 1815 में वियना कांग्रेस ने यूरोप में फ्रांसीसी क्रान्ति के विरोधी देशों में लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता की अवहेलना करने वाले राज्यों की स्थापना की थी। इसीलिए राष्ट्रीय भावना को दबाने के लिए, आस्ट्रिया, रूस और प्रशा के राजाओं ने पवित्र संघ (Holy Alliance) की स्थापना की थी। इसके द्वारा किसी देश में क्रान्ति होने पर अन्य राज्यों द्वारा हस्तक्षेप किया जा सकता था। इसी के अनुसार 1821 मे नैपल्स और लोम्बार्डी के राज्यों में क्रान्ति होने पर आस्ट्रिया ने और स्पेन में क्रान्ति होने पर फ्रांस ने अपनी-अपनी सेनाएँ भेजकर क्रान्तिकारियों का दमन किया था। सन् 1827 में ब्रिटेन, रूस और फ्रांस ने यूनान को स्वाधीन बनाने के लिए हस्तक्षेप किया था। सन् 1849 में रूस ने हंगरी का विद्रोह दबाने के लिए आस्ट्रिया को सैनिक सहायता दी थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जब चीन जापान के चंगुल से निकला तो वहाँ गृहयुद्ध छिड़ गया। रूस ने साम्यवादियों का साथ दिया और अमरीका ने राष्ट्रवादियों का साथ दिया। वियतनाम के गृहयुद्ध में एक ओर चीन और दूसरी तरफ अमरीका सहायता कर रहे थे। पाकिस्तान का गृहयुद्ध भारत पर प्रभाव डाल रहा था। बंगला देश से एक करोड़ शरणार्थी भारत की सीमा में आ गये थे। उनका भार वहन करना भारत के लिए कठिन था। भारत ने अन्ततोगत्वा अपनी सेनाएँ बंगला देश मे भेजकर हस्तक्षेप किया और समस्या का हल प्रस्तुत किया।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून की आड़ में उपर्युक्त कारणों से महाशक्तियाँ अन्य राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप करती रही है।

हस्तक्षेप से सम्बन्धित सिद्धान्त (Doctrine Regarding Intervention)

(1) **मौनरो सिद्धान्त** (Monroe Doctrine)—अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से अन्य राज्यों मे कुछ राज्य हस्तक्षेप न करने की घोषणा करते है। इसी प्रकार सबसे पहले अमरीका के राष्ट्रपति मौनरो ने सन् 1823 में कांग्रेस को भेजे गये अपने सन्देश में हस्तक्षेप न करने की घोषणा की। उस समय अमरीका को दो ओर से यूरोपियन राज्यों द्वारा नयी दुनिया के हस्तक्षेप का खतरा था उस समय अलास्का रूस के अधिकार में था। वह चाहता था कि उसके आस-पास के समुद्र में सिवाय अमरीका के और किसी देश के जहाज न रहें। दूसरी तरफ रूस, प्रशा और आस्ट्रिया के सम्राटों ने लोकतन्त्रीय तथा राष्ट्रीयता के विचारों वाले राष्ट्रों का दमन करने के लिए पवित्र संघ (Holy Alliance) का संगठन किया था। पवित्र संघ के राज्यों द्वारा लेटिन अमरीका में हस्तक्षेप की सम्भावना प्रकट हो रही थी। राष्ट्रपति मौनरो अमरीकी गोलार्द्ध में विदेशी हस्तक्षेप के विरुद्ध थे। उन्होंने अपने सन्देश में कहा—(i) अमरीकन महाद्वीप के प्रदेश स्वतन्त्र और स्वाधीन स्थिति प्राप्त कर चुके है। अब भविष्य में ये प्रदेश किसी यूरोपियन राज्य द्वारा भावी उपनिवेश बसाने का विषय नहीं बनेंगे। (ii) हमने यूरोपियन राज्यों के किसी विषय में कोई भाग नहीं लिया है और न हम भाग लेना ही चाहते है। (iii) सं० रा० अमरीका ने यूरोप के युद्धों में कभी हस्तक्षेप नहीं किया है और न करेगा। किन्तु वह अपने शान्ति और सुख के हितों के लिए यूरोपियन राज्यों को इस बात की अनुमति नही दे सकता है कि वे अमरीका के किसी भाग में अपनी राजनीतिक पद्धति का विस्तार करें तथा दक्षिणी अमरीका के गणराज्यों की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न करें। यदि वे इस भू-भाग के किसी भाग में अपनी राजनीतिक पद्धति के प्रसार का कोई प्रयत्न करेंगे तो हम अपनी शान्ति और सुरक्षा के लिए संकटमय समझेंगे। ये तीन बातें राष्ट्रपति मौनरो के नाम पर "मौनरो सिद्धान्त" के नाम मे प्रसिद्ध है।

ओपेनहीम के अनुसार, "मौनरो सिद्धान्त राजनीतिक अधिक है कानूनी कम।" इस सिद्धान्त के आधार पर अमरीका ने समस्त अमरीकी गोलार्द्ध पर अपने अधिकार की घोषणा की। ब्रियर्ली के अनुसार, "यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रतिकूल नहीं है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अंग भी नहीं है।"

मौनरो सिद्धान्त अमरीकन विदेशनीति का प्रमुख आधार रहा है। 1895 ई० में ब्रिटेन ने मौनरो सिद्धान्त को मानने से इन्कार कर दिया। 1902 में वेनेजुएला का मामला फिर उठा, जब ब्रिटेन, इटली तथा जर्मनी ने अपने शस्त्र बल से वहाँ कर्जा उगाहने का प्रयत्न किया। इस मामले में अमरीका सरकार ने रूजवेल्ट की घोषणा के अनुसार कोई हस्तक्षेप नहीं किया।

इतना होने पर भी मौनरो सिद्धान्त अमरीकन नीति का एक विशेष अंग रहा। आज जिस स्थिति में अमरीका पहुँचा है उसका बहुत कुछ श्रेय मौनरो सिद्धान्त को दिया जाता है।

ड्रैगो सिद्धान्त (Drago Doctrine)—अर्जेण्टाइना के विदेश मन्त्री ड्रैगो ने एक सिद्धान्त चलाया जो इन्हीं के नाम से ड्रैगो सिद्धान्त कहलाता है। 1902 में इंगलैण्ड और जर्मनी ने अपने नागरिकों का ऋण वसूल करने के लिए वेनेजुएला का तटावरोध (Blcokade) किया था। ड्रैगो ने इस बात का प्रतिवाद करते हुए घोषणा की कि किसी को अपने देशवासियों का ऋण वसूल करने के लिए सैनिक शक्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इस कार्य में हस्तक्षेप अनुचित है। यदि इस प्रकार की व्यवस्था स्वीकार की जायेगी तो शक्तिशाली राज्य निर्बल राज्यों को नष्ट कर देंगे। संयुक्त राज्य अमरीका ने भी ड्रैगो सिद्धान्त का समर्थन किया। सन् 1907 के हेग सम्मेलन में ड्रैगो सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया।

नेहरू सिद्धान्त (Nehru Doctrine)—भारत तथा पाकिस्तान 15 अगस्त, 1947 को स्वतन्त्र हो गये पर कुछ अन्य विदेशी बस्तियाँ ऐसी थीं जो 1947 के बाद भी भारत भूमि पर बनी रहीं। पुर्तगाल का गोवा, डामन, डियू आदि पर अधिकार था तथा वह इन्हें खाली नहीं करना चाहता था। श्री जवाहरलाल नेहरू ने लिस्बन सरकार को चेतावनी दी कि भारत अपने मामलों में विदेशियों का हस्तक्षेप नहीं सहेगा और उसे गोवा खाली करना होगा। 26 जुलाई, 1955 को भारतीय संसद में श्री नेहरू ने घोषणा की कि "गोवा को पुर्तगालियों द्वारा अपनी प्रभुता में रखना भारतीय मामलों में निरन्तर हस्तक्षेप करना है। मैं एक कदम आगे बढ़कर कहता हूँ कि किसी अन्य शक्ति द्वारा इस प्रकार का हस्तक्षेप भारत की राजनीतिक पद्धति में हस्तक्षेप करना होगा।"

ब्रेझनेव सिद्धान्त (Brezhnev Doctrine)—अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप साम्यवादी देशों, विशेषतः रूस ने साम्यवादी पद्धति की रक्षा को सर्वोच्च स्थान देते हुए अन्तर्राष्ट्रीय कानून में दूसरे देशों में हस्तक्षेप के बारे में एक नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। सर्वप्रथम लेनिन ने फरवरी 1918 में यह घोषणा की थी कि समाजवाद के हित सर्वोपरि है, इनकी रक्षा के लिए राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार की अवहेलना की जा सकती है। आधी शताब्दी के बाद रूस के साम्यवादी दल के महासचिव ब्रेझनेव ने 12 नवम्बर, 1969 को इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और मुनरो सिद्धान्त की भाँति इसका नामकरण रूस के महासचिव तथा राष्ट्रपति के नाम पर किया गया है। इसके अनुसार जब किसी देश में समाजवाद-विरोधी आन्तरिक और बाह्य शक्तियाँ पूँजीवादी पद्धति को पुनः सुप्रतिष्ठित और सुदृढ़ करने का प्रयास करती हैं तो इससे विश्व के समूचे समाजवादी देशों के लिए संकट पैदा हो जाता था; ऐसी दशा में समाजवाद की रक्षा के लिए दूसरे देशों को यह अधिकार है कि वे इस संकट को दूर करने के लिए दूसरे देशों के मामलों में हस्तक्षेप करें। इसी सिद्धान्त के आधार पर रूस ने अगस्त 1968 में चैकोस्लोवाकिया में हस्तक्षेप किया था। पश्चिमी देशों ने इस सिद्धान्त का विरोध इस युक्ति के आधार पर किया है कि इसे

मान लेने से रूस को अपने सीमावर्ती छोटे राज्यों में हस्तक्षेप करने का मनमाना अधिकार मिल जायगा और इनकी स्वतन्त्रता और अखण्डता ख़तरे में पड़ जायेगी।

इसकी पुष्टि 27 दिसम्बर, 1979 को अफगानिस्तान में रूसी सेनाओं के बहुत बड़ी संख्या में प्रवेश से हुई। रूस के कथनानुसार अफगान सरकार अपने यहाँ प्रतिक्रियावादियों और साम्राज्य-वादियों द्वारा समर्थित विद्रोह को दवाने में असमर्थ थी, अतः उसने अपने पड़ौसी (रूस) से वहाँ सेनाएँ भेजने का आग्रह किया। "यहाँ साम्राज्यवादी प्रभुत्व स्थापित होने पर मास्को के लिए संकट पैदा हो जाता, अतः उसने काबुल के अनुरोध पर अफगानिस्तान में अपनी सेनाएँ भेजी।" जनवरी 1980 को जब संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा का विशेष अधिवेशन इस विषय पर विचार करने के लिए बुलाया गया, और इसमें अफगानिस्तान में हुए सैनिक हस्तक्षेप की कठोर शब्दों मे घोर निन्दा का प्रस्ताव रखा गया तो इसे 104 देशों का समर्थन मिला, केवल 18 देशों ने इसका विरोध किया। इससे स्पष्ट है कि विश्व के अधिकांश राष्ट्र इस सिद्धान्त को तथा इस प्रकार के हस्तक्षेप को न्यायोचित और वैध नहीं समझते है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हस्तक्षेप सम्बन्धी प्रसिद्ध मामले
(IMPORTANT CASES ABOUT INTERVENTION IN INTERNATIONAL POLITICS)

(1) **हंगरी में सोवियत रूस का हस्तक्षेप**—सन् 1956 में रूस ने हंगरी में हस्तक्षेप किया। सन् 1949 में हंगरी में जनता का गणराज्य स्थापित हुआ था। सरकारी शासन के अत्याचारों से रुष्ट होकर वहाँ की जनता ने सन् 1956 में सरकार के विरुद्ध क्रान्ति कर दी और गृहयुद्ध आरम्भ हो गया। विद्रोहियों की माँग थी कि इमरे नेगी को प्रधानमन्त्री बनाया जाये। वह प्रधानमन्त्री बनाया गया। उसने जनता की माँगों की पूर्ति के लिए शासन मे अनेक सुधार किये। उसने स्वतन्त्रतापूर्वक चुनाव कराने की आज्ञा दे दी। सोवियत संघ ने इस वात को सहन नहीं किया और उसने हस्तक्षेप किया। 4 नवम्बर, 1956 को रविवार के दिन प्रातःकाल हजारों रूसी टैंक हंगरी की राजधानी बुडापेस्ट तथा अन्य नगरों में आ गये। क्रान्ति को क्रूरता-पूर्वक दबाया गया। इमरे नेगी का मन्त्रिमण्डल समाप्त कर दिया गया। नेगी ने भाग कर यूगोस्लाव दूतावास में शरण ली। रूस की सहायता से काडर प्रधानमन्त्री वना और नवीन सरकार वनी।

उस समय रूसी दमन के कारण लगभग पौने दो लाख लोग आस्ट्रिया तथा अन्य देशों को भाग गये। अमरीका की सरकार ने हंगरी का मामला संयुक्त राष्ट्र संघ में पेश किया, रूस ने अपने निषेधाधिकार के प्रयोग द्वारा उस प्रस्ताव को रद्द कर दिया। 9 नवम्बर, 1956 को इस विषय पर विचार करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की जनरल असेम्वली ने एक विशेष अधिवेशन बुलाया, उसमें रूस के विरोध करने पर भी यह प्रस्ताव दो-तिहाई बहुमत से पारित हो गया कि रूस हंगरी से अपनी सेनाएँ हटा ले। 19 नवम्बर, 1956 को रूस के विदेशमन्त्री ने यह आश्वासन दिया कि हंगरी में स्थिति ठीक होने पर रूसी सेनाएँ हटा ली जायेंगी। 2 दिसम्बर, 1956 को महासभा ने प्रस्ताव पारित करके रूस को हंगरी की स्वतन्त्रता भंग करने का दोषी ठहराया।

सोवियत संघ ने हंगरी में हस्तक्षेप को न्यायोचित ठहराते हुए तर्क दिये कि—(i) सोवियत सेनाओं ने वहाँ सरकार के आमन्त्रण पर ही हंगरी में प्रवेश किया। (ii) वारसा सन्धि की धाराओं के अनुसार हंगरी की सुरक्षा एवं आन्तरिक व्यवस्था के लिए ही सोवियत संघ ने वहाँ सेनाएँ भेजीं। (iii) हंगरी में प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ सक्रिय थीं, अतः उनको नष्ट करना सोवियत संघ के लिए आवश्यक था। हंगरी और सोवियत संघ की सीमाएँ मिलती हैं। यदि प्रतिक्रियावादी शक्तियों का दमन नहीं किया जाता तो ऐसी स्थिति में सोवियत संघ की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो जाता।

रूस के उपर्युक्त तर्कों के बावजूद हंगरी में उसका हस्तक्षेप अनुचित था क्योंकि—(i) हंगरी के गृहयुद्ध से रूस की शान्ति और सुरक्षा को कोई खतरा नहीं था। (ii) वारसा सन्धि में यह प्रावधान है कि इस पर हस्ताक्षर करने वाले सब देश एक-दूसरे की प्रभुसत्ता और स्वतन्त्रता का आदर करेंगे। (iii) सोवियत संघ का हस्तक्षेप संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के प्रतिकूल था।

(2) **तिब्बत में चीन का हस्तक्षेप**—तिब्बत एक स्वतन्त्र राज्य था। 1720 से चीन का आधिपत्य (Suzerainty) तिब्बत पर स्थापित हो गया। चीन के शासकों के निर्बल हो जाने पर यह आधिपत्य नाममात्र को रह गया। 1904 में भारत की ब्रिटिश सरकार और तिब्बत के बीच एक सन्धि हुई। इस सन्धि के अनुसार तिब्बत ने ब्रिटिश सरकार को तिब्बत में प्रभुसत्ता के कुछ अधिकार दिये। इस सन्धि के अनुसार तिब्बत ब्रिटिश सरकार की अनुमति के बिना अपना प्रदेश किसी दूसरी शक्ति को नहीं दे सकता था। सन् 1906 में तिब्बत को ब्रिटेन और चीन के अधीन माना गया। 1911 में चीन ने तिब्बत पर आक्रमण किया और दलाईलामा ने भारत में शरण ली। 1912 में तिब्बत ने पुनः अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की। 1926 में भारत सरकार ने तिब्बत के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित किया। अब चीन का तिब्बत पर नाममात्र को आधिपत्य रह गया। 1949 में चीन में साम्यवादी शासन स्थापित हो गया और 1950 में चीन ने तिब्बत पर आक्रमण कर दिया। तिब्बत की सरकार ने इस प्रश्न को संयुक्त राष्ट्र संघ में उठाया। मलाया और आयरलैण्ड ने प्रस्ताव पेश करते हुए कहा कि तिब्बत में वहाँ की जनता के मौलिक मानवीय अधिकारों तथा स्वतन्त्रता का हनन हो रहा है। इस प्रस्ताव में असेम्बली से कहा गया कि वह अपनी समूची नैतिक शक्ति से तिब्बत में शान्ति स्थापित करे और तिब्बती जनता को उनके मौलिक अधिकार प्राप्त कराये। यह प्रस्ताव पारित हो गया किन्तु पेकिंग रेडियो ने इसे "गैर-कानूनी" बताया।

(3) **इंगलैण्ड, फ्रांस तथा इजरायल द्वारा मिस्र में हस्तक्षेप**—सन् 1956 में मिस्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया। इसकी प्रतिक्रिया में फ्रांस, इंगलैण्ड तथा इजरायल ने संयुक्त रूप से मिस्र पर सशस्त्र हस्तक्षेप कर दिया। यह संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद 2(4) तथा 51 का खुला उल्लंघन था। इस समस्या का हल सुरक्षा परिषद तथा महासभा के प्रयासों के कारण हो सका। यह स्वीकार किया गया कि मिस्र को स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण करने तथा उसके प्रयोग पर कर वसूल करने का अधिकार है, परन्तु नहर सभी राज्यों के लिए खुली रहेगी।

(4) **चेकोस्लोवाकिया में रूस का हस्तक्षेप**—सन् 1968 के प्रारम्भ में चेकोस्लोवाकिया के नेतृत्व में परिवर्तन किया गया। नोवोली के स्थान पर डुबचेक दल के अध्यक्ष बनाये गये तथा सेवोदा राष्ट्रपति बने। नये नेताओं ने उदारवादी नीतियों का पालन किया। सेन्सर को हटा दिया गया, स्वतन्त्र चुनाव की बात मान ली, विरोधी दल की मान्यता की बात का समर्थन किया, साहित्य, संस्कृति और कला को राजनीतिक बन्धनों से मुक्त करने का समर्थन किया। सोवियत संघ इन नयी प्रवृत्तियों से विस्मय अनुभव करने लगा। उसे डर हुआ कि यदि चेकोस्लोवाकिया उदारवादी सिद्धान्तों का पालन करने लग जायेगा तो ऐसी स्थिति में समस्त पूर्वी यूरोप के साम्य-वादी देश भी कहीं उसका अनुसरण न करने लग जायें। डुबचेक ने रूस की माँग को अस्वीकार कर दिया, वहाँ की जनता ने भी उसका साथ दिया। ऐसी स्थिति में 20 अगस्त, 1968 को वारसा पैक्ट के देशों की सेनाएँ चेकोस्लोवाकिया में प्रवेश कर गयीं। संयुक्त राष्ट्र संघ ने इस आक्रमण की भर्त्सना की तथा चेकोस्लोवाकिया से वारसा देशों की सेनाएँ हटाने की माँग की। डुबचेक को मास्को ले जाया गया एवं उनके साथ अभद्र व्यवहार किया गया। चेकोस्लोवाकिया की जनता ने सेना के साथ असहयोग किया एवं विरोध किया।

सोवियत रूस ने चेकोस्लोवाकिया में हस्तक्षेप के निम्न कारण बताये—(i) पूर्वी यूरोप

की सुरक्षा प्रणाली में चेकोस्लोवाकिया का सामरिक महत्व है क्योंकि उसकी सीमाएँ पश्चिमी जर्मनी और आस्ट्रिया से मिलती हैं, अतः उस पर पूर्वी यूरोप की सुरक्षा के लिए नियन्त्रण आवश्यक है। (ii) चेकोस्लोवाकिया का उदारवादी देश होना साम्यवादी समाज के लिए विखराव पैदा कर सकता है। (iii) दूसरे साम्यवादी देशों के लिए एक चेतावनी थी कि यदि उन्होंने चेकोस्लोवाकिया के मार्ग का अवलम्बन किया तो उन्हें दवाया जायेगा। (iv) चेकोस्लोवाकिया में पश्चिमी प्रभाव वढ़ रहा था, जिसे रोकना आवश्यक था।

सोवियत संघ के तर्कों के वावजूद उसका चेक भूमि में सेना भेजना अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं था।

(5) **सोवियत संघ द्वारा पश्चिमी जर्मनी में हस्तक्षेप की धमकी**—1969 से पूर्व सोवियत संघ ने कई वार पश्चिमी जर्मनी में हस्तक्षेप की धमकी दी थी। सोवियत संघ के अनुसार पश्चिमी जर्मनी में नाजी प्रभाव वढ़ रहा है, ये नाजी प्रतिक्रियावादी पूर्वी जर्मनी तथा सोवियत समर्थक देशों में अव्यवस्था फैलाते हैं अतः वह नाजी प्रतिक्रियावादियों को रोकने के लिए हस्तक्षेप कर सकता है। किन्तु यह सब कुछ धमकी मात्र ही था। यह पश्चिमी देशों को चुनौतीमात्र थी। कानूनी दृष्टि से रूस को जर्मनी के मामले में दखल देने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। विली ब्राण्ट के चान्सलर वनने के वाद जर्मनी और सोवियत संघ के वीच में अनाक्रमण सन्धि हो चुकी है।

(6) **वंगला देश में भारत का हस्तक्षेप**—भारत ने 3 दिसम्बर, 1971 को वंगला देश में अपनी सेनाएँ भेजकर मुक्ति-वाहिनी के साथ सहयोग किया एवं वंगला देश को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। वंगला देश पाकिस्तान का भाग था। किन्तु मार्च 1970 से वहाँ पर शेख मुजीव के नेतृत्व में स्वतन्त्रता संग्राम तीव्र हो गया था। पाकिस्तान की सेना ने जातिवध, कत्लेआम तथा अत्याचार द्वारा लगभग तीस लाख लोगों को मौत के घाट उतार दिया। भारत ने महाशक्तियों का ध्यान वंगला देश की समस्या की ओर खींचा। भारत चाहता था कि समस्या का कोई राजनीतिक हल निकल आये। पाकिस्तानी सेना के अत्याचारों से परेशान होकर लगभग एक करोड़ शरणार्थी भारत आ गये। भारत पर शरणार्थियों के कारण आर्थिक दवाव वढ़ रहा था। ऐसी स्थिति में जव पाकिस्तान ने 3 दिसम्बर को भारत पर हवाई हमले शुरू कर दिये तो भारतीय सेनाओं ने वंगला देश में प्रवेश कर, उसे स्वतन्त्र करवाकर वहाँ की सरकार को वहाँ का प्रशासन सौंप दिया।

भारत का हस्तक्षेप वैध था क्योंकि (i) एक करोड़ शरणार्थियों को भारत में भेज करके पाकिस्तान ने भारत के घरेलू मामलों में दखल दी थी। (ii) वंगालियों का कत्लेआम करके मानवीयता के विपरीत कार्य किया। (iii) उत्तर-पूर्वी सीमा पर अशान्ति और अव्यवस्था भारत की सुरक्षा के लिए खतरा पैदा कर रही थी; ऐसी स्थिति में वहाँ स्थायित्व लाना आवश्यक था। (iv) पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया था। अतः उसका समुचित उत्तर देने के लिए मुक्ति-वाहिनी को सहयोग देना आवश्यक था।

(7) **अफगानिस्तान में सोवियत संघ का हस्तक्षेप**—27 दिसम्बर, 1979 ई० को सोवियत संघ के सैनिकों ने अपने कुछ विशेष हितों को ध्यान में रखते हुए हफीज उल्लाह अमीन का तख्ता पलट दिया और उनके स्थान पर ववरक करमाल को वहाँ की सत्ता सौंप दी। 24 दिसम्बर, 1979 को कावुल का आकाश सोवियत विमानों से भर गया और हवाई अड्डे पर सैनिक उतारे गये। 27 दिसम्बर के दिन सोवियत सैनिकों ने राष्ट्रपति भवन, हवाई अड्डे, रेडियो स्टेशन और अन्य प्रमुख केन्द्रों पर हमले कर दिये। अफगानिस्तान में रूसी फौजों की संख्या निरन्तर वढ़ती गयी। आज भी अफगानिस्तान में सोवियत सैनिक वने हुए हैं। अफगानिस्तान में सोवियत सैनिक हस्तक्षेप को अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा संयुक्त राष्ट्र चार्टर के विरुद्ध वताया गया। सुरक्षा परिषद

में ववरक करमाल सरकार के विदेश मन्त्री शाह मुहम्मद दोस्त ने कहा कि 'अफगानिस्तान ने मास्को के साथ 1978 की सन्धि के आधार पर सहायता माँगी और उसकी प्रार्थना पर रूसी सेनाएँ काबुल आयी है।' वास्तव में रूस का यह कार्य उसकी विस्तारवादी नीति का एक अंग और दक्षिण में हिन्द महासागर की ओर बढ़ने एवं विश्व पर छा जाने का प्रयास है।

(8) **ग्रेनाडा में अमरीकी हस्तक्षेप**—ग्रेनाडा एक छोटा-सा केरेवियन द्वीप है। इस छोटे से द्वीप की जनसंख्या 1,50,000 है तथा क्षेत्रफल 345 वर्गमील है। 1974 तक ग्रेनाडा एक ब्रिटिश उपनिवेश था। यहाँ मार्क्सवादी प्रभाव बढ़ने लगा। इससे अमरीका आशंकित हो गया और 25 अक्टूबर, 1983 को अमरीका व 6 केरेवियन राज्यों ने ग्रेनाडा पर हमला कर दिया। अमरीका की ओर से कहा गया कि यह हस्तक्षेप अमरीकी नागरिकों की सुरक्षा के लिए किया गया है।

(9) **निकारागुआ में अमरीकी हस्तक्षेप**—9 अप्रैल, 1984 को निकारागुआ ने अमरीका के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में वाद किया कि अमरीका अतिक्रमण व हस्तक्षेप की कार्यवाहियों द्वारा निकारागुआ की स्थापित सरकार को उलटने का प्रयास कर रहा है। 10 मई, 1984 को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अमरीका से कहा कि वह निकारागुआ की सरकार के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही रोके तथा निकारागुआ के बन्दरगाहों पर सुरंग बिछाने की कार्यवाही को तुरन्त रोके।

27 जून, 1986 को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने फैसला दिया कि गुरिल्लों को मदद देकर अमरीका ने अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का उल्लंघन किया है। अमरीका वामपंथी सैंडनिस्टा सरकार के खिलाफ लड़ रहे गुरिल्लों की मदद कर रहा है। यहाँ तक कि अमरीका ने गुरिल्लो को 10 करोड़ डालर की सैनिक मदद देने का प्रस्ताव कांग्रेस से मंजूर करवाया।

निष्कर्ष—आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे विभिन्न महाद्वीपों के देशों मे हस्तक्षेप करने की बडे देशों की आदत सी बन गयी है। अमरीका के पड़ौसी लातीनी अमरीकी देशो का ही उदाहरण लें। जिस प्रकार वहाँ पर मारकाट और सत्तापलट की खबरें सुनने को मिलती है; बडे देश किसी एक पक्ष की पीठ पर हाथ रखकर स्थिति को और गम्भीर बना देते है। निकारागुआ और अल साल्वाडोर में रूस तथा अमरीका का बढ़ता हुआ हस्तक्षेप महाशक्तियों की हस्तक्षेप प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है। अल साल्वाडोर के सरकारी सैनिकों को परामर्श देने के लिए अमरीकी सलाहकार भेजे गये, 1982 मे अमरीका ने उसे 25 करोड़ डॉलर की सहायता दी। वामपन्थी छापामारो को सोवियत संघ का समर्थन मिलने लगा। इनके अलावा हांडूरास और कोस्टारिका मे अमरीकी विशेष बल की टुकड़ियां हैं। लातीनी अमरीकी देशों मे बडी शक्तियों का पहले राजनीतिक दखल और उसके बाद अपने अड्डे स्थापित करने का इरादा है। इससे इन देशों के हड़पे जाने का भी सन्देह होने लगता है।

प्रश्न

1. 'हस्तक्षेप' की अवधारणा की व्याख्या कीजिए। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार किन स्थितियों में हस्तक्षेप को उचित माना जाता है ?
   Discuss the concept of Intervention ? On what grounds it is permissible in International Law ?
2. हस्तक्षेप क्या है ? अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत किन कारणो व परिस्थितियो मे हस्तक्षेप उचित माना जाता है ?
   What is Intervention ? On what grounds is intervention justified in International Law ?

20

राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के साधन : आर्थिक साधन

[INSTRUMENTS FOR THE PROMOTION OF NATIONAL INTEREST : ECONOMIC INSTRUMENTS]

आधुनिक युग में कोई भी राज्य पूर्णरूप से आत्मनिर्भर होने का दावा नहीं कर सकता। विश्व का प्रत्येक राज्य किसी-न-किसी रूप से दूसरे राज्य पर निर्भर रहता है। एक देश की आर्थिक स्थिति अन्य देश को प्रभावित करती है और इन कारणों से भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का निर्माण होता है। यह सर्वविदित है कि प्रत्येक देश अपनी आर्थिक नीति का निर्माण अपने देश की समस्याओं को ध्यान में रखकर करता है। इस सन्दर्भ में जो भी आर्थिक नीति अपनायी जाती है उसका उद्देश्य राष्ट्रीय हित में अभिवृद्धि करना होता है। आर्थिक नीतियों के विभिन्न रूपों को सामान्य रूप से आर्थिक साधनों की संज्ञा दी जाती है।

आर्थिक साधनों से अभिप्राय
(MEANING OF THE ECONOMIC INSTRUMENTS)

जब भी राज्य अपनी राष्ट्रीय नीति के हित संवर्द्धन के लिए विशिष्ट आर्थिक नीतियाँ अपनाते हैं इन्हें 'राष्ट्रीय नीति के हित संवर्द्धन के आर्थिक उपकरण' कहा जाता है।

पामर एवं पर्किन्स के अनुसार, "राष्ट्रीय उद्देश्यों की अभिवृद्धि के लिए जब आर्थिक नीतियों का निर्माण किया जाता है—वे दूसरे राज्यों को हानि पहुँचाने के लिए हों या नहीं वे राष्ट्रीय नीति के आर्थिक साधन हैं।"[1]

पेडलफोर्ड और लिंकन के अनुसार, "विदेश नीति के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए, प्रत्यक्ष या सम्बन्धित रूप से, कोई भी आर्थिक क्षमता, संस्था अथवा तकनीकी को आर्थिक साधन कहते हैं। जिन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए इनका प्रयोग किया जाता है वे आर्थिक (जैसे आवश्यक कच्चे माल की प्राप्ति या निर्यात व्यापार में वृद्धि), राजनीतिक (कम विकसित राज्य में विकास या व्यवस्थित परिवर्तन), सैनिक (अड्डों की प्राप्ति) अथवा मनोवैज्ञानिक (दूसरे राष्ट्र की नीति के प्रति सद्भावना या सहायता) हो सकते हैं।"[2]

---

1 "Whenever economic policies are shaped to promote national ends—whether or not they are intended to enjure other states—they are economic instruments of national policy." —Palmer and Perkins, *International Relations*, 1970, p. 132.

2 Padelford and Lincoln, *Dynamics of International Politics*, 1968, p. 205.

किसी भी देश के प्रमुख राष्ट्रीय उद्देश्य हो सकते हैं—राज्य में रहने वाले व्यक्तियों का जीवनस्तर ऊँचा करना, निर्यात में वृद्धि करना, नये बाजार की प्राप्ति करना, देश के अन्दर आर्थिक साधनों एवं स्रोतों को सुरक्षित रखना, कच्चे माल की प्राप्ति करना, युद्ध की तैयारी करना, रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना इत्यादि। आर्थिक नीति के साधनों के रूप में आयात, कम मूल्य पर निर्यात एवं आर्थिक सहायता इत्यादि का उपयोग राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि तथा विदेश नीति के सहायक तत्वों के रूप में प्रयोग किया जाता है। इस सम्बन्ध में वरनॉन वॉन डाइक ने लिखा है—"आर्थिक साधन न केवल एक प्रभावशाली अपितु एक साधक भूमिका का भी निर्वाह करते हैं। ये विदेश नीति के निर्धारक ही नहीं हैं किन्तु विदेश नीति के साधक भी है। एक राज्य आर्थिक कारणों के किन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयत्न कर सकता है या ऐसी आर्थिक विधियों को स्वीकार कर सकता है जो किन्हीं भी कारणों पर आधारित उद्देश्यों की प्राप्ति कर सकें।"[1]

संक्षेप में, आर्थिक स्रोत शक्ति प्रयोग के साधन हैं। इस प्रकार वे विदेश नीति के साधक है। आर्थिक व्यवस्थाओं की बढ़ती हुई पारस्परिक निर्भरता के फलस्वरूप आर्थिक साधन राज्यीय सम्बन्धों में अधिक महत्वपूर्ण हो रहे है। आर्थिक प्रसाधनों के द्वारा जहाँ छोटे राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे अपने महत्व में वृद्धि कर सकते है, वहाँ महाशक्तियाँ भी आर्थिक साधनों को प्रयोग में लाकर छोटे राज्यों के आचरण को अपने अनुकूल बना सकती हैं। उदाहरण के लिए, वेनेजुएला की अर्थव्यवस्था उसके तेल के निर्यात पर निर्भर है और उसका समूचा तेल संयुक्त राज्य अमरीका खरीद लेता है। यदि किसी कारण से अमरीका उसका तेल खरीदना बन्द कर दे तो जब तक वह अपने तेल के लिए दूसरे ग्राहक न ढूंढ़ ले तब तक, उसकी अर्थव्यवस्था डगमगा जायेगी। भारत और जापान की अर्थव्यवस्था अरब देशों के पेट्रोल पर निर्भर है। यदि अरब देश तेल का निर्यात बन्द कर दें तो इन देशों में आर्थिक संकट उत्पन्न हो जायेगा। आज एशिया और अफ्रीका के अनेक देशों के पास ऐसे आर्थिक स्रोत है जिनकी अनुपस्थिति मे विकसित राज्यों के उद्योग-धन्धे जीवित भी नहीं रह सकते। अतः इन राज्यों को शक्तिशाली कहे जाने वाले राज्यों की नीतियों को प्रभावित करने मे सफलता मिल जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आधुनिक युग में राष्ट्रों की आर्थिक क्षमताओं को राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयोग में लाया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय तनाव मूलतया आर्थिक विसंगतियों का परिणाम है। अन्तर्राष्ट्रीय संघों और सम्मेलनों में राजनीतिक समस्याओं के आर्थिक पहलुओं पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

आर्थिक साधनों के निर्धारक तत्व
(DETERMINANTS OF THE ECONOMIC INSTRUMENTS)

शान्तिकाल मे प्रत्येक राज्य विशिष्ट आर्थिक नीतियाँ यथा जीवनस्तर ऊँचा करने, विदेशों से व्यापार वृद्धि करने, तकनीकी विकास आदि के लिए अन्य राज्यों से निरन्तर आयात-निर्यात और समझौते करता रहता है। युद्ध काल में चाहे युद्ध प्रवृत्त राज्य का आक्रमण युद्ध हो अथवा रक्षात्मक युद्ध हो, विशिष्ट आर्थिक नीतियाँ अपनानी पड़ती हैं; युद्धजनित आर्थिक नीतियों का मुख्य उद्देश्य अपनी अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करके सम्पूर्ण संसाधनों का उपयोग इस प्रकार करना होता है जिससे सैनिक शक्ति का अधिकाधिक विकास हो और शत्रु राष्ट्र की युद्ध जनित क्षमता क्षीण हो जाये।

एक राज्य अपने आर्थिक साधनों का किस प्रकार प्रयोग करे, यह कई कारणों पर निर्भर है—**प्रथम,** राष्ट्रीय हित प्रमुख निर्धारक तत्व है। एक राज्य की आर्थिक नीतियाँ अपने मूल रूप में राष्ट्रीय हितों को बढ़ावा देने के लिए होती है। आर्थिक लाभ ही प्रत्यक्ष उद्देश्य होता है। **द्वितीय,** देश में प्रचलित विचारधारा को भी आर्थिक साधनों का उपयोग करते समय ध्यान में

[1] Vernon Van Dyke, *International Politics*, p. 91.

रखना पड़ता है। साम्यवादी राज्यों में आर्थिक साधनों पर राज्य-नियन्त्रण रहता है। परन्तु पूँजीवादी राज्यों में राज्य-नियन्त्रण में कमी रहती है। **तृतीय,** राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध आर्थिक नीति अथवा साधनों को प्रभावित करते हैं। यदि दोनों या सम्बन्धित राज्यों के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हों तो पारस्परिक लाभ की नीति अपनायी जाती है। यदि राज्यों के सम्बन्ध शत्रुतापूर्ण हों तो राज्य ऐसी आर्थिक नीतियों का अनुसरण करते हैं जिनसे स्वयं का लाभ तथा शत्रु को हानि हो। **चतुर्थ,** राज्यों द्वारा आर्थिक नीतियाँ प्रायः विशिष्ट राजनीतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अपनायी जाती हैं, अतः राजनीतिक लक्ष्य, आर्थिक लक्ष्यों से प्राथमिक कहे जा सकते हैं। **पंचम,** शान्ति एवं युद्ध की स्थिति में भी इनका भिन्न-भिन्न प्रकारों से प्रयोग किया जाता है। शान्तिकाल में प्रायः आर्थिक साधन बलपूर्वक या हानिकारक नहीं होते; लेकिन युद्ध-स्थिति में राज्य एक-दूसरे की आर्थिक क्षमता को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आर्थिक पुरस्कार और दण्ड के तरीके
(TECHNIQUES OF ECONOMIC REWARDS AND PUNISHMENT IN INTERNATIONAL POLITICS)

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपने हितों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न आर्थिक साधन अपनाये जाते हैं जिन्हें पामर एवं पर्किन्स ने 'आर्थिक शस्त्रागार' (Economic arsenal) नाम दिया है।[1] राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के लिए कई प्रकार के आर्थिक साधन अपनाये जाते हैं। किस साधन का प्रयोग कब और किस प्रकार किया जाये, यह राज्य के आर्थिक लक्ष्यों व राजनीतिक उद्देश्यों पर निर्भर करता है। साधारणतः निम्नलिखित आर्थिक साधनों का प्रयोग किया जाता है :

(3) **चुंगी शुल्क (Tariff)**—चुंगी एक प्रकार का शुल्क या कर है जो आयात या निर्यात किये जाने वाले सामान पर लगाया जाता है। प्राचीनकाल से ही आयात पर कर लगाया जाता है और इसका मुख्य उद्देश्य राजस्व प्राप्त करना होता है। जो चुंगी शुल्क राज्य के लिए होता है उसे राजस्व शुल्क कहते हैं और जो शुल्क आन्तरिक उद्योगों को विदेशी उद्योगों की प्रतिस्पर्द्धा से संरक्षण देने के लिए होता है, उसे संरक्षण चुंगी शुल्क कहा जाता है। 16वीं और 17वीं शताब्दी में प्रथम बार संरक्षण चुंगी शुल्क नीतियाँ अपनायी गयी थीं क्योंकि वाणिज्य में अभूतपूर्व वृद्धि के कारण आर्थिक राष्ट्रवाद का उदय हो गया था।

राज्य अपनी चुंगी शुल्क नीतियों से एक साथ कई उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं। राजस्व शुल्क का लक्ष्य राज्य की आय बढ़ाना होता है। संरक्षण चुंगी शुल्क से राज्य की आर्थिक शक्ति एक निश्चित दिशा में विकसित की जा सकती है। मूल उद्योगों को विकसित करके एक राज्य अपनी प्राथमिक औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है अथवा युद्ध और सामरिक शक्ति विकसित करने वाले पण्य पदार्थों के आयात में विशेष छूट देकर सामरिक शक्ति विकसित की जा सकती है। यदि केवल आर्थिक आय ही मूल उद्देश्य हो तो विदेशी आयात को रोककर विदेशी विनिमय मुद्रा में बचत हो जाती है। प्रायः चुंगी शुल्क नीति का प्रयोग राज्य विदेश नीति के एक महत्वपूर्ण शस्त्र के रूप में करते हैं। उच्च चुंगी दरें नियत करके राज्य इस स्थिति में होते हैं कि अन्य राज्यों से सौदेबाजी कर सकें। एक राज्य की ऊँची दरों के प्रतिकार स्वरूप अन्य राज्य भी चुंगीकर बढ़ा देते हैं और इससे आर्थिक विरोध का वातावरण पनपने लगता है। इन चुंगी शुल्कों का वास्तविक लक्ष्य सदैव अपने राष्ट्र को विकसित करना तथा दूसरे राष्ट्रों को आर्थिक दृष्टि से दुर्बल करना होता है। संयुक्त राज्य अमरीका ने यूगोस्लाविया और पोलैण्ड को चुंगी शुल्क में पक्षपातपूर्ण व्यवहार देने का इसलिए निश्चय किया था कि इन देशों को सोवियत संघ के प्रभाव से दूर रखा जा सके। सन् 1932 में मुक्त व्यापार के सबसे बड़े समर्थक ब्रिटेन ने सुरक्षित चुंगी शुल्क

---

[1] Palmer and Perkins, *Ibid.*, pp. 140-154.

नीतियाँ अपना लीं तथा राष्ट्रमण्डल देशों में भी विशिष्ट छूटों को स्वीकार किया। संक्षेप में, चुंगी शुल्कों के ढाँचे को अन्य राज्यों को प्रलोभन देने अथवा उन्हें दण्डित करने—दोनों ही उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रभावशाली ढंग से प्रयोग किया जा सकता है।

(2) **यथांश** (Quota System)—आयात वस्तुओं पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण स्थापित करने के लिए यथांश पद्धति को प्रयोग में लाया जाता है। इसके द्वारा दूसरे देशों से मँगाये जाने वाले सामान का यथांश (Quota) निश्चित कर दिया जाता है। इंगलैण्ड ने राष्ट्रमण्डल राज्यों से आने वाले जूट और रुई का कोटा निश्चित कर दिया था। सन् 1960 से पहले संयुक्त राज्य अमरीका ने क्यूबा और डोमिनिकन गणराज्य से आयात की जाने वाली चीनी का यथांश निश्चित कर रखा था। चूँकि ये दोनों देश चीनी के बड़े उत्पादक हैं और इनकी समूची अर्थव्यवस्था चीनी के निर्यात के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है, इसलिए यथांश में थोड़ा सा भी हेर-फेर इन देशों की अर्थ-व्यवस्था के ऊपर प्रतिकूल अथवा अनुकूल प्रभाव डाल सकता है।

इससे दो उद्देश्य प्राप्त होते हैं : प्रथम, राज्य के उद्योग-धन्धों को संरक्षण मिलता है तथा द्वितीय, आयातों की मात्रा को निर्यातों की मात्रा से कम रखा जा सकता है जिससे भुगतान सन्तुलन न बिगड़े। पहले इस पद्धति का प्रयोग युद्धकाल में ही होता था परन्तु पिछले दो दशकों में इस पद्धति का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। यथांश पद्धति के क्रियान्वयन के लिए सामान्यतः लाइसेंसिंग के तरीके को काम में लाया जाता है। लाइसेंसिंग के तरीके के अन्तर्गत प्रत्येक नये आयात के लिए सरकार की पूर्व स्वीकृति लेनी पड़ती है।

(3) **वहिष्कार** (Boycott)—वहिष्कार का प्रयोग या तो किसी वस्तु विशेष के आयात को रोकने के लिए अथवा किसी राज्य विशेष से निर्यात व्यापार का सफाया करने के लिए करते हैं। वे राज्य जहाँ राजकीय व्यापार नहीं होता, सामान्यतः वहिष्कार को कार्यान्वित करने के लिए आयात करने वाले व्यापारियों पर यह प्रतिवन्ध लगा देते हैं कि वहिष्कृत राज्य से वस्तुओं को आयात करने के पूर्व उन्हें सरकार से लाइसेन्स लेना पड़ेगा।

(4) **घाटबन्दी** (Embargo)—यदि कोई राज्य दूसरे राज्य को कुछ चीजों या समस्त व्यापार से वंचित रखना चाहता है तो वह अपने यहाँ के व्यापारियों तथा व्यापारिक संस्थाओं पर दूसरे राज्य से लेन-देन या व्यापार पर प्रतिबन्ध लगा देता है। घाटवन्दी का प्रयोग सामान्यतः किसी राज्य को दण्डित करने या अपनी अप्रसन्नता प्रदर्शित करने के लिए किया जाता है। सन् 1949 से चीन के प्रति संयुक्त राज्य अमरीका ने इस प्रकार की घाटवन्दी नीति का अनुसरण किया था जिसे अव समाप्त-सा कर दिया गया है।

(5) **अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल्स** (International Cartels)—कार्टेल शव्द 'कार्टा' से निकला है जिसका अर्थ समझौता या अनुवन्ध होता है। कार्टेल समान प्रकृति के व्यापार से सम्वन्धित स्वतन्त्र उद्यमों का वह संगठन है, जो आपसी प्रतियोगिता पर कुछ नियन्त्रण लगाये जाने के लिए निर्मित होते हैं। जब इस संस्था के सदस्य विभिन्न देशों के होते हैं अथवा विदेशों में व्यापार करते हैं तो यह अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप धारण कर लेते हैं। कार्टेल्स का मुख्य तत्व विभिन्न व्यापारिक संगठनों के वीच एक समझौता है जिसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय वाजार को कार्टेल्स के सदस्यों के पक्ष में प्रभावित करना होता है। इनका मुख्य उद्देश्य वाजारों को नियमित करना होता है तथा इनके द्वारा यह प्रयत्न रहता है कि वाजार में किसी एक का एकाधिकार स्थापित न होने पाये। ये विक्रेताओं के हितों की रक्षा करते हैं। इनका उपभोक्ताओं से कोई सम्वन्ध नहीं होता। कार्टेल संगठन में राज्य की सरकारें भाग ले सकती हैं किन्तु प्रायः सरकारें ऐसा नहीं करतीं। कार्टेल्स तीन प्रकार के होते हैं जिनका विभाजन निम्नलिखित आधारों पर किया जाता है—(i) मूल्य

का निर्धारण करने वाले; (ii) उत्पादन को सीमित करने वाले; (iii) विक्रय के प्रदेशों को विभाजित करने वाले।

संक्षेप में, कार्टेल्स (मूल्य संघों) का उद्देश्य बाजार में मूल्यों को निश्चित करना होता है। कार्टेल्स का उदय मध्यकाल से ही आरम्भ हो गया था। 18वीं शताब्दी में इंगलैण्ड तथा 19वीं शताब्दी में फ्रांस तथा 1870 के बाद जर्मनी में कई कार्टेल्स स्थापित हो चुके थे। जर्मनी में आज भी कार्टेल्स का विशेष प्रभाव है। जर्मनी और इटली की सरकारी नीति इन मूल्य संघों को प्रोत्साहन देने की रही है जबकि ब्रिटेन, अमरीका, फ्रांस, आस्ट्रिया आदि देशों में उनके निर्माण पर स्पष्ट प्रतिबन्ध लगाये गये थे। रूस, नार्वे, रूमानिया जैसे देश प्राय: कार्टेल्स के प्रति तटस्थ नीति अपनाते रहे हैं। 1870 में जर्मनी के कार्टेल्स आर्थिक मन्दी के परिणाम थे और मूल्यों में भारी गिरावट रोकने के लिए बनाये गये थे। राष्ट्र संघ के 1937 के प्रतिवेदन के अनुसार समस्त विश्व व्यापार के 32 प्रतिशत भाग पर इन कार्टेल्स का विशेष प्रभाव था।

कार्टेल्स के प्रति विश्व लोकमत प्राय: विरोधी ही रहता है। कार्टेल्स ने समान मूल्य दरें स्थिर करके उत्पादकों के आपसी सहयोग के कारण कम मूल्यों पर वस्तुओं का प्राप्त होना समाप्त कर दिया है। सारे विश्व को इन्होंने विशिष्ट बाजार क्षेत्रों में बाँट लिया है। कार्टेल्स ने उत्पादन का नियन्त्रण किया है, तकनीकी विकास और नये आविष्कारों की प्रगति अवरुद्ध की है तथा विशिष्ट क्षेत्रों में अपने प्रतिद्वन्द्वी उद्योगों को समूल नष्ट कर दिया है। कार्टेल्स पूँजीवादी एकाधिकारवादी व्यवस्था की ही अभिव्यक्ति है। ये सर्वाधिकारवादी राज्यों के विशेष साधन है और इनका अन्त होना चाहिए। ह्विटलेसी ने कार्टेल्स का पक्ष लेते हुए स्वीकार किया है कि इनसे यदि राष्ट्रवाद का संपोषण होता है तो अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को भी प्रोत्साहन प्राप्त होता है।

(6) **कम मूल्य पर निर्यात करना** (Dumping)—यदि कोई देश घरेलू बाजार में प्रचलित मूल्यों से भी कम मूल्यों पर किसी वस्तु का निर्यात करता है तो इस व्यवस्था को 'डम्पिंग' कहते हैं। यह व्यवस्था प्राय: निम्नलिखित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए काम में आती है—(i) जब किसी वस्तु का उत्पादन घरेलू आवश्यकता से अधिक होता है। (ii) जब वस्तु का आवश्यकता से अधिक उत्पादन हो तथा दूसरे देशों में माँग कम हो। (iii) जब कोई दूसरा देश प्रतियोगी हो जाता है तब यह प्रयत्न किया जाता है कि प्रतियोगी देश के मूल्य से कम मूल्य में वस्तु का विक्रय किया जाये। (iv) विदेशी मुद्रा अर्जित करने के लिए इस व्यवस्था को अपनाया जाता है। यह व्यवस्था विशेषत: अविकसित राज्यों द्वारा ही प्रयोग में लायी जाती है। (v) अमीर राज्य जब किसी निर्धन राज्य को सामान भेजता है तो उदारतावश या उसे अपने प्रभाव में करने के लिए भी इस व्यवस्था को अपना लेता है। लगभग सभी महाशक्तियाँ इस प्रकार की नीति का सहारा लेती है।

दीर्घकाल तक कम मूल्य पर निर्यात करने (dumping) से उत्पादक देश के उद्योगों का विकास हो जाता है और उत्पादन क्षमता भी बढ़ जाती है। वाइनर के शब्दों में उत्पादक देश का उत्पादन एक विशिष्ट स्तर पर बना रहता है और आन्तरिक बेकारी दूर होती है एवं आन्तरिक क्षेत्र में मूल्य स्थिर रहते हैं। जिस देश में कम मूल्य पर निर्यात (dumping) होता है, उस देश में आर्थिक विकास की गति धीमी पड़ जाती है, उत्पादन स्तर गिर जाता है, तकनीकी विकास अवरुद्ध हो जाता है तथा राष्ट्रीय औद्योगिक शक्ति दुर्बल होने लगती है।

(7) **अन्त:-सरकारी वस्तु समझौता** (Inter-Government Commodity Agreement)—यदि किसी एक वस्तु का उत्पादन एक से अधिक देशों में होता है तो उत्पादक राज्यों के बीच प्रतिस्पर्द्धा का निराकरण करने और वस्तु-विशेष के मूल्य को विश्व-बाजार में स्थिर करने के लिए उत्पादक राज्यों के बीच जो समझौता होता है उसे अन्त:सरकारी वस्तु समझौता कहते हैं। भारत और लंका के बीच चाय के विषय में इस प्रकार के समझौते हो चुके हैं। इस व्यवस्था से

निम्नलिखित उद्देश्यों की प्राप्ति के प्रयत्न किये जाते है : (i) विभिन्न राज्यों में वस्तु-विशेष के उत्पादन को व्यवस्थित करना; (ii) उत्पादक राज्यों के हितों की रक्षा करना; (iii) उत्पादक राज्यों के मध्य स्पर्द्धा समाप्त करना; (iv) वस्तु-विशेष से लाभ प्राप्ति के मूल्य निर्धारण करना, आदि।

अतः सरकारी वस्तु समझौतों के विषय में यह उल्लेखनीय है कि ये समझौते सरकारों के मध्य होते हैं, कार्टेल्स (cartels) की भाँति निजी उद्योगपतियों द्वारा नहीं। ये समझौते कृषि और खनिज उत्पादन पर ही होते हैं, औद्योगिक उत्पादन पर नहीं।

(8) **माल खरीदने में पहल करना** (Pre-emptive Buying)—इस व्यवस्था के अन्तर्गत दूसरे राज्यों के सामान को शत्रु के हाथों में पड़ने से पूर्व ही खरीद लिया जाता है। इसका उद्देश्य यह रहता है कि शत्रु राज्य के पास सामरिक महत्व का वह सामान कदापि न जाये और इसीलिए राज्य को चाहे उस सामान की आवश्यकता भी न हो, चाहे उसे शत्रु राज्य की तुलना में अधिक मूल्य ही क्यों न देना पड़े किन्तु शत्रु राज्य को उससे वंचित रखा जाये। इस पद्धति का प्रयोग युद्ध से पहले या युद्धकाल में होता है। उस सामान को जो पूर्वी यूरोप से मित्र राष्ट्रों को जाता था, जर्मनी पहले ही खरीद लेता था ताकि शत्रुओं को इस सामान से लाभ न हो जाये।

(9) **विनिमय नियन्त्रण** (Exchange Control)—विनिमय नियन्त्रण की जरूरत तब होती है जब किसी देश के विनिमय की माँग पूर्ति से अधिक हो। विनिमय नियन्त्रण द्वारा कोई देश अपनी पूँजी को विदेश जाने से रोक सकता है। विनिमय नियन्त्रण के द्वारा सरकार आयात और निर्यात के बीच सन्तुलन स्थापित करने का प्रयास करती है। इस पद्धति के द्वारा सरकार राज्य के विदेश व्यापार को अपने नियन्त्रण में रखती है। इस पद्धति का प्रयोग उन राज्यों के लिए विशेष रूप से उपयोगी है जो नियोजित अर्थव्यवस्था में विश्वास करते हैं। इस पद्धति का जन्म सन् 1931 में अर्जेण्टाइना में हुआ था। भारत में भी विनिमय नियन्त्रण की पद्धति को स्वीकार किया गया है। वस्तुतः इसका प्रयोग उन सभी देशों में होता है जो मोटे तौर पर स्टर्लिंग क्षेत्र से सम्बन्ध रखते है।

(10) **व्यापार और भुगतान समझौते** (Trade and Payment Agreements)—व्यापार और भुगतान समझौतों द्वारा अन्य राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से पृथक-सा कर दिया जाता है। ये समझौते दो देशों के बीच या दो से अधिक देशों के बीच भी हो सकते हैं। इन समझौतों के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कुछ देशों से भेदभाव और अनुकूल राष्ट्रों को विशेष संरक्षण देकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मुक्त प्रवाह को रोक दिया जाता है।

(11) **कर्ज और अनुदान** (Loans and Grants)—ऋणों और अनुदानों के माध्यम से राज्य अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते है। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त कर्ज और अनुदान राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का प्रभावशाली अस्त्र बन गया है। अमरीका द्वारा चलाये गये यूरोपियन पुनर्निर्माण कार्यक्रम तथा पारस्परिक सुरक्षा कार्यक्रम को अनुदान के द्वारा ही संचालित किया गया था। सार्वजनिक कानून 480 (P. L. 480) के अन्तर्गत अमरीका ने दीर्घकालीन ऋण दिये हैं। इन ऋणों और अनुदानों के माध्यम से विशिष्ट राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति की जा सकती है।

आर्थिक युद्ध
(ECONOMIC WARFARE)

आर्थिक युद्ध से अभिप्राय उन आर्थिक नीतियों से है जिनका अनुगमन युद्धकाल में सैनिक

कार्यवाहियों के सहायक के रूप में किया जाता है।[1] इसका लक्ष्य सैनिक और रणनीति की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्रोतों पर अधिकार जमाये रखना, शत्रु राज्यों को उन स्रोतों से वंचित रखना है ताकि अपनी सेना अधिकतम शक्ति के साथ लड़ सके और शत्रु राज्य की युद्ध क्षमता क्षीण हो जाये।[2] प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध में युद्धरत पक्षों ने आर्थिक युद्ध के उपकरणों का अनवरत प्रयोग किया था। आर्थिक युद्ध के प्रमुख उपकरण इस प्रकार हैं :

(1) **परिवेष्टन** (Blockade)—परिवेष्टन का अर्थ है नाकेबन्दी करना। नाकेबन्दी करने का उद्देश्य शत्रु देश को निर्बल बनाकर उसे आत्मसमर्पण करने के लिए विवश करना है। नाकाबन्दी से शत्रु देश की आवश्यक सामग्रियाँ उस तक नहीं पहुँच पाती हैं और उसे उन वस्तुओं का अभाव खलने लगता है और उसके युद्ध प्रयत्न ढीले पड़ जाते हैं। आजकल युद्ध में आर्थिक पहलू का महत्व इतना अधिक बढ़ गया है कि परिवेष्टन का प्रयोग आर्थिक शस्त्र के रूप में होने लगा है। इसका उद्देश्य दूसरे राज्य पर दवाव डालना होता है और दवाव डालने वाले देश के जहाज उसके वन्दरगाहों और तट को ऐसा घेर लेते है कि अन्य देशों के साथ उसका व्यापारिक सम्पर्क विल्कुल समाप्त हो जाता है।

(2) **काली सूची** (Black List)—काली सूचियों से तात्पर्य उन सूचियों से होता है जिनमे लिखित वस्तुओं का निर्यात एकदम वन्द कर देना होता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय अमरीका ने इन काली सूचियों का विशेप उपयोग किया था जिसमें अमरीकी और लेटिन अमरीकी पूँजीपतियों पर कतिपय विशिष्ट सामग्री को धुरी राष्ट्र के देशों को निर्यात करने पर पूर्ण रोक लगा दी गयी थी। ब्रिटेन तथा अन्य मित्र राष्ट्रों ने भी इस प्रकार की सूचियों का प्रयोग किया था।

(3) **पहले से ही माल खरीद लेना** (Pre-emptive Buying)—यह वह तरीका है जिसमें एक राष्ट्र किसी तटस्थ देश से सामरिक वस्तुओं की पूर्व में ही खरीद कर लेता है ताकि वे वस्तुएँ शत्रु राष्ट्र के हाथ में न पड़ें। पूर्व में ही माल खरीद लेने का मूल भाव यह है कि शत्रु राज्य के हाथ में वह सामग्री न पड़े, चाहे व्यापारिक दृष्टि से इस खरीद से हानि ही उठानी पड़े। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जर्मनी ने पहले से ही माल खरीदने की नीति का विशेप सतर्कता से पालन किया। द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ होने से पूर्व ही जर्मन विक्रेताओं ने वाल्टिक और वाल्कान क्षेत्रों का सामरिक महत्व वाला प्रसाधन खरीदने में वड़ी तत्परता दिखायी थी। यह कोई सरल नीति नहीं है। जिन देशों में पूर्वक्रयण होता है वहाँ वस्तुओं के दाम वहुत वढ़ जाते हैं और स्थानीय उद्योगपति इसका विरोध करते हैं।

(4) **प्रलोभन** (Rewards)—आर्थिक प्रलोभन के उपकरण भी अपनाये जाते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय स्वीडन को मित्र राष्ट्रों ने प्रलोभन दिया कि यदि वह जर्मनी को निर्यात कम कर दे तो मित्रराष्ट्र उसे तेल प्रदान करेंगे जो कि स्वीडिश सेना की तात्कालिक आवश्यकता थी। स्पेन को आवश्यक सामग्री प्रदान करके मित्रराष्ट्रों ने उसकी जर्मनी पर निर्भरता कम कर दी थी।

व्यवहार में आर्थिक पुरस्कार और दण्ड
(ECONOMIC REWARDS AND PUNISHMENTS IN OPERATION)

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात सोवियत-यूगोस्लाव सम्वन्धों का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि आर्थिक उपकरणों का प्रयोग राजनीतिक सम्वन्धों को प्रभावित करने के लिए अनवरत रूप से हुआ है। महायुद्ध की समाप्ति के तुरन्त वाद सोवियत संघ ने यूगोस्लाविया को आर्थिक सहायता

---

1 "Economic warfare refers to those economic policies used as an adjunct to military operations during war time."

—K. J. Holsti, *International Politics*, Third edition, p. 255.

2 K. J. Holsti, *Ibid*., pp. 255-56.

देना प्रारम्भ किया था तथा व्यापारिक सम्बन्धों की प्रगाढ़ता का भी विस्तार करने की योजना वनायी थी। परन्तु सन् 1948 में ही मार्शल टीटो को साम्यवादी विरादरी से पृथक कर दिया गया, चूंकि वे थोडे से संशोधनवादी विचारों के थे, और सोवियत दवावों के आगे झुकने मे आना-कानी कर रहे थे। सोवियत संघ ने यूगोस्लाविया के खिलाफ साम्यवादी जगत से घाटवन्दी और वहिष्कार की नीति अपनाने को कहा। (The Soviet Union also organised a communist block embargo and boycott against Yugoslavia.) घाटवन्दी की नीति यूगोस्लाविया के लिए वहुत वड़ा आर्थिक दण्ड था, चूंकि इस समय यूगोस्लाविया का 50 प्रतिशत निर्यात साम्य-वादी विरादरी के देशों को होता था और 95 प्रतिशत आयात भी इन्ही देशों से होता था। (The embargo was potentially an effective technique of punishment because in 1948 Yugoslavia sold over 50 per cent of its exports to the block and recived 95 per cent of its imports from the same source.) घाटवन्दी और वहिष्कार के हानि-कारक दवाव कुछ ही समय तक वने रहे क्योंकि टीटो ने शीघ्र ही इटली और ब्रिटेन का वाजार ढूंढ़ लिया था। स्टालिन की मृत्यु के पश्चात सोवियत-यूगोस्लाव सम्वन्धों में उतार-चढ़ाव आता रहा। सन् 1955 में सोवियत संघ ने 19 मिलियन डालर के वार्षिक व्यापार के आदान-प्रदान का यूगोस्लाविया के साथ समझौता किया। इसी वर्ष यूगोस्लाविया के मन को जीतने के लिए सोवियत संघ ने 90 मिलियन डालर का पुराना ऋण माफ कर दिया। यूगोस्लाविया से घनिष्ठता स्थापित करने के लिए साम्यवादी गुट के देशों ने सन् 1955-58 की अवधि मे 500 मिलियन डालर का ऋण दिया। किन्तु मार्शल टीटो टस-से-मस न हुए और साम्यवादी गुट मे अपनी स्वतन्त्र विचारधारा को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे, परिणामस्वरूप सोवियत संघ ने आर्थिक सहायता वन्द करने तथा ऋण देनें मे विलम्व करने की धमकी दी। मई 1958 में ख्रुश्चेव ने 300 मिलियन डालर के ऋण सम्वन्धी समझौते निलम्बित कर दिये। सन् 1963 तक अपनी स्वतन्त्र विचारधारा को वनाये रखते हुए टीटो ने सोवियत संघ से घनिष्ठता स्थापित कर ली जिससे दोनों देशों के वीच नये व्यापारिक समझौते हुए और यूगोस्लाविया को सोवियत ऋण प्राप्त हुए।

यूगोस्लाविया की सोवियत गुट पर आर्थिक दृष्टि से निर्भरता के परिणामस्वरूप साम्य-वादी देशों द्वारा अपनायी गयी आर्थिक पुरस्कार और दण्ड की नीति सफल रही। किन्तु जव यूगोस्लाविया ने पश्चिमी देशों के साथ व्यापारिक सम्वन्ध स्थापित कर लिये और अनुकूल वाजार ढूंढ लिया तो साम्यवादी गुट के आर्थिक उपकरण असफल सिद्ध हुए।

यूगोस्लाविया को तो विकल्प मिल गया अत: सोवियत दवाव के आर्थिक तरीके अर्थशून्य सावित हुए किन्तु 1948 के वाद सोवियत-फिनलैण्ड सम्वन्धों से यह सिद्ध हो जाता है कि आर्थिक दवाव काफी प्रभावकारी होते हैं और किसी राष्ट्र की राष्ट्रीय नीति को प्रभावित करते है। फिनलैण्ड के 1958 के संसदीय चुनावों मे एक-चौथाई स्थान साम्यवादियों को मिले और 'सोशलिस्ट डेमोक्रेट, के नेतृत्व मे एक मिली-जुली सरकार का निर्माण हुआ। इस सरकार में कोई भी साम्यवादी नही था। फिनलैण्ड के सोशलिस्टों के प्रति प्रारम्भ से ही सोवियत संघ द्वेषपूर्ण व्यवहार करता आया था और सोवियत प्रधानमन्त्री ने फिनलैण्ड के नये प्रधानमन्त्री और सरकार के गठन पर अपनी अप्रसन्नता प्रकट की थी। इस सरकार मे रूढ़िवादी मन्त्रियों की नियुक्ति पर भी सोवियत संघ ने असन्तोष प्रकट किया। सोवियत समाचार-पत्रों ने इस सरकार को 'प्रतिक्रियावादी दक्षिणपन्थी' सरकार कहा जो सोवियत-फिनिश सम्वन्धों मे कटुता लाने को कटिवद्ध है। सोवियत संघ ने आरोप लगाया कि यह सरकार सोवियत-फिनिश व्यापारिक समझौतों को रद्द करके पश्चिमी देशों के साथ व्यापारिक समझौते करने के लिए प्रयत्नशील

है। एक पड़ौसी राज्य में सोवियत संघ ऐसी सरकार को सहन नहीं कर सकता, अतः उसने निम्नलिखित राजनयिक और आर्थिक दवाव के उपकरण अपनाये—(i) सोवियत राजदूत ने फिनिश राष्ट्रपति के बिना किसी औपचारिक भेंट के हैलसिंकी छोड़ दिया; (ii) सोवियत सरकार ने तकनीकी आधार पर फिनलैण्ड से फिनलैण्ड की खाड़ी में मछलीगाह से सम्बन्धित समझौते पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया; (iii) 1959 में जो फिनिश व्यापारिक प्रतिनिधिमण्डल सोवियत संघ जाने वाला था, सोवियत नियन्त्रण के इन्तजार में बैठा रहा; (iv) नवम्बर 1958 में सोवियत सरकार ने फिनलैण्ड से सभी व्यापारिक सम्बन्ध स्थगित कर दिये। इसका फिनलैण्ड की अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। फ़िनलैण्ड का धातु और मशीनरी का जो सामान सोवियत संघ में विकता था पश्चिमी देशों में विक नहीं पा रहा था। फिनलैण्ड को वैकल्पिक बाजार उपलब्ध नहीं हुआ, उसके मजदूर वेकार होने लगे और अर्थव्यवस्था में अस्थिरता आ गयी।

इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कि सोवियत आर्थिक दवावों के फलस्वरूप फिनलैण्ड की अर्थव्यवस्था डगमगाने लगी है, मन्त्रिमण्डल के कई सदस्यों ने त्यागपत्र दे दिया और ऐसी नयी सरकार का निर्माण हुआ जो सोवियत संघ के अनुकूल थी।[1]

अरब देशों ने पश्चिमी यूरोप, संयुक्त राज्य अमरीका तथा जापान के विरुद्ध 1973 में तेल के हथियार का प्रयोग किया ताकि उनके इजराइल समर्थन को कमजोर किया जा सके। अक्टूबर 1973 में अधिकांश अरब देशों ने संयुक्त रूप से अमरीका और नीदरलैण्ड को तेल का निर्यात बन्द कर दिया। इसके पीछे यही लक्ष्य था कि पश्चिमी यूरोप के औद्योगिक देशों में गम्भीर ईंधन संकट उत्पन्न करके उनकी इजराइल समर्थक विदेश नीति को अरब समर्थक बना दिया जाये। जापान ने तो तत्काल अपनी नीति में परिवर्तन करके इजराइल को समर्थन देना बन्द कर दिया[2] और अमरीकी नीति में भी काफी परिवर्तन आ गया।

सन् 1960 के बाद अमरीका ने क्यूबा के सन्दर्भ में आर्थिक दवाव की नीति अपनायी। जब फीडल केस्ट्रो के नेतृत्व में क्यूबा ने साम्यवादी जगत से घनिष्ठ सम्बन्धों की शुरूआत की तो अमरीका ने उसका आर्थिक बहिष्कार कर दिया। इससे पूर्व क्यूबा की आर्थिक स्थिति उसके अमरीकी निर्यात पर अवलम्बित थी और अमरीका क्यूबा की शक्कर का सबसे बड़ा खरीदार था। इस आर्थिक दण्ड के फलस्वरूप क्यूबा को पूर्वी यूरोप, सोवियत संघ और चीन के वैकल्पिक मार्केट ढूँढ़ने पड़े। बाद में अमरीका ने खाद्य सामग्री और दवाइयों का निर्यात भी बन्द कर दिया ताकि क्यूबा झुक जाये।

क्या राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए व्यवस्थित आर्थिक उपकरण किसी देश की नीति बदलने में सफल हो जाते हैं? सन् 1918–68 की अवधि में ऐसे 18 मामलों का अध्ययन करके पीटर वालेन्सटीन ने बताया है कि दो मामलों में आर्थिक साधनों ने प्रभावकारी भूमिका अदा की है।[3] सन् 1933 में छः ब्रिटिश नागरिकों को मुक्त कराने के लिए ब्रिटिश सरकार ने सोवियत संघ के विरुद्ध अनेक आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये, जिसके फलस्वरूप सोवियत संघ ने ब्रिटिश नागरिकों को मुक्त कर दिया था। सन् 1962 में राष्ट्रपति केनेडी डोमिनीकन रिपब्लिक के विरुद्ध

---

1 "Recognizing that such economic pressure could seriously damage the Finish economy and worsen an already serious unemployment problem, several members of the cabinet resigned, and a new government more to the liking of the Kremlin was eventually formed. The Soviet economic pressures in this case worked very efficiently."
—K. J. Holsti, "Strategy and Techniques of Influence in Soviet-Finish Relations", *The Western Political Quarterly*. 17 (1964) 63-84.

2 Japan complied first and publicly disclaimed its policy of diplomatic support for Israel.
—K. J. Holsti, *International Politics*, p. 246.

3 *Ibid*, p. 252.

आर्थिक प्रतिवन्धों की नीति अपनायी, जिसके आगे वहाँ की सरकार को झुकना पड़ा। दक्षिणी अफ्रीका और क्यूबा के विरुद्ध वर्तमानकाल में अपनायी गयी आर्थिक प्रतिबन्धों की नीति असफल रही है।

आर्थिक सहायता : राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में
(FOREIGN AID AS AN ECONOMIC INSTRUMENT OF POLICY)

आर्थिक सहायता या ऋण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अंग हैं। एक देश द्वारा दूसरे देश को आर्थिक सहायता प्रदान करना कोई नयी वात नहीं है किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के वाद विदेशी आर्थिक सहायता का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विशेप महत्व है। आर्थिक सहायता का मुख्य उद्देश्य अपने देश के स्थानीय उद्देश्यों का विकास करना हो सकता है, अथवा अन्य राजनीतिक, वैचारिकी अथवा केवल मित्रता अर्जन के लिए हो सकता है। विदेशी आर्थिक सहायता कई प्रकार की हो सकती है जैसे—सैनिक सहायता, विकास ऋण तकनीकी सहायता, अनुदान आदि। इस प्रकार जो कर्जा दिया जाता है उस पर ब्याज की दरें वहुत कम होती है और भुगतान की अवधि भी कई वर्षों की होती है। जब कोई राज्य भुगतान की स्थिति में नहीं होता तो इस प्रकार की सहायता का कुछ भाग या पूरा भाग अनुदान में भी परिवर्तित किया जा सकता है।

अमरीका ने आर्थिक सहायता को साम्यवाद अवरोध नीति के रूप में अपनाया। वाद में सोवियत संघ ने भी एशिया और अफ्रीका के नव-स्वतन्त्र देशों को आर्थिक सहायता देना प्रारम्भ किया। अब तो आर्थिक सहायता देना राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि का सवसे महत्वपूर्ण साधन वन गया है।

आर्थिक सहायता से सहायता देने वाले राष्ट्र के हितों की पूर्ति कई प्रकार से होती है : (i) जव एक राज्य दूसरे राज्य को सामान आदि में सहायता देता है तो इससे दाता देश में उद्योगों तथा उत्पादन में वृद्धि होती है। (ii) जब सहायता देने के लिए अधिक उत्पादन किया जाता है तो इससे आर्थिक मन्दी का भय नहीं रहता। (iii) जव सहायता देने वाला राज्य ऋण आदि देता है तो इस पर उसे ब्याज प्राप्त होता है। (iv) सहायता प्राप्त करने वाला राज्य माल को सहायता देने वाले राज्य से जहाजों में ही ले जा सकता है। इस प्रकार माल ढोने आदि में भी वहाँ के व्यापारियों को लाभ होता है। (v) विदेशी सहायता प्राप्त करने वाले देश दाता देश के प्रभाव क्षेत्र में आ जाते है और उनका स्वतन्त्र चिन्तन और कार्य मन्द पड़ जाता है। (vi) विदेशी सहायता घरेलू नीतियों को प्रभावित करती है। ऐसा कहा जाता है कि सन् 1966 में भारत को अपने रुपये का अवमूल्यन विदेशी दवाव के कारण ही करना पड़ा था।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात अमरीकी आर्थिक दवाव के कारण ही फ्रांस और इटली के मिले-जुले मन्त्रिमण्डलों में से साम्यवादियों को निकाला गया था। दक्षिण वियतनाम, दक्षिण कोरिया और लेटिन अमरीका के देशों के शासनतन्त्रों पर भी अमरीका अपनी आर्थिक सहायता के ही वलवूते पर हावी रहा है। सोवियत आर्थिक सहायता के कारण ही अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप की भारत स्पष्ट आलोचना नहीं कर पाया।

किसी भी महाशक्ति की विदेश नीति में यह वात प्रमुख होती है कि छोटे राष्ट्रों के आन्तरिक राजनीतिक परिवर्तनों को आत्मानुकूल वनाये रखने का प्रयत्न किया जाय। इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए विदेशी सहायता का एक महत्वपूर्ण अंश प्रयुक्त किया जाता है। कभी सहायता का उपयोग शासक वर्ग की स्थिति को मजवूत वनाकर यथास्थिति वनाये रखने के लिए किया जाता है तो कभी विरोधी ताकतों को मजवूत वनाकर यथास्थिति भंग की जाती है। अफगानिस्तान में सरदार दाऊद की सरकार को लगभग ढाई करोड़ डालर की जो सोवियत सैनिक सहायता प्राप्त हुई उसे केवल आँकड़ों की दृष्टि से देखकर छोटा नहीं समझना चाहिए। इसके परिणामस्वरूप अफगान सैनिक स्कूल के प्रशिक्षण आदि का कार्य तुर्की विशेपज्ञों के हाथ से निकलकर सोवियत अधिकारियों

के हाथ में आता गया। सन् 1960-61 तक अफगान सेना पर सोवियत संघ की तुलना में अमरीका का किंचित मात्र भी असर नहीं था। अफगान सेना के ऊपर से नीचे तक सभी विभागों के साथ सोवियत विशेषज्ञ और प्रशिक्षक जुड़े हुए थे।

अविकसित राष्ट्रों को दी जाने वाली सहायता का एक महत्वपूर्ण प्रयोजन शुद्ध आर्थिक हितों का सम्पादन करना भी है। सोवियत विद्वान ए० कोदाचेकों के शब्दों में, अल्पविकसित राष्ट्रों के साथ सम्पन्न व्यापार और सहायता समझौतों के अन्तर्गत सोवियत संघ जो अनुदान देता है वह इन देशों में सोवियत निर्यात को बढ़ाने का एक कारण सिद्ध होता है तथा उससे न केवल कच्ची सामग्री का विनिमय होता है बल्कि भविष्य में अल्पविकसित देशों को निर्यात करने की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं, इसी का परिणाम है कि इन देशों को प्रदत्त सोवियत सहायता की मात्रा जितनी बढ़ जाती है, उसके साथ ही सोवियत व्यापार भी बढ़ता जाता है। व्यापार में भी निर्यात अधिकाधिक बढ़ता जाता है।

अफगानिस्तान को अमरीका द्वारा आर्थिक सहायता देने का प्रयोजन यह था कि वह पूरी तरह सोवियत संघ पर निर्भर न हो जाये। अमरीका चाहता था कि सहायता और व्यापार के माध्यम से अफगानिस्तान गैर-साम्यवादी जगत के साथ जुड़ा रहे। इसीलिए ज्यों-ज्यों सोवियत संघ से साथ अफगानिस्तान के आर्थिक सम्बन्ध बढ़ते जाते थे, अमरीका भी आर्थिक सहायता बढ़ाने का प्रयत्न करता।

अफगानिस्तान को आर्थिक सहायता देने के पीछे अमरीका के गहरे सामरिक प्रयोजन भी थे। तुर्की, ईरान और पाकिस्तान सुरक्षा श्रृंखला में अफगानिस्तान एक टूटी हुई कड़ी की तरह लगता था। यदि वह खाली जगह सोवियत प्रभाव से भर जाती तो अमरीका की सुरक्षा रणनीति को भारी सामरिक खतरे का सामना करना पड़ता। इसीलिए अफगानिस्तान के लिए उपयोगी न होने के बावजूद भी अमरीकी सहायता से कन्धार में एक विशाल और आधुनिक विमान क्षेत्र बनाया गया। अफगानिस्तान को इस तरह की सहायता देते हुए अमरीकी नीतिनिर्माता यह स्पष्ट जानते थे कि वे अफगानिस्तान की मैत्री खरीदने के लिए नहीं बल्कि अपनी सुरक्षा खरीदने के लिए लाखों डॉलर अफगानिस्तान में बहा रहे हैं।

अमरीकी सहायता अत्यधिक यथार्थवादी है। यद्यपि विदेश नीति के उपकरण के रूप में उसके राजनीतिक और सामरिक प्रयोजन होते हैं किन्तु उसके निजी अन्तर्जात आर्थिक प्रयोजन का तर्क सबसे बड़ा तर्क है। अमरीकी सहायता का प्रयोजन अल्प-विकसित राष्ट्रों के लिए दानपुण्य करना नहीं है बल्कि शुद्ध वणिक वृत्त के आधार पर अधिक धन कमाना है। सन् 1950 में प्रस्तुत की गयी प्रसिद्ध ग्रे रिपोर्ट में अमरीकी राष्ट्रपति ट्रूमैन को बताया गया कि :

"अमरीका के लिए कच्चे मालों की जरूरत बढ़ती ही जायेगी, क्योंकि (इन चीजों के) आन्तरिक स्रोत तेजी से सूख रहे हैं। हम अनेक खनिजों और अन्य प्राथमिक वस्तुओं का आयात करते हैं जो कि हमारी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और जो कि अधिकांशतया अल्पविकसित क्षेत्रों में पैदा होती हैं।"[1]

इन खनिजों तथा अन्य कच्चे मालों को प्राप्त करने के लिए तथा अमरीका में बने मालों और कृषि आदि के अतिरिक्त शेष पदार्थों को उचित दामों में विदेशी बाजारों में खपाने के लिए अमरीका विदेशी सहायता और व्यापार का इस्तेमाल करता है। सीनेटर बायली और विदेशमन्त्री डलेस के बीच हुए इस वार्तालाप को एक प्रमाण के रूप में उपस्थित किया जा सकता है :

1 गोर्डन ग्रे, 'रिपोर्ट टू दी प्रेजीडेण्ट ऑन फॉरेन इकॉनॉमिक पॉलिसीज" (वाशिंगटन, 1950), पृ० 591।

सीनेटर वायली—एक सवाल और।

प्रत्येक डॉलर जो कि हम सहायता के रूप में देते हैं, अमरीका में रोजगार और उद्योग की अभिवृद्धि द्वारा अपनी अर्थव्यवस्था पर असर डालता है, नहीं क्या ?

विदेशमन्त्री डलेस—जी, हाँ।

विदेशी सहायता के नाम पर दिया जाने वाला लगभग सारा धन अमरीका में ही खर्च होता है—उसका बहुत बड़ा भाग।

सीनेटर वायली—जो कुछ बाहर जाता है वह अन्ततोगत्वा माँग को जन्म देता है और फिर यहीं आ जाता है, नहीं क्या ?

विदेशमन्त्री डलेस—यह ठीक है।

सीनेटर वायली—बहुत धन्यवाद।[1]

अमरीकी सहायता के लाभों को गिनाते हुए विदेश मन्त्रालय के अधिकारी सी० डगलस ढिल्लो ने कहा कि यदि पारस्परिक सुरक्षा कार्यक्रम बन्द कर दिया जाये तो उससे अमरीका का जीवन-स्तर गिर जायेगा, क्योंकि "हमारी अर्थव्यवस्था के लिए अपरिहार्य" कच्चा सामान मिलना बन्द हो जायेगा। अन्य देशों को अमरीका जितनी सहायता देता है, उससे कई गुना अधिक वह व्यापार से कमा लेता है। इस सहायता कार्यक्रम के कारण 1957 में 7 लाख 15 हजार अमरीकियों को नियमित रोजगार मिला। अमरीकी विदेशी सहायता की छोटी मात्रा की तुलना में उसके लाभ इतने अधिक है कि "उसका नहीं होना अमरीका के लिए असंख्य रूप से खर्चीला होगा।"[2] सीनेट की विदेशी सम्बन्धों की समिति की सुनवाइयों में विदेश मन्त्री डीन रस्क ने भी सीनेटर वायली के सवालों के जवाब में यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि विदेशी सहायता का लगभग 90 से 100 प्रतिशत भाग अमरीका में ही लौटकर खर्च होता है।

निष्कर्ष—द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त आर्थिक राष्ट्रवाद की भावना अधिक बलवती हुई है। राज्य आर्थिक दबाव के नित नये तरीके अपनाते जा रहे हैं। राज्यों की विदेश नीतियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर आर्थिक तत्वों का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। आर्थिक राष्ट्रवाद समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक मुख्य विशेषता है जिसका लक्ष्य केवल अपने आर्थिक हितों का संवर्द्धन करना है।

प्रश्न

1. 'आर्थिक उपकरणों' से आपका क्या तात्पर्य है ? राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के लिए तथा-कथित 'विदेशी आर्थिक सहायता' की भूमिका का विवेचन करिए।
   What do you understand by 'economic instrument' ? Discuss the role of so-called 'foreign economic aid' for the promotin of national interest.
2. 'आर्थिक उपकरणों' से आपका क्या तात्पर्य है ? अपने राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के लिए अरब राज्य 'तेल' को एक उपकरण के रूप में कहाँ तक प्रयोग कर रहे है ?
   What do you understand by economic instrument ? How far are the Arab countries using 'oil' as an instrument for the promotion of their national interests ?
3. राष्ट्रीय हितवर्द्धन में आर्थिक उपकरणों का क्या स्थान है ?
   What is the role of economic instruments in the promotion of national interest ?

---

[1] यू० एस० सीनेट, 85वीं कांग्रेस, पहला सत्र, कमेटी ऑन फॉरेन रिलेशन्स 'हीयरिंग्स' म्युचुअल सिक्योरिटी ऐक्ट ऑफ 1957 (वाशिंगटन, 1957), पृ० 13।

[2] वेदप्रताप वैदिक, **अफगानिस्तान में सोवियत-अमरीकी प्रतिस्पर्द्धा** (नेशनल, 1973), पृ० 212।

21

राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के साधन : युद्ध

[INSTRUMENTS FOR THE PROMOTION OF NATIONAL INTEREST : WAR]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में किसी भी देश के राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए युद्ध अन्तिम उपाय माना जाता है। जब दो देशों की राजनीतिक समस्याओं का समाधान कूटनीतिक वार्ता तथा अन्य शान्तिपूर्ण साधनों से सम्भव नहीं होता है तभी लड़ाई के मार्ग का अवलम्बन किया जाता है। प्राचीन भारतीय नीतिकारों ने साम, दाम और भेद के बाद ही दण्ड के उपाय का आश्रय लेने का परामर्श दिया था। युद्ध अपने आप में इतना अनिश्चित, व्ययसाध्य और भयावह साधन है कि राजनीतिज्ञ इस बात का पूरा प्रयत्न करते हैं कि अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों को पूरा करने के लिए युद्ध का अवलम्बन न करना पड़े। किन्तु कतिपय परिस्थितियों में राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के साधन हेतु राजनीतिज्ञों को इस अन्तिम उपाय की शरण लेनी पड़ती है।

1914 में जब जर्मनी ने फ्रांस पर हमला करने के लिए अपनी सेनाएँ बेल्जियम के तटस्थ देश में भेजीं तो ग्रेट ब्रिटेन की सुरक्षा के लिए एक महान संकट उत्पन्न हो गया; क्योंकि यहाँ से डोवर जल प्रणाली को पार करके ब्रिटेन पर आक्रमण किया जा सकता था। इस संकट के निवारण के लिए ग्रेट ब्रिटेन ने बेल्जियम को सदैव तटस्थ बनाये रखने की दृष्टि से 1836 में एक सन्धि की थी। इस पर जर्मनी ने भी हस्ताक्षर किये थे। जब ब्रिटेन ने जर्मनी को इस सन्धि का स्मरण कराते हुए यहाँ से अपनी सेनाएँ हटा लेने का अनुरोध किया तो जर्मन ने इस सन्धि को रद्दी कागज का टुकड़ा बताते हुए उसके प्रस्ताव को ठुकरा दिया। राजनयिक वार्ता द्वारा इस समस्या का समाधान न होने पर ही ब्रिटेन को प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषणा करने के लिए बाधित होना पड़ा। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि जब शान्तिपूर्ण कूटनीतिक उपाय राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने में विफल हो जाते हैं, तब राज्यों के लिए युद्ध का ही मार्ग शेष रह जाता है। अतः युद्ध राजनीतिक समस्याओं को हल करने के लिए लड़े जाते हैं। जर्मन विचारक क्लाजविट्ज के शब्दों में, "युद्ध एक प्रकार का राजनीतिक सम्पर्क है। यह कूटनीति के अतिरिक्त अन्य साधनों से विदेशी नीति को जारी रखने का प्रयास है।"

युद्ध का अर्थ
(MEANING OF WAR)

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण हल न होने पर इनके समाधान के लिए युद्ध के उपाय का अवलम्बन किया जाता है। जब दुर्योधन ने पाण्डवों के दूत श्रीकृष्ण के पाँच गाँव देने के न्यूनतम प्रस्तावों को ठुकराते हुए कहा 'सूच्यग्रं नैवं दास्यामि विना युद्धेन केशव' तो पाण्डवों के लिए संग्राम करना अनिवार्य हो गया। युद्ध राज्यों के मध्य सशस्त्र सेनाओं द्वारा किया जाने वाला ऐसा संघर्ष

है जिसमें दोनों एक-दूसरे को वलपूर्वक जीतकर उससे अपनी वात मनवाना चाहते हैं। हॉल ने इसका स्वरूप वताते हुए कहा है—"जव राज्यों के मध्य मतभेद इतने अधिक वढ़ जाते हैं कि दोनों पक्ष वल प्रयोग का अवलम्वन करते है अथवा उनमें से कोई एक पक्ष हिंसा के ऐसे कार्य करता है, जिन्हें दूसरा पक्ष शान्ति का भंग समझता है तो दोनों में युद्ध का सम्वन्ध उत्पन्न हो जाता है। इनमें दोनों पक्ष एक-दूसरे के विरुद्ध नियन्त्रित हिंसा का प्रयोग उस समय तक करते है, जव तक कि दोनों में से एक पक्ष उन शर्तो को स्वीकार करने को तैयार न हो जाय, जिन्हें उसका शत्रु उससे मनवाना चाहता है।"[1] ओपेनहीम के अनुसार, "युद्ध दो या अधिक राज्यों में अपनी सशस्त्र सेनाओं द्वारा इस उद्देश्य से किया जाने वाला संघर्ष है कि दूसरे पक्ष को पराजित किया जाय, और विजेता द्वारा उस पर शान्ति स्थापित करने की मनचाही शर्ते थोपी जायँ।"[2] मेलिनोस्की के अनुसार, "युद्ध स्वतन्त्र राजनीतिक इकाइयों के वीच का सशस्त्र संघर्ष है। यह राष्ट्रीय अथवा जातीय नीतियों की साधना के लिए संगठित सैनिक शक्तियों द्वारा किया जाता है।" क्विसी राइट ने युद्ध को व्यापक और संकीर्ण अर्थ में परिभाषित किया है। व्यापक अर्थ में राइट ने युद्ध की परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'वह स्पष्टतः भिन्न परन्तु एकसी एकाइयों के वीच हिंसापूर्ण सम्पर्क है।' सीमित अर्थ में युद्ध से उसका अभिप्राय 'उस कानूनी स्थिति से है जो दो या उससे भी अधिक समुदायों को सशस्त्र सेनाओं के माध्यम से संघर्ष के संचालन की समान रूप से अनुमति प्रदान करती है।' कॉर्ल वॉन क्लॉजविट्स के मतानुसार, 'युद्ध राजनीतिक समागम (सम्वन्धों) का केवल एक अंग है, इसलिए किसी भी तरह स्वयं में एक स्वतन्त्र चीज नहीं है। युद्ध अन्य साधनों के सम्मिश्रण रहित राजनीति समागम की निरन्तरता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में युद्ध की परिभाषा इस प्रकार की गयी है—"युद्ध दो परस्पर विरोधी नीतियों का अनुगमन करने वाले दो मानव समुदायों के वीच संगठित शक्ति का इस आशय के साथ प्रयोग का नाम है ताकि एक समुदाय दूसरे के ऊपर अपनी इच्छा थोप सके।"

उपरोक्त परिभापाओं से युद्ध के सम्वन्ध में निम्नलिखित तथ्य उभरते हैं : (i) युद्ध के लिए एक से अधिक समूहों की आवश्यकता होती है; (ii) इन समूहों के मूल उद्देश्य एक दूसरे के विरोधी होते है; (iii) इन समूहों के हित परस्पर इतने विरोधी और उग्र हो जाते हैं कि समझौते की सम्भावना प्रायः नहीं रहती; (iv) अपने हितों की प्राप्ति के लिए शक्ति का एक प्रकार से व्यवस्थित प्रयोग किया जाता है; (v) युद्ध का उद्देश्य अपने हितों को प्राप्त करना और दूसरे पक्ष पर अपनी इच्छा को थोपना होता है।

युद्ध के प्रकार
(CLASSIFICATION OF WARS)

युद्धों को उनकी प्रकृति, प्रसार एवं उद्देश्यों की दृष्टि से कई भागों में विभाजित किया जाता है :

(1) **न्यायपूर्ण और अन्यायपूर्ण युद्ध**—मध्यकाल में धार्मिक आधार पर युद्धों को न्यायपूर्ण और अन्यायपूर्ण रूप में विभाजित किया जाता था। आजकल धर्म का प्रभाव हटने से न्यायपूर्ण युद्ध उन्हें कहा जाता है जो किसी देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता या प्रादेशिक अखण्डता को सुरक्षित रखने के लिए लड़ा जाये। विस्तारवादी नीति से प्रेरित युद्ध अन्यायपूर्ण होते है।

(2) **व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक युद्ध**—सार्वजनिक युद्ध वह होता है जिसमें दो सम्प्रभुता-सम्पन्न राज्य संघर्ष करते हैं। व्यक्तिगत युद्ध वड़े सेनापतियों अथवा जमींदारों के वीच होता था।

(3) **पूर्ण एवं अपूर्ण युद्ध**—जव दो राष्ट्रों के वीच पारस्परिक युद्ध प्रारम्भ हो जाता है

---
1 Hall, *International Law*, 8th edition, p. 81.
2 Oppenheim, *International Law*, Vol. 2, 7th edition, p. 202.

तो वह पूर्ण युद्ध कहलाता है। जब यह लड़ाई अथवा युद्ध कुछ व्यक्तियों अथवा स्थानों तक ही सीमित रहता है तो इसे अपूर्ण युद्ध के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

(4) **गृहयुद्ध**—जब एक ही राज्य के विभिन्न पक्ष युद्ध करते हैं तो वह गृह युद्ध कहलाता है। ओपेनहीम के अनुसार, "गृह युद्ध के अन्तर्गत एक राज्य में दो परस्पर विरोधी पक्ष सत्ता प्राप्त करने के लिए शस्त्रों का सहारा लेते हैं अथवा जनता का एक बड़ा भाग वैध सरकार के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह करता है।"

(5) **औपचारिक तथा अनौपचारिक युद्ध**—औपचारिक युद्ध वह होता है जिसमें युद्ध की घोषणा विधिवत रूप से की जाती है। इसके विपरीत, बिना घोषणा के किया गया युद्ध अनौपचारिक कहलाता है।

(6) **छापामार युद्ध**—जब दूसरा पक्ष प्रबल होता है तो एक राज्य छापामार युद्ध के तरीके को अपनाता है। ओपेनहीम के अनुसार, "इस युद्ध के अन्तर्गत लड़ाई शत्रु के द्वारा अधिकृत प्रदेश में ऐसे सशस्त्र व्यक्ति समूहों द्वारा लड़ी जाती है जो किसी संगठित सेना का भाग नहीं होते। इनके पास इतनी शक्ति नहीं होती कि वे शत्रु के साथ खुलकर लड़ सकें।" इसलिए इनके आक्रमण गुप्त रूप से चोरी-छिपे शत्रु पर छापा मारने के रूप में होते हैं। यही कारण है कि इसे छापामार युद्ध कहा जाता है। 19वीं शताब्दी में इन युद्धों को अवैध कहा जाता था। छापामार सेना कानूनी मान्यता नहीं रखती। पिछले दो विश्वयुद्धों ने इस धारणा को बदल दिया है। द्वितीय विश्वयुद्ध में हिटलर द्वारा पराभूत किये जाने के बाद फ्रांस आदि अनेक देशों में जर्मनी के विरुद्ध इस प्रकार के प्रतिरोध आन्दोलन तथा छापामार युद्ध होते रहे थे।

(7) **समग्र युद्ध** (Total War)—प्राचीनकाल में जो युद्ध होते थे वे राज्यों की प्रतिद्वन्द्वी सेनाओं में हुआ करते थे। उस युद्ध का जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था और यदि पड़ता भी था तो बहुत कम। मैगस्थनीज जो सम्राट अलेक्जेण्डर के आक्रमणकाल में भारत आया था, लिखता है कि युद्ध के समय कृषक बिना किसी विघ्न के अपना कृषि सम्बन्धी कार्य करते थे। परन्तु वर्तमान समय के युद्धों और प्राचीनकाल के युद्धों में बड़ा अन्तर हो गया है। आधुनिक समय में केवल दो देशों की सेनाओं में ही युद्ध नहीं होता बल्कि जनता भी युद्ध में भाग लेती है। इसलिए इस प्रकार के युद्ध को समग्र युद्ध (the total war) कहा जाता है। मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, "अब न केवल शारीरिक दृष्टि से योग्य पुरुषों को सेना में अनिवार्य रूप से भर्ती किया जाता है, बल्कि तानाशाही देशों में स्त्री और बच्चों को भी सेना में भर्ती किया जाता है। गैर-तानाशाही देशों में सहायक सेवाएँ जैसे वैक्स, वेब्स इत्यादि के लिए स्त्रियों से स्वेच्छापूर्वक सेवा करने की प्रार्थना की जाती है। प्रत्युत हर स्थान पर, सब उत्पादक शक्तियों को युद्ध के उद्देश्य की पूर्ति के लिए काम में लाया जाता है।"[1]

आधुनिक युद्ध में विजय पाने के लिए समूची जनता का सहयोग लिया जाता है और इसमें किसी प्रकार के नियम, नीति और विवेक की परवाह नहीं की जाती। अणु बमों, विषैली गैसों और प्रक्षेपणास्त्रों के प्रयोग में कोई संकोच नहीं किया जाता। सैनिक-असैनिक का भेद बिल्कुल भुला दिया जाता है। ओपेनहीम ने इस स्थिति के पांच कारण बताये हैं।[2] पहला कारण सैनिकों की संख्या में विलक्षण वृद्धि है। अब प्रायः अधिकांश राज्यों में अनिवार्य सैनिक सेवा का नियम है, इस कारण देश के सभी बालिग पुरुष शस्त्र धारण करते हैं। **दूसरा कारण** यह है कि युद्ध की प्रक्रिया जटिल होने से उसके लिए आवश्यक सामग्री की मात्रा बहुत बढ़ गयी है। इसका

---

1 Morgenthau, *Politics among Nations*, 1963, Chapter 22.
2 Oppenheim, *Ibid.*, p. 207.

उत्पादन करने के लिए विभिन्न युद्धोद्योगों में असैनिक जनता का एक बड़ा भाग लगा रहता है। **तीसरा कारण** हवाई युद्ध का विकास है। इससे लड़ाई का क्षेत्र अब केवल रण के मैदान तक सीमित नहीं रहा, किन्तु शत्रु के युद्ध प्रयत्नों को क्षति पहुँचाने की दृष्टि से रणक्षेत्र से बाहर के पुलों, शस्त्रास्त्र तैयार करने वाले कारखानों, रेल के स्टेशनों, औद्योगिक केन्द्रों, बन्दरगाहों और शत्रु को सहायता पहुँचाने वाले जलपोतों को हवाई बमवर्षा का लक्ष्य बनाया जा रहा है। **चौथा कारण** यह है कि अब शत्रु को परास्त करने ने लिए आर्थिक दृष्टि से उस पर दबाव डालने वाले कार्य अधिक मात्रा में किये जाने लगे हैं। इसका यह परिणाम हुआ है कि अब युद्ध का प्रभाव दो राज्यों की सेनाओं तक ही सीमित नहीं रहा, किन्तु सारी असैनिक जनता को भी युद्ध के परिणामों का फल भोगना पड़ता है। **पाँचवाँ कारण** हिटलर के नात्सी जर्मनी एवं मुसोलिनी के फासिस्ट इटली जैसे अधिनायकवादी राज्यों का अभ्युत्थान है। इसमें व्यक्ति के प्राण और सम्पत्ति पर शान्ति एवं युद्धकाल में राज्य का पूरा अधिकार समझा जाता है। इसमें सैनिक और असैनिक जनता की भेदक रेखा लुप्त होने लगी है तथा समूचा राष्ट्र युद्ध संलग्न समझा जाने लगा है। इन परिस्थितियों ने समग्र युद्ध के विचार को मूर्त रूप प्रदान किया है।

युद्ध के कार्य
(THE FUNCTIONS OF WAR)

युद्ध राज्यों की विदेश नीति के क्रियान्वयन में उपयोगी सिद्ध हुए हैं। यदि ऐसा न होता तो इतिहास में युद्धों की निरन्तरता नहीं रहती। क्लाइड ईगल्टन के शब्दों में, "युद्ध किसी लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन है।" युद्धों द्वारा राष्ट्रीय हितों की पूर्ति होती है। युद्ध से जिन लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है उसको दूसरे किसी साधन द्वारा प्राप्त किया जाना असम्भव है और यही कारण है कि युद्ध खर्चीला, विध्वंसक तथा हिंसात्मक होने पर भी अपनाया जाता है। कार्ल वान क्लाजविट्ज के शब्दों में, "एक समुदाय, समस्त राष्ट्र और विशेषकर सभ्य राष्ट्रों द्वारा युद्ध सदैव ही राजनीतिक उद्देश्य के लिए और राजनीतिक स्थिति से किये जाते हैं··· युद्ध अन्य साधनों द्वारा राष्ट्रीय नीतियों की निरन्तरता मात्र ही है।" युद्ध द्वारा सम्पादित किये जाने वाले कार्य इस प्रकार हैं :

(1) ***न्याय की स्थापना***—इतिहास में युद्ध का एक महत्वपूर्ण योगदान अन्याय का प्रतिकार करने की दिशा में रहा है। ईगल्टन के शब्दों में, 'शताब्दियों से युद्ध अन्यायपूर्ण परिस्थितियों के प्रतिकार, विवादों के निवटारे तथा अधिकारों की कार्यान्विति का साधन माना गया है।'

(2) **शोषण का विरोध**—युद्ध की सहायता से मनुष्यों को दमन और अन्याय से छुटकारा मिला है। इतिहास साक्षी है कि व्यक्ति एवं समुदाय द्वारा स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए तथा शोषण से मुक्ति के लिए अनेक बार युद्ध लड़े गये हैं। उदाहरण के लिए, अमरीकी स्वाधीनता संग्राम ने वहाँ के निवासियों को ब्रिटेन की दासता से मुक्ति दिलायी थी, इसी प्रकार फ्रांस की क्रान्ति के बिना फ्रेंच जनता की मुक्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

(3) **युद्ध सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति का साधन है**—ऐसा भी कहा जा सकता है कि युद्ध राज्य की सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति का साधन है। विश्वशान्ति की स्थापना के लिए एक राज्य सब कुछ स्वीकार कर लेगा किन्तु वह आत्मरक्षा के अधिकार को नहीं छोड़ेगा क्योंकि यह उसकी सम्प्रभुता का परिचायक है। पामर तथा पर्किन्स के अनुसार, "जब तक सम्प्रभुता रहेगी तब तक युद्ध भी रहेगा।"

(4) **साम्राज्यवादी युद्धों का औचित्य**—कुछ लेखकों ने साम्राज्यवादी युद्धों में भी औचित्य की खोज करने का प्रयास किया है। उदाहरण के लिए, शोटवैल और क्विंसी राइट ने लिखा है कि इन युद्धों ने विश्व के पुनर्निर्माण और आधुनिकीकरण के लिए मार्ग प्रशस्त किया। संसार की तकनीक और औद्योगिक प्रगति उस कच्चे माल अथवा खनिज सम्पत्ति की अनुपस्थिति में नहीं हो

सकती थी जिसे शक्तिशाली राज्यों ने तलवार की नोंक पर (युद्ध के माध्यम से) दुर्बल राज्यों से छीना था। अफ्रीकनों के हाथ में कोबाल्ट का कोई मूल्य नहीं था, परन्तु जब यह यूरोप के वैज्ञानिकों के हाथ में आ गया तो तकनीकी प्रगति को आगे बढ़ाने में एक महत्वपूर्ण कारक बन गया।

(5) **युद्ध की रचनात्मक भूमिका**—युद्ध के कार्यों के सम्बन्ध में एक दृष्टिकोण नाजियों और फासिस्टों ने प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार युद्ध राष्ट्र में रचनात्मक शक्तियों को बढ़ावा देता है। युद्ध की अनुपस्थिति मे राष्ट्र का पतन होता है और संसार का वांछित विकास अवरुद्ध हो जाता है।

(6) **राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था का पुनर्निर्माण**—आधुनिक युग के सभी महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन युद्ध के द्वारा हुए हैं। राष्ट्र राज्यों की स्थापना तथा आधुनिक सभ्यता के विकास में युद्ध की प्रमुख भूमिका रही है। युद्ध के द्वारा ही स्वतन्त्रता की प्राप्ति तथा लोकतन्त्र की रक्षा हुई है। युद्ध की महत्वपूर्ण भूमिका को शाटवेल ने इस प्रकार बताया है—"युद्ध वह साधन रहा है जिसके द्वारा राजनीतिक तथा राष्ट्रीय इतिहास के अधिकांश तत्वों की स्थापना हुई है। इसका प्रयोग स्वतन्त्रता की प्राप्ति तथा लोकतन्त्र की सुरक्षा के लिए किया गया है। आज का मानचित्र अधिकांशत: युद्ध के मैदान में बनाया गया है।"

आधुनिक समय में शक्तिशाली राष्ट्रों की स्थापना भी युद्ध के द्वारा ही हुई है। इंगलैण्ड, अमरीका, फ्रांस, रूस, चीन तथा जापान आदि ने युद्ध के द्वारा ही अपने क्षेत्रों तथा शक्ति में वृद्धि की है। सभ्यता तथा ईसाइयत का प्रसार भी युद्धों के द्वारा ही किया गया है। पामर तथा पर्किन्स के अनुसार, 'युद्ध आधुनिक विश्व—इसके राज्यों, इसके उद्योगों, इसकी नैतिकता और इसके सांस्कृतिक स्वरूप का प्रमुख निर्माता रहा है।"

(7) **नैतिक तथा आत्मिक गुणों का उत्कर्ष**—यह भी धारणा है कि युद्ध के द्वारा नैतिक तथा आत्मिक गुणों का विकास होता है। युद्ध मनुष्य के अन्दर सोये हुए त्याग, संयम आदि गुणों को जागृत करता है। नाजी विचारक उच्चतर जाति की धारणा में विश्वास करते थे। उनका यह भी विश्वास था कि उच्चतर जातियों की श्रेष्ठता स्थापित होने के लिए युद्ध आवश्यक है।

(8) **युद्ध राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि का साधन**—युद्ध राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि का साधन है। यदि मानव सभ्यता के प्रारम्भ से अभी तक युद्धों की गणना की जायें तो ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व में शान्ति नहीं, किन्तु युद्ध स्थिति ही रही है। पामर व पर्किन्स के अनुसार यदि युद्ध उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक न होता, या शासक सरकारें तथा व्यक्ति युद्ध की इच्छा न करते तो युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय समाज में निरन्तरता या स्थायित्व का रूप धारण न करता। प्रो० शॉटवेल ने युद्ध को विश्व इतिहास में महत्वपूर्ण तथ्यों को निर्धारण करने का साधन-स्वीकार किया है। उनके अनुसार युद्ध ने राजनीतिक संकटों में प्रमुख भूमिका निर्वाह की है। अधिनायक-वादी राज्य तो युद्ध को राजनीति का प्रमुख साधन मानते हैं। साम्यवादी राज्य युद्ध तथा संघर्ष के द्वारा ही पूँजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के लिए कटिबद्ध होते है। इस विचार को माओत्सेतुंग ने इस प्रकार व्यक्त किया है—"क्रान्ति का मुख्य कार्य तथा सर्वोत्तम स्वरूप राजनीतिक सत्ता को शक्ति द्वारा प्राप्त करना तथा समस्याओं को युद्ध से हल करना है। हथियारों से राज-नीतिक सत्ता का अभ्युदय होता है।" नाजीवादी और फासीवादी युद्ध को मानवता तथा सभ्यता की चरम सीमा मानते थे। उनके विस्तारवादी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए युद्ध ही साधन था।

यथार्थवादी विचारक यद्यपि सैद्धान्तिक आधार पर युद्ध को मान्यता नहीं देते तथापि विशेष परिस्थितियों में सीमित शक्ति का प्रयोग करने से नहीं हिचकिचाते। वे विदेश नीति को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए शक्ति को पृष्ठभूमि में रखने का अवश्य ही सुझाव देते हैं। पामर एवं पर्किन्स के अनुसार युद्ध शक्ति का अन्तिम स्वरूप है जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की

पृष्ठभूमि में निरन्तर मँडराया करता है। जैसा कि शूमां ने भी लिखा है कि युद्ध राजनीति से ही सम्बन्धित तत्व है। इसे राजनीति के किसी विशेष उद्देश्य या कार्य के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है।

युद्ध की सम्भावना समस्त अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों की पृष्ठभूमि में सदैव उपस्थित रहती है, क्योंकि दो राज्यों की शक्ति का तुलनात्मक अन्तिम निर्णय युद्ध से ही होता है। राज्य अपने हितों का विकास करने के लिए सन्धियों, समझौतों, राजनय, प्रचार आदि कई उपकरणों का निरन्तर प्रयोग करता रहता है तथापि शक्ति राजनीति की दृष्टि से भी ये सभी माध्यम युद्ध से गौण माने जाते हैं। इन सब माध्यमों के विफल होने पर अन्तिम साधन के रूप में राज्य अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए युद्ध का आश्रय लेते हैं। शस्त्र शक्ति के उपयोग का सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालन में युद्ध अन्तिम युक्ति है तथा निर्णायक तत्व है।

युद्ध के कारण
(CAUSES OF WAR)

युद्ध के कारण राष्ट्रों के वे उद्देश्य हैं जिनकी प्राप्ति के लिए युद्ध की नीति का एक साधन के रूप में प्रयोग किया जाता है। क्विन्सी राइट ने अपनी पुस्तक में युद्ध के कारणों का राजनीतिक, तकनीकी, सामाजिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक आधारों पर विवेचन किया है। प्रसिद्ध लेखक टर्नर ने अपनी पुस्तक 'The Causes of War and the New Revolution' में युद्ध के कारणों की एक व्यापक सूची प्रस्तुत की है। हम युद्ध के कारणों को निम्नलिखित ढंग से गिना सकते हैं :

(1) **राजनीतिक कारण**—युद्ध मुख्यतया राजनीतिक कारणों से होता है। अमर्यादित सम्प्रभुता, शक्ति सन्तुलन की समस्या, दूसरे राज्यों के प्रति अविश्वास, भय, सन्देह की भावना, आक्रामक विदेश नीतियाँ आदि कई कारण युद्धों को जन्म देते हैं। युद्ध इस दृष्टि से एक राजनीतिक इकाई द्वारा दूसरी राजनीतिक इकाई के साथ अपने स्वार्थों की पूर्ति का संघर्ष है। इस दृष्टि से युद्ध करने का अधिकार सम्प्रभुता की सबसे मुख्य विशेषता है और राज्य अपने इस अधिकार की रक्षा के लिए अत्यन्त जागरूक है।

(2) **मनोवैज्ञानिक कारण**—मनोवैज्ञानिकों ने युद्ध के कारणों की विवेचना करते हुए कई उत्तर दिये हैं। **फ्रायड** तथा अन्य कई मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि मनुष्य में विनाशकारी प्रवृत्ति होती है जो उसे लड़ने के लिए प्रेरित करती है। यह भी कहा जाता है कि मनुष्यों में दूसरों पर शासन करने की इच्छा होती है जो उनमें विस्तारवादी भावना को प्रोत्साहित करती है। बदला लेने की इच्छा, संग्रह करने की प्रवृत्ति आदि को भी मनोवैज्ञानिक आंशिक रूप में युद्धों का कारण मानते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध में संयुक्त राज्य अमरीका युद्ध में इसलिए शामिल हुआ था क्योंकि वह पर्लहार्बर पर जापान के आक्रमण का बदला चाहता था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इटली और जर्मनी में भूमिलिप्सा की प्रवृत्ति, संग्रह इच्छा ही थी। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार युद्ध इसलिए भी होते हैं क्योंकि मनुष्यों की साहसपूर्ण और उत्तेजनात्मक कार्यों में रुचि होती है और युद्ध में उनकी इस इच्छा को पूरा करने का पूर्ण अवसर प्राप्त होता है। इस प्रकार युद्ध के कारण मनुष्य के स्वभाव में निहित हैं।

(3) **सांस्कृतिक कारण**—ऐसा भी माना जाता है कि सांस्कृतिक, वैचारिक तथा धार्मिक कारणों ने युद्धों को जन्म दिया है। यह कहा जाता है कि संस्कृति और विचारधारा का सम्बन्ध एक बड़ी सीमा तक धर्म के साथ है, इसलिए विश्व इतिहास में जितने भी युद्ध अभी तक धर्म के नाम पर लड़े गये हैं उन्हें इसी कारण से अनुप्राणित समझा जाना चाहिए। प्रोटेस्टेण्ट-कैथोलिक, ईसाई-मुस्लिम मतभेद एवं हिन्दू-मुस्लिम मतभेद संघर्षों को जन्म देते रहे हैं। मध्यकालीन यूरोप में

धर्म के नाम पर कई युद्ध हुए हैं। बहुत से राज्यों ने दूसरे देशों पर अपनी संस्कृति को थोपने के लिए दबाव एवं शक्ति का प्रयोग किया है।

बीसवीं शताब्दी को विचारधाराओं के संघर्ष का युग कहा जाता है। इसमें लोकतन्त्र तथा अधिनायकतन्त्र, पूँजीवादी विचारधाराओं तथा साम्यवादी विचारधाराओं में खूब संघर्ष चला है और छोटे-मोटे युद्ध इन्हीं संघर्षों का परिणाम हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध में एक ओर फासिस्ट शक्तियाँ थीं, तो दूसरी ओर प्रजातन्त्र में विश्वास रखने वाले देश थे। साम्यवादी और पूँजीवादी देशों में अनिवार्य संघर्ष होना मार्क्स, लेकिन अथवा स्टालिन की मूल मान्यता है। 1945 के पश्चात् विश्व में शीतयुद्ध की स्थिति, दो विरोधी विचारधाराओं का ही परिणाम थी।

(4) **आर्थिक कारण**—आर्थिक समस्याएँ भी युद्ध का कारण होती हैं। सम्भवत: ही कोई ऐसा युद्ध हो जिसमें आर्थिक समस्याओं के प्रश्न न हों—(i) यदि किसी देश में (जैसे जापान, इटली, जर्मनी) जनसंख्या की अधिक वृद्धि हो जाती है तथा देश की आर्थिक स्थिति इस भार को वहन नहीं कर सकती तो राज्य ऐसे क्षेत्रों की तलाश करते हैं जो आर्थिक दृष्टि से उपजाऊ हों तथा जहाँ अतिरिक्त जनसंख्या को वसाया जा सके। यह युद्ध द्वारा ही सम्भव हो सकता है। (ii) साम्यवादी विचारकों का मत है कि युद्ध पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का आवश्यक परिणाम है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की मुख्य विशेषता यह है कि नियोजन के लिए कोई स्थान नहीं होता है। फलत: पूँजीवादी अर्थतन्त्र में आये दिन अधिक उत्पादन का संकट पैदा होता है। इस अधिक उत्पादन को खपाने के लिए पूँजीवादी देश मण्डियों की खोज में रहते हैं और मण्डियों की यही खोज युद्ध और साम्राज्य-वाद को जन्म देती है। (iii) युद्ध आर्थिक प्रतियोगिताओं के कारण भी हुए हैं। 18वीं और 19वीं शताब्दियों में यूरोप के राज्यों में भारी आर्थिक प्रतियोगिता थी और इस कारण उनमें कई युद्ध हुए। (iv) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जगत में आर्थिक प्रतिबन्धों ने भी युद्धों को जन्म दिया है। नेपोलियनिक युद्धों में व्यापारिक वन्धनों ने राज्यों को मित्र या शत्रु बनाने में वड़ा योगदान दिया था। इसके अलावा विश्व इतिहास में ऐसे अनेक युद्धों के उदाहरण हैं जिन्हें व्यापार लाभ पाने की दृष्टि से लड़ा गया। (v) एक अन्य दृष्टि से युद्धों के आर्थिक कारणों में श्लाइचर ने अर्थ के उस दानव सिद्धान्त की भी व्याख्या की है जव स्फोटास्त्रों के निर्माता यानी मृत्यु के व्यापारी अन्तर्राष्ट्रीय बैंकर्स तथा पूँजीवादी उद्योगपति अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए राष्ट्रों को युद्ध के लिए प्रेरित करते हैं।

(5) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था ने भी युद्धों को जन्म दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को नियन्त्रित करने हेतु सम्प्रभुतासम्पन्न विश्व सरकार का अभाव पाया जाता है जिससे अराजकता की स्थिति उत्पन्न हुई है। प्रथम विश्वयुद्ध के वाद शान्ति-सन्धियों द्वारा जिस अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ उसी में द्वितीय विश्वयुद्ध के वीज सन्निहित थे। राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में भी युद्धों को नहीं रोका जा सका। संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा स्थापित सामूहिक सुरक्षा की पद्धति वांछित रूप से काम करने में असफल रही है। अत: एक ऐसी नवीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को जन्म देने की आवश्यकता है जो राष्ट्रीय प्रभुसत्ता को प्रभावपूर्ण तरीके से मर्यादित करने में सफल हो सके।

युद्ध का योगदान
(CONTRIBUTION OF WAR)

महापुरुषों ने प्रत्येक युग में युद्ध को वुरा वताया है, फिर भी युद्धों की निरन्तर पुनरावृत्ति होती रही है। ऐसा नहीं है कि युद्ध सदैव बुरे ही होते हैं। इतिहास इस वात का साक्ष्य है कि कुरुक्षेत्र की लड़ाई, अमरीकी गृहयुद्ध तथा द्वितीय विश्वयुद्ध से अनेक लाभ हुए हैं। युद्ध के निम्न-लिखित योगदान को सभी ने स्वीकार किया है : (i) यदि देश पर आक्रमण किया जाता है तो रक्षा

के लिए युद्ध का प्रयोग; (ii) विदेशी शोषण से छुटकारा पाने के लिए; (iii) देश की स्वाधीनता के लिए; (iv) भ्रष्ट और निरंकुश शासन से मुक्ति पाने के लिए; (v) राष्ट्रीय एकता की रक्षा के लिए; (vi) व्यक्तियों को दासता तथा अल्पसंख्यक श्वेत शासन से मुक्ति के लिए। संक्षेप में, युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान का अन्तिम उपचार है। राज्य का अस्तित्व, आत्मरक्षा का अन्तिम उपाय भी युद्ध पर निर्भर करता है।

युद्ध का नीति-साधन के रूप में भविष्य

(THE FUTURE OF WAR AS AN INSTRUMENT OF NATIONAL POLICY)

राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में युद्ध का क्या भविष्य है? इस प्रश्न का उत्तर आज के युग में युद्ध के स्वभाव के ऊपर निर्भर करता है। प्राचीनकाल में युद्ध मनुष्यों द्वारा छोटे-मोटे हथियारों द्वारा थोड़े से ही क्षेत्र में लड़ा जाता था। ये युद्ध बहुत कम समय तक चलते थे। महाभारत का विप्लवकारी युद्ध भी लगभग दो-ढाई सप्ताह तक चला। धीरे-धीरे युद्ध के स्वभाव में परिवर्तन होता गया तथा अमरीका और रूस जैसी महानतम शक्तियाँ भी युद्ध के नाम से भयभीत होने लगती हैं।

आज के युग में, जिसे ब्रिजेजिन्स्की ने टेक्नेट्रोनिक युग की संज्ञा दी है, युद्ध का क्षेत्र और स्वभाव ही बदल गया है। उसके दो कारण हैं—सैनिकों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि तथा युद्ध का मशीनीकरण। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक यूरोप के राज्यों में भारी संख्या में नियमित सेनाएँ नहीं थीं। भाड़े पर आधारित सैनिकों की संख्या हजारों में हुआ करती थी। लेकिन प्रथम विश्वयुद्ध के बाद बड़े-बड़े राज्यों ने एक मिलियन और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद दस मिलियन (एक करोड़) सैनिकों की सीमा पार कर ली। युद्ध का मशीनीकरण होने से युद्ध की ध्वंसात्मक शक्ति काफी बढ़ गयी है। परमाणु युद्ध और जीवाणु युद्ध ने युद्ध तकनीकी में ऐसी क्रान्ति उपस्थित कर दी है जो कुछ दशाब्दियों पूर्व मशीनगन द्वारा पैदा की गयी क्रान्ति से भी बढ़कर है दूसरे महायुद्ध के अन्त में कुछ व्यक्तियों ने एक परमाणु बम फेंककर कई लाख शत्रुओं को बेकार बना दिया। यदि एक नाभिकीय बम जो बहुत घनी आबादी वाले इलाके पर डाला जाये तो करोड़ों व्यक्ति मारे जायेंगे। कुछ शक्तिशाली नाभिकीय बमों की ध्वंसात्मक शक्ति उन सब बमों के बराबर है, जो दूसरे महायुद्ध में फेंके गये थे। जीवाणु युद्ध में जो नाश की शक्तियाँ मौजूद है, वे सबसे शक्तिशाली नाभिकीय बम से भी अधिक हैं, जिनके द्वारा विशेष महत्वपूर्ण स्थानों पर जीवाणु सामग्री सरलता से व्यापक शोर उत्पन्न कर सकती है, जिसका प्रभाव असीमित जनसंख्या पर पड़ेगा। बी० एच० लिड्लहार्ट ने लिखा है, युद्ध कार्य पहले सिर्फ लड़ाई था पर अब विध्वंस का एक प्रक्रम बन गया है। आधुनिक युग में जो भी युद्ध होते है, वे सामान्यतः पूर्ण युद्ध ही होते हैं तथा पूर्ण युद्ध में सम्पूर्ण आबादी तक राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक पक्ष भी सम्मिलित होते हैं। इन युद्धों से अपार जन-धन की क्षति होती है। प्रथम विश्वयुद्ध मे फ्रांस की लगभग 15 प्रतिशत आबादी या तो मौत के घाट उतार दी गयी या अपंग कर दी गयी। द्वितीय विश्वयुद्ध में रूस की लगभग 10 प्रतिशत आबादी समाप्त हो गयी। जहाँ तक आर्थिक हानि का प्रश्न है, इसका अनुमान लगाना असम्भव है।

ऐसा लगता है कि आधुनिक शस्त्रों के विनाशकारी स्वरूप ने युद्ध को राष्ट्रीय नीति का एक असंवेदनशील साधन बना दिया है। जॉन हर्ज के अनुसार, परमाणु युद्ध की भयानकता ने महाशक्तियों के विदेश नीति सम्बन्धी रुखों में बुनियादी परिवर्तन कर दिया है क्योंकि अब स्थिति यह है कि यदि बल प्रयोग से बड़ा युद्ध भड़कने का खतरा हो तो राष्ट्र हमेशा इससे बचने की कोशिश करते रहते हैं। हर्ज इससे भी आगे बढ़कर कहते हैं कि युद्ध के बड़ा बन जाने का भय परम्परागत हथियारों के प्रयोग पर भी रुकावट लगाता है।

इस प्रकार 'युद्ध की अतिमारकता' (the age of overkill) तथा 'भय सन्तुलन' (balance of terror) को देखते हुए निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :

(i) भय सन्तुलन ने विश्वयुद्ध असम्भव बना दिया है।

(ii) युद्ध के विनाश से बचने के लिए विकल्पों की खोज की जाने लगी है।

(iii) यदि विश्वयुद्ध हुआ तो इससे विश्व संहार और सभ्यता का पूर्ण विनाश हो जायेगा।

(iv) यद्यपि विश्वयुद्ध तो नहीं होगा लेकिन स्थानीय स्तर पर कहीं-न-कहीं युद्ध चलते ही रहेंगे।

(v) राष्ट्र युद्ध न करें पर युद्ध की तैयारियाँ चलती ही रहेंगी अर्थात् युद्ध राजनीति के एक साधन के रूप में चलता ही रहेगा।

(vi) वास्तविक युद्ध यदा-कदा होते रहेंगे लेकिन युद्धों के अन्य स्वरूपों का प्रचलन बढ़ता जा रहा है जैसे शीतयुद्ध, मनोवैज्ञानिक युद्ध, आर्थिक युद्ध, राजनीतिक युद्ध, आदि।

युद्ध के विकल्प अथवा शान्ति की शर्तें
(ALTERNATIVES TO WAR OR CONDITIONS OF PEACE)

लार्ड माउण्ट बैटन के शब्दों में, "युद्ध में विजय प्राप्त करना सम्भव भी हो, परन्तु युद्ध के लक्ष्यों को प्राप्त करना आज पूर्णतया असम्भव है।" आज युद्ध में विजयी राष्ट्र अपने राजनीतिक हित प्राप्त करने में सफल नहीं होता। युद्ध की यह संकल्पना पुरानी हो चली है कि युद्ध से राजनीतिक लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं। आज राष्ट्रों के पास शस्त्र-संहारक शक्ति इतनी अधिक है कि वे सम्पूर्ण मानव जाति का कई बार पूर्ण संहार कर सकते हैं तथापि यही सबसे बड़ी पराजय है कि मानव स्वयं विनाश के लिए कटिबद्ध है। अत: केवल युद्ध की भयानकता के कारण ही नहीं वरन् नितान्त यथार्थवादी दृष्टिकोण से भी यह प्रश्न उठता है कि जब परमाणु युद्ध से राजनीतिक हितों का समाधान सम्भव नहीं है, तो युद्ध का क्या अर्थ रह जाता है ? विशिष्ट राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति परमाणु युद्ध से सम्भव ही नहीं है क्योंकि परमाणु युद्ध पूर्ण संहार का पर्यायवाची हो गया है।

यदि युद्ध त्याज्य है तो युद्ध का विकल्प क्या है ? अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से युद्ध किस प्रकार समाप्त किया जा सकता है ? जॉन फास्टर डलेस ने युद्ध को रोकने के लिए निम्नलिखित प्रस्ताव[1] प्रस्तुत किये हैं :

(1) युद्ध की विभीषिका का ज्ञान करना;

(2) यह शिक्षा देना कि युद्ध कभी उपादेय नहीं होता;

(3) आर्थिक राष्ट्रवाद के स्थान पर आर्थिक अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रसार;

(4) आक्रमणकारी राष्ट्रों द्वारा अर्जित लाभों को अमान्य करना;

(5) नि:शस्त्रीकरण का प्रसार;

(6) सामूहिक सुरक्षा के प्रावधानों की प्रभावशीलता;

(7) अन्तर्राष्ट्रीय कानून;

(8) विश्व सरकार के लिए प्रयत्न;

(9) राष्ट्रीय नीति के रूप में युद्ध का परित्याग।

विश्वशान्ति के लिए चार शर्तें आवश्यक हैं :[2]

(1) विश्व समुदाय की स्थापना तथा हितों में मतैक्य;

---

1 John Foster Dulles, *War, Peace and Charge*, Harper, 1939, pp. 72-99.

2 P. Chandra, *International Politics*, 1979, Vikas, p. 144.

(2) विश्व सरकार;
(3) शान्तिप्रिय राज्यों का शक्तिशाली होना;
(4) भय सन्तुलन होना।

आधुनिक युद्धों का स्वरूप अत्यन्त भयानक तथा विनाशकारी है। इसने मनुष्य को बुरी तरह भयभीत कर रखा है। विश्व को विनाश से बचाने के लिए इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक हो गया है कि युद्ध के सन्तोषजनक विकल्प क्या हो सकते हैं। विद्वानों ने निम्नलिखित विकल्पों का सुझाव दिया है :

(1) **निःशस्त्रीकरण**—विद्वानों का विचार है कि शस्त्रों पर नियन्त्रण लगाकर के युद्ध को रोका जा सकता है। शस्त्र राष्ट्रों को युद्ध के लिए प्रेरित करते हैं। शस्त्रों के अभाव में राष्ट्रों के पास वह साधन ही नहीं होगा जिससे वे युद्ध लड़ सकें। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने यह विश्वास व्यक्त किया था कि 'सभी राष्ट्र अपने शस्त्रों में इस सीमा तक कमी कर दें कि उनमें से कोई दूसरे पर आक्रमण करने की स्थिति में न हो।'

(2) **सामूहिक सुरक्षा**—व्यापक अर्थ में सामूहिक सुरक्षा का अर्थ किसी राष्ट्र पर होने वाले आक्रमण का सभी राष्ट्रों की सामूहिक शक्ति के द्वारा मुकाबला करना है। सभी राष्ट्रों की सामूहिक शक्ति आक्रामक राष्ट्र की शक्ति से बहुत अधिक होगी। ऐसी व्यवस्था के द्वारा केवल आक्रमण को ही नहीं रोका जा सकता बल्कि आक्रमण होने की सम्भावना ही नहीं होगी। सामूहिक शक्ति के भय से कोई राष्ट्र आक्रमण नहीं करेगा। शान्तिपूर्ण राष्ट्र इतनी शक्ति प्राप्त कर लें कि वे किसी आक्रमण का मुकाबला कर सकें कि युद्ध के द्वारा परिवर्तन करने के किसी प्रयास को बल प्रयोग के द्वारा असफल बना दिया जायेगा।

(3) **अन्तर्राष्ट्रीय संगठन**—अन्तर्राष्ट्रीय जगत की अराजक स्थिति ही युद्ध के लिए उत्तरदायी है। युद्ध के विकल्प के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का सुझाव दिया गया है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व राष्ट्र संघ की स्थापना हुई थी। द्वितीय विश्वयुद्ध राष्ट्र संघ की असफलता के कारण ही हुआ था। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई। वर्तमान समय में संयुक्त राष्ट्र संघ अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है। सयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था का उद्देश्य युद्ध को रोकना है। किन्तु युद्धों को रोकने में संयुक्त राष्ट्र संघ को आंशिक सफलता ही मिली है।

(4) **अन्तर्राष्ट्रीय कानून**—अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के सम्बन्ध मे नियमों की व्याख्या की है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के द्वारा राज्यों के अधिकार तथा कर्तव्यों की व्याख्या की गयी है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के द्वारा आक्रामक युद्ध की परिभाषा की गयी है तथा उसे एक अपराध के रूप में घोषित किया गया है। यह राष्ट्रों के ऊपर अंकुश है। युद्ध रोकने में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का महत्वपूर्ण योगदान है। मुख्य बात यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सफलता के लिए अनुकूल परिस्थितियों का होना आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की आवश्यकता है जो न्यूनतम सामान्य दृष्टिकोण के आधार पर संगठित हो।

(5) **विश्व सरकार**—युद्ध की समस्या के समाधान की दिशा में विश्व सरकार की स्थापना का सुझाव सबसे महत्वपूर्ण है। विश्व सरकार के द्वारा ही राज्यों के सम्बन्धों की उचित व्याख्या हो सकती है। यह कहा जाता है कि स्थायी शान्ति स्थापित करने का एकमात्र विकल्प विश्व सरकार की स्थापना है। इस बात में भी कोई सन्देह नहीं कि विश्व सरकार की स्थापना युद्ध रोकने की दिशा में एक प्रभावशाली व्यवस्था होगी। सबसे बड़ी कठिनाई विश्व सरकार की स्थापना की ही है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज का ढांचा राष्ट्र-राज्य व्यवस्था पर आधारित है। प्रत्येक राष्ट्र सम्प्रभु

राष्ट्र है जो अपनी प्रभुसत्ता को खोना नहीं चाहता है। विश्व सरकार की स्थापना की सबसे पहली दशा राष्ट्रीय राज्य की धारणा में परिवर्तन होना है। जब तक कि राष्ट्र अपनी प्रभुसत्ता को त्यागने के लिए तैयार नहीं होते हैं उस समय तक विश्व सरकार की स्थापना की योजना कार्यान्वित नहीं हो सकती है। राष्ट्रों को अपनी प्रभुसत्ता का कुछ भाग राष्ट्रोत्तर संस्था (Supra-national Institution) को सौंपना होगा। इस दिशा में यदि सफलता मिल जाये तो सम्भवतः विश्व सरकार की स्थापना के द्वारा युद्ध को टाला जा सकता है।

निष्कर्षतः, युद्ध को हम राजनीति के साधन के रूप में मान्यता नही देते, लेकिन युद्ध राजनीति का साधन किसी-न-किसी रूप में बना ही रहेगा। युद्ध को एक राष्ट्रीय नीति के रूप मे त्यागने की घोषणा राज्यों द्वारा की जा सकती है, जैसा कि 1928 के पेरिस पैक्ट में किया गया था।

प्रश्न

1. राष्ट्रीय नीति को प्रोत्साहित करने के साधन के रूप में युद्ध और प्रचार की भूमिका की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।
   Discuss with illustrations the role of war and propaganda as instruments of promoting national policy.
2. "एक समुदाय, समस्त राष्ट्र और विशेषकर सभ्य राष्ट्रों द्वारा युद्ध सदैव ही राजनीतिक उद्देश्य के लिए और राजनीतिक स्थिति में किये जाते हैं। युद्ध अन्य साधनों द्वारा राष्ट्रीय नीतियों की निरन्तरता मात्र ही है।" (कॉर्ल वॉन क्लाज्विट्ज) उपरोक्त कथन पर टिप्पणी कीजिए और राष्ट्रीय नीतियों और उन्हें क्रियान्वित करने के साधन के रूप में युद्ध और उनके बीच सम्बन्धों पर प्रकाश डालिए।
   "The war of a community, of entire nations, and particularly civilized nations, is always called forth by a political motive in a political situation ···War is only a continuation of state policy by other means." (Karl Van Clausewitz) Comment on the above statement and highlight the relationship between national policies and war as an instrument for their implementation."

22

शक्ति सन्तुलन की अवधारणा
[THE CONCEPT OF BALANCE OF POWER]

'शक्ति सन्तुलन' पिछली चार शताब्दियों से यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता रहा है। अतः इस सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक मौलिक सिद्धान्त तथा राजनीति का एक आधारभूत नियम माना जाता है। शक्ति सन्तुलन का अभिप्राय यह है कि विभिन्न राज्यों की शक्ति दो पक्षों में लगभग समान रूप से बँटी रहे, कोई भी एक पक्ष या एक राज्य अन्य राज्यों पर हावी न हो, इतना शक्तिशाली न हो कि वह दूसरे पर हमला करने, उसे दबाने या हराने में समर्थ हो। जिस प्रकार एक तुला के दो पलड़े समान भार होने पर सन्तुलित बने रहते हैं उसी प्रकार की साम्यावस्था विभिन्न राज्यों में सन्धियों द्वारा बनी रहनी चाहिए। कोई एक देश अन्य राज्यों से अधिक शक्तिशाली नहीं होना चाहिए। यदि कोई देश अन्य देशों की तुलना में अधिक शक्तिशाली होता है तो वह उनके लिए संकट और चिन्ता का विषय बन जाता है। 1935 के बाद हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी यूरोप के राज्यों के लिए ऐसा खतरा बन गया था। इसके प्रतिकार की पुरानी पद्धति विरोधी राज्यों की गुटबन्दी द्वारा शक्ति-सन्तुलन की स्थापना करना है।

शक्ति सन्तुलन : अर्थ एवं परिभाषा
(BALANCE OF POWER : MEANING AND DEFINITIONS)

शक्ति सन्तुलन अवधारणा का अर्थ स्पष्ट करना बड़ा कठिन है। **रिचार्ड कॉब्डेन** के शब्दों में, 'शक्ति सन्तुलन एक विचित्र, उलझन भरा शब्द है, जो केवल भ्रमात्मक, मिथ्या सत्य ही नहीं वरन् एक ऐसा अव्यक्त, अस्पष्ट व्यवस्था का परिचालक है जिसकी कभी स्थापना नहीं की जा सकती।'

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में शक्ति सन्तुलन से अभिप्राय है कि विभिन्न राष्ट्रों के बीच कम-से-कम स्थूल सन्तुलन कायम होना। **श्लीचर** के शब्दों में, "शक्ति सन्तुलन व्यक्तियों तथा समुदायों की सापेक्ष शक्ति की ओर संकेत करता है।" **क्लॉड** के अनुसार, "शक्ति सन्तुलन एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें विभिन्न स्वतन्त्र राष्ट्र अपने आपसी शक्ति सम्बन्धों को बिना किसी बड़ी शक्ति के हस्तक्षेप के स्वतन्त्रतापूर्वक संचालित करते हैं। इस प्रकार यह एक विकेन्द्रित व्यवस्था है जिससे शक्ति व नीति निर्णायक इकाइयों के हाथों में ही रहती है।" **कॉल्डेन** के अनुसार, "एक राष्ट्र को स्वयं अपनी तथा अपने पड़ौसी राष्ट्रों की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए शक्ति सन्तुलन की स्थापना करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। स्वतन्त्रता, शान्ति, स्थिरता तथा सार्वजनिक सुरक्षा के लिए शक्ति सन्तुलन आवश्यक है, क्योंकि एक निश्चित सीमा

के बाद एक राज्य की बढ़ती हुई शक्ति अन्य सभी राज्यों को प्रभावित करने लगती है। इतना ही नहीं, एक राज्य का अत्यधिक शक्तिशाली होने का अर्थ है अन्य राज्यों का विनाश और पराजय। पड़ौसी राष्ट्रों में स्थिरता तथा शान्ति स्थापित करने का केवल एक ही उपाय है कि सब राष्ट्रों की शक्ति करीब-करीब समान और तुल्य ही रहे।" **फे** के शब्दों में, "शक्ति सन्तुलन का अर्थ है राष्ट्रों के परिवार के सदस्यों की शक्ति न्यायपूर्ण तुल्यभारिता जो किसी राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र पर अपनी इच्छा लादने से रोक सके।" **डिकिंसन** के मतानुसार सन्तुलन शब्द का प्रयोग समानता और असमानता दोनों ही अर्थों में किया जा सकता है। लेखा सन्तुलन का अर्थ होता है समानता, लेकिन जब सन्तुलन किसी एक के हित में हो तो इसका अर्थ होता है असमानता। शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त प्रथम अर्थ का दावा करता है, किन्तु दूसरे के लिए प्रयत्नशील रहता है। **फेनेलॉन** के अनुसार शक्ति सन्तुलन का एक अत्यन्त स्पष्ट सिद्धान्त है, कि अपने पड़ौसी राष्ट्र को इतना शक्तिशाली कभी न बनने दो कि वह भय का कारण बन जाये। **कैंसलरे** ने शक्ति सन्तुलन का वर्णन इन शब्दों में किया—"राष्ट्र परिवार के सदस्यों के बीच ऐसी उचित साम्यावस्था बनाये रखना जिससे उनमें से कोई भी इतना ताकतवर न हो सके कि वह अपनी इच्छा दूसरों पर लाद सके।"

एक अन्य लेखक निकोलस जॉन स्पिकमैन ने इसका सुन्दर विश्लेषण करते हुए कहा है कि "राज्यों को केवल इस बात में दिलचस्पी होती है कि तुला का पलड़ा उनके पक्ष में झुका हुआ हो, क्योंकि अपने सम्भावित शत्रु के मुकाबले में उस जैसा शक्तिशाली होने में कोई वास्तविक सुरक्षा नहीं है। सुरक्षा केवल इस बात में निहित है कि आप अपने शत्रु से अधिक शक्तिशाली हों।" यह तथ्य इस बात से स्पष्ट हो जायेगा कि 1914 के प्रथम विश्वयुद्ध से पहले यूरोप के राज्य दो गुटों में बँटे हुए थे, एक गुट फ्रांस, ब्रिटेन और रूस का था और दूसरा गुट जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी तथा टर्की के राज्य का। इन दोनों की शक्ति लगभग सन्तुलित थी और दोनों पक्ष इस प्रयत्न में थे कि वे इस सन्तुलन को किस प्रकार अपने पक्ष में करें। इटली युद्ध छिड़ने पर काफी समय तक किसी पक्ष के साथ खुल्लमखुल्ला सम्मिलित होने में हिचकिचाता रहा, यद्यपि उसने जर्मनी के साथ गुप्त सन्धि की हुई थी। युद्ध में मित्र-राष्ट्रों का पलड़ा भारी होने पर वह उनकी ओर से लड़ाई में सम्मिलित हुआ।

उपरोक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने से हम पाते है कि शक्ति सन्तुलन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक स्थिति, एक प्रक्रिया, एक नीति और व्यवस्था के रूप में चित्रित किया जा सकता है।

शक्ति सन्तुलन विशिष्ट स्थिति का द्योतक है—शक्ति सन्तुलन शब्द एक ऐसी स्थिति का द्योतक है जिसमें शक्ति सम्बन्ध लगभग बराबरी के आधार पर होता है। शक्ति सन्तुलन का अर्थ है शक्ति का समान वितरण। शक्ति सन्तुलन शब्द हमारे सामने उस तुला का चित्र प्रस्तुत करता है जिसके दोनों पलड़े एक आलम्ब से लटके हुए हैं और जिनमें बराबर-बराबर बाँट रखे हुए है।

शक्ति सन्तुलन विदेश नीति के रूप में—कैनेथ टॉमसन, मॉरगेन्थाऊ, चर्चिल आदि ने शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त को विदेश नीति के परिप्रेक्ष्य में परिभाषित किया है। वे यह मानते है कि सन्तुलन शक्ति खतरनाक होती है। विदेश नीति की दृष्टि से राष्ट्र उसी समय शक्ति सन्तुलन की अवधारणा स्वीकार करते हैं जबकि वे अन्य राज्यों की तुलना में प्रबल हों। चर्चिल ने शक्ति सन्तुलन को ब्रिटिश विदेश नीति की अद्भुत परम्परा बताया था।

शक्ति सन्तुलन एक पद्धति के रूप में—मार्टिन वाइट, ए० जे० पी० टेलर, चार्ल्स लर्च आदि शक्ति सन्तुलन को एक पद्धति मानते हैं। आधुनिक विश्व में जहाँ बहुत सारे राज्य हैं, शक्ति सन्तुलन द्वारा एक व्यवस्था स्थापित की जा सकती है।

अर्नेस्ट हॉस ने शक्ति सन्तुलन अवधारणा के आठ अर्थ बताये हैं जो इस प्रकार हैं :

(1) **शक्ति सन्तुलन से अभिप्राय है 'शक्ति का वितरण'** (Balance Meaning 'Distribution of Power')—सामान्य अर्थ में शक्ति सन्तुलन का अर्थ है शक्ति का वितरण (Distribution of power)। जब कोई राजनीतिज्ञ यह कहता है कि शक्ति का सन्तुलन परिवर्तित हो गया है तो उसका तात्पर्य होता है कि उसका विरोधी पहले की तुलना में उससे अधिक शक्तिशाली हो गया है।

(2) **शक्ति सन्तुलन से अभिप्राय है 'शक्ति की साम्यावस्था'** (Balance Meaning "Equilibrium")—शक्ति सन्तुलन से अभिप्राय है दो प्रतियोगी राष्ट्रों, गुटों, राष्ट्रों के समूहों अथवा प्रतिस्पर्द्धी दलों में शक्ति की तुल्यभारिता या समानता।

(3) **शक्ति सन्तुलन से अभिप्राय है "शक्ति की प्रबलता"** (Balance Meaning "Hegemoney")—सन्तुलन से अभिप्राय होता है शक्ति की प्रबलता। सन्तुलन शक्ति के वितरण का वह तन्त्र है जिसमें प्रत्येक राज्य और उसके मित्र राज्य शक्ति की अति अधिकता हासिल करना चाहते हैं।

(4) **शक्ति सन्तुलन से अभिप्राय है 'स्थिरता' तथा 'शान्ति'** (Balance Meaning 'Stability' and 'Peace')—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शान्ति और स्थिरता लाने वाला सिद्धान्त 'सन्तुलन' का सिद्धान्त है। सन्तुलन यथास्थिति की नीति का समर्थन करता है और यथास्थिति से स्थिरता आती है। शक्ति सन्तुलन से आक्रमण रोकने में मदद मिलने की बात कही जाती है और इसका पक्षपोषण इस आधार पर किया जाता है कि इसमें शान्ति लाने की क्षमता है।

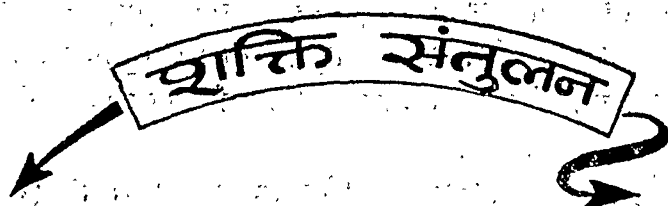
(5) **शक्ति सन्तुलन से अभिप्राय है 'अस्थिरता' तथा 'युद्ध'** (Balance Meaning 'Instability' and 'War')—ऐसा भी कहा जाता है कि सन्तुलन से 'अस्थिरता' तथा 'युद्ध' की स्थिति का निर्माण होता है। प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने का कारण यह था कि जर्मनी को यह गलत फहमी थी कि उनकी शक्ति उसके विरोधियों की शक्ति को सन्तुलित कर सकती है। शक्ति के सन्तुलन से भय और अविश्वास बढ़ता है जिसका परिणाम युद्ध होता है।

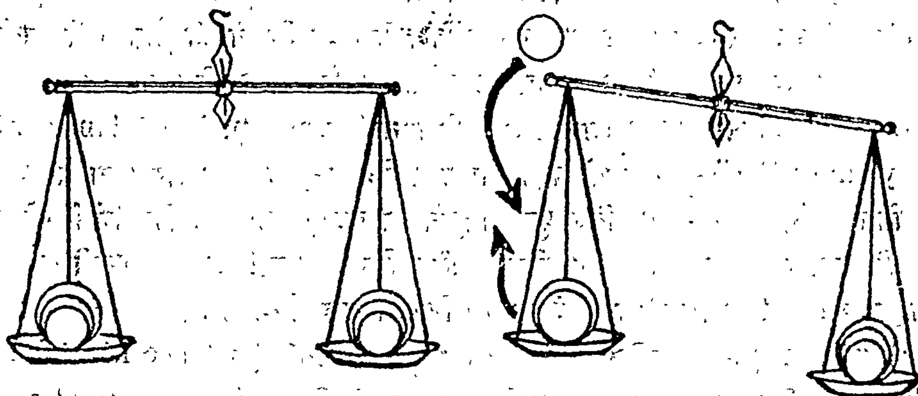
(6) **शक्ति सन्तुलन से अभिप्राय है 'शक्ति की राजनीति'** (Balance Meaning 'Power Politics')—ऐसा भी कहा जाता है कि 'शक्ति सन्तुलन के लिए संघर्ष वस्तुतः शक्ति का संघर्ष है।' (The struggle for the balance of power, in effect, is the 'Struggle for Power') शक्ति सन्तुलन और शक्ति संघर्ष पर्यायवाची हैं (Power, politics of pure power, and the balance of power are here merged into one concept.)

(7) **शक्ति सन्तुलन एक सार्वभौमिक सिद्धान्त के रूप में** (Balance as Implying Universal Law of History)—सन्तुलन एक सार्वभौमिक नियम है। जहाँ राष्ट्र राज्य-व्यवस्था होगी वहाँ किसी-न-किसी प्रकार का सन्तुलन अवश्य रहेगा। चाहे यूनान के नगर राज्य हों या इटली के राज्य अथवा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की विश्व राजनीति, सन्तुलन के नियम को अवश्य ध्यान में रखा जाता है।

(8) **शक्ति सन्तुलन एक 'व्यवस्था' के रूप में तथा 'नीति-निर्माताओं के लिए मार्गदर्शक'** (Balance as a 'System' and 'Guide to Policy-Making')—सन्तुलन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक व्यवस्था या तन्त्र के रूप में भी देखा जाता है। इस अर्थ में 'शक्ति सन्तुलन' एक बहुराज्य विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के कार्य करने की एक विशेष प्रकार की व्यवस्था का द्योतक होता है। शक्ति सन्तुलन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्तिकारक के महत्व को प्रतिपादित करता है तथा विदेश नीति के निर्माण में शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्तों को ध्यान में रखे जाने पर जोर देता है।

हॉन्स जे० मॉरगेन्थाऊ ने शक्ति सन्तुलन के चार अर्थ बताये हैं—(i) राज्यों में शक्ति के वितरण पर जोर देने वाली नीति (a policy aimed at bringing about a certain power distribution), (ii) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के यथार्थवादी स्वरूप का चित्रण करने वाला सिद्धान्त (a description of any actual state of affairs in international politics), (iii) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति का समान वितरण (an approximately equal distribution of power internationally), तथा (iv) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में राजनीतिक शक्ति वितरण को प्रकट करने वाली शब्दावली (a term describing any distribution of political power in international relations)।





संक्षेप में, इसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यथार्थवादी सिद्धान्त कहा जा सकता है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि शक्ति सन्तुलन की उपेक्षा से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के तत्त्व की उपेक्षा प्रकट होती है।

सरल सन्तुलन तथा बहुमुखी सन्तुलन
(SIMPLE BALANCE AND MULTIPLE BALANCE)

शक्ति सन्तुलन दो प्रकार का होता है—**सरल सन्तुलन** तथा **बहुमुखी सन्तुलन**। सरल सन्तुलन उस समय पाया जाता है जबकि शक्ति मुख्यतः दो राज्यों अथवा दो विरोधी गुटों में केन्द्रित हो। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमरीका और सोवियत संघ के मध्य कुछ इसी प्रकार का सन्तुलन उभरा। बहुमुखी या जटिल सन्तुलन में राष्ट्र या राष्ट्र समूह एक-दूसरे को सन्तुलित करते हैं और फिर सन्तुलनों के भीतर सन्तुलन होता है। इस प्रकार के सन्तुलन में अनेक राष्ट्र अथवा राष्ट्रों के समूह एक-दूसरे को सन्तुलित करते रहते हैं। इसमें कभी-कभी सन्तुलनकर्ता भी पाया जाता है। युद्ध अथवा संकट के समय बहुमुखी सन्तुलन के बजाय सरल सन्तुलन उभरकर सामने आ जाता है। सभी राष्ट्र किसी-न-किसी गुट या पक्ष में शामिल हो जाते हैं और बहुमुखी सन्तुलन भी सरल सन्तुलन में बदल जाता है।

शक्ति सन्तुलन : विशेषताएँ
(CHARACTERISTICS OF BALANCE OF POWER)

शक्ति सन्तुलन की कई विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। उसकी पहली विशेषता यह है कि यह वर्तमान स्थिति (status quo) को बनाये रखने का प्रयत्न करता है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पेरिस के समझौते और शान्ति सन्धियों द्वारा स्थापित की गयी व्यवस्था को फ्रांस और उससे मित्र राज्यों ने बनाये रखने का प्रयत्न किया। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि शक्ति सन्तुलन महाशक्तियों का खेल है। इसमें प्रधान रूप से बड़ी शक्तियाँ ही भाग लेती हैं, छोटी शक्तियाँ तो तुला के हल्के बाँटों की तरह होती हैं। तीसरी विशेषता यह है कि शक्ति सन्तुलन कभी वास्तविक रूप में नहीं होता है, यह निरन्तर बदलता रहता है और इसकी असली परीक्षा लड़ाई से होती है।

पामर एवं पर्किन्स ने शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त की निम्न सात विशेषताओं का उल्लेख किया है।[1]

(1) शक्ति सन्तुलन से अभिप्राय है तुल्यभारिता अथवा सन्तुलन। परन्तु इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि शक्ति इतना अस्थिर तत्व है कि शक्ति सम्बन्ध सदैव परिवर्तित और चलायमान होते हैं। इतिहास में तो सबसे स्थायी रूप से कार्य करने वाला तत्व असन्तुलन है।

(2) शक्ति सन्तुलन स्थापित करने के लिए राज्यों को सदैव प्रयत्नशील रहना पड़ता है। स्पाइकमैन के शब्दों में, 'शक्ति सन्तुलन कोई दैवी वरदान नहीं है वरन् मानव द्वारा निरन्तर हस्तक्षेप करके स्थापित की जाने वाली एक स्थिति है।'

(3) शक्ति सन्तुलन की नीति यथापूर्व स्थिति को ज्यों की त्यों बनाये रखने की नीति है। किन्तु जो नीतियाँ यथापूर्व स्थिति के पक्ष में होती हैं और नये परिवर्तनों को स्वीकार करने की विरोधी होती हैं वे प्रायः असफल होती हैं। शक्ति सन्तुलन की नीति तभी सफल हो सकती है जब वह केवल प्रतिगामी नीति न होकर गतिशील और अनिवार्य परिवर्तनों को स्वीकार करने की क्षमता रखती हो।

(4) यह कहना अत्यन्त कठिन है कि पूर्ण शक्ति सन्तुलन स्थापित हो गया है क्योंकि शक्ति तत्व को मापना और स्थिर कर सकना असम्भव है। दो शक्ति गुटों की स्थिति बराबर है अथवा नहीं इसका परीक्षण केवल एक ही स्थिति में किया जा सकता है और वह है युद्ध। जिस शक्ति सन्तुलन की रक्षा के लिए युद्ध लड़ा जाता है, युद्ध की समाप्ति पर उसकी स्थापना कर पाने का कोई प्रश्न ही नहीं रहता। युद्ध की समाप्ति के बाद एकदम नया शक्ति सन्तुलन स्थापित हो जाता है, पुराने शक्तिशाली देश शक्तिहीन हो जाते हैं और नये देश युद्ध में शक्तिशाली होकर उभरते हैं।

(5) इतिहासकार शक्ति सन्तुलन को वस्तुनिष्ठ (objective) दृष्टि से देखता है और राजनीतिज्ञ उसे व्यक्तिनिष्ठ (subjective) दृष्टि से देखता है। मार्टिन वाइट के शब्दों में, "इतिहासकार की दृष्टि में शक्ति सन्तुलन तब स्थापित होता है जब दो विरोधी गुटों की शक्ति लगभग समान-सी प्रतीत होती है, परन्तु एक राजनीतिज्ञ की दृष्टि में शक्ति सन्तुलन तब स्थापित होता है, जब उसका पक्ष दूसरे पक्ष की अपेक्षा अधिक सशक्त हो जाता है।"

(6) शक्ति सन्तुलन किसी विशिष्ट राजनीतिक व्यवस्था का आवश्यक लक्षण नहीं है, लोकतान्त्रिक और सर्वाधिकारवादी दोनों प्रकार के राज्य इसका प्रयोग कर सकते हैं। लोकतान्त्रिक देश साधारणतया अपनी उदारवादी नीतियों के कारण शक्ति सन्तुलन स्थापित करने में विशेष उत्सुक नहीं होते और सर्वाधिकारवादी देश शक्ति सन्तुलन के हामी इसलिए नहीं होते कि उनका लक्ष्य केवल अपना प्रसार करके एक ही साम्राज्य का निर्माण करना होता है।

(7) शक्ति सन्तुलन के खेल में केवल बड़े राष्ट्र ही खिलाड़ी होते हैं, छोटे राष्ट्र तो इसका

1 Palmer and Perkins, *International Relations*, Third edition, pp. 213-15.

शिकार बनते हैं अथवा दर्शक के रूप में रहते हैं। स्पाइकमैन के अनुसार, "जब तक वे (छोटे राज्य) स्वयं आपस में सफलतापूर्वक संगठित नहीं हो जाते वे शक्ति सन्तुलन की तुला के पलड़ों में रखे जाने वाले बाँटों से अधिक कुछ नहीं होते हैं।"

शक्ति सन्तुलन : अन्तर्निहित मान्यताएँ
(BALANCE OF POWER : THEORETICAL POSTULATES)

क्विंसी राइट ने शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त में निहित पाँच मान्यताएँ (assumptions) का उल्लेख किया है :[1]

पहली मान्यता है कि प्रत्येक राज्य उपलब्ध शक्ति एवं साधनों के द्वारा, जिनमें युद्ध भी शामिल है, अपने महत्वपूर्ण हितों एवं अधिकारों की रक्षा करते हैं। यह निश्चित करना प्रत्येक राज्य का काम है कि वह अपने किन हितों को महत्वपूर्ण मानता है; परन्तु सामान्यतः स्वतन्त्रता, प्रादेशिक अखण्डता, सुरक्षा, घरेलू राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था की स्थिरता तथा समुद्र की स्वतन्त्रता जैसे किन्हीं कानूनी अधिकारों की रक्षा को महत्वपूर्ण राष्ट्रीय हित माना जाता है।

दूसरी मान्यता है कि राज्यों के महत्वपूर्ण हितों को या तो खतरा उपस्थित होता है या उनके लिए संकट की सम्भावना हमेशा बनी रहती है। यदि ऐसा न होता तो राज्यों को उनकी रक्षा के लिए प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता ही नहीं होती।

तीसरी मान्यता है कि शक्ति सन्तुलन या तो अन्य राज्यों को आक्रमण का भय दिखाकर महत्वपूर्ण हितों की रक्षा में सहायक होता है या आक्रमण होने पर आक्रमणकारी पक्ष पर विजय प्राप्त करके मार्मिक हितों की रक्षा करता है। दूसरे शब्दों में, राज्य किसी अन्य राज्य पर आक्रमण उस समय तक नहीं करेंगे जब तक कि उनके पास शक्ति की प्रचुरता न हो और वे अपनी विजय के सम्बन्ध में पूर्णरूपेण आश्वस्त न हों। यह हो सकता है कि कोई राज्य यह समझता हो कि उसकी शक्ति दूसरे देश की शक्ति से अधिक है जबकि वह सचमुच अधिक न हो।

चौथी मान्यता है कि राज्यों की शक्ति का ठीक-ठीक मूल्यांकन किया जा सकता है और भविष्य में उनकी शक्ति क्या होगी, इसका भी अनुमान लगाया जा सकता है।

पाँचवीं मान्यता है कि राजमर्मज्ञ अपनी विदेश नीति के निर्णय शक्ति सम्बन्धी तथ्यों की सूझ-बूझ के साथ और सोच-समझकर करते हैं।

क्विंसी राइट द्वारा प्रतिपादित शक्ति सन्तुलन सम्बन्धी सैद्धान्तिक मान्यताओं में से पहली चार मान्यताएँ कुल मिलाकर तर्कसंगत हैं किन्तु पाँचवीं मान्यता के सम्बन्ध में निम्नलिखित आपत्तियाँ उठायी जा सकती हैं :

प्रथम, यदि शक्ति सन्तुलन के द्वारा किसी राज्य को अपने महत्वपूर्ण हितों की रक्षा करनी है तो उन हितों का स्पष्टीकरण होना आवश्यक है। जबकि यथार्थ में राज्य के भीतर नीति निर्धारकों में राष्ट्रीय हितों के सम्बन्ध में सहमति नहीं पायी जाती।

द्वितीय, नीति निर्धारक जब अपने राष्ट्रीय हितों को ठीक प्रकार से नहीं जान सकते तो वे उन राज्यों की क्षमता और शक्ति का सही अनुमान कैसे लगा सकते हैं, जिनसे उनके हितों को आँच पहुँच रही है या आँच पहुँचने की आशंका है।

तृतीय, शक्ति सन्तुलन की नीति को विवेकपूर्ण ढंग से संचालित करने के लिए यह आवश्यक है कि नीति निर्धारक शत्रु राज्यों की भविष्य में होने वाली क्षमता और नीयत के बारे में भविष्यवाणी कर सकें और यह काम अत्यन्त कठिन है।

चतुर्थ, शक्ति सन्तुलन का अनुगमन करते समय कानून, नैतिकता और न्याय की परवाह नहीं की जा सकती। परन्तु क्या आधुनिक युग में इन मूल्यों की पूर्ण उपेक्षा सम्भव है?

---

[1] Quincy Wright, *A Study of War* (Chicago, 1942), Vol. II. pp. 743-59.

पंचम, शक्ति सन्तुलन की स्थापना के लिए घरेलू राजनीतिक परिस्थितियाँ अनुकूल हों और लोकमत उन नीतियों का समर्थक हो। परन्तु ऐसी स्थिति लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणालियों में सदैव नहीं रह सकती। ब्रिटिश सरकार ने हिटलर के अभ्युदय से उत्पन्न खतरे को भाँप लिया था किन्तु लोकमत के विरोध के भय से शस्त्रीकरण का आश्रय नहीं लिया।

विचारधारा के रूप में शक्ति सन्तुलन
(BALANCE OF POWER AS AN IDEOLOGY)

मॉरगेन्थाऊ ने शक्ति सन्तुलन की अवधारणा को एक 'विचारधारा' (ideology) के रूप में प्रस्तुत किया है।[1]

मॉरगेन्थाऊ के अनुसार शक्ति सन्तुलन उन राष्ट्रों की आत्मरक्षा की युक्ति है जिनकी स्वतन्त्रता एवं अस्तित्व को दूसरे राष्ट्रों की शक्ति में असंगत वृद्धि से भय है। शक्ति सन्तुलन का प्रयोग विशुद्ध रूप में आत्मरक्षण के स्पष्ट प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होता है। राष्ट्रों में व्याप्त शक्ति की प्रतिस्पर्द्धा सिद्धान्तों पर हावी हो जाती है। वे उन सिद्धान्तों को छिपाने, उनको युक्ति-युक्त सिद्ध करने एवं स्वयं को न्याय संगत सिद्ध करने के लिए उनको विचारधाराओं में रूपान्तरित कर देते है। उन्होंने ऐसा शक्ति सन्तुलन के द्वारा किया है।

साम्राज्य स्थापित करने के लिए उत्सुक राष्ट्र ने बहुधा यही दावा किया है कि वह केवल साम्यावस्था (equilibrium) चाहता है। केवल यथापूर्व स्थिति को बनाये रखने के लिए उत्सुक राष्ट्र ने बहुधा यथापूर्व स्थिति मे परिवर्तन को शक्ति सन्तुलन पर आक्रमण ठहराया है। जब 1756 में सप्तवर्षीय युद्ध के प्रारम्भ में इंगलैण्ड तथा फ्रांस ने अपने आपको युद्धरत पाया, तो ब्रिटिश लेखकों ने अपने देश की नीति को यूरोपीय शक्ति सन्तुलन की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए न्यायसंगत ठहराया। उसी समय फ्रांसीसी अधिवेत्ताओं ने दावा किया कि फ्रांस, वाणिज्य सन्तुलन की पुन: स्थापना के लिए समुद्र तथा उत्तरी अमरीका पर इंगलैण्ड की सर्वोच्चता का विरोध करने के लिए युद्ध के लिए विवश हुआ था।

जब 1813 में संश्रित शक्तियों (allied powers) ने नेपोलियन के सम्मुख अपनी शान्ति की शर्तें रखी, तो उन्होंने शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त को स्मरण किया। जब नेपोलियन ने इन शर्तो को ठुकराया, तो उसने भी अधिकारों एवं हितों की साम्यावस्था की ओर ध्यान दिलाया। जब 1814 के प्रारम्भ में, संश्रित राष्ट्रों ने नेपोलियन के प्रतिनिधि का अन्तिम चेतावनी के साथ यह माँग करते हुए सामना किया कि फ्रांस शक्ति सन्तुलन के नाम पर 1792 में हुई सभी विजयों को त्याग दे, तो फ्रांसीसी प्रतिनिधि ने उत्तर दिया था, "क्या संश्रित राष्ट्र यूरोप मे न्यायसंगत सन्तुलन की स्थापना नही चाहते ? क्या वे यह घोषणा नही करते कि आज भी शक्ति सन्तुलन चाहते है ? फ्रांस की भी एकमात्र वास्तविक यह इच्छा है कि वह पहले से चली आयी सापेक्ष शक्ति को बनाये रखे। परन्तु यूरोप अब वह नहीं है जो बीस वर्ष पूर्व था।" और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि भूगोल एवं युद्ध नीति को दृष्टिगत रखते हुए फ्रांस द्वारा राइन के बायें किनारे पर अधिकार भी यूरोप में शक्ति सन्तुलन की पुन: स्थापना के लिए मुश्किल से पर्याप्त होगा। संश्रित प्रतिनिधियों ने उत्तर में घोषित किया, "1792 की सीमाओं को प्राप्त करके भी फ्रांस अपनी केन्द्रीय स्थिति, अपनी जनसंख्या, अपनी भूमि की सम्पन्नता, अपनी सीमाओं की प्रकृति, अपनी सफलताओं एवं वितरण के कारण, महाद्वीप पर सबसे सबल शक्तियों मे से एक बना हुआ है।" इस प्रकार दोनों पक्षों ने शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त का उसी स्थिति में प्रयोग करने का प्रयत्न किया तथा असंगत परिणामों पर पहुँचे।

1 Hans J. Morgenthau, *Politics Among Nations*, 1963, pp. 213-15.

चालीस वर्ष के उपरान्त इसी प्रकार के कारणों से एक ऐसी स्थिति उठ खड़ी हुई। वियना सम्मेलन में जिसने 1855 में क्रीमियन युद्ध को समाप्त करने का प्रयत्न किया, रूस अपने विरोधियों के साथ काला सागर में शक्ति सन्तुलन बनाये रखने को निपटारे का आधार बनाने पर सहमत हो गया। तथापि रूस ने यह घोषणा की कि, "काला सागर में रूस का अधिक प्रभाव यूरोपीय साम्यावस्था के लिए पूर्णतया आवश्यक है।" उसके विरोधियों ने उस आर्थिक प्रभाव को समाप्त करने का प्रयत्न किया। उसका कहना था कि रूसी जल सेना "तुर्की बेड़े की तुलना में अब भी अत्यधिक शक्तिशाली थी।"

राष्ट्रों की सापेक्ष शक्ति स्थितियों के सही मूल्यांकन की कठिनाइयों ने शक्ति सन्तुलन की दुहाई को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विचारधाराओं में से एक बना दिया है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया है कि इस शब्द का प्रयोग एक अत्यधिक अस्पष्ट और अव्यवस्थित ढंग से हो रहा है। जब कोई राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर अपने कार्यों में से किसी को न्यायसंगत ठहराना चाहेगा तो वह इसका संकेत शक्ति सन्तुलन को बनाये रखने अथवा उसकी पुनर्स्थापना के लिए उपयोगी होने के अर्थ में करेगा। जब कोई राष्ट्र किसी अन्य राष्ट्र के द्वारा अनुसरण की गयी किसी नीति को अविश्वसनीय सिद्ध करना चाहेगा तो वह इसे 'शक्ति सन्तुलन के लिए खतरा' कहकर घोषित करेगा। शब्द के सही अर्थ के रूप में यथापूर्व स्थिति को बनाये रखना, शक्ति सन्तुलन की अन्तर-निहित प्रवृत्ति है। इसलिए यह शब्द यथापूर्व स्थिति वाली राष्ट्रों की शब्दावली में, यथापूर्व स्थिति तथा किसी विशेष क्षणिक स्थिति में किसी शक्ति वितरण का पर्याय हो गया है।

उपर्युक्त बातों का उदाहरण इस प्रकार देखा जा सकता है। पाश्चात्य गोलार्द्ध में शक्ति सन्तुलन की बात वह करता है, जोकि गैर-अमरीकी राष्ट्रों की नीतियों द्वारा विक्षुब्ध हो सकता है। इसी प्रकार भूमध्य सागर में वह शक्ति सन्तुलन की बात करता है जिसकी रूसी घुसपैठ से रक्षा होनी चाहिए। तथापि इन दोनों में से जो जिस बात को चाहता है अथवा जिस बात की पुष्टि करता है वह शक्ति सन्तुलन नहीं है। वरन वह शक्ति का एक विशेष वितरण है, जो कि किसी विशेष राष्ट्र अथवा राष्ट्रों के समूह के लिए अनुकूल समझा जाता है। न्यूयार्क टाइम्स ने 1947 में मास्को में विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन के अवसर पर अपनी सूचनाओं में से एक में लिखा था : "फ्रांस, ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य की नयी एकता भले ही अस्थायी हो, परन्तु यह शक्ति सन्तुलन को प्रत्यक्ष रूप से उलझा देती है।" बात वास्तव में यह थी कि शक्ति सन्तुलन अपने सच्चे अर्थों में नहीं उल्टा गया था, बल्कि पहले की अपेक्षा सम्मेलन के बाद का शक्ति वितरण पाश्चात्य शक्तियों के अधिक अनुकूल हो गया था।

एक विचारधारा के रूप में शक्ति सन्तुलन का प्रयोग शक्ति सन्तुलन की यान्त्रिकी में अन्तर्निहित कठिनाई पर जोर देता है। दिखावटी स्पष्टता के वास्तविक अभाव, सन्तुलन के लिए बनावटी इच्छा तथा प्रावल्य की प्राप्ति के वास्तविक लक्ष्य में आकाश-पाताल का अन्तर है और यह अन्तर शक्ति सन्तुलन के मूल स्वरूप में निहित है। शुरू-शुरू में यही अन्तर शक्ति सन्तुलन को एक विचारधारा का रूप प्रदान करता है। इस प्रकार शक्ति सन्तुलन ऐसी वास्तविकता और क्रिया का प्रदर्शन करता है जो वास्तव में उसमें नहीं है। इसीलिए इसमें वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को बनावटी रूप देने, युक्तिसंगत सिद्ध करने तथा न्यायसंगत ठहराने की प्रवृत्ति रहती है।

शक्ति सन्तुलन स्थापित करने के साधन
(DEVICES FOR MAINTAINING THE BALANCE OF POWER)

शक्ति सन्तुलन के लिए राज्य कौन-कौन से साधन अपनाते हैं? अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के समीक्षकों ने मोटे तौर से छः साधन बताये हैं जिनसे राष्ट्र शक्ति सन्तुलन अपने पक्ष में करने की कोशिश करते हैं :

(1) क्षतिपूर्ति (Compensation)—क्षतिपूर्ति या मुआवजे की नीति से अभिप्राय है कि एक राज्य को उतना दो जितना उससे ले लिया गया है ताकि अन्तर्राष्ट्रीय तुल्यभारिता बनी रहे। युद्धों के पश्चात शान्ति सन्धियों में इसी आधार पर राज्यों के क्षेत्रों में प्रदेशों का आदान-प्रदान होता है और सीमाओं में परिवर्तन किया जाता है कि राज्यों की तुलनात्मक शक्ति यथापूर्व बनी रहे। सन 1713 की यूट्रेक्ट सन्धि द्वारा प्रथम बार स्पेन द्वारा अधिकृत भूमि को बाँटकर शक्ति सन्तुलन स्थापित करने की कोशिश की गयी थी। इतिहास में पोलैण्ड का तीन बार विभाजन किया गया (1772, 1793 तथा 1795 में) और तीनों बार उसका बँटवारा इस प्रकार किया गया कि सन्तुलन कायम रहे। भू-भागों का वितरण करते समय केवल क्षेत्रफल का ही ध्यान नहीं रखा जाता वरन् इनकी उर्वरता, औद्योगिक क्षमता तथा साधनों की प्रचुरता का भी ध्यान रखा जाता है। ईथोपिया को हस्तगत करने की उग्र होड़ का समाधान 1906 में ईथोपिया को ब्रिटेन, इटली तथा फ्रांस में तीन समान प्रभाव क्षेत्रों में बाँटकर किया गया था। इसी प्रकार ईरान के सम्बन्ध में ब्रिटेन तथा रूस की प्रतिद्वन्द्विता का परिणाम 1907 की आंग्ल-रूसी सन्धि में निकला। इसने दोनों पक्षों के लिए प्रभाव क्षेत्रों की एवं ईरान के एकमात्र अधिकार में एक तटस्थ क्षेत्र की स्थापना की। मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, "राजनीतिक समझौते को जन्म देने वाली राजनयिक वार्ताओं की सौदेबाजी भी अपने सामान्यतम रूप में क्षतिपूरण का सिद्धान्त ही है और इस प्रकार यह शक्ति सन्तुलन का ही एक अंग है।"

(2) हस्तक्षेप (Intervention)—कभी-कभी शक्तिशाली राज्य सन्तुलन स्थापित करने की दृष्टि से अन्य राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करते हैं। एक देश शस्त्रीकरण, औद्योगीकरण एवं उत्पादन बढ़ाकर शान्तिप्रिय राज्य के स्थान पर आक्रामक राज्य बन सकता है जिसका प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर पड़ता है। अतः ऐसी स्थिति में अन्य राज्य या तो मूक दर्शक बना रह सकता है अथवा प्रत्यक्ष हस्तक्षेप कर सकता है।

1648 में वैस्टफ़ालिया की सन्धि के बाद से यूरोप की राजनीति का यह मुख्य सिद्धान्त रहा है कि कोई भी राज्य अन्य राज्यों की अपेक्षा बहुत अधिक शक्तिसम्पन्न न हो, सब राज्यों में शक्ति सन्तुलन बना रहे। 1648 की यूट्रैक्ट की सन्धि के, 1816 की वियना कांग्रेस के, 1856 की पेरिस कांग्रेस के तथा 1878 की बर्लिन कांग्रेस के अधिकांश निर्णय इसी सिद्धान्त के आधार पर किये गये। 1856 का क्रीमिया युद्ध ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा टर्की के साम्राज्य को सुरक्षित रखने की दृष्टि से किया गया था, ताकि इसे दबाकर रूस दक्षिण-पूर्वी यूरोप में अधिक शक्तिशाली न हो जाये। बाल्कन प्रदेश में प्रभुसत्ता के लिए 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आस्ट्रिया तथा रूस में प्रबल होड़ थी। इस प्रदेश के राज्यों में अधिकांश हस्तक्षेप इन दोनों के तथा ग्रेट ब्रिटेन के शक्ति सन्तुलन को बनाये रखने के लिए किये गये। 1886 में तथा 1897 में ग्रीस और टर्की के मामलों में महाशक्तियों ने इस उद्देश्य से हस्तक्षेप किया। 1913 में अल्वानियां को स्वतन्त्र राज्य बनाने के लिए टर्की में दखल दिया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त ब्रिटेन ने जोर्डन में, अमरीका ने ग्वाटेमाला, क्यूबा, लेबनान, लाओस, कम्बोडिया और वियतनाम तथा सोवियत संघ ने उत्तरी कोरिया, हंगरी, पूर्वी जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया एवं अफ़गानिस्तान (1979–88) में हस्तक्षेप किया है। इन सभी हस्तक्षेपों में हस्तक्षेप करने वाली शक्तियों के उद्देश्य स्वार्थपूर्ण थे और उन्होंने छोटे राज्यों के हितों को अपने हितों की पूर्ति के लिए बलिदान करने में संकोच नहीं किया। ये समस्त हस्तक्षेप यथापूर्व स्थिति को बनाये रखने अथवा शक्ति सन्तुलन को अपने पक्ष में मोड़ने के लिए किये गये। हस्तक्षेप की अन्तिम उग्र स्थिति युद्ध होता है। युद्ध सदैव यथास्थिति को बनाये रखने के लिए प्रारम्भ किये जाते हैं, जबकि युद्ध के उपरान्त शक्ति सन्तुलन की स्थिति बदल जाती है।

(3) **मध्यवर्ती राज्य** (Buffer State)—शक्ति सन्तुलन स्थापित करने का तीसरा तरीका है मध्यवर्ती राज्य—एक ऐसा तटस्थ 'वफर' राज्य स्थापित किया जाये जो दुर्बल हों और दो बड़े गैर-मित्र देशों के बीच में स्थित हो। ऐसे मध्यवर्ती राज्य का काम है दोनों बड़े अमित्र राष्ट्रों को अलग रखकर उनमें युद्ध छिड़ने की गुंजाइश कम करना। आधुनिक विश्व दो शक्तिशाली गुटों में विभक्त हो गया है और उनके बीच सन्तुलन स्थापित करने के लिए मध्यवर्ती राज्य के अस्तित्व का महत्व बढ़ गया है जो अवरोधक का काम करें। हाल्स्टी के शब्दों में, "दो शक्तिशाली राज्यों को सन्तुलित रखने के लिए मध्यवर्ती राज्यों की पट्टियों का विशेष महत्व होता है।" मध्यवर्ती राज्य कई प्रकार के हो सकते हैं—तटस्थीकृत राज्य, जैसे स्विट्जरलैण्ड (फ्रांस, जर्मनी और इटली के मध्य), तटस्थ राज्य, उपग्रह राज्य (जैसे पूर्वी यूरोप) तथा गुटनिरपेक्ष राज्य।

प्रथम विश्वयुद्ध से पहले रूस और जर्मनी के बीच पोलैण्ड मध्यवर्ती राज्य था, वेल्जियम और हालैण्ड दोनों फ्रांस तथा जर्मनी के बीच मध्यवर्ती राज्य थे। भारत और चीन के बीच तिब्बत मध्यवर्ती राज्य का काम करता था।

(4) **शस्त्रीकरण** (Armament)—मॉरगेन्थाऊ के अनुसार जिन प्रधान साधनों द्वारा एक राष्ट्र अपनी शक्ति से शक्ति सन्तुलन वनाये रखने अथवा उसको पुन: स्थापित करने का प्रयत्न करता है, अस्त्र-शस्त्र हैं। जब कभी कोई राष्ट्र अपनी सैनिक शक्ति वढ़ाता है तव इसके प्रतियोगी राज्य भी इसकी वरावरी में आने के लिए शस्त्रास्त्रों की प्रतिस्पर्द्धा में पड़ जाते हैं। शस्त्रीकरण की यह होड़ यद्यपि शक्ति सन्तुलन के लिए होती है तथापि इसके कारण गतिशील शक्ति सन्तुलन की स्थिति का निर्माण होता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के वाद अमरीका और सोवियत संघ में शस्त्रीकरण की प्रतिस्पर्द्धा कुछ ऐसी ही थी। शस्त्रीकरण से सदैव अस्थिर शक्ति सन्तुलन का जन्म होता है अत: राज्य निरस्त्रीकरण के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। ऐसा माना जाता है कि निरस्त्रीकरण से शक्ति सन्तुलन स्थिर और स्थायी वन सकता है। वस्तुत: निरस्त्रीकरण की समस्या शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त से अप्रत्यक्ष रूप से जड़ी हुई है।

(5) **विभाजन तथा शासन** (Divide and Rule)—शक्ति सन्तुलन स्थापित करने के लिए राज्य शत्रु पक्ष के साथी राष्ट्रों में फूट डालने का भी प्रयत्न करते हैं जिससे उसके शत्रु आपस में न मिल सकें, उनमें फूट रहे और वे कमजोर वने रहें। 'विभाजन करो और शासन करो' नीति का प्रयोग उन राष्ट्रों द्वारा हुआ है जिन्होंने अपने प्रतिस्पर्द्धियों को विभाजित करके अथवा उन्हें विभाजित रखकर निर्वल वनाने अथवा वनाये रखने का प्रयत्न किया है। फ्रांस की नीति जर्मनी के साथ तथा शेष यूरोप के साथ सोवियत संघ की नीति; आधुनिक समय में इस प्रकार की सवसे अधिक संगत एवं महत्वपूर्ण नीतियाँ है। 17वीं शताब्दी से द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त तक, यह फ्रांसीसी विदेश नीति का अपरिवर्तनीय सिद्धान्त रहा है कि या तो वह जर्मन साम्राज्य के वहुत से छोटे स्वतन्त्र राज्यों में विभाजन का पक्ष ले या एक एकीकृत राष्ट्र के रूप में ऐसे राज्यों का सम्मेलन न होने दे। इसी प्रकार सोवियत संघ ने 1910 से 1929 तक के समय से आज तक निरन्तर यूरोप के एकीकरण की सभी योजनाओं का विरोध इस मान्यता पर किया है कि यूरोपीय राष्ट्रों की विभाजित शक्ति का एक 'पाश्चात्य गुट' में एकत्रीकरण सोवियत संघ के शत्रुओं को इतनी शक्ति दे देगा, जिससे उनकी सुरक्षा को खतरा हो जायेगा।

(6) **मैत्री सन्धियाँ** (Alliances and Counter Alliances)—संश्रय अथवा मैत्री-सन्धियाँ शक्ति सन्तुलन स्थापित करने का मुख्य आधार रही हैं। पामर तथा परकिन्स के अनुसार यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि राज्यों की प्रत्येक सन्धि का सम्बन्ध शक्ति सन्तुलन से रहता है, चाहे उसका विस्तार क्षेत्रीय हो, गोलार्द्धीय हो या विश्वव्यापी।

मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, परस्पर प्रतिस्पर्द्धा में लगे हुए राष्ट्र अ और व के समक्ष अपनी सापेक्ष शक्ति स्थितियों को वनाये रखने तथा सुधारने के तीन विकल्प हैं। वे अपनी निजी शक्ति वढ़ा सकते हैं, वे अपनी शक्ति मे अन्य राष्ट्रों की शक्ति जोड़ सकते है अथवा विरोधी राष्ट्र की शक्ति के साथ दूसरे राष्ट्रों की शक्ति को मिलने से रोक सकते है। जव वे प्रथम विकल्प को चुनते हैं तो वे संश्रयों की नीति का अनुसरण करते है। अन्तिम दोनो विकल्पों का सम्वन्ध सन्धियों और प्रति-मैत्री सन्धियों से है।

जब भी कोई एक राज्य अन्य राज्यो की तुलना मे शक्तिशाली होने लगता है, अन्य राज्य आशंकित हो उठते है। ये सभी भयभीत राज्य आपस मे मैत्री सन्धियाँ करके इस शक्तिशाली राज्य के विरुद्ध संगठित हो जाते हैं। इनके संगठित होते ही शक्तिशाली राज्य अपने को अकेला अनुभव करता है और प्रत्युत्तर में प्रतिसन्धियाँ करने लगता है। इस प्रकार का क्रम तव तक निरन्तर वढ़ता चलता है जव तक कि विश्व के सभी राज्य स्पष्ट रूप से विरोधी गुटों में संगठित होकर बँट नहीं जाते। मैत्री सन्धियाँ और प्रतिमैत्री सन्धियाँ यूरोपीय राजनीति का मुख्य अंग रही हैं। सन् 1882 के उपरान्त जव 'त्रिराष्ट्रीय संश्रय (Triple Alliance) की स्थापना हुई तो उसके विरुद्ध ही त्रिराष्ट्रीय सहमति (Triple Entente) का निर्माण हुआ। इसी प्रकार 1936 में धुरी राष्ट्रों (Axis Power) की सन्धि के विरोध मे मित्र राष्ट्रों (Alliance Powers) के प्रति संश्रय का निर्माण हुआ।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे मैत्री सन्धियाँ और संश्रय सुरक्षात्मक भी हो सकते है तथा आक्रमणात्मक भी। मैत्री सन्धियाँ सदैव किसी निश्चित राज्य के विरुद्ध नही होती वरन् उस किसी भी राज्य के विरुद्ध होती है जो शक्ति सन्तुलन को असन्तुलित करना चाहता है। मैकियावेली के अनुसार, "सदैव दुर्वल पक्ष के साथ ही सन्धि करके शक्ति सन्तुलन स्थापित करना चाहिए।"

संक्षेप मे, अपने अनुकूल शक्ति सन्तुलन वनाये रखने के लिए राज्य इन छः में से कोई भी तरीका अपनाते रहते है। इन तरीको से किसी प्रयोगकर्ता राज्य की शक्ति में वृद्धि होती है।

सन्तुलनकर्ता की अवधारणा
(THE CONCEPT OF BALANCER)

तुला के रूपक का प्रयोग करते हुए यह कहा जाता है कि शक्ति सन्तुलन की व्यवस्था दो पलड़ों से मिलकर वनती है। इनमें से प्रत्येक में यथापूर्व स्थिति अथवा साम्राज्यवाद की समान नीति से पहचाने जा सकने वाले राष्ट्र मिलेंगे। यूरोपीय महाद्वीप के राष्ट्रों में सामान्यतः इस ढंग से ही शक्ति सन्तुलन को परिचालित किया है।[1]

यह व्यवस्था, दो पलड़ों तथा एक तीसरे तत्व सन्तुलन के धारक अथवा सन्तुलनकर्ता (balancer) से मिलकर वन सकती है। सन्तुलनकर्ता वह राष्ट्र या उन राष्ट्रों का समूह होता है जो दूसरों की प्रतिस्पर्द्धाओ से अलग रहते है और दोनों वरावरी के पक्षों के लिए प्रलोभन पैदा करने वाले तीसरे पक्ष की भूमिका निभाते है जिसमे प्रत्येक प्रतिस्पर्द्धी पक्ष तीसरे पक्ष या सन्तुलनकर्ता का समर्थन पाने का यत्न करता रहे। सन्तुलनकर्ता का किसी एक राष्ट्र अथवा राष्ट्रों के समूह की नीति से स्थायी रूप से तादात्म्य नही होता है। उन ठोस नीतियों का विचार किये विना जिनको सन्तुलन लाभ पहुँचायेगा, इसका एकमात्र ध्येय इस व्यवस्था मे सन्तुलन वनाये रखना है। परिणामतः सन्तुलन का धारक केवल पलड़ों की सापेक्ष स्थिति के विचार से निर्दिष्ट होकर एक समय अपना भार इस पलडे में डालेगा और किसी दूसरे समय दूसरे पलड़े में। इस प्रकार वह सदैव अपना भार उस पलडे मे डालेगा जो दूसरे से ऊँचा प्रतीत होता है, क्योंकि वह हल्का है।

1. Morgenthau, *Ibid.*, pp. 194-95.

डॉ० महेन्द्रकुमार के शब्दों में, "सामान्यतया सन्तुलनकर्ता अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में हस्तक्षेप नहीं करता। पर यदि एक पक्ष को दूसरे पक्ष के मुकाबले बहुत अधिक शक्ति प्राप्त होने लगे तो सन्तुलनकर्ता कमजोर पक्ष के साथ होकर फिर से सामान्य सन्तुलन कायम कर देता है।"

इतिहास के सापेक्षतया आंशिक विस्तार में सन्तुलनकर्ता सभी बड़ी शक्तियों का क्रमागत रूप से मित्र अथवा शत्रु बन सकता है। वे सब क्रमागत रूप से दूसरें पर प्राधान्य प्राप्त करके सन्तुलन को भय पैदा कर देते है और समय पड़ने पर अपनी वारी में ऐसे आधिपत्य को प्राप्त करने वाले राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों से डर जाते है। पामर्स्टन के एक कथन का उल्लेख करते हुए कहा जा सकता है कि यदि सन्तुलन के धारक के स्थायी मित्र नहीं होते तो इसके स्थायी शत्रु भी नहीं होते। इसकी एकमात्र रुचि केवल शक्ति सन्तुलन बनाये रखने की होती है।

सन्तुलनकर्ता 'भव्य तटस्थता' (splendid isolation) की स्थिति में होता है। वह स्वेच्छा से असम्बद्ध (detached) रहता है। जब तुला के दोनों पलड़े सफलता के लिए आवश्यक अतिरिक्त भार प्राप्त करने के लिए, अपने भार के साथ इसके भार को मिलाने के लिए, परस्पर प्रतिस्पर्द्धा करें तो इसे दोनों में से किसी पक्ष के साथ स्थायी गठवन्धन नहीं करना चाहिए। सन्तुलन का धारक जागरूक तटस्थता की दिशा में प्रतीक्षा करते हुए यह अवलोकन करता रहता है कि कौनसा पलड़ा डूबने वाला है। इसका पार्थक्य 'भव्य' है क्योंकि इसकी सहायता अथवा सहायता का अभाव शक्ति के संघर्ष में निर्णायक का काम करता है। यदि इसकी विदेश नीति दक्षतापूर्वक संचालित हो तो, जिनका यह समर्थन करती है, उनसे उच्चतम प्रतिफल प्राप्त कर सकती है। किन्तु चूँकि प्रतिफल की परवाह किये विना यह सदैव अनिश्चित होता है तथा एक पक्ष से दूसरे की ओर तुला के संचालन के साथ बदलता रहता है, इसलिए इसकी नीतियों पर रोष होता है तथा वे नैतिक आधारों पर निन्दा का विषय बनती है। आधुनिक युग के प्रमुख सन्तुलन-कर्ता ब्रिटेन के लिए कहा गया है कि 'यह अपने युद्ध दूसरों को करने देता है', 'यह यूरोप को विभाजित रखता है', 'ग्रेट ब्रिटेन की नीतियों की अस्थिरता ऐसी है कि इसके साथ संश्रय करना असम्भव है।'

सन्तुलनकर्ता शक्ति सन्तुलन व्यवस्था में मुख्य स्थिति ग्रहण करता है। इसकी स्थिति शक्ति के लिए संघर्ष से परिणाम का निर्धारण करती है। इसलिए यह इस व्यवस्था का कि कौन जीतेगा तथा कौन हारेगा, निर्णय करने वाला मध्यस्थ ठहराया गया है। किसी राष्ट्र अथवा राष्ट्रों के सम्मिलन के लिए दूसरों का प्राधान्य प्राप्त करना असम्भव बनाकर, यह अपनी स्वतन्त्रता तथा अन्य सभी दूसरे राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का परिरक्षण करता है। इस प्रकार यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अधिकतम शक्तिशाली तत्व है।

तुला का धारक तीन विभिन्न तरीकों से इस शक्ति का प्रयोग कर सकता है—**प्रथम,** यह एक या दूसरे राष्ट्र अथवा संश्रय के साथ अपने संयोग को सन्तुलन के बनाये रखने अथवा पुनः स्थापना के लिए अनुकूल निश्चित शर्तो पर आधारित कर सकता है। **द्वितीय,** यह शान्ति समझौते के अपने समर्थन को समरूप शर्तो पर निर्भर बना सकता है। **तृतीय,** अन्त में, दोनों में से प्रत्येक स्थिति में यह देख सकता है कि शक्ति सन्तुलन को बनाये रखने के अतिरिक्त दूसरों की शक्ति सन्तुलन करने की प्रक्रिया में इसकी राष्ट्रीय नीति के उद्देश्य भी सफल हो जाते हैं।

लुई चौदहवें के राज्यकाल में फ्रांस ने तथा प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व के दस वर्षों में इटली ने यूरोपीय शक्ति सन्तुलन में सन्तुलनकर्ता की इस भूमिका को निभाने का प्रयत्न किया। परन्तु फ्रांस यूरोपीय महाद्वीप पर होने वाले शक्ति संघर्ष में इतनी अधिक गहराई तक निर्लिप्त था कि वह अपनी भूमिका का सफल निर्वाह करने में असमर्थ था। दूसरी ओर, इटली उस पर्याप्त प्रभाव-क्षमता से हीन था जो उसे शक्ति सन्तुलन में मुख्य स्थान दे देता। सन्तुलनकर्ता का विशुद्ध एवं श्रेष्ठ

उदाहरण ब्रिटेन द्वारा प्रस्तुत किया गया है। यह सूत्र हेनरी अष्टम का माना जाता है 'वही अधिभावी होगा, जिसका मैं समर्थन करूँगा।' (He whom I support will prevail.) उसने अपना एक ऐसा चित्र तैयार करवाया था जिसमे उसने अपने दायें हाथ में एक तराजू बिलकुल सन्तुलित दशा में थामी हुई थी। इसके एक पलड़े मे फ्रांस और दूसरे पलड़े में आस्ट्रिया था। उसके दायें हाथ मे एक बाट था जिसे वह हल्के होने वाले किसी भी पलड़े मे डालने को तैयार था। उसने अपने जीवनकाल में इस चित्र के अनुसार आस्ट्रिया और फ्रांस मे शक्ति सन्तुलन बनाये रखा। एलिजाबेथ प्रथम ने अपने शासनकाल (1558-1603) मे अपने पिता की नीति का अनुसरण किया और उसके बारे मे यह कहा जाता है कि उसके समय में फ्रांस और स्पेन यूरोप की शक्तितुला के दो पलड़े थे और इंगलैण्ड इस सन्तुलन को स्थापित करने वाला काँटा था। इंगलैण्ड ने यही भूमिका फ्रांस के राजा लुई चौदहवें, नेपोलियन बोनापार्ट तथा हिटलर के समय में अदा की।

सर विन्स्टन चर्चिल ने 1936 में ब्रिटिश कूटनीति पर टिप्पणी करते हुए अपने एक भाषण में बड़े प्रभावशाली शब्दो में कहा था, "चार सौ वर्षों से इंगलैण्ड की विदेश नीति यह रही है कि वह यूरोप के महाद्वीप में सबसे अधिक शक्तिशाली आक्रामक और आधिपत्य जमाने वाली शक्ति का विरोध करे और विशेष रूप से हालैण्ड और बेल्जियम के निम्न प्रदेशों को ऐसी शक्ति के हाथ मे पड़ने से रोके। इस मामले में इंगलैण्ड ने सदैव इस मार्ग का अवलम्बन किया है। स्पेन के फिलिप द्वितीय, फ्रांस के लुई चतुर्दश, नैपोलियन बोनापार्ट तथा जर्मनी के विलियम द्वितीय के साथ मुकाबला होने पर इंगलैण्ड के लिए यह बड़ा आसान था कि वह शक्तिशाली के साथ मिल जाता और उसकी विजयो मे भी अपना हिस्सा ग्रहण करता। किन्तु हमने सदैव कठिन मार्ग का अवलम्बन किया है। निर्बल शक्ति का साथ दिया है और इस प्रकार यूरोप पर सैनिक-प्रभुता स्थापित करने वाले अत्याचारी शासक के उद्देश्यो को विफल बनाया है। इस प्रकार हमने यूरोप की स्वतन्त्रता की रक्षा की है। यह ब्रिटिश विदेश नीति की अचेतन परम्परा है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात कोई भी राज्य या राज्यो का कोई भी समूह वास्तविक सन्तुलनकर्ता की भूमिका का निर्वाह करने की स्थिति मे नही है। अमरीका और सोवियत संघ की शक्ति लगभग बराबर है, विचारधाराओ के संघर्ष मे किसी भी राष्ट्र के लिए अपना मैत्री सम्बन्ध (गुट) बदलना बहुत कठिन है। आणविक युग मे सन्तुलनकर्ता की भूमिका का निर्वाह करना अत्यन्त दुष्कर है। आज संसार का प्रत्येक राष्ट्र एक या दूसरे गुट के साथ कसकर बँधा हुआ है और इसलिए कोई भी राष्ट्र इतना शक्तिशाली नहीं है कि दोनों पक्षों के बीच सन्तुलन को एक ओर झुका सके। क्या 1945 के बाद के काल मे गुटनिरपेक्ष राज्यों के उदय से एक नये प्रकार के सन्तुलनकर्ता का आगमन माना जा सकता है? किन्तु सवाल यह है कि क्या गुटनिरपेक्ष राष्ट्र 'सन्तुलनकर्ता' की शर्तें पूरी करते है? क्या वे पर्याप्त शक्तिशाली, भव्य तटस्थता तथा शक्ति स्पर्द्धा से विमुख रहने की स्थिति में रहे है?

शक्ति सन्तुलन से लाभ
(BENEFITS OF THE BALANCE OF POWER)

शक्ति सन्तुलन व्यवस्था का उद्देश्य शान्ति तथा सुरक्षा कायम रखना है। शक्ति सन्तुलन के कारण विश्व मे सफलता बनी रहती है। डॉ० महेन्द्रकुमार ने शक्ति सन्तुलन से मुख्यतः दो लाभ बतलाये है—(i) छोटे राज्यों की स्वाधीनता की सुरक्षा, और (ii) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का पोषण।[1]

मोटे रूप से शक्ति सन्तुलन के अग्रलिखित लाभ (उद्देश्य) बताये जा सकते है:

---

1 Mahendra Kumar, *Theoretical Aspects of International Politics*, 1967, p. 204.

(i) छोटे राज्यों की स्वाधीनता की सुरक्षा (Protection of Independence of States),

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का पोषण (Preservation of Peace),

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व को कायम रखना (Maintenance of International Law)।

(i) **छोटे राज्यों की स्वाधीनता की सुरक्षा**—शक्ति सन्तुलन से छोटे राज्यों की स्वाधीनता बनी रहती है। यदि सभी राष्ट्र समान रूप से शक्तिशाली होंगे तो किसी भी राष्ट्र को प्रबल शक्ति होने का अवसर नहीं मिलेगा। प्रथम शक्ति वाला राष्ट्र ही महत्वाकांक्षी और आक्रमणकारी बन सकता है, अतः शक्ति के समान वितरण से (सन्तुलन से) छोटे राज्यों की स्वाधीनता को खतरा नहीं रहेगा।

(ii) **अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का पोषण**—ऐसी भी मान्यता है कि शक्ति सन्तुलन से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनी रहती है। यदि विविध राष्ट्रों या राष्ट्र समूहों में शक्ति का समान वितरण हो तो कोई भी एक राष्ट्र या राष्ट्र समूह आक्रमणकारी बनने का साहस नहीं करेगा। सन्तुलन को कायम रखने के लिए आक्रमण को रोकना निस्सन्देह शान्ति को कायम रखना है।

किन्तु उपरोक्त दोनों लाभों की आलोचना की जाती है। आलोचक यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं कि शक्ति सन्तुलन से छोटे राज्यों की स्वाधीनता की सुरक्षा होती है। आलोचकों का कहना है कि शक्ति सन्तुलन के नाम पर राष्ट्रों के समूह एवं गुटबन्दियाँ बनती हैं। इन गुटबन्दियों में बड़े और छोटे सभी राज्य शामिल होते हैं। जैसे अमरीका ने नाटो, सीएटो और सोवियत संघ ने वार्साउ पैक्ट बनाया। इस सारे शक्ति सन्तुलन तन्त्र में होने वाली जोड़-तोड़ और राजनीतिक दाँव-पेंच की प्रक्रिया प्रमुख होती है। शक्ति सन्तुलन के नाम पर पनपती गुटबन्दियों से तो छोटे राज्यों की निर्णय प्रक्रिया नियन्त्रित हो जाती है।

आलोचकों का यह भी कहना है कि शान्ति को शक्ति सन्तुलन का मुख्य उद्देश्य घोषित नहीं किया जा सकता। यथार्थ में, शक्ति को सन्तुलित करने के विचार से ही यह बात ध्वनित होती है कि उसमें आस्था रखने वाला शान्ति की अपेक्षा किसी अन्य वस्तु को अधिक महत्वपूर्ण मानता है। यह तथ्य इस बात से प्रमाणित होता है कि राज्यों को सन्तुलन कायम रखने के लिए युद्ध का आश्रय लेने में संकोच नहीं होता।

यह सच है कि शक्ति सन्तुलन भूतकाल में शान्ति कायम रखने के एक तन्त्र के रूप में बहुत सफल रहा है। 19वी शताब्दी में यूरोप में युद्ध तो बहुत बार हुए पर शक्ति सन्तुलन व्यवस्था ने उन युद्धों को स्थानबद्ध और सीमित किया। 18वीं सदी में निरन्तर युद्ध होते रहते थे और 19वीं सदी में नेपोलियन के युद्ध के बाद प्रायः पूर्ण शान्ति रही। क्या इसका कारण शक्ति सन्तुलन की स्थापना था ? वस्तुतः इस शान्ति का कारण शक्ति सन्तुलन न होकर शक्ति की प्रबलता था। नेपोलियन के युद्धों के बाद विशेष रूप से इंगलैण्ड के पास शक्ति की बहुत अधिक विपुलता थी। शक्ति की विपुलता के कारण ही प्रथम विश्वयुद्ध से पहले की शताब्दी को 'ब्रिटिश सर्वोच्चता की शताब्दी' कहा जाता है। अतः यह कहना अधिक तर्कसंगत होगा कि सन् 1815 से 1914 की अवधि की शान्ति शक्ति सन्तुलन के कारण नहीं अपितु ब्रिटिश शक्ति की विपुलता के कारण थी। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अमरीका के पास शक्ति की विपुलता देखी गयी। दोनों विश्वयुद्धों के बीच मित्र राष्ट्रों के पक्ष में शक्ति की बहुतायत रही। आर्गेन्सी ने लिखा है कि "शक्ति सन्तुलन की जिन अवधियों को शान्ति की अवधियाँ माना जाता है वे वास्तव में युद्ध की अवधियाँ रही हैं और शक्ति की अत्यधिकता की अवधियों मे ही शान्ति बनी रही है।"

(iii) **अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व को कायम रखना**—शक्ति सन्तुलन का एक अन्य

लाभ यह है कि इसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अस्तित्व बना रहता है। ओपेनहीम इसी दृष्टिकोण को मानते हुए कहते हैं कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व के लिए शक्ति सन्तुलन एक अनिवार्य अवस्था है।" अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रों के मध्य शक्ति का सन्तुलन हो। अन्तर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रों की सहमति द्वारा मान्य होता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू करने वाली कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं है, अतः शक्ति सन्तुलन द्वारा ही किसी राष्ट्र को सर्वशक्तिमान होने से रोका जा सकता है। अतः शक्ति सन्तुलन पर ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून का क्रियान्वयन व संचालन आधारित है। परन्तु वर्तमान में विचारकों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून व उसका क्रियान्वयन शक्ति सन्तुलन व्यवस्था पर आधारित न होकर अधिक से अधिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों, विश्व लोकमत, अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता तथा सामूहिक सुरक्षा आदि पर निर्भर होना चाहिए।

शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त का ऐतिहासिक विकास
(THE THEORY OF THE BALANCE OF POWER : HISTORICAL EVOLUTION)

जहाँ कहीं राज्य व्यवस्था की बहुल प्रणाली (Multiple State System) विद्यमान रहती है, शक्ति सन्तुलन की अवधारणा का अस्तित्व रहता है। प्राचीन समय में भी इस सिद्धान्त का प्रयोग होता था, विशेष रूप से यूनान के नगर राज्यों की व्यवस्था में तथा मिस्र, बेबीलोन, भारत तथा चीन की राज्य प्रणाली में। डेविड ह्यूम ने अपने एक निबन्ध 'Of the Balance of Power' में इसे 'a prevailing notion of ancient times' कहा है। भारत के हिन्दू शासक शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त का व्यवहार में प्रयोग करते रहते थे। ज़िमर्न ने तो 'विदेश नीति के संचालन में इसे प्रधान हिन्दू अवधारणा' तक कह डाला है कौटिल्य के मण्डल सिद्धान्त में 'शक्ति सन्तुलन की धारणा' के बीज निहित हैं। रोमन साम्राज्य के युग में इस धारणा का ह्रास दिखाई देता है।

शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त की वास्तविक शुरूआत 15वीं शताब्दी से होती है। इटली के राज्यों की राजनीति के परिचालन में इस सिद्धान्त का प्रयोग होता रहा है। मेकियावेली के 'प्रिंस' में इस ओर संकेत किया गया है। वेनिस नाम का नगर राज्य तो 'सन्तुलनकर्ता' की भूमिका का निर्वाह भी करने लगा था। सोलहवीं शताब्दी में फ्रांस और हैप्सबर्गज के बीच अधिभावी शक्ति सन्तुलन चलता था। इसी समय एक स्वायत्तशासी प्रणाली ने इटली के राज्यों को साम्यावस्था में रखा। इंगलैण्ड ने शक्ति सन्तुलन की कूटनीति का आश्रय लिया और उसने फ्रांस एवं पवित्र रोमन साम्राज्य के मध्य सन्तुलन बनाये रखने का प्रयत्न किया। किन्तु मूलतः इंगलैण्ड ने इस कालावधि में कमजोर पक्ष की तुलना में शक्तिशाली पक्ष का समर्थन किया। सन् 1648 की वेस्टफालिया की सन्धि ने राष्ट्रीय-राज्य व्यवस्था की स्थापना की और शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त की भूमिका और अधिक सार्थक दिखलाई देने लगी। जब फ्रांस के लुई चौदहवें (1643-1715) ने सन्तुलन के अस्तित्व को चुनौती दी तो उसे अनेक युद्धों का सामना करना पड़ा। जब उसने स्थलीय और नौ-सैनिक शक्ति का विस्तार करके अति प्रबल शक्ति बनने के सपने देखना प्रारम्भ किया तो उसे इंगलैण्ड और नीदरलैण्ड की मिली-जुली शक्ति का सामना करना पड़ा। 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, उत्तरी यूरोप में एक पृथक शक्ति सन्तुलन का विकास स्वीडन की शक्ति के द्वारा बाल्टिक सागर के निकटवर्ती राष्ट्रों को दी गयी एक चुनौती से हुआ। 18वीं शताब्दी का काल, खासतौर से 1713 की यूट्रेक्ट की सन्धि से पोलैण्ड के प्रथम विभाजन (1772) तक का समय शक्ति सन्तुलन अवधारणा के विकास का स्वर्ण युग माना जाता है। इस युग में शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त से सम्बन्धित काफी साहित्यिक सामग्री उपलब्ध करायी गयी और यूरोप के राजाओं ने अपनी विदेश नीति के संचालन में शक्ति सन्तुलन अवधारणा को मार्गदर्शक सिद्धान्त के रूप में मान्यता दी। इस शताब्दी में अनेक सन्धियों एवं प्रतिसन्धियों के माध्यम से राज्यों के बीच शक्ति

सन्तुलन स्थापित करने के प्रयत्न किये गये। प्रशा के राजा फ्रेडरिक महान (1740 से 86) को शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त का प्रमुख निष्णात कलाकार माना जाता है पोलैण्ड के तीनों विभाजन जिसमें रूस, आस्ट्रिया तथा फ्रांस का मुख्य दावा था कि तीनों राष्ट्रों के भाग एकदम समान और तुल्य होने चाहिए, मुआवजे एवं भू-भागों के विभाजन के तरीके से शक्ति सन्तुलन स्थापित करने का उदाहरण प्रस्तुत करता है। आस्ट्रिया तथा रूस के बीच होने वाली 1772 की सन्धि में स्पष्ट कहा गया है कि मुआवजों का बँटवारा दोनों में लगभग समान होगा। इस युद्ध में इंगलैण्ड, फ्रांस, प्रशा, आस्ट्रिया तथा रूस में बहुल शक्ति सन्तुलन स्थापित हो चुका था। प्रशा के एक प्रथम श्रेणी की शक्ति में रूपान्तरित होने से एक विशेष जर्मन शक्ति सन्तुलन का जन्म हुआ, जिसके दूसरे पलड़े में मुख्य बाँट के रूप में आस्ट्रिया था। अठारहवीं शताब्दी में रूस की शक्ति के समुन्नत होने के कारण एक पूर्वी शक्ति सन्तुलन का विकास दिखायी पड़ा। 19वीं शताब्दी में नेपोलियन बोनापार्ट की अति प्रबल शक्ति ने यूरोप के सन्तुलन को बिगाड़ने का प्रयत्न किया। इंगलैण्ड ने उसकी चुनौती का सामना किया और 1815 की वियना कांग्रेस के माध्यम से नये शक्ति सन्तुलन की स्थापना की। जब रूस ने टर्की की कमजोरी का लाभ उठाते हुए बाल्कान प्रायद्वीप में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया तो आस्ट्रिया, फ्रांस और ब्रिटेन ने स्पष्ट घोषणा की कि शक्ति सन्तुलन की दृष्टि से तुर्की साम्राज्य का बना रहना अनिवार्य है। 1914 में प्रथम विश्वयुद्ध के आरम्भ में सन्तुलन तुला के एक पलड़े के मुख्य देश ब्रिटेन, फ्रांस तथा रूस थे और दूसरे पलड़े में मुख्य राज्य जर्मनी तथा आस्ट्रिया थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त में प्र[illegible] पलड़े में प्रमुख बाँट गैर यूरोपीय थे—संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ। शक्ति सन्तुलन का ढाँचा ही बदल गया है। अफ्रीका, एशिया और लेटिन अमरीका के देशों का उपयोग वर्तमान सन्तुलन को स्थिर रखने के लिए किया जा रहा है। यूरोप का शक्ति सन्तुलन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विस्तार के कारण विश्वव्यापी सन्तुलन का एक घटक बनकर रह गया है। आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति उस मोड़ पर है जहाँ अमरीका और सोवियत संघ की प्रमुख शक्ति सन्तुलन की व्यवस्था में नये शक्ति केन्द्रों का उदय होने लगा है; जैसे जापान और साम्यवादी चीन का उदय।

ऐसा कहा जाता है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त पुराना पड़ चुका है। चूँकि शक्ति सन्तुलन के लिए लगभग बराबर शक्ति वाले तीन या अधिक राज्यों का होना जरूरी है, जबकि द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद द्विध्रुवीय निकाय (Bipolar System) की स्थापना हुई है, इसलिए शक्ति सन्तुलन अब अर्थहीन धारणा बन चुका है।

सन् 1945 के बाद दस वर्षों तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप समाजवाद और पूँजीवाद के आपसी संघर्ष के प्रतीक दो सुपर पावर्स के बीच संघर्ष की कहानी बन गया। इसे शीत युद्ध की संज्ञा मिली और क्योंकि अब महाशक्ति की संज्ञा के साथ ही एक और शक्ति—विशिष्ट महाशक्ति (Dominant Power) का जन्म हुआ, इसलिए बहुत-से राजनीतिक विवेचकों और विद्वानों को शक्ति सन्तुलन की संरचना में अलोच नजर आने लगा। यदि शक्ति सन्तुलन को तय करने वाले राष्ट्रों की संख्या में कमी हो जाये और यह दो तक ही सीमित हो जाये, तो स्वाभाविक है कि शक्ति सन्तुलन की संरचना द्विधुरी आत्मक (Bipolar) होगा तो वह स्वभावतः विशेषकर राष्ट्रवादी विश्ववाद के युग में अपने आपको द्विगुटीय विश्व राजनीतिक व्यवस्था में परिणत करने का प्रयत्न करेगा।

दूसरे महायुद्ध की भस्मों में केवल दो विशिष्ट महाशक्तियों का जन्म हुआ किन्तु उपनिवेशवाद के अन्त के साथ ही अनेक छोटे-बड़े राज्यों का जन्म हुआ। इन राज्यों में से अनेक राज्यों के राजनीतिज्ञ अपने पुराने औपनिवेशिक शोषक शासकों के स्वाभाविक द्रोही थे अस्तु दोनों से किसी [illegible] सुपर पावर के आधिपत्य को स्वीकार करना असह्य था। शीतयुद्ध से और महाशक्तियों के

शक्ति संघर्ष से दूर रहने की भावना और स्वराष्ट्र की स्वातन्त्र्य भावना ने गुटनिरपेक्षता की नीति को जन्म दिया। किन्तु ये गुटनिरपेक्ष राष्ट्र किसी तीसरी सन्तुलन शक्ति के रूप में उदित न हो सके। गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों में राष्ट्रवाद और औपनिवेशवाद के प्रतिरोध की भावना के कारण द्विगुटीय शक्ति सन्तुलन से बाहर रखने की नीति को बल मिलता है।

बाद में द्विगुटीय विश्व शक्ति सन्तुलन में व्यवधान पड़ने लगे। साम्यवादी गुट में सोवियत संघ और चीन में दरारें पड़ने लगीं। फ्रांस और पाकिस्तान नाटो और सीएटो से पृथक रहने की भूमिका अदा करने लगे। जर्मनी और जापान शक्तिसम्पन्न हो गये और इस प्रकार द्विधुरीपरक विश्व राजनीति का स्थान बहुधुरीपरक (Multi-Polarity) राजनीति ने ले लिया। समाजवाद और पूंजीवाद के बीच चल रहा शीतयुद्ध यद्यपि समाप्त नहीं हुआ लेकिन विश्व शक्ति सन्तुलन की संरचना में अन्तर आ गया।

विश्व की विध्रुवीय व्यवस्था को बहुकेन्द्रवाद में परिवर्तित होते हुए देखा जा रहा है। ब्रिटेन, फ्रांस और चीन भी अणुशक्ति के स्वामी बन चुके हैं, जापान और जर्मनी शक्तिशाली बनते ही जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में चाहे शक्ति सन्तुलन की ऐतिहासिक परम्परा का आज विशेष महत्व नहीं रह गया हो तथापि महाशक्तियों को इस पर विचार करके ही निर्णय लेने पड़ेंगे।

क्या शक्ति-सन्तुलन का सिद्धान्त पुराना पड़ गया है ?
(HAS THE BALANCE OF POWER CONCEPT BECOME OBSOLETE)

यह सर्वविदित है कि शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त तथा उसके व्यावहारिक प्रयोग में अन्त-विरोध पाया जाता है। अब यह प्रश्न उठता है कि आज के समय में इस सिद्धान्त की कोई सार्थकता है या नहीं। कुछ विद्वानों का तो यह विचार है कि वर्तमान में शक्ति सन्तुलन के लिए आवश्यक दशाएँ प्राप्त नहीं हैं, अतः शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त वर्तमान समय में लागू नहीं हो सकता। दूसरी ओर कुछ विचारक शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त को आज भी सार्थक मानते हैं। यही नहीं उनका कहना है कि शक्ति पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय समाज के लिए शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त अनिवार्य हैं। मॉरगेन्थाऊ का कथन है कि "शक्ति सन्तुलन और उसे बनाये रखने का उद्देश्य लेकर चलने वाली नीतियाँ केवल अपरिहार्य ही नहीं हैं, बल्कि प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्रों के समाज के अपेक्षित स्थायित्व लाने वाले तत्व हैं।"

आर्गेन्सकी के अनुसार शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त वास्तव में औद्योगिक क्रान्ति के बाद पुराना पड़ गया है तथा वर्तमान परिस्थितियों में लागू नहीं होता है। मॉरगेन्थाऊ का विचार है कि, "अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति सन्तुलन के अस्थायित्व का कारण यह नहीं है कि यह सिद्धान्त ही दोषपूर्ण है वरन् इसके लिए वे परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं, जिनके अन्तर्गत सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राष्ट्रों के समाज में इस सिद्धान्त को लागू किया जाता है।" मॉरगेन्थाऊ के अनुसार शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त तो ठीक है परन्तु आज की बदलती हुई परिस्थितियाँ उसे प्रभावी ढंग से कार्य करने से रोकती हैं।

पामर व पर्किन्स के अनुसार 'शक्ति सन्तुलन' के लिए जो अनुपयुक्त दशाएँ (unfavourable conditions) हैं, वे निम्नलिखित हैं :

(1) शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त इतिहास में उस समय सुचारु रूप से चलता था जब यूरोप में समान शक्ति वाले अनेक राज्य थे। कालान्तर में जब यूरोपीय सन्तुलन विश्व सन्तुलन में बदल गया तो राष्ट्रों के बीच शक्ति सन्तुलन बनाये रखने के लिए अनुपयुक्त दशाएँ उत्पन्न हो गयीं। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात द्वि-ध्रुवीकरण की स्थापना हुई जिससे शक्ति सन्तुलन लागू नहीं हो रहा है। विश्व के सभी बड़े-बड़े राष्ट्र एक न एक गुट से दृढ़ता से सम्बद्ध हैं और कोई ऐसा शक्तिशाली राष्ट्र नहीं है जो इधर से उधर सन्तुलन को ठीक कर दे। अतः द्वि-ध्रुवीकरण की

स्थिति में तथा सन्तुलक (balancer) के अभाव में सन्तुलन प्रभावकारी रूप से कार्य नहीं कर सकता ।

(2) अणु आयुधों ने भी शक्ति सन्तुलन की परम्परागत मान्यताओं को समाप्त कर दिया है । आधुनिक युद्ध के स्वरूप के कारण कोई भी सन्तुलन को ठीक करने के लिए विश्वव्यापी संघर्ष को आमन्त्रित करने का साहस नहीं कर सकता है ।

(3) राष्ट्रवाद तथा वैचारिक आधारों के बढ़ते हुए महत्व के कारण भी शक्ति सन्तुलन का सुचारु रूप से कार्य करना कठिन हो गया है । वैचारिक आधार ने राष्ट्रीयता की सीमाओं को शिथिल बना दिया है । राष्ट्रों की विदेश नीतियों पर विचारधारा का गहरा प्रभाव पड़ता है ।

(4) राष्ट्रों की शक्ति में अन्तर बढ़ता जा रहा है । महाशक्तियाँ अधिक शक्तिशाली होती जा रही हैं, जबकि छोटे राज्य कमजोर होते जा रहे हैं ।

(5) सामूहिक सुरक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (संयुक्त राष्ट्र संघ) के बढ़ते हुए महत्व तथा प्रभाव ने भी आज के समय में सन्तुलन को कम प्रभावकारी कर दिया है ।

शक्ति सन्तुलन : मूल्यांकन
(THE BALANCE OF POWER : AN ESTIMATE)

आइनिस क्लाइड ने लिखा है कि शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त के सफल क्रियान्वयन के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं—**प्रथम,** शक्ति थोड़े से स्थानों पर केन्द्रित न होकर व्यापक रूप से बहुत से राज्यों के बीच विभाजित होनी चाहिए । **द्वितीय,** नीति का नियन्त्रण उन लोगों के द्वारा होना चाहिए जो कूटनीतिक खेल के चातुर्यपूर्ण खिलाड़ी हैं और जो किसी विचारधारा के साथ बंधे हुए नहीं हैं । **तृतीय,** शक्ति के तत्व सीधे-सादे और स्थायी होने चाहिए । सीधे-सादे इसलिए ताकि उनका सही अनुमान लगाया जा सके और स्थायी इसलिए ताकि उनके आधार पर भविष्य की घटनाओं के सम्बन्ध में सही अनुमान लगाया जा सके । **चतुर्थ,** युद्ध पर होने वाला खर्च इतना अधिक होना चाहिए कि राज्य आसानी से आश्रय न ले सकें । **पंचम,** यथापूर्व स्थिति की व्यवस्था को दी जाने वाली चुनौतियाँ क्रान्तिकारी नहीं होनी चाहिए । **षष्ठ,** यथासम्भव एक सन्तुलनकर्ता होना चाहिए ।

आज शक्ति केवल थोड़े से स्थानों पर केन्द्रित है, नीति-निर्माता विचारधाराओं के साथ बंधे हुए हैं, शक्ति तत्व भी आज पहले जैसे बोधगम्य नहीं हैं, वे दिन-प्रतिदिन दुरूह होते जा रहे हैं, राज्य युद्ध का सहारा लेते हुए नहीं हिचकिचाते है, स्थापित व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तनों की माँग की जा रही है और आज कोई सन्तुलनकर्ता भी नहीं है । इस प्रकार क्लाड के मत से आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वे परिस्थितियाँ नहीं पायी जातीं जिनमें शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त काम कर सके ।

कार्ल जे० फ्रेडरिक के मत में, "अब यह सिद्धान्त बिल्कुल अर्थहीन हो गया है क्योंकि यह किसी समस्या का समाधान नहीं करता । न न्याय की स्थापना कर पाता है, न अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का विश्लेषण करने में सहायक होता है और न ही सद्भावना बढ़ाने में ।" **क्विंसी राइट** के विचार में, "यदि प्रजातन्त्र तथा मानव स्वतन्त्रता को जीवित रखना है तो जो राष्ट्र इन सिद्धान्तों की हामी भरते हैं उन्हें शक्ति सन्तुलन के स्थान पर कुछ अन्य आधार ढूंढने पड़ेंगे ताकि ये दोनों सुरक्षित रहें ।"

पामर तथा पार्किन्स के मत में शक्ति सन्तुलन के संचालन में प्रतिकूल परिस्थितियाँ निम्नलिखित हैं : (1) अन्तर्राष्ट्रीय जगत का विरोधी गुटों में विभाजित होना, (2) युद्ध में रक्षा-

त्मक आक्रमणकारी शक्ति के लाभों का बहुत अधिक होना, (3) परमाणु युद्ध की विनाश शक्ति का सहस्रों गुना बढ़ जाना, (4) शक्ति तत्वों में विचारधारा जैसे अमूर्त तत्वों का अत्यधिक प्रभाव, (5) राज्यों की आपसी शक्ति का अन्तर बहुत अधिक होना आदि।

जी० कार्लटन ने लिखा है कि "यदि एक वाक्य में इस विवादास्पद प्रश्न का उत्तर देना पड़े कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति किन आधारों पर संचालित होती रही है, तो सबसे सन्तोषजनक उत्तर है कि राष्ट्रीय राज्यों के उदय के उपरान्त से आज तक राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय शक्ति सन्तुलन ही मुख्य तत्व रहे हैं। परन्तु इस ऐतिहासिक सत्य से अब भ्रमित नहीं होना चाहिए, क्योंकि बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मूल आधार ही परिवर्तित हो रहे हैं।"

शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त की निम्नलिखित तर्कों के आधार पर आलोचना की जाती है :

(1) **राज्य को शक्ति संचय के लिए प्रेरित करना**—शक्ति संघर्ष में क्रियात्मक ढंग से संलग्न सभी राष्ट्रों को चाहिए कि वास्तव में उनका लक्ष्य शक्ति का सन्तुलन अर्थात समता न हो वरन् अपने लिए शक्ति की उत्कृष्टता हो। इसलिए सभी राष्ट्रों को मौजूदा परिस्थितियों में अधिक से अधिक शक्ति की खोज करनी चाहिए। राष्ट्रों के शक्ति संघर्ष की दौड़ में प्रत्येक राष्ट्र में शक्ति अर्जित करने की असीमित आकांक्षा विद्यमान रहती है। शक्ति सन्तुलन में यह आकांक्षा अपने को क्रियान्वित रूप देने की बलवती प्रेरणा रखती है।

(2) **शक्ति सन्तुलन व्यवस्था में राज्य भयग्रस्त रहते हैं**—चूंकि अधिकतम शक्ति को प्राप्त करने की इच्छा सार्वभौमिक है, सभी राष्ट्रों को यह भय होना स्वाभाविक है कि उनकी अपनी मिथ्या गणनाएँ तथा दूसरे राष्ट्रों की शक्ति में वृद्धियाँ उनको और भी कमजोर बनाती चली जायेंगी। इस कमजोरी को उन्हें सभी प्रकार दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। अतएव सभी राष्ट्र, जिनकी स्थिति अपने प्रतिस्पर्द्धियों से प्रत्यक्ष रूप में लाभपूर्ण है उस लाभ को और भी सघन बनाने की चेष्टा करेंगे। वे शक्ति वितरण को स्थायी रूप से अपने पक्ष में बदलने के लिए प्रयत्नशील रहेंगे। इस लाभ का प्रयोग दूसरे राष्ट्रों पर राजनयिक दबाव डालकर, उनको रियायतें देने के लिए विवश करके किया जा सकता है जो कि उस अस्थायी लाभ को स्थायी उत्कृष्टता में घनीभूत कर देगा। यह युद्ध के द्वारा भी किया जा सकता है। शक्ति सन्तुलन व्यवस्था में सभी राष्ट्र निरन्तर भयग्रस्त रहते हैं। वह भय यह है कि प्रथम उपयुक्त क्षण में ही उनके विरोधी उनको उनकी शक्ति स्थिति से वंचित न कर दें।

(3) **शक्ति सन्तुलन शक्ति का आदर्श वितरण नहीं है**—शक्ति सन्तुलन का अर्थ है शक्ति का आदर्श वितरण—साम्यावस्था। पर जब यह कहते हैं कि अमुक राष्ट्र के हाथ में शक्ति का सन्तुलन है तब आमतौर से हमारा आशय होता है कि उसके पास शक्ति की अधिकता है। मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, "शक्ति सन्तुलन के पलड़े कभी भी यथावत सन्तुलित नहीं होंगे। न समता का सही बिन्दु पहचाने जाने योग्य ही होता है, न उसके पहचानने की आवश्यकता ही है।"

(4) **शक्ति सन्तुलन युद्धों का कारण है**—शक्ति सन्तुलन की स्थितियों में एक यथापूर्व स्थिति वाले राज्य अथवा उनके संश्रय तथा एक साम्राज्यवादी शक्ति अथवा उनके समूह के विरोध से युद्ध होने की बहुत सम्भावना रहती है। चार्ल्स पंचम से हिटलर तथा हिरोहितो तक के बहुत से उदाहरणों में, शक्ति सन्तुलन वास्तव में युद्धों के कारण बने। कल का यथापूर्व स्थिति का समर्थक राष्ट्र विजय द्वारा आज के साम्राज्यवादी राज्य में परिणत हो जाता है। गत दिवस के पराजित राष्ट्र, अगले दिन अपनी पराजय का बदला लेने की घात में रहेंगे। विजेता की महत्वाकांक्षा जिसने सन्तुलन को पुनः प्राप्त करने के लिए हथियार उठाये तथा हारने वाले का रोष जो इसे उलट नहीं पाया, नये सन्तुलन को एक विक्षोभ से दूसरे विक्षोभ के लिए ऐसा संक्रमण विन्दु बनाते प्रतीत होते हैं, जोकि यथार्थ रूप में अदृश्य हैं।

(5) **शान्ति का संरक्षण शक्ति के असन्तुलन से होता है**—आर्गेन्स्की का विचार है कि एक पक्ष के पास शक्ति की विपुलता होने की स्थिति में कमजोर पक्ष विपुल शक्ति के आगे समर्पण कर देता है। इस प्रकार शान्ति का संरक्षण 'शक्ति के असन्तुलन' से होता है, न कि 'शक्ति के सन्तुलन से'।[1] बराबर शक्ति होने पर दोनों पक्षों को संघर्ष आरम्भ करने का प्रलोभन बना रहेगा। जब धुरी राष्ट्रों की शक्ति यूरोपीय मित्रराष्ट्रों की शक्ति की बराबरी में आ गयी तो दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ गया। इसलिए शान्ति और शक्ति सन्तुलन का सम्बन्ध उससे ठीक उल्टा मालूम होता है।

(6) **शक्ति सन्तुलन का विचार यान्त्रिकी रूपक है**—राष्ट्रों के समूह में सन्तुलन का विचार यान्त्रिकी के क्षेत्र से लिया गया रूपक है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में स्थायित्व तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए दोनों ओर बाँटों के समान वितरण द्वारा दो पलड़ों में सन्तुलन बनाये रखने के रूपक का उद्गम यान्त्रिक दर्शन में है। यान्त्रिक विधि से कल्पित शक्ति सन्तुलन को एक सरलता से पहचानने योग्य परिमाणात्मक कसौटी की आवश्यकता है, जिसके द्वारा बहुत से राष्ट्रों की सापेक्षिक शक्ति की माप तथा तुलना हो सकती है।

किन्तु क्या राज्यों की सापेक्षिक शक्ति को नापा जा सकता है? क्या एक राष्ट्र अधिक प्रदेश होने से अधिक शक्तिशाली बन जाता है? दो शासकों में कौन अधिक शक्तिशाली है—एक वह जिसके पास सैनिक शक्ति के तीन पौण्ड, राजमर्मज्ञता के चार पौण्ड, उत्साह के पाँच पौण्ड तथा महत्वाकांक्षा के दो पौण्ड हैं अथवा दूसरा वह जिसके पास सैनिक शक्ति के बारह पौण्ड तथा अन्य सब गुणों का केवल एक पौण्ड है। शक्ति की युक्तिसंगत परिगणना, जो कि शक्ति सन्तुलन का जीवन-रक्त है, अटकलबाजियों की एक श्रृंखला मात्र है। जब राष्ट्रीय शक्ति को मापा नहीं जा सकता तो शक्ति सन्तुलन की यान्त्रिकी कल्पना केवल कल्पना ही बनकर रह जाती है सिद्धान्त नहीं।

प्रो० हान्स जे० मॉरगेन्थाऊ ने शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त की आलोचना करते हुए इसे एक अनिश्चित, अवास्तविक और अपर्याप्त सिद्धान्त बताया है। मॉरगेन्थाऊ लिखते है कि "अन्तर-राष्ट्रीय शक्ति सन्तुलन के अस्थायित्व का कारण इस सिद्धान्त का त्रुटिपूर्ण होना नहीं है, इसका कारण तो वे खास अवस्थाएँ हैं जिनमें इस सिद्धान्त को प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों के समाज में कार्य करना पड़ता है।"

रिचार्ड कॉब्डन ने शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। उनके अनुसार, "शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त केवल एक असम्भव कल्पना मात्र है—राजनीतिज्ञों के मस्तिष्क की एक उपज है, एक स्वांस में बोले जाने वाले शब्दों का योग है, इसके अक्षर है जो कुछ आज करते हैं किन्तु उनका कोई अर्थ नहीं होता है।"[2]

आर्गेन्स्की का कहना है कि, "हमें शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त को अस्वीकार कर देना चाहिए। इसके विचार स्पष्ट है, ये तर्क के आधार पर सही नहीं उतरते है और उनमें विरोधाभास पाया जाता है, ऐतिहासिक घटनाओ के द्वारा इनकी पुष्टि नहीं होती है।"[3]

इन कमियों के बावजूद भी शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सारभूत

---

1 A. P. K. Organski, *World Politics*, New York, 1958, pp. 292-97, 316-38.

2 "The theory of balance of power is a mere chimera a creation of the politician's brainphantasm without definite form or tangible existence, a mere conjunction of syllables forming word which convey sound without meaning." —*Ritchard Cobden*

3 "We must reject the theory of Balance of Power. Its concepts are fuzzy, it is logically, unsound and contradicts itself, it is not consistant with the events that have occurred." —*Organski*

सिद्धान्त है। यह सच है कि अमरीका तथा सोवियत संघ के बीच शक्ति के एक नये द्विध्रुवीकरण के जन्म से तथा साथ ही किसी सन्तुलनकर्ता के अभाव के कारण वर्तमान में यह सिद्धान्त पुराना पड़ गया है। तथापि फ्रांस और चीन ने द्विध्रुवीय व्यवस्था को चुनौती देना प्रारम्भ कर दिया है। जर्मनी और जापान विश्व राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने की आकांक्षा रखते हैं। अतः निकट भविष्य में 'शक्ति सन्तुलन' सिद्धान्त का महत्व और भी अधिक बढ़ने वाला है।

जब तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राष्ट्र-राज्य प्रणाली पर आधारित रहेगी, शक्ति सन्तुलन उसका अनिवार्य तत्व रहेगा, भले ही सैद्धान्तिक रूप से उसमें कितनी ही कमियाँ क्यों न रह जायें। फ्रेडरिक के मत में, "आज की अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता की तुलना में शक्ति सन्तुलन कहीं अधिक वांछनीय है, यद्यपि शक्ति सन्तुलन भी मानव स्वभाव और विश्व राजनीति की अपूर्णता का ही द्योतक है।"

प्रश्न

1. जब तक राष्ट्रीय राज्य-व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय समाज का स्वरूप है, शक्ति सन्तुलन का ही अनुसरण होगा, चाहे कितनी ही उसकी भर्त्सना की जाय।" (पामर तथा पर्किन्स) उपर्युक्त के प्रकाश में शक्ति सन्तुलन का राष्ट्रीय नीति के सिद्धान्त के रूप में विवेचन कीजिए।
   "As long as the nation-state system is the prevailing pettern of international society, balance of power will be followed in practice, however roundly they may be damned." (Palmer and Perkins) Discuss the working of Balance of Power as a principle of national policy in the light of the above statement.
2. शक्ति सन्तुलन के विचार से आप क्या समझते हैं? तत्कालीन विश्व परिस्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनाये रखने में शक्ति सन्तुलन के औचित्य की व्याख्या कीजिए।
   What do you understand by the concept of Balance of Power ? Discuss its relevance in the context of maintenance of international peace in the present day world situation.
3. 'शक्ति के सन्तुलन' का आप क्या अर्थ लगाते हैं? इनिस क्लॉड जूनियर ने इस अवधारणा के विरोध में जो तर्क दिये हैं, संक्षेप में उनका उल्लेख कीजिए।
   What is 'balance of power' ? Summrise the main arguments of Inis Claude Jr. against this concept.
4. 'शक्ति का सन्तुलन' जिन विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है, उनकी विवेचना कीजिए। हमारी दुनिया में क्या कभी ऐसा सन्तुलन रहा?
   Discuss the possible meaning of the term 'balance of power'. Do you belive that such a balance ever existed in our world ?
5. शक्ति सन्तुलन की परम्परागत अवधारणा का विवेचन करिए। आणविक प्रतिरोध के युग में परम्परागत शक्ति सन्तुलन कहाँ तक व्यावहारिक है।
   Discuss the traditional concept of balance of power. How far as the traditional balance of power feasible in the age of nuclear deterrence ?
6. शक्ति सन्तुलन तथा सामूहिक सुरक्षा के सम्बन्ध की समीक्षा कीजिए। क्या आप इन दोनों को संगत या परस्पर विरोधी समझते हैं?
   Discuss the relationship between Balance of Power and Collective Security ? Would you regard the two as compatible or contradictory ?

23

सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा

[THE CONCEPT OF THE COLLECTIVE SECURITY]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शान्ति स्थापित करने और आक्रमण का निवारण करने की एक युक्ति के रूप में सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा का विशिष्ट महत्व है। यह अवधारणा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और निरस्त्रीकरण के दृष्टिकोणों से जुड़ी हुई है। शस्त्रीकरण का वास्तविक उद्देश्य आक्रमण का डर है, दूसरे शब्दों में असुरक्षा की भावना। अतएव इस बात की आवश्यकता है कि राष्ट्रों को किन्हीं नये साधनों द्वारा आक्रमण से सुरक्षित किया जाना चाहिए। यदि राष्ट्र अपने आपको आक्रमणों से सुरक्षित कर पाते है तो शस्त्रीकरण की प्रेरक शक्ति और वास्तविक कारण अन्तर्धान हो जायेंगे। यदि आक्रमण के विरोध में एक निवारक भय की व्यवस्था कर दी जाय और यदि युद्ध हो तो आक्रमणकारी राष्ट्र के विरुद्ध शक्ति की अतिशयता एकत्र करके शान्तिप्रिय राष्ट्रो के हितों का संवर्द्धन कर दिया जाये तो राष्ट्र अपने आपको सुरक्षित महसूस करेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रों को सुरक्षा प्रदान करने वाली अवधारणा को "सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा' के नाम से पुकारा जाता है। 'सामूहिक सुरक्षा' शान्ति को कायम रखने तथा युद्ध का प्रतिकार करने का तरीका है।

सामूहिक सुरक्षा का अर्थ
(THE MEANING OF COLLECTIVE SECURITY)

'सामूहिक सुरक्षा' शब्द के अनेक अर्थ निकलते है किन्तु उनके मूल में यह बात है कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न राष्ट्र सामूहिक रूप से मिलकर किसी सम्भावित आक्रमण का विरोध करने के लिए कृत-संकल्प हो जाते है। आधार के रूप में यह मान्यता कार्य करती है कि उनमें किसी एक राष्ट्र के ऊपर होने वाला आक्रमण सभी राष्ट्रों पर किया गया आक्रमण समझा जायेगा और सामूहिक रूप से सभी राष्ट्र संगठित होकर उस आक्रमण का मुकाबला करेंगे। सामूहिक सुरक्षा की इस व्यवस्था को संरक्षण एवं शान्ति का अभिवर्द्धक माना जाता है। शक्ति सन्तुलन की व्यवस्था में जो गुट बनाये जाते हैं अथवा सैनिक सन्धियाँ की जाती हैं उनका लक्ष्य दूसरे गुट अथवा दूसरे गुट के देशों का विरोध करना—उन पर आक्रमण करना अथवा उनके आक्रमण से अपनी रक्षा करना होता है। परन्तु सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था में विरोधी अस्पष्ट और सम्भावित होता है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी सुरक्षा के कार्य में रत रहता है और यदि उनमें से किसी एक राष्ट्र पर सकट आता है तो इस व्यवस्था के अन्तर्गत बँधे सभी राष्ट्र उसकी सुरक्षा के लिए सामूहिक रूप से दौड़ पड़ते है। सामूहिक सुरक्षा सिद्धान्त की मान्यता है कि किसी भी समय पर संसार में शक्ति का वितरण इस प्रकार होता है जिसमें अधिकांश शक्ति उन

लोगों के हाथों में केन्द्रित होती है जो शान्ति और व्यवस्था को कायम रखना चाहते हैं, इसलिए इस व्यवस्था के अन्तर्गत संसार की शान्ति भंग करने का कोई भी आक्रमणकारी साहस नहीं करेगा। यदि कोई राष्ट्र किसी अन्य राष्ट्र पर आक्रमण करेगा तो वाकी सब राष्ट्र मिलकर उस आक्रमणकारी का मुकावला करेंगे। सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को जॉन श्वार्जनवर्गर ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के विरुद्ध आक्रमण रोकने अथवा उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया करने के लिए किये गये संयुक्त कार्यों का यन्त्र कहा है।[1]

मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, "सामूहिक सुरक्षा की सक्रिय प्रणाली में सुरक्षा की समस्या अब व्यक्तिगत राष्ट्र का समुत्थान नहीं, जिसका ख्याल शस्त्रों और राष्ट्रीय बल के दूसरे अंशों से किया जाय। सुरक्षा का सम्बन्ध सब राष्ट्रों से है। वे प्रत्येक की सुरक्षा का ख्याल सामूहिक रूप में करेंगे, जैसे उनकी अपनी ही सुरक्षा खतरे में हो। यदि 'अ' 'ब' की सुरक्षा के लिए खतरा सिद्ध होता है, तो 'स', 'द', 'य', 'य' 'व' की ओर से 'अ' के विरुद्ध कदम उठायेंगे, मानो कि 'अ' ने उनको और 'ब' को चुनौती दी हो और ऐसे ही इसके विपरीत भी। **एक सब के लिए और सब एक के लिए** सामूहिक सुरक्षा का मूलमन्त्र है।[2] **जार्ज श्वार्जनबर्जर** ने सामूहिक सुरक्षा का लक्षण करते हुए लिखा है—"एक सुप्रतिष्ठित अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के आधार पर हमले को रोकने के लिए यह विभिन्न राज्यों द्वारा सम्मिलित कार्यवाही करने का एक साधन है।" जैसे कि ब्रिटिश राजदूत लार्ड लोफटस को, विस्मार्क ने 12 अप्रैल, 1869 को ब्रिटिश विदेश मन्त्री, अर्ल आफ क्लेरेडन से 17 अप्रैल, 1869 की भेजी गयी रिपोर्ट के अनुसार कहा था—"यदि तुम केवल इतना घोषित कर दो कि हर समय उस शक्ति को, जो जान-बूझकर यूरोप की शान्ति को भंग करेगी, सामूहिक शत्रु के रूप में देखा जायेगा—हम इस घोषणा में सम्मिलित होंगे और इसका पालन करेंगे, यह मार्ग, यदि इसका दूसरी शक्तियाँ समर्थन करें, योरोप की शान्ति के लिए निश्चित गारण्टी बनेगा।"

संक्षेप में, सामूहिक सुरक्षा से अभिप्राय है—(i) किसी एक राज्य पर किया गया हमला सब राज्यों पर हमला माना जाये। (ii) किसी राष्ट्र विशेष की सुरक्षा अकेले उसी राष्ट्र की चिन्ता का विषय नहीं है, वल्कि वह सारे अन्तर्राष्ट्रीय समाज की चिन्ता का विषय है। (iii) यदि एक राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र की सुरक्षा को खतरा पैदा करता है तो खतराग्रस्त राष्ट्र की ओर से वाकी सब राष्ट्र कार्यवाही करेंगे। (iv) आक्रमणकारी के अलावा और सब राष्ट्रों के बीच सहयोग सामूहिक सुरक्षा का सारतत्व है। हो सकता है कि इस 'सहयोग' के डर से आक्रमणकारी आक्रमण का विचार ही त्याग दें।

सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त : सैद्धान्तिक मान्यताएँ
(THE CONCEPT OF THE COLLECTIVE SECURITY : THEORETICAL ASSUMPTIONS)

युद्ध को रोकने तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की अभिवृद्धि करने के प्रभावी साधन के रूप में सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त कुछ सैद्धान्तिक मान्यताओं पर आधारित है।

मॉरगेन्थाऊ के अनुसार यदि सामूहिक सुरक्षा को युद्ध को रोकने के माध्यम के रूप में कार्य करना है, तो तीन धारणाएँ अवश्य पूरी होनी चाहिए : **प्रथम,** यह कि सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था प्रत्येक अवसर पर इतनी जवरदस्त शक्ति संचय करने की स्थिति में होनी चाहिए ताकि आक्रामक राष्ट्र अथवा राष्ट्रों को आक्रमण करने का साहस न हो; **द्वितीय,** उन राष्ट्रों की सुरक्षा सम्बन्धी

1. "It has been defined by George Schwarzenberger as "machiinery for joint action in order to prevent or counter any attack against an established international order."
—George Schwarzenberger, *Power Politics*, 1951, p. 494.

2. 'One for all and all for one is the watchword of collective security'—Morgenthau, *Politics Among Nations*, 1963, p. 413.

धारणाएँ, मान्यताएँ व नीतियाँ समान होनी चाहिए जिन्हें सामूहिक रूप से आक्रमण का मुकाबला करना हो; और तृतीय, ऐसे सभी राष्ट्रों को अपने परस्पर विरोधी राजनीतिक हितों को सामूहिक सुरक्षात्मक कार्यवाही के हितों के लिए बलिदान करने को तत्पर रहना चाहिए।[1]

आर्गेन्स्की के अनुसार सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा पाँच आधारभूत मान्यताओं पर आधारित है :[2]

प्रथम, किसी भी सशस्त्र संघर्ष में सब राष्ट्र इस बात पर एकमत होंगे कि कौनसा राष्ट्र आक्रामक है। वे इस निर्णय को लेने में कोई समय नहीं लगायेंगे क्योंकि आक्रमण का प्रतिकार करने में विलम्ब का अर्थ है व्यापक नुकसान।

द्वितीय, सभी राष्ट्र आक्रमण को रोकने में समान रूप से रुचि रखते हैं, चाहे आक्रमण का स्रोत कुछ भी क्यों न हो। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालन में आक्रमण का प्रतिकार करना वास्तव में सबसे अधिक मूल्यवान बात है और उसके मार्ग में मैत्री और आर्थिक लाभ के विचार खड़े नहीं कर सकते।

तृतीय, सभी राष्ट्र आक्रामक राष्ट्र के विरुद्ध कार्यवाही करने में समान रूप से रुचि रखते हैं और उनमें ऐसा करने की क्षमता भी समान रूप से पायी जाती है।

चतुर्थ, आक्रमणकारी को छोड़कर शेष संसार के राष्ट्रों की सामूहिक शक्ति आक्रामक राष्ट्र की शक्ति से बहुत अधिक होगी।

पंचम, इस बात को समझकर कि उसके विरुद्ध प्रयुक्त होने वाली समय की शक्ति उसकी शक्ति से कहीं अधिक है, आक्रामक राष्ट्र या तो युद्ध का विचार ही त्याग देगा और यदि उसने ऐसा नहीं किया तो युद्ध में उसे पराजय निश्चित रूप से मिलेगी।

ब्रैण्डन विश्वविद्यालय, कनाडा में राजनीति विज्ञान के प्रोफेसर और अध्यक्ष डॉ० एम० वी० नायडू ने अपनी पुस्तक 'Collective Security and the United Nations' में सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के सम्बन्ध में मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं।[3]

डॉ० नायडू ने सामूहिक सुरक्षा के आदर्श स्वरूप का निर्माण करने के लिए निम्नलिखित **सात तत्वों** पर जोर दिया है :

प्रथम, सुरक्षा की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था 'एक सबके लिए और सब एक के लिए' के सिद्धान्त पर आधारित हो सकती है और होनी भी चाहिए।

द्वितीय, सभी राज्यों की ओर से अन्तर्राष्ट्रीय सेना किसी भी सम्भावित आक्रमणकारी का प्रतिरोध करेगी। यदि किसी आक्रमण का प्रतिरोध न किया जा सके तो सामूहिक सेना एक अनुशान्ति के रूप में कार्य करते हुए आक्रमण को रोक देगी, समाप्त कर देगी अथवा अभिशून्य कर देगी।

तृतीय, कोई भी आक्रमण होने पर सामूहिक कार्यवाही की मशीनरी स्वतःचालित हो जायगी और यह कार्यवाही तीव्रता से और निष्पक्षता से परिचालित होगी।

चतुर्थ, सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि वह बिना किसी पक्षपात या द्वेष आदि के आक्रमणकारी की निन्दा करे और आक्रमण से ग्रस्त (Victim) राज्य की सहायता करे।

पंचम, राज्यों द्वारा अपनी सेना का निरंकुश और आत्मपरक प्रयोग किन्हीं भी परिस्थितियों में अवांछनीय है।

षष्ठ, सामूहिक सुरक्षा एक ऐसी व्यवस्था पर आधारित होनी चाहिए जिसमें आक्रमण की

---

1 *Ibid.*, p. 413.
2 Organski, *World Politics.* (Scientific Book Co. Calacutta)
3 M. V. Naidu, *Collective Security and United Nations*, 1974.

परिभाषा दी गयी हो, आक्रमणकारी को पहचानने की प्रक्रिया दी गयी हो और उन संस्थाओं का उल्लेख हो जो इन प्रक्रियाओं को तीव्रता और निष्पक्षता के साथ परिभाषित और लागू कर सकें।

सप्तम, सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था स्थायी नींव पर टिकी होनी चाहिए, सामान्य प्रयोग और वस्तुनिष्ठ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सुलभ होनी चाहिए।

डॉ० नायडू ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक में सामूहिक सुरक्षा के लिए **दस पूर्व शर्तों** का भी उल्लेख किया है जो इस प्रकार हैं :

(1) सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में संलग्न व्यक्तियों का विश्वास इस सिद्धान्त में होना चाहिए।

(2) राज्यों को मनुष्य के भाईचारे में आस्था होनी चाहिए। उन्हें यह सोचकर कार्य करना चाहिए कि जो विश्व समुदाय के लिए भी शुभ है वही राष्ट्रीय समुदाय के लिए भी शुभ है।

(3) विश्व के किसी भी भाग अथवा किसी भी राज्य में संघर्ष, अन्याय और युद्ध को अपने स्वयं के राज्य की शान्ति और सुरक्षा के लिए खतरा समझा जाना चाहिए, क्योंकि किसी भी स्थान पर होने वाला अनियन्त्रित आक्रमण कालान्तर में विश्व के दूसरे राज्यों को प्रभावित करता है।

(4) सदस्य राज्यों को सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की निष्पक्षता में विश्वास होना चाहिए।

(5) सदस्य राज्यों को सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के सभी प्रयत्नों को अपना समर्थन देना चाहिए।

(6) सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था यथापूर्व स्थिति के माध्यम से शान्ति की पक्षधर है। अर्थात सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था राज्यों की वर्तमान राजनीतिक सम्प्रभुता और प्रादेशिक एकता कायम रखने और उनकी रक्षा करने का वचन देती है।

(7) यदि निःशस्त्रीकरण या शस्त्र नियन्त्रण सम्भव होता तो सामूहिक सुरक्षा अधिक प्रभावी हो सकती थी।

(8) सभी या कम से कम अधिकांश राज्यों को सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था का सदस्य होना चाहिए।

(9) प्रभावशाली रूप में कार्य करने के लिए सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को वैधानिक और वस्तुगत सम्प्रत्ययों और प्रक्रियाओं तथा निष्पक्ष संस्थाओं से सम्पन्न होना चाहिए।

(10) सामूहिक सम्प्रभुता के अभाव में सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था विश्व समुदाय या विश्व सरकार के सम्प्रत्ययों में परिणत हो जाती है।

आइनिस क्लाइड के अनुसार सामूहिक सुरक्षा शक्ति के व्यवस्थापन (Management of Power) की एक युक्ति है।[1] सामूहिक सुरक्षा की मूल मान्यता है कि युद्धों को अन्तर्राष्ट्रीय समाज से समाप्त नहीं किया जा सकता और इसलिए हम केवल शक्ति पर नियन्त्रण करने की कोशिश कर सकते हैं जो युद्ध का मूल कारण है।

सामूहिक सुरक्षा की सैद्धान्तिक मान्यताओं का परीक्षण

(THEORETICAL ASSUMPTIONS : CRITICAL EXAMINATION)

हान्स जे० मॉर्गेन्थाऊ, आर्गेन्स्की, डॉ० नायडू तथा आइनिस क्लाइड की मान्यताओं का विश्लेषण करने पर सामूहिक सुरक्षा के सम्बन्ध में निम्नलिखित मोटी-मोटी मान्यताएँ उभरती हैं :

(1) सभी राष्ट्र आक्रमणकारी को पहचानते हैं।

(2) आक्रमण को रोकने में सभी की समान रुचि होती है।

---

1. Inis L. Claude, *Power and International Relations*, 1963, pp. 6-7.

(3) सभी राष्ट्रों में आक्रमण का प्रतिकार करने की क्षमता होती है।
(4) आक्रमणकारी राज्य की अपेक्षा समग्र (Collective Power) की शक्ति अधिक होती है।
(5) विश्वशान्ति शक्ति की अधिकता पर आधारित है।
(6) राष्ट्रों को आपस के मतभेद भुलाकर आक्रमणकारी के विरुद्ध सामूहिक कार्यवाही करने के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए।

1. क्या सभी राष्ट्र आक्रमणकारी को पहचानते हैं ?

यदि अ राष्ट्र ब राष्ट्र पर आक्रमण करता है तो क्या सभी राष्ट्र अ को आक्रान्ता घोषित करते हैं ? इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष में राष्ट्रों के बीच कभी इस प्रश्न पर मतैक्य नहीं पाया गया कि आक्रान्ता राष्ट्र कौन है ? इतिहासकारों में आज भी इस प्रश्न पर विवाद पाया जाता है कि प्रथम महायुद्ध में आक्रान्ता कौन था ? भारत-चीन युद्ध में आक्रान्ता कौन था ? भारत के मित्र चीन को और चीन के मित्र भारत को आक्रान्ता बताते हैं। भारत-पाक युद्ध के लिए भारत पाकिस्तान को और पाकिस्तान भारत को आक्रमणकारी सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे हैं। कोरिया के युद्ध में आक्रमण उत्तरी कोरिया ने किया था अथवा दक्षिण कोरिया ने युद्ध की शुरूआत की थी, इस प्रश्न पर संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रस्ताव के बावजूद मतभेद पाया जाता है।

सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को कार्यान्वित करने के लिए आक्रमणकारी को पहचानना आवश्यक है। सामूहिक सुरक्षा की मूल समस्या यह है कि किसी भी राष्ट्र को उस समय तक अपराधी नहीं माना जा सकता जब तक कि वह अपराधी प्रमाणित न हो जाय। वर्तमान विश्व राजनीति में आक्रमणकारी को अपराधी सिद्ध करना आसान नहीं हैं।

2. क्या आक्रमण को रोकने में सभी की समान रुचि होती है ?

सामूहिक सुरक्षा तन्त्र के अन्दर सारे राष्ट्र प्रत्येक अन्य राष्ट्र की सुरक्षा की चिन्ता सामूहिक रूप से करते हैं जैसे मानों स्वयं उन सबकी अपनी सुरक्षा को खतरा हो। अर्थात् सभी राष्ट्रों की आक्रामक राष्ट्र के विरुद्ध कार्यवाही करने में समान रुचि होती है। किन्तु इतिहास यह बताता है कि आक्रमण करने के उपरान्त आक्रान्ता राष्ट्र कभी मित्रविहीन नहीं हुआ और विश्व राजनीति में आक्रमणकारी राज्य की अनुचित क्रिया को भी समर्थन प्रदान किया गया है। इजरायल ने अरब राष्ट्रों पर आक्रमण किया किन्तु फिर भी इजराइल मित्रविहीन नहीं हुआ। सोवियत संघ ने हंगरी, चेकोस्लोवाकिया और अफगानिस्तान में हस्तक्षेप (आक्रमण) किया किन्तु क्या सभी राष्ट्रों ने उनका प्रतिरोध किया ?

आक्रमण को रोकने में सभी राष्ट्रों की समान रुचि होती है, इस मान्यता के बजाय यह कहना ज्यादा उपयुक्त है कि कुछ राष्ट्रों की अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा आक्रमण को रोकने में अधिक रुचि होती है। अर्थात् जो राष्ट्र प्रचलित अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था से सन्तुष्ट हैं और यथापूर्व स्थिति (Status Quo) बनाये रखना चाहते हैं, उन्हीं की सर्वाधिक रुचि आक्रमण को रोकने में हो सकती है। वस्तुतः राष्ट्रों की आक्रमण को रोकने में रुचि बहुत से तथ्यों पर आधारित होती है। इनमें से एक कारण भौगोलिक निकटता हो सकता है। उदाहरण के किए, नेपाल और भूटान पर किये जाने वाले आक्रमण को रोकने में जितनी रुचि भारत की है उतनी अन्य राष्ट्रों की नहीं हो सकती। कभी-कभी यह रुचि विचारधारा से प्रभावित हो सकती है। पूर्वी यूरोप के राष्ट्रों पर किये गये आक्रमणों को रोकने में सोवियत संघ की स्वाभाविक रूप से रुचि हो सकती है। संक्षेप में आक्रमण को रोकने में सब राष्ट्रों की रुचि समान नहीं होती।

3. क्या सभी राष्ट्रों में आक्रमण का प्रतिकार करने की क्षमता होती है ?

सामूहिक सुरक्षा का बुनियादी सिद्धान्त यह है कि यदि कोई राष्ट्र किसी अन्य राष्ट्र पर

आक्रमण करता है तो अन्य सब राष्ट्रों को आक्रमणग्रस्त राष्ट्र की मदद को आगे आना चाहिए। इस प्रकार आक्रमणकर्ता के अतिरिक्त और सब राष्ट्रों के बीच सहयोग सामूहिक सुरक्षा का सार-तत्व है। किन्तु एक शक्तिशाली आक्रामक राज्य के पड़ौस में स्थित छोटा राज्य अपने पड़ौसी के विरुद्ध सामूहिक कार्यवाही में सम्मिलित होने का निर्णय आसानी से नहीं ले सकता। कई बार ऐसे राष्ट्र, जिनकी अर्थव्यवस्था आक्रामक राज्य की अर्थ-व्यवस्था से जुड़ी हुई हो अपने आपको आक्रमण-कारी के विरुद्ध कार्यवाही में भाग लेने में असमर्थ पाते हैं। यदि भारत आक्रमणकारी हो तो क्या भूटान और नेपाल भारत के विरुद्ध आक्रमणग्रस्त राज्य का साथ दे सकेंगे ? यदि पेट्रोल उत्पादक अरब देश आक्रमणकारी हों तो क्या उनके पेट्रोल पर निर्भर देश उनके विरुद्ध उनके आक्रमण से ग्रस्त राज्य का साथ दे सकेंगे ? जब आक्रमण ऐसे राज्य ने किया है जिससे मैत्री सम्बन्ध (Treaty of alignment) है, उस समय आक्रमणकारी के विरुद्ध भाग लेने का निर्णय आसान नहीं हो सकता। यदि सोवियत संघ आक्रमण करता है तो वारसा पैकट के अन्य सदस्य देश हंगरी अथवा रूमानिया सोवियत संघ द्वारा किये गये आक्रमण का विरोध करने का फैसला आसानी से नहीं कर सकते।

4. क्या आक्रमणकारी राज्य की अपेक्षा समग्र की शक्ति अधिक होती है ?

सामूहिक सुरक्षा शक्ति के ऐसे वितरण का निर्देश करती है जिसमें बहुत बड़ा हिस्सा शान्ति और व्यवस्था के रक्षकों के हाथों में होता है। आक्रामक राज्य की अपेक्षा समग्र की सामूहिक शक्ति अधिक होती है, इसलिए यदि समस्त राष्ट्रों को आक्रमणकारी का विरोध करने के लिए तैयार करने में सफलता मिल जाये तो आक्रमण को विफल बनाया जा सकता है। कोई एक राष्ट्र विश्व के समस्त राष्ट्रों की सामूहिक शक्ति का मुकाबला नहीं कर सकता और यदि वह फिर भी आक्रमण करता है तो उसे कुचल दिया जायेगा। किन्तु आज आणविक आयुधों का युग है। यदि अमरीका, जो कि एक आणविक शक्ति है, किसी राष्ट्र पर आक्रमण करता है और विश्व के बाकी सभी राष्ट्र उसके विरुद्ध सामूहिक रूप से संगठित भी हो जायें तो भी वह विश्व की समग्र शक्ति का मुकाबला करने की स्थिति में है। इसलिए इस मान्यता को भी सही नहीं कहा जा सकता है।

5. क्या विश्वशान्ति शक्ति की अधिकता पर आधारित है ?

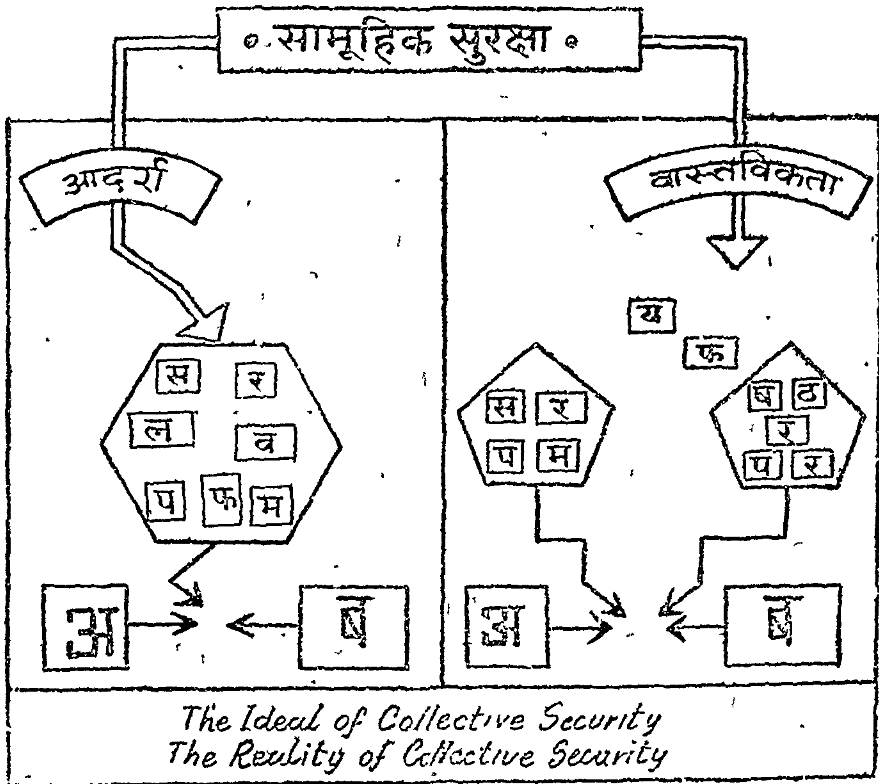
यदि कोई राष्ट्र आक्रमण करने का इरादा रखता है, किन्तु जब उसे यह ज्ञात हो जाये कि उसकी आक्रमणकारी गतिविधियों का शेष विश्व के समस्त मोर्चे द्वारा प्रतिरोध किया जायेगा; विश्व की इस समग्र शक्ति का सामना करने में अपने आपको असमर्थ पाकर हो सकता है कि वह अपने आक्रमणकारी इरादों को त्याग दे। अर्थात् विश्वशान्ति उसी स्थिति में कायम रह सकती है जबकि विश्व में शक्ति का वितरण इस प्रकार हो जिसमें अधिकांश शक्ति उन राष्ट्रों के हाथों में रहे जो यथास्थिति को कायम रखना चाहते हैं। सन् 1815 से लेकर 1914 तक यदि विश्व में कोई व्यापक युद्ध नहीं हुआ तो उसका कारण यह था कि उस काल में इंगलैण्ड दुनिया का सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र था और उसकी रुचि यथास्थिति को कायम रखने में थी।

किन्तु वर्तमान विश्व राजनीति में जबकि विचारधारा के आधार पर स्पष्टत: दो गुट बन चुके हैं, क्या शक्ति की अधिकता वाला कोई राष्ट्र उभरकर सामने आ सकेगा ? फिर क्या किसी आक्रामक राज्य के विरुद्ध अमरीका और सोवियत संघ मिल-जुल कर प्रतिरोध करने की चेष्टा करेंगे।

6. क्या राष्ट्र आपस के राजनीतिक मतभेद भुलाकर सामूहिक कार्यवाही के लिए सदैव तत्पर रहते हैं ?

सामूहिक सुरक्षा की यह भी मान्यता है कि राष्ट्रों को आपस के राजनीतिक मतभेद

भुलाकर आक्रमणकारी के विरुद्ध सामूहिक कार्यवाही करने के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए। इस मान्यता की समीक्षा करते हुए डॉ० महेन्द्रकुमार लिखते हैं कि, संकट की स्थितियों में सामूहिक ताकत का संचय इसलिए कठिन हो जाता है कि सुरक्षा और विदेश नीति के बीच बुनियादी संघर्ष हमेशा बना रहता है। सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त के अनुसार हर आक्रमण के विरुद्ध सामूहिक कदम उठाना जरूरी है; चाहे शक्ति और हित की परिस्थितियाँ कुछ भी हों। परन्तु विदेश नीति अपने देश के राष्ट्रीय हित की आवश्यकताओं के अनुसार एक आक्रमण और दूसरे आक्रमण में अन्तर करती है। सामूहिक सुरक्षा तो सिद्धान्ततः हर आक्रमण के विरुद्ध होती है पर विदेश नीति केवल कुछ विशेष आक्रमणों के विरुद्ध होती है। इसी प्रकार सामूहिक सुरक्षा चाहती है कि राष्ट्र अपने सारे साधन युद्ध में झोंक दे और हर आक्रमणकारी से अपने अन्तिम दम तक लड़े, पर विदेश नीति कहती है कि किसी देश को केवल किसी निर्दिष्ट आक्रमणकारी से और सिर्फ उतनी सीमा तक युद्ध करना चाहिए जितनी सीमा तक उसके राष्ट्रीय हित और उसकी शक्ति के लिहाज से उचित हों।"[1]



The Ideal of Collective Security
The Reality of Collective Security

सामूहिक सुरक्षा के विचार का विकास
(EVOLUTION OF THE COLLECTIVE SECURITY SYSTEM)

सामूहिक सुरक्षा के विचार का आरम्भ 17वी शताब्दी की ओस्नाबक सन्धि से माना जाता है। इस सन्धि की 17वीं धारा में कहा गया था कि "संविदा करने वाले सभी और प्रत्येक पक्ष को इस शान्ति सन्धि से प्रत्येक और सब रूपों को प्रतिरक्षा और अस्तित्व रक्षा के लिए जिम्मेदार ठहराया जायेगा, चाहे इसके विरोध में खड़ा होने वाला कोई भी हो।" इसके बाद विलियम पेन ने यूरोप में शान्ति व सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए इस प्रकार की व्यवस्था का सुझाव दिया। विलियम पिट ने 1805 में सुझाया था कि सब प्रमुख यूरोपीय शक्तियों को व्यापक शान्ति भंग

1 Mahendra Kumar, *Theoretical Aspects of International Politics*, 1967, p. 337.

करने के किसी भी प्रयत्न के विरोध में नयी यथापूर्व स्थिति का मिलकर समर्थन करना चाहिए। किन्तु सामूहिक सुरक्षा पद्धति का वास्तविक रूप 20वीं शताब्दी में हमारे सामने आया जबकि सन् 1910 में अमरीकी राष्ट्रपति थियोडर रूजवेल्ट ने कहा था कि यह एक महत्वपूर्ण बात होगी, यदि महाशक्तियाँ, जो शान्ति में विश्वास करती है, एक शान्ति संगठन बना लें, जिससे न केवल उनके मध्य ही शान्ति रहे वरन् किसी राष्ट्र द्वारा उनके भंग किये जाने पर यदि आवश्यक हो तो वे सामूहिक रूप से वल प्रयोग कर सकें। सन् 1910 में ही एक अन्य विचारक वान वुलेनहोवन ने भी इसी प्रकार की एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का सुझाव दिया जिसका अमरीकी कांग्रेस द्वारा समर्थन किया गया। सामूहिक सुरक्षा के विचार के विकास में प्रथम महायुद्ध के दौरान 'हेग' में कार्य कर रहे अन्तर्राष्ट्रीय संघ ने महत्वपूर्ण योग दिया। सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के विचार को विशेष लोकप्रिय बनाने में प्रथम महायुद्धकाल में राष्ट्रपति वुडरो विल्सन की भूमिका महत्वपूर्ण रही। वैसे तो जब वुडरो विलसन ने सामूहिक सुरक्षा के विचार का खुलकर समर्थन किया उससे पूर्व ही यह विचार अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में एक महत्वपूर्ण उपागम के रूप में जम चुका था यहाँ तक कि **'राष्ट्र संघ'** (League of Nations) के निर्माण के लिए पेरिस मे जो शान्ति समझौता किया गया उसमें इसको मान्यता दी गयी और इसे राष्ट्रसंघ का आधार मान लिया गया। राष्ट्रसंघ के रूप में ही पहली वार सामूहिक पद्धति ने संगठनात्मक रूप धारण किया। राष्ट्रसंघ आयोग की पाँचवीं बैठक में संघ के विधान के 16वें अनुच्छेद को जो सामूहिक सुरक्षा से सम्बन्धित था बिना किसी वाद-विवाद के स्वीकार कर लिया गया। सन् 1945 में संयुक्त राष्ट्र की स्थापना भी, सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त के आधार पर की गयी। चार्टर के अध्याय 7 तथा महासभा के 'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' द्वारा सामूहिक सुरक्षा पद्धति का विकास किया गया। इसी विचार के आधार पर सोवियत संघ की साम्यवादी पार्टी के तात्कालिक महामन्त्री ब्रेझनेव (1969) ने एशियाई सामूहिक सुरक्षा सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

सामूहिक सुरक्षा एवं सामूहिक मोर्चाबन्दी
(COLLECTIVE SECURITY AND COLLECTIVE DEFENCE)

सामूहिक सुरक्षा को सामूहिक मोर्चाबन्दी का पर्यायवाची नहीं माना जाना चाहिए। यद्यपि सामूहिक सुरक्षा और सामूहिक मोर्चाबन्दी की कुछ विशेषताएँ समान प्रतीत होती हैं तथापि दोनों में बुनियादी अन्तर है। वैसे दोनों ही सिद्धान्तों में सामूहिक कार्यवाही (collective action) तथा आक्रमण के प्रतिरोध की प्रतिबद्धता नजर आती है। वस्तुतः सामूहिक मोर्चाबन्दी सिद्धान्त के अन्तर्गत थोड़े राज्यों का ही आपसी सहयोग अस्थायी एवं तदर्थ रूप से देखा जाता है जबकि सामूहिक सुरक्षा सिद्धान्त के अन्तर्गत लगभग सभी राष्ट्र अथवा अधिकांश राष्ट्र स्थायी रूप से सम्भावित आक्रमणकारी का विरोध करने के लिए अथवा विश्वशान्ति स्थापित करने के लिए प्रतिबद्ध होते हैं। सामूहिक मोर्चाबन्दी की सैनिक सन्धि के सदस्यों को दुश्मन का पहले ही पता होता है, जबकि सामूहिक सुरक्षा सिद्धान्त का ध्येय कहीं भी किसी भी प्रकार के आक्रमणकारी का मुकाबला करना होता है। नाटो, सीटो, वारसा पैक्ट आदि अथवा अनेक द्विपक्षीय सैनिक सन्धियाँ एक प्रकार से सामूहिक मोर्चाबन्दी का ही प्रतीक हैं। इन सन्धियों का निर्माण किसी-न-किसी सुनिश्चित दुश्मन को ध्यान मे रखकर ही किया गया है। जबकि यथार्थ में इन सन्धियों के प्रारूप में कूटनीतिक सावधानी के कारण किसी दुश्मन के नाम का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है। सामूहिक सुरक्षा उपागम ऐसे हर देश के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए प्रतिबद्ध है जो आक्रमण करे, चाहे वह देश किसी देश विशेष के साथ मैत्री सन्धि से जुड़ा देश हो या उसका मित्र हो या उसका दुश्मन हो। सामूहिक मोर्चाबन्दी के अन्तर्गत विश्वशान्ति भंग करने वाले राष्ट्रों का स्वरूप निश्चित होता है और

सामूहिक सुरक्षा के अन्तर्गत अनिश्चित।[1] सामूहिक सुरक्षा यह मानती है कि कोई भी राज्य आक्रमणकारी हो सकता है। सामूहिक मोर्चेबन्दी के अन्तर्गत पहले से ही सैनिक तैयारियाँ चलती रहती हैं और सैनिक रणनीतियाँ बनती रहती हैं जबकि सामूहिक सुरक्षा के अन्तर्गत पहले से ही कोई सैनिक तैयारियाँ नहीं होतीं। सैनिक गुटबन्दियों के स्वरूप वाली सामूहिक मोर्चाबन्दी की अवधारणा यथार्थ में सामूहिक सुरक्षा सिद्धान्त की मूल भावना के प्रतिकूल है क्योंकि यह अन्ततोगत्वा सैनिक गुटबन्दियों की विरोधी है।

सामूहिक सुरक्षा और प्रादेशिक संगठन
(COLLECTIVE SECURITY AND REGIONAL ARRANGEMENTS)

प्रादेशिक संगठन व सन्धियाँ सामूहिक सुरक्षा के उद्देश्य से की जाती हैं। प्रादेशिक संगठन किसी प्रदेश की रक्षा के लिए बनाये जाते हैं। ये प्रदेश के हितों से सम्बन्धित होते हैं। अनेक व्यक्तियों का मत है कि प्रादेशिक संगठन बनाकर सामूहिक सुरक्षा पद्धति को लोकप्रिय व सुदृढ़ बनाया जा सकता है, किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। प्रादेशिक संगठन गुटबन्दी के आधार पर बनाये गये हैं। इनकी स्थापना का कारण किसी सम्भावित आक्रमण की रक्षा करना नहीं, वरन् द्वेष, ईर्ष्या, प्रतिस्पर्द्धा और गुटबन्दी है। गुटबन्दी के आधार पर निर्मित प्रादेशिक संगठन जैसे नाटो, सीटो, सेण्टो आदि शान्ति और सुरक्षा को नहीं वरन युद्ध की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करते हैं। सैनिक स्वरूप वाले इन प्रादेशिक संगठनों ने शीतयुद्ध और गुटबन्दी को बढ़ावा दिया है। सोवियत संघ के प्रभाव को न बढ़ने देने और साम्यवादी राष्ट्रों के सम्भावित आक्रमण से रक्षा करने के लिए यदि 'नाटो' की स्थापना हुई तो उसकी प्रतिक्रियास्वरूप साम्यवादी राष्ट्रों ने मिलकर 'वारसा पैक्ट' का निर्माण कर डाला। इन प्रादेशिक संगठनों से विश्वशान्ति और सामूहिक सुरक्षा की समस्या सुलझने के स्थान पर उलझती रही। इन संगठनों और समझौतों ने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ उत्पन्न कीं, तनाव को बढ़ाया और संयुक्त राष्ट्रसंघ के महत्व को घटाया है।

सामूहिक सुरक्षा और निरस्त्रीकरण
(COLLECTIVE SECURITY AND DISARMAMENT)

युद्ध की समस्या सुलझाने के लिए सामूहिक सुरक्षा और निरस्त्रीकरण दो पृथक मार्ग हैं। अभी तक इन दोनों को पृथक दृष्टिकोण ही माना जाता रहा और इसके आपसी सम्बन्धों की बहुत कम चर्चा हुई है। तथ्य यह है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से इनमें काफी घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। **बेन्जामिन कोहन** ने इनमें घनिष्ठ सम्बन्धों की चर्चा करते हुए कहा है : "मैं इस तथ्य पर जोर डालना चाहूँगा कि सामूहिक सुरक्षा के कार्यक्रम तथा निरस्त्रीकरण में घनिष्ठ सम्बन्ध है, दोनों प्रकृतिवश साथ-साथ चलते हैं। निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में हम उस दिन की तलाश में हैं जब किसी राष्ट्र के पास शस्त्रधारी सेना अथवा ऐसे हथियार नहीं होंगे जो उसके पड़ौसी के लिए भय का कारण बन सकें। सामूहिक सुरक्षा के क्षेत्र में हम उस दिन की प्रतीक्षा में हैं जबकि राष्ट्र अपनी सुरक्षा के लिए अपनी निजी सेनाओं पर इतने निर्भर नहीं रहेंगे जितने संयुक्त राष्ट्र पर। यदि राष्ट्रों को यह विश्वास दिलाया जा सके कि आक्रमण होने पर वे अकेले नहीं होंगे तो उन्हें प्रतिरक्षा के लिए कम हथियारों की आवश्यकता होगी। जैसे-जैसे निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में प्रगति की जाती है, वैसे-वैसे सामूहिक सुरक्षा की स्थापना का कार्य सफल हो जाता है। दोनों साथ-साथ चलते रहते हैं...निरस्त्रीकरण और सामूहिक सुरक्षा शान्ति के लिए दो महान साहस हैं।"[2]

---

1 "Collective Security is a permanent argument. It aims against any aggeression anywhere but in collective defence the nature of aggressror is determinate."
—P. Chandra, *International Politics*, Vikas, 1979. p. 160.

2 *Department of State Bulletin*, XXV (January 21, 1952), pp. 101-02.

सामूहिक सुरक्षा और विश्व सरकार
(COLLECTIVE SECURITY AND WORLD GOVERNMENT)

क्लाड के अनुसार शक्ति के व्यवस्थापन (Management of power) की अनेक युक्तियाँ हैं जैसे **सामूहिक सुरक्षा, शक्ति सन्तुलन** और **विश्व सरकार** के उपागम। शक्ति के व्यवस्थापन की दृष्टि से सामूहिक सुरक्षा उपागम की स्थिति शक्ति सन्तुलन और विश्व सरकार के बीच में है। शक्ति सन्तुलन की तुलना में इसमें (सामूहिक सुरक्षा) शक्ति का नियन्त्रण अधिक होता है किन्तु विश्व सरकार की तुलना में यह नियन्त्रण कम सान्वित होगा। सामूहिक सुरक्षा की संकल्पना एक विकल्प के रूप मे की गयी है जो इसलिए उपयोगी हो सकती है कि विश्व सरकार का अभी तक कोई अस्तित्व नही है। सामूहिक सुरक्षा के समर्थकों का कहना है कि इसे एक संक्रमणकालीन उपाय माना जाना चाहिए जिससे, अन्त मे विश्व सरकार की स्थापना हो सकेगी। डॉ० अप्पादोराय के अनुसार विश्व सरकार की स्थापना का पक्ष प्रबल है क्योंकि युद्ध को समाप्त किये वगैर उस असुरक्षा की समाप्ति नही हो सकती जिसके अन्तर्गत मनुष्य रहते है तथा विश्वशान्ति भी स्थापित नही हो सकती। विश्वशान्ति केवल विश्व सरकार की स्थापना से ही सम्भव है।

सामूहिक सुरक्षा और शक्ति सन्तुलन
(COLLECTIVE SECURITY AND BALANCE OF POWER)

सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा को 'शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त' का विकल्प माना जाता है। क्लाड के अनुसार सामूहिक सुरक्षा शक्ति के व्यवस्थापन की दृष्टि से शक्ति सन्तुलन की तुलना मे एक अधिक केन्द्रीकृत प्रबन्ध है। इसमें शक्ति सन्तुलन की तुलना में शक्ति का नियन्त्रण अधिक होता है। सामूहिक सुरक्षा अवधारणा के जनक वुडरो विल्सन ने शक्ति सन्तुलन अवधारणा का विरोध करते हुए लिखा था कि शक्ति सन्तुलन वाली विश्व व्यवस्था मे राष्ट्र प्रतियोगितापूर्ण सन्धियों मे बँध जाते है तथा बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं तथा स्वार्थपूर्ण लक्ष्यों को पूरा करने के लिए करते है जबकि सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था मे राष्ट्रो के सहयोग का लक्ष्य होता है न्याय एवं सुरक्षा की व्यवस्था करना जिसमे बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग सामान्य शान्ति की स्थापना के लिए किया जाता हैं।

सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था का प्रतिपादन इस रूप में किया जाता है कि यह शक्ति सन्तुलन व्यवस्था का अन्त करके अन्तर्राष्ट्रीय समाज के रूप को बदल देगा। शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त की निहित मान्यताएँ सामूहिक सुरक्षा के विचार से मेल नहीं खाती है। **पामर तथा पर्किन्स** का मत है कि प्रभावशाली विश्व सरकार के अभाव मे सामूहिक सुरक्षा के सारे प्रयत्न शक्ति सन्तुलन से सम्बन्धित हो जाते है। **क्विंसी राइट** का मत है कि, "शक्ति सन्तुलन तथा सामूहिक सुरक्षा के बीच सम्बन्ध एक ही साथ एक-दूसरे के पूरक तथा विरोधी रहे है।"[1] वे आगे लिखते है कि "सामूहिक सुरक्षा को शक्ति सन्तुलन पर आधारित होना चाहिए।"[2] राष्ट्रसंघ की स्थापना यद्यपि इस उद्देश्य से की गयी थी कि सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था शक्ति सन्तुलन का अन्त करके उसका स्थान प्राप्त कर लेगी। परन्तु राष्ट्रसंघ का यही अनुभव था कि सामूहिक सुरक्षा का लक्ष्य बिना शक्ति सन्तुलन के साधन के प्राप्त नही हो सकता। यह स्वीकार किया गया कि प्रभावशाली राष्ट्रसंघ के लिए शक्ति सन्तुलन एक आवश्यक शर्त है। **ओपेनहीम** का विचार था कि, राष्ट्र संघ का अस्तित्व शक्ति सन्तुलन को और भी आवश्यक बना देता है, क्योंकि कोई भी शक्तिशाली राष्ट्र राष्ट्रसंघ का उल्लंघन कर सकता था।" राष्ट्र संघ की भाँति संयुक्त राष्ट्र संघ भी शक्ति सन्तुलन की दिशा मे कार्य करता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की वास्तविकता इसी ओर

---

1 "The relations of the balance of power to collective security have been at the same time complementary and antagonistic." —*Quincy Wright*

2 "Collective security must relay upon a balance of Power." —*Quincy Wright*

संकेत करती है कि सामूहिक सुरक्षा का आधार शक्ति सन्तुलन ही होगा। सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था शक्ति-सन्तुलन के द्वारा ही लागू हो सकती है। सिद्धान्ततः शक्ति सन्तुलन तथा सामूहिक सुरक्षा एक-दूसरे की विरोधी हैं, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय समाज के वर्तमान ढाँचे के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा के प्रयत्न शक्ति सन्तुलन से ही सम्वन्धित होंगे। अतः शक्ति सन्तुलन तथा सामूहिक सुरक्षा एक-दूसरे के विरोधी तथा पूरक दोनों ही हैं।

शक्ति सन्तुलन और सामूहिक सुरक्षा सिद्धान्तों में निम्नलिखित अन्तर हैं :

शक्ति सन्तुलन	सामूहिक सुरक्षा
1. शक्ति सन्तुलन व्यवस्था प्रतियोगी स्वरूप वाली सन्धियों (competitive alliances) के परिणामस्वरूप स्थापित होती हैं।	1. सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था एक सार्वभौमिक सन्धि है जो प्रतियोगी सन्धियों से भिन्न है। यह कुछ संगठित राष्ट्रों के विरुद्ध सन्धि नहीं है वरन् प्रत्येक आक्रमणकारी के विरुद्ध है।
2. शक्ति सन्तुलन की धारणा दो या दो से अधिक विरोधी गुटों के अस्तित्व को मानकर चलती है जो परस्पर संघर्षशील स्वभाव के हैं।	2. सामूहिक सुरक्षा की धारणा में गुटवन्दी की पूर्व कल्पना नहीं है, वह एक विश्व के सिद्धान्त को मानकर चलती है।
3. शक्ति सन्तुलन शान्ति व व्यवस्था के निर्माण के लिए संघर्षपूर्ण सहयोग का इच्छुक है।	3. सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त संघर्ष को प्रतिबन्धित करने के लिए सामान्य सहयोग पर वल देता है।
4. शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त गुटवन्दी के आधार पर आक्रमणकारी का विरोध करता है।	4. सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा सामान्य सहयोग के आधार पर आक्रमणकारी का विरोध करती है।
5. शक्ति सन्तुलन के अन्तर्गत बँधे राज्य आक्रमणकारी का विरोध करने के लिए उस समय ही एक साथ उठ खड़े होंगे जवकि उन सवके हितों को आक्रमण से हानि पहुँचने की सम्भावना होगी। शक्ति सन्तुलन की व्यवस्था के अन्तर्गत वहुधा ऐसा होता है कि जिस राज्य का राष्ट्रीय हित आक्रमण से प्रभावित नहीं होता वह युद्ध के पचड़े से दूर रहता है।	5. सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त यह मानता है कि किसी एक राष्ट्र पर किया गया आक्रमण शान्ति के लिए संकट है और इसका विरोध करने के लिए प्रत्येक राष्ट्र को कटिवन्द्ध रहना चाहिए।
6. शक्ति सन्तुलन व्यवस्था ढीली ढाली होती है।	6. सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था दृढ़ और संगठनवद्ध होती है।
7. शक्ति सन्तुलन व्यवस्था यथार्थवादी (pragmatic) है तथा एक राष्ट्र को आक्रमण का विरोध करने की केवल तभी सलाह देती है जव आक्रमण उसकी स्वयं की सुरक्षा के लिए घातक हो।	7. सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था कुछ अधिक सैद्धान्तिक और आदर्शवादी है क्योंकि यह राज्य को सदैव आक्रमण का विरोध करने को प्रेरित करती है क्योंकि उसका हित आक्रमण से प्रभावित हुए विना नहीं रह सकता है।
8. शक्ति सन्तुलन की व्यवस्था सकारात्मक है क्योंकि इस व्यवस्था में राष्ट्र विचार, सिद्धान्त, मान्यताओं और समान हितों की दृष्टि से मिलकर एक होते हैं।	8. सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था नकारात्मक है क्योंकि इस व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्र आक्रमण का विरोध करने की भावना से एकत्रित होते हैं।

शक्ति-सन्तुलन और सामूहिक सुरक्षा के मध्य इन असमानताओं के वावजूद कतिपय

समानताएँ भी हैं। दोनों मान्यताएँ प्रतिरोध (detterence) के सिद्धान्त पर आधारित है। शक्ति सन्तुलन में स्वयं को इतना शक्तिशाली बनाया जाता है कि विरोधी मुँह न उठा सके और सामूहिक सुरक्षा में भी शक्ति का एकत्रीकरण कर आक्रमणकारी की महत्वाकांक्षाओं पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है। दोनों ही अवधारणाएँ **'शान्ति के लिए युद्ध'** (war of peace) में विश्वास रखती है। दोनों ही राज्यों के सामूहिक सहयोग में विश्वास करती है। **क्लॉड** के अनुसार सामूहिक सुरक्षा को शक्ति सन्तुलन का एक परिवर्द्धित संस्करण मानना चाहिए, न कि पूरी तरह से भिन्न और शक्ति सन्तुलन का विकल्प।[1] **क्विंसी राइट** के अनुसार, "सामूहिक सुरक्षा और शक्ति सन्तुलन के बीच वही अन्तर है जो 'कला' और 'प्रकृति' के अन्तर्गत होता है।"

उपर्युक्त समानताओं के अतिरिक्त **शक्ति सन्तुलन** तथा **सामूहिक सुरक्षा** में निम्नलिखित समानताएँ महत्वपूर्ण है :

(1) शक्ति सन्तुलन तथा सामूहिक सुरक्षा दोनों का लक्ष्य सामूहिक प्रयत्नों के द्वारा विश्व शान्ति की स्थापना तथा राज्यों की स्वतन्त्रता की रक्षा करना।

(2) दोनों ही विचारधाराएँ 'शक्ति' के विचार पर आधारित हैं तथा इनमें राष्ट्रों की पारस्परिक शक्ति का अनुमान लगाया जाता है।

(3) शक्ति सन्तुलन का अर्थ शक्ति के समान तथा असमान वितरण दोनों रूपों में लिया जाता है। 'सन्तुलन' का अर्थ अपने विरोधी के मुकाबले मे शक्ति प्रधानता से ही अधिकतर लिया जाता है। सामूहिक सुरक्षा के लिए तो शक्ति की अधिकता एक आवश्यक शर्त है। शक्ति सन्तुलन तथा सामूहिक सुरक्षा दोनों शक्ति की अधिकता पर बल देते है।

(4) दोनों ही सिद्धान्त यथास्थिति कायम रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में स्थायित्व, शान्ति व सुरक्षा बनाये रखना चाहते हैं।

(5) दोनों ही सिद्धान्त आवश्यकता पड़ने पर युद्ध करने के लिए तैयार रहते है। यद्यपि दोनों का लक्ष्य शान्ति बनाये रखना है, परन्तु भविष्य मे स्थायी शान्ति बनाये रखने की दृष्टि से वर्तमान शान्ति भंग करने को उचित समझते है।

(6) प्रभावशाली विश्व सरकार के अभाव में सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था को शक्ति सन्तुलन के रूप में ही लागू किया जाता है।

(7) शक्ति सन्तुलन तथा सामूहिक सुरक्षा दोनों शक्ति को नियन्त्रित करने के साधन है।

सामूहिक सुरक्षा एवं राष्ट्रसंघ
(COLLECTIVE SECURITY MEASURES UNDER THE LEAGUE OF NATIONS)

सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा ने राष्ट्रसंघ के रूप में पहली बार संगठनात्मक रूप धारण किया। राष्ट्रसंघ के विधान की धारा 10 से 16 तक सामूहिक सुरक्षा से सम्बन्धित प्रावधानों की चर्चा की गयी है। विधान की धारा 10 में कहा गया है कि "संघ के सदस्य उसके सभी सदस्यों की प्रादेशिक एकता एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता का सम्मान करने तथा उन्हें बाह्य आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षित रखने का वचन देते है। इस प्रकार के किसी आक्रमण के होने अथवा इस प्रकार के आक्रमण की धमकी अथवा भय उत्पन्न होने की अवस्था मे परिषद उन साधनों के विषय में परामर्श देगी जिनसे इस उत्तरदायित्व को पूरा किया जा सकेगा।" धारा 16 के अन्तर्गत सदस्य राष्ट्र आवश्यकता पड़ने पर सामूहिक सुरक्षा के लिए उपयुक्त कदम उठाने को वचनबद्ध थे।

इन प्रावधानों के बावजूद राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा पद्धति सफलतापूर्वक कार्य नही कर सकी। संयुक्त राज्य अमरीका ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता स्वीकार नहीं की, सोवियत संघ

---

1 "The collective security should be regarded as simply a revised version of the balance system not as a drasfically different system substituted for the latter." —*Claude*

राष्ट्रसंघ से बाहर रहकर अपनी शक्ति बढ़ाता रहा, इंगलैण्ड ने इसके अनुग्रह का उचित सम्मान नहीं किया और बाद के वर्षों में जापान, जर्मनी और इटली ने खुलेआम इसकी अवहेलना की। प्रारम्भ से ही महाशक्तियाँ इसकी सदस्य नहीं बनीं और जिन देशों ने इसकी सदस्यता स्वीकार की वे सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की विशेष समर्थक नहीं थीं। फ्रांस जर्मनी के विरुद्ध सुरक्षा चाहता था और सोवियत संघ फासीवाद के प्रसार के विरुद्ध सुरक्षा के लिए चिन्तित था। सामूहिक सुरक्षा से सम्बन्धित राष्ट्रसंघ के विधान की धारा 16 को कभी क्रियान्वित ही नहीं किया गया।

राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत किये गये सामूहिक सुरक्षा के कतिपय कार्यों का विश्लेषण करने से इस व्यवस्था की बुनियादी कमजोरियाँ उभरकर सामने आ जाती हैं :

(i) **कोर्फू टापू का मामला**—सन् 1923 में जब इटली ने यूनान के कोर्फू टापू पर बमबारी करके उस पर अपना अधिकार कर लिया तब यूनान ने राष्ट्रसंघ विधान के अनुच्छेद 16 के अन्तर्गत इटली के विरुद्ध राष्ट्रसंघ में अपील की। इटली ने इसके जवाब में यह तर्क दिया कि उसने कोई आक्रमणकारी कार्य नहीं किया है, अतः अनुच्छेद 16 उस पर लागू ही नहीं होता है। राष्ट्रसंघ की परिषद ने इस समस्या को सुलझाने के लिए राजदूतों की एक सभा बुलाने का आदेश दिया। जिन शर्तों पर इस समस्या का समाधन हुआ वे स्पष्ट रूप से इटली के पक्ष में थीं। इस प्रकार राष्ट्रसंघ आक्रान्त की रक्षा करने और सुरक्षा एवं शान्ति भंग करने को मर्यादित करने में असमर्थ रहा।

(ii) **मंचूरिया काण्ड**—18 सितम्बर, 1931 को जापान ने मध्य मंचूरिया पर अधिकार कर लिया। चीन ने राष्ट्रसंघ के विधान की धारा 10, 11, 15 व 16 के अन्तर्गत जापानी आक्रमण से रक्षा के लिए राष्ट्रसंघ से प्रार्थना की। पर ब्रिटेन इस पक्ष में नहीं था कि राष्ट्रसंघ जापान के विरुद्ध कोई कारगर कार्यवाही करे। परिणाम यह हुआ कि 21 सितम्बर, 1931 को जब राष्ट्रसंघ परिषद ने एक प्रस्ताव द्वारा विवादग्रस्त पक्षों से अपनी-अपनी सेनाएँ पीछे हटाने को कहा तो जापान ने इसकी कोई परवाह नहीं की। 9 अक्टूबर को चीन ने पुनः राष्ट्रसंघ से सुरक्षा प्रदान करने की प्रार्थना की। जब लड़ाई ज्यादा फैल गयी तब अमरीका ने अपने एक प्रतिनिधि को ही पेरिस की सन्धि के अनुसार कार्यवाही करने के लिए परिषद के साथ बैठने का अधिकार दिया। जापानी प्रतिनिधि ने इसका घोर विरोध किया। राष्ट्रसंघ को अमरीका के इस सहयोग से राजनयिक क्षेत्रों में काफी उत्साह बढ़ गया। ऐसा समझा गया कि राष्ट्रसंघ ने जापान को खो दिया तो उसकी जगह पर अमरीका जैसा राष्ट्र उसे प्राप्त हो गया। किन्तु इस आशा पर तुरन्त ही पानी फिर गया। अमरीकी प्रतिनिधि ने यह घोषणा की कि कौंसिल की कार्यवाही में उसी सीमा तक भाग लेगा जिसका सम्बन्ध पेरिस पैक्ट से होगा। वास्तव में, अमरीकी सरकार राष्ट्रसंघ में कोई सक्रिय भाग लेने के लिए अभी तैयार नहीं थी।

राष्ट्रसंघ परिषद ने जापान से आग्रह किया कि वह मंचूरिया से अपनी सेनाएँ हटा ले परन्तु जापान ने अपने निषेधाधिकार से इसे रद्द कर दिया। 19 नवम्बर 1931 को जापान ने परिषद के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया कि संघ का एक जाँच कमीशन सुदूर-पूर्व भेजा जाय जिसमें ब्रिटेन, अमरीका, फ्रांस तथा जर्मनी के प्रतिनिधि हों। बाद में 8 जनवरी, 1932 को जापान ने शंघाई पर अपना अधिकार कर लिया और चीन ने पुनः राष्ट्रसंघ का दरवाजा खटखटाया। 4 मार्च, 1932 को संघ की महासभा ने जापन को शंघाई खाली करने का आदेश दिया। जापान ने शंघाई तो खाली कर दिया पर मंचूरिया पर अपना कब्जा फिर भी जारी रखा। 18 फरवरी, 1932 को जापान ने मंचूरिया के मंचुकुओं नामक स्थान पर एक कठपुतली सरकार स्थापित कर दी। 21 फरवरी 1933 को राष्ट्रसंघ महासभा ने एक और प्रस्ताव पास करके जापान की निन्दा

की। पर जापान ने इस प्रस्ताव की भी उपेक्षा कर दी। राष्ट्रसंघ के अन्य सदस्य देशों ने जापान को सीधे रास्ते पर लाने के लिए मंचूकुओं सरकार को मान्यता देने से इन्कार तो कर दिया, पर इसके अतिरिक्त और कुछ भी कार्यवाही नहीं की।

चीन और जापान दोनों राष्ट्रसंघ के सदस्य थे और इस हैसियत से दोनों ने वादा किया था कि वे किसी भी देश की प्रादेशिक अखण्डता पर अतिक्रमण नहीं करेंगे। पर जापान राष्ट्रसंघ के एक सदस्य राष्ट्र पर खुले तौर से आक्रमण कर उसके प्रदेशों पर अपना आधिपत्य जमा रहा था। राष्ट्रसंघ के विधान के अनुसार जापान को आक्रमणकारी घोषित किया जाना चाहिए था और आक्रमणकारी के विरुद्ध सैनिक तथा आर्थिक पाबन्दियाँ लागू करनी चाहिए थीं। जापान के नग्न और लज्जाहीन आक्रमण को केवल इसलिए भुला दिया गया कि पश्चिम के साम्राज्यवादी बड़े राष्ट्रों को उम्मीद थी कि जापान अन्ततः सोवियत संघ पर चढ़ाई करेगा। चीन और सामूहिक सुरक्षा के लिए उन्हें कोई परवाह नहीं थी। राष्ट्रसंघ के एक सदस्य पर बलात्कार होता रहा उसके विधान का उल्लंघन होता रहा लेकिन किसी ने इसको रोकने के लिए कोई सक्रिय या व्यावहारिक कदम नहीं उठाया। सामूहिक सुरक्षा का सारा सिद्धान्त एक कोरी कल्पना बन गया। इस कारण राष्ट्रसंघ पर से लोगों का विश्वास जाता रहा।

(ii) **अबीसीनिया पर आक्रमण**—सामूहिक सुरक्षा सिद्धान्त की सबसे कठोर परीक्षा इटली-अबीसीनिया युद्ध के दौरान हुई। मुसोलिनी ने 1 अक्टूबर, 1935 को अबीसीनिया पर हमले का आदेश दिया। राष्ट्रसंघ ने इटली को आक्रामक घोषित करके विधान की 16वीं धारा के अनुसार उसके विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने के लिए एक समिति का संगठन कर दिया। इसके विरुद्ध मुसोलिनी ने राष्ट्रसंघ को धमकी दी। फिर भी, समिति ने राष्ट्रसंघ के सभी सदस्यों से अनुरोध किया कि वे इटली से अपने सब प्रकार के आर्थिक सम्बन्ध विच्छेद करलें और उसे युद्धोपयोगी सामग्री देना बन्द कर दें। राष्ट्रसंघ के इतिहास में यह पहला अवसर था जब आक्रमणकारी के विरुद्ध आर्थिक पाबन्दियाँ लगाने का निर्णय किया गया।

फ्रांस की स्थिति बड़ी विचित्र थी। उसे अपने ऐसे साथी के विरुद्ध पाबन्दियाँ लगानी पड़ीं, जिसको उसने हाल ही में अपना मित्र बनाया। वह इटली पर अधिक दबाव नही डालना चाहता था। तेल पर पाबन्दी लगाने से मुसोलिनी के अबीसीनिया अभियान की अकाल मृत्यु हो सकती थी पर ब्रिटेन और फ्रांस इस पाबन्दी को लगाने नही देना चाहते थे। अबीसीनिया को लेकर ब्रिटेन इटली के साथ कोई युद्ध मोल नही लेना चाहता था। इस सम्बन्ध में **होर-लावाल समझौता** (ब्रिटिश विदेश सचिव तथा फ्रेंच विदेश सचिव) हो चुका था और इटली को आश्वस्त कर दिया गया कि उसे किसी खास कठिनाई का सामना नही करना पड़ेगा। फ्रेंच विदेश सचिव लावाल ने गुप्त रूप से मुसोलिनी को इस आशय का आश्वासन भी दे दिया। 1 मई, 1936 को अबीसीनिया की राजधानी अदीसअबाबा पर इटली का अधिकार हो गया। 30 जून को अबीसीनिया के सम्राट हेल सिलासी ने सभा में स्वयं उपस्थित होकर राष्ट्रसंघ से सहायता की प्रार्थना की, परन्तु राष्ट्र संघ पर इसका कोई प्रभाव नही पड़ा। एक के बाद दूसरा देश प्रतिबन्ध उठा रहा था पश्चिमी राष्ट्र अबीसीनिया के प्रति अब किसी प्रकार की सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए उत्सुक नही थे। सोवियत प्रतिनिधि को छोड़कर सभा में किसी ने भी अबीसीनिया का समर्थन नहीं किया। इसके बाद ब्रिटेन और फ्रांस के प्रयास से अबीसीनिया राष्ट्रसंघ से निकाल दिया गया। नवम्बर 1938 में ब्रिटेन और फ्रांस ने अबीसीनिया पर इटालियन आधिपत्य की मान्यता दे दी।

प्रो० गेथोर्न हार्डी के अनुसार इटली की विजय राष्ट्रसंघ पर एक सांघातिक आघात था और इसके फलस्वरूप राष्ट्रसंघ का रहा-सहा प्रभाव भी जाता रहा। इस काण्ड से उसे ऐसा धक्का

लगा जिससे वह कभी सँभल नहीं सका। छोटे-छोटे राष्ट्र जो राष्ट्रसंघ और सामूहिक सिद्धान्त पर आश्रित थे, उनका विश्वास सदा के लिए राष्ट्रसंघ पर से उठ गया।

फ्रांस और ब्रिटेन के अपने राष्ट्रीय हित सामूहिक सुरक्षा की जरूरतों से टकरा गये और इन दोनों राष्ट्रों ने अपने राष्ट्रीय हितों को सामूहिक सुरक्षा एवं शान्ति से बढ़कर माना। वे सामूहिक सुरक्षा उपागम के माध्यम से अपने राष्ट्रीय हित ... तत्पर न थे।

डॉ० महेन्द्रकुमार के अनुसार, "लेकिन यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि ... सीनिया का मामला सामूहिक सुरक्षा के लिए अधिक कारगर कसौटी साबित हुआ ... मामले में मंचूरिया के मामले की अपेक्षा अधिक जोर-शोर से सामूहिक सुरक्षा लागू ... कोशिश की गयी थी।"

संक्षेप में, सामूहिक सुरक्षा के विकास और लागू करने के साधन के रूप में ... तरह दुविधाग्रस्त था तथा, वास्तव में, प्रारम्भ से ही शक्तिहीन था।[1]

सामूहिक सुरक्षा एवं संयुक्त राष्ट्रसंघ
(COLLECTIVE SECURITY AND THE U. N. O.)

राष्ट्रसंघ की भाँति संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में भी सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था है। इस व्यवस्था की स्थापना करते समय इस बात का ध्यान रखा गया कि संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था, राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत स्थापित व्यवस्था से अधिक ... हो। अतः संयुक्त राष्ट्र के विधान के अनुच्छेद 43 के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गयी कि ... स्थापना के लिए जब जैसी आवश्यकता हो तब संघ के सदस्य राष्ट्र सुरक्षा परिषद की ... लिए अपने सशस्त्र सैनिक तथा अन्य सुविधाएँ परिषद के सपुर्द करेंगे।[2] शान्ति और ... स्थापित रखना सुरक्षा परिषद का प्रमुख दायित्व है। फिर भी महासभा के 'शान्ति के लिए ... प्रस्ताव' में यह व्यवस्था कर दी है कि यदि कभी शान्ति के लिए संकट पैदा हो ... भंग हो अथवा आक्रमण हो जाये और सुरक्षा परिषद अपने स्थायी सदस्यों द्वारा ... किये जाने के कारण कोई कार्यवाही न कर सके तो महासभा उस विवाद को अपना ... अधिवेशन बुलाकर तुरन्त अपने हाथ में ले सकती है और स्थिति का मुकाबला करने के ... सामूहिक कार्यवाही का सुझाव दे सकती है, जिसमें सशस्त्र सेना के उपयोग ... शामिल है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ ने सामूहिक सुरक्षा से सम्बन्धित निम्न प्रकार की कार्यवाही की है:

(i) **कोरिया का मामला**—संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा की परीक्षा ... पहली बार सन् 1950 में आया जबकि दक्षिण कोरिया के विरुद्ध उत्तरी कोरिया द्वारा ... किया गया। सुरक्षा परिषद ने निर्णय किया कि उत्तरी कोरिया के हमले से विश्वशान्ति ... है, यद्यपि यह निर्णय सोवियत प्रतिनिधि की अनुपस्थिति में ही किया जा सका था। सुरक्षा परिषद ने दोनों पक्षों को फौरन युद्ध बन्द करने तथा सेनाओं को 38 अक्षांश रेखा ... के लिए कहा। उत्तर कोरिया ने जब सुरक्षा परिषद के इस कथन की सर्वथा अवहेलना ... उसने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित करने के लिए सैनिक कार्यवाही करने ...

---

1 Palmer and Perkins, *International Relations*, 1957, p. 277.

2 "अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने में सहयोग देने के लिए संयुक्त राष्ट्र ... यह उत्तरदायित्व स्वीकार करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने के ... लिए वे सुरक्षा परिषद के माँगने पर विशेष तथा समझौतों के अनुसार अपनी ... सहायता एवं सुविधाएँ, जिनमें मार्ग अधिकार भी सम्मिलित हैं, प्रदान करेंगे।" ... का चार्टर, अनुच्छेद 43।

किया। उन दिनों सोवियत रूस द्वारा कम्युनिस्ट चीन को मान्यता न देने के प्रतिवादस्वरूप संघ की सब बैठकों का बहिष्कार किया जा रहा था अंतः सुरक्षा परिषद में संयुक्त राज्य अमरीका का कोरिया मे सैनिक कार्यवाही का प्रस्ताव 25 जून, 1950 को बड़ी सुगमता से पास हो गया। सुरक्षा परिषद में इसके पक्ष में नौ वोट आये, यूगोस्लाविया ने वोट नहीं दिया, रूस अनुपस्थित था। एक दूसरे प्रस्ताव में यह सिफारिश की गयी थी कि "संयुक्त राज्य संघ के सदस्य कोरिया के गणराज्य को ऐसी आवश्यक सहायता दें जो सशस्त्र आक्रमण का प्रतिरोध कर सके तथा उस क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रख सकें।" यह प्रस्ताव सात वोटों से पास हुआ, यूगोस्लाविया तटस्थ रहा, मिस्र और भारत ने वोट में भाग नहीं लिया, सोवियत संघ अनुपस्थित था।

इससे पूर्व अमरीकी सरकार ने ऐलान किया कि हमने अमरीकी वायुसेना और नौसेना को यह आदेश दे दिया है कि वे सुरक्षा परिषद के 25 जून के संकल्प को क्रियान्वित करने में दक्षिण कोरिया की सेना की सहायता करें। 27 जून से सुरक्षा परिषद ने यह निर्णय लिया कि अविलम्ब सैनिक कदम उठाना आवश्यक है और इस प्रकार अमरीका की कार्यवाही को अपना लिया। संयुक्त राष्ट्रसंघ के 60 सदस्यों मे से 16 ने अपनी सशस्त्र सेनाएँ भेजीं। इन 16 सदस्यों में से अमरीका, ब्रिटेन और कनाडा ने ही सेना की काफी मात्रा भेजी। कोरिया मे लड़ने वाली कुल सेना का 90 प्रतिशत भाग दक्षिण कोरिया और अमरीका का था। नवम्बर 1950 में कोरिया के युद्ध में चीन के स्वयंसेवक भाग लेन लगे। इससे युद्ध की समस्या वहुत अधिक गम्भीर हो गयी।

सामूहिक सुरक्षा की दृष्टि से विचार करने पर कोरिया की घटना से निम्नलिखित तथ्य उभरते हे :

(1) संयुक्त राष्ट्रसंघ की इस कार्यवाही में अमरीका ने जो काम किया उसे क्या वास्तव मे सामूहिक सुरक्षा का कार्य कहा जा सकता है ? यह किसी भी हालत में संयुक्त राष्ट्रसंघ का युद्ध नही पर संयुक्त राज्य अमरीका का युद्ध था।

(2) संयुक्त राष्ट्र के महासचिव ने 14 जुलाई, 1950 को पचास राज्यों से कोरिया में सेना भेजने की अपील की थी, जिसमें पैंतीस ने तो इंकार कर दिया या उत्तर ही नहीं दिया, शेष जिन राज्यों ने सेनाएँ भेजीं वे अमरीकी गुट के थे और उन्होंने भी वहुत कम मात्रा में सेना भेजी। वस्तुतः यह एक विशुद्ध अमरीकी युद्ध था जिसका सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त से कोई मतलव नही था।

(3) युद्ध के मध्य मे चीन जैसी महाशक्ति, एक सक्रिय भागीदार के रूप में आक्रमणकारी के साथ जा मिली।

(4) संयुक्त राष्ट्र के दूसरे सदस्य जिनमें सैनिक सामर्थ्य थी, जैसे कि अर्जेण्टाइना, ब्राजील, चैकोस्लोवाकिया, भारत, मेक्सिको, पोलैण्ड तटस्थ रहे और किसी पक्ष की सैनिक क्रिया में भाग नही लिया।

संक्षेप मे, उत्तरी कोरिया के विरुद्ध सामूहिक कार्यवाही मे अमरीका के शामिल होने का उद्देश्य सोवियत गुट के प्रसार को रोकना था जो अमरीका की विदेश नीति का एक प्रमुख लक्ष्य था। कोरिया में की गयी सामूहिक कार्यवाही को सामूहिक सुरक्षा का उदाहरण मानना गलत है। यथार्थ में, सामूहिक सुरक्षा की कार्यवाही संयुक्त राष्ट्र की अपेक्षा वाशिंगटन से संचालित होती थी।

मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, "इस प्रकार सामूहिक सुरक्षा की वास्तविकता, जैसा कि इसे

लगा जिससे वह कभी सँभल नहीं सका। छोटे-छोटे राष्ट्र जो राष्ट्रसंघ और सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त पर आश्रित थे, उनका विश्वास सदा के लिए राष्ट्रसंघ पर से उठ गया।

फ्रांस और ब्रिटेन के अपने राष्ट्रीय हित सामूहिक सुरक्षा की जरूरतों से टकराव में आ गये और इन दोनों राष्ट्रों ने अपने राष्ट्रीय हितों को सामूहिक सुरक्षा एवं शान्ति की जरूरतों से बढ़कर माना। वे सामूहिक सुरक्षा उपागम के माध्यम से अपने राष्ट्रीय हित आगे बढ़ाने को तत्पर न थे।

डॉ० महेन्द्रकुमार के अनुसार, "लेकिन यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि अबीसीनिया का मामला सामूहिक सुरक्षा के लिए अधिक कारगर कसौटी साबित हुआ क्योंकि इस मामले में मंचूरिया के मामले की अपेक्षा अधिक जोर-शोर से सामूहिक सुरक्षा लागू करने की कोशिश की गयी थी।"

संक्षेप में, सामूहिक सुरक्षा के विकास और लागू करने के साधन के रूप में राष्ट्रसंघ पूरी तरह दुविधाग्रस्त था तथा, वास्तव में, प्रारम्भ से ही शक्तिहीन था।[1]

सामूहिक सुरक्षा एवं संयुक्त राष्ट्रसंघ
(COLLECTIVE SECURITY AND THE U. N. O.)

राष्ट्रसंघ की भाँति संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में भी सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था की गयी है। इस व्यवस्था की स्थापना करते समय इस बात का ध्यान रखा गया कि संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था, राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत स्थापित व्यवस्था से अधिक प्रभावशाली हो। अतः संयुक्त राष्ट्र के विधान के अनुच्छेद 43 के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गयी कि शान्ति स्थापना के लिए जब जैसी आवश्यकता हो तब संघ के सदस्य राष्ट्र सुरक्षा परिषद की सहायता के लिए अपने सशस्त्र सैनिक तथा अन्य सुविधाएँ परिषद के सपुर्द करेंगे।[2] शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखना सुरक्षा परिषद का प्रमुख दायित्व है। फिर भी महासभा के 'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' में यह व्यवस्था कर दी है कि यदि कभी शान्ति के लिए संकट पैदा हो अथवा शान्ति भंग हो अथवा आक्रमण हो जाये और सुरक्षा परिषद अपने स्थायी सदस्यों द्वारा 'वीटो' प्रयोग किये जाने के कारण कोई कार्यवाही न कर सके तो महासभा उस विवाद को अपना संकटकालीन अधिवेशन बुलाकर तुरन्त अपने हाथ में ले सकती है और स्थिति का मुकाबला करने के लिए सामूहिक कार्यवाही का सुझाव दे सकती है, जिसमें सशस्त्र सेना के उपयोग का सुझाव भी शामिल है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ ने सामूहिक सुरक्षा से सम्बन्धित निम्न प्रकार की कार्यवाही की है :

(i) **कोरिया का मामला**—संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा की परीक्षा का अवसर पहली बार सन् 1950 में आया जबकि दक्षिण कोरिया के विरुद्ध उत्तरी कोरिया द्वारा आक्रमण किया गया। सुरक्षा परिषद ने निर्णय किया कि उत्तरी कोरिया के हमले से विश्वशान्ति भंग हुई है, यद्यपि यह निर्णय सोवियत प्रतिनिधि की अनुपस्थिति में ही किया जा सका था। सुरक्षा परिषद ने दोनों पक्षों को फौरन युद्ध बन्द करने तथा सेनाओं को 38 अक्षांश रेखा तक लौट जाने के लिए कहा। उत्तर कोरिया ने जब सुरक्षा परिषद के इस कथन की सर्वथा अवहेलना की तो उसने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित करने के लिए सैनिक कार्यवाही करने का निश्चय

---

1 Palmer and Perkins, *International Relations*, 1957, p. 277.

2 "अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने में सहयोग देने के लिए संयुक्त राष्ट्र के सब सदस्य यह उत्तरदायित्व स्वीकार करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने के उद्देश्य के लिए वे सुरक्षा परिषद के माँगने पर विशेष तथा समझौतों के अनुसार अपनी सशस्त्र सेनाएँ, सहायता एवं सुविधाएँ, जिनमें मार्ग अधिकार भी सम्मिलित हैं, प्रदान करेंगे।" **संयुक्त राष्ट्र का चार्टर,** अनुच्छेद 43।

सामूहिक सुरक्षा की अप्रासंगिकता के कारण
(FACTORS RESPONSIBLE FOR OBSOLESCENCE OF COLLECTIVE SECURITY)

ऐसा कहा जाता है कि सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त पुराना पड़ चुका है। यह पुरानापन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप में पिछले दिनों हुए परिवर्तनों के कारण आया है। शुरू में सामूहिक सुरक्षा की कल्पना उस तरह के युद्ध के सन्दर्भ में उदित हुई थी जो अपने पुराने ढर्रे का रह गया है। परमाणु युद्ध के खतरे से अब ऐसी अनेक समस्याएँ पैदा हो गयी हैं जिन्होंने सामूहिक सुरक्षा को असामायिक बना दिया है। बहुत सम्भव है कि सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त को क्रियान्वित करने से पहले ही आक्रमण का शिकार राज्य पूर्णरूप से विनष्ट हो जाये। यही नहीं आधुनिक विश्व में शक्ति के द्विध्रुवीकरण ने इस सिद्धान्त की कार्यान्विति को एक प्रकार से असम्भव बना दिया है। द्विध्रुवीकरण के परिणामस्वरूप शक्ति वितरण का प्रतिरूप या ढर्रा ऐसा नही रह गया है कि हर राज्य सामूहिक कार्यवाही के नियन्त्रण में आ सके। आज 'आक्रमण' की परिभाषा करना भी बड़ा कठिन है। सामूहिक सुरक्षा के विचार के जन्म के समय आक्रमण की जो धारणा प्रचलित थी उसमें परोक्ष आक्रमण की विविध तकनीकों के कारण बड़ा परिवर्तन आ गया है। गुट निरपेक्ष राष्ट्रों के उदय के कारण भी सामूहिक सुरक्षा का क्रियान्वयन कठिन जान पड़ता है, चूँकि गुट निरपेक्ष कहलाने वाले राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय झमेलों से दूर रहना ही पसन्द करेंगे।

मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, सामूहिक सुरक्षा की राजनय का ध्येय सब स्थानीय द्वन्द्वों को विश्व द्वन्द्वों में बदलना होता है। यदि यह शान्ति का एक नया संसार नहीं बना सकती तो यह युद्ध का एक संसार बनाये बिना नहीं रह सकती। क्योंकि शान्ति को अविभाज्य माना गया है तो इससे यह तथ्य निकलता है कि युद्ध भी अविभाज्य होता है। सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा के अन्तर्गत संसार के किसी स्थान पर युद्ध सशक्त रूप में विश्वयुद्ध है। इस प्रकार युद्ध को असम्भव बनाने वाले यन्त्र का अन्त युद्ध को विश्वव्यापी बनाकर होता है। दो राष्ट्रों में शान्ति संरक्षण के स्थान पर, जैसा कि इसे समकालिक संसार में काम करना चाहिए, सामूहिक सुरक्षा सब राष्ट्रों के बीच शान्ति भंग करने पर बाध्य है।[1]

सामूहिक सुरक्षा की धारणा को अव्यावहारिक बताते हुए **वाल्टर लिप्पमैन** ने बहुत बड़ा व्यंग्य किया है—"यदि किसी शल्य-चिकित्सक से किसी रोगी की टाँग काटने के लिए कहा जाय और इसके लिए उसे स्वयं बाँह को काटना पड़े, तो कोई शल्य चिकित्सा नहीं हो सकेगी। यदि चोरों, हत्यारों तथा ट्रैफिक के नियमों को तोड़ने वालों की गिरफ्तार करने के लिए पुलिस को युद्ध आरम्भ कर देना पड़े जिसमें न्यायालय, कारागार तथा घर सभी नष्ट हो जायें तो हमारे नगरों में कानून की कोई क्रियान्विति नहीं हो सकेगी। मनुष्य सूअर को भूनने के लिए अपने अनाज के गोदामों में आग नहीं लगायेंगे। मै इस बात को दुहराता हूँ कि सामूहिक सुरक्षा की पद्धति बहुत भौंड़ी, बहुत महँगी तथा सामान्य एवं नियमित प्रयोग के लिए बहुत अविश्वसनीय है। वह निरपराध लोगों का संहार करने का आह्वान करके शान्ति को स्थापित करने का प्रस्ताव करती है कोई भी विश्व-व्यवस्था ऐसे सिद्धान्त के ऊपर आधारित नही की जा सकती; उसे सभ्य मानवता का समर्थन प्राप्त नहीं हो सकता। लोकतान्त्रिक मनुष्य जो व्यक्ति का आदर करते हैं और जो न्याय की मुख्य विशेषता निर्दोष एवं अपराधी के बीच उत्तरदायी और अनुत्तरदायी विभेद को मानते है, इस सिद्धान्त को अपना समर्थन कभी नहीं दे सकते।"[2]

सामूहिक सुरक्षा का युद्ध यथास्थिति (status quo) की स्थापना के लिए होता है। इसलिए सामूहिक सुरक्षा को लिप्पमैन ने 'यथास्थिति का संरक्षक' कहा है।

---

1 Morgenthau, *Ibid.*, pp. 417-18.
2 Palmer and Perkins, *op. cit.*, p. 353.

कोरिया के युद्ध में लागू किया गया, सचमुच उस आकार के अनुरूप हैं, जिसकी रूपरेखा रेखाचित्र में दी गयी है।"

(ii) **स्वेज संकट का मामला**—संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा सामूहिक सुरक्षा के प्रयोग का दूसरा उदाहरण स्वेज संकट से सम्बन्धित है। सन् 1956 में मिस्र द्वारा स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिये जाने पर इजराइल, फ्रांस और ब्रिटेन ने सामूहिक रूप से उस पर आक्रमण कर दिया। इस संकट पर विचार करने के लिए महासभा की आपातकालीन बैठक बुलायी गयी। अन्त में आक्रमणकारियों ने महासभा के प्रस्ताव को मानकर युद्ध बन्द कर दिया और सेनाएँ वापस बुला लीं।

किन्तु वास्तव में यह सामूहिक सुरक्षा की सफलता नहीं थी वरन् कुछ अन्य कारणों से आक्रमणकारी राष्ट्रों ने महासभा के प्रस्ताव को माना था। ब्रिटेन और फ्रांस ने अपनी सेनाएँ इसलिए हटायीं कि स्वदेश और विदेशों में लोकमत ने इस आक्रमण की कटु निन्दा की थी। अमरीका ने आक्रमणकारियों का समर्थन नहीं किया और इस युद्ध में सोवियत हस्तक्षेप का भी खतरा था।

(iii) **लेबनान की समस्या**—सन् 1958 में लेबनान ने संयुक्त राष्ट्रसंघ से शिकायत की कि सीरिया ने भारी संख्या में छापामार सैनिक भेजकर राष्ट्रपति चमाऊ की सरकार को उखाड़ने की चेष्टा की है। राष्ट्रपति चमाऊ की प्रार्थना पर लेबनान की सुरक्षा के लिए अमरीका की सेनाएँ भेज दी गयीं तथा दो दिन बाद जोर्डन की प्रार्थना पर वहाँ ब्रिटेन ने अपनी सेनाएँ भेज दीं। इस स्थिति में संयुक्त राष्ट्रसंघ में सोवियत संघ और अमरीका में टक्कर हो गयी। अमरीका का कहना था कि लेबनान पर हो रहे परोक्ष आक्रमण का सामना करने के लिए उसकी कार्यवाही आवश्यक थी। परन्तु सोवियत संघ लेबनान में अमरीकी सेनाओं की उपस्थिति को शान्ति के लिए घातक मानता था। अन्ततोगत्वा संयुक्त राष्ट्र महासचिव के सामूहिक हस्तक्षेप के कारण स्थिति नियन्त्रण में आ गयी और अमरीका एवं ब्रिटेन ने धीरे-धीरे अपनी सेनाएँ वापस बुला लीं। वस्तुतः लेबनान की समस्या के सन्दर्भ में सामूहिक सुरक्षा की परीक्षा का अवसर नहीं आ सका।

राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था : तुलना
(COMPARATIVE ANALYSIS OF THE COLLECTIVE SECURITY SYSTEM UNDER LEAGUE OF NATIONS AND THE U. N. O.)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत पायी जाने वाली सामूहिक सुरक्षा और राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत स्थापित सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में पर्याप्त अन्तर है। राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत तो सामूहिक सुरक्षा एक नये विचार की स्वीकृति का सूचक थी, पर संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा पहले ही स्वीकृति विचार के अधिक कारगर तरीके से कार्य करने की लगन की द्योतक है। द्वितीय संयुक्त राष्ट्रसंघ को आवश्यकता पड़ने पर सशस्त्र बल प्रयोग का अधिकार है जो राष्ट्र संघ को प्राप्त नही था। तृतीय सामूहिक सुरक्षा की कार्यवाही को सफल बनाने के लिए संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत महाशक्तियों को 'वीटो' प्रदान करके विशेष रूप से उत्तरदायी बना दिया गया है। महाशक्तियों को 'वीटो' की शक्ति राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत प्राप्त नहीं थी। चतुर्थ, सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को दृढ़ बनाने के लिए संयुक्त राष्ट्र के विधान में प्रादेशिक संगठनों की स्थापना को उचित बताया गया है और सदस्य राष्ट्रों को ऐसे संगठन बनाने की अनुमति दी गयी है, परन्तु राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी। पंचम, राष्ट्रसंघ ने मंचूरिया अथवा अबीसीनिया की घटनाओं के समय भी सामूहिक सुरक्षा के प्रावधानों का क्रियान्वयन नहीं किया जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ ने कोरिया युद्ध के समय सामूहिक सुरक्षा के प्रावधानों का क्रियान्वयन किया। संक्षेप में, राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक क्रान्ति की सूचक है और संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत वह उस क्रान्ति के फलों को मजबूत बनाने के प्रयत्न की सूचक है।"[1]

---

[1] Mahendra Kumar, *Ibid.*, p. 30.

3. 'सामूहिक सुरक्षा' की अवधारणा का विवेचन करिए। सामूहिक सुरक्षा की अभिवृद्धि में संयुक्त राष्ट्रसंघ के योगदान का परीक्षण करिए।
   Discuss the concept of 'Collective Security' Examine the contribution of the United Nations for the promotion of collective security.
4. सामूहिक सुरक्षा तथा शक्ति सन्तुलन के सम्बन्ध की विवेचना संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशेष सन्दर्भ में कीजिए।
   Discuss the relationship of collective security and balance of power with special reference to the United Nations
5. "सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त कहने में जितना सरल है कार्यान्वित करने में उतना ही कठिन है।" (सेसिल वी० क्रैब) इस कथन पर टिप्पणी कीजिए और समझाइए कि सामूहिक सुरक्षा से सम्बन्धित क्या समस्याएँ हैं ?
   "Theory of collective security is as simple to state as it is difficult to apply. (Cecil V. Crabb) Comment on this statement and explain the problems connected with collective security.

क्लाड (Claude) ने सामूहिक सुरक्षा की निरर्थकता पर विचार करते हुए यह मत प्रकट किया है कि वर्तमान समय में सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति के प्रबन्ध का सही उत्तर नहीं है। सामूहिक सुरक्षा सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के कुछ पहले के काल में तो लागू हो सकता था, परन्तु आज वर्तमान परिस्थितियों में यह सिद्धान्त प्रभावशाली रूप में लागू नहीं हो सकता है। आणविक युद्ध की सम्भावना ने शक्ति प्रबन्ध के रूप में सामूहिक सुरक्षा को निरर्थक बना दिया है। सामूहिक सुरक्षा शक्ति के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण नहीं रखती है। क्लाड का कहना है कि 'सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त पुराना पड़ गया है।[1] सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के अन्तर्गत यह आशा की जाती है कि राष्ट्र सहयोग तथा त्याग की भावना से प्रेरित होकर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सहयोग की वृद्धि पर जोर देंगे। विभिन्न देशों की विदेश नीतियाँ तथा राष्ट्रीय हित सामूहिक सुरक्षा के विचार से मेल नहीं खाते हैं। सामूहिक सुरक्षा के अन्तर्गत राष्ट्रों से ऐसे उच्च स्तर के बलिदान की आशा की जाती है कि वे उन कार्यों को भी करें जो कि उसके हित के प्रतिकूल हों। यही नहीं, उनसे यह भी आशा की जाती है कि वे अपने जीवन को त्यागने के लिए तैयार रहें तथा संसार में कहीं भी किसी दूसरे राष्ट्र की रक्षा के लिए युद्ध के सम्पूर्ण विनाश का खतरा मोल लें। इसी दृष्टि से क्लाड ने सामूहिक सुरक्षा को सामान्य नीति के प्रति 'अयथार्थवादी दृष्टिकोण' (Unrealistic of Policy) कहा है।

सामूहिक सुरक्षा पद्धति बल प्रयोग द्वारा शान्ति स्थापित करना चाहती है। सामूहिक सुरक्षा यह मानती है कि युद्ध अनिवार्य है और युद्ध न होने देकर अथवा युद्ध होने पर सामूहिक रूप से बल प्रयोग द्वारा शान्ति स्थापित की जानी चाहिए। ऐसी शान्ति कभी स्थापित नहीं हो सकती। युद्ध द्वारा स्थापित शान्ति अन्ततः एक और युद्ध को जन्म देती है। अतः सामूहिक सुरक्षा पद्धति द्वारा विश्वशान्ति की कल्पना करना व्यर्थ है।

प्रश्न

1. सामूहिक सुरक्षा के माध्यम के रूप संयुक्त राष्ट्र किस प्रकार राष्ट्रसंघ का सुधरा हुआ रूप है?
   In what ways is the United Nations an improvement over the Legue of Nations as an instrument of collective security?
2. "यदि कोई चाहे तो वह गठबन्धनों व सामूहिक सुरक्षा को एक ही समझने की धृष्टता कर सकता है परन्तु वह ईमानदारी के साथ यह नहीं कह सकता कि वह उसी व्यवस्था की बात करता है जिसे सामूहिक सुरक्षा के नाम के अन्तर्गत, दो विश्व संगठनों ने अपने आदर्श के रूप में स्वीकार किया था।" (आइनिस क्लॉड जूनियर)

   उपरोक्त कथन पर टिप्पणी कीजिए और यह बताते हुए कि किस प्रकार सामूहिक सुरक्षा और गठबन्धनों में कोई समता नहीं है, सामूहिक सुरक्षा की सन्निहित पूर्व धारणाओं की व्याख्या कीजिए।

   "One can identify alliances with collective security if he pleases, but if he does, he cannot honestly pretend to be talking about the same kind of system that has been···adopted as the ideal of two major world organizations under the name of collective security." (Inis Claude, Jr.)
   Comment on the above statement, highlighting the underlying assumption of the concept of collective security and also bringing out how the concept is incompatible with alliances.

[1] "In certain basic respects the doctrine of collective security is obsolete." —Claude

3. 'सामूहिक सुरक्षा' की अवधारणा का विवेचन करिए। सामूहिक सुरक्षा की अभिवृद्धि में संयुक्त राष्ट्रसंघ के योगदान का परीक्षण करिए।
   Discuss the concept of 'Collective Security' Examine the contribution of the United Nations for the promotion of collective security.
4. सामूहिक सुरक्षा तथा शक्ति सन्तुलन के सम्बन्ध की विवेचना संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशेष सन्दर्भ में कीजिए।
   Discuss the relationship of collective security and balance of power with special reference to the United Nations
5. "सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त कहने में जितना सरल है कार्यान्वित करने में उतना ही कठिन है।" (सेसिल वी० क्रैब) इस कथन पर टिप्पणी कीजिए और समझाइए कि सामूहिक सुरक्षा से सम्बन्धित क्या समस्याएँ हैं ?
   "Theory of collective security is as simple to state as it is difficult to apply. (Cecil V. Crabb) Comment on this statement and explain the problems connected with collective security.

24

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण ढंग से निपटारा

[PACIFIC SETTLEMENT OF INTERNATIONAL DISPUTES]

जिस प्रकार व्यक्तियों के बीच विवाद पैदा होते हैं और इनका निपटारा शन्तिपूर्ण ढंग से आपसी वार्ता, पंचनिर्णय अथवा न्यायालय द्वारा किया जाता है उसी प्रकार राष्ट्रों के बीच भी मतभेद एवं विवाद उत्पन्न होना सम्भव है। अन्तर्राष्ट्रीय मतभेद के अनेक कारण हैं जो प्राय: राजनीतिक अथवा कानूनी ढंग के होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के मान्य सिद्धान्तों की अवहेलना के फलस्वरूप कानूनी ढंग के झगड़े हो जाते हैं।

प्राचीनकाल तथा मध्यकाल में दो राष्ट्रों के मध्य झगड़ों का निपटारा अधिकांश रूप से युद्ध के द्वारा ही होता था। परन्तु आधुनिककाल में वैज्ञानिक आविष्कारों ने युद्ध को अति भीषण बना दिया है। विश्व में गुटबन्दी के फलस्वरूप दो राष्ट्रों का विवाद विश्वयुद्ध का रूप धारण कर सकता है। इस भीषण मानव संहार तथा विनाश से बचने के लिए विश्व के राजनीतिज्ञों ने युद्ध के अतिरिक्त झगड़ों को निपटाये के लिए अन्म साधन भी खोज निकाले। युद्ध से बचने के लिए लगभग सभी राष्ट्र झगड़ों को निपटाने के लिए अन्य साधनों को वरीयता देने के लिए तैयार भी हो गये। ओपेनहीम के अनुसार, "साधारणतया राज्यों के मध्य दो प्रकार के विवाद—कानूनी और राजनीतिक ही होते हैं। इन कानूनी तथा राजनीतिक विवादों का निपटारा मैत्रीपूर्ण तथा बाध्यकारी साधनों द्वारा ही किया जा सकता है।"[1]

झगड़ों का निपटारा : दो प्रकार के तरीके
(SETTLEMENT OF DISPUTES : TWO KINDS OF MEANS)

सामान्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा करने के दो प्रधान साधन हैं—(i) मैत्रीपूर्ण साधन (amicable means); और (ii) बाध्यकारी साधन (compulsive means)।

1. मैत्रीपूर्ण साधन (Amicable Means)

राष्ट्रों के बीच विवादों के हल के लिए मैत्रीपूर्ण साधनों द्वारा सद्भावना और अच्छी प्रेरणा द्वारा शान्तिपूर्ण रीति से समस्या का निराकरण प्रस्तुत किया जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के

International differences can arise from a variety of grounds. They are generally divided into legal and political—Political and legal differences can be settled either by amicable or by compulsive means." —Oppenheim, *International Law*, Vol. II, p. 36.

चार्टर की धारा 33 में स्पष्ट कहा गया है कि—"अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को संकट में डालने वाले किसी विवाद में दोनों पक्ष सर्वप्रथम वार्ता, जाँच, मध्यस्थता, संराधन, पंचनिर्णय, न्यायालय द्वारा निर्णय तथा अन्य शान्तिपूर्ण उपायों का आश्रय लेकर समस्या को हल करने का प्रयत्न करेंगे।"[1] अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को निपटाने के लिए मैत्रीपूर्ण साधनों में कतिपय प्रमुख साधन इस प्रकार हैं: (1) वार्ता (negotiation); (2) संराधन (conciliation); (3) सत्सेवा तथा मध्यस्थता (good offices and mediation); (4) पंच निर्णय (arbitration); (5) अन्तर्राष्ट्रीय जाँच आयोग (International Enquiry Commission); (6) अधिनिर्णय (adjudication); तथा (7) राष्ट्र संघ एवं संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा (through the machinery of League of Nations and U. N. O.)।

(1) **समझौता वार्ता** (Negotiation)—संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुच्छेद 40 में समझौते के जो तरीके दिये गये हैं, उनमें आपस की बातचीत और विचार-विनिमय का प्रमुख स्थान है। सुरक्षा परिषद की सहायता लेने के पूर्व आपस की बातचीत से समझौते को तय करने का प्रयत्न करना अनिवार्य है। फैनविक का भी मत है कि दोनों देशों के बीच उत्पन्न होने वाले संघर्षों की समाप्ति के लिए 'वार्ता' का प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार की वार्ता और विचार-विनिमय राज्यों के अध्यक्षों के बीच अथवा उनके प्रतिनिधियों के बीच हो सकते हैं। वर्तमान समय में इस प्रकार की वार्ता साधारणतया दो देशों के राजदूतों में की जाती है। संघर्ष में मुद्दे का समाधान खोजने के लिए संघर्षरत देशों के राजदूतों के बीच पत्र-व्यवहार होता है। यही पत्र-व्यवहार वार्ता का आधार माना जाता है। उदाहरणार्थ, भारत-पाक सीमा विवाद के सम्बन्ध में पाकिस्तान के राष्ट्रपति और भारत के प्रधानमन्त्री के बीच 1 सितम्बर, 1959 को वार्ता हुई थी। इस वार्ता के सिलसिले में दोनों देशों के अध्यक्षों ने मन्त्रियों की एक परिषद बुलाने का निश्चय किया था। 15 अक्टूबर से 22 अक्टूबर तक इस विषय में दोनों देशों के मन्त्रियों के बीच दिल्ली और ढाका में बातचीत हुई थी। इस बातचीत में सीमा सम्बन्धी विवाद का हल ढूँढ़ लिया गया था।

दिसम्बर 1971 में भारत तथा पाकिस्तान के मध्य युद्ध हुआ। युद्ध के कारण अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गयीं जिनका समाधान श्रीमती गांधी और भुट्टो के बीच शिमला में सीधी वार्ता द्वारा खोजने का प्रयत्न किया गया। अमरीका तथा चीन के बीच कई मुद्दों को लेकर पिछले कई वर्षों से अप्रिय सम्बन्ध रहे हैं। 1 फरवरी, 1972 को अमरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति निक्सन तथा उनके प्रतिनिधि हेनरी किसिंजर ने चीन की यात्रा करके चाऊ एन लाई से सीधी वार्ता की। 19-20 नवम्बर, 1985 को जेनेवा में अमरीकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन तथा सोवियत नेता गोर्बाच्योव के मध्य निःशस्त्रीकरण और अन्तरिक्ष युद्ध के मसलों पर सीधी समझौता वार्ता हुई।

समझौता वार्ता आवश्यक रूप से विवादों को दूर नहीं कर देती। साधारणतया आपस के विचार-विनिमय से झगड़े के तय होने में सबसे बड़ी बाधा झगड़े के आरम्भ के वास्तविक कारण की जानकारी की कठिनाई होती है। आपसी विचार-विनिमय से तीन सम्भावनाएँ उभरती हैं—मतभेद कम हो जायें, कोई पक्ष अपने दावे कम कर दे, दोनों पक्ष अपनी बातों पर अड़े रहें। वार्ता चाहे सफल रहे अथवा असफल रहे, इसका अपना महत्व है। इससे विश्व जनमत के सामने यह

---

1 "The parties in any dispute, the continuance of which is likely to endanger the maintenance of international peace and security. shall, first of all, seek a solution by negotiation, enquiry, mediation. conciliation, judicial settlement, resort to regional agencies or arrangements or other peaceful means of their own choice."

—Article 33, *Charter of the United Nations*

प्रकट हो जाता है कि अमुक पक्ष ने वार्ता में पूरी रुचि दिखायी जबकि दूसरा पक्ष अपनी बात पर अड़ा रहा जिसके फलस्वरूप ही युद्ध हुआ। भारत-चीन युद्ध से पूर्व दोनों राष्ट्रों में वर्षों तक वार्ता चलती रही थी। मेब्रोमेटिस पैलेस्टाइन कन्सैशन केस में मूर ने लिखा था, "अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अर्थ में 'वार्ता' एक कानूनी, व्यवस्थित और प्रशासनात्मक प्रक्रिया है। इसकी सहायता से राज्य की सरकारें अपनी असंदिग्ध शक्तियों का प्रयोग करते हुए एक-दूसरे के साथ अपने सम्बन्धों का संचालन करती हैं और मतभेदों पर विचार-विमर्श, इसका व्यवस्थापन और समाधान करती हैं।"

(2) **संराधन** (Conciliation)—संराधन में वे विभिन्न प्रणालियाँ शामिल हैं जो तीसरे पक्ष द्वारा दो या अधिक राज्यों के विवादों को शान्तिपूर्वक हल करने के लिए अपनायी जाती हैं। ओपेनहीम के अनुसार, "यह विवाद के समाधान की ऐसी प्रक्रिया है जिसमें यह कार्य कुछ व्यक्तियों के आयोग को सौंप दिया जाता है। यह आयोग दोनों पक्षों का विवरण सुनता है तथा विवाद को तय करने की दृष्टि से तथ्यों के प्रकाश में अपना प्रतिवेदन देता है। इसमें विवाद के समाधनार्थ कुछ प्रस्ताव होते हैं। ये प्रस्ताव किसी पंचायत अथवा अदालती निर्णय की भांति अनिवार्य रूप से मान्य नहीं होते।"

सन् 1899 तथा 1907 के हेग अभिसमय में संराधन के आयोगों द्वारा झगड़ों का शान्तिपूर्वक निपटारा अनुबन्धित है। हडसन के अनुसार, "संराधन की प्रक्रिया में तथ्यों का अन्वेषण और विरोधी दावों का समन्वय किया जाता है। उसके पश्चात विवाद के समाधान के लिए प्रस्ताव बनाये जाते हैं। इन प्रस्तावों को स्वीकार करने अथवा न करने की स्वतन्त्रता दोनों पक्षों को होती है।"

संराधन अन्तर्राष्ट्रीय जाँच आयोग से भिन्न है। जाँच आयोग का मुख्य उद्देश्य इस आशा से तथ्यों का विशदीकरण करना होता है कि इससे दोनों पक्ष स्वयमेव आपस में समझौता कर लेंगे। किन्तु संराधन का मुख्य लक्ष्य इस आयोग के प्रयत्नों द्वारा दोनों पक्षों का समझौता करना है। संराधन पंच निर्णय से भी भिन्न है। संराधन के अन्तर्गत विभिन्न पक्ष इनके प्रस्तावों को स्वीकार करने या न करने के लिए पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं। दूसरी ओर पंच निर्णय के अन्तर्गत सम्बन्धित पक्षों को पंचायत द्वारा निर्धारित निर्णय मानना ही पड़ेगा। संराधन तथा मध्यस्थता के बीच भी अन्तर है। प्रथम के अन्तर्गत दोनों पक्ष अपना विवाद दूसरे व्यक्तियों को इसलिए सौंपते हैं ताकि वे तथ्यों की निष्पक्ष जाँच के बाद इसके समाधान के प्रस्ताव उपस्थित करें। यहाँ पहल विवाद के पक्षों द्वारा की जाती है। मध्यस्थता में पहलकर्ता तीसरा राज्य ही होता है। यह स्वयं विवाद के पक्षों के बीच वार्ता चलाकर विवाद को हल करना चाहता है।

संराधन के पालन का कोई उदाहरण नहीं मिलता है। पिछले कुछ वर्षों में इस नियम का घोर उल्लंघन किया गया है। सन् 1911 में इटली ने टर्की के साथ अपनी वार्ता एकदम बन्द कर दी और उसके साथ ऐसी शर्तें रख दी जिसका अभिप्राय युद्ध था। सन् 1931 में चीन के साथ संराधन न करके जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया था।

(3) **सत्सेवा तथा मध्यस्थता** (Good Offices and Mediation)—जब दो राज्यों के बीच वार्ता द्वारा विवाद की समाप्ति नहीं होती है तब अन्य राज्य विवाद की समाप्ति का प्रयत्न करते हैं। एक तीसरा राज्य सत्सेवा (good offices) के भाव से मध्यस्थता करने को तैयार हो जाता है और वह इस बात का प्रयत्न करता है कि उनके विवाद की समाप्ति हो जाये और उन राज्यों की जनता को युद्ध के दुष्परिणाम न भोगने पड़ें। कई बार ऐसा होता है कि एक से अधिक राज्य विवाद को समाप्त करने का प्रयत्न करते हैं। सन् 1868 में यूनान और टर्की के बीच उत्पन्न होने वाले विवाद में बड़े-बड़े राष्ट्रों ने मध्यस्थता की थी।

सत्सेवा तथा मध्यस्थता के बीच अन्तर है। सत्सेवा में तीसरा राज्य दोनों पक्षों को एक साथ बैठाता है और विवाद को सुलझाने का सुझाव देता है। यह विवाद से सम्बन्धित विषयों में पूछताछ कर सकता है किन्तु इस समय तीसरा राज्य वास्तविक समझौता वार्ता में भाग नहीं लेता। मध्यस्थता के समय हस्तक्षेपकर्ता राज्य स्वयं वार्ता में भाग लेता है। वह अपनी ओर से सुझाव देता है और सभी विचार-विमर्शों में सक्रिय रूप से भाग लेता है। उदाहरणार्थ, सन् 1965 के भारत-पाक संघर्ष के बाद सोवियत संघ ने दोनों देशों के मध्य समझौता कराने के लिए अपनी सत्सेवा (good offices) प्रदान की और जिसके फलस्वरूप 1966 की जनवरी के प्रारम्भ में ताशकन्द में पाकिस्तान के राष्ट्रपति अय्यूबखाँ तथा भारत के प्रधानमन्त्री लालबहादुर शास्त्री के बीच वार्ता प्रारम्भ हुई। किन्तु 10 जनवरी, 1966 तक वार्ता का सफल परिणाम न निकलने के कारण इसके असफल होने की सम्भावना बढ़ गयी। सोवियत प्रधानमन्त्री कोसीजिन की मध्यस्थता के फलस्वरूप ही 11 जनवरी, 1966 को संयुक्त विज्ञप्ति निकाली गयी और दोनों देशों के मध्य ताशकन्द का समझौता हुआ।

इसी भाँति सन् 1951 में आस्ट्रेलिया की सरकार ने भारत और पाकिस्तान के कश्मीर सम्बन्धी विवाद को हल करने के लिए अपनी सत्सेवाएँ देने को कहा था, किन्तु भारत सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया था। सन् 1905 में रूस-जापान युद्ध की समाप्ति अमरीकन राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट की सत्सेवाओं से हुई। सन् 1904 में डागर बैंक की घटना से ब्रिटेन और रूस में युद्ध छिड़ने की सम्भावना थी किन्तु फ्रांस की मध्यस्थता से दोनों देशों में समझौता हो गया।

सत्सेवा या मध्यस्थता करने वाला पक्ष एक व्यक्ति या अन्तर्राष्ट्रीय निकाय भी हो सकता है। सन् 1947 में सुरक्षा परिषद ने इण्डोनेशिया के लिए जो संयुक्त राष्ट्र संघ की सत्सेवा समिति नियुक्त की थी उनके कार्य सत्सेवा से अधिक थे। मध्यस्थता करने वाला राज्य विवादकर्ता राज्यों में उत्पन्न नाराजगी के भावों को दूर करता है तथा वह विरोधी दावों में समन्वय स्थापित करता है। कई बार राज्यों के महत्वपूर्ण विवाद तीसरे राज्य की मध्यस्थता से हल हो जाते हैं।

(4) पंच निर्णय (Arbitration)—पंच निर्णय की प्रक्रिया अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रारम्भिक काल में ही शुरू हो चुकी थी। प्राचीन यूनान में विवादों को तय करने के लिए इसे खूब अपनाया जाता था। ग्रोशियस का विचार था कि पंच निर्णय द्वारा युद्ध को रोका जा सकता है। सन् 1794 में अमरीका और ब्रिटेन के मध्य हुई 'जे सन्धि' के बाद यह प्रक्रिया विवादों के सामंजस्य का एक महत्वपूर्ण व्यावहारिक साधन मानी जाने लगी।

ओपेनहीम के अनुसार, 'पंच निर्णय का अर्थ है कि राज्यों के मतभेद का समाधान कानूनी निर्णय द्वारा किया जाये। यह निर्णय दोनों पक्षों द्वारा निर्वाचित एक या अनेक पंचों के न्यायाधिकरण द्वारा होता है जो अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से भिन्न होता है। पंच निर्णय का कार्य या तो किसी ऐसे राजाध्यक्ष को सौंपा जा सकता है जो गैर-न्यायिक अथवा कानून की जानकारी न रखने वाला व्यक्ति है या किसी न्यायाधिकरण का। दो या अधिक राज्य भी पंच निर्णय की एक सामान्य सन्धि कर सकते हैं जिसके अनुसार उनके सभी या कुछ प्रकार के विवाद पंच फैसले के लिए सौंपे जायें।

पंच निर्णय के लिए यह आवश्यक है कि निर्णय ऐसे सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिए जो पहले से प्रचलित हैं और जिन्होंने एक मान्यता का रूप धारण कर लिया है। यदि पंच अपना निर्णय किसी पूर्व सिद्धान्त के आधार पर न देकर अपनी इच्छा से विषय के गुणों के अनुसार देते हैं तो निर्णय एकपक्षीय समझा जायेगा और उस निर्णय को मान्यता नहीं दी जा सकती है। यदि किसी पंच फैसले में कोई सिद्धान्त निहित न होकर केवल कोई तथ्य ही निहित होता है और उस तथ्य के आधार पर निर्णय दिया जाता है तो ऐसी दशा में निर्णय करने वालों का कार्य सीमित

होता है और उनको प्रत्यक्ष विषयों के आधार पर निर्णय करना होता है, जैसा कि सन् 1794 में सेण्ट क्रौइक्स नदी की सीमा निर्धारित करते समय संयुक्त राज्य अमरीका और ब्रिटेन के बीच हुआ। उस समय ऐसा कोई उदाहरण नहीं था जिसके आधार पर सीमा निश्चित की जाती। इसलिए तत्कालीन उपलब्ध तथ्यों का सहारा लेकर निर्णय किया गया था और उस निर्णय को दोनों पक्षों ने मान लिया था।

सामान्य रूप से पंच निर्णय में दिया गया पंचाट दोनों पक्षों को अनिवार्य रूप से स्वीकार करना पड़ता है। कोई राज्य अपना विवाद पंचों को सौंपने के लिए बाध्य नहीं है किन्तु एक बार ऐसा कर लिया गया तो उसके निर्णय को मानने के लिए वह बाध्य होगा। यदि निर्णय देते समय पंचों ने धोखे, दवाव या गलतफहमी से कार्य किया है तो सम्बन्धित पक्षों को इसे स्वीकार करना अनिवार्य नहीं होगा। सन् 1831 में हॉलैण्ड के राजा ने ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका के उत्तर-पूर्वी सीमा विवाद के बारे में अपना निर्णय दिया था, किन्तु इसे पंच द्वारा अपने अधिकारों के अतिक्रमण के कारण स्वीकार नहीं किया गया।

सन् 1872 का अलवामा क्षति-पूर्ति मामला पंच-निर्णय का सुन्दर उदाहरण है। इसी प्रकार सन् 1968 में कच्छ के विवाद का निपटारा भारत तथा पाकिस्तान में पंच-निर्णय द्वारा हुआ था। हेग सम्मेलनों (1899 तथा 1907) में पंच निर्णयों को विवादों को हल करने का प्रभावशाली साधन माना गया था। पहले हेग अभिसमय द्वारा पंच-निर्णय के स्थायी न्यायालय (Permanent Court of Arbitration) की स्थापना की गयी थी। इस न्यायालय ने अपनी स्थापना के बाद से 1932 तक 20 विवादों का फैसला दिया था। इनमें से प्रमुख सावरकर का मामला (1911), संयुक्त राज्य अमरीका तथा ब्रिटेन के बीच का उत्तरी अटलाण्टिक महासागर मत्स्यालयों वाला मामला (1910) इत्यादि थे।

(5) **अन्तर्राष्ट्रीय जाँच आयोग** (International Commission of Enquiry)—अन्तर्राष्ट्रीय जाँच आयोग विवादों की जाँच के लिए बनाये जाते हैं। इनके द्वारा विवादों के आधार का अध्ययन किया जाता है और इनके समाधान के लिए सुझाव प्रस्तुत किये जाते हैं। औपचारिक रूप से इसका जन्म 1899 के हेग शान्ति सम्मेलन में हुआ। यह तरीका ऐसे अन्तरराष्ट्रीय विवादों को सुलझाने के लिए सुझाया गया जो तथ्यों के निर्धारण तक सीमित है और जहाँ विवादग्रस्त पक्ष सम्पूर्ण विवाद को प्रस्तुत नहीं करना चाहते हों तथा पंच निर्णय की प्रक्रिया अपनाने में कानूनी प्रश्न और राजनीतिक स्वार्थ उलझे हुए हों।

हेग अभिसमय के तृतीय भाग में कहा गया था कि जिन अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों में इज्जत या गहरे स्वार्थ का प्रश्न नहीं है तथा जो तथ्यों से सम्बन्धित मतभेद के कारण उत्पन्न हुए हैं, उनके लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय जाँच आयोग नियुक्त कर दिया जाये, जो तथ्यों की निष्पक्ष जाँच करके विवाद को सुलझा सके। इस आयोग का प्रतिवेदन केवल तथ्य ज्ञात करने तक ही सीमित रहता है। वह पंच-निर्णय का पंचाट नहीं होता और विवादग्रस्त पक्षों को पूरी स्वतन्त्रता देता है।

सन् 1907 के हेग अभिसमय द्वारा इन आयोगों की स्थिति में पर्याप्त सुधार कर दिया गया। सन् 1942 के वाशिंगटन समझौते में यह निर्णय लिया गया कि जाँच का स्थायी आयोग नियुक्त किया जाये। इसकी मुख्य व्यवस्थाएँ थीं—(i) यदि समझौता करने के प्रमुख राजनयिक उपाय विफल हो जायें तो दोनों पक्ष अपने विवाद स्थायी आयोग को सौंप देंगे और उसका प्रतिवेदन आने तक युद्ध नहीं करेंगे। (ii) स्थायी आयोग में पाँच सदस्य होंगे। प्रत्येक पक्ष द्वारा इसमें एक अपना और एक तीसरे राज्य का नागरिक नियुक्त किया जायेगा। पाँचवां सदस्य दोनों पक्षों द्वारा तीसरे राज्य में से चुना जायेगा। (iii) आयोग का प्रतिवेदन एक वर्ष में अवश्य आ जाना चाहिए।

संराधन की भाँति जाँच आयोग की प्रक्रिया भी व्यवहार में पर्याप्त रूप से प्रचलित रही। सन् 1931 में मंचूरिया की घटनाओं की जाँच के लिए राष्ट्र संघ ने लिटन कमीशन की नियुक्ति की।

(6) **न्यायिक समाधान अथवा अभिनिर्णय** (Judicial Settlement of Adjudication)—विवादों का न्यायिक समाधान अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के माध्यम से होता है, जो कानून का प्रयोग करता है तथा समुचित प्रकार से गठित किया जाता है। जो झगड़े न्यायालय द्वारा निर्णीत होते हैं, उनका निर्णय अभिनिर्णय कहलाता है।

पंच निर्णय में कोई न्यायालय नहीं था, केवल पंचों के नाम की सूची थी। विवादग्रस्त पक्ष इनमें से किन्हीं को अपने मामले में पंच मान लेते थे, तभी यह न्यायालय कहलाने लग जाता था। किन्तु राष्ट्र संघ ने स्थायी न्यायालय की स्थापना की। संयुक्त राष्ट्र संघ ने इसका रूप बदलकर इसे न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय नाम दे दिया। पुराने स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अनेक झगड़ों का फैसला किया अथवा सुझाव दिये, जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—(i) 17 अगस्त, 1923 को जर्मनी के साथ ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान के कील नहर सम्बन्धी झगड़े का फैसला। (ii) यूनान और ग्रेट ब्रिटेन के बीच का फिलिस्तीन सम्बन्धी झगड़ा, 30 अगस्त, 1924। (iii) बल्गेरिया और यूनान के बीच निउली सन्धि के अनुच्छेद 179 के खण्ड 4 का स्पष्टीकरण, 12 सितम्बर 1924। (iv) जर्मनी और पोलैण्ड के बीच चोरजब कारखाने के हरजाने का झगड़ा, 26 जुलाई, 1927। (v) बेल्जियम और बल्गेरिया के बीच का सोफिया और बल्गेरिया के बिली कम्पनी के सम्बन्ध में फैसला, 5 अप्रैल, 1939।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने भी कई विवादों में निर्णय दिये हैं जिनमें प्रमुख हैं—पुर्तगाल का मामला, ईरानी-इंगलिमु तेल विवाद, हाय डी ला टारे विवाद, कोर्फू चैनल विवाद; प्रीह वीहर विवाद, आइसलैण्ड का विवाद आदि।

पंच-निर्णय और अभिनिर्णय के बीच कुछ समानताएँ और असमानताएँ हैं। समानताएँ इस प्रकार हैं—दोनों में विवाद का निर्णय कानून के नियमों और सिद्धान्तों के आधार पर बाध्य एवं निष्पक्ष निकाय द्वारा होता है, दोनों के निर्णयों का पालन करना अनिवार्य है, दोनों स्थितियों में विवादी पक्ष अपना विवाद निर्णयों के लिए सौंपने की स्वतन्त्रता रखते हैं। दोनों के बीच असमानताएँ इस प्रकार हैं—(i) पंच-निर्णय के पंचों को व्यक्तिगत मामलों से सम्बन्धित पक्षों द्वारा चुना जाता है किन्तु अभिनिर्णय करने वाला न्यायालय एक स्थायी निकाय है। वह विवाद उत्पन्न होने से पहले ही विद्यमान रहता है। उसके न्यायाधीशों में चुनाव में सम्बन्धित पक्षों का कोई स्थान नहीं होता। (ii) पंच-निर्णय विवाद के पक्षों को स्वीकृत नियमों के अनुसार कार्य करता है। किन्तु न्यायालय के कानून के सम्बन्ध में विवादों के पक्षों द्वारा किसी प्रकार की मर्यादा नहीं डाली जाती।

संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्य स्वतः ही अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि के सदस्य बन जाते हैं। यद्यपि न्यायालय आवश्यक और सार्वभौमिक क्षेत्राधिकार नहीं रखता किन्तु इसके निर्णय उन पक्षों पर बाध्यकारी होते हैं जो इसके न्यायाधिकरण को स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं।

(7) **राष्ट्र संघ तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा विवादों का समाधान** (Settlement of Disputes through the Machinery of League of Nations and U. N. O.)—राष्ट्र संघ तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए की गयी थी ताकि विश्वयुद्धों पर रोक लगायी जा सके। राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र में शान्तिपूर्ण समाधान की विभिन्न प्रक्रियाओं का उल्लेख किया गया है ताकि सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था का

कानूनी आधार बनाया जा सके। राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र की धारा 12 में विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के तीन उपाय बताये गये—पचों को सौंपना, हेग की स्थायी पंचायती अदालत को सौंपना तथा संघ की परिषद द्वारा इसकी जाँच करना। संघ के घोषणा-पत्र की धारा 16 में शान्तिपूर्ण समाधान का प्रस्ताव स्वीकार न करने वाले के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने की व्यवस्था की गयी।

राष्ट्र संघ की भाँति संयुक्त राष्ट्र संघ का मूल उद्देश्य भी युद्ध को रोकना है। इस तथ्य की प्राप्ति के लिए महासभा तथा सुरक्षा परिषद पर कुछ दायित्व डाले गये हैं। चार्टर का अनुच्छेद 14 महासभा को यह सत्ता देता है कि उस स्थिति के शान्तिपूर्ण समायोजन के लिए सुझाव दे जो राष्ट्रों के सामान्य कल्याण अथवा मित्रतापूर्ण सम्बन्धों को आघात पहुँचाती हो। सुरक्षा परिषद को दी गयी शक्तियाँ और भी व्यापक हैं। यह महासभा की अपेक्षा अधिक जल्दी कार्यवाही कर सकती है। जब कभी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए खतरा हो, सुरक्षा परिषद पंच निर्णय, न्यायिक *समझौता, वार्ता, जाँच, मध्यस्थता आदि उपायों द्वारा विवाद को सुलझाने का सुझाव दे सकती है।* यदि कोई विवाद शान्तिपूर्ण उपायों से हल न किया जा सके तो यह आर्थिक प्रतिबन्ध तथा सैनिक कार्यवाही करने का भी अधिकार रखती है। कोरिया (1950) तथा स्वेज नहर (1956) के मामलों में इस अधिकार का प्रयोग किया जा चुका है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का भी महत्वपूर्ण योगदान है।

2. अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के निपटाने के बाध्यकारी साधन (COMPULSIVE MEANS OF SETTLING INTERNATIONAL DISPUTES)

जब राज्य मैत्रीपूर्ण साधनों (amicable means) से अपने विवादों का समाधान करने में असफल हो जाते हैं तो वे बाध्यकारी साधनों (compulsive means) का प्रयोग करने लग जाते हैं। शान्तिपूर्ण साधनों तथा युद्ध के बीच कुछ ऐसे तरीके भी हैं जिनमें एक राज्य बल प्रयोग द्वारा अथवा दबाव द्वारा अपने उद्देश्यों की पूर्ति करता है। बाध्यकारी साधनों में शस्त्रों का प्रयोग नहीं किया जाता, अन्यथा युद्ध की स्थिति बन जायेगी। फेनविक के अनुसार, "बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के अनेक ऐसे तरीके विकसित हो गये हैं जिनके द्वारा एक राज्य अन्य राज्य पर उसके विरुद्ध युद्ध छेड़े बिना ही भौतिक दबाव डाल सकता है।" ओपेनहीम के अनुसार, "मतभेदों के समाधान के बाध्यकारी साधन वे कहलाते हैं जिनमें बाध्यता का थोड़ा अंश होता है। इनका प्रयोग एक राज्य दूसरे राज्य के विरुद्ध इस उद्देश्य से करता है कि वह पहले राज्य द्वारा वांछित रूप से मतभेदों के समाधान को स्वीकार करले।"[1]

युद्ध तथा बाध्यकारी साधनों में अन्तर—युद्ध तथा बाध्यकारी साधनों में अन्तर इस प्रकार है—**प्रथम**, युद्ध में हिंसा का प्रयोग किया जाता है जिसकी कोई मर्यादा नहीं होती किन्तु बाध्यकारी साधनों द्वारा दूसरे पक्ष को जो हानि पहुँचायी जाती है उसकी कुछ सीमा और मर्यादा अवश्य होती है। **द्वितीय**, बाध्यकारी साधनों को विवाद वाले राज्य एवं अन्य राज्य युद्ध का कार्य नहीं समझते। अतः इनका प्रयोग होने पर शान्तिकाल के सामान्य सम्बन्ध बने रहते हैं। **तृतीय**, युद्ध में विजेता को विजित देश पर मनचाही शर्तें थोपने का पूरा अधिकार होता है। बाध्यकारी साधनों में ऐसा सम्भव नहीं है। **चतुर्थ**, बाध्यकारी साधनों का प्रयोग करने के बाद जब दूसरा पक्ष मतभेदों का समाधान करने के लिए तैयार हो जाता है तो इनका प्रयोग बन्द कर दिया जाता है। किन्तु

---

1 "Compulsive means of settlement of differences are measures containing a certain amount of compulsion taken by a state for purpose of making another state consent to such sattlement of a difference as is required by the former."
—Oppenheim, *International Law*, Vol. 2, p. 132,

यदि युद्ध एक बार शुरू हो जाये तो एक पक्ष के झुक जाने पर भी दूसरा पक्ष लड़ाई वन्द करने के लिए बाधित नहीं होता।

शान्तिपूर्ण तथा बाध्यकारी साधनों में अन्तर—शान्तिपर्ण तथा वाध्यकारी साधनों में अन्तर इस प्रकार है—(i) शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा विवादों के निपटारे में बल प्रयोग नहीं किया जाता है, जबकि वाध्यकारी साधन सीमित दबाव एवं वल प्रयोग पर आधारित है। (ii) शान्तिपूर्ण साधनों के प्रयोग पर राजनयिक सम्वन्ध बने रहते हैं और इनका प्रयोग दूतों के माध्यम से ही किया जाता है जवकि वाध्यकारी साधनों के प्रयोग से सम्बन्धित सरकारें परस्पर राजनयिक सम्बन्ध तोड़ लेती हैं।

प्रमुख बाध्यकारी साधन—बाध्यकारी साधनों के प्रमुख प्रकार इस प्रकार हैं—(1) प्रतिकर्म (retortion); (2) प्रत्यपहार (reprisals); (3) अधिरोध (embargo); (4) शान्तिपूर्ण नाकाबन्दी (pacific blockade); (5) हस्तक्षेप (intervention)।

(1) **प्रतिकर्म** (Retortion)—यह एक अमैत्रीपूर्ण प्रक्रिया है किन्तु इसे युद्ध नहीं कहा जा सकता। यह एक बाध्यकारी तरीका होते हुए भी दूसरे राज्य को नुकसान पहुँचाने का तरीका नहीं है। यदि एक राज्य दूसरे राज्य के प्रति अभद्र व्यवहार करता है तो प्रभावित राज्य इस अभद्र व्यवहार के प्रतिरोध के रूप में कुछ कार्यवाही करता है। उदाहरण के लिए, राजनयिक सम्बन्ध तोड़ना, राजनयिक विशेषाधिकारों एवं अन्य रियायतों को समाप्त कर देना इत्यादि। दूसरे राज्य के अन्यायपूर्ण व्यवहार के वदले एक राज्य सम्वन्धित राज्य की सामान्य स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगा देता है। सन् 1904 में जव रूसी जल में से मछली पकड़ने वाले जापानी जहाजों को निकाल दिया गया तो जापान ने इसके प्रतिरोध में रूसी माल पर आयात कर लगाने की धमकी दी। भारत ने दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध इस तरीके को अपनाया। जब दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने भारतीयों के साथ रंगभेद की नीति जारी रखी तो भारत सरकार ने अपने देश में वसे हुए दक्षिण अफ्रीकी नागरिकों के विरुद्ध अनेक प्रतिवन्ध लगा दिये और भारतीय हाई कमिश्नर को बुला लिया। सन् 1951 में जव चैकोस्लोवाकिया ने अकारण ही कुछ अमरीकन नागरिकों को बन्दी बनाया तो अमरीकन सरकार ने इस देश के साथ किये हुए व्यापारिक समझौतों को रद्द करने का निर्णय किया।

(2) **प्रत्यपहार** (Reprisals)—प्रत्यपहार के अन्तर्गत वे सभी बाध्यकारी प्रयास आ जाते हैं जो एक राज्य द्वारा राहत पाने के लिए किये जाते हैं। इसके अन्तर्गत बदले की भावना से की गयी प्रभावित राज्य की उन चेष्टाओं को लिया जाता है जिन्हें वह अपने कष्ट निवारण के लिए आवश्यक मानता है। ब्रियर्ली के अनुसार प्रत्यपहार का अर्थ है, "बदले की भावना से सम्पत्ति जब्त करना या व्यक्तियों को पकड़ना।" प्रारम्भ में इसका अर्थ अन्य राज्य की सम्पत्ति या व्यक्तियों को जब्त कर लेना था किन्तु आजकल इसका अर्थ एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के विरुद्ध ऐसे विवादों को सुलझाने के लिए अपनाये गये वाध्यकारी प्रयासों से है जो अन्य राज्य के अन्यायपूर्ण आचरण पर आधारित हैं।

प्रत्यपहार का तरीका प्राचीनकाल से चला आ रहा है। एथेन्स में यह प्रथा थी कि यदि कोई विदेशी किसी स्वदेशी को हानि पहुँचा दे तो उसकी या उसके साथी की सम्पत्ति को जब्त किया जा सकता है। मध्यकाल में राज्य अपने उस नागरिक को प्रत्यपहार पत्र (Letter of Marque) देते थे जिसे दूसरे राज्य में न्याय से वंचित किया गया है। इस पत्र द्वारा उसे यह अधिकार दिया जाता था कि वह दूसरे राज्य के प्रजाजन द्वारा पहुँचायी गयी हानि का बल प्रयोग करके स्वयं बदला ले।

स्टार्क के अनुसार—"प्रत्यपहार वे उपाय हैं जिनको एक राज्य दूसरे राज्य के विरुद्ध प्रतिकारात्मक कार्यवाही के रूप में अपनाता है।" इस कार्यवाही के कई रूप हो सकते हैं जैसे—

कानूनी आधार बनाया जा सके। राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र की धारा 12 में विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के तीन उपाय बताये गये—पंचों को सौंपना, हेग की स्थायी पंचायती अदालत को सौंपना तथा संघ की परिषद द्वारा इसकी जाँच करना। संघ के घोषणा-पत्र की धारा 16 में शान्तिपूर्ण समाधान का प्रस्ताव स्वीकार न करने वाले के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने की व्यवस्था की गयी।

राष्ट्र संघ की भाँति संयुक्त राष्ट्र संघ का मूल उद्देश्य भी युद्ध को रोकना है। इस तथ्य की प्राप्ति के लिए महासभा तथा सुरक्षा परिषद पर कुछ दायित्व डाले गये हैं। चार्टर का अनुच्छेद 14 महासभा को यह सत्ता देता है कि उस स्थिति के शान्तिपूर्ण समायोजन के लिए सुझाव दे जो राष्ट्रों के सामान्य कल्याण अथवा मित्रतापूर्ण सम्बन्धों को आघात पहुँचाती हो। सुरक्षा परिषद को दी गयी शक्तियाँ और भी व्यापक हैं। यह महासभा की अपेक्षा अधिक जल्दी कार्यवाही कर सकती है। जब कभी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए खतरा हो, सुरक्षा परिषद पंच निर्णय, न्यायिक समझौता, वार्ता, जाँच, मध्यस्थता आदि उपायों द्वारा विवाद को सुलझाने का सुझाव दे सकती है। यदि कोई विवाद शान्तिपूर्ण उपायों से हल न किया जा सके तो यह आर्थिक प्रतिबन्ध तथा सैनिक कार्यवाही करने का भी अधिकार रखती है। कोरिया (1950) तथा स्वेज नहर (1956) के मामलों में इस अधिकार का प्रयोग किया जा चुका है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का भी महत्वपूर्ण योगदान है।

2. अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के निपटाने के बाध्यकारी साधन
(COMPULSIVE MEANS OF SETTLING INTERNATIONAL DISPUTES)

जब राज्य मैत्रीपूर्ण साधनों (amicable means) से अपने विवादों का समाधान करने में असफल हो जाते हैं तो वे बाध्यकारी साधनों (compulsive means) का प्रयोग करने लग जाते हैं। शान्तिपूर्ण साधनों तथा युद्ध के बीच कुछ ऐसे तरीके भी हैं जिनमें एक राज्य बल प्रयोग द्वारा अथवा दबाव द्वारा अपने उद्देश्यों की पूर्ति करता है। बाध्यकारी साधनों में शस्त्रों का प्रयोग नहीं किया जाता, अन्यथा युद्ध की स्थिति बन जायेगी। फेनविक के अनुसार, "बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के अनेक ऐसे तरीके विकसित हो गये हैं जिनके द्वारा एक राज्य अन्य राज्य पर उसके विरुद्ध युद्ध छेड़े बिना ही भौतिक दबाव डाल सकता है।" ओपेनहीम के अनुसार, "मतभेदों के समाधान के बाध्यकारी साधन वे कहलाते हैं जिनमें बाध्यता का थोड़ा अंश होता है। इनका प्रयोग एक राज्य दूसरे राज्य के विरुद्ध इस उद्देश्य से करता है कि वह पहले राज्य द्वारा वांछित रूप से मतभेदों के समाधान को स्वीकार करले।"[1]

युद्ध तथा बाध्यकारी साधनों में अन्तर—युद्ध तथा बाध्यकारी साधनों में अन्तर इस प्रकार है—**प्रथम**, युद्ध में हिंसा का प्रयोग किया जाता है जिसकी कोई मर्यादा नहीं होती किन्तु बाध्यकारी साधनों द्वारा दूसरे पक्ष को जो हानि पहुँचायी जाती है उसकी कुछ सीमा और मर्यादा अवश्य होती है। **द्वितीय**, बाध्यकारी साधनों को विवाद वाले राज्य एवं अन्य राज्य युद्ध का कार्य नहीं समझते। अतः इनका प्रयोग होने पर शान्तिकाल के सामान्य सम्बन्ध बने रहते हैं। **तृतीय**, युद्ध में विजेता को विजित देश पर मनचाही शर्तें थोपने का पूरा अधिकार होता है। बाध्यकारी साधनों में ऐसा सम्भव नहीं है। **चतुर्थ**, बाध्यकारी साधनों का प्रयोग करने के बाद जब दूसरा पक्ष मतभेदों का समाधान करने के लिए तैयार हो जाता है तो इनका प्रयोग बन्द कर दिया जाता है। किन्तु

1 "Compulsive means of settlement of differences are measures containing a certain amount of compulsion taken by a state for purpose of making another state consent to such sattlement of a difference as is required by the former."
—Oppenheim, *International Law*, Vol. 2, p. 132,

यदि युद्ध एक बार शुरू हो जाये तो एक पक्ष के झुक जाने पर भी दूसरा पक्ष लड़ाई बन्द करने के लिए बाधित नहीं होता।

शान्तिपूर्ण तथा बाध्यकारी साधनों में अन्तर—शान्तिपर्ण तथा बाध्यकारी साधनों में अन्तर इस प्रकार है—(i) शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा विवादों के निपटारे में बल प्रयोग नहीं किया जाता है, जबकि बाध्यकारी साधन सीमित दबाव एवं बल प्रयोग पर आधारित है। (ii) शान्तिपूर्ण साधनों के प्रयोग पर राजनयिक सम्बन्ध बने रहते हैं और इनका प्रयोग दूतों के माध्यम से ही किया जाता है जबकि बाध्यकारी साधनों के प्रयोग से सम्बन्धित सरकारें परस्पर राजनयिक सम्बन्ध तोड़ लेती हैं।

प्रमुख बाध्यकारी साधन—बाध्यकारी साधनों के प्रमुख प्रकार इस प्रकार हैं—(1) प्रतिकर्म (retortion); (2) प्रत्यपहार (reprisals); (3) अधिरोध (embargo); (4) शान्तिपूर्ण नाकाबन्दी (pacific blockade); (5) हस्तक्षेप (intervention)।

(1) **प्रतिकर्म** (Retortion)—यह एक अमैत्रीपूर्ण प्रक्रिया है किन्तु इसे युद्ध नहीं कहा जा सकता। यह एक बाध्यकारी तरीका होते हुए भी दूसरे राज्य को नुकसान पहुँचाने का तरीका नहीं है। यदि एक राज्य दूसरे राज्य के प्रति अभद्र व्यवहार करता है तो प्रभावित राज्य इस अभद्र व्यवहार के प्रतिरोध के रूप में कुछ कार्यवाही करता है। उदाहरण के लिए, राजनयिक सम्बन्ध तोड़ना, राजनयिक विशेषाधिकारों एवं अन्य रियायतों को समाप्त कर देना इत्यादि। दूसरे राज्य के अन्यायपूर्ण व्यवहार के बदले एक राज्य सम्बन्धित राज्य की सामान्य स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगा देता है। सन् 1904 में जब रूसी जल में से मछली पकड़ने वाले जापानी जहाजों को निकाल दिया गया तो जापान ने इसके प्रतिरोध में रूसी माल पर आयात कर लगाने की धमकी दी। भारत ने दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध इस तरीके को अपनाया। जब दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने भारतीयों के साथ रंगभेद की नीति जारी रखी तो भारत सरकार ने अपने देश में बसे हुए दक्षिण अफ्रीकी नागरिकों के विरुद्ध अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये और भारतीय हाई कमिश्नर को बुला लिया। सन् 1951 में जब चैकोस्लोवाकिया ने अकारण ही कुछ अमरीकन नागरिकों को बन्दी बनाया तो अमरीकन सरकार ने इस देश के साथ किये हुए व्यापारिक समझौतों को रद्द करने का निर्णय किया।

(2) **प्रत्यपहार** (Reprisals)—प्रत्यपहार के अन्तर्गत वे सभी बाध्यकारी प्रयास आ जाते हैं जो एक राज्य द्वारा राहत पाने के लिए किये जाते हैं। इसके अन्तर्गत बदले की भावना से की गयी प्रभावित राज्य की उन चेष्टाओं को लिया जाता है जिन्हें वह अपने कष्ट निवारण के लिए आवश्यक मानता है। ब्रियर्ली के अनुसार प्रत्यपहार का अर्थ है, "बदले की भावना से सम्पत्ति जब्त करना या व्यक्तियों को पकड़ना।" प्रारम्भ में इसका अर्थ अन्य राज्य की सम्पत्ति या व्यक्तियों को जब्त कर लेना था किन्तु आजकल इसका अर्थ एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के विरुद्ध ऐसे विवादों को सुलझाने के लिए अपनाये गये बाध्यकारी प्रयासों से है जो अन्य राज्य के अन्यायपूर्ण आचरण पर आधारित हैं।

प्रत्यपहार का तरीका प्राचीनकाल से चला आ रहा है। एथेन्स में यह प्रथा थी कि यदि कोई विदेशी किसी स्वदेशी को हानि पहुँचा दे तो उसकी या उसके साथी की सम्पत्ति को जब्त किया जा सकता है। मध्यकाल में राज्य अपने उस नागरिक को प्रत्यपहार पत्र (Letter of Marque) देते थे जिसे दूसरे राज्य में न्याय से वंचित किया गया है। इस पत्र द्वारा उसे यह अधिकार दिया जाता था कि वह दूसरे राज्य के प्रजाजन द्वारा पहुँचायी गयी हानि का बल प्रयोग करके स्वयं बदला ले।

स्टार्क के अनुसार—"प्रत्यपहार वे उपाय हैं जिनको एक राज्य दूसरे राज्य के विरुद्ध प्रतिकारात्मक कार्यवाही के रूप में अपनाता है।" इस कार्यवाही के कई रूप हो सकते हैं जैसे—

मूल्यांकन
(AN EVALUATION)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में युद्ध को रोकने के उपायों में सामूहिक सुरक्षा और शान्तिपूर्ण निपटारे की विधियाँ प्रमुख हैं। शान्तिपूर्ण निपटारे के विविध उपाय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार हैं। कतिपय सीमाओं और त्रुटियों के बावजूद शान्तिपूर्ण ढंग से अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के हल खोजने का लम्बा इतिहास रहा है। यह अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों को दूर करने का एक ढाँचा प्रस्तुत करता है ताकि शान्ति के गम्भीर खतरों से बचा जा सके। न्यायपूर्ण और व्यवस्थित अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के लिए इन उपायों का परिमार्जन आवश्यक है।

प्रश्न

1. 'अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान' से आपका क्या तात्पर्य है? शान्तिपूर्ण धान के विभिन्न तरीकों (अथवा विकल्पों) की व्याख्या करिए।
   What do you understand by 'pacific settlement of international disputes' Discuss various methods (or alternatives) of pacific settlement.
2. अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का विशेषकर प्रादेशिक व्यवस्था और संयुक्त राष्ट्र संघ के सन्दर्भ शान्तिपूर्ण निपटारे की पद्धतियों का विस्तृत वर्णन करिए।
   Explain in detail the methods of the pacific settlements of international disputes with special reference to regional arrangement and the United Nations.

25

अन्तर्राष्ट्रीय कानून

[INTERNATIONAL LAW]

इतिहास के आदिम युग से लेकर आज तक समय-समय पर भीषण युद्धों के बीच भी शान्ति तथा सद्भावना की दिशा में मानव प्रयत्नशील रहा है। किसी न किसी प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की अभिलाषा स्वभावतः मानव के अन्तराल में सदा से बनी रही है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के निर्माण में 'अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों' की महती भूमिका रही है। स्वतन्त्र राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का संचालन करने में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का बड़ा महत्व है। जिस प्रकार समाज में व्यक्ति बिना नियमों, कानूनों एवं रीति-रिवाजों के नहीं रह सकता, उसी प्रकार कोई भी राज्य बिना अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के अन्य राज्यों से अपने विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध नहीं बना सकता।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का महत्व तथा आवश्यकता
(INTERNATIONAL LAW : SIGNIFICANCE AND NEED)

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की आवश्यकता इस प्रकार दर्शायी जा सकती है :

(1) **अराजकता से बचाव**—मनुस्मृति में कहा गया है कि मानव को पारस्परिक संगठन बनाने के लिए अथवा राष्ट्र के रूप में संगठित होने के लिए आपस में पारस्परिक व्यवहार के लिए कुछ नियमों का निर्माण करना पड़ता है और उन नियमों को पालन करना पड़ता है, वरन् अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अव्यवस्था, अशान्ति, अराजकता तथा अनिश्चितता-पूर्ण परिस्थितियों के निराकरण के अनेक प्रयासों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अनुशीलन विशेष रूप से महत्व रखता है।

(2) **शक्ति संघर्ष को परिसीमित करना**—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति संघर्ष की राजनीति है। शक्ति संघर्ष को इस राजनीति में छोटे एवं बड़े राज्य अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए कार्यरत रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रतिबन्ध द्वारा सीमित दायरे में रखा जाता है। चाहे छोटा राज्य हो अथवा बड़ा, किसी भी कार्यकलाप को करने से पहले यह विचार कर लेता है कि क्या उसकी नीतियों से अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उपेक्षा तो नहीं हो रही है ? दूसरे शब्दों में, राज्यों के व्यवहारों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' या 'मत्स्य न्याय' की धारणा को गलत साबित कर दिया गया है।

(3) **विश्वशान्ति का आधार तैयार करना**—विश्वशान्ति आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के द्वारा राष्ट्रों के व्यवहारों हेतु सामान्य नियमों का

'सार्वभौमिक' निर्धारण किया जाता है। यदि विश्व के समस्त राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का समान भाव से आदर करने लग जायें तो राज्यों के बीच होने वाले मतभेदों एवं संघर्षों को टाला जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक ऐसे विश्व का निर्माण करने का साधन हो सकता है जिनमें संघर्षों के बजाय सहयोग का प्राबल्य हो।

(4) **विश्व सरकार की प्राथमिक आवश्यकता को पूरा करना**—प्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसेल के अनुसार विश्व सरकार (world government) के द्वारा ही विश्वशान्ति की स्थापना की जा सकती है। जब तक राष्ट्रों में उग्र राष्ट्रीयता एवं सम्प्रभुता की भावना विद्यमान रहेगी; विश्व सरकार एक सपना ही बना रहेगा। किन्तु यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की पर्याप्त रचना की जाये, विभिन्न राज्यों में इसके प्रयोग के लाभों का समुचित प्रसार किया जाये तो राज्य सहज में इसका प्रयोग करने लग जायेंगे। उग्र सम्प्रभुता जिसका अन्ततोगत्वा परिणाम युद्ध होता है, का निश्चित रूप से परित्याग होगा और निकट भविष्य में विश्व सरकार की धारणा की पूर्ति की जा सकेगी।

(5) **आणविक तथा संहारक शस्त्रों से सुरक्षा**—विज्ञान तथा तकनीकी विकास के परिणामस्वरूप विभिन्न राष्ट्रों के पास संहारक शस्त्रों की मात्रा में भयानक वृद्धि हो चुकी है। विश्व की महान शक्तियों के मध्य संहारक शस्त्रों के निर्माण की भयानक प्रतिस्पर्द्धा चल रही है। आज अमरीका, सोवियत संघ, फ्रांस तथा चीन के पास आणविक एवं हाइड्रोजन शस्त्रों का विशाल भण्डार है। विभिन्न राष्ट्रों में आपसी मनमुटाव के कारण शस्त्रीकरण प्रतिस्पर्द्धा को रोका नहीं जा सकता। निःशस्त्रीकरण के लिए किये गये विभिन्न प्रयास असफल सिद्ध हुए हैं। ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय कानून ही मानवता को सुरक्षा प्रदान कर सकते हैं। इस समय इन कानूनों के द्वारा ही युद्धों में विषैले एवं भयानक शस्त्रों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाये गये हैं।

(6) **युद्धों का न्यायपूर्वक संचालन**—जिस प्रकार राष्ट्रीय कानून की उपस्थिति में भी छोटे-मोटे मतभेदों को लेकर व्यक्तियों में संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के उपरान्त भी विभिन्न राज्यों के मध्य राष्ट्रीय हितों के महत्वपूर्ण (vital) प्रश्नों को लेकर उग्रतर मतभेद पैदा हो जाते हैं और युद्ध प्रारम्भ हो जाते हैं। अभी वह स्थिति नहीं आयी है कि युद्धों का समूल परित्याग हो जाये। विभिन्न राज्यों के मध्य चलने वाले युद्धों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा व्यावहारिकता प्रदान की जाती है। युद्ध करना अपराध नहीं है, किन्तु युद्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उपेक्षा करना घोर निन्दनीय अपराध माना जाता है। यदि युद्ध का संचालन करने के लिए पर्याप्त कानून न हों तो युद्धग्रस्त राष्ट्रों की जनता को अपार क्षति उठानी पड़ सकती है।

(7) **राष्ट्रों के मध्य आर्थिक एवं व्यावसायिक क्रियाकलापों का संचालन**—वैज्ञानिक आविष्कारों, यातायात एवं संचार के साधनों की अभूतपूर्व उन्नति के कारण सब देशों के सम्बन्ध एक-दूसरे के साथ बढ़ रहे हैं, एक-दूसरे पर निर्भरता में निरन्तर वृद्धि हो रही है। आर्थिक, व्यापारिक, प्राविधिक, शैक्षणिक, राजनीतिक आवश्यकताओं के कारण विभिन्न देशों के पारस्परिक सम्बन्ध इतने प्रगाढ़ हो रहे हैं कि इस समय कोई भी सभ्य राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों से सर्वथा पृथक रहकर न तो किसी प्रकार की उन्नति कर सकता है और न अपना चहुँमुखी विकास ही। आज छोटे और बड़े सभी राज्य आपसी लेन-देन और आदान-प्रदान द्वारा ही अपनी जरूरतों को पूरा कर पाते हैं। राज्यों के बीच व्यापार दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। इन सारी स्थितियों का सुविधापूर्वक संचालन अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अभाव में आसानी से किया जाना असम्भव ही प्रतीत होता है।

(8) **कूटनीतिक गतिविधियों का संचालन**—विभिन्न राज्यों के अ लग कूटनीतिक प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है। एक राज्य के राजनयिक में निवास करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अभाव में राजनयिक प्रतिनि दुष्कर हो जायेगा। इनकी समस्त गतिविधियों का निर्धारण वियना अ अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भाग है) द्वारा किया जाता है।

निष्कर्षतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून का महत्व द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद लगातार बढ़ता जा रहा है। आज युद्ध से त्रस्त मानवता की रक्षा का यह अप्रतिम साधन बन चुका है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून : अर्थ एवं परिभाषा
(INTERNATIONAL LAW: MEANING AND DEFINITIONS)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून उन नियमों का समूह है जिनके अनुसार सभ्य राज्य शान्तिकाल तथा युद्धकाल में एक-दूसरे के साथ व्यवहार करते हैं। 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 1780 में जेरेमी बेन्थम द्वारा किया गया। यह शब्द 'राष्ट्रों का कानून' (law of nations) का पर्यायवाची है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अर्थ को समझने के लिए इसकी विविध परिभाषाओं पर विचार करना आवश्यक है :

ओपेनहीम के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय कानून उन प्रयोगों में आने वाले तथा सन्धियों में प्रयोग किये जाने वाले नियमों का नाम है जिनको सभ्य राज्य पारस्परिक व्यवहारों में प्रयोग करने के लिए बाध्य होते हैं।"[1]

ह्यूज के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून ऐसे सिद्धान्तों का समूह है जिनको सभ्य राष्ट्र पारस्परिक व्यवहार में प्रयोग करना बाध्यकारी समझते हैं। यह कानून सर्वोच्चता सम्पन्न राज्यों की स्वीकृति पर निर्भर है।"

हैन्स कैल्सन के अनुसार, "राष्ट्रों की विधि अथवा अन्तर्राष्ट्रीय विधि की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि वह नियमों और सिद्धान्तों का एक संकलन है जिसके अनुसार कार्य करना पारस्परिक व्यवहार में सभ्य राज्यों के लिए आवश्यक है।"

सर हेनरी मेन के अनुसार, "राष्ट्रों की विधि भिन्न-भिन्न तत्वों की एक जटिल योजना है। उसमें अधिकारों तथा न्याय के साधारण सिद्धान्त निहित है। इनका प्रयोग समान रूप से राज्यों के व्यक्ति तथा राज्य पारस्परिक व्यवहारों में कर सकते हैं। यह एक निश्चित कानूनों की संहिता है, रीति-रिवाजों और विचारों का संकलन है जिनका प्रयोग पारस्परिक व्यवहार में राज्यों के बीच किया जा सकता है।"[2]

डॉ० सम्पूर्णानन्द के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय विज्ञान उन नियमों और प्रथाओं के समूह को कहते हैं जिनके अनुसार सभ्य राज्य एक-दूसरे के साथ प्रायः बर्ताव करते हैं।"[3]

हाल के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून आचरण के ऐसे नियम हैं जिन्हें वर्तमान सभ्य राज्य एक-दूसरे के साथ व्यवहार में ऐसी शक्ति के साथ बाधित रूप से पालन करने योग्य समझते हैं जिनके साथ सद्विवेकी कर्तव्यपरायण व्यक्ति अपने देश के कानूनों का पालन करते हैं। वे यह भी समझते हैं कि यदि इनका उल्लंघन किया गया तो उपयुक्त साधनों द्वारा उन्हें लागू किया जा सकता है।"[4]

---

1 Oppenheim, *International Law*, Vol. I 8th edition, p. 4.
2 Sir Henry Main, *International Law*, p. 33.
3 डॉ० सम्पूर्णानन्द, **अन्तर्राष्ट्रीय विधान**, पृ० 1।
4 Hall, *International Law*, p. 1.

स्टार्क के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह लक्षण किया जा सकता है कि यह ऐसा कानून समूह है जिसके अधिकांश भाग का निर्माण उन सिद्धान्तों तथा आचरण के नियमों से हुआ है जिनके सम्बन्ध में राज्य यह अनुभव करते हैं कि वे इनका पालन करने के लिए बाध्य हैं। इसमें निम्न प्रकार के नियम भी सम्मिलित हैं—(अ) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं तथा संगठनों की कार्यप्रणाली से सम्बन्ध रखने वाले तथा इन संस्थाओं के राज्यों तथा व्यक्तियों से सम्बन्ध रखने वाले कानून के नियम। (ब) व्यक्तियों से तथा राज्येतर सत्ताओं से सम्बन्ध रखने वाले कानून के नियम।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की विभिन्न परिभाषाओं को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि विचारकों ने भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया है किन्तु उनके बीच अर्थ की दृष्टि से विशेष अन्तर नहीं है। इन परिभाषाओं से निम्न बातें सामने आती हैं:

(i) अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों के पारस्परिक व्यवहार का नियमन करते हैं।

(ii) ये कानून सिद्धान्तों अथवा नियमों का समूह हैं।

(iii) ये राज्यों अथवा सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं।

(iv) इनका स्रोत परम्पराएँ, प्रथाएँ, न्यायालय के निर्णय एवं सभ्यता के आधारभूत गुण आदि हैं।

(v) इनका पालन सद्भावना एवं कर्तव्यपालन के दायित्व के कारण किया जाता है। ये सभ्य राज्यों द्वारा स्वयं पर लगाये गये प्रतिबन्ध हैं।

(vi) इनका उद्देश्य राज्यों के अधिकारों की परिभाषा करना, राज्यों के मध्य विवादों को निपटाना एवं सहयोगपूर्ण व्यवहार विकसित करना आदि है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून—विधिशास्त्र का लोप बिन्दु है
(INTERNATIONAL LAW AS THE VANISHING POINT OF JURISPRUDENCE)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कोई तो इसे विधिशास्त्र अथवा न्यायशास्त्र (Jurisprudence) का अंग मानते हैं और कुछ विद्वान् इसे नीतिशास्त्र (ethics) से उच्च स्थान नहीं देते। राज्यों की सम्प्रभुता के सम्बन्ध में एकलवादी दृष्टिकोण प्रकट करने वाले पुराने विधिशास्त्रियों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अस्तित्व ही नहीं है। दूसरी तरफ हाल तथा लारेन्स ने यह मत व्यक्त किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता से पूर्णतया भिन्न है और विधि की भाँति क्रियाशील है। यहाँ इन विचारों का विश्लेषण किया जाना आवश्यक है :

अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून न स्वीकार करने वाले विचारकों में जॉन आस्टिन, कालरिज, हॉब्स, प्यूफेनडार्फ, हॉलैण्ड, जेथरो ब्राउन, लार्ड सेल्सवरी आदि प्रमुख हैं।

ऑस्टिन के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक सच्चा कानून है ही नहीं। यह तो नैतिक नियमों की एक संहिता मात्र है।"[2] वे कहते हैं कि कानून के पीछे बाध्यकारी शक्ति होना परम आवश्यक है। यदि इस दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर विचार किया जाये तो वह कानून नहीं कहा जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे केवल नैतिक शक्ति (moral force) होती है। इसका पालन राज्यों की सामान्य स्वीकृति के आधार पर किया जाता है।

हॉलैण्ड के अनुसार, 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून विधिशास्त्र का लोप बिन्दु अथवा पतनोन्मुख केन्द्र (vanishing point of jurisprudence) है। इससे अर्थ यह लिया जा सकता है कि

1 Starks, *An Introduction to International Law*, Fourth edition, p. 1.
2 'International Law is not a true law, but a code of rules of conduct of moral force only.' —*Austin*

अन्तर्राष्ट्रीय कानून को विधिशास्त्र का अंग नहीं माना जा सकता क्योंकि इससे पहले ही विधिशास्त्र की सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं। दो कारणों से हॉलैण्ड अन्तर्राष्ट्रीय कानून को विधिशास्त्र का तिरोधान बिन्दु मानता है : (i) पहला कारण यह है कि इसमें तीन पक्षों के ऊपर, राज्यों के पारस्परिक विवाद का निर्णय करने वाली कोई शक्ति नहीं है। (ii) दूसरा कारण यह है कि ज्यों-ज्यों राज्यों के एक बड़े अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में संगठित होने से अन्तर्राष्ट्रीय नियम कानूनों जैसा रूप धारण करने लगते हैं त्यों-त्यों इसका यह स्वरूप लुप्त होता जाता है और यह संघीय सरकार के सार्वजनिक कानून (जो एक कमजोर कानून होता है) के रूप में बदलता जाता है।

जेथरो ब्राउन के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय विधि, विधि की अवस्था तक पहुँचने का प्रयत्न कर रहा है। अभी तो वह मार्ग में ही है और विधि की हैसियत से जीवित रहने के लिए संघर्षरत है।"[1] **गार्नर** के अनुसार, "समुचित बाध्यता का अभाव सदा से और आज भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की मुख्यतः दुर्बलता है और भविष्य के समक्ष मुख्य आवश्यक कार्यों में से एक है—ऐसी बाध्यता प्रदान करना।"[2] **लार्ड सैलिसबरी** के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय कानून किसी न्यायाधिकरण द्वारा प्रवर्तित नहीं होता, इसलिए उसे असाधारण अर्थों में कानून कहना भ्रमात्मक है।

उपर्युक्त लेखकों एवं कानूनवेत्ताओं के विचारों का विश्लेषण किया जाये तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून न मानने के निम्नलिखित कारण बताये जा सकते हैं :

(1) **बाध्यकारी शक्ति का अभाव**—साधारणतया कानून का पालन करवाने के लिए बाध्यकारी शक्ति का होना आवश्यक है। राज्यों में संसद तथा व्यवस्थापिकाओं द्वारा निर्मित कानून का पालन शक्ति द्वारा कराया जाता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून सदस्य राज्यों की सद्इच्छा पर निर्भर रह जाता है। कानून बनाने वाली सत्ता हमेशा उच्चतम होती है और भौतिक शक्ति के सहारे वह दूसरे लोगों को भी कानून का पालन करने के लिए बाध्य कर सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में इन सबका अभाव है।

(2) **कानून सम्प्रभु के आदेश होते हैं**—कानूनों का निर्माण निश्चित व्यक्ति अथवा निश्चित सम्प्रभु निकाय द्वारा किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण करने वाले सम्प्रभु संस्थाओं एवं व्यक्तियों का अभाव है। ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक कल्पनामात्र है।

(3) **व्याख्या करने वाली संस्था का अभाव**—कानूनों की व्याख्या करने वाली संस्थाओं के द्वारा विवादों का निर्णय एवं कानूनों का महत्व स्पष्ट किया जाता है। राज्यों में यह कार्य न्यायालय करते हैं। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्याख्या के लिए कोई उपयुक्त व्यवस्था नहीं है और इस प्रकार इनके उल्लंघन का निर्णय सही प्रकार नहीं हो पाता। उदाहरण के लिए, वियतनाम संघर्ष तथा भारत-पाक युद्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कई बार उल्लंघन हुआ, किन्तु इसका निर्णय नहीं हो सका कि कानून की अवहेलना किस पक्ष ने की है। इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की शक्तियाँ भी पर्याप्त रूप से सीमित हैं।

(4) **अन्तर्राष्ट्रीय कार्यपालिका का अभाव**—कानूनों को कार्यान्वित करने का कार्य कार्यपालिका का है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू करने के लिए कोई कार्यपालिका निकाय नहीं है। ऐसी स्थिति में वे केवल आदर्श इच्छामात्र ही बनकर रह जाते हैं।

(5) **संहिता का अभाव**—कानूनों के अस्तित्व की बोधता संहिताओं के द्वारा होती है।

---

1 'International Law is the law in the making, law struggling for existence. It is struggling to make itself good in contradiction for international morality.' —*Jethro Brown*

2 'The want of effective sanctions has always been and remains the chief weakness of International Law and one of the necessary tasks of the future is to provide such sanction.' —*Garner*

अन्तर्राष्ट्रीय कानून अधिकांशतः प्रथाओं पर आधारित हैं और अस्पष्ट तथा अनिश्चित हैं। ऐसे अनिश्चित कानून को 'कानून' कहना अतिरंजनपूर्ण तथा बेहूदा है।

इन्हीं तर्कों के कारण कतिपय विधिशास्त्री अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून की कोटि में नहीं रखते। वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून को केवल नम्रतावश (law by courtsey) ही कानून की संज्ञा प्रदान करते हैं। इनके अनुसार इसको कानून के स्थान पर शुद्ध नैतिकता (Positive Morality) कहा जाना उचित होगा।

किन्तु हॉब्स तथा ऑस्टिन के विचार अब अतीत की वस्तु बन चुके हैं। आधुनिक विधिशास्त्रियों ने उपर्युक्त तर्कों का जोरदार शब्दों में खण्डन किया है तथा प्रबल दलील के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व की स्थापना की है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पक्ष में दिये गये तर्क
(ARGUMENTS IN FAVOUR OF INTERNATIONAL LAW)

सर हेनरीमैन, लार्ड रसेल, ब्रियर्ली, स्टार्क, ओपेनहीम आदि विधिशास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को एक वास्तविकता माना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय कानून से कम शास्ति सूचक तथा अस्पष्ट है तथापि यह कानून है। विधि के पीछे केवल दबाव ही आवश्यक नहीं है। साधारण राष्ट्रीय विधि के समान अन्तर्राष्ट्रीय विधि की भी कभी-कभी उपेक्षा की जाती है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि विधि का अस्तित्व ही नहीं है।

सर हेनरीमैन के अनुसार, किसी नियम को कानून बनाने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसके पीछे कोई बाध्यकारी शक्ति हो।[1] **सर हेनरी बर्कले** के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अस्तित्व तब हो सकता है जब सभी राष्ट्र आपस में सहमत होकर कानून की बाध्यता को स्वीकार कर लेते है, यह सामान्य स्वीकृति ठीक वैसी ही है जैसी राष्ट्रीय कानून के प्रसंग में विभिन्न नागरिकों की होती है। यदि कोई राष्ट्र इस कानून को भंग करे तो सम्बन्धित राष्ट्र को कानून का उल्लंघनकर्ता माना जायेगा, किन्तु कानून यथावत् बना रहेगा। विधि की अवहेलना करने से ही विधि का अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता।

पोलक के मतानुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार यदि केवल नैतिकता रही होती तो विभिन्न राज्यों द्वारा विदेश नीति की रचना नैतिक तर्कों के आधार पर ही की जाती किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। विभिन्न राष्ट्र जब किसी बात का औचित्य सिद्ध करना चाहते हैं तो इसके लिए वे नैतिक भावनाओं का सहारा नहीं लेते वरन् पहले के उदाहरणों, सन्धियों एवं विशेषज्ञों की सम्मतियों का सहारा लेते हैं। कानून के अस्तित्व के लिए आवश्यक शर्त केवल यही है कि एक राजनीतिक समुदाय होना चाहिए और उसके सदस्यों को यह समझना चाहिए कि उन्हें आवश्यक रूप से कुछ नियमों का पालन करना है।"

स्टार्क ने भी ऑस्टिन ने मत की निम्न तर्कों के आधार पर आलोचना करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रबल समर्थन किया है—(i) वर्तमान ऐतिहासिक न्यायशास्त्र में कानून के सिद्धान्त में बल के प्रयोग को निकाल दिया गया है। यह बात सिद्ध हो गयी है कि बहुत से राज्यों में इस प्रकार से कानून माने जाते हैं जिनका निर्माण उन राज्यों की व्यवस्थापिकाओं द्वारा नहीं हुआ है। (ii) ऑस्टिन का सिद्धान्त उनके समय में कदाचित ठीक हो परन्तु वर्तमान समय में वह ठीक नहीं है। पिछली अर्द्धशताब्दी में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विधियाँ अस्तित्व में आ गयी हैं। ये विधियाँ अनेक समझौतों और सन्धियों के फलस्वरूप अस्तित्व में आयी हैं। (iii) अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों को सदैव वैधानिक विधियों के समान मान्यता दी जाती है। भिन्न-भिन्न राष्ट्रीय सरकारों और

---

1 Henry Main, *International Law*, p. 50.

वैदेशिक कार्यालयों के अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों में सदा इन बातों को विधि के समान ही मान्यता दी गयी है।"

ओपेनहीम ने कानून को परिभाषित करते हुए कहा है कि "कानून किसी समाज के अन्तर्गत लोगों के आचरण के लिए उन नियमों के समूहों का नाम है जो उस समाज की सामान्य स्वीकृति से एक बाह्य शक्ति द्वारा लागू किये जाते है।"

प्रो० ओपेनहीम की इस परिभाषा में कानून के अस्तित्व के लिए जिन बातों को आवश्यक माना गया है, वे हैं (क) **समुदाय**, (ख) **नियमों का संग्रह**, (ग) **नियमों का पालन कराने वाली बाह्य शक्ति।**

ओपेनहीम के अनुसार पहली शर्त समुदाय की है। इस समय राष्ट्रसंघ, संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा अनेक आपसी सहयोग करने वाली संस्थाओं के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का निर्माण किया गया है।

ओपेनहीम की दूसरी शर्त इस समुदाय के व्यवहार के लिए नियमों की सत्ता है। इस समय अनेक अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराएँ तथा सन्धियाँ एवं संहिताएँ उपलब्ध है जैसे 1961 का राजदूतों की नियुक्ति से सम्बन्धित वियना अभिसमय, 1949 का युद्धबन्दियों सम्बन्धी अभिसमय, 1907 का हेग अभिसमय इत्यादि।

ओपेनहीम की तीसरी शर्त इन कानूनों का पालन कराने वाली सत्ता की आवश्यकता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद को यह अधिकार दिया गया है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने के लिए आवश्यकतानुसार जल, वायु और स्थल सेना का प्रयोग कर सके। संघ के सदस्य राष्ट्रों ने यह प्रतिज्ञा की है कि वे सुरक्षा परिषद की माँग पर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के लिए आवश्यक सैनिक सहायता प्रदान करेंगे। कोरिया, कांगो, मिस्र आदि विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समय सदस्य राष्ट्रों ने अपने इस वचन को पूरा करने की चेष्टा की है।

ओपेनहीम के अनुसार सभी राज्य तथा सरकारें अन्तर्राष्ट्रीय कानून को आदर की दृष्टि से देखती हैं। केन्द्रीय सत्ता के अभाव में शक्तिशाली राज्यों ने हस्तक्षेप के माध्यम से यदा-कदा कानून को लागू किया है। यद्यपि राष्ट्रीय कानूनों की तुलना में यह कमजोर कानून है क्योंकि यह उस बाध्यता के साथ लागू नहीं किया जा सकता जिस शक्ति के साथ राज्यों के कानून लागू होते हैं। फिर भी कमजोर कानून, कानून ही है।[1] राज्यों के आपसी व्यवहार में भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून को स्वीकार किया गया है। विभिन्न राज्यों की सरकारें अन्तर्राष्ट्रीय कानून से अपने आपको बाध्य मानती हैं।[2]

ओपेनहीम के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन प्रायः होता रहता है किन्तु कानून को भंग करने वाले राज्यों ने अपने कार्यों की पुष्टि कानून के द्वारा ही करने का सदैव प्रयास किया है। कानून को तोड़ने के उपरान्त भी वे कानून के अस्तित्व को आदर की दृष्टि से मानते हैं।

संक्षेप में, हम अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून न मानने वालों के तर्कों का खण्डन निम्नलिखित आधारों पर कर सकते हैं :

(1) **अन्तर्राष्ट्रीय कानून नैतिकता से भिन्न हैं**—विभिन्न राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून की भाँति ही मानते हैं। नैतिकता के नियमों की यह विशेषता है कि वे केवल अन्तःकरण

---

1 'Compared with Municipal Law, the Law of Nations is certainly weaker....But a weak Law is nevertheless still Law' —Oppenheim, *International Law*, Vol. I, p. 14.

2 'In practice International Law is constantly recognized as law. The government of the different states are of opinion that they are legally, as well as morally, bound by the law of nations' —*Ibid.*, pp, 14-15.

पर ही प्रभाव डालते हैं, इनके पालन कराने का साधन अन्तःकरण ही है। इसके सर्वथा विपरीत कानून का पालन वाह्यशक्ति द्वारा बलपूर्वक कराया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को तोड़ने पर सुरक्षा परिषद के प्रतिवन्ध, लोकमत द्वारा निन्दा आदि को सहन करना पड़ता है।

(2) **अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना का अर्थ कानून के अस्तित्व का अभाव नहीं है**—कानून की विशेषता तो उसका पालन है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वड़ी अराजकता दृष्टिगोचर होती है। शक्तिशाली राष्ट्र कानूनों को तोड़ते रहते हैं। किन्तु नियमों का उल्लंघनमात्र से उनके अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती। सभी देशों में चोरी, डकैती आदि को रोकने के लिए नियम वने हुए हैं, फिर भी ये अवैध कार्य होते रहते हैं। किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि वहाँ कानूनों की सत्ता नहीं है।

(3) **सभ्य राष्ट्रों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को मान्यता प्रदान की है**—आधुनिक समय में अधिकांश राज्य अन्तर्राष्ट्रीय रिवाजों तथा सन्धियों का आदर करना पसन्द करते हैं। जो राज्य इसकी अवहेलना करते हैं, वे भी अपने कार्यों की पुष्टि में अन्तर्राष्ट्रीय कानून को ही उद्धृत करते हैं। भारत, इंगलैण्ड, अमरीका के न्यायालयों ने इसकी उपस्थिति स्वीकार की है।

(4) **अन्तर्राष्ट्रीय कानूननिर्मात्री संस्था का प्रादुर्भाव होना**—वर्तमान समय में संयुक्त राष्ट्रसंघ, अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग, इत्यादि संस्थाओं द्वारा कानूनों के निर्माण का प्रयास किया जा रहा है। स्टार्क के अनुसार, अब अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थापन प्रक्रिया द्वारा तेजी से शुरू हो गया है। किसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सुदृढ़ मान्यता मिल जानी चाहिए।

(5) **अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों का निर्णय कानून के आधार पर**—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार राज्यों के मध्य उठे झगड़ों का निर्णय करता है। अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों, पंच फैसलों तथा कुछ रीति-रिवाजों के अनुसार कुछ निश्चित सिद्धान्तों का जन्म हो गया है जिन्हें मानना प्रत्येक सभ्य राष्ट्र अपना कर्तव्य समझता है।

निष्कर्ष—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वरूप (nature) के वारे में उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं के तर्कों का विवेचन करने के उपरान्त यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून वास्तव में कानून है किन्तु अभी यह उस प्रकार विकसित नहीं हो पाया है जिस प्रकार सम्प्रभु राज्यों के कानून विकसित हुए हैं। यह अभी भी अपनी शैशवावस्था में है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की कमजोरियाँ
(WEAKNESSES OF INTERNATIONAL LAW)

ओपेनहीम के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक कमजोर कानून है।" इसमें कई दोष हैं और अभी तक यह राष्ट्रीय कानूनों की तुलना में अपूर्ण है। इसकी कमजोरियाँ इस प्रकार हैं :

(1) **व्यवस्थापन सम्वन्धी कमजोरियाँ**—अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण करने-वाली अथवा संशोधन करने वाली व्यवस्थापिका का अभाव है। जिस प्रकार राज्यों में संसद के द्वारा कानूनों का निर्माण किया जाता है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इस प्रकार की मान्य संसद का अभाव है। संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा को कानूननिर्मात्री संस्था की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है।

(2) **कार्यपालिका सम्वन्धी कमजोरियाँ**—अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को कार्यान्वित करने वाले निकाय का अभाव है। अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को तोड़ने वाले राज्यों को दण्ड देने वाले निकाय के अभाव में यह कानून राज्यों की इच्छा पर निर्भर हो जाता है। शक्तिशाली राज्य कानूनों की अवहेलना करते रहते हैं परन्तु उनको रोकने वाला कोई नहीं है। मुसोलिनी ने अबीसीनिया पर

आक्रमण किया, अमरीका ने वियतनाम युद्ध में कानूनों को तोड़ा, चीन ने वियतनाम पर आक्रमण किया, किन्तु कोई कहने-सुनने वाला नहीं है।

(3) **न्यायपालिका सम्बन्धी दोष**—राज्यों के बीच विवादों का निपटारा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, अधिग्रहण न्यायालय तथा पंच फैसलों द्वारा होता है। किन्तु यदि ये फैसले राज्यों के हितों के प्रतिकूल हैं तो वे उनका पालन नहीं करते हैं। कानून भंग करने वालों को स्पष्ट दण्ड मिल पाना कठिन हो जाता है। दक्षिणी अफ्रीका ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कई बार दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका के विवाद, भारतीय एवं काले लोगों के प्रश्नों को लेकर तोड़ा है किन्तु उसे कोई दण्ड नहीं मिल पाया है।

(4) **राज्यों की सम्प्रभुता एवं अतिवादी राष्ट्रीयता**—कोई भी राज्य अपनी सम्प्रभुता को खोना नहीं चाहता। राष्ट्रीयता की अन्धभावना के परिणामस्वरूप वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की चिन्ता ही नहीं करते। इजराइल ने अरबों पर आक्रमण किया चीन ने भारत पर आक्रमण किया—इन सबका कारण उग्र राष्ट्रीयता ही है।

(5) **घरेलू मामलों का संयुक्त राष्ट्र चार्टर में प्रावधान**—संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुसार राज्यों के घरेलू मामलों मे हस्तक्षेप करना अपवर्जित है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकतीं और कानून का उल्लंघन मूक दर्शक की भाँति देखती रहती हैं।

(6) **अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अस्पष्टता तथा अनिश्चितता**—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधिकांश नियम अभी तक सुस्पष्ट नहीं हो पाये हैं। अभी तक इसका संकलन एक समस्या बनी हुई है। इसका आधार आज भी आपसी समझौते हैं।

ब्रियर्ली ने ठीक ही लिखा है—"वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय विधि की दो बड़ी कमजोरियाँ हैं। इस कानून को बनाने और लागू करने वाली संस्थाएँ बड़ी आरम्भिक दशा में हैं और इसका क्षेत्र बहुत संकुचित है। इस कानून का निर्माण करने वाली कोई ऐसी संस्था नहीं है जो इस कानून को अन्तर्राष्ट्रीय समाज की नयी आवश्यकताओं के अनुसार ढाल सके।"

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सुधार के सुझाव
(SUGGESTIONS FOR IMPROVEMENT)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उपरोक्त दोष उसके महत्व एवं उपयोगिता को घटा देते है। इन दोषों को हटाने और इस कानून को सँवारने के लिए विचारकों ने अनेक सुझाव प्रस्तुत किये हैं, जो इस प्रकार हैं:

(1) **संहिताकरण**—अन्तर्राष्ट्रीय कानून को संहिताकरण द्वारा स्पष्ट तथा निश्चित किया जाना चाहिए। संहिताओं की विभिन्न राज्यों द्वारा स्पष्ट स्वीकृति एवं मान्यता मिलनी चाहिए। यदि संहिताएँ राज्यों की सहमति पर आधारित की जायेंगी तो इसके सम्मान में वृद्धि होगी।

(2) **अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रचार**—विभिन्न छोटे-बड़े राज्यों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के महत्व एवं उपयोगिता को प्रचार द्वारा स्पष्ट किया जाना चाहिए।

(3) **कानून तोड़ने वालों को पर्याप्त दण्ड**—अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करने वाले राज्यों को किसी न किसी प्रकार का दण्ड अवश्य मिलना चाहिए। उसकी अन्तर्राष्ट्रीय निन्दा की जानी चाहिए तथा सुरक्षा परिषद अथवा सामूहिक सुरक्षा के प्रावधानों के अन्तर्गत ऐसे राज्यों पर आवश्यक प्रतिबन्ध लगाने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(4) **अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार में वृद्धि**—अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सम्बन्धित विवादों का निपटारा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के द्वारा किया जाना चाहिए एवं इसके निर्णय बाध्यकारी माने जाने चाहिए। वर्तमान समय में राज्य अपने जो मामले न्यायालय के सामने

स्वेच्छापूर्वक लाते रहे हैं, इसमें न्यायालयों को बड़ी सफलता मिली है। यदि राज्यों के विवादों का निपटारा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के द्वारा आवश्यक रूप से किया जाये तो समस्याओं का शान्तिपूर्ण निपटारा ढूँढ़ा जा सकता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सुदृढ़ आधार प्राप्त होंगे।

(5) **अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र का विस्तार**—वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल राज्य पर ही लागू होता है। इसे व्यक्तियों पर लागू किया जाय तथा घरेलू मामलों में भी लागू किया जाय। यदि राज्य के कार्यों से किसी व्यक्ति को हानि पहुँचती है उसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में अपने हक की पेशकश करने का अधिकार होना चाहिए।

(6) **राज्यों की सम्प्रभुता के साथ मेल**—वर्तमान युग अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का युग है। विभिन्न राज्यों को उग्र सम्प्रभुता के विचार को त्यागना होगा। राज्यों की सरकारों को विश्व-बन्धुत्व एवं शान्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सत्ता स्वीकार कर लेनी चाहिए। इससे राज्यों की सम्प्रभुता का अन्तर्राष्ट्रीय कानून के साथ-साथ चलन सम्भव हो जायेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय-कानून के आधार
(BASIS OF INTERNATIONAL LAW)

अन्तर्राष्ट्रीय विधि का सुदृढ़ आधार राज्यों की परस्पर एक-दूसरे पर अन्तःनिर्भरता है। वैज्ञानिक आविष्कारों, सन्देशवाहक यन्त्रों तथा आवागमन के साधनों के कारण एक-दूसरे से हजारों मील दूर स्थित राज्य एक-दूसरे के इतने निकट आ गये हैं मानो अब उनके बीच कोई दूरी है ही नहीं। राज्यों के बीच राजनीतिक, आर्थिक, व्यावसायिक, सांस्कृतिक आदान-प्रदान आज के विश्व की विशेषता बन गयी है। राज्यों के आपसी आदान-प्रदान को अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा नियमित किया जाता है। आज विभिन्न राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करना आवश्यक मानते हैं। राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन क्यों करते हैं? इस विषय में विधिशास्त्रियों ने दो प्रकार के सिद्धान्तों की रचना की है : (1) मूल अधिकारों का सिद्धान्त, (2) सहमति सिद्धान्त।

(1) **मूल अधिकारों का सिद्धान्त** (Theory of Fundamental Rights)—इस सिद्धान्त का आधार सामाजिक समझौता सिद्धान्त की प्राकृतिक अवस्था की मान्यता है। इसके अनुसार राज्यों के कुछ मौलिक अधिकार हैं, जिनको वह सुरक्षित रखना चाहता है। इन मूल अधिकारों में स्वतन्त्रता, समानता, एक-दूसरे के प्रति सम्मान और सुरक्षा हैं। इन अधिकारों के अस्तित्व को बनाये रखने की प्रबल इच्छा के फलस्वरूप ही राष्ट्रों के बीच कानून का जन्म होता है। जब राष्ट्रों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं तो दूसरी आवश्यकता इन सम्बन्धों को सुनिश्चित एवं सुस्पष्ट नियमों द्वारा नियन्त्रित रखने की होती है। जब एक राज्य को अपने मूल अधिकारों को बनाये रखने की इच्छा हुई तो साथ-साथ में उसका यह कर्तव्य भी हो गया कि वह अन्य राष्ट्रों के अधिकारों को मान्यता प्रदान करे। अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारों और कर्तव्यों का ही दूसरा नाम अन्तर्राष्ट्रीय कानून है।

इस सिद्धान्त की आलोचना की जाती है। यह सिद्धान्त व्यक्तियों और राज्यों के सामाजिक सम्बन्ध को गौण समझता है और उनके व्यक्तित्व को अधिक महत्व देता है। यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अस्तित्व ही समाप्त कर देता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत राज्यों की प्रकृति में ही स्वतन्त्रता की कल्पना की जाती है और यह भुला दिया जाता है कि राज्यों का मिलन ऐतिहासिक विकास की अवस्था का परिणाम है।

(2) **सहमति सिद्धान्त** (Consent Theory)—सहमति सिद्धान्त के मुख्य समर्थक अस्तित्व-वादी (positivists) हैं। इसके समर्थकों का कथन है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों का जन्म राज्यों द्वारा स्वीकृत नियमों के परिणामस्वरूप हुआ है। समस्त राज्यों ने मिलकर इस बात

की सहमति दी कि ये सभी अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का बाधित रूप से पालन करेंगे। जब आचरण में किसी नियम को बाध्यकारी रूप से लागू होने वाला समझ लिया जाता है तो वह कानून बन जाता है। औपचारिक सन्धियाँ और अभिसमय सम्बन्धित पक्षों की स्वीकृति पर आधारित होते हैं। ओपेनहीम के अनुसार भी राज्यों की सामान्य सहमति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास का आधार रही है। यह सहमति स्पष्ट (express) तथा परिलक्षित (implied) दोनों ही होती है।

इस सिद्धान्त की भी आलोचना की जाती है। फेनविक के अनुसार सहमति का सिद्धान्त यह बताने में असमर्थ है कि भूतकाल में सरकारों ने किस अनुमान के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रारम्भ से कार्य करना शुरू किया था। स्टार्क के मतानुसार सहमति का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून के वास्तविक तथ्यों से मेल नही खाता। रिवाज सम्बन्धी नियमों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यह कहना असम्भव है कि राज्यों ने इनका पालन करने की सहमति दी है। जब नये राष्ट्र का जन्म होता है तो वह न तो अन्य राष्ट्रों से अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों के पालन करने की सहमति लेता है और न उससे ही अन्य राष्ट्र किसी प्रकार की सहमति लेते हैं। इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि कभी भी सब राष्ट्रों ने मिलकर या एक-एक करके अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सिद्धान्तों को मानने की सहमति नही प्रदान की। अन्तर्राष्ट्रीय कानून सभी राष्ट्रों पर लागू होता है, चाहे वे इसकी सहमति दें या न दें।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सच्चा आधार
(TRUE BASIS OF INTERNATIONAL LAW)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पालन के उपर्युक्त दोनों आधार दोषयुक्त हैं। कानून के पालन का सही आधार यही हो सकता है कि राज्यों की यह भावना है कि इन कानूनों का पालन किया जाना चाहिए। कुछ विचारकों का मत है कि वर्तमान परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का राष्ट्रीय कानून से भिन्न कोई आधार तलाश करना अतार्किक है। जिस प्रकार राज्य का कानून केवल ऐतिहासिक विकास की एक घटना नहीं वरन् मानवीय संस्था का आवश्यक तत्व है; उसी प्रकार आधुनिक परिस्थितियों में विभिन्न राज्य सामाजिक प्राणी बन गये हैं और उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय समाज के दूसरे सदस्यों के साथ मिलकर रहना है। व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों का नियमन करने के लिए कानून की जो आवश्यकता है वही राज्यों के आपसी सम्बन्धों का नियमन करने के लिए है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सही आधार : (क) इसकी उपयोगिता व (ख) राज्यों की भावना ही है। फेनविक के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून अपने अस्तित्व की आवश्यकता पर आधारित माना जा सकता है। आज की परिस्थितियों में लोग एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं और इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधारों से सम्बन्धित विचार-विमर्श केवल शैक्षणिक महत्व रखता है।"

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे बाध्यकारी शक्तियाँ
(SANCTIONS OF INTERNATIONAL LAW)

प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय कानून की तुलना राष्ट्रीय कानून से की जाती है। यह माना जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू करने वाली कोई संस्थागत व्यवस्था नहीं है और राज्य अन्तर-राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णयों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्याख्या और क्रियान्वयन हेतु न्यायाधिकारो के पदसोपान का भी अभाव है, इसलिए उनके पात्रों को लघु से उच्च न्यायालय तक पहुँचने का मौका ही नहीं मिल पाता है। किन्तु इन सब तथ्यो के बावजूद भी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून वर्तमान अवस्था में कतिपय प्रभावशाली शक्तियों (effective sanctions) की भी व्यवस्था करता है, जो इस प्रकार हैं :

(1) **कानून के पालन की तरफ झुकाव**—राज्यों की इच्छा कानून के पालन की है।

कानून तोड़ने पर उन्हें ज्यादा हानि हो सकती है। ब्रियर्ली के अनुसार, अधिकांश राज्य यह मानते हैं कि कानून अराजकता को दूर करता है और शान्ति-व्यवस्था स्थापित करता है। अतः कानून पालन की इच्छा ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिए आधारभूमि तैयार करती है।

(2) **न्यस्त स्वार्थ**—अधिकांश राष्ट्र यह महसूस करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पालन से उनके राष्ट्रीय हितों की शीघ्र पूर्ति हो सकती है और उनकी विदेश नीति की सफलता भी राष्ट्रीय हितों के परिप्रेक्ष्य में ही सम्भव है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आपसी लेन-देन पर आधारित होते हैं अतः कानून के द्वारा राज्य द्वारा जो कुछ अन्य राज्यों से प्राप्त किया गया है उसे बनाये रखने के इच्छुक होते हैं।

(3) **विश्व-जनमत**—विश्व जनमत के भय से भी राज्य कानून को तोड़ना उचित नहीं मानते। राज्य ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहते जिससे विश्व में उनकी गरिमा पर आँच आये। संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा का मंच विश्व जनमत की अभिव्यक्ति का प्रमुख स्थान है और यदि वहाँ किसी राज्य की आलोचना होती है तो उसका सर्वत्र प्रभाव पड़ता है।

(4) **सामाजिक सहमति**—यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को तोड़ा जाता है तो उस कार्य को विश्व समाज की मान्यता प्राप्त नहीं होती है। फिर कानून को तोड़कर शक्ति और युद्ध के तरीकों से राज्य जो रियायतें अन्य राज्यों से प्राप्त करते हैं उनमें अधिक खर्च और आर्थिक भार राज्य को वहन करना पड़ता है। कानून के प्रयोग से शान्तिपूर्ण वैध तरीकों द्वारा जो सुविधाएँ राज्य प्राप्त करते हैं वे पारस्परिक सहमति और मितव्ययी साधनों से अर्जित होती हैं।

(5) **राजनयिक विरोध**—यदि कोई राज्य कानून के प्रतिकूल आचरण करता है जिससे दूसरे राज्यों को हानि पहुँचती है तो उसके राजनयिक विरोध-पत्र द्वारा अपनी नाराजगी प्रकट करते हैं। कभी-कभी विरोध-पत्रों द्वारा राज्य अपनी गलतियों को सुधार लेते हैं।

(6) **सुरक्षा परिषद**—कभी-कभी राज्य सुरक्षा परिषद में अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी विवादों को रखते हैं। सुरक्षा परिषद चार्टर के अनुच्छेद 10, 39, 41, 45 और 94(2) के तत्वावधान में कानून तोड़ने वाले राज्य के विरुद्ध कार्यवाही करती है। सुरक्षा परिषद आर्थिक प्रतिबन्ध लगा सकती है और सेनाएँ भी भेज सकती है। दक्षिण कोरिया पर उत्तर कोरिया का आक्रमण होने पर सुरक्षा परिषद के 27 जून तथा 7 जुलाई, 1950 के प्रस्तावों के अनुसार पहली बार दक्षिण कोरिया की रक्षा के लिए 16 देशों के सहयोग से संयुक्त राष्ट्रसंघ ने सेनाएँ भेजीं और सैनिक कार्यवाही की। अक्टूबर, 1956 में जब मिस्र पर इजराइल, इंगलैण्ड और फ्रांस ने संयुक्त आक्रमण किया था तब भी सुरक्षा परिषद ने प्रभावशाली सैनिक कार्यवाही की तथा इन देशों को अपनी सेनाएं वापस बुलानी पड़ीं।'[1]

(7) **युद्ध के कानूनों का उल्लंघन**—वॉन ग्लॉन के अनुसार चार तरीकों से युद्ध के कानूनों का पालन कराया जाता है—युद्ध के कानून तोड़ने वाले के विरुद्ध प्रचार; युद्ध में अपराध करने वालों को दण्ड का भय; प्रत्यापहार और हानि पहुँचाने पर आर्थिक दृष्टि से क्षतिपूर्ति।

(8) **हस्तक्षेप**—कभी-कभी राज्य वैयक्तिक और सामूहिक रूप से भी हस्तक्षेप करते हैं और उल्लंघनकर्ता को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पालन हेतु बाध्य करते हैं।

कैल्सन के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि माने जाने वाले नियमों के उल्लंघन के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विधि में अनुशास्तियों का दण्डों (sanctions) का प्रयोग नागरिक विधि की भाँति केन्द्रीभूत (संस्था या व्यक्ति के हाथ में) न होकर समस्त राष्ट्र समुदाय में उसी प्रकार विकेन्द्रीकृत

1 Gerhard Von Glahn. *Law Among Nations*, second edition, 1970, p. 56,

है जैसा कि आद्य समुदायों में होता रहा है वे अन्तर्राष्ट्रीय विधि में अनुशास्तियों (sanctions) का अभाव नहीं मानते, केवल उनके प्रयोग के ढंग, साधनकर्ता या सीमा में विशेषता बताते हैं।"

अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय कानून में अन्तर
(DIFFERENCES BETWEEN INTERNATIONAL LAW AND MUNICIPAL LAW)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून स्वतन्त्र राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को अनुशासित करता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून उन नियमों तथा सिद्धान्तों के समूह को मानता है जिन्हें राज्य अपने पारस्परिक सम्बन्धों में स्वीकार करते हैं। इनका आधार सम्प्रभु राज्यों की सहमति है। राष्ट्रीय अथवा नागरिक कानून से अभिप्राय किसी राष्ट्र द्वारा अपने देश के हित के लिए बनाये गये कानूनों से होता है। राष्ट्रीय कानून राज्य के अन्तर्गत व्यक्तियों के सम्बन्धों और राज्य तथा व्यक्ति के बीच स्थित सम्बन्धों का नियन्त्रण करता है। राष्ट्रीय कानून एक राष्ट्र के द्वारा निर्मित होता है जो राष्ट्र के नागरिकों की आन्तरिक व्यवस्था तथा शान्ति के लिए होता है। प्रत्येक नागरिक अपने राष्ट्रीय कानून को मानने के लिए बाध्य होता है। हाल के अनुसार, "नागरिक कानून अपने राज्य में सर्वोच्च सत्ता रखता है। नागरिक तथा राज्य के विभिन्न अंग न्यायालय, कार्यपालिका आदि, इसका पालन करने के लिए बाध्य हैं।"

अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय कानून में अन्तर इस प्रकार हैं :

(1) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मुख्य विषय राज्य है जबकि राष्ट्रीय कानून व्यक्तियों के व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं। हैन्स केल्सन के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्य के बाह्य सम्बन्धों का नियमन करता है जबकि राष्ट्रीय कानून राज्य के आन्तरिक सम्बन्धों का नियन्त्रण करने वाला है।"

(2) अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को मानना इतना बाध्यकारी नहीं जितना राष्ट्रीय कानूनों को मानना बाध्यकारी है। एक राष्ट्र का नागरिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना कर सकता है पर राष्ट्रीय कानून की अवहेलना नहीं कर सकता है।

(3) यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा राष्ट्रीय कानून में कहीं पर विरोध होता है तो एक राज्य का नागरिक अपने राष्ट्रीय कानून को मानने के लिए बाध्य किया जाता है।

(4) राष्ट्रीय कानून का निर्माण करने वाली संस्थाएँ अधिक स्पष्ट होती हैं जैसा भारत व इंगलैण्ड में संसद। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण करने वाली स्पष्ट संस्थाओं का अभी तक अभाव है।

(5) राष्ट्रीय कानून के पीछे पुलिस, न्यायालय आदि शक्तियाँ होती हैं पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे ऐसी शक्तियाँ नहीं होती हैं। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय कानून की अपेक्षा निर्बल होता है।

श्वार्जनबर्गर के अनुसार, 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा राष्ट्रीय कानून की पद्धतियाँ पृथक्-पृथक् हैं तथा वे एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं उस सीमा तक कि एक के नियम सिद्धान्ततः एवं व्यवहारतः दूसरे की पद्धति में प्रयुक्त नहीं हो सकते।"

वस्तुतः दोनों प्रकार के कानून एक-दूसरे पर निर्भर हैं और पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं हैं। राज्य को अपना राज्यत्व अन्तर्राष्ट्रीय कानून की बदौलत प्राप्त होता है। कभी-कभी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों को राष्ट्रीय कानून में शामिल कर लिया जाता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि राष्ट्रीय कानून अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भाग या अंग हो।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोत
(SOURCES OF INTERNATIONAL LAW)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोत से तात्पर्य उन विभिन्न तत्वों एवं कार्यों से है जो कानूनों के

विकास का आधार बने हैं। "स्रोत" शब्द भूगोल का शब्द है जिसका अर्थ होता है किसी नदी का उद्गम स्थान। इसी प्रकार कानून का स्रोत किसी समाज के ऐतिहाहिक विकास के वे मूल तथ्य हैं, जिनसे इनका प्रादुर्भाव होता है और इसे कानूनी शक्ति प्राप्त होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोतों की संख्या और प्रकार विभिन्न लेखकों ने अलग-अलग बताये हैं। स्टार्क ने कानून के चार स्रोत माने हैं—रीति-रिवाज, सन्धियाँ, पंच-निर्णय तथा कानून-वेत्ताओं के ग्रन्थ।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोतों का उल्लेख संयुक्त राष्ट्रसंघ के न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि (statute) के अनुच्छेद 38 में किया गया है। इसमें इसके निम्नलिखित स्रोत बताये गये हैं :

(1) सामान्य या विशेष अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय (International conventions)

(2) अन्तर्राष्ट्रीय रीति-रिवाज (International customs)

(3) कानून के ऐसे सामान्य सिद्धान्त जिनको सभ्य राष्ट्रों ने स्वीकार कर लिया हो (General principles of law recognized by civilized nations)

(4) अनुच्छेद 59 की व्यवस्थाओं के अनुसार किये गये न्यायिक निर्णय (Judicial decisions)

अन्य प्रमुख स्रोत इस प्रकार हैं : (1) सन्धियाँ, (2) अन्तर्राष्ट्रीय कानूनवेत्ताओं के ग्रन्थ, (3) अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य (International comity); (4) तर्क शक्ति या विवेक, (5) अन्तर्राष्ट्रीय राजपत्र (International papers)।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मुख्य स्रोतों की यथाक्रम गणना के उपरान्त यह उचित होगा कि उनमें से प्रत्येक के बारे में संक्षिप्त व्याख्या कर ली जाये।

(1) **रीति-रिवाज या रूढ़ियाँ (Customs)**—रीति-रिवाज या रूढ़ियाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्राचीन और मौलिक स्रोत है। रीति-रिवाज से हमारा अभिप्राय ऐसे नियमों से है जो एक लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया के बाद विकसित होते हैं तथा जिन्हें राष्ट्रों के समाज ने स्वीकार कर लिया है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की परम्पराएँ विभिन्न राज्यों द्वारा अनिवार्य समझी जाने पर ही परम्परा बन जाती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में रिवाजों का सम्मान तथा पालन इसलिए किया जाता है कि इस क्षेत्र में कानूननिर्मात्री संस्थाओं का अभाव है तथा राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का निरूपण परिपाटियों के जरिये किया जाता है।

इसके पूर्व कि रीति-रिवाज अन्तर्राष्ट्रीय कानून का रूप ग्रहण करें, दो बातों की आवश्यकता है। पहले तो यह देखना पड़ेगा कि प्रथा का प्रयोग अनेक बार हुआ हो और इस प्रकार वह मान्य हो गयी हो। दूसरी बात भावना सम्बन्धी है। अमुक प्रकार का व्यवहार बार-बार होने पर विश्वास प्रबल हो जाता है कि भविष्य में भी उसी प्रकार वह व्यवहार मान्य होगा। रिवाजी कानून की अनेक कमजोरियाँ हैं। रिवाजी कानून का पालन करने के लिए किसी राज्य को बाध्य नहीं किया जा सकता। रिवाज बड़े अस्पष्ट तथा धुंधले होते हैं। ऐसी स्थिति में इनका आदर व सम्मान कम होता है।

(2) **सन्धियाँ (Treaties)**—सन्धियों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत माना जाता है। ओपेनहीम के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ ऐसे समझौते हैं जो राज्यों अथवा राज्यों के संगठनों के मध्य किये जाते हैं और कानूनी अधिकार तथा कर्तव्य उत्पन्न करते हैं।"

सन्धियाँ मुख्यत: दो प्रकार की होती हैं। कुछ में तो ऐसी शर्तें होती हैं जो सर्वसाधारण के लिए विधि का रूप ग्रहण करती हैं। दूसरी प्रकार की सन्धि, सन्धि करने वाले राष्ट्रों से सम्बन्ध रखती हैं और उनके लिए ही मान्य होती हैं। ऐसी सन्धियाँ आपस के समझौते के रूप में

होती हैं। सिर्फ पहले प्रकार की सन्धियाँ, जिनका सन्धि करने वाले राष्ट्रों से ही सम्बन्ध नहीं रहता परन्तु सब राष्ट्रों से होता है, अन्तर्राष्ट्रीय विधि का आधार हो सकती हैं। इस प्रकार की 257 सन्धियाँ 1864 और 1914 बीच हुईं। रिवाजों की तुलना में सन्धियों का अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निर्माण में विशेष महत्व है। सन्धियाँ लिखित होती हैं अतः रिवाजों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक मानी जाती हैं। रिवाजों की अपेक्षा सन्धियों को न्यायालय अधिक आदर की दृष्टि से देखते हैं।

(3) **कानून के सामान्य सिद्धान्त** (General Principal of Law)—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि के अनुच्छेद 38 में सभ्य राष्ट्रों द्वारा मान्य सामान्य सिद्धान्तों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोतों में स्थान दिया गया है। कानून के सामान्य नियम औचित्य, विवेक एवं बुद्धि पर आधारित होते हैं। जहाँ रिवाजों, प्रथाओं तथा सन्धियों का अभाव होता है वहाँ न्यायाधीश सामान्य सिद्धान्तों की भावना से निर्णय करते हैं। ब्रियर्ली के अनुसार, "कानून के सामान्य सिद्धान्तों को उस समय अपनाया जाना चाहिए जब किसी विवाद के समय उपलब्ध अन्तर्राष्ट्रीय कानून कोई मदद न कर सकें।" कानून के सामान्य सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का गौण स्रोत ही मानना चाहिए। इनका आधार नैतिकता और न्याय की विषयगत धाराणाएँ हैं, जिनको कानून नहीं माना जा सकता है।

(4) **न्यायालयों के निर्णय** (Judicial Decisions) न्यायालयों के निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय कानून का गौण स्रोत होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि विधान के अनुच्छेद 38 में यह निर्देशित किया गया है कि कानून के नियमों को निर्धारित करने के लिए न्यायाधिकरण के न्यायिक निर्णय सहायक साधनों के रूप में हैं। यद्यपि न्यायिक निर्णयों को बाध्यकारी नहीं माना जा सकता किन्तु फिर भी इनमें दोनों पक्षों के विख्यात कानूनशास्त्री सभी दृष्टियों से विवादग्रस्त प्रश्न की मीमांसा करते हैं। इन्हें सुनने वाले न्यायाधीश भी विख्यात विद्वान होते है। ऐसी स्थिति में ये निर्णय असाधारण महत्व के बन जाते हैं। स्टार्क के अनुसार इन निर्णयों से अन्तर्राष्ट्रीय कानून की निम्न स्थितियों का विकास हुआ है—राज्य का उत्तराधिकार, प्रादेशिक प्रभुता, तटस्थता, राज्य का क्षेत्राधिकार आदि।

(5) **विद्वान लेखकों के ग्रन्थ** (Writings of Publicists)—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के विधान की धारा 38 में स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है कि भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के प्रमुख विधिवेत्ताओं के उपदेश अन्तर्राष्ट्रीय विधि में कानून के रूप में प्रयुक्त होंगे। ऐसे लेखकों के लेख अपनी वैज्ञानिक योग्यता अथवा गुण के अतिरिक्त तुलनात्मक दृष्टि से राज्यों के कार्यों की वैधानिक दृष्टि से छानबीन करते हैं और महत्वपूर्ण निर्णय देते हैं। इन लेखकों के लेख स्वतन्त्र रूप से कानून के स्रोत का रूप धारण नहीं करते हैं। परन्तु समय व्यतीत होने पर वे अन्तर्राष्ट्रीय विधि का रूप धारण कर लेते हैं क्योंकि वे विनियुक्त दलीलें प्रयोग करते हैं। ग्रोशियस, वाटेल लार्ड ब्रन्सली, लैटिमर, लारेन्स ओपेनहीम, स्टार्क, ब्रेट, ह्वीटन आदि विद्वानों के नाम इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। आरम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का निर्माण विद्वान लेखकों के ही हाथों में था। आज भी जब राज्यों में किसी नियम विशेष के सम्बन्ध में विवाद उपस्थित होता है, तब प्रामाणिक ग्रन्थों के विचारों के आधार पर निर्णय करने का प्रयत्न किया जाता है।

(6) **अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टाचार** (International Comity)—ओपेनहीम के अनुसार, 'राष्ट्रीय शिष्टाचार ने भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विकास किया है। पारस्परिक व्यवहार में राष्ट्र शिष्टाचार तथा सद्भावना सम्बन्धी रीति-रिवाजों को बाध्य समझते हैं। इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय नियम विधि नहीं है बल्कि शिष्टाचार की विधि हैं। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टाचार अन्तर्राष्ट्रीय विधि का स्रोत नहीं हैं तथापि जो पहले अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टाचार समझा जाता था

उसे अन्तर्राष्ट्रीय विधि समझा जाता है। राष्ट्रों के शिष्टाचार को रीति-रिवाज नहीं समझना चाहिए। कूटनीतिक प्रतिनिधि (राजदूत) विभिन्न देशों में चुंगी तथा आय शुल्क से मुक्त होते हैं। ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टाचार के कारण ही होता है।

(7) **अपने अधिकारियों के पथ-प्रदर्शन के लिए राज्यों के आदेश** (State Papers)—राजनीतिज्ञों की घोषणाएँ, विधानवेत्ताओं के परामर्श जो वे समय-समय पर अपने राज्य की सरकार को देते हैं अथवा अन्य राज्यों से सम्बन्धित कागजात के विषय में देते हैं तथा जो अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, उनको भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में प्रयुक्त किया जाता है क्योंकि ये घोषणाएँ और परामर्श अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के समझे जाते हैं। विभिन्न राज्यों द्वारा आपस में जो पत्र-व्यवहार किया जाता है उसे श्वेत, नीले या लाल रंगों के आवरण से युक्त पुस्तकों में प्रकाशित किया जाता है। उदाहरण के लिए, साझा बाजार में प्रवेश हेतु किये गये प्रयासों को ब्रिटिश सरकार ने श्वेत पत्र के रूप में प्रकाशित किया।

(8) तर्क (Reason)—जब किसी विवाद या नवीन परिस्थिति के लिए कोई नियम नहीं होता तो विधिवेत्ताओं द्वारा तर्क प्रणाली के आधार पर प्रश्नों को सुलझाया जाता है। यहाँ तर्क का अर्थ किसी बुद्धिशील व्यक्ति के तर्क से नहीं वरन् न्यायिक तर्क से है। कानून का यह सर्वथा उचित स्रोत माना जाता है और इसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरणों के निर्णयों में प्रयुक्त किया जाता है।

निष्कर्षतः स्टार्क के शब्दों में, "कई बार न्यायालयों के सम्मुख ऐसे प्रश्न आते हैं, जिनके सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सन्धियों वाले या परम्परागत आधार के नियमों का नितान्त *अभाव होता है। इस व्यवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्रियों की सम्मतियों और ग्रन्थों का महत्व बहुत बढ़ जाता है।*"[1]

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संहिताकरण
(CODIFICATION OF INTERNATIONAL LAW)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून अस्पष्ट, अनिश्चित एवं प्रथाओं पर आधारित है। इसमें सुधार लाने के लिए इसको संहिताबद्ध किया जाना आवश्यक है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की धारा 13 में यह प्रावधान रखा गया है कि महासभा राजनीतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन देने के लिए अध्ययनों की पहल करेगी और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास तथा संहिताकरण को प्रोत्साहन देगी। निम्नलिखित कारणों से संहिताकरणों की माँग बढ़ती जा रही है—(1) संहिता बन जाने पर अन्तर्राष्ट्रीय विधि का प्रयोग सरल हो जाता है; (2) संहिताकरण के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक व्यवस्थित प्रबन्ध प्राप्त हो सकेगा; (3) संहिता बन जाने पर सन्देहों का निराकरण होगा; (4) अनेक ऐसे विषयों में नियम बना दिये जायेंगे जिनमें अभी तक कोई नियम नहीं थे। ओपेनहीम के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अस्पष्टता एवं धीमी गति से आगे बढ़ने की प्रक्रिया के कारण ही संहिताकरण की माँग जोरों से बढ़ रही है।

विधि के संहिताकरण का अर्थ विभिन्न दृष्टियों से प्रतिपादित किया गया है। साधारण शब्दों में संहिता संविधियों का एक संकलित रूप है। (A code is consolidation of the statute law) अथवा यह एक संग्रह है जिसमें किसी विशेष विषय सम्बन्धी सभी संविधियों का संग्रह है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण से अभिप्राय है, रीति-रिवाज तथा प्रचलित कानूनों, पंच निर्णयों तथा अन्य प्रकार के नियमों को एकत्र करके एक टीका या पुस्तक का रूप देना।

---

[1] Starke, *An Introduction of International Law*, p. 46.

संहिताकरण से कई लाभ हैं। इनसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून स्पष्ट, सरल और सुनिश्चित बन जायेगा। संहिताकरण के फलस्वरूप सम्बन्धित परिस्थिति के लिए स्पष्ट कानून उपलब्ध हो जायेगा तो अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों का कार्य सुगम हो जायेगा। संहिताकरण द्वारा कानूनों में पाये जाने वाले विरोधों को दूर किया जा सकता है और इस प्रकार उनके बीच में उसी तरह एकरूपता (uniformity) स्थापित की जा सकती है जिस तरह राज्यों के कानूनों में एकरूपता पायी जाती है। संहिताबद्ध कानून शीघ्र ही समयानुकूल बन पाता है और उसकी लोकप्रियता बढ़ जाती है। यदि सम्पूर्ण कानून को लिख दिया जाये तो इसकी गणना सामाजिक विज्ञानों में अग्रणी हो जायेगी।

संहिताकरण के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं—बिखरे हुए कानूनों का संहिताकरण एक दुस्साध्य कार्य है। संहिताओं के बारे में मत-भिन्नता पायी जाती है। प्रत्येक राज्य अपने हितों के अनुरूप ही संहिताओं का निर्माण चाहता है। इस प्रकार मतैक्य के अभाव में संहिताओं का निर्माण दुसाध्य है। यह भी समस्या है कि संहिताकरण किसके द्वारा किया जाये—कानूनवेत्ताओं द्वारा या राज्यों के प्रतिनिधियों द्वारा ?

संहिताकरण की प्रकिया के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की वास्तविकता तथा इसकी स्पष्ट उपस्थिति प्रकट हो रही है। अब यह आशा की जाने लगी है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थापन की प्रक्रिया कानून की अनेक असंगतियों को मिटाने में समर्थ हो सकेगी। आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक राज्य संहिताकरण को अपना राष्ट्रीय उद्देश्य घोषित करे तथा उसके लिए भरसक प्रयास करे। संहिताकरण एक बन्धन नहीं है अपितु आपा-धापी एवं अराजकता को मिटाने का एक साधन हो सकता है, बशर्ते विभिन्न राज्य इसका आदर करें। फिर भी यह कहना समुचित होगा कि इस क्षेत्र में अभी लम्बी मंजिल तय करनी है, अभी तो केवल कार्य प्रारम्भ ही किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून में नयी प्रवृत्तियाँ
(NEW TRENDS IN INTERNATIONAL LAW)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहा है। नवोदित अफ्रीकी-एशियाई राज्यों के औपनिवेशिक अतीत ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों व कानून के प्रति उनके दृष्टिकोण को अत्यधिक प्रभावित किया है। आज हम नये विश्व में रह रहे हैं और अन्तर्राष्ट्रीय समाज द्रुतगति से बढ़ता जा रहा है। उपनिवेश लगभग समाप्त हो चुका है और एशिया व अफ्रीका के नये राष्ट्र पश्चिमी राष्ट्रों के एकाधिकार को तोड़ते हुए विश्व समाज में सक्रिय भागीदार बनते जा रहे हैं।

परम्परावादी अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Traditional International Law)

प्रारम्भिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी युग की विरासत कहा जा सकता है। कुछ विद्वान इसे पश्चिमी यूरोपीय ईसाई सभ्यता की देन भी कहते हैं। परम्परा-वादी कानून का ध्येय बड़ी शक्तियों के राष्ट्रीय न्यस्त स्वार्थों की पूर्ति करना तथा उनकी शक्ति को बनाये रखना था। वे ऐसे ही कानूनों के निर्माण में रुचि लेते थे ताकि उन्हें गरीब और गुलाम देश से समस्त प्रकार की रियायतें मिलती रहें और उनके राष्ट्रजनों की सुरक्षा कर सकें। अन्त-र्राष्ट्रीय कानून को आधार बनाते हुए बड़ी शक्तियों ने कमजोर देशों के साथ असमान सन्धियाँ भी कीं और उनका प्रयोग छोटे राष्ट्रों के शोषण हेतु किया गया। वस्तुतः परम्परावादी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की पाँच विशेषताएँ देखी जा सकती हैं :

(1) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रयोग कमजोर राष्ट्रों के आर्थिक शोषण के रूप में किया गया

(2) कमजोर देशों के साथ अन्तर्राष्ट्रीय कानून की ओट में असमान सन्धियाँ की गयीं और उन्हें दासता की बेड़ियों में बाँधा गया।

(3) परम्परावादी कानून द्वारा शक्ति और युद्ध के प्रयोग को उचित बताया गया।

(4) परम्परावादी कानून द्वारा इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया गया कि महाशक्तियाँ छोटे और कमजोर राष्ट्रों के आन्तरिक मामलों में जो हस्तक्षेप करती हैं, वह कानूनसम्मत नहीं है।

(5) इसके द्वारा उपनिवेशवाद और असमान सन्धियों को स्वीकृति प्रदान की गयी।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून में नयी प्रवृत्तियाँ (New Trends in International Law)

परिवर्तन और विकास जीवन का कानून है और अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी एक जीवन्त कानून है। वैज्ञानिक और तकनीकी परिवर्तनों के प्रभाव से अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी कैसे अछूता रह सकता है ? वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विभिन्न अंगों में एक नया रूप, एक नयी दिशा का उद्भव हो रहा है।[1] अन्तर्राष्ट्रीय कानून के ढाँचे में कतिपय नूतन परिवर्तन इस प्रकार हुए हैं :

(1) **अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सच्चा अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप**—द्वितीय महायुद्ध से पूर्व अन्तरराष्ट्रीय कानून एक सीमित कानून था। इसे 'यूरोपीय राज्यों के क्लब' (Small Club of European Powers) का कानून कहा जाता था। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमरीका के अनेक राज्यों को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। ये राज्य विश्व-संस्था के सदस्य बने, विश्व के सामूहिक कार्यों में हिस्सेदार बने। अतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून का क्षेत्र व्यापक हुआ है।

(2) **आर्थिक एवं सामाजिक गतिविधियों का संचालन**—राज्यों की संख्या बढ़ने के साथ-साथ उनमें आर्थिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, तकनीकी ज्ञान का आदान-प्रदान एवं सहयोग बढ़ रहा है। पहले अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल राजनीतिक विषयों का ही निरूपण करता था किन्तु अब उसका क्षेत्र आर्थिक एवं आपसी सहयोग की सामाजिक गतिविधियों का नियमन हो गया।

(3) **शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का अन्तर्राष्ट्रीय कानून**—आज दुनिया विचारधारा (ideology) के आधार पर दो गुटों में विभक्त है। दोनों ही गुटों की अलग-अलग विचारधारा एवं दृष्टिकोण हैं। यदि विभिन्न राष्ट्र शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति को न मानकर एक-दूसरे को आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सहयोग न प्रदान करें तो किसी प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार सम्भव न होगा और अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का पालन न हो सकेगा। इसका पालन तभी हो सकता है जब सब राष्ट्र अपने से विरोधी विचारधाराओं वाले राष्ट्रों का अस्तित्व स्वीकार करें, अर्थात् शान्तिपूर्ण-अस्तित्व की नीति को अपना लें। अतः आज सभी देश इसी भावना से अन्तर्राष्ट्रीय कानून को मान्यता दे रहे हैं।

(4) **क्षेत्रीय सहयोग का सीमित अन्तर्राष्ट्रीय कानून**—आपसी हितों को पूरा करने के लिए राज्यों के बीच अनेक क्षेत्रीय सन्धियाँ एवं समझौते होते रहते हैं। इससे सीमित अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास होता है जिसका सम्बन्ध विशेष प्रकार के आपसी कार्यों से ही होता है।

(5) **संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना से होने वाले परिवर्तन**—डॉ० नगेन्द्रसिंह के अनुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय कानून में अनेक नये परिवर्तन हुए हैं।

---

1 Dr. K. P. Mishra, *Studies in Political Sciences*, 1969-70 (Rajasthan University, Jaipur, p 51.

2 Dr. Nagendra Singh, '*Recent Trends in the Development of International Law and Organization Promoting Inter-state Operation and World Peace*, 1970.'

उनमें से कुछ इस प्रकार हैं : (क) इससे साम्राज्यवाद का अन्त हुआ है और विश्व परिवार के सदस्यों में वृद्धि हुई है। (ख) महासभा की शक्ति में वृद्धि हुई है और विश्व-संस्था का लोकतन्त्रीकरण हुआ है। (ग) व्यवसाय एवं वाणिज्य हितों के संचालन के नये-नये कानूनों का प्रादुर्भाव हो रहा है। (घ) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे प्रभावशाली शक्ति (effective sanctions) का प्रयोग भी हुआ है, जैसे कोरिया संकट के समय, रोडेशिया व दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये गये आदि। (च) वैज्ञानिक आविष्कारों के परिणामस्वरूप विध्वंसकारी शक्तियाँ बढ़ रही हैं। आणविक परीक्षण बन्द (Test Ban Treaty), 1963 तथा अणुप्रसार निरोध सन्धि (Non-Proliferation Treaty), 1967 द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के प्रति शक्तिशाली राज्यों में भी अन्तर के भाव जाग्रत हो रहे हैं।

(6) **अन्तर्राष्ट्रीय विकास का कानून**—विकास शान्ति का नया नाम भी है और अन्तर-राष्ट्रीय कानून को आज गरीब देशों के विकास द्वारा विश्व की स्थिरता एवं स्थायी शान्ति सम्भावनाएँ खोजनी हैं। इसके लिए आवश्यक है कि विकसित देश इस दिशा में पहल करें और अपने अस्थायी हितों का त्याग करें। उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय समाज के लिए नये लक्ष्यों व मानकों की प्राप्ति की दिशा में सहायता व सहयोग देना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को भी अन्तर्राष्ट्रीय समाज के मतैक्य पर आधारित उन अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों का निर्वाह करना चाहिए जो कि इसके सदस्यों के लिए हितकारी हैं। संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र में निहित कर्तव्य को अधिक सार्थकता देते हुए उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा मान्यता मिलनी चाहिए।

(7) **अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नया अभिमुखीकरण**—परम्परावादी कानून को अनेक प्रकार से चुनौतियाँ दी गयी हैं। राज्यों के उत्तरदायित्वों से सम्बन्धित समस्त कानूनों तथा विदेशों में बसे नागरिकों से सम्बन्धित राजनयिक सुरक्षा के समस्त नियमों को चुनौती दी गयी है और उन्हें प्राचीन घोषित कर दिया गया है। विदेशी सम्पत्ति के स्वामित्व और देय क्षतिपूर्ति की राशि सम्बन्धी पुराने कानूनों को परिवर्तित किया जा रहा है। आज अभिग्रहण कानूनों के उत्तराधिकार को चुनौती दी गयी है और प्राकृतिक सम्पदा एवं स्रोतों पर प्रभुसत्ता के अधिकार पर बल दिया जाता है।[1]

(8) **अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निर्माण में नयी प्रवृत्ति**—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निर्माण के सम्बन्ध मे पुराना मत यह था कि यह खास तौर से राज्यों द्वारा बनाया जाता है। इसका आधार प्रथाएँ और परम्पराएँ हैं। आज नये अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एवं इससे बनायी गयी विभिन्न संस्थाओं के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का निर्माण बड़ी तेजी से हो रहा है। आज तो हम नये अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निर्माण के लिए किन्हीं अन्य स्रोतों की अपेक्षा संयुक्त राष्ट्रसंघ की महा-सभा, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और कानूनवेत्ताओं की ओर अधिक देखा करेंगे।

(9) **अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय—राज्य और व्यक्ति**—पुराना अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों का कानून था। अब यह राज्यों के साथ-साथ व्यक्तियों पर भी लागू होने लगा है। न्यूरेम्बर्ग जाँच तथा टोकियो जाँच ने इस तथ्य की स्थापना कर दी है।

निष्कर्षतः, पारम्परिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्वरूप बदलता जा रहा है। अमरीका और सोवियत संघ के मधुर सम्बन्धों (detente) के परिप्रेक्ष्य में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास के नये आयाम उजागर हुए हैं।

---

1 आर० पी० आनन्द, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून का बदलता परिप्रेक्ष्य" **राजशास्त्र समीक्षा** (राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर), जनवरी 1975, पृ० 19-46।

प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय कानून से आप क्या समझते हैं ? उसकी प्रकृति बताइए । क्या आप समझते हैं कि यह राष्ट्रीय शक्ति पर नियन्त्रण का काम करता है ?
   What do you understand by 'International Law' ? Describe its nature. Do you think it has some limitations on national power ?
2. अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा कीजिए । इसके मुख्य स्रोत क्या हैं ? अन्तर्राष्ट्रीय कानून कैसे प्रयुक्त किया जाता है ?
   Define 'International Law': What are its main sources ? How International Law is enforced ?
3. अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संघर्ष के समाधान में राजनय एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून की भूमिका की सोदाहरण व्याख्या कीजिए ।
   Bring out with illustrations the role of diplomacy and international law in conflict resolution on the international plane.

ग्रेस
ालन
रता
T।
के
की

26

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तथा विश्व सरकार की अवधारणा

[INTERNATIONAL ORGANISATION AND THE CONCEPT OF WORLD GOVERNMENT]

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन
(INTERNATIONAL ORGANISATION)

आज की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का अत्यधिक महत्व है। सम्भवत: आने वाले युग में *अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुरक्षा, पारस्परिक सहयोग और जन-कल्याणकारी कार्यों* के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की उपयोगिता एवं महत्व और अधिक हो जायेगा। विश्वयुद्धों की विभीषिका, मार्क्सवाद, लेनिनवाद द्वारा उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का साम्यवादी तरीकों से खण्डन तथा विश्व श्रमिकों की एकता पर बल, राष्ट्रीयता के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना की प्रगति, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की आवश्यकताओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में 'शक्ति' के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून, नैतिकता और रीति-रिवाजों पर बल के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का महत्व अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में बहुत बन गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों के उस वर्ग द्वारा जिसे स्वप्नलोकीय (utopian) कहते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगठन पर जो आगे चलकर 'विश्व सरकार' के रूप में विकसित होगा, अधिक बल दिया जाता था। इसी प्रकार 18वीं और 19वीं शताब्दियों में उदारवादी और उपयोगितावादियों द्वारा भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था पर जब बल दिया गया तो अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता को स्वीकार किया गया। यह कहा जा सकता है कि प्रजातन्त्रीय उदारवादी विचारधारा को जब अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर लाया गया तो उसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का विकास हुआ। संघवादी विचारधारा ने भी, जो स्वयं उदारवादी विचारधारा की उपज है, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास में सहायता दी है। अत: यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास में राजनीतिक विचाराधाओं ने एक ओर तो कल्पना को प्रोत्साहित किया और दूसरी ओर कल्पना को मूर्त रूप देने में सहायक हुई।

विकास (Evolution)—अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की विचारधारा पश्चिमी संस्कृति की देन है जिसकी विशेषता विश्वबन्धुत्व की भावना, शान्ति और सौम्यता रही है और जिनका समावेश स्टोइकों तथा क्रिश्चियनों ने अपने दर्शन में किया है। प्रारम्भ में स्टोइकों तथा क्रिश्चियनों द्वारा यह माना गया है कि पश्चिमी यूरोप (जो ईसाइयों का था) 'राष्ट्रों का परिवार' है जिसके कुछ

ने सिद्धान्त और नियम हैं, जिनके द्वारा पश्चिमी संस्कृति, सभ्यता और शान्ति स्थापित की ती है। 16वीं शताब्दी में रोमन साम्राज्य के पतन के बाद जब राष्ट्रीय राज्यों का प्रादुर्भाव ा तो 'परिवार' के सदस्यों में पारस्परिक सहयोग ईसाई नैतिक नियमों पर आधारित नहीं सका। राष्ट्रीय हित की भावना से प्रेरित इन राज्यों में शक्ति के लिए संघर्ष होना प्रारम्भ गया। युद्ध राज्यों के बीच झगड़ों के निराकरण का एकमात्र साधन बन गया। इन परिस्थितियों में राज्यों के बीच शान्ति स्थापित करने के लिए ग्रोशस द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विधि का निर्माण किया गया।

इसी काल में कतिपय दार्शनिक, ईसाई पादरियों, राजनीतिज्ञों तथा बुद्धिजीवियों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सहयोग के लिए कुछ काल्पनिक योजनाएँ प्रस्तुत की गयीं। दांते ने एक 'विश्व संगठन' की कल्पना की थी। दांते के समकालीन दार्शनिक पियरे दुबायं द्वारा राज्यों के मध्य सहयोग स्थापना की एक योजना प्रस्तुत की गयी जिसके अन्तर्गत (i) यूरोपीय राजाओं के संघ का निर्माण, (ii) संघ की एक परिषद तथा (iii) एक न्यायालय पर बल दिया गया। सन् 1623 में इमेरिक क्रूसे द्वारा चीन, फारस, इण्डीज और विश्व के दूसरे राज्यों को मिलाकर 'राज्यों के विश्व-संघ' की कल्पना की गयी थी। हेनरी अष्टम द्वारा यूरोपीय शक्ति और राज्यों के मध्य सहयोग के लिए एक 'वृहद योजना' प्रस्तुत की गयी। इस योजना के अन्तर्गत यूरोप को सोलह राज्यों में विभक्त कर एक सामान्य परिषद तथा छः क्षेत्रीय परिषदों को संगठित करना था। विलियम पेन द्वारा यूरोप में शान्ति बनाये रखने के लिए जो योजना प्रस्तुत की गयी उसमें यूरोपीय राजाओं की एक संसद के संगठन की बात कही गयी थी। 18वीं शताब्दी में रूसो ने यूरोप में स्थायी शान्ति स्थापित करने के लिए एक संघ की कल्पना की थी जिसमें सामूहिक सुरक्षा के विचार की झलक मिलती है। बेन्थम विश्वशान्ति की स्थापना के लिए राज्यों के मध्य सन्धि के आधार पर निरस्त्रीकरण, उपनिवेशों की स्वतन्त्रता, मुक्त व्यापार को प्रोत्साहन तथा उन परिस्थितियों के निर्माण पर बल देता था जिनसे युद्ध न हो सके। शान्ति को भंग करने वाले राज्यों अथवा युद्धोन्मुख राज्यों पर नियन्त्रण लगाने के लिए एक आदेशात्मक शान्ति न्यायालय के संगठन में पक्ष में थी। जर्मन दार्शनिक इमैन्युल काण्ट द्वारा यूरोपीय शान्ति के लिए एक यूरोपीय संघ की स्थापना की कल्पना की गयी थी।

वेस्टफालिया की सन्धि (1648); जिसके द्वारा 30-वर्षीय युद्ध की समाप्ति के बाद शान्ति की स्थापना की गयी थी, वेस्टफालिया शान्ति-सम्मेलन की देन थी। 1815 में नेपोलियन की पराजय के बाद यूरोप में शान्ति की स्थापना तथा एक नयी यूरोपियन व्यवस्था के लिए वियना कांग्रेस बुलायी गयी थी। इस सम्मेलन का अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण योगदान 'कंसर्ट ऑफ यूरोप' की स्थापना है। रूस के जार एलेक्जेण्डर द्वारा विजयी राष्ट्रों द्वारा नैतिकता के आधार पर राजनय को कार्यान्वित करने तथा समय-समय पर समस्याओं के समाधान के लिए इन राष्ट्रों की सामूहिक बैठक की व्यवस्था की गयी थी। इसी को 'कंसर्ट ऑफ यूरोप' कहा जाता है जिसके प्रारम्भिक सदस्य इंगलैण्ड, आस्ट्रिया, प्रशा और रूस थे। बाद में, फ्रांस भी इसका सदस्य बनाया गया। यह पहला अवसर था जबकि यूरोप के इन बड़े राज्यों ने एकजुट होकर आपसी मामलों को विचार-विमर्श द्वारा सुलझाने की दिशा में एक ठोस कदम लिया था। इस कंसर्ट की स्थापना से यह भी स्पष्ट था कि विश्व में शान्ति, सहयोग तथा विचारों के आदान-प्रदान के लिए राज्यों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक ऐसी संस्था संगठित की जाय जिसकी बैठक हमेशा हो और जिसके सभी स्वतन्त्र राज्य सदस्य हों।

वियना सम्मेलन की 'कंसर्ट ऑफ यूरोप' की देन के बाद 1856 में क्रीमिया के युद्ध के बाद शान्ति स्थापना के लिए पेरिस सम्मेलन बुलाया गया था और 1878 में बालकन प्रायद्वीप की

समस्या को सुलझाने के लिए तथा इस क्षेत्र में रूस के विस्तार को रोकने के लिए बर्लिन कांग्रेस बुलायी गयी थी। 1885-86 में अफ्रीका के विभाजन को नियन्त्रित करने के लिए बर्लिन सम्मेलन बुलाया गया था क्योंकि इसके कारण यूरोप के बड़े-बड़े राज्यों में वैमनस्य, स्पर्द्धा और क्रूरता बढ़ती जा रही थी। सन् 1840 में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर दासता विरोधी सम्मेलन बुलाया गया। सन् 1863 में रेड क्रॉस की अन्तर्राष्ट्रीय समिति की स्थापना की गयी थी जिसके द्वारा 1864 के जिनेवा अभिसमयों को कार्यान्वित किया गया था। 1873 में एक 'अन्तर्राष्ट्रीय विधि संघ' की तथा 1878 में एक 'अन्तर्राष्ट्रीय लेखक तथा कलाकार संघ' की स्थापना की गयी थी। 1889 में 'अन्तर-संसदीय-संघ' की स्थापना की गयी।

सन् 1912-13 में प्रथम बालकान युद्ध के बाद लन्दन सम्मेलन बुलाया गया था जिसमें शान्ति समझौता किया गया था। यह राष्ट्रसंघ की स्थापना से पूर्व अन्तिम सम्मेलन था जिसमें बहुपक्षीय वार्तालाप के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय मामले पर निर्णय लिया गया था, किन्तु ये सारे सम्मेलन स्थायी नहीं थे। ये समय-समय पर राजनीतिक मामलों को सुलझाने के लिए; युद्ध को समाप्त करने में लिए तथा शान्ति समझौते के लिए बुलाये जाते थे।

कार्य (Functions)—अन्तर्राष्ट्रीय समाज के परिप्रेक्ष्य में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता उसके कार्यों से स्पष्ट होती है, जो इस प्रकार हैं :[1]

(1) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक और मानवीय क्षेत्र में सद्भावना स्थापित करने का कार्य करता है।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शान्ति सुरक्षा बनाये रखने का प्रयास करता है।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन शान्ति और सुरक्षा के लिए निःशस्त्रीकरण का प्रयास करता है।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राज्यों के मध्य कानूनी तथा राजनीतिक विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने का कार्य करता है।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन सामाजिक, आर्थिक तथा मानवीय सामान्य समस्याओं के निराकरण के लिए कार्य करता है।

(6) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अन्तर्राष्ट्रीय समाज में अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता, अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा अन्तर्राष्ट्रीय रीति-रिवाजों की मान्यता पर बल देता है तथा इनके संहितकरण का प्रयास करता है।

(7) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कभी-कभी प्रशासकीय कार्य भी करता है जैसे डैंजिग का प्रशासन।

(8) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन पर्यवेक्षण एवं नियन्त्रण का कार्य भी करता है।

(9) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों तथा समझौतों का पंजीकरण करता है तथा उसका लेखा-जोखा रखता है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन इन कार्यों में विभिन्न अभिकरणों का उपयोग करता है। इनमें से अधिकांश अभिकरणों का उपयोग अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विभिन्न परिस्थितियों तथा विभिन्न समयों पर होता आया है।

वर्गीकरण (Classification)—अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कई प्रकार के हो सकते हैं। इनके वर्गीकरण के सम्बन्ध में कोई निश्चित वैज्ञानिक एवं सर्वमान्य आधार प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

---

1 आर० एच० शरण तथा टी० एन० पन्त, **अन्तर्राष्ट्रीय संगठन** (मेकमिलन, 1977), पृ० 18।

पी० सेल्सेचर ने अपनी पुस्तक में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का वर्गीकरण निम्नलिखित चार आधारों पर किया है :

(1) उत्तरदायित्व का क्षेत्र,
(2) सदस्यता की सीमा,
(3) कार्य के प्रकार, तथा
(4) अधिकार ।

प्रथम, उत्तरदायित्व के क्षेत्र के आधार पर अर्थात् उद्देश्य एवं कार्यों के आधार पर अन्तर राष्ट्रीय संगठन का वर्गीकरण किया जा सकता है । कुछ अन्तर्राष्ट्रीय संगठन सामान्य उद्देश्यों को लेकर संगठित किये जाते हैं जैसे राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ जिनका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखना है । इसी प्रकार कुछ ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन हैं जिनका उद्देश्य और कार्य सीमित होता है और वे निश्चित उद्देश्यों एवं कार्यों की पूर्ति के लिए संगठित किये जाते हैं, जैसे यूनिवर्सल पोस्टल यूनियन तथा इण्टरनेशनल टेलीकम्यूनिकेशन यूनियन आदि । द्वितीय, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के वर्गीकरण का दूसरा आधार सदस्यता की सीमा बताया गया है । किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की सदस्यता या तो व्यापक हो सकती है या सीमित । जैसे—सीटो, वारसा पैक्ट, नाटो आदि क्षेत्रीय अन्तर्राष्ट्रीय संगठन हैं क्योंकि इनकी सदस्यता सीमित है जबकि राष्ट्रसंघ एवं संयुक्त राष्ट्रसंघ को व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कह सकते हैं । तृतीय, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के वर्गीकरण का तीसरा आधार 'कार्य' है । कुछ अन्तर्राष्ट्रीय संगठन नीति निर्धारण का कार्य करते हैं जैसे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन । इसी प्रकार कुछ अन्तर्राष्ट्रीय संगठन प्रशासकीय कार्य अथवा सेवा कार्य करते हैं । यूनिवर्सल पोस्टल यूनियन तथा रेडक्रॉस सोसाइटी इसी वर्गीकरण के अन्तर्गत आते हैं । चतुर्थ, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के वर्गीकरण का अन्तिम आधार 'अधिकार' का है । कुछ अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के पास अपने निर्णयों को स्वीकार कराने के लिए समन्वित अधिकार होता है और उनके निर्णय अनिवार्य रूप से स्वीकार किये जाने वाले होते हैं । अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा सुरक्षा परिषद इसी प्रकार की संस्थाएँ हैं । कुछ ऐसे भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन हैं जिनके निर्णयों का मानना आवश्यक नहीं होता और उसे स्वीकार करना राज्यों की स्वेच्छा पर निर्भर करता है । महासभा को इसका उदाहरण मान सकते हैं ।

निष्कर्ष—बीसवीं शताब्दी में राष्ट्रसंघ तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण हुआ । भविष्य में अन्तर्राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय संगठनों द्वारा एक नये अन्तर्राष्ट्रीय समाज, एक विश्व सरकार और विश्वबन्धुत्व की कल्पना को आगे चलकर साकार बनाने में बहुत सहायता दी जा सकती है । संयुक्त राष्ट्र तथा उससे परे क्षेत्रीय संगठनों ने इस दिशा में कुछ सराहनीय कार्य किये हैं जो प्रगति के रास्ते पर सही कदम कहे जा सकते हैं ।

विश्व सरकार की अवधारणा
(THE CONCEPT OF WORLD GOVERNMENT)

द्वितीय महायुद्धोत्तर काल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में जो प्रमुख प्रश्न उभरे हैं उनमें सबसे महत्वपूर्ण विश्व सरकार की अवधारणा है । संयुक्त राष्ट्रसंघ की दुर्बलताओं और अणु व उद्जन बम, अन्तरमहाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्र और संहारात्मक शस्त्रों के आविष्कार ने अनेक मानवतावादी राजनीतिज्ञों एवं विचारकों को यह सोचने के लिए विवश कर दिया है कि यदि मानव जाति को तीसरे महायुद्ध में अणु शक्ति के प्रकोप से बचाना है तो विश्व के सभी राष्ट्रों को मिलाकर एक ऐसे विश्वसंघ का निर्माण करना होगा, जिसमें शान्ति व व्यवस्था का उत्तरदायित्व विश्व सरकार का हो । अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं की भयंकरता तथा प्रकृति को देखते हुए उनके समाधान के लिए विश्व सरकार का किसी न किसी रूप में होना आवश्यक समझा जाने लगा है ।

मॉरगेन्थाऊ लिखते हैं—"एक शताब्दी के चतुर्थांश में दो महायुद्धों के अनुभव तथा अणुशस्त्रों से तीसरे महायुद्ध की आशंका के कारण विश्व-राज्य का विचार अपूर्व महत्व का हो गया है। तर्क यह दिया जाता है कि संसार की आत्मनाश से रक्षा करने के लिए राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के प्रयोग को अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्यों एवं संस्थाओं के द्वारा सीमित करने की नहीं, वरन् राष्ट्रों की प्रभुसत्ता शक्तियों को एक विश्व शक्ति को प्रदान करने की आवश्यकता है। यह विश्व शक्ति राज्यों पर उसी प्रकार से सार्वभौम होगी, जिस प्रकार से राज्य अपने क्षेत्रों में सार्वभौम है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज में सुधार असफल रहे हैं और इनका असफल होना अवश्यम्भावी था। आवश्यकता इस बात की है कि प्रभुसत्तासम्पन्न राष्ट्रों के वर्तमान समाज का व्यक्तियों के अधिराष्ट्रीय समुदाय में आमूल रूपान्तर किया जाये।"[1]

विश्व सरकार की उपयोगिता
(THE UTILITY OF WORLD GOVERNMENT)

अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए विश्व के अनेक विचारकों ने रचनात्मक रूप से विचार करके विश्व सरकार की स्थापना का सुझाव दिया है। हेरल्ड लास्की के अनुसार, 'अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में राज्य प्रभुसत्ता धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है क्योंकि अब उसकी उपयोगिता खत्म हो चुकी है। आज के व्यक्ति को साम्राज्य की धारणा की नहीं वरन् संघवाद की कल्पना की आवश्यकता है।' क्लोरेन्श ए० स्ट्रीट ने अपनी पुस्तक 'यूनियन नाऊ' में संघीय प्रकार की एक विश्व सरकार की स्थापना की माँग की है। डॉ० राधाकृष्णन् विश्वशान्ति की स्थापना और नये अन्तर्राष्ट्रीय समाज की रचना के लिए विश्व सरकार को सर्वोत्तम साधन मानते हैं। बर्टेण्ड रसेल की मान्यता है कि विश्व सरकार बन जाने से जब सारा विश्व एक सरकार के अधीन हो जायेगा तब युद्धों का स्वरूप ही बदल जायेगा। प्रथम तो युद्ध होंगे ही नहीं और यदि होंगे भी तो महायुद्ध न होकर गृहयुद्ध मात्र होंगे। संयुक्त राष्ट्र महासभा में बोलते हुए जवाहरलाल नेहरू ने (20 दिसम्बर, 1956) कहा था कि वर्तमान युग में हम संकुचित दृष्टिकोण नहीं रख सकते। हमें अनागत की ओर देखना चाहिए। इसके लिए निश्चित रूप से केवल एक ही मार्ग है—विश्व सरकार या एक विश्व का उद्भव। डॉ० अप्पादुराय ने चार आधारों पर विश्व संघ की स्थापना का समर्थन किया है—(i) विश्वशान्ति का एकमात्र साधन, (ii) राष्ट्रों पर अनुशासन रखने के लिए आवश्यक; (iii) युद्धों को रोकने के लिए आवश्यक; (iv) प्रगति का प्रतीक।

संक्षेप में, निम्नलिखित कारणों से आज विश्व सरकार की आवश्यकता प्रकट होती है :

(1) विश्व सरकार के बिना स्थायी शान्ति की स्थापना सम्भव नहीं है।

(2) विश्व के आर्थिक विकास के लिए विश्व सरकार आवश्यक है।

(3) युद्धों को रोकने के लिए विश्व सरकार आवश्यक है।

(4) राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद की विभीषिका से मानवता को बचाने का विकल्प भी विश्व सरकार ही है।

विश्व सरकार की अवधारणा : विशेषताएँ
(CHARACTERISTICS OF THE CONCEPT OF WORLD GOVERNMENT)

विश्व सरकार के सम्बन्ध में कतिपय महत्वपूर्ण अवधारणात्मक विचार इस प्रकार हैं :

(i) **विश्व सरकार एक संघात्मक व्यवस्था है**—कतिपय विचारकों ने विश्व सरकार के संघात्मक प्रतिमान की कल्पना की है जिसमें विभिन्न राज्य घटक इकाइयों के रूप में कार्य करेंगे। जिस प्रकार अमरीका और भारत में संघ व्यवस्था कार्य करती है, उसी प्रकार सभी राज्यों को मिलाकर एक संघीय व्यवस्था का निर्माण किया जाये।

---

[1] Hans J. Morgenthau, *Politics Among Nations* (1963), pp. 501-18.

(ii) **विश्व सरकार सामूहिक सुरक्षा का विकसित रूप**—विश्व सरकार की मान्यता सामूहिक सुरक्षा की कमियों को दूर करने में प्रभावी सिद्ध हो सकती है। सामूहिक सुरक्षा का विचार ऐसी अवस्थाएँ पैदा करने की व्यापक समस्या से जुड़ा हुआ है जिनसे विश्व सरकार का विकास होने में मदद मिले। सामूहिक सुरक्षा के समर्थक इसे एक अस्थायी उपाय मानते हैं जिससे अन्त में विश्व सरकार की स्थापना हो सकेगी।

(iii) **विश्व सरकार शान्ति स्थापित करने का संस्थागत प्रयत्न है**—कतिपय विचारक यह मानते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का अधिकाधिक विकास ही शान्ति स्थापित करने में समर्थ होगा। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के विकास की ये योजनाएँ प्रायः विश्व सरकार के विकास पर विशेष बल देती हैं। विश्व सरकार के निर्माण के बाद सम्प्रभुता और राष्ट्रवाद के आधार पर राज्यों में संघर्ष नहीं होंगे। क्लाड के शब्दों में, 'सामान्य रूप से विश्व सरकार के सिद्धान्त का आशय ऐसी सत्ताधारी, शक्तिशाली केन्द्रीय संस्थाओं का निर्माण करना है जो राज्यों के बीच सम्बन्धों का मुख्यतः अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों को रोकने के लक्ष्य के लिए प्रबन्ध कर सकें।"

(iv) **विश्व सरकार शक्ति प्रबन्ध के रूप में**—आज विश्व में शक्ति का असमान रूप से वितरण हो रहा है। राज्यों की शक्ति को नियन्त्रित और अनुशासित कैसे किया जाये, यह एक समस्या है। वर्तमान विश्व की अराजकता को विश्व सरकार की स्थापना के अतिरिक्त अन्य किसी साधन द्वारा दूर नहीं किया जा सकता।

(v) **विश्व सरकार द्वारा राष्ट्रीय सम्प्रभुता पर नियन्त्रण**—आज के सम्प्रभु राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मनमाना आचरण करते हैं जिससे अन्तर्राष्ट्रीय जगत की सारी शान्ति भंग होती है। यदि राज्यों की व्यक्तिगत सम्प्रभुता को एक विश्व शक्ति के सुपुर्द कर दिया जाये तो समस्या सुलझ सकती है। ज्योफरे सेवर का मत है कि "किसी भी बड़े भयानक युद्ध की सम्भावना को तब तक दूर नहीं किया जा सकता जब तक कि सम्प्रभु आत्मनिर्णायिक राज्यों की व्यवस्था को विश्व सरकार की स्थापना द्वारा स्थानान्तरित नहीं कर दिया जाता।"

विश्व सरकार : निर्माण की प्रक्रिया
(WORLD GOVERNMENT : PROCESS OF MAKING)

विश्व सरकार को प्राप्त करने के लिए जिन पृथक-पृथक उपायों का समर्थन किया गया है, वे इस प्रकार हैं :

(1) **विश्व विजय द्वारा**—कतिपय विचारकों का कहना है कि विश्व सरकार के निर्माण का इच्छुक राज्य सैनिक शक्ति का सहारा लेकर विभिन्न छोटे-बड़े सम्प्रभु राज्यों को पराजित कर एक केन्द्रीय शक्ति का निर्माण कर सकता है। किन्तु आज के आणविक युग में विश्व विजय का विचार भयावह है। विश्व विजय द्वारा स्थापित विश्व राज्य का आधार शक्ति होगी, इच्छा नहीं।

(2) **विश्व संघ के निर्माण द्वारा**—कुछ विचारकों का कहना है कि विश्व के सभी राज्यों को मिलाकर एक संघ में एकीकृत कर दिया जाये और सभी पर स्विस संविधान जैसी व्यवस्थाएँ लागू कर दी जाएँ तो, विश्व सरकार का समाधान हो जायेगा। किन्तु संघ निर्माण के लिए जिन अनुकूल परिस्थितियों का होना आवश्यक है, वे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पैदा नहीं की जा सकतीं।

(3) **विश्व समुदाय के निर्माण द्वारा**—कतिपय विचारकों का कहना है कि विश्व सरकार के निर्माण से पूर्व विश्व समुदाय का निर्माण किया जाना चाहिए। सभी देशों के नागरिकों के बीच सांस्कृतिक, शैक्षणिक, सामाजिक एवं आर्थिक सहयोग की भावना विकसित की जाये ताकि उनमें राष्ट्रीयता के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना विकसित हो। ऐसा होने पर विश्व सरकार की स्थापना [illegible] हो जायेगी। संयुक्त [illegible] विभिन्न अभिकरणों जैसे यूनेस्को, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम [illegible] विश्व स्वास्थ्य संगठन [illegible] से विश्व समुदाय के निर्माण के प्रयत्न चल रहे हैं,

मॉरगेन्थाऊ के अनुसार विश्व राजसत्ता का जन्म तभी सम्भव हो सकता है जबकि पहले विश्व समुदाय अर्थात् वर्ल्ड कम्युनिटी का विकास हो। वास्तव में विश्व राजसत्ता एक प्रकार से विश्व समुदाय की ही परिणति है। जैसे-जैसे विश्व समुदाय का विकास होगा वैसे-वैसे विश्व राजसत्ता अपने आप स्थापित होती चली जायेगी। अतएव मुख्य समस्या विश्व समुदाय के विकास की है। परन्तु इस प्रकार के समुदाय का विकास अत्यन्त कठिन है। खेद का विषय है कि अभी तक यूनेस्को भी विश्व समुदाय के विकास में कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं दे सका है।

विश्व सरकार के मार्ग में बाधाएँ
(DEADLOCKS IN THE WAY OF WORLD GOVERNMENT)

विश्व सरकार की स्थापना कोई सरल कार्य नहीं है। इसके संगठन के मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं। विश्व संगठन के निर्माण में सबसे पहला प्रश्न यह उठता है कि विश्व-सरकार का संगठन एकात्मक आधार पर होना चाहिए या संघात्मक आधार पर? यदि उसे एकात्मक आधार पर संगठित किया जाये तो किस शहर को विश्व का केन्द्र बनाया जाय? यदि विश्व सरकार संघात्मक आधार पर संगठित की जाये तो विभिन्न राष्ट्रों को उसमें किस आधार पर प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए? इसी प्रकार विश्व सरकार के लिए विश्व भाषा निश्चित करने की समस्या का समाधान होना कोई सरल कार्य नहीं है। विश्व कार्यपालिका और विश्व न्यायपालिका का निर्वाचन और नियुक्ति भी आसान नहीं है, क्योंकि उस प्रश्न पर व्यापक मतभेद उत्पन्न हो सकते हैं। डॉ० बी० एम० शर्मा ने लिखा है कि "ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व शान्ति की समस्या को सुलझाने के लिए विश्व संघ का आदर्श केवल कपोल कल्पना रह जायेगा, उन अनेक कल्पनाओं की भाँति जिनके आदर्श प्रशंसनीय हैं किन्तु जिन्हें मानव प्रकृति के कारण सम्भव नहीं बनाया जा सकता।

विश्व सरकार के मार्ग की प्रमुख बाधाएँ इस प्रकार हैं :

(1) **सम्प्रभुता की धारणा**—वर्तमान में राज्य सम्प्रभुता को त्यागने के लिए तैयार नहीं हैं। राष्ट्र राज्यों का गठन सम्प्रभुता की धारणा के आधार पर ही हुआ है। जब तक सम्प्रभुता को त्यागने के लिए राष्ट्र तैयार नहीं हो जाते तब तक विश्व सरकार एक सपना ही बना रहेगा। विश्व सरकार की स्थापना के लिए राष्ट्रीय सम्प्रभुता के आदर्श तथा राष्ट्रों के दृष्टिकोण में मनोवैज्ञानिक परिवर्तन की आवश्यकता है।

(2) **उग्र राष्ट्रवाद**—आज भी राज्यों में उग्र राष्ट्रवाद की सुदृढ़ भावनाएँ विद्यमान हैं। प्रत्येक राष्ट्र पहले अपने राष्ट्रीय हित की ओर ध्यान देता है और बाद में अन्तर्राष्ट्रीय हित की बात सोचता है। राष्ट्रवाद राष्ट्रों के परस्पर वैमनस्य और घृणा का मुख्य कारण है। टायनबी ने लिखा है कि 'विश्व एकता के लिए राष्ट्रवाद सबसे बड़ी कठिनाई है। विश्व इतिहास के ज्वलन्त अध्याय में राष्ट्रवाद मानवता का एक नम्बर का शत्रु है।'

(3) **उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद**—विश्व सरकार की स्थापना के लिए यह जरूरी है कि साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और आर्थिक व राजनीतिक शोषण का विश्व में नामोनिशान न रहे। किन्तु बड़ी शक्तियाँ अपनी प्रभावपूर्ण स्थिति खोने के लिए तैयार न होंगी। साम्राज्यवाद से बड़ी शक्तियों को आर्थिक लाभ होता है।

(4) **सैनिकवाद**—राज्यों में भय की भावना है और वे अपने बजट में सैनिक-शक्ति पर बहुत अधिक खर्च करते हैं। सैनिक गुटों का निर्माण किया जा रहा है, फलस्वरूप शस्त्रीकरण की होड़ विश्ववाद के मार्ग में रोड़ा है।

(5) **वैचारिक मतभेद**—आज विश्व के राज्य विचारधारा के आधार पर दो गुटों में विभाजित हो चुके हैं। पूंजीवादी और समाजवादी गुट अपनी शक्ति वृद्धि में लगे हुए हैं। जब तक

वैचारिक मतभेद समाप्त नहीं होता तब तक अन्तर्राष्ट्रीयतावाद कोरा आदर्श ही है और विश्व सरकार कोरा सपना बना रहेगा।

(6) **सरकार निर्माण की समस्या**—विश्व के लिए सरकार बनाने का प्रश्न भी कम समस्यापूर्ण नहीं है। उदाहरण के लिए; यदि सम्पूर्ण विश्व की व्यवस्थापिका के संगठन की बात सोची जाये तो भी अनेक ऐसी अड़चनें पैदा होना स्वाभाविक है जिनसे विश्व सरकार का आदर्श अव्यावहारिक दिखाई देता है।

निष्कर्ष—मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, "विश्व राज्य के अभाव में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थायी नहीं हो सकती तथा विश्व की वर्तमान नैतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों में विश्व राज्य की स्थापना नहीं हो सकती।" आर्गेन्स्की लिखते हैं कि "विश्व सरकार अभी बहुत दूर की बात है—वर्तमान राष्ट्रों के ऐच्छिक सहयोग द्वारा विश्व सरकार का निर्माण इतना दुष्कर है कि हम स्पष्टतः कह सकते हैं कि यह कभी नहीं होगा.....।" ऑर्नल्ड फोस्टर के विचार से विश्व सरकार की स्थापना के लिए शिक्षा पद्धति में क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है। विश्व के भावी नागरिकों को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जो उनमें सार्वभौमिक और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित करे। सैनिक और शस्त्रीकरण की होड़ पर भी प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिए। यदि लोगों को तीसरे विश्वयुद्ध के भीषण परिणामों से अवगत कराया जाये तो विश्ववाद की निस्सन्देह वृद्धि होने की आशाएँ हैं। पं० नेहरू ने ठीक ही कहा था कि 'विश्व सरकार आनी चाहिए और आयेगी, क्योंकि दुनिया की बीमारी का इसके अलावा कोई इलाज नहीं है।'

प्रश्न

1. विश्व सरकार के पक्ष या विपक्ष में दी जाने वाली युक्तियों की विवेचना कीजिए।
   Discuss the arguments for and against world Government.

27

नि:शस्त्रीकरण : सिद्धान्त और व्यवहार

[DISARMAMENT : THEORY AND PRACTICE]

विश्व में होने वाले विनाशकारी युद्धों के पीछे राष्ट्रों में शस्त्रीकरण की होड़ एक प्रमुख कारण रही है। इस सदी के प्रथम और द्वितीय विश्व महायुद्ध शस्त्रीकरण के फलस्वरूप राष्ट्रों द्वारा शक्ति सन्तुलन की सीमा लांघ जाने की प्रक्रिया या उससे जुड़े हुए भय के कारण ही भड़क उठे थे। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पेरिस के शान्ति सम्मेलन में मित्रराष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने जर्मनी और उसके मित्र देशों को विसैन्यीकृत करके उनकी सैनिक शक्ति तथा शस्त्रीकरण की सामर्थ्य को परिसीमित कर दिया था। किन्तु इससे यूरोप के देशों में शस्त्रीकरण की होड़ कम नहीं हुई। सन् 1920-1936 के मध्य अनेक सम्मेलनों के द्वारा विश्व की प्रमुख शक्तियों ने नि:शस्त्रीकरण की दिशा में कुछ निर्णय लिये, जिनका कारगर साबित न होना द्वितीय विश्वयुद्ध को भड़काने का प्रमुख कारण था। द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका के बावजूद विश्व का साम्यवादी और गैर-साम्यवादी खेमों में बँट जाना नि:शस्त्रीकरण का घोर शत्रु साबित हुआ। सोवियत संघ और अमरीका दोनों परमाणु शस्त्रों की प्रतिस्पर्द्धा में एक-दूसरे को पीछे धकेलने की नीयत से अधिकाधिक परमाणु शस्त्रास्त्र जमा करने लगे। बाद में ब्रिटेन, चीन और फ्रांस भी इस प्रतिस्पर्द्धा में सम्मिलित हो गये।

शस्त्रों की प्रतिस्पर्द्धा के बावजूद नि:शस्त्रीकरण के लिए द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अनेक प्रयास हुए हैं। इस दृष्टि से महाशक्तियों द्वारा अप्रचुरण सन्धि तथा साल्ट सन्धियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। फिर भी महाशक्तियों के आपसी मतमुटाव इतने गहरे हैं कि समस्त मानव जाति की इच्छा के बावजूद वे नि:शस्त्रीकरण पर कोई निश्चित कार्यवाही नहीं कर पाये हैं। अमरीका **'स्टार वार्स'** अनुसन्धान में लगा हुआ है। 'स्टार वार्स' अनुसन्धान का उद्देश्य है हमला रोकने के लिए बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्रों से सुरक्षा की हाल में विकसित टेक्नॉलॉजी के उपयोग के तरीके खोजना ताकि अमरीका अपनी और मित्रराष्ट्रों की सुरक्षा कर सके।

नि:शस्त्रीकरण : परिभाषा और अर्थ
(DISARMAMENT : MEANING AND DEFINITIONS)

नि:शस्त्रीकरण के शाब्दिक अर्थ हैं 'शारीरिक हिंसा के प्रयोग के समस्त भौतिक तथा मानवीय साधनों का उन्मूलन।' यह एक कार्यक्रम है जिसका उद्देश्य हथियारों के अस्तित्व और उनकी प्रकृति से उत्पन्न कुछ विशिष्ट खतरों को कम करना है। इससे हथियारों की सीमा निश्चित करने या उन पर नियन्त्रण करने या उन्हें घटाने का विचार ध्वनित होता है। नि:शस्त्रीकरण के

प्रयास युद्ध को पूरी तरह समाप्त करने की कल्पनात्मक आशा की पूर्ति के लिए नहीं, अपितु आश्चर्य में डाल देने वाले तथा यकायक होने वाले आक्रमणों को रोकने के लिए किये जाते हैं। नि:शस्त्रीकरण का लक्ष्य आवश्यक रूप से निरस्त्र कर देना नहीं है। इसका लक्ष्य तो यह है कि जो भी हथियार इस समय उपस्थित हैं उनके प्रभाव को घटा दिया जाये। मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, "निरस्त्रीकरण कुछ या सब शस्त्रों में कटौती या उनको समाप्त करना है ताकि शस्त्रीकरण की दौड़ का अन्त हो।"

मॉरगेन्थाऊ के अनुसार निरस्त्रीकरण पर विचार करते समय दो मूल भेदों को ध्यान में अवश्य रखना चाहिए, वे हैं सामान्य और स्थानीय निरस्त्रीकरण में भेद और मात्रात्मक और गुणात्मक निरस्त्रीकरण में भेद।[1] सामान्य निरस्त्रीकरण से मतलब है जिसमें सब सम्बन्धित राष्ट्र भाग लें। इसका उदाहरण हमें 1922 की नौसैनिक शस्त्रीकरण पर सीमा की वाशिंगटन सन्धि से मिलता है, जिस पर सारी प्रमुख नैसर्गिक शक्तियों ने हस्ताक्षर किये और 1932 में विश्व निरस्त्रीकरण सम्मेलन से जिसमें लगभग राष्ट्र समुदाय के सब सदस्यों का प्रतिनिधित्व हुआ। स्थानीय निरस्त्रीकरण से हमारा अभिप्राय उससे है जिसमें सीमित संख्या में राष्ट्र सम्मिलित हों। 1817 का अमरीका और कनाडा के बीच रश-बागोट समझौता इस प्रकार का एक उदाहरण है। मात्रात्मक निरस्त्रीकरण का उद्देश्य अधिक या सब प्रकार के शस्त्रीकरणों में सम्पूर्ण कटौती है। 1932 में विश्व निरस्त्रीकरण सम्मेलन में उपस्थित अधिकतर राष्ट्रों का यह ध्येय था। गुणात्मक निरस्त्रीकरण केवल विशेष प्रकार के शस्त्रों में कटौती या इनका उन्मूलन है जैसे 1932 के विश्व निरस्त्रीकरण सम्मेलन में ब्रिटेन ने आक्रमणकारी शस्त्रों को अवैध कराने का यत्न किया था।

व्यापक निरस्त्रीकरण को पूर्ण या सम्पूर्ण निरस्त्रीकरण (total disarmament) भी कहते हैं। पूर्ण या व्यापक निरस्त्रीकरण का अर्थ है अन्ततोगत्वा ऐसी विश्व व्यवस्था ले आना जिसमें युद्ध करने के सारे मानवीय और भौतिक साधन समाप्त कर दिये गये हों। इस प्रकार की विश्व व्यवस्था में किसी प्रकार का कोई हथियार नहीं होगा और सेनाएँ पूरी तरह भंग कर दी जायेंगी। सैनिक प्रशिक्षण केन्द्र, युद्ध मन्त्रालय, सैनिक साज-सामान बनाने वाले कारखाने आदि भी बन्द कर दिये जायेंगे।

निरस्त्रीकरण अनिवार्य और ऐच्छिक प्रकार का भी होता है। अनिवार्य निरस्त्रीकरण युद्ध के उपरान्त विजयी राष्ट्रों द्वारा निर्जित राष्ट्रों पर लागू किया जाता है। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी पर ऐसा ही निरस्त्रीकरण लागू किया गया था। यदि राष्ट्र स्वेच्छा से अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों द्वारा निरस्त्रीकरण स्वीकार करते हैं तो उसे ऐच्छिक निरस्त्रीकरण कहते हैं। जैसे 1968 की अणु प्रसार निरोध सन्धि।

संक्षेप में, निरस्त्रीकरण सामान्य भी हो सकता है और स्थानीय भी, मात्रात्मक भी हो सकता है और गुणात्मक भी; एकपक्षीय भी हो सकता है और द्विपक्षीय भी; पूर्ण भी हो सकता है और आंशिक भी, नियन्त्रित भी हो सकता है और अनियन्त्रित भी। मोटे रूप से, निरस्त्रीकरण में मौजूदा अस्त्र कम या समाप्त करने की बात तथ्यगत रूप से होनी चाहिए।

निरस्त्रीकरण और शस्त्र नियन्त्रण
(DISARMAMENT AND ARMS CONTROL)

निरस्त्रीकरण के कार्यक्रम को कुछ विद्वान 'शस्त्र नियन्त्रण' या 'हथियार नियन्त्रण' या 'आयुध नियन्त्रण' कार्यक्रम कहकर पुकारते हैं। निरस्त्रीकरण के अनुसार तो राष्ट्रों के पास

---

1 Hans J. Morgenthau. *Politics Amone Nations*, Third edition, pp. 391-92.

हथियार ही नहीं होने चाहिए। राष्ट्रों के पास बिल्कुल ही हथियार या सेना न रहे अथवा सम्पूर्ण निरस्त्रीकरण हो जाये, ऐसा सम्भव नहीं है। फिर निरस्त्रीकरण केवल वर्तमान में उपलब्ध शस्त्र-अस्त्र का हो सकता है, जबकि शस्त्रास्त्र के उत्पादन की प्रविधा में निरन्तर प्रगति होती रहती है और उसके परिणामस्वरूप नये हथियार बराबर बनते रहते हैं। स्पष्टतः निरस्त्रीकरण को इन नये हथियारों पर लागू नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के नियन्त्रण के लिए एक पृथक शब्दावली प्रयुक्त की जाती है और वह है **'शस्त्र-नियन्त्रण'** (arms control)। निरस्त्रीकरण शब्द का प्रयोग मौजूदा अस्त्रों के नियन्त्रण के लिए किया जाता है और शस्त्र नियन्त्रण शब्द भविष्य के हथियारों के नियन्त्रण के लिए। निरस्त्रीकरण शस्त्रों पर नियन्त्रण करने का यत्न करता है और शस्त्र नियन्त्रण शस्त्रों की होड़ या मुकाबलेबाजी रोकने की कोशिश करता है। निरस्त्रीकरण का अर्थ युद्ध संचालन के सभी शस्त्रों तथा सेनाओं को अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों द्वारा घटाना है जबकि शस्त्र नियन्त्रण में वे सभी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते अथवा उपाय आ जाते हैं, जिनसे स्वीकृत शस्त्रों के प्रयोग को नियन्त्रित किया जाता है तथा राज्यों द्वारा स्वीकृत वर्जित शस्त्रों के प्रयोग अथवा विकास पर नियन्त्रण लगाया जाता है। शस्त्र नियन्त्रण इस प्रकार शस्त्रों की कटौती पर उतना बल नहीं देता जितना कि इस पर कि किन विशिष्ट प्रकार के शस्त्रों का उपयोग किया जाय और किन विशिष्ट प्रकार के शस्त्रों का प्रयोग न किया जाय। शस्त्र नियन्त्रण एक अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण संस्था की अनिवार्यता स्वीकार करता है जो समस्त राज्यों का निरीक्षण करने में समर्थ हो कि राज्यों द्वारा निषिद्ध शस्त्रों का निर्माण अथवा प्रयोग तो नहीं हो रहा।

यही अन्तर शीतयुद्ध के दौरान एक-दूसरे के विरुद्ध प्रचार का स्रोत बन गया। रूस अमरीका पर यह आरोप लगा रहा था कि वह बिना निःशस्त्रीकरण किये पहले ही नियन्त्रण व्यवस्था चाहता है। उसी प्रकार अमरीका का रूस पर आरोप था कि वह बिना नियन्त्रण की व्यवस्था किये निःशस्त्रीकरण चाहता है। निःशस्त्रीकरण की शर्त नियन्त्रण है। अमरीका व उसके साथी राष्ट्र निःशस्त्रीकरण के लिए तब तक सहमत नहीं थे जब तक कि जाँच व नियन्त्रण के लिए ऐसी व्यवस्था न हो जाये जिससे उनको विश्वास हो सके कि सोवियत संघ व साम्यवादी गुट के अन्य राष्ट्र समझौते की शर्तों का पालन करेंगे। यद्यपि सोवियत संघ ने कभी भी नियन्त्रण के लिए इन्कार नहीं किया किन्तु मतभेद केवल प्रकार और समय का था। ख्रुश्चेव ने कई बार कहा था कि—"यदि एक बार पूर्ण निःशस्त्रीकरण हो जाये, तब हम बाद में नियन्त्रण के लिए कठोर उपाय अपनाने के लिए सहमत हो जायेंगे।"

मूल बात यह है कि संसार पूर्ण निःशस्त्रीकरण नहीं अपितु शस्त्रों पर नियन्त्रण चाहता है ताकि युद्धों की आशंका न रहे। तथापि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के दृष्टिकोण से निरस्त्रीकरण और शस्त्र नियन्त्रण एक-दूसरे के पूरक हैं। शस्त्र नियन्त्रण निरस्त्रीकरण का अनिवार्य अंग है। दोनों का मूल उद्देश्य यही है कि अन्तर्राष्ट्रीय समाज में अवैध हिंसा एवं शक्ति के प्रयोग को रोका जाय, सीमित किया जाये तथा उसे कम किया जाये। केवल शस्त्र नियन्त्रण निरस्त्रीकरण के इस सिद्धान्त को नकारता है कि शस्त्रों का होना ही युद्ध का एक कारण है।

निरस्त्रीकरण की आवश्यकता एवं दर्शन
(DISARMAMENT : THE PHILOSOPHY AND NEED)

निरस्त्रीकरण को शान्ति का एक साधन समझा जाता है। निरस्त्रीकरण का प्रयोजन राष्ट्रों को लड़ाई के साधनों से ही वंचित कर देना है। निरस्त्रीकरण दर्शन के अनुसार युद्ध का एकमात्र प्रत्यक्ष कारण शस्त्रों एवं हथियारों का अस्तित्व है। निरस्त्रीकरण का सिद्धान्त इस सम्प्रत्यय पर खड़ा है कि शस्त्रों के कारण युद्ध न केवल भौतिक दृष्टि से सम्भव है, बल्कि राजनीतिक दृष्टि से भी सम्भाव्य बन जाता है। "मनुष्य इसलिए नहीं लड़ते कि उनके पास हथियार हैं, वरन् इसलिए

लड़ते हैं कि वे उन्हें लड़ने के लिए आवश्यक समझते हैं।" बर्ट्रेण्ड रसेल ने लिखा है, "अत्यधिक महत्वपूर्ण और वांछनीय होते हुए भी सामान्य निरस्त्रीकरण स्थायी शान्ति की प्राप्ति के लिए पर्याप्त नहीं होगा। जब तक कि वैज्ञानिक तकनीक का ज्ञान बना रहेगा, किसी बड़ी लड़ाई के छिड़ जाने पर दोनों पक्षों द्वारा ताप-नाभिकीय शस्त्रों का निर्माण शुरू हो जायेगा और पिछले शान्ति के वर्षों से भी अधिक संहारक हथियार आ जायेंगे। इस कारण केवल निरस्त्रीकरण ही पर्याप्त नहीं है, फिर भी यह एक आवश्यक कदम है जिसके वगैर (शान्ति के लिए किये गये) अन्य प्रयास अधिक उपयोगी नहीं होंगे।"[1]

निरस्त्रीकरण की आवश्यकता निम्नलिखित कारणों से अनुभव की जाती है :

(1) **शस्त्रीकरण से युद्ध की सम्भावना**—निरस्त्रीकरण का आधुनिक दर्शन इस संकल्पना को लेकर चलता है कि आदमी लड़ते हैं, क्योंकि उनके पास हथियार हैं। इस धारणा से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि आदमी सब हथियार छोड़ दें तो सब प्रकार का लड़ना असम्भव हो जायेगा। इनिस क्लाड का अभिमत है कि शस्त्रास्त्रों से राष्ट्र नेताओं को युद्ध में कूदने का प्रलोभन हो जाता है। प्रथम विश्वयुद्ध का प्रधान कारण राष्ट्रों में व्याप्त शस्त्रीय होड़ ही था। शस्त्र उत्पादन पर अनाप-शनाप खर्च करके राजमर्मज्ञ जनता को उनका युद्ध में इस्तेमाल करके यह दिखाते हैं कि इस पर किया गया खर्च राष्ट्रीय सुरक्षा जैसे महत्वपूर्ण मामले पर था। मसलन द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान अमरीका ने जापान के हिरोशिमा और नागासाकी नगरों पर बम गिराये। इस बम के उत्पादन पर अमरीका ने अरबों डॉलर व्यय किया था। बम का प्रयोग कर अमरीकी शासकों ने अपनी जनता को परोक्ष रूप से यह दर्शाना चाहा कि खर्च किया गया धन व्यर्थ नहीं गया है। अतः निरस्त्रीकरण का मार्ग अपनाकर युद्धों से बचा जा सकता है।

(2) **शस्त्रीकरण से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव उत्पन्न होना**—राष्ट्रों में शस्त्र-निर्माण की होड़ अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा भंग करती है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बढ़ता है। विभिन्न राष्ट्रों में राष्ट्रीय हितों का टकराव अस्वाभाविक तथ्य नहीं है। इस टकराव में शस्त्रीकरण आग में घी का काम करता है और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव अपनी चरमोत्कर्ष की सीमा पर पहुँच जाता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए हैडली बुल ने कहा है कि शस्त्रों की होड़ स्वयं तनाव की अभिव्यक्ति है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में कमी लाने के लिए निरस्त्रीकरण अत्यन्त आवश्यक है।

(3) **शस्त्रीकरण पर असीमित व्यय से लोक-कल्याणकारी कार्यों की उपेक्षा**—शस्त्र उत्पादन में असीमित संसाधन व्यय किये जाते हैं। विश्व के छोटे-बड़े सभी राष्ट्र अपने बजट का अधिकांश भाग शस्त्रों के निर्माण एवं सैन्य सामग्री जुटाने में खर्च करते हैं। यह आश्चर्य की बात है कि महाशक्तियों के द्वारा अरबों डॉलर खर्च करके ऐसे बम एवं मिसाइलों का निर्माण किया गया है जिनकी भविष्य में प्रयोग किये जाने की कोई सम्भावना प्रतीत नहीं होती। वह विपुल धनराशि जो राष्ट्रों द्वारा विनाशकारी अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण पर व्यय की जाती है यदि विश्व के अविकसित और पिछड़े देशों के विकास पर व्यय की जाये तो समूचे विश्व का रूप बदल सकता है। आइजनहावर के शब्दों में, 'प्रत्येक बन्दूक जिसे बनाया जाता है, प्रत्येक युद्धपोत जिसका जलावतरण किया जाता है, प्रत्येक रॉकेट जिसे छोड़ा जाता है, अन्तिम अर्थों में उन लोगों के प्रति जो भूखे रहते हैं और जिन्हें खाना नहीं खिलाया जाता, जो ठिठुरते हैं किन्तु जिन्हें वस्त्र नहीं दिये जाते—एक चोरी का सूचक होता है।" दूसरे शब्दों में, विनाशकारी कार्यों में व्यय किये जाने वाले इस धन को लोक-कल्याणकारी कार्यों में लगाकर पृथ्वी को स्वर्ग बनाया जा सकता है।

(4) **शस्त्रीकरण नैतिकता के प्रतिकूल है**—शस्त्रों से युद्ध होता है और युद्ध नैतिक दृष्टि

---

1 Bertrend Russell, *Has Man a Future*, p. 103.

से अनुचित है। जो लोग युद्ध के नैतिक अनौचित्य में विश्वास रखते हैं उनका कहना है कि हथियार रखने का अर्थ है युद्ध की मूक स्वीकृति और युद्ध की मूक स्वीकृति हर प्रकार के युद्ध को बल देती है। शस्त्रीकरण को नैतिकता के प्रतिकूल मानने वालों में धर्मगुरु, सामाजिक कार्यकर्ता तथा प्रबुद्ध लेखक हैं। इन नैतिकवादियों का तर्क है कि किसी भी अच्छे उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साधन भी उतने ही श्रेष्ठ होने चाहिए। मसलन यदि कोई राष्ट्र शत्रु राष्ट्र से राष्ट्रीय सुरक्षा करने हेतु शस्त्रों का उत्पादन करता है तो यह नैतिकता के खिलाफ है क्योंकि यह शस्त्रीकरण अन्ततोगत्वा युद्ध को जन्म देता है। युद्ध रूपी अनुचित साधन से किसी भी अच्छे उद्देश्य की प्राप्ति नैतिक रूप से न्यायोचित नहीं ठहरायी जा सकती है।

(5) **शस्त्रीकरण से अन्य देशों में हस्तक्षेप**—शस्त्रीकरण दूसरे देशों द्वारा हस्तक्षेप करने का भी मार्ग प्रशस्त करता है। विश्व के छोटे राष्ट्र बड़े राष्ट्रों से शस्त्र तथा हथियारों की टेक्नॉलॉजी का आयात करते हैं। आमतौर से यह देखा गया है कि बड़े राष्ट्र शस्त्र निर्यात और शस्त्र सहायता को राजनीतिक दबाव के साधन के रूप में प्रयुक्त करते हैं ताकि परोक्ष रूप से प्राप्तकर्ता देश दाता देशों के चंगुल में फँसे रहें। यही नहीं, शस्त्र सहायता एवं शस्त्र निर्यात के नाम पर बड़ी शक्तियाँ छोटे देशों की अर्थव्यवस्था में घुसपैठ करती हैं। मसलन अमरीका ने नाटो, सिएटो, सेण्टो तथा सोवियत संघ ने वारसा पैक्ट के द्वारा इसके सदस्य राष्ट्रों को शस्त्र सहायता दी है। इस शस्त्र सहायता के नाम पर यथार्थ में सदस्य राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था में घुसपैठ की है। किसी भी देश की अर्थव्यवस्था में बाहरी घुसपैठ उसको दूसरे पर निर्भर बनाती है। यह कई बार राजनीतिक हस्तक्षेप का भी मार्ग प्रशस्त करती है। अतः तीसरे विश्व में बाह्य हस्तक्षेप को रोकने के लिए आवश्यक है कि शस्त्रीकरण की नीति छोड़कर निरस्त्रीकरण के मार्ग को अपनाया जाये।

(6) **शस्त्रीकरण से आर्थिक विकास का मार्ग अवरुद्ध**—शस्त्रीकरण पर राष्ट्रीय आय का बहुत बड़ा हिस्सा खर्च होने से विशेषकर तीसरी दुनिया के विकासशील देशों के आर्थिक विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। जैसा कि हम सभी जानते हैं कि अफ्रीका, एशिया और लेटिन अमरीका महाद्वीप के राष्ट्र द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ही अनौपचारिक दासता के पंजे से मुक्त हुए हैं। औपनिवेशिक शासन के दौरान उनकी अर्थव्यवस्था को तहस-नहस कर दिया गया था। औपनिवेशिक शक्तियों ने उनका असीमित आर्थिक शोषण किया। स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में उदय होने के कारण अब तीसरी दुनिया को अपनी एक मजबूत अर्थव्यवस्था का निर्माण करना है, जो स्वतन्त्र आर्थिक विकास के माध्यम से ही सम्भव है। जब इन गरीब राष्ट्रों द्वारा शस्त्रीकरण पर असीमित व्यय किया जाता है तो स्वाभाविक है आर्थिक विकास की उपेक्षा होती है।

(7) **शस्त्रीकरण मृत्यु का पैगाम है**—शस्त्रीकरण के क्षेत्र में होने वाली आश्चर्यजनक क्रान्ति ने सम्पूर्ण मानवता को जीवन और मृत्यु के चौराहे लाकर खड़ा कर दिया है। तकनीकी आविष्कारों ने इतने भयानक शस्त्रों का निर्माण कर दिया है कि कुछ ही मिनटों में सम्पूर्ण विश्व को नष्ट किया जा सकता है।

(8) **मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण**—मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्पष्ट है कि शस्त्रीकरण देश में सैनिकीकरण को जन्म देता है। सैनिकों का होना इस को द्योतक है कि किसी भी प्रकार से युद्ध में विजय प्राप्त की जाय। शस्त्रों की उपस्थिति का अर्थ शक्ति का प्रदर्शन, धमकी, आक्रमण विरोध आदि को प्रोत्साहित करना है। ये सभी कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अशान्त वातावरण उत्पन्न करते हैं। इन सबके कारण मानवता का संहार ही होता है, अतः निःशस्त्रीकरण आवश्यक है।

(9) **उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद का अन्त करने में सहायक**—साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद ये सभी शक्ति को बढ़ाने के दूसरे रूप है। एक राष्ट्र की शक्ति वा शस्त्रों को बढ़ाना ही

युद्ध को जन्म देता है। निःशस्त्रीकरण से साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद का अन्त होता है तथा राष्ट्रों के बीच शान्ति स्थापित की जा सकती है।

संक्षेप में निरस्त्रीकरण के पक्ष में दो मोटी संकल्पनाएँ हैं—(i) परमाणु का भय, विश्व के सभी राज्यों में शान्ति बनाये रखने की वास्तविक इच्छा तथा यह भय कि शस्त्र ही युद्ध के जनक होते हैं। (ii) अनियन्त्रित शस्त्र संचय के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बढ़ता तनाव, भय, अस्थिरता तथा उससे मुक्ति पाने की इच्छा। आधुनिक आणविक युग में तो निरस्त्रीकरण का महत्व और भी अधिक हो गया है। यदि अणु युद्ध हुआ तो न केवल मरने वाले ही मिट जायेंगे वरन् जीवित बचने वाले लोगों का जीवन 'रेडियो विकीर्ण तत्वों' के कारण इतना विकृत और भयानक हो जायेगा कि वे मरने वालों से ईर्ष्या करने लगेंगे। टायनबी ने लिखा भी है कि "अणु युग में हमने यदि युद्ध को समाप्त नहीं किया तो युद्ध हमें समाप्त कर देगा।"

निरस्त्रीकरण के विपक्ष में तर्क
(ARGUMENTS AGAINST DISARMAMENT)

कई विचारक विश्वशान्ति के लिए निरस्त्रीकरण के महत्व को स्वीकार नहीं करते और इसके विपक्ष में निम्नलिखित तर्क देते हैं :

(1) **निरस्त्रीकरण से युद्ध अधिक होने की प्रवृत्ति**—क्विसी राइट के अभिमत में निरस्त्रीकरण से सम्भवतः युद्ध अधिक होने की प्रवृत्ति पैदा होगी। युद्ध होने की सम्भावना उस समय अधिक रहती है जब राज्यो के पास हथियार कम हों। राज्यों के पास जितनी ज्यादा मात्रा में हथियार होंगे वे उतनी ही ज्यादा मात्रा में एक-दूसरे से डरते रहेंगे और एक-दूसरे को शक्ति प्रयोग से रोकते रहेंगे। यदि राज्यों के पास कम हथियार होंगे तो वे युद्ध को राष्ट्रीय नीति का साधन बना लेंगे और बिना किसी झिझक के शस्त्रों का प्रयोग करेंगे। परमाणु युग के नूतन हथियार युद्ध का सहारा लेने की अनिच्छा पैदा करते हैं और निरस्त्रीकरण को पहले से कहीं अधिक सम्भव बना रहे हैं।

(2) **निरस्त्रीकरण से आर्थिक मन्दी**—ऐसा भी कहा जाता है कि निरस्त्रीकरण से आर्थिक मन्दी पैदा होगी जिससे समृद्धि का मार्ग अवरुद्ध होगा। आज लाखों-करोड़ों मजदूर और तकनीकी विशेषज्ञ शस्त्र निर्माण, शोध तथा सैनिक साज-सामान के निर्माण में लगे हुए हैं। यदि निरस्त्रीकरण लागू किया जाता है तो करोड़ों लोग बेकार हो जायेंगे, हजारों कारखाने बन्द हो जायेंगे और कई देशों की अर्थव्यवस्था आलोडित होगी।

(3) **निरस्त्रीकरण से वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति का अवरुद्ध होना**—ऐसा भी कहा जाता है कि निरस्त्रीकरण से तकनीकी और वैज्ञानिक उन्नति की गति मन्द पड़ जायेगी। आज विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में जितनी भी उन्नति हुई है उसका मूल कारण राष्ट्रीय सुरक्षा की चिन्ताएँ और शस्त्र निर्माण के क्षेत्र में होने वाले अनुसन्धान हैं।

निरस्त्रीकरण के विपक्ष में दिये जाने वाले उपर्युक्त तीनों ही तर्कों में तथ्यगत सार नहीं है। यथार्थ में शस्त्रीकरण युद्ध मनोविज्ञान को जन्म देता है और उससे अविश्वास और भय की अभिव्यक्ति होती है। निरस्त्रीकरण के फलस्वरूप आर्थिक कटौती के कारण कोई आर्थिक संकट नहीं आयेगा क्योंकि निरस्त्रीकरण की योजनाएँ क्रमिक रूप से कई वर्षों और कालों में क्रियान्वित की जायेंगी। एमिल बेनोइट ने सुझाया है कि मन्दी से बचने का एकमात्र मार्ग नियोजन या योजना निर्माण है। इस तर्क में भी कोई वजन नहीं है कि निरस्त्रीकरण हो जाने से सारी तकनीकी और वैज्ञानिक उन्नति रुक जायेगी। टायनबी के अनुसार यदि निरस्त्रीकरण हो जाता है और यदि सामाजिक परिवर्तन के लिए शान्तिपूर्ण तरीके अपनाये जाते हैं तो प्रौद्योगिक उन्नति में कोई शिथिलता नहीं आयेगी।

निरस्त्रीकरण के मार्ग में बाधाएँ और कठिनाइयाँ
(PROBLEMS OF DISARMAMENT)

निरस्त्रीकरण की दिशा में किये गये प्रयासों में कोई चमत्कारिक सफलता नहीं मिली है। निरस्त्रीकरण के मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं, जो इस प्रकार है :

(1) **प्राथमिकता का प्रश्न** (Priority of Disarmament of the Solution of Disputes)—निरस्त्रीकरण पहले किया जाये अथवा राज्यों के आपसी विवादों को पहले सुलझाया जाये ? निरस्त्रीकरण हो जाये तो कई राजनीतिक विवाद स्वयं सुलझ जायेंगे और राजनीतिक विवाद सुलझ जायें, तो निरस्त्रीकरण करना सुगम हो जायेगा। हमारी मूल समस्या यह है कि दोनों में से किस तर्क को ज्यादा बजनी मानें। हमारी धारणा यह है कि शस्त्रों की होड़ से तनाव, शंका, भय और युद्ध का सूत्रपात होता है अत: निरस्त्रीकरण को प्राथमिकता देनी होगी।

(2) **अनुपात की समस्या** (The Problem of 'Ratio')—निरस्त्रीकरण से अभिप्राय है शस्त्रीकरण पर सीमा, या नियन्त्रण लगाना अथवा उनमें कटौती करना। निरस्त्रीकरण की मूल समस्या सभी देशों के शस्त्रों को आनुपातिक रूप से कम करना है।[1] निरस्त्रीकरण के उपरान्त यह नहीं होना चाहिए कि शक्तिशाली देश तो कमजोर बन जाये तथा कमजोर देश अधिक शक्तिशाली बन जाये। अत: निरस्त्रीकरण में 'सन्तुलित' अथवा 'आनुपातिक' शक्ति को स्थिर ही रखना पड़ेगा। राज्य इस बात के लिए विशेष सतर्क रहते है कि आनुपातिक शक्ति में निरस्त्रीकरण के बाद कोई भी परिवर्तन न हो। इतना ही नहीं, प्रत्येक राज्य निरस्त्रीकरण के द्वारा अपनी शक्ति पर तो कोई आंच नहीं आने देना चाहता, यद्यपि दूसरे राज्यों की शक्ति क्षीण करना चाहता है। अत: निरस्त्रीकरण के प्रस्ताव प्राय: एकपक्षीय होते हैं। सैल्वेदोर दि मदेरियागा ने इसी तथ्य को लिटिनोव द्वारा प्रस्तुत एक प्रस्ताव के उत्तर में 1932 में जेनेवा निरस्त्रीकरण सम्मेलन में एक लोककथा द्वारा चित्रित किया है :

"जंगल के सभी जीव-जन्तु निरस्त्रीय सम्मेलन में भाग लेने के लिए एक हुए। शेर ने गिद्ध की ओर देखते हुए गम्भीरता से कहा, हमें शिकारी पक्षियों के नखों को समाप्त करना होगा। चीते ने हाथी की ओर देखते हुए कहा, इन बाह्य दाँतों को हटाना होगा, हाथी ने चीते की ओर देखते हुए कहा, नाखून और पंजे भी नहीं रहने चाहिए। इसी प्रकार वारी-वारी से कोई जानवर उठता और अपने को छोड़कर जिस पर उसकी दृष्टि पड़ती उसके नुकीले दाँत या नाखूनों को समाप्त करने की वात करता। अन्त में रीछ अपने स्थान से उठा और बहुत मीठे लहजे में बोला साथियो सबको समाप्त कर दो सवका उन्मूलन कर दो, बस यह महान सर्वदेशीय आलिंगन रहने दो।"[2]

कहने का मतलब यह है कि निरस्त्रीकरण के लिए विभिन्न राष्ट्रों द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव बड़े एकपक्षीय होते हैं। आनुपातिक निरस्त्रीकरण करना और भी कठिन है।

(3) **राष्ट्रीय हित**—राष्ट्रीय स्वार्थ निरस्त्रीकरण के मार्ग में वहुत बड़ी बाधा है। राष्ट्र सबसे पहले अपने हितों को देखते हैं और उसके बाद अपनी राष्ट्रीय सीमा से बाहर निकलकर आदर्शों में लिपटी हुई भाषा में अन्तर्राष्ट्रीय जगत को धोखा देने का प्रयास करते हैं। कोई भी राष्ट्र इसका अपवाद नहीं है। उदाहरणार्थ, भारत और फ्रांस ने 1968 की परमाणु अस्त्र विस्तार निषेध सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किये। भारत चीन से और फ्रांस पश्चिमी जर्मनी से भयभीत है और निरस्त्रीकरण कार्यक्रम को शंका की दृष्टि से देखते हैं।

---

1 Charles P. Schleicher, *International Relations*, 1963, p. 416.
2 *Ibid.*, p, 416.

(4) **राष्ट्रवाद और सम्प्रभुता**—राष्ट्रवाद एवं सम्प्रभुता की भावना के कारण एक देश यह स्वीकार नहीं करता कि उसकी निरस्त्रीकरण की क्रियान्विति की जाँच के लिए कोई अन्तर्राष्ट्रीय संस्था बनायी जाये। इस प्रकार के निरीक्षण द्वारा एक देश की स्वतन्त्रता पर जो अंकुश लगता है उसे मानने को कोई तैयार नहीं होता।

(5) **अविश्वास**—आज की समस्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति परस्पर अविश्वास पर आधारित है। आधुनिक विश्व विचारधाराओं के आधार पर दो विरोधी गुटों में बँटा है। दोनों गुट एक दूसरे के प्रति सन्देहशील हैं। पूँजीवादी देश साम्यवादी आन्दोलन से आतंकित हैं और साम्यवादी देश 'विश्व विजय' के मार्ग से विमुख होने को आत्महत्या समझते हैं। अविश्वास के कारण राज्य निरस्त्रीकरण करते हुए घबराते हैं और निरस्त्रीकरण के कारण समझौता हो भी जाये तो भी यह भय बराबर बना रहता है कि दूसरा राष्ट्र उसका पालन भी करेगा या नहीं।

(6) **राजनीतिक समस्याएँ**—निरस्त्रीकरण राजनीतिक समस्याओं के समाधान पर निर्भर करता है, अतः पहले राजनीतिक समस्याओं को हल किया जाये या निरस्त्रीकरण किया जाये। ये दोनों एक-दूसरे के मार्ग में बाधा डालते हैं। यह सोचा जाता है कि शस्त्र झगड़ों का कारण हैं और इनको घटाने से अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम और मैत्री बढ़ेगी। किन्तु यह प्रयास एकपक्षीय होगा। होना यह चाहिए कि मनमुटाव, अविश्वास एवं प्रतिद्वन्द्विता को दूर करने के लिए हर दिशा में प्रयास किया जाये। वास्तव में, निरस्त्रीकरण की दिया में ठोस कार्य तब तक नहीं हो सकता जब तक महाशक्तियों में मौलिक मतभेद बने रहेंगे।

(7) **आर्थिक कारण**—अमरीका और ब्रिटेन आदि पूँजीवादी देशों में शस्त्रास्त्र निर्माण करने वाली कम्पनियों के मालिक व हिस्सेदार राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं और निरस्त्रीकरण कार्यक्रमों को सफल नहीं होने देते, क्योंकि निरस्त्रीकरण हो जाने से उनका रोजगार ठप्प हो जायेगा और उनके कारखाने बन्द हो जायेंगे। निरस्त्रीकरण हो जाने से यदि शस्त्र उद्योग बन्द हो गये तो पूँजीवादी देशों में बेकारी बढ़ेगी और लोगों की क्रयशक्ति नष्ट हो जायेगी। ऐसा कहा जाता है कि निरस्त्रीकरण के कारण होने वाली आर्थिक कटौती से आर्थिक संकट आ जायेगा।

निष्कर्षतः निरस्त्रीकरण पूरी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हिंसा के स्थान पर समस्याओं को शान्तिपूर्ण ढंग से आपसी सद्विश्वास और सहानुभूति से सुलझाने का ही दूसरा नाम है। आज जब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति वैचारिकी प्रतियोगिता, संकीर्ण राष्ट्रवाद, स्वार्थपूर्ण राष्ट्रीय हितों की सीमा में बँधी है तो निरस्त्रीकरण करना सम्भव नहीं है। निरस्त्रीकरण के लिए एक नये दृष्टिकोण, नये वातावरण, नये विश्वास और नये मानव की आवश्यकता है।

निरस्त्रीकरण की नीति एक देश की सैनिक नीति तथा परराष्ट्र नीति का अंग होती है। यदि एक देश की परराष्ट्र नीति प्रसारवादी और आक्रामक न होकर शान्तिवादी हो तो निरस्त्रीकरण सरल हो जायेगा। यथार्थ में, निरस्त्रीकरण की समस्या निरस्त्रीकरण की समस्या नहीं है, यह वस्तुतः विश्व समुदाय के संगठन की समस्या है।

निःशस्त्रीकरण की दिशा में किये गये प्रयास
(EFFORTS IN THE DIRECTION OF DISARMAMENT)

निःशस्त्रीकरण की दिशा में किये गये प्रयासों का इतिहास अनेक असफलताओं तथा कुछ सफलताओं की कहानी है। परिणामों की असफलता का मुख्य कारण निःशस्त्रीकरण के लिए राष्ट्रों में सदिच्छा का अभाव है।

प्रथम महायुद्ध से पूर्व 'शक्ति ही सबसे बड़ा न्याय' था अतः उस काल में निःशस्त्रीकरण के लिए किये गये प्रयासों का प्रश्न ही नहीं उठता। विश्व के देशों को निरस्त्र करने की न तो

किसी ने आवश्यकता अनुभव की थी और न इस दिशा में प्रयास ही किये गये थे। सन् 1899 के हेग सम्मेलन में बस यह प्रस्ताव पारित हुआ था कि 'मानवता के भौतिक और नैतिक कल्याण के लिए सैनिक हथियारों का नियन्त्रण अत्यन्त आवश्यक है।" दूसरे हेग सम्मेलन (1907) में इस बात की संस्तुति की गयी थी कि विभिन्न राष्ट्रों की सरकारें इस विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें।

प्रथम महायुद्ध में हुए नर संहार ने युद्ध की भयानकता से भावी संततियों को बचाने के लिए निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता सिद्ध कर दी।

दो महायुद्धों के मध्य निःशस्त्रीकरण के प्रयास
(DISARMAMENT EFFORTS BETWEEN THE TWO WORLD WARS)

सन् 1919 से लेकर सन् 1939 तक निःशस्त्रीकरण समस्या के समाधान के लिए राष्ट्र-संघ में तथा राष्ट्र संघ के बाहर अनेक प्रयास किये गये।

राष्ट्र संघ द्वारा किये गये निःशस्त्रीकरण प्रयास

(1) शान्ति और सुरक्षा के लिए निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता का अनुभव करते हुए **पेरिस के शान्ति समझौते की विभिन्न सन्धियों** में इस दिशा में पहले चरण के रूप में जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी की स्थलीय एवं जलीय सैनिक शक्तियों को सीमित कर दिया गया।

(2) **राष्ट्र संघ के संविधान की 8वीं धारा** में शान्ति स्थापित करने के लिए शस्त्रास्त्रों की कमी को आवश्यक बताते हुए इसके लिए विस्तृत योजना बनाने का कार्य संघ की कौंसिल को सौंपा गया था।

(3) इस कार्य के लिए जनवरी 1920 में एक **स्थायी परामर्शदाता आयोग** (Permanent Advisory Commission) बनाया गया। इसके सदस्य उस समय कौंसिल में विद्यमान देशों में से प्रत्येक की स्थल, जल और वायु सेना के एक-एक विशेषज्ञ होते थे। इन सेनाविशारदों से निःशस्त्रीकरण की आशा वैसी ही थी जैसी पादरियों के किसी आयोग से नास्तिकता की घोषणा की आशा रखना। अतः नवम्बर 1920 में संघ की असेम्बली ने इसमें राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में विशेषज्ञ समझे जाने वाले छः सेना भिन्न (Civilian) व्यक्ति बढ़ाकर अस्थायी मिश्रित आयोग (Temporary Mixed Commission) के रूप में इसका पुनर्निर्माण किया।

(4) सितम्बर 1922 तक अनेक योजनाओं पर विचार करने के बाद अस्थायी-मिश्रित आयोग इस परिणाम पर पहुँचा कि इस समस्या का हल विभिन्न देशों को सुरक्षा (Security) प्रदान करने से सम्भव है, जब तक उन्हें सुरक्षा प्राप्त नहीं होगी, वे अपने शस्त्रास्त्र घटाने को तैयार नहीं होंगे। सुरक्षा प्रदान करने का पहला प्रयत्न चौथी असेम्बली द्वारा 1924 में **पारस्परिक सहायता की सन्धि का मसविदा** या प्रारूप (Draft Treaty of Mutual Assistance) स्वीकार करना था। इसका उद्देश्य आक्रमण का शिकार होने वाले राष्ट्रों को सहायता प्रदान करना था, किन्तु यह मसविदा ग्रेट ब्रिटेन आदि देशों ने स्वीकार नहीं किया। इसके बाद मध्यस्थता के उपाय से सुरक्षा की समस्या हल करने का प्रयत्न किया गया और शूमैन के शब्दों में मध्यस्थता से सुरक्षा और सुरक्षा से निःशस्त्रीकरण का नया मार्ग ढूंढ़ा गया। इसका अनुसरण करते हुए जेनेवा प्रोटोकोल तैयार किया गया और 15 जून, 1925 को सामान्य निःशस्त्रीकरण सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया गया। किन्तु ग्रेट-ब्रिटेन जेनेवा प्रोटोकोल स्वीकार करने को तैयार न था।

(5) अक्टूबर 1924 में अस्थायी मिश्रित आयोग द्वारा काम करना बन्द कर दिया गया और इसके स्थान पर निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के लिए **सज्जीकरण आयोग** (Preparatory Commission for the Disarmament Conference) बनाया गया और इसके सदस्य कौंसिल में विद्यमान राज्यों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त संघ के कुछ अन्य सदस्य राज्यों के प्रतिनिधि थे तथा

संघ का सदस्य न होते हुए भी संयुक्त राज्य अमरीका, रूस और जर्मनी के प्रतिनिधियों को इसमें आमन्त्रित किया गया। सज्जीकरण आयोग पाँच वर्ष तक निरन्तर प्रयत्न करने पर भी निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी मतभेदों को अपनी सात बैठकों में न सुलझा सका। 6 नवम्बर, 1930 को इस आयोग का सातवाँ और अन्तिम अधिवेशन हुआ। 9 दिसम्बर, 1930 को इसने निःशस्त्रीकरण की एक योजना का एक मूल प्रस्ताव (Draft Convention) पास करके अपनी कार्यवाही समाप्त की। 60 धाराओं के इस प्रस्ताव की मुख्य व्यवस्थाएँ इस प्रकार थीं—(i) स्थल युद्ध की रण-सामग्री पर बजट द्वारा नियन्त्रण किया जाये। (ii) सैनिकों की संख्या का नियन्त्रण करते हुए प्रशिक्षित सुरक्षित सैनिकों का विचार न किया जाये। (iii) अनिवार्य सैनिक सेवा के वर्षों की अवधि घटायी जाये। (iv) नौसैनिक जहाजों पर 1922 के वाशिंगटन सम्मेलन की तथा 1930 के लन्दन सम्मेलन की व्यवस्थाओं को लागू किया जाये। (v) हवाई अस्त्रों को अश्व-शक्ति के आधार पर नियन्त्रित किया जाये। (vi) रासायनिक तथा जीवाणु फैलाने वाले युद्धों को रोका जाये। (vii) एक स्थायी निःशस्त्रीकरण आयोग बनाया जाये।

(6) उपर्युक्त प्रस्ताव को मुख्य आधार बनाकर इस समस्या पर विचार करने के लिए **राष्ट्र संघ का निरस्त्रीकरण सम्मेलन जेनेवा** में 3 फरवरी, 1932 को आर्थर हैण्डर्सन के सभापतित्व में आरम्भ हुआ। इसमें 57 राज्यों के प्रतिनिधि आये थे। यह विधि की विडम्बना और क्रूर व्यंग्य था कि इस समय शंघाई में जापान की चीन के विरुद्ध लड़ाई चल रही थी। इस सम्मेलन के 232 प्रतिनिधि अपने साथ 337 प्रस्ताव लेकर आये थे। फ्रेंच प्रतिनिधि आन्द्रे तरद्यु ने इसे सफल बनाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस की एक निरोधात्मक तथा दण्डात्मक सेना बनाने का प्रस्ताव रखा। इसके अनुसार विभिन्न राज्यों को सब आक्रमणात्मक शस्त्र और साधन—बड़े युद्धपोत, तोपखाने, पनडुब्बियाँ, बमवर्षक वायुयान संघ को दे देने चाहिए, सब विवादों का निर्णय आवश्यक रूप से मध्यस्थों द्वारा ही होना चाहिए। जर्मनी ने इसमें यह माँग की कि राष्ट्र के प्रतिज्ञा-पत्र तथा वर्साय की सन्धि में उसके साथ किया गया वचन पूरा होना चाहिए, उसका निःशस्त्रीकरण इस आधार पर किया गया था कि अन्य देशों के शस्त्रास्त्र भी कम कर दिये जायेंगे। अब या तो दूसरे देशों के हथियार कम कर दिये जायें अथवा जर्मनी को अन्य देशों के बराबर शस्त्रास्त्र रखने दिये जायें। किन्तु फ्रांस जर्मनी की इस समानता की माँग को स्वीकार करने का कट्टर विरोधी था, वह अपनी सुरक्षा की दृष्टि से जर्मनी के निःशस्त्रीकरण को स्थायी बनाना चाहता था। फ्रांस और जर्मनी के परस्पर विरोधी दृष्टिकोण से सम्मेलन में गतिरोध उत्पन्न हो गया। हिटलर के अभ्युदय के बाद 14 अक्टूबर, 1933 को जर्मनी ने निःशस्त्रीकरण सम्मेलन से पृथक होने की घोषणा की। इससे यह सम्मेलन क्रियात्मक रूप से समाप्त और मृतप्राय हो गया, यद्यपि इसकी अन्तिम बैठक 29 मई, 1933 को हुई।

सर अल्फ्रेड जिम्मर्न[1] ने सम्मेलन की विफलता के कारणों पर प्रकाश डालते हुए इसका **पहला कारण** इसमें सहयोग की भावना का अभाव और इसका राजनीतिक होना बताया है। इसमें विभिन्न राष्ट्र विश्व शान्ति की समस्या सुलझाने के लिए नहीं, किन्तु अपनी प्रभुता बनाये रखने और दूसरों की शक्ति न बढ़ने देने के लिए एकत्र हुए थे। **दूसरा कारण** विभिन्न शक्तियों के उग्र मतभेद थे। फ्रांस अन्तर्राष्ट्रीय सेना और सुरक्षा का दृढ़ समर्थक था। वह आरम्भ से ही राष्ट्र-संघ की अध्यक्षता में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए सेना के निर्माण का प्रस्ताव रख रहा था क्योंकि इस प्रकार वह जर्मन आक्रमण से निश्चिन्त हो सकता था। इसके बाद ही वह अपने हथियार घटाने को तैयार था। उसका यह मत था कि सुरक्षा के बाद शस्त्रीकरण की आव-

1 जिम्मर्न, दी लीग ऑफ नेशन्स, पृ० 415-17।

श्यकता नहीं रहेगी। किन्तु ग्रेट-ब्रिटेन का यह विचार था कि हथियारों की वृद्धि राष्ट्रों में असुरक्षा की भावना पैदा करती है, यदि हथियारों को घटा दिया जाये तो चिन्ता, असुरक्षा और आक्रमण की आशंका स्वयमेव कम हो जायेगी। हथियार जितने कम होंगे, युद्ध का भय उसी मात्रा में घट जायेगा। अतः सुरक्षा से पहले निःशस्त्रीकरण आवश्यक है। फ्रांस की सुरक्षा की माँग जर्मनी की समानता की माँग से सर्वथा प्रतिकूल थी। इन दोनों का समन्वय असम्भव था और इनके संघर्ष की चट्टान से टकराकर सम्मेलन की नौका डूबनी शुरू हुई थी। **तीसरा कारण** महाशक्तियों का निःशस्त्रीकरण के सिद्धान्त में अविश्वास और पक्षपातपूर्ण व्यवहार था। "प्रथम विश्वयुद्ध के विजेताओं ने जर्मनी का निःशस्त्रीकरण तो बलपूर्वक कर दिया, किन्तु वचनबद्ध होने पर भी अपना निःशस्त्रीकरण टालते रहे।" **चौथा कारण** यह था कि शस्त्रास्त्र निर्माण करने वाली कम्पनियों ने निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों को विफल बनाने का पूरा प्रयत्न किया क्योंकि इनकी सफलता से उनके अत्यधिक लाभदायक व्यवसाय को गहरी क्षति और धक्का पहुँचता।

राष्ट्र संघ की भूमिका पर टिप्पणी करते हुए शूमां ने लिखा है कि "राष्ट्र संघ द्वारा संसार में निःशस्त्रीकरण के प्रयासों का आरम्भ जर्मनी के एकपक्षीय निःशस्त्रीकरण से हुआ था और जर्मनी के एकपक्षीय पुनः संशोधन से इन प्रयासों का अन्त हो गया।"

राष्ट्र संघ से बाहर किये गये निःशस्त्रीकरण प्रयास

राष्ट्र संघ के बाहर दो महायुद्धों के मध्य निःशस्त्रीकरण की दिशा में जो प्रयत्न किये गये उनमें उल्लेखनीय थे—वाशिंगटन का सम्मेलन, जेनेवा सम्मेलन, लन्दन नौसैनिक सम्मेलन एवं द्वितीय लन्दन नौसैनिक सम्मेलन।

(1) **वाशिंगटन सम्मेलन**, 1921-22 (Washington Conference, 1921-22)—राष्ट्र संघ ने जिस समय अपना निःशस्त्रीकरण का कार्य आरम्भ किया, उसी समय वाशिंगटन में राष्ट्र संघ से सर्वथा पृथक् विभिन्न देशों की जलीय शक्ति को नियन्त्रित करने के लिए एक सम्मेलन अमरीकन राष्ट्रपति हार्डिंग द्वारा 12 नवम्बर, 1921 को बुलाया गया। इसमें ग्रेट-ब्रिटेन, जापान, फ्रांस, इटली, चीन, बेल्जियम, पुर्तगाल, हालैण्ड के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य विभिन्न देशों में नौ सेना के विस्तार के लिए होने वाली व्ययसाध्य और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति में बाधक उग्र प्रतिद्वन्द्विता को रोकना था। 12 नवम्बर, 1921 से 6 फरवरी, 1922 तक इस सम्मेलन ने नौसेना होड़ को समाप्त करने के लिए सात सन्धियाँ कीं। इसमें सबसे महत्वपूर्ण पहली सन्धि 'Five Power Treaty Limiting Naval Armament' थी। इस सन्धि में प्रत्येक देश के लिए बड़े युद्धपोतों और वायुयान वाहक पोतों के कुल टनों की मात्रा मर्यादित की गयी। इस सन्धि द्वारा संयुक्त राज्य अमरीका के पास अधिक-से-अधिक 5,25,000 टन के बड़े जंगी जहाज, ग्रेट-ब्रिटेन के पास 5,25,000 टन के जहाज, जापान के पास 3,15,000 टन के जहाज, फ्रांस के पास 1,75,000 टन के जहाज और इटली के पास 1,75,000 टन के जहाज रखे जाने निश्चित हुए। इससे इनकी नौसैनिक शक्ति का अनुपात 5 : 5 : 3 : 1·67 : 1·67 निश्चित हुआ। ग्रेट-ब्रिटेन पनडुब्बियों को बिलकुल समाप्त करने के पक्ष में था, किन्तु फ्रांस ने इसका घोर विरोध किया। वायु एवं स्थल सेना को घटाने के विषय में कोई समझौता नहीं हुआ।

दो विश्वयुद्धों के मध्य हुए अनेक निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों में यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण सम्मेलन था, इसने युद्धपोतों के निर्माण की तात्कालिक होड़ को नियन्त्रित किया।

(2) **जेनेवा सम्मेलन**, 1927 (Geneva Conference, 1927)—वाशिंगटन सम्मेलन में बड़े युद्धपोतों का निर्णय तो हो गया, किन्तु अन्य छोटे युद्धपोतों का झगड़ा बाकी था। अतः सन् 1927 में राष्ट्रपति कूलिज ने वाशिंगटन सम्मेलन की सफलता से प्रभावित होकर जेनेवा में 5 महान जल शक्तियों का एक सम्मेलन बुलाया। फ्रांस व इटली में समता के बारे में झगड़ा होने

तथा इटली के और अधिक कटौती के लिए तैयार न होने के कारण जेनेवा सम्मेलन में केवल अमरीका, ब्रिटेन और जापान के सैनिक प्रतिनिधियों में भाग लिया। यह सम्मेलन अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सका। ब्रिटेन छोटे युद्धपोतों के मामले से अमरीका से समता के लिए तैयार नहीं था, क्योंकि अमरीका की तुलना में ब्रिटेन के समुद्रपार हित अधिक थे।

(3) **लन्दन का नौसैनिक सम्मेलन**, 1930 (London Naval Conference, 1930)—21 जनवरी, 1930 से आरम्भ होने वाले इस सम्मेलन में ब्रिटिश प्रतिनिधियों ने सब महाशक्तियों द्वारा सब प्रकार के रणपोतों के निर्माण को घटाने पर बल दिया। अमरीका ने इसका समर्थन करते हुए ब्रिटेन के साथ समानता पर बल दिया। जापान बड़े क्रूजरों में ब्रिटेन व अमरीका के 70 प्रतिशत क्रूजर रखना चाहता था। इटली अपनी नौसेना इस शर्त पर घटाना चाहता था कि उसकी घटी हुई नौसैना महाद्वीपीय शक्तियों के अर्थात् फ्रांस के तुल्य हो।

तीन महीने की सुदीर्घ सन्धिवार्ता के उपरान्त 22 अप्रैल, 1930 को लन्दन नौसैनिक सन्धि पर केवल ब्रिटेन, अमरीका और जापान ने हस्ताक्षर किये। फ्रांस और इटली में समानता के प्रश्न पर समझौता नहीं हुआ, अतः उन्होंने इसके नौसैनिक शक्ति मर्यादित करने वाले मुख्य अंश पर हस्ताक्षर नहीं किये। इस सन्धि की महत्वपूर्ण व्यवस्थाएँ निम्नलिखित थीं—(1) पाँच महाशक्तियों ने 1937 तक नये युद्धपोत न बनाने का निश्चय किया। (2) ब्रिटेन ने अपने पाँच बड़े जंगी जहाज, अमरीका ने तीन तथा जापान ने एक जहाज नष्ट करने का निश्चय किया। (3) वायुयान वाहक जहाजों में 6·1 इंच से बड़ी तोपें न लगाने का निर्णय' हुआ। (4) पनडुब्बियों का आकार 2,000 टन तथा तोपों का 5·1 इंच तक सीमित किया गया। (5) तीनों देश 52,700 टन की पनडुब्बियाँ रख सकते थे। (6) इस सन्धि की अवधि 31 दिसम्बर, 1936 तक रखी गयी और 1935 में नया सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया गया।

(4) **द्वितीय लन्दन नौसैनिक सम्मेलन**, 1935 (Second London Naval Conference, 1935)—1930 की लन्दन की नौसैनिक सन्धि 1936 में समाप्त होनी थी। इससे पहले नयी सन्धिवार्ता के प्रयत्न लन्दन में शुरू हुए, किन्तु इस समय जापान द्वारा संयुक्त राज्य अमरीका के तुल्य नौसेना रखने की माँग ने इस समस्या को जटिल बना दिया। संयुक्त राज्य अमरीका ने जापान की समानता की माँग का घोर विरोध किया। उसका यह कहना था कि अमरीका को प्रशान्त एवं अटलाण्टिक महासागरों के तटों की रक्षा करनी है जबकि जापान के पास केवल प्रशान्त महासागर ही है, अतः उनकी नौसेना से समानता नहीं हो सकती। इन मतभेदों को हल करने के लिए लन्दन में 9 दिसम्बर, 1935 को संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन, जापान, इटली और फ्रांस का सम्मेलन हुआ। किन्तु इसमें न तो जापान की संयुक्त राज्य अमरीका के साथ समानता की माँग का प्रश्न हल को सका और न फ्रेंच-इटालियन समानता की गुत्थी सुलझी। जापान यह सम्मेलन छोड़कर चला गया और 25 मार्च, 1936 को इस सम्मेलन के परिणामस्वरूप हुई सन्धि पर केवल संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन और फ्रांस ने हस्ताक्षर किये। इटली ने एबीसीनिया युद्ध में लगाये गये आर्थिक प्रतिबन्धों के कारण इस सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किये।

इसके बाद सभी राष्ट्र नौसैनिक प्रतियोगिता मे कूद पड़े थे और निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी समझौते असफलता के अन्धकार में भटक रहे थे। यह द्वितीय विश्वयुद्ध की भूमिका थी।

द्वितीय महायुद्ध के बाद निःशस्त्रीकरण के प्रयास
(DISARMAMENT EFFORTS AFTER THE SECOND WORLD WAR)

(1) संयुक्त राष्ट्र संघ चार्टर की दूसरी धारा में निःशस्त्रीकरण की चर्चा की गयी है। चार्टर में निःशस्त्रीकरण के बारे में संयुक्त राष्ट्र संघ की जिम्मेदारी महासभा और सुरक्षा परिषद् दोनों पर डाली गयी थी।

(2) चार्टर के निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी उपबन्धों को कार्यान्वित करने के लिए पहला

कदम 15 नवम्बर, 1945 को उठाया गया जब कनाडा, ब्रिटेन और अमरीका की सरकारों ने एक घोषणा प्रकाशित करके यह प्रस्ताव रखा कि परमाणु ऊर्जा के अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण कार्य करने के लिए एक संयुक्त राष्ट्रीय आयोग स्थापित किया जाये।

(3) संयुक्त राष्ट्र संघ की पहली महासभा ने संयुक्त राष्ट्र परमाणु ऊर्जा आयोग (United Nations Atomic Energy Commission) की स्थापना की जिसके सदस्यों में सुरक्षा परिषद् के सभी राष्ट्रों के साथ-साथ कनाडा भी था। परमाणु ऊर्जा आयोग की पहली बैठक में अमरीका ने एक राष्ट्रीय परमाणु विकास प्राधिकरण के लिए बरूख योजना (एचेसन-लिथिएंथल) पेश की। इस योजना के अनुसार परमाणु ऊर्जा आयोग को विखण्डनीय पदार्थों के उत्पादन की सब अवस्थाओं का निरन्तर निरीक्षण करना था और उसे परमाणु अस्त्रों के परीक्षण करने का और परमाणु ऊर्जा के शान्तिकालीन लाभों को बढ़ावा देने का अनन्य अधिकार दिया गया। सोवियत संघ ने बरूख योजना के निरीक्षण सम्बन्धी और खानों तथा फैक्टरियों ने अन्तर्राष्ट्रीय स्वामित्व और प्रबन्ध सम्बन्धी उपबन्धों पर आपत्ति की।

(4) 13 फरवरी, 1947 को सुरक्षा परिषद् ने पारस्परिक हथियार आयोग (Conventional Disarmament Commission) की स्थापना की जिसके सदस्य वे सब देश ही थे जो सुरक्षा परिषद् के सदस्य थे। इस आयोग को वे कार्य करने की मनाही थी जो परमाणु ऊर्जा आयोग को सौंपे गये थे।

(5) बरूख योजना के विकल्प के रूप में 11 जून, 1947 को सोवियत संघ ने कुछ प्रस्ताव पेश किये। सोवियत योजना में "एक परमाणु नियन्त्रण प्रणाली की शर्तें और सिद्धान्त" स्थिर करने की बात कही गयी। बाद में सितम्बर 1937 में सोवियत संघ ने "एक वर्ष में तिहाई" हथियार और सेना घटाने के प्रस्ताव रखे।

(6) 11 जनवरी, 1952 को छठी महासभा ने संयुक्त राष्ट्र नि.शस्त्रीकरण आयोग (United Nations Disarmament Commission) की स्थापना की जिसने परमाणु ऊर्जा आयोग और पारस्परिक हथियार आयोग दोनों का स्थान ले लिया। ऐसा निश्चय किया गया कि निःशस्त्रीकरण आयोग सुरक्षा परिषद के नियन्त्रण में कार्य करेगा। इस आयोग ने दो समितियों की स्थापना की। एक समिति को हथियारों व सेनाओं के नियमन का कार्य सौंपा गया और दूसरी समिति को यह कार्य दिया गया कि वह राष्ट्रों द्वारा सेनाओं व हथियारों के सम्बन्ध में दी गयी सूचनाओं पर विचार-विमर्श करेगी। इस समिति ने माँग की कि निःशस्त्रीकरण आयोग के निरीक्षकों को हवाई उड़ान का अधिकार होना चाहिए तथा उन्हें यह अधिकार भी मिलना चाहिए कि वे किसी भी देश में जाकर वहाँ के हथियारों के कारखानों में निरीक्षण कर सकें। किन्तु जब राष्ट्रों से इस प्रकार की मांग की गयी तो वे तैयार नहीं हुए।

(7) 10 मई, 1955 को सोवियत संघ के प्रतिनिधि ने संयुक्त राष्ट्र संघ में निःशस्त्रीकरण की एक नयी योजना रखी। रूस ने सेना में एक-तिहाई कटौती की अपनी माँग को छोड़ दिया। आणविक हथियारों को तत्काल नष्ट करने की जिद छोड़ कर उसने पश्चिमी गुट की यह बात मान ली कि तीन-चौथाई हथियारों और सैनिकों की कमी करने के बाद इस दिशा में कदम उठाये जायें तथा एक 'अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण संघ' की स्थापना की जाय।

(8) जेनेवा के शिखर सम्मेलन (जुलाई 1955) में सोवियत सघ, ब्रिटेन, अमरीका और फ्रांस ने भाग लिया। इस सम्मेलन में अमरीका के राष्ट्रपति आइजनहावर ने मुक्त आकाश योजना (Open Skies Plan) रखी। इस योजना का उद्देश्य एक देश को दूसरे देश के आकाश पर निरीक्षण करने का अधिकार प्रदान करना था। इस योजना के अनुसार यह प्रस्ताव रखा गया कि

सोवियत संघ व संयुक्त राज्य अमरीका अपनी सेना, शस्त्रागारों की संख्या. सैनिक सामग्री तैयार करने वाले कारखानों व सैनिक अड्डों की पूर्ण जानकारी प्रदान करें तथा विद्युत उपकरणों से हवाई निरीक्षण की व्यवस्था हो। सोवियत संघ ने यह प्रस्ताव ठुकरा दिया, क्योंकि उस समय सारे विश्व में अमरीका के सैनिक अड्डे तिरोहित हो रहे थे। सोवियत प्रधान मन्त्री बुलगानिन ने एक दूसरा ही प्रस्बाव सम्मेलन के सामने रखा जिसमें माँग की गयी थी कि एक अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण अभिकरण की स्थापना की जाये जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर निरीक्षकों की नियुक्ति की व्यवस्था हो, सभी देशों से विदेशी सैनिक अड्डे समाप्त किये जायें, आणविक हथियारों पर प्रतिबन्ध लगाया जाय तथा परम्परागत हथियारों में कमी की जाय। पश्चिमी गुट इन माँगों को स्वीकार नहीं कर सका।

(9) 24 जनवरी, 1957 को सोवियत संघ ने यह प्रस्ताव रखा कि निःशस्त्रीकरण आयोग को विस्तृत किया जाय और मिस्र, भारत, पोलैण्ड और एक लैटिन अमरीका देश को भी इसका सदस्य बनाया जाये।

(10) 3 फरवरी, 1958 को रूस के प्रधानमन्त्री मार्शल बुलगानिन ने अमरीका के राष्ट्रपति आइजनहावर के समक्ष निःशस्त्रीकरण की एक योजना प्रस्तुत की जो बुलगानिन योजना के नाम से प्रसिद्ध है। इस योजना में निम्न बातों पर जोर दिया गया था—(i) अणु व उद्जन बमों का परीक्षण बन्द किया जाये; (ii) अमरीका, रूस और ब्रिटेन आणविक शस्त्रों का परित्याग करें; (iii) नाटो तथा वारसा पैक्ट के देशों में अनाक्रमण समझौता हो; (iv) जर्मन तथा अन्य यूरोपीय देशों से विदेशी सेनाओं को हटाया जाये; और (v) आकस्मिक आक्रमणों को रोकने के लिए समझौता हो।

(11) इन्हीं दिनों पोलैण्ड के विदेशमन्त्री ने एक योजना प्रस्तुत की जो **रापाकी योजना** के नाम से विख्यात है। इस योजना में यूरोप में सुरक्षा और शान्ति बनाये रखने हेतु पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, पश्चिमी व पूर्वी जर्मनी को अणु-विहीन क्षेत्र बनाने का सुझाव दिया गया था। इसका अर्थ यह था कि उपरोक्त देशों में आणविक शस्त्रों के निर्माण, संग्रह व उपयोग पर पाबन्दी लगायी जाय। सोवियत संघ द्वारा इस प्रस्ताव को समर्थन मिला, परन्तु अमरीका की तरफ से कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला।

(12) 31 मार्च, 1958 को सोवियत संघ की सुप्रीम सोवियत ने यह घोषणा की कि 'रूस अणु परीक्षण बन्द कर रहा है, दूसरे राष्ट्र भी उपका अनुसरण करें। अमरीकी राष्ट्रपति आइजनहावर ने इस प्रस्ताव को सोवियत संघ का प्रचारात्मक कार्य बतलाया।

(13) 31 अक्टूबर, 1958 के दिन जेनेवा सम्मेलन में निःशस्त्रीकरण के विषय में अनेक प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये। सोवियत संघ का मत था कि सभी प्रकार के आणविक परीक्षण सदा के लिए बन्द कर दिये जायें जबकि ब्रिटेन और अमरीका निरीक्षण पद्धति के साथ एक वर्ष के लिए आणविक परीक्षणों को बन्द करने के पक्ष में थे।

(14) 18 सितम्बर, 1959 को सोवियत प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ने महासभा में 'पूर्ण सर्व-मान्य निःशस्त्रीकरण' का प्रस्ताव रखा जिसमें कहा गया था कि चार साल के भीतर सभी राष्ट्रों को इस प्रकार निःशस्त्रीकरण करना चाहिए कि इस अवधि के बाद उनके पास युद्ध के साधन न रहें। आन्तरिक सुरक्षा के लिए वे थोड़ी-सी सेना व पुलिस रख सकते हैं। इस योजना के साथ ख्रुश्चेव ने आंशिक निःशस्त्रीकरण की भी एक योजना रखी जिसमें निम्नांकित बातें थीं—(i) नाटो तथा वारसा पैक्ट के राष्ट्रों में एक अनाक्रमण सन्धि हो; (ii) एक राज्य दूसरे राज्य की आकस्मिक आक्रमण के समय मदद करें; (iii) यूरोप के देशों में से विदेशी सेना हटा ली जाये;

(iv) मध्य यूरोप में अणुविहीन क्षेत्र की स्थापना की जाये; तथा (v) विदेशी सैनिक अड्डे समाप्त कर दिये जायें।

(15) सन् 1960 में निःशस्त्रीकरण पर विचार करने के लिए जेनेवा में 15 मार्च को दस राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ। इस बार एक साथ दो सम्मेलन हो रहे थे; एक दस राष्ट्रों का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन तथा दूसरा आणविक क्लब (Atom Club) के तीन सदस्यों का आणविक परीक्षणों को निषेध करने के सम्बन्ध मे वार्ता। लेकिन इन दोनों सम्मेलनों में भी कोई प्रगति नहीं हो सकी। निःशस्त्रीकरण और नियन्त्रण पर दोनों पक्षों के बीच गतिरोध उत्पन्न हो जाना अवश्यम्भावी था।

(16) दिसम्बर, 1961 में महासभा ने निःशस्त्रीकरण आयोग का विस्तार करके आठ गुटनिरपेक्ष देशों—ब्राजील, बर्मा, इथियोपिया, भारत, मेक्सिको, नाइजीरिया, स्वीडन और संयुक्त अरब गणराज्य—को इसमें शामिल कर दिया। इस प्रकार 10-राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण आयोग अब 18-राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण आयोग बन गया। पर फ्रांस ने शुरू से ही इस पुनर्गठित आयोग का इस आधार पर बहिष्कार किया कि 18-राष्ट्रों वाला इतना बड़ा आयोग निःशस्त्रीकरण समस्या का कोई हल नहीं निकाल सकता।

(17) 1963 **की आणविक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि**—14 जुलाई, 1963 को ब्रिटेन, सोवियत संघ और अमरीका के प्रतिनिधियों का मास्को में एक सम्मेलन हुआ। 25 जुलाई, 1963 को इन तीनों देशों ने एक 'सीमित अणु प्रतिबन्ध' सन्धि पर हस्ताक्षर किये। इस सन्धि के द्वारा भूगर्भ परीक्षणों को छोड़कर वाह्य आकाश, समुद्र और वायुमण्डल में अणु परीक्षण करने पर रोक लगा दी गयी। फ्रांस ने इस सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किये, चीन इसका विरोधी था और भारत हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों में अग्रणी था। इस सन्धि में निम्नांकित पाँच धाराएँ हैं :

(क) पहली धारा में तीन राष्ट्रों द्वारा यह संकल्प किया गया है कि वे अपने अधिकार-क्षेत्र और नियन्त्रण में विद्यमान किसी भी प्रदेश के वायुमण्डल में, इनकी सीमाओं में, वाह्य अन्तरिक्ष में, प्रादेशिक अथवा महासमुद्रों के जल में कोई भी आणविक विस्फोट नहीं करेंगे।

(ख) दूसरी धारा में संशोधन की व्यवस्था है। सन्धि में संशोधन का प्रस्ताव किसी भी राष्ट्र की सरकार द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है। यदि हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्रों में से एक-तिहाई राष्ट्र प्रस्ताव के पक्ष में हों तो संशोधन पर विचार हो सकता है।

(ग) तीसरी धारा के अनुसार इस सन्धि पर कोई भी देश हस्ताक्षर कर सकता है। यह व्यवस्था है कि हस्ताक्षरकर्ता देश इस सन्धि पर अपनी संसद या राष्ट्रीय परिषद् का समर्थन प्राप्त करेगा और ऐसे समर्थन को रूस, अमरीका व ग्रेट के पास जमा कराना पड़ेगा।

(घ) चौथी धारा में लिखा गया है कि यह सन्धि असीमित काल के लिए है। यद्यपि हस्ताक्षरकर्ता प्रत्येक राष्ट्र को यह अधिकार है कि वह अपनी राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का प्रयोग करते हुए उस समय स्वयं को इस सन्धि के बन्धनों से मुक्त करलें जब वह यह अनुभव करें कि इससे उसके देश का सर्वोच्च हित संकट में पड़ गया है, तथापि हटने वाले राष्ट्र को तीन माह पूर्व नोटिस देना होगा।

(ङ) पाँचवीं धारा के अनुसार इस सन्धि के अँग्रेजी व रूसी भाषा के दोनों रूप समान रूप से प्रामाणिक समझे जायेंगे।

आणविक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि का स्वागत करते हुए इसे **"स्थायी शान्ति और निःशस्त्रीकरण की दिशा में प्रथम क़दम"**, **"अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक नया मार्ग और अरुणोदय"** और **'मेल-मिलाप की प्रतिज्ञा और एक अधिक सौम्य भविष्य की आशा'** कहा गया। परन्तु इस सन्धि से परमाणु परीक्षणों से सम्बन्धित सब समस्याएँ, विशेष रूप से परमाणु अस्त्रों को लक्ष्यों

पर पहुँचाने के साधनों, प्रक्षेपास्त्र नाशक प्रक्षेपास्त्रों को त्रुटिहीन बनाने, और रूढ़ हथियारों से सम्बन्धित सब समस्याओं को हल नहीं किया जा सकता। यह न तो भूमिगत विस्फोटों पर रोक लगाती है और न परमाणु हथियारों का उत्पादन बन्द करती है। इसके अलावा यह परमाणु शक्तियों को अपने हथियार अपने मित्रराष्ट्रों को देने से भी नहीं रोकती। वस्तुतः भू-गर्भ परीक्षण को पकड़ने का कोई उचित तरीका न होने के कारण इस पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सका। ख्रुश्चेव ने इसे एक अच्छी शुरूआत और युगान्तरकारी घटना कहा था।

(18) 27 जुलाई, 1965 को जेनेवा में निःशस्त्रीकरण आयोग की बैठक बुलायी गयी। इस सम्मेलन ने अपने कार्यों की, जो उसने अब तक किये थे, रपट पेश की। दोनों गुटों की ओर से ऐसे भाषण हुए जिन्होंने सम्मेलन के भाग्य का पहले ही फैसला कर दिया। अणु-हथियारों के नियन्त्रण के तरीकों के सम्बन्ध में दोनों पक्षों में स्पष्ट मतभेद था।

(19) बाह्य आकाश सन्धि, 1966—बाह्य आकाश सन्धि (Outer Space Treaty) भी शान्ति की दिशा में एक रचनात्मक सन्धि है। इस सन्धि द्वारा अमरीका, रूस तथा ब्रिटेन ने बाह्य आकाश में न्यूक्लीन शस्त्रों का भेजा जाना निषिद्ध मान लिया है। बाह्य आकाश का प्रयोग वैज्ञानिक शोधों और शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए किया जायेगा। कोई भी राज्य बाह्य आकाश के किसी भी भाग पर राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का दावा नहीं करेगा तथा चन्द्रमा और खगोलीय पिण्डों पर सैनिक अड्डे स्थापित नहीं किये जायेंगे। 9 दिसम्बर, 1966 को संयुक्त राष्ट्र ने इस सन्धि को स्वीकार कर लिया।

(20) अणु प्रसार निरोध सन्धि, 1968—सन् 1966 में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा की राजनीतिक समिति ने परमाणु अस्त्रों के प्रसार और निर्माण पर नियन्त्रण (Nuclear Non-Proliferation Treaty) का प्रस्ताव पास किया। संघ के 112 सदस्यों में से 110 ने प्रस्ताव के पक्ष में मत दिया। अल्बानिया ने प्रस्ताव का विरोध किया और क्यूबा तटस्थ रहा।

इस सन्धि की मुख्य धाराएँ निम्नलिखित हैं—(1) परमाणु राज्य परमाणु अस्त्रविहीन राष्ट्रों को परमाणु बम के निर्माण के रहस्य की जानकारी नहीं देंगे। (ii) परमाणु राज्य परमाणु अस्त्रविहीन राज्यों को परमाणु अस्त्र प्राप्त करने में सहायता नहीं देंगे। (iii) परमाणु अस्त्र विहीन राष्ट्र परमाणु बम बनाने का अधिकार त्याग देंगे। (iv) परमाणु अस्त्रों के परीक्षण और विस्फोटों पर रोक लगाने की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था स्थापित की जानी चाहिए। (v) ऐसे देश जिनमें परमाणु अस्त्र निर्माण की तकनीकी क्षमता है वे परमाणु शक्ति का विकास असैनिक कार्यों के लिए करेंगे। शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के किए जो अनुसन्धान कार्य किये जायेंगे उनकी अन्तर्राष्ट्रीय परमाणु शक्ति संस्था द्वारा निरीक्षण की पूर्ण व्यवस्था होगी।

इस सन्धि को 1963 की परमाणु निषेध सन्धि के उपरान्त निःशस्त्रीकरण की दिशा में एक युगान्तरकारी कदम कहा गया है। इस सन्धि को यद्यपि अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है परन्तु यह सन्धि निःशस्त्रीकरण का कोई वास्तविक हल प्रस्तुत नहीं करती। यह सन्धि भी भूमिगत न्यूक्लीय परीक्षणों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाती, परमाणु राज्यों द्वारा नये न्यूक्लीय अस्त्रों के निर्माण पर कोई रोक नहीं लगाती, न ही परमाणु राज्यों के न्यूक्लीय अनुसन्धान कार्यक्रम पर किसी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण या निरीक्षण की व्यवस्था करती है। इसी प्रकार कोई परमाणु राज्य एक शक्तिहीन राज्य पर आक्रमण करे तो किसी बाध्यकारी प्रक्रिया की व्यवस्था यह सन्धि नहीं करती। राज्य असैनिक उपयोग के नाम पर जो परमाणु अनुसन्धान करेंगे उनका सैनिक उपयोग नहीं करेंगे इसकी कोई प्रत्याभूति नहीं है। 1968 में अणु प्रसार निरोध सन्धि को जब महासभा के समक्ष रखा गया तो भारतीय प्रतिनिधि ने इसका विरोध करते हुए इसे संयुक्त राष्ट्र संघ के निःशस्त्रीकरण के सिद्धान्त के प्रतिकूल माना था, क्योंकि विश्व

शान्ति को, परमाणुविहीन राज्यों में परमाणु अस्त्रों के प्रसार से ही खतरा नहीं है वरन् परमाणु राज्यों के पास अणु आयुधों के बने रहने से भी उतना ही खतरा है। वास्तव में यह सन्धि एक भेदमूलक दृष्टि पर आधारित है जो परमाणु सम्पन्न और परमाणुविहीन राज्यों के वर्तमान विभाजन को निरन्तर बनाये रखना चाहती है। यह सन्धि उन देशों के लिए अहितकर मानी गयी जो न्यूक्लीय शस्त्रों का निर्माण कर सकते हैं। भारत के साथ पश्चिमी जर्मनी, इटली, संयुक्त अरब गणराज्य, रूमानिया, ब्राजील, अर्जेण्टाइना, नाइजीरिया ने भी इसका विरोध इन्हीं कारणों से किया। जापान ने माँग की थी कि परमाणु राज्य यह आश्वासन दें कि इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यों के विरुद्ध यह देश परमाणु अस्त्रों का प्रयोग नहीं करेंगे। स्पेन ने इसे 'रूस और अमरीका द्वारा परमाणु अस्त्रों पर एकाधिकार' का प्रयत्न कहा था। इस सन्धि से एक मुख्य लाभ केवल इतना है कि रूस और अमरीका अपने गुट के देशों को परमाणु अस्त्र नहीं देंगे।

(21) **न्यूक्लीय मुक्त समुद्र तल सन्धि**, 1971 (Nuclear Free Sea Bed Treaty)—11 फरवरी, 1971 को सोवियत संघ, ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमरीका ने न्यूक्लीय मुक्त समुद्र तल सन्धि पर मास्को, लन्दन तथा वाशिंगटन में हस्ताक्षर किये हैं और उसी दिन 64 अन्य देशों ने भी इस पर हस्ताक्षर किये हैं। संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने इसे 7 दिसम्बर, 1970 को स्वीकृत किया था। इस सन्धि के अनुसार प्रत्येक देश के प्रादेशिक समुद्र के 19 किलोमीटर का क्षेत्र छोड़कर समुद्रतल और महासमुद्र तल पर न्यूक्लीय अस्त्र और भयानक विनाश के अन्य परमाणु अस्त्र नही बिछाये जायेंगे। भारत ने इस सन्धि को स्वीकार करते हुए इसकी आलोचना की है। चूंकि यह सन्धि प्रक्षेपास्त्रों से लैस पनडुब्बियों और युद्धपोतों पर कोई रोक नही लगाती।

(22) **सामरिक शस्त्र परिसीमन वार्ताएं और उपलब्धियाँ** (SALT Talks)—नवम्बर 1969 से सामरिक शस्त्रास्त्रों को सीमित करने के मसले पर संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ के मध्य फिनलैण्ड की राजधानी हेल्सिकी में वार्ता शुरू हुई। हेल्सिकी वार्ता के साथ-साथ वियना में संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत सघ के बीच 'सामरिक शस्त्रास्त्र परिसीमन वार्ता (Strategic Arms Limitation Talks 'SALT') भी शुरू हुई थी।

22 मई, 1972 को अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन जब मास्को गये तो वहाँ सोवियत संघ और अमरीका के बीच दो महत्वपूर्ण समझौते किये गये जिनका सम्बन्ध विभिन्न प्रकार के बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्रों पर रोक लगाने से था। इन समझौतों क पक्ष में यह कहा गया कि इनसे शस्त्रों की होड़ में कमी आयेगी और परमाणु युद्ध को रोकने में सहायता मिलेगी। वास्तव में, इन समझौतों के पीछे सोवियत संघ और अमरीका दोनों का यह स्वार्थ निहित था कि उनकी आपसी शस्त्र होड़ पर होने वाले निरर्थक व्यय को रोका जाये।

3 जुलाई, 1974 को अमरीका और सोवियत संघ के मध्य दस-वर्षीय आणविक आयुध परिसीमन समझौता हुआ जिसे 31 मार्च, 1976 से लागू किया जाना निश्चित किया गया। समझौते के अनुसार दोनों ने 150 किलो टन से अधिक के भूमिगत आणविक परीक्षणों को रोकने तथा प्रक्षेपास्त्रों पर नयी सीमा लगाने का निश्चय प्रकट किया। यह निश्चित किया गया कि शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए किये गये विस्फोट इस आंशिक प्रतिबन्ध व्यवस्था की परिधि में नहीं आयेंगे। नये समझौते के अन्तर्गत दोनों पक्ष अपनी-अपनी प्रक्षेपास्त्र-व्यवस्था को 3 अक्टूबर, 1977 से 2 अक्टूबर, 1978 के बीच एक बार और उसके उपरान्त पाँच वर्ष में एक बार एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित कर सकेंगे। यह कार्य परस्पर सूचना के आदान-प्रदान के अन्तर्गत ही किया जा सकेगा।[1]

---

[1] **दिनमान** (नई दिल्ली), 14 जुलाई, 1976, पृ० 27।

लेकिन परमाणु-निरीक्षण के खतरे से दुनिया को बचाने के लिए इतनी ही सन्धि काफी नहीं थी, अतः जून 1976 में एक नयी धारा जोड़कर इस सन्धि को अधिक लाभकारी बना दिया गया। अब दोनों पक्ष इस बात पर सहमत हो गये कि परमाणु परीक्षण स्थल का निरीक्षण किया जा सकता है।

(23) **नवम्बर 1977 का ब्रेझनेव प्रस्ताव**—2 नवम्बर, 1977 को अक्टूबर क्रान्ति की 60वीं वर्षगाँठ के अवसर पर ब्रेझनेव ने यह प्रस्ताव किया कि सभी देश एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के अन्तर्गत परमाणु अस्त्रों का निर्माण एक साथ रोक दें। उन्होंने यह आग्रह भी किया कि एक निश्चित अवधि के लिए न केवल सभी प्रकार के परमाणु अस्त्रों के परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगाया जाये बल्कि साथ ही शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए किये जाने वाले परमाणु विस्फोटों को भी स्थगित किया जाय।

(24) **संयुक्त राष्ट्र निःशस्त्रीकरण सम्मेलन, 1978**—मई-जून, 1978 में संयुक्त राष्ट्र महासभा का एक अधिवेशन निःशस्त्रीकरण के बारे में विचार करने के लिए विशेष रूप से आयोजित किया गया। इसमें 20 देशों के शासनाध्यक्ष स्वयं आये। सोवियत विदेश मन्त्री ग्रोमिको ने अपने भाषण में ठोस मुद्दे उठाये—सभी तरह के परमाणु अस्त्रों के उत्पादन को समाप्त करना; सभी किस्म के विनाशकारी अस्त्रों पर प्रतिबन्ध और उनके उत्पादन को समाप्त करने की दिशा में कदम उठाना; अधिक विनाशकारी परम्परागत हथियारों को त्यागने का आश्वासन; आदि। भारत के तात्कालिक प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई ने अपने भाषण में घोषणा की—"हमने अपने आप यह संकल्प लिया है कि हम परमाणु हथियारों का निर्माण नहीं करेंगे और न ही इन्हें कहीं से प्राप्त करेंगे।"

(25) **साल्ट-2 समझौता, 1979**—1979 में अमरीका और सोवियत संघ में साल्ट-2 (SALT-2) समझौते पर हस्ताक्षर हुए। इसके बाद इस सन्धि का दोनों देशों की संसदों द्वारा अनुमोदन होना था। अमरीकी कांग्रेस इस पर विचार कर ही रही थी कि अफगानिस्तान में सोवियत संघ का हस्तक्षेप हो गया। राष्ट्रपति कार्टर ने इस हस्तक्षेप के विरोध में साल्ट-2 के अनुमोदन को स्थगित करा दिया और इस प्रकार एक गतिरोध की स्थिति आ गयी। 28 नवम्बर, 1980 को अमरीका द्वारा सोवियत संघ से 'साल्ट-2' पर नवीन वार्ता का प्रस्ताव किया गया, जिसमें इस सन्धि का पुनर्मूल्यांकन किया जा सके।

(26) **संयुक्त राष्ट्र निःशस्त्रीशरण सम्मेलन, 1982**—निःशस्त्रीकरण पर संयुक्त राष्ट्र महासभा के दूसरे अधिवेशन से स्पष्ट हो जाता है कि आज के विश्व में शस्त्रों की होड़ समाप्त करने और परमाणु अस्त्रों पर रोक लगाने के लिए लोकमत प्रबल होता जा रहा है, लेकिन विश्व के दो बड़े देश सोवियत संघ और अमरीका का रवैया निःशस्त्रीकरण के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। दोनों देशों के प्रतिनिधियों ने संयुक्त राष्ट्र मंच से निःशस्त्रीकरण के लिए विश्व का आह्वान तो किया; लेकिन इस प्रश्न पर दोनों में बुनियादी तौर पर कोई सहमति दिखायी नहीं पड़ी, बल्कि दोनों ही देश शस्त्रों के संग्रह और परमाणु अस्त्र उत्पादन के लिए एक-दूसरे को दोषी ठहराते रहे। सोवियत राष्ट्रपति ब्रेझनेव की परमाणु अस्त्रों का पहले प्रयोग न करने की घोषणा को महासभा के इस अधिवेशन की उपलब्धि कहा जा सकता है। लेकिन अमरीकी विदेश सचिव अलेक्जेण्डर हेग ने इसे सोवियत संघ का प्रचार मात्र कहकर इसके महत्व को कम करने का प्रयत्न किया। इस अधिवेशन में संयुक्त राष्ट्र के कोई 157 सदस्य देशों ने भाग लिया।

भारतीय प्रधानमन्त्री स्व० इन्दिरा गांधी ने भारत की ओर से परमाणु अस्त्रों पर रोक लगाने के बारे में एक पाँच-सूत्री कार्यक्रम दिया जिसका संयुक्त राष्ट्र क्षेत्रों में बहुत स्वागत हुआ है। अधिवेशन के [illegible] सन्देश में श्रीमती गांधी ने कहा कि सभी परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों

को दुनिया को परमाणु युद्ध के खतरे से मुक्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। श्रीमती गाँधी का सन्देश विदेशमन्त्री नरसिंहराव ने पढ़कर सुनाया।[1]

(27) **रीगन-गोर्बाच्योव शिखर वार्ता, जेनेवा (नवम्बर 1985)**—अमरीकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन तथा सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाच्योव के बीच 19-20 नवम्बर 1985 को जेनेवा में शिखर वार्ता हुई। वार्ता का प्रमुख विचारणीय विषय निःशस्त्रीकरण था। वार्ता में इस बात पर सहमति हुई कि निःशस्त्रीकरण वार्ताओं की गति तेज की जाय। संयुक्त वक्तव्य में रीगन व गोर्बाच्योव द्वारा परमाणु युद्ध कभी न लड़े जाने की इच्छा व्यक्त करते हुए यन्त्र परिसीमन वार्ताओं में तेजी लाने, अन्तरिक्ष और पृथ्वी पर हथियारों की होड़ रोकने के लिए दोनों देशों के बीच जनवरी 1985 में हुए समझौते के आधार पर निशस्त्रीकरण सम्बन्धी वार्ताओं को आगे बढ़ाने पर सहमति प्रकट की गयी।[2]

(28) **रूस के निरस्त्रीकरण प्रस्ताव का स्वागत**—रूस के नेता गोर्बाच्योव ने वर्ष 1986 के आरम्भ में निरस्त्रीकरण के जो प्रस्ताव रखे थे उनका अनेक देशों ने स्वागत किया है। श्री गोर्बाच्योव ने तीन चरणों में निरस्त्रीकरण करने की एक दीर्घकालीन समयबद्ध योजना रखी है जो निम्न है।[3]

प्रथम चरण में सोवियत संघ और अमरीका नाभिकीय हथियारों में आधी कटौती करेंगे। द्वितीय चरण में सभी नाभिकीय शक्तियाँ परमाणु हथियारों का परीक्षण बन्द करेंगी, और तीसरे चरण में शेष परमाणु हथियारों का पूरी तरह उन्मूलन कर दिया जायेगा। कई देशों ने गोर्बाच्योव के प्रस्तावों को सही दिशा में सही कदम बताया।

(29) **निरस्त्रीकरण पर विश्व सम्मेलन**—न्यूयार्क में संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में निरस्त्रीकरण पर अगस्त 1987 में विश्व सम्मेलन आरम्भ हुआ। भारत के विदेश राज्य मन्त्री नटवरसिंह ने 153 देशों के प्रतिनिधियों की उपस्थिति में कहा कि विश्व का दायित्व है कि यह सैन्य प्रतिस्पर्द्धा को समाप्त कर विश्व को विनाश से बचाये। अमरीका ने इस तर्क के आधार पर कि इस मंच पर सोवियत संघ और उसके समर्थित देशों का वर्चस्व है, सम्मेलन का बहिष्कार किया।

(30) **मध्यम दूरी प्रक्षेपास्त्र सन्धि, 8 दिसम्बर 1987**—राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन और सोवियत नेता गोर्बाच्योव ने 8 दिसम्बर, 1987 को ऐतिहासिक मध्यम दूरी प्रक्षेपास्त्र सन्धि पर हस्ताक्षर किये। इस सन्धि से दो हजार आठ सौ से ज्यादा-कम और मध्यम दूरी वाले प्रक्षेपास्त्रों को समाप्त कर दिया जायेगा। पर कटौती तीन साल में होगी। सन्धि के प्रावधान के तहत अमरीका तीन वर्षों में 396 पर्शिंग, दो और क्रूजा परमाणु प्रक्षेपास्त्र यूरोप से हटा लेगा। ये हथियार पश्चिमी, ब्रिटेन, इटली और बेल्जियम से हटाये जायेंगे। सोवियत संघ अपने 683 राकेट हटायेगा जिनमें 50 पूर्व जर्मनी और चैकोस्लोवाकिया में तैनात हैं।[4]

यह सन्धि आणविक निरस्त्रीकरण की दिशा में पहला कदम है। इतिहास में पहली बार ऐसा हुआ है कि शस्त्र नियन्त्रण की भाषा का स्थान शस्त्र कटौती ने ले लिया।

(31) **शस्त्र भण्डार में कमी की गोर्बाच्योव ने एकतरफा घोषणा की**—7 दिसम्बर, 1988 को संयुक्त राष्ट्र महासभा को सम्बोधित करते हुए सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाच्योव ने अपने सैनिक

---

1 **दिनमान**, 4-10 जुलाई, 1982, पृ० 29.

2 **राजस्थान पत्रिका**, 21 नवम्बर, 1985.

3 **सोवियत नारी**, नं० 3, मार्च 1986, पृ० 2-3.

4 *The Times of India*, 1 December 1987, p. 7.

और परम्परागत हथियारों में काफी हद तक कमी लाने की असाधारण घोषणा की। सोवियत नेता ने कहा कि सोवियत सैनिकों तथा सैन्य सामान में भारी कमी करने के निर्णय के अन्तर्गत पूर्वी योरोपीय देशों, सोवियत यूरोप, मंगोलिया तथा एशिया से लाखों टैंक तथा सैनिक हटाये जायेंगे। गोर्बाच्योव ने कहा कि वे अपने संसाधन और शक्ति का उपयोग निरस्त्रीकरण पर करना चाहते हैं।[1]

(32) **रीगन-गोर्बाच्योव शिखरवार्ता, जून 1988**—जून 1988 में रीगन तथा गोर्बाच्योव के मध्य मास्को में शिखर वार्ता सम्पन्न हुई। दोनों देशों के विदेशमन्त्रियों ने भूमिगत परमाणु विस्फोटों पर पाबन्दी की साझा जाँच से सम्बन्धित एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। इसके अतिरिक्त अन्तर महाद्वीपीय बैलेस्टिक मिसायलों के प्रक्षेपण पर एक-दूसरे को सूचना देने सम्बन्धी समझौते पर भी हस्ताक्षर हुए।

(33) **महासभा का निरस्त्रीकरण सम्मेलन**—25 जून, 1988 को महासभा का निरस्त्रीकरण सम्मेलन सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर संयुक्त राष्ट्र महासचिव पेरेज डी क्वेआर ने कहा कि मात्र दो देशों के बीच परमाणु परिसीमन समझौते से विश्व निरस्त्रीकरण का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता है। निरस्त्रीकरण की प्रक्रिया में सभी देशों को शामिल होना चाहिए। यद्यपि महासभा किसी सर्वसम्मत योजना पर सहमत नहीं हो सकी किन्तु इतना अवश्य है कि सम्मेलन से यह बात प्रकट हो गयी कि आज लगभग सभी देश परमाणु युद्ध के भय से आतंकित हैं और इसकी सम्भावना को कम से कम करना चाहते हैं।

(34) **पेरिस में रासायनिक अस्त्रों की पाबन्दी पर कान्फ्रेन्स**—7 से 11 जनवरी, 1989 तक फ्रांस की राजधानी पेरिस में विश्व के 140 देशों के प्रतिनिधियों ने एक कान्फ्रेन्स में भाग लिया जिसमें रासायनिक हथियारों के निर्माण, भण्डारण तथा प्रयोग पर रोक लगाने पर विचार किया गया। सोवियत विदेश मन्त्री शिवर्दनात्जे ने घोषणा की कि वर्ष 1989 के अन्त तक सोवियत संघ रासायनिक अस्त्रों को नष्ट करने का काम आरम्भ कर देगा। अरब लीग और गुटनिरपेक्ष देशों के इस प्रस्ताव को कि रासायनिक अस्त्रों के साथ-साथ परमाणु अस्त्रों को भी नष्ट किया जाना चाहिए, अमरीका ने अमान्य कर दिया।

निष्कर्ष—एक ओर विश्व की महाशक्तियाँ हथियारों की कटौती की बात करती हैं तथा दूसरी ओर इनका उत्पादन और विक्रय प्रतिवर्ष बढ़ता जा रहा है। स्टाकहोम पीस रिचर्स इन्स्टीट्यूट के अनुसार 1988 में विश्व में 34 अरब डालर के हथियारों का व्यापार हुआ। यह राशि यदि छोटे हथियारों की बिक्री के साथ जोड़कर देखी जाये तो गतवर्ष से अधिक है। एस. आई. पी. आर. आई. ने हाल ही में प्रकाशित अपनी वार्षिक सर्वेक्षण रिपोर्ट में इस तथ्य पर भी गौर किया है कि तीसरी दुनिया के देश अब कम हथियार खरीदने लगे हैं। 1984 में जहाँ उन्होंने कुल विक्रय के 68 प्रतिशत हथियारों के क्रय पर व्यय किया, वहीं 1988 में यह प्रतिशत घटकर 61 प्रतिशत रह गया है। यद्यपि महाशक्तियों में हथियारों की प्रतिस्पर्द्धा कम हुई है, तथापि उनके हथियारों के उत्पादन व विक्रय में कोई कमी नहीं आयी है। इस सर्वेक्षण के अनुसार विश्व में सोवियत संघ हथियारों का सबसे बड़ा निर्यातक है। इसने कुल विक्रय का 38 प्रतिशत निर्यात किया दूसरा बड़ा निर्यातक अमेरिका है जिसने 28 प्रतिशत हथियारों की बिक्री की। इन दोनों महाशक्तियों ने छोटे ग्राहकों के साथ सम्बन्ध स्थिर बनाये रखे हैं। वे हथियारों की बिक्री आर्थिक लाभ के लिए नहीं, बल्कि राजनीतिक कारणों से करते हैं। बिक्री में तीसरे स्थान पर चीन है। इसने अपने कुल विक्रय का 90 प्रतिशत अंश अरब देशों व पाकिस्तान को दिया। फ्रांस व ब्रिटेन

---

1 **राजस्थान पत्रिका**, 8 दिसम्बर, 1988.

क्रमशः चौथे व पाँचवें बड़े निर्यातक हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि गत वर्ष बेचे गये हथियारों का 65 प्रतिशत छः देशों—मिस्र, भारत, इराक, सऊदी अरब, इजराइय व सीरिया ने खरीदा।

लंदन के अन्तर्राष्ट्रीय सामरिक अध्ययन संस्थान ने कहा है कि अमरीका और सोवियत संघ यूरोप से लघु और मध्यम दूरी के परमाणु प्रक्षेपास्त्र हटाने की संधि करते हैं (7 दिसम्बर, 87) फिर भी महाशक्तियों के निजी शस्त्रागार में लगभग 1,500 परमाणु हथियारों की प्रतिवर्ष वृद्धि हो रही है। "1987-88 में सैनिक सन्तुलन" विषयक इस प्रकाशन में बताया गया है कि पिछले वर्ष अमरीका ने 1,000 हथियार बनाये और सोवियत संघ ने 4 हजार। अमरीका के पास कुल 13,300 परमाणु आयुध हैं जबकि रूस के पास 10,800 हैं।[1]

हथियारों का व्यापार ही एक ऐसी आर्थिक शाखा रह गई है जिसमें सबसे अधिक विकास दर देखने में आ रही है। हालांकि पिछले वर्षों में संसार में सब जगह आर्थिक तंगी बढ़ी है, पर सैनिक खर्च घटने की जगह औसतन 2 प्रतिशत वार्षिक की दर से बढ़ते ही गये हैं। हर देश केवल हथियार ही नहीं चाहता, सबसे आधुनिक, शक्तिशाली और अचूक हथियार चाहता है। स्टॉकहोम पीस रिसर्च संस्थान का मानना है कि इस प्रवृत्ति का अर्थ यही है कि अब दूसरों को भय दिखाकर हमला करने से दूर रखने के लिए नहीं बल्कि स्वयं हमला करने के लिए अस्त्र-शस्त्र जमा किये जाने लगे हैं। यह खतरा भी बढ़ता जा रहा है कि केवल सैनिक कारणों से नहीं, राजनीतिक उद्देश्यों से भी हथियारों का प्रयोग हो सकता है।

निःशस्त्रीकरण के लिए रूस और अमरीका में वार्ताएँ चलती हैं, किन्तु आखिर ये वार्ताएँ सफल क्यों नहीं हो पातीं ? निःशस्त्रीकरण वार्ताओं के लम्बे इतिहास से निम्नलिखित तथ्य उभरते हैं :

(1) निःशस्त्रीकरण की तत्परता और राजनीतिक विश्वास की भावना में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(2) निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी किसी भी समझौते से यह सुनिश्चित रहना चाहिए कि शक्ति के ढाँचे में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं होगा।

(3) किसी भी निःशस्त्रीकरण सन्धि पर सभी बड़ी शक्तियों के हस्ताक्षर अपेक्षित हैं।

(4) निःशस्त्रीकरण समझौते की क्रियान्विति के लिए हस्ताक्षरकर्ताओं में सदाशयता और पारस्परिक विश्वास आवश्यक है।

(5) निःशस्त्रीकरण वार्ताओं की सफलता की अन्य प्रमुख शर्त राजनीतिक स्थायित्व है।[2]

हाल ही में यूरोपीय देशों की राजधानियों में परमाणु अस्त्र के विरोध में होने वाले प्रदर्शन में लोगों का बड़ी संख्या में शामिल होना यह साबित करता है कि अणु युद्ध के खतरों के प्रति यूरोपवासी सजग हो गये हैं। लन्दन, रोम और ब्रुसेल्स में पाँच लाख से भी अधिक लोगों के जुलूस की एक ही माँग थी, "हमें विध्वंस की ओर न ले जाओ, पश्चिमी यूरोप में परमाणु अस्त्रों का प्रसार रोको।" इस बार तो ऐसे लोग भी निःशस्त्रीकरण को बल देने के लिए घर से निकल पड़े थे जिन्होंने गत तीस वर्षों में किसी प्रदर्शन में भाग लेने के लिए घर से बाहर कदम नहीं रखा था।[3]

---

[1] **प्रतियोगिता दर्पण**, जनवरी 1988, पृ० 529।

[2] महेन्द्रकुमार, **अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष**, 1977, पृ० 460-61।

[3] **दिनमान**, 15-21 नवम्बर, 1981, पृ० 30।

वस्तुतः निःशस्त्रीकरण के लिए अनिवार्यता है अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत को जागृत करने की……!

प्रश्न

1. सम्पूर्ण निःशस्त्रीकरण के पक्ष का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। इसकी क्या सम्भावनाएँ हैं ?
   Critically examine the case for total and complete disarmament. What are its prospects ?
2. निःशस्त्रीकरण से आप क्या समझते हैं ? द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् किये गये निःशस्त्रीकरण के प्रयत्नों का इतिहास बताइए।
   What do you understand by 'disarmament' ? Describe the efforts made after the second world war.
3. संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा निःशस्त्रीकरण की समस्या सुलझाने के प्रयासों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
   Critically describe the efforts made by the United Nations in solving the problem of Disarmament.

28

मानव-अधिकार

[HUMAN RIGHTS]

प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक तथा लेखक जीन जैक्स रूसो ने आज से 200 वर्ष पहले लिखा था, "मनुष्य स्वतन्त्र पैदा हुआ है, पर हर जगह वह जंजीरों में जकड़ा हुआ है।" अपनी इस सूक्ति मे रूसो ने शोषण तथा असमानता के बन्धनों में जकड़े हुए जनसाधारण की स्वतन्त्र होने की और स्वाधीनता, आजादी तथा समानता का बेहतर जीवन प्राप्त करने की आकांक्षा को व्यक्त किया था। वास्तव में, अनेक सामाजिक विचारक तथा राजनीतिक आन्दोलन बहुत समय से मनुष्य को उन जंजीरों से मुक्त कराने का, जिनमें वह जकड़ा रहा है, उन्हें उन अधिकारों का उपभोग करते हुए देखने का प्रयत्न करते रहे है जिन्हें रूसो स्वाभाविक, अभिन्न तथा अविभाज्य समझते थे।

अधिकार सामाजिक जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं जिनके बिना न तो व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है और न ही समाज के लिए उपयोगी कार्य कर सकता है। अधिकारों के बिना मानव जीवन के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। राज्य का सर्वोत्तम लक्ष्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास है, इस कारण राज्य के द्वारा व्यक्ति को कतिपय सुविधाएँ प्रदान की जाती है और राज्य के द्वारा व्यक्ति को प्रदान की जाने वाली इन बाहरी सुविधाओं का नाम ही अधिकार है।

अमरीकी तथा फ्रांसीसी क्रान्तियो के पश्चात् मानव अधिकारों की जो घोषणा हुई उसके द्वारा मानव के महत्वपूर्ण अधिकारों को स्वीकार किया गया। सन् 1941 ई० में अमरीकी कांग्रेस को दिये गये सन्देश में अमरीका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने चार स्वतन्त्रताओं पर बल दिया था—भाषण तथा विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, धर्म तथा विश्वास की स्वतन्त्रता, अभाव से स्वतन्त्रता तथा भय से स्वतन्त्रता—ये सभी अधिकार विश्व में हर स्थान पर सभी को प्राप्त होने चाहिए। अटलाण्टिक चार्टर से लेकर द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने के पूर्व अनेक सम्मेलनों मे मित्र-राष्ट्रों के द्वारा मानवीय अधिकारों तथा आधारभूत स्वतन्त्रताओं पर बार-बार बल दिया गया।

विश्व शान्ति तथा सुरक्षा को बनाये रखने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाने के प्राथमिक सुझाव 1944 में डंबार्टन ओक्स सम्मेलन में स्वीकार किये गये थे। उस समय यह कल्पना नही की गयी थी कि मानव अधिकारों तथा मूलभूत स्वतन्त्रताओ के सम्मान को बढ़ावा तथा प्रोत्साहन देने को इस प्रस्तावित संगठन का एक बुनियादी उद्देश्य निर्धारित किया जाये। लेकिन जब दूसरे महायुद्ध के बाद 1945 में संयुक्त राष्ट्र संघ का घोषणा-पत्र तैयार करने के लिए सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन हुआ तो सोवियत संघ के प्रतिनिधि मण्डल की पहलकदमी पर ही

घोषणा-पत्र तैयार करने वालों ने मानव अधिकारों तथा मूलभूत स्वतन्त्रताओं के सम्मान से सम्बन्धित प्रावधानों की आवश्यकता को स्वीकार किया था।

संयुक्त राष्ट्र संघ तथा मानव अधिकार
(UNITED NATIONS AND HUMAN RIGHTS)

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में मानव अधिकार सम्बन्धी पृथक् घोषणा तो नहीं शामिल है लेकिन चार्टर में अनेक स्थानों पर मानव अधिकारों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। मानव अधिकारों को राज्यों के बीच संगठित सहयोग स्थापित करने तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर उद्देश्यों को क्रियान्वित करने के लिए आवश्यक समझा गया। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में मानव अधिकार के सम्बन्ध में निम्नलिखित सन्दर्भ मिलता है :

(1) चार्टर की प्रस्तावना में, "मानव के मौलिक अधिकारों, मानव के व्यक्तित्व के गौरव तथा महत्व में, तथा पुरुष एवं स्त्रियों के समान अधिकारों में" विश्वास प्रकट किया गया है।

(2) अनुच्छेद 1 के अन्तर्गत चार्टर के उद्देश्य का वर्णन इस प्रकार किया गया है— "मानव अधिकारों के प्रति सम्मान को बढ़ावा देना, तथा जाति, लिंग, भाषा या धर्म के बिना किसी भेदभाव के मूलभूत अधिकारों को बढ़ावा देना तथा प्रोत्साहित करना।"

(3) अनुच्छेद 13 में महासभा के "द्वारा, "जाति, लिंग, भाषा या धर्म के भेदभाव के बिना सभी को मानव अधिकार तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं की प्राप्ति में सहायता देना" की व्यवस्था है।

(4) अनुच्छेद 55 में यह प्रावधान है कि संयुक्त राष्ट्र संघ "जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के भेदभाव के बिना सभी के लिए मानव अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं को" बढ़ावा देगा।

(5) अनुच्छेद 56 में उपबन्ध है कि सभी सदस्य राज्य मानव अधिकारों तथा मानव स्वतन्त्रताओं की प्राप्ति के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ को अपना सहयोग प्रदान करेंगे।

(6) अनुच्छेद 62 के अन्तर्गत आर्थिक और सामाजिक परिषद् के द्वारा "सभी के लिए मानव अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं के प्रति सम्मान की भावना बढ़ाने तथा उनके पालन के सम्बन्ध में सिफारिश करने" की व्यवस्था है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में पहली बार मानव अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं की सुरक्षा पर बल दिया गया है। चार्टर के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र संघ को मानव अधिकारों के सम्बन्ध में केवल प्रोत्साहन देने का ही अधिकार है, कोई कार्यवाही करने का अधिकार नहीं है। चार्टर के अन्तर्गत मानव अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं का केवल उल्लेख है परन्तु इनकी कोई व्याख्या नहीं की गयी है। वास्तव में, चार्टर इस सम्बन्ध में राष्ट्रों के मध्य सहयोग को अधिक आवश्यक मानता है। संयुक्त राष्ट्र संघ कार्यक्रमों का उद्देश्य जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के भेदभाव के बिना सब लोगों के मानव अधिकारों तथा मूल स्वतन्त्रताओं में वृद्धि करना तथा उनके प्रति सम्मान का भाव जगाना है।

मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा
(UNIVERSAL DECLARATION OF HUMAN RIGHTS)

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में मानव अधिकारों के आदर्श को स्वीकार करने के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र के **'मानव अधिकार आयोग'** (U. N. Commission on Human Rights) को मानव अधिकारों के मूलभूत सिद्धान्तों का मसविदा तैयार करने का कार्य सौंपा गया। लगभग तीन वर्षों के प्रयत्नों के बाद **'मानव अधिकार आयोग'** ने **'मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा'**

(Universal Declaration of Human Rights) का मसविदा तैयार किया, इस मसविदे को महासभा ने कुछ संशोधनों के साथ 10 दिसम्बर, 1948 को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया। मानव अधिकार घोषणापत्र में प्रस्तावना सहित 30 अनुच्छेद हैं। इस घोषणापत्र में न केवल नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों का बल्कि सामाजिक तथा आर्थिक अधिकारों का भी पहली बार प्रतिपादन किया गया अर्थात् काम करने के और समान काम के लिए समान पारिश्रमिक पाने के अधिकार का, ट्रेड यूनियनों में संगठित होने के अधिकार का, विश्राम तथा सामाजिक भरण-पोषण के अधिकार का, शिक्षा के तथा सांस्कृतिक गतिविधियों में भाग लेने के अधिकार का, जीवन के अधिकार का, विचार, धर्म, शान्तिपूर्वक सभाएँ करने तथा संगठन बनाने की स्वतन्त्रता आदि का।

सारी दुनिया की जनता जानती है कि 30 धाराओं वाली यह घोषणा लोकतान्त्रिक तथा समाजवादी शक्तियों के बढ़े हुए प्रभाव के अन्तर्गत और मानव अधिकारों तथा लोकतन्त्र की रक्षा के लिए व्यापक जनसाधारण की सशक्त कार्यवाहियों के फलस्वरूप ही स्वीकार की गयी थी।

इसकी प्रस्तावना में "मानव जाति की जन्मजात गरिमा और सम्मान तथा अधिकारों" पर बल दिया गया है। चूंकि यह घोषणा राष्ट्र संघ की महासभा के प्रस्ताव के रूप में स्वीकार की गयी थी, इसलिए इसका कानूनी रूप से बाध्य करने वाला कोई स्वरूप नहीं है।

30 अनुच्छेदों वाला यह घोषणापत्र इस प्रकार है :

अनुच्छेद 1. सभी मनुष्य जन्म से स्वतन्त्र हैं और अधिकार और मर्यादा में समान हैं। उनमें विवेक और बुद्धि है, अतएव उन्हें एक-दूसरे के साथ भ्रातृभावयुक्त व्यवहार रखना चाहिए।

अनुच्छेद 2. प्रत्येक व्यक्ति बिना जाति, रंग, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीतिक अथवा सामाजिक उत्पत्ति, जन्म अथवा किसी दूसरे प्रकार के भेदभाव के इस घोषणा में व्यक्त किये हुए सभी अधिकारों और स्वतन्त्रताओं का पात्र है। इसके अलावा किसी स्थान अथवा देश के साथ जिसका, वह व्यक्ति नागरिक है, राजनीतिक परिस्थिति के आधार पर भेद नहीं किया जायेगा, चाहे वह स्वतन्त्र हो, संरक्षित हो अथवा स्वशासनाधिकार से विहीन हो; अथवा अन्य प्रकार से अल्प-प्रभु हो।

अनुच्छेद 3. प्रत्येक व्यक्ति को जीवन, स्वाधीनता और सुरक्षा का अधिकार है।

अनुच्छेद 4. कोई व्यक्ति दासता या गुलामी में नहीं रखा जा सकेगा। दासता और दास-व्यवहार सभी क्षेत्रों में सर्वथा निषिद्ध होगा।

अनुच्छेद 5. किसी व्यक्ति को क्रूर या अमानुषिक दण्ड नहीं दिया जायेगा और न उसके साथ अपमानजनक बरताव किया जायेगा।

अनुच्छेद 6. प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार होगा कि वह सर्वत्र कानून के अधीन व्यक्ति माना जाये।

अनुच्छेद 7. कानून के सामने सभी समान हैं और किसी भेदभाव के बिना कानून की सुरक्षा के अधिकारी हैं। यदि इस घोषणा के विरुद्ध भेदनीति मूलक आचरण किया जाये या किसी को ऐसे आचरण करने की प्रेरणा दी जाये तो उस अवस्था में सब समान रूप से रक्षा के अधिकारी हैं।

अनुच्छेद 8. प्रत्येक व्यक्ति को संविधान या कानून द्वारा प्राप्त मौलिक अधिकारों को भंग करने वाले कार्यों के विपरीत राष्ट्रीय न्यायालयों से समक्ष संरक्षण पाने का अधिकार होगा।

अनुच्छेद 9. किसी व्यक्ति की अवहिति गिरफ्तारी, कैद अथवा निष्कासन न हो सकेगा।

अनुच्छेद 10. प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायालय द्वारा अपने अधिकारों और कर्तव्यों के तथा अपने विरुद्ध आरोपित किसी अपराध के निर्णय के लिए उचित और खुले आम तरीके से सुने जाने का पूर्णत: समान अधिकार है।

अनुच्छेद 11. (1) प्रत्येक व्यक्ति जिस पर दण्डनीय अपराध का आरोप है, तब तक निर्दोष समझा जायगा, जब तक उसे खुले आम मुकदमे द्वारा, जिसमें उसे अपने को निर्दोष प्रमाणित करने के लिए उचित सुविधा प्राप्त रही हो, अपराधी सिद्ध नहीं किया जाता।

(2) जो अपराध, अपराध करने के समय किसी राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार दण्डनीय नहीं था, उस (अपराध) के लिए अपराध के बाद बने हुए कानून द्वारा किसी व्यक्ति को दण्डित नहीं किया जा सकता। जो सजा अपराध करने के समय कानून के अनुसार वैध थी उससे अधिक सजा बाद के बने हुए कानून के मन्तव्य के अनुसार नहीं दी जा सकेगी।

अनुच्छेद 12. किसी की भी कौटुम्बिक, गार्हस्थिक और पत्र-व्यवहार की गोपनीयता में मनमाना दखल नहीं दिया जायेगा और न उसके सम्मान और ख्याति पर आघात पहुँचाया जायेगा।

अनुच्छेद 13. (1) प्रत्येक व्यक्ति को अपने राज्य की सीमा के भीतर आवागमन और निवास की स्वतन्त्रता का अधिकार होगा।

(2) प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी देश को, जिसमें उसका भी देश सम्मिलित है, छोड़ने का अधिकार है और अपने देश में लौट जाने का अधिकार है।

अनुच्छेद 14. (1) प्रत्येक व्यक्ति को प्रतारणा से बचने के लिए किसी भी देश में आश्रय लेने और सुख से रहने का अधिकार है।

(2) अराजनीतिक अपराध अथवा संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों एवं सिद्धान्त के विरुद्ध होने वाले कार्यों के फलस्वरूप मूलत: दण्डित व्यक्ति अधिकार से वंचित रहेंगे।

अनुच्छेद 15. (क) प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्रीयता का अधिकार है।

(ख) कोई व्यक्ति अपनी राष्ट्रीयता से मनमाने ढंग से वंचित नहीं किया जा सकेगा और उसको न राष्ट्रीयता परिवर्तन करने के मान्य अधिकार से ही वंचित किया जायेगा।

अनुच्छेद 16. (1) वयस्क अवस्था वाले पुरुष और स्त्री को जाति, राष्ट्रीयता अथवा धर्म की सीमा के बिना विवाह करने और परिवार स्थापित करने का अधिकार प्राप्त है। उन्हें विवाह करने का, वैवाहिक जीवन में और वैवाहिक सम्बन्ध विच्छेद के समान अधिकार प्राप्त हैं।

(2) विवाह के इच्छुक दम्पति की पूर्ण स्वतन्त्रता और स्वीकृति पर विवाह सम्पन्न होगा।

(3) परिवार समाज की नैसर्गिक एवं मौलिक सामूहिक इकाई है और उसे समाज और राज्य द्वारा संरक्षण प्राप्त करने का अधिकार है।

अनुच्छेद 17. (1) प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं अथवा दूसरों के साथ सम्पत्ति रखने का अधिकार है।

(2) कोई भी अपनी सम्पत्ति से मनमाने तौर पर वंचित नहीं किया जा सकता।

अनुच्छेद 18. प्रत्येक व्यक्ति को विचार, अनुभूति तथा धर्म स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त है। इस अधिकार के अन्तर्गत अपने धर्म या मत को परिवर्तन करने की स्वतन्त्रता

और अपने धर्म और मत का उपदेश, प्रयोग, पूजा और परिपालन सर्वसाधारण के सामने अथवा एकान्त में करने की स्वतन्त्रता सम्मिलित है।

अनुच्छेद 19. प्रत्येक व्यक्ति को मत और विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। इसके अन्तर्गत स्वेच्छा से मत स्थिर करने और किसी भी भौगोलिक सीमा और माध्यम से विचार और सूचना माँगने, प्राप्त करने और देने की स्वतन्त्रता सम्मिलित है।

अनुच्छेद 20. (1) प्रत्येक व्यक्ति को शान्तिपूर्ण ढंग से एकत्रित होने और सभा करने की स्वतन्त्रता है।

(2) किसी व्यक्ति को किसी संस्था में सम्मिलित होने के लिए विवश नहीं किया जायेगा।

अनुच्छेद 21. (1) प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश के प्रशासन में स्वतन्त्रतापूर्वक निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा भाग लेने का अधिकार है।

(2) प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश की सरकारी सेवा में पहुँचने की समान सुविधा का अधिकार है।

(3) लोकमत ही प्रशासन के शासनाधिकार का आधार होगा। यह लोकमत निश्चित अवधि के बाद और सही तौर पर किये गये चुनावों द्वारा प्रकट होगा। ये चुनाव सर्वसाधारण के समान मताधिकार से और गुप्त मतदान द्वारा अथवा इसी प्रकार की किसी स्वतन्त्र मतदान प्रक्रिया के द्वारा सम्पन्न होंगे।

अनुच्छेद 22. प्रत्येक व्यक्ति समाज का सदस्य होने के नाते, सामाजिक सुरक्षा का अधिकार रखता है और राष्ट्रीय प्रयत्न और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के द्वारा एवं प्रत्येक राज्य के संगठन और साधन के अनुसार आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों को जो उसके गौरव और व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास के लिए आवश्यक हैं, प्राप्त करने का अधिकार रखता है।

अनुच्छेद 23. (1) प्रत्येक व्यक्ति को काम करने, जीविका के लिए पेशा चुनने, काम की उचित एवं अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त करने और बेकारी से सुरक्षित रहने का अधिकार है।

(2) प्रत्येक व्यक्ति को बिना भेदभाव के समान काम के लिए समान वेतन पाने का अधिकार है।

(3) प्रत्येक व्यक्ति को अपने कार्य के लिए उचित और अनुकूल पारिश्रमिक पाने का अधिकार है, ताकि अपनी और अपने परिवार की मानवीय प्रतिष्ठा के अनुकूल सत्ता कायम रखना सुनिश्चित हो सके और साथ ही यदि आवश्यक हो तो सामाजिक संरक्षण के अन्य साधन भी प्राप्त हो सकें।

(4) प्रत्येक व्यक्ति को अपने हितों की रक्षा के लिए श्रम संघ (ट्रेड यूनियन) कायम करने और उसमें सम्मिलित होने का अधिकार प्राप्त है।

अनुच्छेद 24. प्रत्येक व्यक्ति को विश्राम और अवकाश का अधिकार है। साथ ही साथ काम के घण्टों का समुचित निर्धारण और अवधि के अनुसार सवेतन छुट्टियों का अधिकार है।

अनुच्छेद 25. (1) प्रत्येक व्यक्ति को एक ऐसा जीवन-स्तर कायम करने का अधिकार है जो उसके और उसके परिवार के स्वास्थ्य एवं सुख के लिए पर्याप्त हो। इसमें भोजन, वस्त्र, निवास स्थान, चिकित्सा की सुविधा तथा आवश्यक समाज सेवाओं की उपलब्धि और बेकारी, बीमारी, शारीरिक असमर्थता, वैधव्य, वृद्धावस्था या काबू के बाहर परिस्थितियों के कारण जीविका के साथ-साथ, का ह्रास सम्मिलित है।

(2) प्रत्येक माता तथा शिशु के मातृत्व और शिशु की विशेष देखभाल और सहायता प्राप्त करने का अधिकार है। सभी बच्चे, चाहे वे विवाहित दम्पति की सन्तान हों अथवा जारज हों, समान रूप से सामाजिक संरक्षण का उपभोग करेंगे।

अनुच्छेद 26. (1) प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा पाने का अधिकार है। शिक्षा कम से कम प्रारम्भिक और मौलिक अवस्था में निःशुल्क होगी। प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य होगी। तकनीकी (टेक्नीकल) और व्यावसायिक (कर्मशियल) शिक्षा की सामान्य उपलब्धि की व्यवस्था की जायगी और योग्यता के आधार पर उच्च शिक्षा सभी समान रूप से प्राप्त कर सकेंगे।

(2) शिक्षा का लक्ष्य मानव व्यक्तित्व का पूर्ण विकास और मानव अधिकारों एवं मौलिक स्वतन्त्रताओं की प्रतिष्ठा बढ़ाना होगा शिक्षा द्वारा सभी राष्ट्रों और जातियों एवं धार्मिक समूहों में सद्भाव, सहिष्णुता और मैत्री की अभिवृद्धि की जायेगी और शान्ति कायम रखने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों को शिक्षा द्वारा बढ़ाया जायेगा।

(3) माता-पिता को अपनी सन्तान के लिए शिक्षा के प्रकार को चुनने का अधिकार है।

अनुच्छेद 27. (1) प्रत्येक व्यक्ति को समाज के सांस्कृतिक जीवन में स्वतन्त्रतापूर्वक भाग लेने, व कलाओं का आनन्द लेने और वैधानिक विकास से लाभान्वित होने का अधिकार है।

(2) प्रत्येक व्यक्ति को अपने किसी भी वैधानिक, साहित्यिक अथवा कलात्मक कृति के फलस्वरूप प्राप्त सैनिक एवं भौतिक हितों के संरक्षण का अधिकार है।

अनुच्छेद 28. प्रत्येक व्यक्ति ऐसी सामाजिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का अधिकारी है, जिससे इस घोपणा में निर्दिष्ट अधिकारों और स्वतन्त्रताओं की पूर्ण प्राप्ति हो सके।

अनुच्छेद 29. (1) समाज के प्रति प्रत्येक व्यक्ति के कुछ ऐसे कर्तव्य हैं, जिनसे उसके व्यक्तित्व का स्वतन्त्र एवं पूर्ण विकास सम्भव है।

(2) अपने अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं का उपभोग करने में प्रत्येक व्यक्ति को उन सीमाओं के भीतर रहना होगा, जो कानून द्वारा इस उद्देश्य से निर्धारित की गयी हैं कि दूसरों के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं का अपेक्षित सम्मान एवं प्रतिष्ठा हो सके और जनतान्त्रिक समाज में नैतिकता, सार्वजनिक शान्ति तथा जनकल्याण के हेतु समुचित आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके।

(3) उन अधिकारों और स्वतन्त्रताओं का संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों के विरुद्ध किसी भी दशा में प्रयोग न किया जाये।

अनुच्छेद 30. इसी घोपणा-पत्र में दिये गये किसी भी आदेश के ऐसे अर्थ न लगाये जायें जिससे किसी राज्य को समूह अथवा व्यक्ति को किसी ऐसे काम में लगाने या करने का अधिकार मिले जिसका इस घोपणा-पत्र में वर्णित अधिकारों और स्वतन्त्रताओं में से किसी को नष्ट करने का उद्देश्य हो।

इस घोपणा-पत्र को **'मानवतावाद का दमकल'** कहा गया है। **चार्ल्स मलिक** के अनुसार **'यह घोषणा-पत्र केवल प्रस्ताव मात्र न होकर संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर का अंग है।'** श्रीमती **रूजवेल्ट** ने इस घोपणा-पत्र को समस्त मानव समाज के **मेगनाकार्टा** (Magnacarta) का नाम दिया। **पामर एवं पर्किन्स** के शब्दों में, "यह घोपणा केवल आदर्शों का प्रतिपादन है, कानूनी रूप से बाध्य करने वाला कोई समझौता नहीं है; परन्तु यह एक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय दस्तावेज है।"

मानव अधिकारों का अन्तर्राष्ट्रीय बिल
(INTERNATIONAL BILL OF HUMAN RIGHTS)

संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के समय से ही मानव अधिकारों के अन्तर्राष्ट्रीय बिल के लिए कार्य आरम्भ हो गया था। इसी उद्देश्य से साधारण सभा ने मानव अधिकार आयोग को दो प्रसंविदाएँ तैयार करने का काम सौंपा—एक, नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों के सम्बन्ध में तथा दूसरा, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों के सम्बन्ध में। इन प्रसंविदाओं का आशय मानव अधिकारों की और अधिक स्पष्ट व्याख्या करना तथा उनके पालन कारवाने की व्यवस्था करना था। इन प्रसंविदाओं का उद्देश्य यह था कि साधारण सभा की स्वीकृति के पश्चात् इन्हें सदस्य राज्यों के सम्मुख सन्धिपत्र के रूप में [illegible] जायेगा तथा जो राज्य इस पर हस्ता-

क्षर कर देंगे उन पर ये बाध्यकारी रूप से लागू होंगे। हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों को अपने-अपने देश में आवश्यक कानून बनाने तथा उन्हें लागू करने की व्यवस्था करनी होगी। 16 दिसम्बर, 1966 को अपने प्रस्ताव के द्वारा साधारण सभा ने मानव अधिकार सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदाओं को राज्यों के हस्ताक्षर तथा पुष्टि के लिए प्रस्तुत किया, जिनमें अनेक मानव अधिकारों तथा मूल स्वतन्त्रताओं की अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की व्यवस्था की गयी है। इन अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदाओं में तीन प्रसंविदाएँ इस प्रकार है :

(1) नागरिक तथा राजनीतिक अधिकार सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा (International Covenant on Civil and Political Rights)।

(2) आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा (International Covenant on Economic, Social and Cultural Rights)।

(3) राजनीतिक अधिकारों सम्बन्धी प्रसंविदा की वैकल्पिक व्यवस्था (Optional Protocal to the International Covenant on Civil and Political Rights)।

मानव अधिकारों का उल्लंघन : यथार्थ स्थिति
(VIOLATION OF HUMAN RIGHTS : ACTUAL POSITION)

यों तो मानवता की दुहाई देकर नागरिकों के मूलभूत अधिकारों की बात अनेक सरकारों की तरफ से उठी है लेकिन अधिसंख्य इस क्षेत्र में अपनी दोगली नीति के कारण असफल रहीं। यहाँ तक कि लोकतन्त्री अमरीका तथा ब्रिटेन भी इस क्षेत्र में अपने राष्ट्रीय हितों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानव अधिकारों की रक्षा के लिए ठोस सफलताएँ हासिल नही कर पाये। अपने यहाँ लोकतन्त्री ढांचे को कायम करते हुए ब्रिटेन ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर असीमित शोषण किया। ब्रिटेन के भूतपूर्व विदेश मन्त्री डॉ० आवेन ईरान में हो रहे अत्याचार के बारे में मानते थे कि यहाँ उनके देश के लिए 'मानवाधिकार' मुद्दे से ईरानी 'तेल' ज्यादा महत्वपूर्ण है। अमरीका की नव-उपनिवेशवादी नीतियाँ पहले ही काफी बदनाम हो चुकी हैं, इसके बावजूद अभी तक उसकी मानवाधिकार नीति में एकरूपता नहीं पायी जाती। रूस के विरुद्ध अमरीकी प्रशासन मानवाधिकार हनन के मुद्दे को लेकर बोलता है, किन्तु साम्यवादी चीन में इस प्रश्न को लेकर वह राजनीतिक चुप्पी साधे हुए है। इसके अलावा, साम्यवादी देशों में तो मानव अधिकार की धारणा ही दूसरी है जो लोकतन्त्र मे उसकी रक्षा से तालमेल नहीं रखती। वैसे भी कुल मिलाकर साम्यवादी देशों में मानवाधिकार हनन की यथार्थता को नकारा नहीं जा सकता। अफ्रो-एशियाई तथा लातीनी अमरीका के अधिसंख्य देशों में तानाशाही शासन है जिस कारण वहाँ की सरकारों तथा शासकों से इस सम्बन्ध में अधिक अपेक्षा रखना व्यर्थ है।

इसे विडम्बना ही कहा जायेगा कि संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार आयोग का कार्यक्षेत्र उसकी आयु बढ़ने के साथ ही संकुचित होता जा रहा है। वह अपने उस उद्देश्य को प्राप्त करने में प्रायः विफल रहा है जिसके लिए संयुक्त राष्ट्र महासभा ने उसका गठन किया था। यह एक तथ्य है कि आज समूचे विश्व में मानव अधिकारों का व्यापक स्तर पर हनन हो रहा है किन्तु मानवाधिकार आयोग कुछ पक्षपात रपटें प्रकाशित करने के अलावा कुछ नहीं कर पाया है। आयोग की विफलता सम्भवतः उतनी नही अखरती जितना अखरने वाले यह तथ्य हैं कि वह अब तक सही बात को कहने का साहस भी नही जुटा पाया। 32-सदस्यीय आयोग का मत है कि इजराइल, दक्षिण अफ्रीका और चीले ही ऐसे देश है जो यातना देने, विरोधियों को कुचलने और राजनीतिक शत्रुओं को बन्दी बनाने की नीति पर लगातार चल रहे है। उसने न केवल उन हजारों लोगों को अनदेखा किया है जिन्हें ईरान, सोवियत संघ और इण्डोनेशिया में अपनी राजनीतिक गतिविधियों के कारण हत्याओं समेत तरह-तरह की शारीरिक यातनाएँ भोगनी पड़ रही हैं बल्कि इस तथ्य को भी नजरअन्दाज कर दिया कि विश्व भर में सौ से भी अधिक ऐसे और देश भी हैं जहाँ की सरकारें किसी न किसी रूप में मानवाधिकारों का हनन कर रही हैं।

इस सन्दर्भ में 'अमनेस्टी इण्टरनेशनल' की मानवाधिकार के सम्बन्ध में प्रकाशित रपटें कई महत्वपूर्ण तथ्य सामने लाती हैं। रपट में कहा गया कि दिसम्बर 1984 में स्वीकृत मानवाधिकार घोषणा-पत्र के बावजूद विश्व के अधिसंख्य देशों में मानवाधिकारों का उल्लंघन किया जा रहा है। सभी बड़ी सरकारें और विभिन्न राजनीतिक विचारधारा समूहों से सम्बद्ध देश मानवा-

धिकारों का हनन करते रहे हैं। 1982 की रपट के अनुसार विश्व के 120 देशों में (मानवाधिकार आयोग के अनुसार कुल तीन देशों में) मानवाधिकारों का हनन हो रहा है। कई देशों में राजनीतिक बन्दियों को उन पर मुकदमा चलाये बिना वर्षों तक जेल में रखा जाता है। कहीं-कहीं पर राजनीतिक बन्दियों को बिजली के झटके देकर यातना दी जाती है। कई देशों के शासक अब भी कोड़े लगाने और हाथ काट लेने जैसे अमानवीय दण्ड देते हैं। रपट के अनुसार बंगला देश में 10 से 15 हजार के बीच राजनीतिक बन्दी थे; इण्डोनेशिया में 55 हजार से एक लाख के बीच राजनीतिक बन्दी हैं। वियतनाम में सैकड़ों लोगों को 'पुर्ननिरीक्षण' शिविर में बलात् रखा जा रहा है। अफ्रीकी देशों में रोडेशिया, गिनी, दक्षिण अफ्रीका और इथयोपिया ऐसे देश हैं जहाँ राजनीतिक कार्यकर्ताओं को बिना मुकदमा चलाये नजरबन्द रखा जा रहा है। इराकी जेलों में राजनीतिक अभियुक्तों को धीमा जहर दिया जाता है। दो ऐसे अभियुक्तों की इंगलैण्ड में डॉक्टरी जाँच होने पर उनके शरीर में थेलियम विष की बहुत मात्रा पायी गयी। कुल मिलाकर 'एमनेस्टी' की ताजा रपट यह स्पष्ट करती है कि मानवाधिकारों की दुहाई देने वाले दुनिया के लगभग सभी शासक गिरोह न केवल राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धियों पर वरन हर असहमत नागरिक पर अत्याचार करने में एक से बढ़कर एक हैं।

मानवाधिकार रक्षा में सक्रिय गैर-सरकारी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन : आशा की किरण
(NON-OFFICIAL INTERNATIONAL ORGANISATIONS : THE ONLY HOPE)

संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार आयोग के सचिवालय को प्रतिदिन सैकड़ों शिकायतें मिलती हैं। सचिवालय इन शिकायतों का सारांश तैयार करता है और वर्ष में एक बार अमरीका, फ्रांस, सोवियत संघ, लाटीन अमरीका और अफ्रीकी देश के प्रतिनिधि विचार करते हैं। इन पांच प्रतिनिधियों की सिफारिश पर संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार अनुभाग का एक उपायोग एक गुप्त बैठक में सम्बद्ध देश के आचरण पर विचार करता है। इस उपायोग को एक गैर-सरकारी संगठन कहा जा सकता है क्योंकि इसके अधिसंख्य सदस्य स्वाधीन व्यक्ति होते हैं। यह उपायोग अपनी सिफारिश 32-सदस्यीय आयोग के पास भेजता है जिसके सभी प्रतिनिधि सरकारी होते है और जो अपने देशों तथा गुटों को देखते हुए फैसला करते हैं। इस आयोग में उन देशों का बहुमत है जहाँ मानवाधिकारों का आये दिन हनन होता रहता है। यह कोई कम आश्चर्य की बात नहीं है कि आयोग ने शायद ही कभी तीसरी दुनिया और सोवियत गुट के देशों के विरुद्ध मानवाधिकार हनन की शिकायतें सुनी हों; उगांडा के ईदी अमीन का मानवाधिकार हनन के आरोप से बच जाना इसीलिए तो सम्भव हो पाता है कि सोवियत संघ उनकी पीठ पर है। यही कारण रहा है कि आयोग को मानवाधिकार हनन के दोषी तीन देश—इजराइल, दक्षिणी अफ्रीका और चीले ही दिखायी पड़ते हैं।

इतना सब कुछ होते हुए भी विश्व के हर कोने में बसे बुद्धिजीवियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं राजनेताओं आदि ने मानवाधिकार रक्षा के लिए आवाज बुलन्द की है। भले ही वह आदर्शवादी नारों को उठाकर अपने कतिपय हितों की पूर्ति के लिए ऐसा कर रहे हों। यह भी उल्लेखनीय है कि मानव कितना ही स्वार्थी हो कुछ अंश तक वह आदर्शवादी भी होता है और इसी आदर्शवादिता की चमक से आकर्षित होकर अनेक गैर-सरकारी अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण हुआ है जिन्होंने ईमानदारी से मानव अधिकारों की रक्षा के लिए प्रयत्न किया है। ये संगठन ही अनेक लोगों की आशा की किरणें हैं।

इस क्षेत्र में 1942, 1952 तथा 1961 में स्थापित क्रमशः **इण्टरनेशनल लीग फॉर ह्यूमन राइट्स, इण्टरनेशनल कमीशन ऑफ ज्यूरिस्ट्स तथा एमनेस्टी इण्टरनेशनल** नामक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त, संयुक्त राष्ट्र संघ की विशिष्ट एजेन्सियां वकिंग ग्रुप ऑफ दि कमीशन ऑफ ह्यूमन राइट्स, मास्को ह्यूमन राइट्स कमेटी, दि कमीशन ऑफ दि चर्चेज आफ इण्टरनेशनल एफेयर्स ऑफ दि वर्ल्ड कौंसिल ऑफ चर्चेज, दि पॉलिटिकल कमीशन ऑफ जस्टिस एण्ड पीस तथा दि इण्टरनेशनल कमेटी ऑफ दि रेडक्रास के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

उक्त सभी संगठन गैर-सरकारी हैं तथा मानवाधिकार रक्षा के बारे में ठोस कदम उठाये जाने की इनसे ज्यादा अपेक्षा अनेक कारणों से की जाती है।

प्रथम, कोई भी सरकार वर्तमान जटिल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दूसरी सरकार के साथ इस मुद्दे को लेकर अपने राष्ट्रीय हितों की बलि नहीं चढ़ा सकती। **द्वितीय**, गैर-सरकारी संगठन

होने के नाते, जहाँ भी मानव अधिकारों का हनन हो रहा है, उस देश की सरकार की आलोचना ये वेहिचक कर सकते है। तृतीय, अगर कोई लोकतन्त्री सरकार साहस करके अत्याचारी शासन की आलोचना करती है तो आलोचक राष्ट्र को राजनीतिक हस्तक्षेप करने वाला करार दिया जाता है। अमरीका द्वारा रूस तथा पूर्व यूरोप के साम्यवादी देशों में मानव अधिकारों के हनन की बात उठाने पर ऐसी ही प्रतिक्रिया हुई है। इन कारणों से गैर-सरकारी संगठन राजनीतिक पूर्वाग्रह से मुक्त होकर बेहिचक अपनी राय जाहिर करने में ज्यादा सक्षम होते हैं।

मानवाधिकार रक्षा में कार्यरत इन संगठनों के कार्यों का स्वरूप लगभग एक जैसा है। विश्व के विभिन्न देशों में हो रहे मानव अधिकारों के हनन सम्बन्धी जानकारी इनके अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्रों पर एकत्र की जाती है। समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं, शोध, पत्रिकाओं की मदद से आवश्यक सूचनाएँ एकत्रित की जाती हैं। इन जानकारियों का सत्यापन किया जाता है। इनके प्रतिनिधि प्राप्त जानकारी की सच्चाई की जाँच के लिए सम्बन्धित देशों की यात्रा करते हैं। अनेक देशों की सरकारें अपनी 'छवि' की अधिक खराब न होने देने के लिए उक्त संगठनों के मिशन की यात्राओं की स्वीकृति देती हैं। 1972 में ईरान, 1973 में स्पेन तथा चीले, 1974 में दक्षिण कोरिया तथा 1975 में यूगोस्लाविया ने इस प्रकार की स्वीकृतियाँ दी थीं। मानव अधिकारों के हनन को रोकने के लिए इन गैर-सरकारी अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा अपीलें जारी की जाती हैं। अनेक रिपोर्टों तथा पुस्तिकाओं के प्रकाशन के माध्यम से विश्व लोकमत को ये मानवाधिकार रक्षा के पक्ष में मोड़ने का प्रयास करते हैं।

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि मानवाधिकारों की रक्षा में इनका महत्व-पूर्ण योगदान रहा है। अनेक शासकों ने इनकी रिपोर्टों तथा अपीलों से प्रभावित होकर अत्याचारी प्रवृत्तियाँ कम की हैं, अनेक जानें बची हैं, कई कैदी छोड़े गये हैं तथा जब-तब अत्याचारी शासक हटे भी हैं।

उक्त उपलब्धियों के बावजूद उनकी असफलताएँ भी कम नहीं हैं। इनके सदस्यों की संख्या काफी नहीं है। केवल विशिष्ट वर्ग के लोग ही इनसे जुड़े हुए हैं। विश्व के विभिन्न भागों में ये संगठन अपनी शाखाएँ स्थापित करने में असफल रहे हैं। विशेषकर तीसरी दुनिया तथा साम्यवादी देशों में जहाँ मानवाधिकार हनन ज्यादा है, इनकी शाखाएँ कम हैं। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि इन गैर-सरकारी संगठनों में पश्चिमी झुकाव भी है। इन संगठनों की प्रचार सामग्री में पश्चिमी उदारवाद को भी वैचारिक तौर पर घुसेड़ा जाता है।

निष्कर्ष—पामर तथा पर्किन्स ने ठीक ही लिखा है कि "विश्व के कुछ ही भागों में मानव अधिकार तथा आधारभूत स्वतन्त्रताएँ वास्तव में सुरक्षित हैं, अधिकांश क्षेत्रों में तो अभी इनका कोई अर्थ नहीं है।"

मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा के पीछे कोई बाध्यकारी तथा कानूनी शक्ति नहीं है, फिर भी यह घोषणा स्पष्ट तथा निश्चित रूप से राज्यों के सम्मुख एक नैतिक आदर्श प्रस्तुत करती है। इस घोषणा ने अनेक राज्यों के संविधानों तथा कानूनों के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों को भी प्रभावित किया है।

प्रश्न

1. मानव अधिकार तथा मूलभूत स्वतन्त्रताओं से आप क्या समझते हैं? क्या एक संप्रभु राष्ट्र को इन्हें मानने के लिए बाध्य किया जा सकता है?
   What do you understand by Human Rights and Fundamental Freedoms? Can a sovereign state be compelled to respect them?
2. 'संयुक्त राष्ट्र संघ व मानव अधिकार' पर एक निबन्ध लिखिए।
   Write an essay on 'U. N. Q.' and Human Rights.

29

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता की भूमिका

[ROLE OF MORALITY IN INTERNATIONAL POLITICS]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सर्वत्र शक्ति (Power manifestation) का प्रयोग, बल-प्रयोग तथा युद्ध, हिंसा आदि तत्व दृष्टिगोचर होते है। राष्ट्रों में कहीं-कहीं पर तो इतने अधिक मतभेद दिखलायी देते हैं कि वे एक-दूसरे के विरुद्ध प्रचार, जासूसी तथा जातिवध जैसे जघन्य अपराधों का भी सहारा लेते नहीं चूकते। आपाधापी और शक्ति संघर्ष की इस राजनीति को नियन्त्रित कैसे किया जाये ?

इस सम्बन्ध में प्राचीन काल से दो दृष्टिकोण प्रचलित हैं। पहला दृष्टिकोण इस बात पर बल देता है कि राज्य को सदैव अच्छे, नैतिकता की दृष्टि से उचित तथा वैध साधनों का ही प्रयोग करना चाहिए। दूसरा दृष्टिकोण यह मानता है कि प्रेम और युद्ध में अनुचित, अवैध और बुरे साधनों का प्रयोग करने में संकोच नहीं करना चाहिए। प्राचीन भारत में इसी आधार पर युद्धों के दो भेद किये जाते थे—धर्मयुद्ध और कूटयुद्ध। धर्मयुद्ध में नैतिक नियमों का पूरा पालन किया जाता था। किन्तु कूटयुद्ध में सब प्रकार की धोखेधड़ी और छल कपट के प्रयोग की अनुमति थी, नैतिक नियमों का पालन करना आवश्यक नहीं था। कौटिल्य ने कहा है कि शक्तिशाली होने पर ही धर्मयुद्ध करना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता क्या है ?
(WHAT IS INTERNATIONAL MORALITY ?)

नैतिकता से अभिप्राय है—औचित्य व अनौचित्य तथा अच्छाई व बुराई पर विचार करते हुए आचरण करना। अन्तर्राष्ट्रीय 'नैतिकता से तात्पर्य है कि राष्ट्र कतिपय नैतिक मूल्यों का पालन करते हुए, इस जगत में वही कार्य करे जो करने योग्य (उचित) हों। वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता उन मानदण्डों एवं मूल्यों का संकलन है जिनका दूसरे राष्ट्रों से व्यवहार करते समय पालन करना राष्ट्र एवं अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय अपरिहार्य समझते हैं।[1] नैतिकता कतिपय मूल्यों का संग्रह है।[2] मनोवैज्ञानिकों ने मूल्यों को 'दृष्टिकोण' तथा 'अभिलाषाएँ' बतलाया है।[3] 'अच्छाई', 'सच्चाई' तथा 'यथार्थ' क्या है, इसका निर्णयकर्ता स्वयं व्यक्ति और उसकी अन्तरात्मा है। इसके विपरीत, समाजशास्त्री कहते हैं कि 'जिसे सभी अच्छा मानते हैं, उसे अच्छा कहा जाना चाहिए' (Vox Poduli vo die)। इस रूप मे 'अच्छाई' का निर्धारण परम्परा, विचार तथा पुरातन मान्यताओं से होता है। नैतिकता के बारे में मनोवैज्ञानिक विचार का उदय यूनान के सोफिस्टों की खोज है जिसे आगे चलकर हॉब्स, बेन्थम तथा ब्रिटिश उपयोगितावादियों ने भी अपना लिया। इसके विपरीत, समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण अनुदारवादी विचारकों की खोज है।

1 "International ethics or morality consists of the standards and values which nation-states and international organizations think they ought to describe in their relations with each other."
2 Morality comprises a set of values.
3 The psychological view equates values with attitudes and desires.

नैतिक मूल्यों के बारे में वैज्ञानिक दृष्टिकोण यह है कि—जो भी अपरिहार्य है उसे स्वीकार किया जाना चाहिए।"[1]

"अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता से अभिप्राय है—अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्डों और मूल्यों का वह संग्रह जिसे राज्य आपसी व्यवहार में पालन करना अनिवार्य समझते हों। ये मूल्य और मानदण्ड (values and norms) चाहे राष्ट्रों की 'इच्छाएँ' और 'अभिलाषाएँ' हों अथवा चाहे सामाजिक परम्परा और रूढ़ि पर आधारित हों। यथार्थ में ये मानदण्ड और मूल्य विज्ञान और तकनीकी विकास से अनवरत प्रभावित रहे हैं और लगातार बदलते भी रहे है।"[2] किन्तु सही मायने में ये मानदण्ड किसी दार्शनिक स्वयंभू नैतिक नियमावली से एकदम भिन्न हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता की भूमिका पर विचार करते समय असली प्रश्न यथार्थवादी और आदर्शवादी दृष्टिकोण के अन्तर का ही हमारे सामने उपस्थित होता है। आदर्शवाद उन आदर्शों (मूल्यों) पर खड़ा है जो दार्शनिक दृष्टि से पुष्ट हैं और प्राथमिक महत्व के हैं जबकि यथार्थवाद शक्ति की प्रधानता मानकर चलता है और वह शक्ति को एक आदर्श की गरिमा से मण्डित भी कर देता है।

वस्तुतः सामाजिक और राजनीतिक मामलों से आदर्शों को दूर रखकर कोई भी विचार नहीं चल सकता। सच्चाई यह है कि कोई भी विज्ञान अपने आदर्शमूलक पहलू के बिना जीवित नहीं रह सकता। विशेषकर कोई सामाजिक विज्ञान तो आदर्शमूलक आधार के बिना बिलकुल जीवित नहीं रह सकता। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बारे में यह बात राइनहोल्ड नेबुर, हरबर्ट बटरफील्ड और ई० एच० कार जैसे लेखकों ने बहुत पहले महसूस की थी। अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की संकल्पना के तीन महत्वपूर्ण पहलू हैं—एक तो यह कि राष्ट्रों को नैतिक मूल्यों के ध्येय की ओर बढ़ना चाहिए। इस बात के विरुद्ध बेशक यह कहा जा सकता है कि अस्तित्व को खतरे में डालकर नैतिक मूल्यों के ध्येय की ओर बढ़ना वांछनीय नहीं हो सकता है। पर कम से कम अपने घरेलू क्षेत्र में राष्ट्र नैतिक मूल्यों पर चल सकते है और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और व्यवस्था में अपना योगदान कर सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की संकल्पना का दूसरा पहलू है राष्ट्रीय हितों की पारस्परिकता। राष्ट्रों को अपने हितों में समायोजन या तालमेल पैदा करने के उपाय तलाश करते चाहिए। सच पूछिए तो विभिन्न देशों के राष्ट्रीय हितो का मेल अस्तित्व रक्षा की सबसे बड़ी गारण्टी है। गांधीजी ने जब यह कहा कि एक राष्ट्र के हित का मानवजाति के वृहत्तर हित के साथ मेल बैठाया जा सकता है तब उनका यही अभिप्राय था। इसी प्रकार जब क्वेकर लोग (एक शान्तिवादी ईसाई सम्प्रदाय) यह कहते हैं कि किसी राष्ट्र की विदेश नीति को अन्य राष्ट्रों के महत्वपूर्ण हितों का भी ध्यान रखना चाहिए तब उनका भी यही अभिप्राय होता है। अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के तीसरे पहलू में अत्याचार का विरोध जैसे सिद्धान्त आते है।

वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का दूसरा और तीसरा पहलू पहले पहलू से अधिक महत्वपूर्ण है। कारण यह है कि जहां दूसरा पहलू एक आदर्श है और तीसरा एक साधन है, वहाँ पहला पहलू एक अपूर्ण स्थिति मात्र है।

'वैयक्तिक' और 'राज्य' नैतिकता के मध्य अन्तर
(DIFFERENCES BETWEEN INDIVIDUAL AND STATE MORALITY)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्यार्थी के सामने यह समस्या है कि क्या व्यक्तिवादी आचरण को निर्धारित करने वाली नैतिकता की अवधारणा राज्यों के आचरण-व्यवहार को भी निर्धारित कर सकती है? एक तरफ काण्ट, जेफरसन और वुड्रो विल्सन जैसे अतिवादी लेखक हैं जिनके मतानुसार व्यक्तिवादी और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के मानदण्ड एक समान हैं। दूसरी तरफ मेकिया-

---

1 "The scientific point of view regards moral values states that what is necessary must be accepted."

2 "International ethics may then be defined as a set of international norms or values which individuals and nations recognize and accept as governing their mutual relations. These norms and values may originate from desires and attitudes, from social customs and traditions; they are continuatlly influenced by developments in the field of science and technology."

वेली तथा हॉब्स जैसे लेखक हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करते। यद्यपि अधिकतर लेखक और विचारक अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं तथापि वे वैयक्तिक और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता में अन्तर करते हैं और इस विषय पर मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हैं।

नैतिकता प्राय: सही व्यवहार को माना जाता है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में 'सही व्यवहार' क्या है, यह जानना कठिन है। व्यक्ति, चाहे सामान्य व्यक्ति की हैसियत से कार्य करे अथवा राजनेता के रूप में, कतिपय नैतिक नियमों का अवश्य पालन करता है और सैद्धान्तिक दृष्टि से इन नैतिक नियमों की मर्यादा में अन्तर नहीं करता। किन्तु व्यवहार में व्यक्ति से सम्बन्धित और राज्य से सम्बन्धित नैतिक नियमों में अन्तर किया जाता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति राजनेता के रूप में कार्य करता है तो राज्य के अस्तित्व की आवश्यकता के आधार पर कतिपय नैतिक नियमों से वह छूट पाना चाहेगा, ऐसी छूट जो कि वैयक्तिक हैसियत से वे कदापि प्राप्त नहीं कर सकते।

आम आदमी राज्य से कतिपय परिस्थितियों में विशेष क्रिया की अपेक्षा करता है जबकि ऐसा ही कार्य कोई व्यक्ति करे तो उसे 'बुरा' माना जाता है। कलह की इच्छा (Pugnacity) तथा अपने अधिकारों के लिए श्लाघा (Self assertion) जैसे कार्य व्यक्ति के सन्दर्भ में माने जाते हैं जबकि राज्यों के परिप्रेक्ष्य में इसे आवश्यक गुण माना जाता है। इसी प्रकार कानून को अपने हाथ में लेना, चोरी और हत्या करना व्यक्ति के परिप्रेक्ष्य में बुरा माना जाता है जबकि ऐसे ही कार्य किसी राष्ट्र-राज्य के लिए अथवा राज्य द्वारा किये जायें तो उन्हें गुण मान लिया जाता है। कैवूर के शब्दों में, "जो कुछ हमें इटली के लिए करना चाहिए, उसे यदि हम अपने लिए करते हैं तो हम महानतम धूर्त हैं।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता : यथार्थवादी दृष्टिकोण
(INTERNATIONAL MORALITY : REALIST APPROACH)

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के मुद्दे पर यथार्थवादी विचारकों के दृष्टिकोण बड़े स्पष्ट हैं। मेकियावेली तथा हॉब्स का अनुसरण करते हुए ये यथार्थवादी यह मानते हैं कि राजनीतिक कार्यों पर नैतिक दृष्टि से विचार नहीं किया जा सकता। (Moral issues are quite irrelevant to political action) चूंकि राज्यों के व्यवहार को संचालित करने वाले सार्वभौमिक नैतिक नियमों का अभाव है और राजनीति अन्ततोगत्वा अनैतिक क्रिया है। (There are no universally valid moral principles relevant to the behaviour of states....Politics is essentially an amoral activity) हॉब्स ने लिखा है, "राज्य की सीमा से बाहर न तो नैतिकता का अस्तित्व है और न ही कानून का।" (There is neither morality nor law outside the state) राजनीति शक्ति का आश्रयस्थल है, न कि नैतिकता का। (Politics is the realm of Power, not of morals) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के यथार्थवादी विचारक न्याय, शान्ति, औचित्य जैसे नैतिक सिद्धान्तों से हमें सचेत करते हुए कहते हैं कि ये नियम केवल भ्रमपूर्ण धारणाएं हैं।' विदेश नीति के सामान्य सिद्धान्तों और ध्येयों की घोषणा में इन नियमों का उल्लेख अवश्य किया जाता है किन्तु विदेश नीति के क्रियान्वयन में इनको सदैव भुला दिया जाता है। क्या हिटलर द्वारा राइनलैण्ड पर सैनिक आधिपत्य को शान्ति के औचित्य की दुहाई देकर नहीं किया गया?

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जब एक राष्ट्र कोई कदम उठाता है तो दूसरे देश उस कदम के औचित्य पर नैतिकता की दृष्टि से विचार करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर नैतिकता के कुछ मापदण्ड तथा व्यवहार के कुछ नियम हैं जिनके आधार पर एक देश के व्यवहार के प्रति दूसरे देशों में प्रतिक्रिया होती है। विभिन्न लेखकों द्वारा इन नैतिक मान्यताओं का वर्णन किया गया है, जैसे वायदों का पालन, दूसरों का विश्वास, उचित व्यवहार, अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रति सम्मान, अल्पसंख्यकों की रक्षा, एक राष्ट्रीय नीति के अभिकरण के रूप में युद्ध का बहिष्कार, आदि। मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, राजमर्मज्ञों को इन्हें याद रखना चाहिए, ताकि राष्ट्रों के बीच सम्बन्ध अधिक शान्तिपूर्ण तथा कम अराजक बन सकें।"

1 "If we were to do for ourselves what we are doing for *Italy* we should be great rogues.

मॉरगेन्थाऊ का मत है कि "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विवेचन को दो अतिवादों से बचना चाहिए—(i) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर नैतिकता के प्रभाव के अतिमूल्यन से, तथा (ii) राजनीतिज्ञों और कूटनीतिज्ञों पर भौतिक शक्ति के प्रभाव को अस्वीकार करके नैतिकता के प्रभाव के अवमूल्यन से।"[1] राजमर्मज्ञों तथा राजनयज्ञों का, अपने वास्तविक प्रयोजनों की चिन्ता किये बिना, अपने कार्यों एवं प्रयोजनों को नैतिक शब्दावली में उचित ठहराने का स्वभाव होता है। अतएव उन स्वार्थहीन एवं शान्तिपूर्ण अभिप्रायों, मानवीय ध्येयों तथा अन्तर्राष्ट्रीय आदर्शों के दावों को ज्यों का त्यों सच मान लेना समान रूप से अशुभ होगा। यह पूछना उचित है कि क्या वे दावे (न्याय, शान्ति, औचित्य आदि) कार्यों के सही प्रयोजनों को छिपाने वाली विचारधाराएँ मात्र हैं अथवा नैतिक मानकों के आधार पर अन्तराष्ट्रीय नीतियों के पालन की यथार्थ चिन्ता व्यक्त करते है।

मॉरगेन्थाऊ ने राजनीतिक यथार्थवाद के छः सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए चौथे सिद्धान्त में नैतिकता पर टिप्पणी की है। उनके दर्शन का एक तत्व यह है कि यद्यपि राजनीतिक यथार्थवाद नैतिकता के प्रति उदासीन नहीं है लेकिन फिर भी राज्य के क्रियाकलापों पर सार्वभौम नैतिक सिद्धान्तों को सार्वभौम अवधारणाओं के रूप में लागू किया नहीं जा सकता।[2] काल, स्थान और परिस्थितियों के अनुसार नैतिक सिद्धान्तों में आवश्यक संशोधन कर लेने चाहिए। मॉरगेन्थाऊ ने नैतिकता की अपनी अलग से एक परिभाषा गढ़ ली है जिसके अन्तर्गत वह राष्ट्रहित को सबसे ऊँचा दर्जा प्रदान करते हैं। उनका कहना है कि राजनेताओं को अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं एवं सार्वलौकिक नैतिक सिद्धान्तों की अपेक्षा राष्ट्रहित की सुरक्षा पर अधिक ध्यान देना चाहिए। राष्ट्रहित की सुरक्षा करना राजनेताओं का सबसे बड़ा नैतिक धर्म है।

वस्तुत: यथार्थवादी और मेकियावेलियन विचारक यह मानते है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का परिचालन शक्ति के परिप्रेक्ष्य में होता है, नैतिकता के मानदण्ड व्यक्ति के लिए हैं न कि राष्ट्र-राज्यों के लिए। इसके विपरीत, आदर्शवादी विचारक यह मानते है कि व्यक्ति और राज्य दोनों पर नैतिकता की समान आचार संहिताएँ लागू होती हैं।

मध्य युग में राजा अथवा राज्य द्वारा हत्या एवं जहर देकर अपने शत्रु को हानि पहुँचाने जैसे कार्यों को नैतिक दृष्टि से जघन्य अपराध माना जाता था। 1415-1525 की अवधि में वेनिस के गणराज्य ने विदेशनीति के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु लगभग दो-सौ लोगों की हत्याओं का सहारा लिया था। किन्तु आजकल ऐसे कार्यों को औचित्यपूर्ण नहीं माना जाता। शान्तिकाल में अनैतिक तरीकों द्वारा शत्रु के विनाश एवं संहार के कार्यों को अपराध माना जाता है। जैसे ही दो राज्यों में युद्ध समाप्त हो जाता है, शत्रु की हत्या एवं मारकाट बन्द कर दी जानी चाहिए। तेहरान सम्मेलन (द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद) जब स्टालिन ने चर्चिल से कहा कि जर्मनी के लगभग पचास हजार तकनीशियनों तथा सैनिकों को गोली से उड़ा दिया जाना चाहिए तो चर्चिल ने उत्तर दिया "ब्रिटिश संसद और लोकमत इस प्रकार के सामूहिक हत्याकाण्डों को पसन्द नहीं करेगा।" मैं यह नहीं चाहता कि मेरी और मेरे देश की प्रतिष्ठा इस प्रकार के कुकृत्य से कलंकित हो।"

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान में साधन के रूप में युद्ध की निन्दा सर्वत्र की जाती है किन्तु फिर भी राष्ट्रों के मध्य युद्ध होते रहते हैं। परन्तु नैतिक मानदण्ड उन्हें अपने कार्यों का औचित्य सिद्ध करने के लिए बाध्य करते है। वे 'युद्ध की न्यायपूर्णता' (Just war), 'रक्षात्मक युद्ध' (Defensive war) आदि की चर्चा करते है।

वर्षों पहले अमरीकी विदेश नीति के सन्दर्भ में इस प्रश्न पर विचार हुआ था कि विदेश नीति का क्रियान्वयन नैतिक मान्यताओं के आधार पर होना चाहिए अथवा राष्ट्रीय हितों के परिप्रेक्ष्य में। सन 1790 से पूर्व फ्रेंच क्रान्ति के सन्दर्भ में जेफरसन और हेमिल्टन ने एक गम्भीर बहस प्रारम्भ की कि अमरीका का क्या दृष्टिकोण होना चाहिए? जेफरसन का मत था कि फ्रांस की सहायता करना अमरीका का दायित्व है चूंकि फ्रेंको-अमरीकन गठबन्धन अभी भी अस्तित्व में

1 Hans J. Morgenthau *Politics Among Nations* (1963), p 233.

2 'Universal moral principles cannot be applied to the action of states in their abstract formulations.' —*Ibid.*, p. 10.

से मारा या घायल नहीं किया जा सकता, वध के लिए हत्यारों को किराये पर नहीं रखा जा सकता है। जनता के विरुद्ध कार्यवाही केवल तभी की जानी चाहिए जबकि सत्ताधारी को सामूहिक विद्रोह की सम्भावना हो। जहाँ तक सम्भव हो सके वहाँ तक शस्त्रहीन नागरिकों के शरीर, सम्पत्ति और सम्मान को क्षति नहीं पहुँचानी चाहिए। सेना से सम्बन्धित सभी बीमार और घायलों का संरक्षण और देखभाल होनी चाहिए। युद्ध में अणु बमों का प्रयोग वर्जित होना चाहिए।

निष्कर्ष—अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के विषय में मोटे रूप से दो धारणाएँ प्रचलित हैं। यथार्थवादी विचारकों के अनुसार राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्ध शक्ति पर आधारित होते हैं। इनमें नैतिकता को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। इसके विपरीत, आदर्शवादी विचारकों का कहना है कि नैतिक नियमों का मूल्य केवल व्यक्ति के लिए ही नहीं अपितु राष्ट्रों के लिए भी है आज की बदली हुई परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का महत्व निरन्तर घटता जा रहा है। थाम्पसन के शब्दों में, "अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता उसी दिन समाप्त हो गयी जब शेष संसार द्वारा स्वीकृति या अस्वीकृति के लिए राष्ट्रीय उद्देश्यों को शुद्ध लक्ष्य माना गया।

हम सभी इस तथ्य से परिचित हैं कि इजरायल ने नैतिकता की पूर्ण उपेक्षा कर तथा अमरीका की शह पर बेरुत (जून 1982) में भीषण नरसंहार किया, हजारों को बेघर कर दिया, सैकड़ों इमारतों और स्त्री, बच्चे, पंगु और बूढ़े सभी पर बम बरसाये। संयुक्त राष्ट्र संघ और विश्व लोकमत केवल मूक दर्शक बना रहा।

प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।
   Assess the contribution of morality in the field of International Politics.

है। उनका कहना था कि चाहे हमारे राष्ट्रीय हित की दृष्टि से कोई लाभ न हो तब भी हमें अपने वचनों को निभाना चाहिए। दूसरी तरफ हेमिल्टन का कहना था कि विदेश नीति का मार्गदर्शक हमारा राष्ट्रीय हित होता है, न कि नैतिक मान्यताएँ। किन्तु वर्षों बाद राष्ट्रपति वुडरो विल्सन की मान्यता थी कि 'यदि भौतिक हितों के परिप्रेक्ष्य में राष्ट्र की विदेश नीति का संचालन होता है तो यह एक खतरनाक बात होगी। नैतिकता के सिद्धान्त हमारे मार्गदर्शक होने चाहिए, न कि उपयोगिता (expedieney)।'

भारतीय विदेश नीति के परिप्रेक्ष्य में जवाहरलाल नेहरू की विदेश नीति नैतिक मान्यताओं पर आधारित थी जबकि श्रीमती इन्दिरा गांधी की विदेश नीति यथार्थ राष्ट्रीय हितों पर आधारित है। नेहरू पंचशील पर बल देते थे जबकि इन्दिरा गाँधी ने शक्ति के आधार पर बंगलादेश की समस्या का निदान करने में तत्परता दिखायी।

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का संरक्षण
(SANCTIONS OF INTERNATIONAL MORALITY)

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का संरक्षण कहाँ है? अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश में निर्णयकर्ता आचरण के अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्डों का पालन क्यों करते हैं? वस्तुतः उसका कारण है कि उन निर्णयकर्ताओं पर अनेक अन्तरंग और बहिरंग दबाव होते हैं। ये दबाव हैं (1) निर्णयकर्ताओं की अन्तरात्मा, (2) लोकमत, (3) विश्व समुदाय की भावना, (4) अन्तर्राष्ट्रीय विधि, (5) संयुक्त राष्ट्र संघ और उसके सामूहिक सुरक्षा सम्बन्धी प्रावधान।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में निर्णय लेने वाले अन्ततोगत्वा मनुष्य ही होते हैं। उनकी अन्तरात्मा होती है और वे अनैतिक कार्य करना न्यायोचित नहीं मानते। स्टालिन ने चर्चिल से कहा कि हिटलर की सबल सेनाओं की समस्त शक्ति लगभग पचास हजार अफसरों तथा तकनीशियनों पर निर्भर थी। यदि युद्ध के उपरान्त इनको घेर लिया जाता तथा इन्हें गोली मार दी जाती तो जर्मनी की सैनिक शक्ति का उन्मूलन हो जाता।' चर्चिल ने अत्यधिक क्रुद्ध होते हुए कहा "इसके स्थान पर कि मेरा अपना तथा मेरे देश का सम्मान ऐसी अपकीर्ति से मलिन हो, मैं अभी और यहीं स्वयं बाग में बाहर ले जाया जाना तथा स्वयं गोली द्वारा मारा जाना पसन्द करूँगा।" विश्व लोकमत का भी राज्यों पर दबाव रहता है, वे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत को अप्रसन्न करके अनैतिक कार्य करने से हिचकिचाते हैं। युद्ध और शान्तिकाल में राज्य आसानी से अन्तर्राष्ट्रीय विधि की उपेक्षा से घबराते हैं। आमतौर से कोई राज्य नहीं चाहता कि विदेशों में उसकी गरिमा (Image) पर आंच आये। यही कारण था कि 'क्यूबा-संकट' के समय राष्ट्रपति कैनेडी ने तत्काल सैनिक शक्ति का प्रयोग करना उचित नहीं समझा। संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् को भी अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का संरक्षक माना जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता : कतिपय प्रचलित नियम
(INTERNATIONAL MORALITY : CERTAIN RULES)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की परिभाषा स्वयं अपने राष्ट्र की शक्ति को बनाये रखने तथा बढ़ाने और दूसरे राष्ट्रों की शक्ति को रोकने एवं घटाने के अनवरत प्रयत्न के रूप में की जाती है। यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को सैद्धान्तिक आधार पर किये जाने वाले कार्यों की शृंखला के रूप में देखें, तो इसके अन्तर्गत नैतिकता सम्बन्धी प्रश्न उठते ही नहीं हैं। इस दृष्टि से अपने विरोधी राष्ट्रों की जनसंख्या, सेनानायकों एवं कूटनीतिज्ञों का विनाश करना भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का उचित उद्देश्य होता है।

इन सबके बावजूद भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में किसी न किसी प्रकार की नैतिकता अवश्य होती है। राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अमानुषिक कार्यों को अनुचित समझा जाता है, शान्तिकाल में जन-समूह की हत्या को अनैतिक माना जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का यह तकाजा है कि युद्धकाल में जन-साधारण को जीवन की सुरक्षा प्रदान की जाये। ऐसे साधनों से शत्रु के प्राणहरण करना वर्जित है जिनसे आवश्यक रूप से अधिक पीड़ा और कष्ट हो। हेग नियमों के अनुसार इस दृष्टि से विष का तथा अनावश्यक हानि पहुँचाने वाले, जलता हुआ द्रव पदार्थ डालने वाले हथियारों, अग्नि बाणों का प्रयोग वर्जित है। शत्रु द्वारा व्यवहार में लाये जाने वाले पानी के जल स्रोतों, कुओं, पम्पों, नदियों को विषैला नहीं बनाया जा सकता। योद्धाओं को धोखे

से मारा या घायल नहीं किया जा सकता, वध के लिए हत्यारों को किराये पर नहीं रखा जा सकता है। जनता के विरुद्ध कार्यवाही केवल तभी की जानी चाहिए जबकि सत्ताधारी को सामूहिक विद्रोह की सम्भावना हो। जहाँ तक सम्भव हो सके वहाँ तक शस्त्रहीन नागरिकों के शरीर, सम्पत्ति और सम्मान की क्षति नहीं पहुँचानी चाहिए। सेना से सम्बन्धित सभी बीमार और घायलों का संरक्षण और देखभाल होनी चाहिए। युद्ध में अणु बमों का प्रयोग वर्जित होना चाहिए।

निष्कर्ष—अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के विषय में मोटे रूप से दो धारणाएँ प्रचलित हैं। यथार्थवादी विचारकों के अनुसार राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्ध शक्ति पर आधारित होते हैं। इनमें नैतिकता को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। इसके विपरीत, आदर्शवादी विचारकों का कहना है कि नैतिक नियमों का मूल्य केवल व्यक्ति के लिए ही नहीं अपितु राष्ट्रों के लिए भी है आज की बदली हुई परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का महत्व निरन्तर घटता जा रहा है। थाम्पसन के शब्दों में, "अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता उसी दिन समाप्त हो गयी जब शेष संसार द्वारा स्वीकृति या अस्वीकृति के लिए राष्ट्रीय उद्देश्यों को शुद्ध लक्ष्य माना गया।"

हम सभी इस तथ्य से परिचित हैं कि इजरायल ने नैतिकता की पूर्ण उपेक्षा कर तथा अमरीका की शह पर बेरुत (जून 1982) में भीषण नरसंहार किया, हजारों को बेघर कर दिया, सैकड़ों इमारतों और स्त्री, बच्चे, पंगु और बूढ़े सभी पर बम बरसाये। संयुक्त राष्ट्र संघ और विश्व लोकमत केवल मूक दर्शक बना रहा।

प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।
   Assess the contribution of morality in the field of International Politics.

30

विश्व लोकमत

[WORLD PUBLIC OPINION]

राष्ट्रीय राजनीति में लोकमत का विशिष्ट महत्व है। लोकमत किसी भी लोकतन्त्रात्मक शासन की नाड़ी (pulse) कहा जा सकता है। प्रत्येक लोकतन्त्रात्मक सरकार इस बात का ध्यान रखती है कि उसके कार्यों के विषय में जनता की क्या धारणा है? इतिहास साक्षी है कि जहाँ-जहाँ भी शासकों, सम्राटों, सरकारों और प्रधानमन्त्रियों ने सबल एवं प्रबल लोकमत से टक्कर लेने की कोशिश की है वहीं क्रान्तियों का अध्याय लिखा गया। इसीलिए तो ह्यूम ने लिखा है कि "सभी सरकारें, चाहे वे कितनी ही दूषित क्यों न हों, अपनी शक्ति के लिए *लोकमत* पर निर्भर करती हैं।"

चूँकि आधुनिक युग लोकतन्त्रात्मक युग है, अतः राष्ट्रीय राजनीति की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी लोकमत का विशिष्ट महत्व है। किन्तु यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विश्व लोकमत की उपेक्षा ही अधिक हुई है। यदि विश्व लोकमत जैसी कोई वस्तु होती तो बंगलादेश में पाकिस्तानी नरसंहार न होता, दक्षिणी अफ्रीका में काली चमड़ी वाले लोगों पर अत्याचार न होते, आणविक विस्फोटों द्वारा विश्व के वातावरण को दूषित न बनाया जाता, वियतनाम युद्ध में अमरीकी हस्तक्षेप न होता, मानव अधिकारों की सर्वत्र रक्षा की जाती और अफगानिस्तान में सोवियत सेनाएँ न घुसतीं। विश्व लोकमत की अवधारणा शक्ति सम्बन्धों और शक्ति संघर्ष की धारणाओं से अवरोध आरोपित कर पाया है? अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का व्यावहारिक विश्लेषण यह प्रकट करता है कि जहाँ कहीं महाशक्तियों में मतैक्य होता है वहाँ विश्व लोकमत की प्रभावशीलता (*effectiveness*) दिखायी देने लगती है और जहाँ उनमें विरोध होता है, लोकमत की आवाज कुचल दी जाती है।

विश्व लोकमत : अभिप्राय
(WORLD PUBLIC OPINION : MEANING)

हान्स जे० मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, विश्व लोकमत वह लोकमत है जो कि राष्ट्रीय सीमाओं को पार कर लेता है। वह विभिन्न राष्ट्रों के सदस्यों को कम से कम कुछ मूल अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के सम्बन्ध में एक मतैक्य में एकीकृत करा देता है। समस्त विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय शतरंज की बिसात पर, जो कोई चाल इस मतैक्य द्वारा अस्वीकृत की जाती है, उसके विरुद्ध यह मतैक्य स्वचालित प्रतिक्रियाओं में अपना अनुभव करा देता है। जब कभी किसी राष्ट्र की सरकार एक निश्चित नीति की घोषणा करती है अथवा अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर कोई ऐसा कार्य करती है, जो कि मानव मत का

मत का उल्लंघन करता है, तो मानवता, राष्ट्रीय सम्बन्धों की चिन्ता किये बिना, उठ पड़ेगी। यही नहीं यह मानव मत का उल्लंघन करने वाली सरकार पर स्वचालित अनुशास्तियों के माध्यम से अपनी इच्छा का आरोप करने का कम से कम प्रयत्न तो करेगी ही। इस प्रकार वह सरकार फिर स्वयं को लगभग उसी स्थिति में पाती है, जैसे कि एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समूह जिसने अपने राष्ट्रीय समाज अथवा इसके उपविभागों में किसी एक की लोकनीतियों की अवज्ञा की है। समाज या तो उनको अपने मानकों के अनुरूप बनने के लिए विवश कर देगा अथवा अनुरूपता के अभाव में उसका निष्कासन कर देगा।[1]

यदि विश्व लोकमत के सामान्य सन्दर्भों का ऐसा अर्थ है, तो क्या आजकल ऐसा विश्व लोकमत अस्तित्व में है? क्या यह राष्ट्रीय सरकार की विदेश नीतियों पर अवरोधक प्रभाव डालता है? आधुनिक इतिहास में अधिराष्ट्रीय लोकमत की स्वचालित प्रतिक्रिया के द्वारा किसी सरकार के अपनी विदेश नीति से रुकने के किसी दृष्टान्त का अभिलेख नहीं है। जैसा कि मार्गेन्थाऊ ने लिखा है—"आधुनिक इतिहास में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है जिसमें राष्ट्रीय सीमाओं से ऊपर उठे हुए लोकमत की स्वाभाविक प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप किसी देश ने अपनी विदेश नीति के किसी कार्य में परिवर्तन किया हो।" हाल के इतिहास में एक निश्चित सरकार की विदेश नीति के विरुद्ध विश्व लोकमत के संगठन के प्रयत्न हुए हैं—1920 से लेकर 1930 तक चीन के विरुद्ध जापानी अत्याचार, 1935 से जर्मन विदेश नीतियों, 1936 में इथोयोपिया के विरुद्ध इटली का आक्रमण, 1956 में हंगरी की क्रान्ति का रूसी दमन, 1980 में अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप के विरुद्ध कई राष्ट्रों द्वारा मास्को ओलम्पिक खेलों का बहिष्कार आदि इसके ही दृष्टान्त हैं।

विश्व लोकमत राष्ट्र संघ के लिए आधार समझा जाता था। इसको ब्रिआं कैलॉग समझौते, स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा सामान्य रूप में अन्तर्राष्ट्रीय विधि को स्थापित करने वाली शक्ति होना था। 21 जुलाई, 1919 को कॉमन सभा में लार्ड राबर्ट सेसिल ने घोषणा की, "जिस महान अस्त्र पर हम निर्भर हैं, वह लोकमत है····और यदि इस विषय में हम गलत हैं, तो सब कुछ गलत है।" द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने से पहले 17 अप्रैल, 1939 को अमरीकी विदेश सचिव कारडल हल ने कहा कि, "शान्ति की सभी शक्तियों में सबसे प्रबल एक लोकमत समस्त विश्व में अधिक शक्ति के साथ विकसित हो रहा है।" आज संयुक्त राष्ट्र की महासभा विशेष रूप से 'विश्व का खुला अन्तःकरण' कही जाती है।

विश्व लोकमत : भ्रमपूर्ण धारणा
(WORLD PUBLIC OPINION : AMBIGUOUS CONCEPT)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विश्व लोकमत की धारणा एक भ्रमपूर्ण धारणा समझी जाती है। किसी सार्वभौमिक समस्या, संकट अथवा प्रश्न पर सभी देशों में सभी लोगों एवं सरकारों में एक समान प्रतिक्रियाएँ नहीं पायी जातीं। इसका मुख्य कारण यही है कि प्रत्येक राष्ट्र में लगाव और अनुभूति भिन्न-भिन्न होती है। उदाहरण के लिए, बंगलादेश और वियतनाम के मामलों को लिया जा सकता है। बंगलादेश में पाकिस्तानी नरसंहार के फलस्वरूप विश्व के अधिकांश देशों में बंगाली शरणार्थियों के पक्ष में प्रतिक्रियाएँ हुईं। किन्तु जब इसी समस्या को लेकर भारत और पाकिस्तान में युद्ध प्रारम्भ हो गया तो विश्व के विभिन्न देशों में लोकमत एक जैसा नहीं रहा। पाकिस्तान की जनता याह्याखाँ की निरंकुश सरकार का समर्थन कर रही थी जबकि भारत की जनता श्रीमती गांधी के प्रत्येक निर्णय की समर्थक बन गयी थी। चीन ने पाकिस्तान का समर्थन किया और सोवियत संघ ने भारत के प्रति सहानुभूति दिखायी। अमरीकी जनमत की उपेक्षा

1 Hans J. Morgenthau, *Politics Among Nations* (1963), p. 261.

करते हुए अमरीकी सरकार ने पाकिस्तान को नैतिक समर्थन प्रदान किया। कहने का तात्पर्य यह है कि इस समस्या पर विश्व लोकमत सर्वत्र एक सा नहीं था और राष्ट्रीय रुझानों (national bias) से प्रभावित रहा। वियतनाम के मामले पर विश्व लोकमत की अभिव्यक्ति अधिक प्रबल, सशक्त और संगठित रूप से हुई। उत्तरी वियतनाम पर अमरीका द्वारा की जाने वाली बमवर्षा की सर्वत्र निन्दा की गयी, यहाँ तक कि अमरीकी नागरिकों ने भी अमरीकी सरकार का विरोध किया। लोकमत के सार्वभौमिक प्रतिरोध के परिणामस्वरूप ही अमरीका को वियतनाम से धीरे-धीरे हटने को बाध्य होना पड़ा। किन्तु अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप का इतना सशक्त प्रतिरोध नहीं हुआ।[1]

विश्व लोकमत की अवधारणा इतनी जटिल और दुर्बोध क्यों है? कतिपय मामलों में विश्व लोकमत संगठित नहीं हो पाता, जबकि कतिपय अन्य मामलों में इसकी अभिव्यक्ति प्रभावशाली ढंग से क्यों हो जाती है। मॉरगेन्थाऊ ने इसके तीन कारण बताये हैं—(i) विश्व की मनोवैज्ञानिक एकता; (ii) औद्योगिक एकीकरण की सन्दिग्धता; (iii) राष्ट्रवाद की अड़चन।[2]

(1) **विश्व की मनोवैज्ञानिक एकता** (Psychological unity of the world)—सभी मनुष्य जीवित रहना चाहते हैं सभी मनुष्य स्वतन्त्र रहना चाहते है, सभी मनुष्य शक्ति की खोज में रहते हैं। अर्थात् सभी मनुष्य स्वतन्त्रता, शान्ति और व्यवस्था चाहते हैं। इस मनोवैज्ञानिक आधार पर दार्शनिक दृढ़ विश्वासों; नैतिक अभिधारणाओं तथा राजनीतिक उच्चाकांक्षाओं का एक भवन खड़ा होता है। ये सभी बुनियादी बातें जिन्हें सभी व्यक्ति चाहते हैं, विश्व लोकमत का प्रतीक है। ये विश्व लोकमत के लिए मूल्यांकन के सामान्य मानक प्रदान करती हैं। इनमें से किसी का भी उल्लंघन विश्व लोकमत का उल्लंघन समझा जायेगा।

विश्व की यह मनोवैज्ञानिक एकता विश्व लोकमत के विकास को सम्भव बनाती है लेकिन वास्तविकता कुछ दूसरी है। दार्शनिक दृष्टि से तो मानकों की समरूपता दिखायी देती है कि सभी लोग स्वतन्त्रता, व्यवस्था, शान्ति और सामान्य भलाई चाहते हैं तथापि नैतिक निर्णयों और राजनैतिक मूल्यांकनों में भारी अन्तर दिखाई देता है। समान नैतिक एवं राजनीतिक अवधारणाएँ विभिन्न वातावरणों में विभिन्न अर्थ लगाती हैं। एक जगह न्याय और लोकतन्त्र का एक अर्थ लगाया जाता है तो दूसरी जगह बिल्कुल भिन्न अर्थ लगाने के उदाहरण मिलते है। किसी अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाही को एक समूह नैतिक और अन्यायपूर्ण ठहराता है तो दूसरा समूह उसी कार्यवाही की प्रशंसा करता है। सब देशों में समान रूप से स्वीकार किये जाने वाले सिद्धान्त स्वतन्त्रता, शान्ति, कानून व्यवस्था, न्याय तथा लोकतन्त्र के विचार देश की परिस्थितियों से प्रभावित होते हैं। अमरीका और सोवियत संघ में स्वतन्त्रता और न्याय के स्वरूप के बारे में सर्वथा विभिन्न प्रकार के विचार हैं। अतः मनोवैज्ञानिक रूप से मानव जाति की मौलिक आकांक्षाओं में मनोवैज्ञानिक एकता होते हुए भी राजनीतिक दृष्टि से उनमें प्रबल मतभेद है। अतः उनकी राजनीतिक आकांक्षाएँ अलग-अलग प्रकार की हैं और इनके कारण विश्व के एक सामान्य लोकमत का निर्माण सम्भव नहीं है।

(2) **औद्योगिक एकीकरण की सन्दिग्धता** (Ambiguity of technological unification)—ऐसा माना जाता है कि तकनीकी और औद्योगिक विकास के कारण विश्व का जनमानस एक-दूसरे के काफी निकट आ गया है। अन्तर्राष्ट्रीय संचार और आवागमन के साधनों ने विभिन्न राष्ट्रों के लोगों को एक-दूसरे के निकट ला दिया है। मॉरगेन्थाऊ के शब्दों

1 J. A. Naik, *A Textbook of International Relations* (Macmillan, 1978), pp. 97-98.
2 Morgenthau, *Ibid*, pp. 262-67.

में, "जब हम कहते हैं कि यह "एक विश्व" है, तो हमारा केवल यह अर्थ नहीं होता कि संचार के आधुनिक विकास ने भौतिक सम्पर्कों तथा मानव जाति के सदस्यों के बीच सूचना एवं विचारों की भौगोलिक दूरियों को वस्तुतः मिटा दिया है। हमारा यह भी अभिप्राय है कि भौतिक एवं मानवता को समेटकर चलने वाले अनुभव ने साम्य को जन्म दिया है। इससे एक विश्व लोकमत पनप सकता है।"

मॉरगेन्थाऊ का कहना है कि 'दो विचार दिखलाते हैं कि नैतिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में ऐसा कुछ नहीं है, जो कि विश्व के औद्योगिक एकीकरण के अनुरूप है। इसके बिलकुल विपरीत; आज विश्व नैतिक एवं राजनीतिक एकीकरण से काफी दूर है।'

आधुनिक प्रौद्योगिकी ने विभिन्न देशों के बीच संचार सुविधाओं के साथ-साथ उन देशों की सरकारों तथा प्राइवेट एजेंसियों के हाथों में भी ऐसी अपूर्व शक्ति सौंप दी है कि वे इस प्रकार के संचार को (एकता बढ़ाने वाले संचार को) असम्भव बना दें। आधुनिक तकनीकी ने सरकारों और संचार की प्राइवेट एजेंसियों के लिए यह सम्भव बना दिया है कि वे उपयुक्त समझें तो इन संचार साधनों को काट दें। यदि किसी व्यक्ति के पास उन सरकारी पारपत्र सम्बन्धी कागजों में से एक की भी कमी है तो वह व्यक्ति अपने देश की सीमा के पार नहीं जा सकता। आधुनिक प्रौद्योगिकी के ही कारण अधिनायकवादी एवं समग्रवादी सरकारों के लिए यह सम्भव हो गया कि वे अपने नागरिकों को कुछ निश्चित विचारों और सूचनाओं की ही खुराक दें और दूसरों से उन्हें अलग-अलग रख दें। यह आधुनिक प्रौद्योगिकी ही है, जिसने समाचारों एवं विचारों के संग्रह एवं प्रसार को एक बड़ा व्यापार बना दिया है। यदि कुछ अपवादों को छोड़ दें तो केवल पर्याप्त साधन-सम्पन्न व्यक्ति और संगठन ही जनता तक अपनी आवाज पहुँचा सकते हैं। आज ऐसी बहुत कम सूचनाओं और विचारों को ही लोगों तक पहुँचने दिया जाता है जो राष्ट्रीय दृष्टिकोण के प्रतिकूल हैं। स्पष्ट है कि प्रौद्योगिक रूप से हम 'एक विश्व' की बात कर सकते हैं लेकिन नैतिक और राजनीतिक रूप से 'एक विश्व' की बात करना कठिन है। जब दर्शन, नैतिकता तथा राजनीति के प्रकाश में समाचारों के अर्थ का प्रश्न आता है, तो वह भेद, जो कि विभिन्न राष्ट्रों के सदस्यों को एक-दूसरे से पृथक करते हैं, पूर्णतया अभिव्यक्त हो जाते हैं। सूचना की वे ही मद तथा वे ही विचार एक अमरीकन, एक रूसी तथा एक भारतीय के लिए कुछ विभिन्न अर्थ रखते हैं। इसका कारण यह है कि सूचना की वह मद तथा वह विचार जिन मस्तिष्कों के द्वारा समझे जाते, आत्मसात तथा परिष्कृत होते हैं उन पर विभिन्न अनुभवों का प्रभाव होता है।

मॉरगेन्थाऊ लिखते हैं, "इस प्रकार यदि हम एक विश्व में भी रहे होते जो वास्तव में राष्ट्रीय की सीमाओं चिन्ता किये बिना मुक्त रूप से घूमने वाले लोगों, समाचारों एवं विचारों के साथ आधुनिक प्रौद्योगिकी के द्वारा एकीभूत होता, तो भी हमारे समक्ष विश्व लोकमत नहीं होता।"

(3) **राष्ट्रवाद की अड़चन** (The barrier of nationalism)—विभिन्न राष्ट्रों में पायी जाने वाली राष्ट्रवाद की भावना भी विश्व लोकमत के निर्माण में एक बाधा है। प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति पर एक न्यायसंगत एवं टिकाऊ शान्ति समझौता करने के लिए वुडरो विल्सन के चौदह सूत्र आवश्यक समझे जाते थे। वे मानवता के इतने बड़े भाग के द्वारा स्वीकृत हुए कि वास्तव में उनके समर्थन में एक विश्व लोकमत का अस्तित्व मालूम होता था। किन्तु उस समय भी प्रत्येक देश के अपने-अपने विशिष्ट राष्ट्रवाद ने चौदह सूत्रों के विशिष्ट अर्थ निकाले, उनको अपने विशिष्ट रंग में रंग दिया और उन्हें अपनी विशिष्ट आकांक्षाओं का प्रतीक बना दिया और इस प्रकार विश्व लोकमत जैसी कोई बात नहीं हुई।

युद्ध विरोधी भावना—यदि हम समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में देखते हैं तो यह पाते हैं कि विश्व में युद्ध की वीभत्सता का विरोध करने की इच्छा लगभग सर्वव्यापक है। किन्तु तथ्य यह है कि जहाँ राष्ट्रीय हित की बात उठती है वहाँ लोग युद्ध का विरोध नहीं करते। अधिकांश देश उन युद्धों का विरोध करते हैं जो उनके राष्ट्रीय दृष्टिकोण पर प्रभाव नहीं डालते जबकि उन युद्धों से संकोच नहीं करते जो उनके राष्ट्रीय हित में होते हैं। उदाहरणार्थ, कोरिया युद्ध का विश्लेषण किया जा सकता है। कोरियाई युद्ध की सार्वभौमिक आधार पर 'विश्व लोकमत' द्वारा निन्दा हुई। जबकि सोवियत संघ तथा इसके समर्थकों ने इसके लिए संयुक्त राज्य तथा इसके संश्रित राष्ट्रों को दोषी ठहराया, संयुक्त राज्य तथा इसके संश्रित राष्ट्रों ने सोवियत संघ का

समर्थन पाने वाले उत्तरी कोरिया तथा चीन को अत्याचारी माना तथा भारत जैसे तटस्थों ने दोनों कैम्पों को दोषी ठहराया। इस युद्ध में विभिन्न राष्ट्रों का वास्तविक रूप में भाग लेना इसी प्रकार इनकी राष्ट्रहित की अवधारणाओं द्वारा निर्धारित हुआ।

इसी प्रकार इटली द्वारा अबीसीनिया पर आक्रमण के उदाहरण से भी यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि विश्व के सभी देश युद्ध के दुष्परिणामों से भयभीत होने में एकमत हैं, फिर भी इस युद्ध को रोकने के लिए अपनाये जाने वाले उपायों और साधनों का अवलम्बन करने में सहमत नहीं हैं। इसे युद्ध के आलोचक और विरोधी होते हुए भी ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस आदि महाशक्तियाँ कोई ऐसे कार्य नहीं करने को तैयार थीं जो इटली को नाराज करने वाला तथा उनके राष्ट्रीय हित के प्रतिकूल हो।

मानव जाति के सदस्य सार्वभौमिक नैतिकता के मानकों का प्रयोग करने वाले एक विश्व समाज के सदस्यों के नाते नहीं, वरन् नैतिकता के अपने-अपने राष्ट्रीय मानकों द्वारा निर्देशित अपने-अपने राष्ट्रीय समाजों के सदस्यों के नाते राजनीतिक ढंग से रहते तथा कार्य करते हैं। राजनीति में अन्तिम तथ्य राष्ट्र है, मानवता नहीं। अतः विश्व में शान्ति के परीक्षण की अपनी आशाओं को एक विश्व लोकमत पर आधारित करना स्पष्ट रूप से निरर्थक है। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की वास्तविकता ने अभी तक कठिनाई से ही विश्व लोकमत का कोई लक्षण प्रकट किया है।

स्वेज संकट (1956) के समय विश्व लोकमत—26 जुलाई, 1956 को जब मिस्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया तो इजराइल ने, ब्रिटेन और फ्रांस की सहमति से 29 अक्टूबर, 1956 को सिनाई प्रायद्वीप पर आक्रमण कर दिया और 31 अक्टूबर, 1956 को ब्रिटेन और फ्रांस की सेनाओं ने स्वेज नहर पर गोलाबारी करनी शुरू कर दी। जब ब्रिटेन और फ्रांस के वीटो के कारण सुरक्षा परिषद प्रस्ताव पारित करने में असफल रही तो महासभा ने 2 नवम्बर, 1956 को 'तत्काल युद्ध विराम करने और सेनाओं की वापसी' से सम्बन्धित एक प्रस्ताव पारित किया। प्रस्ताव में इजराइल-ऐंग्लो-फ्रेंच आक्रमण की निन्दा भी की गयी। 22 दिसम्बर, 1956 को ब्रिटेन तथा फ्रांस ने भारी कलंक-कालिमा के साथ मिस्र से अपनी फौजें हटा लीं। 7 मार्च, 1957 तक इजराइल ने भी मिस्र से सब सेनाएँ हटा लीं। ब्रिटेन और फ्रांस ने अपनी सेना इसलिए हटायीं कि स्वदेश और विदेशों में लोकमत ने हमले की कटु आलोचना की।

विश्व लोकमत की ओर बढ़ते कदम
(FOOTSTEPS TOWARDS WORLD PUBLIC OPINION)

विश्व लोकमत का विचार अन्तर्राष्ट्रीयतावाद तथा विश्ववाद से जुड़ा हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीयतावाद तथा विश्ववाद का उद्देश्य एक ऐसी व्यापक व्यवस्था का निर्माण है जो संगठित मानव समुदायों से महान तथा उच्चतर होगी। अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के अनुसार मानव समाज मूल रूप से एक इकाई है, अतः आज के संसार में राष्ट्र के बीच भेद की जो दीवारें खड़ी हो गयी हैं, उन्हें कम किया जाना चाहिए, हटाना चाहिए। विश्व लोकमत की धारणा को पोषित करने के लिए राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का अन्त कर दिया जाये और सारे राष्ट्रीय राज्यों का एक अन्तराष्ट्रीय संघ के रूप में एक विश्व राज्य के रूप में एकीकरण किया जाये।

प्रबुद्ध विश्व लोकमत के विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की स्थापना के लिए या तो हमें सामान्य सिद्धान्तों और आदर्शों का आधार बनाना होगा अथवा हमें विभिन्न राष्ट्रीय हितों में सन्तुलन और सामंजस्य स्थापित करना होगा। हमें राज्यों के मध्य व्याप्त तनाव और मनमुटाव को दूर करने का प्रयास करना चाहिए ताकि 'विश्व लोकमत' के अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त हो सके। विश्व के भावी नागरिकों को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जो उनमें अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित करे।

प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विश्व लोकमत के महत्व का परीक्षण कीजिए। 1956 में स्वेज संकट के समय उसने क्या प्रभाव डाला?
   Examine the importance of world public opinion in the International Politics. How did it influence the Swez Crisis of 1956?

भाग 2

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति : व्यावहारिक पक्ष

[INTERNATIONAL POLITICS : APPLIED ASPECT]

1

द्वितीय विश्व युद्ध के कारण तथा प्रभाव

[CAUSES OF THE SECOND WORLD WAR AND IT'S EFFECTS]

पेरिस शान्ति सम्मेलन की समाप्ति पर महाशक्तियों के प्रतिनिधियों को पूरा विश्वास हो गया था कि उन्होंने भावी संतति के लिए विश्व को सुरक्षित बना दिया है एवं युद्ध की सम्भावनाओं को मिटा दिया है। राष्ट्र संघ की स्थापना से यह विश्वास और भी दृढ़ बना एवं सामूहिक सुरक्षा के अन्तर्गत यह आशा बँधी कि भविष्य में कभी युद्ध नहीं होगा तथा मनुष्य शान्ति से रहेगा। इस प्रकार की आशाओं के बीच युद्धोत्तर काल का निर्माण आरम्भ हुआ, परन्तु कुछ ही वर्षों में यूरोप की राजनीतिक परिस्थितियों से स्पष्ट हो गया कि बहुत समय तक शान्ति नहीं रहेगी। भय, घृणा, गुटबन्दी आदि के कारण संघर्ष का वातावरण पुनः छा गया। यूरोप में 20 वर्ष की 'विराम सन्धि' के बाद युद्ध आरम्भ हुआ।

द्वितीय विश्व-युद्ध की पृष्ठभूमि
(THE SECOND WORLD WAR : THE BACKGROUND)

साधारणतः यह कहा जाता है कि पेरिस की शान्ति सन्धियों में संघर्ष के बीज थे। पेरिस का शान्ति सम्मेलन उन कारणों को दूर न कर सका जो युद्ध उत्तेजक थे। राष्ट्र संघ ने सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त स्वीकार किया परन्तु उसका व्यावहारिक रूप अत्यन्त निराशाजनक था। 1931 से 1939 तक की घटनाओं से स्पष्ट हो गया था कि विश्व-युद्ध अधिक समय तक नहीं टाला जा सकेगा। 1931-32 में जापान ने मन्चूरिया पर आक्रमण किया एवं उस पर अधिकार कर लिया। चीन ने जापान के आक्रमण के विरुद्ध राष्ट्र संघ से शिकायत की एवं उससे अपील की कि वह जापान को रोके। राष्ट्र संघ ने कई बार बैठक बुलायी तथा चीन-जापान संघर्ष के कारणों को जानने एवं युद्ध आरम्भ करने के उत्तरदायित्वों को निश्चित करने के लिए लिटन आयोग नियुक्त किया, परन्तु वह जापान से मन्चूरिया खाली न करा सका। संयुक्त राज्य अमरीका, इंगलैण्ड एवं सोवियत रूस ने जापान की विस्तारवादी नीति का केवल मौखिक विरोध किया, उन्होंने उसके विरुद्ध कोई ठोस कार्यवाही नहीं की।

1933 में हिटलर जर्मनी का तानाशाह बना। उसने वर्साय की अपमानजनक एवं अन्यायपूर्ण सन्धि की शर्तों को तोड़ना अपना राष्ट्रीय कर्तव्य समझा; उसने सन्धि की शर्तों की परवाह नहीं की एवं शस्त्रीकरण आरम्भ किया। उसने निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में भाग लेना छोड़ दिया तथा देश के समस्त कारखानों को युद्ध की सामग्रियाँ बनाने के लिए कहा जिससे वह संघर्ष के लिए तैयार हो सके। जर्मनी के कार्यों के विरुद्ध किसी भी देश ने कदम नहीं उठाया।

इटली ने अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए इथियोपिया पर

आक्रमण किया। इथियोपिया के सम्राट हेलेसिलासे ने राष्ट्र संघ से अपील की कि वह इटली के विरुद्ध कार्य करे। राष्ट्र संघ ने उसकी अपील पर इतनी धीमी गति से विचार किया कि जब तक वह किसी निर्णय पर पहुँचे तब तक इटली ने इथियोपिया पर अधिकार कर लिया। हेलेसिलासे को अपना देश छोड़कर इंगलैण्ड भागना पड़ा। यद्यपि राष्ट्र संघ ने इटली को आक्रमणकारी घोषित किया एवं कुछ देशों ने उसके विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने की धमकी दी परन्तु किसी भी देश ने इटली के विरुद्ध सक्रिय नीति नहीं अपनायी।

इथियोपिया युद्ध का एक परिणाम यह निकला कि जर्मनी ने अपना एकाकीपन समाप्त किया। जब यूरोप के लगभग सभी देश इथियोपिया पर आक्रमण करने के कारण इटली की निन्दा कर रहे थे, उस समय हिटलर ने मुसोलिनी का समर्थन किया। इस समर्थन के परिणामस्वरूप दोनों मैत्री-संगठन में बँध गये एवं रोम-बर्लिन धुरी का निर्माण हुआ। यद्यपि इस धुरी का निर्माण मुख्य रूप से साम्यवादी रूस के विरुद्ध हुआ था, तथापि इसका एक उद्देश्य मित्र-राष्ट्रों के विरुद्ध लड़ना था। कालान्तर में जर्मनी और जापान में साम्यवाद विरोधी समझौता हुआ एवं इटली उसमें सम्मिलित हुआ। इस प्रकार 1938 तक विश्व के तीन सर्वसत्तावादी राज्यों का एक शक्तिशाली संगठन **रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी** बना।

मन्चूरिया पर अधिकार करने के पश्चात् जापान ने चीन पर आक्रमण करने की योजना बनायी। सन् 1937 में जापान तथा चीन के सैनिकों में मुठभेड़ हुई। जापान ने मुठभेड़ से उत्पन्न स्थिति से लाभ उठाकर चीन पर आक्रमण किया। चीन ने जापान के विरुद्ध राष्ट्र संघ से दो बार अपील की, परन्तु राष्ट्र संघ उसे आगे बढ़ने से न रोक सका, अतः जापान चीन में बढ़ता चला गया। इन घटनाओं से सिद्ध हो जाता है कि न राष्ट्र संघ में और न यूरोप के किसी शक्तिशाली देश में इतनी शक्ति थी कि वह आक्रमणकारी को रोक सके। वे तुष्टीकरण की नीति द्वारा विश्व-शान्ति बनाये रखने की चेष्टा करते रहे।

हिटलर यूरोपीय देशों एवं राष्ट्र संघ की दुर्बलताओं से परिचित था, अतः उसने उनसे लाभ उठाया। उसने आस्ट्रिया में ऐसी स्थिति उत्पन्न की कि उसका जर्मनी के साथ विलीनीकरण बिना हुए न रहा। इसी प्रकार चैकोस्लोवाकिया को अपना सुडेटन क्षेत्र जर्मनी को सौंपना पड़ा। फ्रांस एवं इंगलैण्ड ने उसकी अखण्डता बनाये रखने का आश्वासन दिया था, परन्तु दोनों ने हिटलर को सन्तुष्ट करने के लिए उसका अंग-भंग स्वीकार किया।

सन् 1936 तक यूरोप पुनः दो शक्तिशाली गुटों में बँट गया था। एक का नेता फ्रांस तथा दूसरे का जर्मनी था। उस समय तक इंगलैण्ड एवं संयुक्त राज्य अमरीका किसी गुट में शामिल नहीं हुए थे। परन्तु इंगलैण्ड के लिए बहुत समय तक तटस्थ रहना असम्भव था क्योंकि स्पेन के गृह-युद्ध से उत्पन्न स्थिति के कारण यूरोप पर युद्ध के बादल मँडराने लगे थे। इटली भूमध्यसागर पर नियन्त्रण स्थापित कर स्वेज पर अधिकार स्थापित करने की योजना बना रहा था। जर्मनी ने आस्ट्रिया तथा चैकोस्लोवाकिया हड़प लिया था एवं लिथूनिया को मेमल का बन्दरगाह तथा उसका समीपवर्ती क्षेत्र सुपुर्द करने के लिए विवश कर रहा था। हिटलर ने पोलैण्ड, डेन्जिग का बन्दरगाह माँगा परन्तु उसने उसे बन्दरगाह नहीं दिया। जर्मनी ने कूटनीति द्वारा बाल्टिक सागर के देशों को अपनी ओर मिला लिया था तथा रूस से सन्धि कर ली थी। यद्यपि इंगलैण्ड चाहता था कि जर्मनी पोलैण्ड की समस्या को शान्तिपूर्वक सुलझाये, तथापि हिटलर ने पोलैण्ड के प्रति कठोर नीति अपनायी। अमरीका के राष्ट्रपति, पोप तथा बेल्जियम के सम्राट ने हिटलर से अपील की कि वह पोलैण्ड की समस्या को शान्तिपूर्वक सुलझाये, परन्तु उसने उनकी एक न सुनी। उसने 1 सितम्बर, 1939 को प्रातःकाल पोलैण्ड पर आक्रमण किया। इस आक्रमण के साथ द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ हुआ।

द्वितीय विश्व-युद्ध के कारण
(CAUSES OF THE SECOND WORLD WAR)

विश्व राजनीति विशेषज्ञों का विचार है कि प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् संसार में शान्ति स्थापित नहीं हुई, क्योंकि किसी क्षेत्र में संघर्ष चलता रहा। अतएव द्वितीय विश्व-युद्ध के 'कारण' उन समस्त घटनाओं, क्रियाओं एवं प्रतिक्रियाओं में निहित हैं जो पेरिस की सन्धि से लेकर पोलैण्ड के आक्रमण तक घटीं। द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे :

(1) **वर्साय की सन्धि की शर्तों की कठोरता**—ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि द्वितीय विश्व-युद्ध के कारणों के बीज पेरिस में हुई सन्धियों में थे। पेरिस सम्मेलन में प्रथम विश्व-युद्ध की विभीषिका से आतंकित देशों के प्रतिनिधियों ने विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए प्रयत्न किया, परन्तु उनके प्रयत्नों में ईमानदारी नहीं थी। फ्रांस ने जर्मनी से 1877 की पराजय का प्रतिशोध लिया। उसे राजनीतिक, आर्थिक एवं सैनिक रूप से पंगु बना दिया, उसे उपनिवेशों से वंचित किया एवं उसके व्यापार तथा वाणिज्य को बड़ी हानि पहुँचायी।

वर्साय की सन्धि का जर्मनी पर जो विनाशकारी प्रभाव हुआ उसका वर्णन करते हुए **लैंगसम** ने लिखा है—"इससे यूरोप में जर्मन प्रदेश का आठवाँ भाग और 70 लाख व्यक्ति कम हो गये, उसके सारे उपनिवेश, 15% कृषि योग्य भूमि, 12% पशु, 10% कारखाने छीन लिये गये, उसके व्यापारिक जहाज 57 लाख टन से घटाकर केवल 5 लाख टन तक सीमित कर दिये गये, ब्रिटेन की नौ-सैनिक शक्ति से प्रतिस्पर्द्धा करने वाली उसकी नौ-सैनिक शक्ति को नष्ट कर दिया गया और स्थल सेना की संख्या एक लाख निश्चित कर दी गयी। उसे अपने कोयले के 2/3 भाग से, लोहे के 2/3 भाग से और जस्ते के 7/10 भाग से तथा आधे से भी अधिक सीसे के क्षेत्र से हाथ धोने पड़े। उपनिवेशों के इस प्रकार छीन लिये जाने से रबर और तेल की कमी का सामना करना पड़ा। वर्साय की प्रादेशिक व्यवस्थाओं ने उसके उद्योग-धन्धों और व्यापार को एकदम चौपट कर दिया। इसी प्रकार क्षतिपूर्ति के नाम पर उसे कोरे चैक पर हस्ताक्षर करने को बाध्य किया गया।"

वर्साय की सन्धि ने जर्मन जनता में मित्र-राष्ट्रों के विरुद्ध उग्र प्रतिरोध की भावना उत्पन्न कर दी थी। प्रतिशोध, घृणा, शस्त्र-बल आदि पर आधारित शान्ति चिरस्थायी नहीं होती। जैसे फ्रांस 1871 की पराजय एवं अपमान को नहीं भूल सकता था, उसी प्रकार जर्मनी वर्साय की सन्धि को नहीं भूल पाया था। कुछ समय तक जर्मनी सन्धि से उत्पन्न कठिनाइयों को सहता रहा, परन्तु निराशा, कष्ट, घोर अपमान आदि से उत्पन्न प्रतिक्रिया के कारण नाजियों का अभ्युदय हुआ। उन्होंने जर्मनों को याद दिलाया कि उन्हें वर्साय की अपमानजनक सन्धि की शर्तों को तोड़ना है एवं अन्यायपूर्ण सन्धि का प्रतिशोध लेना है। प्रतिशोध की भावना ने जर्मनों को युद्धोन्मादी बना दिया। **सिरिल फ्रांस** के शब्दों में, "द्वितीय विश्व-युद्ध सार रूप से जर्मनी द्वारा प्रारम्भ किया एक प्रतिशोधात्मक युद्ध था।"

(2) **सामूहिक सुरक्षा का पतन**—प्रथम विश्व-युद्ध के बाद यूरोप के राजनीतिज्ञ इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि चिरस्थायी शान्ति के लिए सामूहिक सुरक्षा प्रणाली स्वीकार करना सर्वश्रेष्ठ है। राष्ट्र संघ की स्थापना से यूरोपवासियों को विश्वास हो गया था कि सामूहिक सुरक्षा प्रणाली द्वारा यूरोप में शान्ति स्थापित होगी एवं भविष्य में युद्ध नहीं होगा, परन्तु 1931 के बाद उनका सामूहिक सुरक्षा में विश्वास घटने लगा था। 1931-39 के बीच होने वाली घटनाओं से स्पष्ट हो गया कि यूरोप से पुनः युद्ध छिड़ेगा।

पेरिस सम्मेलन के पश्चात् फ्रांस ने सामूहिक सुरक्षा के लिए लघु मैत्री संगठन का निर्माण

किया एवं इसका सम्बन्ध पोलैण्ड से स्थापित किया। फ्रांस का विश्वास था कि पराजय के बाद भी जर्मनी से सावधान रहने की आवश्यकता है। अतः यूरोप की शान्ति के लिए उसके चारों ओर के पड़ोसियों का संगठन बनाया जाये जिससे जर्मनी चारों ओर से घिरा रहे। लघु मैत्री संगठन के पश्चात यूरोप की शक्ति को चिरस्थायी बनाने के लिए सामूहिक प्रयत्न आरम्भ हुआ। जिनेवा, लोकार्नो तथा पेरिस में यूरोप की महाशक्तियों ने युद्ध न करने एवं आपसी झगड़ों को बिना शक्ति प्रयोग के सुलझाने के लिए जो समझौते किये, वे सामूहिक सुरक्षा को शक्तिशाली बनाने वाले थे। यूरोपवासियों को विश्वास हो गया था कि भविष्य में युद्ध नहीं होगा परन्तु 1931 के बाद की घटनाओं ने उन्हें बड़ा निराश किया।

1931 में जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण किया और चीन ने जापान के आक्रमण के विरुद्ध राष्ट्र संघ से शिकायत की। किन्तु राष्ट्र संघ मंचूरिया से जापान को नहीं निकाल सका। 1935 में इटली ने इथियोपिया पर आक्रमण करने की पूरी तैयारी कीं। इथियोपिया के सम्राट ने राष्ट्र संघ से अपील की कि उसकी आक्रमण से रक्षा की जाये, परन्तु राष्ट्र संघ ने उस पर विशेष ध्यान नहीं दिया। राष्ट्र संघ की उदासीनता से प्रोत्साहित हो इटली ने इथियोपिया पर आक्रमण किया एवं इससे पहले कि राष्ट्र संघ के सदस्य उसके विरुद्ध कोई कदम उठायें उसने इथियोपिया पर अधिकार स्थापित किया। राष्ट्र संघ के सदस्यों ने अपनी असफलता की झेंप मिटाने के लिए इटली के विरुद्ध आर्थिक एवं वित्तीय प्रतिबन्ध लागू किया जिनका किसी भी देश ने पूरी निष्ठा के साथ पालन नहीं किया। इटली की इथियोपिया पर विजय से सामाजिक सुरक्षा प्रणाली का खोखलापन स्पष्ट होगा। राष्ट्र संघ की विफलता के कारण बड़े और छोटे राज्यों को इस पर कोई भरोसा नहीं रहा।

राष्ट्र संघ की कमजोरी यह थी कि यह एक सार्वभौमिक संगठन नहीं था। संयुक्त राज्य अमरीका जैसे शक्तिशाली देश का सहयोग इसे नहीं मिला जबकि राष्ट्र संघ के निर्माण का श्रेय संयुक्त राज्य अमरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति वुडरो विलसन को था। जब अमरीका जैसा प्रभावशाली देश राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं बना, तब अन्य देश भी इससे प्रोत्साहित हुए और जब राष्ट्र-संघ उनके मार्ग में बाधक बना तो असन्तुष्ट होकर उन्होंने इसकी सदस्यता का परित्याग कर दिया। जापान, जर्मनी, इटली ऐसे असन्तुष्ट देशों की श्रेणी में मुख्य थे।

राष्ट्र संघ अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को बिगड़ने से इसलिए नहीं रोक सका कि (i) प्रथम तो वह सांविधानिक निर्बलता का शिकार था और उसके पास आर्थिक एवं सैनिक शक्ति का अभाव था; (ii) द्वितीय, महाशक्तियों का असहयोग था; (iii) तृतीय, राष्ट्र संघ के सिद्धान्तों के प्रति भी सदस्यों में निष्ठा की कमी थी; (iv) चतुर्थ, संघ के प्रति सदस्य राज्यों के विभिन्न दृष्टिकोण थे और वे संघ जो अपनी स्वार्थ-पूर्ति का साधन बनाने पर तुले थे; (v) सन् 1930 के आर्थिक संकट ने राष्ट्रवादी शक्तियों को इतना प्रबल कर दिया था कि वे सामूहिक सुरक्षा और सामूहिक प्रतिरोध के अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तो की उपेक्षा करने लगीं और अन्त में अधिनायकवाद के विकास ने और 'लहू और लोहे की नीति' मे विश्वास रखने वाले हिटलर और मुसोलिनी के कार्यों ने 'शान्ति के सभी प्रयासों को ठप्प कर दिया। शूमां के शब्दों में, "संघ की सफलता के लिए यह आवश्यक था कि सदस्य राज्यों में इसके सिद्धान्तों से प्रति निष्ठा होती और वे बुद्धिमत्ता और साहस से काम लेते, किन्तु उनमें इसका सर्वथा अभाव था, अतएव जिनेवा की झील के तट पर परियाना पार्क मे निर्मित उसका भव्य प्रासाद शीघ्र ही उसका सुन्दर समाधि-स्थल बन गया।"

(3) **तुष्टीकरण की नीति**—ब्रिटेन और फ्रांस ने तुष्टीकरण की नीति अपनायी। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद ब्रिटेन और फ्रांस की विदेश नीति में बहुत अन्तर आ गया था। ब्रिटेन शक्ति-सन्तुलन की नीति में विश्वास करने लगा और वह नहीं चाहता था कि फ्रांस एक शक्तिशाली देश

बन जाये क्योंकि इससे यूरोप का शक्ति-सन्तुलन बिगड़ने का भय था। ब्रिटेन साम्यवाद के बढ़ते प्रभाव से चिन्तित था। इसलिए उसने जर्मनी के प्रति तुष्टीकरण नीति अपनायी ताकि आवश्यकता पड़ने पर शक्तिशाली जर्मनी साम्यवादी रूस का मुकाबला कर सके। शूमां के शब्दों में तुष्टीकरण आरम्भ से ही एक आत्मघाती मूर्खता के अतिरिक्त और कुछ नहीं थी। ब्रिटेन की आन्तरिक इच्छा यह थी कि जर्मनी को कुछ सुविधाएँ प्रदान करके अपने व्यापारिक व आर्थिक हितों को सुरक्षित करे। इसके विपरीत, जर्मनी के प्रति फ्रांसीसी दृष्टिकोण ब्रिटिश दृष्टिकोण से एकदम विपरीत था। फ्रांस चाहता था कि वर्साय की सन्धि का दृढ़ता के साथ पालन करने के लिए जर्मनी को बाध्य किया जाय। शूमां के शब्दों में, "वर्साय की सन्धि के पश्चात् फ्रांस ने जर्मनी के प्रति कठोर नीति अपनायी परन्तु ब्रिटेन ने उसके प्रति उदार नीति अपनायी क्योंकि वह उसे पुनः शक्तिशाली बनाना चाहता था जिससे वह सोवियत रूस की विस्तारवादी नीति से पश्चिमी यूरोप की रक्षा कर सके।"

जब हिटलर ने राष्ट्र संघ को ठुकराकर वर्साय की सन्धि के उपबन्धों की अवहेलना की तब फ्रांस ने इनका विरोध किया, लेकिन ब्रिटेन ने किसी प्रकार का सहयोग नहीं किया। इंगलैण्ड ने जर्मनी को सन्तुष्ट करने के लिए उससे एक तो सैनिक समझौता किया जिसके अनुसार उसे 20,000 टन के जहाज बनाने, पनडुब्बियाँ रखने एवं अपनी नौ-सेना की शक्ति बढ़ाने का अधिकार दिया गया। इंगलैण्ड के राजनीतिज्ञों का विश्वास था कि जिस क्रोध के कारण जर्मनी ने नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन का परित्याग किया था, इस समझौते से वह सन्तुष्ट हो जायेगा तथा उसका मित्र बना रहेगा, परन्तु हिटलर ने अपनी नौ-सेना तैयारियों से स्पष्ट कर दिया था कि इंगलैण्ड ने उसकी नौ-सैनिक माँगों को सन्तुष्ट कर कितनी भयानक भूल की थी। इसके पश्चात् हिटलर ने आस्ट्रिया हड़प लिया एवं विसैन्यीकृत राइनलैण्ड क्षेत्र पर सशस्त्र अधिकार कर लिया। इंगलैण्ड ने राइनलैण्ड के अधिकार पर सन्तोष प्रकट किया। चैकोस्लोवाकिया के मामले में इंगलैण्ड तथा फ्रांस सन्तुष्टीकरण की चरम सीमा पहुँच गये थे। उन्होंने हिटलर को सन्तुष्ट करने के लिए चैकोस्लोवाकिया का बलिदान सहर्ष स्वीकार किया। सन्तुष्टीकरण से हिटलर की महत्वाकांक्षाओं को बढ़ावा मिला। उसे विश्वास हो गया कि यूरोप की शक्तियों में उसके विरुद्ध खड़े होने की क्षमता नहीं है। 'सन्तुष्टीकरण-नीति' से युद्ध कुछ समय के लिए टल गया, परन्तु उसे रोका नहीं जा सका। कैनथ इनग्राम के शब्दों में, "ब्रिटेन ने चेम्बरलेन के हाथों अपने समूचे इतिहास का सबसे बड़ा अपमान सहन किया। वह इस प्रकार अपमानित हुआ जैसा पहले कभी नहीं हुआ। म्यूनिख में शान्ति की कीमत और अधिक शर्मनाक नही हो सकती थी।"

(4) **सर्वसत्तावादी शक्तियों का उत्कर्ष एवं उनकी महत्वाकांक्षाएँ**—पेरिस सम्मेलन के पश्चात् यूरोप की शान्ति के लिए लोकतान्त्रिक संस्थाओं का विकास आवश्यक समझा गया। यूरोप के कुछ देशों मे वैधानिक शासन की स्थापना हुई परन्तु लोकतन्त्र की नींव मजबूत नहीं हुई। 1917 की क्रान्ति के बाद सोवियत रूस में मजदूरों एवं कृषकों का शासन स्थापित हुआ। किन्तु यह यूरोपीय लोकतान्त्रित सिद्धान्तों पर आधारित नहीं था। इसे 'जनवादी लोकतन्त्र' कहा गया जो वास्तव में सर्वहाराओं का अधिनायकवाद था। पेरिस की सन्धि से इटली को बड़ी निराशा हुई थी। इटली मित्र-राष्ट्रों की ओर से लड़ा था, परन्तु उसे सन्धियों से कोई लाभ नहीं हुआ। आन्तरिक समस्याओं एवं राजनीतिक निराशा के कारण इटलीवासियों में असन्तोष बढ़ा। लोकतान्त्रिक शासन की अकर्मण्यता के कारण जनता उससे विश्वास खो बैठी। ऐसे समय में मुसोलिनी ने फासी दल की सहायता से सर्वसत्तावादी शासन स्थापित किया। वर्साय की सन्धि के बाद जर्मनी में गणतन्त्र की स्थापना हुई परन्तु पराजय से उत्पन्न आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने में जनतन्त्रीय शासन असफल रहा। अतः जर्मन जनता का जनतान्त्रिक संस्थाओं एवं प्रणाली में विश्वास नहीं रहा। दूसरी ओर हिटलर के नेतृत्व में नाजी दल ने उन समस्त समस्याओं को

सुलझाने का वचन दिया जो गणतन्त्र नहीं सुलझा सका था। 1933 में हिटलर चान्सलर बना एवं उसने जर्मनी में सर्वसत्तावादी राज्य स्थापित किया। इसी प्रकार यूरोप के अन्य देशों में वैधानिक एवं जनतन्त्रीय शासन के स्थान पर सर्वसत्तावादी शासन स्थापित होता गया। फ्रांस एवं इंगलैण्ड के अतिरिक्त सारा यूरोप सर्वसत्तावादियों के अंकुश के नीचे आ गया। वास्तव में, 1919-31 तक यूरोप में जनतन्त्र तथा अधिनायकवाद के बीच संघर्ष चला। इसी संघर्ष में अधिनायकवाद की विजय हुई एवं जनतन्त्र हार गया। मुसोलिनी ने जनतन्त्र तथा अधिनायकवाद के बीच होने वाले संघर्ष के विषय में कहा था, "दो दुनिया के बीच होने वाले संघर्ष में समझौता नहीं हो सकता है। दोनों में से एक ही जीवित रहेगा।"

सर्वसत्तावादी राज्य अत्यन्त महत्वाकांक्षी थे। रूस में अधिनायकवाद की स्थापना के बाद साम्यवादी, विश्व-क्रान्ति की योजना बनाने लगे। इटली, अफ्रीका एवं भूमध्यसागर का सम्राट बनना चाहता था। मुसोलिनी प्राचीन रोमन साम्राज्य की पुनः स्थापना के स्वप्न देख रहा था। जर्मनी यूरोप में सर्वशक्तिशाली देश बनना चाहता था। इटली एवं जर्मनी ने धुरी संगठन स्थापित किया। कालान्तर में जापान ने इटली के साथ मैत्री संगठन स्थापित किया। जापान एशिया का, इटली अफ्रीका का एवं जर्मनी यूरोप का स्वामी बनना चाहता था। उपर्युक्त महत्वाकांक्षाओं से स्पष्ट था कि पुनः युद्ध की अग्नि भड़क उठेगी। संक्षेप में, जनतन्त्र का पतन, सर्वसत्तावादियों का उत्कर्ष एवं उनकी असीमित महत्वाकांक्षाओं ने विश्व को पुनः युद्धाग्नि में ढकेल दिया।

(5) **निःशस्त्रीकरण की असफलता**—पेरिस सम्मेलन में सभी देशों के प्रतिनिधियों ने निश्चित किया था कि भविष्य में युद्ध की आशंका को दूर करने का सबसे अच्छा उपाय निःशस्त्रीकरण है। यह प्रस्ताव पराजित देशों पर कठोर रूप से लागू किया गया परन्तु विजयी राष्ट्रों ने निःशस्त्रीकरण की ओर ध्यान नहीं दिया। 1932 में राष्ट्र संघ के तत्वावधान में जिनेवा में निःशस्त्रीकरण सम्मेलन आरम्भ हुआ। अन्य देशों के अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमरीका तथा सोवियत रूस ने इसमें भाग लिया। किन्तु पारस्परिक अविश्वास, घृणा एवं स्वार्थ के कारण निःशस्त्रीकरण के किसी पहलू पर कोई सन्धि न हो सकी। 1933 में जर्मनी ने निःशस्त्रीकरण सम्मेलन एवं राष्ट्र संघ से निकल जाने की घोषणा की क्योंकि अन्य राष्ट्रों ने 'समता अधिकार' को स्वीकार करने में बड़ी ढील दिखायी थी। नि.शस्त्रीकरण सस्मेलन दो वर्ष तक चला परन्तु राष्ट्र संघ का कोई भी देश एक भी सैनिक युद्धपोत अथवा हवाई जहाज कम न कर सका। निःशस्त्रीकरण सम्मेलन की असफलता के परिणामस्वरूप पुनर्शस्त्रीकरण आरम्भ हुआ। मार्च 1935 में हिटलर ने खुले तौर पर पुनर्शस्त्रीकरण की घोपणा की। उसने वर्साय सन्धि की शर्तों का खण्डन करते हुए अनिवार्य सैनिक सेवा इंगलैण्ड तथा जर्मनी के बीच नौ-सेना की शक्ति-वृद्धि के विषय में समझौता हुआ। इस समझौते की कटु आलोचना हुई क्योंकि इंगलैण्ड ने जर्मनी की सैनिक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के लिए वर्साय की सन्धि की शर्तों के खण्डन में स्वयं भाग लिया। इंगलैण्ड की नीति जर्मनी के सन्तुष्टीकरण के लिए थी, परन्तु इससे पुनर्शस्त्रीकरण को प्रचुर बढ़ावा मिला। जर्मनी के पुनर्शस्त्रीकरण से उत्पन्न आतंक का सामना करने के लिए सोवियत रूस तथा फ्रांस ने पारस्परिक रक्षात्मक सन्त्रि पर हस्ताक्षर किये। फ्रांस ने जर्मनी के विरुद्ध पहले ही रक्षात्मक पंक्ति—'मैजिनो लाइन'—का निर्माण किया। इस प्रकार जर्मनी एवं फ्रांस पुनर्शस्त्रीकरण में जुट गये। पुनर्शस्त्रीकरण के कारण यूरोप तीव्र गति से उस भयंकर विस्फोट की ओर अग्रसर हुआ जिसकी अन्तिम परिणति द्वितीय विश्व-युद्ध में हुई।

(6) **दो प्रतिद्वन्द्वी सैनिक गुटों का उदय**—प्रथम विश्व-युद्ध से पहले समूचा विश्व दो विरोधी सैनिक गुटों में विभाजित हो गया था, उसी प्रकार द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व भी सम्पूर्ण विश्व दो परस्पर शत्रु सैनिक खेमों में बँट गया। एक तरफ जर्मनी, इटली और जापान जैसे कभी

सन्तुष्ट न होने वाले राष्ट्रों की रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी' थी तो दूसरी तरफ ब्रिटेन, फ्रांस, सोवियत रूस और अमरीका जैसे मित्र-राष्ट्रों ने मिलकर एक सुदृढ़ सन्धि संगठन स्थापित कर लिया। जब हिटलर के नेतृत्व में जर्मन सेना ने पोलैण्ड पर आक्रमण किया तो ब्रिटेन और फ्रांस ने पोलैण्ड को समर्थन दिया और द्वितीय महायुद्ध भड़क उठा।

(7) **अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संकट**—सन् 1930 में विश्व में एक महान आर्थिक संकट आया, जिसका प्रत्येक देश की आर्थिक व्यवस्था पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से बुरा प्रभाव पड़ा। इस आर्थिक संकट के परिणामस्वरूप राष्ट्रों में नि:शास्त्रीकरण की भावना समाप्त हो गयी और वे शस्त्रों की होड़ में लग गये। जर्मनी में घोर आर्थिक संकट छा गया, जिसके कारण लगभग 7 लाख व्यक्ति बेकार हो गये। इस आर्थिक संकट ने जर्मनी में नाजीवाद के उत्कर्ष में सहायता प्रदान की। इस आर्थिक संकट का लाभ उठाकर ही जापान ने सन् 1931 में मंचूरिया पर चढ़ाई कर दी और सन् 1935 में अबीसीनिया पर इटली का हमला भी इसी आर्थिक संकट का एक अप्रत्यक्ष परिणाम था।

(8) **साम्राज्यवादी भावना**—एशिया में जापान अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहता था। 1930 तक जापान की शक्ति में बहुत वृद्धि हुई और 1931 में उसने मंचूरिया पर चढ़ाई की। जुलाई 1937 में उसने युद्ध घोषणा किये बिना चीन के साथ युद्ध शुरू कर दिया। फ्रांस और इंगलैण्ड हिटलर के साथ युद्ध में व्यस्त थे, अतः जापान ने दक्षिणी-पूर्वी एशिया में इनके विशाल साम्राज्यों को जीतने की योजना बनायी। इसमें अमरीका उसके मार्ग में बड़ा बाधक था, अत: 1941 में उसने प्रशान्त महासागर में अमरीका के सबसे बड़े नौ-सैनिक अड्डे पर्ल हार्बर पर हमला किया और अमरीकी बेड़े को गहरी क्षति पहुँचायी।

यूरोप में हिटलर जर्मनी से प्रथम विश्व-युद्ध के बाद छीने गये उपनिवेशों को न केवल वापस लेना चाहता था, अपितु अपने देश में ऐसे अनेक प्रदेश सम्मिलित करना चाहता था जिससे जर्मनी का साम्राज्य ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस जैसा हो जाय। इस समय जर्मन लोगों को यह बात समझ में नहीं आती थी कि यदि ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के पास विशाल साम्राज्य है तो उनके पास साम्राज्य क्यों नहीं है? वे विश्व में अपनी जाति को सबसे बड़ा और दूसरों पर शासन करने वाला समझते थे, संसार में अपनी प्रभुता और साम्राज्य का विस्तार करने के लिए कोई भी लड़ाई मोल लेने को तैयार थे।

(9) **विभिन्न अल्पसंख्यक जातियों का असन्तोष**—वर्साय की सन्धि और उसके साथ ही बाद में होने वाली अन्य सन्धियों के द्वारा विभिन्न अल्पसंख्यक जातियाँ अस्तित्व में आयीं। राष्ट्रपति विलसन ने शान्ति सन्धियों का आधार 'राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त' को बनाना चाहा, किन्तु सैनिक, धार्मिक एवं अन्य कारणों से इस सिद्धान्त का कठोरतापूर्वक क्रियान्वयन सम्भव नहीं हो पाया। अत: कई अल्पसंख्यक जातियाँ विदेशी शासन के अन्तर्गत रह गयीं, जिसके कारण उनमें असन्तोष व भय की भावना उत्पन्न हो गयी। उल्लेखनीय है कि पेरिस की शान्ति-व्यवस्था के बाद भी यूरोप में एक करोड़ सत्तर लाख राष्ट्रीय अल्पसंख्यक जिनमें 75 लाख जर्मन थे, अन्य देशों में रह गये। इन अल्पसंख्यक जातियों ने यह माँग रखी कि या तो उन्हें अपने देश के साथ मिला दिया जाये अथवा स्वशासन प्रदान किया जाय। हिटलर ने इस असन्तोष का लाभ उठाया। उसने पश्चिमी शक्तियों से सौदेबाजी की और अल्पसंख्यकों पर 'कुशासन' के बहाने से आस्ट्रिया तथा सुडेटन प्रदेश पर कब्जा कर लिया और पोलैण्ड पर भी आक्रमण कर दिया जिससे द्वितीय विश्व-युद्ध की शुरूआत हो गयी।

(10) **पोलैण्ड पर जर्मनी का आक्रमण**—मार्च 1939 में हिटलर ने बोहीमिया तथा मोरेविया पर संरक्षण स्थापित करने की घोषणा की। यह कार्य उसने आत्म-निर्णय के सिद्धान्त

पर नहीं, और न जिस आधार पर उसने आस्ट्रिया तथा सुडेटनलैण्ड पर अधिकार किया था वरन् प्रवास क्षेत्र (Libensraum) के आधार पर किया था। इससे स्पष्ट हो गया था कि हिटलर जर्मनी के निकटवर्ती क्षेत्रों पर अधिकार कर एक साम्राज्य का निर्माण करना चाहता है। उसने बोहीमिया तथा मोरेविया पर संरक्षण स्थापित कर यह सिद्ध कर दिया था कि उसने म्यूनिख में चैम्बरलेन को जो वचन दिये थे उसका कोई मूल्य नहीं था। उसकी नीति से स्पष्ट था कि वह यूरोप पर प्रभुता स्थापित करना चाहता था एवं मित्र-राष्ट्रों की तुष्टीकरण नीति से उसे प्रचुर प्रोत्साहन मिल चुका था।

इंगलैण्ड एवं फ्रांस ने हिटलर की बढ़ती हुई माँगों एवं विस्तार नीति का विरोध करने का निश्चय किया। 31 मार्च, 1939 को इंगलैण्ड तथा फ्रांस ने घोषणा की कि यदि जर्मनी ने आक्रमण द्वारा पोलैण्ड की स्वतन्त्रता नष्ट करने की चेष्टा की तो वे उसकी रक्षा करेंगे। इस घोषणा के पाँच दिन बाद पोलैण्ड, फ्रांस तथा इंगलैण्ड के बीच एक सन्धि हुई। इस सन्धि के पश्चात् इंगलैण्ड ने अन्य देशों से परस्पर सुरक्षा सन्धियाँ कीं। 1939 की अप्रैल में हिटलर ने जर्मन-पोलैण्ड सन्धि को रद्द करते हुए घोषणा की कि डेन्जिग जर्मनी को लौटाया जाये एवं उसे पोलिश गलियारे में होकर सड़क और रेल लाइन निकालने का अधिकार दिया जाये। पोलैण्ड ने जर्मन माँगों को अस्वीकार कर दिया। हिटलर पोलैण्ड के उत्तर से सन्तुष्ट नहीं था परन्तु उसने उस समय उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की।

हिटलर ने कूटनीतिक तैयारियों के पश्चात् पोलैण्ड से माँग की कि वह डेन्जिग तथा गलियारे की समस्या शीघ्रातिशीघ्र सुलझाये। इंगलैण्ड तथा फ्रांस ने दोनों समस्याओं को सुलझाने के लिए समझौते एवं शान्ति से काम करने का सुझाव दिया। हिटलर ने इंगलैण्ड का सुझाव स्वीकार किया। दोनों देशों के राजदूतों के बीच वासचीत के लिए समय एवं स्थान निश्चित किया गया। जर्मनी ने इंगलैण्ड को सूचित किया कि उसने दो दिन तक पोलैण्ड के राजदूत के लिए इन्तजार किया परन्तु वह नहीं आया, अतएव पोलैण्ड ने उसके प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया है। इससे पूर्व कि दोनों के बीच समझौते की बातचीत पुनः आरम्भ हो जर्मनी के हवाई जहाजों ने 1 सितम्बर, 1939 को पोलैण्ड के नगरों पर बमबारी की। इंगलैण्ड तथा फ्रांस ने हिटलर को अन्तिम चेतावनी दी और जर्मनी से कोई उत्तर न मिलने पर दो दिन बाद 3 सितम्बर, 1939 को दोनों देशों ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। इस घोषणा के साथ द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ हुआ।

द्वितीय विश्व युद्ध के प्रभाव
अथवा
युद्धोत्तर युग के नूतन क्षितिज
(POST-WORLD WAR EMERGING TRENDS)

द्वितीय विश्व युद्ध ने उन परिस्थितियों को समाप्त कर दिया जिन पर 19वीं शताब्दी की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था आधारित थी। जनरल स्मट्स ने जून 1921 की इम्पीरियल कांग्रेस में भाषण करते हुए इसी तथ्य की ओर संकेत किया है, 'निस्संदेह रंगमंच अब यूरोप से दूर पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर में पहुँच गया है। मेरा विचार है कि अगले 50 वर्ष या इससे भी अधिक वर्षों तक प्रशान्त महासागर की समस्याएँ विश्व समस्याएँ होंगी।'

वर्तमान विश्व के नूतन परिवर्तन की चर्चा करते हुए टी० वी० कालिजार्वी लिखते हैं— 'आजकल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था का पुनर्गठन हो रहा है जिसमें पूर्ववर्ती राज्य व्यवस्था एवं राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था धीरे-धीरे नवीन राजनीतिक रूपों में परिवर्तित हो रही है। साम्राज्यों का पतन हो रहा है और उपनिवेश स्वतन्त्रता प्राप्त करते जा रहे हैं। राष्ट्रीय राज्य एक बड़े

संघ में विलीन होते जा रहे हैं।" अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव डालने वाले द्वितीय महायुद्धोत्तर तत्वों और आधुनिक उभरती हुई प्रवृत्तियों का विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है, जो इस प्रकार है :

(1) **यूरोपियन प्रभुत्व का अन्त**—सन् 1492 में कोलम्बस द्वारा अमरीका की खोज से लेकर द्वितीय विश्व-युद्ध तक के काल को विश्व के इतिहास का यूरोपियन काल कहा जा सकता है। इस युग में यूरोप में अभूतपूर्व वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति हुई। यूरोपियन राष्ट्रों ने विशाल साम्राज्यों की स्थापना की। जर्मनी, इटली, ब्रिटेन और फ्रांस की गणना महान शक्तियों मे की जाती थी। किन्तु द्वितीय विश्व-युद्ध ने यूरोपियन राष्ट्रों की अर्थ-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया। युद्ध की समाप्ति के बाद इटली, जर्मनी, फ्रांस और ब्रिटेन आदि राष्ट्र द्वितीय श्रेणी की शक्तियाँ (Second rate power) बन कर रह गयीं। विश्व का नेतृत्व यूरोप के हाथ से निकलकर संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ के हाथों में आ गया।

(2) **परमाणु युग का सूत्रपात**—संयुक्त राज्य अमरीका के एक वायुयान बी-29 ने 6 अगस्त, 1945 को हिरोशिमा पर अणुबम डाला। अणुबम के विस्फोट से हिरोशिमा की 90 प्रतिशत इमारतें नष्ट हो गयीं एवं लगभग 7,50,000 मनुष्य मारे गये। इस महासंहार के साथ परमाणु युग का सूत्रपात हुआ। विश्व के सभी वैज्ञानिकों ने अनुभव किया कि अणु-शक्ति के कारण मनुष्य को अतिमानुषी शक्ति मिल गयी है। एलबर्ट श्विट्जर ने 1954 में नोबल पुरस्कार प्राप्त करते समय कहा था, "मानव अणु शक्ति के कारण अतिमानुषी बन गया है, परन्तु उसकी बुद्धि उस अतिमानुषी मान तक उन्नत नहीं हुई जिस मान तक उसे शक्ति प्राप्त हुई है।" इससे स्पष्ट है कि परमाणु युग के साथ मानव सभ्यता पर विनाश की काली घटा छा गयी। सभ्यता का भविष्य ऐसे विवेकहीन मनुष्यों के हाथों में चला गया जिनमें हिरोशिमा का दृश्य दोहराने के लिए किसी प्रकार की झिझक नहीं है।

परमाणु हथियारों के सर्वनाश करने की सामर्थ्य के कारण मैक्स लर्नर, आज के युग को 'अतिमारकता का युग' (The Age of Overkill) कहते हैं। आजकल एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक पहुँचने वाले और शब्द की रफ्तार से भी तेज रफ्तार से उड़ने वाले जैट विमान, नाभिकीय बम फेंकने वाले प्रक्षेपास्त्र और परमाणु ऊर्जा से चलने वाले विमान तथा पनडुब्बियाँ बन चुके हैं। भू-उपग्रह और अन्तरिक्ष स्टेशन भी इन नवीन उपकरणों की सूची में जोड़े जा सकते हैं। **कार्ल जैस्पर्स** ने इन आधुनिक हथियारों को अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का 'नया तथ्य' कहकर पुकारा है। **ई० एच० कार** का मत है कि 'परमाणु हथियारों की भयानकता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की पृष्ठभूमि में युद्ध की छाया सदैव घूमती रहती है।' **बर्ट्रेण्ट ब्रोडी** ने कहा है कि 'परमाणु बम के कारण सारभूत परिवर्तन केवल यह नहीं हुआ है कि युद्ध अधिक हिंसक हो गया है बल्कि यह भी हुआ है कि इससे सारी हिंसा का प्रयोग थोड़ी-सी देर में हो जाता है।'

(3) **एशिया एवं अफ्रीका का जागरण तथा सम्प्रभु राज्यों की संख्या में वृद्धि**—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप मे परिवर्तन लाने वाला एक महत्वपूर्ण तत्व यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत में राज्यों की संख्या पहले से अब बहुत बढ़ गयी है। उपनिवेशों के जल्दी-जल्दी आजाद हो जाने से आज और बहुत से प्रभुत्वसम्पन्न राज्य अस्तित्व में आकर स्वतन्त्र राष्ट्रों की बिरादरी में शामिल हो गये हैं। इन राज्यों ने अब स्वयं अपने भाग्य-विधाता बनकर विश्व-इतिहास में एक नये युग की शुरूआत की है। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद नये राज्यों के उदय की प्रतिक्रिया अत्यधिक तीव्र गति से चली। सन् 1960 में सिर्फ एक महीने में केवल अफ्रीका महाद्वीप के ही सोलह नये राज्य संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य बने। सन् 1945 में संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों की संख्या 51 थी जो सन् 1990 में 159 हो गयी। अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर नये प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों के आ जाने

पर नहीं, और न जिस आधार पर उसने आस्ट्रिया तथा सुडेटनलैण्ड पर अधिकार किया था वरन् प्रवास क्षेत्र (Libensraum) के आधार पर किया था। इससे स्पष्ट हो गया था कि हिटलर जर्मनी के निकटवर्ती क्षेत्रों पर अधिकार कर एक साम्राज्य का निर्माण करना चाहता है। उसने बोहीमिया तथा मोरेविया पर संरक्षण स्थापित कर यह सिद्ध कर दिया था कि उसने म्यूनिख में चैम्बरलेन को जो वचन दिये थे उसका कोई मूल्य नहीं था। उसकी नीति से स्पष्ट था कि वह यूरोप पर प्रभुता स्थापित करना चाहता था एवं मित्र-राष्ट्रों की तुष्टीकरण नीति से उसे प्रचुर प्रोत्साहन मिल चुका था।

इंगलैण्ड एवं फ्रांस ने हिटलर की बढ़ती हुई माँगों एवं विस्तार नीति का विरोध करने का निश्चय किया। 31 मार्च, 1939 को इंगलैण्ड तथा फ्रांस ने घोषणा की कि यदि जर्मनी ने आक्रमण द्वारा पोलैण्ड की स्वतन्त्रता नष्ट करने की चेष्टा की तो वे उसकी रक्षा करेंगे। इस घोषणा के पाँच दिन बाद पोलैण्ड, फ्रांस तथा इंगलैण्ड के बीच एक सन्धि हुई। इस सन्धि के पश्चात् इंगलैण्ड ने अन्य देशों से परस्पर सुरक्षा सन्धियाँ कीं। 1939 की अप्रैल में हिटलर ने जर्मन-पोलैण्ड सन्धि को रद्द करते हुए घोषणा की कि डेन्जिग जर्मनी को लौटाया जाये एवं उसे पोलिश गलियारे में होकर सड़क और रेल लाइन निकालने का अधिकार दिया जाये। पोलैण्ड ने जर्मन माँगों को अस्वीकार कर दिया। हिटलर पोलैण्ड के उत्तर से सन्तुष्ट नहीं था परन्तु उसने उस समय उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की।

हिटलर ने कूटनीतिक तैयारियों के पश्चात् पोलैण्ड से माँग की कि वह डेन्जिग तथा गलियारे की समस्या शीघ्रातिशीघ्र सुलझाये। इंगलैण्ड तथा फ्रांस ने दोनों समस्याओं को सुलझाने के लिए समझौते एवं शान्ति से काम करने का सुझाव दिया। हिटलर ने इंगलैण्ड का सुझाव स्वीकार किया। दोनों देशों के राजदूतों के बीच बातचीत के लिए समय एवं स्थान निश्चित किया गया। जर्मनी ने इंगलैण्ड को सूचित किया कि उसने दो दिन तक पोलैण्ड के राजदूत के लिए इन्तजार किया परन्तु वह नहीं आया, अतएव पोलैण्ड ने उसके प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया है। इससे पूर्व कि दोनों के बीच समझौते की बातचीत पुनः आरम्भ हो जर्मनी के हवाई जहाजों ने 1 सितम्बर, 1939 को पोलैण्ड के नगरों पर बमबारी की। इंगलैण्ड तथा फ्रांस ने हिटलर को अन्तिम चेतावनी दी और जर्मनी से कोई उत्तर न मिलने पर दो दिन बाद 3 सितम्बर, 1939 को दोनों देशों ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। इस घोषणा के साथ द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ हुआ।

संघ में विलीन होते जा रहे हैं।" अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव डालने वाले द्वितीय महायुद्धोत्तर तत्वों और आधुनिक उभरती हुई प्रवृत्तियों का विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है, जो इस प्रकार है :

(1) **यूरोपियन प्रभुत्व का अन्त**—सन् 1492 में कोलम्बस द्वारा अमरीका की खोज से लेकर द्वितीय विश्व-युद्ध तक के काल को विश्व के इतिहास का यूरोपियन काल कहा जा सकता है। इस युग में यूरोप में अभूतपूर्व वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति हुई। यूरोपियन राष्ट्रों ने विशाल साम्राज्यों की स्थापना की। जर्मनी, इटली, ब्रिटेन और फ्रांस की गणना महान शक्तियों मे की जाती थी। किन्तु द्वितीय विश्व-युद्ध ने यूरोपियन राष्ट्रों की अर्थ-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया। युद्ध की समाप्ति के बाद इटली, जर्मनी, फ्रांस और ब्रिटेन आदि राष्ट्र द्वितीय श्रेणी की शक्तियाँ (Second rate power) बन कर रह गयीं। विश्व का नेतृत्व यूरोप के हाथ से निकलकर संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ के हाथों में आ गया।

(2) **परमाणु युग का सूत्रपात**—संयुक्त राज्य अमरीका के एक वायुयान बी-29 ने 6 अगस्त, 1945 को हिरोशिमा पर अणुबम डाला। अणुबम के विस्फोट से हिरोशिमा की 90 प्रतिशत इमारतें नष्ट हो गयी एवं लगभग 7,50,000 मनुष्य मारे गये। इस महासंहार के साथ परमाणु युग का सूत्रपात हुआ। विश्व के सभी वैज्ञानिकों ने अनुभव किया कि अणु-शक्ति के कारण मनुष्य को अतिमानुषी शक्ति मिल गयी है। एलबर्ट श्विट्जर ने 1954 में नोबल पुरस्कार प्राप्त करते समय कहा था, "मानव अणु शक्ति के कारण अतिमानुषी बन गया है, परन्तु उसकी बुद्धि उस अतिमानुषी मान तक उन्नत नहीं हुई जिस मान तक उसे शक्ति प्राप्त हुई है।" इससे स्पष्ट है कि परमाणु युग के साथ मानव सभ्यता पर विनाश की काली घटा छा गयी। सभ्यता का भविष्य ऐसे विवेकहीन मनुष्यों के हाथों में चला गया जिनमें हिरोशिमा का दृश्य दोहराने के लिए किसी प्रकार की झिझक नहीं है।

परमाणु हथियारों के सर्वनाश करने की सामर्थ्य के कारण मैक्स लर्नर, आज के युग को 'अतिमारकता का युग' (The Age of Overkill) कहते हैं। आजकल एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक पहुँचने वाले और शब्द की रफ्तार से भी तेज रफ्तार से उड़ने वाले जैट विमान, नाभिकीय बम फेंकने वाले प्रक्षेपास्त्र और परमाणु ऊर्जा से चलने वाले विमान तथा पनडुब्बियाँ बन चुके हैं। भू-उपग्रह और अन्तरिक्ष स्टेशन भी इन नवीन उपकरणों की सूची में जोड़े जा सकते हैं। **कार्ल जैस्पर्स** ने इन आधुनिक हथियारों को अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का '**नया तथ्य**' कहकर पुकारा है। **ई० एच० कार**, का मत है कि 'परमाणु हथियारों की भयानकता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की पृष्ठभूमि में युद्ध की छाया सदैव घूमती रहती है।' **बर्ट्रेण्ट बोडी** ने कहा है कि 'परमाणु बम के कारण सारभूत परिवर्तन केवल यह नहीं हुआ है कि युद्ध अधिक हिंसक हो गया है बल्कि यह भी हुआ है कि इससे सारी हिंसा का प्रयोग थोड़ी-सी देर में हो जाता है।'

(3) **एशिया एवं अफ्रीका का जागरण तथा सम्प्रभु राज्यों की संख्या में वृद्धि**—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप में परिवर्तन लाने वाला एक महत्वपूर्ण तत्व यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत में राज्यों की संख्या पहले से अब बहुत बढ़ गयी है। उपनिवेशों के जल्दी-जल्दी आजाद हो जाने से आज और बहुत से प्रभुत्वसम्पन्न राज्य अस्तित्व में आकर स्वतन्त्र राष्ट्रों की बिरादरी में शामिल हो गये हैं। इन राज्यों ने अब स्वयं अपने भाग्य-विधाता बनकर विश्व-इतिहास में एक नये युग की शुरूआत की है। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद नये राज्यों के उदय की प्रतिक्रिया अत्यधिक तीव्र गति से चली। सन् 1960 में सिर्फ एक महीने में केवल अफ्रीका महाद्वीप के ही सोलह नये राज्य संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य बने। सन् 1945 में संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों की संख्या 51 थी जो सन् 1990 में 159 हो गयी। अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर नये प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों के आ जाने

से अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को कुछ गिनी-चुनी और जानी-पहचानी राजनीतिक इकाइयों के बीच होने वाले घटनाचक्र के रूप में नहीं देखा जा सकता।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीकी राष्ट्रों में स्वतन्त्रता के सूर्य का उदय हुआ। 'एशिया एशिया वालों के लिए' और 'अफ्रीका अफ्रीकियों के लिए' जैसे नारे यह जाहिर करते हैं कि विश्व के मामलों के एकमात्र कर्त्ता-धर्त्ता के रूप में यूरोप का महत्व बहुत कुछ घट गया है। तीसरी दुनियाँ के इन राष्ट्रों ने स्वतन्त्र विदेश नीतियाँ अपनायीं। इनका मूल उद्देश्य विश्व-शान्ति को बढ़ाना और अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखना है। इसके लिए वे स्वयं जागरूक बने। गुटनिरपेक्षता की नीति पर चलना प्रायः सभी नवोदित राष्ट्रों का लक्ष्य बन गया। अतः यह कहना समीचीन है कि दूसरे महायुद्ध के बाद मुख्य अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के केन्द्र यूरोप में ही नहीं रहे, बल्कि एशिया, अफ्रीका और पश्चिमी एशिया के नये राष्ट्रों में उत्पन्न हो गये हैं। नये राज्यों का उदय हो जाने से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का रूप अब सचमुच अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है।

(4) **साम्यवाद का विस्तार**—इटली तथा जर्मनी साम्यवाद के कट्टर शत्रु थे परन्तु उनकी पराजय के पश्चात मित्र-राष्ट्रों में इतनी क्षमता नहीं रही कि वे साम्यवाद को पूर्वी यूरोप अथवा एशिया में रोक सकें। ज्यों-ज्यों जर्मनी पूर्वी मोर्चे पर हारता गया त्यों-त्यों पूर्वी यूरोप में साम्यवाद घुसता गया। बर्लिन के पतन तक सोवियत रूस की सेना ने पूर्वी यूरोप के समस्त देशों पर अधिकार कर लिया एवं वहाँ साम्यवादी सरकारों की स्थापना की।

चीन में साम्यवादियों ने च्यांग-कोई-शेक के विरुद्ध संघर्ष की गति बढ़ायी एवं उसे पराजित कर चीन में साम्यवादी सरकार की स्थापना की। साम्यवादी केवल इतने से ही सन्तुष्ट नहीं थे। उन्होंने एशिया के पिछड़े हुए देशों में साम्यवाद का प्रचार प्रारम्भ किया जिसके परिणामस्वरूप लगभग प्रत्येक देश में साम्यवादियों के अड्डे स्थापित हुए। इन अड्डों से साम्यवादियों ने जनता को प्रभावित करना आरम्भ किया। जिन्होंने साम्यवादी सिद्धान्त स्वीकार किये वे अपने देश से साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए जनतन्त्रवादियों से संघर्ष करने लगे। इस प्रकार पूर्वी एशिया के देशों में साम्यवाद और जनतन्त्र के बीच संघर्ष छिड़ा। कालान्तर में विश्व-शान्ति की भयानक चुनौती बनी। पूंजीवादी देशों ने साम्यवाद विस्तार को रोकने की चेष्टाएँ कीं परन्तु वे केवल कुछ क्षेत्रों में सफल हुए। साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक नयी विचारधारा का विकास हुआ। विश्व-युद्ध के पश्चात् संसार के जनतन्त्रों की सबसे बड़ी चिन्ता थी—साम्यवाद को किस प्रकार रोकें।

(5) **सैनिक गुटबन्दी**—साम्यवादियों का बढ़ता हुआ प्रभाव एवं रूस की बढ़ती हुई शक्ति ने पश्चिमी राष्ट्रों को गहरी चिन्ता में डाल दिया था। वे रूस एवं अन्य साम्यवादी देशों के विरुद्ध सैनिक गुटों का निर्माण करने लगे, जिससे संकट के समय सैनिक गुट के सदस्य संयुक्त रूप से साम्यवाद के विरुद्ध संघर्ष कर सकें अथवा साम्यवादियों के प्रभाव का विस्तार रोक सकें।

कोरिया युद्ध के समय संयुक्त राज्य अमरीका के राजनीतिज्ञों ने अनुभव किया कि साम्यवाद के विरुद्ध सामूहिक सुरक्षा के लिए सैनिक संगठनों का निर्माण परम आवश्यक है। 1949 में नाटो, 1954 में सीटो, वारसा पैक्ट, सेण्टो आदि सैनिक सन्धियाँ अस्तित्व में आयीं। सैनिक संगठनों के निर्माण से स्पष्ट था कि द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद सैनिक प्रवृत्तियों का ह्रास नहीं हुआ था। ये सन्धियाँ शान्ति स्थापना के लिए की गयी थीं परन्तु इनमें युद्ध की उत्तेजना छिपी हुई है।

(6) **शीत-युद्ध**—जर्मनी और जापान की पराजय के पश्चात् गोलियों और बमों का युद्ध युद्ध समाप्त हुआ परन्तु साम्यवादी एवं पूंजीवादी देशों में एक नये ढंग का युद्ध—शान्ति-युद्ध—आरम्भ हुआ।

युद्ध के समय सोवियत रूस तथा पश्चिमी राष्ट्रों के बीच जो मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हुआ था वह अस्थायी एवं कृत्रिम था क्योंकि साम्यवाद और पूंजीवाद के बीच मैत्री-सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता था। अतएव युद्ध-समाप्ति के बाद सारा संसार दो विरोधी गुटों में बँट गया। पूँजीवादी गुट का नेता संयुक्त राज्य अमरीका और साम्यवादी गुट का नेता सोवियत रूस बना। दोनों गुटों में विरोध बढ़ता गया। आरम्भ में यह विरोध साधारण सम्मेलनों में दिखायी दिया परन्तु यह बढ़ते-बढ़ते संयुक्त राष्ट्र तक पहुँच गया। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन दोनों के संघर्ष का अखाड़ा बन गया।

आज विश्व दो सशस्त्र शिविरों में विभाजित है। दोनों शिविरों के मध्य एक नवीन प्रकार के सम्बन्धों का विकास हुआ जो 'शीत-युद्ध' के नाम से प्रख्यात है।

(7) **गुट निरपेक्षता**—द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त जब नये सम्प्रभु राष्ट्रों का जन्म हुआ तो उनमें से अधिकांश ने अपने आपको शीत-युद्ध की खींचतान से निरपेक्ष रखने का निर्णय लिया। इस क्षेत्र में भारत ने मार्ग-दर्शन किया और गुट-निरपेक्षता की आवाज बुलन्द की। भारत के पहले प्रधानमन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने 7 सितम्बर, 1946 में एक रेडियो प्रसारण में कहा, जहाँ तक सम्भव हो हमें परस्पर विरोधी गुटों की राजनीति से दूर रहना चाहिए जिसके कारण पहले दो विश्व-युद्ध हो चुके हैं।' उन्होंने इसे भारत की विदेश नीति का ठोस आधार बनाया और गुलामी की जंजीरों से मुक्त होने वाले एशियाई और अफ्रीकी देशों को एक अन्तर्राष्ट्रीय बल बनाने का आह्वान किया। गुट-निरपेक्षता के इस चौखटे में धीरे-धीरे नव स्वाधीन देश शामिल होने लगे। आज लगभग 102 देश गुट-निरपेक्ष आन्दोलन से जुड़े हुए हैं। गुटों से अलग रहने वाले और उपनिवेशवाद के खिलाफ जूझने वाले राष्ट्रों को एक मंच पर लाने में गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन सफल हुए हैं।

(8) **साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का अन्त**—साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी शक्तियाँ इस युद्ध में स्वयं संकट में पड़ गयीं। यूरोपीय साम्राज्यवादी शक्तियाँ तो हार ही गयीं और उनके हारते ही उपनिवेशों में राष्ट्रीय सरकारें स्थापित हो गयीं। अफ्रीका और एशिया में जहाँ अब तक विश्वास था कि यूरोपीय शक्तियाँ अजेय हैं, और उनसे उपनिवेश स्वतन्त्र नहीं हो सकते, द्वितीय महायुद्ध ने यह विश्वास समाप्त कर दिया। युद्ध के बाद वे स्वयं सैनिक और आर्थिक दृष्टि से इतने कमजोर थे कि साम्राज्य को सम्भालने में अपने आपको असमर्थ पाने लगे। रूसी सम्यवादी विचार-धारा से भी साम्राज्य एवं उपनिवेशवाद को क्षति पहुँची। अब उपनिवेशो में राष्ट्रीय राजनीतिक चेतना बहुत जाग्रत हो चुकी थी जिसे दबाना उनके लिए असम्भव था।

साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद के अन्त का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है, जो इस प्रकार है—(i) अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति वस्तुतः विश्व राजनीति बन गयी; (ii) यूरोप अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का केन्द्र नहीं रहा; शक्ति-संघर्ष की धुरी एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीकन क्षेत्र की ओर बढ़ी; (iii) उपनिवेशवाद के अन्त से यूरोपीय राज्य राजनैतिक और सैनिक दृष्टिकोण से बड़े कमजोर पड़ गये; (iv) उपनिवेशवाद के अन्त से कुछ नयी महाशक्तियों के उदय की सम्भावनाएँ बनीं। इस दृष्टि से दो राज्यों के नाम प्रमुख रूप से लिये जा सकते हैं—भारत और चीन; (v) एशियाई और अफ्रीकी लोगों के उदय से यूरोपीय सभ्यता और संस्कृति की मान्यताओं पर भी कुठाराघात हुआ; (vi) व्यावहारिक राजनीति में यूरोपीय महाशक्तियाँ अब एशिया और अफ्रीकी राज्यों के मतों पर निर्भर हो गयीं। कम से कम संयुक्त राष्ट्र संघ में तो उनकी इन देशों पर निर्भरता एक कटु सत्य बन गयीं; (vii) उपनिवेशवाद का अन्त तो हुआ लेकिन उस अन्त के साथ ही अनेक ऐसी समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं जिनकी आड़ में विश्व राजनीति खेली जाती है। उदाहरण के लिए, भारतीय उपमहाद्वीप में ब्रिटिश औपनिवेशिक

साम्राज्य 1947 को एक दृष्टि से समाप्त हो गया, किन्तु उपनिवेशवाद भारत को दो ऐसे अस्वाभाविक टुकड़ों में बाँट गया कि उपमहाद्वीप अन्य शक्तियों का अखाड़ा बन गया।

(9) **वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति**—आधुनिक युग वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति का युग कहलाता है। इसका प्रभाव युद्ध के स्वरूप पर तो पड़ा ही है, युद्ध एक सम्पूर्ण युद्ध (Total war) बन गया है, पर इसके साथ ही शक्ति की परिभाषा, स्वरूप और निर्माणक तत्व भी प्रभावित हुए हैं। परम्परागत तीन प्रकार की शक्तियाँ थीं; छोटी, मध्य श्रेणी की और महाशक्तियाँ। सन् 1946 के बाद एक श्रेणी और बन गयी जिसे 'सुपर पावर' (Super power) कहा जाने लगा। विज्ञान और तकनीकी प्रगति के कारण सारा विश्व एक इकाई बन गया और 'अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को जन्म मिला। इससे अन्तर्राष्ट्रीयता को भी प्रोत्साहन मिला।

(10) **महाशक्तियों की संख्या में कमी**—17वीं और 18वीं शताब्दी में यूरोप में अनेक छोटे-बड़े राज्य थे। उदाहरण के लिए, तीस-वर्षीय युद्ध की समाप्ति के समय जर्मन साम्राज्य 900 राज्यों का समूह था। वेस्टफालिया की सन्धि (1842) ने यह संख्या 900 से 335 कर दी। धीरे-धीरे इन 355 राज्यों की संख्या में कमी होती चली गयी। इटली के एकीकरण ने अनेक छोटे-छोटे राज्यों का लोप कर दिया। राष्ट्रवाद के इस बढ़ते हुए दौर के साथ यूरोप के राजनैतिक नक्शे का जो खाका 1815 में सामने आया उसमें आठ राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दृष्टिकोण से, महाशक्तियों की संज्ञा प्राप्त थी। ये आठ राज्य थे—आस्ट्रिया, ब्रिटेन, रूस, एशिया, स्पेन और स्वीडन।

उपरोक्त आठ राज्यों में से तीन—पुर्तगाल, स्पेन और स्वीडन—केवल नाममात्र की ही महाशक्तियाँ थीं और ये राज्य जल्दी ही महाशक्तियों की संज्ञा से ओझल हो गये। लेकिन उनके स्थान पर तीन दूसरी महाशक्तियों का उदय स्वीकार कर लिया गया। 1860 के बाद इटली, संयुक्त राज्य अमरीका और जापान को महाशक्ति स्वीकार कर लिया गया। प्रथम महायुद्ध के शुरू में इस प्रकार आठ महाशक्तियाँ थीं। युद्ध ने आस्ट्रिया और प्रशा को समाप्त कर दिया। दो महाशक्तियाँ—जापान और अमरीका यूरोप के बाहर थीं। पुर्तगाल भी साधारण शक्ति की सीमा में प्रवेश कर रहा था। इटली ने पेरिस शान्ति सम्मेलन के दौरान कटु अनुभव किया कि उसे ब्रिटेन और फ्रांस महाशक्ति स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं हैं। रूस 'सोवियत संघ' के रूप में संगठित होने के प्रयत्न में व्यस्त था। लेकिन अभी दूसरे उसे महाशक्ति स्वीकार करने को तैयार नहीं वे। अस्तु, ब्रिटेन और फ्रांस ही ने अपने आप को यूरोपीय महाशक्ति समझा।

1930 के दशक में यूरोप में केवल पाँच महाशक्तियाँ थीं—ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जर्मनी और सोवियत संघ; और दो गैर-यूरोपीय शक्तियाँ थीं—जापान और अमरीका। दूसरे महायुद्ध के अन्त में महाशक्ति की परिभाषा और संख्या दोनों पर ही बड़ा प्रभाव पड़ा, जिसका मूल कारण विज्ञान और तकनीकी ज्ञान में वृद्धि थी। दूसरे महायुद्ध की भस्मों में केवल दो विशिष्ट महाशक्तियाँ (Super Power) का जन्म हुआ। विश्व की राजनीति द्वि-ध्रुवीय (Bi-Polar) हो गयी। उसका एक ध्रुव—पश्चिमी गुट का नेता संयुक्त राज्य अमरीका था और दूसरा ध्रुव साम्यवादी गुट का नेता सोवियत रूस था।

(11) **द्वि-ध्रुवीयता से बहुकेन्द्रवाद की ओर**—पिछले कुछ वर्षों से अन्तर्राष्ट्रीय जगत द्विध्रुवीयता से शनैः-शनैः बहुकेन्द्रवाद की ओर अग्रसर हो रहा है। सन् 1964 में अणुबम और सन् 1967 में हाइड्रोजन बम का निर्माण करके साम्यवादी चीन विश्व-नेतृत्व के लिए रूस और अमरीका का प्रतिद्वन्द्वी बन गया है। सन् 1970 तक इन तीनों देशों के सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक ऐसे विशाल त्रिकोण का रूप धारण करने लगे जो 19वीं शताब्दी के शक्ति सन्तुलन की व्यवस्था पर आधारित विश्व राजनीति का स्मरण दिलाती है। एक ही विचारधारा

साम्यवाद के समर्थक होने के बावजूद रूस तथा चीन मित्र नहीं है तथा विरोधी विचारधाराओं में विश्वास के बावजूद अमरीका तथा रूस और चीन तथा अमरीका एक-दूसरे के निकट आते जा रहे हैं।

अनेक विद्वानों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अब दो ध्रुवों (Bi-Polar) पर आधारित नहीं रह गयी है, वरन् विश्व में शक्ति के अनेक केन्द्र स्पष्ट रूप से प्रकट हो चुके हैं। एशिया में भारत-चीन और जापान नये शक्ति-केन्द्र हैं जो विश्व के शक्ति-सन्तुलन को किसी ओर भी मोड़ देने में सक्षम हैं। मध्य-पूर्व में तेल उत्पादक देश, यूरोप में फ्रांस एवं जर्मनी के शक्ति-केन्द्र हैं जिनकी उपेक्षा करना भूल होगी।

(12) **मानवतावादी जीवन दर्शन**—युद्धोत्तर विश्व में 'मानवतावाद' (Humanism) प्रभावशाली रूप में सामने आया है। मानव की स्वतन्त्रता तथा उसका कल्याण ही तमाम राजनीतिक क्रियाओं का प्रवर्तन लक्ष्य हो गया है। द्वितीय महायुद्ध के महाविनाश का मानसिक भय सर्वत्र रहा है और युद्ध की सम्भावनाओं को मिटाने की आवश्यकता सर्वत्र अनुभव की गयी। मानवीय अधिकारों की चर्चा युद्ध के बीच चलती रही और संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 'मानवीय अधिकारों की घोषणा' इस ओर एक महान कदम था।

(13) **मध्य पूर्व और सुदूर पूर्व की महत्ता बढ़ना**—द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त एशिया क्षेत्र—मध्य पूर्व और सुदूर पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में निरन्तर महत्वपूर्ण होते गये और आज भी यही स्थिति है। तेल के बहुल भण्डारों की खोज के कारण मध्य पूर्व न केवल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का महत्वपूर्ण केन्द्र वरन् विश्व का एक प्रधान संकट स्थल भी बन गया है। दूसरी ओर एक महत्वपूर्ण निर्गुट लोकतन्त्रात्मक राष्ट्र के रूप में स्वतन्त्र भारत के उदय ने तथा एक महान शक्ति के रूप में साम्यवादी चीन के विकास ने सुदूर पूर्वीय क्षेत्र को विश्व के सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रदेशों की श्रेणी में ला दिया है।

प्रश्न

1. द्वितीय विश्व-युद्ध के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव की विवेचना कीजिए।
   Discuss the impact of the Second World War on International Politics.
2. द्वितीय विश्व-युद्ध के कारणों की विवेचना कीजिए।
   Discuss the causes of the Second World War.

2

द्वितीय महायुद्ध के बाद किये गये शान्ति समझौते

[PEACE SETTLEMENTS AFTER WORLD WAR II]

शान्ति सन्धियों के निर्माण में कठिनाइयाँ

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद शान्ति-व्यवस्था का कार्य बहुत ही कठिन सिद्ध हुआ है, इसके मुख्य कारण निम्नलिखित थे—(i) विजेता राष्ट्रों के बीच पारस्परिक मतभेद काफी उग्र हो गये थे। साम्यवादी और पूंजीवादी आदर्शों के बीच टक्कर शुरू हो गयी थी; (ii) दोनों गुटों में 'शीत-युद्ध' का श्रीगणेश हो चुका था जिसके फलस्वरूप एक-दूसरे के प्रति शत्रुता और घृणा की भावनाएँ पनपने लगीं; (iii) रूस और अमरीका दोनों ही महाशक्तियों में संसार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की प्रतिस्पर्द्धा छिड़ गयी; (iv) इस बार सन् 1919 की भाँति कोई शान्ति सम्मेलन आयोजित नहीं किया गया, बल्कि अमरीका, ब्रिटेन, रूस, फ्रांस और चीन के विदेश मन्त्रियों की एक परिषद बनायी गयी और यह निश्चय किया गया कि परिषद् शान्ति सन्धियों के बारे में सर्व-सम्मति से निर्णय करे। 'सर्व-सम्मति' से निर्णय करने का निश्चय दुर्भाग्यपूर्ण था क्योंकि इसके द्वारा दोनों पक्षों का एक-दूसरे के प्रस्तावों पर 'निषेधाधिकार' (Veto) प्राप्त हो गया। परिषद् का कोई भी सदस्य राष्ट्र किसी भी निर्णय को रोक सकता था। इस व्यवस्था के फलस्वरूप शान्ति-रचना के मार्ग में भारी बाधा पहुँची; (v) विदेश मन्त्रियों की परिषद् में भाग लेने वाले व्यक्तित्व एवं अनुभव में अत्यधिक अन्तर था। जहाँ रूस के प्रतिनिधि मोलोतोव एक कुशल एवं अनुभवी राजनीतिज्ञ थे वहीं फ्रांस के बिदो एक प्राध्यापक रह चुके थे और ब्रिटेन के बेविन एवं अमरीका के बर्न्ज प्रायः नरम स्वभाव के राजनीतिज्ञ थे; (vi) कुछ समस्याओं पर महाशक्तियों में गम्भीर मतभेद थे। उदाहरणतः, इटली और यूगोस्लाविया के मध्य सीमाओं, ट्रीस्टे, इटली की बस्तियों, डेन्यूब के अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण, शत्रु देशों से विदेशी सेनाओं के हटाने, क्षतिपूर्ति की राशि आदि के बारे में मतभेद थे।

उपर्युक्त कारणों से ही महाशक्तियों में एकता और सूझबूझ का अभाव था। यही कारण है कि इटली, रूमानिया, बल्गेरिया, हंगरी और फिनलैण्ड के साथ 10 फरवरी, 1947 को; जापान के साथ 28 अप्रैल, 1952 को; आस्ट्रिया के साथ 15 मई, 1955 को शान्ति सन्धियों का निर्माण हुआ। महाशक्तियों के कारण जर्मनी के साथ आज तक कोई शान्ति सन्धि नहीं हो सकी। *'शान्ति समझौते के प्रयत्नों का वही हाल हुआ जो एक ऐसी गाड़ी का होता है जिसके दोनों ओर घोड़े जुते हुए हों और ये घोड़े उस गाड़ी को विपरीत दिशा में खींच रहे हों और उनमें से अधिक शक्तिशाली घोड़ा गाड़ी को थोड़ा-थोड़ा करके आगे की दिशा में खींच सका हो।'*

शान्ति समझौतों की तैयारी
(PREPARATIONS FOR PEACE TREATIES)

(1) लन्दन का विदेश मन्त्री सम्मेलन

पोट्सडाम सम्मेलन में शान्ति सन्धियों की प्रारम्भिक तैयारी का कार्य 5 बड़े राष्ट्रों—अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, रूस व चीन के विदेश मन्त्रियों की परिषद् को सौंपना निश्चित हुआ। एतदर्थ विदेश मन्त्रियों की परिषद् की पहली बैठक इटली के साथ शान्ति सन्धि की रूपरेखा तैयार करने के उद्देश्य से लन्दन में 11 सितम्बर, 1945 को बुलायी गयी। 40 दिन तक विचार-विमर्श करने के उपरान्त भी इसके सदस्य किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सके। फलतः 20 अक्टूबर, 1945 को लन्दन सम्मेलन की समाप्ति की घोषणा की गयी। सोवियत संघ एवं अन्य देशों के बीच निम्नलिखित मतभेद थे :

(i) इटली तथा यूगोस्लाविया की सीमा के सम्बन्ध में सोवियत संघ चाहता था कि ट्रीस्टे और फ्यूम के बन्दरगाहों सहित सम्पूर्ण जूलियन मार्ग यूगोस्लाविया को दे दिया जाय। पश्चिमी राष्ट्र ट्रीस्टे को स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय बन्दरगाह बनाने के समर्थक थे और जूलियन मार्ग का बँटवारा इटालियन और स्लाव जातियों के आधार पर करने के इच्छुक थे।

(ii) इटली से ली जाने वाली क्षतिपूर्ति की राशि के सम्बन्ध में सोवियत संघ चाहता था कि इटली से 60 करोड़ डालर की क्षतिपूर्ति वसूल की जाये, और इसमें से अधिकांश भाग सोवियत संघ को दिया जाये, परन्तु पश्चिमी राष्ट्र इस धनराशि की मात्रा अधिक समझते थे।

(iii) इटली के उपनिवेशों के विभाजन के बारे में सोवियत संघ चाहता था कि लीबिया पर ट्रस्टीशिप तथा डोडेकनीज टापू में उसे सैनिक अड्डा बनाने दिया जाये। पश्चिमी राष्ट्र भूमध्य-सागर तथा अरब प्रदेशों पर सोवियत संघ का प्रभाव स्थापित नहीं होने देना चाहते थे।

(2) मास्को का विदेश मन्त्री सम्मेलन

16 दिसम्बर, 1945 को विदेश मन्त्रियों की दूसरी बैठक अमरीकी राज्य सचिव बर्नेस के सुझाव पर मास्को में बुलायी गयी। इस बैठक में फ्रांस और चीन के विदेश मन्त्रियों को आमन्त्रित नहीं किया गया। लन्दन की अपेक्षा मास्को सम्मेलन अधिक सफल रहा। प्रक्रिया सम्बन्धी प्रश्नों को आसानी से सुलझा लिया गया। मास्को सम्मेलन मे जो मुख्य निर्णय लिये गये थे, वे हैं—(i) पहले सन्धियों के प्रारूपों को वे राज्य तैयार करेंगे जिन्होंने विराम-सन्धि पर हस्ताक्षर किये थे; (ii) इसके पश्चात् इन प्रारूपों पर वे राज्य विचार करेंगे जिन्होने धुरी राष्ट्रों के साथ युद्ध में भाग लिया था; (iii) अन्तिम लेख विदेश मन्त्रियों की परिषद् निश्चित करेगी; (iv) शान्ति सन्धियों पर हस्ताक्षर होने के बाद पराजित राष्ट्रों से विदेशी-सेना हटा ली जायेगी; (v) जापान के लिए ग्यारह-सदस्यीय 'सुदूरपूर्व परामर्शदात्री आयोग' और 'चार-राष्ट्रों की परिषद' की स्थापना भी की गयी।

मास्को सम्मेलन में बर्नेस ने रूस के प्रति जो उदारता दिखायी उसे बेविन ने पसन्द नहीं किया। इसका ब्रिटिश-अमरीकी सम्बन्धों पर काफी प्रभाव पड़ा। फलतः ट्रूमैन ने मार्शल को बर्नेस के स्थान पर राज्य सचिव नियुक्त किया।

(3) पेरिस शान्ति सम्मेलन

विदेश मन्त्रियों की अगली बैठक जब पेरिस में 29 अप्रैल, 1946 को प्रारम्भ हुई तब तक पूर्व और पश्चिम के मध्य मतभेद काफी बढ़ चुके थे। इसका एक कारण राष्ट्रपति ट्रूमैन की उपस्थिति में 'फुल्टन' मे दिया गया भाषण (Fulton Speech) था। इस भाषण में उन्होंने कहा था कि यूरोप के ऊपर एक 'लौह आवरण' पड़ चुका है और स्वतन्त्रता की दीप-शिखा को प्रज्ज्वलित रखने के लिए ब्रिटेन और अमरीका को मिलकर एक समझौता कर लेना चाहिए।

कठिन विचार-विमर्श और वाक्-संघर्ष के बाद 9 कार्यकारी समितियों ने प्रस्तावित शान्ति-सन्धियों में 300 परिवर्तन किये जाने की सिफारिश की। 7 अक्टूबर, 1946 को 2/3 बहुमत से 53 परिवर्तन स्वीकार कर लिये गये और 41 साधारण मत से स्वीकृत हुए। 'चार बड़ों' के विदेश मन्त्रियों ने तय किया कि पाँच सन्धियों को अन्तिम रूप देने के लिए विदेश मन्त्रियों का, न्यूयार्क में जब संयुक्त राष्ट्र संघ का सत्र चल रहा हो, दूसरा सत्र बुलाया जाये। इस प्रकार 15 अक्टूबर, 1946 को पेरिस शान्ति सम्मेलन स्थगित हो गया।

(4) विदेश मन्त्रियों की न्यूयार्क बैठक

4 नवम्बर, 1946 को विदेश मन्त्रियों की अगली बैठक न्यूयार्क में हुई। दोनों ही पक्ष प्रस्तावित सन्धियों को अन्तिम रूप देने के लिए मानसिक रूप से पूरी तरह तैयार थे। अतः 6 दिसम्बर, 1946 को सन्धियों को अन्तिम रूप प्रदान कर दिया गया। 10 फरवरी, 1947 को 21 मित्र राष्ट्रों ने पाँच शान्ति-सन्धियों पर हस्ताक्षर किये जो पराजित धुरी-राष्ट्रों के समर्थक देशों के साथ हुए। ये पाँच सन्धियाँ इटली, रूमानिया, बुल्गारिया, फिनलैण्ड के साथ पृथक-पृथक रूप से की गयी सन्धियाँ थीं।

पाँच शान्ति-सन्धियाँ
(FIVE PEACE TREATIES)

(1) इटली के साथ सन्धि (Peace Treaty with Italy)—इसमें 90 धाराएँ तथा 17 परिशिष्ट थे। इसकी प्रमुख व्यवस्थाएँ इस प्रकार हैं :

(क) इटली के प्रदेशों का विभाजन—रोम को अपने निम्न प्रदेश दूसरे राज्यों को देने पड़े : फ्रांस को छोटा सेण्ट बर्नार्ड का दर्रा तथा ब्रीगा टाण्डा के प्रदेश; यूगोस्लाविया को पूर्वी वानात्स्या, जूलया में 3,000 वर्ग मील का प्रदेश तथा जारा तक एड्रियाटिक सागर के कुछ टापू; ट्रीस्टे को सुरक्षा परिषद् द्वारा नियुक्त गवर्नर द्वारा शासित होने वाला स्वतन्त्र बन्दरगाह बनाया गया; डोडेकनीज तथा कास्टेलीरिजो के टापू यूनान को मिले; अल्बानिया को साज़ेनो का टापू मिला; दक्षिण टिरोल यद्यपि इटली के पास रहा, किन्तु उसे इस प्रदेश के जर्मन भाषा-भाषियों को समान अधिकार और मर्यादित स्वायत्त शासन देना पड़ा।

(ख) इटली के उपनिवेशों की समाप्ति—इटली को लीबिया, इरिट्रिया और इटालियन सोमालीलैण्ड में उपनिवेश छोड़ने पड़े।

(ग) क्षतिपूर्ति—इटली को कुल मिलाकर सात वर्षों में 36 करोड़ स्टर्लिंग की क्षतिपूर्ति देनी थी जिसमें से 12 करोड़ 50 लाख यूगोस्लाविया, 40 करोड़ 50 लाख यूनान, 15 करोड़ रूस, 2 करोड़ 50 लाख इथियोपिया और 50 लाख अल्बानिया को मिलना था।

(घ) सैनिक अनुबन्ध—इटली पर सैनिक दृष्टि से भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया जिसके अनुसार स्थल सेना $2\frac{1}{2}$ लाख, 200 टैंक, 36 हजार नौ-सैनिक, 2 युद्धपोत, 4 क्रूजर, 25 हजार वायु सैनिक, 200 लड़ाकू जहाज तथा 150 अन्य वायुयानों तक इटली की सैनिक-शक्ति को सीमित किया गया।

(2) रूमानिया के साथ सन्धि (Tteaty with Rumania)—हिटलर द्वारा दबाव दिये जाने के कारण हंगरी को 1940 से दिया गया ट्रांसिलवानिया का प्रदेश रूमानिया को वापस मिला, किन्तु उसे बेसारेबिया और बुकोविना रूस को तथा दोब्रुज बल्गारिया को देने पड़े। इससे आठ वर्षों में वस्तुओं के रूप में वसूल किया जाने वाला 30 करोड़ डालर का हर्जाना केवल रूस को दिया जाना तय हुआ। रूमानिया की स्थल सेना 1,20,000 सैनिकों तक, नौसेना 5,000 तक, वायु सेना 8,000 व्यक्तियों तक मर्यादित की गयी। वह केवल 100 लड़ाकू जहाज रख सकता था।

(3) **बल्गारिया के साथ सन्धि** (Treaty with Bulgaria)—बल्गारिया ही हारे हुए देशों में ऐसा था जिसे अपना कोई प्रदेश नहीं देना पड़ा बल्कि रूमानिया से दोब्रूजा का इलाका प्राप्त हुआ। क्षतिपूर्ति के रूप में उसे 7 करोड़ डालर यूनान और यूगोस्लाविया को आठ वर्षों में देना था। उसकी थल सेना में 55,000 आदमी; जल सेना में 3,500 और वायु सेना में 5,200 की संख्या निश्चित कर दी। यूनान की सीमा पर किसी प्रकार की किलेबन्दी पर रोक लगा दी।

(4) **हंगरी के साथ सन्धि** (Treath with Hungary)—हंगरी को ट्रान्सलेवेनिया का इलाका रूमानिया को देना पड़ा। चैकोस्लोवाकिया का वह इलाका जो रिबन ट्रोप के साथ वियना समझौता, 1938 के अन्तर्गत मिला था, पुनः चैक राज्य को लौटाया गया। इसके अलावा डेन्यूब के दक्षिण में उसे कुछ प्रदेश चैकों को देना पड़ा। आठ वर्षों में उसने रूस को 20 करोड़ का तथा चैकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया को दस करोड़ डालर का हर्जाना वस्तुओं के रूप में देना था। इसकी सेना की संख्या 65,000 और हवाई सेना 5,200 और 70 वायुयान निश्चित कर दी गयी।

(5) **फिनलैण्ड के साथ सन्धि** (Treaty with Finland)—फिनलैण्ड को वे इलाके स्वीकृत करने पड़े जो वह रूस को 1940 की मास्को सन्धि और 1944 की युद्ध-विराम सन्धि में दे चुका था। उसे 8 वर्ष में 30 करोड़ डालर की क्षतिपूर्ति रूस को देनी थी। उसकी थल सेना में 34,400, जल सेना में 4,500, वायु सेना में 300 आदमी निश्चित कर दिये गये।

जर्मनी की समस्या और शान्ति-वार्ताएँ
(THE PROBLEM OF GERMANY AND PEACE NEGOTIATIONS)

द्वितीय महायुद्ध में धुरी-राष्ट्रों का गठन मुख्यतः जर्मनी, इटली और जापान को लेकर हुआ। विजेताओं ने युद्ध जीतने के बाद इटली और चार अन्य छुटभइये शत्रु देशों से तो शान्ति सन्धियाँ कर लीं। यह अपेक्षाकृत आसान सिद्ध हुआ क्योंकि पूर्वी यूरोप में लाल सेना ने और इटली में आंग्ल-अमरीकी सेनाओं के एकाधिकार ने सैनिक हल पहले ही निकाल लिया था। उस पर केवल राजनीतिक मुलम्मा चढ़ाने की जरूरत थी। जर्मनी और आस्ट्रिया का मामला पेचीदा था क्योंकि यहाँ लाल सेना भी स्थित थी और आंग्ल-अमरीकी सेनाएँ भी अपना कब्जा जमाये बैठी थीं।

जिस समय जर्मनी ने आत्म-समर्पण किया, उस समय आधे दर्जन क्षेत्र (पश्चिमी) पर पश्चिमी शक्तियों की सेनाएँ थीं और आधे क्षेत्र (पूर्वी) पर सोवियत रूस की सेना थी। बर्लिन नगर का भी यही हाल था। पश्चिमी बर्लिन पर पश्चिमी शक्तियों का कब्जा था और पूर्वी बर्लिन पर सोवियत रूस का अधिकार था। पश्चिमी जर्मनी के भी तीन भाग थे और प्रत्येक भाग पर क्रमशः अमरीका, ब्रिटेन तथा फ्रांस का अधिकार क्षेत्र था। इस प्रकार सम्पूर्ण जर्मन प्रदेश चार बड़ी शक्तियों के अधिकार में बँटा हुआ था। मास्को और पेरिस के विदेश मन्त्रियों की बैठकों में जब जर्मन समस्या पर विचार किया गया तो उनमें भारी मतभेद उभरे। इससे पूर्व याल्टा सम्मेलन में जर्मनी के सम्बन्ध में कुछ मूल सिद्धान्त तय किये गये थे। क्षतिपूर्ति और उसके प्रशासन के प्रश्नों पर विचार पोट्सडाम सम्मेलन में हुआ। अप्रैल 1946 में जब पेरिस में विदेश मन्त्रियों की परिषद् की बैठक हुई तब 4 बड़े राष्ट्रों में जर्मनी के प्रश्न पर निम्न बिन्दुओं पर भारी मतभेद हो गये—(1) जर्मनी की आर्थिक एकता का प्रश्न; (2) क्षतिपूर्ण का प्रश्न; (3) जर्मनी और पोलैण्ड के बीच की सीमा, (4) जर्मनी का निःशस्त्रीकरण और नाजीवादी संगठनों के विनाश के प्रश्नों पर।

पेरिस में प्रत्येक विदेश मन्त्री ने अलग-अलग प्रस्ताव रखे। उनमें कोई मतैक्य नहीं हो सका। जब जर्मनी के सम्बन्ध में कोई समझौता होता दिखायी नहीं दिया तो पश्चिमी राष्ट्रों ने अपने

क्षेत्रों को मिलाने की योजना बनायी। सबसे पहले 1 जनवरी, 1947 को अमरीका और ब्रिटेन ने आर्थिक सहयोग के लिए अपने क्षेत्रों को मिलाकर एक संयुक्त शासन की स्थापना की। इसके उपरान्त 31 मई, 1948 को फ्रांस ने भी ब्रिटेन और अमरीका के साथ मिलकर तीनों क्षेत्रों के लिए केन्द्रीय सरकार बनाने का निश्चय किया।

संक्षेप में, पश्चिमी और रूसी दृष्टिकोण में जर्मनी के शान्ति-सन्धि के सन्दर्भ में निम्न कठिनाइयाँ थीं—(1) दोनों पक्षों में भावात्मक प्रतिक्रियाएँ उन्हें मतैक्य के लिए तैयार ही नहीं होने देती थी। मोलोतोव ने ठीक ही कहा था कि "क्षतिपूर्ति का प्रश्न संयुक्त राज्य अमरीका के लिए एक अर्थ रखता है और सोवियत रूस के लिए दूसरा।" (2) सोवियत रूस ने पश्चिमी देशों की इस दलील को स्वीकार नहीं किया कि पोट्सडाम सम्मेलन के निर्णय से याल्टा सम्मेलन के निर्णय अपने आप समाप्त हो गये। अतः क्षतिपूर्ति के याल्टा सम्मेलन के निर्णय से वे मुकर गये (3) सोवियत रूस ने पश्चिमी शक्तियों के द्वारा जो पश्चिमी जर्मनी का एकपक्षीय निर्णय द्वारा एकीकरण कर लिया था, घोर विरोध किया। सोवियत रूस चाहता था कि रूर घाटी पर चार बड़ों का संयुक्त नियन्त्रण बोर्ड से प्रशासन होना चाहिए क्योंकि जर्मनी की युद्ध-क्षमता यहीं स्थित है। (4) सोवियत संघ का पश्चिमी शक्तियों से इस बारे में भी विरोध था जो वे जर्मनी की भावी राजनीतिक व्यवस्था के लिए प्रस्तावित कर रहे थे। (5) पूर्व की ओर जर्मनी की सीमा के सम्बन्ध में भारी मतभेद था।

इन परेशानियों की वजह से जर्मनी से कोई शान्ति-सन्धि सम्भव नहीं हो सकी।

आस्ट्रिया के साथ शान्ति-सन्धि
(PEACE TREATY WITH AUSTRIA)

जर्मनी की भाँति ही आस्ट्रिया में भी सैनिक शासन की स्थापना की गयी। आस्ट्रिया की राजधानी वियना को चार भागों में बाँट दिया गया। प्रत्येक भाग पर एक-एक मित्र-राष्ट्र का अधिकार स्थापित हुआ। सन् 1955 के प्रारम्भ तक आस्ट्रिया का प्रश्न अधर मे लटका रहा। बाद में काफी विचार-विमर्श के उपरान्त 15 जुलाई, 1955 को आस्ट्रिया के साथ शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये। आस्ट्रिया को स्वतन्त्रता एवं सर्वोच्च प्रभुसत्ता प्रदान की गयी। इस सन्धि में आस्ट्रिया ने यह स्वीकार किया कि वह जर्मनी के साथ राजनीतिक या आर्थिक संघ का निर्माण नहीं करेगा और पूर्णरूपेण तटस्थ रहेगा। यह भी निश्चय किया गया कि आस्ट्रिया नाटो का सदस्य नहीं बनेगा।

जापान के साथ शान्ति-सन्धि
(PEACE TREATY WITH JAPAN)

मित्र राष्ट्रों ने काहिरा, याल्टा और पोट्सडाम के सम्मेलनों में जापान के भविष्य के सम्बन्ध में अपने कुछ महत्वपूर्ण उद्देश्यों की घोषणा की थी। जापान द्वारा आत्म-समर्पण करने के बाद इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तथा सुदूरपूर्व का नियन्त्रण करने के लिए टोकियो में मित्र-शक्तियों के सर्वोच्च सेनानायक (Supreme Commander for Allied Power) के पद पर जनरल मैकार्थर को नियुक्त किया गया तथा जापान के लिए मित्र-राष्ट्रों की परिषद बनायी गयी और वाशिंगटन में 11 राष्ट्रों का 'सुदूरपूर्व आयोग' (Far Eastern Commission) बनाया गया। जर्मनी की अपेक्षा जापान की युद्धोत्तर समस्याएँ बहुत कम जटिल थीं। जापान जर्मनी की तरह विभक्त न होकर राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से एक इकाई के रूप में बना हुआ था। अतः सन्धि कार्य सरल था किन्तु विभिन्न महाशक्तियों के पारस्परिक मतभेदों के कारण बड़ा दुष्कर हो गया।

पश्चिमी राष्ट्रों और सोवियत संघ के बीच मतभेद होने के कारण जापान के साथ सन्धि वार्ता सफल न हो सकी। मतभेद निम्नलिखित कारणों से थे :

(1) जापान से वसूल की जाने वाली क्षतिपूर्ति की मात्रा के सम्बन्ध में मित्र-राष्ट्रों का रूस के साथ बड़ा मतभेद था।

(2) सोवियत संघ जापान से एक निश्चित अवधि में अमरीकन सेना को हटाने तथा जापानी भूमि पर 800 अमरीकी सैनिक अड्डों को खाली कराने का समर्थक था।

(3) जापान और चीन से सम्बन्धित प्रश्नों पर ब्रिटेन और अमरीका के बीच उग्र मतभेद था। ब्रिटेन जापान द्वारा पीकिंग की साम्यवादी सरकार को स्वीकार कराना चाहता था जबकि अमरीका चांग-काई-शेक के राष्ट्रवादी चीन को।

उपर्युक्त मतभेदों के कारण जापान के साथ मित्र-राष्ट्रों की कोई सन्धि न हो सकी। बाद में कोरिया का युद्ध प्रारम्भ हो गया। तत्पश्चात अमरीका के विदेशमन्त्री डलेस को शान्ति-सन्धि का प्रारूप बनाने का कार्य सौंपा गया। 8 सितम्बर, 1951 मे जापान के साथ जिस शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर हुए उसकी प्रमुख शर्तें निम्न है :

(1) जापान ने कोरिया की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया।

(2) जापान ने फारमोसा, मेस्काडोरसा, क्यूराइल, दक्षिणी सखालिन और प्रशान्त महासागर में अनेक द्वीपों एवं चीन में अपने विशेषाधिकारों को त्याग दिया।

(3) शान्ति सन्धि पर हस्ताक्षर होने के 90 दिनों के बाद मित्र-राष्ट्रों की सेनाएँ जापान से हटा ली जायेंगी।

(4) जापान ने युद्ध द्वारा विध्वंस किये गये देशों को सहायता देना स्वीकार कर लिया।

(5) जापान ने युद्ध से पूर्व लिये गये ऋणों की अदायगी स्वीकार कर ली।

(6) जापान ने युद्ध का उत्तरदायित्व स्वीकार किया और युद्ध-अपराध न्यायालयों के निर्णयों को मानना स्वीकार कर लिया।

रूसी नेता ग्रोमिको ने शान्ति-सन्धि का विरोध करते हुए कहा था कि "वह शान्ति-सन्धि जापान में सैनिकवाद को पुनः प्रोत्साहित करेगी तथा सुदूरपूर्व (Far East) में आक्रामक मैत्रियों में जापान के भाग लेने का मार्ग प्रशस्त होगा।" रूस, पोलैण्ड और चैकोस्लोवाकिया ने इस सन्धि पर हस्ताक्षर नही किये। भारत ने इस प्रारूप को कठोर बताया और अपने सुझाव दिये, जिन्हें स्वीकार नहीं किया गया।

8 सितम्बर, 1951 को ही उपरोक्त शान्ति-सन्धि के साथ-साथ संयुक्त राज्य अमरीका और जापान में एक सुरक्षात्मक समझौता (The U. S. Japanese Security Pact) भी सम्पन्न हुआ। इससे अमरीकी जहाजों और हवाई जहाजों को बिना तटकर या अन्य शुल्क आदि दिये हुए ही जापान में आने का पूर्ण अधिकार स्वीकार किया गया। जापान-अमरीकी सन्धि ने जहाँ जापान को अमरीका का मित्र बना दिया वहाँ वह उसका एक 'सुरक्षित' एवं 'पिछलग्गू' (Satellite) राज्य बनकर रह गया। सन् 1960 में जापान और अमरीका में एक और सन्धि हुई, जिसके अनुसार जापान में सारी अमरीकी सत्ता को समाप्त कर दिया गया और जापान एक पूर्ण सार्वभौम राज्य बन गया। वैसे तो 1956 में जापान और रूस के मध्य एक समझौता हुआ जिससे उनके मध्य युद्ध की स्थिति समाप्त हो गयी परन्तु दोनों में आज तक कोई 'शान्ति-सन्धि' नहीं हुई। 9 जून, 1952 को भारत ने जापान के साथ एक पृथक् सन्धि की जिसके अनुसार युद्ध के समय जब्त की गयी एक-दूसरे राष्ट्र की सम्पत्ति को लौटाना स्वीकार कर लिया गया।

प्रश्न

1. द्वितीय विश्व युद्ध के बाद हुई शान्ति सन्धियों के प्रमुख लक्षणों का परीक्षण कीजिए।
   Examine the main features of the peace treaties accomplished after the second world war.
2. द्वितीय महायुद्ध के बाद हुई शान्ति सन्धियों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
   Critically examine the peace treaties which followed the second world war.
3. द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् शान्ति समझौतों पर एक संक्षिप्त परन्तु आलोचनात्मक विश्लेषण लिखिए।
   Write a brief but critical analysis of the peace settlement after world war II.
4. जापानी शान्ति के प्रमुख प्रावधानों का विवेचन कीजिए और उसके महत्व पर प्रकाश डालिए।
   Discuss the main provisions of the Japanese peace treaty and elucidate its significance.

3

यूरोप का पुनर्निर्माण तथा पुनर्गठन

[RE-BUILDING AND RE-ORGANISATION OF EUROPE]

यूरोप एक सभ्यता है, एक भौगोलिक इकाई और विचार है। इसे पश्चिमी सभ्यता का हृदय कहा जाता है क्योंकि यहूदीवाद-यूनानी-रोमन-ईसाई परम्पराओं का अभ्युदय यहीं पर हुआ था और जिसका प्रसार यूरोप की सीमाओं से बहुत आगे नयी दुनिया, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड तक हुआ था। मानव सभ्यता के आधुनिक इतिहास में एशिया और अफ्रीका पर यूरोप का प्रभाव अनवरत छाया रहा है। भौगोलिक दृष्टि से, जैसा कि जनरल चार्ल्स डिगाल ने कहा था कि 'अटलाण्टिक से यूराल तक यूरोप की सीमाओं का विस्तार पाया जाता है।' यूरोप का क्षेत्रफल 40 लाख वर्ग मील है और यूरोपियन एशिया समेत जनसंख्या 60 करोड़ के लगभग है। राजनीतिक दृष्टि से महाद्वीप में 33 राष्ट्र राज्य हैं जिसमें अनेक लघु राज्य अण्डोरा, मोनाको, सेनमेरिनो तथा वेटिकन सिटी जैसे राज्य भी शामिल हैं। सबसे अधिक जनसंख्या वाले तथा प्रभावशाली राज्यों में सोवियत संघ (जिसका आधा भाग एशिया में है), पश्चिम जर्मनी, यूनाइटेड किंगडम, फ्रांस तथा इटली प्रमुख हैं। यूरोप के प्रमुख भौगोलिक क्षेत्रों में पूर्वी यूरोप (सोवियत संघ तथा पोलैण्ड), दक्षिण-पूर्वी यूरोप (रूमानिया, हंगरी, यूगोस्लाविया, अल्बानिया, बल्गारिया, ग्रीस तथा यूरोपियन टर्की), स्केण्डेवियन देश (नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क तथा फिनलैण्ड), दक्षिण यूरोप (इटली, स्पेन, पुर्तगाल, सेनमेरिनो, वेटिकन सिटी तथा अण्डोरा), केन्द्रीय यूरोप (पूर्वी तथा पश्चिमी जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया, आस्ट्रिया, स्विट्जरलैण्ड तथा लिक्टेनस्टेन), पश्चिमी यूरोप (फ्रांस, वेल्जियम, नीदरलैण्ड, लक्जमबर्ग तथा मोनाको) तथा ब्रिटिश टापू (यूनाइटेड किंगडम ऑफ ग्रेट ब्रिटेन, उत्तरी आयरलैण्ड, आयरिश गणराज्य) हैं। कतिपय टापू जैसे आइसलैण्ड, माल्टा तथा साइप्रस को भी भौगोलिक और राजनीतिक कारणों से यूरोप के साथ सम्बद्ध माना जाता है।

वैचारिक दृष्टि से यूरोप एक विशिष्ट संस्कृति और सभ्यता है, जीवन का एक विशिष्ट प्रकार है जिसका निर्माण इसकी प्राचीन सांस्कृतिक और धार्मिक विरासत से हुआ है। इसी कारण यूरोपीय एकीकरण की विचारधारा के समर्थक कहते हैं कि नस्ल, भाषा और राजनीतिक विविधताओं के बावजूद यूरोप एक है। यूरोपीय एकता का विचार सदियों में विकसित हुआ है जिसने यूरोपीय सभ्यता को एक केन्द्रीभूत विशिष्टता प्रदान की है।

द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल में यूरोप

(EUROPE DURING WORLD WAR II AND THE IMMEDIATE POST-WAR YEARS)

बीसवीं शताब्दी में यूरोप की विश्वव्यापी भूमिका में आमूल-चूल परिवर्तन आया। 19वीं शताब्दी के अन्त तक सभी महान् शक्तियाँ यूरोपियन थीं। उनकी आर्थिक शक्ति, सांस्कृतिक योगदान, राजनीतिक और सैनिक प्रभाव ने दुनिया में वर्चस्व स्थापित किया था। प्रथम विश्वयुद्ध ने

इस शक्ति-संरचना को एक झटका दिया, शक्तिशाली राज्यों की विश्वव्यापी भूमिका को गम्भीर रूप से आहत किया। द्वितीय विश्व-युद्ध की शुरूआत के समय ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी और सोवियत संघ निस्सन्देह महाशक्तियाँ थीं और इटली भी मुसोलिनी के नेतृत्व में महाशक्ति की भूमिका अदा करने के लिए प्रयत्नशील था। लेकिन छः वर्ष तक लगातार चलने वाले द्वितीय महायुद्ध ने इसका रूप ही बदल दिया। महायुद्ध में यूरोप को जन और धन की जो हानि उठानी पड़ी उसका अनुमान लगाना कठिन है। कहा जाता है कि इस युद्ध में यूरोप के एक करोड़ सैनिकों और दो करोड़ से भी अधिक नागरिकों को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा। अनुमानतः 30 से लेकर 40 अरब रुपये के मूल्य की सम्पत्ति नष्ट हो गयी। युद्ध की उखाड़-पछाड़ में कई देशों की सीमाएँ बदल गयीं। युद्ध-व्यय के भार से अनेक राज्यों की कमर टेढ़ी हो गयी और कई राज्यों की शक्ति का तो पूरी तरह स्खलन हो गया। पुराना शक्ति-सन्तुलन बिखर गया। जर्मनी पददलित और विभाजित हो गया, फ्रांस सर्वनाश के गह्वर में फँस गया, इटली की कमर टूट गयी, ब्रिटेन को अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करने पर विवश होना पड़ा। केवल सोवियत संघ ही ऐसा राष्ट्र था जो बरबाद होकर भी युद्ध द्वारा सबसे अधिक लाभान्वित हुआ। बहुत-से नये प्रदेशों पर उसका अधिकार हो चुका था और उसकी सीमा पर स्थित अनेक राज्य उसकी अर्थ-नीति के घेरे में आ गये थे। शक्तिशाली जर्मनी को पीछे ढकेल देने के कारण उसका आत्मविश्वास दृढ़ हो गया था। रूस को छोड़कर अन्य यूरोपीय राज्य दूसरे या तीसरे नम्बर की शक्ति बनकर रह गये थे।[1] रूस को छोड़कर सारा यूरोप इतना कमजोर हो गया था कि एरिक फिशर के शब्दों में, "यूरोप का समय बीत चुका है।"[2] वस्तुत द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप यूरोप की परिस्थितियों में जो परिवर्तन आये उनका उदाहरण आधुनिक इतिहास में कहीं भी नहीं मिलता है।[3]

द्वितीय महायुद्ध के बाद दुनिया में दो ही महाशक्तियाँ रह गयीं—संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ। अमरीका के लिए महायुद्ध एक वरदान सिद्ध हुआ चूंकि उसकी भूमि पर युद्ध नहीं लड़ा गया था और न संघर्षरत राष्ट्रों के समान उसे युद्ध-जनित विनाश का सामना करना पड़ा। यूरोप के गैर-साम्यवादी राष्ट्र अपने आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए अमरीका का मुँह ताकने लगे। दूसरी तरफ पूर्वी यूरोप के सात देशों को साम्यवादी रंग में डुबोकर सोवियत संघ ने स्वतन्त्र विश्व के सामने जबरदस्त राजनीतिक और वैचारिक चुनौती प्रस्तुत कर दी थी। सन् 1944 में विलियम टी. आर. फॉक्स ने लिखा था कि "पुराने विश्व-नेतृत्व करने वाले यूरोप का नये समस्याग्रस्त यूरोप में परिवर्तन हमारे समय की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का केन्द्रीय तथ्य है।"[4]

पश्चिमी यूरोप का पुनर्निर्माण तथा आर्थिक एकीकरण
(REBUILDING AND ECONOMIC INTEGRATION OF WESTERN EUROPE)

पामर तथा पर्किन्स ने पश्चिमी यूरोप के पुनर्निर्माण तथा पुनर्गठन की समस्या को अग्रलिखित तीन भागों में विभाजित किया है :

---

1 "The old balance of power was shattered.......Italy was wrestling with serious economic and political problems....France was in a plight almost as serious of that of Italy.. ..... Britain had been fundamentally weakened,.,.....only the Soviet Union was more powerful than ever." —Palmer and Perkins. *International Relations*, 1976, p, 398.

2 Aside from the growing power of the Soviet Union—which is only in part a European state—the position of Europe had undergone a change so fundamental as to lead students of history to speak of "the passing of the European age." —*Eric Fischer*

3 "The conditions of Europe offer the second world war", in short....was without precedent in modern history."—Major Problems .of United States Foreign Policy, 1939-1950 (Washington, D. C. ; *The Brookings Institution*, 1949), p. 93.

4 In 1944 William T. R. Fox wrote that "the transition from the old world dominating 'Europe to the new, 'Problem-Europe' is a central fact in the international politics of our time."

(1) यूरोप में शान्ति-निर्माण की समस्या (Problem of Peace-making)

(2) यूरोप में आर्थिक पुनरुद्धार और एकीकरण (Economic Recovery and Integration)।

(3) पश्चिमी यूरोप की सैनिक सुरक्षा (Military Security of Western Europe)

यूरोप में शान्ति-निर्माण की समस्या
(PROBLEM OF PEACE-MAKING)

द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति के बाद सबसे कठिन और जटिल कार्य शान्ति-निर्माण का था। युद्ध समाप्त होने के लगभग डेढ़ वर्ष बाद तक भी शान्ति-सन्धियों के प्रारूप तैयार नहीं हो सके। 10 फरवरी, 1947 तक केवल इटली, रूमानिया, हंगरी और फिनलैण्ड के साथ शान्ति-सन्धियाँ सम्पन्न हो सकीं। जापान के साथ तो 1951 में शान्ति-सन्धि की गयी और यह भी एक अधूरी शान्ति-सन्धि ही थी। आस्ट्रिया के साथ शान्ति-सन्धि जुलाई 1955 में कार्यान्वित की गयी। वस्तुतः शान्ति-स्थापना का कार्य अत्यन्त कठिन था क्योंकि सोवियत संघ और अमरीका में शीत-युद्ध प्रारम्भ हो चुका था, दोनों में प्रभुत्व-विस्तार की प्रतिस्पर्द्धा प्रारम्भ हो गयी थी। शान्ति स्थापना के लिए विदेश मन्त्रियों की जो परिषद् बनायी गयी उसमें 'सर्वसम्मति से निर्णय' का निश्चय किया गया जो बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण था क्योंकि इसके द्वारा दोनों ही पक्षों को एक-दूसरे के कार्यों पर 'वीटो' प्राप्त हो गया, जिससे वे किसी भी निर्णय को रोकने की स्थिति में आ गये। शान्ति-सन्धियों के लिए जो सम्मेलन आयोजित किये गये उनमें सोवियत संघ और पश्चिमी राष्ट्रों के बीच उग्र मतभेद स्पष्ट हो गया जिसके कारण बड़ी मुश्किल से कुछ प्रश्नों पर सहमति हो सकी और अन्य प्रश्न उलझ नहीं सके।

लन्दन का विदेशमन्त्री सम्मेलन (The London Meeting of the Council of Foreign Ministers)—विदेश मन्त्रियों की परिषद् की प्रथम बैठक शान्ति-सन्धियों के लिए 11 सितम्बर, 1945 से प्रारम्भ हुई। शीघ्र ही यह निर्णय लिया गया कि सभी पाँचों विदेश मन्त्री पाँच हारे हुए राष्ट्रों के साथ सन्धि का प्रारूप तैयार करें। सन्धि का प्रारूप उन्हीं के द्वारा तैयार किया जाना था जिन्होंने युद्ध-विराम की शर्तों पर हस्ताक्षर किये थे। परेशानी यह थी कि फ्रांस और चीन ने आत्म-समर्पण की शर्तों पर हस्ताक्षर नहीं किये थे। अतः यह निर्णय किया गया कि फ्रांस और चीन उन मामलों पर मत नहीं दे सकते जिनका प्रभाव उन पर प्रत्यक्षतः न पड़ता हो। सर्वप्रथम, इटली के साथ की जाने वाली सन्धि पर विचार हुआ। शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि इन महाशक्तियों में आपसी भारी मतभेद हैं जो निम्न मुद्दों पर थे। (i) इटली-यूगोस्लाविया सीमांकन का प्रश्न; (ii) इटली से ली जाने वाली क्षतिपूर्ति; (iii) इटली के उपनिवेशों का निर्णय; (iv) इटली के जहाजी बेड़े का निर्णय। दस दिन के कठिन विचार-विमर्श के बाद 22 सितम्बर को रूसी विदेश मन्त्री मोलोतोव ने पश्चिमी राष्ट्रों को सूचना दी कि 'वह कोई भी आगे की बैठक में भाग नहीं लेंगे जब तक कि फ्रांस और चीन को उन सभी मामलों से नहीं निकाला जाता जहाँ वे एक युद्ध-विराम समझौते के हस्ताक्षरकर्ताओं के रूप में, प्रत्यक्षतः सम्बन्धित नहीं होते।' अमरीकी विदेश मन्त्री ने स्टालिन से तार द्वारा निवेदन किया कि वह व्यक्तिगत प्रभाव डालकर शान्ति के प्रयासों को निष्फल होने से रोकें। 24 सितम्बर को स्टालिन ने स्पष्ट कर दिया कि पश्चिम की शर्तों पर विचार-विनिमय आगे बढ़ाना सम्भव नहीं है, फलतः यह बैठक पूर्णतः निष्फल हो गयी।

मास्को में विदेश मन्त्री सम्मेलन (Moscow Meeting)—अमरीकन विदेश मन्त्री बर्न्ज के सुझावों पर मास्को में केवल संयुक्त राज्य अमरीका, रूस और ग्रेट ब्रिटेन के विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन इटली आदि पाँच देशों के साथ सन्धि करने, रूमानिया और बलगारिया की सरकारों की स्वीकृति, अणुशक्ति के नियन्त्रण, सुदूर-पूर्व तथा ईरान की समस्याओं पर विचार करने के लिए

बुलाया गया। यह लन्दन की पहली परिषद् की अपेक्षा अधिक सफल हुआ। इसमें विभिन्न देशों के साथ सन्धि-निर्णय का कार्य उन देशों से आत्म-समर्पण लेने वाली महाशक्तियों को सौंपा गया और इनका आरम्भिक रूप निश्चित होने पर इन्हें धुरी शक्तियों के साथ लड़ने वाले सभी राष्ट्रों के सम्मेलन में प्रस्तुत करने का निश्चय हुआ। सन्धियों पर हस्ताक्षर होने के बाद पराजित राष्ट्रों के प्रदेशों से मित्र-राष्ट्रों की सेनाएँ हटा लेने की व्यवस्था की गयी। केवल आस्ट्रिया के साथ सन्धि होने तक वियाना स्थित रूसी फौजों का स्वदेश से यातायात का मार्ग सुरक्षित बनाये रखने के लिए रूमानिया और हंगरी में सोवियत सेनाओं का बना रहना स्वीकार किया गया। यह मास्को की बहुत बड़ी सफलता थी क्योंकि इसके बाद वियाना के साथ सन्धि में रूस ने बड़ी असम्भव शर्तें रखीं और इनके पूरा न होने पर सन्धि न होने से बहुत देर तक तीनों देशों में अपनी सेनाएँ रखने का अधिकार उसे प्राप्त हो गया।

इस सम्मेलन में निम्नलिखित आयोगों की स्थापना की गयी :

1. **सुदूर-पूर्व आयोग** (Far-Eastern Commission)।
2. **मित्र परिषद्** (Allied Council)।
3. **रूस-अमरीका आयोग** (Russia-America Commission)।

पेरिस का शान्ति सम्मेलन (The Paris Peace Conference)—29 जुलाई से 15 अक्टूबर, 1946 तक 21 देशों का सम्मेलन पेरिस में हुआ। इस सम्मेलन में विदेश मन्त्रियों की परिषद् द्वारा तैयार किये गये पाँच देशों के साथ की जाने वाली शान्ति-सन्धियों के प्रारूपों पर विचार किया गया। विचार-विमर्श में पराजित देशों के प्रतिनिधि भी शामिल हुए। परन्तु इस सम्मेलन में बड़े राष्ट्रों का रुख हठधर्मिता और दबाव से परिपूर्ण था, अतः आस्ट्रिया का प्रतिनिधि सम्मेलन को छोड़कर चला गया। तत्पश्चात् 4 नवम्बर से 12 दिसम्बर, 1946 तक विदेश मन्त्रियों की परिषद् ने न्यूयार्क में इन पाँचों सन्धियों को अन्तिम रूप दिया। यद्यपि छोटे राष्ट्र असन्तुष्ट थे, किन्तु 10 फरवरी, 1947 को पेरिस में 21 मित्र-राष्ट्रों तथा 5 पराजित राष्ट्रों ने इन पाँच शान्ति-सन्धियों पर हस्ताक्षर कर दिये।

इस प्रकार दो वर्षों के कठिन परिश्रम के बाद केवल 5 राष्ट्रों के साथ शान्ति-सन्धियाँ सम्पन्न हो सकीं। आस्ट्रिया, जापान और जर्मनी के साथ शान्ति-सन्धियों के बारे में मित्र-राष्ट्रों के बीच मतभेदों की उग्रता के कारण गतिरोध बना रहा।

पाँच शान्ति-सन्धियाँ
(FIVE PEACE TREATIES)

10 फरवरी, 1947 को पेरिस में 21 मित्र-राष्ट्रों तथा 5 पराजित देशों ने जिन पाँच शान्ति-सन्धियों पर हस्ताक्षर किये, वे निम्नलिखित थीं :

1. **इटली के साथ सन्धि** (Peace Traty with Italy)—इटली को कुल मिलाकर सात वर्षों में 36 करोड़ स्टर्लिंग की क्षतिपूर्ति देनी थी जिसमें से 12 करोड़ 50 लाख यूगोस्लोवाकिया, वाकिया, 10 करोड़ 50 लाख यूनान, 10 करोड़ रूस, 2 करोड़ 50 लाख इथियोपिया और 50 लाख अल्बानिया को मिलना था।

उसकी स्थल सेना $2\frac{1}{2}$ लाख सिपाहियों तथा 200 टैंकों तक; नौ-सेना 25 हजार नौ-सैनिकों, 2 युद्धपोतों एवं 4 क्रूजरों तक, वायु सेना 25 हजार सैनिकों, 200 लड़ाकू हवाई जहाजों तथा 150 विविध प्रकार के वायुयानों तक सीमित कर दी गयी। फ्रेंच और यूगोस्लाव सीमाओं की, सिसली तथा सार्डीनिया के तटों की ओर माल्टा-ट्यूनीशिया के बीच लाम्पेदूजा व पान्तेलेरिया टापुओं की सब किलेबन्दियाँ और दुर्ग नष्ट कर दिये जाने का निश्चय हुआ।

इटली को लीबिया, इरिट्रिया और इटालियन सोमालीलैण्ड में अपने उपनिवेश छोड़ने पड़े।

इनके भविष्य का निश्चय सन्धि के लागू होने से एक वर्ष के अन्दर चार बड़ों को करना था। यदि ये असफल रहे तो संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा को इस मामले का कोई अन्तिम हल ढूंढ़ना होगा। 1 जनवरी, 1952 तक लीबिया को स्वाधीन बनाने का निश्चय किया गया। सुमालीलैण्ड को सोमालिया के नाम से 2 दिसम्बर, 1960 से स्वतन्त्र बना दिया गया।

उत्तर-पश्चिम में ब्रिग्रा-टेण्डा का जिला फ्रांस को मिला, पूर्व के डोडेकनीज के टापू यूनान को, पूर्वी वेनेजिया ग्यूलिया का करीब 30 वर्ग मील का क्षेत्र यूगोस्लाविया को और ससेनो का टापू अल्बानिया को दे दिये। ट्रीस्टे नगर का अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया गया जिसका गवर्नर सुरक्षा परिषद् से नियुक्त होना था।

2. **रूमानिया के साथ सन्धि** (Treaty with Rumania)—हिटलर द्वारा दबाव दिये जाने के कारण हंगरी को 1940 में दिया गया ट्रांसिल्वानिया का प्रदेश रूमानिया को वापस मिला, किन्तु उसे वेसारेबिया और बुकोनिया रूस को तथा दोब्रुजा बलगारिया को देने पड़े। इससे आठ वर्ष में वस्तुओं के रूप में वसूल किया जाने वाला 30 करोड़ डालर का हर्जाना केवल रूस को दिया जाना तय हुआ। रूमानिया की स्थल सेना 1,20,000 सैनिकों तक, नौसेना 5,000 तक, वायुसेना 8,000 व्यक्तियों तक मर्यादित की गयी। वह केवल 100 लड़ाकू जहाज रख सकता था।

3. **बलगारिया की सन्धि** (Treaty with Bulgaria)—बलगारिया ही हारे हुए देशों में ऐसा देश था जिसे अपना कोई प्रदेश नहीं देना पड़ा.वल्कि रूमानिया से दोब्रुआ का इलाका प्राप्त हुआ। क्षतिपूर्ति के रूप में उसे 7 करोड़ डालर यूनान और यूगोस्लाविया को आठ वर्षों में देना था। उसकी थल सेना में 55,000 आदमी, जल सेना में 3,500 और वायु सेना में 5,200 निश्चित कर दिये गये। यूनान की सीमा पर किसी प्रकार की किलेवन्दी करने पर रोक लगा दी गयी।

4. **हंगरी के साथ सन्धि** (Treaty with Hungary)—हंगरी को ट्रांसिल्वानिया का इलाका रूमानिया को देना पड़ा। चेकोस्लोवाकिया को स्लोवाकिया का वह इलाका जो रिबन ट्रोप के साथ वियना समझौता, 1938 के अन्तर्गत मिला था, इसे सोवियत रूस, चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया को 30 करोड़ डालर क्षतिपूर्ति के रूप में आठ वर्ष में देना था। इसकी सेना की संख्या 65,000 और हवाई सेना 5,200 और 70 वायुयान निश्चित कर दी गयी।

5. **फिनलैण्ड के साथ सन्धि** (Treaty with Finland)—फिनलैण्ड को वे इलाके स्वीकृत करने पड़े जो वह रूस की 1940 की मास्को-सन्धि और 1944 की युद्ध-विराम सन्धि में दे चुका था। उसे 8 वर्ष में 30 करोड़ डालर की क्षतिपूर्ति रूस को देनी थी। उसकी थल सेना में 34,000, जल सेना में 5,500 और वायुसेना में 300 आदमी निश्चित कर दिये गये।

इन सन्धियों के परिणामस्वरूप यूगोस्लावाविया वाल्कन में सबसे शक्तिशाली और इटली का प्रतिस्पर्द्धी राष्ट्र बन गया। सोवियत रूस को आर्थिक दृष्टि से सबसे अधिक लाभ हुआ। पाँच राज्यों के हर्जाने की 70% राशि, 90 करोड़ डालर उसे प्राप्त हुई।

जर्मनी की समस्या और शान्ति-वार्ताएँ
(PROBLEM OF GERMANY AND PEACE NEGOTIATIONS)

जर्मनी की गिनती प्रारम्भ से ही यूरोप के शक्तिशाली राष्ट्रों में की जाती थी। द्वितीय महायुद्ध में आत्म-समर्पण करने के उपरान्त जर्मनी यूरोप में शीतयुद्ध का केन्द्र-बिन्दु बन गया। पोट्सडाम समझौते (जुलाई-अगस्त 1945) के अनुसार मित्र-राष्ट्रों ने जर्मनी को चार भागों में बाँट दिया जिनमें क्रमशः संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन, सोवियत संघ और फ्रांस ने अपना शासन स्थापित किया। इन चारों क्षेत्रों के प्रधान सेनाध्यक्षों को अपने-अपने क्षेत्र में सर्वोच्च अधिकार प्राप्त थे। जर्मनी की पुरानी राजधानी बर्लिन में चारों बड़े राष्ट्रों ने एक मिला-जुला शासन

स्थापित किया और एक मित्र-राष्ट्रीय नियन्त्रण परिषद् का गठन किया। यों तो जर्मनी के विभाजन का उद्देश्य यह माना गया था कि उस पर आधिपत्य रखने वाले राष्ट्र मिल-जुलकर आपसी सहयोग से उस पर शासन करेंगे परन्तु प्रारम्भ से ही यह स्पष्ट हो गया कि इस प्रकार के सहयोग की आशा धूमिल है।

जर्मनी समस्या के सम्बन्ध में 10 मार्च, 1947 से आरम्भ होने वाली मास्को-की विदेश मन्त्री परिषद् की बैठक में 40 दिन तक लम्बे वाद-विवाद होते रहे, किन्तु फिर भी यह परिषद् इस विषय में कोई सन्धि तैयार नहीं कर सकी और न ही जर्मनी की आर्थिक और राजनीतिक एकता में सहायक हो सकी। इससे केवल दोनों पक्षों में कटुता और वैमनस्य ही बढ़ा। **जॉन फास्टर डलेस** के मतानुसार दोनों पक्षों में निम्न मतभेद थे :

(1) संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन और फ्रांस जर्मनी का ऐसा पुनर्निर्माण चाहते थे कि जर्मनी भविष्य में कभी युद्ध न छेड़ सके; किन्तु रूस इसे पुन: मध्य यूरोप में शक्तिशाली राष्ट्र बनाना चाहता था।

(2) पोट्सडाम सम्मेलन में शान्ति सुरक्षित बनाये रखने के लिए यह निश्चय किया गया था कि उसमें अधिक शक्ति रखने वाली केन्द्रीय सरकार न हो, किन्तु रूस सोवियत क्षेत्र में बर्लिन से संचालित होने वाली शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार, एक शक्तिशाली राजनीतिक दल और ट्रेड यूनियन संघ बनाना चाहता था।

(3) पोट्सडाम सम्मेलन ने जर्मनी को आर्थिक दृष्टि से निर्बल बनाने के लिए यह व्यवस्था की थी कि उसके युद्ध का सामान तैयार करने वाले कारखानों की मशीनें तथा अन्य सामग्री क्षतिपूर्ति के रूप में रूस आदि को दे दी जायें। रूस ऐसे बहुत से कारखाने और मशीनें ले गया, किन्तु इन्हें चलाने में सफल नहीं हो सका। अधिकांश मशीनें रेलवे स्टेशनों पर पड़ी हुई जंग खाने लगीं। इस पर रूस यह चाहने लगा कि कारखाने न उठाये जायें; उससे तैयार माल लिया जाय, इसके लिए जर्मनी का औद्योगीकरण हो और वह जर्मनी से दस अरब डालर का हर्जाना वसूल कर सके।

इसके अतिरिक्त जर्मनी के प्रश्न पर दोनों पक्षों में कुछ अन्य मतभेद भी थे—(1) पश्चिमी राष्ट्र जर्मनी का नया संविधान संघात्मक (Federal) बनाना चाहते थे, जबकि सोवियत रूस इसका विरोधी था। (2) राइन प्रदेश को पश्चिमी राष्ट्र जर्मनी से पृथक् करना चाहते थे जबकि मास्को इससे सहमत नहीं था। (3) मित्र-राष्ट्रों को मास्को के रूर पर चार शक्तियों द्वारा नियन्त्रण का, जर्मनी के व्यापारिक तथा औद्योगिक संघों (cartels) के तथा बड़ी जमींदारियों के समाप्त करने के प्रस्ताव स्वीकार्य नहीं थे। (4) जर्मनी की पूर्वी समस्याओं के सम्बन्ध में उग्र मतभेद थे।

पोट्सडाम समझौते में पूर्वी एशिया (ईरान) को सोवियत संघ और पोलैण्ड के बीच बाँटने का निश्चय हुआ था, किन्तु यह तय नहीं हो सका था कि पोलैण्ड द्वारा सोवियत संघ को दिये जाने वाले प्रदेश की क्षतिपूर्ति जर्मनी से किस प्रकार की जायेगी। रूस पोट्सडाम द्वारा निर्धारित सीमा को अन्तिम मानता था। परन्तु पश्चिमी राष्ट्र उसमें परिवर्तन चाहते थे।

जब इन मतभेदों के कारण जर्मनी के साथ कोई सन्धि करना सम्भव न हो सका तो मित्र-राष्ट्रों ने अपने क्षेत्रों को मिलाना शुरू किया। सर्वप्रथम अमरीकी और ब्रिटिश क्षेत्रों को 1947 के आरम्भ में आर्थिक दृष्टि से संयुक्त बनाते हुए द्विक्षेत्र (Bizonia) का निर्माण किया गया और बाद में 31 मई, 1948 को पश्चिम के तीनों क्षेत्रों (Trizonia) के लिए सं. रा. अमरीका, ब्रिटेन और फ्रांस ने एक केन्द्रीय सरकार बनाना स्वीकार कर लिया। 21 सितम्बर, 1949 को पश्चिमी जर्मनी में एक संघीय गणराज्य (Federal Republic of Germany) की स्थापना हुई,

मित्र-राष्ट्रों के सैनिक कमीशन ने इसे प्रशासन के अधिकार प्रदान किये। पश्चिमी गणराज्य की राजधानी बॉन है।

पूर्वी क्षेत्र में सोवियत रूस ने 7 अक्टूबर, 1949 को 'जर्मन डेमोक्रेटिक गणराज्य' की स्थापना की। इसकी राजधानी सोवियत रूस के बर्लिन क्षेत्र में रखी गयी। किन्तु अभी तक जर्मनी के साथ कोई सन्धि न होने के कारण लड़ाई की स्थिति थी। 1951 में सं. रा. अमरीका, ब्रिटेन और फ्रांस ने युद्ध की स्थिति को समाप्त किया और 25 जनवरी, 1955 को सोवियत रूस ने इसका अनुसरण किया। 6 मई, 1955 को पश्चिमी राष्ट्रों का सैनिक अधिकार समाप्त होने से जर्मनी के संघीय गणराज्य को स्वाधीनता और सर्वोच्च प्रभुता प्राप्त हुई।

इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यूरोप में दो जर्मनी अस्तित्व में आये। जर्मनी के एकीकरण की समस्या शीत-युद्ध की राजनीति में उलझ गयी।

आस्ट्रिया से सन्धि
(TREATY WITH AUSTRIA)

आस्ट्रिया के साथ शान्ति-सन्धि करने में कई बाधाएँ सामने आयीं। पश्चिमी राष्ट्र आस्ट्रिया में नाजी शक्तियों को प्रोत्साहन दे रहे थे, जबकि युद्ध के दौरान यह तय हो चुका था कि पराजित नाजी देशों में नाजी तत्वों का पूरा तरह उन्मूलन कर दिया जायगा। रूस पुनः नाजीवाद को पनपने नहीं देना चाहता था, अतः अमरीका द्वारा प्रस्तुत की गयी शान्ति-शर्तों को वह अपने अनुकूल नहीं समझता था। आस्ट्रिया के साथ सन्धि होने में तीन बातें बाधक थीं : प्रथम, दक्षिणी केरन्थिया के आस्ट्रियन प्रदेश पर यूगोस्लाविया अपना दावा कर रहा था; द्वितीय, क्षतिपूर्ति के रूप में वह पन्द्रह करोड़ डॉलर चाहता था और तृतीय. सोवियत रूस 'जर्मन सम्पत्ति' की परिभाषा किये जाने पर जोर दे रहा था।

पेरिस की विदेश मन्त्री परिषद् में सं. रा. अमरीका ने आस्ट्रिया की सन्धि का प्रश्न उठाया जिसे रूस ने वीटो कर दिया। जून-जुलाई 1946 की इस परिषद् की दूसरी बैठक में पुनः स. रा. अमरीका और ब्रिटेन ने आस्ट्रिया से विदेशी सेनाएँ हटाने का प्रस्ताव रखा, रूस ने इस पर यह आपत्ति की कि आस्ट्रिया में नाजी तत्वों का पूरी तरह उन्मूलन नहीं हुआ है, वह अभी तक मास्को विरोधी शरणार्थियों का अड्डा है, अतः यहाँ से सेनाएँ नहीं हटायी जा सकतीं। अन्ततोगत्वा दस वर्ष के विचार-विमर्श के बाद एक सन्धि द्वारा 27 जुलाई, 1955 को 17 वर्ष तक पराधीन रहने के पश्चात् आस्ट्रिया को स्वाधीनता और सर्वोच्च प्रभुता प्राप्त हुई। आस्ट्रिया राज्य की इस सन्धि पर 15 मई को सं. रा. अमरीका, सोवियत रूस और ब्रिटेन तथा आस्ट्रिया ने हस्ताक्षर किये; इसके अनुसार आस्ट्रिया ने यह स्वीकार किया कि वह जर्मनी के साथ राजनीतिक या आर्थिक संघ का निर्माण नहीं करेगा।

बर्लिन संकट
(BERLIN CRISIS)

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद बर्लिन की समस्या ने विश्व का बहुत अधिक ध्यान आकर्षित किया। जर्मनी के आत्म-समर्पण के पूर्व अनेक समझौते सम्पन्न हुए। सन् 1945 के पोट्सडाम समझौते के अनुसार, बर्लिन नगर रूस, फ्रांस, ब्रिटेन एवं अमरीका के नियन्त्रण में बाँट दिया गया। पश्चिमी बर्लिन अमरीका, ब्रिटेन तथा फ्रांस के नियन्त्रण मे एवं पूर्वी बर्लिन सोवियत संघ के नियन्त्रण में रखा गया। जर्मनी में आर्थिक पुनरुत्थान के लिए पश्चिमी शक्तियों ने मुद्रा संशोधन का एक प्रस्ताव रखा, जिसे सोवियत संघ ने लागू करने से इंकार कर दिया। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि पश्चिमी राष्ट्र बर्लिन में रीखमार्क (पुरानी मुद्रा) को इस शर्त पर चालू रखने के लिए सहमत हैं कि जो मुद्रा छापी जाये, उसमें उसे उचित भाग का नियन्त्रण प्राप्त हो। सोवियत अधि-

कारियों ने इस नियन्त्रण का अधिकार देने से इंकार कर दिया। पश्चिमी राष्ट्रों ने विवश होकर एक नया 'डी-मार्क' चालू कर दिया। पश्चिमी राष्ट्रों के इस कदम से क्षुब्ध होकर 24 जून, 1948 को सोवियत संघ ने पश्चिमी बर्लिन की नाकेबन्दी कर दी। उसने बर्लिन से पश्चिमी राष्ट्रों के सम्पर्क को, समुद्र और भूमि के मार्गों से विच्छिन्न करने का प्रयत्न किया जिसके प्रत्युत्तर में पश्चिमी राष्ट्रों ने लाखों टन सामान हवाई जहाजों के द्वारा बर्लिन भेजना शुरू किया। 23 सितम्बर, 1948 को फ्रांस, ब्रिटेन तथा अमरीका ने सुरक्षा परिषद् में सोवियत संघ के विरुद्ध याचिका प्रस्तुत की एवं चार्टर की धारा 2 के अनुसार बर्लिन के घेरे को विश्व-शान्ति के लिए खतरा निरूपित किया। सोवियत संघ ने पश्चिमी राष्ट्रों के आरोप का खण्डन करते हुए कहा कि उक्त कदम पश्चिमी राष्ट्रों के षड्यन्त्र से पूर्वी जर्मनी की आर्थिक स्थिति की रक्षा करने के लिए उठाया गया है। सोवियत संघ ने यह भी कहा कि बर्लिन समस्या को सम्पूर्ण जर्मन समस्या से पृथक् नहीं किया जा सकता। महाशक्तियों के बीच मनमुटाव के कारण सुरक्षा परिषद् इस प्रश्न पर विचार करने के अतिरिक्त और कुछ भी करने में असमर्थ थी। 4 मई, 1949 को फ्रांस, ब्रिटेन तथा अमरीका ने सुरक्षा परिषद् को सूचित किया कि बर्लिन की समस्या पर सोवियत संघ से उसका समझौता हो गया है। उक्त समझौते के अन्तर्गत विदेश मन्त्रियों की बैठकें हुईं जिनमें यह निश्चय किया गया कि वे अपने अधीन क्षेत्रों में आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करेंगे। परन्तु जर्मनी की राजनीतिक एकता पर कोई समझौता नहीं हो सका। बर्लिन समस्या के कारण विश्व में राजनीतिक तनाव बना रहा।

यूरोप में आर्थिक पुनरुद्धार और एकीकरण
(ECONOMIC RECOVERY AND INTEGRATION IN EUROPE)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यूरोप का पुराना महत्व और प्रभुत्व क्षीण हो गया। युद्ध के भीषण विध्वंस ने यूरोप को आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से निर्बल बना दिया। जहाँ एक ओर पूर्व दिशा में सोवियत संघ की विस्तारवादी नीति उसे आतंकित करने लगी वहाँ दूसरी ओर पश्चिम दिशा में सं. रा. अमरीका का उत्कर्ष भी उसे व्यथित करने लगा। इन दो भीमाकार शक्तियों के बीच में पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रों के लिए आत्म-रक्षा और उन्नति का उपाय यूरोपियन एकता को सुदृढ़ करना तथा इसके लिए विविध आर्थिक और राजनीतिक संगठन बनाना था। संयुक्त राज्य अमरीका भी रूस के विरुद्ध ऐसे संगठनों को आत्म-रक्षा के लिए आवश्यक समझता था। यूरोप के आर्थिक पुनरुत्थान के लिए सन् 1943 में ही संयुक्त राष्ट्रों ने एक संस्था का निर्माण किया था जिसका लक्ष्य सैनिक अधिकारियों या स्थानीय सरकार के सहयोग से संत्रस्त राष्ट्रों को आर्थिक सहायता पहुँचाना था। यह संस्था 'संयुक्त राष्ट्र पुनरुद्धार व पुनर्वास प्रशासन' के नाम से जानी जाती थी। शरणार्थियों की रक्षा व सहायता के लिए एक संस्था 'अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी संगठन' की स्थापना की गयी थी। जुलाई 1944 में ब्रेटनवुड्स सम्मेलन के परिणामस्वरूप यूरोप के पुनरुद्धार और आर्थिक विकास के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक व अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना की गयी जिनका कार्य ध्वस्त राष्ट्रों के पुनर्निर्माण में सहायता देना था। युद्धोत्तर काल में राष्ट्रों के पुनर्निर्माण में सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में एक 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ' स्थापित किया गया। लेकिन इस काल में यूरोप के आर्थिक पुनर्निर्माण का प्रश्न 'पूर्व' और 'पश्चिम' के झगड़े के कारण विषम होता चला गया। पूर्वी यूरोप में रूस का प्रभाव निरन्तर बढ़ता जा रहा था। ऐसी स्थिति में पश्चिमी राष्ट्रों—विशेषकर अमरीका और ब्रिटेन को यह भय होने लगा था कि सोवियत रूस अपनी सेनाओं तथा कूटनीति द्वारा केवल पूर्वी यूरोप में ही नहीं, पश्चिमी यूरोप में भी साम्यवाद के प्रसार के कार्य में जुट पड़ा है। अमरीका की दृष्टि में फ्रांस और इटली की स्थिति काफी डावाँडोल थी और पश्चिमी यूरोप को आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से संगठित किया जाना आवश्यक था। 1946

में चर्चिल ने यूरोप की एकता का आन्दोलन चलाया। यूरोप में कुछ लोग उसका समर्थन साम्यवाद के विरोध की दृष्टि से करते थे और कुछ इसे विश्व संघ की दिशा में प्रयत्न बताते थे। इन सब विचारों और आन्दोलनों के परिणामस्वरूप यूरोप में आर्थिक और राजनीतिक एकीकरण के निम्नलिखित प्रमुख संगठन बने :

1. **ट्रूमैन सिद्धान्त** (Truman Doctrine)—पश्चिमी यूरोप के आर्थिक पुनरुत्थान व एकीकरण की दिशा में सबसे पहला प्रयास ट्रूमैन सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है। यह सिद्धान्त उस भाषण का अंग था जो अमरीकी राष्ट्रपति ट्रूमैन ने 12 मार्च, 1947 को, तुर्की और यूनान की सैनिक व आर्थिक सहायता के लिए 40 करोड़ डालर की माँग रखते हुए, अमरीकी काँग्रेस के समक्ष दिया था। ट्रूमैन ने यह निर्णय किया कि इन देशों को आर्थिक सहायता देकर साम्यवाद के प्रसार को यूरोप में सीमित किया जाये। ट्रूमैन के शब्दों में "हमारी सहायता प्रधानतः आर्थिक और वित्तीय सहायता के द्वारा होनी चाहिए जो कि आर्थिक स्थायित्व और सुव्यवस्थित राजनीतिक व्यवस्था के लिए अनिवार्य है।"

2. **बेनीलक्स** (Benelux)—'बेनीलक्स संघ' बेल्जियम, नीदरलैण्ड और लक्जमबर्ग के बीच सितम्बर 1944 में हुए समझौते का परिणाम था। मार्च 1947 में इसमें कुछ महत्वपूर्ण संशोधन किये गये और 1 जनवरी, 1948 से इसे लागू किया गया। इसके अन्तर्गत सदस्य राष्ट्रों ने अपने बीच चुंगी व्यवस्था को पूरी तरह समाप्त कर दिया और आयात पर एक समान टैरिफ कार्यक्रम की स्थापना की। समझौते का अन्तिम लक्ष्य एक आर्थिक संघ (Complete Económic Union) का निर्माण बताया गया।

3. **मार्शल योजना** (Marshall Plan)—युद्ध के कारण यूरोप की अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी थी और चारों ओर असन्तोष, दरिद्रता और आर्थिक कष्ट का साम्राज्य छाया हुआ था। ऐसी हालत में यूरोप में साम्यवादी व्यवस्था फैल जाने की सम्भावना बहुत अधिक बढ़ गयी थी। अमरीका के सामने समस्या यह थी कि युद्ध से विध्वस्त यूरोप का पुनर्निर्माण करके उसे साम्यवाद से कैसे बचाये? अमरीकी विदेश सचिव जार्ज मार्शल इस स्थिति को भलीभाँति समझ रहा था। अप्रैल 1947 में जब वह यूरोप से लौटकर वाशिंगटन पहुँचा तो उसने इस बात पर बल दिया कि यदि इस समय तुरन्त यूरोप के आर्थिक पुनरुद्धार का यत्न नहीं किया गया तो वह साम्यवादी हो जायेगा। 5 जून, 1947 को हार्वर्ड विश्वविद्यालय में अपने सुप्रसिद्ध भाषण में उसने यूरोप के आर्थिक पुनर्निर्माण के कार्यक्रम को सर्वप्रथम प्रस्तुत किया। इसी आधार पर 'भुखमरी, गरीबी, निराशा एवं अव्यवस्था' का सामना करने के लिए मार्शल योजना का निर्माण हुआ। इसके अन्तर्गत संयुक्त राज्य अमरीका ने चार-वर्ष की अवधि (1948-52) के लिए पश्चिमी यूरोप के सोलह देशों में लगभग ग्यारह मिलियन डालर की सहायता दी। यूरोप साम्यवाद की चपेट में आने से बच गया, लेकिन यूरोप पर संयुक्त राज्य अमरीका का प्रभुत्व अवश्य कायम हो गया। इस योजना के आधार पर अमरीका यूरोप के देशों को हर तरह का आदेश देने लगा और सहायता पाने के लिए यह शर्त लगायी गयी कि सहायता पाने वाले देश अपनी सरकारों में कम्युनिस्टों को जगह नहीं देंगे। फ्रांस और इटली को मार्शल योजना के अन्तर्गत सहायता पाने के लिए अपने देश की सरकारों से साम्यवादी तत्वों को निकालना पड़ा।

4. **यूरोपियन आर्थिक सहयोग का संगठन** (The Organization for European Economic Co-operation—OEEC)—1948 में यूरोपियन आर्थिक सहयोग का संगठन पश्चिमी यूरोप के आर्थिक एकीकरण की दिशा में सर्वाधिक ठोस प्रयास था। इसका निर्माण मार्शल योजना के अन्तर्गत यूरोपियन राष्ट्रों को मिलने वाली सहायता को व्यवहार में लाने के सम्बन्ध में किया गया था। इसका मुख्य सम्बन्ध यूरोप के सामान्य व्यवहार, आर्थिक विकास तथा अन्तःयूरोपियन

वित्त व्यवस्था से है। पश्चिमी यूरोप के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने में इस संगठन की मुख्य भूमिका रही है। ट्रीस्टे तथा जर्मन फैडरल रिपब्लिक सहित 18 यूरोपियन राज्य इसके सदस्य हैं। अमरीका और कनाडा इसके 'सह-सदस्य' हैं। इसका प्रधान कार्यालय पेरिस में है।

5. आर्थिक सहयोग और विकास संगठन (Organization for Economic Cooperation and Development—OECD)—1961 में 'यूरोपियन आर्थिक सहयोग संगठन' के स्थान पर एक नयी संस्था अस्तित्व में आयी जिसे 'आर्थिक सहयोग और विकास संगठन' कहा जाता है। यह नाम परिवर्तन इसकी स्थिति और कार्यों में परिवर्तन का परिचायक है। अब अमरीका और कनाडा इसके पूर्ण सदस्य मान लिये गये जिससे यह विशुद्ध यूरोपियन संगठन नहीं रहा। इसके बीस सदस्य देश निम्नलिखित हैं—आस्ट्रिया, वेल्जियम, कनाडा, डेनमार्क, फ्रांस, जर्मनी, ग्रीस, आइसलैण्ड, आयरिश गणराज्य, इटली, लक्जमबर्ग, नीदरलैण्ड नार्वे, पुर्तगाल, स्पेन, स्वीडन, स्विट्जरलैण्ड, टर्की, ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमरीका। फिनलैण्ड, यूगोस्लाविया तथा जापान इसके विशेष कार्यों में भाग लेते हैं। इस संगठन के प्रमुख उद्देश्य हैं : (i) सदस्य देशों में उच्चतम आर्थिक विकास तथा रोजगार की व्यवस्था करना, जीवनयापन के स्तर को उन्नत करना, (ii) आर्थिक स्थिरता को बनाये रखते हुए विश्व की अर्थ-व्यवस्था के विकास में सहायक होना, (iii) सदस्य देशों में तथा अन्य देशों में स्वस्थ आर्थिक विकास और विस्तार में सहयोग देना, (iv) विश्व व्यापार के ऐसे विस्तार में सहयोग देना, जो बहु-पक्षीय हो तथा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के अनुसार तथा कोई विशेष भेदभाव न करने वाला हो। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आर्थिक नीति समिति, विकास सहायता समिति तथा व्यापार समिति का निर्माण किया गया। दिसम्बर 1961 की इसकी पहली परिषद् में यह लक्ष्य निर्धारित किया गया कि इसके 20 सदस्य देशों में वास्तविक कुल राष्ट्रीय उत्पादन में 1960-70 के दस वर्षों में पचास प्रतिशत वृद्धि की जाये।

6. यूरोपियन अदायगी संघ (The European Payments Union)—इस संस्था का निर्माण सितम्बर 1950 में हुआ। इसका प्रयोजन अन्तःयूरोपियन व्यापार को सुविधाजनक बनाना है। यह अपने सदस्य राज्यों में एक देश की कमाई को दूसरे देश में उसका ऋण अदा करने के लिए सुलभ बनाने की व्यवस्था करता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और अदायगियों के भुगतान में बड़ी सुविधा हो गयी।

7. यूरोप की परिषद् (Council of Europe)—यूरोपियन परिषद् की स्थापना 5 मई, 1949 को यूरोपियन एकता के आन्दोलन के परिणामस्वरूप हुई। इसका मुख्य कार्यालय स्ट्रेवबर्ग में है। इसके सदस्य शुरू में तीन बेनीलक्स देश तथा फ्रांस, आइसलैण्ड, इटली, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क और ग्रेट ब्रिटेन थे। बाद में ग्रीस, टर्की, आयरलैण्ड, जर्मन फेडरल रिपब्लिक तथा सार प्रदेश भी इसके सदस्य बन गये। इस संगठन के दो अंग हैं—विमर्श सभा (Consultative Assembly) तथा मन्त्रि समिति (Committee of Ministers)। विमर्श सभा के सदस्यों की संख्या 125 है और इसके चुनाव का ढंग प्रत्येक देश की सरकार अपनी इच्छा से निश्चित करती है। प्रायः ये सदस्य विभिन्न देशों की संसदों से इनमें विद्यमान पार्टियों के प्रतिनिधियों की आनुपातिक संख्या में चुने जाते हैं। विभिन्न देशों के प्रतिनिधियों की संख्या अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की भाँति समान नहीं है किन्तु देशों के महत्व को देखते हुए निश्चित की गयी है। फ्रांस, इटली, ब्रिटेन, जर्मन फेडरल गणराज्य में से प्रत्येक के 18 प्रतिनिधि होते हैं और सार के तीन।

इसके संविधान में इसका उद्देश्य बताया गया है कि यह "आर्थिक और सामाजिक प्रगति के लिए अपनी सामान्य विरासत के आदर्शों और सिद्धान्तों में पहले से अधिक एकता लाने का प्रयत्न करेगी।" यह प्रतिरक्षा के विषयों के अतिरिक्त यूरोप से सम्बन्ध रखने वाले सभी आर्थिक और

सामाजिक प्रश्नों पर विचार करती है। इसके द्वारा विचार के बाद केवल मन्त्रि समिति को सिफारिशें करने के अधिकार हैं, मन्त्रि समिति के सदस्यों को इन्हें अपनी सरकारों तक पहुँचाने या न पहुँचाने की पूरी स्वतन्त्रता है। इस समिति का निर्माण विभिन्न देशों के मन्त्रि-मण्डलों के एक सदस्य—प्राय: विदेश मन्त्री—से होता है। अभी तक इस विमर्श सभा और मन्त्रि समिति में संघर्ष होता रहा है। ब्रिटेन ने इस संघ के निर्माण का विरोध किया था, फिर भी यह परिषद् यूरोप की एकता को सुदृढ़ करने में बहुत सहायक है।

8. **यूरोपियन कोयला तथा इस्पात समुदाय** (European Coal and Steel Community, ECSC)—फ्रेंच विदेश मन्त्री शूमैन द्वारा प्रस्तुत योजना के आधार पर इस संगठन की स्थापना 10 अगस्त, 1952 को हुई। मई 1950 में शूमैन ने एक प्रस्ताव रखा था जिसमें यह कहा गया कि फ्रांस और जर्मनी अपने कोयले और इस्पात के उत्पादन को किसी एक संगठन को सुपुर्द कर दें जिसमें अन्य देशों को भी सम्मिलित होने की स्वतन्त्रता हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 6 राज्यों ने 20 जून, 1950 को बातचीत करना शुरू कर दिया। 18 अप्रैल, 1951 को उन्होंने इस आशय की सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। यह सन्धि 25 जुलाई, 1952 को कार्यान्वित हुई। इस समुदाय की कार्यपालिका शक्तियाँ एक उच्च सत्ता में सन्निहित की गयी हैं। इस उच्च सत्ता ने 10 अगस्त, 1952 से काम करना प्रारम्भ किया। उच्च सत्ता की रचना 9 सदस्यों द्वारा होती है। उच्च सत्ता के अतिरिक्त इसमें एक मन्त्रिपरिषद् की भी व्यवस्था की गयी है। इस परिषद् का काम यह देखना है कि कहीं उच्च सत्ता के निर्णय सदस्य राज्यों की आर्थिक नीतियों के प्रतिकूल तो नहीं हैं। इन दो अंगों के अलावा समुदाय की एक असेम्बली भी होती है जिसकी सदस्य संख्या 78 होती है और जिसमें सदस्य राज्यों की संसदों के प्रतिनिधियों को स्थान दिया जाता है। इसका उद्देश्य कोयले और इस्पात के लिए एक मण्डी का बनाना, इसके सम्बन्ध में आयात और निर्यात करों को तथा राजकीय सहायता को बन्द करना, व्यापारिक बाधाओं और एकाधिकारवादी तथा भेदभाव करने वाले मूल्यों को हटाना है। इस संगठन के सम्बन्ध में यह दावा किया गया है कि इसने फ्रांस और जर्मनी की आर्थिक व्यवस्था का एकीकरण करके उनकी शताब्दियों पुरानी शत्रुता का उन्मूलन कर दिया है। पेडलफोर्ड के शब्दों में 10 फरवरी, 1953 का दिन जब रूर क्षेत्र का कोयला जर्मनी से फ्रांस की सीमाओं से लोरैन की इस्पात मिलों में बिना चुंगी के जाने लगा, एक अविस्मरणीय और यूरोपीय प्रादेशिक आर्थिक सहयोग का एक अभूतपूर्व दिवस कहा जायेगा। इस समुदाय ने यूरोप के आर्थिक एकीकरण में विशेष भाग लिया है तथा इस्पात के उत्पादन में विशेष सफलता प्राप्त की है। 1952 में उत्पादन 420 लाख मीट्रिक टन तथा 1962 में यह 728 लाख टन हो गया था। ब्रिटेन ने भी इसकी सदस्यता के लिए 1962 में आवेदन-पत्र दिया था परन्तु फ्रांस के आग्रह के कारण इसे रद्द कर दिया गया था।

9. **यूरोपियन आणविक शक्ति समुदाय** (European Atomic Energy Community, Euratom)—इस समुदाय का निर्माण 25 मार्च, 1957 में रोम में हुई सन्धि के अनुसार 1958 में किया गया था। इसका उद्देश्य यूरोप के छ: राज्यों, बेल्जियम, फ्रांस, संघीय जर्मनी, इटली, लक्जमबर्ग तथा नीदरलैण्ड में शान्तिपूर्ण प्रयोजनों एवं आणविक शक्ति के विकास के लिए सामान्य प्रयत्न करना है। जुलाई 1962 में ग्रेट ब्रिटेन ने इसका सदस्य बनने का आवेदन-पत्र दिया था किन्तु इसे अस्वीकार कर दिया था।

10. **यूरोपियन मुक्त व्यापार संघ** (European Free Trade Association)—यूरोपियन साझा बाजार से ब्रिटेन तथा अन्य देशों को काफी हानि पहुँची। अत: इसके के दुष्प्रभावों को दूर करने के लिए ग्रेट ब्रिटेन ने इसका निर्माण किया। इसके सदस्य सात राज्य थे—ब्रिटेन, आस्ट्रिया, डेनमार्क, नार्वे, पुर्तगाल, स्वीडन तथा स्विट्जरलैण्ड। इस संघ का आरम्भ 3 मई, 1960 को

हुआ। 2 मार्च, 1960 को फिनलैण्ड इसका साथी सदस्य बना। इस संघ के अधिकांश सदस्य यूरोप के बाहरी छोर पर अवस्थित हैं, अतः यूरोपियन साझा मण्डी के आन्तरिक छः (Inner Six) देशों की तुलना में इन्हें बाह्य सात (Outer Seven) भी कहा जाता है। यह आन्तरिक छः के संगठन की अपेक्षा शिथिल आर्थिक संगठन है। इसमें सदस्य राज्यों द्वारा तटकर शनैः शनैः घटाने की व्यवस्था है। 1 जनवरी, 1963 तक इन देशों ने अपने तटकरों में 50 प्रतिशत की कमी की थी, सदस्य देशों से भिन्न देशों के माल पर इन्हें चुंगी लगाने का अधिकार है। ब्रिटेन को राष्ट्रमण्डल के देशों को चुंगी में छूट देने तथा विशेष व्यवहार करने की पूरी स्वतन्त्रता थी। सन् 1973 में ब्रिटेन तथा डेनमार्क इससे अलग हो गये।

11. **यूरोपीय आर्थिक समुदाय (European Economic Community)**—यूरोपीय आर्थिक समुदाय अनेक नामों से जाना जाता है जैसे साझा बाजार, यूरोपीय साझा बाजार आदि। इसको यूरोपीय आर्थिक समुदाय कहना ही अधिक उचित होगा क्योंकि यही इसका अधिकृत शीर्षक है। आर्थिक समुदाय आर्थिक सहयोग की दृष्टि से केवल महत्वपूर्ण ही नहीं है, वरन् ऐतिहासिक दृष्टि से एक नये मोड़ का सूचक है।

1 जनवरी, 1958 को एक सन्धि द्वारा यूरोपीय आर्थिक समुदाय की स्थापना हुई। यह एक महत्वपूर्ण प्रयास है जिसके द्वारा इतिहास के क्रम को संशोधित करने की चेष्टा की गयी है। समुदाय का लक्ष्य यूरोप की तीव्र गति से ह्रासमान प्रवृत्ति को रोककर यूरोपीय पुनर्जागरण के लिए एक ठोस और सुदृढ़ आधार प्रस्तुत करना है। इसकी स्थापना को प्रभावित करने वाले अनेक कारण हैं। सबसे पहले इसके निर्माण का आधार राजनीतिक है। यह एक प्रकार से राजनीतिक चाल है। जिसका कि जन्म शीत-युद्ध में हुआ और जिसका उद्देश्य पश्चिमी देशों के एक शक्तिशाली राजनीतिक एवं सैन्य संगठन को रूस के सम्मुख खड़ा करना था और साथ ही साथ पश्चिमी जर्मनी को पश्चिमी यूरोप के देशों के इतना निकट करना था कि रूस के साथ किसी भी प्रकार का समझौता सम्भव न हो सके। आर्थिक समुदाय की राजनीतिक प्रकृति पर समुदाय के विभिन्न संगठनों से प्रकाश पड़ता है। जून 1985 में समुदाय की असेम्बली में यह स्पष्ट तौर पर स्वीकार किया गया कि इसका निर्माण एक राजनीतिक विचार और अवधारणा के आधार पर हुआ है।

रोम की सन्धि के राजनीतिक आधार और प्रभाव के होते हुए भी कुछ लोग यह अनुभव करते हैं कि आर्थिक समुदाय शुद्ध आर्थिक ही है। इसका एक उद्देश्य आर्थिक संघ का निर्माण है जिसके द्वारा सभी सदस्य देशों में रहन-सहन के स्तर में वृद्धि की जा सकती है। "इस यूरोपीय समुदाय की यह महत्वाकांक्षा है कि 1992 तक पूरा पश्चिमी यूरोप एक एकात्मक बाजार के रूप में विकसित होगा। राष्ट्रों की वर्तमान सीमाओं को आर्थिक विपणन की दृष्टि से समाप्त कर दिया जायेगा। संयुक्त राज्य अमरीका की तर्ज पर यूरोपीय साझा बाजार को एक सीमा मुक्त एकात्मक बाजार के रूप में परिणत कर दिया जायेगा।" कुछ लोगों का विचार है कि इससे आर्थिक समुदाय के विषय में सही दृष्टिकोण नहीं बन पाता है। डैन्यू ने सही ही लिखा है कि सामान्य दृष्टि से यह एक आर्थिक सन्धि है लेकिन इसका राजनीतिक पहलू अधिक प्रभावशाली है। हेलिस्टाइन तो इसकी तुलना तीन अवस्था वाले राकेट से करते हैं जिसमें कि पहली अवस्था तटकर संघ, दूसरी अवस्था आर्थिक संघ और तीसरी अवस्था राजनीतिक संघ भी है। यह कहना तर्कसंगत ही होगा कि राजनीतिक आधार तथा आर्थिक लाभों के कारण समुदाय की स्थापना को प्रोत्साहन मिला।

उपर्युक्त कारणों को आर्थिक समुदाय की स्थापना की दृष्टि से प्रोत्साहनकारक कह सकते हैं। लेकिन इनके अतिरिक्त कुछ अन्य कारक भी थे। छः देशों की सामूहिक सीमा और समान

आधार पर आर्थिक और सामाजिक विकास हुआ है। राजनीतिक सिद्धान्तों की समानता एक अन्य सहायक कारक था, इसके अलावा अनेक भावनाएँ और उद्देश्य थे। यूरोप की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है और राष्ट्रीय आधार पर यूरोपीय सभ्यता का पुनर्जागरण सम्भव नहीं है। राजनीतिक स्पर्द्धा से न केवल राष्ट्रीय संकट आते हैं वरन् यह यूरोपीय सभ्यता के लिए भी घातक सिद्ध होती है। इस प्रकार की कुछ और भी बातें थीं जिनके कारण आर्थिक समुदाय की स्थापना को बल मिला।

24 मार्च, 1957 को यूरोपीय आर्थिक समुदाय की सन्धि पर रोम में हस्ताक्षर हुए थे और 1 जनवरी, 1958 से यह सन्धि लागू की गयी। आर्थिक समुदाय का क्षेत्रफल लगभग 45·77 हजार वर्गमील और जनसंख्या, 16·76 करोड़ है तथा कुल राष्ट्रीय आय 16 41 करोड़ डालर है। इसके सदस्य फ्रांस, जर्मनी, इटली, बेल्जियम, नीदरलैण्ड तथा लक्जमबर्ग हैं।

सन्धि के अनुच्छेद 2 में इसके उद्देश्य निहित हैं। समुदाय के उद्देश्य एक साझा बाजार के निर्माण के माध्यम से तथा आर्थिक नीतियों में समानता के द्वारा पूरे समुदाय में आर्थिक क्रियाओं का समरस विकास, सतत् और सन्तुलित प्रसार, बढ़ता हुआ स्थायित्व तथा रहन-सहन के स्तर में तीव्र वृद्धि और सदस्य देशों में निकट के सम्बन्ध स्थापित करना है। 'दि फैक्ट्स' के अनुसार समुदाय के निर्माण के उद्देश्य निम्न हैं—(i) उन सभी विवादों को जिन्होंने यूरोप को विभाजित कर रखा था सदैव के लिए समाप्त कर देना। (ii) यूरोप की प्रतिष्ठा को स्थापित करने और आर्थिक शक्ति तथा सांस्कृतिक परम्परा के अनुकूल भूमिका अदा करना। (iii) संयुक्त कार्यवाही के द्वारा यूरोप के लोगों के कार्य करने की स्थिति और रहन-सहन के स्तर में सुधार। (iv) अव्यावहारिक और पुराने व्यवधानों को जिनके फलस्वरूप यूरोप छोटे-छोटे बाजारों में विभाजित था, समाप्त करना। (v) तकनीकी विकास के साथ बड़े पैमाने के उत्पादन को अधिकांश उद्योगों में लागू करना। (vi) एक भावी यूरोप के संयुक्त राष्ट्रों का आधार प्रस्तुत करना।

सन्धि के अनुच्छेद 3 में समुदाय की क्रियाओं का वर्णन है। इसके अनुसार सन्धि की शर्तों और समयावधि के अन्तर्गत निम्न प्रमुख कार्य होंगे—(i) सदस्य देशों में वस्तुओं के आयात एवं निर्यात से तटकर शुल्क और मात्रात्मक प्रतिबन्धों को समाप्त करना। इनके अतिरिक्त अन्य व्यवधानों को भी समाप्त करना। (ii) गैर-सदस्यों के प्रति एक सामान्य तटकर तथा एक सामान्य व्यापारिक नीति अपनाना। (iii) सदस्य देशों के अन्तर्गत व्यक्ति, सेवा, एवं पूंजी की गतिशीलता सम्बन्धी कठिनाई और व्यवधानों को समाप्त करना। (iv) एक सामान्य कृषि नीति को अपनाना। (v) एक सामान्य यातायात नीति को अपनाना। (vi) एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना जिसके कारण साझा बाजार में स्पर्द्धा का स्वरूप विकृत न हो। (vii) उन व्यवस्थाओं को अपनाना जिनके द्वारा सदस्यों की आर्थिक नीतियों में समन्वय हो सके तथा भुगतान असन्तुलन को दूर किया जा सके।

सन्धि के अनुच्छेद 4 के अनुसार समुदाय के निम्न संगठन हैं—महासभा, परिषद्, आयोग तथा न्याय सभा। महासभा के सदस्य समुदाय के सदस्यों के प्रतिनिधि हैं। इसमें कोयला और इस्पात समुदाय, परमाणु शक्ति समुदाय तथा आर्थिक समुदाय के प्रतिनिधि सम्मिलित हैं। परिषद् में सभी सदस्य देशों के एक-एक प्रतिनिधि रहते हैं। प्रत्येक सदस्य सरकार अपने प्रतिनिधि की नियुक्ति करती है। यह समुदाय का मुख्य कार्यकारी अंग है और सदस्य देशों की आर्थिक नीतियों में समन्वय करता है। आयोग समुदाय का सबसे महत्वपूर्ण प्रशासकीय अंग है। न्याय सभा के सात सदस्य होते हैं जो कि सन्धि की व्याख्या करती है।

1 जनवरी, 1953 से डेनमार्क, ग्रीस, आयरलैण्ड तथा इंगलैण्ड भी आर्थिक समुदाय के सदस्य हो गये। अब इसका क्षेत्रफल 5 लाख 91 हजार वर्गमील हो गया है। कुल जनसंख्या बढ़कर 22·3 करोड़ हो गयी है, जो कि रूस या अमरीका की जनसंख्या से अधिक है। विश्व का यह एक प्रमुख आयात तथा निर्यात करने वाला समुदाय है। यद्यपि यह 'सुपर पावर' नहीं है, फिर भी इसकी आर्थिक शक्ति के कारण इसका प्रभाव बहुत है।

निम्न तालिका से स्पष्ट है कि आर्थिक समुदाय के अन्तर्गत प्रति व्यक्ति आय में बहुत वृद्धि हुई है। सबसे अधिक वृद्धि नीदरलैण्ड में, फिर इटली तथा जर्मनी का नम्बर है। जर्मनी की वृद्धि उल्लेखनीय है, क्योंकि जर्मनी विश्व के प्रमुख औद्योगिक देशों में है। वास्तविक मजदूरी की वृद्धि भी महत्वपूर्ण है।

देश	प्रति व्यक्ति आय डालर में 1958	1972	वास्तविक मजदूरी प्रतिशत वृद्धि 1958–1972
वेल्जियम	1,154	3,351	93%
फ्रांस	1,196	3,489	109%
जर्मनी	1,096	3,840	79%
इटली	612	2,008	121%
लक्जमबर्ग	1,302	3,225	75%
नीदरलैण्ड	845	3,193	106%

1948 में आर्थिक समुदाय के देशों का विश्व व्यापार में विशेष महत्वपूर्ण स्थान नहीं था। विश्व आयात तथा निर्यात में इसका प्रतिशत केवल 17·5 तथा 12·1 था। समुदाय की स्थापना के समय यह बढ़कर 22·3 तथा 23·9 हो गया था। समुदाय की स्थापना के साथ ही विदेशी व्यापार में बहुत तेजी से वृद्धि हुई। इस वृद्धि का अनुमान इसी से हो सकता है कि विश्व व्यापार में समुदाय का प्रतिशत बढ़ता ही गया। 1965 में समुदाय के आयात तथा निर्यात 1958 की तुलना में दुगुने से अधिक हो गये थे। विश्व के आयात तथा निर्यात में क्रमशः इनका प्रतिशत 28 तथा 29 था। 1968 के बाद के आंकड़ों में नये सदस्यो का व्यापार भी सम्मिलित है। अब विश्व व्यापार में आर्थिक समुदाय का भाग 37 प्रतिशत है। इस प्रकार आर्थिक समुदाय विश्व व्यापार में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह उल्लेखनीय है कि 1948 में आर्थिक समुदाय का कुल व्यापार का प्रतिशत विकासोन्मुख देशों से कम था और अब इनका व्यापार विकासोन्मुख देशों से कहीं अधिक हो चुका है।

आर्थिक समुदाय का व्यापार तथा विश्व व्यापार में प्रतिशत

वर्ष	आयात	निर्यात
1948	1,047 (17·5)	650 (12 1)
1958	2,229 (22 3)	2,277 (23·9)
1960	2,959 (24·8)	2,973 (26·3)
1965	4,900 (28·1)	4,791 (29·0)
1968	8,529 (38·0)	8,286 (39·0)
1970	11,627 (39·9)	11,238 (40 0)
1975	29,921 (37·0)	29,656 (37·5)

आर्थिक समुदाय के सदस्यों के मध्य आन्तरिक व्यापार कर-मुक्त हो गया है। इसके अतिरिक्त आर्थिक समुदाय में श्रम, पूंजी एवं सेवाओं की आन्तरिक गतिशीलता में काफी वृद्धि हुई है। समुदाय का कोई भी व्यक्ति किसी भी देश में बिना किसी भेदभाव के रोजगार प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार पूंजी प्रवाह पर से प्रतिबन्ध हटा लिये गये हैं।

सन् 1983 में यूरोपीय आर्थिक समुदाय की स्थापना को 25 वर्ष पूरे हुए। इन 25 वर्षों में समुदाय की मुख्य सफलताओं की चर्चा करते हुए साझा बाजार आयोग के अध्यक्ष गैस्टन थोर्न ने कहा—"पहली सफलता तो यही है कि फ्रांस और जर्मनी के बीच वास्तव में फिर मैत्री स्थापित हो गयी है। आज के पश्चिम यूरोप मे न केवल युद्ध जैसी कोई बात ही उठती, अपितु समुदाय के सदस्य देशों के बीच किसी युद्ध की-कल्पना भी कठिन है। दूसरी सफलता यह है कि छिन्न-विच्छिन्न यूरोप में आज हम एक अपेक्षाकृत एकीकृत क्षेत्र, एक ऐसी संयुक्त मण्डी बना पाये हैं जिसमें लगभग 30 करोड़ व्यक्ति रहते हैं। इन्हें व्यापार में एकाधिकारवाद विरोधी नीति का लाभ भी मिल रहा है। हमने कृषि और विकास के लिए समान नीतियाँ निर्धारित की हैं। हमने अन्य क्षेत्रों में भी समन्वित नीतियों और विनियोजित कार्यक्रमों की दिशा में उल्लेखनीय प्रगति की है। इन बुनियादी कामों के अलावा अब हमने संसार के अन्य देशों के प्रति अपनी साझा व्यापार नीति अपनाने और अपने लिए एक यूरो-मुद्रा-प्रणाली शुरू करने के क्षेत्र में भी कदम बढ़ाये हैं। राजनीतिक सहयोग के क्षेत्र में भी पिछले दस-बारह वर्षों में विदेश नीति सहित सभी प्रकार के मामलों में सदस्य देशों की सरकारों के बीच पहले की अपेक्षा अधिक निकट सहयोग रहा है। हमें यह बात भी नहीं भुलानी चाहिए कि अन्य देश भी यूरोपीय आर्थिक समुदाय के प्रति आकृष्ट होते जा रहे हैं। हमारा संगठन एक तरह से लोकतन्त्रीय आदेश का प्रतीक बन गया है।"[1]

यूरोपीय आर्थिक समुदाय से उम्मीद थी कि यह यूरोप के देशों के बीच एकता स्थापित कर सकेगा, किन्तु यह लक्ष्य पूरा न हो सकने के अनेक कारण हैं? इसका आधारभूत कारण तो यही है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए समुदाय संस्थापक सदस्यों की सी कल्पना-शक्ति या फिर, संकल्प का आहार रहा है। मोने और राबर्ट शूमन जैसे व्यक्तियों का विचार यही था कि शुरूआत आर्थिक एकता से की जाये और इसके बाद राजनीतिक एकता को बढ़ावा दिया जाये। दिक्कत यही है कि यह प्रक्रिया अपने आप तो शुरू हो नहीं सकती। "इसके लिए" गैस्टन थोर्न के शब्दों में "राजनीतिक इच्छा-शक्ति का संचार होगा।" "समुदाय इन दिनों अभूतपूर्व आर्थिक संकट का सामना कर रहा है। ऐसे में एकता के आन्दोलन में बाधा इसलिए आती है कि सदस्य देश केवल अपने-अपने व्यापारिक हितों पर ही जोर देते हैं। सभी सदस्य यही पूछते हैं कि 'इससे मुझे क्या लाभ होगा?' अतः हम राजनीतिक एकता का उद्देश्य भुलाकर समुदाय को एक तरह का अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य संघ भर बना देते हैं तो यूरोपीय एकता के विचार मात्र के लिए खतरा पैदा हो जायेगा।

शुरू में समुदाय के सदस्यों की संख्या छः थी, तब भी नीतियों में तालमेल बैठाना काफी कठिन था। सदस्य संख्या के दस हो जाने पर यह काम और कठिन हो गया तथा बारह सदस्य (पुर्तगाल और स्पेन) हो जाने पर यह कार्य और भी कठिनतम हो गया है।[2]

अभी तक यूरोपीय समुदाय अपने आर्थिक विकास में जुटा हुआ है। उसे निश्चित परिणाम

---

1 सर्वोत्तम, मार्च 1983, पृ० 46-47.

2 स्पेन व पुर्तगाल यूरोपीय साझा बाजार मे सम्मिलित हो गये हैं। 12 जून, 1985 को दोनों देशों ने सन्धि पर हस्ताक्षर किये।

प्राप्त हुए भी हैं। यह अनुमान लगाया गया कि 1992 तक यूरोपीय समुदाय के बजट में 21 प्रतिशत तक अभिवृद्धि होगी। अनुमानतः 1992 का बजट 53 बिलियन यूरोपीय मुद्रा का होगा। पिछड़े देशों को यूरोप की मुख्यधारा में सम स्तर पर लाने के लिए व्यय बढ़ाया जायेगा। वर्ष 1988 में यह बढ़ोतरी आठ अरब यूरोपीय मुद्रा हुई। यह अतिरिक्त बढ़ोतरी क्रमशः वृद्धिगत होती हुई 1992 में 13 बिलियन यूरोपीय मुद्रा हो जायेगी। लेकिन यूरोप में एकता को प्रभावी बनाने के प्रयास नियोजित ढंग से हो रहे हैं। इन प्रयासों की दिशा में ही यूरोपीय संसद का गठन एक महत्वपूर्ण कदम है। इस संसद के लिए प्रत्यक्ष मतदान द्वारा चुनाव हुआ। हालांकि फिलहाल यूरोपीय संसद अधिक शक्तिशाली नहीं, लेकिन उसकी भूमिका को अधिक महत्वपूर्ण बनाने के प्रयास हो रहे हैं। दिनमान संवाददाता ने ब्रुसेल्स में यूरोपीय समुदाय के मुख्यालय के कुछ अधिकारियों से बातचीत की जिससे उनकी भविष्य की सोच इस प्रकार प्रतिबिम्बित हुई.........“इसमें हर्ज क्या है कि एक देश का राष्ट्रपति हो तो दूसरे देश का प्रधानमन्त्री और तीसरे का विदेश मन्त्री। और इस प्रकार सारा यूरोप एक राष्ट्र हो जाये। इससे उनकी राजनीतिक स्थिति दृढ़ होगी....यूरोपीय संसद को ही सभी देशों के विदेश व्यापार, प्रतिरक्षा, संचार, वित्त नीतियों के निर्धारण की छूट होनी चाहिए....इस तरह का यूरोप एक निश्चित शक्ति होगा और बड़ी शक्तियों का मुकाबला करने में अधिक समर्थ होगा....सभी देश एक महासंघ का अंग हों और वे अपनी अन्दरूनी और स्थानीय नीतियों के लिए ही जिम्मेदार हों.......वास्तव में आज यूरोपीय देशों पर जिस तरह के अंकुश अमरीका से अधिकतर) लगे हुए हैं उससे उनके विकास में बाधा तो पड़ती ही है, इसके अलावा सोवियत संघ और उसके नक्षत्र पूर्व यूरोपीय देश उन पर सदैव सतर्कतापूर्वक नजर रखे रहते हैं। अमरीका हमसे काफी दूर है। उसके पहुँचते-पहुँचते काफी तबाही हो चुकी होगी। कुछ लोग यूरोप में अमरीका द्वारा स्थापित अड्डों के भी विरोधी हैं। उनके अनुसार अड्डों की चौकसी करने वाले सोवियत संघ या पूर्व यूरोपीय देशों पर ही नजर नहीं रखते बल्कि हमारी भीतरी गतिविधियों का भी अवलोकन करते हैं....इस प्रकार दोहरी निगरानी हमारे देश के विकास और हमारी स्वाधीनता में अवरोधक है।”[1]

यूरोपीय समुदाय ने यह संकल्प कर रखा है कि सन् 1992 तक यूरोप एक राष्ट्र सीमाओं से मुक्त एकात्मक बाजार अर्थात् आर्थिक व मौद्रिक संघ बन जायेगा। ‘यूरोपीय समुदाय’ के देशों की यह महत्वाकांक्षा है कि वे सन् 1992 तक संयुक्त राज्य अमरीका के समान संयुक्त राज्य यूरोप जैसी किसी इकाई का निर्माण कर लें। फ्रांस और जर्मनी इस मत का प्रबल समर्थन कर रहे हैं जबकि श्रीमती थैचर का मत है कि “साझे बाजार को एकात्मक बाजार में बदलकर हम प्रशासनिक केन्द्रीकरण की ओर बढ़ रहे हैं।”

यूरोपियन आर्थिक समुदाय में इस तरह की सोच निस्सन्देह एक तीसरी शक्ति के आविर्भाव की सूचक है। समुदाय में पहले छः देश थे, बाद में नौ और दस हुए। पुर्तगाल और स्पेन के लिये जाने से आज 12 सदस्य हो गये हैं। इससे समुदाय की शक्ति में अभूतपूर्व वृद्धि होगी। क्या अमरीका जो पश्चिमी यूरोप के मित्र देशों में है और अपने नाटो की धुरी द्वारा इन पर नजर रखता है, इस तरह यूरोपीय शक्ति को सहन कर पायेगा ? लेकिन अपनी विशिष्ट स्थिति प्राप्त कर लेने के कारण संयुक्त यूरोप अमरीका और सोवियत संघ से समान स्तर पर समझौता और सौदा करने में समर्थ तो होगा ही, साथ ही तीसरी शक्ति के कारण विश्व-सन्तुलन भी स्थापित करने में सक्षम होगा।

---

1 दिनमान, 18-24 जनवरी, 1981, पृ० 34.

पश्चिमी यूरोप की सैनिक सुरक्षा
(MILITARY SECURITY OF THE WESTERN EUROPE)

पश्चिमी यूरोप की सैनिक सुरक्षा की समस्या अत्यन्त पेचीदी रही है। पश्चिमी यूरोपीय देशों की सुरक्षा का आधार सोवियत संघ और उनके मध्य अमरीकी फौजों की उपस्थिति एवं अमरीकी आश्वासन रहे हैं। फ्रांसीसियों का यह मानना है कि सोवियत आक्रमण के समय अमरीकी आश्वासन अविश्वसनीय सिद्ध हो सकते हैं, इसलिए यूरोपियन सुरक्षा के लिए यूरोपियन देशों को स्वयं आत्म-निर्भर होना चाहिए। शीत-युद्ध के आतंक ने पश्चिमी यूरोप के देशों को एकीकृत सुरक्षात्मक प्रयत्नों की आवश्यकता महसूस करायी थी, जिससे सैन्य सन्धियों का जाल-सा बिछ गया। द्वितीय महायुद्ध के बाद पश्चिमी यूरोप की सैनिक सुरक्षा की दृष्टि से निम्नलिखित संगठन प्रमुख रहे :

1. डंकर्क सन्धि (Dunkirk Treaty)—यह ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के मध्य 4 मार्च, 1947 को 50 वर्ष के लिए की गयी थी। यह जर्मन आक्रमण के विरुद्ध एक-दूसरे की सहायता करने की सैनिक सन्धि है। ब्रिटेन तथा फ्रांस ने यह निश्चय किया कि जर्मनी द्वारा आक्रमण करने पर, जर्मन द्वारा आक्रमण को प्रोत्साहित करने की नीति स्वीकार करने पर एवं संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा जर्मनी के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने पर दोनों देश एक-दूसरे को सैनिक तथा अन्य प्रकार की सहायता उपलब्ध करेंगे। इस सन्धि के द्वारा दोनों ही देशों ने एक-दूसरे को यह भी आश्वासन दिया है कि वे दोनों एक-दूसरे को निरन्तर आर्थिक सहयोग तथा सहायता करेंगे।

2. ब्रुसेल्स सन्धि (Brussels Treaty)—पश्चिमी यूरोप में सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था सुदृढ़ करने के लिए ग्रेट ब्रिटेन, बेल्जियम, फ्रांस, लक्जमबर्ग और हालैण्ड ने आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक सहयोग और सामूहिक सुरक्षा की इस सन्धि पर बेल्जियम नगर में हस्ताक्षर किये। इस सन्धि का मुख्य ध्येय नागरिकों के मूलभूत अधिकारों में विश्वास की पुष्टि, संयुक्त राष्ट्र के आदर्शों का पालन, जनतन्त्र एवं स्वतन्त्रता को स्थायी बनाये रखने की दिशा में प्रयत्न, आपसी आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्धों की स्थापना, यूरोपियन आर्थिक पुनर्गठन में सहयोग देना, आक्रामक युद्ध के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा में सहयोग देना है। इस सन्धि की चौथी धारा में यह कहा गया है कि इस पर हस्ताक्षर करने वालों में से किसी देश पर यदि यूरोप में सैनिक आक्रमण होता है, तो अन्य देश सं. रा. संघ के चार्टर की धारा 51 के अनुसार अपनी सम्पूर्ण सैनिक तथा अन्य सहायता आक्रमण का शिकार बने देश को प्रदान करेंगे।

ब्रुसेल्स सन्धि का सर्वोच्च अंग एक परामर्शदात्री परिषद् है जो पाँचों सदस्य राज्यों के विदेश मन्त्रियों से मिलकर बनी है। इस सुरक्षा संगठन के दो अंग हैं—उच्चतर निर्देशन तथा कमाण्ड संगठन। आर्थिक कार्यों के नियोजन के लिए एक वित्त तथा अर्थ समिति है। 1954 के पेरिस के समझौतों से पश्चिमी जर्मनी और इटली भी इसमें सम्मिलित हो गये और इस संगठन का नया नाम पश्चिमी यूरोपियन संघ (Western European Union) रखा गया।

3. नाटो (The North Atlantic Treaty Organization—NATO)[1]—नाटो संगठन का जन्म दो आशंकाओं से हुआ है—सोवियत साम्राज्यवाद का भय और सोवियत आक्रमण के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र संघ से पर्याप्त सुरक्षा न पा सकने की सम्भावना। पश्चिमी यूरोप में सोवियत संघ के आक्रमण को रोकने के उद्देश्य से 4 अप्रैल, 1949 को वाशिंगटन में उत्तर एटलाण्टिक समझौते पर हस्ताक्षर हुए। यह संगठन 1948 में बनाये गये बेनीलक्स नामक उस समझौते का

---

[1] नाटो तथा वारसाउ पैक्ट का विस्तार से विवेचन 'प्रादेशिक संगठन एवं सैनिक सन्धियाँ' शीर्षक अध्याय में किया गया है।

ही विकसित रूप था जिसमें बेल्जियम, नीदरलैण्ड्स व लक्जमबर्ग सम्मिलित थे तथा बाद में जिसमें इंगलैण्ड और फ्रांस भी सम्मिलित हो गये थे। आजकल नाटो गुट में कुल मिलाकर 16 देश हैं—बेल्जियम, कनाडा, डेनमार्क, फ्रांस, आइसलैण्ड, इटली, लक्जमबर्ग, हॉलैण्ड, नार्वे, पुर्तगाल, ब्रिटेन और अमरीका (ये 11 देश मूल गुट के सदस्य थे जिन्होंने 4 अप्रैल, 1949 को वाशिंगटन में एक समझौते पर हस्ताक्षर किये)। यूनान और तुर्की 1952 में शामिल हुए; 1974 में साइप्रस के मुद्दे को लेकर यूनान ने नाटो की सदस्यता छोड़ दी; लेकिन अक्टूबर 1980 में वह पुनः उसमें शामिल हो गया और पश्चिमी जर्मनी 1954 में शामिल हुआ। 30 मई, 1981 को स्पेन नाटो का 16वाँ सदस्य बन गया।

इस सन्धि संगठन के निम्नलिखित उद्देश्य हैं : (i) सोवियत संघ अथवा अन्य साम्यवादी देशों द्वारा आक्रमण किये जाने पर व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से अपनी रक्षा करना; (ii) संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुसार पारस्परिक विवादों का शान्तिपूर्ण ढंग से समाधान करना; (iii) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक नीति सम्बन्धी विवादों को दूर करना और पारस्परिक आर्थिक नीति को प्रोत्साहन देना।

इस सन्धि के पाँचवें अनुच्छेद में कहा गया है कि—'यूरोप या उत्तरी अमरीका पर या इनके किसी प्रदेश पर आक्रमण सभी सदस्य देशों पर आक्रमण समझा जायेगा और ऐसी स्थिति में सभी सदस्य राष्ट्र उत्तरी अटलाण्टिक क्षेत्र में शान्ति बनाये रखने के लिए आवश्यक समझी जाने वाली कार्यवाही करेंगे, जिसमें सशस्त्र बल का प्रयोग भी शामिल है। सन्धि के अनुच्छेद 3 के अनुसार—"इस सन्धि के उद्देश्यों को अधिक प्रभावी बनाने के लिए, सदस्य राष्ट्र निरन्तर आत्म-निर्भरता तथा पारस्परिक सहायता द्वारा, अलग-अलग और संयुक्त रूप से सशस्त्र आक्रमण का प्रतिरोध करने के उद्देश्य से अपनी व्यक्तिगत एवं सामूहिक क्षमता को बनाये रखने और उसे विकसित करने का प्रयत्न करेंगे।" इसकी अन्य धाराओं में सन्धिकर्ताओं ने आर्थिक सहयोग का (धारा 2) वर्णन किया है। यह सन्धि 20 वर्ष के लिए है (धारा 13) और इसमें बाद में अन्य राज्यों के सम्मिलित होने की व्यवस्था भी है (धारा 10)। इस सन्धि के दायित्व इतने स्पष्ट हैं कि आक्रमण की दशा में प्रत्येक सदस्य को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता है। नाटो के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य एक कड़ी के रूप में जुड़ गया है। सबसे महत्वपूर्ण संस्था तो सर्वोच्च परिषद् है जो इन समस्त राज्यों की ओर से स्वतन्त्र और अन्तिम निर्णय ले सकती है।

श्लाइचर के अनुसार नाटो सन्धि के तीन मनोवैज्ञानिक प्रभाव हैं—(i) प्रथम, यह सोवियत संघ की चेतावनी है कि यदि उसने इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले किसी देश पर आक्रमण किया तो सं. रा. अमरीका एक तटस्थ निरीक्षक मात्र नहीं रहेगा और तत्काल ही इन देशों को सहायता देगा। अमरीकी विदेश मन्त्री जॉन फास्टर डलेस ने नाटो संगठन में भाषण करते हुए, 11 दिसम्बर, 1956 को कहा था कि, "विश्व महान संकट में से गुजर रहा है। इस संगठन को अपनी पूरी सैन्य-शक्ति बनाये रखनी चाहिए और इसमें कोई सन्देह नहीं रहने देना चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर इसका उपयोग भी किया जा सकता है; तभी इस बात का पूरा विश्वास होगा कि लाल सेना के जो टैंक बुडापेस्ट में बढ़ आये हैं, वे पश्चिमी यूरोप में आगे नहीं बढ़ेंगे।" (ii) द्वितीय अपने मूल रूप में इस सन्धि द्वारा द्वितीय महायुद्ध से जीर्ण-शीर्ण यूरोपीय देशों को सैन्य-सुरक्षा का आश्वासन देकर अमरीका ने इन देशों को ऐसा सुरक्षा क्षेत्र प्रदान किया है जिसके नीचे वे निर्भय होकर अपने आर्थिक और सैनिक विकास कार्यक्रम को पूरा कर सकते हैं। (iii) तृतीय, इस सन्धि का एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव संयुक्त राज्य अमरीका के नागरिकों के लिए है। संयुक्त राज्य अमरीका ने दीर्घकाल तथा पृथक्करण की नीति का पालन किया है तथा पिछले दोनों

महायुद्धों में भी वह पहले तटस्थ रहा था। इस सन्धि के सक्रिय सदस्य होने के नाते अमरीका को एकदम युद्ध में भाग लेने के लिए उद्यत रहना होगा।[1]

नाटो संगठन की सर्वोच्च सत्ता कौंसिल में सन्निहित है। इसकी वर्ष में दो या तीन बार बैठकें होती हैं जिनमें प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का कोई उपयुक्त मन्त्री भाग लेता है। साधारणतः, भाग लेने वाले मन्त्रियों का सम्बन्ध या तो उनके देश के विदेश मन्त्रालय से होता है या रक्षा मन्त्रालय से। इसका प्रमुख कार्यालय पेरिस में स्थित है। इसके सभापति प्रतिवर्ष बारी-बारी से विभिन्न देशों के मन्त्री होते हैं। इस संगठन का महामन्त्री कौंसिल का उपाध्यक्ष भी होता है और वह स्थायी प्रतिनिधियों की बैठकों में सभापति का आसन ग्रहण करता है।

1952 में एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय सचिवालय की भी स्थापना की गयी जिसका एक मुख्य सचिव होता है। मुख्य सचिव की नियुक्ति कौंसिल के द्वारा होती है और वह अपने कार्यों के लिए इसी के प्रति उत्तरदायी है। ब्रिटेन के लार्ड इस्मे इस संगठन के प्रथम महामन्त्री हुए हैं।

पिछले तीन दशकों से नाटो पश्चिमी यूरोप की सुरक्षा व्यवस्था की एक सुदृढ़ इकाई रहा है पूर्वी यूरोप में वारसा सन्धि संगठन की उपस्थिति ने उसकी अहमियत को कभी कम नहीं होने दिया। पिछले कुछ वर्षों से यह अहसास जरूर हुआ था कि नाटो के कुछ सदस्य राष्ट्र अपना-अपना राग अलापने लगे हैं, अतः इसका कभी भी विघटन हो सकता है। परन्तु वास्तविकता यह रही है कि नाटो का तब तक विघटन नहीं किया जा सकता जब तक कि वारसा सन्धि संगठन बना हुआ है।

कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं है कि नाटो की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। प्रथम, इसने लगभग सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप को एक सुरक्षा संगठन के अन्तर्गत ला दिया है। द्वितीय, इसने अपने सदस्यों के मध्य अत्यधिक घनिष्ठ सहयोग की स्थापना की है। विश्व के इतिहास में पहली बार पश्चिमी यूरोप की शक्तियों ने अपनी कुछ सेनाओं को स्थायी रूप से एक अन्तर्राष्ट्रीय सैन्य संगठन की अधीनता में रखना स्वीकार किया है। राष्ट्रपति आइजनहावर के शब्दों में, "नाटो विश्व की शान्ति और सुरक्षा के प्रति अविच्छिन्न सोवियत साम्यवादी धमकी के विरुद्ध अमरीकन सुरक्षा मैत्रियों का एक मूलभूत और अपरिहार्य तत्व है।"

4. **यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय** (The European Defence Community—EDC)—यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय की स्थापना उस समय हुई जबकि अमरीका ने यह महसूस किया कि पश्चिमी यूरोप की सुरक्षा केवल उस समय तक सम्भव हो सकती है जबकि उसका संगठन पश्चिमी जर्मनी को केन्द्र बिन्दु मानकर किया जाये। इससे यह समस्या उठ खड़ी हुई कि विचाराधीन राजनीतिक तथा सैनिक व्यवस्था में पश्चिमी जर्मनी को किसी भी सैनिक सगठन में किस प्रकार स्थान दिया जाये? फ्रांस का कहना था कि यदि जर्मनी के लोगों को पुनः शस्त्र धारण करना है तो उन्हें एक यूरोपियन सेना का अंग बनकर ऐसा करना चाहिए। अमरीका के अनुसार पश्चिमी जर्मनी सोवियत संघ तथा पश्चिमी यूरोप के मध्य एक अभेद्य दीवार के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। इसके अतिरिक्त, जर्मनी की विशाल औद्योगिक शक्ति तथा जनशक्ति सोवियत संघ की ओर से सम्भावित आक्रमणों को रोकने तथा उनका सामना करने के लिए पर्याप्त रूप से शक्तिशाली सैन्य दल के स्थान में महती योगदान दे सकती थी। परन्तु अमरीका के यूरोपियन मित्र-राष्ट्र इन तर्कों के बावजूद एक पृथक् जर्मन सेना के संगठन के लिए तैयार न थे। उनके मत में पुनर्शस्त्रीकृत जर्मनी साम्यवादी रूस की अपेक्षा अधिक खतरनाक था।

---

1 Charles Schliecher, *An Introduction to International Relations*, p, 676.

प्लेविन योजना के आधार पर 25 मई, 1952 को बोन में 6 राष्ट्रों (फ्रांस; इटली, पश्चिमी जर्मनी, वेल्जियम, नीदरलैण्ड तथा लक्जमबर्ग) ने यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय की सन्धि पर हस्ताक्षर किये। इस सन्धि के अनुसार सन्धिकर्ता राज्यों की सब सेनाओं को मिलाकर नाटो की कमान में एक यूरोपियन सेना का अंग बनाना था। सदस्य राज्य अपने समुद्र-पार के प्रदेशों की रक्षा के लिए तथा कोरिया युद्ध जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों में संयुक्त राष्ट्र संघ की सहायता के लिए पृथक् सेनाएँ रख सकते थे। इस समुदाय को सदस्य-राज्यों के युद्धोद्योगों पर भी नियन्त्रण का अधिकार दिया गया था।

यूरोप के राजनीतिक एकीकरण के लिए यह बड़ी महत्वपूर्ण योजना थी तथा इसे वास्तविक संघ का पूर्वरूप समझा जा रहा था। इसका लक्ष्य यह था कि सारे यूरोप की एक सामान्य सेना एक सामान्य सैनिक बजट तथा राष्ट्रीय राज्यों से ऊपर उठा हुआ एक राजनीतिक संगठन हो। इस प्रकार जर्मनी अपने नियन्त्रण में कोई राष्ट्रीय सेना नहीं रख सकेगा। उससे आक्रमण की आशंका नहीं रहेगी और समूचा यूरोप एकीकरण की दिशा में एक बड़ा पग बढ़ा सकेगा।

अमरीका ने इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों पर इस बात का दबाव डाला कि वे अपने-अपने देशों के विधानमण्डलों से इसका पुष्टिकरण करवायें। परन्तु इस सन्धि ने यूरोप के जनसाधारण में तीव्र विरोध की भावनाओं को जन्म दिया। 1953 में जर्मन संसद ने तो इस सन्धि को स्वीकार कर लिया, किन्तु फ्रांस में ऐसा नहीं हो सका। अमरीकी विदेश सचिव जॉन फॉस्टर डलेस ने यह धमकी भी दी कि "यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय की सफलता पर अमरीका को यूरोप के प्रति अपनी नीति पर पीड़ाजनक पुनर्विचार करने के लिए मजबूर होना पड़ेगा।" इस धमकी के बावजूद 30 अगस्त, 1954 को फ्रांसीसी व्यवस्थापिका ने ई. डी. सी. सन्धि को अस्वीकृत कर दिया। यह बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य था कि आरम्भ में फ्रांस ने इस प्रतिरक्षा समुदाय का प्रस्ताव किया था और अब उसी ने इसकी अन्त्येष्टि की।

5. **पश्चिमी यूरोपियन संघ** (Westren European Union)—अक्टूबर 1954 में लन्दन में होने वाले एक सम्मेलन में पश्चिमी यूरोपियन संघ का निर्माण हुआ। इस सम्मेलन में यह निश्चय किया गया कि पश्चिमी जर्मनी पर मित्र-राष्ट्रों का सैनिक अधिकार समाप्त कर दिया जाये, उसे नाटो में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया जाये तथा इसके बदले में पश्चिमी जर्मनी ने यह स्वीकार किया कि वह अपने शस्त्रास्त्र के उत्पादन पर स्वेच्छापूर्वक नियन्त्रण करेगा। यह यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय की अपेक्षा कम अधिकारों वाली योजना थी। इसमें सारे यूरोप की एक सेना बनाने का विचार छोड़ दिया गया और नाटो की अध्यक्षता में राष्ट्रीय सेनाओं को मान लिया गया। इससे यूरोप के राजनीतिक दृष्टि से वस्तुतः एक होने की आशा की सम्भावना समाप्त हो गयी। अब प. यू. सं. का एक ही काम रहा कि वह शस्त्रास्त्र नियन्त्रण की देखभाल करे और वह भी प्रधान रूप से जर्मनी की सैनिक प्रभुता को शस्त्र रोकने के लिए।

पश्चिमी यूरोप के एकीकरण का प्रभाव
(IMPACT OF THE UNIFICATION OF THE WESTERN EUROPE)

पश्चिमी यूरोप के आर्थिक पुनर्निर्माण तथा सैनिक व राजनीतिक एकीकरण से वहाँ के निवासियों के जीवन-स्तर में अभूतपूर्व सुधार हुआ। यूरोपियन देशों में निराशा के वातावरण का अन्त हुआ और एक नवीन चेतना का जन्म हुआ। पश्चिमी यूरोप के आर्थिक और राजनीतिक एकीकरण अमरीकी नेतृत्व में होने के कारण इसकी प्रतिक्रिया सोवियत संघ पर हुई। सोवियत संघ ने प्रतिक्रियास्वरूप पूर्वी यूरोप के देशों पर अपना नियन्त्रण और भी अधिक कठोर बना दिया। इससे रूस-अमरीकी सम्बन्धों में कटुता आयी और शीत-युद्ध की शुरूआत हुई।

पूर्वी यूरोप का एकीकरण
(THE UNIFICATION OF EASTERN EUROPE)

पूर्वी यूरोप से अभिप्राय सामान्यतः उस क्षेत्र से है, जो उत्तर में स्टेटिन से लेकर दक्षिण में ट्रीस्टे तक फैला हुआ है। इस क्षेत्र के सीमान्त फिनलैण्ड, सोवियत संघ और तुर्की के सीमान्तों से मिलते हैं। इस क्षेत्र के अन्तर्गत पूर्वी जर्मनी, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, यूगोस्लाविया, रूमानिया, बल्गारिया और अल्बानिया के राज्य शामिल किये जाते हैं। पूर्वी यूरोप के इन समाजवादी राज्यों का क्षेत्रफल 8 लाख वर्ग किलोमीटर है और उनमें लगभग 12 करोड़ लोग निवास करते हैं।

पूर्वी यूरोप के देशों को साधारणतः सोवियत संघ के पिछलग्गू (Satellite) देशों के नाम से पुकारा जाता है। द्वितीय महायुद्ध के बाद इन देशों में साम्यवादी शासन की स्थापना में सोवियत संघ ने उल्लेखनीय सहायता दी थी। स्टालिन का यह विश्वास था कि सोवियत संघ की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि उसकी पश्चिमी सीमा पर स्थित पूर्व-यूरोपीय राज्यों में रूस के प्रति सद्भाव व मैत्री रखने वाली सरकारें स्थापित की जायें। सौभाग्यवश युद्धोत्तर परिस्थितियाँ उसे अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल मिलीं। जिस समय युद्ध बन्द हुआ रूसी लाल सेनाएँ मध्य यूरोप तक अपना अधिकार किये बैठी थीं। पूर्वी यूरोप के सभी देशों को जर्मनी की दासता से उन्होंने ही मुक्ति दिलायी थी। इन देशों की साम्यवादी पार्टियों ने ही जर्मनी के विरुद्ध लड़े जाने वाले छापामार संघर्षों का नेतृत्व किया था। साम्यवादी रूस के प्रति इन राज्यों में अपार सहानुभूति थी। अतः स्टालिन ने इस सद्भावना का लाभ उठाकर चतुराई से इन राज्यों में साम्यवादी शासन की स्थापना के सफल प्रयास किये।

द्वितीय महायुद्ध के बाद पूर्वी यूरोप के देशों में 'सोवियतीकरण' की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। सोवियत सेनाओं ने जिन क्षेत्रों को मुक्त कराया था वहाँ उन्होंने मजदूर वर्ग को सत्ता पर अधिकार स्थापित करने में सहायता की थी ताकि स्थिति के सामान्य होने पर वहाँ क्रान्तिकारी परिवर्तन लाये जा सकें। पूर्वी यूरोप में सोवियतीकरण की प्रक्रिया विभिन्न राष्ट्रों में विभिन्न प्रकारों से व्यक्त हुई।

1945 में **पोलैण्ड** में स्टालिन के प्रयासों के फलस्वरूप एक मिली-जुली स्थायी सरकार संगठित की गयी जिसमें पाँच राजनीतिक दलों ने भाग लिया। इस सरकार में सभी महत्त्वपूर्ण पद साम्यवादियों के नियन्त्रण में रखे गये। ब्रिटेन और अमरीका ने इस सरकार को इस शर्त पर मान्यता दी कि शीघ्र ही वहाँ स्वतन्त्र आम चुनाव कराये जायेंगे। जनवरी 1947 में पोलैण्ड में आम चुनाव हुए जिनमें साम्यवादी भारी बहुमत से विजयी हुए। चुनाव के उपरान्त पोलैण्ड का झुकाव सोवियत संघ की तरफ हो गया और वहाँ रूसी संविधान के नमूने का नया पोलिश संविधान लागू किया गया, राष्ट्रीयकरण का कार्य तेजी से शुरू किया गया। वैदेशिक व्यापार और विदेश नीति के मामलों में पोलैण्ड ने रूस की अधीनता स्वीकार की। वस्तुतः समग्र दृष्टि से पोलैण्ड रूस के प्रभाव-क्षेत्र मे आ गया।

6 मार्च, 1945 को सोवियत निर्देश पर **रूमानिया** में साम्यवादी सरकार का निर्माण किया गया। 8 मई, 1945 को सोवियत संघ ने, मित्र-राष्ट्रों से परामर्श किये बिना, रूमानिया की नयी सरकार के साथ एक पंचवर्षीय समझौता किया जिससे रूमानिया के आर्थिक जीवन पर रूस का प्रभाव पड़ने लगा। नवम्बर 1946 के चुनावों में साम्यवादी दल भारी बहुमत से विजयी हुआ। इसके बाद अन्य दलों को कुचल डाला गया। 13 अप्रैल, 1948 को रूमानिया ने सोवियत नमूने के नये संविधान को अपना लिया।

याल्टा में स्टालिन द्वारा दिये गये आश्वासनों के फलस्वरूप नवम्बर 1945 में **बल्गारिया**

में आम चुनाव हुए। चुनाव में केवल सरकार से मिले-जुले दलों के प्रतिनिधियों ने ही भाग लिया। विरोधी दलों के उम्मीदवारों को आतंकित किया गया था। 1946 में बल्गारिया का एक नया संविधान बनाये जाने के उद्देश्य से आम चुनाव हुए। साम्यवादी दल इस चुनाव में भारी बहुमत से विजयी हुआ और बल्गारिया में साम्यवादी शासन की स्थापना कर दी गयी। 1948 तक उसने मास्को के साथ घनिष्ठतम सम्बन्ध स्थापित कर लिये।

1 फरवरी, 1946 को **हंगरी** में राजतन्त्र समाप्त करके गणतन्त्र की स्थापना की गयी। अगस्त 1947 में हंगरी की संसद के लिए चुनाव हुए जिसमें साम्यवादी दल को प्रथम स्थान प्राप्त हुआ। नयी सरकार में साम्यवादी दल के सदस्य राकोसी को उप-प्रधानमन्त्री बनाया गया। जून 1947 में प्रजातन्त्रीय समाजवादी दल और साम्यवादी दल का आपस में विलीनीकरण हो गया और हंगेरियन वर्कर्स पार्टी के नाम से एक नये साम्यवादी विचारधारा वाले दल का जन्म हुआ। 1949 में हंगरी गणतन्त्र का नाम बदलकर 'हंगरी का पीपुल्स गणतन्त्र' रख दिया गया। इस तरह हंगरी पूरी तरह साम्यवादियों के नियन्त्रण में आ गया।

द्वितीय महायुद्ध के बाद **यूगोस्लाविया** में साम्यवादी शासन की स्थापना हुई। परन्तु पूर्वी यूरोप के अन्य देशों की भाँति यूगोस्लाविया को मुक्त कराने में लाल सेना की कोई भूमिका नहीं रही थी। वस्तुतः यूगोस्लाविया का मुक्ति संग्राम वहाँ के लोगों ने स्वयं लड़ा था और उसे मार्शल टीटो ने अपना नेतृत्व दिया था। **चैकोस्लोवाकिया** में मई 1946 के चुनावों में 310 में से 114 सीटें स्लोवाक व चैक साम्यवादी दलों ने प्राप्त कीं। वेनेश को राष्ट्रपति तथा गॉटवाल्ड को प्रधानमन्त्री बनाया गया। यह समय चैकोस्लोवाकिया में पूर्वी समाजवाद और पश्चिमी जनतन्त्र के समन्वय का काल कहा जा सकता है। 1947 में मार्शल योजना सामने आयी तो चेकोस्लोवाकिया ने अपने राष्ट्रीय हित की दृष्टि से उसमें सम्मिलित होना स्वीकार नहीं किया। अपनी सुरक्षा की दृष्टि से उसने रूस की मैत्री आवश्यक समझी। सितम्बर 1948 के बाद भूमि, उद्योगों, वैदेशिक व्यापार तथा बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण करके चेकोस्लोवाकिया को खुले रूप से सोवियत संघ का अनुसरण करने वाला एक समाजवादी राष्ट्र बना दिया गया। जनवरी 1946 में **अल्बानिया** में चुनाव हुए जिनमें कम्युनिस्टों के नेतृत्व में अल्बानिया लोकतान्त्रिक मोर्चे को सफलता प्राप्त हुई। अल्बानिया को 'जनता का लोकतान्त्रिक गणतन्त्र' घोषित कर दिया गया। पोट्सडाम समझौते के अन्तर्गत **जर्मनी** को चार क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया था, इसी प्रकार इसी समझौते के द्वारा राजधानी **बर्लिन** को भी चार भागों में बाँट दिया गया था। पूर्वी क्षेत्र सोवियत संघ के हिस्से में आया। 7 अक्टूबर, 1949 को वहाँ सोवियत प्रणाली का संविधान भी लागू कर दिया गया, जिससे समाजवाद की सीमाओं का मध्य यूरोप तक विस्तार हो गया।

संक्षेप में, द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् पूर्वी यूरोप में जिस प्रकार के शासन-तन्त्र स्थापित हुए, वे निश्चय ही सोवियत संघ के समर्थक थे।

पूर्वी यूरोप का सैनिक एवं आर्थिक एकीकरण
(MILITARY AND ECONOMIC INTEGRATION OF THE EASTERN EUROPE)

1. **वारसा पैक्ट या पूर्वी यूरोपीय सन्धि संगठन** (Warsaw Pact or East European Security Pact)—जब पश्चिमी जर्मनी भी 9 मई, 1955 को नाटो का सदस्य बना लिया गया और पश्चिमी राष्ट्रों ने जर्मनी का पुनः शस्त्रीकरण कर दिया तो इससे रूस तथा अन्य पूर्वी यूरोप के राष्ट्रों के लिए चिन्तित होना स्वाभाविक था। पश्चिमी शक्तियों ने नाटो, सीएटो, सेण्टो द्वारा रूस के इर्द-गिर्द घेरे की स्थिति पैदा कर दी थी। अतः यह स्वाभाविक था कि रूस सैनिक गठबन्धनों का उत्तर सैनिक गठबन्धन से देता।

साम्यवादी राष्ट्रों का एक सम्मेलन 11 से 14 मई, 1955 को वारसा में बुलाया गया।

इस सम्मेलन में रूस और पूर्वी यूरोप के सात राष्ट्रों—अल्बानिया, बलगारिया, चेकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, हंगरी, पोलैण्ड तथा रूमानिया ने भाग लिया। यूगोस्लाविया ने इसमें भाग नहीं लिया; चीन के प्रतिनिधि ने इस सम्मेलन में एक प्रेक्षक के रूप में भाग लिया। 14 मई, 1955 को सम्मेलन में भाग लेने वाले राष्ट्रों ने मित्रता एवं पारस्परिक सहयोग की एक 20-वर्षीय सन्धि पर हस्ताक्षर किये जिसे **'पूर्वी यूरोपीय सन्धि संगठन'** अथवा **'वारसा सन्धि'** कहते हैं। इस सन्धि की भूमिका में यूरोप में सामूहिक सुरक्षा की पद्धति के स्थापित करने पर बल दिया गया और यह कहा गया कि पश्चिमी यूरोप के सन्धि के निर्माण से तथा पश्चिमी जर्मनी के पुन: शस्त्रीकरण से यह आवश्यक हो गया है कि वे अपनी सुरक्षा सुदृढ़ करें और यूरोप में शान्ति स्थापित रखें।

इस पैक्ट की मुख्य व्यवस्था धारा 3 में है। इसके अनुसार यदि किसी सदस्य पर सशस्त्र सैनिक आक्रमण होता है तो अन्य देश उसकी सैनिक सहायता करेंगे। इसके लिए धारा 5 में एक 'संयुक्त सैनिक कमान' बनायी गयी। इसका एक सर्वोच्च सेनापति है जो महासचिव और सोवियत जनरल स्टाफ के साथ परामर्श करके सेनाओं का संगठन करता है तथा विभिन्न प्रदेशों में उनका वितरण करता है। संयुक्त कमान की सहायता के लिए चार सहायक कमानें हैं—उत्तर, मध्य और दक्षिण यूरोप की कमानें तथा सुदूर-पूर्व की एक कमान। वारसा सन्धि की सैनिक शक्ति आजकल इस प्रकार है—थल सैनिक 26 लाख, नौ-सैनिक 5 लाख, वायु सैनिक 6 9 लाख, टैंक 15,000, विमान 2,500, हैलीकाप्टर 625, युद्धपोत 456, पनडुब्बियाँ 8, और प्रक्षेपास्त्र 960।[1]

सैनिक सहयोग के अतिरिक्त वारसा सन्धि-हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्रों में आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक सहयोग की व्यवस्था भी करती है। इसमें इस बात की भी व्यवस्था है कि सन्धिकर्ता राष्ट्र पारस्परिक सम्बन्धों में शक्ति का प्रयोग नहीं करेंगे और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिमय साधनों से सुलझाने का प्रयास करेंगे।

वारसा सन्धि का मुख्य अंग राजनीतिक परामर्शदात्री समिति है। आवश्यकता पड़ने पर यह सहायक अंगों की स्थापना कर सकती है। प्रत्येक सदस्य राज्य का एक-एक प्रतिनिधि राजनीतिक परामर्शदात्री समिति का सदस्य होता है। इसकी बैठकें वर्ष में दो बार होती हैं। दूसरे कार्यों में सहायता करने के लिए एक सचिवालय है जिसका सर्वोच्च पदाधिकारी महासचिव होता है।

आजकल वारसा संगठन के सात सदस्य हैं। अलबानिया इस संगठन का सदस्य नहीं रहा। 27 अप्रैल, 1985 के एक निर्णय द्वारा 30 वर्षीय वारसा पैक्ट सन्धि के काल को 20 वर्षों के लिए और बढ़ा दिया गया। इसका कारण यह बताया गया कि नाटो संगठन अभी भी विद्यमान है और यूरोपीय एवं विश्व शान्ति को अभी भी खतरा है।

अपने मूल रूप में वारसा पैक्ट नाटो सन्धि का ही प्रतिरूप कहा जा सकता है। नाटो तथा वारसा पैक्ट में दो अन्तर हैं। **प्रथम**, वारसा पैक्ट विश्व के सभी देशों के लिए खुला है जबकि नाटो में नये सदस्यों की भर्ती सभी पूर्ववर्ती सदस्यों की सर्व-सम्पति से ही सम्भव है। **दूसरा** अन्तर यह है कि वारसा पैक्ट एक अस्थायी सन्धि है जो केवल उसी समय तक है जब तक सम्पूर्ण यूरोप में 'एक सामूहिक सुरक्षा समूह' की स्थापना नहीं हो जाती।

वारसा पैक्ट नाटो के विरुद्ध साम्यवादी देशों का सैन्य संगठन है। इसमें सभी देशों को समानता के अधिकार प्राप्त हैं तथापि यह स्पष्ट है कि सोवियत संघ ही मुख्य शक्ति केन्द्र है तथा

---

[1] दिनमान, 30 दिसम्बर, 1979-5 जनवरी, 1980, पृ. 47.

अन्य राज्यों की स्थिति उपग्रही राज्यों की स्थिति है। वारसा पैक्ट में सोवियत संघ की स्थिति नाटो में संयुक्त राज्य अमरीका से भी अधिक प्रभावशाली है। वारसा पैक्ट से यह लाभ अवश्य हुआ है कि सोवियत संघ को इन देशों में हस्तक्षेप करने का कानूनी अधिकार प्राप्त हो गया है। हंगरी, चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड में सोवियत सैनिक हस्तक्षेप की व्याख्या इसी परिप्रेक्ष्य में की जा सकती है।

1985 से जबसे मिखाइल गोर्बाच्योव ने नेतृत्व की कमान सम्भाली है, पूर्वी यूरोपीय देशों के प्रति सोवियत व्यवहार में फर्क आ गया है। सोवियत नीतियों को अन्य साम्यवादी देशों में भी प्रभावी बनाने का दायित्व रूस अब तक सम्भालता आया था परन्तु आज उसे साम्यवादी देशों के सोवियत नीति विरोध की ओर ध्यान देने में भी रुचि नहीं है। पिछले दिनों रूमानिया में व्यापक असन्तोष पनपा, मजदूरों ने विद्रोहपूर्ण दंगे किये। लेकिन सोवियत अधिकारियों का विचार था कि 'अपनी घरेलू समस्याओं से रूमानिया को स्वयं ही निपटना चाहिए।' पोलैण्ड ने तो 'ग्लोस्नोस्ट' व 'पेरेस्ट्रोइका' की नीति पर जनमत जानने के लिए पंजीकृत मतदाताओं में जनमत संग्रह करवाया, गोर्बाच्योव से पहले इस प्रकार के जनमत संग्रह की बात भी सोचना असम्भव था हंगरी ने अपनी राजनीतिक व्यवस्था में स्पर्द्धा सिद्धान्त को जोड़ने का प्रयत्न किया है जो कि वास्तव में गोर्बाच्योव के पेरेस्ट्रोइका से भी एक कदम आगे की सी बात है। आर्थिक क्षेत्र में भी स्पर्द्धावाद का सिद्धान्त क्रमशः स्वीकार करने की बात चल पड़ी है, खुले बाजार की व्यवस्थाएँ हो रही हैं। साम्यवादी संसार के लिए ये सब नई बातें हैं।

2. **पारस्परिक आर्थिक सहायता की परिषद्** (Council for Mutual Economic Assistance—CMEA)—इस संगठन की स्थापना अप्रैल 1949 में की गयी। इसके संस्थापक सदस्य थे—बलगारिया, पोलैण्ड, हंगरी, रूमानिया, चेकोस्लोवाकिया तथा सोवियत संघ। 1950 में अल्बानिया और पूर्वी जर्मनी ने भी इस संगठन की सदस्यता ग्रहण करली। 1962 में मंगोलियाई गणराज्य तथा 1964 में यूगोस्लाविया के साथ सी. एम. ई. ए. के सम्बन्ध स्थापित हो गये।

इस संगठन में सभी सदस्य राष्ट्रों को समान प्रतिनिधित्व दिया जाता है। इसकी सदस्यता ऐसे प्रत्येक देश के लिए खुली हुई है जो उसके मूलभूत सिद्धान्तों में आस्था रखता हो तथा जो सदस्यता में निहित उत्तरदायित्वों को पूरा करने को तैयार हो। पिछले तीस वर्षों में इस संगठन के माध्यम से पूर्वी यूरोप के देशों तथा मंगोलिया और सोवियत संघ के बीच आर्थिक क्षेत्र में बहुत सहयोग हुआ है और इस सहयोग से सभी सदस्य लाभान्वित हुए हैं। यह एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संगठन है जिसमें आठ समाजवादी देश सम्मिलित हैं और जिनकी जनसंख्या लगभग 34 करोड़ है, जोकि कुल संसार की जनसंख्या का 10% है। 1970 के बाद सी. एम. ई. ए. के सदस्य राज्यों के आर्थिक एकीकरण की प्रक्रिया बहुत अधिक तेज हुई है। 1971 में इन देशों की राष्ट्रीय आय में 2% की वृद्धि हुई जबकि इसी काल में पश्चिम के सबसे अधिक औद्योगीकृत देश में यह वृद्धि 6·3% से अधिक नहीं थी। जनसंख्या की दृष्टि से इन देशों में संसार की कुल जनसंख्या का दसवाँ भाग निवास करता है, परन्तु ये देश विश्व के कुल औद्योगिक उत्पादन का एक-तिहाई पैदा करते हैं।

3. **कॉमिनफार्म** (Communist Information Bureau)—सितम्बर 1947 में सोवियत संघ, बल्गारिया, हंगरी, रूमानिया, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, फ्रांस और इटली के साम्यवादी दलों के प्रतिनिधि पोलैण्ड की राजधानी वारसा में एकत्रित हुए जहाँ उन्होंने बेलग्रेड में एक 'साम्यवादी सूचना कार्यालय' खोलने का निश्चय किया। कॉमिनफार्म का उद्देश्य यूरोप में सामान्य साम्यवादी नीतियों को क्रियान्वित व समायोजित करना था। यह पूरी तरह सोवियत संघ के नियन्त्रण में था। कॉमिनफार्म के माध्यम से पूर्व-यूरोपीय राज्यों की साम्यवादी सरकारों

को संगठित करने और उन्हें साम्यवादी कार्य-पद्धति में दीक्षित करने में स्टालिन को पर्याप्त सफलता मिली। काफी बड़ी संख्या में रूसी इंजीनियर, तकनीकी कर्मचारी और सेना-प्रशिक्षक उन देशों के पुनर्निर्माण कार्य में सहायता देने के लिए भेजे गये।

पूर्वी यूरोप के एकीकरण का प्रभाव
(IMPACT OF UNIFICATION OF THE EASTERN EUROPE)

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद पूर्वी यूरोप के देशों का जो आर्थिक एकीकरण हुआ है उससे इन देशों की आर्थिक शक्ति में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। पूर्वी यूरोप के इस एकीकरण का विश्व राजनीति के ऊपर एक व्यापक प्रभाव पड़ा है। विश्व संगठन में ये देश सामान्यतः एक ही प्रकार से मतदान करते हैं। समाजवादी देशों की यह संगठित शक्ति पश्चिम की साम्राज्यवादी शक्तियों के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती है।

पिछले कुछ वर्षों से समाजवादी देशों की एकता में दरारें दिखायी देने लगी हैं। पोलैण्ड, हंगरी और चेकोस्लोवाकिया में जो कुछ हुआ उसे इसी सन्दर्भ में समझने की आवश्यकता है। चीन के समर्थक अल्बानिया को वारसा सन्धि से निकाल दिया गया, रूमानियां अपनी भूमि से रूसी फौजें हटाना चाहता है। रूमानिया ने गुट-निरपेक्ष आन्दोलनों की सदस्यता ग्रहण कर ली। चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड में विरोध की ज्वालाएँ दिखायी दे रही हैं।

पूर्वी यूरोप में परिवर्तन की लहर
(THE CHANGING WAVE IN EASTERN EUROPE)

पूर्वी यूरोप में व्यापक परिवर्तन हो रहे हैं। पोलैण्ड में स्वतन्त्र चुनाव (1989) हुए और मजदूरों की संस्था सोलिडेरिटी को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। सोलिडेरिटी के नेतृत्व में बनी सरकार ने एक दूरगामी आर्थिक कार्यक्रम की घोषणा की जिसका उद्देश्य खुले बाजार की नीति को अपनाकर पूंजीवादी संस्थानों की स्थापना करना है। हंगरी के सत्तारूढ़ साम्यवादी दल ने स्वयं को सत्ता से मुक्त कर एक समाजवादी दल का गठन किया जिससे वहाँ पश्चिमी माडल के उदार लोकतन्त्र की स्थापना हो सके। 9 नवम्बर, 1989 को पूर्वी जर्मनी ने अपने नागरिकों को पश्चिम जर्मनी के साथ की अपनी सीमा पार करने की खुली छूट देकर उसने अपने ही हाथों बनायी बर्लिन दीवार और जानलेवा सीमान्त बाड़ को अर्थहीन बना दिया। बर्लिन दीवार के निर्माता एरिक होनेकर के पतन के तीन सप्ताह बाद बर्लिन दीवार का भी पतन हो गया। जर्मन जनता के पुनर्मिलन के साथ ही जर्मन देश के एकीकरण की प्रक्रिया शुरू हो गयी।

पूर्वी जर्मनी में लोग लोकतन्त्र, मानव अधिकार व गैर-साम्यवादी दलों की शासन में भागीदारी की माँग कर रहे हैं। पूर्वी जर्मनी में पुराने नेताओं को नजरबन्द कर लिया गया है, इनमें होनेकर भी शामिल हैं। इससे स्पष्ट है कि वहाँ कट्टरपन्थ अब समाप्ति की ओर है। उधर पश्चिमी जर्मनी ने जर्मनी के एकीकरण का एक दस-सूत्री कार्यक्रम रखा है, इसमें कहा गया है कि पूर्वी जर्मनी में लोकतान्त्रिक चुनाव कराकर दोनों जर्मनी का एक संघ बनाया जाय।

चेकोस्लोवाकिया में भी परिवर्तन की लहर चल पड़ी। हाल ही में आस्ट्रिया व चेकोस्लोवाकिया के बीच सीमा को जब खोला गया तो सैकड़ों चेक आस्ट्रिया गये जहाँ उनका गर्मजोशी से स्वागत किया गया। 5 दिसम्बर, 1989 को सोवियत संघ ने खुलेआम स्वीकार किया कि 1989 में वारसा सन्धि के देशों ने चेकोस्लोवाकिया में हस्तक्षेप करके एक गलत काम किया था। बुलगारिया, पोलैण्ड, हंगरी व पूर्वी जर्मनी ने भी अब इस कार्यवाही की निन्दा की है। बुलगारिया में भी लोगों ने निष्पक्ष चुनावों की माँग की है।

संक्षेप में, पूर्वी यूरोप की घटनाएँ लोगों के लोकतन्त्र व उदारवाद की ओर झुकाव को दर्शाती हैं। इससे वहाँ एक पेचीदा माहौल बन गया है जिसके दूरगामी परिणाम होंगे। पश्चिमी देशों ने इस लहर का स्वागत किया है।

दितां और यूरोपियन एकता का सन्दर्भ
(DETENTE : THE CONTEXT OF EUROPEAN UNITY)

रूस-अमरीकी सम्बन्धों में दितां की शुरूआत का सबसे अधिक प्रभाव यूरोपियन एकता के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। इस दृष्टि से मास्को-बोन समझौता (1970), बर्लिन पर समझौता (1971), पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी के बीच समझौता (1972), प्रथम यूरोपियन सुरक्षा सम्मेलन (जुलाई 1973), द्वितीय यूरोपियन सुरक्षा सम्मेलन (नवम्बर 1974), तथा तृतीय यूरोपियन सुरक्षा सम्मेलन (जून 1974) यूरोपियन इतिहास के सीमा-चिन्ह माने जा सकते हैं।[1] अब जर्मनी की समस्या यूरोपियन शान्ति के लिए खतरा नहीं मानी जाती, यूरोप में जो वर्तमान राष्ट्रीय-सीमाएँ हैं उन्हें सोवियत संघ तथा पश्चिमी जर्मनी ने स्वीकार कर लिया। **प्रथम यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन** (हेलसिंकी) का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को समाप्त करके शीत-युद्ध का अन्त करना तथा सुरक्षा की नयी भावना पैदा करना था। **द्वितीय यूरोपियन सम्मेलन** में सौहार्द्र और सहयोग का वातावरण दिखायी दिया और इसी वातावरण में सम्बद्ध राज्यों ने संकल्प लिया कि सभी राज्यों की प्रभुसत्ता को स्वीकार करेंगे, बल-प्रयोग से विरत रहेंगे; राष्ट्रों के बीच बराबरी के सम्बन्ध कायम रखेंगे, विवादों का निपटारा शान्तिमय उपायों से करेंगे तथा शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त में विश्वास रखते हुए मानव के मूलभूत अधिकारों का आदर करेंगे। **तृतीय यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन** में पूर्व और पश्चिम के बीच सुरक्षा तथा सद्भाव स्थापित करने के लिए यूरोपीय सहयोग को और दृढ़ बनाने के प्रश्न पर विचार हुआ।

संक्षेप में, आज यूरोप उतना विभाजित नहीं है जितना 1950-60 के दशक में था। जहाँ एक ओर पूर्वी और पश्चिमी यूरोप के देशों में आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान में वृद्धि हुई है वहाँ दूसरी ओर सोवियत संघ और पश्चिमी यूरोप तथा संयुक्त राज्य अमरीका तथा पूर्वी यूरोप के राज्यों में भी कटुता और वैमनस्य में कमी आयी है। गोर्बाच्योव ने प्रस्तावित किया है कि नाटो तथा वार्सा सन्धि देशों की साझा बैठक होनी चाहिए जिसमें यह सुनिश्चित किया जा सके कि ये संगठन परस्पर स्पर्द्धी नहीं वरन् सहयोगी हैं। यूरोपीय सुरक्षा व स्थिरता इनका लक्ष्य है।

24 सितम्बर, 1987 को पेरिस में फ्रांस के राष्ट्रपति मितरां तथा पश्चिमी जर्मनी के चांसलर हेलमट कोहल ने एक साझी पत्रकार वार्ता में **'यूरोपीय सुरक्षा समुदाय'** की स्थापना के लिए अभियान की घोषणा की। जर्मनी व फ्रांस अर्से से साझी सुरक्षा योजना के अन्तर्गत अपनी सेनाओं का नियोजन कर रहे हैं। अब इसी साझेपन के विस्तार का यह नवीन उपक्रम सामने आया है। जर्मनी व फ्रांस इस सुरक्षा समुदाय की पहल कर रहे हैं तथा सभी यूरापीय समुदाय के देशों को इसमें सहभागी होने का आह्वान कर रहे हैं। इस यूरोपीय सुरक्षा समुदाय की प्रकृति को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि "यह सदस्य देशों के सुरक्षा सम्बन्धी निर्णयों को समन्वित करेगा तथा सैनिक इकाइयों के गठन, प्रस्थापन, शस्त्र अनुसन्धान एवं सुरक्षा सम्बन्धी विषयों के विश्लेषण में सरसता लाने का प्रयत्न करेगा।" स्वाभाविक है, यदि यूरोप साझे रूप से ये सब कार्य प्रारम्भ कर देगा तो रूस व अमरीका की सैनिक चौधराहट को निर्णायक धक्का लगेगा। अतः अमरीका व रूस यूरोप में किसी प्रकार के राजनीतिक व सैनिक सम्मेलन को अपनी अस्मिता के लिए चुनौती मानते हैं तथा प्रयत्न करते हैं कि यह साझापन कोई आकार ग्रहण न कर सके। वे यूरोपीय देशों को यह समझाने की कोशिश कर रहे हैं कि यह प्रश्न जर्मनी और फ्रांस का विस्तार-वादी एवं यूरोप में स्वयं महाशक्ति बनकर उभरने की तमन्ना का परिचायक है एवं सुस्थापित सैनिक गठबन्धनों को तोड़ने की साजिश है।

---

1 'दितां' शीर्षक अध्याय में इन सभी उपलब्धियों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

लेकिन अनेक स्रोतों से यह लगता है कि यूरोप अब वारसा व नाटो के चक्कर से मुक्त होना चाहता है। स्पेन के प्रधानमन्त्री फेलिम गोआंलन ने पश्चिमी जर्मनी की यात्रा की तथा 'यूरोपीय सुरक्षा समुदाय' के गठन में अपनी गहरी अभिरुचि व्यक्त करते हुए चांसलर कोहल को साधुवाद दिया।[1]

क्या यूरोप पतन की ओर ?
(IS EUROPE DECLINING)

आत्म-गौरव से युक्त जो प्राचीन महाद्वीप दो हजार वर्षों तक विश्व के इतिहास पर छाया रहा, अब निष्क्रिय होता जा रहा है। विकास के करीब 30 वर्षों के बाद युद्धोत्तरकालीन पश्चिमी यूरोप का आर्थिक चमत्कार कोलाहल और फड़फड़ाहट के साथ समाप्त हो गया है। विज्ञान, टेक्नालॉजी और वाणिज्य के क्षेत्र में अब नेतृत्व यूरोप के हाथ में रहकर शायद हमेशा के लिए अमरीका और जापान के पास चला गया है। यूरोप के जो लोग कभी अमरीका की आणविक छत्रछाया में अपने आपको सुरक्षित पाते थे, वे अब अमरीका के संकल्प के प्रति सन्देह प्रकट करने लगे हैं। सोवियत संघ के बढ़ते जाते खतरे से बचने के लिए कोई यूरोपीय प्रतिरक्षा स्थापित करने में भी वे हताश हो गये हैं। फ्रांस के इतिहासकार फर्ना ब्रोदेल का कहना है, "जब तक हम संयुक्त राज्य यूरोप की स्थापना के विचार को फिर से जीवित नहीं करेंगे, तब तक यूरोप की अर्थव्यवस्था की बात तो छोड़िए, हम यूरोप की संस्कृति की रक्षा करने में भी समर्थ नहीं हो सकेंगे।"

पश्चिमी यूरोप का धीरे-धीरे ह्रास हो रहा है। मुख्य समस्या आर्थिक है। 1963 से 1973 तक यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशों की अर्थव्यवस्था में प्रति वर्ष औसतन 4 6 प्रतिशत की वृद्धि हुई। उसके बाद तेल उत्पादक देशों द्वारा तेल के दामों में वृद्धि कर देने के परिणामस्वरूप अगले दस वर्षों में उसमें प्रतिवर्ष 2 प्रतिशत की कमी आ गयी। अस्सी के दशक के आरम्भ में यह वृद्धि बिल्कुल ही रुक गयी। 40 वर्षों में अब पहली बार लोगों के रहन-सहन का स्तर गिरने लगा है। एक-एक करके यूरोपीय देशों को संयम और सादगी का जीवन अपनाना पड़ा है। पश्चिमी जर्मनी ने विश्वविद्यालय की छात्रवृत्तियाँ और बच्चे के जन्म पर दिये जाने वाले लाभ बन्द कर दिये हैं। ब्रिटेन ने 1,30,000 से अधिक असैनिक नौकरियों को कम करने के बारे में कार्यवाही आरम्भ कर दी है। समाजवादी स्पेन ने सेनानिवृत्ति की पेंशन को फिर से ठीक करने का प्रस्ताव रखा है।

यूरोपीय देशों में ऊर्जा और कच्चे माल की कमी है। असल में जिन अनेक क्षेत्रों में यूरोप किसी समय सबसे आगे था, उन्हीं में वह अब दूसरों के मुकाबले पिछड़ चुका है। सत्तरादि दशक के मध्य में ताइवान, सिंगापुर और दक्षिण कोरिया से आये कम कीमत के कपड़ों ने यूरोप की सैकड़ों फर्मों का दिवाला निकाल दिया। हाल ही में जापान की मोटरगाड़ियों ने यूरोप के काफी बड़े बाजार पर कब्जा कर लिया है। विज्ञान के क्षेत्र में यूरोप बहुत लम्बे अरसे तक छाया रहा, लेकिन वह अब उच्च टेक्नालॉजी में प्रायः हर क्षेत्र में बहुत पिछड़ गया है। जापानी कम्पनियों ने यूरोपीय टेक्नालॉजी पर आधारित नये-नये उत्पादनों द्वारा यूरोप के लोगों को बाजार में बार-बार मात दी है।[2]

गैलप इण्टरनेशनल के एक मत संग्रह में फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन और इटली के लोगों ने इस बात से सहमति व्यक्त की थी कि 21वीं सदी में किसी भी यूरोपीय देश की अपेक्षा चीन, अमरीका और जापान का अधिक महत्व रहेगा।

---

1 राजस्थान पत्रिका, 1 अक्टूबर, 1987.

2 स्काट सलीवान, "क्या यूरोप गिरता ही जायेगा ?" सर्वोत्तम, दिसम्बर 1984, पृ, 88-91.

प्रश्न

1. द्वितीय महायुद्ध के बाद पश्चिमी यूरोप के आर्थिक और सैनिक एकीकरण के लिए किये गये प्रयासों की व्याख्या कीजिए।
   Discuss the attempts made to unite West Europe economically and militarily after the Second World War.
2. यूरोपीय आर्थिक समुदाय के प्रमुख राजनीतिक उद्देश्य क्या हैं ? पश्चिमी यूरोप के पुनः-निर्माण तथा पुनःव्यवस्था में यूरोपीय आर्थिक समुदाय कहाँ तक योगदान दे रहा है ?
   What are the main political objectives of the European Economic Community ? How far is the European Economic Community contributing towards rebuilding and reorganisation of Western Europe ?
3. द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् पश्चिमी यूरोप को एकताबद्ध करने के प्रयासों के राजनीतिक, सैनिक तथा आर्थिक पक्षों की विवेचना कीजिए।
   Discuss the politico-military and economic aspects of the efforts to achieve West European unity after the Second War.

4

संयुक्त राष्ट्र संघ : संगठन एवं कार्यप्रणाली

[THE U.N.O. : ORGANISATION AND ITS WORKING]

संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना ऐसे समय में हुई जब द्वितीय महायुद्ध अपने भीषणतम रूप में सारे विश्व को आतंकित कर रहा था। जर्मनी, इटली और जापान के धुरी-राष्ट्रों की सम्मिलित शक्ति का सामना करने में ब्रिटेन, अमरीका तथा अन्य मित्र-राष्ट्रों की सारी शक्ति लगी हुई थी। यह युद्ध केवल कुछ राष्ट्रों की प्रतिष्ठा के लिए ही नहीं लड़ा जा रहा था। धुरी-राष्ट्रों की बढ़ी हुई सैनिक शक्ति वास्तव में प्रजातन्त्र और मानवीय अधिकारों के लिए संकट का संकेत कर रही थी। इस युद्ध में यदि धुरी-राष्ट्रों की विजय होती तो निश्चय ही समस्त विश्व पर उसका व्यापक प्रभाव पड़ता और सम्भव है स्वाधीनता और प्रजातन्त्र के ऊँचे आदर्शों को भारी आघात पहुँचता।

संयुक्त राज्य अमरीका के सेनफ्रांसिस्को नगर में 1 जनवरी, 1942 को ब्रिटेन, रूस, चीन तथा अन्य 26 मित्र-राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें यह निर्णय हुआ कि ये राष्ट्र सम्मिलित होकर धुरी-राष्ट्रों का सामना करेंगे। इस संगठन को 'संयुक्त राष्ट्र' अथवा 'यूनाइटेड नेशन्स' का नाम अमरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति फ्रेंकलिन डी. रूजवेल्ट द्वारा प्रदान किया गया। 1 जून, 1945 को आगे चलकर सेनफ्रांसिस्को में संयुक्त राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ तो इसके सदस्यों की संख्या 50 हो चुकी थी। इस सम्मेलन में 'संयुक्त राष्ट्र' के घोषणा-पत्र को अन्तिम रूप दिया गया। अधिकार-पत्र पर 50 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों द्वारा 26 जून, 1945 को हस्ताक्षर किये गये, पोलैण्ड का प्रतिनिधित्व अधिवेशन में नहीं हुआ था। उसने बाद में इस पर हस्ताक्षर किये और वह 51 सदस्य राज्यों में से एक मूल सदस्य बन गया। अधिकार रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ 24 अक्टूबर, 1945 को अस्तित्व में आ गया था जबकि अधिकार-पत्र की पुष्टि चीन, फ्रांस, सोवियत संघ, इंगलैण्ड तथा अमरीका तथा बहुसंख्यी अन्य हस्ताक्षरकर्ताओं द्वारा की गयी थी, 24 अक्टूबर प्रतिवर्ष संयुक्त राष्ट्र संघ दिवस के रूप में मनाया जाता है। 1946 से संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रधान कार्यालय न्यूयार्क में है।

संयुक्त राष्ट्र संघ : स्थापना (उद्भव)
(THE UNITED NATIONS ORGANIZATION : ORIGIN)

यह एक विचित्र बात यह है कि मानव समाज के आचरण में युद्ध एवं शान्ति, विध्वंस तथा निर्माण के बीज साथ-साथ निहित हैं। नेपोलियनाई युद्धों के बाद होली एलायंस, प्रथम विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्र संघ तथा द्वितीय-विश्व के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना इसके प्रमाण हैं। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्र संघ की स्थापना में अमरीकी राष्ट्रपति विलसन ने प्रमुख भूमिका

निभायी। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना में वैसी ही भूमिका एक अन्य अमरीकी राष्ट्रपति फ्रेंकलिन रूजवेल्ट की थी। रूजवेल्ट ने ही इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की आवश्यकता तथा उसके दर्शन की धुंधली रूपरेखा प्रस्तुत की। रूजवेल्ट ने इस बात पर बल दिया कि भावी विश्व संगठन का आधार महाशक्तियों का पूर्ण मतैक्य होना चाहिए। उसने रूस, ब्रिटेन तथा अन्य मित्र शक्तियों को इस बात पर सहमत किया कि विश्व संस्था के निर्माण की तैयारी युद्ध-काल में ही शुरू कर दी जाय। उसने कहा कि इससे मित्र-राष्ट्रों को युद्ध जीतने के लिए नैतिक समर्थन तथा संबल प्राप्त होगा।

30 अक्टूबर, 1943 को संयुक्त राज्य अमरीका, इंगलैण्ड तथा सोवियत संघ की सरकारों ने अपने-अपने परराष्ट्र मंत्रियों के माध्यम एक संयुक्त घोषणा की। इस घोषणा में कहा गया कि, 'जितनी जल्दी सम्भव हो सके; एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना करने की आवश्यकता वे महसूस करते हैं; यह संगठन सभी शान्तिप्रिय राष्ट्रों की सम्प्रभुता पर आधारित होगा। ऐसे सभी छोटे-बड़े राज्य इसके सदस्य बन सकेंगे। इसका उद्देश्य होगा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा कायम रखना।

संयुक्त राष्ट्र के निर्माण के सम्बन्ध में आगे विचार करने के लिए ईरान की राजधानी तेहरान में एक महत्वपूर्ण सम्मेलन हुआ। राष्ट्रपति रूजवेल्ट एवं मार्शल स्टालिन प्रथम बार आपस में मिले। सब राष्ट्रों के सहयोग से विश्व में शान्ति स्थापित करने की भावना को दोहराया गया। उनका विश्वास था कि संयुक्त राष्ट्र के निर्माण के बाद संसार का प्रत्येक व्यक्ति सुखी एवं स्वतन्त्र जीवन-यापन कर सकेगा।

संयुक्त राष्ट्र की रूपरेखा का निर्माण करने के लिए बड़े राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन 21 अगस्त, 1944 को वाशिंगटन के डम्बार्टन ऑक्स भवन में आयोजित किया गया जो 7 अक्टूबर, 1944 तक चला। इस सम्मेलन में यह स्वीकार कर लिया गया कि संयुक्त राष्ट्र का कार्यक्षेत्र केवल अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने तक ही सीमित न रखा जाय बल्कि उसका कार्य आर्थिक एवं सामाजिक प्रश्नों पर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देना भी होना चाहिए। प्रस्तावित विश्व संगठन के सन्दर्भ में सोवियत रूस का दृष्टिकोण यह था कि संयुक्त राष्ट्र में बड़ी शक्तियों की प्रभावशाली एवं निर्णयात्मक भूमिका को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया जाय। सोवियत संघ का विचार था कि वाद-विवाद करने वाली सभाओं में छोटे राष्ट्रों को भी समान अधिकार दिये जा सकते हैं। उसने इस बात पर जोर दिया दिया कि शान्ति एवं सुरक्षा के क्षेत्र में सभी महत्वपूर्ण निर्णय के लिए बड़ी शक्तियों का एकमत होना अत्यन्त आवश्यक है। डम्बार्टन ऑक्स प्रस्तावों में ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की कल्पना की गयी जिसमें पुराने राष्ट्र संघ के बहुत-से तत्व पाये जाते थे, पर साथ ही उसमें कुछ ऐसे विचारों का समावेश भी था जिसमें राष्ट्र संघ की त्रुटियों से सबक लिया जा सके। यहीं पर राष्ट्र संघ की अपेक्षा आर्थिक एवं सामाजिक सहयोग को अधिक बढ़ावा दिया गया था। इस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र के प्रमुख अंगों—महासभा, सुरक्षा परिषद्, सचिवालय एवं अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्बन्ध में निर्णय लिया गया। डम्बार्टन ऑक्स प्रस्तावों में महासभा एवं सुरक्षा परिषद् की कार्य-प्रणाली पर तो सहमति हो गयी परन्तु सुरक्षा परिषद् में मतदान प्रणाली के सम्बन्ध में सोवियत संघ एवं पश्चिमी शक्तियों के मध्य मतभेद बने ही रहे।

संयुक्त राष्ट्र के बारे में अनेक महत्वपूर्ण निर्णय रूस के प्रदेश क्रीमिया के माल्टा नगर में लिये गये। 4 फरवरी, 1944 को स्टालिन, चर्चिल तथा रूजवेल्ट का एक शिखर सम्मेलन याल्टा में प्रारम्भ हुआ। सुरक्षा परिषद् में मतदान प्रणाली पर महत्वपूर्ण निर्णय याल्टा सम्मेलन में ही सम्भव हो सका। अमरीका ने 5 मार्च, 1945 को रूस, ब्रिटेन तथा चीनी गणतन्त्र की ओर से

याल्टा सम्मेलन के निर्णय के अनुसार 51 अन्य राष्ट्रों को आमन्त्रित किया। अमरीका के सेनफ्रांसिस्को नगर में एक नया अधिकार-पत्र (Charter) स्वीकार किया गया जिसे संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर (United Nations Charter) कहा जाता है। चार्टर के अनुच्छेद 110 में यह कहा गया कि रूस, फ्रांस, अमरीका, चीन गणराज्य तथा शेष राज्यो की सरकारों द्वारा स्वीकृति प्रदान करने के उपरान्त चार्टर लागू माना जायेगा। 24 अक्टूबर, 1925 तक यह शर्त सम्पन्न हो गयी एवं इसी तिथि को संयुक्त राष्ट्र का प्रादुर्भाव हुआ। संयुक्त राष्ट्र चार्टर ने जिस संगठन को जन्म दिया वह राष्ट्र संघ से बहुत अधिक भिन्न था परन्तु अनेक कारणों से विश्व के सभी देश राष्ट्र संघ को स्मरण ही नही करना चाहते थे। राष्ट्र संघ के साथ असफलता का कलंक जुड़ा हुआ था, उसके साथ लगी हुई बदनामी और उसके संविधान की कुछ मौलिक त्रुटियाँ थीं, इनका निराकरण राष्ट्र संघ से भिन्न एक नयी तथा अधिक शक्तिशाली संस्था से ही हो सकता था।

वस्तुत: संयुक्त राष्ट्र संघ के अभ्युदय की कहानी मित्र-राष्ट्रों के मध्य वार्तालाप तथा विचारों के आदान-प्रदान, युद्ध के समय हुए सम्मेलनो से जुड़ी हुई है जिनमें अनेक अन्तर्राष्ट्रीय *अनुबन्ध किये गये। इसके साथ ही साथ परोक्ष रूप में अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत जो अन्तर्राष्ट्रीय* स्थिति के कारण एक समन्वित रूप ले रहा था उसने भी इसकी स्थापना और इसके विकास में अपना योगदान दिया है। संक्षेप में, द्वितीय विश्व-युद्ध काल में मित्र-राष्ट्रों ने यह पूरा निर्णय कर लिया था कि वे भावी पीढ़ियों को 'युद्ध के उत्पात' से बचाने का पुख्ता प्रयास करेंगे और इसी निमित्त उन्होने राष्ट्र संघ के स्थान पर संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की।

संयुक्त राष्ट्र संघ : उद्देश्य
(UNITED NATIONS ORGANISATION : OBJECTS)

सयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की प्रस्तावना में इसका उद्देश्य निम्न प्रकार से वर्णित किया गया है : "हम संयुक्त राष्ट्रों की जनताओं ने यह निश्चय किया है :

भावी पीढ़ियों को उस युद्ध की पीड़ा और कष्टो से बचाने का जिसके कारण हमारे जीवन में दो बार मानव जाति को अपार दुख भोगना पड़ा;

आधारभूत मानवीय अधिकारों, मानव प्रतिष्ठा और महत्व, स्त्री-पुरुषों तथा छोटे-बड़े राष्ट्रों के समान अधिकारों में अपनी निष्ठा की पुन: पुष्टि करने का और ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने का, जिनसे सन्धियों एवं अन्य अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के अन्तर्गत आने वाले उत्तर-दायित्वों के प्रति न्याय और सम्मान का दृष्टिकोण ग्रहण किया जा सके;

और अधिक विस्तृत स्वतन्त्रता के वातावरण मे सामाजिक प्रगति को बढ़ावा देने तथा जीवन-यापन के अधिक उत्तम मानदण्ड स्थापित करने का;

और इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए सहिष्णुता बरतने, अच्छे पड़ोसी की तरह एक-दूसरे के साथ शान्तिपूर्वक रहने;

और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना हेतु अपनी शक्ति को एकजुट करने;

और सिद्धान्तों एवं कार्य-प्रणाली का निर्धारण कर इस बारे में पूर्ण आश्वस्त होने का कि व्यापक और समान हित को छोड़कर अन्य किसी परिस्थिति में सशस्त्र सेनाओं का उपयोग नही किया जायेगा;

और समस्त संसार के निवासियों को आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति के पथ पर उन्मुख रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली का उपयोग किया जायेगा।"

इसी के अनुसार "हमारी अपनी सरकारें.......सयुक्त राष्ट्र संघ के वर्तमान चार्टर से सहमत हो गयी है तथा इसके द्वारा एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित करती है जो संयुक्त राष्ट्र संघ कहलायेगा।"

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के प्रथम अनुच्छेद में उनके उद्देश्यों का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

"अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा स्थापित करना, राष्ट्रों के बीच जन-समुदाय के लिए समान अधिकारों तथा आत्म-निर्णय के सिद्धान्त पर आधारित मित्रतापूर्ण सम्बन्धों का विकास करना, आर्थिक सामाजिक अथवा मानव जाति के लिए प्रेम आदि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना तथा इन सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राष्ट्रों के कार्यों को समन्वित करने के उद्देश्य से एक केन्द्र का कार्य करना।

संक्षेप में, चार्टर के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ के चार प्रमुख उद्देश्य हैं :

(1) सामूहिक व्यवस्था द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा कायम रखना और आक्रामक प्रवृत्तियों को नियन्त्रण में रखना।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान करना।

(5) राष्ट्रों के आत्मनिर्णय और उपनिवेशवाद विघटन की प्रक्रिया को गति देना।

(4) सामाजिक-आर्थिक, सांस्कृतिक एवं मानवीय क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहित एवं पुष्ट करना।

संघ ने इन उद्देश्यों से जुड़े हुए दो और लक्ष्य भी निर्धारित किये हैं। वे हैं—'निरस्त्रीकरण और 'नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था' की स्थापना।

संयुक्त राष्ट्र संघ सिद्धान्त
(U. N. O. : PRINCIPLES)

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की धारा 2 में इसके निम्नलिखित मौलिक सिद्धान्त बताये गये हैं :

(1) इसका प्रधान आधार छोटे-बड़े सब देशों की समानता और सर्वोच्च सत्ता का सिद्धान्त है। उदाहरणार्थ, इसमें रूस और संयुक्त राज्य अमरीका जैसे बड़े राज्यों का तथा जिम्बाब्वे जैसे हाल में स्वतन्त्र हुए राज्यों का दर्जा समान माना है, उन्हें बराबर संख्या में प्रतिनिधि भेजने, इसकी सब कार्यवाहियों में भाग लेने, वोट देने के अधिकार एक जैसे हैं।

(2) सब सदस्यों से यह आशा रखी जाती है कि वे चार्टर द्वारा उन पर लागू होने वाले दायित्वों का पालन पूरी ईमानदारी से करेंगे :

(3) सभी सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निटपारा शान्तिपूर्ण साधनों से करेंगे !

(4) सभी राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों के प्रतिकूल कोई कार्य नहीं करेंगे, वे किसी देश की स्वतन्त्रता का हनन करने की या आक्रमण करने की न तो धमकी देंगे और न ऐसा कार्य करेंगे।

(5) कोई भी देश चार्टर के प्रतिकूल काम करने वाले देश की सहायता नहीं करेगा।

(6) स. रा. संघ इसका सदस्य न बनने वाले राज्यों से भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने वाले सिद्धान्तों का पालन करायेगा।

(7) सं. रा. संघ किसी देश के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

संयुक्त राष्ट्र संघ का बजट

संयुक्त राष्ट्र संघ का वार्षिक व्यय लगभग 80 करोड़ डालर है एवं उसके सदस्य राष्ट्र इस प्रकार वहन करते हैं : (1) अमरीका द्वारा वहन की गयी कुल बजट की धनराशि 31·91%, (2) रूस—14·92%, (3) ब्रिटेन—7·21%, (4) फ्रांस—6·9%, (5) चीन—5·75%, (6) कनाडा—3·25%, (7) भारत—1·85%, (8) अन्य देश—29·03%।

संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता
(MEMBERSHIP OF THE UNITED NATIONS)

संयुक्त राष्ट्र चार्टर मे दो प्रकार की सदस्यता का उल्लेख है। प्रथम, कुछ देश तो प्रारम्भिक सदस्य हैं जिन्होंने 1 जनवरी, 1942 को संयुक्त राष्ट्र के घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किये थे, या सेनफ्रांसिस्को में चार्टर पर हस्ताक्षर करके उसकी पुष्टि की थी। द्वितीय, संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता उन सभी राष्ट्रों को भी उपलब्ध हो सकती है जो शान्तिप्रिय हों एवं चार्टर में विश्वास रखते हों। जो चार्टर द्वारा निर्धारित कर्तव्यों को स्वीकार करते हों एवं जिनको यह संस्था इन कर्तव्यों का पालन करने के उपयुक्त समझती है। महासभा के दो-तिहाई बहुमत और सुरक्षा परिषद् के 15 सदस्यों में से 9 सदस्यों की स्वीकृति से जिसमें 5 स्थायी सदस्य अवश्य हों, संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त होती है। महासभा में निर्णय के पूर्व भी सुरक्षा परिषद् की स्वीकृति आवश्यक होती है अर्थात् सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर ही महासभा किसी राज्य को सदस्यता प्रदान कर सकती है। इस पर सुरक्षा परिषद् के 5 स्थायी सदस्यों को निषेधाधिकार (Veto) का अधिकार प्राप्त है।

राष्ट्र संघ की तुलना में संयुक्त राष्ट्र संघ सदस्यता की दृष्टि से एक विश्वव्यापी संगठन है जहाँ सन् 1934 में राष्ट्र संघ के सदस्यों की संख्या 60 थी वहीं सन् 1990 में संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों की संख्या 159 तक पहुँच गयी है।[1]

सदस्यों का निलम्बन (Suspension of Members)—सुरक्षा परिषद् की रिपोर्ट पर सदस्य देश को महासभा से निलम्बित भी किया जा सकता है। चार्टर में सदस्यता समाप्त करने के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। चार्टर की धारा 5 एवं 6 के अनुसार संघ के किसी भी सदस्य को, चार्टर के सिद्धान्तों का निरन्तर उल्लंघन करने पर सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासभा द्वारा सदस्यता से वंचित किया जा सकता है एवं उसकी सुविधाओं पर बन्धन भी लगाया जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र के किसी भी सदस्य को अभी तक सदस्यता से वंचित नहीं किया गया। सुरक्षा परिषद् को किसी भी निलम्बित राष्ट्र को पुनः स्थापित करने का अधिकार प्राप्त है।

सदस्यता का प्रत्याहरण (Withdrawal of Membership)—संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता के प्रत्याहार (Withdrawal) के सम्बन्ध में चार्टर मौन है। यह सदस्यों की सदस्यता के प्रत्याहार करने की न तो आज्ञा देती है और न मना ही करता है। सेनफ्रांसिस्को सम्मेलन में इस विषय पर बड़ी बहस हुई थी। कुछ राज्य इस पक्ष में थे कि सदस्यों की सदस्यता की वापसी के लिए निषेध कर लिया जाये। कुछ अन्य राज्य इस पक्ष में थे कि यदि सदस्यों के लिए चार्टर में किये गये संशोधनों को स्वीकार करना असम्भव हो जाता है तो ऐसे सदस्यों को अपनी सदस्यता वापस लेने का अधिकार होना चाहिए। अन्त में यह निश्चित किया गया कि इस विषय में कोई व्यक्त प्रावधान न रखे जायें जिसके अनुसार विशेष परिस्थितियों में सदस्य अपनी सदस्यता वापस ले सकते हैं।

फेनविक के अनुसार चार्टर के अन्तर्गत भी सदस्य अपनी सदस्यता को निम्नलिखित दो परिस्थितियों में वापस ले सकते हैं :

1. सदस्य अपनी सदस्यता वापस ले सकते हैं यदि यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्था शान्ति बनाये रखने में असमर्थ है अथवा वे ऐसा केवल विधि तथा न्याय की कीमत पर कर सकते हैं।

2. यदि चार्टर के किसी संशोधन पर किसी राज्य ने सहमति प्रदान नहीं की और इसे

---

1 ब्रुनेई 159वाँ सदस्य है जो 1984 में सदस्य बना था।

स्वीकार करने में अपने को असमर्थ पाता है तो ऐसी परिस्थिति में ऐसे सदस्य को अपनी सदस्यता वापस लेने का अधिकार है।

पिछले 46 वर्षों के जीवन काल में केवल इण्डोनेशिया ने सन् 1965 में संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता का प्रत्याहार किया था, परन्तु एक वर्ष बाद इण्डोनेशिया पुनः संयुक्त राष्ट्र संघ में लौट आया। ऐसे अनेक उदाहरण अवश्य हैं कि अनेक सदस्यों ने संयुक्त राष्ट्र के अंगों एवं उनकी बैठकों का बहिष्कार या प्रत्याहार किया है, परन्तु उनमें पुनः लौट आये। उदाहरण के लिए, अमरीका ने 1 नवम्बर, 1977 को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की सदस्यता का परित्याग किया था; 1 जनवरी, 1985 से अमरीका ने यूनेस्को की सदस्यता का परित्याग किया था।

संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त करने के नियमों का सूक्ष्म अवलोकन करने से स्पष्ट होता है कि ऐसा युद्ध के उद्देश्यों एवं मनोविज्ञान के प्रभाव में ही किया गया था। सेनफ्रांसिस्को सम्मेलन में यद्यपि इस बात पर चर्चा की गयी थी कि संयुक्त राज्य राष्ट्र की सदस्यता को विश्वव्यापी बना दिया जाय परन्तु जब चार्टर पर अन्तिम रूप से विचार किया गया तब यह निश्चय किया गया कि संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता किसी भी देश के व्यवहार के आधार पर अर्जित की जानी चाहिए एवं साथ ही यह भी तय किया गया कि यदि कोई भी सदस्य राष्ट्र लगातार संयुक्त राष्ट्र चार्टर के सिद्धान्तों की अवहेलना करता रहेगा तो उसे सदस्यता से वंचित किया जा सकता है या उसकी सुविधाओं को समाप्त किया जा सकता है। इसी प्रकार सदस्यता की शर्तें हैं 'शान्तिप्रियता', 'उत्तरदायित्वों को निभाने के योग्य एवं इच्छुक' हों। इससे ऐसा लगता है कि सदस्यता के लिए नैतिक पक्ष पर अधिक बल दिया गया है। व्यवहार में संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ जैसी महाशक्तियाँ संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता का राजनीतिकरण (Politicization) कर दिया है। नये राज्यों को सदस्यता प्रदान करने में आज भी बड़ी शक्तियों का ही प्रभाव है। बड़ी शक्तियों ने अपने इस अधिकार का विश्व में अपने अधिकार क्षेत्र को बढ़ाने में खुलकर प्रयोग किया है। शीत युद्ध के प्रभाव में आकर बड़ी शक्तियों ने एक-दूसरे के समर्थक राष्ट्रों को संयुक्त राष्ट्र में प्रवेश करने का अवसर नहीं दिया। साम्यवादी चीन 1949 से 1971 तक संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता केवल इस कारण प्राप्त नहीं कर सका कि अमरीका उसका विरोधी था। परन्तु जब अमरीका के राष्ट्रीय एवं आर्थिक हितों ने माँग की तो उसने विरोध करना बन्द कर दिया और साम्यवादी चीन 1971 में संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बन गया। इनिस एल. क्लाड के शब्दों में, 'नये राष्ट्रों को सदस्यता प्रदान करने के अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र के समक्ष ऐसा कोई भी प्रश्न नहीं आया जिसे शीत-युद्ध ने इतना अधिक प्रभावित किया हो।' जहाँ अमरीका ने बहुमत के प्रयोग के आधार पर साम्यवादी राज्यों को संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता से वंचित रखा वहाँ सोवियत संघ ने वीटो के प्रयोग के आधार पर पश्चिम समर्थक राज्यों को उसकी सदस्यता से वंचित रखा।

धीरे-धीरे महासभा के राजनीतिक निर्णयों का महत्व बढ़ने लगा एवं महाशक्तियों ने भी अपने समर्थक राष्ट्रों को अधिक से अधिक संख्या में सदस्यता दिलाने का कार्य आरम्भ कर दिया। राष्ट्रों का यह विश्वास बढ़ने लगा कि संयुक्त राष्ट्र की विश्वव्यापकता से महासभा का प्रभाव बढ़ जायगा।

संयुक्त राष्ट्र संघ की बढ़ती हुई सदस्य-संख्या ने विश्व में अनेक महत्वपूर्ण परिणाम प्रस्तुत किये हैं। क्षेत्रीय-सन्तुलन एवं राजनीतिक प्रभाव में बहुत अन्तर आ गया है। यद्यपि पश्चिमी यूरोपीय राज्यों की संख्या बढ़ी है परन्तु उसके साथ ही साम्यवादी शक्तियों का प्रभाव क्षेत्र भी विस्तृत हुआ है। एशिया एवं अफ्रीका के राष्ट्रों की सदस्य संख्या भी बढ़ गयी है। पश्चिमी शक्तियों के लिए महासभा में दो-तिहाई मतों को संग्रहीत करना अब इतना सरल कार्य नहीं रह गया है।

सोवियत रूस का विरोध करने के लिए अब अमरीका महासभा का अपनी इच्छानुसार उपयोग नहीं कर सकता। महासभा की सदस्य संख्या इतनी बढ़ गयी है कि उसमें अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान हेतु शान्ति एवं समझौते का मार्ग अधिक उपयोगी समझा जाने लगा है। संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता का बढ़ना इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमरीका के अधिक से अधिक राष्ट्र विश्व के विकसित राष्ट्रों के सम्पर्क में आकर राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति के साथ विश्व में समानता का अनुभव करते है। महासभा में छोटे एवं अविकसित राष्ट्रों का ही बहुमत होता है जिसके फलस्वरूप वे अपने हितों की ओर विश्व संस्था का ध्यान आसानी से आकर्षित कर सकते हैं। संयुक्त राष्ट्र में छोटे राष्ट्रों की संख्या बढ़ने के कारण उन्हें प्रत्येक संगठन में अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सकेगा। संयुक्त राष्ट्र की सदस्य संख्या जिस गति से बढ़ रही है उससे यह आभास होता है कि संस्था शीघ्र ही विश्वव्यापी हो जायेगी। प्रत्येक स्वतन्त्र राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता प्राप्त करना अपना प्रथम लक्ष्य समझता है। सम्भवतः संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता प्राप्त हो जाने के बाद ही किसी राष्ट्र को सार्वभौमिकता का अनुभव होता है।

चीन की सदस्यता का विवादास्पद प्रश्न—चीन की सदस्यता के प्रश्न ने यह स्पष्ट कर दिया कि सदस्यता का प्रश्न एक राजनीतिक प्रश्न है। लम्बे समय तक अमरीका ने चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता प्रदान नहीं की और राष्ट्रवादी चीन (फारमोसा) को ही चीन की कानूनी सरकार मानता रहा। जब कभी चीन की सदस्यता का सवाल सुरक्षा परिषद् में उठता तो अमरीका वीटो का प्रयोग करता। इस प्रकार सितम्बर 1971 तक उसने चीन की साम्यवादी सरकार को संयुक्त राष्ट्र से अलग रखा। 1970 से चीन-अमरीकी सम्बन्धों में सुधार होने लगा तो चीन के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रवेश का द्वार खुला और 26 अक्टूबर, 1971 को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर एक प्रस्ताव पारित करके जनवादी चीन को संघ का सदस्य बना दिया। इसके साथ ही पहले चीन का प्रतिनिधित्व करने वाले फारमोसा के राष्ट्रवादी चीन को इसकी सदस्यता से वंचित कर दिया गया। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र से निकाला जाने वाला पहला देश राष्ट्रवादी चीन है।

"वस्तुतः 1950 से चीन का मामला महासभा में प्रत्येक वर्ष उठाया जाता रहा। 25 अक्टूबर, 1971 के अन्त में महासभा ने अपने निर्णय में स्वीकार किया कि संयुक्त राष्ट्र में चीन का प्रतिनिधित्व करने का साम्यवादी सरकार को अधिकार है तथा फारमोसा स्थित राष्ट्रवादी सरकार के प्रतिनिधि अनुचित रूप से चीन का प्रतिनिधित्व करते रहे हैं; अतः उन्हें निष्कासित किया जाय। वास्तव में यह एक उचित और न्याय पर आधारित महत्वपूर्ण निर्णय था।"

सदस्यों का निष्कासन (Expulsion of Membership)—चार्टर के अनुच्छेद 6 के अनुसार, यदि कोई सदस्य जानबूझकर तथा लगातार चार्टर में वर्णित सिद्धान्तों का उल्लंघन करता है तो उसे सुरक्षा परिषद् के सुझाव पर महासभा द्वारा संस्था से निकाला जा सकता है। चूंकि सदस्यों का निष्कासन एक महत्वपूर्ण प्रश्न है, इसके लिए सुरक्षा परिषद् के 9 सदस्यों की सकारात्मक सहमति (जिसमें पाँचों स्थायी सदस्य भी शामिल होने चाहिए) तथा महासभा का निर्णय दो-तिहाई सदस्यों के बहुमत से होना चाहिए।

सदस्यता से सम्बन्धित कतिपय झलकियाँ—संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता के सम्बन्ध में सन् 1955 की 'पेकेज डील' (Package Deal) अथवा एकमुश्त सौदा विशेष चर्चित प्रसंग है। इसने राष्ट्रों के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त करने के लिए द्वार खोल दिये। इस पैकेज डील ने 16 राष्ट्रों को (4 पश्चिमी राष्ट्रों के समर्थक राज्य, 4 सोवियत संघ समर्थक राष्ट्र

और 8 गुटनिरपेक्ष राष्ट्र) संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्रदान कर दी। 19 सितम्बर, 1973 को महासभा के 28वें अधिवेशन में तीन नये सदस्य शामिल किये गये—पूर्वी जर्मनी, पश्चिमी जर्मनी तथा बहामा। दोनों जर्मन राष्ट्रों को एक साथ संघ का सदस्य बनाया जाना संयुक्त राष्ट्र संघ की एक महान उपलब्धि माना जायेगा क्योंकि अधिकारिक तौर पर इसे द्वितीय महायुद्ध का अन्त माना जा सकता है। सन् 1981 में नव स्वतन्त्र जिम्बाब्वे विश्व संस्था का 153वाँ एवं ग्रेनाडा 154वाँ सदस्य बनाया गया। 18 जुलाई, 1981 को वानुअतु (न्यू हैब्रिडस) को 155वाँ सदस्य एवं नवम्बर 1981 को बेलीज 156वाँ सदस्य, 157वाँ सदस्य एन्टीगुआ एवं बारगूदा (द्वीप समूह) है, 158वाँ सदस्य सेण्ट किट्स तथा अन्तिम 159वाँ सदस्य 1984 में ब्रूनेई बना और यह भी तथ्य है कि भारत प्रारम्भिक सदस्यों (1945) में से ही एक है।

देश जो राष्ट्र संघ के सदस्य नहीं हैं—(1) स्विट्जरलैण्ड पूर्ण तटस्थता को स्वीकार करने के कारण स्वयं सदस्य नहीं बनना चाहता है। (2) उत्तरी कोरिया, (3) दक्षिण कोरिया, (4) ताइवान को राष्ट्रवादी चीन भी कहा जाता है, जब साम्यवादी चीन को संघ एवं सुरक्षा परिषद् का स्थायी सदस्य बनाया गया तो ताइवान को अल्बानिया के प्रस्तावानुसार संघ की प्राथमिक सदस्यता से भी निष्कासित कर दिया। ताइवान से आग्रह किया कि वह 'ताइवान' नाम से संघ का सदस्य बनना स्वीकार करे, लेकिन उसे यह निर्णय मंजूर नहीं था।

संयुक्त राष्ट्र संघ के अंग
(ORGANS OF THE U. N. O.)

संयुक्त राष्ट्र चार्टर के तृतीय अध्याय में अनुच्छेद 7 के अनुसार इस संस्था के 'प्रधान अवयव' इस प्रकार हैं:

1. महासभा (The General Assembly),
2. सुरक्षा परिषद् (The Security Council),
3. आर्थिक और सामाजिक परिषद् (The Economic and Social Council),
4. न्यास परिषद् (The Trusteeship Council),
5. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (The International Court of Justice),
6. सचिवालय (The Secretariat)।

1. महासभा : संगठन एवं भूमिका
(THE GENERAL ASSEMBLY : ORGANISATION AND ROLE)

महासभा संयुक्त राष्ट्र के प्रमुख अंगों में से सर्वाधिक वृहत एवं महत्वपूर्ण अंग है। शूमां ने इसे 'संसार की नगरसभा' कहा है तथा सीनेटर वाण्डेनबर्ग ने इसे 'विश्व की लघु संसद' की संज्ञा दी थी। इसके गठन, अधिकार एवं दायित्वों के अवलोकन से जान पड़ता है कि इस विश्व संस्था के संस्थापकों का उद्देश्य महासभा को एक महान् अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक तथा राजनीतिक मंच बनाना था।

संयुक्त राष्ट्र के समस्त सदस्यों को महासभा में बैठने का अधिकार है। इसका अधिवेशन सामान्यतः वर्ष में एक बार होता है और चार्टर के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत सभी विषयों पर विचार करने का इसको अधिकार है। इस संस्था का रूप मानव पार्लियामेण्ट (Human Parliament) का है, यद्यपि आज भी कुछ राष्ट्र इसके सदस्य नहीं हैं। चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद् को कुछ स्वतन्त्र रूप से अधिकार प्राप्त हैं, इन अधिकारों के अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र संघ के समस्त विभागों पर महासभा का पर्याप्त अधिकार है।

प्रतिनिधित्व—महासभा में संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्यों को प्रतिनिधित्व प्राप्त है और प्रत्येक राष्ट्र को एक मत देने का अधिकार प्राप्त है, यद्यपि प्रत्येक राष्ट्र को अधिकतम 5

प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। प्रतिनिधियों को वाद-विवाद में भाग लेने का अधिकार तो है, किन्तु वोट देने के समय एक देश का, चाहे वह कितना ही बड़ा राष्ट्र हो अथवा छोटा राष्ट्र हो, एक ही वोट समझा जाता है।

संयुक्त राष्ट्र का यही प्रमुख अंग इस युग में विश्व लोकमत का प्रतीक बन गया है। आजकल इसके 179 सदस्य राज्य हैं। इसकी सदस्य संख्या को ही देखकर इसकी सार्वदेशिक विशेषता का अनुभव किया जा सकता है।

मतदान प्रक्रिया—चार्टर के अनुच्छेद 18 में महासभा की मतदान प्रक्रिया का उपबन्ध किया गया और राष्ट्र संघ की सभा की भाँति राज्यों की समानता का यह सिद्धान्त उपर्युक्त अनुच्छेद में बनाये रखा गया है कि महासभा के प्रत्येक सदस्य का एक ही मत होगा। महत्वपूर्ण प्रश्नों पर महासभा के निर्णय उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से होंगे और अन्य प्रश्नों पर निर्णय, जिनमें दो-तिहाई बहुमत द्वारा निर्णय किये जाने वाले प्रश्नों के अतिरिक्त प्रवर्गों का निर्धारण भी सम्मिलित है, उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के साधारण बहुमत द्वारा किया जायेगा। इस प्रकार राष्ट्र संघ की प्रसंविदा का सर्वसम्मति का नियम त्याग दिया गया है।

चार्टर 'महत्वपूर्ण प्रश्न'—जिनके विषय में निर्णय उस समय उपस्थित एवं मत देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से किये जायेंगे, एवं 'अन्य प्रश्न' जिनके विषय में निर्णय उस समय उपस्थित सदस्यों के बहुमत से किया जायेगा, में भेद करता है। 'महत्वपूर्ण प्रश्नों' की सूची में अनेक प्रश्न गिनाये गये हैं, जैसे (1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने के विषय में सिफारिशें, (2) सुरक्षा परिषद् के अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन, (3) आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के सदस्यों का निर्वाचन, (4) चार्टर के अनुच्छेद 86 के खण्ड 1(ग) के अनुसार न्यास परिषद् के सदस्यों का निर्वाचन, (5) संयुक्त राष्ट्र में नवीन सदस्यों का प्रवेश, (6) सदस्यता के अधिकारों एवं विशेषाधिकारों का निलम्बन, (7) सदस्यों का निष्कासन, (8) न्यास पद्धति के परिचालन सम्बन्धी प्रश्न, और (9) बजट सम्बन्धी प्रश्न। यद्यपि नवीन महत्वपूर्ण प्रश्न उपर्युक्त सूची में बहुमत से निर्णय लेकर बढ़ाये जा सकते है, विगत वर्षों में महासभा ने उपर्युक्त प्रश्नों के अतिरिक्त किसी अन्य प्रश्न—विशेष को महत्वपूर्ण प्रश्नों के वर्ग में नहीं रखा है और अनेक विशिष्ट मामलों में अस्थायी आधार पर ही निर्णय लेने का निश्चय किया है।

महासभा का वार्षिक अधिवेशन नियमित रूप से सितम्बर माह से तीसरे मंगलवार से शुरू होता है और प्राय: दिसम्बर मध्य तक चलता है। प्रत्येक नियमित सत्र के आरम्भ में महासभा नये अध्यक्ष, 21 उपाध्यक्ष और अपनी सात मुख्य समितियों के सभापित (चेयरमैन) निर्वाचित करती है। समान भौगोलिक प्रतिनिधित्व प्रदान करने की दृष्टि से महासभा की अध्यक्षता प्रतिवर्ष राज्यों के पाँच समूहों—अफ्रीकी, एशियाई, पूर्वी यूरोपीय, लैटिन अमरीकी और पश्चिमी यूरोपरीय तथा अन्य राज्यों में बारी-बारी से दी जाती है। विशेष अधिवेशन बुलाने का भी उपबन्ध है। ऐसे विशेष अधिवेशन सुरक्षा परिषद् अथवा संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों के बहुमत द्वारा अनुरोध किये जाने पर महासचिव द्वारा बुलाये जायेंगे। महासभा अपनी प्रक्रिया के नियमों को स्वत: अंगीकार करती है, अधिवेशन के लिए अपना सभापति निर्वाचित करती है, जो महासभा की कार्यवाही का संचालन करता है।[1]

अधिकार और कर्तव्य—सुरक्षा परिषद् के अन्तर्गत विचाराधीन विषयों पर महासभा वाद-विवाद कर सकती है किन्तु जब तक परिषद् महासभा के निर्णय की माँग न करे तब तक महा-

---

[1] अनुच्छेद 21; भारत की श्रीमती विजय लक्ष्मी पण्डित को यह सौभाग्य प्राप्त हो चुका है।

सभा निर्णय नहीं कर सकती। सुरक्षा परिषद् तथा अन्य अंग अपने वार्षिक कार्य विवरण की रिपोर्ट महासभा के पास भेजते हैं और सभा में निर्धारित तिथि को इन पर विचार होता है किन्तु महासभा सुरक्षा परिषद् की रिपोर्ट पर आलोचना करने के अतिरिक्त हेर-फेर नहीं कर सकती। महासभा द्वारा सुरक्षा परिषद् के 10 अस्थायी सदस्यों, आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् के 54 सदस्यों एवं न्यास परिषद् के अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन होता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सदस्यों को निर्वाचित करने का अधिकार समान रूप से महासभा एवं सुरक्षा परिषद् को है। सुरक्षा परिषद् की स्वीकृति प्राप्त होने पर ही महासभा नये सदस्यों को पद ग्रहण करने की अनुमति देती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों की नियुक्ति भी महासभा सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर करती है। संयुक्त राष्ट्र संघ का आय-व्ययक (बजट) महासभा द्वारा ही स्वीकृत होता है, अतः महासभा का अन्य अंगों पर स्वतः आर्थिक नियन्त्रण हो जाता है। चार्टर की उपधारा 1 के अनुसार राष्ट्र संघ की सदस्यता का अर्थ है महासभा की सदस्यता। उद्दण्ड राष्ट्रों को निकालने का अधिकार महासभा को प्राप्त है। यह किसी राष्ट्र को सुरक्षा परिषद् के अनुरोध पर कुछ समय के लिए संघ की सदस्यता से हटा सकती है किन्तु यदि कोई चार्टर के आदेशों और सिद्धान्तों की लगातार अवहेलना करता हे तो सुरक्षा परिषद् के अनुरोध पर महासभा उसे सदा के लिए निकाल सकती है; लेकिन अभी तक ऐसा कोई अवसर उपस्थित नहीं हुआ है। जो राष्ट्र सदस्यता शुल्क 2 वर्ष लगातार अदा नहीं करता उसे साधारण सभा में मत देने का अधिकार नहीं होता; किन्तु आर्थिक कठिनाई अथवा किसी अन्य विवशता के कारण यदि वह शुल्क बाकी रहा गया हो तो महासभा को अधिकार है कि इस सम्बन्ध मे सन्तोष होने पर कि जान-बूझकर देरी नहीं की गयी है उसे मत देने के अधिकार से वंचित न करे।

महासभा का ऐच्छिक कार्य—चार्टर के अनुसार महासभा के दो प्रकार के कार्य हैं। इसमें एक ऐच्छिक और दूसरा अनिवार्य है। पहले प्रकार अर्थात् ऐच्छिक कार्य के अन्तर्गत शान्ति की स्थापना, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के खतरे को दूर करना और सुरक्षा तथा निरस्त्रीकरण के लिए समस्त देशों में सहयोग स्थापना की चेष्टा है। ये सब कार्य ऐच्छिक श्रेणी में इसलिए रखे गये हैं कि चार्टर के मन्तव्य के अनुसार ये सब सुरक्षा परिषद् में पेश हों। इन सब विषयों के सम्बन्ध में महासभा तभी अपना मत निश्चित कर सकती है जब सुरक्षा परिषद् उससे परामर्श के लिए अनुरोध करे।

महासभा के अनिवार्य कार्य—महासभा के अनिवार्य कार्य निम्नांकित हैं :

(1) संयुक्त राष्ट्र संघ आय-व्ययक (Budget) पास करना;

(2) सुरक्षा परिषद् तथा अन्य संस्थाओं व संगठनों की रिपोर्ट पर विचार करना;

(3) न्यास परिषद् (Trusteeship Council) पर निरीक्षण रखना;

(4) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के उद्देश्यों से आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा तथा स्वास्थ्य के सम्बन्ध में अध्ययन व जांच-पड़ताल करवाना तथा तद्विषयक सिफारिशें करना; और

(5) प्रत्येक व्यक्ति को बिना जाति, लिंग, भाषा व धर्म के मानव अधिकार तथा मौलिक स्वतन्त्रता का उपयोग करने में सहायता देना।

ऐसा प्रसंग हंगरी के पादरियों के सम्बन्ध में तथा दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों एवं अफ्रीकियों को मनुष्यता के साधारण अधिकार से वंचित रखने के सम्बन्ध में उठा और महासभा ने घरेलू मामले की दुहाई देने पर भी अपना निर्णय दिया।

इस प्रकार चार्टर द्वारा महासभा को इतने व्यापक अधिकार प्राप्त हैं कि कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय महत्व का मामला उसके सामने पेश हो सकता है; केवल राष्ट्रों के पूर्णतया घरेलू मामले उसके

क्षेत्र से बाहर हैं। यदि संसार के किसी देश में ऐसी सरकार कायम हो जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए खतरनाक हो तो उसके पड़ोसी राष्ट्र अथवा कोई अन्य राष्ट्र संसार में शान्ति कायम रखने की दृष्टि से महासभा में तत्सम्बन्धी प्रश्न उठा सकते हैं और उसके सम्बन्ध में आलोचना की जा सकती है। इस प्रकार की समालोचना का एकमात्र उद्देश्य विश्व-शान्ति में उस राष्ट्र के बाधक होने की समस्या पर विचार करना है।

महासभा की समितियाँ—महासभा अपना कार्य संचालन 6 मुख्य समितियों द्वारा करती है जो इस प्रकार हैं—(1) राजनीतिक एवं सुरक्षा समिति; (2) आर्थिक और वित्त समिति; (3) सामाजिक, मानवीय एवं सांस्कृतिक समिति; (4) न्याय समिति; (5) प्रशासनिक एवं बजट समिति, तथा (6) कानूनी समिति।

महासभा के अधिवेशन—नियम के अनुसार महासभा की बैठक प्रतिवर्ष सितम्बर मास के तीसरे मंगलवार से आरम्भ होती है। महासभा की बैठक साधारणतः न्यूयार्क में होती है। इसका पहला अधिवेशन 10 जनवरी, 1946 को हुआ था।

साधारण वार्षिक अधिवेशन के अतिरिक्त यदि महासभा के सदस्य बहुमत से अधिवेशन की माँग करें, या सुरक्षा परिषद् चाहे, तो संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव 15 दिन के अन्दर महासभा की बैठक बुला सकते हैं। विशेष अवस्था में सुरक्षा परिषद् के 9 सदस्यों के अनुरोध पर 24 घण्टे की सूचना पर विशेष अधिवेशन बुलाया जा सकता है। ऐसा अवसर स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के बाद मिस्र पर फ्रांस और ब्रिटेन के आक्रमण के बाद उपस्थित हुआ।

शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव—विश्व-शान्ति की स्थापना के क्षेत्र में महासभा को उपयोगी बनाने का महत्वपूर्ण प्रयास 3 नवम्बर, 1950 को किया गया, जिस दिन 'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' (Uniting for Peace Resolution) स्वीकार किया गया था। अनेक कारणों से सोवियत संघ उन दिनों सुरक्षा परिषद् की कार्यवाही का बहिष्कार कर रहा था एवं 1 अगस्त, 1950 को उसने पुनः परिषद् की कार्यवाही में भाग लेना प्रारम्भ कर दिया। पश्चिमी शक्तियों को भय उत्पन्न हो गया कि उत्तरी कोरिया द्वारा किये जा रहे आक्रमण को सोवियत संघ के वीटो के कारण परिषद् में नहीं रोका जा सकेगा। अमरीका के अवसर पाते ही महासभा को शान्ति एवं सुरक्षा स्थापित कर सकने की शक्ति दिलाने का सफल प्रयास किया। सोवियत संघ ने अमरीका के उक्त प्रयास को बहुमत का दुरुपयोग बताया। इस प्रस्ताव के फलस्वरूप महासभा को सामूहिक कार्यवाही एवं सेना का उपयोग करने की सिफारिश का अधिकार मिल गया। विश्वशान्ति एवं सुरक्षा स्थापित करने में सुरक्षा परिषद् की असमर्थता के 24 घण्टे के भीतर ही महासभा का आपात्-कालीन अधिवेशन बुलाने का प्रावधान हो गया। यदि महासभा की बैठक उस समय नहीं हो रही हो तो सुरक्षा परिषद् के 9 सदस्यों के वोट पर या संयुक्त राष्ट्र के अधिकांश सदस्यों के वोट पर इस प्रकार के अधिवेशन की प्रार्थना किये जाने पर 24 घण्टों के अन्तर्गत ही विशेष संकटकालीन अधिवेशन हो सकता है। महासभा ने तुरन्त अपने इस अधिकार का समुचित प्रयोग आरम्भ कर दिया। महासभा का अधिवेशन चल ही रहा था जिसमें उसने 1950 के अन्तिम दिनों में साम्य-वादी चीन के, कोरिया संघर्ष में हस्तक्षेप को रोकने में सफलता प्राप्त की। 1 फरवरी, 1951 को महासभा ने साम्यवादी चीन को आक्रमणकारी घोषित कर दिया। 18 मई, 1951 को महासभा ने साम्यवादी चीन के विरुद्ध सामूहिक, आर्थिक कार्यवाही करने की सिफारिश की। सन् 1956 में जब इजराइल, ब्रिटेन तथा फ्रांस ने मिस्र पर आक्रमण कर दिया तब महासभा का आपात्कालीन अधिवेशन बुलाया गया। मध्यपूर्व में महासभा को बहुत सफलता मिली। यद्यपि इस सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों का मत है कि महासभा की सफलता का कारण उसकी शक्तिशाली सामूहिक कार्यवाही का प्रभाव नही था बल्कि सम्बन्धित राष्ट्रों की स्वयं की इच्छा थी जो अनेक

कारणों से महासभा के इस आदेश के सामने झुक गये कि, 'वे संघर्ष समाप्त करके अपनी सेनाएं वापस बुला लें'। हंगरी के प्रश्न पर सन् 1956 में ही महासभा का आपातकालीन अधिवेशन बुलाया गया। उक्त अवसर पर भी सुरक्षा परिषद् का कार्य कुण्ठित हो गया था। महासभा ने रूस से हंगरी में हस्तक्षेप न करने का अनुरोध किया। महासभा के माध्यम से उक्त समस्या के प्रति विश्व लोकमत का ध्यान अवश्य ही आकर्षित हुआ। सन् 1958 में महासभा को शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव के अन्तर्गत पुनः अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिए मध्य-पूर्व की समस्या पर विचार करना पड़ा। इस समय महासभा ने सामूहिक कार्यवाही के अन्तर्गत अपने प्रभाव का अप्रत्यक्ष उपयोग किया एवं महासचिव के सक्रिय सहयोग से शान्ति स्थापित हो सकी। 17 सितम्बर, 1960 को स्वयं सुरक्षा परिषद् ने महासभा का आपातकालीन अधिवेशन कांगो समस्या पर विचार करने के लिए बुलाया। कांगो की समस्या जो महाशक्तियों के मध्य भयंकर शीत युद्ध का कारण बन गयी थी, महासभा के सहयोग से उसमें बहुत कमी आयी जिससे विश्व के समक्ष महासभा को सम्मान प्राप्त हुआ। महासभा का सातवाँ विशेष अधिवेशन 1-16 सितम्बर, 1975 तक न्यूयार्क में हुआ। नामीबिया की समस्या पर विचार करने हेतु 26 अप्रैल से 2 मई, 1978 तक और निरस्त्रीकरण की समस्या पर विचार करने के लिए 23 मई से 30 जून तक महासभा के विशेष अधिवेशन हुए। अफगानिस्तान में सोवियत संघ की सैनिक कार्यवाही से उत्पन्न स्थिति पर विचार करने हेतु 10 जनवरी, 1980 को और फिलीस्तीन के प्रश्न पर विचार करने हेतु 23 जुलाई, 1980 को महासभा के विशेष अधिवेशन हुए। महासभा के इन विशेष अधिवेशनों का सबसे बड़ा लाभ यह है कि सुरक्षा परिषद् का वीटो संयुक्त राष्ट्र को सर्वदा के लिए पंगु या निष्क्रिय नहीं बना सकता क्योंकि महासभा में अभिव्यक्त विचार विश्व लोकमत को प्रकट करते हैं और स्थायी सदस्यों (Veto Power) के लिए इसकी सर्वदा उपेक्षा करना सम्भव नहीं होता। शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव की प्रमुख 5 धाराएँ हैं जो इस प्रकार हैं :

(1) सुरक्षा परिषद् के किन्हीं 9 सदस्यों के मतों या महासभा के बहुमत सदस्यों द्वारा प्रार्थना किये जाने पर 24 घण्टे की अल्प सूचना पर महासभा का आपातकालीन विशेष अधिवेशन बुलाया जाना।

(2) प्रस्ताव ने 5 स्थायी सदस्यों सहित एक 14-सदस्यीय शान्ति निरीक्षण आयोग की स्थापना की। इनका कार्य अन्तर्राष्ट्रीय तनाव उत्पन्न होने की स्थिति में, जिससे शान्ति और सुरक्षा को खतरा होने की सम्भावना हो, निरीक्षण करना तथा रिपोर्ट करना है।

(3) प्रस्ताव ने एक 14-सदस्यीय सामूहिक समिति की स्थापना की। इसका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा को सुदृढ़ करने वाले उपायों का अध्ययन करना है।

(4) प्रस्ताव में सिफारिश की गयी कि संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों के लिए सदस्य अपनी राष्ट्रीय सशस्त्र सेनाओं की टुकड़ियों को प्रशिक्षित, संगठित एवं सुसज्जित करें।

(5) प्रस्ताव में सदस्य राष्ट्रों से सिफारिश की गयी है कि वे संयुक्त राष्ट्र के प्रति निष्ठा दोहराएँ, आर्थिक स्थिरता और सामाजिक प्रगति के लिए भी आग्रह किया गया है।

शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव की उपर्युक्त धाराओं में से केवल एक धारा—आपात्कालीन अधिवेशन को ही कार्यान्वित किया गया है। शेष धाराएँ प्रयुक्त न होने के कारण अव्यवहार्य न गयी हैं।

'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' का उद्देश्य महासभा को किसी महाशक्ति के विरुद्ध युद्ध संचालित करने के लिए सशक्त बनाना नहीं है। इसका उद्देश्य केवल उन छोटी-छोटी भिड़न्तों को रोकना है जिनमें कोई महाशक्ति खुल्लम-खुल्ला भाग लेना नहीं चाहती। इसके माध्यम से आक्रमणकारी के सामने यह भी प्रदर्शन करना है कि संयुक्त राष्ट्र संघ एक सक्रिय क्रियाशील अन्तर्राष्ट्रीय

निकाय है। इसका तीसरा उद्देश्य, जहाँ सामूहिक कार्यवाही सम्भव न हो, प्रभावपूर्ण ढंग से राजनीतिक दबाव डालना है ताकि आक्रमण या हस्तक्षेप का प्रतिरोध किया जा सके। इसका एक उद्देश्य यह भी है कि वीटो के डंक को कम किया जा सके।

'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' के पक्ष व विपक्ष में भले ही कितने ही तर्क दिये जायें, किन्तु संयुक्त राष्ट्र के प्रयोजनों एवं सिद्धान्तों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उक्त प्रस्ताव सर्वथा न्यायसंगत है। यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि उक्त प्रस्ताव के अन्तर्गत महासभा को शान्ति के लिए संकट सिद्ध होने वाले, शान्ति भंग अथवा आक्रामक कृत्यों की विद्यमानता पर निर्णय करने का अधिकार है, बशर्ते कि सुरक्षा परिषद अपने प्रारम्भिक दायित्वों (शान्ति एवं सुरक्षा के पोषण) के पालन में निषेधाधिकार के कारण असफल हो गयी हो।

छोटी असेम्बली—1947 में सुरक्षा परिषद् में स्थायी सदस्यों के उग्र विरोध और वीटो के प्रयोग के कारण ऐसा गतिरोध उत्पन्न हो गया कि सुरक्षा परिषद् में युद्ध और आक्रमणों की आशंकाओं से भयभीत विश्व को सुरक्षा पाने या शान्ति बनाये रखने की आशाओं का पूरा होना असम्भव प्रतीत हुआ। अतः महासभा ने इस नवीन परिस्थिति का सामना करने के लिए 13 नवम्बर, 1947 को 'अन्तरिम समिति' (Interim Committee) नामक एक सहायक अंग स्थापित किया। इसे छोटी असेम्बली कहा जाता है। यह महासभा से बहुत छोटी है, उसका पंचमांश और सदा अधिवेशन में बनी रहने वाली स्थायी संस्था है। यह महासभा का सामान्य अधिवेशन न होने की दशा में उसके अधिकार क्षेत्र में आने वाले प्रश्नों पर विचार करती है। इसके लिए इसे जाँच कमीशन नियत कराने, आवश्यक अन्वेषण कराने और महासचिव को महासभा का विशेष अधिवेशन बुलाने की सिफारिश करने का अधिकार है। महासभा के प्रत्येक सदस्य को इसमें एक सदस्य भेजने का अधिकार है। आरम्भ में यह दो बार एक वर्ष के लिए बनायी गयी थी। नवम्बर 1949 में इसे अनिश्चित अवधि के लिए पुनः स्थापित किया गया। सन् 1952 के बाद इसकी कोई बैठक नहीं हुई है। सोवियत संघ तथा उसके समर्थक देश इसके घोर विरोधी थे।

महासभा की प्रतिष्ठा में वृद्धि के कारण—डॉ. नगेन्द्रसिंह के अनुसार, 1949 में सुरक्षा परिषद् की तुलना में महासभा का महत्व बढ़ रहा है।[1] सुरक्षा परिषद् की अपेक्षा वर्तमान में महासभा की शक्तियों में निरन्तर वृद्धि हो रही है, इसके निम्न प्रमुख कारण हैं :

(1) महासभा में सभी देशों को प्रतिनिधित्व मिला हुआ है जिससे लोकतन्त्र के इस युग में यह विश्व लोकमत का प्रतीक बन गयी है। जनमत की शक्ति के कारण इसके द्वारा लिये गये निर्णयों की उपेक्षा करना किसी भी सदस्य राष्ट्र के लिए सम्भव नहीं होता।

(2) राज्यों के आपसी विवादों को दूर करने के लिए महासभा द्वारा जो प्रस्ताव पारित किये गये है, उनका असाधारण महत्व है, जिससे इसकी शक्तियों एवं प्रभाव में भी वृद्धि हो गयी है।[2]

(3) सुरक्षा परिषद में निषेधाधिकार के बार-बार प्रयोग होने के कारण अनेक बार महासभा को महत्वपूर्ण भूमिका निभाने का अवसर मिलता है। निषेधाधिकार से उत्पन्न गतिरोध को दूर करने के लिए पहले इसने छोटी सभा (Little Assembly) बनायी थी और बाद में 'शान्ति के

---

1 "It is well known that the decline in the importance of the Security Council has been paralleled by a marked increase in the influence of the General Assembly."
—Dr. Nagendra Singh, *"Recent Trend in the Development of International Law and Organisation promoting Inter-state Co-operation World Peace."*

2 According to Goodrich and Simons (The U. N. and Maintenance of International Peace and Security) Assembly has increased its powers because; i) The inability of the Security Council to function effectively. (ii) The broad nature of the competence of the Assembly, (iii) Wide backing to Assembly by the International comity, (iv) Superiority of the Assembly as a propaganda forums etc.

लिए एकता' प्रस्ताव पारित किया। इन दोनों घटनाओं ने इसकी प्रतिष्ठा एवं शक्तियों में अभूतपूर्व वृद्धि की।

(4) वस्तुत: संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों की संख्या में निरन्तर होने वाली वृद्धि इसके आकार और प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि का स्वाभाविक कारण रही है। संयुक्त राष्ट्र की महासभा का प्रारम्भ 51 सदस्य राज्यों से हुआ था और आजकल इसके सदस्य राज्यों की संख्या 159 है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संयुक्त राष्ट्र वस्तुत: एक सार्वदेशिक संस्था है।

(5) महासभा को 'विश्व का उन्मुक्त अन्तःकरण' कहा जा सकता है क्योंकि यह अणुबम से लेकर मानवीय कल्याण, भोजन, कपड़ा, आवास तक की सभी समस्याओं पर विचार करती है और सिफारिश करती है। एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के नवोदित राष्ट्र इसकी कार्यवाहियों को बड़ी आशा भरी दृष्टि से देखते हैं।

हेरल्ड निकल्सन के अनुसार इसकी सिफारिशों का नैतिक ही नहीं वरन् राजनीतिक प्रभाव निश्चित एवं स्पष्ट रूप से पड़ता है।

(6) आपात्कालीन सेना की नियुक्ति के कारण ही महासभा की शक्ति और प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई है।

(7) सुरक्षा परिषद के साथ ही महासभा को भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के प्रश्नों पर विचार करने का अधिकार है। इस अधिकार का समुचित प्रयोग कर महासभा ने अपनी प्रतिष्ठा में वृद्धि की है।

(8) महासभा का अन्वेषणात्मक और निरीक्षणात्मक अधिकार भी इसे संघ के अन्य अंगों की अपेक्षा विशिष्ट स्थिति प्रदान करता है।

महासभा की भूमिका : मूल्यांकन—महासभा को आधुनिक विश्व का उन्मुक्त अन्तःकरण (Open Conscience of the World) कहा जाता है। **श्लीचर** के अनुसार महासभा की प्रतिष्ठा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।[1] गुडरिच के अनुसार, महासभा एक सार्वजनिक सभास्थल ही नहीं बल्कि इसने अपने आपको निश्चय लेने योग्य भी प्रमाणित कर दिया है। विश्वशान्ति और सुरक्षा स्थापित करने में भी इसने महत्वपूर्ण योग दिया है।[2] स्टार्क के अनुसार, 'यह बात उल्लेखनीय है कि महासभा ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी प्रश्नों के समाधान में प्रमुख रूप से भाग लिया है। इसने संयुक्त राष्ट्र संघ के समक्ष लाये गये कुछ प्रमुख प्रश्नों पर विचार करते पैलेस्टाइन, यूनान, स्पेन और कोरिया के सम्बन्ध में कार्यवाही है।[3]

आजकल महासभा की बैठकों में गुटीय भावनाओं का आभास मिलता है। कभी-कभी अफ्रीकन, अफ्रो-एशियन तथा लैटिन अमरीकन समूह नियमित रूप से मिलते हैं और अपनी समस्याओं पर गुटीय दृष्टि से विचार करते हैं। गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का भी एक वर्ग बन गया है। अधिकतर यह देखा गया कि अमरीका एवं यूरोपीय मित्र राष्ट्र पश्चिम का साथ देते हैं एवं अपेक्षाकृत अफ्रीकन-एशियन आवश्यकताओं के प्रति कम उदार होते हैं जबकि सोवियत संघ एवं कुछ अफ्रीकन-एशियन राष्ट्र उनके विरोध में रहते हैं।

संक्षेप में, महासभा के महत्व, प्रभाव और शक्ति में विस्तार हुआ है।[4]

---

1 Schliecher, *An Introduction to International Relation*, p. 266.
2 Leland M. Goodrich, *Charter of the United Nations*, p. 83.
3 Starke, *An Introduction to International Law*, pp. 459-60.
4 "The numerous resolutions which the Assembly has passed on critical subjects of inter-state relationship have gone a long way not only to establish the high authority of the General Assembly but also to expand its functions and to make its jurisdiction so wide as to become almost all embraciting." —*Dr. Nagendra Singh.*

2. सुरक्षा परिषद् : संगठन एवं भूमिका
(THE SECURITY COUNCIL : ORGANISATION AND ROLE)

राष्ट्र संघ के अनुभवों ने संयुक्त राष्ट्र के निर्माताओं के मस्तिष्क में यह धारणा उत्पन्न करा दी थी कि समूचे विश्व समुदाय के अन्दर एक 'पाँच महाशक्तियों का भी समुदाय' विद्यमान है, जिनकी मित्रता एवं एकमत पर ही विश्व की शान्ति एवं सुरक्षा कायम रह सकती है। फलतः डम्बारटन ओक्स सम्मेलन में इस तथ्य पर अत्यधिक बल दिया गया था कि एक ऐसे कार्यपालक अंग की स्थापना की जाये, जिसकी सदस्यता सीमित हो, जिनमें पाँच बड़े राष्ट्रों को प्राथमिकता हो, जो विश्व में शान्ति एवं सुरक्षा की रक्षा के हेतु पुलिस दायित्व से सम्पन्न हो, जो अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के लिए एक सजग प्रहरी का कार्यभार ग्रहण कर सके, जिसका सत्र कभी समाप्त न हो और जो शान्ति के लिए संकट सिद्ध होने वाले, शान्ति भंग अथवा आक्रामक कृत्यों की विद्यमानता पर शीघ्र निर्णय लेकर उनके निराकरण के लिए तुरन्त एवं प्रभावी कार्यवाही करने में पूर्णतः सक्षम हो।

इसीलिए संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माताओं ने विश्व संस्था की सम्पूर्ण शक्ति 'सुरक्षा परिषद्' में निहित कर दी है। सुरक्षा परिषद् को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा का पहरेदार माना जाता है। महासभा की अपेक्षा सुरक्षा परिषद् बहुत ही छोटा सदन है परन्तु उसकी शक्ति महासभा की अपेक्षा बहुत व्यापक है। यदि महासभा मानवता की सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है तो सुरक्षा परिषद् विश्व की सर्वोच्च शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है। राजनीतिक विषयों में सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र का कार्यपालकीय अंग है। **पामर और पर्किन्स** ने इसे संयुक्त राष्ट्र की कुंजी कहा है; **ए. एच. डाक्टर** ने इसे संघ की प्रवर्तन भुजा; तथा **डेविड कुशमेन** ने इसे दुनिया का पुलिसमैन कहा है। सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र संघ का हृदय है। संकट का समय हो या शान्ति का, संयुक्त राष्ट्र के दूसरे अंग कार्य कर रहे हों या न कर रहे हों, वर्ष का कोई समय हो या कैसा ही मौसम हो सुरक्षा परिषद् अपना कार्य करती ही रहती है।

संगठन—चार्टर के 5वें अध्याय में सुरक्षा परिषद् के संगठन सम्बन्धी नियम दिये गये हैं। इसके अनुसार परिषद् में मूलतः पाँच स्थायी और छः अस्थायी—कुल ग्यारह सदस्य होते थे। परन्तु सितम्बर 1965 में चार्टर के संशोधन द्वारा अस्थायी सदस्यों की संख्या बढ़ाकर दस कर दी गयी। ऐसा इसीलिए किया गया कि सन् 1945 ई. के पश्चात् संघ के सदस्यों की संख्या दुगनी से भी अधिक हो गयी और छोटे-छोटे सदस्य राज्य सुरक्षा परिषद् में अधिक स्थान की माँग करने लगे। तदनुसार महासभा ने निर्णय लिया कि 10 अस्थायी सदस्यो में से 5 एशियाई-अफ्रीकी राज्यों में से, 1 पूर्वी यूरोप में से, 2 दक्षिणी अमरीका व शेष 2 पश्चिमी यूरोप व अन्य राज्यों में से होने चाहिए। इस प्रकार सुरक्षा परिषद् की कुल सदस्य संख्या 15 हो गयी। चीन, फ्रांस, सोवियत संघ, ग्रेट ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमरीका इसके स्थायी सदस्य हैं। जब तक सुरक्षा परिषद् का अस्तित्व रहेगा इनकी सदस्यता भी बनी रहेगी। अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन महासभा अपने दो-तिहाई बहुमत से दो वर्ष के लिए करती है। सदस्यों का निर्वाचन करते समय महासभा संगठन के उद्देश्यों, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों के योगदान का तथा भौगोलिक क्षेत्रों को प्रतिनिधित्व देने की आवश्यकता का ध्यान रखेगी। जिस देश का कार्यकाल समाप्त हो जाता है, उसे उसी साल पुनः उम्मीदवार होने का अधिकार प्राप्त नहीं होता। अस्थायी सदस्यों के प्रथम निर्वाचन में तीन सदस्य एक वर्ष के कार्यकाल के लिए चुने गये थे। 14 नवम्बर, 1970 को भारत सहित 19 गुटनिरपेक्ष देशों ने सुरक्षा परिषद् की संख्या बढ़ाने हेतु एक प्रस्ताव महासभा में पेश किया। इस प्रस्ताव में माँग की गयी कि परिषद् के सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 21 कर दी जाय। गुटनिरपेक्ष देशों का तर्क था कि इससे तीसरी दुनिया

के देशों को परिषद् में समुचित प्रतिनिधित्व मिल सकेगा। अमरीका और सोवियत संघ का मत था कि इससे सुरक्षा परिषद् की कुशलता नकारात्मक रूप से प्रभावित होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महासभा के विपरीत संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् की सदस्यता सीमित कर दी गयी है। आजकल इनकी सदस्य संख्या 15 है जिनमें से 5 स्थायी सदस्य हैं एवं दूसरे 10 अस्थायी सदस्य हैं। सन् 1945 में ही इन पाँच स्थायी सदस्यों का नामोल्लेख कर दिया गया था क्योंकि उस समय यही उपधारणा की गयी थी कि द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् इन पाँच राष्ट्रों के अतिरिक्त और कोई महान शक्ति विद्यमान नहीं थी; जो विश्व में शान्ति एवं सुरक्षा कायम रखने में सक्षम प्रतीत हो। वास्तव में यह उस समय का एक राजनीतिक निर्णय था तथा इन पाँच स्थायी सदस्यों के नामोल्लेख ने गतिशीलता की जगह स्थायित्व के तत्वों का समावेश करने का प्रयास किया था। चार्टर के अंगीकार करने के पश्चात् कम से कम 25 वर्षों तक स्थायी सदस्यों की सूची परिदृढ़ रही और उक्त सूची में कोई परिवर्तन नहीं दीख पड़ा किन्तु साम्यवादी चीन के प्रवेश के बाद यह प्रमाणित हो गया कि चार्टर विधि स्थिर नही गतिशील है। विश्व की महान शक्तियों की सूची भी परिवर्तनशील है। सन् 1945 ई. में तथाकथित 'पाँच बड़े' स्थायी सदस्य राज्यों में चीनी गणराज्य को भी रखा गया था किन्तु सन् 1971 ई. में उसे स्थायी सदस्यों की सूची से निष्कासित कर साम्यवादी चीन को स्थायी सदस्य बनाया गया। इस परिवर्तन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संयुक्त राष्ट्र के संस्थापकों द्वारा 'विनिर्दिष्ट स्थायी सदस्यों की सूची' तर्कहीन थी।

परिषद् की कार्यप्रणाली—सुरक्षा परिषद् में प्रत्येक सदस्य राष्ट्र के सिर्फ एक-एक प्रतिनिधि रहते हैं अतः इस परिषद् की बैठक में अधिक से अधिक पन्द्रह सदस्य उपस्थित होते हैं जिससे गम्भीर विषयों पर विचार-विमर्श करने और निर्णय देने में सुविधा होती है। सुरक्षा परिषद् के प्रत्येक सदस्य राज्य का एक-एक प्रतिनिधि संघ के मुख्य कार्यालय में बना रहता है। प्रक्रिया सम्बन्धी मामलों (Peocedural matters) में निर्णय के लिए 9 मतों की आवश्यकता होती है। प्रक्रिया सम्बन्धी विषयों का आशय ऐसे मामलों से है जिनमें सुरक्षा परिषद् की बैठक के समय या स्थान का निर्णय करना, इसके सहायक अंगों की स्थापना, कार्यवाही चलाने के नियम और सदस्यों को बैठक में सम्मिलित होने के लिए निमन्त्रित करना आदि से है। परन्तु अन्य सभी महत्वपूर्ण मामलों (Substantive matters) में निर्णय के लिए 9 स्वीकारात्मक मतों के साथ यह भी आवश्यक है कि पाँचों स्थायी सदस्य भी उस निर्णय से सहमत हों। इस प्रकार प्रत्येक स्थायी सदस्य को सभी महत्वपूर्ण विषयों में निषेधाधिकार (Veto) प्राप्त है। परन्तु साथ ही यह भी नियम है कि झगड़े से सम्बन्धित दल मतदान नही करता। यदि कभी सुरक्षा परिषद् में ऐसे विषय पर विचार होता है, जिससे संयुक्त राष्ट्र के किसी ऐसे सदस्य राज्य के विशेष हितों पर प्रभाव पड़ता हो, जो सुरक्षा परिषद का सदस्य न हो तब वह राज्य परिषद् की कार्यवाही में भाग ले सकता है, परन्तु उसे मतदान में भाग लेने का अधिकार नहीं होता।

कार्य एवं क्षेत्राधिकार—प्रमुख रूप से विश्व शान्ति एवं सुरक्षा उसका कार्यक्षेत्र है। सुरक्षा परिषद् के क्षेत्राधिकार में आने वाले बहुत-से संगठनात्मक विषयों मे उसे कानूनी रूप से बाध्यकारी अधिकार प्राप्त हैं। नये राष्ट्रों को संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता प्रदान करना, महासचिव का चयन, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति आदि सभी ऐसे कार्य जो वह महासभा से मिलकर करती है बाध्यकारी प्रभाव रखते हैं। सुरक्षा परिषद् अपने आन्तरिक मामलों का स्वयं निर्णय करती है यद्यपि महासभा उनके सम्बन्ध में चर्चा एवं सिफारिश कर सकती है। जहाँ तक शान्ति एवं सुरक्षा सम्बन्धी निर्णयों को लागू करने का प्रश्न है, केवल सुरक्षा परिषद् ही शान्ति भंग करने वाले के विरुद्ध कठोर कार्यवाही कर सकती है। यदि सुरक्षा परिषद् यह

निर्णय करती है कि किसी परिस्थिति से विश्व-शान्ति एवं सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो गया है या शान्ति भंग हो रही है एवं यदि किसी राष्ट्र ने दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण कर दिया है तो उसे कूटनीतिक, आर्थिक एवं सैनिक कार्यवाही का आदेश करने का अधिकार है एवं सदस्य राष्ट्र चार्टर की इच्छानुसार उक्त निर्णय को मानने एवं लागू करने को बाध्य है।

नये सदस्यों को सदस्यता प्रदान करने के क्षेत्र में सुरक्षा परिषद् को महासभा की अपेक्षा अधिक निर्णयात्मक अधिकार प्राप्त हैं। सदस्यता प्राप्त करने के लिए किसी भी देश को संयुक्त राष्ट्र के महासचिव के पास आवेदन प्रस्तुत करना पड़ता है जिसे वह सुरक्षा परिषद् के विचार हेतु भेज देता है। सुरक्षा परिषद् सदस्यता प्रदान करने से सम्बन्धित अपनी समिति की राय पर स्वयं उक्त देश की सदस्यता की पात्रता पर विचार करती है जिसमें वह बहुत ही विशिष्ट परिस्थितियों में सन्तुष्ट होकर महासभा के पास अपनी सिफारिश भेज देती है। सुरक्षा की उक्त सिफारिश उसके सभी स्थायी सदस्यों की सहमति पर ही आधारित है।

संयुक्त राष्ट्र का महासचिव सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर ही महासभा द्वारा नियुक्त किया जाता है। स्थायी सदस्यों की सहमति के आधार पर सुरक्षा परिषद् एवं अन्त में महासभा अपने निर्णय ले सकती है। द्वितीय महासचिव डॉग हेमरशोल्ड के निधन के उपरान्त महासचिव के लिए स्थायी सदस्यों की सहमति प्राप्त करना एक संकट का विषय बन गया था।

सुरक्षा परिषद् का उद्देश्य 'शान्ति की स्थापना' माना जाता है। सुरक्षा परिषद् पहले तो विवाद को प्रस्तावों द्वारा समाप्त करना चाहती है, उसके बाद आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने पर विचार करती है और अन्त में सैनिक कार्यवाही की शक्ति एवं अधिकार का प्रयोग कर सकती है। चार्टर में संयुक्त राष्ट्र की सेना का कहीं उल्लेख नहीं है। सुरक्षा परिषद के पास यह अधिकार अवश्य है कि वह सदस्य राष्ट्रों से किसी भी समय उसे सेनाएँ उपलब्ध कराने को कह सकती है, जिसे वह निर्धारित उद्देश्य के लिए उपयोग करने का आदेश भी कर सकती है। चार्टर ने सुरक्षा परिषद् को अधिकृत किया है कि वह शान्ति की स्थापना के लिए जल, थल तथा नभ सेना का यथा-उचित प्रयोग कर सके।

सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर ही कोई राष्ट्र, जिसके खिलाफ अनुशासन की कार्यवाही की गयी हो; सदस्यता के अधिकार से अनिश्चित काल के लिए वंचित किया जा सकता है। परिषद् को पुनः सदस्यता प्राप्त करा देने का भी अधिकार है। सुरक्षा परिषद् के निर्णय पर ही ऐसा राज्य जिसने संयुक्त राष्ट्र संघ की लगातार अवहेलना की हो सदस्यता से निकाला जा सकता है।

संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में परिवर्तन अनुच्छेद 109 के अनुसार महासभा के दो-तिहाई सदस्यों के मत के अतिरिक्त सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों के समर्थन पर ही हो सकता है।

परिषद् के चार तरीके—अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को निपटाने के लिए सुरक्षा परिषद् निम्नलिखित चार प्रकार के तरीके अपना सकती है :

(1) सर्वप्रथम, सम्बन्धित राष्ट्रों को आपसी वार्ता व पत्र-व्यवहार के लिए प्रेरित करती है।

(2) द्वितीय, पंचो, मध्यस्थों और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों द्वारा निर्णय का सुझाव रखती है।

(3) तीसरे व प्रभावी उपाय के रूप में दोषी राष्ट्र के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध की आज्ञा दे सकती है।

(4) आवश्यकता पड़ने पर अन्तिम उपाय के रूप में सैनिक कार्यवाही कर सकती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के पास अपनी सेना नहीं है, पर सैनिक कार्यवाही के लिए उसे सदस्य राष्ट्रों की सेनाएँ प्राप्त होती हैं।

सुरक्षा परिषद् सम्बन्धित राष्ट्रों से अपने विवादों को शान्तिपूर्ण माध्यम से सुलझाने का आग्रह कर सकती है। परिषद् प्रत्येक ऐसी परिस्थिति की जांच भी कर सकती है जब उसे स्थिति के बिगड़ने का आभास होने लगे। सुरक्षा परिषद् को संयुक्त राष्ट्र का पुलिस स्टेशन कहा जा सकता है। वह सदस्य राष्ट्रों से अपराधी राष्ट्र के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही के अतिरिक्त सभी उपाय करने का आग्रह कर सकती है। यदि किसी राष्ट्र ने सुरक्षा परिषद् के शान्तिपूर्ण समाधान की अवज्ञा कर दी हो तो वह सभी सदस्यों से इस बात का अनुरोध कर सकती है कि वे अपराधी राष्ट्र से अपने आर्थिक सम्बन्ध पूर्ण या आंशिक रूप से समाप्त कर लें। सदस्य राष्ट्रों से यह भी कहा जा सकता है कि उक्त राष्ट्र से हर तरह के कूटनीतिक सम्बन्ध समाप्त कर लिये जायें एवं सभी सदस्य राष्ट्र उससे सब तरह के रेल, समुद्र, वायु, पोस्ट, रेडियो, टेलीफोन एवं संचार के अन्य सम्बन्ध समाप्त कर लें। सबसे बड़ी समस्या यह है कि सुरक्षा परिषद् के अधिकार में ऐसे कोई साधन नहीं हैं जिनका वह अपराधी राष्ट्र के विरुद्ध प्रत्यक्ष उपयोग कर सके। अधिकतर सम्भावना यह रहती है कि सदस्य राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के द्वारा दी गयी सलाह पर कार्यवाही न करें क्योंकि सुरक्षा परिषद के उक्त आदेश भी बाध्यकारी नहीं होते। यदि कभी दुर्भाग्यवश अपराधी राष्ट्र का समर्थन कोई महाशक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कर रही है तो सुरक्षा परिषद की सब कार्यवाही उपदेश मात्र रह जायेगी।

यदि सुरक्षा परिषद को यह विश्वास हो जाय कि शान्ति भंग करने वाले राष्ट्र के विरुद्ध किये गये असैनिक उपाय अपर्याप्त हैं, तो वह तुरन्त जल, थल तथा नभ सेना द्वारा कार्यवाही कर सकती है। इस तरह की कार्यवाही पूर्ण सैनिक दबाव का रूप भी ग्रहण कर सकती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सुरक्षा परिषद का संगठन ऐसा किया गया है कि यदि उसके सभी स्थायी सदस्य एकमत होकर कार्य करें तो विश्व में शान्ति भंग होने का भय हमेशा के लिए समाप्त हो जाय। महाशक्तियों के बीच विचारधाराओं का अन्तर है और उनके राष्ट्रीय हित आपस में इतने अधिक टकराते हैं कि सुरक्षा परिषद को जो भी सैनिक शक्तियाँ उपलब्ध हैं उनका यथार्थ उपयोग सम्भव ही नहीं है।

परिषद् की सैनिक स्टाफ समिति—सुरक्षा परिषद सशस्त्र सेनाओं को उपयोग में लाने की योजनाएँ एक सैनिक स्टाफ समिति (Military Staff Committee) की सलाह से बनायेगी। यह सैनिक स्टाफ समिति सुरक्षा परिषद को निम्न विषयों में सहायता और परामर्श देगी—अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने की सैनिक आवश्यकताएँ, इस समिति के अधीन सेनाओं का प्रयोग और कमान, शस्त्रों का नियन्त्रण एवं सम्भावित निशस्त्रीकरण। इस समिति के सदस्य सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों के सैनिक स्टाफों के अध्यक्ष या उनके प्रतिनिधि होंगे। सुरक्षा परिषद को उपयोग के लिए दी गयी सशस्त्र सेनाओं का सामरिक सचालन सैनिक स्टाफ समिति के हाथ में होगा और यह परिषद के अधीन होगी।

सुरक्षा परिषद में मतदान की प्रणाली तथा वीटो—चार्टर की धारा 27 में सुरक्षा परिषद में मतदान की प्रक्रिया का वर्णन है। इसके अनुसार प्रक्रिया सम्बन्धी विषय में परिषद के निर्णय 9 सदस्यों के स्वीकारात्मक मत से किये जायेंगे। प्रक्रिया सम्बन्धी विषयों का आशय ऐसे मामलों से है जिनमें सुरक्षा परिषद की बैठक के समय या स्थान का निर्णय करना, इसके सहायक अंगों की स्थापना, कार्यवाही चलाने के नियम और सदस्यों को बैठक में सम्मिलित होने के लिए निमन्त्रित करना आदि हों। इसके अतिरिक्त, सब विषय महत्वपूर्ण या सारवान (Substantive) समझे जाते हैं। ऐसे विषयों के निर्णयों के लिए 9 सदस्यों के स्वीकारात्मक वोट के साथ 5 स्थायी सदस्यों के स्वीकारात्मक वोट भी होने चाहिए। इस व्यवस्था के अनुसार यदि 5 स्थायी सदस्यों में से कोई एक भी किसी महत्वपूर्ण निर्णय के विपक्ष में वोट दे देता है तो वह विषय

अस्वीकृत समझा जायेगा। इस प्रकार प्रत्येक स्थायी सदस्य को निषेधाधिकार (Veto) प्राप्त है।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रक्रिया सम्बन्धी विषयों को छोड़कर अन्य सभी विषयों में निर्णय के लिए पाँचों स्थायी सदस्यों की सर्वसम्मति अनिवार्य है। यदि कोई भी स्थायी सदस्य इन विषयों में निर्णय लेने के समय अपना नकारात्मक मत प्रदान करता है, तो सुरक्षा परिषद उन विषयों पर कोई निर्णय नहीं ले सकती। इस प्रकार स्थायी सदस्यों में से किसी भी एक का नकारात्मक मत सुरक्षा परिषद को निर्णय लेने से रोक सकता है। सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों की इस शक्ति को निषेधाधिकार की शक्ति कहते हैं। इस प्रकार तथाकथित 'पाँच बड़ों' में से कोई भी सदस्य दूसरे राज्यों के सम्बन्ध में निर्णय लेने एवं उनके विरुद्ध विधि लागू करने में सक्षम हो सकता है, किन्तु स्वय विधि के ऊपर है।

निषेधाधिकार की पृष्ठभूमि—द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान यास्टा शिखर सम्मेलन में अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने सबसे पहले निषेधाधिकार का प्रस्ताव रखा था। स्टालिन तथा चर्चिल ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया था। बाद मे सेनफ्रांसिस्को सम्मेलन में भी मतदान प्रक्रिया पर विचार-विमर्श के क्रम में चारो महाशक्तियाँ इस पर एकमत रही। निषेधाधिकार का आधार यह विचार था कि उत्तरदायित्व तथा अधिकार परस्पर सम्बन्धित होने चाहिए। सेनफ्रांसिस्को सम्मेलन के तीसरे आयोग के अधिशासी अधिकारी ग्रेंसन क्रिर्क के अनुसार निषेधाधिकार दो मूलभूत धारणाओं पर आधारित है। इनमें से प्रथम धारणा यह थी कि किसी भी सशस्त्र कार्यवाही में उसका भार प्रधानतः महाशक्तियों को वहन करना पड़ेगा। परिणामस्वरूप परिषद के इन सदस्यों से यह आशा करना अव्यावहारिक होगा कि वे अपनी सेनाओं को उन कार्यवाहियों के लिए प्रदान करेंगे जिनके कि विरोध मे वे हैं। दूसरी धारणा यह थी कि सघ को अपनी शक्ति के लिए महाशक्तियो के आवश्यक सहयोग पर निर्भर रहना चाहिए। यदि वह सहयोग अपर्याप्त रहता है, तब सशस्त्र सुरक्षा सम्बन्धी व्यवस्थाएँ भी अवश्य ही असफल हो जायेंगी।[1]

निषेधाधिकार का प्रयोग—सोवियत रूस ने 16 फरवरी, 1946 को पहली बार निषेधाधिकार का प्रयोग किया। लेबनान तथा सीरिया ने अपने देशों से ब्रिटिश एव फ्रांसीसी सेना हटाये जाने का आग्रह किया था। अमरीका का प्रस्ताव था कि सेनाएँ शीघ्र न हटायी जायें। रूस चाहता था कि सेनाएँ तुरन्त हटा ली जायें। इसलिए रूस ने अमरीकी प्रस्ताव को वीटो द्वारा समाप्त कर दिया। जनवरी 1951 तक करीब 20 विभिन्न विषयों पर रूस ने 48 बार वीटो का प्रयोग किया। अगस्त 1947 में फ्रांस ने हिन्देशिया के प्रश्न-के अध्ययन के लिए आयोग की नियुक्ति के प्रस्ताव के विरुद्ध वीटो का प्रयोग किया। दिसम्बर 1971 में रूस ने 2 बार वीटो का प्रयोग भारत-पाक युद्ध मे अमरीका के भारत विरोधी प्रस्ताव को रद्द करने के लिए किया था। अगस्त 1975 तक 5 बड़े राष्ट्रों ने वीटो का 139 बार प्रयोग किया था। हाल ही मे सोवियत सघ ने सुरक्षा परिषद के उस प्रस्ताव पर 'वीटो' का प्रयोग किया जिसमे अफगानिस्तान से रूसी सेनाएँ हटाने की माँग की गयी थी। दूसरी ओर अमरीका ने फिलिस्तीन से सम्बन्धित उस प्रस्ताव पर वीटो का प्रयोग किया जिसमे फिलीस्तीन के लिए 'राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता के अधिकार की पुष्टि' की गयी थी। सुरक्षा परिषद की प्रथम बैठक की 40वीं वर्षगाँठ पर अमरीका ने एक प्रस्ताव के खिलाफ वीटो का प्रयोग किया, जिसमें दक्षिणी लेबनान में इजराइली सेनाओं को हटाने की माँग की गयी थी। विगत 40 वर्षों में अमरीका ने 44 बार

1 Palmer and Perkins, *International Relations* (Second edition). p. 420.

वीटो का उपयोग किया है। सोवियत संघ ने 116 बार वीटो का उपयोग किया है।[1] सुरक्षा परिषद में इतने कम समय में इतनी अधिक बार वीटो के प्रयोग से विश्व में निराशा का वातावरण तैयार होना स्वाभाविक था।

क्या वीटो के बार-बार प्रयोग के लिए सोवियत रूस को दोषी ठहराना तर्कसंगत है? यह सच है कि अब तक सोवियत संघ ने ही सबसे अधिक बार वीटो का प्रयोग किया परन्तु इसके साथ सोवियत रूस की कठिनाइयों को भी समझने का प्रयत्न करना चाहिए। सोवियत संघ किसी भी दशा में अपनी वीटो शक्ति के द्वारा संयुक्त राष्ट्र को पंगु नहीं बनाना चाहता था क्योंकि इसकी स्थापना में उसकी प्रमुख भूमिका थी। पश्चिमी राष्ट्रों ने यदि प्रारम्भ से ही रूस को विश्वास में लेकर कार्य करना प्रारम्भ किया होता तो रूस के वीटो के कारण महत्वपूर्ण प्रश्न अनिर्णीत नहीं रह जाते। संयुक्त राष्ट्र के निर्माताओं की यह इच्छा कभी नहीं थी कि इस संगठन को पश्चिमी राष्ट्रों के हित-साधन का एक माध्यम समझ लिया जायेगा। अमरीका ने संयुक्त राष्ट्र पर अपना अधिकार यह कह कर बनाये रखने का प्रयास किया है कि वह संयुक्त राष्ट्र के अधिकांश व्यय का भार वहन करता है। कुछ आलोचकों का मत है कि अमरीका तथा उनके मित्र-राष्ट्र अपना आर्थिक, राजनीतिक तथा सैनिक प्रभाव बढ़ाने के लिए संयुक्त राष्ट्र का खुल कर प्रयोग करने लगे। इसलिए सोवियत संघ को बार-बार वीटो का प्रयोग करना पड़ा। वस्तुतः सुरक्षा परिषद में वीटो का प्रयोग शीत-युद्ध का दूसरा रूप है।

निषेधाधिकार का परिणाम—निषेधाधिकार के कारण अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं का निर्णय दुर्लभ हो गया। रूस के समर्थक राष्ट्रों को अमरीका के विरोध के कारण एवं अमरीकी समर्थक राष्ट्रों को रूस के कारण बहुत दिनों तक संघ की सदस्यता नहीं मिली। ब्रिटेन एवं फ्रांस ने वीटो का सहारा लेकर सन् 1956 में मध्य-पूर्व की शान्ति एवं सुरक्षा को भंग किया।

निषेधाधिकार के अधिक प्रयोग से सुरक्षा परिषद का प्रभाव घटने लगा। सुरक्षा परिषद की निर्बलता के कारण महासभा का प्रभाव बढ़ने लगा। निषेधाधिकार के प्रभाव को कम करने के लिए अन्तरिम समिति और शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव पारित करने पड़े। वीटो के कारण संयुक्त राष्ट्र के महासचिव की नियुक्ति में भी बहुत बाधाएँ उत्पन्न हुईं।

दोहरा निषेधाधिकार—संयुक्त राष्ट्र चार्टर 'प्रक्रिया सम्बन्धी' तथा 'महत्वपूर्ण विषयों' में भेद तो करता है परन्तु उसकी स्पष्ट व्यवस्था नहीं करता। प्रक्रिया सम्बन्धी मामले के अतिरिक्त किसी भी विषय में निर्णय के समय महाशक्तियों (स्थायी सदस्यों) में से कोई भी नकारात्मक मत प्रदान कर सकता है और इस प्रकार परिषद को निर्णय लेने से रोक सकता है। यह शक्ति पहली वीटो की शक्ति (Power of First Veto) कहलाती है। दूसरे वीटो का प्रश्न उस समय उठता है जबकि सुरक्षा परिषद को यह तय करना होता है कि कोई विषय प्रक्रिया सम्बन्धी (Procedural) है या नहीं? चूँकि यह प्रश्न कि कोई विषय प्रक्रिया सम्बन्धी है अथवा नहीं, एक कार्य विधिक प्रश्न नहीं है अतः इस पर निर्णय लेते वक्त 9 सदस्यों का मत अनिवार्य है, जिसमें 5 स्थायी सदस्यों के मत भी सम्मिलित होते हैं। इस प्रश्न के निर्धारण में स्थायी सदस्य दूसरे वीटो (Second Veto) का प्रयोग कर सकते हैं।[2] संक्षेप में, इन प्रावधानों के कारण ऐसा कहा जाता है कि दोहरी वीटो की शक्ति के कारण महाशक्तियों को ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है, जिसके द्वारा वे सुरक्षा परिषद की किसी भी कार्यवाही को रद्द करवा सकती है।

---

1 राजस्थान पत्रिका, 19 जनवरी, 1986, पृ० 12।

2 (i) Veto may be exercised in deciding whether or not a matter is procedural, (ii) Second veto can be exercised by big five to non procedural. This is khown as double veto—"The Veto on the veto" —Goodrich.

निषेधाधिकार के विपक्ष में तर्क : आलोचना—अनेक आलोचकों के अनुसार सुरक्षा परिषद अपने सामूहिक सुरक्षा के कार्य में असफल हो गयी है और इस असफलता का प्रधान कारण महाशक्तियों का निषेधाधिकार है। **पामर तथा पर्किन्स** के अनुसार, 'किसी भी बात ने संयुक्त राष्ट्र में लोक विश्वास को कम करने में उतना योग नहीं दिया है, जितना कि सुरक्षा परिषद में वीटो के बार-बार उपयोग अथवा दुरुपयोग ने।' **डब्ल्यू. आरनोल्ड फास्टर** के अनुसार, वीटो का भय सम्पूर्ण व्यवस्था पर छाया हुआ है। ऐसी व्यवस्था के रक्त में ही पक्षाघात है। यह उस कार के समान है जिसका स्टार्टर किसी भी समय उसकी यन्त्र-व्यवस्था में गड़बड़ करके उसके इंजिन को रोक सकता है। वीटो की निम्नलिखित तर्कों के आधार पर आलोचना की जाती है :

(1) वीटो की व्यवस्था के कारण सुरक्षा परिषद में बड़े राष्ट्रों का आधिपत्य जम गया है और बहुमत का कोई महत्व नहीं रह गया है। **केल्सन** ने लिखा है कि वीटो के द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ में पाँच स्थायी सदस्यों को निषेधाधिकार प्राप्त हो गया है और इस प्रकार अन्य सदस्यों पर उनकी कानूनी प्रभुता स्थापित हो गयी है। चार्टर के द्वारा सब सदस्यों को समान माना गया है पर वीटो की व्यवस्था इस सिद्धान्त का उल्लंघन करती है।

(2) वीटो के प्रयोग से सुरक्षा परिषद का कोई भी स्थायी सदस्य किसी भी कार्यवाही को विफल कर सकता है और विश्व लोकमत की उपेक्षा कर सकता है।

(3) वीटो महाशक्तियों की निरंकुशता और स्वच्छन्दता का परिणाम है। इसे महाशक्तियों ने अपनी शक्ति के बल पर अन्य सदस्यों पर लाद दिया है क्योंकि कोई भी महाशक्ति वीटो की अनुपस्थिति में संघ का सदस्य बनने के लिए तैयार नहीं थी। वीटो की तुलना ऐसी शादी से की गयी है जो बन्दूक के बल पर की गयी है।

(4) महाशक्तियों ने वीटो का दुरुपयोग किया है। वीटो के कारण सुरक्षा परिषद शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था के अपने उत्तरदायित्व को पूरा करने में असमर्थ हो गयी। **ट्रिग्वे ली** के शब्दों में 'वीटो के कारण संयुक्त राष्ट्र नपुंसक है। यह महाशक्तियों के संघर्ष द्वारा पक्षाघात-ग्रस्त कर दिया गया है।'

(5) वीटो के प्रयोग ने सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को नष्ट कर दिया है। अब राष्ट्र अपनी सुरक्षा के लिए नाटो, सीटो, सेण्टो जैसे प्रादेशिक सुरक्षा संगठनों की रचना करने लगे हैं। सन् 1946 में फिलीपाइन्स के प्रतिनिधि ने तो यहाँ तक कहा कि 'वीटो एक फ्रेन्केन्सटीन दैत्य है.......वह संयुक्त राष्ट्र संघ में सभी व्यावहारिक कार्यवाहियों को रोक देता है.......।[1]

निषेधाधिकार के पक्ष में तर्क : अनिवार्यता—सुरक्षा परिषद से वीटो की व्यवस्था को हटा देने से समस्या का समाधान नहीं हो सकता। सोवियत संघ को संयुक्त राष्ट्र संघ का एक प्रभावशाली सदस्य बनाये रखने के लिए यह व्यवस्था आवश्यक थी। वीटो की व्यवस्था न होने पर अमरीका और ब्रिटेन जिन्हें विश्व के राष्ट्रों का बहुमत प्राप्त था, रूस और उसके सहयोगी राष्ट्रों को हर मौके पर पराजित कर सकते थे। इस हालत में संयुक्त राष्ट्र संघ पश्चिमी गुट के हाथों में एक कठपुतली बन जाता और सोवियत संघ का उसमें शामिल होना व्यर्थ होता। वीटो की व्यवस्था ने रूस को संयुक्त राष्ट्र संघ में उतना ही प्रभावकारी बना दिया जितना प्रभावकारी अमरीका और ब्रिटेन का बहुमत था। **ए. ई. स्टीवेन्सन** ने कहा है कि, 'स्वयं वीटो हमारी कठिनाइयों का आधारभूत कारण नहीं है। यह रूस के लोगों के साथ दुर्भाग्यपूर्ण एवं दीर्घ स्थित विभेदों का प्रतिबिम्ब मात्र ही है।' संक्षेप में, वीटो के पक्ष में अग्रलिखित तर्क दिये जाते हैं :

---

[1] 'एस. लेरी लियोनार्ड, **इण्टरनेशनल आर्गनाइजेन**, पृ. 206 से उद्धृत।

(1) संयुक्त राष्ट्र संघ की सफलता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि शान्ति सुरक्षा की स्थापना के लिए महाशक्तियों के बीच पारस्परिक सहयोग हो। महाशक्तियों के सहयोग के बिना सामूहिक व्यवस्था सम्भव नहीं है। राष्ट्र संघ की विफलता का एक कारण अमरीका और रूस का उससे पृथक् रहना था। स्टीवेन्सन के शब्दों में, 'यदि पाँच बड़े राष्ट्र अपने महत्वपूर्ण हितों से सम्बन्धित किसी मामले में राजी नहीं होते, तो उनमें से किसी के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग एक बड़े युद्ध को जन्म देगा।'[1]

(2) वीटो की व्यवस्था ने शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी मामलों में बड़े राष्ट्रों का सहयोग निश्चित करके यह भी तय कर दिया कि सुरक्षा परिषद का जो भी निर्णय होगा वह बहुत सोच-विचारकर और पूर्ण जिम्मेदारी के साथ होगा, वह ऐसा निर्णय नहीं कर सकेगी जिन्हें पूरा करने की शक्ति उसमें न हो। चूंकि उसके निर्णयों के लिए 5 बड़े राष्ट्रों का सहयोग अनिवार्य है अतएव उन निर्णयों को कार्यान्वित करने में उन पर सामूहिक दायित्व होगा। अतः उसकी कार्यवाहियों की सफलता प्रायः निश्चित हुआ करेगी।

(3) वीटो कई बार अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्वक हल करने में वरदान भी सिद्ध हुआ। संयुक्त राष्ट्र के आरम्भिक वर्षों में यह कहा जाता था कि यदि वीटो को हटा दिया जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनाये रखने का कार्य सुगम हो जायेगा। किन्तु यदि ऐसा होता तो इसमें एक गुट की प्रधानता हो जाती, वीटो ने संघ में विभिन्न पक्षों में सन्तुलन बनाये रखा है और किसी भी गुट को अपना मनमाना कार्य करने से रोका है। उदाहरणार्थ, सुरक्षा परिषद में कश्मीर के प्रश्न पर जब ब्रिटिश-अमरीकन गुट ने पाकिस्तान का समर्थन करना चाहा तो सोवियत संघ ने 1958 में दो बार वीटो के प्रयोग से अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को सँभाला।

(4) वीटो का प्रयोग बड़ी शक्तियाँ एक-दूसरे पर अंकुश बनाये रखने के लिए करती हैं। यदि कभी वीटो को समाप्त करने का प्रयास सफल भी हुआ तो रूस निश्चित ही संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता का त्याग कर देगा एवं इस बात में दो मत नहीं हो सकते कि रूस के अभाव में संयुक्त राष्ट्र का अस्तित्व नगण्य हो जायेगा। संयुक्त राष्ट्र को बनाये रखने के लिए वीटो की बुराइयों को स्वीकार करना ही सार्थक है। पं. जवाहरलाल नेहरू सदैव कहा करते थे कि संयुक्त राष्ट्र बिल्कुल न होने से लँगड़ा संयुक्त राष्ट्र ही अच्छा है।

(5) वीटो संयुक्त राष्ट्र की समस्त कार्यवाहियों को प्रभावित नहीं करता। संयुक्त राष्ट्र की विशेष एजेन्सियों, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, न्यास परिषद, आर्थिक तथा सामाजिक परिषद एवं महासभा में वीटो की व्यवस्था नहीं है।

(6) यदि हम वीटो रहित सुरक्षा परिषद की कल्पना करें तो हमें आभास होगा कि किसी बड़े अशुभ को रोकने के लिए छोटे अशुभ के रूप में वीटो एक आवश्यकता है। उदाहरण के लिए, यदि अमरीका अपने सभी स्थायी सदस्यों की सहायता से एवं अपने बहुमत के प्रभाव से कोई ऐसा निर्णय कराने में सफल हो जाता है जिसे सोवियत रूस स्वीकार नहीं करना चाहता या उक्त निर्णय सोवियत रूस के हितों के प्रतिकूल है तो निश्चित ही सोवियत रूस अपनी हर सम्भव शक्ति से उस निर्णय के क्रियान्वयन को रोकने का प्रयास करेगा जिससे स्वाभाविक रूप से दोनों गुटों, पूर्व एवं पश्चिम के मध्य बड़ा संघर्ष हो सकता है जो अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का स्वरूप ग्रहण कर ले। ऐसी स्थिति में सुरक्षा परिषद के निर्णयों की अवहेलना होगी जिससे उसका महत्व बहुत घट जायेगा। उक्त अप्रिय घटनाओं से बचने के लिए यही उचित होगा कि रूस अपने निषेधाधिकार के द्वारा उस प्रस्ताव को ही समाप्त कर दे।

---

4 फ्रेडरिक एल. शूमां, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध से उदधृत, पृ. 262-63।

(7) इसके अतिरिक्त 'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' स्वीकृत होने एवं 'लघु असेम्बली' की स्थापना से वीटो का महत्व गौण पड़ गया है। अब वीटो का प्रभाव मुख्य रूप से सदस्यता के सम्बन्ध में रह गया। विश्व-शान्ति के सम्बन्ध में अब साधारण सभा को अत्यन्त विस्तृत अधिकार मिल गये हैं जिससे संयुक्त राष्ट्र संघ का कोई काम रुक नहीं सकता। वीटो के कायम रहते हुए भी महासभा द्वारा बहुत-से कामों को सम्पन्न कराया जा सकता है।

इलीचर के शब्दों में वीटो असहमति सूचक लक्षण है, न कि इसका कारण है। अतः वीटो व्यवस्था के समाप्त कर देने से महाशक्तियों के मतभेद दूर नहीं होंगे और इससे कोई बड़ा लाभ नहीं होगा। फिर वीटो कई प्रकार के प्रश्नों के लिए प्रयुक्त होता है। सदस्यता और शान्तिपूर्ण समझौते के सम्बन्ध में इस व्यवस्था की समाप्ति लाभप्रद है. किन्तु शान्ति भंग की तथा आक्रमण की दशा में सैनिक कार्यवाही के सम्बन्ध में वीटो की व्यवस्था को समाप्त करना बहुत विवादास्पद और नयी समस्याओं को उत्पन्न करने वाला है, अतः इस परिस्थिति में वीटो व्यवस्था बनी रहनी चाहिए।

निषेधाधिकार का सुधार—निषेधाधिकार की बुराइयों को दूर करने के लिए समय-समय पर अनेक सुझाव दिये गये हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि सब तरह के निर्णयों के लिए 15 सदस्यों से 8, 9 या अधिक मत पर्याप्त माने जायें। प्रक्रिया सम्बन्धी विषयों में केवल साधारण बहुमत का होना ही उचित है एवं सुरक्षा सम्बन्धी विषयों पर दो-तिहाई अर्थात् 15 से 10 मत होना ही पर्याप्त है। कुछ व्यक्तियों का विचार है कि जिन प्रश्नों पर सुरक्षा परिषद के सभी स्थायी सदस्य एकमत न हों उन्हें अन्तिम निर्णय के लिए महासभा के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिए। यह भी सुझाव दिया जाता है कि वीटो का प्रयोग तभी उचित होगा जब संयुक्त राष्ट्र संघ किसी देश के विरुद्ध सैनिक कार्य करे। एक महत्वपूर्ण सुझाव यह भी है कि मौलिक निश्चयों के लिए सुरक्षा परिषद ने तीन स्थायी सदस्यों के मत आवश्यक हैं। कुछ विचारकों का मत है कि जब-जब स्थायी सदस्य विपक्ष में मत दें तभी वीटो का प्रयोग माना जाय। यह भी सुझाव दिया गया है कि नये राष्ट्रों के प्रवेश, शान्तिपूर्ण ढंग से अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने तथा संयुक्त राष्ट्र महासचिव की नियुक्ति पर वीटो का प्रयोग बिल्कुल नहीं होना चाहिए। इस प्रकार वीटो के सुधार के लिए अनेक प्रस्ताव रखे गये हैं परन्तु वीटो की व्यवस्था में कोई औपचारिक परिवर्तन नहीं किया जा सका है। वैसे 'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' (Uniting for Peace Resolution) तथा लघु असेम्बली (Little Assembly) जैसे व्यवहारिक उपाय से वीटो का महत्व कम अवश्य हो गया है।

सुरक्षा परिषद तथा महासभा के पारस्परिक सम्बन्ध

सुरक्षा परिषद तथा महासभा दोनों संयुक्त राष्ट्र के प्रमुखतम अंग हैं। महासभा को कुछ विद्वान संघ की 'संसद' और सुरक्षा परिषद को 'कार्यपालिका' कहकर पुकारते हैं। चार्टर के अनुसार दोनों अंगों का एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। कई मामलों में दोनों आपस में मिलकर काम करती हैं, जैसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधीशों का निर्वाचन करना। कोई भी राज्य संयुक्त राष्ट्र का सदस्य तभी बनाया जा सकता है जब उसके प्रार्थनापत्र पर सुरक्षा परिषद अपनी सहमति प्रदान करे तथा महासभा निर्धारित बहुमत से उस पर निर्णय ले। इसी प्रकार सदस्यों के निलम्बन तथा निष्कासन के विषय में महासभा तथा सुरक्षा परिषद दोनों मिलकर कार्य करती हैं। इन कार्यों के लिए दोनों ही अंगों का योगदान आवश्यक है। यदि इनमें से एक भी संस्था विरोधी मत प्रकट करती है तो उस प्रश्न पर निर्णय असम्भव हो जाता है।

सुरक्षा परिषद को अपनी वार्षिक रिपोर्ट महासभा को भेजनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त सुरक्षा परिषद के बजट को भी महासभा पारित करती है। जहाँ तक विश्व शान्ति तथा सुरक्षा

बनाये रखने का प्रश्न है, इसकी प्राथमिक जिम्मेदारी सुरक्षा परिषद पर है। परन्तु सुरक्षा परिषद अपनी जिम्मेदारी पूरी करने में असमर्थ या असफल रहती है तो महासभा इस विषय में भी कार्यवाही कर सकती है। 'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' (1950) ने महासभा को यह शक्ति प्रदान की है।

संक्षेप में संयुक्त राष्ट्र संघ अपने उद्देश्य को तभी प्राप्त कर सकता है जबकि महासभा तथा सुरक्षा परिषद एक दूसरे के साथ सहयोग करें तथा मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय संकटों का निवारण करें।

सुरक्षा परिषद की भूमिका : मूल्यांकन—बड़े राष्ट्रों ने सुरक्षा परिषद को अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए औजार की तरह प्रयोग किया है। कुछ विद्वानों का मत है कि सुरक्षा परिषद शक्तिशाली राष्ट्रों के हाथ में खिलौना मात्र है। आजकल महाशक्तियों का सहारा पाकर सदस्य राष्ट्र सुरक्षा परिषद के निर्णयों की अनसुनी कर देते हैं। बड़े राष्ट्रों की इच्छा के विपरीत किसी भी तरह का निर्णय वहाँ सम्भव नहीं है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सुरक्षा परिषद का निर्णय वीटो सम्पन्न राष्ट्रों का निर्णय है। सुरक्षा परिषद की सफलता में उसकी शक्तिहीनता भी बाधक है। उसके पास अपनी कोई फौजी शक्ति नहीं है। सुरक्षा परिषद के निर्णयों का आज अनेक राष्ट्र सम्मान नहीं करते[1] एवं बड़े राष्ट्र स्वयं उसकी उपेक्षा करते हैं। ऐसी स्थिति में संयुक्त राष्ट्र की महासभा का प्रभाव बढ़ना एक अनिवार्य तथ्य हो गया है। महासभा के पास भी कोई स्पष्ट शक्ति तो नहीं है परन्तु वह विश्व की संसद का स्वरूप धारण करती जा रही है। 3 नवम्बर, 1950 के 'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' ने महासभा को अभूतपूर्व शक्ति प्रदान की है। संक्षेप में, महासभा का बढ़ता हुआ महत्व सुरक्षा परिषद की भूमिका के ह्रास का कारण है।

फिर भी सुरक्षा परिषद का महत्व बिल्कुल समाप्त नहीं हुआ है। सुरक्षा परिषद का महत्व इसलिए भी कम नहीं हो सकता क्योंकि पाँचों महाशक्तियों का इसमें प्रतिनिधित्व है और वर्तमान समय में भी विश्व के किसी भी महत्वपूर्ण कार्य करने के लिए पाँचों का सहयोग आवश्यक है। परन्तु पाँचों स्थायी सदस्यों के पारस्परिक संघर्ष के कारण सामूहिक सुरक्षा तथा विश्व शान्ति के हेतु संयुक्त राष्ट्र प्रणाली दुर्बल तथा अव्यावहारिक सिद्ध हुई है।

3. न्यास परिषद का संगठन एवं भूमिका
(THE TRUSTEESHIP COUNCIL : ORGANISATION AND ROLE)

संयुक्त राष्ट्र चार्टर का 9वाँ अध्याय 'न्यास परिषद' के सम्बन्ध में विचार करता है। चार्टर के अनुच्छेद 75 के अनुसार संयुक्त राष्ट्र अपने अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत न्यास प्रदेशों के प्रशासन और नियन्त्रण के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यास व्यवस्था स्थापित करेगा जो समझौतों द्वारा सम्पादित होगी।

न्यास सिद्धान्त का उद्भव

यूरोपीय उपनिवेशीय राष्ट्रों ने 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक एशिया, अमरीका और लेटिन अमरीका के विशाल भूखण्डों पर अपना क्रूरतम शासन स्थापित कर रखा था। इन पराधीन क्षेत्रों के लोगों के साथ तरह-तरह से अन्यायपूर्ण व्यवहार किया जाता था। 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इन पराधीन प्रदेशों के लोगों ने अपने-अपने क्षेत्रों में 'आत्म निर्णय' के अधिकार की माँग की और स्वशासन की प्राप्ति के लिए मुक्ति आन्दोलन शुरू किया।

वर्साय सन्धि के पश्चात् इस धारणा में आमूल परिवर्तन हुआ कि उपनिवेश केवल साम्राज्य-

---

[1] इजराइल दक्षिण अफ्रीका जैसे राज्य परिषद के प्रस्तावों की खुले आम उपेक्षा कर रहे हैं।

वादी उपनिवेशवादी शक्तियों के हित के लिए विद्यमान है। सिद्धान्त रूप में यह कहा जाने लगा कि उपनिवेशों को अन्ततः स्वशासन प्रदान किया जायेगा। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्र संघ की मैण्डेट पद्धति में यह सिद्धान्त अन्तर्निहित था। जब द्वितीय विश्वयुद्ध चल ही रहा था तभी मित्र राष्ट्रों ने 'आत्म निर्णय' के सिद्धान्त का उद्घोष किया था। यह सर्वविदित है कि द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान एक ओर पश्चिमी यूरोप के अधिकांश एशियाई उपनिवेशों पर जापान ने अधिकार कर लिया था और उसने पूर्वी एशिया एवं प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में विजय प्राप्त कर ली थी, जिससे संयुक्त राज्य अमरीका अत्यन्त चिन्तित हो गया था तो दूसरी ओर एशिया के अधिकांश पराधीन भूखण्डों के लोग जाग्रत हो चुके थे और स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष कर रहे थे। ऐसी परिस्थिति में अमरीका के लिए इन पराधीन क्षेत्रों को स्वाधीनता का आश्वासन देना अत्यावश्यक हो गया। अन्ततः अमरीका इस विचार पर दृढ़ हो गया था कि उपनिवेशवाद का युग अब समाप्त हो चुका है। अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने पराधीन लोगों के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन किया, परन्तु ग्रेट ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री चर्चिल साम्राज्यवाद का शंख फूंकते रहे। उपनिवेशवाद उन्मूलन के मार्ग पर अमरीका पीछे नहीं हटा। जब संयुक्त राष्ट्र चार्टर का प्रारूप तैयार हो रहा था; उससे बहुत पहले ही भावी संगठन सम्बन्धी अमरीकी प्रारूप 14 जुलाई, 1943 ई. को प्रकाशित हो चुका था। उक्त प्रारूप के अनुच्छेद 15 में कहा गया था : "ऐसे पराधीन क्षेत्रों में, जहाँ के लोग अभी पूरी तरह स्वशासन प्राप्त नहीं कर सके हैं, 'न्यास पद्धति' का सिद्धान्त लागू किया जायेगा, जिसके अन्तर्गत स्थानीय लोगों के हितों को सर्वोपरि मानकर उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण में रखा जायगा। इस पद्धति का अन्तिम उद्देश्य यह होगा कि इन पराधीन क्षेत्रों के लोग राजनीतिक परिपक्वता प्राप्त कर सकेंगे और आगे चलकर अपने-अपने क्षेत्रों का शासन भार स्वयं ग्रहण करेंगे।"

न्याय परिषद् के उद्देश्य—चार्टर के अनुसार न्यास पद्धति के चार उद्देश्य है—(1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बढ़ाना; (2) लोगों की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी उन्नति में सहयोग देना, स्वशासन अथवा स्वतन्त्रता के क्रमिक विकास में सहायता देना; (3) जाति, लिंग, भाषा और धर्म का भेदभाव किये बिना सबके मानवीय अधिकारों और मूल स्वतन्त्रताओं के प्रति आस्था बढ़ाना और उनमें यह भाव जगाना कि संसार के सब लोग एक-दूसरे पर निर्भर हैं; (4) सामाजिक, आर्थिक और वाणिज्य सम्बन्धी मामलों में संयुक्त राष्ट्र संघ के सब सदस्यों के और उनके नागरिकों के प्रति समानता के व्यवहार का विश्वास दिलाना (धारा 76)

न्यास पद्धति का इतिहास—संयुक्त राष्ट्र संघ ने राष्ट्र संघ की मैण्डेट व्यवस्था के स्थान पर न्यास पद्धति को ग्रहण किया और उसके संचालन के लिए न्यास समिति का निर्माण किया। मैण्डेट की भाँति न्यास की व्यवस्था भी विभिन्न शक्तियों में समझौते का परिणाम थी। न्यास पद्धति का मूल सिद्धान्त यह है कि इस समय कुछ पिछड़े हुए अल्प-विकसित और आदिम दशा वाले प्रदेशों के निवासी इस योग्य नहीं हैं कि वे अपने देश का शासन स्वयं कर सकें और अपने भाग्य-विधाता बन सकें; इन्हें दूसरे विकसित और उन्नत देशों की सहायता अपेक्षित है। सभ्य देशों का यह दायित्व है कि वे इनके विकास में पूरी सहायता दें और जब तक ये अपना शासन करने में समर्थ नहीं हो जाते, तब तक इनकी तथा इनके हितों की देखभाल, इन्हें न्यास या अमानत (Trust) समझते हुए करें, इनका अपने स्वार्थों के लिए शोषण न करें। इन शक्तियों द्वारा यह कार्य संयुक्त राष्ट्र संघ के नियन्त्रण में होना चाहिए। राष्ट्र संघ की मैण्डेट व्यवस्था केवल जर्मनी, टर्की आदि में साम्राज्यवाद से पीड़ित हुए प्रदेशों के लिए थी किन्तु संयुक्त राष्ट्र

संघ की न्यास पद्धति का क्षेत्र उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद द्वारा पराधीन बनाये गये सभी क्षेत्रों के लिए है।

न्यास पद्धति के प्रदेश—चार्टर में न्यास पद्धति में आने वाले दो प्रकार के पराधीन प्रदेशों का वर्णन है—(1) ब्रिटेन, फ्रांस, हालैण्ड आदि पश्चिमी देशों के वशवर्ती और उनके साम्राज्यों के विविध प्रदेश। इन्हें स्वशासन न करने वाले प्रदेश कहा जाता है। इसके सम्बन्ध में चार्टर में केवल सामान्य सिद्धान्तों का वर्णन है और इन पर शासन करने वाली शक्तियों पर संघ का, इसके अतिरिक्त कोई नियन्त्रण नहीं है कि ये इनके सम्बन्ध में कुछ सूचनाएँ संघ को दें। (2) न्यास प्रदेश—ये तीन प्रकार के हैं—(अ) मैण्डेट के अधीन प्रदेश, (ब) द्वितीय विश्व-युद्ध के परिणामस्वरूप शत्रु राज्यों से छीने गये प्रदेश, (स) अपनी इच्छा से महाशक्तियों द्वारा संघ को सौंपे जाने वाले प्रदेश। अभी तक किसी देश ने अपने वशवर्ती किसी क्षेत्र को संघ को सौंपने की उदारता प्रदर्शित नहीं की। राष्ट्र संघ के मैण्डेट वाले प्रदेशों में दक्षिण अफ्रीका के यूनियन ने दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका को तीव्र आलोचनाओं के बावजूद संयुक्त राष्ट्र संघ की न्यास पद्धति के अन्तर्गत प्रदान करना स्वीकार नहीं किया है।

न्यास पद्धति के अन्तर्गत आरम्भ में निम्नलिखित 11 प्रदेश थे :

न्यास प्रदेश	प्रशासक देश	जनसंख्या	क्षेत्रफल (वर्ग किमी. में)
1. न्यूगिनी	आस्ट्रेलिया	19,06,200	1,48,800·0
2. रुआण्डा-उरुण्डी	बेल्जियम	37,18,696	33,464·8
3. फ्रेंच कैमरुन्ज	फ्रांस	26,02,500	2,66,873·5
4. फ्रेंच टोगोलैण्ड	फ्रांस	9,44,446	33,976·5
5. पश्चिमी समोआ	न्यूजीलैण्ड	72,936	1,810·4
6. टांगानिका	ग्रेट ब्रिटेन	70,79,557	5,80,298·4
7. ब्रिटिश कैमरुन्ज	ग्रेट ब्रिटेन	9,91,000	58,028·8
8. ब्रिटिश टोगोलैण्ड	ग्रेट ब्रिटेन	3,82,200	20,864·0
9. नौरू	आस्ट्रेलिया	3,162	129·6
10. प्रशान्त महासागर के द्वीपों का न्यास प्रदेश	सं. रा. अमरीका	60,000	1,097·6
11. सुमालीलैण्ड	इटली	9,15,000	3,02,400·0
योग 11	7	1,74,75,647	14,47,743·6

न्यास परिषद् का संगठन—न्यास परिषद का संगठन निम्न प्रकार से होता है—(क) जिन राष्ट्रों को न्यास का भार सौंपा गया है ऐसे राज्य—(1) आस्ट्रेलिया, (3) अमरीका, और (4) ब्रिटेन हैं। (ख) सुरक्षा परिषद के वे स्थायी सदस्य जिनके शासन में कोई न्यास क्षेत्र नहीं है ऐसे राज्य चीन, फ्रांस और रूस हैं। (ग) उतने दूसरे सदस्य जितने न्यासीय प्रदेशों का शासन प्रबन्ध चलाने वाले और न चलाने वाले देशों के बीच समान विभाजन के लिए पर्याप्त हों। ऐसे सदस्यों का निर्वाचन महासभा द्वारा तीन वर्षों के लिए होता है। निर्वाचित सदस्य अपनी अवधि समाप्त होने के तुरन्त बाद ही फिर निर्वाचित हो सकता है।

इस प्रकार न्यास परिषद के आज 12 सदस्य हैं जिनमें चार प्रबन्धकर्ता देश हैं, तीन सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्य होने के कारण स्थायी सदस्य और पाँच निर्वाचित सदस्य हैं।

न्यास परिषद के कार्य—(1) न्यासीय प्रदेशों की जनता की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा शिक्षा सम्बन्धी प्रगति के बारे में सूची तैयार करना जिसके आधार पर शासन

प्रबन्ध चलाने वाली संस्थाएँ वार्षिक रिपोर्ट भेजती हैं। (2) इन प्रशासनिक सत्ताओं से प्राप्त रिपोर्टों की जाँच और उन पर विचार करना। (3) इन सत्ताओं के परामर्श से प्रार्थना-पत्रों पर विचार करना, सत्ता के साथ यदा-कदा नियत समय पर निरीक्षण के लिए न्यासीय प्रदेशों का दौरा करना, (4) न्यास परिषद् में निर्णय साधारण बहुमत से होते हैं। प्रत्येक सदस्य का एक ही वोट होता है।

न्यास परिषद स्वयं ही अपने कार्य-संचालन के नियम बनाती है, जिसमें अध्यक्ष के चुनाव का ढंग भी सम्मिलित है। वर्ष में साधारणतया दो अधिवेशन होते है, जिनमें पहला जून के अन्तिम पक्ष में और दूसरा नवम्बर के उत्तरार्द्ध में। आवश्यकतानुसार विशेष अधिवेशन न्याय परिषद अथवा महासभा के प्रस्ताव अथवा सुरक्षा परिषद के अधिकांश सदस्यों के अनुरोध पर बुलाया जा सकता है।

एक नियमित प्रतिनिधि-मण्डल हर साल दौरे के लिए बाहर भेजा जाता है। 1948 में इसी प्रकार एक टोली टांगानिका और रुआण्डा-उरुण्डी गयी थी। सन् 1914 में एक टोली कामेरून और टोगोलैण्ड गयी थी। 1950, 1953 और 1956 में प्रतिनिधि मण्डल में नीरू, न्यूगिनी, पश्चिम समाओ और प्रशान्त द्वीपों वाले न्यास प्रदेशों का दौरा किया था। 1951, 1954 तथा 1957 में एक दूसरी टोली पूर्वी अफ्रीकी प्रदेश, रुआण्डा-उरुण्डी, टांगानिका व सोमालीलैण्ड का दौरा करने गयी। ये देश अब स्वतन्त्रता प्राप्त कर चुके हैं।

1947 में एक आवेदन के उत्तर में एक विशेष टोली ने पश्चिम समाओ का दौरा किया।

1955 मे टोगोलैण्ड का दौरा करने वाली टोली ने सिफारिश की थी कि अपनी भावी राजनीतिक स्थिति के बारे में ब्रिटेन के प्रबन्ध के अन्तर्गत टोगोलैण्ड के लोगों की राय जानने के लिए एक जनमत संग्रह किया जाय। इस सुझाव को महासभा ने 1944 के दिसम्बर में स्वीकार किया और संयुक्त राष्ट्र संघ की देखरेख में 9 मई, 1956 को जनमत सग्रह किया गया। इसमें 1,60,000 निवासियों ने वोट दिये। मतदाताओं से इन विकल्पो में से चुनने को कहा गया था कि क्या वे पडोसी गोल्डकोस्ट के साथ, जो जल्दी ही स्वतन्त्र होने वाला था, अपना प्रदेश मिलाना चाहते हैं, अथवा जब तक गोल्डकोस्ट से अलग होकर न्यास पद्धति के अन्दर बने रहना चाहते हैं।

मत लेने पर 93,365 लोगों ने गोल्डकोस्ट में मिलना पसन्द किया और 67,422 ने न्यास पद्धति ने रहना चाहा। इस मतगणना के परिणामस्वरूप महासभा ने अपने ग्यारहवें अधिवेशन में टोगोलैण्ड का गोल्डकोस्ट से मिलने का निर्णय स्वीकार किया और 6 मार्च, 1957 को टोगोलैण्ड स्वतन्त्र गोल्डकोस्ट में, जो बाद मे घाना राज्य से सयुक्त राष्ट्र का सदस्य हुआ, मिलकर उसका अंग बन गया।

न्यास व्यवस्था तथा मैण्डेट व्यवस्था : तुलना—न्यास व्यवस्था की तुलना राष्ट्र संघ द्वारा स्थापित मैण्डेट व्यवस्था से करना प्रासंगिक होगा। कतिपय विद्वानों का मत है कि संयुक्त राष्ट्र की न्यास व्यवस्था राष्ट्र संघ की मैण्डेट व्यवस्था के समान एक 'चमकीला धोखा' है। शूमां के अनुसार न्यास व्यवस्था नयी वास्तविकता न होकर, औपचारिकता ही अधिक है। जबकि राल्फ जे बून्चे के अनुसार न्यास व्यवस्था एक विस्तृत क्षेत्र रखती है तथा इसमें अधिक व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण सम्भव है।

पैडलफोर्ड व लिंकन के मतानुसार नवीन अन्तर्राष्ट्रीय न्यास पद्धति अपने पूर्ववर्ती मैण्डेट पद्धति से मुख्यतः चार बातों में भिन्न है; (i) न्यास प्रदेशों के प्रशासकीय प्राधिकारियों को अपने-अपने अधीन राज्य क्षेत्रों मे सैनिक प्रतिष्ठान बनाने तथा अपनी स्थिति को दृढ़ बनाने का अधि-

1 अप्रैल, 1989 को नामीबिया ने संयुक्त राष्ट्र शान्ति सेना की देखरेख में आजादी के पहले दौर में प्रवेश किया और इसके साथ ही वह अफीका की 74 वर्ष की औपनिवेशिक दासता से मुक्त हो गया। दो दशकों से आजादी के लिए संघर्षरत 'स्वापो' और दक्षिण अफीका के बीच औपचारिक युद्ध विराम हो गया।

4. सचिवालय
(SECRETARIAT)

सचिवालय संयुक्त राष्ट्र संघ के छः प्रमुख अंगों में से एक है। अन्तर्राष्ट्रीय लोक सेवा ही इसकी अन्तर्राष्ट्रीय विशेषता है। संयुक्त राष्ट्र के अन्य प्रमुख अंग अपने-अपने कार्यकाल के अनुसार सदैव बदलते रहते हैं पर सचिवालय के साथ यह बात नहीं। इसमें स्थायी सेवाओं के व्यक्ति काम करते हैं। फलतः यह एक स्थायी संस्था है जिसका काम निरन्तर चलता है। इसकी महत्ता के विषय में मैक्सवेल कोहन ने ठीक ही लिखा है :

"संयुक्त राष्ट्र के अन्य अंगों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व वाला अंग सचिवालय ही है, महासभा एवं सुरक्षा परिषद के निगतकालिक अधिवेशनों को वास्तविक, स्थायी एवं शाश्वत स्वरूप प्रदान करता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में वह केन्द्र-बिन्दु है। इसके अभाव में सम्पूर्ण संयुक्त सूचना व सहयोग के केन्द्रों से वंचित हो जायेगा।"

सचिवालय का संगठन—सचिवालय संयुक्त राष्ट्र का एक प्रशासनिक अंग है। सचिवालय में महासचिव तथा अन्य कर्मचारी होते हैं। महासचिव की नियुक्ति 5 वर्षों के लिए सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर महासभा द्वारा होती है। उनका वार्षिक वेतन 20 हजार डालर है और यह राशि कर-मुक्त है। वह संघ का मुख्य प्रशासकीय अधिकारी होता है। महासभा द्वारा बनाये गये विनियमों के अनुसार महासचिव सचिवालय के कर्मचारियों की नियुक्ति करता है। आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्, न्यास परिषद् तथा आवश्यकतानुसार संयुक्त राष्ट्र के अन्य अंगों के लिए आवश्यक कर्मचारी नियुक्त होते हैं, वे सभी सचिवालय के ही भाग होते हैं। इनकी नियुक्ति तथा सेवा की शर्तों पर सर्वोपरि विचार कार्यक्षमता, योग्यता एवं ईमानदारी के उच्चतम स्तरों पर की जाती है और उनकी नियुक्ति में यथासम्भव भौगोलिक आधार को पर्याप्त रूप से महत्व दिया जाता है। इस बात का उपबन्ध चार्टर में विशेष रूप से किया गया है कि न तो महासचिव और न ही कर्मचारी वर्ग किसी राज्य से अथवा संघ से बाहर किसी दूसरे अधिकारी से अनुदेश मांगेंगे और न प्राप्त करेंगे। नियुक्ति के पश्चात अपने कार्यकाल में सचिवालय के सभी कर्मचारी विश्व नागरिक हो जाते हैं और वे केवल विश्व संस्था के प्रति ही निष्ठावान होते हैं।

संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत सचिवालय का अत्यधिक विस्तार हुआ है। जहाँ राष्ट्र संघ में सचिवालय के कर्मचारियों की अधिकतम संख्या 1,000 से कम ही रही वहाँ लगभग 150 देशों के 1,600 से अधिक स्त्री-पुरुषों वाले अन्तर्राष्ट्रीय कर्मचारी वर्ग का यह सचिवालय संयुक्त राष्ट्र संघ, न्यूयार्क स्थित मुख्यालय और विश्व भर में स्थित कार्यालयों और केन्द्रों, दोनों का दैनिक कार्य चलाता है।

सचिवालय संयुक्त राष्ट्र का एक वृहत-प्रशासनिक तन्त्र है, जिसे आठ विभागों में संगठित किया गया है :

1. सुरक्षा परिषद् सम्बन्धी कार्यों का विभाग,
2. आर्थिक विभाग,
3. सामाजिक कार्यों का विभाग,
4. न्यास एवं स्वशासितेतर क्षेत्रों में सूचना विभाग,
5. सार्वजनिक सूचना विभाग,

6. सम्मेलन तथा सामान्य सेवा विभाग,
7. प्रशासनिक तथा वित्तीय सेवा विभाग, और
8. विधि विभाग।

प्रत्येक का एक अध्यक्ष एवं एक उप-महासचिव होता है। उप-महासचिव के नीचे एकाधिक उच्च पदस्थ निदेशक होता है। उप-महासचिव की नियुक्ति महासचिव द्वारा की जाती है। इनकी नियुक्तियों का आधार इनकी कार्यक्षमता, अहर्ता एवं क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व होता है। इनकी नियुक्ति करते समय महासचिव को यह ध्यान रखना आवश्यक होता है कि यथासम्भव विश्व के विभिन्न क्षेत्रों का समुचित प्रतिनिधित्व हो सके।

महासचिव—सचिवालय संयुक्त राष्ट्र की प्रमुख संस्था है जिसके शीर्ष बिन्दु पर महासचिव का पद एवं उसका कार्यालय है। वह केवल सचिवालय का अध्यक्ष ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व संस्था के कार्यों का सूत्रधार कहा जा सकता है। उसे सचिवालय का मुख्य संचालक भी कह सकते हैं।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि राष्ट्र संघ के निर्माताओं ने महासचिव को बहुत अधिक अधिकार प्रदान नहीं किये थे। वे अपने विवेक का बहुत कम प्रयोग करने के लिए अधिकृत थे। राष्ट्र संघ में महासचिव को अधिकतर प्रशासकीय अधिकार ही उपलब्ध थे। द्वितीय महायुद्ध के अवसर पर जब नये अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण की चर्चा होने लगी तब महासचिव को व्यापक अधिकार दिये जाने पर सक्रिय रूप से विचार किया गया। संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत महासचिव की स्थिति तथा अधिकार राष्ट्र संघ के महासचिव से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। वह न केवल सामान्य प्रशासकीय कार्य करता है वरन् आवश्यकता पड़ने पर सुरक्षा परिषद् के सामने किसी भी ऐसे मामले को ला सकता है जिसके कारण उसकी राय में, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के लिए भय उत्पन्न हो सकता है। अपने इस अधिकार के आधार पर सं० रा० का महासचिव अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की रक्षा में महत्वपूर्ण योग देता है।

महासचिव की नियुक्ति 5 वर्ष के लिए होती है। 1 फरवरी, 1946 को नार्वे के ट्रिग्वली महासचिव नियुक्त किये गये थे। 1 नवम्बर, 1950 को उनका कार्यकाल तीन वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया। 10 नवम्बर, 1952 को उन्होंने पद से त्याग-पत्र दे दिया। 10 अप्रैल, 1953 को स्वीडन के डॉग हैमरशोल्ड को उसके स्थान पर महासचिव नियुक्त किया गया। कांगो में विमान दुर्घटना में डॉग हैमरशोल्ड की मृत्यु हो जाने के बाद सितम्बर 1961 को बर्मा के ऊ-थाण्ट (U Thant) अस्थायी काल के लिए महासचिव बनाये गये। बाद में नियमित रूप से उनका चुनाव हुआ। उनको 1966 में अगले 5 वर्षों के लिए दोबारा चुन लिया गया। 22 सितम्बर, 1971 को डॉ. कुर्ट वाल्डहाईम को इस पद पर नियुक्त किया गया। वे 10 वर्ष तक इस पद पर बने रहे। सन् 1982 से जेवियर पेरेज डी कुलर महासचिव पद पर कार्यरत हैं। महासचिवों की नियुक्ति से स्पष्ट है कि वे प्राय: छोटे एवं तटस्थ राष्ट्रों के विख्यात नागरिकों में से होते हैं। किसी महाशक्ति या महाशक्ति से संलग्न या सम्बद्ध राज्य के नागरिक के लिए महासचिव पद पर नियुक्त होना कठिन है, क्योंकि शीत युद्ध के वातावरण में कोई अन्य महाशक्ति उसे स्वीकार नहीं करेगी।

महासचिव के कार्य—संयुक्त राष्ट्र महासचिव के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं :

(i) **सामान्य प्रशासन**—चार्टर के अनुसार महासचिव संस्था का मुख्य प्रशासनिक अधिकारी होता है। इस हैसियत से महासचिव महासभा, सुरक्षा परिषद्, आर्थिक तथा सामाजिक परिषद तथा न्यास परिषद की सभी बैठकों में भाग लेता है तथा वह सभी कार्य सम्पादित करता है जो इन अंगों द्वारा उसे सौंपे जाते हैं। महासचिव संस्था के कार्य की वार्षिक रिपोर्ट महासभा को प्रेषित

करता है। वास्तव में महासभा का वार्षिक अधिवेशन महासचिव की रिपोर्ट पर बहस से प्रारम्भ होता है।

(ii) **तकनीकी कार्य**—महासचिव कतिपय तकनीकी कार्य भी सम्पादित करता है। चार्टर के अनुच्छेद 98 के अनुसार, महासचिव ऐसे अन्य कार्य भी करेगा जो उसे महासभा, सुरक्षा परिषद, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् तथा न्यास परिषद् द्वारा सौंपे जायेंगे। इन अंगों द्वारा सौंपे गये तकनीकी कार्यों को भी महासचिव सम्पादित करता है। तकनीकी कार्यों में लगभग सभी प्रकार के प्रश्नों पर अध्ययन, रिपोर्ट, सर्वेक्षण आदि शामिल हैं।

(iii) **सचिवालय का प्रशासन**—महासचिव सचिवालय का प्रमुख अधिकारी होता है। सचिवालय में प्रशासन का पूर्ण उत्तरदायित्व उस पर ही होता है। वह महासभा द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार सचिवालय के कर्मचारियों की नियुक्ति करता है।

(iv) **वित्तीय कार्य**—महासचिव के कार्यों के अन्तर्गत उसके वित्तीय उत्तयदायित्व भी हैं। संयुक्त राष्ट्र के बजट का संचालन सुचारु रूप से हो रहा है अथवा नहीं, इसका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व महासचिव पर होता है, वह संयुक्त राष्ट्र का बजट तैयार कराता है, जिसे बजट सलाहकार समिति के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। विशेषोद्देशीय अभिकरणों तथा अन्य सम्बद्ध संस्थाओं के बजट पर भी उसकी नजर रहती है। वह संयुक्त राष्ट्र के सभी निधियों का अभिरक्षक है और उनके व्यय के लिए उत्तरदायी है।

(v) **प्रतिनिध्यात्मक कार्य**—सम्पूर्ण राष्ट्र संघ के लिए केवल एक ही महासचिव होता है, जो संघ के अभिकर्ता (एजेण्ट) या प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है। विभिन्न अभिकरणों एवं सरकारों के साथ वार्ताओं में वह संघ का प्रतिनिधित्व करता है और संघ की ओर से करार करता है।

(vi) **राजनीतिक कार्य**—संयुक्त राष्ट्र का महासचिव कुछ राजनीतिक कार्य भी करता है। चार्टर के 99वें अनुच्छेद में कहा गया है कि 'महासचिव किसी ऐसे मामले की ओर सुरक्षा परिषद का ध्यान दिला सकता है जिससे उसके विचार में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के बने रहने में संकट उत्पन्न हो सकता है।' इस शक्ति तथा कुछ अन्य कारणों से महासचिव संयुक्त राष्ट्र का प्रधान राजनीतिक अभिकर्ता बन गया है।

संयुक्त राष्ट्र के महासचिव की राजनीतिक भूमिका का इतना अधिक विकास हुआ है कि न केवल संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत यह पद राष्ट्र संघ में इस पद की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली सिद्ध हुआ है, वरन् मॉरगेन्थाऊ ने तो यहाँ तक कह दिया कि 'इस प्रकार महासचिव संयुक्त राष्ट्र का एक प्रकार का प्रधानमन्त्री बन गया।'

महासचिव की यह राजनीतिक भूमिका तीन दिशाओं में विकसित हुई। प्रथम, उसे एक अन्तर्राष्ट्रीय वार्ताकार कहा जाने लगा है। दूसरे, वह अनेक अवसरों पर ऐसे प्रतिष्ठा रक्षक सूत्रों के रचयिता के रूप में सामने आया है, जिन्हें विवाद के विभिन्न पक्षों ने सम्मानजनक रूप से स्वीकार करना सम्भव पाया है। तीसरे, उसे विश्व की आत्मा की आवाज का संरक्षक कहा गया है।

महासचिव की राजनीतिक भूमिका के विकास के कारण

महासचिव की उपयुक्त राजनीतिक भूमिका के विकास के निम्नलिखित कारण हैं :

1. **संवैधानिक व्यवस्थाएँ**—चार्टर का अनुच्छेद 99 महासचिव की राजनीतिक भूमिका को वैधानिक आधार प्रदान करता है। इस अनुच्छेद ने महासचिव को एक प्रकार से संयुक्त राष्ट्र और उसके के आँख और कान के रूप में कार्य करने का उत्तरदायित्व सौंपा है। स्टीफ

एम. गौबवल के अनुसार इस अनुच्छेद से महासचिव को सात शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, जो इस प्रकार हैं :

1. महासचिव किसी भी विवाद, झगड़े या स्थिति को सुरक्षा परिषद् की अस्थायी कार्यावलि में रख सकता है।

2. महासचिव इस अनुच्छेद के आधार पर राजनीतिक निर्णय ले सकता है कि कोई विवाद सुरक्षा परिषद् के सामने प्रस्तुत किया जाना चाहिए अथवा नहीं।

3. महासचिव सुरक्षा परिषद् के सम्मुख ऐसी आर्थिक और सामाजिक घटनाओं को प्रस्तुत कर सकता है, जिनके राजनीतिक परिणाम निकलने की सम्भावना हो। इस प्रकार महासचिव सुरक्षा परिषद् और संयुक्त राष्ट्र के अन्य अंगों के मध्य एक 'महत्वपूर्ण कड़ी' का काम कर सकता है।

4. महासचिव किसी विवाद की ओर सुरक्षा परिषद् का ध्यान दिलाने की अपनी शक्ति का प्रयोग करने से पहले आवश्यक पूछताछ कर सकता है।

5. महासचिव स्वयं यह निश्चय कर सकता है कि वह किसी अन्तर्राष्ट्रीय समस्या को किस प्रकार सुरक्षा परिषद् के सामने प्रस्तुत करेगा। ऐसा करने से पहले वह विस्तारपूर्वक अनौपचारिक रूप से गुप्त वार्तालाप भी कर सकता है।

6. महासचिव को अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए आवश्यक घोषणा करने और सुझाव देने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

7. महासचिव सुरक्षा परिषद् के मंच से विश्व लोकमत को सम्बोधित कर सकता है और शान्ति के लिए अपील कर सकता है।

अनुच्छेद 99 के अतिरिक्त अनुच्छेद 98 भी महासचिव की राजनीतिक भूमिका को सशक्त कराने में सहायक हुआ है। अनुच्छेद 98 यह व्यवस्था करता है कि 'महासचिव..............ऐसे अन्य कार्यों का सम्पादन करेगा जो इन (संयुक्त राष्ट्र के नीति निर्धारक) अंगों के द्वारा उसे सौंपे जायें।' सामान्य अनुच्छेद 98 महासचिव की प्रशासनिक शक्तियों से सम्बन्धित है परन्तु इस अनुच्छेद के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र के सुरक्षा परिषद् महासभा आदि अन्य अंग उसे जो कार्य सौंपेंगे उनका संकुचित अर्थों में प्रशासनिक होना आवश्यक नहीं है। वे कूटनीतिक और प्रवर्तनकारी (Operational) भी हो सकते हैं। मध्यपूर्व में संयुक्त राष्ट्र आपात सेना के सम्बन्ध में महासचिव को जो सत्ता प्रदान की गयी थी, उसका वैधानिक आधार यही अनुच्छेद था।

2. **महासचिवों की पृष्ठभूमि और व्यक्तित्व**—राष्ट्र संघ के प्रथम महासचिव एरिक ड्रमूण्ड ब्रिटिश नागरिक सेवा से आये थे। वे अपने ब्रिटिश नागरिक सेवा की प्रमुख परम्पराओं—राजनीतिक तटस्थता और प्रच्छन्नता (anonymity) को भी लाये। उन्होंने एक राजनीतिक भूमिका निभाने का प्रयत्न ही नहीं किया। इसके विपरीत संयुक्त राष्ट्र के प्रथम महासचिव त्रिग्वे ली (Trygve lie) एक सक्रिय राजनीतिज्ञ थे और नार्वे के विदेश मंत्री रह चुके थे। अतः यह स्वाभाविक था कि वे संयुक्त राष्ट्र में नीति निर्धारण की प्रक्रिया में हाथ बंटाने की ओर एक सक्रिय राजनीतिक भूमिका निभाने का प्रयत्न करते। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ भी इसके लिए अनुकूल थीं। उन्होंने महासचिव के अधिकारों का समय-समय पर प्रभावशाली ढंग से प्रयोग किया और उसकी भूमिका को व्यापक बनाया। उनके उत्तराधिकारियों ने उनका अनुसरण किया।

3. **संयुक्त राष्ट्र की शान्ति स्थापक गतिविधियों की जटिलता**—महासचिव की भूमिका की अभिवृद्धि का एक कारण स्वयं संयुक्त राष्ट्र की अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भूमिका का व्यापक हो जाना है। राष्ट्र संघ ने प्रत्यक्ष रूप से कोई शान्तिस्थापक कार्यवाही नहीं की। परन्तु संयुक्त राष्ट्र ने कोरियाई युद्ध, अरब-इजराइल समस्या, कांगो समस्या, अफगान संकट, ईरान-इराक युद्ध आदि

करता है। वास्तव में महासभा का वार्षिक अधिवेशन महासचिव की रिपोर्ट पर बहस से प्रारम्भ होता है।

(ii) **तकनीकी कार्य**—महासचिव कतिपय तकनीकी कार्य भी सम्पादित करता है। चार्टर के अनुच्छेद 98 के अनुसार, महासचिव ऐसे अन्य कार्य भी करेगा जो उसे महासभा, सुरक्षा परिषद, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् तथा न्यास परिषद् द्वारा सौंपे जायेंगे। इन अंगों द्वारा सौंपे गये तकनीकी कार्यों को भी महासचिव सम्पादित करता है। तकनीकी कार्यों में लगभग सभी प्रकार के प्रश्नों पर अध्ययन, रिपोर्ट, सर्वेक्षण आदि शामिल हैं।

(iii) **सचिवालय का प्रशासन**—महासचिव सचिवालय का प्रमुख अधिकारी होता है। सचिवालय में प्रशासन का पूर्ण उत्तरदायित्व उस पर ही होता है। वह महासभा द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार सचिवालय के कर्मचारियों की नियुक्ति करता है।

(iv) **वित्तीय कार्य**—महासचिव के कार्यों के अन्तर्गत उसके वित्तीय उत्तयदायित्व भी हैं। संयुक्त राष्ट्र के बजट का संचालन सुचारु रूप से हो रहा है अथवा नहीं, इसका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व महासचिव पर होता है, वह संयुक्त राष्ट्र का बजट तैयार कराता है, जिसे बजट सलाहकार समिति के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। विशेषोद्देशीय अभिकरणों तथा अन्य सम्बद्ध संस्थाओं के बजट पर भी उसकी नजर रहती है। वह संयुक्त राष्ट्र के सभी निधियों का अभिरक्षक है और उनके व्यय के लिए उत्तरदायी है।

(v) **प्रतिनिध्यात्मक कार्य**—सम्पूर्ण राष्ट्र संघ के लिए केवल एक ही महासचिव होता है, जो संघ के अभिकर्ता (एजेण्ट) या प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है। विभिन्न अभिकरणों एवं सरकारों के साथ वार्ताओं में वह संघ का प्रतिनिधित्व करता है और संघ की ओर से करार करता है।

(vi) **राजनीतिक कार्य**—संयुक्त राष्ट्र का महासचिव कुछ राजनीतिक कार्य भी करता है। चार्टर के 99वें अनुच्छेद में कहा गया है कि 'महासचिव किसी ऐसे मामले की ओर सुरक्षा परिषद का ध्यान दिला सकता है जिससे उसके विचार में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के बने रहने में संकट उत्पन्न हो सकता है।' इस शक्ति तथा कुछ अन्य कारणों से महासचिव संयुक्त राष्ट्र का प्रधान राजनीतिक अभिकर्ता बन गया है।

संयुक्त राष्ट्र के महासचिव की राजनीतिक भूमिका का इतना अधिक विकास हुआ है कि न केवल संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत यह पद राष्ट्र संघ में इस पद की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली सिद्ध हुआ है, वरन् मॉरगेन्थाऊ ने तो यहाँ तक कह दिया कि 'इस प्रकार महासचिव संयुक्त राष्ट्र का एक प्रकार का प्रधानमन्त्री बन गया।'

महासचिव की यह राजनीतिक भूमिका तीन दिशाओं में विकसित हुई। प्रथम, उसे एक अन्तर्राष्ट्रीय वार्ताकार कहा जाने लगा है। दूसरे, वह अनेक अवसरों पर ऐसे प्रतिष्ठा रक्षक सूत्रों के रचयिता के रूप में सामने आया है, जिन्हें विवाद के विभिन्न पक्षों ने सम्मानजनक रूप से स्वीकार करना सम्भव पाया है। तीसरे, उसे विश्व की आत्मा की आवाज का संरक्षक कहा गया है।

महासचिव की राजनीतिक भूमिका के विकास के कारण

महासचिव की उपयुक्त राजनीतिक भूमिका के विकास के निम्नलिखित कारण हैं :

1. **संवैधानिक व्यवस्थाएँ**—चार्टर का अनुच्छेद 99 महासचिव की राजनीतिक भूमिका को वैधानिक आधार प्रदान करता है। इस अनुच्छेद ने महासचिव को एक प्रकार से संयुक्त राष्ट्र और उसके सदस्यों के आँख और कान के रूप में कार्य करने का उत्तरदायित्व सौंपा है। स्टीफन

बात मनमाने के लिए कोई वास्तविक शक्ति नहीं रह जाती, क्योंकि महासचिव और महासभा के पास अपने निर्णयों को कार्यान्वित कराने के लिए कोई बाध्यकारी शक्ति नहीं है।

जब राष्ट्रों के मध्य कोई राजनीतिक विवाद उत्पन्न होता है, तो कोई बाहरी संस्था अथवा व्यक्ति उन्हें चार उपायों से अपने विवाद का शान्तिपूर्ण ढंग से निपटारा करने को अभिप्रेरित कर सकता है—धमकी देना, प्रलोभन देना, अनुनय विनय करना और पहले से प्राप्त किये गये समझौतों को निरूपित करना। संयुक्त राष्ट्र महासचिव को धमकी देने और प्रलोभन देने की कोई शक्ति प्राप्त नहीं है। अतः जैसा मार्गेन्थाऊ का मत है, "एक राजनीतिक प्रतिनिधि के रूप में, महासचिव की स्थिति की दुर्बलता इससे प्रदर्शित होती है कि उसे विवादों का निपटारा करने के दो सबसे शक्तिशाली यन्त्रों अर्थात् धमकी देने और प्रलोभन देने की शक्ति से प्रायः पूर्ण रूप से वंचित कर दिया गया है। उसका कार्य अनुनय का प्रयोग करने तथा सार रूप से पहले ही प्राप्त किये गये समझौतों को निरूपित करने तक सीमित कर दिया गया।"[1]

5. आर्थिक तथा सामाजिक परिषद्
(THE ECONOMIC AND SOCIAL COUNCIL)

आर्थिक और सामाजिक परिषद् इस धारणा पर आधारित है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति केवल राजनीतिक विवादों के समाधान पर ही निर्भर नहीं करती है वरन् अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक और उनसे सम्बन्धित अन्य समस्याओं के सम्बन्ध में उचित और प्रभावपूर्ण कार्यवाही पर भी निर्भर करती है। राजनीतिक स्थिरता के अतिरिक्त सामाजिक स्थिरता और आर्थिक सन्तोष भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के लिए जरूरी है। डलेस के शब्दों में, 'आर्थिक और सामाजिक समस्याएँ युद्ध के अन्तर्निहित कारण है।' फैनविक के शब्दों में, "महासभा के अधीनस्थ एवं उसके कार्यों को उसके प्रतिनिधि के रूप में सम्पन्न करने वाली संस्था आर्थिक और सामाजिक परिषद् है।"

संरचना—प्रारम्भ में इस परिषद में 18 सदस्य होते थे। 1966 में चार्टर में एक संशोधन द्वारा इसके सदस्यों की संख्या 18 से बढ़ाकर 27 कर दी गयी। तत्पश्चात् अनुच्छेद 61 का एक बार पुनः संशोधन हुआ जो 24 सितम्बर, 1973 को लागू हुआ। इसके अनुसार, अब आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् की सदस्य संख्या 54 हो गयी है।

यह एक स्थायी संस्था है परन्तु इसके एक-तिहाई सदस्य प्रति वर्ष पदमुक्त होते रहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक सदस्य की अवधि 3-3 वर्ष होती है। परन्तु अवकाश ग्रहण करने वाला सदस्य तुरन्त पुनः निर्वाचित हो सकता है। परिषद् में प्रत्येक सदस्य राज्य का एक ही प्रतिनिधि होता है।

यद्यपि आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् के लिए कोई स्थायी सदस्यता का उपबन्ध नहीं है तथापि व्यवहार में तथाकथित "पाँच बड़े" सदैव निर्वाचित हो जाते हैं। साधारणतः इसके निर्वाचित सदस्य ही इसकी बैठकों में भाग लेते हैं पर यह संयुक्त राष्ट्र के किसी भी सदस्य को बिना मतदान के किसी ऐसे विषय पर अपने विचार-विमर्श में आमन्त्रित कर सकती है, जो उस सदस्य के लिए विशेष चिन्ता का विषय हो।

मतदान प्रक्रिया—आर्थिक एवं सामाजिक परिषद के प्रत्येक सदस्य को केवल एक मत देने का अधिकार होता है अर्थात् संयुक्त राष्ट्र के अन्य अंगों की भाँति आर्थिक एवं सामाजिक परिषद में प्रत्येक निर्वाचित राज्य का केवल एक सदस्य बैठकों में भाग ले सकता है। इसमें निर्णय उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के साधारण बहुमत द्वारा लिये जाते हैं। परिषद

1 Hans J. Morgenthau : *Politics Among Nations*, 3rd reprint, 1963, p. 492.

अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के सम्बन्ध में शान्ति स्थापना के लिए एक सक्रिय भूमिका अदा की है। महासचिव संयुक्त राष्ट्र के उच्चाधिकारियों में एकमात्र ऐसा अधिकारी है जिसे एक अपेक्षाकृत लम्बा कार्यकाल प्राप्त है। वह एक प्रकार से सम्पूर्ण संयुक्त राष्ट्र का एकमात्र प्रवक्ता है। अतः संयुक्त राष्ट्र की भूमिका में वृद्धि से महासचिव की भूमिका भी अधिक सशक्त और व्यापक बन गयी है।

4. **शीत-युद्ध तथा सुरक्षा परिषद् एवं महासभा में गतिरोध**—यदि संयुक्त राष्ट्र उसी तरह कार्य करता जैसा कि इसके निर्माताओं ने आशा की थी तो सम्भवतः सचिवालय और महासचिव की भूमिका राष्ट्र संघ की समकक्ष संस्थाओं की भूमिका की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक न हो पाती। संयुक्त राष्ट्र का चार्टर इस विश्वास पर आधारित था कि महाशक्तियों की युद्धकालीन मैत्री और सहयोग युद्धोत्तर काल में भी बना रहेगा। पर ऐसा नहीं हुआ और शीघ्र ही पश्चिमी शक्तियों और सोवियत संघ का शीत-युद्ध प्रारम्भ हो गया। 'निषेधाधिकार' के बारम्बार प्रयोग ने सुरक्षा परिषद् में गतिरोध उत्पन्न कर दिया। 3 नवम्बर, 1950 को 'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' के द्वारा महासभा ने सुरक्षा परिषद् के कुछ उत्तरदायित्वों को अपने ऊपर लेने का प्रयास किया। परन्तु अपने विशाल आकार और प्रस्तावों के परामर्शदात्री रूप के कारण महासभा इन उत्तरदायित्वों का ठीक से निर्वाह करने में असमर्थ थी। ऐसी स्थिति मे महासभा के अभिकर्ता (Agent of General Assembly) के रूप में महासचिव को शान्ति संस्थापक की भूमिका सौंपी जाने लगी।

महासचिव की भूमिका—महासचिव का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसे केवल प्रशासकीय कार्यों का निर्वहन ही नहीं करना पड़ता है अपितु राजनीतिक उत्तरदायित्वों को भी पूरा करना पड़ता है। 'उसका कार्य उतना ही विशाल है जितना वह उसे बना सकता है।' उसकी भूमिका उतनी ही व्यापक है जितने कि उसे वैधानिक अधिकार प्राप्त हैं, जितनी उसमें योग्यता और क्षमता है। यदि प्रशासनिक कार्यों में उसकी भूमिका एक आरम्भक जैसी है तो राजनीतिक क्षेत्र में उसकी भूमिका मध्यस्थ, वार्त्ताकर्ता और मतैक्य निर्माता के समान है।

महासभा के अन्तिम सूत्र में महासचिव द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली रिपोर्टों का बहुत महत्व होता है, जिसमें उसका व्यक्तित्व झलकता है। इसी रिपोर्ट के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर उसके दृष्टिकोण व्यक्त होते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक स्थिति और घटनाचक्रों पर प्रकाश डाला जाता है और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करने के लिए सुझाव दिये जाते हैं। लियोनार्ड के शब्दों में—"महासचिव की वार्षिक रिपोर्ट अमरीकन राष्ट्रपति के सन्देशों के समान प्रभावशाली है। महासभा में प्रस्तुत किये जाने वाले प्रस्तावों को तैयार करने में भी महासचिव की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है।"

महासचिव की राजनीतिक भूमिका को देखते हुए मार्गेन्थाऊ ने लिखा है कि "इस प्रकार महासचिव संयुक्त राष्ट्र का एक प्रकार का प्रधानमन्त्री बन गया।"

इस प्रकार अनेक कारणों से संयुक्त राष्ट्र के महासचिव की भूमिका व्यवहार में उससे कहीं अधिक व्यापक और प्रभावशाली हो गयी जितनी कि चार्टर के निर्माताओं ने परिकल्पित की थी। परन्तु फिर भी इस भूमिका की अपनी निश्चित सीमाएँ हैं। अगर महाशक्तियों के मध्य तनाव कम हो जाता है तो स्वयं सुरक्षा परिषद् की अपने शान्ति स्थापना के उत्तरदायित्व को पूरा करने की क्षमता बढ़ जाती है और उसी अनुपात में महासभा और महासचिव की भूमिका संकुचित हो जाती है। 1962 के बाद वस्तुतः ऐसा हुआ भी है। इसके विपरीत यदि महाशक्तियों के पारस्परिक ...दों के कारण सुरक्षा परिषद् में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है, तब महासचिव के पास अपनी

कार्यात्मक आयोग निम्नलिखित हैं :

1. आर्थिक, रोजगार तथा विकास आयोग ।
2. यातायात तथा संचार आयोग ।
3. वित्तीय आयोग ।
4. सांख्यिकी आयोग ।
5. जनसंख्या आयोग ।
6. सामाजिक आयोग ।
7. मानव अधिकारों सम्बन्धी आयोग ।
8. महिलाओं की स्थिति सम्बन्धी आयोग ।
9. नशीले द्रव्यों सम्बन्धी आयोग ।

प्रादेशिक आयोग निम्नलिखित हैं :

1. यूरोप के लिए आर्थिक आयोग ।
2. एशिया तथा सुदूरपूर्व के लिए आर्थिक आयोग ।
3. दक्षिण अमरीका के लिए आर्थिक आयोग ।

आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् के कार्यों का मूल्यांकन—आर्थिक और सामाजिक परिषद ने अनेक क्षेत्रों में सराहनीय कार्य किया है । विशेषतः इसके तथा विशिष्ट समितियों के तत्वावधान में एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के पिछड़े हुए देशों को दी गयी तकनीकी सहायता तथा मानवीय अधिकारों की घोषणा इसकी प्रमुख सफलताएँ मानी जाती हैं । यह संस्था संयुक्त राष्ट्र को राष्ट्र संघ की तुलना में अधिक व्यापक और जनकल्याणकारी संस्था बना देती है । शरणार्थियों, राज्यविहीन व्यक्तियों, ट्रेड यूनियनों के अधिकारों, दासता तथा वेगार जैसी समाज-विरोधी कार्यवाहियों पर परिषद द्वारा सतत् विचार-विमर्श होता रहता है । परिषद ने अपने एक प्रस्ताव द्वारा किसी भी राष्ट्रीय, नस्ली तथा धार्मिक समुदाय को पूर्णतया समाप्त करने के प्रयास को अवैध घोषित कर दिया है । आर्थिक एवं प्राविधिक सहायता तथा योजनाओं से पिछड़े हुए राष्ट्रों का उद्देश्य है । आर्थिक दृष्टि में अभावग्रस्त जातियों एवं समुदायों के सामाजिक स्तर को ऊपर उठाया जाता है । परिषद् के द्वारा अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों को विशेषज्ञों का सहयोग दिया जाता है; साथ ही उन्हें यन्त्रों, उपकरणों आदि आवश्यक वस्तुओं को खरीदने के लिए आर्थिक सहयोग उपलब्ध कराया जाता है । आर्थिक तथा सामाजिक परिषद आधुनिक पद्धतियों से उत्पादन बढ़ाने में सहयोग देकर गरीबी-निवारण में सहयोग देती है । यह आवश्यक उपकरणों, यन्त्रों, मशीनों, भवनों, सड़कों एवं बन्दरगाहों को उपलब्ध कराकर व्यापार, उद्योग तथा कृषि की उन्नति में सहयोग देती है जिससे भारत सहित एशिया तथा अफ्रीकी राष्ट्रों को बहुत सहयोग मिल रहा है ।

संक्षेप में, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद ने एक विश्वव्यापी कल्याणकारी परिषद के रूप में कार्य किया है । इसने विश्व को अभाव, दरिद्रता, रोग और निरक्षरता से मुक्ति दिलाने का प्रयास किया है । इसने सन् 1948 की मानवीय अधिकारों की घोषणा और 1952 के महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों से सम्बन्धित सम्मेलन द्वारा मानव अधिकारों और मूल स्वतन्त्रताओं के प्रति अपार जन जागृति पैदा करने का प्रयास किया है ।

यद्यपि इसे आर्थिक एवं सामाजिक विषयों पर विधान बनाने की क्षमता प्राप्त नहीं है, तथापि इसने मानव जाति के उत्थान एवं उसे सुखी जीवन प्रदान करने की दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया है । संयुक्त राष्ट्र बाल निधि, संयुक्त राष्ट्र शरणार्थी निधि, तकनीकी सहायता समिति, यूरोप के लिए आर्थिक आयोग, एशिया व सुदूरपूर्व के लिए आर्थिक आयोग, लेटिन अमरीका के लिए आर्थिक आयोग, अफ्रीका के लिए आर्थिक आयोग, संयुक्त राष्ट्र कोरियाई पुनर्निर्माण अभि-

जब किसी विशेष राज्य के विषय पर विचार-विनिमय करने बैठती है तो वह उस राज्य के प्रतिनिधि को आमन्त्रित करती है, किन्तु ऐसे आमन्त्रित प्रतिनिधि को मत देने का अधिकार नहीं होता। आर्थिक एवं सामाजिक परिषद की बैठकें साल में दो बार होती हैं। अप्रैल और जुलाई में क्रमशः न्यूयार्क और जेनेवा में। आर्थिक एवं सामाजिक परिषद की बैठकें उसके नियमों के अनुसार, जिनमें सदस्यों के बहुमत के अनुरोध पर बैठकें बुलाने का उपबन्ध भी सम्मिलित है, आवश्यकतानुसार कभी भी की जा सकती है। महासभा की भाँति एक साल के लिए सदस्य राज्यों में से ही एक सदस्य इसका सभापति निर्वाचित होता है।

कार्य एवं शक्तियाँ—चार्टर के अनुसार, आर्थिक तथा सामाजिक परिषद के निम्नलिखित कार्य तथा शक्तियाँ हैं :

1. यह अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, स्वास्थ्य तथा सम्बन्धित मामलों पर अध्ययन कर सकती है तथा इस विषय में महासभा, संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों तथा विशिष्ट अभिकरणों को रिपोर्ट दे सकती है।

2. यह सबके मानवीय अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं के आदर तथा लागू करने के लिए संस्तुति दे सकती है।

3. यह अपनी क्षमता के अन्तर्गत आने वाले विषयों से सम्बन्धित अभिसमयों के आलेख महासभा को प्रेषित कर सकती है।

4. संयुक्त राष्ट्र द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार अपनी क्षमता के अन्तर्गत आने वाले विषयों से सम्बन्धित मामलों पर सम्मेलन बुला सकती है।

5. सुरक्षा परिषद की प्रार्थना पर यह सुरक्षा परिषद को सूचनाएँ प्रेषित कर सकती है तथा सहायता कर सकती है।

6. आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् महासभा की संस्तुतियों के पालन हेतु वह सब कार्य सम्पादित कर सकती है जो इसकी क्षमता के अन्तर्गत होते हैं।

7. महासभा के अनुमोदन से, आर्थिक तथा सामाजिक परिषद सदस्यों तथा विशिष्ट एजेन्सियों की प्रार्थना पर सेवाएँ अर्पित कर सकती है।

8. उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त, यह चार्टर के अन्तर्गत निर्दिष्ट तथा महासभा द्वारा बनाये गये सभी कार्यों को सम्पादित करेगी।

उपर्युक्त कर्तव्यों और अधिकारों के अतिरिक्त आर्थिक एवं सामाजिक परिषद संयुक्त राष्ट्र के अन्य अंगों को सहायता देती है। अनुच्छेद 65 के अनुसार यह सुरक्षा परिषद् को सूचनाएँ दे सकती और यदि सुरक्षा परिषद अनुरोध करे तो उसे सहायता देगी। अनुच्छेद 66 के अनुसार यह महासभा की सिफारिशों के क्रियान्वयन के सम्बन्ध में ऐसे कार्य कर सकती है, जो उसी अधिकारिता में आते हों और वह उन दूसरे सभी कार्यों को कर सकती है, जो संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में अन्यत्र दिये गये हैं अथवा महासभा द्वारा उसे सौंपे गये हैं।

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद के प्रमुख कार्यों में से एक विभिन्न विशिष्ट अभिकरणों की गतिविधियों में समन्वय करना भी है।

वस्तुतः गरीबों, घायलों तथा अशिक्षितों की सहायता करके आर्थिक तथा सामाजिक परिषद विश्व शान्ति की स्थापना में सहायता करती है। यह सभी प्रकार से लोगों के जीवन में सुधार करने का प्रयत्न करती है।

आयोग—आर्थिक और सामाजिक परिषद अपना कार्य प्रधानतः कुछ आयोगों के माध्यम से करती है। ये आयोग दो प्रकार के होते हैं : 1. कार्यात्मक (Functional), तथा 2. प्रादेशिक (Regional)।

अपने राष्ट्र में विधिवेत्ता के रूप में ख्याति पा चुके होते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विशेषज्ञ माने जाते हैं। संविधान में कहा गया है कि न्यायाधीशों का नैतिक चरित्र उच्च होना चाहिए और उनमें वे योग्यताएँ होनी चाहिए जो उनके देश की न्याय सम्बन्धी उच्च संस्थाओं के उच्च न्यायिक अधिकारियों की नियुक्ति के लिए आवश्यक हों। इतना होने पर भी यह ध्यान रखा जाता है कि एक से अधिक न्यायाधीश एक ही राष्ट्र के न हों। इन न्यायाधीशों को कोई राजनीतिक कार्य या अन्य कोई व्यवसाय करने की आज्ञा नहीं होती। इनका पुनर्निर्वाचन भी हो सकता है। न्यायाधीशों का चुनाव करते समय यह भी ध्यान रखा जाता है कि न्याय व्यवस्था में संसार की सभी न्याय व्यवस्थाओं को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाये।

उन्मुक्तियाँ (Immunities)—न्यायाधीशों को अनेक विशेषाधिकार सौंपे जाते हैं। उनको राजनयिक उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाती है। न्यायालय के सम्मुख वादियों के प्रतिनिधि, परामर्शदाता और वकीलों को भी स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने की छूट दी जाती है।

गणपूर्ति (Quorum)—न्यायालय के विधान के अनुसार इसमें 15 न्यायाधीशों के अतिरिक्त अस्थायी न्यायाधीश नियुक्त करने की भी व्यवस्था है। न्यायालय की गणपूर्ति 9 रखी गयी है।

प्रक्रिया (Procedure)—न्यायालय के सभी निर्णय बहुमत से लिये जाते हैं। बहुमत न होने पर सभापति का निर्णायक मत मान्य होता है।

न्यायालय की भाषा फ्रेंच तथा अंग्रेजी है। अन्य भाषाओं को भी अधिकृत रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। न्यायालय अपनी कार्यविधि और नियमावली स्वयं तैयार करता है।

न्यायालय के सामने वे सब विवाद जा सकते हैं जिनको दोनों पक्ष उसके सामने रखना चाहें या जिनका संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर अथवा किसी सन्धि के अनुसार न्यायालय में लाया जाना अनिवार्य हो।

न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत मुकदमों में वादी और प्रतिवादी केवल राष्ट्र ही हो सकते हैं, व्यक्ति नहीं। ऐसे राष्ट्र जो संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य नहीं है, अपने विवाद का निर्णय इस न्यायालय द्वारा करा सकते हैं, किन्तु सुरक्षा परिषद द्वारा निर्धारित शर्तों को मानना पड़ेगा। सुरक्षा परिषद भी ऐसी शर्तें नहीं रख सकती जिनके कारण गैर-सदस्य राष्ट्रों में असमानता (छोटे-बड़े का भेद) दृष्टिगत हो।

न्यायालय के विधान के मन्तव्य के अनुसार मुकदमे के खर्च का कौन-सा हिस्सा गैर-सदस्य राष्ट्र को देना पड़ेगा, इसका निर्णय न्यायालय ही करेगा।

न्यायालय का निर्णय अन्तिम समझा जाता है। निर्णय की अपील नहीं हो सकती, किन्तु कोई पक्ष समझे कि कोई आवश्यक बात न्यायालय के सम्मुख किसी कारण से उपस्थित नहीं हो सकी अथवा प्रत्यक्ष रूप से कहीं भूल हुई है, तब उस अवस्था में पुनः विचार के लिए प्रार्थनापत्र दिया जा सकता है।

न्यायालय को अधिकार है कि अपना निर्णय देने के पूर्व किसी व्यक्ति, विशेषज्ञ अथवा कमेटी द्वारा मुकदमे से सम्बन्धित किसी भी विषय के सम्बन्ध में जाँच करा ले।

मुकदमे की सुनवाई आमतौर से सार्वजनिक रूप से होती है। किन्तु न्यायालय स्वतः अथवा वादी-प्रतिवादी की प्रार्थना पर बन्द कमरे में मुकदमे की सुनवाई कर सकता है।

सब प्रश्नों का निपटारा उपस्थित न्यायाधीशों के बहुमत से होता है। यदि किसी प्रश्न पर न्यायाधीशों का मत बराबर हो तो सभापति अथवा उसकी अनुपस्थिति में जो सभापति का आसन ग्रहण कर रहे हों, अपना निर्णायक मत (Casting Vote) दे सकते हैं।

करण और आर्थिक विकास के लिए विशेष निधि—सबों ने सम्पूर्ण विश्व की आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति के लिए महान् योगदान दिया है। वास्तव में द्वितीय महायुद्ध की विभीषिकाओं से पीड़ित मानव जाति के अविकसित एवं नवोदित राष्ट्रों के लिए यह एक प्रेरणा व सहायता का स्रोत रही है।

6. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय
(THE INTERNATIONAL COURT OF JUSTICE)

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय राष्ट्र संघ की प्रमुख कानूनी संस्था है। कानून से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों पर ही यह विचार करता है। राजनीतिक झगड़ों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे देश, जो इस न्यायालय के सदस्य हों, यदि किसी मामले को न्यायालय के समक्ष उपस्थित करना चाहें, तो कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त सुरक्षा परिषद् कानूनी विवाद उपस्थित होने पर उसे न्यायालय के सम्मुख पेश कर सकती है। संयुक्त राष्ट्र संघ की अन्य संस्थाएँ भी किसी कानूनी प्रश्न पर न्यायालय से परामर्श ले सकती हैं। व्यक्तिगत झगड़े इस अदालत में पेश नहीं किये जा सकते।

चीन, रूस, ब्रिटेन और अमरीका ने डम्बर्टन ओक्स सम्मेलन के समय संयुक्त राष्ट्र संघ के संगठन के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव किये थे, उनमें यह कहा गया था कि एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय भी होना चाहिए।

सेनफ्रांसिस्को सम्मेलन का आयोजन करने वाले राष्ट्रों के आमन्त्रण पर विधिवेत्ताओं की समिति, जिसमें 14 देशों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे, की बैठक 9 अप्रैल से 20 अप्रैल, 1945 तक वाशिंगटन में हुई। इस बैठक में वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का प्रारूप तैयार हुआ।

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में 92 से 96 तक के अनुच्छेदों में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का विधान है। अनुच्छेद 92 का मन्तव्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय संयुक्त राष्ट्र संघ का न्याय सम्बन्धी प्रधान उपकरण होगा। उसका काम उस विधान के अनुसार होगा जो परिशिष्ट रूप से चार्टर के साथ संलग्न है। अनुच्छेद 94 के अनुसार प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य है कि वह न्यायालयों के निर्णयों का ठीक तरह से पालन करे। यदि एक पक्ष पालन न करे तो दूसरे पक्ष को अधिकार है कि सुरक्षा परिषद् का ध्यान इस ओर उपयुक्त कार्यवाही के लिए आकृष्ट करे।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना हेग में 3 अप्रैल, 1946 को हुई थी। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का संविधान 70 अनुच्छेदों में है। इसमें न्यायालय के अधिकार, अधिकार क्षेत्र, कार्य संचालन नियम आदि सभी आवश्यक बातें दी हुई हैं।

स्थायी न्यायालय का कार्यालय हेग में दूसरे युद्ध के आरम्भ तक था। युद्धकाल में वह स्विट्जरलैंड चला गया था क्योंकि सारे हालैण्ड पर जर्मनी का अधिकार हो गया था। युद्ध समाप्ति के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत जिस न्यायालय की स्थापना हुई; उसका मुख्य स्थान हेग ही रखा गया। इसका कारण भी था। कार्यालय के भव्य भवन का निर्माण अमरीकी दानवीर स्वर्गीय कार्नेगी ने अपने धन से कराया था। अतः आज अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का कार्यालय उसी भवन में है। पहले न्यायालय ने जो निर्णय किये थे या आदेश दिये थे उन सबको नये न्यायालय ने अंगीकार कर लिया।

न्यायालय का गठन—संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की धारा 92 के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के लिए न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का गठन हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय के समान ही न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के जजों की संख्या 15 रखी गयी। ये न्यायाधीश अपने में से ही एक सभापति तथा उपसभापति को चुनते हैं। न्यायाधीशों का चुनाव सुरक्षा परिषद तथा सामान्य सभा द्वारा 9 वर्ष के लिए किया जाता है। न्यायाधीशों का चुनाव जाति भेद, रंग भेद तथा धर्म भेद के आधार पर न होकर योग्यता के आधार पर होता है। ये व्यक्ति

में सम्बन्धित प्रश्न का विवरण तथा वे सभी दस्तावेज होते हैं जो प्रश्न पर प्रकाश डाल सकते हैं।

न्यायालय का परामर्श केवल परामर्श होता है, जिसे मानने के लिए किसी भी संस्था को बाध्य नही किया जा सकता।

सन् 1947 में 'किसी राज्य का संयुक्त राष्ट्र का सदस्य बनाये जाने की शर्तें' (Admission of a State to membership in the U. N.) केस में अपने परामर्शात्मक मत में न्यायालय ने यह घोषणा की कि महासभा अथवा सुरक्षा परिषद में किसी राज्य को संयुक्त राष्ट्र में सदस्यता पर मतदान देते समय केवल वही शर्तें लगायी जा सकती हैं जो चार्टर के अनुच्छेद 4 में वर्णित हैं। सन् 1950 में 'राज्यों को संयुक्त राष्ट्र में सदस्य बनाने के लिए महासभा की क्षमता' (Competence of the General Assembly for the Admission of a State to the U. N.) विषय पर अपने सलाहकारी मत में न्यायालय ने कहा कि किसी राज्य को संयुक्त राष्ट्र में सदस्य बनने के लिए महासभा तथा सुरक्षा परिषद दोनों ही की सकारात्मक सहमति आवश्यक है। 1949 में 'संयुक्त राष्ट्र की सेवा में हुई क्षति के लिए क्षतिपूर्ति (Reparation for Injuries suffered in the servics of the U. N.) वाद में न्यायालय ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इस नियम को विकसित किया कि संयुक्त राष्ट्र एक विधिक व्यक्ति (Juristic Person) है तथा वह अपनी सेवा मे नियुक्त व्यक्तियों की हुई क्षति के लिए दावा कर सकता है। 1950 में 'दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति' (International Status of South-West Africa) वाद में अपने सलाहकारी मत में न्यायालय ने अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की उत्तराधिकार सम्बन्धी विधि को विकसित किया तथा निर्णय दिया कि संयुक्त राष्ट्र न्यास प्रणाली ने मैण्डेट प्रणाली के अधिकारों को उत्तराधिकार में प्राप्त किया है। सन् 1962 में 'संयुक्त राष्ट्र के कुछ व्यय' (Certain Expenses of the U. N.) केस में अपने सलाहकारी मत में न्यायालय ने चार्टर के अनुच्छेद 17(2) की व्याख्या करते हुए निर्णय दिया कि स्वेज संकट तथा कांगो में भेजी जाने वाली संयुक्त राष्ट्र सेनाओं पर हुआ व्यय संस्था का व्यय माना जायेगा। 1970 में सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव के बावजूद दक्षिणी अफ्रीका की दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका मे उपस्थिति के विधिक परिणाम (Advisory Opinion Concerning the legal Consequences of the Contianed presence of South Africa on Nambia *i. e.*, South-west Africa, notwithstanding Security Council Resolution, 276, 1970) के केस में अपने सलाहकारी मत में न्यायालय ने निर्णय दिया कि दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका में दक्षिणी अफ्रीका की निरन्तर उपस्थिति अवैध है। 'संयुक्त राष्ट्र प्रशासनिक न्यायालय के निर्णय संख्या 273 में पुनर्विलोकन के लिए प्रार्थना-पत्र' (Application for Review of Judgement No. 273 of the U. N. Administrative Tribunal, July 1982) विवाद में न्यायालय ने अपने सलाहकारी मत में स्पष्ट किया कि संयुक्त राष्ट्र प्रशासनिक न्यायालय ने नियमों आदि को लागू करने में कोई त्रुटि नही की थी तथा न्यायालय ने अपनी अधिकारिता या क्षमता से परे कोई कार्य नहीं किया था।

न्यायिक निर्णय की क्रियान्विति (Execution of Judicial Decision)

संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए संघ के चार्टर की धारा 94 में व्यवस्था की गयी है। इसके अनुसार संघ का प्रत्येक सदस्य यह प्रतिज्ञा करता है कि वह किसी मामले मे विवादी होने पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के फैसले को मानेगा। यदि एक पक्ष न्यायालय के निर्णय को नहीं मानता तो दूसरा पक्ष सुरक्षा परिषद का आश्रय ले सकता है। न्यायालय के निर्णय को क्रियान्वित कराने के लिए आवश्यक कार्यवाही तय करते समय सुरक्षा परिषद के 9

यदि निर्णय सर्वसम्मति से नहीं हो तो उस अवस्था में अल्पमत वाले न्यायाधीशों को भी अपना पृथक् लिखित मत व्यक्त करने का अधिकार है।

मुकदमे का निर्णय खुली अदालत में पढ़ा जाता है और उस पर सभापति एवं रजिस्ट्रार के हस्ताक्षर रहते हैं।

साधारणतः यदि राष्ट्रीय न्यायालय की तरह फैसले में जीतने वाले राज्य को मुकदमे का व्यय पाने का उल्लेख न हो तो समझा जाता है कि न्यायालय का विचार है कि प्रत्येक पक्ष अपना खर्च स्वयं उठाये। मुकदमे की सुनवाई के लिए कम से कम नौ न्यायाधीशों की उपस्थिति अनिवार्य है।

न्यायालय का खर्च सदस्य देश देते हैं। खर्च का कितना हिस्सा किसको देना पड़ेगा, इसका निर्णय महासभा करती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के वार्षिक बजट में न्यायालय का बजट भी सम्मिलित रहता है और महासभा न्यायाधीशों तथा रजिस्ट्रार का वेतन निर्धारित करती है।

यद्यपि न्यायालय का स्थायी कार्यालय हेग में है तथापि मुकदमे की सुनवाई दूसरे देश में भी हो सकती है।

न्यायालय का क्षेत्राधिकार (Jurisdiction of The Court)

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

1. ऐच्छिक क्षेत्राधिकार (Voluntary Jurisdiction)
2. अनिवार्य क्षेत्राधिकार (Compulsory Jurisdiction)
3. परामर्शात्मक क्षेत्राधिकार (Advisory Jurisdiction)

1. ऐच्छिक क्षेत्राधिकार—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि की धारा 36 के अनुसार न्यायालय उन सभी मामलों पर विचार कर सकता है जिनको सम्बन्धित राज्य न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत करे।

2. अनिवार्य क्षेत्राधिकार—राज्य स्वयं घोषणा करके इन क्षेत्रों में न्यायालय के आवश्यक क्षेत्राधिकार को स्वीकार कर लेता है। ये हैं—सन्धि की व्याख्या, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र से सम्बन्धित सभी मामले, किसी ऐसे तथ्य का अस्तित्व जिसके सिद्ध होने पर किसी अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्य का उल्लंघन समझा जाये तथा किसी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के उल्लंघन पर क्षतिपूर्ति का रूप और परिणाम। प्रो. ओपेनहीम ने न्यायालय के इस क्षेत्राधिकार को "वैकल्पिक आवश्यक
कहा है। यह वैकल्पित इसलिये है क्योंकि यह उन्हीं राज्यों पर लागू होता है जो
करें और लागू तभी होता है जब विवाद से सम्बन्धित अन्य राज्य भी इस
कर चुका हो। यह आवश्यक इसलिए है क्योंकि जो राज्य इस प्रकार की
दता है उससे सम्बन्धित विवाद किसी विशेष समझौते बिना भी न्यायालय के समक्ष
सकते हैं।

राज्य इस प्रकार की घोषणा करते समय कोई भी शर्त लगा सकता है। प्रो. ओपेनहीम के
सशर्त वैकल्पिक धारा अनिवार्य न्यायिक निर्णय की सर्वाधिक व्यापक और

धिकार—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा परामर्श देने का कार्य भी
महासभा अथवा सुरक्षा परिषद किसी भी कानूनी प्रश्न पर अन्तर्राष्ट्रीय
माँग सकती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के दूसरे अंग तथा विशेष अभिकरण भी
क्षेत्र में उठने वाले कानूनी प्रश्नों पर न्यायालय का परामर्श प्राप्त कर सकते हैं।
लिए न्यायालय के सम्मुख लिखित रूप में प्रार्थना की जाती है। इस प्रार्थना पत्र में

गुडस्पीड ने लिखा है कि "अपनी क्षमता के बावजूद न्यायालय एक ऐसे विश्व समाज में करता है जो अभी इसे महत्वपूर्ण मामले सुपुर्द करने को तैयार नहीं है अथवा वह भी कार्य देने के लिए तैयार नहीं जो चार्टर में इसके लिए निर्देशित है।"[1]

वर्ष 1946 से अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के उद्घाटन काल से राज्यों ने इसके समक्ष 50 पेश किये हैं और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा 17 परामर्शात्मक मतों के लिए अनुरोध किया राज्यों द्वारा पेश किये गये 15 मामले विभिन्न कारणों से वापस लिये गये अथवा सूची गल दिये गये और 10 अन्य मामलों में न्यायालय ने यह पाया कि गुणों के आधार पर उन पर निर्णय लेना उसके क्षेत्राधिकार में नहीं है। शेष मामलों में, जो बहुत सारे विषयों न्धित हैं, 2 के अलावा सभी के अन्तिम फैसले दिये जा चुके हैं। ये 2 हैं—कांटिनेण्टल लीबिया/अरब जम्हीरिया/माल्टा) और मैन खाड़ी के क्षेत्र में जहाजरानी सीमा को सीमा-करना (कनाडा/संयुक्त राज्य अमरीका)। आज न्यायालय के पास यथेष्ट कार्य नहीं है।[2]

न्यायालय का उपयोग बहुत कम हो रहा है। फ्रांसिस ओ. विसकोक्स ने लिखा है कि से 1955 तक के दस वर्षों में राष्ट्रों के बीच के झगड़ों के सम्बन्ध में सिर्फ 16 मुकदमे ा के समक्ष उपस्थित किये गये।

1955 तक सिर्फ 44 राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय को बन्धनकारी मानने ा की। अन्य राष्ट्रों ने जिनमें रूस भी है किसी रूप में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के बन्धन- को स्वीकार नहीं किया है।

ह आश्चर्य की बात है कि संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी अब तक सिर्फ 17 बार कानूनी न्यायालय से ली है। सुरक्षा परिषद् तथा अन्य संस्थाओं ने तो इसकी आवश्यकता का नहीं किया है। सुरक्षा परिषद तथा अन्य संस्थाओं ने प्रायः कानूनी मामलों पर न्यायालय लेकर, कानूनी बातों के सम्बन्ध में भी राजनीतिक भावना से काम लिया है। कश्मीर स्वेज नहर प्रश्न आदि मूलतः कानूनी प्रश्न थे किन्तु उनके सम्बन्ध में निर्णय राज-ष्ट से किया गया।

र भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि अपनी दुर्बलताओं और परिसीमाओं के बावजूद न्यायालय ने अपना काम बड़ी कुशलता से किया है तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास दिया है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के विशिष्ट अभिकरण एवं गैर-राजनीतिक कार्य
LISED AGENCIES OF THE U. N O. & IT'S NON-POLITICAL ACTIVITIES)

क्त राष्ट्र के विशिष्ट अभिकरण वर्तमान विश्व संस्था के संघटक अंग नहीं हैं। इनमें क्त राष्ट्र से बहुत पहले ही स्थापित हो चुके थे और बहुतों का गठन संयुक्त राष्ट्र के न्तर्गत इन विशिष्ट अभिकरणों के संविधानों, प्रयोजनों एव सिद्धान्तों का विस्तृत है, किन्तु चार्टर के कई अनुच्छेदों के अन्तर्गत उनके सन्दर्भ में उपबन्ध पाये जाते हैं। बन्ध किया गया है कि ये 'विशिष्ट अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरण' आर्थिक एवं सामाजिक ाथ विशेष करारों द्वारा संयुक्त राष्ट्र के साथ सम्बद्ध किये गये हैं। इन करारों पर अनुमोदन आवश्यक है। अतः संयुक्त राष्ट्र के साथ उनका सम्बन्ध संघटनात्मक नहीं, जन्य है। संयुक्त राष्ट्र के सदृश प्रत्येक अभिकरण की अपनी सदस्यता, बजट एवं संयुक्त राष्ट्र के विपरीत उनमें से प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के एक विशिष्ट क्षेत्र है, जैसे श्रम, स्वास्थ्य, दूरसंचार आदि।

1. Goodcpeed, *The Nature and Function of International Organisation*, p. 309.
ष्ट्र संघ से सम्बन्धित मूल तथ्य— संशोधित (1983) संस्करण, पृ. 15.

सदस्यों की स्वीकृति आवश्यक है। इसमें से 5 स्थायी सदस्य भी होने चाहिए। सुरक्षा परिषद जैसा आवश्यक समझे वैसी कार्यवाही करेगी। व्यवहार में यह देखा गया है कि न्यायालय के निर्णय का राज्य आदर करते हैं। स्टोन ने भी लिखा है कि 'दोषी राज्य अपनी पोल खुलने से बचने के लिए विवाद के सहमतिपूर्ण निपटारे के लिए तैयार हो जाते हैं। न्यायालय के मत का नैतिक बल भी बहुत अधिक होता है और यदि कोई राज्य निर्णय की अवहेलना करता है तो उसे भी विश्व जनमत के सामने झुकना पड़ता है।'

न्यायालय द्वारा कानून का प्रयोग—चार्टर के नियमों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय वादों का निर्णय करने में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का प्रयोग करेगा। जो वाद निर्णय के लिए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में पेश किये जायेंगे उन वादों में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीश निम्नलिखित विधियों का प्रयोग करेंगे।

(क) सामान्य अथवा विशिष्ट पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ और समझौते जिनको वादग्रस्त पक्ष स्वीकार करते हों।

(ख) वे अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराएँ और रीति-रिवाज, जिन्हें सामान्यतया प्रयोग में माना जाता है।

(ग) सभ्य राष्ट्रों द्वारा मान्यता प्राप्त कानूनों के सामान्य सिद्धान्त।

(घ) भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के विधिवेत्ताओं और न्यायाधीशों द्वारा दिये गये निर्णय।

अन्तिम अथवा अस्थायी कार्यवाही—चार्टर के नियमों के अनुसार किसी वाद में अन्तिम निर्णय देने से पूर्व न्यायालय को वाद के पक्ष के व्यक्तियों के विषय में अन्तरिम कार्यवाही करने के अधिकार हैं। ये अन्तरिम कार्यवाहियाँ निम्न प्रकार की हो सकती हैं :

(क) यदि न्यायालय उचित समझे तो परिस्थिति के अनुसार वह वाद के पक्ष के लोगों के अधिकारों की रक्षा करने के लिए कोई प्राविधिक रीति अपना सकता है;

(ख) अन्तिम निर्णय देने तक के लिए वह वाद के पक्षों को और सुरक्षा परिषद को अपने विचार उस विषय में प्रकट कर सकता है।

अन्तरिम कार्यवाही के विषय में सन् 1951 का ऐंग्लो-ईरानियन आयल कम्पनी वाद इस विषय में बड़ा अच्छा उदाहरण है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का मूल्यांकन (Evaluation of the International Court of Justice)

यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णयों के पीछे कोई बाध्यकारी शक्ति नहीं; फिर भी जब से इसने जन्म लिया है, इसके द्वारा अनेक अन्तर्राष्ट्रीय मामलों को सुलझाया जा चुका है। एम. सी. छागला के अनुसार, 'यह न्यायालय संयुक्त राष्ट्र संघ का एक महत्वपूर्ण न्यायालय है। यद्यपि इसके पास वे शक्तियाँ एवं अधिकार नहीं जो इसे वास्तव में प्राप्त होने चाहिए थे, फिर भी यह महान उद्देश्यों की एक साकार प्रतिमा है।' न्यायालय के कार्य संचालन में विभिन्न देशों तथा गुटों ने बाधा डाली है। राज्यों की अवहेलना तथा असहयोगपूर्ण दृष्टिकोण के कारण यह क उपयोगी तथा शक्तिशाली संस्था नहीं बन सकी है। अतिवादी प्रभुसत्ता का विचार न्याया-क मार्ग में बहुत बड़ी बाधा है। इसका परित्याग करना होगा। इसी प्रकार संविधि की २। 34, जिसमें यह कहा गया है कि न्यायालय के सम्मुख राज्य ही वादी और प्रतिवादी हो सकते हैं, को भी बदलना पड़ेगा तथा व्यक्तियों को न्यायालय में पहुँचने का अधिकार देना होगा।[1]

---

[1] The statute Law lays down, in Article 34, that only states may be parties before the court.
—Oppenheim. *International Law*. Vol. II, p. 45.

गुडस्पीड ने लिखा है कि "अपनी क्षमता के बावजूद न्यायालय एक ऐसे विश्व समाज में कार्य करता है जो अभी इसे महत्वपूर्ण मामले सुपुर्द करने को तैयार नहीं है अथवा यह भी कार्य करने देने के लिए तैयार नहीं जो चार्टर में इसके लिए निर्देशित है।"[1]

वर्ष 1946 से अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के उद्घाटन काल से राज्यों ने इसके समक्ष 50 मामले पेश किये हैं और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा 17 परामर्शात्मक मतों के लिए अनुरोध किया गया। राज्यो द्वारा पेश किये गये 15 मामले विभिन्न कारणों से वापस लिये गये अथवा सूची से निकाल दिये गये और 10 अन्य मामलों में न्यायालय ने यह पाया कि गुणों के आधार पर उन मामलों पर निर्णय लेना उसके क्षेत्राधिकार में नहीं है। शेष मामलों में, जो बहुत सारे विषयों से सम्बन्धित हैं, 2 के अलावा सभी के अन्तिम फैसले दिये जा चुके हैं। ये 2 हैं—कांटिनेण्टल शेल्फ (लीबिया/अरब जम्हीरिया/माल्टा) और मैन खाड़ी के क्षेत्र में जहाजरानी सीमा को सीमा-रहित करना (कनाडा/संयुक्त राज्य अमरीका)। आज न्यायालय के पास यथेष्ट कार्य नहीं है।[2]

न्यायालय का उपयोग बहुत कम हो रहा है। फ्रांसिस ओ. विसकोक्स ने लिखा है कि 1946 से 1955 तक के दस वर्षों में राष्ट्रों के बीच के झगड़ों के सम्बन्ध में सिर्फ 16 मुकदमे न्यायालय के समक्ष उपस्थित किये गये।

1955 तक सिर्फ 44 राज्यों ने अन्ततर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय को बन्धनकारी मानने की घोषणा की। अन्य राष्ट्रों ने जिनमें रूस भी है किसी रूप में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के बन्धनकारी रूप को स्वीकार नहीं किया है।

यह आश्चर्य की बात है कि संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी अब तक सिर्फ 17 बार कानूनी सलाह इस न्यायालय से ली है। सुरक्षा परिषद् तथा अन्य संस्थाओं ने तो इसकी आवश्यकता का अनुभव नहीं किया है। सुरक्षा परिषद तथा अन्य संस्थाओं ने प्रायः कानूनी मामलों पर न्यायालय की राय न लेकर, कानूनी बातों के सम्बन्ध में भी राजनीतिक भावना से काम लिया है। कश्मीर प्रश्न अथवा स्वेज नहर प्रश्न आदि मूलतः कानूनी प्रश्न थे किन्तु उनके सम्बन्ध में निर्णय राजनीतिक दृष्टि से किया गया।

फिर भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि अपनी दुर्बलताओं और परिसीमाओं के बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपना काम बड़ी कुशलता से किया है तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास में योगदान दिया है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के विशिष्ट अभिकरण एवं गैर-राजनीतिक कार्य
(SPECIALISED AGENCIES OF THE U. N O. & IT'S NON-POLITICAL ACTIVITIES)

संयुक्त राष्ट्र के विशिष्ट अभिकरण वर्तमान विश्व संस्था के संघटक अंग नहीं हैं। इनमें से कुछ संयुक्त राष्ट्र से बहुत पहले ही स्थापित हो चुके थे और बहुतों का गठन संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अन्तर्गत इन विशिष्ट अभिकरणों के संविधानों, प्रयोजनों एव सिद्धान्तों का विस्तृत विवरण नहीं है, किन्तु चार्टर के कई अनुच्छेदों के अन्तर्गत उनके सन्दर्भ में उपबन्ध पाये जाते हैं। चार्टर में उपबन्ध किया गया है कि ये 'विशिष्ट अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरण' आर्थिक एवं सामाजिक परिषद के साथ विशेष करारों द्वारा संयुक्त राष्ट्र के साथ सम्बद्ध किये गये है। इन करारों पर ’सभा का अनुमोदन आवश्यक है। अतः संयुक्त राष्ट्र के साथ उनका सम्बन्ध संघटनात्मक नहीं, संविदा जन्य है। संयुक्त राष्ट्र के सदृश प्रत्येक अभिकरण की अपनी सदस्यता, बजट एवं किन्तु संयुक्त राष्ट्र के विपरीत उनमें से प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के एक विशिष्ट क्षेत्र है, जैसे श्रम, स्वास्थ्य, दूरसंचार आदि।

Goodepeed, *The Natwe and Function of Intei national Organisation*, p. 309.

संघ से सम्बन्धित मूल तथ्य— संशोधित (1983) संस्करण, पृ. 15.

मंगोलिया, उक्रेनिया, चैकोस्लोवाकिया) ने अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I. L. O.) को उसकी पोलैण्ड विरोधी नीति के कारण छोड़ देने की धमकी दी है। पोलैण्ड का कहना है कि अब उसका इस संगठन में बने रहना असम्भव है। साम्यवादी देशों में श्रमिकों को जनतन्त्रीय अधिकार प्राप्त नहीं है। पोलैण्ड के श्रमिकों ने जब साम्यवादी तानाशाह के खिलाफ आवाज उठायी तो स्वाभाविक रूप से संयुक्त राष्ट्र संघ के इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ने पोलैण्ड के श्रमिकों के पक्ष से दुनिया को अवगत कराया, वहाँ के श्रम संगठनों के न्याय पक्ष की वकालत की। साम्यवादी देशों को यह स्वीकार नहीं है। ये देश संयुक्त राष्ट्र संगठन के समीक्षा आयोग को पोलैण्ड की आन्तरिक सम्प्रभुता में हस्तक्षेप मानते है तथा इन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की ओर से प्रकाशित रिपोर्ट को साम्यवादी देशों को बदनाम करने वाली करार दिया है।[1]

3. संयुक्त राष्ट्र संघ खाद्य एवं कृषि संगठन (Food and Agricultural Organisation of the U. N. O.)

इसका संगठन सन् 1943 में खाद्य एवं कृषि सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन के फलस्वरूप हुआ था। इस संगठन का उद्देश्य पोषण-स्तर तथा जीवन-स्तर को बढ़ाना है। इसका प्रमुख कार्य पोषण, खाद्य एवं कृषि सम्बन्धी सूचना संग्रहीत करना, उसका प्रसार करना एवं विश्लेषण करना है। इन उद्देश्यों को पूरा करने के कार्य में यह संस्था दुनिया के भूमि और पानी के मूल साधनों के विकास में योग देती है। यह विभिन्न देशों में उन्नत तरीकों का प्रचार करती है तथा मवेशियों की भयंकर महामारियों को रोकने की व्यवस्था करती है। वह इन क्षेत्रों में तकनीकी सहायता देती है, जैसे—पौष्टिक खुराक और खाने-पीने की चीजों की व्यवस्था, भूमि के कटाव को रोकना, सिंचाई, इन्जीनियरी, फिर से जंगल लगाना, जमा की हुई खाने-पीने की चीजों को नष्ट होने से बचाना और रासायनिक खाद तैयार करना। इस समय इस संगठन में सैकड़ों विशेषज्ञ विभिन्न देशों में विद्यमान हैं। कीड़े-मकोड़ों से होने वाली फसल की हानि कम करने की कोशिश में इनके सदस्य विभिन्न देशों की सरकारों की सहायता कर रहे हैं। ये कृषि यन्त्रों के अच्छे से अच्छे उपयोग में और उत्पादन बढ़ाने में भी सहायता कर रहे हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय खाद्य तथा कृषि संगठन अपना कार्य सम्मेलन के द्वारा सम्पन्न करता है। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र इस सम्मेलन में एक प्रतिनिधि भेजता है। संगठन के अन्तर्गत 49 सदस्यों की परिषद् है, जिसे विश्व खाद्य परिषद् कहा जाता है। इसका एक सचिवालय होता है जिसकी अध्यक्षता प्रमुख संचालक करता है जो सम्मेलन के द्वारा चुना जाता है।

आज विश्व के इने गिने क्षेत्रों की जनता को छोड़कर सबके सम्मुख खाद्य संकट का विकराल प्रश्न दानव-सा मुख बाये खड़ा है। खाद्य और कृषि संगठन इस समस्या को हल करने में सतत् प्रयत्नशील है।

4. विश्व स्वास्थ्य संगठन (World Health Organisation)

इस संस्था का संविधान 22 जुलाई, 1946 को स्वीकृत हुआ था और इसका उद्घाटन 7 अप्रैल 1948 को हुआ। इसका उद्देश्य विश्व के देशों की जनता द्वारा स्वास्थ्य की उच्चतम सम्भव दशा को प्राप्त करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह संगठन निम्नलिखित कार्य करता है—अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य के कार्यों का संचालन और समन्वय, स्वास्थ्य के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र संघ तथा इसके विशेष संगठनों तथा अन्य स्वास्थ्य सम्बन्धी संस्थाओं में सहयोग स्थापित करना; महामारियों तथा बीमारियों के उन्मूलन के कार्य को प्रोत्साहित करना; लोगों के पर्यावरणीय स्वास्थ्य की परिस्थितियों को तथा आहार, पोषण, निवास-गृह और सफाई तथा काम करने

---

1 राजस्थान पत्रिका, 7 जनवरी, 1985, पृ. 4।

की दशाओं को उन्नत करना; मातृ-मंगल, बाल स्वास्थ्य और कल्याण कार्यों की वृद्धि; स्वास्थ्य के क्षेत्र में अनुसंधान, स्वास्थ्य, शिक्षा और प्रशिक्षण को ऊँचा करना; बीमारियों के अन्तर्राष्ट्रीय नामों के तथा निदान सम्बन्धी कार्यों का मानकीकरण तथा खाद्य पदार्थों, दवाइयों तथा अन्य ऐसी वस्तुओं के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय मानक निश्चित करना।

इस संगठन के तीन अंग हैं—(1) सदस्य राज्यों के प्रतिनिधियों की असेम्बली, (2) असेम्बली द्वारा चुने गये 30 व्यक्तियों का प्रबन्ध बोर्ड, तथा (3) सचिवालय। इसका मुख्य कार्यालय जेनेवा में है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने विकासशील देशों के हित में कुछ उल्लेखनीय कार्य किये हैं। छुआछूत से फैलने वाली बीमारियों एवं महामारियों की रोकथाम में इसका योगदान महत्वपूर्ण रहा है। मलेरिया उन्मूलन के अन्तर्गत इसने भारत, श्रीलंका, इजराइल; जोर्डन, लेबनान, सीरिया, यूनान, इत्यादि 40 देशों में कार्य किया है और अनेक जगहों में इसे उल्लेखनीय सफलता मिली है।

5. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के बीच मौद्रिक सहयोग का ज्वलन्त उदाहरण है। इसकी स्थापना दिसम्बर 1945 में हुई तथा 1 मार्च, 1947 से इसने अपना कार्य प्रारम्भ किया। इसके प्रमुख उद्देश्य हैं—(1) अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की उन्नति करना; (2) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाना; (3) विनिमय दरों को स्थायी बनाना; (4) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के अन्तरों की विषमता दूर करना; (5) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान असन्तुलन को कम करना; (6) लाभ के कार्यों में पूंजी लगाना। संक्षेप में, मुद्रा कोष का उद्देश्य एक ऐसी प्रणाली का विकास करना है जिससे सदस्य देशों को विदेशी विनिमय की सुविधा हो, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन मिले और सदस्य देशों की आर्थिक उन्नति हो सके।

कोष के प्रबन्ध के लिए प्रशासक मण्डल है जो साधारण सभा का कार्य करता है। कोष के प्रतिदिन के कार्य-संचालन हेतु एक प्रबन्धक-मण्डल होता है। इस मण्डल में कम से कम 21 सदस्यों का होना आवश्यक है, जिनमें से 5 स्थायी और शेष अस्थायी होते हैं। विधान के अनुसार कोष का प्रधान कार्यालय उस देश में रहेगा जिसका कोष सबसे अधिक है। इस समय अमरीका का कोष सबसे अधिक होने के कारण कोष का प्रधान कार्यालय अमरीका में ही रखा गया है।

1 मार्च, 1947 को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्यों की संख्या 40 थी और उनके अभ्यंश का योग 75 बिलियन डालर था, परन्तु 15 सितम्बर, 1982 को मुद्रा कोष के सदस्यों की संख्या बढ़कर 146 हो गयी तथा उनकी कुल पूंजी की मात्रा का योग एस. डी. आर. 61 बिलियन था। फरवरी 1983 में वाशिंगटन समिति की बैठक में इसकी पूंजी को 61 बिलियन एस. डी. आर. से बढ़ाकर 90 बिलियन एस. डी. आर. करने का निर्णय किया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रमुख कार्य हैं, (i) **आर्थिक सहायता**—मुद्रा कोष सदस्य देशों के भुगतान शेषों में उत्पन्न होने वाले अल्पकालीन असन्तुलन को दूर व कम करने में सहायता करता है। इसके लिए वह सदस्य देशों को विदेशी मुद्राएँ बेचकर तथा उधार देकर उन्हें भुगतान शेष में होने वाले असन्तुलन को दूर करने में मदद देता है। (ii) **मुद्रा की समता दरों का निर्धारण**—मुद्रा कोष सदस्य देशों की विनिमय दरों में होने वाले उच्चावचनों को रोकने में मदद करता है। (iii) **तकनीकी सहायता**—मुद्रा कोष अपने विशेषज्ञों के द्वारा सदस्य देशों की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्थाओं का अध्ययन करता है तथा विभिन्न विषयों पर सलाह देता है। (iv) **प्रशिक्षण सुविधाएँ**—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंकों और सरकार के वित्त विभाग के उच्च पदाधिका-

रियों को अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान, आर्थिक विकास, वित्तीय व्यवस्था तथा आंकड़ों का संकलन और विश्लेषण से सम्बन्धित प्रशिक्षण दिया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की कई आधारों पर आलोचना की जाती है, जैसे—(1) कोष भेदभावपूर्ण नीति अपनाता रहा है; (2) यह अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि करने में असफल रहा है; (3) मुद्रा कोष द्वारा राष्ट्रों के अभ्यंश वैज्ञानिक आधार पर निर्धारित नहीं किये गये हैं; (4) मुद्रा कोष दुर्लभ मुद्राओं की समस्या का समाधान करने में असफल रहा है।

6. यूनेस्को (Unesco)

यूनेस्को का पूरा नाम 'संयुक्त राष्ट्र शैक्षणिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन' (United Nations Educational Scientific and Cultural Organisation) है। इस संगठन की स्थापना 4 नवम्बर, 1946 को लन्दन में हुए नवम्बर 1945 के सम्मेलन द्वारा प्रस्तुत किये विधान के अनुसार की गयी। इसे 14 दिसम्बर, 1946 को संयुक्त राष्ट्र संघ के साथ जोड़ दिया गया। प्रारम्भ में इसके लगभग 20 सदस्य थे लेकिन आज यह सर्वाधिक लोकप्रिय सिद्ध हुई है और इसकी सदस्य संख्या 161 तक पहुँच गयी है।

यूनेस्को के प्रस्ताव में उसका उद्देश्य निहित है—"युद्ध मनुष्यों के मस्तिष्कों में प्रारम्भ होते हैं, अतः मनुष्यों के मस्तिष्कों में ही शान्ति की सुरक्षा के लिए व्यवस्था की जानी चाहिए।" यूनेस्को का उद्देश्य शान्ति एवं सुरक्षा के लिए योगदान करना है जिसकी पूर्ति हेतु शिक्षा, विज्ञान तथा संस्कृति के द्वारा राष्ट्रों के मध्य निकटता की भावना का निर्माण करना आवश्यक है। यह संस्था विभिन्न समुदायों में परस्पर ज्ञान एवं सद्भावना उत्पन्न करने में सहायक होती है।

संयुक्त राष्ट्र का कोई भी सदस्य यूनेस्को का सदस्य बन सकता है। जो राज्य संयुक्त राष्ट्र के सदस्य नहीं हैं वे भी यूनेस्को की सदस्यता प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु ऐसे राष्ट्रों की सदस्यता हेतु कार्यकारी-मण्डल की सिफारिश पर यूनेस्को महासम्मेलन में उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से स्वीकृति मिलनी चाहिए।

यूनेस्को के तीन प्रमुख अंग हैं—(1) महासम्मेलन—यह संस्था की सर्वोच्च निकाय है। इसमें सभी सदस्य राज्यों के प्रतिनिधि होते हैं। प्रत्येक दूसरे वर्ष इसका अधिवेशन होता है। इसे सम्पूर्ण विश्व के लिए मानसिक कार्यकर्ताओं की संसद कहा जाता है। (2) कार्यकारी मण्डल—इसे यूनेस्को का हृदय कहा जाता है। यह यूनेस्को के महासम्मेलन तथा महा निर्देशक के मार्गदर्शन में कार्य करता है। इसमें महासम्मेलन द्वारा चुने गये 45 सदस्य हैं। (3) सचिवालय—सचिवालय विशेषज्ञों का आगार माना जाता है। सचिवालय में एक महानिर्देशक तथा अन्य अधिकारी होते हैं। यह पेरिस में स्थित है।

यूनेस्को ने शिक्षा, प्राकृतिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, सांस्कृतिक कार्य, सामूहिक शिक्षा, जन प्रसार के क्षेत्रों में प्रभावकारी कार्य किये हैं। 'शिक्षण नहीं तो विकास नहीं' के सिद्धान्त पर संगठन कार्य करता आ रहा है। हायटी में इसकी प्रसिद्ध 'प्रारम्भिक परियोजनाएँ' अत्यन्त ही उल्लेखनीय रही हैं। इसी के प्रयत्नों से अफ्रीकी देशों में 25 शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय स्थापित हो चुके हैं, जिनकी स्थापना में इसने महान् योगदान किया है। 1951 में सामूहिक शिक्षा के लिए मेक्सिको में एक केन्द्र खोला गया। भारत के जामिया-मिलिया में यूनेस्को की सहायता से प्रौढ़ों को साक्षर बनाने के सम्बन्ध में अनुसन्धान करने एवं साहित्य प्रकाशन का कार्य किया। 1953 में अरब राज्यों के लिए मिस्र में बुनियादी शिक्षा का केन्द्र खोला गया। यूनेस्को ने नस्लवाद के विरुद्ध विभिन्न भाषाओं में साहित्य प्रकाशित किया। सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में यूनेस्को अन्तर्राष्ट्रीय समाज विज्ञान बुलेटिन का प्रकाशन करता है। इसका सांस्कृतिक कार्य विभिन्न कलाओं से और दर्शन से सम्बद्ध है। यूनेस्को ने फिलीपाइन्स, थाईलैण्ड और अफगानिस्तान में

शैक्षिक मिशन भेजे हैं; भारत में ग्रामीण वयस्क शिक्षा पर विचार-गोष्ठियाँ आयोजित की तथा अन्धों के प्रशिक्षण के लिए इसने ब्रेल पद्धति का मानकीकरण किया। इसने जन-कल्याणकारी संस्थाओं द्वारा धन-संग्रह करके शरणार्थियों के पुनर्वास में बड़ी सहायता पहुँचायी है। पत्रकारिता की उच्च शिक्षा के लिए यूनेस्को द्वारा अनेक साधन जुटाये गये हैं। शिक्षण के क्षेत्र में भेदभाव के निराकरण के लिए संगठन ये सन् 1960 में 'शिक्षण में भेदभाव के विरुद्ध अभिसमय' अंगीकार किया। संक्षेप में, यूनेस्को ने युद्ध के भयानक कीटाणुओं को नष्ट करके अच्छे विश्व के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान किया है।

अमरीका ने यूनेस्को पर अपना गुस्सा जताते हुए उससे नाता-रिश्ता तोड़ने की धमकी दी थी, उस पर संगठन के संविधान के अनुसार जनवरी 1985 से अमल शुरू हुआ है। अमरीका का यह फैसला यूनेस्को के लिए बम विस्फोट की तरह है। यूनेस्को के बजट में 25 प्रतिशत यानी 5 करोड़ डालर अमरीकी अंशदान के न मिलने से उसकी अर्थ-व्यवस्था को भारी धक्का लगने की गुंजाइश है। इधर ब्रिटेन ने भी संकेत दिया है कि 'अगर यूनेस्को ने पश्चिम यूरोप के विरुद्ध प्रचार बन्द नहीं किया, नयी विश्व सूचना व्यवस्था और जन-अधिकार जैसे विवादग्रस्त क्षेत्रों में अपनी गतिविधियाँ सीमित नहीं कीं, तो वह भी लगभग 50 लाख डालर का अपना अंशदान बन्द कर देगा।' हाल ही में ब्रिटेन ने भी यूनेस्को छोड़ने का निर्णय कर लिया है। ब्रिटेन 4·6 प्रतिशत योगदान करता है। अमरीका और ब्रिटेन के हटने से यूनेस्को को वित्तीय धक्का लगेगा। क्यूबा जैसे देशों ने इसे 'अन्तर्राष्ट्रीय ठगी और पाखण्ड' की संज्ञा दी है।

रेगन प्रशासन ने ऐसा निर्णय इसलिए किया क्योंकि उसके अनुसार 'यूनेस्को व्यापक राजनीतिकरण, हद से ज्यादा खर्च, बजट के घटिया प्रबन्ध और गलत कार्मिक नीति का दोषी है।' अमरीकी राजदूत श्रीमती जोन जैरार्ड ने कहा था कि 'यूनेस्को के प्रेस से मानवाधिकारों और निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी कार्यों में एकतरफा दृष्टिकोण और पक्षपात की गंध आती है। अमरीका को यह बात परेशान करती रही है कि यूनेस्को अधिकतर सोवियत दृष्टिकोण और तीसरी दुनिया के नजरिये को ही अपनाता रहा है।' अमरीकी विदेश विभाग के अनुसार 'यूनेस्को स्वतन्त्र समाज; स्वतन्त्र बाजार और स्वतन्त्र प्रेस के लक्ष्य से भटक गया है।' इसने पश्चिम की व्यक्तिगत और आर्थिक स्वतन्त्रता की नीतियों का विरोध किया है जबकि सोवियत संघ तथा दूसरे समाजवादी देशों में राजनीतिक तथा वैयक्तिक अधिकारों के दमन की कभी आलोचना नहीं की।

यूनेस्को के भूतपूर्व महानिदेशक सोमालिया के एमबो ने उसके राजनीतिक रुझानों पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि "पहले यह सिर्फ 20 देशों का एक पश्चिमी क्लब भर था। आज इसकी सदस्य संख्या 8 गुना हो गयी है। इतने देशों की भागीदारी के बाद इसके चिन्तन और कलेवर में फर्क आना स्वाभाविक है। इसकी विविधता और बहु आयामिता ही इसे एक सार्वभौमिक और विश्वव्यापी संगठन का रूप देती है। यही इसकी असली ताकत है।"

7. विनियोग सम्बन्धी विवादों के समाधान का अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र (International Centre for Settlement of Investment Disputes—ICSID)

'विनियोग सम्बन्धी विवादों के समाधान का अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र' (ICSID) एक स्वायत्तशासी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है जिसका निर्माण राज्यों एवं अन्य राज्यों के नागरिकों के मध्य उत्पन्न होने वाले विनियोग सम्बन्धी विवादों के समाधान के अभिसमय (Convention) के अन्तर्गत हुआ। यह अभिसमय 14 अक्टूबर, 1966 से प्रवर्तन में है। आई. सी. एस. आई. डी. (ICSID) विभिन्न राज्यों तथा उनके नागरिकों के मध्य उत्पन्न होने वाले विनियोजन सम्बन्धी विवादों के समाधान हेतु संराधन (Conciliation) तथा पंचनिर्णय (Arbitration) के साधनों का प्रयोग करता है जिससे विनियोजकों तथा विनियोजित राष्ट्रों के मध्य आपसी विश्वास का वातावरण

उत्पन्न होता है। ऐसे ही वातावरण में संसाधनों का रुख विकसित राष्ट्रों से विकासशील राष्ट्रों की ओर मोड़ने में सहजता आती है। इस अभिसमय पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। 19 दिसम्बर, 1986 को टर्की ने, 1 अक्टूबर, 1986 को वैलिज ने तथा 1987 में हंगरी ने इस अभिसमय पर हस्ताक्षर किये। इस प्रकार 1987 के अन्त तक हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों की संख्या 97 हो गयी है। आई. सी. एस. आई. डी. के पास समाधान हेतु पहुँचने वाले विवादों की संख्या भी बढ़ती जा रही है। वर्ष 1987 में पंचनिर्णय के लिए इसके पास 3 नये विवाद पहुँचे। वर्तमान में इसके पास ऐसे 9 विवाद हैं जिनका हल ढूंढ़ना है। आई. सी. एस. आई. डी. के निर्माण से अब तक कुल 23 विवादों का समाधान खोजा गया है।[1]

8. अन्तर्राष्ट्रीय विकास संगठन (International Development Association)

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संगठन विश्व बैंक की एक सहायक संस्था है। इसकी स्थापना 24 दिसम्बर, 1960 को की गयी थी। मार्च 1961 में इसे संयुक्त राष्ट्र का एक विशिष्ट अभिकरण बनाया गया। इसका प्रमुख उद्देश्य अविकसित राज्यों के आर्थिक विकास के लिए न्यूनतम ब्याज पर दीर्घकालीन ऋण देना है। अतः यह विश्व बैंक के विकास सम्बन्धी उद्देश्यों को आगे बढ़ाता है और उसकी कार्यवाहियों को अनुपूरित करता है। विश्व बैंक के पदाधिकारी एवं कर्मचारी वर्ग ही इसके कार्य करते हैं। सन् 1987 तक विश्व के 135 देश आई. डी. ए. (IDA) के सदस्य बन चुके थे। वर्ष 1989 में ही आई. डी. ए. ने 39 देशों में 108 परियोजनाओं में ऋण दिये।[2] इसके द्वारा प्रदान किये जाने वाले ऋणों में ब्याज नहीं लिया जाता है; केवल सेवा भार 3 प्रतिशत की दर से लिया जाता है। इसका मुख्यालय वाशिंगटन (अमरीका) में है।

30 जून, 1987 को अन्तर्राष्ट्रीय विकास संगठन (IDA) द्वारा प्रदत्त ऋण की राशि 44,434 मिलियन डालर थी।

9. अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (The International Finance Corporation)

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना जुलाई 1956 में हुई तथा 20 फरवरी, 1957 को संयुक्त राष्ट्र का विशिष्ट अभिकरण बना। यद्यपि यह विश्व बैंक से निकट रूप से सम्बद्ध है, यह एक पृथक् विधिक इकाई है तथा इसका कोष विश्व बैंक के कोष से पृथक है। विकासशील सदस्य राज्यों में निजी उद्योगों को वित्तीय सहायता देना इसका प्रमुख कार्य है। इसे ऋण देने वाली संस्था न कहकर प्रधानतः नियोजन निकाय कहा जा सकता है। इसकी संरचना विश्व बैंक की संरचना के सदृश है। वित्तीय वर्ष 1987 में आई. एफ. सी. (IFC) ने सदस्य राष्ट्रों में निजी क्षेत्र (Private Sector) में सहायता की मात्रा में अपूर्व वृद्धि की है। कुल मिलाकर 92 व्यावसायिक प्रतिष्ठानों में 920 मिलियन डालर का विनियोग किया है।

10. पुनर्निर्माण एवं विकास का अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (विश्व बैंक) (International Bank for Reconstruction and Development or World Bank)

सन् 1944 के ब्रेटन वुड्स सम्मेलन से दो वित्तीय निकायों का उद्भव हुआ। (1) पुनर्निर्माण और विकास का अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (विश्व बैंक), और (2) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि। इन दोनों वित्तीय निकायों की स्थापना सन् 1946 में हुई। विश्व बैंक का प्रधान उद्देश्य उत्पादक प्रयोजनों के लिए पूंजी निवेश नियोजन की सुविधा देकर सदस्यों के प्रदेशों के पुनर्निर्माण और विकास में सहायता देना है। यह निजी विदेशी पूंजी नियोजन को प्रोत्साहन देता है और सदस्य राज्यों को निजी पूंजी उपलब्ध न होने पर उन्हें ऋण देता है। यह सदस्य राज्यों को आर्थिक

1 *The World Bank Annual Report*, 1987, pp. 36-37.
2 *Ibid.*, p. 8.

सुविधाओं के विकास के लिए धन उधार देता है। सदस्य राज्यों के प्रदेशों में स्थित व्यापार-उद्योगों की प्रगति के लिए भी ऋण दिये जा सकते हैं। इस प्रकार यह बैंक उत्पादक प्रयोजनों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूंजी के विनिमय को प्रोत्साहन देता है। इसने अपने निर्माण कार्य के प्रारम्भिक वर्षों में द्वितीय विश्व युद्ध से ध्वस्त यूरोप के पुनर्निर्माण की समस्याओं का समाधान किया। सन् 1948 के पश्चात् इसने अधिकतर अल्पविकसित सदस्य राज्यों को वित्तीय सहायता दी है।

वही देश विश्व बैंक का सदस्य हो सकता है जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य होता है। इस प्रकार दोनों संस्थाओं की सदस्यता साथ-साथ चलती है। सन् 1987 में 151 देश विश्व बैंक के सदस्य हैं।[1]

विश्व बैंक का प्रबन्ध तीन स्तरीय होता है—एक अध्यक्ष (Chairman of the President of the Bank); एक बोर्ड ऑफ गवर्नर्स (A Board of Governors); एक बोर्ड ऑफ एक्जीक्यूटीव डाइरेक्टर्स (A Board of Executive Directors)। बोर्ड ऑफ गवर्नर्स में प्रत्येक सदस्य देश से एक गवर्नर होता है। अध्यक्ष की नियुक्ति बोर्ड ऑफ एक्जीक्यूटीव डायरेक्टर्स द्वारा होती है जिनकी संख्या 22 है, जिनमे 5 की नियुक्ति उन देशो द्वारा की जाती हे जिनके बैंक में अधिकतम अंश है। बाकी 17 बोर्ड ऑफ गवर्नर्स द्वारा चुने जाते हैं। बोर्ड ऑफ एक्जीक्यूटीव डाइरेक्टर्स की बैठक अध्यक्ष के निर्देशन में होती है। बोर्ड ऑफ एक्जीक्यूटीव डाइरेक्टर्स बैंक की सबसे शक्तिशाली संस्था होती है, जो बैंक की समस्त नीतियाँ निर्धारित करती है।[2]

विश्व बैंक की प्रारम्भिक पूंजी 10 बिलियन डालर थी। 1987 में विश्व बैंक की कुल अधिकृत पूंजी (Subscribed Capital) 85,231 मिलियन डालर (US डालर) है। अकेले वर्ष 1987 में ही बैंक ने 39 देशों को कुल मिलाकर 127 ऋण दिये है और बैंक से तीन प्रमुख ऋण लेने वाले देश हैं—भारत 2,128 मिलियन डालर); मेक्सिको (1,678 मिलियन डालर) तथा ब्राजील (1,262 मिलियन डालर)।[3]

विश्व बैंक की कुल स्वीकृत पूंजी में प्रतिशत के क्रमानुसार 10 देशों के नाम इस प्रकार हैं—संयुक्त राज्य अमरीका, जापान, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, प. जर्मनी, सऊदी अरब, चीन, कनाडा; भारत तथा इटली।

विश्व बैंक ने युद्ध में क्षतिग्रस्त तथा विकासशील राष्ट्रों के विकास के लिए सराहनीय कार्य किये हैं। अविकसित देशों को निम्न ब्याज पर ऋण देकर तथा तकनीकी सहायता दिलाकर उनके विकास मे मदद की है। इसके साथ-साथ भारत-पाकिस्तान सिन्धु घाटी जल विवाद और स्वेज नहर कम्पनी के अंशो की क्षतिपूर्ति सम्बन्धी विवाद का निपटारा करवा कर निश्चय ही अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को बढ़ाने वाले प्रशंसनीय कार्य किये है। इन सबके बावजूद विश्व बैंक की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है :

(1) विश्व बैंक की ऋण नीति भेदभावपूर्ण रही है। बैंक ने एशिया व सुदूर पूर्व तथा अफ्रीका के अविकसित देशों को पश्चिमी यूरोप के देशों की तुलना में बहुत कम ऋण सहायता दी है तथा इस ऋण सहायता में और भी कमी हो रही है।

(2) विश्व बैंक की यह भी आलोचना की जाती है कि वह किसी देश की ऋण लौटाने की क्षमता पर अत्यधिक बल देता है। अविकसित देशों में ऋण देने से पूर्व भुगतान क्षमता की खोज करना व्यर्थ है।

---

1 *The World Bank Annual Report*, 1987, p. 8.

2 *Ibid.*, p. 9.

3 *Ibid.*, p. 25.

(3) विश्व बैंक की ऊँची ब्याज दर के सम्बन्ध में भी आलोचना की जाती है कि जिस ऋण की गारण्टी सरकार देती है उस पर ऊँची ब्याज दर लेना कहाँ तक उचित है।

11. विश्व डाक संघ (Universal Post Union)

विश्व डाक संघ के उद्‌भव का इतिहास लगभग एक सौ वर्ष पुराना है। सन् 1874 में बर्न में सामान्य डाक अभिसमय पर हस्ताक्षर कर सामान्य डाक यूनियन का निर्माण हुआ था, जो सन् 1878 में सार्वदेशिक डाक यूनियन हो गयी। यह संगठन इस सिद्धान्त पर आधारित है कि डाक के पारस्परिक विनिमय के लिए सभी सदस्य राज्य एक ही डाक प्रदेश हैं। वर्तमान विश्व डाक संघ एक नवीन सार्वदेशिक डाक यूनियन ही है जिसे सन् 1947 में महासभा ने एक प्रस्ताव द्वारा एक विशिष्ट अभिकरण के रूप में स्वीकार किया। इसका प्रमुख प्रयोजन पत्रों के परस्पर विनिमय के लिए देशों का एक डाक प्रदेश बनाना, डाक सेवाओं में सुधार लाना और इस क्षेत्र में सहयोग को प्रोत्साहन देना है। सभी राज्य इस संघ के सदस्य हैं और अन्तर्राष्ट्रीय डाक के मामलों में इसके द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करते हैं। इसका केन्द्रीय कार्यालय बर्न में है।

12. अन्तर्राष्ट्रीय दूर संचार संघ (International Tele-Communication Union)

1 जनवरी, 1961 के अभिसमय एवं उससे अनुबद्ध विनियमों के अन्तर्गत इस संघ का निर्माण हुआ। इस संघ के प्रयोजन हैं: (i) सभी प्रकार के दूर संचार के प्रयोग में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को कायम रखना एवं उसका विस्तार करना, (ii) दूर संचार सम्बन्धी प्रादेशिक सुविधाओं के विकास एवं उसकी उपादेयता को प्रोत्साहन देना। उपर्युक्त प्रयोजनों की पूर्ति के लिए यह संगठन रेडियो वेव का आबंटन करता है और रेडियो वेव अंकित करता है, ताकि विभिन्न देशों के रेडियो स्टेशनों के बीच किसी तरह का हानिकारक हस्तक्षेप न होने पाये।

13. अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संघ (International Civil Aviation Organisation)

इस संगठन की उत्पत्ति सन् 1944 के सिविल उड्डयन के शिकागो अभिसमय से हुई थी। 4 अप्रैल, 1947 को इसे संयुक्त राष्ट्र का एक विशिष्ट अभिकरण बनाया गया। उक्त अभिसमय के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय सिविल उड्डयन की समस्याओं का अध्ययन, सिविल उड्डयन के अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्ड एवं नियम निश्चित करना इसका प्रधान उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त यह अन्तर्राष्ट्रीय वायु परिवहन के विकास को प्रोत्साहन देता है। इसने विमान चालन सम्बन्धी सेवाओं, यातायात के नियन्त्रण, संचार व्यवस्था, सुरक्षित अन्तर्राष्ट्रीय उड़ान के लिए नवीन प्रणाली आदि का विकास किया है। आधारभूत रूप से यह तकनीकी संगठन है। तकनीकी सहायता के माध्यम से यह संगठन विकासशील राष्ट्रों को वायु परिवहन व्यवस्थाओं का निर्माण करने और आवश्यक कर्मचारियों के प्रशिक्षण देने में सहायता देता है। इसने अन्तर्राष्ट्रीय वायु यातायात को सुरक्षात्मक एवं उपयोगी बनाने के लिए पर्याप्त रूप से योगदान किया है।

इसके दो अंग हैं—सभा तथा परिषद्। सभा में सभी सदस्य राज्यों का प्रतिनिधित्व होता है। परिषद् में 27 सदस्य होते हैं जिनका निर्वाचन सभा द्वारा तीन वर्षों के लिए किया जाता है। परिषद् हवाई यातायात के विकास के लिए सूचना एकत्रित करती है, उसकी जाँच करती है तथा अभ्यासों के विषय में अपनी संस्तुति देती है। यदि किसी परिस्थितिवश अन्तर्राष्ट्रीय हवाई यातायात में बाधा पहुँचती है तो परिषद् उसकी जाँच करती है तथा राज्यों के मध्य झगड़ों में विवाचक परिषद की तरह कार्य सम्पादित करती है। इस समय इस संस्था के 150 सदस्य हैं तथा इसका प्रधान कार्यालय मॉण्ट्रियल (कनाडा) में है।

14. विश्व मौसम विज्ञान संगठन (World Meteorological Organisation)

1947 में एक अभिसमय द्वारा इसकी स्थापना की गयी। महासभा के प्रस्तावानुसार सन् 1951 ई. में इसे संयुक्त राष्ट्र का एक विशिष्ट अभिकरण बना लिया गया। इस संगठन का

प्रमुख प्रयोजन मौसम विज्ञान सम्बन्धी विषयों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि करना है। इसके लिए यह मौसम के बारे में शीघ्र जानकारी प्राप्त करने एवं मौसम सूचना के द्रुत विनिमय के लिए विश्व भर में जगह-जगह पर मौसम विज्ञान प्रयोगशालाओं की स्थापना करता है।

इसके प्रमुख अंग हैं—(1) विश्व मौसम विज्ञान कांग्रेस, (2) कार्यकारी समिति, (3) प्रादेशिक संघ, (4) कांग्रेस द्वारा निर्मित तकनीकी कमीशन, तथा (5) सचिवालय।

15. **अन्तर्राज्यीय सामुद्रिक परामर्शदात्री संगठन** (Inter-Governmental Meritime Consultative Organisation)

इसकी विधिवत स्थापना 1958 में हुई। यह संगठन नौपरिवहन के लिए उन कार्यों को करता है, जिनको 'अन्तर्राष्ट्रीय सिविल उड्डयन संघ' उड्डयन के लिए करता है। यह प्रधानतः सलाहकार अभिकरण है। यह समुद्रों में नौपरिवहन के लिए सुरक्षा नियम निर्धारित करता है, नौपरिवहन के क्षेत्र में विभिन्न सरकारों के अनावश्यक प्रतिबन्धों तथा भेदभाव को दूर करने में सहायता देता है और नौपरिवहन के सभी मामलों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन देता है।

इसके प्रमुख अंग हैं—सभा, परिषद् तथा सचिवालय। सभा में सभी सदस्यों का प्रतिनिधित्व होता है तथा यह सामान्य नीति निर्धारण करती है। परिषद् में 16 सदस्य होते हैं तथा यह संस्था के कार्य सम्पादित करती है। सचिवालय लन्दन में स्थित है तथा इसका प्रधान एक महासचिव होता है।

16. **संयुक्त राष्ट्र औद्योगिक विकास संस्था** (The U. N. International Development Organisation)

इस संस्था का प्रमुख कार्य संयुक्त राष्ट्र की औद्योगिक एजेन्सियों के कार्यों में समन्वय स्थापित करना है। इसकी स्थापना 1 जनवरी, 1967 को महासभा ने की थी। 80 राज्यों के र्थन के बाद यह संयुक्त राष्ट्र की विशिष्ट एजेन्सी बन गयी है।

17. **अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी संगठन**

इसकी स्थापना 1948 में की गयी थी। इसका मुख्य कार्यालय जेनेवा में है। इसका मुख्य उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों की सहायता करना है जिन्हें किसी कारणवश अपनी मातृभूमि छोड़ने के लिए मजबूर होना पड़े। यह संस्था ऐसे व्यक्तियों को संरक्षण प्रदान करती है और शरणार्थी समस्या को निपटाने के लिए प्रयास करती है। यह संगठन शरणार्थियों को पुनः बसाने के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

18. **अन्तर्राष्ट्रीय बाल आपातकालीन कोष**

महासभा द्वारा इस संस्था की स्थापना सितम्बर 1946 में की गयी। 30 राष्ट्रों का एक कार्यकारी मण्डल इसका संचालन करता है। यह एक अर्द्धस्वशासित संस्था है जिसका प्रमुख उद्देश्य स्वास्थ्य और पोषण आदि कार्यक्रमों के माध्यम से बाल कल्याण कार्यों में सहयोग देना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह संस्था बच्चों के स्वास्थ्य सुधार, पौष्टिक भोजन, शिक्षा व्यवस्था एवं अन्य कार्यक्रमों का संचालन करती है। इसके अतिरिक्त भूकम्प, बाढ़ आदि परिस्थितियों में भी यह शिशुओं और उनकी माताओं के लिए अपेक्षित सहायता करती है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के गैर-राजनीतिक कार्यों का मूल्यांकन
(NON-POLITICAL FUNCTIONS OF THE U. N. O. : AN ESTIMATE)

संयुक्त राष्ट्र संघ को गैर-राजनीतिक कार्यों में सराहनीय सफलता मिली है। रोजन तथा जोन्स के अनुसार, "आर्थिक, सांस्कृतिक, स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्रों में उसकी सफलताएँ निर्विवाद, असंदिग्ध तथा सराहनीय हैं।" मानव जीवन को सुखी, समृद्ध तथा स्वस्थ बनाने में संयुक्त राष्ट्र विशेष अभिकरणों का योगदान अविस्मरणीय है। यूनान में मलेरिया के निरोध के लिए बड़े पैमाने

पर विश्व स्वास्थ्य संगठन ने सहायता की और वहाँ इस बीमारी की औसत 95% से घटकर 5% रह गयी। भारत में इसने क्षय रोग के निवारण के लिए बी. सी. जी. वैक्सीन प्रभूत मात्रा में दी। मलेरिया के निरोध के लिए विभिन्न देशों को डी. डी. टी. तथा अन्य बीमारियाँ रोकने के लिए पेन्सिलीन आदि दवाइयाँ बहुत बड़ी मात्रा में प्रदान कीं। अब तक अपनाये गये कुछ महत्वपूर्ण 'कन्वेन्शन्स' इस प्रकार हैं : (i) 1919—उद्योगों के कार्यों के घंटों सम्बन्धी, रात्रि में महिलाओं से काम न लेने के बारे में; (ii) 1927—बेगार सम्बन्धी; (iii) 1933—वृद्धावस्था पेंशन; (iv) 1934—बेरोजगारी सम्बन्धी, (v) 1952—बेगार सम्बन्धी कन्वेन्शन। 1965 में यूनेस्को द्वारा 8 चुने हुए देशों में शिक्षा प्रचार के लिए 'पाइलट प्रोजेक्ट' तैयार किये गये। प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में सेनेगल में पाइलट प्रोजेक्ट चलाया गया। पाठ्य पुस्तकों के बारे में केमरून में एक केन्द्र स्थापित किया गया तथा 66 विशेषज्ञों का एक दल कांगो भेजा गया। जहाँ यूनेस्को आधुनिक शिक्षा एवं विज्ञान को अविकसित देशों की ओर ले जा रहा है वहाँ दूसरी ओर यूनिसेफ तीसरी दुनिया के जरूरत मन्द बच्चों के विकास में उल्लेखनीय योगदान कर रहा है। शरणार्थी उच्चायोग तो युद्ध से ग्रस्त शरणार्थियों के लिए किये गये कार्यों के लिए दो बार नोबेल पुरस्कार प्राप्त कर चुका है। एक समालोचक ने ठीक ही लिखा है कि "निःशस्त्रीकरण और राजनीतिक कार्यों का खरगोश तो अभी झपकी ले रहा है, किन्तु संघ की विशेष संस्थाओं की तकनीकी सहायता और सहयोग का कछुआ बहुत आगे बढ़ गया है।"

संयुक्त राष्ट्र संघ और विश्व शान्ति
(THE U. N. O. AND THE WORLD PEACE)

संयुक्त राष्ट्र संघ का मूल ध्येय अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखना तथा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जहाँ भी सशस्त्र आक्रमण हो वहाँ सुरक्षा के लिए सामूहिक कार्यवाही करना है। चार्टर में अनुच्छेद 33 से 38 तक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समझौते की व्यवस्थाएँ की गयी हैं। जब से संघ की स्थापना हुई है तब से आज तक, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा सम्बन्धी अनेक विवाद इसके समक्ष लाये गये हैं। इन विवादों को सुलझाने में यद्यपि संघ सदैव सफल नहीं हुआ, तथापि अनेक बार युद्ध की सम्भावनाओं को टालकर विश्व-शान्ति की दिशा में उसने उल्लेखनीय भूमिका निभायी है।[1]

संयुक्त राष्ट्र के जन्म के बाद ही इसे ऐसी स्थितियों का सामना करना पड़ा जो उस समय तृतीय विश्व-युद्ध की भूमिका बन सकती थीं। बर्लिन समस्या तथा कोरिया युद्ध ऐसे प्रकरण थे जिनसे तात्कालिक परिस्थितियों में राजनीतिज्ञों और जन-साधारण को युद्ध की सम्भावनाएँ दिखायी पड़ती थीं। वर्तमान युग में राजनीति के क्रिया-कलाप केवल राजनीति के प्रकरण से ही बँधे नहीं हैं, अनेक समस्याएँ राजनीतिक स्वरूप को लेकर विवाद के रूप में शान्ति और सुरक्षा के लिए खतरा बन सकती हैं। अणु शस्त्रास्त्रों के विस्तार को रोकने का प्रश्न, कहीं रंग-भेद नीति, कहीं सीमा-विवाद तथा अन्य क्षेत्रीय या स्थानीय हितों से सम्बद्ध समस्याएँ विवादों का कारण बन जाती हैं। ऐसी स्थिति में यदि उस पर पूर्ण नियन्त्रण न भी पाया जा सके और उसे विश्व-शान्ति को समाप्त कर देने वाली परिस्थिति में न विकसित होने दिया जाय तो यह भी अपने आपमें एक सफलता है, जो विश्व राजनीति की गतिविधियों को प्रभावित करती है।

संयुक्त राष्ट्र संघ एक ऐसी संस्था है जहाँ विवादों के निपटने के लिए एक ओर तो विचार-विमर्श किया जा सकता है दूसरी ओर युद्ध की सी स्थितियों अथवा सम्भावित स्थितियों के निराकरण के लिए प्रस्तावों के रूप में उपाय सुझाये जाते हैं। यद्यपि संयुक्त राष्ट्र संघ का संगठन एक

---
1 आर. एच. शरण एवं टी. एन. पन्त, **अन्तर्राष्ट्रीय संगठन**, 1977, पृ. 117।

सरकार का संगठन नहीं और न ही इसकी कार्य-प्रणाली ही सरकारी है फिर भी यह अपने सदस्यों के सहयोग से जो कदाचित आज विश्व-युद्ध को एक प्रकार से अमान्य स्वीकार कर चुके हैं, पर्याप्त रूप से विवाद की स्थिति पर नियन्त्रण पाने, उसका निराकरण करने अथवा उसे विस्तृत विवाद का क्षेत्र न बनने देने के लिए आधार प्रस्तुत करता है।

यहाँ विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को संक्षिप्त रूप से देखने से संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों का मूल्यांकन किया जा सकेगा। संयुक्त राष्ट्र सघ की भूमिका को हम अपूर्व नही कह सकते हैं और न ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसकी क्षमता को विशिष्ट। फिर भी संयुक्त राष्ट्र अपने आप में एक ऐसी संस्था है जो विश्व राजनीति में यद्यपि स्वतः प्रभावकारी रूप से तो उपस्थित नहीं होती तथापि अनेक परिस्थितियाँ इस मंच की उपादेयता को स्वीकार कराती दिखायी पड़ती हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ के सामने आने वाले विवाद

1. **ईरान**—यह संघ में उपस्थित होने वाला पहला महत्वपूर्ण विवाद था। 19 जनवरी, 1946 को ईरान ने सुरक्षा परिषद् को सूचना दी कि रूसी फौजें उसके आजरबाइजान प्रान्त में घुसी हुई हैं और इसे खाली नहीं कर रही हैं। सुरक्षा परिषद् के कार्य का इस विवाद के साथ श्रीगणेश होना शुभ नहीं था, फिर भी इस समस्या का हल 21 मई, 1946 को रूसी सेनाओं के ईरान से हट जाने के साथ सफलतापूर्वक हो गया। यह परिषद की बड़ी सफलता थी। रूस द्वारा सेनाएँ हटाने का कारण परिषद द्वारा की गयी कार्यवाही नहीं थी, किन्तु सुरक्षा परिषद में हुई बहस से निर्मित हुआ प्रबल लोकमत था।

2. **यूनान**—3 दिसम्बर, 1946 को यूनान ने सुरक्षा परिषद में यह शिकायत प्रस्तुत की कि उसके उत्तरी सीमान्त पर स्थित साम्यवादी राज्य विद्रोही छापामारों को सहयोग दे रहे हैं और यूनान में गृह-युद्ध कराना चाहते हैं। इस पर परिषद ने एक जाँच कमीशन नियुक्त किया। 1947 में यह प्रश्न महासभा में ले जाया गया। महासभा ने एक समिति की स्थापना की और उसे मौके पर जाकर मामले की जाँच करके अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करने का आदेश दिया। इस जाँच के आधार पर महासभा ने यूनान को मदद देने का निश्चय किया और यूनान व उसके राज्यों को आपस में समझौता कर लेने का सुझाव दिया। इसी बीच यूगोस्लाविया की नीति बदली और उसने छापामारों को सहायता देना बन्द कर दिया।

3. **सीरिया-लेबनान**—4 फरवरी, 1946 को सीरिया तथा लेबनान ने अपने देश से फ्रेंच फौजों के हटाने की माँग की। सुरक्षा परिषद में मतदान के समय फ्रांस और ब्रिटेन ने सम्बद्ध पक्ष होने के कारण वोट न देते हुए भी यह घोषणा की कि वे अपनी फौजें हटा लेंगे और बाद में उन्होंने यह वचन पूरा किया। इसमें भी संघ को सफलता मिली।

4. **इण्डोनेशिया**—द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व इण्डोनेशिया पर हॉलैण्ड का अधिकार था। युद्ध के दौरान जापान ने उस पर अपना अधिकार जमा लिया। जापान के आत्म-समर्पण के बाद ब्रिटिश व डच सेनाओं ने इण्डोनेशिया पर पुनः 'डच साम्राज्यवाद' लादने के उद्देश्य से आक्रमण कर दिया। इस संघर्ष में हजारों इण्डोनेशियायी तथा ब्रिटिश सैनिक मारे गये। भारत और आस्ट्रेलिया ने इस मामलों को परिषद में उठाया। 1 अगस्त, 1947 को परिषद ने दोनों पक्षों को युद्ध-विराम का आदेश दिया और विवाद के शान्तिपूर्ण हल के लिए सत्कार्य समिति बनायी। इस समिति ने एक समझौता करवाया किन्तु हॉलैण्ड ने समझौते का उल्लंघन करके युद्ध छेड़ दिया। 28 जनवरी, 1948 को परिषद ने एक प्रस्ताव पास करके हॉलैण्ड को लड़ाई बन्द करने का आदेश दिया। हालैण्ड की सरकार ने शुरू में उसका विरोध किया किन्तु बाद में वह उसे मानने को विवश हो गयी। 27 दिसम्बर, 1949 को इण्डोनेशिया ने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली और सभी समस्याओं का निराकरण हो गया।

5. **बर्लिन का घेरा**—1945 के पोट्सडाम समझौते के अनुसार बर्लिन नगर चार विभिन्न शक्तियों के नियन्त्रण में चार क्षेत्रों में बाँटा गया था। इसका पूर्वी भाग सोवियत रूस के तथा पश्चिमी बर्लिन के तीन भाग फ्रांस, अमरीका और ब्रिटेन के नियन्त्रण में थे। पश्चिमी भागों का मार्ग रूस के पूर्वी भाग में से होकर गुजरता था। 1958 में स्थानीय मुद्रा विषयक एक झगड़े को लेकर रूस ने पश्चिमी बर्लिन के स्थल और जल के सब मार्ग बन्द कर दिये। तीनों देशों ने सुरक्षा परिषद में बर्लिन के घेरे के विरुद्ध शिकायत की। दोनों पक्षों में वार्तालाप के द्वारा 1949 में समस्या हल हुई। यद्यपि इस समस्या के हल का श्रेय सुरक्षा परिषद को नहीं है, फिर भी संयुक्त राष्ट्र संघ ने दोनों पक्षों के परस्पर मिलने के लिए स्थान और सुविधाएँ उपलब्ध कीं।

6. **पेलेस्टाइन**—पेलेस्टाइन के विभाजन के प्रश्न को लेकर 1947 से ही अरबों और यहूदियों में उग्र विरोध चल रहा था। इजरायल राज्य की स्थापना हो गयी थी एवं नये राज्य पर चारों ओर से अरब राज्यों ने हमला कर दिया। युद्ध बन्द भी हो गया किन्तु उपद्रव चलते रहे। महासभा ने 'संयुक्त राष्ट्र समझौता आयोग' नियत किया। इसके फलस्वरूप इस प्रदेश में शान्ति स्थापित हुई।

7. **स्पेन**—1946 में पोलैण्ड ने सुरक्षा परिषद से इस बात की शिकायत की कि स्पेन में फ्रांको शासन फासिस्ट होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए खतरा है। महासभा ने इस विषय में यह सिफारिश की कि फ्रांको सरकार को संघ की तथा सहायक संस्थाओं की सदस्यता से वंचित कर दिया जाये। किन्तु बाद में इस सिफारिश को रद्द कर दिया गया एवं 1955 में स्पेन को संघ का सदस्य बना लिया गया।

8. **कोरफू चैनल विवाद**—ब्रिटेन ने 1947 में परिषद से यह शिकायत की कि अल्बानिया द्वारा कोरफू टापू के पास वाले समुद्र में बिछायी गयी सुरंगों से ब्रिटिश युद्ध-पोतों को हानि हुई है, अतः उसे क्षतिपूर्ति दिलवायी जाये। अल्बानिया का मत था कि ब्रिटेन ने उसके प्रादेशिक समुद्र में उसकी सर्वोच्च सत्ता का उल्लंघन किया है। अन्त में मामला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के पास ले जाया गया।

9. **कोरिया**—25 जून, 1950 को संयुक्त राष्ट्र को सूचना दी गयी कि उत्तरी कोरिया की सेनाओं ने दक्षिणी कोरिया के गणराज्य पर आक्रमण किया है। उसी दिन सुरक्षा परिषद की बैठक हुई और उसमें यह घोषणा की गयी कि इस सशस्त्र आक्रमण से शान्ति भंग हुई है। परिषद ने युद्ध-विराम की माँग की परन्तु दो-तीन दिन तक युद्ध चलते रहने पर परिषद ने सिफारिश की कि संघ के सदस्यगण कोरियाई गणराज्य को उस सशस्त्र आक्रमण का मुकाबला करने के लिए तथा उस क्षेत्र में शान्ति की स्थापना करने में सहायता दें। 27 जून, 1950 को संघ ने यह घोषणा की कि उसने अपनी वायु तथा जल सेनाओं को और बाद में स्थल सेनाओं को भी दक्षिण कोरिया की सहायता के लिए आज्ञा दे दी है। कोरिया का युद्ध वास्तव में संयुक्त राज्य अमरीका का युद्ध था। एक वर्ष के युद्ध के बाद दोनों पक्षों में विराम-सन्धि की चर्चा चलने लगी। भारत की अध्यक्षता में तटस्थ देशों का आयोग बनाया गया एवं 27 जुलाई, 1953 को पानमुनजोन में कोरिया युद्ध की विराम-सन्धि पर हस्ताक्षर होने से संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा की गयी गयी पहली शैनिक कार्यवाही समाप्त हुई। कोरिया में संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रभावशाली और सफल कार्यवाही के अनेक कारण थे। पहला सोवियत संघ द्वारा परिषद का बहिष्कार था। दूसरा कारण जापान में अमरीकी फौजों की उपस्थिति और अमरीका द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ को इन फौजों को लड़ने के लिए प्रदान करना था।

10. **बर्मा में चीनी सेनाएँ**—सन् 1953 में बर्मा ने महासभा से शिकायत की कि उसके प्रदेश में चीनी सेनाएँ घुस आयी हैं। ये बर्मा में विद्रोह भड़काने का कार्य कर रही हैं। महासभा

ने एक प्रस्ताव में बर्मा में विदेशी सैनिको की उपस्थिति की निन्दा की। कुछ देशों की 'संयुक्त सैनिक समिति' ने बर्मा से चीनी सैनिकों को निकालना शुरू किया और यह समस्या शान्तिपूर्वक हल हो गयी।

11. **कश्मीर**—कश्मीर का मामला भारत तथा पाकिस्तान के मध्य कई बार युद्ध तथा सैनिक कार्यवाही भड़काने वाला रहा। यह विवाद आज भी संयुक्त राष्ट्र संघ में बना हुआ है। जब कभी भारत तथा पाकिस्तान कश्मीर के प्रश्न को लेकर युद्ध हुआ संयुक्त राष्ट्र संघ ने युद्ध-विराम कराने का भरसक प्रयास किया एवं सफलता प्राप्त की। सुरक्षा परिषद ने सर्वप्रथम 1948 में दोनों सरकारों से युद्ध बन्द करने को कहा। सन् 1965 में भी दोनों देशों में बड़े पैमाने पर भीषण युद्ध आरम्भ हो गया। महासचिव ऊ थाण्ट ने दोनों देशों से युद्ध बन्द करने की अपील की। महासचिव ने स्वयं भारत तथा पाकिस्तान की यात्राएँ कीं तथा बाद में युद्ध-विराम हो गया।

12. **स्वेज नहर**—जब 1956 में मिस्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया तो ब्रिटेन, फ्रांस तथा इजरायल ने मिलकर मिस्र पर आक्रमण कर दिया। महासभा ने ब्रिटिश, फ्रेंच तथा इजराइली फौजों से तत्काल मिस्र से हट जाने का प्रस्ताव पास किया। ब्रिटेन और फ्रांस ने अपनी सेनाएँ हटा लीं, किन्तु इजरायल ने सेनाएँ नहीं हटायीं। इसके फलस्वरूप छः शक्तियों ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि 'सब राज्य इजरायल को सैनिक तथा आर्थिक सहायता देना बन्द कर दें।" इस पर पहली मार्च, 1957 को इजरायल ने कुछ शर्तों के साथ सेनाएँ हटाना स्वीकार किया। मिस्र में युद्ध बन्द कराने तथा विदेशी सेनाएँ हटाने में संघ को पूरी सफलता मिली।

13. **साइप्रस**—साइप्रस में यूनानियों एवं तुर्की के बीच में गृह-युद्ध की सी स्थिति हो गयी थी। यूनान और तुर्की दोनों पक्षों का समर्थन करने लगे। 1963 के आरम्भिक महीनों में यहाँ उपद्रव बहुत बढ़ गये। साइप्रस के राष्ट्रपति ने सुरक्षा परिषद से शान्ति स्थापित करने की तथा इस टापू की तुर्की के आक्रमण से रक्षा करने की प्रार्थना की। सुरक्षा परिषद ने इस प्रश्न पर 4 मार्च, 1964 को यहाँ शान्ति स्थापित करने के लिए संघ की सेना भेजने तथा दोनों पक्षों के बीच में समझौता कराने के लिए एक मध्यस्थ नियुक्त कराने का प्रस्ताव पास किया। संघ की इस सेना को साइप्रस में कानून और व्यवस्था स्थापित करने में बड़ी सफलता मिली।

14. **यमन**—1962 में यमन में क्रान्ति हुई। नयी सरकार मिस्र एवं सोवियत संघ की समर्थक थी। यहाँ पर क्रान्ति के बाद पड़ोसी राज्य हस्तक्षेप करने लगे। 1963 के पहले तीन महीनों में इस प्रदेश में उग्र युद्ध चलने के कारण स्थिति बड़ी गम्भीर हो गयी। इस विस्फोटक स्थिति को रोकने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ ने राल्फ बुन्चे को तथ्यों की जाँच करने के लिए भेजा। संघ के प्रयासों से बाह्य शक्तियों ने यमन में हस्तक्षेप करना छोड़ दिया और शान्ति स्थापित हो गयी। इस घटना के हल करने में संघ का प्रयास अत्यधिक सराहनीय था।

15. **अरब इजरायल**—1956 के स्वेज विवाद में युद्ध होने पर संयुक्त राष्ट्र की शान्ति सेना गाजा और मिस्र की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पर तैनात हो गयी थी, ताकि इजरायल और अरब राष्ट्रों में पुनः किसी सशस्त्र संघर्ष का अवसर न आये। 18 मई, 1967 को मिस्र के विदेश मन्त्री डॉ. महमूद ने महासचिव से इस सेना को गाजा पट्टी से शीघ्र हटा लेने को कहा। महासचिव ने इसके उत्तर में कहा कि शान्ति सेना हटाने का परिणाम अच्छा नहीं होगा। लेकिन सेना मिस्र सरकार की सहमति से ही वहाँ रह सकती थी, अतः सेना को वहाँ से हट जाने के लिए आदेश जारी कर दिये गये। संयुक्त राष्ट्र शान्ति सेना के हट जाने का परिणाम यह हुआ कि अरब और इजरायल की सेनाएँ फिर आमने-सामने हो गयीं। इस समय अरब राज्य इजराइल के विरुद्ध अनर्गल प्रचार कर रहे थे, ऐसी स्थिति में इजरायल ने 5 जून, 1967 को अचानक अरब राज्यों पर आक्रमण कर दिया। छः दिनों बाद सुरक्षा परिषद के प्रयत्नों से जिस समय युद्ध-विराम हुआ,

उस समय तक इजरायल की सेना अपने देश के क्षेत्र के चार गुने क्षेत्र पर अधिकार कर चुकी थी। जहाँ तक इस क्षेत्र में शान्ति स्थापित करने का प्रश्न है, सन् 1948 में इजरायल की आक्रमणकारी कार्यवाहियों की निन्दा की जा चुकी है। इसके अलावा संयुक्त राष्ट्र के विशेष दूत डॉ. गुन्नार यारिंग ने पश्चिम एशिया में शान्ति के लिए अनेक वर्षों तक अकथनीय परिश्रम किया किन्तु उन्हें कोई सफलता नहीं मिल सकी। व्यावहारिक दृष्टिकोण से इस क्षेत्र में शान्ति तब तक सम्भव नहीं जब तक रूस और अमरीका भी किसी समझौते पर नहीं पहुँचते हैं और दोनों पक्षों को हथियार भेजने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाते।

16. **कांगो**—कांगो अफ्रीका महाद्वीप में स्थित है। सन् 1960 में बेल्जियम ने इसे स्वतन्त्रता प्रदान की। यहाँ के छः प्रान्तों में बसी हुई विभिन्न जातियाँ स्वार्थी और महत्वाकांक्षी नेताओं के बहकावे में आकर स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करने लगीं। इस गृह-युद्ध की-सी स्थिति में अपने नागरिकों की सुरक्षा का तर्क देते हुए बेल्जियम सरकार ने अपनी सेनाएँ कांगो में भेज दीं। इस पर 12 जुलाई, 1960 को कांगो की सरकार ने संयुक्त राष्ट्र से यह प्रार्थना की कि बेल्जियम के आक्रमण से कांगो की रक्षा के लिए तुरन्त सैनिक सहायता दी जाये। सुरक्षा परिषद के निर्णय पर संयुक्त राष्ट्र सेना के 10 हजार से कुछ अधिक सैनिक कटंगा को छोड़कर कांगो के सभी प्रान्तों में पहुँच गये। महासचिव हैमरशोल्ड ने स्थिति को गम्भीर देखकर बेल्जियम से अपील की कि वह कटंगा से अपनी सेनाएँ बुला ले। 1961 में कांगो की स्थिति का अध्ययन करने और वहाँ के नेताओं से प्रत्यक्ष बातचीत करने के उद्देश्य से स्वयं महासचिव कांगो के लिए रवाना हुए, किन्तु मार्ग में वायुयान दुर्घटनाग्रस्त हो गया और उनका देहान्त हो गया। उनके बाद युद्ध-विराम हुआ और कांगो में शान्ति स्थापित हो गयी। कांगो में संयुक्त राष्ट्र का सैनिक उद्देश्य समाप्त हो गया है फिर भी नागरिक सहायता का एक महान सहायता कार्यक्रम चल रहा है।

17. **डोमिनिकी गणराज्य**—वैस्ट इण्डीज के इस छोटे से टापू में 25 अप्रैल, 1965 को एकाएक गृह-युद्ध छिड़ गया। विद्रोहियों ने अमरीका समर्थित सरकार को उखाड़कर शासन पर अधिकार जमाने के लिए भीषण युद्ध शुरू कर दिया। अमरीकी नागरिकों की रक्षा के बहाने अमरीका ने 14 हजार सैनिक इस टापू पर भेज दिये। मई 1965 को सोवियत संघ ने सुरक्षा परिषद की बैठक में यह प्रस्ताव रखा कि अमरीका ने डोमोनिकी गणराज्य के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप किया है उस पर विचार किया जाये। संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपना एक मिशन वहाँ स्थापित किया एवं जब चुनाव के बाद नयी सरकार स्थापित हो गयी तब संयुक्त राष्ट्र मिशन को सन् 1966 में वापस बुला लिया गया। यह संघ की एक महान सफलता थी।

18. **दक्षिणी रोडेशिया**—अफ्रीका की एक ज्वलन्त समस्या दक्षिणी रोडेशिया के संकट के रूप में नवम्बर 1765 में उग्र रूप में प्रकट हुई। 11 नवम्बर, 1965 को इआन स्मिथ की अल्पसंख्यक गोरी सरकार ने एकपक्षीय स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। 13 नवम्बर को महासभा ने एक प्रस्ताव पास करके दक्षिणी रोडेशिया की सरकार के कार्य की घोर निन्दा की तथा सब सदस्य राज्यों से अनुरोध किया कि वे इसके साथ व्यापार करना बन्द कर दें। महासभा ने नवम्बर, 1967 में शक्ति का प्रयोग करने पर बल दिया किन्तु ब्रिटेन ने ऐसी कार्यवाही नहीं की। संयुक्त राष्ट्र संघ के दबाव के फलस्वरूप 17 अप्रैल, 1980 को भीषण छापामार युद्ध के बाद रोडेशिया स्वतन्त्र हो गया और जिम्बाब्वे के नाम से संयुक्त राष्ट्र का 153वाँ सदस्य बन गया।

19. **वियतनाम**—हिन्दचीन के बारे में 1954 के जेनेवा समझौते को सफलतापूर्वक कार्यान्वित नहीं किया जा सका। 1960 से ही वियतनाम संघर्ष में तो महाशक्तियाँ रुचि लेने लगीं और 1964 में तो अमरीका की सैनिक गतिविधियाँ उग्रतर हो गयीं। 1974 तक वियतनाम का संघर्ष चलता रहा। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी समस्या को सुलझाने के लिए पहल अवश्य की

थी, किन्तु इसका कोई परिणाम नहीं निकला। अब वहाँ से अमरीकी फौजें स्वदेश वापस चली गयी हैं और वियतनाम की समस्या वस्तुतः समाप्त हो गयी है। राष्ट्रीय सरकार पुनर्निर्माण के कार्य में संलग्न है।

20. **नाइजीरिया**—1960 में नाइजीरिया ने ब्रिटेन से स्वाधीनता प्राप्त की इसके कुछ ही समय बाद वहाँ गृह-युद्ध छिड़ गया तथा 1967 में बियाफ्रा का भाग इससे अलग हो गया। बियाफ्रा के स्वतन्त्र राज्य की घोषणा के फलस्वरूप नाइजीरिया में भीषण युद्ध छिड़ गया। संघीय सेनाओं ने बियाफ्रा के प्रदेश को चारों ओर से घेरकर वहाँ के लोगों का भूखा मारने की नीति अपनायी। 11 जनवरी, 1970 को बियाफ्रा के सेनापति के पलायन से गृह-युद्ध हो गया। किन्तु इससे अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गयीं। युद्ध-विध्वंस्त बियाफ्रा के पुनर्निर्माण तथा शरणार्थियों की पुनः स्थापना में संयुक्त राष्ट्र संघ भरपूर सहयोग दे रहा है।

21. **चेकोस्लोवाकिया संकट**—अगस्त 1968 में चेकोस्लोवाकिया पर सोवियत संघ और वार्सा पैक्ट के अन्य देशों ने सैनिक कार्यवाही करके हंगरी की घटनाओं को फिर से ताजा कर दिया। इस सैनिक कार्यवाही का प्रमुख कारण यह बताया गया है कि चेकोस्लोवाकिया के साम्यवादी शासन को प्रतिक्रियावादी शक्तियों से बचाने के लिए हस्तक्षेप करना आवश्यक हो गया था। यह मामला संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् में उठाया गया। सुरक्षा परिषद् के 7 सदस्यों ने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसमें सोवियत संघ की कार्यवाही को एक स्वतन्त्र और सम्प्रभु राष्ट्र पर आक्रमण की संज्ञा देकर निन्दा की गयी। संयुक्त राष्ट्र संघ ने यह माँग की कि सोवियत संघ और वार्सा पैक्ट के अन्य राष्ट्रों के सैनिकों को तुरन्त वहाँ से हटा लिया जाय। परन्तु यह प्रस्ताव व्यर्थ सिद्ध हुआ। चूंकि स्वयं चेकोस्लोवाकिया की सरकार ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। चेकोस्लोवाकिया के मसले पर संघ की भूमिका एक मूक दर्शक से अधिक नहीं रही। अन्ततोगत्वा इस संकट का समाधान साम्यवादी देशों का एक आन्तरिक मामला बनकर रह गया।

22. **अमरीकी बन्धकों की समस्या**—4 नवम्बर, 1979 को इस्लामी उग्रपन्थी छात्रों ने तेहरान स्थित अमरीकी दूतावास की घेराबन्दी करके दूतावास के सभी 62 राजनयिक प्रतिनिधियों को बन्दी बना लिया। इन अमरीकी बन्धकों को मुक्त कराने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ ने बहुत प्रयास किये, सुरक्षा परिषद् ने बन्धकों को छोड़ने की अपील की, संयुक्त राष्ट्र ने एक 5 सदस्यीय अन्तर्राष्ट्रीय जाँच आयोग भी ईरान भेजा, जो वहाँ 17 दिन तक मूक दर्शक बना रहा। यह जाँच आयोग बन्धकों से नहीं मिल सका और वापस लौट आया। महासचिव ने अमरीकी बन्धकों की रिहाई पर विचार करने के लिए सुरक्षा परिषद् की आपातकालीन बैठक आमन्त्रित की। दिसम्बर 1979 में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने सर्वसम्मति से अमरीकी बन्धकों को तुरन्त रिहा करने के आदेश जारी किये किन्तु ईरान ने न्यायालय के क्षेत्राधिकार को मानने से इन्कार करते हुए न्यायालय के आदेशों की उपेक्षा की। अन्त में इस समस्या का हल अल्जीरिया की मध्यस्थता द्वारा अमरीका और ईरान के मध्य बन्धकों की रिहाई से सम्बन्धित एक समझौते द्वारा हुआ। इस समझौते के परिणामस्वरूप 20 जनवरी, 1981 को अमरीकी बन्धकों को रिहा कर दिया गया। यह एक तथ्य है कि संयुक्त राष्ट्र संघ अमरीकी बंधकों को मुक्त कराने में सफल नहीं हो सका।

23. **अफगानिस्तान से रूसी सेनाओं को हटाया जाना**—27 दिसम्बर, 1979 को अफगानिस्तान में एक आन्तरिक क्रान्ति होने पर तत्कालीन राष्ट्रपति हफीजुल्ला अमीन को अपदस्थ कर दिया गया और उनके स्थान पर बबरक करमाल को राष्ट्रपति बनाया गया। इसी समय सोवियत संघ की सेनाओं ने बड़ी संख्या में अफगानिस्तान में प्रवेश किया। द्वितीय विश्वयुद्ध

के बाद रूस ने पहली बार इतनी बड़ी संख्या में (लगभग 1 लाख) सैनिक दूसरे देश में भेजे थे। संयुक्त राज्य अमरीका ने सुरक्षा परिषद् में इस मामले को उठाया। सोवियत संघ ने अपनी सेनाएँ भेजने का समर्थन इस आधार पर किया कि ये सेनाएँ अफगान सरकार की प्रार्थना पर उसके साथ रूस की मैत्री-सन्धि की शर्तों के अनुसार काबुल सरकार के निमन्त्रण पर भेजी गयी हैं। सुरक्षा परिषद् में इन सेनाओं के वापस लौटाने का प्रस्ताव सोवियत वीटो के कारण पारित नहीं हो सका। इसके बाद यह प्रस्ताव संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में 14 जनवरी, 1980 को लाया गया। महासभा ने अपने आपातकालीन अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित करके माँग की कि अफगानिस्तान से विदेशी सेनाएँ तत्काल हटायी जायँ। यह प्रस्ताव 104 मतों के बहुमत से महासभा द्वारा स्वीकृत किया गया। इसके विरोध में केवल 18 मत थे और 18 देशों ने मतदान में भाग नहीं लिया।

अप्रैल 1988 में संयुक्त राष्ट्र के छः वर्षों के प्रयासों के बाद पाकिस्तान और अफगानिस्तान के बीच (14 अप्रैल, 1988) शांति समझौता जेनेवा में सम्पन्न हो गया। समझौते पर हस्ताक्षर करने वालों में गारण्टीदाता के रूप में विश्व की दोनों महाशक्तियाँ भी शामिल हैं। संयुक्त राष्ट्र के महासचिव पेरेज डी. क्वैया की उपस्थिति में पाकिस्तान, अफगानिस्तान, सोवियत संघ और अमरीका के विदेश मन्त्रियों ने समझौते पर हस्ताक्षर किये। समझौते में अफगानिस्तान से नौ महीने के भीतर सोवियत सैनिकों की वापसी का प्रावधान है। संयुक्त राष्ट्र के अनुमानों के अनुसार दिसम्बर 1979 से अप्रैल 1988 तक अफगानिस्तान में हुए संघर्ष में 15 लाख लोग मारे गये। यह भी अनुमान लगाया गया कि मुस्लिम विद्रोहियों के साथ संघर्ष में दस हजार से पन्द्रह हजार के बीच सोवियत सैनिक मारे गये।[1]

24. **फाकलैण्ड विवाद**—फाकलैण्ड द्वीपसमूह अर्जेण्टाइना के समीप अटलाण्टिक महासागर में स्थित है। इस पर सन् 1849 से ब्रिटेन का अधिकार चला आ रहा था। इन पर अर्जेण्टाइना अपनी प्रभुसत्ता का दावा करता था। परन्तु इन द्वीपों की जनता अनेक बार अर्जेण्टाइना से अधिमिलन के विरुद्ध अपनी इच्छा प्रकट कर चुकी थी। 12 अप्रैल, 1982 को अर्जेण्टाइना की सेनाओं ने इन द्वीपों पर आक्रमण करके उन पर अधिकार कर लिया। ब्रिटेन ने फाकलैण्ड द्वीप से अर्जेण्टाइना की सेनाओं को निकालने के लिए उनका परिवेष्टन (Blockade) कर दिया। संयुक्त राष्ट्र महासचिव पेरेज द कुलर ने इस विवाद को निपटाने के लिए एक शान्ति योजना बनायी। यद्यपि यह शान्ति प्रयास सफल नहीं हो पाया और 14 जून, 1982 को अर्जेण्टाइना की सेनाओं ने आत्म-समर्पण कर दिया। फाकलैण्ड पर फिर से ब्रिटेन का अधिकार में हो गया।

25. **ग्रेनेडा में अमरीकी हस्तक्षेप**—ग्रेनेडा केरीबियन सागर में एक छोटा सा द्वीप है। वहाँ अक्टूबर 1983 में प्रधानमन्त्री मोरिस बिशप की हत्या करके सैनिक शासन की स्थापना कर दी गयी, जिसका समर्थन क्यूबा की सेनाएँ कर रही थीं। 25 अक्टूबर, 1983 को अमरीका ने यह घोषणा करते हुए कि "निर्दोष व्यक्तियों के प्राण बचाने" और "विधि का शासन व सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए हस्तक्षेप आवश्यक हो गया है", अपनी सेनाएँ ग्रेनेडा में भेज दीं। विश्व के अधिकांश देशों ने अमरीका के इस कार्य की निन्दा की। 28 अक्टूबर, 1983 को सुरक्षा परिषद् में 15 में से 11 सदस्यों ने अमरीकी आक्रमण की निन्दा करने के प्रस्ताव के पक्ष में मत दिया। परन्तु अमरीका ने 'वीटो' का प्रयोग करके इसे निष्फल कर दिया। कुछ दिन बाद ग्रेनेडा में एक आन्तरिक सरकार की स्थापना करके अमरीकी सेनाएँ वहाँ से हट गयीं।

---

1 राजस्थान पत्रिका, 15 अप्रैल, 1988.

26. **ईरान-इराक युद्ध-विराम** (अगस्त, 1988)—22 सितम्बर, 1980 से ईरान-इराक युद्ध प्रारम्भ हुआ । संयुक्त राष्ट्र संघ की मध्यस्थता के परिणामस्वरूप 9 अगस्त, 1988 को दोनों देशों के बीच अनौपचारिक युद्ध-विराम हो गया । जुलाई 1987 में सुरक्षा परिषद् ने एक सर्वसम्मत प्रस्ताव (प्रस्ताव संख्या 598) पारित करके ईरान व इराक से अपील की कि वे तुरन्त युद्ध बन्द करें । तब से संयुक्त राष्ट्र महासचिव के सक्रिय प्रयत्नों से दोनों पक्षों को युद्ध बन्द करने के लिए राजी किया गया । दोनों देशों की 1,200 किमी. लम्बी सीमा पर संयुक्त राष्ट्र की 350 सदस्यीय सेना आवश्यक स्थानों पर तैनात कर दी गयी ।[1]

27. **नामीबिया की स्वतन्त्रता**—1 अप्रैल, 1989 को नामीबिया ने संयुक्त राष्ट्र शांति सेना की देख-रेख में आजादी के पहले दौर में प्रवेश किया । नामीबिया की स्वतन्त्रता के बारे में 13 दिसम्बर, 1988 को कांगो की राजधानी ब्राजविले में दक्षिण अफ्रीका, क्यूबा तथा अंगोला में एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए । इस समझौते को सम्पन्न कराने में संयुक्त राष्ट्र संघ ने मुख्य भूमिका निभाई ।[2] दक्षिणी अफ्रीका सरकार संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा पारित प्रस्ताव संख्या 435 को लागू करने पर सहमत हो गयी, जिसके अन्तर्गत नामीबिया में सन् 1990 में चुनाव कराये जायेंगे और उसके पश्चात् सत्ता का हस्तान्तरण हो जायेगा ।

28. **अंगोला से क्यूबाई सैनिकों की वापसी**—21 दिसम्बर, 1988 को संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् ने अंगोला से क्यूबाई 50 हजार सैनिकों की वापसी की देखरेख के लिए वहाँ संयुक्त राष्ट्र के पर्यवेक्षकों का दल तैनात करने का सर्वसम्मति से फैसला किया ।

संयुक्त राष्ट्र की शान्ति सेना
(PEACE FORCES OF THE U.N.O.)

संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में सुरक्षा परिषद् को जो सैनिक कार्य करने के लिए अधिकार प्रदान किये गये हैं, वे सम्बद्ध राज्यों की सैनिक शक्ति से हटकर एक अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक सन्दर्भ में नहीं किये जाते । सुरक्षा परिषद् के लिए सैनिक स्टॉफ समिति की सहायता से इस दिशा में कार्य करने का जो प्रावधान है उससे यह स्पष्ट है कि सं. रा. सुपर स्टेट जैसा संगठन नहीं है । चार्टर में स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख है कि अध्याय 7 में वर्णित संयुक्त राष्ट्र की सेनाएँ तदर्थ सेनाएँ होंगी, जो किसी आपात्कालीन स्थिति या किसी कठिन समस्या के समाधान के लिए गठित की जायेंगी । उदाहरणार्थ, कोरिया, स्वेज गाजा पट्टी, कांगो, डच पश्चिमी, आयरिन तथा साइप्रस में ऐसी ही सेनाएँ गठित की गयी थीं । कोरिया (1950) में जो शान्ति सेना की स्थापना की गयी थी वह सीधे संयुक्त राज्य अमरीका के नियन्त्रण में थी । मूल रूप से उसका वित्तीय भार भी संयुक्त राज्य अमरीका ने ही वहन किया । स्वेज गाजा पट्टी (1956-57) में संयुक्त राष्ट्र की शान्ति सेनाओं ने जो कार्य किया उसकी पर्याप्त प्रशंसा हुई है । संयुक्त राष्ट्र के प्रस्ताव द्वारा इस सेना को एक सीमित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए गठित किया गया तथा सभी सदस्य राज्यों ने आनुपातिक राशि में जो वे संगठन को प्रदान करते थे, इस सेना का आर्थिक भार वहन करने का उत्तरदायित्व स्वीकार किया । कांगो (1960-64), डच पश्चिमी आयरिन (1962-63), साइप्रस (1964) में अनेक कठिनाइयों के बावजूद शान्ति सेना के सैनिकों ने विषम परिस्थितियों में कार्य किया ।

हाल ही में संयुक्त राष्ट्र महासचिव के प्रयासों से ईरान-इराक के बीच युद्ध-विराम (20

---

[1] **राजस्थान पत्रिका**, 21 अगस्त, 1988.

[2] **राजस्थान पत्रिका**, 14 दिसम्बर, 1988.

अगस्त, 1988) होने के साथ-साथ 26 देशों ने संयुक्त राष्ट्र संघ के नेतृत्व में शान्ति सेना के गठन में अपने सैनिक भेजकर इस क्षेत्र में स्थायी शान्ति स्थापित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।[1]

नोबल पुरस्कार समिति ने वर्ष 1988 का नोबल शान्ति पुरस्कार विश्व के विभिन्न भागों में तैनात संयुक्त राष्ट्र शान्ति सेना को प्रदान किया। पुरस्कार समिति ने पश्चिम एशिया, साइप्रस और भारतीय उपमहाद्वीप में संयुक्त राष्ट्र शान्ति सेना की भूमिका की प्रशंसा करते हुए कहा कि शान्ति सेना ने इन क्षेत्रों में तनाव कम करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।[2]

उपर्युक्त विवादों के सन्दर्भ में गठित की गयी तदर्थ सेनाओं के संगठन में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। सेना में अनेक राज्यों के सैनिकों के होने से सेनाधिकारियों को मुख्य रूप से भाषा के सन्दर्भ में कार्य-संचालन हेतु कठिनाई का सामना करना पड़ा। सबसे बड़ी कठिनाई वित्तीय रही। एक ओर सदस्य राज्यों द्वारा प्रदत्त सैनिक दस्तों का रहना अथवा न रहना स्वयं उस राज्य की इच्छा पर निर्भर करता है, दूसरी ओर उपस्थित सैनिक दस्तों के कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए वित्त की आवश्यकता रहती है। शान्ति सेना के ये विभिन्न प्रयोग अपने में कोई मौलिक आचरण उपस्थित करने में इसलिए अधिक सफल नहीं रहे हैं क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महाशक्तियों का जब तक मतैक्य न हो तब तक शान्ति की स्थापना कभी स्थायी रूप नहीं ले सकती।

M.D. संयुक्त राष्ट्र का शान्ति स्थापना में योग : मूल्यांकन
(THE U. N. O. AND ITS PEACE KEEPING ROLE : EVALUATION)

संयुक्त राष्ट्र संघ का सर्वोपरि उद्देश्य है विश्व शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखना और इसकी मुख्य जिम्मेदारी सुरक्षा परिषद पर है। यहाँ पर यह कहना गलत न होगा कि विश्व शान्ति को खतरे में डालने वाला कोई भी बड़ा अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष तभी उभर या पनप सकता है, जब उसे एक या अधिक बड़े राष्ट्रों की सहायता या समर्थन प्राप्त हो। लेकिन ऐसे किसी भी संघर्ष को सुरक्षा परिषद कैसे रोक या नियन्त्रित कर सकती है; जबकि हर बड़े राष्ट्र अर्थात् अमरीका सोवियत रूस, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन को तात्विक या वास्तविक प्रश्नों के निर्णय में निषेधाधिकार (वीटो) प्राप्त है।

द्वितीय विश्व युद्ध के अनन्तर यानि संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के बाद से 5-6 बड़े संघर्ष या अन्तर्राष्ट्रीय संकट के प्रसंग उत्पन्न हुए हैं—बर्लिन का संकट (1948-49), क्यूबा प्रक्षेपास्त्र संकट (1962), हंगरी का संकट (1956), चैकोस्लोवाकिया का संकट (1968) और वियतनाम युद्ध (1968-73)। हाल के वर्षों में उत्पन्न हुई दो गम्भीर संकटकालीन स्थितियाँ हैं। अफगानिस्तान का संकट (1979) और पोलैण्ड का संकट (1981-82)। इन सभी में एक महाशक्ति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हिस्सेदार थी। इसीलिए इनमें सुरक्षा परिषद कोई असरदार कार्यवाही नहीं कर सकी। सिर्फ कोरिया संघर्ष (1950-53) में सुरक्षा परिषद ने ऐसी कार्यवाही करने का निर्णय किया था। लेकिन जैसा कि सर्वविदित है, सोवियत प्रतिनिधि मण्डल के रहते हुए हालांकि (उन दिनों वह परिषद में स्वेच्छा से अनुपस्थित था) यह निर्णय कार्यान्वित होना असम्भव था।

यह सही है कि पिछले 46 वर्षों में कोई महायुद्ध अथवा अमरीका-रूस के बीच सीधा फौजी टकराव नहीं हुआ है कि लेकिन इसका श्रेय इन दोनों के बीच स्थापित 'नाभिकीय सन्तुलन' और सम्भावित परमाणु युद्ध के भीषण परिणामों के एहसास को है, न कि संयुक्त राष्ट्र संघ को।

संयुक्त राष्ट्र संघ की युद्ध निरोधक भूमिका के सन्दर्भ में यह भी याद रखना होगा कि

---

1 *U. N. News letter*, Vol. 39, No. 39, 24 September, 1988.

2 राजस्थान पत्रिका (जोधपुर), *30 सितम्बर, 1988.*

पिछले चार दशकों में क्षेत्रीय स्तर पर लगभग 150 छोटे-बड़े सैन्य संघर्ष हुए हैं, चन्द उदाहरण हैं—भारत-चीन युद्ध, भारत-पाकिस्तान संघर्ष (तीन बार), अरब-इजराइल युद्ध (चार बार), इथोपिया-सोमालिया संघर्ष, वियतनाम-कम्पूचिया संघर्ष, युगाण्डा-तंजानिया संघर्ष और ईरान-इराक युद्ध। इन सबका निपटारा वस्तुतः सम्बद्ध देशों की सीधी वार्ता या दूसरे की मध्यस्थता से हुआ है और उसमें संयुक्त राष्ट्र संघ की या तो कोई भूमिका नहीं रही या नगण्य रही। विवादों या झगड़ों के शान्तिपूर्ण निपटारे के सिलसिले में भी बहुत कुछ यही स्थिति रही है। भारत के निकटवर्ती दक्षिण एशिया के क्षेत्र को ही लीजिए। इस क्षेत्र में भारत-पाक युद्धों के उपरान्त हुए ताशकंद और शिमला समझौतों के अतिरिक्त तीन बड़े विवादों का समाधान हुआ है। भारत और श्रीलंका के बीच शास्त्री सिरमावो समझौता (1964), भारत पाकिस्तान के बीच कच्छ विवाद का निपटारा (1965-66) और भारत बंगला देश के बीच फरक्का समझौता (1977)। इनमें से पहले और तीसरे का समाधान सीधी द्विपक्षीय बातचीत से हुआ और कच्छ विवाद का पंच फैसले द्वारा। हाँ, कश्मीर विवाद कई वर्ष तक सुरक्षा परिषद् की कार्य सूची पर रहा, लेकिन सुलझने के बजाय, उलझता ही गया।

उपनिवेश के विघटन के मामले में 14 दिसम्बर, 1960 को संयुक्त राष्ट्र संघ महासभा ने 89 मतों से 'उपनिवेशवाद विघटन घोषणा' पारित की। निश्चय ही इस ऐतिहासिक घोषणा के बाद लगभग 50 राष्ट्रों को स्वाधीनता प्राप्त हुई। शायद यह भी स्वीकार करना होगा कि विभिन्न उपनिवेशों में स्वाधीनता सेनानियों को इस घोषणा से नया बल और प्रोत्साहन मिला। लेकिन जहाँ तक इसमें संयुक्त राष्ट्र संघ के सीधे व ठोस योगदान का प्रश्न है, औपनिवेशिक समस्याओं के विख्यात अमरीकी विशेषज्ञ रूपर्ट इमरसन का कहना है—"उपनिवेशवाद के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र कोई ठोस कार्यवाही नहीं कर सका है। उपनिवेशवाद विघटन की अधिकांश राजनीति (और कोशिश) संयुक्त राष्ट्र संघ के घेरे में से नहीं गुजरी। प्रायः उपनिवेशवाद विघटन सम्बन्धी सभी कार्यवाहियाँ उपनिवेश निवासियों के शान्तिपूर्ण या गैर-शान्तिपूर्ण प्रयासों (अथवा तज्जनित द्विपक्षीय समझौतों) के फलस्वरूप हुई।"

निरस्त्रीकरण के प्रश्न पर, जनवरी 1946 में लन्दन में में हुए महासभा के प्रथम सत्र में विचार-विमर्श हुआ था। उसके बाद प्रायः महासभा के हर वार्षिक सम्मेलन में इस पर विचार होता रहा है। इसके अलावा 'आंशिक परीक्षण निरोध सन्धि' (1963) और परमाणु प्रसार निरोध सन्धि (1968) से सम्बन्धित विचार-विमर्श में संयुक्त राष्ट्र संघ का सीमित योगदान रहा। लेकिन इन सन्धियों की मुख्य धाराओं पर सहमति महाशक्तियों तथा दूसरे राष्ट्रों की आपसी बातचीत से ही हुई। दोनों 'साल्ट' समझौते (1972 और 1979) भी अमरीका और रूस के बीच सीधी बातचीत के फलस्वरूप ही हुए।

परन्तु इन सब कमजोरियों के बावजूद यह मानना होगा कि संयुक्त राष्ट्र संघ ने संघर्ष की कई स्थितियों में—जैसे कि कांगो और साइप्रस में—शान्तिरक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान किया है। इसी प्रकार कई अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में—जैसे कि भारत-बंगला देश विवाद तथा पश्चिम एशिया संकट में—उसने विचार-विमर्श एवं सलाह-मशविरे के माध्यम से हालात की गहमागहमी कम करने में 'कूलर' की भूमिका निभायी है। अफगानिस्तान से सोवियत सैनिकों की वापसी के बारे में जैनेवा समझौता (अगस्त (1988), इराक-ईरान युद्ध विराम समझौता (अगस्त 1988), नामीबिया की स्वतन्त्रता सम्बन्धी समझौता (13 दिसम्बर, 1988), अंगोला से क्यूबाई सैनिकों की वापसी के लिए पर्यवेक्षकों का दल तैनात करना आदि हाल ही में संयुक्त राष्ट्र संघ की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ कही जा सकती हैं। इसके अलावा, संयुक्त राष्ट्र के मुख्यालय का अपना विशिष्ट वातावरण है। उसके कॉफी हाउसों, लाउंज और गलियारों में परस्पर विरोधी पक्षों के प्रतिनिधि चाहे-अनचाहे आपस में मिल जाते हैं। इस तरह विरोधियों के बीच संवाद-सम्पर्क पूरी

तरह टूटता नहीं है। इस अनौपचारिक सम्पर्क के फलस्वरूप कभी-कभी कुछ शंकाओं का निवारण हो जाता है या तनाव कम हो जाते हैं।

संक्षेप में, संयुक्त राष्ट्र संघ अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को उग्र होने से रोकने के लिए एक सेफ्टी वाल्व (Safety Valve) का काम करता है। राल्फ बुन्चे के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रमुख विशेषता यह है कि यह राष्ट्रों को बातचीत में व्यस्त रखता है। वे जितनी अधिक देर तक बात करते रहें, उतना ही अधिक अच्छा है क्योंकि उतने समय युद्ध टल जाता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ में लघु तथा लघुतम राष्ट्रीय-राज्यों की भूमिका
(ROLE OF SMALL AND SMALLER STATES IN THE U.N.O.)

यदि हम अपने चारों तरफ दृष्टि डालें तो यह पायेंगे कि आज की दुनिया में दर्जनों ऐसे लघु-लघुतम और अणुरूपधारी राष्ट्रीय राज्य प्रकट हो गये हैं जो कि सम्प्रभुता सम्पन्न है और ऐसे अनेक राज्य अभी जन्मने के लिए उदर में ही छटपटा रहे हैं। यदि हम 1978 की जनसंख्या को आधार मान लें तो संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों में से 15 राज्य भीमकाय श्रेणी में (जिनकी आबादी 5 करोड़ से भी ज्यादा); 63 राज्य मध्यम श्रेणी में (जिनकी आबादी 50 लाख से 5 करोड़ तक); तथा 59 लघु श्रेणी में (जिनकी आबादी 3 से 50 लाख तक) तथा 13 राज्य लघुतम श्रेणी में जिनमें 4 तो अणु श्रेणी में आते हैं। एलमेर प्लिशखके ने 1977 की जनसंख्या को आधार मानकर लिखा है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के 47 राज्य ऐसे हैं जिनकी आबादी 10 लाख से 50 लाख के बीच पायी जाती है तथा 32 राज्य ऐसे है जिनकी आबादी 10 लाख से भी कम है। इनमें से आधे राज्यों को हम लघु-लघुतम राष्ट्रीय राज्यों की श्रेणी में रख सकते हैं।[1]

आजकल अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय एक विश्वव्यापी बिखराव और विखण्डन की प्रक्रिया में से गुजर रहा है। इस प्रक्रिया की सक्रियता के दो कारण दृष्टिगोचर होते हैं—पहला कारण तो उपनिवेशवाद का विलोप हो जाना है तथा इसका दूसरा कारण पश्चिमी उदारवादी राजनीतिक दर्शन के अन्तर्गत विकसित हुए आत्म-निर्णय के अधिकार को मान्यता मिलना है। इस प्रसंग में इण्डोनेशिया तथा फिलीपीन्स का उदाहरण देते हुए प्लिशखके लिखते हैं कि चूंकि उनके नियन्त्रण में दस हजार से अधिक टापू हैं अतः यह सम्भव है कि भविष्य में उनमें से निकलकर 24 नये राष्ट्रीय राज्य (यह तो केवल उस विशेष क्षेत्र की बात है) प्रकट हो जायें।

यदि यह मानकर चलें कि विश्व की सभी सम्भावित स्वाधीनता की आकांक्षाओं को सफलता मिल जायेगी तो उसके फलस्वरूप 305 राष्ट्रीय राज्य प्रकट होंगे—जिनमें से 136 (44·6%) राज्य लघुतम श्रेणी के, 91 (29·8%) राज्य लघु श्रेणी के, 65 (21·3%) मध्यम श्रेणी के तथा केवल 13 (4·3%) राज्य भीमकाय श्रेणी के होंगे।[2] इसका अर्थ यह होगा कि भविष्य में संयुक्त राष्ट्र संघ एक ऐसे बहुमत के नेतृत्व में कार्य करेगा जो कि स्वयं विश्व के अल्पमत (जनसंख्या के सन्दर्भ में) का प्रतिनिधित्व करेगा।

1969 में अमरीका के गृह विभाग ने लघुतम तथा अणुरूपधारी राज्यों की संख्या का पूर्वानुमान लगाते हुए, इनकी संख्या 50 बतायी। उदाहरणार्थ, इस बात पर बड़ी जिज्ञासा रही कि शीघ्र ही संयुक्त राष्ट्र संघ प्रशान्त महासागर में स्थित पिटकेअर्न नामक एक द्वीप जिसकी आबादी मात्र 96 के आस-पास थी, को शीघ्र ही स्वाधीनता प्रदान करेगा। अपनी 1965 तथा 1967 की वार्षिक रिपोर्टों में संयुक्त राष्ट्र महासचिव ऊ थाण्ट ने इसी खतरे की ओर संकेत

---

1 एलमेर प्लिशखके माइक्रोस्टेट्स इन वर्ल्ड एफेयर्स : पालिसी, प्राब्लम्स एण्ड प्राप्सन्स, वाशिंगटन, डी. सी. 1977।

2 वही, पृ. 35।

किया। इन लघुतम राज्यों की सदस्यता को सीमित करने का प्रयास करते हुए, उन्होंने यह सुझाव दिया कि इन्हें मात्र पर्यवेक्षक का दर्जा प्रदान किया जाय। उदाहरणार्थ, 1965-66 में मालदीव तथा बारबडोस को संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्रदान की—इन दोनों देशों की आबादी भी कुल मिलाकर तीन लाख से ज्यादा नहीं पायी गयी। 1970 के दशक में न केवल कम जनसंख्या के राज्यों ने अपनी स्वाधीनता प्राप्त की अपितु, उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता भी हथियायी। 12 अगस्त, 1947 को सुरक्षा परिषद ने गिनी बिस्साऊ तथा 12 सितम्बर, 1975 को कोमरोस को 143वाँ सदस्य बनाने का प्रस्ताव पारित किया। कोमरोस द्वीप समूह का कुल क्षेत्रफल 2,235 वर्ग किलोमीटर तथा कुल जनसंख्या 3,25,000 है। 25 नवम्बर, 1975 को सूरीनाम स्वाधीन हुआ जिसकी जनसंख्या 4,50,000 है। यह भी संयुक्त राष्ट्र का सदस्य बन गया। इसी प्रकार 21 सितम्बर, 1970 को सेशेल्स भी संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बन गया जिसका क्षेत्रफल मात्र 277 किमी. तथा आबादी 65,000 है। इसके बाद सोलोमन द्वीप-समूह तथा डोमिनिका ने संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता ग्रहण करके वहाँ पर लघुतम तथा अणु-राज्यों की संख्या में वृद्धि की। इनकी आबादी क्रमशः 2 लाख तथा 80,800 है।

1970 के दशक में संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त करने के लिए कई लघु राज्य लालायित रहे हैं। इनमें कोकोज आस्ट्रेलिया समूह के द्वीपों का पुंज जिसका क्षेत्रफल मात्र 14 वर्ग किलोमीटर तथा आबादी 709 है। केनन द्वीप-समूह, बरमुडा तथा मोण्टसराट, ब्रिटिश राजशाही का एक उपनिवेश जिसका क्षेत्रफल केवल 102 वर्ग किमी. तथा आबादी 15,000 है। सेण्ट हेलेना, अमरीकी समोआ, जिसका क्षेत्रफल 105 वर्ग किमी. तथा आबादी 22,500 है। गुआम कुंआरे अमरीकी द्वीप-समूह तथा बनी बोर्नियो द्वीप-समूह के निकट स्थित हैं जैसे लघुतम तथा अणुरूपधारी राज्य आते हैं।

ज्यों-ज्यों अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में जनतान्त्रिकरण की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है उसी हिसाब से उसमें विखण्टन या बिखराव की शक्तियाँ भी बलवती होती जा रही हैं। 1960 के दशक से ही इस दिशा में सोचा जा रहा है कि इन लघु तथा लघुतम राज्यों को उनके मतदान करने की क्षमताओं के प्रयोग करते समय कैसे मर्यादित किया जाय। सन् 1966 में संयुक्त राष्ट्र संघ में अमरीकी राजदूत टी. पी. प्लिम्पटन ने इन लघुतम तथा अणु-राज्यों के विस्फोट को रोकने के लिए परिवार नियोजन का कार्यक्रम प्रारम्भ करने की माँग की थी तथा इन देशों के लिए सहायक सदस्यता का सुझाव प्रस्तुत किया। इस योजना के अन्तर्गत सहायक सदस्यों को वे सब अधिकार तो प्राप्त होंगे ही जो कि संयुक्त राष्ट्र के एक नियमित सदस्य को हासिल होते हैं परन्तु एक तो उनको मत देने का अधिकार प्राप्त नहीं होगा तथा दूसरे उन्हें संस्था के कोई शुल्क/अधिकार नहीं चुकाने होंगे। इसी सन्दर्भ में समस्या का हल प्रस्तुत करते हुए 25 मई, 1970 को ब्रिटिश प्रतिनिधि ने कहा है कि इन देशों को अपनी सदस्यता की दरख्वास्त में ही यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि वे अपनी मर्जी से ही मताधिकार त्याग रहे हैं परन्तु संयुक्त राष्ट्र संघ की विधि समिति ने इन दोनों प्रस्तावों को यह कहकर अस्वीकृत कर दिया कि ये दोनों प्रस्ताव संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र के बुनियादी सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल हैं। यह कैसी हास्यास्पद स्थिति है कि 300 आबादी वाले 3 बौने देश—पिटकेअर्न, दक्षिणी जार्जिया तथा स्वेन द्वीप-समूह—तीन-तीन महाबलियों अमरीका, सोवियत संघ तथा जनवादी गणतन्त्र जो कि 1·3 बिलियन आबादी का प्रतिनिधित्व करते हैं, के समान ही संयुक्त राष्ट्र संघ में मताधिकार की शक्ति का प्रयोग करने में समर्थ हैं।

सवाल है कि इस जटिलता के निवारणार्थ क्या किया जा सकता है? उदाहरणार्थ, क्या हम दस लाख की आबादी वाले राज्य को तो मताधिकार की शक्ति देना चाहेंगे और जिसकी

आबादी तीन लाख है उसे इस अधिकार से क्या हम वंचित रखना चाहेंगे। फिर एक महत्वपूर्ण सवाल यह उठता है कि तब एक देश में स्वाधीन होने की तमन्ना ही क्या बाकी बच रह जायेगी जबकि उसे संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था में समानाधिकार के प्रयोग करने की शक्ति से ही वंचित रखा जायेगा। आखिरकार चाहे सिद्धान्त रूप में ही सही, संयुक्त राष्ट्र संघ अपने सदस्यों को समान दर्जा तो प्रदान करता ही है लेकिन इस माँग के सन्दर्भ में तो वह समता का युग भी समाप्त हो जायेगा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इन लघुतम राज्यों की बाढ़ को रोकने का एक मुख्य कारण यही है कि इससे जहाँ एक तरफ वह अनियन्त्रित हो जायेगी दूसरी तरफ वह सर्वथा अतार्किक तथा अबौद्धिक रूप ग्रहण कर लेगी क्योंकि इसका कारण यही होगा चूंकि, कबीलों के मुखियाओं ने आज राज्याध्यक्षों की जगह ले ली है और उन्हीं के हाथों में संयुक्त राष्ट्र संघ के बारे में बुनियादी फैसले लेने की शक्ति सिमट कर रह गयी है। इन सारे प्रस्तावों के क्रियान्वयन की सारी जिम्मेदारी भीमकाय तथा मध्यम दर्जे के आकारों वाले राज्यों के हवाले आती है और वे जान-बूझकर इन्हें व्यवहार में नहीं लायेंगे क्योंकि, ऐसा करने से उनके अपने हित ही कुप्रभावित होंगे। इसका नतीजा यह निकलेगा कि जहाँ एक तरफ तो महासभा में बहुमत रखने वाले देश एक प्रकार का फैसला लेंगे—वहाँ पर उन प्रस्तावों के क्रियान्वित करने वाले राष्ट्रों का बहुमत उन पर अमल करने से मना कर देगा।

संयुक्त राष्ट्र संघ को शक्तिशाली बनाने के सुझाव

अथवा

संयुक्त राष्ट्र चार्टर का संशोधन : पुनरीक्षण

(AMENDMENTS AND REVIEW OF THE CHARTER OF THE U. N. O.)

1985 को संयुक्त राष्ट्र वर्ष घोषित किया गया था। तब संयुक्त राष्ट्र ने अपने जीवन के 40 वर्ष पूरे कर 41वें वर्ष में प्रवेश किया। ऐसे मौके पर, उसके पिछले कार्य-कलापों पर उनकी सफलताओं-असफलताओं का लेखा-जोखा करना स्वाभाविक था। साथ ही यह भी सोचा गया कि संयुक्त राष्ट्र और उसकी सुरक्षा परिषद के ढाँचे व कार्य-प्रणालियों में क्या परिवर्तन लाये जायें ताकि दोनों ज्यादा प्रभावशाली और आकर्षक हो सकें। फिर यह सवाल भी आया कि सुरक्षा परिषद में स्थायी सदस्य यही पाँच रहें, या बढ़ाये जायें या इनको कायम रख कुछ और लिये जायें या नहीं। सन् 1945 में एक विशेष परिस्थिति थी जिसके कारण ब्रिटेन और फ्रांस को मुस्तकिल जगह दी गयी थी। उस समय दुनिया में स्वाधीन देश भी पचास से कम ही थे। अब लगभग 159 से भी ज्यादा देशों में आजादी के झण्डे लहरा रहे हैं और संदर्भ में काफी फर्क पड़ गया है। इन सबकी रोशनी में सुरक्षा परिषद का नया संस्करण जरूरी हो जाता है। इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में कई दोष एवं त्रुटियाँ बतायी जाती हैं; जैसे—(i) महाशक्तियों का वीटो अधिकार संयुक्त राष्ट्र के मार्ग में बाधा सिद्ध हुआ है। (ii) चार्टर की एक बहुत बड़ी त्रुटि अधिकारक सांविधानिक व्याख्या की व्यवस्था का अभाव है। (iii) चार्टर का दूसरा अनुच्छेद स्पष्ट रूप से संयुक्त राष्ट्र द्वारा किसी राज्य के 'घरेलू क्षेत्राधिकार' की व्याख्या के सम्बन्ध में कोई निश्चित व्याख्या नहीं है। अतः सम्बन्धित राज्य इस अनुच्छेद की मनमानी व्याख्या कर संयुक्त राष्ट्र के कार्यक्षेत्र को सीमित कर देते हैं। (iv) संयुक्त राष्ट्र संघ के पास अपनी कोई सेना या पुलिस शक्ति नहीं है।

चार्टर की धारा 108 और 109 में इसके संशोधन की प्रक्रिया की व्याख्या का उल्लेख करते हुए यह कहा गया है कि जब कभी इसके संशोधन की आवश्यकता हो तो इसके लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों का एक सम्मेलन किया जा सकता है। इसके लागू होने के 10वें वर्ष में ऐसा सम्मेलन करने का प्रस्ताव महासभा में पेश किया जा सकता है। इस प्रकार के सभी

संशोधनों के स्वीकृत होने के लिए महासभा का दो-तिहाई बहुमत होना तथा सुरक्षा परिषद के 9 सदस्यों का बहुमत होना चाहिए।

17 दिसम्बर, 1963 को महासभा ने सुरक्षा परिषद के तथा आर्थिक एवं सामाजिक परिषद के सदस्यों की संख्या बढ़ाने के तथा इस प्रकार चार्टर का संशोधन करने के कई महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किये। एक प्रस्ताव में यह व्यवस्था की गयी थी कि सुरक्षा परिषद के सदस्यों की संख्या 11 से 15 कर दी जाये। इस प्रस्ताव के समर्थक यह चाहते थे कि पाँच स्थायी सदस्यों के अतिरिक्त शेष दस सदस्यों का निर्वाचन इस प्रकार हो कि इनमें से पाँच अफ्रीका तथा एशिया के देशों से, एक पूर्वी यूरोप के राज्यों से, दो दक्षिणी अमरीका के देशों से तथा दो पश्चिमी यूरोप के देशों से चुने जायें। दूसरे प्रस्ताव में यह व्यवस्था की गयी कि आर्थिक और सामाजिक परिषद के सदस्यों की संख्या 18 से बढ़ाकर 27 (बाद में 54) कर दी जाये। 31 अगस्त, 1965 को महासचिव ने यह घोषणा की कि इन संशोधनों पर परिषद के स्थायी सदस्यों सहित महासभा के दो-तिहाई सदस्यों द्वारा पुष्टि कर दी गयी है। पहली जनवरी 1966 से ये संशोधन क्रियान्वित कर दिये गये।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर परिवर्तनशील दस्तावेज है जिसमें बदली हुई अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन स्वाभाविक है। समय की गति के साथ चार्टर मे परिवर्तन किया जाना आवश्यक है। सयुक्त राष्ट्र चार्टर के निर्माण के समय बड़े राष्ट्रों के मध्य विचारों में कुछ अंशों में समानता थी परन्तु अब राजनीतिक, आर्थिक एवं सैद्धान्तिक मतभेद बहुत अधिक बढ़ गये हैं। ऐसी स्थिति में संयुक्त राष्ट्र संघ को उदार एवं व्यापक बनाने के लिए चार्टर का पुनरीक्षण (Review) आवश्यक प्रतीत होता है जिससे उसमें हर तरह की विभिन्नताओं का समावेश हो सके।

पिछले 46 वर्षों के अनुभव से चार्टर की निम्न व्यवस्थाओं में संशोधन उचित प्रतीत होता है :

1. **विश्वव्यापी सदस्यता**—विश्व के सभी प्रमुख वर्गों का सुझाव है कि नये राष्ट्रों को संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता प्रदान करने के सन्दर्भ में निषेधाधिकार के प्रयोग को समाप्त कर दिया जाना चाहिए। सन् 1971 तक विश्व के अनेक राष्ट्रों को अमरीकी तथा सोवियत वीटो के कारण सदस्यता प्राप्त नहीं हो सकी। सन् 1971 तक अमरीकी वीटो के कारण साम्यवादी चीन संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं बन सका। चार्टर में कुछ ऐसा परिवर्तन किया जाये कि विश्व का कोई भी राष्ट्र चार्टर की शर्तों को पूरा करने पर सदस्यता प्राप्त कर सकने में किसी तरह की कठिनाई का अनुभव न करे।

2. **वीटो व्यवस्था में समुचित संशोधन**—ऐसा कहा जाता है कि वीटो की व्यवस्था, जो संयुक्त राष्ट्र को सफल बनाने के लिए रखी गयी थी, संयुक्त राष्ट्र के लिए ही भयंकर सिद्ध हुई है। इसके कारण संयुक्त राष्ट्र में वास्तविक निर्णय नहीं हो पाते और कभी-कभी मानव जाति के लिए संकट उत्पन्न हो जाते हैं। पामर व परकिन्स ने लिखा है कि "सुरक्षा परिषद में वीटो के बार-बार प्रयोग या दुरुपयोग ने जितना अधिक संयुक्त राष्ट्र में जनता के विश्वास को डिगाया है उतना अन्य किसी वस्तु ने नहीं।" आलोचकों का कहना है कि वीटो के कारण ही सुरक्षा परिषद् शान्ति और सुरक्षा स्थापित करने के उत्तरदायित्व को पूरा करने में असमर्थ रही है। संघ में इस अधिकार के कारण ही राष्ट्रों के स्तर में असमानता है। अतः यह सुझाव दिया जाता है कि स्थायी सदस्यों की संख्या में वृद्धि की जाये और निर्णय बहुमत के आधार पर लिया जाये।

कतिपय विद्वानों का मत है कि शान्ति-भंग, आक्रमण की स्थिति एवं सैनिक कार्यवाही के प्रश्न ऐसे हैं जहाँ निषेधाधिकार की व्यवस्था को बनाये रखना हितकर होगा। निषेधाधिकार के प्रयोग पर कुछ नियन्त्रण अवश्य लगाना चाहिए। जब कोई स्थायी सदस्य निषेधाधिकार का प्रयोग

करे तो उसे उसका लिखित कारण प्रस्तुत करना चाहिए। मतदान में भाग न लेने एवं बैठक में अनुपस्थित रहने को निषेधाधिकार नहीं मानना चाहिए। कुछ वर्षों से इस व्यवस्था को स्वीकार भी कर लिया गया है। दोहरे निषेधाधिकार का प्रयोग नहीं होना चाहिए। यदि सुरक्षा परिषद् वीटो के कारण अपना कार्य न कर सके तो अनुच्छेद 12(1) में परिवर्तन करके महासभा को और अधिक अधिकार सौंप देना चाहिए।

3. आर्थिक और सामाजिक परिषद् सम्बन्धी सुधार—यह परिषद् महासभा के अन्तर्गत काम करती है। महासभा और इस परिषद् के सम्बन्ध को यद्यपि विस्तृत रूप से स्पष्ट करने की कोई बहुत आवश्यकता नहीं दिखायी देती, परन्तु आज जो कार्यक्रम चल रहे हैं उन्हें देखते हुए आर्थिक और सामाजिक परिषद् की महासभा के नियन्त्रण में जो कार्य करने का विकल्प है उसे यदि केवल परिभाषित कर दिया जाये तो प्रक्रिया सम्बन्धी अनेक अड़चनें समाप्त की जा सकती हैं। इस दिशा में महासभा के नियन्त्रण के अधिकार को परिभाषित करना कार्य-क्षमता बढ़ाने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

4. महासभा की स्थिति में सुधार—चार्टर में आवश्यक संशोधन करके महासभा को ऐसा स्वरूप प्रदान किया जाना चाहिए ताकि यह विश्व संसद के रूप में कार्य कर सके। सुरक्षा परिषद् को संयुक्त राष्ट्र की कार्यपालिका के रूप में महासभा के प्रति उत्तरदायी बना दिया जाना चाहिए। कुछ विचारकों का यह भी मत है कि महासभा में प्रतिनिधित्व की पद्धति में भी परिवर्तन होना चाहिए। सदस्य राष्ट्रों को जनसंख्या के अनुपात के आधार पर मतदान का अधिकार मिलना चाहिए। अभी महासभा के प्रत्येक सदस्य राज्य को केवल एक मत देने का अधिकार है चाहे वह राष्ट्र चीन हो या भूटान।

5. "घरेलू क्षेत्राधिकार" का उचित निर्धारण किया जाये—चार्टर की धारा 2 के अनुच्छेद 7 में यह प्रावधान है कि इस चार्टर में जो कुछ भी कहा गया है उसके अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ को किसी भी राष्ट्र के घरेलू मामले में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं होगा और न ही वह सदस्य राज्यों को इस बात के लिए बाध्य करेगा कि वे अपने अन्तर्राष्ट्रीय मतभेदों को संयुक्त राष्ट्र के समक्ष निपटारे के लिए प्रस्तुत करे। चूँकि संयुक्त राष्ट्र के किसी अंग को यह निर्णय करने का अधिकार नहीं है कि कौन-सा मामला 'घरेलू मामला' है अतः राज्यों को यह निर्णय करने का अधिकार स्वतः प्राप्त है कि वे किस मामले को 'घरेलू मामला' समझते हैं। इसका परिणाम बुरा हुआ है। उदाहरण के लिए, दक्षिणी अफ्रीका ने रंग-भेद नीति को घरेलू मामला बनाकर संयुक्त राष्ट्र के प्रस्तावों का विरोध किया। इसी तरह एंग्लो-ईरानी तेल-विवाद में घरेलू मामले के प्रश्न ने संघ के निर्णय को अमान्य घोषित कर दिया गया। इस आधार पर राज्य संघ की कार्यवाही में अड़ंगा डालते रहे हैं। अतः संघ को शक्तिशाली बनाने के लिए इसका समुचित संशोधन होना चाहिए। अनुच्छेद 2(7) का इस प्रकार संशोधन करना चाहिए कि जिससे संयुक्त राष्ट्र मानव अधिकारों के विषय में हस्तक्षेप कर सके।

6. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार—कतिपय विधिवेत्ताओं का विचार है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार अनिवार्य होना चाहिए। चार्टर में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि शान्ति एवं सुरक्षा सम्बन्धी विषयों में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सभी निर्णय सम्बन्धित राष्ट्रों पर बाध्यकारी हों। यदि सदस्य राष्ट्र अपने संघर्ष या विवाद का शान्तिपूर्ण निदान न प्राप्त कर सकें तो उक्त विषय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष अवश्य ही प्रस्तुत किये जाने चाहिए एवं उक्त सन्दर्भ में न्यायालय के निर्णय को मानने के लिए उन्हे बाध्य किया जाना चाहिए। न्यायालय के निर्णयों की उपेक्षा करने वाले राष्ट्र के विरुद्ध सैनिक एवं आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने जाने की व्यवस्था करना भी बहुत आवश्यक है।

7. महासभा में आनुपातिक प्रतिनिधित्व—संयुक्त राष्ट्र की महासभा में प्रतिनिधित्व के तरीके में परिवर्तन होना चाहिए। एक देश के पाँच सदस्य और एक वोट के स्थान पर सदस्य व वोट जनसंख्या के अनुपात से होने चाहिए। उदाहरण के लिए, सोवियत संघ, अमरीका, चीन, भारत आदि बड़े देशों को 30 सदस्य भेजने का अधिकार हो और महासभा मे उनके 30 वोट हों। इंगलैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, पाकिस्तान, इण्डोनेशिया आदि मध्यम श्रेणी के राष्ट्र 15 सदस्य भेजें और उनके 15 वोट हों। इसी प्रकार छोटे-छोटे देश जनसंख्या के आधार पर 5 या 7 सदस्य भेज सकते हैं। ऐसा होने से महासभा के सभी निर्णय अधिकतम जनसंख्या के हितों के आधार पर होंगे।

8. संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता महासभा प्रदान करे—जहाँ तक नये राष्ट्रों को संघ में सम्मिलित करने का प्रश्न है इस तर्क में पर्याप्त बल है कि "महासभा अपने उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से नये सदस्यों को संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता प्रदान करे। इससे न तो सदस्यता के प्रश्न पर राजनीतिक सौदेबाजी हो सकेगी और न गड़बड़ी को प्रोत्साहन मिलेगा।"

9. गैर-सदस्य राष्ट्रों की स्थिति—चार्टर में इस बात का प्रावधान नहीं है कि गैर-सदस्य राष्ट्र भी सुरक्षा परिषद् के वाद-विवाद में भाग ले सकें, चाहे उसमें उनका कितना ही बड़ा हित क्यों न निहित हो। यह व्यवस्था गैर-सदस्य राष्ट्र एवं सुरक्षा परिषद् दोनों के लिए उचित नहीं है। ऐसी स्थिति में यह बहुत आवश्यक है कि चार्टर में यह व्यवस्था अवश्य की जाये कि सम्बन्धित गैर-सदस्य राष्ट्र भी सुरक्षा परिषद् द्वारा की जाने वाली जाँच में भाग ले सकें।

अभी चार्टर में यह व्यवस्था भी नहीं है कि महासभा किसी गैर-सदस्य राष्ट्र को जो सम्बन्धित संघर्ष में एक पक्ष हो, आमन्त्रित कर सके ताकि वह भी अपने संदर्भ में महासभा के वाद-विवाद में मतदान के अधिकार के बिना ही भाग ले सके। अनेक क्षेत्रों में यह भावना व्यक्त की जा रही है कि चार्टर में अर्द्ध-सदस्यता को भी मान्यता दी जाये जिससे अर्द्ध-सदस्यता प्राप्त राष्ट्र बिना मतदान के संयुक्त राष्ट्र की विभिन्न संस्थाओं में होने वाले वाद-विवाद में भाग ले सकें।

10. एशिया तथा अफ्रीका का उचित प्रतिनिधित्व—संयुक्त राष्ट्र की महासभा में एशिया एवं अफ्रीका के राष्ट्रों का बहुमत है जिसके आधार पर सुरक्षा परिषद् के माध्यम से शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा उन पर थोपे गये निर्णयों की उन्होंने उपेक्षा करना प्रारम्भ कर दिया ताकि तथा-कथित बड़ी शक्तियों को यह आभास हो जाये कि छोटे तथा अविकसित राष्ट्रों का और अधिक दिनों तक शोषण नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में अब यह आवश्यक हो गया है कि चार्टर में कुछ ऐसी व्यवस्था की जाये जिसमें संयुक्त राष्ट्र के भीतर महाशक्तियों एवं छोटे राष्ट्रों के मध्य इस प्रकार समन्वय स्थापित हो सके ताकि एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमरीका के नवोदित राष्ट्रों की राजनीतिक आवश्यकताओं को पूरी तरह मान्यता प्रदान की जा सके। इसके लिए एक सुझाव यह है कि भारत तथा जापान जैसे अत्यधिक महत्वपूर्ण राष्ट्रों को सुरक्षा परिषद् में स्थायी सदस्यता प्रदान की जाये तथा जिन्हें निषेधाधिकार भी प्राप्त हो सके।

11. सुरक्षा परिषद् को सामाजिक कार्य सौंपने का सुझाव—सर केडोगन का मत है कि सुरक्षा परिषद् को कुछ सामाजिक तथा आर्थिक कार्य सौंपे जाने चाहिए। किन्तु सुरक्षा परिषद् का कार्य-क्षेत्र बढ़ाना ठीक नहीं। यदि उसे कुछ सामाजिक कार्य सौंप भी दिये जायें तो वह कार्य की अधिकता में अपनी कार्यक्षमता खो देगी।

12. सुरक्षा परिषद् की निश्चित अवधि में बैठक—कुछ विचारकों का यह भी सुझाव है कि सुरक्षा परिषद् की बैठकें भी कुछ निश्चित अवधि में ही आमन्त्रित की जायें ताकि सम्बन्धित

सदस्य राष्ट्रों के प्रमुख राजनीतिज्ञ यथा—प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति, विदेश मंत्री आदि उसमें भाग ले सकें जिससे कि उनके द्वारा किये गये निर्णयों का व्यापक प्रभाव होगा।

13. शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय सैन्य बल—संयुक्त राष्ट्र को प्रभावशाली कार्यवाही के योग्य बनाने के लिए एक शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय सैन्य बल की स्थापना आवश्यक है।

14. आय के स्वतन्त्र एवं विश्वसनीय स्रोत—चार्टर में संघ की आय के स्वतन्त्र एवं विश्वसनीय स्रोतों की स्थापना होनी चाहिए। ऐसी व्यवस्था कर दी जाये कि प्रत्येक सदस्य को कम से कम 0·01 प्रतिशत का न्यूनतम अंशदान करना आवश्यक है। सन् 1978-79 में इस संस्था के 147 सदस्यों में से 57 राज्यों ने इस न्यूनतम राशि का अंशदान किया जबकि 17 राज्यों ने 0·02 प्रतिशत राशि का योगदान किया। संयुक्त राज्य अमरीका, सोवियत संघ, जापान, संघीय जर्मन गणराज्य, फ्रांस, जनवादी चीन, ब्रिटेन, इटली तथा कनाडा का योगदान 75·2 प्रतिशत होता है जबकि 96 देश, जो कि कुल सदस्य संख्या का दो-तिहाई भाग हैं तथा जो कि बहुमत का प्रतिनिधि होने के कारण कुल बजट का भी संचालन करता है, का अंशदान कुल मिलाकर 2·89 प्रतिशत ही बैठता है। ये सभी 96 देश लघुतम तथा अणु-राज्यों की श्रेणी में ही रखे जा सकते हैं।

15. न्यास व्यवस्था में सुधार—संयुक्त राष्ट्र संघ की न्यास व्यवस्था में कई दोष हैं। इससे सम्बन्धित धारा 76(ख) बड़ी अस्पष्ट है। इसमें पराधीन देशों को स्वतन्त्र करने की बात कही गयी है लेकिन इसके लिए कोई अवधि निश्चित नहीं की गयी है। यह गलत है। विभिन्न पराधीन प्रदेशों के विकास का स्तर देखते हुए उनको कितने वर्ष में स्वाधीनता दी जाये इसका उल्लेख चार्टर में अवश्य होना चाहिए। इसके अतिरिक्त न्यास व्यवस्था सम्बन्धी धारा 77(क) का संशोधन इस प्रकार होना चाहिए कि पुराने राष्ट्र संघ के सभी सुरक्षित प्रदेश संयुक्त राष्ट्र संघ न्यास परिषद् का अंग समझे जायें।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर : अनौपचारिक संशोधन
(U. N. O. CHARTER : INFORMAL AMENDMENTS)

संयुक्त राष्ट्र चार्टर में संशोधन के बिना ही कुछ महत्वपूर्ण परम्पराओं का निर्माण होने लगा है। प्रथम, सुरक्षा परिषद में किसी स्थायी सदस्य की अनुपस्थिति एवं उसका मतदान में भाग न लेना अब निषेधाधिकार (veto) नहीं माना जाता। सन् 1950 के 'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' से यह प्रावधान हो गया है कि यदि वीटो के प्रयोग के कारण सुरक्षा परिषद् किसी अन्तर्राष्ट्रीय विवाद के समाधान प्रदान करने में पंगु हो जाये तो महासभा का अधिवेशन बुलाकर उसके समक्ष प्रस्तुत किया जा सकता है। द्वितीय, चार्टर में यह प्रावधान है कि यदि किसी समस्या पर सुरक्षा परिषद् विचार कर रही है, तो उसकी अनुमति के बिना यह विवाद महासभा में चर्चा का विषय नहीं बन सकता। परन्तु जून 1967 में अरब-इजरायल संघर्ष के सन्दर्भ में सोवियत संघ के अनुरोध पर महासभा ने आपातकालीन अधिवेशन में उसी विषय पर विचार किया जिस पर सुरक्षा परिषद् स्वयं विचार कर रही थी। उस पर न तो वीटो का प्रयोग हुआ था एवं न ही सुरक्षा परिषद् ने महासभा में ले जाने की अनुमति प्रदान की थी। इस परम्परा के आधार पर ऐसी परिस्थिति में साधारण सभा की बैठक भविष्य में भी बुलायी जा सकती है।

संयुक्त राष्ट्र की संरचना एवं कार्यों में व्यापक सुधार के प्रस्ताव—अक्टूबर 1987

23 सदस्यों के एक अध्ययन दल ने संयुक्त राष्ट्र की रचना एवं कार्यों में व्यापक सुधार के प्रस्ताव रखे हैं। इस अध्ययन दल में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त राजनीतिज्ञ व वकील थे—जैसे अमरीका के भूतपूर्व एटार्नी जनरल ईलियट रिचर्डसन, उरुग्वे के मन्त्री एनरिक इगलेसियास, प० जर्मनी के भूतपूर्व चान्सलर हेलमट शिमडर, तंजानिया के उप प्रधानमन्त्री सलीम अहमद सलीम,

अमरीका के भूतपूर्व विदेशमन्त्री सायरसवां, विश्व बैंक के भूतपूर्व अध्यक्ष राबर्ट मेकनामारा आदि।

अध्ययन दल ने सुझाव दिया कि एक छोटे-से मन्त्रिस्तरीय बोर्ड का गठन किया जाय जिसका कार्य मानवीय, सामाजिक व आर्थिक क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र के कार्यों में समन्वय स्थापित करना होना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व व्यवस्था को प्रभावी ढंग से स्थापित करने के लिए एक बहुराष्ट्रीय निरीक्षण दल बनाया जाय। वह दल विशेषतः निरस्त्रीकरण सम्बन्धी सन्धियों व प्रस्तावों को लागू करने में जाँच दल का कार्य करे। एक अन्य सुझाव यह रखा गया है कि महासचिव का कार्यकाल 5 वर्ष से बढ़ाकर 7 वर्ष कर दिया जाय, परन्तु उसे दोबारा नियुक्त न किया जाय। एक अन्य सुझाव यह भी है कि अनेक विकास संगठनों के बजाय एक समेकित विकास बोर्ड बनाया जाय। आर्थिक और सामाजिक परिषद् को मन्त्रिस्तरीय संस्था का स्वरूप प्रदान किया जाये, इससे आर्थिक व सामाजिक क्षेत्र में व्यापक एवं प्रभावकारी कार्यवाही करने में सहायता मिलेगी।

पैनल या अध्ययन दल की नियुक्ति के पीछे एक कारण यह था कि राष्ट्रपति रीगन ने कुछ वर्ष पूर्व आरोप लगाया था कि संयुक्त राष्ट्र अमरीका विरोधी संस्था हो गया है और यह अमरीकी विदेश नीति के उद्देश्यों के अनुकूल नहीं रहा है। अमरीका ने नाराज होकर संयुक्त राष्ट्र को दिये जाने वाले अपने अंशदान में भी कमी करने की घोषणा की थी।

संयुक्त राष्ट्र संघ की आंशिक असफलता के कारण
(REASONS FOR THE PARTIAL FAILURE OF THE U. N. O.)

यह सच्चाई है कि संयुक्त राष्ट्र संघ को वह सफलता नहीं मिली जो इससे उम्मीद थी। यह विभिन्न देशों में विध्वंसक शस्त्रास्त्रों के निर्माण की होड़ को नहीं रोक सका। स्वतन्त्रता और भ्रातृ-भाव की भावना सार्वभौम नहीं हुई, कहीं-कहीं जातीय भेदभाव (द. अफ्रीका) तथा उपनिवेशवाद के अवशेष अभी तक बचे हुए हैं। शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की तुलना में सत्तालोलुपता तथा दूसरे देशों पर आधिपत्य स्थापित करने की प्रवृत्ति आज भी प्रबल है। यह संगठन युद्धों का भी अन्त नहीं कर सका। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों के उल्लंघन व अवहेलना को नहीं रोक पाया है। 1979 के बाद राजनीतिक मामलों पर इसे एक के बाद एक असफलता मिलती गयी। दिसम्बर, 1979 में ईरानी छात्रों द्वारा बन्धक बनाये गये 52 अमरीकी राजनयिकों को यह रिहा नहीं करवा पाया, अफगानिस्तान में सोवियत रूस के सैनिक एवं राजनीतिक हस्तक्षेप को यह लम्बे समय तक समाप्त नहीं करवा पाया तथा सितम्बर 1980 से चले आ रहे ईरान-इराक युद्ध को यह आठ वर्ष बाद ही समाप्त करवा पाया। न्यूयार्क से सियोल जाने वाले हवाई जहाज को रूसी मार गिराते हैं (1983) और 263 निर्दोष यात्रियों की जान चली जाती है। लेकिन जब सुरक्षा परिषद में इस पर निन्दा प्रस्ताव आता है तो सोवियत संघ उसे वीटो के अधिकार का प्रयोग करके निरस्त कर देता है। क्या यह अन्य राष्ट्रों को ऐसी हरकतें दोहराने के लिए उत्साहित करना नहीं है? क्या संयुक्त राष्ट्र संघ की असफलता का कारण यह संगठन स्वयं है? वस्तुतः इसकी असफलता का मूल कारण विद्यमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का पर्यावरण है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की असफलता के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं:

1. **राष्ट्रों की गुटबन्दी**—संयुक्त राष्ट्र संघ के अभ्युदय के साथ ही विश्व दो गुटों में विभक्त हो गया—साम्यवादी और पूंजीवादी गुट। राष्ट्रों की इस गुटबन्दी का प्रभाव संयुक्त राष्ट्र के निर्णयों को प्रभावित करता है। सुरक्षा परिषद् में बार-बार वीटो का प्रयोग इसी गुटबन्दी का परिणाम है।

2. **शीत-युद्ध**—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद अमरीका और सोवियत संघ में शीत-युद्ध की

राजनीति शुरू हुई, उनके आपसी सम्बन्धों में कटुता और प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न हुई। संयुक्त राष्ट्र संघ का मंच शीत-युद्ध की राजनीति का अखाड़ा बन गया। प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दे पर शीत-युद्ध के परिप्रेक्ष्य में सोचा जाने लगा।

3. **राष्ट्रीय प्रभुता का सिद्धान्त**—संयुक्त राष्ट्र की असफलता का कारण राष्ट्रों द्वारा अपनी प्रभुसत्ता को सर्वोपरि मानना है। संघ के निर्णय केवल सुझाव के रूप में ही होते हैं तथा राष्ट्रों द्वारा उन्हें अस्वीकार किये जाने पर भी उनके विरुद्ध कोई प्रभावपूर्ण कार्यवाही नहीं की जा सकती।

4. **अन्तर्राष्ट्रीय भावना का अभाव**—राष्ट्रों में आज भी अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का अभाव पाया जाता है, वे राष्ट्रीयता को अधिक महत्व देते हैं। कभी-कभी तो वे अपने राष्ट्रीय स्वार्थ की पूर्ति हेतु अन्य राष्ट्रों पर आक्रमण भी कर देते हैं।

5. **सैनिक शक्ति का अभाव**—संयुक्त राष्ट्र संघ के पास अपनी कोई अलग सेना नहीं है। ऐसी स्थिति में संघ द्वारा अपने आदेशों का उल्लंघन करने वाले राष्ट्र के विरुद्ध प्रभावपूर्ण सैनिक कार्यवाही सम्भव नहीं है।

6. **वीटो का दुरुपयोग**—सुरक्षा परिषद में वीटो के बार-बार प्रयोग से यह एक विफल परिषद के रूप में प्रकट होने लगी। वीटो की व्यवस्था के कारण सुरक्षा परिषद अपनी सामूहिक सुरक्षा के कार्य में असफल हो गयी।

7. **महाशक्तियों की साम्राज्यवादी मनोवृत्ति**—संयुक्त राष्ट्र संघ की सफलता में ब्रिटेन, फ्रांस, आदि साम्राज्यवादी देशों की स्वार्थ नीति बाधा उत्पन्न करती रही। हंगरी, चेकोस्लोवाकिया तथा अफगानिस्तान में संघ की असफलता का कारण सोवियत रूस की आक्रामक कार्यवाहियाँ थीं।

आलोचकों का कहना है कि संयुक्त राष्ट्र सघ रूस और अमरीका के, एवं पूर्व और पश्चिम के संघर्ष का अखाड़ा बना हुआ है। इसमें महाशक्तियाँ अपने परस्पर विरोधी स्वार्थों के कारण विभिन्न शान्ति-प्रस्तावों को वीटो द्वारा रद्द करती रहती हैं। वस्तुतः यहाँ इतना अधिक विरोध और वीटो का प्रयोग दिखायी देता है कि इसे संयुक्त राष्ट्र संघ के स्थान पर विभक्त और विरोधी दलों में बँटा हुआ राष्ट्र संघ कहना अधिक उपयुक्त है।

महाशक्तियों के मामले में क्या संयुक्त राष्ट्र संघ निकम्मा साबित हुआ है ?

संयुक्त राष्ट्र संघ की शैशवावस्था में उसकी महासभा सम्पूर्णतया अमरीका के प्रभाव में रही। अमरीका के प्रतिनिधियों ने 1947 के बाद उसे शीत-युद्ध के माध्यम के रूप में इस्तेमाल किया। 1949 के बर्लिन संकट में वह मध्यस्थता की भूमिका अदा नहीं कर पाया। अन्त में मामला बड़े राष्ट्रों के बीच ही तय हुआ। जून 1950 में उत्तर कोरिया और दक्षिण कोरिया की लड़ाई के समय, रूस के द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ और उसकी सुरक्षा परिषद का बहिष्कार किया जा रहा था। इसका फायदा उठाकर अमरीका ने संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा की बैठक बुलायी और उसने एक प्रस्ताव पारित करके कोरिया में उनके द्वारा किये गये फौजी हस्तक्षेप को संयुक्त राष्ट्र संघ का छत्र प्रदान किया। अगर उस समय बहिष्कार न चला होता, तो कोरिया का मामला सुरक्षा परिषद के सामने आता और वहाँ सोवियत वीटो के कारण कोई भी प्रस्ताव पारित नहीं हो पाता।

प्रभुसत्ता, प्रादेशिक अक्षुण्णता और आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्तों की आधारशिला है। लेकिन व्यवहार में इन सिद्धान्तों का लगातार उल्लंघन होता रहा है। बड़ी ताकतें और विशेषकर दो महाशक्तियों द्वारा छोटे कमजोर देशों में निरन्तर हस्तक्षेप होता रहा है। ब्रुकिंग इंस्टीट्यूशन ने अपनी एक रपट में कहा है कि द्वितीय महायुद्ध के

बाद पिछले तीन दशकों में अमरीका द्वारा 245 दफा शक्ति प्रदर्श 195 दफा । इसके अतिरिक्त वियतनाम, पश्चिम एशिया और सीधा सैनिक हस्तक्षेप कई दफा किया गया है । रूसियों ने भी अफगानिस्तान में सैनिक हस्तक्षेप किया है । अफगानिस्तान, ग्रेनाडा से फिर एक बार महाशक्तियों के दम्भ पर अच्छा प्रभाव पड़ा है । इजराइल संयुक्त को ताक में रखकर आक्रामक चरित्र पर मुस्तैदी से चल रहा है । दक्षिण अफ्रीका नामीबिया सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रस्तावों का लम्बे समय तक खुलकर उल्लंघन करता रहा है। विडम्बना तो यह है कि अमरीका जैसे बड़े देश इजराइल और दक्षिण अफ्रीका का साथ देते रहे हैं ।

संयुक्त राष्ट्र संघ और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति : अन्तःक्रिया
(U.N.O. AND INTERNATIONAL POLITICS : A STUDY IN INTERACTIONS)

संयुक्त राष्ट्र संघ और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में घनिष्ठ सम्बन्ध है । समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति संघ के पर्यावरण का निर्माण करती है । वस्तुतः संघ की उत्पत्ति का कारण ही द्वितीय विश्व-युद्धकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप था । अनेक अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएँ और समस्याएं संघ को सक्रिय बना देती हैं । कोरिया, बर्लिन, स्वेज, कश्मीर, अफगानिस्तान संकट ने अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के जटिल प्रश्न उत्पन्न कर दिये थे और संयुक्त राष्ट्र संघ को प्रस्ताव पारित करने पड़े, चेतावनी देनी पड़ी । शीत-युद्ध की राजनीति में संयुक्त राष्ट्र संघ प्रमुख मंच था । संयुक्त राज्य अमरीका तथा सोवियत संघ के दाँव-पेचों एवं राजनीति को सुरक्षा परिषद् की कार्यवाहियों में बराबर देखा गया है ।

विगत कुछ वर्षों से एशिया, अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों की संख्या बढ़ती जा रही है और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की निर्णय प्रक्रिया में परिवर्तन होता दिखायी पड़ता है । इस नूतन प्रवृत्ति को महासभा की कार्यवाहियों में देखा जा सकता है । महासभा की बढ़ती हुई शक्तियाँ, राजनीति के लोकतांत्रिकरण प्रक्रिया की सूचक हैं ।

आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में व्यापार, वाणिज्य तथा आर्थिक तत्वों का महत्व बढ़ रहा है । संयुक्त राष्ट्र संघ की गैर-राजनीतिक गतिविधियों में इस नवीन प्रवृत्ति को देखा जा सकता है ।

वस्तुतः संयुक्त राष्ट्र संघ विश्व राजनीति की धुरी है । सभी स्वतन्त्र राष्ट्र इसकी सदस्यता के लिए लालायित रहते हैं । संघ के निर्णयों से विश्व राजनीति की धाराएँ निर्धारित होती हैं । संघ ने विश्व राजनीति को सौम्यता प्रदान की है, विश्व राजनीति का संस्थाकरण किया है । राष्ट्रों की विदेश नीति के क्रियान्वयन में संघ के सिद्धान्तों की दुहाई दी जाती है ।

संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों एवं भूमिका का मूल्यांकन
(ESTIMATE OF THE UNITED NATIONS)

संयुक्त राष्ट्र संघ के शान्ति स्थापित करने सम्बन्धी कार्यों का मूल्यांकन उसकी सफलता और असफलता के आधार पर ही किया जा सकेगा । अनेक राजनीतिक विवादों को निपटाने में संघ को सफलता प्राप्त हुई है, किन्तु कुछ प्रमुख विवाद जैसे कश्मीर, वियतनाम, अरब-इजराइल, आदि का संघ समाधान नहीं कर पाया है । वैसे प्रत्येक बड़े संघर्ष के बाद उसने युद्ध-विराम कराने की ही भूमिका निभायी है । यह बात सच है कि संयुक्त राष्ट्र संघ को राजनीतिक विवादों के हल में उतनी सफलता नहीं मिली है जितनी आर्थिक और रचनात्मक कार्य के क्षेत्रों में उसने एशिया; अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका के विकासशील देशों की स्थिति सुधारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है । विश्वभर के बच्चों, विकलांगों और नेत्रहीनों के लिए संयुक्त राष्ट्र जो कुछ कर रहा

पूर्वक वित्तीय सहायता देता रहा है, अब अपने कदम पीछे हटाने लगा है। वर्तमान में संयुक्त राष्ट्र संघ सचिवालय पर प्रतिवर्ष होने वाले कुल 800 करोड़ डालर के खर्च में से एक-चौथाई भाग तो अमरीका ही देता था। लेकिन अब अमरीकी जनता यह समझने लगी है कि यह मंच केवल अमरीका और रूस का परस्पर विरोध करने का एक माध्यम बनकर रह गया है। इस बात को ध्यान में रखकर अमरीकी सीनेट ने राष्ट्र संघ को दी जाने वाली आर्थिक वित्तीय सहायता में भारी कटौती करने का प्रस्ताव भारी बहुमत से पारित कर दिया।

सोवियत संघ को तो हथियार बनाने से ही फुर्सत नहीं है और न ही उसके पास इतना पैसा बचता है कि वह राष्ट्र संघ की वित्तीय सहायता का अपना भाग दे सके। पिछले कई वर्षों से सोवियत संघ पर राष्ट्र संघ का करोड़ों रुपया बकाया है।

नवम्बर 1987 में संयुक्त राष्ट्र महासचिव जेवियर पेरेज दी क्वैया ने कहा कि विश्व संस्था लगभग दिवालिया हो चुकी है, इसका अतिरिक्त कोष खाली हो चुका है तथा इसके पास अपने कर्मचारियों को वेतन देने के लिए पर्याप्त धन तक नहीं है। श्री क्वैया ने कहा कि संयुक्त राष्ट्र के 159 सदस्यों में से 93 ने अभी तक अपने हिस्से का 45 करोड़ 64 लाख डालर विश्व संस्था को नहीं दिया है। यह राशि संयुक्त राष्ट्र के सालाना बजट 80 करोड़ डालर की लगभग आधी है।

19 सितम्बर, 1988 को संयुक्त राष्ट्र महासभा के 43वें अधिवेशन में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए महासचिव क्वैया ने स्पष्ट कहा कि संगठन पर गम्भीर आर्थिक संकट आ गया है और यदि तत्काल उपाय नहीं किये गये तो शीघ्र ही यह दिवालिया हो जायेगा। हाल ही में संयुक्त राष्ट्र के दायित्वों में अपार वृद्धि हुई है। उसे अब पहले से कहीं अधिक धन की आवश्यकता है। इराक-ईरान सीमा पर युद्ध-विराम लागू कराने के लिए 7 करोड़ 40 लाख डालर की राशि की आवश्यकता होगी तथा नामीबिया की स्वतन्त्रता की योजना को लागू करने में भी विपुल धनराशि की आवश्यकता है। महासचिव ने प्रस्ताव रखा कि सदस्य देशों को स्वैच्छिक अनुदान तथा ब्याज-मुक्त ऋण उपलब्ध कराने पर उदारता से विचार करना चाहिए।

महत्वपूर्ण पंचायत—निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि संयुक्त राष्ट्र संघ ने विश्व-शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना के लिए एक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत की भूमिका अदा की है। विश्व राजनीति के बदलते स्वरूप से कदम मिलाते हुए अर्थात् उसने राजनीतिक एवं सुरक्षात्मक चुनौतियों के कम होने पर अनेक आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी के क्षेत्र में विकास एवं सहयोग कार्यक्रम आरम्भ कर अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की भावना को जाग्रत किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संयुक्त राष्ट्र संघ अनेक विश्व समस्याओं को सुलझाने में आंशिक सफलता ही प्राप्त कर पाया है फिर भी इस लक्ष्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि उसने कई नाजुक मामलों में हाथ डालकर विश्व-समाज को महायुद्ध के विनाश से बचाया है। आज आवश्यकता इस बात की है कि दुनिया के समस्त राष्ट्र आपसी सहयोग, विश्वास एवं समझ के आधार पर विश्व संगठन को भरपूर समर्थन देने लगें तो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा का स्वप्न साकार हो सकता है।

रीगन प्रशासन द्वारा फिलिस्तीनी नेता यासर आराफात को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में भाग लेने के लिए 'वीसा' न देना इस संगठन की स्वतन्त्र भूमिका के लिए एक बड़ी चुनौती थी। किन्तु जिनेवा में सम्मेलन आयोजित करके इस विश्व संगठन ने अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को सार्थक सिद्ध कर दिया और यह साबित कर दिया कि वह अपने मेजवान देश की कृपा पर निर्भर नहीं है। यदि संयुक्त राष्ट्र संघ महाशक्तियों के प्रभाव से मुक्त होकर काम करता रहेगा तो वह मानव अधिकारों की रक्षा और विश्व शान्ति की स्थापना का मार्ग अधिक प्रभावी ढंग से प्रशस्त कर पायेगा।

प्रश्न

1. संयुक्त राष्ट्र संघ की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।
   Discuss the achievements of the United Nations.
2. संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा क्या कार्य किये जाते हैं ? क्या आप समझते हैं कि यदि संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिये जायें तो क्या इसका भविष्य सुरक्षित रहेगा ? इसको वास्तविक रूप में प्रभावशाली बनाने के लिए आप कौन से सुधारों का सुझाव देंगे ?
   What functions are performed by the U. N. ? Do you think its future will be safe, if revolutionary changes are made in the U. N. Charter ? What reforms would you suggest to make it really affective ?
3. पिछले 45 वर्षों में संयुक्त राष्ट्र की उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिये।
   Evaluate the achievements of the United Nations (U.N.O.) during the past 45 years.
4. क्या आप इस मत से सहमत हैं कि चार्टर का संयुक्त राष्ट्र लुप्त हो चुका है; शीत-युद्ध के उदय ने इसके स्वरूप एवं कार्यों में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये हैं ? कारण सहित उत्तर दीजिए।
   Do you agree with the view that the United Nations. Charter has disappeared; the emergence of the Cold-War has made significant changes in its form and functions ? Give reasons to you answer.
5. संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के कार्यों का वर्णन कीजिए और सुरक्षा परिषद के साथ उसके सम्बन्धों का निरूपण कीजिये।
   Describe the functions of the General Assembly of the U. N. O. and its relationship with the Security Council.
6. सुरक्षा परिषद की शक्तियों व कार्यों का वर्णन कीजिये और यह बताइये कि निषेधाधिकार (वीटो-Veto) की व्यवस्था से यह किस प्रकार प्रभावित हुए हैं ?
   Discuss the powers and functions of the Security Council and show how the provision of "Veto" has affected their exercise ?
7. संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के कार्य और शक्तियाँ क्या हैं ? क्या आप इन कार्यों में वृद्धि के पक्ष में हैं ? तर्क दीजिए।
   What are the functions and powers of the General Assembly of the United Nations ? Are you in favour of adding to these functions ? Give reasons.
8. संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा तथा सुरक्षा परिषद् के सम्बन्धों की विवेचना कीजिए। ये सम्बन्ध किस प्रकार 1945 से बदल रहे हैं ?
   Discuss the relationship between the U. N. General Assembly and the Security Council. How has it been changing since 1945 ?
9. संयुक्त राष्ट्र संघ को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए संघ के संविधान में संशोधन के कुछ सुझावों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
   Critically examine some suggestions for the revision of the U. N. Charter with a view to making the U. N. more effective.
10. 3 नवम्बर 1950 के 'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' का क्या महत्व है ?
    Discuss the significance of the Uniting for Peace Resolution of 3rd November 1950.
11. बदलती हुई अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थिति के सन्दर्भ में शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने में संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।

Make a critical assessment of the United Nations in maintaining International peace and security in the context of changing international political situation.

12. संयुक्त राष्ट्र संघ के अराजनीतिक कार्यों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
Make a critical appraisal of the non-political activities of the U. N. O.

13. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के संगठन, शक्तियों तथा मर्यादाओं का विवेचन कीजिए।
Discuss the organisation and powers of the International Court of Justice with its limitations.

14. विश्व समस्याओं को हल करने के साधन के रूप में संयुक्त राष्ट्र का मूल्यांकन कीजिए।
Evaluate the United Nations as a means of solving world problems.

15. संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में निषेधाधिकार सम्बन्धी प्रबन्ध के निर्माण, परिणाम तथा महत्व की चर्चा कीजिए।
Discuss the genesis, implications and significance of the 'Veto' provision of the U. N. charter.

16. 'आठवें दशक के प्रारम्भ में संयुक्त राष्ट्र के केवल संरचना संगठन में ही नहीं किन्तु निर्णय निर्माण प्रक्रिया में भी परिवर्तन हो रहे हैं।' उपरोक्त कथन का विस्तार एवं विश्लेषण कीजिए।
'Since early eighties the United Nations is under going changes not only structural set-up but also in-decision-making process.' Analyse and elaborate the above statement.

17. 'संयुक्त राष्ट्र संघ को एक प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाकर ही तीसरी दुनिया कुछ आशा कर सकती है कि हमारी आज की दुनिया के भाग्य का निर्माण कर पाने में कुछ उसकी भी भूमिका हो सकती है।' इस वक्तव्य की समीक्षा कीजिए।
'It is only by helping the United Nations grow into an effective world organisation that some hope lies for the third world to play any role shaping the destiny of present day world.' Discuss this statement.

18. संयुक्त राष्ट्र संघ का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर क्या प्रभाव पड़ा है? विवेचना कीजिए।
What has been the UNO's impact on International Politics ? Discuss.

5

संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ का महानतम शक्तियों के रूप में उदय

[RISE OF THE U. S. A. & THE U. S. S. R. AS SUPER POWERS]

7 मई, 1945 को यूरोप में जर्मनी ने और 14 अगस्त, 1945 को एशिया में जापान ने आत्म-समर्पण कर दिया। इस प्रकार जर्मनी और जापान की पराजय के साथ ही द्विपक्षीय महायुद्ध की समाप्ति हुई। द्वितीय महायुद्ध इतना व्यापक और प्रभावकारी था कि इसके अन्त के साथ ही विश्व इतिहास के एक युग का अन्त हो गया। एक नये युग का सूत्रपात हुआ जिसमें अनेक राज्य उभरे, नयी महाशक्तियों का उदय हुआ। विश्व का नेतृत्व ग्रेट ब्रिटेन के हाथ से निकलकर संयुक्त राज्य अमरीका के हाथ में चला गया और साम्यवादी रूस में भी विश्व-नेतृत्व की महत्वाकांक्षा जागृत हो गयी। प्रभुत्व-क्षेत्र बदल गये, नई प्रवृत्तियों और नये सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हुआ और अन्तर्राष्ट्रीय जगत को नयी-नयी समस्याएँ सताने लगी। विश्व इतिहास के 'यूरोपीय' युग का अवसान हुआ। महायुद्ध ने यूरोप को आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक सभी दृष्टियों से पंगु बना दिया। विश्व-राजनीति में न केवल यूरोपियन प्रभुत्व समाप्त हुआ अपितु यूरोप एक समस्या-ग्रस्त महाद्वीप बन गया। जर्मनी के एकीकरण और बर्लिन की घेराबन्दी की समस्याएँ सम्पूर्ण विश्व के लिए गम्भीर सकट के रूप में सामने आयीं। जर्मनी और इटली बर्बाद हो गये तथा ब्रिटेन एवं फ्रांस तीसरी श्रेणी के राष्ट्र बन गये। विश्व-नेतृत्व यूरोप के हाथों से निकलकर अमरीका और सोवियत सघ के हाथों में आ गया।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद से लेकर आज तक अमरीका और सोवियत संघ ने महानतम शक्ति के रूप में अपनी श्रेष्ठ स्थिति को बरकरार रखा है। आज भी चीन सहित किसी अन्य बड़ी शक्ति में अकेले या अन्य शक्तियों के साथ मिलकर महानतम शक्तियों (अमरीका या सोवियत संघ) में से किसी एक को भी चुनौती देने की क्षमता नहीं। निःसन्देह अमरीका और सोवियत संघ का अणु शक्ति पर एकाधिकार नहीं रहा और चीन, फ्रांस, ब्रिटेन आदि ने अणु एवं परमाणु अस्त्रों का निर्माण कर लिया है। परन्तु परमाणु अस्त्रों, प्रक्षेपास्त्रों तथा ताप-नाभिकीय अस्त्रों का जो उत्कृष्ट भंडार अमरीका और रूस के पास है वे किसी अन्य बडी शक्ति—ब्रिटेन, फ्रांस या चीन के पास नहीं। ये बड़ी शक्तियाँ ईर्ष्या कर सकती हैं, धमकी दे सकती हैं परन्तु अमरीका और सोवियत संघ से टकराव मोल नहीं ले सकतीं। इसी प्रकार जापान और पश्चिमी जर्मनी प्रचण्ड आर्थिक और तकनीकी शक्ति के रूप में उदित हुए हैं परन्तु वे भी महाशक्तियों को दबोच नहीं सकते। अमरीका और सोवियत संघ की तकनीकी और आर्थिक श्रेष्ठता भी असन्दिग्ध है।

महानतम शक्ति की अवधारणा
(THE CONCEPT OF SUPER POWER)

शक्ति के आधार पर राज्यों के वर्गीकरण हेतु 'महाशक्ति' के संप्रत्यय का भी चलन हुआ है। इस संप्रत्यय का जन्म 1815 के वियना सम्मेलन में हुआ और इसलिए इसे 19वीं शताब्दी की अवधारणा कहा जाता है। इस संप्रत्यय के आधार पर राष्ट्रों को दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है—महाशक्ति (Great Power) तथा महानतम शक्ति (Super Power)। सोवियत संघ और अमरीका महानतम शक्तियों (Super Powers) की श्रेणी में आते हैं और फ्रांस, ब्रिटेन, चीन, भारत, जापान, जर्मनी आदि बड़ी या महाशक्तियों (Great Powers) की श्रेणी में आते हैं।

महाशक्ति से हमारा अभिप्राय किसी ऐसे राष्ट्र से होता है जो किसी दूसरे राष्ट्र या राष्ट्रों पर अपनी इच्छा तो थोप सके परन्तु उन दूसरे राष्ट्रों का उस पर कोई प्रभाव न हो। अमरीका और सोवियत संघ जैसी महानतम शक्तियों के प्रादुर्भाव से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ऐसी अनेक महाशक्तियाँ थीं जो छोटे राष्ट्रों पर अपनी इच्छा लाद सकती थीं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद द्विध्रुवीय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रादुर्भाव हुआ। अमरीका और सोवियत संघ की सैनिक शक्ति इतनी अधिक बढ़ गयी कि उनको एक विशिष्ट श्रेणी में रखना आवश्यक हो गया। यह विशिष्ट श्रेणी 'महानतम शक्ति' की श्रेणी है।

महानतम शक्ति (Super Power) का अर्थ है—अत्यधिक शक्तिशाली राज्य। यह शब्द इस विश्वव्यापी मान्यता को प्रतिबिम्बित करता है कि महानतम शक्तियों (अमेरिका और सोवियत संघ) की विश्व की घटनाओं को प्रभावित करने की क्षमता किसी भी अन्य दूसरी शक्ति से कहीं अधिक होती है।

हेन्स जे. मारगेन्थाऊ के अनुसार महानतम शक्ति एक विशाल शक्ति होती है जिसके पास अन्य शक्तियों पर अपनी इच्छा थोपने की क्षमता होती है तथा उसके किसी प्रतिद्वन्द्वी के पास इतनी क्षमता नहीं होती कि वह उसे ऐसा करने से रोक सके।

लियोपोल्ड रांके के अनुसार केवल उस देश को महानतम शक्ति कहा जा सकता है जो युद्ध में अन्य सभी देशों की सम्मिलित शक्ति का विजयपूर्ण ढंग से प्रतिरोध कर सके।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महानतम शक्ति की पहचान उसके बल और शक्ति की वास्तविकता है। महानतम शक्ति के पास अतिमारकता की शक्ति होती है। उसकी सेनाओं में इतनी गतिशीलता होती है कि उन्हें विश्व में सामरिक महत्व के किसी भी क्षेत्र में तत्काल तैनात किया जा सकता है। उसके पास अणु एवं परमाणु अस्त्रों, प्रक्षेपास्त्रों आदि की विविध श्रेणियाँ होती हैं। यह युद्ध को आरम्भ कर सकती हैं, संकटों को जन्म दे सकती हैं, उन्हें उछाल सकती हैं तथा उन्हें शान्त कर सकती हैं। सैनिक सन्धियों एवं गुटों के माध्यम से महानतम शक्ति के प्रभाव का क्षेत्र विश्वव्यापी होता है। अपनी शक्ति, सम्मान एवं लोकप्रियता को आहत किये बिना महानतम शक्तियाँ विश्व के किसी क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकती हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय घटनाचक्र को प्रभावित कर सकती हैं। हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप तथा वियतनाम, कोरिया, ग्रेनाडा में अमरीकी हस्तक्षेप की प्रकृति को समझने के लिए उनकी महानतम शक्ति की भूमिका एवं स्थिति का विश्लेषण पर्याप्त आधार है। चीन, फ्रांस और ब्रिटेन को महानतम शक्ति का दर्जा नहीं दिया जा सकता क्योंकि उनका प्रभाव क्षेत्र विश्वव्यापी नहीं, वे दूसरों पर अपनी इच्छा थोप नहीं सकतीं। संक्षेप में, महानतम शक्ति के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं :

1. युद्ध को प्रारम्भ करने एवं उसे रोकने की क्षमता;

2. संहारक शक्ति का प्रचुर भण्डार;
3. अन्य राज्यों के आचरण एवं नीतियों को नियन्त्रित करने एवं उन पर अपनी इच्छा थोपने की क्षमता;
4. सैनिक गठबन्धनों के माध्यम से विश्वव्यापी प्रभाव क्षेत्र;
5. अन्य राज्यों के मामलों में सैनिक हस्तक्षेप करने की क्षमता;
6. अपार सैनिक एवं परमाणु क्षमता।

संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ आधुनिक विश्व में इसलिए महानतम शक्तियाँ हैं क्योंकि दोनों की सैनिक एवं परमाणु क्षमता, आर्थिक एवं तकनीकी शक्ति बराबर या लगभग बराबर है। दोनों के पास परमाणु अस्त्रों की विविधता है तथा दोनों की सैन्य शक्ति इतनी गतिशील है कि उन्हें विश्व के किसी भी क्षेत्र में तुरन्त तैनात किया जा सकता है। दोनों ने नाटो एवं वार्सा संगठनों एवं सैन्य सन्धियों द्वारा अपने प्रभाव क्षेत्रों का अत्यधिक विस्तार कर लिया है। दोनों संकटों को जन्म दे सकते हैं और दोनों के क्रियाकलापों को अवरुद्ध करने की क्षमता किसी अन्य शक्ति में नहीं है। युद्ध और शांति के प्रश्न इन दोनों महानतम शक्तियों की विदेश नीतियों के आचरण से जुड़ गये हैं।

संयुक्त राज्य अमरीका का महानतम शक्ति के रूप में उदय
(RISE OF THE U.S.A AS A SUPER POWER)

संयुक्त राज्य अमरीका वर्तमान विश्व के राजनीतिक और भौगोलिक मानचित्र पर अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसकी भौगोलिक स्थिति; उन्नत आर्थिक व्यवस्था, तकनीकी स्तर की उच्चता, सैनिक शक्ति, विदेशों को सहायता, साम्यवादी विस्तार के विरुद्ध मोर्चा आदि अनेक तथ्य हैं, जिनके कारण आज विश्व की प्रत्येक राजनीतिक या आर्थिक घटना से इसका सम्बन्ध है। द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् यह विश्व में शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभरकर आया है जिसके सम्बन्ध में कोहेन ने लिखा है कि आर्थिक और सैनिक शक्ति का संयुक्त केन्द्रीय राजनीतिक स्वरूप के साथ सम्मिलन संयुक्त राज्य को विश्व की अग्रणी शक्ति बना देता है।

संयुक्त राज्य अमरीका की इस राजनीतिक उच्चता के लिए इसका भौगोलिक स्वरूप उत्तरदायी है। कतिपय भौगोलिक विशेषताओं के कारण ही आज संयुक्त राज्य विश्व शक्ति के रूप में अवतरित हुआ है। ये भौगोलिक विशेषताएँ इस प्रकार हैं।

1. **स्थिति, विस्तार एवं आकार** (Location, Size and Shape)—संयुक्त राज्य के विकास पर इसकी भौगोलिक स्थिति का अत्यधिक प्रभाव है। यह मैक्सिको तथा कनाडा और प्रशान्त तथा अटलाण्टिक के मध्य में 25° उत्तरी अक्षांश से 49° उत्तरी अक्षांश तथा 65° पश्चिमी देशान्तर से 125° पश्चिमी देशान्तर तक विस्तृत है। इसकी स्थिति महासागरों से अत्यधिक सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त मध्य अक्षांशीय जलवायु तथा पश्चिमी गोलार्द्ध में समीपवर्ती देशों के सन्दर्भ में स्थिति ने इसको शक्तिशालिता प्रदान की है। इसकी स्थलीय सीमा केवल दो देशों के अर्थात् कनाडा और मैक्सिको से मिलने के कारण सीमा-विवाद बहुत कम है। यहाँ की स्थिति का महत्वपूर्ण गुण महाद्वीपीय (Continental) तथा सामुद्रिकता (Maritime) का मिश्रण है जो बहुत ही कम देशों में देखा जाता है। इसके फलस्वरूप दोहरे विकास की सम्भावनाएँ हो जाती हैं। सामूहिक बाहरी क्षेत्र में बन्दरगाह, विकसित उद्योग तथा अत्यधिक शहरी जनसंख्या निवास करती है। दूसरी ओर महाद्वीपीय आन्तरिक क्षेत्र में अपेक्षाकृत कम जनसंख्या किन्तु अत्यधिक संसाधन हैं जो सामुद्रिक वृत्त को भेजे जाते हैं।

विस्तार की दृष्टि से संयुक्त राज्य विश्व का चौथा बड़ा देश है जिसका विस्तार 83,99,546 वर्ग किमी. क्षेत्र में है। क्षेत्रफल की दृष्टि से सोवियत संघ, चीन तथा कनाडा इससे अधिक

विस्तार रखते हैं। दूसरी ओर भूमि उपयोग की दृष्टि से इसकी स्थिति अन्य तीनों देशों से उत्तम है। राज्य का विशाल आकार यहाँ के सर्वतोन्मुखी विकास में बाधक न होकर सहायक एवं शक्ति का स्रोत है। आकार की दृष्टि से यह एक संयुक्ताकार (Compact shape) रखता है।

2. जनसंख्या प्रारूप (Population Pattern)—संयुक्त राज्य अमरीका की जनसंख्या का उच्च स्तर, वैज्ञानिक तथा शैक्षिक स्तर की उच्चता यहाँ की राष्ट्रीय शक्ति का प्रमुख स्रोत रहा है।

3. आर्थिक प्रारूप (Economic Pattern)—संयुक्त राज्य विश्व की आर्थिक व्यवस्था में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। आर्थिक संसाधनों की दृष्टि से यह विश्व का सम्पन्न देश है। यहाँ के आर्थिक संसाधन अर्थात् खनिज, कृषि, उद्योग, परिवहन, व्यापार आदि ने संयुक्त राज्य को विश्व में एक प्रमुख स्थान प्रदान किया है। यह आर्थिक दृष्टि से न केवल आत्म-निर्भर है अपितु अन्य देशों की सहायता करने की स्थिति में है। अतः संसाधनों की प्रचुरता के कारण एक ओर जहाँ राष्ट्रीय प्रगति हुई है, दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति का भी विकास हुआ है। वास्तव में, संयुक्त राज्य के विश्व-शक्ति के रूप में विकसित होने का मूल कारण यहाँ की अत्यधिक आर्थिक क्षमता है, क्योंकि वर्तमान विश्व के राजनीतिक स्वरूप में आर्थिक साधनों की प्रचुरता का प्रभाव पड़ता है। संयुक्त राज्य में कोयला, पैट्रोलियम के साथ ही जल शक्ति का पर्याप्त विकास हुआ है। यहाँ का कृषि उत्पादन स्थानीय उपयोग के लिए पर्याप्त ही नहीं अपितु जो भी कृषि उपजें यहाँ उत्पादित होती हैं उनका उत्पादन स्थानीय खपत से अधिक होने के कारण निर्यात के लिए उपलब्ध है। यहाँ की कृषि की सर्वप्रमुख विशेषता है, अधिक उत्पादन, मशीनों का अधिकाधिक उपयोग, उर्वरक उपयोग तथा उपयुक्त जलवायु। कृषि आत्म-निर्भरता तथा निर्यात के लिए अतिरिक्त बचत रहना संयुक्त राज्य को शक्तिशाली स्वरूप प्रदान करने में महत्वपूर्ण है। अनेक देशों को अनाज प्रदान कर संयुक्त राज्य ने उन पर प्रत्यक्ष राजनीतिक वर्चस्व की स्थापना की है। आज विश्व में राजनीतिक शक्ति का एक मापदण्ड औद्योगिक क्षमता है तथा औद्योगिक क्षमता सामान्यतया लोहा-इस्पात उत्पादन द्वारा निर्धारित होती है। संयुक्त राज्य विश्व के उत्पादन का 40 से 50% तक लोहा-इस्पात उत्पादित करता है। संयुक्त राष्ट्र को विश्व-शक्ति के रूप में विकसित करने में यहाँ के उद्योगों का महत्वपूर्ण योग है।

संयुक्त राज्य की भौगोलिक परिस्थितियों से स्पष्ट होता है कि यहाँ की राजनीतिक शक्ति के विकास में उनका अत्यधिक योग है। यहाँ की स्थिति, आकार, विस्तार आदि ने राष्ट्रीय शक्ति के विस्तार में योग दिया है। स्थिति के कारण यहाँ की भूमि पर युद्ध का प्रभाव नहीं पड़ा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महानतम शक्ति के रूप में अमरीका के अभ्युदय के निम्नलिखित कारण हैं :

1. **द्वितीय विश्व युद्ध में अमरीका को आर्थिक लाभ**—द्वितीय महायुद्ध जहाँ यूरोपीय देशों के लिए एक अभिशाप सिद्ध हुआ वहाँ अमरीका के लिए एक वरदान साबित हुआ। अमरीका की मुख्य भूमि पर कोई आक्रमण नहीं हुआ। फलतः नागरिक सम्पत्ति एवं सेना और जन की कोई हानि अमरीका को नहीं उठानी पड़ी। वह युद्ध मूलतः यूरोपीय भूमि पर लड़ा गया, अतः क्षति के भागीदार यूरोपीय देश ही हुए। अमरीका को मित्र देशों की सेना, हथियार, अनाज, धन एवं अन्य आवश्यक साज-सामान से सहायता करनी पड़ी। अतः उसके औद्योगिक उत्पादन को भारी प्रोत्साहन मिला। उसका इस युद्ध के दौरान 50% औद्योगिक उत्पादन बढ़ गया। इतना ही कृषि उत्पादन भी बढ़ गया। अब उसकी समृद्धि का कोई ठिकाना ही नहीं रह गया। वह तो विश्व का ऋणदाता बन गया, विश्व अर्थ-व्यवस्था की धुरी बन गया। उसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कई गुना बढ़ गया। अमरीकी मशीनों की विश्व-भर में भारी माँग थी।

2. आणविक शक्ति का प्रदर्शन—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद सैनिक दृष्टि से अमरीका अत्यन्त शक्तिशाली देश माना जाने लगा क्योंकि 1945 में अणु बम का प्रयोग जापान के विरुद्ध उसी ने किया था। अणु बम पर अमरीका का एकाधिकार था।

3. स्वतन्त्र विश्व में शक्ति-शून्यता—पुरानी साम्राज्यवादी महाशक्तियाँ इस युद्ध में नष्ट हो गयीं। उनकी शक्ति बहुत कमजोर हो गयी। इटली में युद्ध के बाद सारा जीवन अव्यवस्थित था। आर्थिक, प्रशासनिक और नैतिक दृष्टि से वह एक टूटा हुआ राष्ट्र था। उसकी निजी और सार्वजनिक सम्पत्ति युद्ध-पूर्व की एक-तिहाई रह गयी थी। सारी राष्ट्रीय सम्पत्ति की अनुमानित हानि 100 अरब लीरा आँकी गयी। उसके मृतक सैनिकों की संख्या 6,03,647 थी। जर्मनी की क्षति तो और भी भयानक थी। एक पर्यवेक्षक में अनुसार हारा हुआ जर्मनी ध्वस्त शहरों, कल्पनातीत लोगों का देश था। उसके प्रमुख नगर राख के ढेर हो चुके थे। 35 लाख मकान नष्ट हो चुके थे और 40 लाख सैनिक एवं नागरिक युद्ध में मर गये थे। युद्ध का अनुमानित खर्च 2,720 करोड़ स्टर्लिंग था। जापान के अधिकांश औद्योगिक नगर नष्ट हो गये थे, 30 प्रतिशत शहरी आबादी बेघरबार हो गयी थी और 8,06,000 लोग युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुए।

कहने का अभिप्राय यह है कि विश्व मे शक्ति-शून्यता की स्थिति आ गयी। उधर सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोप पर अपना अधिकार कर लिया था। **मोलोतोव** ने कहा था कि 'हम ऐसे युग में रह रहे हैं जिसमें सभी सड़कें साम्यवाद की ओर जा रही हैं।' टर्की, यूनान और एशिया के उन भागों पर जो रूस की सीमा से लगे हुए थे, रूसी विस्तार का भारी खतरा था। ऐसी परिस्थिति में अमरीका के लिए अपरिहार्य हो गया कि 'शक्ति-शून्यता' को भरे अन्यथा सोवियत विस्तारवाद का खतरा बढ़ता ही जा रहा था। ट्रूमैन सिद्धान्त ने सन् 1947 में अमरीकी विदेश नीति को एक नया मोड़ दिया। इसके बाद अमरीका 'स्वतन्त्र विश्व की स्वतन्त्र जनता' का स्वयं-घोषित संरक्षक बन गया।

4. अमरीका की सैन्य-शक्ति का विकास—द्वितीय महायुद्ध के बाद अमरीका न केवल आर्थिक दृष्टि से बल्कि सैनिक दृष्टि से भी विश्व की एक महानतम शक्ति बन चुका था। इसका मुख्य कारण यह था कि धुरी-राष्ट्रों (जर्मनी, जापान, इटली) की सैन्य-शक्ति का विनाश हो चुका था, यूरोपीय राष्ट्रों की सैनिक शक्ति कमजोर पड़ गयी थी एवं द्वितीय महायुद्ध के बाद सोवियत रूस जो स्वयं एक महाशक्ति का रूप ले चुका था, सैनिक शक्ति में अपेक्षाकृत कमजोर था।

5. यूरोप के आर्थिक पुनर्निर्माण की आवश्यकता—पश्चिमी यूरोप के देश युद्ध की ज्वाला में ध्वस्त हो चुके थे। उन्हें पुनः अपने पैरों पर खड़े होने के लिए भारी मात्रा में आर्थिक सहायता की आवश्यकता थी। अमरीकी विदेश मन्त्री मार्शल ने मास्को की विदेश मन्त्री परिषद् में देखा था कि रूसी हर बात में अड़ंगेबाजी करके सन्धियाँ करने में विलम्ब कर रहे हैं। स्टालिन ने उससे कहा था, 'समय हमारे पक्ष में है वह समझौता करा देगा। मार्शल को इसका अर्थ जल्दी ही समझ में आ गया, रूसियों द्वारा सन्धि चर्चा मे देर लगाने का अर्थ यह था कि यूरोपीय देशों में क्रान्तियों द्वारा साम्यवाद की स्थापना हो जाय, फिर समझौता करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। मार्शल ने 26 अप्रैल, 1947 को वाशिंगटन लौटकर इस बात पर बल दिया कि यदि इस समय फौरन यूरोप के आर्थिक पुनरुद्धार का यत्न न किया गया तो वह कम्युनिस्ट हो जायेगा। अमरीका ने यूरोप के आर्थिक पुनरुद्धार करने का निर्णय लेकर यूरोप का विश्व-राजनीति में नेतृत्व भी ग्रहण कर लिया।

संयुक्त राज्य अमरीका की महानतम शक्ति के रूप में नयी भूमिका
(NEW SUPER POWER ROLE OF THE UNITED STATES)

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व संयुक्त राज्य अमरीका एक शक्ति सम्पन्न राष्ट्र तो या किन्तु उसे

'महानतम शक्ति' का दर्जा प्राप्त नहीं था। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व अमरीकी विदेश नीति की प्रमुख विशेषता थी 'पृथकतावादी नीति' (Isolationism)। राष्ट्रपति जैफरसन ने 1801 में इस नीति का सूत्रपात किया था। उन्हीं के शब्दों में, "शान्तिपूर्ण व्यापार सबके साथ, झंझट पैदा करने वाली सन्धियाँ किसी के साथ भी नहीं।" 1823 में राष्ट्रपति मुनरो ने कहा था कि अमरीका यूरोपीय झगड़ों से अलग रहेगा और यूरोपीय राज्य भी अमरीकी महाद्वीप में साम्राज्यवादी चेष्टा न करें। यदि अमरीकी गोलार्द्ध में हस्तक्षेप किया गया तो अमरीका अमैत्रीपूर्ण कार्यवाही समझेगा। प्रथम महायुद्ध तक अमरीका विश्व राजनीति से पृथक् रहा। प्रारम्भ में तटस्थ रहने के बाद अमरीका भी मित्र-राष्ट्रों के पक्ष में प्रथम विश्व-युद्ध में कूद पड़ा। युद्ध की समाप्ति के बाद पुनः अमरीका ने पृथकतावादी नीति अपना ली। यह राष्ट्र संघ का सदस्य भी नहीं बना। 1932 तक अमरीकी विदेश नीति पृथकतावाद के सिद्धान्त पर चलती रही। 1937 में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने संकेत दिया कि अमरीका तटस्थतावाद ती नीति त्यागकर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दिलचस्पी लेगा, शान्तिपूर्ण राष्ट्रों के साथ सहयोग कर धुरी-राष्ट्रों के साथ सहयोग कर धुरी-राष्ट्रों के विरुद्ध संयुक्त कार्यवाही का समर्थन करता है। जब 7 दिसम्बर, 1941 को जापान ने पर्लहार्बर के अमरीकी नौ-सैनिक अड्डे पर बम वर्षा कर दी तो 8 दिसम्बर को ही अमरीका ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। महायुद्ध काल में अमरीका ने अपनी महान् सैनिक-शक्ति का प्रदर्शन किया जिससे धुरी-राष्ट्रों की पराजय निश्चित हो गयी।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद संयुक्त राज्य ने विश्व की राजनीति में खुलकर भाग लेना प्रारम्भ किया। साम्यवादी प्रभाव के कारण विश्व के दो प्रमुख गुटों का निर्माण हुआ जिसमें गैर-साम्यवादी गुट का नेतृत्व संयुक्त राज्य के हाथ में आया। इस समय तक साम्राज्यवादी शक्तियों का विघटन प्रारम्भ हो गया तथा एशिया, अफ्रीका एवं दक्षिणी अमरीका के देश एक के पश्चात् एक स्वतन्त्र होते जा रहे थे। अतः यह संयुक्त राज्य के लिए अपने प्रभाव-क्षेत्र के विस्तार का सुनहरा अवसर था। साथ ही युद्ध के तकनीकी स्तर में परिवर्तन आ गया। हवाई शक्ति तथा परमाणु शक्ति के विकास से विश्व राजनीति का स्वरूप परिवर्तित हो गया। इस परिस्थिति में किसी भी देश की सुरक्षा कभी भी संकट में पड़ सकती है। अतः स्वयं की रक्षा के लिए तथा अन्य देशों की रक्षा के लिए विश्व राजनीति में संयुक्त राज्य का सक्रिय भाग लेना आवश्यक हो गया। अतः संयुक्त राज्य ने अपने विशाल एवं अतिरिक्त आर्थिक संसाधनों द्वारा विदेशों को सहायता प्रदान कर अपना प्रभाव एशिया के देशों एवं अन्य देशों पर जमाना प्रारम्भ किया। इसके अन्तर्गत सैनिक एवं व्यापारिक सन्धियाँ तथा विदेशों में सैनिक अड्डों की स्थापना आदि प्रमुख साधन अपनाये गये।

यूरोपीय राजनीति में संयुक्त राज्य पर्याप्त रुचि लेता रहा। द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् पश्चिमी यूरोप पर सम्भावित सोवियत आक्रमण या विस्तार से रक्षा के लिए 'उत्तरी अटलाण्टिक संयुक्त संघ (नाटो) (North Atlantic Treaty Organisation—"NATO") की स्थापना की गयी जिसमें संयुक्त राज्य और कनाडा के साथ यूरोप के तेरह देश अर्थात् बेल्जियम, डेनमार्क, फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, आइसलैण्ड, ग्रीस, इटली, नार्वे, लक्जमबर्ग, नीदरलैण्ड, पुर्तगाल, टर्की एवं पश्चिम जर्मनी सम्मिलित हुए। इसी के साथ संयुक्त राज्य ने अटलाण्टिक क्षेत्र में सैनिक अड्डों का निर्माण मोरक्को, ग्रीनलैण्ड, कनाडा, कैरेबियन द्वीपों पर किया। इसके अतिरिक्त, अन्य देशों में, जैसे जापान, फिलीपाइन्स, पाकिस्तान, कोरिया, लीबिया, स्पेन आदि में सैनिक अड्डों की स्थापना की गयी। दक्षिण-पूर्वी एशिया के साथ संयुक्त राज्य ने 'दक्षिण-पूर्वी एशिया संघ' (सीटो) (South East Asia Treaty Organisation—'SEATO") सन्धि की। दक्षिणी अमरीकी देशों के साथ "रीओ सन्धि" (Rio Treaty) की गयी। पश्चिमी एशिया के देशों के साथ 'सेन्टो'

(CENTO) सन्धि की गयी। इनके अतिरिक्त अनेकानेक देशों के साथ आर्थिक एवं सैनिक समझौते किये गये।

संयुक्त राष्ट्र संघ में अमरीका ने सक्रिय भूमिका निभाना आरम्भ किया। वह सुरक्षा परिषद में रूस-विरोधी सदस्यों का नेता बन गया। 'कोरिया युद्ध' में अमरीका ने सक्रिय भाग लिया। अमरीका की प्रबल सैनिक शक्ति के कारण ही संयुक्त राष्ट्र संघ कोरिया युद्ध में सेना भेज सका। राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमरीकी विदेश नीति के उत्तरदायित्वों की वृद्धि इन शब्दों में घोषित की थी—"जहाँ कहीं भी शान्ति को भंग करने वाला प्रत्यक्ष या परोक्ष आक्रामक कार्य होगा, वह अमरीका के लिए संकट माना जायेगा और अमरीका उसे रोकने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करेगा।" वे आगे कहते हैं, "स्वतन्त्र जगत की स्वतन्त्र जनता अपनी स्वाधीनता बनाये रखने के लिए हमारी ओर आशाभरी नजरों से देख रही है। यदि हमने नेतृत्व में चूक की तो समस्त विश्व की शान्ति संकट में पड़ जायेगी.......।"

इस नीति के परिणामस्वरूप, अमरीका की विदेश नीति का कार्य-क्षेत्र विश्वव्यापी हो गया है। संक्षेप में, द्वितीय महायुद्ध के बाद एक महाशक्ति के रूप में अमरीकी भूमिका के प्रमुख आयाम इस प्रकार हैं—(i) आर्थिक सहायता की कूटनीति या डालर राजनय; (ii) सैनिक गठबन्धन की कूटनीति; (iii) अमरीका का जासूसी राजनय; (iv) अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में मध्यस्थता आदि।

सोवियत संघ का महानतम शक्ति के रूप में उदय
(RISE OF THE U. S. S. R. AS SUPER POWER)

सोवियत संघ या यू. एस. एस. आर. (Union of Soviet Socialist Republics) वर्तमान विश्व में एक महानतम शक्ति के रूप में है। सोवियत संघ की यूरेशिया महाद्वीप में स्थिति, अत्यधिक आर्थिक संसाधन, उच्च तकनीकी स्तर आदि अनेक तथ्यों ने इसको शक्तिशाली स्वरूप प्रदान किया है। वर्तमान विश्व राजनीति में सोवियत संघ का विशिष्ट महत्व है। विश्व की प्रत्येक राजनीतिक घटना के साथ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में इसका सम्बन्ध है। सोवियत संघ अपने गतिशील विदेशी सम्बन्ध और अत्यधिक शक्ति सम्भावना के कारण विश्व में क्षेत्रीय नियन्त्रण के दृष्टिकोण से प्राथमिक महत्व रखता है। सोवियत संघ को एक प्रमुख राजनीतिक शक्ति के रूप में विकसित करने में यहाँ के भौगोलिक वातावरण का अत्यधिक योग है। विश्व शक्ति के रूप में सोवियत संघ का अध्ययन करने के लिए उसके राजनीतिक भूगोल का अध्ययन अपेक्षित है जिनके कारण वर्तमान विकास सम्भव हो सका।

1. स्थिति एवं विस्तार (Location and Size)—सोवियत संघ की यूरेशिया के 'हृदय स्थल' में स्थिति शक्ति सम्भावना की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसकी राजनीतिक सीमा अनेक देशों के साथ संयुक्त है जिसका विस्तार नार्वे से चीन तक है, जहाँ विश्व की तीन-चौथाई जनसंख्या निवास करती है। इसके पश्चिम में यूरोप के देश हैं जो औद्योगिक एवं प्रगतिशील हैं, दक्षिण में पश्चिम एशिया के खनिज तेल से सम्पन्न देश हैं, दक्षिण-पूर्व में भारतीय उप-महाद्वीप तथा पूर्व में चीन तथा जापान जैसे अधिक जनसंख्या वाले देश हैं। स्थिति का प्रभाव यहाँ के इतिहास एवं विकास पर अत्यधिक पड़ा है। मैकेण्डर द्वारा प्रतिपादित 'आधार-क्षेत्र' (Pivot Area) एवं हृदय-क्षेत्र (Heartland) की स्थिति ने इसके विकास एवं विदेश नीति को प्रभावित किया है। स्थिति के कारण यह तीनों ओर स्थित देशों की राजनीति पर अत्यधिक प्रभाव डालता है।

विस्तार की दृष्टि से सोवियत संघ विश्व का सबसे बड़ा देश है जो भूमण्डल के स्थलीय क्षेत्र का छठा भाग अर्थात् 2,44,00,000 वर्ग किमी. क्षेत्र रखता है। आकार की इस विशालता

के कारण पर्याप्त जनसंख्या तथा विविध आर्थिक विकास सम्भव हो सका जो राष्ट्रीय शक्ति का आधार है।

2. आर्थिक तत्व (Economic Elements)—सोवियत संघ की आर्थिक क्षमता एवं सुदृढ़ता ने निःसन्देह इस देश को विश्व-शक्ति के रूप में विकसित करने में सहायता दी। सोवियत संघ की विकसित आर्थिक व्यवस्था यहाँ के राजनीतिक विकास के लिए उत्तरदायी है। यहाँ की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था सरकारी नियन्त्रण में है। पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा कृषि तथा उद्योग में क्रान्तिकारी विकास हुआ है। यहाँ की योजनाओं का उद्देश्य कृषि व्यवस्था में विशाल औद्योगिक व्यवस्था के रूप में देश को विकसित करना रहा है और इसमें यहाँ पूर्ण सफलता मिली है। यही कारण है कि खनिज एवं औद्योगीकरण की दृष्टि से जो पहले नगण्य राष्ट्र था आज विश्व में संयुक्त राज्य के पश्चात् स्थान रखता है।

खनिज देश के औद्योगिक विकास के आधार तथा राजनीतिक शक्ति के विकास के प्रमुख तत्व हैं। पर्याप्त खनिज न होने पर राज्य का विकास अवरुद्ध हो जाता है। सोवियत संघ खनिजों की दृष्टि से सम्पन्न राष्ट्र है। शक्ति के साधनों की दृष्टि से कोयला और पेट्रोलियम उपलब्ध है तथा जल-विद्युत की अत्यधिक सम्भावनाएँ हैं। सोवियत विशेषज्ञों का अनुमान है कि यहाँ विश्व का 58% कोयला, 58·7% पेट्रोलियम, 41% लोहा, 76·7% एमेटाइट, 88% मैंगनीज तथा 54% पोटेशियम लवण का भण्डार है। सोवियत संघ में ज्ञात कोयला भण्डार विश्व में सर्वाधिक है तथा विश्व का एक-तिहाई ज्ञात प्राकृतिक गैस का भण्डार है। 1974 के पश्चात् सोवियत संघ का पेट्रोलियम उत्पादन संयुक्त राज्य अमरीका से अधिक हो गया; इसकी मात्रा 1978 में 5,720 लाख टन थी। विद्युत उत्पादन में सोवियत संघ द्वितीय स्थान रखता है। खनिजों की सम्पन्नता एक ओर राष्ट्रीय विकास में सहायक है, दूसरी ओर राजनीतिक शक्ति को सुदृढ़ता प्रदान करती है।

सोवियत संघ में औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक तत्व अर्थात् कच्चा माल, शक्ति, पूँजी, तकनीकी ज्ञान, बाजार, मजदूर आदि उपलब्ध हैं। तकनीकी स्तर की दृष्टि से सोवियत संघ उच्च स्तर रखता है। यहाँ प्रतिवर्ष लगभग 50,000 इंजीनियर विविध क्षेत्रों में निकलते हैं। सोवियत संघ में 1926 और 1966 के मध्य 11·1% औद्योगिक उत्पादन की वार्षिक प्रगति हुई है जबकि संयुक्त राज्य में इसकी दर केवल 4% रही है। यहाँ लोहा-इस्पात उद्योग का विकास सर्वाधिक हुआ है जिसका स्थान संयुक्त राज्य के पश्चात् है। औद्योगिक उत्पादनों में सोवियत संघ न केवल आत्म-निर्भर है अपितु अन्य देशों को निर्यात भी करता है। आज सोवियत संघ विश्व का प्रमुख औद्योगिक राष्ट्र है। इसके कारण यहाँ राष्ट्रीय विकास एवं राष्ट्रीय शक्ति में वृद्धि हुई है।

3. जनसंख्या प्रारूप (Population Pattern)—सोवियत संघ की संपूर्ण जनसंख्या के आयु समूहों को देखने से स्पष्ट होता है कि यहाँ 18 वर्ष से 45 वर्ष की आयु के मध्य सबसे अधिक जनसंख्या है जो यहाँ की उत्पादन क्षमता एवं सैनिक क्षमता की परिचायक है। यहाँ की कुल जनसंख्या में 25% लोग 18 से 31 वर्ष की आयु के हैं जबकि संयुक्त राज्य अमरीका में इसका प्रतिशत 18 है।

सोवियत संघ के महानतम शक्ति के रूप में उदय होने के कारण
(REASONS FOR THE RISE OF THE U. S. S. R. AS SUPER POWER)

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद अपनायी गयी नीतियों के कारण साम्यवादी रूस अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक महानतम शक्ति के रूप में उभर आया। इसके प्रमुख कारण इस प्रकार हैं :

1. द्वितीय महायुद्ध के अन्त में उसका क्षेत्रीय विस्तार—द्वितीय महायुद्ध के दौरान ही

सोवियत रूस ने अपनी सीमाओं का पश्चिमी क्षेत्रों में विस्तार कर लिया तथा पूर्वी केन्द्रीय यूरोप को अपने प्रभाव का क्षेत्र बना लिया। रूस के सीमान्त क्षेत्रों में वे प्रदेश शामिल हो गये जो किसी समय जारकालीन रूस में शामिल थे। 1918 में रूस को जितने भूभाग की हानि हुई थी उसे उसने पुनः प्राप्त कर लिया। रूस ने अपनी सीमा में (इतिहास में पहली बार) सभी रूसी आबादी वाले क्षेत्रों को सम्मिलित किया।

2. **पूर्वी यूरोप में सोवियत प्रभुत्व का विस्तार**—सोवियत संघ की सुरक्षा की दृष्टि से युद्ध के तुरन्त बाद यह आवश्यक था कि पूर्वी यूरोप के पड़ोसी राज्यों पर सोवियत प्रभाव कायम हो। पूर्वी यूरोप के सभी देशों को जर्मनी की दासता से सोवियत संघ ने ही मुक्ति दिलायी थी, इसलिए युद्ध समाप्त होने के दो वर्ष के भीतर ही इन देशों में कम्युनिस्ट शासन स्थापित हो गया। इसमें लाल सेना ने काफी सहायता की। अस्थायी रूप से लाल सेना ने युद्ध के समय मध्य और पूर्वी यूरोप के बड़े भाग पर अधिकार कर लिया था, अब शनैः-शनैः इन सीमाओं को स्थायी बना दिया गया। अपनी सीमा पर उसने 36 करोड़ वर्ग मील वाले क्षेत्र में मास्को के सात पृष्ठपोषक राज्य—पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, हंगरी, अल्बानिया, बलगारिया और रूमानिया स्थापित किये। पूर्वी जर्मनी भी उसके संरक्षण में था। इनमें सोवियत यूनियन को न केवल पश्चिमी सीमा की सुरक्षा प्राप्त हुई, अपितु इन देशों की आर्थिक साधन-सम्पत्ति भी मिली।

3. **नये विश्व नेतृत्व की आकांक्षा**—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद रूसी नेताओं के मन में साम्यवादी जगत के नेतृत्व की आकांक्षा एवं समूचे विश्व में साम्यवादी सिद्धान्तों के प्रसार के लिए सोवियत संघ को 'केन्द्र' बनाना रहा है।

4. **युद्ध के बाद उत्पन्न शक्ति-शून्यता**—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद न केवल यूरोप में अपितु विश्व राजनीति में 'शक्ति-शून्यता' की स्थिति उत्पन्न हो गयी। ये शक्ति-शून्य क्षेत्र रूसी सीमा के चारों ओर फैले हुए थे जिनमें रूस का प्रवेश आसान था। इससे सोवियत संघ को अन्तर्राष्ट्रीय घटनाचक्र को अपनी इच्छानुसार मोड़ने का अवसर मिला और वह महानतम शक्ति की भूमिका अदा करने लगा।

5. **सोवियत संघ की आन्तरिक स्थिति का सुदृढ़ होना**—सोवियत नेता इस तथ्य से परिचित थे कि आन्तरिक सुदृढ़ता से ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपेक्षित महानतम शक्ति की भूमिका का निर्वाह किया जा सकता है। द्वितीय विश्व-युद्ध काल में रूस को अपार क्षति पहुँची, किन्तु रूस में साम्यवादी व्यवस्था सुदृढ़ हो गयी। युद्ध में महान विजय के फलस्वरूप आन्तरिक क्षेत्र में स्टालिन और उसके शासन का प्रभुत्व स्थापित हो गया, जिसके कारण रूस को तीव्र गति से प्रगति करने और संगठित रूप से शक्ति अर्जित करने में सहायता मिली।

6. **सोवियत संघ का आणविक शक्ति से सम्पन्न होना**—1953 में सोवियत संघ ने अपना प्रथम आणविक विस्फोट कर संसार को बता दिया कि वह सैनिक शक्ति की दृष्टि से पीछे नहीं है। रूस द्वारा किये गये अणु विस्फोट से उसकी अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति में वृद्धि हुई।

7. **वारसा पैक्ट का निर्माण**—वारसा पैक्ट 'अमरीकी नाटो' का सोवियत प्रत्युत्तर है। पश्चिमी सैनिक सन्धि नाटो के जवाब में सोवियत संघ ने अल्बानिया, चेकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, पोलैण्ड, हंगरी, रूमानिया से मिलकर मई 1955 में वारसा पैक्ट का निर्माण किया। वारसा सन्धि के माध्यम से सोवियत संघ साम्यवादी देशों की धुरी बन गया है।

सोवियत संघ की महानतम शक्ति के रूप में नयी भूमिका
(NEW SUPER POWER ROLE OF THE U. S. S. R.)

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् सोवियत संघ ने एक ओर साम्यवादी क्रान्ति के प्रसार हेतु उग्र नीति अपनायी तथा दूसरी ओर पश्चिमी प्रभावों से स्वयं एवं पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों

को बचाने के लिए 'लौह आवरण (Iron Curtain) की नीति का आश्रय लिया। इस नीति का कठोरता से पालन किया गया। यहाँ तक कि विदेशी विचार भी इन देशों में अप्रवेश्य थे।

सोवियत संघ की नीति सदैव से साम्यवादी प्रसार की रही है। उनका प्रमुख नारा है 'हम ऐसे युग में रह रहे हैं जिसमे सब सड़कें साम्यवाद की ओर ले जाने वाली हैं।' द्वितीय महायुद्ध के बाद उसने सर्वप्रथम पूर्वी यूरोप के देशों में अपना प्रभाव जमाना आरम्भ किया जिनको जर्मनी की दासता से रूसी सेना ने मुक्त कराया था। फलस्वरूप चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, अल्बानिया, बल्गारिया तथा यूगोस्लाविया पर साम्यवादी विचारधारा से युक्त सरकारों की स्थापना की या इन विचारधारा का प्रभाव-क्षेत्र बनाया। यूगोस्लाविया कुछ दिनों तक सोवियत संघ के साथ रहने के पश्चात् इसके प्रभाव से बहुत दूर हट गया। पोलैण्ड और पूर्वी जर्मनी पहले ही सोवियत रंग से रंगे हुए थे। इन देशों को सोवियत संघ ने आर्थिक, सैनिक तथा तकनीकी सहायता प्रदान की जिसका उद्देश्य इन देशों की आर्थिक व्यवस्था मे स्थायित्व लाना था। आर्थिक सहयोग को और भी घनिष्ठ बनाने के लिए 'आर्थिक व्यवस्था में पारस्परिक सहायता के लिए 'कौंसिल' (Council for Economic Mutual Assistance) तथा 'यूरोपियन पुनर्निर्माण कार्यक्रम' (European Recovery Programme) बनाया। आर्थिक सहायता पूर्वी यूरोप के देशों के अतिरिक्त क्यूबा, उत्तरी वियतनाम तथा उत्तरी कोरिया को भी दी गयी जिसमें साम्यवादी प्रभाव है। सहायता कार्यक्रमों के अन्तर्गत हंगरी, बलगारिया, चेकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, पोलैण्ड आदि देशों के साथ अनेक समझौते आर्थिक एवं तकनीकी क्षेत्र में किये गये जो साम्यवादी प्रभुत्व को स्थायी करने के लिए थे। इसी प्रकार राजनीतिक दृष्टि से सोवियत संघ उत्तरी वियतनाम, उत्तरी कोरिया, क्यूबा की साम्यवादी पार्टी, मंगोलिया की साम्यवादी सरकारों का समर्थन करता है। 1955 में वारसा पैक्ट बनाकर नाटो को ईंट का जवाब पत्थर से दिया गया। संयुक्त राष्ट्र संघ के मंच पर सोवियत संघ ने अपने को निरन्तर अल्पमत में पाया। ऐसी स्थिति में अपनी इच्छा के प्रतिकूल होने वाले निर्णयों को रोकने के लिए उसके पास इसके अतिरिक्त कोई उपाय न था कि वह सुरक्षा परिषद् में खुलकर अपने निषेधाधिकार का प्रयोग करे जिससे संयुक्त राष्ट्र संघ पश्चिमी शक्तियों के इशारों पर नाचता हुआ उनके पक्ष मे कोई प्रभावशाली कार्य न कर सके। सोवियत संघ ने सुरक्षा परिषद् में अपने निषेधाधिकार के प्रयोग से पश्चिम के अनेक अन्यायपूर्ण प्रस्तावों को धराशायी किया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सोवियत संघ विश्व राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यही नहीं, अपितु विश्व-सन्तुलन को बनाये रखने में इसकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका है।

रूसी और अमरीकी महानतम शक्तियों के अभ्युदय से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव
(RISE OF U. S. S. R. AND U. S A. AS SUPER POWERS AND ITS IMPACT ON WORLD POLITICS)

सोवियत संघ तथा संयुक्त राज्य दोनों महानतम शक्तियाँ हैं तथा इनमें सदैव पृथकता रही है। सोवियत संघ अमरीका को पूँजीवादी विस्तारक के रूप में मानता रहा है तथा संयुक्त राज्य का प्रयास सोवियत साम्यवादी प्रभाव को रोकने का रहा है। इसी कारण अनेक क्षेत्रों में जैसे कोरिया, वियतनाम, क्यूबा, इजराइल आदि में इनके संघर्ष तीव्रतम रहे हैं तथा विश्व के अन्य भागों में गतिरोध बना हुआ है। शक्ति एवं विकास की समता के कारण विश्व का राजनीतिक नेतृत्व करने की भावना इसका मूल कारण है। यद्यपि वे दोनों ही प्रत्यक्ष रूप में पड़ना नहीं चाहते क्योंकि इसका अर्थ है—विश्व-युद्ध, जिसके विनाश की कल्पना नहीं की जा सकती। दोनों

देश आणविक अस्त्रों से पूर्णतया सुसज्जित हैं। अतः विश्व के शक्ति सन्तुलन को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि ये आपसी सहयोग से कार्य करें। यदि यह सहयोग हो सका तो विश्व-शान्ति के मार्ग में एक नवीन युग का सूत्रपात होगा।

रूसी-अमरीकी महाशक्ति के अभ्युदय से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर निम्नलिखित प्रभाव पड़े :

(1) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दो शक्तिशाली गुटों का अभ्युदय हुआ—पश्चिमी गुट और साम्यवादी गुट।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शीत-युद्ध की शुरूआत हुई—शीत-युद्ध वास्तविक युद्ध नहीं है। यह 'युद्ध का वातावरण' है।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'नाटो' (NATO) तथा 'वारसा पैक्ट' जैसे सैनिक स्वरूप वाले संगठनों का अभ्युदय हुआ।

(4) शस्त्रीकरण की होड़ में वृद्धि हुई। आणविक हथियारों का निर्माण किया जाने लगा।

(5) संयुक्त राष्ट्र संघ में 'वीटो' का प्रयोग किया जाने लगा जिससे संघ की निर्णय क्षमता में गतिरोध उत्पन्न हो गया।

(6) प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने के लिए आर्थिक सहायता की कूटनीति का विकास हुआ।

(7) वैचारिक संघर्ष की शुरूआत हुई। परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की धुरी 'राष्ट्रीय हित' थे। इस नये युग में रूस और अमरीका ने विश्व सम्बन्धों की धुरी वैचारिक मतभेद बना दिये।

(8) महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा के केन्द्र विश्वव्यापी हैं। यूरोप महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा का प्रमुख केन्द्र है जहाँ पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी उनके प्रमुख मोहरे रहे हैं। सुदूर पूर्व में चीन, उत्तरी कोरिया, दक्षिणी कोरिया और जापान के सम्बन्धों के साथ महानतम शक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा जुड़ी हुई है। दक्षिण-पूर्वी एशिया में वियतनाम और कम्पूचिया में रूस-अमरीकी प्रतिद्वन्द्विता देखी जा सकती है। साम्यवाद के प्रभाव को रोकने के लिए अमरीका ने वियतनाम युद्ध लड़ा। दक्षिण एशिया में रूस ने अफगानिस्तान में सैनिक हस्तक्षेप किया तो अमेरिका ने पाकिस्तान को बेशुमार शस्त्र दिये। पश्चिमी एशिया में रूस ने अरबों का साथ दिया तो अमरीका ने इजरायल की पीठ थपथपायी। आज अफ्रीका और हिन्द महासागर में महानतम शक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा देखी जा सकती है।

रॉजेन तथा जोन्स ने द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की तीन विशेषताएँ बतायी हैं—(1) दृढ़ द्वि-ध्रुवीयता (Tight-Bipolarity); (2) आणविक शस्त्रों का आविष्कार (The advent of atomic warfare); तथा (3) वैचारिक प्रतिस्पर्द्धा (Unprecedented ideological rivalry)।[1] वे आगे लिखते हैं कि "विश्व में शक्ति के दो प्रमुख केन्द्र उभरकर सामने आये और लगभग 1955 तक विश्व में दृढ़ द्वि-ध्रुवीयता (Tight-Bipolarity) का बोलबाला रहा। दोनों महाशक्तियाँ एक-दूसरे की जबरदस्त प्रतियोगी बन गयीं और दोनों ही के नेतृत्व में दो विरोधी गुटों का निर्माण होता गया............1955 के प्रारम्भ में स्थिति यह थी कि जहाँ संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता केवल 59 सम्प्रभु राज्यों तक सीमित थी वहाँ अमरीका-ब्रिटेन तथा रूस और अन्य राष्ट्र दूसरी ओर लगभग 60 से भी अधिक राज्यों के साथ बंधे थे।"[2]

1 Staven J. Rosen and Walter S. Jones, *The Logic of International Relations* (second edition) p. 220.

2 *Ibid.*, pp. 221-222.

महानतम शक्तियों का पतन
(DECLINE OF THE SUPER POWERS)

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् उभरी दो महाशक्तियाँ—रूस व अमरीका—जिन्होंने पूरे विश्व को अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र में बाँट रखा था, आज वृद्ध व अशक्त नजर आने लगी हैं। उनके साम्राज्यों की सीमाएँ केवल 40-45 वर्षों में ही धड़ाधड़ लाँघी जाने लगी है। वियतनाम, क्यूबा और निकारागुआ जैसे चीटों ने अमरीका रूपी हाथी को घायल कर दिया और रूस के अजरबेजान व लीथोनिया जैसे छोटे-छोटे राज्य उसे घातक डंक मार रहे हैं। दोनों जगह हर प्रकार के परिवर्तन का चाप इतना बढ़ रहा है कि इनकी सरकारें स्वयं अपने भूत को नकार रही हैं और सुधारों की सीमाएँ भयानक ज्वार की भाँति आगे बढ़ती चली आ रही हैं।

अब तक अमरीका अपनी पूँजी के बल पर, अपनी अपार सैनिक शक्ति के आधार पर तथा अपनी उदार राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्था के कारण संसार का सिरमौर बना हुआ था। जहाँ तक अमरीका की वर्तमान आर्थिक स्थिति का प्रश्न है यदि वह एक महाशक्ति न रहा होता तो आज इण्टरनेशनल मोनीटरी फण्ड के पास उसकी सारी पूँजी गिरवीं हो गयी होती। इतने घाटे व ऋण को विश्व की वित्तीय संस्था किसी छोटे कर्जदार देश में बर्दाश्त नहीं कर सकती थी। अमरीका का संघीय बजट घाटा 1,150 खरब डालर तक पहुँच गया है व पिछले कई वर्षों से उसमें सुधार के कोई आसार नजर नहीं आ रहे हैं। वहाँ की सरकार अपनी उन नीतियों को बदलने का बिलकुल साहस नहीं कर पा रही है जिनके कारण यह घाटा असाध्य बन गया है। धनिकों की असीमित सम्पत्ति पर कर लगाना उसे स्वीकार नहीं व सामरिक व्यय व रक्षा बजट को वह अपनी महानता का प्रतीक मानती चली आ रही है। ऐसी हालत में घाटा कैसे कम होगा ?

पूर्वी योरोप में पिछले दिनों जो ऐतिहासिक परिवर्तन हुए और हो रहे हैं, अमरीका की कुण्ठित अर्थव्यवस्था और हताश राजनीति उनका कोई लाभ नहीं उठा पा रही है। विश्व भर में प्रजातन्त्र फैलाने का बीड़ा उठाने वाला राष्ट्र आज साम्यवादी शिकंजे से आहत व कमजोर देशों को, उनके कारागारों को तोड़कर बाहर निकलते समय कोई सार्थक राहत या आर्थिक शरण देने में असमर्थ है। एक जमाना था कि द्वितीय महायुद्ध से ध्वस्त योरोपीय अर्थव्यवस्था के उद्धार के लिए मार्शल योजना बनायी गयी थी तथा अमरीका ने जर्मनी, जापान, इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि देशों का अपनी प्रबल आर्थिक शक्ति के बल पर पुनः जीर्णोद्धार किया था; किन्तु आज जब पोलैण्ड के नव सत्ताधारी दल सोलिडिरिटी के नेता लेक वालेसा ने अमरीका से अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए 10 अरब डालर की सहायता माँगी तो अमरीका के राष्ट्रपति बुश मुश्किल से दस करोड़ डालर तक ही स्वीकार कर सके। इसी प्रकार हंगरी ने जब बहुदलीय प्रजातन्त्र तथा स्वतन्त्र बाजार स्थापित करने के लिए मदद माँगी तो अमरीका कुल 2·5 करोड़ डालर पर राजी हुआ। हद तो तब हो गयी जब शीत-युद्ध का प्रतीक बर्लिन की दीवार पूर्वी जर्मनी के आन्दोलन-कारियों के दबाव से गिर गयी और पश्चिम की संस्कृति की, जिसका अमरीका नेतृत्व करता है, सबसे बड़ी ऐतिहासिक विजय हुई। इसके बाद पेरिस में जो शिखर सम्मेलन हुआ उसमें योरोप के आर्थिक पुनर्निर्माण के उत्तरदायित्व को अमरीका ने संयुक्त योरोपीय साझा बाजार के देशों की झोली में डाल दिया।

अमरीका सदा स्वतन्त्र विनिमय व खुले बाजारों का समर्थक रहा है जिससे प्रतियोगिता बढ़े व पूँजी को विनिमय व लाभ के अनवरुद्ध मार्ग मिलें। परन्तु अब वहाँ भी जापान व जर्मनी में तैयार माल पर आयात के प्रतिबन्ध लगाये जा रहे हैं, यहाँ तक कि भारत जैसे देश के रेडीमेड कपड़ों पर भी कोटा व सीमा के अवरोध खड़े किये जा रहे हैं।

बात यह है कि अमरीकी विदेश व्यापार का घाटा भी वहाँ के संघीय बजट के घाटे की तरह लगातार बढ़ता जा रहा है और व्यापारिक रुकावटें खड़ी करने के अलावा उसे इससे उबरने का कोई रास्ता नजर नहीं आ रहा। विदेश व्यापार में तकनीक का बहुत महत्व है। उच्चतर तकनीक द्वारा बनाया हुआ माल सभी ग्राहक पसन्द करते हैं। अमरीका शस्त्र निर्माण में इतना अधिक उलझा रहा कि पिछले दो-तीन दशकों में उपभोक्ता वस्तुओं की तकनीकों में तथा नये औद्योगिक क्षेत्रों में वह अन्य उन्नत राष्ट्रों से काफी पीछे रह गया। कार, कम्प्यूटर तथा अन्य ऊर्जाणुओं-यन्त्र तकनीकों में वह जर्मनी तथा जापान आदि से बहुत पीछे रह गया। 'अमरीका व रूस ने पिछले दशकों में अपनी सैन्य शक्ति के निर्माण पर इतना विनियोजन किया कि वे अब आर्थिक व तकनीकी रूप से पिछड़े देशों की गिनती में आ गये।' संक्षेप में, आज अमरीका आर्थिक रूप से जर्जर व खोखला हो गया है। उसकी सैन्य शक्ति भी छोटे-छोटे राष्ट्रों के विरुद्ध अक्षम सिद्ध हुई है। सबसे पहले क्यूबा ने उसे छकाया, फिर वियतनाम में उसकी करारी हार हुई। अब लीबिया, निकारागुआ व पनामा जैसे छोटे देश भी उसको तंग करने में समर्थ हो गये हैं। आज अमरीका अस्सी के दशक में इंगलैण्ड के प्रभाव के पतन का स्मरण दिलाने वाली पचास की दशक से मिलता-जुलता लग रहा है। इतिहासकार अमरीका की आर्थिक, राजनीतिक, विदेश नीति व सब प्रकार की शक्ति के पतन के पथ के मील के खम्भों को गम्भीरता से रेखांकित करने लग गये हैं।

विश्व की दूसरी महानतम शक्ति सोवियत रूस के प्रभाव का पतन भी आज सबके सामने है। अन्तर इतना ही है कि रूस के सर्वोच्च नेतृत्व ने कन्फेशन (अपराध स्वीकृति) का साहस किया है। वहाँ स्वयं सरकार अपने प्रभाव व स्वरूप के पुनर्गठन का प्रयास कर रही है। आज से 30-40 वर्ष पूर्व उसके प्रभावग्रस्त राष्ट्रों का जो रुख अक्षम्य अपराध गिना जाकर रूसी सेना द्वारा दण्डित किया गया था, आज उसे ही प्रोत्साहन व स्वीकृति दी जा रही है। हंगरी के दमन को गलती मान लिया गया है, चेकोस्लोवाकिया में अंकुरित प्रजातन्त्र की पौध को अब सींचा जा रहा है। पूर्वी जर्मनी जैसे मार्क्सवाद के गढ़ की सबसे मजबूत प्राचीन बर्लिन की दीवार आज एक ऐतिहासिक स्मृति के रूप में रह गयी है। पोलैण्ड से लेकर बुलगारिया तक साम्यवादी शासन अपने भूत से शर्मिन्दा हैं और अप्रत्याशित गति से अपना नाम व स्वरूप बदल रहे हैं। साम्यवाद के आदर्श की प्रतिमा चूर-चूर होकर विश्व की छाती पर बिखर गयी है। स्वयं सोवियत रूस के अन्दर असन्तोष व आन्दोलनों का ज्वालामुखी धधक रहा है। लोग और अधिक विकेन्द्रीकरण, अधिक राजनीतिक व आर्थिक स्वतन्त्रता व अधिक सांस्कृतिक व बौद्धिक खुलेपन की माँग कर रहे हैं। बाल्टिक देश सोवियत संघ में अपने विलय को चुनौती दे चुके हैं—यूक्रेन से लेकर अजरबेजान तक परिवर्तन की करवट को रोकना रूस के लिए अधिक समय तक सम्भव नहीं रहेगा।

संक्षेप में, अस्सी का दशक एक लम्बे युग के अन्त व बिलकुल नये युग के प्रारम्भ का संकेत दे रहा है।

प्रश्न

1. संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के महाशक्तियों के रूप में उत्थान के कारण समझाइये और उनके राजनैतिक प्रभावों का वर्णन कीजिए।
   Account for the rise of the U. S. A. & the Soviet Union as Super Powers & bring out their political effects.
2. महाशक्तियों (संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ) के आपसी संघर्ष के विश्व राजनीति पर प्रभाव की विवेचना कीजिए।
   Discuss the effect of Super Power (U. S. A. & U. S. S. R.) rivalry on World Politics.

6

शीत-युद्ध की राजनीति
[THE POLITICS OF COLD WAR]

द्वितीय महायुद्ध के बाद विश्व में दो महाशक्तियाँ रह गयीं और इन दो महाशक्तियों के आपसी सम्बन्धों को अभिव्यक्त करने वाला सबसे अधिक उपयुक्त शब्द है—**शीत-युद्ध** (Cold War)। द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व यद्यपि अमरीका और सोवियत संघ में बुनियादी मतभेद थे फिर युद्ध के दौरान उनमें मित्रतापूर्ण सम्बन्ध दिखायी पड़ते हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति के पश्चात् रूस-अमरीकी सम्बन्धों में कटुता, तनाव, वैमनस्य और मनोमालिन्य में अनवरत वृद्धि देखी गयी। दोनों महाशक्तियों में राजनीतिक प्रचार का तुमुल संग्राम छिड़ गया और दोनों एक-दूसरे का विरोध, आलोचना और सर्वत्र अपना प्रसार करने लग गये। रूस-अमरीकी कटुतापूर्ण सम्बन्धों ने सम्पूर्ण विश्व को दो विरोधी गुटों में विभाजित कर दिया। अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर दोनों ही एक-दूसरे के विरुद्ध अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने का प्रयास करने लगे। वे एक-दूसरे को कूटनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक-राजनीतिक और सम्भव हो तो सैनिक मोर्चे पर भी पराजित करने में संलग्न हो गये और समूचे विश्व में एक प्रकार का भय, अविश्वास और तनाव का वातावरण बन गया जिससे विश्व में एक बार पुनः संघर्षपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गयी। एक नये युग का आविर्भाव हुआ जिसे **'सशस्त्र शान्ति का युग'** (Age of Armed Peace) कहा जा सकता है। द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच प्रलयंकर आणविक आयुधों से सम्पन्न इन दोनों भीमाकार दानवों (शक्तियों) के संघर्ष का अखाड़ा बन गया।[1]

शीत-युद्ध द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक महत्वपूर्ण विकास है जिसकी व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है—प्रथम तो यह कि शीत-युद्ध एक वैचारिक संघर्ष है जिसमें दो विरोधी जीवन पद्धतियाँ—उदारवादी लोकतन्त्र तथा सर्वाधिकारवादी साम्यवाद—सर्वोच्चता प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। इस दृष्टि से यह दो वैचारिक प्रणालियों का सैद्धान्तिक संघर्ष है। दूसरी ओर यथार्थवादी सिद्धान्त के अनुसार (जिसके प्रमुख प्रवक्ता प्रो. हेन्स जे. मार्गेन्थाउ हैं) शीत-युद्ध पुरानी शक्ति-सन्तुलन राजनीति का नवीनीकरण है; जिसमें बदले अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक पर्यावरण में उदित हुई दो महाशक्तियाँ—अमरीका और सोवियत संघ—विश्व के अधिकांश राज्यों को अपने प्रभाव-क्षेत्र में लाने के लिए निरन्तर संघर्ष कर रही हैं।

1 "The cold war remains the most enigmatic and elusive international conflict of modern times."
—Norman A. Gracloner, "*Cold War Origins and the Continuing Debate : A Review of the Literature*" *The Journal of Conflict Resolution*, 13 (March 1969), p. 123.

शीत-युद्ध : अर्थ एवं परिभाषा
(COLD WAR : MEANING AND DEFINITIONS)

'शीत-युद्ध' शब्द से सोवियत-अमरीकी शत्रुतापूर्ण तनावपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की अभिव्यक्ति होती है जो कि द्वितीय महायुद्धोत्तर विश्व राजनीति की वास्तविकता है। इन शत्रुतापूर्ण सम्बन्धों को गर्म युद्ध (Hot war) में परिवर्तित किये बिना इस शीत-युद्ध में वैचारिक घृणा (Ideological hatred), राजनीतिक अविश्वास (Political distrust), कूटनीतिक जोड़-तोड़ (Diplomatic maneuvaring), सैनिक प्रतिस्पर्द्धा (Military competition), जासूसी (Espionage), मनोवैज्ञानिक युद्ध (Psychological warfare) और कटुतापूर्ण सम्बन्ध देखे गये।[1]

शीत-युद्ध 'युद्ध' न होते हुए भी युद्ध की सी परिस्थितियों को बनाये रखने की कला है जिसमें प्रत्येक विषय पर विश्व-शान्ति के दृष्टिकोण से नहीं बल्कि अपने संकीर्ण स्वार्थों को ध्यान में रखकर विचार और कार्य किया जाता है। शीत-युद्ध—रूस-अमरीकी आपसी सम्बन्धों की वह स्थिति है जिसमें दोनों पक्ष शान्तिपूर्ण राजनयिक सम्बन्ध रखते हुए भी परस्पर शत्रुभाव रखते हैं तथा शस्त्र-युद्ध के अतिरिक्त अन्य सभी उपायों से एक-दूसरे की स्थिति और शक्ति को निरन्तर दुर्बल करने का प्रयत्न करते हैं। यह एक ऐसा युद्ध है जिसका रणक्षेत्र मानव का मस्तिष्क है; यह मनुष्य के मनों में लड़ा जाने वाला युद्ध है। इसे स्नायु युद्ध (war of nerves) भी कहा जा सकता है। इसमें रणक्षेत्र का सक्रिय युद्ध तो नहीं होता, परन्तु विपक्षी राज्यों के सभी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक सम्बन्धों में शत्रुता भरे तनाव की स्थिति रहती है। शीत-युद्ध वस्तुतः युद्ध के नर-संहारक दुष्परिणामों से बचते हुए युद्ध द्वारा प्राप्त होने वाले समस्त उद्देश्यों को प्राप्त करने का एक नूतन शस्त्र है। शीत-युद्ध एक प्रकार का वाक्-युद्ध है जिसे कागज के गोलों, पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो तथा प्रचार साधनों से लड़ा जाता है। इसमें प्रचार द्वारा विरोधी गुट के देशों की जनता के विचारों को प्रभावित करके उनके मनोबल को क्षीण करने का प्रयत्न किया जाता है तथा अपनी श्रेष्ठता, शक्ति और न्यायप्रियता का तार्किक दावा किया जाता है। वस्तुतः शीत-युद्ध एक प्रचारात्मक युद्ध है जिसमें एक महाशक्ति दूसरे के खिलाफ घृणित प्रचार का सहारा लेती है। यह एक प्रकार का कूटनीतिक युद्ध भी है जिसमें शत्रु को अकेला करने और मित्रों की खोज करने की चतुराई का भी प्रयोग किया जाता है।[2]

डॉ. एम. एस. राजन के शब्दों में, 'शीत-युद्ध शक्ति-संघर्ष की राजनीति का मिला-जुला परिणाम है, दो विरोधी विचारधाराओं के संघर्ष का परिणाम है, दो प्रकार की परस्पर विरोधी पद्धतियों का परिणाम है, विरोधी चिन्तन पद्धतियों और संघर्षपूर्ण राष्ट्रीय हितों की अभिव्यक्ति है—जिनका अनुपात समय और परिस्थितियों के अनुसार एक-दूसरे के पूरक के रूप में बदलता रहा है।[3]

---

1 "The terms 'Cold war' is used to refer generally to the intense hostility and tension that developed in Soviet-American relations (and more broadly in the relations between the 'Communist bloc' and the 'western world') following World War II Without ever really developing into a 'hot war' the cold war has involved ideological hatred, political distrust, diplomatic maneuvering, military competition, espionage and psychological warfare as well as generally less than cordial relations."
—Grieve, *Conflict and Order*, 1977, p. 150.

2 "The objective of a cold war is to isolate enemies and win friends."
—Fleming, *The Cold War and Its Origins*, 1917-60. p. 1071.

3 "The cold war was the combined result of a power struggle, of a conflict of ideologies, and of a class of ways of life and thinking and national interests, the proportions of which varied from time to time, each feeding and reinforcing the others."
—M. S Rajan, "*Road to Detente : A Synoptic View*" in M. S. Agwani, ed. *Detente*, 1975.

जवाहरलाल नेहरू के अनुसार, "शीत-युद्ध पुरातन शक्ति-सन्तुलन की अवधारणा का नया रूप है यह दो विचारधाराओं का संघर्ष न होकर दो भीमाकार शक्तियों का आपसी संघर्ष है।"[1]

के. पी. एस. मेनन के अनुसार, "शीत-युद्ध, जैसा कि विश्व ने अनुभव किया है, दो विचारधाराओं, दो पद्धतियों, दो गुटों, दो राज्यों और जब वह अपनी पराकाष्ठा पर था तो दो व्यक्तियों के मध्य उग्र संघर्ष था, दो विचारधाराएँ थीं—पूँजीवाद और साम्यवाद। दो पद्धतियाँ थीं—संसदीय लोकतन्त्र और जनवादी जनतन्त्र—बुर्जुआ जनतन्त्र और सर्वहारा वर्ग की तानाशाही। दो गुट थे—नाटो और वारसा पैक्ट। दो राज्य थे—संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ। दो व्यक्ति थे—जोसेफ स्टालिन और जॉन फास्टर डलेस।"[2]

डी. एफ. फ्लेमिंग ने अपनी पुस्तक *'The Cold War and Its Origins, 1917-1950'* में लिखा है—शीत-युद्ध एक ऐसा युद्ध है, जो युद्ध क्षेत्र में नहीं; बल्कि मनुष्य के मस्तिष्क में लड़ा जाता है तथा इसके द्वारा उनके विचारों पर नियन्त्रण स्थापित किया जाता है।

जॉन फॉस्टर डलेस के शब्दों में, "शीत-युद्ध नैतिक दृष्टि से धर्म-युद्ध था—अच्छाइयों के लिए बुराइयों के विरुद्ध, सत्य के लिए गलतियों के विरुद्ध, और धर्म-प्राण लोगों के लिए नास्तिकों के विरुद्ध……संघर्ष था।"[3]

ग्रीव्ज के शब्दों में, 'परमाणु युग मे शीत-युद्ध एक ऐसी तनावपूर्ण स्थिति है जो शस्त्र-युद्ध से कुछ परे हटकर है। दूसरे शब्दों में, यह एक साधन है जो एक पारस्परिक विरोधी ध्येय की प्राप्ति के लिए एक ऐसे युग में कारगर सिद्ध होता है जिसमें सम्पूर्ण शस्त्र-युद्ध न सिर्फ अत्यधिक खर्चीला होगा किन्तु सभी सम्बन्धित राष्ट्रों को नष्ट करने की शक्ति भी रखता होगा।"[4]

लुई हॉले (Louis Halle) ने अपनी पुस्तक *'The Cold War as History'* (1967) में लिखा है—शीत युद्ध परमाणु युग में एक ऐसी तनावपूर्ण स्थिति है जो शस्त्र-युद्ध से एकदम भिन्न किन्तु उससे अधिक भयानक युद्ध है। यह एक ऐसा युद्ध है जिसने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान करने के स्थान पर उन्हें उलझा दिया। विश्व के सभी देश और सभी समस्याएँ चाहे वह वियतनाम हो, चाहे कश्मीर या कोरिया हो अथवा-इजराइल संघर्ष हो—सभी शीत-युद्ध में मोहरों की तरह प्रयुक्त किये जाते रहे हैं।"

वस्तुतः शीत-युद्ध वास्तविक युद्ध नहीं है अपितु युद्ध का वातावरण है। शीत-युद्ध का क्षेत्र विश्वव्यापी है और विश्व के सभी क्षेत्र—यूरोप, अफ्रीका, एशिया, लेटिन अमरीका—किसी न किसी रूप में इससे प्रभावित रहे हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ दोनों देशों के शीत-युद्ध का अखाड़ा बन गया। नेहरू के शब्दों में शीत-युद्ध का वातावरण 'निलम्बित मृत्युदण्ड के वातावरण' (Some Kind of Suspended Death Sentence) के समान तनावपूर्ण होता है। यह गरम युद्ध से भी अधिक भयानक युद्ध है क्योंकि यह चिन्तन, भावनाओं एवं मनोवेगों पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है जो अन्ततोगत्वा अशिष्ट एवं असम्भव आचरण को जन्म देता है।[5]

1 "The 'cold war' as Jawaharlal Nehru repeatedly stated, "was merely a new manifestation of the old balance of power idea. It was a conflict between two great powers, not two ideologies." —*Ibid.*

2 K. P. S. Menon, *India and the Cold War*, p. 2.

3 "The cold war was a moral crusade for moral values—for good against bad, right against wrong, religion against atheism." —Quoted in J. K. Galbraith, *The Age of Uncertainty*, 1977, p. 235.

4 "Cold war is a form of conflict taking place below the level of hot war in a thermonuclear age, that is, as a means of pursuing antagonistic aims at a time when the full use of material power appears unbearably costly and destructive for all concerned." —*Grievse.*

5 Nehru said that cold war was 'almost more dangerous, than a hot war, because in engendered thinking, feeling and emotions that were degrading and uncivilizing. —*Ibid.*, p. 2.

संक्षेप में, शीत-युद्ध के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं :

(1) शीत-युद्ध दो 'सिद्धान्तों का ही नहीं, अपितु दो भीमाकार शक्तियों—रूस और अमरीका का संघर्ष है।

(2) शीत-युद्ध में प्रचार का महत्व है, यह वाक्-युद्ध है।

(3) शीत-युद्ध में दोनों महाशक्तियाँ व्यापक प्रचार, सैनिक हस्तक्षेप, सैनिक सन्धियों तथा प्रादेशिक संगठनों की स्थापना करके अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने में लगी रहती हैं।

(4) दोनों शिवरों के मध्य तनावपूर्ण सम्बन्धों की स्थिति को शीत-युद्ध कहा जाता है।

(5) यह गरम युद्ध (Hot war) से भी अधिक भयानक है।

(6) इसे "मस्तिष्क में युद्ध के विचारों को प्रश्रय देने वाला युद्ध कहा गया।"[1]

शीत-युद्ध : सैद्धान्तिक मान्यताएँ
(COLD WAR : THEORETICAL ASSUMPTIONS)

शीत-युद्ध की सैद्धान्तिक विचारधाराएँ क्या हैं ? शीत-युद्ध के लिए अन्ततोगत्वा उत्तरदायी कौन है ? जहाँ प्रो. हेन्स जे. मार्गेन्थाऊ शीत-युद्ध के बीज 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति......शक्ति संघर्ष की राजनीति है......शक्ति-संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का आधारभूत लक्षण है' में देखते हैं; वहाँ लुई हाले 'शीत-युद्ध की उपज द्वितीय विश्व-युद्धजन्य वातावरण' में देखते हैं जिसमें दोनों महाशक्तियाँ उलझ-सी गयीं।

आम तौर से शीत-युद्ध की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ (two schools of thought) प्रचलित हैं जिन्हें पारम्परिक (Orthodox) और परिवर्तनवादी [(Revisionist) विचारधाराएँ कहकर पुकारा जाता है। पारम्परिक विचारधारा के समर्थक शीत-युद्ध की शुरूआत के लिए सोवियत संघ को जिम्मेदार मानते हैं और परिवर्तनवादी विचारक पश्चिमी नीतियों—खास तौर से अमरीकी नीतियों की आलोचना करते हैं। पारम्परिक दृष्टिकोण के समर्थकों में रॉबर्ट स्ट्रास ह्यूप (Rodert Strauss Hupe, *Protracted Conflict*, 1959), हरबर्ट फीज (Herbert Feis, *Between War and Peace : The Potsdam Conference*, 1960), नार्मन ए. ग्रेबनर [Norman A. Graebner, *Cold War Diplomacy*, 1945-60 (1962)], जॉन स्पेनीयर (John Spaniar, *American Foreign Policy Since World War II*, 1967) तथा डेक्सटर पर्किन्स (Dexter Perkins, *The Diplomacy of a New Age*, 1966) प्रमुख हैं। इन विचारकों का मानना है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद पश्चिमी देशों को सोवियत चुनौती का मुकाबला करने के लिए बाध्य होकर कठोर रुख अपनाना पड़ा था।

इसके विपरीत, परिवर्तनवादी विचारकों का मत है कि सोवियत संघ का आक्रमणकारी और शंकालु होने का मुख्य कारण था पश्चिमी देशों की प्रतिक्रियावादी—भड़काने वाली कार्यवाहियाँ। अमेरिका ने सोवियत संघ को एक सैनिक खतरा माना और सैनिक संगठनों का निर्माण करके साम्यवाद परिरोधन की नीति अपनायी। इसी दृष्टिकोण के समर्थकों में डी. एफ. फ्लेमिंग [D. F. Fleming, *The Cold War and Its Origins*, 1917-1950 (1961)], डेविड होरोविज (David Horovitz, *The Free World Colossus*, 1965) तथा गार एलपेरोवीज (Gar Alperovitz, *Atomic Diplomacy : Hiroshima and Potsdam*, 1965) प्रमुख हैं।[2]

सचाई यह है कि द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् पश्चिमी देशों—विशेषकर अमरीका और ब्रिटेन की कतिपय आधारभूत मान्यताओं से शीत-युद्ध का श्रीगणेश हुआ। द्वितीय विश्व-युद्ध के

---

1 Jawaharlal Nehru, *India's Foreign Policy* (selected speeches from September 1946 to April 1961), p. 176.

2 Grieves, *Conflict and Order : An Introduction to International Relations*, 1977, pp 151-52.

बाद अमरीका की यह धारणा थी कि सोवियत संघ एक वास्तविक सैनिक खतरा है, सोवियत साम्यवादी व्यवस्था पश्चिमी व्यवस्था के लिए एक चुनौती है तथा अपने अस्तित्व के लिए साम्यवाद का अवरोध किया जाना चाहिए। चर्चिल ने पश्चिम के लिए कम्यूनिज्म के विरोध की नयी नीति का निर्देश 1946 में अपने प्रसिद्ध **फुल्टन भाषण** में किया—उसने कहा—"हमें तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर, उसके दूसरे स्वरूप की स्थापना को रोकना चाहिए। स्वतन्त्रता की दीप-शिखा प्रज्वलित रखने एवं ईसाई सभ्यता की सुरक्षा के लिए आंग्ल-अमरीकी गठबन्धन स्थापित किया जाना चाहिए। साम्यवाद के प्रसार को सीमित रखने के लिए हर सम्भव नैतिक-अनैतिक उपायों का अवलम्बन किया जाना चाहिए।

शीत-युद्ध : सैद्धान्तिक पक्ष
(COLD WAR : THEORETICAL FRAMEWORK)

द्वितीय विश्व-युद्ध के उपरान्त अनेक ऐसे कारण मौजूद थे कि तीसरा सशस्त्र युद्ध प्रारम्भ होने के सभी अवसर उपस्थित थे किन्तु तीसरा सशस्त्र युद्ध प्रारम्भ करने की स्थिति में न तो अमरीका था, न रूस और न ब्रिटेन-फ्रांस। कोई भी राष्ट्र युद्ध का खतरा मोल नहीं लेना चाहता था क्योंकि युद्ध अत्यधिक खर्चीला, महँगा और विध्वंसात्मक होता है। अतः वास्तविक युद्ध की तुलना में शीत-युद्ध की प्रविधि अपनाना अधिक उपयुक्त समझा गया। शीत-युद्ध वास्तविक युद्ध की अपेक्षा कम व्ययसाध्य होता है और इसमें नरसंहार भी नहीं होता। डी. फ्लेमिंग के अनुसार 'शीत-युद्ध संघर्ष करने की एक नयी प्रविधि है, जो द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त विकसित हुई है।"

शीत-युद्ध वह युद्ध है जो गोला-बारूद और सैनिकों से नहीं वरन् मनोवैज्ञानिक शस्त्रों से लड़ा जाता है। शीत-युद्ध एक मनोवैज्ञानिक युद्ध है जिसमें शत्रु को मनोवैज्ञानिक रूप से निर्बल बनाकर अपने न्यस्त स्वार्थों को पूरा किया जाता है। शीत-युद्ध में मुख्य अस्त्र प्रचार (Propaganda) होता है। प्रचार द्वारा शत्रु राष्ट्र के नागरिकों के मस्तिष्कों और भावनाओं को प्रभावित करना, उनके नैतिक मनोबल को क्षीण करना, शीत-युद्ध का प्रधान लक्ष्य है। इस प्रकार बिना वास्तविक युद्ध के बिना सेना का प्रयोग किये शीत-युद्ध शस्त्र-युद्ध के उद्देश्यों की पूर्ति कर देता है।

वास्तविक युद्ध (War) का मुख्य लक्ष्य शत्रु-पक्ष को कमजोर करना और अपनी शक्ति में अभिवृद्धि करना होता है। शीत-युद्ध में इन उद्देश्यों की पूर्ति प्रचार, कूटनीतिक दबाव, बहिष्कार एवं जन-मानस के मनोबल को गिराकर पूरी की जाती है। शीत-युद्ध हिंसात्मक युद्ध से उद्देश्यों की दृष्टि से भिन्न नहीं है, केवल प्रक्रिया का अन्तर है। शीत-युद्ध के उद्देश्य 'युद्ध' (War) के समान ही होते हैं—जैसे, अपने राष्ट्र की विचारधारा की श्रेष्ठता स्थापित करना तथा विपक्षी राष्ट्र की विचारधारा की भर्त्सना करके नागरिकों की निष्ठा को क्षीण करना, अपने प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार करना और शत्रु-राष्ट्र के प्रभाव-क्षेत्र को सीमित करना; अपने गुट के राष्ट्रों की सहायता करना तथा शत्रु-गुट को विभाजित करना; अपने राष्ट्र की जनता के मनोबल को ऊँचा रखना तथा शत्रु-पक्ष की जनता के मनोबल को गिराना, आदि।

शीत-युद्ध की प्रकृति
(COLD WAR : THE NATURE)

शीत-युद्ध की प्रकृति कूटनीतिक युद्ध-सी है जो अत्यन्त उग्र होने पर सशस्त्र युद्ध को जन्म दे सकती है। शीत-युद्ध में रत दोनों ही पक्ष आपस में शान्तिकालीन कूटनीतिक सम्बन्ध बनाये रखते हुए भी शत्रु-भाव रखते हैं और सशस्त्र युद्ध के अलावा अन्य सभी उपायों से एक-दूसरे को कमजोर बनाने का प्रयत्न करते हैं। शीत-युद्ध में दोनों ही पक्ष अपने प्रभाव-क्षेत्र के विस्तार के

लिए अपनी सैद्धान्तिक विचारधाराओं पर वल देते हैं। दूसरे देशों को प्रभाव-क्षेत्र में लेने के लिए आर्थिक सहायता देना, प्रचार-अस्त्र को काम में लेना, जासूसी, सैनिक हस्तक्षेप, शस्त्र-सप्लाई, शस्त्रीकरण, सैनिक गुटबन्दी और प्रादेशिक संगठनों का निर्माण आदि शीत-युद्ध के अंग हैं।

शीत-युद्ध के कारण
(CAUSES OF THE COLD WAR)

द्वितीय महायुद्ध ने दो महाशक्तियों—संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ—को जन्म दिया। महायुद्ध की समापित के बाद दोनों महाशक्तियाँ युद्ध से प्राप्त लाभ की स्थिति को बनाये रखना चाहती थीं और अपने प्रभाव के विस्तार के लिए उत्सुक थीं। उनकी आकांक्षाओं की पूर्ति के मार्ग में एक शक्ति दूसरे के लिए वाधक थी। दोनों ही पक्षों को एक-दूसरे से कुछ शिकायतें थीं। वे शिकायतें ही मूल रूप में शीत-युद्ध की उत्पत्ति का कारण बनीं।

शीत युद्ध के प्रमुख कारण निम्नांकित हैं :

1. **ऐतिहासिक कारण**—कतिपय पर्यवेक्षक शीत-युद्ध का कारण 1917 को वोल्शेविक क्रान्ति में ढूँढ़ते हैं। सन् 1917 की वोल्शेविक क्रान्ति के समय से ही पश्चिमी राष्ट्र सोवियत संघ को समाप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे, क्योंकि साम्यवाद एक विश्वव्यापी आन्दोलन है जिसका अन्तिम उद्देश्य पूंजीवाद को समाप्त करके पूरे विश्व में साम्यवाद का प्रसार करना है। ब्रिटेन ने रूस को 1924 और अमरीका ने उसे 1933 में ही मान्यता दी थी। पश्चिमी देश साम्यवादी रूस को नाजी जर्मनी की अपेक्षा अधिक आशंका की दृष्टि से देखते रहे। पश्चिमी देश हिटलर को रूस पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित करते रहे।

2. **द्वितीय मोर्चे का प्रश्न**—द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान जब हिटलर ने रूस को भारी जन-धन की क्षति पहुँचायी तो रूसी नेता स्टालिन ने मित्र-राष्ट्रों से यूरोप में नाजी फौजों के विरुद्ध दूसरा मोर्चा खोल देने का अनुरोध किया ताकि नाजी सेना का रूसी सीमा में पड़ा दवाव कम हो सके। परन्तु रूजवेल्ट और चर्चिल महीनों तक इस अनुरोध को टालते रहे। सोवियत इतिहासकारों के मत में यह देरी अमरीका और ब्रिटेन की योजनाबद्ध नीति का परिणाम थी जिससे नाजी जर्मनी, साम्यवादी रूस को पूर्णतया ध्वस्त कर दे। इससे स्टालिन को यह समझने में देर नहीं लगी कि पश्चिमी देशों की आन्तरिक भावना रूस को विनष्ट हुआ देखने की है।

3. **युद्धोत्तर उद्देश्यों में अन्तर**—अमरीका और सोवियत संघ के युद्धोत्तर उद्देश्यों में भी स्पष्ट भिन्नता थी। भविष्य में जर्मनी के विरुद्ध सुरक्षित रहने के लिए सोवियत सघ, यूरोप के देशों को सोवियत प्रभाव-क्षेत्र में लाना चाहता था, तो पश्चिमी देशों के मत में जर्मनी की पराजय से उसके अत्यन्त शक्तिशाली हो जाने का भय था। यह देश रूस के वढ़ते प्रभाव-क्षेत्र को सीमित रखने के लिए कटिबद्ध थे। इसलिए आवश्यक था कि पूर्वी यूरोप के देशों में लोकतान्त्रिक शासनों की स्थापना हो जिसके लिए स्वतन्त्र निर्वाचन कराने आवश्यक थे। स्टालिन के मत में इन क्षेत्रों में स्थापित साम्यवादी सरकारें ही वास्तविक जन-तान्त्रिक सरकारें थीं।

4. **सोवियत संघ द्वारा याल्टा समझौते की अवहेलना**—याल्टा सम्मेलन (1945) में रूजवेल्ट, स्टालिन और चर्चिल ने कुछ समझौते किये थे। पोलैण्ड में रूस द्वारा संरक्षित 'लुबनिन शासन' और पश्चिमी देशों द्वारा संरक्षित 'लन्दन शासन' के स्थान पर स्वतन्त्र और निष्पक्ष निर्वाचन पर आधारित एक प्रतिनिध्यात्मक शासन स्थापित किया जायेगा। लेकिन जैसे ही युद्ध

का अन्त निकट दिखायी देने लगा स्टालिन ने अपने वचनों से मुकरना प्रारम्भ कर दिया। उसने अमरीकी और ब्रिटिश प्रेक्षकों को पोलैण्ड में प्रवेश करने की अनुमति नहीं दी तथा पोलैण्ड की जनतन्त्रवादी पार्टियों को मिलने की कार्यवाही प्रारम्भ कर दी। उसने पोलैण्ड में अपनी संरक्षित लुबलिन सरकार को लादने का प्रयत्न किया। हंगरी, बल्गारिया, रूमानिया और चैकोस्लोवाकिया में भी रूस द्वारा युद्ध-विराम समझौतों तथा याल्टा व पोट्सडाम सन्धियों का उल्लंघन किया गया। रूस ने इन सभी देशों में लोकतन्त्र की पुनर्स्थापना में मित्र-राष्ट्रों के साथ सहयोग करने से इन्कार कर दिया और रूस-समर्थक सरकारें स्थापित कर दीं। सोवियत रूस की जापान के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होने की अनिच्छा और उसके द्वारा मित्र-राष्ट्रों को साइबेरिया में अड्डों की सुविधा प्रदान करने में हिचकिचाहट ने भी पश्चिमी राष्ट्रों के रूस के प्रति सन्देह को बढ़ाया। मंचूरिया स्थित सोवियत फौजों ने 1946 के प्रारम्भ में राष्ट्रवादी सेनाओं को तो वहाँ प्रवेश तक नहीं करने दिया जबकि साम्यवादी सेनाओं को प्रवेश सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान कीं और उनको सम्पूर्ण युद्ध सामग्री सौंप दी, जो जापानी सेना भागते समय छोड़ गयी थी। याल्टा समझौतों के विरुद्ध की गयी सोवियत कार्यवाहियों से पश्चिमी राष्ट्रों के हृदय में सोवियत संघ के प्रति सन्देह उत्पन्न होने लगा।

5. **रूस द्वारा बाल्कन समझौते का अतिक्रमण**—सोवियत संघ ने अक्टूबर 1944 में चर्चिल के पूर्वी यूरोप के विभाजन के सुझाव को स्वीकार कर लिया था। इसके अन्तर्गत यह निश्चित हुआ था कि सोवियत संघ का बल्गारिया तथा रूमानिया में प्रभाव स्वीकार किया जाय और यही स्थिति यूनान में ब्रिटेन की स्वीकार की जाये। हंगरी तथा यूगोस्लाविया में दोनों का बराबर प्रभाव माना जाय। किन्तु युद्ध की समाप्ति के बाद इन देशों में बाल्कन समझौते की उपेक्षा करते हुए सोवियत संघ ने साम्यवादी दलों को खुलकर सहायता दी और वहाँ 'सर्वहारा की तानाशाही' स्थापित करा दी गयी। इससे पश्चिमी देशों का नाराज हो जाना स्वाभाविक था।

6. **ईरान से सोवियत सेना का न हटाया जाना**—द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान सोवियत सेना ने ब्रिटेन की सहमति से उत्तरी ईरान पर अधिकार जमा लिया था। यद्यपि युद्ध की समाप्ति के बाद आंग्ल-अमरीकी सेना तो दक्षिणी ईरान से हटा ली गयी, पर सोवियत संघ ने अपनी सेना हटाने से इन्कार कर दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ के दबाव के फलस्वरूप ही सोवियत संघ ने बाद में वहाँ से अपनी सेनाएँ हटायीं। इससे भी पश्चिमी देश सोवियत संघ से नाराज हो गये।

7. **यूनान में सोवियत संघ का हस्तक्षेप**—1944 में एक समझौते के द्वारा यूनान ब्रिटेन के अधिकार-क्षेत्र में स्वीकार कर लिया गया था। द्वितीय महायुद्ध में ब्रिटेन की स्थिति बहुत कमजोर हो गयी थी जिससे ब्रिटेन ने यूनान के अपने सैनिक-अड्डे समाप्त करने की घोषणा कर दी। यूनान के शक्ति-शून्य प्रदेश को भरने के लिए पड़ोसी साम्यवादी देशों—अल्बानिया, यूगोस्लाविया, बल्गारिया आदि द्वारा सोवियत संघ की प्रेरणा से यूनानी कम्युनिस्ट छापामारों को परम्परागत राजतन्त्री शासन उखाड़ फेंकने के लिए सहायता दी जाने लगी। परिणामस्वरूप ट्रूमैन सिद्धान्त और मार्शल योजना के तत्वावधान में अमेरिका का हस्तक्षेप किया जाना अपरिहार्य हो गया अन्यथा यूनान का साम्यवादी खेमे में जाना निश्चित-सा ही हो गया था।

8. **टर्की पर रूसी दबाव**—युद्ध के तुरन्त बाद रूस ने टर्की पर कुछ भू-प्रदेश और बास्फोरस में नाविक अड्डा बनाने का अधिकार देने के लिए दबाव डालना शुरू किया। परन्तु पश्चिमी राष्ट्र इसके विरुद्ध थे। जब टर्की पर रूस का हस्तक्षेप बढ़ने लगा तो अमरीका ने उसे

चेतावनी दी कि टर्की पर किसी भी आक्रमण को सहन नहीं किया जायेगा और मामला सुरक्षा परिषद् में रखा जायेगा।

9. **अणु बम का आविष्कार**—शीत-युद्ध के सूत्रपात का एक अन्य कारण अणु बम का आविष्कार था। यह कहा जाता है कि अणु बम ने हिरोशिमा का ही विध्वंस नहीं किया, अपितु युद्धकालीन मित्र-राष्ट्रों की मित्रता का भी अन्त कर दिया। संयुक्त राष्ट्र अमरीका में अणु बम पर अनुसन्धान कार्य और उसका परीक्षण बहुत पहले से चल रहा था। अमरीका ने इस अनुसन्धान की प्रगति से ब्रिटेन को तो पूरा परिचित रखा, लेकिन सोवियत संघ से इसका रहस्य जान-बूझकर गुप्त रखा गया। सोवियत संघ को इससे जबरदस्त सदमा पहुँचा और उसने इसे एक घोर विश्वासघात माना। उधर अमरीका और ब्रिटेन को अणु बम के कारण यह अभिमान हो गया कि अब उन्हें सोवियत सहायता की कोई आवश्यकता नहीं है। अतएव इस कारण भी दोनों पक्षों में मन-मुटाव बढ़ा।

10. **सोवियत संघ द्वारा अमरीका विरोधी प्रचार अभियान**—द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने के कुछ समय पूर्व से ही प्रमुख सोवियत पत्रों में अमरीका की नीतियों के विरुद्ध घोर आलोचनात्मक लेख प्रकाशित होने लगे। इस 'प्रचार अभियान' से अमरीका के सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्रों में बड़ा विक्षोभ फैला और अमरीका ने अपने यहाँ बढ़ती हुई साम्यवादी गतिविधियों पर अंकुश लगाना प्रारम्भ कर दिया ताकि अमरीका में साम्यवाद के प्रभाव को बढ़ने से रोका जा सके। सोवियत संघ ने अमरीका में भी साम्यवादी गतिविधियों को प्रेरित किया। 1945 के प्रारम्भ में 'स्ट्रेटजिक सर्विस' के अधिकारियों को यह ज्ञात हुआ कि उनकी संस्था के गुप्त दस्तावेज साम्यवादी संरक्षण में चलने वाले पत्र 'अमेरेशिया' के हाथों में पहुँच गये हैं। 1946 में 'केनेडियन रॉयल कमीशन' की रिपोर्ट में कहा गया कि कनाडा का साम्यवादी दल 'सोवियत संघ की एक भुजा' है। ऐसी स्थिति में अमरीकी प्रशासन साम्यवादियों के प्रति जागरूक हो गया और उन्होने साम्यवाद का होवा खड़ा कर दिया। रूस ने अमरीका की इस कार्यवाही को अपने विरुद्ध समझा और उसने भी अमरीका की कटु आलोचना करने का अभियान प्रारम्भ कर दिया, परिणामस्वरूप शीत-युद्ध में वृद्धि हुई।

11. **पश्चिम की सोवियत विरोधी नीति और प्रचार अभियान**—पश्चिम की सोवियत विरोधी नीति और प्रचार अभियान ने जलती आहुति में घी का काम किया। 18 अगस्त, 1945 को बर्नेज (अमरीकी राज्य सचिव) तथा बेविन (ब्रिटिश विदेश मन्त्री) ने अपनी विज्ञप्ति में सोवियत नीति के सन्दर्भ में कहा कि "हमें तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर उसके दूसरे स्वरूप के संस्थापन को रोकना चाहिए।" 5 मार्च, 1946 को अपने फुल्टन भाषण में चर्चिल ने कहा कि "बाल्टिक में स्टेटिन से लेकर एड्रियाटिक में ट्रीस्टे तक, महाद्वीप (यूरोप) में एक 'लौह आवरण' छा गया है। ये सभी प्रसिद्ध नगर और सोवियत क्षेत्र में बसने वाली जनता न केवल सोवियत प्रभाव में है वरन् सोवियत नियन्त्रण में है।" उसने आगे कहा कि "स्वतन्त्रता की दीप-शिखा प्रज्वलित रखने एवं ईसाई सभ्यता की सुरक्षा के लिए" एक आंग्ल-अमरीकी गठबन्धन की आवश्यकता है। चर्चिल के फुल्टन भाषण के दूरगामी परिणाम हुए। अप्रैल 1946 के उपरान्त दोनों पक्षों ने अपने मतभेदों को खुले आम प्रकट करना शुरू कर दिया जिसमें दोनो पक्षों का एक-दूसरे के प्रति शत्रुतापूर्ण दृष्टिकोण एक नग्न तथ्य बन गया। यह शायद चर्चिल के व्याख्यान का ही प्रभाव था जिसने 'मुनरो सिद्धान्त' को एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया और जिसने मार्शल योजना' को जन्म दिया। चर्चिल के फुल्टन भाषण के सम्बन्ध में कहा गया है कि "ब्रिटेन के युद्धकालीन नेता के फुल्टन भाषण ने शीत-युद्ध का वास्तव में प्रारम्भ न भी किया हो, तो भी वह प्रथम बुलन्द उद्घोषणा थी।"

का अन्त निकट दिखायी देने लगा स्टालिन ने अपने वचनों से मुकरना प्रारम्भ कर दिया। उसने अमरीकी और ब्रिटिश प्रेक्षकों को पोलैण्ड में प्रवेश करने की अनुमति नहीं दी तथा पोलैण्ड की जनतन्त्रवादी पार्टियों को मिलने की कार्यवाही प्रारम्भ कर दी। उसने पोलैण्ड में अपनी संरक्षित लुबलिन सरकार को लादने का प्रयत्न किया। हंगरी, बल्गारिया, रूमानिया और चैकोस्लोवाकिया में भी रूस द्वारा युद्ध-विराम समझौतों तथा याल्टा व पोट्सडाम सन्धियों का उल्लंघन किया गया। रूस ने इन सभी देशों में लोकतन्त्र की पुनर्स्थापना में मित्र-राष्ट्रों के साथ सहयोग करने से इन्कार कर दिया और रूस-समर्थक सरकारें स्थापित कर दीं। सोवियत रूस की जापान के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होने की अनिच्छा और उसके द्वारा मित्र-राष्ट्रों को साइबेरिया में अड्डों की सुविधा प्रदान करने में हिचकिचाहट ने भी पश्चिमी राष्ट्रों के रूस के प्रति सन्देह को बढ़ाया। मंचूरिया स्थित सोवियत फौजों ने 1946 के प्रारम्भ में राष्ट्रवादी सेनाओं को तो वहाँ प्रवेश तक नहीं करने दिया जबकि साम्यवादी सेनाओं को प्रवेश सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान कीं और उनको सम्पूर्ण युद्ध सामग्री सौंप दी, जो जापानी सेना भागते समय छोड़ गयी थी। याल्टा समझौतों के विरुद्ध की गयी सोवियत कार्यवाहियों से पश्चिमी राष्ट्रों के हृदय में सोवियत संघ के प्रति सन्देह उत्पन्न होने लगा।

5. **रूस द्वारा बाल्कन समझौते का अतिक्रमण**—सोवियत संघ ने अक्टूबर 1944 में चर्चिल के पूर्वी यूरोप के विभाजन के सुझाव को स्वीकार कर लिया था। इसके अन्तर्गत यह निश्चित हुआ था कि सोवियत संघ का बल्गारिया तथा रूमानिया में प्रभाव स्वीकार किया जाय और यही स्थिति यूनान में ब्रिटेन की स्वीकार की जाये। हंगरी तथा यूगोस्लाविया में दोनों का बराबर प्रभाव माना जाय। किन्तु युद्ध की समाप्ति के बाद इन देशों में बाल्कन समझौते की उपेक्षा करते हुए सोवियत संघ ने साम्यवादी दलों को खुलकर सहायता दी और वहाँ 'सर्वहारा की तानाशाही' स्थापित करा दी गयी। इससे पश्चिमी देशों का नाराज हो जाना स्वाभाविक था।

6. **ईरान से सोवियत सेना का न हटाया जाना**—द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान सोवियत सेना ने ब्रिटेन की सहमति से उत्तरी ईरान पर अधिकार जमा लिया था। यद्यपि युद्ध की समाप्ति के बाद आंग्ल-अमरीकी सेना तो दक्षिणी ईरान से हटा ली गयी, पर सोवियत संघ ने अपनी सेना हटाने से इन्कार कर दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ के दबाव के फलस्वरूप ही सोवियत संघ ने बाद में वहाँ से अपनी सेनाएँ हटायीं। इससे भी पश्चिमी देश सोवियत संघ से नाराज हो गये।

7. **यूनान में सोवियत संघ का हस्तक्षेप**—1944 में एक समझौते के द्वारा यूनान ब्रिटेन के अधिकार-क्षेत्र में स्वीकार कर लिया गया था। द्वितीय महायुद्ध में ब्रिटेन की स्थिति बहुत कमजोर हो गयी थी जिससे ब्रिटेन ने यूनान के अपने सैनिक-अड्डे समाप्त करने की घोषणा कर दी। यूनान के शक्ति-शून्य प्रदेश को भरने के लिए पड़ोसी साम्यवादी देशों—अल्बानिया, यूगोस्लाविया, बल्गारिया आदि द्वारा सोवियत संघ की प्रेरणा से यूनानी कम्युनिस्ट छापामारों को परम्परागत राजतन्त्री शासन उखाड़ फेंकने के लिए सहायता दी जाने लगी। परिणामस्वरूप ट्रूमैन सिद्धान्त और मार्शल योजना के तत्वावधान में अमेरिका का हस्तक्षेप किया जाना अपरिहार्य हो गया अन्यथा यूनान का साम्यवादी खेमे में जाना निश्चित-सा ही हो गया था।

8. **टर्की पर रूसी दबाव**—युद्ध के तुरन्त बाद रूस ने टर्की पर कुछ भू-प्रदेश और बास्फोरस में नाविक अड्डा बनाने का अधिकार देने के लिए दबाव डालना शुरू किया। परन्तु पश्चिमी राष्ट्र इसके विरुद्ध थे। जब टर्की पर रूस का हस्तक्षेप बढ़ने लगा तो अमरीका ने उसे

चेतावनी दी कि टर्की पर किसी भी आक्रमण को सहन नहीं किया जायेगा और मामला सुरक्षा परिषद् में रखा जायेगा।

9. **अणु बम का आविष्कार**—शीत-युद्ध के सूत्रपात का एक अन्य कारण अणु बम का आविष्कार था। यह कहा जाता है कि अणु बम ने हिरोशिमा का ही विध्वंस नहीं किया, अपितु युद्धकालीन मित्र-राष्ट्रों की मित्रता का भी अन्त कर दिया। संयुक्त राष्ट्र अमरीका में अणु बम पर अनुसन्धान कार्य और उसका परीक्षण बहुत पहले से चल रहा था। अमरीका ने इस अनुसन्धान की प्रगति से ब्रिटेन को तो पूरा परिचित रखा, लेकिन सोवियत संघ से इसका रहस्य जान-बूझकर गुप्त रखा गया। सोवियत संघ को इससे जबरदस्त सदमा पहुँचा और उसने इसे एक घोर विश्वासघात माना। उधर अमरीका और ब्रिटेन को अणु बम के कारण यह अभिमान हो गया कि अब उन्हें सोवियत सहायता की कोई आवश्यकता नहीं है। अतएव इस कारण भी दोनों पक्षों में मन-मुटाव बढ़ा।

10. **सोवियत संघ द्वारा अमरीका विरोधी प्रचार अभियान**—द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने के कुछ समय पूर्व से ही प्रमुख सोवियत पत्रों मे अमरीका की नीतियो के विरुद्ध घोर आलोचनात्मक लेख प्रकाशित होने लगे। इस 'प्रचार अभियान' से अमरीका के सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्रों में बड़ा विक्षोभ फैला और अमरीका ने अपने यहाँ बढ़ती हुई साम्यवादी गतिविधियों पर अंकुश लगाना प्रारम्भ कर दिया ताकि अमरीका मे साम्यवाद के प्रभाव को बढ़ने से रोका जा सके। सोवियत संघ ने अमरीका में भी साम्यवादी गतिविधियों को प्रेरित किया। 1945 के प्रारम्भ में 'स्ट्रेटजिक सर्विस' के अधिकारियों को यह ज्ञात हुआ कि उनकी संस्था के गुप्त दस्तावेज साम्यवादी संरक्षण में चलने वाले पत्र 'अमेरेशिया' के हाथों में पहुँच गये हैं। 1946 में 'केनेडियन रॉयल कमीशन' की रिपोर्ट में कहा गया कि कनाडा का साम्यवादी दल 'सोवियत संघ की एक भुजा' है। ऐसी स्थिति में अमरीकी प्रशासन साम्यवादियों के प्रति जागरूक हो गया और उन्होने साम्यवाद का हौवा खड़ा कर दिया। रूस ने अमरीका की इस कार्यवाही को अपने विरुद्ध समझा और उसने भी अमरीका की कटु आलोचना करने का अभियान प्रारम्भ कर दिया, परिणामस्वरूप शीत-युद्ध में वृद्धि हुई।

11. **पश्चिम की सोवियत विरोधी नीति और प्रचार अभियान**—पश्चिम की सोवियत विरोधी नीति और प्रचार अभियान ने जलती आहुति में घी का काम किया। 18 अगस्त, 1945 को बर्नेज (अमरीकी राज्य सचिव) तथा बेविन (ब्रिटिश विदेश मन्त्री) ने अपनी विज्ञप्ति में सोवियत नीति के सन्दर्भ में कहा कि "हमें तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर उसके दूसरे स्वरूप के संस्थापन को रोकना चाहिए।" 5 मार्च, 1946 को अपने फुल्टन भाषण में चर्चिल ने कहा कि "बाल्टिक में स्टेटिन से लेकर एड्रियाटिक में ट्रीस्टे तक, महाद्वीप (यूरोप) में एक 'लौह आवरण' छा गया है। ये सभी प्रसिद्ध नगर और सोवियत क्षेत्र में बसने वाली जनता न केवल सोवियत प्रभाव में है वरन् सोवियत नियन्त्रण मे है।" उसने आगे कहा कि "स्वतन्त्रता की दीप-शिखा प्रज्वलित रखने एवं ईसाई सभ्यता की सुरक्षा के लिए" एक आंग्ल-अमरीकी गठबन्धन की आवश्यकता है। चर्चिल के फुल्टन भाषण के दूरगामी परिणाम हुए। अप्रैल 1946 के उपरान्त दोनो पक्षों ने अपने मतभेदों को खुले आम प्रकट करना शुरू कर दिया जिसमे दोनों पक्षों का एक-दूसरे के प्रति शत्रुतापूर्ण दृष्टिकोण एक नग्न तथ्य बन गया। यह शायद चर्चिल के व्याख्यान का ही प्रभाव था जिसने 'मुनरो सिद्धान्त' को एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया और जिसने मार्शल योजना' को जन्म दिया। चर्चिल के फुल्टन भाषण के सम्बन्ध में कहा गया है कि "ब्रिटेन के युद्धकालीन नेता के फुल्टन भाषण ने शीत-युद्ध का वास्तव में प्रारम्भ न भी किया हो, तो भी वह प्रथम बुलन्द उद्घोषणा थी।"

12. बर्लिन की नाकेबन्दी—सोवियत संघ द्वारा लन्दन प्रोटोकोल (जून 1948) का उल्लंघन करते हुए बर्लिन की नाकेबन्दी कर दी गयी। इससे पश्चिमी बर्लिन तथा पश्चिमी जर्मनी के बीच सभी रेल-सड़क और जलीय यातायात बन्द कर दिया गया। पश्चिमी देशों ने सुरक्षा परिषद् में रूसी नाकेबन्दी के विरुद्ध शिकायत की और इस कार्यवाही को शान्ति के लिए घातक बताया।

13. रूस द्वारा 'वीटो' का बार-बार प्रयोग—सोवियत रूस ने अपने 'वीटो' के अनियन्त्रित प्रयोगों द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों में बाधाएँ डालना प्रारम्भ कर दिया, क्योंकि रूस संयुक्त राष्ट्र संघ को विश्व-शान्ति और सुरक्षा स्थापित करने वाली एक विश्व-संस्था न मानकर अमरीका के विदेश विभाग का एक अंग समझता था। इसलिए 'वीटो' के बल पर उसने अमरीका और पश्चिमी देशों के लगभग प्रत्येक प्रस्ताव को निरस्त करने की नीति अपना ली। रूस द्वारा वीटो के इस प्रकार दुरुपयोग करने से पश्चिमी राष्ट्रों की यह मान्यता बन गयी कि वह *इस संगठन को समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील है।* इस कारण पश्चिमी राष्ट्र रूस की कटु आलोचना करने लगे, जिसके परिणामस्वरूप उनमें परस्पर विरोध और तनाव का वातावरण और अधिक विकसित हो गया।

14. सोवियत संघ की लैण्ड-लीज सहायता बन्द किया जाना—लैण्ड-लीज ऐक्ट के अन्तर्गत अमरीका द्वारा सोवियत संघ को जो आंशिक आर्थिक सहायता दी जा रही थी उससे वह असन्तुष्ट तो था ही क्योंकि यह सहायता अत्यन्त अल्प थी। किन्तु इस अल्प सहायता को भी राष्ट्रपति ट्रूमैन ने द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद एकाएक बन्द कर दिया जिससे सोवियत रूस का नाराज होना स्वाभाविक था।

15. सैद्धान्तिक या वैचारिक संघर्ष—शीत-युद्ध एक प्रकार का वैचारिक या सैद्धान्तिक संघर्ष भी था। सैद्धान्तिक दृष्टि से अमरीका और सोवियत संघ में बहुत अधिक अन्तर है। अमरीका एक पूँजीवादी, उदार, लोकतन्त्रात्मक देश है जबकि सोवियत संघ मार्क्सवादी और एकदलीय व्यवस्था वाला देश है। 'विश्व के मजदूरो एक हो जाओ' का साम्यवादी घोषणा-पत्र विश्व से 'बुर्जुआ पूँजीवादी व्यवस्था' को नष्ट करने का खुला ऐलान था। एम. जी. गुप्ता के शब्दों में "शीत-युद्ध अपनी प्रभुसत्ता की स्थापना के लिए, अपनी विचारधारा को थोपने के लिए किया जाता है।"[1]

16. शक्ति संघर्ष—मार्गेन्थाऊ के अनुसार 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति-संघर्ष की राजनीति है।' विश्व में जो भी परम शक्तिशाली राष्ट्र होते हैं उनमें प्रधानता के लिए संघर्ष होना अनिवार्य होता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद रूस तथा अमरीका ही दो शक्तिशाली राज्यों के रूप में उदय हुए, अतः इनमें विश्व-प्रभाव स्थापित करने के लिए आपसी संघर्ष होना अनिवार्य है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यह माना हुआ सिद्धान्त है कि शक्ति-राजनीति को सैद्धान्तिक आदर्शों का जामा पहनाया जाता है। अतः कई विचारक तो शीत-युद्ध को पुरानी शक्ति-सन्तुलन की राजनीति का नया संस्करण मानते हैं, जिसमें दोनों परम शक्तियाँ अपना प्रभुत्व बढ़ाने में जी-जान से लगी हुई हैं। धीरे-धीरे इसे सैद्धान्तिक आधार दे दिया गया।

17. हित-संघर्ष—शीत-युद्ध वस्तुतः राष्ट्रीय हितों का संघर्ष है। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त अनेक मुद्दों पर रूस और अमरीका के स्वार्थ आपस में टकराते थे। ये विवादास्पद मुद्दे थे—जर्मनी का प्रश्न, बर्लिन का प्रश्न, पूर्वी यूरोप में साम्यवादी शासन की स्थापना करना, आदि।

1 "In a sense, the Cold War is a just struggle for power, struggle for world supremacy and expression of two incompatible ways of life; those of democracy and communism."
—M. G. Gupta, *International Relations Since 1919*, p. 67.

चार्ल्स पी. श्लीचर के अनुसार शीत-युद्ध के कारण हैं—(i) पूंजीवादी विश्व की साम्यवाद के प्रति शत्रुता; (ii) पिछलग्गू राज्यों द्वारा सोवियत रूस पर एक क्रान्तिकारी वैदेशिक नीति अपनाने के लिए दबाव डालना, (iii) सोवियत नेताओं के सम्मान और विशेषाधिकारों को शीत-युद्ध के द्वारा ही बनाये रखना सम्भव था; (iv) रूस की जनता को जिस कठोर अनुशासन में रहना पड़ रहा था, उसे शीत-युद्ध की राजनीति के आधार पर ही वैध ठहराया जा सकता था।[1]

फ्रेडरिक शूमां के अनुसार 1945 ई. के उपरान्त महान शक्तियों का 'विश्व पर आधिपत्य के लिए युद्ध' (शीत-युद्ध), अनेक भागीदारों तथा निरीक्षकों की दृष्टि में क्रेमलिन की विश्व को जीतने की चेष्टा तथा अमरीका द्वारा इस महत्वाकांक्षा को रोकने तथा प्रतिबन्धित करने, सोवियत विस्तार की बाढ़ को 'पीछे हटाने' तथा यदि सम्भव हो सके तो, लाल षड्यन्त्र के मास्कोवाइट गढ़ को तोड़ने तथा उनके दासों को स्वतन्त्र करने की प्रतिकूल चेष्टा के रूपों में दिखायी देता था।[2]

ग्रीव्ज के अनुसार शीत-युद्ध के कारण हैं—(i) 1917 की रूस में, बोल्शेविक क्रान्ति; (ii) 1918 से रूस में पश्चिमी हस्तक्षेप; (iii) याल्टा समझौता और हिटलर की पराजय के बाद जर्मनी का विभाजन; (iv) परम्परागत सोवियत साम्राज्यवाद; (v) साम्ययादी विचारधारा का डरावना रूप; (vi) स्टालिन की नीतियाँ; (vii) द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद विजेताओं द्वारा प्राप्त लाभों के न्यायोचित वितरण में कठिनाइयाँ; और (viii) साम्यवाद के प्रति अबौद्धिक पश्चिमी प्रतिक्रिया।[3]

आर्नोल्ड टॉयनबी ने शीत-युद्ध को एक वैचारिक संघर्ष मानते हुए विश्व-राजनीतिज्ञ की 'द्विध्रुवीय' व्याख्या की है। शीत-युद्ध एक वैचारिक संघर्ष है जिसमें दो विरोधी जीवन पद्धतियाँ—उदारवादी लोकतन्त्र तथा सर्वाधिकारवादी साम्यवाद सर्वोच्चता के लिए संघर्षरत हैं।

शीत-युद्ध की प्रगति और विस्तार
(COLD WAR : DEVELOPMENT AND EXPANSION)

शीत-युद्ध की प्रगति और विस्तार का अध्ययन हम अपनी सुविधा की दृष्टि से निम्नांकित भागों में कर सकते हैं :

(1) पहला चरण—1917-1945
(2) द्वितीय चरण—1946-1953
(3) तृतीय चरण—1953-1958
(4) चतुर्थ चरण—1959-1962
(5) पंचम चरण—1963-1979
(6) षष्ठ चरण—1980-1990

शीत-युद्ध के विस्तार का प्रथम चरण (1917-1945)

विचारधाराओं के संघर्ष के रूप में शीत-युद्ध का प्रारम्भ उसी दिन से हो जाता है जिस दिन (1917 में) सोवियत संघ में बोलशेविक क्रान्ति हुई। 1917 में विश्व का प्रथम साम्यवादी राज्य अस्तित्व में आया और कार्ल मार्क्स के विचारों को मूर्त रूप दिया गया। रूस में साम्यवाद की स्थापना का पूंजीवादी राज्यों ने स्वागत नहीं किया। अभी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में यद्यपि 'शीत-युद्ध' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ था तथापि दो वैचारिक पक्ष अवश्य प्रकट होने लगे थे। एक ओर अकेला सोवियत संघ था और दूसरी ओर अपने मित्रों सहित ग्रेट ब्रिटेन था। इन दोनों पक्षों

---

1 Charles P. Schliecher, *Introduction to International Relations*, pp. 426-27.
2 शूमां, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति (हिन्दी अनुवाद), पृ. 676.
3 Grieves. *Conflict and Order*, 1977, p. 150.

का एक-दूसरे के प्रति जो दृष्टिकोण था उससे स्पष्ट परिलिक्षित होता था कि भविष्य में इन दोनों के मध्य आपसी मतभेद बढ़ते रहेंगे। इस काल में शीत-युद्ध अपने उग्र रूप में इसलिए प्रकट नहीं हुआ, क्योंकि सोवियत संघ एक निर्बल राष्ट्र था और दूसरी ओर पूंजीवादी राज्य—ब्रिटेन-अमरीका अत्यन्त शक्तिशाली राष्ट्र थे। द्वितीय महायुद्ध में दोनों पक्षों की हिटलर के विरुद्ध मित्रता एक मजबूरी थी।

सचाई यह है कि ब्रिटेन और अमरीका ने कम्युनिस्ट विचारधारा को कभी पसन्द नहीं किया। 1920 में जब सोवियत संघ की साम्यवादी सरकार को मान्यता देने का प्रश्न उठा तब ब्रिटेन और अमरीका इसके लिए तैयार नहीं हुए। जब रूस की साम्यवादी सरकार ने अमरीका के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने चाहे तो अमरीका उस समय तक उसके साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तैयार नहीं हुआ जब तक कि रूस ने उसकी कतिपय आवश्यक शर्तें नहीं मान लीं। ब्रिटेन में मजदूर दल की सरकार के सत्तारूढ़ होने पर ही ब्रिटेन द्वारा 1924 में सोवियत संघ की साम्यवादी सरकार को मान्यता दी गयी। अमरीकी सरकार तो अनेक वर्षों तक साम्यवादी व्यवस्था से भयभीत रही और नवम्बर 1933 में जाकर उसने साम्यवादी सरकार को मान्यता प्रदान कर कूटनीतिक सम्बन्धों की स्थापना की।

फ्लेमिंग के अनुसार इस काल में शीत-युद्ध को जन्म देने वाली निम्नलिखित घटनाएँ प्रमुख हैं—(i) अप्रैल 1942 से जून 1944—द्वितीय मोर्चे का स्थगन; (ii) 29 मार्च, 1944 से फरवरी 1945—सोवियत सेनाओं द्वारा पूर्व-यूरोप पर अधिकार, (iii) मार्च 1945—इटली में जर्मन आत्म-समर्पण समझौतों पर रूस से मतभेद, (iv) 6 अगस्त, 1945—प्रथम अमरीकी अणुबम का हिरोशिमा पर प्रयोग, जिसने विश्व के सम्भावित सामरिक सन्तुलन को उलट दिया, (v) 18 अगस्त, 1945—बर्नेज-बेविन की पूर्व-यूरोप में स्वतन्त्र चुनाव कराने की कूटनीतिक चेष्टा का श्रीगणेश, आदि।

शीत-युद्ध के विस्तार का द्वितीय चरण (1946-1953)

इस काल में शीत-युद्ध का असली रूप सामने आ जाता है। इस काल में अमरीका ने साम्यवाद को घेरकर उसके विस्तार का प्रत्येक स्तर पर प्रतिरोध करने की नीति अपनायी। इस काल के शीत-युद्ध में वृद्धि के लिए कई घटनाएँ प्रमुख थीं, जैसे :

1. **चर्चिल का फुल्टन भाषण**—5 मार्च, 1946 को अमरीका के फुल्टन स्थान पर चर्चिल द्वारा दिये गये भाषण ने शीत-युद्ध का आधुनिक रूप में श्रीगणेश किया। फुल्टन नगर में भाषण करते हुए चर्चिल ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे एक नयी विचारधारा का सूत्रपात किया। उसने कहा "हमें तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर उसके दूसरे स्वरूप की संस्थापना को रोकना चाहिए।" उसने "स्वतन्त्रता की दीप-शिखा प्रज्वलित रखने एवं ईसाई सभ्यता की सुरक्षा के लिए" एक आंग्ल-अमरीकी गठबन्धन की माँग की। उसका सुझाव था कि साम्यवाद के प्रसार को सीमित रखने के लिए हर सम्भव नैतिक-अनैतिक उपायों का अवलम्बन किया जाये। इसके बाद समूचे अमरीका में सोवियत विरोधी भावना का तूफान फूट पड़ा। 29 दिसम्बर, 1946 को राष्ट्रपति ट्रूमैन ने तत्कालीन वाणिज्य सचिव हेनरी ए. वेलेस से त्यागपत्र देने को कहा, क्योंकि उसने 12 सितम्बर, 1946 को न्यूयार्क में एक सार्वजनिक भाषण में सोवियत संघ और अमरीका के बीच मैत्री-स्थापना की वकालत की थी। राज्य सचिव डीन एचिसन ने 18 फरवरी, 1947 को सीनेट के सम्मुख कहा कि "सोवियत संघ की विदेश नीति आक्रामक तथा विस्तारवादी" है।

2. **ट्रूमैन सिद्धान्त**—12 मार्च, 1947 को अमरीकी राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमरीका को यह नीति घोषित की कि वह साम्यवादी प्रसार को रोकेगा। इस नीति के अनुसार दुनिया में जहाँ

कहीं भी शान्ति भंग करने वाला प्रत्यक्ष या परोक्ष आक्रामक कार्य होगा, वहाँ संयुक्त राज्य अमरीका की सुरक्षा संकट में मानी जायगी और वह उसको रोकने के लिए पूरा प्रयत्न करेगा। यूनान, टर्की, ईरान आदि देशों को साम्यवादी खेमों में जाने से बचाने के लिए ट्रूमैन ने यह निर्णय लिया कि इन्हें आर्थिक सहायता प्रदान की जाये। मार्च 1947 में ट्रूमैन ने अमरीकन कांग्रेस को यह सिफारिश की कि यूनान को 25 करोड़ डालर तथा टर्की को 15 करोड़ डालर आर्थिक सहायता स्वीकार की जाये और चेतावनी दी कि "विश्व की स्वतन्त्र जनताएँ अपनी स्वाधीनता बनाये रखने के लिए हमारी तरफ देख रही हैं। यदि हमने नेतृत्व में चूक की तो समूचे विश्व की शान्ति खतरे में पड़ जायेगी और हम निश्चय ही अपने स्वयं के राष्ट्र के कल्याण को संकट में डाल देंगे।" वस्तुत: आर्थिक सहायता के माध्यम से साम्यवाद के प्रसार को सीमित करने की अमेरिका ने जो नीति अपनायी उसे 'ट्रूमैन सिद्धान्त' के नाम से पुकारा जाता है।

3. **मार्शल योजना**—अमरीकी विदेश सचिव मार्शल ने 23 अप्रैल, 1947 को इस बात पर बल दिया कि यदि इस समय फौरन (तत्काल) यूरोप के आर्थिक पुनरुद्धार का यत्न न किया गया तो वह साम्यवादी हो जायेगा। परिणामस्वरूप राष्ट्रपति ट्रूमैन ने मार्शल द्वारा दिये गये सुझाव के अनुसार पश्चिमी यूरोपीय देशों के आर्थिक पुनर्निर्माण तथा इन देशों में व्याप्त बेकारी, भुखमरी, निर्धनता, साधनहीनता और अव्यवस्था को समाप्त करने के उद्देश्य से मार्शल योजना शुरू की। इस योजना के अन्तर्गत अमरीका ने 1948 से 1952 तक कुल चार वर्ष की अवधि में पश्चिमी यूरोपीय देशों को 12 अरब डालर की आर्थिक सहायता देने का कार्यक्रम स्वीकार किया। वस्तुत: इस योजना का मुख्य उद्देश्य पश्चिमी यूरोपीय देशों को साम्यवादी प्रभाव में जाने से रोकना और साम्यवादी प्रभाव को समाप्त करना था। चूंकि जिन देशों को इस योजना के अन्तर्गत सहायता दी गयी, उन पर मुख्य शर्त यह लागू की गयी कि वे अपने देश की शासन व्यवस्था में साम्यवादियों को कोई स्थान नहीं देंगे। इस योजना ने अमरीका की 'साम्यवाद के अवरोध की नीति' (Containment of Communism) को सफल बनाने में सहायता दी।

4. **बर्लिन की नाकेबन्दी**—1948 में सोवियत संघ ने बर्लिन की नाकेबन्दी करके शीत-युद्ध को चरम सीमा पर पहुँचा दिया। बर्लिन की नाकेबन्दी के अवसर पर दोनों ही पक्षों को अपनी शक्ति आजमाने का मौका मिला। इससे पश्चिमी जर्मनी के बीच सभी रेल, सड़क और जलीय यातायात बन्द कर दिया गया। इस समय अमरीका ने कठोर रुख अपनाया और रूस इस नाकेबन्दी में असफल रहा एवं मई 1948 में उसने इस नाकेबन्दी को समाप्त कर दिया। किन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि सोवियत रूस का विरोध करने की दृष्टि से अमरीका नये-नये सैनिक संगठनों की स्थापना करने के लिए प्रयत्नशील हो गया।

5. **जर्मनी का विभाजन**—अब क्षत-विक्षत जर्मनी 'शीत-युद्ध' का एक प्रधान केन्द्र बन गया। ब्रिटेन, फ्रांस और अमरीका ने अपने अधीनस्थ जर्मनी के तीनों पश्चिमी क्षेत्रों का एकीकरण कर दिया। इस तरह 21 सितम्बर, 1949 को संघीय जर्मन गणराज्य (Federal Republic of Germany) जिसे 'पश्चिमी जर्मनी' भी कहते हैं, का उदय हुआ। मित्र-राष्ट्रों के इस कार्य के प्रत्युत्तर में 7 अक्टूबर, 1949 को जर्मनी के रूसी क्षेत्र में जर्मन प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य (German Democratic Republic) जिसे 'पूर्वी जर्मनी' भी कहते हैं, की स्थापना कर दी गयी। इस प्रकार जर्मनी—पूर्वी जर्मनी और पश्चिमी जर्मनी—में विभाजित हो गया। जर्मनी के एकीकरण का प्रश्न शीत-युद्ध को बल प्रदान करने लगा।

6. **नाटो की स्थापना**—1949 में संयुक्त राज्य अमरीका के नेतृत्व में नाटो (NATO)

जैसी सैनिक सन्धि का निर्माण किया गया। इसके अनुसार यूरोप में या उत्तरी अमरीका में किसी एक या अनेक देशों के विरुद्ध किया गया सशस्त्र आक्रमण सब देशों के विरुद्ध आक्रमण समझा जायेगा और ऐसा आक्रमण होने की दशा में वैयक्तिक रूप से अथवा अन्य सदस्यों के साथ मिलकर "उत्तरी अटलाण्टिक क्षेत्र में शान्ति बनाये रखने के लिए आवश्यक समझा जाने वाला कार्य" करेंगे। नाटो सोवियत संघ को चेतावनी थी कि यदि उसने इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले किसी देश पर आक्रमण किया तो संयुक्त राज्य अमरीका तत्काल उसकी सहायता करेगा।

7. **चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना**—1 अक्टूबर, 1949 को चीन में साम्यवादी शासन स्थापित हो जाने से शीत-युद्ध में उष्णता आ गयी। साम्यवादियों की इस विजय ने रूस के उत्साह में काफी वृद्धि की। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुसार चीन सुरक्षा परिषद् का एक स्थायी सदस्य था। परन्तु जब च्यांग काई शेक की राष्ट्रवादी सरकार भागकर फारमोसा चली गयी तो चीन की साम्यवादी सरकार ने महासभा एवं सुरक्षा परिषद में अपना स्थान पाने की माँग की। संयुक्त राज्य अमरीका ने उसका विरोध किया। संयुक्त राज्य अमरीका यह नहीं चाहता था कि सुरक्षा परिषद् में सोवियत संघ का एक और समर्थक हो जाय। साम्यवादी चीन की सदस्यता की माँग को संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा अस्वीकार किये जाने की सोवियत रूस में तीव्र प्रतिक्रिया हुई और इस पर उसने सुरक्षा परिषद् की बैठकों का भी बहिष्कार किया। साम्यवादी चीन की सदस्यता के प्रश्न को लेकर रूस और अमरीका के मध्य शीत-युद्ध में भयंकर कटुता और वैमनस्य पैदा हो गया, जिसका प्रभाव परवर्ती अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर परिलक्षित होता है।

8. **कोरिया युद्ध**—कोरिया का युद्ध वास्तव में पश्चिमी गुट और कम्युनिस्ट गुट के बीच युद्ध था। 1950 में साम्यवादी उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया। अमरीका ने सैनिक संगठनों के माध्यम से 'स्वतन्त्र विश्व' की रक्षा का दायित्व अपने ऊपर लिया। अमरीका ने सुरक्षा परिषद् से सोवियत संघ की अनुपस्थिति का खूब नाजायज फायदा उठाया। संयुक्त राष्ट्र संघ ने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित कर दिया और उसके झण्डे के नीचे अनेक देशों की, विशेषत: अमरीका की सेनाओं ने दक्षिणी कोरिया की सहायता की। कोरिया संघर्ष में शीत-युद्ध सशस्त्र संघर्ष में बदल गया। "चीनी सैनिकों और रूसी हथियारों से उत्तर कोरिया लड़ रहा था और संयुक्त राष्ट्र की सेना के नाम पर संयुक्त राज्य अमरीका दक्षिण कोरिया की तरफ से मैदान में था।" संयुक्त राष्ट्र संघ के मंच पर तथा उसके बाहर रूस और अमरीका ने एक-दूसरे के खिलाफ राजनीतिक प्रचार अभियान तीव्र कर दिया। यह युद्ध लगभग चार वर्ष तक चला और जून 1953 में बन्द हुआ, किन्तु दोनों गुटों के बीच शीत-युद्ध जारी रहा।

9. **अमरीका द्वारा जापान के साथ शान्ति सन्धि**—जिस समय कोरिया युद्ध चल रहा था, तभी सितम्बर 1951 में अमरीका सहित कई अन्य पश्चिमी देशों ने जापान के साथ एक शान्ति सन्धि पर हस्ताक्षर किये। सोवियत संघ ने इस कार्यवाही को एकपक्षीय कहकर अमरीका की काफी निन्दा की।

वस्तुत: इस चरण में शीत-युद्ध में काफी तीव्रता देखी गयी। इस काल में चर्चिल, ट्रूमैन, मार्शल, डलेस, सीनेटर वेण्डनबर्ग, स्टालिन जैसे नेताओं ने मिलकर शीत-युद्ध के भूत को खड़ा किया।

शीत-युद्ध के विस्तार का तृतीय चरण (1953-1958)

इस काल में अमरीका और सोवियत संघ के नेतृत्व में परिवर्तन आया और यह आशा की जाने लगी कि शीत-युद्ध की उष्णता में ठण्डापन आयेगा। मार्च 1953 में स्टालिन की मृत्यु

के बाद शीत-युद्ध के इतिहास में एक नया मोड़ आने की आशा थी, चूंकि स्टालिन की नीतियों को शीत-युद्ध का बहुत बड़ा कारण माना जाता था। यद्यपि स्टालिन ने पश्चिमी राष्ट्रों से कूटनीतिक सम्बन्ध कायम रखे, तथापि वह इतना अड़गेबाज था कि उसके साथ कार्य करना दुःसाध्य था। स्टालिन के उत्तराधिकारी ख्रुश्चेव ने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और समझौतावादी नीति को अपनाने पर जोर दिया। इसी दौरान अमरीकी नेतृत्व में भी परिवर्तन आया तथा शीत-युद्ध के उन्नायक राष्ट्रपति ट्रूमैन के स्थान पर आइजनहॉवर अमरीका के राष्ट्रपति बने। इस काल की प्रमुख घटनाएँ इस प्रकार हैं :

1. **सोवियत संघ द्वारा आणविक परीक्षण**—अगस्त 1953 में सोवियत संघ द्वारा प्रथम आणविक परीक्षण किया गया, इससे अमरीका सशंकित हुआ शस्त्रीकरण की होड़ बढ़ी। इससे जहाँ एक ओर दोनों महाशक्तियों में शक्ति-सन्तुलन स्थापित हुआ वहाँ दूसरी ओर निःशस्त्रीकरण को दोनों पक्ष आवश्यक समझने लगे।

2. **हिन्दचीन का प्रश्न**—फ्रांसीसी साम्राज्यवाद के विरुद्ध हिन्दचीन में चलने वाले संघर्ष में दोनों गुटों ने अलग-अलग पक्षों का समर्थन किया। अमरीका ने इस संघर्ष में फ्रांस का सहयोग किया तो सोवियत रूस ने हिन्दचीन के लोगों का समर्थन किया। इस प्रकार हिन्दचीन की समस्या शीत-युद्ध का अन्तिम अंग बन गयी।

3. **सीटो का निर्माण**—सीटो का प्रमुख उद्देश्य दक्षिण-पूर्वी एशिया में कम्युनिस्ट चीन के साम्यवादी प्रसार का विरोध करना है। 1953 में चर्चिल ने संयुक्त राज्य अमरीका के आगे यह प्रस्ताव रखा था कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के लिए नाटो जैसे एक संगठन का निर्माण किया जाय। 8 सितम्बर, 1954 को सीटो सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। इस सन्धि के मूल में एक ही बात थी—कम्बोडिया, वियतनाम और लाओस को साम्यवादियों (चीन के) के प्रभाव में जाने से रोका जाये।

4. **वारसा पैक्ट का निर्माण**—14 मई, 1955 को रूस और उसके साथी आठ देशों ने वारसा पैक्ट का निर्माण किया। इसके अनुसार यदि किसी सदस्य पर सशस्त्र सैनिक आक्रमण होता है तो अन्य देश उसकी सैनिक सहायता करेंगे। वारसा पैक्ट नाटो का पूरा जवाब है।

5. **हंगरी में सोवियत हस्तक्षेप**—1956 में हंगरी में सोवियत हस्तक्षेप ने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव और शीत-युद्ध में पर्याप्त अभिवृद्धि की। पश्चिमी देशों ने रूसी कार्यवाही की कटु निन्दा की।

6. **आइजनहावर सिद्धान्त**—जून 1957 में आइजनहावर सिद्धान्त की घोषणा की गयी। यह अमरीकी विदेश नीति में उग्रता का प्रतीक था। इसमें कहा गया कि साम्यवादी गुलामी से घिरी जनता को स्वतन्त्रता के संघर्ष में अमरीका सहायता करेगा। अमरीकी सीनेट ने राष्ट्रपति को अधिकार दिया कि वह स्वविवेक से अमरीकी सेना को मध्य-पूर्व के किसी भी देश में साम्यवादी आक्रमण को रोकने के लिए भेज सकता है। इससे शीत-युद्ध में भारी उग्रता आ गयी। 1955 से 1958 तक पश्चिमी एशिया शीत-युद्ध का भयंकर अखाड़ा बन गया स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप 1956 में मिस्र पर होने वाले ऐंग्लो-फ्रेंच-इजरायल आक्रमण की रूस ने तीव्र भर्त्सना की। पश्चिमी एशिया के सामरिक महत्व और तेलकूपों पर प्रभुता कायम करने के लिए अमरीका-रूस में घोर संघर्ष होता रहा। फारस का तेल विवाद, स्वेज संकट, लेबनान में अमरीकी फौज का उतारना, इराक की क्रान्ति आदि अवसरों पर दोनों गुट शीत-युद्ध के अखाड़े में डट गये।

यद्यपि यह सच है कि इस काल में आइजनहावर सिद्धान्त ने शीत-युद्ध को प्रोत्साहित

करने में बड़ी मदद की (फ्लेमिंग); तथापि इस काल में शीत-युद्ध की शिथिलता के लक्षण प्रकट होना आरम्भ हो गये थे। सोवियत संघ ने 1955 में पश्चिमी जर्मनी की सरकार को मान्यता दे दी थी और 1956 के स्वेज संकट के अवसर पर अमरीका ने ब्रिटेन एवं फ्रांस के मिस्र पर किये गये आक्रमण का साथ नहीं दिया।

शीत-युद्ध के विस्तार का चतुर्थ चरण (1959-1962)

1958 के बाद ऐसा लगने लगा कि शीत-युद्ध के ज्वार में कमी आयेगी क्योंकि रूसी प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति को अंगीकार कर लिया था। इस काल की कतिपय घटनाएँ इस प्रकार हैं :

1. **ख्रुश्चेव की अमरीका यात्रा**—15 सितम्बर से 28 सितम्बर, 1959 तक रूसी प्रधान मन्त्री ख्रुश्चेव ने अमरीका की यात्रा की। इस यात्रा से सोवियत संघ और अमरीका के मध्य बड़े सौहार्द्र और प्रेम का वातावरण बना। ख्रुश्चेव ने आइजनहावर को रूस आने का निमन्त्रण दिया। इस सौहार्द्र को 'कैम्प डेविड भावना (Spirit of Camp David) का नाम दिया गया था और कहा गया था कि इस भावना से प्रेरित होकर दोनों देश अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को दूर करने का सम्मिलित प्रयास करेंगे जिससे शीत-युद्ध की बर्फ पिघलेगी और विश्व-शान्ति की नींव दृढ़ होगी।

2. **यू-2 विमान काण्ड**—शीत-युद्ध के तानव को कम करने के लिए चार बड़े देशों के शासनाध्यक्षों का एक शिखर सम्मेलन आयोजित करना आवश्यक समझा गया। यह भी तय हुआ कि मई 1960 में पेरिस में शिखर सम्मेलन हो और उसके बाद वहाँ से राष्ट्रपति आइजनहॉवर सोवियत संघ की यात्रा करें। पर दुर्भाग्यवश शिखर सम्मेलन के आरम्भ होने से पूर्व ही 1 मई, 1960 को अमरीका का जासूसी विमान यू-2 सोवियत सीमा में जासूसी करते हुए पकड़ा गया। इस विमान में जासूसी के अनेक उपकरण तथा यन्त्र पकड़े गये। विमान चालक ने यह स्वीकार किया कि उसे सोवियत संघ के आकाश में सैनिक निरीक्षण तथा सैनिक-अड्डों की सूचना प्राप्त करने के लिए भेजा गया था। बात तब बहुत बढ़ गयी जब राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि सोवियत संघ में सामरिक गतिविधियाँ बड़ी गुप्त रहती हैं; अतः किसी भी आकस्मिक आक्रमण को रोकने के लिए अमरीका ऐसी जासूसी कार्यवाही करता है और आगे भी करता रहेगा। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत इसकी मनाही नहीं है। ख्रुश्चेव ने इस जासूसी उड़ान को अत्यन्त उत्तेजनात्मक कार्य और सोवियत संघ का घोर अपमान करना कहा। सोवियत संघ ने सुरक्षा परिषद् में इस घटना की शिकायत की। यू-2 विमान काण्ड ने शीत-युद्ध में तूफान ला दिया। सोवियत संघ ने इसका खूब प्रचार किया और अमरीका को शान्ति भंग करने वाला बताया।

3. **पेरिस का शिखर सम्मेलन**—यू-2 विमान काण्ड की घटना से 16 मई, 1960 को होने वाले पेरिस शिखर सम्मेलन की असफलता साफ नजर आने लगी। पेरिस के शिखर सम्मेलन में अमरीका, ब्रिटेन और फ्रांस के शासनाध्यक्ष शामिल हुए और जटिल अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर चर्चा होनी थी। किन्तु शिखर सम्मेलन में ख्रुश्चेव ने यू-2 का मामला उठाया, अमरीका की भर्त्सना की और आइजनहॉवर का अपमान किया। ख्रुश्चेव ने शीत-युद्ध को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया जब उसने डिगॉल तथा मैकमिलन से तो हाथ मिलाया, लेकिन जब आइजनहॉवर ने हाथ बढ़ाया तो ख्रुश्चेव ने इन्कार कर दिया। ख्रुश्चेव ने यहाँ तक कहा कि अमरीकी राष्ट्रपति को अब सोवियत संघ आने की कोई आवश्यकता नहीं है। सम्मेलन के दूसरे सत्र में ख्रुश्चेव ने भाग ही नहीं लिया, अतः सम्मेलन की कार्यवाही बन्द कर देनी पड़ी। शिखर सम्मेलन की असफलता से सारी दुनिया में गहरी निराशा छा गयी।

4. कैनेडी का राष्ट्रपति निर्वाचित होना—8 नवम्बर, 1960 को अमरीकी राष्ट्रपति के निर्वाचन में जॉन कैनेडी विजयी हुए। ख्रुश्चेव ने कैनेडी को बधाई भेजते समय यह आशा व्यक्त की कि उनके निर्वाचन से रूस और अमरीका के सम्बन्ध सुधरेंगे और शीत-युद्ध की उग्रता में कमी आयेगी। कैनेडी ने बधाई का उत्तर भेजते हुए लिखा कि उनका मुख्य कार्य 'न्यायपूर्ण और स्थायी शान्ति' की स्थापना के लिए प्रयास करना होगा। कैनेडी की नीतियों एवं दृष्टिकोण से ऐसा आभास होने लगा कि शीत-युद्ध में कमी आयगी, अमरीका-रूस निकट आ सकेंगे। कैनेडी ने अपने पूर्वाधिकारी के विपरीत साम्यवाद के प्रति सहयोग की नीति अपनाने का नारा बुलन्द किया।

5. ख्रुश्चेव द्वारा पूर्वी जर्मनी से पृथक सन्धि करने की धमकी—जून 1961 में ख्रुश्चेव ने पूर्वी जर्मनी के साथ एक पृथक सन्धि पर हस्ताक्षर करने की धमकी दी थी, लेकिन कैनेडी ने उसे खुले शब्दों में बता दिया था कि रूस की एकपक्षीय कार्यवाही किसी भी अवस्था में स्वीकार्य नहीं होगी।

6. क्यूबा की घटना—क्यूबा अमरीका के निकट एक टापू है जहाँ 1958 में डॉ. फिडेल कास्त्रो के नेतृत्व में साम्यवादी शासन की स्थापना हुई। अब डॉ. कास्त्रो ने सोवियत रूस के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बढ़ाने शुरू कर दिये। अमरीका के लिए यह चिन्ता का विषय था कि उसकी सीमा पर साम्यवादी रूस का क्यूबा के माध्यम से प्रभाव बढ़ रहा है। कास्त्रो की सरकार को सोवियत संघ से बड़ी मात्रा में आर्थिक और सैनिक सहायता मिलने लगी। 1962 के आसपास तो सोवियत संघ ने क्यूबा मे नये-नये अड्डे कायम कर दिये। इन अड्डों में राकेट-प्रक्षेपण-अस्त्र रखे जाने लगे। इससे संयुक्त राज्य अमरीका की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो गया। 22 अक्टूबर, 1962 को कैनेडी ने क्यूबा मे एक सैनिक अड्डे की स्थापना की निन्दा करते हुए क्यूबा की नाकेबन्दी की घोषणा की जिसका उद्देश्य अमरीकी जहाजों द्वारा क्यूबा को घेर लेना था ताकि वहाँ रूस से भेजी जाने वाली सैनिक-सामग्री न पहुँच सके। कैनेडी का यह कदम रूस के लिए एक स्पष्ट चुनौती थी कि या तो वह क्यूबा को सैनिक सहायता देना बन्द करे अथवा युद्ध के लिए तैयार हो जाये। सोवियत प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ने इस समय दूरदर्शिता से काम लिया और क्यूबा से रूसी सैनिक अड्डे को उठा लेना स्वीकार कर लिया। कैनेडी ने उनके इस निर्णय को 'एक महान राजनेता का निर्णय' कहा। शीत-युद्ध के इतिहास में क्यूबा का संकट तीसरे विश्वयुद्ध का कारण बन सकता था।

शीत-युद्ध के विस्तार का पंचम चरण (1963-1979)

1962 के बाद शीत-युद्ध में शिथिलता आने लगी। एडवर्ड क्रैंकशा के शब्दों में, "उष्ण स्थलों का शीतलीकरण हुआ है तथा तनाव-भरा युद्ध एक ठण्डे सह-अस्तित्व में बदल गया है।" सचाई यह है कि इस काल में जहाँ एक ओर शीत-युद्ध में शिथिलता आयी वहीं दूसरी ओर महाशक्तियों में प्रतिद्वन्द्विता भी बनी रही।

इस काल में शीत-युद्ध में शिथिलता की प्रमुख घटनाएँ इस प्रकार हैं :

1. परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि—25 जुलाई, 1963 को ब्रिटेन सहित दोनों ने मास्को में वायुमण्डल, बाह्य अन्तरिक्ष और समुद्र में अणु परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगाने वाली एक सन्धि पर हस्ताक्षर किये। 26 जुलाई, 1963 को अमरीकी जनता के नाम अपने एक भाषण में कैनेडी ने इस सन्धि को शीत-युद्ध की समाप्ति की दिशा और युगों से विश्व-शान्ति की दिशा में किये जाने वाले प्रयासों के मार्ग में एक ऐतिहासिक चिन्ह बताया और इस संक्षिप्त सन्धि का मूल्यांकन करते हुए कहा, "यह सन्धि सतयुग (Millenium) लाने वाली नहीं है····यह संघर्षों को

समर्थन देता रहा। वस्तुतः ईरान-इराक युद्ध में इन महाशक्तियों ने प्रत्यक्षतः भाग नहीं लिया परन्तु यह युद्ध उनके द्वारा ही प्रेरित रहा है। राष्ट्रपति कार्टर के शासनकाल के उत्तरार्द्ध के दिनों में 'सोवियत संघ के साथ सम्बन्धों में निरन्तर बिगाड़ के कारण जिस तरह की राजनीतिक स्थिति पैदा हो गयी उससे अमरीका और सोवियत संघ में एक प्रकार के शीत युद्ध का नवीनीकरण हो गया।'[1]

सन् 1983 के मध्य में द० कोरिया के विमान को रूस द्वारा मार गिराये जाने की अमरीका में सबसे तीखी प्रतिक्रिया हुई। मध्य सितम्बर (1983) में आरम्भ हुए संयुक्त राष्ट्र महासभा अधिवेशन में भाग लेने के लिए रूसी विमान से आने वाले वहाँ के विदेश मन्त्री श्री ग्रोमिको को अमरीका ने आवश्यक सुरक्षा प्रदान करने में असमर्थता प्रकट कर दी। इस पर रूस की सरकार ने यह माँग की कि संयुक्त राष्ट्र मुख्यालय को अमरीका से हटाया जाये।

सन् 1986 में अमरीकी स्टार वार कार्यक्रम के विरुद्ध रूस ने भी जवाबी कार्यवाही आरम्भ कर दी। फरवरी 1987 में सोवियत संघ ने अपने ऊपर लगाये गये प्रतिबन्ध को समाप्त करते हुए पहला परमाणु परीक्षण किया और अमरीका को चेतावनी दी कि यदि 1987 में अमरीका ने परमाणु परीक्षण किया तो वह भी इसे पुनः शुरू कर देगा। सन् 1988 के प्रारम्भ में राष्ट्रपति रीगन द्वारा कांग्रेस को प्रस्तुत दस्तावेज यह संकेत करते हैं कि सोवियत संघ के प्रति अविश्वास अब भी अमरीका की राष्ट्रीय नीति का आधार बना रहेगा।

शीत-युद्ध का भविष्य
(FUTURE OF COLD WAR)

इस प्रश्न पर असहमति बहुत अधिक है कि शीत-युद्ध समाप्त हो चुका है बनिस्पत इसके कि शीत-युद्ध का प्रारम्भ किसने किया? कतिपय टीकाकारों की मान्यता है कि 1953 में स्टालिन की मृत्यु के उपरान्त शीत-युद्ध का अवसान हो गया और 1956 में रूसी प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव द्वारा *'शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व'* के नये सिद्धान्त के प्रतिपादन से रूस एवं पश्चिमी देशों के मध्य सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्धों का सूत्रपात हुआ। इसके विपरीत, कतिपय विचारक 1962 के क्यूबा संकट के बाद शीत-युद्ध का अवसान मानते हैं। चूँकि क्यूबा संकट से अमरीका और रूस दोनों महाशक्तियों को आणविक शक्ति की संहारक प्रकृति का बोध हो गया था। अन्य विचारकों का मानना है कि राष्ट्रपति निक्सन और रूसी नेता ब्रेझनेव के सद्प्रयत्नों से प्रारम्भ किये गये 'दितांत' सम्बन्धों से शीत-युद्ध का अन्त हुआ है।

लेकिन क्या शीत-युद्ध वास्तव में समाप्त हो गया है? या, यह अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है? स्टालिन और डलेस द्वारा लड़ा जाने वाला शीत-युद्ध, जिसमें शस्त्र को छोड़कर बाकी सब होता था, वास्तव में समाप्त हो गया है। अब रूस पूँजीवादी अमरीका को और अमरीका साम्यवादी रूस को जड़ से मिटाने के लिए उत्सुक नहीं है। इसलिए शायद कुछ लोग यह भी कहते हैं कि शीत-युद्ध की चर्चा करना 'मुर्दा घोड़े को कोड़े मारना' है।

फिर भी सचाई यह है कि शीत-युद्ध के कीटाणु विश्व के दूसरे क्षेत्रों में प्रवेश कर गये हैं और शीत-युद्ध ने नये तरीके, नये रूप और नये राष्ट्र अपना लिये हैं।

अमरीका में जब भी हर साल 'पेंटागॉन' के लिए बजट की बात चलती है, पाँच शब्दों का वाक्य उछाल दिया जाता है—'यू काण्ट ट्रस्ट दि रशियन्स' (रूसियों पर भरोसा सम्भव नहीं) लगातार बढ़ते चले जाने वाले सैनिक खर्चे के लिए यह एक चिरस्थायी स्पष्टीकरण है।

अमरीकन मान्यता है—'हम उन जर्मनों पर भरोसा कर सकते हैं, जिनकी कुछ ही समय

---

1 दिनमान, 9-15, 1980, पृ. 131।

पहले हम इसलिए उपेक्षा जरूरी समझते थे कि उन्होंने हमारे खिलाफ दो बड़ी लड़ाइयाँ लड़ीं, और हम उन जापानियों पर भरोसा करते हैं जिन्होंने पर्ल हार्बर पर वह कायराना हमला किया था जो फ्रैंकलिन डी रूजवेल्ट के अनुसार महापाप था और हाँ वे चीनी, जिन्हें हम अभी हाल तक उन्हीं शब्दों में गालियाँ देते थकते नहीं थे, जिन शब्दों में आज रूस को देते हैं, वे भी हमारे विश्वस्त मित्र हैं पर रूस की अविश्वसनीयता स्थायी है, सनातन है और असाध्य है। अधिकांश अमरीकियों में यह अडिग आस्था है कि "यदि उनकी सरकार ने 1946 से अब तक 20 खरब डालर सैनिक तैयारियों में खर्च नहीं किये होते तो आज 'टाइम्स स्क्वायर' पर रूसी लाल सेना गश्त लगा रही होती।"

ऐतिहासिक अभिलेख हमें बताते हैं कि 'रूसियों पर भरोसा नहीं किया जा सकता' का सिद्धान्त सचेत भाव से दूसरे महायुद्ध के बाद से अमरीकी राजनयिक चेतना का अंश बनाया गया, ताकि 'पुनः शस्त्रीकरण' का, 'हथियारों की नयी दौड़' का कार्यक्रम जनता को ग्राह्य लग सके।

एक अमरीकन का लिखना है—'हम पायेंगे कि रूस हम पर कब्जा करने की जितनी कोशिश करता होगा, उससे अधिक हमारी कोशिश रहती है रूस पर कब्जे की। परमाणु अस्त्रों की दौड़ में हमेशा अमरीका ने ही पहल की, न कि रूस ने। पहला अणुबम अमरीका ने बनाया, रूस ने उसे चार साल बाद बनाया। पहला उद्‌जन बम, पहला प्रक्षेपास्त्र, पहली परमाणविक पनडुब्बी, इन सबका निर्माण पहले अमरीका ने किया, बाद में रूस ने। अमरीका कभी भी इस दौड़ को रोक सकता था और तब शायद रूस भी रोकने को सहमत हो ही जाता, क्योंकि रूस को उससे लाभ ही होता।' उसने आगे लिखा है—'लेकिन हमारी सरकार (अमरीकी सरकार) को हमेशा सोवियत शासन से बेहतर हथियारों की तलाश रही ताकि वह रूस को अमरीकी श्रेष्ठता मानने को बाध्य कर दे और साथ ही पूंजीवाद विरोधी रवैया छोड़ने को भी विवश कर दे; यद्यपि इस निष्फल प्रक्रिया से अमरीका को कोई भी लाभ नहीं मिला है जैसा कि खुद हेनरी कीसिंगर ने मंजूर किया है।'

कुल मिलाकर रूसी अपना प्रभाव बिना सैन्य तरीकों के इस्तेमाल के बढ़ाते रहे क्योंकि उन्होंने हिन्दचीन, अंगोला, मोजाम्बिक, इथियोपिया, अल्जीरिया, क्यूबा और दूसरे देशों के क्रान्तिकारियों से हाथ मिलाया। 1944 में कम्युनिस्ट संसार का अर्थ था एकमात्र देश (रूस)। आजकल उसमें 16 से ज्यादा देशों का समावेश होता है। चीन और अल्बानिया के बिना भी, जो कि अब रूस के प्रति आक्रामक हो उठे हैं, रूस के प्रभाव और शक्ति में लगातार वृद्धि जारी है। दूसरी तरफ पश्चिमी देशों की शक्ति एवं प्रभाव में निरन्तर गिरावट हो रही है। सोवियत सैन्य शक्ति अमरीकी टक्कर की ही है पर वे साम्राज्यवाद की भीतर से पराजय की बाट जोह रहे हैं जबकि अमरीकी नेता अपनी जनता में यह डर फैलाते रहे हैं कि रूसी सैन्य टुकड़ियाँ न्यूयार्क, शिकागो, लास एंजेल्स, आदि पर कब्जा कर लेंगी।

जाहिर है कि अमरीका एक गलत युद्ध की तैयारी गलत हथियारों के साथ कर रहा है। न तो वैसा युद्ध होगा जैसा अमरीकी नेता सोचते हैं, न ही वे हथियार काम में आयेंगे। यह पूर्वधारणा कि रूसियों पर भरोसा नहीं किया जा सकता, बेमतलब है। महत्वपूर्ण यह है कि दुनिया में क्रान्तिकारी देश किस पक्ष में रहना पसन्द करेंगे। उस युद्ध में सैन्यवाद पर बल देने वाला अमरीका निश्चित ही हारेगा। अमरीका के मित्रों में इन दिनों अधिकांश कौन लोग हैं? क्रान्तिविरोधी तानाशाहियाँ—जो दम तोड़ने ही वाली हैं। इन्हीं मित्रों की मदद के लिए अमरीका सैन्य, मद में बेतहाशा धन फूंक रहा है।

अमरीकी विदेश नीति का लक्ष्य होना चाहिए रूस के साथ समान हितों की खोज करना, न कि संघर्ष को बढ़ाना। उदाहरणार्थ, जब रूस ने अफगानिस्तान पर हमला किया, तब अमरीका

लेन-देन का प्रस्ताव रख सकता था, बजाय बेमतलब धमकियों के । यदि अमरीका यह प्रस्ताव रखता कि वह अपनी नयी मझोली दूरी तक मार वाले प्रक्षेपास्त्रों को यूरोप से दूर रखेगा; तो बदले में रूस अफगानिस्तान की भूमि पर से हटने को तैयार हो सकता था । इससे दोनों पक्ष लाभान्वित होते और तनाव घटाने का रास्ता प्रशस्त होता । पर यह सब नहीं किया जाता और अमरीकी विदेश नीति की आधारभूत अवधारणा है कि 'आप रूसियों पर भरोसा नहीं कर सकते।' तब नये औजारों के लिए जनता और अमरीकी कांग्रेस नये फण्ड मंजूर करती है । प्रत्युत्तर में रूस नये-नये अस्त्र तैयार करता है और हथियारों की अन्तहीन होड़ चलती रहती है''''''शीत-युद्ध चलता रहता है ।

9 फरवरी, 1972 को निक्सन ने आठवें दशक की अमरीकी विदेश नीति की व्याख्या करते हुए कहा : 'कई गहरी बातें हमें विभाजित करती रहेंगी । हम विचारधारा के मामले में विरोधी हैं और बने रहेंगे । हम राजनीतिक और फौजी प्रतियोगी हैं और इसमें से किसी भी क्षेत्र में किसी की प्रगति के प्रति दूसरा पक्ष उदासीन नहीं रह सकता ।' ब्रेझनेव ने भी कहा था कि 'आर्थिक, विचारात्मक और राजनीतिक क्षेत्रों में वर्ग-संघर्ष चलता रहेगा क्योंकि समाजवादी और पूंजीवादी व्यवस्थाएँ परस्परा विरोधी अमेल है ।' किन्तु उन्होंने कहा कि ऐतिहासिक रूप से अनिवार्य इस संघर्ष (शीत-युद्ध) को वे 'युद्ध के खतरे, भयानक टक्करों और हथियारबन्दी की दौड़ के रास्ते पर ले जाना चाहते हैं ।'

विश्व राजनीति पर शीत-युद्ध के प्रभाव
(IMPACT OF COLD WAR ON INTERNATIONAL POLITICS)

विश्व राजनीति को शीत-युद्ध ने अत्यधिक प्रभावित किया है । इसने विश्व में भय और आतंक के वातावरण को जन्म दिया जिससे शस्त्रों की होड़ बढ़ी । इसने संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्था को पंगु बना दिया और विश्व को दो गुटों में विभक्त कर दिया । शीत-युद्ध के प्रभाव निम्न प्रकार हैं :

1. **विश्व का दो गुटों में विभाजित होना**—शीत-युद्ध के कारण विश्व राजनीति का स्वरूप द्विपक्षीय (Bipolar) बन गया । संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ दो पृथक-पृथक गुटों का नेतृत्व करने लग गये । अब विश्व की समस्याओं को इसी गुटबन्दी के आधार पर आंका जाने लगा जिससे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ उलझनपूर्ण बन गयीं । चाहे कश्मीर समस्या हो अथवा कोरिया समस्या, अफगानिस्तान समस्या हो या अरब-इजराइल संघर्ष, अब उस पर गुटीय स्वार्थों के परिप्रेक्ष्य में सोचने की प्रवृत्ति बढ़ी ।[1] द्वितीय महायुद्ध के बाद विकसित द्वि-ध्रुवीय राजनीति के परिणामस्वरूप इन गुटों में शामिल राष्ट्रों को अपनी स्वतन्त्रता के साथ समझौता करना पड़ा । रूमानिया, बल्गारिया जैसे राष्ट्रों को सोवियत दृष्टिकोण से सोचने के लिए मजबूर होना पड़ा और फ्रांस व ब्रिटेन को अमरीकी नजरिये से दुनिया देखने को विवश होना पड़ा । शीत-युद्ध की बदौलत पनपी द्वि-गुटीय विश्व राजनीति ने मध्यम मार्ग (Golden mean) की गुंजाइश को समाप्त कर दिया और इस भावना को जन्म दिया कि जो हमारे साथ नहीं वह हमारा शत्रु है ।

2. **आतंक और अविश्वास के दायरे में विस्तार**—शीत-युद्ध ने राष्ट्रों को भयभीत किया, आतंक और अविश्वास का दायरा बढ़ाया । अमरीका और रूस के मतभेदों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में गहरे तनाव, वैमनस्य, मनोमालिन्य, प्रतिस्पर्द्धा और अविश्वास की स्थिति आ गयी । विभिन्न राष्ट्र और जनमानस इस बात से भयभीत रहने लगे कि कब एक छोटी-सी चिनगारी

1 "Each power bloc assumed a priori, and believed, that the peoples and Governments of the opposing bloc were necessarily prejudiced or wrong." —M. S. Rajan, *Ibid.*, p. 2.

तीसरे विश्व-युद्ध का कारण बन जाये ? शीत-युद्ध ने 'युद्ध के वातावरण' को बनाये रखा। नेहरू ने ठीक ही कहा था कि हम लोग 'निलम्बित मृत्यु दण्ड' (Suspended death sentence) के युग में रह रहे हैं।[1]

3. **आणविक युद्ध की सम्भावना का भय**—1944 में आणविक शस्त्र का प्रयोग किया गया था। शीत युद्ध के वातावरण में यह महसूस किया जाने लगा कि अगला युद्ध भयंकर आणविक युद्ध होगा। क्यूबा संकट के समय आणविक युद्ध की सम्भावना बढ़ गयी थी। अब लोगों को आणविक आतंक मानसिक रूप से सताने लगा। आणविक शस्त्रों के निर्माण की होड़ में वृद्धि हुई। आणविक शस्त्रों के परिप्रेक्ष्य में परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था की संरचना ही बदल गयी।[2]

4. **सैनिक सन्धियों एवं सैनिक गठबन्धनों का बाहुल्य**—शीत-युद्ध ने विश्व में सैनिक सन्धियों एवं सैनिक गठबन्धनों को जन्म दिया। नाटो, सीटो, सैण्टो तथा वारसा पैक्ट जैसे सैनिक गठबन्धनों का प्रादुर्भाव शीत-युद्ध का ही परिणाम था। इसके कारण शीत-युद्ध में उग्रता आयी, इन्होने नि:शस्त्रीकरण की समस्या को और अधिक जटिल बना दिया। वस्तुत: इन सैनिक संगठनों ने प्रत्येक राज्य को द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद 'निरन्तर युद्ध की स्थिति' में रख दिया।

5. **शस्त्रीकरण की अविरल प्रतिस्पर्द्धा**—शीत-युद्ध ने शस्त्रीकरण की होड़ को बढ़ावा दिया जिसके कारण विश्व-शान्ति और नि:शस्त्रीकरण की योजनाएँ धूमिल हो गयी। कैनेडी ने कहा था कि 'शीत-युद्ध ने शस्त्रों की शक्ति, शस्त्रों की होड़ और विध्वंसक शस्त्रों की खोज को बढ़ावा दिया है। अरबों डालर शस्त्र-प्रविधि और शस्त्र-निर्माण पर प्रति वर्ष खर्च किये जाते हैं।'

6. **अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यान्त्रिकीकरण**—शीत-युद्ध का स्पष्ट अर्थ लिया जाता है कि दुनिया दो भागों में विभक्त है—एक खेमा देवताओं का है तो दूसरा दानवों का, एक तरफ काली भेड़ें हैं तो दूसरी तरफ सभी सफेद भेड़ें हैं। इनके मध्य कुछ भी नहीं है। इससे जहाँ इस दृष्टिकोण का विकास हुआ कि जो हमारे साथ नही है वह हमारा विरोधी है वहीं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एकदम यान्त्रिकीकरण (Mechanistic view) हो गया।[3]

7. **अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सैनिक दृष्टिकोण का पोषण**—शीत-युद्ध से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सैनिक दृष्टिकोण (Military outlook) का पोषण हुआ। अब शान्ति की बात करना भी सन्देहास्पद लगता था। अब 'शान्ति' का अर्थ 'युद्ध' के सन्दर्भ में लिया जाने लगा। ऐसी स्थिति में शान्तिकालीन युग के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का संचालन दुष्कर कार्य समझा जाने लगा।

8. **संयुक्त राष्ट्र संघ को पंगु करना**—शीत-युद्ध के कारण संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे विश्व संगठन के कार्यों में भी अवरोध उत्पन्न हुआ और महाशक्तियों के परस्पर विरोधी दृष्टिकोण के

---

1 "They lived, as Nehru put it, under same kind of a 'suspended death sentence'....People were being 'coarsened and vulgarised' because of violence and the mentality that bred on thinking about the possibility of war." —M. S. Rajan, *Ibid*,, p. 2

2 "Since the commencement of the cold war almost synchronized with the making and first use of nuclear weapons in 1945, the possibility of a nuclear war breaking out hung inevitably and precariously like the Sword of Damocles throughout the period. This nuclear terror, naturally distorted the traditional conduct of international relations in its aspects." —*Ibid*., p. 2.

3 "In the cold war mentel perspective, the world was divided into the good angels and the bad devils, white sheep and black sheep. There was nothing in between. And hence it was easy to slip into the view that those who were not with us were against us. This naturally fed to a mechanistic view of international relations." —M. S. Rajan, *Ibid*., p. 2.

कारण संघ कोई कठोर कार्यवाही नहीं कर सका। यहाँ तक कि कई बार तो संघ की स्थिति केवल एक मूक दर्शक से बढ़कर नहीं रही। संयुक्त राष्ट्र का मंच महाशक्तियों की राजनीति का अखाड़ा बन गया और इसे शीत-युद्ध के वातावरण में राजनीतिक प्रचार का साधन बना दिया गया। एक पक्ष ने दूसरे पक्ष द्वारा प्रस्तुत प्रस्तावों का विरोध किया जिससे संयुक्त राष्ट्र संघ वाद-विवाद का ऐसा मंच बन गया जहाँ सभी भाषण देते हैं किन्तु सुनता कोई भी नहीं (Debating Society where everybody can talk and nobody need listen)। शीत-युद्ध के वातावरण में वाद-विवाद बहरों के सम्वाद (dialogues of the deaf) बनकर रह गये।[1]

9. **सुरक्षा परिषद् को लकवा लग जाना**—शीत-युद्ध के कारण सुरक्षा परिषद् को लकवा लग गया (The Security Council was almost paralysed)। सुरक्षा परिषद् जैसी संस्था, जिसके कन्धों पर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा स्थापित करने का त्वरित निर्णय लेने का भार डाला गया था रूस और अमरीका के, पूर्व और पश्चिम के संघर्ष का अखाड़ा बन गयी। इसमें महाशक्तियाँ अपने परस्पर विरोधी-स्वार्थों के कारण विभिन्न शान्ति प्रस्तावों को वीटो द्वारा रद्द करती हैं; वस्तुतः यहाँ इतना अधिक विरोध और वीटो का प्रयोग दिखायी देता है कि इसे संयुक्त राष्ट्र संघ के स्थान पर विभक्त (Disunited) और विरोधी दलों में बँटा हुआ राष्ट्र संघ कहना अधिक उपयुक्त है।

10. **मानवीय कल्याण के कार्यक्रमों की उपेक्षा**—शीत-युद्ध के कारण विश्व राजनीति का केन्द्रीय बिन्दु सुरक्षा की समस्या तक ही सीमित रह गया और मानव कल्याण से सम्बन्धित कई महत्वपूर्ण कार्यों का स्वरूप गौण हो गया। शीत-युद्ध के कारण ही तीसरी दुनिया के अविकसित और अर्द्ध-विकसित देशों की भुखमरी, बीमारी, बेरोजगारी, अशिक्षा, आर्थिक पिछड़ापन, राजनीतिक अस्थिरता आदि अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं का उचित निदान यथासमय सम्भव नहीं हो सका, क्योंकि महाशक्तियों का दृष्टिकोण मुख्यतः 'शक्ति की राजनीति' (Power Politics) तक ही सीमित रहा।

उपर्युक्त सभी परिणाम शीत-युद्ध के नकारात्मक परिणाम कहे जा सकते हैं। शीत-युद्ध के विश्व राजनीति पर कतिपय **सकारात्मक** परिणाम भी पड़े हैं जो इस प्रकार हैं। **प्रथम**, शीत-युद्ध के कारण गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को प्रोत्साहन मिला और तीसरी दुनिया के राष्ट्रों को उपनिवेशवाद से सही मायने में मुक्ति मिली। **द्वितीय**, शीत-युद्ध के कारण शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व को प्रोत्साहन मिला। **तृतीय**, शीत-युद्ध के कारण तकनीकी और प्राविधिक उन्नति, खास तौर से आणविक शक्ति के विकास में तीव्रता आयी। **चतुर्थ**, संयुक्त राष्ट्र संघ में निर्णय-शक्ति सुरक्षा परिषद् के बजाय महासभा को हस्तान्तरित हो गयी। **पंचम**, राष्ट्रों की विदेश नीति में यथार्थवाद का आविर्भाव हुआ। **षष्ठ**, शीत-युद्ध से शक्ति सन्तुलन' की स्थापना हुई।

शीत-युद्ध के विशिष्ट साधन
(TECHNIQUES OF COLD WAR)

शीत-युद्ध के विशिष्ट साधन क्या हैं? युद्ध के साधन हैं अस्त्र-शस्त्र, गोला तथा बारूद। शीत-युद्ध के मोटे रूप से तीन साधन हैं। **प्रथम**, शीत-युद्ध का सबसे प्रमुख साधन है प्रचार। शीत-युद्ध वाक-युद्ध है। युद्ध में जो कार्य हथियारों से होता है वही कार्य शीत-युद्ध में शब्दों द्वारा किया जाता है। शीत-युद्ध में शब्द ही गोला-बारूद का काम करते हैं। शीत-युद्ध में प्रचार का उद्देश्य

1 "The united Nations became a centre of propoganda where the seeds of aggression and war are being sown."
—That was how Syrian representative put it (*see U. N. Weekly Bulletin*, New York, 1 October, 1949, p. 365).

होता है—शत्रु राष्ट्र के प्रति तीव्र घृणा जाग्रत करना, अपने राष्ट्रीय आदर्शों के प्रति निष्ठा बनाये रखना, मित्र राष्ट्रों के प्रति सौहार्द्र की भावना विकसित करना। शीत-युद्ध में रेडियो, टेलीविजन, समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं आदि प्रचार माध्यमों से निरन्तर विपक्षी राष्ट्रों को शोषक और अत्याचारी बताया जाता है। द्वितीय, शीत-युद्ध का अन्य साधन अपनी शक्ति का प्रदर्शन है, अपनी सैनिक और तकनीकी शक्ति की श्रेष्ठता का प्रदर्शन और शत्रु पक्ष को कमजोर बताना अपरिहार्य माना जाता है। तृतीय, कमजोर और अविकसित राष्ट्रों को आर्थिक और अन्य सहायता देना भी शीत-युद्ध का एक साधन है। आर्थिक सहायता का उद्देश्य उन्हें अपने गुट में शामिल करना होता है। चतुर्थ, शीत-युद्ध का एक अन्य साधन जासूसी है। दोनों ही पक्ष जासूसी के तरीकों से एक-दूसरे की सैनिक शक्ति का पता लगाने की कोशिश करते हैं। यू-2 विमान काण्ड जासूसी के तरीकों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। पंचम, शीत-युद्ध का एक साधन कूटनीति है। यह कूटनीतिक साधनों से लड़ा जाता है। इनमें दोनों महाशक्तियाँ कूटनीतिक साधनों से एक-दूसरे को निर्बल बनाने का प्रयास करती हैं।

शीत-युद्ध—वैचारिक संघर्ष अथवा सत्ता का संघर्ष
(COLD WAR : IDEOLOGICAL STRUGGLE OR POWER STRUGGLE)

शीत युद्ध एक वैचारिक अथवा सैद्धान्तिक संघर्ष है। यह स्पष्टतः दो विचारधाराओं—साम्यवाद और पूँजीवाद का द्वन्द्व है जिसमें दो जीवन पद्धतियाँ और जीवन मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सर्वोपरिता प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। एक ओर उदारवादी लोकतन्त्र है और दूसरी ओर सर्वाधिकारवादी साम्यवाद; एक ओर संयुक्त राज्य अमरीका लोकतन्त्र, समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृभाव, मुक्त आर्थिक व्यवस्था, स्वतन्त्र प्रतियोगिता आदि के लिए अपने आपको प्रतिबद्ध मानता है तो दूसरी ओर सोवियत संघ, साम्यवाद को वास्तविक जनतन्त्र, आर्थिक समानता, उपनिवेशवाद से मुक्ति और पूंजीवाद की हिंसा से मुक्ति का मार्ग मानता है। साम्यवाद को सीमित रखने के लिए अमरीका ने ट्रूमैन सिद्धान्त, मार्शल योजना एवं सैनिक व प्रादेशिक संगठनों की स्थापना की। दूसरी ओर सोवियत संघ ने पूँजीवादी घेरों को तोड़कर साम्यवाद के प्रसार का संकल्प ले लिया। इसका अनिवार्य परिणाम 'शीत-युद्ध' था। अर्नोल्ड टॉयनबी ने शीत-युद्ध को एक वैचारिक संघर्ष मानते हुए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की 'द्वि-ध्रुवीय' व्याख्या की है।

इसके विपरीत, जवाहरलाल नेहरू के विचार में शीत-युद्ध दो सर्वोपरि शक्तियों द्वारा अपने हितों, प्रभाव-क्षेत्र और शक्ति-विस्तार का ही संघर्ष है। हम सभी जानते हैं कि अमरीका ने विचारधारा की परिधि से बाहर जाकर स्पेन और पुर्तगाल जैसे अधिनायकवादी देशों को सहायता दी अथवा लेटिन अमरीका में दक्षिण-पंथी अधिनायकवादी देशों को सहायता दी। इसी प्रकार अमरीका द्वारा पाकिस्तान को सहायता देना और भारत विरोधी प्रचार करना किसी प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त से प्रेरित नहीं है। रूस-चीन मतभेद तथा रूस-यूगोस्लाविया मतभेद यह इंगित करते हैं कि वैचारिक समानता के बावजूद भी उनमें गम्भीर आन्तरिक मतभेद विद्यमान हैं। 1971 के बाद अमरीका-चीन पिंगपोंग कूटनीति से यह स्पष्ट होता है कि कट्टर शत्रु वैचारिक भिन्नता के बावजूद परस्पर मित्र बन जाते हैं, यदि उनमें हितों की समानता हो तो। अतः शीत-युद्ध शक्ति राजनीति का एक नया संस्करण है। नेतृत्व की होड़, प्रभाव-विस्तार की होड़, शक्ति-स्पर्द्धा आदि अनेक तत्व हैं जो शीत-युद्ध को भड़काते हैं।

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद की सम्पूर्ण राजनीति की मुख्य धुरी 'शीत-युद्ध' थी जिसने न्यूनाधिक रूप से हर घटना-चक्र को प्रभावित किया। शीत युद्ध ने भय के वातावरण को जन्म दिया जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए खतरा है।

प्रश्न

1. उत्तर-द्वितीय विश्व-युद्ध काल में शीत-युद्ध की उत्पत्ति का लेखा-जोखा कीजिये ने अब उस स्थिति को बदल दिया है ?
   Account for the origin of the Cold War in the Post-Second Period. What factors have changed the situation now ?
2. 'समकालीन विश्व राजनीति की सबसे बड़ी विशेषता है, दो भीमकाय दैत्यों अमरीका) के बीच का संघर्ष ।' व्याख्या कीजिए और बताइए कि क्या यह सही है ।
   "The conflict between two monolithic giants the U.S.A. and the U is the dominant reality of the contemporary world politics." it still hold good ?
3. शीत-युद्ध से आप क्या समझते हैं ? इसकी प्रकृति और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति प्रभाव की परीक्षा कीजिए ।
   What do you understand by cold war ? Examine its nature and international politics ?
4. "अमरीका व रूस की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता आज भी विश्व राजनीति का बनी हुई है ।" विवेचना कीजिये ।
   "The mutual rivalry between United States of America and Soviet is still an important faci of international Politics." Discuss.
5. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और कुछ नहीं बल्कि सोवियत रूस और संयुक्त राज्य अमरीका मध्य शक्ति प्राप्ति के लिए संघर्ष है । क्या ऐसा है ? अपने विचार बताइये ।
   International Politics is nothing but the struggle for power between the Soviet Union and the United States of America. Is this so ? Give your views.

7

तनाव-शैथिल्य या दितान्त की राजनीति

[THE POLITICS OF DETENTE]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बदलते समीकरण में रूस-अमरीकी सम्बन्धों में 1962 के क्यूबा संकट के उपरान्त एक नया मोड़ आया; युद्ध के वैमनस्यपूर्ण सम्बन्ध सौमनस्य और मधुर-मिलन (Honeymoon) की दिशा में बढ़ने लगे। परिवर्तित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियों में तनाव, वैमनस्य, मनोमालिन्य, प्रतिस्पर्द्धा और अविश्वास के सम्बन्ध तनाव-शैथिल्य, मित्रता, सामंजस्य, शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और परस्पर विश्वास में परिवर्तित होने लगे। शीत-युद्ध के नकारात्मक सम्बन्ध आपसी विचार-विमर्श की उत्कण्ठा, समझौतावादी दृष्टिकोण एवं मैत्रीपूर्ण सहयोग की ओर उन्मुख होने लगे। अमरीका और सोवियत संघ के सम्बन्धों में इस नवीन परिवर्तन को तनाव-शैथिल्य या दितान्त (Detente) के नाम से जाना जाता है।[1]

1962 के बाद अमरीका और सोवियत संघ के नेताओं के दृष्टिकोणों में व्यापक परिवर्तन आया। ख्रुश्चेव और जॉन कैनेडी जैसे नेताओं ने अपने-अपने देश के लोगों को मानसिक रूप से यह समझाने की प्रक्रिया प्रारम्भ की कि शीत-युद्ध में कोई लाभ नहीं होता और शीत-युद्ध को जारी रखना उनके राष्ट्रीय हितों के लिए घातक है, शीत-युद्ध में कमी लाना और महाशक्तियों में मधुर सम्बन्ध स्थापित करना उनके राष्ट्रीय हितों के संरक्षण के लिए अपरिहार्य है। 1955 में दो ऐसी समझौतावादी उपलब्धियाँ उनके लिए ऐसा आदर्श थीं जिन्होंने तनाव-शैथिल्य का सूत्रपात किया था—एक थी आस्ट्रिया के साथ शान्ति सन्धि करने में रूस-अमरीका ने आपसी विचार-विमर्श से कार्य किया और दूसरा संयुक्त राष्ट्र संघ में नये सदस्यों के प्रवेश के सम्बन्ध में 'पैकेज डील' (Package Deal) समझौता। ये दो ऐसे मामले थे जिससे दोनों महाशक्तियों को यह बात समझते देर न लगी कि 'तनाव-शैथिल्य के आपसी सम्बन्ध' ही उनके लिए लाभपूर्ण हैं।

दितान्त : अर्थ एवं परिभाषा
(DETENTE : MEANING AND DEFINITIONS)

'दितान्त' फ्रेंच भाषा का शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ है 'तनाव में शिथिलता' (relaxation of tensions)। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में दितान्त से अभिप्राय

1 "Super-power relationships have been in a state of flux since the sixties. Over the years, the negative attitudes and postures of the cold war have gradually yielded place to a new-found willingness of both side to talk, to accommodate and to co-exists."
—M. S. Agwani, *Detente : Perspectives and Repercussions* (Vikas, 1975), Preface.

प्रश्न

1. उत्तर-द्वितीय विश्व-युद्ध काल में शीत-युद्ध की उत्पत्ति का लेखा-जोखा कीजिये। किन तत्वों ने अब उस स्थिति को बदल दिया है ?

   Account for the origin of the Cold War in the Post-Second World War Period. What factors have changed the situation now ?

2. 'समकालीन विश्व राजनीति की सबसे बड़ी विशेषता है, दो भीमकाय दैत्यों (रूस और अमरीका) के बीच का संघर्ष।' व्याख्या कीजिए और बताइए कि क्या यह कथन अभी भी सही है।

   "The conflict between two monolithic giants the U;S;A. and the U;S.S.R. is the dominant reality of the contemporaryworld politics." Explain, Does it still hold good ?

3. शीत-युद्ध से आप क्या समझते हैं ? इसकी प्रकृति और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर इसके प्रभाव की परीक्षा कीजिए।

   What do you understand by cold war ? Examine its nature and impact on international politics ?

4. "अमरीका व रूस की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता आज भी विश्व राजनीति का महत्वपूर्ण तथ्य बनी हुई है।" विवेचना कीजिये।

   "The mutual rivalry between United States of America and Soviet Union is still an important faci of international Politics." Discuss.

5. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और कुछ नहीं बल्कि सोवियत रूस और संयुक्त राज्य अमरीका के मध्य शक्ति प्राप्ति के लिए संघर्ष है। क्या ऐसा है ? अपने विचार बताइये।

   International Politics is nothing buf the struggle for power between the Soviet Union and the United States of America. Is this so ? Give your views.

been more and more cultural contacts—ranging form sports to Politics) तथा संघर्षपूर्ण एवं विवादास्पद समस्या को द्वि-पक्षीय एवं बहु-पक्षीय वार्ताओं से निपटना शामिल है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अद्यतन परिप्रेक्ष्य में दितान्त का अर्थ इस प्रकार से किया जा सकता है—(i) अमरीका तथा सोवियत संघ के मध्य शीत-युद्ध के बजाय सामंजस्यपूर्ण (reapproachment) सम्बन्धों को दितान्त कहते हैं। (ii) अमरीका तथा सोवियत संघ के मध्य मतभेद के शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व (Peace Co-existence) के सम्बन्धों को दितान्त कहते हैं।[1] (iii) दितान्त का यह अर्थ कदापि नहीं है कि दोनों महाशक्तियों के मतभेद पूर्णतः समाप्त हो गये हैं या उनमें वैचारिक मतभेद नहीं पाये जाते हैं या उनमें कोई राजनीतिक, आर्थिक व सैनिक प्रतियोगिता नहीं है। दितान्त की विशेषता है कि सैद्धान्तिक मतभेदों एवं प्रतियोगिता के बावजूद यह महाशक्तियों में आर्थिक, वैधानिक एवं तकनीकी सहयोग में बाधा प्रस्तुत नहीं होने देता है।

वस्तुतः दितान्त का अर्थ शीत-युद्ध की समाप्ति नहीं है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि महाशक्तियाँ अपना वर्चस्व अथवा सर्वोपरिता बनाये रखने में अभिरुचि नहीं रखती। दितान्त का सीधा-साधा अर्थ यह है कि महाशक्तियों (अमरीका और सोवियत संघ) ने न्यूनाधिक रूप से आपसी प्रतिस्पर्द्धा के मानदण्डों को आंशिक रूप से संहिताबद्ध करने का प्रयत्न किया है।[2]

दितान्त की प्रकृति
(DETENTE: THE NATURE)

दितान्त का स्वरूप क्या है? दितान्त सम्बन्ध शीत-युद्ध से भिन्न है किन्तु इसका मतलब पक्की मित्रता भी नहीं है। यह भी नहीं कह सकते कि अमरीका और सोवियत संघ में उसी प्रकार की मित्रता हो गयी है जिस प्रकार अमरीका ब्रिटेन में साँठ-गाँठ और मित्रता है। दितान्त का यह अर्थ कदापि नहीं है कि दोनों महाशक्तियों के मतभेद पूर्णतः समाप्त हो गये हैं या उनमें वैचारिक मतभेद नहीं पाये जाते या उनके राष्ट्रीय हितों में कोई विरोध नहीं या उनमें कोई राजनीतिक आर्थिक और सैनिक प्रतियोगिता नहीं। वस्तुतः अमरीका और सोवियत संघ में वैचारिक मतभेद आज भी बने हुए हैं किन्तु वे अब राजनीतिक और आर्थिक विचार-विनिमय में बाधक नहीं है। यद्यपि शस्त्रीकरण की दौड़ पूर्णतया समाप्त नहीं हुई है तथापि शस्त्रों का खेल मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की छाया में खेला जाने लगा है। सैनिक गुटबन्दियों का अन्त नहीं हुआ है तथापि उनका महत्व एवं सुदृढ़ता घट-सी गयी है। अणु-शस्त्रों की भीषणता दुनिया को उतनी नहीं सताती जितनी कि यह पहले आतंकित करती थी।[3]

डॉ. हेनरी कीसिंजर के शब्दों में 'मास्को के साथ अब हमारे सम्बन्ध बड़े जटिल (ambigu-

---

1 "Peace and peaceful co-existence are not the same thing. Peaceful co-existence does not merely i ply absence of war: it is not a temporary armistic between two wars but the existence of two opposed social systems, based on mutual renunciation of war as a means of setting disputes between states."
—*The Road to Communism* : Documents of the 22nd Congress of the Communist Party of the Soviet Union (Moscow, 1961), p. 44.

2 "The Detente, however, does not mean the end of the cold war. Nor does it mean that the Super powers not longer desire to acq[illegible] or retain tactically superior positions. It mean neither more nor less than a partial c[illegible]fication of the terms of competition between the two Super Powers."
—K. R. Singh, "Implication of the New U.S.-Soviet Equation for West Asia." M. S. Agwani, *Ibid.*, p. 125.

3 "The ideological difference persist, but they no longer obstruct political and economic intercourse. The arm race is not eliminated altogether; but the game is played with contractual restraint. The military alliances have not exactly into thin air, but they have lost much of their original punch and cohesion. Above all the nightmare of a nuclear holocaust no longer torments the world as much as before. This outgoing change in the relations between the Soviet Union and the United States has been given the name of detente."
—*M. S. Agwani*

सोवियत-अमरीकी तनाव में कमी और उनमें दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई मित्रता, सहयोग और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की भावना से है।

आक्सफोर्ड इंगलिश शब्दकोष के अनुसार दितान्त दो राज्यों के तनावपूर्ण सम्बन्धों की समाप्ति (cessation of strained relations between states) है।

डॉ. हेनरी कीसिन्जर ने दितान्त को 'पारस्परिक परमाणु भय' के रूप में अभिव्यक्त किया है। उनकी धारणा है कि अणु-युग में सैनिक शक्ति और राजनीतिक-दृष्टि से व्यावहारिक शक्ति में जो असंगति है वह दितान्त है।[1]

डॉ. बी. के. श्रीवास्तव के अनुसार, "संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ ने अब शीत-युद्ध के संघर्षपूर्ण सम्बन्धों का अवसान करने का निश्चय किया जिसे प्रायः दितान्त के नाम से जाना जाता है।"[2]

डॉ. जफर इमाम के अनुसार, पश्चिमी दुनिया में जो अर्थ दितान्त का है, उसे 'शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व' शब्द में अभिव्यक्त किया जा सकता है।[3]

डॉ. ए. पी. राणा के अनुसार, दितान्त ऐसी प्रक्रिया या प्रवृत्ति है जिसमें एक समय पर दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ—सहयोग और प्रतिद्वन्द्विता—पायी जाती है। महाशक्तियों की इस सहयोगी-प्रतिद्वन्द्वी (collaborative-competitive) व्यवहार को उन्होंने 'कालूपीटिव' (Collupctive) शब्दावली में अभिव्यक्त किया है। डॉ. राणा के अभिमत में इस सहयोगी-प्रतिद्वन्द्वी व्यवहार को चार प्रकार की परिस्थितियों में अभिव्यक्त किया जा सकता है—किसी संकट की घड़ी में (Crisis, management); विश्व में यथास्थिति बनाये रखने की आवश्यकता (Management of the overall intenational status quo); आर्थिक सहयोग (economic management) और परमाणु अस्त्रों के परिसीमन की आवंश्यकता के समय (Management of arms control)।[4]

जार्ज ऐराबाटोव मानते हैं कि दितान्त अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों की नयी वास्तविकताओं से समझौता है।[5]

दितान्त का अर्थ स्पष्ट करते हुए प्रो. हरीश कपूर लिखते हैं कि दितान्त सम्बन्धों की व्यवस्था में दोनों महाशक्तियों के आपसी व्यवहार में समझौतावादी रुझान का दायरा बढ़ना (Phenomenon of increasing accommodation); यूरोपीय महाद्वीप का अब अविभाजित न होना अपितु यूरोपीय देशों में व्यापारिक एवं सांस्कृतिक आदान-प्रदान का विस्तार होना (There have

---

1 The American Secretary of State Dr. Henry A. Kissinger, sees the rasion d'etre of detente in the discrepancy that obtains, in the nuclear age, between "military strength and politically usable power." —M. S. Agwani, *Ibid.*, Preface.

2 "The united States and the Soviet Union have now both decided to end their cold war confrontation. This has often been detente." —B. K. Shrivastava, "*American Perspectives on Detente*", *Ibid.*, p. 10.

3 "Generally, the phrase, "mimoe sosushestuovanie" (Peaceful co-existence) is used to convey what the term "detente" does in the West." —Zafar Imam, *Ibid.*, p. 41.

4 "The collaborative-competitive behaviour of the Super Powers (for the sake of convenience designated and conceptualized as "collupetive" behaviour throughout this paper, the term suggesting a blend of collaboration and colusion on the one hand and competition on the other) may be classified into four categories which of course overlap, and have a bearing on each-other, but which are also distinguishable. These categories are: crisis management of the overall international status quo, economic management and management of arms control." —A. P. Rana, "*Detente and Non-alignment : A Conceptual Study*", *Ibid.*, p. 181.

5 George Arabatov, a leading Americanologist describes detente as "accommodation to the new realities of the international situations." —*Ibid.*, Preface.

been more and more cultural contacts—ranging form sports to Politics) तथा संघर्षपूर्ण एवं विवादास्पद समस्या को द्वि-पक्षीय एवं बहु-पक्षीय वार्ताओं से निपटना शामिल है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अधुनातन परिप्रेक्ष्य में दितान्त का अर्थ इस प्रकार से किया जा सकता है—(i) अमरीका तथा सोवियत संघ के मध्य शीत-युद्ध के बजाय सामंजस्यपूर्ण (reappro achment) सम्बन्धों को दितान्त कहते हैं। (ii) अमरीका तथा सोवियत संघ के मध्य मतभेद के शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व (Peace Co-existence) के सम्बन्धों को दितान्त कहते हैं।[1] (iii) दितान्त का यह अर्थ कदापि नहीं है कि दोनों महाशक्तियों के मतभेद पूर्णत: समाप्त हो गये हैं या उनमें वैचारिक मतभेद नहीं पाये जाते हैं या उनमें कोई राजनीतिक, आर्थिक व सैनिक प्रतियोगिता नहीं है। दितान्त की विशेषता है कि सैद्धान्तिक मतभेदों एवं प्रतियोगिता के बावजूद यह महाशक्तियों में आर्थिक, वैधानिक एवं तकनीकी सहयोग में बाधा प्रस्तुत नही होने देता है।

वस्तुत: दितान्त का अर्थ शीत-युद्ध की समाप्ति नही है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि महाशक्तियाँ अपना वर्चस्व अथवा सर्वोपरिता बनाये रखने मे अभिरुचि नहीं रखती। दितान्त का सीधा-साधा अर्थ यह है कि महाशक्तियों (अमरीका और सोवियत संघ) ने न्यूनाधिक रूप से आपसी प्रतिस्पर्द्धा के मानदण्डों को आंशिक रूप से संहिताबद्ध करने का प्रयत्न किया है।[2]

वितान्त की प्रकृति
(DETENTE: THE NATURE)

दितान्त का स्वरूप क्या है? दितान्त सम्बन्ध शीत-युद्ध से भिन्न है किन्तु इसका मतलब पक्की मित्रता भी नही है। यह भी नहीं कह सकते कि अमरीका और सोवियत संघ में उसी प्रकार की मित्रता हो गयी है जिस प्रकार अमरीका ब्रिटेन में साँठ-गाँठ और मित्रता है। दितान्त का यह अर्थ कदापि नहीं है कि दोनों महाशक्तियों के मतभेद पूर्णत: समाप्त हो गये हैं या उनमें वैचारिक मतभेद नही पाये जाते या उनके राष्ट्रीय हितों में कोई विरोध नहीं या उनमें कोई राजनीतिक आर्थिक और सैनिक प्रतियोगिता नहीं। वस्तुत: अमरीका और सोवियत संघ में वैचारिक मतभेद आज भी बने हुए हैं किन्तु वे अब राजनीतिक और आर्थिक विचार-विनिमय में बाधक नहीं है। यद्यपि शस्त्रीकरण की दौड़ पूर्णतया समाप्त नहीं हुई है तथापि शस्त्रों का खेल मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की छाया में खेला जाने लगा है। सैनिक गुटबन्दियों का अन्त नहीं हुआ है तथापि उनका महत्व एवं सुदृढ़ता घट-सी गयी है। अणु-शस्त्रों की भीषणता दुनिया को उतनी नहीं सताती जितनी कि यह पहले आतंकित करती थी।[3]

डॉ. हेनरी कीसिंजर के शब्दों में 'मास्को के साथ अब हमारे सम्बन्ध बड़े जटिल (ambigu-

---

1 "Peace and peaceful co-existence are not the same thing. Peaceful co-existence does not merely i ply absence of war: it is not a temporary armistic between two wars but the existence of two opposed social systems, based on mutual renunciation of war as a means of setting disputes between states."
—*The Road to Communism*: Documents of the 22nd Congress of the Communist Party of the Soviet Union (Moscow, 1961), p. 44.

2 "The Detente, however, does not mean the end of the cold war. Nor does it mean that the Super powers not longer desire to acq[illegible] or retain tactically superior positions. It mean neither more nor less than a partial c[illegible]fication of the terms of competition between the two Super Powers."
—K. R. Singh, "Implication of the New U.S.-Soviet Equation for West Asia." M. S. Agwani, *Ibid.*, p. 125.

3 "The ideological difference persist, but they no longer obstruct political and economic intercourse. The arm race is not eliminated altogether; but the game is played with contractual restraint. The military alliances have not exactly into thin air, but they have lost much of their original punch and cohesion. Above all the nightmare of a nuclear holocaust no longer torments the world as much as before. This outgoing change in the relations between the Soviet Union and the United States has been given the name of detente."
—*M. S. Agwani*

ous) है। वैचारिक धरातल पर अनवरत मतभेद बना रहेगा, किन्तु आणविक शस्त्रास्त्र सह-अस्तित्व के लिए विवश करते हैं""भूगोलमूलक राजनीति आवश्यक रूप से तनाव पैदा करेगी किन्तु सैनिक प्रविधि का विकास आवश्यक रूप से विवादास्पद मुद्दों का समाधान खोजने को बाध्य करेंगे।'[1] राष्ट्रपति निक्सन ने अमरीकी विदेश नीति की व्याख्या करते हुए 9 फरवरी, 1972 को कहा था, 'अनेक गहरी बातें हमें (वाशिंगटन और मास्को) विभाजित करती रहेंगी। हम विचार-धारा के मामले में विरोधी हैं और बने रहेंगे। हम राजनीतिक और सैनिक प्रतियोगी हैं और इनमें से किसी भी क्षेत्र में किसी भी प्रगति के प्रति दूसरा पक्ष उदासीन नहीं रह सकता है।' दितान्त किसी सुनिश्चित अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था या विश्व-शान्ति का भी द्योतक नहीं है। दितान्त से इतनी उपलब्धि जरूर हुई है कि तीसरे विश्व-युद्ध की शुरूआत का भय लोगों के मस्तिष्क से निकल गया है क्योंकि शीत-युद्ध के काल में महाशक्तियों में जो शक्ति-संघर्ष और उग्र मतभेद थे, वे दितान्त काल में सहज एवं सतर्कता का रूप धारण कर चुके हैं। दोनों महाशक्तियाँ अब सभ्य राष्ट्रों जैसा आचरण एक-दूसरे के प्रति करने लगी हैं और एक-दूसरे के प्रति उनका रुख सोहार्द्र-पूर्ण तथा सम्मानजनक भी दिखायी देता है।

संक्षेप में, दितान्त का स्वरूप निम्नांकित रूप से व्यक्त किया जा सकता है :

(1) दितान्त सम्बन्धों के युद्ध में दोनों महाशक्तियाँ एक-दूसरे से सम्पर्क बनाये रखती हैं।

(2) दितान्त एक प्रकार से महाशक्तियों में शक्ति-सन्तुलन की स्थापना एवं उसकी स्वीकृति है।

(3) दितान्त युग में महाशक्तियाँ अपने विवादों को लेन-देन के आधार पर गरिमापूर्ण आचरण करते हुए हल करती हैं।

(4) दितान्त की विशेषता है कि सैद्धान्तिक मतभेदों के बावजूद महाशक्तियाँ आर्थिक, वैज्ञानिक, तकनीकी, व्यापारिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में सहयोग करती हैं।

संक्षेप में, दितान्त से महाशक्तियों के आचरण के नियमों (Rules of Conduct) का विकास हुआ है; हितों में जोड़ने वाली कड़ी (Inter-connection of Interests) बनी है; नीति-निर्माताओं में संचार व्यवस्था (Communications) स्थापित हुई है जिससे संकट की घड़ी में दुर्घटनाओं के खतरे अथवा असन्तुलित निर्णय (miscalcuation) को टाला जा सके।

दितान्त के कारण अथवा दितान्त आचरण के निर्धारक तत्व
(CAUSES OF DETENTE OR DETERMINANTS OF DETENTE BEHAVIOUR)

अमरीका और सोवियत संघ के सम्बन्धों में यह बुनियादी परिवर्तन क्यों आया कि वे शीत-युद्ध से तनाव-शैथिल्य के मार्ग की ओर उन्मुख हुए ? इसके निम्नलिखित कारण हैं :

1. दितान्त सम्बन्ध पारस्परिक राष्ट्रीय हितों की पूर्ति करते हैं—डॉ. एम. एस. राजन के अनुसार शीत-युद्ध के संघर्षपूर्ण मार्ग से दितान्त के सपाट रास्ते पर चलने का कारण महाशक्तियों के पारस्परिक हितों (Mutual Interests of the Super Powers) में ढूँढ़ा जा सकता है।[2] दोनों महाशक्तियों के नेताओं एवं अभिजन ने यह सोचा कि अस्त्र-शस्त्रों पर धन खर्च करने के बजाय अपने-अपने देश में आम आदमी के भविष्य को सुखद बनाने के लिए धन खर्च करना अधिक लाभकारी है। शीत-युद्ध के युग में सोवियत संघ ने खाद्यान्न के क्षेत्रों में आत्म-निर्भरता को

1 "Our relationship with Moscow is inherently ambiguous. Ideology implies an ineradicabl conflict ; nuclear weaponry compels coexistence. Geopolitical rivalry products inevitable tension ; military technology necessitates the peaceful solution of outstanding issues."
—Henry Kissinger, *For the Record ; Select Statements*, 1977-1980 (198), p. 289.

2 "The real explanations and justification of the end of the cold war and the emergence of detente are rooted precisely in two bases—mutual interests of the super powers and hopes of a realization of the aspirations of their respective peoples." —*M. S. Rajan*

प्राथमिकता नहीं दी और अमरीका ने नीग्रो लोगों के कल्याण के लिए धन खर्च करने में कंजूसी की। इससे दोनों देशों में जन-असन्तोष बढ़ा। दितान्त सम्बन्धों से अमरीका और सोवियत संघ की शक्ति और धन अपने नागरिकों की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति में लगेगा जिससे विश्व-शान्ति का स्थायी आधार निर्मित होगा।[1]

2. दितान्त सम्बन्ध सोवियत संघ के आर्थिक विकास की आवश्यकताएँ पूरी करता है—दितान्त का एक कारण सोवियत संघ के आर्थिक विकास की आवश्यकताएँ भी हैं। तकनीकी ज्ञान के अभाव में सोवियत संघ कृषि के क्षेत्र में आत्म-निर्भर नहीं हो पाया, साइबेरिया में उपलब्ध विशाल गैस भण्डारों का दोहन नहीं कर पाया। सोवियत संघ को अतिरिक्त खाद्य-पदार्थों की अनवरत आवश्यकता रही है जिसे वह अमरीका से सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्धों के वातावरण में आसानी से प्राप्त कर सकता था चूंकि अमरीका के पास हमेशा अतिरिक्त खाद्यान्न उपलब्ध रहे हैं। निश्चित ही अमरीकी तकनीकी ज्ञान और सहायता के आधार पर सोवियत विकास को नया आयाम प्राप्त हो सकता था, किन्तु इसके लिए शीत-युद्ध की वैमनस्यता को दफनाना आवश्यक था। यह अमरीका के प्रति सह-अस्तित्व एवं माधुर्य की नीति अपनाकर ही सम्भव था। सोवियत नेता पोडगोर्नी के शब्दों में 'वस्तुगत तथ्यों' (Objective Factors) के आधार पर सोवियत संघ चाहता है कि रूस अमरीकी सम्बन्धों से शीत-युद्ध के अवशेष समाप्त कर दिये जायें।

3. अमरीकी उद्योगों के लिए कच्चे माल की आवश्यकताएँ—अमरीकी नेताओं ने यह महसूस किया कि सोवियत संघ में कच्चे माल के विशाल भण्डार हैं और अमरीकी उद्योगों के लिए उन्हें आसान शर्तों पर प्राप्त किया जा सकता है। निक्सन प्रशासन का यह विश्वास था कि अमरीका और सोवियत संघ की अर्थ-व्यवस्थाएँ अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के परिप्रेक्ष्य में एक-दूसरे की प्रतियोगी न होकर पूरक हैं। सोवियत संघ के पास गैस, पैट्रोलियम और क्रोम के विशाल भण्डार हैं जिन्हें व्यापारिक आधार पर प्राप्त किया जाय तो अन्य देशों पर अमरीकी निर्भरता कम होगी।[2]

4. आणविक शस्त्रों के क्षेत्र में सन्तुलन—आणविक शस्त्रों के क्षेत्र में असन्तुलन का परिणाम था शीत-युद्ध और इस क्षेत्र में स्थापित सन्तुलन (Parity) ने दितान्त सम्बन्धों को विकसित करने में योगदान दिया। प्रारम्भ में संयुक्त राज्य अमरीका आणविक शस्त्रों से सम्पन्न राष्ट्र था और जब सोवियत संघ ने अणु विस्फोट कर लिया तो सोवियत संघ और अमरीका के बीच जो सैनिक असन्तुलन था वह समाप्त हो गया एवं दोनों सन्तुलन की स्थिति में आ गये। अमरीका अब यह महसूस करने लगा कि साम्यवाद के विस्तार को रोकने के लिए सशस्त्र संघर्ष की नीति घातक रहेगी। बर्लिन की घेराबन्दी, कोरिया युद्ध और क्यूबा संकट के समय आणविक शस्त्रों के घातक परिणाम किसी की भी कल्पना के बाहर नहीं थे। आणविक विनाश से भविष्य में बचने के लिए दोनों महाशक्तियों में 'सम्वाद' (Dialogue) प्रारम्भ किये जाने की आवश्यकता थी। दितान्त युग के सम्वादों का ही परिणाम है कि दोनों महाशक्तियों में साल्ट वार्ताएँ चलती रहीं और साल्ट-1 तथा साल्ट-2 के समझौते हुए।

5. आणविक आतंक और आणविक युद्ध का भय—अमरीका और सोवियत संघ दोनों ने

1 "It (detente) fully and effectively serves the interest of the U. S. and the Soviet Union and responds to the crying needs, aspirations of their people, chiefly for peace and for a betterment of standards."

2 "The Nixon administration supported its policy (detente) on several grounds. It pointed to the long turn advantages which the United States could derive from expanded trade with the Soviet Union. It highlighted the view that the economics of the two countries were not competitive but complimentary."

आणविक आयुधों का निर्माण कर लिया किन्तु वे दोनों इन शस्त्रों की मारक शक्ति से चिन्तित हैं। न्यूट्रॉन बम के नाम से कँपकँपी छूटती है। न्यूट्रॉन गोलियों से मनुष्य और अन्य जीव-जन्तुओं के लिए तुरन्त या निलम्बित मृत्यु निश्चित है। इसकी संहारकता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि हाइड्रोजन बम जैसे भयंकर बम में भी मरने वाले और घायलों का अनुपात एक और तीन होता है मगर न्यूट्रॉन बम में इसके उलटे यदि एक जख्मी होगा तो तीन मरेंगे। कहने का मतलब यह है कि नाभिकीय अस्त्रों ने युद्ध को इतना भयानक और विनाशकारी बना दिया है कि कोई भी महाशक्ति इसका खतरा मोल नहीं ले सकती। आज कोई भी महाशक्ति परमाणु युद्ध में सैनिक लाभ अर्जित करने का दावा नहीं कर सकती। अतः टकराव और परमाणु संघर्ष से बचने के लिए दितान्त सम्बन्ध अमरीका और सोवियत संघ की मजबूरी है।[1]

6. **राष्ट्रीय प्राथमिकताओं में बुनियादी परिवर्तन**—शीत-युद्ध काल में संयुक्त राज्य अमरीका की राष्ट्रीय नीति और प्राथमिक आवश्यकता थी—'साम्यवाद का अवरोध', 'साम्यवाद का समूलोन्मूलन' और सोवियत संघ की सर्वोच्च प्राथमिकता थी—'साम्यवाद का विस्तार' और 'पूंजीवाद का अन्त करना'। इसके लिए दोनों देशों ने लोक-कल्याणकारी योजनाओं, गरीबी उन्मूलन, जीवन-स्तर ऊँचा करने जैसे अपरिहार्य कार्यक्रमों की कीमत पर अस्त्रों की शक्ति, परमाणु शस्त्रों के निर्माण तथा सैनिक गठबन्धनों पर बल दिया था। धीरे-धीरे दोनों महाशक्तियों ने यह अनुभव किया कि उन्हें अपने संसाधन और तकनीकी ज्ञान का प्रयोग अपने नागरिकों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए करना चाहिए। इसके लिए तनाव-शैथिल्य का वातावरण अधिक उपयोगी और उत्साहवर्धक समझा गया।

7. **शीत-युद्ध का तनावपूर्ण वातावरण**—शीत-युद्ध एक मनोवैज्ञानिक युद्ध है, यह महत्वपूर्ण स्थिति है। यह 'निलम्बित मृत्यु-दण्ड' से समान है। इसे गरम युद्ध से भी अधिक भयानक माना गया। दोनों महाशक्तियों को यह आशंका होने लगी कि शीत-युद्ध कभी भी सशस्त्र युद्ध में परिवर्तित हो सकता है और उसका परिणाम होगा भयंकर विध्वंस। इसलिए वे पारस्परिक टकराव से बचने की दिशा में सोचने पर बाध्य हुए।

8. **साम्यवादी गुटबन्दी का ढीलापन तथा रूस-चीन मतभेद**—सोवियत संघ के प्रति अमरीकी दृष्टिकोण में परिवर्तन का एक कारण साम्यवादी गुटबन्दी का ढीला होना है। बदले अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में साम्यवादी गुट की एक एकजुटता टूटने लगी और साम्यवादी दुनिया में शक्ति के अनेक प्रतिस्पर्द्धी केन्द्रों का उदय हुआ जो मास्को से स्वतन्त्र रहने की चेष्टा करने लगे। साम्यवादी दुनिया की ठोस एकता (Monolithic) के बजाय वहाँ बहुध्रुवीयता (Polycentralism) के तत्व दृष्टिगोचर होने लगे। यह स्थिति अमरीका के लिए लाभ की स्थिति थी चूँकि वह साम्यवादी देशों से अपनी सहूलियत के अनुसार उनके मतभेदों का लाभ उठाकर समझौते कर सकता था।[2] इसी प्रकार चीन-रूस संघर्ष (Sino-Soviet rift) के फलस्वरूप सोवियत संघ के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह चीन के मुकाबले में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए पश्चिमी देशों और मुख्यतः उनके नेता अमरीका से शान्तिपूर्ण सम्बन्ध विकसित करे।

---

1 "Detente is basically the result of the realization on the part of the super powers that an unchecked arms race between them in the field of strategic weapons would not only run them financially but also generate an over-kill capability which would, in the ultimate analysis, be economically and militarly counter productive." —*K. R. Singh*

2 "The prevailing image of Communism shifted from the fearfull 'monolithic' view to a more differentiated theory of 'Polycentrism'. This implied the possibility of gains for the United States in a more fluid policy of dealing with different factions of the solintered communist world."

—Steven J. Rosen & Walter S. Jones, *The Logic of International Relations*, 1975, p. 54.

9. **गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों की भूमिका**—शीत-युद्ध को दितान्त अर्थात् तनाव-शैथिल्य की स्थिति में लाने का श्रेय गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को ही है। गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों ने शीत-युद्ध को बढ़ावा देने वाली गुटबन्दी को तोड़ने में सहयोग दिया। गुट-निरपेक्षता का दायरा इतना बढ़ता गया कि दोनों ही गुटों (Power Blocs) में दरारें पड़ने लगीं, गुटों में संलग्न राष्ट्र भी धीरे-धीरे गुट-निरपेक्षता की नीति अपनाने लगे। पाकिस्तान, पुर्तगाल, रूमानिया, ईरान जैसे देश अपने-अपने गुटों को छोड़कर गुट-निरपेक्ष आन्दोलन में शामिल हो गये। गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों ने धीरे-धीरे स्वतन्त्र विदेश नीति पर ही नहीं, बल्कि शान्ति और सहयोग की आवश्यकता पर भी बल दिया। इससे महाशक्तियों में प्रतिद्वन्द्विता के स्थान पर सहयोग को बल मिला। डॉ. ए. पी. राना के अनुसार, 'गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों ने अपनी गुट-निरपेक्ष पहचान को बनाये रखते हुए महाशक्तियों को अपने सहयोगी-प्रतिद्वन्द्वी व्यवहार (Collupetive relations) को सतर्कतापूर्वक संचालित करने में मदद की है।'[1]

10. **द्वि-गुटीय विश्व राजनीति का बहुकेन्द्रवाद में परिवर्तन**—द्वितीय महायुद्ध के तुरन्त बाद विश्व द्वि-ध्रुवीयता (Bipolarity) की ओर बढ़ा और 1950 के आते-आते इस द्वि-ध्रुवीयता के बन्धन शिथिल पड़ने लगे और विश्व शनैः-शनैः बहुकेन्द्रवाद (Polycentrism) की ओर अग्रसर होने लगा। आज शक्ति के केवल दो ही केन्द्र नहीं हैं अपितु बहुत सारे केन्द्र हैं। अमरीका और सोवियत संघ के साथ-साथ ब्रिटेन, फ्रांस और चीन भी अणु-शक्ति के स्वामी बन चुके हैं। जापान, पश्चिमी जर्मनी, यूरोपीय आर्थिक समुदाय, भारत और गुट-निरपेक्ष मंच भी आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के केन्द्र हैं। ये शक्ति-केन्द्र अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में अधिकाधिक स्वतन्त्र आचरण करने लगे हैं। इस बहु-ध्रुवीकरण ने महाशक्तियों के सम्बन्धों में दितान्त की प्रवृत्ति को जन्म दिया है।

11. **महाशक्तियों को अपने गुटीय मित्रों से निराशा और यथार्थवादी चिन्तन की प्रवृत्ति**—शीत-युद्ध की राजनीति में अमरीका और रूस में अपने-अपने मित्रों की संख्या बढ़ाने की होड़ प्रबल थी। किन्तु उन्हें यह समझते देर न लगी कि उनके मित्र बोझ बनते जा रहे हैं। दक्षिणी वियतनाम, दक्षिण कोरिया और फारमोसा अमरीका पर भार थे, पूर्वी जर्मनी और उत्तरी कोरिया सोवियत संघ पर भार साबित हुए, फ्रांस ने अमरीका के लिए मुसीबतें खड़ी कीं और चीन, रूमानिया, अल्बानिया ने सोवियत संघ के लिए मुसीबतें खड़ी कीं। गुट-निरपेक्ष देशों ने दोनों ही महाशक्तियों (Double alignment) से सहायता लेकर दोनों का आर्थिक एवं सैनिक शोषण किया। डॉ. एम. एस. राजन के शब्दों में, फ्रांस का अमरीका विरोधी दृष्टिकोण और चीन द्वारा रूस को दी जाने वाली खुली चुनौती विशेष रूप से महाशक्तियों के सम्बन्धों में दितान्त के विकास के लिए उत्तरदायी है।'[2] महाशक्तियों ने यथार्थवादी रुख अपनाते हुए यह महसूस किया कि अन्य देशों की मित्रता के स्थान पर पारस्परिक सम्बन्धों में दितान्त अधिक विश्वसनीय, लाभकारी एवं कम खर्चीला है।[3]

12. **वियतनाम युद्ध और अमरीकी विवशता**—अमरीका वियतनाम युद्ध से थक चुका था।

---

1 "Non-aligned states, by retaining their non-aligned orientation, considerably aid the super power in managing their own, collupetive relations with the wisest possible margin of safety."

—A. P. Rana, *Detente and Non-alignment ; A Conceptual Study*, M. S. Agwani, *Ibid.*, p 193.

2 "In particular, U. S. disenchantment with France and the Sino-Soviet split were quite possibly among the major factors promoting the detente in the relations between the super powers."

—*M. S. Rajan*

3 "They seem to have come to the conclusion that, on balance, a detente in their mutual relations is a more dependably and profitable factor and less costly to themselves in the matter promoting their mutual national interests, that a competition for the support of other nations."

—*M. S. Rajan*

वियतनाम युद्ध के दल-दल से सम्मानपूर्वक तभी निकल सकता था जब सोवियत संघ का सहयोग प्राप्त हो।

13. **संयुक्त राष्ट्र संघ में तीसरी दुनिया के राष्ट्रों की भूमिका**—संयुक्त राष्ट्र संघ में भी महाशक्तियों की स्थिति पहले जैसी नहीं रही है। तीसरी दुनिया और अफ्रेशियाई राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्र संघ में अपनी आवाज बुलन्द करना शुरू कर दिया है। संयुक्त राष्ट्र संघ में उनकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई संख्या ने भी शीत-युद्ध की उग्रता को कम किया है।

14. **यूरोपीय राष्ट्र युद्ध की परिकल्पना से भयभीत थे**—क्यूबा के संकट (1962) का एक दोहरा और विचित्र प्रभाव पड़ा। एक ओर जहाँ इसने शीत-युद्ध की पराकाष्ठा की अनुभूति करवायी, दूसरी ओर इसने शिथिलता की आवश्यकता को भी उग्र रूप से रेखांकित किया। इस घटना के बाद यूरोपीय राष्ट्र विशेषत: युद्ध की कल्पना से भयभीत रहे। दूसरा विश्व-युद्ध उनकी धरती पर लड़ा गया था, अत: उसका उन्हें अत्यधिक कटु अनुभव था। किसी भी प्रकार से वे विश्व-स्तरीय तनाव में डूबने को तैयार नहीं थे। यूरोपीय राष्ट्रों की इस उग्र अनुभूति का अमरीकी विदेश नीति पर सीधा दबाव पड़ा और वह शिथिलता की नीति को और अधिक तत्परता से लागू करने को बाध्य हुई। यूरोपीय परिवेश को देखते हुए यह कदापि आश्चर्यजनक नहीं था कि दितान्त के वास्तविक प्रचलन की पहल यूरोप से ही हुई। पश्चिमी जर्मनी के चान्सलर विली ब्रांट ने यूरोपीय राष्ट्रों में शिथिलता की प्रक्रिया को लागू करने का विचार रखा।

महाशक्तियों का व्यवहार : दितान्त की प्रगति
(SUPER POWER BEHAVIOUR : THE PROGRESS OF DETENTE)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों का मत है कि शीत-युद्ध के उन्नायकों में स्टालिन और ट्रूमैन प्रधान थे तो दितान्त या सोवियत-अमरीका मैत्री के सूत्रधार कैनेडी और ख्रुश्चेव थे। लेकिन उनके अचानक सत्ता से हटने के कारण दितान्त की प्रगति धीमी हो गयी। अत: दितान्त सम्बन्धों को नये सिरे से प्रारम्भ करके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में मोड़ लाने का श्रेय अमरीकी राष्ट्रपति रिचार्ड निक्सन तथा सोवियत राष्ट्रपति लियोनिद ब्रेझनेव को है। आज रूसी नेता मिखाइल गोर्वाच्योव 'ग्लेस्नोस्ट' और 'पेरेस्ट्रोइका' की नीति के माध्यम से 'दितान्त' के सम्बन्धों को एक नया मोड़ देने का प्रयास कर रहे हैं।

महाशक्तियों के दितान्त व्यवहार की प्रगति को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है :

(1) दितान्त का निष्क्रिय काल (1953-1969)

(2) दितान्त का सक्रिय काल (1970-1990)

दितान्त का निष्क्रिय काल (1953-69)

शीत-युद्ध के साथ-साथ महाशक्तियों का व्यवहार अदृश्य रूप से स्टालिन की मृत्यु के बाद ही परिवर्तित दिखायी देने लगा था। सर्वप्रथम, 1953 में कोरिया युद्ध की समाप्ति हुई। जबकि इससे पूर्व कोरिया में शान्ति स्थापित करने के भारतीय सुझाव को स्टालिन के रूस ने ठुकरा दिया। "वास्तविकता यह थी कि कोरिया की स्थिति से स्टालिन पूर्णतया सन्तुष्ट था। यह उस प्रकार की स्थिति थी जिसमें वह आनन्द लेता था। हजारों अमरीकी, चीनी और कोरियाई मर रहे थे लेकिन किसी रूसी पर संकट नहीं आया था।" स्टालिन की मृत्यु के बाद सोवियत नेताओं ने विशाल हृदयता दिखाकर भारतीय सुझावों को स्वीकार कर लिया जिससे जून 1953 में कोरिया युद्ध बन्द हुआ। 1955 में दोनों महाशक्तियों ने आस्ट्रिया के साथ शान्ति सन्धि की। आस्ट्रिया के साथ शान्ति सन्धि करने में कई बाधाएँ सामने आयीं। 13 मार्च, 1952 को पश्चिमी शक्तियों ने आस्ट्रिया के भविष्य के सम्बन्ध में आठ धाराओं वाला एक सन्धि प्रस्ताव रखा, जिसे रूस ने अस्वीकार कर दिया। लेकिन एक वर्ष बाद स्टालिन की मृत्यु हो जाने पर

आस्ट्रिया के प्रति रूसी दृष्टिकोण में कुछ नरमी आयी। फलस्वरूप 15 मई, 1955 को आस्ट्रिया-सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। आस्ट्रियन सन्धि का सबसे बड़ा महत्व यह है कि शीत-युद्ध छिड़ने के बाद पूर्व और पश्चिम के बीच यह पहला शान्ति समझौता था। इसके बाद 1955 के पैकेज डील (Package Deal) समझौते के फलस्वरूप एक साथ 16 राष्ट्रों को संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्रदान की गयी। इनमें से चार राष्ट्र सोवियत गुट के समर्थक और आठ गुट-निरपेक्ष देश थे। 1959 में ख्रुश्चेव ने अमरीका की सद्भावना यात्रा की और कैम्प डेविड में राष्ट्रपति आइजनहावर से 'विश्व शान्ति' के मामलों पर खुलकर विचार-विनिमय किया। 1960 में पेरिस में शिखर सम्मेलन आयोजित किया गया, 1963 में क्रेमलिन और व्हाइट हाउस के मध्य हॉट लाइन का निर्माण किया गया, 25 जुलाई, 1963 को ब्रिटेन सहित दोनों महाशक्तियों ने मास्को में वायुमण्डल, बाह्य अन्तरिक्ष और समुद्र में अणु परीक्षण पर प्रतिबन्ध लगाने वाली एक सन्धि पर हस्ताक्षर किये। 1968 में रूस, अमरीका और ब्रिटेन ने मिलकर अन्य देशों के साथ 'परमाणु अस्त्र प्रसार निरोध सन्धि' पर हस्ताक्षर किये।

फिर भी यह काल दितान्त सम्बन्धों की दृष्टि से निष्क्रिय काल ही कहा जा सकता है। चूँकि इस काल में यू-2 विमान (1960), क्यूबा संकट (1962) जैसी घटनाओं ने शीत-युद्ध की चिनगारी में घी देने का काम किया। फिर भी क्यूबा संकट के बाद दोनों ही महाशक्तियों के नेताओं को महसूस हो गया कि बिना एक निर्णायक महायुद्ध के दूसरे गुट का दमन सम्भव नहीं है तब यदि ऐसा कोई युद्ध हुआ तो विश्व का सर्वनाश निश्चित है। इस अनुभूति ने दोनों ही पक्षों को सह-अस्तित्व की अनिवार्यता में विश्वास दिला दिया।

दितान्त का सक्रिय काल (1970-90)

20 जनवरी, 1969 को रिचर्ड निक्सन अमरीका के राष्ट्रपति बने। राष्ट्रपति बनने के बाद निक्सन ने अपने उद्घाटन भाषण में विश्व शान्ति की स्थापना के लिए अन्य देशों के साथ सहयोग करने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने स्पष्ट किया कि "हम प्रत्येक को अपना मित्र बनाने की आशा नहीं कर सकते, किन्तु हम यह प्रयत्न कर सकते हैं कि कोई हमारा शत्रु न बने।" निक्सन ने शान्तिपूर्ण प्रतियोगिता और साझेदारी के सिद्धान्त पर जोर देते हुए कहा कि "हम साम्यवादी विश्व का अमरीका के साथ एक शान्तिपूर्ण प्रतियोगिता के लिए आह्वान करते हैं—यह प्रतियोगिता प्रदेशों की विजय अथवा स्वामित्व के विस्तार के लिए नहीं अपितु मनुष्य के जीवन को अधिक सम्पन्न बनाने के लिए होगी।" निक्सन प्रशासन ने साम्यवादी विश्व के प्रति अमरीका की नीति को एक नयी दिशा प्रदान की। इसी का परिणाम था कि रूस-अमरीका दितान्त सम्बन्धों में सक्रियता आ गयी। 1970 के बाद दितान्त व्यवहार में तीव्र प्रगति हुई, जिसके प्रमुख उदाहरण इस प्रकार हैं :

1. **मास्को-बोन समझौता, 1970**—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से यूरोप में शीत-युद्ध के मूल में जर्मनी की समस्या रही है। पश्चिमी जर्मनी और सोवियत संघ के सम्बन्ध सदैव कटु रहे और अमरीका हमेशा पश्चिमी जर्मनी का समर्थन करता रहा है। इस तनावपूर्ण परिस्थिति का अन्त करने के लिए 10 अगस्त, 1970 को पश्चिमी जर्मनी और सोवियत संघ के बीच एक सन्धि हुई। इस सन्धि में कहा गया कि (i) सोवियत संघ और पश्चिमी जर्मनी एक-दूसरे के खिलाफ शक्ति का प्रयोग नहीं करेंगे; (ii) पूर्व और पश्चिमी जर्मनी की सीमाओं सहित यूरोप में जो वर्तमान राष्ट्रीय सीमाएँ हैं उन्हें दोनों देशों ने स्वीकार कर लिया। इस सन्धि को फ्रांस के प्रसिद्ध समाचारपत्र 'लामो' ने यूरोपीय इतिहास का एक नूतन मोड़ कहा। इस समझौते से यूरोप में आशा और उत्साह का नया वातावरण पैदा हुआ। सारी दुनिया में इस समझौते का स्वागत किया गया और यह आशा व्यक्त की गयी कि अब यूरोप में युद्ध नहीं होगा। यह स्मरणीय है कि

शीत-युद्ध का मुख्य कारण और तनाव मुख्यतः जर्मनी के वर्तमान स्वरूप और युद्ध के बाद की राष्ट्रीय सीमाओं का आधार बनाकर ही था। इसलिए जब इसे सन्धि द्वारा दूर कर दिया गया तो शीत-युद्ध का कोई औचित्य नहीं रह गया।

2. **बर्लिन समझौता, 1971**—शीत-युद्ध के काल में दूसरी ज्वलन्त समस्या बर्लिन की थी। 24 जून, 1948 को सोवियत संघ ने बर्लिन की नाकेबन्दी कर दी थी जिससे महाशक्तियों के सम्बन्ध तनावयुक्त हो गये थे। अठारह माह तक बातचीत करने के बाद अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस और सोवियत संघ के प्रतिनिधियों के बीच पश्चिम बर्लिन के बारे में अगस्त 1971 में एक समझौता हो गया। इस समझौते के अनुसार अब पश्चिम बर्लिन के लोग पूर्व बर्लिन जा सकेंगे। बर्लिन समझौता शान्ति की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद बर्लिन के प्रश्न ने सोवियत संघ तथा पश्चिमी राष्ट्रों के बीच सम्बन्ध सुधार में बड़ी रुकावट डाली। बर्लिन सम्बन्धी इस समझौते से अमरीका-सोवियत सम्बन्ध सामान्य होने लगे।

3. **पूर्वी जर्मनी और पश्चिमी जर्मनी के बीच समझौता, 1972**—सितम्बर 1971 का बर्लिन समझौता पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी के बीच सामान्य सम्बन्ध कायम करने की आधार-भूमि बन गया। 8 नवम्बर, 1972 को पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी के मध्य एक सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। इस सन्धि के फलस्वरूप इन दोनों जर्मन-राज्यों के बीच द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से चली आ रही तनातनी समाप्त हो गयी। दोनों जर्मन राज्यों ने एक दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया और अनेक मानवीय क्षेत्रों में सहयोग करने का वादा किया। सन्धि की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि जर्मन समस्या के समाधान के लिए दोनों जर्मन राज्यों ने एक-दूसरे के विरुद्ध धमकी अथवा बल प्रयोग के उपायों को हमेशा के लिए तिलांजलि दे दी। इस सन्धि के फलस्वरूप दोनों जर्मन राज्यों के पिछले 22 वर्षों से चले आ रहे तनावपूर्ण सम्बन्धों की समाप्ति हो गयी। यह एक ऐतिहासिक सन्धि थी जिसने दोनों जर्मन राज्यों की शत्रुता को समाप्त कर शीत-युद्ध के प्रमुख कारण और यूरोपीय शान्ति के लिए एक स्थायी खतरे को दूर कर दिया।

4. **कोरिया का समझौता, 1972**—एशिया में उत्तरी कोरिया और दक्षिणी कोरिया के तनावपूर्ण सम्बन्धों ने भूतकाल में शीत-युद्ध को चरम सीमा पर पहुँचा दिया था। 20 अगस्त, 1971 को उत्तर कोरिया और दक्षिण कोरिया की रेड-क्रॉस सोसायटी की एक बैठक हुई जिसमें तय हुआ कि कोरिया युद्ध के दौरान जो एक करोड़ कोरियाई रिश्तेदार, सम्बन्धी और मित्र बिछुड़ गये थे, उनकी अदला-बदली की जाये। 4 जुलाई, 1972 को दोनों कोरिया देशों के बीच एक समझौता हुआ, तदनुसार दोनों ने वादा किया कि वे एक-दूसरे को कमजोर करने का कोई प्रयास नहीं करेंगे। एकीकरण को सम्पन्न करने के लिए एक समन्वय समिति भी गठित की गयी। जुलाई 1983 में एक-दूसरे के बीच सहयोग में वृद्धि करने के लिए एक आयोग स्थापित किया गया। आयोग ने सैनिक तनाव को कम करने के लिए अनेक सुझाव दिये।

5. **मास्को शिखर वार्ता, 1972**—22 मई से 29 मई, 1972 में संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति निक्सन ने सोवियत संघ की सद्भावना यात्रा की। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद निक्सन ऐसे पहले अमरीकी राष्ट्रपति थे जिसने सोवियत संघ की सद्भावना यात्रा करने का निश्चय किया। मास्को में एक सप्ताह तक उन्होंने रूस के प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति तथा साम्यवादी दल के महामन्त्री ब्रेझनेव से शिखर वार्ता की और यह घोषणा की कि वे अपने विवादास्पद प्रश्नों का निर्णय युद्ध से नहीं, किन्तु शान्तिपूर्ण वार्ता के माध्यम से करेंगे। इस ऐतिहासिक वार्ता का सबसे महत्वपूर्ण भाग सम्भवतः सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमरीका के बीच सम्बन्धों के मौलिक सिद्धान्तों की घोषणा है। इसके आरम्भ में ही कहा गया है कि दोनों देश संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिकार-पत्र के

अन्तर्गत स्वीकार किये गये कर्तव्यों को पूरा करने की तथा आपस में शान्तिपूर्ण सम्बन्ध सुदृढ़ बनाने की इच्छा रखते हैं और दोनों देश इस प्रकार की परिस्थितियों को उत्पन्न करना चाहते हैं जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में कमी हो और युद्ध की आशंका दूर हो।" दोनों देश आर्थिक, व्यापारिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में सहयोग करें।

दोनों महाशक्तियों ने अपने संयुक्त वक्तव्य में 29 मई, 1972 को निम्नलिखित बातों पर बल दिया :

(क) **आणविक आयुधों को सीमित करना**—दोनों देश आणविक युद्ध की विभीषिका को कम करने के लिए आणविक आयुधों की सीमा को मर्यादित करने वाला एक समझौता [A Treaty limiting the strategic defensive anti-ballistic missile, (A. B. M.) systems] करने के लिए सहमत हो गये हैं, इस विषय पर दोनों ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। यह सन्धि निःशस्त्रीकरण की दिशा में उठाया गया एक ठोस कदम है।

(ख) **व्यापारिक और आर्थिक सम्बन्ध**—दोनों देशों ने इन सम्बन्धों को बढ़ाने और घनिष्ठ बनाने की बात स्वीकार की और इस विषय में स्थायी रूप से प्रगति करने के लिए संयुक्त राज्य अमरीका और रूस का एक संयुक्त व्यापारिक आयोग बनाने का निश्चय किया गया।

(ग) **समुद्री मामलों के सम्बन्ध में समझौता**—दोनों पक्षों ने समुद्रों तथा आकाश में दोनों देशों के जहाजों और विमानों की भीषण दुर्घटनाएँ रोकने का एक समझौता किया।

(घ) **विज्ञान और प्रौद्योगिकी में सहयोग**—दोनों देशों में इन क्षेत्रों में सहयोग के लिए अमरीका तथा रूस का एक संयुक्त आयोग बनाने का निश्चय किया गया।

(ङ) **अन्तरिक्ष में सहयोग**—इस समय वाह्य अन्तरिक्ष में उड़ान करने वाले अन्तरिक्ष यानों में कई बार भीषण दुर्घटनाएँ हो जाती हैं। इन्हें रोकने के लिए और इस क्षेत्र में शान्तिपूर्ण अनुसन्धान करने की दृष्टि से दोनों पक्षों ने यह समझौता किया कि वे अन्तरिक्ष में अमरीकी और सोवियत अन्तरिक्ष यानों के मिल-जुलकर कार्य करने की व्यवस्था करेंगे।

(च) **स्वास्थ्य के क्षेत्र में सहयोग**—दोनों देशों ने समूची मानव जाति के स्वास्थ्य की महत्वपूर्ण समस्याओं—कैन्सर, हृदय रोग तथा वातावरणीय स्वास्थ्य विज्ञान के सम्बन्ध में अनुसन्धान कार्य में सहयोग देने का निश्चय किया।

मास्को शिखर वार्ता के इन समझौतों को राष्ट्रपति निक्सन ने 'ऐतिहासिक' एवं 'अत्यन्त महत्वपूर्ण' ('historic' and 'enormously important') बताया। डॉ. हेनरी कीसिंजर ने सामरिक शस्त्रों को सीमित करने की दिशा में इस समझौते को एक अपरिहार्य उपलब्धि बताया। मास्को शिखर वार्ता के निम्नलिखित परिणाम उल्लेखनीय हैं—प्रथम, यह शीत-युद्ध की समाप्ति का संकेत करती है; द्वितीय, शस्त्रास्त्रों की होड़ को सीमित करने की सम्भावना बढ़ गयी, तृतीय, यूरोप में तनाव-शैथिल्य की स्थिति आने लगी तथा पूर्वी एवं पश्चिमी देशों में सौहार्द में वृद्धि होने लगी।

6. **सामरिक शस्त्र परिसीमन समझौता, 1972 (SALT-I)**—अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन की सोवियत संघ की यात्रा (1972) का सबसे महत्वपूर्ण समझौता हथियारों के परिसीमन से सम्बन्धित था। 26 मई, 1972 को सामरिक शस्त्र परिसीमन सन्धि (SALT-I) पर हस्ताक्षर हुए।

7. **रूस-अमरीकी आर्थिक सहयोग**—मास्को शिखर सम्मेलन में समयाभाव के कारण आर्थिक सहयोग के क्षेत्र में कोई बुनियादी समझौता नहीं हो पाया था। इस बात पर सहमति जरूर हुई थी कि एक **'रूस-अमरीकी आर्थिक आयोग'** (U.S.-U.S.S.R. Economic Commission) बनाया जायेगा जो MFN (Most Favoured Nation Status) दर्जा दिलाने और

व्यापार के विस्तार के लिए सरकारी ऋण दिलाने का प्रयत्न करेगा। 14 अक्टूबर, 1972 को दोनों देशों ने एक तीन-वर्षीय समुद्री समझौते (Three-year Maritime Agreement) पर हस्ताक्षर किये जो अमरीकन जहाजों के लिए सस्ती दरों पर सोवियत संघ के लिए अनाज की ढुलाई का प्रावधान करता है। 18 अक्टूबर, 1972 को दोनों देशों में एक समझौता हुआ जिसमें अमरीका ने सोवियत आयातों पर तटकर कम करने की बात मान ली जिससे सोवियत संघ को एम. एफ. एन. दर्जा (MFN Status) मिल गया। संयुक्त राज्य अमरीका ने सोवियत संघ को वचन दिया कि वह उसे 'संयुक्त राज्य आयात-निर्यात बैंक' (Export-Import Bank of the United States) से अमरीका में व्यावसायिक माल की खरीद हेतु ऋण और उसकी गारण्टी दिलायेगा। इसके बदले में सोवियत संघ इस बात के लिए सहमत हो गया कि अपने द्वितीय युद्ध-कालीन ऋणों के भुगतानों के एवज में (repayment of its war time land-lease debt) कुल मिलाकर 722 मिलियन डालर का भुगतान करेगा। यह भुगतान किश्तों में 2001 ई. तक किया जायेगा। सोवियत संघ द्वारा युद्ध ऋणों के भुगतान हेतु तैयार हो जाना सौहार्द्रपूर्ण वातावरण के निर्माण की मंशा प्रकट करता है।[1] 1971 में दोनों देशों में जितना व्यापार होता था, उसको तीन वर्षों में तिगुना करने का भी निश्चय किया गया।[2] अप्रैल 1973 में सोवियत संघ ने घोषणा की कि उसने 8 मिलियन डालर का एक समझौता अमरीका के आर्मण्ड हेमर ऑक्सीडेण्टल पेट्रोलियम कार्पोरेशन (Armand Hammer of the Accidental Petroleum Corporation) से किया है जो रूस में खाद कारखानों (Fertilizer Complex) के निर्माण में तकनीकी सहायता देगा। यह कार्पोरेशन रूस से 200 मिलियन डालर के अमोनिया, यूरिया व पोटाश खरीदेगा और अपने फ्लोरिडा राज्य में स्थित कारखाने से 200 मिलियन डालर के फास्फोरिक एसिड का विक्रय करेगा। इस समझौते की स्वीकृति अमरीकी शासन ने दी थी और संयुक्त राज्य आयात-निर्यात बैंक में 180 मिलियन डालर का ऋण दिलाने की भी अनुमति दी गयी।[3] डा. कीसिंजर ने इस समझौते को 'दितान्त की दिशा में हितों की सम्बद्धता' (a certain inter-connection of interest in defining detente) बताया था। जून 1973 में सोवियत संघ तथा दो अमरीकी कम्पनियों के मध्य एक समझौता हुआ जिसमें साइबेरिया से प्राकृतिक गैस निकालकर अमरीका के पश्चिमी किनारे तक पाइप लाइन से पहुँचाने का प्रावधान था और इसकी लागत 10 मिलियन डालर आँकी गयी थी।[4]

8. **ब्रेझनेव की अमरीका यात्रा, 1973**—17 जून, 1973 को सोवियत राष्ट्रपति ब्रेझनेव ने अमरीका की यात्रा प्रारम्भ की। इस यात्रा के दौरान सोवियत संघ और अमरीका में तकनीकी सहयोग से सम्बन्धित विचार-विमर्श हुए और अनेक व्यापारिक प्रश्नों पर भी आदान-प्रदान हेतु सहमति हुई। इसी दौरान सबसे महत्वपूर्ण निर्णय सोवियत संघ और अमरीका के बीच संयुक्त अन्तरिक्ष कार्यक्रम प्रारम्भ करने के बारे में हुआ। यह प्रस्तावित किया गया कि 1975 से इस कार्यक्रम को लागू किया जाये।

9. **प्रथम तथा द्वितीय यूरोपियन सुरक्षा सम्मेलन—हेलसिंकी, 1973**—यूरोपीय सुरक्षा एवं सहयोग का सम्मेलन फिनलैण्ड की राजधानी हेलसिंकी में 3 जुलाई, 1973 को शुरू हुआ। जेनेवा में यह सम्मेलन 17 जुलाई, 1973 से 21 जुलाई, 1975 तक जारी रहा और 1 अगस्त,

---

1 Secretary of State William P. Rogers described it as "a step toward creating a climate of peace."

2 The Wall Street Journal described the agreement as "an important political milestone in the relations between the two countries."

3 *New York Times*, 15 April, 1974.

4 *Times of India* (New Delhi), 9 June, 1973.

1975 को हेलसिंकी मे समाप्त हुआ इस सम्मेलन में यूरोप और अमरीका के 35 देशों ने भाग लिया।[1]

यूरोपीय राज्यों के इस सुरक्षा सम्मेलन का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को समाप्त करके शीत-युद्ध का अन्त करना तथा सुरक्षा की नयी भावना पैदा करना था।

हेलसिंकी सम्मेलन की प्रमुख उपलब्धि है—तीस हजार शब्दों का वह घोषणा-पत्र जो छः भाषाओं में तैयार किया गया और जिस पर दोनों महाशक्तियों समेत, सम्मेलन में उपस्थित पैंतीस देशों ने हस्ताक्षर किये।

हेलसिंकी घोषणा-पत्र चार खण्डों में विभाजित है। पहला खण्ड सुरक्षा से सम्बन्धित है। इसमें सभी राष्ट्रों की स्वतन्त्रता और समान प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में दस सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। इनमें राष्ट्रीय सीमाओं की सुरक्षा, विवादों के शान्तिपूर्ण निबटारे व अन्य देशों के मामलों में हस्तक्षेप की घोषणा की गयी है तथा आत्म-निर्णय के राष्ट्रीय अधिकार और मानव अधिकारों की सुरक्षा एवं सम्वर्द्धन का वचन दिया गया है। घोषणा-पत्र में कहा गया है कि ये देश नागरिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा अन्य अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं के प्रभावी उपयोग को बढ़ावा देंगे। साम्यवादी और गैर-साम्यवादी देशों के बीच लेन-देन की वर्तमान स्थिति इस 'खण्ड' में स्पष्ट झलकती है। इसमें जहाँ सोवियत संघ राष्ट्रीय सीमाओं की सुरक्षा के माध्यम से पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों की वर्तमान सीमाओं की पुष्टि कराने में सफल हुआ है, वहाँ गैर-साम्यवादी देश भी आत्म-निर्णय के राष्ट्रीय अधिकार तथा मानव अधिकारों की रक्षा एवं सम्वर्द्धन का आश्वासन सोवियत संघ से प्राप्त करने में सफल हुए हैं।

द्वितीय खण्ड में आर्थिक, वैज्ञानिक, प्राविधिक और पर्यावरण सम्बन्धी प्रश्न पर सहयोग का जिक्र है। घोषणा-पत्र में कहा गया है कि हस्ताक्षरकर्ता देश परस्पर व्यापारिक सम्बन्धों के सुधार एवं प्रसार के लिए वचनबद्ध हैं और व्यापार में बाधक बनने वाले तत्वों को उत्तरोत्तर कम करने का प्रयास करेंगे। इसी खण्ड में वैज्ञानिक अनुसन्धान एवं पर्यावरण के क्षेत्र में मिल-जुलकर कार्य करने का भी उल्लेख है।

तृतीय खण्ड मानव सम्पर्कों के बारे में है। वस्तुतः जेनेवा में वार्ताकारों को सबसे अधिक कठिनाई इसी खण्ड पर सर्वसम्मति प्राप्त करने में हुई। सोवियत संघ ने पहले तो गैर-साम्यवादी देशों की इस माँग को ठुकरा ही दिया था कि साम्यवादी और गैर-साम्यवादी देशों के बीच सम्पर्क आसान रहें और दोनों ओर से सूचनाओं का आदान-प्रदान अबाधित हो। सोवियत संघ का कहना था कि वह हमारे आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप का प्रयास है। परन्तु बाद में वह इस मामले में कई रियायतें देने को राजी हो गया, विशेषतः विदेश यात्रा तथा विदेशी पत्र-पत्रिकाओं के बारे में। वह इसके लिए भी राजी हो गया कि परदेश में बसे अपने परिवारजनों से मिलने के निमित्त विदेश यात्रा का वीसा माँगने वाले रूसियों के आवेदनों पर रूसी सरकार अनुकूल दृष्टि से विचार किया करेगी। उसने वचन दिया कि विभिन्न देशों के नागरिकों के परस्पर विवाह और अपने मन-पसन्द देश में बसने की उनकी इच्छा पर वह 'सकारात्मक एवं मानवतावादी भावना' से विचार करेगा।

चतुर्थ खण्ड इस घोषणा-पत्र के बाद उठाये जाने वाले कदमों से सम्बन्धित है। इसमें कहा गया कि हस्ताक्षर करने वाले देशों में हेलसिंकी सम्मेलन के बाद भी सम्वाद चलता रहेगा।

राजनेताओं ने हेलसिंकी सम्मेलन को यूरोप के इतिहास का नया पथचिन्ह बताया। फिन-

---

1 प्रथम यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन जुलाई 1973 में तथा द्वितीय यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन 30 जुलाई—1 अगस्त, 1975 तक हेलसिंकी में हुआ।

लैण्ड के राष्ट्रपति ने कहा कि 'हमारे यह मानने के लिए सभी कारण मौजूद हैं कि हमारे पारस्परिक सम्बन्धों में नवयुग का आरम्भ हो रहा है।' संयुक्त राष्ट्र महासचिव कुर्ट वाल्डीम ने कहा कि 'इसका उद्देश्य किसी युद्ध को समाप्त करना या शान्ति की शर्तों की परिभाषा करना नहीं है; अपितु इसका उद्देश्य है कुछ समय से अस्तित्व में चले आ रहे शान्ति के आधार को पुख्ता बनाना।' कीसिंजर के शब्दों में, 'हेलसिंकी शिखर सम्मेलन में तनाव बिन्दुओं को शिथिल बनाकर शीत-युद्ध के प्रभाव को कम करने में योग दिया। इस सम्मेलन के माध्यम से राष्ट्रों के बीच सद्भाव और सहयोग की एक नूतन भावना 'हेलसिंकी भावना' का निर्माण हुआ।

10. **व्लादीवोस्तक शिखर सम्मेलन, 1974**—नवम्बर 1974 का व्लादीवोस्तक शिखर सम्मेलन अमरीका और सोवियत संघ द्वारा तनाव-शैथिल्य का एक और महत्वपूर्ण प्रयास है। अमरीकी राष्ट्रपति जेराल्ड फोर्ड और सोवियत नेता ब्रेझनेव ने इस मुलाकात द्वारा सामरिक अस्त्र परिसीमन समझौते (SALT) की रूपरेखा तैयार की, जो शीत-युद्ध को समाप्त करने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम था।

11. **अपोलो सोयुज का अन्तरिक्ष में मिलन**—17 जुलाई, 1975 को अमरीका के अपोलो और सोवियत संघ के सोयुज अन्तरिक्ष-यान अपनी कक्षा में आकर एक-दूसरे से मिले और दोनों देशों के अन्तरिक्ष यात्रियों ने एक-दूसरे का अभिवादन किया। इस घटना का वैज्ञानिक महत्व तो था ही परन्तु इसका राजनीतिक महत्व भी बहुत अधिक था। इस तरह का वैज्ञानिक सहयोग इस बात का प्रबल प्रमाण था कि अमरीका और सोवियत संघ अब एक-दूसरे के अत्यन्त निकट आना चाहते हैं।

12. **तृतीय यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन, 1977**—जून 1977 में बेलग्रेड में तृतीय यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन का आयोजन किया गया। इस बात पर भी विचार किया गया कि 'हेलसिंकी' में स्वीकृत अन्तिम दस्तावेज पर कितना अमल किया गया है। अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस और पश्चिमी जर्मनी के नेताओं ने पश्चिमी देशों की ओर से यह आशा व्यक्त की कि पूर्व-पश्चिम के देशों के बीच तनातनी कम करने और यूरोपीय देशों में शान्ति तथा सद्भाव बढ़ाने के प्रयत्नों का लाभ पश्चिम बर्लिन को भी मिलना चाहिए। सोवियत संघ ने दृष्टिकोण का अनुमोदन किया। इस सम्मेलन में लगभग 25 यूरोपीय देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। दितान्त के परिप्रेक्ष्य में यूरोपीय सुरक्षा और सहयोग का यह एक महत्वपूर्ण प्रयास था।

13. **साल्ट-2 समझौता**—प्रथम साल्ट सन्धि (SALT-I)—1972 में रूस और अमरीका के मध्य हुई थी। इस सन्धि की अवधि पाँच वर्षों की थी जो 3 अक्टूबर, 1977 को समाप्त हो गयी। 1979 में दोनों देशों ने साल्ट-2 समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये। इसके बाद इस सन्धि पर दोनों देशों की संसद को अनुमोदन करना था। अमरीकी कांग्रेस इस पर विचार कर रही थी कि अफगानिस्तान में सोवियत संघ का सैनिक हस्तक्षेप हो गया। सोवियत हस्तक्षेप के विरोध में अमरीकी राष्ट्रपति कार्टर ने साल्ट-2 के अनुमोदन को स्थगित करा दिया था।

14 **जेनेवा वार्ता (नवम्बर 1985)**—जेनेवा में दो महारथी रीगन और गोर्वाच्योव मिले। दो दिन (19 एवं 20 नवम्बर, 1985) तक उनके बीच निजी और गोपनीय बातचीत चली। दोनों महाशक्तियों के बीच छः साल बाद बातचीत हुई। जेनेवा शिखर वार्ता में दोनों महाशक्तियों के नेता जिन मुद्दों पर सहमत हुए, वे इस प्रकार हैं :

1. परमाणु युद्ध कभी नहीं लड़ा जाना चाहिए। कोई भी एक पक्ष अपना सैनिक वर्चस्व कायम करने की कोशिश नहीं करेगा।

2. हथियारों की होड़ पर काबू पाने के लिए दोनों पक्ष वार्ता को और तेजी के साथ आगे बढ़ायेंगे। इस सम्बन्ध में वार्ता का अगला दौर जेनेवा में ही 16 जनवरी को होगा। इस बात का

प्रयास किया जायेगा कि दोनों पर अपने-अपने परमाणु हथियारों के जखीरे में 50 प्रतिशत कमी करने पर सहमत हो जायें।

3. दोनों पक्ष 1968 की परमाणु अस्त्र अप्रसार सन्धि की पुनः पुष्टि करेंगे और अपील करेंगे कि अधिकाधिक देश इस पर हस्ताक्षर कर दें।

4. रासायनिक हथियारों पर पूर्ण प्रतिबन्ध हो।

5. यूरोप में सेनाओं के मामले पर वियेना वार्ता को महत्व दिया जाय।

6. बल प्रयोग को वर्जित घोषित करने के लिए दस्तावेज तैयार किया जाय।

7. दोनों पक्ष सांस्कृतिक, शैक्षिक, वैज्ञानिक और आर्थिक सम्बन्धों को प्रगाढ़ करेंगे।

8. श्री गोर्बाच्योव 1986 में अमरीका की ओर रीगन 1986 में सोवियत संघ की यात्रा करेंगे।

9. सोवियत संघ न्यूयार्क में और अमरीका कीव मे साथ-साथ अपना वाणिज्य दूतावास खोलेंगे।

15. **रीगन-गोर्वाच्योव शिखर वार्ता (11-12 अक्टूबर, 1986)**—11-12 अक्टूबर, 1986 को रिकजाविक (आइसलैंड) में अमरीकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन तथा सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाच्योव के बीच दो दिन की शिखर वार्ता सम्पन्न हुई। 'स्टारवार्स' पर रीगन के अड़े रहने से शिखर वार्ता विफल हो गयी। रिकजाविक से रवाना होने के पूर्व रीगन ने कहा कि स्टारवार्स कार्यक्रम को प्रायोगिक शोध एवं परीक्षण तक सीमित रखने का सोवियत प्रस्ताव उन्हें मान्य नहीं, जबकि गोर्बाच्योव ने कहा कि यदि वे सोवियत संघ को सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण आणविक अस्त्रों से वंचित कर अमरीका को अन्तरिक्ष में हथियार तैनात करने की छूट दे देते तो वह 'पागल' ही कहलाते।

गोर्बाच्योव के अनुसार सामरिक हथियारों में अगले पाँच वर्ष में पचास प्रतिशत कटौती करने, यूरोप में मध्यम दूरी के प्रक्षेपास्त्र समाप्त करने तथा एशिया में सोवियत संघ के मध्यम दूरी के प्रक्षेपास्त्रों की संख्या घटाने सम्बन्धी एक योजना पर सहमति के वार्ता अत्यन्त निकट थी। इसके साथ ही गोर्बाच्योव की माँग थी कि इन सारी कटौतियों के साथ-साथ यह भी जरूरी है कि अमरीका प्रयोगशाला से बाहर अपना स्टारवार्स कार्यक्रम दस वर्ष रोक दे। रीगन ने इस प्रस्ताव को साफ नामंजूर कर दिया।

गोर्बाच्योव ने कहा कि अमरीका को विश्वास है कि वह 'स्टारवार्स' के जरिये सोवियत संघ पर सैनिक श्रेष्ठता प्राप्त करने के कगार पर है अतः रीगन ने उन समझौतों को भी मानने से इन्कार कर दिया, जिन पर पूर्ण सहमति हो चुकी थी और सिर्फ सन्धि पर हस्ताक्षर करने बाकी थे। इस प्रकार नया इतिहास बनाने का एक अवसर गवाँ दिया गया।

16. **होनिकर की पश्चिमी जर्मनी यात्रा**—पहली बार पूर्वी जर्मनी के नेता एरिक होनिकर ने 7 सितम्बर, 1987 को अपनी पश्चिमी जर्मनी यात्रा आरम्भ की। तीन वर्ष पूर्व सोवियत दबाव के कारण होनिकर ने बान की अपनी यात्रा योजना रद्द कर दी थी।

17. **अमरीका व रूस परस्पर सैन्य जानकारी देने को सहमत**—15 सितम्बर, 1987 को अमरीका व रूस के बीच एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए। इसके अन्तर्गत दोनों देश अपनी सैनिक गतिविधियों के बारे में एक-दूसरे को जानकारी देते रहेंगे। समझौते के अन्तर्गत मास्को और वाशिंगटन में परमाणु जोखिम निस्तारण केन्द्र खोले जायेंगे।

18. **रूस-अमरीका शिखर वार्ता (8-10 दिसम्बर, 1987)**—रूस के नेता गोर्बाच्योव व अमरीकी राष्ट्रपति रीगन के बीच 8-10 दिसम्बर, 1987 में वार्ता हुई। यह तीसरी शिखर वार्ता थी। दोनों नेताओं ने 8 दिसम्बर, 1987 को एक ऐतिहासिक सन्धि पर हस्ताक्षर किये। सन्धि का मूल पाठ दो सौ पृष्ठों का है। सन्धि में दोनों देश मध्यम व कम दूरी के प्रक्षेपास्त्र नष्ट

कतिपय टीकाकारों का मत है कि सोवियत संघ की आर्थिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही थी। सोवियत संघ में उदारवादी प्रवृत्ति का अभ्युदय तथा शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का नारा इसी आर्थिक विघटन का परिणाम है। फिर भी सचाई यह है कि शान्ति के लिए सोवियत प्रयासों को उसकी दुर्बलता का परिचायक नहीं माना जा सकता। वास्तविकता यह है कि सैनिक दृष्टि से आज का सोवियत संघ विश्व का सबसे शक्तिशाली देश है।

दितान्त के प्रति चीन का दृष्टिकोण
(CHINESE VIEW OF DETENTE)

दितान्त का सम्बन्ध रूस-अमरीकी सम्बन्धों से है अर्थात् दो महाशक्तियों के आपसी सम्बन्धों मे है, किन्तु आधुनिक विश्व में चीन एक तीसरी शक्ति के रूप में अवतरित हुआ है। ऐसी स्थिति में यह एक विचारणीय पहलू है कि तीसरी महाशक्ति चीन रूस-अमरीकी दितान्त को किस निगाह से देखती है? चीनविद् प्रो. गार्गीदत के अनुसार, "चीन दितान्त विरोधी नहीं है। किन्तु वह कतिपय विशेष देशों के सम्बन्धों में दितान्त का समर्थक है। यह चीन-अमरीकी दितान्त का समर्थक है और रूस-अमरीकी दितान्त का विरोधी है।"

1959-69 के काल में चीन का दृष्टिकोण दितान्त विरोधी था। वह इसे आडम्बर कहता था। उसका मत था कि यह ऐसी अफीम है जिसे दोनों महाशक्तियाँ साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष कर रहे लोगों को खिलाना चाहती हैं। चीन ने अमरीका के साथ दितान्त व्यवहार के लिए सोवियत संघ की कटु आलोचना की। चीन का मत था कि जब तक दुनिया में साम्राज्य है, तब तक युद्ध का अन्त नहीं हो सकता। 'शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व' मृगतृष्णा और भ्रममात्र है, शान्ति के लिए प्रयत्न करना क्रान्तिकारी संघर्षों के मार्ग में बड़ी बाधा है।

1969 के बाद दितान्त के प्रति चीनी रुख में परिवर्तन आया है। वह दूसरे के साथ स्वयं मधुर सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा रखता है। वह चीन-अमरीकी दितान्त के पक्ष में है जबकि रूस-अमरीकी दितान्त का विरोधी है। वह मिस्र और अमरीका के सम्बन्धों में दितान्त का पक्षधर है जबकि पश्चिमी जर्मनी और पूर्वी यूरोप के मध्य विकसित होने वाले दितान्त सम्बन्धों का कटु आलोचक है। चीन का यूरोप में दितान्त से ज्यादा सरोकार नहीं है जबकि वह स्वयं पश्चिमी जर्मनी, ब्रिटेन, फ्रांस और जापान से दितान्त सम्बन्ध विकसित करना चाहता है।

1971 के बाद चीन की विदेश नीति में आमूल-चूल परिवर्तन आया और चीन-अमरीकी दितान्त की प्रक्रिया आरम्भ होती है। अप्रैल 1971 में एक अमरीकी पिंगपांग टीम चीन गयी, 9–11 जुलाई, 1971 तक कीसिंजर पीकिंग में रहे। पीकिंग में अपने 48 घण्टे के निवास में कीसिंगर के 20 घण्टे चाऊ एन लाई के साथ बातचीत में बीते। सितम्बर 1971 के आरम्भ में राष्ट्रपति निक्सन ने घोषणा की की अमरीका चीन को संयुक्त राष्ट्र महासभा और सुरक्षा परिषद् का सदस्य बनाने के लिए दो प्रस्ताव पेश करेगा। 21 फरवरी, 1972 को राष्ट्रपति निक्सन चीन पहुँचे। फरवरी 1973 में कीसिंगर पुनः चीन गये। 15 दिसम्बर, 1978 को राष्ट्रपति कार्टर ने 1 जनवरी, 1979 से चीन के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने की घोषणा की। फरवरी 1979 में डेंग सिसाओ नौ दिवस की अमरीका यात्रा पर गये। तेल तकनीक, कम्प्यूटर व अन्य औद्योगिक क्षेत्रों में दोनों ने परस्पर सहयोग करने का निश्चय किया।

आखिर दितान्त के प्रति इस प्रकार के चीनी रुख के क्या कारण हैं? रूस-चीन मतभेद, सुधरे हुए रूस-अमरीकी सम्बन्धों का भय, चीनी सुरक्षा की आवश्यकताएँ, चीन के राजनीतिक और आर्थिक हित, पार्थक्यकरण की नीति के परित्याग एवं विश्व राजनीति में अपना वर्चस्व बढ़ाने के लिए चीन ने अमरीका और पश्चिमी देशों के साथ दितान्त सम्बन्धों की शुरूआत की है।

वितान्त के प्रति यूरोपीय राष्ट्रों का दृष्टिकोण
(EUROPEAN VIEW OF DETENTE)

ऐसा माना जाता है कि दितान्त की पहल करने का श्रेय यूरोपीय राष्ट्रों को है। पश्चिमी जर्मनी के चांसलर ब्रान्ट ने यूरोपीय राष्ट्रों में 'दितान्त' की प्रक्रिया लागू करने का विचार रखा। उनके अभिमत में महाशक्तियों में तनाव-शैथिल्य की प्रक्रिया की अपनी कठिनाइयाँ और पेचीदगियाँ हो सकती हैं, लेकिन कम से कम यूरोपीय परिवेश में तो एक सौहार्द्रपूर्ण वातावरण की स्थापना होनी चाहिए, जिसके द्वारा प्रतिद्वन्द्वी विचारधारा वाले समस्त यूरोपीय राष्ट्रों में समन्वय स्थापित हो सके। यूरोपीय राष्ट्रों की इस अभिव्यक्त धारणा ने महाशक्तियों में 'दितान्त' की प्रक्रिया को और अधिक सुगम बनाने का कार्य किया, क्योंकि वे अनेक विवाद विशेषतः जर्मन विवाद यूरोपीय परिवेश से जुड़े थे। वस्तुतः विश्व-व्यापी दितान्त की मानसिकता स्थापित करने में यूरोपीय पहल का विशिष्ट योगदान रहा है।[1]

1970 का मास्को-बोन समझौता, अगस्त 1971 का बर्लिन के बारे में समझौता, नवम्बर 1972 में पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी के मध्य सन्धि यूरोप में दितान्त के विशिष्ट उदाहरण हैं। हेलसिंकी में होने वाले यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन (जुलाई 1973, अगस्त 1975 एवं जून 1977) में पूर्वी और पश्चिमी यूरोप के 35 देशों ने भाग लिया था। ऐसा कहा जाता है कि तीनों यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलनों ने शीत-युद्ध के वातावरण को समाप्त कर अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव उत्पन्न करने की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

दितान्त में सबसे ज्यादा लाभ यूरोप को हुआ। पूर्वी और पश्चिमी यूरोप के देशों में व्यापारिक समझौते हुए और सौहाद्रपूर्ण कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित हुए। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद यूरोप शीत-युद्ध का मंच था; ऐसा लगता है कि दितान्त ने यूरोपीय मंच से शीत-युद्ध को समाप्त कर दिया है। किन्तु आलोचकों का कहना है कि जब तक यूरोप में नाटो और वारसा पैक्ट बने रहेंगे तब तक यूरोप से शीत-युद्ध समाप्त नहीं हो सकता। यूरोप में आज भी दितान्त के मार्ग में 'नाटो' सबसे बड़ी बाधा है।

दितान्त पर संकट और नया शीत-युद्ध
(DETENTE UNDER STRESS AND THE NEW COLD WAR)

पिछले एक दशक से दितान्त पर संकट के बादल मँडरा रहे हैं। दितान्त भावना को ऐसे झटके (Jerks) लगे हैं कि दितान्त की प्रक्रिया क्षतिग्रस्त होती हुई दिखायी देती है। दितान्त युग में शीत-युद्ध जैसा व्यवहार दिखायी देने लगा है। नाटो को शक्तिशाली बनाया जा रहा है, शस्त्रों की होड़ तीव्र गति से प्रारम्भ हो रही है और टकराव से विविध केन्द्र पुनः उभर रहे हैं। क्या दितान्त शीत-युद्ध का अन्त करता है? क्या दितान्त शक्तिशाली के आगे झुकने का पर्यायवाची बन गया है?

यदि पुर्तगाल, अंगोला, क्यूबा, अफगानिस्तान, निःशस्त्रीकरण वार्ता आदि घटनाओं को लिया जाये तो सहज में ही कहा जा सकता है कि अभी शीत-युद्ध को पूर्णतया दफनाया नहीं जा सका है।

1975 में पुर्तगाल में एक बार ऐसी स्थिति आ गयी थी कि सोवियत समर्थित पुर्तगाली कम्युनिस्ट पार्टी कतिपय सैनिक अधिकारियों के साथ अपनी साँठ-गाँठ द्वारा, व्यापक बहुमत वाले समाजवादी दल को दरकिनार कर, देश की सत्ता पर कब्जा करने को थी। अमरीकियों का कहना था कि यह सब सोवियत संघ के बढ़ावे से हो रहा था। सोवियत संघ पुर्तगाल में कम्युनिस्ट पार्टी को सत्ता में लाकर पुर्तगाल को 'नाटो' से अलग करना चाहता है।

---

[1] Harish Kapur "Europe and Detente", in M. S. Agwani, ed. Detente, 1975, pp. 94-107.

अंगोला के गृह-युद्ध (1975-76) में सोवियत संघ और क्यूबा ने राष्ट्रवादी एम. पी. एल. ए. का साथ दिया; अमरीका ने साथ दिया एफ. एम. एल. ए. और यूनिटा की कबायली टुकड़ियों का। सोवियत संघ क्यूबा तथा समाजवादी देश चाहते थे कि सत्ता 'अंगोला जन मुक्ति आन्दोलन' (M. P. L. A.) के हाथों में आये। दूसरी ओर राष्ट्रीय मोर्चे (F. M. L. A) और यूनिटा की सेनाओं को पश्चिमी शक्तियों से आर्थिक और सैनिक सहायता मिलने लगी।

केवल अंगोला की समस्या ने ही दितान्त में गतिरोध उत्पन्न नहीं किया, बल्कि ओगादान प्रदेश के लिए इथियोपिया और सोमालिया में संघर्ष और जायरे में रूसी एवं क्यूबा के हस्तक्षेप ने तथा हिन्द महासागर में डीगो गार्शिया में अमरीकी नौसैनिक अड्डे की स्थापना ने दितान्त को गम्भीर धक्का पहुँचाया। मई 1978 में वाशिंगटन में हुए नाटो राष्ट्रों के शिखर सम्मेलन की वाणी शीत-युद्ध की याद ताजा कर देती है। राष्ट्रपति कार्टर ने तो स्पष्ट तौर से नाटो की शक्ति बढ़ाने पर जोर दिया।

1979 के मध्य क्यूबा में सोवियत संघ के सैनिकों की उपस्थिति को लेकर अमरीका और क्यूबा के बीच गम्भीर तनातनी हो गयी। राष्ट्रपति कार्टर ने कैरेबियन में एक अग्रिम सेना (Task Force) तैनात करने की घोषणा की। इस घोषणा में कहा गया कि क्यूबा में सोवियत सेनाओं की ठीक-ठीक संख्या पता लगाने के लिए क्यूबा पर निगाह रखने की अमरीकी उपग्रह व्यवस्था को पुनर्गठित किया जायगा। कार्टर की इस घोषणा से क्यूबा और अमरीका के बीच 1962 जैसा ही गम्भीर संकट उत्पन्न हो गया और ऐसा प्रतीत हुआ कि यदि युद्ध का विस्फोट नहीं तो शीत-युद्ध का विस्फोट अवश्य हो जायेगा। बाद में राष्ट्रपति कार्टर द्वारा नरम दृष्टिकोण अपनाया गया और क्यूबा की विस्फोटक स्थिति शान्त हो गयी।

दिसम्बर 1979 में अफगानिस्तान में एक क्रान्ति हो गयी जिसके फलस्वरूप राष्ट्रपति अमीन का तख्ता पलट गया और बबराक करमाल नये अफगान राष्ट्रपति बने। अफगानिस्तान के इस सत्ता परिवर्तन में सोवियत रूस की भूमिका थी और सत्ता परिवर्तन के तुरन्त बाद करमाल सरकार ने सोवियत रूस से सैनिक सहायता माँगी। जैसे ही अफगानिस्तान में सोवियत सेना पहुँची राष्ट्रपति कार्टर ने इसका प्रबल विरोध किया और शीत-युद्ध ने उग्र रूप धारण कर लिया। अमरीका ने पाकिस्तान को सोवियत खतरे का मुकाबला करने के लिए बीस करोड़ डालर के हथियार देने की घोषणा की। राष्ट्रपति कार्टर ने अमरीकी कांग्रेस में 'साल्ट-द्वितीय' पर बहस रुकवा दी। उन्होंने सोवियत संघ को अनाज देने तथा आधुनिक तकनीकी की जानकारी देने के अपने फैसले को बदल दिया। शीत-युद्ध की पुनः प्रबलता का वास्तविक परिचय जुलाई 1980 में उस समय मिला, जबकि मास्को में आयोजित ओलम्पिक खेलों (Olympic games) का अमरीका और पश्चिमी यूरोप के अनेक देशों द्वारा वास्तविक रूप में बहिष्कार किया गया।

डॉ. वेद प्रताप वैदिक लिखते हैं, "अफगान संकट ने एक नये शीत-युद्ध को जन्म दे दिया। दोनों महाशक्तियों के बीच चल रही शस्त्र परिसीमन (साल्ट-दो) वार्ता भंग हो गयी, पश्चिमी राष्ट्रों ने सोवियत संघ पर अनेक आर्थिक और राजनीतिक प्रतिबन्ध लगाने की कोशिश की, अमरीका ने खाड़ी के देशों, हिन्द महासागर तथा पाकिस्तान में अपनी सैनिक उपस्थिति को बढ़ाना शुरू कर दिया, तीव्रगामी सेना के पहले से तैयार कार्यक्रम में तेजी आ गयी, यूरोपीय सरकारें अपने राष्ट्रों की सुरक्षा के लिए अधुनातन परमाणु प्रक्षेपास्त्रों को नये पैमाने पर लगवाने के लिए अधीर हो उठीं।"[1]

अमरीकी राष्ट्रपति जिमी कार्टर ने सोवियत राष्ट्रपति लियोनिद ब्रेझनेव को अपने क्रोधपूर्ण सन्देश में चेतावनी दी कि द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद रूस द्वारा शान्ति का सर्वाधिक

---

[1] धर्मयुग, 6 मार्च, 1983.

गम्भीर उल्लंघन हुआ है और इस मामले में अमरीका चुप नहीं बैठ सकता। अफगानिस्तान में सोवियत सेना के प्रवेश को उचित ठहराते हुए ब्रेझनेव ने पश्चिमी देशों को चेतावनी दी कि वे अफगानिस्तान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करें, अन्यथा रूस हस्तक्षेपवादी देशों की खबर लेने में भी नहीं चूकेगा।

यूरोप में प्रक्षेपास्त्र लगाने के प्रश्न पर सोवियत संघ और अमरीका अपनी-अपनी बात पर अड़े रहे। दोनों देश इस प्रश्न पर बातचीत के लिए अपने-अपने प्रस्ताव शायद इसलिए देते रहते हैं कि अपनी सुरक्षा की आवश्यकताओं का अनुमान अब भी सोवियत संघ और अमरीका नहीं लगा सके हैं। सामरिक महत्व के मामलों के विशेषज्ञों का कहना है कि इस शताब्दी के शुरू से सोवियत संघ अस्त्रों के निर्माण पर बेतहाशा खर्च करता रहा है। सोवियत संघ का ख्याल था कि अस्त्रों के निर्माण में वह पश्चिमी यूरोप के साथ सैनिक सन्तुलन बनाये रखने में कामयाब हो जायेगा। लेकिन जैसे-जैसे पश्चिमी यूरोप की अस्त्रों के निर्माण की योजना आगे बढ़ती गयी सोवियत संघ की यह आशा धूमिल होती गयी और वह सैनिक तैयारियों पर अधिक से अधिक खर्च करने के लिए विवश होता गया। साल्ट वार्ता की सम्भावनाएँ समाप्त होते ही दोनों बड़े देश प्रक्षेपास्त्रों से रक्षा के आधुनिकतम उपकरण तैयार करने में लग गये। इस प्रकार दो महाशक्तियों के बीच अस्त्रों की एक नयी होड़ शुरू हो गयी।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि दितान्त की भावना संकट में है, रूस-अमरीका दितान्त मनोवृत्ति को गम्भीर झटके लगे हैं, हेलसिंकी भावना लुप्त होती जा रही है और शस्त्रों की होड़ भी शुरू है।

किन्तु फिर भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि दोनों ही महाशक्तियों ने धैर्य और संयम से काम लिया है। ईरान-इराक युद्ध में भी किसी ने प्रत्यक्षतः भाग नहीं लिया। 40 राष्ट्रों के जिनेवा निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में मतभेदों के बावजूद दोनों में संवाद जारी हैं। इस तरह दोनों पक्षों के बीच युद्ध की सम्भावनाएँ लगभग समाप्त हो चुकी हैं।

यह सच है कि दितान्त अब ठण्डे बस्ते में है। फिर भी दितान्त चल रहा है। मास्को की मनाही के बावजूद पूर्व जर्मनी ने पश्चिमी जर्मनी के साथ आवाजाही का एक समझौता किया। बत्तीस करोड़ डालर का कर्ज लिया और पहली बार पूर्व जर्मनी के नेता ने पश्चिम जाने की ठानी। उधर रूमानिया ने लॉस ऐंजिल्स ओलम्पिक में हिस्सा लिया। पोलैण्ड ने उन राजनीतिक कैदियों को रिहा किया जिन्हें मास्को साम्राज्यवादियों का एजेण्ट कहता रहा है, सिर्फ इस खातिर कि पश्चिमी देश सन्तुष्ट हों और आर्थिक मदद मिलना शुरू हो जाये।

होनेकर, जुवकोव, चेसेस्कू, कादर के साहस का कारण यही है कि वे पश्चिमी दरवाजों के खुले रहने में अपना हित सधता देखने लगे हैं। दितान्त के दौर से बने सम्बन्धों का आर्थिक लाभ इन्होंने इतना महसूस किया कि क्रेमलीन की दरवाजा बन्द करने की हिदायत अब आँख मूँदकर मानने को तैयार नहीं। इनके रवैये का सार यह है कि वाशिंगटन-मास्को भले ही लड़ते रहें, यूरोपीय देशों को 'लघु दितान्त' के लिए काम करते रहना चाहिए।[2]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था पर दितान्त व्यवहार के प्रभाव
(IMPACT OF DETENTE BEHAVIOUR ON INTERNATIONAL POLITICAL SYSTEM)

रूस-अमरीका तनाव-शैथिल्य ने शीत-युद्ध के तनावपूर्ण वातावरण को समाप्त किया; शस्त्रीकरण की होड़ को सीमित किया, संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्य को आसान बनाया, परमाणु-युद्ध के आतंक से मानव जाति को उन्मुक्त किया और विरोधी विचार प्रणालियों वाले राष्ट्रों में संवाद

1 दिनमान, 13-19 फरवरी, 1983, पृ. 35.

2 जनसत्ता, 10 सितम्बर, 1984.

और मेल-मिलाप प्रारम्भ करके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था में बदलाव प्रस्तुत किया है। रूस-अमरीका दितान्त व्यवहार का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था में निम्न प्रभाव देखा जाता है।

1. **महाशक्तियों के मध्य सहयोग और मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास**—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद विश्व राजनीति में गुटीय विभाजन स्पष्ट रूप से दिखायी देता था। दितान्त व्यवहार की शुरूआत के बाद महाशक्तियों एवं उनके पिछलग्गू राज्यों में आपसी आदान-प्रदान, सामंजस्य और समझौतापूर्ण सम्बन्धों का नया उभरता हुआ आचरण दिखायी देता है। कभी निक्सन मास्को जाते हैं, तो कभी ब्रेझनेव वाशिंगटन, कभी ग्रोमिको अमरीका की यात्रा करते हैं तो कभी कीसिंजर रूस की। अब ऐसा नहीं लगता कि अमरीका और सोवियत संघ के अलग-अलग गुट हैं और यह गुट एक-दूसरे के विरोधी और दुश्मन हैं। यूरोप, पश्चिमी एशिया, दक्षिणी-पूर्वी एशिया अथवा दुनिया के अन्य भागों में ये महाशक्तियाँ टकराहट (Confrontation) की स्थिति में अब नहीं लगतीं।

2. **यूरोपीय महाद्वीप अब विभाजित नहीं लगता**—1945 के बाद ऐसा लगता था कि यूरोपीय महाद्वीप दो भागों—पश्चिमी यूरोप और पूर्वी यूरोप में विभाजित-सा हो गया है। पश्चिमी और पूर्वी यूरोप के देशों में न तो नागरिकों का आदान-प्रदान होता था और न व्यापार होता था। जर्मनी और बर्लिन की समस्याओं ने यूरोप का कठोरतापूर्वक विभाजन कर दिया था। दितान्त सम्बन्धों की शुरूआत के बाद पूर्वी और पश्चिमी यूरोप के देशों में व्यापार की वृद्धि हुई, सांस्कृतिक आदान-प्रदान का विस्तार हुआ और ऐसा लगा कि अब यूरोपीय देशों की एकजुटता में वृद्धि हो रही है।

3. **तीसरे महायुद्ध के भय से मुक्ति**—1950-60 के दशक में रूस-अमरीका शस्त्र प्रतिस्पर्द्धा को देखते हुए ऐसा लगता था कि दुनिया पर तृतीय महायुद्ध का खतरा मँडरा रहा है। दितान्त व्यवहार ने इस खतरे को लगभग समाप्त कर दिया है। किसी भी संकट के समय रूस-अमरीकी नेता 'हॉट लाइन' से बात कर सकते हैं और आसन्न खतरे को टाला जा सकता है।

4. **परमाणु शस्त्रों पर नियन्त्रण के लिए प्रयत्न**—शीत-युद्ध काल में महाशक्तियों की शक्ति परमाणु शस्त्रों के निर्माण पर लगी हुई थी। दितान्त व्यवहार के बाद परमाणु शस्त्रों के बारे में महाशक्तियों के रुझान में परिवर्तन आया। परमाणु शस्त्रों की विनाशकारी शक्ति से रूस और अमरीका समान रूप से चिन्तित प्रतीत हुए। 1972 की साल्ट-प्रथम सन्धि, 1979 की साल्ट-द्वितीय सन्धि और दिसम्बर 1987 की सन्धि वस्तुतः रूस-अमरीकी दितान्त व्यवहार के परिणाम हैं।

5. **गुटबन्दी में लिप्त राष्ट्रों के लिए पर्याप्त स्वतन्त्रता**—शीत-युद्ध के युग में गुटबन्दी में लिप्त राष्ट्रों की स्वतन्त्र निर्णय-शक्ति धूमिल हो गयी थी। उन्हें किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न पर अपने-अपने गुटीय नेता की दृष्टि से सोचना पड़ता था। दितान्त व्यवहार से जहाँ एक ओर पश्चिमी जर्मनी, जापान, फ्रांस, फिलीपाइन्स, पाकिस्तान जैसे अमरीकी गुट से सम्बद्ध देशों के दृष्टिकोण में पर्याप्त लचीलापन एवं स्वतन्त्रता दिखायी देती है वहाँ दूसरी तरफ रूमानिया, पूर्वी जर्मनी, वियतनाम, क्यूबा जैसे सोवियत गुट से सम्बद्ध राष्ट्र भी स्वतन्त्र दृष्टि से सोचने-विचारने लग गये हैं। दितान्त व्यवहार का ही परिणाम है कि पुर्तगाल, पाकिस्तान, रूमानिया जैसे देश गुट निरपेक्ष आन्दोलन में शामिल हो गये; जापान ने अपने राष्ट्रीय हितों के कारण फरवरी 1972 में मंगोलिया गणराज्य को मान्यता दी और मई 1973 में उत्तरी वियतनाम के साथ भी उसने राजनयिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये।

6. **संयुक्त राष्ट्र संघ के मंच पर शालीन व्यवहार की प्रवृत्ति**—डॉ. एम. एस. राजन के अनुसार शीत-युद्धकाल में संयुक्त राष्ट्र संघ प्रचार, आलोचना और छींटाकशी का मंच बन गया

था। महाशक्तियों में दितान्त आचरण की शुरूआत के बाद एक बार पुनः संयुक्त राष्ट्र संघ शालीन और गरिमामय अन्तर्राष्ट्रीय मंच के रूप में उभरने लगा। अब महाशक्तियाँ संयुक्त राष्ट्र की कार्यवाही में अड़ंगा नहीं डालती, इसकी विभिन्न एजेन्सियों की कार्यवाही में सहजता और शालीनता देखने को मिलती है। वीटो का भी अब बार-बार प्रयोग नहीं किया जाता और गुटीय आधार पर किसी नये राष्ट्र के प्रवेश को भी टाला नहीं जाता। अफगान संकट के समाधान तथा ईरान-इराक युद्ध विराम कराने में संयुक्त राष्ट्र संघ की सफलता मुख्यतः दितान्त पर्यावरण का ही परिणाम है।

7. गुट-निरपेक्षता की प्रासंगिकता पर प्रश्न-चिन्ह—कुछ लोगों का विचार है कि गुट-निरपेक्षता शीत-युद्ध के सन्दर्भ में उत्पन्न हुई और पली, इसलिए अब शीत-युद्ध में ढील आ जाने के कारण दितान्त युग में गुट-निरपेक्षता बेमानी हो गयी।

इसके विपरीत, कतिपय विचारकों का मत है कि दितान्त के कारण अब गुट-निरपेक्ष राष्ट्र महाशक्तियों के सन्देह और अविश्वास का शिकार नहीं बनते। किसी एक महाशक्ति के साथ गुट-निरपेक्ष देश के विशिष्ट सम्बन्ध दूसरी महाशक्ति को खटकते नहीं।

8. दितान्त यथास्थितिवाद की समर्थक धारणा है—दितान्त धारणा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के स्थायित्व और उसके बने रहने (Survival) पर बल देती है। रूस-अमरीका का हित इसी में है कि उन्होंने वर्तमान यथास्थिति (Status quo) को बरकरार रखने के लिए आपसी समझौता (understanding) कर लिया है। इस धारणा में 'स्थायित्व' और व्यवस्था अनुरक्षण की परिस्थितियों पर अत्यधिक ध्यान दिया गया है। इसका अनेक लोग यह अर्थ लगाते हैं कि यथास्थिति का रक्षक, रूढ़िवादी और सामाजिक व अन्य प्रकार के पर्यावरणी परिवर्तनों के प्रति उदासीन है।

9. महाशक्तियों के आचरण में विनय और सद्व्यवहार के लक्षण—अमरीकी और सोवियत गुट के राष्ट्र एक-दूसरे के प्रति सभ्य राष्ट्रों की भाँति व्यवहार करने लगे हैं, पारस्परिक सद्व्यवहार का पालन करने लगे हैं और उनके आचरण में विनय से लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

10. सहयोगी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का अभ्युदय—दोनों गुटों के राष्ट्रों के मध्य मनोमालिन्य समाप्त होने लगा है तथा व्यापार, आवागमन, संचार विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्रों में सामान्य तकनीकी सहयोग विकसित होने लगा है।

निष्कर्ष

संक्षेप में, अब शीत-युद्ध ठण्डे सह-अस्तित्व का रूप धारण कर चुका है और वह अब लावा नहीं उगलता है। दितान्त सम्बन्धों के विकसित होने से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से शत्रुतापूर्ण युद्धरत स्थिति का अन्त हुआ है, रचनात्मक पुनर्निर्माण और सहयोग के नूतन युग का सूत्रपात हुआ है। दितान्त की उभरती हुई प्रवृत्तियों के कारण विश्व-युद्ध का भय अब उतना नहीं सताता और तनावपूर्ण सम्बन्ध मैत्री सम्बन्धों में परिणत होने लगे हैं। तीसरे विश्व-युद्ध के सम्भाव्य कारणों का अन्त होने लगा है और महाशक्तियों के नागरिक शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए आशान्वित हुए हैं। निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में सहयोग की वृद्धि हुई; सैनिक भिड़न्त और आणविक-युद्ध के खतरे कम होने लगे हैं।

सोवियत संघ की तरफ से एक बार यह भी कहा गया था कि यदि नाटो सैनिक संगठन को विसर्जित कर दिया जाये तो वार्सा सैनिक सन्धि को भी तत्काल भंग कर दिया जायेगा। बर्लिन की दीवार ध्वस्त हो गयी है, पोलैण्ड, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया लोकतन्त्र के मार्ग पर चल पड़े हैं। सोवियत संघ इस बात से सहमत है कि पूर्वी यूरोपीय देशों को उनके आन्तरिक मामलों को जैसा भी वे चाहें, वैसा निपटाने का अधिकार है। उनको यह भी अधिकार है कि वे साम्यवाद

2. रीगन का राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित होना—नवम्बर 1980 के अमरीकी राष्ट्रपति के निर्वाचन में अमरीकी जनता ने जब एक बाज (हॉक—Hawk) को ह्वाइट हाउस की गद्दी प्रदान कर दी तो नये शीत-युद्ध की गरमी को सर्वत्र अनुभव किया जाने लगा। दक्षिणपन्थियों और कट्टर रूढ़िवादियों के हाथों ह्वाइट हाउस की बागडोर उग्र-आक्रामक नीतियों का संकेत था। रीगन ने सत्ता में आते ही 'अमरीका को पुनः कार्य पर लगाने', 'शस्त्र उद्योग को बढ़ावा देने', 'मित्र राष्ट्रों को पुनः शस्त्रीकरण करने', 'शस्त्र प्रतिस्पर्द्धा को तेज करने' और सोवियत संघ के प्रति उग्र नीति अपनाने की घोषणा करके पहले से ही शुरू हुए नये शीत-युद्ध की अग्नि में घी की आहुति दे दी।

3. अन्तरिक्ष अनुसन्धान की रूस-अमरीकी होड़—अन्तरिक्ष में हथियारों की होड़ का सिलसिला पिछले तीन दशकों से जारी है। जिस दिन पहला स्पुतनिक छोड़ा गया था, उसी दिन इस होड़ की भी शुरूआत हो गयी थी। रूस और अमरीका दोनों ने यह प्रचार किया है कि उनके अन्तरिक्ष अनुसन्धान मानव जाति के कल्याण के लिए हैं। वास्तव में, दोनों की ही नीयत साफ नहीं है। दोनों को यह आशंका हमेशा रही कि दूसरा अन्तरिक्ष अनुसन्धान में कहीं बाजी न मार ले जाये, इसलिए दोनों एक-दूसरे पर कड़ी नजर रखने लगे। पहले साधारण उपग्रह, फिर संचार उपग्रह, फिर अन्तरिक्ष में प्रयोगशाला तो दूसरी ओर मनुष्य को अन्तरिक्ष में लम्बे समय तक रखकर प्रयोग करने में समर्थ बनाने के प्रयास। एक ओर स्पेश शटल तो दूसरी ओर अन्तरिक्ष स्टेशन। एक ने आदमी को चन्द्रमा पर भेजकर वहाँ की मिट्टी और चट्टानें मँगाकर दुनिया को हतप्रभ कर दिया, तो दूसरे ने यन्त्र द्वारा चन्द्रमा से मिट्टी और चट्टानें लाकर दिखा दीं। एक ने वृहस्पति और शनि की खोज के लिए यान भेजा, तो दूसरे ने अन्तरिक्ष में कारखाने खोलने की तैयारी शुरू कर दी। कहा गया कि अन्तरिक्ष यान इस ब्रह्माण्ड की गुत्थी को सुलझाने में मदद करेंगे तो दूसरे ने प्रचारित किया कि अन्तरिक्ष कारखानों में ऐसी उपयोगी चीजें तैयार की जायेंगी जिन्हें धरती पर बनाना सम्भव नहीं।

अमरीका के सैन्य संवाद का 80 प्रतिशत उपग्रहों के माध्यम से ही होता है। दिन-ब-दिन उपग्रहों पर उनकी निर्भरता बढ़ती जा रही है। 1990 तक वे 18 उपग्रहों का एक ऐसा समूह स्थापित करना चाहते हैं जो संसार के किसी भी हिस्से में विमानों, जहाजों और फौजियों की बिल्कुल ठीक स्थिति बता सके। इसके लिए उपग्रहों पर परमाणु घड़ियाँ लगायी जायेंगी। लेसर संचार उपग्रहों से पनडुब्बी में बैठे योद्धा समुद्र की गहराइयों में रहकर वार्ता कर सकेंगे।

सोवियत संघ भी पीछे नहीं है। 18 जून, 1982 को उसके कॉस्मॉस-1379 उपग्रह-मारक उपग्रह ने अन्तरिक्ष में जाकर बारह दिन पूर्व छोड़े गये कॉस्मॉस यान का रास्ता रोक लिया। पृथ्वी से 950 किलोमीटर ऊपर उपग्रह-मारक अस्त्र की स्थापना की दिशा में यह पहला कदम था। उपग्रह-मारक उपग्रह के इस निदर्शन के कुछ ही घण्टों में सोवियत संघ ने अन्तरिक्ष में दो आई० सी० बी० एम०, एक मध्यम दूरी का एस० एस० 20 प्रक्षेपास्त्र, एक पनडुब्बी प्रक्षेपित प्रक्षेपास्त्र और दो बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्र-रोधी रॉकेट छोड़कर खौफनाक युद्ध का माहौल बना दिया।

सोवियत संघ की इस अन्तरिक्षीय उपलब्धि के बाद अमरीका भला चुप कैसे बैठ सकता था? उसने रफ्तार से अपनी उपग्रह मारक प्रणाली तैयार कर डाली और 14 सितम्बर, 1985 को अपना पहला उपग्रह मारक परीक्षण कर डाला।

यह ठीक है कि अन्तरिक्ष अनुसंधान का लाभ मनुष्य को मिला है। संचार उपग्रह के रूप में यह अनुसंधान वरदान है। लेकिन यह भी सच है कि रूस और अमरीका ने अब तक जितने उपग्रह छोड़े हैं उनमें से 75 प्रतिशत उपग्रह सैनिक उपयोग के लिए हैं। उनका इस्तेमाल एक-दूसरे की सैनिक गतिविधियों पर नजर रखने के लिए किया जाता है। अन्तरिक्ष अनुसंधान के

लिए ये दोनों देश जो भारी धनराशि खर्च करते हैं, उसकी तीन-चौथाई राशि सैन्य प्रयोजनों पर खर्च होती है। इन तमाम उपग्रहों से दोनों देशों को एक-दूसरे की गतिविधियों का पता रहता है और जहाँ एक देश को आभास हुआ कि वह किसी बात में पिछड़ रहा है, वह अपनी गति तेज कर देता है।

4. **अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप**—अफगानिस्तान में सौर क्रान्ति का सफल होना तथा काबुल की सत्ता साम्यवादियों के हाथों में आना अमरीका के लिए एक बहुत बड़ा धक्का था। 27 दिसम्बर, 1979 को सोवियत संघ ने जिस तत्परता से अफगानिस्तान में कार्यवाही की उससे न केवल अमरीका अपितु सम्पूर्ण विश्व चौक गया। अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप से अमरीका हड़बड़ा उठा। उसने सोवियत हस्तक्षेप की न केवल निन्दा की अपितु सीनेट में साल्ट-2 पर बहस को स्थगित कर दिया, 'हाट लाइन' पर तत्कालीन राष्ट्रपति कार्टर ने सोवियत नेताओं से कड़े शब्दों का प्रयोग किया, सोवियत संघ को अनाज देने और तेल की खोज के लिए आधुनिक संयन्त्र और तकनीकी जानकारी देने के फैसले को बदल दिया तथा 1980 में होने वाले मास्को ओलम्पिक खेलों का बहिष्कार कर दिया। अमरीका की ये कार्यवाहियाँ दूसरे शीत-युद्ध की शुरूआत थीं।

5. **दक्षिण-पूर्वी एशिया में बढ़ता हुआ सोवियत प्रभाव**—हिन्दचीन में सोवियत प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। वियतनाम की सफलताओं से कम्बोडिया और लाओस के साम्यवादियों को बल मिला। हेंग सामरिन ने वियतनाम से समर्थन एवं सैनिक सहायता प्राप्त करके 7 जनवरी, 1979 को पोल पोत के ख्मेर शासन का तख्ता पलट दिया। इसने न केवल चीन नाराज हुआ अपितु अमरीका भी हड़बड़ा उठा क्योंकि वियतनाम के माध्यम से सारे हिन्दचीन में सोवियत संघ के प्रभाव के फैलने की सम्भावनाएँ बढ़ गयी। हिन्दचीन में सोवियत प्रभाव के विस्तार को रोकने के लिए चीन और अमरीका ने संयुक्त मोर्चा बना लिया। अमरीका से प्रेरणा पाकर वियतनाम को 'सबक सिखाने' के उद्देश्य से चीन ने 17 फरवरी, 1979 को वियतनाम पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण ने वियतनाम को सोवियत संघ की गोद में धकेल दिया।

6. **यूरोप में मध्यम मार प्रक्षेपास्त्रों का उलझा सवाल**—रूस ने यूरोप में एस० एस० 20 प्रक्षेपास्त्रों को लगाने का निर्णय लिया। इससे नाटो देशों को डर था कि रूस द्वारा लगाये जा रहे प्रक्षेपास्त्रो के कारण उनकी स्थिति दयनीय हो जायेगी क्योंकि ब्रिटेन और फ्रांस के पास जो 162 प्रक्षेपास्त्र है, वे रूस के 340 नये एस० एस० 20 तथा 260 पुराने एस० एस० 4 और 5 प्रक्षेपास्त्रों के मुकाबले बहुत हल्के पड़ेंगे। अतः दिसम्बर 1979 में फैसला किया गया कि अमरीका से नयी पीढ़ी के जानदार प्रक्षेपास्त्र मँगाकर पश्चिमी यूरोप के नाटो देशों में लगाये जायें। उनकी संख्या 572 हो, 108 तो हों पर्शिंग-2 और 464 हों क्रूज, 162 पहले से ही हैं। रूस के लिए यह काफी चिन्तास्पद बात हो गयी।

"एक ओर परमाणु आयुधों से लैस शक्तिशाली देशों के पास इन सर्वनाशकारी अस्त्रो का जखीरा बढ रहा है, तो दूसरी ओर महाशक्तियों के बीच तनातनी की बिजलियाँ कौंध रही हैं। नवम्बर 1983 मे जब सोवियत रूस ने यूरोप में मध्यम मार परमाणु प्रक्षेपास्त्रो मे कटौती को लेकर चल रही वार्ता का बहिष्कार किया, तो महाशक्तियों का तनाव और भी बढ़ गया......।"

7. **शस्त्रीकरण का हिमायती न्यस्त स्वार्थी वर्ग**—अमरीका और रूस मे यदि अनेक अन्दरूनी वर्ग शस्त्रों के प्रचुरोत्पादन के हिमायती बन गये हैं, तो इन राष्ट्रों में अब शस्त्र बेचकर डालर कमाने का लालच भी निरन्तर बढ़ता जा रहा है। केवल आठ देश—अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, रूस, पश्चिम जर्मनी, चैकोस्लोवाकिया, इटली और पोलैण्ड मिलकर सारी दुनिया के कुल हथियारों की 80 प्रतिशत बिक्री को अपने हाथ में काबू किये हुए हैं। तीसरी दुनिया के पेट्रो-डालरों से मालामाल हुए देश तो मुँहमाँगी कीमत पर इन हथियारों को खरीदते ही हैं, जिन राष्ट्रों

के पास खाने को रोटी नहीं है, वे भी अपना पेट काटकर इन शस्त्रोत्पादक राष्ट्रों की जेबें भरते हैं। इसीलिए शस्त्र वेचने वाले ये राष्ट्र हथियार बेचने के साथ-साथ यह नजर भी रखते हैं कि दूसरे राष्ट्र को हथियारों की जरूरत भी हमेशा वनी रहे यानी उनके बीच युद्ध होते रहें।

8. **स्टारवार्स (अन्तरिक्ष युद्ध) परियोजना**—स्टारवार्स—यह नाम ही कुछ अजब, रहस्यमय और कल्पना की उड़ान सा लगता है। 23 मार्च, 1983 को राष्ट्रपति रीगन ने राष्ट्र को सम्वोधित करते हुए 'स्टारवार्स' सम्वन्धी घोषणी की। स्टारवार्स—यानी अरबों डालरों से निर्मित हो रही अमरीका की नयी प्रतिरक्षा परियोजना। अनुसंधान का उद्देश्य है हमला रोकने के लिए बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्रों से सुरक्षा की हाल में विकसित टेक्नोलोजी के उपयोग के तरीके खोजना, ताकि अमरीका अपनी और अपने मित्र राष्ट्रों की सुरक्षा कर सके। स्टारवार्स अभियान के तहत लगभग दो हजार युद्धयान अन्तरिक्ष में तैरेंगे और आधुनिकतम आयुधों से घुसपैंठिया-प्रक्षेपास्त्रों को नष्ट करेंगे। नये अस्त्रों की खोज जारी है—एक तरीका है न्यूक्लीय और इलेक्ट्रॉन कणों से युक्त सशक्त प्लाज्मा किरणों का प्रयोग। प्लाज्मा किरणें शक्तिशाली से शक्तिशाली लेजर किरणों से भी कई सौ गुना प्रभावशाली हैं। प्लाज्मा किरणों के साथ-साथ शक्तिशाली एक्स किरणों पर भी काम हो रहा है। रीगन की नजरों में यह एक ऐसा रक्षा कवच है जो शत्रु को वेअसर साबित कर देगा।

परमाणु अस्त्रों की दौड़ रोकने का दम भरने वाली यह परियोजना क्या अन्तरिक्ष अस्त्रों की एक नयी होड़ शुरू होने से रोक सकेगी?

रोनाल्ड रीगन के ह्वाइट हाउस में प्रवेश लेते ही शस्त्र उद्योग को वढ़ावा दिया गया, शस्त्रों की होड़ तेज की गयी; मित्र राष्ट्रों को विशेषकर पाकिस्तान को एफ-16 जैसे वायुयानों एवं खतरनाक अस्त्रों से लैस किया गया, नाटो के सुरक्षा बजट में वृद्धि की गयी, खाड़ी क्षेत्र में तत्काल कार्यवाही करने के उद्देश्य से अमरीकी द्रुतगामी सेना का गठन किया गया। ये हरकतें विश्वास दिलाती हैं कि दूसरा शीत-युद्ध जारी है।

नये (दूसरे) शीत-युद्ध की प्रकृति
अथवा
पुराने और नये शीत-युद्ध में भिन्नताएँ
[NATURE OF THE NEW (THE SECOND) COLD WAR]
OR
(DIFFERENCES BETWEEN THE OLD AND THE NEW COLD WAR)

दूसरा शीत-युद्ध पहले शीत-युद्ध से काफी भिन्न है। इसकी प्रकृति और विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

1. **सोवियत संघ विरोधी न कि साम्यवाद विरोधी**—पुराना शीत-युद्ध साम्यवाद विरोधी था। उसका मूल उद्देश्य 'साम्यवाद का अवरोध' (Containment of Communism) था। इसके विपरीत नया शीत-युद्ध सोवियत संघ विरोधी है, इसका उद्देश्य सोवियत-संघ की वढ़ती हुई शक्ति और प्रभाव का प्रतिरोध करना है।

2. **विचारधारा के दायरे से परे**—पुराना शीत-युद्ध विचारधारा के घेरे में लड़ा गया था। उसका दायरा 'पूंजीवाद' बनाम 'साम्यवाद' अथवा 'लोकतन्त्र' बनाम 'सर्वहारातन्त्र' का अधिनायकवाद था जवकि नया शीत-युद्ध विचारधारा के घेरे में नहीं लड़ा जा रहा है। इस युद्ध में साम्यवादी चीन पूंजीवादी अमरीका के साथ है। नये शीत-युद्ध का मुख्य आधार उपयोगिता और न्यस्त स्वार्थ है न कि विचारधारा। सोवियत शक्ति और प्रभाव के विस्तार के प्रति अमरीका इतना ईर्ष्यालु और सतर्क है कि उसे सीमित करने के लिए साम्यवादी चीन से मित्रता करने में कोई हिचकिचाहट महसूस नहीं होती।

3. **नये शीत-युद्ध के नये अभिकर्ता**—पुराने शीत-युद्ध के मुख्य पात्र अमरीका और सोवियत संघ थे जबकि नये-शीत युद्ध के मुख्य पत्र हैं—अमरीका, ब्रिटेन, चीन, फ्रांस और सोवियत संघ। एक तरफ अमरीका, चीन, ब्रिटेन व फ्रांस है और दूसरी तरफ अकेला सोवियत संघ है।

4. **प्रतिस्पर्द्धा का नया क्षेत्र**—पुराने शीत-युद्ध में महाशक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता का मुख्य क्षेत्र यूरोप था। यद्यपि सीटो, सेण्टो जैसे संगठन बनाये गये थे परन्तु उस काल में नाटो संगठन ही लावा उगलता रहा। नये शीत-युद्ध काल में लावा उगलने वाले मुख्य क्षेत्र हैं फारस की खाड़ी, पश्चिमी एशिया, दक्षिण-पूर्व एशिया और हिन्द महासागर।

5. **नये शीत-युद्ध के सहभागी बनने में यूरोपीय देशों की हिचकिचाहट**—पुराने शीत-युद्ध में शामिल होने के लिए यूरोपीय देश मजबूर थे। चूंकि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अपनी सुरक्षा और आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए वे अमरीका पर निर्भर थे अतः उनके लिए अमरीकी विदेश नीति का अनुसरण करना अपरिहार्य था। अब स्थिति काफी वदल गयी है। फ्रांस और पश्चिमी जर्मनी अमरीकी विदेश नीति के पिछलग्गू बनकर नहीं रह सकते। न्यूट्रॉन बम का सफलतापूर्वक विस्फोट कर लेने से फ्रांस अब अपनी सुरक्षा के लिए अमरीका पर निर्भर नहीं है। पश्चिमी जर्मनी आर्थिक दृष्टि से न केवल आत्मनिर्भर है अपितु औद्योगिक और इलेक्ट्रॉनिक क्षेत्र में अमरीका को चुनौती देने की स्थिति में है। यही कारण है कि पश्चिमी जर्मनी और सोवियत संघ में आज व्यापार द्रुत गति से बढ़ रहा है।

6. **पुराना शीत-युद्ध निर्गुट आन्दोलन का प्रेरक तो नया शीत-युद्ध निर्गुट आन्दोलन का विभेदीकरण**—प्रथम शीत-युद्ध काल में निर्गुट आन्दोलन का अभ्युदय हुआ और निर्गुट आन्दोलन का उद्देश्य महाशक्तियों के मध्य सेतुबन्ध का कार्य करना था। दूसरे शीत-युद्ध काल मे निर्गुट राष्ट्र स्वयं गुटबन्दी के शिकार होते जा रहे हैं और निर्गुट मंच पर कुछ देश अमरीका की तरफदारी करने लगे हैं तो कुछ देश सोवियत संघ की तरफदारी।[1]

7. **महाविनाशकारी शस्त्रो के भण्डारों से लड़ा जाने वाला युद्ध**—दूसरा शीत-युद्ध महाविनाशकारी शस्त्रों के जमाव एवं भण्डारण से भय और मानसिक तनाव उत्पन्न करके लड़ा जा रहा है। महाशक्तियां प्रत्यक्ष टकराव की स्थिति के बजाय एजेण्टों के माध्यम से (Proxy wars) युद्धरत रहेंगी। डॉ० के० सुब्रामनियम ने अपनी पुस्तक "*The Second Cold War*" में स्पष्ट लिखा है—
"The Second Cold War will be contested throuth a high technology arms race and increasing interventions and pressures on the developing world. The super-powers in all likelihood will try to avoid direct confrontation and consequently engage in Proxy Wars."

8. **पहला शीत-युद्ध सोवियत मजबूरी था तो दूसरा शीत-युद्ध अमरीकी मजबूरी**—पहला शीत-युद्ध स्टालिन की उग्र आक्रामक नीतियों का परिणाम था। स्टालिन सोवियत शक्ति में वृद्धि करना चाहता था ताकि वह अमरीका के समान एक महाशक्ति बन सके। दूसरा शीत-युद्ध अमरीकी मजबूरियों का परिणाम है। आज अमरीका औद्योगिक सामान और इलेक्ट्रॉनिक्स में फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी और जापान के साथ प्रतिद्वन्द्विता नहीं कर सकता, अतः विश्व में शस्त्रों का निर्यात करना चाहता है क्योंकि यही एक ऐसा उद्योग है जहाँ उसे पश्चिमी देशों की प्रतिद्वन्द्विता सहन नहीं करनी पड़ती। शस्त्र उद्योग का विकास अमरीका की आर्थिक स्थिति में सुधार हेतु आवश्यक माना जा रहा है। इसलिए अमरीका नाटो के सैनिक बजट में वृद्धि चाहता है और मित्र राष्ट्रों का शस्त्रीकरण चाहता है। इसलिए उसने साल्ट वार्ताओ को स्थगित कर दिया और दितान्त को तिलांजलि देने की तैयारी कर ली।

---

1 K. Subrahmanyam, *The Second Cold War* (New Delhi, 1983), pp. 21-23.

के पास खाने को रोटी नहीं है, वे भी अपना पेट काटकर इन शस्त्रोत्पादक राष्ट्रों की जेबें भरते हैं। इसीलिए शस्त्र वेचने वाले ये राष्ट्र हथियार बेचने के साथ-साथ यह नजर भी रखते हैं कि दूसरे राष्ट्र को हथियारों की जरूरत भी हमेशा वनी रहे यानी उनके बीच युद्ध होते रहें।

8. **स्टारवार्स (अन्तरिक्ष युद्ध) परियोजना**—स्टारवार्स—यह नाम ही कुछ अजब, रहस्यमय और कल्पना की उड़ान सा लगता है। 23 मार्च, 1983 को राष्ट्रपति रीगन ने राष्ट्र को सम्बोधित करते हुए 'स्टारवार्स' सम्बन्धी घोषणी की। स्टारवार्स—यानी अरबों डालरों से निर्मित हो रही अमरीका की नयी प्रतिरक्षा परियोजना। अनुसंधान का उद्देश्य है हमला रोकने के लिए बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्रों से सुरक्षा की हाल में विकसित टेक्नोलोजी के उपयोग के तरीके खोजना, ताकि अमरीका अपनी और अपने मित्र राष्ट्रों की सुरक्षा कर सके। स्टारवार्स अभियान के तहत लगभग दो हजार युद्धयान अन्तरिक्ष में तैरेंगे और आधुनिकतम आयुधों से घुसपैंठिया-प्रक्षेपास्त्रों को नष्ट करेंगे। नये अस्त्रों की खोज जारी है—एक तरीका है न्यूक्लीय और इलेक्ट्रॉन कणों से युक्त सशक्त प्लाज्मा किरणों का प्रयोग। प्लाज्मा किरणें शक्तिशाली से शक्तिशाली लेजर किरणों से भी कई सौ गुना प्रभावशाली हैं। प्लाज्मा किरणों के साथ-साथ शक्तिशाली एक्स किरणों पर भी काम हो रहा है। रीगन की नजरों में यह एक ऐसा रक्षा कवच है जो शत्रु को बेअसर साबित कर देगा।

परमाणु अस्त्रों की दौड़ रोकने का दम भरने वाली यह परियोजना क्या अन्तरिक्ष अस्त्रों की एक नयी होड़ शुरू होने से रोक सकेगी ?

रोनाल्ड रीगन के ह्वाइट हाउस में प्रवेश लेते ही शस्त्र उद्योग को वढ़ावा दिया गया, शस्त्रों की होड़ तेज की गयी, मित्र राष्ट्रों को विशेषकर पाकिस्तान को एफ-16 जैसे वायुयानों एवं खतरनाक अस्त्रों से लैस किया गया, नाटो के सुरक्षा बजट में वृद्धि की गयी, खाड़ी क्षेत्र मे तत्काल कार्यवाही करने के उद्देश्य से अमरीकी द्रुतगामी सेना का गठन किया गया। ये हरकतें विश्वास दिलाती हैं कि दूसरा शीत-युद्ध जारी है।

नये (दूसरे) शीत-युद्ध की प्रकृति
अथवा
पुराने और नये शीत-युद्ध में भिन्नताएँ

[NATURE OF THE NEW (THE SECOND) COLD WAR]
OR
(DIFFERENCES BETWEEN THE OLD AND THE NEW COLD WAR)

दूसरा शीत-युद्ध पहले शीत-युद्ध से काफी भिन्न है। इसकी प्रकृति और विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

1. **सोवियत संघ विरोधी न कि साम्यवाद विरोधी**—पुराना शीत-युद्ध साम्यवाद विरोधी था। उसका मूल उद्देश्य 'साम्यवाद का अवरोध' (Containment of Communism) था। इसके विपरीत नया शीत-युद्ध सोवियत संघ विरोधी है, इसका उद्देश्य सोवियत-संघ की बढ़ती हुई शक्ति और प्रभाव का प्रतिरोध करना है।

2. **विचारधारा के दायरे से परे**—पुराना शीत-युद्ध विचारधारा के घेरे में लड़ा गया था। उसका दायरा 'पूंजीवाद' बनाम 'साम्यवाद' अथवा 'लोकतन्त्र' बनाम 'सर्वहारातन्त्र' का अधिनायकवाद था जबकि नया शीत-युद्ध विचारधारा के घेरे में नहीं लड़ा जा रहा है। इस युद्ध में साम्यवादी चीन पूंजीवादी अमरीका के साथ है। नये शीत-युद्ध का मुख्य आधार उपयोगिता और न्यस्त स्वार्थ है न कि विचारधारा। सोवियत शक्ति और प्रभाव के विस्तार के प्रति अमरीका इतना ईर्ष्यालु और सतर्क है कि उसे सीमित करने के लिए साम्यवादी चीन से मित्रता करने में कोई हिचकिचाहट महसूस नहीं होती।

3. **नये शीत-युद्ध के नये अभिकर्ता**—पुराने शीत-युद्ध के मुख्य पात्र अमरीका और सोवियत संघ थे जबकि नये-शीत युद्ध के मुख्य पत्र हैं—अमरीका, ब्रिटेन, चीन, फ्रांस और सोवियत संघ। एक तरफ अमरीका, चीन, ब्रिटेन व फ्रांस है और दूसरी तरफ अकेला सोवियत संघ है।

4. **प्रतिस्पर्द्धा का नया क्षेत्र**—पुराने शीत-युद्ध में महाशक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता का मुख्य क्षेत्र यूरोप था। यद्यपि सीटो, सेण्टो जैसे सगठन बनाये गये थे परन्तु उस काल में नाटो संगठन ही लावा उगलता रहा। नये शीत-युद्ध काल में लावा उगलने वाले मुख्य क्षेत्र हैं फारस की खाड़ी, पश्चिमी एशिया, दक्षिण-पूर्व एशिया और हिन्द महासागर।

5. **नये शीत-युद्ध के सहभागी बनने में यूरोपीय देशों की हिचकिचाहट**—पुराने शीत-युद्ध में शामिल होने के लिए यूरोपीय देश मजबूर थे। चूंकि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अपनी सुरक्षा और आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए वे अमरीका पर निर्भर थे अतः उनके लिए अमरीकी विदेश नीति का अनुसरण करना अपरिहार्य था। अब स्थिति काफी बदल गयी है। फ्रांस और पश्चिमी जर्मनी अमरीकी विदेश नीति के पिछलग्गू बनकर नहीं रह सकते। न्यूट्रॉन बम का सफलतापूर्वक विस्फोट कर लेने से फ्रांस अब अपनी सुरक्षा के लिए अमरीका पर निर्भर नहीं है। पश्चिमी जर्मनी आर्थिक दृष्टि से न केवल आत्मनिर्भर है अपितु औद्योगिक और इलेक्ट्रॉनिक क्षेत्र में अमरीका को चुनौती देने की स्थिति में है। यही कारण है कि पश्चिमी जर्मनी और सोवियत सघ में आज व्यापार द्रुत गति से बढ़ रहा है।

6. **पुराना शीत-युद्ध निर्गुट आन्दोलन का प्रेरक तो नया शीत-युद्ध निर्गुट आन्दोलन का विभेदीकरण**—प्रथम शीत-युद्ध काल मे निर्गुट आन्दोलन का अभ्युदय हुआ और निर्गुट आन्दोलन का उद्देश्य महाशक्तियों के मध्य सेतुबन्ध का कार्य करना था। दूसरे शीत-युद्ध काल मे निर्गुट राष्ट्र स्वय गुटबन्दी के शिकार होते जा रहे हैं और निर्गुट मंच पर कुछ देश अमरीका की तरफदारी करने लगे है तो कुछ देश सोवियत संघ की तरफदारी।[1]

7. **महाविनाशकारी शस्त्रों के भण्डारों से लड़ा जाने वाला युद्ध**—दूसरा शीत-युद्ध महाविनाशकारी शस्त्रों के जमाव एवं भण्डारण से भय और मानसिक तनाव उत्पन्न करके लड़ा जा रहा है। महाशक्तियाँ प्रत्यक्ष टकराव की स्थिति के बजाय एजेण्टों के माध्यम से (Proxy wars) युद्धरत रहेगी। डॉ० के० सुब्रामनियम ने अपनी पुस्तक *"The Second Cold War"* में स्पष्ट लिखा है—"The Second Cold War will be contested throuth a high technology arms race and increasing interventions and pressures on the developing world. The superpowers in all likelihood will try to avoid direct confrontation and consequently engage in Proxy Wars."

8. **पहला शीत-युद्ध सोवियत मजबूरी था तो दूसरा शीत-युद्ध अमरीकी मजबूरी**—पहला शीत-युद्ध स्टालिन की उग्र आक्रामक नीतियों का परिणाम था। स्टालिन सोवियत शक्ति मे वृद्धि करना चाहता था ताकि वह अमरीका के समान एक महाशक्ति बन सके। दूसरा शीत-युद्ध अमरीकी मजबूरियों का परिणाम है। आज अमरीका औद्योगिक सामान और इलेक्ट्रॉनिक्स मे फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी और जापान के साथ प्रतिद्वन्द्विता नही कर सकता, अतः विश्व में शस्त्रों का निर्यात करना चाहता है क्योकि यही एक ऐसा उद्योग है जहाँ उसे पश्चिमी देशों की प्रतिद्वन्द्विता सहन नही करनी पड़ती। शस्त्र उद्योग का विकास अमरीका की आर्थिक स्थिति में सुधार हेतु आवश्यक माना जा रहा है। इसलिए अमरीका नाटो के सैनिक बजट में वृद्धि चाहता है और मित्र राष्ट्रों का शस्त्रीकरण चाहता है। इसलिए उसने साल्ट वार्ताओ को स्थगित कर दिया और दितान्त को तिलांजलि देने की तैयारी कर ली।

---

1 K. Subrahmanyam, *The Second Cold War* (New Delhi, 1983), pp. 21-23.

जर्मनी और जापान आर्थिक और तकनीकी क्षेत्र में अमरीका को चुनौती दे रहे हैं। विकासशील निर्गुट राष्ट्र उसे राजनीतिक क्षेत्र में चुनौती दे रहे हैं। आर्थिक, राजनीतिक और तकनीकी चुनौतियों का सामना करने के लिए अमरीका सैनिक शक्ति के निर्माण (Military Build-up) की नीति अपना रहा है। क्या सोवियत संघ से प्रतिद्वन्द्विता करके अमरीका बदलती हुई अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था में अपनी खोई प्रतिष्ठा पुनः अर्जित कर पायेगा ?

दूसरे शीत-युद्ध की कालावधि की प्रमुख घटनाएँ
(MAJOR EVENTS DURING THE SECOND COLD WAR)

दूसरे शीत-युद्ध की शुरूआत कब से हुई ? ऐसा माना जाता है कि इसकी शुरूआत सन् 1978 के मध्य से हो चुकी थी। राष्ट्रपति कार्टर के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार ब्रेजेन्स्की ने अपनी पुस्तक '*Power and Principles*' में लिखा है कि 1978 में सोवियत संघ ने इथियोपिया में क्यूबाई सैनिकों को भेजा था जिसकी प्रतिक्रियास्वरूप मैंने अमरीका की ओर से 'बेरियर टास्क फोर्स' भेजने की बात कही थी। अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप ने साल्ट वार्ता के कफन में अन्तिम कील मार दी।

1975 में अंगोला में सोवियत संघ ने क्यूबा से मिलकर एम० पी० एल० ए० का साथ दिया जबकि अमरीका ने यूनिटा का साथ दिया। अंगोला में अन्तिम विजय क्यूबा-सोवियत संघ द्वारा समर्थित एम० पी० एल० ए० की हुई। 1978 में सोवियत संघ और क्यूबा ने मिलकर इथियोपिया के ओगादान क्षेत्र पर अमरीका समर्थित सोमालिया के आक्रमण को विफल कर दिया। दिसम्बर 1979 में जैसे ही अफगानिस्तान में सोवियत सेना पहुँची, राष्ट्रपति कार्टर ने इसका प्रबल विरोध किया। अमरीकी सीनेट से साल्ट-2 पर बहस रुकवा दी[1] और सोवियत शक्ति के विस्तार को रोकने के लिए **खाड़ी सिद्धान्त, द्रुतगामी परिनियोजन सेना और सोवियत परमाणु सिद्धान्त** का निर्माण किया गया। **खाड़ी सिद्धान्त** का निर्माण 24 जनवरी, 1980 को अमरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति कार्टर ने काँग्रेस को भेजे गये अपने वार्षिक संदेश में किया था। उन्होंने अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप को विश्व शान्ति के लिए एक गम्भीर खतरे की संज्ञा दी। उन्होंने चेतावनी देते हुए कहा कि 'किसी बाह्य शक्ति द्वारा खाड़ी क्षेत्र पर नियन्त्रण के प्रयास को अमरीका के आवश्यक हितों पर आक्रमण समझा जायेगा और उसे सैनिक शक्ति सहित, किन्हीं आवश्यक साधनों द्वारा खदेड़ दिया जायेगा।" कार्टर की यह चेतावनी **'खाड़ी सिद्धान्त'** के नाम से प्रसिद्ध है। **द्रुतगामी परिनियोजित सेना** (Rapid Deployment Force) का निर्माण मूलतः खाड़ी सिद्धान्तों के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया गया। यदि सोवियत संघ फारस की खाड़ी के किसी देश में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न करता है तो यह सेना उसे तत्काल खदेड़ने का प्रयत्न करेगी। **सीमित परमाणु आक्रमण सिद्धान्त** के अनुसार अमरीका सोवियत संघ द्वारा किसी विशिष्ट क्षेत्र या देश में आयोजित युद्ध को परम्परागत युद्ध के आधार पर नहीं लड़ेगा अपितु विशिष्ट रूसी निशानों पर स्वयं सीमित परमाणु आक्रमण का सहारा लेगा।

ऐसा कहा जाता है कि कैनेडी-मेक्नामारा टीम ने 1960 के दशक में शस्त्रों के निर्माण का जो कार्यक्रम बनाया था, राष्ट्रपति कार्टर ने उससे भी विशाल स्तर पर शस्त्रीकरण की पहल की।[2]

---

1 SALT lies buried in the sands of Ogaden. – Zbigniew Brezezinski in '*Power and Principle*'.

2 "It needs to be noted that after the mammoth arms build-up programme Kennedy. Mcnammara team in the sixties, the largest, arnaments programme was initiated by Carter. While he cancelled the B-1 bomber programme and agreed not to deploy neutron bombs in Europe, Carter did go ahead with the stealth bomber. Trident sub-marine, 200 MX missiles on mobile road shelter basing, Pershing IIs, croise missile and manufacture of neutron bomb components. Excepting the ABM all other modem weapon programmes were begun before Reagan took office."

—K. Subrahmanyam, *The Second Cold War* (1983), p. 11.

जून 1981 में अमरीका के भूतपूर्व विदेशमन्त्री अलेक्जेण्डर हेग और चीन के विदेशीमन्त्री हुआंग हुआ की पीकिंग वार्ता के फलस्वरूप 'विश्व में सोवियत विस्तारवाद को रोकने के लिए' दोनों देशों में समझौता हुआ।

1980 में मास्को में आयोजित ओलम्पिक खेलों का अमरीका और पश्चिमी यूरोप के अनेक देशों द्वारा बहिष्कार किया गया।

सितम्बर 1983 के कोरियाई नागरिक जम्बो विमान (जिसमें 269 यात्री सवार थे) न्यूयार्क से दक्षिण कोरिया की राजधानी सिओल की सामान्य उड़ान पर सोवियत क्षेत्र से गुजर रहा था। सोवियत वायुसेना के अधिकारियों को विमान की गतिविधियाँ शायद संदिग्ध लगीं। सोवियत सूत्रों के अनुसार, विमान बिना बत्तियों के उड़ रहा था और उसकी बनावट बहुत कुछ अमरीकी जासूसी यान आर० सी० 135 से मिलती थी। इन संदेहजनक परिस्थितियों में रूस ने उस विमान को ध्वस्त कर दिया। ध्वस्त विमान में 55 अमरीकी नागरिक भी यात्रा कर रहे थे। अतः रूसी कार्यवाही की बड़ी उग्र प्रतिक्रिया अमरीका में हुई। अमरीका ने मामले को संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद में भी उठाया, जहाँ अमरीका समेत अनेक राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने रूस की कड़ी निन्दा की। सोवियत संघ से क्षतिपूर्ति की माँग करने के साथ-साथ अमरीका ने कई आर्थिक-सांस्कृतिक क्षेत्रों में चल रही रूस-अमरीकी वार्ताओं के निलम्बन की घोषणा की।

दक्षिणी कोरिया के विमान को रूस द्वारा मार गिराये जाने की अमरीका में सबसे तीखी प्रतिक्रिया हुई। सितम्बर 1983 में आरम्भ संयुक्त राष्ट्र महासभा अधिवेशन में भाग लेने के लिए रूसी विमान से आने वाले वहाँ के विदेशमन्त्री श्री ग्रोमिको को अमरीका ने आवश्यक सुरक्षा प्रदान करने में असमर्थता प्रकट कर दी। इस पर रूस की सरकार ने यह माँग की कि संयुक्त राष्ट्र मुख्यालय को अमरीका से हटाया जाये।

अक्टूबर 1983 में अमरीका ने ग्रेनेडा में फौजी हस्तक्षेप किया। अमरीका का कहना था कि उसने ग्रेनेडा में सम्भावित सोवियत-क्यूबाई सैन्य जमाव को रोकने एवं उस द्वीप में स्थित एक हजार अमरीकी नागरिकों की सुरक्षा के लिए वहाँ फौजी कार्यवाही की।

पश्चिम यूरोप में मध्य दूरी की मार वाले अमरीकी प्रक्षेपास्त्र स्थापित करने की योजना ने दूसरे शीत-युद्ध में घी की आहुति का काम किया है। सोवियत रूस के कुछ मध्यमस्तरीय प्रक्षेपास्त्र पहले ही चैकोस्लोवाकिया और जर्मनी में स्थापित थे। लेकिन उनकी संख्या प्रस्तावित अमरीकी यूरोपीय प्रक्षेपास्त्रों से बहुत कम थी। अतः रूस ने अमरीकी-यूरोपीय योजना का विरोध किया और इस मसले पर सामूहिक वार्ता का प्रस्ताव किया। नवम्बर 1981 में जिनेवा में हुई वार्ता विफल रही और 15-23 नवम्बर (1983) में कई पश्चिमी यूरोपीय देशों में क्रूज और पार्शिग प्रक्षेपास्त्रों की आमद और स्थापना शुरू हो गयी, जिनकी मार लगभग 2,500-3,000 किलोमीटर तक है। इसके बाद रूस ने जिनेवा वार्ता से 'वाक आउट' कर दिया।

पूर्वी जर्मनी के नेता होनेकर 26 सितम्बर, 1984 को पश्चिम जर्मनी जाते-जाते रुक गये। क्रेमलिन ने इंकार कर दिया। कार्यक्रम बनते वक्त भी क्रेमलिन ने मना किया था पर होनेकर ने गम्भीरता से नहीं लिया। सोवियत दबाव बढ़ता गया और आखिर यात्रा रद्द कर देनी पड़ी। पिछले दशक के दितान्त पर सोवियत संघ की मुहर थी इसलिए उस वक्त का मेल-मिलाप क्रेमलिन की छूट से ही था। दितान्त अब ठण्डे बस्ते में है।[1]

अप्रैल 1986 में पूर्व जर्मनी की कम्युनिस्ट पार्टी की 11वीं कांग्रेस में सोवियत नेता गोर्वाच्योव ने अमरीका द्वारा लीबिया के विरुद्ध की गयी कार्यवाही पर तीखा प्रहार किया। सन् 1986

---

1 जनसत्ता, 10 दिसम्बर, 1984।

के उत्तरार्द्ध में अमरीकी स्टारवार्स कार्यक्रम के विरुद्ध रूस ने भी जबावी कार्यवाही आरम्भ कर दी। सोवियत वैज्ञानिकों की एक विशेष समिति ने कहा कि अमरीकी कार्यक्रम के विरुद्ध प्रतिरोधी और अप्रतिरोधी दोनों तरह के उपाय किये जायेंगे। प्रतिरोधी कार्यवाही के अन्तर्गत छोटे प्रक्षेपास्त्रों, अतिरिक्त विस्फोटकों और उच्च क्षमता वाले लेसर शस्त्रास्त्रों का विकास किया जायेगा। 26 फरवरी, 1987 को (डेढ़ वर्ष बाद) सोवियत संघ ने अपने ऊपर लगाये गये प्रतिवन्ध को समाप्त करते हुए पहला परमाणु परीक्षण किया। उसने अपना अन्तिम परीक्षण 25 जुलाई, 1985 को किया था। उसने अमरीका को चेतावनी दी कि यदि 1987 में अमरीका ने परमाणु परीक्षण किया तो वह भी इसे पुनः शुरू कर देगा। 7 सितम्बर, 1987 को पूर्वी जर्मनी के नेता होनेकर ने पश्चिमी जर्मनी की यात्रा प्रारम्भ की तो यात्रा से पूर्व सोवियत संघ ने प० जर्मनी को चेतावनी दी कि वह दोनों जर्मनी के विचार व व्यवहार के बारे में श्री होनेकर से कोई वार्ता न करे और न पूर्वी जर्मनी को वार्सा पैक्ट संगठन से अलग करने का प्रयास किया जाय। सन् 1988 के प्रारम्भ में राष्ट्रपति रीगन द्वारा कांग्रेस को प्रस्तुत दस्तावेज यह संकेत करते हैं कि सोवियत संघ के प्रति अविश्वास अब भी अमरीका की राष्ट्रीय नीति का आधार बना रहेगा। जून 1988 की रीगन-गोर्वाच्योव शिखर वार्ता में 'स्टार्ट सन्धि' के बारे में कोई प्रगति नहीं हो सकी। रीगन ने मास्को प्रवास के दौरान रूसी असन्तुष्टों से भेंट की और मानव अधिकारों का प्रश्न उठाया। इस पर तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए गोर्वाच्योव ने कहा कि यह रूस के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप है।

दूसरे शीत-युद्ध को शुरू करने के अमरीकी उद्देश्य
(AMERICA'S OBJECTIVES OF STARTING THE SECOND COLD WAR)

यह एक तथ्य है कि दूसरे शीत-युद्ध की शुरूआत का कारण राष्ट्रपति कार्टर और रोनाल्ड रीगन की उग्र नीतियां रही हैं। दूसरे शीत-युद्ध की शुरूआत करने के पीछे अमरीका के निम्न उद्देश्य रहे हैं: (i) सोवियत संघ की शक्ति एवं प्रभाव के विस्तार को रोकना। (ii) अफगानिस्तान को सोवियत संघ का वियतनाम बनाना। (iii) शस्त्र बेचकर डालर कमाना ताकि अमरीकी अर्थ-व्यवस्था में सुधार हो सके। (iv) अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति के रूप में अमरीकी प्रतिष्ठा और विश्वस-नीयता बनाये रखना।

दूसरे शीत-युद्ध के परिणाम
(THF CONSEQUENCES OF THE SECOND COLD WAR)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दूसरे शीत-युद्ध के सम्भावित परिणाम निम्नलिखित हैं: (i) महा-शक्तियों के मध्य दितान्त भावना के विकास को झटका लगा है। शान्तिपूर्ण प्रतिद्वन्द्विता का स्थान उग्र और आक्रामक राजनीतिक-सैनिक प्रतिद्वन्द्विता ने ले लिया है। (ii) महाशक्तियों के मध्य शस्त्रों की होड़ पुनः प्रारम्भ हुई और साल्ट वार्ताएँ स्थगित कर दी गयीं। (iii) महाशक्तियों के बीच तनाव के नये केन्द्र उत्पन्न हो गये हैं जैसे, हॉर्न ऑफ अफ्रीका; लेटिन अमरीका, फारस की खाड़ी आदि। (iv) युद्ध मनोदशा और युद्ध उन्माद का युग पुनः प्रारम्भ हो रहा है। पुराने सैनिक अड्डों का विस्तार, नये सैनिक अड्डों की खोज, नये शस्त्रों की खोज, द्रुतगामी परिनियोजित सेना इसी मनोवृत्ति को अभिव्यक्त करती है। पुराने शीत-युद्धकाल में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया जबकि दूसरे शीत-युद्ध में इसकी विशिष्ट भूमिका की कोई गुंजाइश आरम्भ से ही नहीं रही। संकट केन्द्रों के स्थानान्तरण से स्वयं अनेक गुटनिरपेक्ष देश आपसी झगड़ों में फँस गये और अपने समर्थन के लिए एक न एक महाशक्ति का आश्रय ढूँढ़ने लगे।

दूसरे शीत-युद्ध का प्रभाव समूचे विश्व में महसूस किया जा रहा है। औद्योगिक विश्व में इसका प्रभाव मूलतः आर्थिक होगा जबकि विकासशील देशों की दुनिया में न केवल आर्थिक होगा

अपितु हस्तक्षेपवादी नीतियों के कारण राजनीतिक और सैनिक होगा। कोई महाशक्ति शीत-युद्ध में विजय-श्री हासिल नहीं कर पायेगी किन्तु वे और समूचा विश्व इसमें बहुत कुछ खो अवश्य देंगे।[1]

रूसी नेता गोर्वाच्योव की उदार शान्तिवादी नीतियों, रूस-अमरीका में हुआ निरस्त्रीकरण समझौता, 1987, अफगान संकट के समाधान का जेनेवा समझौता (अप्रैल 1988), बर्लिन की दीवार का पतन (नवम्बर 1989), बुश-गोर्वाच्योव शिखर वार्ता (दिसम्बर 1989), शायद यह संकेत देते हैं कि महाशक्तियाँ टकराव से पुनः संवाद की ओर उन्मुख होने में ही अपना लाभ समझती है।

प्रश्न

1. दूसरे शीत-युद्ध के कारणों की विवेचना कीजिए। पहला शीत-युद्ध दूसरे शीत-युद्ध की प्रकृति से किस प्रकार भिन्न है?
   Discuss the causes of the second cold war. How the nature of second cold war differs from the first ?
2. दूसरे शीत-युद्ध के घटनाक्रम की समीक्षात्मक विवेचना कीजिए। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दूसरे शीत-युद्ध के सम्भावित परिणामों का भी उल्लेख कीजिए।
   Critically examine the possible events leading towards the second cold war. Also discuss the possible consequences of the second cold war in International Politics.
3. "अमरीका और सोवियत संघ के बीच पारस्परिक सहयोग के वे सारे आधार एक-एक करके अब नष्ट किये जा रहे हैं जिनके सहारे पिछले दो दशकों में ऐसी सम्भावना बढ़ गयी थी कि दोनों महाशक्तियाँ मिल-जुलकर विश्व राजनीति की गतिशीलता को अपने नियन्त्रण में ले लेंगी।"
   ये आधार क्या थे और क्या सचमुच नष्ट किये जा रहे हैं?
   "All those pillars of mutual co-operation between the U.S.A. and the U.S.S.R., appears, are being destroyed one by one, on the basis of which, during the last two decades, the possibility of super power in alliance effectively controlling the dynamics of world politics had grown."
   What are those pillars and do you think these are really being destroyed ?
4. क्या वर्तमान रूस-अमरीकी सम्बन्धों को 'शान्तिमय प्रतिस्पर्द्धा' की संज्ञा दी जा सकती है? कारण बताइए।
   Can the present Russo-American relations be described as that of "peaceful competition" ? Give reasons.

---

[1] "The impact of the second cold war will be felt all over the world. In the industrialised worlds its impact will be mostly economic but in the developing world it will be not only economic but also political and military through intervetionism."
—K. Subrahmanyam, *The Second Cold War* (New Delhi, 1983), pp. 24-25.

9

प्रादेशिक संगठन और सैनिक सन्धियाँ

[REGIONAL ORGANISATIONS AND MILITARY ALLIANCES]

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद **प्रादेशिक और सैनिक संगठनों** की भरमार रही है। इन संगठनों का निर्माण विश्वशान्ति की स्थापना की दृष्टि से किया गया है। किन्तु इनसे विश्वशान्ति की समस्या सुलझने के बजाय और अधिक उलझ गयी है। प्रदेशवाद की उत्पत्ति का मुख्य कारण महाशक्तियों का पारस्परिक अविश्वास, साम्यवाद का प्रसार और सैनिक सुरक्षा जैसे तत्व रहे हैं। प्रदेशवाद अथवा सैनिक सन्धि से अभिप्राय है दो या अधिक राज्यों की ऐसी व्यवस्था जिसमें सदस्य राज्य अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि करके यह प्रतिज्ञा करते हैं कि बाह्य राज्य या राज्यों द्वारा की जाने वाली किसी विशेष कार्यवाही के समय वे एक-दूसरे की सहायता के लिए आयेंगे। "इस प्रतिज्ञा में सैनिक कार्यवाही सदैव निहित होती है। यद्यपि आर्थिक, सामाजिक और असैनिक प्रादेशिक संगठन भी हो सकते हैं, तथापि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में जिस प्रदेशवाद या प्रादेशिक संगठन की चर्चा की जाती है वह प्रायः सैनिक संगठन होता है।"[1]

जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में "सैनिक सन्धियों की पद्धति……एक गलत पद्धति, एक भयानक पद्धति और एक हानिकारक पद्धति है। वह सभी अनुचित प्रवृत्तियों को गति देती है और उचित प्रवृत्तियों के विकास को रोकती है।……हमारा विचार है कि (सैनिक सन्धियाँ) विश्व को एक गलत दिशा की ओर ढकेलती है ….।"

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ के मध्य उत्पन्न शीत-युद्ध का अन्ततोगत्वा परिणाम सैनिक संगठनों का अभ्युदय है। सैनिक सन्धियों को आरम्भ करने का श्रेय ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री चर्चिल को है जिसने अपने फुल्टन भाषण में 'साम्यवाद का परिरोधन' (Containment of Communism) का नारा लगाया। अमरीकी सीनेटर वेण्डनवर्ग ने सीनेट में शान्ति के लिए राष्ट्रों के विशेष गुटों की श्रृंखला निर्मित करने पर जोर दिया है। परिणामस्वरूप सुरक्षात्मक सैनिक संगठनों का उदय हुआ जिसमें अमरीकी राज्यों का संगठन (OAS), नाटो (NATO), एन्जस (ANZUS), बगदाद पैक्ट (CENTO), वार्सा पैक्ट (Warsaw Treaty) आदि प्रमुख हैं।

प्रादेशिक संगठनों की प्रकृति (Nature of Regional Organisations)

अर्वाचीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रादेशिक संगठनों की महत्वपूर्ण भूमिका है। इन प्रादेशिक संगठनों की स्थापना का उद्देश्य आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का समाधान करना

---

[1] श्लीचर : **इण्टरनेशनल रिलेशन्स** (1962), पृ० 304-305।

अथवा प्रादेशिक सुरक्षा व्यवस्था करना है। कतिपय विचारकों की मान्यता है कि सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्यों में समानता रखने वाले देशों का पारस्परिक संगठन विश्वव्यापी संगठन की अपेक्षा शान्ति बनाये रखने की दिशा में अधिक सफल हो सकता है। प्रादेशिक संगठन के माध्यम से स्वतन्त्र और सम्प्रभु राज्य प्रादेशिक हितों की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहते है।

डॉ० ई० एन० वान क्लेफेन्स के शब्दों में, "प्रादेशिक व्यवस्था या सन्धि एक निश्चित क्षेत्र के अन्दर सम्प्रभु राज्यों का स्वेच्छा से बनाया गया एक सघ है जो सामान्य हितों की पूर्ति के लिए बनाया गया हो और वह उस क्षेत्र के सम्बन्ध में आक्रामक प्रकृति का नहीं होना चाहिए।"

अन्तर्राष्ट्रीय प्रादेशिकता का यह अर्थ नहीं है कि एक प्रदेश में केवल एक ही संगठन हो सकता है, उसमें एक समय पर अनेक संगठन हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, पश्चिमी यूरोप में अनेक प्रादेशिक संगठन हैं जैसे ब्रूसेल्स सन्धि, नाटो, यूरोपीय साझा बाजार आदि। प्रदेशवाद का यह अर्थ भी नहीं है कि क्षेत्र के सभी राज्य क्षेत्रीय-व्यवस्था में शामिल ही हों। कोई राज्य राजनीतिक या अन्य किसी कारण से प्रादेशिक संगठन में शामिल होने से इन्कार कर सकता है। उदाहरणार्थ, स्पेन नाटो का सदस्य नहीं है, भारत सीटो का सदस्य नहीं बना। यह भी आवश्यक नही है कि प्रादेशिक संगठनों को केवल सैनिक दृष्टि से ही बनाया जाये। इसका निर्माण क्षेत्रीय विकास या आर्थिक या सांस्कृतिक विकास के लिए भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, नाटो और वारसा पैक्ट सैनिक संगठन हैं जबकि एशियान का उद्देश्य आर्थिक विकास और दक्षेस (सार्क) जन कल्याण, पारस्परिक सहयोग और परस्पर विश्वास पैदा करने के लिए स्थापित किया गया है।

प्रादेशिक संगठनों की उपादेयता
(UTILITY OF REGIONAL ORGANISATIONS)

विश्व शान्ति और सुरक्षा के उद्देश्य से संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में सदस्य राष्ट्रों को प्रादेशिक संगठनों के निर्माण की इजाजत दी गयी। इनकी उपादेयता के निम्नलिखित आधार है :

(1) **क्षेत्रीय सहयोग और एकता की स्थापना**—प्रादेशिक संगठन अपने सदस्य देशों में क्षेत्रीय सहयोग एवं एकता स्थापित करते हैं। एक क्षेत्र के देशों की समान समस्याओं तथा हितों के कारण उनमें सहयोग एवं एकता की स्थापना आवश्यक हो जाती है। क्षेत्र के विभिन्न राष्ट्र क्षेत्रीय संगठन बनाकर आपस में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में सहयोग कर लाभ उठाते है।

(2) **बाहरी हस्तक्षेप का डटकर मुकाबला**—प्रादेशिक संगठनों में आम तौर पर यह प्रावधान रखा जाता है कि क्षेत्र के किसी एक देश में बाहरी हस्तक्षेप होने पर संगठन के अन्य सदस्य उस देश की सहायता करेंगे।

(3) **अन्तर-क्षेत्रीय समस्याओं का क्षेत्रीय स्तर पर हल ढूंढ़ना**—प्रादेशिक संगठन अन्तर-क्षेत्रीय समस्याओं को क्षेत्रीय स्तर पर हल ढूंढ़ने में अन्य संगठनों की अपेक्षा अधिक कामयाब हो सकते हैं। यदि किसी क्षेत्र के किन्हीं दो राष्ट्रों में किसी मसले को लेकर विवाद है तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ले जाने से दोनों देशों में कटुता बढ़ेगी। यदि प्रादेशिक संगठन अपने इन सदस्य देशों के आपसी विवाद का हल ढूंढ़ने में कामयाब रहते हैं तो अनावश्यक द्वेष से बचा जा सकता है।

(4) **संयुक्त राष्ट्र संघ का कार्य सुगम बनाना**—संयुक्त राष्ट्र संघ में समस्त प्रादेशिक समस्याओं पर अपेक्षित ध्यान दिया जाना मुश्किल ही नहीं वरन् कभी-कभी असम्भव भी हो जाता है। यदि छोटी-मोटी क्षेत्रीय समस्याओं को प्रादेशिक संगठनों द्वारा क्षेत्रीय स्तर पर ही हल कर लिया जाये तो संयुक्त राष्ट्र संघ का कार्य हल्का हो जायेगा। इससे संयुक्त राष्ट्र संघ शेष जटिल प्रादेशिक समस्याएँ सुलझाने पर अधिक ध्यान दे सकेगा।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर तथा प्रादेशिक संगठन—संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अध्याय VIII, अनुच्छेद 52 से 54 में प्रादेशिक संगठनों के बारे में दृष्टिकोण स्पष्ट किया गया है।

चार्टर के अनुच्छेद 33 मे झगड़ों को शान्तिमय तरीकों से निपटाने के लिए प्रादेशिक व्यवस्थाओं के प्रयोग की आज्ञा दी गयी है। अनुच्छेद 52 के अनुसार 'चार्टर की कोई धारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए स्थापित एवं निर्मित क्षेत्रीय संस्थाओं और व्यवस्थाओं के विरुद्ध नही है, शर्त यह है कि ऐसी संस्थाएँ एवं व्यवस्थाएँ तथा उनकी गतिविधियाँ संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों या सिद्धान्तों के अनुकूल हों।'

संक्षेप में, प्रादेशिक संगठनों को सयुक्त राष्ट्र संघ की मान्यता प्राप्त है। संघ के चार्टर में प्रादेशिक व्यवस्थाओं को मान्यता देने का उद्देश्य संघ को शान्ति और सुरक्षा कार्यों में सहायता देना था किन्तु इन संगठनो की प्रवृत्ति और भूमिका कुछ ऐसी रही है कि शान्ति बनाये रखने की अपेक्षा विश्व में अशान्ति का वातावरण पैदा करने का कारण बन रहे है।

प्रादेशिक संगठनों के प्रकार—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद निर्मित प्रादेशिक सगठनों को मोटे रूप से दो भागो में विभाजित किया जा सकता है—**प्रथम,** वे संगठन जिनका उद्देश्य आर्थिक विकास, राजनीतिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक और जनकल्याण के क्षेत्र मे कार्य करना है, जैसे अरब लीग, अफ्रीकी एकता संगठन, एशियान, सार्क जैसे संगठन। **द्वितीय,** वे संगठन जो सैनिक सन्धि की भाँति हैं, जैसे नाटो, सेण्टो, सीटो, वारसा पैक्ट आदि।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद निर्मित आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सहयोग के लिए प्रादेशिक संगठन

(REGIONAL ORGANISATIONS FORMED FOR ECONOMIC, SOCIAL AND POLITICAL CO-OPERATION AFTER THE SECOND WORLD WAR)

1. अरब संघ (लीग) (The Arab League)

अरब संघ अथवा अरब लीग एक प्रादेशिक व्यवस्था है जो अरब समझौते पर आधारित है। इसका निर्माण ब्रिटिश सहयोग से 22 मार्च, 1945 को हुआ। मिस्र, इराक, सीरिया, लेबनान, जोर्डन, सऊदी अरब और यमन इसके सात प्रारम्भिक सदस्य थे। बाद में लीबिया, सूडान, ट्यूनीशिया, मोरक्को, कुवैत, अल्जीरिया, ओमान, कतार, सोमालिया, दक्षिण यमन, संयुक्त अरब अमीरात, बहरीन आदि इसके सदस्य बन गये। इस समय फिलिस्तीन मुक्ति मोर्चे के प्रतिनिधि को मिलाकर अरब लीग के 21 सदस्य हैं। इसमें अरब राज्यों के अतिरिक्त किसी अन्य राज्य को सम्मिलित होने की आज्ञा नही है।

सिद्धान्त—अरब लीग के प्रमुख सिद्धान्त हैं—(i) सदस्य देशों की प्रभुसत्ता और क्षेत्रीय अखण्डता के प्रति सम्मान; (ii) विदेश नीति की स्वाधीनता और प्रत्येक देश को समझौतों की स्वतन्त्रता; (iii) अनाक्रमण और विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाना; (iv) सदस्य देश की शासन प्रणाली के प्रति सम्मान; तथा (v) सभी सदस्यों में एकता।

उद्देश्य—अरब लीग के प्रमुख उद्देश्य हैं—(1) सदस्य देशों के बीच सम्बन्धों को सुदृढ़ करना; (2) सभी अरब देशों के हितों और मामलों की देखभाल करना; (3) सदस्य देशों के बीच आर्थिक, वित्तीय, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा अन्य क्षेत्रों में परस्पर सहयोग की भावना पैदा करना; (4) फिलिस्तीन पर अरब दावों को सुदृढ़तापूर्वक दोहराना; (5) इजराइल को नष्ट करना।

संगठन—अरब लीग का प्रमुख अंग **परिषद्** है जिसे **मजलिस** कहते है। इनमें सभी सदस्य देशों का प्रतिनिधित्व होता है। सदस्य देशों के प्रधानमन्त्री या उनके प्रतिनिधि मजलिस के सदस्य होते है। इसकी प्रतिवर्ष दो बैठकें होती हैं। अरब लीग का सचिवालय पहले काहिरा (मिस्र) में

था, लेकिन अब वह ट्यूनिश (ट्यूनिशिया) में है। यह अरब संघ के विभिन्न कार्यों में तालमेल बिठाने का कार्य करता है। इसमें एक महासचिव होता है।

अरब लीग के अन्तर्गत अनेक महत्वपूर्ण समितियों का निर्माण किया गया है। इनमें प्रमुख हैं—अरब शैक्षिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक संगठन, प्रसारण संगठन, श्रम संगठन, आर्थिक परिषद्, सामाजिक परिषद् आदि।

अरब लीग की सबसे बड़ी कमजोरी यह रही है कि यह अपने सदस्य देशों में एकता कायम नहीं कर पायी। इसके सदस्य देशों में प्रायः युद्ध की स्थिति रही है, जैसे मोरक्को व अल्जीरिया, ओमान व दक्षिण यमन, लीबिया व मिस्र, ईरान व इराक के सम्बन्ध तनावपूर्ण एवं संघर्षरत रहे हैं।

अरब लीग कभी भी ठोस, सुदृढ़ एवं प्रभावकारी प्रादेशिक संस्था नहीं रही। इसके सदस्य राज्यों के शासनाध्यक्षों की वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं ने इसे विभाजित रखा है।

मिस्र के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री हुसैन सिरी पाशा के सुझाव पर सामूहिक सुरक्षा के लिए एक सामूहिक प्रतिरक्षा और आर्थिक सहयोग की संधि का निर्माण किया गया था। इसमें अरब लीग परिषद् के अधीन सदस्य राज्यों के विदेश मन्त्रियों और सुरक्षा मन्त्रियों की एक सामूहिक सुरक्षा परिषद् की कल्पना की गयी थी। इसकी सहायता के लिए सदस्य राज्यों के जनरल स्टाफ के प्रतिनिधियों की एक स्थायी सैनिक आयोग की कल्पना भी की गयी थी। इस संधि द्वारा स्थापित अभिकरणों की अनेक बैठकें बुलाई गयीं परन्तु कोई ठोस कदम नहीं उठाये गये, क्योंकि सैनिक आयोग की कमान के अधीन किसी सेना का निर्माण नहीं हो सका।

इन कमजोरियों के बावजूद भी अरब लीग अरब राष्ट्रों की प्रतिष्ठा का प्रतीक प्रादेशिक संगठन है जो आज भी संयुक्त राष्ट्र संघ में एक स्थायी पर्यवेक्षक को रखती है। इसने संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिकांश विशिष्ट अभिकरणों के साथ औपचारिक समझौते या अनौपचारिक व्यवस्थाएँ स्थापित कर रखी हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ तथा अफ्रो-एशियाई समुदाय की सहायता से अरब लीग ने अपने उपनिवेशवाद विरोधी अभियान के द्वारा अनेक अरब देशों को औपनिवेशिक शक्तियों के चंगुल से मुक्ति दिलाने में सफलता अर्जित की। इजराइल के खिलाफ फिलिस्तीन के मसले पर उसने विश्व समाज के बहुत बड़े वर्ग का समर्थन प्राप्त किया। 'तेल कूटनीति' अर्थात अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तेल को राजनीतिक हथियार के रूप में उसने अपने विरोधियों के खिलाफ इस्तेमाल कर उनको नीचे झुकने पर मजबूर किया।

जब कभी अरब संघ के सदस्यों ने एकजुट होकर कोई निर्णय लिया तो अन्तर्राष्ट्रीय जगत में इनकी शक्ति को महसूस किया गया है। सन् 1973 में लीबिया को छोड़कर सभी अरब राष्ट्रों ने तेल को राजनैतिक हथियार के रूप में इस्तेमाल किया तो अनेक शक्तिशाली देशों ने अरबों के प्रति अपनी नीति में व्यापक परिवर्तन कर दिये।

2. अफ्रीकी एकता संगठन (Organisation of African Unity)

अफ्रीकी एकता संगठन, जिसे अफ्रीकी और मालागासी राज्यों का संगठन भी कहा जाता है, अफ्रीका में सबसे महत्वपूर्ण एवं सबसे व्यापक प्रादेशिक संगठन है। मई 1962 में 30 अफ्रीकी देशों ने आदिसअबाबा सम्मेलन में 'अफ्रीकी एकता संगठन' की स्थापना के घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किये। इसके चार्टर में कुल 33 अनुच्छेद हैं। आजकल इस संगठन में 49 सदस्य हैं।

उद्देश्य—अफ्रीकी एकता संगठन के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं—(1) अफ्रीकी और मालागासी राज्यों की एकता और सहानुभूति को बढ़ावा देना; (2) अफ्रीका के लोगों के लिए अच्छे जीवन को प्राप्त करने के लिए सहयोग तथा ऐसे प्रयासों को सुदृढ़ करना; (3) अफ्रीकी राज्यों की स्वतन्त्रता, सम्प्रभुता और क्षेत्रीय अखण्डता की रक्षा करना; (4) अफ्रीकी महाद्वीप में

उपनिवेश के अवशेषों का उन्मूलन करना; (5) संयुक्त राष्ट्र चार्टर और मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के अनुरूप अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि करना।

सिद्धान्त—अफ्रीकी एकता संगठन के प्रमुख सिद्धान्त हैं—(1) अफ्रीकी और मालागासी राज्यों की सार्वभौम समानता; (2) राज्यों के आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप; (3) प्रत्येक राज्य की सम्प्रभुता और क्षेत्रीय अखण्डता का सम्मान; (4) शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा आपसी विवादों का समाधान; तथा (5) निर्गुट नीति का अनुसरण।

संगठन—अफ्रीकी एकता संघ के चार्टर में निम्न संस्थाओं की व्यवस्था की गयी है—(1) सभा (Assembly); (2) मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers); (3) सचिवालय (Secretariat); (4) मध्यस्थता, समझौता एवं पंच निर्णय आयोग (Commission of Mediation, Conciliation and Arbitration); (5) विशिष्ट आयोग (Special Commissions); (6) अफ्रीकी मुक्ति समिति (African Liberation Committee); (7) तदर्थ आयोग (Adhoc Commission)।

अफ्रीकी एकता संगठन एक क्रियाशील संगठन है। इस संगठन की विशेषता यह है कि इसे सभी स्वतन्त्र, सार्वभौम अफ्रीकी राज्यों (दक्षिण अफ्रीका को छोड़कर) का समर्थन प्राप्त है।

अफ्रीकी एकता संगठन का 12वाँ सम्मेलन 28 जुलाई से 1 अगस्त, 1975 तक युगाण्डा की राजधानी कम्पाला में हुआ। इस सम्मेलन में 20 देशों ने भाग लिया। तंजानिया के राष्ट्रपति जूलियस न्येरेरे, जाम्बिया के केनेथ काउण्डा तथा मोजाम्बिक के राष्ट्रपति समोरा माकेल जैसे महत्वपूर्ण नेता सम्मेलन में शामिल नहीं हुए। सम्मेलन का बहिष्कार करने के पीछे तंजानिया का तर्क यह था कि चूंकि सम्मेलन यूगाण्डा में हो रहा है, अतः उसमें भाग लेने का अर्थ होगा कि 1971 में सत्ता हथियाने के बाद राष्ट्रपति ईदी अमीन ने हजारों अफ्रीकियों की जो हत्या की, संगठन के सदस्य उसका समर्थन करते हैं। काफी विवाद के बाद युगाण्डा के राष्ट्रपति ईदी अमीन सम्मेलन के अध्यक्ष बने। इस प्रकार उनकी महत्वाकांक्षा तो पूरी हो गयी, लेकिन अफ्रीकी एकता संगठन को इससे भारी ठेस पहुँची।

अंगोला के गृह-युद्ध को रोकने और अंगोला में पुनः एकता स्थापित करने के लिए अफ्रीकी एकता संगठन द्वारा 10 जनवरी; 1976 को इथियोपिया की राजधानी आदिस अबाबा में एक विशेष शिखर सम्मेलन बुलाया गया, किन्तु उसमें अन्तिम रूप से समस्या का ऐसा कोई समाधान नहीं ढूंढ़ा जा सका जो सभी पक्षों को मान्य होता।

अफ्रीकी एकता संगठन का 14वीं सम्मेलन 24 जून, 1976 को **पोर्ट लुई** (मारीशस) में सम्पन्न हुआ। संगठन के 47 सदस्य देशों के विदेश मंत्रियों ने दक्षिण अफ्रीका, रोडेशिया और फ्रांस की भर्त्सना के साथ अपनी मंत्रणा प्रारम्भ की। सम्मेलन ने दक्षिणी अफ्रीका में हुए जातीय दंगों की निन्दा की। सम्मेलन ने अरब देशों से अनुरोध किया कि वे दक्षिण अफ्रीका को तेल देने पर लगे प्रतिबन्ध को और कड़ाई से लागू करें। **जुलाई** 1978 में अफ्रीकी एकता संगठन का अधिवेशन **खारतूम** में हुआ। यहाँ ऐसा लगा कि सदस्य राष्ट्रों में अनेक समस्याओं पर मतैक्य का अभाव है। फिर भी इस बारे में सभी सदस्य राष्ट्र सहमत थे कि अफ्रीका में विदेशी हस्तक्षेप को हतोत्साहित किया जाना चाहिए, अन्यथा अफ्रीका बड़ी शक्तियों का युद्ध-क्षेत्र बन जायेगा। अफ्रीकी देशों में विदेशी सैनिकों की उपस्थिति का प्रश्न रहा हो अथवा रोडेशिया की मुक्ति का या कोमोरो द्वीपसमूह के संगठन की सदस्यता का, सभी प्रश्नों पर इस संगठन को अलग-अलग धड़ों में बँटा पाया गया। संगठन के सदस्य साम्यवाद समर्थक देशों को यदि जेयरे में फ्रांसीसी सेना की उपस्थिति पर आपत्ति हुई तो जेयरे में अंगोला आदि में क्यूबाई और रूसी सैनिकों की उपस्थिति पर अपनी-अपनी आपत्ति दर्ज करायी। कुछ सदस्यों ने रोडेशिया में स्मिथ-सिथोले मुजोरेवा की संक्रान्ति-

कालीन सरकार का समर्थन किया तो दूसरों ने एन्कूमा मुगाबे के राष्ट्रवादी मोर्चे का साथ दिया। ऐसे ही मतभेद के कारण कोमोरो के प्रतिनिधि मण्डल को बैरंग स्वदेश लौटना पड़ा क्योंकि वहुमत ऐसी सरकार को प्रतिनिधित्व देने के विरुद्ध था जिसकी स्थापना में भाड़े के गोरे सैनिकों का हाथ रहा हो।

इन आपसी मतभेदों का परिणाम यह हुआ कि अधिवेशन बिना किसी ठोस उपलब्धि के समाप्त हो गया बशर्ते कि गुट-निरपेक्षता के बारे में पारित उसके सर्व-सम्मत प्रस्ताव को उपलब्धि न माना जाये। इस बारे में अधिवेशन में उपलब्ध 33 देशों के राज्याध्यक्षों ने गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को सुदृढ़ करने पर जोर देते हुए एक स्वर से कहा कि इससे अफ्रीका की स्वाधीनता, स्थिरता और सम्पन्नता को बनाये रखने के अफ्रीकी एकता संगठन के प्रयासों को सीधा समर्थन मिलेगा।

अफ्रीकी एकता संगठन ने अपने शिखर सम्मेलन (जुलाई 1981) में इस क्षेत्र की कई महत्वपूर्ण समस्याओं पर निर्णय लिये। इससे लगता है कि संगठन अफ्रीकी देशों की आज की राजनीति में उल्लेखनीय भूमिका निभा रहा है। केन्या की राजधानी नैरोबी में शिखर सम्मेलन की शुरूआत अमरीकी नीतियों की आलोचना से हुई। नामीबिया पर अमरीकी नीति की कड़े शब्दों में आलोचना की गयी। संगठन के अब तक के किसी सम्मेलन में अमरीका पर इतना कड़ा प्रहार कभी नहीं किया गया। स्वापो के छापामार नेता शाम नोलोमा ने रीगन प्रशासन पर आरोप लगाया कि नामीबिया पर शासन करते रहने के लिए अमरीका और दक्षिण अफ्रीका के बीच साँठ-गाँठ है। सदस्य देशों की राय थी कि नामीबिया की स्वतन्त्रता के लिए संयुक्त राष्ट्र दक्षिण अफ्रीका पर जो दबाव डाल रहा है, अमरीका ठीक उसके विपरीत आचरण करके संयुक्त राष्ट्र की अवहेलना कर रहा है। शिखर सम्मेलन में नामीबिया के अतिरिक्त चैंड और पश्चिमी सहारा के प्रश्नों पर मुख्य रूप से प्रचार हुआ। इन तीन ही द्वीपों में विस्फोटक स्थिति थी। संगठन के सभी सदस्य इस बात पर सहमत थे कि नामीबिया की स्वाधीनता आज का सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न है। सभी अफ्रीकी देश इस प्रश्न को लेकर दक्षिण अफ्रीका के प्रति उत्तेजित हैं। लेकिन कुछ प्रश्नों पर शिखर सम्मेलन में मतभेद भी उभरकर सामने आये। जिस समय मिस्र के उपराष्ट्रपति हुसनी मुबारक शिखर सम्मेलन को सम्बोधित करने के लिए खड़े हुए तो अल्जीरिया, मॉरितानिया और लीबिया जैसे अरब संघ के सदस्य देश अधिवेशन से बाहर उठकर चले गये। घाना के राष्ट्रपति श्री हिल्ला लिमान ने अप्रत्यक्ष रूप से चैंड में लीबिया के सैनिक हस्तक्षेप की चर्चा की। उन्होंने बिना नाम लिये लीबिया के नेता कर्नल गद्दाफी की भी आलोचना की।

शिखर सम्मेलन से पहले अफ्रीकी एकता संगठन के मन्त्रियों ने अरब संघ और संगठन के बीच सहयोग न होने के विरुद्ध जबर्दस्त चेतावनी दी थी। इन मन्त्रियों का विचार था कि इन दोनों संगठनों के बीच टकराव की स्थिति से अफ्रीकी एकता के प्रयत्नों को काफी नुकसान पहुँच सकता है। अरब शिखर सम्मेलन पिछले दो वर्ष से अफ्रीकी और अरब देशों के बीच मतभेदों के कारण स्थगित होता रहा। अफ्रीकी देश मिस्र को सम्मेलन में नहीं चाहते थे और मिस्र के बिना अफ्रीकी एकता शिखर सम्मेलन नहीं हो सकता था।

दक्षिण अफ्रीका को तेल भेजने पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए संगठन की मन्त्रि-परिषद् ने शिखर सम्मेलन से पहले विचार कर लिया था। अधिकांश सदस्य देशों का मत था कि दक्षिण अफ्रीका पर नामीबिया की स्वतन्त्रता के लिए दबाव डालने का इससे अच्छा कोई और तरीका नहीं हो सकता।

2 दिसम्बर, 1987 को आदिस अबाबा में अफ्रीकी एकता संगठन (OAU) की सम्पन्न बैठक में एक प्रस्ताव पारित कर माँग की गयी कि अफ्रीकी महाद्वीप के देशों पर बढ़ रहे ऋण भार को दूर करने के उपाय खोजे जाने चाहिए। शिखर सम्मेलन ने द० अफ्रीका की रंगभेद नीति पर

भी विचार किया और कहा कि अफ्रीका के विरुद्ध बाध्यकारी प्रतिबन्धों को और मजबूत बनाया जाय।

मूल्यांकन—क्षेत्रीय संगठन के रूप में यह सबसे ज्यादा व्यापक संगठन है, यह इसकी विशाल सदस्द देशों की संख्या से स्पष्ट है। इसने अफ्रीकी क्षेत्र में चल रहे उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय मुक्ति संग्रामों को नैतिक एवं भौतिक समर्थन ही नहीं दिया, बल्कि उनके पक्ष में अन्तर्राष्ट्रीय जनमत भी तैयार किया। इससे अनेक अफ्रीकी उपनिवेश स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में उभरे। इसने अफ्रीकी देशों के अनेक सीमा-विवादों तथा आपसी झगड़ों को सुलझाया है, जैसे उसने अल्जीरिया और मोरक्को, घाना और अपर वोल्टा तथा घाना और टोगो के बीच सुलह करवाने में सफलता प्राप्त की। इसने अफ्रीकी देशों में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में पारस्परिक सहयोग करने की भावना को जागृत किया है। यह तीसरी दुनिया के विकासशील देशों की माँगों को एकजुट होकर हरेक अन्तर्राष्ट्रीय मच पर समर्थन करता आया है।

अफ्रीकी देशों के साझा बाजार का गठन—1 जुलाई, 1984 को हरारे में 5 अफ्रीकी देशों के राष्ट्रपतियों की उपस्थिति में 14 राष्ट्रों के एक साझा बाजार के गठन की घोषणा की गयी। इस संगठन में बरूण्डी, कोमोरोस द्वीप, इथियोपिया, केन्या, लसोथो, मलावी, मारीशस, सोमालिया, जाम्बिया, जिम्बाब्वे, युगाण्डा व रूआण्डा सम्मिलित हैं। यह बाजार इस संकल्प के साथ अस्तित्व में आया है कि इसमें सम्मिलित देश आपस में व्यापार बढ़ायेंगे और पश्चिमी देशों से व्यापारिक सम्बन्ध कम करेंगे। इस संघ का नाम पूर्वी और दक्षिणी अफ्रीकी राज्य वरीयता व्यापार क्षेत्र (पी० टी० ए०) रखा गया है।

3. **दक्षिणी-पूर्वी एशियाई राष्ट्र संगठन : 'एशियान'** (Association of South-East Asian Nations : Asean')

द०-पू० एशिया के देशों की सुरक्षा कैसे की जाये? आस्ट्रेलिया के विदेश मन्त्री ने सुझाव दिया था कि "इसकी रक्षा करना हमारी जिम्मेदारी है, दूसरी शक्तियाँ हमारा भार क्यों उठायें? सबसे सुरक्षित और विश्वसनीय उपाय तो अपनी शक्ति बढ़ाना तथा एशियाई देशों का संगठन सुदृढ़ बनाना है।" इस सन्दर्भ में 1967 में इण्डोनेशिया, मलयेशिया, सिंगापुर, थाईलैण्ड तथा फिलीपाइन्स के द्वारा 'दक्षिण-पूर्वी एशियाई राष्ट्र संगठन' (ASEAN) का निर्माण किया गया है। बाद में ब्रुनई भी इसका सदस्य बना। इसका उद्देश्य इस क्षेत्र में एक साझा बाजार तैयार करना और सदस्य देशों के बीच आर्थिक सहयोग को बढ़ाना है। मोटे तौर पर एशियान का उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, व्यापारिक, वैज्ञानिक, तकनीकी, प्रशासनिक आदि क्षेत्रों में परस्पर सहायता करना तथा सामूहिक सहयोग से विभिन्न आम समस्याओं का हल ढूँढ़ना है, जो इसके निर्माण के समय 'एशियान' घोषणा में स्पष्ट रूप से लिखित है। इस संगठन का स्वरूप कदापि 'सैनिक' नहीं है। सदस्य राष्ट्र 'सामूहिक सुरक्षा' जैसी किसी कठोर एवं अनिवार्य शर्त से बँधे हुए नहीं हैं।

'एशियान' देशों में क्षेत्रीय सहयोग के कई समझौते हुए हैं। पर्यटन के क्षेत्र में एशियान ने अपना एक सामूहिक संगठन 'आसियन्टा' स्थापित किया है जो बिना 'वीसा' के सदस्य राष्ट्रों में पर्यटन की सुविधा प्रदान करता है। एशियान देशों ने 1971 में हवाई सेवाओं के व्यापारिक अधिकारों की रक्षा एवं 1972 में फँसे जहाजों को सहायता पहुँचाने से सम्बन्धित समझौते पर हस्ताक्षर किये। एशियान ने खाद्य सामग्री के उत्पादन में प्राथमिकता देने के लिए किसानों को अर्वाचीन तकनीकी शिक्षा देने के कुछ कदम उठाये हैं जो विशेषकर गन्ना, चावल तथा पशुपालन में सहायक होंगे। 1969 में संचार व्यवस्था एवं सांस्कृतिक गतिविधियों को बढ़ाने के लिए एक समझौता किया गया जिसके अन्तर्गत एशियान के सदस्य राष्ट्र रेडियो एवं दूरदर्शन के माध्यम से

एक दूसरे के कार्यक्रमों का परस्पर आदान-प्रदान करते हैं। 1976 के बाली शिखर सम्मेशन में एशियान के सदस्य राष्ट्रों में पारस्परिक सहयोग को बढ़ाने के सन्दर्भ में मुख्य रूप से तीन सुझाव रखे गये—(क) बाहरी आयात कम करके सदस्य राष्ट्र पारस्परिक व्यापार को महत्व देंगे; (ख) अधिशेष खाद्य एवं ऊर्जा शक्ति वाले राष्ट्र इन क्षेत्रों में अभाव से पीड़ित एशियान देशों को मदद देंगे; एवं (ग) एशियान के देश व्यापार को अधिकाधिक क्षेत्रीय बनाने का प्रयास करेंगे।

आलोचकों के अनुसार मोटे तौर पर एशियान का कार्य मन्द एवं निराशाजनक रहा है। आर्थिक सहयोग में एशियान की गति मन्द होने का कारण सदस्य राष्ट्रों के पास आवश्यक पूंजी एवं क्रय शक्ति का कम होना है। सदस्य राष्ट्रों के हितों में आपसी टकराव के कारण उनके बीच कई अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े भी उठे हैं। असल मे, क्षेत्रीय सहयोग की दिशा में दृढ़ता से कदम उठाने हेतु एशियान के सदस्य राष्ट्रों द्वारा क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय हितों में सामंजस्य स्थापित करने की आवश्यकता है।

4. **दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ (सार्क)** (The South Asian Association for Regional Co-operation—SAARC)

'सार्क' (दक्षेस) का पूरा नाम है 'साउथ एशियन एसोसिएशन फॉर रीजनल को-ऑपरेशन' (The South Asian Association for Regional Co-Operation) अर्थात् 'दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ।' 7 व 8 दिसम्बर, 1985 को ढाका में दक्षिण एशिया के 7 देशों के राष्ट्राध्यक्षों का सम्मेलन हुआ तथा 'सार्क' की स्थापना हुई। ये देश हैं—भारत, पाकिस्तान, बंगला देश, नेपाल, भूटान, श्रीलंका और मालदीव। यह दक्षिण एशिया के सात पड़ोसी देशों की विश्व राजनीति में क्षेत्रीय सहयोग की पहली शुरूआत है। 'सार्क' की स्थापना के अवसर पर दक्षिण एशिया के इन नेताओं ने जो भाषण दिये, उनमें आपसी सहयोग बढ़ाने और तनाव समाप्त करने पर जोर दिया। उन्होंने यह भी कहा कि इस नये संगठन के जन्म से इन सात देशों के बीच सद्भावना, भाईचारा और सहयोग का नया युग शुरू होगा। उन्होंने 'क्षेत्रीय सहयोग संघ' के जन्म को 'युगान्तरकारी घटना', 'नये युग का शुभारम्भ' तथा 'सामूहिक सूझ-बूझ और राजनीतिक इच्छा शक्ति की अभिव्यक्ति' बताया।

द० एशियाई संघ के सदस्य देशों में लगभग एक अरब लोग रहते हैं। इस दृष्टि से यह विश्व का सबसे अधिक जनसंख्या वाला संघ है। यद्यपि यह क्षेत्र प्राकृतिक साधनों, जनशक्ति तथा प्रतिभा से भरपूर है तथापि इन देशों की जनसंख्या गरीबी, अशिक्षा और कुपोषण की समस्या से पीड़ित है। इस क्षेत्र में जनसंख्या का दबाव प्रतिवर्ग किलोमीटर 180 है जबकि विश्व का औसत प्रति वर्ग किलोमीटर केवल 30 है। विश्व के सकल राष्ट्रीय उत्पाद में इस क्षेत्र का भाग केवल 2 प्रतिशत और निर्यात में 0·6 प्रतिशत है। भारत को छोड़कर इस क्षेत्र के अन्य देशों को खाद्यान्न का आयात करना पड़ता है।

मालदीव को छोड़कर संघ के शेष सदस्य (भारत, बंगला देश, पाकिस्तान, नेपाल, भूटान और श्रीलंका) भारतीय उपमहाद्वीप के हिस्से हैं। ये सभी देश इतिहास, भूगोल, धर्म और संस्कृति के जरिये एक-दूसरे से जुड़े हैं। विभाजन के पहले भारत, पाकिस्तान और बंगला देश एक ही प्रशासन और अर्थ-व्यवस्था के अभिन्न अंग थे। लेकिन स्वतन्त्रता के बाद ये देश एक-दूसरे से दूर हो गये।

'सार्क' का विकास धीरे-धीरे हुआ है। दक्षिण एशियाई देशों का क्षेत्रीय संगठन बनाने का विचार बंगला देश के पूर्व राष्ट्रपति जिया उर रेहमान ने दिया था। उन्होंने 1977 से 1980 के बीच भारत, पाकिस्तान, नेपाल और श्रीलंका की यात्रा की थी। उसके बाद ही उन्होंने एक दस्तावेज तैयार करवाया जिसमें नवम्बर, 1980 में आपसी सहयोग के लिए दस मुद्दे तय किये

में फिर से बातचीत शुरू करने का आह्वान किया गया। विकासशील देशों के बीच आपसी सहयोग बढ़ाने का आह्वान करते हुए घोषणा-पत्र में दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ के सदस्य देशों में क्षेत्रीय सहयोग बढ़ाने पर जोर दिया गया।

राजीव गांधी व वेनजीर भुट्टो ने दो महत्वपूर्ण मुद्दों को रेखांकित किया है। राजीव गांधी व्यापक आर्थिक सहयोग का तथा वेनजीर ने सुरक्षा खर्च में कमी का आग्रह किया। वास्तव में दक्षेस का अपना साझा बाजार एवं साझी सुरक्षा व्यवस्था होनी चाहिए।

राजीव गांधी ने अपने भाषण में तीन व्यावहारिक सुझाव रखे—प्रथम, दक्षेस महोत्सव का सदस्य देशों में आयोजन, द्वितीय, सूचना व समाचारों का आदान-प्रदान तथा तृतीय, निर्बाध आवागमन।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

सात देशों का क्षेत्रीय संगठन में आवद्ध होना जहाँ एक अच्छी बात है वहीं यह कहना होगा कि ऐतिहासिक व भौगोलिक दृष्टि से वर्मा और अफगानिस्तान भी इस क्षेत्र के अविभाज्य अंग हैं, इनको समाहित किये बिना, यह क्षेत्रीय एकात्मकता अधूरी ही रहेगी। यह आश्चर्य का ही विषय है कि इन दोनों देशों को इस क्षेत्रीय सहयोग में सहभागी होने के लिए आमन्त्रित क्यों नहीं किया गया?

सातों देशों के बीच यद्यपि राजनीतिक एवं सुरक्षा के विवादास्पद नये-पुराने उलझाव पर आर्थिक विकास एवं सहयोग की अमित सम्भावनाएँ हैं। दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय संगठन की स्थापना ऐसे समय में हो रही है जबकि इसके कुछ सदस्य देशों के आपसी सम्बन्ध सामान्य नहीं हैं। मसलन पड़ौसी देशों के साथ भारत के सम्बन्ध उतार-चढ़ाव के हैं। लेकिन राजनीतिक विग्रह के बावजूद आर्थिक, व्यापारिक, सामाजिक व सांस्कृतिक सहयोग से आगे बढ़ा जा सकता है।

आलोचकों के अनुसार 'सार्क' के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ और बाधाएँ उत्पन्न होंगी जो इस क्षेत्र के राष्ट्रों की एकजुटता के प्रयत्नों को किसी भी समय ध्वस्त कर सकती हैं। आलोचक कहते हैं कि (i) दक्षिण एशिया की कोई पृथक पहचान (identify) ही नहीं है अतः क्षेत्रीय सहयोग का यह प्रयत्न मृत शिशु की भाँति है। पाकिस्तान अपने आपको इस्लामिक मध्यपूर्व का अंग समझता है, दक्षिण एशिया का नहीं। नेपाल कभी चीन की ओर देखता है और कभी भारत की ओर; श्रीलंका हाल तक एशियान की सदस्यता का इच्छुक था। (ii) सार्क के सदस्य राष्ट्रों में अत्यधिक विविधता है। नेपाल और भूटान राजतन्त्र हैं, बंगला देश में सैनिक तानाशाही है, भारत, श्रीलंका व मालदीव में लोकतन्त्र है, पाकिस्तान जनतन्त्र की ओर उन्मुख हो रहा है। सार्क में 3 इस्लामिक देश हैं, 2 बौद्ध हैं, एक हिन्दू है और एक धर्मनिरपेक्ष देश है। इन देशों की नीतियाँ और दृष्टिकोण भी एक-दूसरे के विरोधी हैं, यहाँ तक कि संयुक्त राष्ट्र संघ में भी ये देश एक-दूसरे के विरुद्ध मतदान करते हैं। (iii) सार्क के सदस्य देशों में भारत आकार, आबादी और शक्ति की दृष्टि से 'बिग ब्रदर' की स्थिति रखता है। जिससे छोटे देशों में शंका और अविश्वास पैदा हो सकता है। (iv) सार्क के सदस्य देशों में आपसी विवाद और संघर्ष के अनेक मुद्दे विद्यमान हैं। भारत पंजाब में आतंकवादी गतिविधियों के लिए पाकिस्तान को दोषी ठहराता है; श्रीलंका तमिल उग्रवादियों की गतिविधियों में भारत का हाथ देखता है। भारत और पाकिस्तान में कश्मीर विवाद; भारत और बंगला देश में गंगा के पानी के बँटवारे का मुद्दा; भारत और श्रीलंका में तमिल प्रवासियों का मुद्दा क्षेत्रीय सहयोग के मार्ग में रुकावट डाल सकते हैं। (v) दक्षिण एशिया के राष्ट्र आज भी एक-दूसरे से कटे हुए हैं। बंगला देश आस्ट्रेलिया से लौह अयस्क मँगायेगा जबकि बिहार और उड़ीसा से उसे यह सस्ती दरों पर मिल सकता है। नेपाल की शंका ने काठमाण्डू को चीन

के निकट और भारत-पाक संघर्ष ने इस्लामाबाद को वाशिंगटन के निकट और दिल्ली को मास्को के निकट ला दिया है।

'सार्क' देश यदि आपसी हितों के आधार पर अपने अनुभवों व तकनीक का आदान-प्रदान कर सकें और सदस्य देशों में उत्पादकता बढ़ाने के लिए साज-सामान व सेवा का लेन-देन होता रहे तो सामूहिक निर्भरता प्राप्त कर सकेंगे और महाशक्तियों के चंगुल से बच सकेंगे। काठमाण्डू में सार्क के स्थायी सचिवालय की स्थापना से लगता है कि सातों देश आपसी सहयोग से आर्थिक समृद्धि में योगदान करने को कृतसंकल्प हैं।

सार्क को सार्थक बनाने हेतु सुझाव—सार्क की सफलता के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं :

1. महाशक्तियों को क्षेत्र से दूर रखा जाये।
2. द्विपक्षीय और बहुपक्षीय सहयोग को बढ़ावा दिया जाये।
3. अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर सार्क देशों द्वारा सर्वसम्मत दृष्टिकोण अपनाया जाये।
4. सहयोग के नये क्षेत्र ढूंढ़े जायें, विशेषकर व्यापार, उद्योग, वित्त, ऊर्जा और मुद्रा के क्षेत्रों में सहयोग को बढ़ावा दिया जाये।
5. सांस्कृतिक सम्पर्क एवं एक-दूसरे देश के लोगों की आवा-जाही को प्रोत्साहन दिया जाये।
6. सार्क को आर्थिक मंच के साथ राजनीतिक विचार-विमर्श का मंच भी बनाया जाये।
7. टकराव पैदा करने वाले मुद्दों को टाला नहीं जाये बल्कि बातचीत द्वारा इनका समुचित समाधान किया जाये।

'सार्क' की कोई बड़ी उपलब्धि भले ही नहीं रही हो, परन्तु यह तथ्य कि दक्षिण एशियाई देश नियमित रूप से मिल-बैठकर सरकारी, मन्त्रिस्तरीय और शिखर स्तर पर समस्याओं के बारे में चर्चा करते हैं, क्षेत्र के लिए एक ठोस उपलब्धि है। ढाका में पहले शिखर सम्मेलन के बाद सार्क ने तेजी से प्रगति की है। सन्तोष की बात यह है कि 'सार्क' का गठन किसी महाशक्ति के इशारे पर न होकर क्षेत्रीय आवश्यकताओं के कारण हुआ है। साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि दक्षिण एशिया 'गुट निरपेक्ष' जैसे महान आन्दोलन के जनकों में से एक रहा है। अतः यह आशा की जाती है कि दक्षिण एशियाई देशों का यह विशाल संगठन 21वीं सदी की शान्ति, सद्भाव एवं शोषण मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के लिए मार्ग प्रशस्त कर सकेगा।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद निर्मित प्रमुख सैनिक संगठन
(MAJOR MILITARY ALLIANCES FORMED AFTER THE SECOND WORLD WAR)

1. **डंकर्क सन्धि** (Dunkirk Treaty)—यह ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के मध्य 4 मार्च, 1947 को 50 वर्ष के लिए की गयी थी। यह जर्मन आक्रमण के विरुद्ध एक-दूसरे की सहायता करने की सैनिक सन्धि है। ब्रिटेन तथा फ्रांस ने यह निश्चय किया कि जर्मनी द्वारा आक्रमण करने पर, जर्मन द्वारा आक्रमण को प्रोत्साहित करने की नीति स्वीकार करने पर एवं संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा जर्मनी के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने पर दोनों देश एक-दूसरे को सैनिक तथा अन्य प्रकार की सहायता उपलब्ध करेंगे।

2. **ब्रूसेल्स सन्धि** (Brussels Treaty)—पश्चिमी यूरोप में सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था सुदृढ़ करने के लिए ब्रिटेन, बेल्जियम, फ्रांस, लक्जमबर्ग और हालैण्ड ने आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक सहयोग और सुरक्षा की इस सन्धि पर बेल्जियम के ब्रूसेल्स नगर में हस्ताक्षर किये। इस सन्धि का मुख्य ध्येय नागरिकों के मूलभूत अधिकारों में विश्वास की पुष्टि, संयुक्त राष्ट्र के आदर्शों का पालन, जनतन्त्र एवं स्वतन्त्रता को स्थायी बनाये रखने के दिशा में प्रयत्न, आपसी आर्थिक,

सामाजिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्धों की स्थापना, यूरोपियन आर्थिक पुनर्गठन में सहयोग देना, आक्रामक युद्ध के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा में सहयोग देना है। इस सन्धि की चौथी धारा में यह कहा गया है कि इस पर हस्ताक्षर करने वालों में से किसी देश पर यदि यूरोप में सैनिक आक्रमण होता है, तो अन्य देश सं० रा० संघ के चार्टर की धारा 51 के अनुसार अपनी सम्पूर्ण सैनिक तथा अन्य सहायता आक्रमण का शिकार बने देश को प्रदान करेंगे।

ब्रूसेल्स सन्धि का सर्वोच्च अंग एक परामर्शदात्री परिषद् है जो पाँचों सदस्य राज्यों के विदेश मन्त्रियों से मिलकर बनी है। इस सुरक्षा संगठन के दो अंग हैं—उच्चतर निर्देशन तथा कमाण्ड संगठन। आर्थिक कार्यों के नियोजन के लिए एक वित्त तथा अर्थ समिति है। 1954 के पेरिस के समझौतों से पश्चिमी जर्मनी और इटली भी इसमें सम्मिलित हो गये और इस संगठन का नया नाम पश्चिमी यूरोपियन संघ (Western European Union) रखा गया।

3. **नाटो** (The North Atlantic Treaty Organization—NATO)—नाटो संगठन का जन्म दो आशंकाओं से हुआ है—सोवियत साम्राज्यवाद का भय और सोवियत आक्रमण के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र संघ से पर्याप्त सुरक्षा न पा सकने की सम्भावना। पश्चिमी यूरोप में सोवियत संघ के आक्रमण को रोकने के उद्देश्य से 4 अप्रैल, 1949 को वाशिंगटन में उत्तर एटलाण्टिक समझौते पर हस्ताक्षर हुए। यह संगठन 1948 में बनाये गये बेनीलक्स नामक उस समझौते का ही विकसित रूप था जिसमें बेल्जियम, नीदरलैण्ड्स व लक्जमबर्ग सम्मिलित थे तथा बाद में जिसमें इंगलैण्ड और फ्रांस भी सम्मिलित हो गये थे। आजकल नाटो गुट में कुल मिलाकर 16 देश हैं—बेल्जियम, कनाडा, डेनमार्क, फ्रांस, आइसलैण्ड, इटली, लक्जमबर्ग, हॉलैण्ड, नार्वे, पुर्तगाल, ब्रिटेन और अमरीका (ये 11 देश मूल गुट के सदस्य थे जिन्होंने 4 अप्रैल, 1949 को वाशिंगटन में एक समझौते पर हस्ताक्षर किये)। यूनान और तुर्की 1952 में शामिल हुए, 1974 में साइप्रस के मुद्दे को लेकर यूनान ने नाटो की सदस्यता छोड़ दी; लेकिन अक्टूबर 1980 में वह पुनः उसमें शामिल हो गया और पश्चिमी जर्मनी 1954 से शामिल हुआ। 30 मई, 1981 को स्पेन नाटो का 16वाँ सदस्य बन गया।

इस सन्धि संगठन के निम्नलिखित उद्देश्य हैं: (i) सोवियत संघ अथवा अन्य साम्यवादी देशों द्वारा आक्रमण किये जाने पर व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से अपनी रक्षा करना; (ii) संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुसार पारस्परिक विवादों का शान्तिपूर्ण ढंग से समाधान करना; (iii) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक नीति सम्बन्धी विवादों को दूर करना और पारस्परिक आर्थिक नीति को प्रोत्साहन देना।

इस सन्धि के पाँचवें अनुच्छेद में कहा गया कि—यूरोप या उत्तरी अमरीका पर या इनके किसी प्रदेश पर आक्रमण सभी सदस्य देशों पर आक्रमण समझा जायेगा और ऐसी स्थिति में सभी सदस्य राष्ट्र उत्तरी अटलाण्टिक क्षेत्र में शान्ति बनाये रखने के लिए आवश्यक समझी जाने वाली कार्यवाही करेंगे, जिसमें सशस्त्र बल का प्रयोग भी शामिल है। सन्धि के अनुच्छेद 3 के अनुसार—इस सन्धि के अनुच्छेद को अधिक प्रभावी बनाने के लिए सदस्य राष्ट्र निरन्तर आत्म-निर्भरता तथा पारस्परिक सहायता द्वारा अलग-अलग और संयुक्त रूप से सशस्त्र आक्रमण का प्रतिरोध करने के उद्देश्य से अपनी व्यक्तिगत एवं सामूहिक क्षमता को बनाये रखने और उसे विकसित करने का प्रयत्न करेंगे।" इसकी अन्य धाराओं में सन्धिकर्ताओं ने आर्थिक सहयोग का (धारा 2) वर्णन किया है। यह सन्धि 20 वर्ष के लिए है (धारा 13) और इसमें बाद में अन्य राज्यों के सम्मिलित होने की व्यवस्था भी है (धारा 10)। इस सन्धि के दायित्व इतने स्पष्ट हैं कि आक्रमण की दशा में प्रत्येक सदस्य को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता है। नाटो के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य एक

कड़ी के रूप में जुड़ गया है। सबसे महत्वपूर्ण संस्था तो सर्वोच्च परिषद् है जो इन समस्त राज्यों की ओर से स्वतन्त्र और अन्तिम निर्णय ले सकती है।

श्लाइचर के अनुसार नाटो सन्धि के तीन मनोवैज्ञानिक प्रभाव है—(i) प्रथम, यह सोवियत संघ को चेतावनी है कि यदि उसने इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले किसी देश पर आक्रमण किया तो सं० रा० अमरीका एक तटस्थ निरीक्षक मात्र नहीं रहेगा और तत्काल ही इन देशों को सहायता देगा। अमरीकी विदेश मन्त्री जॉन फास्टर डलेस ने नाटो संगठन में भाषण करते हुए 11 दिसम्बर, 1956 को कहा था कि, "विश्व महान संकट में से गुजर रहा है। इस संगठन को अपनी पूरी सैन्य शक्ति बनाये रखनी चाहिए और इसमें कोई सन्देह नहीं रहने देना चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर इसका उपयोग भी किया जा सकता है, तभी इस बात का पूरा विश्वास होगा कि लाल सेना के जो टैंक बुडापेस्ट में बढ़ आये हैं, वे पश्चिमी यूरोप में आगे नहीं बढ़ेंगे।" (ii) द्वितीय, अपने मूल रूप से इस सन्धि द्वारा द्वितीय महायुद्ध से जीर्ण-शीर्ण यूरोपीय देशों को सैन्य-सुरक्षा का आश्वासन देकर अमरीका ने इन देशों को ऐसा सुरक्षा क्षेत्र प्रदान किया है जिसके नीचे वे निर्भय होकर अपने आर्थिक और सैनिक विकास कार्यक्रम को पूरा कर सकते हैं। (iii) तृतीय, इस सन्धि का एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव संयुक्त राज्य अमरीका के नागरिकों के लिए है। संयुक्त राज्य अमरीका ने दीर्घकाल तक पृथक्करण की नीति का पालन किया है तथा पिछले दोनों महायुद्धों में भी वह पहले तटस्थ रहा था। इस सन्धि के सक्रिय सदस्य होने के नाते अमरीका को एकदम युद्ध मे भाग लेने के लिए उद्यत रहना होगा।[1]

नाटो संगठन की सर्वोच्च सत्ता कौंसिल में सन्निहित है। इसकी वर्ष में दो या तीन बार बैठकें होती हैं जिनमें प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का कोई उपयुक्त मन्त्री भाग लेता है। साधारणतः भाग लेने वाले मन्त्रियों का सम्बन्ध या तो उनके देश के विदेश मन्त्रालय से होता है या रक्षा मन्त्रालय से। इसका प्रमुख कार्यालय पेरिस में स्थित है। इसके सभापति प्रतिवर्ष बारी-बारी से विभिन्न देशों के मन्त्री होते हैं। इस सगठन का महामन्त्री कौंसिल का उपाध्यक्ष भी होता है और वह स्थायी प्रतिनिधियो की बैठकों में सभापति का आसन ग्रहण करता है।

1952 में एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय सचिवालय की भी स्थापना की गयी जिसका एक मुख्य सचिव होता है। मुख्य सचिव की नियुक्ति कौंसिल के द्वारा होती है और वह अपने कार्यों के लिए इसी के प्रति उत्तरदायी है। ब्रिटेन के लार्ड इस्मे इस संगठन के प्रथम महामन्त्री हुए हैं।

सैनिक समिति में नाटो संगठन की सर्वोच्च सैनिक शक्ति निवास करती है। इस समिति की बैठकें स्थायी रूप से नहीं होती हैं अपितु आवश्यकतानुसार उसे कभी भी बुलाया जा सकता है। इस समिति की रचना सदस्य राज्यों के मुख्य सेनाधिकारियों द्वारा की जाती है। इस समिति का कार्य परिषद् को परामर्श देना, सैनिक योजनाएँ बनाना तथा अपने अधीनस्थ अधिकारी वर्ग को सैनिक निर्देशन देना है, इसके अन्तर्गत सेना के तीन कमान हैं—(i) यूरोपियन कमान, (ii) अटलांटिक कमान, (iii) चैनल कमान। इन तीनों कमानो के अलग-अलग सेनाध्यक्ष हैं। यूरोप में नाटो कमाण्ड इनमें सबसे अधिक बड़ा है। उनका क्षेत्र नार्वे से आरम्भ होकर टर्की के पूर्वी सीमान्तों तक फैला हुआ है। इसका अध्यक्ष यूरोप मे 'सुप्रीम ऐलाइड कमाण्ड' के नाम से जाना जाता है। पहले इसका सर्वोच्च कार्यालय पेरिस के निकट फौण्टेनब्लो में स्थित था, परन्तु 1967 में उसे वहाँ से हटाकर बेल्जियम ले जाया गया है।

नाटो सेनाओं को परम्परागत हथियारों से ही लैस नही किया गया है, बल्कि उन्हें आणविक शस्त्रास्त्रों से भी सुसज्जित किया गया है। आज नाटो के पास 7,200 से भी अधिक आणविक

---

1 Charles Schliecher, *An Introduction to International Relations*, p. 676.

शस्त्र हैं। जब राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर अमरीका में सत्तारूढ़ हुए तो उन्होंने नाटो को शक्तिशाली बनाने का आह्वान किया। इसके फलस्वरूप आज नाटो देश 3 से 5 प्रतिशत अधिक धन प्रतिरक्षा कार्यों पर खर्च कर रहे हैं। इसके अलावा उन्होंने न्यूट्रॉन बम बनाने तक का फैसला ले लिया है। इस बम के प्रहार से मनुष्य तो फनाह हो जाते हैं लेकिन इमारतों को कोई नुकसान नहीं होता। 1980 में नाटो के विदेश और प्रतिरक्षा मन्त्रियों ने चार अरब डालर की एक और योजना को स्वीकृति प्रदान की; जिसके अन्तर्गत प्रक्षेपास्त्रों के आधुनिकीकरण की भी व्यवस्था है। पश्चिमी जर्मनी को 108 परशिंग द्वितीय प्रक्षेपास्त्र प्राप्त होंगे, जिसकी मारक क्षमता 1,600 किलोमीटर है, क्रूज प्रक्षेपास्त्र की उड़ान 2,400 किलोमीटर तक हो सकती है। पश्चिमी जर्मनी में 96, ब्रिटेन में 160, इटली में 112 और बेल्जियम में 48 क्रूज प्रक्षेपास्त्र होंगे। इनके अलावा नाटो देश ब्रिटेन द्वारा विकसित मार्कोनी स्टिंगरे पनडुब्बी मारक टारपीडो को खरीदने की योजना बना रहा है। हल्के वजन के कारण टारपीडो नौ-सेना के हेलीकॉप्टर और गश्ती विमानों में बड़ी आसानी के साथ इस्तेमाल किया जा सकता है। इस टारपीडो में एक संगणक है, जिसमें पनडुब्बी की गतिविधियों को ग्रहण करने की क्षमता है, उसे एक शक्तिशाली बैटरी से चलाया जा सकता है।

नाटो देशों की यह भी धारणा थी कि प्रक्षेपास्त्रों के आधुनिकीकरण करने के कारण सोवियत संघ द्वारा 600 एस० एस० 20 के और बेकफायर बम-वर्षकों का समाजवादी देशों में फैलाव है। ये प्रक्षेपास्त्र और बमवर्षक किसी भी यूरोपीय नगर पर मार कर सकते हैं। नाटो के आधुनिकीकरण अभियान में फ्रांस और यूनान को छोड़कर सभी देशों ने अपने हिस्से के खर्चे में बढ़ोत्तरी की है। जहाँ 1972 में 50 अरब डालर प्रतिरक्षा पर खर्च किया जाता था वहाँ 1980 में 70 करोड़ डालर खर्च किया गया।

नाटो की सैनिक शक्ति इस प्रकार है—थल सैनिक 26 लाख, नौसैनिक 11 लाख, वायु सैनिक 11 लाख, टैंक 16,500, विमान 3,800, हेलीकॉप्टर 2,400, युद्धपोत 1,126, पनडुब्बियाँ 133, प्रक्षेपास्त्र 89।[1]

पिछले कुछ वर्षों से नाटो देशों में अनेक प्रकार के मतभेद, आशंकाएँ तथा सन्देह उत्पन्न होने से इसकी एकता खतरे में दिखायी देने लगी है। **प्रथम**, फ्रांस ने 1966 में इस संगठन से अपने सैनिक सम्बन्ध तोड़ दिये थे। फ्रांस का कहना था कि अमरीका नाटो कमान को अकेला हाथ में लिये हुए है जो उसे स्वीकार नहीं है। **द्वितीय**, साइप्रस के मामले पर नाटो के दो सदस्य राष्ट्रों—यूनान और टर्की के मध्य उग्र संघर्ष देखा गया। दोनों इस सम्बन्ध में नाटो देशों से अपने पक्ष का समर्थन चाहते थे और ऐसा न होने पर इससे पृथक होने की धमकी दे रहे थे। **तीसरा** मतभेद अमरीका द्वारा यह आग्रह था कि इस सन्धि संगठन में स्पेन को भी सम्मिलित किया जाये, जबकि अन्य नाटो सदस्य स्पेन के तानाशाही शासन से कोई सम्पर्क नहीं रखना चाहते थे। **चतुर्थ** मतभेद 1974 में पुर्तगाल में साम्यवादी शासन हो जाने से पश्चिमी देश इसे अपने संगठन से पृथक कर देना चाहते थे, किन्तु पुर्तगाल इसमें बना रहना चाहता था। **पाँचवाँ** मतभेद पैट्रोल उत्पादक देशों के सम्बन्ध में बरती जाने वाली नीति के प्रश्न पर था। चूंकि यूरोप के देश अधिकांश रूप से मध्य-पूर्व के तेल पर आश्रित हैं अतः वे अमरीका की तुलना में अरब देशों के साथ अपेक्षाकृत नरम नीति अपनाने के पक्ष में थे। **छठा** मतभेद नाटो संगठन में शस्त्रों के आधुनिकीकरण के सम्बन्ध में था। हालैण्ड बेल्जियम का मानना था कि उनकी धरती पर अमरीकी प्रक्षेपास्त्रों की उपस्थिति से उनके देश ही सम्भावित परमाणु युद्ध का निशाना होंगे। नार्वे और स्वीडन ने भी अस्त्रों के आधुनिकीकरण की योजना को स्वीकार नहीं किया, लेकिन पश्चिमी जर्मनी ने इसका पूर्ण समर्थन किया। उसकी

---

1 **दिनमान**, 30 दिसम्बर, 1979-5 जनवरी, 1980, पृ० 49।

दृष्टि से शायद यह आवश्यक भी था, क्योंकि उसके पड़ौसी पूर्वी जर्मनी में सोवियत सैनिकों और हथियारों की भरमार से उसके अस्तित्व को भी खतरा पैदा हो सकता है।

आज नाटो संगठन उतना सुदृढ़ नहीं है जितना इसके निर्माण के समय था। इसमें समय-समय पर अनेक संकट उत्पन्न हुए हैं। 1956 में स्वेज संकट के समय नाटो के सदस्य राष्ट्रों में उग्र मतभेद उत्पन्न हुए। अमरीका और नार्वे ने मिस्र पर ऐंग्लो-फ्रेंच आक्रमण की निन्दा की। 1966 में फ्रांस की नाटो से पृथक होने चेतावनी तथा 1968 की चेकोस्लोवाकिया की घटना पर फ्रांस के रुख ने नाटो शक्ति को दुर्बल कर दिया। अमरीका और सोवियत संघ में उभरते देतां सम्बन्धों के कारण भी नाटो के औचित्य पर प्रश्न-चिह्न दृष्टिगोचर होने लगा है। हेलसिंह सम्मेलन ने कम से कम यूरोप के सम्बन्ध में समूची व्यवस्था को ही वदल डाला है। इसमें अमरीका और सोवियत संघ एवं पूर्वी तथा पश्चिमी यूरोप में सहयोग की नींव रखी गयी है। इससे शीत-युद्ध की ज्वाला को प्रज्वलित करने वाले नाटो जैसे संगठन महत्वहीन हो जाते हैं।

सोवियत संघ की मान्यता है कि नाटो एक आक्रामक गुटवन्दी है जिसका उद्देश्य विश्व पर बलपूर्वक ऐंग्लो-अमरीकन प्रभुत्व स्थापित करना है। सोवियत संघ ने नाटो देशों के आधुनिकीकरण के फैसले का भी विरोध किया और कहा कि इससे अस्त्रों पर रोक लगाकर विश्व निःशस्त्रीकरण और शान्ति स्थापना की जो वातें की जाती हैं वे बेमतलब की है। नाटो के सैनिक-राजनीतिक निकायों में पश्चिमी यूरोप में नये किस्म के अमरीकी मध्यम दूरी के परमाणु प्रक्षेपास्त्रों के उत्पादन करने और पश्चिमी यूरोप में इसके उपयोग से निःसन्देह खतरनाक स्थितियाँ पैदा होंगी। इससे यूरोप की सुरक्षा को खतरा पहुँच सकता है।

कुछ आलोचकों की मान्यता है कि 'नाटो' के कारण शान्ति और सुरक्षा के स्थान पर पारस्परिक शंका, भय और अविश्वास का वातावरण पैदा हुआ और इससे 'शीत-युद्ध' में भी वृद्धि हुई। इसके कारण 'पूर्व' और 'पश्चिम' के देशों में अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बढ़ा है। नाटो की आलोचना मुख्यतः निम्न आधारों पर की जा सकती है : (i) नाटो ने शस्त्रीकरण और सैन्य संगठनों में वृद्धि को प्रोत्साहन दिया है; (ii) इससे शीत-युद्ध में उग्रता उत्पन्न हो गयी; (iii) इससे अमरीका को अपनी परम्परागत पार्थक्यवाद की नीति का परित्याग करना पड़ा; (iv) इतिहास में पहली वार पश्चिमी यूरोप की शक्तियों ने अपनी कुछ सेना स्थायी रूप से एक अन्तर्राष्ट्रीय सैन्य संगठन के अधीन रखना स्वीकार करके अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता पर अंकुश लगा दिया; (v) इससे जर्मनी के एकीकरण की समस्या जटिल बन गयी।

पिछले तीन दशकों से नाटो पश्चिमी यूरोप की सुरक्षा व्यवस्था की एक सुदृढ़ इकाई रहा है। पूर्वी यूरोप में वारसा सन्धि संगठन की उपस्थिति ने उसकी अहमियत को कभी कम नहीं होने दिया। पिछले कुछ वर्षों से यह अहसास जरूर हुआ था कि नाटो के कुछ सदस्य राष्ट्र अपना-अपना राग अलापने लगे हैं। इसके बावजूद सोवियत संघ द्वारा उठाये गये अनेक कदमों ने पश्चिमी गुट की सारी स्थिति पर पुनर्विचार करने और पश्चिमी यूरोप की सुरक्षा व्यवस्था का पुनराकलन करने के लिए प्रेरित किया है। अफ्रीका, पश्चिमी एशिया, अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप, ईरान की घटनाओं, ईरान-इराक युद्ध, कम्पूचिया आदि की घटनाओं ने महाशक्तियों के बीच तनाव क्षेत्रों में वृद्धि की है। यही कारण है कि अमरीकी राष्ट्रपति रीगन ने नाटो को सुदृढ़ बनाने तथा उसे मध्यम श्रेणी के प्रक्षेपास्त्रों से लैस करने की पेशकश की।

राष्ट्रपति गोर्बाच्योव की उदार नीतियों के फलस्वरूप यूरोप की स्थिति में व्यापक परिवर्तन आने लगा है। इसी परिप्रेक्ष्य में बेल्जियम की राजधानी ब्रुसेल्स में मई 1989 में आयोजित नाटो देशों के राज्याध्यक्षों के सम्मेलन में राष्ट्रपति जार्ज बुश ने पश्चिमी यूरोप में अपने सैनिकों की संख्या मे 20% की कमी करने और लड़ाकू विमानों की संख्या में भी 15% कमी करने का प्रस्ताव किया।

श्री बुश ने यह प्रस्ताव श्री गोर्वाच्योव के उन प्रस्तावों के बदले में रखा, जो कम दूरी के प्रक्षेपास्त्रों की संख्या में कमी करने के वारे थे।

कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं है कि नाटो की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। **प्रथम,** इसने लगभग सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप को एक सुरक्षा संगठन के अन्तर्गत ला दिया है। **द्वितीय,** इसने अपने सदस्यों के मध्य अत्यधिक घनिष्ठ सहयोग की स्थापना की है। विश्व के इतिहास में पहली बार पश्चिमी यूरोप की शक्तियों ने अपनी कुछ सेनाओं को स्थायी रूप से एक अन्तर्राष्ट्रीय सैन्य संगठन की अधीनता में रखना स्वीकार किया है। राष्ट्रपति आइजन हावर के शब्दों में, "नाटो विश्व की शान्ति और सुरक्षा के प्रति अविच्छिन्न सोवियत साम्यवादी धमकी के विरुद्ध अमरीकन सुरक्षा मैत्रियों का एक मूलभूत और अपरिहार्य तत्व है।"

4. यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय (The European Defence Community—EDC)—यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय की स्थापना उस समय हुई जबकि अमरीका ने यह महसूस किया कि पश्चिमी यूरोप की सुरक्षा केवल उस समय तक सम्भव हो सकती है जबकि उसका संगठन पश्चिमी जर्मनी को केन्द्र विन्दु मानकर किया जाये। इससे यह समस्या उठ खड़ी हुई कि विचाराधीन राजनीतिक तथा सैनिक व्यवस्था में पश्चिमी जर्मनी को किसी भी सैनिक संगठन में किस प्रकार स्थान दिया जाये? फ्रांस का कहना था कि यदि जर्मनी के लोगों को पुनः शस्त्र धारण करना है तो उन्हें एक यूरोपियन सेना का अंग बनकर ऐसा करना चाहिए। अमरीका के अनुसार पश्चिमी जर्मनी सोवियत संघ तथा पश्चिम यूरोप के मध्य एक अभेद्य दीवार के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। इसके अतिरिक्त, जर्मनी की विशाल औद्योगिक शक्ति तथा जनशक्ति सोवियत संघ की ओर से सम्भावित आक्रमणों को रोकने तथा उनका सामना करने के लिए पर्याप्त रूप से शक्तिशाली सैन्य दल के स्थान में महती योगदान दे सकती थी। परन्तु अमरीका के यूरोपियन मित्र-राष्ट्र इन तर्कों के बावजूद एक पृथक् जर्मन सेना के संगठन के लिए तैयार न थे। उनके मत में पुनर्शस्त्रीकृत जर्मनी साम्यवादी रूस की अपेक्षा अधिक खतरनाक था।

प्लेविन योजना के आधार पर 25 मई, 1952 को बोन में 6 राष्ट्रों (फ्रांस, इटली, पश्चिमी जर्मनी, बेल्जियम, नीदरलैण्ड तथा लक्जमबर्ग) ने यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय की सन्धि पर हस्ताक्षर किये। इस सन्धि के अनुसार सन्धिकर्ता राज्यों की सब सेनाओं को मिलाकर नाटो की कमान में एक यूरोपियन सेना का अंग बनाना था। सदस्य राज्य अपने समुद्र-पार के प्रदेशों की रक्षा के लिए तथा कोरिया युद्ध जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों में संयुक्त राष्ट्र संघ की सहायता के लिए पृथक् सेनाएँ रख सकते थे। इस समुदाय को सदस्य राज्यों के युद्धोद्योगों पर भी नियन्त्रण का अधिकार दिया गया था।

यूरोप के राजनीतिक एकीकरण के लिए यह बड़ी महत्वपूर्ण योजना थी तथा इसे वास्तविक संघ का पूर्वरूप समझा जा रहा था। इसका लक्ष्य यह था कि सारे यूरोप की एक सामान्य सेना, एक सामान्य सैनिक बजट तथा राष्ट्रीय राज्यों से ऊपर उठा हुआ एक राजनीतिक संगठन हो। इस प्रकार जर्मनी अपने नियन्त्रण में कोई राष्ट्रीय सेना नहीं रख सकेगा। उससे आक्रमण की आशंका नहीं रहेगी और समूचा यूरोप एकीकरण की दिशा में एक बड़ा पग बढ़ा सकेगा।

अमरीका ने इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों पर इस बात का दबाव डाला कि वे अपने-अपने देशों के विधानमण्डलों से इसका पुष्टिकरण करवायें। परन्तु इस सन्धि ने यूरोप के जनसाधारण में तीव्र विरोध की भावनाओं को जन्म दिया। 1953 में जर्मन संसद ने तो इस सन्धि को स्वीकार कर लिया, किन्तु फ्रांस में ऐसा नहीं हो सका। अमरीकी विदेश सचिव जॉन फॉस्टर डलेस ने यह धमकी भी दी कि "यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय की सफलता पर अमरीका को यूरोप के प्रति अपनी नीति पर पीड़ाजनक पुनर्विचार करने के लिए मजबूर होना पड़ेगा।" इस धमकी के

बावजूद 30 अगस्त, 1954 को फ्रांसीसी व्यवस्थापिका ने ई० डी० सी० सन्धि को अस्वीकृत कर दिया। यह बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य था कि आरम्भ मे फ्रांस ने इस प्रतिरक्षा समुदाय का प्रस्ताव किया था और अब उसी ने इसकी अन्त्येष्टि की।

5. **पश्चिमी यूरोपियन संघ** (Western European Union)—अक्टूबर 1954 मे लन्दन में होने वाले एक सम्मेलन में पश्चिमी यूरोपियन संघ का निर्माण हुआ। इस सम्मेलन मे यह निश्चय किया गया कि पश्चिमी जर्मनी मे मित्र राष्ट्रों का सैनिक अधिकार समाप्त कर दिया जाये, उसे नाटो में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया जाये तथा इसके बदले मे पश्चिमी जर्मनी ने यह स्वीकार किया कि वह अपने शस्त्रास्त्र के उत्पादन पर स्वेच्छापूर्वक नियन्त्रण करेगा। यह यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय की अपेक्षा कम अधिकारों वाली योजना थी। इसमे सारे यूरोप की एक सेना बनाने का विचार छोड़ दिया गया और नाटो की अध्यक्षता मे राष्ट्रीय सेनाओं को मान लिया गया। इससे यूरोप के राजनीतिक दृष्टि से वस्तुतः एक होने की आशा की सम्भावना समाप्त हो गयी। अब प० यू० सं० का एक ही काम रह गया कि वह शस्त्रास्त्र नियन्त्रण की देखभाल करे और यह भी प्रधान रूप से जर्मनी की सैनिक प्रभुता को शस्त्र रोकने के लिए।

6 **वारसा पैक्ट या पूर्वी यूरोपियन सन्धि संगठन** (Warsaw Pact or East European Security Pact)—जब पश्चिमी जर्मनी को 9 मई, 1955 को नाटो का सदस्य बना लिया गया और पश्चिमी राष्ट्रों ने जर्मनी का पुनः शस्त्रीकरण कर दिया तो इससे रूस तथा अन्य पूर्वी यूरोप के राष्ट्रों के लिए चिन्तित होना स्वाभाविक था। पश्चिमी शक्तियों ने नाटो, सीएटो, सेण्टो द्वारा रूस के इर्द-गिर्द घेरे की स्थिति पैदा कर दी थी। अतः यह स्वाभाविक था कि रूस सैनिक गठबन्धनों का उत्तर सैनिक गठबन्धन से देता।

साम्यवादी राष्ट्रों का एक सम्मेलन 11 से 14 मई, 1955 को वारसा मे बुलाया गया। इस सम्मेलन में रूस और पूर्वी यूरोप के सात राष्ट्रों—अल्बानिया, बल्गारिया, चेकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, हंगरी, पोलैण्ड तथा रूमानिया ने भाग लिया। यूगोस्लाविया ने इसमें भाग नही लिया; चीन के प्रतिनिधि ने इस सम्मेलन में एक प्रेक्षक के रूप में भाग लिया। 14 मई, 1955 को सम्मेलन में भाग लेने वाले राष्ट्रों ने मित्रता एवं पारस्परिक सहयोग की एक 20-वर्षीय सन्धि पर हस्ताक्षर किये जिसे **'पूर्वी यूरोपीय सन्धि संगठन'** अथवा **'वारसा सन्धि'** कहते हैं। इस सन्धि की भूमिका में यूरोप में सामूहिक सुरक्षा की पद्धति के स्थापित करने पर बल दिया गया और यह कहा गया कि पश्चिमी यूरोप के सन्धि के निर्माण से तथा पश्चिमी जर्मनी के पुनः शस्त्रीकरण से यह आवश्यक हो गया है कि वे अपनी सुरक्षा सुदृढ़ करें और यूरोप में शान्ति स्थापित रखें।

इस पैक्ट की मुख्य व्यवस्था धारा 3 में है। इसके अनुसार यदि किसी सदस्य पर सशस्त्र सैनिक आक्रमण होता है तो अन्य देश उसकी सैनिक सहायता करेंगे। इसके लिए धारा 5 में एक 'संयुक्त सैनिक कमान' बनायी गयी। इसका एक सर्वोच्च सेनापति है जो महासचिव और सोवियत जनरल स्टाफ के साथ परामर्श करके सेनाओं का संगठन करता है तथा विभिन्न प्रदेशों मे उनका वितरण करता हे। संयुक्त कमान की सहायता के लिए चार सहायक कमानें है—उत्तर, मध्य और दक्षिण यूरोप की कमाने तथा सुदूर-पूर्व की एक कमान। वारसा सन्धि की सैनिक शक्ति आजकल इस प्रकार है—थल सैनिक 26 लाख, नौ-सैनिक 5 लाख, वायु सैनिक 6·9 लाख, टैंक 15,000, विमान 2,500, हैलीकॉप्टर 625, युद्धपोत 456, पनडुब्बियाँ 8, और प्रक्षेपास्त्र 960।[1]

सैनिक सहयोग के अतिरिक्त वारसा सन्धि हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्रों में आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक सहयोग की व्यवस्था भी करती है। इसमें इस बात की भी व्यवस्था है कि

1 दिनमान, 30 दिसम्बर, 1979-5 जनवरी, 1980, पृ० 47।

सन्धिकर्ता राष्ट्र पारस्परिक सम्बन्धों में शक्ति का प्रयोग नहीं करेंगे और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिमय साधनों से सुलझाने का प्रयास करेंगे।

वारसा सन्धि का मुख्य अंग राजनीतिक परामर्शदात्री समिति है। आवश्यकता पड़ने पर यह सहायक अंगों की स्थापना कर सकती है। प्रत्येक सदस्य राज्य का एक-एक प्रतिनिधि राजनीतिक परामर्शदात्री समिति का सदस्य होता है। इसकी बैठकें वर्ष में दो बार होती हैं। इसके कार्यों में सहायता करने के लिए एक सचिवालय है जिसका सर्वोच्च पदाधिकारी महासचिव होता है।

अपने मूल रूप में वारसा पैक्ट नाटो सन्धि का ही प्रतिरूप कहा जा सकता है। नाटो तथा वारसा पैक्ट में दो अन्तर हैं। प्रथम, वारसा पैक्ट विश्व के सभी देशों के लिए खुला है जबकि नाटो में नये सदस्यों की भर्ती सभी पूर्ववर्ती सदस्यों की सर्व-सम्मति से ही सम्भव है। दूसरा अन्तर यह है कि वारसा पैक्ट एक अस्थायी सन्धि है जो केवल उसी समय तक है जब तक सम्पूर्ण यूरोप में 'एक सामूहिक सुरक्षा समूह' की स्थापना नही हो जाती।

वारसा पैक्ट नाटो के विरुद्ध साम्यवादी देशों का सैन्य संगठन है। इसमें सभी देशों को समानता के अधिकार प्राप्त हैं तथापि यह स्पष्ट है कि सोवियत संघ ही मुख्य शक्ति केन्द्र है तथा अन्य राज्यों की स्थिति उपग्रही राज्यों की स्थिति है। वारसा पैक्ट में सोवियत संघ की स्थिति नाटो में संयुक्त राज्य अमरीका से भी अधिक प्रभावशाली है। वारसा पैक्ट से यह लाभ अवश्य हुआ है कि सोवियत संघ को इन देशों में हस्तक्षेप करने का कानूनी अधिकार प्राप्त हो गया है। हंगरी, चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड में सोवियत सैनिक हस्तक्षेप की व्याख्या इसी परिप्रेक्ष्य में की जा सकती है।

7. **अमरीकी राज्यों का संगठन** (Organization of American States)—अमरीकी महाद्वीप में अमरीका के सब राज्यों को संगठित करने का पहला प्रयत्न 1889-90 का वाशिंगटन में होने वाला पहला अन्तर अमरीकी सम्मेलन था। किन्तु इसे सुदृढ़ बनाने के प्रयास द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान सन् 1945 के आरम्भ में मैक्सिको नगर में हुए। मैक्सिको नगर में एक अमरीकी सम्मेलन हुआ जिसने रियो सन्धि और अमरीकी राज्यों के संगठन (O. A. S.) की भूमिका तैयार की।

अमरीकी राज्यों का संगठन 3 लेख पत्रों पर आधारित है—(1) संगठन चार्टर, (2) बोगोटा समझौता, तथा (3) रियो सन्धि। इस संगठन में अमरीकी गोलार्द्ध के सभी राज्य शामिल हो सकते हैं। इस समय कनाडा इसका सदस्य नही है। किसी सदस्य राज्य को इस संगठन से निकाला नहीं जा सकता परन्तु यदि कोई राज्य स्वयं इसकी सदस्यता छोड़ना चाहता है तो वह 2 वर्ष की पूर्व सूचना देकर ऐसा कर सकता है।

इस संगठन के 5 मुख्य अंग हैं—(1) अन्तः अमरीकी सम्मेलन; (2) विदेश मन्त्रियों की बैठक; (3) परिषद्; (4) अखिल अमरीकी संघ; तथा (5) विशिष्ट संगठन।

अमरीकी राज्यों का संगठन वस्तुतः एक सैनिक संगठन है। सुरक्षा और प्रतिरक्षा के क्षेत्र में इतनी अधिक योजनाएँ बनाई गई है कि अब यह संगठन किसी भी बाह्य आक्रमण तथा आन्तरिक उपद्रव व क्रान्ति का सामना करने के लिए स्वयं सक्षम हो सकता है। रियो सन्धि की धारा 3 के अनुसार जो ब्रुसेल्स सन्धि की धारा 4 और नाटो सन्धि की धारा 5 से मिलती है "उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक अमरीकी महाद्वीप और ग्रीनलैण्ड पर इसके भीतर या बाहर से होने वाला आक्रमण सभी सदस्य राज्यों पर आक्रमण समझा जायेगा।"

8. **केन्द्रीय सन्धि संगठन अथवा बगदाद पैक्ट** (CENTO)—मध्य पूर्व में ब्रिटिश प्रभाव क्षीण होने पर संयुक्त राज्य अमरीका को यह चिन्ता हुई कि इस क्षेत्र में सोवियत रूस का प्रभाव

न बढ़ जाय अतः मध्यपूर्व में तेल के हितों की सामरिक अड्डों और मार्गों की सुरक्षा तथा सोवियत रूस के प्रसार निरोध की दृष्टि से अमरीकी विदेश मन्त्री जान फास्टर डलेस ने अपनी 1953 की मध्यपूर्व यात्रा के बाद सोवियत रूस की सीमा से लगने वाले राष्ट्रों टर्की, ईरान आदि का ब्रिटेन की सहायता से एक सुरक्षा संगठन बनाने का निश्चय किया।

इराक की राजधानी बगदाद में इस संगठन का सूत्रपात लन्दन द्वारा इराकी प्रधानमन्त्री नूरी अस्सय्यद के साथ 1930 की पुरानी सन्धि के स्थान पर नई सन्धि करने के प्रस्ताव से तथा टर्की-पाकिस्तान की मित्रता सन्धि (1954) से हुआ। 24 फरवरी, 1955 को टर्की और ईरान द्वारा की गई एक पंचवर्षीय सन्धि इस समझौते का आधार बनी। बाद में ब्रिटेन भी इसमें शामिल हो गया। इसके अनुसार इराक पर सशस्त्र आक्रमण तथा आक्रमण की आशंका होने पर ग्रेट ब्रिटेन ने उसे पूरी सहायता देने का वचन दिया। इससे दोनों देशों में घनिष्ठ सैनिक सहयोग स्थापित हो गया। 23 सितम्बर, 1955 को पाकिस्तान बगदाद सन्धि का चौथा तथा 19 अक्टूबर, 1955 को ईरान इसका पाँचवाँ सदस्य बना। स्वेज संकट के बाद संयुक्त राज्य अमरीका भी इसकी सैनिक समिति में भाग लेने लगा। 28 जुलाई, 1958 को अमरीका इस बात पर सहमत हो गया कि वह सहयोग देने की दृष्टि से समझौता करेगा। उसने टर्की, ईरान तथा पाकिस्तान के साथ द्विपक्षीय सन्धियों पर अंकारा में 5 मार्च, 1959 को हस्ताक्षर किये। 1956 में तेहरान में हुए इस सन्धि परिषद् के दूसरे वार्षिक अधिवेशन में अमरीका के प्रतिनिधि लार्ड हेण्डर्सन ने यह घोषणा की कि संयुक्त राज्य अमरीका बगदाद सन्धि वाले देशों को निम्न रूपों में सहायता करेगा :

(1) सन्धि के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए पूरी सैनिक सहायता दी जायेगी;
(2) बगदाद में सैनिक सम्पर्क कार्यालय स्थापित किया जायेगा;
(3) बगदाद में इसके स्थायी सचिवालय के लिए वह आर्थिक सहायता देगा; तथा
(4) यह सन्धि साम्यवादी आक्रमण का प्रतिरोध करेगी।

संक्षेप में इस सन्धि का प्रधान उद्देश्य सोवियत रूस की दक्षिणी सीमा से लगे राज्यों में उसके विरुद्ध गुटबन्दी तथा इन देशों में अमरीका के सैनिक और हवाई अड्डे स्थापित करना था। पाकिस्तान का इस पैक्ट में सम्मिलित होने के कारण अमरीका उसे प्रभूत मात्रा में सैनिक सहायता देने लगा जो भारत के लिए हमेशा चिन्ता का विषय रहा।

बगदाद समझौता वस्तुतः एक असफल सुरक्षा संगठन ही रहा। 14 जुलाई, 1958 को ईराक में एक क्रान्ति हुई जिसमें इस समझौते के प्रमुख प्रवंतक प्रधानमन्त्री नूरी अस्सय्यद की हत्या कर दी गई। क्रान्ति के बाद जनरल अब्दुल करीम कासिम सत्तारूढ़ हुए। उन्होंने 24 मार्च, 1959 को बगदाद समझौते से पृथक हो जाने की घोषणा कर दी। इससे यह समझौता अत्यधिक दुर्बल हो गया और इसका नाम भी निरर्थक हो गया। 21 अगस्त, 1959 को इसका नाम बदल कर केन्द्रीय सन्धि संगठन या सेण्टो (CENTO) कर दिया गया। यह संगठन 20 वर्ष तक और जीवित रहा। 1979 में ईरानी क्रान्ति के फलस्वरूप 12 मार्च, 1979 को ईरान ने सेण्टो का परित्याग कर दिया। तभी पाकिस्तान भी इससे अलग हो गया। 15 मार्च, 1979 को तुर्की भी इससे अलग हो गया।

9. **दक्षिणी-पूर्वी एशिया संगठन 'सीटो'** (South-East Asian Treaty Organization 'S. E. A. T. O.')—द०-पू० एशिया में साम्यवादी चीन के विस्तार को रोकने के लिए 6 से 8 सितम्बर, 1954 तक फिलीपाइन द्वीपसमूह के वाग्यो नामक स्थान पर एक सम्मेलन हुआ जिसमें इस क्षेत्र के राष्ट्र बर्मा, भारत, श्रीलंका, इण्डोनेशिया, पाकिस्तान आदि को आमन्त्रित किया गया था, परन्तु पाकिस्तान के अतिरिक्त किसी भी देश ने इसमें भाग नहीं लिया। 8 सितम्बर, 1954 में ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, अमरीका, पाकिस्तान, फिलीपाइन, न्यूजीलैण्ड और थाईलैण्ड के

प्रतिनिधियों ने द०-पू० एशिया की सामूहिक सुरक्षा और आर्थिक साधनों
एक सन्धि पत्र पर हस्ताक्षर किये जिसे 'दक्षिणी-पूर्वी एशिया सन्धि संगठन'
संज्ञा दी गयी।

इस सन्धि के अनुच्छेद 4 में कहा गया है कि किसी भी सदस्य राष्ट्र के
आक्रमण की स्थिति में अथवा शान्ति भंग होने की आशंका पर सभी सदस्य राज्य
प्रक्रियाओं के अनुसार सामूहिक कार्यवाही करेंगे। इस सन्धि पर हस्ताक्षर करते
अमरीका ने अपनी स्पष्ट व्याख्या दी कि अनुच्छेद 4 के अन्तर्गत 'आक्रमण' का
आक्रमण' से है अर्थात् केवल साम्यवादी आक्रमण के समय ही अमरीका सहायता दे
आपसी विवाद में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

इस सन्धि संगठन का मुख्य कार्यालय बैंकाक में है। इसकी एक 'परिषद्' है
सदस्य राष्ट्रों का एक-एक प्रतिनिधि होता है। परिषद् की बैठक वर्ष में एक बार
1967 में इसकी सैनिक गतिविधियों से अलग हो गया तथा 1974 से उसने
भी बन्द कर दिया।

जवाहरलाल नेहरू ने इसकी आलोचना करते हुए 'इसे एक प्रकार का
बताया जिसे द०-पू० एशिया के देशों पर जबरदस्ती थोप दिया गया है।' वी० के०
शब्दों में, 'यह सुरक्षा का क्षेत्रीय संगठन नहीं है, अपितु ऐसे विदेशी लोगों का संगठन
क्षेत्र में अपने न्यस्त स्वार्थों की रक्षा करनी है।' वस्तुतः 'सीटो' को क्षेत्रीय संगठन
प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इसमें द०-पू० एशिया के तीन राज्य शामिल हैं, लेकिन
पाँच राष्ट्र हैं। यथार्थ में 'सीटो' नवीन रूप में उपनिवेशवाद ही है। संयुक्त राज्य
पिछले वर्षों में दक्षिण वियतनाम, कम्बोडिया और लाओस में जिस प्रकार से
कठपुतली सरकारों का निर्माण किया, उसके आधार पर इसे 'संरक्षण पद्धति का
जा सकता है।

व्यवहार में 'सीटो' कभी भी एक प्रभावशाली संगठन नहीं रहा है। इस
पाकिस्तान और फ्रांस ने मई 1965 में अमरीका के इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया
वियतनाम युद्ध में सक्रिय सहायता दें।

सैनिक गठबन्धनों की भूमिका का मूल्यांकन
(AN ESTIMATE OF THE ROLE OF MILITARY ALLIANCES

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद निर्मित संगठन मोटे रूप से 2 प्रकार के हैं
सामाजिक और सांस्कृतिक सहयोग के संगठन, (2) प्रादेशिक सुरक्षा संगठन।
संगठनों को सामान्यतः उपयोगी और हितकर माना जाता है। परन्तु सुरक्षा
अनेक आपत्तियाँ उठाई जाती हैं। यह कहा जाता है कि नाटो, सीटो तथा वारसा
संयुक्त राष्ट्र चार्टर की भावना के अनुकूल नहीं हैं। इन संगठनों से विश्व दो
विभाजित हो गया। इनसे राष्ट्रों से सहयोग के बजाय फूट और घृणा का
हुआ। नाटो के कारण अमरीका और रूस में शीत-युद्ध का विकास हुआ; सीटो
और पाकिस्तान 'दूर के पड़ोसी' हो गये तथा बगदाद पैक्ट ने अरब राष्ट्रों के
अनेक अवसरों पर इन संगठनों का घोर दुरुपयोग किया गया जैसे रूस ने वारसा
कर हंगरी के जन-आन्दोलन का दमन किया था।

इन संगठनों की निम्नांकित आधारों पर आलोचना की जाती है:

(1) **प्रादेशिक एवं सैनिक संगठन संयुक्त राष्ट्र संघ के विरुद्ध काम करते**
एवं सैनिक संगठन व्यवहार में संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विरुद्ध

नाटो के सदस्य देशों ने सुरक्षा परिषद में मोरक्को, हिन्दचीन, ट्यूनीशिया, साइप्रस आदि समस्याओं के हल में सदैव रोड़े अटकाये।

(2) **प्रादेशिक सैनिक संगठनों में आक्रामक व्यवस्थाएँ होती हैं**—नाटो, वारसा पैक्ट, सिएटो, सेण्टो आदि सभी सैनिक संगठनों में यह प्रावधान रखा गया है कि उनके किसी भी सदस्य पर अन्य देश द्वारा आक्रमण करने की स्थिति में संगठन के अन्य सदस्य देश उसकी मदद करेंगे। इसकी स्वाभाविक तार्किक परिणति यही हुई कि वे उस आक्रमण का जवाब 'युद्ध' से ही देंगे। तनाव और अविश्वास की स्थिति में क्षेत्रीय सैनिक संगठनों की सुरक्षात्मक व्यवस्थाएँ आक्रमण एवं जवाबी हमले की ओर उत्मुख करती हैं जिससे विश्व शान्ति और सुरक्षा खतरे में पड़ जाती है।

(3) **उग्र क्षेत्रवाद अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का विरोधी**—क्षेत्रीय एवं सैनिक संगठनों के जरिये क्षेत्रीय सहयोग की स्थापना एवं विकास कोई बुरी बात नहीं, किन्तु जब क्षेत्रवाद उग्र रूप धारण कर लेता है तो यह अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के विकास में बाधक सिद्ध होगा; ऐसी अवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा खतरे में पड़ जाती है। जब तक ये क्षेत्रीय संगठन रहेंगे, तब तक उग्र राष्ट्रवाद की भावना कभी भी बलवती होकर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को भंग कर देगी। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता की खातिर उग्र क्षेत्रवाद को पनपने ही नहीं दिया जाये, अर्थात् क्षेत्रीय संगठनों का निर्माण अवांछनीय है।

(4) **क्षेत्रीय सैनिक समझौतों का उद्देश्य बड़ी शक्तियों द्वारा छोटे देशों पर वर्चस्व जमाना है**—बड़ी शक्तियाँ प्रायः आर्थिक एवं सामाजिक सहयोग की व्यवस्था के नाम पर प्रादेशिक सैनिक संगठनों का निर्माण करती हैं, मगर उनका वास्तविक इरादा सदस्य देशों पर परोक्ष रूप से वर्चस्व जमाना होता है। फ्रांस ने इसी कारण नाटो में अमरीकी वर्चस्व का विरोध किया था।

(5) **क्षेत्रीय सैनिक संगठनों द्वारा शस्त्रों की होड़ बढ़ाना**—क्षेत्रीय सैनिक संगठन में सुरक्षात्मक स्वरूप के प्रावधान होते हैं। इनका सहारा लेकर संगठन के प्रवर्तक राष्ट्र घातक शस्त्र उँडेलते हैं और सदस्य राष्ट्र उन्हें दोनों हाथों से बटोरते हैं। इससे क्षेत्र में शस्त्रीकरण बढ़ता है क्षेत्रीय शान्ति भंग होती है।

(6) **राष्ट्रों में फूट डालना**—विश्व की बड़ी शक्तियाँ क्षेत्रीय सैनिक संगठनों को प्रवर्तित कर राष्ट्रों में फूट के बीज बोती हैं। इससे विश्व दो या अनेक गुटों में बँट जाता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ऐसा ही हुआ। अमरीका और सोवियत संघ ने वैचारिक और राष्ट्रीय हितों के टकराव के कारण विश्व के अन्य देशों में प्रभाव क्षेत्र स्थापित करना चाहा। प्रभाव क्षेत्र की स्थापना करने के लिए उन्होंने अन्य देशों को सैनिक और आर्थिक मदद का आकर्षण दिखाकर उन्हें क्षेत्रीय संगठनों में बाँध लिया।

संक्षेप में, सैनिक गठबन्धन सुरक्षा के साधन न होकर विश्व शान्ति के लिए संकट बन गये हैं। ये अन्तर्राष्ट्रीय तनाव अथवा शीत-युद्ध के मूर्त रूप हैं।

प्रश्न

1. द्वितीय विश्व युद्ध के बाद निर्मित सैनिक संगठनों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
   Critically examine the role of Military Alliances formed in the post-second world war period.
2. निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :
   (अ) नाटो
   (ब) सीटो
   (स) सैण्टो

— अर्थ
— उदय के कारण
— भारत का योगदान
— चुनौतियाँ
— मूल्यांकन - प्रासंगिकता

10

गुटनिरपेक्षता की अवधारणा : अर्थ और चुनौतियाँ

[THE CONCEPT OF NON-ALIGNMENT : MEANING AND CHALLENGES]

द्वितीय विश्वयुद्ध के वाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप में परिवर्तन लाने वाले तत्वों में 'गुटनिरपेक्षता' (Non-alignment) का विशेष महत्व है। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की उत्पत्ति का कारण कोई संयोगमात्र नहीं था, अपितु यह सुविचारित अवधारणा थी। इसका उद्देश्य नवोदित राष्ट्रों की स्वाधीनता की रक्षा करना एवं युद्ध की सम्भावनाओं को रोकना था। गुटनिरपेक्ष अवधारणा के उदय के पीछे मूल धारणा यह थी कि साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद से मुक्ति पाने वाले देशों को शक्तिशाली गुटों से अलग रखकर उनकी स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखा जाय। आज एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमरीका के अधिकांश देश गुटनिरपेक्ष होने का दावा करने लगे हैं। 1961 के बेलग्रेड शिखर सम्मेलन में भाग लेने वाले गुटनिरपेक्ष देशों की संख्या 25 थी, वहाँ 1989 के बेलग्रेड शिखर सम्मेलन में 102 राष्ट्रों ने भाग लिया। इतनी बड़ी संख्या में राज्यों की उपस्थिति गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की बढ़ती हुई शक्ति का संकेत करती है। आज तो साम्यवादी और पश्चिमी गुटों में भी दरारें पड़ना शुरू हो गया है और इन गुटों से विलग होकर अनेक राज्य गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में सम्मिलित होते जा रहे हैं। डॉ. एम. एस. राजन के शब्दों में, "कोई देश जब एक बार गुटनिरपेक्षता की नीति अपना लेता है तो आमतौर से गुटनिरपेक्ष ही बना रहता है। दूसरी ओर कुछ देश ऐसे भी हैं जो साम्यवादी अथवा गैर-साम्यवादी गुट के साथ बँधे हुए थे पर बाद में गुट के बन्धन से मुक्त होकर गुटनिरपेक्षता के रास्ते पर आ गये (इनके उदाहरण हैं क्यूबा, इराक और यूगोस्लाविया)।" संक्षेप में, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन संयुक्त राष्ट्र संघ के दो-तिहाई सदस्यों, मानव जाति के तीन-चौथाई भाग और सभी महाद्वीपों का प्रतिनिधित्व करता है।

"जवाहरलाल नेहरू को गुटनिरपेक्ष नीति के राजनीतिक दर्शन का जनक कहा जा सकता है.......भारत को इस राजनीतिक प्रवृत्ति की जन्मभूमि कहा जा सकता है जिसने आगे चलकर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास को नई दिशा प्रदान की।"[1]

---

[1] "There is every reason to consider Nehru the father of the Political Philosophy of non-alignment......India can well be called the homeland of this political trend which proved to be a new direction in the history of International relations."
—Yuri Alimov, *The Rise and Growth of the Non-Aligned Movement* (Progress Publishers, Moscow, 1987), p. 27.

गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन[1]

प्रतिनिधित्व का दर्जा
(STATUS OF REPRESENTATION)

शिखर सम्मेलन का स्थान	प्रतिभागी (Participants)		पर्यवेक्षक (Observers)		अतिथि (Guests)	
	राज्य (States)	राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा (National Liberation Movement)	राज्य (States)	राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा (National Liberation Movement)	राज्य (States)	राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा (National Liberation Movement)
प्रथम सम्मेलन वेलग्रेड, 1–6 सितम्बर, 1961	25	—	3	—	—	—
द्वितीय सम्मेलन काहिरा, 5–10 अक्टूबर, 1964	46	—	10	—	—	—
तृतीय सम्मेलन लुसाका, 8–10 सितम्बर, 1970	54	—	9	—	—	8
चतुर्थ सम्मेलन अल्जीयर्स, 5–9 सितम्बर, 1973	75	—	8	12	3	—
पंचम सम्मेलन कोलम्बो, 16–19 अगस्त, 1976	85	1	8	8	7	—
षष्ठ सम्मेलन हवाना, 3–9 सितम्बर, 1979	92	3	12	5	8	1
सप्तम सम्मेलन नई दिल्ली, 7–12 मार्च, 1983	99	2	10	1	10	—
अष्ठम सम्मेलन हरारे, 1–7 सितम्बर, 1986	99	2	6	4	13	—
वेलग्रेड, 4–7 सितम्बर, 1989	102	—	—	—	8	—

गुटनिरपेक्षता : उदय
(NON-ALIGNMENT : ITS ORIGIN)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद संसार दो विरोधी गुटों—सोवियत और अमरीकी गुट में विभ हो चुका था और दूसरी तरफ एशिया एवं अफ्रीका के राष्ट्रों का स्वतन्त्र अस्तित्व उभरने ल

[1] This table was compiled on the basis of final conference documents. The U. N. a its bodies, and regional and other organisations are not included among the guests a observers.

था। अमरीकी गुट एशिया के इन नवोदित राष्ट्रों पर तरह-तरह का दबाव डाल रहा था ताकि वे उसके गुट मे शामिल हो जायँ। लेकिन एशिया के अधिकांश राष्ट्र पश्चिमी देशों की भाँति गुटबन्दी मे विश्वास नही करते थे। वे सोवियत साम्यवाद और अमरीकी पूँजीवाद दोनों को अस्वीकार करते थे। वे अपने आपको किसी 'वाद' के साथ सम्बद्ध नही करना चाहते थे और उनका विश्वास था कि उनके प्रदेश 'तीसरी शक्ति' (Third Force) हो सकते थे जो गुटों के विभाजन को अधिक जटिल सन्तुलन में परिणत करके अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में सहायक हो सकते थे। गुटों से अलग रहने की नीति अर्थात् गुटनिरपेक्षतावाद एशिया के नवजागरण की प्रमुख विशेषता थी। सन 1947 मे स्वतन्त्र होने के उपरान्त भारत ने इस नीति का पालन करना शुरू किया उसके बाद एशिया के अनेक देशों ने इस नीति में अपनी आस्था व्यक्त की। जैसे जैसे अफ्रीका के देश स्वतन्त्र होते गये वैसे-वैसे उन्होंने भी इस नीति का अवलम्बन करना शुरू किया। भारत के जवाहरलाल नेहरू, मिस्र के राष्ट्रपति नासिर तथा यूगोस्लाविया के मार्शल टीटो ने 'तीसरी शक्ति' की इस धारणा को काफी मजबूत बनाया।

वस्तुत: शीत-युद्ध के राजनीतिक ध्रुवीकरण ने गुटनिरपेक्षता की समझ तैयार करने मे एक उत्प्रेरक का कार्य किया। लम्बे औपनिवेशिक आधिपत्य से स्वतन्त्र होने के लम्बे संघर्ष के बाद किसी दूसरे आधिपत्य को स्वीकार कर लेना नवोदित राष्ट्रों के लिए एक असुविधाजनक स्थिति थी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वे एक ऐसी भूमिका की तलाश में थे जो उनके आत्मसम्मान और क्षमता के अनुरूप हो। क्षमता स्तर पर किसी एक राष्ट्र के लिए ऐसी स्वतन्त्र भूमिका अर्जित कर पाना एक भागीरथी प्रयत्न होता, जिसकी सम्भावनाएँ भी अत्यधिक संदिग्ध बनतीं। अत: आत्म-सम्मान की एक अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका के लिए सामूहिक पहल न सिर्फ वांछित थी, अपितु आवश्यक थी। स्वतन्त्रता और सामूहिकता की इस मानसिकता ने गुटनिरपेक्षता की वैचारिक और राज-नीतिक नीव रखी। इस प्रक्रिया को शीत-युद्ध के तात्कालिक राजनीतिक वातावरण ने गति प्रदान की।

गुटनिरपेक्षता : अर्थ एवं परिभाषा
(NON-ALIGNMENT : MEANING AND DEFINITIONS)

गुटनिरपेक्षता की नीति पिछले तीन दशक से अधिक समय से चल रही है और आज संयुक्त राष्ट्र संघ के दो-तिहाई से अधिक देश इसे व्यवहार में ला रहे है। फिर भी यह नहीं मान सकते कि जिन-जिन लोगों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दिलचस्पी है, वे सब गुटनिरपेक्षता का सही-सही अर्थ समझते हैं। इसके कई कारण है—एक कारण यह है कि गुटनिरपेक्ष देशों में अब भी गुटनिर-पेक्षता से सम्बन्धित शब्दावली के बारे में भरपूर भ्रान्तियाँ फैली हुई है। द्वितीय, गुटनिरपेक्ष देशों की संख्या में दिन-दूनी रात-चौगुनी वृद्धि के कारण गुटनिरपेक्षता के सही-सही अर्थ और अभिप्राय के प्रश्न पर खासे मतभेद पैदा हो गये है हालांकि ये मतभेद इस तरह के है कि उसके किस पक्ष को कितनी प्रमुखता दी जाय। तृतीय, जहाँ गुटनिरपेक्षता का एक सर्वमान्य मंच है वहाँ प्रत्येक गुट-निरपेक्ष देश का अपना वैयक्तिक अथवा क्षेत्रीय मंच भी है जिसे सामान्य मंच से अलग पहचाना जा सकता है…………सानो प्रत्येक गुटनिरपेक्ष देश एक साथ दो भिन्न-भिन्न स्तरों पर कार्य कर रहा हो—विश्व स्तर पर, तथा वैयक्तिक अथवा क्षेत्रीय स्तर पर।

'गुटनिरपेक्षता' शब्द जिस नीति अथवा दृष्टिकोण का द्योतक बन गया है उसका बोध कराने के लिए यही एकमात्र शब्द नहीं है और न यह सबसे सन्तोषजनक शब्द ही है। यह शब्द शायद जवाहरलाल नेहरू ने गढ़ा था और वे भी इससे बहुत प्रसन्न नहीं थे क्योंकि इस शब्द में प्रकटत: एक निषेधात्मक ध्वनि है। गुटनिरपेक्षता को 'अप्रतिबद्धता', 'असम्पृक्तता', 'तटस्थता', 'तटस्थतावाद', 'सकारात्मक तटस्थता', 'सकारात्मक तटस्थतावाद', 'गतिशील तटस्थता', 'स्वतन्त्र

और सक्रिय नीति' और 'शान्तिपूर्ण सक्रिय सह-अस्तित्व' भी कहा जाता है। डॉ. एम. एस. राजन के अनुसार, "इनमें से कुछ शब्द और शब्दबन्ध तो केवल 'अर्थजाल' के द्योतक हैं और यह जाल गुटनिरपेक्षता के ऐसे आलोचकों ने बुना है जिन्हें या तो इससे सहानुभूति नहीं रही, या जिन्हें इसके बारे में पूरी जानकारी नहीं रही—भले ही कभी-कभी गुटनिरपेक्ष देशों के प्रवक्ता और उनके समर्थक भी इन शब्दों का प्रयोग कर लेते हैं।"

जार्ज श्वार्जनबर्गर ने गुटनिरपेक्षता को स्पष्ट करने के लिए उससे सम्बन्धित छः अर्थों की व्याख्या की है और गुटनिरपेक्षता को इन सबसे भिन्न बतलाया है। ये छः धारणाएँ हैं—**अलगाववाद, अप्रतिबद्धता, तटस्थता, तटस्थीकरण, एकपक्षवाद** और **असंलग्नता**।

अलगाववाद (Isolationism) ऐसी नीतियों का समर्थन करता है जिनसे राष्ट्र विश्व राजनीति में कम से कम भाग ले या उससे बिल्कुल अलग रहे। **अप्रतिबद्धता** (Non-Commitment) का अभिप्राय है किन्हीं दो अन्य शक्तियों से समान सम्बन्ध रखते हुए उनमें से किसी एक के साथ पूरी तरह से प्रतिबद्ध न होना। **तटस्थता** (Neutrality) एक देश की वह कानूनी एवं राजनीतिक स्थिति है जो किसी युद्ध के दौरान दोनों ही योद्धा राष्ट्रों में से किसी के भी साथ युद्ध में संलग्न होने की अनुमति नहीं देती। **तटस्थीकरण** (Neutralisation) अर्थात् देश हमेशा के लिए तटस्थ है और अपनी तटस्थीकृत स्थिति को कभी नहीं छोड़ सकता है। स्विट्जरलैण्ड इसी स्वरूप के राज्य का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। **एकपक्षवाद** (Unilateralism) इस सिद्धान्त का हामी है कि प्रत्येक देश को निःशस्त्रीकरण जैसे आदर्शों का पालन करने की नीति अपनानी चाहिए और ऐसा करने में इस बात पर बिल्कुल ध्यान नहीं देना चाहिए कि अन्य देश भी ऐसा करते हैं या नहीं। **असंलग्नता** (Non-involvement) विभिन्न परस्पर विरोधी विचारधाराओं के मध्य हो रहे संघर्ष से उत्पन्न खतरों को समझने पर जोर देती है और यह बताती है कि हमें इस संघर्ष से अलग रहना चाहिए।[1]

जार्ज स्वार्जनबर्गर के अभिमत में गुटनिरपेक्षता उपर्युक्त सभी धारणाओं से भिन्न है। वस्तुतः यह मैत्री सन्धियों अथवा गुटों से बाहर रहने की नीति है। गुटनिरपेक्षता का सार तत्व यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में—विशेषतः दोनों सर्वोच्च शक्तियों के प्रति नीतियों और अभिवृत्तियों के सन्दर्भ में—नीति और कार्यवाही की पर्याप्त स्वतन्त्रता बनाये रखी जाये। गुटनिरपेक्षता का अर्थ शक्तिमूलक राजनीति से पृथक् रहना तथा सभी राज्यों के साथ शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और सक्रिय अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग है—चाहे वे राष्ट्र गुटबद्ध हों या गुटनिरपेक्ष हों।

शीत-युद्ध से पृथक्करण ही गुटनिरपेक्षता का सार तत्व है। यह नीति चुप्पी लगाकर बैठ जाने की या अन्तर्राष्ट्रीय मामलों से संन्यास लेने की नहीं है, बल्कि इसके अन्तर्गत स्वतन्त्र राष्ट्रों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में न्यायपूर्ण ढंग से सक्रिय भाग लिया जा सकता है। सन् 1961 में गुटनिरपेक्षता के तीन कर्णधारों—नेहरू, नासिर और टीटो ने इसके पाँच आधार स्वीकार किये थे—(i) सदस्य देश स्वतन्त्र नीति पर चलता हो; (ii) सदस्य देश उपनिवेशवाद का विरोध करता हो; (iii) सदस्य देश किसी सैनिक गुट का सदस्य न हो; (iv) सदस्य देश ने किसी बड़ी ताकत के साथ द्विपक्षीय समझौता न किया हो; एवं (v) सदस्य देश ने किसी बड़ी ताकत को अपने क्षेत्र में सैनिक अड्डा बनाने की इजाजत न दी हो।

अर्थात् वे ही देश गुटनिरपेक्ष माने जा सकते हैं जो स्वतन्त्र विदेश नीति का पालन करते हों, राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन का समर्थन करते हों, शक्ति या सैनिक गुटों के सदस्य न हों।

---

1 George Schwarzenberger, "The Scope for Neutralism," *Year Book of World Affairs*, 1961 (London), pp. 233-245.

दूसरे शब्दों में, एक-दूसरे के विरोधी शक्ति शिविरों से दूर (अलग) रहने वाले, युद्ध की विभीषिका को टालने वाले, तनाव को कम करने वाले और शान्ति समर्थक देश ही गुटनिरपेक्षता का दर्जा प्राप्त कर सकते हैं।

जार्ज लिस्का के अनुसार, "किसी विवाद के सन्दर्भ में यह जानते हुए कि कौन सही है और कौन गलत है, किसी का पक्ष नहीं लेना तटस्थता है, किन्तु गुटनिरपेक्षता का अभिप्राय सही और गलत में विभेद करते हुए सदैव सही का समर्थन करना है।"

गुटनिरपेक्ष अवधारणा के प्रतिपादन का श्रेय भारत के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू को है। वह इस अवधारणा के प्रमुख लेखक एवं प्रथम प्रतिपादक थे। 7 सितम्बर, 1946 को राष्ट्र के नाम एक प्रसारण में नेहरू ने कहा था कि "जहाँ तक सम्भव है, हमारा प्रस्ताव एक-दूसरे का विरोध करने वाले शक्ति गुटों से अपने को अलग रखना है। इसी की वजह से विश्व-युद्ध हुआ और आगे भी यही विनाश का कारण बन सकता है।" संक्षेप में, शक्ति गुटों से अलग रहने की नीति ही आज गुटनिरपेक्षता या निर्गुट आन्दोलन (NAM) के नाम से प्रसिद्ध है।

संक्षेप में, गुटनिरपेक्षता से अभिप्राय है, अपनी स्वतन्त्र रीति-नीति। गुटों से अलग रहने से हर प्रश्न के औचित्य, अनौचित्य को देखा जा सकता है। किसी एक गुट के साथ सम्बद्ध होकर उचित-अनुचित का विचार किये बिना ही अन्धानुकरण या समर्थन करना गुटनिरपेक्षता नहीं है।

गुटनिरपेक्षता का स्पष्ट अभिप्राय है किसी भी देश के साथ सैनिक गुटबन्दी में सम्मिलित न होना, पश्चिमी या पूर्वी गुटों के किसी भी विशेष देश के साथ सैनिक दृष्टि से न बँधना, हर प्रकार की आक्रामक सन्धि से दूर रहना, शीत-युद्ध से पृथक् रहना और राष्ट्रीय हित का ध्यान रखते हुए न्यायोचित पक्ष में अपनी विदेश नीति का संचालन करना।

गुट निरपेक्षता को भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ दी गयी है। इसे 'सहयोग की भावना का प्रतिनिधि', 'शान्ति की प्रमुख शक्ति', 'अन्योन्याश्रित विश्व मे मेल-मिलाप का एक पुल', 'भविष्य की हवा', आदि कहा गया है।

गुटनिरपेक्षता क्या नहीं है ?

गुटनिरपेक्षता का स्वरूप हरेक को हृदयगंम कराने के लिए यह बता देना भर काफी नहीं कि गुटनिरपेक्षता क्या है ? यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि गुटनिरपेक्षता क्या नही है :

प्रथम, गुटनिरपेक्षता अन्तर्राष्ट्रीय मामलो अथवा अन्य देशों के प्रति निषेधात्मक नीति या दृष्टिकोण नही है। इसके विपरीत, गुटनिरपेक्षता एक सकारात्मक दृष्टिकोण की द्योतक है—ऐसी नीति की, जिसका ध्येय सभी राष्ट्रों में शान्ति और सहयोग को बढ़ावा देना है। डॉ. अप्पादोराई के शब्दों में, "स्वतन्त्र विदेश नीति एवं तटस्थता एक ही बात नही है। यदि कभी कही युद्ध होता है तो इस नीति की माँग होगी कि अपने स्वतन्त्रता एवं शान्ति के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए भारत स्वतन्त्र राष्ट्रों का साथ दे। यह एक नकारात्मक नीति नही है, यह सकारात्मक है जिसका उद्देश्य समविचारवादी राष्ट्रों के साथ मिलकर शान्ति, स्वतन्त्रता और मैत्री के उद्देश्य प्राप्त करना और अपना तथा अन्य अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों का आर्थिक विकास करना है।"

द्वितीय, गुटनिरपेक्षता व्यापक महायुद्ध के समय लड़ाई में हिस्सा न लेने वाले देश की 'तटस्थता' नही है। यह स्विट्जरलैण्ड तथा आस्ट्रिया की तरह की 'तटस्थता' नहीं है जिसकी गारण्टी अन्य राष्ट्रो ने सन्धि के द्वारा दी थीं। बहुत से गुटनिरपेक्ष राष्ट्र सम्भवत: जवाहरलाल नेहरू की इस बात से अवश्य सहमत होंगे जो उन्होंने भारत के सन्दर्भ मे कही थी और जिसकी गूंज दूर-दूर तक हुई थी—"जहाँ स्वतन्त्रता के लिए खतरा पैदा होता है, या न्याय पर आँच आने लगती है, या कोई देश दूसरे पर आक्रमण कर देता है, वहाँ न तो हम तटस्थ रह सकते हैं, न रहेंगे।"[1]

[1] Jawahar Lal Nehru's speeches, 1949-1953 (Delhi, 1957), Vol. II. p. 125.

तृतीय, गुटनिरपेक्षता निःसंगतावाद नहीं है, बल्कि प्रायः सभी गुटनिरपेक्ष राष्ट्र विश्व राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाते हैं। नरेश नोरोदम सिहानुक ने बेलग्रेड सम्मेलन में कहा था—"गुटनिरपेक्षता में अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का एक गतिशील स्वरूप परिलक्षित होता है, वह अस्वस्थ और निष्क्रिय अन्तरमुखी प्रवृत्ति नहीं है।"

चतुर्थ, गुटनिरपेक्षता का अर्थ किनारे बैठ जाना नहीं है। यह मानना गलत होगा कि गुटनिरपेक्ष देशों को विश्व राजनीति में कोई दिलचस्पी नहीं होती, या वे समय के ज्वलन्त प्रश्नों के प्रति उदासीन होते हैं। यह काम निकालने या अवसरवाद की नीति नहीं है।

पंचम, गुटनिरपेक्षता अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के प्रति न्यायाधीश जैसी निरपेक्षता की द्योतक नहीं है, गुटनिरपेक्ष राष्ट्र विश्व राजनीति के खेल में निर्णायक की भूमिका की तलाश में नहीं रहते। वे तो स्वयं सक्रिय खिलाड़ी होते हैं, अतः यह सम्भव नहीं होता कि वे निर्णायक भी बन जायें। वे प्रत्येक प्रश्न अथवा स्थिति के सन्दर्भ में उसके गुण-दोषों के आधार पर निष्पक्ष निर्णय देने का प्रयत्न करते है। परन्तु निर्णय दे देने के बाद वे निष्पक्ष नहीं रह जाते, क्योंकि तब वे एक न एक पक्ष का साथ अवश्य देते है।

षष्ठ, गुटनिरपेक्षता आत्मोत्सर्ग भी नहीं है और गुटनिरपेक्ष राष्ट्र निरे 'परोपकारी' नहीं होते। गुटनिरपेक्षता भी उतनी ही राष्ट्रहितपरक नीति है जितनी गुटबद्धता है।

सप्तम, गुटनिरपेक्षता कोरी कल्पना अथवा कोरे सिद्धान्तों पर आधारित नीति नहीं है। बल्कि, यह तो एकदम व्यावहारिक नीति है—कम से कम उतनी व्यावहारिक तो है ही जितनी कि गुटबद्धता की नीति। इसका उद्‌भव अन्तर्राष्ट्रीय समाज की यथार्थताओं में हुआ है और वही इसका आधार है।

अष्टम, जिन देशों ने गुटनिरपेक्षता का रास्ता चुना है वे सदा-सर्वदा के लिए अथवा कैसी भी परिस्थितियों में इसी नीति पर चलने के लिए बँधे नहीं गये है। अल्जीरिया के प्रधानमन्त्री बिन बिल्लाह ने स्पष्ट कहा था—"हम किसी से भी बँधे नहीं ......गुटनिरपेक्षता से भी नहीं।"

नवम, गुटनिरपेक्षता अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बढ़ावा देने का एकमात्र साधन नहीं है हालाँकि यह अधिकांश अन्य साधनों से अधिक उपयुक्त है। इसी तरह गुटनिरपेक्ष देश अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के अनन्य संरक्षक अथवा उन्नायक होने का दावा नहीं करते।

दशम, गुटनिरपेक्षता कोई एकान्तिक नीति नहीं है। यह किसी अन्य राष्ट्र अथवा राष्ट्रों के समूह के साथ मैत्री और सहयोग का रास्ता नहीं रोकती।

एकादश, गुटनिरपेक्षता का लक्ष्य किसी विचारधारा, गुट अथवा राष्ट्र का विरोध करना नहीं होता और इस दृष्टि से यह गुटबद्धता से सर्वथा भिन्न है। इसका ध्येय सभी राष्ट्रों के साथ शान्ति और मैत्री को बढ़ावा देना है—चाहे उनमें कैसे भी राजनीतिक अथवा वैचारिक मतभेद क्यों न हों।

अन्ततः गुटनिरपेक्षता तथा गुटनिरपेक्ष देश किसी 'तीसरी शक्ति' के द्योतक नहीं हैं, न उनका ध्येय (दो वर्तमान गुटों के विरुद्ध) किसी तीसरे शिविर अथवा राष्ट्रों के गुट की उद्‌भावना करना है। ऐसा ध्येय तो गुटनिरपेक्षता के आधार के ही विरुद्ध होगा।

गुटनिरपेक्षता एक **नीति** है अथवा **मनोवृत्ति** और **दृष्टिकोण** है या वह नीति के किन्हीं निर्दिष्ट साध्यों को बढ़ा देने का साधन है? डॉ. एम. एस. राजन के अनुसार, "यह तीनों का समन्वित रूप है।"

गुटनिरपेक्षता एक नीति है (Non-Alignment as a Policy)

गुटनिरपेक्ष रहा जाय या न रहा जाय—यह आधारभूत नीति का प्रश्न है; और इसका निर्णय प्रत्येक देश को अपने लिये अपने हितों और उद्देश्यों की दृष्टि से करना पड़ता है। यदि

गुटनिरपेक्षता का आधार प्रभुसत्ता, स्वतन्त्रता और राज्यों की समता है, तो यह तर्क दिया जा सकता है कि गुटनिरपेक्षता को स्वीकार या अस्वीकार करना उस आधारभूत स्थिति का एक पक्ष ही है, इसलिये इसके साथ नीति का कोई नया प्रश्न जुड़ा हुआ नहीं है। पर चूँकि प्रभुसत्ता, स्वतन्त्रता और समता कोई निरपेक्ष गुण नहीं है वल्कि सापेक्षिक है, इसलिये किसी भी राज्य को—विशेषत: यदि उसे नयी-नयी स्वतन्त्रता मिली हो—यह करना रह जाता है कि किसी स्थिति विशेष में ये गुण कितने सापेक्षिक हो सकते हैं या होने चाहिए। इस दृष्टि से गुटनिरपेक्षता को एक नीति मान सकते है। कुछ प्रेक्षक तो गुटनिरपेक्षता को एक नयी तरह की विदेश नीति मानते हैं, "जिसका मूल उद्देश्य राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखना और यह देखना है कि शान्ति के समय आर्थिक विकास होता रहे, साथ ही उसका यह भी प्रयत्न रहता है कि राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का स्वरूप वदल दिया जाय और अन्तर्राष्ट्रीय समाज में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और सक्रिय सहयोग के सिद्धान्तों के आधार पर नयी तरह के सम्बन्धों का निर्माण किया जाय।"

गुटनिरपेक्षता एक दृष्टिकोण है (Non-Alignment as an Approach)

जब एक बार गुटनिरपेक्षता को एक नीति के रूप में अपनाने का निर्णय कर लिया जाता है तब इस नीति को अपनाने वाले राज्य में अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं और स्थितियों के प्रति एक निश्चित दृष्टिकोण और विचार-पद्धति लक्षित होने लगती है और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में उसके व्यवहार का एक निश्चित प्रतिमान वन जाता है। कम से कम दूसरे देश उससे यही आशा करने लगते हैं चाहे वे गुटवद्ध हों या गुटनिरपेक्ष हों। यों गुटनिरपेक्ष देशों के दृष्टिकोण और विचार-पद्धति में कुछ भेद हो सकते हैं और रहे भी हैं (उदाहरण के लिए, कुछ साम्यवादी देशों के समर्थक रहे हैं और कुछ पश्चिमी देशों के), फिर भी साधारणत: गुटनिरपेक्ष देशों की एक विशिष्ट विचार-पद्धति को पहचान लेना सम्भव है जिससे उन्हें एक वर्ग विशेष के रूप में देखा जा सकता है और उन्हें गुटवद्ध देशों की श्रेणी से पृथक रखा जा सकता है। विश्व राजनीति में सर्वोच्च शक्तियों की भूमिका के प्रति गुटनिरपेक्ष देशों का दृष्टिकोण उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। एक विचारधारा के अनुसार गुटनिरपेक्षता एक सुनिर्दिष्ट राजनीतिक दर्शन है, एक सिद्धान्त परम्परा है अथवा विश्व के वारे में एक वैचारिक दृष्टिकोण है, "समसामयिक विश्व के घटनाक्रम के प्रति एक नया दृष्टिकोण जिसे शक्तिप्रधान राजनीति और हित क्षेत्रों से सम्वन्धित संकल्पना पद्धति से अलग पहचाना जा सकता है।"

गुटनिरपेक्षता एक साधन है (Non-Alignment as a Means)

गुटनिरपेक्षता एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा कोई राज्य अपनी विदेश नीति के उद्देश्यों को वढ़ावा दे सकता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी राज्य को अपने बजट में प्रतिरक्षा के लिए भारी खर्च की व्यवस्था करनी पड़ती है और फिर भी वह बड़े पैमाने पर आर्थिक विकास को बढ़ावा देना चाहता हो तो वह यह निर्णय कर सकता है कि उसे गुटवद्ध रहने में फायदा है या गुटनिरपेक्ष रहने में।

सारत:, गुटनिरपेक्षता शान्ति की नीति है। यह युद्ध की अनिवार्यता में विश्वास नहीं करती, वल्कि यह मानती है कि इसके द्वारा युद्ध रोके जा सकते है। गुटनिरपेक्षता का सार तत्व अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में नीति और कार्यवाही की स्वतन्त्रता का व्यावहारिक प्रयोग है, इसलिये यह तर्क युक्ति-युक्त होगा कि गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाने का कोई और कारण प्रस्तुत करने की आवश्यकता ही नहीं है। फिलिप्पीनी राजनयिक कार्लोस पी. रोम्यूलो के अनुसार, "गुटनिरपेक्षता समकालीन राष्ट्रवाद का एक पक्ष मात्र है और यह एक सांस्कृतिक तथा राजनीतिक आन्दोलन है जो पूर्व वनाम पश्चिम अथवा लोकतन्त्र बनाम साम्यवाद के परम्परागत ढंग से परे की चीज है।"

सबसे बड़ी जरूरत इस बात की है कि गुटनिरपेक्षता का निष्पक्ष मूल्यांकन करने के लिए हम धार्मिक कट्टरपन्थी दुराग्रह से अपने को मुक्त करें। विदेश नीति का विश्लेषण करने वाले अधिकांश विद्वान अब तक सूत्रों और संहिताओं की व्याख्या वाली शैली अपनाते रहे हैं। उनकी बौद्धिक सूझ-बूझ पं. नेहरू द्वारा प्रस्तुत मूल पाठ की व्याख्या के नये-नये संस्करण प्रकाशित करने तक सीमित रही है। बुद्धिजीवी हो या नौकरशाह, सभी का श्रम बाल की खाल निकालने में खर्च होता रहा है। गुटनिरपेक्षता तटस्थता है या नहीं; गुटनिरपेक्षता, असंलग्नता, तटस्थीकरण, उदासीनता निष्क्रियता, उभयपक्षिता, समसामीप्य में क्या अन्तर है? आदि ऐसा जान पड़ता है कि ये जानकार इस बात को भुला चुके हैं कि आखिरकार गुटनिरपेक्षता एक राजनीतिक रणनीति है, आध्यात्मिक मत, मान्यता या साम्प्रदायिक फतवा नहीं। जरा गम्भीरता से देखते ही यह साफ हो जाता है कि गुटनिरपेक्षता कोई अजूबा नहीं, बल्कि राष्ट्रीय हित साधन के लिए संकल्प से मुक्त अवसर के अनुकूल विवेकसम्मत आचरण है जो तटस्थता से लेकर अवसरवादी सक्रियता तक को अपने दायरे में समेटता है। स्वयं नेहरू इस बात को स्वीकारने में कभी नहीं हिचकिचाते थे। भारतीय विदेश नीति के प्रखर विश्लेषक और सफल राजनयिक स्वर्गीय शिशिर गुप्त अक्सर कहा करते थे, "गुटनिरपेक्षता कौमार्य नहीं जिसे एक बार गँवाकर फिर हासिल न किया जा सके।"

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन : सदस्यता की शर्तें
(NON-ALIGN MOVEMENT : CONDITIONS FOR THE MEMBERSHIP OF NAM)

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का सदस्य बनने के लिए पाँच मानदण्ड निर्धारित किये गये है। ये मानदण्ड जून 1961 में काहिरा में 21 राष्ट्रों की तैयारी बैठक में तय किये गये थे। बैठक में परस्पर विरोधी मत व्यक्त किये जाने के कारण मानदण्डों के सम्बन्ध में काफी समझौता करना पड़ा और अन्ततः इन मानदण्डों के आधार पर बेलग्रेड सम्मेलन के लिए निमन्त्रण भेजने के बारे में निर्णय करने का काम उन देशों के राजनयिक प्रतिनिधियों की एक समिति को सौंप दिया गया जिन्होंने काहिरा में तैयारी बैठक में भाग लिया था।

इन मानदण्डों के अनुसार, "किसी भी गुटनिरपेक्ष देश के लिए 'स्वाधीन नीति' का अनुसरण करना जरूरी नहीं है। यदि वह इस प्रकार की नीति के पक्ष में अपना रवैया जाहिर कर सके तो उतना ही काफी है। इसे निरन्तर राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए आन्दोलनों का समर्थन प्रदान करना चाहिए। किस हद तक और किस रूप में यह समर्थन हो, इसे अपरिभाषित छोड़ दिया गया है। तीसरा मानदण्ड सैनिक गठबन्धनों की सदस्यता से सम्बन्धित है अर्थात् गुटनिरपेक्ष समझे जाने के लिए देश को बहुपक्षीय सैनिक गठबन्धन का सदस्य नहीं होना चाहिए। चौथा और पाँचवाँ मानदण्ड यह है कि यदि किसी देश या किसी बड़ी शक्ति के साथ द्विपक्षीय सैनिक समझौता है अथवा वह देश क्षेत्रीय सुरक्षा सन्धि का सदस्य है तो यह समझौता या सन्धि 'जानबूझकर बड़ी शक्तियों के सन्दर्भ में नहीं होनी चाहिए।'[1]

---

[1] The historical significance of the First Conference lies also in the fact that the Preparatory Cairo meeting formulated the criteria for non-aligned membership :

The country should have adopted an independent policy based on the co-existence *of states with different political and social systems* and on non-alignment, or should be showing a trend in favour of such a policy;

Should be consistently supporting the Movements for National Independence;

Should not be a member of multilateral military alliance concluded in the context of Great power conflicts;

If a country has a bilateral military agreement with a Great power or is a member of a regional defence Pact the agreement or Pact should not be one concluded in the context of Great power conflicts;

If it has conceded military bases to a Foreign power, the concession should not have been made in the context of Great power conflicts.

इस हिसाव से मिस्र, इराक और सीरिया ने किसी समय सैनिक सहायता के सिलसिले में या तो सोवियत संघ से या अमरीका के साथ समझौता किया था। साइप्रस, इथियोपिया, लीविया, माल्टा, मोरक्को और सऊदी अरव ने किसी समय (अव भी) अपनी भूमि पर पश्चिमी सैनिक अड्डे बनाने की अनुमति दी थी। आज तक गुटनिरपेक्षता की कोई अधिकारिक परिभाषा नहीं की गयी है। फलस्वरूप हर, शिखर सम्मेलन में नये सदस्यों को शामिल करने और कुछ पुराने सदस्यों के बने रहने पर ही हल्ला मचा रहता है। सम्मेलन के प्रमुख देश विभिन्न प्रकार के दबावों में होते हैं और वे दूरगामी प्रभावों की चिन्ता किये बगैर तदर्थ निर्णय लिया करते है। कुल मिलाकर, सामान्य मानदण्ड यही रह गया है कि सदस्य वनने के लिए इच्छुक देश सोवियत अथवा अमरीकी गुट का सदस्य नहीं होना चाहिए।

इस सम्बन्ध में डॉ. वेदप्रताप वैदिक लिखते है, इस आन्दोलन के सामने सवसे बड़ी समस्या तो यह है कि उनके पास अपने नाम की परिभाषा ही नहीं है। यह रोचक तथ्य वहुत कम लोगों को मालूम है कि इस आन्दोलन को चलते-चलते 30 साल बीत गये लेकिन अभी तक कोई यह कहने की स्थिति में नही है कि गुटनिरपेक्षता की सर्वसम्मत 'परिभाषा' यह है। गुटनिरपेक्षता की परिभाषा करते समय हम लोग या तो नेहरू के बयानों और भाषणों के कुछ सटीक टुकड़ों को उद्धृत कर देते है या यही काम जब युगोस्लाव विद्वानों को करना होता है, तो वे मार्शल टीटो की उक्तियों का सहारा ले लेते हैं। नेहरू, नासिर या टीटो के बयानों से गुटनिरपेक्षता के विभिन्न आयाम तो अवश्य निर्धारित होते है, लेकिन समग्र रूप मे उसका निरूपण नही होता।

गुटनिरपेक्षता की परिभाषा का प्रश्न केवल वुद्धि विलास का प्रश्न नही है, इसका सीधा सम्बन्ध गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की सदस्यता और चरित्र से है। हमें सन्देह है कि इस आन्दोलन से जुड़े कुछ राष्ट्र जान-बूझकर 'परिभाषा' होने नहीं देना चाहते। इन्हीं राष्ट्रों ने लुसाका घोषणा (1970) में यह वाक्य भी जुड़वा दिया कि "जरूरत इस वात की नहीं है कि गुटनिरपेक्षता की पुनर्परिभाषा हो वल्कि इस वात की है कि समस्त गुटनिरपेक्ष राष्ट्र मिलकर उसके केन्द्रीय उद्देश्यों और लक्ष्यों के प्रति स्वयं को पुनर्सीमित करें।"

गुटनिरपेक्षता की परिभापा को कुछ राष्ट्र गोलमाल क्यों रखना चाहते हैं ? इसलिये कि इस आन्दोलन में बिना किसो रुकावट के हर तरह के राष्ट्रों को घुसेड़ लिया जाये। इसमें वे राष्ट्र भी आ जायें जिन्होंने जमीन पर महाशक्तियों को सैनिक अड्डे वनाने दिये है; वे राष्ट्र भी आ जायें जो सैनिक गठबन्धनों के सदस्य हैं; वे राष्ट्र भी आ जायें जिन्होंने महाशक्तियों के साथ सैनिक समझौते कर रखे हैं; वे राष्ट्र भी आ जायें जो शस्त्रों की अन्धाधुन्ध दौड़ में निरत है, जिन्होंने अपनी राजनीतिक और आर्थिक स्वाधीनता को गिरवीं रख रखा है। दूसरे शब्दों में, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को परिभाषा विहीन वनाकर चरित्ररहित करने की व्यूह-रचना वहुत हद तक सफल भी हो रही है।

निलम्बन एवं सदस्यता त्याग—निर्गुट आन्दोलन से किसी सदस्य राष्ट्र को हटाने या निलम्वित करने का न तो कोई प्रावधान है और न ही इसके लिए कोई प्रक्रिया निर्धारित की गयी है। पहली बार हवाना शिखर सम्मेलन (1979) में अरव राष्ट्रों ने मिस्र को कैम्पडेविड समझौते के विरोध में निर्गुट आन्दोलन से निलम्बित करने की माँग की थी। परन्तु सम्मेलन ने इस माँग पर निर्णय को स्थगित रख दिया।

हवाना शिखर सम्मेलन की कार्यवाही पर विरोध प्रकट करने के लिए, सम्मेलन के वाद, वर्मा के विदेशमन्त्री मिंट माउंग ने संयुक्त राष्ट्र महासभा को सूचित किया कि वर्मा ने अपने आपको गुटनिरपेक्ष आन्दोलन से अलग करने का फैसला किया है। उनका कहना था कि "हम हवाना सम्मेलन में इस आशा से गये थे कि गुटनिरपेक्ष आन्दोलनों के सिद्धान्तों की पुनः स्थापना की

सबसे बड़ी जरूरत इस बात की है कि गुटनिरपेक्षता का निष्पक्ष मूल्यांकन करने के लिए हम धार्मिक कट्टरपन्थी दुराग्रह से अपने को मुक्त करें। विदेश नीति का विश्लेषण करने वाले अधिकांश विद्वान अब तक सूत्रों और संहिताओं की व्याख्या वाली शैली अपनाते रहे हैं। उनकी बौद्धिक सूझ-बूझ पं. नेहरू द्वारा प्रस्तुत मूल पाठ की व्याख्या के नये-नये संस्करण प्रकाशित करने तक सीमित रही है। बुद्धिजीवी हो या नौकरशाह, सभी का श्रम बाल की खाल निकालने में खर्च होता रहा है। गुटनिरपेक्षता तटस्थता है या नहीं; गुटनिरपेक्षता, असंलग्नता, तटस्थीकरण, उदासीनता निष्क्रियता, उभयपक्षिता, समसामीप्य में क्या अन्तर है? आदि ऐसा जान पड़ता है कि ये जानकार इस बात को भुला चुके हैं कि आखिरकार गुटनिरपेक्षता एक राजनीतिक रणनीति है, आध्यात्मिक मत, मान्यता या साम्प्रदायिक फ़तवा नहीं। जरा गम्भीरता से देखते ही यह साफ हो जाता है कि गुटनिरपेक्षता कोई अजूबा नहीं, बल्कि राष्ट्रीय हित साधन के लिए संकल्प से मुक्त अवसर के अनुकूल विवेकसम्मत आचरण है जो तटस्थता से लेकर अवसरवादी सक्रियता तक को अपने दायरे में समेटता है। स्वयं नेहरू इस बात को स्वीकारने में कभी नहीं हिचकिचाते थे। भारतीय विदेश नीति के प्रखर विश्लेषक और सफल राजनयिक स्वर्गीय शिशिर गुप्त अक्सर कहा करते थे, "गुटनिरपेक्षता कौमार्य नहीं जिसे एक बार गँवाकर फिर हासिल न किया जा सके।"

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन : सदस्यता की शर्तें
(NON-ALIGN MOVEMENT : CONDITIONS FOR THE MEMBERSHIP OF NAM)

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का सदस्य बनने के लिए पाँच मानदण्ड निर्धारित किये गये हैं। ये मानदण्ड जून 1961 में काहिरा में 21 राष्ट्रों की तैयारी बैठक में तय किये गये थे। बैठक में परस्पर विरोधी मत व्यक्त किये जाने के कारण मानदण्डों के सम्बन्ध में काफी समझौता करना पड़ा और अन्ततः इन मानदण्डों के आधार पर बेलग्रेड सम्मेलन के लिए निमन्त्रण भेजने के बारे में निर्णय करने का काम उन देशों के राजनयिक प्रतिनिधियों की एक समिति को सौंप दिया गया जिन्होंने काहिरा में तैयारी बैठक में भाग लिया था।

इन मानदण्डों के अनुसार, "किसी भी गुटनिरपेक्ष देश के लिए 'स्वाधीन नीति' का अनुसरण करना जरूरी नहीं है। यदि वह इस प्रकार की नीति के पक्ष में अपना रवैया जाहिर कर सके तो उतना ही काफी है। इसे निरन्तर राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए आन्दोलनों का समर्थन प्रदान करना चाहिए। किस हद तक और किस रूप में यह समर्थन हो, इसे अपरिभाषित छोड़ दिया गया है। तीसरा मानदण्ड सैनिक गठबन्धनों की सदस्यता से सम्बन्धित है अर्थात् गुटनिरपेक्ष समझे जाने के लिए देश को बहुपक्षीय सैनिक गठबन्धन का सदस्य नहीं होना चाहिए। चौथा और पाँचवाँ मानदण्ड यह है कि यदि किसी देश या किसी बड़ी शक्ति के साथ द्विपक्षीय सैनिक समझौता है अथवा वह देश क्षेत्रीय सुरक्षा सन्धि का सदस्य है तो यह समझौता या सन्धि 'जानबूझकर बड़ी शक्तियों के सन्दर्भ में नहीं होनी चाहिए।'[1]

---

[1] The historical significance of the First Conference lies also in the fact that the Preparatory Cairo meeting formulated the criteria for non-aligned membership :

The country should have adopted an independent policy based on the co-existence of states with different political and social systems and on non-alignment, or should be showing a trend in favour of such a policy;

Should be consistently supporting the Movements for National Independence;

Should not be a member of multilateral military alliance concluded in the context of Great power conflicts;

If a country has a bilateral military agreement with a Great power or is a member of a regional defence Pact the agreement or Pact should not be one concluded in the context of Great power conflicts;

If it has conceded military bases to a Foreign power, the concession should not have been made in the context of Great power conflicts.

इस हिसाब से मिस्र, इराक और सीरिया ने किसी समय सैनिक सहायता के सिलसिले में या तो सोवियत संघ से या अमरीका के साथ समझौता किया था। साइप्रस, इथियोपिया, लीबिया, माल्टा, मोरक्को और सऊदी अरब ने किसी समय (अब भी) अपनी भूमि पर पश्चिमी सैनिक अड्डे बनाने की अनुमति दी थी। आज तक गुटनिरपेक्षता की कोई अधिकारिक परिभाषा नही की गयी है। फलस्वरूप हर, शिखर सम्मेलन में नये सदस्यों को शामिल करने और कुछ पुराने सदस्यों के बने रहने पर हो हल्ला मचा रहता है। सम्मेलन के प्रमुख देश विभिन्न प्रकार के दवावों में होते हैं और वे दूरगामी प्रभावों की चिन्ता किये वगैर तदर्थ निर्णय लिया करते है। कुल मिलाकर, सामान्य मानदण्ड यही रह गया है कि सदस्य वनने के लिए इच्छुक देश सोवियत अथवा अमरीकी गुट का सदस्य नहीं होना चाहिए।

इस सम्बन्ध में डॉ. वेदप्रताप वैदिक लिखते है, इस आन्दोलन के सामने सबसे बड़ी समस्या तो यह है कि उनके पास अपने नाम की परिभाषा ही नहीं है। यह रोचक तथ्य वहुत कम लोगों को मालूम है कि इस आन्दोलन को चलते-चलते 30 साल वीत गये लेकिन अभी तक कोई यह कहने की स्थिति में नही है कि गुटनिरपेक्षना की सर्वसम्मत 'परिभाषा' यह है। गुटनिरपेक्षता की परिभाषा करते समय हम लोग या तो नेहरू के बयानों और भाषणों के कुछ सटीक टुकड़ों को उद्धृत कर देते है या यही काम जब युगोस्लाव विद्वानों को करना होता है, तो वे मार्शल टीटो की उक्तियों का सहारा ले लेते हैं। नेहरू, नासिर या टीटो के बयानों से गुटनिरपेक्षता के विभिन्न आयाम तो अवश्य निर्धारित होते है, लेकिन समग्र रूप में उसका निरूपण नही होता।

गुटनिरपेक्षता की परिभाषा का प्रश्न केवल वुद्धि विलास का प्रश्न नहीं है, इसका सीधा सम्बन्ध गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की सदस्यता और चरित्र से है। हमें सन्देह है कि इस आन्दोलन से जुड़े कुछ राष्ट्र जान-बूझकर 'परिभाषा' होने नहीं देना चाहते। इन्ही राष्ट्रों ने लुसाका घोषणा (1970) में यह वाक्य भी जुड़वा दिया कि "जरूरत इस वात की नहीं है कि गुटनिरपेक्षता की पुनर्परिभाषा हो वल्कि इस वात की है कि समस्त गुटनिरपेक्ष राष्ट्र मिलकर उसके केन्द्रीय उद्देश्यों और लक्ष्यों के प्रति स्वयं को पुनर्सीमित करें।"

गुटनिरपेक्षता की परिभाषा को कुछ राष्ट्र गोलमाल क्यों रखना चाहते हैं? इसलिये कि इस आन्दोलन में बिना किसो रुकावट के हर तरह के राष्ट्रों को घुसेड़ लिया जाये। इसमें वे राष्ट्र भी आ जायें जिन्होंने जमीन पर महाशक्तियों को सैनिक अड्डे वनाने दिये है; वे राष्ट्र भी आ जायें जो सैनिक गठवन्धनों के सदस्य हैं; वे राष्ट्र भी आ जायें जिन्होंने महाशक्तियों के साथ सैनिक समझौते कर रखे हैं; वे राष्ट्र भी आ जायें जो शस्त्रों की अन्धाधुन्ध दौड़ में निरत है, जिन्होंने अपनी राजनीतिक और आर्थिक स्वाधीनता को गिरवीं रख रखा है। दूसरे शब्दों में, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को परिभाषा विहीन वनाकर चरित्ररहित करने की व्यूह-रचना वहुत हद तक सफल भी हो रही है।

निलम्बन एवं सदस्यता त्याग—निर्गुट आन्दोलन से किसी सदस्य राष्ट्र को हटाने या निलम्बित करने का न तो कोई प्रावधान है और न ही इसके लिए कोई प्रक्रिया निर्धारित की गयी है। पहली वार हवाना शिखर सम्मेलन (1979) में अरव राष्ट्रों ने मिस्र को कैम्पडेविट समझौते के विरोध में निर्गुट आन्दोलन से निलम्बित करने की माँग की थी। परन्तु सम्मेलन ने इस माँग पर निर्णय को स्थगित रख दिया।

हवाना शिखर सम्मेलन की कार्यवाही पर विरोध प्रकट करने के लिए, सम्मेलन के वाद, वर्मा के विदेशमन्त्री मिट-माडंग ने संयुक्त राष्ट्र महासभा को सूचित किया कि वर्मा ने अपने आपको गुटनिरपेक्ष आन्दोलन से अलग करने का फैसला किया है। उनका कहना था कि "हम हवाना सम्मेलन में इस आशा से गये थे कि गुटनिरपेक्ष आन्दोलनों के सिद्धान्तों की पुनः स्थापना की

जायेगी लेकिन हमने जो कुछ वहाँ देखा उससे निराशा हुई और इस आन्दोलन के प्रति मोह भंग हुआ।" निर्गुट आन्दोलन से अलग होने का यह पहला उदाहरण है।

गुटनिरपेक्षता को प्रोत्साहन देने वाले कारक
(THE INCENTIVES FOR NON-ALIGNMENT)

कोई देश अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में गुटनिरपेक्षता क्यों अपनाता है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् गुटनिरपेक्षता के अभ्युदय के लिए निम्नलिखित कारक उत्तरदायी हैं :

(1) **शीत-युद्ध**—द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अमरीका और सोवियत संघ जैसी महाशक्तियों में गम्भीर मतभेद प्रकट हुए। दोनों पक्षों में तीव्र तनाव, वैमनस्य और मतभेदों की इतनी विषम स्थिति उत्पन्न हो गयी कि वे परस्पर एक-दूसरे के विरुद्ध कटु वाग्बाणों और आरोपों की वर्षा करने लगे। यह कहना उचित होगा कि बारूद के गोले व गोलियों से लड़े जाने वाले सशस्त्र सैनिक संघर्ष के न होते हुए भी कागज के गोलों और अखबारों से लड़ा जाने वाला परस्पर विरोधी राजनीतिक प्रचार का तुमुल संग्राम छिड़ गया। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इसी संग्राम को शीत-युद्ध की संज्ञा दी जाती है। शीत-युद्ध के इस वातावरण में नवस्वतन्त्र राष्ट्रों ने किसी भी पक्ष का समर्थन न करके पृथक् रहने का निर्णय किया। शीत-युद्ध से पृथक् रहने की नीति ही आगे चलकर गुटनिरपेक्षता के नाम से जानी जाने लगी।

(2) **मनोवैज्ञानिक विवशता**—नवोदित राष्ट्रों के गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाने का दूसरा प्रमुख कारण एक भावात्मक और मनोवैज्ञानिक विवशता थी और वह यह कि वे केवल औपचारिक अर्थ में स्वतन्त्र न हों बल्कि शक्तियों के प्रभुत्व या प्रभाव के अवशेषों से एकदम मुक्त प्रतीत भी हों। उन्होंने महसूस किया कि वे गुटनिरपेक्षता में अपनी आस्था की घोषणा करके और जब भी किसी विशिष्ट प्रश्न या स्थिति के सन्दर्भ में अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करना पड़े या कार्यवाही करनी पड़ जाय वहीं वे नीति और कार्यवाही की स्वतन्त्रता को व्यावहारिक रूप से और दृढ़तापूर्वक स्थापित करके ही अपनी स्वतन्त्रता सबसे अच्छी तरह प्रमाणित कर सकते हैं। उन्हें लगा कि इस दृष्टिकोण और भूमिका के कारण उन्हें वैयक्तिक तथा सामूहिक स्तर पर ऐसी स्थिति और प्रतिष्ठा प्राप्त हो गयी है जो बड़ी शक्तियों के प्रभुत्व से व्याप्त राष्ट्र समाज में छोटे देशों को दूसरे विश्वयुद्ध से पहले कभी प्राप्त नहीं हुई थी।

(3) **सैनिक गुटों से पृथक रहना**—सन् 1945 के पश्चात् ही संसार में दो गुटों का उदय हो चुका था और सन् 1945–50 की कालावधि में एशिया-अफ्रीका के अनेक राष्ट्र स्वतन्त्र हुए थे। ये सभी शोषित और गरीब देश थे और सँभलने के लिए समय चाहते थे। किसी भी गुट की राजनीति में मिल जाने पर ये ऐसे चक्रव्यूह में फँस जाते कि इन्हें अपनी समस्याएँ सुलझाने का पूर्ण अवसर न मिल पाता और ये सदैव के लिए दबकर रह जाते।

(4) **अपने पृथक और विशिष्ट वैचारिक स्वरूप को अक्षुण्ण बनाये रखने की अभिलाषा**—नवोदित राष्ट्रों को ऐसा लगा कि गुटनिरपेक्षता उनके लिए—विशेषत: दोनों गुटों के वैचारिक संघर्ष के संदर्भ में—अपने पृथक और विशिष्ट वैचारिक स्वरूप को अक्षुण्ण बनाये रखने का साधन थी। वे अपनी राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक संस्थाओं के पृथक स्वरूप को बनाये रखना चाहते थे और यह नहीं चाहते थे कि राष्ट्रों के किसी बड़े समूह में—जहाँ किसी न किसी सर्वोच्च शक्ति का बोलबाला हो—उनकी अपनी कोई पहचान ही न रह जाये। उन्होंने अनुभव किया कि वे दूसरे राष्ट्रों की 'छाया मात्र' नहीं बन सकते चाहे वे राष्ट्र कितने ही उन्नत क्यों न हों। राष्ट्रपति सुकर्ण ने कहा था—'न तो हम छाया राष्ट्र हैं, न पाठ्य-पुस्तकीय विचारक हैं।' भारत के प्रधानमन्त्री लालबहादुर शास्त्री ने कहा था—'हमारा स्वर किसी और स्वर की प्रतिध्वनि नहीं है। यह उन लोगों की असली आवाज है जिनका हम प्रतिनिधित्व करते हैं और

जिनकी ओर से हम बोलते हैं।' नवोदित राष्ट्रों का विश्वास था कि राष्ट्रों के बड़े समूह में अपने राष्ट्रीय स्वरूप को लुप्त होने देना अब भी न तो उनके लिए वांछनीय था, न व्यावहारिक; हालांकि वे यह भी मानते थे कि राष्ट्र एक-दूसरे पर निर्भर हैं और विश्व की वर्तमान व्यवस्था में सुधार होना आवश्यक है। उन्होने पश्चिमी देशों के शासन मे एक लम्बे अरसे तक बहुत कुछ सहा था, इसलिये वे अपने समाज को पश्चिम के नमूने पर पुनर्गठित करने और सुधारने के विरुद्ध थे। वैसे बहुत से राजनीतिक मूल्यों और विश्वासों के सन्दर्भ में वे पश्चिम के साथ भी थे। वे साम्यवादी व्यवस्था का अनुसरण करने की बात भी नहीं सोच सकते थे। यों मार्क्सवादी सिद्धान्तों में उन्हें काफी आकर्षण दिखायी देता था, पर फिर भी वे यह अनुभव करते थे कि साम्यवादी विचारधारा और व्यवहार पद्धति उनके अपने दृष्टिकोण और जीवन-पद्धति से मेल नहीं खाती। वे आजमाइश और गलती के तरीके से अपने ऐतिहासिक, धार्मिक अथवा दार्शनिक मूल्यो और विश्वासों को ध्यान में रखते हुए अपने लिए विकास का आदर्श मार्ग निर्धारित करना चाहते थे।

(5) **स्वतन्त्र विदेश नीति के संचालन की अभिलाषा**—नवोदित एशिया और अफ्रीका के राष्ट्र गुटनिरपेक्षता की नीति के माध्यम से अपने को स्वतन्त्र शक्ति के रूप में स्थापित करना चाहते थे। गुटनिरपेक्षता की विदेश नीति के फलस्वरूप आज ये किसी बड़ी शक्ति के उपग्रह मात्र की स्थिति मे नही है और न दूसरों के संकेत पर नाचने के लिए बाध्य है।

(6) **आर्थिक कारक**—गुटनिरपेक्षता का एक अन्य आधार आर्थिक है। प्राय: सभी गुटनिरपेक्ष देश आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे (और अब भी है) और रहन-सहन का स्तर नीचा था। अत: उनकी विदेश नीति का एक प्रमुख ध्येय सम्भवत: त्वरित आर्थिक विकास को बढ़ावा देना था, परन्तु इसके लिए न तो उनके पास पूंजी थी, न तकनीकी कौशल था। अत: उन्होने अपनी वैदेशिक अर्थनीतियों को ऐसा मोड़ दिया कि उन्हें दो चीजे 'कोई शर्त रखे बगैर' जहाँ से भी मिल सकती हो, मिल जायं क्योकि उन्हे इनकी सख्त जरूरत थी। यहाँ भी उन्हें किसी भी गुट में सम्मिलित न होने का मार्ग सबसे अच्छा लगा। उन्हें साफ लगा कि अगर वे किसी एक गुट मे शामिल हो गये तो उन्हें एक से अधिक स्रोतों से सहायता माँगने की अपेक्षित स्वतन्त्रता से वंचित होना पड़ेगा।

बहुत से देशों ने आन्तरिक राजनीतिक आवश्यकताओं के दबाव मे गुटनिरपेक्षता की राह चुनी। आवश्यकताएँ अनेक कारणो से पैदा हुई थीं। **पहले**, राजनीतिक स्थिरता की आवश्यकता थी और इसे कुछ हद तक गुटनिरपेक्षता के द्वारा इसलिये पूरा किया जा सकता था कि विभिन्न राजनीतिक और सैद्धान्तिक दल तथा वर्ग इस बारे में एकमत थे कि दो हिस्सो में बँटी हुई दुनिया के अन्दर किसी भी गुट में शामिल न हुआ जाय। **दूसरे**, अधिकांश गुटनिरपेक्ष देशों ने पश्चिमी गुट के किसी न किसी देश के साथ लम्बे संघर्ष के बाद स्वतन्त्रता प्राप्त की थी। अत: इन देशों के नेताओं ने अनुभव किया कि पश्चिमी गुटों के साथ बँधने का मतलब अलोकप्रियता को बुलावा देना होगा। दूसरी ओर, चूंकि उनकी शिक्षा-दीक्षा पश्चिमी राजनीतिक प्रणाली के अन्तर्गत हुई थी, इसलिये वे दूसरे गुट अर्थात् साम्यवादी गुट में सम्मिलित होने के विरुद्ध थे। दूसरे शब्दों में, आन्तरिक राजनीतिक स्थिति की दृष्टि से उनके सामने एक ही रास्ता रह गया था और वह गुटनिरपेक्षता का रास्ता था। **तीसरे**, प्रत्येक नवोदित राष्ट्र को चाहे उसका राजनीतिक और सैद्धान्तिक लगाव कहीं भी क्यों न रहा हो अपनी जनशक्ति को राष्ट्रीय विकास के बहुविधि कार्य में लगाना था और उसे इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए गुटनिरपेक्षता का ही रास्ता दिखायी दिया। वह गुटनिरपेक्ष रहकर अपने राष्ट्रीय विकास के लिए दोनों गुटों की सहायता और सहयोग भी प्राप्त कर सकता था।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का संगठनात्मक पक्ष
(THE MECHANISM OF THE NON-ALIGNED MOVEMENT)

अभी तक गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की संरचना और संगठनात्मक पक्ष के अध्ययन पर बहुत ही कम ध्यान दिया गया है। इसका कारण है कि आन्दोलन अभी भी अपनी शैशवावस्था में है, इसके सिद्धान्त पूर्ण रूप से विकसित नहीं हुए है और इसका संगठनात्मक पक्ष निर्माण की प्रक्रिया में है। फिर भी गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के पिछले 30 वर्षों के क्रिया-कलापों का लेखा-जोखा करने से इसके संगठन के बारे में कुछ बातें उभर कर सामने आती है।

आन्दोलन का कोई चार्टर नहीं है किन्तु विभिन्न अवसरों पर पारित **प्रस्तावों** से इसके सिद्धान्तों का बोध हो जाता है। आन्दोलन के लिए किन्हीं स्थायी संस्थाओं की स्थापना नहीं की गयी है फिर भी कतिपय संस्थाओं का जन्म हो गया है जिनमें **समन्वय ब्यूरो** और **सम्मेलन** प्रमुख है। निर्गुट आन्दोलन की संरचना में निम्नलिखित निकाय या संगठन प्रमुख हैं :

1. **राज्याध्यक्षों का सम्मेलन या शिखर सम्मेलन** (The Conference of the Head of States or Summit Conference)—शिखर सम्मेलन या राज्याध्यक्षों का सम्मेलन गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का सबसे बड़ा प्रतिष्ठित अधिवेशन है। यह सर्वोच्च निकाय (Supreme body) अन्य निकायों से पहले कार्य करने लग गया था। इसमें विभिन्न सदस्य राज्यों के राष्ट्राध्यक्ष—राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री भाग लेते हैं। गुटनिरपेक्ष देश प्रति तीन वर्ष बाद शिखर सम्मेलन आयोजित करते हैं। शिखर सम्मेलन में प्राय: छ: प्रकार के सदस्य भाग लेते हैं—प्रतिभागी राज्य, प्रतिभागी राष्ट्रीय मुक्तिमोर्चा, पर्यवेक्षक राज्य, पर्यवेक्षक राष्ट्रीय मुक्तिमोर्चा, अतिथि राज्य, अतिथि राष्ट्रीय मुक्तिमोर्चा। शिखर सम्मेलन में निर्णय सर्वसम्मति (Consensus) से होते है।

शिखर सम्मेलनों से कई लाभ होते हैं—आन्दोलन की लोकप्रियता में वृद्धि होती है; अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों पर गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होते है; आन्दोलन में सम्मिलित राष्ट्रों में पारस्परिक राजनीतिक, आर्थिक, एवं सांस्कृतिक सहयोग की वृद्धि होती है एवं विश्व के राजनीतिक मंच पर गुटनिरपेक्ष देशों की आवाज को बल मिलता है।

2. **समन्वयक राष्ट्र एवं आन्दोलन का अध्यक्ष** (The Co-ordinating Country & the Chairman of the NAM)—शिखर सम्मेलन आयोजित करने वाले राष्ट्र को समन्वयक राष्ट्र या आन्दोलन का अध्यक्ष कहा जाता है और उस राष्ट्र के अध्यक्ष को आन्दोलन का अध्यक्ष माना जाता है। आन्दोलन के अध्यक्ष के कार्य एवं शक्तियाँ परिभाषित नहीं है। लुसाका सम्मेलन में एक प्रस्ताव द्वारा कहा गया कि—आन्दोलन का अध्यक्ष आन्दोलन की निरन्तरता बनाये रखने, सदस्य राष्ट्रों में सम्पर्क स्थापित करने हेतु आवश्यक कार्यवाही कर सकेगा। वस्तुत: समन्वयक राष्ट्र तथा आन्दोलन के अध्यक्ष को अति-राष्ट्रीय शक्तियाँ (Supra-state-Powers) प्राप्त नही है। आन्दोलन के अध्यक्ष का प्रमुख कार्य सदस्यों में आम सहमति (Consensus) उत्पन्न करना है किन्तु निर्णय तो सभी सदस्यों पर ही निर्भर है। फिर भी अध्यक्ष आन्दोलन का प्रमुख प्रवक्ता हो जाता है।

3. **विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन** (Conferences and meetings of Foeign Ministers)—शिखर सम्मेलन के बाद 'विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन' अत्यन्त महत्वपूर्ण मंच है। इसमें गुटनिरपेक्ष देशों के विदेशमन्त्री भाग लेते हैं। विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन प्राय: शिखर सम्मेलन के 18 महीने पूर्व एवं 18 महीने बाद आयोजित किया जाता है। मन्त्रियों का सम्मेलन शिखर सम्मेलन के लिए कार्य सूची तैयार करता है वहाँ गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की सदस्यता प्राप्त करने के इच्छुक देशों के आवेदन पत्रों पर विचार-विमर्श एवं निर्णय भी लेता है। सम्मेलन अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर भी विचार-विमर्श करता है। विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन की असाधारण बैठक भी बुलायी जा सकती है।

4. **समन्वयक ब्यूरो** (Co-ordinating Bureau)—गुटनिरपेक्ष देशों में सतत् विचार-विमर्श करने और कार्य में समन्वय उत्पन्न करने के लिए यह एक उपयोगी एवं सक्रिय केन्द्र है। इसे निर्गुट आन्दोलन की कार्यकारी भुजा कहा जाता है। इसका स्वरूप एक 'तैयारी समिति' की भाँति है जो गुटनिरपेक्ष देशों के शिखर सम्मेलन के लिए मसविदे तैयार करता है, संयुक्त राष्ट्र संघ और अन्य अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर संयुक्त कार्यवाही के लिए समन्वय करता है तथा नये संकटों और समस्याओं के सम्बन्ध में संयुक्त कार्यवाही करता है। समन्वय ब्यूरो में आजकल 66 सदस्य है। इसमें 31 अफ्रीका के, 23 एशिया के, 10 लैटिन अमरीका के और 2 यूरोप के सदस्य हैं। अब इसके सदस्यों का निर्वाचन होता है। भारत इसका निर्वाचित सदस्य है।

5. **संयुक्त राष्ट्र संघ में गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का समूह** (The Group of Non-aligned Countries in the U.N.)—संयुक्त राष्ट्र संघ में निर्गुट राष्ट्रों का समूह सक्रिय रहता है। इसमें स्वायत्त अरब और अफ्रीकी समूह भी शामिल हो जाते हैं। 'समूह 77' के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ मे निर्गुट राष्ट्रों का समूह सबसे बड़ा है जिसमें लगभग 130 सदस्य हैं।

संक्षेप में, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में संस्थाकरण (Institutionalising the Movement) की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गयी है। आन्दोलन की एकता बनाये रखने के लिए भी संरचना और संगठन की आवश्यकता महसूस की जाती रही है। किन्तु ये संस्थाएँ और संगठन भिन्न प्रकार से विकसित हो रहे हैं।

विभिन्न गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन
(VARIOUS NON-ALIGNED SUMMIT CONFERENCES)

गुटनिरपेक्षता की बढ़ती हुई लोकप्रियता का प्रमाण हमें गुटनिरपेक्ष देशों के विभिन्न शिखर सम्मेलनों से मिलता है। गुटनिरपेक्ष देश प्रति तीन वर्ष बाद शिखर सम्मेलनों का आयोजन करते हैं। इससे चार मुख्य लाभ होते हैं—(i) गुटनिरपेक्षता की लोकप्रियता में वृद्धि होती है, (ii) अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर गुटनिरपेक्ष देशों के दृष्टिकोण स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त होते है; (iii) गुट-निरपेक्ष देशों में पारस्परिक राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक सहयोग की वृद्धि होती है, एवं (iv) विश्व के राजनीतिक रंगमंच पर गुटनिरपेक्ष देशों की आवाज को बल मिलता है।

गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने अपने शिखर सम्मेलनों द्वारा विश्व राजनीति की विभिन्न समस्याओं पर गम्भीर रूप से विचार-विमर्श किया तथा उनके समाधान के लिए कई महत्वपूर्ण सुझाव दिये जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को गहरे ढंग से प्रभावित किया। अब तक गुटनिरपेक्ष देशों के नौ शिखर सम्मेलन हुए हैं। नवाँ शिखर सम्मेलन यूगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में 4–7 सितम्बर 1989 में सम्पन्न हुआ। यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति डॉ. जेनेज ड्रोनोवस्क 1989 से 1992 तक गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के इन शिखर सम्मेलनों का प्रारम्भ 1961 के बेलग्रेड सम्मेलन से ही हुआ था।

पहला शिखर सम्मेलन : बेलग्रेड (1961)

सितम्बर 1961 में बेलग्रेड में गुटनिरपेक्ष देशों का प्रथम शिखर सम्मेलन राष्ट्रपति टीटो के सुझाव से आमन्त्रित किया गया। इस सम्मेलन की तैयारी में एशिया और अफ्रीका के 22 राज्यों ने भाग लिया। इन देशों के द्वारा सम्मेलन में किन-किन देशों को आमन्त्रित किया जाय इस सम्बन्ध में पाँच सूत्रों को निर्धारित किया गया। ये सूत्र थे : (i) जो देश गुटनिरपेक्षता और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के आधार पर स्वतन्त्र विदेश नीति का अनुसरण करता हो; (ii) जो देश उपनिवेशवाद से स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए चल रहे आन्दोलनों का समर्थन करता हो; (iii) जो देश शीत-युद्ध से सम्बन्धित किसी सैनिक गुट का सदस्य न हो; (iv) जिस देश की रूस या अमरीका में से किसी

महाशक्ति के साथ कोई द्विपक्षीय सैनिक सन्धि न हो; तथा (v) उस देश की धरती पर कोई विदेशी सैनिक अड्डा न हो।

उस फार्मूले के आधार पर वेलग्रेड शिखर सम्मेलन में 28 देशों को आमन्त्रित किया गया, जिसमें 25 देशों ने अपने प्रतिनिधि भेजकर और 3 देशों ने अपने पर्यवेक्षक भेजकर इस सम्मेलन में भाग लिया। पर्यवेक्षक भेजने वाले राष्ट्र बोलीविया, ब्राजील तथा इक्वेडोर थे। वस्तुत: इस फार्मूले के आधार पर जिन देशों को बेलग्रेड सम्मेलन के लिए आमन्त्रित किया गया उनके वारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वे सभी इस फार्मूले की कसौटी पर पूरी तरह से खरे उतरे थे। उदाहरण के लिए, सऊदी अरब और मोरक्को में अमरीका के सैनिक अड्डे थे परन्तु फिर भी वे बेलग्रेड सम्मेलन के लिए आमन्त्रित किये गये। 1–6 सितम्बर, 1961 तक चलने वाले इस सम्मेलन में मुख्य रूप से निम्नलिखित विषयों पर विचार-विमर्श किया गया।

(1) इस सम्मेलन द्वारा ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं की ओर दुनिया का ध्यान खींचा गया जिनसे विश्वयुद्ध आरम्भ हो सकता था। ये समस्याएँ थीं : बर्लिन की समस्या, संयुक्त राष्ट्र में साम्यवादी चीन की सदस्यता का प्रश्न, कांगो की समस्या।

(2) इस सम्मेलन द्वारा यह माँग की गयी कि प्रत्येक देश को अपनी इच्छानुसार अपने शासन का स्वरूप निर्धारण और संचार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए।

(3) सम्मेलन द्वारा हर प्रकार के साम्राज्यवाद को विश्वशान्ति के लिए हानिकारक घोषित किया गया।

(4) सम्मेलन द्वारा यह घोषणा की गयी कि बिना किसी भेदभाव के सभी देशों की प्रभुसत्ता का सम्मान किया जाना चाहिए और एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र के आन्तरिक मामलों के सम्बन्ध में हस्तक्षेप की नीति का समर्थन करना चाहिए।

(5) सम्मेलन द्वारा यह विचार व्यक्त किया गया कि स्थायी शान्ति की स्थापना करने के लिए अविकसित देशों को आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक पिछड़ेपन से मुक्ति दिलाकर उनकी सामाजिक व्यवस्था को उन्नत बनाया जाना चाहिए।

(6) दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद नीति की भर्त्सना की गयी, एवं

(7) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त में आस्था व्यक्त की गयी।

बेलग्रेड सम्मेलन के निर्णयों का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर बड़ा हितकारी प्रभाव पड़ा, जिसके फलस्वरूप 1963 में अणु परीक्षण निषेध सन्धि सम्पन्न हुई, जिसने शीत-युद्ध को कम करने की दिशा में महत्वपूर्ण योग दिया।

दूसरा शिखर सम्मेलन : काहिरा (1964)

गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का द्वितीय शिखर सम्मेलन 5 अक्टूबर से 11 अक्टूबर, 1964 के मध्य काहिरा में आयोजित किया गया, जिसमें 46 देशों के प्रतिनिधि एवं 10 पर्यवेक्षक देशों ने भाग लिया। इस सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य गुटनिरपेक्षता के क्षेत्र को विस्तृत करना और इसके माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करना था। काहिरा सम्मेलन में सदस्य राष्ट्रों के बीच आपसी मतभेद काफी उग्रता से उभरे और कई बार ऐसा लगा कि सम्मेलन विफल हो जायेगा। पहली बार गुटनिरपेक्ष मंच से आर्थिक सहयोग की बात कही गयी। सम्मेलन द्वारा विश्व की विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार प्रकट किये गये :

(1) राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को हल करने में शान्तिपूर्ण वार्ता का मार्ग ही अपनाना चाहिए।

(2) सम्मेलन के द्वारा पूर्ण नि:शस्त्रीकरण की आवश्यकता पर बल दिया गया और माँग की गयी कि परमाणु परीक्षणों पर रोक लगायी जाय।

(3) दक्षिण रोडेशिया की अल्पमत गोरी सरकार को मान्यता नहीं दी जानी चाहिए।

(4) सम्मेलन ने दक्षिणी अफ्रीकी सरकार की रंगभेद की नीति की घोर निन्दा की और विश्व के सभी राष्ट्रों को इस बात के लिए आह्वान किया गया कि वे दक्षिण अफ्रीका से कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद कर लें।

(5) सभी प्रकार के उपनिवेशवाद का अन्त किया जाय। कम्बोडिया और वियतनाम में विदेशी हस्तक्षेप का अन्त हो तथा फिलिस्तीन में अरबों के अधिकारों को उचित मान्यता मिले।

(6) चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनाया जाय।

काहिरा सम्मेलन शान्ति को सुदृढ़ करने, उपनिवेशवाद को समाप्त करने और सह-अस्तित्व की भावना का विकास करने के लिए महत्वपूर्ण माना जाता है।

तीसरा शिखर सम्मेलन : लुसाका (1970)

गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का तीसरा शिखर सम्मेलन अफ्रीकी देश जाम्बिया की राजधानी लुसाका में सितम्बर 1970 में हुआ। इस सम्मेलन में 54 पूर्ण सदस्य राज्यों, 9 पर्यवेक्षक राज्यों तथा 8 अतिथि राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे ने भाग लिया।

लुसाका सम्मेलन में पश्चिमी एशिया के बारे में एक निश्चित मत प्रकट किया गया। पश्चिमी एशिया के बारे में रखे प्रस्ताव में केवल अरबों के पक्ष का समर्थन ही नहीं, अपितु हमलावर इजराइल का आवश्यकता पड़ने पर बायकाट करने तथा नाकेबन्दी तक करने की बात कही गयी। वियतनाम से अमरीकी फौजों तथा अन्य सभी देशों की फौजें हटाने की माँग की गयी। कम्बोडिया के बारे में सम्मेलन में भारी बहुमत राजकुमार सिंहनुक के पक्ष में था। स्पष्ट रूप से यह कहा गया कि जनरल लोन की सरकार ने राजकुमार सिंहनुक को अपदस्थ करके विदेशी हस्तक्षेप के लिए मार्ग खोल दिया है। उपनिवेशवाद के सन्दर्भ में दक्षिणी अफ्रीका की चर्चा हुई और सम्मेलन ने सदस्य देशों से अनुरोध किया कि दक्षिणी अफ्रीका की हवाई कम्पनी के विमानों को वह अपने ऊपर से होकर जाने की अनुमति न दे। यह अफ्रीका में स्वाधीनता के लिए संघर्ष करने वाली जनता का एक प्रकार का नैतिक समर्थन था। सन् 1970 के दशक के लिए गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के बीच आर्थिक सहयोग के लिए भी एक योजना को स्वीकार किया गया। इस सम्मेलन में यह सुझाव आया कि गुटनिरपेक्ष देशों का एक स्थायी संगठन बनाया जाय जिसका सचिवालय हो, लेकिन इस सुझाव को नामंजूर कर दिया गया। क्योंकि गुटनिरपेक्ष देश गुटबन्दी के खिलाफ चले थे और इस प्रकार संगठित होने का अर्थ होता—एक तृतीय विश्व गुट का गठन।

चौथा शिखर सम्मेलन : अल्जीयर्स (1973)

गुटनिरपेक्ष देशों का चौथा शिखर सम्मेलन अल्जीरिया की राजधानी अल्जीयर्स में 9-10 सितम्बर, 1973 में हुआ। इस सम्मेलन में 75 पूर्ण सदस्य राज्यों, 8 पर्यवेक्षक राज्यों, 12 पर्यवेक्षक राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चों तथा 3 अतिथि राज्यों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में निर्गुट देशों में व्याप्त मतभेदों का खुला प्रदर्शन हुआ लेकिन साथ ही उनमें अभूतपूर्व आत्मविश्वास और एकता का दर्शन भी हुआ। इसमें निम्नलिखित विषयों पर विचार किया गया :

(1) सम्मेलन में महाशक्तियों के मध्य तनाव-शैथिल्य का स्वागत किया गया।

(2) साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और जातीय विद्वेष के उन्मूलन पर जोर दिया गया।

(3) आर्थिक दृष्टि से यह निश्चय किया गया कि गुटनिरपेक्ष देशों को अपने आर्थिक साधनों का पूर्ण उपभोग करने का अधिकार है।

(4) यह भी निश्चय किया गया कि निर्गुट देशों के मध्य आर्थिक, व्यापारिक और तकनीकी सहयोग होना चाहिए।

(5) सम्मेलन ने अपने घोषणा-पत्र में स्पष्ट रूप से यह कहा कि विश्व की राजनीतिक

और आर्थिक नीतियों के गठन में विकासशील देशों की आवाज सुनी जाने के लिए निर्गुट राष्ट्र सम्मिलित रूप से विकसित देशों पर दबाव डालेंगे।

(6) इस बात पर जोर दिया गया कि निर्गुट राष्ट्रों को अपनी 'असंलग्नता' की परिभाषा बदलती हुई अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के सन्दर्भ में करनी चाहिए।

पाँचवाँ शिखर सम्मेलन : कोलम्बो (1976)

16 से 20 अगस्त, 1976 तक कोलम्बो में गुटनिरपेक्ष देशों का पाँचवाँ शिखर सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में 85 पूर्ण राज्यों, 1 प्रतिभागी राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे, 8 पर्यवेक्षक राज्य, 8 पर्यवेक्षक राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चों और 7 अतिथि राज्यों ने भाग लिया। कुल मिलाकर 100 देशों एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों ने इस सम्मेलन मे भाग लिया। अतिथि सदस्यों में रूमानिया, पुर्तगाल, फिलिप्पीन, पाकिस्तान, टर्की और ईरान प्रमुख थे। कई ऐसे देश, जो सैनिक संगठनों के सदस्य थे, सम्मेलन की सदस्यता के इच्छुक थे। इस सम्मेलन में नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था विकसित करने का आग्रह करते हुए, जो आर्थिक घोषणा-पत्र जारी किया गया उसमें निम्नलिखित बातें कही गयीं :

(1) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की व्याख्या को इस तरह से पुनर्गठित किया जाय कि विकासशील देशों को बेहतर शर्तों पर व्यापार का मौका मिले और उनको अपने निर्यात का उचित मूल्य प्राप्त हो।

(2) श्रम के नये अन्तर्राष्ट्रीय विभाजन के आधार पर उत्पादन को नये सिरे से पुनर्गठित किया जाय।

(3) विश्व मुद्रा प्रणाली में आमूल-चूल परिवर्तन किया जाय और मुद्रा सम्बन्धी सुधारों में विकासशील देशों की राय को वही आदर मिले जो विकसित देशों को मिलता है।

(4) विकासशील देशों को यथेष्ट मात्रा में नियमित रूप से आर्थिक साधन हस्तान्तरित किये जायँ और उनकी स्वाधीनता का सम्मान किया जाये।

(5) विकासशील देशों में अन्न की पैदावार बढ़ाने के लिए अनुकूल शर्तों पर प्रवल साधन और समुचित तकनीकी प्रदान की जाय।

कोलम्बो सम्मेलन की राजनीतिक घोषणा में निम्नलिखित बातें कही गयी थीं—(i) समता के आधार पर नयी राजनीतिक व्यवस्था बनायी जाय और 'प्रभाव क्षेत्र' जैसे सिद्धान्तों को शान्ति विरोधी बताया गया। (ii) सम्मेलन ने पश्चिमी एशिया, साइप्रस, फिलिस्तीनी समस्या, दोनों कोरियाओं का एकीकरण आदि की समस्याओं का विश्लेषण किया और मुक्ति आन्दोलनों को समर्थन दिया। (iii) सम्मेलन में हिन्द महासागर में विदेशी अड्डों के प्रश्न को भी उठाया गया और इसे तनावमुक्त क्षेत्र बनाने की आवश्यकता पर बल दिया गया। दियागोगार्सिया से नौसैनिक अड्डे हटाने की जोरदार माँग की गयी।

कोलम्बो में भारत ने प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया। सम्मेलन में मुख्य स्वर भारत का ही रहा।

छठा शिखर सम्मेलन : हवाना (1979)

छठा शिखर सम्मेलन हवाना (क्यूबा) में 3 सितम्बर, 1979 को क्यूबा के डॉ. फिदेल कास्त्रो के साम्राज्यवाद, नव-उपनिवेशवाद और अमरीका विरोधी भाषण के साथ शुरू हुआ। इस सम्मेलन में 92 राज्यों, 3 प्रतिभागी राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चों, 12 पर्यवेक्षक राज्यों, 5 पर्यवेक्षक राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चों, 8 अतिथि राज्यों और एक अतिथि राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे ने भाग लिया। भारत का प्रतिनिधित्व विदेश मन्त्री श्याम नन्दन मिश्र ने किया। यह पहली वार था जबकि सम्मेलन में भारतीय प्रधानमन्त्री का स्थान रिक्त रहा।

डॉ. फिदेल कास्त्रो का भाषण बड़ा ही विचित्र एवं अन्तर्विरोधों से भरा हुआ था। उन्होंने कहा कि यद्यपि उनका देश मार्क्सवादी सिद्धान्तों में विश्वास करता है, पर कभी भी अपने विचार और नीतियाँ गुटनिरपेक्ष देशों पर थोपने का प्रयत्न नहीं करेगा। गुटनिरपेक्ष देशों को चेतावनी देते हुए उन्हें फूट डालने वाली शक्तियों से सावधान रहने की सलाह दी। उन्होंने पाकिस्तान के दक्षिण-पूर्व एशिया सन्धि संगठन से हट जाने के निर्णय का स्वागत किया और प्रसन्नता व्यक्त की कि आखिर पाकिस्तान गुटनिरपेक्ष देशों की विरादरी में आ गया। चीन को अमरीकी साम्राज्यवाद का नया मित्र बताते हुए कास्त्रो ने उसकी भी निन्दा की। सोवियत संघ को निर्गुट राष्ट्रों का 'स्वाभाविक मित्र' बताया।

हवाना सम्मेलन के घोषणा-पत्र में कहा गया कि—

(1) गुटनिरपेक्षता का साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, नव-उपनिवेशवाद, नस्लवाद, विदेशी प्रभुत्व, विदेशी कब्जे और हस्तक्षेप एवं चौधराहट के विरुद्ध संघर्ष से स्वाभाविक सम्बन्ध है।

(2) गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों से अपनी स्वतन्त्र विदेश नीति एवं एकता के लिए एकजुट रहने को कहा गया।

(3) सभी गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों से अपील की गयी कि वे दक्षिणी अफ्रीका के अश्वेत छापामार युद्ध का समर्थन करें।

(4) तेल निर्यातक देशों से अपील की गयी कि वे दक्षिण अफ्रीका को तेल की सप्लाई कतई न करें।

(5) मिस्र के मसले पर कई घण्टे तक गरम बहस चली। अधिसंख्यक अरब देशों का कहना था कि मिस्र को निलम्बित कर दिया जाय। अन्त में मिस्र और इजराइल के बीच हुए कैम्प डेविड समझौते की निन्दा की गयी।

इस सम्मेलन में ऊर्जा, विशेषकर तेल निर्यात करने वाले विकासशील देशों की ऊर्जा सम्बन्धी समस्याओं पर बहुत गम्भीरतापूर्वक विचार हुआ। विकासशील देशों की अर्थ-व्यवस्था को लेकर भी विचार-विमर्श हुआ।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सिद्धान्तों में एक यह भी है कि सदस्य देशों के आन्तरिक मामलों की सम्मेलनों में चर्चा न की जाय, लेकिन इस सिद्धान्त की क्यूबा और अरब राष्ट्रों ने हत्या कर दी। यहाँ तक कि पाकिस्तान भी कश्मीर का मामला इसमें उछालने से बाज नहीं आया।

सातवाँ शिखर सम्मेलन : नयी दिल्ली (मार्च 1983)

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के निवर्तमान अध्यक्ष क्यूबा के राष्ट्रपति फीडल कास्त्रो ने 31 अगस्त, 1982 को सातवें गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन के दिल्ली में आयोजन करने की औपचारिक अनुमति दे दी। कास्त्रो ने गुटनिरपेक्ष देशों के राष्ट्राध्यक्षों को इस बात से सूचित किया कि इराक ने इस सम्मेलन को आयोजित करने में अपनी असमर्थता व्यक्त की है। उल्लेखनीय है कि ईरान-इराक युद्ध के कारण इराक में सम्मेलन को स्थगित करना पड़ा। ईरान ने भी इराक में सम्मेलन आयोजित करने का विरोध किया था। किन्तु साथ ही इराक-ईरान ने भारत में इसके आयोजन के लिए अनुरोध किया था।

पृष्ठभूमि—नयी दिल्ली में समवेत गुटनिरपेक्ष देशों का सातवाँ शिखर सम्मेलन (6 से 12 मार्च, 1983) अनेक दृष्टियों से अपूर्व है। बेलग्रेड से हवाना तक हुए पिछले छह सम्मेलनों में इस आन्दोलन ने यद्यपि अनेक विपत्तियों का सफलतापूर्वक सामना किया तथा अनेक नये कीर्तिमान स्थापित किये, किन्तु अपने जन्म के इस बाईसवें साल में इसके सामने जैसी गम्भीर चुनौतियाँ और जैसे अपूर्व अवसर उपस्थित हुए, वैसे पहले कभी उपस्थित नहीं हुए थे। 1983 के प्रारम्भ में विश्व राजनीति का जो माहौल हम देख रहे थे, वह 1959-60 के माहौल से कम खतरनाक नहीं

था। हवाना सम्मेलन के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का घटनाक्रम इतनी तेजी से बदलने लगा कि गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की महत्ता एक बार फिर उसी तरह रेखांकित हो गयी, जिस तरह वह प्रथम सम्मेलन के पहले हुई थी।

समसामयिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तनाव, अविश्वास और संघर्ष का जहर घोलने वाली समस्त घटनाएँ एकदम हवाना सम्मेलन के बाद ही शुरू हुई हों, ऐसा नहीं है। कुछ घटनाओं का सूत्रपात अल्जीयर्स सम्मेलन (1973) के बाद हुआ और कुछ का कोलम्बो (1976) के बाद। कुछ घटनाओं ने हवाना सम्मेलन (1979) के समय रंग दिखाना शुरू कर दिया, जैसे कम्पूचिया विवाद, इजिप्ट के साथ उग्रवादी अरब राष्ट्रों की अनबन, सोमालिया-इथियोपिया संघर्ष, हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र बनाना, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के स्वाभाविक मित्रों की अवधारणा आदि। यहाँ मुख्य बात यह है कि हवाना सम्मेलन के बाद जो पिछले सवा तीन साल गुजरे हैं, उनमें पहले के चले आ रहे कुछ स्थानीय मामलों ने जहाँ क्षेत्रीय रूप धारण किया, वहाँ कुछ नये मामलों ने सम्पूर्ण विश्व राजनीति को झकझोर कर रख दिया।

हवाना सम्मेलन सितम्बर 1979 में सम्पन्न हुआ और उसके तीन मास बाद ही सोवियत फौजें अफगानिस्तान में घुस गयीं। इससे न केवल अफगानिस्तान, पाकिस्तान और ईरान के आपसी सम्बन्ध बिगड़ गये, अपितु सम्पूर्ण दक्षिण-पश्चिम एशिया विश्व राजनीति का एक ऐसा मर्मस्थल बन गया, जिसकी धड़कनों में से एक बार फिर विश्वयुद्ध के नगाड़ों की ध्वनि गुन्जायमान होने लगी। अफगान संकट ने एक नये शीत-युद्ध को जन्म दिया। दोनों महाशक्तियों के बीच चल रही शस्त्र परिसीमन वार्ता (साल्ट-2) भंग हो गयी, पश्चिमी राष्ट्रों ने सोवियत संघ पर अनेक आर्थिक और राजनीतिक प्रतिबन्ध लगाने की कोशिश की, अमरीका ने भी खाड़ी के देशों, हिन्द-महासागर तथा पाकिस्तान में अपनी सैनिक उपस्थिति को बढ़ाना शुरू कर दिया। अफगानिस्तान के मामले को लेकर सम्पूर्ण गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में भी फूट पड़ गयी। कुछ गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों—वियतनाम, सीरिया, द. यमन, इथियोपिया, आदि ने अफगानिस्तान में रूसी कार्यवाही का समर्थन किया, तो कुछ राष्ट्रों—सिंगापुर, मोरक्को, जैरे, नेपाल, पाकिस्तान, मिस्र आदि ने डटकर विरोध किया। भारत जैसे राष्ट्रों ने सोवियत संघ की भर्त्सना करने के बजाय यह माना कि अफगानिस्तान से सोवियत सेना की वापसी तथा 'बाहरी हस्तक्षेप' की समाप्ति एक साथ होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त ईरान-इराक युद्ध, फॉकलैण्ड को लेकर हुए ब्रिटेन-अर्जेण्टाइना युद्ध और लेबनान को लेकर हुए अरब-इजराइल युद्ध ने एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी थी जिसे द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल में अपूर्व ही माना जायेगा। पोलैण्ड के अतिरिक्त संकट के कारण यदि यूरोपीय तनाव बढ़ा है, तो आग्नेय एशिया में कम्पूचिया के लिए सिहानुक के नेतृत्व में बनी नयी प्रवासी सरकार के कारण हेंग सैमरिन सरकार पहले से भी अधिक परेशानी में पड़ गयी है। यहाँ ध्यान देने योग्य मुख्य बात यह है कि दुनिया में जहाँ-जहाँ भी कोई संकट है, वहाँ-वहाँ उसके पक्ष और विपक्ष की पीठ ठोकने के लिए परस्पर प्रतिद्वन्द्वी महाशक्तियाँ सक्रिय हैं। महाशक्तियों की इस प्रतिस्पर्द्धा से विश्व को बचाने के लिए ही गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का जन्म हुआ था और यह कहना तथ्यानुकूल ही है कि समसामयिक जगत में यह प्रतिद्वन्द्विता अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गयी है। अतः गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का सप्तम सम्मेलन (नई दिल्ली) बहुत ही नाजुक अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में हुआ।

दिल्ली शिखर सम्मेलन : आखिर मिला क्या ?—गुटनिरपेक्ष देशों के राष्ट्राध्यक्षों तथा शासनाध्यक्षों का सातवाँ शिखर सम्मेलन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी की इस अपील के साथ आरम्भ हुआ कि विश्व की महाशक्तियाँ आणविक हथियारों के इस्तेमाल की धमकी देना बन्द करें और केवल अपने स्वार्थ की चिन्ता छोड़कर सम्पूर्ण मानवता के भले की बात सोचें। तीसरी दुनिया के इस सबसे विशाल सम्मेलन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही कि अनेक द्विपक्षीय मामलों पर

पारस्परिक मतभेद होते हुए भी चुने हुए महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय मसलों पर आम राय कायम हो पायी। इस सम्मेलन में 95 राज्यों, 2 प्रतिगामी राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चों, 10 पर्यवेक्षक राज्यों, 1 पर्यवेक्षक राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे तथा 10 अतिथि राज्यों ने भाग लिया। इस अवसर पर 68 राष्ट्राध्यक्ष या राजा, 26 प्रधानमन्त्री तथा उपराष्ट्रपति या विदेशमन्त्री उपस्थित थे। सम्मेलन के निवर्तमान अध्यक्ष क्यूबा के राष्ट्रपति फिदेल कास्त्रो ने अगले तीन वर्षों के लिए सम्मेलन का अध्यक्ष पद श्रीमती इन्दिरा गाँधी को सौंपा। नटवरसिंह को सातवें गुटनिरपेक्ष सम्मेलन का महासचिव चुना गया। वैसे यह सम्मेलन पाँच दिन तक चलना था, पर ईरान व इराक के युद्ध का मसला हल न हो पाने के कारण इसका अधिवेशन एक दिन के लिए और बढ़ाना पड़ा।

सम्मेलन में क्यूबा के राष्ट्रपति फिदेल कास्त्रो, फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन के अध्यक्ष यासर अराफात और यूगोस्लाव राष्ट्रपति पीटर स्टाम्बोलिच के उद्बोधन भाषणों के बाद किसी राष्ट्राध्यक्ष का भाषण उल्लेखनीय रहा तो वह थे पाक राष्ट्रपति जनरल जिया। उनके भाषण में श्रीमती गाँधी को मुबारकबाद दी गयी थी और एक पाँच-सूत्री आर्थिक कार्यक्रम भी पेश किया था। जैसी कि उम्मीद थी अफगानिस्तान मे रूसी फौजों के दखल पर गहरी चिन्ता और अफसोस जाहिर करते हुए भागकर पाकिस्तान गये हुए तीस लाख से भी अधिक अफगान शरणार्थियों का रोना रोया गया था। जम्मू-कश्मीर के द्विपक्षीय मामले का भी जिक्र करके उन्होंने बहुतों का मन खट्टा कर दिया।

शिखर सम्मेलन समाप्त होने के पहले जो महत्वपूर्ण घोषणाएँ स्वीकार की गयीं, उन्हें 'राजनीतिक और आर्थिक घोषणाओं का नई दिल्ली सन्देश' की संज्ञा दी गयी। ईरान-इराक संघर्ष पर दोनों देशों में कोई समझौता न हो पाने के कारण इस सम्बन्ध में कोई विधिवत् प्रस्ताव तो स्वीकार नहीं किया जा सका, किन्तु गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की ओर से उसकी अध्यक्ष श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने दोनों देशों से 30 महीनों से चले आ रहे युद्ध को तुरन्त समाप्त करने और गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की एकता और अखण्डता को सुदृढ़ बनाने की अपील की। इसी तरह आठवें शिखर सम्मेलन के स्थान के बारे में भी कोई समझौता नहीं हो सका। फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन के अध्यक्ष यासर अराफात के अनुरोध पर पश्चिमी एशिया में शान्ति स्थापित करने के लिए फिलिस्तीन के मसले पर मद्देनजर रखते हुए आठ सदस्यों की एक समिति का गठन किया गया।

सम्मेलन के अन्तिम दिन जारी किये गये **'नयी दिल्ली के सन्देश'** में महाशक्तियों से हथियारों की होड़ बन्द करने व परमाणु युद्ध न होने देने के लिए प्रयास करने की अपील की गयी।

सम्मेलन में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाये जाने का भी सुझाव दिया गया, जिसमें सदस्य देशों के विकास के लिए आर्थिक सहायता जुटाने एवं पूंजी लगाने के कार्य में अन्तर्राष्ट्रीय योगदान के उपायों पर विचार किया जा सके। इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा एवं वित्तीय प्रणाली के व्यापक पुनर्गठन की आवश्यकता पर भी बल दिया गया। इसके अलावा विकासशील देशों के बीच आर्थिक सहयोग के कार्यक्रम चलाने का सुझाव भी दिया गया।

राजनीतिक प्रस्ताव में दक्षिण अफ्रीका के अश्वेत लोगों के शोषण, उनके प्रति असमानता के व्यवहार व उनके अधिकारों के हनन की भर्त्सना करते हुए उनके संघर्ष में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन द्वारा पूरा सहयोग दिये जाने की बात कही गयी। राजनीतिक घोषणा में नामीबिया के विषय में कहा गया कि वहाँ के नागरिकों को अपने बारे में निर्णय लेने और वालविस खाड़ी तथा पेंगुइन द्वीपसमूह समेत एक स्वतन्त्र संयुक्त नामीबिया की स्थापना का अनपहरणीय अधिकार है। यूरोप में बढ़ती हथियारों की होड, तनाव व विभिन्न गुटों के बीच टकराव की नीति पर चिन्ता व्यक्त की गयी। लेकिन दक्षिण अमरीका में उस क्षेत्र के देशों द्वारा उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, नव-उपनिवेशवाद एवं किसी भी प्रकार के विदेशी प्रभुत्व के खिलाफ चलाये जाने वाले संघर्ष का

समर्थन किया गया। अफगानिस्तान समस्या का राजनीतिक हल निकालने और वहाँ से विदेशी सेनाओं की वापसी की माँग करते हुए राजनीतिक घोषणा में उस देश की स्वतन्त्रता तथा प्रभुसत्ता के प्रति पूरा सम्मान व्यक्त किया गया। संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव को इस सम्बन्ध में ठोस कदम उठाने के लिए गुटनिरपेक्ष आन्दोलन ने अपना पूरा समर्थन देने की बात कही। कम्पूचिया के बारे में घोषणा में वहाँ के नागरिकों को अपने देश की सरकार के बारे में निर्णय लेने व विदेशी हस्तक्षेप समाप्त करने की बात पर पुनः बल दिया गया। साथ ही दक्षिण-पूर्व एशिया क्षेत्र से आपसी वार्ता द्वारा इस क्षेत्र में शान्ति स्थापित करने व बाहरी ताकतों का हस्तक्षेप रोकने की अपील की गयी। यही बात कोरिया के बारे में भी कही गयी।

आर्थिक घोषणा में विकसित राष्ट्रों से विकासशील देशों के व्यापार पर लगाये गये प्रतिबन्धों को समाप्त करने व संरक्षणवादी रवैया न अपनाने को कहा गया। सम्मेलन में विकासशील राष्ट्रों द्वारा एक बैंक स्थापित करने की बात कही गयी थी, पर उसे स्वीकार नहीं किया गया और वह मामला वहीं दब गया।

सम्मेलन में खाद्य, ऊर्जा एवं परमाणु शक्ति के बारे में भी विचार किया गया। लेकिन सवाल यह है कि क्या यह सम्मेलन वास्तव में उन मूलभूत समस्याओं को हल करने में सफल रहा जिनका हल ढूंढ़ना नितान्त आवश्यक था।

विवादास्पद मुद्दे—सम्मेलन में विवाद का आरम्भ हुआ कम्पूचिया के सम्मेलन में भाग न लेने के सवाल पर। इस प्रश्न पर सदस्य देश तीन भागों में बँट चुके थे। कुछ राजकुमार सिंहनुक को आमन्त्रित किये जाने के पक्ष में थे तो कुछ यह चाहते थे कि हेंग सैमरिन की सरकार को आमन्त्रित किया जाये क्योंकि कम्पूचिया के अधिकांश भाग पर इस समय उसी का अधिकार है। अन्य राष्ट्र इस पक्ष में थे कि कम्पूचिया का स्थान खाली छोड़ दिया जाय जैसा कि पिछले हवाना सम्मेलन में किया गया था। भारत के लिए बड़ी जटिल स्थिति पैदा हो गयी थी कि मेजबान होने के नाते वह क्या निर्णय ले। सोवियत रूस एवं वियतनाम द्वारा समर्थित हेंग सैमरिन सरकार से उसके राजनयिक सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे। अन्त में यही निर्णय लिया गया कि कम्पूचिया का स्थान खाली छोड़ दिया जाय।

अफगानिस्तान के मसले पर कोई बड़ा निर्णय लिये जाने की पूरी सम्भावना थी, किन्तु वहाँ के प्रधानमन्त्री सुलतान अली किश्तमन्द ने यह स्पष्ट कर दिया कि न तो गुटनिरपेक्ष सम्मेलन को और न ही किसी अन्य अन्तर्राष्ट्रीय मंच को यह अधिकार है कि वह उनके देश के आन्तरिक मामलों पर बहस करे। यहाँ तक कि नयी दिल्ली के सन्देश व सम्मेलन की कार्य-सूची में भी इस विषय को शामिल किये जाने पर उन्होंने कड़ा विरोध प्रकट किया।

ईरान-इराक के युद्ध के बारे में सम्मेलन की अवधि बढ़ाये जाने के बावजूद कोई ठोस हल नहीं निकला।

ऐसा ही एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी था कि अगला गुटनिरपेक्ष सम्मेलन कहाँ बुलाया जाय। इराक यह चाहता था कि आठवाँ गुटनिरपेक्ष सम्मेलन बगदाद में आयोजित किया जाय। पर ईरान, लीबिया और सीरिया इसका कड़ा विरोध कर रहे थे। अन्त में यह प्रश्न भी बिना हल हुए रह गया।

समीक्षात्मक दृष्टि—लेटिन अमरीका में संयुक्त राज्य अमरीका का हस्तक्षेप कम करने, अफगानिस्तान में रूसी सेनाओं की वापसी, हेंग सैमरिन सरकार को प्रजातान्त्रिक रूप में परिवर्तित करने, इजरायल द्वारा अरब अधिकृत क्षेत्र वापस करने के लिए बाध्य करने या दक्षिण अफ्रीका द्वारा नामीबिया का शोषण कम करने आदि महत्वपूर्ण सवालों पर सम्मेलन में जो कुछ भी हुआ वह नया नहीं था। ऐसे मुद्दों पर सिवा लफ्फाजी के और कुछ किया भी नहीं जा सकता था।

देखा जाय तो गुटनिरपेक्ष सम्मेलन का राजनीतिक घोषणा-पत्र बिल्कुल अर्थहीन है। इसकी सबसे बड़ी कमी यह है कि यह ऐसी सरकारों, राष्ट्रों को सम्बोधित करके लिखा गया है, जो इस आन्दोलन के सदस्य नहीं हैं और न ही इसके प्रभाव में आते हैं। यहाँ तक कि स्वयं इसके सदस्य देश भी इतने ज्यादा विभाजित और गुटों में बँटे हुए हैं कि वे यह नहीं चाहते कि उनके अपने मामलों में भी गुटनिरपेक्ष आन्दोलन द्वारा हस्तक्षेप किया जाय। अफगानिस्तान इसका स्पष्ट उदाहरण है।

सही अर्थों में देखा जाय तो गुटनिरपेक्ष आन्दोलन केवल एक मंच है, सम्मेलन एक क्लब से बढ़कर और कुछ नहीं है, जहाँ सदस्य अपनी इच्छा के अनुसार जैसा चाहते हैं वैसा व्यवहार करते हैं। सातवें गुटनिरपेक्ष सम्मेलन की समाप्ति पर श्रीमती इन्दिरा गांधी का यह कहना कि "हो सकता है कि हम हर बात पर सहमत न हों, पर हमारे विचार एक हैं", इस तथ्य की पुष्टि करता है। वैसे भी इसे शब्दों का मायाजाल ही कहा जायेगा कि विचार तो एक हो पर मुद्दों पर सहमति न हो।

सातवें गुटनिरपेक्ष सम्मेलन की आर्थिक घोषणा में गुटनिरपेक्ष तथा दूसरे गरीब राष्ट्रों के लिए खाद्य रक्षक-प्रणाली स्थापित करने का सुझाव रखा गया है। इस सुझाव में गरीब देशों, विशेषकर अफ्रीका में खाद्य की कमी को दूर करने के लिए एक विशेष अन्तर्राष्ट्रीय खाद्य कार्यक्रम चलाने एवं वित्तीय सहायता प्रदान करने पर बल दिया गया है। घोषणा में विकसित राष्ट्रों से आसान शर्तों पर खाद्य एवं कृषि के क्षेत्र में उदारता से सहायता करने की बात कही गयी है। पर सवाल इस बात का है कि क्या मात्र घोषणा करने या विकसित राष्ट्रों से अपील करने से खाद्य की समस्या हल हो जायेगी ? खाद्य सहायता को हमेशा से विकसित राष्ट्र अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए इस्तेमाल करते आये हैं और भविष्य में भी करते रहेंगे।

एक ओर यह आन्दोलन आर्थिक विकास के लिए विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों के बीच विभिन्न साधनों के समान वितरण की बात करता है, दूसरी ओर खुद इसके कुछ सदस्य राष्ट्र ऐसे साधनों के अधीन हैं, जिन्होंने अपने देश की सारी शक्ति, सम्पत्ति व सम्पदा पर कब्जा कर रखा है। फिर ये यह कैसे आशा कर सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उन्हें प्रजातान्त्रिक तरीके से समानता के आधार पर न्याय मिल सकेगा।

उपलब्धियाँ—फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि इस शिखर सम्मेलन ने गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को एक नयी शक्ति और दिशा दी है। कुछ लोगों का कहना था कि यह सम्मेलन एक तरह के आधार शिविर के रूप में सामने आया, जो एक नये संघर्ष की शुरूआत का संकेत देता है। पहली बार इस सम्मेलन के जरिये द्विपक्षीय आधार पर बातचीत करने की सार्थकता सामने आयी। इस सम्मेलन ने सदस्य राष्ट्रों में एकता का नये सिरे से बोध कराया, सशस्त्र संघर्ष की निरर्थकता का अहसास और मतभेदों को शान्तिपूर्वक बातचीत के जरिये सुलझाने की उपयुक्तता अधिक अर्थपूर्ण लगी। नयी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था पर औद्योगिक देशों से बातचीत चलाने के प्रस्ताव का एक परिणाम यह हुआ कि सदस्य देशों ने विकास कार्यक्रमों में सहयोग की आवश्यकता का महत्व समझा। उन्हें यह भी लगा कि वे अपने संसाधनों और क्षमताओं का विकास कार्यक्रमों में उपयोग अपने प्रयत्न से कर सकते हैं। पारस्परिक विचार-विमर्श (साउथ-साउथ डाइलॉग) की सम्भावनाएँ पहले के मुकाबले कहीं अधिक बढ़ गयीं। एकता के क्षेत्रों की मुखर ढंग से पहचान हुई।

कुछ क्षेत्रों में यह आशंका व्यक्त की गयी कि शिखर सम्मेलन का दृष्टिकोण समस्याओं के समाधान पर केन्द्रित न होकर, उसे फिलहाल टाल देने के अधिक करीब था। प्रमाण के रूप में अफगानिस्तान, कम्पूचिया और ईरान-इराक की बात कही गयी। वस्तुतः सम्मेलन की

सफलता इस तथ्य में निहित है कि इन समस्याओं के कारण विघटन या विभाजन की स्थिति नहीं पैदा हुई।

आठवाँ निर्गुट शिखर सम्मेलन : हरारे (सितम्बर 1986)

गुटनिरपेक्ष देशों का सात दिन का आठवाँ शिखर सम्मेलन 1-7 सितम्बर, 1986 को हरारे (जिम्बाब्वे) में सम्पन्न हुआ। सम्मेलन के पहले ही दिन जिम्बाब्वे के प्रधानमन्त्री रॉबर्ट मुगावे को गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का अध्यक्ष चुन लिया गया। वे इस पद पर अगले सम्मेलन तक रहेंगे।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का यह रजत जयन्ती वर्ष था। 25 वर्ष पूर्व बेलग्रेड में इसकी शुरूआत हुई थी। तब से लगातार इसकी सदस्यता बढ़ती रही और आज इसमें 101 देश एवं संगठन हैं। इस सम्मेलन में 99 पूर्ण राज्य सदस्यों, 2 राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चों, 6 पर्यवेक्षक राज्यों, 4 पर्यवेक्षक राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चों तथा 13 अतिथि राज्यों ने भाग लिया। इस वर्ष यूनान, मंगोलिया एवं आस्ट्रेलिया को पर्यवेक्षक का विशेष दर्जा दिया गया।

हरारे घोषणा—हरारे सम्मेलन के समापन पर एक घोषणा-पत्र जारी किया गया। दक्षिण अफ्रीका क्षेत्र पर पारित विशेष घोषणा में स्पष्ट कर दिया गया कि इस देश की रंगभेद नीति के विरुद्ध एकमुश्त उपायों को लागू किया जाये जिसमें दक्षिण अफ्रीका को प्रौद्योगिकी के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध, उसे निर्यात की समाप्ति, तेल की बिक्री पर रोक, हवाई सम्पर्क तोड़ने जैसे पग भी शामिल हैं। प्रीटोरिया सरकार द्वारा निकटवर्ती राज्यों पर लगाये गये आर्थिक प्रतिबन्धों से होने वाली क्षति की पूर्ति के लिए एक विशेष कोष स्थापित किया जायेगा। इस कोष के अध्यक्ष राजीव गाँधी होंगे। अफ्रीका के अग्रणी देशों (Front line states) की दक्षिण अफ्रीका पर आर्थिक निर्भरता को कम करने के लिए कोष से सहायता दी जायेगी। इस कोष को न केवल गुटनिरपेक्ष देश धन देंगे बल्कि अन्य देशों से भी धन देने को कहा जायेगा। सम्मेलन ने नामीबिया की आजादी सुनिश्चित करने के लिए संयुक्त राष्ट्र महासभा का एक विशेष अधिवेशन बुलाये जाने की माँग की। घोषणा में कहा गया कि विदेश मन्त्रियों का एक दल पश्चिमी देशों का दौरा कर उनसे दक्षिणी अफ्रीका के विरुद्ध व्यापक प्रतिबन्ध लगाने का आग्रह करेगा। हरारे सम्मेलन ने साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद की कड़े शब्दों में निन्दा की।

निर्गुट शिखर सम्मेलन में एक सप्ताह तक चली बहस के दौरान उसके आन्तरिक मतभेद भी उभरकर सामने आये। लीबियाई नेता कर्नल कद्दाफी ने गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को 'अन्तर्राष्ट्रीय छलावा' बताया। उन्होंने कहा कि आन्दोलन अब अपनी उपयोगिता खो बैठा है। ईरान-इराक युद्ध को रोकने में निर्गुट देशों की विफलता इस आन्दोलन पर एक प्रश्न चिह्न लगा रही है। सम्मेलन में दक्षिण अफ्रीका के पड़ोसी देशों को राहत पहुँचाने के लिए जिस कोष की स्थापना की गयी है वह दक्षिण अफ्रीका के खिलाफ संघर्ष कर रहे देशों के लिए बड़ा संबल होगा।

हरारे में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के शिखर सम्मेलन की एक बड़ी उपलब्धि यह है कि निर्गुट राष्ट्र विकासशील देशों के बीच आर्थिक सहयोग बढ़ाने के लिए सहमत हो गये हैं। हरारे सम्मेलन में आपसी सहयोग बढ़ाने के लिए विकासशील देशों का एक आयोग गठित करने का निर्णय किया गया है और इसकी अध्यक्षता की जिम्मेदारी तंजानिया के पूर्व राष्ट्रपति जूलिस न्येरेरे ने सम्भालना स्वीकार कर लिया। नवगठित आयोग विकासशील देशों में गरीबी, भुखमरी, निरक्षरता के उन्मूलन और आर्थिक समस्याओं के निराकरण के उपाय और इसके लिए संयुक्त रणनीति अपनाने का सुझाव देगा।

अमरीका ने आठवें गुटनिरपेक्ष सम्मेलन की प्रखर आलोचना करते हुए इसे पूर्वाग्रहों से ग्रसित बताया। अमरीकी विदेश मन्त्रालय ने मेजबान जिम्बाब्वे की आर्थिक सहायता बन्द करने

की घोषणा कर दी जिसका सीधा अर्थ यही है कि वह डरा-धमकाकर इस नव स्वतन्त्र राष्ट्र को अपने पक्ष में रखने को मजबूर करना चाहता है।

नवाँ निर्गुट शिखर सम्मेलन : बेलग्रेड (सितम्बर 1989)

4 से 7 सितम्बर 1989 को यूगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में नवाँ निर्गुट शिखर सम्मेलन सम्पन्न हुआ। यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति जानेज ड्रानोवस्क अगले तीन वर्षों (1989–1992 तक) के लिए गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के नये अध्यक्ष चुने गये।

नवें शिखर सम्मेलन में वेनेजुएला को आन्दोलन की सदस्यता प्रदान करने से अब निर्गुट आन्दोलन की सदस्य संख्या 102 तक पहुँच गयी है। बेलग्रेड शिखर सम्मेलन में इस आन्दोलन के 102 सदस्य देशों में से 98 ने भाग लिया। आठ देशों को आन्दोलन का अतिथि सदस्य दर्जा दिया गया है। ये देश हैं—पोलैण्ड, पूर्वी जर्मनी, चैकोस्लोवाकिया, बुलगारिया, कनाडा, न्यूजीलैण्ड और नार्वे।

शिखर सम्मेलन ने बेलग्रेड घोषणा पत्र तथा सदस्य देशों की महत्वपूर्ण राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं के बारे में चालीस अन्य दस्तावेज पारित किये। सम्मेलन में यह फैसला किया गया कि ये चालीस अलग दस्तावेज मुख्य दस्तावेज के अंग होंगे।

शिखर सम्मेलन ने निर्गुट आन्दोलन के पश्चिम विरोधी पुराने तेवर के आन्दोलन को त्याग कर मुख्य मुद्दा यह उठाया गया कि गरीब और अमीर दुनिया के बीच व्यापार और बाजार, कर्ज और पूंजी निवेश के रिश्ते कैसे होंगे? धरती को बचाने की पहल कौन करेगा? एटमी हथियारों के बाकी बचे जखीरे कैसे नष्ट होंगे? एवं रासायनिक व प्राणिशास्त्रीय हथियारों पर नियन्त्रण कैसे लगेगा? इन्हीं महत्वपूर्ण मुद्दों के सन्दर्भ में बेलग्रेड घोषणा पत्र में स्पष्ट कहा गया कि निर्गुट आन्दोलन अब अपने अतीत से हटकर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था में बुनियादी बदलाव लाने के लिए काम करेगा एवं दुनिया की प्रमुख समस्याएँ सुलझाने में सक्रिय भूमिका निभायेगा।

नवें शिखर सम्मेलन में सबसे महत्वपूर्ण मुद्दा यह था कि राजनीतिक साम्राज्यवाद के बाद जिस नवीन आर्थिक साम्राज्यवाद का उदय हुआ है उससे सदस्य राष्ट्रों को कैसे बचाया जाये? राजीव गांधी ने ठीक ही कहा है कि खतरा अब उपनिवेशवाद का नहीं, आर्थिक गुलामी का है।

बेलग्रेड घोषणापत्र में (i) गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने सभी के लिए आत्मनिर्णय के अधिकार की पुष्टि की; (ii) घोषणा में कहा गया कि उपनिवेशवाद का खात्मा सम्पूर्ण मानव जाति का नैतिक दायित्व है; (iii) तीसरे विश्व के देशों पर विदेशी कर्ज के भारी बोझ की समस्या तथा संरक्षणवादी बाधाओं को हटाया जाये; (iv) शिखर सम्मेलन ने 'धरती रक्षा कोष' बनाने के बारे में प्रधानमन्त्री राजीव गांधी के प्रस्ताव की पुष्टि करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय से अनुरोध किया कि वह पर्यावरण सम्बन्धी सहयोग के लिए अलग से वित्तीय संसाधन निर्धारित करे और विकासशील देशों को पर्यावरण की दृष्टि से सुरक्षित तकनीक मुहैया कराये; (v) शिखर सम्मेलन ने पहली बार पर्यावरण समस्याओं से सम्बन्धित अपनी निर्धारित नीतियों में परमाणु कचरे को ठिकाने लगाने का सवाल भी शामिल किया है। (vi) मादक द्रव्यों के सेवन और इसकी तस्करी रोकने के बारे में पारित एक अन्य प्रस्ताव में गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने कहा कि इसे रोकने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा तुरन्त प्रभावी कदम उठाने की जरूरत है। (vii) गुटनिरपेक्ष देशों ने परमाणु ऊर्जा के शान्तिपूर्ण प्रयोग के बारे में पारित एक प्रस्ताव में कहा कि परमाणु हथियारों के अप्रसार को मुद्दा बनाकर उन देशों पर परमाणु शक्ति हासिल करने पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाना चाहिए, जो शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए परमाणु शक्ति हासिल करना चाहते हैं, क्योंकि यह उनका अधिकार

है। (viii) विकासशील देशों के आपसी सहयोग को बढ़ाने और इसके लिए उनके बीच समन्वय के लिए 12 देशों के एक दल का गठन किया गया। (ix) सम्मेलन में नामीबिया के बारे में पारित एक विशेष घोषणा में नामीबिया की आजादी के लिए गत एक अप्रैल से शुरू हुई संयुक्त राष्ट्र की योजना का दक्षिणी अफ्रीका द्वारा किये जा रहे उल्लंघन पर गम्भीर चिन्ता व्यक्त की गयी। इसमें फैसला किया गया कि गुटनिरपेक्ष ब्यूरो के 18 सदस्यीय एक दल को तथ्यों का पता लगाने के लिए नामीबिया भेजा जायेगा। यह दल देखेगा कि नामीबिया में आगामी 6 नवम्बर को निर्धारित चुनाव की प्रक्रिया स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष रूप से चल रही है अथवा नहीं।

निर्गुट शिखर सम्मेलन ने अमरीका, इजराइल और दक्षिण अफ्रीका को आड़े हाथों लिया। अमरीका से कहा गया कि वह क्यूबा के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण कार्यवाही खत्म करे, निकारागुआ के कोंट्रा विद्रोहियों के नये सिरे से स्थान तय करने की लैटिन अमरीकी पहल का समर्थन करे। इजराइल का आह्वान किया गया कि सम्पूर्ण लेबनानी क्षेत्र से अपनी सेना हटा ले। दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद नीति की निन्दा की गयी तथा नेलसन मंडेला सहित सभी राजनीतिक कैदियों की बिना शर्त रिहाई की अपनी माँग दोहरायी। सम्मेलन ने मास्को और वाशिंगटन द्वारा मध्य दूरी परमाणु प्रक्षेपास्त्र संधि पर हस्ताक्षर के बाद परमाणु निरस्त्रीकरण की गति धीमी पड़ने पर दोनों महाशक्तियों से अपनी चिन्ता व्यक्त की। शिखर सम्मेलन ने स्वाधीनता, समानता और सामाजिक न्याय पर आधारित नई व्यवस्था की स्थापना को आज भी आन्दोलन का लक्ष्य घोषित किया।

1992 में होने वाले दसवें निर्गुट शिखर सम्मेलन के आयोजन स्थल के चयन का फैसला न हो पाने के कारण 1991 में गुटनिरपेक्ष विदेश मन्त्रियों का घाना में एक सम्मेलन होगा और उसी में दसवें शिखर सम्मेलन के स्थान का फैसला किया जायेगा।

संक्षेप में, बेलग्रेड सम्मेलन ने विकासशील देशों के बीच सहयोग के नये क्षेत्रों का पता लगाया है। इस शिखर सम्मेलन में नई समस्याओं विशेषकर आर्थिक मामलों से सम्बन्धित मुद्दों को उठाया गया।

गुटनिरपेक्षता की उपलब्धियाँ
(ACHIEVEMENTS OF NON-ALIGNMENT)

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन आज 'तीसरी अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति' का प्रतीक बन गया है। आज 'नाम' (NAM) के 102 सदस्य देश है जो दुनिया की 40% आबादी, 36% क्षेत्रफल और 66 प्रतिशत देशों का प्रतिनिधित्व करता है। इसने "साम्राज्यवाद के विस्तार के विरुद्ध एक प्रतिरोधी राजनीतिक वातावरण बनाने में मदद की है।" यूगोस्लाविया के भूतपूर्व राष्ट्रपति मार्शल टीटो के अनुसार "गुटनिरपेक्षता मानव जाति की आत्मा और भविष्य है।" भारत के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई के शब्दों में, "गुटनिरपेक्षता अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा बन गयी है।" श्रीमती इन्दिरा गाँधी के शब्दों में, "यह मानव इतिहास का सबसे बड़ा शान्तिवादी आन्दोलन है।" सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाच्योव के अनुसार, "आन्दोलन से शान्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ है, मानव प्रतिष्ठा और समानता का निर्माण हुआ है।"

(1) गुटनिरपेक्ष को दोनों गुटों द्वारा मान्यता—गुटनिरपेक्षता एक नई संकल्पना है। प्रारम्भ में गुटनिरपेक्ष देशों को एक कठिनाई से जूझना पड़ा कि अन्य राष्ट्रों को कैसे समझाया जाय कि गुटनिरपेक्षता क्या है, कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सन्दर्भ में इसे एक स्वतन्त्र और नयी संकल्पना के रूप में मान्यता कैसे दिलायी जाय? शुरू में दोनों गुटों ने गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों पर विश्वास किया—पश्चिमी गुट की अपेक्षा पूर्वी गुट ने अधिक। सच्ची बात यह है कि कुछ गुटनिरपेक्ष देश—जिनमें भारत भी सम्मिलित है—स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के बाद वर्षों तक साम्यवादी राष्ट्रों से अपनी स्वतन्त्रता की मान्यता प्राप्त नहीं कर सके। दोनों गुट यह मानते थे कि युद्धोत्तर

विश्व में किसी राष्ट्र के सामने एक ही रास्ता रह गया है और यह कि वह उनमें से किसी एक के साथ गुटवद्ध हो जाय। उनका पक्का विश्वास था कि गुटनिरपेक्षता एक ढोंग है, 'कोई तीसरा रास्ता' तो है ही नही। फलत: दोनों ही गुट यह समझते थे कि जो भी देश गुटनिरपेक्ष है वह वस्तुत: गुप्त रूप से दूसरे गुट के साथ बँधा हुआ है।

दोनों गुटों के इन दृष्टिकोणों में धीरे-धीरे परिवर्तन आया। साम्यवादी राष्ट्रों का दृष्टिकोण 1953 में जोसेफ स्टालिन की मृत्यु के बाद से ही बदलना शुरू हो गया। फरवरी 1956 में सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की बीसवीं कांग्रेस ने न केवल पहली बार यह बात स्वीकार की कि गुटनिरपेक्ष देश सचमुच स्वतन्त्र हैं, बल्कि यह भी अनुभव किया कि विश्व की सभी मूलभूत समस्याओं के बारे में सोवियत संघ और गुटनिरपेक्ष देशों के 'एक से विचार' है। पश्चिमी गुट ने तो सातवें दशक में जाकर गुटनिरपेक्षता की नीति को मान्यता दी। गुटनिरपेक्ष देशों को गुटवद्ध देशों के मन का संशय दूर करने तथा इस नीति के प्रति सद्भावना और सम्मान का वातावरण पैदा करने के प्रयास में जो सफलता मिली वह सचमुच सराहनीय है।

(2) **विश्व राजनीति में संघर्षों का टालना**—गुटनिरपेक्षता की दूसरी सम्भव उपलब्धि यह रही कि इसके प्रभाव से विश्व के कुछ विकट संघर्ष टल गये या उनकी तीव्रता कम हुई या फिर उनका समाधान हो गया और विशेषत: तीसरा विश्वयुद्ध भी नहीं छिड़ा जिसकी सम्भावना के बारे में 1950 से शुरू होने वाले दशक के मध्य में सरकारी और गैर-सरकारी स्तरों पर चिन्ता व्यक्त की जा रही थी। गुटनिरपेक्ष राष्ट्र यह दावा कर सकते हैं और उनका यह दावा गलत नहीं होगा कि उन्होंने न्यूक्लीय अस्त्रों के सबसे खतरनाक दशक में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने और बढ़ावा देने मे महत्वपूर्ण योग दिया। दोनों गुटों की योजनाओं के विपरीत बहुत से देशों ने राष्ट्र समाज को पूरी तरह से दो हिस्सों में बँटने से रोक दिया जिसे दोनों गुटों के बीच सीधी टक्कर रोकने में निश्चय ही सहायता मिली। गुटनिरपेक्ष देशों ने सर्वोच्च शक्तियों को उस रास्ते से हटा दिया जिस पर चलते-चलते उनके बीच प्रत्यक्ष संघर्ष की स्थिति आ सकती थी, और इसकी बजाय उन्हें अपने से कम विकसित देशों को विकसित करने की शान्तिपूर्ण प्रतिद्वन्द्विता के रास्ते पर चलने की प्रेरणा दी, और इस तरह उन्होने अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों को स्थिर रूप देने में योग दिया। यदि अनेक ऐसे राष्ट्र विद्यमान न होते जो दोनों गुटों में से किसी एक के साथ गुटबद्ध न थे और उन्होने 'बर्लिन एयरलिफ्ट' कोरियाई युद्ध, इण्डोचीनी संघर्ष, चीनी द्वीपसमूह से सम्बन्धित विवाद (1955) तथा स्वेज युद्ध (1956) जैसे संकटों के समय न्यायोचित और त्वरित समाधान का आग्रह और अनुरोध किया होता, तो सम्भवत: और भी व्यापक और अनवरत संघर्ष होते जो पूरी दुनिया को अपनी लपेट में ले सकते थे। गतिरोध, घोर अन्धविश्वास और दोनों गुटों का सम्पर्क टूट जाने की स्थितियों में गुटनिरपेक्ष राष्ट्रो ने न केवल संयम से काम लेने की सलाह दी बल्कि युद्ध विराम के अवसरों पर अपने सद्प्रयत्न, मध्यस्थता और शान्ति सेनाएँ भी प्रस्तुत कर दीं—जैसे कि कोरिया, इण्डोचीन और स्वेज के सन्दर्भ में। कांगो के गृहयुद्ध के समय गुटनिरपेक्ष देशों ने दोनों गुटों के सदस्य राष्ट्रों के सम्भावित सशस्त्र हस्तक्षेप को निष्फल कर देने के उद्देश्य से लड़ाकू सेनाएँ भेजने तक की पेशकश कर दी।

(3) **शीत-युद्ध को शस्त्र-युद्ध में परिणत होने से रोकना**—बहुत से गुटनिरपेक्ष देश दोनों गुटों और सर्वोच्च शक्तियों के बीच सद्भावना के हेतु और सम्पर्क के माध्यम का काम करने को तैयार थे और दूसरे शीत-युद्ध के दोनों पक्षों के बीच खामखयालियाँ और गलतफहमियाँ दूर करने में सहायता मिली। कभी-कभी उन्हें यह भी अनुभव हुआ कि न्यूक्लीय विध्वंस के कगार पर हैं। गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने कम से कम शीत-युद्ध को उस स्थिति में पहुँचने से रोक दिया जिसमें सर्वोच्च

शक्तियों के जान-बूझकर उस राह पर चलने से या खामखयाली की वजह से वह शस्त्र-युद्ध में परिणत हो सकता था।

(4) **शीत-युद्ध को देतान्त (detant) की स्थिति में लाना**—शीत-युद्ध को देतान्त अर्थात् तनाव-शैथिल्य की स्थिति में लाने का श्रेय गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को ही है।

(5) **निःशस्त्रीकरण और अस्त्र नियन्त्रण की दिशा में प्रगति**—निःशस्त्रीकरण और अस्त्र नियन्त्रण के लिए बातचीत करने में गुटनिरपेक्ष देशों ने जो भूमिका निभायी, उसमें उन्हें एकदम सफलता तो नहीं मिली, फिर भी उसने लोगों को यह नहीं भूलने दिया कि विश्वशान्ति को बढ़ावा देने की सारी चर्चा के सामने अस्त्र-शस्त्र बढ़ाने की बे-लगाम दौड़ कितनी खतरनाक है। गुटनिरपेक्ष भारत को यह देखकर सन्तोष हुआ कि उसने अप्रैल 1954 में न्यूक्लीय शस्त्रों के परीक्षण पर प्रतिबन्ध लगाने के जो प्रस्ताव रखे थे वे 1963 में आंशिक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि के रूप में फलीभूत हुए।

(6) **विश्व समाज के लिए उन्मुक्त वातावरण का निर्माण**—नवोदित कमजोर राष्ट्रों को महाशक्तियों के चंगुल से निकालकर उन्हें स्वतन्त्रता के वातावरण में अपना अस्तित्व बनाये रखने का अवसर गुटनिरपेक्षता ने प्रदान किया। गुटबन्दी की विश्व राजनीति के दमघोंटू राष्ट्र समाज में गुटनिरपेक्षता ताजी हवा का झोंका लेकर आयी। यह ताजी हवा थी खुले समाज के गुणों की, मुक्त और खुली चर्चा के वरदान की, तीव्र मतभेद और रोष के समय भी सम्पर्क के रास्ते खुले रखने के महत्व की। शीत-युद्ध के कारण जो अनुदारताएँ और विकृतियाँ पैदा हो गयी थीं, गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों ने उन्हें दूर करने के अथक प्रयास किये, और इससे वर्तमान विश्व समाज कहीं अधिक खुला समाज बन गया।

(7) **अपनी राष्ट्रीय प्रकृति के अनुरूप विकास के प्रतिमान**—गुटनिरपेक्ष देशों की बड़ी-बड़ी उपलब्धियों में से एक यह है कि उन्होंने अमरीकी और सोवियत आदर्श अपने ऊपर थोपे जाने का विरोध किया और अपनी राष्ट्रीय प्रकृति के अनुसार विकास के अपने राष्ट्रीय साँचों और पद्धतियों का आविष्कार किया। इस तरह भारत ने अपने 'समाज के समाजवादी ढाँचे' का आविष्कार किया और अरब राष्ट्रों ने 'अरब समाजवाद' का।

(8) **संयुक्त राष्ट्र संघ के स्वरूप को रूपान्तरित करना**—गुटनिरपेक्षता की नीति और गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्र संगठन को कुछ दृष्टियों से हमेशा-हमेशा के लिए रूपान्तरित करने में सहायता दी है। एक तो अपनी संख्या के कारण, दूसरे शीत-युद्ध में अपनी अधिक तटस्थ दृष्टि और भूमिका के कारण गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्र संगठन को छोटे राष्ट्रों के बीच शान्ति कायम रखने वाले संगठन से ऐसे संगठन में रूपान्तरित करने में सहायता दी जिसमें छोटे राष्ट्र बड़े राष्ट्रों पर कुछ नियन्त्रण रख सकें। उन्होंने संयुक्त राष्ट्र महासभा की भूमिका का महत्व बढ़ा दिया, जिसमें सभी सदस्यों का बराबर प्रतिनिधित्व होता है और सुरक्षा परिषद की भूमिका का महत्व कम कर दिया (जिसकी सदस्यता सीमित और असमानता पर आधारित है), हालांकि उसकी मूल संकल्पना विश्व संगठन के सबसे महत्वपूर्ण अंग के रूप में की गयी थी।

(9) **अविकसित राष्ट्रों के मध्य आर्थिक सहयोग की बुनियाद**—अविकसित राष्ट्रों के मध्य आर्थिक सहयोग की बुनियाद रखने में गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों को सफलता मिली है। कोलम्बो शिखर सम्मेलन में तो एक आर्थिक घोषणा-पत्र स्वीकार किया गया जिसका मुख्य आधार यह था कि गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के बीच अधिकाधिक आर्थिक सहयोग हो और इस आर्थिक सहयोग के लिए प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किया जाय। आजकल गुटनिरपेक्ष राष्ट्र 'नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था' की माँग कर रहे हैं।

(10) **विश्व लोकमत के निर्माण में सहायक**—गुटनिरपेक्ष राष्ट्र भले ही महाशक्तियों के सैनिक दवाव का सामना करने में सक्षम न हों परन्तु वे गम्भीर एवं तनावपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विशेष लोकमत का निर्माण तो कर ही सकते हैं। उदाहरणार्थ, गुटनिरपेक्ष देश परमाणु अस्त्रों की होड़ से उत्पन्न विनाशकारी प्रभावों को प्रसारित कर निरस्त्रीकरण की आवश्यकता पर बल दे रहे हैं।

(11) **शान्ति स्थापना में सकारात्मक भूमिका**—गुटनिरपेक्ष आन्दोलन एक सकारात्मक आन्दोलन है। इसके सदस्यों की संख्या में जितनी वृद्धि होती है उतनी ही मात्रा में शान्ति के क्षेत्रों का विस्तार होता है।

संक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की प्रमुख उपलब्धियाँ हैं : (1) नव स्वाधीन देशों द्वारा शीतयुद्ध में शामिल होने से इन्कार; (2) महाशक्तियों के बीच देतान्त सम्बन्धों का विकास; (3) राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों का समर्थन; (4) नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की माँग; (5) विकासशील देशों में परस्पर सहयोग की भावना का विकास; (6) रंगभेद का प्रवल विरोध; (7) अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर विकासशील देशों के दृष्टिकोणों की संयुक्त अभिव्यक्ति।

गुटनिरपेक्षता की कमजोरियाँ या विफलताएँ : आलोचना
(SHORTCOMINGS OR FAILURES OF NON-ALIGNMENT : CRITICISM)

गुटनिरपेक्षता की विफलताएँ क्या हैं ? इस सिलसिले में आलोचक निम्नलिखित तर्क देते हैं :

(1) **अवसरवादी और काम निकालने की नीति**—पश्चिमी आलोचकों के अनुसार गुटनिरपेक्षता एक अवसरवाद और काम निकालने की नीति होकर रह गयी है, कि गुटनिरपेक्ष देश सिद्धान्तहीन हैं, कि साम्यवादी और गैर-साम्यवादी गुटों के साथ अपने सम्बन्धों के सन्दर्भ में वे 'दोहरी कसौटी' का प्रयोग करते हैं, और यह कि उनका ध्येय—पश्चिमी और साम्यवादी दोनों गुटों से अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने का और जिसका पलड़ा भारी हो, उसकी ओर मिल जाने का रहता है।

डॉ. एम. एस. राजन ने इस आलोचना का उत्तर देते हुए लिखा है कि गुटनिरपेक्षता की नीति अवसरवादिता की नीति हो सकती है परन्तु उतनी ही जितना गुटवद्धता की अथवा कोई अन्य नीति हो सकती है, उससे अधिक नहीं। फिर, क्या पाकिस्तान और वहाँ के नेताओं पर पश्चिमी गुट के साथ बँध जाने के सिलसिले में अवसरवाद का आरोप नहीं लगाया जा सकता ?

(2) **सिद्धान्ततः उपयुक्त किन्तु अव्यावहारिक नीति**—आलोचकों के अनुसार यह नीति सिद्धान्ततः जितनी उपयुक्त है, व्यवहारतः उससे बहुत भिन्न है, और सिद्धान्ततः इसमें चाहे कितने ही गुण क्यों न हों, व्यवहारतः यह कई तरह से विफल हुई है। अतः यह कहा जाता है कि जहाँ सिद्धान्त के धरातल पर गुटनिरपेक्षता का ध्येय राष्ट्रों की स्वतन्त्रता सुनिश्चित करना है, व्यवहार के धरातल पर इसने बहुत से गुटनिरपेक्ष देशों के सन्दर्भ में इस दायित्व को वस्तुतः निभाया नहीं है। उदाहरण के लिए, पश्चिमी देशों की एक आलोचना यह है कि व्यवहारतः गुटनिरपेक्षता ने साम्यवाद के प्रति सहानुभूति को छिपाने के लिए नकाव का काम दिया है और इसका परिणाम होता है साम्यवादी गुट की अधीनता (जैसे एनक्रूमा के नेतृत्व में घाना, वर्मा, क्यूबा)। आलोचक यह भी कहते है कि नासिर के अधीन संयुक्त अरव गणराज्य और नेहरू के अधीन भारत 1950 के दशक में साम्यवादी खेल खेलते रहे हैं।

इस आलोचना का उत्तर देते हुए डॉ. एम. एस. राजन ने लिखा है कि अभी तक कोई गुटनिरपेक्ष राष्ट्र साम्यवादी गुट में सम्मिलित नहीं हुआ है। दूसरी ओर एक साम्यवादी राष्ट्र (यूगोस्लाविया) साम्यवादी गुट का साथ छोड़कर गुटनिरपेक्ष वन गया है। जहाँ कुछ मामलों में कुछ गुटनिरपेक्ष देशों ने साम्यवादी शिविर के देशों का समर्थन किया है, वहाँ उन्हीं गुटनिरपेक्ष

राष्ट्रों ने अन्य अवसरों पर उन्हीं देशों की आलोचना भी की है। हंगरी के विरुद्ध सोवियत सैनिक कार्यवाही (1956) तथा चैकोस्लोवाकिया (1968) के मामलों में अनेक गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने सोवियत संघ की आलोचना की है।

(3) **बाह्य सहायता पर निर्भरता**—गुटनिरपेक्ष देशों की एक विफलता यह बतायी जाती है कि वे बाहरी आर्थिक और रक्षा सहायता पर बेहद निर्भर रहे हैं। चूंकि वे दोनों गुटों से सहायता प्राप्त करने की स्थिति में थे, इसलिये उन्होंने इतनी भारी आर्थिक और रक्षा-सहायता लेने का रास्ता निकाल लिया कि आज वे अपने सहज-सामान्य कार्य-निर्वाह के लिए भी इस सहायता पर आश्रित हो गये हैं। आलोचकों का तर्क है कि सच्ची गुटनिरपेक्षता आर्थिक आत्म-निर्भरता को तथ्य रूप में मानकर चलती है। यदि कोई राष्ट्र किसी तरह की सहायता के लिए किसी अन्य राष्ट्र या समूह पर बहुत आश्रित हो तो इसका मतलब है उस राष्ट्र की स्वतन्त्रता को और गुटनिरपेक्षता को भी दांव पर लगा दिया गया है।

डॉ. एम. एस. राजन का कहना है कि 'किसी देश को दोनों सर्वोच्च शक्तियों से बराबर बड़े परिमाण में आर्थिक और सैनिक सहायता प्राप्त हुई है—यह बात अपने आप में इस बात का प्रमाण नहीं कि उसकी गुटनिरपेक्षता बराबर ज्यों की त्यों बनी हुई है।'

(4) **गुटनिरपेक्षता की नीति किसी तरह सुरक्षा का साधन नहीं**—आलोचकों का यह कहना है कि गुटनिरपेक्ष राष्ट्र गुटनिरपेक्षता को अपनी सुरक्षा के लिए पर्याप्त मानते थे। यदि वे अत्यन्त विशाल रक्षा व्यवस्था रखेंगे तो उनकी गुटनिरपेक्षता सुरक्षित नहीं रह जायेगी, और यदि वे बाहर से सैनिक सहायता स्वीकार करेंगे तो उनकी गुटनिरपेक्षता का स्वरूप शुद्ध नहीं रह जायेगा। अक्टूबर 1962 में भारत पर चीन के आक्रमण ने भारत और भारत के लोगों को यह अनुभव करा दिया कि वर्तमान राष्ट्र समाज में—जो सर्वथा आदर्श नहीं हैं—कोई भी चीज किसी देश की सुरक्षा का प्रमाण नहीं हो सकती—गुटनिरपेक्षता भी नहीं; कि उपयुक्त सैन्य शक्ति रखने के साथ गुटनिरपेक्षता की कोई असंगति नहीं है, और बाहरी आक्रमण से मुकाबला करने के लिए बाहर से सैनिक सहायता स्वीकार करना भी कोई गलत काम नहीं है। चीनी आक्रमण के दौरान भारत के लोगों ने यह भी अनुभव किया कि अन्य गुटनिरपेक्ष देशों में सबको भारत के साथ सहानुभूति नहीं थी जबकि बहुत से ऐसे देशों ने—जो पश्चिमी गुट के साथ बंधे थे—या तो भारत के प्रति सहानुभूति दिखायी या चीनी आक्रमण का मुकाबला करने में भारत को सहायता दी।

गुटनिरपेक्षता के कुछ नासमझ आलोचकों को लगा कि चीन के आक्रमण से उनका दृष्टिकोण एकदम सही सिद्ध हो गया है कि गुटनिरपेक्षता किसी भी तरह की सुरक्षा का साधन नहीं है और इसलिये भारत को गुटनिरपेक्षता का त्याग कर देना चाहिए। यह तो ऐसे हुआ मानो गुटबद्ध होने से किसी राष्ट्र को पूरी तरह सुरक्षा मिल जाती है।

(5) **संकुचित नीति**—विदेश नीति का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसे गुटनिरपेक्षता की नीति में बांधा नहीं जा सकता। गुटनिरपेक्षता का दायरा बहुत सीमित है। गुटों से बाहर क्रियाशील होने की कल्पना इस अवधारणा में है ही नहीं। सारी नीति गुटों की राजनीति के आस-पास घूमती है। महाशक्ति-गुटों की राजनीति पर प्रतिक्रिया करते रहना ही इस नीति का मुख्य लक्ष्य बन जाता है। या तो गुटों के आपसी झगड़ों में पंच बनने की कोशिश करना या दोनों से अलग रहते हुए एक के केवल इतने समीप जाने का प्रयत्न करना कि दूसरा बुरा न माने और यदि दूसरे के बुरा मानने का डर हो तो पहले से नाप-तौल कर दूर हटना या बारी-बारी से पास जाना या दूर हटना—यही गुटनिरपेक्षता की शैली रही है।[1]

---

1 डॉ. वेदप्रताप वैदिक, **भारतीय विदेश नीति : नये दिशा संकेत**, 1980, पृ. 123।

(4) **गुटनिरपेक्ष देशों में अस्थिरता उत्पन्न करना**—महाशक्तियाँ गुटनिरपेक्ष देशों में हस्तक्षेप करती रहती हैं और अपने गुप्तचरों के माध्यम से अस्थिरता लाने का प्रयास करती हैं। क्यूबा जैसे गुटनिरपेक्ष देश में अमरीका ने सी. आई. ए. के माध्यम से फिदेल कास्त्रो सरकार को गिराने की बार-बार कोशिश की। चिली के राष्ट्रपति एलेण्डे की हत्या में भी सी. आई. ए. का हाथ था।

(5) **यह एक नैतिक आन्दोलन है**—गुटनिरपेक्ष आन्दोलन नैतिक अपील-सा लगता है। यह मानवता की रक्षा की आवाज बुलन्द कर सकता है किन्तु शस्त्रों द्वारा शान्ति स्थापित नहीं कर सकता, आक्रमणों का प्रतिरोध नहीं कर सकता। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप की प्रत्यक्षत: भर्त्सना नहीं कर सका। गुटनिरपेक्ष देशों में केवल 57 देशों ने संयुक्त राष्ट्र महासभा के 14 जनवरी, 1980 के उस प्रस्ताव में मतदान किया जिसमें अफगानिस्तान से सोवियत सेनाओं की वापसी की माँग की गयी थी; 9 गुटनिरपेक्ष देशों ने प्रस्ताव का विरोध किया और 24 ने मतदान में हिस्सा नहीं लिया।

(6) **गुट सापेक्ष राष्ट्रों की बढ़ती संख्या**—अब तो चीन भी आन्दोलन का सदस्य बनने की सोच रहा है। ऐसी स्थिति में जबकि सुरक्षा परिषद का एक स्थायी सदस्य इस आन्दोलन में रहेगा और पाकिस्तान, ईरान, फिलीपीन्स तथा रिओ सन्धि के सदस्य जैसे सैनिक गठबन्धनों वाले देश भी इसमें रहेंगे तो गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का भविष्य क्या होगा, कहने की जरूरत नहीं है।

(7) **चीन की दिलचस्पी**—वास्तविकता तो यह है कि हवाना सम्मेलन तक आते-आते यह भेद ही मिट गया कि गुटनिरपेक्ष होने के लिए सैनिक असंलग्नता आवश्यक है। जो भी देश दस्तक देता है, उसी के लिए द्वार खुल जाता है। यूरोप के तटस्थ राष्ट्रों की बात जाने दें, लेकिन रूमानिया, स्पेन, पुर्तगाल, जैसे राष्ट्र और पाकिस्तान, फिलीपीन्स और आस्ट्रेलिया जैसे देश, जो किसी न किसी गुट के साथ नत्थी रहे हैं, इस आन्दोलन के सम्मेलनों में या तो पर्यवेक्षक या अतिथि के रूप में भाग लेते रहे है। 'सेंटो' और 'सीएटो' का सदस्य रहते हुए भी पाकिस्तान ने इस आन्दोलन में घुसने की कोशिश की। यूगोस्लाविया की कोशिश है कि किसी तरह रूमानिया भी अन्दर आ जाये। यह तर्क दिया जा सकता है कि अब अफगानिस्तान और वियतनाम जैसे राष्ट्र इस आन्दोलन के सदस्य हैं, तो रूमानिया क्यों नहीं हो सकता है? नवें शिखर सम्मेलन में पोलैण्ड, पूर्वी जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया, बुल्गारिया आदि देशों को भी अतिथि सदस्य के रूप में आन्दोलन में प्रवेश दे दिया गया है।

यदि गुटनिरपेक्षता की स्पष्ट परिभाषा नहीं की गयी और सदस्यता के लिए अर्हताएँ निश्चित नहीं की गयीं, तो ऐसे प्रश्नों का उत्तर देना धीरे-धीरे कठिन होता जायेगा। कोई आश्चर्य नहीं कि चीन भी इसका सदस्य बनने की पेशकश करे। फ्रांस तो चाहता ही था कि वह नई दिल्ली सम्मेलन में भाग ले।

गुटनिरपेक्षता : गतिशीलता और नूतन प्रवृत्तियाँ
(THE NON-ALIGNMENT : DYNAMISM AND NEW TRENDS)

गुटनिरपेक्षता की नीति समय के साथ अधिकाधिक सक्रिय, गतिशील और व्यावहारिक बनती जा रही है। प्रारम्भ में इस नीति में नैतिकता और आदर्शवाद का पुट अधिक था, लेकिन गुटनिरपेक्ष देश अब यह अच्छी तरह समझने लगे हैं कि कोई भी नीति तभी सार्थक और उपादेय हो सकती है जब उसे यथार्थवाद के धरातल पर उतारा जाये। इस दृष्टि से गुटनिरपेक्षता की नूतन-गतिशील प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं :

(1) आज की गुटनिरपेक्षता अपने पुराने स्वरूप से इसलिये भिन्न और गतिशील है कि अब गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के अन्तर्गत यह बात सम्भव मानी जाने लगी है कि यदि किसी गुट-

भारत और श्रीलंका जैसे लोकतान्त्रिक देश हैं तो नेपाल, मोरक्को, इथियोपिया जैसे राजशाही देश भी रहे हैं। वियतनाम, क्यूबा, लाओस जैसे कम्युनिस्ट देश इसमें हैं तो फौजी तानाशाही वाले इण्डोनेशिया, बर्मा, पाकिस्तान, घाना, उगांडा जैसे देश भी इसमें रहे हैं। दूसरे शब्दों में, गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के लगभग 90 देशों में से 10 भी ऐसे नहीं हैं जिन्हें सच्चे अर्थों में लोकतान्त्रिक कहा जा सके। इन देशों की शासन पद्धतियाँ ही भिन्न-भिन्न नहीं हैं अपितु अर्थ-व्यवस्था के स्वरूप और समस्याएँ भी एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं। कई गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों में आपसी तनाव ने युद्ध का रूप धारण कर लिया है। अपने द्विपक्षीय मामलों को सम्मेलन के मंच पर लाने में नहीं चूकते। यदि गुटनिरपेक्षता और कुछेक नैतिक मूल्य एक-दूसरे के पर्याय होते तो आज सम्मेलन का स्वरूप इतना विशृंखलित और आत्मविरोधी नहीं होता। नेहरू के नेतृत्व में गुटनिरपेक्षता पर जो नैतिक मूल्य आरोपित करने की कोशिश भारत ने की थी वह एक मृग-मरीचिका के अलावा कुछ नहीं थी। इन तथाकथित मूल्यों—पंचशील, निरस्त्रीकरण आदि का गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने समय-समय पर उल्लंघन करके यह सिद्ध किया कि गुटनिरपेक्षता एक साधारण नीति मात्र है।

आलोचकों का यह भी कहना है कि युद्ध या संकट के समय गुटनिरपेक्ष देश अकेला रह जाता है जैसे चीनी आक्रमण के समय भारत रह गया था। फिर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मार्ग इतना कुटिल है कि गुटनिरपेक्षता की माला जपते हुए भी राष्ट्रों ने अन्दर ही अन्दर गुटों से हाथ मिलाने की कोशिश की है। 1971 में सम्पन्न भारत-सोवियत सन्धि इसका एक प्रमाण है। मिस्र-सोवियत और इराक-सोवियत सन्धि भी इसी ढर्रे पर सम्पन्न की गयी थीं। सैन्य-परामर्श और सैन्य-सहायता के स्पष्ट प्रावधान इन सन्धियों में थे।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की चुनौतियाँ : दबाव
(CHALLENGES OF NON-ALIGNMENT : PRESSURES)

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। प्रथम बेलग्रेड शिखर सम्मेलन में केवल 25 देशों ने भाग लिया था, और 1989 के नवें बेलग्रेड शिखर सम्मेलन में 102 राष्ट्रों ने भाग लिया। आज गुटनिरपेक्ष आन्दोलन राष्ट्र संघ के दो तिहाई सदस्यों, मानव जाति के आधे सदस्यों और चार महाद्वीपों—एशिया, अफ्रीका, यूरोप और लेटिन अमरीका का प्रतिनिधित्व करता है। फिर भी आज इसे अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की प्रमुख चुनौतियाँ इस प्रकार हैं :

(1) **सैनिक दबाव**—महाशक्तियाँ गुटनिरपेक्ष देशों पर सैनिक दबाव डालती रहती हैं। अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करने के लिए महाशक्तियाँ गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाने वाले देशों को अपने सैनिक संगठनों के माध्यम से घेरने की कोशिश करती हैं। भारत जैसे गुटनिरपेक्ष देश के विरुद्ध अमरीका ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता दी। इसी प्रकार हिन्दमहासागर में महा-शक्तियों की सक्रिय गतिविधियाँ इस क्षेत्र के गुटनिरपेक्ष देशों पर दबाव डालने की ही चेष्टा है।

(2) **गुटनिरपेक्ष देशों में पारस्परिक तनाव एवं वैमनस्य**—गुटनिरपेक्ष देश पर्याप्त रूप से संगठित नहीं हैं। उनमें तनाव, वैमनस्य और भयंकर विवाद उभरते रहे हैं। उदाहरणार्थ, भारत और बंगला देश दोनों ही गुटनिरपेक्षता के समर्थक हैं। किन्तु कोलम्बो शिखर सम्मेलन में बंगला देश ने भारत के साथ गंगा के पानी के बँटवारे के प्रश्न को उठाकर दुनिया के सामने अपने आपसी तनावों का ही प्रकटीकरण किया।

(3) **आर्थिक पिछड़ापन**—आर्थिक दृष्टि से गुटनिरपेक्ष देश पिछड़े हुए हैं। अपने आर्थिक विकास के लिए इन देशों को महाशक्तियों पर निर्भर रहना पड़ता है। महाशक्तियाँ आर्थिक लालच देकर इन छोटे और कमजोर गुटनिरपेक्ष देशों का शोषण करती हैं। उन्हें आर्थिक सहायता का लुभावना मोह दिखाकर उन्हें अपने गुटों में बाँधने का प्रयत्न करती हैं।

(4) **गुटनिरपेक्ष देशों में अस्थिरता उत्पन्न करना**—महाशक्तियाँ गुटनिरपेक्ष देशों में हस्तक्षेप करती रहती हैं और अपने गुप्तचरों के माध्यम से अस्थिरता लाने का प्रयास करती है। क्यूबा जैसे गुटनिरपेक्ष देश में अमरीका ने सी. आई. ए. के माध्यम से फिदेल कास्त्रो सरकार को गिराने की बार-बार कोशिश की। चिली के राष्ट्रपति एलेण्डे की हत्या में भी सी. आई. ए. का हाथ था।

(5) **यह एक नैतिक आन्दोलन है**—गुटनिरपेक्ष आन्दोलन नैतिक अपील-सा लगता है। यह मानवता की रक्षा की आवाज बुलन्द कर सकता है किन्तु शस्त्रों द्वारा शान्ति स्थापित नहीं कर सकता, आक्रमणों का प्रतिरोध नहीं कर सकता। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप की प्रत्यक्षतः भर्त्सना नहीं कर सका। गुटनिरपेक्ष देशों में केवल 57 देशों ने संयुक्त राष्ट्र महासभा के 14 जनवरी, 1980 के उस प्रस्ताव में मतदान किया जिसमें अफगानिस्तान से सोवियत सेनाओं की वापसी की माँग की गयी थी; 9 गुटनिरपेक्ष देशों ने प्रस्ताव का विरोध किया और 24 ने मतदान में हिस्सा नहीं लिया।

(6) **गुट सापेक्ष राष्ट्रों की बढ़ती संख्या**—अब तो चीन भी आन्दोलन का सदस्य बनने की सोच रहा है। ऐसी स्थिति में जबकि सुरक्षा परिषद का एक स्थायी सदस्य इस आन्दोलन में रहेगा और पाकिस्तान, ईरान, फिलीपीन्स तथा रिओ सन्धि के सदस्य जैसे सैनिक गठबन्धनों वाले देश भी इसमें रहेंगे तो गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का भविष्य क्या होगा, कहने की जरूरत नहीं है।

(7) **चीन की दिलचस्पी**—वास्तविकता तो यह है कि हवाना सम्मेलन तक आते-आते यह भेद ही मिट गया कि गुटनिरपेक्ष होने के लिए सैनिक असंलग्नता आवश्यक है। जो भी देश दस्तक देता है, उसी के लिए द्वार खुल जाता है। यूरोप के तटस्थ राष्ट्रों की बात जाने दें, लेकिन रूमानिया, स्पेन, पुर्तगाल, जैसे राष्ट्र और पाकिस्तान, फिलीपीन्स और आस्ट्रेलिया जैसे देश, जो किसी न किसी गुट के साथ नत्थी रहे हैं, इस आन्दोलन के सम्मेलनों में या तो पर्यवेक्षक या अतिथि के रूप में भाग लेते रहे हैं। 'सेंटो' और 'सीएटो' का सदस्य रहते हुए भी पाकिस्तान ने इस आन्दोलन में घुसने की कोशिश की। यूगोस्लाविया की कोशिश है कि किसी तरह रूमानिया भी अन्दर आ जाये। यह तर्क दिया जा सकता है कि अब अफगानिस्तान और वियतनाम जैसे राष्ट्र इस आन्दोलन के सदस्य हैं, तो रूमानिया क्यों नहीं हो सकता है ? नवें शिखर सम्मेलन में पोलैण्ड, पूर्वी जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया, बुल्गारिया आदि देशों को भी अतिथि सदस्य के रूप में आन्दोलन में प्रवेश दे दिया गया है।

यदि गुटनिरपेक्षता की स्पष्ट परिभाषा नहीं की गयी और सदस्यता के लिए अर्हताएँ निश्चित नहीं की गयीं, तो ऐसे प्रश्नों का उत्तर देना धीरे-धीरे कठिन होता जायेगा। कोई आश्चर्य नहीं कि चीन भी इसका सदस्य बनने की पेशकश करे। फ्रांस तो चाहता ही था कि वह नई दिल्ली सम्मेलन में भाग ले।

गुटनिरपेक्षता : गतिशीलता और नूतन प्रवृत्तियाँ
(THE NON-ALIGNMENT : DYNAMISM AND NEW TRENDS)

गुटनिरपेक्षता की नीति समय के साथ अधिकाधिक सक्रिय, गतिशील और व्यावहारिक बनती जा रही है। प्रारम्भ में इस नीति में नैतिकता और आदर्शवाद का पुट अधिक था, लेकिन गुटनिरपेक्ष देश अब यह अच्छी तरह समझने लगे हैं कि कोई भी नीति तभी सार्थक और उपादेय हो सकती है जब उसे यथार्थवाद के धरातल पर उतारा जाये। इस दृष्टि से गुटनिरपेक्षता की नूतन-गतिशील प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं :

(1) आज की गुटनिरपेक्षता अपने पुराने स्वरूप से इसलिये भिन्न और गतिशील है कि अब गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के अन्तर्गत यह बात सम्भव मानी जाने लगी है कि यदि किसी गुट-

निरपेक्ष राष्ट्र के सोवियत संघ अथवा अमरीका के साथ विशेष सम्बन्ध हों और यदि फिर भी वह राष्ट्र स्वतन्त्र विदेश नीति का अनुसरण करता हो तो उसे गुटनिरपेक्ष माना जा सकता है। भारत-सोवियत सन्धि (1971) को इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए, इससे भारत की गुट-निरपेक्षता पर कोई आँच नहीं आती।

(2) ऐसी स्थिति उत्पन्न होती जा रही है कि सैनिक गुटों से अलग रहना गुटनिरपेक्षता का अनिवार्य तत्व नहीं है। लेटिन अमरीका के अनेक देश रियो सन्धि के सदस्य होने के बावजूद भी गुटनिरपेक्ष कहलाते हैं। पाकिस्तान और पुर्तगाल जैसे देश भी, जो सैनिक सन्धि से जुड़े हुए हैं, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में शामिल हो गये हैं। गुटनिरपेक्षता के विकास से अब ऐसी अव्यवस्था आ गयी है कि विदेश नीति की स्वतन्त्रता ही अब गुटनिरपेक्षता का एकमात्र मापदण्ड रह गया है।

(3) पिछले कुछ वर्षों से गुटनिरपेक्ष देशों के कई औपचारिक संगठन अस्तित्व में आते दिखलायी दे रहे हैं। यह महसूस किया जा रहा है कि बिना किसी औपचारिक संस्थात्मक संगठन के गुटनिरपेक्ष देश विश्व राजनीति में संगठित होकर कोई कार्य नहीं कर सकते। लुसाका और कोलम्बो शिखर सम्मेलन में यह माँग की गयी थी कि गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का स्थायी सचिवालय हो। किन्तु आज तक किसी प्रकार का स्थायी सचिवालय तो अस्तित्व में नहीं आया, किन्तु कतिपय औपचारिक संगठन नजर आ रहे हैं। ये संगठन दो प्रकार के हैं—(i) समन्वय ब्यूरो, और (ii) सम्मेलन। सम्मेलन भी दो प्रकार के हैं—(i) गुटनिरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन, और (iii) शिखर सम्मेलन।

समन्वय ब्यूरो को गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की 'कार्यकारी भुजा' (executive arm) कहा जाता है। इसका स्वरूप एक 'तैयारी समिति' की भाँति है जो शिखर सम्मेलन के लिए मसविदे तैयार करता है।

विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन में गुटनिरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्री भाग लेते हैं। यह सम्मेलन शिखर सम्मेलन हेतु कार्य-सूची तैयार करता है, अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर विचार-विमर्श करता है और गुटनिरपेक्षता की सदस्यता के इच्छुक देशों के आवेदन-पत्रों पर विचार-विमर्श एवं निर्णय भी लेता है। शिखर सम्मेलन में गुटनिरपेक्ष देशों के शासनाध्यक्ष भाग लेते हैं। अभी तक नौ शिखर सम्मेलन सम्पन्न हो चुके हैं। यह सम्मेलन प्रति तीन वर्ष बाद होता है।

(4) आजकल गुटनिरपेक्ष आन्दोलन नव-उपनिवेशवादी प्रवृत्तियों का पर्दाफाश करने में रत हैं।

(5) गुटनिरपेक्ष आन्दोलन एक राजनीतिक आन्दोलन से आर्थिक आन्दोलन का रूप धारण करता जा रहा है। गुटनिरपेक्ष राष्ट्र 'नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था' की माँग कर रहे हैं। गुटनिरपेक्षता की नीति में पारस्परिक आर्थिक सहयोग के तत्व पर विशेष बल दिया जाने लगा है। टी. एन. कौल के शब्दों में, "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में राजनीतिक पहलू की अपेक्षा आर्थिक पहलू पर उत्तरोत्तर अधिक बल दिये जाने से गुटनिरपेक्षता की धारणा की सार्थकता सिद्ध हुई है।

निर्गुट आन्दोलन को 'गुटवादी लॉबी' का बढ़ता हुआ खतरा
(NAM IN DANGER : THE ROLE OF SUPER POWER LOBBYISTS)

जब 1979 में क्यूबा की राजधानी हवाना में छठा गुटनिरपेक्ष सम्मेलन हुआ था तो राष्ट्रपति फिदेल कास्त्रो निर्गुट आन्दोलन के अध्यक्ष बने थे, तभी कास्त्रो ने एक अवधारणा को विकसित करने का प्रयत्न किया था कि **"सोवियत रूस की गुटनिरपेक्ष आन्दोलन से स्वाभाविक सम्बद्धता है।"** उनका तर्क था सम्पूर्ण तृतीय विश्व पश्चिमी साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद से ग्रस्त है तथा साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद के खिलाफ लड़ी गयी लड़ाई में सोवियत रूस सदा तृतीय विश्व के देशों का समर्थक रहा है। अतः आन्दोलन को साम्राज्यवादी पश्चिमी गुट तथा साम्राज्य विरोधी

सोवियत गुट से समान दूरी के बनावटीपन से मुक्त होकर, सोवियत रूस की आन्दोलन के साथ 'स्वाभाविक सम्बद्धता' को स्वीकार करना चाहिए।

सोवियत लॉबी को बलवान बनाने की मानसिकता से किया गया यह प्रयत्न वस्तुतः निर्गुट आन्दोलन के लिए एक बडे खतरे की घण्टी है। ऐसे प्रयत्न एवं तर्क सोवियत रूस को गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में घुसपैठ करने का अवसर प्रदान करते हैं। तृतीय विश्व की राजनीतिक परिस्थिति एवं संयुक्त राज्य अमरीका की नग्न साम्राज्यवादिता ने तो सोवियत रूस को अनुकूल भूमिका प्रदान की ही है। फिदेल कास्त्रो जैसे प्रखर नेता द्वारा आन्दोलन के भीतर इतनी खुली सोवियत समर्थक नीति अपनाने से खतरे की गम्भीरता और बढ़ गयी है। फिदेल कास्त्रो का लेटिन व मध्य अमरीका तथा अफ्रीका महाद्वीप में, साम्यवादी नेतृत्व की दृष्टि से वही स्थान है जो यूरोपीय साम्यवादी आन्दोलन में लेनिन का तथा एशिया में माओ का है। कास्त्रो द्वारा सोवियत गुट की राजनीति का समर्थन अन्ततः गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के भीतर नवीन गुटवाद के रूप में उभार है जो गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के चरित्र पर ही चोट है।

अमरीका भी यह प्रयत्न करता है कि वह गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में घुसपैठ करे क्योंकि तृतीय विश्व के समर्थन के अभाव में संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा व अन्य निकायों में उसे बहुत बार अपमानित होना पड़ता है। वैसे गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के रिश्ते अमरीकी गुट से कभी मधुर नहीं रहे। यह स्वाभाविक था क्योंकि पश्चिमी साम्राज्यवाद के नेता के नाते उसे सदैव बदनाम साम्राज्यवादी शासनों का समर्थन करना पड़ा है। अतः अमरीकी समर्थकों को गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में कोई सैद्धान्तिक या अवधारणात्मक सहारा प्राप्त नहीं होता। अमरीका को जो समर्थन आन्दोलन में प्राप्त होते हैं वे या तो रूसवादी गुट की प्रतिक्रिया में प्राप्त होते है अथवा आर्थिक व सैनिक सम्बन्धों की कूटनीतिपूर्ण क्षेत्रीय राजनीति के कारण प्राप्त होते है। यह स्वाभाविक है कि अवधारणात्मक सहारा न होते हुए भी, सोवियतवाद की प्रतिक्रिया में अमरीका को आन्दोलन के अन्तर्गत कुछ मित्र प्राप्त होने लगे है। यह गुटवादी क्रिया-प्रतिक्रिया यदि आन्दोलन के भीतर जड़ें जमा लेगी तो क्या निर्गुटवादी आन्दोलन की जड़ें उधड़ने न लगेंगी।

सैनिक गुटवाद की रणनीति की पराजय के बाद अब साम्राज्यवादी गुटवादियों ने आन्दोलन को अन्दर से विभक्त कर उस पर अपनी **'लॉबी'** के अधिकार का प्रयत्न करने की राजनीति अपना ली है। सैनिक गुटवाद अब राजनीतिक धड़ेबन्दी के रूप में, आन्दोलन मे घुसपैठ कर रहा है। क्या यह निर्गुट आन्दोलन के लिए चुनौतीपूर्ण स्थिति नहीं है ?

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन : स्थायी संस्थाओं की आवश्यकता
(NAM : NEED FOR PERMANENT INSTITUTIONS)

गुटनिरपेक्षता एक आन्दोलन है, एक मनोदशा है, अतः इसके लिए किन्हीं स्थायी संस्थाओं का निर्माण नहीं किया गया। कतिपय लोगों का सुझाव है कि 'नाम' के लिए एक स्थायी सचिवालय की स्थापना की जानी चाहिए किन्तु इस सुझाव के विरोधियों का तर्क है कि (i) स्थायी संस्थाएँ गुटबाजी को जन्म देंगी, इससे आन्दोलन की एकता, सुदृढ़ता एवं शक्ति का ह्रास होगा; (ii) संस्थाओं से प्रक्रिया सम्बन्धी जटिलताओं, विवाद एवं ईर्ष्या को जन्म मिलेगा जो आन्दोलन की प्रगति एवं गतिशीलता के लिए हानिकारक होगा; (iii) संस्थाएँ फूट डालने वाली बाह्य शक्तियों को सक्रिय बना देंगी जिससे आन्दोलन के विघटित होने का भय है।

इन तर्कों के बावजूद गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को अपने आर्थिक और सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एक स्वतन्त्र सचिवालय की आवश्यकता है। स्वतन्त्र सचिवालय संगठन के विधि-विधान, कार्य प्रक्रिया, सम्मेलनों, बैठकों आदि की समुचित व्यवस्था कर सकता है।

अमरीका की दृष्टि में निर्गुट आन्दोलन
(NAM IN AMERICAN VIEWS)

हाल ही में निवर्त्तमान अमरीकी राजदूत वेरनन ए. वाल्टर्स ने कहा है कि संयुक्त राष्ट्र मंच पर उसे जितनी परेशानियाँ सोवियत संघ या चीन से नहीं हुई उतनी निर्गुट आन्दोलन के राष्ट्रों से हुई है। राजदूत के अनुसार 102 निर्गुट राष्ट्र, जिनमें अधिकांश विकासशील और समाजवादी देश हैं, अमरीका के खिलाफ एकजुट हैं "मैं निर्गुट आन्दोलन का प्रशंसक नहीं हूँ क्योंकि यह सही मायने में निर्गुट नहीं है।" यह मोटे रूप से अमरीका और पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रों के विरुद्ध एकजुट आन्दोलन है। अधिकांश निर्गुट राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र संघ में 80 प्रतिशत मसलों पर अमरीका के खिलाफ मतदान करते हैं। निर्गुट आन्दोलन सौम्य होता जा रहा है किन्तु अभी इसमें वर्षों लग जायेंगे।[1] राष्ट्रपति जॉर्ज बुश द्वारा सऊदी अरब के लिए नियुक्त राजदूत चार्ल्स डब्ल्यू. फ्रीमैन के शब्दों में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में पाखण्ड इस हद तक समाया है कि पाखण्ड शब्द और भी बदनाम हो गया है। क्यूबा, उत्तरी कोरिया और वियतनाम जैसे राष्ट्र पूरी तरह से सोवियत संघ से जुड़े हुए हैं, ये गुटनिरपेक्ष कैसे हो सकते हैं ?

गुटनिरपेक्षता का भविष्य : सार्थकता
(THE FUTURE OF NON-ALIGNMENT : RELEVANCE)

गुटनिरपेक्षता विश्व राजनीति में राष्ट्रों के लिए एक नये विकल्प के रूप में निश्चय ही स्थायी रूप धारण कर चुकी है। इसने—विशेषतः राष्ट्र समाज के छोटे-छोटे और अपेक्षाकृत कमजोर सदस्यों के सन्दर्भ में—राष्ट्रों की स्वतन्त्रता और समता बनाये रखने में योग दिया है। इसने विश्व के पूर्ण ध्रुवीकरण को रोककर, विचारधारागत शिविरों के विस्तार को और प्रभाव को संयत करके तथा गुटों के अन्दर भी स्वतन्त्रता की शक्तियों को प्रोत्साहन देकर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने तथा उसे बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण योग दिया है। इसने संयुक्त राष्ट्र संगठन के भीतर और बाहर दोनों जगह बहुत से कल्याणकारी क्षेत्रों में—जैसे कि उपनिवेशों को स्वतन्त्र कराने, प्रजातीय समता को साकार करने तथा अल्प-विकसित देशों के आर्थिक विकास के क्षेत्र में बहुत बड़ा योग दिया है।

आज संयुक्त राष्ट्र संघ के दो-तिहाई से अधिक देश गुटनिरपेक्षता के दायरे में आ चुके हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के विभिन्न मंचों से गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने विश्व शान्ति, उपनिवेशवाद के अन्त, परमाणु अस्त्रों पर रोक, निःशस्त्रीकरण, हिन्दमहासागर को शान्ति क्षेत्र घोषित करना, नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के निर्माण आदि विषयों पर संगठित रूप से कार्यवाही की है और सफलता हासिल की है।

यह भी प्रश्न किया जाता है कि आज गुटनिरपेक्षता का क्या औचित्य रह गया है ? गुटनिरपेक्षता की सार्थकता द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद शीत-युद्ध के वातावरण में तो थी, किन्तु पिछले 15–20 वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बहुत सारे परिवर्तन हुए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का बहुध्रुवीकरण, नाटो, सीटो जैसे संगठनों का टूटना, देतान्त सम्बन्धों का अभ्युदय, विचारधारा के अन्तः सिद्धान्त (End of Ideology) के प्रतिपादन, गोर्बाच्योव की उदारवादी नीतियों, पूर्वी यूरोप में लोकतन्त्र की लहर, अमरीका और चीन में समझौतावादी सम्बन्धों ने गुटनिरपेक्ष देशों की भूमिका को सीमित कर दिया है और वे संकट की घड़ी में प्रभावक नहीं बन सकते हैं। गुटनिरपेक्षता शीत-युद्ध के सन्दर्भ में उत्पन्न हुई थी और आज शीत-युद्ध में कमी आ जाने के कारण गुटनिरपेक्षता व्यर्थ-सी हो गयी है।

---

1 *Indian Express*, January 3, 1989.

भारत पर चीनी आक्रमण (1962) के बाद गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के द्वारा निर्मित कोलम्बो प्रस्तावों की चीन ने उपेक्षा कर दी। वियतनाम जैसे गुटनिरपेक्ष देश पर चीनी आक्रमण (1979) होना और उसे सोवियत संघ से मैत्री करने पर मजबूर होना, अफगानिस्तान जो कि एक गुटनिरपेक्ष देश है, जिसने लगभग सभी गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलनों में भाग लिया है, पर सोवियत संघ का आक्रमण होना और गुटनिरपेक्ष बिरादरी का मूक दर्शन बना रहना क्या इंगित करता है? हाल ही में कई समस्याएँ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उभरी हैं और जिनमें कोई न कोई गुटनिरपेक्ष देश संकट में अवश्य ग्रस्त रहा है किन्तु गुटनिरपेक्ष आन्दोलन इन समस्याओं के लिए गुटनिरपेक्षता का विशिष्ट नुस्खा प्रस्तुत नहीं कर पाये। ये संकट थे—भारत-चीन सीमा विवाद, वियतनाम-कम्पूचिया विवाद, अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप, ईरान-इराक विवाद आदि।

गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों की संख्या बराबर बढ़ती जा रही है, किन्तु ये नये सदस्य कैसे हैं? सन् 1970 में मलेशिया को गुटनिरपेक्ष बिरादरी में प्रवेश दिया गया जबकि ग्रेट ब्रिटेन के साथ उसकी सुरक्षा सन्धि थी। 1973 में माल्टा इस आन्दोलन में शामिल हो गया जबकि उसकी भूमि पर ब्रिटिश सैनिक अड्डे बरकरार थे। 1975 में कोरिया के जनवादी गणराज्य को प्रवेश दे दिया गया जबकि इसका गुटनिरपेक्ष स्वरूप आज भी विवाद का विषय बना हुआ है। फिलीपीन्स, पुर्तगाल, रूमानिया को 1976 में तथा पाकिस्तान को 1978 में 'मेहमान' का दर्जा दे दिया गया जबकि वे सैनिक गुटबन्दी के अंग थे। ऐसी स्थिति में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन क्या अपने बुनियादी सिद्धान्तों से विलग होता हुआ नहीं लगता है?

खुद गुटनिरपेक्ष समुदाय के भीतर फूट और झगड़े उत्पन्न हो गये हैं। ईरान-इराक युद्ध, इथोपिया-सोमालिया एवं अल्जीरिया-मोरक्को संघर्षों में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सदस्य देश आपस में ही लड़ते रहे हैं। यह इस बात का सूचक है कि सदस्य देश स्वयं ही गुटनिरपेक्षता के आदर्शों का पालन नहीं कर रहे हैं और जैसा कि स्वाभाविक है, इन संघर्षों ने आन्दोलन की एकता को ठेस पहुँचायी है।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को संस्था का रूप धारण किये हुए तीस वर्ष से ज्यादा समय हो चुका है। उसकी सदस्य संख्या 108 पर पहुँच गयी है, जो इस बात का सूचक है कि इस आन्दोलन का बल और प्रभाव बढ़ रहा है। मगर इसके विस्तार से उसमें कमजोरियाँ भी आयी हैं। इससे इसकी सामूहिक एकता में कमी आयी है और परिणामस्वरूप उसके निर्णयों एवं घोषणाओं का नैतिक-राजनीतिक प्रभाव कम हुआ है।

प्रश्न

1. गुटनिरपेक्ष नीति के प्रमुख सिद्धान्तों की परीक्षा कीजिए। वर्तमान में वे कहाँ तक उपयुक्त हैं?
   Critically examine the main postulates of the policy of Non-alignment. To what extent are they relevant now?
2. असंलग्नता की नीति से आप क्या समझते हैं? क्या आपके विचार से यह एक ठोस नीति है? सोदाहरण समझाइए।
   What do you understand by the policy of Non-alignment? Do you think that it is a sound policy? Discuss with relevant examples.
3. असंलग्नता के मूलभूत तत्व क्या हैं? वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इसकी संगति की विवेचना कीजिए।
   What are the basic elements of non-alignment? Discuss its relevance in the current International Politics.
4. गुटनिरपेक्षता के सिद्धान्त के बदलते हुए प्रारूप की व्याख्या कीजिए।
   Explain the concept of Non-alignment in its changing patterns.

5. गुटनिरपेक्षता से आप क्या समझते हैं ? इस आन्दोलन की समकालीन प्रासंगिकता की व्याख्या कीजिए।
   What do you mean by Non-alignment ? Discuss the contemporary relevance of this movement.
6. "गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का महत्व बराबर बढ़ता ही जा रहा है।" इस कथन को ध्यान में रखते हुए इसकी समकालीन प्रासंगिकता का विवेचन कीजिए।
   "The Importance of the Non-alignment movement is ever increasing." In the light of this statement discuss its contemporary relevance.
7. गुटनिरपेक्षतावाद से आपका क्या तात्पर्य है ? विश्वशान्ति के लिए इसकी देन का वर्णन कीजिए।
   What do you mean by Non-alignment ? Discuss its contribution for World Peace.
8. सातवें गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के सम्मेलन के विशेष सन्दर्भ में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की समकालीन प्रासंगिकता का विवेचन कीजिए।
   Discuss the contemporary relevance of the Non-aligned movement with special reference to 7th Non-aligned Nations Conference.
9. निर्गुट आन्दोलन के विकास में भारत की भूमिका का परीक्षण कीजिए।
   Examine India's role in the development of the Non-aligned movement.

संयुक्त राज्य अमरीका की सैनिक कार्यवाही का समर्थन नहीं किया। अमरीकी गुट में होते हुए भी पाकिस्तान साम्यवादी चीन से मैत्रीपूर्ण घनिष्ठ सम्बन्ध बढ़ाता रहा। आर्थिक और सैनिक दृष्टि से अमरीका के साथ सम्बन्ध होने पर भी जापान में अमरीका विरोधी भावनाएँ पर्याप्त मात्रा में विद्यमान रही हैं। अमरीका को जापान के प्रबल जनमत के आगे झुकना पड़ा और ओकीनावा से अपने सैनिक अड्डे हटाने पड़े।

राष्ट्रपति डीगाल का मानना था कि फ्रांस को यूरोप का नेतृत्व ग्रहण करना चाहिए, अमरीकी प्रभाव से मुक्त होकर स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करना वांछनीय है। पश्चिमी जर्मनी के चान्सलर विली ब्रांट ने 1969 से पूर्वी जर्मनी और मास्को के साथ समझौतावादी पूर्वी नीति (ostpolitik) की शुरूआत की।

डॉ० के० पी० मिश्र लिखते हैं—"लेकिन ये दोनों खेमे भी कभी उतने एकात्मक नहीं रहे जितने कि ये कागजों पर दिखाई देते हैं। दोनों की अन्दरूनी एकता में तनाव के बिन्दु हमेशा मौजूद रहे हैं। राष्ट्रीय हित, नीतिगत मतभेद, पारस्परिक ईर्ष्या और घृणा, व्यक्तित्व संघर्ष तथा सैद्धान्तिक द्वन्द्व के चलते दोनों खेमों में कई दरारे पड़ चुकी हैं और निर्णायक संघर्ष में वे साथ बने रहेंगे, यह भविष्यवाणी आज कोई भी विश्वास के साथ नहीं कर सकता। जैसा कि फ्रांस के भूतपूर्व राष्ट्रपति द' गाल ने कहा था, 'कोई भी राष्ट्र दूसरे के लिए मरने को तैयार नहीं है।' अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में शाश्वत वफादारी जैसी कोई चीज नहीं होती। पूर्वी जर्मनी, चैकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड और हंगरी में हुए रूस विरोधी विद्रोह रूसी खेमे में पड़ी दरारों के गवाह हैं और इन्होंने गोमुल्का, इमरे नागी तथा वालेसा जैसे विद्रोही नेताओं को जन्म दिया है। अल्बानिया वारसा सन्धि से हट चुका है जबकि रूमानिया प० जर्मनी को मान्यता देकर रूसी निर्देशों की अवहेलना कर चुका है। रूस और चीन के बीच हुई सैद्धान्तिक तनातनी और छीछालेदर दोनों खेमों के बीच हुई परस्पर आलोचना से ज्यादा कटु रही है।...... इसी तरह अमरीकी खेमा भी ज्यादा बेहतर स्थिति में नहीं है। कोरिया युद्ध में अमरीकी भागीदार और वियतनाम में उसके हस्तक्षेप ने मित्र राष्ट्रों के अन्दरूनी तनाव को उजागर कर दिया था। वियतनाम से अमरीका की श्रीहीन वापसी ने उसकी प्रतिष्ठा मित्रों, शत्रुओ दोनों के बीच गिरायी। स्वेज संकट के समय एक ओर अमरीका तथा दूसरी ओर फ्रांस व ब्रिटेन के बीच उग्र मतभेद और इजराइल को निर्बाध अमरीकी सहायता को लेकर नाटो परिषद् में तीव्र विवाद हो चुके है। यूरोपीय देश जैसे-जैसे समृद्ध होते गये, नाटो के भीतर निर्णय प्रक्रिया में अधिक अधिकार की उनकी माँग बढ़ती गयी। अमरीका ने काफी समय तक यूरोपीय देशों को परमाणविक हथियारों से दूर रखने की कोशिश की। लेकिन इन देशों ने अपने परमाणविक हथियारों का विकास कर अमरीकी एकाधिकार को धता बता दिया। द' गाल के नेतृत्व में फ्रांस 'नाटो' के सैनिक गठबन्धन से अलग हो गया, हालांकि सन्धि का सदस्य वह अब भी है। अमरीकी असहमति के बावजूद विली ब्रांट की नीति के कारण पूर्वी यूरोप के साथ व्यापारिक और राजनयिक सम्पर्क से द्वार खुल चुके हैं तथा बर्लिन की दीवार और लौह पर्दा इतिहास के कूड़ेदान में पहुँच चुका है। तेल की कमी से पीड़ित प० यूरोप तक बनायी जा रही सोवियत गैस पाइप लाइन पर अमरीका द्वारा उत्पन्न की जा रही बाधाएँ न सिर्फ यूरोपीय देशों, बल्कि विश्वव्यापी स्तर पर अमरीका को आलोचना का शिकार बनायेंगी। ब्रिटेन और जर्मनी इस मुद्दे पर अमरीकी सलाह की उपेक्षा भी कर चुके हैं।

एशिया और अफ्रीका के अधिकांश नवोदित राष्ट्रों ने दोनों शक्ति गुटों से पृथक् रहकर गुट-निरपेक्षता की विदेश नीति के माध्यम से द्वि-ध्रुवीय विश्व राजनीति की कठोरता को शिथिल बना दिया। पाकिस्तान, ईरान, फिलीपीन्स, रूमानिया तथा रियो सन्धि के सदस्य जैसे सैनिक गठबन्धनों वाले देश भी अपने-अपने गुटों को छोड़कर गुट-निरपेक्ष आन्दोलन में शामिल हो गये।

होकर प्रबलतम शक्ति बनने का रहता है। **तृतीय,** शक्ति की द्वि-ध्रुवीय संरचना में सभी शक्तिशाली राष्ट्र किसी-न-किसी गुट में शामिल हो जाते हैं और जिसके फलस्वरूप 'सन्तुलनकर्ता' की भूमिका अदा करने के लिए कोई शक्तिशाली राष्ट्र नहीं रह जाता है। **चतुर्थ,** शक्ति की इस द्वि-गुटीय संरचना में एक गुट का ध्येय हमेशा दूसरे गुट को समाप्त करने में रहता है। **पंचम,** अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का द्वि-गुटीय मॉडल अधिकतम शत्रुता की भावना पर आधारित रहता है।

2. **शिथिल द्वि-ध्रुवीयता** (The Loose Bipolar System)—1955 के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था में बुनियादी परिवर्तन आने लगे। द्वि-ध्रुवीय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कठोरता के स्थान पर शिथिलता के चिह्न परिलक्षित होने लगे, गुटबन्दी का जलवा फीका पड़ने लगा, दोनों ही गुटों के सदस्यों के मध्य अन्तरंग मतभेद और दरारें पड़ने लगीं, गुटीय मित्रों में परस्पर अविश्वास की भावना बढ़ने लगी। अमरीकन और सोवियत गुटबन्दी इस प्रकार विखण्डित होने लगी कि गुटों से सम्बद्ध राष्ट्रों में गुटबन्दी के प्रति अलगाव (detachment) की भावना उभरने लगी। पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों में सोवियत संघ के प्रति असन्तोष बढ़ने लगा। वैसे तो यूगोस्लाविया 1950 के आस-पास ही सोवियत प्रभाव क्षेत्र से मुक्त हो चुका था। सोवियत गुट से यूगोस्लाविया का पृथक् हो जाना एक भारी आघात था। सोवियत-यूगोस्लाविया मतभेदों को सैद्धान्तिक संघर्ष का रूप दिया गया। सोवियत गुट से मुक्त होने के बाद यूगोस्लाविया ने अमरीकी गुट में शामिल होने के बजाय गुट-निरपेक्ष विदेश नीति अपना ली। टीटो को मास्को समर्थक गुट से पृथक किये जाने के कारण सोवियत क्षेत्र के अन्य राज्यों में राष्ट्रवादी साम्यवाद (National Communism) की प्रवृत्तियाँ प्रबल हुईं, जिसकी अभिव्यक्ति 1956-57 में पोलैण्ड तथा हंगरी के उपद्रवों में हुई। 1960 से चीन और रूस में विभिन्न प्रश्नों पर सैद्धान्तिक मतभेद बढ़ने लगे जिसने साम्यवादी अखण्डता में ऐसी दरार पैदा कर दी कि विश्व साम्यवाद की कल्पना धूमिल हो गयी। चीन-रूस मतभेदों ने साम्यवादी जगत में बहुकेन्द्रवाद (Polycentrism) को जन्म दिया, राष्ट्रीय साम्यवाद की धारणा को पुष्ट किया और प्रायः प्रत्येक देश में साम्यवादी गुट एवं दल का विभाजन कर दिया। चीन-रूस मतभेद ने अमरीकी दृष्टिकोण को झूठा सिद्ध कर दिया कि समस्त साम्यवादी शक्ति का प्रेरणा स्रोत क्रेमलिन है। चीन-रूस मतभेदों से जहाँ एक ओर एशिया में सोवियत संघ के प्रभाव में कमी आयी वहाँ दूसरी ओर सोवियत गुट की एकजुटता को ढीला-ढाला कर दिया।

अमरीकी गुटबन्दी भी धीरे-धीरे टूटने लगी। लेटिन अमरीका के देश सैनिक और आर्थिक दृष्टि से चाहे औपचारिक रूप से अमरीकी गुट से सम्बद्ध रहे हों किन्तु अब वे अपने आपको 'तीसरी दुनिया' (Third World) के विकासशील राष्ट्रों के साथ मानसिक रूप से जुड़ते जा रहे हैं। फीडेल कास्ट्रो के नेतृत्व में क्यूबा में साम्यवादी क्रान्ति का होना पश्चिमी गुटबन्दी की एकजुटता को बहुत बड़ी चुनौती थी। पश्चिमी यूरोप के देशों ने भी अमरीका के नेतृत्व को चुनौती देते हुए अनेक समस्याएँ खड़ी कर दीं। चार्ल्स डीगाल ने माँग की थी कि यूरोपीय महाद्वीप को 'अमरीकाविहीन' (de-Americanised) प्रदेश बनाया जाये। 1956 में स्वेज संकट के समय नाटो में उग्र मतभेद उत्पन्न हुए। अमरीका के तत्कालीन विदेश सचिव डलेस ने मिस्र पर ऐंग्लो-फ्रेंच आक्रमण की निन्दा की। इसी प्रकार आइसलैण्ड ने अमरीकी सेनाओं की वापसी के प्रश्न पर अमरीका और आइसलैण्ड में मतभेद उत्पन्न हो गये। हंगरी के प्रश्न पर नाटो शक्तियों ने ऐसी चुप्पी ठान ली कि नाटो का इससे कोई सम्बन्ध ही न हो। 1966 में फ्रांस की नाटो से पृथक् होने की चेतावनी ने भी नाटो में वास्तविक संकट उत्पन्न कर दिया। फ्रेंच राष्ट्रपति डीगाल ने नाटो की भूमिका के परिप्रेक्ष्य में संयुक्त राज्य अमरीका की प्रभुत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। मई 1965 में सीटो की लन्दन में हुई बैठक में पाकिस्तान और फ्रांस—दोनों ने दक्षिणी वियतनाम में

संयुक्त राज्य अमरीका की सैनिक कार्यवाही का समर्थन नहीं किया। अमरीकी गुट में होते हुए भी पाकिस्तान साम्यवादी चीन से मैत्रीपूर्ण घनिष्ठ सम्बन्ध बढ़ाता रहा। आर्थिक और सैनिक दृष्टि से अमरीका के साथ सम्बन्ध होने पर भी जापान में अमरीका विरोधी भावनाएँ पर्याप्त मात्रा में विद्यमान रही हैं। अमरीका को जापान के प्रबल जनमत के आगे झुकना पड़ा और ओकीनावा से अपने सैनिक अड्डे हटाने पड़े।

राष्ट्रपति डीगाल का मानना था कि फ्रांस को यूरोप का नेतृत्व ग्रहण करना चाहिए, अमरीकी प्रभाव से मुक्त होकर स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करना वांछनीय है। पश्चिमी जर्मनी के चान्सलर विली ब्रांट ने 1969 से पूर्वी जर्मनी और मास्को के साथ समझौतावादी पूर्वी नीति (ostpolitik) की शुरूआत की।

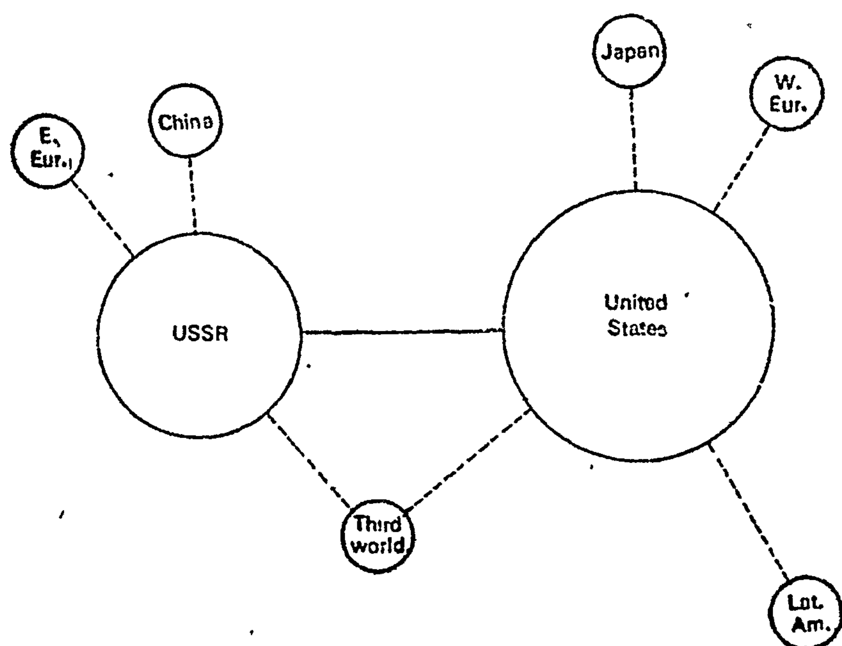
डॉ० के० पी० मिश्र लिखते हैं—"लेकिन ये दोनों खेमे भी कभी उतने एकात्मक नहीं रहे जितने कि ये कागजों पर दिखाई देते हैं। दोनों की अन्दरूनी एकता मे तनाव के बिन्दु हमेशा मौजूद रहे हैं। राष्ट्रीय हित, नीतिगत मतभेद, पारस्परिक ईर्ष्या और घृणा, व्यक्तित्व संघर्ष तथा सैद्धान्तिक द्वन्द्व के चलते दोनों खेमों मे कई दरारें पड़ चुकी हैं और निर्णायक सघर्ष में वे साथ बने रहेंगे, यह भविष्यवाणी आज कोई भी विश्वास के साथ नही कर सकता। जैसा कि फ्रांस के भूतपूर्व राष्ट्रपति द' गाल ने कहा था, 'कोई भी राष्ट्र दूसरे के लिए मरने को तैयार नहीं है।' अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में शाश्वत वफादारी जैसी कोई चीज नहीं होती। पूर्वी जर्मनी, चैकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड और हंगरी में हुए रूस विरोधी विद्रोह रूसी खेमे में पड़ी दरारों के गवाह हैं और इन्होंने गोमुल्का, इमरे नागी तथा वालेसा जैसे विद्रोही नेताओं को जन्म दिया है। अल्वानिया वारसा सन्धि से हट चुका है जबकि रूमानिया प० जर्मनी को मान्यता देकर रूसी निर्देशों की अवहेलना कर चुका है। रूस और चीन के बीच हुई सैद्धान्तिक तनातनी और छीछालेदर दोनों खेमों के बीच हुई परस्पर आलोचना से ज्यादा कटु रही है।...... इसी तरह अमरीकी खेमा भी ज्यादा वेहतर स्थिति में नहीं है। कोरिया युद्ध में अमरीकी भागीदार और वियतनाम में उसके हस्तक्षेप ने मित्र राष्ट्रों के अन्दरूनी तनाव को उजागर कर दिया था। वियतनाम से अमरीका की श्रीहीन वापसी ने उसकी प्रतिष्ठा मित्रों, शत्रुओं दोनों के बीच गिरायी। स्वेज संकट के समय एक ओर अमरीका तथा दूसरी ओर फ्रांस व ब्रिटेन के बीच उग्र मतभेद और इजराइल को निर्वाध अमरीकी सहायता को लेकर नाटो परिषद् में तीव्र विवाद हो चुके है। यूरोपीय देश जैसे-जैसे समृद्ध होते गये, नाटो के भीतर निर्णय प्रक्रिया में अधिक अधिकार की उनकी माँग बढ़ती गयी। अमरीका ने काफी समय तक यूरोपीय देशों को परमाणविक हथियारों से दूर रखने की कोशिश की। लेकिन इन देशों ने अपने परमाणविक हथियारों का विकास कर अमरीकी एकाधिकार को धता बता दिया। द' गाल के नेतृत्व में फ्रांस 'नाटो' के सैनिक गठबन्धन से अलग हो गया, हालांकि सन्धि का सदस्य वह अब भी है। अमरीकी असहमति के बावजूद विली ब्रांट की नीति के कारण पूर्वी यूरोप के साथ व्यापारिक और राजनयिक सम्पर्क से द्वार खुल चुके हैं तथा वर्लिन की दीवार और लौह पर्दा इतिहास के कूड़ेदान में पहुँच चुका है। तेल की कमी से पीड़ित प० यूरोप तक बनायी जा रही सोवियत गैस पाइप लाइन पर अमरीका द्वारा उत्पन्न की जा रही बाधाएँ न सिर्फ यूरोपीय देशों, बल्कि विश्वव्यापी स्तर पर अमरीका को आलोचना का शिकार वनायेंगी। ब्रिटेन और जर्मनी इस मुद्दे पर अमरीकी सलाह की उपेक्षा भी कर चुके हैं।

एशिया और अफ्रीका के अधिकांश नवोदित राष्ट्रों ने दोनों शक्ति गुटों से पृथक् रहकर गुट-निरपेक्षता की विदेश नीति के माध्यम से द्वि-ध्रुवीय विश्व राजनीति की कठोरता को शिथिल बना दिया। पाकिस्तान, ईरान, फिलीपीन्स, रूमानिया तथा रियो सन्धि के सदस्य जैसे सैनिक गठबन्धनो वाले देश भी अपने-अपने गुटों को छोड़कर गुट-निरपेक्ष आन्दोलन में शामिल हो गये।

ज्यों-ज्यों गुट-निरपेक्षता का दायरा बढ़ता गया त्यों-त्यों कठोर द्वि-ध्रुवीय अवस्था में शिथिलता आती गयी। ये गुट-निरपेक्ष राष्ट्र दोनों ही गुटों से सम्पर्क रखने एवं दोनों ही महाशक्तियों से आर्थिक सहायता लेने की नीति पर चलने लगे।

80 के दशक में शक्ति-सन्तुलन के स्वरूप का अनुमान लगाना मुश्किल है, लेकिन यह स्पष्ट है कि दोनों महाशक्तियाँ अपनी सुरक्षा और प्रतिबद्धता को खतरे में डाले बिना हथियारों पर खर्च को, जो उनकी अर्थ-व्यवस्था पर भारी दबाव डाल रहा है, कम करने के प्रति उत्सुक हैं। इसके लिए वे अपनी खेमेबन्दी को थोड़ा-बहुत लचीला बनाने को भी तैयार हैं। नाटो और वारसा सन्धि के अन्य छोटे राष्ट्र भी नीति-निर्णय प्रक्रिया में ज्यादा महत्वपूर्ण भूमिका की माँग कर रहे हैं। लेकिन वे खुद भी शस्त्रों पर ज्यादा खर्च करने से कतरायेंगे। धीरे-धीरे एक ऐसा भी समय आ सकता है, जब गुट और गुट-निरपेक्षता के बीच का अन्तर धुँधला हो जाये। यह एक दूरगामी लक्ष्य है जिसमें वर्षों लग सकते हैं। इस बीच खेमे रहेंगे, लेकिन गुटों के प्रति वफादारी कम होती जायेगी और धीरे-धीरे हम बहु-ध्रुवीय समझौतों और आपसी सहमति की दुनिया में पहुँच जायेंगे।

साम्यवादी गुट में उभरते हुए बहुकेन्द्रवाद तथा अमरीकी गुटबन्दी के बिखराव के साथ-साथ तीसरी दुनिया के राष्ट्रों की बढ़ती हुई संख्या के फलस्वरूप कठोर द्वि-गुटीय विश्व व्यवस्था ढीली होती गयी।[1] रोजन तथा जोन्स ने निम्न रेखाचित्र के माध्यम से शिथिल द्वि-ध्रुवीय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था का प्रतिमान प्रस्तुत किया है।



[शिथिल द्वि-ध्रुवीयता का प्रतिमान 1955-1965]

शिथिल द्वि-ध्रुवीयता का प्रतिमान दो प्रकार से कठोर द्वि-ध्रुवीयता के प्रतिमान से भिन्न है : **प्रथम**, शिथिल प्रतिमान में गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का अस्तित्व (the presence of non-bloc-actors) होता है तथा **द्वितीय**, दोनों ही गुटों में बिखराव की स्थिति शिथिल द्वि-ध्रुवीयता के प्रतिमान (splintering in the two main blocs) दृष्टिगोचर होती है। जहाँ तक दोनों ही गुटों में शक्ति-संरचना का सम्बन्ध है, शक्ति ढाँचा तो शिथिल द्वि-ध्रुवीयता के प्रतिमान में भी

1 Added to the polycentrism of the Soviet sphere and the beginning of decentralization among American allies, the emergence of the Third World further loosened the global polarity because it presented many "non-bloc actors." —Rosen and Jones, *Ibid.*, p. 225.

द्वि-गुटीय (Bipolar) ही बना रहता है, गुट के प्रधान सदस्यों का आचरण दोनों ही प्रतिमानों में एक समान होता है। दोनों ही प्रतिमानों में प्रधान सदस्य एक-दूसरे के विनाश के लिए प्रतिबद्ध रहते हैं किन्तु शिथिल द्वि-ध्रुवीय प्रतिमान में प्रधान सदस्य बड़े युद्धों के बजाय छोटे युद्ध लड़ना पसन्द करते हैं। आणविक शस्त्रों से दोनों ही गुट भयभीत रहते हैं और उनमें इस बात पर सहमति रहती है कि प्रधान सदस्यों के मध्य प्रत्यक्ष युद्ध की शुरूआत न की जाये।

शिथिल द्वि-ध्रुवीय प्रतिमानों के अन्तर्गत दोनों ध्रुवों के प्रधान सदस्य गुटीय विखराव को रोकने के लिए 'साम, दाम, दण्ड, भेद' के साधनों का प्रयोग करते हैं; अपने दुर्बल गुटीय साथियों पर नियन्त्रण रखने के लिए आर्थिक पुरस्कार, शस्त्र सहायता पर प्रतिवन्ध आदि तरीके अपनाते हैं। कभी-कभी क्लिष्ट परिस्थितियों में शक्तिशाली राज्य कमजोर गुटीय साथी को काबू में करने के लिए शक्ति का उसी प्रकार प्रयोग करता है जिस प्रकार 1956 में सोवियत संघ ने हंगरी में और अमरीका ने क्यूबा (1961) एवं डोमीनिकन गणराज्य (1965) में किया था।

शिथिल द्वि-ध्रुवीय अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था धीरे-धीरे आगे चलकर बहु-ध्रुवकीय अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था (Multipolarity) में परिवर्तित हो जाती है। शिथिल द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था में राज्यों (actors) को अधिक स्वायत्तता रहती है। सेसिल क्रेब के अनुसार आजकल विश्व-व्यवस्था शिथिल द्वि-ध्रुवीयता की ओर तीव्रता से उन्मुख हो रही है।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का बहु-ध्रुवीय प्रतिमान
(MULTIPOLAR MODEL OF INTERNATIONAL POLITICS)

रोजेन तथा जोन्स ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में चार प्रकार के बहु-ध्रुवीय प्रतिमानों की चर्चा की है : (i) प्रारम्भिक बहु-ध्रुवीय शक्ति-सन्तुलन व्यवस्था (The Incipient Multipolar Balance of Power); (ii) बहु-ध्रुवीय शक्ति-सन्तुलन व्यवस्था (The Multipolar Balance of Power); (iii) नवीन शक्ति-सन्तुलन व्यवस्था (A New Balance of Power Model); (iv) प्रादेशिक शक्ति-सन्तुलन प्रतिमान (Regional Balance of Power Model)।

1. **प्रारम्भिक बहु-ध्रुवीय शक्ति-सन्तुलन व्यवस्था** (The Incipient Multipolar Balance of Power)—इस शीर्षक में यह संकेत मिलता है कि अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति-व्यवस्था बहु-ध्रुवीयता की ओर अपने चरण बढ़ा रही है। कतिपय नये अन्तर्राष्ट्रीय कार्यकर्ता इतने शक्तिशाली होते जा रहे हैं कि वे अपने-अपने क्षेत्र में घटित होने वाली घटनाओं को अपने आचरण से किसी न किसी रूप में प्रभावित करने का प्रयत्न करते है। यद्यपि विश्वव्यापी प्रभाव (Global influence) की दृष्टि से इन नये अन्तर्राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं ने तीसरी शक्ति का दर्जा हासिल नही किया है और न वे विद्यमान दोनों (रूस-अमरीका) अन्तर्राष्ट्रीय महाशक्तियों से वराबरी करने की स्थिति में हैं तथापि निकट भविष्य में इन नवोदित अन्तर्राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में अवश्य महसूस किया जायेगा।

विश्व राजनीति को बहु-ध्रुवीयता में परिवर्तित करने वाले उदीयमान अन्तर्राष्ट्रीय कार्यकर्ता हैं—1. चीन, 2. पश्चिमी यूरोप, 3. जापान, 4. तीसरी दुनिया।

(1) **चीन** China)—चीन एक महाशक्ति के रूप में अवतरित हुआ। माओ सरकार ने कोरिया युद्ध के मार्फत यह संकेत दिया था कि वह दुनिया को दो भागों में बांटने की रूस-अमरीकी प्रवृत्ति को पसन्द नहीं करता और खास तौर से एशिया में महाशक्तियों का हस्तक्षेप बर्दाश्त नहीं करेगा। चीनी विदेश नीति की इस प्रवृत्ति से अमरीका ने उसका सम्मान करना प्रारम्भ किया

---

[1] See for example Cecil V. Crabb, *Jr., Nations in a Multipolar World* (New York : Harper and Row, 1968).

और वियतनाम युद्ध के दौरान अमरीकी नीति इस धारणा पर आधारित थी कि चीन से न उलझा जाये। सीमा सम्बन्धी झगड़े को लेकर चीन ने सोवियत संघ से मुठभेड़ भी कर ली।

फिर भी चीनी विदेश नीति का ध्येय और प्रभाव विश्वव्यापी न होकर भौगोलिक दृष्टि से सीमित है। चीन अपने प्रभाव का विस्तार एशिया और खास तौर से दक्षिणी एशिया में करना चाहता है। चीन के आणविक शस्त्रों की प्रभावक शक्ति एशिया तक सीमित है और वर्तमान में उसकी आर्थिक शक्ति का प्रभाव भी एशिया के राज्यों पर उस भाँति का नहीं है जो मास्को, वाशिंगटन और टोकियो का है।

शक्ति संघर्ष की विश्व राजनीति में चीन विचित्र उलझन में है। एक आणविक शक्ति होने के बावजूद सोवियत संघ और अमरीका के परिप्रेक्ष्य में उसकी प्रभावक शक्ति एशिया तक ही सीमित है। ऐसी स्थिति में कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि चीन के अभ्युदय से विश्व राजनीति की द्वि-गुटीय संरचना में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं आया है।

(2) **पश्चिमी यूरोप** (Western Europe)—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद पश्चिमी यूरोप के देश अपनी सुरक्षा तथा आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए संयुक्त राज्य अमरीका पर निर्भर हो गये। कुछ ही वर्षों के बाद पश्चिमी यूरोप के अधिकांश देश न केवल आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हो गये अपितु सैनिक दृष्टि से भी आत्म-निर्भर हो गये। अब वे जहाँ एक ओर अमरीकी संरक्षण से छुटकारा पाने का प्रयत्न करने लगे वहाँ दूसरी ओर सोवियत संघ से भी उनके सामान्य राजनयिक सम्बन्ध स्थापित हो गये। यूरोपियन साझा बाजार (1958) के निर्माण ने यूरोप के आर्थिक और राजनीतिक एकीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। ब्रिटेन, फ्रांस, प० जर्मनी, इटली आदि साझा बाजार के प्रमुख सदस्य हैं। इस समय यूरोपियन साझा बाजार में विश्व की 7 प्रतिशत आबादी, संसार के निर्यात व्यापार का 37% भाग और विश्व के 59% साधन आ गये हैं। सन् 1992 तक यूरोप एक राष्ट्र सीमाओं से मुक्त एकात्मक बाजार अर्थात् आर्थिक व मौद्रिक संघ बन जायगा। यूरोपीय समुदाय के देशों की यह महत्वाकांक्षा है कि वे सन् 1992 तक संयुक्त राज्य अमरीका के समान संयुक्त राज्य यूरोप जैसी किसी इकाई का निर्माण कर लें। '**एकात्मक यूरोपीय समुदाय**' के निर्माण के पीछे यह मनोभाव है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद अमरीका व रूस ने यूरोप को विभाजित कर, शासित समुदाय की श्रेणी में ला दिया है। यूरोप इस द्वितीय श्रेणिता से अपने आपको तभी मुक्त कर सकता है जब वह अपनी शक्ति एवं सम्प्रभुता को एकात्मक करे।

विगत कुछ वर्षों से ब्रिटेन और फ्रांस ने अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों को यूरोप तक ही सीमित कर दिया है, उनकी सेनाएँ भी अब यूरोप में ही बनी रहती हैं। अतः उनकी शक्ति निकट भविष्य में यूरोपीय महाद्वीप तक ही सीमित रहनी है। आर्थिक और सैनिक दृष्टि से ब्रिटेन, फ्रांस और प० जर्मनी का प्रभाव यूरोपीय महाद्वीप में अवश्य महसूस किया जाने लगा है। पश्चिमी यूरोप देश द्वि-गुटीय राजनीति से मुक्त हुए हैं किन्तु वे प्रभावशाली तीसरी विश्वव्यापी शक्ति 've third global power) नहीं बन पाये हैं।

(3) **जापान** (Japan)—कुछ लोग जापान को तीसरी महत्वपूर्ण शक्ति मानते हैं चूँकि आर्थिक शक्ति के रूप में उसका स्थान अमरीका और सोवियत संघ के बाद माना जाता है। जापान ने न केवल अमरीकी प्रभाव से अपने आपको मुक्त किया है अपितु विश्व बाजार प्रतियोगिता में अपने अस्तित्व का परिचय दिया है। जापान की उत्पादकीय व तकनीकी क्षमता ने अमरीकी बाजार पर आक्रमण कर दिया है। अमरीका का उपभोक्ता बाजार जापानी एकाधिकार के चंगुल में फँसता जा रहा है। पूँजीवादी तकनीकी स्पर्द्धा में जापान ने अमरीकी उद्योग व शासन को पछाड़ दिया है। अमरीकी सरकार व उद्योगपति जापान की सस्ती, प्रभूत व अद्युनातन उपभोग

सामग्री के निर्माण की क्षमता के सम्मुख हार मान गये हैं। समूचे एशिया मे औद्योगिक माल के निर्यात की दृष्टि से जापान की विशिष्ट स्थिति है।

एक आर्थिक शक्ति के उपरान्त भी जापान की प्रभावक शक्ति की कुछ ऐसी सीमाएँ हैं कि वह तीसरी शक्ति नही बन पा रहा है। एक तो ईधन और ऊर्जा की दृष्टि से जापान दूसरे देशों पर निर्भर है, दूसरा वह आणविक शस्त्रों का निर्माण नही कर सकता चूंकि आणविक ऊर्जा कानून से बँधा हुआ है, तीसरा वह अपनी भूमि से बाहर सेना तैनात नही कर सकता। वैसे तो जापान ने अमरीकी वर्चस्व को चुनौती देते हुए, एशिया में अपनी विशिष्ट स्थिति बना ली है तथापि अमरीका और ओपेक (OPEC) राष्ट्रों पर उसकी निर्भरता ने तीसरी शक्ति के रूप में उसकी भूमिका का तिरोधान कर दिया है। अमरीका ने पूर्वी जापान को अपना अड्डा बना रखा है, वह सहसा जापान को स्वतन्त्र विदेश नीति नहीं अपनाने देगा।

(4) **तीसरी दुनिया** (The Third World)—पिछले एक दशक से कतिपय विश्लेषकों का मत है कि विश्वव्यापी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में 'तीसरी दुनिया' एक तीसरी शक्ति की भूमिका अदा कर सकती है। तीसरी दुनिया के तथाकथित राष्ट्रों के पास कुल मिलाकर जनसंख्या, प्राकृतिक स्रोत और विशाल क्षेत्रफल है। किन्तु तीसरी दुनिया के राष्ट्रों के पास उपलब्ध इन स्रोतों को समुचित रूप से संगठित नही किया जा सका है। उनकी जनसंख्या जिस गति से बढ़ रही है उससे प्रति व्यक्ति आय कम होती जा रही है। आर्थिक दृष्टि से तीसरी दुनिया के राष्ट्र पश्चिमी बहु-राष्ट्रीय निगमों के चंगुल में फँसते जा रहे हैं। तीसरी दुनिया के राष्ट्रों में बुनियादी मुद्दों पर एकजुटता का भी अभाव पाया जाता है। यदि तीसरी दुनिया को एकजुट अन्तर्राष्ट्रीय कार्यकर्ता मान भी लिया जाये तो भी उन्हें प्रभावक तीसरी शक्ति का दर्जा (Effective Third Power Status) नहीं दिया जा सकता।

ओपेक (OPEC) की स्थापना और 1973 के बाद की घटनाओं ने तेल उत्पादक देशों की शक्ति में काफी परिवर्तन कर दिया। ओपेक देशों ने तेल कूटनीति के माध्यम से जापान और अमरीका जैसे देशों को अपनी विदेश नीति में बुनियादी परिवर्तन लाने के लिए मजबूर कर दिया। इस प्रकार तीसरी दुनिया के राष्ट्र दो खेमों में विभाजित हो गये—शक्तिशाली-धनवान देश (Resource rich) तथा कमजोर-गरीब देश (Resource poor)। पश्चिमी दुनिया के अधिकांश देश ऊर्जा के लिए अरब देशों पर निर्भर थे अतः अरब-ओपेक देशों को उनके तेल पर निर्भर रहने वाले देशों की विदेश नीति को प्रभावित करने का अच्छा अवसर मिल गया। तेल उत्पादक देशों ने तेल शस्त्र के माध्यम से अपनी राजनीतिक सौदेबाजी की क्षमता में अभूतपूर्व वृद्धि कर ली। ओपेक देशों की स्थिति केवल तेल पर निर्भर करती है अतः इसको सन्तुलित करने के लिए अनेक देशों ने ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों की खोज प्रारम्भ कर दी है।

विश्लेषण (Analysis)—चीन, पश्चिमी यूरोप, जापान तथा तीसरी दुनिया के राष्ट्रों की शक्ति का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट होता है कि विश्व राजनीति शिथिल द्वि-ध्रुवीयता (Loose Bipolarity) की स्थिति में तो पहुँची है किन्तु अभी तक ऐसे प्रभावशाली शक्ति-केन्द्रों की स्थापना नहीं हो पायी है जिससे असली बहु-ध्रुवीयता की विश्व राजनीति स्थापित हुई हो।[1] निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि विश्व शक्ति-सन्तुलन संक्रमणकालीन अवस्था से गुजर रहा है जिसमें बहु-ध्रुवीयता अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है, द्वितीय श्रेणी की शक्तियाँ प्रधान शक्तियों से सम्बद्ध

1 "These observations about China, Western Europe, Japan and Third World demonstrate that while the world has outgrown the 'forms of subordination typical of loose bipolarity, it has not produced effective independent power centres which would in true multi-polarity."

सामग्री के निर्माण की क्षमता के सम्मुख हार मान गये हैं। समूचे एशिया में औद्योगिक माल के निर्यात की दृष्टि से जापान की विशिष्ट स्थिति है।

एक आर्थिक शक्ति के उपरान्त भी जापान की प्रभावक शक्ति की कुछ ऐसी सीमाएँ हैं कि वह तीसरी शक्ति नहीं बन पा रहा है। एक तो ईंधन और ऊर्जा की दृष्टि से जापान दूसरे देशों पर निर्भर है, दूसरा वह आणविक शस्त्रों का निर्माण नहीं कर सकता चूंकि आणविक ऊर्जा कानून से बँधा हुआ है, तीसरा वह अपनी भूमि से बाहर सेना तैनात नहीं कर सकता। वैसे तो जापान ने अमरीकी वर्चस्व को चुनौती देते हुए, एशिया में अपनी विशिष्ट स्थिति बना ली है तथापि अमरीका और ओपेक (OPEC) राष्ट्रों पर उसकी निर्भरता ने तीसरी शक्ति के रूप में उसकी भूमिका का तिरोधान कर दिया है। अमरीका ने पूर्वी जापान को अपना अड्डा बना रखा है, वह सहसा जापान को स्वतन्त्र विदेश नीति नहीं अपनाने देगा।

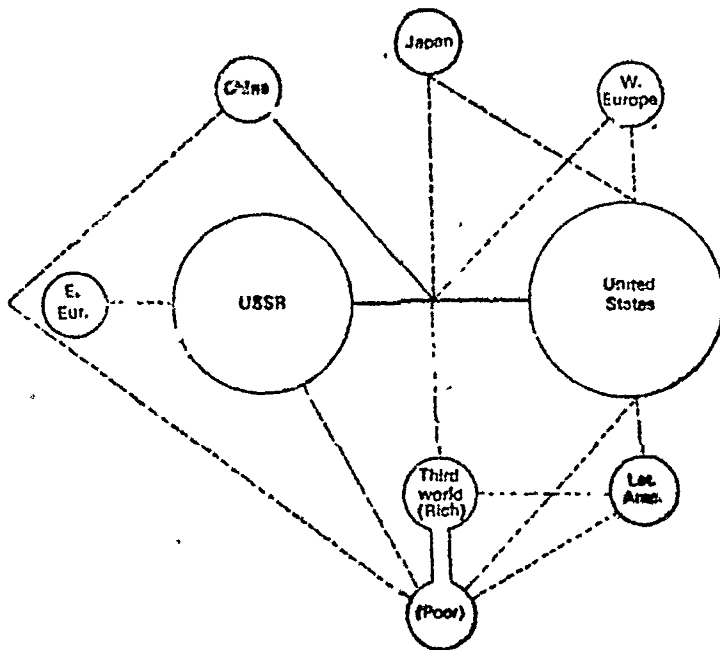
(4) तीसरी दुनिया (The Third World)—पिछले एक दशक से कतिपय विश्लेषकों का मत है कि विश्वव्यापी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में 'तीसरी दुनिया' एक तीसरी शक्ति की भूमिका अदा कर सकती है। तीसरी दुनिया के तथाकथित राष्ट्रों के पास कुल मिलाकर जनसंख्या, प्राकृतिक स्रोत और विशाल क्षेत्रफल है। किन्तु तीसरी दुनिया के राष्ट्रों के पास उपलब्ध इन स्रोतों को समुचित रूप से संगठित नहीं किया जा सका है। उनकी जनसंख्या जिस गति से बढ़ रही है उससे प्रति व्यक्ति आय कम होती जा रही है। आर्थिक दृष्टि से तीसरी दुनिया के राष्ट्र पश्चिमी बहु-राष्ट्रीय निगमों के चंगुल में फँसते जा रहे हैं। तीसरी दुनिया के राष्ट्रों में बुनियादी मुद्दों पर एकजुटता का भी अभाव पाया जाता है। यदि तीसरी दुनिया को एकजुट अन्तर्राष्ट्रीय कार्यकर्ता मान भी लिया जाये तो भी उन्हें प्रभावक तीसरी शक्ति का दर्जा (Effective Third Power Status) नहीं दिया जा सकता।

ओपेक (OPEC) की स्थापना और 1973 के बाद की घटनाओं ने तेल उत्पादक देशों की शक्ति में काफी परिवर्तन कर दिया। ओपेक देशों ने तेल कूटनीति के माध्यम से जापान और अमरीका जैसे देशों को अपनी विदेश नीति में बुनियादी परिवर्तन लाने के लिए मजबूर कर दिया। इस प्रकार तीसरी दुनिया के राष्ट्र दो खेमों में विभाजित हो गये—शक्तिशाली-धनवान देश (Resource rich) तथा कमजोर-गरीब देश (Resource poor)। पश्चिमी दुनिया के अधिकांश देश ऊर्जा के लिए अरब देशों पर निर्भर थे अतः अरब-ओपेक देशों को उनके तेल पर निर्भर रहने वाले देशों की विदेश नीति को प्रभावित करने का अच्छा अवसर मिल गया। तेल उत्पादक देशों ने तेल शस्त्र के माध्यम से अपनी राजनीतिक सौदेबाजी की क्षमता में अभूतपूर्व वृद्धि कर ली। ओपेक देशों की स्थिति केवल तेल पर निर्भर करती है अतः इसको सन्तुलित करने के लिए अनेक देशों ने ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों की खोज प्रारम्भ कर दी है।

विश्लेषण (Analysis)—चीन, पश्चिमी यूरोप, जापान तथा तीसरी दुनिया के राष्ट्रों की शक्ति का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट होता है कि विश्व राजनीति शिथिल द्वि-ध्रुवीयता (Loose Bipolarity) की स्थिति में तो पहुँची है किन्तु अभी तक ऐसे प्रभावशाली शक्ति-केन्द्रों की स्थापना नहीं हो पायी है जिससे असली बहु-ध्रुवीयता की विश्व राजनीति स्थापित हुई हो।[1] निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि विश्व शक्ति-सन्तुलन संक्रमणकालीन अवस्था से गुजर रहा है जिसमें बहु-ध्रुवीयता अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है, द्वितीय श्रेणी की शक्तियाँ प्रधान शक्तियों से सम्बद्ध

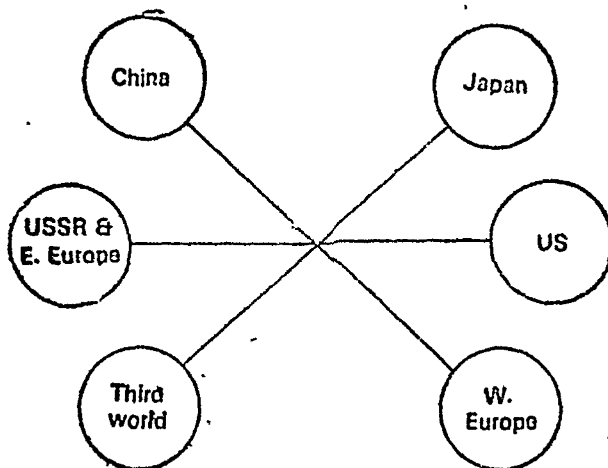
1 "These observations about China, Western Europe, Japan and Third World demonstrate that while the world has outgrown the 'forms of subordination typical of loose bipolarity, it has not produced effective independent power centres which would in true multi-polarity."

हैं।[1] नीचे दिये गये रेखाचित्र से प्रारम्भिक बहु-ध्रुवीय शक्ति-सन्तुलन का स्वरूप समझने में सहायता मिलती है।



[प्रारम्भिक विश्वव्यापी बहु-ध्रुवीयता का प्रतिमान, 1965 से आज तक]

2. बहु-ध्रुवीय शक्ति-सन्तुलन व्यवस्था (The Multipolar Balance of Power)—ऐसा माना जाता है कि निकट भविष्य में अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति-सन्तुलन का बहु-ध्रुवीय प्रतिमान उभरने की सम्भावना बढ़ती जा रही है। यह तभी सम्भव है जबकि तीसरी दुनिया, चीन, पश्चिमी यूरोप तथा जापान की शक्ति में इतनी वृद्धि हो जाय कि रूस अमरीकी विश्वव्यापी हितों को चुनौती दे सकें। बहु-ध्रुवीय प्रतिमान वाली उभरती अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में अनेक स्वतन्त्र शक्ति केन्द्र आपसी सम्बन्धों की अन्तःक्रिया में रत होंगे और द्वि-गुटीय वर्चस्व जैसी स्थिति नहीं होगी। निम्नांकित रेखाचित्र के द्वारा सम्भावित बहु-ध्रुवीय शक्ति-सन्तुलन प्रतिमान को समझा जा सकता है :



[असली विश्वव्यापी बहु-ध्रुवीयता का प्रतिमान : सम्भावित भवितव्य]

1 "We conclude that the global balance of power is in a transitional phase of incipient multipolarity, in which the secondary power centres are still more attached to the primary than the independent poles."

3. **नवीन शक्ति-सन्तुलन प्रतिमान** (A New Balance of Power Model)—कई विचारकों का यह मानना है कि बहु-ध्रुवीयता का प्रतिमान 19वीं शताब्दी की शक्ति-सन्तुलन व्यवस्था को अस्तित्व में लायेगा। इसके समर्थन में दो तर्क दिये जाते हैं : **प्रथम**, शक्ति के बहुत सारे स्वतन्त्र केन्द्र होने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में गुटबन्दी का बनना या बिगड़ना अनवरत चलता रहता है। **द्वितीय**, बहु-ध्रुवीय शक्ति केन्द्रों के अस्तित्व से 'सन्तुलनकर्ता' (Appearance of Balance) का अभ्युदय होता है जिसका प्रमुख कार्य व्यवस्था में सन्तुलन स्थापित करना माना जाता है।

शक्ति के आवश्यक तत्वों की प्रचुरता के कारण विश्वव्यापी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था में चीन एक प्रभावशाली स्वतन्त्र शक्ति केन्द्र के रूप में अवतरित हो रहा है। यदि चीन तीसरी शक्ति के रूप में अपनी स्थिति को स्थापित कर लेता है तो एक हस्तक्षेपकर्ता राष्ट्र के रूप में सन्तुलनकर्ता की भूमिका की अभिव्यक्ति निम्नांकित ढंग से होगी :

प्रतियोगी (Contestants)	**सन्तुलनकर्ता** (Balancer)
चीन-सोवियत संघ	संयुक्त राज्य अमरीका
संयुक्त राज्य अमरीका-चीन	सोवियत संघ
अमरीका-सोवियत संघ	चीन

परन्तु वर्तमान विश्व राजनीति के स्वरूप को देखते हुए इस प्रकार के शक्ति सम्बन्धों की कई सीमाएँ हैं : **प्रथम**, प्रत्येक सन्तुलनकर्ता की स्थिति शक्ति की दृष्टि से इतनी अधिक नहीं है कि वह किसी गठबन्धन को सन्तुलित कर सके। **द्वितीय**, वैचारिक अन्तर इस प्रकार के गठबन्धन के निर्माण में बाधा उपस्थित करते हैं। **तृतीय**, शक्ति-सन्तुलन सिद्धान्त की मूल धारणा यह है कि प्रत्येक शक्ति का ध्येय दूसरे को समाप्त करना नहीं, अपितु उसे बनाये रखना है।

4. **प्रादेशिक शक्ति-सन्तुलन प्रतिमान** (Regional Balance of Power)—इस अध्याय में शक्ति-सन्तुलन प्रतिमान को विश्वव्यापी स्तर (global) पर तथा प्रादेशिक स्तर पर (Regional) देखने का प्रयत्न किया गया है। वैसे तो द्वि-ध्रुवीय और बहु-ध्रुवीय शक्ति-सन्तुलन प्रतिमान विश्वव्यापी परिप्रेक्ष्य में देखने की प्रवृत्ति रही है किन्तु प्रादेशिक स्तर पर भी स्थानीय विवादों में प्रधान शक्तियाँ प्रादेशिक शक्ति सन्तुलन के निर्माण में क्रियाशील रही हैं।

एशिया में शक्ति वितरण बड़ा जटिल रहा है। वैसे तो उच्च-स्तर पर अपने प्रतिद्वन्द्वी हितों के कारण दोनों महाशक्तियाँ इस सन्तुलन-निर्माण में प्रयत्नशील रही हैं। पेसिफिक समुद्र, ताईवान तथा दक्षिण कोरिया अमरीकन आणविक सीमा के अन्तर्गत रहे हैं। चीन के अभ्युदय से सोवियत-अमरीकी सम्बन्धों में त्रिकोणीयता (Tripolarity) का तत्व दिखायी देता है। चीन की आणविक शक्ति को सन्तुलित करने के लिए भारत ने भी आणविक शक्ति बनने का दृढ़ निश्चय कर लिया किन्तु इससे पाकिस्तान के परिप्रेक्ष्य में शक्ति-सन्तुलन भारत की तरफ झुक जाता है। एक आर्थिक शक्ति होने के बावजूद जापान सैनिक शक्ति नहीं है जिससे एशिया में जापान की भूमिका भ्रम उत्पन्न करती है। पश्चिमी एशिया में शक्ति-सन्तुलन बड़ा अस्पष्ट किन्तु विचित्र रहा है। यहाँ अरब-इजराइल संघर्ष में सोवियत संघ और अमरीका अनवरत उलझते रहे हैं। अरब राज्यों ने 1973 के बाद तेल कूटनीति का प्रयोग किया जिससे उनके पास अपूर्व धन सम्पत्ति इकट्ठी होने लगी और इनमें पश्चिमी औद्योगिक राज्यों की विदेश नीति को प्रभावित करने की क्षमता आ गयी। तेल कूटनीति के परिणामस्वरूप अरब-इजराइल प्रादेशिक विवाद (regional conflict) में शक्ति-सन्तुलन अरबों की तरफ झुकने लगा।

निष्कर्ष : अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का बदलता स्वरूप
(CONCLUSION : CHANGING ASPECT OF THE INTERNATIONAL POLITICS)

क्या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रतिमान बदल रहा है ? संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ में किस भाँति का शक्ति-सन्तुलन स्थापित हो चुका है ? शीत-युद्ध में शक्ति-सन्तुलन किस के हाथ में रहा है ? चीन के अभ्युदय के बाद क्या विश्व राजनीति द्वि-ध्रुवीय से त्रिकोणीय रूप ग्रहण करती जा रही है ? गुट-निरपेक्ष राज्यों के अभ्युदय, जापान, फ्रांस और प० जर्मनी के शक्ति केन्द्रों के अस्तित्व में आने के बाद द्वि-गुटीय विश्व राजनीति (Bipolar World Politics) बहु-ध्रुवीयता (Multipolarity) की ओर धीरे-धीरे अग्रसर हो रही है। यह एक सच्चाई है कि अब अमरीका और सोवियत संघ चीनी शक्ति की आसानी से उपेक्षा नहीं कर सकते।

4 जुलाई, 1988 को अमरीका की आजादी की दो सौ बारहवीं वर्षगाँठ थी। इस अवसर पर अमरीका के पूर्व विदेश सचिव हेनरी किसिंजर ने भविष्य के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विषय में अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए कहा है, : " इस शताब्दी के परिवर्तन क्षणों में जापान एक महत्वपूर्ण सैनिक शक्ति के रूप में उभरेगा और वह बड़ी वित्तीय शक्ति भी सिद्ध होगा। मुझे विश्वास है कि चीनी सुधार अवश्य सफल होंगे। चीनी लोग अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सचेत विश्लेषक हैं।.........हिन्द महासागरीय क्षेत्र पर भारतीय वर्चस्व स्थापित होगा तथा दक्षिण-पूर्व एशिया चार बड़ी ताकतों—चीन, भारत, सोवियत संघ एवं जापान का स्पर्द्धा क्षेत्र बनेगा।"

बर्लिन की दीवार के ढहने के बाद जर्मन एकीकरण की सम्भावनाएँ बढ़ गयी हैं। एकीकृत जर्मनी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति का महत्वपूर्ण केन्द्र बन कर उभरेगा।

यहाँ यह प्रश्न भी विचारणीय है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्थिरता द्वि-गुटीय राजनीतिक ढाँचे (Bipolar Political Patterns) से अधिक सम्भव है अथवा बहु-ध्रुवीय राजनीतिक ढाँचे (Multipolar Political Patterns) से ? वस्तुतः प्रत्येक ढाँचे में कुछ लाभ और हानियाँ दिखायी देती हैं।

द्वि-गुटीय विश्व राजनीति के समर्थक निम्नलिखित लाभ देखते हैं—**प्रथम**, दो महाशक्तियों के अस्तित्व से विश्व दो गुटों में बँट जाता है और यदि सभी राज्य इस गुटबन्दी में भाग लें तो ऐसा कोई संघर्ष नहीं हो सकता जिस पर इन दो महाशक्तियों में से किसी एक का नियन्त्रण स्थापित न हो। **द्वितीय**, द्वि-गुटीय शक्ति वितरण की व्यवस्था जितनी कठोर होगी और अन्तर-गुटीय प्रतिस्पर्द्धा जितनी तीव्र होगी उतनी ही अधिकांश विषयों पर महाशक्तियों में विवादास्पद मुद्दों पर सहमति अधिक होती जायेगी। **तृतीय**, द्वि-गुटीय विश्व व्यवस्था में छोटे-मोटे विवादों पर मतभेद और दबाव उत्पन्न होंगे किन्तु विशाल स्तर पर संघर्ष (Major Conflict) की सम्भावना कम होगी।

किन्तु द्वि-गुटीय विश्व राजनीति का सबसे बड़ा दुष्परिणाम यह होता है कि दो गुटों में सदैव शत्रुता के सम्बन्ध विकसित हो जाते हैं और छोटे-छोटे मुद्दों पर एक-दूसरे की प्रतिक्रियाएँ कटुता उत्पन्न कर देती हैं। कार्ल डायच के अनुसार द्वि-गुटीय राजनीति जितनी कठोर होगी उतने ही महाशक्तियों के सम्बन्ध वैमनष्यपूर्ण होंगे।[1]

कतिपय विचारकों के अनुसार बहु-ध्रुवीय विश्व राजनीति में राज्यों के आपसी सम्बन्धों में जितनी अधिक अन्तःक्रिया होगी उतनी ही व्यवस्था में स्थिरता आयेगी।[2] माइकेल हॉस के अनुसार राजनीतिक स्थिरता की दृष्टि से एक गुट-प्रधान विश्व व्यवस्था (Unipolar Systems :

---

[1] Karl W. Deutzch and J. David Singer, 'Multipolar Power System and International Stability', *World Politics* 16 (1964) : 390-406.

[2] *Ibid*.

Single Nation Domination) सर्वश्रेष्ठ है किन्तु ऐसी व्यवस्था की स्थापना बहुत विशिष्ट परिस्थितियों में ही होती है। द्वि-गुटीय व्यवस्था अल्पसंख्यक संघर्षों को जन्म देती है और बहु-ध्रुवीय व्यवस्था, प्रधान शक्तियों के मध्य साधारण परिस्थितियों में भी युद्धों को जन्म देती है। माइकेल हॉस के शब्दों में, "आज द्वि-ध्रुवीय और बहु-ध्रुवीय व्यवस्था के बीच चयन की स्थिति स्पष्ट है। यदि कोई राज्य लम्बे युद्धों से बचना चाहता है तो द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था एक उपाय सिद्ध हो सकती है। बहु-ध्रुवीय व्यवस्था में अधिक हिंसा होगी, ज्यादातर राज्य युद्ध में संलग्न होंगे, ज्यादा लोग मारे जायेंगे जबकि द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था में युद्ध कम होंगे। किन्तु लम्बे समय तक चलते रहेंगे।"[1]

प्रश्न

1. "यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति धीरे-धीरे बहुकेन्द्रवाद की ओर अग्रसर हो रही है, किन्तु द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था की मूल प्रवृत्तियाँ अभी भी बनी हुई हैं।" समझाइए।
   "Though Internationai Politics is gradually moving towards polycentrism, the basic tendencies of the bipolar system still persist." Discuss.
2. "यद्यपि विश्व बहु-केन्द्रीयवाद की ओर अग्रसर हो रहा है, ध्रुवीकरण व्यवस्था के प्रमुख लक्षणों का आग्रह अभी भी बना हुआ है।" उपरोक्त कथन का विस्तार कीजिए तथा वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वभाव का परीक्षण कीजिए।
   "Though the world is moving towards polycentrism, the main features of bipolar system still persist." Elaborate the above statement and examine the nature of International Politics at present.

---

[1] Michael Haas, 'International Subsystem : Stability and Polarity', *American Political Science Review* 64 (1970) : 98-123.

12

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और आणविक शस्त्रों का प्रभाव

[INTERNATIONAL POLITICS AND IMPACT OF NUCLEAR WEAPONS]

अमरीका के एक भविष्यवक्ता हरमन काट्न ने भविष्यवाणी की है कि अगले तीन-चार वर्षों में परमाणु युद्ध होने की सम्भावना सबसे अधिक है। एक परमाणु वैज्ञानिक ने अनुमान लगाया है कि आधुनिक विश्व बिना परमाणु युद्ध के 2000 ई० तक पहुँच सकेगा जिसकी सम्भावना चालीस प्रतिशत से भी कम है। अर्थात् परमाणु युद्ध उससे पहले ही हो जायेगा। हॉलीवुड के एक विचारक डब्ल्यू० एस० फांसले ने कहा है कि 1988 के बाद पृथ्वी पर ऐसा भीषण युद्ध होगा, जिसमें विश्व की दो-तिहाई आबादी नष्ट हो जायेगी। स्टाकहोम के अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति अनुसन्धान के निदेशक बारनामी ने चेतावनी दी है कि 1962 के क्यूबाई प्रक्षेपणास्त्र संकट के बाद से अब परमाणु युद्ध होने का खतरा सबसे अधिक बढ़ गया है। इसी संस्थान के एक प्रकाशन में कहा गया है कि युद्ध कभी भी प्रारम्भ हो सकता है, जो बाद में सीमित परमाणु युद्ध में बदल जायेगा। सीमित परमाणु युद्ध से अभिप्राय है कि इस युद्ध में केवल छोटे परमाणु हथियारों का प्रयोग किया जायेगा और वह भी सीमित मात्रा में, लेकिन युद्ध प्रारम्भ होने के बाद यह अपेक्षा करना व्यर्थ है कि युद्ध में हिस्सा लेने वाली शक्तियाँ अमुक हथियार का प्रयोग अमुक सीमा तक ही करेंगी। इसलिए सीमित परमाणु युद्ध का अर्थ भी पूर्ण परमाणु युद्ध ही समझना चाहिए।

इन भविष्यवक्ताओं के अतिरिक्त आधुनिक राजनेता भी परमाणु युद्ध की आशंका को व्यक्त कर रहे हैं। चीन के एक भूतपूर्व उप-प्रधानमन्त्री ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि "तृतीय विश्व-युद्ध अवश्यम्भावी है तथा यह युद्ध अगले दस वर्षों में होने की सम्भावना है।" दस वर्ष की बात उन्होंने इसलिए कही कि चीन सोवियत संघ के विरुद्ध अपनी सैनिक तैयारियों के लिए दस वर्ष की ही आवश्यकता मानता है। अमरीका के भूतपूर्व राष्ट्रपति रीगन की मान्यता थी कि 'हम धीरे-धीरे युद्ध की ओर बढ़ रहे हैं।' सोवियत संघ के भी विचार लगभग यही हैं। विश्व के अन्य राजनेता भी विश्व-युद्ध की सम्भावना निरन्तर व्यक्त करते रहते हैं। यह भी स्पष्ट है कि इस बार विश्व-युद्ध का अर्थ देर-सबेर परमाणु युद्ध ही होगा।

विश्व राजनीति की स्थिति भी निरन्तर विस्फोटक बनती जा रही है। पश्चिमी एशिया की स्थिति वैसे भी विस्फोटक है। सोवियत संघ और चीन की सेनाएँ अपनी-अपनी सीमाओं में आमने-सामने खड़ी युद्ध के संकेत की प्रतीक्षा में हैं। वियतनाम और कम्पूचिया की सीमाएँ भी

तनावग्रस्त हैं। इस प्रकार विश्व के बड़े हिस्से में युद्ध की पृष्ठभूमि तैयार हो रही है। युद्ध की सम्भावनाओं को देखते हुए विभिन्न देश, उसके लिए तैयारियाँ करने लगे हैं।

आणविक शस्त्रों का विस्तार : परमाणु की राजनीति
(EXPANSION OF ATOMIC WEAPONS : POLITICS OF BOMBS)

अगस्त 1945 के आरम्भ में अमरीका के पास केवल दो परमाणु बम थे और हिरोशिमा तथा नागासाकी में उनके इस्तेमाल के साथ ही अमरीका का परमाणु बमों का भण्डार खाली हो गया था। बहरहाल चार साल तक परमाणु बम की जानकारी और भण्डारण के क्षेत्र में अमरीका का एकाधिकार रहा। लेकिन 29 अगस्त, 1949 को यह एकाधिकार समाप्त हुआ, जब सोवियत रूस ने अपना पहला सफल परमाणु-बम परीक्षण किया। इस तरह परमाणु शस्त्रों की दौड़ या प्रतियोगिता चल पड़ी।

मई 1951 में अमरीका ने और नवम्बर 1952 में सोवियत रूस ने अपने प्रथम हाइड्रोजन शक्ति परीक्षण किये। 1954-55 में दोनों ने हाइड्रोजन बम बना लिये। इन दोनों के अलावा 1952 में ब्रिटेन, 1960 में फ्रांस और 1964 में चीन भी परमाणु शस्त्रों की दौड़ में शामिल हुए। 1974 में भारत ने भी पोखरण में आणविक विस्फोट कर दिखाया।

यों तो 1955 तक दोनों महाशक्तियों ने अपने परमाणु शस्त्र भण्डार बना लिये थे। लेकिन उनका कारगर उपयोग करने की क्षमता केवल अमरीका में थी; क्योंकि अमरीकी सामरिक हवाई कमान ने रूस के इर्द-गिर्द यूरोप और तुर्की में अपने सैन्य अड्डे बना रखे थे, जहाँ से उसके वायुयान उड़कर रूस की धरती पर परमाणु बम गिरा सकते थे।

परन्तु अक्टूबर 1957 में रूसी 'स्पूतनिक' के सफल परीक्षण के बाद दूरगामी या अन्तर-महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों के युग का आरम्भ हुआ। अब दोनों महाशक्तियाँ घर बैठे एक-दूसरे पर और साथ ही दुनिया के किसी भी भू-क्षेत्र पर परमाणु बम बरसा सकती हैं। इसके अतिरिक्त दोनों महाशक्तियों के पास तथा सीमित स्तर पर ब्रिटेन और फ्रांस के पास भी ऐसी परमाणु चालित पनडुब्बियाँ हैं, जिनसे प्रायः मध्यम दूरी के क्षेत्र में काफी दूर तक परमाणु प्रक्षेपास्त्रों द्वारा आक्रमण किया जा सकता है।

लगभग एक दशक पूर्व दोनों महाशक्तियों ने एम० आई० आर० वी० या 'मिर्व' नामक ऐसे प्रक्षेपास्त्रों का आविष्कार किया, जिन पर एक साथ बहुत से मेगाटन के परमाणु बम लादे जा सकते हैं तथा कम्प्यूटर के पूर्व निर्देश पर अलग-अलग कई निशानों पर ठीक-ठीक और बड़ी तेजी से गिराये जा सकते हैं।

दोनों महाशक्तियों तथा फ्रांस, ब्रिटेन और चीन के पास नजदीकी क्षेत्रों पर परमाणु आक्रमण करने के लिए तेज रफ्तार वाले वायुयानों से लैस बड़े हवाई बेड़े भी हैं।

इस प्रक्षेपण व्यवस्था के अतिरिक्त प्रसिद्ध पालमे रिपोर्ट के अनुसार, अब दुनिया में 50,000 से अधिक परमाणु बम या 'वारहेड' हैं। इस स्थिति की भीषणता को दर्शाते हुए ओसलो (नार्वे) की विश्वविख्यात इण्टरनेशनल पीस रिसर्च इन्स्टीट्यूट के निदेशक तथा निरस्त्रीकरण विशेषज्ञ मारेक थी ने कहा है : "वर्तमान समय में परमाणु शस्त्रों के बारे में निश्चित आँकड़े संकलित करना कठिन है। फिर भी अनुमान है कि आज की प्रलयंकारी मशीन लगभग 60,000 परमाणु शस्त्रों से लैस है। आम तौर पर यह माना जाता है कि पूर्वी और पश्चिमी शक्तियों के परमाणु शस्त्र भण्डारों की कुल विध्वंस शक्ति हिरोशिमा वाले बम जैसे दस लाख बमों के बराबर अर्थात् 13 अरब एम० टी० एन० टी० है।......दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि आज के परमाणु शस्त्र भण्डार में प्रति 1,000 मनुष्यों के लिए एक हिरोशिमा जैसा बम मौजूद है। यहाँ पर याद रखना प्रासंगिक होगा कि हिरोशिमा में कुल मृतकों की संख्या लगभग साढ़े तीन लाख थी।"

लन्दन के अन्तर्राष्ट्रीय सामरिक अध्ययन संस्थान ने कहा है कि महाशक्तियों के निजी शस्त्रागार में लगभग 1,500 परमाणु हथियारों की प्रतिवर्ष वृद्धि हो रही है। "1987-88 में सैनिक सन्तुलन" विषयक संस्थान के प्रकाशन में बताया गया है कि पिछले वर्ष अमरीका ने 1,000 हथियार बनाये और सोवियत संघ ने 4 हजार। अमरीका के पास कुल 13,300 परमाणु आयुध हैं जबकि रूस के पास 10,800 हैं। ये आयुध हिरोशिमा जैसे कई लाख नगरों का सफाया करने की घातक क्षमता रखते हैं। हिरोशिमा में लगभग दो लाख लोग असमय में ही काल के गाल में समा गये थे। इस समय जितने अस्त्र उपलब्ध हैं उनसे एक साथ 240 अरब लोगों को मारा जा सकता है जबकि आज सम्पूर्ण दुनिया की आबादी मात्र 5 अरब है। पिछले 45 वर्षों में महाशक्तियों के इतने अधिक मेगाटन शक्ति के परमाणु बम बना लिये हैं कि उनसे दूसरे विश्व-युद्ध की ही तरह के लगभग 5 हजार युद्ध लड़े जा सकते हैं। इसके बावजूद पाल्मे रिपोर्ट के अनुसार प्रतिवर्ष अमरीकी और सोवियत भण्डारों में परमाणु अस्त्र बढ़ते जा रहे हैं। एक वीभत्स चक्र जैसी स्थिति बन गयी है। राजनीतिक तनाव के फलस्वरूप शस्त्र परिसीमन वार्ताएँ मुश्किल बन गयी हैं। उधर बढ़ती हुई शस्त्र प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप राजनीतिक तनाव और अधिक तीव्र होते जाते हैं।

हथियारों की होड़ का ताजा उदाहरण है अमरीका का 'न्यूट्रान बम' जिसके निर्माण को पिछले राष्ट्रपति कार्टर ने रोक दिया था। लेकिन राष्ट्रपति रीगन ने उसके निर्माण के पुनः आदेश दे दिये। न्यूट्रान बम वास्तव में एक ऐसा हाइड्रोजन बम है, जिसमें तीव्र विस्फोट नहीं होता और इसलिए सम्पत्ति का नाश भी कम से कम होता है। इसके विपरीत, इससे मुक्त होने वाली न्यूट्रान गोली से मनुष्य और अन्य जीव-जन्तुओं के लिए तुरन्त या विलम्बित मृत्यु निश्चित है। न्यूट्रान बम की पूरी संहारक शक्ति उसके उन असंख्य न्यूट्रानों में है जो बड़ी मात्रा में देर तक मुक्त होते रहते हैं क्योंकि घनीभूत रेडियोधर्मिता जीवित वस्तुओं के लिए घातक है और इससे जीवित कोशाएँ तुरन्त नष्ट हो जाती हैं। इसलिए इसके प्रभाव में आने वाले प्रत्येक मनुष्य की मृत्यु करीब-करीब निश्चित है। इसकी संहारकता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि हाइड्रोजन बम जैसे भयंकर बम में भी मरने वालों और घायलों का अनुपात एक और तीन होता है मगर न्यूट्रान बम में इसके उल्टे यदि एक जख्मी होगा तो तीन मरेंगे।

न्यूट्रान बम का प्रभाव कहाँ तक जा सकता है और इसका बचाव क्या है? इसका दारोमदार इस बात पर है कि न्यूट्रान बम कहाँ और कितनी दूर छोड़ा गया? न्यूट्रान परमाणु का एक ऐसा कण है जिस पर शून्य विद्युत चार्ज रहता है, इसलिए सामान्य तरीकों से इसे रोका नहीं जा सकता। एक परम्परागत परमाणु बम का प्रभाव करीब 1·6 किलोमीटर तक रहता है मगर क्योंकि न्यूट्रान बम का उपयोग सीमित क्षेत्र में व्यक्तियों को मारने के लिए किया जायेगा इसलिए इसकी व्यापकता भी अधिक नहीं होगी। सामान्यतया 15 सेमी० मोटी कंकरीट की दीवार या 4 सेमी० मोटी इस्पात की दीवार ही इन कणों के प्रभाव को रोक सकती है। दूसरे शब्दों में, बमों से सुरक्षा के लिए बनाये गये सुरक्षित मकानों या खन्दकों में न्यूट्रान बम से बचाव हो तो सकता है मगर खुले मैदान में आमने-सामने की लड़ाई में न्यूट्रान बम से कोई बचाव नहीं।

एक ऐसे बम की कल्पना काफी समय से वैज्ञानिक और सैनिक क्षेत्रों में होती रही है जो सम्पत्ति को नष्ट किये बिना केवल युद्ध के लिए सामने आये हुए सिपाहियों को ही नष्ट करे। यद्यपि अमरीका ने हाल ही में इस बम का सफल परीक्षण किया फिर भी दो दशक से सोवियत संघ में इस हथियार पर काम हो रहा था। 1952 में ही सोवियत संघ में इस प्रकार की जानकारी प्रकाशित हुई थी जिससे न्यूट्रान बमों के विकास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता था। इस समय जिस रूप में बम का विकास हुआ है उसके अनुसार इसे प्रक्षेपास्त्रों में एक सामान्य बम की तरह तो

रखा ही जा सकता है मगर कई प्रकार की तोपों, विशेषकर अमरीका की लांस दूरमारक तोपों और होवितज़र तोपों से भी इसे दागा जा सकता है। यह बात महत्वपूर्ण है कि इस प्रकार की तोपें नाटो सेनाओं के पास यूरोप के कई स्थलों में मौजूद हैं।

न्यूट्रान बम पैशाचिक परमाणु हथियार है। यह साम्राज्यवादी शक्तियों की अमानवीयता को प्रकट करता है, जिसकी दृष्टि में मानव का मूल्य कुछ भी नही है। इससे प्राणियों का संहार होगा तथा कारखानों व बैंक की रक्षा की जायेगी क्योंकि उनका सम्बन्ध मात्र लाभ से है, मानव मूल्यों से नहीं।

न्यूट्रान जैविकी की खोजों से प्रकट होता है कि न्यूट्रान विकिरण का कैंसर रोग सम्बन्धी प्रभाव एक्स-किरणों या गामा-किरणों के विकिरण से चार गुना अधिक होता है। अगर इसी तथ्य पर विचार किया जाय कि ऐसी आनुवंशिकी क्षति से आने वाली पीढ़ियों में भी रोग उत्पन्न हो जायेंगे तो बिना किसी अतिशयोक्ति के यह कहा जा सकता है कि यह मानव जाति के लिए एक अत्यधिक भयावह खतरा है।

वर्तमान में अमरीका तथा सोवियत संघ दोनों ही देशों ने अपने-अपने यहाँ कंक्रीट से बने भूमिगत बंकरों में काफी बड़ी संख्या में प्रक्षेपणास्त्र जमा कर रखे हैं। संकेत मिलते ही ये प्रक्षेपणास्त्र अपने स्थान से निकलकर कुछ ही मिनटों में अपने लक्ष्यों पर पहुँचकर कहर ढा सकते हे। कंक्रीट से बने सुरक्षित स्थानों पर इन प्रक्षेपणास्त्रों को इसलिए रखा गया है, ताकि साधारण बमबारी से उन्हें कोई क्षति नही पहुँचे। इस तरह रखे गये प्रक्षेपणास्त्र तभी नष्ट हो सकते हैं, जब उनको जहाँ रखा गया है, उस जगह से 400 मीटर तक की परिधि मे कहीं भी कम-से-कम एक मेगाटन की क्षमता वाला बम डाला जाये। इस खतरे से बचने के लिए इन प्रक्षेपणास्त्रो को एक ही स्थान पर रखकर बड़े गोपनीय रूप में अलग-अलग स्थानों पर रखा जाता है और वहाँ भी जमीन के अन्दर बनी हुई सुरंगों के द्वारा उन्हें अक्सर इधर-उधर स्थानान्तरित किया जाता रहता है। उद्देश्य यही है कि यदि सम्भावित परमाणु युद्ध में आक्रमण की पहल शत्रु देश करे तब भी हमले का लक्ष्य बने देश के पास इतने प्रक्षेपणास्त्र अवश्य बच जायें कि वह जवाबी हमले में शत्रु को तहस-नहस कर सके। इसी उद्देश्य से परमाणु हथियारों से युक्त अनेक प्रक्षेपणास्त्र ऐसी पनडुब्बियों में भी लगे रहते हैं, जो तीन माह तक समुद्र के अन्दर रह सकती है।

आणविक युद्ध केवल राजनेताओं अथवा वैज्ञानिकों की सनक के कारण ही नही, बल्कि मानवीय अथवा यान्त्रिक भूल के कारण भी हो सकता है। इस प्रकार की भूल अतीत में भी अनेक बार विश्व को आणविक युद्ध के कगार तक ले जा चुकी है। 1961 में जब चन्द्रमा से लौटी किसी तरंग को अमरीकी रडारो ने पकड़ा तो उस तरंग का अर्थ यह समझा गया कि आणविक आक्रमण के लिए सोवियत संघ के विमान अमरीका की ओर चल पड़े है। तत्काल अमरीका के बम-वर्षकों को भी सोवियत संघ पर आणविक आक्रमण का आदेश दे दिया गया। विमान अपने लक्ष्य की ओर उड़ भी चले, इसके लगभग एक घण्टे बाद वस्तुस्थिति की जानकारी मिली, तो उन बम-वर्षक विमानों को वापस बुला लिया गया। उन दिनो प्रक्षेपणास्त्र नही बन पाये थे, इसीलिए विमानों को वापस बुलाने का समय मिल गया। आज प्रक्षेपणास्त्रो के युग में तो इस एक घण्टे की अवधि में आणविक युद्ध अपनी पूरी गति से आरम्भ हो सकता है। 9 नवम्बर, 1979 को भी गलतफहमी में इसी प्रकार के आदेश दे दिये गये थे, मगर उन्हें तत्काल सुधार लिया गया। 6 जून, 1980 को भी अमरीकी कम्प्यूटरों ने सूचना दी कि सोवियत संघ ने अपने अन्तरमहाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों को अमरीका की ओर रवाना कर दिया हे। इसके उत्तर मे अमरीका ने भी प्रक्षेपणास्त्रों को निर्देश देने वाले यन्त्रो को चालू करने का आदेश दे दिया। मगर इसके पहले कि प्रक्षेपणास्त्र अपने लक्ष्य की ओर रवाना होते, गलती का पता चल गया और उन्हें रोक

लिया गया। मगर प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकार गलती सुधारने का समय हमेशा ही मिलता रहेगा ? इस सन्दर्भ में और भी कुछ खतरे हैं। मसलन आणविक शस्त्रों से लैस विमान, जलपोत या पनडुब्बी किसी दुर्घटना की शिकार हो सकती है और इस कारण होने वाला सम्भावित आणविक विस्फोट विनाश को जन्म दे सकता है। वस्तुस्थिति यह है कि आज के आणविक हथियारों ने सम्पूर्ण विश्व की सुरक्षा को केवल कुछ यन्त्रों तथा कुछ मनुष्यों के हाथों में गिरवीं रख दिया है।

अभी तक कुल छह देश आणविक परीक्षण कर चुके हैं—अमरीका, सोवियत संघ, इंगलैण्ड, फ्रांस, चीन और भारत। कुल परीक्षण हुए 1,262, जिनमें अधिकांश अमरीका और सोवियत संघ ने किये हैं। शान्ति संस्थान की रिपोर्ट के अनुसार पिछले साल 49 आणविक परीक्षण किये गये, उन्हे मिलाकर अन्तरिक्ष में भेजे गये 1,801 उपग्रहों में से कम-से-कम 75 प्रतिशत विशुद्ध सैनिक उपग्रह समझे जाते हैं। इस बीच दोनों महाशक्तियाँ तथाकथित 'किलर सैटेलाइट' यानी उपग्रह मारक उपग्रह भी अन्तरिक्ष में भेजने लगी हैं, जो शत्रु के उपग्रह को अन्तरिक्ष में ही नष्ट कर सकते हैं, यह काम वे शक्तिशाली 'लेजर' किरणों की सहायता से करेंगे।

सर्वाधिक आणविक हथियार भी अमरीका और सोवियत संघ के पास ही हैं। इस दिशा में तीसरा देश जो तीव्रता से प्रगति कर रहा है, वह चीन है। इन छह देशों के अतिरिक्त नौ देश ऐसे हैं, जिनके पास परमाणु हथियार बनाने की क्षमता है, वे देश हैं कनाडा, प० जर्मनी, इजराइल, इटली, जापान, पाकिस्तान, द० अफ्रीका, स्वीडन तथा स्विट्जरलैण्ड। अमरीका की पत्रिका 'न्यूजवीक' के जुलाई 1988 के अंक में अमरीकी खुफिया सूत्रों के हवाले से प्रकाशित किया गया है कि कई देशों ने परमाणु बम बना लिये हैं। पाकिस्तान ने चार ऐसे परमाणु बम बनाये हैं जिन्हें अमरीका द्वारा दिये गये एफ-16 लड़ाकू बम-वर्षकों में ले जाया जा सकता है। पत्रिका ने लिखा है कि भारत, पाकिस्तान, इजराइल और द० अफ्रीका के पास भी परमाणु हथियार हैं। विशेषज्ञों का मत है कि ब्राजील और अर्जेण्टाइना भी अगले दो वर्षों में परमाणु क्षमता प्राप्त कर लेंगे। 'न्यूजवीक' के अनुसार इजराइल के पास 100 से 200 के बीच परमाणु हथियार हैं। द० अफ्रीका ने इतना परिष्कृत यूरेनियम बना लिया है जिससे 13 से 21 बम बनाये जा सकते हैं। भारत के पास कम से कम 20 परमाणु हथियार हैं, हालांकि भारत इस बात से इन्कार करता है। आज परमाणु विज्ञान के बारे में इतना अधिक साहित्य बाजार में आ गया है कि साधन और सुविधा मिलने पर कोई भी प्रतिभाशाली परमाणु वैज्ञानिक बम बना सकता है। साधन का जहाँ तक सम्बन्ध है, इसके लिए चाहिए एक परमाणु भट्टी तथा यूरेनियम-235 अथवा प्लूटोनियम। दोनों वस्तुएँ विश्व के खुले बाजार से खरीदी जा सकती हैं। यदि राजनीतिक परिस्थिति अनुकूल न हो तो उस स्थिति में इस सौदे में यह शर्त लगायी जा सकती है कि परमाणु भट्टी या यूरेनियम खरीदने वाला देश आणविक हथियारों के प्रसार पर रोक के लिए 1968 में की गयी सन्धि पर हस्ताक्षर करे जिसके तहत किसी भी नये देश द्वारा परमाणु बम बनाने पर प्रतिबन्ध है। मगर इस पर हस्ताक्षर के बावजूद परमाणु बम बनाने का काम गुप-चुप रूप से चल सकता है अथवा कोई देश बहाने की आड़ लेकर अन्तर्राष्ट्रीय जाँचकर्ताओं को अपने परमाणु संयन्त्रों की जाँच करने से रोक सकता है। कुछ दिनों पहले ईराक ने इरान के साथ चल रहे युद्ध की आड़ में ही संयुक्त राष्ट्र संघ के निरीक्षकों को अपने परमाणु संयन्त्रों वाले केन्द्रों पर जाने से रोका था।

इस समय विश्व में लगभग साठ हजार आणविक हथियार तैयार हैं। इनकी क्षमता का यदि अध्ययन करें तो यह जानकर आश्चर्य होता है कि इन हथियारों से वर्तमान विश्व को केवल दो बार नहीं, पूरे दर्जन बार नष्ट किया जा सकता है। इस तथ्य के बावजूद आणविक हथियारों के लिए अन्धी होड़ निरन्तर चालू है। इन आणविक हथियारों का संचालन अब केवल धरती से नहीं अन्तरिक्ष से भी किये जाने के प्रयत्न चल रहे हैं। इस उद्देश्य के निमित्त महाशक्तियों द्वारा

केवल 1980 में 103 सैन्य उपग्रह अन्तरिक्ष में छोड़े गये थे। अमरीका की योजना है कि 2000 ई० तक अन्तरिक्ष में एक ऐसा मंच तैयार कर ले, जो भूमध्य रेखा के ऊपर स्थित हो, जहाँ से वह अपनी सम्पूर्ण सुरक्षा का संचालन कर सकेगा।

परमाणु ऊर्जा के नये सीमान्त—परमाणु ऊर्जा की तकनीक सिद्धि हो जाने पर परमाणु बम बनाना या न बनाना, समृद्ध यूरेनियम की उपलब्धि, राजनीतिक निर्णय का मसला रह जाता है। परमाणु प्रौद्योगिकी पर कुछ विशिष्ट देशों का एकाधिकार होने के बावजूद उसका काफी विस्तार हुआ है—पश्चिमी देशों की व्यापारिक बुद्धि के कारण जितना, उतना ही उनकी आपसी प्रतिद्वन्द्विता के कारण। अमरीका, सोवियत संघ, फ्रांस, ब्रिटेन, कनाडा और चीन के बाहर कम-से-कम 16 देश ऐसे हैं जहाँ पश्चिमी देशों ने परमाणु प्रौद्योगिकी बेची और पहुँचायी है। पश्चिमी कम्पनियाँ विकासशील देशों में 37 परमाणु भट्टियाँ लगा चुकी हैं और 28 पर काम चल रहा है।

इनमें से अनेक देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा आयोग का निरीक्षण स्वीकार किया है, लेकिन इजराइल, दक्षिण अफ्रीका, पाकिस्तान और भारत ने परमाणु प्रसार सन्धि पर हस्ताक्षर करना स्वीकार नहीं किया था। अतः उनके यहाँ अन्तर्राष्ट्रीय संगठन द्वारा परमाणु संयन्त्रों की निगरानी का सवाल नहीं उठता। इनमें से इजराइल और दक्षिणी अफ्रीका दो ऐसे भी देश हैं जिन्हें माना जाता है कि बने बनाये परमाणु अस्त्र मिल चुके हैं। पश्चिमी देशों की जो कम्पनियाँ तीसरी दुनिया के देशों से परमाणु व्यापार कर रही हैं उनमें अमरीका की 'जनरल इलेक्ट्रिक और वेस्टिंग हाउस', पश्चिमी जर्मनी की 'के० डब्ल्यू० यू०', 'एटॉमिक एनर्जी ऑफ कनाडा' और फ्रांस की 'फ्रामाटोम' प्रमुख हैं।

परमाणु परीक्षणों का प्रभाव—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद से अब तक लगभग 1,270 परमाणु परीक्षण किये जा चुके है, जिनमें से 1,100 केवल अमरीका तथा सोवियत संघ के ही हैं। इस समय विश्व में जो कुल परमाणु विस्फोटक सामग्री उपलब्ध है, उसे यदि विश्व के सभी व्यक्तियों में समान रूप से वितरित किया जाये, तो वह प्रति व्यक्ति दस टन के हिसाब से आयेगी। अनेक वैज्ञानिकों का मत है कि अब तक जितने भी नाभिकीय परीक्षण हो चुके हैं और उनसे जितनी रेडियोधर्मिता फैल चुकी है, वही अन्ततोगत्वा मानव जाति के लिए घातक सिद्ध होकर रहेगी। मानव जाति तरह-तरह के संकटों से गुजरी है, किन्तु इनमे से एक भी संकट ऐसा नही था जिसका सीधा सम्बन्ध समूची मानव जाति के अस्तित्व से हो। परमाणु हथियारों के रूप में आज पहली बार ऐसा सर्वव्यापी संकट उत्पन्न हो गया है जिसने समूची मानव जाति को महाविनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। एक सर्वव्यापी संकट पैदा करने में तो हम समर्थ हो गये हैं, किन्तु इससे बचाव या निवारण के लिए सर्वव्यापी हल खोजने में अभी हम समर्थ नहीं बन पाये हैं।

परमाणु शक्ति का सृजनकारी रूप—परमाणु शक्ति का दूसरा पक्ष उसका सृजनकारी रूप है। मानव कल्याण में परमाणु शक्ति का सृजनात्मक तथा विकास हेतु उपयोग हो सकता है। आज अनेक राष्ट्र, जैसे अमरीका, सोवियत संघ, जापान, पश्चिमी जर्मनी आदि परमाणु शक्ति का विकास करके अनेक महत्वपूर्ण कल्याणकारी कार्यों में उसका उपयोग कर रहे है। अणुचालित बिजलीघरों में अति सस्ती दर पर विद्युत उत्पादन हो रहा है। इससे कोयला, पेट्रोल, गैस आदि प्राकृतिक ऊर्जा के रूप में परमाणु ऊर्जा के प्रयोग ने भविष्य की ईंधन की चिन्ता को बहुत कम कर दिया है। परिवहन एवं दूर संचार के माध्यमों में भी इसका प्रयोग एक नयी क्रान्ति को जन्म दे रहा है। चिकित्सा के क्षेत्र में भी अणु शक्ति मनुष्य के लिए वरदान बन गयी है।

परमाणु ऊर्जा तथाकथित परमाणु भट्टी (Atomic Pile) या नाभिकीय रिएक्टर

प्रदान कर दी । 1 जुलाई, 1968 को उक्त सन्धि हस्ताक्षर के लिए प्रस्तुत की गयी एवं उसी दिन अमरीका, ब्रिटेन, सोवियत संघ तथा 50 से अधिक राष्ट्रों ने उस पर हस्ताक्षर कर दिये एवं वह सन्धि 5 मार्च, 1970 से प्रभावशील हो गयी ।

उक्त सन्धि के अन्तर्गत यह व्यवस्था है कि कोई भी अणु शक्ति वाले राष्ट्र अकेले या मिलकर अपने शस्त्र किसी भी अन्य राष्ट्रों को नहीं देंगे । अणु-शक्ति वाले देशों को अणु आयुध वाले राष्ट्रों से किसी भी प्रकार के आणविक अस्त्र प्राप्त करने का कोई प्रयास नहीं करना चाहिए । अन्तर्राष्ट्रीय आणविक शक्ति संस्था के साथ वार्तालाप के उपरान्त किये जाने वाले समझौते के अन्तर्गत गैर-अणु शस्त्र वाले देशों द्वारा संरक्षण मानकर चलने की व्यवस्था है जिससे सन्धि के अन्तर्गत उत्तरदायित्वों को पूरा करने की व्यवस्था का मूल्यांकन हो सके । सन्धि में यह भी व्यवस्था है कि गैर-अणु शक्ति वाले देशों की बिना किसी भेदभाव के कम कीमत पर आणविक विस्फोटों के शान्तिपूर्ण उपयोग के द्वारा प्राप्त बड़े लाभ मिल सकेंगे । सन्धि पर हस्तक्षार करने वाला प्रत्येक राष्ट्र, आणविक शस्त्रों की होड़ को समाप्त करने एवं आणविक नि:शस्त्रीकरण को प्रभावशील बनाने के लिए अपने उत्तरदायित्व का पालन करने के लिए बाध्य है । यदि उक्त सन्धि के कारण किसी राष्ट्र के सर्वोच्च हितों का हनन होता हो एवं उसके कारण कोई असाधारण घटनाएँ हो रही हों; तो वे सन्धि से अलग हो सकने के लिए स्वतन्त्र हैं । सन्धि में यह व्यवस्था है कि 'सन्धि के लागू होने के 25 वर्ष के उपरान्त एक सम्मेलन बुलाकर उक्त सन्धि को अनिश्चित काल तक जारी रखने अथवा किसी अतिरिक्त निश्चित अवधि के लिए उसे बढ़ाने पर निर्णय लिया जायेगा ।'

संयुक्त राष्ट्र के महासचिव ऊथांट ने उक्त सन्धि के सन्दर्भ मे अपनी टिप्पणी में कहा कि आणविक महायुद्ध के खतरे को सीमित करने में सहयोग करने के अतिरिक्त "यह सन्धि विकासशील राष्ट्रों के लिए नये अवसर प्रदान करेगी क्योंकि अस्त्रों के उत्पादन तथा अधिग्रहण को त्यागने के उपरान्त ये राष्ट्र अपनी सामग्री एवं धन के बहुत बड़े अपव्यय के भार से मुक्त होकर, उपलब्ध साधनों को आर्थिक, सामाजिक तथा वैज्ञानिक प्रगति में लगा सकते हैं ।" उन्होंने यह भी कहा कि "इस सन्धि ने विशेषकर आणविक शस्त्रों वाले महादेशों के ऊपर एक नया एवं गम्भीर उत्तरदायित्व डाल दिया है जिसके कारण आणविक अस्त्रों की होड़ को समाप्त करने, आणविक नि:शस्त्रीकरण तथा सब प्रकार के एवं पूर्ण नि.शस्त्रीकरण के सन्दर्भ में सन्धि स्थापित करने के उपायों के बारे में वार्तालाप चलाया जा सकता है ।"

सन्धि के प्रारूप पर सबसे अधिक आपत्ति फ्रांस, इटली, पश्चिम जर्मनी और भारत को थी । भारत के एक प्रमुख साप्ताहिक दिनमान ने इस सन्धि का विवेचन करते हुए लिखा—"भारत को परमाणु अस्त्र सम्पन्न चीन से जबरदस्त खतरा है और प्रस्तावित सन्धि इस खतरे को दूर नहीं कर सकती । कुल मिलाकर प्रस्तावित सन्धि का महत्व मात्र इतना रह जाता है कि सोवियत संघ और अमरीका अपने किसी भक्त राष्ट्र को परमाणु शस्त्र न देने के विषय में सहमत हो गये हैं और यह इस बात का और प्रमाण है कि वे यह मानने लगे हैं कि भक्तों और चेलों को भुलाकर सीधे आपस में बाँटकर खा लेना ज्यादा सुविधाजनक रहेगा और लाभप्रद भी । अगर प्रस्तावित सन्धि पर सम्बद्ध राष्ट्रों ने हस्ताक्षर कर दिये तो परमाणु अस्त्र सम्पन्न होने के नाते सोवियत संघ और अमरीका दो बड़े राष्ट्र पद पर कुछ और इत्मीनान से प्रतिष्ठित हो जायेंगे । निरीक्षण और नियन्त्रण सम्बन्धी व्यवस्था हो जाने पर वे वैज्ञानिक और औद्योगिक दृष्टि से विकसित किन्तु परमाणु अस्त्रविहीन राष्ट्रों के परमाणु शक्ति कार्यक्रमों की जासूसी खुले आम और विधिवत कर सकेंगे ।"[1]

---

[1] **दिनमान,** 17 सितम्बर, 1967 ।

ऐसा कहा जाता है कि यह सन्धि छोटे राष्ट्रों के हितों को सुरक्षित रखने और समयानुकूल परिवर्तन करने में सक्षम नही है। इस सन्धि के द्वारा एक ओर तो यह प्रतिबन्ध लगाया गया है कि जो राष्ट्र अभी तक परमाणु बम नहीं बना सके हैं, वे भविष्य में भी नही बनायेंगे तथा दूसरी ओर संयुक्त राष्ट्र के माध्यम से अणुविहीन राष्ट्रों को अणु शक्तिसम्पन्न राष्ट्र द्वारा आणविक हमले के समय जो गारण्टी दी गयी है, वह अपर्याप्त है। इसके अलावा, परमाणु सन्धि करने वाले राष्ट्रों के पास ऐसा कोई मापदण्ड नही है जिससे सैनिक कार्यो व असैनिक कार्यों मे स्पष्ट रूप से विभाजन किया जा सके ताकि वह शंका न रहे कि असैनिक कार्यों में किये गये अणु प्रयोग सैनिक कार्य में प्रयुक्त हो सकेंगे। बड़े राष्ट्रों ने यह व्यवस्था नहीं की कि वे स्वयं भी अब अणु शक्ति का उत्पादन और प्रसार नहीं करेंगे। इस सन्धि का अर्थ यह लगाया जाता है कि अणु प्रतियोगिता मे रूस और अमरीका अन्य किसी राष्ट्र को आगे नही आने देना चाहते।

3. **साल्ट-प्रथम समझौता**—4 जुलाई, 1974 को अमरीका और सोवियत संघ के मध्य दस-वर्षीय अणु आयुध परिसीमन समझौता हुआ जिसे 31 मार्च, 1976 से लागू किया जाना निश्चित किया गया। समझौते के अनुसार दोनों ने 150 किलो टन से अधिक भूमिगत आणविक परीक्षणों को रोकने तथा अपने प्रक्षेपास्त्रों पर नयी सीमा लगाने का निश्चय प्रकट किया। यह निश्चित किया गया कि शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए किये गये विस्फोट इस आंशिक प्रतिबन्ध व्यवस्था की परिधि में नहीं आयेंगे।

4. **साल्ट-द्वितीय समझौता**—1979 मे अमरीका और सोवियत संघ में साल्ट-2 समझौते पर हस्ताक्षर हुए। इसके बाद इस सन्धि का दोनों देशों की संसद द्वारा अनुमोदन होना था। अमरीकी कांग्रेस इस पर विचार कर ही रही थी कि अफगानिस्तान मे सोवियत संघ का हस्तक्षेप हो गया। राष्ट्रपति कार्टर ने इस हस्तक्षेप के विरोध में साल्ट-2 के अनुमोदन को स्थगित करा दिया और इस प्रकार एक गतिरोध की स्थिति आ गयी।

5. **वाशिंगटन शिखर सन्धि**—वाशिंगटन शिखर सन्धि पर 8 दिसम्बर, 1987 को रीगन और गोर्बाच्योव के हस्ताक्षर हो गये। सन्धि में दोनो देश मध्यम व कम दूरी के प्रक्षेपास्त्र नष्ट करने को सहमत हो गये। इस सन्धि से कुल मिलाकर 1,139 परमाणु हथियार नष्ट किये जाने हैं। इन हथियारों की मारक क्षमता 50 किमी० से 5 हजार किमी० है। यह सभी प्रक्षेपास्त्र भूमि पर से मार करने वाले हैं। इस सन्धि का महत्व इस बात में नहीं है कि इससे कितनी विनाशक सामग्री खत्म हुई है। इसके विपरीत इसका महत्व गुणात्मक है। विश्व में इस बात का भरोसा पैदा हुआ है कि इन महाशक्तियों में अपने विनाशकारी अस्त्रों को खत्म करने का साहस तो पैदा हुआ है।[1]

संक्षेप मे, मोटे रूप से परमाणु निरस्त्रीकरण की दिशा में आज तक चार कदम उठाये गये है। 1. परमाणु प्रसार परिसीमन सन्धि (1968), 2. साल्ट-एक सन्धि (1972), 3. साल्ट-दो सन्धि (1979); तथा 4. वाशिंगटन शिखर सन्धि (1987)। इनमे से साल्ट-दो सन्धि अमरीकी सीनेट द्वारा अनुमोदन के लिए न भेजे जाने के कारण नगण्य हो गयी। शेष तीनों सन्धियों के बारे में यह कहना गलत न होगा कि वे परमाणु शक्तिरहित देशों के परमाणु शक्ति हासिल करने के प्रयासों को विफल करने या दोनों महाशक्तियों की विशिष्ट हैसियत को दर्शाने व पुष्ट करने के इरादे से प्रेरित थीं। इनके बारे में भारत के एक प्रमुख प्रतिरक्षा अध्ययन विशेषज्ञ श्री के० सुब्रह्मण्यम ने लिखा है :

"ये सन्धियाँ परमाणु निरस्त्रीकरण की दिशा में की गयी कार्यवाही नही मानी जा सकती।

[1] **हिन्दुस्तान**, 20 दिसम्बर, 1987।

शस्त्र परिसीमन (नॉन-प्रालिफरेशन) सन्धि पाँच परमाणु शक्तियों (अमरीका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन) की विशिष्ट हैसियत को दर्शाने का प्रयास थी तथा 'साल्ट' दोनों महाशक्तियों (अमरीका और सोवियत रूस) को अति विशिष्ट हैसियत को दर्शाने की स्पष्ट कार्यवाही थी।"

अन्तरिक्ष युग और इसके अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव
(THE SPACE AGE—ITS INTERNATIONAL IMPLICATIONS)

दुनिया के किस देश के पास कितनी सैन्य-शक्ति है····कौनसा देश परमाणु परीक्षण की तैयारी कर रहा है····किस देश के प्रक्षेपास्त्र कहाँ-कहाँ लगे हैं····किस-किसके लड़ाकू जहाजी बेड़े सागर में किस जगह किस गति से गश्त लगा रहे हैं····आज ऐसी कोई भी गुप्त सैनिक गतिविधि उन अनगिनत खोजी निगाहों से छिपी नहीं है, जो पृथ्वी के चारों ओर के अन्तरिक्ष से हमें घूर रही हैं।

अब तक पृथ्वी की कक्षा में भेजे गये कुल उपग्रहों में से केवल 25 प्रतिशत ही मासूम किस्म के हैं (जिनकी उपयोगिता दूर संचार, भू तथा जल सर्वेक्षण, मौसम पूर्वानुमान से सम्बन्धित हैं)। उदाहरणस्वरूप, 1980 के अन्त तक सोवियत संघ और अमरीका द्वारा 1,800 से अधिक सैनिक उपयोग वाले उपग्रह छोड़े गये। औसतन प्रत्येक 4 में से 3 उपग्रह जो हमारे क्षितिज से गुजरते हैं, उतने मासूम नहीं होते जैसे वे लगते हैं। हो सकता है ये आधुनिक अन्तरिक्षीय 'शरलक होम्स' हमारी जलवायु तथा थल सेना की गतिविधियों की बड़ी सूक्ष्मता से निगरानी कर रहे हों। 18 मई, 1974 को भारत ने राजस्थान में पोकरण नामक स्थल में शान्तपूर्ण उपयोग के लिए एक परमाणु विस्फोट कर विश्व को 'आश्चर्यचकित' कर दिया था। किन्तु यदि उस दौरान अन्तरिक्ष में पृथ्वी की परिक्रमारत अमरीकी और रूस के उपग्रहों की कक्षाओं का विश्लेषण किया जाये, तो कोई सन्देह नहीं रह जाता कि दोनों देशों को इसकी पूर्व जानकारी थी। वे जासूसी उपग्रह थे अमरीकी 'बिग बर्ड' तथा सोवियत 'कॉस्मॉस' 653 तथा 652।

1973 में पश्चिमी एशिया में हुए युद्ध तथा 1974 में तुर्की द्वारा साइप्रस पर आक्रमण, कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की युद्ध सम्बन्धी घटना, पृथ्वी की परिक्रमारत इन सुपर जासूसों की गिद्ध दृष्टि से न बची। ईरान और इराक का युद्ध अभी कोई पुराना नहीं हुआ। यह 22 सितम्बर, 1980 को छिड़ा था। इस दौरान 19 सितम्बर को छोड़ा गया सोवियत संघ का कॉस्मॉस-1210 पहले से ही कक्षा में था। जिस प्रकार इस उपग्रह की कक्षाओं में समय-समय पर परिवर्तन किया गया, उसके विश्लेषण से पता चलता है कि सम्भवतः हमने युद्ध का ब्यौरा एकत्र किया था। अमरीका भी ईरान-इराक युद्ध के दौरान हाथ पर हाथ धरे न बैठा। इस बात की सम्भावना व्यक्त की गयी है कि 'बिग बर्ड' तथा 'के एच-11' नामक दो अमरीकी उपग्रहों का उपयोग अमरीका ने युद्ध में भिड़े दोनों राष्ट्रों की सैन्य-शक्ति और आयुधों और शस्त्रों के सम्बन्ध में सूचना एवं चित्र एकत्र करने के लिए किया।

इन सुपर जासूसों के करिश्मों की कहानी अब धीरे-धीरे खुलती जा रही है। सोवियत संघ और अमरीका अब खुले रूप से इन गतिविधियों में किये जा रहे अपने प्रयासों को स्वीकारने लगे हैं। ये सुपर जासूस दो देशों के बीच व्यापार समझौता भी भंग करवा सकते हैं अथवा सम्भावित परमाणु परीक्षण रुकवा सकते हैं? अपने यान्त्रिक जासूस कॉस्मॉस-922 से, जो जुलाई 1977 के प्रथम दो सप्ताह अन्तरिक्ष में रहा, सोवियत संघ को दक्षिण अफ्रीका द्वारा परमाणु शक्ति परीक्षण की तैयारियों की सूचना मिली। उसने अमरीका को सचेत कर दिया, जिसने अपने एक 'बिग बर्ड' जासूस की कक्षा में परिवर्तन कर इस बात की पुष्टि कर ली और राजनीतिक दबाव डालकर परीक्षण रुकवा दिया। इसी प्रकार की एक अन्य आश्चर्यजनक घटना उसी वर्ष और हुई थी। पश्चिम जर्मनी के भू-सर्वेक्षण एवं संचार उपग्रह प्रक्षेपण यन्त्र बनाने वाले एक प्रतिष्ठान को जेरे

गणतन्त्र में अनुबन्ध मिला। सोवियत संघ को जब अपने जासूसी उपग्रह के जरिये वहाँ की गतिविधि का पता चला, तो उसका माथा ठनका, कि कहीं जैरे जैसा छोटा राष्ट्र प्रक्षेपास्त्र यानी मिसाइल बनाने की क्षमता न हासिल कर ले। हुआ यह कि दबाव डालकर अनुबन्ध समाप्त करवा दिया गया।

1957 में सोवियत संघ ने पहला उपग्रह छोड़ा था—स्पुतनिक 1; उसने और अमरीका दोनों ने तब अन्तरिक्ष टेक्नॉलॉजी की उन अनन्य सम्भावनाओं को समझ लिया, जिनसे वे सैन्य उपयोग की वे सब सूचनाएँ एकत्र कर सकते थे, जिनकी पृथ्वी पर बैठे कोई सम्भावना नहीं थी।

पिछले दशक में अमरीका द्वारा 'अन्तरिक्ष-सैन्य कार्यक्रम' पर लगभग 1,500 करोड़ डॉलर व्यय किये गये, जो अमरीका द्वारा अन्तरिक्ष कार्यक्रमों पर किये गये कुल व्यय का चालीस प्रतिशत है। यद्यपि सोवियत संघ द्वारा किये जा रहे व्यय के आँकड़े आसानी से प्राप्त नहीं हो पाते, फिर भी यह अनुमान है कि वह भी लगभग इतना ही होगा।

1970 में ऐसे राडार का आविष्कार किया गया, जिससे आकाश में परिक्रमा कर रहा उपग्रह समुद्र पर चल रहे जहाजों पर नज़र रख सके। इसके अलावा उपग्रहों में ऐसे इलेक्ट्रॉनिक उपकरण भी लगाये गये, जिनसे जहाजों द्वारा भेजे जा रहे रेडियो सन्देशों को 'पढ़' कर उन्हें पहचाना भी जा सकता है। रूस की कॉस्मॉस श्रृंखला के कई उपग्रह तथा 1976 के बाद विकसित किये गये अमरीकी नौसेना के 'वाइट क्लाउड प्रोजेक्ट' के एलिंट समुद्र सर्वेक्षण उपग्रह इसी श्रेणी के हैं।

कॉस्मॉस-1402 सोवियत संघ का एक जासूस उपग्रह जो अपने जीवन के चार महीनों में विरोधी राष्ट्रों के समुद्री जहाजों और आयुधों के आँकड़े बटोरता रहा, मृत्यु के बाद सारे संसार में दहशत फैला गया—1979 में स्काईलैब के गिरने की खबर से फैली दहशत से भी अधिक। हालांकि स्काईलैब 85 टन वाला एक भारी-भरकम अन्तरिक्ष यान था, लेकिन कॉस्मॉस हल्का होने के बावजूद लगभग 40 किलोग्राम यूरेनियम-235 से चल रहे परमाणु रिएक्टर के कारण बहुत खतरनाक है चूंकि इससे रेडियो-सक्रिय पदार्थ के पृथ्वी के आबाद भू-भाग पर गिरने का क्या अन्जाम हो सकता है? 22 जनवरी, 1982 को कोलम्बो से 85 किलोमीटर दूर कुरुनगेला में टेनिस की गेंद के बराबर का एक पिण्ड गिरा था, जिससे आसपास के क्षेत्र में रेडियो-सक्रिय विकिरण फैला था। कॉस्मॉस की इस दुर्घटना से पहले भी रूसी उपग्रह कॉस्मॉस-954 ने इसी तरह टूटकर 1978 में कनाडा के एक बड़े भाग पर रेडियो-सक्रिय पदार्थ बिखेरा था। इस खतरनाक पदार्थ की सफाई के लिए सोवियत संघ ने कनाडा को 30 लाख डॉलर की राशि दी थी।

हर कृत्रिम उपग्रह को एक न एक दिन गिरना है या ब्रह्माण्ड में कहीं खो जाना है और ज्यों-ज्यों हम ज्यादा से ज्यादा उपग्रह छोड़ते जा रहे हैं और युद्ध के लिए अन्तरिक्ष से सहायता लेने की बात सोचने लगे हैं, विनाश का यह खतरा बढ़ता ही जा रहा है। परमाणु बम गिरायें या न गिरायें, उसकी तैयारी के लिए या उसको रोकने के लिए छोड़े गये इन परमाणु उपग्रहों का गिरना भी कम खतरनाक नहीं है।

दो प्रमुख विश्व शक्तियों द्वारा की जा रही परस्पर सुपर जासूसी से कभी भी अन्तरिक्ष युद्ध प्रारम्भ हो सकता है। इसका नाम है 'ऐण्टी सैटेलाइट ऐक्टिविटी' (एसैट) या उपग्रह विरोधी गतिविधि। दोनों विश्व शक्तियाँ—सोवियत संघ तथा अमरीका इसमें एक-दूसरे से आगे निकलने की होड़ में लगी हैं।

अमरीका और सोवियत संघ अब उपग्रह विनाश कार्यक्रम बना रहे हैं। उपग्रह संहार कार्यक्रम में सोवियत संघ तथा अमरीका दोनों विश्व शक्तियों में प्रतिस्पर्द्धा हो गयी है। इन

तकनीकों का अब इतना विकास हो चुका है कि इनका उपयोग अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों को नष्ट करने में भी हो सकता है जो परमाणु युद्ध की दशा में छोड़े जा सकते हैं। अमरीका के सुरक्षा अनुसन्धान संस्थान द्वारा लेसर आयुधों से समायोजित एक अन्तरिक्ष युद्ध स्टेशन बनाने पर शोध चल रहा है। अब 'अन्तरिक्ष शटल' की सैनिक उड़ानों में अन्तरिक्ष में इनका परीक्षण होगा।

राष्ट्रपति रीगन के अन्तरिक्ष युद्ध (Star War) योजना की तैयारी के बाद से परमाणु हथियारों की दौड़ का एक नया अध्याय शुरू हो चुका है।[1]

विश्व राजनीति पर आणविक शस्त्रों का प्रभाव
(THE IMPACT OF ATOMIC WEAPONS ON INTERNATIONAL POLITICS)

6 अगस्त, 1945 को जब अमरीकी बमवर्षक बी-29 ने जापान के हिरोशिमा पर अणु-बम का विस्फोट किया था, उसी दिन मानव जाति मानो एक चौराहे पर आकर खड़ी हो गयी थी। अणुबम से आगे आज हाइड्रोजन बम, नाइट्रोजन बम, मैगाटन अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र, अन्तरिक्ष यान, अन्तरिक्ष यात्रा, भू-उपग्रह, चन्द्र पर विजय आदि कई वैज्ञानिक अकल्पनीय उपलब्धियाँ मानव जाति ने प्राप्त कर ली हैं। आज हमारी धरती पर चन्द्रलोक से लौटे कई अन्तरिक्ष यात्री हैं। यह केवल तकनीकी परिवर्तन मात्र नहीं है; इसके राजनीतिक, सामाजिक, अन्तर्राष्ट्रीय और व्यापक मानवीय प्रभाव हैं। आज मानव जाति असीम शक्ति की स्वामिनी बन गयी है। 1954 में ओसलो में नोबल शान्ति पुरस्कार प्राप्त करते समय एल्बर्ट श्वीत्जर ने कहा था "आज का मानव महामानव हो गया है क्योंकि उसने सृष्टि की मूल शक्ति पर अधिकार पा लिया है परन्तु आज भी उसका मन और मस्तिष्क आदम का ही है। इस अथाह शक्ति को नियन्त्रित करके मानव विकास के लिए उपयोग में लाने के लिए जिस चरम संयम की आवश्यकता है उसका उसमें नितान्त अभाव है।"

आणविक शस्त्रों के आविष्कार ने विश्व राजनीति को बहुत अधिक प्रभावित किया है। इनके प्रभावों की चर्चा निम्नलिखित ढंग से की जा सकती है :

1. **परम्परागत शक्तिशाली राज्यों को दुर्बल बनाना**—परमाणु युद्ध से शक्तिशाली राष्ट्रों की क्षमता पर सबसे गहरा प्रभाव पड़ा है। विमान युद्ध द्वितीय विश्व-युद्ध तक भी युद्धरत राष्ट्र की पराजय का कोई मुख्य कारण नहीं बना था, यद्यपि यह एक बड़ा सहायक कारण निश्चय ही बन चुका था। लेकिन आज का परमाणु युद्ध सीधी कार्यवाही द्वारा प्रतिरक्षा के दूसरे साधनों का उपयोग किये बिना एक पक्ष को हरा देने में पूरी तरह समर्थ है। इससे उन राज्यों की अभेद्यता का भी अन्त हो गया है जो परम्परागत रूप से बड़े शक्तिशाली रहे हैं।

2. **युद्ध-कार्य विध्वंस का एक प्रक्रम बन गया है**—बी० एच० लिड्सहार्ट ने लिखा है, युद्ध कार्य पहले सिर्फ लड़ाई था पर अब विध्वंस का एक प्रक्रम बन गया है। पहले वायु युद्ध को सर्वथा नये ढंग की चीज समझा जाता था, युद्ध में आम जनता को उलझाने की बात सर्वथा कल्पनातीत समझी जाती थी पर परमाणु अस्त्रों की सर्वनाशकता ने इसकी सम्भावना को अनिवार्य बना दिया है। आज भूमण्डल का कोई भी भाग अभेद्य नहीं माना जा सकता।

3. **प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की 'अनुमति' से ही जीवित है**—बोल्डिंग के अनुसार संचार प्रणाली में सुधार के कारण संसार बहुत सिकुड़-सा गया है इसलिए संसार का हर हिस्सा परमाणु युद्ध के लिए खुला हुआ है। बोल्डिंग ने बताया कि राष्ट्रों के प्रत्येक युगल (Blocs) में दोनों राष्ट्र एक-दूसरे का विनाश करने में समर्थ हैं, चाहे वे एक-दूसरे से कितनी ही दूरी पर हों। पर हर राष्ट्र स्वयं भी दूसरे राष्ट्र के हमले से अरक्षित है और नष्ट हो सकता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक

---

[1] **दिनमान**, 1-7 सितम्बर, 1985, पृ० 29।

राष्ट्र किसी भी अन्य राष्ट्र को नष्ट कर सकता है और वह अपना स्वयं का नाश भी नहीं रोक सकता। ऐसी स्थिति में प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की 'अनुमति' से ही जीवित है।

4. **आणविक शस्त्रों से अमरीका और सोवियत संघ में फूट बढ़ना**—आणविक शस्त्रों के आविष्कार से सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमरीका में परस्पर फूट और वैमनस्य में वृद्धि हुई है। अमरीका और सोवियत संघ द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान एक-दूसरे के मित्र थे किन्तु अमरीका ने अणु बम के आविष्कार को सोवियत संघ से सर्वथा गुप्त रखा। 1945 में जब अमरीका ने हिरोशिमा में परमाणु नरमेध किया था तब उसका मूल कारण शत्रुमय नहीं, बल्कि विजय और अन्वेषण का दर्प तथा अहंकार था। तब रूस या किसी और के पास परमाणु शक्ति थी ही नहीं। स्टालिन ने अमरीका द्वारा अणु बम के रहस्य को सोवियत संघ से गुप्त रखने की बात को गम्भीर विश्वासघात माना। परिणामस्वरूप रूस और अमरीका में परस्पर तनाव उत्पन्न हो गया और दोनों ही देश गुप्त रूप से वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों के आविष्कार की होड़ में संलग्न हो गये।

5. **आणविक शस्त्रों का भय युद्ध प्रतिरोधक शक्ति के रूप में**—जे० डब्ल्यू० बर्टन के अनुसार दोनों महाशक्तियों के पास प्रचुर मात्रा में आणविक हथियार मौजूद है जिससे वे चाहें तो एक-दूसरे का विनाश कर सकते हैं। वर्तमान विश्व राजनीति में इस स्थिति को 'आतंक का सन्तुलन' (Balance of Terror) कहा जा सकता है और यही 'आतंक का सन्तुलन' महाशक्तियों को 'युद्ध' शुरू न करने के लिए बाध्य करता है। यदि घटना को लेकर संघर्ष उत्पन्न भी हो जाये तो दोनों ही महाशक्तियाँ आणविक खतरे से परिचित होने के कारण युद्ध के बजाय कूटनीतिक रणनीति (Strategic calculations) का सहारा लेना श्रेयस्कर समझती हैं। शीत-युद्ध की राजनीति के मार्फत अधिकांश देश किसी न किसी गुट से सम्बद्ध हैं अतः महत्वपूर्ण विश्व विवाद आणविक युद्ध के आसन्न खतरों से रोके जा सकते है।[1]

6. **आणविक शस्त्रों के फलस्वरूप सामूहिक सुरक्षा व्यवस्थाओं का उदय**—आणविक आयुधों से असुरक्षा और आतंक इतना अधिक बढा कि महाशक्तियों ने सुरक्षा हेतु सामूहिक सुरक्षा व्यवस्थाओं—नाटो, वारसा पैक्ट आदि का निर्माण किया। अमरीका नाटो को आधुनिक आणविक हथियारों से सुसज्जित करने में लगा हुआ है तो सोवियत संघ वारसा पैक्ट को आणविक हथियारों से सम्पन्न कर रहा है।

7. **शान्ति-अनुसन्धान और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिए आन्दोलन**—आणविक शस्त्रों की प्रलयंकारी शक्ति और अणु युद्ध से मानव सभ्यता के विनाश के भय ने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की धारणा को आज पहले से कहीं अधिक व्यापारिक बना दिया है। हाल ही में यूरोपीय देशों की राजधानियों में परमाणु शस्त्र के विरोध में होने वाले प्रदर्शनों में लोगों की बड़ी संख्या में शामिल होना यह साबित करता है कि अणु युद्ध के खतरों के प्रति यूरोपवासी सजग हो गये हैं। यूरोपीय देशों में इस प्रकार के प्रदर्शन अपनी सानी नहीं रखते। लन्दन, रोम, ब्रुसेल्स मे पाँच लाख से भी अधिक लोगों के जुलूस की एक ही माँग थी, "हमें विध्वंस की ओर न ले जाओ, पश्चिमी यूरोप में परमाणु अस्त्रों का प्रसार रोको।" हाल ही मे कई देशों में परमाणु शस्त्रों के बारे में जो जनमत संग्रह हुए उनसे पता चलता है कि गत 18 महीनो मे जनसाधारण की सोच में कितना बड़ा अन्तर आया है। नाटो जिन पाँच देशों में पर्शिग-5 प्रक्षेपणास्त्र स्थापित करना चाहता है वहाँ के अधिकांश लोग या तो प्रक्षेपणास्त्र के खिलाफ हैं या उनकी जरूरत के बारे में मन में सन्देह पालते हैं। नाटो के नीति-निर्धारकों के लिए यह एक चिन्ताजनक बात है कि वे जिन देशों—ब्रिटेन,

[1] J. W. Burton, *International Relations*, 1971, Bombay, pp. 97-98.

इटली, पश्चिमी जर्मनी, हालैण्ड और बेल्जियम को प्रक्षेपणास्त्रों का गढ़ बनाना चाहते हैं उन्हीं देशों के लोग उनकी नीति को चुनौती दे रहे हैं। आजकल यूरोप के देशों में एक-पक्षीय परमाणु निःशस्त्रीकरण के समर्थकों की संख्या बढ़ रही है। पेरिस में हुए एक प्रदर्शन में भाग लेने वालों की माँग थी कि परमाणु बमों पर रोक लगा दी जाये और सुरक्षा के लिए लगाये जाने वाले धन का रुख मोड़कर उसे तीसरी दुनिया की मदद के लिए खर्च किया जाये। पश्चिमी जर्मनी के लोग तो अब अपने देश की सुरक्षा के लिए भी लड़ने को तैयार नहीं हैं और वे यह भी नहीं चाहते कि उसके लिए परमाणु शस्त्रों का इस्तेमाल किया जाये।[1]

8. **मानव मात्र में अस्तित्व की समस्या**—मानव जाति के सम्मुख पहले भी संकट आये थे परन्तु आज समस्या शान्ति स्थापित करने की नहीं है वरन् मानव मात्र के अस्तित्व की है। टॉयनबी के शब्दों में, "स्थिति की विकटता अकल्पनीय है।" परमाणु अस्त्रों के कारण युद्ध का अर्थ ही महाविनाश हो गया है। चर्चिल ने उचित ही कहा था "क्या विडम्बना है कि मानव मात्र चरम विकास की उस स्थिति में पहुँच गया है जहाँ हमारी सुरक्षा, आणविक शक्ति की भयंकरता के कारण ही सुरक्षित रहेगी, और मानव जाति का अस्तित्व महाविनाश की सम्भावना के भय पर ही टिका रहेगा।" इससे पहले कई संकटों को मानव जाति ने पार किया है पर इतिहास इसका साक्षी है कि मानव जाति को जीवित और स्वतन्त्र रहने के लिए अधिकाधिक मूल्य चुकाना पड़ा है। आज केवल शोषण और रक्तपात से मुक्त, दुःख-दारिद्र से मुक्त, आत्मा और विश्वास की मुक्ति ही नहीं प्राप्त करनी है, वरन् अस्तित्व और विनाश के निरन्तर भय से मुक्ति प्राप्त करनी है। लिपमैन ने इसी को इस प्रकार व्यक्त किया है कि अणु युग में असफलता और असमर्थता का भाव और भी उग्र हो उठा है, न हम युद्ध को समाप्त कर सकते हैं, न आज युद्धों को संचालित करने की पूरी क्षमता हममें है और विजयी होकर पुनर्निर्माण का तो प्रश्न ही नहीं है। निराशा की व्याप्त भावना का कारण यह है कि अणुशक्ति पर हम नियन्त्रण न पा सके तो आगामी कल महाविनाश का कल होगा, यह वैज्ञानिक आविष्कार मानव मात्र की चरम तर्क शक्ति, बुद्धि, प्रज्ञा और चिन्तन का प्रतीक है परन्तु उस शक्ति का उपयोग अपने ही विनाश के लिए करके मानव जाति सबसे बड़ी भूल कर रही है।

राजनीतिज्ञ, विचारक, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विवेचक सभी इस संकट के आभास से भयभीत हैं तथा नियति मानो सारी मानव जाति को उस ओर ले जा रही है जहाँ वह जाना नहीं चाहती। अणु शक्ति पर नियन्त्रण पाने के लिए प्रायः विचार-विमर्श होता रहता है और अणु युग के अनुकूल राजनीतिक नीतियाँ अपनाने पर विशेष बल दिया जाता है। **पामर व पर्किन्स** ने आणविक युग के अनुकूल विदेश नीति अपनाने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये हैं: (1) युद्ध का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से पूर्ण उन्मूलन, (2) सशक्त विश्व सरकार रूपी अन्तर्राष्ट्रीय संघ का गठन, (3) सामान्य निःशस्त्रीकरण, (4) परमाणु शक्ति पर समुचित नियन्त्रण, (5) समस्त राष्ट्रों द्वारा कभी भी परमाणु अस्त्रों के प्रयोग न करने की वचनबद्धता, (6) व्यापक नर-संहार करने वाले शस्त्रों के परीक्षणों पर पूर्ण निषेध, (7) जिन देशों के पास भी हों विशेषकर सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा समस्त अणु आयुधों का समूल विनाश, (8) आणविक शस्त्रों के प्रसार को निरोध करने वाले समझौते, (9) आणविक शक्ति से सम्पन्न किसी राष्ट्र द्वारा आक्रमण किये जाने पर राष्ट्रों को सुरक्षा प्रदान करने की व्यवस्था।[2] परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

---

[1] दिनमान, 15-21 नवम्बर, 1981, पृ० 30-38।

[2] Norman D. Palmer, Howard C. Perkins, *International Relations* (Third edition), p. 733.

का यथार्थवादी विचारक जानता है कि इनमें से एक भी सुझाव राष्ट्रों को मान्य नहीं है। अतः अणु शक्ति पर नियन्त्रण आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की मूल समस्या है।

शक्ति राजनीति में आणविक शक्ति की भूमिका
(THE ROLE OF ATOMIC POWER IN THE POWER STRUGGLE)

क्या आणविक शस्त्रों के बल पर ही अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति राजनीति में स्थान पाना सम्भव है? इस सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण हमारे सामने हैं—**प्रथम दृष्टिकोण** के अनुसार बम विस्फोट से राष्ट्र की शक्ति में वृद्धि होती है। बम वह कुंजी है जो विदेश नीति के अनेक तालों को एक साथ खोल देती है। आणविक शक्ति से सम्पन्न राष्ट्र का संयुक्त राष्ट्र संघ, गुट निरपेक्ष आन्दोलन, राष्ट्रकुल आदि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में भी ओहदा एवं प्रतिष्ठा रातोंरात ऊँचा उठ जाता है। उदाहरण के लिए, चीन ने अणु शस्त्रों का निर्माण शुरू किया और उन अणु शस्त्रों के बल पर ही चीन को अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति राजनीति में अपना स्थान मिला। पोखरन अन्तःस्फोट ने ही भारत की छवि इतनी चमका दी तो बम के राजनीतिक लाभ कितने होंगे, कहने की जरूरत नहीं है। **दूसरा दृष्टिकोण** यह है कि आणविक शस्त्रों से शक्ति राजनीति में राज्य की प्रतिष्ठा में वृद्धि हो ही, यह आवश्यक नहीं। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन भी आणविक राष्ट्र है, परन्तु अणु-शस्त्रों के निर्माण से क्या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसका स्तर कुछ बढ़ा है? सचाई तो यह है कि अणु शस्त्रों का निर्माण भी द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद से निरन्तर घटती ब्रिटिश प्रतिष्ठा को बचा नहीं सका। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की बात तो जाने दीजिए, पश्चिमी यूरोप में ही ब्रिटेन द्वितीय श्रेणी का राष्ट्र बनकर रह गया है। जापान का उदाहरण भी हमारे सामने है। जापान के पास आणविक शस्त्र नहीं हैं तथापि दक्षिणी-पूर्वी एशिया के परिप्रेक्ष्य में जापान की शक्ति को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। इसलिए महाशक्ति होना, अणु-शस्त्रों का निर्माण करना दोनों एक-दूसरे के पूरक नहीं माने जा सकते। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि अणु शस्त्रों का निर्माण न किया जाये। तथ्य यह है कि अगर कोई राष्ट्र महाशक्ति है तो अणु-शस्त्रों का निर्माण उसकी महत्ता को और बढ़ा सकता है। पर ऐसा नहीं कि अणु-शस्त्र बनाने वाले राष्ट्र स्वतः महाशक्ति बन जाते हैं। ऐसे राष्ट्र यदि अणु शस्त्र तैयार भी कर लें तो बम विस्फोट के बाद थोड़ा दबदबा बढ़ेगा, पर जल्दी ही महानता का बुलबुला भी फूट जायगा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्तिशाली होने के लिए राष्ट्रीय शक्ति के अन्य आवश्यक तत्वों के साथ-साथ सबल प्रतिरक्षात्मक शक्ति से सम्पन्न होना अपरिहार्य है। इसके साथ ही आर्थिक और तकनीकी विकास द्वारा राष्ट्रीय विकास अपनी चरम सीमा पर हो, तभी कोई राष्ट्र सत्ता केन्द्रों में स्थान पा सकता है।

विश्व व्यवस्था : आतंक का युग
(WORLD ORDER : THE AGE OF TERROR)

आजकल परमाणु भट्टियाँ तथा अन्य यन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में सहज रूप से उपलब्ध हो रहे हैं। अमरीका, इंगलैण्ड, सोवियत संघ, फ्रांस, कनाडा, प० जर्मनी आदि देश परमाणु भट्टियों को मुक्त रूप से बेच रहे हैं। इस समय विश्व में लगभग 300 परमाणु भट्टियाँ कार्यरत हैं तथा अनुमान है कि अगले चार-पाँच वर्षों में इनकी संख्या 500 हो जायेगी। वर्तमान भट्टियों में से प्रत्येक से लगभग 500 पौण्ड प्लूटोनियम प्रतिवर्ष प्राप्त होता है जो परमाणु बम के लिए आधार तत्व है। हिरोशिमा पर डाले गये बम में केवल दस पौण्ड प्लूटोनियम लगा था। ऐसी स्थिति में यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि केवल विद्युत प्राप्ति के लिए बनायी गयी ये परमाणु भट्टियाँ प्रतिवर्ष कितनी बड़ी संख्या में आणविक हथियारों को जन्म दे सकती हैं। यूरेनियम अथवा प्लूटोनियम की चोरी के भी समाचार हमें आये-दिन पढ़ने-सुनने को मिलते हैं।[1]

---

[1] दिनमान, 18-8-74, पृ० 6-7।

परमाणु शक्ति के उत्तरोत्तर विकास से सम्बन्धित तीन सम्भावित खतरे आज मानव जाति के सम्मुख हैं :

(1) वमों के परीक्षणों, विस्फोटों तथा परमाणु भट्टियों में प्रक्रियाओं के कारण पर्यावरण (environment) में रेडियोधर्मी तत्वों की प्रतिशत मात्रा बढ़ती जाती है। वास्तव में, कुछ रेडियोधर्मी तत्व शीघ्रता से विघटित नहीं होते और लम्बी अवधि तक रेडियो विकिरणों का उत्सर्जन करते रहते हैं। वस्तुतः यह तत्व वायुमण्डल की रेडियोधर्मिता में निरन्तर वृद्धि करते रहते हैं। अन्य प्रदूषणों को नियन्त्रित अथवा कम किया जा सकता है पर रेडियोधर्मिता को नष्ट करना समस्या ही है।

(2) न्यूक्लीयर कचड़े (Nuclear Waste) को फेंकने की समस्या—इस कचड़े से लम्बी अवधि तक विकिरण निकलते रहते हैं—वैसे इससे निबटने के लिए केवल तीन विकल्प हैं—इसका संग्रहण, पुनः प्रोसेसिंग तथा इसे समाप्त (Disposal) करना है, किन्तु इनमें से प्रत्येक के साथ विशेष प्रकार की कठिनाइयाँ तथा समस्याएँ हैं, जिन्हें हल करना अत्यन्त कठिन है।

(3) परमाणु संयन्त्रों में होने वाली आकस्मिक दुर्घटनाएँ जिनके वारे में सूचनाएँ यद्यपि छिपायी जाती हैं किन्तु फिर भी आये-दिन जिनके वारे में जानकारी मिलती ही रहती है।

परमाणु आयुध की होड़ जारी है : तीसरी दुनिया के सामने क्या विकल्प ?

यदि परमाणु युद्ध नहीं होता है, लेकिन परमाणु शस्त्रास्त्रों की होड़ चलती रहती है, तो भी ज्यादा नुकसान तीसरी दुनिया के देशों को ही है; क्योंकि शस्त्रों पर हो रहे 600 अरब डालरों का खर्च ये समृद्ध देश कहाँ से निकालते हैं ? ये निकालते हैं तीसरी दुनिया के देशों का खून चूस-चूस कर।

तीसरी दुनिया इस मामले में अनेक काम कर सकती है। सबसे पहले तो वह अन्तर्राष्ट्रीय मंचों का स्तेमाल करके परमाणु शस्त्रों के विरुद्ध वातावरण वनाये, जैसा कि उसने महासभा के 1978, 1982 और जून 1988 के विशेष अधिवेशनों और गुट-निरपेक्ष सम्मेलनों में किया। **दूसरा,** यूरोप और अमरीका में चल रहे परमाणु निःशस्त्रीकरण अभियानों का डटकर समर्थन करे। यदि सारी दुनिया में परमाणु शस्त्रास्त्रों के विरुद्ध आवाज उठेगी तो उसका असर सामान्य मतदाताओं पर पड़ेगा ही। क्या वे सरकारें चुनते वक्त तक इस बात का ध्यान नहीं रखेंगे कि उन्हें रीगन और थैचर जैसे लोगों की छुट्टी करनी है ? **तीसरा,** परमाणु आयुध रहित राष्ट्रों को परमाणु अप्रसार सन्धि जैसी परमाणु सामन्तवाद को बढ़ाने वाली सन्धियों और वार्ताओं का बहिष्कार करना होगा। **चौथा,** किसी भी महाशक्ति को अपनी जमीन पर परमाणु हथियार रखने या लाने की सुविधा से वंचित करना जरूरी है। **पाँचवाँ,** भारत जैसे अग्रणी गुट-निरपेक्ष राष्ट्र को या तो परमाणु हथियार न बनाने की वात स्पष्ट तौर पर कहनी चाहिए और सारी दुनिया को उस रास्ते पर चलाने की कोशिश करनी चाहिए या फिर परमाणु हथियारों का खुले तौर पर निर्माण करके महाशक्तियों को निःशस्त्रीकरण करने के लिए मजबूर करना चाहिए।

निष्कर्ष—राष्ट्रपति कैनेडी ने सन् 1961 में ठीक ही कहा था कि "इन हथियारों को नष्ट करना ही होगा वरना ये हमें नष्ट कर देंगे एवं यह धरती किसी के जीवित रहने के योग्य ही नहीं रह सकेगी।" यदि परमाणु युद्ध हुआ तो ये बम इस पृथ्वी से मानवता का समूल नाश कर देंगे। यदि युद्ध केवल उत्तरी गोलार्द्ध में होता है तब भी इसके परिणाम सम्पूर्ण विश्व को भुगतने होंगे। परमाणु युद्ध के वाद धरती का तापमान 30 डिग्री से 40 डिग्री सेल्सियस तक परिवर्तित हो जायेगा; पृथ्वी के सभी जीव-जन्तु काल के गाल में समाने के लिए बाध्य हो जायेंगे।

प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विभिन्न पक्षों पर परमाणु अस्त्र-शस्त्रों के प्रभाव का विश्लेषण कीजिए।
   Analyse the impact of atomic weapons on various aspects of international politics.
2. परमाणु अस्त्रों के विस्तार से उत्पन्न खतरे की विवेचना कीजिए। इस खतरे का सामना करने के लिए क्या कदम उठाये गये हैं ?
   Examine the danger posed by the spread of nuclear weapons. What steps have been taken to meet this danger ?
3. आणविक शस्त्रों के नियन्त्रण तथा परिसीमन की समस्या का विवेचन कीजिए। इस क्षेत्र में अब तक क्या सफलता प्राप्त हुई है ?
   Discuss the problem of control and limitation of nuclear weapons. What success has so far been achieved in this sphere ?
4. "परमाणु विश्वसनीयता सर्वत्र विद्यमान है, यह सामरिक चिन्तन, कूटनीति, यहाँ तक कि भविष्य में मानव (अथवा मनुष्य जाति) दशा के विषय में अनुमान सम्बन्धी विचारों को प्रभावित करता है।" (**एडमण्ड स्टिलमैन एवं विलियम पैफ**) उपरोक्त कथन के सन्दर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'परमाणु' की भूमिका का विवेचन कीजिए।
   "The atomic credibility is all pervasive, it affects strategic thinking, diplomacy, and even speculative thought on the future condition of mankind." (*Edmund Stillman and William Plaff*). In the light of above statement discuss the role of 'atom' in international politics.

13

ऊर्जा संकट, तेल कूटनीति और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

[ENERGY CRISIS, OIL DIPLOMAY AND INTERNATIONAL POLITICS]

ऊर्जा के किसी एक भी स्रोत की कमी विश्वव्यापी व्यवस्था को उसी प्रकार प्रभावित करता है जिस प्रकार तेल की कमी ने हाल ही में प्रभावित किया है। ईंधन संकट राष्ट्रों के आर्थिक विकास एवं उनके परस्पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को प्रभावित करता जा रहा है। भारत जैसे देश को अपनी 70 प्रतिशत विदेशी मुद्रा तेल आयात हेतु खर्च करनी पड़ती है। तीसरी दुनिया के अन्य विकासशील देशों में भी ऊर्जा के संकट को बराबर महसूस किया जा रहा है। नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था (The New International Economic Order—NIEO) के लिए माँग का सम्बन्ध ऊर्जा स्रोतों का औचित्यपूर्ण उपभोग तथा तेल के स्थान पर ऐसी प्रौद्योगिकी की खोज है जो तेल का ऊर्जा के रूप में स्थान ले सके।

लगभग 50 वर्ष तक कोयला ही ऊर्जा का प्रमुख साधन है जिसने औद्योगीकृत देशों में आर्थिक विकास को तेज गति प्रदान की थी। जब तेल का इस्तेमाल शुरू किया गया तो नये आर्थिक युग की शुरूआत हुई। इसके बाद यह भ्रम भी टूट गया कि तेल एक सस्ता और हमेशा उपलब्ध होने वाला साधन है। कच्चे तेल की कीमत 3 डालर प्रति बैरल से बढ़कर आज 32 डालर प्रति बैरल हो गयी है। ये पूर्वानुमान सामने आने से कि इस शताब्दी के अन्त तक विश्व में तेल का उत्पादन तेजी से कम होने लग जायेगा, ऊर्जा संकट का वातावरण और गहरा हो गया है।

इस अचानक परिवर्तन से विश्व की अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी है। शुरू-शुरू में तेल की कीमत बढ़ाये जाने से पहले औद्योगिक रूप से विकसित देश पिछले दशक के प्रारम्भ में शुरू हुई मुद्रा-स्फीति की लहर पर काबू पाने के प्रयास कर रहे थे जबकि गैर-तेल उत्पादक विकासशील देश अपने यहाँ व्यापार संस्थान को ठीक करने में उलझे हुए हैं।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद अनुसन्धान और विकास के क्षेत्र में हुए प्रयासों के फलस्वरूप बिजली उत्पादन के लिए परमाणु बिजलीघर बनाये लाने लगे। लेकिन परमाणु ऊर्जा के क्षेत्र में यह आशंका बनी रहती है कि किसी भी परमाणु बिजलीघर में कोई घटना होने पर बहुत बड़े पैमाने पर जन-धन की क्षति हो सकती है। इसके अलावा, अवशिष्ट परमाणु पदार्थों के निपटाने की समस्याएँ भी बनी रहती हैं। फिर परमाणु ऊर्जा के दुरुपयोग का खतरा भी बना रहता है क्योंकि इसका इस्तेमाल हथियार बनाने के लिए भी किया जा सकता है। एक अन्य समस्या यह भी है कि यूरेनियम के भण्डार जो रिएक्टरों के संचालन में सहायक हो सकते हैं, इस शताब्दी के अन्त तक या कुछ अनुमानों के अनुसार ज्यादा से ज्यादा अगली शताब्दी के मध्य तक समाप्त हो जायेंगे। यूरेनियम को इससे भी अधिक समय, लगभग 60 से 100 गुना समय

तक ठीक अवस्था में रखा जा सकता है, बशर्ते कि ब्रीडर रिएक्टरों के विकास करने में सफलता मिल जाये। लेकिन इस दिशा में अब तक जो भी काम हुआ है वह प्रयोग की अवस्था में है और अधिक क्षमता वाले ब्रीडर रिएक्टर 1990 से पहले बिजली का कोई उल्लेखनीय उत्पादन नहीं कर पायेंगे।

अतः **डॉ० नाग चौधरी** के अनुसार, 'समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में मुख्य जोर ऊर्जा संकट को दूर करने पर है, ऐसे विश्वव्यापी वातावरण का निर्माण आवश्यक है जो ऊर्जा संकट के निवारण में राज्यों के आपसी सहयोग पर बल दे।'[1] ऊर्जा संकट के निवारण हेतु राज्यों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग अपेक्षित है। यहीं से अन्तर्राष्ट्रीय कानून की भूमिका की शुरूआत होती है जिसका उपयोग वातावरण एवं मानवीय गतिविधियों के प्रबन्ध हेतु किया जाना चाहिए।

तेल युद्ध (Oil War)

जब से तेल की कीमतों में पहली बार एकदम काफी वृद्धि हुई तो तेल युग का अन्त और सन्निकट दिखायी देने लगा। तभी से सारे विश्व की प्रयोगशालाओं में ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों की तलाश का काम काफी तेजी के साथ जारी है। यह समस्या विकसित देशों के लिए उतनी गम्भीर नहीं है जितनी कि विकासशील देशों के लिए। विकसित देशों के पास न केवल अपेक्षाकृत अधिक क्रय शक्ति ही है बल्कि उनके पास ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोत पहले से ही मौजूद हैं। ये स्रोत हैं—कोयला तथा परमाणु ऊर्जा जिसका विरोध केवल पर्यावरण, प्रदूषण तथा सुरक्षा की दृष्टि से किया जाता है; ज्यों-ज्यों तेल की आपूर्ति तथा उपलब्धता में कमी आती जायेगी वैसे-वैसे इसके विरोध के कमजोर पड़ जाने की सम्भावना है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तेल कूटनीति (Oil Diplomacy in International Politics)—चौथे अरब-इजराइल युद्ध से जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक समीकरण में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए, वहीं एक बार फिर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना में आर्थिक कारणों का महत्व भी उजागर हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को मात्र राजनीतिक कारणों से समझने वाली विचारधारा के लिए 17 अक्टूबर, 1973 एक चुनौती का दिन था। यह एक चुनौती का दिन था सम्पूर्ण विकसित राष्ट्रों के लिए, जब कुछ गिने-चुने पिछड़े राष्ट्रों के निर्णय ने सारी आधुनिक औद्योगिक संरचना के खोखलेपन को सिद्ध कर दिया था। साम्राज्यवादी राष्ट्रों द्वारा निर्धारित अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समीकरणों को जो कि सदैव से पिछड़े राष्ट्रों के हित के विपरीत रहे, एक नया निर्देश मिला। 12 अक्टूबर, 1973 को कुवैत के तेल मन्त्री श्री अतिकी ने सभी अरब राष्ट्रों के तेल मन्त्रियों से तेल को इजराइल के विरुद्ध हथियार के रूप में इस्तेमाल करने पर जोर दिया। उनका मत था कि इजराइल को समर्थन देने वाले सभी पश्चिमी देशों को तेल निर्यात बन्द कर दिया जाये। इसी दिन सऊदी अरब के शासक फीजल ने, एक समाचार के अनुसार, अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन के पास एक गुप्त सन्देश भेजा जिसमें इजराइल को हथियार देना बन्द करने का अनुरोध किया गया था। 13 अक्टूबर को सऊदी अरब द्वारा अमरीका से राजनयिक सम्बन्ध तोड़ने की कीमत की बात भी सुनी गयी। 17 अक्टूबर को कुवैत से घोषणा हुई कि इजराइल की मदद करने वाले देशों के लिए युद्ध चलने तक हर माह 5 प्रतिशत तेल की कटौती की जायेगी। इसके साथ ही तेल की कीमतों में 17 प्रतिशत वृद्धि की भी घोषणा की गयी। 18 अक्टूबर को आबूधाबी ने अमरीका को तेल निर्यात करने पर पूरी रोक लगा दी और साथ ही

1 "Therefore, while today the major focus of international relations between states is to solve issues related to shortage of energy resources of oil, we may seize upon this opportunity provided by global consciousness to plan and conduct relations which do not produce any adverse affects on the components of energy cycle and the environment."
—B. D. Nag Chaudhuri, *India Quarterly*, July-December 1980, p. 240.

इजराइल समर्थक अन्य देशों के साथ भी वैसा ही सलूक किये जाने की धमकी दी। 21 अक्टूबर को कुवैत, बहरीन और कतार ने भी ऐसा ही किया। इसके बाद अन्य देशों ने भी न केवल तेल की कीमतें बढ़ा लीं, बल्कि अमरीका और दूसरे देश ऐसे देशों के लिए या तो तेल निर्यात पर रोक लगा दी अथवा काफी कटौती कर डाली। **गिरजेश पन्त** लिखते हैं—"17 अक्टूबर, 1973 से प्रारम्भ हुए युद्ध के दस दिनों के बाद अरब राष्ट्रों ने यह निर्णय लिया कि यदि अरब राष्ट्रों की 1967 के युद्ध में हथियायी गयी सीमाओं को खाली नहीं किया जायगा और पेलिस्टीन की जनता को स्वयं निर्णय लेने का अधिकार नहीं दिया जायेगा तो अक्टूबर 1973 से 5 प्रतिशत तेल उत्पादन में कटौती प्रारम्भ कर दी जायेगी। यह कटौती 5 प्रतिशत प्रतिमाह की दर से बढ़ती जायेगी। साथ ही तेल के मूल्यों में 1 अक्टूबर को घोषित मूल्य स्तर से 70 प्रतिशत की वृद्धि की जायेगी। कुछ शत्रु राष्ट्रों के प्रति तेल निर्यात पर प्रतिबन्ध भी लगाने की घोषणा की गयी।"[1]

इस घोषणा ने तेल को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक महत्वपूर्ण राजनीतिक शस्त्र बना दिया। यद्यपि अरब राष्ट्रों को यह नामकरण स्वीकार नहीं है, क्योंकि उनका यह मानना है कि तेल अरब राष्ट्रों की सम्पदा है जिसका शोषण पश्चिमी राष्ट्रों ने अपने वैभव के निर्माण के लिए किया। इसलिए यह उनका मौलिक अधिकार है कि अपनी सम्पदा पर उनका अधिकार रहे। तेजी से बढ़ रहे तेल के उपभोग से तेल भण्डारों के रिक्तीकरण की पूरी सम्भावना है। यदि इस उपभोग-दर पर निरन्त्रण नहीं लगाया गया तो भविष्य में अरब राष्ट्रों के सामने आर्थिक समृद्धि का कोई आधार नहीं रह जायगा। यह ठीक है कि जिस प्रकार पश्चिम का आर्थिक विकास, उपनिवेशों के शोषण द्वारा हुआ, उसी प्रकार पश्चिम की वर्तमान ऊर्जा संरचना भी अरब राष्ट्रों की लागत पर हुई है। ऐसी परिस्थितियों में यदि अरब राष्ट्रों ने अपने पारस्परिक मतभेदों को भुलाकर यह क्रान्तिकारी निर्णय लिया तो निश्चय ही स्वागत का विषय है। एक बार फिर यह सिद्ध हो गया कि यदि पिछड़े राष्ट्र कोई निर्णय, समझदारी और एकता से लें, तो साम्राज्यवादी शक्तियों को समर्पण करना होगा। डा० किसिंगर को यह कहना पड़ा कि 'वर्तमान संकट ने हम सबको युद्ध के कगार पर खड़ा कर दिया है। एक बहुत बड़ा प्रश्न चिन्ह है—हमारे भविष्य का।' जहाँ विकसित और समृद्ध राष्ट्रों के सामने उनके स्थायित्व एवं विकास पर एक प्रश्न-चिह्न लगा, वहीं वह दिन तीसरी दुनिया के नाम से जाने वाले राष्ट्रों के लिए यह एक महत्वपूर्ण निर्णय का दिन था। अरब राष्ट्रों ने तेल का प्रयोग एक राजनीतिक हथियार के रूप में किया। यह तेल की धार का ही प्रताप था कि यूरोपियन राष्ट्रों को अपनी नीति पर पुनर्विचार के लिए बाध्य होना पड़ा, जापान अरबों की मदद के लिए तैयार हो गया और डॉ० किसिंगर युद्ध रोकने के लिए प्रयत्नशील दिखायी देने लगे।

इतिहास यह बताता है कि पश्चिमी एशिया के राजनीतिक तनावों एवं संघर्षों का विश्व तेल उद्योग पर समय-समय पर प्रभाव पड़ा है। इजराइल राज्य की स्थापना से ही यह श्रृंखला प्रारम्भ हो गयी थी। इजराइल की स्थापना के बाद ही हाइफा के शोधक कारखाने तक तेल ले जाने वाली पाइप लाइन को काट दिया गया था। इस पाइप लाइन से तेल पश्चिमी यूरोप तक ले जाया जाता था। आज तक यह पाइप लाइन कटी हुई है जिसके कारण ईराक पेट्रोलियम कम्पनी को सीरिया तथा लेबनान द्वारा त्रिपोली स्थित नये शोधक कारखाने को जोड़ना पड़ा है। 1948 से ही इजराइल को अरब राष्ट्रों के तेल से वंचित रहना पड़ा। 1956 के स्वेज नहर विवाद तथा 1967 के 6-दिवसीय युद्ध के दौरान भी अन्तर्राष्ट्रीय तेल परिवहन को प्रभावित करके अरब राष्ट्रों ने तेल तन्त्र का उपयोग अपने हितों के लिए किया। 1956-57 में स्वेज

---

1 गिरजेश पन्त, **विश्व तेल संकट और भारत**, 1986, पृ० 2।

नहर के बन्द हो जाने के बाद, तेल उत्पादक राष्ट्रों से भूमध्य सागर तक जाने वाली पाइप लाइनों का विध्वंस करके अरब राष्ट्रों ने ब्रिटेन, फ्रांस व अन्य यूरोप के राष्ट्रों तक जाने वाली पूर्ति में अवरोध पैदा किया। सम्पूर्ण तेल उद्योग पर इसका भारी प्रभाव पड़ा। पश्चिमी यूरोप को कुछ समय के लिए राशनिंग करनी पड़ी थी। साथ ही अतिरिक्त परिवहन लागत के कारण तेल मूल्यों में वृद्धि हुई जिसका प्रतिकूल प्रभाव समस्त पश्चिमी यूरोप एवं अमरीका पर पड़ा। बढ़ते आर्थिक दबाव के कारण पश्चिमी यूरोप तथा अमरीका को अरब राष्ट्रों एवं मिस्र से समझौता करने पड़े। दस वर्षों के बाद 1967 में मध्यवर्तीय तेल का महत्व अधिक बढ़ गया। नयी तकनीकी के कारण विकसित औद्योगिक विकास तेल ऊर्जा का सबसे अधिक महत्वपूर्ण साधन बन गया। सच तो यह है कि तेल एक अनिवार्य अमूल्य निधि बन गया। यह कहावत प्रचलित हो गयी कि 'तेल की एक बूंद रक्त की एक बूंद के बराबर है।' स्वाभाविक था कि विकास के इस दौर में तेल की पूर्ति पर किसी भी प्रकार की कटौती का अर्थ सीधे न्यूयार्क, लन्दन और टोकियो की सड़कों को सूना करना, गगनचुम्बी इमारतों को क्रियाहीन करना—विश्व आर्थिक तन्त्र को तोड़ना था। स्वेज नहर पुनः बन्द की गयी। कई राष्ट्रों पर अरब राष्ट्रों ने तेल निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाया। नयी परिवहन व्यवस्था के कारण यातायात की लागत में वृद्धि हुई जिसका मतलब तेल के दामों का बढ़ना था। एक बार फिर पश्चिमी राष्ट्रों को तेल आयात पर कटौती करनी पड़ी, उपभोग नियन्त्रण करना पड़ा और ऊर्जा के नये-नये स्रोतों की खोज प्रारम्भ हुई। इस अवधि में ही प्राकृतिक गैस का सफल उपयोग प्रारम्भ हुआ। नये-नये प्रतिस्थापकों की खोज होने लगी।

यह सच है कि 6 अक्टूबर, 1974 को छिड़ने वाले संघर्ष के पहले भी तेल का उपयोग एक राजनीतिक हथियार के रूप में होता रहा है लेकिन यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि इस युद्ध में इस उपकरण का उपयोग सभी तेल उत्पादक राष्ट्रों द्वारा एकमत होकर एक साथ किया गया है। कैराकस में हुआ ओपेक राष्ट्रों का 21वाँ सम्मेलन इस दृष्टि से वह ऐतिहासिक सम्मेलन है जिसमें पहली बार दस-सदस्यीय संस्था ओपेक ने एकमत होकर निर्णय लिया। यद्यपि इस संस्था की स्थापना 1960 में ही हो गयी थी लेकिन इस सम्मेलन में पहली बार ओपेक राष्ट्रों ने अपने प्रस्तावों द्वारा तेल कम्पनियों के सन्दर्भ में अपने समीकरणों में मौलिक परिवर्तन करके अपने हितों की रक्षा का प्रयास किया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि तेल-हथियार में इस सफल उपयोग के पीछे जहाँ ओपेक राष्ट्रों द्वारा एकमत होकर लिया गया निर्णय एक महत्वपूर्ण कारण है वहीं 1970 से विश्व-ऊर्जा संरचना का विकास भी इसके लिए जिम्मेदार है। 1970 से ही यह अनुमान लगने लगा था कि तेजी से बढ़ते हुए तेल के उपयोग और सीमित तेल की पूर्ति के कारण यह एक प्रश्न बन गया था कि आने वाले दिनों में विश्व ऊर्जा माँग की खपत कैसे हो? यहाँ यह स्मरणीय है कि तेल अपने विशिष्ट गुणों के कारण शीघ्र ही कोयले के प्रतिस्थापक रूप में उपयोग किया जाने लगा। यह ठीक है कि तेल के नये प्रतिस्थापकों की खोज की गयी लेकिन व्यापारिक स्तर पर कोई सफलता न मिलने के कारण विश्व ऊर्जा बाजार में एक अनिश्चितता-सी बनी रही। संयुक्त राष्ट्र संघ के एक अध्ययन के अनुसार विश्व ऊर्जा माँग की तीन-चौथाई पूर्ति तेल के माध्यम से होती है। ऐसा अनुमान है कि 1990 तक तेल कुल ऊर्जा माँग की 75 प्रतिशत पूर्ति करेगा। कहने का अर्थ यह है कि अपनी अपरिहार्य उपादेयता के कारण तेल आने वाले वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय समीकरणों को प्रभावशाली तरीके से प्रभावित करता रहेगा। चूंकि ओपेक राष्ट्रों के पास 50 प्रतिशत उत्पादन एवं 70 प्रतिशत आरक्षित तेल है। अतएव आने वाले वर्षों में ओपेक राष्ट्रों की भूमिका अन्तर्राष्ट्रीय समीकरणों की गणना में महत्वपूर्ण होगी।

अमरीकी यद्यपि सबसे बड़ा तेल उत्पादक राष्ट्र है (कुल विश्व उत्पादन का 20 प्रतिशत) किन्तु बढ़ते हुए उपयोग के कारण वह आज लगभग 23 प्रतिशत तेल का आयात करता है।

18 अप्रैल, 1974 को अमरीकी ऊर्जा नीति में मौलिक परिवर्तनों की घोषणा करते हुए राष्ट्रपति निक्सन ने कहा कि 1990 तक कुल उपयोग का 60 प्रतिशत तेल अमरीका को आयात करना होगा जिसका 40 प्रतिशत पश्चिमी एशिया विशेषकर सऊदी अरब से होने की सम्भावना है। पश्चिमी यूरोप एवं जापान—गैर-साम्यवादी खेमे के महत्वपूर्ण राष्ट्र—लगभग 95 प्रतिशत का आयात करते हैं। यद्यपि यह सच है कि पूँजीवादी खेमे का विकास सदैव ही बड़ी मात्रा में विकासशील राष्ट्रों से कच्चे माल के आयात से हुआ है किन्तु पिछले कुछ दशकों में तकनीकी विकास एवं प्रतिस्थापित वस्तुओं के आविष्कार से कच्चे माल की माँग में कटौती आती रही है। तेल इसका अपवाद है। आज भी आर्थिक रूप से समृद्ध राष्ट्र गरीब राष्ट्रों पर आश्रित हैं। यही कारण है कि अरब राष्ट्रों द्वारा उठाये गये इस कदम ने सारी आधारशिला हिला दी। अमरीका में ग्यारह प्रतिशत माँग में कटौती की गयी। एक अनुमान के अनुसार बढ़े हुए मूल्यों के कारण 1974 में अमरीका को 3,000 मिलियन डॉलर अतिरिक्त व्यय करना पड़ा। सीनेटर फुलब्राइटर ने ओपेक राष्ट्रों द्वारा उठाये गये कदमों से प्रभावित उपभोक्ताओं के हित की दृष्टि से अमरीकी सरकार से अरब राष्ट्रों के प्रति नीति परिवर्तन की माँग की। उपभोक्ताओं में व्याप्त आतंक का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि विमानों एवं कारों की गति पर नियन्त्रण लगाये गये। रविवार को कार चलाने पर प्रतिबन्ध लागू किया गया। अमरीका में बड़ी कारों की माँग में 13 प्रतिशत की गिरावट आ गयी। कम खर्च वाली छोटी कारों की माँग बढ़ गयी।

तेल कूटनीति के प्रभाव (Impact of Oil Diplomacy)—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तेल कूटनीति के प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होगे लगे। इस युद्धकाल में मध्य-पूर्व में पश्चिमी शक्तियों की तेल कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया, इजराइल के मित्र-राष्ट्रों को तेल निर्यात बन्द कर दिया गया, अनेक राज्यों को निर्यात मात्रा कम कर दी गयी, तेल की कीमतों में आशातीत भारी वृद्धि कर दी गयी। अक्टूबर-दिसम्बर (1973) के मध्य तेल की कीमतें दो बार स्वतः बढ़ा दी गयीं जिससे आयातक राज्यों की अर्थ-व्यवस्था लड़खड़ा गयी। एक वर्ष में अरब क्रूड तेल की कीमत 2·591 डालर बैरल से बढ़ाकर 11·651 डालर प्रति बैरल कर दी गयी और ये कीमतें प्रतिवर्ष बढ़ती जा रही थीं। इस युद्ध के प्रारम्भ होने के 13 दिन के भीतर ही संयुक्त राज्य अमरीका व मध्य-पूर्व के मध्य सम्बन्ध अत्यधिक कटु बन गये और लीबिया, सऊदी अरब, अल्जीरिया, कुवैत, कतार, बहरीन, दुबई, आबूधाबी व ओमान ने संयुक्त राज्य अमरीका, जापान तथा हॉलैण्ड को तेल निर्यात पर सर्वथा रोक लगा दी, जो मार्च 1974 तक यथावत् बनी रही। ईरान पहले तेल युद्ध में सम्मिलिन नहीं हुआ और उसने अन्य अरब राज्यों की प्रार्थना पर भी तेल स्थगन के प्रस्ताव को अपनी स्वीकृति नहीं दी परन्तु बढ़ी कीमतों को कम करने में वह भी सहमत नहीं था जिसके परिणामस्वरूप वह स्वतः ही युद्ध का भागी बन गया। तेल उत्पादन व कीमतों में युद्ध जारी रहा जिससे छोटे-बड़े सभी औद्योगिक राज्य—संयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, जापान, हॉलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि—उस तेल युद्ध के जबरदस्त दबाव के सम्मुख झुक गये, अर्थात् सभी बड़े राज्यों ने तेल-प्राप्ति हेतु अपने-अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षार्थ अपनी विदेश नीति को अरब पक्ष में घोषित कर दिया। संयुक्त राज्य अमरीका ने युद्धारम्भ के 13वें दिन ही कह दिया कि यदि इजराइल अब नया युद्ध करेगा तो संयुक्त राज्य अमरीका उसे कोई सहायता प्रदान नहीं करेगा। यूरोप में नाटो (NATO) राज्यों ने संयुक्त राज्य अमरीका की चिन्ता किये बिना ही अरबों का समर्थन कर दिया। यूरोपीय साझा बाजार के नौ राष्ट्रों ने अरब राष्ट्रों के समर्थन में इजराइल से 1967 के युद्ध में अधिकृत की गयी भूमि लौटाने की माँग की। पश्चिमी जर्मनी व जापान ने इजराइल से मित्र होते हुए भी, अपनी विदेश नीति अरब पक्ष में घोषित कर दी। ऐसा शायद इसलिए सम्भव हो गया कि बढ़ी कीमतों में तेल का सैन्य-प्रयोग के अतिरिक्त भण्डारण कठिन हो

गया था और सभी राज्यों की अर्थ-व्यवस्था अल्पकाल में ही अस्त-व्यस्त होने लग गयी थी। कीसिंगर ने यह आशा व्यक्त की कि यदि यह संकट टाला नहीं गया तो 1930 की मन्दी के बाद विश्व एक बार फिर अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्द्धा और मन्दी से टूट जायेगा।

प्रसिद्ध तेल विशेषज्ञ एडलमैन ने तो यहाँ तक कहा है कि यदि अरब राष्ट्र किसी प्रकार के समझौते को स्वीकार नहीं करते तो आर्थिक सुरक्षा के लिए सैनिक हस्तक्षेप ही एकमात्र विकल्प रह जाता है। ऐसी स्थिति में अल्जीरिया व ईरान ने यह धमकी दी कि तेल के उपभोक्ता राज्य कोई नीति निर्धारित कर उन पर जितना दबाव डालेंगे, वे राज्य बदले में उतना ही कम तेल पायेंगे। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि अरबों ने मित्र-राष्ट्रों को तेल निर्यात जारी रखा था, परन्तु बढ़ी कीमतों ने उन्हें भी उसी ध्वस्त श्रेणी में खड़ा होने पर मजबूर कर दिया जैसे भारत का 1973 का तेल आयात 41·5 करोड़ डालर से बढ़कर 1974 में 135 करोड़ डालर का, श्रीलंका का आयात 6 करोड़ डालर से बढ़कर 22 करोड़ डालर का तथा पाकिस्तान का 22·6 करोड़ डालर हो गया। जापान मध्य-पूर्व से अपनी आवश्यकता का 81 प्रतिशत तेल आयात करता था जिसका मूल्य लगभग 530 करोड़ डालर था। अब उसे 15 अरब डालर देना पड़ रहा था, इससे जापान की आर्थिक स्थिति भी डावाँडोल हो गयी।

यद्यपि तेल शस्त्र का प्रयोग विकसिप राष्ट्रों के प्रति था किन्तु व्यवहार में विकासशील तीसरी दुनिया के राष्ट्र इससे अधिक प्रभावित हुए। लगभग लगातार घाटे की स्थिति में रहने वाले इन राष्ट्रों के लिए तेल में हुई थोड़ी-सी मूल्य वृद्धि ने पर्याप्त हानि पहुँचायी। बढ़ते हुए उर्वरक और तेल के दाम से इन राष्ट्रों की कृषि एवं उद्योग प्रभावित हुए।

ओपेक राष्ट्रों की अतिरिक्त आय से विश्व मुद्रा संस्थान में संकट उत्पन्न होने लगा। विश्व बैंक के एक अध्ययन के अनुसार ओपेक राष्ट्रों की आय 1974 में 23 दिसम्बर को निर्धारित मूल्यों के आधार पर 95,210 मिलियन डालर थी। यदि इस आय की तुलना इन राष्ट्रों की माँग एवं खपत की दृष्टि से की जाय जो लगभग 3,000-3,500 मिलियन डालर है तो लगभग 60,000-65,000 मिलियन डालर विदेशी मुद्रा अतिरिक्त के रूप में होगी, जो कि विश्व मुद्रा संस्थान को प्रभावित करने के लिए पर्याप्त है। विश्व बैंक के अध्यक्ष मैक्नामारा ने यह स्वीकार किया कि यदि इस राशि का उपयोग सही तरीके से नहीं किया गया तो विश्व मुद्रा संस्थान पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। प्रो० पेनरोज के अध्ययन के अनुसार, अल्जीरिया, ईरान एवं इराक के पास अतिरेक मुद्रा को व्यय करने की समस्या नहीं है क्योंकि ये राष्ट्र या तो घरेलू विकास पर व्यय करना चाहते हैं या फिर सैनिक-सामग्री की खरीद पर।

वस्तुतः मध्य-पूर्व के तेल उत्पादक राज्यों को तेल से सर्वाधिक धन मिला है और शस्त्रीकरण की प्रतिस्पर्द्धा में भी वे ही अग्रणी हैं। अर्थात् नवीन शस्त्रास्त्र खरीद पर मध्य-पूर्व के राज्यों के प्रतिरक्षा बजट करोड़ों से अरब डालर के हो गये। खाड़ी के राज्यों में ईरान का शस्त्रीकरण अभियान सबसे तेज है। पिछले 8-9 वर्षों में उसका प्रतिरक्षा बजट 35-40 गुना बढ़ा है, जो मध्य-पूर्व के राज्यों के प्रतिरक्षा बजटों में सर्वाधिक है। सऊदी अरब, मिस्र, कुवैत, अरब अमीरात आदि राज्य शस्त्रास्त्र प्रतिस्पर्द्धा में अग्रणी हैं। अरब-इजराइल संघर्ष की पृष्ठभूमि में शस्त्रीकरण की प्रतिस्पर्द्धा दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है। इन राज्यों को पश्चिमी व पूर्वी सभी शक्तियाँ ऐसे घातक हथियार दे रही है, जो विश्व के अन्य विकासशील राज्यों को भी प्राप्त नहीं है।

संक्षेप में, इस मूल्य वृद्धि से ओपेक देशों को भारी लाभ हुआ है। अक्टूबर 1973 के मूल्यों के आधार पर तेल निर्यात करने वाले देशों को 65 अरब डालर प्रतिवर्ष आय हुई है। इसके बाद की वृद्धि से जुलाई 1979 के मूल्यों के आधार पर उनको प्रतिवर्ष 225 अरब डालर की अतिरिक्त आय होने का अनुमान है। इस आय ने इन देशों को मालामाल कर दिया है और खनिज तेल

सोने से भी अधिक धनवान बनाने वाला और शक्तिशाली साधन साबित हुआ है। अनेक निर्माण कार्य प्रारम्भ किये गये हैं। अब ये देश ऋण देने वाले देशों में अग्रिम हैं। विश्व के औद्योगिक देशों की अर्थ-व्यवस्था तेल उत्पादन करने वाले देशों की मूल्य नीति पर निर्भर हो गयी है। दूसरी ओर तेल आयात करने वाले देशों की विशेषत: विकासशील देशों की अर्थ-व्यवस्था को गहरा आघात लगा है।

ओपेक का जन्म (The Origin of OPEC)—तेल निर्यातक देशों के संगठन 'ओपेक' (Organisation of Petroleum Exporting Countries) का जन्म 1960 में हुआ। तेल निर्यातक देशों में मुख्यत: तेल उत्पादन का कार्य बहुउद्देशीय कम्पनियों द्वारा किया जाता है। ओपेक की स्थापना से पूर्व तेल कम्पनियाँ प० एशिया के देशों की तेल सम्पदा के बल पर अपने निजी देशों को समृद्ध बनाती रहीं।[1]

1948 में तेल कम्पनियाँ कुल लाभ के 82 प्रतिशत लाभ पर अधिकार जमाये हुए थीं, जबकि वास्तविक लाभ के मालिक (सम्बद्ध देश) को केवल 18 प्रतिशत ही मिल पाता था। कड़े संघर्ष के बाद 1952 में ये उत्पादक देश अपने लाभ को 32 प्रतिशत और 1960 में 50 प्रतिशत कर पाने में सफल हुए। कम्पनियों द्वारा इस प्रकार के शोषण और तेल उत्पादन देशों की मर्जी के खिलाफ सौदेवाजी ने इन देशों को अपने हितों की ओर सचेत किया। अगस्त 1960 में तेल कम्पनियों ने अपने उत्पादक देशों से पूछे बिना तेल के दाम घटा दिये। इससे मध्य-पूर्व के तेल उत्पादक देशों को 939 लाख डालर की हानि हुई। इस घटना के बाद पाँच प्रमुख निर्यातक देशों—तीन अरब (इराक, कुवैत और सऊदी अरब) तथा दो गैर-अरब (ईरान ओर वेनेजुएला) देशों ने अपने संयुक्त हितों की रक्षा के लिए एक संगठन बनाने का 14 सितम्बर, 1960 को बगदाद में निश्चय किया। तत्कालीन आँकड़ों के अनुसार इन पाँच राष्ट्रों के पास कुल सुरक्षित तेल का 87 प्रतिशत, कुल उत्पादन का 38 प्रतिशत एवं कुल व्यापार का 90 प्रतिशत हिस्सा था। संगठन का पहला प्रस्ताव तेल उत्पादक राष्ट्रों की बढ़ती आर्थिक चेतना एवं आक्रोश को स्पष्ट करता है—"माननीय सदस्य तेल कम्पनियों के मूल्यों के प्रति दिखाये गये रुख के प्रति उदासीन नहीं रह सकते हैं। सदस्यों की यह माँग है कि तेल कम्पनियाँ मूल्य स्तर को उतार-चढ़ाव से मुक्त, स्थिर रखें और सदस्य राष्ट्र वे सभी प्रयास करेंगे जिससे मूल्य स्तर वर्तमान गिरे स्तर से पहले की स्थिति में रहे। यदि परिस्थितियाँ प्रतिकूल हों और तेल कम्पनियों को ऐसा प्रतीत हो कि मूल्य परिवर्तन अनिवार्य है तो तेल कम्पनियों को चाहिए कि वे स्थिति का विवरण राष्ट्रों के समक्ष रखें और कोई निर्णय लेने से पहले उत्पादक राष्ट्रों से परामर्श लें।"

यह स्पष्ट किया गया कि 'ओपेक' की स्थापना मुख्यत: तेल उत्पादक राष्ट्रों की तेल नीति में एकात्मकता स्थापित करने के लिए तथा सदस्य राष्ट्रों के हितों की सुरक्षा के लिए की गयी है। ओपेक के नियमों के अनुसार किसी राष्ट्र को संगठन का सदस्य बनाने के लिए कुछ आवश्यक अर्हताओं को पूरा करना होगा—राष्ट्र को तेल का शुद्ध निर्यातक राष्ट्र होना चाहिए तथा राष्ट्र के तेल हित और अन्य सदस्यों के हितों में समानता होनी चाहिए। धीरे-धीरे इस तेल निर्यातक देशों के संगठन में 13 सदस्य हो गये। ओपेक में इस समय दस देश हैं—सऊदी अरब, कुवैत, कतार, संयुक्त अरब अमीरात, बहरीन, इराक, लीबिया, अल्जीरिया, सीरिया व ट्यूनीशिया। मिस्र को इजराइल के साथ समझौता करने के कारण 1979 में संगठन से निकाल दिया गया था।

ओपेक किन्हीं भी अर्थों में राजनीतिक संगठन नहीं है। यह ठीक है कि आर्थिक लाभ, आर्थिक एकीकरण को प्रोत्साहित करता है, जिसका परिणाम पहले आर्थिक एकीकरण और फिर

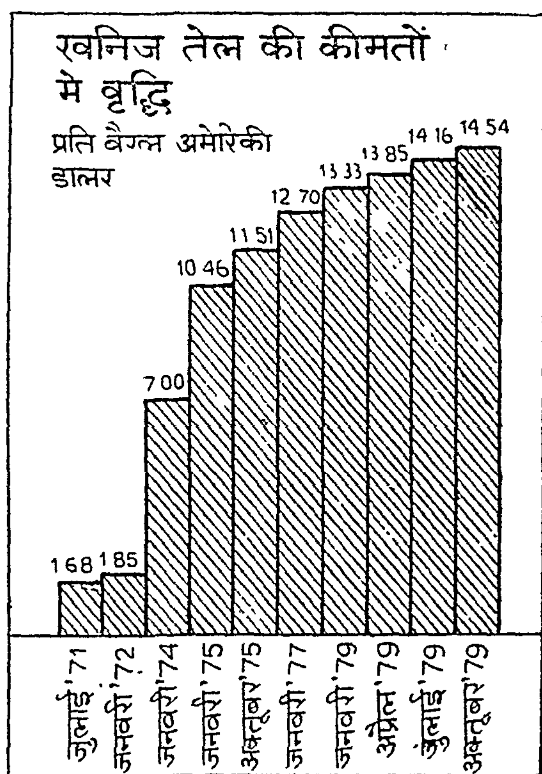
[1] दिनमान, 31 दिसम्बर, 1978-6 जनवरी, 1979।

राजनीतिक एकीकरण होता है। ओपेक राष्ट्रों के पारस्परिक राजनीतिक मतभेद निकट भविष्य में राजनीतिक एकीकरण जैसी सम्भावना को नकारते हैं। फिर भी ओपेक की स्थापना के बाद तेल निर्यातकों की असली शक्ति सामने आयी। इसके बाद तेल कम्पनियाँ तेल की कीमतें कम नहीं कर पायीं। इसके अलावा तेल निर्यातक देश ओपेक के बल पर नये कर और लाभांश (रायल्टी) निश्चित कर अपने राजस्व को बढ़ाने में भी सफल हुए। संक्षेप में, 6 अक्टूबर, 1973 को प्रारम्भ हुए चौथे अरब-इजराइल युद्ध में ओपेक राष्ट्रों के द्वारा उठाये गये कदमों ने विश्व स्तर पर तेल, जो सशक्त राजनीतिक शस्त्र के रूप में उभरा, उसके परोक्ष में ओपेक की प्रभावशाली भूमिका रही है।

खनिज तेल की कीमतों में वृद्धि (The Increase in the Cost of the Oil)—16-17 दिसम्बर, 1978 को आबूधाबी में हुई अपनी बैठक में ओपेक ने 15 प्रतिशत तक तेल के दाम बढ़ाने का फैसला कर डाला। खनिज तेल मौजूदा 12 रु० 70 पैं० प्रति बैरल की दर से बढ़कर 1 अक्टूबर, 1979 तक 14 रु० 54 पैं० प्रति बैरल हो गया। गनीमत है कि यह वृद्धि एकदम नहीं चार किश्तों में हुई। कीमतों की इस वृद्धि के कई कारण हैं। तेल की कीमतें पिछले दो सालों में स्थिर थीं जबकि इस दौरान अमरीकी डालर का मूल्य विश्व के बाजार में काफी गिरा। तेल निर्यातक देशों को इससे काफी घाटा हो रहा था क्योंकि तेल का दाम अमरीकी डालर में तय था। डालर का मूल्य गिरने से तेल निर्यातक देशों की अधिशेष राशि पिछले साल घटकर केवल 16 अरब डालर रह गयी थी, जबकि चार वर्ष पूर्व यह 60 अरब डालर थी। तेल की कीमतें बढ़ने का एक कारण विश्वव्यापी मुद्रा-स्फीति था जिसके फलस्वरूप ओपेक के देशों की वास्तविक आय घट रही थी। इसके अलावा ईरान में चल रहे जन आन्दोलन के कारण वहाँ तेल उत्पादन का चक्का जाम हो गया था। इसी कारण तेल की कमी महसूस की जाने लगी थी जिसका लाभ उठाकर ओपेक ने तेल की कीमतों में 5 प्रतिशत पूर्व प्रस्तावित वृद्धि के बजाय 15 प्रतिशत की वृद्धि की। तेल की कीमतों में हुई इस वृद्धि का विश्व अर्थ-व्यवस्था पर मिश्रित प्रभाव पड़ा। जर्मनी और जापान जैसे देश, जिनकी मुद्राएँ डालर में मजबूत हैं, नये दामों के बोझ से स्वयं को मुश्किल से बचा पायीं। अमरीका को निःसन्देह इस वृद्धि से काफी नुकसान हुआ। उल्लेखनीय है कि तेल के दाम बढ़ाने की घोषणा के तुरन्त बाद विश्व के मुद्रा बाजारों में डालर का मूल्य गिर गया। 1 नवम्बर, 1979 को राष्ट्रपति कार्टर ने डालर बचाओ अभियान में जो सफलता पायी थी, वह सब मिट्टी में मिल गयी। यही कारण है कि अमरीका ने तेल के दामों की वृद्धि के फैसले पर खेद प्रकट करते हुए ओपेक से निर्णय पर पुनर्विचार करने का अनुरोध किया। तेल की कीमतों में वृद्धि का सबसे बुरा असर विकासशील देशों की अर्थ-व्यवस्थाओं पर पड़ा। जहाँ उन्हें तेल आयात का दाम ज्यादा देकर इसका प्रत्यक्ष रूप से नुकसान उठाना पड़ा, वहाँ विकसित देशों से अन्य वस्तुओं के आयात में ज्यादा रकम देकर इसका अप्रत्यक्ष भार भी ढोना पड़ा। ओपेक ने इस प्रस्ताव को बिल्कुल ठुकरा दिया कि विकासशील और अविकसित देशों के लिए तेल की कीमतों में इतनी वृद्धि नहीं की जाये। जहाँ तक भारत का प्रश्न है तेल की नयी दरों से भारत को 200 करोड़ रुपये का अतिरिक्त खर्च उठाना पड़ा। इसके अतिरिक्त पेट्रोलियम निर्मित वस्तुएँ—जैसे रासायनिक खाद, प्लास्टिक और सिंथेटिक वस्तुओं के आयात में भी हमें भारी कीमतें अदा करनी पड़ीं।

तेल भण्डार—विश्व के अधिकांश तेल भण्डार प० एशिया में ही हैं। हालांकि यहाँ भी इनका वितरण काफी असमान है। युर्दान, लेबनान, ट्यूनीशिया, मोरक्को और यमन में तेल भण्डार नहीं हैं, जबकि मिस्र, अल्जीरिया और लीबिया में थोड़ी मात्रा में हैं। सबसे ज्यादा तेल भण्डार खाड़ी के देशों में हैं—जिनमें पहला स्थान सऊदी अरब का है। इसके बाद कुवैत, ईरान

इराक और संयुक्त अरब अमीरात हैं। एक अनुमान के अनुसार प० एशिया और द० अफ्रीका में तेल भण्डार इस प्रकार हैं (लाख बैरलों में): सऊदी अरब 1,570, कुवैत 780, ईरान 550, इराक 350, लीबिया 250, आबूधाबी 210, अल्जीरिया 120, ओमन 50 और दुबई 20। दूसरी ओर शेष विश्व में सोवियत संघ 760, अमरीका 440, चीन 200, वेनेजुएला 120, इण्डोनेशिया 110, कनाडा 100 और अन्य देशों में 600 लाख बैरल के तेल भण्डार हैं। इन अनुमानों में मैक्सिको, अलास्का, नार्थ सी, द० वियतनाम, मलेशिया और इटली में प्राप्त तेल भण्डार शामिल नहीं हैं। एक अनुमान तो यहाँ तक लगाया गया है कि मैक्सिको में 3 अरब बैरल के तेल भण्डार हैं। यदि यह अनुमान सच साबित हो तो मैक्सिको तेल उत्पादन में सऊदी अरब को पीछे छोड़ सकता है।



तेल मूल्यों में कटौती : तेल की दोतरफा धार की विचित्र सार[1]

8 फरवरी, 1986 को तेल निर्यातकों के लिए हड़कम्प मचा देने वाली और तेल आयातकों के लिए सुखद संवाद देने वाली एक घटना हुई। घटना यह थी कि न्यूयार्क मर्कण्टाइल एक्सचेंज में अमरीका के सबसे बेहतरीन कच्चे तेल का मूल्य 15 डालर प्रति बैरल से भी नीचे उतर कर 14·77 डालर प्रति बैरल हो गया। कच्चे तेल के साथ-साथ घरों को गरम करने वाले तेल, बिना सीसे वाली गैसोलिन तथा कुछ अन्य पेट्रोलियम उत्पादों के मूल्यों में भी कमी हो गयी।

आरम्भ में तेल का मूल्य लगभग 3 डालर प्रति बैरल था जो चढ़ते-चढ़ते 1980 में 34 डालर प्रति बैरल तक जा पहुँचा। कोई 6-7 वर्षों में 32 डालर प्रति बैरल मूल्य बढ़ाकर तेल निर्यातक देशों के संगठन ओपेक ने सारी दुनिया के सामने एक गम्भीर चुनौती प्रस्तुत कर दी।

इस तर्कहीन मूल्य बृद्धि के प्रहार से बचने के लिए विभिन्न देशों ने तेल की खपत कम करनी शुरू कर दी, उन्होंने तेल के विकल्प के रूप में परमाणु बिजली, कोयले और अन्य प्रकार की ऊर्जा का अधिकाधिक प्रयोग आरम्भ कर दिया। इतना ही नहीं, ओपेक के बाहर कुछ देशों ने तेल के नये भण्डार खोज निकाले। उत्तर सागर, अलास्का, मैक्सिको और सोवियत संघ में तेल के विशाल जखीरों का पता लगाया गया। आज इन स्थानों में तेल क्षेत्रों को विकसित कर इतना तेल निकाला जा रहा है कि निर्यात, उत्पादन और कीमत को लेकर ओपेक और गैर-ओपेक देशों में बकायदा तेल-युद्ध छिड़ गया है तो दूसरी तरफ सभी तेल उत्पादक देशों और गैर-तेल उत्पादक देशों में रस्साकशी चल रही है। ओपेक और गैर-ओपेक देश माँग और सप्लाई पूर्ति के सिद्धान्त से निर्देशित हो रहे हैं और साथ ही एक-दूसरे के विरुद्ध गर्दन काट होड़ कर रहे हैं। इधर जब तेरह ओपेक देश तेल मूल्यों में गिरावट न आने देने के लिए उत्पादन में कटौती करने और प्रत्येक ओपेक देश का उत्पादन कोटा निर्धारित करने के फेर में पड़े हैं, उधर गैर-ओपेक

1 हिन्दुस्तान (नयी दिल्ली), 1 मार्च, 1986, पृ० 4।

देशों ने, जिनमें ब्रिटेन सबसे आगे है, तेल बाजार को अपने तेल से इतना पाट रहे हैं कि तेल मूल्य एक बिन्दु पर तो क्या टिकेंगे, उनमें निरन्तर गिरावट आती जा रही है। जिस छुरी से ओपेक देशों ने दूसरों की गर्दन काटी, आज वही छुरी उन्हें काट रही है। अब गाड़ी का चक्का उल्टा चलने लगा है। तेल बाजारों में कुल बिक्री के दो-तिहाई हिस्में से गिरकर एक-तिहाई से भी कम तेल की बिक्री ओपेक देशों के तेल की रह गयी है। इसके विपरीत, गैर-ओपेक देशों की बिक्री बढ़कर दो-तिहाई हो गयी है।

अधिकतर तेल निर्यातक देश विदेशी कर्जों के भयंकर भँवर में फँसे हैं। फिर उनमें अभी इतनी औद्योगिक क्षमता उत्पन्न नहीं हुई कि वे कारखानो में तैयार माल-सामान के निर्यात में तेजी लाकर कर्ज का बोझा उतार सकें। उनका उद्धार तो इसी बात में है कि तेल के निर्यात की मात्रा, गति और मूल्यों में निरन्तर वृद्धि होती रहे जो फिलहाल असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य जान पड़ती है। मोटे अनुमान के अनुसार तेल मूल्य में मात्र एक डालर प्रति बैरल की कटौती से तेल निर्यातक देशों को अरबों डालर की हानि होती है, पर तेल मूल्यों में जो कमी तेल निर्यातक देशों के लिए अभिशाप है, वह तेल आयातक देशों के लिए वरदान बन जायगी। तेल सस्ता मिलने पर उसकी खरीद बढ़ जायगी। इससे कल-कारखानों में उत्पादन बढ़ेगा, माल अधिक तैयार होने पर मुद्रा प्रसार कम होगा, अधिक बेरोजगारों को रोजगार मिलेगा, भुगतान सन्तुलन अनुकूल हो जायेगा और बजट में घाटा कम हो जायेगा तथा क्रय शक्ति बढ़ेगी।

आरम्भ में मैक्सिको को छोड़ ब्रिटेन, नार्वे, अमरीका और सोवियत संघ तेल के मूल्यों में ह्रास को झेल लेंगे, क्योंकि तेल उनके अर्थतन्त्र का मूलाधार नही है। लेकिन ओपेक देशों तथा मैक्सिको, मिस्र और ओमान जैसे गैर-ओपेक देश बहुत अधिक समय तक तेल मूल्यों में भारी कमी को बर्दाश्त नहीं कर सकेंगे, क्योंकि इससे उनकी अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जायेगी।

तेल उत्पादक देशों की कमजोरी उनमें केवल राजनीतिक संघर्ष और विचारधारा को लेकर ही नहीं है जैसे ईरान एवं इराक के बीच का संघर्ष बल्कि उनकी विकास के प्रति अदूरदर्शितापूर्ण नीतियाँ और गलत प्राथमिकताएँ भी इसके लिए उत्तरदायी हैं। कई देश अपने विकास की होड़ में तेल के साधनों का अन्धाधुन्ध अपव्यय कर रहे हैं। उदाहरण के लिए, नाइजीरिया को तेल के समृद्ध स्रोत होने के बावजूद इस कारण वित्तीय संकट का सामना करना पड़ रहा है कि वह विकास कार्यों पर तथा अपने उपभोग करने के लिए अनाप-शनाप धन खर्च कर रहा है। खर्च करने के लिए अधिक धन प्राप्त करने की अन्धी दौड़ में वह अपनी तेल सम्पदा की अधिकाधिक मात्रा में बिक्री कर रहा है और वह भी ऊँचा डिस्काउण्ट देकर, किन्तु वह यह नहीं देख रहा कि उसके साधन स्रोत असीमित नहीं हैं और उसकी इस नीति के कारण वे तेजी से क्षीण होते जा रहे हैं, साथ ही तेल के विश्व बाजार में अस्थिरता पैदा कर वह अपने ही हितो पर कुल्हाड़ी मार रहा है। अन्य तेल उत्पादक देश भी कमोवेश इस नीति पर चल रहे हैं और तेल के निर्यात से प्राप्त धन का घोर अपव्यय कर रहे हैं।

तेल की कीमतों में इस कटौती का भारत को भी तुरन्त लाभ मिलेगा। कुल विदेशी व्यापार की राशि को देखते हुए भारत तेल और पेट्रोलियम पदार्थों का बहुत बड़ा आयातक है। तेल की कीमतों में इस कटौती से देश को प्रतिवर्ष लगभग 500 करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा की बचत होने की सम्भावना है। वर्तमान कठिन भुगतान-सन्तुलन स्थिति को देखते हुए यह बचत वास्तव में स्वागत योग्य है किन्तु इस राशि का विकास कार्यों में पूर्ण सदुपयोग किया जाना चाहिए और मुफ्त में मिले धन की तरह इसे बेदर्दी से खर्च नहीं किया जाना चाहिए।

पैट्रो डालर खर्च कैसे हों ?

तेल शक्ति के प्रभाव से ओपेक देशों ने काफी धन कमाया है। अकेले 1974 में 60 अरब

डालर का अधिशेष इन देशों के पास रहा। 1988 तक आशा है ये देश 600 अरब डालर अतिरिक्त प्राप्त करेंगे। अगले पाँच वर्षों में अकेला सऊदी अरब ही 100 अरब डालर कमायेगा, ऐसा अनुमान है। अब सवाल उठता है, इतने पैसे का आखिर ये देश करेंगे क्या? अब तक उन्होंने तेल से प्राप्त अतुल सम्पत्ति को किस तरह खर्च किया है?

हालांकि सभी तेल निर्यातकों ने अपने-अपने देशों के विकास हेतु विशाल बजट बनाये हैं, मिसाल के लिए सऊदी अरब की पाँचवीं योजना (1975-80) 142 अरब डालर की थी। लेकिन वास्तविकता यह है कि ये देश तेल से प्राप्त राजस्व का अधिकांश भाग अमरीका और अन्य प० देशों के बैंकों या वहाँ की सरकारी प्रतिभूतियों में ही लगाते हैं। एक अनुमान के अनुसार 1974-77 में अर्जित लाभ का एक-तिहाई इसी तरह खर्च किया गया। इनमें भी अमरीका ही सबसे ज्यादा लाभ उठा रहा है। 1974 में अर्जित 60 अरब डालर के अधिशेष में से 18·4 प्रतिशत अकेले अमरीका में ही निवेश किये गये। कहने को विकासशील देशों की मदद की ओपेक देश बड़ी हिमायत करते हैं लेकिन वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। 1974 में ओपेक ने विकसित देशों को जहाँ साढ़े पाँच अरब डालर कर्ज के रूप में दिये, वहाँ विकासशील देशों को दिया गया ऋण केवल ढाई अरब डालर ही था।

हालांकि कई तेल उत्पादक देशों ने इस अपार धन को निर्माण एवं विकास कार्यों पर भी खर्च किया, परन्तु अनाप-शनाप दौलत को उन्होंने अय्याशी, शान-शौकत, हथियारों की खरीद आदि पर बेशुमार उड़ाया जिसने उनके यहाँ कई सामाजिक विकृतियों और आर्थिक उलझनों को जन्म दिया।

जरूरत इस बात की है कि ओपेक के देश अपनी जिम्मेदारी स्वयं समझें। प० देशों के बैंकों में जमा करने के बजाय यह अपनी विशाल तेल सम्पत्ति को विकासशील देशों को कर्ज अथवा अनुदान देने में खर्च करें या कम-से-कम भारत जैसे देश के साथ अपने ही हित में व्यापार बढ़ाने में खर्च करें तो न केवल उन्हें इन देशों का समर्थन प्राप्त होगा बल्कि वह सस्ती दर से अपने यहाँ औद्योगिक विकास भी करने में सफल होंगे।

निष्कर्ष—संक्षेप में, 'ऊर्जा संकट' प्रारम्भ होने वाले इस दशक में अरब-इजरायल युद्ध ने समस्या को अधिक मुखर और स्पष्ट कर दिया है। वे प्रश्न जो अब तक तेल कम्पनियों से सम्बन्धित सरकारों के बीच थे, आज आम बन गये हैं। जहाँ अमरीका और यूरोप का नागरिक यह सोचता है कि औद्योगिक विकास के नाम पर निर्मित 'मास कन्जम्पशन सोसाइटी' के आधार मूल्यों के पुनांकन का समय आ गया, वहीं 'तीसरी दुनिया' का शोषित मानव आज अपनी सम्पदा पर विदेशी वैभव को सहज स्वीकार करने को तैयार नहीं। आर्थिक राष्ट्रीयता का अभ्युदय आर्थिक शोषण की चेतना का प्रतीक है। दीर्घकाल से चले आ रहे इस शोषण के विरोध में आज हर अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों से आवाज आ रही है—वर्तमान समीकरणों को बदलने की। यही कारण है कि आज प्राकृतिक साधनों पर नियन्त्रण की होड़ को लेकर एक आर्थिक युद्ध चल रहा है—भूगर्भीय साधनों से समुद्र के गर्भ तक। विश्व तेल संकट आधुनिक विश्व का सबसे नया और सबसे भयंकर संकट है।

ऊर्जा संकट विश्वव्यापी संकट है जिसके कारण परिस्थितिकीय (ecological considerations) अधिक हैं अतः इसके निवारण हेतु निम्नलिखित सुझाव दिये जाते हैं—**प्रथम**, यह माना जाना चाहिए कि विश्व में अन्य संकटों की तरह ऊर्जा संकट भी एक ऐसा संकट है जिसका समाधान किसी-न-किसी प्रकार खोजा जा सकता है। **द्वितीय**, ऊर्जा संकट के निवारण हेतु समूचे विश्व को आधार बनाकर योजनाएँ बनायी जानी चाहिए, नयी प्रौद्योगिकी की खोज के लिए विश्वव्यापी शोध होनी चाहिए। **तृतीय**, आर्थिक दृष्टि से समृद्ध देशों को तीसरी दुनिया के

विकासशील देशों के प्रति जिनके पास ऊर्जा के स्रोत कम हैं, भ्रातृत्व का दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। ऊर्जा के परिप्रेक्ष्य में समृद्ध देशों का दृष्टिकोण आर्थिक शोषण के बजाय अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का होना चाहिए। **चतुर्थ,** नयी प्रौद्योगिकी के विकास के लिए चाहे कितने ही प्रयास किये जायें, किन्तु तेल के उपभोग पर विश्व स्तर पर नियन्त्रण आवश्यक कर देना चाहिए। लोगों को अपनी जीवन-शैली में इस प्रकार का बदलाव लाना होगा जिसमें कम यात्राएँ, कम तेल उत्पादन, कम तेल उपभोग तथा कम जन-यातायात शामिल हों। **पंचम,** ऊर्जा नीति का निर्धारण स्थानीय आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में किया जाना चाहिए। **षष्ठ,** ऊर्जा उपभोग की विधियों का निर्माण करते समय हमें प्राकृतिक नियमों की वैज्ञानिक आवश्यकताओं को भी ध्यान में रखना होगा।[1]

प्रश्न

1. 'ऊर्जा संकट अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नूतन आयाम का सूचक है।' इस कथन को स्पष्ट करते हुए वर्तमान ऊर्जा संकट का विस्तार से विवेचन कीजिए।
   "Energy crisis has given a new dimension to International Politics." In the light of this observation discuss the problem of energy crisis in detail.
2. 'तेल कूटनीति' से आप क्या समझते हैं ? तेल कूटनीति के प्रभावों की चर्चा कीजिए।
   What do you understand by the term 'oil diplomacy' ? Critically examine the impact of oil diplomacy on the present day international politics.

---

[1] B. D. Nag Chaudhuri and S. Bhatt, *Ibid.*, p. 344.

14

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और तीसरे विश्व का परिप्रेक्ष्य

[INTERNATIONAL POLITICS AND THE THIRD WORLD PERSPECTIVE]

थर्ड वर्ल्ड (Third World) या 'तीसरी दुनिया' वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली का एक बहुप्रचलित विशेषण है। इसका प्रयोग सबसे पहले फ्रांसीसी लेखक **अलफ्रेड सोवी** ने एक लेख में सन् 1952 में किया था। सोवी के अनुसार 'तीसरी दुनिया' उन अज्ञात और शोषित देशों का समूह है, जिन्हें प्रायः तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है और जो कुछ बनकर दिखाना चाहते हैं। प्रत्यक्षतः सोवी का संकेत उन अफ्रीकी-एशियाई देशों की तरफ था, जो सदियों तक उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की जकड़ में थे और जो अब अपनी गरीबी और पिछड़ेपन से उबरकर आधुनिकता एवं सम्पन्नता की ओर बढ़ना चाहते थे। बहरहाल, 1955 में बाण्डुंग में हुए अफ्रीकी एशियाई सम्मेलन के बाद इस विशेषण का प्रयोग यदाकदा होने लगा खासकर चीन और चीन से प्रभावित कुछ अफ्रीकी-एशियाई देशों में।

'तीसरी दुनिया' शब्दांश से आज जो अर्थ निकाला जाता है वह 1950 के अर्थ से एकदम भिन्न है। जब शीत-युद्ध अपनी चरम सीमा पर था तो 'तीसरे विश्व' का अर्थ उन तटस्थ या असंलग्न राष्ट्रों के झुण्ड से लिया जाता था जो न तो पश्चिमी शक्तियों (पहली दुनिया) से प्रतिबद्ध हैं और न साम्यवादी गुट (दूसरी दुनिया) से प्रतिबद्ध थे। आज तथाकथित इन तीसरी दुनिया के राष्ट्रों में ऐसी कोई वैचारिक एकजुटता नहीं है जिससे किसी सामूहिक अवधारणा से उन्हें सम्बोधित किया जा सके। आज तो ये देश 'गरीबी' और 'पिछड़ेपन' के पर्यायवाची प्रतीत होते हैं। अतः आज 'तीसरी दुनिया' शब्द का प्रयोग 'विकासशील राष्ट्रों' (developing nations) या 'अल्प-विकसित राष्ट्रों' (less developed countries) के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

तीसरे विश्व की अवधारणा
(THE 'THIRD WORLD' AS A CONCEPT)

इस शताब्दी में छठे दशक के आखिरी वर्षों में चीनी नेता माओत्सेतुंग और उनके अनुयायियों ने अपनी 'तीन दुनियाओं' की कल्पना प्रचारित की। इस कल्पना के अनुसार 'पहली दुनिया' में केवल दो महाशक्तियाँ अमरीका और सोवियत रूस आते हैं। 'दूसरी दुनिया' उन देशों से मिलकर बनी है, जिनका इन महाशक्तियों के साथ सैनिक अथवा व्यापक गठबन्धन है और 'तीसरी दुनिया' उन देशों का समूह है, जो कच्चा माल पैदा करते हैं, जो बड़े देशों के उपनिवेश थे तथा जो आधुनिक औद्योगीकरण से बहुत दूर हैं। इस परिभाषा के अनुसार सामान्यतः एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीकी क्षेत्र के वे नवोदित देश ही 'तीसरी दुनिया' की परिधि में आते हैं जो सदियों तक उपनिवेशवादी शोषण के शिकार थे।

तीसरे विश्व की अवधारणा को दो रूपों में देखा गया है—एक तो इन सभी राष्ट्रों की समस्याएँ एक जैसी हैं (The "Package" of problems that the whole Third World seems to face) तथा संयुक्त राष्ट्र महासभा में कतिपय मुद्दों पर मतदान करते समय इन राष्ट्रों में एकजुटता देखी गयी है (The seeming unity of the Third World bloc within the United Nations General Assembly during votes on certain issues)। खासतौर से उपनिवेशवाद विरोधी मुद्दों के बारे में।[1]

'तीसरी दुनिया' को प्रायः 'विकास' के परिप्रेक्ष्य में परिभाषित किया जाता है।[2] इरविंग होरोविज ने इसी परिप्रेक्ष्य में एक पुस्तक लिखी थी जिसका शीर्षक था 'विकास की तीन दुनियाएँ' (*Three Worlds of Development*)। वे विकास की पहली दुनिया में पश्चिमी यूरोप तथा अमरीका को लेते हैं। इस दुनिया की प्रमुख विशेषता है प्रतियोगी पूँजीवाद, जिसने 16वीं शताब्दी से सामन्तवाद को क्षीण करना प्रारम्भ कर दिया था। 18वीं और 19वीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति ने ऐसे प्रगतिशील विश्व के अभ्युदय में सहायता दी जिसने सर्वत्र आधुनिकीकरण की छाप छोड़ दी।[3]

प्रोफेसर होरोविज दूसरी दुनिया के अन्तर्गत सोवियत संघ और उसके गुटीय राष्ट्रों को लेते हैं। जारों के शासनकाल में रूस की हालत आज के विकासशील राष्ट्रों के समतुल्य थी। 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति ने रूस को पूँजीवादी विकास मार्ग से विलग कर दिया और उसे नियोजित केन्द्रीभूत विकास के ढाँचे में ढाल दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पूर्वी यूरोप के राष्ट्रों ने सोवियत संघ के राजनीतिक-आर्थिक मॉडल को अपना लिया तथा चीन ने भी थोड़ा परिवर्तित रूप में इसी मॉडल को वरीयता दी। आज रूस और चीन के विकास प्रतिमान काफी विकसित लगते है और तीसरी दुनिया के राष्ट्रों के लिए काफी आकर्षक बन गये हैं।[4]

'तीसरी दुनिया' एक नूतन तथ्य है। ये ऐसे राष्ट्र हैं जो सदियों की उपनिवेशवादी गुलामी से मुक्त हुए हैं और विकास के किसी मार्ग की खोज में हैं। एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के कई राष्ट्रों की विकास की समस्याएँ लगभग एक समान हैं, अतः उनमें समस्याओं और ध्येयों की एकजुटता की प्रवृत्ति पायी जाती है। उनका मुख्य ध्येय विकास है, अपने विकास हेतु वे पहली और दूसरी दुनिया के देशों से विचारधारा, राजनीति और अर्थनीति उधार लेने में नहीं हिचकिचाते किन्तु पूर्व एवं पश्चिम के शीत-युद्ध में असंलग्न रहना चाहते हैं।[5]

सर्वाधिक स्वीकृत धारणा के अनुसार, 'तीसरी दुनिया' में वे देश आते हैं, जो न तो आर्थिक दृष्टि से विकसित पूँजीवादी व्यवस्था वाले देशों में शामिल हैं और न पूर्णतः नियोजन-बद्ध समाजवादी देशों की श्रेणी में आते हैं। 'थर्ड वर्ल्ड क्वार्टरली' (लन्दन) ने इसी कल्पना को पेश किया है—"लगभग 100 अफ्रीकी, एशियाई और दक्षिणी अमरीकी देश अपने को सामूहिक रूप से

---

1 Grieves, *Conflict and Order : An Introduction to International Relations*, 1977, p. 201.

2 The Third World has often been defined in terms of "development." —*Ibid.*

3 He describes the First World as Primarily Western Europe and the United States. This world is characterized by competitive capitalism.

4 Professor Horowitz sees the Second World as the Soviet Union and its bloc. —*Ibid.*, p. 202.

5 "The Third World appears as a new entity, recently emerged from a colonialpast, seeking its own path to development. Facing similar development problems, a group of nations in Latin America, Africa and Asia have evolved a sense of common identity and unity of purpose. The goal is development, a process involving the borrowing of whatever works from the ideologies, politics and economics of the first and second worlds while remaining non-aligned in the East-West struggle." —*Ibid.*, p. 203.

'तीसरी दुनिया' कहते हैं। वे अपने को विकसित पूंजीवादी और केन्द्रीय नियोजित समाजवादी देशों से अलग रखकर अपनी पहचान स्थापित करते हैं।"

'तीसरे विश्व' की अवधारणा एक मानसिक अवधारणा है न कि कोई ठोस राजनीतिक इकाई। वैसे तो संयुक्त राष्ट्र संघ और उसके बाहर सामूहिक दृष्टिकोण विकसित करने के लिए अनेक बैठकें आयोजित की गयी हैं किन्तु अभी तक 'तीसरे विश्व' की कोई राजनीतिक इकाई अस्तित्व में नहीं आयी है। इन देशों में राजनीतिक विविधता और वैदेशिक नीति में इतनी अधिक भिन्नता है कि मात्र 'तीसरे विश्व' से सम्बन्धित मुद्दों जैसे—उपनिवेशवाद विरोध और विकास के अतिरिक्त किसी भी पहलू पर आम सहमति का अभाव पाया जाता है। यहाँ तक कि विकास के क्षेत्र में भी तीसरी दुनिया के राष्ट्रों में अत्यधिक विविधता पायी जाती है। जैसा कि लेस्टर आर० ब्राउन ने लिखा है—"द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के निर्धन या अल्प-विकसित राष्ट्रों को सम्मिलित रूप से 'तीसरी दुनिया' कहा गया है। किन्तु आज यह शब्दांश अपना महत्व खोता जा रहा है। एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के देश आज निर्धनता के घर नहीं रह गये हैं। इनमें से बहुत-से राष्ट्रों ने आर्थिक और सामाजिक मोर्चों पर उल्लेखनीय सफलता हासिल की है।"[1]

तथाकथित तीसरी दुनिया के कुछ देशों में पिछले एक दशक से उल्लेखनीय आर्थिक विकास हुआ है; चाहे इसका कारण तेल निर्यात ही क्यों न रहा हो। इससे विकास की दौड़ में अधिसंख्य देश पिछड़ गये हैं और अब उन्हें 'चौथी दुनिया' (Fourth World) भी कहा जाने लगा है। चौथी दुनिया के ये देश आर्थिक और राजनीतिक संकट के भयावह दौर से गुजर रहे हैं। जनसंख्या विस्फोट, भूखमरी, आर्थिक विकास की धीमी रफ्तार तथा आर्थिक स्रोतों के अभाव में चौथी दुनिया के देशों के लिए तीसरी दुनिया के देशों का स्तर भी प्राप्त करना बड़ा मुश्किल लगता है। कतिपय विश्लेषकों का मत है कि यदि ऊर्जा संकट तथा खाद्य संकट की वर्तमान प्रवृत्ति बनी रही तो चौथी दुनिया के राष्ट्रों के लिए अस्तित्व का ही संकट उत्पन्न हो जायेगा।

डॉ० शिशिर गुप्ता के अनुसार, तीसरे विश्व के देशों की सामान्य विशेषताएँ हैं—निर्धनता, अस्थिरता, नयापन, अश्वेत तथा दुर्बलता।[2] इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'सर्वहारा' नहीं कहा जा सकता। यद्यपि अधिकांश तीसरे विश्व के देश क्रान्तिकारी नहीं हैं तथापि वे अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता से भयभीत हैं। उनकी विदेश नीति उनके अभिजन द्वारा विचारित राष्ट्रीय हितों की अभिव्यक्ति है न कि समूची तीसरी दुनिया के देशों के सामूहिक हितों का अभिव्यक्तिकरण। अनुभवों की समानता ने उन्हें उपनिवेशवाद, नस्लवाद और गुट-निरपेक्षतावाद जैसे मुद्दों पर एकजुट होने के लिए बाध्य कर दिया है।

संक्षेप में, तीसरी दुनिया अफ्रीका, एशिया एवं लेटिन अमरीका के अविकसित एवं विकासशील देशों की दुनिया है जिसमें विश्व की करीब 75·6 प्रतिशत जनता निवास करती है। विश्व के कुल 178 देशों में तृतीय विश्व के देशों की संख्या 132 है जिनका कुल भू-क्षेत्र 724·83 लाख

---

1 "Since World War II, the poor or less developed countries of Asia, Africa and Letin America have been referred to collectively as the Third World. Today, however, this term is losing its usefulness. Asia, Africa and Latin America are no longer an unrelieved mass of object poverty. Many countries have achieved remarkable progress on both the economic and social fronts."
—Lester R. Brown, *By Bread Alone*, New York, 1974, p. 246.

2 "The common characteristics of the great majority of Third World countries was that they were poor, unstable, new non-white and weak....elements of common exprience brought them together on issues of colonialism and non-alignmenl." —J. D. B. Miller, 'Sisir Gupta's View of the Third World' in M. S. Rajan and Shivaji Ganguli, *Great Power Relations & The Third World*, 1981, p. 195.

वर्ग किलोमीटर है जो कि समस्त विश्व के कुल भू-क्षेत्र का 55·5 प्रतिशत है। इनमें से अधिकांश देश उपनिवेशवाद के शिकार रहे हैं। इस कारण विदेशी सत्ता द्वारा इनका हर प्रकार से शोषण किया गया। किन्तु उपनिवेशवादी शिकंजों से मुक्त होने के बाद में नवोदित राष्ट्र अब अपनी अन्त:शक्ति महसूस करने लगे हैं। वर्तमान समय में इन देशों के पास संयुक्त राज्य अमरीका एवं सोवियत संघ के समान सैन्य-शक्ति नहीं है और न ही पश्चिमी जर्मनी, जापान एवं अन्य विकसित राष्ट्रों की तरह आर्थिक एवं तकनीकी सम्पन्नता ही है। इनमें से अधिकांश राष्ट्रों के पास अपार प्राकृतिक सम्पदा होते हुए भी तकनीकी ज्ञान के क्षेत्र में विकसित राष्ट्रों पर निर्भर होने के कारण इनका पूर्ण उपयोग कर वे आर्थिक एवं तकनीकी विकास नहीं कर पाये हैं। वस्तुत: ये राष्ट्र वर्तमान समय में औद्योगिक क्रान्ति के मध्य दौर से गुजर रहे हैं।

तीसरे विश्व के देशों की सामान्य विशेषताएँ
(THE CHARACTERISTICS OF THE THIRD WORLD COUNTRIES)

तीसरे विश्व के देशों की सामान्य विशेषता है—विकास के लिए संघर्ष। किन्तु इस आम विशेपता के अतिरिक्त उनमें अधोलिखित सामान्य विशेषताएँ भी दिखायी देती है :

1 **जीविकोपार्जित कृषि एवं बागवानी प्रधान अर्थ-व्यवस्था**—तकनीकी ज्ञान एवं आधुनिक विज्ञान के अभाव में तीसरी दुनिया के ये अल्प-विकसित देश अधिकांशत: कृषि पर निर्भर हैं। यह कृषि व्यवसाय नहीं वल्कि जीविकोपार्जन या बागवानी पर आधारित है। बढ़ती जनसंख्या का दबाव या कच्चे माल के निर्यात में ही सभी कृषक लगे हैं। विश्व जनसंख्या का 1·3 विलियन कृषि पर निर्भर है जिसमें 1 बिलियन इन्हीं देशों में है। व्यावसायिक संरचना में असन्तुलन होने के कारण तथा कृषि पर निर्भरता अधिक होने से राष्ट्रीय आय में कमी होती है।

2. **निर्यातों पर आश्रित**—राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में अधिक निर्यात नुकसानदायक नहीं होते परन्तु यदि कच्चे माल का अधिकांश भाग विदेशों को जाता है और उसके वदले में उन्हें कम लाभ प्राप्त होता है तो आर्थिक विकास नहीं बढ़ता। तीसरी दुनिया के देश अपने निर्यातों पर अधिक निर्भर रहते हैं। सभी अल्पविकसित देशों में निर्यात का राष्ट्रीय आय से अनुपात 20% है। यह समस्या तब और अधिक महत्वपूर्ण होती है जब निर्यातक देश एक या दो ही वस्तुओं का निर्यात करते हैं। ईजिप्ट, इण्डोनेशिया, मलाया, सीलोन, अफ्रीकन क्षेत्र, लेटिन अमरीका आदि सभी तीसरी दुनिया के देश एक या दो वस्तुओं के निर्यात से ही अधिकांश विदेशी मुद्रा अर्जित करते हैं। निर्यातों पर अधिक आश्रित होने के कारण तथा विदेशी बाजारों की स्थितियों में निर्यात नियम आदि से विभिन्न वस्तुओं की माँग में जब कभी उच्चावचन होते रहते है जिसका प्रभाव इन देशों की अर्थ-व्यवस्था में होता है। प्राथमिक वस्तुओं की विदेशों में माँग कम हो जाने के कारण इन देशों में राष्ट्रीय आय तथा रोजगार पर प्रभाव पड़ता है। साथ ही सरकारी आय में भी अपेक्षाकृत परिवर्तन होते रहते हैं।

3. **असन्तुलित घटक**—उत्पादन में पूर्ण घटकों की गतिशीलता के कारण एक उद्योग से दूसरे उद्योग में सीमान्त प्रतिफल समान रहता है। गतिशील अर्थ-व्यवस्था में साधनों का अधिकतम उपभोग उत्पादन क्षमता बढ़ाने के लिए मिल जाता है परन्तु अल्प-विकसित देशों में उत्पादन के विभिन्न घटकों में अचलता देखी जाती है। उदाहरण के लिए, श्रमिक एक उद्योग से दूसरे उद्योग में नहीं जाना चाहते यद्यपि वर्तमान में उनका उत्पादन कुछ नहीं है। जाति-प्रथा, सामाजिक व संस्थागत विचार, पूंजी गतिशीलता तथा विनियोग उद्योग को प्रभावित करते हैं।

4. **जनसंख्या वृद्धि**—अल्प-विकसित देशों में जनाधिक्य है तथा जनसंख्या वृद्धि-दर विकसित देशों की अपेक्षा अधिक है। जनसंख्या में कमी से ही वास्तविक आय में वृद्धि हो सकती है। जनसंख्या वृद्धि कई आर्थिक कठिनाइयां उत्पन्न करती है।

5. **अस्थिर राजनीतिक व्यवस्थाएँ**—तीसरे विश्व के देशों में लोकतन्त्र अभी तक अस्थायित्व के दौर से गुजर रहा है। इन देशों में राजनीतिक प्रक्रियाएँ संक्रमण के दौर में होने के कारण संविधानों में लोकतन्त्र के आधार सुनिश्चित नहीं हो पाये हैं। संविधानों में बार-बार मौलिक संशोधन किये जाते हैं तथा एक मूल्य के स्थान पर दूसरा मूल्य अपनाया जाता रहा है।

इन राज्यों का लोकतन्त्र समाजवादी लोकतन्त्र के नाम से पुकारा जाने लगा है। इन लोकतन्त्रों में राजनीतिक समाजों के मूल्य तो उदारवादी लोकतन्त्र की अवधारणा के समान स्वतन्त्रता, राजनीतिक समानता, सामाजिक व आर्थिक न्याय तथा लोक-कल्याण की साधना के ही हैं, परन्तु साधनों की दृष्टि से समाजवादी लोकतन्त्र साम्यवादी विचारधारा के समीप लगते हैं। क्योंकि इन राज्यों में साम्यवादी संरचनाओं व संस्थागत व्यवस्थाओं के प्रति आस्था बलवती बनती जा रही है।

6. **करिश्माती नेतृत्व**—इन देशों में कार्यपालिका अध्यक्ष करिश्मे व चमत्कारिक व्यक्तित्व वाले नेता होते हैं। राष्ट्रीय आन्दोलनों के लम्बे कालों में ऐसे देव तुल्य नेता जनमानस में समा गये थे। इस कारण स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ऐसे नेताओं के कार्यपालिका अध्यक्ष बनने पर उनको आदर व असाधारण प्रतिभा का प्रतीक ही नहीं वरन् राष्ट्र का पिता मान लिया गया था। जोमो केन्याता, सुकार्नो, बोगिवा, नासिर, नेहरू, ऐनक्रूमा, न्येरेरे, लुबुम्बा, शेख मुजीब, जिन्ना, यू० नू, इत्यादि अनेक कार्यपालिका अध्यक्ष ऐसे ही अद्वितीय व्यक्तित्व के कारण लम्बी अवधि तक राजनीतिक व्यवस्थाओं पर छाये रहे और इनमें से कुछ आज भी छाये हुए हैं। इन कार्यपालिका अध्यक्षों की शक्तियाँ असीमित रही हैं।

7. **विधायिका का ह्रास**—इन देशों में बहुल समाज परस्पर विरोधी व अधिकतर संघर्षशील शक्तियों के तनावों व खिचावों से त्रस्त रहते हैं। राजनीतिक व्यवस्था में विधानमण्डल ऐसी विषम परिस्थितियों के कारण संयोजनकारी भूमिका निभाने में सर्वथा असफल रहते हैं। अतः कार्यपालिका ही ध्यान का केन्द्र व व्यवस्था स्थापना के लिए आशा की किरण रह जाती है। इससे कार्यपालिका अध्यक्ष तानाशाह की सी स्थिति में आ जाता है।

8. **एक दल प्रणाली**—इन देशों में प्रतियोगी दल प्रणाली आवश्यक सहिष्णुता के अभाव में अस्त-व्यस्त होते-होते एक दल की परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देती है। एक दल की स्थापना व उसका एकाधिकार कार्यपालिका की प्रवृत्ति में अन्तर ला देता है। इस प्रकार के दल का केवल दिखावा ही रहता है। कार्यपालिका अध्यक्ष अपनी सत्ता की वैधता के लिए चुनावों का ढोंग इसी दल के माध्यम से करने लगे; किन्तु सभी तीसरी दुनिया के राज्यों के बारे में यह सामान्यीकरण खरे नहीं उतरते है। अनेक राज्यों में स्वतन्त्रताएँ व दल प्रतियोगिता की वास्तविक परिस्थितियाँ बनाये रखने के संस्थागत साधन उपलब्ध रहते हैं। मैक्सिको, भारत व श्रीलंका इसके उदाहरण हैं।

संक्षेप में, तीसरी दुनिया के राष्ट्रों में कार्यपालिका प्रतिमान अभी भी सुस्थिर नहीं हुए हैं। पुराने नेतृत्व के हटने पर अनेक राज्यों में कार्यपालिका अध्यक्ष, संस्थागत चयन प्रक्रिया की दृढ़ता के अभाव में, सामान्य ढंग से चुनकर नहीं आ पाता है और अधिकतर कार्यपालिका पद तानाशाहों के हाथ में चला जाता है। इस प्रकार तीसरी दुनिया के राष्ट्रों में कार्यपालिका सामान्यतया नियन्त्रण मुक्त ही रहती है। व्यवस्थापिकाएँ इन देशों में नाम की ही रह गयी हैं। न्यायपालिका पर महत्वपूर्ण प्रतिबन्ध लगाकर कार्यपालिका, शक्ति-केन्द्रण में बेरोकटोक हो जाती है। अतः विकासशील राष्ट्रों में कार्यपालिकाएँ अधिकतर विशेष व्यक्तित्व उन्मुखी बन गयी हैं।

9. **भ्रष्टाचार**—तीसरी दुनिया के देशों में भ्रष्टाचार की आम शिकायत है। जहाँ संयुक्त राज्य अमरीका में 90% कर वसूल कर लिये जाते हैं वहाँ इन देशों में कर वसूली 50% से कम

होती है। इन देशों में विकास कार्य सरकारी कोष पर निर्भर करता है और वंचना से प्रभावित होता है। राजनीतिक और प्रशासनिक स्तर पर भी भ्रष्टाचार इन देशों में खूब फैला हुआ है।

10. **विलासितापूर्ण खर्च**—तीसरी दुनिया के देशों में अभिजन वर्ग अनाप-शनाप खर्च करता है। जो धन विकास कार्य में खर्च होना चाहिए उसे राजनीतिक और प्रशासनिक अभिजन अपने भोग-विलास के लिए खर्च कर देता है।

11. **सैन्य सामग्री पर खर्च**—सेना और सैन्य सामग्री पर भी तीसरी दुनिया के देश काफी धन का अपव्यय करते हैं। 1964-1973 में विकासशील देशों ने 388 विलियन डालर का सैनिक साज-सामान खरीदा। तीसरी दुनिया के राष्ट्र जो धन रोटी पर खर्च करना चाहिए उसे बन्दूक पर खर्च कर रहे हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा किये गये अध्ययन विकासशील देशों मे व्यापक निर्धनता, बेरोजगारी तथा आंशिक बेरोजगारी, आर्थिक वृद्धि की असन्तोषजनक दर, काम की तलाश में गांवों से बड़ी संख्या में लोगों का शहरो की ओर पलायन का कारण विकास की असंगत नीति अपनाना, निरक्षरता, सरकार की उदासीनता, घटती हुई विदेशी सहायता तथा विश्व के विकसित देशों का असहयोगपूर्ण रवैया तथा व्यापार सम्वन्धी बाधाएँ खड़ी करना वताया है। कई विकासशील देशों में, बेरोजगारों की संख्या या उससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण संख्या उन लोगों की है जो काम करते हैं लेकिन उनकी आय इतनी कम है कि वे हमेशा गरीबी की रेखा से नीचे रहते हैं।

तीसरे विश्व के विकासशील देशों की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ विकसित देशों की तुलना में नितान्त भिन्न है। इन देशो में बेरोजगारी तथा आंशिक बेरोजगारी बहुत अधिक है। अधिकांश लोग गरीवी की रेखा से नीचे अपना जीवन गुजारते है। नौकरी की तलाश में कृषि क्षेत्र से सम्बद्ध लोगों की संख्या बराबर बढ़ती जाती है। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों की प्रधानता होती है जिनमें रोजगार के अवसरों में वृद्धि की सम्भावना बहुत कम होती है। इन देशों की जनसंख्या लगातार बहुत तेजी के साथ बढ़ती जाती है। प्रति व्यक्ति आय बहुत कम होती है तथा उसमें भी बहुत अधिक असमानता होती है। श्रमिक संघ बहुत छोटे तथा कमजोर होते हैं और वे राजनीतिक क्षेत्र व गतिविधियों से प्रभावित होते है।

एक अध्ययन के अनुसार पिछले वीस वर्ष में तीसरी दुनिया को सम्पन्न देशों ने लगभग 235 अरब रुपये की आर्थिक सहायता दी। पर इसी काल में 3,800 अरव रुपये की फौजी सहायता दी। इस सहायता का नतीजा यह हुआ है कि 1956 में रूस द्वारा हंगरी पर हमले को छोड़कर वाकी सभी युद्ध तीसरी दुनिया में हुए हैं। इन युद्धों में 1 करोड़ 63 लाख लोग हताहत हुए। यह संख्या द्वितीय विश्व-युद्ध में मारे गये लोगों की आधी तो होगी ही।

तीसरे विश्व के देशों में विविधता
(THE DIFFERENT FACES OF THE THIRD WORLD COUNTRIES)

रोजेन तथा जोन्स ने लिखा है कि तीसरे विश्व के देशो में कई क्षेत्रो मे विविधता दिखायी पड़ती है, जो इस प्रकार है :[1]

1. **संसाधनों के क्षेत्र में** (Resources)—प्राकृतिक संसाधनों की दृष्टि से तीसरी दुनिया के देशों में काफी अधिक भिन्नता पायी जाती है। उदाहरण के लिए, सूडान के पास विकास हेतु संसाधन काफी कम हैं जबकि नाइजीरिया के पास प्राकृतिक साधनों की भरमार है।

2. **जनसंख्या की दृष्टि से** (Population)—जनसंख्या की दृष्टि से भी तीसरी दुनिया के

[1] Steven J. Rosen and Walter S. Jones, *The Logic of International Relations* (Second edition), p. 127.

देशों में काफी अन्तर पाया जाता है। कुछ राज्यों में जनसंख्या का घनत्व काफी अधिक है, जैसे जावा (इण्डोनेशिया) में संयुक्त राज्य अमरीका की एक-तिहाई जनसंख्या पायी जाती है, जबकि तेल उत्पादक देश लीबिया में जनसंख्या काफी कम है। कुछ देशों में शहरी जनसंख्या काफी है जबकि अन्य देशों में अधिकांश जनसंख्या कृषि पर ही निर्भर करती है। कुछ देश भूमि की दृष्टि से काफी बड़े हैं जैसे ब्राजील और भारत जबकि अल सल्वाडोर, लेबनान, आदि छोटे देश हैं।

3. **जातीय दृष्टि से** (Ethnic Divisions)—तीसरी दुनिया के देश जातीय समूहों की दृष्टि से भी एक-दूसरे से काफी भिन्न हैं। चिली जैसे कुछ देशों में समरूप समाज (homogeneous populations) पाये जाते हैं जबकि अन्य देशों में दो-तीन जातीय समूह (ethnic groups) पाये जाते हैं और उनमें काफी मतभेद (conflict) पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए, नाइजीरिया में आइबोज तथा हाउसास एवं योरीबा में जो संघर्ष चला उससे गृह-युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गयी। भारत में भाषा, धर्म और जातिगत विविधताएँ पायी जाती हैं।

4. **राजनीतिक विरासत** (Political Histories)—तीसरी दुनिया के राज्यों के राजनीतिक इतिहास में भिन्नता पायी जाती है। कुछ देश तो अभी तक भी (जैसे, मोरक्को, केन्या) उपनिवेश थे जबकि कुछ देशों पर कभी विदेशी प्रभुत्व स्थापित नहीं हो सका (जैसे, थाईलैण्ड)। कुछ देश तो काफी पुराने हैं और उनका राजनीतिक अस्तित्व अमरीका से भी पुराना है (जैसे, ईरान)। कुछ देश तो उपनिवेशवादी शक्तियों की उपज हैं (जैसे, नाइजीरिया) और कुछ देश भूतपूर्व पृथक् राज्यों को मिलाकर अभी-अभी संघ के रूप में अस्तित्व में आये हैं (जैसे, मलेशिया)।

5. **आधुनिक और पारम्परिक संस्कृति** (Modernizing and Traditional Cultures)—तीसरी दुनिया के कुछ देशों में आज भी प्राचीन परम्पराएँ विद्यमान हैं, राजनीतिक चेतना का अभाव है और वे पुरातन ग्रामीण-धार्मिक समस्याओं से जूझ रहे हैं। कुछ देशों में परम्परागत व्यवस्था को आधुनिक अभिजन (modernizing elite) द्वारा चुनौती दी जा रही है, शासन में जन-सहभागिता में वृद्धि हो रही है और पुरातन समाज व्यवस्था ढह रही है। साक्षरता का प्रतिशत विकासशील देशों में काफी भिन्न है।

6. **शासन सम्बन्धी विभिन्नता** (Governments)—तीसरी दुनिया के देशों में कहीं पर पारम्परिक अभिजनीय शासन (traditional ruling elites), कहीं पर राजतन्त्र (monarchies), कहीं पर निर्वाचित सरकारें (elected regimes), कहीं पर पश्चिमी प्रतिपादन की सरकारें (Western democratic model) तथा कहीं पर सैनिक शासन (*Military Juntas*) पाया जाता है।

7. **आर्थिक व्यवस्था** (Economics)—तीसरे विश्व के देशों की अर्थ-व्यवस्था में काफी अन्तर पाया जाता है। कुछ देशों की अर्थ-व्यवस्था (जैसे, चिली) पूर्ण रूप से अपने आयात-निर्यात पर निर्भर करती है। कुछ देशों के लिए विदेशी व्यापार (जैसे, भारत) उतना महत्वपूर्ण नहीं है; कुछ देशों में लोगों की आय में भारी अन्तर पाया जाता है (जैसे, सऊदी अरेबिया); कुछ देशों में समाज पूर्णतया कृषि पर निर्भर है (जैसे, श्रीलंका); कुछ देशों का समाज मोटे रूप से औद्योगिक है (जैसे, दक्षिण कोरिया); कुछ देशों की अर्थ-व्यवस्था में गतिरोध आ गया है (जैसे, अफगानिस्तान); कुछ देशों की अर्थ-व्यवस्था में भारी वृद्धि हो रही है (जैसे, ब्राजील); कुछ देशों की अर्थ-व्यवस्था में पूँजीवादी तत्व मौजूद हैं (जैसे, अर्जेण्टाइना) तो कुछ देशों की अर्थ-व्यवस्था समाजवादी ढाँचे पर आधारित है (जैसे, वियतनाम)।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तीसरी दुनिया के देशों की भूमिका
(INTERNATIONAL POLITICS AND THE ROLE OF THIRD WORLD COUNTRIES)

एशियाई मैत्री सम्मेलन—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका

के अधिकांश देशों को स्वाधीनता मिलती गयी और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उनकी भूमिका में वृद्धि हुई। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उपयुक्त प्रभाव की प्राप्ति के लिए तीसरे विश्व के देश एक ओर तो पाश्चात्य शक्तियों और साम्यवादी गुट के द्वन्द्व में अधिकांशतः गुटनिरपेक्षता की विदेश नीति अपनाने लगे तथा दूसरी ओर, वे गुटनिरपेक्षता, पंचशील, उपनिवेशवाद का विरोध, जातीय समानता की माँग आदि के आधार पर एक सामान्य नीति के विकास का प्रयत्न करने लगे। इस प्रयत्न के परिणामस्वरूप 'एशियाई-अफ्रीकी ऐक्य' (Afro-Asian solidarity) के आन्दोलन का विकास हुआ। मार्च 1947 में 'विश्व मामलों की भारतीय परिषद्' के तत्वावधान में नयी दिल्ली में आयोजित एक गैर-सरकारी 'एशियाई मैत्री सम्मेलन' सम्भवतः इस आन्दोलन की प्रथम अभि-व्यक्ति थी। इसमें 28 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। यद्यपि इस सम्मेलन को किसी सरकार का समर्थन प्राप्त नहीं था, लेकिन इसका महत्व इस बात में है कि एशिया के विभिन्न देशों के नेता इसमे शामिल हुए थे। इस सम्मेलन में एशियाई देशों की राष्ट्रीय राजनीतिक स्वतन्त्रता, आर्थिक विकास, प्रजातीय विभेद आदि विविध समस्याओं और एक स्थायी संगठन कायम करने के प्रस्ताव पर विचार हुआ।

तीसरी दुनिया की एकता तब एक कदम और आगे बढ़ गयी जब जनवरी 1947 में 15 राज्यों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन आयोजित किया गया। इसमें मुख्य रूप से इण्डोनेशिया में डच सरकार द्वारा की गयी सैनिक कार्यवाही से उत्पन्न स्थिति पर विचार-विमर्श हुआ। एशि-याई व्यक्तित्व का विकास होता गया। मई 1950 में फिलीपाइन्स द्वारा बोगुई नामक स्थान पर एशियावासियों के सांस्कृतिक व आर्थिक सहयोग पर विचार करने के लिए सम्मेलन आमन्त्रित किया गया। अप्रैल 1954 में भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, बर्मा और इण्डोनेशिया के प्रधानमन्त्री हिन्द-चीन सहित विभिन्न समस्याओं पर विचार-विमर्श करने के लिए परस्पर मिले। दिसम्बर में पाँचों प्रधानमन्त्री बोगार मे एकत्र हुए और वहाँ एशियाई एवं अफ्रीकी राष्ट्रों का एक वृहद सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया।

बाण्डुंग सम्मेलन—तीसरे विश्व में द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद नव-जागरण की लहर का सर्वोत्तम रूप बाण्डुंग सम्मेलन में प्रकट हुआ। भारत, बर्मा और इण्डोनेशिया द्वारा इस महान अफ्रो-एशियाई सम्मेलन का आयोजन किया गया जो 18 अप्रैल से 27 अप्रैल, 1955 तक चला। इस सम्मेलन में भारत सहित 29 राष्ट्र सम्मिलित हुए। इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति सुकर्ण ने अपने स्वागत भाषण में कहा कि 'यह इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करेगा कि एशिया और अफ्रीका का पुनर्जन्म हो चुका है।' इस सम्मेलन ने "विदेशी सहायता, एक राष्ट्र संघ फण्ड, तकनीकी ज्ञान तथा बहुपक्षी व्यापार के आदान-प्रदान एवं भिन्न-भिन्न प्रकार के निर्यात द्वारा विश्व के एशियाई एवं अफ्रीकी क्षेत्र के आर्थिक विकास की आवश्यकता" पर जोर दिया। इसने एशियाई व अफ्रीकी देशों के पर्याप्त प्रतिनिधित्व से युक्त "अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति संस्था" की स्थापना की माँग की; प्रजाति भेदभाव तथा उपनिवेशवाद के प्रत्येक स्वरूप—विशेषकर उत्तर तथा दक्षिण अफ्रीका—के प्रजाति भेदभाव को उनकी मानवीय सम्मान के विरुद्ध कहकर निन्दा की; फिलिस्तीन में अरबों के अधिकार का समर्थन किया; राष्ट्र संघ की सदस्य संख्या में वृद्धि तथा अफ्रीका एवं एशिया को अधिक प्रति-निधित्व देने की माँग की। तीसरे विश्व के दृष्टिकोण से बाण्डुंग सम्मेलन के दो महत्वपूर्ण परिणाम निकले। इसने विश्व राजनीति की समस्याओं के प्रति एशिया और अफ्रीका में एक समान दृष्टिकोण को जन्म दिया तथा संयुक्त राष्ट्र संघ में एक ऐसी एशियाई-अफ्रीकी ग्रुप की आधारशिला रखी जिसने बाद में पूर्व-पश्चिम संघर्ष में सन्तुलन पैदा करने का काम किया। पाँच वर्ष के अन्दर (1960 तक) संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा में अफ्रीका तथा एशिया के राज्यों की संख्या 45 हो गयी। अब दो-तिहाई बहुमत से पास होने वाले प्रस्ताव के लिए इस गुट का समर्थन आवश्यक हो गया।

द्वितीय, पहली बार साम्यवादी चीन भी गैर-साम्यवादी राष्ट्रों के साथ सद्भावना और मैत्रीपूर्ण विचार-विमर्श में भाग लेने के लिए उपस्थित हुआ। वारनेट के शब्दों में, "यह सम्मेलन तीसरी दुनिया के पुनरुत्थान का प्रतीक था।"

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन—बाण्डुंग सम्मेलन के बाद तीसरी दुनिया के राष्ट्रों की अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका की अभिव्यक्ति गुट-निरपेक्ष आन्दोलन में होने लगी। डॉ० पुष्पेश पन्त लिखते हैं, "पश्चिमी और साम्यवादी देशों के गुटों या उनके द्वारा प्रेरित सैनिक सन्धियों में शामिल न होना गुट-निरपेक्षता की पहली शर्त है, लेकिन यह इसका बाहरी लक्षण है। वास्तव में, इसका सम्बन्ध अफ्रेशियाई और अन्य विकासशील देशों की स्वतन्त्र चेतना से है जो साम्राज्यवादी चंगुल से छुटकारा पाने के बाद बाहरी दबावों से यथासम्भव मुक्त रहना चाहते हैं। भारत में प्रथम एशियाई सम्मेलन (1946) और इण्डोनेशिया में बाण्डुंग सम्मेलन (1955) के पीछे मुख्यतया यही प्रेरणा काम कर रही थी। अपना रास्ता खुद तलाश करने की इसी प्रवृत्ति ने 1961 में गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की विधिवत नींव रखी....।"[1] अपने प्रारम्भिक वर्षों में गुट-निरपेक्षता के विकास की खिल्ली उड़ायी गयी थी लेकिन आज इस आन्दोलन में एशिया और अफ्रीका के ही नहीं यूरोप और लेटिन अमरीका के देश भी शामिल हैं। गुट-निरपेक्षता की व्यापक शक्ल लेने से पहले कुछ नेताओं ने इसे एशियाई देशों तक ही सीमित रखने का सुझाव दिया। उनके अनुसार एशियाई देशों की आपसी एकता से 'शान्ति का एक क्षेत्र' विकसित होगा और इस 'सुस्थिर' क्षेत्र से वे अधिक विकास कर पायेंगे। जून 1964 में कोलम्बो में भारत, पाकिस्तान, बर्मा, इण्डोनेशिया और श्रीलंका के प्रधानमन्त्रियों की बैठक से पहले गुट-निरपेक्ष और अफ्रेशियाई आन्दोलनों की स्थापना के बारे में कई महत्वपूर्ण बैठकें और सम्मेलन हो चुके हैं। संयुक्त राष्ट्र में अफ्रेशियाई गुट प्रभावी ढंग से सक्रिय था। इसी गुट की सक्रियता के कारण ही कोरिया युद्ध समाप्त हुआ।

सर्वप्रथम, बेलग्रेड में (1961) प्रथम गुट-निरपेक्ष सम्मेलन हुआ जिसमें नेहरू, नासिर और टीटो की तिकड़ी की तरफ दुनिया की नजरें उठीं। डॉ० वैदिक लिखते हैं, "बेलग्रेड में एक तीसरी शक्ति का उदय हुआ था, जिसके नेता अपनी असंलग्नता और नैतिक बल के आधार पर युद्ध के कगार पर खड़ी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को शान्ति के मार्ग पर ले जाने को बेताब थे।" बेलग्रेड सम्मेलन ने तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को कहाँ तक प्रभावित किया, यह एक अलग प्रश्न है, लेकिन यह तो मानना ही पड़ेगा कि शीत-युद्ध के डरावने बादलों के घटाटोप में बेलग्रेड सम्मेलन एक आशा की किरण-सा उभरा था। इसमें 28 देशों ने भाग लिया था। काहिरा के दूसरे गुट-निरपेक्ष सम्मेलन (5-10 अक्टूबर, 1964) में पण्डित नेहरू की अनुपस्थिति सभी ने महसूस की। सदस्यों की संख्या बढ़कर 47 हो गयी। अफ्रीकी एकता संघ और अरब राज्य संघ के महासचिवों ने भी प्रेक्षक की हैसियत से भाग लिया। भारतीय प्रधानमन्त्री लालबहादुर शास्त्री ने अपना पाँच-सूत्रीय कार्यक्रम प्रस्तुत किया—1. परमाणविक निरस्त्रीकरण; 2. सीमा-विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान; 3. विदेशी प्रभुत्व, आक्रमण, विनाश तथा जातिगत भेदभाव से मुक्ति; 4. अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा आर्थिक विकास में तेजी लाना; और 5. संयुक्त राष्ट्र के शान्ति और विकास के कार्यक्रमों को पूर्ण समर्थन। नेहरू के बाद नासिर भी नहीं रहे और एक बार ऐसा लगा कि गुट-निरपेक्ष आन्दोलन भी गर्दिश में है। इसको बचाने का बीड़ा उठाया मार्शल टीटो ने। लुसाका में तीसरे सम्मेलन (6-10 सितम्बर, 1970) में एक नयी समस्या सतह पर आ गयी—हिन्दमहासागर में बढ़ती हुई बड़ी शक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा। भारत का प्रतिनिधित्व श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने किया। जब उन्होंने कहा कि "सैनिक गठबन्धन से अलग रहते हुए गुट-निरपेक्ष देश शान्ति

---

1 दिनमान, 6-12 मार्च, 1983, पृ० 10।

और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के पक्ष में सत्ता का सन्तुलन बनाये रखने के लिए अपने सामूहिक विवेक और प्रभाव का इस्तेमाल कर सकते हैं" तो एक बार प्रतिनिधियो को भारत से आशा बँधी। अल्जीयर्स मे चौथे सम्मेलन (5-9 सितम्बर, 1973) से पहले कई महत्वपूर्ण घटनाएँ घटीं : बंगला देश का जन्म, पश्चिमी एशिया में युद्ध और तेल के दामों में बढ़ोत्तरी। इन सभी मुद्दों की अनुगूंज सम्मेलन में सुनने को मिली। इस सम्मेलन तक गुट-निरपेक्षता की परिभाषा तक भी बदल चुकी थी। अब शुद्ध 'तटस्थ या गुटों से अलग देश' ही इस आन्दोलन के सदस्य नही रह गये थे बल्कि उसकी परिभाषा व्यापक बनाकर इस आन्दोलन को वृहद स्वरूप प्रदान किया जा चुका था। सामूहिक आत्म-निर्भरता की विचारधारा कोलम्बो के पांचवें शिखर सम्मेलन (16-19 अगस्त, 1976) में सुनने को मिली। आर्थिक सहयोग सम्बन्धी कार्यवाही के लिए एक कार्यक्रम भी स्वीकार किया गया। एक प्रस्ताव में कहा गया कि जिस प्रकार विश्व शान्ति को विभाजित नही किया जा सकता, उसी प्रकार तनाव-शैथिल्य भी सार्वदेशिक होना चाहिए। हवाना में छठा शिखर सम्मेलन (3-9 सितम्बर, 1979) अवधि के लिहाज से लम्बा था। विकासशील देशों की आर्थिक समस्याओ के लिए विकसित देशों को जिम्मेदार ठहराया गया। निर्गुट राष्ट्रों का सातवां शिखर सम्मेलन (7-12 मार्च, 1983) नयी दिल्ली में, आठवाँ सम्मेलन (1986) हरारे में तथा नवाँ सम्मेलन (1989) बेलग्रेड मे सम्पन्न हुआ। वर्तमान में इस आन्दोलन की सदस्य संख्या 102 है। अफ्रीकी महाद्वीप से 52 समस्य हैं, इसमे दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीकी जन-संगठन (स्वापो) भी शामिल है। एशिया के 29 राष्ट्र शामिल हे—इसमें फिलस्तीनी मुक्ति संगठन भी सम्मिलित हैं; उत्तरी और मध्य अमरीका के देश, दक्षिणी अमरीका के 7 व यूरोप के 3 देश शामिल है।

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन में ज्यादातर (90% से भी अधिक) तथाकथित तीसरी दुनिया के राष्ट्र शामिल हैं। संयुक्त राष्ट्र में उपनिवेशवाद की कोई समस्या उठने अथवा विश्व-शान्ति के बारे में कोई आम प्रस्ताव आने की स्थिति में गुट-निरपेक्ष राष्ट्र एक साथ वोट देते आये हैं। गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के कारण उपनिवेशवाद की समाप्ति की प्रक्रिया में तेजी आयी और साथ ही देशों का दो गुटों में ध्रुवीकरण धीमा पड़ा। वे यह बात विश्व के सामने लाये कि गुटों से सम्बद्ध होने का कोई विकल्प है, गुटों के बँटने से विश्व-शान्ति का हित नही हो सकता है। गुट-निरपेक्ष देशो और अफ्रीकी-एशियाई गुट ने नव-स्वाधीन देशों को आवश्यक नैतिक समर्थन जुटाया जिससे उन्हें अपनी स्वतन्त्रता से काम करने और अधिकारों का उपयोग करने में मदद मिली।

ग्रुप-ऑफ 77 (Group of 77)—1960 के दशक में संयुक्त राष्ट्र संघ के नये सदस्यों में अफ्रीकी राज्यों की सख्या काफी थी और संघ के लगभग दो-तिहाई सदस्य विकासशील देशों में से थे जो अपने को 'ग्रुप ऑफ 77' कहने लगे। वर्तमान में इनकी संख्या 127 हो गयी है, फिर भी इन्हें 'ग्रुप ऑफ 77' के नाम से ही सम्बोधित किया जाता है। 'ग्रुप ऑफ 77' के अधिकांश देश तीसरे विश्व के हैं। ये देश नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की मांग करते है। संयुक्त राष्ट्र महासभा के छठे विशेष सम्मेलन (मई 1974) में नये शीत-युद्ध की ध्वनि मिलती है और इस बार यह शीत-युद्ध समृद्ध और विकासशील (ग्रुप ऑफ 77) देशों के मध्य दिखायी पड़ा। अमरीकी विदेश सचिव हेनरी किसिंजर ने भी स्वीकार किया कि अब संघर्ष उत्तर-दक्षिण अथवा समृद्ध और निर्धन राष्ट्रो के मध्य होगा। संयुक्त राष्ट्र संघ में 'ग्रुप ऑफ 77' के देशों ने इस बात पर जोर दिया कि नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के निर्माण में संघ के अभिकरणों को सक्रिय किया जाये। 'ग्रुप ऑफ 77' में ऐसे देश हैं जो न केवल निर्धन हैं अपितु एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमरीका महाद्वीपों से जुड़े हैं। ये ऐसे देश हैं जिनके आर्थिक हित समान हैं और जो संयुक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से विश्व अर्थ-व्यवस्था की संरचना में बुनियादी परिवर्तन करना चाहते हैं। 'ग्रुप ऑफ 77' तीसरे विश्व के देशों की एकता का परिचायक है। वे संगठित होकर

सौदेबाजी करना चाहते हैं, तथा समुद्र से सम्बन्धित विधि, शस्त्र-नियन्त्रण, आणविक ऊर्जा, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जैसे मुद्दों पर लिये जाने वाले निर्णयों को प्रभावित करना चाहते हैं। मार्च 1987 में 'ग्रुप ऑफ 77' की मन्त्रिमण्डलीय स्तरीय ढाका बैठक में एक बार पुनः नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की स्थापना पर जोर दिया गया। फिर भी अनेक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों पर 'ग्रुप ऑफ 77' देश विभाजित हैं।

कैनकुन सम्मेलन (**उत्तर-दक्षिण शिखर सम्मेलन**)—गरीब-अमीर लघु शिखर सम्मेलन मैक्सिको के कैनकुन में 24 अक्टूबर, 1981 को समाप्त हुआ। इसमें तीसरे विश्व के देशों ने इस बात पर जोर दिया कि विश्व बैंक व अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के ढाँचे में व्यापक परिवर्तन किया जाये ताकि बदली परिस्थितियों में वे अपने दायित्व का अच्छी तरह पालन कर सकें। प्रस्ताव का अमीर देशों ने कड़ा विरोध किया।

दक्षिण-दक्षिण सम्वाद—उत्तर अमीर देशों का प्रतीक है जबकि दक्षिण में गरीब, तीसरी दुनिया के विकासशील देश आते हैं। इन देशों और उनकी समस्याओं के लिए कई प्रकार के मंच हैं लेकिन उनके विचारों और दृष्टिकोणों में मतभेद इतने व्यापक हैं कि समस्याएँ सिकुड़ने के स्थान पर बढ़ती ही चली जाती हैं। उत्तर और दक्षिण में परस्पर सम्बन्धों का जायजा लेने के लिए पश्चिम जर्मनी के भूतपूर्व चान्सलर विली ब्रांट की अध्यक्षता में उत्तर-दक्षिण संवाद की स्थापना अलबत्ता हुई लेकिन उनमें परस्पर मतैक्य की भावना कम ही रही। 1981 में कैनकुन में उत्तर एवं दक्षिण के जो 22 देश जुड़े थे उनमें अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग के स्थान पर असहयोग की भावना ही अधिक देखने को मिली। उसी समय कुछ विकासशील देशों के नेताओं ने नयी अर्थ-व्यवस्था के बारे में सोचना शुरू कर दिया था क्योंकि इस समय विकासशील देशों की संख्या 122 है और इन्हीं में से '77 देशों का गुट' पहले से ही अस्तित्व में है। नयी दिल्ली में 22 से 24 फरवरी, 1982 तक दक्षिण-दक्षिण सम्मेलन हुआ जिसमें कुल मिलाकर 44 देशों को बुलाया गया। चीन को विशेष प्रतिनिधि के तौर पर आमन्त्रित किया गया, एशिया के 17, अफ्रीका के 14 और लेटिन अमरीका के 13 देशों को बुलाया गया।

विकासशील देशों का ब्यूनस आयर्स सम्मेलन (1983)—अप्रैल 1983 में तीसरी दुनिया के विकासशील देशों का एक सम्मेलन ब्यूनस आयर्स में हुआ। तीसरी दुनिया के देशों ने वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय संकट में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली की भूमिका की निन्दा करते हुए माँग की कि इसकी जगह पर एक नयी अर्थ-व्यवस्था विकसित करनी होगी।

विकासशील देशों के दो हफ्ते के सम्मेलन के अन्त में यह कहा गया कि आजकल विकासशील देशों को जिस संकट का सामना करना पड़ रहा है उसका कारण है : कच्चे माल की बहुत कम कीमत, शुल्क सम्बन्धी बाधाएँ, ब्याज की ऊँची दरें, कर्ज का बोझ तथा बेरोजगारी '

सम्मेलन में विभिन्न विषयों पर और खासकर आर्थिक समस्याओं पर चर्चा के दौरान आम सहमति व्यक्त की गयी लेकिन विभिन्न आयोगों की बन्द कमरे में जो बैठकें हुई उनमें कुछ मतभेद भी उभर कर सामने आये।[1]

77 देशों के गुट द्वारा जो अन्तिम प्रस्ताव तैयार किया गया उसमें विकासशील देशों के सामने उपस्थित गम्भीर आर्थिक संकट की चर्चा की गयी। प्रस्ताव में कहा गया कि 1980 और 1982 के बीच विकासशील देशों को लगभग 200 अरब डालर का नुकसान उठाना पड़ा है। सम्मेलन में यह विचार भी व्यक्त किया गया कि विकासशील देशों का अलग से बैंक बनाया जाये।[2]

---

1 **नवभारत टाइम्स**, नयी दिल्ली, 13 अप्रैल, 1982, पृ० 4।

2 वही।

तीसरी दुनिया में हथियारों की होड़
(ARMAMENT RACE IN THE THIRD WORLD)

इस बात पर तो अब किसी को आश्चर्य नहीं होता कि हथियारों का विनिर्माण विश्व का सबसे बड़ा उद्योग बन चुका है। परन्तु यह निश्चित ही ताज्जुब की बात है कि विकसित देशों ने तीसरी दुनिया के देशों को अपने हथियार बेचने की सबसे बड़ी मण्डी बना दिया है। 1972 से 1982 के दौरान सेनाओं पर खर्च के बारे में अमरीकी शस्त्र नियन्त्रण एवं निःशस्त्रीकरण संस्था की ओर से जारी किये गये आँकड़ों के अनुसार इस अवधि में औद्योगिक राष्ट्रों का रक्षा खर्च 2·4 प्रतिशत की दर से बढ़ा है जबकि तीसरी दुनिया के देशों का रक्षा व्यय इसी अवधि में 5 प्रतिशत की दर से बढ़ गया है। इस दस साल की अवधि में हथियारों का आयात विकसित देशों में 1·1 प्रतिशत की दर से बढ़ा है जबकि तीसरी दुनिया के देशों में हथियारों के आयात में 7·7 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि तीसरी दुनिया में हथियारों के सबसे बड़े खरीददार 1973 के बाद से लेकर अब तक मध्य पूर्व के देश रहे हैं। विश्व भर के कुल हथियार आयात में 1982 में मध्यपूर्व का हिस्सा 42 फीसदी था। तीसरी दुनिया के जो दस देश अपने केन्द्रीय बजट का सर्वाधिक हिस्सा हथियारों की खरीद पर खर्च कर रहे हैं उनमें से आठ मध्यपूर्व से हैं। ओमान जैसा छोटा-सा खाड़ी राष्ट्र अपने केन्द्रीय बजट का आधा हिस्सा हथियारों पर खर्च कर रहा है।

1950 व 1960 के दशकों में तीसरी दुनिया के देश अपनी हथियारों की जरूरतें पूरी तरह आयात के जरिये पूरा करते थे। 1980 के दशक में इन मुल्कों में करीब 1,250 करोड़ रुपये मूल्यों के हथियारों का वार्षिक विनिर्माण भी होने लगा है। मगर यह अस्त्र-शस्त्र विनिर्माण विश्व स्तर पर हो रहे आयुध उत्पादन का एक प्रतिशत भी नहीं है। उधर तीसरी दुनिया के देश जितने हथियार अपने यहाँ बना रहे हैं उसके मुकाबले 10 गुना अधिक मूल्य के हथियारों का आयात कर रहे हैं।

1970 के पहले तीसरी दुनिया में सिर्फ भारत, अर्जेण्टीना, ब्राजील व मिस्र ही ऐसे देश थे जहाँ हथियारों का विनिर्माण होता था। अब 26 विकासोन्मुख देशों में हथियारों के विनिर्माण का काम चल रहा है, हालांकि तीसरी दुनिया के कुल अस्त्र-शस्त्र उत्पादन का आधा हिस्सा सिर्फ भारत व इजराइल में हो रहा है।

तीसरी दुनिया के जिन चार देशों में हथियारों का विनिर्माण तेजी से बढ़ा है वे हैं भारत, इजराइल, दक्षिणी अफ्रीका व चिली। इन देशों में विशिष्ट राजनीतिक जरूरतों के कारण हथियारों का निर्माण शुरू हुआ है। उधर कुछ विकासोन्मुख देश ऐसे हैं जहाँ विदेशी कम्पनियों ने व्यावसायिक कारणों से हथियारों का उत्पादन शुरू किया है।

तीसरी दुनिया में शुरू हो चुके हथियारों के इस सीमित पैमाने के उत्पादन को लेकर भी पश्चिमी देशों के हथियार निर्माताओं में फिक्र पैदा हो गयी है। जब तक ये मुल्क अपनी हथियार की जरूरतों के लिए पश्चिमी देशों या रूस पर पूर्णतः आश्रित थे तब तक हथियारों की होड़ तीसरी दुनिया में मची रहने में शस्त्रार्थ के इन सौदागरों को फायदा ही फायदा नजर आता था। अब हथियारों की बिक्री करने वाले इन देशों को तीसरी दुनिया की हथियार विनिर्माण की कोशिशें 'हथियारों की होड़' का खतरा बनकर दिखायी देने लगी है।

हथियारों के परम्परागत निर्माता व विक्रेता देश अभी तक इस बात को लेकर मन ही मन खुश हैं कि हथियारों के निर्माण की तकनीक में इतनी तेजी से बदलाव आ रहा है कि उनका विनिर्माण तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों के लिए असम्भव बना रहेगा। चाहे स्वदेशीकरण की कितनी

ही चेष्टाएँ तीसरी दुनिया के देश क्यों न करायें उन्हें विशिष्ट रक्षा उपकरणों की अपनी आवश्यकताओं के लिए औद्योगिक राष्ट्रों पर निर्भर रहना ही होगा ।

नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था और तीसरे विश्व का परिप्रेक्ष्य
(THE NEW INTERNATIONAL ECONOMIC ORDER AND THE THIRD WORLD CONTEXT)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था और तीसरे विश्व का परिप्रेक्ष्य वर्तमान सम्बन्ध में एक विचारणीय पहलू है ।

द्वितीय विश्व-युद्ध से पहले कोई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली नहीं थी । प्रत्येक प्रभुसत्ता सम्पन्न देश दूसरों पर पड़ने वाले प्रभावों की परवाह न करके अपनी नीतियों पर चलता रहता था । जब तीसरे दशक के अन्तिम वर्षों में मन्दी की प्रवृत्तियाँ विकसित देशों को प्रभावित करने लगीं जिसके फलस्वरूप उद्योग में पूरी क्षमता का उपयोग नहीं हो पा रहा था और श्रमिक बड़े पैमाने पर बेरोजगार हो रहे थे, तो इन देशों ने आयात में कमी लाने और निर्यात को बढ़ाने के लिए उपाय करने शुरू किये । आयातों पर टेरिफ में वृद्धि कर दी गयी और कोटा सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगाये गये । आर्थिक सहायता और विनिमय ह्रास को निर्यात बढ़ाने के माध्यमों के रूप में इस्तेमाल किया गया । तरजीही व्यापार और भुगतान ब्लाक अस्तित्व में आये । दुर्भाग्यवश, प्रत्येक देश द्वारा निर्यात बढ़ाने के लिए चलाये गये अभियान का प्रभाव उनके व्यापार में सहयोगी अन्य देशों द्वारा आयात पर लगाये गये प्रतिबन्धों के कारण बेअसर रहा । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कमी आने लगी और मन्दी की प्रवृत्तियों ने विश्व-व्यापी मन्दी (ग्रेट डिप्रेशन) का रूप ले लिया, जिसकी परिणति अन्ततः द्वितीय विश्व-युद्ध के रूप में हुई ।

इसलिए द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद मित्र देशों ने पहली बार निर्बाध व्यापार और भुगतान को प्रोत्साहित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के गठन का प्रयास किया । चौथे दशक के अनुभव के आधार पर उन्होंने निर्बाध व्यापार और भुगतान पर बल दिया जिससे सरकारी हस्तक्षेप की गुंजाइश कम हो गयी ।

प्रायः यह मत व्यक्त किया जाता रहा है कि अधिकांश विकासशील देश उस समय औपनिवेशिक प्रभुत्व में थे, इसलिए उनके हितों की उपेक्षा की गयी । यह बात केवल आंशिक रूप से ठीक है । लेटिन अमरीकी देश और भारत, जिसमें उस समय पाकिस्तान और बंगला देश भी शामिल था, और कुछ अन्य विकासशील देशों ने ब्रेटन-वुड्स में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक, जिनेवा में टेरिफ और व्यापार के सामान्य समझौते (गैट) तथा एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन के लिए हवाना घोषणा-पत्र तैयार करने में पूर्ण योगदान दिया था ।

सामान्य तौर पर विकसित और विकासशील देशों के मत में कोई बड़ा अन्तर नहीं था । विकसित देशों ने विश्व-बैंक की स्थापना करके विकासशील देशों के प्रति अपने समर्थन और सहानुभूति का परिचय दिया । इस बैंक का उद्देश्य विकासशील देशों के लिए पूंजी उपलब्ध कराना था । इस समय पर कमी उन प्रक्रियाओं की स्पष्ट अनुभूति न होना थी जिसके कारण हस्तक्षेप की विचारधारा पर आधारित एक अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली विकासशील देशों के विकास को अवरुद्ध कर सकती थी जबकि उनके विकास में तेजी लाने के लिए उनकी सरकारों की तरफ से कहीं अधिक रचनात्मक योगदान मिलना आवश्यक था । केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन से सम्बद्ध हवाना वार्ता में प्राथमिक उत्पादों के आयातक औद्योगिक देशों और अपनी निर्यात आय के लिए इन देशों पर निर्भर करने वाले विकासशील देशों के विचारों में स्पष्ट अन्तर देखने को मिला । ऐसा होते हुए भी इन मुद्दों पर सहमति हुई और हवाना घोषणा-पत्र की अमरीका द्वारा पुष्टि न किये जाने के कारण ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन अस्तित्व में नहीं आ पाया था ।

इसके बाद के वर्षों में जैसे-जैसे अधिक विकासशील देश स्वतन्त्र हुए, उन्होंने अपनी प्रभुसत्ता के प्रतीक के रूप में संगठनों का सदस्य बनना चाहा और इसके लिए सभी दायित्वों को सहर्ष स्वीकार किया। लेकिन समय गुजरने के बाद उन्होंने यह अनुभव करना शुरू किया कि इन संगठनों द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों से उनके प्रयासों में बाधा पड़ती है। इसलिए आवश्यक छूट प्राप्त करने के उद्देश्य से वे कुछ परिवर्तनों की माँग करने लगे। उनकी इन माँगों के प्रति उन्नत देशों का रवैया छठे दशक में कुल मिलाकर रचनात्मक था। विकासशील देशों के लिए 'गैट' के अनुच्छेदों में विशेष प्रावधान बनाये गये। विश्व बैंक ने अपनी सहायता की मात्रा और क्षेत्र का विस्तार किया और 1960 में वाणिज्यिक शर्तों पर सेवा ऋण प्राप्त करने मे असमर्थ देशों को अति उदार शर्तों पर ऋण उपलब्ध कराने के लिए एक सहायक संस्था अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेंसी आई० डी० ए० का गठन किया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने भी, धीमी गति से ही सही, विकासशील देशों को विशेष सुविधाएँ देने के लिए कार्य किया। विकासशील देशों को द्वि-पक्षीय ऋण में वृद्धि की गयी और ऋण शर्तों को बहुत उदार बनाया गया।

इन्हीं प्रवृत्तियों के अनुरूप संयुक्त राष्ट्र संघ ने सातवें दशक को विकास दशक घोषित किया। संयुक्त राष्ट्र व्यापार और विकास सम्मेलन (अंकटाड) का गठन किया गया और इसने उत्तर-दक्षिण सहयोग को बढ़ावा देने सम्बन्धी उपायों पर विचार-विमर्श करने के लिए एक मंच उपलब्ध कराया। विकासशील देशों ने '77 का समूह' का गठन किया ताकि वे एकजुट होकर अपनी आवाज उठा सकें और पश्चिम और पूर्व के विकशित देशों के साथ बातचीत कर सकें। अंकटाड के विचार-विमर्श के फलस्वरूप ही विकासशील देशों के लिए प्राथमिकताओं की सामान्यीकृत योजना तैयार की गयी।

लेकिन सातवें दशक के समाप्त होने के पूर्व वातावरण में परिवर्तन आया। वातावरण में परिवर्तन के अनेक कारण थे जिनमें से कुछ राजनीतिक और आर्थिक कारण थे। वियतनाम युद्ध ने विकासशील देशों और अमरीका के बीच, जो कि सहायता देने के मामले में संसार के सभी देशों से आगे रहता था राजनीतिक मतभेद पैदा कर दिये। इसके बाद अमरीकी सहायता में कटौती किये जाने से विकासशील देशों को सहायता देने मे भी राजनीतिक गन्ध का स्पष्ट आभास हो गया। विकासशील देश अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक के स्वरूप में परिवर्तन की माँग करने लगे। दूसरी तरफ, विकसित देश यह बिल्कुल भी नही चाहते थे कि विकासशील देशों की वित्तीय संस्थाओं या 'गैट' में अपनी बात मनवाने का अवसर दिया जाये।

अन्य घटनाओं के कारण विकसित और विकासशील देशों के राजनीतिक सम्बन्ध और भी बिगड़ गये। अरब-इजराइल युद्ध के कारण संयुक्त राष्ट्र संघ में झड़पें हुई जिनमें विकासशील देशों ने अरब देशों का समर्थन किया जबकि अमरीका और कई औद्योगीकृत राष्ट्रों ने इजराइल का काफी समर्थन किया। इस युद्ध के परिणामस्वरूप स्वेज नहर बन्द कर दी गयी, इसके बाद तेल उत्पादक अरब देशों द्वारा अपने उत्पादन में कमी करने और अमरीका को तेल का निर्यात न करने का निर्णय किया गया ताकि उस पर राजनीतिक दबाव डाला जा सके। तेल की कीमतों में तेजी से वृद्धि होने लगी। औद्योगीकृत देशों के भुगतान शेप पर अन्य दबाव भी थे जिनके परिणामस्वरूप उन्हें निर्धारित विनिमय दर की प्रणाली को छोड़ना पड़ा। यह प्रणाली अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का एक प्रमुख स्तम्भ थी।

वर्ष 1973 में अल्जीयर्स में गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन का आयोजन होने के समय तक उत्तर-दक्षिण सहयोग का पिछला चरण लगभग समाप्त हो चुका था। टकराव का एक नया चरण शुरू हो चुका था। यद्यपि तेल की कीमतों में भारी वृद्धि होने के कारण तेल का आयात करने

वाले विकासशील देशों को एक बड़े संकट का सामना करना पड़ रहा था, लेकिन एकजुटता की भावना का परिचय देते हुए इन देशों ने तेल निर्यातक देशों के संगठन (ओपेक) की आलोचना करने या उन पर दबाव डालने में विकसित देशों का साथ नहीं दिया। इसके स्थान पर उन्होंने ओपेक के इस तर्क का समर्थन किया कि ऊर्जा के साधनों की कीमतों के विषय पर अलग से विचार नहीं किया जा सकता बल्कि यह जिन्स मूल्यों पर व्यापार, वित्त और प्रौद्योगिकी हस्तान्तरण जैसे विषयों पर एक साथ व्यापक विचार-विमर्श का एक भाग होना चाहिए। अल्जीयर्स शिखर सम्मेलन में व्यक्त दृष्टिकोण के फलस्वरूप संयुक्त राष्ट्र महासभा के छठे विशेष अधिवेशन में एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना की घोषणा और इसके लिए एक कार्य योजना सम्बन्धी प्रस्ताव पारित किया गया।

लेकिन विकसित और विकासशील देशों के बीच की खाई बढ़ती रही। बड़ी आशाओं के साथ पेरिस में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग सम्मेलन जून 1977 में निराशाजनक स्थिति में समाप्त हुआ। उत्तर और दक्षिण के बीच सहयोग को नये सिरे से बढ़ावा देने के लिए विश्व बैंक के अध्यक्ष राबर्ट मैकनमारा ने अन्तर्राष्ट्रीय विकास विषयों पर एक स्वतन्त्र आयोग की स्थापना के लिए पहल की। इस प्रयास को संयुक्त राष्ट्र महासचिव श्री वाल्दहीम का समर्थन भी प्राप्त था। इस आयोग का अध्यक्ष ब्रांट को बनाया गया जिन्हें पूर्व-पश्चिम तनाव को कम करने में योगदान देने के लिए नोबल पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। अनेक सुप्रसिद्ध व्यक्ति, जो अपने देशों में अपनी सरकारों के अध्यक्ष रहे या फिर विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञ थे, इस आयोग में शामिल थे। भिन्न-भिन्न पृष्ठभूमियों के बावजूद उन्होंने एक सर्वसम्मत रिपोर्ट तैयार की जिसका विश्वव्यापी प्रचार हुआ। इस रिपोर्ट का मुख्य योगदान आम जनता को उन बातों से अवगत कराना था जिनसे यह पता चलता है कि उत्तर और दक्षिण एक-दूसरे पर निर्भर हैं और आपस में सहयोग करना, विशेषकर इस समय जबकि संसार की अर्थ-व्यवस्था को द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद से निरन्तर गम्भीर खतरों का सामना करना पड़ रहा है, किस प्रकार एक-दूसरे के हित में है।

ब्रांट आयोग की मुख्य सिफारिश यह थी कि विश्व के उभरते संकटों को देखते हुए एक आपातकालीन कार्य योजना की तरफ ध्यान आकृष्ट करने के लिए उत्तर-दक्षिण शिखर सम्मेलन का आयोजन किया जाना चाहिए। इसके बाद संसार की आर्थिक प्रणाली के पुनर्निर्धारण के लिए दीर्घावधि उपाय किये जाने चाहिए। कई सन्देहों और अनिश्चितताओं के बाद यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। मैक्सिको में आयोजित कानकुन शिखर सम्मेलन ने उन विषयों पर विचार-विमर्श किया जो ब्रांट रिपोर्ट के एक मुख्य आपातकालीन कार्यक्रम, अनाज, ऊर्जा, वित्त और व्यापार में शामिल थे। इसने विश्वव्यापी वार्ताओं का भी आधे दिल से समर्थन किया।

लेकिन इससे जो आशाएँ बंधी थीं, वे पूरी नहीं हुई। आपातकालीन कार्ययोजना को कार्य-रूप देने की दशा में कोई ठोस प्रगति नहीं हुई और न ही विश्वव्यापी समझौता वार्ता सम्बन्धी प्रक्रियाओं के बारे में कोई सहमति हो पायी। औद्योगीकृत देश अब अपनी स्थिति के अनुकूल नीतियों पर अधिक ध्यान देने लगे हैं। इन्हीं नीतियों के फलस्वरूप विश्व-व्यापी मन्दी का दौर आया था। अमरीका और कुछ अन्य देशों में व्याज की ऊँची दरों के कारण न केवल ऋणग्रस्त विकासशील देशों के लिए ही बल्कि विकसित देशों और विश्व मौद्रिक प्रणाली के लिए भी समस्याएँ पैदा हो गयीं। संरक्षणवाद केवल विकासशील देशों के उत्पादों पर ही लागू नहीं किया जा रहा बल्कि यह तो "गैट" की मन्त्री स्तर की बैठक में विकसित देशों के बीच भी परस्पर आरोप-प्रत्यारोप का विषय बन गया था।

यदि विकसित देश आज कठिनाइयों के दौर से गुजर रहे हैं तो बड़ी संख्या में विकासशील

देश आज विनाश के कगार पर हैं। ब्याज की ऊँची दरों, निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की माँग में कमी और विकसित देशों में बढ़ते संरक्षणवाद के कारण विकासशील देशों के विदेशी मुद्रा भण्डार में तेजी से कमी आ रही है, कुछ देश अपने ऋण का भुगतान करने में असमर्थ हैं तो कुछ को अनाज और ऊर्जा जैसी आवश्यक चीजों और विकास के लिए आवश्यक पूंजीगत माल और प्रौद्योगिकी के आयात में कटौती करनी पड़ी और संकट का सामना करने के लिए मिलकर विचार-विमर्श के प्रयास करने का कोई चिह्न नजर नहीं आया है। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली के लिए विश्वव्यापी समझौता वार्ता के लिए भी प्रयास नहीं किया गया है।

विश्व की अर्थ-व्यवस्था की वर्तमान संकटपूर्ण स्थिति यदि पूरी तरह नहीं तो एक बड़ी सीमा तक औद्योगीकृत राष्ट्रों द्वारा मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए संकुचन नीतियाँ अपनाने, अपनी ब्याज दरें बढ़ाने, विकास दर की गति धीमी करने जैसे उपायों के कारण बनी है। इस प्रकार बनी मन्दी की प्रवृत्तियों से विकासशील देशों की निर्यात आय में कमी हुई है, आयात करने की क्षमता घटी है जिससे औद्योगीकृत देशों में बेरोजगारी और बढ़ जाती है।

विश्व की अर्थ-व्यवस्था को इस दुष्चक्र से बाहर निकालने के लिए चक्र को उलटा घुमाना होगा, विकासशील देशों के मुद्रा भण्डार को बढ़ाना होगा और इस क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष प्रमुख भूमिका निभा सकता है। इसके बाद विकासशील देश विकसित देशों से अधिक सामान खरीद सकते हैं, जिससे उनकी औद्योगिक क्षमता का उपयोग होगा और रोजगार के अवसर बढ़ेंगे। उन्नत देशों में अधिक औद्योगिक गतिविधियों से तीसरे विश्व के देशों द्वारा किये जाने वाले आयात में वृद्धि होगी। सामान और सेवाएँ खरीदने के लिए विकासशील देशों की जन-शक्ति बढ़ेगी। विकसित देश ही इन वस्तुओं और सेवाओं के प्रमुख सप्लाईकर्ता हैं।

अल्जीयर्स में गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन में एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था का आह्वान किया था। हवाना में इसने दक्षिण-दक्षिण सहयोग की तरफ विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया था। नयी दिल्ली में आयोजित निर्गुट शिखर सम्मेलन (मार्च 1983) ने उत्तर के समृद्ध देशों को यह स्मरण कराने का प्रयत्न किया कि दक्षिण के राष्ट्रों की कमजोर अर्थ-व्यवस्था को अपेक्षाकृत स्वस्थ हालत में बनाये रखना उनके खुद के दीर्घकालीन हितों के अनुरूप होगा। सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों की भुगतान अवधि पुनः निर्धारित करने की आवश्यकता पर जोर दिया गया। यह आवश्यकता भी प्रतिपादित की गयी कि वर्तमान मुद्रा-व्यवस्था के पुनरीक्षण के लिए, जिससे निर्बल व विकासशील देशों की अर्थ-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है, एक विशेष सम्मेलन बुलाया जाये।

बेलग्रेड में छठा अंकटाड सम्मेलन : अंकटाड की निराशा

संयुक्त राष्ट्र व्यापार एवं विकास संघ का छठा अधिवेशन विश्व की आर्थिक व्यवस्था व विकास पर एक माह के लिए लम्बे विचार व बहस के बाद (बेलग्रेड 3 जुलाई, 1984) समाप्त हो गया। इस सम्मेलन के पारित प्रस्ताव एवं विचार-विमर्श से विकासशील व पिछड़े देशों को गहरी निराशा ही हाथ लगी। ग्रुप-77 के अध्यक्ष सोमालिया के ए० एस० उस्मान ने कहा कि अंकटाड-VI विकसित व विकासशील देशों के बीच उत्पन्न गतिरोध को शायद ही तोड़ सकेगा। उन्होंने इसे एक ऐतिहासिक अवसर गँवाने की संज्ञा दी।

जिनेवा में सातवाँ अंकटाड सम्मेलन

जिनेवा में 7वाँ अंकटाड सम्मेलन 3 अगस्त, 1987 को सम्पन्न हुआ जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जिन्स और कम विकसित देशों की समस्याओं के बारे में कतिपय प्रस्तावों पर सहमति हो गयी, परन्तु तीसरी दुनिया के देशों को ऋण के बारे में सहमति नहीं हो सकी।

तीसरी दुनिया के देशों के प्रति महाशक्तियों का रुझान
(GREAT POWERS AND THE THIRD WORLD)

यह सर्वविदित तथ्य है कि महाशक्तियाँ तीसरे विश्व के देशों के आन्तरिक मामलों अथवा द्विपक्षीय विवादों में लगातार हस्तक्षेप करती रहती हैं। अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप, पाकिस्तान को अमरीकी शस्त्र, अल साल्वाडोर, निकारागुआ और ग्रेनाडा में अमरीकी हस्तक्षेप, लीबिया पर अमरीकी हमला (1986), वियतनाम युद्ध आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। मोहम्मद अय्यूब लिखते हैं कि 'इस हस्तक्षेप का कारण हैशक्ति की दृष्टि से विद्यमान विषमता···आवश्यकता है महाशक्तियों एवं तीसरे विश्व के सैनिक-राजनीतिक और आर्थिक सम्बन्धों की सम्पूर्णता का विश्लेषण करने की····।'[1]

आजकल विश्व की दोनों महाशक्तियाँ अनेक अन्तर्राष्ट्रीय मसलों पर तीसरी दुनिया के राष्ट्रों का समर्थन पाने के लिए मित्रता स्थापित करने की चेष्टा करती हैं। वैसे सामान्यतया व्यवहार में यह पाया गया है कि सोवियत संघ तीसरी दुनिया के देशों की माँग का समर्थन करता है जबकि संयुक्त राज्य अमरीका सहित पश्चिमी देश विरोध करते हैं क्योंकि इनकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की दुनिया के अधिकांश देशों में पूँजी लगी होने के कारण पारस्परिक हित टकराते हैं। सैद्धान्तिक रूप से साम्यवादी चीन विश्व महाशक्तियों द्वारा तीसरी दुनिया में छलपूर्वक आधिपत्य जमाने की आलोचना करता है एवं अपने आपको तीसरी दुनिया के देशों, विशेषतः दक्षिण-पूर्व एशियाई राष्ट्रों का नेता मानता है।

तीसरी दुनिया की एकता का प्रश्न
(THE QUESTION OF THIRD WORLD UNITY)

हाल ही में तीसरी दुनिया के देशों में एकता के प्रश्न ने विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत प्रमुख राजनयिकों, पत्रकारों, अर्थशास्त्रियों एवं विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है। यह भी एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि तीसरी दुनिया के विद्वानों से ज्यादा पश्चिमी विश्व के विद्वानों ने इस विषय से सम्बन्धित समस्याओं के अध्ययन में रुचि दिखाई है एवं लगभग यह निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया है कि तीसरी दुनिया की एकता की बात करना मृग-मरीचिका के समान है।

पश्चिमी विद्वानों के मतानुसार तीसरी दुनिया के देशों की एकता का विचार सैद्धान्तिक रूप से उनके मध्य अधिकांश मामलों पर विचार साम्य होने से सम्भव प्रतीत होता है। किन्तु इन देशों की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्थाओं में विभिन्नताओं के कारण व्यवहार में हम उनमें पारस्परिक फूट पाते हैं। ऊपरी तौर पर भले ही वे अपने अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर विश्व महाशक्तियों की आलोचना कर लें एवं राजनीतिक दबाव के साथ ही नयी विदेशी मदद को अस्वीकृत करने की खुली घोषणा कर दें किन्तु असल में वे अपने देश की आर्थिक एवं तकनीकी प्रगति के लिए अधिक से अधिक मदद चाहते हैं। तीसरी दुनिया में ऐसे बहुत कम राष्ट्र हैं जो बड़ी शक्तियों की मदद के बिना अपना आसानी से काम चला सकें। इसके अलावा स्वयं तीसरी दुनिया के राष्ट्रों के साथ कच्चे माल के निर्यात, वस्तुओं के निर्धारण एवं उनके बाजारों के हितों में परस्पर विरोधाभास पाया जाता है। तीसरी दुनिया के तेल उत्पादक राष्ट्रों (जिन्होंने तीसरी दुनिया में विशेष 'धनवान' की श्रेणी प्राप्त कर ली है) ने भी अपने साथी राष्ट्रों के हितों का अभी तक कोई खयाल नहीं किया है एवं उल्टे वे इन राष्ट्रों को महँगे दामों पर तेल निर्यात करते हैं। कम्पूचिया से वियतनामी सेनाओं की वापसी का प्रश्न रहा हो, या ईरान-इराक

1 Mohammad Ayoob, "Conflict and Intervention : Great Powers and the Third World" in M. S. Rajan and Shivaji Ganguli (ed.), *Great Power Relations, World Order and The Third World* (Vikas), 1981, pp. 105-6.

संघर्ष के शान्तिपूर्ण निपटारे की समस्या या फिलिस्तीनी शरणार्थियों का मसला या अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप का मुद्दा हो; आपसी फूट के कारण तीसरे विश्व के देश कोई भी ठोस कदम नहीं उठा सके। इन सभी कारणों से तीसरी दुनिया की सौदा करने की स्थिति कमजोर रही है एवं विकसित राष्ट्रों के शस्त्र अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों एवं आर्थिक मामलों के सम्बन्ध में निर्धारक रहे हैं। पश्चिमी विद्वानों के उपर्युक्त तर्कों में कुछ सच्चाई जरूर है फिर भी वे सिक्के के केवल एक ही पहलू का मूल्यांकन करते नजर आते हैं।

आत्म-निर्भरता जरूरी—तीसरी दुनिया की एकता के लिए सर्वप्रथम शर्त विदेशी निर्भरता से आत्म-निर्भरता की ओर कदम उठाना अपरिहार्य है क्योंकि यह आवश्यक रूप से आर्थिक एकता कायम करने की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास होगा। इन देशों को स्वयं अपनी स्वतन्त्र 'टेक्नालॉजी' का निर्माण करना होगा। यह बात भी किसी से छिपी हुई नहीं है कि विश्व के समस्त औद्योगिक राष्ट्र कच्चे माल की सुगम आपूर्ति के लिए तीसरी दुनिया की आर्थिक एकता को विखण्डित करने में प्रयत्नशील हैं। इस विध्वंश को रोकने के लिए तीसरी दुनिया के राष्ट्रों को औद्योगिक राष्ट्रों की वे सभी आर्थिक शर्तें नहीं माननी चाहिए जो उनके हित में नहीं हैं। तीसरी दुनिया के देशों के मध्य सामूहिक आत्म-निर्भरता बढ़ाने के लिए यूरोपीय साझा बाजार की तरह आर्थिक संगठन स्थापित किया जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के 159 सदस्यों में से लगभग 120 राष्ट्र तीसरी दुनिया के हैं जिनमें से करीब 101 देश गुट-निरपेक्ष हैं। इससे तीसरी दुनिया एवं गुट-निरपेक्ष देशों के मध्य विचारों की समानता प्रकट हो जाती है। यदि तीसरी दुनिया के राष्ट्र चाहें तो अपनी विशाल संख्यात्मक शक्ति से संयुक्त राष्ट्र संघ में विश्व की बड़ी शक्तियों की अहितकारी चालों को असफल कर सकते हैं।

प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'तीसरे विश्व' की भूमिका की विवेचना कीजिए।
   Discuss the role of 'Third World' in International Politics.
2. 'तीसरी दुनिया' से आप क्या समझते हैं? अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'तीसरी दुनिया' की एकता के प्रश्न की विवेचना कीजिए।
   What do you understand with the concept of 'Third World'? Discuss the question of 'Third World Unity' in International Politics.

15

एशिया में विउपनिवेशीकरण एवं नये राज्यों का उदय

[DECOLONISATION AND THE EMERGENCE OF NEW STATES IN ASIA]

एशिया पृथ्वी का सबसे विस्तृत भाग (संलग्न द्वीपों सहित 4 करोड़ 35 लाख वर्ग किमी० का क्षेत्र, अर्थात् कुल थल क्षेत्र का 29·2 प्रतिशत भाग) और सबसे अधिक जनसंख्या वाला महाद्वीप (2½ अरब लोग अर्थात् मानव जाति का आधे से अधिक हिस्सा) है। वह विशाल यूरेशियाई महाद्वीप के 80·5 प्रतिशत क्षेत्र में फैला हुआ है। यूरोप के साथ उसकी 5 हजार किलोमीटर से अधिक लम्बी थल सीमा रेखा सोवियत संघ के क्षेत्र को काटती है और बाल्कान प्रायद्वीप से वह सँकरे जलडमरूमध्यों से अलग किया हुआ है। एशियाई महाद्वीप का उत्तरी-पूर्वी भाग अलास्का से, दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र आस्ट्रेलिया तथा ओसेनिया से दक्षिणी-पश्चिमी भाग अफ्रीका से लगा है। एशिया उत्तरी हिम महासागर, प्रशान्त तथा हिन्द महासागरों और भूमध्य सागरों से घिरा हुआ है, जो अटलांटिक महासागर से जुड़ा है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आजकल एशिया का महत्व बढ़ रहा है। 19वीं शताब्दी यूरोपियन देशों की प्रभुता की शताब्दी थी, जनसंख्या अल्प होते हुए भी अपनी उत्कृष्ट वैज्ञानिक, औद्योगिक, आर्थिक और सैनिक शक्ति के कारण ब्रिटेन, फ्रांस, हॉलैण्ड, बेल्जियम तथा जर्मनी ने अपने देश की जनसंख्या और क्षेत्रफल से कई गुनी अधिक जनसंख्या और क्षेत्रफल रखने वाले एशिया के अधिकांश देशों पर अपनी प्रभुता स्थापित की। किन्तु 20वीं शताब्दी में एशिया में यूरोप के सम्पर्क से अपनी स्वाधीनता पाने के लिए संघर्ष से जो नवजागरण हुआ, उससे इस समूचे महाद्वीप में नयी चेतना की एक लहर आयी।

पश्चिम की प्रभुता और साम्राज्यवाद के विरुद्ध एशिया के विद्रोह को अमरीकी पत्रकार राबर्ट पेन ने वर्तमान समय की सबसे बड़ी घटना कहा है और यह लिखा है कि एशिया को अब अपने महत्व का ज्ञान हो गया है और 'एशिया की शताब्दी' आरम्भ हो गयी है।

एशिया के जागरण और विद्रोह का महत्व
(REVOLT OF ASIA : SIGNIFICANCE)

एशिया के विविध देश किस प्रकार पाश्चात्य देशों के साम्राज्य से मुक्त हुए, उनमें किस प्रकार राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हुई, किस प्रकार उन्होंने अपनी आन्तरिक निर्बलताओं को दूर कर उन्नति के मार्ग में कदम बढ़ाया और किस प्रकार वे विदेशी प्रभुत्व को नष्ट कर अपनी स्वतन्त्रता स्थापित करने में सफल हुए—आदि घटनाओं को पामर और परकिन्स ने 'एशिया का विद्रोह' (Revolt of Asia) कहा है। वे लिखते हैं—"एशिया का विद्रोह 20वीं शताब्दी का सर्वाधिक महत्वपूर्ण विकास सिद्ध हो सकता है।"

मेकमोहन बाल के अनुसार, यह विद्रोह तीन मुख्य शक्तियों की उपज है—"प्रथम, यह विदेशी राजनीतिक नियन्त्रण के विरुद्ध उपनिवेशवाद के विरुद्ध विद्रोह है। यह आत्म-निर्णय का, पूर्व राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का दावा है। द्वितीय, यह उन व्यक्तियों द्वारा एक सामाजिक और आर्थिक विद्रोह है, जिन्हें अपनी दरिद्रता और दुर्भाग्य की तीव्रतर अनुभूति है तथा तृतीय, यह उपयुक्त नाम के अभाव में एक जातीय (Racial) विद्रोह कहा जा सकता है। यह पूर्व का पश्चिम के विरुद्ध विद्रोह है।" 1947 में 'प्रथम एशियन सम्बन्ध सम्मेलन' में पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपने उद्‌गार व्यक्त करते हुए कहा था, "एक परिवर्तन हो रहा है। एशिया पुनः अपने स्वरूप को पहचान रहा है। हम परिवर्तन के एक महान युग में रह रहे हैं और इससे नवीन युग का समावेश तब होगा जब एशिया अन्य महाद्वीपों सहित अपना उचित स्थान ग्रहण करेगा। विश्व इतिहास के इस संकट काल में एशिया निश्चित रूप से अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करेगा।"

एशिया के नव-जागरण के कारण
(RESURGENCE OF ASIA : CAUSES)

उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप उन्नति करता चला गया और एशिया पिछड़ता गया। औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ एशिया कच्चे माल की आवश्यकता, उत्पादित माल को खपाने के लिए मण्डियों और अतिरिक्त धन के विनियोग के लिए यूरोपीय राष्ट्रों के आकर्षण का मुख्य केन्द्र बना। आर्थिक स्रोतों के शोषण की आवश्यकता पर आधारित पश्चिमी स्वामित्व ने कालान्तर में एशियाई देशों को भुखमरी, दरिद्रता, पीड़ा तथा अगणित कष्टों के द्वार पर लाकर खड़ा कर दिया। जब तक लोगों ने विदेशी सत्ता के वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचाना तब तक वे निष्क्रिय और शान्त रहे। जैसे ही उन्हें यह आभास हो गया कि उनके पतन और शोषण का कारण विदेशी शासक और उनकी औपनिवेशिक प्रवृत्तियाँ हैं, वे विद्रोही हो उठे। यह चेतना बहुत कुछ पश्चिमी ज्ञान, साहित्य, कानूनों व संस्थाओं के कारण उत्पन्न हुई थी। प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त एशिया में स्वशासन और राष्ट्रीयता की पहली लहर आयी। एशियाई राष्ट्रों के नेतागण 'स्वशासन', 'राष्ट्रीय आत्म-निर्णय' तथा 'विश्व में अपने उचित स्थान' की माँग करने लगे। इस माँग ने आगे चलकर स्वाधीनता आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। एशियाई राष्ट्रों के स्वाधीनता आन्दोलनों की माँग थी—उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद व जातीय भेदभाव की समाप्ति। द्वितीय विश्वयुद्ध में उपनिवेशवादी शक्तियों का ह्रास हुआ और एक-एक करके एशियाई राष्ट्र स्वतन्त्र होने लगे।

संक्षेप में, एशियाई नव-जागरण के निम्नलिखित कारण हैं :

(1) **जापान की रूस पर विजय**—एशियाई राष्ट्रों में नव-जागरण उत्पन्न करने वाली सबसे प्रभावक घटना 1904-05 में जापान द्वारा रूस को पराजित करना था। इस घटना ने एशिया के लोगों में नयी चेतना और आत्म-विश्वास की एक लहर फैला दी। जापान ने एक नया नारा दिया कि 'एशिया, एशिया वालों के लिए है' (Asia for Asian)। एशिया के अधिकांश देश अब विदेशी शोषण से मुक्त होने की बात सोचने लगे।

(2) **उपनिवेशवादी शक्तियों की दुर्बलता**—द्वितीय विश्वयुद्ध में यद्यपि साम्राज्यवादी शक्तियाँ फासीवाद के विरुद्ध संघर्ष में जनतन्त्रवादी शक्तियों के साथ थीं, फिर भी जहाँ एक ओर जनतन्त्रवादी एवं समाजवादी तत्व मजबूत बने वहाँ दूसरी ओर साम्राज्यवादी एवं उपनिवेशवादी राष्ट्रों का ह्रास हुआ। ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस केवल नाममात्र के ही बड़े राष्ट्र रह गये। इटली और जर्मनी को अपार क्षति हुई और एक प्रकार से वे बरबाद हो गये थे। फ्रांस और ब्रिटेन द्वितीय श्रेणी के राष्ट्र बन गये थे और उनमें इतनी क्षमता नहीं रह गयी कि वे अपने विशाल साम्राज्यों का बोझ सम्भाल पाते।

(3) **पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता का प्रभाव**—एशिया के नव-जागरण में पाश्चात्य शिक्षा

और सभ्यता की प्रमुख भूमिका रही है। एशिया के लोगों ने स्वतन्त्रता, समानता तथा राष्ट्रीय आत्म-निर्णय की शिक्षा पश्चिमी जगत से ही सीखी। शूमां के शब्दों में, "इन पिछड़े हुए राष्ट्रों के नये बुद्धिजीवियों ने विज्ञान, युद्ध, कला तथा राजनीति में पश्चिमी राष्ट्रों की दक्षता तथा निपुणता का ज्योंही एक आंशिक भाग प्राप्त किया त्योंही उनमें इस बात की माँग करने वाले नेतागण भी पैदा हो गये कि उन्हें अपना भविष्य स्वयं निश्चित करने का अधिकार मिलना चाहिए।"

(4) **रूस और समाजवादी राष्ट्रों का मजबूत होना**—द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान सबसे अधिक क्षति सोवियत रूस की हुई थी। फिर भी युद्ध के उपरान्त न केवल रूस एक बड़ी शक्ति के रूप में विश्व रंगमंच पर आया बल्कि यूरोप का समस्त पूर्वी भाग साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत आ गया। इससे साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद विरोधी शक्तियों को बड़ा प्रोत्साहन मिला। रूस सदा से ही साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद का विरोधी रहा है और उसने उपनिवेशों में हो रहे राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों का सदैव ही समर्थन किया है। दूसरे महायुद्ध के बाद रूस द्वारा एक बड़ी शक्ति के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भूमिका निभाने से एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के जागरण को बल मिला।

(5) **विश्व-युद्धों का प्रभाव**—प्रथम और द्वितीय विश्व-युद्धों की एशिया के जागरण में प्रभावकारी भूमिका रही है। इन युद्धों ने एशियाई लोगों में राष्ट्रवाद की लहर को और अधिक प्रबल कर दिया। एशियाई सैनिक अपने यूरोपियन प्रभुओं की ओर से विश्व के अन्य प्रदेशों में युद्ध में शामिल हुए और उन्होंने जहाँ-तहाँ यूरोपीय सेनाओं को पराजित किया। इससे उनका यह भ्रम टूट गया कि यूरोपियन सैनिक अपराजेय हैं। वुडरो विल्सन द्वारा प्रतिपादित चौदह सूत्रों से आत्मनिर्णय और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के विचारों ने उनमें नयी चेतना उत्पन्न की। विश्व-युद्धों ने यूरोपीय साम्राज्यों को नष्ट कर दिया। साम्राज्यवादी देश दुर्बल हो गये तथा तुर्की-अरब उपनिवेश, जर्मनी के एशियाई-अफ्रीकी उपनिवेश, इटली के अफ्रीकी उपनिवेश, उनसे छिन गये। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद ब्रिटेन ने सबसे पहले इस तथ्य को समझ लिया कि शालीनता के साथ अपने उपनिवेशों को स्वतन्त्र कर देना ही समय की माँग है।

(6) **संयुक्त राष्ट्र संघ का योगदान**—संयुक्त राष्ट्र संघ ने उपनिवेशी दासता से त्रस्त मानवता की मुक्ति के लिए कुछ ऐसे सराहनीय कार्य किये जिससे न केवल एशियाई अपितु अफ्रीकी एवं लेटिन अमरीकी नव-जागरण को बड़ा बल मिला।

(7) **अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बदलते हुए स्वरूप का प्रभाव**—एशियाई नव-जागरण को द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद की उभरती अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ने भी काफी कुछ प्रेरित किया है। (अ) दूसरे महायुद्ध के बाद विश्व ने सर्वव्यापक रूप ले लिया और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक समस्याएँ अब केवल कुछ यूरोपीय राष्ट्रों का मसला न रहकर विश्व-व्यापी समस्याएँ बन गयी। शान्ति की भाँति अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति भी अविभाज्य हो गयी है। (ब) द्वितीय महायुद्ध से पूर्व शक्ति का केन्द्र यूरोप था, लेकिन अब शक्ति अमरीका तथा रूस में केन्द्रित हो गयी और इस तरह विश्व दो महान शक्तियों—रूस और अमरीका—के प्रभावों के अन्तर्गत विभाजित हो गया। शक्ति के इस ध्रुवीकरण का एशियाई नव-जागरण पर व्यापक प्रभाव पड़ा। अमरीकी विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य साम्यवाद का विरोध तथा रूस के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकना रहा। इसके लिए अमरीका आर्थिक और सैनिक सहायता की नीति का अवलम्बन करता रहा। दूसरी तरफ सोवियत संघ अमरीकी आर्थिक और सैनिक सहायता के नव-उपनिवेशवादी दुर्गुणों का पर्दाफाश करता रहा। इस प्रकार दो महाशक्तियों की परस्पर विरोधी नीतियों ने एशिया एवं अफ्रीका के जागरण में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। (स) विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र में क्रान्तिकारी विकास का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर विशेष प्रभाव पड़ा है। आवागमन तथा संचार के साधनों के विकास के कारण अविकसित

एशियाई राष्ट्रों में न केवल जागरूकता बढ़ी, अपितु आकांक्षाएँ भी बढ़ी हैं। एशिया और अफ्रीका के लोगों को यह आभास हुआ है कि वे यूरोपीय राष्ट्रों तथा अमरीका से आर्थिक एवं औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए है। यह आभास भी एशियाई-अफ्रीकी जागरण का एक कारण है। (द) द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सैद्धान्तिक वैचारिक मान्यताओं पर भी अधिक बल दिया जाता है। साम्यवाद और पूँजीवाद के बीच टकराव ने भी एशियाई-अफ्रीकी राष्ट्रों को सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटनाओं को परखने पर मजबूर किया है। (य) एशिया-अफ्रीका का जागरण उस उभरते हुए राष्ट्रवाद का दूसरा नाम है जो इन महाद्वीपों पर स्थित राष्ट्रों की आन्तरिक क्षेत्र में राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों एवं मान्यताओं के बीच टकराव एवं आदान-प्रदान के फलस्वरूप विकसित हुआ है।

एशियाई नव-जागरण की प्रमुख प्रवृत्तियाँ
(RESURGENCE OF ASIA : EMERGING TRENDS)

एशिया का नव-जागरण 20वीं शताब्दी की अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। यह उपनिवेशवाद के उन्मूलन का परिचायक है, स्वाधीनता आन्दोलन का प्रेरक है तथा साम्राज्यवाद एवं रंग-भेद के स्वरूपों को खुली चुनौती है। एशिया के जागरण के फलस्वरूप दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ स्पष्टत: दिखायी देती हैं—बौद्धिक स्तर पर यह आकांक्षा है कि परम्परागत जीवन पद्धति को कायम रखते हुए अपने भाग्य का स्वयं निर्माण किया जाये अथवा पश्चिमी जीवन पद्धति का अनुसरण किया जाये। भौतिक स्तर पर भी दो प्रकार की परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ—सकारात्मक और नकारात्मक दिखायी देती हैं।

सकारात्मक प्रवृत्तियाँ (Positive Trends)

1. **साम्राज्यवाद की समाप्ति**—एशियाई नव-जागरण के फलस्वरूप पुराने ढंग के साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का अन्त हुआ। भारत, श्रीलंका, मलाया, इण्डोचीन, फिलीपाइन्स अब सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य बन चुके है। जाग्रत एशिया साम्राज्यवाद के हर रूप से नफरत करता है। एशिया के सभी राष्ट्रों की विदेश नीति का मुख्य लक्ष्य साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद तथा रंग-भेद का उन्मूलन रहा है।

2. **सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन की दिशा**—एशिया के राष्ट्रों में सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन की प्रवृत्ति पायी जाती है। वे राजनीतिक स्वतन्त्रता को स्वयं में साध्य स्वीकार नहीं करते अपितु सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन के लिए साधन मानते हैं। एशिया का परिवर्तन राजतन्त्र की पुरानी शासन प्रणाली तथा सामन्तवाद की पुरानी सामाजिक व्यवस्था के साथ-साथ दरिद्रता, निरक्षरता तथा बेकारी के उन्मूलन का अभियान है। एशिया के लोग आर्थिक विषमताओं को दूर करना चाहते हैं, वे सामाजिक और आर्थिक न्याय चाहते है।

3. **राष्ट्रीयता की भावना का प्रबल होना**—एशिया के नव-जागरण की एक विशेष प्रवृत्ति राष्ट्रीयता की भावना का सभी देशों में शक्तिशाली होना है जिसने इजराइल से लेकर फिलीपाइन्स तक नये राष्ट्रों का निर्माण किया है। इस भावना के कारण सभी देशों में बड़ी क्रान्तियाँ हुई हैं। टर्की में कमाल पाशा के नेतृत्व में, भारत में गांधी, वर्मा में औंगसान, चीन में सुनयात सेन, इण्डोनेशिया में सुकर्ण के तथा वियतनाम में हो ची मिन्ह के नेतृत्व में राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम चलाये गये। राष्ट्रीयता की भावना ने आर्थिक पुनर्निर्माण और विकास के कार्यक्रमों को गति दी है। एशियाई राष्ट्रवाद ने अफ्रीका के नव-जागरण में भी योग दिया है और वहाँ साम्राज्यवादियों द्वारा अपनायी गयी जाति-भेद और रंग-भेद की नीतियों के विरुद्ध जनमानस बनाया है।

4. **साम्यवाद के प्रति आकर्षण**—एशिया के देशों में साम्यवाद के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है। उत्तरी एशिया का बड़ा भाग रूस के साम्यवादी शासन में है। दुनिया का सबसे अधिक जन-

संख्या वाला देश चीन साम्यवादी बन चुका है, उत्तरी कोरिया और वियतनाम में साम्यवादी शासन है, अफगानिस्तान में रूस समर्थक सरकार पदासीन है। भारत में केरल, प० बंगाल और त्रिपुरा राज्यों में साम्यवादियों का काफी जोर है।

एशिया में साम्यवादी प्रसार में कई कारण सहायक हैं: **प्रथम,** साम्यवादी रूस सदैव एशियाई देशों में स्वाधीनता के लिए चलाये जाने वाले राष्ट्रीय आन्दोलनों का समर्थन तथा पश्चिमी देशों द्वारा एशियाई देशों का शोषण का विरोध करता रहा है। **द्वितीय,** इन देशों को साम्यवादी रूस की आर्थिक स्वतन्त्रता पर बल देने वाली लोकतन्त्र की भावना पश्चिमी यूरोप की लोकतन्त्र की भावना की अपेक्षा अधिक आकर्षक प्रतीत होती है। पश्चिमी देश राजनीतिक स्वतन्त्रता पर बल देते हैं जबकि साम्यवाद आर्थिक स्वतन्त्रता पर अधिक बल देता है। एशिया-वासियों के लिए सूक्ष्म राजनीतिक अधिकारों की अपेक्षा रोटी अधिक महत्वपूर्ण है। **तृतीय,** साम्यवाद वहाँ अधिक पनपता है जहाँ निर्धनता, भुखमरी, बेकारी आदि समस्याएँ होती हैं। एशिया के अधिकांश पिछड़े देशों में ऐसी ही स्थिति है; अतः यहाँ साम्यवाद के प्रसार का उपयुक्त धरातल है। **चतुर्थ,** साम्यवादी क्रान्ति से पूर्व रूस एवं चीन अत्यन्त पिछड़े हुए देश थे। साम्यवादी विचार-धारा के कारण कुछ ही वर्षों में वे महाशक्तियाँ बन गये। अतः उनका अनुभव एशिया के अन्य पिछड़े देशों के लिए बड़ा महत्वपूर्ण तथा उन्नति में सहायक सिद्ध हो सकता है।

5. **गुटों से अलग रहने की नीति**—एशिया के देशों में गुटों से पृथक् रहने की प्रवृत्ति पायी जाती है। वे अपने आपको किसी गुट से सम्बद्ध नहीं करना चाहते। भारत, श्रीलंका आदि देशों ने निर्गुट राष्ट्रों के आन्दोलन को कोलम्बो शिखर सम्मेलन (1976) तथा नयी दिल्ली शिखर सम्मेलन (1983) के माध्यम से काफी शक्ति प्रदान की है। एशिया के अनेक देश आज गुटों से अलग रहने की नीति में आस्था रखते हैं।

नकारात्मक प्रवृत्तियाँ (Negative Trends)

1. **जन आकांक्षाओं की बढ़ती हुई प्रवृत्ति**—राजनीतिक चेतना से एशिया के लोगों में इतनी अधिक आकांक्षाएँ और माँगें बढ़ गयी हैं कि उन्हें पूरा करना आसान नहीं है। इससे लोगों में निराशा की प्रवृत्ति बढ़ने लगी।

2. **उग्र राष्ट्रवाद एवं आपसी टकराहट**—एशिया का राष्ट्रवाद उग्र होता जा रहा है। आज एशिया का शायद ही कोई ऐसा देश हो जो अपने किसी एशियाई देश के साथ विवादों में न उलझा हो। इन विवादों के कारण एशिया में युद्ध और तनाव चलते रहते हैं। जैसा कि थामस ए० रुश ने कहा है कि एशिया में विद्यमान प्रमुख तनाव क्षेत्र हैं—चीन-रूस विवाद; चीन-वियतनाम विवाद; भारत-चीन विवाद; भारत-पाक विवाद; तथा अरब-इजराइल विवाद; मलेशिया-इण्डोनेशिया विवाद; राष्टवादी (फारमोसा) चीन और साम्यवादी चीन में विवाद; अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप, ईरान-इराक विवाद, श्रीलंका में तमिलों की समस्या।

एशियाई जागरण के चार युग
अथवा
बाण्डुंग सम्मेलन और खण्डित एकता
(THE FOUR STAGES OF THE RESURGENCE OF ASIA)
OR
(BANDUNG CONFERENCE—DIVIDED UNITY)

एशिया के जागरण और उसकी अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अभिव्यक्ति को आन्तरिक क्षेत्र की विशेषताओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सन्दर्भ के पारस्परिक प्रभावों के आधार पर अलग-अलग भागों में बाँटा जा सकता है। जिस तरह एशियाई राष्ट्रों में आन्तरिक परिवर्तन होते रहे हैं, वैसे

ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी परिवर्तन आये हैं। इन्हीं परिवर्तनों के आधार पर एशियाई जागरण को कुछ निश्चित युगों में बाँट सकते हैं। ऐसे युग मुख्यतः चार हैं :

(i) सन् 1947 से 1955 तक;
(ii) सन् 1955 से 1962 तक;
(iii) सन् 1962 से 1971 तक, तथा
(iv) सन् 1971 से अब तक।

प्रथम युग (1947 से 1955 तक)

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद एशिया और अफ्रीका में स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता तथा लोकतन्त्र की पहली लहर आयी। एशियावासी 'आत्म-निर्णय' की माँग करने लगे। सम्पूर्ण महाद्वीप में पाश्चात्य प्रभुत्व से छुटकारा पाने की प्रबल लालसा जाग्रत हुई। द्वितीय विश्व-युद्ध में श्वेत जातियों को जिन प्रारम्भिक गम्भीर पराजयों का सामना करना पड़ा था उससे एशियाई जनता को यह विश्वास हो गया कि पश्चिमी राष्ट्र अजेय नहीं हैं। इस अनुभूति के फलस्वरूप स्वतन्त्र आन्दोलनों में नयी जान आ गयी। थके हुए यूरोप के लिए आजादी की लहर को दबाना कठिन हो गया और एक के बाद एक लगभग सभी एशियाई राष्ट्रों के स्वप्न पूरे होते चले गये।

स्वाधीनता की लहर का प्रसार—इस काल में विभिन्न एशियाई राष्ट्रों में स्वतन्त्रता आन्दोलनों ने जोर पकड़ा और 1947 में स्वतन्त्र भारत के उदय से एशियाई राष्ट्रवाद को बहुत प्रोत्साहन मिला। बर्मा, श्रीलंका, कम्बोडिया, लाओस आदि अनेक राष्ट्र स्वतन्त्र हो गये। 1949 में चीन में जो साम्यवादी क्रान्ति हुई, वह भी एशियाई जागरण की प्रतीक थी।

उपनिवेशवाद का विरोध—इस काल में उपनिवेशवाद का भी कड़ा विरोध किया जाने लगा था क्योंकि (अ) साम्राज्यवाद के विरुद्ध सोवियत रूस एक महान शक्ति के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय मच पर आया था; (व) पुरानी साम्राज्यवादी-उपनिवेशवादी शक्तियाँ कमजोर होती जा रही थीं; (स) अमरीका इस प्रारम्भिक युग में एशियाई राष्ट्रवाद व साम्यवाद में भेद कर रहा था और जबकि वह साम्यवाद का कट्टर विरोधी था, राष्ट्रवाद के प्रति अभी तक उसकी सहानुभूति थी। साम्यवाद का विरोध अभी जोर नहीं पकड़ पाया था। इस प्रकार की अवस्था 1949 तक चलती रही जब चीन में क्रान्ति हुई और साम्यवाद का विरोध अमरीकी नीति का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया।

एशियाई एकता के प्रयास—विश्व मामलों में उपयुक्त प्रभाव की प्राप्ति के लिए नवस्वतन्त्र एशियाई राष्ट्र एक ओर तो पाश्चात्य शक्तियों और साम्यवादी गुट के शीत-युद्ध में अधिकांशतः गुट-निरपेक्षता को अपनाने लगे तथा दूसरी ओर, वे गुट-निरपेक्षता, पंचशील, उपनिवेशवाद का विरोध, जातीय समानता (Racial equality) की माँग के आधार पर एक सामान्य नीति के विकास करने का प्रयत्न करने लगे। इस प्रयत्न के परिणामस्वरूप एशियाई-अफ्रीकी ऐक्य (Afro-Asian Solidarity) के आन्दोलन का विकास हुआ।

प्रथम एशियाई सम्मेलन—इस प्रकार के ऐक्य की अभिव्यक्ति मार्च 1947 में 'विश्व मामलों की भारतीय परिषद' (Indian Council of World Affairs) के तत्वावधान में नयी दिल्ली में आयोजित गैर-सरकारी 'एशियाई मैत्रीपूर्ण सम्मेलन' (Asian Relations Conference) में हुई, जिसमें 28 देशों के प्रतिनिधि आये। इसका उद्देश्य एशियाई राष्ट्रों के बीच मैत्री व सहयोग को प्रोत्साहित करना तथा एशियाई जनता की प्रगति व हितों में वृद्धि करना निश्चित किया गया। जवाहरलाल नेहरू ने सम्मेलन का महत्व बताते हुए कहा कि "परिस्थितियों में परिवर्तन आ रहा है तथा एशिया को अपनी स्थिति का ज्ञान हो गया है। एशिया के देश अब दूसरे के हाथ का मोहरा नहीं बनेंगे, विश्व के विषय में उनकी अपनी नीतियों का होना निश्चित है।"

द्वितीय एशियाई सम्मेलन—जनवरी 1949 में दूसरा एशियाई सम्मेलन नयी दिल्ली में

इण्डोनेशिया के प्रश्न पर विचार करने के लिए बुलाया गया जिसमें भाग लेने वाले 19 देशों के प्रतिनिधियों ने डच पुलिस और सेनाओं के इण्डोनेशिया से अविलम्ब चले जाने और 1 जनवरी, 1950 तक उसे स्वतन्त्र किये जाने की माँग की। इस अवसर पर एशियाई राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने पारस्परिक एकता का परिचय देते हुए गुटबन्दी की भावना को बुरा बताया और भविष्य में और भी अधिक पारस्परिक सहयोग के लिए सहमति प्रकट की।

बोगुई सम्मेलन—मई 1950 में फिलीपाइन्स में एशियाई राष्ट्रों के मध्य सांस्कृतिक और आर्थिक सहयोग बढ़ाने के उद्देश्य से बोगुई में एक एशियाई सम्मेलन का आयोजन किया गया।

बोगोर सम्मेलन—अप्रैल 1954 में कोलम्बो शक्तियों—भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, बर्मा तथा इण्डोनेशिया—के प्रधानमन्त्रियों ने चीन की समस्या पर विचार-विमर्श करने के लिए पारस्परिक वार्ताएँ कीं। ये प्रधानमन्त्री पुनः दिसम्बर 1954 में बोगोर में एकत्रित हुए और उन्होंने एशिया एवं अफ्रीका के राष्ट्रों का वृहद् सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया जो बाण्डुंग सम्मेलन के नाम से प्रसिद्ध है।

बाण्डुंग सम्मेलन—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद एशिया और अफ्रीका में नव-जागरण की लहर का सर्वोत्तम रूप बाण्डुंग सम्मेलन में प्रकट हुआ। भारत, बर्मा और इण्डोनेशिया द्वारा इस महान अफ्रो-एशियाई सम्मेलन का आयोजन किया गया जो 18 अप्रैल, 1955 से 27 अप्रैल, 1955 तक चला। इस सम्मेलन में भारत सहित 29 राष्ट्र शामिल हुए।[1] जिन 29 राष्ट्रों ने इस सम्मेलन में भाग लिया वे शक्ति व राजनीतिक दृष्टि से अधिक शक्तिशाली नहीं थे, किन्तु ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्पराओं की दृष्टि से वे केवल पुराने ही नहीं वरन् सम्माननीय भी थे। पहली बार साम्यवादी चीन भी गैर-साम्यवादी राष्ट्रों के साथ सद्भावना और मैत्रीपूर्ण विचार-विमर्श में भाग लेने के लिए उपस्थित हुआ।

इस सम्मेलन को बुलाने के प्रयोजन निम्नलिखित थे—सद्भावना और सहयोग की वृद्धि, एशिया तथा अफ्रीका के देशों से विशेष सम्बन्ध रखने वाली आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओं पर विचार, वर्तमान विश्व में एशिया तथा अफ्रीका की स्थिति पर तथा इन देशों द्वारा विश्व-शान्ति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए किये जा सकने वाले कार्यों पर विचार-विमर्श करना। इस सम्मेलन का उद्घाटन 18 अप्रैल, 1955 को इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति डॉ० अहमद सुकर्ण ने किया। भारत के प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने इस सम्मेलन में चीन के प्रधानमन्त्री चाऊ एन लाई के साथ प्रमुख रूप से भाग लिया। सम्मेलन में एशिया और अफ्रीका की समस्याओं पर विस्तृत विचार हुआ।

इस सम्मेलन में एशिया और अफ्रीकी नेताओं ने सर्वसम्मति से चार महत्वपूर्ण माँगें प्रस्तुत कीं :

(i) राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की और उपनिवेशवाद के अन्त की माँग;
(ii) मानवीय गौरव की, प्रतिष्ठा की और जातीय भेदभाव के अन्त की माँग;
(iii) दरिद्रता और सामन्तवाद के अन्त की माँग;
(iv) युद्ध के शाश्वत भय के अन्त की माँग।

---

[1] बाण्डुंग सम्मेलन में निम्नलिखित देश शामिल हुए थे—भारत, पाकिस्तान, इण्डोनेशिया, चीन, जापान, तुर्की, अफगानिस्तान, वियतनाम, वियतमिन्ह, लाओस, कम्बोडिया, मिस्र, सूडान, गोल्डकोस्ट, साइबेरिया, इराक, लीबिया, फारस, सीरिया, लेबनान, जोर्डन, अफ्रीकी मध्य संघ, सऊदी अरेबिया, यमन और नेपाल। थाईलैण्ड और फिलीपाइन्स ने निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया था।

सम्मेलन में भाग लेने वाले देशों ने यह निश्चय किया कि वे आर्थिक विकास के लिए एक-दूसरे को विशेषज्ञों, अग्रगामी योजनाओं तथा उपयुक्त साधन सामग्री सहायता द्वारा प्रदान करेंगे; आर्थिक विकास के कार्यक्रम को चलाने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा एक विशेष निधि की व्यवस्था होनी चाहिए, आणविक शक्ति का विकास एशिया तथा अफ्रीका के देशों के शान्तिपूर्ण प्रयोजनों के लिए होना चाहिए। इन देशों को अपनी आर्थिक उन्नति तथा विशेष हितों की रक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की बैठकों में सम्मिलित होने से पहले विचार-विमर्श करके सामान्य हित की नीति निश्चित कर लेनी चाहिए। व्यापारिक उन्नति के लिए पारस्परिक समझौते करने चाहिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों को स्थिर करना चाहिए। सम्मेलन ने अफ्रीका में जातीय भेदभाव और पृथकत्व की नीतियों की घोर निन्दा की। एक अन्य प्रस्ताव द्वारा मध्य-पूर्व में तनाव और संकट का कारण पैलेस्टाइन की स्थिति को बताया गया। सम्मेलन ने निःशस्त्रीकरण का समर्थन करते हुए मानव जाति के परित्राण के लिए अणु परीक्षणों पर तथा आणविक आयुधों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रस्ताव पास किया।

जवाहरलाल नेहरू चाहते थे कि इस सम्मेलन द्वारा एशियाई देशों के बीच सहयोग और मित्रता की भावना को और मजबूत किया जाये। उनका विचार था कि एशियाई देशों के बीच मित्रता विश्व-शान्ति के लिए बहुत जरूरी है और शान्ति के वातावरण में ही एशिया को साम्राज्यवादी-उपनिवेशवादी हस्तक्षेप से दूर रखा जा सकता है। लेकिन जब सम्मेलन प्रारम्भ हुआ तो एशिया के देशों के परस्पर विरोध और उनकी विदेश नीतियों में मतभेद स्पष्ट सामने आये। कुछ देश पूरी तरह साम्यवाद विरोधी और पश्चिमी साम्राज्यवादी राष्ट्रों के समर्थक थे, और कुछ साम्यवाद का विरोध करने के साथ-साथ साम्राज्यवाद का विरोध करते थे। ऐसे देश भी थे जो गुट-निरपेक्षता की नीति अपनाते थे और कुछ पूरी तरह साम्यवादी थे। इन विभिन्न विदेश नीतियों के बीच टकराव बाण्डुंग सम्मेलन में पूरी तरह से सामने आया। जहाँ एक ओर यह मत व्यक्त किया गया कि साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का डटकर विरोध करना चाहिए और इस बात में सन्देह नही था कि कौन-से राष्ट्र इस प्रकार की नीतियाँ अपनाते हैं, वहाँ श्रीलंका के प्रधानमन्त्री जॉन कोटेलवाला ने यह कहा कि उपनिवेशवाद की निन्दा करते हुए सम्मेलन को इसमें साम्यवादी शासन के उस प्रकार को भी सम्मिलित करना चाहिए जो शक्ति, घुसपैठ (Infiltration) तथा विध्वंस (Subversion) द्वारा स्थापित किया जाता है। इस विषय पर सम्मेलन में बड़ा कटु तथा उग्र विवाद हुआ और इसके बाद यह निश्चय हुआ कि ऐसा शासन भी उपनिवेशवाद है। इस विषय में प्रतिनिधियों के मतभेदों को हल करने के लिए दस सिद्धान्तों का प्रस्ताव स्वीकार किया गया। इनमें पाँच सिद्धान्त तो 'पंचशील' वाले हैं और पाँच नये सिद्धान्त हैं। ये दस सिद्धान्त इस प्रकार हैं :

(1) मानव के मौलिक अधिकारों के प्रति सम्मान;

(2) संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के उद्देश्यों और सिद्धान्तों के प्रति सम्मान की भावना;

(3) बड़े और छोटे सभी राज्यों को तथा सब जातियों को समान समझना;

(4) दूसरे देश के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना;

(5) प्रत्येक राष्ट्र के इस अधिकार का सम्मान कि वह स्वयं अकेले ही अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुसार सामूहिक रूप से आत्म-रक्षा कर सकता है;

(6) महाशक्तियों द्वारा विशेष हितों की पूर्ति के विशेष उद्देश्य से की गयी सामाजिक प्रतिरक्षा की व्यवस्थाओं का प्रयोग न करना तथा दूसरे देशों पर दबाव न डालना;

(7) आक्रमण के कार्य न करना, इसकी धमकी न देना, किसी देश की प्रादेशिक अखण्डता या राजनीतिक स्वतन्त्रता भंग करने के लिए शक्ति का प्रयोग न करना;

(8) सभी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान, सन्धि-वार्ता, संराधन, पंच-निर्णय, न्यायिक निर्णय आदि के शान्तिपूर्ण उपायों से करना;

(9) पारस्परिक हितों तथा सहयोग की वृद्धि;

(10) न्याय के प्रति तथा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के प्रति सम्मान की भावना।

बाण्डुंग सम्मेलन को 'तीसरी शक्ति' (third force) के अभ्युदय का प्रतीक कहा गया। सम्मेलन में भाग लेने वाले एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रों के जीवन में एक आत्म-विश्वास और आशा का उदय हुआ। इस सम्मेलन के सम्बन्ध में वार्नर ने लिखा है कि "यह एशिया और अफ्रीका के पुनरुत्थान (Resurgence) का प्रतीक था।" एशिया की राजनीति के दृष्टिकोण से सम्मेलन के दो महत्वपूर्ण परिणाम निकले—इसने विश्व राजनीति की समस्याओं के प्रति एशिया और अफ्रीका में एक समान दृष्टिकोण को जन्म दिया। इसके अतिरिक्त, बाण्डुंग सम्मेलन के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र संघ में एक शक्तिशाली एशियाई-अफ्रीकी गुट का उदय हुआ जिसका राजनीति पर काफी प्रभाव पड़ रहा है। संयुक्त राष्ट्र महासभा में दो-तिहाई बहुमत से पास होने वाले प्रस्ताव के लिए इस गुट का समर्थन आवश्यक हो गया है। बाण्डुंग सम्मेलन के परिणामस्वरूप साम्यवादी चीन को एशिया के देशों के मध्य अपनी स्थिति को स्पष्ट करने का मौका मिला। चीन के प्रधानमन्त्री चाऊ एन लाई ने एशिया और अफ्रीका के मुक्ति संग्रामों का जोरदार समर्थन किया।

फिर भी इस सम्मेलन के बाद एशियाई एकता का कोई सर्वमान्य स्वरूप सामने नहीं आया। इस सम्मेलन में यह स्पष्ट हो गया कि एशियाई देशों पर तीन प्रकार के दबाव पड़ रहे थे। प्रथम तो पश्चिमी राष्ट्रों का प्रभाव था जिसके अन्तर्गत साम्यवाद विरोधी देशों में सैनिक अड्डे बनाये जा रहे थे। इन अड्डों का मुख्य उद्देश्य असंलग्न देशों पर अपनी नीति बदलने के लिए दबाव डालना था। दूसरे प्रकार का दबाव असंलग्न देशों का था, जो यह माँग कर रहे थे कि साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का विरोध करने के लिए एकजुटता आवश्यक है। एशिया के अधिकतर राष्ट्र असंलग्नता की विदेश नीति अपना रहे थे और वे एशिया को शीत-युद्ध से दूर रखने के लिए कटिबद्ध थे। तीसरा दबाव साम्यवादी राष्ट्रों का था। लेकिन साम्राज्यवादियों के विरुद्ध संघर्ष में साम्यवादी देश गुट-निरपेक्ष देशों के साथ थे। गुट-निरपेक्ष देशों में साम्यवाद के प्रति परस्पर विरोधी धारणाएँ थीं। कुछ गुट-निरपेक्ष देशों में साम्यवाद के प्रति आकर्षण था तो कुछ गुट-निरपेक्ष देश साम्यवाद को सन्देह की दृष्टि से देखते थे।

द्वितीय युग (1955 से 1962 तक)

बाण्डुंग सम्मेलन के बाद कुछ समय तक 'बाण्डुंग भावना' का बोलबाला रहा। गुट-निरपेक्षता का अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्वतन्त्र भूमिका निभाना था। संयुक्त राष्ट्र संघ में मतभेदों के बावजूद अफ्रो-एशियाई गुट की स्थापना की गयी। बाण्डुंग में एशिया के राष्ट्रों के अतिरिक्त अफ्रीका के स्वतन्त्र राष्ट्रों ने भी भाग लिया था। कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत होने लगा कि विश्व के ये दो बड़े महाद्वीप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में साम्राज्यवाद के विरुद्ध महत्वपूर्ण भूमिका निभायेंगे।' अफ्रो-एशियाई गुट ने संयुक्त राष्ट्र संघ में रंगभेद की नीतियों के विरोध में और उपनिवेशवाद के मसलों पर एकमत होकर कार्य किया। गुट-निरपेक्ष देशों ने विश्व की दो महाशक्तियों—संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ के बीच सम्बन्धों के सुधार के लिए भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इन दो महाशक्तियों के बीच शीत-युद्ध में न केवल शिथिलता आयी अपितु परमाणु अस्त्रों के निर्माण एवं उनके इस्तेमाल के सम्बन्ध में पारस्परिक वार्ता का सूत्रपात : । इस युग में एशिया के कई देश स्वतन्त्र हुए और एशिया के जागरण को काफी प्रोत्साहन । यह ऐसा समय था जिसमें महाशक्तियाँ एशिया और अफ्रीका के देशों की उपेक्षा नहीं कर सकती थीं।

इस सभी उपलब्धियों के साथ-साथ कतिपय नकारात्मक तथ्य भी सामने आये। जहाँ एक ओर उपनिवेशवाद का ह्रास हो रहा था वहीं दूसरी ओर साम्राज्यवादी ताकतें अप्रत्यक्ष रूप से एशियाई राष्ट्रों के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप करने लगी। 1956 में ब्रिटेन, फ्रांस और इजराइल ने मिलकर मिस्र के स्वेज नहर के क्षेत्र पर हमला किया। ईरान में जब तेल कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण की बात आई तो वहाँ की सरकार का तख्ता पलट दिया गया। अमरीका ने पाकिस्तान को सैनिक सन्धि के जाल में फँसा लिया। सीटो और बगदाद पैक्ट जैसी सन्धियों में एशिया के राष्ट्र बँधने लगे। अमरीका ने जापान के साथ सैनिक सन्धि कर ली। भारत-चीन सीमा विवाद उग्र रूप धारण करने लगा। अक्टूबर 1962 में चीन ने भारत पर आक्रमण कर दिया। गुट-निरपेक्ष भारत न केवल परास्त हुआ अपितु संघर्ष की इस कठिन घड़ी में अकेला पड़ गया। गुट-निरपेक्षता और पंचशील के उच्च आदर्श खोखले सिद्ध हुए। एशियाई एकता का सपना टूटने लगा।

तीसरा युग (1962 से 1971 तक)

अब बाण्डुंग भावना का अन्त और एशियाई एकता में दरारें साफ परिलक्षित होने लगीं। अक्टूबर 1962 में भारतीय सीमाओं पर आक्रमण करके चीन ने अपने इरादों को स्पष्ट कर दिया। इसने एशिया की दो शक्तियों—भारत और चीन—में सहयोग की सम्भावनाओं को नष्ट कर दिया। 1965 में पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण करके शत्रुतापूर्ण कार्यवाही का परिचय दिया। भारत के विरुद्ध पेकिंग-पिण्डी धुरी का उदय हुआ। 1965 में इंडोनेशिया में हस्तक्षेप करके चीन ने साम्यवादी क्रान्ति करवाने का असफल प्रयास किया। एशियाई राष्ट्रों में झगड़े और विवाद इतने प्रबल होने लगे कि दस वर्ष बाद अफ्रेशियाई सम्मेलन का आयोजन करना ही कठिन हो गया। यद्यपि अल्जीरिया की राजधानी अल्जीयर्स में 29 जून, 1965 को अफ्रेशियाई सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया गया परन्तु अल्जीयर्स की क्रान्ति के कारण सम्मेलन का आयोजन न किया जा सका और आज तक बाण्डुंग भावना को पुनः स्थापित करने वाला कोई सम्मेलन अस्तित्व में नहीं आया। भारत-चीन संघर्ष से एशिया के लघु राष्ट्रों में चीन का आतंक छा गया। इसका एक परिणाम यह निकला कि चीनी आतंक से भयभीत राष्ट्रों में पश्चिमी साम्राज्यवादी राष्ट्रों को हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया। वस्तुतः 1971 तक एशियाई एकता का ठोस रूप उभरकर सामने नहीं आया। कुछ लोगों का यह मानना था कि एशिया जैसे विशाल महाद्वीप के राष्ट्रों में इतनी अधिक विविधता है कि उन्हें एक सूत्र में बाँधना असम्भव-सा है। इसलिए क्षेत्रीय आधार (Regional Integration) पर एशियाई राष्ट्रों को संगठित किया जाय। इसी प्रक्रिया में दक्षिणी-पूर्वी एशिया के राष्ट्रों का एक संगठन जिसे 'आसियन' (ASEAN) के नाम से पुकारा जाता है, अस्तित्व में आया। इस संगठन में मलेशिया, इण्डोनेशिया, थाईलैण्ड, फिलिपाइन्स आदि सम्मिलित हैं। किन्तु क्या एशियाई राष्ट्रों में क्षेत्रीय एकता सम्भव है? दक्षिण एशिया में भारत, पाकिस्तान और बंगला देश में आपसी वैमनस्य विद्यमान हैं, पूर्वी एशिया में चीन और जापान में प्रतिस्पर्द्धा विद्यमान है, और पश्चिमी एशिया में ईरान-इराक एवं इजराइल और अन्य अरब राज्यों में संघर्ष की स्थिति बनी हुई है।

चतुर्थ युग (1971 से आज तक)

इस काल में एशिया में एकता के बजाय संघर्ष के अनेक स्थल दिखायी पड़ते हैं। 1971 में स्वतन्त्र बंगला देश का अभ्युदय हुआ। इससे भारत-पाक सम्बन्धों में तनाव और अधिक बढ़ गया। 1973-74 में पश्चिमी एशिया में अरब-इजराइल संघर्ष व युद्ध चलता रहा। दक्षिणी-पूर्वी एशिया में वियतनाम संघर्ष अपनी चरम सीमा पर था। 17 फरवरी, 1979 को चीन ने वियतनाम पर आक्रमण कर दिया। 27 दिसम्बर, 1979 को अफगानिस्तान में सोवियत सेनाओं का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप तथा उनका वहाँ निरन्तर बने रहना दक्षिण एशिया को तनाव का सक्रिय केन्द्र बना देता

है। 22 सितम्बर, 1980 से शुरू होने वाला ईरान-इराक युद्ध संयुक्त राष्ट्र संघ के अथक प्रयासों से अगस्त 1988 में बन्द हुआ। महाशक्तियों के हस्तक्षेप के कारण कम्पूचिया की समस्या आज भी जटिल और उलझन भरी है। न तो चीन और न ही वियतनाम चाहता है कि कम्पूचिया स्वतन्त्र और तटस्थ महसूस करे।

आज भी भारत की हजारों वर्ग मील भूमि पर चीन ने अनाधिकृत कब्जा कर रखा है। इजराइल और अरब राष्ट्रों के मध्य, पख्तूनिस्तान के प्रश्न को लेकर पाकिस्तान और अफगानिस्तान के बीच तनाव, रूस-चीन विवाद, उत्तरी कोरिया व दक्षिणी कोरिया का संघर्ष, कश्मीर को लेकर भारत-पाक मतभेद आदि ऐसे मुद्दे हैं जिनको लेकर एशियाई देश विभाजित और खण्डित हैं।

एशियाई राष्ट्रवाद की विशेषताएँ
(SALIENT FEATURES OF THE ASIAN NATIONALISM)

नव-जागरण के फलस्वरूप एशिया के सभी देशों में राष्ट्रवाद की प्रबल लहर आयी। जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में, "एशिया के अन्दर आज राष्ट्रवाद सबसे बड़ी ताकत है। अनेक विचारक एशियाई राष्ट्रवाद का प्रधान स्रोत उन्नीसवीं सदी में यूरोप में विकसित राष्ट्रीयता की भावना को मानते हैं।" प्रो० सेन के शब्दों में, "एशिया में राष्ट्रवाद का उदय पिछली सदी के यूरोपियन साम्राज्यवाद की प्रकृति से उत्पन्न हुआ है।" लाइनर बरगर भी एशिया के राष्ट्रवाद को एशिया की संस्कृति पर आधारित नहीं मानते हैं। यह सच है कि एशिया का राष्ट्रवाद एवं जागरण एशियाई नेतृत्व की प्रकृति और आन्तरिक क्षेत्र में आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याओं से जूझता रहा है। विभिन्न प्रकार का नेतृत्व होने के कारण व जटिल आर्थिक व सामाजिक समस्याओं में उलझे रहने की वजह से एशिया का राष्ट्रवाद अपने लक्ष्य—एशियाई अस्तित्व (Asian Identity) को प्राप्त नहीं कर पाया है। फिर भी एशियाई राष्ट्रवाद की कतिपय प्रमुख विशेषताएँ हैं, जो इस प्रकार हैं :

(1) पश्चिमी राष्ट्रवाद में साम्राज्यवाद, जातिवाद तथा युद्ध-प्रवृत्ति पायी जाती है जबकि एशियाई राष्ट्रवाद ने इन सभी प्रवृत्तियों को त्याग दिया है।

(2) एशिया में राष्ट्रीयता की भावना को न केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति हेतु प्रयोग किया गया, वरन् आर्थिक और सामाजिक सुधार आन्दोलन में भी इसे प्रयुक्त किया गया।

(3) एशियाई राष्ट्रवाद की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह विशाल और सार्वभौमिक है। यह अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, शान्ति, मानवता और विश्व-बन्धुत्व की भावना का सहायक है। प्रथम एशियाई सम्मेलन में जवाहरलाल नेहरू ने स्पष्ट कहा था कि "हम किसी संकीर्ण राष्ट्रीयता को नहीं चाहते। राष्ट्रीयता का प्रत्येक देश में स्थान है। इसका पोषण होना चाहिए, किन्तु इसे आक्रमणात्मक नहीं बनने देना चाहिए, इसे अन्तर्राष्ट्रीय विकास में बाधक भी नहीं होना चाहिए।"

(4) एशियाई राष्ट्रवाद का आधार राजनीति के साथ-साथ परम्परावाद, धर्म, संस्कृति और लोगों का सामाजिक दृष्टिकोण रहा है।

(5) एशिया के सभी राष्ट्र, चाहें उनके यहाँ नेतृत्व की प्रकृति कैसी भी क्यों न रही हो अपनी स्वतन्त्रता तथा सार्वभौमिकता के प्रति पूरी तरह सचेत रहे हैं।

(6) एशिया के राष्ट्र उपनिवेशवाद को विश्व-शान्ति के लिए खतरा समझते हैं।

(7) एशिया के राष्ट्र जाति-भेद व रंग-भेद की नीतियों का विरोध करते हैं।

(8) एशिया के सभी राष्ट्र अपने निजी अस्तित्व को चरितार्थ करना उतना महत्वपूर्ण समझते हैं जितना उनकी दृष्टि में एशियाई अस्तित्व का महत्व है।

एशियावाद का उद्भव

साम्राज्यवाद से आक्रान्त होने के बावजूद एशिया महाद्वीप में 'एशियावाद' का उद्भव नहीं

हो पा रहा है। साम्राज्यवाद का प्रतिकार केवल प्रखर क्षेत्रीयतावाद या राष्ट्रवाद के सहारे ही किया जा सकता है। एशिया महाद्वीप में 'एशियावाद' पनपने वाले सभी गुण बीज रूप में मौजूद भी है। नव-स्वातन्त्र्य, प्राचीन संस्कृति, यूरोपीय साम्राज्यवाद का सामूहिक उत्पीड़न, समान सामाजिक-आर्थिक पिछड़ापन और एक परस्पर सुसम्बद्ध प्राकृतिक-भूभाग का धनी है—'एशिया'। तो भी यूरोपीय साम्राज्यवाद के प्रतिकार में प्राचीन पूर्व-संस्कृति का यह प्रतिनिधि भू-भाग अपने उप-महाद्वीपीय स्वाभिमान को नहीं जगा पा रहा है, यह एक विडम्बना ही कही जायेगी।

'तीसरे विश्व' की अवधारणा व गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का तुलनात्मक रूप से दिखाई देने वाली उच्च आदर्श की कल्पना ने 'एशियावाद' को विकसित होने में बाधा उत्पन्न की। बाण्डुंग के बाद हुए सम्मेलन गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के विश्व सम्मेलन के रूप में बदल गये। इसका परिणाम यह हुआ कि एशिया का बहुत बड़ा देश चीन इनसे बाहर हो गया। एशियाई नेता कहलाने के बजाय विश्व के नेता कहलाने की महत्वाकांक्षा ने नासिर व नेहरू को चाऊ एन लाई के बजाय टीटो से मैत्री के लिए प्रेरित किया या उच्च आदर्शवाद की बलिवेदी पर 'एशियावाद' का बलिदान हुआ। यह विवाद का मुद्दा हो सकता है, पर इस परिवर्तन ने एशियावाद को नेतृत्वहीन व विभक्त कर दिया।

एशिया की समस्याएं
(PROBLEMS OF ASIAN NATIONS)

विगत वर्षों में एशिया के विविध देशों में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। अग्रगामी लम्बी छलांग और सांस्कृतिक क्रान्ति के कारण चीन के समाजवाद (कम्युनिज्म) ने एक नया रूप प्राप्त कर लिया है, जो रूस के कम्युनिज्म से भिन्न है। वियतनाम के युद्ध का अन्त हो गया है, चीन ने संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त कर ली है और अमरीका जैसा पूंजीवादी देश उसके साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है। पाकिस्तान का अंग-भंग होकर बंगला देश नाम से एक नया राज्य स्थापित हो गया है। भारत-चीन तथा भारत-पाक सम्बन्धों में सुधार लाने के लिए वार्ताओं का क्रम चल पड़ा है। भारत में आयोजित सातवें गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन में एशिया के अधिकांश राष्ट्रों ने भाग लिया।

एशिया के राष्ट्रों की अनेक समस्याएँ हैं। महाशक्तियाँ उनके आन्तरिक मामलों में तथा आपसी विवादों में बराबर हस्तक्षेप करती रहती हैं। उनके सम्मुख पुनर्निर्माण और आर्थिक विकास की ज्वलन्त समस्याएँ हैं। लगभग सभी देश जनसंख्या विस्फोट से पीड़ित हैं। यदि भोजन और अच्छे स्वास्थ्य के लिए समुचित दशाओं की व्यवस्था निकट भविष्य में एशिया में नहीं की गयी तो सम्भावना है कि आने वाली शताब्दी तक एशिया के निवासी बीमार और अकाल के कारण असमय ही काल के ग्रास बन जायेंगे। एशिया के सभी देश अभी औद्योगीकरण की दृष्टि से पिछड़ी अवस्था में हैं।

एशिया में महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा
(SUPER POWER RIVALRY IN ASIA)

एशिया में नव-जागरण के साथ-साथ द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् महाशक्तियों में सक्रिय अभिरुचि भी दिखायी देती है। एशियाई राजनीति में अमरीका, सोवियत संघ और चीन ने जितनी रुचि पिछले 30 वर्षों में दिखायी है उतनी शायद पहले कभी नहीं दिखायी। पश्चिमी एशिया, दक्षिण-पूर्वी एशिया और हिन्द महासागर महाशक्तियों की शक्ति स्पर्द्धा के केन्द्र बने हुए हैं। 1950 के कोरिया युद्ध में अमरीका, चीन और रूस का हस्तक्षेप स्पष्ट परिलक्षित होता था। 1947 से ही कश्मीर को लेकर भारत और पाकिस्तान में जो विवाद छिड़ा उसमें अमरीका ने हमेशा पाकिस्तान की पीठ थपथपायी। 1956 में जब मिस्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया तो ब्रिटेन एवं फ्रांस ने मिस्र पर आक्रमण कर दिया। पश्चिमी एशिया में जून 1967 में होने वाले अरब-इजराइल

युद्ध में जहाँ रूस ने अरबों का पक्ष लिया वहीं अमरीका ने इजराइल का समर्थन किया। हिन्द महासागर में अमरीका ने दियागो गर्सिया पर सैनिक अड्डे का निर्माण किया तो सोवियत संघ भी 1968 से ही इस क्षेत्र में सक्रिय हो गया। सोवियत संघ के पास हिन्द महासागर में कोई स्थायी अड्डे तो नहीं हैं, परन्तु उसकी पनडुब्बियाँ और लड़ाकू जहाज बराबर तैरते रहते हैं। हिन्द महासागर में चीन की नौ-सेना का भी दखल है किन्तु शक्ति-सन्तुलन की दृष्टि से वह अधिक महत्व नहीं रखता है। एशिया में सबसे अधिक चलने वाला युद्ध वियतनाम युद्ध था। यह युद्ध वस्तुतः एक ओर अमरीका और दूसरी तरफ रूस-चीन समर्थन में लड़ा गया। अमरीका 1965 से ही वियतनाम युद्ध में पूरी तरह कूद चुका था। 1971 की जुलाई में कीसिंगर के चीन यात्रा के बाद जब यह स्पष्ट हो गया कि अमरीका और चीन की व्यूह-रचना दक्षिणी-पूर्वी एशिया में सोवियत प्रभाव को रोकने के लिए है तो सोवियत संघ ने भारत के साथ वह सन्धि सम्पन्न कर ली जिस पर दोनों देश लम्बे समय से विचार-विमर्श कर रहे थे। दिसम्बर 1971 के भारत-पाक युद्ध के दौरान *अमरीका ने प्रशान्त महासागर स्थित सातवें बेड़े के परमाणु युद्धपोत 'एण्टरप्राइज' को बंगाल की* खाड़ी में भेजकर युद्ध पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालने की कोशिश की थी। दक्षिणी-पूर्वी एशिया में कम्पूचिया समस्या केन्द्र बना हुआ है। 1978 में वहाँ वियतनाम ने सैनिक हस्तक्षेप किया और उसके द्वारा समर्थित हैंग सामरिन की सरकार सत्तारूढ़ हुई। परन्तु चीन ने इसकी तीव्र निन्दा की। सोवियत संघ के अफगानिस्तान में सैनिक हस्तक्षेप तथा कम्पूचिया में सोवियत संघ के समर्थन से वियतनाम के हस्तक्षेप से बहुत से देश उससे सशंकित हो गये हैं। अमरीका ने पाकिस्तान को भारी सैनिक सहायता देने का निर्णय किया। खबर है कि चीन ने पाकिस्तान को परमाणु शस्त्र बनाने की तकनीक जुटाने में चुपके-चुपके काफी मदद की है।

कतिपय विद्वानों का मानना है कि पूर्व में एशिया दो महाशक्तियों—रूस और अमरीका—का संघर्ष-स्थल बन गया था, भविष्य में वह चार महाशक्तियों—रूस, अमरीका, चीन और जापान—के चतुष्कोणीय संघर्ष का केन्द्र बनेगा।

एशिया में सक्रिय रुचि दिखाते हुए अमरीका ने 'आइजनहावर सिद्धान्त' प्रतिपादित किया तो सोवियत नेता ब्रेझनेव ने 'एशियाई सामूहिक सुरक्षा' का विचार प्रस्तुत किया। जून 1969 से रूस ने इस हिस्से में अपनी रुचि को 'सामूहिक सुरक्षा' के नाम से प्रकट किया। यद्यपि ब्रेझनेव ने यह बात स्पष्ट नहीं की कि यह सामूहिक सुरक्षा किस प्रकार के भय के लिए है, तथापि सोवियत संघ की यह नयी नीति 'यथास्थिति' बनाये रखने के लिए थी, जिससे कि इस क्षेत्र में चीन के प्रभाव को रोका जा सके। जापान और चीन के बीच आर्थिक सम्बन्धों का विकास इस बात की ओर संकेत करता है कि अपनी आर्थिक सैन्य सीमाओं एवं आवश्यकताओं से प्रभावित ये राष्ट्र सम्मिलित रूप से इस क्षेत्र में विश्व महाशक्तियों के प्रभाव को कम करना चाहेंगे। जापान के आर्थिक चमत्कार ने जापान को एशिया में ही नहीं वरन् विश्व स्तर पर भी आर्थिक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है। अपनी आर्थिक प्रगति के कारण जापान किसी भी रूप से उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

आज अमरीकी व रूसी साम्राज्यवाद स्वार्थों के लिए अपनी सत्ता स्पर्द्धा की महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए स्वतन्त्र एशियाई राष्ट्रों में तोड़-फोड़ करते रहते हैं, उनके स्वतन्त्र विकास में बाधा उत्पन्न करते हैं। साम्राज्यवादियों ने एशिया के मर्म स्थलों पर इस प्रकार अड्डे जमाये हैं जिससे एशियाई राष्ट्र कभी महाद्वीपीय एकता की बात सोच ही न सकें। पश्चिमी एशिया में इजराइल, पूर्व एशिया में दक्षिण कोरिया, थाईलैण्ड, सिंगापुर आदि तथा एशिया में पाकिस्तान व उत्तर में जापान पश्चिमी साम्राज्यवाद के गढ़ हैं। इसी प्रकार सोवियत रूस ने क्रमशः सीरिया, उत्तर कोरिया, वियतनाम, लाओस, कम्बोडिया व अफगानिस्तान आदि में अपने डैने फैला रखे हैं।

हिन्द महासागर अमरीका व रूस की सामरिक स्पर्द्धा का केन्द्र बन गया है। अरब जगत के तेल को किसी हालत में ब्रिटेन, फ्रांस व अमरीका मुक्त करने की मनःस्थिति में नहीं हैं।

अपने साम्राज्यवादी हितों के लिए इन महाशक्तियों ने क्षेत्रीय सन्धियों व संगठनों के जाल बिछाते रहने का एक अखण्ड क्रम चला रखा है। बगदाद सन्धि, सीटो, फिर कोलम्बो प्रस्ताव तथा आजकल 'एशिअन' एवं 'सार्क' का निर्माण हुआ है। ये सभी संगठन नाम के ही एशियाई संगठन हैं, इनके पीछे पश्चिमी साम्राज्य की कुत्सित कूटनीति है, जो एशियाई राष्ट्रों मे स्वतन्त्र चेतना व संगठन को नही पनपने देना चाहती। एशियाई राष्ट्रों को साम्यवाद से बचाने का अमरीकी ठेका तथा सेना व शस्त्रों के बल पर साम्यवाद के प्रसार एवं साम्राज्यवाद के प्रतिकार का रूसी ठेका अन्ततः एशियाई एकता के शत्रु हैं।

निष्कर्ष—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति पर अत्यधिक बल दिया जाता है और शक्ति की दृष्टि से एशिया महाद्वीप निर्बल दिखायी देता है। इस शक्ति की न्यूनता के कई कारण हैं—आर्थिक पिछड़ापन, संचार के साधनों का अभाव, तकनीकी व विज्ञान के क्षेत्र में कमजोरी आदि तत्व इस महाद्वीप को शक्तिहीन बनाने के प्रमुख कारण हैं। इन कमजोरियों की वजह से दो प्रकार की सम्भावनाओं का एशिया के राष्ट्रों को मुकाबला करना पड़ रहा है। एक सम्भावना यह बन रही है कि एशिया में स्थानीय शक्ति के अभाव का फायदा उठाकर विश्व की महान शक्तियाँ रिक्त स्थान को भरने का प्रयत्न करें और इसके फलस्वरूप एशिया महान शक्तियों के संघर्ष का अखाड़ा बन जाये। व्यवहार में ऐसा हो रहा है। दूसरी सम्भावना यह रही है कि एशिया के दो बड़े राष्ट्र—भारत और चीन—एक-दूसरे के साथ सहयोग करके महाशक्तियों को इस महाद्वीप में हस्तक्षेप करने से रोकें। क्या भारत और चीन में सहयोग सम्भव है?

प्रश्न

1. उन परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए जिनके परिणामस्वरूप द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एशिया में नये राज्यों का उदय हुआ तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर उसका प्रभाव स्पष्ट कीजिए।
   Discuss the circumstances leading to the emergence of new states in Asia in the post-second world war period. How did this affect the character of International politics?
2. "बड़ी शक्तियाँ एशिया को विभिन्न प्रभाव क्षेत्रों में बाँटने के प्रयत्न में तेजी से जुट रही हैं।" विवेचना कीजिए।
   "Big powers are furiously making attempts to divide Asia into their respective sphere of influence." Discuss.
3. एशिया के जागरण तथा विश्व राजनीति पर इसके प्रभाव का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
   Discuss in brief the awakening of Asia and its effects on world politics.

91

अफ्रीका में विउपनिवेशीकरण एवं नये राज्यों का उदय

[DECOLONISATION AND EMERGENCE OF NEW STATES IN AFRICA]

अफ्रीका एक देश अथवा प्रदेश नहीं अपितु एक महाद्वीप है जिसमें अनेक देश हैं। अफ्रीका महाद्वीप अन्य महाद्वीपों की तुलना में अनेक राजनीतिक, भौगोलिक विशेषताएं रखता है। इस महाद्वीप का क्षेत्र अन्य महाद्वीपों की तुलना में क्रमशः बाद में प्रकाश में आया। यही कारण है कि इस महाद्वीप को 'अन्ध महाद्वीप' (Dark Continent) की संज्ञा दी जाती रही है। यहाँ का विशाल क्षेत्र, जलवायु, वन, मरुस्थल आदि सदियों तक इसके क्षेत्र को शेष विश्व से पृथक रखते रहे। इसके पश्चात् अनेक खोजकर्ताओं ने इस महाद्वीप के विभिन्न भागों की जानकारी दी। यद्यपि उत्तरी अफ्रीका की जानकारी बहुत प्राचीन है, बारहवीं शताब्दी से पूर्व फोनीशियन, रोमन तथा अरब लोगों ने उत्तरी एवं पूर्वी अफ्रीका के अनेक भागों की जानकारी दी थी, किन्तु अधिकांश महाद्वीप अन्धकारमय था। अनेक शोधकर्ताओं एवं साहसिक यात्रियों ने विभिन्न क्षेत्रों की यात्राएँ कीं तथा शेष विश्व से उनका परिचय कराया। प्रमुख शोधकर्ता थे : हेनरी (1460), बारथालोम्यू डयोज (Bartholomeu Diaz), ब्रूस (Bruce), मंगोपार्क (Mungopark), लिविंगस्टोन (Livingston), स्टेनले (Stanley), स्पेक तथा ग्रांट (Speke and Grant), आदि।

जैसे ही अफ्रीका के विभिन्न क्षेत्र प्रकाश में आये यूरोपीय साम्राज्यवादी शक्तियों ने उन पर अधिकार जमाना प्रारम्भ किया तथा अधिकांश महाद्वीप विदेशी शक्तियों के मध्य विभक्त हो गया।

औपनिवेशिक नियन्त्रण में अफ्रीका में राजनीतिक एवं सांस्कृतिक गतिरोध प्रारम्भ हुआ। इसके पश्चात् अफ्रीका में राष्ट्रवाद की लहर आयी और एक के बाद एक अफ्रीकी देश स्वतन्त्र होने लगे। वर्तमान समय में यद्यपि विदेशी उपनिवेशों के अवशेष यहाँ शेष हैं, किन्तु अधिकांश अफ्रीका स्वतन्त्र है।

अफ्रीका का उदय : महत्व
(THE RISE OF AFRICA : SIGNIFICANCE)

अफ्रीका महाद्वीप में स्वतन्त्रता के सूर्य का उदय द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सम्भवतः सबसे अधिक महत्वपूर्ण और निराली घटना है। टामम्बोया के शब्दों में, "विदेशी आधिपत्य द्वारा आरोपित अँधेरे और औपनिवेशिक शासन की जेल की कोठरियों से अफ्रीका और अफ्रीकी लोगों का अभ्युदय समकालीन विश्व स्थिति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य

है।" सम्पूर्ण महाद्वीप में अफ्रीकी चल पड़े हैं, वे यह नहीं जानते कि आखिर उनकी दिशा क्या है ? अमरीका में तो एक कहावत बन गयी है कि 'कल अमरीका की अभिरुचि एशिया में थी लेकिन आज अफ्रीका में है।' अस्थिरता, अशान्ति और अनिश्चितता के बावजूद अफ्रीका में क्रान्ति की भावना प्रबल है और सम्पूर्ण महाद्वीप में आशा की एक लहर दौड़ रही है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार से अतीत काल में सर्वत्र निराशा का वातावरण व्याप्त रहता था।

अफ्रीका का परिवर्तित राजनीतिक स्वरूप
(CHAINGING POLITICAL PATTERN OF AFRICA)

अफ्रीका महाद्वीप 'अन्ध महाद्वीप' के रूप में सम्बोधित किया जाता रहा है। इसका मूल कारण यह रहा है कि अफ्रीका तथा उसके इतिहास के सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी प्राप्त है। यद्यपि उत्तरी अफ्रीका के भूमध्यसागरीय तटीय क्षेत्र के सम्बन्ध में प्राचीन काल से जानकारी यूरोपीय लोगों को थी। प्राचीन काल में ईसा से लगभग 600 वर्ष पूर्व फोनेशियन्स के एक दल ने मिस्र के अन्तिम 'फराहो' के आदेश से अफ्रीका के तटीय क्षेत्र की यात्रा की। इसके एक शताब्दी पश्चात् कार्थेमियन गायना तट पर स्थित केमरून तक पहुँचे। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में एण्डोसियस (Endosius) नामक ग्रीक ने पूर्व से पश्चिम तट की यात्रा की। यहाँ के शोध करने वालों में पुर्तगीज राजकुमार नाविक हेनरी (Henry) सबसे प्रमुख हैं। अन्य शोधकर्ताओं में बारथालोम्यू डियोज, मंगोपार्क, लिविंगस्टोन, स्टेनले, स्पेक तथा ग्रांट आदि प्रमुख हैं। जैसे ही अफ्रीका के विभिन्न क्षेत्रों का ज्ञान हुआ यूरोपीय साम्राज्यवादी शक्तियाँ इस पर टूट पड़ीं तथा इस महाद्वीप के अधिकांश क्षेत्रों को अपने-अपने अधिकार में कर लिया। स्वतन्त्रता से पूर्व सामान्य रूप से अफ्रीका महाद्वीप फ्रांसीसी, ब्रिटेन, बेल्जियम, पुर्तगीज एवं स्पेनिस शक्तियों के मध्य विभाजित था। यहाँ के राजनीतिक स्वरूप को अध्ययन की सुविधा के लिए दो भागों में विभाजित किया जा सकता है अर्थात् साम्राज्यवादी शासन का युग एवं जागृति या स्वतन्त्रता प्राप्ति का युग।

अफ्रीका में साम्राज्यवादी शासन का युग—अफ्रीका के वर्तमान राजनीतिक स्वरूप को समझने के लिए इसकी पृष्ठभूमि अर्थात् साम्राज्यवादी शासन का संक्षिप्त निरूपण अपेक्षित है क्योंकि यही शासन यहाँ की वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था के लिए उत्तरदायी है। साम्राज्यवादी शासन एवं उनके अधिकृत क्षेत्रों का वर्णन प्रत्येक साम्राज्यवादी शक्ति के आधार पर किया जा रहा है न कि कालानुसार।

डच लोगों ने अफ्रीका में क्षेत्रीय अधिकार का प्रारम्भ उस समय किया जबकि उन्हें पूर्वी द्वीपसमूह के मार्ग में जहाजों आदि के ठहरने के स्टेशन की आवश्यकता थी। उन्होंने 1652 में केप ऑफ गुड होप पर अधिकार किया। डच लोगों ने पुर्तगीज को अफ्रीका से लगभग समाप्त-सा कर दिया। यद्यपि उनके स्वयं का विशाल क्षेत्र भी शीघ्र ही समाप्त हो गया। 1814 में केप कोलोनी तथा अन्य क्षेत्र नेपोलियन की हार के पश्चात् ब्रिटेन को शान्ति समझौते के अन्तर्गत बेच दिये गये। इससे ब्रिटिश अधिकृत क्षेत्र में अधिक संख्या में डच रह गये। इन लोगों ने 1803 में केप कोलोनी छोड़कर ऑरेन्ज फ्री स्टेट और नेटाल की स्थापना की। नेटाल पर ब्रिटेन ने 1845 में अधिकार कर लिया। 1867 और 1884 में डच निर्वासित क्षेत्रों में सोना एवं हीरा उपलब्ध होने के कारण ब्रिटिश लोग वहाँ अधिकता में आने लगे। फलस्वरूप 'बोर युद्ध' (Boer War) हुआ। इसमें ब्रिटेन की विजय हुई, इसके पश्चात् डच और ब्रिटिश निवासियों ने दक्षिण अफ्रीका संघ की स्थापना की। वर्तमान अफ्रीका में डच का कोई उपनिवेश शेष नहीं है।

ब्रिटेन की इस महाद्वीप में प्रमुख रुचि भारत को जाने वाले व्यापारिक मार्ग की सुरक्षा के दृष्टिकोण से थी। इसी उद्देश्य से अनेक द्वीपों और बन्दरगाहों पर इन्होने अधिकार किया। जब 1869 में स्वेज मार्ग खुला तब ब्रिटेन ने भूमध्य सागर एवं लाल सागर के सामुद्रिक मार्ग के

महत्वपूर्ण केन्द्रों पर अधिकार किया। यद्यपि अ-सरकारी संगठन, जैसे मिशनरी, वैज्ञानिक संगठन, शोधकर्ता आदि अफ्रीका के सम्पूर्ण क्षेत्र में रुचि रखते थे। ब्रिटेन ने व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा के लिए अदन, जन्जीवार सल्तनत एवं मिस्र पर नियन्त्रण क्षेत्र का विस्तार किया। मिस्र के माध्यम से उन्होंने सूडान तथा युगाण्डा पर नियन्त्रण स्थापित किया। इसी क्रम में ब्रिटिश अधिकार दक्षिण तक पहुँच गया। केवल रोडेशिया और विक्टोरिया के मध्य का क्षेत्र इनके अधिकार में नहीं था। यह भी प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर जैसे टांगानिका ब्रिटिश 'मेण्डेट' बनने से इनके अधिकार में आ गया। ब्रिटेन का अफ्रीकी क्षेत्रों पर अधिकार की दृष्टि से फ्रांस के पश्चात् द्वितीय स्थान है।

फ्रांस प्रारम्भ से ही पूर्व के देशों के साथ व्यापार में इच्छुक था। अतः मार्ग में स्टेशन स्थापित करना उसका प्रथम उद्देश्य रहा। 1464 और 1700 के मध्य उन्होंने मेडागास्कर, सेनेगल नदी के मुहाने तथा आइवरी तट पर नियन्त्रण स्थापित किया। इसमें किसी तरह का राजनीतिक नियन्त्रण नहीं था अपितु इन क्षेत्रों में व्यापारिक केन्द्र एवं किले की स्थापना की। किन्तु जैसे ही फ्रांस 1870-71 में जर्मनी द्वारा पराजित हुआ, अफ्रीका में साम्राज्य विस्तार प्रारम्भ कर दिया। फ्रांस ने फ्रेंच पश्चिमी अफ्रीका, फ्रेंच भूमध्यरेखिक अफ्रीका, अल्जीरिया तथा ट्यूनीशिया के विशाल क्षेत्रों पर अधिकार किया। मेडागास्कर पर भी पूर्णतया अधिकार कर लिया। इस प्रकार फ्रांस ने अफ्रीका में सर्वाधिक क्षेत्र पर नियन्त्रण स्थापित किया। यद्यपि ये क्षेत्र ब्रिटिश या बेल्जियम के अधिकृत क्षेत्रों के समान सम्पन्न नहीं थे, क्योंकि अधिकांश क्षेत्र सहारा मरुस्थल वाले थे।

स्पेन ने जिब्राल्टर जलडमरूमध्य को पार कर अफ्रीका के उत्तरी-पश्चिमी तटीय क्षेत्र पर अधिकार किया। ये स्पेनिश मोरक्को कहलाते थे। इनके अन्तर्गत मेलीला (Melilla), चेउटा (Chuta) और अलहुकेमस द्वीप (Alhucemas Island) सम्मिलित थे। इससे अधिक स्पेन आगे नहीं गया क्योंकि दक्षिणी अमरीका के क्षेत्रों में अधिक लाभ प्राप्त होने के कारण उसने अधिकाधिक नयी दुनिया की ओर ध्यान केन्द्रित रखा। उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में एक अन्य क्षेत्र राया डी ओरो (Rio do Oro) पर फ्रांस के विस्तार को नियमित करने के लिए अधिकार किया।

जर्मनी ने 1861 में सर्वप्रथम गोल्डकोस्ट के तट पर जर्मनी राज्य ब्रांडेनबर्ग (Brandenburg) की व्यापारिक केन्द्र के रूप में स्थापना की। इसके 20 वर्ष पश्चात् जर्मनी ने टोगोलैण्ड, केमेरून्स, दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका और टांगानिका पर अधिकार कर लिया। इन पर जर्मनी का अधिकार प्रथम महायुद्ध के अन्त तक रहा। उसके बाद इन क्षेत्रों पर ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम ने बँटवारा कर लिया।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि यूरोपीय साम्राज्यवादी शक्तियों ने अफ्रीका महाद्वीप को लगभग पूर्ण रूप से अपने अधिकार में कर लिया। सम्पूर्ण रूप से यह कहा जा सकता है कि अफ्रीका का उपनिवेशीकरण यूरोपीय राज्यों की एक योजना थी कि महाद्वीप पर अधिकार किया जाय तथा लूट का हिस्सा किया जाये।[1]

अफ्रीका में नव-जागरण—स्वाधीनता की लहर—1936 में इटली ने अफ्रीका के अन्तिम स्वाधीन राज्य एबीसीनिया की स्वतन्त्रता का अन्त कर दिया। एबीसीनिया की विजय के बाद अफ्रीका में स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता का आन्दोलन प्रबल हुआ। यह नारा दिया गया कि 'अफ्रीका अफ्रीकावासियों का हो।' द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद इसके विविध प्रदेश तेजी से स्वतन्त्र होने लगे। द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति पर 1947 में इस महाद्वीप में केवल चार राज्य स्वतन्त्र थे—

---

1 "On the whole, the colonization of Africa was a scheme on the part of the European state to occupy the continent and divide the spoils."
—Carbon, *Geography and World Politics*, 1958, p. 443.

एबीसीनिया, लाइबीरिया, दक्षिण अफ्रीका का यूनियन तथा मिस्र। मिस्र में 1936 की सन्धि के अनुसार ब्रिटिश सेनाएँ रहती थीं। 1945 के बाद यहाँ सर्वप्रथम इटालियन उपनिवेश लीबिया (24 दिसम्बर, 1951) स्वतन्त्र हुआ। 1 जनवरी, 1954 को सूडान का स्वाधीन गणराज्य बन गया। फ्रांस ने अपने उपनिवेश, ट्यूनीशिया की स्वतन्त्रता 20 मार्च, 1956 से स्वीकार की। 2 मार्च, 1956 को फ्रांस ने मोरक्को को स्वतन्त्र कर दिरा। 7 अप्रैल, 1956 को स्पेन ने भी मोरक्को के कुछ भाग पर अपने संरक्षण का परित्याग किया। 6 मार्च, 1957 को ब्रिटेन ने गोलडकोस्ट को स्वाधीनता प्रदान की, जिसने अपना नया नाम घाना रखा। अक्टूबर 1958 में फ्रेंच गिनी ने, अपनी स्वाधीनता की घोषणा की। ऐसा कहा जाता है कि 1954 से 1960 के मध्य अफ्रीका में **स्वतन्त्रता की तीन लहरें** आयीं। स्वतन्त्रता की **पहली लहर** ने अल्जीरिया के अपवाद को छोड़कर अरबों द्वारा आवासित उत्तरी अफ्रीका से उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का सफाया किया। इसमें 1951 में स्वतन्त्र होने वाला लीबिया तथा 1956 में स्वाधीनता पाने वाले सूडान, मोरक्को तथा ट्यूनीशिया थे। इसके बाद स्वाधीनता की **दूसरी लहर** ने काले अफ्रीकी अर्थात् नीग्रो लोगों द्वारा आवासित अफ्रीका पर प्रभाव डाला। 1957 में ब्रिटेन ने घाना को स्वतन्त्रता प्रदान की तथा 1958 में गिनी स्वाधीन हुआ। 1959 तक अफ्रीका में 11 राज्य स्वाधीन हो गये, इनमें अफ्रीका की 40% जनता तथा 29% क्षेत्र था। 1960 में अफ्रीका में स्वतन्त्रता की **तीसरी लहर** आयी और इस महाद्वीप के अधिकांश देश स्वाधीन हो गये। इसी कारण 1960 को अफ्रीका की स्वाधीनता का वर्ष कहा जाता है। इस वर्ष 8½ करोड़ की आबादी रखने वाले 16 देश स्वतन्त्र हुए। इस वर्ष के पहले ही दिन 1 जनवरी, 1960 को फ्रेंच कैमरून स्वतन्त्र हुआ और इसने केमरून गणराज्य का नया नाम धारण किया। 27 अप्रैल, 1960 को फ्रेंच टोगोलैण्ड टोगो गणराज्य के नाम से स्वतन्त्र हुआ। 29 जून, 1960 को सेनेगाल तथा फ्रेंच सूडान ने स्वतन्त्रता की घोषणा की और मिलकर 'माली संघ' बनाया। 26 जून, 1960 को फ्रांस की अधीनता में रहने वाले मैडागास्कर टापू ने स्वतन्त्र होकर 'मालगासे' नामक गणराज्य का रूप धारण किया। अगस्त 1960 में ही 8 स्वाधीन गणराज्य स्थापित हुए, जिनके नाम इस प्रकार हैं—आइवरी कोस्ट, अपर-वोल्टा, दहोमी, नाईजर, गेबोन, कांगो (फ्रेंच), केन्द्रीय अफ्रीका गणराज्य (Central African Republic) या उबन्गुई चारी (Ubangui Chary) तथा चाड। 1960 का वर्ष इस दृष्टि से स्मरणीय है कि इसमें अल्जीरिया के अपवाद को छोड़कर शेष 13 फ्रेंच उपनिवेश स्वतन्त्र हो गये। इसी वर्ष बेल्जियम के प्रभुत्व से कांगो 30 जून, 1960 को स्वतन्त्र हो गया। 1 जुलाई, 1960 को सोमाली गणराज्य का जन्म हुआ। नाइजीरिया का ब्रिटिश उपनिवेश 1 अक्टूबर, 1960 को स्वतन्त्र हो गया। यह अफ्रीका का समृद्धतम उपनिवेश था। इसका क्षेत्रफल 3,39,168 वर्ग मील और जनसंख्या 3,36,64,000 थी, जो अफ्रीका के देशों में सबसे अधिक है। 26 नवम्बर, 1960 को मारीटानिया का प्रदेश भी स्वतन्त्र हो गया। 27 अप्रैल, 1961 को ब्रिटिश उपनिवेश सियरालियोन स्वतन्त्र हुआ। 1962 में युगाण्डा 1964 में जेम्बिया (उ० रोडेशिया), 1964 में मालावी, 1966 में बोत्सवाना, लेसोथो और बारबाडोस, 1968 में मारीशस, 1974 में गिनीबिसाउ, 1975 में मोजाम्बिक, केपवरदे, कोमोरी द्वीपसमूह और अंगोला स्वतन्त्र हुए। जिबूती (जिसे फ्रांसीसी सोमालीलैण्ड तथा 'अफार' और 'इसा' भी कहते हैं) 27 जून, 1977 को गणतन्त्र के रूप में अस्तित्व में आया। अथक संघर्ष के पश्चात् 18 अप्रैल, 1980 को द० रोडेशिया 'जिम्बाम्बे' के नाम से स्वतन्त्र हुआ। अफ्रीका में स्वतन्त्रता प्राप्त करने वाला यह 50वाँ देश है।

अफ्रीका महाद्वीप में लगभग 50 देश है। इनमें से 6 राष्ट्र अफ्रीकी महाद्वीप में स्थित होते हुए भी एशिया के सीमावर्ती होने के कारण राजनीतिक व सांस्कृतिक कारणों से अरब देशों से जुड़े हैं। अतः मोरक्को, अल्जीरिया, ट्यूनीशिया, लीबिया व मिस्र अपने को अरब कहलाना अधिक

पसन्द करते हैं। शेष लगभग 40 देशों में काले अफ्रीकी निवास करते हैं। इनमें लाइबेरिया व इथियोपिया को छोड़कर सभी किसी-न-किसी साम्राज्य के उपनिवेश थे। ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत 15, फ्रांस के 14, पुर्तगाल के 3, बेल्जियम के 4 व तीन अन्य उपनिवेश थे।

आजादी के बाद इन देशों में जो राजनीतिक चित्र उभरा है, तदनुसार केवल 7 देशों में विपक्षी दलों का अस्तित्व है, अर्थात् वहाँ लोकतन्त्र के प्रयोग चल रहे हैं। इन 7 देशों में दक्षिणी अफ्रीका भी शामिल है जहाँ की आबादी के 70 प्रतिशत हिस्से को यानी काले लोगों को मताधिकार प्राप्त नहीं, वहाँ केवल 30 प्रतिशत गोरे लोगों का लोकतन्त्र है। 17 राज्यों में एकदलीय शासन व्यवस्था है तथा 17 फौजी शासन के अन्तर्गत हैं। पिछले 25 वर्षों में 70 राजनेता किंवा शासनाध्यक्षों की हत्या कर उन्हें सत्ताच्युत किया गया। 1960 से 1985 के प्रारम्भ तक 90 सैनिक क्रान्तियों को झेलने वाले इस महाद्वीप में पिछले वर्ष छः सैनिक विद्रोह हुए—तीन सफल और तीन असफल।[1]

अफ्रीका का विश्व राजनीति में उद्भव
(RISE OF AFRICA IN WORLD POLITICS)

एक समय था जबकि अफ्रीका शेष विश्व से पृथक् था तथा विश्व राजनीति में इसका कोई अस्तित्व ही नहीं था, किन्तु आज अफ्रीका की स्थिति पर्याप्त भिन्न है अर्थात् वर्तमान विश्व राजनीति में यह पूर्ण सक्रिय है। आज अफ्रीका में जो कुछ होता है उसका सम्बन्ध केवल यहाँ के निवासियों तक ही सीमित नहीं अपितु एशिया, यूरोप एवं अमरीका के देश भी उसमें पर्याप्त रुचि रखते हैं। वास्तव में, आज जैसे ही अफ्रीका का दीर्घकालीन पृथकत्व समाप्त हुआ, वह न केवल सरकारों अपितु लोगों को और न केवल यूरोप अपितु सभी महाद्वीपों को आकर्षित करने लगा। अफ्रीका के विश्व राजनीति में महत्ता प्राप्त करने के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :

1. **सामरिकता**—इसके अन्तर्गत अफ्रीका के क्षेत्रों पर सैनिक अड्डों की स्थापना की महत्ता, यहाँ उपलब्ध सामरिक खनिज, सैनिक मानव शक्ति तथा औद्योगिक एवं सैनिक उपलब्धि की सम्भावना, आदि तत्व सम्मिलित किये जाते हैं।

2. **राष्ट्रवाद का तीव्र उद्गम**—जिस तीव्र गति से यहाँ राष्ट्रवादी भावनाओं का विकास हुआ तथा उसका अनेक प्रकार से राजनीतिक क्षेत्रों पर प्रभाव हुआ तथा अनेक देश स्वतन्त्र होने से विश्व शक्तियों को यहाँ प्रभाव क्षेत्र विस्तार का अवसर प्राप्त हुआ, जिससे यहाँ के क्षेत्रों में उनकी रुचि जाग्रत हुई।

3. **आर्थिक शोषण के विरुद्ध विद्रोह**—उपनिवेशवाद की समाप्ति के उपरान्त भी यहाँ उद्योगपति या पूँजीपति एवं कृषक, मजदूरों एवं गरीबों में शोषण के विरुद्ध तीव्र भावना है।

4. **उपनिवेशवाद के प्रश्न पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बद्धता**—उपनिवेशवाद के फलस्वरूप यहाँ अनेक राजनीतिक जटिलताएँ एवं सम्बन्धित प्रश्नों का जन्म हुआ है, जिनमें विश्व के राष्ट्र पूर्णतया रुचि रखते हैं।

5. **साम्यवाद के विस्तार का भय**—अफ्रीका में वर्तमान समय में बहुत ही कम साम्यवाद का प्रसार हुआ है। इसका मुख्य केन्द्र अल्जीरिया है। यद्यपि यहाँ इसके विस्तार के लिए अनुकूल वातावरण पर्याप्त है। अतः गैर-साम्यवादी देश इसलिए रुचि रखते हैं कि साम्यवाद का प्रसार न हो तथा साम्यवादी इसलिए कि उनका प्रसार हो।

6. **अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की समस्या**—अफ्रीकी के देश आज अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के सदस्य हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ एवं राष्ट्रमण्डल के अनेक देश सदस्य हैं। इसके कारण यहाँ की

---

1 **नवभारत टाइम्स**, 10 जनवरी, 1986।

समस्याएँ एवं सम्बन्धित विवाद क्षेत्रीय होते हुए भी समाधान हेतु संयुक्त राष्ट्र संघ आदि में प्रस्तुत किये जाते हैं। अतः विश्व के राष्ट्र यहाँ की क्षेत्रीय समस्याओं तथा विवाद से सम्बन्धित हो जाते हैं।

उपर्युक्त कारणों से आज अफ्रीका विश्व राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। आज यूरोपीय देशों के अतिरिक्त विश्व की प्रमुख शक्तियाँ अर्थात् संयुक्त राष्ट्र संघ एवं सोवियत संघ अत्यधिक रुचि रखते हैं। संयुक्त राज्य की इस महाद्वीप में प्रमुख रुचि के कारण—सामरिक महत्ता, अनेक खनिजों की उपलब्धि, पूँजी लगाने का क्षेत्र, औद्योगिक वस्तुओं के लिए उपयुक्त बाजार तथा साम्यवादी प्रसार पर रोक आदि हैं। इसी प्रकार सोवियत संघ साम्यवादी प्रसार के साथ यहाँ की कृषि की उपजों को भी प्राप्त करना चाहता है। एशिया के देश भी अफ्रीका की राजनीति में सक्रिय हिस्सा रखते हैं। अफ्रीका के अनेक देशों में एशियाई निवास करते हैं तथा वहाँ के व्यापार, उद्योग एवं अन्य कार्यों में पर्याप्त भाग लेते हैं। स्पष्ट है कि वर्तमान अफ्रीका अन्तर्राष्ट्रीय जगत में एक विशिष्ट स्थान रखता है।

अफ्रीका के नव-जागरण के कारण
(RISE OF AFRICA : CAUSES)

अफ्रीका का उदय बीसवीं शताब्दी की महत्वपूर्ण घटना है। थार्न जूनियर के शब्दों में, "अफ्रीका के उद्गम ने विश्व राजनीति के समीकरण को बदल दिया है।" जिस तेजी से यूरोप के राष्ट्रों ने अफ्रीका में अपने साम्राज्यवाद का निर्माण किया था, उससे भी कई गुना अधिक तेजी से अफ्रीका में उनके साम्राज्य का अन्त हो गया। अफ्रीका के उदय में सहायक तत्व इस प्रकार हैं :

1. **अफ्रीकी राष्ट्रवाद**—अफ्रीकी राष्ट्रवाद का उदय 'विरोध आन्दोलन' तथा 'विद्रोह आन्दोलन' के रूप में हुआ था जिसने आगे जाकर उपनिवेशवाद विरोध का रूप धारण कर लिया। यूरोप की गोरी जातियाँ अफ्रीका के श्वेत लोगों को अपने से निम्न कोटि का मानती थीं। इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई और अफ्रीका में राष्ट्रवाद का प्रसार होने लगा। राष्ट्रवाद को मुख्य प्रेरणा 'ज़ातीय समानता' के सिद्धान्त से मिली। पाश्चात्य सम्पर्क और पाश्चात्य साहित्य के प्रसार ने भी अफ्रीका के प्रबुद्ध लोगों में राष्ट्रवाद की ज्योति जगाने में सहायता की। अफ्रीकी राष्ट्रवाद ऐसी शक्ति है जो वहाँ के लोगों को संगठित करती है, उनमें अफ्रीकावाद की भावनाएँ उत्पन्न करती है। यह विदेशी-आधिपत्य के विरुद्ध प्रक्रिया है, यह अफ्रीकी व्यक्तित्व की पहचान है।

अफ्रीकी राष्ट्रवाद की मुख्य विशेषता स्वतन्त्रता की भावना में निहित है। अफ्रीका के देश स्वतन्त्र होने के साथ-साथ एकता, सामाजिक अधिकार, जातीय समानता और राष्ट्रीय प्रतिष्ठा पर अत्यधिक बल देते हैं। अफ्रीकियों की यह मान्यता है कि पश्चिमी उपनिवेशवाद अफ्रीका में फूट और इसके विभाजन के कारण ही अपना प्रभुत्व जमा सका था। अतः विदेशी प्रभुत्व से मुक्ति पाने के लिए यह जरूरी है कि अफ्रीका में एकता हो और संकुचित कबीलावाद से ऊपर उठकर समस्त अफ्रीका अपने आपको एक इकाई समझे। पान-अफ्रीकावाद का यही आधार है।

2. **एशिया का विद्रोह**—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद भारत की आजादी के साथ ही एशिया के विभिन्न भागों में आजादी की लहर फैल गयी। एशिया के राष्ट्र तेजी से स्वतन्त्र होने लगे। एशिया का विद्रोह अफ्रीका के लिए प्रेरणा देने वाली शक्ति रहा। अफ्रीकी लोग महसूस करने लगे कि जिस प्रकार एशिया ने उपनिवेशवाद का जुआ उतार फेंका है, उसी भाँति उन्हें भी एशिया की राह पर चलना चाहिए।

3. **संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका**—राष्ट्र संघ और संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा उपनिवेशवाद के विरोध में की गयी कार्यवाहियों से भी अफ्रीका के राष्ट्रीय जागरण को बल मिला। संयुक्त राष्ट्र चार्टर में उल्लिखित मानवाधिकार तथा ट्रस्टीशिप सम्बन्धी प्रावधान

अफ्रीका के लिए प्रेरक तत्व रहे हैं। अफ्रीकी समस्याओं के समाधान के लिए संयुक्त राष्ट्र महासभा का दबाव उपनिवेशी शक्तियों पर निरन्तर पड़ता रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ उपनिवेशवाद एवं रंग-भेद के अवशेषों के उन्मूलन के लिए वचनबद्ध है।

4. औपनिवेशिक शक्तियों का निर्बल होना—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद साम्राज्यवादी शक्तियाँ दुर्बल हो गयीं। उनके लिए अब बड़ा कठिन था कि उपनिवेशों को चिरकाल तक अपने अधीन रख सकें। फ्रांस व ब्रिटेन आदि राष्ट्र इतने कमजोर हो गये कि उनमें अपने उपनिवेशों के स्वाधीनता आन्दोलन का दमन करने की शक्ति नहीं रह गयी। जब एशिया के उपनिवेश तेजी से उनके चंगुल से मुक्त होने लगे तो अफ्रीकी राष्ट्रवादियों में भी प्रबल आत्म-विश्वास जाग्रत हुआ।

5. साम्यवाद का आकर्षण—अफ्रीका महाद्वीप में साम्यवाद के लिए प्रायः सभी आवश्यक परिस्थितियाँ उपस्थित हैं। पश्चिमी ढंग का लोकतन्त्र इस महाद्वीप के लोगों की आशाओं और आकांक्षाओं से मेल नहीं खाता। अफ्रीकी नेता पश्चिमी लोकतन्त्रात्मक देशों को उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का समर्थक मानते हैं। सोवियत रूस और साम्यवादी चीन ने इस महाद्वीप के अनेक देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय सहयोग प्रदान किया है। अफ्रीकी नेता साम्यवाद की अपीलों और उपलब्धियों से प्रभावित रहे है। अल्जीरिया, ट्यूनीशिया, फ्रांसीसी पश्चिमी अफ्रीका में स्थानीय साम्यवादी दलों का प्रभाव रहा है। साम्यवाद का आकर्षण जनता को उपनिवेशवाद, रंगभेद तथा आर्थिक शोषण के अवशेषों का उन्मूलन करने के लिए प्रेरित करता है।

अफ्रीकी नव-जागरण के मार्ग में रुकावटें
(CHALLENGES OF THE AFRICAN RESURGENCE)

अफ्रीका में राष्ट्रवाद एवं नव-जागरण की लहर उतनी तीव्र नहीं हो पायी जितनी एशिया में है। उसके निम्नलिखित कारण हैं—(i) अफ्रीका में राष्ट्रवाद परस्पर विरोधी राष्ट्रीय गुटों एवं मान्यताओं के कारण तीव्र नहीं हो पाया है। (ii) अफ्रीका में कबीलावाद राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बहुत बड़ी रुकावट है। कबीलावाद और परम्परागत मान्यताएँ, जिनको उपनिवेशवादी शक्तियाँ प्रोत्साहित करती रहीं न केवल अफ्रीकी राष्ट्रवाद के मार्ग में रुकावट बन जाती हैं बल्कि क्षेत्रीय व विभिन्न राज्यों की आन्तरिक अस्थिरता और फूट का भी यह कारण है। (iii) अफ्रीका के किसी भी राष्ट्र में जब कभी भी कोई नेता अत्यधिक लोकप्रियता हासिल कर लेता है तो तुरन्त ही उसका आन्तरिक एवं अन्य अफ्रीकी देशों में विरोध शुरू हो जाता है। सैनिक और राजनीतिज्ञ षड्यन्त्रों के माध्यम से सरकारों का तख्ता पलटने का क्रम चलता रहा है। ऐसी स्थिति में अफ्रीकी राष्ट्रवाद की गति मन्द पड़ना स्वाभाविक है। (iv) उपनिवेशी शासनकाल में अफ्रीका में शिक्षा की उपेक्षा की गयी। अनेक स्वाधीन अफ्रीकी देशों को राज-काज चलाने के लिए पढ़े-लिखे अफ्रीकी नहीं मिलते और आज भी उन्हें विदेशियों पर निर्भर रहना पड़ता है। (v) आर्थिक पिछड़ापन और विदेशी कम्पनियों द्वारा आर्थिक शोषण भी अफ्रीकी राष्ट्रवाद के मार्ग में बाधा है। अफ्रीकी राष्ट्रवाद उस समय तक प्रगति नहीं कर सकता जब तक अफ्रीकी अर्थ-व्यवस्था पर विदेशी प्रभुत्व कायम है। (vi) अफ्रीकी राजनीतिक जागरण में सैनिक अफसरों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। लेकिन आजकल विभिन्न देशों के सैनिक अफसरों में राजनीतिक महत्वाकांक्षा बढ़ती जा रही है और ये अफसर विदेशी शक्तियों के उकसाने पर सैनिक क्रान्तियाँ कर डालते हैं। आये दिन होने वाली सैनिक क्रान्तियों के कारण अफ्रीका के राजनीतिक विकास की प्रक्रिया में रुकावट पड़ जाती है। (vii) आज भी अफ्रीका के कई देशों में यूरोपीय नस्ल के लोग मौजूद हैं। इन्हें स्थानीय लोगों की तुलना में विशिष्ट राजनीतिक और आर्थिक दर्जा औपनिवेशिक शक्तियों ने दिया था। ये लोग अफ्रीकी निवासियों से अपने आपको 'उच्च' मानते हैं। दक्षिणी अफ्रीका तथा रोडेशिया में तो राजनीतिक सत्ता इन्हीं यूरोपीय जातियों के हाथों में है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि अफ्रीकी राष्ट्रवाद को कबीलावाद, जातिवाद, आर्थिक-सामाजिक पिछड़ापन, साम्यवाद विरोध तथा सैनिक तानाशाही का कड़ा मुकाबला करना पड़ रहा है। इन रुकावटों से अफ्रीका को मुक्ति दिलाने का केवल एक ही विकल्प दिखायी देता है और वह है—पान-अफ्रीकावाद जिसका अर्थ है कबीलावाद को पूरी तरह नष्ट करना और पूरे अफ्रीका महाद्वीप की समस्याओं को क्षेत्रीय एवं संकुचित राष्ट्रीय समस्याओं से अधिक महत्वपूर्ण समझना।

पान-अफ्रीकावाद
अथवा
अफ्रीका के जागरण के प्रतीक महत्वपूर्ण संगठन और सम्मेलन
(PAN-AFRICANISM)
OR
(ORGANISATION AND CONFERENCES FOR AFRICAN UNITY)

अफ्रीका में क्रान्ति की जो लहर आयी उससे एक-एक करके अफ्रीकी देश स्वतन्त्र होते गये, परन्तु वे अपने पैरों पर खड़े होने में पूरी तरह समर्थ नहीं थे। अफ्रीका के कतिपय गणमान्य नेताओं ने सोचा कि अफ्रीकी देशों में भ्रातृत्व एवं एकता की भावना लाये बिना न तो राजनीतिक स्थिरता लायी जा सकती है और न सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति ही सम्भव है। अतः उन्होंने अफ्रीकी देशों को एकता के सूत्र में पिरोने का निश्चय किया। पान-अफ्रीकावाद के अन्तर्गत किसी जाति या रंग के लोगों को दूसरों के मुकाबले में श्रेष्ठ नहीं माना जाता। इसके अनुसार विभिन्न जातियाँ सह-अस्तित्व की भावना से रह सकती हैं। 1900 में सबसे पहले लन्दन में 'पान-अफ्रीकी' सम्मेलन हुआ था। इसके बाद 1919 में अमरीकी नीग्रो नेता ड्यू बोइस के नेतृत्व में एक और पान-अफ्रीकी सम्मेलन हुआ जिसमें अफ्रीका को औपनिवेशी दासता से मुक्त कराने की बात कही गयी। इसके उपरान्त 1937 में लन्दन में 'अफ्रीकन सर्विस ब्यूरो' की स्थापना हुई। डॉ० एन्क्रूमा तथा जोमो केन्याटा जैसे नेताओं ने अफ्रीकी एकता के लगातार प्रयत्न किये। अफ्रीकी एकता की दृष्टि निम्नलिखित संगठन और सम्मेलन महत्वपूर्ण हैं :

बाण्डुंग सम्मेलन, 1955—अप्रैल 1955 में इण्डोनेशिया के बाण्डुंग नगर में 29 राष्ट्रों के 340 एशियाई और अफ्रीकी प्रतिनिधि एकत्रित हुए। इस सम्मेलन में भाग लेने वाले एशियाई व अफ्रीकी देशों ने निश्चय किया कि वे आर्थिक विकास के लिए एक-दूसरे के साथ सहयोग करेंगे। सभी ने उपनिवेशवाद की निन्दा की और अफ्रीका में हो रहे जातीय भेदभाव व पृथकत्व को लज्जा-जनक बताया। बाण्डुंग सम्मेलन अफ्रीकी भ्रातृत्ववाद की प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय अभिव्यक्ति थी।

एफ्रो-एशियन सालिडेरिटी कान्फ्रेंस, 1957—दिसम्बर 1957 में अराजकीय स्तर पर काहिरा में यह सम्मेलन हुआ। इसमें एशिया और अफ्रीका से 500 प्रतिनिधि आये। इस सम्मेलन में साम्राज्यवाद, रंगभेद और जातीय भेदभाव की निन्दा की। अप्रैल 1960 में कोनाक्री में इसका द्वितीय अधिवेशन हुआ।

आक्रा सम्मेलन, 1958—डॉ० एन्क्रूमा के प्रयत्नों से अप्रैल 1958 में आक्रा (घाना की राजधानी) में अफ्रीकी राज्यों का एक सम्मेलन हुआ। यह सम्मेलन अफ्रीकी राज्यों में सामान्य सहयोग की प्रवृत्ति का परिणाम था। यह स्वतन्त्र अफ्रीकी राष्ट्रों का सम्मेलन था जिसमें भाग लेने वाले प्रमुख राष्ट्र थे—अबीसीनिया, घाना, लीबिया, लाइबेरिया, मोरक्को, सूडान, ट्यूनीशिया तथा संयुक्त अरब गणराज्य। इस सम्मेलन का उद्देश्य हितों के प्रश्न पर विचार-विनिमय करना था, अफ्रीकी राष्ट्रों की स्वतन्त्रता की रक्षा करना और सुदृढ़ करना, औपनिवेशिक शासन के अधीन पड़े हुए राष्ट्रों की मुक्ति का रास्ता ढूंढ़ना और विश्व-शान्ति के प्रश्न पर विचार करना था।

अफ्रीकी अखिल जन सम्मेलन, 1958—दिसम्बर 1958 में आक्रा में ही 'अफ्रीकी अखिल जन सम्मेलन' का प्रथम अधिवेशन हुआ। इसमें अफ्रीका के विविध देशों के राजनीतिक दलों, ट्रेड यूनियनों, छात्र संघों तथा अन्य संस्थाओं के 209 प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। इस सम्मेलन का आयोजन सरकारी स्तर पर नहीं किया गया था तथापि इसमें सभी स्वतन्त्र अफ्रीकी देशों के शासक दलों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। इस सम्मेलन का उद्देश्य अफ्रीका के जाग्रत व्यक्तियों को जातीय भेदभाव, वनावटी सीमाओं व उपनिवेशवाद से मुक्त करके उनमें वन्धुत्व एवं एकता की भावना का प्रसार करना था। एक प्रस्ताव के द्वारा अफ्रीका के स्वतन्त्र राज्यों से यह अनुरोध किया गया कि वे अफ्रीका के परतन्त्र देशों को स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रयास में हर सम्भव सहायता दें और प्रजातीय विभेद की नीति वरतने वाली दक्षिण अफ्रीका की सरकार से अपना राजनयिक सम्वन्ध तोड़ लें।

लागोस सम्मेलन, 1962—अफ्रीकी राष्ट्रों का एक अन्य सम्मेलन जनवरी 1962 में नाइजीरिया के नगर लागोस में हुआ। इसमें 20 अफ्रीकी राज्यों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में अफ्रीकी देशों की आर्थिक समस्याओं पर विचार किया गया। सम्मेलन में कहा गया कि (i) सम्मेलन में भाग लेने वाले देशों के बीच आर्थिक एवं सामाजिक बन्धन को मजबूत बनाने की चेष्टा की जायेगी जिससे भविष्य में सारे अफ्रीका में एक अखण्ड आर्थिक व्यवस्था कायम हो सके; (ii) अफ्रीका की आर्थिक उन्नति के लिए विभिन्न राज्यों के राजनीतिक क्रिया-कलापों में समन्वय किया जाये; (iii) विभिन्न देशों की परस्पर स्वास्थ्य और शिक्षा सम्वन्धी व्यवस्था में परस्पर सहयोग कायम हो; (iv) सम्मेलन में भाग लेने वाले देशों में आर्थिक सहयोग हेतु एक संस्था गठित की जाये जिसके द्वारा विभिन्न देशों के वीच वाणिज्यिक प्रतिवन्ध को दूर करने की चेष्टा की जा सके।

मोशी सम्मेलन, 1963—फरवरी 1963 में मोशी (टाँगानिका) में एफ्रो-एशियाई सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में ब्रिटेन से अपील की गयी कि वह वासुतोलैण्ड, वेचुआनालैण्ड तथा स्वीजीलैण्ड को अविलम्व विना शर्त स्वतन्त्रता प्रदान करे। सम्मेलन में भाग लेने वाले राष्ट्रों से यह अपील की गयी कि वे संयुक्त राष्ट्र संघ के पुनर्गठन पर बल दें ताकि वह एशिया और अफ्रीका के लोगों की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व कर सके।

आदिस अबाबा सम्मेलन, 1963—मई 1963 में एक अफ्रीकी सम्मेलन हुआ जिसमें 32 राष्ट्रों के शासनाध्यक्षों ने भाग लिया। इसमें संयुक्त अफ्रीका की स्थापना के बारे में विचार किया गया और अफ्रीकी राष्ट्रों के एक स्थायी सचिवालय की स्थापना तथा सभी राज्यों के विदेश मन्त्रियों की एक परिषद् की स्थापना का सुझाव दिया गया। सचिवालय का नाम अफ्रीकी एकता संगठन रखा गया। सम्मेलन ने अफ्रीकी राज्यों के झगड़ों को सुलझाने के लिए एक आयोग की स्थापना भी की। इस सम्मेलन की सवसे वड़ी उपलब्धि यह है कि इसमें अफ्रीकी एकता का एक घोषणा-पत्र स्वीकार किया गया जिसमें समूचे अफ्रीकी महाद्वीप को दासता से मुक्त कराने की प्रतिज्ञा की गयी।

अफ्रेशियाई एकता सम्मेलन, 1972—जनवरी 1972 में काहिरा में अफ्रेशियाई एकता सम्मेलन हुआ जिसमें 59 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन में बंगला देश के प्रतिनिधिमण्डल को भी आमन्त्रित किया गया जो इस वात का प्रमाण था कि एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देशों ने उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार कर लिया था। सम्मेलन में अफ्रीका के बारे में भी खुलकर विचार-विमर्श हुआ और अफ्रेशियाई देशों । साझा बाजार बनाने की भी पेशकश की गयी।

अफ्रीकी एकता संगठन
(ORGANISATION OF AFRICAN UNITY)

मई 1962 में 30 अफ्रीकी देशों ने आदिस अबाबा सम्मेलन में अफ्रीकी एकता संगठन की स्थापना के घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किये। इस संगठन का मुख्य उद्देश्य अफ्रीकी देशों के बीच एकता और सहयोग बढ़ाना, उपनिवेशवाद को समाप्त करना तथा सदस्य देशों की स्वाधीनता के लिए कार्य करना है। अफ्रीकी देशों के बीच उत्पन्न मतभेदों को दूर करना भी इसका काम रहा है। इस संगठन के आजकल 49 सदस्य हैं। संगठन के चार्टर ने जिन संस्थाओं की व्यवस्था की है उनमें मुख्य हैं (1) सभा, (2) मन्त्रिपरिषद्, (3) सचिवालय, (4) मध्यस्थता, समझौते एवं पंच-निर्णय आयोग, (5) विशिष्ट आयोग, (6) अफ्रीकी मुक्ति समिति, (7) तदर्थ आयोग।

अफ्रीकी एकता संगठन एक क्रियाशील संगठन है। इस संगठन की विशेषपा यह है कि इसे सभी स्वतन्त्र, सार्वभौम अफ्रीकी राज्यों (दक्षिण अफ्रीका को छोड़कर) का समर्थन प्राप्त है।

अफ्रीकी एकता संगठन का 12वां सम्मेलन 28 जुलाई से 1 अगस्त, 1975 तक युगाण्डा की राजधानी कम्पाला में हुआ। इस सम्मेलन में 20 देशों ने भाग लिया। तंजानिया के राष्ट्रपति जूलियस न्येरेरे, जाम्बिया के केनेथ काउण्डा तथा मोजाम्बिक के राष्ट्रपति समोरा माकेल जैसे महत्वपूर्ण नेता इस सम्मेलम में शामिल नही हुए। सम्मेलन का बहिष्कार करने के पीछे तंजानिया का तर्क यह था कि चूंकि सम्मेलन युगाण्डा में हो रहा है, अतः उसमें भाग लेने का अर्थ होगा कि 1971 में सत्ता हथियाने के बाद राष्ट्रपति ईदी अमीन ने हजारों अफ्रीकियों की जो हत्या की, संगठन के सदस्य उसका समर्थन करते हैं। काफी विवाद के बाद युगाण्डा के राष्ट्रपति ईदी अमीन सम्मेलन के अध्यक्ष बने। इस प्रकार उनकी महत्वाकांक्षा तो पूरी हो गयी, लेकिन अफ्रीकी एकता संगठन को इससे भारी ठेस पहुँची।

अंगोला के गृह-युद्ध को रोकने और अंगोला में पुनः एकता स्थापित करने के लिए अफ्रीकी एकता संगठन द्वारा 30 जनवरी, 1976 को इथियोपिया की राजधानी आदिस अबाबा में एक विशेष शिखर सम्मेलन बुलाया गया, किन्तु उसमें अन्तिम रूप से समस्या का ऐसा कोई समाधान नहीं ढूंढ़ा जा सका जो सभी पक्षों को मान्य होता।

अफ्रीकी एकता संगठन का 14वां सम्मेलन 24 जून, 1976 को पोर्ट लुई (मारीशस) में सम्पन्न हुआ। संगठन के 47 सदस्य देशों के विदेश मन्त्रियों ने दक्षिण अफ्रीका, रोडेशिया और फ्रांस की भर्त्सना के साथ अपनी मन्त्रणा प्रारम्भ की। सम्मेलन ने दक्षिणी अफ्रीका में हुए जातीय दंगों की निन्दा की। सम्मेलन ने अरब देशों से अनुरोध किया कि वे दक्षिण अफ्रीका को तेल देने पर लगे प्रतिबन्ध को और कड़ाई से लागू करें। जुलाई 1978 में अफ्रीकी एकता संगठन का अधिवेशन खारतूम में हुआ। यहाँ ऐसा लगा कि सदस्य राष्ट्रों में अनेक समस्याओं पर मतैक्य का अभाव है। फिर भी इस बारे में सभी सदस्य राष्ट्र सहमत थे कि अफ्रीका में विदेशी हस्तक्षेप हतोत्साहित किया जाना चाहिए, अन्यथा अफ्रीका बड़ी शक्तियों का युद्ध-क्षेत्र बन जायेगा।

अफ्रीकी एकता संगठन ने अपने हाल ही के शिखर सम्मेलन (जुलाई 1981) में इस क्षेत्र की कई महत्वपूर्ण समस्याओं पर निर्णय लिये हैं। इससे लगा है कि संगठन अफ्रीकी देशों की आज की राजनीति में उल्लेखनीय भूमिका निभा रहा है। केन्या की राजधानी नैरोबी में शिखर सम्मेलन की शुरूआत अमरीकी नीतियों की आलोचना से हुई। नामीबिया पर अमरीकी नीति की कड़े शब्दों में आलोचना की गयी। संगठन के अब तक के किसी भी सम्मेलन में अमरीका पर उतना कड़ा प्रहार कभी नहीं किया गया। स्वापो के छापामार नेता शाम नोलोमा ने रीगन प्रशासन पर आरोप लगाया कि नामीबिया पर शासन करते रहने के लिए अमरीका और दक्षिण अफ्रीका के बीच सांठ-गांठ है। सदस्य देशों की राय थी कि नामीबिया की स्वतन्त्रता के लिए संयुक्त राष्ट्र दक्षिण अफ्रीका

पर जो दबाव डाल रहा है, अमरीका ठीक उसके विपरीत आचरण करके संयुक्त राष्ट्र की अवहेलना कर रहा है। शिखर सम्मेलन में नामीबिया के अतिरिक्त चैड और पश्चिमी सहारा के प्रश्नों पर सहमत थे कि नामीबिया की स्वाधीनता आज का सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न है।

शिखर सम्मेलन से पहले अफ्रीकी एकता संगठन के मन्त्रियों ने अरब संघ और संगठन के बीच सहयोग न होने के विरुद्ध जबर्दस्त चेतावनी दी थी। इन मन्त्रियों का विचार था कि इन दोनों संगठनों के बीच टकराव की स्थिति से अफ्रीकी एकता के प्रयत्नों को काफी नुकसान पहुँच सकता है। अरब शिखर सम्मेलन पिछले दो वर्ष से अफ्रीकी और अरब देशों के बीच मतभेदों के कारण स्थगित होता रहा। अफ्रीकी देश मिस्र को सम्मेलन में नहीं चाहते और मिस्र के बिना अफ्रीकी एकता शिखर सम्मेलन नहीं हो सकता था।

दक्षिण अफ्रीका को तेल भेजने पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए संगठन की मन्त्रिपरिषद् ने शिखर सम्मेलन से पहले विचार कर लिया था। अधिकांश सदस्य देशों का मत था कि दक्षिण अफ्रीका पर नामीबिया की स्वतन्त्रता के लिए दबाव डालने का इससे अच्छा कोई और तरीका नहीं हो सकता।[1]

अफ्रीकी देशों के साझा बाजार का गठन—1 जुलाई, 1984 को हरारे में पाँच अफ्रीकी देशों के राष्ट्रपतियों की उपस्थिति में 14 राष्ट्रों के एक साझा बाजार के गठन की घोषणा की गयी। इस संगठन में बरूण्डी, कोमोरोस द्वीप, इथियोपिया, केन्या, लसोथो, मलावी, मारीशस, सोमालिया, जाम्बिया, जिम्बाब्वे, युगाण्डा व रूआण्डा सम्मिलित हैं। यह बाजार इस संकल्प के साथ अस्तित्व में आया है कि इनमें सम्मिलित देश आपस में व्यापार बढ़ायेंगे और पश्चिमी देशों से व्यापारिक सम्बन्ध कम करेंगे। इस संघ का नाम पूर्वी और दक्षिणी अफ्रीकी राज्य वरीयता व्यापार क्षेत्र (पी० टी० ए०) रखा गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर अफ्रीका के नव-जागरण का प्रभाव
(THE IMPACT OF AFRICAN RESURGENCE ON INTERNATIONAL POLITICS)

अफ्रीका के अभ्युदय ने अन्तर्राष्ट्रीय राष्ट्रीय राजनीति पर व्यापक प्रभाव डाला है।

1. **उपनिवेशवाद पर कड़ा प्रहार**—अफ्रीकी नवजागरण से उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद पर कड़ा प्रहार हुआ है। आज से तीस वर्ष पूर्व समूचा अफ्रीका महाद्वीप साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के शिकंजे में बँधा हुआ था और आज यहाँ के अधिकांश देश स्वतन्त्रता की साँस ले रहे हैं।

2. **मुक्ति आन्दोलन के लिए प्रेरणा**—समूचा अफ्रीका महाद्वीप आर्थिक और शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है फिर भी वहाँ स्वाधीनता एवं मुक्ति आन्दोलनों का क्षेत्र व्यापक एवं आक्रामक रहा है। अफ्रीका में प्रत्येक स्वाधीन राज्य का उदय दुनिया के अन्य भागों में मुक्ति आन्दोलनों के लिए प्रेरणा और उत्साह के भाव पैदा करता है।

3. **जातिवाद और रंगभेद जैसे मसले अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दे बनना**—जातिभेद और रंगभेद जैसे मसले 'घरेलू क्षेत्राधिकार' के विषय समझे जाते थे। किन्तु दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद नीति और रोडेशिया की गोरी सरकार के एकपक्षीय निर्णयों के प्रश्नों को अफ्रीकी राष्ट्रों ने एकजुट होकर संयुक्त राष्ट्र संघ के मंच पर बार-बार उठाया और इनके साथ 'मानव अधिकार' का सन्दर्भ देकर इसे अन्तर्राष्ट्रीय अभिरुचि का विषय बना दिया। यही कारण था कि संयुक्त राष्ट्र महासभा ने रंगभेद की नीति को 1973 में 'मानवता के प्रति अपराध' घोषित किया तथा 1978 वर्ष को 'रंगभेद विरोध वर्ष' के रूप में मनाया गया।

---

[1] दिनमान, 26 जुलाई—1 अगस्त, 1981, पृ० 28।

4. संयुक्तराष्ट्र संघ में बढ़ता संख्या बल—अफ्रीकी नव-जागरण से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रभुसत्ताधारी राज्यों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई है। संयुक्त राष्ट्र के कुल सदस्य राष्ट्रों में लगभग एक-तिहाई अफ्रीकी राज्य हैं। आज स्वतन्त्र अफ्रीकी राज्य संयुक्त राष्ट्र संघ में संगठित 'लॉबी' के रूप में कार्य करते हैं और एशियाई राष्ट्रों के साथ मिल कर प्रभावकारी शक्ति बन गये हैं।

5. गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को बल मिलना—अफ्रीका की जागृति ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गुट-निरपेक्षता की आवाज को दृढ़ बनाया है। अफ्रीकी राज्यों की शीत-युद्ध में कोई रुचि नहीं है अतः गुट-निरपेक्षता की विदेश नीति को अपनाकर निर्गुट आन्दोलन को पुष्ट किया है।

6. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का केन्द्र—आज अफ्रीका अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का केन्द्र बनता जा रहा है। महाशक्तियों की अभिरुचि अफ्रीका में बढ़ती जा रही है। अफ्रीकी राज्यों की संख्या इतनी अधिक है कि उनके आपसी विवाद अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बन जाते हैं और महाशक्तियों को हस्पक्षेप का अवसर प्रदान कर देते हैं। उदाहरणार्थ, कांगो समस्या, नाइजीरिया का गृह-युद्ध, अंगोला समस्या, दक्षिण अफ्रीका में काले और गोरे लोगों का संघर्ष, रोडेशिया समस्या, इथियोपिया-सोमालिया विवाद के कारण अफ्रीका महाद्वीप संघर्ष-स्थल बन गया और विश्व राजनीति को आलोड़ित करने लगा।

7. राष्ट्रमण्डल के स्वरूप को प्रभावित करना—स्वतन्त्रता के वाद अफ्रीका के ब्रिटिश उपनिवेश राष्ट्रमण्डल के सदस्य बने। अब राष्ट्रमण्डल एक ऐसा क्लब बन गया है जहाँ अश्वेत राष्ट्र बहुसंख्या में हैं। अफ्रीकी राज्य राष्ट्रमण्डल के मंच से रंगभेद नीति की भर्त्सना करते हैं और उसकी निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं।

अफ्रीकी राष्ट्रवाद का मुख्य उद्देश्य विश्व के मामलों में अपने लिए एक प्रभावशाली भूमिका प्राप्त करना है। यद्यपि अफ्रीकी देशों की आन्तरिक अस्थिरता और पिछड़ेपन के कारण वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उपयुक्त प्रभाव प्राप्त नहीं कर सके हैं फिर भी अफ्रीका आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को अपने इतिहास के किसी भी पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा अधिक प्रभावित कर रहा है। संयुक्त राष्ट्र के महासचिव ने 1955 में अपने वार्षिक प्रतिवेदन में जो बात कही थी, वह आज भी उतनी ही सत्य है। उनके शब्दों में, यह स्पष्ट है कि अगले दस वर्षों में विश्व शान्ति और स्थिरता अफ्रीका में होने वाले विकासों से, उसके लोगों के राष्ट्रीय जागरण से, जातीय सम्बन्धों की स्थिति से तथा उस पद्धति से जिससे अफ्रीका के लोगों की आर्थिक और सामाजिक प्रगति को शेष संसार से सहायता प्राप्त होगी, अत्यधिक प्रभावित होगी।

महाशक्तियाँ और अफ्रीका
(SUPER POWERS AND AFRICA)

यूरोपीय साम्राज्यवादी शक्तियों के अफ्रीका से पलायन के उपरान्त वहाँ शक्ति-शून्यता आ गयी। इस अवसर का लाभ उठाकर संयुक्त राज्य अमरीका अफ्रीका में पूँजीवाद और सोवियत संघ व चीन साम्यवाद के निर्यात का प्रयास कर रहे हैं।

अफ्रीका में सोवियत विदेश नीति की तीन प्रमुख विशेषताएँ रही हैं—मुक्ति आन्दोलनों का समर्थन करना, प्रगतिशील शक्तियों का समर्थन करना तथा साम्यवादी शासनों की स्थापना करना। सोवियत संघ ने औपनिवेशिक देशों के विरुद्ध अफ्रीकी देशों के स्वाधीनता संघर्ष का हमेशा समर्थन किया। आजकल वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रगतिशील कहे जाने वाले उन लोगों का समर्थन कर रहा है जो स्वाधीनता के बाद अपने देशों की सरकारों से आर्थिक सुधार की माँग कर रहे हैं। एक प्रकार से यह स्वाधीन अफ्रीकी राष्ट्रों में सरकारों के विरुद्ध जन संघर्ष को प्रोत्साहन देना है। 1977-78 के सोमालिया-इथियोपिया संघर्ष में सोवियत संघ ने इथियोपिया का समर्थन

किया। अंगोला के गृह-युद्ध के समय एम० पी० एल० ए० का समर्थन किया। मई 1971 में उसने मिस्र के साथ एक पन्द्रह-वर्षीय पारस्परिक सुरक्षा समझौता किया और 1980 में उसने सीरिया के साथ एक 20-वर्षीय सन्धि पर हस्ताक्षर किये। ऐसा कहा जाता है कि अफ्रीका में सोवियत संघ क्यूबा के माध्यम से सक्रिय है। मोजाम्बिक में सोवियत संघ और क्यूबा दोनों ही सक्रिय हैं। नामीबिया, रोडेशिया और दक्षिण अफ्रीका की वामपन्थी शक्तियों को उनका समर्थन प्राप्त है। अल्जीरिया का धातुकर्मीय संयन्त्र, नाइजीरिया का धातु कारखाना तथा इथियोपिया की अस्सब तेल रिफाइनरी सोवियत संघ की सहायता से बनी हैं। अल्जीरिया, सियरा लियोन, इथियोपिया, गिनी, नाइजीरिया, कांगो, तंजानिया तथा अन्य कई अफ्रीकी देशों में हजारों की संख्या में सोवियत इन्जीनियर, डॉक्टर, तकनीकी विशेषज्ञ आदि विकास के कार्यों में योग दे रहे हैं। बौद्धिक स्तर पर अफ्रीका में साम्यवाद लाने के लिए वह बड़ी-बड़ी छात्रवृत्तियाँ देकर अफ्रीकी विद्यार्थियों को सोवियत विश्वविद्यालय में स्थान देता है जहाँ उनके मस्तिष्क को साम्यवादी विचारधारा से अनुप्राणित करके उन्हें पुनः उनके देश भेज दिया जाता है।

अफ्रीका में अमरीका की दिलचस्पी काफी पुरानी है। वह अफ्रीका के उपनिवेशी मालिकों से कच्चा माल खरीदता था। अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस आदि औपनिवेशिक शक्तियों का मित्र था अतः अब अफ्रीका में उसे एक उपनिवेशी पूँजीवादी शक्ति माना जाने लगा है। दक्षिण अफ्रीका तथा श्वेत लोगों का समर्थक होने के कारण अफ्रीकी नेता अमरीकी जोड़-तोड़ से दूर रहना चाहते हैं। अमरीका ने अफ्रीकी राज्यों के आपसी विवादों में भी हस्तक्षेप किया है। उसने सोमालिया को सहायता देकर उससे इथियोपिया पर आक्रमण कराया, अंगोला के गृह-युद्ध में उसने एफ० एन० एल० ए० का समर्थन किया। अमरीका ने रोडेशिया तथा दक्षिणी अफ्रीका की रंगभेद समर्थक सरकारों का समर्थन किया तथा 30 अक्टूबर, 1974 को संयुक्त राष्ट्र संघ से दक्षिणी अफ्रीका को निष्काषित करने के प्रस्ताव पर 'वीटो' का प्रयोग किया। इन सबसे अमरीका की पहचान अब अफ्रीका के आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप तथा रंगभेद का समर्थन करने वाले राष्ट्र के रूप में होने लगी है।

साम्यवादी चीन अफ्रीका को अपना विशेष क्षेत्र मानता है। उसका उद्देश्य इस क्षेत्र में साम्यवाद का अधिकाधिक प्रसार करना और स्वयं इसका सर्वमान्य नेता बन जाना है। चीन अपनी क्रान्ति और पद्धति को अफ्रीका के विकसित राष्ट्रों के लिए नमूने के रूप में प्रस्तुत करता है। उसका उद्देश्य अपनी प्रगति का उदाहरण देकर अफ्रीकी देशों को साम्यवादी पद्धति को अपनाने के लिए प्रेरित करना है। चीन ने अफ्रीकी देशों से न केवल व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये अपितु उन्हें आर्थिक और तकनीकी सहायता भी दी है। चीन से सहायता पाने वाले प्रमुख देश हैं— तंजानिया, माली, गिनी, जाम्बिया और सोमालिया। चीन ने 6 वर्ष के अल्पकाल (1970-76) में 1,276 मील लम्बे तंजाम रेलमार्ग का निर्माण करके अफ्रीकी राष्ट्रों में विशेष सम्मान अर्जित कर लिया। चीन की यह सफलता अमरीका और रूस के लिए एक चुनौती बन गयी। चीन अफ्रीकी राष्ट्रों को सोवियत-क्यूबाई खतरे से भी परिचित कराता रहता है।

विदेशी अड्डे

अफ्रीकी समाज में भावात्मक एकता की चेतना का अभाव है, परिणामस्वरूप उत्पन्न आपसी राजनीतिक कलह, आर्थिक मजबूरियाँ एवं विश्व राजनीति की शतरंजी चाल के प्रति अफ्रीकी राजनेताओं की नासमझी के कारण बड़ी ताकतों ने इन देशों में अपने अखाड़े स्थापित कर लिये हैं। अंगोला व इथियोपिया में सोवियत वर्चस्व का प्रतिनिधित्व क्यूबाई सेना के मार्फत होता है। पूर्वी जर्मनी के सैनिक सलाहकारों ने इथियोपिया व मोजाम्बिक में अपने अड्डे जमाये हुए हैं। रूस ने लाल सागर में डेहलेक द्वीप पर अपना नाविक सैन्य अड्डा स्थापित कर लिया है। फ्रांस की सेनाएँ

महाद्वीप के कम-से-कम बीस देशों में तैनात हैं। चाड व लीबिया के संघर्ष में फ्रांस व अमरीका ने चाड की सुरक्षा के लिए भारी शस्त्र व तकनीकी सहायता मुहैया करवायी। रूस व अमरीका की साम्राज्यवादी आपाधापी की राजनीति ने इन नवजात अफ्रीकी देशों को सहज विकास के क्रम से गुजरने का अवसर ही नहीं दिया। राष्ट्रीय चेतनाविहीन मध्ययुगीन मानसिकता व पश्चिमी शिक्षा से सम्पन्न अफ्रीकी नेताओं को खरीदने, उनकी वैयक्तिक सामुदायिक कमजोरियों को अपने साम्राज्यवादी हित से लाभ उठाने का अमानवीय कार्य यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों व वर्तमान साम्राज्यवादी ताकतों (अमरीका व रूस) ने भरपूर किया है।

स्वतन्त्र अफ्रीकी राज्यों की समस्याएँ
(PROBLEMS OF INDEPENDENT AFRICAN STATES)

नवोदित अफ्रीका को अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। इसमें अधिकांश समस्याएँ यहाँ की पिछड़ी हुई आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं भौगोलिक स्थिति से उत्पन्न हुई हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् यहाँ के कुछ देशों में क्रान्ति हुई, गृह-युद्ध हुए, जातीय भेदभाव के कारण अनेक उपद्रव हुए। विभिन्न राज्यों में सैनिक संघर्षों, षड्यन्त्रों, विद्रोहों तथा हत्याओं का बोलबाला रहा है। जैसे ही यहाँ के देश स्वतन्त्र हुए उनमें राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता का सूत्रपात हुआ। फलस्वरूप राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक कारणों को लेकर संघर्ष होने लगे। सरकारी कर्मचारी अयोग्य एवं भ्रष्टाचारी सिद्ध हुए। सर्वत्र कठोर परिश्रम, लगन और दूर-दृष्टि की कमी दिखायी देती है। स्वतन्त्रता पाने के बाद अफ्रीकी राज्यों में विघटन की प्रवृत्तियाँ प्रबल हुई हैं। जाइरे (कांगो) और नाइजीरिया को छोड़कर कहीं भी शासन में स्थिरता नहीं दिखायी देती है। सब राज्यों में गरीबी, भुखमरी और बेरोजगारी की समस्याएँ प्रबल हो रही हैं। इस समय अफ्रीका की प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं :

1. **राजनीतिक स्थायित्व की समस्या**—अफ्रीका के अनेक देशों में विदेशी शासन की समाप्ति के पश्चात् जैसे ही स्थानीय सरकारें बनने लगीं उनमें स्थायित्व की समस्या है। इसी कारण अनेक देशों में सैनिक अधिनायकवादी सरकारें हैं। यहाँ की राजनीतिक परम्पराएँ प्रारम्भ से ही अधिनायकवादी और सर्वसत्तावादी रही हैं। यहाँ की जनता का शोषण साम्राज्यवाद के समाप्त हो जाने पर भी जारी है। यहाँ लोकतन्त्रीय परम्पराओं का विकास नहीं हो सका। अल्जीरिया या घाना, इथियोपिया या मिस्र किसी भी देश को लें, हमें सर्वत्र यही दिखायी पड़ेगा कि इन देशों में निर्वाचित एकतन्त्र की स्थापना की गयी है। इसके अतिरिक्त, यहाँ शासन में अत्यधिक उथल-पुथल होती रहती है। यहाँ के अधिकांश देशों की प्रमुख समस्या है स्थायी प्रशासन की स्थापना जिससे कि यहाँ का विकास हो सके।

2. **जातिवाद अथवा गोरे-काले की समस्या**—अफ्रीका महाद्वीप की द्वितीय प्रमुख समस्या है जातिवाद की अथवा गोरे-काले की समस्या। इस समस्या का उदय यूरोपीय शक्तियों द्वारा किया गया। उनके शासनकाल में यहाँ श्वेत लोग आकर बसे तथा प्रशासन एवं उच्चस्तरीय कार्य इन्हीं के हाथों में था। ये शासक थे। अतः स्थानीय निवासियों पर मनमाना अत्याचार करते तथा उनको दास समझते थे। यह क्रम उस समय तक चलता रहा जब तक उनका शासन था यद्यपि अनेक बार इसका विरोध किया गया। किन्तु यूरोपियन अपनी जातीय उच्चता की भावना के कारण स्थानीय जनता का शोषण करते रहे। आज जबकि यहाँ के देश स्वतन्त्र हैं फिर भी जहाँ विदेशी हैं वहाँ यह समस्या वर्तमान है। इसके अतिरिक्त, यहाँ अनेक आदिवासी जातियाँ निवास करती हैं। उनका तथा शेष अफ्रीकियों में सामंजस्य करना इसके विकास के लिए अति आवश्यक है। यह समस्या द० रोडेशिया तथा द० अफ्रीका में उग्र रूप धारण कर चुकी है तथा वहाँ संघर्ष होता रहता है।

3. **आर्थिक विकास की समस्या**—अफ्रीका महाद्वीप की तृतीय समस्या यहाँ के विविध

संसाधनों के नियोजित विकास एवं उपयोग की है। यहाँ अनेक उपयोगी खनिज प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। इन खनिजों के विकास के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि उनका स्थानीय विकास में अधिकतम उपयोग हो। इसी प्रकार यहाँ औद्योगिक विकास नगण्य हुआ है अतः उसके विकास के लिए अधिकतम प्रयत्न आवश्यक हैं क्योंकि औद्योगिक विकास ही यहाँ आर्थिक व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान कर सकता है।

4. **विदेशियों की उपस्थिति**—अफ्रीका के देशों में वर्तमान समय में विदेशी अर्थात् यूरोपीय एशियाई यहाँ के अनेक देशों के लिए समस्या है। यहाँ के देशों में अब विदेशी जनता के लिए भी क्रमशः विद्रोही भावना जाग्रत हो रही है। उनमें यह विश्वास घर करता जा रहा है कि विदेशी स्थानीय धन का शोषण कर रहे हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण युगाण्डा से एशियाइयों के निष्कासन के रूप में देखा जा चुका है। यही बात अन्य अफ्रीकी देशों में भी यदि निकट भविष्य में दोहरायी जाय तो कोई आश्चर्य नहीं।

5. **विदेशी प्रभावों से संरक्षण की समस्या**—आज अफ्रीका के देशों की प्रमुख समस्या विदेशी प्रभावों से संरक्षण की है क्योंकि अफ्रीका का कोई देश किसी एक गुट में शामिल हो जाता है तो उससे अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। यहाँ पूंजीवादी एवं साम्यवादी दोनों ही अपना प्रभाव स्थापित करना चाहते हैं। यदि यहाँ के देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दलदल में फँस गये तो विकास की अन्य सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं।

6. **अफ्रीकी एकता की समस्या**—अफ्रीका आज विघटन के कगार पर खड़ा है। अफ्रीकी एकता संगठन अपने एकता प्रयासों में पूर्णतया असफल रहा है। डॉ० एन्क्रूमा का 'अफ्रीका का राज्य' का सपना टूट चुका है, क्योंकि विघटनकारी शक्तियाँ बहुत व्यापक एंव सक्रिय हैं। दक्षिणी अफ्रीका की राजनीति अभी भी अफ्रीकी एकता के मार्ग में रुकावट बनी हुई है।

7. **साम्यवाद के प्रसार की समस्या**—अफ्रीका महाद्वीप में साम्यवाद के लिए प्रायः सभी आवश्यक परिस्थितियाँ उपस्थित हैं जिनके कारण इस विचारधारा का निर्बाध प्रचार एवं प्रसार किया जा सकता है। यहाँ के लोग आर्थिक शोषण तथा साम्राज्यवादी दमन एवं आतंक के कटु अनुभव प्राप्त कर चुके हैं। साम्यवादी देशों द्वारा साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का विरोध, आर्थिक विकास के कार्यक्रमों की सफलता तथा पूंजीपति वर्ग को समाप्त कर शोषण का अन्त, व्यक्तियों के बीच समानता की स्थापना और जातीय भेदभाव की नीति की निन्दा आदि साम्यवादी नीतियों के कुछ उदाहरण हैं जो अफ्रीकावासियों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए पर्याप्त हैं। सोवियत रूस और साम्यवादी चीन द्वारा इस महाद्वीप के अनेक देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय सहयोग प्रदान किया गया था।

उपर्युक्त समस्याओं के अतिरिक्त सामूहिक राष्ट्रीय चेतना का अभाव, विदेशी आर्थिक सहायता पर निर्भरता, कुशल राष्ट्रीय नौकरशाही का अभाव, सत्ता के औचित्य की समस्या, शिक्षा की प्रगति, आदिवासियों का विकास आदि अनेक समस्याएँ इस महाद्वीप के सम्मुख हैं। वास्तव में, सम्पूर्ण महाद्वीप के देश विकास की शैशवावस्था में हैं।

अफ्रीका में उग्र-राष्ट्रीयता तथा एशियावासियों का निष्कासन

अफ्रीका में इन दिनों उग्र राष्ट्रवाद की भावना दिखायी देती है। इस भावना को दो रूपों में देखा जा सकता है। इसका पहला रूप तो पश्चिमी प्रभाव को समाप्त करना और अपने देश की पुरानी परम्पराओं और नामों का पुनरुज्जीवन है। इस समय अफ्रीका के विभिन्न देशों में यह प्रवृत्ति दिखायी देती है कि यूरोपियन लोगों द्वारा दिये गये अपने देशों के नामों को बदलकर इनके पुराने अफ्रीकी नाम रखें। कांगो ने अपना नया नाम जाइरे रख लिया है; रोडेशिया को अफ्रीकी लोग जिम्बाब्वे कहते हैं; न्यासालैण्ड मलावी और उत्तरी रोडेशिया जाम्बिया बन गया है।

उग्र राष्ट्रवाद का दूसरा रूप यह है कि अफ्रीकी राज्य अपने देशों से एशियावासियों को निकाल रहे हैं। यह एक विचित्र बात है कि यद्यपि इस समय 5 लाख गोरे अफ्रीकी राज्यों में मौजूद हैं, किन्तु वे इन राज्यों से न तो निकाले गये और न ही उनकी सम्पत्ति जब्त की गयी है। किन्तु अफ्रीकी राज्य अपने यहाँ से एशियावासियों को निकाल रहे हैं और उनकी सम्पत्ति जब्त कर रहे हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय जंजीबार में एक लाख एशियावासी थे। अब यहाँ केवल 40 हजार एशियावासी ही रह गये हैं। युगाण्डा में 1972 में एशियावासियों और भारतीयों को बड़ी कठोरता से निष्कासित किया गया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय इनकी संख्या 80 हजार थी और अब 8-10 हजार ही रह गयी है।

किसी समय यह समझा जाता था कि पश्चिमी देशों के साम्राज्यवाद के विरुद्ध एशिया और अफ्रीका की जनता एक संयुक्त मोर्चे का निर्माण करेगी, किन्तु आज अफ्रीकावासी उनका विकास करने वाले भारतीयों और एशियावासियों को अपने देश से निकालने पर तुले हुए हैं। अफ्रीका की उग्र राष्ट्रीयता का यह एक चिन्ताजनक पहलू है। इससे अफ्रो-एशियन एकता के प्रयत्न प्रभावित होंगे और तीसरी दुनिया की एकता का सवाल उठ खड़ा होगा।

निष्कर्ष

अफ्रीकी एकता की भावना समूचे अफ्रीका की राजनीति में एक सक्रिय तत्व है। अफ्रीकी एकता की यह भावना यूरोप के साथ सम्पर्क का फल नहीं है। राजनीतिक स्वतन्त्रता के आन्दोलनों से भी इसका कोई सीधा सम्पर्क नहीं है। अफ्रीका में एकता की भावना पहले से ही विद्यमान है, विभिन्न प्रकार के राजनीतिक आन्दोलनों और उनके नेताओं द्वारा केवल उसके उपयोग की चेष्टा होती रही है। अंगोला, रोडेशिया या नामीबिया के प्रश्न अगर सम्पूर्ण अफ्रीका को आन्दोलित कर देते हैं तो इसलिए नहीं कि ये प्रश्न आधुनिकता या आर्थिक विकास से जुड़े हुए हैं, वरन् इसलिए कि इतिहास, संस्कृति और सामाजिक सम्बन्धों में अफ्रीकी एकता की भावना एक जीवन्त तत्व है।

फिर भी महाशक्तियों की नीतियों एवं न्यस्त स्वार्थों ने अफ्रीका को **दो-मुँहा ज्वालामुखी** बना दिया है—उसका एक मुँह दक्षिणी अफ्रीका है जहाँ काले एवं गोरों का संघर्ष कभी भी विस्फोटक रूप ले सकता है। दूसरा मुँह **पूर्वी अफ्रीका** है (इथियोपिया-सोमलिया संघर्ष), जहाँ किसी पक्ष की मामूली-सी भूल से विस्फोट हो सकता है।

प्रश्न

1. द्वितीय महायुद्ध के बाद अफ्रीका की क्या समस्याएँ रही हैं और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को वे किस प्रकार प्रभावित कर रही हैं?
   What have been the problems of Africa after the Second World War and how are they affecting the international politics ?
2. नवोदित अफ्रीकी राजनीति की मुख्य-मुख्य विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।
   What are the chief characteristics of resurgent African politics ? Discuss.
3. अफ्रीकी नवजागरण के कारणों की विवेचना कीजिए।
   Discuss the causes of the rise of Africa.
4. "द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् अफ्रीका अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मुख्य तनाव केन्द्र बन गया है।" विवेचना कीजिए।
   "Africa has become the main tension-area of international politics ever since the end of the Second World War." Discuss.
5. सन् 1945 के बाद स्वतन्त्र अफ्रीकी राज्यों की प्रमुख राजनीतिक समस्याएँ क्या हैं और यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को कहाँ तक प्रभावित कर रही हैं?
   What are the main political problems of independent states in Africa after 1945 and how are they affecting international relations ?

17

लैटिन अमरीका का अभ्युदय

[THE EMERGENCE OF LATIN AMERICA]

लैटिन अमरीका को अनिश्चय का महाद्वीप माना जाता है। 'लैटिन अमरीका' शब्द का प्रयोग पश्चिमी गोलार्द्ध के उन राज्यों के लिए किया जाता है जो लैटिन संस्कृति की समान पृष्ठ-भूमि रखते हैं। वस्तुतः 'लैटिन अमरीका' एक संकुचित शब्द है जिसकी परिधि में केवल वे राष्ट्र आते हैं जो कभी स्पेन और पुर्तगाल के अधीन थे।[1] ह्यूबर्ट हेरिंग का मत है कि 'इस सम्पूर्ण प्रदेश को वस्तुतः इण्डो-एफ्रो-इब्रो-अमरीका कहना चाहिए, परन्तु उचित वाक्य के अभाव में हम इसे लैटिन अमरीका कहने के लिए विवश हो जाते हैं'।

'लैटिन अमरीका' शब्दावली से उन राज्यों का बोध होता है जो उत्तर में संयुक्त राज्य अमरीका, मैक्सिको के सीमान्तों और मैक्सिको की खाड़ी से लेकर दक्षिण में डेक पैसेज तथा अण्टार्कटिक महासागर के बाहरी भाग तक स्थित हैं।

हल्को फर्ग्युसन के शब्दों में, "पश्चिमी गोलार्द्ध की मूल समस्या यह है कि एक महादेश, वाह्य रूप से समान लेकिन मौलिक रूप से भिन्न, दो सभ्यताओं के बीच बँटा हुआ है ... इसके अतिरिक्त जहाँ उत्तर अमरीका, निर्धनता के गढ़ों के होते हुए भी, विश्व का सर्वाधिक सम्पन्न क्षेत्र है, वहाँ दक्षिण और मध्य अमरीका अपनी गर्भित सम्पत्ति और वैभवपूर्ण टापुओं के बावजूद सबसे अधिक विपन्न है ... इसे अति जनसंख्या, अपूर्ण पोषण और सामाजिक विप्लव की मानवीय विपत्ति का सामना करना पड़ रहा है ...।"

आज से साधारण 40 साल पहले लैटिन अमरीकियों के बारे में आम अमरीकियों में यह धारणा थी कि वे सभी एक जैसे होते हैं, लेकिन लैटिन अमरीकी राजनीतिज्ञ तथा बुद्धिजीवी इस बात को बिल्कुल बेकार मानते थे और इस प्रकार के सामान्यीकरण के विरुद्ध थे। पिछले दशक तक आते-आते स्थिति काफी बदल चुकी है। अमरीकी नीति निर्धारण करने वालों तथा व्यावसायिकों ने समूचे लैटिन अमरीका को एक ही कौर में हड़प जाना चाहा था, लेकिन इस कोशिश में उन्हें अपच हो गयी। अब वे लैटिन अमरीकी देशों की विभिन्नताओं की बात करने लगे हैं जबकि खुद लैटिन अमरीकी अब इस खतरे को अच्छी तरह समझ सकते हैं कि उन सबकी समस्या एक ही है।

---

1 "Broadly speaking, the term 'Latin America' is applied to all of the lands in the Western Hemisphere south of the United States, located in central and South America and the Caribbean area, often, however, the term is used more specifically to refer only to those states of the Western Hemisphere that possess a common background of Latin culture.........Since Latin America reaches into the Northern Hemisphere and excludes areas of the southern, it is not synonymous with South America."

—Palmer and Perkins, *International Relations*, third edition, pp. 468-69

द्वितीय महायुद्ध के बाद लैटिन अमरीका में जो बड़े परिवर्तन हुए उन्होंने यहाँ की जिन्दगी को बिगाड़ा ही है। 50 के दशक में 'मुक्त उद्यम' का मतलब था कि ताकतवर सब कुछ खा जायेगा। 60 के दशक में तथाकथित प्रगति का जो गठबन्धन सामने आया वह भी ताकतवर वर्ग के पक्ष में था। 70 के दशक में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने लैटिन अमरीका में धन और यन्त्रविधि से जो चमत्कार शुरू किया था उससे लोग और भी ज्यादा बेकार हो गये हैं और इसका मतलब यह है कि उन्हें खाने को नहीं मिल रहा है। इस दौरान लैटिन अमरीका की जनसंख्या बड़ी तेजी से बढ़ रही है। 1900 में वहाँ की जनसंख्या 5 करोड़ 30 लाख थी और 1950 में वह 16 करोड़ 60 लाख हो गयी और आज यह 35 करोड़ हो चुकी है। इस शताब्दी के अन्त तक लैटिन अमरीका की जनसंख्या 60 करोड़ से भी ज्यादा हो जायेगी। यदि वहाँ के आर्थिक जीवन में आमूल सुधार न किये तो इस शताब्दी के अन्त तक आधे से अधिक लैटिन अमरीकी लोग पैदा कुछ नहीं कर रहे होंगे और सिर्फ इतना खा-पी रहे होंगे कि अपनी गरीबी, खराब स्वास्थ्य तथा जानकारी के अभाव की जिन्दगी को घिसटता रखा जा सके।

लैटिन अमरीका में स्वाधीनता का सूर्योदय
(THE RISING SUN OF INDEPENDENCE IN LATIN AMERICA)

स्वाधीन होने से पूर्व लैटिन अमरीका में पुर्तगाल, स्पेन और फ्रांस के उपनिवेश कायम थे। लैटिन अमरीका लगभग 300 वर्षों तक यूरोपीय शक्तियों के अधीन रहा। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए आन्दोलन छिड़ने के बाद एक-एक करके लैटिन अमरीकी राज्य स्वतन्त्र हो गये। लम्बे संघर्ष के बाद दक्षिण अमरीका के पुर्तगाली भाषा-भाषी लोगों को स्वाधीनता प्राप्त हुई, फलस्वरूप इनका जो स्वाधीन राज्य 1825 में स्थापित हुआ वह ब्राजील के संघीय राज्य के नाम से हमारे सामने आया। दूसरी ओर स्पेन के उपनिवेशों ने अपना समारम्भ आठ भिन्न राष्ट्रों के रूप में किया। ये राष्ट्र थे—मैक्सिको, मध्य अमरीका, कोलम्बिया, पीरू, बोलीविया पैरागुए, अर्जेण्टाइना और चिली। परन्तु एक शताब्दी में ही इन आठ राष्ट्रों ने अठारह राष्ट्रों की संख्या धारण कर ली। 1828 में उरुग्वे ने अर्जेण्टाइना के विरुद्ध विद्रोह किया तथा 1830 में वह एक स्वतन्त्र राष्ट्र बन गया। वेनेजुएला 1829 में कोलम्बिया से अलग हो गया, ईक्वेडर 1830 में पृथक् हो गया और पनामा 903 में। 1940 में मध्य अमरीका में 5 राज्य बने—ग्वाटेमाला, होण्डूरास, निकारागुआ, सैलवेडोर और कोस्टारिका। सैन डोमिन्गो हैटी से पृथक् राज्य भी इसी समय बना। अनेक विद्रोहों के उपरान्त तथा संयुक्त राज्य अमरीका के हस्तक्षेप के बावजूद 1899 में क्यूबा को भी स्वाधीनता प्राप्त करने मे सफलता मिल गयी।

लैटिन अमरीकी देशों का सामान्य परिचय
(GENERAL INTRODUCTION OF THE LATIN AMERICAN COUNTRIES)

भौगोलिक और सामाजिक दृष्टि से लैटिन अमरीका विविधताओं से पूर्ण है। यहाँ पर राजनीतिक स्थिरता कम ही सुनने को मिलती है। बावजूद इसके **मैक्सिको** (क्षेत्रफल 7,61,601 वर्ग मील और आबादी 6,57,70,000—1979 का आँकड़ा) जैसे देश भी हे जहाँ न केवल लोकतन्त्र की जड़ें मजबूत हैं बल्कि हर सात वर्ष बाद नियमित तौर पर राष्ट्रपति का चुनाव होता रहा है। मैक्सिको तेल सम्पन्न तो है ही, संस्कृति सम्पन्न भी है। आजकल विदेशी सहायता कार्यक्रमों के अन्तर्गत इस देश का तेजी से औद्योगीकरण हो रहा है। इसी प्रकार **वेनेजुएला** (क्षेत्रफल 3,52,143 वर्गमील और आबादी 1,45,29,000—1979 का आँकड़ा) है। वेनेजुएला तेल निर्यातक देशों का सदस्य है और यही कारण है कि यहाँ पर पूँजी निवेश को बढ़ावा दिया जाता है। विश्व में वेनेजुएला तेल उत्पादकों में तीसरा स्थान रखता है। पिछले 30 वर्षों में जितना तेल इस देश ने निर्यात किया है उतना सम्भवतः अन्य किसी राष्ट्र ने नहीं किया। इसके अलावा

यहाँ हीरे-मोतियों के भी प्रचुर भण्डार हैं। अपनी प्राकृतिक सुन्दरता के कारण यह देश 'छोटा-सा वेनिस' कहलाता है। **अर्जेण्टीना** (क्षेत्रफल 10,72,067 वर्ग मील और जनसंख्या 2,72,10,000) राजनीतिक तौर पर स्थिर नहीं है लेकिन लैटिन अमरीकी देशों में सम्पन्न देश माना जाता है। यहाँ स्पेनवासी सबसे पहले पहुँचे थे और फिर लगभग 300 वर्षों तक यहाँ छाये रहे। स्पेनिश और इण्डियन रक्त से मिलकर यहाँ गाउचो नामक जाति उत्पन्न हुई। लैटिन अमरीका का सबसे बड़ा देश **ब्राजील** (क्षेत्रफल 32,86,470 वर्ग मील और जनसंख्या 11,91,75,000—1979 का आँकड़ा) है जो अपने घने जंगलों के लिए और अमेजन नदी के लिए प्रसिद्ध है। इसकी पुरानी राजधानी रिओ-डि-जेनरियो का समुद्रतट विश्व भर में प्रसिद्ध है। औद्योगिक दृष्टि से लैटिन अमरीकी राज्यों में यह सबसे आगे है। परमाणु शक्ति के क्षेत्र में भी ब्राजील ने काफी प्रगति की है। इसके नगर साओ-माओलो में लैटिन अमरीका की एकमात्र परमाणु भट्टी स्थापित है। विश्व की सबसे अधिक कॉफी यहाँ पैदा होती है। **क्यूबा** भी लैटिन अमरीकी देश है जहाँ फिदेल कास्त्रो दो दशक से अपनी समाजवादी नीतियों की पताका फहराये हुए हैं। **क्यूबा** (क्षेत्रफल 44,218 वर्ग मील और जनसंख्या 98,24,000—1979 का आँकड़ा) ने आस-पड़ौस में भी वामपन्थी विचार-धारा को फैलाने का प्रयास किया और इसमें कुछ सफलता भी मिली; जैसे चीले में आयेंदे की सरकार बनी, बोलिविया के जंगलों में चेग्वेवारा अपने समर्थकों को इकट्ठा करने में सफल हुए। क्यूबा दुनिया में सबसे अधिक गन्ना पैदा करने वाला देश है। चीनी के अतिरिक्त यह तम्बाकू और कॉफी का पर्याप्त मात्रा में निर्यात करता है। पश्चिमी गोलार्द्ध में अन्तर्राष्ट्रीय संकट खड़ा करने वाला क्यूबा ही प्रमुख देश रहा है। अक्टूबर 1962 में यहाँ ऐसा संकट खड़ा हुआ जिससे विश्व युद्ध होने की सम्भावना पैदा हो गयी थी। आज **निकारागुआ** (क्षेत्रफल 57,143 वर्ग मील और जनसंख्या 23,65,000) के छापामारों का प्रभाव और सोमोजा का पतन फिदेल कास्त्रो की गति-विधियों का प्रसार ही माना जाता है। 1949 से निकारागुआ सामाजिक क्रान्ति के पंथ पर निरन्तर अग्रसर रहा है। निकारागुआ में सोमोजा परिवार का सैनिक शासन स्थापित रहा है। **इक्वाडोर** का क्षेत्रफल 1,05,685 वर्ग मील है और जनसंख्या 77,63,000 है (1979 का आँकड़ा)। 1968 से इक्वाडोर पर सैनिक और असैनिक शासक शासन करते रहे हैं। **गयाना** (क्षेत्रफल 80,000 वर्ग मील और आबादी 8,32,000—1979 का आँकड़ा) ने 26 मई, 1966 को हॉलैण्ड से स्वाधीनता प्राप्त की। गयाना में भारतीयों की संख्या भी काफी है जो भारतीय परम्पराओं का निर्वाह करते हैं, भारतीय त्यौहार मनाते हैं और हिन्दी बोलते हैं। **पेरू** (क्षेत्रफल 1,74,96,222 वर्ग मील और जनसंख्या 1,54,000—1979 का आँकड़ा) भी सैनिकशाही वाला देश है। बारह वर्ष के सैनिक शासन के बाद जुलाई 1980 में राष्ट्रपति बेखांड़े टेरी सत्ता में आये। पशुपालन और खेती यहाँ के प्रमुख व्यवसाय हैं तथा सोने की भी कुछ खानें हैं। **उरुग्वे** (क्षेत्रफल 66,548 वर्ग मील और आबादी 29,10,000—1979 का आँकड़ा) के जीवन-स्तर को लैटिन अमरीकी देशों में सबसे ऊँचा माना जाता है। यह माना जाता है कि यहाँ पर स्थानीय लोग नहीं के बराबर हैं और यूरोपियनों की संख्या अधिक है। यहाँ के वामपन्थी छापामार अक्सर सरकार को परेशान किये रहते हैं। **त्रिनिदाद और टोबागो** (क्षेत्रफल 1,980 वर्ग मील और जनसंख्या 11,50,000) कैरेबियन द्वीपसमूह में सबसे सम्पन्न देश माना जाता है और राष्ट्रपति क्लार्क देश के कच्चे माल के दोहन की यथोचित व्यवस्था करते हैं। **कोलोंबिया** (क्षेत्रफल 4,56,355 वर्ग मील और जनसंख्या 2,62,05,000) में कमोवेश लोकतन्त्र की जड़ें पुख्ता हैं लेकिन इक्वाडोर और पनामा के साथ झड़पें हो जाती है।

ग्वाटेमाला मध्य असरीकी राज्यों में सबसे घनी संख्या वाला देश है। पिछले दस वर्षों में यहाँ क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। **होंडूरास** मध्य अमरीकी राज्यों में सबसे पिछड़ा हुआ है। वैसे

इस देश में चाँदी की खानें हैं और दूसरे देशों में चाँदी निर्यात करता है। **अलसाल्वाडोर** घनी आवादी वाला मध्य अमरीका का छोटा-सा देश है। इस देश की अधिकांश भूमि कुछ धनवान परिवारों के हाथ में है। हाल में यह अमरीकी हस्तक्षेप का शिकार बना हुआ है। **कोस्टारिका** 'किसानों के स्वर्ग' के नाम से विख्यात है। इसके दक्षिण-पूर्व में **पनामा** है। पनामा नहर निर्मित हो जाने के बाद इस देश की अर्थ-व्यवस्था मूल रूप से नहर से प्राप्त आय पर निर्भर है। **हाइटी, डोमिनी गणतन्त्र, जमायका** तथा **प्वेर्तोरीको** मध्य अमरीका मे वेस्ट इण्डीज के टापू है। **डोमिनी गणतन्त्र** 1930 से लेकर लगभग 30 वर्ष तक विश्व की कठोरतम अधिनायकवादी व्यवस्था के अधीन रहा। **प्वेर्तोरीको** छोटा-सा टापू है। अमरीका इस टापू में रुचि लेता है। इस टापू के लोग अमरीका में शामिल होने की वात सोचने लगे है। गुयाना के पश्चिम में **सूरीनाम** है और **सूरीनाम** के पूर्व मे थोड़ा हटकर **फ्रांसीसी गियाना** है। ये तीनों देश गर्म जलवायु वाले हैं और यहाँ की प्रमुख पैदावार गन्ना, कपास, कोको और चावल है। अर्जेण्टाइना के पश्चिम में **चिली** देश है। यह साहित्य, कला और संगीत की दृष्टि से अन्य लैटिन अमरीकी राज्यों से आगे है। राष्ट्रपति आयेंदे की हत्या के बाद यह देश काफी चर्चा का विषय बन गया था।

लैटिन अमरीका : अस्थिरता तो यहाँ की नियति है

लैटिन अमरीका राजनीतिक अस्थिरता और उथल-पुथल का महाद्वीप है। क्या कोई ऐसा देश है जहाँ हर नौ महीनों में सरकार बदल जाती है? वोलिविया में पिछले लगभग 155 वर्षों में दो सौ वार सरकार का तख्ता पलटा जा चुका है। इस समय अल साल्वाडोर में जिस प्रकार के राजनीतिक अनिश्चय और संघर्ष की स्थिति है उससे वियतनाम की पुनरावृत्ति का आभास होने लगा है। 1975 में सूरीनाम को स्वाधीनता प्राप्त हुई और उसके बाद क्रान्ति एवं प्रतिक्रान्ति का दौर जारी रहा। कोलम्विया और निकारागुआ में भी क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति के दौर वरावर चलते रहे हैं। अप्रैल 1987 में अर्जेण्टीना में सैनिक विद्रोह का प्रयास किया गया। 20 जून, 1988 को हैटी के वर्खास्त थल सेना अध्यक्ष जनरल हेनरी नेमफी ने राष्ट्रपति निवास पर अधिकार कर सत्ता हथिया ली। 3 फरवरी, 1989 को पेराग्वे में विद्रोहियों ने तीन दशक पुरानी सैनिक सरकार का तख्ता पलट दिया और राष्ट्रपति सजासनर को गिरफ्तार कर लिया। 20 दिसम्बर, 1989 को अमरीकी सैनिक वलों ने पनामा के तानाशाह शासक नोरिएगा को सत्ताच्युत कर तख्ता पलट दिया।

लैटिन अमरीकी आतंकवाद

आतंकवाद या गुरिल्ला गतिविधियाँ लैटिन अमरीका की एक विशेषता है। अधिकांश लैटिन अमरीकी राज्यों में सैनिक सरकारें है, लेकिन सैनिक शासन के वावजूद आतंकवाद पनप रहा है। आये-दिन सुनने को मिलता है कि वहाँ अमुक विमान का अपहरण कर लिया गया या अमुक देश के राजदूत का अपहरण हो गया और उसे छोड़ने के लिए लाखों डॉलर मुआवजे की माँग की गयी। पेरू हो या ब्राजील, वेनेजुएला हो या ग्वाटेमाला सभी जगह आतंकवादी गतिविधियाँ बढ़ रही हैं। इन आतंकवादियों का सम्बन्ध वामपन्थी विचारधारा से है।

मध्य अमरीका और मुनरो-सिद्धान्त

अथवा

लैटिन अमरीका में अमरीकी विदेश नीति

(U. S. A. AND LATIN AMERICAN COUNTRIES)

लैटिन अमरीकी देशों के प्रति संयुक्त राज्य अमरीका ने जिस नीति का अनुसरण किया है उसे सामान्यतः 'यान्की साम्राज्यवाद' और 'डालर कूटनीति' के नाम से पुकारा जाता है। इस

नीति के विकास की विभिन्न मंजिलें रही हैं और हर मंजिल पर इस नीति को अलग-अलग नामों से पुकारा गया है।

पहली मंजिल—इसकी पहली मंजिल उन्नीसवीं शताब्दी में हमें मुनरो सिद्धान्त के रूप में दृष्टिगोचर होती है। उसका प्रतिपादन तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति मुनरो द्वारा यूरोपियन उपनिवेशवादियों के इस क्षेत्र में आक्रामक रवैये की पृष्ठभूमि में किया गया था। इस सिद्धान्त का सहारा लेकर संयुक्त राज्य अमरीका ने इस क्षेत्र के देशों पर अपने राजनीतिक प्रभाव को स्थापित किया और उनका अनियन्त्रित रूप से विकास किया। 1823 में राष्ट्रपति मुनरो ने स्पष्ट कहा कि अमरीकी राज्यों के मामलों में किसी दूसरे के हस्तक्षेप को सहन नहीं किया जायेगा।

दूसरी मंजिल—राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट ने 'बड़ा डण्डा नीति' (Big Stick Policy) का प्रतिपादन किया। 1904 में उन्होंने स्पष्ट कहा कि मुनरो सिद्धान्त की उपेक्षा करने वाले राष्ट्रों के खिलाफ अमरीका अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस शक्ति की भूमिका अदा करेगा। अमरीकी राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप करने वालों को अमरीका स्वयं सजा देगा। रूजवेल्ट ने इसी आधार पर क्यूबा, डोमिनिकन रिपब्लिक, हैटी तथा निकारागुआ में हस्तक्षेप किया।

तीसरी मंजिल—इस काल की अमरीकी नीति को डॉलर कूटनीति के नाम से पुकारा जाता है। इस नीति की शुरूआत राष्ट्रपति टाफ्ट ने की थी। वुडरो विल्सन के समय अमरीकी भ्रातृत्व की भावना का विकास हुआ, संरक्षित अमरीकी साम्राज्यवाद का पतन होने लगा और अच्छे पड़ौसी सम्बन्धों की सृष्टि हुई।

चौथी मंजिल—इस काल में फ्रैंकलिन डी. रूजवेल्ट की 'अच्छे पड़ौसी नीति' (Good Neighbour Policy) की शुरूआत हुई। उनके राष्ट्रपतित्व काल में लैटिन अमरीका के राज्य हैटी पर से अमरीकी नियन्त्रण हटा लिया गया और दोनों के बीच परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का सूत्रपात हुआ।

पाँचवीं मंजिल—इस नीति का सूत्रपात राष्ट्रपति आइजनहावर ने किया जिसे 'अच्छे साझीदार' (Good Partner) की नीति कहा जाता है। आइजनहावर प्रशासन ने लैटिन अमरीकी राज्यों को आर्थिक और तकनीकी सहायता प्रदान की।

छठी मंजिल—राष्ट्रपति कैनेडी के काल में अमरीका द्वारा लैटिन अमरीका से 'प्रगति के लिए मैत्री' (Alliance for Progress) की नीति प्रारम्भ की गयी। इस नीति के अन्तर्गत साम्यवाद को रोकने के लिए न केवल अमरीकी राज्यों को संगठित किया गया अपितु उनके आर्थिक विकास के लिए अमरीका ने समुचित धन देने की पहल की। लैटिन अमरीकी देशों के सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए काफी धन का प्रावधान किया।

अमरीकी राष्ट्रपति कैनेडी की पहल पर 19 लैटिन अमरीकी राज्यों का (जिनमें क्यूबा शामिल नहीं था) एक संगठन स्थापित किया गया जिसे 'प्रगति के लिए मैत्री' का नाम दिया गया। एक दस-वर्षीय कार्यक्रम तैयार किया गया जिसमें यह व्यवस्था थी कि प्रत्येक वर्ष में प्रत्येक देश का आर्थिक विकास 2·5% की दर से होगा, 1970 तक प्रत्येक बालक के लिए शिक्षा की व्यवस्था होगी, बच्चों की मृत्यु-दर नीचे गिरायी जायेगी, संक्रामक रोगों से सुरक्षा की व्यवस्था की जायेगी तथा कृषि सुधार एवं औद्योगीकरण की रफ्तार तेज की जायेगी। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए राष्ट्रपति कैनेडी ने 100 करोड़ डॉलर की सरकारी सहायता देने का और 200 करोड़ डॉलर की गैर-सरकारी सहायता का वचन दिया। किन्तु 1963 से इस कार्यक्रम की समीक्षा करने पर यह आम शिकायत पायी गयी कि इस मैत्री से लेटिन अमरीकी देशों की अर्थ-व्यवस्था पर कोई वांछनीय प्रभाव नहीं पड़ा है। आलोचकों ने यहाँ तक कहा कि इसके माध्यम से अमरीका अपने साम्राज्यवादी उद्देश्यों को पूरा करना चाहता है।

सातवीं मंजिल—1969 में राष्ट्रपति निक्सन ने 'समान साझीदारी' (Equal Partnership) की नीति शुरू की। 'प्रगति के लिए मैत्री' की असफलता के उपरान्त तथा लैटिन अमरीका में बढ़ते हुए अमरीकी विरोध की पृष्ठभूमि में संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह इस क्षेत्र के प्रति अपनी नीति में परिवर्तन करे। फलतः 14 अप्रैल, 1969 को ओ० ए० एस० की एक बैठक में भाषण करते हुए राष्ट्रपति निक्सन ने कहा कि उनकी सरकार लैटिन अमरीका की ओर विशेष ध्यान देगी। मई 1969 में उन्होंने रॉकफेलर के नेतृत्व में एक सद्भाव मिशन लैटिन अमरीकी देशों की यात्रा पर भेजा। रॉकफेलर ने यात्रा से लौटने के बाद जो रिपोर्ट पेश की, उसमें यह बात स्वीकार की गयी कि अमरीका के आधिपत्य जमाने वाले रवैये के कारण लैटिन अमरीकी देशों में उसके विरुद्ध भावनाओं को बढ़ावा मिला है। इन सिफारिशों के आधार पर निक्सन ने लैटिन अमरीका के सम्बन्धों में नयी नीति की रचना की जिसे **'समान साझेदारी की नीति'** कहा जाता है। इस नीति के अन्तर्गत यह कहा गया कि अब जो लैटिन अमरीकी देशों को आर्थिक सहायता दी जायेगी उसे कार्यान्वित करने के लिए अन्तर-अमरीकी अभिकरण कायम किया जायेगा तथा अपने विकास कार्यक्रमों को स्वयं लैटिन अमरीकी देश निश्चित करेंगे।

1823 में अमरीका के राष्ट्रपति मुनरो ने लैटिन अमरीका को यूरोपीय हस्तक्षेप से छुटकारा दिलाने के बहाने इसे अमरीका का आश्रित बना दिया। मुनरो की इस नीति को मुनरो सिद्धान्त (Monroe Doctrine) कहते हैं। इस नीति के अन्तर्गत लैटिन अमरीका में अमरीकी प्रभुत्व स्थापित हो गया। यहाँ के आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन पर अमरीका पूरी तरह छा गया। द्वितीय महायुद्ध के बाद अमरीका ने लैटिन अमरीकी देशों का एक अमरीकी संगठन 'अमरीकी राज्यों का संगठन' (Organisation of American States) बनाया, जिसके द्वारा अमरीका ने एक सैनिक गुट बनाने का प्रयत्न किया ताकि लैटिन अमरीकी देशों में अमरीकी समर्थित सरकारें कायम रह सकें। जब कभी किसी लैटिन अमरीकी देश में अमरीका विरोधी तत्व राजनीतिक सत्ता अपने हाथ में लेने का प्रयत्न करते, तभी यह संगठन अमरीका समर्थित सरकार के समर्थन में कार्यवाही करता। 1951 में अमरीका ने इस संगठन की आड़ में ग्वाटेमाला में सैनिक हस्तक्षेप किया और फिर अपनी पिछलग्गू सरकार बना दी। 1959 में जब क्यूबा में कास्त्रो के नेतृत्व में क्रान्ति हुई, तब से अमरीका के प्रभुत्व को कड़ी चुनौती का मुकाबला करना पड़ा। कास्त्रो ने लैटिन अमरीका के पिछड़ेपन का वास्तविक कारण अमरीकी शोषण को बताया। क्यूबा की क्रान्ति से लैटिन अमरीका में अमरीकी हितों को खतरा उत्पन्न हो गया। इसलिए अमरीका ने सैनिक हस्तक्षेप करके कास्त्रो की सरकार का तख्ता पलटने की कोशिश की, परन्तु इसमें उसे सफलता नहीं मिली। इस घटना को 'बे ऑफ पिग्स' (Bay of Pigs) के नाम से जाना जाता है। क्यूबा पर अमरीकी हमले के बाद कास्त्रो सरकार ने अपने देश की सुरक्षा के लिए सोवियत रूस से सम्बन्ध और मजबूत किये। रूस ने क्यूबा में मिसाइल अड्डे बनाये, जिसका अमरीका ने कड़ा विरोध किया और क्यूबा की नाकेबन्दी कर दी। रूस और अमरीका में इस मसले पर युद्ध छिड़ सकता था परन्तु परमाणु युद्ध के भय से रूस ने मिसाइल-अड्डे उठा लिये और अमरीका ने क्यूबा की सुरक्षा का वचन दिया।

लैटिन अमरीकी देश अमरीका तो एक साम्राज्यवादी देश समझते हैं। वे उसे 'उत्तर का महादैत्य' (Colossus of the North) कहते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका ने लैटिन अमरीकी राज्यों को एक प्रकार से अपनी जागीर समझा और डॉलर फेंककर अथवा सैनिक हस्तक्षेप करके उन्हें अपने शिकंजे में जकड़े रखने नीति अपनायी। आज भी अमरीका लैटिन अमरीकी मामलों में निरन्तर दखल दे रहा है। जुलाई 1979 में सम्पन्न हुई निकारागुआ की सान्दिनिस्ता क्रान्ति ने अमरीकी साम्राज्यवाद के लिए जबरदस्त चुनौती उपस्थित कर दी। पहले तो उसने निकारागुआ

क्रान्ति की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए दुलार-पुचकार की कूटनीति का सहारा लिया। अक्टूबर 1979 में सैनिक और नागरिक शक्तियों के सहयोग से सत्ता परिवर्तन के जरिये प्रशासनिक और आर्थिक सुधारों की उम्मीदें दिलवायीं। परन्तु जब यह चालबाजी राष्ट्रवादी सेनानियों के लहलहाते आत्म-बल को डगमगाने में कायमाब नहीं हुई तब अमरीकी साम्राज्यवाद ने अपने पैंतरे बदले। एक ओर उसने निकारागुआ की सरकार को डरा-धमका कर उसकी जनवादी और प्रगतिशील शक्तियों को निरुत्साहित करने की कोशिश की और दूसरी ओर साल्वाडोर की दमनकारी सरकार को अधिक उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता प्रदान करनी शुरू की।

इस बीच अमरीका की रीगन सरकार ने फौरन अल साल्वाडोर को अमरीकी विदेश नीति का प्रथम परीक्षण स्थल करार दिया। विदेश मन्त्रालय से यह घोषणा हुई कि अल साल्वाडोर को क्यूबाई और सोवियत समर्पित आतंकवादी षड्यन्त्र का शिकार नहीं होने दिया जायेगा और रीगन सरकार इसे रोकने को प्राथमिकता देगी। लैटिन अमरीका के लिए नीति-निर्धारकों के पदों पर ऐसे लोगों की बहाली की गयी जिन्होंने कार्टर प्रशासन की नीतियों का सख्त आलोचना की थी और मध्य अमरीकी विद्रोह के प्रति कड़ी कार्यवाही किये जाने की सिफारिश की थी। इनमें संयुक्त राष्ट्र संघ के स्थायी प्रतिनिधि के रूप में जीन किर्क पेट्रिक और राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद के सलाहकार के रूप में रोजर फोंटन बहाली प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। रीगन सरकार ने इस सन्दर्भ में पहले महत्वपूर्ण कदम के रूप में निकारागुआ के कार्टर सरकार द्वारा 7 करोड़ 50 लाख डालर की सहायता के वचन को वापस लिया और दूसरी ओर अल साल्वाडोर की सरकार को 6 करोड़ 80 लाख डालर की आर्थिक सहायता देने की घोषणा की।

कुछ भी हो मध्य अमरीका में अमरीकी प्रशासन ने अपनी प्रतिष्ठा को दाँव पर लगा दिया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मध्य अमरीका व्यापारिक और आर्थिक हितों की दृष्टि से अमरीका के लिए कोई अधिक महत्व नहीं रखता; केला और कहवा को छोड़कर कोई खास सामग्री यहाँ से आयातित नहीं होती। साथ ही कोई भी मध्य अमरीकी राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कोई महत्वपूर्ण भूमिका अदा नहीं करता और न ही अमरीका इन राष्ट्रों से, किसी महत्वपूर्ण आव्रजन के जरिये घनिष्ठ रूप से जुड़ा है; फिर भी कौन-सी ऐसी वज़ह है कि अमरीका ने इस इलाके को ऐसा महत्व प्रदान किया है।

एक वजह यह हो सकती है, जो कि महज एक संयोग की बात है, कि जिस वक्त अल साल्वाडोर में छापामार लड़ाई अपनी चरम सीमा पर लड़ी जा रही थी उसी वक्त रीगन की सरकार सत्ता में आयी। दूसरी वजह यह हो सकती है कि रीगन सरकार वहाँ अपनी विजय के बारे में पूर्णरूप से आश्वस्त थी। उसका मानना था कि अगर अल साल्वाडोर में अमरीकी नीति सफल हो जाती है तो अमरीका अपनी खोई हुई अन्तर्राष्ट्रीय गरिमा दोबारा हासिल कर सकता है। तीसरी और सबसे महत्वपूर्ण वजह यह थी कि निकारागुआ की क्रान्ति के बाद अमरीका को यह भय हो गया था कि यदि उसने हस्तक्षेप नहीं किया तो अल साल्वाडोर में सान्दिनिस्ता क्रान्ति की पुनरावृत्ति हो जायेगी और फिर मध्य अमरीका क्यूबा की 'विध्वंसकारी गतिविधियों का केन्द्र-स्थल बन जायेगी। अतः रीगन सरकार भूतपूर्व अमरीकी विदेश मन्त्री जॉन फॉस्टर डलेस द्वारा प्रतिपादित 'डोमिनो सिद्धान्त' को इस इलाके में पूर्णरूपेण यथोचित मानने लगी। उसे भय था कि अल साल्वाडोर में वामपन्थी अमरीका विरोधी सरकार की स्थापना से ग्वाटेमाला और हांडूरास की सरकारों के लिए खतरा पैदा हो जायेगा और एक के बाद दूसरी सरकार अमरीकी प्रभाव क्षेत्र से बाहर निकल जायेगी।

अतः रीगन सरकार मध्य अमरीका को साम्यवादी खतरे से बचाने के लिए यह जरूरी मानती थी कि क्यूबा को इस इलाके में मनमानी करने की आजादी नहीं दी जाय। उसे बार-बार

यह धमकी भी दी गयी कि यदि उसने निकारागुआ के जरिये साल्वाडोर और ग्वाटेमाला के छापामारों को अस्त्र-शस्त्र देना जारी रखा तो अमरीका मध्य अमरीकी सरकारों को एकता के सूत्र में बाँधेगा और क्यूबा को अपनी हरकतों की कीमत चुकानी पड़ेगी। 3 जून, 1981 को अमरीकी कांग्रेस में एक वक्तव्य देते हुए अन्तर-अमरीकी मामलों के लिए नियुक्त उपविदेश मन्त्री टॉमस एण्डर्स ने मध्य अमरीका में क्यूबाई खतरे का मुकाबला करने के लिए चार कदमों की घोषणा की—(1) अमरीका संकट-ग्रस्त राष्ट्रों की निजी सुरक्षा के लिए हर प्रकार की सहायता प्रदान करेगा। एण्डर्स ने इस सम्बन्ध में यह टिप्पणी की कि अब विद्रोहियों को विदेशी सहायता के जरिये अस्त्र-शस्त्र मिल रहे हैं तब उनका जवाब सैनिक सहायता के अलावा कुछ नहीं है। (2) इन राष्ट्रों को अपने आत्म-निर्णय के अधिकारों को सुरक्षित रखने में मदद देगा। (3) उन्हें आर्थिक सफलता प्राप्त करने में सहायता प्रदान करेगा। और (4) अमरीका वर्तमान संकट के स्रोत पर आक्रमण करेगा। एण्डर्स ने मध्य अमरीका और कैरीबियाई क्षेत्र की विस्फोटक स्थिति को अमरीका के लिए प्रत्यक्ष खतरा बताया।

साथ ही अमरीका ने मध्य अमरीका और कैरीबियाई राष्ट्रों के आर्थिक पुनरुत्थान के लिए 'लघु मार्शल योजना' की घोषणा की। इस योजना का उद्देश्य उन राष्ट्रों को यह यकीन दिलाना था कि निजी लागत और पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के जरिये बेहतर आर्थिक विकास सम्भव है। लेकिन हकीकत तो यह है कि अमरीकी सरकार क्यूबा की लोकप्रियता से भयभीत है और यह नीति क्यूबाई क्रान्ति और उसकी आर्थिक उपलब्धियों को बदनाम करने के उद्देश्य से अपनायी गयी।

इस योजना पर विस्तारपूर्वक गौर करने से यह पता चलता है कि उसमें कोई नयापन नहीं है और इस योजना का भी वही हाल होगा जो 1960वीं दशक के प्रारम्भ में कैनेडी सरकार द्वारा जारी किये गये 'प्रगति के लिए मैत्री' योजना का हुआ था। दरअसल वर्तमान योजना प्रारम्भ होने से पहले ही संकटग्रस्त प्रतीत होने लगी है। जून 1981 के दूसरे सप्ताह में मैक्सिको के राष्ट्रपति खोसे लोपेस पोरतिय्रो ने अपनी वाशिंगटन यात्रा के दौरान रीगन सरकार को यह साफ तौर से बता दिया कि मैक्सिको तीन शर्तों पर 'लघु मार्शल योजना' को स्वीकार करेगा—जब इसमें किसी सैनिक तत्व का समावेश नहीं होगा, इसे साम्यवाद विरोधी माध्यम नहीं बनाया जायेगा और इस इलाके का कोई भी राष्ट्र इस योजना से अलग नहीं रखा जायेगा। मैक्सिको के राष्ट्रपति ने रीगन सरकार के समक्ष न कबूल की जाने वाली इन शर्तों को रखकर दरअसल इस योजना को साफ तौर से ठुकरा दिया है। निस्सन्देह जिस प्रकार क्यूबाई क्रान्ति को असफल बनाने के लिए 'प्रगति के लिए मैत्री योजना' तैयार की गयी थी उसी प्रकार वर्तमान 'लघु मार्शल योजना' निकारागुआ की सान्दिनिस्ता क्रान्ति और अल साल्वाडोर तथा ग्वाटेमाला के राष्ट्रवादियों द्वारा लड़े जा रहे दमन-विरोधी संग्राम को विफल बनाने के उद्देश्य से बनायी गयी थी।

रीगन सरकार की मध्य अमरीकी और कैरीबियाई नीति इस धारणा पर आधारित है कि समस्त लैटिन अमरीका उसके प्रभाव-क्षेत्र में है। अतएव इन इलाकों में अमरीका किसी भी बाहरी शक्ति के हस्तक्षेप या प्रभाव को बर्दाश्त नहीं करेगा।

रीगन सरकार की यह धारणा कि वर्तमान मध्य अमरीकी संकट का स्रोत क्यूबा है, वास्तविकता पर पर्दा डालना है। साल्वाडोर की वर्तमान स्थिति और निकारागुआ की सोमोजा विरोधी सान्दिनिस्ता क्रान्ति तब भी वही रूप लेती यदि फिदेल कास्त्रो इस धरती पर पैदा भी नहीं हुआ होता। दरअसल मध्य अमरीका की वर्तमान आर्थिक और राजनीतिक उथल-पुथल की जड़ में भौतिक संरचनात्मक समस्याएँ हैं। यहाँ की राजनीतिक प्रणालियाँ सदैव अधिनायकवादी और जनविरोधी रही हैं। जब-जब गरीबी और बेरोजगारी के खिलाफ तथा मौलिक आवश्यकताओं के

लिए आन्दोलन हुए हैं, यहाँ की सरकारों ने माँगों को हिंसा, दमन, चुनावी चालवाजियों तथा संवैधानिक अधिकारों को स्थगित करके ठुकरा दिया है। अल साल्वाडोर, ग्वाटेमाला और हांडुरास समस्त लैटिन अमरीका के सबसे गरीब राष्ट्रों मे से हैं। यहाँ बेरोजगारी और भुखमरी की समस्याएँ सबसे गम्भीर हैं, क्योंकि चन्द प्रतिशत लोगों ने समस्त राष्ट्रीय सम्पत्ति पर कब्जा किया हुआ है। जाहिर है जब न्यायसंगत तरीकों से गरीब और भूखी जनता की माँगें पूरी नहीं होंगी, तबाह और परेशान जनता ध्रुवीकृत होगी और हिंसक और गैर-कानूनी माध्यमों का सहारा लेगी। यदि अमरीकी सरकार इन राष्ट्रों का आर्थिक विकास चाहती है तो उसे इन संरचनात्मक समस्याओं का निराकरण ढूंढ़ना होगा जो वर्तमान संकट के लिए प्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार हैं।

यदि अमरीकी सरकार ने मध्य अमरीकी संकट में अपनी वर्चस्वतापूर्ण नीति जारी रखी तो इसके तीन महत्वपूर्ण परिणाम सामने आ सकते हैं। **प्रथम**, इन इलाकों में वर्तमान दमनकारी सरकारों के स्थान पर वामपन्थी प्रजातान्त्रिक सरकारें सत्ता में आ सकती हैं, जो सम्भवतः अमरीका के प्रति तटस्थ रुख अपनायेंगी और गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों से अपना सम्पर्क बढ़ायेंगी। **दूसरे**, यहाँ मार्क्सवादी, लेनिनवादी सरकारों की स्थापना हो सकती है, जो साम्यवादी खेमे में रहेंगी और अमरीका से उनका कोई सम्पर्क नहीं रहेगा। **तीसरे**, वर्तमान सरकारें और अधिक दमन, अत्याचार एवं मानव अधिकारों का अतिक्रमण करेंगी। ये सरकारें अमरीका के इशारों पर चलेंगी, परन्तु यह स्थिति भविष्य में अमरीका के लिए घातक साबित होगी।

ग्रेनाडा पर अमरीकी आक्रमण

मध्य अमरीका के कैरेबियन सागर का एक नन्हा द्वीप देश—**ग्रेनाडा**—जिसकी आबादी मात्र एक लाख व क्षेत्रफल केवल 145 वर्ग किलोमीटर है, 1974 तक ब्रिटेन का उपनिवेश था। 1979 में वहाँ मार्क्सवादी सरकार का गठन हुआ तथा अक्टूबर 1983 में वहाँ सैनिक क्रान्ति हो गयी। मध्य अमरीका में मार्क्सवादी सरकारों की स्थापना अमरीका के लिए हीनता एवं चुनौती उत्पन्न करती है। ग्रेनाडा ने चार करोड़ डालर व्यय से पर्यटक हवाई अड्डे के निर्माण के लिए क्यूबा से समझौता किया तो अमरीका नाराज हो गया तथा आरोप लगाया कि पर्यटन के नाम पर ग्रेनाडा को 'होलीडे पैराडाइज' बनाने की आड़ में, रूस, क्यूबा के माध्यम से ग्रेनाडा में सामरिक हवाई अड्डे का निर्माण कर रहा है। ग्रेनाडा के सैनिक विद्रोह ने एक अवसर दे दिया तथा रीगन प्रशासन ने पूर्वी कैरेबियन संगठन के माध्यम से एक तथाकथित आमन्त्रण जुटाकर, ग्रेनाडा स्थित अमरीकी नागरिकों की सुरक्षा के नाम पर नन्हें ग्रेनाडा पर निर्लज्ज आक्रमण कर दिया।

निकारागुआ तथा होण्डूरास में अमरीकी हस्तक्षेप

22 मार्च, 1983 को निकारागुआ ने अमरीकी हस्तक्षेप को रोकने हेतु सुरक्षा परिषद से प्रार्थना की। महासभा ने निकारागुआ के विरुद्ध अतिक्रमण के कृत्यों की निन्दा की। 19 अप्रैल, 1984 को निकारागुआ ने अमरीका के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में केस दायर किया। निकारागुआ ने यह आरोप लगाया कि अमरीका अतिक्रमण तथा हस्तक्षेप की कार्यवाहियों द्वारा निकारागुआ की स्थापित सरकार को उखाड़ने का प्रयास कर रहा है। वस्तुतः अमरीका वामपंथी सैण्डनिस्टा सरकार के खिलाफ लड़ रहे मुस्लिमों को मदद कर रहा है। इसी प्रकार मार्च 1985 में राष्ट्रपति रीगन ने 3200 अमरीकी सैनिकों को होण्ड्रास भेज दिया। अमरीका का कैरीबियन सागर मध्य स्थित देश में यह सीधा सैनिक हस्तक्षेप था।

अमरीकी सैनिकों ने पनामा में तख्ता पलटा

20 दिसम्बर, 1989 को राष्ट्रपति बुश के निर्देश पर अमरीकी सैनिक बलों ने पनामा के तानाशाह शासक नोरिएगा को सत्ताच्युत कर दिया। नोरिएगा का तख्ता पलट कर विपक्षी नेता ऐण्डारा के नेतृत्व वाली सरकार को सत्ता में स्थापित कर दिया। ऐण्डारा सात माह पूर्व

चुनाव जीते थे लेकिन नोरिएगा ने चुनावों में विदेशी हस्तक्षेप का आरोप लगाते हुए चुनाव रद्द कर दिये थे।

लैटिन अमरीका : वामपन्थ का खतरा

अथवा

लैटिन अमरीका में वामपन्थी प्रवृत्तियाँ

(LATIN AMERICA GOING TOWARDS COMMUNISM)

एक वक्त था जब लैटिन अमरीकी देश अमरीकी धड़कन समझे जाते थे। लेकिन क्यूबा में फिडेल कास्त्रो ने तीस साल पहले साम्यवादी शासन स्थापित कर अमरीका के इस मिथक को मिथ्या साबित कर दिया। न केवल यही बल्कि उनके एक छापामार मित्र चे ग्वेवारा और फ्रांसीसी बुद्धिजीवी रेजिस देब्रे ने अपनी वामपन्थी विचारधारा का जिस प्रकार फैलाव शुरू किया उससे पश्चिमी देशों में एक अजीब तरह की बेचैनी महसूस की जाने लगी। इन दो छापामारों ने बोलिविया के जंगलों को अपना शरणालय बनाया और स्थानीय लोगों का सहयोग प्राप्त कर तत्कालीन सरकारों को खुले आम चुनौती दे डाली। अमरीका के समर्थन से यद्यपि छापामार उन्मूलन प्रहार के कारण ग्वेवारा मारा गया। लेकिन जिन चिन्हों की छाप बोलविया के जंगलों में वह छोड़ गये वह सिमट कर ही नहीं रह गयी, उसने ऐसा रास्ता बनाया जिसकी पगडण्डियाँ आज कई लैटिन अमरीकी देशों से होकर गुजरती है।

क्यूबा के राष्ट्रपति फिडेल कास्त्रो के प्रशिक्षित छापामार अल साल्वाडोर, निकारागुआ में अपनी स्थिति मजबूत करने के बाद अब कोलम्बिया, ग्वाटेमाला, हाण्डूरास, पनामा, बोलिविया आदि देशों में मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रसार में जुट गये हैं। अमरीका के द्वार पर वामपन्थ की दस्तक सुनायी देने लगी है। क्यूबा में फिडेल कास्त्रो ने बातिस्ता की निरंकुश प्रवृत्तियों के विरुद्ध लोगों में जागरुकता पैदा करने में सफलता प्राप्त की (1 जनवरी, 1959 में बातिस्ता सत्ताच्युत), चीले में अस्थिरता के कारण डॉ. साल्वाडोर आयेंदे 1970 में राष्ट्रपति चुने गये, निकारागुआ में जिस प्रकार छापामारों ने 40 वर्षों से सत्तारूढ़ सोमोजा वंश के शासन के पतत की भूमिका तैयार की वह उनकी प्रहार क्षमता का प्रतीक है, छापामारों ने इस सफलता के बाद अल साल्वाडोर पर तीखा प्रहार किया और 16 अक्टूबर, 1969 को राष्ट्रपति कारलोस ह्यूबर्टो रोमेरियो को एक सैनिक क्रान्ति में सत्ताच्युत कर दिया। हांडुरास में तनाव की स्थिति है : ग्वाटेमाला और हांडुरास का परस्पर तनाव कौन-सा रुख अख्तियार करता है, चर्चा का विषय है।

"निकारागुआ मध्य अमरीका में क्यूबा के बाद दूसरा सशक्त मार्क्सवादी गढ़ है। निकारागुआ में यदि सेण्डविस्टा मार्क्सवादी क्रान्ति सफल होती है तो फिर मेक्सिको, ग्वाटेमाला आदि को भी शायद वामपन्थी प्रवाह से न बचाया जा सके। अल-साल्वाडोर का तो बच पाना असम्भव ही है। कोस्टारिका भी अपने आपको कहीं-न-कहीं डरा हुआ महसूस करता है।"

प्रश्न यह उठता है कि इन छापामारों को किसका सहयोग मिल रहा है? क्या सोवियत संघ या उसका मित्र क्यूबा इन विद्रोहियों की सहायता कर रहा है? यद्यपि इस तरह के हस्तक्षेप या समर्थन को प्रत्यक्ष तौर पर मानने को तैयार नहीं है तो भी इसमें दो राय नहीं कि जबसे फिडेल कास्त्रो क्यूबा में जमे हैं उन्हें उखाड़ा नहीं जा सका है। अमरीका की दृष्टि से अल साल्वाडोर में होने वाली उथल-पुथल में रूस जैसी महाशक्ति का सक्रिय योगदान है। अमरीकी प्रशासन की मान्यता है कि रूस और उसके मित्र देश यह काम प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं कर रहे लेकिन क्यूबा को माध्यम बनाकर उसे साम्यवादी खेमे में मिलाने का प्रयास कर रहे हैं। अमरीका यह भी आरोप लगा रहा है कि निकारागुआ की नव-वामपन्थी सरकार अल-साल्वाडोर के वामपन्थी छापामारों को अस्त्र-शस्त्र देकर सहायता कर रही है। क्यूबा की साम्यवादी क्रान्ति तथा फिडेल कास्त्रो के

नेतृत्व की वास्तविकता को संयुक्त राज्य अमरीका ने स्वीकार किया है। यदि निकारागुआ की सरकार को विकास व लोक कल्याण के कार्यों के लिए स्थिरतापूर्वक कुछ समय मिल गया तो निकारागुआ में भी साम्यवाद की जड़ें क्यूबा के समान ही गहरी हो जायेंगी। उत्तर व दक्षिण अमरीका महाद्वीपों को जोड़ने वाली पट्टी पर एकदम मध्य में स्थित निकारागुआ पड़ौसी देशों में साम्यवादी क्रान्ति का निर्यात अधिक सुगमता व निपुणता से कर पायेगा। निकारागुआ के मार्क्सवादी शासन को जमाने में क्यूबा व सोवियत रूस अपनी पुरजोर व सक्रिय भूमिका अदा कर रहे हैं।

भूखी, अशिक्षित और दरिद्र जनता के लिए साम्यवाद एक बढ़ता हुआ आकर्षण है और लैटिन अमरीका की भूमि उसके प्रसार के अनुकूल है। प्रो० ग्राहम एच० स्टुअर्ट के अनुसार "लैटिन अमरीका के गणतन्त्र में प्रजातन्त्र की अपेक्षा साम्यवाद के आश्वासन अधिक प्रभावपूर्ण हैं क्योंकि यहाँ विदेशी पूँजीपतियों अथवा राष्ट्रीय राजनीतिज्ञों द्वारा जनता का शोषण एक सामान्य बात हो गयी है।"

संयुक्त राज्य अमरीका की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उसे गरीबी व शोषण के खिलाफ लड़ रहे जननायकों व जन आन्दोलनों के विरुद्ध बदनाम, अलोकप्रिय व शोषक समुदायों का समर्थन करना पड़ता है। चूंकि इनके खिलाफ होने वाले आन्दोलन के नेतृत्व, साम्यवादी है एवं सोवियत रूस का इन्हें आशीर्वाद प्राप्त है, जो सिद्धान्तः सर्वहारा की तानाशाही में विश्वास रखते हैं, लोकतन्त्रवादी नहीं हैं, अतः अमरीका बदनाम व अत्याचार पक्ष का पक्षधर बनने के लिए अपने आपको मजबूर पाता है।

सोवियत संघ की निगाह एक लम्बे अर्से से इन देशों पर है। यह उन्हें अपने प्रभाव मे लाना चाहता है। इन देशों में जो साम्यवादी दल है उनकी आस्था भी रूस के प्रति है। पिछले दो दशकों से सोवियत संघ लैटिन अमरीका के अनेक देशों को तकनीकी और वित्तीय सहायता दे रहा है।

लैटिन अमरीका के सीमा विवाद
(BOUNDARY DISPUTES OF LATIN AMERICAN STATES)

यूरोपीय उपनिवेशवाद की 'फूट डालो और राज्य करो' नीति के परिणामस्वरूप एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के विकासशील और अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों को सीमावर्ती समस्याएँ विरासत के रूप में मिलीं। लैटिन अमरीका में भी उन्नीसवीं और वर्तमान शताब्दी के प्रथम तीन-चार दशकों में ये समस्याएँ काफी उग्र और गम्भीर थीं। 1932 में बोलीविया और पारागुआई के बीच पारागुआई नदी और बोलिवियाई पहाड़ की तराई स्थित उत्तरी चाको को लेकर जो विश्व-प्रसिद्ध चाको युद्ध हुआ वह विश्व के सबसे क्रूर और हिंसक सीमावर्ती विवादों में से एक था। यह युद्ध 1932 से 1935 तक चला जिसमें करीब 1 लाख 35 हजार लोगों की जानें गयीं। मौजूदा संकेतों के अनुसार लैटिन अमरीका में चार जगह सीमावर्ती संघर्ष कभी भी छिड़ सकता है:

1. **ग्वाटेमाला-बेलीज**—बेजील एक छोटा सा देश है। 1964 में ब्रिटेन ने बेलीज को राष्ट्रमण्डल के सह-सदस्य के रूप में मान्यता दी। बेलीज को आन्तरिक स्वायत्तता तो मिल गयी परन्तु सुरक्षा और विदेश नीति ब्रिटेन के ही जिम्मे रही। तबसे अनेक बार ब्रिटेन ने बेलीज को पूर्ण आजादी देने की पेशकश की, किन्तु हर बार ग्वाटेमाला ने यह कहकर अड़चनें पैदा कीं कि यदि बेलीज को एकतरफा ढंग से आजादी दी गयी तो वह उस पर फौरन हमला कर देगा, क्योंकि बेलीज की 23 हजार वर्ग किमी० भूमि पर वह अपना दावा पेश करता रहा है। ग्वाटेमाला और ब्रिटेन की सैनिक टुकड़ियाँ दिसम्बर 1975 से ही बेलीज की सीमा पर तैनात हैं। नवम्बर 1980

में संयुक्त राष्ट्र संघ ने ब्रिटेन से यह माँग की कि वह बेलीज को 1981 के अन्त तक आजाद कर दे। 11 मार्च, 1981 को ब्रिटेन, ग्वाटेमाला और बेलीज के बीच त्रिपक्षीय सन्धि हुई। इस सन्धि के अन्तर्गत ग्वाटेमाला को यह छूट दी गयी है कि वह बेलीज के समुद्री इलाकों का प्रयोग कर सकता है। यह समझौता निःसन्देह एक ऐतिहासिक समझौता था और इसकी वजह से बेलीज की आजादी का मार्ग प्रशस्त हुआ। परन्तु बेलीज में इस समझौते के विरोध में हिंसक प्रदर्शन हुए। बेलीज के प्रधानमन्त्री जार्ज प्राइस ने भी कहा कि यह समझौता न तो पूर्ण था और न ही अन्तिम। कुछ भी हो, सीमावर्ती विवाद कम नहीं हुए हैं।[1]

2. **पेरू-इक्वाडोर**—दक्षिण अमरीका के दो खनिज-तेल सम्पदा सम्पन्न राष्ट्र पेरू और इक्वाडोर के सीमावर्ती विवाद सम्भवतः सबसे गम्भीर और सबसे पुराने हैं। 21 जनवरी, 1981 को दोनों राष्ट्रों के बीच बड़े पैमाने पर युद्ध भी हुआ और दोनों पक्षों को जान-माल की काफी हानि भी उठानी पड़ी। अन्त में अमरीकी राज्य संगठन के हस्तक्षेप पर एक सप्ताह बाद दोनों राष्ट्र युद्ध-विराम के लिए राजी हुए।

1941 में दोनों के बीच दस दिनों तक लड़ाई हुई जिसमें पेरू की विजय हुई। अगले वर्ष रिओ-दे-जेनेरो (ब्राज़ील की राजधानी) में नये सिरे से सीमा तय की गयी जो पेरू के लिए ही लाभप्रद साबित हुई। रिओ-दे-जेनेरो सन्धि की गारण्टी चार राष्ट्रों—ब्राजील, चीले, अर्जेण्टाइना और संयुक्त राज्य अमरीका—ने ली। तब से इक्वाडोर ने कई अवसरों पर इस सन्धि के विरुद्ध अपना असन्तोष व्यक्त किया है। पहली बार 1951 में उसने आम तौर पर वह घोषणा कि वह रिओ सन्धि का पालन नहीं करेगा। 1960 में इक्वाडोर के राष्ट्रपति वेलस्को इवार्रा ने इस सन्धि को यह कहते हुए गैर-कानूनी करार किया कि इक्वाडोर ने सन्धि पर हस्ताक्षर अन्तर्राष्ट्रीय दबाव में आकर किये थे। वर्तमान संघर्ष तब छिड़ा जब इक्वाडोर ने तीन विवादग्रस्त इलाकों पर कब्जा कर लिया। लड़ाई तो खैर शीघ्र समाप्त हो गयी किन्तु दोनों राष्ट्रों के बीच 200 हजार वर्ग किलोमीटर का इलाका विवादग्रस्त है, जिसका समाधान आसान नहीं जान पड़ता है।[2]

3. **चीले-अर्जेण्टीना**—जहाँ तक चीले और अर्जेण्टीना के बीच विवादग्रस्त बीगल नहर का प्रश्न है, लम्बे अरसे से चला आ रहा यह विवाद अब निस्सन्देह एक नाजुक दौर में पहुँच गया है। अप्रैल 1982 में अर्जेण्टीना ने चीले के साथ अपनी सीमा बन्द कर दी थी और दोनों ओर से सैनिक टुकड़ियों को सजग कर दिया गया था। विवाद की जड़ में तीन छोटे-छोटे बंजर द्वीप हैं—लेनोक्स, पिक्टन तथा नुवेवा जो बीगल नहर के पूर्वी किनारों पर अवस्थित हैं। 1977 में अन्तर्राष्ट्रीय विवाचन (Abritration) के निर्णय के अनुसार ये तीनों द्वीप चीले के अधिकार-क्षेत्र में करार किये गये। अर्जेण्टीना को सहज परिवर्ती जल-मार्ग में सीमित अभिगमन की छूट दी गयी। अर्जेण्टीना ने इस निर्णय को मानने से इन्कार कर दिया और दोनों राष्ट्रों ने सैन्य प्रचलन की गतिविधियाँ तीव्र कर दीं। स्थिति तब नियन्त्रण में आयी जब अन्तिम क्षण पोप ने इस विवाद की मध्यस्थता करने की पेशकश की।

4. **गुयाना-वेनेजुएला**—गुयाना और वेनेजुएला का सीमा-विवाद भी करीब दो दशक पुराना है। गुयाना की समुद्री सीमा वेनेजुएला की सीमा से पूरब की ओर 270 मील तक आरिनो के मुहाने से कोरेताइन नदी तक जाती है। उसी प्रकार इसकी पश्चिमी सीमा का आधा ऊपरी भाग भी वेनेजुएला की सीमा से मिलता है। 1899 में पेरिस विवाचन के निर्णय के अनुसार वेनेजुएला का 69,000 वर्ग मील का भूभाग तत्कालीन ब्रितानी गुयाना (आज का गुयाना) को

---

[1] दिनमान, 14-20 मार्च, 1982, पृ० 33।

[2] दिनमान, 14-20 मार्च, 1982 पृ० 34।

दिया गया। नवम्बर 1963 में वेनेजुएला ने संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में यह मांग की कि 59,000 वर्गमील का इलाका उसे लौटाया जाये। वेनेजुएला के वर्तमान मानचित्र में इसे क्वीवो नदी के पश्चिम अवस्थित 60,000 वर्ग मील के भू-भाग को विवादग्रस्त भू-भाग के रूप में दिखाया गया है। अप्रैल 1981 में काराकास में गुयाना एवं वेनेजुएला के राष्ट्रपतियों ने इन मामलों को सुलझाने के लिए वातचीत भी की, लेकिन 36 घण्टे वाद ही वेनेजुएला ने दुवारा विवादग्रस्त इलाके पर अपना दावा पेश किया। दोनों में मुठभेड़ की खवर मिली है। वेनेजुएला ने जार्ज टाउन स्थित अपने राजदूत को वापस वुला लिया और गुयाना ने किसी तीसरे मुल्क की मध्यस्थता स्वीकार करने से साफ इन्कार कर दिया है।

इन सभी विवादों के पीछे खनिज तेल की महत्वपूर्ण भूमिका देखी जा सकती है। करीब-करीब सभी विवादग्रस्त इलाकों मे जव से पेट्रोलियम पाये जाने की सम्भावना दिखायी पड़ने लगी है, दोनों पक्षों ने उन इलाकों को अपने कब्जे में करने की कोशिश की है। उदाहरणार्थ, जव से मेक्सिको के दक्षिण-पूर्व चिपाया-तावस्को इलाके में पेट्रोलियम के वड़े भण्डार मिले हैं, ग्वाटेमाला ने वेलीज के 22 हजार वर्ग किमी० भू-भाग पर दावे को अधिक तीव्रता से जताना शुरू कर दिया है, क्योंकि उसे विश्वास है कि चिपाया-तावस्को के तेल भण्डार का फैलाव वेलीज तक है। जहाँ तक पेरू-इक्वाडोर के विवाद का प्रश्न है, यहाँ भी तेल की वजह से ही मुठभेड़ें हुई हैं। अर्जेण्टीना और चीले के वीच विवाद की भी जड़ में प्रमुखतया तेल ही है। 1977 से दोनों राष्ट्र विवादग्रस्त इलाके में तेल की खोज में लगे हैं। वेनेजुएला और गुयाना दोनों पेट्रोल सम्पदा-सम्पन्न हैं फिर भी वेनेजुएला की नजर विवादग्रस्त इलाके के तेल भण्डार पर है, ताकि वह एक अत्यन्त समृद्ध और प्रभावशाली क्षेत्रीय शक्ति के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय रंग-मंच पर एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सके।

वर्तमान विवादों में राष्ट्रीय गरिमा का भी प्रश्न निहित है। चूंकि 1942 की सन्धि के परिणामस्वरूप इक्वाडोर को अपने 70,000 वर्गमील का इलाका हाथ से गँवाना पड़ा था, इसलिए वह अपनी खोई हुई जमीन वापस लेकर राष्ट्रीय गरिमा को वढ़ा सकता है। अतः इन विवादों में राष्ट्रीयता और भावात्मकता के प्रश्न भी उलझे हुए हैं। वेनेजुएला के एक मशहूर लेखक खोरखे ओलावार्रिया ने वेनेजुएला-गुयाना विवाद के सम्वन्ध में ठीक ही कहा है कि "कानूनी और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हमारी स्थिति विवेकहीन है, परन्तु भावात्मक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह अवबोधनीय है।" साथ ही विवादग्रस्त राष्ट्रों की सरकारें अपनी लड़खड़ाती अर्थ-व्यवस्था और दिनानुदिन वढ़ती हुई घरेलू समस्याओं से आम जनता का ध्यान हटाने के लिए भी इन विवादों को जीवित रख रही हैं।

लैटिन अमरीका में क्षेत्रीय सहयोग
(REGIONAL CO-OPERATION IN LATIN AMERICA)

1. अमरीकन राज्यों का संगठन (Organisation of American States)—अमरीकी राज्यों के संगठन की स्थापना का सर्वप्रथम प्रयास 1890 में वाशिंगटन में आयोजित 'अन्तर-अमरीकन सम्मेलन' में किया गया, जिनका उद्देश्य पश्चिमी गोलार्द्ध के राज्यों में पारस्परिक सद्-भावनाओं एवं सहयोग की स्थापना करना था। प्रथम महायुद्ध तक इस आन्दोलन को अधिक सफलता नहीं मिल सकी क्योंकि संयुक्त राज्य अमरीका ने इनका उपयोग अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए करना चाहा, जिसके कारण लैटिन अमरीका के देश सशंकित हो गये। फिर भी प्रथम महायुद्ध के वाद 'अखिल अमरीकनवाद' एक सरकारी आन्दोलन का रूप लेने लगा। इसके वाद दूसरा प्रयत्न 1945 में मैक्सिको में युद्ध और शान्ति की समस्याओं पर विचार करने के लिए आयोजित 'अन्तर-अमरीकी सम्मेलन' में किया गया। अगस्त-सितम्वर 1947 में रियो-डी-

जेनरो में एक अखिल अमरीकन सम्मेलन हुआ, जिसके परिणामस्वरूप अमरीकन देशों ने रियो सन्धि (Rio Treaty) पर हस्ताक्षर किये। इस सन्धि में निश्चय किया गया कि—"समझौता करने वाले उच्च दल सहमति प्रकट करते हैं कि किसी भी राज्य द्वारा एक अमरीकन राज्य के विरुद्ध सशस्त्र आक्रमण सभी अमरीकन राज्यों के विरुद्ध सशस्त्र आक्रमण माना जायेगा।" किन्तु किसी भी राज्य को "उसकी सहमति के विना शक्ति का प्रयोग करने के लिए वाध्य नहीं किया जायेगा।"

किन्तु अमरीकन राज्यों के संगठन का विस्तृत स्वरूप मार्च-अप्रैल 1948 में बोगोटा (कोलम्बिया) सम्मेलन में ही निश्चित हुआ, जिसमें अमरीकन राज्यों के संगठन का चार्टर स्वीकृत किया गया। यह संगठन संयुक्त राष्ट्र संगठन संघ का एक प्रादेशिक अभिकरण है।

इस संगठन के सदस्य हैं—अर्जेण्टाइना, वारवाडोज, वोलीविया, ब्राजील, क्यूवा, कोलम्बिया, कोस्टारिका, चिली, डोमिनिकन गणराज्य, जमैका, एल-साल्वाडोर, इक्वाडोर, ग्वाटेमाला, होण्डूरास, हैटी, निकारागुआ, पनामा, मैक्सिको, पेरू, पेरेगुआ, ट्रिनिडाड, टोवगो, उरूगुए, वेनेजुएला और संयुक्त राज्य अमरीका।

इस संगठन के 5 अंग हैं—(i) **अन्तर-अमरीकन सम्मेलन**—यह अन्य सभी अंगों के स्वरूप और कार्यों का तथा संगठन की नीति और कार्यक्रम का निर्धारण करता है। इसकी बैठक 5 वर्ष में एक बार होती है। (ii) **विदेशमन्त्रियों की बैठक**—यह आवश्यक विषयों पर विचार करती है, सशस्त्र आक्रमण की दशा में इसकी बैठक बुलाई जाती है। इसकी सहायता के लिए परामर्शदात्री प्रतिरक्षा समिति भी होती है। (iii) **परिषद्**—प्रत्येक सदस्य राज्य द्वारा नियत किये गये एक-एक प्रतिनिधि से बनने वाले तथा वाशिंगटन में मुख्य कार्यालय रखने वाले इस अंग का प्रधान कार्य शान्ति-सुरक्षा सम्बन्धी कार्यों तथा इस संगठन के विभिन्न अंगों के कार्यों की देखभाल है। (iv) **पैन-अमेरिकन यूनियन**—यह इसका केन्द्रीय और स्थायी सचिवालय है। (v) इसके विशेष संगठन विशिष्ट कार्य करने वाली संस्थाएँ हैं।

इसे 'रीओ सन्धि' (Rio Treaty) भी कहा जाता है। इसका लक्ष्य पश्चिमी गोलार्द्ध में सैनिक आक्रमण होने पर या शान्ति-भंग का भय होने की दशा में सामूहिक कार्यवाही की व्यवस्था करना है।

अमरीकी राज्य संगठन (OAS) में स्पष्ट मतभेद हो गया है। यह बात ब्रासीलिया में सम्पन्न हुए 14वें सामान्य सभा के सम्मेलन में स्पष्ट हो गयी। यह सम्मेलन 17 नवम्बर, 1984 को समाप्त हुआ था। सम्मेलन में कई मुद्दों पर अमरीका व लैटिन अमरीकी राज्यों के बीच मतभेद वने रहे। सम्मेलन का उद्‌घाटन राष्ट्रपति जोआओ फिग्यूलरेडो ने किया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'अमरीकी राज्य संगठन' का चार्टर किसी भी देश को दूसरे देश के विरुद्ध प्रत्यक्ष या परोक्ष आक्रमण करने की आज्ञा नहीं देता। यह बात एक तरफ से अमरीका की चेतावनी थी कि वह निकारागुआ के सेंडिनिस्टा विरोधियों की सहयता न करे। सम्मेलन ने सर्वसम्मति से कोंटाडोर प्रस्ताव को अपनी स्वीकृति प्रदान की। कोंटाडोर प्रस्ताव में यह व्यवस्था है कि कोई भी देश दूसरे देश में सैनिक हस्तक्षेप नहीं करेगा।

2. **लैटिन अमरीका में आर्थिक सहयोग**—लैटिन अमरीकी देशों में क्षेत्रीय एकीकरण का निर्णय विशेष तौर पर इसलिए सम्भव हो सका कि उन लोगों ने देख लिया कि सिर्फ अमरीका जैसे विकसित देश पर निर्भर रहकर गरीबी और पिछड़ापन खत्म नहीं किया जा सकता। इसके लिए यह अत्यन्त जरूरी था कि वे विकास कार्यक्रमों को अपने हाथ में लें। लैटिन अमरीका में ऐंडी पर्वत श्रेणी और उसके समीपवर्ती क्षेत्रों के देशों का आर्थिक समूह ऐंडी ग्रुप' नाम से प्रसिद्ध है। 'ऐंडी समूह' में कोलम्बिया, चीले, पेरू, वोलीविया, इक्वाडोर और वेनेजुएला हैं। इसका संगठन कार्टेजेना समझौते के अन्तर्गत जून 1969 में हुआ। आरम्भ में पाँच ही देश शामिल हुए।

वेनेजुएला ने 1973 में इसकी सदस्यता ग्रहण की। इन देशों में से किसी में भी लोकतान्त्रिक तरीके से चुनी हुई सरकार नहीं है। बोलीविया इन सबमें अनोखा है, जहाँ पिछले 152 वर्षों के स्वतन्त्र शासन में 150 राष्ट्रपति शपथ ग्रहण कर चुके हैं। इन छः देशों की जनसंख्या 8 करोड़ है और प्रत्येक देश में खनिज-पदार्थ एवं अन्य प्राकृतिन सम्पदा प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। छठे दशक के *अन्त में 'समूह' के देशों के राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि 5 प्रतिशत वार्षिक थी* जबकि जनसंख्या में वृद्धि 3 प्रतिशत की दर से हुई। इन देशों का आर्थिक आधार अभी भी उस विदेशी मुद्रा की कमाई है जो वे मुख्य उत्पादनों के निर्यात से प्राप्त करते हैं। ये देश पहले भी 'लैटिन अमरीकी फ्री ट्रेड ऐसोसिएशन' (लाफटा) के सदस्य थे। इन्होंने एक दशक से ज्यादा के अनुभव से यह देख लिया कि इस संगठन से उन दोनों को ज्यादा फायदा पहुँचा है जो अपेक्षाकृत ज्यादा विकसित और बड़े है, जैसे ब्राजील, अर्जेण्टाइना और मैक्सिको।

'कार्टेजेना समझौते' में यह तय किया गया कि आपसी सहयोग की भावना को ज्यादा से ज्यादा बढ़ाया जाये और बँटवारा बराबर-बराबर हो। इनके अलावा 'गरीबों में गरीब देश' बोलीविया और इक्वाडोर के विकास के लिए विशेष प्रावधान रखा गया है।

'ऐंडी समूह समझौते' में उद्योग सम्वर्द्धन सबसे प्रमुख है। इसके लिए यह निर्णय किया गया कि समूह के जिन देशों में उद्योगों की समस्या कम है, वहाँ पर नये उद्योग पहले स्थापित किये जायँ। साथ ही इन देशों में एक-दूसरे के यहाँ से कच्चे और तैयार माल के आयात-निर्यात को सुगम बनाने के लिए आयात-निर्यात करके धीरे-धीरे कम करके 1980 तक एकदम खत्म करने का प्रावधान रखा गया। बोलीविया और इक्वाडोर को विशेष प्राथमिकता दी गयी। सदस्य देशों को *आर्थिक और तकनीकी सहायता के लिए 'ऐंडियन विकास निगम' की स्थापना इस समझौते* के अन्तर्गत सबसे महत्वपूर्ण काम था।

क्षेत्रीय एकीकरण से तात्कालिक लाभ की जाँच के लिए **ऐंडी-समूह** के देशों के आपसी व्यापार में अनुतात की वृद्धि को देखा जा सकता है। ऐंडियन क्षेत्र में आपसी व्यापार 1968-72 के बीच 23·74 करोड़ डालर का हुआ जबकि एकीकरण के पहले यह व्यापार लगभग 6 करोड़ डालर ही था। 1973 में जब वेनेजुएला भी इस समूह में शामिल हो गया तो यह बढ़कर 30 करोड़ डालर हो गया और 1974 के अन्त तक 81·7 करोड़ डालर तक पहुँच गया। साथ ही बोलीविया और इक्वाडोर की आर्थिक स्थिति में सुधार की नीति को ध्यान में रखते हुए कोलम्बिया चीले और पेरू ने कई ऐसे उत्पादकों पर से ऐसा सीमा-शुल्क जनवरी 1971 से उठा लिया जिनके प्रमुख उपभोक्ता ये दोनों देश हैं।

क्षेत्रीय एकीकरण को निश्चय ही कुछ तात्कालिक लाभ हुआ है, लेकिन सहयोग के जिन मुद्दों को लेकर यह प्रयास हुआ था उस पर अब काफी असहमति है। इनकी वजह ऐंडी क्षेत्र के देशों का अपना-अपना स्वार्थ है। असहमति का एक मुद्दा विदेशी पूँजी निवेश को लेकर है; इसके अतिरिक्त, वेनेजुएला अपनी सुदृढ़ आर्थिक स्थिति के कारण मनमानी कर रहा है। 1973 के बाद चीले समूह की नीतियों पर चलने को तैयार नहीं, शेष पाँचों भी एक साथ चल सकेंगे, ऐसा लगता नहीं। बोलीविया ऐंडियन समूह में तो है ही, अब *'रिवर प्लाटा बेसिक ग्रुप' से भी* हाथ मिलाने लगा है, जिसका प्रमुख सदस्य ब्राजील है। वह अभी असमंजस की स्थिति में है, किसे पकड़े, किसे छोड़े ? पेरू भी पहले की तरह समूह के प्रति बफादार नहीं रहा। कहने को तो पेरू में विदेशी पूंजी निवेश पर कठोर नियन्त्रण है, लेकिन विदेशी पूंजी का प्रवाह सबसे ज्यादा वहीं है। इक्वाडोर नेतृत्व देने की स्थिति में नहीं है और कुछ यही स्थिति कोलम्बिया की भी है। शेष बचा वेनेजुएला जो सहयोगी देशों की विदेशी पूंजी निवेश की नीति से काफी असन्तुष्ट है और अक्सर अपने को अलग करने की धमकी देता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में लैटिन अमरीका की भूमिका
(LATIN AMERICA : ROLE IN INTERNATIONAL POLITICS)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में लैटिन अमरीका का महत्व बढ़ता जा रहा है—(i) यहाँ कच्चे माल का सबसे अधिक उत्पादन होता है; (ii) यहाँ के अधिकांश राष्ट्र निर्गुट हैं और गुट-निरपेक्ष आन्दोलन में शामिल होते जा रहे हैं, (iii) यहाँ के अधिकांश राष्ट्र अफ्रीकी-एशियाई राष्ट्रों मे अधिक निकट का सम्बन्ध स्थापित करते जा रहे है और 'तीसरी दुनिया' के रूप में संगठित होकर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रभावशाली भूमिका अदा करने की क्षमता रखते हैं; (iv) संयुक्त राष्ट्र संघ में लेटिन अमरीका के राष्ट्र एकजुट होकर निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं, (v) लैटिन अमरीका में वामपन्थी-साम्यवादी प्रभाव बढ़ता जा रहा है, (vi) लैटिन अमरीका में अमरीका के साधन सेना, सम्पत्ति एवं खुफियागिरी है तथा उसके स्थानीय प्रतिनिधि शोषक व उत्पीड़क लोग हैं, परिणामतः उसका लोकतान्त्रिक मुखौटा एक मजाक बन जाता है। सी० आई० ए० की गन्दी व बदनाम-हरकतें अमरीका के प्रति स्थानीय समाज मे घृणा उत्पन्न करती हैं।

संक्षेप में, आज लैटिन अमरीका के प्रगतिशील और क्रान्तिकारी आन्दोलनों के सम्मुख सबसे महत्वपूर्ण समस्या अमरीकी प्रभुत्व में छुटकारा पाना है। लैटिन अमरीका को वर्तमान युग में सैनिक तानाशाही, साम्यवादी क्रान्तिकारी आन्दोलन और अमरीकी हस्तक्षेप के त्रिमुखी प्रभावों से गुजरना पड़ रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि एशिया और अफ्रीका ने नवजागरण के बाद अब लैटिन अमरीकी महाद्वीप के अभ्युदय का दौर आरम्भ हो चुका है। अमरीका से लोहा लेने के सन्दर्भ में ही नहीं, बल्कि समूची तीसरी दुनिया के सामूहिक हितों की रक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में ये राष्ट्र अगुवाई करने लगे है। समुद्री कानून सम्मेलन तथा अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था सम्बन्धी संवाद इसका अच्छा उदाहरण है।

प्रश्न

1. 'लैटिन अमरीका' से आप क्या समझते है ? अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में लैटिन अमरीका की भूमिका की व्याख्या कीजिए।
   What do you understand by 'Latin America' ? Discuss the role of Latin America in international politics.
2. "ऐसा प्रतीत होता है कि लैटिन अमरीका के अधिकार में अनेक ऐसी बातें हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में उसका महत्व बढ़ाने का साधन बन जाती हैं।" (पामर एवं पर्किन्स)
   "Latin America wouid seems to possess number of conditions that tend to increasc its importance international affairs." (*Pamer and Perkins*) Comment.
3. लैटिन अमरीका में अमरीकी प्रभुत्व और उसके परिणामों की विवेचना कीजिए।
   Discuss American hegemony and its impact in Latin America.

18

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दक्षिण एशिया

[SOUTH ASIA IN INTERNATIONAL POLITICS]

दक्षिण एशिया वर्तमान युग में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का केन्द्र-विन्दु है। दक्षिण एशिया के देश भारत के निकटतम पड़ौसी हैं। भारत के अतिरिक्त ये देश हैं : पाकिस्तान, बंगला देश, श्रीलंका, नेपाल और भूटान। अफगानिस्तान को भी दक्षिण एशिया का भाग माना जा सकता है क्योंकि उसके हित बहुत कुछ भारत और पाकिस्तान के साथ जुड़े हुए है।

नेपाल को छोड़कर सम्पूर्ण दक्षिण एशिया द्वितीय महायुद्ध से पूर्व अंग्रेजों के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में था। दो सौ वर्ष के अंग्रेजी शासन ने विरासत के रूप में इस क्षेत्र के राष्ट्रों के लिए लगभग एकसी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याएं छोड़ीं। शिक्षा, कानून, व्यापार, चिकित्सा, औद्योगिक पद्धतियों आदि की दृष्टि से दक्षिण एशिया के राष्ट्रों में अभूतपूर्व समानता पायी जाती है। भौगोलिक और आर्थिक रूप से इस प्रदेश में परिपूरक तत्व विद्यमान हैं, लेकिन इसकी उपेक्षा करके इस क्षेत्र के राष्ट्र एक-दूसरे के विरुद्ध प्रतियोगिता में रत हैं।

कुछ लोग भारत को दक्षिण एशिया की प्रधान शक्ति (Pre-dominant power) मानते हैं, पर सम्भवत: उसे श्रेष्ठ (Pre-eminent) शक्ति कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि भारत पाकिस्तान से इतना अधिक शक्तिशाली नहीं है कि उसे अपनी इच्छानुकूल अधीनता स्वीकार करने पर विवश कर सके। भारत और पाकिस्तान इस प्रदेश के प्रधान प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्र हैं।

पाकिस्तान को छोड़कर अन्य सब देशों ने गुट-निरपेक्ष विदेश नीति अपनाने का प्रयत्न किया है। अब तो पाकिस्तान भी निर्गुट आन्दोलन में शामिल हो गया है। औपनिवेशिक शासन से स्वतन्त्रता प्राप्त करने की इच्छा तथा पश्चिमी और साम्यवादी शक्तियों से सम्बन्धों में इस स्वतन्त्रता को बनाये रखने की अभिलाषा इस प्रदेश की सर्वाधिक प्रवल राजनीतिक शक्ति रही है।

भौगोलिक और आर्थिक दृष्टि से समन्वयकारी तत्व विद्यमान होने के बावजूद इस क्षेत्र के देशों में सहयोग की इच्छा की अपेक्षा पारस्परिक अविश्वास की भावना अधिक प्रवल है। इस प्रदेश के देशों के पारस्परिक सम्बन्ध अधिकांशत: द्वितीय आधार पर संगठित हुए हैं, बहुपक्षीय आधार पर नहीं। क्षेत्रीय सहयोग का आर्थिक विकास नहीं हुआ है, फिर भी 'सार्क' इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।

दक्षिण एशियाई देशों के आपसी सम्बन्ध मधुर होते हुए भी विवादों से ग्रस्त रहे हैं कश्मीर को लेकर भारत-पाक विवाद, तमिल प्रवासियों को लेकर भारत-श्रीलंका विवाद, फरक्का विवाद को लेकर भारत-बंगला देश सम्बन्ध कटुतापूर्वक रहे है। अफगानिस्तान में सोवियत उ[illegible] स्थिति और पाकिस्तान को अमरीकी शस्त्रों की आपूर्ति ने दक्षिण एशिया के द्वार पर नवशीत-यु[illegible] की दस्तक दी है।

दक्षिण एशिया के प्रमुख देश : संक्षिप्त पृष्ठभूमि
(LEADING NATIONS OF SOUTH ASIA : BRIEF BACKGROUND)

1. **भारत**—भारत दक्षिणी एशिया का प्रभावी भूभाग है। भारत विश्व का सातवाँ सबसे बड़ा देश है। सन् 1947 में भारत स्वतन्त्र हुआ और लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली को अपनाया गया। स्वाधीनता के बाद भारत अनेक समस्याओं से ग्रस्त रहा है। आर्थिक विकास, सामाजिक न्याय और ग्रामीण विकास स्वतंत्र भारत की चुनौतीपूर्ण समस्याएँ रही है। जातिवाद और सम्प्रदायवाद के कारण देश में क्षेत्रवाद खूब पनपा। सार्वजनिक जीवन में भाई-भतीजावाद, पक्ष-पात और घूसखोरी अपवादस्वरूप न होकर सामान्य नियम बन गये। फिर भी भारत में अभूतपूर्व राजनीतिक एकता दिखायी देती है।

स्वाधीनता के बाद भारत ने गुट-निरपेक्षता की विदेश नीति को अपनाया। पड़ौसी चीन और पाकिस्तान से भारत को युद्ध लड़ने पड़े है। श्रीलंका में तमिल अप्रवासियों को लेकर भारत हमेशा चिन्तित रहा है और भारत की शान्ति सेना काफी दिनों तक वहाँ पड़ी रही है। नेपाल और बंगला देश से यदा-कदा भारत के मतभेदों के बावजूद सामान्य सम्बन्ध बने रहे है। 'सार्क' के गठन में भारत की प्रमुख भूमिका रही।

2. **पाकिस्तान**—भारत के विभाजन के फलस्वरूप 14 अगस्त, 1947 को पाकिस्तान का उदय हुआ। प्रारम्भ में पूर्वी बंगाल भी इसका एक भाग था। संयुक्त पाकिस्तान की जनसंख्या 11 करोड़ थी जो बंगला देश के निर्माण के बाद लगभग पाँच करोड़ रह गयी। पाकिस्तान के विभिन्न भागों में एकता का एकमात्र महत्वपूर्ण तत्व इस्लाम धर्म है। वह प्रादेशिक या धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रवाद पर आधारित नही है। पाकिस्तान की राजनीति में सेना की प्रमुख भूमिका रही है और वहाँ लोकतन्त्रात्मक शासन बहुत ही अल्प समय के लिए रहा है। कश्मीर का प्रश्न इस नीति की प्रमुख अभिव्यक्ति है। 1948, 1965 और 1971 में पाकिस्तान ने भारत से युद्ध किया। पाकि-स्तान बगदाद समझौते (बाद में सेण्टो) का सदस्य बना। 18 सितम्बर, 1954 को उसने 'सीटो' पर हस्ताक्षर किये। 5 मार्च, 1959 को अमरीका और पाकिस्तान के मध्य पारस्परिक सहयोग का समझौता हुआ। पाकिस्तान को अमरीका से भारी मात्रा में आर्थिक और सैनिक सहायता प्राप्त हो रही है। अफगानिस्तान की घटनाओं ने पाक-चीन-अमरीका धुरी को मजबूत बना दिया है।

दिसम्बर 1988 में पाकिस्तान में चुनावों के बाद बेनजीर भुट्टो का प्रधानमन्त्री पद पर आरूढ़ होना दक्षिण एशिया में एक महत्वपूर्ण घटना है। बेनजीर के सामने सबसे बड़ी समस्या पाकिस्तान में लम्बी तानाशाही के बाद उन्हें मिली विरासत से निपटने की है। विदेश नीति की दृष्टि से एक अन्य चुनौती भारत-पाकिस्तान सम्बन्धों को सुधारने और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में पाकिस्तान का समीकरण बैठाने की है। पाकिस्तानी शासकों ने अब तक पाक जनता को इस्लामी-करण के नारे का नशा पिलाया है और भारत विरोध की भावना को लोकमानस में स्थायित्व प्रदान कर दिया है। श्रीमती बेनजीर धर्मान्धता के नशे और भारत विरोध की भावना का उन्मूलन किस हद तक कर पायेंगी, यह अभी नहीं कहा जा सकता। अपने पहले संवाददाता सम्मेलन मे उन्होने तीन बातें मुख्य रूप से कही हैं—एक तो यह कि भारत और पाकिस्तान के बीच समस्याएँ शिमला समझौते के आधार पर निपटाई जायेंगी; दूसरी बात यह कि पाकिस्तान आणविक हथियार नही बनायेगा और तीसरी बात यह है कि अफगानिस्तान के सम्बन्ध में वह पुरानी नीति पर चलता रहेगा और साहबजादा याकूब खान, जो जिया सरकार में विदेशमन्त्री थे, उनके मन्त्रिमण्डल में भी इसी पद पर आसीन रहेंगे।

3. **बंगला देश**—सन् 1971 में बंगला देश का उदय हुआ। बंगला देश के उदय का

कारण था पाक सरकार की भाषायी, आर्थिक और राजनीतिक नीतियों के विरुद्ध पूर्वी बंगाल का असन्तोष। बंगला देश साढ़े सात करोड़ जनसंख्या वाला संसार का आठवाँ सबसे बड़ा राष्ट्र है। इसने दक्षिणी और दक्षिणी-पूर्वी एशिया में शक्ति-सन्तुलन को सर्वथा नया रूप दे दिया। भारत ने बंगला देश की स्वतन्त्रता में विशेष योग दिया था। शेख मुजीब की हत्या के बाद बंगला देश के शासकों ने भारत विरोधी और पाकिस्तान समर्थक नीति अपनायी। इरशाद के काल में यह भारत विरोधी और पाकिस्तान समर्थक स्वर कुछ हल्का पड़ा है। फरक्का विवाद, नया मूर विवाद, अवैध पारगमन की ससस्या और बाड़ लगाने का प्रश्न आदि को लेकर दोनों देशों में मतभेद पैदा हुए। एक असंलग्न राष्ट्र होते हुए भी बंगला देश पश्चिम की ओर अधिक झुका हुआ है। चीन और अमरीका से बंगला देश के सम्बन्ध मधुर हैं। 2 मार्च, 1984 को जनरल इरशाद ने यह आरोप लगाया कि रूस उनको अपदस्थ करने का प्रयत्न कर रहा है।

4. **श्रीलंका**—श्रीलंका भारत के दक्षिण में स्थित एक द्वीप है जिसका क्षेत्रफल 25,332 वर्ग मील और लगभग डेढ़ करोड़ जनसंख्या है। इसमें 64 प्रतिशत बौद्ध, 14 प्रतिशत हिन्दू, 9 प्रतिशत ईसाई, 6 प्रतिशत मुसलमान और 7 प्रतिशत अन्य धर्मो को मानने वाले हैं। यहाँ 20 प्रतिशत तमिल व 80 प्रतिशत सिंहल नृवंशीय लोग रहते हैं।

श्रीलंका ने गुट-निरपेक्षता की विदेश नीति को अपनाया है। प्रारम्भ में श्रीलंका का झुकाव पश्चिमी गुट की तरफ था। 1948 में उसने ब्रिटेन के साथ एक सुरक्षा सन्धि की। 1956 के बाद विदेश नीति में थोड़ा परिवर्तन आया। सोलोमन भण्डारनायके यह मानते थे कि विदेश नीति स्वतन्त्र होनी चाहिए। वे श्रीलंका में ब्रिटिश अड्डों के विरुद्ध थे। उनके प्रयत्नों से ब्रिटिश अड्डे हट गये, पर भारत की तरह श्रीलंका भी राष्ट्रमण्डल में बना रहा। जुलाई 1960 में श्रीमती सिरीमावो भण्डारनायके प्रधानमन्त्री बनीं। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सक्रिय भाग लिया। भारत-चीन युद्ध के समय उन्होंने असंलग्न राष्ट्रों का सम्मेलन बुलाने की पहल की और कोलम्बो प्रस्ताव तैयार किये गये। श्रीलंका ने निर्गुट आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए गम्भीर प्रयत्न किये। 1976 में कोलम्बो में पाँचवाँ निर्गुट शिखर सम्मेलन हुआ। 1977 के बाद जयवर्द्धन राष्ट्रपति बने। उनकी नीति पश्चिम समर्थक रही है। श्रीलंका भारी मात्रा में आर्थिक और सैनिक सहायता के बदले में अमरीका का मित्र बन गया है।

श्रीलंका में हो रहे अल्पसंख्यक तमिल नृवंशियों का नरसंहार (1983-89) भारत के लिए चिन्ता का विषय रहा है। भारतवंशी तमिलों का भारत से लगाव एवं उनके प्रति भारत का दायित्व तथा इस कारण भारत में उत्पन्न शरणार्थी समस्या के कारण भारत-श्रीलंका मैत्री में कर-कराहट विकसित हुई है।

5. **नेपाल**—नेपाल भारत और चीन के मध्य एक बाधक राज्य (Buffer State) माना जाता रहा है। इसका क्षेत्रफल 54,362 वर्गमील और जनसंख्या एक करोड़ है। यह विश्व का एकमात्र हिन्दू राज्य है। नेपाल ने भारत और चीन के सम्बन्ध में समान दूरी की नीति अपनायी। नेपाल निर्गुट आन्दोलन में शामिल हुआ। नेपाल के विकास कार्यक्रमों में भारत ने उदारता से सहायता दी है। नेपाल चाहता है कि उसे शान्ति क्षेत्र (Peace zone) घोषित किया जाये। कभी-कभी नेपाल में भारत-विरोधी प्रचार और चीन के प्रति झुकाव दिखायी देता है।

6. **भूटान**—भूटान भारत का एक संरक्षित राज्य है। इसका क्षेत्रफल 18,000 वर्गमील और जनसंख्या लगभग 8 लाख है। 8 अगस्त, 1949 को भारत और भूटान के मध्य एक सन्धि हुई। भारत ने भूटान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया। सन्धि में कहा गया कि भूटान सरकार विदेशी मामलों में भारत सरकार की सलाह को मार्गदर्शक के नाते मानने के लिए सहमत है। यह भी व्यवस्था की गयी कि भारत 5 लाख रुपये वार्षिक सहायता भूटान को

देगा। भरत-चीन युद्ध के बाद भूटान ने प्रतिरक्षा का भार भी भारत को सौंप दिया। 1971 में भूटान संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया। यदा-कदा भूटान भारत के प्रभाव से बाहर निकलने की कोशिश करता रहा है। 1974 में भूटान ने सन्धि की धारा 2 की व्याख्या का प्रश्न उठाया। भूटान ने इसकी यह व्याख्या करने का प्रयास किया कि भूटान वैदेशिक सम्बन्धों के मामलों में भारत के परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं है। चीन भूटान के 300 वर्गमील क्षेत्र पर दावा करता रहा है, पर धीरे-धीरे भूटान के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व का विकास हो रहा है, भारत और बंगला देश में उसके दूतावास खुल गये हैं। चीन भूटान के राजनीतिज्ञों को धन और पद का लालच देकर अपने पक्ष में करने की चेष्टा में लगा हुआ है।

दक्षिण एशिया और महाशक्तियाँ
(THE MAJOR POWERS AND SOUTH ASIA)

दक्षिण एशिया में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का तब तक समुचित विश्लेषण नहीं किया जा सकता जब तक चार प्रमुख शक्तियों—ब्रिटेन, अमेरिका, सोवियत संघ और चीन—की इस क्षेत्र में अभिरुचि और भूमिका का विवेचन न किया जाये। तीन शक्तियों—ब्रिटेन, चीन और सोवियत संघ—का इस क्षेत्र में पारस्परिक भू-सामरिक (traditional geostrategic) हित रहा है जिसे 1947-48 में ब्रिटेन के इस क्षेत्र से हटने से पूर्व भी देखा गया है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका भी इस क्षेत्र से सक्रिय दिखलायी देता है। दक्षिण एशिया में महाशक्तियों की भूमिका और अभिरुचि से दो तथ्य उजागर होते है : प्रथम, महाशक्तियों द्वारा अपना आधार तैयार करने के लिए इस क्षेत्र में शक्ति प्रतिस्पर्द्धा का उभारना; द्वितीय, दक्षिण एशिया के देश स्वयं आपसी प्रतिस्पर्द्धा और राजनीतिक मतभेदों में उलझ गये। इस क्षेत्र में महाशक्तियों के हस्तक्षेप से भारत-पाक संघर्ष कटुता और तीन बार युद्ध में परिवर्तित हो चुका है। भारत-पाकिस्तान में शस्त्रों की बढ़ती हुई प्रतिस्पर्द्धा महाशक्तियों की दिलचस्पी का स्पष्ट नमूना है।"[1]

दक्षिण एशिया में ब्रिटेन की परिवर्तित भूमिका
(THE CHANGING ROLE OF BRITAIN)

दक्षिण एशिया में ब्रिटेन की भूमिका द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उसके परिवर्तित अन्तर्राष्ट्रीय दर्जे के रूप में देखी जानी चाहिए। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इस क्षेत्र में संयुक्त राज्य अमरीका पश्चिमी हितों के संरक्षक के रूप में उभरा। इस क्षेत्र में 1947-48 के बाद बर्मा, भारत, पाकिस्तान और श्रीलंका एक साथ स्वाधीन हुए। वर्मा को छोड़कर तीनों ही देश ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में बने रहे। इनके राष्ट्रमण्डल में बने रहने के आर्थिक कारण तो थे ही परन्तु भारत और पाकिस्तान के लिए काश्मीर का विवाद भी उन्हें राष्ट्रमण्डल में बने रहने के लिए बाध्य करता था। 1965 में कच्छ के मसले पर ब्रिटेन ने भारत और पाकिस्तान के मध्य सफलतापूर्वक मध्यस्थता की। ब्रिटेन ने सुरक्षा परिषद् में काश्मीर के प्रश्न पर 1957 और 1961 में पाकिस्तान का समर्थन किया। 1965 में जब ब्रिटिश प्रधानमन्त्री हेरल्ड विल्सन ने भारत को आक्रमणकारी बताया तो ब्रिटेन के प्रति भारत में जबरदस्त नाराजगी देखी गयी। फिर भी भारत राष्ट्रमण्डल से अलग होने की नहीं सोच सकता था। भारत की जलसेना और वायुसेना का प्रशिक्षण एवं आधुनिकीकरण बहुत कुछ ब्रिटेन पर निर्भर करता था। 1962 के चीनी आक्रमण के समय ब्रिटेन ने भारत को मदद दी। 1964 के बाद भारत का झुकाव सोवियत संघ की तरफ अड़ने लगा क्योंकि ब्रिटेन पाकिस्तान का सैनिक दृष्टि से शस्त्रीकरण करने में दिलचस्पी रखता था।

---

[1] Shelton Kodikara : *Strategic Factors in Inter State Relations in South Asia*, 1984, pp. 34-35,

दक्षिण एशिया में संयुक्त राज्य अमेरिका
(THE UNITED STATES IN SOUTH ASIA)

दक्षिण एशिया में अमरीकी भूमिका उसके महाद्वीप रणनीति (global strategy) का ही अंग है जिसकी शुरूआत 'साम्यवाद के विरोध' की अमरीकी नीति से होती है। इसी नीति के परिणामस्वरूप पाकिस्तान को सीटो तथा बगदाद पैक्ट (सेण्टो) का सदस्य बनाया गया। पाकिस्तान को अमरीकी शस्त्र प्रदान किये गये। राष्ट्रपति आइजनहावर ने भारत को भी शस्त्र देने की पेशकश की जिसे भारत ने अस्वीकृत कर दिया। अमरीका पाकिस्तान को एक तरफ सोवियत संघ के खिलाफ और दूसरी तरफ नेहरू के निर्गुट आन्दोलन के खिलाफ इस क्षेत्र में एक सशक्त दीवार के रूप में खड़ा करना चाहता था। 1965 के युद्ध में भारत के खिलाफ जो भी शस्त्र पाकिस्तान ने काम में लिये वे सब अमरीकी शस्त्र सहायता में प्राप्त किये थे। कश्मीर के प्रश्न पर सुरक्षा परिषद् में अमरीकी समर्थन भी पाकिस्तान को प्राप्त था। 1962 के चीनी आक्रमण के समय अमेरिका ने भारत को शस्त्रों की भरपूर सहायता दी। वस्तुतः चीन के खिलाफ भारत को रूस-अमरीकी समर्थन प्राप्त हुआ। 1971 के युद्ध में अमेरिका ने बंगला देश के प्रकरण में पाकिस्तान का साथ दिया। अमरीकी विदेश विभाग ने ऐलान किया कि अमरीकी सरकार ने भारत को सहायता देना बन्द करने का फैसला किया है और अमरीका के सहायक राज्य सचिव जी० सिस्को ने भारत पर युद्ध छेड़ने का आरोप लगाया। अमरीकी परमाणविक विमानवाहक पोत 'एण्टरप्राइज' को बंगाल की खाड़ी में भारत के तटों के नजदीक भेजने का फैसला किया। सोवियत विस्तारवाद को रोकने के बहाने अमरीका पाकिस्तान को सुदृढ़ और शक्तिशाली बनाना चाहता है, वह उसे आधुनिकतम सैनिक सामान और एफ-16 जैसे विध्वंसक वायुयानों की सप्लाई कर रहा है जो कि भारत की चिन्ता का कारण है। अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप से पाकिस्तान का चिन्तित होना स्वाभाविक है। अमरीका रूसी विस्तारवाद को रोकने के बहाने पाकिस्तान को शक्तिशाली बनाकर एशिया में भारत का एक सुदृढ़ प्रतिद्वन्द्वी तैयार करने में लगा हुआ है।

दूसरी तरफ अमरीका डियागो गार्शिया द्वीप पर अपने सैन्य अड्डे के विस्तार की योजना को तेजी से क्रियान्वयन कर रहा है। हिन्द महासागर और डियागो गार्शिया में अमरीका की उपस्थिति का एक ही कारण है कि वह हिन्द महासागर में आकर सोवियत संघ द्वारा अफगानिस्तान में हस्तक्षेप के लाभ को कम करना चाहता है।

दक्षिण एशिया में सोवियत विदेश नीति
(SOVIET POLICY IN SOUTH ASIA)

दक्षिण एशिया में सोवियत हित दो घटनाओं से विशेष रूप से प्रभावित हुए हैं : पाकिस्तान का अमरीकी गुटबन्दी का भाग बन जाना और चीन से रूस का विवाद उत्पन्न हो जाना। सोवियत संघ इस बात को नहीं भूल सका कि मई 1960 में यू-2 विमान ने पेशावर से उड़ान ली थी।

भारत-रूस सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण रहे हैं। कश्मीर के प्रश्न पर सुरक्षा परिषद् में रूसी वीटो भारत के पक्ष में रहा। 1962 में चीनी आक्रमण के समय रूस ने भारत का साथ दिया और भारत को मिग विमान भी प्रदान किये। 1966 में कोसीगिन के प्रयास से भारत-पाकिस्तान के बीच ताशकन्द समझौता हुआ। जब 1971 में वाशिंगटन-पिण्डी-पीकिंग धुरी का निर्माण हुआ तो इस उपमहाद्वीप में शान्ति बनाये रखने के लिए भारत-रूस ने (1971) एक बीस-वर्षीय सन्धि पर हस्ताक्षर किये।

जब चीन ने पाकिस्तान को रिझाने का प्रयास किया तो सोवियत संघ ने पाकिस्तान के साथ सम्बन्धों को सुधारने का प्रयास किया। 1968 में सोवियत संघ ने पाकिस्तान को सैनिक

सहायता दी। 1979 में अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप ने रूस-पाकिस्तान सम्बन्धों पर प्रतिकूल प्रभाव डाला है। पाकिस्तान-रूस सम्बन्ध में विरोध का एक कारण यह है कि पाकिस्तान सोवियत संघ से यह अपेक्षा करता है कि उसे भारत के बराबर स्वीकार करे जो सोवियत संघ करने के लिए तैयार नहीं है।

आज सोवियत संघ हिन्द महासागर में भी उपस्थित है। सोवियत संघ ने सोकोत्रा और सेशेल्स टापुओं के निकट नौ सेना के बेड़े के लिए विश्राम-स्थलों की स्थापना की है। अमरीकी प्रभाव का तटस्थीकरण करने के लिए सोवियत संघ ने इस क्षेत्र के प्रमुख देशों में मैत्री सम्बन्ध बनाने का भरसक प्रयत्न किया है।

ब्रेझनेव ने एशियाई सामूहिक सुरक्षा के विचार का सन् 1969 में प्रतिपादन किया था। इस सुरक्षा योजना पर टिप्पणी करते हुए कहा गया था कि हिन्द महासागर चारों ओर से साम्राज्यवादियों के सैनिक अड्डों से घिरा हुआ है, अतः सभी शान्तिप्रिय देशों की सामरिक सुरक्षा आवश्यक है। सोवियत संघ की मान्यता थी कि शान्ति और सुरक्षा के लिए देशों को एक सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में शामिल हो जाना चाहिए। किन्तु एशियाई देशों ने इसके प्रति कोई विशेष दिलचस्पी नहीं दिखायी।

दक्षिण एशिया में चीन
(CHINA IN SOUTH ASIA)

दक्षिण एशिया में चीनी विदेश नीति सक्रिय है। भारत पर चीन ने 1962 में आक्रमण कर उसकी लगभग 20 हजार वर्ग किमी० भूमि दबा ली। नेपाल और भूटान उससे भयभीत हैं। जून 1969 में चीन के दबाव में आकर नेपाली प्रधानमन्त्री के० एन० विष्ट ने भारत से नेपाल की उत्तरी सीमा पर कार्य करने वाले तकनीशियनों को वापिस बुलाने और अपनी सैनिक चौकियाँ हटा लेने की माँग की। चीन भूटान के 300 वर्गमीटर क्षेत्र पर दावा करता है। 1963 में चीन-पाकिस्तान में एक समझौता हुआ जिसमें सिकियांग और पाक अधिकृत कश्मीर के मध्य सीमा निर्धारण की व्यवस्था थी। इस समझौते के अन्तर्गत पाकिस्तान ने अधिकृत कश्मीर के 2050 वर्गमील का क्षेत्र अवैध रूप से चीन को दे दिया। दोनों ने मिलकर एक सड़क का निर्माण किया जिसे 'कराकोरम' राजपथ कहते हैं। 1963 के बाद चीन ने पाकिस्तान को आर्थिक और सैनिक सहायता देना शुरू किया। 1965 के भारत-पाक युद्ध में चीन ने प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नहीं किया तथापि भारत को भयभीत करने के लिए तीन-दिवसीय अल्टीमेटम दिया। पाकिस्तान व भारत की सेनाओं के बीच सियाचिन ग्लेशियर पर झड़पें बनी हुई हैं। चीन चाहता है कि पाकिस्तान उस पर कब्जा करके उसे दे दे।

दक्षिण एशिया में चीनी हित अधिक सचेतन और महत्वपूर्ण हैं। चीन की सीमाएँ भारत, पाकिस्तान, नेपाल, भूटान, बर्मा आदि से मिलती हैं। दक्षिण एशिया को चीन अपना परम्परागत क्षेत्र मानता है। वह उसे अपने प्रभाव क्षेत्र में बनाये रखना चाहता है। इस क्षेत्र में किसी अन्य महाशक्ति का बढ़ता प्रभाव उसे गले नहीं उतरता। इस सम्बन्ध में वह भारत को अपना प्रतिद्वन्द्वी (Rival) मानता है।

निष्कर्ष—दक्षिण एशिया की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भूमिका का विश्लेषण तीन परिवर्त्यों के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है—प्रथम, भारत-पाकिस्तान शक्ति प्रतिस्पर्द्धा; द्वितीय, दक्षिण एशिया की राजनीति में बड़ी शक्तियों का हस्तक्षेप (involvement) तथा तृतीय, उपर्युक्त दोनों परिवर्त्यों को प्रभावित करने के लिए छोटी शक्तियों (राष्ट्रों) की प्रभावक भूमिका। वर्तमान में इस क्षेत्र में चीन की उपस्थिति क्षेत्रीय शक्ति-सन्तुलन की दृष्टि से महत्वपूर्ण तत्व है। एक जमाने में यहाँ चीन के विरुद्ध भारत का समर्थन करने की रूस-अमरीकी सहयोग वृत्ति दिखलायी देती

थी तो दूसरी तरफ चीन के खिलाफ भारत-पाक मैत्री विकसित करने की रूसी कूटनीतिज्ञ प्रयास भी उभरते हुए नजर आये थे। 1970 के बाद रूसी हस्तक्षेप को रोकने के लिए चीनी-अमरीकी साँठ-गाँठ नजर आती है और इसी धारणा के आधार पर वे पाकिस्तान को सुदृढ़ करना चाहते हैं।[1]

दक्षिण एशिया को झकझोरने वाली समस्याएँ
(THE PROBLEMS THAT JERKED SOUTH ASIA)

दक्षिण एशिया को झकझोरने वाली कतिपय प्रमुख समस्याएँ या संघर्ष या विवाद निम्नलिखित हैं :

1. भारत और पाकिस्तान के मध्य कश्मीर समस्या;
2. 1962 में चीन का भारत पर आक्रमण;
3. श्रीलंका में तमिल आप्रवासियों की समस्या;
4. हिन्द महासागर में महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा;
5. अफगानिस्तान संकट।

1. भारत और पाकिस्तान के मध्य कश्मीर समस्या—भारत और पाकिस्तान में कश्मीर विवाद सबसे अधिक गम्भीर और महत्वपूर्ण है। 1947 से पूर्व कश्मीर एक देशी रियासत था। इसका क्षेत्रफल 1,34,400 वर्ग किमी० और जनसंख्या 40 लाख थी। इनमें से लगभग 77% मुसलमान और 20% हिन्दू थे। 1947 के बाद कश्मीर के महाराजा हरिसिंह ने पृथक् रहने का निश्चय किया तथा भारत और पाकिस्तान से यथास्थिति करार करने की प्रार्थना की। पाकिस्तान ने 14 अगस्त, 1947 को कश्मीर से यथास्थिति करार कर लिया। परन्तु उसने करार का पालन नहीं किया और कबायली लोगों की सहायता से कश्मीर पर आक्रमण करा दिया। इस पर महाराजा हरिसिंह ने भारत से सहायता माँगी और कश्मीर को भारत में शामिल करने की प्रार्थना की। 27 अक्टूबर, 1947 को भारत सरकार ने इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। भारतीय सेनाएँ तुरन्त कश्मीर की सहायता के लिए भेज दी गयीं। भारत ने सुरक्षा परिषद से शिकायत की कि पाकिस्तान कश्मीर में कबायली आक्रान्ताओं को सहायता दे रहा है। सुरक्षा परिषद् में अमेरिका और ब्रिटेन ने पाकिस्तान का साथ दिया। फरवरी 1954 से तो अमेरिका पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने को तैयार हो गया। आज तक कश्मीर समस्या विवाद का विषय बनी हुई है।

2. 1962 में चीन पर भारत का आक्रमण—20 अक्टूबर, 1962 को चीन ने भारत पर बड़े सुनियोजित ढंग से आक्रमण किया। जिस आकस्मिक ढंग से 20 अक्टूबर, 1962 को भारतीय सीमाओं पर चीन ने आक्रमण किया था उसी आकस्मिक ढंग से उसने 21 नवम्बर, 1962 को एकपक्षीय युद्धविराम की घोषणा कर दी। चीन के भारत पर आक्रमण के दो उद्देश्य थे : (1) अपनी शक्ति को प्रदर्शित करना; (2) भारत की निर्बलता को प्रदर्शित करना तथा उसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपमानित करना।

चीन को यह आशा थी कि युद्ध की स्थिति में रूसी साम्यवादी भाई उसका साथ देंगे और भारत में आन्तरिक दंगे होंगे। परन्तु चीन की ये कामनाएँ सफल नहीं हो सकीं। अमरीका, ब्रिटेन और उसके बाद फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, आस्ट्रेलिया, कनाडा ने तेजी से भारत को सैनिक सहायता दी। रूस प्रायः तटस्थ रहा और उसने चीन पर युद्ध बन्द करने के लिए दबाव डाला। पाकिस्तान ने चीनी आक्रमण का लाभ उठाते हुए भारत की निन्दा करना शुरू कर दिया। पाकि-

---
1 Shelton Konikara : *Strategic Factors in Inter State Relations in South Asia*, 1984, pp. 66-67.

स्तान ने चीनी आक्रमण को 'सामान्य स्थानीय मामले' का रूप देने का प्रयास किया। युद्ध-विराम के बाद, श्रीलंका की तत्कालीन प्रधानमन्त्री भण्डारनायके से प्रेरणा पाकर छः राष्ट्रों (श्रीलंका, बर्मा, कम्बोडिया, इण्डोनेशिया, मिस्र, घाना) के प्रतिनिधियों ने भारत-चीन विवाद को हल करने के लिए 19 जनवरी, 1963 को कोलम्बो प्रस्ताव प्रकाशित किये।

चीन की नीति आज भी भारत विरोधी है और भारतीय उपमहाद्वीप, दक्षिण एशिया और दक्षिण-पूर्वी एशिया ने देशों मे भारत विरोधी प्रचार करता रहता है। चीन के प्रमुख नेताओं ने पाकिस्तान, बंगला देश, श्रीलंका और नेपाल की यात्रा की। चीन ने इन यात्राओं का इस्तेमाल यथासम्भव भारत के विरोध में इन देशों की पीठ ठोककर किया।

चीन भारतीय उपमहाद्वीप, दक्षिण एशिया और दक्षिण-पूर्वी एशिया पर अपनी चौधराहट जमाना चाहता है जबकि भारत एशिया को सभी बड़ी शक्तियो से स्वतन्त्र रखना चाहता है।

3. **श्रीलंका में तमिल आप्रवासियों की समस्या**—श्रीलंका भारत के दक्षिण में स्थित एक छोटा द्वीप है जो सांस्कृतिक दृष्टि से भारत के साथ जुड़ा हुआ है। श्रीलंका मे भारतीय प्रवासियों की समस्या को लेकर दोनों देशो में तनाव रहे है। श्रीलंका में भारतीय प्रवासियो के सम्बन्ध में 1949 में नेहरू-कोटलेवाला समझौता तथा 1964 में शास्त्री-भण्डारनायके समझौता हुआ। किन्तु 1982-88 में यह मसला भारत-श्रीलंका सम्बन्धों को प्रभावित करने की दृष्टि से अहम् मसला बन गया है।

श्रीलंका की डेढ़ करोड़ की आबादी मे 74% सिंहली, 13% श्रीलंका के तमिल, 6% भारतमूलक तमिल और शेष अन्य लोग है। तमिल श्रीलंका के उत्तर में जाफना जिले में रहते हैं। तमिल समुदाय ने मुख्य रूप से अपने को 'तुल्फ' (तमिल यूनाइटेड लिबरेशन फ्रण्ट) नाम के राजनीतिक संगठन मे संगठित कर रखा है और समय-समय पर वह इसके माध्यम से अपने असन्तोष की अभिव्यक्ति भी करता रहता है। ए० अमृतलिंगम इसके नेता हैं।

श्रीलंका के तमिलो के वर्तमान आन्दोलन का मूल कारण बहुसंख्यक सिंहलियों द्वारा की गयी भेदभाव की नीति है। बौद्ध धर्म को देश का राष्ट्रीय धर्म बना दिया गया है और सिंहली भाषा को राष्ट्रीय भाषा का दर्जा दिया गया है जबकि बहुसंख्यक तमिल हिन्दू धर्म के मानने वाले है और उनकी मातृभाषा तमिल है। विश्वविद्यालयों मे प्रवेश और सरकारी नौकरियों में भर्ती के वक्त तमिलो के साथ भेदभाव किया जाता है। तमिलों के कुछ उग्रवादी संगठन **ईलम** पृथक् राष्ट्र के निर्माण की बात करते है तो **तुल्फ** स्वायत्तता की माँग कर रहा है।

श्रीलंका के तमिल अल्पसंख्यक समुदाय की समस्या श्रीलंका का आन्तरिक मामला हैं। भारत श्रीलका के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप नही करना चाहता। भारत **ईलम** (पृथक् तमिल राज्य) की धारणा का समर्थक नही है।

फिर भी श्रीलंका का पड़ौसी देश होने के कारण वहाँ पर होने वाली घटनाओं से भारत का चिन्तित होना स्वाभाविक है, विशेषकर उस स्थिति मे जब श्रीलंका सरकार तमिल उग्रवादियों को सबक सिखाने के लिए इजराइल की खुफिया संस्थाओ 'शिनबेत' और 'मोसाद' को श्रीलंका की सेनाओ और पुलिस को प्रशिक्षण देने के लिए भाड़े पर रखती है अथवा जब श्रीलंका भारत के दो प्रतिद्वन्दी राष्ट्रों (चीन और पाकिस्तान) के साथ साँठगाँठ करता है और उनके द्वारा दिये गये हथियारों या प्रशिक्षित किये गये सैनिकों द्वारा जाफना को कुचलता है अथवा जब श्रीलंका सरकार भारत को धमकाने के लिए त्रिकोमल्ली बन्दरगाह में अमरीकी नौ सेना जहाजों और युद्धपोतों को सुविधाएँ देने के लिए वार्ताएँ करती है।

तमिल समस्या का समाधान करने हेतु भारत शुरू से ही बातचीत का रास्ता अपनाता रहा है। जुलाई 1983 से जी० पार्थसारथी भारतीय प्रधानमन्त्री के विशेष दूत के रूप में कौलम्बो

में बातचीत करते रहे हैं। श्रीलंका सरकार समस्या का समाधान सैनिक शक्ति के बल पर निकालना चाहती है। अतः जनवरी 1987 में जाफना की अधिक नाकेबन्दी की गयी, मई 1987 में श्रीलंका की थलसेना और वायुसेना ने जाफना पर चौतरफा हमले भी किये। भारत ने तमिल नरसंहार पर दुःख जाहिर किया और जून 1987 में मानवीय आधार पर जाफना की पीड़ित जनता के लिए राहत सामग्री भेजने की घोषणा की। भारत से खाद्य सामग्री और दवाएँ जाफना प्रायद्वीप पर विमान से गिराने का फैसला किया। श्रीलंका ने भारत की इस कार्यवाही की तीखी आलोचना की। हवाई राहत का एक गम्भीर परिणाम यह निकला कि इसने श्रीलंका की जातीय समस्या को भारत-श्रीलंका समस्या में बदल दिया।

29 जुलाई, 1987 को राजीव-जयवर्द्धन समझौता हुआ। इस समझौते के तहत् भारत ने श्रीलंका को उसकी एकता, सम्प्रभुता तथा क्षेत्रीय अखण्डता की रक्षा करने की गारण्टी दी। भारतीय शान्ति सेना को समझौता लागू कराने के लिए श्रीलंका भेजा गया एवं शान्ति स्थापित होते ही शान्ति सेना लौट जायेगी। शान्ति सेना का मुख्य कार्य है, युद्धविराम को लागू करना, स्थिति को सामान्य बनाना और तमिल उग्रवादियों द्वारा हथियारों के समर्पण को सुनिश्चित करने में सहायता देना। यह समझौता निश्चित रूप से भारत की कूटनीतिक सफलता है। इसने श्रीलंका का, कम-से-कम राष्ट्रपति जयवर्द्धन का, पाकिस्तान व पश्चिम की ओर झुकाव खत्म कर उन्हें भारतीय प्रभामण्डल में खींच लिया है। 18 सितम्बर, 1989 को कोलम्बो में भारत और श्रीलंका के मध्य हुए समझौते के तहत शान्तिसेना ने अपनी आक्रामक फौजी कार्यवाही को स्थगित कर दिया तथा 31 मार्च, 90 से पहले ही स्वदेश वापस लौट आयी।

4. **हिन्द महासागर में महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा**—विश्व राजनीति में हिन्द महासागर का विशिष्ट महत्व है। भौगोलिक दृष्टि से हिन्द महासागर 10,400 किमी० लम्बे और 1,600 किमी० चौड़े क्षेत्र में फैला हुआ है। इस विशाल जल क्षेत्र में सामरिक दृष्टि से अनेक महत्वपूर्ण द्वीप मेडागास्कर, मारीशस, अण्डमान, निकोबार, मालद्वीप आदि बसे हुए हैं। हिन्द महासागर का जल एशिया, अफ्रीका एवं आस्ट्रेलिया के तटों को छूता है। इसके अतिरिक्त मलक्का जलडमरूमध्य तथा स्वेज नहर के माध्यम से प्रशान्त और अन्ध महासागर से भी इसका सम्बन्ध है। भारत के लिए हिन्द महासागर का अत्यधिक महत्व है। भारत के समस्त जलमार्ग हिन्द महासागर में होकर ही गुजरते हैं। हिन्द महासागर ही भारत को दक्षिण-पूर्वी एशिया, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया से जोड़ता है।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व हिन्द महासागर के अधिकांश तटवर्ती क्षेत्रों पर ब्रिटेन का नियन्त्रण था तथा हिन्द महासागर को ब्रिटेन की झील के नाम से पुकारा जाता था। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के साथ-साथ हिन्द महासागर के तटवर्ती क्षेत्रों से ब्रिटेन का प्रभुत्व समाप्त होने लगा, किन्तु देखते-देखते हिन्द महासागर में शक्ति-प्रदर्शन से इस क्षेत्र के सभी देशों के लिए एक गंम्भीर खतरा पैदा हो गया।

संयुक्त राज्य अमरीका ने डियागो गार्शिया पर नौ-सैनिक अड्डा बनाने के लिए करोड़ों डॉलरों की राशि खर्च की। 1971 से 1978 के मध्य अमरीका ने अपने नौ-सैनिक जहाजों द्वारा हिन्द महासागर में 38 बार घुसपैठ की। 1978 के बाद से अमरीका के पाँच गश्ती जहाजों ने हिन्द महासागर में स्थायी रूप से चक्कर लगाना प्रारम्भ कर दिया है। 28 अप्रैल, 1980 को विमान-वाहक जहाज 'कांस्टलेशन' तथा 6 सहायक युद्धक जहाजों के हिन्द महासागर में पहुँच जाने से इस क्षेत्र में अमरीकी नौ-सैनिक शक्ति रिकार्ड स्तर पर पहुँच गयी है। एक सूचना के अनुसार अपने हितों की रक्षार्थ अमरीका ने हिन्द महासागर में 30 सैनिक अड्डे, 1,500 लड़ाकू विमान, 80 युद्धपोतों और 3 परमाणु पनडुब्बियों को तैनात किया है। इस क्षेत्र

में हस्तक्षेप के लिए अमरीकी रक्षा मन्त्रालय ने तथाकथित केन्द्रीय कमान का भी गठन किया है जिसके अन्तर्गत फौजी उड़न दस्ते से सम्बद्ध 2,20,000 सैनिक आते हैं। डियागो गार्शिया अड्डे में अमरीका ने आधुनिकतम परमाणु प्रक्षेपास्त्र भी पहुँचा दिये है। हिन्द महासागर में अमरीकी सैन्य शक्ति की बढ़ोतरी के लक्ष्य इस प्रकार हैं : (1) तेल तथा अन्य कच्चे माल के स्रोतों पर नियन्त्रण प्राप्त करना। (2) हिन्द महासागर क्षेत्र के देशों में राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के विकास को अवरुद्ध करना। (3) अरब तथा अफ्रीकी देशों की एकता को तोड़ना। (4) महत्वपूर्ण वायु-मार्गों और सागर मार्गों पर नियन्त्रण स्थापित करना।

सोवियत संघ भी हिन्द महासागर में सक्रिय है। इस समय हिन्द महासागर में रूसी नौ-सेना के 26 जहाज हैं। फरवरी 1980 में इस क्षेत्र में उसके जहाजों की संख्या 32 तक पहुँच गयी थी जो कि एक रिकार्ड है। सोवियत संघ ने अपना एक स्थायी अड्डा भी इस क्षेत्र में कायम कर लिया है जो कि अणु शक्ति-सम्पन्न विध्वंसकों से लैस है तथा इसमें पनडुब्बी तथा लगभग 20 जहाज भी हैं।

री यूनियन द्वीप पर फ्रांस का अधिकार है, इसलिए फ्रांस भी कभी-कभी इस क्षेत्र में घुसपैठ करता रहता है। हाल ही में चीन भी हिन्द महासागर में रुचि लेने लगा है। चीन हिन्द महा-सागर में सोवियत संघ का प्रतिद्वन्द्वी बनना चाहता है।

इस प्रकार इसे महाशक्तियों की सीनाजोरी ही कहा जायेगा कि वे तटवर्ती देशों की माँग की उपेक्षा करके हिन्द महासागर से शान्त जल को अशान्त बनाने पर तुली हुई है। महाशक्तियाँ हिन्द महासागर को अपनी शक्ति प्रदर्शन का अखाड़ा बना सकती है। इस सम्भावना को ध्यान में रखते हुए ही भारत ने 1975 में हिन्द महासागर को 'शान्त क्षेत्र' (Peace Zone) घोषित किये जाने की माँग उठायी थी। कालान्तर में श्रीलंका, बंगला देश, मारीशस आदि देशों ने भी स्थिति की गम्भीरता को समझते हुए भारत की माँग का समर्थन किया। अगस्त 1976 में श्रीलंका में हुए गुट-निरपेक्ष देशों के पाँचवें सम्मेलन ने भी हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र बनाये जाने की माँग का समर्थन किया। मार्च 1983 मे नयी दिल्ली में आयोजित गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन ने ऐसी ही माँग की।

परन्तु हालात से लगता है कि महाशक्तियों पर हिन्द महासागर के तटवर्ती देशों के आग्रह का कोई असर नहीं हुआ और अमरीका तथा सोवियत संघ दोनों ही अन्तर्राष्ट्रीय जल में अबाध प्रवेश के अपने अधिकार का दुरुपयोग करते हुए हिन्द महासागर में अपनी-अपनी शक्ति का विस्तार करने में लगे हुए हैं। हिन्द महासागर में महाशक्तियों द्वारा अपनी शक्ति के विस्तार की सम्भावना बढी ही है, घटी नहीं। उत्तर और दक्षिण कोरिया के बीच तनावपूर्ण स्थिति, वियतनाम-कम्बो-डिया सीमा संघर्ष, सोमालिया-इथियोपिया संघर्ष और सर्वोपरि चीन की बढ़ती हुई महत्वाकांक्षा आदि कुछ ऐसी बातें हैं जिनके कारण महाशक्तियाँ हिन्द महासागर में अपने पैर फैलाती जा रही हैं। अमरीका रक्षा विभाग पेंटागन की यह धारणा कि हिन्द महासागर में अपनी शक्ति बढ़ाकर वह एशिया, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड में अपना प्रभाव बढ़ा सकता है और इसीलिए वह भारत, श्रीलंका तथा अन्य तटवर्ती देशों की हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र घोषित किये जाने की माँग को अनसुना करके इस क्षेत्र में अपनी शक्ति बढ़ाता जा रहा है, उसका प्रतिद्वन्द्वी सोवियत संघ भी स्वभावतः वही कर रहा है।

अमरीका और सोवियत संघ के लिए हिन्द महासागर का सामरिक महत्व है किन्तु तटवर्ती देशों के लिए तो उनका आर्थिक महत्व अधिक बढ़ा है। हिन्द महासागर की गहराइयों में छिपे तेल और खनिज भण्डार अगले 15-20 वर्ष में उसके तट पर बसे देशों का कायाकल्प कर सकते है। मत्स्य व्यवसाय भी हिन्द-महासागरीय देशों के लिए कोई कम महत्वपूर्ण नहीं है। इन सबसे बड़ी

एक बात और भी है, वह है अफ्रीका से लेकर दक्षिणं-पूर्वेशिया तक के देशों का आपसी सहयोग महाशक्तियों के प्रभाव में भारी कमी ला सकता है और इस क्षेत्र में उनकी मनमानी पर अंकुश भी लगा सकता है, किन्तु यह तभी सम्भव होगा जबकि हिन्दमहासागर महाशक्तियों के टकराव का केन्द्र न बने। यदि उनमें यहाँ टकराव है तो तटवर्ती देशों के आपसी सम्बन्ध बने नहीं रह पायेंगे। हिन्द महासागर के जलमार्गों के बन्द हो जाने पर उनके आपसी व्यापार में भी व्यवधान पड़ेगा।

हिन्द महासागर में अमरीका, सोवियत संघ और चीन की दिलचस्पी इस क्षेत्र में तनाव और स्पर्द्धा को बड़ी तीव्र गति से बढ़ा रही है और भारत की यह आशंका निराधार नहीं है कि हिन्द महासागर में महाशक्तियों की सैन्य-स्पर्द्धा से इस क्षेत्र में शान्ति और स्थायित्व के लिए खतरा पैदा होगा। 1971 के भारत-पाक युद्ध के बाद पेंटागन हिन्द महासागर में अपनी नौ-सैनिक शक्ति के उत्तरोत्तर बढ़ाने और दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपना प्रभाव पुनः स्थापित करने की जिस योजना पर अमल कर रहा है वह और उसकी प्रतिस्पर्द्धा में सोवियत संघ द्वारा किये जा रहे प्रयास दोनों से ही इन महाशक्तियों के इस चिन्तन का पता चलता है कि 'शक्ति-सन्तुलन' बनाये रखने के लिए हिन्द महासागर में सैनिक शक्ति को बढ़ाना आवश्यक है।

वस्तुस्थिति यह है कि हिन्द महासागर की शान्ति पश्चिमेशिया, पूर्वोत्तर अफ्रीका और दक्षिण पूर्वेशिया में शान्ति से जुड़ गयी है। इनमें कभी भी संघर्ष के तीव्र होने पर हिन्द महासागर में महाशक्तियों के बीच टकराव हो सकता है तथा लम्बा खिचता है तो उसका प्रभाव सभी हिन्द महासागरीय देशों पर पड़ेगा, यह एक तथ्य है।

पारस्परिक तनावों के परिणामस्वरूप द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ज्यादातर युद्ध या फौजी टकराव प्रायः इसी क्षेत्र में हुए है। इनमें भारत-पाकिस्तान युद्ध (तीन बार), युगांडा-तंजानिया संग्राम, इथियोपिया-सोमलिया टकराव, वियतनाम-कम्पूचिया युद्ध, इराक-ईरान युद्ध प्रमुख हैं। इन सभी झगड़ों या लड़ाइयों में बड़े देशों की प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष भूमिका रही है। कई अवसरों पर बड़े राष्ट्रों ने इस क्षेत्र के देशों में खुला व सीधा सैन्य हस्तक्षेप किया है। इस सन्दर्भ में कोरिया (1950-52), स्वेज नहर क्षेत्र (1956), वियतनाम (1966-73) और अफगानिस्तान (1979) के उदाहरण विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

यह भी उल्लेखनीय है कि 10-12 वर्ष पूर्व जब शान्ति क्षेत्र का प्रस्ताव पारित हुआ था, तब की अपेक्षा आज इस क्षेत्र में बड़े राष्ट्रों की सैन्य मौजूदगी कहीं अधिक घनी और विस्तृत है। अतः 'शान्ति क्षेत्र' के बजाय यहाँ विस्फोटक तनाव एवं संघर्ष के नये क्षेत्र का निर्माण हुआ है।

बड़े राष्ट्रों ने अपनी गतिविधियों के जरिये शान्ति क्षेत्र के निर्माण की सम्भावनाओं को तो एकदम उलट दिया ही है; साथ ही वे तटीय देशों की इस माँग को भी टालते रहे हैं कि हिन्द महासागर में शान्ति स्थापना के लिए तटवर्ती तथा दूसरे सम्बद्ध राष्ट्रों का एक विश्व सम्मेलन बुलाया जाये। इस सम्मेलन की विधिवत् माँग पहली बार 1979 में न्यूयार्क में आयोजित 44 तटीय राष्ट्रों की एक कॉन्फ्रेंस में रखी गयी थी। लेकिन बड़े राष्ट्रों के टालू एवं रुकावटी रवैये के कारण ऐसे विश्व सम्मेलन की सम्भावना नजर नहीं आ रही है। विश्व सम्मेलन जब भी हो—और उसके शीघ्र होने के कोई आसार नहीं हैं—वह सार्थक तभी होगा, जब तटीय एशियाई-अफ्रीकी देश बड़े राष्ट्रों पर अपनी सैनिक एवं आर्थिक निर्भरता समाप्त करके का सामूहिक निर्णय करें और बहलाव, फुसलाव व दबावों के बावजूद उस पर डटे रहें।[1]

[1] प्रो० सुरेश चन्द्र गंगल, "क्या हिन्द महासागर शान्ति क्षेत्र बन पायेगा ?" **राजस्थान पत्रिका,** 5 फरवरी, 1985।

5. **अफगान संकट**—अफगानिस्तान को हड़पने का रूसी मंसूबा नहीं है। बहुत लम्बे समय तक ब्रिटिश सरकार ने जार सल्तनत को हिन्दुकुश के दक्षिण में प्रवेश करने से रोके रखा था। तब अफगानिस्तान के उत्तर में हिन्दुकुश पर्वत को एक ऐसा अवरोध समझा जाता था जिसे लाँघना आसान नहीं था। 19वीं सदी के आरम्भ में यहाँ ब्रिटिश भारतीय सैनिकों की खूँख्वार और दबंग कबाइलियों से तीन बार लड़ाइयाँ हुई। एक समकालीन प्रेक्षक के अनुसार "इसका उद्देश्य अफगान ऊँट को भालू से बचाना था।" इस दौर में अफगानिस्तान एक ऐसा कमजोर लेकिन कामचलाऊ मध्यवर्ती राज्य (बफर स्टेट) था जिसका मकसद ईरान एवं भारत-पाक उपमहाद्वीपों में जार सैनिकों की पेशकदमी को रोकना था।[1]

दूसरे विश्व-युद्ध के बाद सोवियत सरकार की दक्षिणी-पश्चिमी एशिया में विस्तारवादी नीतियों पर अंकुश रखने की ब्रिटिश भूमिका अमरीका ने निभानी शुरू कर दी। कुछ समय तक मुकाबले की होड़ बराबर रही। रूसियों ने काबुल में एक हवाई अड्डा बनाया तो अमरीकियों ने कन्धार में। रूसियों ने काबुल में विशाल अन्न भण्डार बनाया तो अमरीकियों ने उसमें गेहूँ भर दिया। रूसियों ने सलांग राजमार्ग का निर्माण किया तो अमरीकियों ने अफगानिस्तान की राष्ट्रीय विमान सेवा के लिए सहायता देकर जवाबी कार्यवाही कर दी।

लेकिन पर्याप्त अमरीकी योगदान के बावजूद साठादि दशक के अन्तिम दौर में रूस का प्रभाव बढ़ने लगा। चूँकि उस समय अमरीका वियतनाम की जंग में उलझा था, इसलिए उसने आर्थिक सहायता में कमी कर दी। लेकिन सत्तरादि दशक के अन्त तक रूस ने काबुल को दी जाने वाली आर्थिक सहायता बढ़ाकर 1·5 अरब डॉलर तक कर दी। रूस ने होनहार अफगान अधिकारियों को सोवियत संघ में प्रशिक्षण देना आरम्भ किया। अफगानिस्तान में कम्युनिस्टों ने पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी (P. D. P.) संगठित की और सशस्त्र सेनाओं में भी अपना प्रभाव बढ़ाया। पी० डी० पी० नेता और तत्कालीन विदेशमन्त्री हफीज उल्लाह अमीन ने 1978 में सीना तानकर कहा था, "मैं 1966 से सेना के भीतर गुप्त रूप से काम कर रहा था········1973 के शुरू से ही मैं थलसेना और वायुसेना में तीन-सदस्यीय कम्युनिस्ट इकाइयों को संगठित करने में लगा था।"

अप्रैल 1978 में इन प्रयत्नों का सुपरिणाम सामने आया। अमीन के नेतृत्व में हुई क्रान्ति के जरिये काबुल के रेडियो स्टेशन और राष्ट्रपति भवन पर कब्जा कर लिया गया और राष्ट्रपति मोहम्मद दाऊद की तटस्थ सरकार का तख्ता उलट दिया गया। अमीन के नेतृत्व में पी० डी० पी० सरकार ने सत्ता सँभाल ली और नूर मोहम्मद तराकी को राष्ट्रपति बना दिया गया।

अमीन ने अफगानों पर मार्क्सवाद-लेनिनवाद थोपने के नाम पर बेरहमी से आतंक बरसाना शुरू कर दिया। अप्रैल 1978 और नवम्बर 1979 के दौरान काबुल की जेलों में ही करीब 12,000 अफगानों की मृत्यु हो गयी। जो बच गये उन्होंने बताया कि किस प्रकार बिजली के नंगे तारों को छुआकर और शिकंजे (पेंचलगी धातु की दो चादरें जिनका इस्तेमाल लोगों के हाथ-पैर कुचल डालने के लिए किया जाता है) का इस्तेमाल करके आतंक बरसाया गया, बन्दियों को उन्हीं के मल-मूत्र में डुबा दिया गया। जब अफगानों को नयी सरकार के असली रंग-ढंग का पता चला तो सारे देश में मुजाहिद विरोध उठ खड़े हुए। ऐसा लगता था कि बढ़ती अव्यवस्था से चिन्तित होकर सोवियत शासकों ने पहले तो यह चाहा कि अमीन से तराकी छुटकारा पा लें, लेकिन सितम्बर 1979 में खुद तराकी को मार दिया गया और अमीन ने अपने को राष्ट्रपति एवं प्रधानमन्त्री घोषित कर दिया।

इस बीच ग्रामीण क्षेत्रों में पी० डी० पी० का नियन्त्रण तेजी से खोने लगा। मुजाहिदों ने

---

1 एण्टनी पाल, "अफगानिस्तान की दर्दभरी दास्तान", **सर्वोत्तम**, अप्रैल 1981, पृ० 27।

प्रमुख शहरों के बीच मुख्य मार्गों से होने वाले सम्पर्क को दिनों तक भंग करना शुरू कर दिया। 1979 के अन्तिम दिनों में सरकार देश के 29 प्रान्तों में से केवल छः में प्रशासन चलाने का दावा करने की स्थिति में थी।

ऐसा लगा कि सोवियत शासकों ने यह तय किया कि अमीन को रास्ते से हटा दिया जाये।[1] भूतपूर्व वकील बबराक करमाल के नेतृत्व में पी० डी० पी० के अमीन विरोधी गुट से मिलकर सोवियत शासकों ने 20 महीनों में तीसरी बार काबुल में कम्युनिस्ट क्रान्ति के लिए षड्यन्त्र रचा।

24 दिसम्बर, 1979 को काबुल का आकाश सोवियत विमानों से भर गया और हवाई अड्डे पर सैनिक उतारे गये। काबुलवासियों को बताया गया कि मुजाहिदों के खिलाफ सरकार की सहायता करने के लिए रूसी आ रहे हैं। ठीक इसी समय अनेक सशस्त्र सैनिक टुकड़ियाँ सीमा पर आ पहुँचीं।

निश्चित दिन 27 दिसम्बर, 1979 था। सुबह सात बजे सोवियत सैनिकों ने राष्ट्रपति भवन, हवाई अड्डे, रेडियो स्टेशन और अन्य प्रमुख केन्द्रों पर हमले कर दिये। मशीनगनों से लैस चार पैदल और बख्तरबन्द डिवीजनों का सोवियत सीमा से भीषण गर्जन सुनाई दिया, जिन्होंने चन्द दिनों में ही सभी प्रमुख अफगान नगरों और कस्बों पर कब्जा कर लिया। वस्तुतः सोवियत संघ ने अफगानिस्तान में सैनिक हस्तक्षेप करके नये शीत-युद्ध की प्रक्रिया को तीव्र गति प्रदान कर दी। अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप के मूलतः दो कारण हैं : (i) प्रथम, गरम पानी के बन्दरगाहों की तलाश, और (ii) द्वितीय, टर्की, ईरान एवं अफगानिस्तान से लगने वाली सीमाओं की सुरक्षा।

राष्ट्रपति अमीन की सपरिवार हत्या कर दी गयी और उसके स्थान पर बबराक करमाल राष्ट्रपति बना दिये गये। 28 दिसम्बर, 1979 को सोवियत प्रवक्ताओं ने यह दलील पेश की थी कि अफगान सरकार ने अफगान-सोवियत मैत्री सन्धि के आधार पर सोवियत सरकार से सहायता, जिसमें सैनिक सहायता सम्मिलित है, की अपील की है और सोवियत सरकार ने उस अपील को स्वीकार कर लिया है।

अफगान संकट को जन्म देने वाले कारण

27 दिसम्बर, 1979 को अफगानिस्तान में सोवियत सेनाओं का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप तथा उनका वहाँ निरन्तर बने रहना अफगान संकट को जन्म देता है, जिसके मुख्य कारण निम्न हैं :

1. **अफगान साम्यवादी दल (P. D. P.) में गुटीय प्रतिस्पर्द्धा**—जनवरी 1965 में अफगानिस्तान में अफगान जनवादी जनतान्त्रिक दल की स्थापना हुई, परन्तु 2 वर्ष बाद यह दल 'खल्की' तथा 'परचम' गुटों में विभाजित हो गया। 'खल्की' गुट के नेता नूर मोहम्मद तराकी तथा 'परचम' गुट के नेता बबराक करमाल थे। अप्रैल 1978 की क्रान्ति के समय दोनों गुट एक हो गये थे परन्तु बाद में दोनों एक-दूसरे के खून के प्यासे हो गये। बबराक करमाल को उपप्रधानमन्त्री के पद से हटाकर चैकोस्लोवाकिया में राजदूत नियुक्त कर दिया गया। गुटबन्दी की इस अफगान राष्ट्रीय राजनीति के परिणामस्वरूप विदेशी हस्तक्षेप का मार्ग प्रशस्त हुआ।

दिनमान की टिप्पणी के अनुसार, "जब अप्रैल 1978 में खल्की पार्टी के नेता नूर मुहम्मद तराकी सत्तारूढ़ हुए थे, तब दूसरे महत्वपूर्ण व्यक्ति बबराक करमाल ही थे, अमीन नहीं। ये दोनों ही गुट—परचम और खल्की—कम्युनिस्ट पार्टी के अंग हैं। लेकिन 50-वर्षीय बबराक करमाल

---

1 शायद सोवियत नेताओं को यह शंका हुई कि कहीं अमीन मिस्र के राष्ट्रपति सादात की तरह अमरीका के पक्ष में न चले जायें।

30 साल से अधिक समय से मार्क्सवाद के सिद्धान्तों के प्रशंसक रहे हैं। मार्क्सवाद को समझने में जितनी पैनी दृष्टि बबराक की है उतनी न तराकी की थी और न ही अमीन की। धीरे-धीरे करमाल ने तराकी को अपनी नीतियों से प्रभावित करना शुरू किया। भीतर ही भीतर इसका विरोध हुआ और मुखर विरोधियों में हफीज उल्लाह अमीन थे। अमीन चाहते थे कि तराकी के स्थान पर सत्ता की बागडोर वह स्वयं सँभालें। इसका मुख्य कारण सोवियत संघ की दिन-व-दिन बढ़ने वाली दखलन्दाजी था जबकि करमाल सत्ता पर अपनी आँखें जमाये बैठे थे। अमीन ने कुछ ऐसी गोटियाँ बिठायीं कि परचम गुट के लोगों को धीरे-धीरे कर सत्ता से अलग किया गया। इसके फलस्वरूप करमाल को चैकोस्लोवाकिया में राजदूत नियुक्त कर प्राग भेज दिया गया। वहाँ रहते हुए उन्होंने सम्भवतः सोवियत संघ के नेताओं से अपनी गोटियाँ बिठायीं। इसका सुराग भी शायद अमीन को लग गया था जिसके फलस्वरूप उन्होंने अपनी राजनीति जल्दी से तय की—एक तो करमाल को राजदूत के पद से हटा दिया गया, दूसरे तराकी के खिलाफ बगावत कर दी गयी। बबराक करमाल के हाथ से पहल निकल गयी। लेकिन अमीन भी सत्ता के सूत्रों को समेटकर नहीं रख सके। उनकी न केवल रूसी सलाहकारों से अनबन हो गयी बल्कि सोवियत राजदूत को भी अफगानिस्तान छोड़ने का आदेश दिया। सोवियत नेताओं से यह सीधा टकराव था जिसे रूसियों ने अपना अपमान महसूस किया। अमीन को सत्ता से हटाने के उपाय ढूंढ़े जाने लगे। इस बीच पूर्व यूरोपीय देशों में बबराक करमाल के साथ रूसी योजनाएँ बनाते रहे जिसके फलस्वरूप अमीन को सत्ताच्युत किया गया।"[1]

2. **अफगान सरकारों के जनाधार का अभाव**—अप्रैल 1978 की क्रान्ति के समय से अफगानिस्तान में कोई ऐसी सरकार सत्तारूढ़ नहीं हुई जिसे जनसमर्थन प्राप्त हो। अप्रैल 1978 के बाद बनने वाली अफगान सरकारों का अस्तित्व सैनिक अफसरों के सहयोग पर टिका हुआ था। इन्हें सोवियत संघ का समर्थन प्राप्त था। इस प्रकार विदेशी सहायता पर टिकी हुई सरकार जन सहयोग के अभाव में अधिक समय तक चल नहीं सकती थी।

3. **अमीन की रूस विरोधी गतिविधियाँ**—सितम्बर 1979 में नूर मोहम्मद तराकी को अपदस्थ करने के बाद हफीज उल्लाह अमीन अफगानिस्तान के नये राष्ट्रपति बने। ऐसा कहा जाता है कि अमीन कतिपय ऐसी नीतियाँ अपनाते जा रहे थे, जो यदि 2-3 वर्ष तक जारी रह पातीं तो निश्चय ही अफगानिस्तान सोवियत संघ के प्रभाव क्षेत्र से बाहर निकल जाता। लेकिन सोवियत संघ को इसका आभास हो गया। इसलिए कुछ विचारकों की यह मान्यता है कि अफगानिस्तान में समाजवाद की रक्षा के लिए सोवियत संघ ने 27 दिसम्बर, 1979 को सैनिक हस्तक्षेप किया था।

4. **अफगानिस्तान में अनिश्चय और अस्थिरता का वातावरण**—अफगानिस्तान में अस्थिरता और अनिश्चय के वातावरण के परिणामस्वरूप 20 माह की अल्प अवधि में तीन क्रान्तियाँ हो गयीं। पहली क्रान्ति 27 अप्रैल, 1978 को हुई जिसमें राष्ट्रपति मोहम्मद दाऊद व उनके परिवार का सफाया कर दिया गया और साम्यवादी दल समर्थक खल्की पार्टी के नेता नूर मोहम्मद तराकी राष्ट्रपति बने। दूसरी क्रान्ति 6 सितम्बर, 1979 को हुई जिसमें तराकी का तख्ता पलट कर हफीज उल्लाह अमीन राष्ट्रपति बने। तीसरी क्रान्ति 27 दिसम्बर, 1979 को हुई, जिसमें अमीन की हत्या कर दी गयी और परचम नेता बबराक करमाल राष्ट्रपति बने। वस्तुतः तीसरी क्रान्ति अफगान सैनिकों ने नहीं की, बल्कि सोवियत संघ ने प्रत्यक्ष सैनिक हस्तक्षेप करके बबराक करमाल को काबुल की गद्दी पर बिठाया।

---

1 **दिनमान**, 13-19 जनवरी, 1980, पृ० 37।

5. अफगानिस्तान-सोवियत संघ प्रभाव क्षेत्र—अफ़गान शासक तथा पश्चिमी शक्तियाँ दोनों ही अफगानिस्तान को सोवियत प्रभाव क्षेत्र स्वीकार करती रही हैं। अफगान शासक अपनी विदेश नीति को रूसी आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तित करते रहे हैं। अफगानिस्तान ने रूस की इस भावना का सदा आदर किया है कि उसके उत्तरी भाग में कोई दूसरा देश अपनी गति-विधियाँ जारी न रखे। दाऊद ने रूस के साथ विशिष्ट सम्बन्ध रखते हुए भी अफगानिस्तान की परम्परागत तटस्थता को बनाये रखा किन्तु तराकी और अमीन ने अफगानिस्तान के स्वतन्त्र हैसियत को नष्ट कर दिया और उसे चैकोस्लोवाकिया या हंगरी बना दिया। अफगानिस्तान के नेताओं ने सौर क्रान्ति (1978) को अक्टूबर क्रान्ति (रूसी क्रान्ति) का ही विस्तार माना। अफगान नेताओं की इस मनोवृत्ति ने सोवियत संघ को प्रत्यक्ष सैनिक हस्तक्षेप के लिए प्रेरित किया।

6. अफगानिस्तान में सोवियत विशेषज्ञों एवं सलाहकारों का जमाव—1978 की सौर क्रान्ति के बाद अफगानिस्तान में सोवियत तकनीशियनों एवं सलाहकारों का प्रभाव एवं जमाव इतना अधिक हो गया था कि उनकी राय के बिना कोई कार्य करना सम्भव नहीं था। सोवियत विशेषज्ञ एवं सलाहकार अफगानिस्तान के विविध विभागों और प्रतिष्ठानों में कार्यरत थे जिसके परिणामस्वरूप सोवियत संघ की प्रत्यक्ष हस्तक्षेप करने का सुअवसर प्राप्त हो गया।

7. गर्म पानी का बन्दरगाह प्राप्त करने की लालसा—अफगानिस्तान में सोवियत संघ के हस्तक्षेप का एक विशेष कारण यह भी था कि इसके द्वारा वह गर्म पानी का बन्दरगाह प्राप्त करना चाहता था।

8. सोवियत सुरक्षा का प्रश्न—सोवियत संघ ने प्रत्यक्ष सैनिक हस्तक्षेप का निर्णय विशुद्ध राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर किया जिससे कि अमरीका और चीन सोवियत संघ विरोधी अभियान में अफगानिस्तान को अड्डा नहीं बना सकें।

अफगान संकट और संयुक्त राष्ट्र संघ

अमरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति कार्टर ने अफगानिस्तान में रूसी सेनाओं के प्रवेश तथा हस्तक्षेप की कड़ी निन्दा करते हुए मास्को से अपनी फौजें तुरन्त वापस बुलाने के लिए कहा, और उसके ऐसा न करने पर उसने इस प्रश्न को सुरक्षा परिषद् में उठाया। यद्यपि सुरक्षा परिषद् ने एक प्रस्ताव द्वारा सोवियत संघ से अफगानिस्तान में अपनी गतिविधियाँ समाप्त कराने और सैनिकों को वापस बुलाने की माँग की, परन्तु रूस ने वीटो का अधिकार प्रयोग करके इस प्रस्ताव को प्रभावहीन बना दिया। महासभा ने अपने आपातकालीन अधिवेशन के दौरान 15 जनवरी, 1980 को एक प्रस्ताव द्वारा माँग की कि अफगानिस्तान से तत्काल विदेशी सेनाएँ हटायी जायें।

सुरक्षा परिषद् में करमाल सरकार के विदेशमन्त्री शाह मोहम्मद दोस्त ने रूसी फौजों की वापसी के प्रस्ताव पर प्रबल आपत्ति करते हुए कहा कि "यह अफगानिस्तान का विशुद्ध रूप से घरेलू मामला है। इस कार्यवाही से इस प्रदेश में शान्ति को कोई खतरा नहीं है। प्रत्येक राज्य को आत्मरक्षा करने का अधिकार है और वह इसमें किसी भी देश से सहायता ले सकता है। अफगानिस्तान ने मास्को के साथ 1978 की सन्धि के आधार पर सहायता माँगी है और उसकी प्रार्थना पर रूसी सेनाएँ काबुल आयी हैं।"

चीनी प्रतिनिधि चेन चू ने अफगान प्रतिनिधि के इस कथन का खण्डन करते हुए यह कहा कि रूस को अफगान सरकार द्वारा सेनाएँ भेजने का कोई निमन्त्रण नहीं मिला है। यह कहना गलत है कि इसे अमीन की सरकार ने निमन्त्रित किया है, क्योंकि इस क्रान्ति में मारे गये अमीन इतने मूर्ख नहीं थे कि वे अपने विरोधी को अपना सफाया करने के लिए खुद बुलाते। वर्तमान राष्ट्रपति करमाल भी रूसियों को निमन्त्रण नहीं दे सकते थे, क्योंकि वे उस समय पूर्वी यूरोप में

थे। वस्तुतः रूस का यह कार्य उसकी विस्तारवादी नीति का एक अंग और दक्षिण में हिन्द महासागर की ओर बढ़ने, समुद्री मार्गों और सामरिक अड्डों को नियन्त्रित करने; यूरोप को घेरने, एशिया को संकट में डालने और विश्व पर छा जाने का प्रयास है।

अफगान संकट और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप के अत्यन्त महत्वपूर्ण और दूरगामी परिणाम हुए हैं। भवानी सेन गुप्ता लिखते हैं, "अफगानिस्तान तीसरे विश्व की राजनीतिक स्थिति में सोवियत हस्तक्षेप का प्रथम मामला नहीं है। परन्तु यह तीसरे विश्व में तथा पूर्वी यूरोप में सोवियत गुट को छोड़कर विश्व में अन्य कहीं प्रथम प्रत्यक्ष सोवियत सैनिक हस्तक्षेप है। यह पूर्वी यूरोप में सोवियत गुट के बाहर एक मार्क्सवादी शासन की रक्षा के लिए प्रथम प्रत्यक्ष सोवियत सैनिक हस्तक्षेप है, यद्यपि यह सोवियत संघ से लगा हुआ क्षेत्र है। इससे भी अधिक, यह पहला सोवियत हस्तक्षेप है जिसके विरुद्ध अमरीका ने जोरदार विरोध प्रकट किया है तथा जिसने एशिया और अफ्रीका के अनेक देशों को, जिनमें से कुछ मास्को मैत्री सम्बन्धों से बंधे हैं, वास्तविक रूप से चिन्तित कर दिया है।"

डॉ० के० पी० मिश्र के शब्दों में, "सोवियत संघ ने अर्थात् एक महाशक्ति ने अफगानिस्तान में 'प्रमुखता अधिकार' (hegemonistic right) के आधार पर हस्तक्षेप किया है जिसने दक्षिण एशिया के सभी राष्ट्रों की स्वतन्त्रता और अखण्डता पर प्रश्न-चिह्न लगा दिया है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में अफगान संकट के सम्भावित प्रभाव निम्नलिखित हैं:

1. **तनाव-शैथिल्य को गहरा धक्का**—अफगानिस्तान में सोवियत सैनिक हस्तक्षेप ने अमरीकी-रूसी तनाव-शैथिल्य को एक गहरा धक्का पहुँचाया है।

2. **नव-शीत-युद्ध की शुरूआत**—अफगान संकट के कारण शीत-युद्ध की पुनः शुरूआत हो गयी है। दक्षिणी एशिया पुनः तनाव का केन्द्र बन गया है और हिन्द महासागर में महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा बढ़ गयी है। डॉ० वेदप्रताप वैदिक के शब्दों में, "अफगानिस्तान के संकट ने विश्व की राजनीति पर एक बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव यह डाला है कि मास्को तथा वाशिंगटन में शीत-युद्ध उग्र हो गया है। पिछले दो दशकों में दोनों देशों में तनाव-शैथिल्य (Detente) तथा मधुर मिलन हो रहा था, दोनों देशों ने हथियारों की होड़ कम करने के लिए दो सामरिक अस्त्र परिसीमन वार्ता (SALT I & II) की दो सन्धियों पर हस्ताक्षर किये थे। किन्तु काबुल में 80 हजार रूसी सेनाओं की उपस्थिति तथा अफगान सीमा पर 25-30 हजार सैनिकों के जमाव से दोनों देशों का तनाव चरम शिखर पर पहुँच गया है। उसने रूस को गेहूँ तथा तकनीकी भेजने पर पाबन्दी लगा दी है, मास्को में होने वाले ओलम्पिक खेलों का बहिष्कार किया है · · ·।"[1]

3. **पाकिस्तान की बढ़ती हुई चिन्ता**—अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप ने उसके पड़ौसी राष्ट्रों ईरान और पाकिस्तान में गहरी चिन्ता उत्पन्न कर दी क्योंकि इसमें दक्षिणी-पश्चिमी एशिया में तीन वर्ष से चला आया भू-राजनीतिक सन्तुलन अस्त-व्यस्त हो गया। पाकिस्तान में लगभग 5 लाख अफगान शरणार्थियों ने शरण ली। पाकिस्तान ने अपने को किसी सम्भावित बदले की सोवियत कार्यवाही का सामना करने में अक्षम पाया। वह अपनी सुरक्षा के लिए अमरीका के और भी निकट आ गया। अमरीका ने पाकिस्तान को भारी सैनिक सहायता देने का निर्णय किया, इससे भारत की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो गया है। चूंकि जब-जब अमरीका ने रूस के साम्यवाद का प्रसार

---

[1] वेद प्रताप वैदिक, 'रूसी मदद से पश्चिमी इंकलाब', **धर्मयुग**, 20 जनवरी, 1980, पृ० 14।

रोकने के लिए पाकिस्तान को हथियार दिये हैं तो उसने इसका प्रयोग 1965 और 1971 की लड़ाइयों में भारत के विरुद्ध किया है।

4. **अमरीकी-चीनी गठजोड़ को बढ़ावा**—अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप ने अमरीकी-चीनी गठवन्धन को और अधिक मजवूत वनाने लिए प्रेरित किया है क्योंकि अमरीका और चीन दोनों ही सोवियत संघ की शक्ति और प्रभाव के विस्तार को अपने लिए घातक मानते हैं तथा सोवियत संघ को विश्व समस्याओं के समाधान में वाधक समझते हैं।

5. **भारत की दुविधापूर्ण स्थिति**—अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप ने भारत को अत्यन्त दुविधापूर्ण स्थिति में डाल दिया। ऐसा कहा जाता है कि भारत ने सोवियत हस्तक्षेप के मुद्दे पर वही नीति अपनायी जो नेहरू ने हंगरी में सोवियत हस्तक्षेप के सम्वन्ध में तथा श्रीमती गांधी ने चैकोस्लोवाकिया में सोवियत हस्तक्षेप के सम्बन्ध में अपनायी थी।

जबकि वास्तविकता यह है कि भारत इस वार पहले से कहीं अधिक चिन्तित है। हंगरी और चैकोस्लोवाकिया भारत से सात हजार किलोमीटर दूर थे, जबकि अफगानिस्तान भारत का पड़ौसी है और भू-राजनीति की दृष्टि से भारतीय उपमहाद्वीप का अंग है।

अब तक रूस और भारत के वीच पाकिस्तान और अफगानिस्तान दो मध्यवर्ती राज्य थे। किन्तु अफगानिस्तान पर प्रभाव कायम हो जाने से रूस भारत के काफी निकट आ गया है। अफगानिस्तान में पैर जमाकर सोवियत संघ एक ऐसी एशियाई शक्ति बन जाता है जो ईरान और पाकिस्तान पर दबाव डाल सकती है। इससे शीत-युद्ध भारत के दरवाजे पर दस्तक देने लगा है। अमरीका द्वारा पकिस्तान को 4 अरव डालर की सैनिक सहायता का प्रस्ताव पाकिस्तान की एक अमरीकी अग्रिम आधार शिविर बन जाने की सम्भावना प्रकट करता है। इससे भारत को न चाहते हुए भी शीत-युद्ध के जाल में उलझना पड़ सकता है।

अफगान संकट से भारत की चिन्ता के तीन कारण उभरते हैं: (i) भारत को ऐसे युद्ध में शामिल होना पड़ सकता है जिसका उससे कोई सम्वन्ध नहीं है। (ii) रूस भारत की सीमाओं के निकट आ गया है जिससे भारत के लिए भविष्य में खतरा हो सकता है। (iii) 1971 की भारत-रूस सन्धि का सहारा लेकर भारत में अफगानिस्तान जैसी स्थिति पैदा की जा सकती है।

6. **गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को विभाजित करने का मुद्दा**—गुट-निरपेक्ष आन्दोलन भी अफगान संकट का शिकार होते-होते वच गया। अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप के प्रश्न पर कुछ देशों ने जिनमें पाकिस्तान प्रमुख था, वगैर लिहाज के सोवियत संघ की नयी दिल्ली शिखर सम्मेलन में निन्दा की। मिस्र और ईरान रूसी कार्यवाही की पहले ही निन्दा कर चुके थे।

7. **पाकिस्तान और अफगानिस्तान की सीमा पर नया खतरा**—अफगान नागरिक निरन्तर पाकिस्तान की ओर भागने लगे। यद्यपि अफगान विस्थापितों की संख्या 40 हजार के आस-पास वतायी जाती है लेकिन पाकिस्तान के राष्ट्रपति जिया उल हक ने यह संख्या 4 लाख से भी अधिक वतलायी है। अफगान विस्थापितों को सहायता के लिए विदेशों से धन की अपील की गयी जिसके फलस्वरूप यह धन वहाँ पहुँचना शुरू हो गया। लेकिन अफगान नागरिकों के पलायन से पाकिस्तान और अफगानिस्तान की सीमा पर एक नये प्रकार का खतरा पैदा होने की आशंका उत्पन्न हो गयी। एक समाचार के अनुसार अफगान सैनिक पाकिस्तान की सीमा तक पहुँच गये हैं। पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिमी भाग के पख्तूनों का वहाँ की सरकार से सदैव विरोध रहा है, इसलिए नामुमकिन नहीं कि पाकिस्तान, ईरान और अफगानिस्तान के पख्तून और वलूच एक स्थान पर इकट्ठा होकर अलग राज्य की माँग करें। यदि ऐसा होता है तो पाकिस्तान के भीतर एक नयी प्रकार की विभाजन रेखा उत्पन्न होगी और ईरान में इस समय जो संकट व्याप्त है उसमें भी वढ़ोत्तरी होगी। लन्दन में निर्वासित जीवन व्यतीत करने वाले खानवनी खाँ पाकिस्तान लौटकर इस आन्दोलन को

अपना नेतृत्व प्रदान कर सकते हैं। कुर्दों ने पहले ही ईरान को समस्या की गहरा रखा है। यदि एक नया राज्य अस्तित्व में आता है तो स्थिति खासी उलझावपूर्ण हो सकती है। दूसरे यह कि इस नव-निर्मित राष्ट्र को कौन-सी महाशक्ति इतना सहयोग और समर्थन देती है और उसका विश्व राजनीति पर कहाँ तक प्रभाव पड़ता है, यह जरूर एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। यदि अस्तित्व में आने वाले इस राज्य का पोषण सोवियत संघ करता है तो उससे उत्पन्न खतरे की चिनगारी भारत, पाकिस्तान, ईरान और चीन कहीं भी पहुँच सकती है। शायद यही कारण है कि अफगानिस्तान की वर्तमान स्थिति को **'सोवियत संघ का वियतनाम'** कहा जा सकता है।

अफगानिस्तान रूसी वियतनाम नहीं ?

प्रेक्षक अफगानिस्तान को सोवियत संघ का वियतनाम नहीं मानते। उनके तर्क हैं: सोवियत संघ और अफगानिस्तान की सीमा में अधिक दूरी नहीं। रूस वहाँ तुरन्त रसद और साज-सामान पहुँचा सकता है जबकि अमरीका के लिए वियतनाम तक पहुँचने में खासा समय लगता था, विमानों से या होनोलूलू से होकर लाल सागर जाने तक उसे कई दिन लग जाते थे। अमरीका का दुश्मन वियतनाम दृढ़संकल्पी और अनुशासित था जबकि अफगानिस्तान के विभिन्न गुटों के अलग-अलग और अपने-अपने स्वार्थ हैं। वहाँ नेताओं का नितान्त अभाव है। वियतनाम के जंगल छापामारों के लिए बेहतर मृगवन और आश्रयस्थल थे जबकि अफगानिस्तान की खुश्क पहाड़ियाँ छापामारों को उस तरह की शरण नहीं दे सकतीं। उत्तर वियतनाम और कम्युचिया वियतनामी छापा मारों को यथेष्ट सहायता करते थे जबकि पाकिस्तान में अपनी गुरबत और अस्थिरता के कारण उस तरह का पड़ौस नहीं है। वियतनाम युद्ध का जहाँ रेडियो-टेलीविजन और समाचार-पत्रों द्वारा खूब प्रचार हुआ वहाँ वर्तमान संघर्ष में उस तरह के प्रचार माध्यमों का उपयोग नहीं हो रहा है।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि सोवियत संघ अफगानिस्तान में अपने मंसूबों में सफल हो जायेगा। सोवियत आक्रमण के प्रारम्भिक दिनों में अनेक पश्चिमी प्रेक्षकों ने भविष्यवाणी की थी कि इस महाशक्ति के सैनिक अफगानिस्तान में तेजी से छा जायेंगे। लेकिन अफगान लोगों ने अपने प्रतिरोध से सोवियत आक्रमण का सामना करने की आश्चर्यजनक क्षमता का परिचय दिया है। मुजाहिदों ने सम्पूर्ण अफगानिस्तान में सोवियत सैनिकों को अपने छापामार हमलों से उलझा रखा है।

मुख्य कारण मुजाहिदों का धर्म है। 85 प्रतिशत से अधिक अफगान सुन्नी मुसलमान हैं जो अन्य इस्लामी देशों में भी कट्टरता और धार्मिक निष्ठा के लिए विख्यात हैं। अप्रैल 1978 की क्रान्ति के बाद अफगानिस्तान के मुल्लाओं ने साम्यवाद के खिलाफ जिहाद का ऐलान कर दिया। यह माना जाता है कि ऐसी लड़ाई में भाग लेने वाला निश्चय रूप से अमरत्व को प्राप्त होता है। काबुल का रहने वाला 28-वर्षीय नईम मजरूह पहले कैमीकल इन्जीनियर था, वह अब मुजाहिद है, उसका कहना है, "अगर मैं किसी रूसी को मौत के घाट उतार दूँ तो लोग मुझे गाजी कहेंगे, पर जिहाद में मारा गया तो शहीद कहलाऊँगा।"

अफगानों के रहन-सहन का ढंग भी उन्हें दुर्घर्ष योद्धा बना देता है। लगभग 90 प्रतिशत अफगानी कबाइली ग्रामीण या खानाबदोश हैं। पारिवारिक और कबीलों के आपसी झगड़ों के कारण आत्म-रक्षा के लिए उनका अस्तित्व प्रायः पुरुषों की क्षमता पर निर्भर करता है।

अफगान सेना सोवियत संघ के लिए एक बड़ा बोझ बन गयी है। उसमें मुजाहिदों के एजेण्टों की मौजूदगी रूस के लिए सिरदर्द बन गयी है। लड़ाई में हार के कारण अफगान सेना का मनोबल गिर चुका है और पिछले तीन वर्षों में कम से कम चार बार बड़ी संख्या में उसके अधिकारियों की छँटनी की जा चुकी है। जब शुरू-शुरू में सोवियत आक्रमण हुआ तो अफगानों की पूरी-की-पूरी टुकड़ियाँ मुजाहिदों से जा मिलीं। सैनिक अपने साथ हथियार भी लेते गये। शरणार्थियों का

कहना है कि सैनिक लड़ाई में लगने वाले गोला-बारूद की मात्रा बढ़ा-चढ़ाकर बताते हैं, मगर अतिरिक्त गोला-बारूद छापामारों के हवाले कर देते हैं। प्रत्यक्ष रूप से रूस के बफादार अफगान सैनिक परोक्ष रूप से छापामारों की सहायता करते हैं। 37-वर्षीय भूतपूर्व मेजर मूना शफीक सामरिक महत्व के काबुल-पेशावर हाईवे पर जलालाबाद में तैनात था, उसका कहना है, "हम मुजाहिदों को बता देते थे कि रूसी सैनिक अमुक स्थान पर डेरा डाले पड़े हैं, उन्हें हमला कर देना चाहिए। जब लड़ाई शुरू हो जाती तो हम भी अपनी बन्दूकों का रुख चुपके से रूसियों की तरफ कर देते थे।"

अफगानों के चोरी-छिपे हथियार बनाने के ढंग को देखकर लगता था कि सोवियत संघ के खिलाफ भड़की विद्रोह की आग जल्दी बुझने वाली नहीं है। अफगानों के दृढ़ प्रतिरोध ने सोवियत कमान को विवश कर दिया था कि करमाल सरकार को सत्ता में बनाये रखने के लिए वह अपने सैनिकों की संख्या न घटाये।

एक अनुमान के अनुसार उस समय अफगानिस्तान में 40-50 हजार सोवियत सैनिक थे। प्रत्यक्षदर्शियों का मानना है कि काबुल तथा अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्रों में सोवियत सैनिकों का दखल हो गया था और धीरे-धीरे वे सभी स्थानों पर अपनी स्थिति मजबूत करना चाहते थे। उन्होंने केवल यही कहा कि वे अफगानिस्तान में अनुकूल वातावरण बनाने के इच्छुक हैं।

करमाल अफगानिस्तान को स्थायी व वास्तविक नेतृत्व देने की हालत में नहीं हैं। करमाल सरकार के आपसी झगड़े व अक्षमता से सोवियत कूटनीतिज्ञ बहुत परेशान हैं। अफगानिस्तान की आर्थिक दशा भी दिन-ब-दिन बिगड़ती जा रही है। अफगानिस्तान के बाजार में सन्तुलन बनाये रखने एवं दैनिक उपयोग की चीजों की कमी न आने देने, महँगाई न बढ़ने देने के लिए रूस को अपनी गाँठ से खर्च करना पड़ रहा था। अफगानिस्तान का विदेश व्यापार बहुत आहत हुआ। पर्यटन मरणासन्न अवस्था में जा चुका था। हालात ऐसे बनते जा रहे थे कि सोवियत कूटनीतिज्ञ हर अफगान की निष्ठा को शंका की नजर से देखते थे तथा हर अफगान सोवियत को घृणा की नजर से देखता था। कहीं यह न हो कि अफगानिस्तान रूस का चैकोस्लोवाकिया सिद्ध होने के बजाय अमरीका का वियतनाम सिद्ध हो।

अन्तर्राष्ट्रीय दबाव

अफगानिस्तान में सोवियत सैनिकों की वापसी को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय दबाव निरन्तर बढ़ता गया। केवल अमरीका और पश्चिमी देश ही सोवियत संघ से अफगानिस्तान से हटने के लिय जोर नहीं डाल रहे थे बल्कि अरब, एशिया, अफ्रीका आदि देशों का दबाव भी बढ़ता जा रहा था। अमरीका ने पाकिस्तान को इस तरह की सहायता देने का विश्वास दिलाया। अरब देशों ने भी सोवियत सैनिकों के अफगानिस्तान में हस्तक्षेप करने का सिवाय दक्षिणी यमन के, विरोध किया है। यहाँ तक कि इराक जिसे सोवियत संघ से खासी सहायता मिलती है, उसने भी रूस को इस कार्यवाही की निन्दा की। इराक की निन्दा के पीछे शायद कुर्द हैं जो ईरान-इराक की सीमा को सदैव गर्म किये रहते हैं। अमरीकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने सीनेट में सामरिक अस्त्र प्रसार विरोधी सन्धि (साल्ट-2) पर बहस स्थगित करने का आदेश दिया था। सोवियत नेताओं से कार्टर ने 'हॉट लाइन' पर काफी कड़े शब्दों का इस्तेमाल किया। अमरीका ने सोवियत संघ को अनाज देने तथा आधुनिक प्रविधि से जानकारी देने के अपने फैसले को बदलकर सोवियत संघ की कार्यवाही का विरोध किया। गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के नई दिल्ली शिखर सम्मेलन (1983) में कहा गया कि "दूसरों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्त के अनुरूप अफगानिस्तान से विदेशी फौजें हटाने के आधार पर कोई राजनीतिक हल निकाला जाये।"

अफगान संकट : राजनीति हल

टोक्यो में सोवियत राजदूत का वह वक्तव्य महत्वपूर्ण है जिसमें उन्होंने सोवियत सैनिकों, की वापसी के पूर्व अमरीका और चीन से एशिया के इस क्षेत्र में तनाव समाप्त करने का विश्वास करने का आग्रह किया। सोवियत विदेश मन्त्री ग्रोमिको को दिल्ली में भारतीय नेताओं से बातचीत के दौरान 'सोवियत सेनाओं की वापसी पर जोर' दिया गया था। पाकिस्तान को अमरीकी हथियारों से भारत और ईरान को खतरा पैदा हो सकने के डर की ओर भी सम्भवतया नेताओं का ध्यान दिलाया गया। लेकिन ग्रोमिको के तर्क भारत के गले नहीं उतरे। अफगानिस्तान के राष्ट्रपति बबराक करमाल भी परचम, खल्की गुटों के नेताओं और सेना से परस्पर वार्ता द्वारा उनका सहयोग और समर्थन प्राप्त करना चाह रहे थे। करमाल ने पिछले दिनों कहा था कि "क्रान्ति के लाभों को संग्रहीत करने के बाद ही सोवियत सैनिक अफगानिस्तान से जायेंगे ताकि उनके क्षेत्र की शान्ति को खतरा न पहुँचे। जब तक हमारे देश को बाहर से खतरा रहेगा, सोवियत सैनिक यहाँ बने रहेंगे।"

प्रमुख प्रश्न यह है कि ऐसा कौन-सा नेता था जो विद्रोहियों और सोवियत संघ दोनों को स्वीकार हो सकता हो? कुछ लोगों का ध्यान अपदस्थ सम्राट जहीर शाह की ओर जाना जाता है जो इस समय रोम में है। शाह का ही एकमात्र ऐसा व्यक्तित्व है जो विद्रोहियों को भी स्वीकार हो सकता है, परचम या खल्की गुटों का कोई नेता शायद ही इन्हें मन्जूर हो। पाकिस्तान के साथ भी बातचीत के प्रयास किये जा रहे थे लेकिन जनरल जिया उल हक ने यह माँग करके कि जब तक सोवियत सैनिक अफगानिस्तान से नहीं हटते वार्ता सम्भव नहीं, सभी द्वार बन्द कर दिये थे। बाद में पाकिस्तान के रुख में नरमी आयी।

अफगानिस्तान पर संयुक्त राष्ट्र महासचिव अथवा उनके प्रतिनिधि को लेकर पाकिस्तान, ईरान तथा अफगानिस्तान को त्रि-पक्षीय वार्ता का अफगानिस्तान का सुझाव एक लम्बे समय तक जनरल जिया के गले नहीं उतरा। अफगानिस्तान ने बातचीत के सुझाव का विवरण देते हुए स्पष्ट कर दिया था कि जैसे ही बातचीत के बाद कोई समझौता हो जाता है सोवियत सेनाएँ अफगानिस्तान से हटना शुरू हो जायेंगी और यह काम जल्दी ही पूरा हो जायेगा। अफगानिस्तान को सरकारी समाचार एजेन्सी बख्तार के हवाले से सोवियत एजेन्सी तॉस ने सबसे पहले इन सुझावों का विवरण दिया था। उद्देश्य बताया गया था कि अफगानिस्तान के आन्तरिक मामलों में किसी भी तरह का बाहरी हस्तक्षेप न होने देने की गारण्टी होनी चाहिए साथ ही यह व्यवस्था भी होनी चाहिए कि आगे चलकर बाहरी हस्तक्षेप की कोई गुंजाइश न रहे। सोवियत उप-विदेश मन्त्री फिरुविन ने पाकिस्तान की यात्रा की किन्तु वे पाकिस्तान को बबराक करमाल सरकार को मान्यता देने के लिए सहमत नहीं कर सके। भले ही सोवियत संघ इसे राजनीतिक वास्तविकता बता रहा हो लेकिन जिया उल हक ने इस सरकार को मान्यता देने पर अपनी जरा भी सहमति व्यक्त नहीं की।[1]

बाद में काबुल सरकार ने समस्या के राजनीतिक समाधान के लिए सोवियत संघ द्वारा समर्थित अपने पहले रवैये में कुछ परिवर्तन किया। अफगानिस्तान सरकार मान्यता की शर्त लगाये बिना पाकिस्तान और ईरान से सम्बद्ध प्रश्नों तथा अन्य सैनिक मामलों पर भी संयुक्त राष्ट्र महासचिव अथवा उनके प्रतिनिधि की मौजूदगी में बातचीत करने को तैयार हो गयी।[2]

अफगानिस्तान यह जानना चाहता था कि सोवियत समर्थित अफगानिस्तान की वर्तमान

---

1 **दिनमान**, 6-12 सितम्बर, 1981, पृ० 38।

2 **दिनमान**, 6-12 सितम्बर, 1981, पृ० 38।

सरकार को मान्यता देने में पाकिस्तान को क्या ऐतराज है ? इस प्रश्न को लेकर राष्ट्रपति जिया ने अपनी वही चार शर्तें दोहरायीं—(i) अफगानिस्तान से सोवियत सैनिकों की आपसी, (ii) गुट-निरपेक्ष देश के रूप में अफगानिस्तान की पुनःस्थापना, (iii) अफगानी शरणार्थियों की स्वदेश वापसी, और (iv) अपनी पसन्द की सरकार चुनने के अफगान लोगों के अधिकार को मान्यता।

अफगानिस्तान की समस्या के राजनीतिक हल के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के महसचिव ने सम्बन्धित देशों को एक चार-सूत्री योजना प्रस्तुत की। इस योजना पर बातचीत करने के लिए मार्च 1984 में महासचिव कुइलर एवं उनके प्रतिनिधि श्री कोरदोवेज ने मास्को की यात्रा की एवं सोवियत नेताओं से बातचीत की। इस योजना के अन्तर्गत एक नियत अवधि में अफगानिस्तान से सभी सोवियत सैनिक हटाये जाने की व्यवस्था की गयी। इसके अतिरिक्त, सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमरीका तथा चीन की ओर से अफगानिस्तान की स्वतन्त्रता, सार्वभौमिकता तथा निर्गुटता की गारण्टी दिये जाने का प्रस्ताव था। साथ ही पाकिस्तान को तथा ईरान को भी अफगानिस्तान के मामले में किसी प्रकार के हस्तक्षेप न करने का आश्वासन देना था। इस सम्बन्ध में रूस व अमरीका भी सहयोग देंगे। इसी प्रकार अफगानिस्तान भी यह वचन देगा कि वह पाकिस्तान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव कुइलर के प्रस्ताव में आगे कहा गया कि रूसी हस्तक्षेप के बाद जो अफगान नागरिक पाकिस्तान, भारत तथा अन्य देशों में शरणार्थी के रूप रह रहे हैं, उनके स्वदेश लौटने की व्यवस्था की जायेगी। साथ ही स्वदेश लौटने पर उन्हें निवास, अपने जीविकोपार्जन की पूरी स्वतन्त्रता तथा सुविधा प्रदान की जायेगी।

संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 14 नवम्बर, 1985 को एक नया प्रस्ताव पारित कर अफगानिस्तान से विदेशी फौजें हटाने का अनुरोध किया। गत पाँच वर्षों में सातवीं बार महासभा ने यह प्रस्ताव पास किया। इसके पक्ष में 122 तथा विपक्ष में 9 वोट पड़े। भारत सहित 12 देशों ने मतदान में भाग नहीं लिया। 10 नवम्बर, 1987 को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 123 मतों से यह प्रस्ताव पारित किया कि सोवियत संघ को अविलम्ब अफगानिस्तान से अपनी फौजें हटा लेनी चाहिए। प्रस्ताव के विपक्ष में 19 मत पड़े।[1]

अफगान समझौता—14 अप्रैल, 1988 को जिनेवा में संयुक्त राष्ट्र संघ की मध्यस्थता में अफगानिस्तान की साढ़े आठ साल पुरानी लड़ाई को खत्म करने के लिए चार-पक्षीय अफगान समझौता हुआ। इसके अनुसार 15 मई, 88 में रूसी सेनाओं की वापसी आरम्भ होगी। समझौते के अनुसार सोवियत सेनाओं की वापसी कई चरणों में होगी। 15 अगस्त, 88 तक करीब आधे सैनिक वापस आ जायेंगे। समझौते में संयुक्त राष्ट्र महासचिव द्वारा इस देश में एक वरिष्ठ सैनिक अधिकारी की नियुक्ति का प्रावधान है, जिसके अधीन दो सैनिक इकाइयाँ होंगी। एक का केन्द्र काबुल और दूसरी का इस्लामाबाद होगा। सोवियत संघ और अमरीका इस समझौते के गारण्टीकर्ता बने।

वर्ष 1989 के प्रारम्भ में सोवियत संघ ने अफगानिस्तान से अपनी सेनाएँ हटा ली हैं। ऐसा लगता है कि अफगानिस्तान गृहयुद्ध के भँवर में फँसता जा रहा है। अफगान छापामार गुट तब तक अफगानिस्तान में युद्ध विराम के सोवियत-अफगानी प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं जब तक काबुल में नजीबुल्ला की सरकार को सोवियत संघ अपना समर्थन जारी रखता है। यदि अमरीका और पाकिस्तान अफगान विद्रोहियों को मदद जारी रखने पर अड़े रहते हैं, तो आशा मृगतृष्णा ही सिद्ध हो सकती है।

---

1 *प्रतियोगिता दर्पण*, जनवरी 1988, पृ० 350।

दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग परिषद् (सार्क)
(SOUTH ASIAN REGIONAL CO-OPERATION—SARC)

7 व 8 दिसम्बर, 1985 को ढाका में दक्षिण एशिया के सात देशों के राष्ट्राध्यक्षों का सम्मेलन हुआ तथा 'दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग परिषद्' (सार्क) की स्थापना हुई। क्षेत्रीय सहयोग परिषद् के सदस्य देशों (भारत, पाकिस्तान, बंगला देश, नेपाल, भूटान, श्रीलंका और मालदीप) के नेताओं ने इस अवसर पर जो भाषण दिये, उनमें आपसी सहयोग बढ़ाने और तनाव समाप्त करने पर जोर दिया गया। उन्होंने यह भी कहा कि इस नये संगठन के जन्म से इन सात देशों के बीच सद्भावना, भाईचारा और सहयोग का नया युग शुरू होगा। उन्होंने 'क्षेत्रीय सहयोग परिषद्' के जन्म को 'युगान्तरकारी घटना', 'नये युग का शुभारम्भ' 'सामूहिक सूझबूझ और राजनीतिक इच्छा शक्ति की अभिव्यक्ति' तथा 'एक जन आन्दोलन' बताया।

द० एशियाई संघ के सदस्य देशों में लगभग एक अरब लोग रहते हैं। इस दृष्टि से यह विश्व का सबसे अधिक जनसंख्या वाला संघ है। यद्यपि यह क्षेत्र प्राकृतिक साधनों, जनशक्ति तथा प्रतिभा से भरपूर है तथापि इन देशों की जनसंख्या गरीबी, अशिक्षा और कुपोषण की समस्या से पीड़ित है। इस क्षेत्र में जनसंख्या का दवाव प्रति वर्ग किलोमीटर 180 है जबकि विश्व का औसत प्रति वर्ग किलोमीटर केवल 30 है। विश्व के सकल राष्ट्रीय उत्पाद में इस क्षेत्र का भागो केवल 2 प्रतिशत और निर्यात में 0·6 प्रतिशत है। भारत को छोड़कर इस क्षेत्र के अन्य देशों क खाद्यान्न का आयात करना पड़ता है।

मालदीप को छोड़कर संघ के शेष सदस्य (भारत, बंगला देश, पाकिस्तान, नेपाल, भूटान और श्रीलंका) भारतीय उपमहाद्वीप के हिस्से हैं। ये सभी देश इतिहास, भूगोल, धर्म और संस्कृति के जरिये एक-दूसरे से जुड़े हैं। विभाजन के पहले भारत, पाकिस्तान और बंगला देश एक ही प्रशासन और अर्थव्यवस्था के अभिन्न अंग थे। लेकिन स्वतन्त्रता के बाद ये देश एक-दूसरे से दूर हो गये।

सात देशों के बीच यद्यपि राजनीतिक एवं सुरक्षा के विवादास्पद नये-पुराने उलझाव हैं पर आर्थिक विकास एवं सहयोग की असिट सम्भावनाएँ हैं। दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय संगठन की स्थापना ऐसे समय में हुई जबकि इसके कुछ सदस्य देशों के आपसी सम्बन्ध सामान्य नहीं हैं। मसलन पड़ौसी देशों के साथ भारत के सम्बन्ध उतार-चढ़ाव के हैं। लेकिन राजनीतिक विग्रह के बावजूद आर्थिक, व्यापारिक, सामाजिक व सांस्कृतिक सहयोग से आगे बढ़ा जा सकता है।

ढाका के शिखर नेता महत्वपूर्ण क्षेत्रीय समस्याओं पर विचार करने के लिए प्रतिवर्ष मिलने के लिए सहमत हो गये। शिखर बैठक की तैयारी करने के लिए विदेश मन्त्रियों की बैठक वर्ष में दो बार होगी। इससे अनेक क्षेत्रीय विवादों तथा तनावों को समाप्त करने में महत्वपूर्ण सहायता मिलेगी। एक महत्वपूर्ण निर्णय यह भी रहा कि विशेषज्ञों की एक अन्य समिति गठित की जाये, जो इस क्षेत्र एवं विकासशील देशों को चिन्तित करने वाली आर्थिक समस्याओं पर विकसित देशों तथा 'व्यापार एवं मूल्य नीति' पर आम राय (गाट) जैसे बहुपक्षीय संगठनों के साथ विचार-विमर्श के तरीके सुझाये।

नया संगठन द्विपक्षीय विग्रह एवं तनाव उत्पन्न करने वाले विषयों से दूर रहेगा और आर्थिक एवं विकास के मुद्दों को लेकर आगे बढ़ेगा। यही कारण है कि सम्मेलन में कम्पूचिया एवं अफगानिस्तान और श्रीलंका की तमिल समस्या पर विचार नहीं हुआ।

सात देशों का क्षेत्रीय संगठन में आबद्ध होना जहाँ तक एक अच्छी बात है वहीं यह कहना होगा कि ऐतिहासिक व भौगोलिक दृष्टि से बर्मा और अफगानिस्तान भी इस क्षेत्र के अविभाज्य अंग हैं, इनको समाहित किये बिना, यह क्षेत्रीय एकात्मकता अधूरी ही रहेगी। यह आश्चर्य

का ही विषय है कि इन दोनों देशों को इस क्षेत्रीय सहयोग में सहभागी होने के लिए आमन्त्रित क्यों नहीं किया गया ?

'सार्क' का दूसरा सम्मेलन बंगलौर में सातों देशों के बीच आपसी सहयोग के लिए काम करते रहने के आह्वान के साथ 16-17 नवम्बर, 1986 को सम्पन्न हुआ। आतंकवाद, जो इस समय दुनिया के कई देशों में परेशानियाँ पैदा कर रहा है, उसके खिलाफ संघर्ष में आपसी सहयोग की बात कह कर शिखर सम्मेलन ने एक रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाया।

नेपाल की राजधानी काठमाण्डू में तीसरा सार्क शिखर सम्मेलन 2-4 नवम्बर, 1987 को सम्पन्न हुआ। इसमें मुख्य मुद्दे अफगानिस्तान की सदस्यता पर विचार-विमर्श करना, आतंकवाद, आपसी सहयोग बढ़ाने से सम्बद्ध थे। अफगानिस्तान के सार्क में शामिल होने का अनौपचारिक रूप से पाकिस्तान व बंगला देश ने विरोध किया। सम्मेलन ने एक क्षेत्रीय खाद्य सुरक्षा भण्डार की स्थापना पर समझौता किया जिससे सम्बद्ध देशों को आर्थिक सुरक्षा मिले।

29-31 दिसम्बर, 1988 को चौथा सार्क सम्मेलन पाकिस्तान की राजधानी इस्लामाबाद में सम्पन्न हुआ। तीन दिन तक चले इस सम्मेलन में निर्णय लिया गया कि क्षेत्रीय समस्याओं को सुलझाने के लिए लेन-देन की भावना से काम लिया जायेगा। क्षेत्र के राजनीतिक और सामाजिक स्वामित्व के लिए आतंकवाद तथा मादक पदार्थों की तस्करी से उत्पन्न खतरे को दूर करने के लिए मिलजुल कर प्रयास करेंगे। सम्मेलन के आरम्भ में पाकिस्तान की प्रधानमन्त्री श्रीमती बेनजीर भुट्टो को अगले वर्ष के लिए सार्क का अध्यक्ष नियुक्त किया गया।

'सार्क' देश यदि आपसी हितों के आधार पर अपने अनुभव व तकनीक का आदान-प्रदान कर सकें और सदस्य देशों में उत्पादकता बढ़ाने के लिए साज-सामान व सेवा का लेन-देन होता रहे तो सामूहिक निर्भरता प्राप्त कर सकेंगे और महाशक्तियों के चंगुल से बच सकेंगे। काठमाण्डू में सार्क के स्थायी सचिवालय की स्थापना से लगता है कि सातों देश आपसी सहयोग से आर्थिक समृद्धि में योगदान करने को कृतसंकल्प हैं।

'सार्क' का विकास धीरे-धीरे हुआ है। दक्षिण एशियाई देशों का क्षेत्रीय संगठन बनाने का विचार बंगला देश के भूतपूर्व राष्ट्रपति जिया उर रहमान ने दिया था। उन्होंने 1977 से 1980 के बीच भारत, पाकिस्तान, नेपाल और श्रीलंका की यात्रा की थी। उसके बाद उन्होंने एक दस्तावेज तैयार करवाया जिसमें नवम्बर 1980 में आपसी सहयोग के लिए दस मुद्दे तय किये गये। बाद में इसमें पर्यटन और संयुक्त उद्योग को निकाल दिया गया। इन्हीं में दस मुद्दे आज आज भी 'सार्क' देशों के बीच सहयोग का आधार हैं।

'सार्क के विदेश सचिवों की अप्रैल 1981 में बंगला देश के दस्तावेज पर विचार करने के लिए एक बैठक हुई थी। विदेश मन्त्रियों की पहली बैठक नई दिल्ली में सन् 1983 में हुई। इसी बैठक में दक्षिणी एशियाई क्षेत्रीय सहयोग की पहली औपचारिक घोषणा हुई। विदेश मन्त्रियों की बैठक जुलाई 1984 में मालदीप में और 1985 में भूटान में हुई। उसके बाद ही दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन की स्थापना हुई और इसका संवैधानिक स्वरूप निश्चित किया गया।

प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में दक्षिणी एशिया की भूमिका एवं महत्व का विवेचन कीजिए।
   Discuss the importance and role of South Asia in international affairs.
2. 'सार्क' के संगठन, महत्व एवं भूमिका की विवेचना कीजिए।
   Discuss the importance, role and organisation of SARC.
3. अफगान संकट पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
   Write a short note on Afghan crisis.

19

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दक्षिण-पूर्वी एशिया

[SOUTH-EAST ASIA IN INTERNATIONAL POLITICS]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से दक्षिणी-पूर्वी एशिया संसार के सर्वाधिक विस्फोटक और महत्वपूर्ण स्थलों में से एक है। इस क्षेत्र के अन्तर्गत चीन के दक्षिण में तथा भारतीय उप-महाद्वीप के पूर्व में स्थित देश अर्थात् बर्मा, थाईलैण्ड, मलयेशिया, इण्डोनेशिया, कम्पूचिया, वियतनाम, फिलीपाइन आदि सम्मिलित किये जाते हैं। वर्तमान समय में यह क्षेत्र विश्व राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है तथा पश्चिमी एशिया के समान ही विश्व शक्तियों के आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। इस क्षेत्र में द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् तीन आधारभूत परिवर्तन दृष्टिगत हुए हैं— प्रथम, यूरोपीय नियन्त्रण का क्रमशः समाप्त होना; द्वितीय, यहाँ के देशों का स्वतन्त्र होना एवं तृतीय, चीन के प्रभाव की इस क्षेत्र में क्रमिक वृद्धि होना।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'दक्षिण-पूर्वी एशिया' एक नया शब्द है जिसका प्रयोग द्वितीय विश्व-युद्ध से पहले नहीं होता था। इस शब्द के प्रचलन का तात्कालिक कारण अगस्त 1943 में क्यूबेक सम्मेलन के द्वारा एडमिरल माउण्टबैटन की अधीनता में 'दक्षिण-पूर्वी एशिया कमाण्ड' की स्थापना था। प्रारम्भ में यह शब्द भारत के पूर्व और चीन के दक्षिण-पश्चिम में स्थित छः देशों के लिए प्रयोग किया जाता था लेकिन द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त नये सम्प्रभु राष्ट्रों के उदय से इस संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के दस राष्ट्र—वर्मा, बरूनी, इण्डोनेशिया, कम्पूचिया, लाओस, मलयेशिया, फिलीपाइन, सिंगापुर, थाईलैण्ड, वियतनाम—इस प्रदेश में स्थित हैं : डॉ० बी० आर० चटर्जी के अनुसार, "दक्षिण-पूर्वी एशिया पूर्व से पश्चिम तक, फिलीपाइन, वियतनाम, लाओस, कम्बोडिया, थाईलैण्ड और बर्मा तथा दक्षिण की ओर मलाया और सुमात्रा से लेकर न्यूगिनी तक इण्डोनेशियन द्वीपसमूह से मिलकर बना है।" कतिपय भूगोल-वेत्ता भारत, पाकिस्तान, नेपाल और श्रीलंका को भी दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्तर्गत शामिल करते हैं जबकि कुछ विद्वान इन देशों को 'दक्षिण एशिया' (South Asia) नामक पृथक् भौगोलिक प्रदेश मानते हैं।

दक्षिण-पूर्वी एशिया का महत्व
(SOUTH-ASIA : SIGNIFICANCE)

दक्षिण-पूर्वी एशिया का वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कई कारणों से बड़ा महत्व है। **प्रथम,** इस प्रदेश की सामरिक (Strategic) और भौगोलिक महत्ता है। यह हिन्द-महासागर को प्रशान्त महासागर से मिलाने वाले समुद्र मार्ग पर स्थित है और एशिया व आस्ट्रेलिया के मध्य एक प्राकृतिक पुल का सा कार्य करता है। साम्यवादी चीन व संयुक्त राज्य अमरीका के मध्य संघर्ष

का यह मुख्य केन्द्र है। यदि इस क्षेत्र पर चीन का प्रभुत्व स्थापित हो जाय तो फिर आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड में साम्यवाद की स्थापना का कार्य मुश्किल नहीं होगा। अतः आस्ट्रेलिया इस प्रदेश की सुरक्षा में गहरी दिलचस्पी रखता है। **द्वितीय,** आर्थिक दृष्टि से दक्षिणी-पूर्वी एशिया बहुत समृद्ध है। चावल, टीन, रबड़ और पेट्रोल यहाँ प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। बर्मा, थाईलैण्ड और हिन्द चीन में अन्न का भण्डार है तथा इन्हें एशिया का 'चावल का कटोरा' (Rice Bowl) कहा जाता है। मलाया में इतना अधिक टिन और रबड़ है कि संसार की आवश्यकता पूरी कर सकता है। इण्डोनेशिया, सारावाक और उत्तरी ब्रूनेई में तेल पाया जाता है। **तृतीय,** जनसंख्या की दृष्टि से यह क्षेत्र महत्वपूर्ण है। अमरीका से लगभग आधे भू-क्षेत्र में यहाँ 20 करोड़ लोग रहते हैं जिनमें 1·5 करोड़ चीनी हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से इस क्षेत्र के विशिष्ट महत्व का कारण यहाँ प्रभुता पाने के लिए साम्यवादी चीन का प्रबल प्रयास तथा इसे रोकने के लिए पश्चिमी शक्तियों के प्रयत्न हैं।

दक्षिणी-पूर्वी एशिया—अशान्त स्थल क्यों ?
(SOUTH-EAST ASIA : WHY THE AREA OF CONFLICT)

दक्षिणी-पूर्वी एशिया इस समय विश्व राजनीति के प्रधान संकटों के स्थल में गिना जाता है। इसके तीन बड़े कारण हैं—**प्रथम,** यहाँ विभिन्न प्रकार की जातियों का निवास है तथा इनके परस्पर विरोधी संघर्ष हैं। यह प्रदेश प्राचीनकाल से विभिन्न जातियों के संगम और सम्मिश्रण का केन्द्र रहा है। मलाया की मूल जाति मलय है किन्तु यहाँ चीनियों की संख्या पर्याप्त है। फिलीपाइन्स में अत्यधिक सांस्कृतिक एकता होते हुए भी आठ भाषाएँ बोली जाती हैं। थाईलैण्ड में 80 प्रतिशत थाई हैं किन्तु वहाँ के आर्थिक जीवन पर 17 प्रतिशत से कम चीनियों का नियन्त्रण है। बर्मा में बर्मी 75 प्रतिशत हैं। वहाँ का आर्थिक जीवन भारतीयों और चीनियों के हाथों में है। अतः इन देशों में विभिन्न जातियों की सत्ता इन राज्यों की अशान्ति का प्रधान कारण है। **द्वितीय,** इस क्षेत्र के अधिकांश राज्यों में राजतन्त्रात्मक संस्थाओं की परम्पराओं का अभाव है। कुछ समय पहले तक ये प्रदेश पश्चिमी शक्तियों के हाथों में थे, उन्होंने जानबूझकर यहाँ उदार लोकतन्त्रीय संस्थाओं का विकास नहीं होने दिया है और इनका अपने स्वार्थ के लिए शोषण किया। लोकतन्त्रीय परम्पराएँ सुदृढ़ न होने के कारण यहाँ सैनिक अधिनायकवाद की ओर से प्रवृत्ति बढ़ रही है और साम्यवादी भी सक्रिय हैं। **तीसरा** कारण आन्तरिक व्यवस्था और अस्थिरता है। साम्यवादी इस प्रयत्न में रहते हैं कि शासन से असन्तुष्ट तत्वों को विद्रोह के लिए भड़कायें और विद्रोहियों को सहायता दी जाय। फिलीपाइन्स में हुक, बर्मा में केरन, लाओस में पाथेटलाओ, दक्षिण वियतनाम में वियतकांग इसी प्रकार के तत्व रहे हैं और इनसे निरन्तर अशान्ति और विद्रोह बने रहते हैं।

दक्षिणी-पूर्वी एशिया : भौगोलिक रूप
(SOUTH-EAST ASIA : GEOGRAPHICAL SETTING)

दक्षिण-पूर्वी एशिया का क्षेत्र अनेक प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक विविधता लिये हुए है, किन्तु साथ ही यहाँ अनेक एकता के तत्व भी विद्यमान हैं जो यहाँ स्थित लोगों एवं देशों में एकता प्रदान करते हैं। वास्तव में, इस क्षेत्र का राजनीतिक स्वरूप एकता एवं विविधता की प्रतिरोधक शक्तियों की उपज है। दक्षिण-पूर्वी एशिया में विविधता के लिए अनेक प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक तत्व उत्तरदायी हैं। दक्षिण-पूर्वी एशिया का क्षेत्र विभिन्न रूप में है अर्थात् इसके देश दूर-दूर स्थित हैं, जिन मध्य समुद्र हैं। केवल देश ही नहीं अपितु एक देश के भाग भी दूर-दूर स्थित होने के कारण एकता में वाधा पड़ती है। धरातलीय असमानताएँ, मिट्टी के उपजाऊपन में भिन्नता आदि अन्य प्राकृतिक कारण हैं। इसी प्रकार यहाँ के देशों के आर्थिक स्तर में भिन्नता है। जनसंख्या के

वितरण की भिन्नता, जाति, धर्म, भाषा एवं राजनीतिक स्वरूप की भिन्नता ने इस क्षेत्र में विविधता को जन्म दिया है।

उपर्युक्त विविधता के कारकों के होते हुए भी दक्षिण-पूर्वी एशिया में एकता का सूत्र विद्यमान है। यह एकता आधुनिकता की उपज न होकर प्राचीन है। इसी कारण इसकी जड़ें इतनी गहरी चली गयी हैं कि सहज ही में समाप्त नहीं होतीं। इस क्षेत्र की एकता में सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्राकृतिक तत्व जलवायु है, यद्यपि इसमें भी क्षेत्रीय भिन्नताएँ दृष्टिगत होती हैं। इस क्षेत्र की एकता के लिए उत्तरदायी अन्य तत्वों में प्राचीन संस्कृति, कृषि जीवन का आधार, विकासशील अर्थ-व्यवस्था, राजनीतिक चेतना आदि हैं।

जनसंख्या के विविध स्वरूपों ने दक्षिण-पूर्वी एशिया की राजनीति को विभिन्न प्रकार से प्रभावित किया है। यद्यपि यहाँ का सम्पूर्ण क्षेत्र उष्ण-कटिबन्धीय जलवायु रखता है, किन्तु फिर भी यहाँ अधिक जनसंख्या निवास करती है। यहाँ कुछ क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक जनसंख्या रखते हैं जबकि अनेक क्षेत्रों में मध्यम एवं अल्प जनसंख्या निवास करती है। दक्षिण-पूर्वी एशिया में विश्व के सर्वाधिक सघन जनसंख्या को प्रश्रय देने वाले कुछ कृषि क्षेत्र हैं। इण्डोनेशिया में जावा तथा मदुरा में प्रतिवर्ग किमी० जनसंख्या घनत्व 1,000 व्यक्ति से भी अधिक है तथा वियतनाम में टानकिन डेल्टा क्षेत्र में 12,000 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी० तक जनसंख्या घनत्व हो गया है। दक्षिण-पूर्वी एशिया की जनसंख्या का जातीय प्रारूप अत्यधिक जटिल है तथा इसने यहाँ की राजनीति को अत्यधिक प्रभावित किया है। यहाँ की जनसंख्या में प्रमुखतः मलाई, थाई, बर्मी, अनामीज, लाओरियन्स तथा कम्पूचियन हैं। इसके अतिरिक्त अनेक छोटे-छोटे समूह भी प्रत्येक देश में अपनी पृथकता बनाये हुए हैं। इसके अतिरिक्त, विदेशी भी इस क्षेत्र में आकर बस गये हैं। विदेशी जनसंख्या में चीनी, भारतीय एवं यूरोपीय प्रमुख हैं। इनमें सबसे अधिक संख्या चीनियों की है, जिनका अनुमान लगभग एक करोड़ है। इस क्षेत्र में चीनी जनसंख्या की उपस्थिति के कारण वर्तमान समय में अनेक राजनीतिक जटिलताओं का जन्म हुआ तथा वे चीन के प्रभाव विस्तार की गतिविधियों का प्रमुख साधन हैं।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में स्वतन्त्रता की लहर

अथवा

द०-पू० एशिया : वर्तमान राजनीतिक स्वरूप की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

(SOUTH-EAST ASIA : HISTORICAL BACKGROUND OF THE PRESENT POLITICAL PATTERN)

द०-पू० एशिया का वर्तमान राजनीतिक स्वरूप ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है। द०-पू० एशिया में भारत, चीन आदि से प्राचीन काल से ही प्राकृतिक अवरोध होते हुए भी लोग यहाँ आकर बसते रहे। 13वीं शताब्दी में समुद्र के मार्ग से मुस्लिम व्यापारी इस क्षेत्र में आये तथा इस्लाम का प्रचार किया। यूरोपीय साम्राज्यवादियों में सर्वप्रथम 15वीं शताब्दी में पुर्तगीज आये। उनके एक शताब्दी बाद डच आये जिन्होंने इण्डोनेशिया के अनेक द्वीपों पर अधिकार किया तथा 17वीं शताब्दी तक हालैण्ड इस क्षेत्र में प्रमुख शक्ति बन गया। इसके पश्चात् ब्रिटिश तथा फ्रेंच आये। इनका प्रारम्भिक उद्देश्य व्यापार एवं व्यापारिक मार्गों पर अधिकार करना था। इसी उद्देश्य से 1819 में सिंगापुर पर तथा उसके पश्चात् बर्मा एवं मलाया पर अधिकार कर लिया तथा फ्रांस ने दक्षिणी इण्डोचीन पर अधिकार किया। इसके पश्चात् ये दोनों शक्तियाँ क्रमशः विस्तार करती रहीं। केवल थाईलैण्ड को एक 'बफर राज्य' (Buffer State) के रूप में रहने दिया गया। स्पष्ट है कि सम्पूर्ण द०-पू० एशिया केवल थाईलैण्ड को छोड़कर विदेशी शासन के अन्तर्गत आ गया।

यूरोपीय शक्तियों ने इस क्षेत्र को केवल राजनीतिक भागों में ही विभक्त नहीं किया अपितु

अनेक समुदायों को राष्ट्रीय स्वरूप भी प्रदान किया; जैसे वर्मा, इण्डोचीन, मलाया, इण्डोनेशिया। साम्राज्यवादी शक्तियों ने इस क्षेत्र में प्रशासन की सुविधा के लिए राजनीतिक खण्ड किये, जिसके कारण एक ही प्रकार की जाति के लोगों का विभाजन हो गया, जैसे फ्रेंच लोगों ने इण्डोचीन को कम्पूचिया, लाओस, टानकिन तथा अनाम में विभक्त कर दिया। इसी प्रकार, डच लोगों ने इण्डोनेशिया तथा ब्रिटेन ने मलाया में नौ छोटे-छोटे राज्य शामिल किये। विदेशी शासन ने इस क्षेत्र के विकास को एक नवीन दिशा प्रदान की यद्यपि उसका उद्देश्य शोषण था।

साम्राज्यवादी शासन के विरुद्ध दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में स्वतन्त्रता आन्दोलन का सूत्रपात प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् हुआ। द्वितीय विश्व-युद्ध का इस क्षेत्र पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। सितम्बर 1941 में जापान ने इस क्षेत्र पर अधिकार जमाना प्रारम्भ किया तथा 1942 तक जापान ने मलाया, इण्डोनेशिया, वर्मा तक अधिकार कर लिया। जापान के तीन वर्ष के शासन में इस क्षेत्र के विकास हेतु 'ग्रेटर ईस्ट एशिया की प्रास्पेरिटी प्लान' बनायी गयी। उन्होंने इण्डोचीन के पूर्ववर्ती राज्यों को वियतनाम के रूप में संगठित किया तथा सम्पूर्ण इण्डोचीन को कम्पूचिया, लाओस तथा वियतनाम तीन राजनीतिक इकाइयों में बदल दिया। जापान के इस क्षेत्र से हटने के साथ ही यहाँ के देश स्वतन्त्र होने लगे। सर्वप्रथम संयुक्त राज्य अमरीका ने 4 जुलाई, 1946 को फिलीपाइन्स को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी। इण्डोनेशिया में स्वतन्त्रता आन्दोलन का सूत्रपात अगस्त 1945 में हुआ। जनवरी 1949 में डच सरकार के अधीन स्थानीय सरकार बनायी गयी तथा जनवरी 1950 में इण्डोनेशिया पूर्ण स्वतन्त्र हो गया। 1954 में फ्रांस को वियतनाम से वाध्य होकर हटना पड़ा और जिनेवा समझौते के अनुसार जुलाई 1954 में वियतनाम 17° उत्तरी अक्षांश के सहारे उत्तरी और दक्षिणी भागों में विभक्त कर दिया गया। मलाया सघ 1957 में स्वतन्त्र हुआ तथा राष्ट्रमण्डल का सदस्य वन गया। *1963* में मलाया, सिंगापुर तथा ब्रिटिश वोर्नियो का संयुक्त संघ मलयेशिया नाम से बनाया गया। 1965 में एक समझौते के द्वारा सिंगापुर एक स्वतन्त्र राज्य वन गया। जुलाई 1976 में वियतनाम पुनः संयुक्त हो गया। कम्पूचिया आज भी समस्याग्रस्त क्षेत्र वना हुआ है।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रमुख राज्य
(MAJOR STATES OF THE SOUTH-EAST ASIA)

1. **वर्मा** (Burma)—4 जनवरी, 1948 को बर्मा एक स्वतन्त्र सार्वभौमिक राज्य बना। वर्मा का क्षेत्रफल 2,61,789 वर्ग मील है तथा 1978 में 3,22,05,000 जनसंख्या थी। बर्मा मुख्यतः कृषि प्रधान देश है जो चावल का निर्यात कर विदेशी मुद्रा कमाता है। एशिया में यही एकमात्र ऐसा राष्ट्र है जो अपने नागरिकों की बुनियादी आवश्यकताओं को स्वयं पूरा करने की क्षमता रखता है। द्वितीय महायुद्ध के दौरान 1942 में जापानियों ने वर्मा पर अधिकार कर लिया था। 4 जुलाई, 1948 को वर्मा स्वतन्त्र हुआ। बर्मा की स्वतन्त्रता अपने साथ अनेक मुसीबतें लायी। साम्यवादियों ने वहाँ सशस्त्र विद्रोह कर दिया। 1956 में चीन ने अपने सैनिक दस्ते बर्मा की उत्तरी-पूर्वी सीमा के निकट प्रवेश कराये तथा दो स्थानों—काचिन और वा पर अधिकार कर लिया। 1960 में वर्मा एवं चीन के मध्य सीमा समझौता हुआ जिसमें बर्मा को 211 वर्ग मील क्षेत्र चीन को देना पड़ा। यू नू 1958 तक वर्मा के प्रधानमन्त्री रहे। 1958 में उन्होंने देश का शासन सेनाध्यक्ष जनरल नेविन के हाथों में सौंप दिया। नेविन ने वर्मा का शासन एक क्रान्तिकारी परिषद् के सहयोग से करने का निश्चय किया। जहाँ तक बर्मा की विदेश नीति का सम्बन्ध है, वह गुट-निरपेक्ष नीति का पालन कर रहा है। भारत की भाँति वह सैनिक संगठनों से अलग है। संयुक्त राष्ट्र संघ में उसकी पूर्ण आस्था है। भारत के साथ उसके सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हैं परन्तु प्रवासी भारतीयों की समस्या को लेकर कभी-कभी भारत से उसके सम्बन्धों में कटुता उत्पन्न हो जाती है।

2. **थाईलैण्ड** (Thailand)—थाईलैण्ड को 'स्याम' के नाम से जाना जाता था। जून, 1939 की एक सरकारी घोषणा के पश्चात् इसको थाईलैण्ड का नाम दिया गया। दक्षिणी-पूर्वी एशिया में यही एक देश है जो बहुत समय पूर्व अर्थात् 1896 से स्वतन्त्र रहा है, इसका कारण इसकी स्थिति है अर्थात् यह ब्रिटिश एवं फ्रेंच शक्तियों के मध्य बफर स्टेट के रूप में रहा है।

थाईलैण्ड का क्षेत्रीय विस्तार 5,14,000 वर्ग किमी० क्षेत्र में है तथा यहाँ की जनसंख्या 1978 में 451 लाख अंकित की गयी। इसमें तीन-चौथाई लोग थाई जाति के थे। अन्य अल्पसंख्यकों में चीनी तथा मलाई लोगों को छोड़कर कम्पूचियन, लाओटियन तथा शान थाई लोगों से सांस्कृतिक समानता रखते हैं। यहाँ चीनी लोगों की संख्या कुल जनसंख्या का 14% है जो यहाँ के व्यापार को नियन्त्रित रखते हैं। यहाँ पर अधिक संख्या में चीनी होने के कारण आन्तरिक शान्ति भंग होने का सदैव भय बना रहता है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् यहाँ चीन विरोधी भावना की प्रबलता रही है। साम्यवादी चीन के लिए थाईलैण्ड आकर्षण का मुख्य केन्द्र रहा है, क्योंकि इसके चावल के अतिरिक्त उत्पादन में वही अपनी भूखी जनता का पेट भर सकता है अतः थाईलैण्ड साम्यवाद विरोधी नीति अपनाने के लिए विवश है। उसके व अमरीकी उद्देश्यों में समानता होने के कारण अमरीका विशाल स्तर पर उसे सैनिक व आर्थिक सहायता देता है। अमरीकी राजनीतिज्ञ थाईलैण्ड को दक्षिण-पूर्वी एशिया के उन प्रमुख राज्यों में शामिल करते हैं जिनके साथ सैनिक सम्बन्ध सघन बनाने के लिए संयुक्त राज्य अमरीका प्रयत्नशील है। इसी उद्देश्य से हथियार तथा फौजी सामान की सप्लाई की जाती है, सैनिक प्रतिनिधि मण्डलों का नियमित रूप से आदान-प्रदान होता है। अमरीकी नौसेना के 7वें बेड़े के जहाज थाईलैण्ड के बन्दरगाहों में जब-तब आते हैं। आज भी यहाँ अमरीकी सैनिक अड्डे स्थित हैं। सीटो (S. E. A. T. O.) संगठन का मुख्य कार्यालय थाईलैण्ड की राजधानी बैंकाक में ही है।

3. **मलाया/मलयेशिया** (Malaya/Malaysia)—मलाया रबड़ तथा टिन उत्पादन में प्रमुख स्थान रखता है। अतः ब्रिटिश साम्राज्य के लिए वह आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण था। फरवरी 1948 में मलाया तथा ब्रिटेन के लम्बे वार्तालाप के पश्चात् यहाँ की सरकार को ब्रिटिश संरक्षण में मलाया संघ बनाने की स्वीकृति प्रदान की गयी जिसमें सभी प्रान्त शामिल थे। सिंगापुर को क्राउन कालोनी के रूप में रखा गया। 31 अगस्त, 1957 को मलाया पूर्ण स्वाधीन हो गया। स्वाधीनता के पश्चात् इसने राष्ट्रमण्डल की सदस्यता स्वीकार की। यहाँ की जनसंख्या में 50% ही लोग मलय हैं, दो अन्य प्रमुख जातियाँ चीनी तथा भारतीय हैं जो क्रमशः 37% तथा 10% है। 1948 में मलाया संघ की स्थापना के साथ चीनी और मलयों के मध्य संघर्ष आरम्भ हो गया। यह संघर्ष 1948 में मलाया संघ की स्थापना के साथ तीव्र हो गया क्योंकि इसमें नागरिकता इस प्रकार से रखी थी कि चीनी लोगों को मताधिकार प्राप्त नहीं होता था। फलस्वरूप चीनी गुरिल्लों ने मलाया के अनेक भागों में उपद्रव प्रारम्भ कर दिये, जिसको ब्रिटिश सेना की मदद से दबाया गया।

मई 1961 मे मलाया की ओर से मलयेशिया संघ का प्रस्ताव आया जिसमें मलाया संघ, सिंगापुर, उत्तरी बोर्नियो तथा सारावाक को सम्मिलित करने की व्यवस्था रखी गयी। सिंगापुर ने इसकी तुरन्त स्वीकृति दे दी, किन्तु इसमें एक कठिनाई यह थी कि मलाया में 25 लाख चीनी या कुल जनसंख्या 37% तथा सिंगापुर में 12 लाख चीनी या 75% थे। अतः यदि दोनों का संघ बनता है तो मलय की संख्या 36 लाख और चीनी की 37 लाख होने से चीनी सरकार का अधिकार हो जायेगा। अतः इसमें ब्रिटिश बोर्नियो को भी शामिल किया गया तथा 16 सितम्बर, 1963 को मलयेशिया अस्तित्व में आया जिसमें मलाया संघ के अतिरिक्त सिंगापुर उत्तरी बोर्नियो (साबाह) तथा सारावाक सम्मिलित किये गये। नवनिर्मित मलयेशिया को इण्डोनेशिया के प्रबल

विरोध का सामना करना पड़ा। इण्डोनेशिया के डॉ० सुकर्ण नहीं चाहते थे कि इण्डोनेशिया के पड़ौस में एक शक्तिशाली संघ की स्थापना हो क्योंकि इससे कालान्तर में इण्डोनेशिया की सुरक्षा पर आँच आ सकती थी। अगस्त 1965 में सिंगापुर मलयेशिया संघ से अलग हो गया परन्तु दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध बने हुए हैं। मलयेशिया पाश्चात्य शक्तियों का पिछलग्गू राष्ट्र नहीं है। यह विश्व रंगमंच पर गुट-निरपेक्षता की नीति का पालन करता है।

4. फिलीपाइन्स (Philippines)—फिलीपाइन्स की सर्वप्रथम खोज 1521 में मेगेलन ने की तथा 1565 में स्पेन ने इस पर अधिकार कर लिया। स्पेन-अमरीकन युद्ध के पश्चात् 1898 में अमरीका ने अधिकार किया तथा सीमित स्वतन्त्रता प्राप्त की। फिलीपाइन्स गणतन्त्र में 7,000 से भी अधिक द्वीप सम्मिलित किये जाते हैं, इनमें सबसे प्रमुख लुजोन तथा मिण्डिनाओ द्वीप हैं। सम्पूर्ण फिलीपाइन का अनुमानित क्षेत्र 2,99,400 वर्ग किमी० है। फिलीपाइन की स्थिति प्रशान्त महासागर में सामरिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है क्योंकि यहाँ से चीन का मुख्य स्थल केवल 480 किमी० उत्तर-पश्चिम है। फारमोसा, वियतनाम, इण्डोनेशिया आदि के सन्दर्भ में इसकी स्थिति सामरिक महत्ता रखती है। फिलीपाइन राजनीतिक दृष्टि से अमरीका अधिकृत क्षेत्र रहा है। यद्यपि इसको पर्याप्त सुविधाएँ प्रदान कर रखी थीं, किन्तु पूर्ण स्वतन्त्रता 4 जुलाई, 1946 को प्राप्त हुई। स्वतन्त्रता के पश्चात् यहाँ की प्रमुख समस्या युद्ध से लड़खड़ाती अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ करना था। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में उसका रवैया स्पष्टतः पश्चिमी समर्थक है। 14 मार्च, 1947 को उसने अमरीका के साथ एक 99-वर्षीय पारस्परिक सहायता सन्धि की, जिसके अन्तर्गत, उसकी भूमि पर अमरीकी सैनिक व नौ-सैनिक अड्डों की स्थापना हुई। 1954 में फिलीपाइन्स ने सीटो की सदस्यता भी ग्रहण की। दक्षिण-पूर्व एशिया में थाईलैण्ड के बाद फिलीपाइन्स दूसरा अमरीका समर्थक देश है। मार्कोस के शासन के पतन तक अमरीका ने फिलीपीन में बड़ी सक्रियता दिखायी, उसे द्रुत तैनाती सेना का अड्डा बनाने की कोशिश की ताकि इस विस्तृत क्षेत्र में जरूरत होने पर अविलम्ब कार्यवाही की जा सके।

5. इण्डोनेशिया (Indonesia)—इण्डोनेशिया अनेक द्वीपों का समूह है जिसका विस्तार उन्नीस लाख वर्ग किमी० क्षेत्र में है। इसके प्रमुख द्वीप सुमात्रा, जावा, मदुरा, सुलावेशी, बोर्नियो, नूसातेनगारा, मलुकू आदि हैं। इसके अतिरिक्त, लगभग तीन हजार छोटे-छोटे द्वीप हैं। जकार्ता यहाँ की राजधानी है। द्वीपों के अलग-अलग स्थित होने के कारण प्राकृतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक भिन्नता अवस्थित है। इसके कारण राजनीतिक एकता में बाधा पड़ती है। यहाँ की कुल जनसंख्या 1978 की जनगणना के अनुसार 13,05,97,000 थी। इसमें से दो-तिहाई जनसंख्या केवल जावा द्वीप पर निवास करती है जो कुल क्षेत्र का केवल 10% है। यह विश्व के अधिकतम घने बसे क्षेत्र में से एक है, जहाँ घनत्व 1 हजार व्यक्ति प्रति वर्ग किमी० तक हो गया है। यहाँ की अधिकांश जनसंख्या मुस्लिम है। बाली द्वीप पर हिन्दू भी निवास करते हैं। इण्डोनेशिया विश्व में अनेक उत्पादनों जैसे रबर, टिन, गन्ना, सिनकोना, तम्बाकू, बॉक्साइट, पैट्रोलियम आदि के लिए प्रसिद्ध है।

इण्डोनेशिया पहले डच लोगों के अधिकार में था। 1602 से 1948 तक डचों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी इण्डोनेशिया पर शासन करती रही। इसके उपरान्त डच सरकार ने उसे अपने नियन्त्रण में ले लिया। 1941 से 1945 तक यह जापान के आधिपत्य में रहा। जापान द्वारा इण्डोनेशिया खाली करने के उपरान्त जब डचों ने इस पर पुनः अधिकार जमाना चाहा तो राष्ट्र की जनता ने उनके विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। शुरू में डच सरकार अपनी साम्राज्यवादी नीति से विचलित नहीं हुई, परन्तु बाद में संयुक्त राष्ट्र के प्रयत्नों एवं विश्व लोकमत के दबाव में इसे इण्डोनेशिया की स्वाधीनता को मान्यता देनी पड़ी। 27 मई, 1949 को इण्डोनेशिया के

सम्प्रभुतासम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना हुई। 1950 में नया संविधान लागू किया गया और डॉ० सुकर्ण राष्ट्रपति बने। 30 सितम्बर, 1965 को इण्डोनेशिया में एक असफल साम्यवादी क्रान्ति हुई। सारे देश में साम्यवादियों के विरुद्ध एक जबरदस्त आन्दोलन छिड़ गया। लगभग 80 हजार साम्यवादी मारे गये। 1967 में डॉ० सुकर्ण को अपदस्थ करके जनरल सुहार्तो इण्डोनेशिया के राष्ट्रपपि बन बैठे। अपनी विदेश नीति के मामले में इण्डोनेशिया शुरू से ही अवसरवादी गुट-निरपेक्षता की नीति का पालन करता रहा है। इण्डोनेशिया की विदेश नीति का सर्वाधिक उजागर पक्ष विश्व के सामने 1955 में प्रकट हुआ जबकि उसने बाण्डुंग में प्रथम एफ्रो-एशियाई सम्मेलन का आयोजन किया। 1962 और 1965 के मध्य इण्डोनेशिया ने सभी अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर चीन और पाकिस्तान का अन्धा समर्थन किया। बदले में पाकिस्तान और चीन ने भी मलयेशिया विरोध में उसका साथ दिया। 1965 में मलयेशिया को सुरक्षा परिषद् का अस्थायी सदस्य बना लिये जाने पर उसने संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता त्याग दी। सितम्बर 1965 के भारत-पाक युद्ध में इण्डोनेशिया ने पाकिस्तान का पूरा समर्थन किया।

नये राष्ट्रपति जनरल सुहार्तो ने अधिक व्यावहारिक और विवेकपूर्ण विदेश नीति को अपनाया। अमरीका के साथ फिर से कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये गये तथा विश्व समस्याओं के प्रति एक तटस्थवादी दृष्टिकोण अपनाया गया। भारत और इण्डोनेशिया के सम्बन्धों में मधुरता आयी, मलयेशिया के साथ फिर से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये गये और सितम्बर 1966 में इण्डोनेशिया पुनः संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रविष्ट हो गया। अगस्त 1967 में उसने मलयेशिया, सिंगापुर, थाईलैण्ड और फिलीपाइन्स के साथ मिलकर 'एशियान' (Associatian of South-East Asian Nations) की स्थापना की जिसका उद्देश्य इस क्षेत्र में एक 'साझा बाजार' तैयार करना है।

6. **सिंगापुर** (Singapore)—मलाया प्रायद्वीप के दक्षिण में समुद्र तट से 6 फर्लांग की दूरी पर सिंगापुर का द्वीप है, जो क्षेत्रफल में केवल 250 वर्गमील के लगभग है। इसकी जनसंख्या 20 लाख से कुछ ऊपर है, जिनमें 15 लाख के लगभग चीनी तथा 2 लाख के लगभग भारतीय हैं। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व इस द्वीप की स्थिति एक ब्रिटिश कालोनी की थी और महायुद्ध के दौरान जापान ने इस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। जापान की पराजय के बाद ब्रिटेन के लिए यह सम्भव नही रह गया था कि वह इस द्वीप पर पहले के समान शासन कर सके। 1945 में ब्रिटिश सरकार ने सिंगापुर के लिए नया संविधान बनवाया जिसमें गवर्नर को अत्यधिक अधिकार प्राप्त थे। जनता इससे सन्तुष्ट नहीं थी अतः सिंगापुर को एक पृथक् व स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया गया और उसे भी ब्रिटिश कामनवेल्थ में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थिति प्रदान कर दी गयी। 1963 में जब मलयेशिया संघ-राज्य का निर्माण हुआ, तो सिंगापुर भी उसमें सम्मिलित हो गया। 9 अगस्त, 1965 को वह इससे पृथक् हो गया। अब वह एक पृथक् सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न गणराज्य है। 21 सितम्बर, 1965 को उसे संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता मिली। महायुद्ध के समय तक सिंगापुर दक्षिण-पूर्वी एशिया में ब्रिटिश जलसेना का सबसे बड़ा अड्डा था, पर अब ब्रिटिश सेनाएँ वहाँ से वापस बुलायी जा चुकी है। अमरीकी योजनाओं में सिंगापुर भी विशेष स्थान रखता है, जिसे हिन्द महासागर में गश्त लगाने वाले अमरीकी टोही विमानों की सैनिक-तकनीकी देखभाल का अड्डा माना जाता है।

7. **हिन्दचीन के राज्य (लाओस, कम्पूचिया और वियतनाम)** [The States of Indo-China (Laos, Campuchia & Vietnam)]—भूतपूर्व फ्रेंच इण्डोचीन (हिन्दचीन) स्वतन्त्रता के पश्चात् एक इकाई न रहकर अनेक राजनीतिक इकाइयों में विभक्त हो गया। द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व हिन्दचीन के पाँच भाग थे—कोचीन चीन, अन्नाम, टोंकिंग, लाओस और कम्बोडिया। हिन्द-

चीन के इन पांच प्रदेशों में यथार्थ में कभी भी सांस्कृतिक और राजनीतिक एकता नहीं रही। कोचीन चीन, अन्नाम और टोंकिंग चीनी संस्कृति से प्रभावित थे तो लाओस और कम्बोडिया भारतीय संस्कृति से।

फ्रांस ने इस क्षेत्र पर 1862 से अधिकार करना प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम कोचीन चीन के पूर्वी क्षेत्रों पर अधिकार किया। 1883 में सैनिक विलय द्वारा टानकिन तथा अन्नाम पर तथा कुछ समय पश्चात् लाओस पर नियन्त्रण किया। इसके पश्चात् द्वितीय महायुद्ध तक वह क्षेत्र इन्हीं के अधिकार में रहा। इन्होंने वागाती कृषि, खनिज आदि का विकास किया तथा आधुनिक नगरों जैसे सेगोन, हाईफांग, हनोई आदि का विकास किया। 1941 में जापान ने इण्डोचीन पर अधिकार कर लिया जो लगभग 4 वर्ष तक रहा। युद्ध की समाप्ति के पूर्व ही जापान ने कोचीन चीन, टाँनकिन और अन्नाम को नयी राजनीतिक इकाई 'वियतनाम' के रूप में संगठित किया। 1945 में जापान के परास्त हो जाने पर यह क्षेत्र भी उसके हाथ से चला गया। इसके पश्चात् चीनी सैनिकों ने वियतनाम के 16वीं उत्तरी अक्षांश से ऊपर वाले भाग पर अधिकार कर लिया। इस समय तक फ्रेंच सेनाएँ पुनः वहुत से क्षेत्रों पर अधिकार कर चुकी थीं। फ्रांस ने कम्पूचिया, लाओस और वियतनाम को 'फ्रेंच संघ' में शामिल करने के प्रयत्न किये किन्तु सफलता नहीं मिली। इन सभी क्षेत्रों में स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन तथा साम्यवादी प्रभाव के कारण युद्ध प्रारम्भ हो गया। यह संघर्ष 7 वर्ष से भी अधिक समय तक चला जिसका फ्रांस की अर्थव्यवस्था पर भारी दवाव पड़ा। साम्यवादी दवाव को फ्रांस अमरीकी सहायता के उपरान्त भी कम न कर सका। फलस्वरूप जुलाई 1954 में जेनेवा शान्ति समझौते के अनुसार वियतनाम को 17वीं अक्षांश के सहारे उत्तरी और दक्षिणी भागों में विभक्त कर दिया जिससे एक नवीन समस्या का जन्म हुआ। वियतनाम समस्या का जन्म यहीं से प्रारम्भ होता है।

1. लाओस
(LAOS)

लाओस दक्षिणी-पूर्वी एशिया का एक छोटा देश है जो चारों ओर से स्थलीय सीमाएँ रखता है। लाओस के उत्तर में चीन का पुनन्नान प्रान्त, पूर्व और उत्तर-पूर्व में उत्तर वियतनाम, दक्षिण में कम्पूचिया व दक्षिण वियतनाम तथा पश्चिम में वर्मा स्थित हैं। इसका क्षेत्रफल लगभग 2,36,000 वर्ग किलोमीटर तथा जनसंख्या 27 लाख है।

लाओस की राजनीति को समझने के लिए वहाँ के शाही परिवार के तीन सौतेले भाइयों का परिचय जान लेना आवश्यक है। इनमें पहले हैं सुवन्न फूमा जो तटस्थवादी हैं। दूसरे राजकुमार सुफन्ना वोंग साम्यवादी हैं जिन्होंने पाथेट लाओ नाम से अपना सैन्य संगठन वनाया। तीसरे राजनीति में दक्षिण पन्थ का अनुकरण करने वाला राजकुमार फूमी नौसवान है।

द्वितीय महायुद्ध के बाद 11 मई, 1947 को यहाँ संवैधानिक राजतन्त्र की स्थापना हुई। 19 जुलाई, 1949 को फ्रांसीसी संघ के अन्तर्गत लाओस को स्वतन्त्र राज्य का दर्जा दिया गया जिसे राजकुमार सुफन्ना वोंग ने मानने से इन्कार कर दिया और 'पाथेटलाओ' नामक आन्दोलन संगठित किया। 1953-54 के मध्य पाथेटलाओ सैनिकों ने अनेक आक्रमण किये। जेनेवा समझौते (जुलाई 1954) के अन्तर्गत लाओस को एक तटस्थ राज्य बनाया गया। उसकी तटस्थता में यह विचार निहित था कि नयी राष्ट्रीय सरकार में पाथेटलाओ विद्रोहियों को भी शामिल कर लिया जायेगा। 25 दिसम्बर, 1955 को राष्ट्रीय सभा के चुनाव हुए जिसके परिणामस्वरूप सुवन्न फूमा प्रधानमन्त्री बनाये गये। किन्तु पाथेटलाओ ने गुरिल्ला युद्ध शुरू करके लाओस के दो उत्तरी प्रान्त अपने कब्जे में कर लिये। अक्टूबर 1957 में सुवन्न फूमा और सुफन्ना वोंग में एक समझौता हुआ

जिसके अनुसार दोनों पक्षों के मध्य युद्ध बन्द हुआ और पाथेटलाओ के दो सदस्यों ने सुवन्न फूमा मन्त्रिमण्डल की सदस्यता ग्रहण की।

जेनेवा समझौते को अमरीका ने पसन्द नहीं किया था अतः अमरीकी साजिश के फलस्वरूप 1959 में लाओस में गृह-युद्ध की स्थिति पैदा हो गयी। लाओस की सरकार ने संयुक्त राष्ट्र संघ में अपील की। जून 1960 में सोम सानिथ के अधीन एक दक्षिणपक्षीय सरकार की स्थापना हुई। 9 अगस्त, 1960 में कैप्टन कांगली के नेतृत्व में एक सैनिक विद्रोह हो गया। उसने लाओस की राजधानी पर अधिकार कर लिया। इसके साथ ही उसने सोवन्न फूमा के नेतृत्व में एक तटस्थ सरकार की स्थापना की जिसे कम्युनिस्ट देशों ने मान्यता दे दी। इस पर दिसम्बर 1960 में सेनापति फूमी नोसवान ने अमरीकी मदद से राजधानी वियनतियन पर अधिकार कर लिया। कैप्टन कांगली भागकर उत्तर की ओर चला गया और वहाँ पाथेटलाओ गुरिल्ला तथा वियतनाम के जरिये सोवियत संघ से सहायता प्राप्त कर आक्रमण करना शुरू कर दिया। इस तरह भीषण गृह-युद्ध शुरू हुआ जिसमें एक पक्ष का समर्थन रूस और दूसरे पक्ष का अमरीका करने लगा। 1961 के आरम्भ में कम्युनिस्ट नेता ने उत्तर-पूर्व के तीन प्रान्तों पर अधिकार कर लिया।

लाओस के गृह-युद्ध में रूस-अमरीकी हस्तक्षेप से विश्व शान्ति को खतरा उत्पन्न हो गया। जेनेवा समझौते द्वारा स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग को पुनर्जीवित किया गया और अप्रैल 1961 में युद्ध बन्द कर दिया गया। लाओस की समस्या पर विचार करने के लिए कम्बोडिया के सुझाव पर 12 मई, 1961 को जेनेवा में 14 राष्ट्रों का सम्मेलन बुलाया गया; लेकिन इस पर कोई निर्णय नहीं हो सका कि लाओस का प्रतिनिधित्व कौन करे? बाद में अमरीका तथा सोवियत संघ में यह समझौता हुआ कि सम्मेलन में लाओस के तीन पक्ष के प्रतिनिधि भाग लें। 17 मई को इन तीनों प्रतिनिधि मण्डलों ने इस सिद्धान्त को मान लिया कि लाओस में एक संयुक्त सरकार का गठन किया जाये। 23 जून, 1961 को सोवन्न फूमा के प्रधानमन्त्रित्व में संयुक्त मन्त्रिमण्डल संगठित कर दिया गया। कुछ दिनों तक स्थिति शान्त रही लेकिन 1963 के मार्च में अमरीकी षड्यन्त्र के कारण लाओस के विदेशमन्त्री की हत्या हो गयी और वहाँ पुनः गृह-युद्ध प्रारम्भ हो गया। फरवरी 1965 में जनरल फूमी नोसवान को सरकार का तख्ता पलटने की निष्फल कोशिश के फलस्वरूप थाईलैण्ड में भागकर शरण लेनी पड़ी। जुलाई 1965 में फिर आम चुनाव हुए, जिसका पाथेटलाओ ने पुनः बहिष्कार किया। 1968 में उत्तर लाओस के महत्वपूर्ण जार के मैदान पर पाथेटलाओ ने अपना अधिकार कर लिया था। 1969 की गर्मियों में सरकारी सेना ने इस पर पुनः अपना नियन्त्रण कर लिया। मार्च 1970 में फिर पूरा जार का मैदान साम्यवादियों के हाथ में आ गया। फरवरी 1971 में लाओस की स्थिति एक बार पुनः गम्भीर हो गयी। इस बार हजारों दक्षिण वियतनामी सैनिक अचानक लाओस की सीमा में प्रवेश कर गये। आक्रमणकारियों का मुख्य लक्ष्य हो-ची-मिन्ह मार्ग पर कब्जा करना था। दक्षिणी वियतनाम तथा अमरीकी आक्रमण के विरुद्ध लाओस में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। अप्रैल 1975 में हिन्दचीन क्षेत्र में महान परिवर्तन हुए। कम्बोडिया और वियतनाम के गृह-युद्धों का अन्त हुआ जिनमें कम्युनिस्टों को विजय मिली। इस घटना का लाओस की स्थिति पर तत्काल प्रभाव पड़ा। 11 मई, 1975 को लाओस के सविधान की 28वीं वर्ष-गाँठ मनायी गयी। इस अवसर पर यह स्पष्ट हो गया कि यहाँ की सत्ता भी पाथेटलाओ के हाथ में चली गयी है। अन्ततः साम्यवादियों ने लाओस के शासन पर पूरा अधिकार जमा लिया।

2. कम्पूचिया (कम्बोडिया)
(CAMPUCHIA : CAMBODIA)

प्राचीन काल में कम्बोडिया कम्बुज के नाम से विख्यात था। हिन्दचीन के नाम से जाने

गये क्षेत्र के तीन राज्यों—लाओस, कम्बोडिया व वियतनाम—में से कम्बोडिया मैकांग नदी के कारण सबसे अधिक उपजाऊ है। इसी राज्य में दक्षिणी-पूर्वी एशिया की सबसे विशाल झील—टोनलेसैप विद्यमान है। कम्बोडिया का क्षेत्रफल 66 हजार 600 वर्ग मील है तथा 1978 में यहाँ की कुल जनसंख्या 78,88,000 थी। इसमें 53,34,000 खेमरस्, 2,18,000 वियतनामी, 1,63,000, चीनी शेष अन्य लोग हैं। यहाँ की अधिकांश जनसंख्या बौद्ध धर्म को मानने वाली है। यह थाईलैण्ड, लाओस व वियतनाम से घिरा हुआ है। इसके दक्षिण में श्याम की खाड़ी स्थित है।

फ्रांस के लोग सबसे पहले यहाँ धर्म प्रचार करने के लिए आये थे। द्वितीय विश्व-युद्ध तक कम्बोडिया के लोग स्वतन्त्रता के प्रति इतने उदासीन थे कि 75 वर्ष के फ्रांसीसी प्रभुत्व के काल में एक बार भी उन्होंने स्वाधीनता की बात को लेकर विद्रोह नहीं किया। द्वितीय महायुद्ध के दौरान जब जापान हिन्दचीन के क्षेत्र की ओर पैर पसारने लगा तब कम्बोडिया के लोगों की आँखें खुलीं और उन्होंने महसूस किया कि फ्रांस भी कितना निर्बल है। जब फ्रांस की दुर्बलता उनके सम्मुख स्पष्ट हुई तो उन्होंने शासन में परिवर्तन की बात पर विचार करना प्रारम्भ किया। मार्च 1945 में जब फ्रांस के शासन से मुक्त होकर जापान के संरक्षण में कम्बोडिया स्वतन्त्र हुआ तो राजा को शासन का असीमित अधिकार प्राप्त हो गया। जापान के आत्मसमर्पण के बाद फ्रांस के शासक कम्बोडिया में फिर पहुँच गये। परिणाम यह हुआ कि 1953 तक कम्बोडिया फ्रांस के शिकंजों में जकड़ा ही रहा। कम्बोडिया की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न आरम्भ हुए और 9 नवम्बर, 1953 को उसे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी। 1953 से 17 मार्च, 1970 तक यहाँ राजकुमार नरोत्तम सिहनुक का शासन था। सिहनुक कम्बोडिया में उसी प्रकार लोकप्रिय थे जिस प्रकार नेहरू भारत में। 18 जनवरी, 1961 को सिहनुक राज्य प्रमुख व सम्राट होने के साथ-साथ शासन का प्रमुख भी बन गया। अगस्त 1969 में जनरल लोननोल का प्रधानमन्त्री और राजकुमार विशुवत् का उप-प्रधानमन्त्री बनना कम्बोडिया की राजनीति में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन का प्रारम्भ सिद्ध हुआ। इन दोनों ने शासन की शक्ति को अपने हाथों में केन्द्रित करना प्रारम्भ कर दिया। सिहनुक का झुकाव भले ही चीन की ओर रहा हो परन्तु इन दोनों का झुकाव अमरीका की ओर था। जनवरी 1970 में सिहनुक चिकित्सा के लिए देश के बाहर गये। षड्यन्त्रकारियों को अनुकूल अवसर प्राप्त हो गया और उन्होंने सिहनुक का तख्ता पलट दिया। सिहनुक भागकर पीकिंग चले गये जहाँ उन्होंने कम्पूचिया की निर्वासित सरकार की स्थापना की।

चीन से सैनिक सहायता प्राप्त करके पोलपोट के नेतृत्व में मार्च 1975 में लोननोल का तख्ता पलट दिया गया। दिसम्बर 1975 से अप्रैल 1976 तक सिहनुक कम्बुजिया के संवैधानिक अध्यक्ष रहे। 14 अप्रैल, 1975 को रिवउसंफान राष्ट्रपति बनाये गये किन्तु सारी शक्ति प्रधानमन्त्री पोलपोट के हाथों में केन्द्रित होती गयी। पोलपोट ने आम नागरिकों पर काफी अत्याचार किये। ऐसा कहा जाता है कि उसने कम्पूचिया की सांस्कृतिक क्रान्ति में 70 लाख की कुल आबादी में से 30 लाख लोगों को मौत के घाट उतार दिया। उसे एशिया का 'ईदी अमीन' कहा जाने लगा। कम्पूचिया एक यातना शिविर बनकर रह गया।

पोलपोट के अत्याचारों के फलस्वरूप लगभग 1½ लाख कम्पूचियावासी वियतनाम और थाईलैण्ड की तरफ कूच कर गये। इन्होंने ही हेंग सामरिन के नेतृत्व में राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे का निर्माण किया। हेंग सामरिन ने वियतनाम में शरण ले ली। वियतनामियों की सहायता से हेंग सामरिन 7 जनवरी, सन् 1979 को राजधानी नेम पेन्ह पर अधिकार करने में सफल हो गया। वियतनाम ने कम्पूचिया में सैनिक हस्तक्षेप करके समानान्तर सरकार स्थापित करवायी। कुछ लोगों की धारणा है कि कम्पूचिया में वियतनाम की भूमिका ठीक उसी प्रकार की रही है जिस प्रकार की भारत की भूमिका 1971 में पूर्वी पाकिस्तान में रही।

अमरीका और चीन कम्पूचिया की पोलपोट सरकार को मान्यता देते रहे, जबकि भारत सहित कई देशों ने हेंग सामरिन सरकार को मान्यता दी है।

कम्पूचिया में हेंग सामरिन सरकार ने 1981 में निर्वाचन भी कराये किन्तु उसे अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति नही मिल पायी। देश के अधिकांश भाग पर हेंग सामरिन का अधिकार है परन्तु थाईलैण्ड से लगने वाली सीमाओं के पास अंगकोरवाट के मन्दिरों मे पोलपोट की सेनाएँ भी सक्रिय रही है। यहीं से वे छापामार हमले करते रहे हैं।

हेंग सामरिन सरकार को सोवियत संघ, वियतनाम, अफगानिस्तान, लाओस, पूर्वी जर्मनी, हंगरी और बल्गारिया ने राजनयिक मान्यता दे दी किन्तु पश्चिमी शक्तियाँ पोलपोट सरकार को ही कम्पूचिया की वैध सरकार मानती रही है। गुट-निरपेक्ष देशों के हवाना शिखर सम्मेलन (1979) तथा नयी दिल्ली शिखर सम्मेलन (1983) ने कम्पूचिया के स्थान को रिक्त रखना ही उचित समझा। यहाँ तक कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रमुख राज्यों—इण्डोनेशिया, मलयेशिया, फिलीपाइन, सिंगापुर और थाईलैण्ड ने भी कम्पूचिया की हेंग सामरिन सरकार को मान्यता प्रदान नहीं की है। अधिकांश गुट-निरपेक्ष देशों ने हेंग सामरिन सरकार को मान्यता प्रदान नहीं की है। संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् ने जनवरी 1979 में एक प्रस्ताव पारित कर यह माँग की कि कम्पूचिया से सभी विदेशो सेनाएँ हटायी जायँ। किन्तु रूस द्वारा इस प्रस्ताव को वीटो कर दिया गया। अक्टूबर 1980 में महासभा ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें पोलपोट के प्रतिनिधि को ही महासभा में स्थान देते रहना स्वीकार किया। 14 नवम्बर, 1980 को महासभा ने एक अन्य प्रस्ताव पारित किया जिसमें निम्नलिखित बातों का उल्लेख था—(क) कम्पूचिया से सभी विदेशी सेनाओं को तत्काल हटाया जाय; (ख) कम्पूचिया के आन्तरिक मामलों में सभी हस्तक्षेप समाप्त किये जायँ; (ग) कम्पूचिया में संयुक्त राष्ट्र की देखरेख में चुनाव कराये जायँ; (घ) महासचिव कम्पूचिया के प्रश्न पर एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने की सम्भावनाओ का पता लगायें।

जुलाई 1981 में न्यूयार्क में महासचिव डॉ० कुर्ट वाल्हडीम ने कम्पूचिया समस्या के समाधान के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन में तीन बातों पर जोर दिया गया—

(i) कम्पूचिया में युद्ध विराम;
(ii) जितनी जल्दी हो सके सभी सेनाओं की वापसी; तथा
(iii) संयुक्त राष्ट्र संघ की देखरेख में चुनाव।

महाशक्तियों के हस्तक्षेप के कारण कम्पूचिया की समस्या आज भी जटिल और उलझनकारी बनी हुई है।

कम्बोडिया की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति
अथवा
कम्पूचिया में महाशक्तियों का हस्तक्षेप

कम्बोडिया ने गुट-निरपेक्षता की नीति को अपने वैदेशिक सम्बन्धों का आधार बनाया है। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के 45 वर्ष बाद भी कम्बोडिया आश्वस्त नहीं हुआ है कि उसके ऊपर से सारे संकट टल चुके हैं। उसको आज भी यह सन्देह है कि विदेशी लोग उसकी आजादी का हरण करना चाहते हैं। थाईलैण्ड और वियतनाम, जो उसके निकटतम पड़ोसी हैं उसके पुराने शत्रु हैं। उसकी भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि वह सदैव दूसरे देश के आक्रमण के लिए खुला हुआ है। उसके पास इतनी सैन्य शक्ति भी नहीं है जो वह अपनी सीमाओं की सम्भावित शत्रुओं से रक्षा कर सके। इसीलिए कम्बोडिया ने असंलग्न व तटस्थ रहना ही सबसे अधिक व्यावहारिक समझा। कम्बोडिया

को अपनी इस नीति के कारण ही देश में चल रही विकास योजनाओं के लिए दोनों गुटों से आर्थिक व तकनीकी सहायता प्राप्त होती रही। चीन, संयुक्त राज्य अमरीका तथा सोवियत संघ ने कम्बोडिया को सहायता दी। सहायता ग्रहण करते हुए भी कम्बोडिया चीन की विस्तारवादी नीति को भूला नहीं है और वह इस ओर भी सचेत है कि दोनों गुट उसको अपनी ओर मिलाने का भरसक प्रयत्न कर रहे हैं।

तटस्थता के विषय में 11 सितम्बर, 1957 को कम्बोडिया की राष्ट्रीय सभा ने एक अधिनियम पारित किया। इस अधिनियम के द्वारा कम्बोडिया की तटस्थता को राज्य के कानूनों का एक अंग बना दिया गया। अपने इसी अधिनियम के अनुसार कम्बोडिया न तो चीन व रूस से और न अमरीका से ही सैनिक सहायता प्राप्त करने को तैयार हुआ। लाओस ने गृह-युद्ध के विषय में कम्बोडिया से तटस्थता का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए विदेशी शक्तियों से अपने हाथ खींच लेने का अनुरोध किया। 1970 के प्रारम्भ ने सिहनुक के अपदस्थ होने के साथ कम्बोडिया की तटस्थता का युग समाप्त हो गया। सिहनुक ने अपने समय में व्यक्तिगत प्रभाव से कम्बोडिया की तटस्थता को कायम रखा। मार्च 1970 में जनरल लोननोल का अभ्युदय अमरीका द्वारा प्रेरित था। अमरीका के राष्ट्रपति निक्सन ने अमरीकी सैनिकों को कम्बोडिया में घुसने की अनुमति देने की घोषणा कर दी। 1970 में अपदस्थ होने के बाद राजकुमार सिहनुक ने चीन में शरण ली। चीन से समर्थन और सहायता प्राप्त करके ही खमेर रूज ने मार्च 1975 में लोननोल का तख्ता पलट दिया। परन्तु सिहनुक भी वहाँ बहुत दिनों तक सत्तारूढ़ नहीं रह सके। उन्हें चीन समर्थक पोलपोट के लिए अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा। स्वतन्त्र वियतनाम का उदय चीन के गले नहीं उतरा। अतः चीन के इशारे पर पोलपोट की सरकार ने वियतनाम के साथ सीमान्तों पर सैनिक मुठभेड़ें आरम्भ कर दीं। परन्तु इनकी प्रतिक्रिया स्वयं कम्पूचिया में अनुकूल नहीं हो सकती थी। परिणामतः उसके विरुद्ध एक व्यापक विद्रोह उठ खड़ा हुआ जिसकी परिणति जनवरी 1979 में पोलपोट के पतन तथा सामरिन के नेतृत्व में नये शासन के उदय के द्वारा हुई। हेंग सामरिन को वियतनाम ने भरपूर सहायता एवं सहयोग दिया। चीन ने सुरक्षा परिषद् में यहाँ तक कहा कि वियतनाम और सोवियत संघ के सक्रिय सहयोग से कम्पूचिया पर हेंग सामरिन जैसे विद्रोहियों का शासन स्थापित हुआ है। सिहनुक ने कहा कि वियतनाम को बिना शर्त कम्पूचिया से हट जाना चाहिए। यह सच है कि वियतनामी सैनिकों ने कम्पूचिया में हस्तक्षेप किया और वियतनाम को पाठ सिखाने के लिए चीन ने (फरवरी 1979) उस पर आक्रमण कर दिया।

महाशक्तियों के हस्तक्षेप के कारण कम्पूचिया की समस्या जटिल और उलझनकारी है। चीन और वियतनाम दोनों ही नहीं चाहते कि कम्पूचिया स्वतन्त्र और तटस्थ महसूस करे। चीन पोलपोट को चाहता है। हेंग सामरिन की ओट में वियतनामी विस्तारवादी आग्नेय एशिया में अपना फन फैला रहा है। सोवियत रूस का हस्तक्षेप प्रत्यक्ष नहीं रहा बल्कि वियतनाम के माध्यम से अप्रत्यक्ष रहा है। अमरीका से प्रेरणा पाकर ही वियतनाम को सबक सिखाने के उद्देश्य से चीन ने 17 फरवरी, 1979 को उस पर आक्रमण किया था। कम्पूचिया में निरन्तर युद्ध स्थिति के कारण थाईलैण्ड की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो गया है, परिणामस्वरूप आज थाईलैण्ड विदेशी शक्तियों, विशेषकर अमरीका, का अड्डा बना हुआ है। उसके माध्यम से ही पोलपोट सरकार के बचे-खुचे लोगों को आर्थिक व सैनिक सहायता मिल रही है।

संयुक्त राष्ट्र संघ और कम्पूचिया समस्या

(i) जनवरी 1979 में सुरक्षा परिषद ने एक प्रस्ताव पारित कर यह माँग की कि कम्पूचिया से सभी विदेशी सेनाएँ हटायी जायें। परन्तु 16 जनवरी, 1979 को रूस ने अपने वीटो अधिकार का प्रयोग करके इस प्रस्ताव को रद्द कर दिया।

(ii) अक्टूबर 1980 में महासभा ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें पोलपोट के प्रतिनिधि को ही महासभा में स्थान देते रहना स्वीकार किया गया।

(iii) 22 अक्टूबर, 1980 को महासभा ने पुनः एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें समस्या के व्यापक समाधान हेतु कम्पूचिया में संयुक्त राष्ट्र की देखरेख में चुनाव कराने, युद्ध स्थिति को समाप्त करने, सभी विदेशी सेनाओं को हटाने आदि विषयों पर विचार करने हेतु एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन को आयोजित करने की समस्याओं का पता लगाने की व्यवस्था है।

(iv) जुलाई 1981 में न्यूयार्क में संयुक्त राष्ट्र महासचिव कुर्त वाल्डाइम ने एक अन्तर्राष्ट्रीय समेलम्न का आयोजन किया। सम्मेलन ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसकी विशेषताएँ हैं : (अ) कम्पूचिया में युद्ध विराम, (ब) जितनी जल्दी हो सके सभी सेनाओं की वापसी, (स) संयुक्त राष्ट्र संघ की देख-रेख में चुनाव।

इस सम्मेलन में भारत, सोवियत संघ, वियतनाम तथा उन देशों ने भाग नहीं लिया जो हेंग सामरिन सरकार को कम्पूचिया की असली सरकार मानते हैं।

4 नवम्बर, 1988 को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने कम्पूचिया सम्बन्धी एक प्रस्ताव पारित किया। कम्पूचिया पर दक्षिण-पूर्व एशिया क्षेत्र के कई देशों द्वारा प्रस्ताव रखा गया, जिसमें यह माँग की गयी कि कम्पूचिया से सभी विदेशी सेनाएँ अन्तर्राष्ट्रीय निगरानी में हटा ली जायें। इस प्रस्ताव का समर्थन 122 देशों ने किया। सोवियत संघ तथा वियतनाम सहित 19 देशों ने इस प्रस्ताव का विरोध किया।

4 दिसम्बर, 1987 को कम्पूचिया के भूतपूर्व राजकुमार सिंहानुक और कम्युनिस्ट प्रधानमन्त्री हुनसेन के बीच एक समझौता सम्पन्न हुआ। दोनों नेताओं ने इस बात पर सहमति व्यक्त की कि कम्पूचिया समस्या का समाधान राजनीतिक होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उन्होंने समस्या के समाधान के लिए सभी गुटों के बीच सीधी वार्ता की आवश्यकता पर बल दिया ताकि कम्पूचिया को शान्तिपूर्ण स्वतन्त्र जनतान्त्रिक सम्प्रभुता सम्पन्न गुटनिरपेक्ष देश बनाया जा सके। 2 मई, 1989 को जकार्ता में कम्बोडिया के प्रधानमन्त्री हुनसेन तथा राजकुमार सिंहानुक के बीच हुई वार्ता में एक महत्वपूर्ण समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत दोनों नेता इस बात पर सहमत हो गये कि कम्बोडिया में एक सर्वोच्च परिषद गठित की जाये और इसके अध्यक्ष राजकुमार सिंहानुक हों।

अभी तक कम्पूचिया संकट का समाधान नहीं हो पाया है और राजकुमार सिंहानुक ने धमकी दी है कि वे कम्बोडिया सरकार के विरुद्ध हथियार उठायेंगे और कम्बोडिया से वियतनामी और उनके सहयोगी सैनिकों को खदेड़ कर बाहर कर देंगे।

3. वियतनाम
(VIETNAM)
अथवा
वियतनाम समस्या
(PROBLEM OF VIETNAM)

दो वियतनाम राज्यों का निर्माण—द्वितीय महायुद्ध से पूर्व हिन्दचीन के पाँच भाग थे—कोचीन चीन, अन्नाम, टोंकिंग, लाओस और कम्बोडिया। 1859 में फ्रांसीसियों ने सैगोन (कोचीन चीन का भाग) को जीतकर वहाँ अपना प्रत्यक्ष शासन स्थापित किया और बाद में समूचे क्षेत्र को अपना संरक्षित प्रदेश बना लिया। इस प्रकार हिन्दचीन पर फ्रांस के अधिकार के समय वियतनाम भी फ्रांस के अधिकार में चला गया। 1940 में वियतनाम पर जापान ने अधिकार कर लिया। जापानी आधिपत्य के दौरान वियतनाम में साम्यवादी तत्वों की भूमिगत गतिविधियाँ तेज हो गयीं। 9 मार्च, 1945 को जापानियों ने फ्रांसीसी सेनाओं को पूरी तरह से खदेड़ कर हिन्दचीन की

स्वाधीनता का ऐलान कर दिया। अगस्त 1945 में वियतमिन्ह लोगों को सत्ता सौंप दी गयी। अन्नाम, टोंकिंग तथा कोचीन चीन को मिलाकर 'वियतनाम गणराज्य' की स्थापना की गयी जिसकी राजधानी हनोई रखी गयी। दूसरी तरफ फ्रांस ने चालबाजी से सम्पूर्ण वियतनाम की ओर से सम्राट बाओ दाई ने एक सन्धि कर ली जिसके अन्तर्गत फ्रांसीसी संघ के अधीन वियतनाम की स्वतन्त्रता की घोषणा की गयी। चीन की सरकार ने 'वियतमिन्ह' राज्य को मान्यता प्रदान की और अमरीका-ब्रिटेन ने बाओ दाई की सरकार को वियतनाम की वैधानिक सरकार के रूप में मान्यता दे दी। इस तरह उत्तरी और दक्षिणी दो वियतनामी सरकारों की स्थापना हो गयी।

दियेन-वियेन फू में फ्रांस की पराजय—वियतमिन्ह छापामारों और फ्रांसीसी सेनाओं में निरन्तर युद्ध चलता रहा। 7 मार्च, 1954 को दियेन-वियेन फू में फ्रांस की करारी पराजय हुई और वियतमिन्ह सेनाओं ने दियेन-वियेन फू के दुर्ग पर अपना अधिकार कर लिया। इस पर अमरीका ने वियतनाम युद्ध में हस्तक्षेप करने का निश्चय किया क्योंकि वह वियतनाम को कम्युनिस्टों के हाथ नहीं जाने देना चाहता था, अतः हिन्दचीन की समस्या के समाधान के लिए जुलाई 1954 में जेनेवा में 19 राष्ट्रों का एक सम्मेलन बुलाया गया।

डोमिनो सिद्धान्त और वियतनाम में अमरीकी हस्तक्षेप—दक्षिण-पूर्वी एशिया में साम्यवाद के विस्तार को रोकने के लिए जॉन फास्टर डलेस तथा वैंडरवर्न ने 1952 में डोमिनो सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित था कि यदि द०-पू० एशिया में कोई राष्ट्र साम्यवाद का शिकार हो जाता है तो इसका दूसरे राष्ट्रों पर डोमिनो प्रभाव पड़ेगा और वे भी एक-एक करके साम्यवाद का शिकार हो जायेंगे; अतः अमरीका को द०-पू० एशिया में साम्यवाद की गति को रोकने के लिए प्रभावकारी कदम उठाना चाहिए। 1954 में अमरीकी पहल से ही 'सीटो' संगठन का निर्माण किया गया।

जेनेवा समझौता, 1954—21 जुलाई, 1954 को जेनेवा में हिन्दचीन के सम्बन्ध में एक समझौता हुआ। इस समझौते में निम्नलिखित बातें तय हुईं: (i) 15वीं समान्तर रेखा पर वियतनाम विभाजित कर दिया जाये अर्थात् वियतनाम को उत्तरी वियतनाम और दक्षिणी वियतनाम नाम से दो भागों में बाँट दिया जाये; (ii) दो वर्ष बाद 1956 में वियतनाम के एकीकरण के लिए मतदान होगा; (iii) एक अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग नियुक्त किया जाये जो समझौतों की शर्तों के पालन की देखरेख कर सके। भारत, कनाडा और पोलैण्ड इस आयोग के सदस्य नियुक्त किये गये।

वियतनाम में अमरीकी घुसपैंठ—जेनेवा समझौते के बाद से दोनों वियतनामों के एकीकरण की माँग वियतनामियों द्वारा बराबर होती रही और उत्तर के कम्युनिस्टों ने इस माँग का पूरा समर्थन किया, लेकिन संयुक्त राज्य अमरीका के दबाव से प्रभावित होकर दक्षिण वियतनाम की सरकार हमेशा इस माँग को ठुकराती रही। जब शान्तिपूर्ण तरीकों से एकीकरण की माँगों की एकदम उपेक्षा कर दी गयी तो दक्षिण वियतनाम की जनता ने इसके लिए आन्दोलन शुरू किया और 'वियतकांग' (Vietcong) के नाम से एक संगठन कायम करके सरकार के विरुद्ध हिंसात्मक कार्यवाही शुरू कर दी। वियतकांग आन्दोलन को उत्तरी वियतनाम का पूरा समर्थन मिल गया। दक्षिण वियतनाय में गृह-युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गयी। स्थिति काबू से बाहर होते देख दक्षिण वियतनाम के राष्ट्रपति ने अमरीका से सैनिक सहायता माँगी। मई 1961 में अमरीकी उपराष्ट्रपति लिंडन जोनसन ने सैगोन का दौरा किया तथा अक्टूबर 1961 में राष्ट्रपति कैनेडी ने मैक्सवेल टेलर को दक्षिणी वियतनाम इसलिए भेजा कि वह साम्यवादी चुनौती का सामना करने के लिए सैगोन की आवश्यकताओं को आँके। 10 सितम्बर, 1961 को अमरीकी प्रशासन के स्टेट डिपार्टमेण्ट ने 'शान्ति को खतरा' के नाम से दो भागों में एक श्वेतपत्र निकाला और यह आरोप लगाया

कि वियतकांग मुक्ति आन्दोलन का निर्देशन तथा संचालन उत्तरी वियतनाम से होता है। वस्तुतः यह श्वेतपत्र वियतनाम में अमरीकी हस्तक्षेप के लिए एक बहाना था। 4 जनवरी, 1962 को संयुक्त राज्य अमरीका ने दक्षिण वियतनाम को आर्थिक और सैनिक सहायता देने की घोषणा की, एक अमरीकी सैनिक कमान स्थापित की गयी और यहाँ, 4,000 अमरीकी सैनिक उतार दिये गये। वियतनाम में प्रत्यक्ष अमरीकी हस्तक्षेप का इतिहास यहीं से शुरू होता है।

दक्षिणी वियतनाम में अस्थिरता और दरबारी षड्यन्त्र—वस्तुतः दक्षिणी वियतनाम में निशोदिन दिएम की तानाशाही थी और जनता उसके अत्याचारों से तंग आ गयी थी। 1 नवम्बर, 1963 को सेना ने दिएम सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और सरकार का तख्ता उलट दिया। राष्ट्रपति दिएम और उसके भाई को गिरफ्तार कर गोली से उड़ा दिया गया। इसके बाद मेजर जनरल मिन्ह को राष्ट्रपति बनाया गया। जनवरी 1964 में मेजर जनरल कान्ह ने मेजर जनरल मिन्ह को अपदस्थ कर दिया। सितम्बर 1967 मे चुनाव कराये गये और जनरल थियू दक्षिण वियतनाम गणतन्त्र के राष्ट्रपति बने।

उत्तरी वियतनाम पर अमरीकी आक्रमण—पर थियू की सरकार भी वियतकांग की शक्ति का दमन कर सकने में असमर्थ रही। अमरीका इस सरकार को सैनिक सहायता प्रदान करने को तत्पर था। अमरीका ने दक्षिण वियतनाम में वियतकांग के आक्रमण के प्रतिशोधस्वरूप 7 फरवरी, 1965 को उत्तरी वियतनाम पर हवाई हमले आरम्भ कर दिये। इस हमले में अमरीका ने विषैली गैसों का प्रयोग शुरू किया। इन हमलों का उद्देश्य उत्तरी वियतनाम की आर्थिक और सामरिक स्थिति को अस्त-व्यस्त करना था। 1967 के आसपास वियतनाम युद्ध ने भयंकर रूप धारण कर लिया। रासायनिक और अन्य संहारक अस्त्रों का अमरीका ने खुलकर प्रयोग किया। उत्तर वियतनाम और वियतकांग सैनिक तथा सैनिक ठिकानों पर इतने अधिक बम गिराये गये जितने दूसरे विश्व-युद्ध के दौरान जर्मनी ने ब्रिटेन पर भी नहीं गिराये थे। युद्ध के चरमोत्कर्ष के समय लगभग दो सौ विमानों ने 60 दिनों तक हर रात एक-एक टन भार के बम गिराये।

पेरिस की शान्ति वार्ता—1968 के प्रारम्भ में उत्तरी वियतनाम द्वारा यह घोषित किया गया कि यदि अमरीका बिना शर्त के कम्युनिस्टों पर गोलाबारी करना बन्द कर दे तो उससे बातचीत शुरू की जा सकती है। इस पर अमरीका के राष्ट्रपति जोन्सन ने 31 मार्च, 1968 को यह आज्ञा प्रसारित की कि कतिपय प्रदेशों पर अमरीका द्वारा गोलाबारी करना स्थगित कर दिया जाय। परिणाम यह हुआ कि 10 मई, 1968 के दिन उत्तरी वियतनाम और अमरीका में समझौते के लिए पेरिस में बातचीत शुरू की गयी। पेरिस बातचीत में उत्तरी वियतनाम, दक्षिण वियतनाम, राष्ट्रीय आजाद मोर्चे और अमरीका के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। जनवरी 1969 में जब निक्सन ने अमरीका का राष्ट्रपति पद ग्रहण किया तो उन्होंने घोषित किया कि वे वियतनाम से अमरीकी सेनाओं को वापस लौटाने के लिए तैयार हैं, पर सम्मान के साथ। 1968 में 5 लाख से भी अधिक अमरीकी सैनिक दक्षिण वियतनाम में थे। एक तरफ वियतनाम में युद्ध चलता रहा और दूसरी तरफ पेरिस में शान्ति वार्ताएँ। 1971-72 में वियतनाम के इस युद्ध ने अत्यन्त गम्भीर रूप प्राप्त कर लिया था। अप्रैल 1972 में उत्तरी वियतनाम की कम्यूनिस्ट सेनाओं ने जेनेवा सम्मेलन द्वारा निर्धारित अपने राज्य की सीमा रेखा (17वीं अक्षांश) को पार कर दक्षिणी वियतनाम में प्रवेश प्रारम्भ कर दिया। उत्तर और पश्चिम से बढ़ती हुई कम्युनिस्ट सेनाएँ दूर तक चली आयीं और उन्होंने इस राज्य के अनेक प्रान्तों तथा नगरों पर कब्जा कर लिया। अमरीका ने वायु सेना के हमलों से उत्तर वियतनाम पर जोरदार हमले किये। वायु सेना के हमलों से उत्तरी वियतनाम के कल-कारखाने ध्वस्त होने लगे और हनोई नगरी को अपार क्षति पहुँची।

26 जनवरी, 1973 के दिन अमरीका, उत्तर वियतनाम, दक्षिण वियतनाम और दक्षिण वियतनाम की अस्थायी क्रान्तिकारी सरकार ने एक शान्ति समझौते पर हस्ताक्षर किये जो इतिहास में पेरिस समझौते के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :

(1) समझौते पर हस्ताक्षर होने के समय से 60 दिन के भीतर सभी अमरीकी युद्धबन्दी रिहा कर दिये जायेंगे।

(2) अमरीका अपने सभी सैनिकों को 60 दिनों के अन्दर-अन्दर दक्षिण वियतनाम से वापस बुला लेगा।

(3) दक्षिण वियतनाम की जनता बिना किसी वाह्य हस्तक्षेप के अपने भाग्य का निर्णय करने के लिए स्वतन्त्र होगी।

(4) वियतनामी जनता स्वतन्त्र और लोकतान्त्रिक चुनावों के माध्यम से अपने भाग्य का निर्णय करेगी।

(5) दक्षिण वियतनाम के आन्तरिक मामलों में अमरीका कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा।

(6) युद्ध-विराम के निरीक्षण के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग की व्यवस्था की गयी। युद्ध के दौरान लापता लोगों का पता लगाया जायेगा।

दक्षिण वियतनाम का आत्म-समर्पण—पेरिस समझौते के बाद भी वियतनाम में स्थायी शान्ति स्थापित न हो सकी और युद्ध-विराम का आये दिन उल्लंघन होता रहा। 22 फरवरी, 1975 को दक्षिण वियतनाम के तत्कालीन राष्ट्रपति थियू ने त्यागपत्र दे दिया और डान वान हुआंग नये राष्ट्रपति बनाये गये। 22 अप्रैल, 1975 को डान वान हुआंग ने भी त्यागपत्र दे दिया और जनरल मिह्न ने राष्ट्रपति पद ग्रहण किया। 30 अप्रैल, 1975 को दक्षिण वियतनाम के सैनिकों ने राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के सामने हथियार डाल दिये और उत्तर वियतनाम के सैनिकों ने सैगोन पर कब्जा कर लिया। सैगोन का नाम वदलकर हो-ची-मिह्न सिटी कर दिया गया।

इस प्रकार वियतनाम युद्ध का अन्त हुआ जो पिछले 20 साल से चला आ रहा था। अनुमान है कि इस युद्ध में दस लाख से भी अधिक लोग मारे गये और अमरीका ने इसके लिए अनन्त धनराशि खर्च की। अमरीका की सरकार का अनुमान है कि 1965 से 1972 तक के सात वर्षों के काल में ही अमरीका के 10,205 करोड़ डालर इस युद्ध में खर्च हुए। चीन और रूस ने इस युद्ध में कम्युनिस्टों की सहायता के लिए अपनी सेना तो नहीं भेजी, पर वे युद्ध-सामग्री अवश्य प्रदान करते रहे। अमरीका जैसी महाशक्ति जो वियतनाम में कम्युनिस्टों को परास्त कर सकने में असमर्थ रही, उसका एक कारण यह भी है कि वहाँ की जनता की सहानुभूति राष्ट्रपति थियू की सरकार के साथ नहीं थी। वाल्टर लिपमैन के शब्दों में हाथियों का समूह मच्छरों के समूह पर विजय नहीं पा सका। इस युद्ध ने यह बात भलीभाँति प्रदर्शित कर दी कि बड़ी से वड़ी सैनिक शक्ति किसी देश के आत्म-निर्णय करने और स्वतन्त्र बने रहने के सुदृढ़ संकल्प पर विजय नहीं पा सकती है।

वियतनाम का एकीकरण—वियतनाम के दोनों भागों के एकीकरण के लिए 25 अप्रैल, 1976 को उत्तर तथा दक्षिण वियतनाम में निर्वाचन कराये गये। इन निर्वाचनों के फलस्वरूप नयी राष्ट्रीय असेम्बली अस्तित्व में आयी। 24 जून, 1966 को संयुक्त वियतनाम की राष्ट्रीय असेम्वली के अधिवेशन का उद्घाटन कार्यकारी राष्ट्रपति न्यूमेन थ्री ने किया। हनोई को संयुक्त वियतनाम की राजधानी बनाया गया।

संयुक्त वियतनाम के अभ्युदय के परिणाम—संयुक्त वियतनाम के अभ्युदय से निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ उभरीं—(i) साम्यवादी उत्तरी वियतनाम की नयी शक्ति का दक्षिण-पूर्वी एशिया में अभ्युदय हुआ है। अब वियतनाम द०-पू० एशिया की सबसे अधिक 4 करोड़, 30 लाख की

आबादी वाला तथा सबसे अधिक सैनिक रखने वाला ऐसा राष्ट्र है जिसे युद्ध में अमरीकी प्रतिरक्षा मन्त्री श्लेसिंजर के शब्दों में 4 हजार करोड़ डालर की अमरीकन सैनिक-सामग्री हाथ लगी है। (ii) दक्षिण-पूर्वी एशिया के लिए अमरीका द्वारा प्रतिपादित 'डोमिनो सिद्धान्त' असफल सिद्ध हुआ है। साम्यवाद को रोकने के लिए बनाया गया 'सीटो संगठन' भी व्यर्थ साबित हुआ है। इस युद्ध में हनोई की सफलता के बाद कम्बोडिया और लाओस में भी शासन सत्ता साम्यवादियों के हाथों में चली गयी है। कतिपय विद्वान थाईलैण्ड में तथा द०-पू० एशिया के अन्य प्रदेशों में भी भविष्य में साम्यवाद के प्रसार में वृद्धि की कल्पना करने लगे हैं। (iii) इस युद्ध की समाप्ति से पहले 30 वर्ष तक अमरीका द्वारा अनुसरण किये जाने वाली डलेस की साम्यवाद का विरोध करने वाली नीति (Containment Policy) का अन्त हो गया है। (iv) वियतनाम के युद्ध ने न केवल अमरीका का स्वर्ण भण्डार खाली कर दिया अपितु उसके आर्थिक ढाँचे को चरामरा दिया है। अमरीका को अपनी एशियाई नीति पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य होना पड़ा है। (v) वियतनाम में साम्यवादियों के सफल होने के साथ कम्बोडिया और लाओस में साम्यवादियों को बड़ी सफलता मिली। 17 अप्रैल, 1975 को कम्बोडिया की साम्यवाद विरोधी सरकार का पतन हो जाने के बाद 'लाल ख्मेर दल' का प्रभुत्व स्थापित हो गया, जो साम्यवादी राष्ट्रीय दल है। इसी तरह लाओस में उत्तरी वियतनाम द्वारा समर्थित 'पाथेटलाओ' नामक साम्यवादी सैनिक दल का प्रभाव बढ़ता चला जा रहा है।

वर्तमान में वियतनाम—1975 में स्वतन्त्र होते ही वियतनाम ने गुट-निरपेक्ष विदेश नीति अपनाने तथा साम्यवादी एवं गैर-साम्यवादी दोनों प्रकार के देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की घोषणा की। 1976 में कोलम्बो, 1979 में हवाना तथा 1983 के नयी दिल्ली गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलनों में वियतनाम ने भाग लिया। वियतनाम की विदेश नीति में कई मुद्दों पर जोर दिया गया है—राष्ट्रवाद की भावना को बनाये रखना, राष्ट्र के प्रति अपने दायित्वों को निभाते हुए अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों और समझौतों का पालन करना और साम्राज्यवाद के सभी स्वरूपों का विरोध करना।

वियतनाम संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनना चाहता था; किन्तु अमरीका ने पाँच बार वीटो का प्रयोग करके रोड़े अटकाये। 1977 में राष्ट्रपति कार्टर ने सहानुभूतिपूर्ण नीति अपनायी और अमरीका ने वीटो का प्रयोग नहीं किया। अत: 20 सितम्बर, 1977 को वियतनाम संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बना।

वियतनाम की विदेश नीति में रूस के प्रति झुकाव प्रतीत होता है। वियतनाम के आर्थिक पुनर्निर्माण में सोवियत संघ भारी मदद दे रहा है। चीन के प्रति वियतनाम सदैव सशंकित रहा है। चीन वियतनाम को कमजोर देखना चाहता है और सोवियत संघ उसे शक्तिशाली बनाना चाहता है ताकि वह चीन को रोक सके।

चीन-वियतनाम विवाद : युद्ध—चीन और वियतनाम के मध्य विवाद किसी एक मुद्दे तक सीमित नहीं है और यदि उसे किसी एक मुद्दे से बाँधना ही है तो वह मुद्दा है चीन की विस्तारवादी योजना में वियतनाम का बाधक बनना।

चीन ने वियतनाम में अमरीकी हस्तक्षेप की खुलकर निन्दा की थी, परन्तु वियतनाम में अमरीकी नीति की पराजय का मुख्य कारण सोवियत संघ का सक्रिय सहयोग ही था न कि चीन का मौखिक समर्थन। यह कहा जाता है कि जब वियतनाम जीवन-मरण के संघर्ष में लगा हुआ था तो चीनी लाल रक्षकों ने उन रेलगाड़ियों को रोका जिनमें वियतनाम की सहायतार्थ सोवियत संघ द्वारा भेजी गयी युद्ध-सामग्री ले जायी जा रही थी। द०-पू० एशिया में अपने पाँव फैलाने

के चीनी इरादों पर उस समय पानी फिर गया जब संयुक्त वियतनाम अस्तित्व में आया जो चीन का पिछलग्गू न होकर एक स्वाधीन समाजवादी गणराज्य बना।

फरवरी 1979 में चीन ने वियतनाम पर आक्रमण कर दिया। चीनी उप-प्रधानमन्त्री तेङ् के शब्दों में, "वियतनाम अपने को दुनिया की तीसरी ताकत समझता है और इसलिए उसका यह घमण्ड खत्म करना जरूरी हो गया था।" चीन ने सवा दो लाख फौज, सात सौ हवाई जहाज और पाँच सौ टैंक लेकर वियतनाम का घमण्ड चूर करने का प्रयत्न किया।

वियतनाम पर चीनी आक्रमण के कई उद्देश्य हो सकते हैं—(i) यह सम्भव था कि चीन वियतनाम पर, कम्पूचिया के प्रश्न को लेकर समझौता करने के लिए दवाब डालना चाहता हो। (ii) कुछ लोगों का मानना था कि चीन वियतनाम स्थित लाखों चीनी मूल के लोगों को देश से बाहर खदड़ने के कारण, जो चीन, मलेशिया, अमरीका और यहाँ तक कि भारत आये हुए थे, सख्त नाराज था। (iii) साथ ही दस हजार से अधिक चीनी तकनीकी लोग जो कम्पूचिया में फँसे हुए थे, उनको सही-सलामत देश वापस भिजवाने की दृष्टि से उसे यह कार्यवाही करनी पड़ी। (iv) चीन चाहता था कि वियतनाम को कम्पूचिया से अपनी एक लाख फौज बुलाने को बाध्य किया जाये ताकि पोलपोट के लोग जो कम्पूचिया के उत्तर-पूर्वी इलाके में छापामार युद्ध चला रहे हैं और भी अधिक सक्रिय हो जायँ। (v) एक कारण यह भी लगता है कि चीन 3 नवम्बर, 1978 को की गयी रूस-वियतनाम मैत्री और सहयोग सन्धि की उपयोगिता परखना चाहता हो। इस सन्धि की धारा 6 के अनुसार, "यदि इन देशों में से किसी एक पर हमला हो या हमले का खतरा पैदा हो जाय तो उस खतरे को मिटाने की दृष्टि से ये दोनों देश एक-दूसरे के साथ सलाह-मशविरा करेंगे और दोनों देशों में शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने के ख्याल से कारगर कदम उठायेंगे।" शायद चीन यह देखना चाहता था कि रूस किस हद तक अपनी जिम्मेदारी को निभाने को तैयार है। (vi) कम्पूचिया में चीन समर्थित पोलपोट सरकार का पतन हो जाने से चीन की प्रतिष्ठा पर गहरी चोट पहुँची थी। वियतनाम पर आक्रमण करके चीन ने अपनी छवि को फिर से प्रतिष्ठित करने की कोशिश की है।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में चीन के इरादों में यदि देश बाधक है तो वह वियतनाम है और यही चीन-वियतनाम युद्ध का मुख्य कारण है। चीन की नाराजगी का मुख्य कारण यह है कि वियतनाम चीन के निकट आने के स्थान पर रूस के निकट चला गया। चीन वियतनाम को 'दक्षिणी-पूर्वी एशिया का क्यूबा' कहता है। चीन और वियतनाम में पार्सेल और स्पार्टले द्वीपों को लेकर काफी मतभेद रहा है। इसी प्रकार दक्षिण चीन सागर को चीन अपनी बपौती मानता है। कुछ वर्षों पूर्व उसने पार्सेल द्वीप समूह पर एक सैनिक अभियान द्वारा अधिकार कर लिया था। चीन न केवल स्पार्टले द्वीपसमूह पर अपना अधिकार जता रहा है बल्कि उसकी निगाह स्पार्टले के दक्षिण के समुद्र तल में छिपे हुए तेल भण्डार पर भी लगी हुई है। यह तेल भण्डार वियतनाम की आर्थिक आत्म-निर्भरता में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

चीन के हमले का परिणाम यह हुआ कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के देश चीन से सशंकित हो गये हैं। हो सकता है कि वियतनामी बन्दरगाहों को रूस अपनी नौ-सेना का अड्डा बना ले और दक्षिणी चीन सागर में रूसी प्रभाव बढ़ने लगे।

दक्षिणी-पूर्वी एशिया में रूस-चीन तथा अमरीकी प्रतिस्पर्द्धा
(SUPER POWERS AND SOUTH-EAST ASIA)

दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में से अमरीका की प्रमुख दिलचस्पी हिन्द-चीन के देशों, विशेषकर कम्बोडिया, लाओस और वियतनाम में रही है। अक्टूबर 1949 में चीन में साम्यवादी शासन के अभ्युदय से चिन्तित होकर अमरीका ने द०-पू० एशिया में 'साम्यवादी अवरोध' की नीति

अपनायी। 1952 का 'डोमिनो सिद्धान्त' (The Domino Theory) तथा 1954 का सीटो (S.E.A.T.O.) संगठन इसी नीति के परिणाम थे। डोमिनो सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित था कि 'यदि द०-पू० एशिया का कोई राष्ट्र साम्यवादियों के हाथों में आ जाता है तो इसका दूसरे राष्ट्रों पर 'डोमिनो' प्रभाव पड़ेगा और वे एक-एक करके साम्यवाद के शिकार हो जायेंगे।' डोमिनो सिद्धान्त ने ही 1954 के सीटो संगठन के निर्माण को प्रेरित किया। अमरीका ने वियतनाम में हस्तक्षेप किया, अमरीका से प्रोत्साहन पाकर कम्बोडिया में लोननोल (1970) ने विद्रोह कर दिया। 1975 के बाद वियतनाम, कम्बोडिया एवं लाओस के शासन की बागडोर साम्यवादी हाथों में पड़ने के बाद अमरीका की प्रतिष्ठा दक्षिण-पूर्व एशिया से घटने लगी। एशिया में अमरीका द्वारा घोषित दायित्वों को निभाने की क्षमता के बारे में केवल जापान, कोरिया और ताइवान ही चिन्तित नहीं है बल्कि थाईदेश, सिंगापुर, मलेशिया, इण्डोनेशिया एवं फिलीपाइन द्वीपसमूह भी चौकन्ने हुए हैं। पाँचवें दशक तक दक्षिण-पूर्वी एशिया में अमरीका तथा जापान के प्रभाव से टक्कर लेने वाली कोई शक्ति नहीं थी। छठे दशक में सोवियत संघ तथा चीन ने इस क्षेत्र में बागी आन्दोलनों को भारी मदद देना शुरू किया जिसका प्रभाव सातवें दशक में पड़ा। अमरीका द्वारा दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों के लिए गढ़ी गयी 'डोमिनो थ्योरी' की उसके स्वयं द्वारा अपार सैनिक एवं आर्थिक मदद के बावजूद रक्षित न हो सकी। वर्तमान में साम्यवादी वियतनाम, कम्बोडिया एवं लाओस से द०-पू० एशिया के सभी गैर-साम्यवादी देश आतंकित और भयभीत हैं कि कहीं उनके यहाँ भी साम्यवादी ताकतें गड़बड़ी करने का सक्रिय प्रयास न करें। अमरीका के इस क्षेत्र में जो सैनिक अड्डे थे, उनमें से अब वह धीरे-धीरे अपनी फौज कम कर रहा है। थाईदेश ने भी अमरीका से अपनी सैनिक उपस्थिति हटा लेने की माँग कुछ समय से की है। किन्तु साम्यवादी चीन नहीं चाहता कि अमरीका अपने सैनिक अड्डे दक्षिण-पूर्व एशियाई क्षेत्र से पूरी तरह हटाये क्योंकि उसे सोवियत संघ द्वारा उसकी जगह ग्रहण कर लिये जाने का खतरा है। असल में दक्षिण-पूर्व एशिया में अभी भी अमरीका के आर्थिक एवं राजनीतिक हित महत्वपूर्ण हैं। पाँच देशों के क्षेत्रीय संगठन 'आसियन' (इण्डोनेशिया, मलेशिया, फिलीपाइन, सिंगापुर एवं थाईलैण्ड) में केवल थाईलैण्ड को छोड़कर शेष सभी देशों में अमरीका की असीमित पूँजी लगी हुई है। इस क्षेत्र की अपार प्राकृतिक सम्पदा उसके आर्थिक हितों का आकर्षण बनी हुई है। इससे लगता है कि अमरीका की सैनिक उपस्थिति का पूरी तरह हटना बहुत दूर की बात है।

अमरीका के सैनिक अड्डों का जाल इस समय जापान के समुद्र तटवर्ती क्षेत्रों से लेकर दक्षिण अफ्रीका में विशाल क्षेत्र तक फैला है। इसमें डेढ़ लाख से अधिक अमरीकी सैनिक व अधिकारी तैनात हैं। अमरीका के सातवें जहाजी बेड़े पर 'टोमहॉक' क्रूज प्रक्षेपास्त्रों की तैनाती की गयी है। अमरीका की इस सैन्य योजना में जापान व द० कोरिया की प्रमुख सहभागिता है। जापान में योकोसुका व सेसीबी में अमरीकी नौ सेना के विशाल अड्डे हैं। जापान के होंशू द्वीप के उत्तर में स्थित मिसावा अड्डे पर एफ-16 बम वर्षक रखे गये हैं। द० कोरिया में भी पेंटागन के नाभिकीय अस्त्रों की 600 से अधिक यूनिटें पहले से मौजूद हैं। अमरीकी स्रोतों के अनुसार ही उसके सातवें जहाजी बेड़े पर मध्यम मार वाले परमाणु शीर्षों सहित 1500 प्रक्षेपास्त्र हैं। यह जहाजी बेड़ा जापान से फिलीपीन्स और दक्षिण में काफी दूर तक गश्त करता है। यह भी सर्वविदित है कि हिन्द महासागर मे डियागो गार्शिया को बड़े अड्डे के रूप में विकसित किया जा चुका है। फारस की खाड़ी के आस-पास उसके जहाजों का जमाव है। इस तरह समूचा दक्षिण और द०-पूर्व एशिया आज अमरीकी शस्त्रों की घेराबन्दी में आ गया।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में संयुक्त राज्य अमरीका की 'विशेष दिलचस्पी' जरा भी कम नहीं हो रही है, बल्कि वह बनी हुई है क्योंकि उसे पेंटागन की नाभिकीय,राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका

दी जाती है। प्रशान्त एवं हिन्दमहासागरों के इस संगम क्षेत्र में अमरीका अपनी फौजी उपस्थिति बरकरार रखने पर आमादा है, वह उसे 'अपनी सुरक्षा का महत्वपूर्ण क्षेत्र', अमरीकी पूँजीनिवेशों का क्षेत्र, कच्चे माँस तथा सस्ती श्रम शक्ति का स्रोत बनाना चाहता है।

वियतनाम युद्ध की समाप्ति के बाद दक्षिण-पूर्वी एशिया में रूस और चीन द्वारा अपनी प्रभाव-वृद्धि के लिए प्रतिस्पर्द्धा शुरू हो गयी है। अमरीका द्वारा द०-पू० एशिया से अपनी सेनाओं को वापिस बुला लेने से इस क्षेत्र में जो शून्यता उत्पन्न हुई उसको मास्को और पेकिंग भरने का प्रयत्न कर रहे हैं। दोनों देशों ने वियतनाम को अपना संघर्ष सफल बनाने में सैनिक सहायता प्रदान की। चीन की यह सहायता हल्के हथियारों के रूप में थी और रूस ने उसे तोपखाने, प्रक्षेपणास्त्र तथा भारी हथियारों की मदद की। मास्को को यह अशंका थी कि चीन कम्बोडिया, लाओस और वियतनाम में भी अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयत्न कर रहा है। रूस इस बात का प्रयत्न करने लगा कि उसे वियतनाम में महत्वपूर्ण अड्डे प्राप्त हों।

चीन वियतनाम के बिलकुल निकट है। पड़ोसी होने के कारण पिछले दो हजार वर्ष में वियतनाम के साथ उसके सैनिक सीमा-संघर्ष होते रहे हैं। वियतनाम इस बात को अच्छी तरह जानता है कि उसके आस-पास के टापुओं पर चीन की गिद्ध-दृष्टि लगी हुई है। वह उसके एक टापू पैरासिल (Paracel) पर अधिकार कर चुका है अतः वियतनाम में चीन के प्रति काफी अविश्वास की भावना है। यह स्थिति रूस के लिए लाभदायक है। किन्तु रूस इसका लाभ अधिक न उठा सके, इसलिए चीन दक्षिण-पूर्वी एशिया से अमरीकी सेनाओं को पूरी तरह नहीं हटने देना चाहता है।

वियतनाम और चीन के सम्बन्ध उत्तरोत्तर बिगड़ने लगे। दक्षिण-पूर्वी एशिया में वियतनाम एक स्वाधीन देश की तरह आचरण करे, इसको चीन के शासक सहन नहीं कर पाये। वियतनाम को दी जाने वाली चीनी सहायता में कटौती, चीनी विशेषज्ञों की वियतनाम से वापसी, वियतनाम स्थित चीनी राजदूत का स्वदेश लौटना और अन्त में वियतनाम को पाठ सिखाने के लिए बर्बरतापूर्ण चीनी आक्रमण चीनी विस्तारवादी दबावपूर्ण नीति को स्पष्ट करते हैं।

वियतनामियों के मन आज चीन के प्रति बहुत ही घृणा व शत्रुता के भाव से आपूरित हैं। उनका यह मानना है कि सन् 1972 में जब निक्सन ने चीन की यात्रा की तभी से चीन वियतनाम के साथ शत्रुतापूर्ण व्यवहार कर रहा है। अमरीकी सहायकों के साथ मिलकर चीन वियतनाम की आर्थिक, सैनिक व राजनीतिक नाकेबन्दी करना चाहता है। 30 वर्षों से युद्धरत राष्ट्र की मजबूरियों को राजनीतिक रूप से भुनाने का प्रयत्न कर रहा है। वह चाहता है कि वियतनाम राजनीतिक क्षेत्र में अपनी स्वतन्त्र दिशा को छोड़कर उसकी राजनीति का उपांग बन जाये। जब भी वियतनाम थोड़ी राहत की साँस लेने लगता है, चीन उसको कुरेदना शुरू कर देता है। कम्पूचिया की नयी सरकार भी चीन की आँख की किरकिरी बनी हुई है।

रूस-वियतनाम सन्धि से चीन सशंकित है। चीन चाहता है कि वियतनाम सोवियत समर्थक रवैया छोड़कर उससे निर्देश ले। वियतनाम पर चीनी आक्रमण से इस क्षेत्र में सोवियत संघ के प्रति सहानुभूति बढ़ना स्वाभाविक है।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों की प्रमुख समस्याएँ
(MAJOR PROBLEMS OF SOUTH-EAST ASIA)

आज सम्पूर्ण विश्व की निगाहें द०-पू० एशिया पर स्थित हैं क्योंकि विगत कुछ वर्षों में यह प्रदेश अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों का एक अत्यन्त ज्वलनशील केन्द्र बन गया है। इस प्रदेश की प्रमुख समस्याएँ इस प्रकार हैं :

1. **चीनी साम्यवाद का खतरा**—यहाँ के सभी देशों में चीनियों की बहुत बड़ी संख्या

निवास करती है। चीन इसके माध्यम से सभी देशों में अपना मनचाहा साम्यवादी शासन स्थापित करना चाहता है। सितम्बर 1965 में इण्डोनेशिया में उसने ऐसा शासन स्थापित करने का प्रयत्न किया, किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। 1976 से चीन कम्पूचिया के मामलों में सक्रिय रुचि ले रहा है और 1979 में उसने वियतनाम पर सशस्त्र आक्रमण कर दिया था।

2. **शक्ति-शून्यता**—दूसरी समस्या ब्रिटेन द्वारा द०-पू० एशिया से अपनी सैनिक छावनियाँ और अड्डे हटाने की घोषणा है। उसके अड्डे फारस की खाड़ी में, सिंगापुर में तथा उसके आस-पास के प्रदेशों में हैं। उसके जंगी जहाज हिन्द महासागर का चक्कर काटते रहते हैं। इससे इस प्रदेश में शान्ति और स्थिरता बनी हुई है। किन्तु ब्रिटिश सेनाओं द्वारा इस प्रदेश को खाली करने पर बड़ी भयावह स्थिति उत्पन्न हो सकती है। यहाँ मलयेशिया, थाईलैण्ड, सिंगापुर जैसे छोटे राष्ट्र हैं। ये अपनी रक्षा के लिए आधुनिक साधन जुटाने में असमर्थ हैं। इस क्षेत्र में इनकी रक्षा कौन करेगा? ब्रिटेन के हट जाने से जो शक्ति-शून्यता की स्थिति उत्पन्न हो जायगी, उसकी पूर्ति कौन करेगा? अमरीका वियतनाम से काफी बदनाम होकर निकला है तथा सीटो (SEATO) का संगठन फ्रांस एवं पाकिस्तान के आन्तरिक विरोध के कारण निर्जीव हो चुका है। चीन अवश्य ब्रिटेन का स्थान लेने को उत्सुक है, किन्तु उसकी विस्तारवादी प्रवृत्ति से द०-पू० एशिया के राष्ट्र सशंकित एवं चिन्तित हैं। इस भयावह स्थिति का प्रतिकार करने के लिए दो सुझाव दिये जाते हैं—प्रथम, द०-पू० एशिया को 'तटस्थ क्षेत्र' (Neutral Zone) बना दिया जाये और चीन सहित सभी देश इसकी तटस्थता को बनाये रखने की गारण्टी दें। दूसरा, आर्थिक सहयोग को बढ़ावा दिया जाये। यहाँ के सभी राष्ट्र एक-दूसरे के साथ सहयोग करते हुए अपना आर्थिक संगठन इतना सुदृढ़ बनाये कि कोई भी आक्रमणकारी यहाँ किसी भी देश को हानि नहीं पहुँचा सके।

3. **महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा**—द०-पू० एशिया में सोवियत संघ और चीन के हित आपस में टकराते हैं, जिससे उनके मध्य कभी भी युद्ध की सम्भावना उत्पन्न हो सकती है।

4. **सीमा विवाद**—इस क्षेत्र के कुछ देशों के बीच ऐसे विवाद उत्पन्न हो सकते हैं जो कभी भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के भंग होने के कारण बन सकते हैं। चीन-वियतनाम सीमा विवाद, इण्डोनेशिया-मलयेशिया विवाद ऐसे ही विवाद हैं।

दक्षिण-पूर्वी एशिया संगठन—'सीटो'
(SOUTH-EAST ASIAN TREATY ORGANIZATION—'SEATO')

द०-पू० एशिया में साम्यवादी चीन के विस्तार को रोकने के लिए 6 से 8 सितम्बर, 1954 तक फिलीपाइन द्वीपसमूह के बाग्यो नामक स्थान पर एक सम्मेलन हुआ जिसमें इस क्षेत्र के राष्ट्र बर्मा, भारत, श्रीलंका, इण्डोनेशिया, पाकिस्तान आदि को आमन्त्रित किया गया था, परन्तु पाकिस्तान के अतिरिक्त किसी भी देश ने इसमें भाग नहीं लिया। 8 सितम्बर, 1954 में ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, अमरीका, पाकिस्तान, फिलीपाइन, न्यूजीलैण्ड और थाईलैण्ड के प्रतिनिधियों ने द०-पू० एशिया की सामूहिक सुरक्षा और आर्थिक साधनों के विकास के उद्देश्य से एक सन्धि पत्र पर हस्ताक्षर किये जिसे 'दक्षिणी-पूर्वी एशिया सन्धि संगठन' (SEATO) की संज्ञा दी गयी।

इस सन्धि के अनुच्छेद 4 में कहा गया है कि किसी भी सदस्य राष्ट्र के विरुद्ध सशस्त्र आक्रमण की स्थिति में अथवा शान्ति भंग होने की आशंका पर सभी सदस्य राज्य अपनी वैधानिक प्रक्रियाओं के अनुसार सामूहिक कार्यवाही करेंगे। इस सन्धि पर हस्ताक्षर करते समय संयुक्त राज्य अमरीका ने अपनी स्पष्ट व्याख्या दी कि अनुच्छेद 4 के अन्तर्गत 'आक्रमण' का तात्पर्य 'साम्यवादी आक्रमण' से है अर्थात् केवल साम्यवादी आक्रमण के समय ही अमरीका सहायता
आपसी विवाद में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

इस सन्धि संगठन का मुख्य कार्यालय बैंकाक में है। इसकी एक 'परिषद' है जिसमें प्रत्येक सदस्य राष्ट्रों का एक-एक प्रतिनिधि होता है। परिषद की बैठक वर्ष में एक बार होती है। फ्रांस 1967 में इसकी सैनिक गतिविधियों से अलग हो गया तथा 1974 से उसने अपना अंशदान देना भी बन्द कर दिया।

जवाहरलाल नेहरू ने इसकी आलोचना करते हुए 'इसे एक प्रकार का मुनरो सिद्धान्त बताया जिसे द०-पू० एशिया के देशों पर जबरदस्ती थोप दिया गया है।' वी० के० कृष्णमेनन के शब्दों में, 'यह सुरक्षा का क्षेत्रीय संगठन नहीं है, अपितु ऐसे विदेशी लोगों का संगठन है, जिन्हें इस क्षेत्र में अपने न्यस्त स्वार्थों की रक्षा करनी है।' वस्तुतः 'सीटो' को क्षेत्रीय संगठन कहना उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इसमें द०-पू० एशिया के तीन राज्य शामिल है, लेकिन इसमें पश्चिम के पाँच राष्ट्र हैं। यथार्थ में 'सीटो' नवीन रूप में उपनिवेशवाद ही है। संयुक्त राज्य अमरीका ने पिछले वर्षों में दक्षिण वियतनाम, कम्बोडिया और लाओस में जिस प्रकार से हस्तक्षेप किया और कठपुतली सरकारों का निर्माण किया, उसके आधार पर इसे 'संरक्षण पद्धति का नग्न रूप' कहा जा सकता है।

व्यवहार में 'सीटो' कभी भी एक प्रभावशाली संगठन नहीं रहा है। इस सन्धि के बावजूद पाकिस्तान और फ्रांस ने मई 1965 में अमरीका के इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया कि सीटो देश वियतनाम युद्ध में सक्रिय सहायता दें।

दक्षिण-पूर्वी एशियाई राष्ट्र संगठन—'एशियान'
(ASSOCIATION OF SOUTH-EAST ASIAN NATIONS—'ASEAN')

द०-पू० एशिया के देशों की सुरक्षा कैसे की जाये ? आस्ट्रेलिया के विदेश मन्त्री ने सुझाव दिया था कि 'इसकी रक्षा करना हमारी जिम्मेदारी है, दूसरी शक्तियाँ हमारा भार क्यों उठायें ? सबसे सुरक्षित और विश्वसनीय उपाय तो अपनी शक्ति बढ़ाना तथा एशियाई देशों का संगठन सुदृढ़ बनाना है।' इस सन्दर्भ में 1967 में इण्डोनेशिया, मलयेशिया, सिंगापुर, थाईलैण्ड तथा फिलीपाइन्स के द्वारा 'दक्षिण-पूर्वी एशियाई राज्य संगठन' (ASEAN) का निर्माण किया गया है। इसका उद्देश्य इन क्षेत्र में एक साझा बाजार तैयार करना और सदस्य देशों के बीच आर्थिक सहयोग को बढ़ाना है। 14 सितम्बर, 1987 को मनीला में 'एशियान' का तीसरा शिखर सम्मेलन 10 वर्ष बाद प्रारम्भ हुआ। 'एशियान' ने आर्थिक व राजनीतिक मुद्दों पर बातचीत की। सदस्य देशों का मत था कि वियतनाम को कम्पूचिया से अपनी सेना हटा लेनी चाहिए। सम्मेलन में निर्णय लिया गया कि सदस्य देशों के बीच गहरे राजनीतिक व आर्थिक सम्बन्ध स्थापित किये जायेंगे। दो-दिवसीय शिखर सम्मेलन के अन्त में एशियान देशों ने आपसी व्यवहार बढ़ाने हेतु चार समझौतों पर हस्ताक्षर किये।

प्रश्न

1. वियतनाम युद्ध की समाप्ति का दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों की विदेश नीतियों पर क्या प्रभाव पड़ा है, इसकी विवेचना कीजिए।
   Discuss the impact of termination of war in Vietnam on the foreign policies of the South-East Asian countries.
2. वियतनामी जनता की विजय और उनके देश के एकीकरण होने के बाद विशेष रूप से दक्षिण-पूर्वी एशिया में अमरीका और चीन की भूमिका का एक आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
   Critically examine the role of the U. S. A. and China in South-East Asia particularly after the victory of Vietnamese people and unification of their country.

3. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर वियतनाम युद्ध के प्रभाव की परीक्षा कीजिए।
Examine the impact of Vietnam war on international politics.
4. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में दक्षिणी-पूर्वी एशिया की भूमिका एवं महत्व का विवेचन कीजिए।
Discuss the importance and role of South-East Asia in international affairs.
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—
(i) बाण्डुंग कॉन्फ्रेंस,
(ii) 1954 का जेनेवा समझौता,
(iii) कम्पूचिया की समस्या,
(iv) वियतनाम पर चीनी आक्रमण (1979)।
Write short notes on the following—
(i) Bandung Conference,
(ii) Geneva Settlement of 1954,
(iii) Compuchia Problem,
(iv) China's attack on Vietnam—1979.

20

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में मध्यपूर्व : अरब-इजराइल संघर्ष

[THE MIDDLE-EAST IN INTERNATIONAL POLITICS : ARAB-ISRAEL CONFLICT]

'मध्यपूर्व' एक विशिष्ट भौगोलिक प्रदेश है। यह वह क्षेत्र है जहाँ तीन महाद्वीप—एशिया, अफ्रीका एवं यूरोप मिलते हैं। धार्मिक दृष्टि से यह विश्व का सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्षेत्र है तथा विश्व के अनुमानित पेट्रोलियम भण्डार का 65% भाग यहाँ सुरक्षित है। विश्व की प्राचीन सभ्यता का केन्द्र एवं वर्तमान राजनीतिक जगत में महत्वपूर्ण 'मध्यपूर्व' सदियों से यूरेशियाई भू-राजनीति का एक प्रमुख क्षेत्र ही नहीं अपितु प्राचीन काल में उत्तरी अफ्रीका, पश्चिमी एशिया व यूरोपीय राज्यों का एक महान भौगोलिक क्षेत्र विश्व की आद्यतम व प्रसिद्धतम सभ्यताओं का जन्म-स्थल; यहूदी, ईसाई व इस्लाम धर्मों का मूल एकाकी केन्द्र; यातायात के विकासकाल का सुगम्य चतुष्पथ तथा संगम-स्थल एवं आधुनिक सभ्यता में सर्वाधिक योगदान प्रदान करने वाला भू-भाग रहा है।" वर्तमान में असीम तेल उत्पादन से आर्थिक महत्ता का, स्थिति की दृष्टि से सामरिक महत्ता का और प्राय: स्थायी अरब-इजराइल द्वेष की विद्यमानता से विश्व-राजनीति का सर्वाधिक अशान्त विशिष्ट एकांकी क्षेत्र है।

इस क्षेत्र के नामकरण पर विद्वानों का एकमत नहीं है। अत: इस क्षेत्र को अनेक नामों से पुकारा जाता है जैसे निकट पूर्व (Near East), अति निकट पूर्व (Nearer East), सांस्कृतिक मरुस्थल (Classic Deserts), अरब विश्व (Arab World), सभ्यता का उद्भव क्षेत्र (Cradle Land of Civilization), मध्यपूर्व (Middle East), दक्षिण-पश्चिम एशिया (South-West Asia), पश्चिमी एशिया (West Asia) आदि। यहाँ हम 'मध्यपूर्व' अथवा 'पश्चिमी एशिया' शब्दों का प्रयोग करना उपयुक्त समझते हैं। अमरीकन लोग इसे 'निकट पूर्व' (Near East) तथा भारत सरकार 'पश्चिमी एशिया' (West-Asia) कहना अधिक उपयुक्त समझती है।

'पश्चिमी एशिया' अन्तर्कलह का घर बना हुआ है। अरब राष्ट्रों की अन्तर्कलह, लेबनान का गृहयुद्ध, ईराक व इरान का सतत् संघर्ष और अरबों के साथ इजराइल की नित्य युद्ध-सिद्ध भंगिमा आदि ने पिछले कई दशकों से पश्चिमी एशिया को हिला रखा है। इसमें रूस व अमरीका की साम्राज्यवादी भूमिका ने तीव्रता व तनाव उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण योगदान किया है।

मध्य-पूर्व का अर्थ
(THE MIDDLE-EAST : MEANING)

मध्यपूर्व का क्षेत्र पाँच सागरों द्वारा अर्थात् भूमध्य सागर, काला सागर, केस्पियन सागर,

लाल सागर तथा फारस की खाड़ी द्वारा घिरा हुआ है जिसका विस्तार लगभग 32·8 लाख वर्ग किमी० में है तथा 790 लाख जनसंख्या यहाँ निवास करती है। इसमें टर्की, ईरान, सऊदी अरब, इराक, यमन, सीरिया, इजराइल, लेबनान, जोर्डन के अतिरिक्त अदन, कुवैत, बेहरीन, शेख राज्य, ओमन तथा मुस्कट शामिल किये जाते हैं। लार्ड लैंसजीवस्की के शब्दों में "मध्यपूर्व में एशिया के वे सब देश हैं जो सोवियत संघ के दक्षिण में और पाकिस्तान के पश्चिम में स्थित हैं तथा अफ्रीकी महाद्वीप पर स्थित मिस्र सम्मिलित है।" परन्तु गाईविण्ट ने अपनी पुस्तक 'मध्यपूर्व का संकट' (Middle-East in Crisis) में लिखा है कि, "मध्यपूर्व के सीमित अर्थ में मिस्र तथा एशिया के अरब राज्य समझे जाते हैं किन्तु प्रायः इसमें ईरान और टर्की तथा भूमध्यसागर पर अवस्थित लीबिया, ट्यूनीशिया, अल्जीरिया और मोरक्को का भी समावेश किया जाता है।"

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के समय मध्यपूर्व के केवल सात राज्य—टर्की, ईरान, इराक, मिस्र, सऊदी अरब, लेबनान तथा यमन स्वाधीन थे। 1960 तक सात राज्य और स्वाधीन हो गये तथा एक नवीन राज्य इजराइल का भी जन्म हुआ। शेष राज्य 1960 के बाद स्वाधीन हुए हैं। ओमन, कतार, बहरीन व अरब अमीरात स्वतन्त्र होने वाले अन्तिम राज्य हैं जिनका जन्म 1971 का है।

मध्यपूर्व के सभी राज्य प्रायः एक भाषा व धर्म से जुड़े हुए हैं। केवल इजरायल व लेबनान के अतिरिक्त सभी राज्य इस्लामी राज्य हैं, परन्तु अब लेबनान में भी इस्लाम धर्मावलम्बी बहुमत में हैं।

मध्यपूर्व के स्वतन्त्र राज्य

राज्य	क्षेत्रफल (वर्ग किमी०)	जनसंख्या (1972)
1. अल्जीरिया	23,22,164	1,52,70,000
2. मिस्र	10,02,000	3,49,39,000
3. लीबिया	17,49,000	20,84,000
4. मोरक्को	4,58,730	1,58,25,000
5. सूडान	25,05,813	1,64,89,000
6. ट्यूनीशिया	1,64,150	53,77,000
7. अफगानिस्तान	6,52,221	1,78,82,000
8. बहरीन	662	2,24,000
9. ईरान	16,47,064	3,05,50,000
10. इराक	4,37,522	1,00,74,000
11. इजराइल	20,700	31,24,000
12. जोर्डन	95,394	24,67,000
13. कुवैत	17,818	9,14,000
14. लेबनान	10,230	24,10,000
15. ओमान	2,13,380	6,99,000
16. कतार	11,400	1,70,000
17. सऊदी अरब	22,40,000	81,99,000
18. सीरिया	1,85,180	66,78,000
19. टर्की	7,79,452	3,70,10,000
20. अरब अमीरात	83,657	2,95,000
21. यमन (अदन)	2,87,680	15,15,000
22. यमन (साना)	2,00,000	60,62,000

विश्व राजनीति में मध्यपूर्व का आर्थिक-भौगोलिक महत्व
(POLITICO-GEOGRAPHICAL IMPORTANCE OF THE MIDDLE-EAST)

हैराल्ड गिसे के शब्दों में, "आज मध्यपूर्व का सम्पूर्ण प्रदेश किसी भी अन्य स्थल से अतुलनीय आर्थिक और राजनीतिक युक्ति चालन के लिए एक विशाल शतरंज फ़लक-सा प्रतीत होता है। युद्धोत्तर आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के लिए जटिल संघर्ष कहीं भी इतनी विघटनकारी सम्भावनाएँ नहीं रखता है, जितना कि विश्व के इस भाग में रखता है।" विश्व राजनीति में मध्यपूर्व की महत्ता के निम्नलिखित कारण हैं :

1. **सामरिक महत्व की स्थिति**—मध्यपूर्व यद्यपि विश्व का एक महानतम मरुस्थल है, परन्तु उसकी स्थिति की महत्ता इतनी अधिक है कि सभ्य जगत विकास के प्रत्येक चरण में इसके अधिकाधिक निकट आता रहा है। यह यूरोप, एशिया व अफ्रीका के सम्पर्क बिन्दु पर स्थित हैं, अतः विश्व द्वीप के समग्र परिवहन (स्थल, जल व वायु मार्गों) का संगम स्थल एवं विश्व यातायात में मार्ग परिवर्तन का संक्रामी बिन्दु है। पूर्व से पश्चिम के मध्य आने-जाने का मार्ग इसी क्षेत्र से गुजरता है। जिब्राल्टर, डार्डेनल्स व स्वेजमार्ग भूमध्यसागर व हिन्द महासागर के जल मार्गों को नियन्त्रित करते हैं। मोरक्को, मिस्र व टर्की क्रमशः जिब्राल्टर, स्वेज व डार्डेनल्स द्वारा मध्यपूर्व के मार्ग नियन्त्रण व सामरिक महत्व के नियामक बिन्दुओं की स्थिति ग्रहण किये हुए हैं। वायु मार्गों के विकास के पश्चात् इस क्षेत्र ने विश्व शक्तियों को न केवल सामरिक महत्व के महत्वपूर्ण अड्डे ही प्रदान किये हैं अपितु जल, स्थल व वायु मार्गों का तथा आर्थिक क्रियाओं का एक नवीन केन्द्र भी प्रदान किया है, जिससे इसका क्रियाशील सामरिक महत्व सिद्ध हुआ है।

पश्चिमी एशिया के देशों का एक बड़ा महत्व यह भी है कि वे इस समय तुर्की से अफगानिस्तान तक सोवियत संघ की सीमा माने जाते हैं। यदि इन देशों में अमरीका को सैनिक अड्डे प्राप्त हो जायें तो युद्ध होने की स्थिति में वहाँ सुगमतापूर्वक आक्रमण किया जा सकता है। इसी प्रकार भूमध्यसागर के तट पर यदि सोवियत संघ को कोई अनुकूल देश प्राप्त हो जाये तो पश्चिम मिस्र, तुर्की, उत्तर और दक्षिण दोनों दिशाओं से घिर जायेगा और तब उस हालत में पश्चिमी देशों के लिए पूर्वी भूमध्यसागर में अपनी स्थिति बनाये रखना बड़ा कठिन हो जायेगा।

2. **स्वेज नहर**—विश्व के दो महान समुद्रों को मिलाने वाला स्वेज का नहरी मार्ग 1869 में जब बनकर तैयार हुआ तो यही विश्व की सर्वप्रथम निर्मित होने वाली व सर्वाधिक लम्बाई-चौड़ाई की जहाजी नहर थी। स्वेज नहर भूमध्यसागर व लालसागर को मिलाती है जिसकी पोर्ट सईद से स्वेज तक लम्बाई 162 किलोमीटर, सामान्य चौड़ाई 153 मीटर तथा मुख्य जहाजी धारा की चौड़ाई 60 मीटर है जिसमें 11 मीटर गहरे जहाज व 1,10,000 टन के टैंकर आसानी से गुजर सकते हैं। इस नहर के खुल जाने से लन्दन-कोलम्बो मार्ग बहुत छोटा हो गया। पहले आशा अन्तरीप का चक्कर लगाकर जाने वाला जहाज लन्दन से कोलम्बो की दूरी 16,891 किलोमीटर पार कर पहुँचता था, उस गन्तव्य स्थान को अब स्वेज मार्ग से जहाज केवल 10,691 किलोमीटर की यात्रा पर पहुँच जाता है। इससे संयुक्त राज्य अमरीका व सोवियत संघ भारत के काफी समीप आ गये। संयुक्त राज्य अमरीका तक 10 दिन तथा सोवियत संघ तक पहुँचने में अब 28 दिन की बचत होती है। उसका प्रभाव समय व ईंधन की बचत पर भी यथेष्ट पड़ा।

स्वेज का जल मार्ग यूरोप को दक्षिण-पूर्वी एशिया, आस्ट्रेलिया, अमरीका तथा अफ्रीका से जोड़ता है। पश्चिमी यूरोप के औद्योगिक कारखानों में तैयार होने वाला माल दक्षिण-पूर्वी एशिया को इसी प्रदेश के जलमार्ग से होकर जाता है और उसे अपने उद्योग-धन्धों को चलाने का एक प्रधान आवश्यक तत्व पेट्रोल भी इसी मार्ग से प्राप्त होता है। स्वेज नहर के बन्द हो जाने से पूर्व और पश्चिम का व्यापार खत्म हो सकता है या उसमें बड़ी बाधा पड़ सकती है। अतएव इस

जलमार्ग की सुरक्षा पश्चिमी यूरोप के लिए जीवन तथा मरण का प्रश्न है। यही कारण है कि पश्चिमी यूरोप तथा अमरीका इस क्षेत्र में अपने विरोधी सोवियत संघ की प्रभाव वृद्धि को कभी सहन नहीं कर सकते।

3. **तेल भण्डार**—मध्य-पूर्व की राजनीति का प्रमुख नियन्त्रक तत्व खनिज तेल है जिसके कारण यहाँ विदेशियों का आकर्षण रहा और आज भी है। इस क्षेत्र को अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों का केन्द्र बनाने का श्रेय भी खनिज तेल का ही है। यहाँ खनिज तेल के भण्डार का इतना अधिक महत्व है कि यहाँ की कूटनीति 'तेल कूटनीति' (Oil Diplomacy) के समरूप हो गयी है। मध्यपूर्व में विदेशियों का प्रमुख आकर्षण खनिज तेल रहा है; इसी कारण उन्होंने यहाँ स्थानीय राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेना प्रारम्भ किया। मध्यपूर्व वास्तव में एक उदाहरण प्रस्तुत करता है कि सामरिक महत्व के खनिज किस प्रकार से राजनीति के विविध स्वरूपों को प्रभावित करते हैं। विश्व के अनुमानित पैट्रोलियम भण्डार का लगभग 55·8% भाग इसी क्षेत्र में स्थित है, जो अमरीका की रुचि में और अधिक वृद्धि कर देता है।

मध्य-पूर्व में खनिज तेल का आर्थिक एवं राजनीतिक महत्व इससे सम्बन्धित विश्व के प्रमुख देशों अर्थात् ब्रिटेन, अमरीका एवं सोवियत संघ के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। ब्रिटेन में खनिज तेल का लगभग अभाव है। अतः उसे जल, वायु एवं सड़क परिवहन के लिए तथा वहाँ स्थित तेल शोधक कारखानों एवं उनसे उत्पादित विविध पदार्थों के लिए कच्चा खनिज तेल मध्य-पूर्व से ही उपलब्ध होता है। अतः ब्रिटेन इस क्षेत्र में सदैव सक्रिय रहा। अमरीका का प्रमुख आकर्षण भी यहाँ सा खनिज तेल ही है। इसी कारण मध्यपूर्व के अनेक देशों में, विशेषकर सऊदी अरब में, अमरीका ने तेल सुविधा प्राप्त की है। इसके साथ ही अप्रत्यक्ष रूप में यहाँ की राजनीति में भी उसका आकर्षण है, क्योंकि यह क्षेत्र सोवियत संघ के निकट तथा एशिया एवं यूरोप के मध्य अति महत्वपूर्ण भौगोलिक स्थिति रखता है। सोवियत संघ का यद्यपि स्वयं का उत्पादन विश्व का लगभग 10% है, किन्तु वहाँ इसकी खपत में वृद्धि हो रही है। इसी आवश्यकता के कारण इस क्षेत्र के खनिज तेल में विशेषकर उत्तरी ईरान के खनिज तेल में उसका विशेष आकर्षण है।

खनिज तेल का अत्यधिक सामरिक महत्व होने के कारण यह मध्यपूर्व के हाथों में एक प्रमुख भू-राजनीतिक अस्त्र है, जिसके द्वारा यहाँ की राजनीति नियन्त्रित है। कार्लसन ने ठीक ही लिखा है कि यहाँ की कुटनीति 'तेल कूटनीति' के समरूप हो गयी है। खनिज तेल का 'राजनीतिक हथियार' (Political Weapon) के रूप में प्रयोग किया जा सकता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण अक्टूबर 1973 के अरब-इजराइल के संघर्ष के पश्चात् स्पष्ट हो जाता है। अरब देशों के हाथों में यह एक महान् कूटनीतिक शक्ति है, जिसका प्रयोग ये देश आज कर रहे हैं। इससे पूर्व इसका स्पष्ट प्रयोग नहीं किया गया था। 8 अरब देशों ने, जिनमें सऊदी अरब तथा कुवैत भी सम्मिलित हैं, संयुक्त राज्य अमरीका को तेल भेजने पर प्रतिबन्ध लगा दिया, 5 देशों ने हालैण्ड को तेल निर्यात में कटौती की तथा इजराइल समर्थक देशों के लिए तेल भेजने पर प्रतिबन्ध लगा दिये। इसके परिणामस्वरूप जापान तथा यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशों ने अरबों के पक्षों में विचार व्यक्त किये। इसके अतिरिक्त, जो देश अरबों का समर्थन कर रहे हैं उनको पर्याप्त तेल उपलब्ध हो रहा है। संक्षेप में, खनिज तेल का अत्यधिक सामरिक महत्व है तथा पश्चिमी एशिया की राजनीति इसी के द्वारा नियन्त्रित एवं निर्धारित हो रही है।

4. **अरब राष्ट्रीयता**—मध्यपूर्व की राजनीति को प्रभावित करने वाला एक अन्य प्रमुख तत्व अरब राष्ट्रीयता है। इस राष्ट्रीयता की मुख्य विशेषता पश्चिमी साम्राज्यवाद का उग्र विरोध तथा राजनीतिक स्वाधीनता के लिए सतत् संघर्ष है। यह राष्ट्रीयता आर्थिक और सामाजिक सुधारों पर भी बल देती है। अरब राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति अरब-यहूदी संघर्ष, ईरान में तेल

उद्योग का राष्ट्रीकरण, स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण तथा अरब लीग और अरब एकता के प्रयत्नों में देखी जा सकती है।

5. **मध्यपूर्व एक महान धार्मिक क्षेत्र**—मध्यपूर्व ईसाई, इस्लाम व यहूदी धर्मों का प्रमुख केन्द्र-स्थल रहा है। वर्तमान मध्यपूर्व के 21 राज्य इस्लाम धर्म के अनुयायी तथा अरबी-भाषी राज्य हैं। इजराइल में 90 प्रतिशत से अधिक यहूदी हैं। अतः इजराइल के अतिरिक्त शेष मध्यपूर्व इस्लाम भूमि है। यरूशलम मुसलमानों, यहूदियों व ईसाइयों का पवित्र नगर रहा है। ईसामसीह का कार्य-क्षेत्र यरूशलम से दमिश्क, ऐलेपी व वेथलेहेम रहा। अब्राहम का कार्य-क्षेत्र भी कनार फिलिस्तीन से ही प्रारम्भ हुआ था। यहूदी भी फिलिस्तीन को ही अपना एकमात्र घर मानते हैं। मक्का 7वीं शताब्दी में भी इस्लाम का सबसे बड़ा तीर्थ-स्थल था। पवित्र घर 'यरूशलम' के विभाजन से अरब-यहूदी संघर्ष ने एक ऐसा ऐतिहासिक रूप धारण कर लिया जिसका निकट भविष्य में कोई अन्त दिखायी नहीं देता है।

यद्यपि इस्लाम विभिन्न देशों को एकता के सूत्र में ग्रन्थित करने वाला है किन्तु इसमें दो परस्पर विरोधी सम्प्रदाय सुन्नी तथा शिया हैं। ईरान में शिया मुसलमानों का वहुमत है, अन्यत्र सुन्नियों का। इराक में आधे मुसलमान शिया हैं। इसका यहाँ की राजनीति पर काफी प्रभाव पड़ता है। सऊदी अरब में वहाबी सम्प्रदाय के मुसलमान हैं। इजराइल में वहुसंख्या यहूदियों की है। लेवनान में आधी जनसंख्या ईसाई है किन्तु मेनोराइट, ग्रीक आर्थोडाक्स, आर्मीनियन तथा रोमन कैथोलिकों में विभक्त है। मुस्लिम जनसंख्या शिया-सुन्नी सम्प्रदायों में बँटी हुई है। इससे स्पष्ट है कि जहाँ इस्लाम इस प्रदेश में धार्मिक एकता स्थापित करने वाला है, वहाँ इसके तथा ईसाइयत के विभिन्न सम्प्रदाय भेद उत्पन्न करने वाले भी हैं।

6. **यहूदीवाद**—मध्यपूर्व की राजनीति को यहूदीवाद ने बड़ा ही प्रभावित किया है। इसका उद्देश्य फिलिस्तीन में यहूदियों के एक राज्य को पुनः स्थापित करना था। प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व यहूदी राज्य की स्थापना के लिए संगठित आन्दोलन चलाया गया और अंग्रेजों की ओर से यहूदी आन्दोलन को वड़ा प्रोत्साहित कर दिया गया। 1946 में फिलिस्तीन में यहूदी राज्य की स्थापना कर दी गयी। उसके बाद अरब-यहूदी संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है तथा सारे अरब राज्यों की नीति इस यहूदी राज्य (इजराइल) का विरोध करना तथा उस पर सशस्त्र आक्रमण करके उसका नामोनिशान मिटा देना रहा।

मध्यपूर्व में महाशक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता
(THE MIDDLE-EAST & THE SUPER POWERS)

मध्यपूर्व की सामरिक स्थिति के कारण उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही महाशक्तियाँ इस प्रदेश में दिलचस्पी लेने लगी थीं। बीसवीं शताब्दी में जव इस प्रदेश में खनिज तेल का पता लगा तब उनकी दिलचस्पी और भी अधिक बढ़ गयी। मध्यपूर्व के देशों के पास तेल था, परन्तु उनके पास तेल निकालने के लिए आवश्यक तकनीकी ज्ञान नहीं था, इसलिए यहाँ के लोगों के लिए ब्रिटिश, डच, फ्रेंच या अमरीकी लोगों की साझेदारी में कार्य करना आवश्यक हो गया। इससे मध्यपूर्व महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा का अखाड़ा वन गया। डॉ० एम० एस० अगवानी के अनुसार, 'मध्यपूर्व के सामरिक महत्व और तेल के कारण ही दोनों महाशक्तियाँ इस क्षेत्र पर अपना-अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहती हैं, अपने प्रभाव को वढ़ाना चाहती हैं, और दूसरे के प्रभाव को कम करना चाहती हैं।' मध्यपूर्व को सवसे अधिक प्रभावित करने वाली शक्तियाँ—ब्रिटेन, अमरीका और सोवियत संघ हैं।

मध्यपूर्व और ब्रिटेन—मध्यपूर्व में ब्रिटेन की दिलचस्पी काफी पुरानी है। 1882 से ब्रिटेन ने अपना प्रभाव मिस्र पर स्थापित करना प्रारम्भ किया और तब से वह लगातार इस प्रदेश पर

अपना प्रभुत्व बढ़ाता रहा था। राष्ट्रसंघ द्वारा ट्रान्सजोर्डन का संरक्षण ब्रिटेन को प्राप्त हुआ। प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व ही ब्रिटेन ने यह घोषित कर दिया था कि मेसोपोटेमिया और फारस की खाड़ी में उसके महत्वपूर्ण स्वार्थ हैं। इराक पर भी ब्रिटेन का अधिकार हो गया था। पेलेस्टाइन पर ब्रिटेन को मैण्डेट प्राप्त हो गया था। स्वेज नहर पर उसका आधिपत्य था। स्वेज नहर की रक्षा हेतु ब्रिटिश सेना इस क्षेत्र में रहती थी। अदन और साइप्रस में उसके सैनिक अड्डे थे। परन्तु द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद मध्यपूर्व में ब्रिटिश प्रभाव का तेजी से ह्रास हुआ। लगभग सभी प्रदेश उसके हाथ से निकल गये। ईरान में उसकी तेल कम्पनी का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया। 26 जुलाई, 1956 को राष्ट्रपति नासिर ने स्वेज नहर कम्पनी का राष्ट्रीयकरण कर दिया। स्वेज से उसे अपमानजनक परिस्थितियों में हटना पड़ा। 1956 में स्वेज संकट के समय ब्रिटेन का रहा-सहा प्रभाव भी समाप्त हो गया।

मध्यपूर्व और अमरीका—मध्यपूर्व में अमरीका की दिलचस्पी प्रथम विश्व-युद्ध के बाद प्रारम्भ होती है। अमरीकी दिलचस्पी के तीन प्रधान कारण हैं—**प्रथम**, अमरीका मध्यपूर्व के तेल में रुचि रखता है; **द्वितीय**, फिलिस्तीन के प्रश्न पर अमरीका प्रथम महा-युद्ध के बाद विशेष रुचि लेने लगा। यहूदी राज्य के निर्माण में अमरीका की विशेष दिलचस्पी थी। अमरीका में लगभग 50 लाख यहूदियों के मत और उनके धन से वहाँ की राजनीति प्रभावित हो रही थी; **तृतीय**, इस प्रदेश में अमरीका रूसी विस्तार को रोकना चाहता था। अमरीका का मानना था कि फ्रांस और ब्रिटेन के इस क्षेत्र से हट जाने के बाद यहाँ शक्ति-रिक्तता आ जायेगी जिसे सोवियत संघ भरने का प्रयत्न करेगा।

अमरीका ने इजराइल राज्य के निर्माण को एक घण्टे में ही मान्यता प्रदान कर दी। फिलिस्तीन में इजराइल की स्थापना अमरीकी आशीर्वाद का परिणाम थी। इजराइल को अमरीका ने लगातार प्रचुर मात्रा में शस्त्रों की सहायता दी। राष्ट्रपति अनवर सआदत के शब्दों में, 'हर बार जब मैं 1 दर्जन टैंकों को नष्ट करता, तो उससे अधिक टैंक युद्ध-क्षेत्र में नजर आते।'

मध्यपूर्व में सोवियत प्रभाव को अवरुद्ध करने के लिए राष्ट्रपति आइजनहावर ने जनवरी 1957 में 'आइजनहावर सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया, जिसके अनुसार मध्यपूर्व में ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा रिक्त किये गये स्थान पर बढ़ते हुए सोवियत प्रभाव को अवरुद्ध करना तथा अमरीकी प्रभाव में वृद्धि करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। आइजनहावर सिद्धान्त के अन्तर्गत अमरीका ने 10 हजार सैनिक लेबनान में भेजे और जुलाई 1958 में जोर्डन के शाह को 75 लाख डॉलर की नयी आर्थिक सहायता दी। 1955 में अमरीकी प्रेरणा से 'बगदाद पैक्ट' (बाद में सेण्टो) का गठन किया गया। अमरीकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर तथा विदेश सचिव हेनरी किसिंजर के प्रयत्नों से इजराइल और मिस्र के बीच 1975 में सिनाय समझौता तथा 1978 में कैम्प डेविड समझौता हुआ। मार्च 1979 की मिस्र-इजराइल शान्ति सन्धि मध्यपूर्व में अमरीकी कूटनीति की एक महत्वपूर्ण सफलता है।

मध्यपूर्व और सोवियत संघ—मध्यपूर्व में जारों के शासन काल से ही रूस की अभिरुचि रही है। तभी से वह दर्रे दानियाल एवं वासफोरस जलडमरूमध्यों को हथिया लेने तथा ईरान के तेल पर अधिकार करने का प्रयत्न करता रहा है। सोवियत संघ मध्यपूर्व में पश्चिमी उपनिवेश-वाद का विरोधी रहा है। 1966 के स्वेज संकट के समय सोवियत संघ ने अरब राष्ट्रों का समर्थन किया। 1967 के अरब-इजराइल युद्ध में उसने अरबों का खुला साथ दिया। सोवियत संघ अरब राष्ट्रों के संरक्षक के रूप में माना जाता है। वह उनके शस्त्र भण्डारों का मुख्य स्रोत है। वह उन्हें आर्थिक विकास के लिए सहायता देता है। आस्वान बाँध के निर्माण में सोवियत संघ ने मिस्र की पूरी सहायता की।

संक्षेप में, मध्यपूर्व में शान्ति और युद्ध का फैसला करना अरब या इजरायल का काम नहीं; वरन् महाशक्तियों का काम है। मध्यपूर्व रूस और अमरीका के शीत-युद्ध का अखाड़ा बना हुआ है। अमरीका अपनी सैनिक और आर्थिक सहायता के बल पर तथा सोवियत संघ अपनी भौगोलिक समीपता और साम्यवादी विचारधारा के आकर्षण से केवल इस प्रदेश पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है।

अरब राष्ट्रवाद : अरब एकता
(ARAB NATIONALISM : ARAB UNITY)

मध्यपूर्व की सम्पूर्ण अरब जाति में राष्ट्रवाद का विकास युद्धोत्तरकालीन इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। द्वितीय महायुद्ध के बाद अरब जगत में राष्ट्रीय भावना बहुत प्रबल हुई और सभी अरब राष्ट्रों ने साम्राज्यवाद को अरब भूमि से निकाल फेंकने का संकल्प कर लिया। परिणामस्वरूप परतन्त्र अरब राष्ट्र एक-एक करके स्वाधीन होते चले गये। 1944 में सीरिया और लेबनान स्वतन्त्र हुए, जोर्डन की स्वतन्त्रता को ब्रिटेन ने 1946 में मान्यता दी और लीबिया 1951 में स्वतन्त्र हुआ। राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के बाद इन राष्ट्रों ने अपनी भूमि से विदेशी सैनिक अड्डों का हटाना शुरू किया। 1951 में 'ऐंग्लो ईरानी तेल कम्पनी' का राष्ट्रीयकरण हुआ तथा 1956 में 'स्वेज नहर' का राष्ट्रीयकरण किया गया। अरब राष्ट्रवाद की प्रमुख विशेषता यह है कि यूरोपीय राष्ट्रवाद की भाँति विस्तारवादी नहीं है।

अरब राष्ट्रवाद का एक महत्वपूर्ण रूप अरब एकता का सम्मेलन है। अरब एकता के आन्दोलन के प्रथम चरण में 'अरब लीग' की स्थापना की गयी। अरब लीग की स्थापना का विचार सर्वप्रथम अक्टूबर 1944 में पाँच राज्यों—मिस्र, सीरिया, ट्रांस जोर्डन, इराक व लेबनान ने प्रस्तुत किया। 22 मार्च, 1945 को 'अरब लीग' का जन्म हुआ। प्रारम्भ में इसकी सदस्यता मिस्र, इराक, लेबनान, सऊदी अरब, सीरिया, जोर्डन और यमन ने स्वीकार की बाद में लीबिया, सूडान, ट्यूनीशिया, मोरक्को, कुवैत भी इसके सदस्य बन गये। अरब लीग के निम्नांकित उद्देश्य घोषित किये गये—(i) सदस्य राष्ट्रों में मैत्री को सुदृढ़ बनाना, (ii) उनके राजनीतिक कार्यों में सामंजस्य उत्पन्न करना, (iii) उनकी स्वाधीनता की रक्षा करना, (iv) फिलिस्तीन में आवास हेतु यहूदियों के बढ़ते हुए आगमन को रोकना। अरब लीग के संगठन में एक परिषद् (मजलिस), कुछ समितियाँ तथा काहिरा में स्थापित एक सचिवालय है। सदस्य राज्यों के व्यक्तिगत वैमनस्य व मतभेदों के कारण अरब लीग कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं कर पायी। यह लीग प्रारम्भ में ही मिस्री प्रधानमन्त्री नहसपाशा और इराकी प्रधानमन्त्री नूरी अस्सय्यद की महत्वाकांक्षाओं का संघर्ष-स्थल बन गयी। बाद में मिस्री राष्ट्रपति नासिर ने भी अरब लीग का अपनी राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में उपयोग करने का प्रयत्न किया। इजराइल के प्रति अरब राष्ट्रों की शत्रुता ही वास्तव में अरब लीग को जीवित रखे हुए है।

अरब एकता का दूसरा महत्वपूर्ण चरण फरवरी 1958 में सीरिया व मिस्र को मिलाकर 'संयुक्त अरब गणराज्य' (U. A. R.) का निर्माण था। इसके तुरन्त बाद इराक व जोर्डन ने मिलकर 'अरब संघ' (Arab Federal Union) बना डाला। जुलाई 1958 में इराकी क्रान्ति के कारण ''अरब संघ' टूट गया और सितम्बर 1961 में सीरिया 'संयुक्त अरब गणराज्य' से पृथक् हो गया।

अरब एकता का तीसरा महत्वपूर्ण चरण 13 अगस्त, 1964 को 'संयुक्त अरब गणराज्य' (मिस्र) ने इराक, कुवैत, जोर्डन और सीरिया के साथ मिलकर एक 'अरब साझा बाजार' बनाने के समझौते पर हस्ताक्षर किये जिसका उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों के मध्य उत्पादित वस्तुओं व मुद्रा के

स्वतन्त्र आवागमन की व्यवस्था करना था। जनवरी 1965 में यह 'साझा बाजार' अस्तित्व में आना था, परन्तु आज तक इसका निर्माण नहीं हो सका है।

अरब एकता धीरे-धीरे खण्डित होती गयी। कैम्प डेविड समझौते के पश्चात् अरब राष्ट्र दो खेमे में बँटे हुए दिखायी देने लगे। कैम्प डेविड समझौते के विरुद्ध प्रक्रिया करने के लिए दमिश्क में 20 सितम्बर, 1978 को लघु शिखर सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें सीरिया, लीबिया, अल्जीरिया, दक्षिणी यमन और पी० एल० ओ० ने हिस्सा लिया। 1979 की मिस्र-इजराइल सन्धि ने अरब एकता को जबरदस्त झटका दिया है। मिस्र से इजरायल के साथ पृथक् सन्धि करके खर्तूम में हुए उस सामूहिक वचन को भंग कर दिया जिसमें कहा गया था कि जब तक इजराइल अधिकृत अरब भूमि को खाली नहीं कर देता तब तक न शान्ति होगी, न इजराइल को मान्यता दी जायेगी। शान्ति सन्धि पर हस्ताक्षर होने के ठीक बाद मार्च 1970 में जब बगदाद में अरब लीग के उन्नीस विदेश एवं वित्त मन्त्रियों का सम्मेलन हुआ तो उसमें मिस्र के राजनीतिक, आर्थिक और कूटनीतिक बहिष्कार की नीति अपनायी गयी। अरब देशों ने यह भी निश्चय किया कि वे मिस्र को न तेल देंगे और न उनसे व्यापार करेंगे। 16 अरब देशों ने मिस्र से अपने राजदूतों को वापस बुला लिया। सऊदी अरब ने हथियार बनाने वाली एक मिस्री कम्पनी को बन्द कर दिया। अरब जगत के निर्गुट राष्ट्रों ने अपने 'बहिष्कार आन्दोलन' को निर्गुट शिखर सम्मेलन में घसीटना चाहा। हवाना शिखर सम्मेलन में अरब राष्ट्रों ने मिस्र को निर्गुट आन्दोलन से निलम्बित करने की माँग रखी। वस्तुतः अरब एकता अब खण्डित हो चुकी है और खण्डित अरब एकता महाशक्तियों को मध्यपूर्व में अपने पाँव जमाने का अवसर प्रदान करती है।

सम्पूर्ण अरब जगत में धर्म, ईश्वर और भाषा की समानता होने, एक-सी भौगोलिक, सामाजिक व आर्थिक स्थिति होने तथा उपनिवेशवाद एवं यहूदीवाद के प्रति समान घृणा होने के बावजूद अरब राष्ट्रों में एकता की आशा करना व्यर्थ है। पॉमर एवं पर्किन्स के अनुसार, 'अरब जगत में एकता की सम्भावना उसकी मरुभूमि में मृग-मरीचिका की भाँति है।' इसके कई कारण हैं—प्रथम, अरब चरित्र बहुत व्यक्तिवादी है। कोई भी अरब देश किसी दूसरे अरब राज्य के प्रभाव या दबाव में रहने के लिए तैयार नहीं है। द्वितीय, कुछ अरब राज्याध्यक्षों में वंश परम्परागत शत्रुता विद्यमान है। जोर्डन के शाह हुसैन और सऊदी अरब के शाह फैजल में खानदानी दुश्मनी है। तृतीय, अरब जगत के नेतृत्व के प्रश्न पर राष्ट्रों में सहमति नहीं है। अरब राष्ट्रों में संयुक्त अरब गणराज्य सबसे उन्नत अवस्था में है, अतः स्वाभाविक रूप से अरब जगत का नेतृत्व वह अपने हाथ में रखना चाहता है। परन्तु मक्का और मदीना जैसे तीर्थ-स्थानों के अपने प्रदेश में होने के कारण सऊदी अरब अपने को अरब जगत में महत्वपूर्ण समझता है। इराक को भी संयुक्त अरब गणराज्य का नेतृत्व स्वीकार नहीं है। चतुर्थ, अरब राष्ट्र आन्तरिक फूट, कलह और गुटबन्दी के शिकार हैं। कुछ अवसरों पर तो अरब लीग की बैठकों को आयोजित करने के स्थान और विषय-सूची को लेकर ही सदस्य राष्ट्रों में झगड़ा हो जाता है। संयुक्त अरब गणराज्य, इराक, सीरिया, लेबनान, जोर्डन, सऊदी अरब, यमन और कुवैत किसी भी प्रश्न पर सहमत नहीं होते हैं।

मध्यपूर्व : मजहब की राजनीति
(THE MIDDLE-EAST : POLITICS OF RELIGION)

मध्यपूर्व के मुस्लिम राज्यों ने इजराइल के साथ अपने विवाद को तय करने में मजहब को हथियार के रूप में प्रयोग करने का प्रयास किया है। इन राज्यों ने इस्लामी राज्यों का संगठन बनाकर उसके माध्यम से इजराइल पर दबाव डालने की कोशिश की। 1965 में जकार्ता सम्मेलन में अफ्रेशियाई इस्लामी संगठन बनाने का निर्णय लिया गया। 1978 में अफ्रेशियाई इस्लामी संगठन का दूसरा सम्मेलन जेद्दा में हुआ। संगठन को नया नाम दिया गया—अन्तर्राष्ट्रीय इस्लामी

सम्मेलन। मुस्लिम राज्यों का पहला शिखर सम्मेलन मोरक्को की राजधानी रबात में 22 सितम्बर, 1969 को हुआ, जिसमें 26 इस्लामी देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन बुलाने का तात्कालिक कारण यरूशलम स्थित 1,400 वर्ष पुरानी अल-अक्सा मस्जिद का अग्निकाण्ड था। इस्लाम धर्म के इतिहास के 1,400 वर्ष के इतिहास में यह पहला अवसर था कि विश्व के सभी मुस्लिम देश एक ऐसी समस्या पर विचार करने के लिए इकट्ठे हुए थे जिसका सम्बन्ध उन सभी से समान रूप से था। 2 मार्च, 1970 को जेद्दा में 22 मुस्लिम देशों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन हुआ। यहाँ अरब-इजराइल विवाद के इस्लामीकरण के प्रयास किये गये। फरवरी 1974 में 36 देशों के प्रतिनिधि लाहौर के इस्लामी सम्मेलन में सम्मिलित हुए तथा एक प्रस्ताव में यरूशलम से इजरायली सैनिकों के तुरन्त हटाने की माँग की गयी। फरवरी 1980 में इस्लामाबाद मे इस्लामी देशों के विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप से उत्पन्न स्थिति पर विचार करने के लिए बुलाया गया।

अरब-इजराइल संघर्ष
(ARAB-ISRAEL CONFLICT)

पेलेस्टाइन का विभाजन एवं इजराइल का जन्म—फिलिस्तीन समस्या और इजराइल का जन्म इस संघर्ष का मूल है। भूमध्य सागर के पूर्वी तट पर स्थित पश्चिम एशिया का एक भू-भाग लगभग 4,000 वर्षों का इतिहास लिये हुए है जो ईजील हिब्रू, क्रूसेडर, मामलूक, तुर्क, अरबों व अंग्रेजों के अधीन रहकर 1948 में अरब व इजराइल राज्यों में विभक्त हो गया। फिलिस्तीन का हृदय-स्थल यरूशलम, 2,000 वर्षों से यहूदी, ईसाई व मुसलमानों का सबसे बड़ा धार्मिक केन्द्र रहा है और इस महत्ता से तीनों धर्मों ने समय-समय पर इस पर अधिकार करने के अथक प्रयास किये। फिलीस्तीन प्रथम विश्व-युद्ध तक तुर्क साम्राज्य के अधीन था। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद इसे राष्ट्र-संघ के तत्वाधान में 'मेंडेण्ट' बना दिया गया। ब्रिटिश नियन्त्रण के पश्चात् इस क्षेत्र में यहूदी लोग अधिक संख्या में आकर बसने लगे तथा उनका अनुपात 1920 में 16% से 1947 में 24% हो गया। बाहर से आये यहूदी स्थानीय अरब लोगों से अधिक शिक्षित, सम्पन्न एवं कर्मठ थे। अतः उन्होंने कृषि, उद्योग आदि में प्रगति की और समस्त व्यापारिक प्रतिष्ठानों को अपने नियन्त्रण में कर लिया। फलस्वरूप अरब निवासियों में प्रतिरोध की भावना जाग्रत हुई। उन्होंने 1939 में बाहर से आने वाले यहूदियों की संख्या प्रतिवर्ष 15 हजार करने की माँग की, किन्तु यूरोप के यहूदी फासिज्म के शिकार होने के कारण यहाँ आने को इच्छुक थे।

ग्रेट ब्रिटेन ने पेलेस्टाइन में अपने अधिकारों का उपयोग दोहरी राजनीति के अन्तर्गत किया। उसने प्रथम विश्व-युद्ध के समय अरबों से यह वायदा किया कि युद्ध में विजय के पश्चात् फिलिस्तीन को अरब राष्ट्रों के साथ मिला दिया जायगा और अरब तुर्क शासन से मुक्त हो सकेंगे। इसी समय धनी व सम्पन्न यहूदी समाज को भी ग्रेट ब्रिटेन ने फिलिस्तीन में बसने का निमन्त्रण दे दिया। ब्रिटेन ने ऐसा इसलिए किया क्योंकि उस पर संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार व उसके यहूदी समाज का दबाव पड़ रहा था। वैसे तो 2 नवम्बर, 1917 को ब्रिटिश विदेश मन्त्री बेलफोर ने 'यहूदियों के राष्ट्रीय घर' की स्थापना की घोषणा की थी। यह बेलफोर घोषणा कहलाती है जिसमें कहा गया था कि ब्रिटिश सरकार फिलिस्तीन में यहूदियों के लिए एक राष्ट्रीय गृह (National Home) का निर्माण करना चाहती है। विश्व के यहूदियों ने इस घोषणा को अर्थात् फिलिस्तीन उन्हें सौंपने का ब्रिटिश वायदा मान लिया और दुनिया भर से यहूदी फिलिस्तीन में आकर बसने व बसाये जाने लगे। अप्रैल 1920 में मित्र राष्ट्रों से ब्रिटेन को फिलिस्तीन का मेण्डेट मिला था और जून 1922 में ब्रिटिश सरकार ने सरकारी घोषणा कर फिलिस्तीन में यहूदी राष्ट्रीय घर स्थापित करने की पुष्टि कर दी। जून 1922 में अमरीका ने भी इसकी पुष्टि कर अपने राज्य

के यहूदी समाज का विश्वास जीत लिया। ग्रेट ब्रिटेन ने घोषणा के बाद विश्व के सभी भागों से और मुख्यतः यूरोपीय राज्यों से यहूदियों को यहाँ तेजी से बसाया, और अरबों की भूमि उन्हें हस्तान्तरित कर दी गयी। इससे धार्मिक द्वन्द्व ने राजनीतिक संघर्ष का रूप ग्रहण कर लिया और अरबों तथा यहूदियों में मारकाट बढ़ गयी। संघर्ष दिनानुदिन नियोजित रूप से बढ़ता गया और 1937 तक स्थिति इतनी खराब हो गयी कि ब्रिटिश सरकार इसे अपने अधिकार के अन्तर्गत अनुशासित रखने में असमर्थ हो गयी। इस समस्या के समाधान हेतु निर्मित 'पील कमीशन' ने फिलिस्तीन को अरब व यहूदी सम्भागों में विभक्त करने की सिफारिश कर दी। अप्रैल 1947 में ब्रिटेन ने फिलिस्तीन समस्या संयुक्त राष्ट्र संघ को सौंप दी। संयुक्त राष्ट्र महासभा ने इस समस्या के समाधान हेतु मई 1947 में 11 राज्यों की एक समिति गठित की, जिसमें भारत भी एक सदस्य था। इस समिति ने पील कमीशन के निर्णयों की पुष्टि करते हुए फिलिस्तीन को तीन भागों में विभक्त करने की सिफारिश की—(1) यहूदी राज्य, (2) अरब राज्य, (3) यरूशलम, जिसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यास परिषद के अधीन रखना था। 19 नवम्बर, 1947 को इसे महासभा ने दो-तिहाई बहुमत से स्वीकार कर लिया और 1 अगस्त, 1948 से पूर्व ब्रिटिश शासन समाप्त करने का निर्णय दिया। यहूदियों ने इस निर्णय को स्वीकृति प्रदान कर दी, परन्तु अरबों ने इसे ठुकरा दिया। अरब इस बात पर तुले हुए थे कि उनकी मातृभूमि में कोई विदेशी राज्य स्थापित न हो। दूसरी ओर यहूदी लोग अपना राज्य कायम करने के लिए दृढ़ निश्चयी थे। फलतः दोनों ही पक्षों ने अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए संघर्ष का सहारा लिया और फिलिस्तीन गृह-युद्ध का अखाड़ा बन गया।

14 मई, 1948 को ब्रिटेन ने फिलिस्तीन में मैण्डेट समाप्ति की घोषणा कर दी। ठीक उसी समय यहूदी राज्य इजराइल के निर्माण की घोषणा भी कर दी गयी। इजराइल राज्य निर्माण की घोषणा के पाँच मिनट के भीतर ही संयुक्त राज्य अमरीका ने उसे मान्यता प्रदान कर दी। सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोपीय साम्यवादी देशों ने इस नये राज्य को तीसरे दिन मान्यता प्रदान की।

प्रथम अरब-इजराइल युद्ध :
(FIRST ARAB-ISRAEL WAR)

फिलिस्तीन पर ब्रिटिश मैण्डेट की घोषणा के साथ ही 15 मई, 1948 को इजराइल राज्य का प्रादुर्भाव हुआ जो अरब राज्यों को पूर्णतः अमान्य था। इस राजनीतिक घोषणा के अस्तित्व को समाप्त करने के उद्देश्य से मिस्र, सीरिया, जोर्डन, लेबनान, यमन व सऊदी अरब ने इजराइल पर आक्रमण कर दिया। इजराइली सेना इस आक्रमण से पहले ही आश्वस्त थी और संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस तथा सोवियत संघ ने इजराइल को वांछित भरपूर सहायता प्रदान कर दी। अन्तर्राष्ट्रीय यहूदीवाद के पूर्ण सहयोग, साम्राज्यवादी शक्तियों के शस्त्रास्त्र सहयोग तथा धार्मिक जोश व जातीय एकता से सभी यहूदियों में एक अपूर्व संगठन, शक्ति व साहस था तथा ऐतिहासिक घर को प्राप्त कर पुनः नहीं खो देने का भय भी था जिससे उन्होंने अरबों के संयुक्त प्रहार को खुशी-खुशी झेल लिया और उन्हें अभूतपूर्व करारी मात दे दी। इस युद्ध में इजराइली अरबों के हमलों को विफल करने में ही सफल नहीं हुए, अपितु अरबों के एक बड़े क्षेत्र पर भी अधिकार कर लिया। इजराइली रण कौशल व उसकी कूटनीतिक सफलता से सम्पूर्ण विश्व स्तम्भित रह गया। संयुक्त राष्ट्र संघ ने इजराइल के विभाजन के समय 14,000 वर्ग किमी० का क्षेत्र दिया था, परन्तु इस युद्ध के दौरान उसने अरब के कुछ क्षेत्र पर और अधिकार कर अपना क्षेत्रफल 20,700 वर्ग किमी० बढ़ा लिया। सिनाय प्रायद्वीप का एक बड़ा भाग इजराइल ने जीतकर अपने में मिला लिया। पश्चिमी गेलीली, पश्चिमी निगेव व यरूशलम (नया नगर) का एक बड़ा भाग (लगभग 6,600 वर्ग किमी० क्षेत्र); जोर्डन से पूर्वी फिलिस्तीन व यरूशलम (पुराना नगर) का लगभग 5,500 वर्ग किमी० क्षेत्र तथा मिस्र से गाजापट्टी का 285 वर्ग किमी० का क्षेत्र

इजराइल ने जीत लिया। इस विजय से इजराइल ने फिलिस्तीन का लगभग 80 प्रतिशत भू-भाग अपने नियन्त्रण में कर लिया परन्तु गाजापट्टी व वीरसेवा पर मिस्र का अधिकार हो गया। यह पट्टी भूमध्यसागर का तटीय भाग है जो इजराइल व सिनाय मरुस्थल को जोड़ती है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी यह पट्टी मिस्र को दे दी। इसके परिणामस्वरूप इजराइल का अकावा-भूमध्य सागर मार्ग जोड़ना सदा के लिए समाप्त हो गया।

अरवों की इस हार के परिणामस्वरूप संसार भर के यहूदियों के लिए इजराइल के द्वार सदा के लिए पहले से अधिक खुल गये और प्रतिशोध के भय से यहाँ से 9 लाख से अधिक फिलस्तीनी अरब राज्य छोड़कर पड़ौस के प्रदेशों में भाग गये। फिलिस्तीन की 70 प्रतिशत आवादी शरणार्थी के रूप में गाजापट्टी, जोर्डन, सीरिया व लेबनान में संयुक्त राष्ट्र संघ के सहयोग से शरणार्थी कैम्पों में बसायी गयी। शनैः-शनैः इन शरणार्थियों की संख्या 15 लाख हो गयी। इन शरणार्थियों को पुनः अपने घरों में बसाने के अरवों, संयुक्त राष्ट्र संघ व विश्व-शक्तियों के सभी प्रयास असफल रहे है क्योंकि यहूदी इजराइल को अपना घर मानते हैं और अब उन्हें पुनः लौटाना अधार्मिक कार्य बताते हैं। इजराइल अधिकृत क्षेत्र नहीं लौटाने के लिए कृत-संकल्प है और फिलिस्तीनी अरब अपनी पुरानी मातृभूमि प्राप्त करने के लिए दृढ़ हैं। इसी उलझन में यह समस्या विश्व राजनीति की एक जटिल समस्या वन गयी है।

उधर संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 14 मई, 1948 को फिलिस्तीन में शान्ति स्थापित करने के लिए काउण्ट फाक वर्नाडाट को मध्यस्था नियुक्त कर दिया था। 17 सितम्बर को बर्नाडाट की हत्या कर दी गयी। उसके बाद मध्यस्थ पद पर डॉ० राल्फ बुचे की नियुक्ति की गयी। उसके प्रयत्नों से जनवरी 1949 के पश्चात् इजराइल और उसके पड़ौसी अरव राज्यों में—मिस्र के साथ रोड्स की, लेबनान के साथ रासअल मकौरा की, जोर्डन के साथ रोड्स की, सीरिया के साथ मन हजयीम की—युद्ध विराम सन्धियाँ हो गयीं। परन्तु एक स्थायी शान्ति सन्धि के सभी प्रयत्न असफल रहे क्योंकि अरब-राज्य इजराइल के स्थायित्व को मान्यता प्रदान करने को तैयार नहीं थे।

अरवों की पराजय से अरब-इजराइल दुश्मनी का स्वरूप स्थायी वन गया। इजराइल के अस्तित्व को स्थायी वनाये रखने हेतु पश्चिमी शक्तियों के लिए सभी वांछित सैन्य-सहायता व प्रतिष्ठामूलक शस्त्रास्त्र देना आवश्यक हो गया था। फलतः इजराइल पश्चिमी राष्ट्रों की सहायता से एक विशाल शस्त्रागार व सैन्य-कैम्प बन गया। अरब-इजराइल संघर्ष ने मध्यपूर्व में निरन्तर अन्तर्राष्ट्रीय तनाव की स्थिति उत्पन्न कर दी। अपनी पराजय का वदला लेने के लिए अरव संगठन भी मजबूत व शक्तिशाली वनने लगे और उसने इजराइल का व्यापारिक बहिष्कार कर दिया। 1956 के प्रारम्भ तक इजराइल से जोर्डन, सीरिया व मिस्र की सीमाओं पर छुटपुट सैनिक झड़पें होती रहीं और विरोध-प्रतिरोध चलता रहा, परन्तु दोनों वर्ग यथार्थ में बड़े निर्णायक युद्ध की तैयारी में थे।

द्वितीय अरव-इजराइल युद्ध
(SECOND ARAB-ISRAEL WAR)

अरव राज्यों में एकता स्थापित होना कठिन प्रतीत हो रहा था, फिर भी उन्हें अपनी स्थिति की उपयोगिता का व अपने तेल के कूटनीतिक महत्व का अहसास हो चुका था। स्वेज नहर व मध्यपूर्व के तेल का अधिकांश भाग पश्चिमी देश मुख्यतः संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस व अन्य यूरोपीय राज्य उठा रहे थे और उत्पादक राज्यों को लाभ का एक अंशमात्र मिलता था। मिस्र को अस्वान वाँध के निर्माण में संयुक्त राज्य अमरीका के सहयोग की आशाएँ जव समाप्त-सी दिखायी दीं तभी उसने देश के हित में 26 जुलाई, 1956 को स्वेज नहर का राष्ट्रीय-करण कर दिया। इस कार्य से स्वेज में इजराइल का प्रवेश अवरुद्ध हो गया तथा पश्चिमी शक्तियों

का नियन्त्रण, प्रभुत्व व शक्ति उपयोग तथा शोषण का कार्य-क्षेत्र समाप्त हो गया। स्वेज के राष्ट्रीयकरण से पश्चिमी राष्ट्र बौखला उठे और उनकी सहमति से 29 अक्टूबर, 1956 को इजराइल ने सिनाय प्रायद्वीप पर तथा 31 अक्टूबर, 1956 को ब्रिटेन व फ्रांस ने पोर्ट सईद (मिस्र) पर हमला कर दिया। मिस्र तीन शक्तियों के हमलों के मध्य घिर गया और पाँच-दिवसीय इस युद्ध में अरब शक्ति को प्रायः पराजय का मुख देखना पड़ा। संयुक्त राज्य अमरीका खुलकर तो युद्ध में नहीं उतरा परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से युद्ध का संचालन करता रहा और शस्त्रास्त्र सप्लाई करने में सदैव तत्पर रहा। संयुक्त राष्ट्र संघ के शान्ति के सभी प्रयास जब विफल हो गये तो 2 नवम्बर को सोवियत धमकी से युद्ध-विराम हो गया। 24 नवम्बर को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में तीनों सेनाओं को युद्ध-पूर्व की स्थिति पर लौट जाने के आदेश दिये गये। दिसम्बर में ब्रिटेन व फ्रांस ने तो अपनी सेनाएँ हटालीं परन्तु इजराइल ने प्रारम्भिक प्रस्तावों को ठुकराने के पाँच माह बाद 7 मार्च, 1957 को संयुक्त राज्य अमरीका के अनुरोध पर गाजापट्टी से अपनी सेनाओं को शर्तों के साथ हटाना स्वीकार किया। इजराइल चाहता था कि अकाबा खाड़ी तथा तिरान जलडमरूमध्य में इजराइल व अन्य सभी देशों को नौ-चालन की स्वतन्त्रता यथावत् बनी रहे तथा गाजापट्टी पर संयुक्त राष्ट्र संघ का नियन्त्रण रहे। मिस्र ने विवाद हल होने तक संयुक्त राष्ट्र संघ से प्रार्थना कर संयुक्त राष्ट्र संघ के सैनिक दस्ते तैनात कराये जिससे समस्या की उग्रता में थोड़ी कमी आयी। 1956 के बाद स्वेज नहर इजराइल के लिए बन्द हो गयी परन्तु स्वेज मिस्र की सम्पत्ति थी, इसे सम्पूर्ण विश्व ने स्वीकार कर लिया। इस युद्ध में मिस्र हार तो गया परन्तु विश्व जनमत उसके पक्ष में हो गया। ब्रिटेन, फ्रांस व इजराइल के संयुक्त हमलों की भर्त्सना की गयी और इजराइल को सभी राज्यों ने हमलावर घोषित किया। इस हार से अरबों का क्रुद्ध होना स्वाभाविक था। परिणामस्वरूप प्रतिशोध लेने व खोयी हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त करने हेतु वे संगठित होकर लड़ने को बाध्य हो गये।

तृतीय अरब-इजराइल युद्ध : अकाबा की खाड़ी
(THIRD ARAB-ISRAEL WAR)

अरबों तथा इजराइल के मध्य समस्याएँ अब धीरे-धीरे बढ़ने लगीं। फिलिस्तीन शरणार्थी समस्या, क्षेत्रीय विवाद और जोर्डन नदी के जल-वितरण की समस्या सुलझने के बजाय अधिक उलझती गयी। शरणार्थी सिनाय, गाजापट्टी, जोर्डन, सीरिया, लेबनान व पड़ोसी क्षेत्रों में उसी अवस्था में बसे हुए हैं और उनकी समस्या का कोई समाधान संयुक्त राष्ट्र संघ भी नहीं खोज सका है। फिलिस्तीन की स्वाधीनता की माँग विश्व जनमत का समर्थन प्राप्त करने में अन्ततः सफल हो गयी। फिलिस्तीन को प्रायः सभी विश्व सम्मेलनों में सम्मानपूर्वक स्थान मिलने लगा। शरणार्थी अपने घर की माँग कर रहे हैं जिनको अरब नागरिकता प्रदान करने को तैयार नहीं हैं और इजराइल पुनः बसाने को राजी नहीं है।

18 मई, 1967 को मिस्र सरकार ने सीरिया पर इजराइली आक्रमण को रोकने के लिए सुरक्षा परिषद से गाजा, सिनाय प्रायद्वीप व तिरान जलडमरूमध्य के शर्म अल शेख में तैनात संयुक्त राष्ट्र संघ सेनाओं को हटा लेने की माँग की। संघ के महासचिव ने इस माँग को स्वीकार कर लिया और आपात सेना हटा ली गयी। इसके तुरन्त ही बाद मिस्र की सेना सिनाय प्रायद्वीप से सटी मिस्र-इजराइली सीमा पर आ डटी। सीरिया और जोर्डन में भी युद्ध की तैयारी होने लगी। मिस्र, सऊदी अरब तथा इजराइल से सटी अकाबा की खाड़ी है जो इजराइल को लाल सागर में पहुँचने का रास्ता देती है। इजराइल इस खाड़ी को अपनी जीवन रेखा मानता है। 23 मई, 1967 को संयुक्त अरब गणराज्य की सरकार ने इजराइली जहाजों के अकाबा की खाड़ी में प्रवेश की मनाही कर दी। मिस्र के राष्ट्रपति नासिर ने घोषणा की कि खाड़ी कोई

नहीं है यह मिस्र और सऊदी अरब के प्रादेशिक क्षेत्र में पड़ती है और इसलिए इजराइल को इधर से आवागमन करने का कोई अधिकार नहीं है।

संयुक्त अरब गणराज्य की इस घोषणा ने स्थिति को अत्यन्त गम्भीर बना दिया। इजराइल के लिए स्वेज नहर पहले ही बन्द थी; अकाबा की खाड़ी बन्द करके उसका गला घोंटने का नया प्रयोग किया गया। ऐसी हालत में अब प्रायः निश्चित हो गया कि पश्चिमी एशिया में भयंकर विस्फोट होकर रहेगा। ब्रिटेन और अमरीका ने अकावा की खाड़ी के घेराव को गलत तथा अन्तर्राष्ट्रीय नियम का उल्लंघन बताया। 29 मई, 1967 को इन दोनों ने इजराइल के प्रधानमन्त्री एश्कोल को इस बात का आह्वान किया कि वह अकावा की खाड़ी की नाकेबन्दी खत्म करने के लिए कार्य करे। ब्रिटेन और अमरीका का वरद-हस्त पाकर इजराइल ने घोषणा की कि अकावा की नाकेबन्दी आक्रमण तुल्य है और यदि इसे खत्म नही किया गया तो इजराइल बल प्रयोग करके इस नाकेबन्दी को तोड़ देगा। मध्यपूर्व में स्थिति उत्तरोत्तर गम्भीर होने लगी। सोवियत संघ के युद्ध-पोत भी भूमध्य सागर में चक्कर काटने लगे। अरब देशों की सैनिक तैयारी भी शुरू हो गयी। इस हालत में इजराइल ने अति शीघ्र शत्रु पर हमला करने का निश्चय किया। 5 जून, 1967 को इजराइली विमानों ने एकाएक काहिरा और मिस्र के अन्य हवाई अड्डों पर हमला कर दिया। संयुक्त अरब गणराज्य और इजराइल की सीमा पर गाजा पट्टी से लेकर दक्षिण इजराइल के नगर क्षेत्र तक दोनों ओर की फौजों में मुठभेड़ हो गयी। संयुक्त अरब गणराज्य की बहुत बुरी पराजय हुई। सम्पूर्ण सिनाय प्रायद्वीप इजराइली सेना के कब्जे में आ गया और वे स्वेज नहर के पूर्वी किनारे तक पहुँच गये। इजराइली सेना ने यरूशलम के नगर और इसके उत्तर-पूर्व इलाकों पर कब्जा कर लिया। जोर्डन को हथियार डालने पर विवश होना पड़ा। जोर्डन के लगभग 20 हजार सैनिक और असैनिक मारे गये। यह युद्ध केवल 6 ही दिन चला। 7 जून को सुरक्षा परिषद ने युद्ध बन्द करने का प्रस्ताव पारित किया, जिसे अरब देशों ने अस्वीकार कर दिया, लेकिन जोर्डन ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। 8 जून को इजराइल और मिस्र के बीच युद्ध बन्द हो गया तथा 10 जून को इजराइल और सीरिया के बीच युद्ध-विराम हो गया। इस युद्ध में अरब देशों की भीषण पराजय हुई तथा इजराइल को निम्नांकित लाभ प्राप्त हुए :

(1) उसने 750 वायुयानों से भी अधिक की संयुक्त अरब गणराज्य की वायुसेना को पूर्णतया नष्ट कर दिया, उसके 700 टैंक बेकार कर दिये तथा उसे 10,000 से भी अधिक सैनिकों की हानि पहुँचायी।

(2) उसने गाजा पट्टी और शर्म-अल-शेख सहित सम्पूर्ण सिनाय प्रायद्वीप तथा स्वेज नहर के पूर्वी तट पर अधिकार कर लिया।

(3) उसने यरूशलम के प्राचीन नगर (old city) पर कब्जा कर लिया। इस प्रकार 2,000 वर्ष के बाद यरूशलम पर यहूदियों का अधिकार हो गया।

(4) उसने जोर्डन नदी के पश्चिम के जोर्डन के सम्पूर्ण प्रदेश पर अधिकार कर लिया।

(5) उसकी सेनाएँ सीरिया में 19·2 किमी० अन्दर तक घुस गयीं और उन्होंने कुनेत्रा (Kuneitra) की छावनी पर कब्जा कर लिया जो दश्मिक से केवल 64 किमी० दूर है।

युद्ध-विराम के बाद दोनों पक्षों में समझौता कराने के लिए प्रयास किये गये। इस सम्बन्ध में इजराइल की ओर से निम्नलिखित शर्तें प्रस्तुत की गयीं :

(1) वह गाजा पट्टी, शर्म-अल-शेख, यरूशलम, सीरिया के कुछ पहाड़ी भाग, जोर्डन नदी का पश्चिमी भाग आदि विजित किये हुए क्षेत्रों को नहीं छोड़ेगा।

(2) स्वेज नहर और अकावा की खाड़ी में इजराइल को आवागमन का अधिकार दिया जायेगा।

(3) इजराइल को अरब देशों द्वारा मान्यता प्रदान की जाये। इस सम्बन्ध में इजराइल अरब राज्यों के साथ पृथक्-पृथक् रूप से प्रत्यक्ष सन्धि वार्ता करना चाहता था।

इसके विपरीत, अरब देशों की मांग थी कि इजराइल तत्काल और बिना शर्त सभी अरब इलाकों को खाली कर दे तथा फिलिस्तीनी अरब विस्थापितों को फिर से वापस आने की अनुमति दे। नासिर का कहना था, 'इजराइल के साथ कोई शान्ति नहीं; इजराइल से कोई वार्ता नहीं; इजराइल को कोई मान्यता नहीं। इजराइल का स्वेज नहर में जहाजरानी का कोई अधिकार नहीं।' अपनी माँगों को मनवाने के लिए अरब देशों ने अमरीका आदि इजराइल समर्थक देशों से कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ने तथा स्वेज नहर का मार्ग और खनिज तेल का निर्यात बन्द करके पश्चिमी देशों को आर्थिक हानि पहुँचाने की नीति अपनायी। परन्तु यह नीति नितान्त असफल रही। इससे स्वयं अरब देशों को ही हानि पहुँची। धीरे-धीरे तेल-उत्पादक अरब देशों ने पश्चिमी यूरोप और अमरीका को फिर से तेल का निर्यात प्रारम्भ कर दिया।

अरब और इजराइल के बीच समझौता कराने के लिए प्रयास किये गये। नवम्बर 1967 में गुन्नार जारिंग को सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव के अनुसार समझौता वार्ता करने के लिए मध्यपूर्व भेजा गया। जारिंग मिशन ने लगभग 1 वर्ष तक समझौता कराने के प्रयास किये परन्तु कोई सफलता नहीं मिली। मध्यपूर्व में शान्ति स्थापना के लिए सोवियत संघ ने एक चार-सूत्री योजना प्रस्तुत की जो इस प्रकार है :

(1) इजराइल की सेना जून 1967 से पहले की सीमा पर वापिस लौट जाय।

(2) शान्ति बनाये रखने के उद्देश्य से सीमाओं पर संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा व्यवस्था की जाये।

(3) दोनों पक्षों के बीच, चार बड़े देश—अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस और सोवियत संघ पुनः युद्ध नहीं छिड़ने देंगे।

(4) अरब राष्ट्रों के द्वारा इजराइल के विरुद्ध युद्ध की स्थिति को समाप्त किया जाय।

इस शान्ति योजना को इजराइल ने अस्वीकार कर दिया। इजराइल ने अपनी ओर से 8 अक्टूबर, 1968 को पश्चिम एशिया की समस्या का समाधान करने के लिए नौ-सूत्री कार्यक्रम रखा जिसे संयुक्त अरब गणराज्य ने अस्वीकार कर दिया। 28 दिसम्बर, 1968 को इजराइल के हैलीकोप्टरों ने बेरुत के हवाई अड्डे पर आकस्मिक आक्रमण कर दिया। 11 फरवरी, 1969 को अरब-इजराइल छापामारों के बीच जमकर गोलाबारी हुई। 8 मार्च, 1969 को स्वेज नहर के पास संयुक्त अरब गणराज्य के तेल कारखानों पर इजराइली सैनिकों ने बड़े पैमाने पर आक्रमण कर दिया। जून 1969 में यरुशलम को विधिवत् रूप से इजराइल में शामिल करने की घोषणा की गयी, जिसके कारण अरब राज्य उग्र हो गये। इसके कुछ ही समय बाद 21 अगस्त, 1969 को यरूशलम में 1,400 वर्ष पुरानी अल अक्सा मस्जिद में रहस्यमय ढंग से आग लग गयी। इसके कारण मध्यपूर्व में स्थिति तनावपूर्ण हो गयी। सोवियत संघ ने इस अग्निकाण्ड के लिए इजराइल को दोषी ठहराया। इस मस्जिद काण्ड को लेकर अरब-इजराइल के बीच जब काफी उग्रता बढ़ गयी तो इजराइल ने 9 सितम्बर, 1969 को संयुक्त अरब गणराज्य पर आक्रमण कर दिया। 22 सितम्बर, 1969 को रबात में इस्लामी देशों का एक शिखर सम्मेलन आयोजित किया जिसमें लगभग 26 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। यह सम्मेलन अल अक्सा मस्जिद के कारण इजराइल के विरुद्ध मुसलमानों में जो घृणा और आक्रोश उत्पन्न हो गया था, उसका ही परिणाम था। अगस्त 1970 में अमरीकी विदेश सचिव विलियम रोजर्स ने प्रस्ताव रखा कि 90 दिनों तक कोई भी पक्ष हमला न करे और इस शर्त पर वार्ता शुरू की जाये कि इजराइल लड़ाई में

जीते हुए क्षेत्रों को खाली कर दे और अरब देश इजराइल की समस्या को स्वीकार करें। यह प्रस्ताव दोनों पक्षों को मान्य था, इसलिए 7 अगस्त, 1970 को युद्ध-विराम हो गया।

फरवरी 1971 में गुन्नार जारिंग ने अरब-इजराइल समस्या के समाधान के लिए एक 5-सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया—(i) दोनों पक्षों के बीच संघर्ष की स्थिति को समाप्त किया जाये; (ii) दोनों पक्ष एक-दूसरे की प्रादेशिक स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता को मान्यता प्रदान करें; (iii) दोनों पक्ष एक-दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करें; (iv) दोनों पक्ष मान्यता प्राप्त सीमाओं के अन्तर्गत रहते हुए शान्ति के साथ रहने का एक समझौता करें; (v) दोनों पक्ष एक-दूसरे के विरुद्ध बल प्रयोग या धमकी का प्रयोग न करें।

जारिंग के प्रयासों के बावजूद दोनों पक्षों के बीच गतिरोध जारी रहा। 5 सितम्बर, 1972 में म्यूनिख ओलम्पिक में अरब छापामारों ने ग्यारह इजराइली खिलाड़ियों को बन्दी बनाकर हत्या कर दी। 'म्यूनिक हत्याकाण्ड' के परिणामस्वरूप अरब-इजराइल तनाव और भी अधिक उग्र हो गया।

चतुर्थ अरब-इजराइल युद्ध
(FOURTH ARAB-ISRAEL WAR)

चतुर्थ अरब-इजराइल युद्ध 6 अक्टूबर से 22 अक्टूबर, 1973 तक चला। 6 अक्टूबर, 1973 को मिस्री-सीरियाई सैनिकों ने इजराइल पर जबरदस्त हमला बोल दिया और दोनों पक्षों के मध्य चौथा युद्ध प्रारम्भ हो गया। इस बार अरब राष्ट्र रूसी शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित थे। उनका शस्त्र भण्डार भी पहले के किसी भी समय से सर्वाधिक था। इस युद्ध में पहले मिस्र व सीरिया आगे बढ़ गये परन्तु तीन दिन बाद ही इजराइल भी स्वेज के पश्चिम से पहुँचने में सफल हो गया। 22 अक्टूबर को युद्ध-विराम पर स्वेज के पूर्व मे मिस्र की सेना का अधिकार था और स्वेज के पश्चिम में इजराइली सेना का।

चतुर्थ अरब-इजराइल युद्ध के निम्न कारण थे : (i) इजराइल का कठोर, हठी एवं विस्तारवादी दृष्टिकोण। इजराइल अरब अधिकृत क्षेत्रों को छोड़ने के लिए तैयार नहीं था। (ii) अरब राष्ट्र शान्ति प्रयासों में गतिरोध तोड़ना चाहते थे ताकि यथाशक्ति वे अपने खोये हुए क्षेत्रों को प्राप्त कर सकें। (iii) अरब राष्ट्र युद्ध द्वारा यह सिद्ध करना चाहते थे कि इजराइल अपराजेय नहीं, मिस्र कायर या पौरुषहीन नहीं। (iv) अरबवासियों में मनोबल पुष्ट करना तथा उनमें आत्म-विश्वास पैदा करना। (v) खोयी हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करना।

इस युद्ध में अरब राष्ट्र भले ही अपनी खोयी हुई जमीन को प्राप्त नहीं कर सके परन्तु उन्होंने खोयी हुई प्रतिष्ठा को अवश्य प्राप्त कर लिया। उनमें आत्म-विश्वास की भावनाएँ पैदा हुईं। उन्होंने कम से कम यह तो सिद्ध कर दिया कि इजराइल अपराजेय नहीं। इस बार अरबों ने मिस्र की सहायता के लिए अपने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया; पश्चिमी देशों को तेल बन्द करने की घोषणा की, तेल के मूल्यों में असाधारण वृद्धि की। इसका यूरोप तथा अमरीका की अर्थ-व्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ा। अमरीका ने युद्ध-विराम हो जाने के बाद इजराइल पर दबाव डालकर दोनों पक्षों में समझौता कराने का प्रयत्न किया।

युद्ध-विराम के बाद मिस्र और इजराइल के बीच समझौता वार्ता चलती रही। अन्त में 11 नवम्बर, 1973 को अमरीकी विदेशी सचिव डॉ० किसिंगर के छः-सूत्री समझौते पर मिस्र और इजराइल ने हस्ताक्षर कर दिये। इस समझौते की शर्तें निम्नलिखित थीं : (i) मिस्र और इजराइल युद्ध-विराम का पालन करेंगे; (ii) वे 22 अक्टूबर की स्थिति में लौटने के बारे में तत्काल बातचीत करेंगे और उसे संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में सेनाओं की वापसी का अंग मानेंगे। (iii) स्वेज कस्बे को प्रतिदिन रसद और दवाओं की सप्लाई की जायेगी और घायल नागरिकों को

वहाँ से हटाया जायेगा। (iv) स्वेज नहर के पूर्वी तटों, जहाँ मिस्र की तीसरी सेना घिरी हुई है, को अबाध रूप से गैर-सैनिक सप्लाई की अनुमति दी जायेगी। (v) काहिरा-स्वेज मार्ग पर स्थित चौकियों का नियन्त्रण संयुक्त राष्ट्र कर्मचारियों को सौंप दिया जायेगा परन्तु इजराइली अधिकारी भी गैर-सैनिक सामान की सप्लाई का निरीक्षण कर सकेंगे। (vi) संयुक्त राष्ट्र की निरीक्षण चौकियों की स्थापना होते ही सभी युद्ध बन्दियों तथा घायल सैनिकों की अदला-बदली होगी।

यह समझौता अरब-इजराइल के मध्य शान्ति की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था, जिसने व्यापक समझौते के लिए द्वार खोल दिये।

शान्ति वार्ताएँ
(PEACE TALKS)

उपर्युक्त छः सूत्रों ने शान्ति वार्ता का दरवाजा खोल दिया। जून 1974 में इजराइल और सीरिया में समझौता हो गया। 5 जून, 1975 को मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सआदत ने स्वेज नहर को पुनः अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन के लिए खोल दिया जिससे स्थिति में काफी सुधार हुआ। मार्च 1975 में अमरीकी विदेश सचिव डॉ० हेनरी किसिंगर ने मध्यपूर्व के देशों की यात्रा की। मध्यपूर्व शान्ति समझौता कराने के लिए उनकी ग्यारहवीं यात्रा थी। उनके प्रयासों से मिस्र-इजराइल के बीच सिनाई प्रायद्वीप पर एक समझौता हो गया।

सिनाई समझौता (सितम्बर 1975)

मिस्र और इजराइल के बीच 2 सितम्बर, 1975 को डॉ० किसिंगर अपनी कूटनीतिक चातुर्य के कारण सिनाई समझौता में सफल हुए। किसिंगर की यह कूटनीति 'ढरकी कूटनीति' (shuttle diplomacy) कहलाती है क्योंकि इसमें उन्होने जुलाहे की ढरकी की तरह से बार-बार मिस्र और इजराइल की राजधानियों की छः यात्राओं मे बारह चक्कर काटे। राष्ट्रपति सआदत ने कहा कि मध्यपूर्व के मानचित्र से इजराइल को मिटाया नहीं जा सकता। सिनाई समझौता यथार्थ स्थिति की स्वीकृति है। यह पश्चिमी एशिया में अमरीकी कूटनीति की विजय को दर्शाता है। सोवियत संघ, सीरिया, जोर्डन और इराक जैसे अरब राष्ट्र इसके आलोचक रहे हैं। इस समझौते के अनुसार यह निश्चय किया गया कि :

(1) सिनाई पर्वतमाला के दर्रों अर्थात् गिद्दी और मितला दर्रों के इर्द-गिर्द आठ निगरानी चौकियाँ स्थापित की गयी। इनमें से एक पर इजराइल का, एक पर मिस्र का और छः पर अमरीकी तकनीकी कर्मचारियों का नियन्त्रण स्थापित किया गया। इनका उद्देश्य किसी भी ओर से किये जाने वाले आक्रमण की पूर्व-सूचना देना है।

(2) अबूसदी तेल क्षेत्र पर मिस्र के अधिकार को स्वीकार कर लिया गया। मिस्र ने यह आश्वासन दिया कि वह इजराइल के लिए लाल सागर की नाकेबन्दी नहीं करेगा। समझौते में स्वेज नहर में आवागमन पर प्रतिबन्धों की भर्त्सना भी की गयी।

(3) मिस्र ने यह आश्वासन दिया कि यदि अरब राष्ट्रों द्वारा युद्ध शुरू किया जायेगा तो वह इजराइल पर आक्रमण नही करेगा।

(4) दोनों पक्ष एक-दूसरे को न युद्ध की धमकी देंगे और न बल का प्रयोग करेंगे।

(5) समझौते में एक गलियारे की व्यवस्था भी है, जहाँ मिस्र, इजराइल, अमरीका और संयुक्त राष्ट्र की शान्ति सेनाएँ पारस्परिक सहयोग स्थापित कर सकती हैं।

राष्ट्रपति सआदत की यरूशलम (इजराइल) यात्रा, 1977

इजराइल के प्रधानमन्त्री बेगिन ने मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सआदत को यरूशलम आने का निमन्त्रण दिया। सआदत के अलावा बेगिन ने सीरिया के राष्ट्रपति, युर्दान के शाह तथा लेबनान के राष्ट्रपति को भी निमन्त्रण भेजे। सआदत ने कहा कि "मेरी एक ही शर्त है, वह है इज-

राइली नेसेट (संसद) के 120 सदस्यों से बातचीत कर पश्चिमी एशिया के बारे में अपने दृष्टिकोण से उन्हें परिचित कराना।" 19 नवम्बर, 1977 को राष्ट्रपति सआदत ने यरूशलम की ऐतिहासिक एवं साहसिक यात्रा की। यह यात्रा 'चाँद पर प्रथम व्यक्ति के उतरने के समान थी।' इजराइल आने वाले वे प्रथम अरब नेता थे। उनकी इस यात्रा की प्रतिक्रिया-स्वरूप उनके दो मन्त्रियों ने त्याग-पत्र दे दिया। लीबिया ने मिस्र से राजनयिक सम्बन्ध तोड़ लिये। सीरिया के राष्ट्रपति ने सआदत को यह यात्रा न करने की सलाह दी। अरब लीग के 22 सदस्य देशों में से केवल सूडान, मोरक्को और ओमान ने उनकी यात्रा का समर्थन किया। सोवियत संघ ने सआदत की इस यात्रा को साम्राज्यवादियों के हाथ बेच देने की घटना करार दिया। यह भी कहा गया कि इस यात्रा का ध्येय अरबों को बाँट देना है। फिलीस्तीनी छापामारों ने सआदत की इस यात्रा को उनकी पीठ में छुरा भोंकना बताया। इजराइली संसद को सम्बोधित करते हुए राष्ट्रपति सआदत ने पश्चिमी एशिया में शान्ति स्थापित करने हेतु पाँच प्रस्ताव रखे : (i) इजराइल द्वारा अरब क्षेत्रों से हटना। इसमें अरब यरूशलम का हिस्सा भी शामिल है जिसे इजराइल ने 1969 में अपने राज्य में मिला लिया था। (ii) फिलीस्तीनियों के बुनियादी अधिकारों (आत्म-निर्णय के अधिकार) को मान्यता प्रदान करना और उनके लिए एक स्वाधीन राज्य की स्थापना की दिशा में कदम उठाना। (iii) इस क्षेत्र के सभी देशों द्वारा शान्तिपूर्ण ढंग से रहना और उनकी सुरक्षा की गारण्टी देना। (iv) इस क्षेत्र (मध्यपूर्व) के प्रत्येक देश द्वारा संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्य-पत्र में निहित सिद्धान्तों के अनुसार आचरण और मतभेदों को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाना। (v) इस क्षेत्र में व्याप्त युद्ध-स्थिति को समाप्त करने की घोषणा करना।

इस्माइलिया वार्ता, 1977

अमरीकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने इजराइली नेताओं को वास्तविकता समझने की सलाह दी और वार्ता द्वारा झगड़ा तय करने का सुझाव दिया। इस पृष्ठभूमि में 25 दिसम्बर, 1977 को इस्माइलिया (मिस्र) में इजराइल के प्रधानमन्त्री बेगिन मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सआदत से मिले। इजराइल का दृष्टिकोण सौम्य एवं उदार हुआ और वह कुछ रियायतें देने के लिए भी तैयार हुआ। मिस्र ने इजराइल के अस्तित्व को मान्यता दे दी और इस दृष्टिकोण का विकास हुआ कि "समझौता ही युद्ध का विकल्प है।"

कैम्प डेविड वार्ताएँ और समझौता (सितम्बर 1978)

मध्यपूर्व में शान्ति स्थापित करने हेतु अमरीकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने कैम्प डेविड में एक शिखर सम्मेलन का आयोजन किया। ये शिखर वार्ताएँ 6 सितम्बर से 18 सितम्बर, 1978 तक चलती रहीं। इस वार्ता में भाग लेने वाले नेता थे—अमरीकी राष्ट्रपति कार्टर, मिस्री राष्ट्रपति अनवर सआदत और इजराइली प्रधानमन्त्री बेगिन। तेरह दिन की इस शिखर वार्ता में कई बार गतिरोध उत्पन्न हो गया किन्तु कार्टर के सद्प्रयासों से यह वार्ता सफल हो गयी और 18 सितम्बर, 1978 को समझौते पर हस्ताक्षर हो गये। इस समझौते के दो दस्तावेज हैं—(i) पहला पूर्ण शान्ति सन्धि से सम्बन्धित दस्तावेज, तथा (ii) दूसरा मिस्र एवं इजराइल के मध्य शान्ति सन्धि से सम्बन्धित दस्तावेज।

1. **पूर्ण शान्ति सन्धि से सम्बन्धित दस्तावेज**—इस दस्तावेज को पश्चिमी एशिया में शान्ति के लिए ढाँचा' कहा गया है जिन्हें पश्चिमी एशिया में पूर्ण शान्ति सन्धि के निर्माण में ध्यान में रखा जाना चाहिए। इस दस्तावेज के प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार हैं—(i) जोर्डन के पश्चिमी तट और गाजा पट्टी पर रहने वाले लोगों को स्वायत्तता दी जायगी। (ii) इन क्षेत्रों के लोग (जिनमें अधिक संख्या फिलीस्तीनी अरबों की है) शान्ति स्थापित करने की प्रक्रिया में भाग लेने के लिए अपने-अपने प्रतिनिधि चुनेंगे। (iii) इन क्षेत्रों के लिए नागरिक स्वशासन का संक्रान्ति काल 5 वर्ष

तक रहेगा। तीसरे वर्ष से इन क्षेत्रों की प्रभुसत्ता के बारे में बातचीत की जायगी। (iv) कुछ क्षेत्रों में इजराइल की सेनाएँ रह सकती हैं लेकिन वहाँ इजराइली सैनिक सरकार का अन्त हो जायगा। (v) शान्ति वार्ताएँ संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव सं० 242 के सभी सिद्धान्तों पर आधारित होंगी। इस प्रस्ताव में जहाँ इजराइल को अधिकृत क्षेत्रों को खाली करने के लिए कहा गया है, वहाँ उसमें उसके सुरक्षित एवं मान्यता प्राप्त सीमाओं के अन्तर्गत शान्ति से रहने के अधिकार को स्वीकार किया गया है।

2. **मिस्र-इजराइल शान्ति सन्धि से सम्बन्धित दस्तावेज**—इस दस्तावेज को मिस्र और इजराइल के मध्य शान्ति सन्धि के निष्पादन का ढाँचा कहा गया है। इसकी प्रमुख बातें इस प्रकार हैं : (i) इजराइल ने समूचे सिनाई में मिस्र की प्रभुसत्ता को फिर से स्वीकार कर लिया है। इजराइल सिनाई से अपना हवाई अड्डा समाप्त कर लेगा। (ii) शान्ति सन्धि पर हस्ताक्षर होने के बाद तीन महीने से लेकर नौ महीने तक की अवधि में इजराइली सेनाएँ सिनाई से हट जायेंगी। (iii) अन्तिम शान्ति सन्धि पर हस्ताक्षर तीन महीने के अन्दर-अन्दर हो जायेंगे। (iv) इजराइली सेनाओं के हटने के वाद मिस्र और इजराइल के बीच राजनयिक सम्बन्ध स्थापित किये जायेंगे। (v) पाँच वर्ष के संक्रान्ति काल में इजराइल जोर्डन के पश्चिमी तट और गाजा पट्टी पर से अपना सैनिक नियन्त्रण पूरी तरह समाप्त कर देगा। इन क्षेत्रों के लोगों को स्वशासन और पूर्ण स्वायत्तता प्रदान की जायेगी। लेकिन सुरक्षा सम्बन्धी कुछ कारणों से इजराइल कुछ इलाकों में अपने सैनिक रखेगा। (vi) पश्चिमी तट का मामला तय करने के लिए जोर्डन को बातचीत में आमन्त्रित किया जायेगा। उसे इजराइल के साथ शान्ति वार्ता के लिए कहा जायेगा। (vii) सिनाई क्षेत्र मिस्र और इजराइल सीमा के क्षेत्र के बीच शान्ति क्षेत्र बनेगा जहाँ सीमित मात्रा मे मिस्र और इजराइल के सुरक्षा प्रहरी रहेंगे। सिनाई क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा प्रहरी (सैनिक) दल भी तैनात किया जायेगा। (viii) जो इजराइली बस्तियाँ अरब क्षेत्र में हैं, उन पर दोनों देश आपस में वार्ता कर कोई समाधान निकालेंगे और इजराइली संसद भी इस पर अपना फैसला देगी।

1979 की सन्धि की मुख्य बातें—कैम्प डेविड समझौते का प्रारूप एक सन्धि का रूप धारण नहीं कर सका क्योंकि इसके कुछ अंशों का विरोध दोनों देशों में हुआ। कैम्प डेविड समझौते को सफल बनाने मे राष्ट्रपति कार्टर की महत्वपूर्ण भूमिका रही और 26 मार्च, 1979 को वाशिंगटन में एक सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये। सन्धि का प्रारूप संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव 242 तथा 338 तथा 17 सितम्बर, 1978 कैम्प डेविड ढाँचे पर आधारित था। इसके अनुसार, इजराइल यहूदी बस्तियों को गिराने तथा सिनाई मरुस्थल को मिस्र को लौटाने पर सहमत हो गया। सन्धि की अन्य मुख्य धाराएँ थीं—युद्ध की स्थिति समाप्त कर दी जायेगी। मिस्र के अलावा इजराइल अन्य अरब देशों से भी शान्ति वार्ता की स्थितियाँ तैयार करेगा। सिनाई से सेनाओं की वापसी के वाद दोनों देश सामान्य और मैत्री सम्बन्ध स्थापित करेंगे। मिस्र और इजराइल के बीच स्थायी सीमा वही होगी जो मिस्र और भूतपूर्व फिलीस्तीन में थी। दोनों एक-दूसरे की क्षेत्रीय जल और हवाई क्षेत्र का सम्मान करेंगे। दोनों पक्ष सभी प्रकार के सामान्य सम्बन्धों की स्थापना करेंगे। दोनों पक्षों को अधिकतम सुरक्षा देने के उद्देश्य से मिस्री और इजराइली क्षेत्रों में सीमित सैन्य क्षेत्र कायम किये जायेंगे और संयुक्त राष्ट्र सेनाओं के पर्यवेक्षक भी नियुक्त किये जायेंगे। सन्धि को लागू करने के लिए एक संयुक्त आयोग की स्थापना की जायेगी। इजराइल के जहाजों तथा अन्य सामान को स्वेज नहर, स्वेज की खाड़ी तथा भूमध्यसागर से आने-जाने का अधिकार होगा। दोनों तीरान जलडमरूमध्य और अकाबा की खाड़ी को अन्तर्राष्ट्रीय जलमार्ग मानने पर सहमत हो गये।

सन्धि का विरोध—इस सन्धि पर अरब देशों ने घोर विरोध प्रकट किया। बगदाद में अरब लीग के 19 विदेश और वित्त मन्त्रियों ने तीन दिनों तक इस बात पर विचार-विमर्श किया कि

मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सआदत को इजरायल के साथ शान्ति सन्धि करने के लिए किस प्रकार की सजा दी जाये। 1 अप्रैल, 1979 को अरब लीग के 16 सदस्यों ने मिस्र का बहिष्कार करने और आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने के पहले कदम के तौर पर काहिरा स्थित राजदूतों को स्वदेश लौटने का आदेश दिया। फिलीस्तीन राष्ट्रीय परिषद के अध्यक्ष खालिद अल फाहारूम ने कहा कि यह समझौता अमरीका के सामने आत्म-समर्पण है। सोवियत संघ ने पश्चिमी एशिया सम्बन्धी कैम्प डेविड समझौते को इस क्षेत्र के लोगों के लिए एक जबर्दस्त षड्यन्त्र की संज्ञा दी। ओमान और सूडान अरबों में कुछ ऐसे देश थे जो शान्ति सन्धि का समर्थन करने के पक्ष में थे। शान्ति सन्धि को लेकर सम्पूर्ण अरब जगत में फूट पड़ गयी। राष्ट्रपति सआदत ने कहा कि किसी नेक काम की आलोचना करना आसान है लेकिन उस तक पहुँचना बहुत ही मुश्किल है। राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर के शब्दों में, "पश्चिमी एशिया अनेक वर्षों तक निराशा की पाठ्यपुस्तक रही है—आज हमें शान्ति का अवसर मिला है।"

कैम्प डेविड से आगे—5 सितम्बर, 1979 को मिस्र के राष्ट्रपति सआदत तथा इजराइल के प्रधानमन्त्री बेगिन हैफा में मिले तथा सिनाई क्षेत्र से इजराइल के हटने के सम्बन्ध में एक समझौता किया। तत्पश्चात् मिस्र और इजराइल के बीच कुछ व्यापारिक समझौते भी हुए जो दोनों देशों के बीच सम्बन्धों में सुधार के द्योतक थे। इजराइल और मिस्र के बीच 19 जनवरी, 1980 को असवान में एक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत दोनों देशों ने नागरिक सेवा के लिए जल, थल और वायुमार्गों को खोल दिया। 13 जनवरी, 1980 को इजराइल ने मिस्र में अपना पहला राजदूत नियुक्त किया। 23 जनवरी, 1980 को इजराइल ने सिनाई क्षेत्र खाली कर दिया। 18 दिसम्बर, 1980 को मिस्र के राष्ट्रपति सआदत और इजराइली प्रधानमन्त्री बेगिन ने कैम्प डेविड शान्ति समझौते के प्रति अटूट विश्वास व्यक्त किया।

किन्तु जब फिलिस्तीन की स्वायत्तता का प्रश्न आया तब 18 अप्रैल, 1980 को इजराइल ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह पश्चिमी किनारे और गाजा पट्टी में इजराइल अधिकृत भू-भाग की सुरक्षा को हर कीमत पर बनाये रखेगा। 30 जून, 1980 को संयुक्त राष्ट्र संघ ने प्रस्ताव पारित करके कहा कि इजराइल यरूशलम की स्थिति में कोई परिवर्तन न करे। किन्तु इजराइल ने 30 जुलाई, 1980 को यरूशलम को अपनी राजधानी घोषित कर दिया। इस्लामी देशों में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। इससे अरब-इजराइल सम्बन्धों को भी आघात लगा। 11 अप्रैल, 1982 को यरूशलम स्थित अल अक्सा और 'ड्रम ऑफ रॉक' पर हुए गोलीकाण्ड के लिए इजराइल को दोषी मानते हुए सुरक्षा परिषद में इजराइल के इस कृत्य की कड़ी भर्त्सना की गयी। अपने एक विशेष अधिवेशन में प्रस्ताव पारित कर महासभा ने इजराइल से माँग की कि वह अधिकृत फिलिस्तीनी भू-भाग से हट जाये। 6 फरवरी, 1982 को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने सभी देशों से अनुरोध किया कि वे इजराइल से सभी सम्बन्ध तोड़ दें। सीरिया की गोलन पहाड़ियों को अपनी सीमा में मिलाने के लिए उसे दण्ड दिया।

पाँचवाँ युद्ध अर्थात् 6 जून, 1982 का लेबनान युद्ध

6 जून, 1982 को इजराइली सेना ने योजनाबद्ध तरीके से अपनी जल, थल व वायु सेना का प्रयोग कर लेबनान पर अब तक का भीषणतम आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण का तत्कालीन कारण यह बताया जाता है कि मई के अन्त में लन्दन स्थित इजराइल राजनय की हत्या कर दी गयी थी। इजराइल का कहना है कि जब से फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन ने अपना मुख्यालय बेरुत में बनाया है और उसके छापेमार इजराइल की सीमा के निकट दक्षिणी लेबनान में सैनिक जमाव किये हुए हैं तब से वे निरन्तर निकटवर्ती इजराइल बस्तियों पर आक्रमण करते रहते हैं।

इससे इजराइल को जान-माल की क्षति उठानी पड़ती रही है। अब वह इस मामले को सदा के लिए खत्म करने को दृढ़ है।

इजराइली सेना का आक्रमण इतना तेज था कि तीन दिन में ही वह बेरुत के दरवाजे पर खड़ी हो गयी। उसके वायुयानों ने बेका घाटी में सीरिया के मिसाइल अड्डों को नष्ट कर दिया। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि लेबनान में सीरिया के तीस हजार शान्ति सैनिक हैं जिनकी फिलिस्तीनी छापेमारों से साँठ-गाँठ रही है। फिलिस्तीनी नेता यासिर अराफात व लगभग आठ हजार छापेमार पश्चिमी बेरुत में तीन ओर से इजराइली सेना द्वारा घेर लिये गये।

इजराइली रक्षामन्त्री शैरों फिलस्तीनी मुक्ति संगठन को राजनीतिक व सैनिक शक्ति के रूप में समाप्त करना चाहते हैं। इजराइली सेना ने जिस तरीके से लेबनान में नर-संहार किया है वह बेमिसाल है। असैनिक घनी आबादी वाले क्षेत्रों पर हवाई जहाजों, तोपों और रॉकेटों से भीषण बम-वर्षा की गयी।

लेबनान संकट में संयुक्त राष्ट्र संघ ने कई बार हस्तक्षेप किया है और सम्बन्धित पक्षों से युद्ध-विराम की अपील करता रहा है। दिसम्बर 1981 में संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयासों से लेबनान में युद्ध-विराम कराया गया। लेकिन वहाँ तनाव का वातावरण बना रहा। इजराइल यहाँ पर स्थित फिलिस्तीनी छापामार अड्डों को सहन नहीं कर सकता जबकि फिलिस्तीनियों के लिए ये अड्डे इजराइल पर दबाव डालने के लिए रणनीति की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण है। इजराइल ने पी० एल० ओ० पर सैकड़ों बार युद्ध-विराम के उल्लंघन के आरोप लगाये हैं और सीरिया की धारणा है कि इजराइल जान-बूझकर लेबनान में हस्तक्षेप करता है और युद्ध-विराम का पालन नहीं कर रहा है। इजराइल ने मई 1982 के अन्त में लेबनान पर फिर आक्रमण प्रारम्भ कर दिये और कई प्रमुख स्थानों पर बमबारी की।

लन्दन में इजराइली राजदूत की हत्या के बाद इजराइल ने लेबनान स्थित फिलिस्तीनी अड्डों पर जून 1982 में पुनः आक्रमण किये और उसने सैकड़ों से भी ज्यादा फिलिस्तीनियों को मार डाला। इजराइल ब्रिटेन में अपने राजदूत की हत्या के लिए पी० एल० ओ० को उत्तरदायी मानता है जबकि फिलिस्तीनी इससे इन्कार करते हैं और इसे बहाना मानकर उसने बेरुत में नर-संहार जारी रखा।

इजराइल सरकार ने 24 सितम्बर, 1982 को बेरुत में फिलिस्तीनियों के हुए हत्याकाण्ड की न्यायिक जाँच के आदेश दे दिये। इजराइल की सर्वोच्च अदालत के अध्यक्ष बेरुत हत्याकाण्ड की जाँच आयोग के अध्यक्ष नियुक्त किये गये। फिलिस्तीनी नागरिकों के हुए सामूहिक हत्याकाण्ड को इजराइल ने 22 सितम्बर, 1982 को स्वीकार किया। इजराइल के रक्षामन्त्री श्री एरियन शैरों ने इजराइल की संसद में स्वीकार किया कि फिलिस्तीनी छापेमारों के विरुद्ध इजराइली सेना ने सहयोग दिया और योजना बनाने में सहायता दी। 26 सितम्बर, 1982 को तेल अवीव में लाखों इजराइलियों ने बेरुत में हुए नर-संहार के प्रति विरोध प्रकट करने के लिए सरकार-विरोधी प्रदर्शन किया और रैली निकाली। इस रैली में 4 लाख से भी अधिक लोगों ने भाग लिया। प्रदर्शनकारियों की मुख्य माँग थी कि चतीला शिविर में फिलिस्तीनी शरणार्थियों के नर-संहार में इजराइली सेना और सरकार की भूमिका की न्यायिक जाँच की जाय। इजराइल के उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश काँहन की अध्यक्षता में एक जाँच आयोग बिठाया गया। काँहन आयोग ने जाँच-पड़ताल के पश्चात् फरवरी 1983 में अपनी रिपोर्ट सरकार को दे दी। इसे बेगिन सरकार ने स्वीकार कर लिया और रिपोर्ट स्वीकार किये जाने के फलस्वरूप इजराइली रक्षा-मन्त्री एरियन शैरों ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। दूसरी ओर फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन के

नेता यासर आराफात इससे सन्तुष्ट नहीं थे। अराफात ने माँग की कि पूरे काण्ड की जाँच किसी अन्तर्राष्ट्रीय अदालत द्वारा करायी जाय।

इजराइल व लेबनान में समझौता सम्पन्न—11 मई, 1983 को अमरीका के विदेश मन्त्री जार्ज शुल्ज ने इजराईल व लेवनान के बीच सैनिकों की वापसी के प्रश्न पर समझौता करने में सफलता प्राप्त कर ली। सीरिया एवं फिलिस्तीनी मुक्ति मोर्चे ने समझौते को न मानने और युद्ध करने की धमकी दी। परन्तु यह धमकियाँ केवल अधिक से अधिक रियायतें प्राप्त करने के लिए हैं अन्यथा इनका कोई महत्व नहीं है। सीरिया द्वारा समझौते का विरोध करना पहले ही अपेक्षित था, वह इस समझौते में प्रत्यक्ष रूप से शामिल नहीं है। सीरिया से इसलिए सम्पर्क किया गया कि उसके जो लगभग 40-50 हजार सैनिक लेबनान में हैं उन्हें वह हटा ले। समझौते के अनुसार 8-10 हजार फिलिस्तीनी सैनिकों को भी लेबनान से हटना होगा। सीरिया व फिलिस्तीनी अपने सैनिकों को हटाने से इंकार कर सकते हैं, ऐसी स्थिति में समझौते में यह व्यवस्था है कि 'इजराइल को जवाबी कार्यवाही करने की छूट होगी।'

फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन के अध्यक्ष एवं उनके 4,000 वफादार छापामारों को 20 दिसम्बर, 1983 को यूनान द्वारा दिये गये जहाजों में लेबनान छोड़ना पड़ा। इजराइल के रक्षा-मन्त्री तो उन पर हमला करके समाप्त करना चाहते थे।

लेबनान की आन्तरिक स्थिति पर विचार करने के लिए मार्च 1984 में एक सप्ताह तक लुजान सम्मेलन चला।

लेबनान से सुरक्षा परिषद से शिकायत की कि इजराइल से उसका क्षेत्र खाली कराये। मिस्र व सीरिया ने लेबनान की शिकायत का समर्थन किया। लेबनान में इजराइली उपस्थिति को साम्राज्यवादी प्रयास ही कहा जा सकता है। लेबनान-इजराइल समझौता हो जाने के बाद लेबनान ने माँग की कि अब इजराइली फौजें हट जानी चाहिए।

फिलिस्तीनी राज्य की घोषणा

15 नवम्बर, 1988 को बहरीन में फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन के नेता यासर आराफात ने इजराइल अधिकृत इलाके में स्वतन्त्र फिलिस्तीन राष्ट्र की स्थापना की घोषणा की। फिलिस्तीनी राष्ट्रीय परिषद की तीन दिन तक चली बैठक के पश्चात् श्री आराफात ने घोषणा की कि इजराइल अधिकृत पश्चिमी तट और गाजा पट्टी इस राष्ट्र में शामिल किये गये हैं जिसकी राजधानी येरूशलम बनायी गयी है। आराफात की इस घोषणा के पश्चात् ट्यूनीशिया, इराक, मलेशिया, अल्जीरिया, सऊदी अरब, कुवैत और भारत ने इस नये फिलिस्तीनी राज्य को मान्यता प्रदान की है। फिलिस्तीनी राष्ट्रीय परिषद ने इजरायल के स्वतन्त्र अस्तित्व के अधिकार को मान्यता दी है।

अरब-इजराइल संघर्ष : प्रमुख कारण और मुद्दे
(ARAB-ISRAEL CONFLICT : MAJOR ISSUES)

मध्यपूर्व में यहूदियों एवं अरबों के संघर्ष को स्थायी बनाये रखने के कई कारण और विवादास्पद मुद्दे हैं :

1. **सीमा-विवाद**—अरब-इजराइल संघर्ष का कारण सीमा-विवाद है। इजराइल उत्तर में लेबनान, पूर्व में सीरिया तथा जोर्डन तथा दक्षिण-पश्चिम में मिस्र के अरब राज्यों से घिरा हुआ है। अरब राज्य इजराइल के प्रबल विरोधी हैं और इनके साथ उसके सीमा-विवादों के कारण प्रायः अशान्ति बनी रहती है। यद्यपि वे राज्य अब यह समझने लगे हैं कि इजराइल का समूलोन्मूलन नहीं हो सकता, फिर भी वे उसके पास 1947 में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा स्वीकृत विभाजन में निर्धारित प्रदेश को ही रहने देना चाहते हैं। किन्तु इजराइल के पास इस समय उसके अधिक प्रदेश

हैं, अरब देश इसे वापस लेना चाहते हैं। इस कारण पड़ौसी अरब राज्यों से इजराइल के प्रायः झगड़े होते रहते है।

2. **शरणार्थियों की समस्या**—इस समय पैलेस्टाइन से निकाले गये दस लाख से अधिक अरब शरणार्थी के रूप में पड़ौसी राज्यों में अत्यन्त दयनीय असह्य कष्ट भोग रहे हैं और इजराइल तथा अरब राज्यों में तनातनी का कारण बने हुए हैं। इन्हें न तो इजराइल वापस लेना चाहता है और न ही अरब राज्य इन्हें अपने राज्यों में बसाने के इच्छुक हैं।

जिस तर्क से यहूदियों के लिए पृथक् राज्य की आवश्यकता थी, आज वही तर्क फिलिस्तीनियों के पक्ष में है। फिलिस्तीनियों को भी एक सम्प्रभुतासम्पन्न राज्य की आवश्यकता है। पिछले 42 वर्षों में रूस, अमरीका, इजराइल व अरब देशों ने जितना खर्च युद्ध पर किया है, उसका दसवाँ हिस्सा भी यदि इन शरणार्थी फिलिस्तीनियों को कहीं स्थायी रूप से बसाने में खर्च होता तो यह समस्या न के समान हो जाती वरन् मानवता का बड़ा उपकार होता।

3. **जोर्डन नदी के पानी का विवाद**—जोर्डन नदी केवल 150 मील लम्बी है फिर भी इजराइल तथा अरब राष्ट्रों के बीच में तीव्र कलह का कारण बनी हुई है क्योंकि यह सीरिया, लेबनान, इजराइल तथा जोर्डन के चार राज्यों में से होकर गुजरती है। इसके पानी के उपयोग के बारे में झगड़ा बढ़ जाने पर एरिक जानस्टन की योजना के अनुसार यह तय किया गया कि इसके जल का 67% भाग अरब राष्ट्र तथा 33% भाग इजराइल अपने उपयोग करने में लायें। इजराइल ने अपने जल का उपयोग करने के लिए योजना आरम्भ कर दी। इससे अरब राष्ट्रों को यह भय हुआ कि इजराइल नगेव के मरुस्थल को हरा-भरा बनाकर अपने को समृद्ध बना लेगा। इजराइल जोर्डन नदी के अधिकांश जल को अपनी ओर ले जाने में प्रयत्नशील है, फलस्वरूप यह एक प्रधान समस्या हो गयी।

4. **इजराइल की मान्यता का सवाल**—अरब राज्य फिलिस्तीन में यहूदी राज्य की स्थापना को स्वीकार नहीं करते। वे इजराइल राज्य को मान्यता नहीं देते। इजराइल के जन्म काल से ही अरब राष्ट्र उसके अस्तित्व को मिटाने का प्रयास करते रहे हैं। जब तक इजराइल को मान्यता एवं सुरक्षा न मिल जाये तब तक इस समस्या का कोई स्थायी समाधान नहीं निकल सकता।

5. **अधिकृत अरब क्षेत्रों को खाली करना**—इजराइल ने विभिन्न युद्धों में कई अरब क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया था, जैसे पश्चिम में गाजा पट्टी एवं सिनाई, पूर्व में पश्चिमी किनारा (जोर्डन नदी का तट), उत्तर में गोलन पहाड़ियाँ, यरूशलम का अरब हिस्सा, लेबनान का दक्षिणी क्षेत्र आदि। मिस्र तथा अन्य सभी अरब राष्ट्र इजराइल द्वारा अधिकृत किये गये सभी क्षेत्रों को वापस लेना चाहते हैं। दूसरी तरफ इजराइल इन क्षेत्रों को हड़पने की इच्छा रखता है। यरूशलम को उसने अपनी राजधानी बना लिया तथा गोलन पहाड़ी क्षेत्र को उसने अभी हाल में अपने देश में शामिल कर लिया। इजराइल की धारणा है कि इन पहाड़ियों से अरब सेनाएँ गोलाबारी करती हैं, अतः उनकी वापसी का प्रश्न ही नहीं उठता।

6. **फिलिस्तीनियों के आत्म-निर्णय का मुद्दा**—फिलिस्तीनी शरणार्थी लम्बे समय से आत्म-निर्णय के अधिकार की माँग कर रहे हैं। मिस्र तथा अन्य अरब राज्य इजराइल के अस्तित्व को मान्यता देने के लिए तैयार है। परन्तु वे जोर्डन नदी के तट (पश्चिम किनारा) और गाजा पट्टी को मिलाकर स्वाधीन फिलिस्तीन राज्य का निर्माण करना चाहते हैं। परन्तु इजराइल न तो स्वाधीन फिलिस्तीन राज्य के निर्माण का इच्छुक है और न ही वह फिलिस्तीनियों को आत्म-निर्णय का अधिकार देने के पक्ष में है। इजराइल गाजा पट्टी तथा जोर्डन नदी के तट पर अपनी प्रभुता को बनाये रखना चाहता है।

7. **इजराइली बस्तियों को हटाने की समस्या**—इजराइल द्वारा अधिकृत अरब क्षेत्रों में

इस समय अनेक यहूदी वस्तियाँ हैं। ये बस्तियाँ गाजा पट्टी में रफिया नामक क्षेत्र में, शर्म-अल-शेख के मार्ग पर, जोर्डन नदी की घाटी में, इज्जियोन खण्ड में, यरूशलम के पास तथा गोलन पहाड़ियों पर स्थित हैं। ये वस्तियाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रतिकूल हैं। यहूदी बस्तियों को बसाकर इजराइल 'वास्तविकता' के तर्क को जन्म देना चाहता है। इन अधिकृत क्षेत्रों में अरबों की स्थिति दयनीय है, अपनी ही धरती पर वे परदेशी की तरह जीवन बिता रहे हैं।

अरब-इजराइल सह-अस्तित्व का क्या आधार हो ?
(WHAT MAY BE THE BASIS FOR ARAB-ISRAEL CO-EXISTENCE ?)

अब चार दशकों के निरन्तर तनाव और युद्ध ने इजराइल व अरब राष्ट्र दोनों को ही थका दिया है, पर इजराइल में यहूदी राष्ट्र की स्थापना ने इस क्षेत्र में कुछ ऐसे सवाल पैदा कर दिये हैं जिनका समाधान हुए बिना इस क्षेत्र में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। इजराइल में यहूदी राष्ट्र की स्थापना के कारण फिलिस्तीनी अरब अपनी मुख्य भूमि से भागने को विवश हुए हैं और शरणार्थी बन गये हैं। करीब 10 लाख फिलिस्तीनी देश विहीन होकर पुनः अपने अस्तित्व के लिए जद्दो-जहद कर रहे हैं। यासर आराफात के कुशल और प्रखर नेतृत्व में इन फिलिस्तीनियों ने फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन की स्थापना कर अपनी आतंकवादी गतिविधियों को निरन्तर गतिशील बनाये रखा है। अरब राष्ट्र जब कोई समझौता भी करना चाहते हैं, ये शरणार्थी और इनका मुक्ति संगठन उनकी मजबूरी बन जाते हैं, कोई भी समझौता नहीं हो पाता। साथ ही अरब राष्ट्रों में भी फूट है और वे नेतृत्व शून्य हैं। कर्नल नासिर के बाद सम्पूर्ण अरब जगत को प्रभावित करने वाला नेतृत्व अभी उत्पन्न नहीं हो सका है, अतः कोई न कोई उग्रवादी अरब राज्य समझौते को मानने से इन्कार कर देता है। सामान्यतः सीरिया इस क्षेत्र की उग्रवादी भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है।

अरब-इजराइल समस्या से मध्यपूर्व की स्थिति विस्फोटात्मक बनी हुई है। इस समस्या का निदान ढूँढ़ने से पूर्व कुछ भौगोलिक व राजनीतिक यथार्थताओं को स्वीकार करना होगा। इनमें से प्रमुख हैं :

(1) इजराइल के अस्तित्व को विश्व राजनीतिक स्तर पर सभी राज्यों को स्वीकार कर लेना चाहिए।

(2) फिलिस्तीनियों के राष्ट्रीय अधिकारों को सम्मान देकर उन्हें उनका हक दे देना चाहिये।

(3) जोर्डन का जल इस क्षेत्र का जीवन है, अतः इसका समुचित बँटवारा आवश्यक है।

(4) अकाबा खाड़ी को सर्वसम्मति से अन्तर्राष्ट्रीय जलमार्ग घोषित कर उसे विकसित किया जाये।

(5) यरूशलम की ऐतिहासिक स्थिति को बनाये रखने की परिस्थितियों को पुनः लौटाने के प्रयास स्थायी बनाये जायें।

उक्त यथार्थताओं के सन्दर्भ में इस क्षेत्र में स्थायी शान्ति की स्थापना करने के प्रयास में निम्न सुझाव विचारणीय हैं :

इजराइल एक सच्चाई है, अभी अरब राष्ट्र उसको मजबूरी में मान रहे हैं, जब तक वे इसे मजबूरी मानेंगे उनमें हीन भावना बनी रहेगी। इन्हें इजराइल के अस्तित्व को सहर्ष स्वीकार करना चाहिये। अरब राष्ट्रों की एकता को मजबूत आधार देना चाहिये। धर्म का आधार उन्हें कभी एक नहीं कर पायेगा। इजराइल को भी यह मानना चाहिये कि वह पश्चिमी एशिया की धरती का देश है। पश्चिमी साम्राज्यवाद का अंग बनकर पश्चिमी एशिया में उसकी उपस्थिति अवांछनीय ही रहेगी। फ़िलिस्तीनियों को बसाने के लिए, उन्हें पृथक् सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य दिलाने

के लिए इजराइल को भी अपना दायित्व निभाना होगा, अन्यथा निर्वासित फिलिस्तीनी इजराइल को चैन से नहीं बैठने देंगे।

रूस व अमरीका की साम्राज्यवादी स्पर्द्धा के रहते, पश्चिमी एशिया का ज्वालामुखी योंही धधकता रहेगा। शस्त्रों का प्रचुर ईंधन इजराइल व अरब राष्ट्रों को ये साम्राज्यवादी ताकतें देती रहेंगी। इनमें 'वीटो' की ताकत संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयत्नों को नित्य पंगु करती ही रहेगी।

अभी तक ऐसे बहुत ही कम प्रसंग हैं जब दोनों सम्बद्ध पक्ष स्वयं समस्या को सुलझाने के लिए एक मंच पर आये हों। साम्राज्यवादी मध्यस्थों के माध्यम से होने वाली समझौता वार्ताओं में अविश्वास व दलाली के बीज तो अन्तर्निहित रहते ही हैं। अन्ततः हर वार्ता असफल व समझौता अव्यावहारिक रहता है।

आजकल ऐसा लगने लगा है कि इन देशों में थकान इतनी है कि सभी समझौते का मन बनाये बैठे हैं, पर शायद ऐसी राह नहीं बना पा रहे हैं कि समझौता कोई आकार ग्रहण कर सके। इसमें सबसे बड़ी बाधा अरबों की फूट है; वे मिलकर कभी किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते।

मध्यपूर्व समस्या का विश्व राजनीति पर प्रभाव
(THE MIDDLE-EAST PROBLEM : IMPACT ON WORLD POLITICS)

मध्यपूर्व की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर गहरा प्रभाव डाले हुए है—(i) अरब-इजराइल तनाव के कारण ही मध्यपूर्व के भूमध्यसागरीय क्षेत्र में महाशक्तियाँ अपनी नौसैनिक शक्ति के विस्तार के लिए प्रतिस्पर्द्धा कर रही हैं। (ii) अरब-इजराइल तनाव से विश्व के अन्य देशों की विदेश नीतियाँ भी प्रभावित हैं। उदाहरणार्थ, भारत चाहते हुए भी इजराइल को राजनयिक मान्यता नहीं दे पा रहा है। (iii) मध्यपूर्व के संकट में शीत-युद्ध में उग्रता आती रहती है। (iv) तेल-कूटनीति ने समूचे विश्व को प्रभावित किया है और विश्व आर्थिक संकट का प्रमुख कारण यही है। (v) मध्यपूर्व समस्या ने विश्व राजनीति में मजहब की भूमिका को उभारा है।

आज भी इजराइल अधिकृत फिलिस्तीनी क्षेत्र में फिलिस्तीनी विरोध जारी है। इजराइली सेना उसे अपनी भरपूर शक्ति से दबा रही है। इजराइल का कहना है कि फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन इजरायल अधिकृत क्षेत्र के फिलिस्तीनियों को उकसा रहा है। बहरहाल वहाँ स्थिति बड़ी खराब है, इसका कोई राजनीतिक मान्य हल खोजना चाहिए।

प्रश्न

1. मध्यपूर्व में अमरीका तथा सोवियत संघ की भूमिका की संक्षिप्त विवेचना कीजिये।
   Discuss briefly the role of the U. S. A. and Soviet Russia in Middle-East.
2. अरब-यहूदी संघर्ष ने मध्यपूर्व की राजनीति को किस प्रकार प्रभावित किया ?
   How has the Arab-Israeli confrontation influenced international politics in the Middle-East ?
3. अरब इजराइल संघर्ष के स्रोत की व्याख्या कीजिए। अरब-इजराइल सह-अस्तित्व का क्या आधार हो सकता है ?
   Discuss the sources of Arab-Israeli confrontation. What may be the basis of Arab-Israel co-existence ?
4. अरब-इजराइल संघर्ष के मूल में प्रमुख विवाद (समस्याएँ) क्या हैं ? इन विवादों का समाधान करने में संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश नीति कहाँ तक सफल रही है ?
   What are the main issues at the root of the Arab-Israeli confrontation ? How far has the U. S. foreign policy been successful in solving these issues ?
5. इजराइल ने कैसे और क्यों युद्ध को अपनी राष्ट्रीय नीति का माध्यम बनाया है ? 1967 तथा 1973 के अरब-इजराइली युद्धों के सन्दर्भ में विश्लेषण कीजिये।
   How and why has Israel made war as an instrument of national policy ? Discuss with reference to the Arab-Israel wars of 1967 and 1973.

21

संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश नीति

[THE FOREIGN POLICY OF THE U.S.A.]

संयुक्त राज्य अमरीका विरोधाभासों से पूर्ण एक बहुवादीय देश है, क्योंकि यहाँ क्रान्तिकारी सुधारवादिता; रूढ़िवादिता; राजनीतिक लोकतन्त्र और आर्थिक कुलीनतन्त्र; राष्ट्रों को संगठित करने की मंशा और जातीय घृणा का नरककुण्ड, स्वतन्त्रता का गढ़ तथा इन्द्र-जाल का क्षेत्र; स्वाधीनता का स्वप्न तथा विशेषाधिकारों का अड्डा; सब एक ही साथ पाये जाते हैं। अमरीकी विदेश नीति भी इन्हीं प्रतियोगी उद्देश्यों एवं दबावों का एक दर्पण है। वह राष्ट्रीय स्वार्थ व अव्यावहारिक आदर्शवाद का विचित्र मिश्रण है। अमरीका के लोगों की यह विशेषता है कि वे अपनी समस्या को सम्पूर्ण मानव समुदाय की समस्या समझ लेते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं में अस्पष्ट होते हुए भी अमरीका के लोग सदैव यह समझ लेते हैं कि वे सन्मार्ग पर हैं। यह वृत्ति जार्ज वाशिंगटन से ही चली आ रही है।

'अमरीकन इण्डियन' के अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमरीका के सभी लोग बाहर से आये हुए 'आगत जातियों' के हैं। उनकी विशाल संख्या यूरोप से आयी थी और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के समय वे अब भी उस पुराने महाद्वीप से घृणा और प्रेम करते हैं जिससे कि वे नाता तोड़ चुके हैं। यूरोप न केवल उनकी सभ्यता की मातृ-भूमि है; वरन् उनके अनुयायियों का लगभग आधा भाग बसता भी वहीं है। जब कभी यूरोप के विनाश का भय होता है तो अमरीकी लोग चौकन्ने हो जाते हैं। जब कभी यूरोप पर संकट आता है तो अमरीका में भी भारी राजनीतिक संघर्ष उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। यही कारण है कि यह कहा जाता है, "अमरीकी पश्चिम की ओर मुंह करके जन्म लेते हैं।"

अमरीकी विदेश नीति : निर्माण के आधारभूत तत्व
(THE U. S. FOREIGN POLICY : BASIC FACTORS)

संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश नीति वहाँ के निवासियों के चरित्र व उनकी महत्वाकांक्षाओं, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति उनकी प्रक्रियाओं एवं वहाँ के राष्ट्रपति और कांग्रेस के संयुक्त प्रभाव पर आधारित है। अमरीका की विदेश नीति किसी भी विदेश नीति की भाँति वहाँ की जनता के ऐतिहासिक अनुभवों, भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक साधनों, सुरक्षात्मक तनाव, मानवीय स्रोत, जनसंख्या, वैदेशिक मामलों में कुशलता, राष्ट्रीय लक्ष्य और हित आदि पर आधारित है। अमरीकी विदेश नीति के कतिपय महत्वपूर्ण निर्माणक तत्व निम्नलिखित हैं :

1. **भौगोलिक स्थिति**—एक फ्रेंच राजदूत ने कहा था कि "यह देश ऐसा भाग्यशाली है कि उत्तर और दक्षिण में तो इसकी सीमाओं पर निर्बल पड़ोसी बसते हैं और पूर्व एवं पश्चिम में मछलियाँ।" भौगोलिक स्थिति की दृष्टि से अमरीका भाग्यशाली है, उसके पास प्राकृतिक साधनों

का विपुल भण्डार है। इस भौगोलिक स्थिति के कारण अमरीका की विश्व में वाणिज्य और व्यापार में आशातीत वृद्धि हुई है। अमरीका की आधारभूत नीतियाँ उसकी भौगोलिक स्थिति और पश्चिमी गोलार्द्ध की सुरक्षा के लिए अनुकूल परिस्थितियों से उत्पन्न हुई हैं। जलवायु, पहाड़ों और नदियों ने राष्ट्र के विकास और एकता में बाधा नहीं पहुँचायी है।

2. **प्राकृतिक साधन**—यदि आर्थिक आत्म-निर्भरता शक्ति का एक तत्व है तो अमरीका आवश्यकता पड़ने पर सभी खतरों का सामना कर सकता है। खाद्योत्पादन जो कि कभी गृह समस्या थी, आज अमरीकी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक महत्वपूर्ण विषय बन गया है।

3. **सुरक्षात्मक शक्ति**—निर्बलता सुरक्षा का कोई विकल्प नहीं है। उन नीतियों की अपेक्षा जो उच्च आदर्शों और ऊँची आशाओं पर आधारित होती हैं, शक्ति नीतियाँ अधिक सफल होती हैं। अमरीका के लोगों का विचार है कि विदेश नीति को सैनिक कार्यक्रम द्वारा सहायता मिलनी ही चाहिए ताकि राष्ट्र को सुरक्षित रखा जा सके।

4. **मानवीय स्रोत**—औसत अमरीकी श्रमिकों का प्रति व्यक्ति उत्पादन अधिकतर गैर-पश्चिमी देशों के श्रमिकों के उत्पादन की तुलना में बहुत ऊँचा है। अमरीका की विदेश नीति के निर्माण में, इस प्रकार, उसकी जनसंख्या के आकार और गुणात्मक विशेषता का महत्वपूर्ण हाथ है।

5. **गृह नीति और दबाव गुट**—गृह नीति और दबाव गुटों का अमरीका की विदेश नीति पर इतना प्रभाव पड़ता है कि अनेक बार अमरीका की कार्यपालिका के लिए उसकी अवहेलना करना असम्भव हो जाता है। अमरीका की फिलिस्तीन सम्बन्धी नीति अल्पसंख्यक यहूदियों की माँग को ध्यान में रखकर बनायी गयी थी। धार्मिक और व्यापारिक संस्थाएँ तथा दूसरे सामाजिक संगठन भी विदेश नीति को अपने हितों के अनुरूप प्रभावित करते हैं।

6. **संवैधानिक बन्धन**—जनतन्त्रात्मक और संघीय प्रणाली वाला राष्ट्र होने के कारण अमरीका की विदेश नीति को अनेक संवैधानिक संकटों का सामना करना पड़ता है। संविधान और सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों ने विदेश नीति के संचालन में केन्द्रीय सरकार के हाथों को जकड़ रखा है। राष्ट्रपति को यदि विदेश नीति के संचालन की जिम्मेदारी दी है तो उसके **'युद्ध'** और 'सन्धि' आदि के निर्णयों पर सीनेट का अंकुश लगा रखा है।

7. **दलगत सहयोग**—अमरीका की विदेशी नीति का निर्माण बहुत कुछ दलगत सहयोग और प्रशासकीय समन्वय पर निर्भर रहता है। विदेश नीति के संचालन में उस समय बहुत कठिनाई अनुभव होती है जबकि राष्ट्रपति उस दल का नहीं होता जिसका कि कांग्रेस में बहुमत होता है।

अमरीकी विदेश नीति : उद्देश्य
(THE U. S. FOREIGN POLICY : OBJECTS)

यह सर्वमान्य तथ्य है कि प्रत्येक राष्ट्र के अपने स्वार्थ होते हैं जिन पर अपनी विदेश नीति आधारित करता है। संयुक्त राज्य अमरीका इसका अपवाद नहीं है। अमरीका की विदेश नीति के निम्नांकित लक्ष्य बताये जा सकते हैं :

1. **राष्ट्रीय सुरक्षा**—अमरीका की विदेश नीति का मुख्य लक्ष्य इस प्रकार की व्यवस्था करना है ताकि उसकी राष्ट्रीय सुरक्षा पर किसी प्रकार की आँच न आने पाये। इसलिए अमरीका यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका में शक्ति-सन्तुलन बनाये रखना चाहता है। 'यूरोप में पश्चिमी जर्मनी और एशिया में जापान व पाकिस्तान का समर्थन उसकी इसी आवश्यकता पर आधारित है ताकि रूस और साम्यवादी शक्तियों के विरुद्ध शक्ति-सन्तुलन स्थापित किया जा सके।

2. **जनतन्त्र की रक्षा**—अमरीका जनतन्त्र का प्रबल समर्थक है। प्रथम महायुद्ध उसने जनतन्त्र की रक्षा के लिए लड़ा था। द्वितीय महायुद्ध के समय रूजवेल्ट ने अमरीका का उद्देश्य

हिटलर की तानाशाही को नष्ट करना तथा संसार में प्रत्येक स्थान पर चार स्वतन्त्रताओं—भाषण की स्वतन्त्रता, धर्म की स्वतन्त्रता, अभाव से स्वतन्त्रता और भय से स्वतन्त्रता की स्थापना करना बताया था।

अमरीकी राजनेता सिर्फ मोह या अहंकारवश ही दुनिया भर में जनतन्त्र की अगुवाई का ठेका नहीं लेते। यह सम्भव है कि वास्तव में उन्हें लगता हो कि यह उन्ही का उत्तरदायित्व है। गणराज्य की स्थापना करने वाले अमरीकी पहले लोग थे। उनका यह सोचना तर्कसंगत है कि अमरीका ने जनतन्त्र के आधुनिक संस्करण का उत्पादन व निर्यात किया। अमरीकी औपनिवेशिक दासता का जुआ उतार फेंकने वाले पहले लोग थे।

अमरीका आज संसार का सबसे प्रमुख समृद्ध देश है। इस समृद्धि की नींव प्राकृतिक संसाधनों के निरन्तर और कुशाल दोहन पर टिकी हुई है। अमरीका में आज औद्योगिकोत्तर (Post-Industrial Society) प्रतिबिम्बित होता है जिसका अनुकरण करने के लिए विकासशील ही नहीं बल्कि अन्य पश्चिमी समृद्ध देश भी लालायित रहते हैं। इस जीवनयापन शैली को बनाये व बचाये रखने के लिए सभी अमरीकी सरकारें (चाहे वे रिपब्लिकन हों या डेमोक्रेटिक) कृत-संकल्प रहती हैं और रहेंगी। आर्थिक सहायता हो या सांस्कृतिक आदान-प्रदान, अमरीकी विदेश नीति का पहला उद्देश्य यह रहता है कि वह दूसरे देशों को अपनी छवि में ढाल सकें। इस प्रयत्न के असफल होने पर वह 'अन्तर्राष्ट्रीय पुलिसमैन' (International Policeman) का वेश धारण कर लेता है ताकि राष्ट्रहित को 'बुद्धि' से नहीं तो 'बल' द्वारा सुरक्षित रखा जाये।

3. **साम्यवाद का अवरोध**—द्वितीय महायुद्ध के बाद अमरीका ने साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रसार को रोकने का दृढ़ संकल्प ले रखा है। चेस्टर बोल्स के शब्दों में, "युद्ध के बाद—मुख्यतः अमरीकी कूटनीति साम्यवाद को, उसके विस्तारशील सोवियत और चीनी रूपों में विशाल रूस और चीनी सीमा के चारों ओर शक्ति की स्थितियाँ उत्पन्न करके, रोक रखने की रही है।" इसके लिए अमरीका ने प्रत्येक सोवियत विस्तारवादी कार्य के मार्ग में विघ्न डालने का निश्चय किया।

4. **तनाव कम करना**—सोवियत संघ और अमरीका दोनों ही पारस्परिक तनाव को कम करने की चर्चा करते हैं और दोनों ही एक-दूसरे पर तनाव बढ़ाने का आरोप लगाते हैं। अणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि (1963), परमाणु अस्त्र प्रसार निषेध सन्धि (1968), साल्ट-प्रथम एवं द्वितीय समझौतों तथा वाशिंगटन शिखर सन्धि (1987) पर दोनों महाशक्तियों द्वारा हस्ताक्षर किये जाने से इस विचार को समर्थन मिलता है कि अमरीका सोवियत संघ के साथ अपने तनावपूर्ण सम्बन्धों को सुधारना चाहता है।

5. **विश्व-शान्ति**—डलेस ने 1955 में कहा था कि "हमारी विदेश नीति का व्यापक लक्ष्य संयुक्त राज्य के लोगों को शान्ति और स्वतन्त्रता का सुख भोगने का अवसर प्रदान करना है।"

अमरीकी विदेश नीति की विशेषताएँ
(SALIENT FEATURES OF U.S. FOREIGN POLICY)

द्वितीय महायुद्ध के बाद अमरीकी विदेश नीति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

1. **साम्यवाद का अवरोध**—द्वितीय महायुद्ध के बाद 'साम्यवाद का अवरोध' (Contain ment of Communism) अमरीकी विदेश नीति की आधारभूत विशेषता रही है। साम्यवाद के अवरोध की नीति का अर्थ है, जहाँ कहीं सोवियत संघ 'दबाव' का प्रयोग करता है वहाँ संयुक्त राज्य अमरीका 'प्रति-दबाव' का प्रयोग करेगा। जार्ज अर्ल के शब्दों में, "सोवियत संघ नाजी खतरे से भी अधिक अत्यधिक बड़ा खतरा········ है।" अमरीकी विदेश नीति के अन्य सभी तत्व द्वि-पक्षीय या बहु-पक्षीय सुरक्षा सन्धियाँ, सैनिक संगठन, विदेशों में सैनिक अड्डों की स्थापना, शस्त्रों की होड़ आदि 'साम्यवाद के अवरोधक' की नीति के परिणाम थे। चार्ल्स लर्च के अनुसार, "संयुक्त

राज्य ने प्रत्येक सोवियत विस्तारवादी कार्य के मार्ग में विघ्न डालने का निश्चय किया। विश्व के किसी भी भाग में जहाँ सोवियत संघ और चीन अपना साम्राज्य फैलाना चाहते हैं वहाँ संयुक्त राज्य विरोध करने के लिए कृत-संकल्प है। इस नीति के क्रियान्वयन ने अमरीका को यूरोप में सैनिक सन्धियाँ करने के लिए, अफ्रीका में संयुक्त राष्ट्र की कार्यवाही का समर्थन करने के लिए, दक्षिण-पूर्वी एशिया में खुले तौर पर युद्ध करने के लिए और लैटिन अमरीका में विशाल स्तर पर दीर्घकालीन विकास सहायता योजनाओं का उत्तरदायित्व वहन करने के लिए प्रेरित किया है ··· प्रत्येक मामले में साम्यवादी विस्तार को निरुत्साहित करने की भावना एक स्थायी तत्व है।"

2. **सैनिक सन्धियों की नीति**—अमरीका ने साम्यवाद का अवरोध करने के लिए सैनिक सन्धियों एवं मैत्रियों का निर्माण किया। इनमें प्रमुख हैं : रीओ सन्धि, नाटो सन्धि, एन्जस सन्धि, सीटो सन्धि, बगदाद पैक्ट (सेण्टो सन्धि) आदि। लैटिन अमरीकी राज्यों के साथ 1947 में अमरीका ने रीओ सन्धि पर हस्ताक्षर किये। आज इस सन्धि का व्यावहारिक रूप 'अमरीकी राज्यों का संगठन' (O.A.S.) है। 4 अप्रैल, 1949 को अमरीका ने पश्चिमी यूरोप के कतिपय देशों के साथ नाटो सन्धि पर हस्ताक्षर किये। दक्षिण-पूर्वी एशिया और दक्षिण-पश्चिम प्रशान्त महासागर क्षेत्र को साम्यवाद से बचाने के लिए 1957 में मनीला (सीटो) सन्धि पर हस्ताक्षर किये। 1951 में आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड तथा अमरीका ने एन्जस समझौते पर हस्ताक्षर किये। अमरीका ने जापान, ताइवान तथा पाकिस्तान के साथ द्वि-पक्षीय सन्धियाँ कीं। इनके अतिरिक्त यूरोपीय राष्ट्रों की सैनिक शक्ति को बढ़ाने के लिए 25 जुलाई, 1949 को पारस्परिक प्रतिरक्षा सहायता कार्यक्रम को शुरू किया गया और 1951 में पारस्परिक सहायता सुरक्षा कानून बनाया गया।

3. **विदेशी आर्थिक सहायता की नीति**—विदेशी आर्थिक सहायता अमरीकी विदेश नीति का अभिन्न अंग है। विदेशी आर्थिक सहायता कार्यक्रम के कई उद्देश्य हैं : (i) आर्थिक सहायता द्वारा राष्ट्रों को आत्म-निर्भर बनाना। (ii) आर्थिक और तकनीकी सहायता देकर साम्यवाद के खतरे को टालना; (iii) आर्थिक और सैनिक सहायता द्वारा विदेशों में पारस्परिक महत्व की सुविधाएँ : सैनिक अड्डों, बन्दरगाहों आदि की सुविधा प्राप्त करना।

द्वितीय महायुद्ध के बाद अमरीका ने आर्थिक और तकनीकी सहायता के कई महत्वपूर्ण कार्यक्रम शुरू किये, जैसे : (i) **उदार पट्टा कार्यक्रम**—इसके अन्तर्गत दी जाने वाली अमरीकी आर्थिक सहायता की कुल राशि 1945 तक 49·1 बिलियन डॉलर तक पहुँच गयी थी। सहायता प्राप्त करने वाले देश थे : ब्रिटेन, फ्रांस, सोवियत संघ और चीन। (ii) **मार्शल योजना**—मार्शल योजना के अन्तर्गत यूरोप के 16 राज्यों को 1948–1952 की अवधि में 20 अरब डॉलर की सहायता देना स्वीकार किया गया। इसका उद्देश्य यूरोप के राष्ट्रों को साम्यवाद से बचाना था। (iii) **चार-सूत्रीय कार्यक्रम**—इस कार्यक्रम को अमरीकी राष्ट्रपति ट्रूमैन ने 20 फरवरी, 1949 को कांग्रेस के समक्ष प्रस्तुत किया। इसका मूल उद्देश्य अल्पविकसित राष्ट्रों को अमरीकी तकनीकी सहायता की सुविधाएँ उपलब्ध कराना था। (iv) **अन्तर्राष्ट्रीय विकास योजना**—1961 में विदेशी सहायता अधिनियम के अन्तर्गत इसे राष्ट्रपति कैनेडी ने शुरू किया था। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सहायता प्राप्त करने वाले देश मुख्यत: एशिया के राष्ट्र थे। (v) **प्रगति के लिए मैत्री**—यह योजना लैटिन अमरीकी राज्यों के विकास के लिए बनायी गयी।

4. **मानवाधिकारों का समर्थन**—अमरीकी विदेश नीति की एक विशेषता मानवाधिकारों का समर्थन करना है। कार्टर प्रशासन ने तो मानवाधिकार मुद्दे को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के ताने-बाने में ठोस रूप से लपेट दिया। कार्टर प्रशासन ने मानवाधिकारों की देख-रेख के लिए स्टेट डिपार्टमेण्ट में एक पृथक् ब्यूरो की स्थापना की। अमरीकी राजदूतों का यह व्यक्तिगत उत्तरदायित्व बन गया कि वे दूसरे देशों में मानवाधिकार सम्बन्धी नीति को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करें।

अमरीकी विदेश नीति : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
(THE U. S. FOREIGN POLICY : HISTORICAL BACKGROUND)

1783 में संयुक्त राज्य अमरीका अटलाण्टिक महासागर के पश्चिमी किनारे पर 13 छोटे-छोटे राज्यों का संघात्मक राज्य स्थापित हुआ। 1812 में ब्रिटेन से और 1861–65 के गृह-युद्ध से वह अवश्य त्रस्त रहा है। इसके अतिरिक्त उसे किसी युद्ध में सम्मिलित नहीं होना पड़ा, अतः पुरानी दुनिया से दूर पार्थक्यकरण की नीति को अपनाते हुए तीव्र गति से उन्नति करता रहा। अमरीका के पहले राष्ट्रपति वाशिंगटन ने अपने शासनकाल में तटस्थता की नीति अपनायी। इस नीति के पक्ष में उन्होंने कहा था, कि "हमें यूरोप के झगड़ों से बिलकुल विलग होकर तटस्थता की नीति निर्धारित करनी है, यही हमारी सफलता की कुन्जी है··· ····हमें किसी भी देश के साथ स्थायी सन्धियों अथवा समझौतों में नहीं बँधना चाहिए, केवल गम्भीर अवस्था में अस्थायी सन्धि की जा सकती है।" जेफरसन ने भी वाशिंगटन की नीति का अनुसरण किया। 1823 में राष्ट्रपति मुनरो ने यूरोपीय शक्तियों को चेतावनी देते हुए कहा था कि "हम बता देना चाहते हैं कि यूरोपीय राज्यों ने अपनी प्रणाली को अमरीकी गोलार्द्ध में फैलाने का कोई प्रयत्न नहीं किया तो उनके इस यत्न को हमारी शान्ति एवं सुरक्षा के लिए खतरा समझा जायगा ·· यदि यूरोपीय राष्ट्रों द्वारा हस्तक्षेप किया गया तो हम उसे संयुक्त राज्य अमरीका के प्रति अमित्रतापूर्ण रुख के अतिरिक्त और कुछ न समझ सकेंगे। इसे पार्थक्य सिद्धान्त भी कहा जाता है। 19वीं शताब्दी में अमरीका ने 'पार्थक्य नीति' (Isolation Policy) या 'हस्तक्षेप नीति' का पालन किया। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ होते ही अमरीका ने विश्व राजनीति में दिलचस्पी लेनी प्रारम्भ कर दी। 1901 में थियोडोर रूजवेल्ट अमरीका के राष्ट्रपति बने। उनका मानना था कि अमरीका विश्व की महानतम शक्ति है, अतः उसने विश्व राजनीति में अपना प्रभाव बढ़ाने का निश्चय किया। 1904-5 में जापान-रूसी युद्ध को समाप्त करने में उसने दिलचस्पी ली और उस युद्ध को समाप्त करने में उसे सफलता प्राप्त हुई। 1906 में जर्मनी और फ्रांस में मोरक्को के विषय में झगड़ा प्रारम्भ हुआ और अमरीका ने मध्यस्थता करके दोनों देशों में समझौता कराया और विश्व-शान्ति को भंग होने से बचाया। 1914 में प्रथम विश्व-युद्ध के समय अमरीका युद्धरत राज्यों को युद्ध-सामग्री बेच-बेचकर काफी आर्थिक लाभ उठा रहा था पर जब जर्मन पनडुब्बियों ने अमरीका के निःशस्त्र तेलवाहक जहाजों को डुबाना प्रारम्भ किया तो अमरीका में उत्तेजना फैल गयी और 6 अप्रैल, 1917 को अमरीका ने बाकायदा जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। अमरीका के युद्ध में प्रवेश होते ही युद्ध का पासा पलट गया और जर्मनी की हार होना प्रारम्भ हो गयी। अमरीकी राष्ट्रपति विलसन ने राष्ट्रसंघ के निर्माण में गहरी दिलचस्पी ली। किन्तु नवम्बर 1920 में राष्ट्रपति का चुनाव हुआ और रिपब्लिकन सदस्य वारेन हार्डिंग नये राष्ट्रपति चुने गये। मार्च 1921 में नये राष्ट्रपति ने घोषणा की कि अमरीका राष्ट्र संघ में भाग नहीं लेगा। राष्ट्रपति [illegible] ने पुनः अमरीकी पृथकतावाद की नीति अपनायी। मार्च 1933 में फ्रेंकलिन डी० रूजवेल्ट के राष्ट्रपति बनने के बाद अमरीकी विदेश नीति स्पष्ट रूप से पृथकतावाद से शनैः-शनैः अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की ओर उन्मुख होने लगी। 7 दिसम्बर, 1941 को जब एकदम आकस्मिक रूप से जापान ने पर्ल हारबर पर प्रलयंकारी बम-वर्षा कर दी तो 8 दिसम्बर को जापान के विरुद्ध अमरीकी कांग्रेस द्वारा युद्ध की घोषणा कर दी गयी और तीन दिन बाद ही अमरीका को जर्मनी और इटली के साथ भी उलझ जाना पड़ा।

द्वितीय महायुद्धोत्तरकालीन अमरीकी विदेश नीति
(THE POST-SECOND WAR U.S. FOREIGN POLICY)

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अमरीका ने अपने को एकदम नयी स्थिति में पाया। इस

महायुद्ध ने जर्मनी; जापान और इटली की शक्ति को नष्ट कर दिया तथा ब्रिटेन एवं फ्रांस को इतना अधिक कमजोर बना दिया कि वे द्वितीय श्रेणी की शक्तियाँ मात्र रह गये। अमरीका ने पाया कि युद्ध के बाद वह न केवल विश्व की महानतम् शक्ति था, अपितु साम्यवाद और सोवियत संघ विरोधी पश्चिमी दुनिया का प्रथम संरक्षक और नेता भी था। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अमरीकी विदेश नीति का प्रथम लक्ष्य साम्यवादी खतरे का सामना करने और सोवियत संघ तथा साम्यवादी चीन के प्रभाव-क्षेत्र की वृद्धि को रोकने की दृढ़ व्यवस्था करना रहा है। इसके लिए उसने अलगाववाद का परित्याग कर न केवल यूरोप के मामलों में रुचि ली वरन् सुदूर पूर्व, मध्य पूर्व, दक्षिण-पूर्वी एशिया और अफ्रीका के मामलों में भी सक्रिय दिलचस्पी ली है। शूमाँ के शब्दों में, "प्रथम महायुद्ध के बाद अमरीका आसानी से अलगाववादी नीति का अनुसरण कर सकता था क्योंकि धुरी राष्ट्रों की पराजय के बाद यूरोप और एशिया में एक नया शक्ति-सन्तुलन स्थापित हो गया था, परन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद अमरीका के लिए पार्थक्य नीति का अनुसरण करना सम्भव नहीं था, क्योंकि नाजी राष्ट्रों के त्रिगुट की हार के बाद यूरोप और एशियाई देशों पर साम्यवादी राष्ट्रों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था।"

द्वितीय महायुद्ध के बाद अमरीकी विदेश नीति के प्रमुख चरण (आयाम) निम्नलिखित है :

1. राष्ट्रपति ट्रूमैन और अमरीकी विदेश नीति (1945–1952)
(PRESIDENT TRUMAN AND U.S. FOREIGN POLICY, 1945–52)

द्वितीय महायुद्ध के बाद अमरीकी प्रशासन की बागडोर राष्ट्रपति ट्रूमैन के हाथों में आयी। ट्रूमैन ने अमरीकी विदेश नीति की जो आधारशिलाएँ रखी वे आज भी न्यूनाधिक परिवर्तन के साथ अमरीकी विदेश नीति का मार्गदर्शक बनी हुई हैं। ट्रूमैन काल में अमरीकी विदेश नीति का अध्ययन हम निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते है :

1. **सहयोग और आनुकूल्य की नीति**—द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने पर अमरीका को यह आशा थी कि मित्र राष्ट्रों का युद्धकालीन सहयोग शान्तिकाल में भी चलता रहेगा। यही कारण था कि राष्ट्रपति ट्रूमैन ने 'सहयोग और आनुकूल्य की नीति' (Policy of Co-operation and Accommodation) को अपनाया। अतः इस समय उसने अन्य शक्तियों के साथ मिलकर संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की, युद्ध से विध्वस्त देशों के पुनर्वास और पुनर्निर्माण का कार्य किया, यूरोप से सेनाओं को हटाया, जर्मनी तथा उसके साथी राष्ट्रों के साथ शीघ्र ही सन्धि करने पर बल दिया। 28 अक्टूबर, 1945 को राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमरीका की विदेश नीति के सम्बन्ध में बारह-सूत्रीय (Twelve Point) उद्देश्यों की घोषणा की। रूसी सहयोग के प्राप्त होते रहने की अमरीकी आशा इतनी अधिक दृढ़ थी कि अमरीका ने अपनी सशस्त्र सेनाएँ 2 वर्ष के अन्दर 1 करोड़ 20 लाख सैनिकों से घटाकर 15 लाख सैनिक कर दीं।

परन्तु अमरीका ने शीघ्र ही यह अनुभव किया कि सोवियत संघ उसका कट्टर विरोधी और प्रतिद्वन्द्वी है, तथा समस्याओं के समाधान में दोनों देशों के दृष्टिकोणों में काफी अन्तर है, जिसके कारण उनमें किसी प्रकार का समझौता या सहयोग सम्भव नहीं है। ट्रूमैन के विशेष परामर्शदाता हैरीमैन तथा जार्ज कैनन का मत था कि "मास्को सहयोग और समझौते की नीति को दुर्बलता का लक्षण समझता है, यह केवल शक्ति की ही परवाह करता है, इसलिए उसके विरुद्ध दृढ़ता की नीति ही अपनायी जानी चाहिए।"

2. **साम्यवाद के अवरोध की नीति**—1946 के मध्य तक रूस की ओर से अमरीका निराश होता जा रहा था। अब अमरीका ने यह निश्चय कर लिया कि साम्यवादी प्रसार को अविलम्ब अवरुद्ध किया जाये। साम्यवाद के अवरोध की नीति का वास्तविक कारण ईरान, यूनान और तुर्की पर बढ़ता हुआ साम्यवादी दबाव था। अगस्त 1941 में रूसी सेनाओं ने उत्तरी ईरान पर अधिकार

कर लिया था। परन्तु युद्ध के पश्चात् रूस ने तब तक अपनी सेनाएँ नहीं हटायीं जब तक कि मई 1946 में ईरान में 51% रूसी हिस्सों वाली एक संयुक्त सोवियत ईरानी तेल कम्पनी की स्थापना का समझौता नहीं कर लिया। इसी प्रकार रूस ने 7 अगस्त, 1936 को तुर्की के सम्मुख भूमध्य सागर और कृष्ण सागर को संयुक्त करने वाले फास्फोरस और दर्रे दानियाल जलडमरूमध्यों के सम्बन्ध में कुछ ऐसे प्रस्ताव रखे जिनको कार्यान्वित करने पर उन पर रूस की सत्ता स्थापित की जाती। तुर्की ने इन प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया और सम्भावित रूसी आक्रमण के विरुद्ध अमरीका से सहायता माँगी। इसी समय यूनान में साम्यवादियों ने ब्रिटिश समर्थक यूनानी सरकार के विरुद्ध छापामार युद्ध छेड़ दिया। रूस यूनान के गृहयुद्ध में सक्रिय रुचि ले रहा था। ब्रिटेन के लिए अकेले साम्यवादियों का मुकाबला करना अत्यन्त कठिन था। उसने अमरीका से यूनान को साम्यवादी खतरे से बचने का अनुरोध किया। अमरीकी विदेश सचिव मार्शल ने 23 फरवरी, 1945 को यह परामर्श दिया कि यूनान को भारी सहायता दी जानी चाहिए क्योंकि "यदि यूनान हाथ से निकल गया तो तुर्की साम्यवाद के महासमुद्र में एक अरक्षणीय चौकी बन जायेगा।" 27 फरवरी, 1947 को राष्ट्रपति ट्रूमैन ने यूनान और तुर्की को सहायता देने का निर्णय कर लिया।

3. ट्रूमैन सिद्धान्त : अवरोध का राजनीतिक सिद्धान्त—मध्यपूर्वी क्षेत्र में यूनान, टर्की, ईरान आदि देशों को साम्यवादी बनने से बचाने के लिए ट्रूमैन ने इन्हें आर्थिक सहायता देने की नीति अपनायी; इस नीति को 'ट्रूमैन सिद्धान्त' (Truman Doctrine) कहा जाता है। मार्च 1947 में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमरीकी काँग्रेस से अपील की कि साम्यवाद का प्रसार रोकने के लिए यूनान और टर्की के लिए आर्थिक सहायता स्वीकार की जाय। यूनान को 25 करोड़ डॉलर और टर्की को 15 करोड़ डॉलर देने की सिफारिश की गयी। ट्रूमैन सिद्धान्त के अन्तर्गत प्राप्त विपुल आर्थिक सहायता के बल पर 1950 के अन्त तक यूनान और टर्की ने साम्यवादी दबाव से सफलतापूर्वक मुक्ति प्राप्त कर ली।

ट्रूमैन सिद्धान्त ने अमरीकी विदेश नीति के इतिहास में एक असाधारण कीर्तिस्तम्भ की स्थापना की। इस नीति ने घोषणा की कि जहाँ कहीं भी शान्ति भंग करने वाला प्रत्यक्ष या परोक्ष आक्रमण कार्य होगा, उसे अमरीका की सुरक्षा के लिए संकट माना जायेगा। अमरीका उसे रोकने का भरसक प्रयत्न करेगा। ट्रूमैन सिद्धान्त के फलस्वरूप अमरीकी विदेश नीति का कार्यक्षेत्र विश्वव्यापी हो गया। इस सिद्धान्त ने अमरीका की विदेश नीति में मौलिक परिवर्तनों को जन्म दिया, उसे विकास की एक नयी दिशा दी। माइकेल डोनेलन के शब्दों में, ट्रूमैन सिद्धान्त निश्चय ही सम्पूर्ण स्वतन्त्र विश्व के लिए मुनरो सिद्धान्त था। इसने पुराने सिद्धान्त को नयी परिस्थितियों के साथ आवश्यकतानुसार समायोजन कर दिया और पश्चिमी गोलार्द्ध की सीमाओं का विस्तार स्वतन्त्र विश्व की सीमाओं तक कर दिया।

ट्रूमैन सिद्धान्त का प्रभाव—ट्रूमैन सिद्धान्त अमरीका की विदेश नीति में एक क्रान्तिकारी कदम था। इसके प्रभाव इस प्रकार हैं :

(1) यह सिद्धान्त साम्यवाद के अवरोध की नीति के विकास का प्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण चरण था। यद्यपि ट्रूमैन ने सोवियत संघ का कहीं उल्लेख नहीं किया था तथापि 'सर्वाधिकारवादी' और 'स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाले राज्य' से किस देश का अभिप्राय था, यह सारा विश्व भली-भाँति जानता था।

(2) ट्रूमैन सिद्धान्त, मुनरो सिद्धान्त का वृहत और विश्वव्यापी रूप था। मुनरो सिद्धान्त का कार्यक्षेत्र पश्चिमी गोलार्द्ध था। लेकिन ट्रूमैन सिद्धान्त ने पश्चिम के साथ पूर्वी गोलार्द्ध को भी अमरीका का कार्यक्षेत्र बना दिया।

(3) यह इस बात का प्रतीक था कि अमरीका ने रूस के साथ मैत्री बढ़ाने की रूजवेल्ट की नीति को अन्तिम रूप से त्याग दिया था।

(4) यह इस बात की स्पष्ट स्वीकृति थी कि विश्व सैद्धान्तिक रूप से दो विरोधी गुटों में बँट गया है।

(5) इसे एक प्रकार से 'शीत-युद्ध' (Cold War) का उद्घाटन कहा जा सकता है क्योंकि यह सिद्धान्त इस तथ्य की स्पष्ट अभिव्यक्ति था कि अमरीका रूस के साथ निर्णायक संघर्ष के लिए तैयार था। यह सिद्धान्त इस तथ्य की स्वीकृति थी कि भूमध्य सागर और मध्यपूर्व में उत्पन्न हुई शक्ति-शून्यता का रूस द्वारा लाभ उठाये जाने से पूर्व अमरीका लाभ उठाने का इच्छुक है।

(6) यह सोवियत संघ की एक खुली चुनौती था कि उसकी अपने प्रभाव का विस्तार करने की महत्वाकांक्षाओं को सहन नहीं किया जायेगा।

ट्रूमैन सिद्धान्त की आलोचना—ट्रूमैन सिद्धान्त को कुछ लोग 'साम्राज्यवाद का एक नया रूप' या 'डालर कूटनीति' के नाम से पुकारते हैं। आलोचकों का कहना है कि अमरीका द्वारा स्वतन्त्रता की रक्षा के नाम पर सहायता देना कोरा ढोंग था और वास्तविक उद्देश्यों को शब्दाडम्बर में छिपाने का एक प्रयास था। ट्रूमैन जनतन्त्र की नहीं वरन् जनतन्त्र के नाम पर मध्यपूर्व के तेल की रक्षा करना चाहता था। अपने भाषण में उसने स्वीकार किया था कि "यदि रूसियों का ईरान के तेल पर अधिकार हो गया तो विश्व-सन्तुलन बिगड़ जायेगा।" प्रो. हरिदत्त वेदालंकार के अभिमत में, "ट्रूमैन सिद्धान्त वस्तुतः अमरीका में अनेक कारणों से उत्पन्न रूस के प्रति घृणा, विद्वेष और वैमनस्य का मूर्त रूप था। इन कारणों में मुख्य रूप से निम्नांकित उल्लेखनीय हैं—पूँजीवाद के समूलोन्मूलन का रूसी संकल्प, रूस की तानाशाही व्यवस्था, राजनीतिक आतंक, वैयक्तिक स्वतन्त्रताओं का अपहरण, सोवियत संघ द्वारा अमरीकी ऋणों की अदायगी से इन्कार, कौमिण्टर की गतिविधियाँ और कार्य, युद्ध के समय रूस का जापान के साथ युद्ध छेड़ने में विलम्ब, पोलैण्ड का रूस के प्रति व्यवहार—इन सब कारणों से अमरीका में रूस के प्रति उग्र विरोध पहले से ही विद्यमान था, ट्रूमैन सिद्धान्त उसकी स्थूल अभिव्यक्ति थी।"

4. मार्शल योजना : अवरोध की आर्थिक रणनीति—साम्यवाद के प्रसार को सीमित करने का दूसरा कदम मार्शल योजना थी। यह इस धारणा पर आधारित थी कि महायुद्ध के परिणामों से ध्वस्त यूरोप यदि शीघ्र ही अपना आर्थिक पुनर्निर्माण नहीं करेगा तो वह साम्यवादी विचारधारा का शिकार हो जायेगा। अमरीकी विदेश सचिव जार्ज मार्शल ने मास्को की विदेश मन्त्री परिषद् में सोवियत संघ की महत्वाकांक्षाओं को आँकने की चेष्टा की थी। 26 अप्रैल, 1947 को यूरोप का दौरा समाप्त करके वाशिंगटन लौटने पर मार्शल ने इस बात पर जोर दिया कि यूरोपीय देशों को तुरन्त आर्थिक सहायता प्रदान की जाय अन्यथा उनके साम्यवादी होने का खतरा हो जायेगा। परिणामस्वरूप राष्ट्रपति ट्रूमैन ने मार्शल द्वारा दिये गये सुझाव के अनुसार पश्चिमी यूरोपीय देशों के आर्थिक पुनर्निर्माण तथा इन देशों में व्याप्त बेकारी, भुखमरी, निर्धनता, साधनहीनता और अव्यवस्था को समाप्त करने के उद्देश्य से मार्शल योजना शुरू की।

सभी यूरोपीय राज्यों को आर्थिक पुनर्निर्माण के इस कार्य में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया गया। ब्रिटेन और फ्रांस की पहल पर जुलाई 1947 में पेरिस में 16 यूरोपियन देशों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें यूरोप के आर्थिक पुनरुद्धार के लिए एक चार-वर्षीय कार्यक्रम तैयार किया गया। यह योजना यूरोपियन रिलीफ प्रोग्राम कहलायी। इसके अन्तर्गत चार वर्ष में (1947 से 1951) अमरीका ने यूरोप को 12 बिलियन डॉलर की सहायता दी जिसके बल पर एक ओर तो पश्चिमी यूरोप आर्थिक पतन और साम्यवादी आधिपत्य से बच गया और दूसरी ओर अमरीका पश्चिमी जगत का सर्वमान्य नेता बन गया।

मार्शल योजना को समसामयिक कूटनीतिक इतिहास की सर्वाधिक 'दिलचस्प और युग-प्रवर्तक' घटना कहा गया है। यह योजना ट्रूमैन सिद्धान्त की पूरक थी और इसने साम्यवाद के अवरोध की नीति को तीन प्रकार से आगे बढ़ाया : **प्रथम**, जहाँ ट्रूमैन सिद्धान्त में अलग-अलग राज्यों को सहायता देने की व्यवस्था की गयी थी वहाँ मार्शल योजना में यूरोप को समग्र रूप में सहायता देने की व्यवस्था की गयी। **द्वितीय**, इसने अवरोध की नीति में आर्थिक तत्वों के महत्व को स्पष्ट कर दिया। **तृतीय**, इसके द्वारा प्रथम बार अमरीकन आर्थिक सहायता को एक सहयोगी और योजनाबद्ध रूप प्रदान किया गया।

5. **सैनिक सन्धियों की नीति : अवरोध की सैन्य रण-विधि**—राजनीतिक और आर्थिक प्रयत्नों के साथ सैनिक रणनीति के माध्यम से भी अमरीका साम्यवादी प्रसार के अवरोध का प्रयत्न करने लगा। मई 1948 में सीनेट ने 64 के विरुद्ध 4 मतों से वैण्डेनबर्ग का एक प्रस्ताव स्वीकार किया। अमरीकी विदेश विभाग के अनुसार अमरीकी विदेश नीति में यह सर्वथा नया परिवर्तन था क्योंकि इसमें राष्ट्र के इतिहास में पहली बार संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा शान्तिकाल में पश्चिमी गोलार्द्ध से बाहर की शक्तियों के साथ सामूहिक सुरक्षा सम्बन्धी समझौतों में सम्मिलित होने की व्यवस्था इस दृष्टि से की गयी थी कि अमरीका में शान्ति बनी रहे तथा इसकी सुरक्षा सुदृढ़ हो। इसका पहला परिणाम 'नाटो' की सन्धि था। इसके साथ ही नवम्बर 1949 में यूरोपियन देशों की सैनिक शक्ति बढ़ाने के लिए तथा उन्हें नवीनतम रण-सामग्री से सुसज्जित करने के लिए 'पारस्परिक प्रतिरक्षा सहायता का कार्यक्रम' पास किया गया। अक्टूबर, 1951 में 'पारस्परिक सहायता सुरक्षा कानून' पास हुआ। इसके अनुसार अमरीका के साथ सैनिक सन्धि करने वाले देशों की सहायता के लिए 7 अरब 33 करोड़ डॉलर की सहायता की व्यवस्था की गयी। इनमें 4 अरब 81 करोड़ 90 लाख तो सैनिक सहायता के लिए थे और शेष आर्थिक सहायता के लिए। इसके बाद संयुक्त राज्य अमरीका ने दूसरे देशों के साथ सैनिक सन्धियाँ करके उन्हें सहायता देना शुरू किया। 8 सितम्बर, 1951 को अमरीका ने जापान के साथ अनिश्चित काल के लिए प्रतिरक्षा समझौता किया। 1 सितम्बर, 1952 को प्रशान्त महासागर में शान्ति बनाये रखने के उद्देश्य से आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड के साथ सुरक्षा सन्धि की।

6. **चार-सूत्री कार्यक्रम**—1948-49 में तीन महत्वपूर्ण घटनाएँ हुईं जिन्होंने अमरीका की नीति पर पर्याप्त प्रभाव डाला। ये घटनाएँ थीं—साम्यवादियों द्वारा चैकोस्लोवाकिया में बलपूर्वक सत्ता हस्तगत करना, बर्लिन का घेरा तथा चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना। अमरीका को इन घटनाओं ने बेचैन कर दिया और उसे यह भय हो गया कि उपनिवेशों या नव-जाग्रत देशों में बसने वाले लोग कहीं चीन का अनुसरण करके जनतन्त्र की अपेक्षा साम्यवादी व्यवस्था को न अपना लें। अतएव राष्ट्रपति ट्रूमैन ने साम्यवाद के प्रसार को रोकने के उद्देश्य से चार-सूत्री कार्यक्रम की घोषणा की। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ही अविकसित देशों को आर्थिक और तकनीकी सहायता देने की नींव पड़ी जो आज तक विद्यमान है। कहा जाता है अमरीका ने इस कार्यक्रम को निःस्वार्थ की अपेक्षा अपने राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से अपनाया, क्योंकि शीत-युद्ध में उसे नव-जाग्रत राज्यों का समर्थन प्राप्त करना आवश्यक था। ट्रूमैन द्वारा घोषित अमरीकी विदेश नीति का 'चार-सूत्री कार्यक्रम' (Four-Point Programme) इस प्रकार था : (i) संयुक्त राष्ट्र संघ का पूर्ण समर्थन; (ii) विश्व के आर्थिक पुनरुद्धार के लिए कार्य करते रहना; (iii) आक्रमण के विरुद्ध स्वतन्त्रता प्रेमी राष्ट्रों को सुदृढ़ बनाना; एवं (iv) अल्प-विकसित देशों के उत्थान के लिए प्राविधिक (Technical) सहायता देना।

7. **खुले संघर्ष का काल : कोरिया युद्ध**—जून 1950 में दक्षिणी कोरिया पर उत्तरी कोरिया का आक्रमण हो जाने से, जिसमें राष्ट्र संघ के अन्तर्गत अमरीकी सेनाओं ने ही लगभग

पूर्ण युद्ध लड़ा, अमरीकी विदेश नीति में नये तत्व का प्रवेश हुआ—साम्यवाद से खुले संघर्ष की प्रवृत्ति। कोरिया युद्ध जून 1950 से जुलाई 1954 तक चला। यह अवधि शीत-युद्ध की जगह खुले संघर्ष अथवा सक्रिय युद्ध की थी। इस अवरोध नीति के राजनीतिक तथा आर्थिक पक्ष की अपेक्षा सैनिक पक्ष को विशेष महत्व देते हुए अमरीका ने फिलीपाइन्स तथा जापान के साथ प्रतिरक्षा सन्धियाँ कीं।

राष्ट्रपति आइजनहॉवर और अमरीकी विदेश नीति (1953–1960)
(PRESIDENT EISENHOWER AND U. S. FOREIGN POLICY, 1953–1960)

1953 में 24 वर्षों में प्रथम बार एक रिपब्लिकन राष्ट्रपति के रूप में जनरल आइजनहॉवर ने व्हाइट हाउस में प्रवेश किया। रिपब्लिकन पार्टी का चुनावी नारा था "साम्यवाद का अवरोध करने की नीति बहुत मँहगी है और इसका कोई परिणाम नहीं निकला है।" आइजनहॉवर के राष्ट्रपति बनने के कुछ ही महीनों के अन्दर कुछ महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएँ हुई। मार्च 1953 में स्टालिन की मृत्यु हुई, कोरिया युद्ध की विराम-सन्धि पर हस्ताक्षर हुए और ऐसा लगने लगा कि शीत-युद्ध में कुछ नरमी आयी है।

लेकिन राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने अमरीकी विदेश नीति में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं किया। हिन्दचीन, स्वेज, हंगरी, बर्लिन और कांगो की समस्याओं ने उन्हें पूर्ववत् साम्यवाद के प्रचार के विरुद्ध सैनिक सन्धियों के जाल का विस्तार, मित्रों को सैनिक सहायता देने, रूस और चीन के समीपवर्ती देशों व अन्य अल्प-विकसित देशों को आर्थिक सहायता देते रहने और अमरीकी सेना का आधुनिकीकरण करने की नीति पर चलते रहने के लिए बाध्य किया। आइजनहॉवर काल में हम अमरीकी विदेश नीति का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं :

आइजनहॉवर सिद्धान्त—1956 में स्वेज नहर संकट ने मध्यपूर्व में ब्रिटेन और फ्रांस के रहे-सहे प्रभाव को भी सदैव के लिए समाप्त कर दिया। अमरीका ने ब्रिटेन, फ्रांस और इजराइल को स्पष्ट परामर्श दिया कि वे मिस्र पर अपना आक्रमण समाप्त कर दें। आक्रमणकारियों को स्वेज से हटना पड़ा और मध्यपूर्व में अमरीका के लिए सहानुभूति बढ़ गयी। इस समय स्थिति यह थी कि ब्रिटेन और फ्रांस के हट जाने से मध्यपूर्व में 'शक्तिशून्यता' पैदा हो गयी थी और भय था कि रूस अपना प्रभाव स्थापित कर लेगा। अतः अमरीका ने इस 'शक्तिशून्यता' को भरना चाहा और इस क्षेत्र में साम्यवादियों का प्रसार रोकने के लिए 'आइजनहॉवर सिद्धान्त' (Eisenhower Doctrine) प्रतिपादित किया गया। 5 जून, 1957 को राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने कांग्रेस को भेजे गये एक सन्देश में मध्यपूर्व के सम्बन्ध में अमरीकी नीति की घोषणा की। आइजनहॉवर का प्रस्ताव था कि : (1) मध्यपूर्व के राष्ट्रों की सुरक्षा, प्रादेशिक अखण्डता और स्वतन्त्रता के लिए संयुक्त राष्ट्र की सेनाओं का प्रयोग किया जा सके लेकिन ऐसा तभी होगा जबकि कोई राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद से आतंकित होकर इसके लिए प्रार्थना करेगा; (2) संयुक्त राज्य अमरीका मध्यपूर्व के राष्ट्रों के आर्थिक विकास में योगदान दे, (3) मध्यपूर्व के राष्ट्रों को सैनिक सहायता दी जाय।

ये सिद्धान्त पश्चिम में लीबिया से लेकर पूर्व में पाकिस्तान और उत्तर में तुर्की से लेकर दक्षिण में अरब प्रायद्वीप पर लागू किया गया। मार्च 1957 में कांग्रेस ने इसका समर्थन करके 200 मिलियन डॉलर की विशाल धनराशि स्वीकृत की।

आइजनहॉवर सिद्धान्त का रूस और अन्य अनेक एशियाई देशों ने घोर विरोध किया। नेहरू ने उसे 'उपनिवेशवाद की ओर प्रत्यावर्तन' की संज्ञा दी। सीरिया और मिस्र ने उसे 'अरब राष्ट्रीयता को कुचलने वाला तथा इजराइल को अरब के विरुद्ध आक्रमण के लिए प्रोत्साहित करने वाला 'सिद्धान्त' कहा।

'आइजनहॉवर सिद्धान्त' मध्यपूर्व से सम्बन्ध रखने वाले 'ट्रूमैन सिद्धान्त' का विकसित रूप कहा जाता है; क्योंकि ट्रूमैन के सिद्धान्त की भाँति यह भी अमरीका के नवीन साम्राज्यवाद का सूचक था जिसका मुख्य लक्ष्य मध्यपूर्व में ब्रिटेन के पलायन से उत्पन्न हुई 'शक्तिशून्यता' (Power Vacuum) की पूर्ति करना था। अमरीका मध्यपूर्व के तेल और कच्चे माल पर अपना एकाधिकार बनाये रखना चाहता है। ट्रूमैन सिद्धान्त की अपेक्षा आइजनहॉवर सिद्धान्त के अन्तर्गत अमरीकी राष्ट्रपति को मध्यपूर्व के विशाल क्षेत्र में सेनाएँ भेजने और युद्ध छेड़ने के विस्तृत अधिकार प्रदान किये गये थे।

मध्यपूर्व में आइजनहॉवर सिद्धान्त का प्रयोग—जुलाई 1958 में लेबनान और जोर्डन में इस सिद्धान्त का अमरीका ने प्रयोग किया। 1958 में लेवनान के राष्ट्रपति ने अपने विरुद्ध विद्रोह के दमन के लिए अमरीका से सैनिक सहायता की माँग की। जुलाई 1858 में अमरीकी फौजें लेवनान में उतर गयीं। अगस्त 1958 में संयुक्त राष्ट्र महासभा के एक प्रस्ताव द्वारा माँग की गयी कि अमरीका लेबनान से अपनी सेनाएँ वापस बुला ले, लेकिन अमरीका ने ऐसा करने से साफ इन्कार कर दिया। लेवनान में गृह-युद्ध जारी रहा और विद्रोही नये राष्ट्रपति का निर्वाचन कराने में सफल हुए। नयी सरकार की माँग पर 26 अक्टूबर, 1958 को अमरीकी सेना को लेवनान खाली कर देना पड़ा। जुलाई 1958 में इराकी क्रान्ति से जोर्डन के शाह को आशंका हुई कि कहीं जोर्डन में भी सैनिक विद्रोह न हो जाये। अतः ब्रिटेन और अमरीका से सैनिक सहायता माँगी गयी। ब्रिटेन ने अपनी सेनाएँ जोर्डन भेजीं तो अमरीका ने शाह हुसैन को 75 लाख डॉलर की नयी आर्थिक सहायता दी। पर दोनों ही कार्यवाहियाँ अप्रभावी रहीं क्योंकि संयुक्त राष्ट्र महासभा के अगस्त 1958 के प्रस्ताव के अनुसार ब्रिटेन को अपनी सेनाएँ जोर्डन से वापस बुलानी पड़ीं। ब्रिटिश सहायता से 'आइजनहॉवर सिद्धान्त' का जो सैनिक प्रयोग जोर्डन में किया गया वह निष्फल रहा।

वस्तुतः आइजनहॉवर सिद्धान्त को मध्यपूर्व में साम्यवादी प्रभाव को रोकने में सफलता नहीं मिली। इसके विपरीत, मध्यपूर्व में पश्चिम विरोधी भावनाओं की जड़ें मजबूत हो गयीं। सीरिया, इराक और मिस्र में सोवियत प्रभाव बढ़ने लगा और इराक ने बगदाद पैक्ट से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया।

शीत-युद्ध में शिथिलता : ख्रुश्चेव की अमरीकी यात्रा—सितम्बर 1959 में रूसी प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ने अमरीकी राष्ट्रपति आइजनहॉवर के निमन्त्रण पर अमरीका की यात्रा की। अपनी अमरीकी यात्रा की समाप्ति पर ख्रुश्चेव ने आइजनहॉवर के निवास-गृह कैम्प डेविड में राष्ट्रपति के साथ तीन दिन तक विश्व की विभिन्न समस्याओं पर विचार-विमर्श किया। इस यात्रा ने दोनों देशों में बड़े सौहार्द्र तथा प्रीति का वातावरण उत्पन्न किया। इस सौहार्द्र को 'कैम्प डेविड की भावना' का नाम दिया गया और यह कहा गया कि इस भावना से दोनों देशों में अन्तर्राष्ट्रीय तनाव दूर हो जायेगा, शीत-युद्ध की बरफ पिघल जायगी।

ख्रुश्चेव ने आइजनहॉवर को रूस आने का नियन्त्रण दिया। दोनों नेताओं ने यह निर्णय लिया कि पारस्परिक मतभेदों के प्रश्नों पर बातचीत करने के लिए अमरीका, रूस, ब्रिटेन और फ्रांस का एक शिखर सम्मेलन आयोजित किया जाय। 16 मई, 1960 को प्रस्तावित शिखर सम्मेलन होना निश्चित हुआ किन्तु जर्मनी से सम्बन्धित विवाद एवं यू-2 विमान काण्ड के कारण शिखर सम्मेलन खटाई में पड़ गया। फिर भी जब 16 मई को शिखर सम्मेलन प्रारम्भ हुआ तो सोवियत प्रधानमन्त्री ने अचानक ही यू-2 विमान काण्ड के लिए अमरीका की निन्दा प्रारम्भ कर दी। 17 मई को सम्मेलन आरम्भ होने पर ख्रुश्चेव नहीं आये तो यह घोषणा कर दी गयी कि

"खु्श्चेव द्वारा अपनाये गये रुख के कारण शिखर सम्मेलन की वार्ता आरम्भ करना सम्भव नहीं है।"

3. राष्ट्रपति कैनेडी और अमरीकी विदेश नीति (1960–63)
(PRESIDENT KENNEDY AND U. S. FOREIGN POLICY, 1960–63)

नवम्बर 1960 में जान एफ० कैनेडी अमरीका के राष्ट्रपति बने। कैनेडी जो अमरीका के सबसे अधिक युवा राष्ट्रपति थे, अद्‌भुत साहस और सूझबूझ के व्यक्ति थे और उनके नेतृत्व में अमरीका ने अपनी विदेश नीति में अत्यन्त साहसपूर्ण और दूरगामी परिवर्तन किये। कैनेडी ने अपने पूर्वाधिकारी के विपरीत साम्यवाद के प्रति सहयोग का नारा बुलन्द किया। लेकिन वह साम्यवादी राष्ट्रों के प्रति पर्याप्त सचेत थे। कैनेडी काल में हम अमरीकी विदेश नीति का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं :

1. **पश्चिमी जगत : वफादारी का वचन**—अमरीका के पुराने मित्र-राष्ट्रों से कैनेडी ने 'वफादार मित्रों की निष्ठा' देने का वायदा किया और उसे निभाया। उन्होंने नाटो को और अधिक सुदृढ़ बनाने के प्रयत्न किये और जर्मनी के प्रश्न पर झुकने से इन्कार कर दिया। जून 1951 में खु्श्चेव ने पूर्वी जर्मनी के साथ एक पृथक् शान्ति सन्धि पर हस्ताक्षर करने की धमकी दी और कहा कि इससे अमरीका, ब्रिटेन और फ्रांस के लिए पश्चिमी बर्लिन में जाने के अधिकारों की प्रत्याभूति करने वाले चतुःशक्ति समझौते समाप्त हो जायेंगे। परन्तु कैनेडी ने स्पष्ट रूप से यह उत्तर दिया कि वे रूस के एकपक्षीय कार्य को मान्यता नहीं देंगे। इस पर रूस ने अपनी धमकी को कार्यान्वित नहीं किया।

2. **निर्गुट जगत : नवीन बोध**—कैनेडी के काल में संयुक्त राज्य की भारत आदि निर्गुट राष्ट्रों तथा एशिया-अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों के प्रति नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इसके पूर्व अमरीका यह बात मानने को तैयार नहीं था कि कोई राष्ट्र साम्यवाद और लोकतन्त्र के संघर्ष में तटस्थ रह सकता है। कैनेडी ने उनकी निर्गुटता को मान्यता दी और उनको पहले की अपेक्षा अधिक तकनीकी एवं अन्य प्रकार की सहायता देना प्रारम्भ कर दिया। कैनेडी ने इन देशों में परोपकारी और प्रचारात्मक कार्य के लिए मार्च 1961 में 'शान्ति सेना' (Peace Corps) नामक कार्यक्रम प्रारम्भ किया जिसके अन्तर्गत सैकड़ों अमरीकन विश्व के अल्प-विकसित देशों में विकास कार्यों में सहायता देने के लिए भेजे गये।

3. **क्यूबा संकट**—कैनेडी शासनकाल में सर्वाधिक महत्वपूर्ण और विश्व राजनीति को प्रभावित करने वाली घटना क्यूबा की थी। क्यूबा मध्य अमरीका में वेस्ट इण्डीज का सबसे बड़ा टापू है। 1959 से पूर्व वहाँ अमरीका समर्थित सरकार थी परन्तु 2 जून, 1959 को फिडेल कैस्ट्रो के नेतृत्व में हुई साम्यवादी क्रान्ति ने तख्ता पलट दिया और क्यूबा अब सोवियत समर्थक बन गया। क्यूबा में कैस्ट्रो की साम्यवादी सरकार को सोवियत संघ ने आणविक शस्त्रों तथा प्रक्षेपास्त्रों से लैस करना शुरू कर दिया। क्यूबा में रूसी सैनिक अड्डे की स्थापना अमरीका की सुरक्षा के लिए एक बहुत बड़ा संकट थी क्योंकि क्यूबा मुख्य अमरीकी भूमि से केवल 90 मील की दूरी पर ही स्थित है। कैनेडी ने क्यूबा में सैनिक अड्डे की स्थापना की निन्दा करते हुए 24 अक्टूबर, 1962 को क्यूबा की नाकेबन्दी की घोषणा की जिसका उद्देश्य अमरीकी जहाजों द्वारा क्यूबा को घेर लेना था ताकि वहाँ रूस को भेजी जाने वाली सैनिक सामग्री न पहुँच सके। कैनेडी का यह कदम रूस के लिए एक स्पष्ट चुनौती थी कि या तो वह क्यूबा को सैनिक सहायता बन्द करे अथवा युद्ध के लिए तैयार हो जाये। खु्श्चेव ने क्यूबा से रूसी सैनिक अड्डे उठा लेना स्वीकार कर लिया। यह कैनेडी की विदेश नीति की सबसे बड़ी सफलता थी।

4. **लैटिन अमरीका : प्रगति के लिए मैत्री**—कैनेडी ने 'क्यूबा संकट' से यह सबक उठाया

कि लैटिन अमरीकी राज्यों को 'साम्यवाद' या कैस्ट्रोवाद' का शिकार न होने देने, के लिए यह जरूरी है कि उन राज्यों में संयुक्त राष्ट्र के बिम्ब को सुधारा जाये। उन्हें खुलकर आर्थिक सहायता दी जाये जिससे कि वे विकसित होकर अपने पैरों पर खड़े हो सकें। इसी उद्देश्य से कैनेडी ने 13 मार्च, 1961 को अमरीकन गणराज्यों के राजनयिक प्रतिनिधियों के सम्मुख 'प्रगति के लिए मैत्री' (Alliance for Progress) का प्रस्ताव रखा। इस नीति के अन्तर्गत अमरीका ने लैटिन अमरीका के देशों के आर्थिक विकास और जीवन-स्तर को उन्नत बनाने के लिए 20 हजार मिलियन डॉलर की सहायता तथा ऋण देने का प्रस्ताव रखा।

5. **संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति प्रीति**—कैनेडी विश्व-शान्ति और सुरक्षा के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ को एक अनिवार्य एवं महत्वपूर्ण विश्व संगठन मानते थे। 1960 में संयुक्त राष्ट्र ने कांगो में, जिसे उसी वर्ष बेल्जियम के शासन से स्वतन्त्रता प्राप्त हुई थी, शान्ति और राष्ट्रीय एकता की स्थापना का भार अपने ऊपर ले लिया। इस कार्य के लिए संयुक्त राष्ट्र को करोड़ों डालर व्यय करने पड़े। इस विशाल व्यय भार का अधिकांश अमरीका ने वहन किया।

6. **निःशस्त्रीकरण**—कैनेडी ने विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए निःशस्त्रीकरण पर जोर दिया। शीत-युद्ध को कम करने के लिए 15 अप्रैल, 1963 को सोवियत संघ और अमरीका के बीच सीधा टेलीफोन तथा रेडियो सम्पर्क स्थापित करने का समझौता हुआ। 25 जुलाई, 1963 को अमरीका, ब्रिटेन और सोवियत संघ के बीच 'परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि' पर भी हस्ताक्षर हुए।

4. राष्ट्रपति जॉनसन और अमरीकी विदेश नीति (1964–68)
(PRESIDENT JOHNSON AND U. S. FOREIGN POLICY, 1964–68)

22 नवम्बर, 1963 को राष्ट्रपति कैनेडी की हत्या के बाद तत्कालीन राष्ट्रपति लिण्डन बी० जॉनसन संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति बने। 1964 के चुनावों में भी वे ही राष्ट्रपति चुने गये। जॉनसन के प्रशासन काल की दो महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ थीं। इसमें पहली 'परमाणु अस्त्र विस्तार निषेध सन्धि (1968)' है तथा दूसरी 'अपोलो 8' यान की सफलता थी जिसने मानव के चन्द्रमा पर उतरने की सम्भावनाओं को दृढ़ बना दिया। जॉनसन की विदेश नीति काफी विवादास्पद रही। वियतनाम युद्ध में अपने सैनिकों को झोंककर उसने न केवल विश्व के शान्तिप्रिय देशों को अपना विरोधी बना लिया वरन् स्वयं अमरीकी जनता को विदेश नीति विरोधी बना लिया। वियतनाम युद्ध ने अमरीका की अर्थव्यवस्था को भी पंगु बना दिया जिसका प्रमाण अमरीका का 1969 का बजट था जिसमें 12 अरब डालर का घाटा दिखाया गया था। 1967 के अरब-इजराइल संघर्ष में राष्ट्रपति जॉनसन ने इजराइल को अपना समर्थन प्रदान किया। इससे अरब देश अमरीका से नाराज हो गये जिसका लाभ उठाकर रूस और फ्रांस ने मध्यपूर्व में अपना प्रभाव बढ़ा लिया। सात अरब देशों—संयुक्त अरब गणराज्य, सूडान, मौरसियना, अल्जीरिया, इराक और यमन—ने अमरीका से राजनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिये तथा अधिकांश अरब देशों ने अमरीका और ब्रिटेन को तेल देना बन्द कर दिया। 23 जनवरी, 1968 को उत्तरी कोरिया ने अपने प्रादेशिक समुद्र में अमरीका के जासूसी पोत प्यूबलो (Pueblo) और उसके 83 नाविकों को पकड़ लिया। उत्तरी कोरिया ने पोत को छोड़ने से इन्कार कर दिया। यह स्थिति अमरीका जैसी विश्व शक्ति के लिए अपमानजनक थी। बाद में अमरीका के राज्य सचिव डीन रस्क ने एक ब्राडकास्ट में यह स्वीकार कर लिया कि प्यूबलो जासूसी पोत भूल से उत्तरी कोरिया के प्रादेशिक जल में भटक गया था। उत्तरी कोरिया ने इस स्वीकारोक्ति से सन्तोष करके प्यूबलो के नाविकों को मुक्त कर दिया।

5. राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन और अमरीकी विदेश नीति (1969–74)
(PRESIDENT NIXON AND U.S. FOREIGN POLICY, 1969–74)

20 जनवरी, 1969 को निक्सन अमरीका के राष्ट्रपति बने। निक्सन का कार्यकाल

अमरीका के इतिहास में क्रान्तिकारी माना जायेगा क्योंकि उन्होंने साम्यवादी जगत के प्रति अमरीका की नीति को एक नयी दिशा दी। राष्ट्रपति बनने के बाद उन्होंने 'साम्यवाद को सीमित रखने वाली अमरीका की पुरानी नीति' (Containment Policy) में परिवर्तन करते हुए अपनी नवीन नीति की घोषणा की और यह कहा कि अमरीका के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह दूसरे देशों की सुरक्षा के लिए लड़े। अन्य देशों की प्रगति और प्रतिरक्षा उनका अपना ही कार्य होना चाहिए। स्पष्ट शब्दों में इसका यह अभिप्राय था कि अब अमरीका भविष्य में साम्यवाद का प्रसार रोकने के लिए वियतनाम जैसे युद्धों में नहीं पड़ेगा। यह नयी नीति राष्ट्रपति के नाम से 'निक्सन सिन्द्धात' (Nixon Doctrine) कहलाती है।

निक्सन काल में हम अमरीकी विदेश नीति का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं :

1. **यूरोप की सद्भावना यात्रा**—राष्ट्रपति बनने के लगभग छः सप्ताह बाद ही निक्सन ने यूरोप की सद्भावना यात्रा की जिसका उद्देश्य एक 'नये यूरोप' की खोज करना था। निक्सन की यात्रा पर यूरोप में कोई विशेष उत्साह नहीं दिखाया गया। फ्रांस में तीव्र विरोध हुआ तो पश्चिमी जर्मनी अणु प्रसार निरोध सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए तैयार नहीं हुआ। यूरोप की यात्रा के दौरान बेल्जियम को छोड़कर हर जगह राष्ट्रपति निक्सन को अमरीका विरोधी नारों की गूँज सुनायी दी।

2. **वियतनाम**—राष्ट्रपति पद संभालने पर निक्सन ने कहा था कि वियतनाम समस्या का स्थायी हल ढूँढ़ा जायेगा। उन्होंने यह भी कहा था कि अमरीका वियतनाम की समस्या को नये परिप्रेक्ष्य में देखेगा। पेरिस में वियतनाम की समस्या पर चल रही वार्ता में अमरीका की ओर से हैरिमन के स्थान पर कैबटलॉज को नियुक्त किया गया। अमरीकी जनता और विश्व जनमत बराबर यह माँग करता जा रहा था कि वियतनाम से अमरीकी सिपाहियों को वापस बुलाये जाये। राष्ट्रपति बनने के बाद निक्सन ने प्रारम्भ में उत्तरी वियतनाम पर बम-वर्षा को बहुत सीमित कर दिया और एक बड़ी संख्या में अमरीकी सैनिकों को स्वदेश बुला लिया। परन्तु वियतनाम में अमरीकी तकनीकी सामरिक शक्ति को इस प्रकार बनाये रखा कि उत्तरी वियतनाम दक्षिणी वियतनाम पर हावी न हो सके। निक्सन प्रशासन यद्यपि वियतनाम से अमरीकी सैनिकों को हटाना चाहता था किन्तु युद्ध बन्द नही करना चाहता था। कुछ ही समय बाद निक्सन प्रशासन ने वियतनाम समस्या के प्रति कठोर रुख अपनाया और दिसम्बर 1971 में एक बड़े पैमाने पर पुनः उत्तरी वियतनाम पर हवाई हमले प्रारम्भ कर दिये। निक्सन प्रशासन की नीति यह थी कि एक तरफ समझौता-वार्ता प्रारम्भ की जाये तो दूसरी ओर सैनिक शक्ति के बल पर उत्तरी वियतनाम को समझौता करने के लिए बाध्य किया जाय। 26 अप्रैल, 1972 को निक्सन ने घोषणा की कि "हम पराजित नहीं होंगे और न ही हम अपने मित्रों को साम्यवादी आक्रमण के सम्मुख घुटने टेकने देंगे।" काफी कशमकश के बाद 27 जनवरी, 1973 को एक समझौता हुआ, जिसके अन्तर्गत अमरीका सब अमरीकी सैनिकों को इस शर्त पर वापिस बुलाने को तैयार हो गया कि सभी पक्ष विसैन्यीकृत क्षेत्र का आदर करेंगे। निक्सन प्रशासन से दक्षिणी वियतनाम की सरकार सैनिक और आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली नहीं बन सकी। वियतनाम में अमरीका को बड़ा नीचा देखना पड़ा।

3. **चीन के सम्बन्ध में नीति परिवर्तन**—राष्ट्रपति निक्सन ने साम्यवादी चीन के साथ सम्बन्धों में सुधार पर विशेष जोर दिया। 1970 के प्रारम्भ में अमरीकी विदेश सचिव रोजर्स ने चीन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाने की इच्छा प्रकट की। जुलाई 1971 में अमरीकी राष्ट्रपति के विशेष दूत के रूप में किसिंगर ने पीकिंग की गुप्त यात्रा की। 26 अक्टूबर, 1971 को अमरीका की सहमति से चीन संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बना दिया गया। 1972 में निक्सन स्वयं पीकिंग

की यात्रा पर गये। निक्सन की चीन यात्रा के बाद निश्चय ही दोनों देशों के सम्बन्धों में एक नया अध्याय शुरू हुआ।

4. **पश्चिमी एशिया**—पश्चिमी एशिया में निक्सन का रुख इजराइल समर्थक रहा। 1 अक्टूबर, 1973 से अरब-इजराइल संघर्ष में भी अमरीका ने अरब विरोधी रुख अपनाया। जनवरी 1972 में अमरीका ने इजराइल को फैण्टम विमान देने का निर्णय लिया।

5. **कम्बोडिया संकट**—18 मार्च, 1970 को कम्बोडिया की राजनीति में एक नया मोड़ आया, जब वहाँ की संसद ने एक सर्वसम्मत प्रस्ताव द्वारा राजकुमार नरोत्तम सिंहनुक को राष्ट्राध्यक्ष के पद से हटा दिया। यह राजपल्टी थी जिसमें सेना ने प्रमुख भूमिका अदा की थी। कम्बोडिया के सेनाध्यक्ष जनरल लोननोल नयी कम्बोडिया सरकार के प्रधानमन्त्री बने। कहा जाता है कि इस राजपल्टी के पीछे संयुक्त राज्य अमरीका का मुख्य हाथ था। चूँकि राजकुमार नरोत्तम सिंहनुक वियतनाम-वियतकांग बनाम अमरीका के युद्ध में तटस्थता की नीति का अवलम्बन कर रहे थे, इसलिए अमरीका ने उनकी सरकार को अपदस्थ करना आवश्यक समझा।

6. **निक्सन का युद्धपोत राजनय**—निक्सन ने 1971 के भारत-पाक युद्ध के दौरान पाकिस्तान की हिमायत के लिए बंगाल की खाड़ी में अमरीकी सातवाँ बेड़ा भेज दिया और बहाना यह बनाया कि ढाका में स्थित अमरीकियों को बाहर निकालना है। वस्तुतः यह निक्सन की 'युद्धपोत कूटनीति' (Gun boat Diplomacy) थी जिसका उद्देश्य भारत को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भयभीत करके बंगला देश से अपनी सेनाएँ हटाने को बाध्य करना और पाकिस्तान को विभाजन से बचाना था।

7. **रूस के साथ दितां सम्बन्धों को आगे बढ़ाना**—राष्ट्रपति निक्सन ने सोवियत संघ के साथ दितां सम्बन्धों को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। 22 मई, 1972 को वे दल-बल सहित मास्को पहुँचे। निक्सन की यह छः-दिवसीय मास्को यात्रा ऐतिहासिक थी क्योंकि 1945 में याल्टा सम्मेलन के बाद दोनों महाशक्तियों के राष्ट्राध्यक्षों की यह पहली भेंट थी। मास्को यात्रा के दौरान रूस और अमरीका के बीच अस्त्र-परिसीमन की एक ऐतिहासिक सन्धि हुई। जून 1973 में सोवियत नेता ब्रेझनेव ने अमरीका की यात्रा की और दोनों देशों में कुछ सन्धियाँ हुईं। एक सन्धि में दोनों देशों ने संकल्प किया कि उनमें से कोई भी परमाणु युद्ध नहीं करेगा। एक दूसरी सन्धि परमाणु अस्त्र-शस्त्र की सीमा और परमाणु शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग से सम्बन्धित थी। दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्धों में तब और निकटता आयी जब 27 जून, 1974 को राष्ट्रपति निक्सन मास्को यात्रा पर गये और 3 जुलाई, 1970 को प्रतिप्रक्षेपास्त्र प्रणालियों, परमाणु अस्त्रों को सीमित करने तथा भूमिगत परीक्षणों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने सम्बन्धी समझौतों पर हस्ताक्षर किये गये। इस शिखर वार्ता में ही 29 जून को दोनों देशों में एक महत्वपूर्ण दस-वर्षीय व्यापार समझौता हुआ जिसे 1972 के व्यापार समझौते का पूरक बताया गया।

वास्तव में, निक्सन तीन मुख्य उद्देश्य लेकर सोवियत संघ की यात्रा पर गये थे : **प्रथम**, विश्व की दो महान् शक्तियों के बीच द्वि-पक्षीय सम्बन्ध विकसित करना; **द्वितीय**, विश्व के कुछ भागों के सम्बन्ध में संघर्ष की सम्भावनाओं को कम करना तथा **तृतीय**, परमाणु अस्त्र परिसीमन के क्षेत्र में कुछ प्रगति करना। कम-से-कम पहला उद्देश्य प्राप्त करने में वह बहुत सफल हुए। शेष दोनों उद्देश्यों की दिशा में भी उत्साहवर्द्धक प्रगति हुई।

6. राष्ट्रपति फोर्ड और अमरीकी विदेश नीति (1974–77)
(PRESIDENT FORD AND U. S. FOREIGN POLICY, 1974–77)

9 अगस्त, 1974 को जेराल्ड फोर्ड अमरीका के राष्ट्रपति बने। 'वाटर गेट' के जासूसी काण्ड में फँस जाने के कारण जनमत के दबाव एवं महाभियोग के भय से निक्सन को राष्ट्रपति

पद त्यागना पड़ा। फोर्ड के समय में विदेश नीति की प्रधान घटना दक्षिणी वियतनाम का आत्मसमर्पण और अमरीका द्वारा दक्षिणी-पूर्वी एशिया से अपनी सेनाओं को वापस बुला लेना है। यह अमरीका की द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सबसे बड़ी कूटनीतिक विफलता है। इसी काल में डॉ० किसिंगर के प्रयासों से सितम्बर 1975 में मिस्र और इजराइल के बीच सिनाई समझौता सम्भव हो सका जो अमरीकी राजनय की एक महान् सफलता थी। फोर्ड प्रशासन ने फरवरी 1975 में अमरीकी सरकार ने विगत दस वर्षों से पाकिस्तान को हथियारों की सप्लाई पर जो प्रतिबन्ध लगा रखा था, उसे समाप्त कर दिया। राष्ट्रपति फोर्ड ने नवम्बर 1974 में सोवियत नेता ब्रेझनेव से व्लाडीवोस्टक में शिखर वार्ता की जिसमें 'साल्ट' (SALT) वार्ताओं की रूपरेखा बनी। जुलाई-अगस्त 1975 में हेलसिंकी सम्मेलन को सफल बनाने के लिए अधिकारी स्तर पर वार्ता चली और जुलाई 1975 में रूस तथा अमरीका के संयुक्त अन्तरिक्ष अभ्यास हुए। दोनों के अन्तरिक्ष यात्री अन्तरिक्ष में एक-दूसरे से मिले। इन सहयोगों से विश्व तनाव में शैथिल्य की भावना बढ़ी। फोर्ड ने निक्सन काल में चीन-अमरीकी सम्बन्धों की जो कड़ी जुड़ी, उसे बनाये रखने की दिशा में दिसम्बर 1975 में चीन की यात्रा की। किन्तु फोर्ड ने ताइवान को अधिक सुदृढ़ बनाने के लिए वहीं अधिक सैनिक सहायता देने की स्वीकृति दी थी जिसे चीन ने पसन्द नहीं किया था।

7. राष्ट्रपति कार्टर और अमरीकी विदेश नीति (1977–80)
(PRESIDENT CARTER AND U. S. FOREIGN POLICY, 1977-80)

जिम्मी कार्टर के राष्ट्रपति पद पर आसीन होने में अमरीका विदेश नीति से सम्बन्धित चुनाव मुद्दों का महत्वपूर्ण योगदान रहा था। उदाहरण के लिए अमरीकी जनता वियतनाम, लाओस, कम्पूचिया एवं अंगोला में अपनी विदेश नीति की करारी हार के कारण रिपब्लिकन प्रशासन से ऊब चुकी थी। इसके अलावा जिम्मी कार्टर ने मानवाधिकारों के लिए आवाज उठाने, तीसरी दुनिया के गरीब देशों को ज्यादा मदद देने, घातक परमाणु अस्त्रों की होड़ रोकने, दक्षिण अफ्रीका एवं रोडेशिया में बहुसंख्यक अश्वेतों की सरकार स्थापित करवाने, पश्चिमी एशिया में शान्ति लाने तथा अमरीका की खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने जैसे आकर्षक एवं महत्वपूर्ण वायदे भी किये। इसी परिप्रेक्ष्य में कार्टर काल में हम अमरीकी विदेश नीति का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते है :

1. मानवाधिकार पर जोर देने की नीति—मानवाधिकार मुद्दे को अपने देश की विदेश नीति का एक प्रमुख अंग बनाने के बाद कार्टर प्रशासन ने उरुग्वे, अर्जेण्टाइना, इथियोपिया आदि देशों में उनके हनन के तथ्य को लेकर विदेशी मदद रोक दी। किन्तु फिलीपीन, दक्षिणी कोरिया एवं ईरान के अधिनायकवादी शासनों के खिलाफ इस प्रकार का कोई कदम न उठाना कार्टर प्रशासन की नीति में समरूपता का परिचायक नहीं माना जा सकता।

कार्टर प्रशासन ने मानवाधिकार मुद्दे को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के ताने-बाने में ठोस रूप से लपेट दिया। मानवाधिकारों की देख-रेख के लिए स्टेट डिपार्टमेण्ट में एक पृथक् ब्यूरो की स्थापना की गयी। एक पृथक् मानवाधिकार अधिकारी नियुक्त किया गया। विदेश मन्त्रालय मानवाधिकारों के हनन के ब्यौरे प्रकाशित किये।

2. परमाणु शस्त्रों के परिसीमन की नीति—कार्टर विदेश नीति का दूसरा मुद्दा घातक परमाणु अस्त्रों में कटौती करना तथा जान-लेवा अस्त्रों की बिक्री में भारी कमी करने से सम्बन्धित था। ईरान को अमरीकी 250 एफ-18 लड़ाकू विमान एवं पाकिस्तान को 110 ए-7 बमवर्षक विमानों की सप्लाई पर रोक लगाना कार्टर प्रशासन की इस क्षेत्र में अच्छी शुरूआत मानी गयी। किन्तु 'जान ले लो और जायदाद पाओ' वाले घातक 'न्यूट्रॉन बम' के परीक्षण के अमरीकी

प्रयास तथा अमरीका द्वारा पश्चिमी यूरोप के नाटो देशों को अपेक्षाकृत अधिक शस्त्र सहायता देने के निर्णय ने न केवल विदेश में वल्कि स्वयं अमरीका में भी कुछ लोगों को विमुख कर दिया।

3. **पश्चिमी एशिया में शान्ति स्थापित कराने में कार्टर की भूमिका**—पश्चिमी एशिया में शान्ति स्थापित कराने की दिशा में कार्टर की भूमिका अत्यन्त प्रशंसनीय रही है। अमरीकी कूटनीति के कमाल के कारण ही 19 नवम्वर, 1977 को मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सआदत 36 घण्टे की यात्रा के लिए यरूशलम पहुँचे। सितम्बर 1978 में कैम्प डेविड में वेगिन, सआदत तथा कार्टर वार्ता अमरीकी कूटनीति की दूसरी वड़ी सफलता कही जा सकती है। कैम्प डेविड का समझौता अमरीकी राष्ट्रपति कार्टर की व्यक्तिगत विजय एवं सफलता कहा जाना चाहिये।

4. **तीसरी दुनिया के राष्ट्र**—कार्टर प्रशासन ने तीसरी दुनिया के कुछ देशों के साथ वैदेशिक सम्वन्ध सुधारे। वियतनाम के संयुक्त राष्ट्र में प्रवेश पर अमरीकी प्रशासन ने 'वीटो' का प्रयोग नहीं किया तथा दोनों देशों के बीच लापता अमरीकी सैनिकों को लेकर मतभेद भी खत्म कर दिया। अमरीका और वियतनाम के वीच दृढ़ आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करने की वातचीत भी चल पड़ी। क्यूबा के साथ भी, जिसे विगत अमरीकी रिपब्लिकन प्रशासन सोवियत संघ का पिट्ठू कहकर गाली देते रहे, कार्टर प्रशासन ने 'राजनयिक' सम्बन्ध स्थापित किये। राष्ट्रपति कार्टर ने भारत की यात्रा की। राष्ट्रपति की पत्नी श्रीमती रोजालिन कार्टर लैटिन अमरीका के कुछ देशों में सद्भावना यात्रा पर गयी जिनका काफी गर्मजोशी के साथ मेजवान देशों ने स्वागत किया। कार्टर प्रशासन नहर समस्या का सिरदर्द समाप्त करने में भी सफल हुआ। मार्च 1978 में कार्टर ने वेनेजुएला तथा ब्राजील की यात्रा की और लैटिन अमरीका के राष्ट्रों में अमरीकी साम्राज्यवाद के भय को दूर करने का सफल प्रयास किया।

5. **अफ्रीका**—कार्टर प्रशासन ने अफ्रीका के काले लोगों से अमरीकी हमदर्दी दिखायी। कार्टर ने नीग्रो नेता एण्ड्रू यंग को संयुक्त राष्ट्र संघ में अमरीकी राजदूत बनाया तथा रोडेशिया से क्रोम उत्पादों के आयात पर पावन्दी लगा दी। दक्षिणी अफ्रीका को दिये जाने वाले अमरीकी शस्त्रों पर रोक लगा दी गयी।

6. **चीन**—अमरीकी विदेश मन्त्री साइरस वैंस ने 22 से 27 अगस्त, 1977 तक चीन की यात्रा की, परन्तु ताइवान सम्वन्धी मतभेदों के कारण दोनों देशों में मतैक्य नहीं हो सका। वैंस की यात्रा की समाप्ति पर कोई संयुक्त विज्ञप्ति प्रसारित नहीं की गयी। साइरस वैंस के वाद कार्टर के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार ब्रिजिस्की ने पीकिंग यात्रा की। ब्रिजिस्की ने यात्रा के दौरान दोनों देशों के व्यापारिक सम्वन्धों में सुधार की वात भी उठायी। चीन के प्रति अपनी नीति में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन करते हुए राष्ट्रपति कार्टर ने चीन को विभिन्न किस्मों के हथियारों तथा विद्युत आणविक उपकरणों के निर्यात पर लगे प्रतिवन्धों में ढील देने का निश्चय किया।

7. **ईरान में अमरीकी बन्धक तथा अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप**—कार्टर की विदेश नीति दो क्षेत्रों में बुरी तरह विफल हुई है। प्रथम, 4 नवम्वर, 1979 को ईरान की राजधानी तेहरान में छात्रों ने अमरीकी दूतावास के कर्मचारियों को वन्दी वना लिया। यद्यपि 20 जनवरी, 1981 को वन्धकों को रिहा कर दिया गया किन्तु यह घटना अमरीका जैसी महाशक्ति के लिए वड़ी परेशानी एवं असम्मान का कारण वनी। द्वितीय, 27 दिसम्वर, 1979 को वड़ी संख्या में रूसी सेनाओं ने अफगानिस्तान में प्रवेश किया किन्तु अमरीका मूक-दर्शक बनकर रह गया। अमरीका ने रूस को चेतावनी दी, उसने मास्को पर दवाव डालने के लिए अपना गेहूं रूस को वेचना वन्द कर दिया, मास्को ओलम्पिक खेलों का वहिष्कार किया; किन्तु इनके वावजूद रूसी सेनाएँ अफगानिस्तान में डटी रहीं।

8. राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन और अमरीकी विदेशी नीति (1981–88)
(PRESIDENT REAGEN AND U. S. FOREIGN POLICY, 1981–88)

रिपब्लिकन पार्टी के 69-वर्षीय रोनाल्ड रीगन 1981 में अमरीका के नये राष्ट्रपति चुने गये। अभिनेता से राजनीतिज्ञ बने, रीगन सबसे अधिक उम्र वाले राष्ट्रपति थे। रीगन ने विदेश नीति और देश की निरन्तर बिगड़ती आर्थिक-स्थिति को चुनावी मुद्दा बनाया। रीगन ने कार्टर की विदेश नीति को 'ढीली-ढाली' विदेश नीति करार दिया। उन्होंने कहा कि हम चाहते हैं कि ईरान से अमरीकी बन्धक तुरन्त वापस आयें। उन्होंने यह भी कहा कि जब सोवियत संघ ने अफगानिस्तान पर हमला किया था, यदि वह सत्ता में होते तो वह तुरन्त क्यूबा की नाकेबन्दी करते। रीगन ने सत्तारूढ़ होते समय सोवियत संघ के साथ सम्बन्धों में निरन्तर बिगाड़ के कारण जिस तरह की राजनीतिक स्थिति पैदा हो गयी थी उससे अमरीका और सोवियत संघ में एक प्रकार के शीत-युद्ध का नवीनीकरण हो गया था।

रीगन की विदेश नीति का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :

1. **शीत-युद्ध का नवीनीकरण**—रोनाल्ड रीगन की विदेश नीति अधिक आक्रामक और रूस विरोधी रही। रीगन बातचीत और शिखर वार्ताओं को अधिक प्राथमिकता नहीं देते थे, वे तो कठोर नीति और टकराव पर बल देते थे। उनकी नीति अमरीकी-रूसी तनाव-शैथिल्य की पुष्टि नहीं करती। उनके निर्देशन में अमरीका की विदेश नीति में डलेसवादी अनुदारवाद का पुनरागमन होता दिखायी पड़ रहा था। वे साल्ट वार्ताओं पर नहीं अपितु शस्त्रों की दौड़ में तेजी लाने, शस्त्रों के परिसीमन पर नहीं अपितु न्यूट्रॉन जैसे भयानक विध्वंसकारी बमों के निर्माण पर बल देते रहे। परमाणु अस्त्रों और प्रक्षेपास्त्रों के प्रश्न को लेकर सोवियत संघ और अमरीका के बीच तनातनी दोनों के सम्बन्धों का एक अंग बन गया। वस्तुतः रीगन की विदेश नीति से अमरीका और सोवियत संघ के मध्य एक दूसरा शीत-युद्ध प्रारम्भ हो गया।

अपने शासनकाल के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रपति रीगन रूस से सम्बन्धों को उदार बनाने के लिए उत्सुक थे। जेनेवा (नवम्बर 1985) में रीगन-गोर्बाच्योव वार्ता, रिकजाविक (अक्टूबर 1986) में रीगन-गोर्बाच्योव शिखर वार्ता और हाल ही में (दिसम्बर 1987) में सम्पन्न वाशिंगटन शिखर सन्धि दितां की ओर बढ़ते चरण के सूचक कहे जा सकते हैं। स्टारवार्स पर रीगन के अड़े रहने से रिकजाविक वार्ता यद्यपि विफल हो गयी तथापि 8 दिसम्बर, 1987 को रीगन और गोर्बाच्योव ने जिस ऐतिहासिक सन्धि पर हस्ताक्षर किये, वह राष्ट्रपति की महानतम् उपलब्धि कही जा सकती है। सन्धि में दोनों देश मध्यम व कम दूरी के प्रक्षेपास्त्र नष्ट करने को सहमत हो गये। दोनों देशों के बीच कतिपय अन्य समझौते भी हुए। एक समझौते के अमरीका से रूस तक वायु सेवा मई 1988 से आरम्भ हुई।

2. **शस्त्रों की दौड़ में तेजी**—रीगन प्रशासन चाहता था कि अमरीका की सामरिक शक्ति में इतनी वृद्धि हो जाय कि वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपनी शक्ति के बल पर धाक जमा सके। रीगन प्रशासन ने 9 अगस्त, 1981 को न्यूटॉन बम बनाने का निश्चय किया। साल्ट-वार्ता के प्रति रीगन प्रशासन की कोई रुचि नहीं थी और अमरीका अपने रक्षा बजट में पर्याप्त वृद्धि कर चुका था। रीगन ने 1985 के लिए 405 अरब डॉलर के प्रस्ताव कांग्रेस को भेजे। यह राशि पिछले वर्ष से 718 अरब डालर अर्थात् 13 प्रतिशत अधिक थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् आज तक इतने रक्षा व्यय की माँग नहीं की गयी थी।

3. **डियागो गार्सिया अड्डे का विस्तार**—अमरीका विश्व में जहाँ कहीं भी सम्भव हो अपने सैनिक अड्डे बनाकर अपनी रक्षा-पक्ति को मजबूत करने हेतु कटिबद्ध रहा। डियागो गार्सिया में उसने अपनी सामरिक शक्ति को बहुत विकसित कर लिया। रीगन प्रशासन डियागो गार्सिया

पर पृथक् से पाँचवाँ हिन्द महासागर बेड़ा बनाकर लगभग 1 लाख 10 हजार व्यक्तियों को वहाँ स्थायी रूप से रखना चाहता था।

4. **पाकिस्तान को सैनिक सहायता**—रीगन प्रशासन की नजरों में पाकिस्तान एशिया में अमरीकी हितों के लिए उपयोगी था। अतः वह उसे ईरान का दर्जा देना चाहता था। वह उसे ऐसा विश्वसनीय क्षेत्रीय मित्र बना देना चाहता था जिस प्रकार पश्चिम एशिया में इजराइल है। इसी कारण अमेरिका पाकिस्तान से सम्बन्ध बढ़ाने लगा, उसे समर्थन देता रहा, उसे आर्थिक और सैनिक सहायता देता रहा तथा उसे आधुनिकतम हथियारों से लैस करता रहा। जहाँ कार्टर प्रशासन पाकिस्तान को 40 करोड़ डॉलर की सहायता देना चाहता था वहाँ रीगन प्रशासन ने 1982-87 में पाँच वर्षों के लिए 3 अरब डॉलर और अब 1987-1993 के छः वर्षों के लिए साढ़े चार अरब डॉलर की सहायता का ऐलान किया। पाकिस्तान को अमरीका से एफ-16 लड़ाकू विमान का सुधरा रूप एफ-16 सी, हॉट मिसाइल और पूर्व चेतावनी देने वाले 'अवाक्स' विमान आदि प्राप्त होते रहे। दूसरी ओर अमरीका को पाकिस्तान की धरती पर सैनिक अड्डे कायम करने, पाकिस्तानी बन्दरगाहों की सुविधाओं का लाभ लेने तथा अमरीकी पायलेटों द्वारा गश्त लगाने वाले विमानों को चलाने की सुविधाएँ मिलती रहीं। इन व्यवस्थाओं से जहाँ अमरीका को सोवियत संघ के खिलाफ पाकिस्तान में सैनिक अड्डे पुख्ता करने का अवसर मिला वहाँ पाकिस्तान को अमरीका की गोद में बैठकर भारत को आँखें दिखाने का अवसर मिला।

5. **चीन के साथ दोस्ताना सम्बन्ध**—रीगन प्रशासन चाहता था कि चीन-अमरीकी सम्बन्धों को नया रूप दिया जाय। सोवियत विस्तारवाद को रोकने के लिए अमरीका और चीन के मध्य जून 1981 में एक समझौता हुआ। ऐसा भी कहा जाता है कि 1979 में चीन और अमरीका के मध्य एक गुप्त समझौता हुआ था, जिसके अन्तर्गत चीन के पश्चिमी सीक्यांग के निकट अमरीकी-चीनी प्रक्षेपास्त्र चौकसी केन्द्र कायम किया गया, जिसका उद्देश्य सोवियत संघ की गतिविधियों पर निगरानी रखना था। इतना ही नहीं, 6 मई, 1982 को राष्ट्रपति रीगन ने अपने उपराष्ट्रपति जार्ज बुश के माध्यम से चीन के तीन शीर्षस्थ नेताओं को पत्र लिखकर सोवियत संघ के विरुद्ध चीन तथा अमरीका के सहयोग को मजबूत बनाने की अपील की। 1984 में अमरीकी राष्ट्रपति रीगन की यात्रा के दौरान 28 अप्रैल, 1984 को परमाणु सहयोग सम्बन्धी एक समझौते पर सहमति हुई थी। इस सहमति के अनुसार अमरीका चीन को 12 परमाणु भट्टियाँ तथा संयन्त्र देगा। जुलाई 1985 में अमरीका में चीनी राष्ट्रपति ली सियेन नियेन का गर्मजोशी से स्वागत किया गया और दोनों देशों में आणविक सहयोग सम्बन्धी समझौते पर हस्ताक्षर हो गये। आश्चर्य है कि जिस परमाणु परिसीमन सन्धियों का हवाला देकर अमरीका ने भारत को परिष्कृत यूरेनियम देने में आनाकानी की थी उसी सन्धि की शर्तों को चीन के साथ हुए समझौते में दरकिनार रख दिया।

6. **अमरीकी आर्थिक सहायता**—विकासशील देश विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में रीगन के अनुदार दृष्टिकोण से क्षुब्ध रहे। रीगन ने 29 सितम्बर, 1981 को विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सम्मिलित बैठक मे कहा कि "बड़े पैमाने पर आर्थिक सहायता (कर्ज की पूंजी) गरीब लोगों की खुशहाली की कुंजी नहीं है जब तक कोई राष्ट्र अपनी अर्थव्यवस्था और वित्त-व्यवस्था को नहीं सुधारता तब तक विदेश की राशि चाहे जितनी बड़ी हो, उन्नति का कारण नहीं बन सकती।" विकासशील देश उनके इस दृष्टिकोण का यह अर्थ लगाते हैं कि अमरीका खुले ढंग से निजी क्षेत्र के मार्फत विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाओं पर आधिपत्य स्थापित करना चाहता है तथा जो देश अमरीका की नीतियों का समर्थन नहीं करते उन्हें विशेष रूप से कसकर रखने को इच्छुक है।

7. **गुट-निरपेक्ष आन्दोलन**—रीगन को निर्गुट आन्दोलन में सोवियतवाद की ही गन्ध

आती रही। संयुक्त राष्ट्र महासभा के मंच से सन् 1983 में रीगन ने सोवियत पिछलग्गू सरकार के इसमें घुस आने का आरोप लगाते हुए पूरे आन्दोलन को छद्मवेशी गुट-निरपेक्ष आन्दोलन घोषित किया। गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों से मोल ली गयी कटुता का ही यह परिणाम था कि संयुक्त राष्ट्र संघ का मंच अमरीका की निन्दा का मंच बनता चला जा रहा है।

8. **जापान नीति**—रीगन जापान को अति महत्व देते रहे। नवम्बर 1983 में रीगन ने जापान व द० कोरिया की सद्भाव यात्रा की। उनकी इच्छा थी कि जापान पूरी तरह से उनके देश के साथ रक्षा समझौते में शामिल हो जाये। हाल ही में जापान व अमरीका सैन्य तकनीक के आदान-प्रदान पर सहमत हो गये थे। अमरीका की रूस विरोधी नीति के अन्तर्गत जापान ने चीन के साथ भी अपने सम्बन्ध सुधारे। इस प्रकार से सोवियत संघ के विरुद्ध सुदूरपूर्व में चीन, जापान व अमरीका ने एक गुट बनाया।

9. **आर्थिक मुद्दों पर अमरीका व जापान में मतभेद**—राष्ट्रपति रीगन ने जापानी कम्प्यूटरों, टेलीविजनों व उनके उपकरणों पर 18 अप्रैल, 1987 को 30 करोड़ डॉलर के दण्डात्मक कर लगाने की घोषणा की। उन्होंने आरोप लगाया कि जापान ने चिप व्यापार समझौते का उल्लंघन कर अमरीकी इलेक्ट्रॉनिक उद्योग को हानि पहुँचाई है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद व्यापार के क्षेत्र में अमरीका द्वारा जापान के विरुद्ध उठाया गया यह सबसे व्यापक कदम था। जापान ने राष्ट्रपति रीगन के बयान को दुःखद बताया। साथ ही चेतावनी दी कि वह भी जवाबी कार्यवाही करने को बाध्य हो जायगा।

10. **दक्षिणी कोरिया नीति**—रीगन ने द० कोरिया को उत्तरी कोरिया के विरुद्ध पूरी सहायता देने का आश्वासन दिया। इस समय दक्षिण कोरिया में अमरीका के 38 हजार सैनिक हैं। रीगन ने इस संख्या में वृद्धि करने का प्रस्ताव रखा।

11. **दक्षिण-पूर्व एशिया में नाभिकीय प्रक्षेपास्त्र की तैनाती**—रीगन प्रशासन विश्व को सैनिक केम्प बनाने में लगा रहा। अमरीकी प्रशासन दक्षिण-पूर्व एशिया में क्रूज प्रक्षेपास्त्रों और रासायनिक अस्त्रों को ले आने की सम्भावनाओं पर गम्भीरता से विचार करने लगा।

12. **अमरीकी रक्षा बजट में रक्षा व्यय में भारी वृद्धि**—राष्ट्रपति रीगन ने वर्ष 1986 का 973·7 अरब डॉलर का राष्ट्रीय बजट कांग्रेस के विचारार्थ भेजा। बजट में रक्षा व्यय में 32 अरब डॉलर की वृद्धि का प्रावधान था। रीगन ने बजट प्रस्ताव में इस वृद्धि को उचित ठहराते हुए कहा कि सोवियत संघ की सैनिक तैयारी को देखते हुए यह आवश्यक समझा गया।

अमरीकी प्रशासन सैन्य सहायता को विदेश नीति का प्रमुख अस्त्र बना रहा था। अमरीका के विदेशों में सैनिक सहायता कार्यक्रम ने उसको कई देशों से अपने सम्बन्ध सुदृढ़ करने के अवसर प्रदान किये जिनमें पाकिस्तान, इजराइल, सऊदी अरब, जोर्डन, मिस्र, मोरक्को, ट्यूनीशिया, तुर्की और दक्षिण कोरिया शामिल थे।

13. **यूनेस्को से हटना**—रीगन प्रशासन ने यूनेस्को छोड़ने का निर्णय लेकर संयुक्त राष्ट्र संघ के सामने गम्भीर आर्थिक परेशानियाँ उत्पन्न की।

14. **निकारागुआ**—अमरीका ने निकारागुआ सरकार के खिलाफ सक्रिय विद्रोहियों को दी जाने वाली सहायता में वृद्धि की घोषणा की।

15. **अमरीका द्वारा ईरान को शस्त्रों की सहायता**—राष्ट्रपति रीगन ने इस बात की पुष्टि की कि वे ईरान के साथ गुप्त कूटनीतिक सम्बन्ध बनाये हुए थे और उन्होंने ईरान को कुछ हथियार भेजने की भी स्वीकृति दी। रीगन ईरान के साथ सम्बन्ध सुधारना चाहते थे और गुप्त बातचीत चलती रही थी। अरब नेता इस बात से बेहद नाराज थे कि राष्ट्रपति रीगन ने लेबनान में कैद अमरीकी बन्धकों की रिहाई के लिए ईरान को शस्त्र दिये और वह भी इजराइल के माध्यम से।

16. **संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्यप्रणाली में अविश्वास**—फिलिस्तीन मुक्ति मोर्चे के अध्यक्ष यासर आराफात को रीगन प्रशासन ने संयुक्त राष्ट्र महासभा में भाग लेने के लिए 'वीसा' न देकर न्यूयार्क आने से वंचित कर दिया। संसार भर में इसके लिए अमरीका की निन्दा हुई तथा संयुक्त राष्ट्र महासभा ने एक अभूतपूर्व निर्णय लिया कि वह आराफात को सुनने के लिए जेनेवा में महासभा का अधिवेशन आयोजित करेगी। अमरीका ने संयुक्त राष्ट्र द्वारा आमन्त्रित अतिथि को वीसा न देकर संयुक्त राष्ट्र संघ का अपमान किया और राष्ट्र संघ ने जिनेवा में अपना अधिवेशन विस्तारित कर रीगन की हठधर्मितापूर्ण विदेश नीति को प्रताड़ित किया।

राष्ट्रपति जार्ज बुश और अमरीकी विदेश नीति : 1989 से........
(PRESIDENT BUSH AND U. S. FOREIGN POLICY, FROM 1989........)

जार्ज बुश का राष्ट्रपति निर्वाचित होना वास्तव में सत्तारूढ़ रिपब्लिकन पार्टी और उससे भी अधिक रीगन की ही विजय मानी जाती है। रीगन समर्थित बुश को राष्ट्रपति चुनकर अमरीकी जनता ने स्पष्टतया रीगन की ही नीतियों और रीतियों पर पुष्टि की मोहर लगायी है।

जार्ज बुश की विदेश नीति की प्रमुख विशेषताएँ हैं: चीन के साथ मधुर सम्बन्ध; सोवियत संघ के साथ दितान्त को सुदृढ़ करना; पश्चिमी यूरोप में सैनिकों में कमी लाना; पूर्वी यूरोप में आयी परिवर्तन की लहर का स्वागत करना; पाकिस्तान को अमरीकी शस्त्र देने की नीति जारी रखना और लेटिन अमरीका में अमरीकी हितों का संरक्षण करना, आदि। निम्नलिखित मुद्दों पर उनकी नीति का विवेचन करने से उसकी विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं :

(1) **पाकिस्तान को अमरीकी समर्थन**—जार्ज बुश के अनुसार पाकिस्तान अमरीका का मित्र है और उसकी सहायता यथापूर्व जारी रखी जाये। पाकिस्तान को अमरीका 60 F-16 विमान और 46 करोड़ डालर की आर्थिक सहायता प्रदान करेगा। पाकिस्तान ने अफगान विद्रोहियों का वहादुरी से समर्थन किया है, इसलिए अमरीका से उसके विशेष सम्बन्ध हैं।

(2) **भारत के प्रति नरम दृष्टिकोण**—रीगन की तुलना में भारत के प्रति बुश का रुख ज्यादा नरम है। भले ही अमरीका पाकिस्तान को दी जाने वाली सैन्य सहायता में कटौती न करे, लेकिन वह भारत को भी कुछ सक्षम एवं परिष्कृत रक्षा उपकरण बेचने के लिए राजी हो जायेगा। बुश ने राजीव गांधी को अमरीकी यात्रा के दौरान विश्वास दिलाया था कि भारत को अस्थिर बनाने में अमरीका की कतई दिलचस्पी नहीं है।

(3) **निकारागुआ के प्रति आर्थिक एवं राजनीतिक दबाव की नीति**—बुश ने निकारागुआ की कम्युनिस्ट सरकार के प्रति अमरीकी नीति में परिवर्तन किया है। रीगन का विश्वास था कि निकारागुआ के विद्रोहियों को अमरीका द्वारा शस्त्र सहायता देने से दक्षिण अमरीका की ओर कम्युनिस्ट फैलाव को रोका जा सकता है। इसके विपरीत अब अमरीकी नीति निकारागुआ के प्रति आर्थिक तथा राजनीतिक दवाव की होगी। बुश सरकार का यह भी विचार है कि यदि सब कुछ ठीक चला तो निकारागुआ सरकार से सीधी वातचीत की जा सकती है।

(4) **राष्ट्रपति बुश की चीन यात्रा**—26 फरवरी, 1989 को राष्ट्रपति बुश ने चीन की यात्रा की। चीनी नेता तेंग से उन्होंने कहा कि अमरीका ऐसा कोई निर्णय नहीं लेगा जिससे चीन के हितों अथवा चीन-अमरीकी सम्बन्धों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो। उन्होंने प्रधानमन्त्री ली को आश्वस्त किया कि अमरीका 'एक चीन की नीति' पर कायम रहेगा।

(5) **चीन-सोवियत वार्ता का स्वागत**—राष्ट्रपति बुश ने चीन-सोवियत शिखर वार्ता का स्वागत किया तथा कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्थायित्व लाने की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण कदम होगा।

(6) **पूर्वी यूरोप के उदारवादी परिवर्तनों का स्वागत**—जुलाई 89 में राष्ट्रपति बुश ने

पोलैण्ड और हंगरी की यात्रा की। उन्होंने कहा कि पूर्वी यूरोप में लौह दीवार टूट रही है और अमरीका उनकी सहायता करेगा। वे अमरीकी कांग्रेस से हंगरी को 25 मिलियन डालर की सहायता प्रदान कराने और हंगरी में एक क्षेत्रीय पर्यावरण केन्द्र स्थापित कराने के लिए 5 मिलियन डॉलर की सहायता प्रदान करने के लिए कहेंगे।

(7) **पश्चिमी यूरोप में सैनिकों व शस्त्रों में कटौती**—राष्ट्रपति बुश ने पश्चिमी यूरोप में अपने सैनिकों की संख्या में 20 प्रतिशत की कमी करने और लड़ाकू विमानों की संख्या में भी 15 प्रतिशत की कमी करने का प्रस्ताव किया। राष्ट्रपति ने यह प्रस्ताव नाटो देशों के राष्ट्राध्यक्षों की बैठक (मई 89) में गोर्बाच्योव के उन प्रस्तावों के बदले में रखा, जो कम दूरी के प्रक्षेपास्त्रों की संख्या में कमी करने के बारे में थे।

(8) **सोवियत नेता गोर्बाच्योव के साथ शिखर वार्ता**—2 व 3 दिसम्बर, 1989 को भूमध्य सागर में अमरीकी व रूसी युद्धपोतों पर अमरीकी राष्ट्रपति जार्ज बुश व रूस के राष्ट्रपति गोर्बाच्योव के बीच शिखर वार्ता सम्पन्न हुई। राष्ट्रपति बुश ने गोर्बाच्योव को जून 90 में अमरीका आने का निमन्त्रण दिया। राष्ट्रपति बुश ने सुझाव दिया कि अमरीका व रूस 2004 में ओलम्पिक खेल बर्लिन में कराने के लिए एक अपील जारी करें। यद्यपि किसी समझौते पर हस्ताक्षर नहीं किये गये तथापि दोनों ने स्वीकार किया कि आपसी बातचीत का क्रम चलते रहना चाहिए।

(9) **पनामा पर अमरीका का आक्रमण**—20 दिसम्बर, 1989 को अमरीका के राष्ट्रपति जार्ज बुश ने पनामा स्थित अमरीकी सेना को आदेश दिया कि वह वहाँ के सैनिक शासक जनरल नोरिएगा को अपदस्थ कर गिरफ्तार करें और वहाँ लोकतन्त्र की स्थापना करें। अनेक देशों ने अमरीकी कार्यवाही को गम्भीर और संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के विरुद्ध बताया।

जार्ज बुश भयभीत हैं कि यदि साम्यवादी जगत में लोकतन्त्र आ गया तो शीतयुद्ध समाप्त हो जायेगा और शस्त्र-व्यापार के आधार पर टिकी अमरीकी अर्थनीति ध्वस्त हो जायगी। अतः साम्यवादी अलोकतान्त्रिक सरकार की कहीं तो सुरक्षा होनी चाहिए, इसलिए चीन की साम्यवादी सरकार की सुरक्षा के लिए राष्ट्रपति बुश ने इस वर्ष दो बार अपना गुप्त मिशन चीन में भेजा तथा कांग्रेस से विरोध मोल लेकर भी लोकतन्त्र समर्थक चीनी छात्रों का वीजा आगे बढ़ाने से इन्कार कर दिया। जार्ज बुश ने अपनी अफगान नीति में भी कोई परिवर्तन नहीं किया है, सोवियत सेनाओं की वापसी के बावजूद वे पाकिस्तान स्थित अफगान विद्रोहियों को धन व शस्त्रों की पूर्ति जारी रखे हुए हैं। राष्ट्रपति बुश ने अपने प्रथम वर्ष में कांग्रेस से, पाकिस्तान को साठ एफ-16 बमवर्षक देने की अनुमति प्राप्त कर ली, जो कि भारत द्वारा विरोध करने के कारण रुकी पड़ी थी। साथ ही 62 करोड़ 10 लाख डालर की आर्थिक सहायता भी पाकिस्तान को प्रदान कर दी। दक्षिण एशिया में शीतयुद्ध को जारी रखने के लिए निश्चय ही यह जरूरी था।

अमरीका की एशिया नीति
(THE U. S. POLICY TOWARDS ASIA)

इस सदी के छठें दशक से अमरीकी विदेश नीति के निर्धारकों के दिमाग में समय-समय पर यह बात जोर पकड़ती रही है कि एशियाई देशों के प्रति अमरीकी नीति बदली जाये। सातवें दशक में अमरीका की इच्छा के विपरीत बंगला देश का उदय हुआ। वियतनाम में अपार जनशक्ति और धन नष्ट करने के बाद अमरीका को वहाँ से हटना पड़ा। कड़े अमरीकी प्रयत्नों के बावजूद वियतनाम, लाओस और कम्बोडिया एक-एक कर साम्यवादी शासकों के प्रभुत्व में आ गये। अमरीका को भारत द्वारा परमाणु परीक्षण करने की आशा कभी नहीं थी; उसके द्वारा प्रवर्तित सैनिक संगठन 'सीएटो' (SEATO) तो पूर्ण रूप से टूट चुका है एवं 'सेण्टो' (CENTO) भी अपनी मौत की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है। इस परिप्रेक्ष्य में विचारणीय प्रश्न है कि आखिर एशिया में अमरीका को ये

दुर्दिन क्यों देखने पड़ रहे हैं ? द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एशिया में उसकी विदेश नीति का स्वरूप क्या था एवं समय-समय पर होने वाली घटनाओं पर उसकी प्रतिक्रिया कैसी रही है ?

1949 में चीन में साम्यवादी सरकार स्थापित होने के बाद अमरीका ने सोचा कि एशिया में रूसी-चीनी साम्यवादी गठबन्धन अपने प्रभाव का विस्तार करेगा। यह अमरीकी राज-व्यवस्था के लिए गम्भीर चुनौती थी। मूलभूत रूप से इसी को ध्यान में रखते हुए अमरीका ने एशिया में साम्यवाद को रोकने की कोशिशें जोरों से प्रारम्भ कर दीं। इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु अमरीका ने स्वतन्त्रता, न्याय, लोकतन्त्र, विश्व-शान्ति एवं सुरक्षा के नारों के सहारे एशियाई देशों को आर्थिक तथा सैनिक सहायता से बाँधा; किन्तु कोरिया और वियतनाम संकट में अमरीकी रुख से यह स्पष्ट हो गया कि उसकी महत्वाकांक्षा समस्त विश्व को अपना प्रभाव क्षेत्र मानने की है। एशिया में अमरीकी क्रियाकलाप अथवा उपस्थिति इसी ढंग से देखी जानी चाहिए।

एशिया में सैनिक सन्धियाँ करने और अनेक देशों को आर्थिक मदद देते समय अमरीका के दो उद्देश्य थे। साम्यवाद का प्रसार रोकना तथा अपनी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को लाभ दिलवाना। व्यवहार में हुआ यह है कि इसने बहुराष्ट्रीय निगमों का हित सम्वर्द्धन अधिक किया है और साम्यवाद के प्रसार को रोकने का कार्य कम। दूसरी बात, अमरीका ने जापान को छोड़कर किसी अन्य एशियाई देश को औद्योगिक विकास के मामले में मदद नहीं की, जबकि सोवियत संघ ने इस आवश्यकता की पूर्ति की। इस सोवियत नीति का एशियाई देशों पर उसके अनुकूल, सकारात्मक प्रभाव पड़ा। इस क्षेत्र में अमरीका तभी लोहा ले सकता था जब वह भी उसी प्रकार की सहायता उपलब्ध करता। यही नहीं, सोवियत संघ ने अमरीका को राजनीतिक आकर्षण और चमक-दमक के मामले में पीछे छोड़ दिया क्योंकि रूस ने तो औपनिवेशिक देशों में चल रहे राष्ट्रीय मुक्ति संग्रामों का समर्थन किया और लोकतन्त्र का अगुआ कहलाने वाला अमरीका चुप्पी साधे रहा।

कुछ लेखकों ने अमरीकी विदेश नीति का मूल्यांकन एशिया के देशों को अधीनस्थ, ग्राहक एवं प्रतिरक्षा, इन तीन भागों में बाँटकर करने की कोशिश की है। किन्तु अमरीकी विदेश नीति इतनी विरोधाभास भरी रही कि उसका इस प्रकार विश्लेषण नहीं किया जा सकता। इसलिए यहाँ एशियाई क्षेत्र को पूर्वी एशिया, पश्चिमी एशिया, दक्षिण-पूर्वी एशिया एवं दक्षिण एशिया में विभाजित करके और देश विशेष के सन्दर्भ में अमरीकी नीति का विश्लेषण करना समीचीन होगा।

अमरीका और पश्चिमी एशिया

पश्चिमी एशिया अपने उपलब्ध तेल भण्डार तथा जलमार्ग के कारण सामरिक महत्व का क्षेत्र है। द्वितीय महायुद्ध तक इस क्षेत्र में ब्रिटेन का एकमात्र प्रभाव था। युद्ध के बाद सोवियत संघ इस क्षेत्र में अपने पाँव जमाने का प्रयास करने लगा। 1948 में ब्रिटेन ने फिलिस्तीन को छोड़ने का निश्चय कर लिया तो अमरीका ने 'शक्तिशून्यता' की आड़ में इस क्षेत्र के राज्यों की राजनीति में सक्रिय हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया।

पश्चिमी एशिया में अमरीकी विदेश नीति के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार बताये जाते हैं, इस क्षेत्र में सोवियत प्रभाव को रोकना, अमरीकी प्रभाव का विस्तार करना, इस क्षेत्र में अस्त्र सन्तुलन को बनाये रखना, इस क्षेत्र के सामरिक महत्व के जलमार्गों को खुला रखना, फारस की खाड़ी से पश्चिमी शक्तियों को तेल निरन्तर एवं बेरोक प्राप्त होता रहे।

मध्य-पूर्व में अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अमरीका ने आर्थिक सहायता, सैनिक सन्धियाँ तथा अरब राष्ट्रों में फूट डालने की नीति अपनायी। यूनान और टर्की को ट्रूमैन सिद्धान्त के अन्तर्गत 40 करोड़ डालर की अमरीकी सहायता प्रदान की गयी। ईरान और जोर्डन की विकास योजनाओं को अमरीका ने पर्याप्त सहायता दी। 1956 में 'बगदाद पैक्ट' द्वारा कतिपय अरब राज्यों को पश्चिम के साथ सम्बद्ध किया गया, जिसमें ब्रिटेन, ईरान, इराक,

तुर्की और पाकिस्तान शामिल हो गये। 1958 की क्रान्ति के फलस्वरूप इराक इस 'पैक्ट' से अलग हो गया और इसका नाम 1959 में 'सेण्टो' (CENTO) कर दिया गया। यद्यपि अमरीका 'सेण्टो' का पूर्ण सदस्य नहीं रहा किन्तु सेण्टो को अमरीका का समर्थन रहा है। अमरीका ने अरब राष्ट्रों में फूट डालने का भी भरसक प्रयत्न किया। उदाहरणार्थ, 1978 के कैम्प डेविड समझौते ने (मिस्र और इजराइल के बीच); जो अमरीका द्वारा प्रेरित था, मिस्र को अरब राष्ट्रों से अलग कर दिया। आइजनहॉवर सिद्धान्त (1957) द्वारा अमरीका ने पश्चिमी एशिया के राज्यों की चौकसी का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर लाद दिया। आइजनहॉवर सिद्धान्त के अन्तर्गत 15 जुलाई, 1958 को गृह-युद्ध की स्थिति का सामना करने के लिए दस हजार अमरीकी सशस्त्र सैनिक लेबनान में उतारे गये। इसी प्रकार आइजनहॉवर सिद्धान्त का प्रयोग जोर्डन में भी किया गया। सीरिया और यमन ने इसका तीव्र विरोध किया।

पश्चिमी एशिया में अमरीकी नीति इजराइल समर्थक रही है। अमरीका ने इजराइल को तत्काल मान्यता दी तथा तीसरे राज्यों के माध्यम से शस्त्र प्रदान किये। ऐसा कहा जाता है कि 'यहूदी लॉबी' को सन्तुष्ट करने के लिए मध्य-पूर्व में अमरीकी नीति इजराइल समर्थक है। जब से अरब राष्ट्रों ने पश्चिमी एशिया में तेल अस्त्र का प्रयोग प्रारम्भ किया तब से अमरीकी नीति अरब-इजराइल विवाद के समाधान के लिए सक्रिय भूमिका के निर्वाह की रही है। अमरीका के कूटनीतिक प्रयासों के फलस्वरूप ही 1957 में स्वेज नहर को खोल दिया गया तथा 1978 में मिस्र-इजराइल के बीच कैम्प डेविड समझौता हुआ।

24 जनवरी, 1980 को कांग्रेस को भेजे गये अपने वार्षिक सन्देश में राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने 'खाड़ी सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया। उनके शब्दों में, "किसी बाह्य शक्ति द्वारा खाड़ी क्षेत्र पर नियन्त्रण के प्रयास को अमरीका के आवश्यक हितों पर आक्रमण समझा जायेगा और उसे सैनिक शक्ति सहित किन्हीं आवश्यक साधनों द्वारा खदेड़ दिया जायेगा।" 'खाड़ी सिद्धान्त' के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए 'द्रुतगामी दस्ते' का गठन किया गया अर्थात् 'यदि सोवियत संघ फारस की खाड़ी के किसी देश में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न करता है तो यह दस्ता (सेना) उसे तुरन्त खदेड़ने का प्रयत्न करेगी।'

अमरीका और दक्षिण-पूर्वी एशिया

दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में से अमरीका की प्रमुख दिलचस्पी हिन्दचीन के देशों, विशेषकर कम्बोडिया, लाओस और वियतनाम में रही है। पाँचवे दशक तक दक्षिण-पूर्वी एशिया में अमरीका तथा जापान के प्रभाव से टक्कर लेने वाली कोई शक्ति नहीं थी। छठे दशक में सोवियत संघ तथा चीन ने इस क्षेत्र में बागी आन्दोलनों को भारी मदद देना शुरू किया। वैसे 1952 का 'डोमिनो सिद्धान्त' (The Domino Theory) साम्यवाद परिरोधन नीति का ही अंग है। 1949 में चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना के बाद जॉन फास्टर डलेस ने 'डोमिनो सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त की मान्यता थी कि "यदि दक्षिण-पूर्वी एशिया का कोई राष्ट्र साम्यवादियों के हाथों में आ जाता है तो इसका दूसरे शब्दों पर डोमिनो प्रभाव पड़ेगा और वे एक-एक करके साम्यवाद का शिकार हो जायेंगे.......।" इसका उद्देश्य था डोमोनियन्स (उपनिवेशों) को अर्थात् अमरीका के कठपुतली राज्यों को साम्यवाद के चंगुल में फँसने से बचाया जाये। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर 1854 में अमरीका ने 'सीटो' (SEATO) का निर्माण किया, वियतनाम में हस्तक्षेप किया। अमरीका द्वारा दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों के लिए गढ़ी गयी 'डोमिनो थ्योरी' की उसके स्वयं द्वारा अपार सैनिक एवं आर्थिक मदद के बावजूद रक्षा न हो सकी। वियतनाम के बाद कम्बोडिया एवं लाओस के शासन की बागडोर साम्यवादी हाथों में पड़ने के बाद अमरीका की प्रतिष्ठा दक्षिण-पूर्वी एशिया में ही नहीं घटी है बल्कि इसका विश्व स्तर पर भी प्रभाव पड़ा है।

एशिया में अमरीका द्वारा घोषित दायित्वों को निभाने की क्षमता के बारे में जापान, कोरिया और ताइवान ही चिन्तित नहीं हैं बल्कि थाईदेश, सिंगापुर, मलयेशिया, इण्डोनेशिया एवं फिलीपीन द्वीपसमूह भी चौकन्ने हुए हैं।

अमरीका के इस क्षेत्र में जो सैनिक अड्डे थे उनमें से धीरे-धीरे वह अपनी फौज कम करने लगा है। थाईदेश ने भी अमरीका से अपनी सैनिक उपस्थिति हटा लेने की माँग की थी। किन्तु साम्यवादी चीन नहीं चाहता कि अमरीका अपने अड्डे दक्षिण-पूर्वी एशियाई क्षेत्र से पूरी तरह से हटाये क्योंकि उसे सोवियत संघ द्वारा यहाँ उसकी जगह ले लिये जाने का खतरा है। सिंगापुर का मत भी चीन के साथ है।

वियतनाम युद्ध अमरीकी इतिहास में पहला युद्ध है जिसमें भाग लेने के बाद भी अमरीका इसे जीत नहीं सका। कम्बोडिया में 7 जनवरी, 1979 को वियतनाम और सोवियत संघ समर्थक हेंग सामरिन के राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे का अधिकार हो गया। मई 1875 में लाओस में भी एक क्रान्ति हुई और प्रतिक्रियावादी अमरीकी समर्थक सरकार को अपदस्थ करके 'पेथेटलाओ' जो साम्यवादी समर्थक थे, सत्ता में आ गये। इस प्रकार दक्षिण-पूर्वी एशिया में अमरीका का 'डोमिनो सिद्धान्त' पूर्णतः असफल रहा है।

अमरीका और दक्षिण एशिया

द्वितीय महायुद्ध के बाद अमरीका की मंशा थी कि दक्षिण एशिया के नवोदित राष्ट्र साम्यवादी प्रभाव को रोकने में अमरीकी सैनिक गठबन्धन में शामिल हों, किन्तु भारत, अफगानिस्तान, श्रीलंका जैसे दक्षिण एशिया के गुट-निरपेक्ष देशों द्वारा यह करना सम्भव न था। पाकिस्तान 1954-55 में क्रमशः 'सीटो' एव 'सेण्टो' का सदस्य बना, जिसे अमरीका ने चीनी प्रभाव रोकने का अच्छा साधन माना। बहरहाल पाकिस्तान ने अमरीका से शस्त्रास्त्र एवं आर्थिक सहायता पाकर भारत से कश्मीर पर उलझने की कोशिश तेज कर दी। अपार मात्रा में पाकिस्तान को अमरीकी शस्त्रों ने भारत एवं अफगानिस्तान जैसे बड़े दक्षिणेशियाई देशों को अमरीका से विमुख किया।

हालांकि 1962 में भारत पर चीन के अचानक फौजी हमले के समय अमरीका ने भारत की भरपूर मदद की तथा कैनेडी प्रशासन के युग में दोनों के बीच मधुर सम्बन्धों के आरम्भ होने के लक्षण भी दिखायी दिये, किन्तु कश्मीर समस्या पर अमरीका के भारत-विरोधी रुख एवं पाकिस्तान को असीमित फौजी शस्त्रों की मदद के कारण यह सम्भव नहीं हो सका। 1965 के भारत-पाक युद्ध में अमरीका ने दोनों की विदेशी सहायता रोक दी, किन्तु कश्मीर विवाद पर उसने संयुक्त राष्ट्र में भारत-विरोधी रुख जारी रखा। 1971 में बंगला देश को लेकर हुए भारत-पाक युद्ध के पूर्व अमरीका ने यहाँ तक कह दिया कि सम्भावित भारत-पाक युद्ध में यदि चीन कूदा तो भारत को अपनी सुरक्षा स्वयं करनी होगी। इसी ने 1971 में ही भारत-सोवियत मैत्री एवं सहयोग सन्धि का मार्ग प्रशस्त किया, जिसके प्रति अमरीका ने तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की।

1971 के भारत-पाक युद्ध में भारत की जीत से अमरीकी विदेश नीति निर्धारकों को यह बात साफ हो जानी थी कि राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक रूप से भारत दक्षिणेशिया की सबसे बड़ी शक्ति है, किन्तु यह नहीं हुआ और उसने पाकिस्तान को सैनिक शस्त्र भेजना समय-समय पर जारी रखा। 1974 में पी० एल० 480 को लेकर अमरीका ने भारत के प्रति सहानुभूतिपूर्वक रुख अपनाया तथा यह मसला सुलझ गया। लेकिन उसी वर्ष फिर हिन्द महासागर में बढ़ती अमरीकी नौ-सैनिक गतिविधि तथा भारत द्वारा परमाणु परीक्षण से दोनों देशों में सम्बन्ध मजबूत न हो सके, वैसे अक्टूबर 1974 के अन्तिम सप्ताह में तत्कालीन अमरीकी विदेश मन्त्री डॉ० किसिंगर नयी दिल्ली आये। उन्होंने भारतीय गुट-निरपेक्षता तथा परमाणु शक्ति के शान्तिपूर्ण कार्यों में उपयोग की प्रशंसा की तथा दक्षिणेशियाई देशों के आन्तरिक मामलों में अमरीकी हस्तक्षेप न करने का वादा

भी किया। जून 1980 में अमरीकी राष्ट्रपति कार्टर ने तारापुर परमाणु बिजलीघर के लिए समृद्ध यूरेनियम की आपूर्ति करने के सरकारी आदेश पर हस्ताक्षर कर दिये थे परन्तु सीनेट ने भारत को 38 टन यूरेनियम देने से इन्कार कर दिया।

रीगन प्रशासन की नजरों में भारत सोवियत शक्ति के विस्तार को रोकने में सहायक नहीं, अत: उसका विशेष महत्व नहीं है। सोवियत विस्तारवाद को रोकने के बहाने अमरीका पाकिस्तान को सुदृढ़ और शक्तिशाली बनाना चाहता है, वह उसे आधुनिकतम सैनिक सामान और एफ-16 जैसे विध्वंसक वायुयानों की सप्लाई कर रहा है, जो कि भारत की चिन्ता का कारण रहा। रीगन प्रशासन भारत को परिष्कृत यूरेनियम की उस किस्त को भी नहीं देना चाहता जिसे सप्लाई करना कार्टर प्रशासन ने स्वीकार कर लिया था।

अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप से पाकिस्तान का चिन्तित होना स्वाभाविक है। अमरीका रूसी विस्तारवाद को रोकने के लिए पाकिस्तान को शक्तिशाली बनाकर दक्षिण एशिया में भारत का एक सुदृढ़ प्रतिद्वन्द्वी तैयार करने में लगा हुआ है। पाकिस्तान को 3 अरब डॉलर की सैनिक सहायता, इस्लामिक बम के निर्माण हेतु अप्रत्यक्ष सहायता के पीछे यही उद्देश्य है।

भारत-अमरीकी सम्बन्धों के उक्त घटनाक्रम को दृष्टिगत रखते हुए अनेक लेखकों ने अमरीका की भारत नीति पर भिन्न-भिन्न विश्लेषण प्रस्तुत किये हैं। इनमें अमरीका में अध्यापन में कार्यरत प्रो० बलदेवराज नायर ने प्रो० लिस्का की एक पुस्तक के उद्धरण को उद्धृत करते हुए हाल ही में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'जिओ पोलिटिक्स ऑफ इण्डो-अमरीकन रिलेशन्स' में उल्लेखनीय विश्लेषण किया है। उनके अनुसार विश्व महाशक्ति के सम्मुख किसी देश से सम्बन्ध बताते वक्त तीन विकल्प रहते हैं: उसको अपनी विदेश नीति का अधीनस्थ बनाना, उसका प्रभाव रोकना एवं उसके साथ समायोजन करना। प्रो० बलदेवराज नायर के इस विश्लेषण में जरूर दम है कि मोटे तौर पर 1954 तक अमरीका ने भारत को साम्यवादी गुट के खिलाफ जेहाद छेड़ने में आमन्त्रित कर उसे अधीनस्थ बनाने की कोशिश की। जब यह सम्भव न हुआ तो 1954 से पाकिस्तान को असीमित सैनिक एवं आर्थिक मदद देकर भारत के समक्ष शक्ति के रूप में खड़ा कर उसका प्रभाव रोकने की नीति अपनायी। किन्तु 1971 में पाकिस्तान की हार और 1974 में भारत द्वारा परमाणु परीक्षण के कारण भारत को अमरीका द्वारा दक्षिणेशिया की सबसे बड़ी शक्ति के रूप में स्वीकार करना पड़ा जो 1974 को किसिंगर की भारत यात्रा और उसके बाद अमरीकी प्रतिनिधि क्रिस्टोफर की यात्रा के दौरान दिये गये भाषण से स्पष्ट होती है। किन्तु 1971 के बाद भारत के साथ अमरीकी समायोजन सांकेतिक ही समझा जाना चाहिए, क्योंकि इसने अभी तक पूर्ण रूप से मूर्त रूप धारण नहीं किया है।

अमरीका और पूर्वेशिया

पूर्वेशिया अथवा सुदूरपूर्व (Far-East) के सम्बन्ध में अपनायी गयी अमरीकी विदेश नीति का उद्देश्य साम्यवाद का अवरोध करना है। द्वितीय महायुद्ध के बाद जिन देशों ने सुदूरपूर्व में अमरीकी विदेश नीति का ध्यान आकर्षित किया उनमें जापान, कोरिया, फारमोसा तथा चीन प्रमुख हैं।

अमरीका-जापान—द्वितीय महायुद्ध के अन्त में जापान ने अमरीकी सेनाओं के समक्ष आत्म-समर्पण किया था। जापान का नवीन संविधान अमरीका की देख-रेख में तैयार किया गया था। अमरीका ने जापान के आर्थिक विकास के लिए उसे लगभग 2 अरब डॉलर की सहायता दी। सैनिक दृष्टि से सुरक्षा सन्धियों और समझौतों द्वारा जापान को अमरीका के साथ सम्बद्ध कर दिया। सितम्बर 1951 में जापान और अमरीका के मध्य अनिश्चित काल के लिए एक समझौता सम्पन्न हुआ जिसमें यह व्यवस्था की गयी कि सशस्त्र आक्रमण अथवा बड़े

आन्तरिक उपद्रव होने की स्थिति में अमरीका जापान को सैनिक सहायता देगा। इसके बदले में जापान ने अमरीका को अपने देश में जल, स्थल तथा वायुसेना रखने का अधिकार दिया। जापान ने यह आश्वासन भी दिया कि अमरीका की अनुमति के बिना जापान किसी तीसरी शक्ति को अपने देश में अड्डे बनाने या किलाबन्दी करने या सेना रखने की अनुमति नहीं देगा। इस सन्धि के बाद अमरीका ने जापान की अर्थव्यवस्था सुदृढ़ बनाने में उल्लेखनीय सहायता प्रदान की। लेकिन ज्यों-ज्यों जापान की आर्थिक शक्ति बढ़ती गयी त्यों-त्यों जापान-अमरीकी प्रतिरक्षा समझौते का विरोध जापान की जनता में बढ़ता गया। ऐसी स्थिति में 19 जनवरी, 1960 को दोनों देशों के मध्य एक नया 10-वर्षीय प्रतिरक्षा समझौता सम्पन्न हुआ। इस समझौते के अन्तर्गत अमरीका को जापान में सैनिक अड्डों को बनाये रखने की आज्ञा तो दे दी गयी परन्तु उन अड्डों पर जापान की प्रभुसत्ता को मान्यता प्रदान की गयी और जापान को सम्प्रभुता-सम्पन्न राष्ट्र का दर्जा प्रदान किया गया।

द्वितीय महायुद्ध में जापान की पराजय के बाद से ही ओकिनावा द्वीप अमरीका के नियन्त्रण में चला गया था। नवम्बर 1971 में अमरीका ने इस द्वीप को लौटाने का निर्णय किया और मई 1972 में ओकिनावा पुनः जापान को वापिस कर दिया गया। 1970 के बाद आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्र में जापान ने अभूतपूर्व प्रगति की और वह इस क्षेत्र में अमरीका के प्रतियोगी के रूप में उदित हुआ। इसके फलस्वरूप अमरीका को अपनी पूर्वी एशियाई नीति पर पुनर्विचार करना पड़ा। चीन-अमरीकी सम्बन्धों में बदलाव लाने में जापान के आर्थिक उत्थान ने निर्णायक भूमिका अदा की।

अमरीका और कोरिया—उत्तरी एवं दक्षिणी कोरिया के बीच मतभेद अमरीकी विदेश नीति निर्धारकों के लिए अभी तक सिर दर्द बना हुआ है जिसमें चार विश्व-शक्तियाँ उलझी हुई हैं। 1950 में हुई मुठभेड़ में अमरीका तथा जापान ने दक्षिण कोरिया तथा सोवियत संघ एवं चीन ने उत्तरी कोरिया का समर्थन किया था। दक्षिण कोरिया का शासक कामरेड किम सुंग अभी भी संयुक्त कोरिया के सपने देख रहा है, चूंकि जापान के लिए दक्षिण कोरिया की सुरक्षा बड़े महत्व की है, इसलिए अमरीका सदैव जापान एवं दक्षिण कोरिया में परामर्श करके ही कोई कदम उठायेगा।

अमरीका और उत्तरी कोरिया के मध्य जनवरी 1968 में तनाव की स्थिति उत्पन्न हो गयी। एक अमरीकी जासूस पोत प्यूब्लो (Pueblo) को उत्तरी कोरिया ने अपने प्रादेशिक जल में पकड़ लिया और उस पर सवार 83 व्यक्तियों को हिरासत में ले लिया। अमरीकी सरकार का कहना था कि 906 टन वजनी यह पोत वास्तव में जासूसी पोत नहीं था; बल्कि 'सूचना संग्रह' का सहायक पोत था। उत्तरी कोरिया ने जलपोत को छोड़ने से साफ-साफ इन्कार कर दिया। उत्तरी कोरिया को डराने-धमकाने के उद्देश्य से अमरीका ने सैनिक तैयारी शुरू कर दी। बाद में सोवियत प्रधानमन्त्री कोसीजिन की सलाह के आधार पर अमरीका ने माफी माँग ली और उत्तरी कोरिया की सरकार ने 'प्यूब्लो' को छोड़ दिया।

प्यूब्लो जासूसी पोत से भी अधिक भयंकर जासूसी घटना 1969 में घटी। उत्तरी कोरिया ने अमरीका के एक जासूसी हवाई जहाज ई० सी०-121 को मार गिराया। यह जहाज उत्तरी कोरिया की सीमा में घुसकर जासूसी कर रहा था। अमरीका ने इस घटना पर कड़ा विरोध प्रकट किया। बाद में उसने यह भी कहा था कि दक्षिण कोरिया और प्रशान्त महासागर में अमरीकी स्वार्थों की रक्षार्थ कोरिया की सैनिक तैयारियों की जानकारी प्राप्त करते रहने के लिए अमरीका के लिए इस तरह की टोह लेते रहना आवश्यक है और अमरीका इस तरह की कार्यवाही को जारी रखेगा। उत्तरी कोरिया ने भी यह स्पष्ट रूप से कह दिया कि फिर कोई जासूसी जहाज उड़ान भरेगा तो उसे मार गिराया जायेगा। 1972-73 के बाद दोनों कोरिया ने अपने सम्बन्धों को सुधारने

के प्रयास प्रारम्भ कर रखे हैं। मार्च 1974 में उत्तरी कोरिया के विदेशमन्त्री ने अमरीका पर यह आरोप लगाया कि वह एकीकरण के प्रयास में बाधा डाल रहा है।

अमरीका और चीन—1945 में जापान की पराजय के बाद अमरीका ने पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के क्षेत्रों में अपना प्रभुत्व कायम करने की चेष्टा की। जापान पराजित होकर अमरीका के सैनिक कब्जे में आ गया किन्तु चीन में राष्ट्रवादियों और साम्यवादियों के बीच गृह-युद्ध चल रहा था। अमरीका ने साम्यवादियों के दमन के लिए च्यांग-काई सरकार को पूरी सहायता दी। इसके बावजूद चीन की राष्ट्रवादी सरकार हारती गयी और साम्यवादी जीतते रहे। 1949 में राष्ट्रवादी सेना पराजित होकर चीन की मुख्य भूमि से हटती गयी और अन्त में फारमोसा भागकर चली गयी। यह अमरीका के लिए एक बहुत बड़ी पराजय थी। द्वितीय महायुद्ध के फल-स्वरूप प्रशान्त महासागर पर अमरीका का पूर्ण प्रभुत्व कायम हो गया था। चीन में साम्यवादी शक्ति का उदय इस प्रभुत्व के लिए एक चुनौती बन गया।

अमरीका इस परिवर्तन को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। उसने चीन की साम्य-वादी सरकार को मान्यता प्रदान नहीं की और न उसे संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य ही बनने दिया। अमरीका फारमोसा की सरकार को ही मान्यता देता रहा। फारमोसा की कठपुतली सरकार की रक्षार्थ उसने इस क्षेत्र में बड़े पैमाने पर सैनिक गतिविधि को बढ़ा दिया। अमरीका साम्यवादी चीन को अपना पहले नम्बर का शत्रु मानने लगा जिससे पूर्वी एशिया की राजनीति हमेशा तनाव-पूर्ण बनी रही।

नये सम्बन्ध की खोज—राष्ट्रपति जॉनसन ने इस बात पर जोर दिया था कि चीन के प्रति अमरीकी नीति बदलनी चाहिए। सीनेटर एडवर्ड कैनेडी ने 1969 में कहा था कि "बीस वर्ष तक चीन के साथ हमारी नीति युद्ध की नीति रही है....अब हमें युद्ध की नीति का परित्याग कर शान्ति की नीति का अनुसरण करना चाहिए। क्योंकि यह हमारे तथा सभी देशों के हित में है।" सीनेटर मैकगवर्न ने भी चीन के साथ राजनीतिक सम्बन्ध कायम करने पर बल दिया था। वैसे लगभग 16 वर्षों से वारसा स्थित पीकिंग तथा वाशिंगटन के राजदूत अपने देशों के बीच सामान्य सम्बन्ध कायम करने के उद्देश्य से 1971 तक लगभग 350 बार मिल चुके थे। बारी-बारी से चीनी और अमरीकी राजदूत एक-दूसरे के दूतावास में जाने लगे। 1971 के फरवरी में राष्ट्रपति निक्सन ने 'पीकिंग के शासन' को 'चीन का जनवादी गणराज्य' तथा फारमोसा की राष्ट्रवादी सरकार को 'ताइवान' कहना शुरू कर दिया। उन्होंने कहा था कि "अमरीका की नीति चीन के जनवादी गणराज्य को विश्व के साथ रचनात्मक सम्बन्धों की ओर ले जाना है।" उनके इस दृष्टिकोण में चीन सम्बन्धी अमरीकी नीति में भारी परिवर्तन की झलक के संकेत थे।

चीन-अमरीकी सम्बन्धों में दितान्त—अप्रैल 1977 में एक अमरीकी 'पिंगपाँग टीम' चीन गयी। इस पिंगपाँग टीम की चीन यात्रा से यह संकेत मिला कि अमरीका और चीन कभी भी निकट आ सकते हैं। अमरीकी जहाजों को इजाजत दे दी गयी कि वे चीन के बन्दरगाहों पर जाकर तेल भर सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय पासपोर्ट पर से 'चीन को छोड़कर' की बात हटा दी गयी। राष्ट्र-पति निक्सन ने घोषणा की कि चीन के साथ सम्बन्धों को सुधारने की नयी पाँच-सूत्री योजना के अन्तर्गत अमरीका से कुछ ऐसी चीजों का चीन में निर्यात किया जा सकेगा जिनका सामरिक महत्व नहीं है। इस पाँच-सूत्री योजना में दो देशों के बीच सीधे व्यापार, यात्रियों के आने-जाने की सुविधा तथा चीन द्वारा अमरीकी डॉलर के उपयोगों की सुविधा की बात भी शामिल थी। इसके साथ ही वर्षों बाद चीन और अमरीका में पहली बार टेलीफोन पर सीधा सम्पर्क कायम हुआ और एक अमरीकी पत्रकार को चीन जाने का 'वीसा' प्राप्त हो गया। अमरीकी लेखक 'एडगर स्नो' ने माओ से भेंट की और उसने लिखा कि राष्ट्रपति का चीन में भव्य स्वागत होगा।

पाकिस्तान ने चीन-अमरीका को निकट लाने में बिचौलिये की भूमिका अदा की। पाकिस्तान ने ही किसिंगर की गुप्त पीकिंग यात्रा की व्यवस्था की। किसिंगर 9 से 11 जुलाई, 1971 तक पीकिंग में रहे। पीकिंग में अपने 48 घण्टे के प्रवास में किसिंगर के 20 घण्टे चाऊ ऐन लाई के साथ बातचीत में बीते।

किसिंगर के अमरीका लौटने के उपरान्त 16 जुलाई, 1971 को राष्ट्रपति निक्सन ने अत्यन्त नाटकीय ढंग से घोषणा की कि "मैं मई 1972 के पहले चीन का दौरा करूँगा....जब तक अमरीका और चीन में सामान्य सम्बन्ध स्थापित नहीं होते तब तक विश्व में स्थायी शान्ति नहीं हो सकती। चीन के 70 करोड़ लोगों के सहयोग के बिना शान्ति के प्रयास अधूरे रहेंगे।" अमरीकी सीनेटरों तथा प्रतिनिधि सभा के सदस्यों ने निक्सन के इस कदम को 'ऐतिहासिक कदम' बताया। केवल ताइवान (फारमोसा) ने निक्सन की चीन यात्रा को 'मित्रों के साथ विश्वासघात' बताया। प्रेक्षकों का कहना था कि किसिंगर की पीकिंग यात्रा तथा राष्ट्रपति निक्सन की चीन सम्बन्धी घोषणा चीनी राजनय की अभूतपूर्व सफलता थी और अमरीकी साम्राज्यवाद की सबसे बड़ी पराजय थी। इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि चीन ने अमरीका के द्वार पर नहीं, वरन् अमरीका ने चीन के द्वार पर दस्तक दी थी। चीन जाने की इच्छा राष्ट्रपति निक्सन ने प्रकट की थी और माओ ने उसे मंजूर किया था। यह सर्वविदित है कि चीन ने निक्सन को बीजिंग यात्रा के लिए स्वेच्छा से आमन्त्रित नहीं किया, बल्कि उनके विशेष दूत किसिंगर के अनुरोध को स्वीकार करके राजनयिक शिष्टाचार को निभाया था।

सितम्बर 1971 के प्रारम्भ में राष्ट्रपति निक्सन ने घोषणा की कि अमरीका चीन को संयुक्त राष्ट्र महासभा तथा सुरक्षा परिषद् का सदस्य बनाने के लिए दो प्रस्ताव पेश करेगा। निक्सन की इस घोषणा से चीन और अमरीका का रिश्ता मजबूत हुआ।

21 फरवरी, 1972 को राष्ट्रपति निक्सन पीकिंग पहुँचे। चीन में राष्ट्रपति का ठण्डा स्वागत हुआ। हवाई अड्डे का औपचारिक स्वागत समारोह केवल पन्द्रह मिनट में समाप्त हो गया। शिखर वार्ता के बाद जारी की गयी संयुक्त विज्ञप्ति (शंघाई घोषणापत्र) में अमेरिका ने इस बात की पुष्टि की कि उसका लक्ष्य अन्ततः ताइवान (Taiwan) से अमरीकी सेना और सैनिक अड्डे हटा लेना है।

चीन-अमरीकी सम्बन्धों में 'शंघाई घोषणापत्र' पर हस्ताक्षर (निक्सन और चाऊ-एन-लाई ने 28 फरवरी, 1972 को हस्ताक्षर किये) एक नये युग की शुरूआत थी। शंघाई घोषणापत्र में तीन भाग हैं—(i) सामयिक अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का चीन और अमरीकी नजरिये से पृथक्-पृथक् विश्लेषण; (ii) दोनों देशों के विदेश सम्बन्धों के संचालन हेतु कतिपय स्वीकृत सिद्धान्तों का समूह, तथा (iii) सम्बन्ध सुधारने की प्रक्रिया में सहमति के बिन्दु जिसमें ताइवान प्रश्न का निर्धारण भी सम्मिलित है। ताइवान के प्रश्न पर विज्ञप्ति में संयुक्त राज्य अमरीका ने अपनी पूर्व घोषित नीति में आमूलचूल परिवर्तन करते हुए स्पष्ट कहा कि 'केवल एक चीन है और ताइवान चीन का ही भाग है।' (There is but one China and that Taiwan is a part of China)।

चीन-अमरीकी सम्बन्धों को सामान्य करने की दिशा में दोनों देशों में निम्नलिखित सहमति भी हुई: प्रथम, दोनों देशों की जनता में सम्पर्क बढ़ाना तथा विज्ञान, तकनीक, संस्कृति और पत्रकारिता के क्षेत्र में सहयोग और विनिमय की शुरूआत करना। द्वितीय, दोनों देशों में व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाना। तृतीय, अधिकारी और गैर-अधिकारी स्तर पर सम्पर्क बढ़ाने के लिए दोनों देशों द्वारा सम्पर्क अधिकारी (Offcers) नियुक्त करना। दोनों देशों की राजधानियों में सम्पर्क अधिकारी की नियुक्ति का विचार अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति के क्षेत्र में नयी बात थी।[1]

---

1 James C. F. Wang, *Contemporary Chinese Politics* (1985), pp. 293-304.

निक्सन की चीन यात्रा के बाद निश्चय ही दोनों देशों के सम्बन्धों में एक नया अध्याय शुरू हुआ। बंगला देश के प्रश्न पर भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध छिड़ने पर जब यह मामला संयुक्त राष्ट्र संघ में गया तो चीन ने अमरीका के साथ पूरा सहयोग किया और दोनों देशों ने भारत-विरोधी रुख अपनाया। फरवरी 1973 में क्सिंगर ने पुन: पीकिंग की यात्रा की और दोनों देशों ने एक-दूसरे की राजधानी में 'सम्पर्क कार्यालय' स्थापित करने का निश्चय किया। चीन-अमरीकी सम्बन्धों में सुधार लाने हेतु तत्कालीन राष्ट्रपति जेराल्ड फोर्ड ने दिसम्बर 1975 में पुन: पीकिंग की यात्रा की। यद्यपि राष्ट्रपति फोर्ड की यात्रा के बाद कोई 'संयुक्त विज्ञप्ति' जारी नहीं की गयी तथापि ऐसा कहा जाता है कि फोर्ड ने चीनी नेताओं को यह मौखिक आश्वासन दिया था कि 1976 के राष्ट्रपति चुनावों के बाद ताइवान से कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ दिये जायेंगे। 18 अगस्त, 1977 को 11वीं पार्टी कांग्रेस में भाषण देते हुए नये चीनी नेता हुआ गुआ फेंग ने चीन-अमरीकी सम्बन्धों के सामान्यीकरण की प्रक्रिया में तीन बातें आवश्यक मानीं—(i) अमरीका ताइवान से राजनयिक सम्बन्ध विच्छेद करे, (ii) ताइवान से समस्त अमरीकी फौजों को हटाया जाये, तथा (iii) ताइवान व अमरीका के मध्य हुए 1954 के पारस्परिक सुरक्षा समझौते को निरस्त किया जाये। 15 दिसम्बर, 1978 को राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने 1 जनवरी, 1979 से चीन के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने की घोषणा की। राष्ट्रपति कार्टर ने अपने वक्तव्य में यह मान लिया कि चीन केवल एक है और उसकी एक सरकार है। अमरीका-ताइवान सुरक्षा सन्धि को समाप्त कर दिया गया और वहाँ से समस्त अमरीकी सेना हटा ली गयी। फरवरी 1979 में डेंग विसआओ पिंग (वरिष्ठ उप-प्रधानमन्त्री) नौ दिवस की अमरीकी यात्रा पर गये। दोनों देशों में वैज्ञानिक सहयोग, सांस्कृतिक आदान-प्रदान सम्बन्धी अनेक समझौते भी हुए, अमरीका ने चीन को 'सर्वाधिक अनुग्रहीत राष्ट्र' (most favoured nation) का दर्जा भी प्रदान दिया।

7 अक्टूबर, 1977 को टोकियो में चीनी उप-प्रधानमन्त्री तेंग श्याओं पिंग ने कहा कि चीन आधुनिक हथियारों और तकनीकी ज्ञान को विदेशों से लेने की योजना बना रहा है। अमरीकी इन्जीनियर्स चीनी उद्योगों में सहयोग करने और उन्हें आधुनिक बनाने में सहायता कर रहे हैं। 1 मार्च, 1979 को चीन और अमरीका के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार चीन ने 80 5 मिलियन डॉलर के अमरीका के दावों को चुकाने तथा अमरीका द्वारा जब्त की गयी 80 मिलियन डॉलर की सामग्री को छोड़ने पर सहमति प्रकट की। अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप को ध्यान में रखते हुए अमरीकी प्रशासन ने 27 जनवरी, 1980 को चीन को सैन्य-सामग्री एवं सहायता देने का निर्णय किया। जनवरी 1980 में अमरीका व चीन के बीच सेटेलाइट संचार केन्द्र स्थापित करने सम्बन्धी समझौता हुआ। 22 अक्टूबर, 1980 को चीन ने बड़ी मात्रा में अमरीका से खाद्य-सामग्री खरीदने का समझौता किया। 6 मई, 1982 को अमरीकी राष्ट्रपति रीगन ने अपने उप-राष्ट्रपति जार्ज बुश के माध्यम से चीन के तीन शीर्षस्थ नेताओं—कम्युनिस्ट पार्टी के अध्यक्ष, प्रधानमन्त्री और उप-प्रधानमन्त्री को पत्र भेजकर सोवियत संघ के विरुद्ध चीन तथा अमरीका के सहयोग को मजबूत बनाने की अपील की। रीगन ने लिखा कि "चीन तथा अमरीका दोनों को सोवियत संघ से गम्भीर खतरा है। दुनिया की समस्याओं के समाधान में रूस बाधक है।"

वस्तुत: चीन से मधुर सम्बन्धों की तलाश में अमरीका ने चीन के बहिष्कार की नीति का परित्याग कर दिया, दो चीन सिद्धान्तों का परित्याग कर दिया, पीकिंग सरकार को चीन की प्रतिनिधि सरकार स्वीकार कर लिया, संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन की सदस्यता की हिमाकत की और ताइवान से अपनी सशस्त्र सेनाओं को वापस बुला लिया। अमरीका के विदेश सचिव अलेक्जेण्डर हेग और चीन के विदेशमन्त्री हुआंग हुआ की 13-14 जून, 1981 को पीकिंग में हुई वार्ताओं के फलस्वरूप 'विश्व में सोवियत विस्तारवाद को रोकने के लिए' दोनो देशों में एक

समझौता हुआ। 17 जनवरी, 1984 को चीनी प्रधानमन्त्री झाओ जियांग ने अमरीका की यात्रा की। इस यात्रा के दौरान उन्होंने कहा कि एशिया में सोवियत विस्तारवाद को रोकने में चीन अमरीका के साथ सहयोग करेगा। झाओ की वाशिंगटन यात्रा के समय दोनों देशों में तकनीकी-आर्थिक सहयोग के अनेक समझौतों पर भी हस्ताक्षर हुए। एक समझौते के तहत अमरीका ने दो दशकों तक चीन को आणविक तकनीकी और पुर्जे देते रहने का भी आश्वासन दिया। रीगन और झाओ के मध्य अगले 5 वर्ष (अर्थात् 1989 तक) के लिए विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र में आदान-प्रदान का भी महत्वपूर्ण समझौता हुआ। अप्रैल 1984 में राष्ट्रपति रीगन ने बीजिंग की यात्रा की और उन्होंने कहा कि अमरीका को चीन के साथ अपने रिश्ते पर गर्व है। जुलाई 1985 में चीन के राष्ट्रपति ली सियेन ने अमरीका की यात्रा की।

वस्तुतः चीन ने सोवियत संघ के विरुद्ध विश्वव्यापी मोर्चाबन्दी का आह्वान किया जिसमें अमरीका ने प्रत्यक्ष रूप से कोई दिलचस्पी नहीं दिखायी; किन्तु इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि आने वाले दिनों में हिन्दचीन, अफ्रीका और मध्यपूर्व में सोवियत प्रभाव को निरस्त करने के लिए अमरीका और चीन संयुक्त मोर्चा लगा सकते हैं।[1]

अमरीका-चीन व्यापार में निरन्तर वृद्धि होने लगी है। सन् 1979 में दोनों देशों में कुल मिलाकर 2·38 बिलियन डॉलर, 1980 में 4·8 बिलियन डालर, 1981 में 5·5 बिलियन डॉलर, 1982 में 5·1 बिलियन डॉलर तथा 1983 में 5·2 बिलियन डॉलर के लगभग व्यापार हुआ। अमरीका ने कृषि उत्पादन जैसे गेहूँ, सोयाबीन, रेंडी आदि का चीन को निर्यात किया और चीन ने पैट्रोलियम पदार्थों व ऊनी-सूती कपड़े का निर्यात किया। सन् 1980 में 70,000 अमरीकन लोगों ने चीन की यात्रा की तथा 10,000 चीनी अमरीका की यात्रा पर गये। 1982 के अन्त तक लगभग 9,000 चीनी विद्यार्थी, शोधार्थी अमरीकी शोध संस्थानों में अध्ययन कर रहे थे। संक्षेप में, अब व्यापार, वाणिज्य, तकनीकी और शैक्षणिक क्षेत्रों में दोनों देशों में आदान-प्रदान और सहयोग के द्वार खुल चुके हैं।

चीन-अमरीकी सम्बन्धों में सुधार (दितान्त) के कारण—यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि अमरीका चीन से सम्बन्ध सुधारने के लिए अत्यन्त लालायित क्यों रहा? इसी प्रकार चीन को एकाएक साम्राज्यवाद के प्रहरी से हाथ मिलाने की आवश्यकता क्यों पड़ी? चीन-अमरीकी सम्बन्धों में दितान्त व्यवहार के लिए निम्नलिखित कारण उत्तरदायी हैं :

1. **अमरीकी आर्थिक हित**—वियतनाम युद्ध के कारण अमरीका की अर्थ-व्यवस्था दिनों-दिन बिगड़ती जा रही थी। डॉलर का मूल्य कम होता जा रहा था तथा मुद्रा-स्फीति बढ़ रही थी। भारी मात्रा में कृषि उत्पादन गोदामों में पड़े थे। ऐसी स्थिति में अमरीका अपने उत्पादनों की खपत के लिए नये बाजारों की खोज में भटक रहा था जिसकी सहायता से वह आर्थिक चुनौतियों का मुकाबला कर सके और इसकी खपत की गुंजाइश चीन में थी।

2. **वियतनाम युद्ध**—अमरीका वियतनाम युद्ध में बुरी तरह फँसा हुआ था। वियतनाम युद्ध में अमरीका के 50 हजार से भी अधिक सैनिक मारे जा चुके थे और 5 हजार से अधिक सैनिक विमान नष्ट हो चुके थे। दिनों-दिन यह युद्ध अमरीका के लिए बड़ा ही महँगा सिद्ध हो रहा था। वियतनाम युद्ध में अमरीका ने पाया कि अप्रत्यक्ष रूप से यह चीन के सामने जा खड़ा हुआ था। वियतनाम जनता की देश-भक्ति और मनोबल को देखकर अमरीकी प्रशासन यह महसूस करने लगा कि एक जीवन्त राष्ट्र को गुलाम नहीं बनाया जा सकता। अतः अमरीका ने वियतनाम से हटना ही तर्कसंगत समझा। किन्तु दक्षिण-पूर्वी एशिया की सबसे महान् शक्ति (चीन) से किसी

---

[1] **दिनमान**, 11-17 फरवरी, 1979, पृ० 331।

तरह समझौता किये बिना ही हट जाना एक राजनयिक और सैनिक भूल होती। अतः अमरीका ने दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपने हितों को बनाये रखने के लिए चीन को विश्वास में लेना विवेकसम्मत समझा।

3. **व्यापारिक व्यवहारवाद**—चीन के साथ प्रायः विश्व के सभी बड़े-बड़े देश व्यापारिक सम्बन्ध कायम कर चुके थे। कोई कारण नही कि अमरीका उस बड़े बाजार से लाभ नहीं उठाये। अमरीका के लिए इससे अच्छी बात क्या हो सकती थी कि उसे अपने माल की खपत के लिए 70 करोड़ की आबादी वाले विशाल देश का बाजार मिल जाये। चीन से सम्बन्ध कायम करने की वकालत अमरीकी व्यापारी ज्यादा जोरों से कर रहे थे। चीन की ओर से ऐसा संकेत मिल चुका था कि वह नागरिक विमान, ट्रक, मोटरें, बिजली के सामान तथा अन्य औद्योगिक माल अमरीका से खरीदना चाहता है।

4. **चीन-रूस संघर्ष**—चीन और रूस में न केवल मतभेद काफी उग्र हुए अपितु दोनों देशों की सेनाओं में कई बार मुठभेड़ें हो चुकी हैं। चीन को अपनी सीमाओं पर रूसी आक्रमण की आशंकाएँ बराबर बनी रहती हैं। अतः रूस का सामना करने के लिए चीन ने अमरीका से सामान्य सम्बन्ध स्थापित करना तर्कसंगत समझा।

5. **सोवियत विस्तारवाद को परिसीमित करने की आकांक्षा**—अमरीका और चीन दोनों ही सोवियत संघ के बढ़ते हुए प्रभाव और यश से चिन्तित थे। सोवियत संघ ने स्वयं को एक एशियाई देश कहना आरम्भ कर दिया था और वह एशिया की रिक्तता को भरने के लिए लालायित था। सोवियत संघ के प्रभाव को रोकने के लिए चीन ने अमरीका तथा दूसरे पश्चिमी देशों से मधुर सम्बन्ध बढ़ाने की आवश्यकता समझी।

6. **साम्यवादी जगत को विभाजित करने की कूटनीति**—जैसे-जैसे रूस-चीन सम्बन्ध तनावपूर्ण होते चले गये, अमरीका-चीन सम्बन्धों में सुधार का मार्ग प्रशस्त होता गया, क्योंकि सोवियत संघ इन दोनों के लिए चुनौती प्रस्तुत कर रहा था। अब तो स्थिति यह हो गयी है कि अमरीका चीन को 'पूर्व का नाटो' कहकर पुकारता है। अमरीकन राष्ट्रपति कार्टर ने यह स्वीकार करते हुए कहा कि—चीन की सुरक्षा का जिम्मा अमरीका पर नहीं तथा अमरीकी सुरक्षा की जिम्मेदारी चीन पर नही है, फिर भी एक सशक्त और सुरक्षित चीन अमरीका के हित में है। यह इस बात का संकेत है कि अमरीका चीन को एक महाशक्ति के रूप में विकसित होने के लिए हर सम्भव सहायता देता है तथा उसे रूस के मुकाबले में खड़ा करके साम्यवादी खेमे के देशों को आपसी मुठभेड़ में उलझाये रखना चाहता है।[1] इस सम्बन्ध में एम० वी० कामठ ने लिखा है कि "यह अमरीका के हित में होगा कि दो महान् साम्यवादी व्यक्तियों में तनाव बना रहे और वर्षों तक उसे बनाये रखा जाये।"[2]

संक्षेप में, चीन दक्षिण-पूर्वी एशिया में रूस के प्रभाव को रोकने के लिए अमरीका के साथ सहयोग करना अपने राष्ट्रीय हित की दृष्टि से अधिक उपयुक्त समझता है।

अमरीका की एशिया नीति : विश्लेषण—उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि जहाँ एक ओर चीन और अमरीका एशिया में सोवियत संघ के प्रभाव को काटने की कोशिश कर रहे हैं वहीं दूसरी ओर सोवियत संघ उनका प्रतिकार करने लगा है। यह भी उल्लेखनीय है कि अमरीका और रूस कभी नहीं चाहेंगे कि चीन एशिया का नेतृत्व करे। इस परिप्रेक्ष्य में अमरीकी विदेश नीति सोवियत

1 श्रीपाल जैन, अमरीका-चीन सम्बन्धों में नया मोड़, नवभारत टाइम्स।

2 "It will be in the interest of the U. S. A. that the tensions between the two great communist states is maintained and sustained over pears."
—M. V. Kamath : 'Changing Power Pattern', *The Times of India*, July 20. 1971.

संघ एवं साम्यवादी चीन दोनों का उपयोग एक-दूसरे के प्रभाव को रोकने के लिए करेगी तथा साथ में दोनों के साथ एक हद तक ठीक-ठीक सम्वन्ध बनाये रखेगी। इसे अमरीका की विशिष्ट उपलब्धि ही कहा जायेगा क्योंकि अब अमरीका अपना व्यापार मानव, आर्थिक और सैनिक खर्चे के द्वारा नहीं वल्कि विश्व राजनीति को त्रिकोणीय कूटनीति के द्वारा चलाने लगा है।

अमरीका की एशिया नीति में एक परिवर्तन उसके उद्देश्य प्राप्ति के साधन का हुआ है। पहले अमरीका को एशिया के भू-भाग पर सैनिक अड्डों की विशेप जरूरत पड़ती थी, किन्तु अब शस्त्रीय टेक्नॉलॉजी के विकास के कारण इसकी आवश्यकता कम हो गयी है। अमरीका पनडुब्बी से छोड़े जाने वाले प्रक्षेपास्त्रों—क्रूज और अन्तर-महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों के द्वारा सैनिक गतिविधियां स्थलीय सैनिक अड्डों की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक एवं प्रभावकारी ढंग से चला सकता है जिसमें वह अभी सक्रिय भी है। दूसरा परिवर्तन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप वदलने के कारण आया है। विगत में अमरीका मोटे तौर पर एशिया में साम्यवाद के विरोध पर जोर देता था किन्तु अव वह सोवियत संघ और चीन के बीच मतभेद का फायदा उठाकर एशिया में दोनों का प्रभाव एक-दूसरे के माध्यम से रोकने में लगा हुआ है। तीसरा परिवर्तन यह है कि पहले सोवियत संघ के साथ अमरीका ने एशियाई देशों के सम्बन्ध में हाथ नहीं मिलाया, किन्तु अब सोवियत-अमरीकी सहाधिकार के कुछ लक्षण नजर आ रहे हैं। दोनों महाशक्तियों का एशियाई देशों द्वारा आणविक शक्ति के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में कमोवेश समान रुख इस तथ्य को उजागर करता है।

एशिया में अमरीका की सैनिक उपस्थिति कम हो रही है, पर सिर्फ राजनीतिक और सामरिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं। आखिर अमरीका विश्व पूंजीवाद का गढ़ है और एक व्यापार को आचरणमूलक सिद्धान्त की मान्यता प्राप्त है। ऐसी हालत में अनेक निजी व्यावसायिक हित या वड़ी-वड़ी कम्पनियों के स्वार्थ अमरीकी राष्ट्रीय हितों के साथ जुड़ जाते हैं। अनेक बहुराष्ट्रीय निगम मूलतः अमरीकी स्वामित्व एवं नियन्त्रण वाली कम्पनियां हैं और इनके क्रियाकलाप गैर-सरकारी भले ही हों, उनका विश्लेषण एशियाई क्षेत्रों में अमरीकी उपस्थिति के अन्तर्गत ही किया जाना चाहिए।

संयुक्त राज्य अमरीका की लैटिन अमरीकी नीति
(THE U. S. POLICY TOWARDS LATIN AMERICA)

लैटिन अमरीकी देशों के प्रति संयुक्त राज्य अमरीका ने जिस नीति का अनुसरण किया है उसे सामान्यतः 'यान्की साम्राज्यवाद' और 'डॉलर कूटनीति' के नाम से पुकारा जाता है। इन नीति के विकास की विभिन्न मन्जिलें रही हैं और हर मन्जिल पर इस नीति को अलग-अलग नामों से पुकारा गया है।

इसकी पहली मन्जिल 19वीं शताब्दी में हमें मुनरो सिद्धान्त के रूप में दृष्टिगोचर होती है। 'मुनरो सिद्धान्त' का सहारा लेकर संयुक्त राज्य अमरीका ने इस क्षेत्र के देशों पर अपने राजनीतिक प्रभाव को स्थापित किया और उनका अनियन्त्रित रूप से विकास किया। 1823 में राष्ट्रपति मुनरो ने स्पष्ट कहा कि अमरीकी राज्यों के मामलों में किसी दूसरे के हस्तक्षेप को सहन नहीं किया जायेगा। राष्ट्रपति थियोडर रूजवेल्ट ने 'वड़ा डण्डा नीति' (Big Stick Policy) का प्रतिपादन किया। 1904 में उन्होंने स्पष्ट कहा कि मुनरो सिद्धान्त की उपेक्षा करने वाले राष्ट्रों के खिलाफ अमरीका अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस शक्ति की भूमिका अदा करेगा। रूजवेल्ट ने इसी आधार पर क्यूबा, डोमीनिकन रिपब्लिक, हैटी तथा निकारागुआ में हस्तक्षेप किया। तीसरी मन्जिल को 'डॉलर कूटनीति' के नाम से पुकारा जाता है जिसकी शुरुआत राष्ट्रपति टाफ्ट ने की थी। वुडरो विल्सन के समय अमरीकी भ्रातृत्व भावना का विकास हुआ और अच्छे पड़ोसी सम्बन्धों की सृष्टि हुई। चौथी मन्जिल की शुरूआत फ्रेंकलिन रूजवेल्ट के काल में 'अच्छे पड़ोसी की नीति' (Good Neighbour

Policy) से हुई। उनके राष्ट्रपतित्व काल में लैटिन अमरीका के राज्य हैटी पर से अमरीकी नियन्त्रण हटा लिया गया। राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने अच्छे साझीदार (Good Partner) की नीति प्रारम्भ की और लैटिन अमरीकी राज्यो को आर्थिक तकनीकी सहायता प्रदान की। राष्ट्रपति कैनेडी के काल में 'प्रगति के लिए मैत्री' (Alliance of Progress) नीति प्रारम्भ की गयी। इस नीति के अन्तर्गत लैटिन अमरीकी देशों के सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए काफी धन का प्रावधान किया। 1964 में राष्ट्रपति निक्सन ने 'समान साझीदारी (Equal Partnership) की नीति की शुरूआत की। इन नीति के अन्तर्गत यह कहा कि अब लैटिन अमरीकी देशों को जो आर्थिक सहायता दी जायेगी उसे कार्यान्वित करने के लिए 'अन्तर-अमरीकी अभिकरण' कायम किया जायेगा तथा अपने विकास कार्यक्रमों को स्वयं लैटिन अमरीकी देश निर्धारित करेंगे।

द्वितीय महायुद्ध के बाद लैटिन अमरीका में अमरीकी विदेश नीति के उद्देश्य रहे हैं : (i) पश्चिमी गोलार्द्ध में वाह्य हस्तक्षेप का निषेध; (ii) साम्यवाद का अवरोध; (iii) पश्चिमी गोलार्द्ध में अनन्य अमरीकी प्रभाव एवं प्रभुत्व; (iv) आर्थिक विकास के लिए पारस्परिक सहयोग करना। वस्तुत: ये उद्देश्य 'मुनरो सिद्धान्त', 'बड़ी छड़ी नीति' आदि से मिलते-जुलते हैं।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अमरीका ने 1947 में 'रिओ सन्धि' का निर्माण करवाया। यह प्रथम सामूहिक सुरक्षा सन्धि थी जिसमें पश्चिमी गोलार्द्ध की वाह्य आक्रमण से सुरक्षा के लिए व्यवस्था की गयी थी। बाद में, अमरीका की प्रेरणा से ही 1948 में ओ० ए० एस० (Organisation of American States) का निर्माण हुआ। ओ० ए० एस० के द्वारा अमरीका ने एक सैनिक गुट बनाने का प्रयत्न किया ताकि लैटिन अमरीकी देशों में अमरीका समर्थित सरकारें कायम रह सकें। 1951 में अमरीका ने इस संगठन की आड़ में ग्वाटेमाला में सैनिक हस्तक्षेप किया और अपनी पिछलग्गू सरकार बना दी। अमरीका ने 23 अप्रैल, 1954 को निकारागुआ तथा 20 मई, 1954 को हाण्डूरास के साथ सैनिक सहायता समझौता किया। 1959 में फिडेल कास्त्रो के नेतृत्व में क्यूबा में साम्यवादी क्रान्ति सम्पन्न हो गयी तो अमरीका ने डॉ० जोसो मीरो कार्डोना के नेतृत्व में प्रवासी सेना द्वारा पिग्स की खाड़ी (Bay of Pigs) पर आक्रमण करा दिया। जब रूस ने क्यूबा में मिसाइल अड्डे बनाये तो अमरीका ने इसका कड़ा विरोध किया और क्यूबा की नाकेबन्दी कर दी। 1965 में राष्ट्रपति जॉनसन ने साम्यवादी क्रान्ति का दमन करने के लिए डोमिनिकन रिपब्लिक में हस्तक्षेप किया। 1981 में वामपक्ष के खतरे की आड़ में रीगन प्रशासन ने अल-साल्वाडोर के गृहयुद्ध में एक पक्ष विशेष अर्थात् अल-साल्वाडोर की सैनिक सरकार को समर्थन देने का फैसला किया।

रीगन सरकार की मध्य अमरीकी और कैरिबियाई नीति इस धारणा पर आधारित थी कि समस्त लैटिन अमरीका उसके प्रभाव-क्षेत्र में है। अतएव इन इलाकों में अमरीका किसी भी बाहरी शक्ति के हस्तक्षेप या प्रभाव को बर्दाश्त नहीं करेगा।

इससे पूर्व कार्टर प्रशासन ने लैटिन अमरीकी देशों में अमरीका के प्रति सद्भाव उत्पन्न करने के लिए विशेष प्रयत्न किये। 7 सितम्बर, 1977 को पनामा नहर के सम्बन्ध में पनामा और अमरीका के मध्य हुई सन्धि ने पनामा के साथ अमरीका के एक प्राचीन विवाद को समाप्त कर दिया। राष्ट्रपति कार्टर ने स्वयं मार्च 1978 में वेनेजुएला और 1979 में मैक्सिको की यात्राएँ कीं। 1978 में रोजलिन कार्टर ने राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में जमैका, कोस्टारिका, इक्वाडोर, पेरू, ब्राजील, कोलम्बिया, वेनेजुएला आदि सात लैटिन अमरीकी देशों की यात्रा की।

रीगन सरकार मध्य अमरीका को साम्यवादी खतरे से बचाने के लिए यह जरूरी मानती है कि क्यूबा को इस इलाके में मनमानी करने की आजादी नहीं दी जाये। उसे बार-बार यह धमकी दी गयी कि यदि उसने निकारागुआ के जरिये साल्वाडोर और ग्वाटेमाला के छापेमारों को अस्त्र-

शस्त्र देना जारी रखा तो अमरीका मध्य अमरीकी सरकारों को एकता के सूत्र में बांधेगा और क्यूबा को अपनी हरकतों की कीमत चुकानी पड़ेगी। निकारागुआ की सांदीनिस्ता राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे की सरकार 19 जुलाई, 1979 की निकारागुआ क्रान्ति के समय से ही अमरीका की आंख की किरकिरी बनी हुई है। अमरीका लगातार इस कोशिश में है कि सांदीनिस्ता सरकार का तख्ता पलट दिया जाये। सन् 1984 में ग्रेनेडा में अमरीकी सैनिक हस्तक्षेप रूस-क्यूबा प्रभाव को समाप्त करने का ही एक अभियान माना जाता है। अमरीकी गुप्तचर संस्था सी० आई० ए० के माध्यम से अमरीका निकारागुआ के गृहयुद्ध से जुड़ा हुआ है और वहां की सरकार के विरुद्ध दक्षिणपन्थी विद्रोहियों की हर सम्भव सहायता कर रहा है। फाकलैण्ड के प्रश्न पर अमरीका ने ब्रिटेन का साथ दिया, जिसके परिणामस्वरूप लैटिन अमरीका के अधिकांश देश अब अमरीका पर कम भरोसा करने लगे हैं। दिसम्बर 1989 में राष्ट्रपति बुश ने पनामा में अमरीकी सैनिक बलों को भेजकर वहां के तानाशाह शासक नोरिएगा को सत्ताच्युत कर दिया।

संक्षेप में, लैटिन अमरीकी देश अमरीका को एक साम्राज्यवादी देश समझते हैं। वे उसे 'उत्तर का महादैत्य' (Colossus of the North) कहते हैं।

अमरीका की अफ्रीकी नीति
(THE AFRICAN POLICY OF THE UNITED STATES)

अफ्रीका में अमरीका की दिलचस्पी काफी पुरानी है। वह अफ्रीका के उपनिवेशी मालिकों से कच्चा माल खरीदता था। अमरीका ब्रिटेन, फ्रांस आदि औपनिवेशिक शक्तियों का मित्र था अतः अब अफ्रीका में उसे एक औपनिवेशिक पूंजीवादी शक्ति के रूप में जाना जाता है। दक्षिण अफ्रीका तथा श्वेत लोगों का समर्थक होने के कारण अफ्रीकी नेता अमरीकी जोड़-तोड़ से दूर रहना चाहते हैं। अमरीका ने अफ्रीकी राज्यों के आपसी विवादों में भी हस्तक्षेप किया है। उसने सोमालिया को सहायता देकर उससे इथियोपिया पर आक्रमण कराया; अंगोला के गृह-युद्ध में उसने एफ० एन० एल० ए० का समर्थन किया। अमरीका ने रोडेशिया तथा दक्षिणी अफ्रीका की रंगभेद समर्थक सरकारों का समर्थन किया तथा 30 अक्टूबर, 1974 को संयुक्त राष्ट्र संघ से दक्षिणी अफ्रीका को निष्कापित करने के प्रस्ताव पर 'वीटो' का प्रयोग किया। इन सबसे अमरीका की पहचान अब अफ्रीका में आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप तथा रंगभेद का समर्थन करने वाले राष्ट्र के रूप में होने लगी है।

अमरीकी विदेश नीति का मूल्यांकन
(THE U.S. FOREIGN POLICY : AN ESTIMATE)

प्रसिद्ध अमरीकी राजनयिक जार्ज केनन ने बार-बार कहा था कि "अमरीकी विदेश नीति घड़ी के पेंडुलम की भांति एकान्तवास एवं हस्तक्षेप के दो छोरों पर झूलती है।" यह बात एशिया, लैटिन अमरीका, अफ्रीका और यहां तक कि यूरोप में अमरीकी नीति पर अच्छी तरह लागू होती है। वैसे अमरीका की विदेश नीति अधिकांश देशों को या तो अधीनस्थ बनाने या उसका प्रभाव रोकने की रही है जबकि आदर्श स्थिति समायोजन की होनी चाहिए।

द्वितीय महायुद्ध के बाद अमरीकी विदेश नीति की उग्रता से शीतयुद्ध का वातावरण बना। अमरीका ने आर्थिक और सैनिक सहायता के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से अपने साम्राज्यवादी पंजे को फैलाया। लैटिन अमरीका, दक्षिण-पूर्वी एशिया और मध्य एशिया अमरीकी साम्राज्य विस्तार के प्रमुख क्षेत्र रहे हैं। हिन्दचीन, कम्बोडिया, वियतनाम, अरब-इजराइल, पाकिस्तान आदि में अपनायी गयी अमरीकन नीति इस साम्राज्यवादी लालसा का द्योतक है।

आज एक ओर अमरीका सोवियत संघ के साथ मैत्री की स्थापना के लिए प्रयत्नशील है ताकि तनाव-शैथिल्य हो सके तो दूसरी ओर चीन और जापान के साथ सोवियत संघ के विरुद्ध

गठबन्धन करने की दिशा में प्रयत्नशील है ताकि सोवियत सैनिक चुनौती का मुकाबला किया जा सके। किसी भी स्थिति में अमरीका विश्व की एक महाशक्ति के रूप में अपनी प्रतिष्ठा को बनाये रखना चाहता है।

अमरीकी विदेश नीति में उपनिवेशवाद विरोधी तत्वों को कभी भी स्थान नहीं दिया गया। लैटिन अमरीकी देशों और सुदूरपूर्व में अमरीका ने हमेशा से अपनी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं को पूरा करने का प्रयास किया। अमरीकी द्वि-पक्षीय विदेशी आर्थिक सहायता अभी भी अधिकतर एशियाई-लैटिन अमरीकी देशों को औद्योगिक विकास के लिए नहीं दी जाती बल्कि उसके द्वारा मनचाही दिशा में विकास हेतु दी जाती है जो अमरीका का हित सम्वर्द्धन अधिक करती है और प्राप्तकर्ता देश का कम। संसार के अनेक देशों में अमरीका ने अपने सैनिक अड्डे स्थापित किये। अनेक देशों के साथ उसने असमान व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये जिससे उसे उनकी आर्थिक व्यवस्था को अपने नियन्त्रण में रखने का अधिकार प्राप्त हो गया। पश्चिमी एशिया के तेल को अपने अधिकार में लेने के लिए उसने वहाँ की राजनीति में हस्तक्षेप किया। साम्यवाद को रोकने के नाम पर उसने वियतनाम पर अत्याचार किये। लैटिन अमरीका को वह अपनी जागीर समझने लगा। अमरीकी विदेश नीति की असफलता का इससे बढ़कर दूसरा प्रमाण क्या हो सकता है कि सर्वत्र उसे 'नव-उपनिवेशवाद' का प्रतीक समझा जाने लगा है। चीन से उसे विनम्रतापूर्वक मैत्री का हाथ बढ़ाना पड़ा, वियतनाम से बदनाम होकर निकलना पड़ा, पाकिस्तान को शस्त्र देकर भारत की नाराजगी मोल लेनी पड़ी, ईरान ने अमरीकी राजनयिकों को 444 दिन तक बन्दी (बन्धक) बनाये रखा, अफगानिस्तान सोवियत संघ के प्रभाव क्षेत्र में चला गया, कम्पूचिया साम्यवादी बन गया, नाटो में दरारें पड़ने लगीं और उसके पुराने साथी भी उसकी नीति से ऊबकर अमरीकी चंगुल से निकलने का प्रयास करने लगे। रीगन प्रशासन की नीति ने पुनः नव-शीत-युद्ध एवं शस्त्रास्त्रों की होड़ को जन्म दिया। रीगन की 'स्टार वार' योजना दुनिया को आतंकित करने लगी। ग्रेनेडा पर नृशस आक्रमण पड़ोसी लैटिन अमरीकी मित्रों को चौंकाता है। निकारागुआ और अल-साल्वाडोर के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप अमरीकी छवि को कलंकित करता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक बार पुनः अस्थिरता का वातावरण उत्पन्न हो गया है…।

एक अध्ययन के अनुसार इस शताब्दी के अन्त तक पश्चिमी यूरोप के देशों और अमरीका में काफी अलगाव एवं मतभेद उत्पन्न हो जायेंगे। अतः अमरीका को बाध्य होकर शान्तिकाल में भी लामबन्दी करनी होगी। यह रिपोर्ट सामरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन के लिए जार्ज टाउन विश्वविद्यालय के केन्द्र ने अमरीकी सेना के लिए तैयार की है।

रिपोर्ट में विचार व्यक्त किया गया है कि पश्चिमी देशों में जनता तटस्थ रहने के लिए दबाव पैदा करेगी। नाटो सैन्य संगठन में अमरीका के नेतृत्व को लेकर भी निराश पैदा होगी। इन सब कारणों से स्वयं नाटो की समाप्ति भले न शुरू हो, परन्तु नाटो के पीछे जो भावना है वह अवश्य समाप्त होने लगेगी। वैसे भी यह बात स्पष्ट होती जा रही है कि अधिकांश पश्चिमी यूरोपीय देश अमरीका के अन्ध समर्थक नहीं हैं। यहाँ तक कि एक ओर ब्रिटेन ने अमरीका की इजराइली नीति का समर्थन नहीं किया और दूसरी ओर फाकलैण्ड को लेकर अमरीका की राय की उपेक्षा की। यूरोप में नाटो अड्डों पर परशिंग मिसायलों के रखने पर भी नाटो राज्यों में सर्वसम्मति नहीं है। साइबेरियन तेल पाइप लाइन के निर्माण को लेकर तो नाटो सदस्यों ने अमरीका की परवाह करने से इन्कार कर दिया।

संक्षेप में, संयुक्त राज्य अमरीका की नीति को आलोचकों ने नवीन साम्यवाद कहा है, जिसके अन्तर्गत वह आर्थिक सहायता और सैनिक सन्धियों के नाम पर अपना प्रभुत्व थोपने का प्रयास कर रहा है।

प्रश्न

1. अमरीकी विदेश नीति की वर्तमान प्रवृत्तियों का विश्लेषण कीजिए।
Analyse the modern trends of American foreign policy.
2. "युद्धोत्तर परिस्थितियाँ अमरीका के साम्राज्यवादी दुनिया के सन्तरी (काजी) बनने की महत्वकांक्षा रखती हैं।"
उक्त वक्तव्य के प्रकाश में युद्धोत्तर काल के प्रथम दो दशकों में अमरीका की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
"Under post-war conditions the imperialists of the U.S.A. aspire to the role of the world gendarme."
Assess the role played by America in the light of the above statement during the early two decades of post-war period.
3. अमरीका की विदेश नीति के मुख्य सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।
Discuss the main principles of American foreign policy.
4. 1969 से चीन-संयुक्त राज्य अमरीकी सम्बन्धों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
Critically examine Sino-American (United States of America) relations since 1969.
5. 1969 से संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश नीति का मूल्यांकन कीजिए।
Give an assessment of the United States of America's foreign policy since 1969.
6. सन् 1949 के बाद में संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश नीति के प्रमुख सिद्धान्तों का परीक्षण कीजिए।
Examine the main principles of the foreign policy of the U.S.A. since 1949.
7. द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एशिया के प्रति अमरीका की वैदेशिक नीति का परीक्षण कीजिए।
Examine the foreign policy of America towards Asia in the post-second world war period.
8. पिछले दो दशकों में दक्षिण एशिया में अमरीकी भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
Evaluate the American role in South Asia during the last two decades.
9. संयुक्त राज्य अमरीका और जनवादी चीनी गणराज्य के पारस्परिक सम्बन्धों की नूतन प्रवृत्तियों का संक्षिप्त परीक्षण कीजिए।
Examine briefly the recent trends in relations between the United States of America and the People's Republic of China.
10. निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :
(i) ट्रूमैन सिद्धान्त, (ii) मार्शल योजना, (iii) आइजनहॉवर सिद्धान्त।
Write short notes on the following :
(i) Truman Doctrine,
(ii) Marshall plan,
(iii) Eisenhower Doctrine.

22

सोवियत संघ की विदेश नीति

[THE FOREIGN POLICY OF THE U.S.S.R.]

सोवियत विदेश नीति के संवैधानिक आधार
(CONSTITUTIONAL BASIS OF THE SOVIET FOREIGN POLICY)

1977 के संविधान में सोवियत संघ के इतिहास में पहली बार एक अलग अध्याय जोड़ा गया है, जिसमें सोवियत संघ की विदेश नीति की चर्चा की गयी है। अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में सोवियत राज्य की भागीदारी के संवैधानिक नियम की परम्परा तो सोवियत सत्ता के पहल के कदमों के साथ ही आरम्भ हुई थी, किन्तु इससे पहले कभी भी मूलभूत कानून में नियमन इतना व्यापक नहीं था। इसका कारण यह है कि पिछले दशकों में सोवियत संघ की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में भारी परिवर्तन आये हैं, विश्व राजनीति में सोवियत राज्य की भूमिका बढ़ गयी है, साथ ही समाज के विकास में घरेलू और विदेशी कारक परस्पर सम्बन्धित हैं।

इतिहास का अनुभाग पूरी तरह से इस मार्क्सवादी प्रस्थापना की अभिपुष्टि करता है कि गृह नीति ही विदेश नीति के रूप में जारी रहती है और विकसित होती है। साथ ही आजकल समाज के विकास पर विदेश नीति से सम्बन्धित कारकों का प्रभाव बहुत बढ़ गया है। गृह और विदेश नीति का परस्पर सम्बन्ध अधिक गहरा हो गया है। इसके अलावा स्वयं विदेश नीति की अवधारणा भी अधिक व्यापक हो गयी है। केवल राजनीति के क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि अर्थव्यवस्था, संस्कृति, विज्ञान, शिक्षा, क्रीड़ा आदि, क्षेत्रों में राज्यों के बीच सम्बन्ध भी इसमें आते हैं।

विदेश नीति का उल्लेख करने वाले संविधान के अध्यायों के अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में सोवियत राज्य के अनुभवों का सामान्यीकरण किया गया है, इसके मूलभूत सिद्धान्तों की निरन्तरता को कायम रखा गया है। सुविदित है कि महान् अक्टूबर समाजवादी क्रान्ति के अगले दिन ही शान्ति के बारे में आज्ञप्ति जारी की गयी थी, जिसके अन्त में यह आह्वान था कि "शान्ति के ध्येय को पूरा करे।" रूसी जनतन्त्र के 1918 के संविधान में यह प्रस्तावना शामिल की गयी थी कि सोवियत सत्ता हर हालत में पराये क्षेत्रों के समामेलनों और हरजानों के बिना, "राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के आधार पर मेहनतकशों की जनवादी शान्ति की प्राप्ति की नीति पर अमल करेगी।" तब से शान्ति शब्द सोवियत विदेश नीति का प्रतीक बन गया है।

नये संविधान में इतिहास के अनुभवों और परम्पराओं की नयी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को ध्यान में रखते हुए विकसित किया गया है। नयी स्थिति के लिए निम्न तथ्य लाक्षणिक हैं : शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति को लागू करने में सफलताएँ, अन्तर्राष्ट्रीय तनाव-शैथिल्य की उपलब्धियाँ, औपनिवेशिक दासता से मुक्त होकर अपनी राजनीतिक एवं आर्थिक आत्म-निर्भरता के

सुदृढ़ीकरण के मार्ग पर विकासमान देशों का उद्‌भव तथा सबसे महत्वपूर्ण, विश्व समाजवादी व्यवस्था का गठन।

लेनिन ने सोवियत विदेश नीति के जो सैद्धान्तिक आधार निरूपित किये थे, उनमें सोवियत राज्य के विकास की साठ वर्ष से अधिक अवधि में कोई परिवर्तन नहीं आया है। शान्ति के बारे में आज्ञप्ति से लेकर समसामयिक पहलकदमियों तथा सोवियत राज्य की विदेश नीति में प्रमुख दिशाओं की निरन्तरता अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की सबसे जटिल और उग्र समस्याओं के हल में सोवियत संघ का रुख निर्धारित करने में सैद्धान्तिक महत्व रखती है।

नये संविधान के अध्याय 4 में सोवियत विदेश नीति के उद्देश्यों और दिशाओं की काफी विस्तार से व्याख्या की गयी है। इसमें कहा गया है कि यह नीति सोवियत संघ में कम्युनिज्म के निर्माण के लिए अनुकूल अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ सुनिश्चित करने, सोवियत संघ के राजकीय हितों की हिफाजत करने, विश्व समाजवाद की स्थिति सुदृढ़ करने तथा राष्ट्रीय और सामाजिक प्रगति के लिए जनगण के संघर्ष का समर्थन करने की ओर लक्षित है। इस प्रकार क्रान्तिकारी उपलब्धियाँ, सोवियत समाज के विकास के हितों की रक्षा के साथ सोवियत जनता के अन्तर्राष्ट्रीयतावादी कर्तव्य का सम्बन्ध बड़ी स्पष्टता से और आश्वस्तकारी ढंग से दिखाया गया है।

संविधान में कहा गया है, "सोवियत संघ अविचल रूप से शान्ति की लेनिनवादी नीति का पालन करता है और राष्ट्रों की सुरक्षा एवं व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का समर्थन करता है।" (अनुच्छेद 28)। इस प्रकार सोवियत विदेश नीति के प्रमुख सिद्धान्त को—सारे संसार में शान्ति के लिए अथक और सक्रिय संघर्ष—अब संवैधानिक दर्जा मिल गया है। इससे शान्ति की नीति का पालन करने में सभी राजकीय निकायों और सार्वजनिक संगठनों का उत्तरदायित्व बढ़ गया है।

नये संविधान में विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं वाले देशों के बीच शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को और आगे विकसित किया गया है। अनुच्छेद 28 में कहा गया है कि सोवियत विदेश नीति "आक्रामक युद्धों को रोकने, सार्विक और पूर्ण निरस्त्रीकरण करवाने और विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं वाले राज्यों के शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को अविचल रूप से कार्यान्वित करने की ओर लक्षित है।" यह सिद्धान्त सदा से सोवियत संघ की विदेश नीति का प्रस्थान बिन्दु रहा है। यह उस वैज्ञानिक अवधारणा का मूर्त रूप है जिस पर सोवियत राज्य की स्थापना के पहले दिन से ही पूँजीवादी देशों के आन्तरिक मामलों में किसी भी तरह के हस्तक्षेप का सख्त विरोध किया। प्रत्येक जनगण, प्रत्येक देश द्वारा विकास का अपना मार्ग चुनने के उनके अधिकार का आदर लेनिनवादी विदेश नीति का अविचल सिद्धान्त बन गया है।

सोवियत संघ के विकास के विभिन्न क्षेत्रों में शान्ति में उसकी हितबद्धता प्रत्यक्षतः प्रकट होती है। उदाहरणतः, वर्तमान सामाजिक-आर्थिक पंचवर्षीय योजना के लिए अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक जीवन में गहरी भागीदारी लाक्षणिक है। सोवियत संघ विदेश व्यापार में सक्रिय है, दूसरे देशों के साथ विज्ञान और प्रविधि के क्षेत्र में सम्बन्ध निरन्तर विकसित कर रहा है, पर्यावरणीय सुरक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाहियों में भाग ले रहा है, संस्कृति, शिक्षा और क्रीड़ा के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क सुदृढ़ कर रहा है।

नये संविधान में युद्ध के प्रचार को वर्जित घोषित किया गया है। यहाँ हम पाठकों को यह याद दिलाना चाहेंगे कि सोवियत कानून पहले भी किसी भी रूप में युद्ध के प्रचार को अपराध मानता है। 1975 में हेलसिंकी में हुए, यूरोपीय सुरक्षा एवं सहयोग सम्मेलन के अन्तिम दस्तावेज में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के जो दस सिद्धान्त निर्धारित किये गये हैं, वे सब 1977 के संविधान में प्रतिबिम्बित हुए हैं।

सोवियत राज्य के विदेशनीतिक कार्यकलापों में विकासशील देशों के साथ सम्बन्धों की

ओर बहुत ध्यान दिया जाता है। सोवियत संघ अपनी राष्ट्रीय और सामाजिक मुक्ति के लिए, राजनीतिक स्वाधीनता के सुदृढ़ीकरण तथा आर्थिक निर्भरता की प्राप्ति के लिए संघर्षरत जनगण का दृढ़तापूर्वक समर्थन करता है। विकासशील देशों के साथ सोवियत संघ के सम्बन्ध पूर्ण समानाधिकार सम्प्रभुता के प्रति आदर और परस्पर लाभ पर आधारित हैं।

संविधान के अनुसार अन्य समाजवादी देशों के साथ सोवियत संघ के सम्बन्धों का प्रस्थान विन्दु समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीयतावाद है। इस सिद्धान्त के आधार पर ही आजकल समाजवादी विरादराना देशों के बीच अन्तर-राजकीय सम्बन्ध वनते है। अनुच्छेद 30 में कहा गया है : "विश्व समाजवादी समुदाय के एक संघटक अंग के रूप में सोवियत संघ अन्य समाजवादी देशों के साथ समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के सिद्धान्त के आधार पर मैत्री, सहयोग और साथीवत् पारस्परिक सहायता को बढ़ावा देता है और उन्हें सुदृढ़ बनाता हे तथा आर्थिक एकीकरण और अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी श्रम-विभाजन में सक्रिय भाग लेता है।

सोवियत संघ और दूसरे समाजवादी देशों की आर्थिक योजनाओं में समाजवादी आर्थिक एकीकरण के सर्वांगीण कार्यक्रम की भूमिका बढ़ रही है। यह कार्यक्रम 20 वर्ष के लिए है। समाजवादी देशों का सामूहिक-आर्थिक संगठन है, **परस्पर आर्थिक सहायता परिषद्** यह सम्प्रभु समानता के सिद्धान्त पर गठित है। परिषद् की सदस्यता का सम्बन्धित देशों के दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में भागीदारी तथा उनके द्वारा की गयी सन्धियों से उद्भूत अधिकारों और दायित्वों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। परिषद् के सदस्य देश अपनी आर्थिक और व्यापार नीति में पूरी तरह से आत्म-निर्भर हैं। यह परिषद् कोई राष्ट्रोपरि संगठन नहीं है। इसके परामर्श और निर्णय सदस्य देशों की सरकारों तथा उनके अन्य अधिकाधिक निकायों के निर्णयों पर ही लागू किये जाते है और ये परामर्श भी इन देशों के प्रतिनिधियों द्वारा स्वीकार होते है, न कि इन देशों के स्वतन्त्र व्यक्तियों द्वारा।

द्वितीय महायुद्धोत्तर सोवियत विदेश नीति
(THE POST SECOND WORLD WAR SOVIET FOREIGN POLICY)

द्वितीय महायुद्धोत्तर सोवियत विदेश नीति को मोटे रूप में दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :

1. स्टालिन काल की सोवियत विदेश नीति (1945–1953)।
2. शान्तिपूर्ण प्रतियोगिता का स्टालिनोत्तर युग (1953–1990)।

1. स्टालिन काल की सोवियत विदेश नीति
(THE STALIN PERIOD AND ITS FOREIGN POLICY)

स्टालिनकाल की सोवियत विदेश नीति को मोटे तौर पर दो काल खण्डों में बाँटा जा सकता है। इनमें से पहला काल खण्ड 1923 से 1945 तक का है जिसे अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से द्वितीय विश्व युद्ध के काल में सोवियत संघ की अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका के रूप में देखा जा सकता है। दूसरा कालखण्ड, शीतयुद्ध के उद्भव 1945 से 1953 तक का है। इन दोनों कालखण्डों के बारे में एक वात समान रूप से लागू होती है। स्टालिन अपने को लेनिन का एकमात्र जायज उत्तराधिकारी समझते थे और उनके राजनयिक विश्लेपण में एक खास तरह की सैद्धान्तिक कट्टरता देखने को मिलती है। इसके अतिरिक्त उनके काल मे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति व विदेश नीति के क्षेत्र में 'शक्ति के यथार्थ' (Reality of Power) को ही सर्वोपरि समझा जाता रहा।

स्टालिन के पास लेनिन के समान विश्लेषणात्मक मेधा नहीं थी और न ही व्यापक इतिहास दर्शन। इस कारण सोवियत संघ के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को परिष्कृत या जटिल ढंग से परिभाषित करने की क्षमता स्टालिन में नहीं थी। फिर भी ऐसा नहीं था कि सोवियत विदेश नीति

का अवमूल्यन हुआ हो। इशाक दोयशर जैसे विद्वानों का मानना है कि स्टालिन स्वयं को सिर्फ लेनिन का ही नहीं, बल्कि पुराने महान् जारों का उत्तराधिकारी भी समझते थे और सोवियत संघ की भौगोलिक अखण्डता को अक्षत रखने तथा उसकी सामरिक शक्ति को बढ़ाने के लिए निरन्तर कृत संकल्प रहे।

1945 से 1953 की कालावधि में सोवियत विदेश नीति के प्रणेता मार्शल स्टालिन थे। उसकी पश्चिम के विरुद्ध उग्र एवं कठोर नीति के कारण शीत-युद्ध उसकी मृत्यु तक अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। दूसरा मोर्चा खोलने में विलम्ब, अणुवम की गोपनीयता आदि बातें जिनके कारण शीत-युद्ध शुरू हुआ, को लेकर पश्चिम के साथ युद्ध-काल से ही मनमुटाव पैदा होने लगा। युद्ध समाप्त होने पर सोवियत संघ की स्थिति कई दृष्टियों से पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी थी। पश्चिम में उसकी लाल सेनाएँ मध्य यूरोप तक के प्रदेश पर अधिकार किये बैठी थीं। पश्चिम और पूर्व में उसके दो बड़े शत्रु जर्मनी और जापान नष्ट हो गये थे। पश्चिमी यूरोप की आर्थिक दुर्दशा के कारण जनता में बड़ा असन्तोष था। सरकारें अस्थिर थीं, इनमें साम्यवाद के प्रसार की बड़ी सम्भावना थी, एशिया और अफ्रीका में यूरोपियन साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रबल विद्रोह तथा तीव्र असन्तोष था। ब्रिटिश, फ्रेंच और डच साम्राज्य क्षीण एवं विकासोन्मुख थे। रूसी साम्यवाद के प्रबल विरोधी पश्चिमी पूँजीवादी राष्ट्र से विध्वस्त, आर्थिक दृष्टि से अस्त-व्यस्त और घरेलू समस्याओं के कारण दुर्बल हो चुके थे। सोवियत संघ के लिए अपना प्रभाव बढ़ाने का और साम्यवाद को विश्वव्यापी बनाने का स्वर्ण अवसर था। मोलोतोव ने 6 नवम्बर, 1947 को स्पष्ट कहा था, "हम ऐसे युग में रह रहे हैं जिसमें सब सड़कें साम्यवाद की ओर ले जाने वाली हैं।" स्टालिन का विचार था कि इस समय पश्चिमी देशों पर डाला गया प्रबल दबाव साम्यवाद के प्रसार में सहायक होगा। अतः इस समय उसने सर्वत्र उग्र, आक्रमणात्मक, अग्रगामी नीति का अनुसरण किया। स्टालिन की विदेश नीति के मुख्य उद्देश्य थे : राष्ट्रीय एकता एवं सुदृढ़ता, सोवियत संघ की शक्ति का विस्तार, साम्यवाद का प्रसार और पश्चिम पर अविश्वास। पामर एवं पर्किन्स के शब्दों में, "पश्चिम के प्रति उत्तरोत्तर शत्रुता, निरन्तर बढ़ते हुए असहयोग और अलगाव, सोवियत प्रभाव क्षेत्र के दृढ़ीकरण और सामान्य दुराग्रह की नीति थी।"

स्टालिन काल की सोवियत विदेश नीति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित थीं :

1. **विश्व में साम्यवादी क्रान्ति का प्रसार**—मार्क्सवाद के मौलिक सिद्धान्त हैं : समूची दुनिया में साम्यवादी सिद्धान्त का प्रसार करना, पूँजीवादी का उन्मूलन करना तथा साम्यवादी व्यवस्था कायम करना। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद स्टालिन के नेतृत्व में सोवियत संघ को इन मौलिक सिद्धान्तों को कार्यान्वित करना था। युद्धोत्तर विश्व राजनीति उसके अनुकूल थी—युद्धकाल में वह यूरोप के मध्य तक पहुँच गया था, जर्मनी और जापान जैसे शक्तिशाली राज्य विश्व राजनीति के रंच-मंच से गायब हो गये थे, युद्ध के कारण पश्चिमी यूरोप बर्बाद हो चुका था। इस हालात में सोवियत संघ के लिए अपना प्रभाव बढ़ाने तथा साम्यवाद के विश्वव्यापी प्रचार के लिए स्वर्ण अवसर था। स्टालिन का विचार था कि इस समय पश्चिमी देशों पर प्रबल दबाव डालकर विश्व साम्यवाद का प्रसार किया जा सकता है। अतः उसने अपने प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाने के लिए हर जगह भीषण दबाव डालना शुरू किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्टालिन ने विदेशी राज्यों में सोवियत समर्थक आन्दोलनों को प्रोत्साहित करने तथा विरोधी राष्ट्रों की आपसी फूट से लाभ उठाने की नीति को अपनाया। तुर्की-ईरान और यूनान के प्रति सोवियत नीति, बर्लिन का घेरा, कोरिया युद्ध में साम्यवादी पक्ष का समर्थन, अमरीका के साथ तीव्र शीत-युद्ध आदि घटनाएँ इसी पृष्ठाधार में समझी जा सकती हैं। स्टालिन

की नीति के फलस्वरूप शीत-युद्ध काफी उग्र हो गया। इसका प्रभाव अमरीका की नीति पर पड़ा। साम्यवादी प्रसार को रोकने के लिए उसने हर सम्भव उपाय किये।

2. **पूर्वी यूरोप में सोवियत प्रभाव की स्थापना**—द्वितीय विश्वयुद्ध में नाजी आक्रमण से बुरी तरह विध्वस्त होने के कारण सोवियत संघ अपने पश्चिमी सीमान्त को इस तरह सुदृढ़ बनाना चाहता था कि भविष्य में ऐसी घटना की पुनरावृत्ति न हो सके। इसके लिए आवश्यक था कि वह पूर्वी यूरोप में अधिक-से-अधिक प्रदेश प्राप्त करे और अपनी सीमाओं से लगने वाले राज्यों में अपने अनुकूल साम्यवादी सरकारें स्थापित करे। इसके लिए उसे अपनी लाल सेना से बड़ी सहायता मिली। अस्थायी रूप से लाल सेना ने युद्ध के समय मध्य और पूर्वी यूरोप के बड़े भाग पर अधिकार कर लिया था, अब शनैः-शनैः इन इन सीमाओं को स्थायी बना दिया गया। 1939 से सोवियत संघ ने अपने क्षेत्रफल में 27 करोड़ 40 लाख वर्ग मील की वृद्धि की। अपनी सीमा पर उसने 36 करोड़ वर्ग मील क्षेत्र में मास्को के सात पृष्ठ-पोषक राज्य—पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, हंगरी, अल्बानिया, बल्गारिया और रूमानिया स्थापित किये। पूर्वी जर्मनी भी उसके संरक्षण में था। यूगोस्लाविया कुछ समय तक सोवियत गुट में रहने के बाद टीटो-स्टालिन मतभेद के कारण जून 1958 में इनसे पृथक् हो गया। इनसे सोवियत यूनियन को न केवल पश्चिमी सीमा की सुरक्षा प्राप्त हुई है, अपितु इन देशों की आर्थिक साधन-सम्पत्ति भी मिली।

3. **पश्चिम का विरोध और शीत-युद्ध की उग्रता**—स्टालिन पश्चिमी राष्ट्रों को सन्देह व अविश्वास की दृष्टि से देखता था। वह साम्यवादी शिशु की हिटलर से हत्या करवाने में पश्चिमी साजिश को नहीं भूला था। इसके अलावा अनेक युद्धकालीन अनुभव, जैसे जर्मनी के विरुद्ध दूसरा मोर्चा खोलने में पश्चिमी राष्ट्रों को टालमटोल करना, अमरीका द्वारा अणुबम का रहस्य गुप्त रखना आदि उसके दिमाग में थे। वह जानता था कि पश्चिमी राष्ट्र हृदय से सोवियत संघ की प्रगति नहीं चाहते हैं और येन-केन-प्रकारेण साम्यवादी क्रान्ति को असफल बनाने पर तुले हुए हैं। अतः उसने महायुद्ध के बाद पश्चिम के प्रति कठोर नीति अपनायी। पश्चिम के साथ सोवियत संघ के सम्बन्ध लगभग समाप्त हो गये। पश्चिमी राजदूतों के सोवियत संघ में घूमने-फिरने पर रोक लगा दी गयी। विदेशी-पत्रों के कुछ प्रतिनिधि ही मास्को में रह सकते थे, उनकी गतिविधियों पर कड़ा नियन्त्रण था।

रूस की दृष्टि में ट्रूमैन सिद्धान्त, मार्शल योजना, बर्लिन के घेरे के समय दी गयी हवाई सहायता, जापान और जर्मनी का पुनः शस्त्रीकरण, शूमैन तथा प्लेवन योजनाएँ, कोरिया का युद्ध—ये सब रूस के प्रति पश्चिम के घोर विरोध और उस शत्रुता के प्रमाण थे। इनके कारण वह उसके प्रति अत्यन्त सन्देहशील हो गया। अतएव वह पश्चिम की प्रत्येक कार्यवाही और गतिविधि का विरोध करने लगा, दोनों में शीत-युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गयी।

4. **लौह आवरण की नीति**—द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त स्टालिन ने 'लौह आवरण' (Iron Curtain) की नीति अपनायी ताकि साम्यवादी जगत् को सभी प्रकार के पाश्चात्य प्रभावों से मुक्त रखा जा सके। अमरीका और उसके पश्चिमी मित्र राष्ट्रों ने साम्यवादी देशों के इर्द-गिर्द अज्ञात रेडियो स्टेशन स्थापित करके साम्यवाद के विरुद्ध जहरीला प्रचार शुरू कर दिया। इन रेडियो स्टेशनों के नाम 'आजाद हंगरी रेडियो', 'आजाद पोलैण्ड रेडियो' आदि रखे गये। स्टालिन समझ गया कि पश्चिमी देश साम्यवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकना चाहते हैं। अतः उसने पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों और रूस के चारों ओर कठोर प्रतिबन्धों की ऐसी व्यवस्था की कि उसके भीतर अमरीका एवं अन्य पश्चिमी राष्ट्रों का प्रचार प्रवेश न कर सके। स्टालिन ने निर्णय कर लिया कि वह रूस और पूर्वी यूरोप के साम्यवादी जगत को गैर-साम्यवादी देशों के सम्पर्क से पृथक् रखेगा। 1945 से ही ऐसे कानून बनाये जाने लगे जिनसे बाह्य जगत के साथ रूसियों का

सम्पर्क रुक जाये। युद्ध के समय आये विदेशी सैनिकों के साथ अनेक रूसी स्त्रियों ने विवाह किया था, अव इन पर अपने पतियों के साथ विदेश जाने पर प्रतिवन्ध लगा दिया गया। मोलोतोव ने इसका कारण स्पष्ट करते हुए कहा, "स्त्रियाँ बहुत अधिक वात करती हैं" और रूसी स्त्रियों का कर्तव्य "सोवियत सरकार के लिए सन्तान उत्पन्न करना है न कि विदेशी सरकारों के लिए।" इसी प्रकार के अन्य कानून द्वारा विदेशियों के साथ सोवियत नागरिकों के विवाहों को निषिद्ध वना दिया गया। जो सोवियत राजदूत पर्याप्त समय तक दूसरे देशों में रहते हुए विदेशियों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्वन्ध वना लेता था उसे वापस वुलाकर अन्य कार्यों में लगा लिया जाता था। मास्को स्थित विदेशी राजदूतों को सोवियत यूनियन में स्वतन्त्र रूप से घूमने-फिरने की स्वतन्त्रता नहीं थी। गैर-साम्यवादी देशों के व्यक्तियों को रूस आने की आज्ञा वहुत कम दी जाती थी। स्टालिन स्वयं न तो किसी से मिलता-जुलता था और न अधिक बातें करता था। युद्ध की समाप्ति के वाद से अपनी मृत्यु तक उसने भारतीय राजदूत डॉ० राधाकृष्णन के अतिरिक्त किसी राजदूत से मुलाकात नहीं की। सोवियत संघ की इस नीति और व्यवस्था को चर्चिल ने लौह आवरण या लोहे के परदे (Iron Curtain) की संज्ञा दी।

5. **शान्तिवादी आन्दोलन**—आणविक आयुधों तथा अणुबमों के आतंक से पीड़ित मानवता के परित्राण के लिए सोवियत संघ ने शान्ति आन्दोलन पर बहुत वल दिया और पूँजीवादी पश्चिम को युद्ध-लोलुप (War-Monger) कहकर उन्हें वदनाम करना शुरू किया। सोवियत संघ की प्रेरणा पर 1950 में स्टॉकहोम में शिश्व-शान्ति सम्मेलन की वैठक हुई जिसमें आणविक आयुधों पर विना शर्त प्रतिवन्ध लगाने की अपील की गयी। अपील में कहा गया : "हम इस वात की माँग करते हैं कि मानव जाति के सामूहिक उन्मूलन और आतंक के अस्त्र के रूप में आणविक आयुधों पर विना शर्त प्रतिवन्ध लगाना चाहिए। हम इसकी माँग करते हैं कि इस पर कठोर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण स्थापित किया जाये। हम उस सरकार को युद्ध अपराधी समझेंगे जो किसी देश के विरुद्ध इस शस्त्र का प्रयोग करने में पहल करेगी।"

प्रचार की दृष्टि से यह आन्दोलन बड़ा सफल और लोकप्रिय सिद्ध हुआ है। इस अपील पर कुछ समय के भीतर 50 करोड़ व्यक्तियों के हस्ताक्षर कराये गये। 1948 में पोलैण्ड के व्रोत्स्लाफ नामक नगर में बुद्धिजीवियों का पहला शान्ति सम्मेलन वुलाया गया और इसके बाद अगले वर्ष पेरिस, प्राग, लन्दन, मास्को, मैक्सिको में ऐसे अनेक सम्मेलन हुए तथा 'विश्व-शान्ति समिति' की स्थापना हुई। शान्ति आन्दोलन ने एशिया और अफ्रीका की विशाल जनसंख्या को वहुत प्रभावित किया। वे साम्यवाद की ओर आकर्षित हुए तथा सोवियत संघ को पश्चिम की अपेक्षा अधिक शान्तिप्रिय और उपनिवेशवाद विरोधी मानने लगे। पश्चिमी देशों का यह कहना था कि रूस का शान्तिवादी आन्दोलन निरा ढोंग है और वह तटस्थ गैर-कम्युनिस्ट देशों को अपनी ओर आकृष्ट करने की चातुर्यपूर्ण कूटनीतिक चाल है।

6. **साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का विरोध**—स्टालिन ने एशिया और अफ्रीका में पराधीन राष्ट्रों के स्वतन्त्रता आन्दोलन का समर्थन किया और साम्राज्यवाद की निन्दा की। पश्चिमी राष्ट्रों का रवैया ऐसा रहा कि एशिया और अफ्रीका की जनता को यह महसूस हुआ कि ये राष्ट्र अप्रत्यक्ष रूप से उपनिवेशवाद का समर्थन कर रहे हैं।

7. **संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति सोवियत नीति**—स्टालिन के नेतृत्व में सोवियत संघ ने संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माण में सक्रिय भाग लिया। संयुक्त राष्ट्र संघ इसी विश्वास पर आधारित था कि महाशक्तियाँ आपस में सहयोगी रुख अपनायेंगी परन्तु कुछ ही समय उपरान्त वह शीत-युद्ध का मंच वन गया। लगभग प्रत्येक समस्या पर दोनों गुट दो विरोधी दृष्टिकोण लेकर संघ के मंच पर

उपस्थित हुए । संयुक्त राष्ट्र संघ में पश्चिमी शक्तियों और उनके समर्थकों का स्पष्ट बहुमत था । ऐसी स्थिति में अपनी इच्छा के प्रतिकूल होने वाले निर्णयों को रोकने के लिए सोवियत संघ के पास निषेधाधिकार (Veto) का खुलकर प्रयोग करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था । कोरिया युद्ध के समय अल्पकाल के लिए सोवियत संघ ने संयुक्त राष्ट्र संघ की बैठकों का बहिष्कार किया, जो उसके लिए घाटे का सौदा सिद्ध हुआ । इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि सोवियत संघ ने सुरक्षा परिषद् में अपने निषेधाधिकार (Veto) के प्रयोग से पश्चिम के अनेक अन्यायपूर्ण प्रस्तावों को, जिनमें कश्मीर प्रस्ताव भी शामिल है, धराशायी किया ।

8. **निर्गुट राष्ट्रों के प्रति अविश्वास एवं अमैत्रीपूर्ण व्यवहार**—स्टालिन विश्व में केवल साम्यवादी और पूंजीवादी दो गुटों के अस्तित्व को ही स्वीकार करता था । गुट-निरपेक्ष देशों को वह न केवल घृणा की दृष्टि से देखता था बल्कि उन्हें पश्चिमी देशों का पिछलग्गू और अपना विरोधी मानता था । नेहरू, नासिर और सुकर्ण जैसे नेताओं को स्टालिन साम्राज्यवादियों का पिट्ठू समझता था ।

स्टालिन की विदेश नीति का मूल्यांकन (Critical Estimate of Stalin's Foreign Policy)—स्टालिन ने उग्र, अग्रगामी, गतिशील, पश्चिम के साथ उग्र विरोध एवं लौह आवरण की नीति अपनायी । इस नीति का अनुसरण करने पर (i) पूर्वी यूरोप में सोवियत प्रभुता की तथा रूस के पक्षपाती राज्यों की स्थापना हुई; (ii) यूनान के गृह-युद्ध में कम्युनिस्टों की सहायता की गयी; (iii) टर्की पर बास्फोरस और दर्रे दानियाल के जलडमरूमध्यों के सम्बन्ध में मांत्र का समझौता बदलने के लिए दबाव डाला गया । वस्तुतः सोवियत संघ के राष्ट्रीय हितों, सीमाओं की सुरक्षा और साम्यवाद के विस्तार के रूप में इसका मूल्यांकन किया जाये तो यह नीति पूर्णतः सफल थी । स्टालिन की नीति ने सोवियत संघ की पश्चिमी सीमाओं को हमेशा के लिए सुरक्षित कर दिया । उसने अणुशक्ति पर अमरीकी एकाधिकार को समाप्त कर दिया बल्कि सोवियत सैनिक शक्ति का भी अत्यधिक विस्तार कर दिया ।

इन उपलब्धियों के बावजूद स्टालिन विदेश नीति के दुष्परिणाम कई क्षेत्रों में भली-भाँति प्रकट हो गये । **प्रथम,** स्टालिन की आक्रामक नीति से पश्चिमी शक्तियाँ सशंकित हो उठीं और उन्होंने ट्रूमैन सिद्धान्त, मार्शल योजना, नाटो की स्थापना आदि के द्वारा प्रभावशाली रूप से सोवियत विस्तार को रोक दिया । **द्वितीय,** अपनी हठधर्मिता के कारण स्टालिन एशिया और अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों की, अपने को दोनों शक्ति गुटों के प्रभाव से बचाने की इच्छा और नीति को नहीं समझ सका और उन्हें साम्यवाद का शत्रु मानने लगा । इससे उसने एक बड़ी सीमा तक इन राष्ट्रों का समर्थन खो दिया । **तृतीय,** स्वयं साम्यवादी गुट में उसकी अहंकारपूर्ण नीति ने काफी क्षोभ उत्पन्न कर दिया । जब यूगोस्लाविया में मार्शल टीटो ने सोवियत संघ का अन्धानुकरण करने से इन्कार कर दिया तब स्टालिन की कठोर नीति से राष्ट्रवादी साम्यवाद (National Communism) की प्रवृत्तियों को अन्य साम्यवादी देशों में और भी अधिक समर्थन प्राप्त होने लगा । **चतुर्थ,** स्टालिन की लौह आवरण की नीति से अन्य देशों में भी सोवियत संघ के प्रति सन्देह और अविश्वास का वातावरण पनपने लगा । **पंचम,** पश्चिम के प्रति विरोध की नीति ने शीत-युद्ध (Cold War) को जन्म दिया जिसने विश्व को आज तक तनाव और सन्देह के वातावरण में रहने के लिए बाध्य किया है ।

संक्षेप में, स्टालिन की नीति न केवल विश्व क्रान्ति के लिए अन्य देशों में अनुकूल वातावरण बनाने में असमर्थ रही, किन्तु इसने इसके लिए प्रतिकूल और विरोधी वातावरण उत्पन्न किया । जार्ज एफ० केनन के शब्दों में, "सन् 1952 तक सोवियत विदेश नीति 'अनुर्वर हो गयी थी' और सन् 1953 में स्टालिन के उत्तराधिकारियों के लिए उसमें परिवर्तन करना अनिवार्य हो गया ।"

पामर और पर्किन्स के शब्दों में, "युद्धोत्तर सोवियत विदेश नीति कम-से-कम 8 वर्ष—1953 तक पश्चिम के प्रति बढ़ती हुई शत्रुता, असहयोग और अलगाव की ओर बढ़ती हुई प्रवृत्तियों, सोवियत प्रभाव क्षेत्र के दृढ़ीकरण तथा सामान्य हठधर्मिता की विशेषताओं से युक्त रही है।"[1]

2. शान्तिपूर्ण प्रतियोगिता का स्टालिनोत्तर युग (1953–1990)
(POST STALIN PERIOD AND ITS FOREIGN POLICY)

स्टालिन काल की सोवियत विदेश नीति को छः भागों में बाँटा जा सकता है :

(1) मैलन्कोव सरकार की विदेश नीति (1953–55)
(2) ख्रुश्चेव काल की सोवियत विदेश नीति (1955–64)
(3) ब्रेझनेव-कोसीगिन काल की विदेश नीति (1964–82)
(4) आन्द्रोपोव की विदेश नीति (1982–84)
(5) चेरेनेंको काल की विदेश नीति (1984–85)
(6) गोर्बाच्योव काल की विदेश नीति (1985–90)

1. मैलन्कोव सरकार की विदेश नीति (1953–55)

5 मार्च, 1953 को स्टालिन की मृत्यु हो गयी। 24 घण्टे के भीतर ही मैलन्कोव ने सोवियत संघ के प्रधानमन्त्री और साम्यवादी दल के प्रधान सचिव का पद सँभाल लिया। बेरिया, मोलोतोव, बुल्गानिन तथा कागनोविच उप-प्रधानमन्त्री बनाये गये और इस प्रकार सोवियत संघ के शासन में 'एक व्यक्ति के अधिनायकत्व के स्थान पर 'सामूहिक नेतृत्व' की स्थापना हुई।' इसके बाद ख्रुश्चेव को साम्यवादी दल का प्रधान सचिव नियुक्त किया गया।

जिस समय स्टालिन की मृत्यु हुई थी सोवियत विदेश नीति प्रभावहीन अवस्था (stagnant) या दलदल में फँसी हुई थी, क्योंकि यूरोप और एशिया में अनेक स्थानों पर विफलता का मुँह देखना पड़ा था। विश्व के अन्य राष्ट्रों के साथ सोवियत संघ के सम्बन्ध मात्र औपचारिक थे। ऐसी स्थिति में सोवियत नीति को यथार्थवादी बनाने की अत्यन्त आवश्यकता थी। मैलन्कोव सरकार ने सोवियत विदेश नीति के लक्ष्य तो वे ही रखे जो स्टालिन ने निर्धारित किये थे, लेकिन उन्हें प्राप्त करने की पद्धति में परिवर्तन कर दिया। मैलेन्कोव की विदेश नीति के प्रमुख बिन्दु इस प्रकार हैं : (i) सोवियत सरकार ने तुर्की के क्षेत्र में अपने प्रादेशिक दावों को वापस ले लिया; (ii) स्ट्रेट्स की समस्या के प्रति नया रुख अपनाया; (iii) चीनी नेताओं से मिलकर कोरिया की समस्या के समाधान के लिए अपने रवैये में आमूल-चूल परिवर्तन किया, परिणामस्वरूप शीघ्र ही कोरिया में युद्ध विराम सम्भव हो सका; (iv) 8 अगस्त, 1953 को मैलन्कोव ने सुप्रीम सोवियत में विदेशी नीति पर बोलते हुए कहा कि "अब सोवियत संघ दुनिया से पृथक् नहीं है; (v) मैलेन्कोव और उसके साथियों ने विदेश नीति के मामलों में स्टालिन से एक महत्वपूर्ण सबक सीखा था कि "एक समय में किसी एक क्षेत्र पर ही अपना सम्पूर्ण ध्यान और शक्ति लगानी चाहिए।" मैलन्कोव सरकार ने अपना ध्यान सुदूर-पूर्व में लगाया; जिसका परिणाम यह हुआ कि दुनिया के नक्शे में 1954 में एक नये साम्यवादी राज्य—उत्तर वियतनाम का जन्म हुआ। (vi) मैलन्कोव युग में संयुक्त राज्य अमरीका के प्रति सोवियत नीति में कोई परिवर्तन नहीं आया, लेकिन कुछ गैर-साम्यवादी राष्ट्रों जैसे, ईरान, तुर्की, अफगानिस्तान और भारत के प्रति सोवियत संघ के रुख में नरमी आयी।

1 "For at least eight years—Until 1953—post war Soviet foreign policy was characterised by growing hostility to the west, by increasing tendencies toward non-co-operrtion and isolation by consolidation of the soviet orbit and by general intransigence."
—Palmar and Perkins, '*Internatioual Relations*' (Second edition), p. 659.

2. खु़श्चेव काल की सोवियत विदेश नीति (1955-64)

प्रधानमन्त्री के रूप में मैलन्कोव के दिन सीमित थे। अर्थ और गृह नीति को लेकर साम्यवादी दल के प्रधान खु़श्चेव के साथ उनके मतभेद हो गये। परिणामस्वरूप 16 फरवरी, 1955 को उसने पदमुक्त होने की इच्छा व्यक्त की, जिसे सुप्रीम सोवयत ने मंजूर कर लिया। मार्शल बुलागिन को उनके स्थान पर सोवियत संघ का नया प्रधानमन्त्री नियुक्त कर दिया गया। 1957 के बाद स्वयं खु़श्चेव सोवियत प्रधानमन्त्री बन गये और अक्टूबर 1964 तक इस पर बने रहे।

14 फरवरी 1956 को सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की कांग्रेस का 20वाँ अधिवेशन शुरू हुआ। खु़श्चेव ने बीसवीं कांग्रेस के अपने ऐतिहासिक भाषण में इस बात पर बल दिया कि दुनिया में साम्यवाद लाने के लिए 'युद्ध' के अतिरिक्त और भी कई मार्ग हैं। उसने मार्क्स के सिद्धान्तों की पुनर्व्याख्या की और उन्हें 'आणविक युग' की वास्तविकताओं के अनुकूल बनाया। बीसवीं कांग्रेस में उसने खुले शब्दों में घोषणा की कि 'युद्ध' इस युग में मार्क्सवाद का मूल सिद्धान्त नहीं होना चाहिए। समाज में परिवर्तन लाने के लिए अब हिंसा की आवश्यकता नहीं है। बीसवीं कांग्रेस में खु़श्चेव का सबसे क्रान्तिकारी कदम स्टालिन की व्यक्ति-पूजा (Personality Cult) और उसकी दमन नीति की भर्त्सना करना था। निस्टालिनीकरण की नीति के विश्वव्यापी परिणाम हुए। सारा विश्व नये सिरे से सोवियत संघ के विषय में सोचने को विवश हो गया। खु़श्चेव ने 18 अप्रैल, 1956 को 'कॉमिन फार्म' को भंग कर दिया, अणु परीक्षण स्थगित कर दिये और संयुक्त राष्ट्र में अणु आयुधों पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग की जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण सुधरा और युद्ध में नरमी आयी।

खु़श्चेव युग में सोवियत विदेश नीति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

1. **लौह आवरण की शिथिलता एवं यात्राओं की कूटनीति**—स्टालिन ने 'पश्चिमी देशों के साम्यवाद विरोधी विषैले प्रचार से साम्यवादी देशों को दूर रखने के लिए 'लौह आवरण' की नीति अपनायी थी। खु़श्चेव युग में इस 'लौह आवरण' की नीति का परित्याग कर दिया गया और विदेशों के साथ सम्पर्क बढ़ाने के उद्देश्य से विदेशों में अनेक सांस्कृतिक और संसदीय शिष्टमण्डल भेजे जाने लगे और विदेशों के शिष्टमण्डलों को सोवियत संघ में आमन्त्रित किया जाने लगा।

स्टालिन बाह्य देशों के साथ सम्पर्क का विरोधी था, वह सम्भवतः केवल एक बार तेहरान सम्मेलन के समय अपने देश से बाहर गया था और युद्ध सम्मेलनों में ही उसकी भेंट चर्चिल तथा रूजवेल्ट से हुई थी। किन्तु अब सोवियत संघ के नये नेताओं ने दूसरे देशों का सद्भाव और मैत्री प्राप्त करने के लिए इनकी यात्रा आरम्भ की, दूसरे देशों के नेताओं को अपने यहाँ आने का निमन्त्रण दिया। जून 1959 में भारतीय प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू रूस गये और वहाँ उनका भव्य स्वागत किया गया। 20 जून से 5 जुलाई, 1960 तक भारत के राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने रूस की यात्रा की। नेहरू के निमन्त्रण पर सोवियत प्रधानमन्त्री बुलगानिन और साम्यवादी दल के महामन्त्री खु़श्चेव नवम्बर-दिसम्बर 1955 में भारत आये। 1956 में दोनों नेता ब्रिटेन गये। 1959 के आरम्भ में सोवियत उप-प्रधानमन्त्री श्री मिकोयन ने 5 दिन तक अपने प्रबल विरोधी समझे जाने वाले संयुक्त राज्य अमरीका की यात्रा की। मिकोयन ने दोनों देशों में व्यापार की वृद्धि पर बल देते हुए 'शीत-युद्ध' के स्थान पर 'शान्तिपूर्ण प्रतियोगिता' (Peaceful Competition) पर बल दिया। 15-28 सितम्बर, 1959 तक सोवियत प्रधानमन्त्री खु़श्चेव ने संयुक्त राज्य अमरीका की यात्रा की। वे एक महीने तक अमरीका के विविध स्थानों का भ्रमण करते रहे। कैम्प डेविड स्थान पर उन्होंने राष्ट्रपति आइजनहॉवर से विचार-विमर्श किया। फरवरी-मार्च 1960 में खु़श्चेव ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के विभिन्न देशों—भारत, बर्मा, इण्डोनेशिया, अफगानिस्तान की यात्रा की।

इसके अतिरिक्त, विदेशियों को भी सोवियत संघ में भ्रमण और सोवियत लोगों को विदेश

यात्रा पर जाने सम्बन्धी नियन्त्रण को भी लचीला बना दिया। सोवियत संघ की लौह आवरण की नीति में शिथिलता और यात्राओं की कूटनीति की शुरूआत के कारण दोनों महाशक्तियाँ एक-दूसरे के निकट आने लगीं जिसके कारण दोनों पक्षों के बीच शीत-युद्ध में कमी आयी।

2. **शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण हल**—ख्रुश्चेव नीति की एक अन्य विशेषता शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की रही है, जिसके अनुसार पश्चिमी देशों के प्रति उदार, मृदु और उन्मुक्त नीति अपनायी गयी, समस्याओं का शान्तिपूर्ण समाधान खोजने का प्रयास किया गया और दोनों महाशक्तियों के मध्य 'शान्तिपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा' पर जोर दिया जाने लगा। इसके विपरीत, स्टालिन की नीति से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गतिरोध उत्पन्न हो गया था, क्योंकि दोनों पक्ष विवादास्पद विषयों में तनिक भी झुकने या समझौता करने को तैयार नहीं थे। ख्रुश्चेव ने स्पष्ट कहा कि : "ऐसा कोई विवाद नहीं है जिसे शान्तिपूर्वक हल नहीं किया जा सकता हो। यह सिद्धान्त संयुक्त राज्य अमरीका सहित विश्व के सब देशों के सम्बन्ध में समान रूप से लागू होता है।" 15 मई, 1956 को बुलगानिन ने कहा : "शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व कोई कोरा सिद्धान्त नहीं है अपितु वह एक जीवित यथार्थ है। वह सोवियत संघ, यूरोप तथा एशिया के बहुत-से देशों की वैदेशिक नीति का मूल तत्व है और ऐसा भी होना चाहिए क्योंकि आज की परिस्थितियों में दूसरा मार्ग नहीं है। हमारे सामने केवल दो ही मार्ग हैं : शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व अथवा इतिहास का सबसे अधिक विनाशकारी युद्ध। इनके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। इसलिए समस्त जनगण चाहे वे समाजवादी परिस्थितियों में रहते हों अथवा पूँजीवादी परिस्थितियों में, यह आकांक्षा है कि सह-अस्तित्व को स्थायी एवं स्थिर बनाया जाये।"

शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति के कारण विदेश नीति में एक प्रकार का लचीलापन आ गया। इस नीति के कारण अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का शान्तिपूर्ण ढंग से समाधान खोजने का प्रयास किया गया : (i) जुलाई 1953 में कोरिया युद्ध बन्द हो गया; (ii) 1954 में हिन्दचीन के सम्बन्ध में समझौता हुआ जिसके फलस्वरूप वियतनाम में युद्धविराम हो गया; (iii) सोवियत संघ ने यूनान, यूगोस्लाविया तथा इजरायल के साथ दौत्य सम्बन्धों को पुनः स्थापित किया; (iv) 15 मई, 1955 को आस्ट्रिया के साथ सन्धि की गयी; (v) 15 जून, 1955 को सोवियत संघ ने कालासागरीय जलडमरूमध्य में टर्की के विरुद्ध अपने दावों को त्याग दिया; (vi) 18–23 जुलाई, 1955 को अमरीका, सोवियत संघ, ब्रिटेन और फ्रांस के शासनाध्यक्षों का जिनेवा में एक शिखर सम्मेलन आयोजित हुआ जिसमें हिन्दचीन के प्रश्न का शान्तिपूर्ण समाधान किया गया, (vii) दिसम्बर 1955 में संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता के सम्बन्ध में 'पैकेज डील' (Package Deal) हुआ, इससे 16 नये राज्यों को संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त हो गयी; (viii) 1956 में कॉमिन फार्म को समाप्त कर दिया गया; (ix) 1963 में वाशिंगटन-मास्को के मध्य 'हॉट लाइन' की स्थापना की गयी; (xi) 1963 में आंशिक परमाणु निषेध सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये।

यह सच है कि ख्रुश्चेव ने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व पर काफी बल दिया था, किन्तु फिर भी कभी-कभी इस काल में भी सोवियत संघ ने पश्चिम के साथ दृढ़ता और शक्ति का रुख अपनाया। उदाहरणार्थ, जून 1952 में पूर्वी बर्लिन के विद्रोह का दमन दृढ़ता से किया गया, स्वेज संकट के समय (1956) इजराइल के विरुद्ध मिस्र का समर्थन किया गया; 1956 में हंगरी के विद्रोह को सख्ती से कुचल दिया गया; 1960 में यू-2 विमान काण्ड ने पेरिस शिखर सम्मेलन को असफल कर दिया तथा 1962 में क्यूबा संकट ने दोनों शक्तियों के बीच संघर्ष की स्थिति को विषम बना दिया और ऐसा प्रतीत होने लगा कि तीसरे विश्वयुद्ध की ज्वाला कभी भी भड़क सकती है।

3. **अल्प-विकसित देशों को आर्थिक सहायता**—सोवियत संघ ने ख्रुश्चेव युग में अल्प-विकसित देशों को आर्थिक, तकनीकी और सैनिक सहायता देने की नीति अपनायी जो आज तक

सोवियत विदेश नीति का एक प्रमुख अंग बनी हुई है। स्टालिन युग में सोवियत संघ ने अल्प-विकसित देशों को विकसित करने की अपेक्षा उनमें साम्यवाद के प्रयास और तोड़-फोड़ का सिद्धान्त अपनाया था। परन्तु ख़ुश्चेव ने अल्प-विकसित देशों के आर्थिक विकास पर बल दिया। इसके परिणामस्वरूप जनवरी 1954 से जनवरी 1963 तक अमरीका और सोवियत संघ के मध्य अल्प-विकसित राष्ट्रों को आर्थिक सहायता देने की एक प्रतियोगिता-सी प्रारम्भ हो गयी। ख़ुश्चेव काल में भारत, बर्मा, इण्डोनेशिया, मिस्र, नेपाल, अफगानिस्तान आदि कई देशों को आर्थिक और प्राविधिक सहायता दी गयी। भारत में भिलाई व बोकारो इस्पात कारखाने, राजस्थान में सूरतगढ़ का कृषि फार्म, हैदराबाद और ऋषिकेश में स्थापित ऐण्टी-बायोटिक कारखाने, राँची स्थित भारी मशीन उद्योग आदि सोवियत सहायता के नमूने हैं। सोवियत वैज्ञानिक भारत में तेल के अनुसन्धान कार्य में लगे। 1956 में बर्मा को सोवियत संघ ने तीन करोड़ रूबल, एक प्राविधिक संस्था, एक चिकित्सालय, एक होटल तथा स्टेडियम बनाने के लिए दिये। सोवियत सहायता तथा अमरीकी सहायता में एक बड़ा अन्तर था। उदाहरणार्थ, 1963 में जब श्रीलंका की सरकार ने कुछ उद्योगों का, जिसमें अमरीकी पूँजी भी सम्मिलित थी, राष्ट्रीयकरण कर दिया तो अमरीकी सरकार ने श्रीलंका को सहायता देना बन्द कर दिया लेकिन सोवियत संघ बिना किसी शर्त के सहायता देता रहा।

4. **उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का विरोध**—साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद से पीड़ित एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के राज्यों के प्रति ख़ुश्चेव ने न केवल सहानुभूति दिखायी, अपितु संयुक्त राष्ट्र संघ अन्दर व बाहर साम्राज्यवाद की कटु निन्दा की। मुक्ति आन्दोलनों को राजनीतिक समर्थन प्रदान किया और उन्हें समय पर आर्थिक व सैनिक सहायता प्रदान की। इससे उसे दोहरा लाभ हुआ—एक तो साम्राज्यवाद से पीड़ित करोड़ों एशिया और अफ्रीका-वासियों की सहानुभूति प्राप्त हुई तथा दूसरी तरफ इन देशों में साम्राज्यवाद को लोकप्रिय बनाने में सहायता मिली।

5. **यूगोस्लाविया के साथ सम्बन्धों का सामान्यीकरण**—स्टालिन और टीटो के विवाद ने साम्यवाद को खण्डित कर दिया था। ख़ुश्चेव ने इस विवाद को समाप्त करने का प्रयत्न किया। मई 1955 में ख़ुश्चेव और बुल्गानिन ने यूगोस्लाविया की यात्रा की और यूगोस्लाविया से मित्रता एवं समझौते को नवीन प्रस्ताव प्रस्तुत किये।

6. **निर्गुट राष्ट्रों के प्रति स्नेहपूर्ण सद्व्यवहार**—स्टालिन निर्गुट राष्ट्रों के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करता था वह उन्हें 'पश्चिम के पिछलग्गू' कहता था। ख़ुश्चेव ने न केवल निर्गुट राष्ट्रों के महत्व को स्वीकार किया अपितु उनके साथ मृदु नीति अपनायी। ख़ुश्चेव ने ही भारत-रूस मैत्री को पुख्ता किया और कश्मीर के प्रश्न पर संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत का साथ दिया। इसी प्रकार स्वेज संकट के समय मिस्र का रूस ने साथ दिया। निर्गुट विश्व को अपनी ओर आकर्षित करने में सोवियत संघ को काफी सफलता प्राप्त हुई।

ख़ुश्चेव का पतन : उसकी नीति का मूल्यांकन

16 अक्टूबर, 1964 को ख़ुश्चेव को अपदस्थ कर दिया गया। ख़ुश्चेव के त्यागपत्र के मूल में सोवियत साम्यवादी पार्टी द्वारा ख़ुश्चेव पर लगाये गये 20 आरोप थे। इनमें रूस और चीन के बीच सैद्धान्तिक मतभेद को बढ़ाने, क्यूबा में प्रक्षेपास्त्र भेजने और बाद में उन्हें वापस मँगाने की गलती करने, आर्थिक सहयोग के पूर्व यूरोपीय संगठन (COMECOM) के काम को बिगाड़ने, मिस्र के राष्ट्रपति नासिर को अपने साथियों की सलाह के बगैर 'सोवियत संघ के वीर' का खिताब देने, कृषि क्षेत्र में अव्यवस्था फैलाने, अपनी व्यक्ति-पूजा को प्रोत्साहित करने……आदि के आरोप मुख्य थे।

लेकिन फिर भी ख्रुश्चेव की विदेश नीति का समग्र मूल्यांकन करने के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि युद्धोत्तर वर्षों में सोवियत संघ को जो लोकप्रियता प्राप्त हुई, उसमें सर्वाधिक योगदान ख्रुश्चेव का ही है। वह जानता था कि विदेशों में तोड़-फोड़ के कार्यों को प्रोत्साहित करने के लिए आर्थिक सहायता देने की स्टालिन की नीति द्वारा रूस को उतने लाभ प्राप्त नहीं हो सकते जितने उसी धनराशि को विकास कार्यों के लिए सहायता के रूप में देकर प्राप्त किये जा सकते हैं। उसके काल में चीन के साथ सोवियत संघ के सम्बन्ध में अवश्य गिरावट आयी, परन्तु उसके लिए ख्रुश्चेव को उत्तरदायी मानना अनुचित है। ख्रुश्चेव के स्थान पर चाहे कोई भी व्यक्ति होता उस काल में रूस-चीन सम्बन्धों का बिगड़ना सुनिश्चित था क्योंकि कोई भी रूसी सम्पूर्ण साम्यवादी जगत के नेतृत्व की लालसा और अधिकार को छोड़ नहीं सकता था। 'क्यूबा' में ख्रुश्चेव का निर्णय 'विश्व-शान्ति' की भावना से प्रेरित था। अतः किसी भी दृष्टि से ख्रुश्चेव की विदेश नीति को असफल नहीं कहा जा सकता है। ख्रुश्चेव के बाद ब्रेझनेव-कोसीगिन ने भी ख्रुश्चेववादी सह-अस्तित्व और शान्ति की नीति का ही अनुसरण किया है।

3. ब्रेझनेव-कोसीगिन काल की विदेश नीति (1964–82)

अक्टूबर 1964 में ख्रुश्चेव के पतन के बाद सोवियत संघ का नेतृत्व दो व्यक्तियों कोसीगिन और ब्रेझनेव के हाथों में आया। नये नेताओं ने यह घोषणा की कि वे ख्रुश्चेव की विदेश नीति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं करेंगे। नये नेताओं ने ख्रुश्चेववादी नीति अपनाते हुए शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त पर चलने का आश्वासन दिया। पर ब्रेझनेव-कोसीगिन ने सोवियत कूटनीति को कुछ नयी दिशाएँ भी दीं। इस काल में सोवियत विदेश नीति का अध्ययन निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर किया जा सकता है :

1. **ताशकन्द की घोषणा : सोवियत कूटनीति के नूतन क्षितिज**—सितम्बर 1965 में भारत और पाकिस्तान के कश्मीर के झगड़े को लेकर युद्ध शुरू हुआ और देखते-देखते इस युद्ध ने भयंकर रूप धारण कर लिया। ऐसी हालत में सोवियत संघ को भय था कि एशिया में दो पड़ौसी देशों के युद्ध में अमरीक एवं ब्रिटेन का साम्राज्यवादी गुट तथा चीन दोनों नाजायज फायदा उठाने की कोशिश करेंगे। ऐसी स्थिति में सोवियत प्रधानमन्त्री कोसीगिन ने पाकिस्तान के अय्यूब खाँ तथा भारत के प्रधानमन्त्री लालबहादुर शास्त्री को पत्र लिखकर उनसे अनुरोध किया कि वे तत्काल युद्ध बन्द करें। सोवियत प्रधानमन्त्री ने अपने पत्र में यह भी कहा कि दोनों पक्ष यदि समझौता वार्ता करने को तैयार हैं तो सोवियत संघ अपनी भूमि पर शान्तिपूर्ण वातावरण में बातचीत करने के लिए सुविधा प्रदान करने के लिए तैयार है। सोवियत संघ का यह सुझाव सोवियत राजनय का क्रान्तिकारी कदम था। अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान में सोवियत संघ ने मध्यस्थता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया था, लेकिन दो राष्ट्रों के बीच मध्यस्थ बनकर उनके आपसी झगड़ो को सुलझाने के सोवियत प्रस्ताव ने संसार को स्तब्ध कर दिया। 10 जनवरी, 1966 को राष्ट्रपति अय्यूब खाँ तथा प्रधानमन्त्री लालबहादुर शास्त्री ने कोसीगिन की उपस्थिति में एक समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये। ताशकन्द वार्ता की सफलता केवल प्रधानमन्त्री कोसीगिन की सफलता ही नहीं, वरन् पिछले कुछ वर्षों में सोवियत राजनय की सबसे महती सफलता थी।

2. **पाकिस्तान के प्रति नया दृष्टिकोण**—सोवियत विरोधी सैनिक गुटों का सदस्य होने के कारण प्रारम्भ में सोवियत संघ पाकिस्तान से नाराज था। ख्रुश्चेव के बाद सोवियत संघ और पाकिस्तान के सम्बन्धों में सुधार होने लगा। इस सुधार के लक्षण 1965 में प्रकट हुए जब पाकिस्तान के राष्ट्रपति और विदेश मन्त्री ने सोवियत संघ की यात्रा की तथा दोनों देशों के बीच अनेक व्यापारिक, आर्थिक और राजनीतिक समझौते हुए। सोवियत संघ की इस नीति में परि-

वर्तन आने का कारण सम्भवत: पाकिस्तान की चीन से बढ़ती हुई मैत्री थी। कश्मीर के विवाद में ख्रुश्चेव खुले रूप से भारत के साथ था, लेकिन 1965 के भारत-पाकिस्तान संघर्ष और बाद में ताशकन्द सम्मेलन के समय सोवियत संघ ने भारत और पाकिस्तान को समान स्तर पर माना पकिस्तान की तरफ सोवियत नीति में मैत्रीपूर्ण रुख अपनाये जाने के मूल में यह उद्देश्य निहित प्रतीत होता था कि पाकिस्तान को अपना मित्र बनाकर वह उस पर चीन और अमरीका के निरन्तर बढ़ते हुए प्रभाव पर अंकुश लगाना चाहता था। अप्रैल 1968 में प्रधानमन्त्री कोसीगिन ने पाकिस्तान की यात्रा की। जुलाई 1968 में सोवियत संघ ने पाकिस्तान को फौजी सहायता देने का निर्णय किया।

3. **अरब-इजराइल युद्ध और सोवियत संघ**—जून 1967 के अरब-इजराइल संघर्ष में सोवियत संघ ने अरब राज्यों का खुलकर समर्थन किया और उसका रुख निश्चय ही इजराइल विरोधी रहा जबकि इजराइल की स्थापना के समय सोवियत संघ ने उसे समर्थन प्रदान किया था। राजनयिक स्तर पर सोवियत संघ ने इजराइल के खिलाफ एकदम कड़ा रुख अपनाया। सोवियत सरकार ने इजराइल को चेतावनी दी कि यदि वह युद्ध बन्द नहीं करता है तो इजराइल की आर्थिक नाकेबन्दी की जायेगी। सोवियत संघ ने इजराइल के साथ अपना दौत्य सम्बन्ध तोड़ लिया। 1973 के अरब-इजराइल संघर्ष में भी सोवियत संघ शुरू से ही अरब राज्यों को मदद दे रहा था। सोवियत संघ ने बड़े पैमाने पर विमानों से सीरिया और मिस्र को हथियार भेजना शुरू किया। संक्षेप में, 1967 के अरब-इजराइल संघर्ष में और उसके बाद सोवियत संघ ने अरबों को पूरा-पूरा कूटनीतिक समर्थन और भारी मात्रा में सैनिक सहायता प्रदान की। इससे मध्यपूर्व के अरब राष्ट्र उसे इजराइल के विरुद्ध अपना संरक्षक मानने लगे।

4. **चैकोस्लोवाकिया में सोवियत हस्तक्षेप**—1967 के मध्य से चैकोस्लोवाकिया के जीवन में कुछ नयी प्रवृत्तियों का समावेश होने लगा और उदारवाद धीरे-धीरे जड़ पकड़ने लगा। जनवरी 1968 में डूबचेक नोवोत्नी के स्थान पर चैक साम्यवादी दल के महामन्त्री बने। पार्टी के इस नये नेतृत्व ने समाजवादी लोकतन्त्रीकरण के सिद्धान्त को अपनाया और उदारवाद का समर्थन किया। सोवियत संघ ने इस अत्यधिक उदारवादी प्रवृत्ति का पहले धीरे-धीरे विरोध किया। डूबचेक पर हर तरह के दबाव डाले ताकि सुधारों की गति धीमी हो। चैकोस्लोवाकिया के इस सुधारवादी कार्यक्रम से सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के उसके अनुयायी देशों को यह आशंका हुई कि उनकी जनता भी वैसे ही सुधारों की माँग करने लगेगी। उन्होंने इन सुधारों की 'क्रान्ति विरोधी' और 'संशोधनवादी' कहकर निन्दा की। चैकोस्लोवाकिया के उदारवादी कार्यक्रम को रोकने के उद्देश्य से 21 अगस्त, 1968 को सोवियत संघ तथा वारसा समझौते के 4 सदस्य राज्यों—पूर्वी जर्मनी, पोलैण्ड, हंगरी और बलगारिया—की सेनाओं ने चैकोस्लोवाकिया के मुख्य नगरों पर आक्रमण कर दिया। चैकोस्लोवाकिया की सरकार ने संयुक्त राष्ट्र से सोवियत आक्रमण को रोकने की प्रार्थना की। सोवियत आधिपत्य के विरुद्ध प्राग में हड़ताल हुई और चैक नागरिकों ने 'रूसी हत्यारो लौट जाओ' के नारे लगाये। परन्तु फिर भी चैक नेताओं को 26 अगस्त और 16 अक्टूबर, 1968 को सोवियत संघ से समझौता करने पर बाध्य होना पड़ा। इन समझौतों में यह व्यवस्था हुई कि वारसा देशों की अधिकांश सेनाएँ चैकोस्लोवाकिया से हटा ली जायेंगी परन्तु कुछ सोवियत सेनाएँ स्थिति के सामान्य होने तक 'अस्थायी' रूप से चैकोस्लोवाकिया में बनी रहेंगी। चैक नेताओं को उदारवादी सुधारों की अपनी योजनाओं को त्यागना पड़ा। 17 अप्रैल, 1969 को सुधारवादी डूबचेक को साम्यवादी दल के प्रथम सचिव के पद से त्यागपत्र देना पड़ा और उनका स्थान रूस समर्थक गुस्ताव हुसाक को प्राप्त हो गया। इसके बाद धीरे-धीरे अन्य सुधारवादी नेता हटा दिये गये। सोवियत संघ ने अपनी कार्यवाही को

उचित ठहराते हुए यह तर्क दिया कि चैकोस्लोवाकिया में पश्चिमी जर्मनी के षड्यन्त्र से प्रतिक्रान्ति हो रही थी, जिससे वारसा समझौते के समस्त देशों की सुरक्षा के लिए खतरा उत्पन्न हो गया था और उन्होंने 'सामूहिक आत्म-रक्षा' के लिए कार्यवाही की। साथ ही ब्रेझनेव सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए ब्रेझनेव ने यह दावा किया कि सोवियत संघ को समाजवाद की रक्षा के लिए समाजवादी देशों में हस्तक्षेप करने का अधिकार है। 'प्रावदा' ने ब्रेझनेव सिद्धान्त को और भी सशक्त रूप में प्रस्तुत करते हुए यह घोषित किया कि समाजवादी देश पूरी तरह से प्रभुसत्ता सम्पन्न नहीं हैं वरन् सोवियत संघ को समाजवाद के हित में उनकी स्वतन्त्रता को नियन्त्रित करने का अधिकार है।

5. **सोवियत संघ और भारत**—कोसीगिन-ब्रेझनेव काल में भारत-रूस मैत्री काफी पुख्ता हुई। 1971 में बंगला देश के प्रश्न पर रूस ने भारत का साथ दिया। 1971 को भारत-रूस में एक बीस-वर्षीय सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। यह पहला अवसर था जबकि भारत एक बड़े राष्ट्र के साथ ऐसी सन्धि में शरीक हुआ जिसका सैनिक और रक्षा के मामले में विशेष महत्व था। 26 नवम्बर, 1973 को ब्रेझनेव ने भारत की यात्रा की और 29 नवम्बर, 1973 को नयी दिल्ली में तीन ऐतिहासिक समझौतों पर हस्ताक्षर किये गये जिनके अधीन व्यापार तथा आर्थिक सहयोग बढ़ाने, दोनों देशों के योजना आयोगों में निकटतम सम्बन्ध स्थापित करने तथा एक-दूसरे के सरकारी प्रतिनिधियों को विशेष सुविधाएँ प्रदान करने की व्यवस्था की गयी। 1974 में भी भारत और रूस के मध्य 15 वर्ष के लिए एक व्यापार समझौता हुआ, जिसके अन्तर्गत 1980 तक व्यापार में 150 प्रतिशत से 200 प्रतिशत तक वृद्धि करने तथा कृषि, बिजली, उद्योग, तकनीकी प्रशिक्षण आदि अनेक क्षेत्रों में सहयोग देने का निर्णय लिया गया। 31 मार्च, 1977 को भारत और रूस के मध्य जहाजों के आवागमन पर एक समझौता हुआ। 11 फरवरी, 1980 को कृषि के क्षेत्र में वैज्ञानिक एवं तकनीकी सहयोग के एक समझौते पर भी हस्ताक्षर किये गये। मई 1980 में भारत व सोवियत संघ के बीच एक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत सोवियत संघ ने भारत को 1300 करोड़ रुपये मूल्य की सैन्य-सामग्री भेजना स्वीकार किया। 8 दिसम्बर, 1980 को सोवियत राष्ट्रपति ब्रेझनेव 3-दिवसीय भारत यात्रा पर आये। इस असवर पर भारत और सोवियत संघ के बीच (i) आर्थिक व तकनीकी सहयोग, (ii) 1981-85 के लिए व्यापारिक समझौता, (iii) 1981-82 के लिए सांस्कृतिक, वैज्ञानिक और शैक्षणिक आदान-प्रदान समझौता, आदि पर हस्ताक्षर किये गये।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि इस काल में रूस व भारत के बीच पारस्परिक सम्बन्ध निर्बाध और सबल रहे हैं।

6. **एशियाई सामूहिक सुरक्षा का ब्रेझनेव सिद्धान्त**—एशियाई सामूहिक सुरक्षा से सम्बन्धित सोवियत प्रस्ताव जुलाई 1969 में प्रस्तुत किये गये। उसके पश्चात् कई अवसरों पर ब्रेझनेव ने अपने भाषणों के दौरान एशियाई सामूहिक सुरक्षा पर जोर दिया था। 1972 में इस योजना को पुनः रखा गया। इस सुरक्षा योजना पर टिप्पणी करते हुए कहा गया था कि हिन्द महासागर चारों ओर से साम्राज्यवादियों के सैनिक अड्डों से घिरा हुआ है, अतः सभी शान्तिप्रिय देशों की सामरिक सुरक्षा आवश्यक है। नवम्बर 1973 में अपनी भारत यात्रा के दौरान ब्रेझनेव ने पुनः एशियाई सामूहिक सुरक्षा योजना प्रस्तुत की। इस योजना के मुख्य सिद्धान्त थे: (i) सामूहिक सुरक्षा में सम्मिलित राष्ट्र आपसी सम्बन्धों में शक्ति के प्रयोग का परित्याग करें; (ii) एक-दूसरे की क्षेत्रीय अखण्डता और सम्प्रभुता का आदर करें; (iii) आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप की नीति न अपनाये; (iv) पारस्परिक सहयोग की नीति अंगीकार करें। सोवियत संघ की मान्यता थी कि शान्ति और सुरक्षा के लिए एशिया के देशों को सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में शामिल हो जाना चाहिए। किन्तु एशियाई देशों ने इसके प्रति कोई विशेष दिलचस्पी नहीं दिखायी।

7. रूस-अमरीकी सम्बन्धों में तनाव-शैथिल्यता—स्टालिन काल में रूस-अमरीकी सम्बन्ध तनावपूर्ण थे और ख्रुश्चेव ने दोनों देशों के सम्बन्धों को शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व पर आधारित करने का प्रयत्न किया। ब्रेझनेव ने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के साथ दितान्त (detente) की प्रक्रिया की शुरूआत की। ब्रेझनेव काल में दोनों देशों के नेताओं ने सम्बन्धों को पुख्ता किया गया। 22 मई, 1972 को अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन ने मास्को की सात-दिवसीय यात्रा की। इस यात्रा के दौरान सामरिक अस्त्र परिसीमन सन्धि (SALT) पर हस्ताक्षर हुए। सोवियत संघ ने अमरीका से गेहूँ खरीदने के लिए अगस्त 1972 में एक समझौता किया। 18 जून, 1974 को निक्सन ने पुनः सोवियत संघ की यात्रा की। 23-24 नवम्बर, 1973 को राष्ट्रपति फोर्ड और ब्रेझनेव का ब्लाडीवोस्टक में शिखर सम्मेलन हुआ। जुलाई 1975 में अपोलो-सोयुज संयुक्त अन्तरिक्ष कार्यक्रम में दोनों ने सहयोग किया।

किन्तु ब्रेझनेव के अन्तिम दिनों (1977-83) में कतिपय घटनाओं ने रूस-अमरीकी सम्बन्धों में शीत-युद्ध और टकराव की स्थिति पैदा कर दी। 1977-78 की इथियोपिया-सोमालिया की घटनाओं, 1978 की जेयरे की घटनाओं तथा 27 दिसम्बर, 1979 को सोवियत संघ ने अफगानिस्तान में सैनिक हस्तक्षेप करके शीत-युद्ध की प्रक्रिया को तीव्र गति प्रदान कर दी। अफगानिस्तान से प्रारम्भ हुआ यह नव शीत-युद्ध अन्य क्षेत्रों में भी अपना प्रभाव दिखाने लगा। निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी साल्ट-II वार्ताओं पोलैण्ड और मानवाधिकार के सम्बन्ध में सोवियत संघ और अमरीका के मध्य गम्भीर मतभेद उत्पन्न हो गये।

8. पश्चिमी यूरोप के प्रति नया दृष्टिकोण—पश्चिमी यूरोप के देशों के साथ सोवियत संघ ने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये। 1970 में मास्को-बोन समझौता हुआ और 1971 में बर्लिन समझौता हुआ। जर्मनी और सोवियत संघ के बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित होने से शीत-युद्ध में कमी आयी। पश्चिमी जर्मनी और सोवियत संघ के सम्बन्धों में दितान्त की स्थिति के उत्पन्न होने के बाद यूरोप में सुरक्षा एवं सहयोग के सम्मेलन के लिए वातावरण तैयार हुआ। पहली बार 35 राष्ट्रों के राष्ट्राध्यक्ष हेलसिंकी में इकट्ठे हुए और हेलसिंकी घोषणा पर हस्ताक्षर किये। यह पूर्व और पश्चिम के विवादों को डीफ्यूज (defuse) करने का प्रयास था।

9. वियतनाम के साथ घनिष्ठ मैत्री सम्बन्ध—सोवियत संघ वियतनाम में अमरीकी हस्तक्षेप का कटु आलोचक रहा है। प्रारम्भ में उसने वियतनाम युद्ध में प्रत्यक्ष भाग नहीं लिया किन्तु 1964 के बाद सोवियत संघ ने वियतनाम को भारी मात्रा में भरपूर सैनिक सहायता दी। 1978 के बाद चीन और वियतनाम में दूरियाँ बढ़ने लगीं तो सोवियत संघ और वियतनाम के मध्य मैत्री और सहयोग की सन्धि हुई। जब 1970 में चीन ने वियतनाम पर आक्रमण कर दिया तो सोवियत संघ ने न केवल वियतनाम की भरपूर सैनिक साज-सामान से मदद की अपितु दक्षिण चीन सागर में रूसी समुद्री बेड़े को भेजकर चीन पर दबाव डालने का भी प्रयत्न किया। वियतनाम चीन का पड़ौसी है किन्तु सोवियत संघ ने उससे घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर लिये हैं।

10. हिन्द महासागर में सोवियत सक्रियता—ब्रेझनेव काल में हिन्द महासागर क्षेत्र में सोवियत कूटनीति सक्रिय दिखायी देती है। हिन्द महासागर में अमरीकी उपस्थिति का प्रतिकार करने के लिए सोवियत संघ ने इस क्षेत्र के देशों में सैनिक अड्डे तो नहीं बनाये किन्तु बन्दरगाहों की सुविधाएँ प्राप्त कर लीं। सोवियत संघ ने सोकोत्तरा, सेशेल्स टापुओं के निकट नौसेना बेड़े के लिए विश्राम-स्थल की स्थापना की। अमरीकी प्रभाव का तटस्थीकरण करने के लिए सोवियत संघ ने इस क्षेत्र के प्रमुख देशों से मैत्री सम्बन्ध बनाने का भरसक प्रयत्न किया। संक्षेप में, क्यूबा संकट के बाद सोवियत संघ ने 'समुद्रों पर नियन्त्रण' की आवश्यकता को समझा और सागर परित्याग के स्थान पर 'सागर नियन्त्रण' की राजनीति को अपनाया।

11. अफ्रीका के सम्बन्ध में सोवियत नीति—अफ्रीका में सोवियत संघ की उपस्थिति महत्वपूर्ण साबित हुई। जहाँ 1960 के दशक में सोवियत विदेश नीति का उद्देश्य अफ्रीकी मुक्ति आन्दोलनों को समर्थन देना था वहाँ 1980 के दशक में उसकी नीति का उद्देश्य अफ्रीकी देशों की प्रगतिशील समाजवादी शक्तियों को सहायता देना है। लाल सागर पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए सोवियत संघ ने इथियोपिया की मित्रता को अधिक उपयोगी माना। अंगोला के गृह-युद्ध में एम० पी० एल० ए० का समर्थन करके मार्क्सवादी नेता अगोस्तानो की सरकार बनवा दी। 18 अक्टूबर, 1976 को मास्को और अंगोला में मित्रता और सहयोग की सन्धि सम्पन्न हुई। रोडेशिया में मुक्ति मोर्चे के नेता एस्कीमो, अफ्रीकी एकता संगठन और नामीबिया के स्वापो सोवियत संघ ने समर्थन दिया। अफ्रीकी देशों के साथ सम्बन्धों को प्रगाढ़ करने के लिए सोवियत राष्ट्रपति पदगोर्नी ने मार्च 1977 में तीन अफ्रीकी देशों—तंजानिया, मोजाम्बिक और सोमालिया की बारह-दिवसीय यात्रा की। यह किसी बड़े रूसी नेता की पहली अफ्रीकी यात्रा थी।

12. सोवियत संघ और तुर्की—सोवियत संघ और तुर्की में भी मधुर सम्बन्धों की शुरूआत हुई। 1975 में सोवियत प्रधानमन्त्री तुर्की गये और मास्को-तुर्की मित्रता को सक्रिय करने का प्रयास किया। उन्होंने सिकन्दरिया में सोवियत सहायता से निर्मित इस्पात संयन्त्र का उद्घाटन किया। यह तुर्की को नाटो से विमुख करने का प्रयत्न था।

13. अफगानिस्तान में रूस का हस्तक्षेप—27 दिसम्बर, 1979 को रूसी सेनाओं ने अफगानिस्तान में बड़ी संख्या में प्रवेश किया। रूस का यह कहना था कि वह अफगानिस्तान में वहाँ की सरकार के निमन्त्रण पर उस देश के साथ हुई मैत्री सन्धि की शर्तों के अनुसार गया है। सोवियत सैनिकों का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप और निरन्तर उसका अफगानिस्तान में बने रहना ही अफगानिस्तान समस्या को जन्म देता है। इस संकट के कारण दक्षिण एशिया में तनाव का वातावरण उत्पन्न हो गया तथा उससे महाशक्तियों के बीच पुनः शीत-युद्ध (नव शीत-युद्ध) की स्थिति पैदा हो गयी। साम्यवादी गुट को छोड़कर लगभग समस्त विश्व ने अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप का मुखर विरोध किया। 7 जनवरी, 1980 को सुरक्षा परिषद् में सोवियत सेनाओं की तुरन्त वापसी के प्रस्ताव के पक्ष में 15 में से 13 सदस्यों ने मत दिया। केवल पूर्वी जर्मनी ने सोवियत सेनाओं की तुरन्त वापसी के प्रस्ताव के विपक्ष में मत दिया। सोवियत संघ ने वीटो (Veto) का प्रयोग करके इस प्रस्ताव को विफल कर दिया, परन्तु 14 जनवरी, 1980 को महासभा ने 104 के विरुद्ध 18 के भारी बहुमत के प्रस्ताव पास करके अफगानिस्तान से सोवियत सैनिकों की "तुरन्त, बिना शर्त और पूर्ण वापसी" की माँग की।

अफगानिस्तान में हस्तक्षेप की सोवियत संघ को बहुत कीमत चुकानी पड़ी सामान्यतः उसकी सचेत विदेश नीति पर साम्राज्यवाद का कलंक आया। अफगानिस्तान एक गुट-निरपेक्ष देश है, उसमें सैनिक हस्तक्षेप से, छोटे देश जो सामान्यतः जो अमरीका विरोधी हैं, रूस को भी शंकित नजर से देखने लगे। सबसे बड़ी कीमत जो रूस को चुकानी पड़ी, वह है करीब साढ़े छः करोड़ रुपये प्रतिदिन के हिसाब से अफगानिस्तान का प्रशासन सँभालने, सेना रखने व अन्य विषयों पर किया जाने वाला खर्चा।

कोसीगिन-ब्रेझनेव विदेश नीति का मूल्यांकन—कोसीगिन-ब्रेझनेव काल की सोवियत विदेश नीति की प्रमुख विशेषताएँ हैं : (i) मध्यस्थता की नीति, (ii) मैत्री सन्धियों को पुख्ता करने की नीति, (iii) देतां की नीति, (iv) निर्गुट आन्दोलन के समर्थन की नीति। 1969 में चीन के साथ उसूरी नदी के रक्तरंजित संघर्ष के बाद सोवियत विदेश नीति तीन महत्वपूर्ण प्रेरणाओं से संचालित होती रही है : **पहली प्रेरणा** चीन के आक्रमण की आशंका है; **दूसरी प्रेरणा** पश्चिमी यूरोप से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने की तथा पूर्व और पश्चिम के तनाव को कम करने की प्रबल इच्छा

है। उपर्युक्त दो प्रेरणाओं के अतिरिक्त इस समय अमरीका से अपने सम्बन्ध अच्छे बनाने का प्रयत्न रूस अन्य तीन कारणो से भी कर रहा है। पहला कारण रूस की घरेलू आवश्यकताएँ तथा परिस्थितियाँ हैं। इस समय उसे साइबेरिया के पेट्रोल और खनिज सम्पदा के समृद्ध भण्डारों के दोहन के लिए अमरीका के प्राविधिक कला-कौशल और दीर्घकालीन साख की बड़ी आवश्यकता है। दूसरा कारण खाद्यान्न सम्बन्धी आवश्यकताएँ है। तीसरा कारण आणविक आयुधों की होड़ समाप्त करने की इच्छा है। रूस की अर्थव्यवस्था पर शस्त्रास्त्रों के निर्माण का भारी बोझ पड़ रहा है और सामान्य जनता के आर्थिक कल्याण और विकास के लिए समुचित धनराशि उपलब्ध नही हो रही है।

ब्रेझनेव काल में चीन के साथ सोवियत संघ के सम्बन्धों का सामान्यीकरण नहीं हो पाया। अफगानिस्तान में सोवियत सैनिक हस्तक्षेप से 'नव शीत-युद्ध' (New Cold War) की शुरूआत हुई और दितान्त की नीति समाप्त हो गयी। दोनों देशों (रूस-अमरीका) में तनाव बढ़ने लगा। इस काल में रूसी विदेश नीति की सबसे बड़ी असफलता चीन-अमरीकी सम्बन्धों की घनिष्ठ निकटता ही है।

ब्रेझनेव की विदेश नीति का मूल्यांकन करते हुए डॉ० पुष्पेश पन्त ने लिखा है :[1]

"लियोनिद ब्रेझनेव 1964 से 1982 के अन्तिम चरण तक सोवियत राजनीति में शीर्षस्थ रहे। इस दौरान पांच अमरीकी राष्ट्रपति राजनीतिक मंच पर आये और गये। चार ब्रिटिश प्रधानमन्त्री और चार ही भारतीय प्रधानमन्त्री सत्तारूढ़ हुए। फ्रांस और चीन में भी दगाल और माओ के युग का अन्त हुआ। 1972 में निक्सन के साथ वार्ता द्वारा उन्होंने औपचारिक रूप से शीत-युद्ध का अन्त करते वाले 'तनाव-शैथिल्य' की घोषणा की थी, जिसकी चरम परिणति 1977 में सामरिक शस्त्रास्त्र परिसीमन सन्धि (साल्ट-2) में हुई। भले ही शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का नारा खुश्चेव ने गढ़ा हो, इसकी सार्थक रूपरेखा तैयार करने, इसे नीति के रूप में क्रियान्वित करने का श्रेय ब्रेझनेव को ही दिया चाहिए।"

उन्होंने विभाजित यूरोप में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रीय सम्बन्धों के सामान्यीकरण की प्रक्रिया को हेलसिंकी सुरक्षा सम्मेलन में तेज किया और विलीब्राण्ट की 'ओस्त्र-पोलितीक' को मान्यता दी।

जहाँ तक उपलब्धियों का प्रश्न है, इसको अनदेखा नहीं किया जा सकता कि ब्रेझनेव के कार्यकाल में ही सोवियत संघ को महाशक्ति के रूप में वास्तविक प्रतिष्ठा मिली। न केवल प्रक्षेपास्त्रों के मामले में सोवियत संघ अमरीका से आगे निकल गया बल्कि नौसैनिक शक्ति-संचय में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई।

इस बात से भी इन्कार नही किया जा सकता कि ब्रेझनेव का युग कई मामलों में विशेष महत्वपूर्ण रहा हे। इन्हीं वर्षों में सोवियत सहायता से वियतनामियों ने मदान्ध अमरीकियों को एक महत्वपूर्ण और खर्चीला सबक सिखाया। साथ ही सोवियत संघ को यूरो-कम्युनिज्म के आविर्भाव से स्वयं यह पाठ पढ़ना पड़ा कि राष्ट्रीयता और साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारे के बीच तालमेल हमेशा ही अनायास नही बैठाया जा सकता। इसे ब्रेझनेव की एक और बड़ी उपलब्धि मानी जानी चाहिए कि पश्चिमी यूरोप की बिरादर साम्यवादी पार्टियों के साथ उनका व्यवहार अपने पूर्ववर्ती सोवियत नेताओं की अपेक्षा कहीं अधिक राजनयिक, परिष्कृत और मँझा हुआ रहा।

इसका यह अर्थ नही है कि ब्रेझनेव के नेतृत्व में कोई कमियाँ थी ही नही। ब्रेझनेव की असफलताओं की लम्बी सूची पिछले महीनों में अक्सर पेश की जाती रही है। इनमें सबसे पहले गिनाया जा सकता है : सोवियत-चीन विग्रह। भले ही इस झगड़े का सार्वजनिक उद्घाटन खुश्चेव के दिनों में 20वीं पार्टी कांग्रेस के बाद ही हो गया था, इसका हिंसक (सीमित ही सही) विस्फोट,

---

[1] दिनमान, 21-27 नवम्बर, 1982, पृ० 28।

1969 में उसूरी नदी के तट पर हुआ। 1968 में चैकोस्लोवाकिया में हस्तक्षेप और साम्यवादी मित्र राष्ट्रों की सीमित सम्प्रभुता के सिद्धान्त की घोषणा, ब्रेझनेव सिद्धान्त की स्थापना, जिसके अनुसार किसी भी साम्यवादी राष्ट्र पर हमला सोवियत संघ पर हमला माना जायेगा, 1980 में पोलैण्ड का घटनाक्रम और अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप और बड़े पैमाने पर सैनिक जमाव आदि ऐसे उदाहरण हैं जो समाजवादी शक्तियों के द्वेषियों को प्रसन्न, आशंकित करते और सोवियत संघ के मित्रों को असमंजस में डालते रहे हैं।

इनके अलावा ब्रेझनेव पर यह आरोप भी लगाया जा रहा है कि वे इस जोड़-तोड़ में लगे रहे कि क्यूबा के माध्यम से गुट-निरपेक्ष आन्दोलन में घुसपैठ कर उसे कब्जे में किया जाये। क्यूबाई सैनिकों के माध्यम से परोक्ष रूप से अंगोला तथा अफ्रीका महाद्वीप में अन्यत्र रूसी गतिविधियाँ अनेक पूँजीवादी प्रेक्षकों को षड्यन्त्रकारी लगती रहीं। चीनी नेतागण इस ओर ध्यान दिलाने का कोई अवसर नहीं चूकते कि कम्पूचिया में वियतनामी सेनाओं के प्रवेश के पीछे भी सोवियत 'बड़े भाई' का ही हाथ है। इस बात को भी आसानी से नहीं भुलाया जा सकता कि मिस्र से सोवियत सलाहकारों के निष्कासन के बाद से मध्य-पूर्व में सोवियत राजनयिक भूमिका नगण्य रही है।

4. निकोलाई निखोनव-आन्द्रोपोव काल की विदेश नीति (1982–84)

एक लम्बी बीमारी के बाद प्रधानमन्त्री अलेक्साई कोसीगिन का देहान्त हो गया। इनके स्थान पर निकोलाई निखोनव सोवियत संघ के प्रधानमन्त्री बनाये गये। श्री ब्रेझनेव की मृत्यु के दो दिन बाद 12 नवम्बर, 1982 को आन्द्रोपोव को कम्युनिस्ट पार्टी का महासचिव नियुक्त किया गया। 16 जून, 1983 को उन्हें राष्ट्रपति पद पर चुन लिया गया।

निखोनव-आन्द्रोपोव जोड़ी ने ब्रेझनेव के पद-चिन्हों पर ही चलने का निश्चय किया। वस्तुतः ब्रेझनेव के देहान्त से अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में कोई अन्तर नहीं हुआ और इस दृष्टि से एक युग के अन्त की बात करना कोई खास मायने नहीं रखता। सोवियत संघ के बुनियादी राष्ट्रीय हित और अन्य देशों के हितों के साथ इनका सामंजस्य व्यक्तिगत सत्ता परिवर्तन के अनुसार संचालित नहीं हो सकते, न होते हैं।

नये नेतृत्व की विदेश नीति का अध्ययन निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर किया जा सकता है :

(1) सोवियत संघ के विदेशमन्त्री ग्रोमिको ने जापान सरकार को सूचित किया कि सोवियत संघ साइबेरिया में मध्यम दूरी के एस० एस० 10 प्रक्षेपास्त्र तैनात करने जा रहा है। यह कदम दक्षिण कोरिया और एशिया के अन्य भागों में परमाणु अस्त्रों का सामना करने के लिए उठाया जा रहा है।[1]

(2) लीबियाई नेता अब्देल सल्लाम जाल्लूद की मास्को यात्रा के बाद 20 मार्च, 1983 को जारी की गयी एक संयुक्त विज्ञप्ति में कहा गया कि सोवियत संघ और लीबिया सैद्धान्तिक रूप से इस बात पर सहमत हो गये हैं कि मेजर जाल्लूद की सोवियत संघ यात्रा ऐसे समय में हुई थी जबकि भूमध्यसागर क्षेत्र में लीबिया और अमरीका के बीच नये सिरे से तनाव पैदा हो गया है।[2]

(3) रूस के राष्ट्रपति यूरी आन्द्रोपोव ने यूरोप में प्रक्षेपास्त्रों का सन्तुलन स्थापित करने का महत्वपूर्ण प्रस्ताव किया। आद्रोपोव ने कहा कि यदि अमरीका इस वर्ष के अन्त तक यूरोप में अपने नये प्रक्षेपास्त्र लगाने की योजना त्याग दे तो रूस अपने देश के पश्चिमी भाग में ब्रिटेन व फ्रांस के प्रक्षेपास्त्र की संयुक्त संख्या से अधिक लगे अपने प्रक्षेपास्त्र हटा लेगा और इन्हें नष्ट कर

1 **प्रतियोगिता दर्पण**, अप्रैल 1983, पृ० 19।
2 **वही**, मई 1983, पृ० 8।

देगा। आन्द्रोपोव के प्रक्षेपास्त्र नष्ट करने के नये प्रस्ताव से अमरीका का व पश्चिम देशों की इस आशंका का निराकरण करने का प्रयत्न किया गया कि रूस इन प्रक्षेपास्त्रों को पश्चिमी क्षेत्र में स्थापित कर देगा। प्रक्षेपास्त्रों के नष्ट करने के प्रस्ताव से रूस की पश्चिमी सामरिक पंक्ति से आशंकित चीन व जापान को भी आश्वासन मिलता है।

आन्द्रोपोव ने प्रक्षेपास्त्र नष्ट करने का प्रस्ताव देकर अपनी पूर्व नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन किया। पहले रूस ने यह रुख अपना रखा था कि यूरोपीय मोर्चे से प्रक्षेपास्त्र हटाकर उनका क्या किया जाये। यह रूस का अपना विषय है। अब रूस ने नया प्रस्ताव देकर अपनी इस नीति को दोहराया कि वह यूरोप मे ही नही एशिया में भी शस्त्रास्त्र सन्तुलन चाहता है।[1]

(4) यह रूस का सैनिक उन्माद ही कहा जायेगा कि उसने दक्षिण कोरिया के एक यात्री विमान को मार गिराया। यह विमान न्यूयार्क से सियोल की उड़ान पर था और इसमें 269 लोग सवार थे। रूस ने विमान को गिराने के अपराध को स्वीकार नहीं किया। इसकी तीव्र अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रिया हुई।[2] रूस ने सुरक्षा परिषद् के द० कोरियाई यात्री विमान को मार गिराने सम्बन्धी अमरीका व अन्य देशों के प्रस्ताव को अपने 'वीटो' अर्थात् निषेधाधिकार का प्रयोग करके निरस्त कर दिया। अमरीका ने इसे शीत-युद्ध का अस्त्र बनाया। इस घटना को लेकर दोनों महादेशों के बीच आपसी सन्देह व संघर्ष का वातावरण बना।

(5) श्री आन्द्रोपोव ने अमरीका के साथ तनाव कम करने के लिए कई सुझाव रखे। उन्होंने अमरीकी राष्ट्रपति रीगन से शिखर वार्ता की भी पेशकश की। इसके अलावा विश्व में सांसदों, सरकारों, राजनीतिक दलों और जनता के नाम एक शान्ति अपील में सोवियत संघ ने घोषणा कि वह अमरीका के साथ बराबर के आधार पर अपने परमाणु शस्त्रागार को सीमित करने को तैयार है।[3]

(6) 4 जनवरी, 1983 को वारसा देशों का सम्मेलन प्राग में हुआ। शिखर सम्मेलन के बाद जारी की गयी विज्ञप्ति मे नाटो के सदस्य देशों से कहा गया कि वे अनाक्रमण सन्धि पर यथाशीघ्र बातचीत शुरू करें।[4] एक अनुमान यह है कि कम्युनिस्ट शिविर की आर्थिक स्थिति ऐसी नही है कि वह सामरिक छेत्र के बोझ को उठा सके। श्री आन्द्रोपोव अपनी पकड़ को मजबूत करने तथा कम्युनिस्ट बिरादरी को इकट्ठा रखने के उद्देश्य से पश्चिमी देशों के साथ शान्ति और सहयोग को आवश्यक मानते थे।[5]

(7) सीरिया नवीनतम रूसी विमानभेदी प्रक्षेपास्त्रों के लिए दो नये अड्डे बना रहा है। जिन प्रक्षेपास्त्रों के लिए (एस० ए०-5) सीरिया अड्डे बना रहा है वे सैम-6 और सैम-7 की तुलना में कई गुना शक्तिशाली हैं। ये 300 किमी० तक मार कर सकते है, अन्तरिक्ष में इनकी पहुँच 29 किमी है। यद्यपि सोवियत संघ की सेना के पास 1967 से ही एस० ए०-5 है पर अब तक सोवियत संघ ने उन्हें किसी दूसरे देश को नही दिया। इससे इजराइल के लिए चिन्ता बढ़ना स्वाभाविक था।[6]

---

1 **राजस्थान पत्रिका** (जयपुर), 30 अगस्त, 1983, पृ० 4।
2 **वही**, 5 सितम्बर, 1983, पृ० 4।
3 **वही**, 16 सितम्बर 1983, पृ० 4।
4 **वही**, फरवरी 1983, पृ० 9-10।
5 **वही**, मार्च 1983, पृ० 10।
6 **वही**, फरवरी 1983, पृ० 10।

5. चेरेनेंको काल की विदेश नीति (1984–85)

आन्द्रोपोव की मृत्यु हो जाने पर 13 फरवरी को पार्टी की केन्द्रीय समिति ने 72-वर्षीय चेरेनेंको को अपना नया नेता चुना। चेरेनेंको ने घोषणा की कि सोवियत संघ वर्तमान तनावों को दृष्टिगत कर अपने शान्ति प्रयासों की नीति जारी रखेगा। वह खासतौर से छोटे देशों की सहायता करेगा। उन्होंने पूँजीवादी विस्तारवाद के विरुद्ध संघर्ष कर रहे लोगों को भी सोवियत समर्थन जारी करने का आश्वासन दिया। उन्होंने यह भी कहा कि सोवियत संघ शान्ति चाहता है तथापि वह न तो किसी की धमकी में आयेगा और न शस्त्रास्त्रों में किसी देश को बढत देने देगा। स्पष्टत: यह बात अमरीका को चेतावनी थी।

श्री चेरेनेंको के चुनाव से पश्चिमी देश विशेष आशावान नहीं थे। उनका विचार था कि विदेशी मामलों में वे नर्म नीति नहीं अपनायेंगे। ब्रुसेल्स में नाटो प्रवक्ता ने कहा कि "इस चुनाव से लगता है कि पश्चिम के प्रति मास्को के कठोर रुख में परिवर्तन की कोई सम्भावना नहीं है।" 10 मार्च, 1985 को श्री चेरेनेंको का निधन हो गया तथा मिखाइल गोर्बाच्योव नये नेता निर्वाचित हुए।

6. गोर्बाच्योव की विदेश नीति (मार्च 1985 से)

आजकल सोवियत रूस में मिखाइल गोर्बाच्योव अपने आपको वर्चस्वी नेता के रूप में स्थापित कर चुके हैं। हाल ही में सोवियत कम्युनिष्ट पार्टी के महासचिव के महत्वपूर्ण पद के साथ ही साथ उन्होंने सोवियत संघ के राष्ट्रपति का पद सँभालकर सोवियत संघ पर अपने वर्चस्व की अन्तिम छाप लगा दी है। गोर्बाच्योव सोवियत संघ में स्टालिन के बाद सर्वाधिक प्रभावशाली राष्ट्राध्यक्ष सिद्ध हुए हैं जिन्होंने अपनी उदारवादी नीतियों और सोवियत समाज की पुनर्रचना के नाम पर सोवियत जनता को अपने साथ लिया है।

पिछले 5-6 सालों से गोर्बाच्योव के नेतृत्व के कारण सोवियत संघ में दो शब्द बहुत प्रचलित एवं महत्वपूर्ण हो गये हैं। पहला शब्द है 'ग्लासनोस्त', जिसका अर्थ है खुलापन अर्थात् 'जो अब तक छुपाया गया उसे खुले रूप में कहना।' दूसरा शब्द है 'पेरेस्त्रोइका' जिसका अर्थ है 'पुनर्रचना'। सोवियत रूस आत्मावलोकन कर अपने 'लौह आवरणकालीन' ऐतिहासिक अपराधों को महसूस कर 'खुलेपन' की नीति को ग्रहण कर रहा है तथा पुस्तकीय साम्यवाद के आधार पर सृजित व्यवस्था की 'पुनर्रचना' करना चाहता है।

विदेश नीति के क्षेत्र में भी गोर्बाच्योव ने उदार, सौम्य, लचीली एवं विश्व-शान्ति को परिपुष्ट करने वाली नीति का अनुसरण किया है। भारत के राष्ट्रपति आर० वेंकटरमण के शब्दों में, "गोर्बाच्योव ने ऐसे विचारों और कार्यों का सूत्रपात किया है जो विश्व को संघर्ष, हिंसा और विध्वंस के जाल से निकाल सकते हैं।" वस्तुत: गोर्बाच्योव की विदेश नीति टकराव के बजाय संवाद, शस्त्रीकरण के बजाय निरस्त्रीकरण, संघर्ष के बजाय शान्ति पर बल देती है। गोर्बाच्योव के शब्दों में "अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में हम उस ढंग से कार्रवाई नहीं करना चाहते जिससे टकरावों में वृद्धि हो।" गोर्बाच्योव की विदेश नीति के आधारबिन्दु निम्नलिखित हैं :

(1) **नि:शस्त्रीकरण का समर्थन एवं आस्था**—गोर्बाच्योव के अनुसार नाभिकीय युद्ध राजनीतिक, आर्थिक, विचारधारात्मक अथवा किन्हीं दूसरे लक्ष्यों को प्राप्त करने का साधन नहीं हो सकता। 26 अक्टूबर, 1985 को सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी का 109 पृष्ठों का दस्तावेज जारी किया गया। इसमें वाह्य अन्तरिक्ष को शस्त्रों की प्रतिस्पर्द्धा से पूरी तरह से मुक्त रखने की बात दोहरायी गयी। गोर्बाच्योव ने घोषणा की कि सोवियत संघ पूर्वी यूरोप में मध्यम दूरी के आणविक प्रक्षेपास्त्रों की तैनाती को नवम्बर 1985 तक रोक रहा है। उन्होंने राष्ट्रपति रीगन से मिलने की भी पेशकश की। गोर्बाच्योव ने प्रस्ताव रखा कि परमाणु अस्त्रों की होड़ रोकने के लिए उनका

देश यूरोप में मध्यम दूरी की मार करने वाले परमाणु प्रक्षेपास्त्रों को हटाने के लिए अमरीका से समझौता करने को तैयार है। उन्होंने 29 जुलाई, 1985 को एकतरफा घोषणा करते हुए कहा कि रूस ने हिरोशिमा पर गिराये गये पहले परमाणु बम की 40वी वर्षगाठ (6 अगस्त) से जनवरी 1989 तक परमाणु आयुधों का परीक्षण न करने का निर्णय किया है।

(2) **अमरीका के साथ दितान्त प्रक्रिया को गतिशील करना**—गोर्बाच्योव ने पूँजीवादी देशों विशेषकर अमेरिका से सम्बन्ध सुधारने की पहल की। 19-20 नवम्बर, 1985 को उन्होने राष्ट्रपति रीगन के साथ जेनेवा में लम्बी बातचीत की। बातचीत के बाद जो संयुक्त बयान जारी किया गया वह विशेष आशाजनक नहीं कहा जा सकता। फिर भी रीगन ने मास्को की यात्रा करने एवं गोर्वाच्योव ने अमरीका जाने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। सितम्बर, 1987 में अमरीका व रूस के बीच एक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत दोनों देश अपनी सैनिक गतिविधियों के बारे में एक-दूसरे को जानकारी देने के लिए सहमत हुए। दिसम्बर 1987 में गोर्वाच्योव ने वाशिंगटन में एक ऐतिहासिक सन्धि पर हस्ताक्षर किये। सन्धि में रूस और अमरीका मध्यम व कम दूरी के प्रक्षेपास्त्र नष्ट करने को सहमत हो गये। सन्धि पर हस्ताक्षर करने के बाद गोर्बाच्योव ने कहा कि उनका उद्देश्य विश्व को परमाणु अस्त्रों से मुक्त करना है।

(3) **चीन के साथ सम्बन्धों का सामान्यीकरण**—चीन-रूस में तनाव शैथिल्य प्रारम्भ हो चुका है। गोर्वाच्योव के शब्दों में, "चीन एक महान समाजवादी ताकत है।" अगस्त 1986 में गोर्बाच्योव ने कहा कि उसूरी नदी के क्षेत्रों में रूस सीमा के निर्धारण पर चीन से वार्ता के लिए तैयार है। सीमा विवाद के सन्दर्भ में गोर्बाच्योव ने चीन के दावे को एकतरफा स्वीकृति दे दी। अगस्त 1987 में रूस व चीन के मध्य पूर्ववर्ती सीमान्त क्षेत्र की हदबन्दी के बारे में भी एक समझौता हो गया। भारत-चीन सम्बन्धों में सुधार को भी गोर्बाच्योव ने सराहा।

(4) **शस्त्र भण्डार में कमी की एकतरफा घोषणा**—7 दिसम्बर, 1988 को न्यूयार्क में संयुक्त राष्ट्र महासभा को सम्बोधित करते हुए गोर्बाच्योव ने अपने सैनिक और परम्परागत हथियारों में काफी हद तक कमी लाने की असाधारण घोषणा की। सोवियत नेता ने कहा कि सोवियत सैनिकों तथा सैन्य सामान में भारी कमी करने के निर्णय के अन्तर्गत पूर्वी यूरोपीय देश, सोवियत यूरोप, मंगोलिया तथा एशिया से लाखों टैंक तथा सैनिक हटाये जायेंगे। गोर्बाच्योव ने कहा कि वे आक्रामक रक्षा ढांचे से सुरक्षात्मक रक्षा ढाँचे की ओर बढ़ रहे हैं। वे अपने संसाधन और शक्ति का उपयोग निरस्त्रीकरण पर करना चाहते हैं।

(5) **यूरोप हमारा साझा घर है**—गोर्वाच्योव ने 'साझा यूरोपीय घर' की अवधारणा प्रस्तुत की है। मकान साझा है लेकिन हर परिवार का खुद अपना कक्ष है और इसमें प्रवेश के अलग-अलग दरवाजे हैं। लेकिन केवल साथ रहकर, सामूहिक रूप से और सहअस्तित्व के युक्तिसंगत मान-दण्डों का पालन करके ही, यूरोपवासी अपने इस मकान को बचा सकते है।

"सोवियत-संघ कभी भी, किन्हीं भी परिस्थितियों में, पश्चिमी यूरोप के खिलाफ सैनिक कार्यवाहियाँ नहीं करेगा—जब तक कि नाटो हम पर और हमारे मित्रों पर हमला नहीं करता।"

(6) **तीसरी दुनिया**—गोर्वाच्योव के अनुसार तीसरी दुनिया के राष्ट्रों को स्वयं अपने मालिक होने का अधिकार है। विकासशील देशों के सिर पर लदा कर्जा संसार की एक सर्वाधिक गम्भीर समस्या है अतः सोवियत संघ नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की उनकी माँग का समर्थन करता है। वह चाहता है कि विकासशील देश स्वयं अपने प्राकृतिक व मानवीय संसाधनों के स्वामी बन सकें।

(7) **अफ्रीका**—गोर्बाच्योव के अनुसार अफ्रीका के राष्ट्रों :

सम्बन्धी मसलों को, अपने घरेलू और विदेशी मामलों को स्वतन्त्र रूप से, शान्ति और स्थायित्व से निबटाने का मौका मिले। हर अफ्रीकी राष्ट्र को स्वतन्त्र रूप से अपने विकास का पथ चुनने का वैध अधिकार है और हम उनके घरेलू मामलों में हस्तक्षेप की सभी कोशिशों की सख्ती से निन्दा करते हैं। दक्षिणी अफ्रीका के अग्रिम पंक्ति के राज्यों के साथ हमारी मैत्रीपूर्ण कड़ियाँ हैं। हम उनकी न्यायपूर्ण नीतियों का समर्थन करते हैं और उनके खिलाफ दक्षिण अफ्रीका की शत्रुतापूर्ण कार्यवाइयों की कड़ी निन्दा करते हैं। अफ्रीकी अग्रगामी देशों की सहायता के लिए गठित कोष को सोवियत संघ ने साढ़े छः करोड़ रूबल सहायता के तौर पर देना निश्चित किया।

(8) **भारत से विशेष सम्बन्ध**—गोर्वाच्योव ने पदग्रहण करने के बाद पिछले 4 वर्षों में दो बार भारत की यात्रा की और भारत के साथ सम्बन्धों को पुख्ता किया। 'दिल्ली घोषणापत्र' तथा भारत में आयोजित 'सोवियत महोत्सव' दोनों देशों की दोस्ती की प्रगाढ़ता के प्रमाण हैं।

गोर्बाच्योव ने हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र बनाने का समर्थन किया; सोवियत संघ की सेनाओं का अफगानिस्तान से हटने का निर्णय, कम्पूचिया समस्या के समाधान के लिए सकारात्मक प्रयास आदि गोर्बाच्योव की विदेश नीति के महत्वपूर्ण आयाम हैं। विश्व के बारे में गोर्बाच्योव के नये दृष्टिकोण और सोवियत संघ की विदेश नीति पर इसके असर ने मास्को की कूटनीतिक प्राथमिकताएँ बदल दी हैं।

अमरीका, पश्चिमी यूरोप, चीन और जापान से नये सम्बन्ध बनाने के अलावा सोवियत संघ अफगानिस्तान, वियतनाम, अंगोला, निकारागुआ व क्यूबा जैसे मामलों को सुलझाने के लिए भी उत्सुक है।

आज जब पूर्वी यूरोप में लोकतन्त्र की हवा जोर से बह रही है, गोर्बाच्योव के नेतृत्व में सोवियत रूस उसे नियन्त्रित करने का कोई प्रयत्न नहीं कर रहा। पोलैण्ड, हंगरी व चैकोस्लोवाकिया में साम्यवादी शासनों की समाप्ति को गोर्बाच्योव ने स्वागतपूर्वक स्वीकार कर लिया। बर्लिन दीवार के पतन के साथ ही जर्मन देश के पुनरेकीकरण और यूरोप के पुनर्गठन की प्रक्रिया शुरू हो गयी है। स्टालिन ने जर्मनी और यूरोप को तोड़ा था, गोर्बाच्योब जोड़ रहे हैं।

साम्यवादी राज्यों के एक-समूह के रूप में पूर्वी यूरोप का तिरोहन गोर्बाच्योव के 'यूरोपीयन होम' कल्पना का ही एक अंग है। जनतन्त्र व साम्यवाद के नाम पर भूतकाल में जो साम्राज्य निर्मित किये इन्हें समाप्त कर देना ही हमारे हित में है। 'कॉमन यूरोपीय होम' कल्पना की यह आधारभूत मान्यता है। इसका लक्ष्य है 'एक यूरोपीय सभ्यता को वापस लौटाना।'

> गोर्बाच्योव ने प्रस्तावित किया है कि नाटो तथा वार्सा सन्धि देशों की साझा बैठक होनी चाहिए जिसमें यह सुनिश्चित किया जा सके कि ये संगठन परस्पर स्पर्द्धी नहीं वरन् सहयोगी है। यूरोपीय सुरक्षा व स्थिरता इनका लक्ष्य है।

यूरोप को जोड़ने वाली एक कड़ी है—ईसाई धर्म। गोर्बाच्योव प्रथम साम्यवादी शासक हैं जो रोमन कैथोलिक चर्च के सर्वोच्च पादरी पोप जान पाल से भेंट करने वेटिकन शहर गये। उन्होंने कहा कि नैतिक मूल्यों की स्थापना की दृष्टि से धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। पेरेस्त्रोइका अभियान के अन्तर्गत वे सोवियत रूस में धर्म की पुनःस्थापना करेंगे।

सोवियत राष्ट्रपति द्वारा 8 दिसम्बर, 1988 को संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी विश्व संस्था के मंच से यह घोषणा करना कि सोवियत संघ पूर्वी यूरोप के देशों से अपने 5 लाख सैनिक हटा लेगा, सोवियत नीतियों में आ रहे जबरदस्त परिवर्तन का संकेत है। इसी संयुक्त राष्ट्र संघ के मंच से सन् 1960 में ख्रुश्चेव ने जूता बजाया था और एक महीने लगातार अमरीका में रहने के बाद भी उनकी राष्ट्रपति आइजनहावर से मुलाकात सम्भव नहीं हो पाई थी। लेकिन इस बार गोर्बाच्योव की मुलाकात रीगन और निर्वाचित राष्ट्रपति जार्ज बुश से हुई। गोर्वाच्योव ने दोनों की

इस मुलाकात के लिए धन्यवाद देते हुए कहा कि "हमारी बातचीत से जो नया वातावरण बन रहा है और उसमें जो नई लय उत्पन्न हुई है वह बराबर जारी रहेगी।"

प्रश्न

1. द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की सोवियत विदेश नीति की समीक्षा कीजिए।
   Discuss the Soviet foreign policy after the post-second world war period.
2. 1953 (स्टालिन की मृत्यु) से आज तक सोवियत संघ की वैदेशिक नीति के प्रमुख सिद्धान्तों का परीक्षण कीजिए।
   Examine the main principles of foreign policy of the Soviet Union from 1953 (death of Stalin) to the present day.
3. ब्रेझनेवकालीन रूसी विदेश नीति का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
   Evaluate critically the U. S. S. R. foreign policy of the Brezhnev period.
4. ख्रुश्चेव के काल में रूस की विदेश नीति में क्या-क्या परिवर्तन हुए? इस काल में विभिन्न देशों से रूस का व्यवहार कैसा रहा? संक्षिप्त रूप से बताइये।
   What changes occurred in Russain foreign policy in Khrushchev's period? What relationship was maintained by Soviet Russia with different countries during Khurshchev's period? Describe in short.
5. सोवियत रूस की विदेश नीति के मुख्य सिद्धान्तों का विवेचन कीजिए।
   Discuss the main principles of Soviet Foreign Policy.
6. उत्तर-स्टालिन युग की सोवियत विदेश नीति के प्रमुख सिद्धान्तों का परीक्षण कीजिये।
   Examine the main principles of the foreign policy of the U. S. S. R. since post-Stalin era.
7. मिखाइल गोर्वाच्योव ने सोवियत विदेश नीति में क्या-क्या परिवर्तन किये हैं? संक्षिप्त रूप से विवेचना कीजिये।
   What changes have been made in Soviet Foreign Policy by M. Gorbacheuv? Discuss in short.

23

रूस-चीन मतभेद

[SINO-SOVIET CONFLICT]

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय जगत में रूस-चीन विवाद संसार की सर्वाधिक रोमांचकारी और उल्लेखनीय घटना है। इस घटना से अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की उग्रता शिथिल हो गयी। साम्यवादी आकाश में एक साथ दो सूर्य उदित हो गये। रूस और चीन में न केवल सैद्धान्तिक शीतयुद्ध प्रारम्भ हो गया, वरन् उसूरी के आर-पार साम्यवादी देशों की तोपें मार्क्स और लेनिन की जय बोलती हुई एक-दूसरे पर गोले बरसाने लगीं।

1930 में एम० एन० राय ने अपनी पुस्तक 'अवर डिफरेन्सेज' (हमारे मतभेद) में लिखा था कि "पूंजीवादी राट्रों में ही नहीं, वरन साम्यवादी राष्ट्रों में भी अन्तर्विरोध उत्पन्न हो सकते हैं और विस्फोटक रूप धारण कर सकते हैं। रॉय की इस भविष्यवाणी को लेकर उस समय एक ऐतिहासिक विवाद उठ खड़ा हुआ था। साम्यवादियों का तर्क था कि पूंजीवादी देशों में 'मत्स्य न्याय' होता है जहाँ बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है। लेकिन साम्यवादी देशों में ऐसा नहीं होता, क्योंकि साम्यवादी देशों में निहित स्वार्थों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए साम्यवादी राष्ट्रों के आपसी सम्बन्ध दृढ़तर ही होते जायेंगे। इस आधार उस समय एम० एन० रॉय के शब्दों को "गुमराह और भटकी हुई विचारधारा वाले व्यक्ति का प्रलाप" कहकर ठुकरा दिया था। रॉय की भविष्यवाणी पहली बार मार्शल टीटो तथा स्टालिन के बीच मतभेदों को लेकर सही प्रमाणित हुई। 1948 में बिगड़े रूस और यूगोस्लाविया सम्बन्ध अभी तक घनिष्ठ व मधुर नहीं बन सके हैं। रूस और चीन मतभेद को लेकर एम० एन० रॉय युग में दूसरी बार सही सिद्ध हुए हैं। रॉय की वह भविष्यवाणी जिसे यह कहकर कि "निहित स्वार्थ न होने के कारण साम्यवादी राष्ट्रों में मतभेद नहीं होते" ठुकरा दिया गया था, साकार हो उठी।

चीन-रूस सम्बन्धों का इतिहास
(HISTORICAL EVOLUTION OF SINO-SOVIET RELATIONS)

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के कुछ ही दिनों बाद चीन में साम्यवादियों और राष्ट्रवादियों के बीच गृहयुद्ध छिड़ गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इस गृह युद्ध का स्वरूप भयानक हो गया। सोवियत संघ के लिए बिलकुल स्वाभाविक था कि वह इस गृह-युद्ध की गतिविधि का सूक्ष्म अवलोकन करे, लेकिन चीन के साम्यवादियों को सोवियत संघ से कोई सहायता नहीं मिली। जहाँ एक ओर संयुक्त राज्य अमरीका च्यांग काई शेक की राष्ट्रवादी सरकार की सहायता जी-जान से कर रहा था वहाँ सोवियत संघ तटस्थ राज्य की तरह खड़ा होकर इस गृह-युद्ध की प्रगति एवं स्वरूप को देख रहा था। वस्तुतः स्टालिन चीन के आन्दोलन को कम्युनिस्ट आन्दोलन नहीं मानता था।

जुलाई, 1949 को चीनी क्रान्ति के नेता माओ-त्से-तुंग ने 'जनता के लोकतन्त्रीय अधिनायकतन्त्र' विषय पर लिखे अपने सुप्रसिद्ध लेख में बताया कि चीन के नवीन लोकतन्त्र में चार वर्गों—श्रमिक, कृषक, लघु बुर्जुआ तथा राष्ट्रीय बुर्जुआ का सम्मिलित संगठन होगा। इसका नेतृत्व साम्यवादी दल के माध्यम से किसान श्रमिक करेंगे। स्टालिन बड़ी असमंजस की स्थिति में था कि एक साम्यवादी व्यवस्था का स्वरूप ऐसा भी हो सकता है। परन्तु चीन में कम्युनिस्ट आन्दोलन की जड़ें इतनी मजबूत हो गयी थीं कि सोवियत सहायता के अभाव में भी साम्यवादियों को सफलता मिली। च्यांग काई शेक पराजित हुए और 1 अक्टूबर, 1949 को पीकिंग में चीन के जनवादी गणराज्य की घोषणा की गयी। चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना के तुरन्त बाद चीन-रूस मैत्री तेजी से विकसित हुई, लेकिन कुछ ही वर्षों बाद दोनों के बीच साम्यवादी जगत के नेतृत्व के लिए तीव्र प्रतिस्पर्द्धा छिड़ गयी, विभिन्न प्रश्नों पर सैद्धान्तिक मतभेद उग्र हो गये। सीमा-विवाद उठ खड़े हुए और सशस्त्र सीमा संघर्ष भी हुए। प्रो० वी० पी० दत्त के शब्दों में, "चीन और रूस की विदेश नीतियों के प्रारम्भिक बिन्दु और परिकल्पनाएँ लगभग समान हैं परन्तु उनके निष्कर्षों में काफी भिन्नताएँ हैं। इसी कारण उनके जलमार्ग अलग-अलग हो गये हैं।"[1]

रूस-चीन सहयोग का काल
(THE PERIOD OF CO-OPERATION BETWEEN CHINA AND RUSSIA)

जब चीन में साम्यवादी शासन स्थापित हो गया तो सोवियत संघ के लिए स्वाभाविक था कि साम्यवादी परिवार के इस नये सदस्य का हार्दिक स्वागत करे। चीन भी न केवल रूसी दोस्ती का इच्छुक था बल्कि साम्यवादी दुनिया में कनिष्ठ स्थिति एवं भूमिका ग्रहण करने के लिए तैयार था। माओ ने अपनी विदेश नीति का 'एक ओर झुको सिद्धान्त' प्रतिपादित करते हुए घोषणा की कि "विजय प्राप्त करने व अपने आपको सुदृढ़ बनाने के लिए हमें एक ओर (रूस की ओर) झुकना चाहिए।" माओ के ये विचार फरवरी 1950 की रूस-चीन सन्धि के आधार बने। वस्तुतः 24 फरवरी, 1950 को दोनों देशों के बीच सन्धियाँ सम्पन्न हुईं: (1) 30 वर्ष के लिए मैत्री और पारस्परिक सहायता की सन्धि, (2) च्यांग-चुंग रेलवे, पोर्ट आर्थर तथा दायरन से सम्बद्ध सन्धि, (3) ऋण सम्बन्धी सन्धि। प्रथम सन्धि के अन्तर्गत जापानी अथवा उसके सहयोग से किसी भी विदेशी आक्रमण की स्थिति में दोनों देशों ने एक-दूसरे की सहायता करने तथा साथ ही पारस्परिक हितों पर आँच लाने वाली किसी भी सन्धि में शामिल न होने का निश्चय किया। जापान के साथ शान्ति सन्धि के लिए प्रयास करने, समान हितों के अन्तर्राष्ट्रीय मसलों पर आपसी विचार-विमर्श करते रहने तथा पारस्परिक निकटतम आर्थिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करने पर सहमति प्रकट की गयी। द्वितीय सन्धि द्वारा सोवियत संघ ने 1952 के अन्त तक चीन की च्यांग-चुंग रेलवे और दायरन व पोर्ट आर्थर के बन्दरगाह चीन को लौटाने का वचन दिया। तीसरी सन्धि द्वारा सोवियत संघ ने चीन को 5 वर्ष की अवधि के लिए 3 अरब डॉलर का ऋण देना भी स्वीकार किया जो 31 दिसम्बर, 1954 के पश्चात् दस किस्तों में लौटाया जाना निश्चित हुआ था।

सन्धियों के सम्पन्न होने के उपरान्त कुछ वर्षों तक रूस-चीन मैत्री विकसित होती रही। सितम्बर 1952 में च्यांग-चुंग रेलवे चीन को लौटा दी गयी, 1955 में पोर्ट आर्थर चीन को हस्तान्तरित कर दिया गया। दोनों देशों के व्यापार में निरन्तर वृद्धि होने लगी। चीन का लगभग 70% व्यापार रूस के साथ होने लगा। रूस ने मित्रता को दृढ़ बनाने के उद्देश्य से सैकड़ों तकनीकी कर्मचारी और परामर्शदाता चीन भेजे व हजारों की संख्या में चीनी युवक औद्योगिक

[1] "Soviet Union and China started from the sameassumption but proceeded to different conclusions and consequently divergent into different paths." —*V. P. Dutt*

प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए रूस में आये। 1953 में औद्योगीकरण योजना शुरू करने, 51 नये औद्योगिक संस्थानों की स्थापना करने और 50 पुराने संस्थानों के लिए रूस ने चीन को आर्थिक सहायता भी प्रदान की। 11 अक्टूबर, 1954 को एक समझौते के अन्तर्गत उसने चीन को लगभग 1 अरब रूबल मूल्य के यन्त्र, उपकरण व ऋण देने, मिश्रित कम्पनियों सम्बन्धी सभी अधिकार चीन को सौंप देने और रेलवे निर्माण तथा शिल्प वैज्ञानिक गतिविधियों में उसके साथ सहयोग करने का वचन दिया। 1954 में ही रूस ने चीन को अणु शक्ति उत्पादन में भी सहयोग देना स्वीकार किया, परन्तु साथ ही यह भी तय हुआ कि चीन रूस की पूर्व स्वीकृति के विना आणविक परीक्षण नहीं करेगा। 1954 में चीन का नया संविधान वना जिसकी प्रस्तावना में चीन एवं सोवियत संघ की अटूट मैत्री का उल्लेख किया गया। रूस ने साम्यवादी चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ में स्थान दिलाने के लिए भरसक प्रयत्न किये। 1950 के बाद सभी अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर दोनों राष्ट्र एक स्वर में वोलने लगे। चाहे कोरिया में युद्ध अथवा शान्ति का मामला हो या वियतनाम में होची-मिह्न के शासन की मान्यता का प्रश्न हो—विश्व के इन दोनों वड़े समाजवादी राष्ट्रों ने समान नीति अपनायी। मित्रता का यह जोश इतना प्रवल था कि चीन के एक प्रमुख समाचार-पत्र ता कुंग-पांओ ने अपने सम्पादकीय में लिखा कि "रूसी और चीनी भाइयों में जो प्रेम पाया जाता है वह इतना सच्चा, गम्भीर, हार्दिक और स्थायी है कि कोई भी शैतान इसे भंग नहीं कर सकेगा।"

रूस-चीन मतभेद : कटु वैमनस्यता का काल
(SINO-SOVIET RIFT : THE PERIOD OF HOSTILE ENMITY)

प्रो० वी० पी० दत्त के अनुसार चीन-रूस मतभेद उस विन्दु पर पहुँच चुके हैं जहाँ से लौटना असम्भव है। दोनों देशों में मतभेदों की खाई काफी चौड़ी है, विवाद काफी गहरे हैं, उनमें साम्यवादी जगत का नेतृत्व करने की ही प्रतिस्पर्द्धा नहीं है अपितु राष्ट्रीय हितों में टकराहट इतनी भयंकर है कि आपसी लीपापोती और सामंजस्यपूर्ण सम्वन्धों की गुंजाइश कम ही रह जाती है।[1]

सोवियत संघ और चीन के मतभेद के कारण सर्वप्रथम 1956 में सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की वीसवीं कांग्रेस में प्रकट हुए। ख़ुश्चेव ने स्टालिन का मूर्तिभंजन किया। उसने व्यक्ति पूजा के स्थान पर सामूहिक नेतृत्व पर जोर दिया। साम्यवाद की रक्षा के लिए उसने पूंजीवाद के साथ शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति अपनाने पर वल दिया। चीन के साम्यवादी नेता ख़ुश्चेव के इस नवीन दर्शन से सहमत नहीं थे। माओ के अनुसार मार्क्सवाद में संशोधन करने की आवश्यकता नहीं थी। 1959 में ख़ुश्चेव ने अमरीका का भ्रमण किया और कैम्प डेविड में आइजनहॉवर से मुलाकात की। चीनी नेताओं ने इसे साम्यवाद के प्रति विश्वासघात कहा। कुछ दिनों वाद रूस-चीन मतभेदों ने सार्वजनिक विवाद का रूप धारण कर लिया। सोवियत संघ ने चीन को कट्टरपन्थी और चीन ने सोवियत संघ को संशोधनवादी कहना शुरू कर दिया। जुलाई 1960 में चीन को विकास योजनओं में लगे सभी सोवियत वैज्ञानिकों और विशेषज्ञों को सोवियत संघ वापस वुला लिया गया। चीन को प्रदान की जाने वाली तकनीकी सहायता वन्द कर दी गयी। चीनी नागरिकों ने भी सोवियत संघ छोड़ना शुरू कर दिया। 1962 के अक्टूबर में क्यूबा के प्रति सोवियत संघ के द्वारा वरती गयी नीति की निन्दा चीन में सार्वजनिक तौर से की गयी। 1962 के भारत-चीन युद्ध के दौरान सोवियत संघ ने जो रुख अपनाया, चीनी नेताओं ने उसकी भी कटु आलोचना की। 25 जुलाई, 1963 को मास्को में सोवियत संघ द्वारा अमरीका और ब्रिटेन के

1 "The Sino-Soviet split has almost reached the point of no return. The gulf between the two is too wide, the differences too deep seated, the prestige of leadership of the two countries too heavily involved their national interests as seen by the two leaders too widely divergent to patchwork, let alone a reconcilation." —*V. P. Dutt*

साथ अणु-परीक्षण निषेध सन्धि पर हस्ताक्षर किये जाने को चीनी नेताओं ने अनुचित ठहराया। 1963 में माओ-त्से-तुंग ने मास्को जाने से इनकार कर दिया। 1964 में चीनी रेडियो और समाचार-पत्र ख़ुश्चेव को अमरीका का पिट्ठू कहने लगे। 1964 के बाद चीनी नेता सोवियत नेताओं को 'सामाजिक साम्राज्यवादी' कहने लगे। 2 मार्च, 1969 को पूर्वी एशिया में उसूरी नदी के टापू दमिश्क को लेकर इन दो साम्यवादी देशों में सीधी सैनिक भिड़न्त हो गयी। 1975 के अन्तिम दिनों तक यह स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि इन दोनों देशों का सीमा-विवाद जल्दी खत्म होने वाला नहीं है। आज स्थिति यह है कि दोनों देश खुल्लमखुल्ला एक-दूसरे के अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्यों को विफल करने वाली नीतियों का अनुसरण करने लगे हैं।

रूस-चीन संघर्ष के मूल कारण
(THE SINO-SOVIET RIFT : THE BASIC CAUSES)

यद्यपि दोनों देश साम्यवादी हैं, दोनों का उद्देश्य पूंजीवाद का समूलोन्मूलन है और चीनी विदेश नीति का एक प्रमुख ध्येय सोवियत संघ के साथ सब बातों में सहयोग करना है, तथापि 1956 से दोनों देशों में विभिन्न प्रश्नों पर मतभेद बढ़ने लगे। आगे चलकर 1969 के बाद इन मतभेदों ने संघर्ष का रूप धारण कर लिया है। चीन-रूस मतभेद (संघर्ष) के मूल कारण निम्नलिखित हैं :

1. **सैद्धान्तिक मतभेद**—चीन और रूस के बीच तनाव के मूल में सैद्धान्तिक संघर्ष की भूमिका मुख्य रही है। इन सैद्धान्तिक मतभेदों की अभिव्यक्ति सोवियत साम्यवादी दल की 20वीं कांग्रेस में हुई। ख़ुश्चेव ने स्टालिन की मृत्यु के बाद बदलती हुई विश्व राजनीति के सन्दर्भ में नूतन विचार प्रस्तुत किये थे। नाभिकीय युग (Nuclear Age) के सन्दर्भ में मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को व्यावहारिक बनाने के लिए उसके मूल सिद्धान्तों में भी कुछ उलट-फेर किया गया। जैसे मार्क्सवाद के अनुसार, पूंजीवाद को मिटाने के लिए युद्ध अवश्यम्भावी है, लेकिन ख़ुश्चेव का मत था कि वर्तमान युग में युद्ध 'नाभिकीय युद्ध' होगा, जिसमें पूंजीवादियों के साथ साम्यवादी भी मिट जायेंगे। अतः युद्ध की अनिवार्यता का सिद्धान्त पुराना पड़ गया है और साम्यवाद की रक्षा करने के लिए पूंजीवाद के साथ शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति अपनानी चाहिए। उसका विचार था कि पूंजीवाद अपनी आन्तरिक दुर्बलताओं से इतना ग्रस्त है कि आने वाले युग में भी पूंजीवाद को मिटाने के लिए हिंसा की आवश्यकता नहीं होगी और शान्तिपूर्ण तरीके से पूंजीवादी समाज में परिवर्तन आ जायेगा। चीन ख़ुश्चेव के दर्शन से सहमत नहीं था। 20वीं कांग्रेस रूस-चीन सम्बन्धों में एक मोड़ था और इसके उपरान्त सैद्धान्तिक दृष्टि से ये दोनों राष्ट्र विरोधी मार्गों पर चलने लगे। स्टालिन के बाद शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का सिद्धान्त सोवियत विदेश नीति का एक निर्धारक तत्व बन गया। इसके विपरीत, चीन के कर्णधार माओ-त्से-तुंग ने चीन की विदेश नीति का प्रमुख अंग 'युद्ध की अनिवार्यता' को बनाया। माओ का विचार था कि प्रथम विश्वयुद्ध ने रूस की क्रान्ति को और द्वितीय विश्वयुद्ध ने चीन की क्रान्ति को जन्म दिया। तीसरा महायुद्ध सारे संसार को साम्यवादी बनायेगा।

रूस और चीन के मध्य सैद्धान्तिक मतभेदों की खाई निरन्तर चौड़ी होती गयी। यूगोस्लाविया को सोवियत गुट में वापस बुलाने के लिए रूस ने प्रयत्न किया तो चीन को बड़ा बुरा लगा। जून 1960 में बुखारिस्ट में हुए रूमानिया साम्यवादी दल के तृतीय सम्मेलन के अवसर पर जब रूसी प्रधानमन्त्री ने घोषणा की कि "इधर विश्व की स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं जिन पर पर्दा नहीं डाला जा सकता है और न उसकी उपेक्षा ही की जा सकती है। आज का युग अणु युग है। साम्राज्यवादी राष्ट्रों की होड़ के बावजूद साम्राज्यवादी प्रगति कर रहे हैं। उनकी शक्ति बढ़ रही है; अतः अब युद्ध अनिवार्य नहीं है और साम्यवादी व गैर-साम्यवादी राष्ट्र शान्तिपूर्ण ढंग

से भी रह सकते हैं।" तब चीनी प्रतिनिधि-मण्डल के नेता ने इसका विरोध करते हुए कहा कि जब तक साम्राज्यवाद विद्यमान है, युद्ध का खतरा बना रहेगा। अतः साम्राज्यवाद के नाश और साम्यवाद की विजय के लिए युद्ध अनिवार्य है। चीन और रूस में क्रान्ति के सिद्धान्त के बारे में भी मतभेद उभरने लगा। चीनी लेनिन के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं कि समाजवाद लाने के लिए क्रान्ति आवश्यक है, क्रान्ति में तथा गृह-युद्ध में साम्यवादियों को राजनीतिक सत्ता बलपूर्वक हस्तगत कर लेनी चाहिए, विश्व में क्रान्ति फैलाने का प्रयास करना चाहिए। चीन का रूस पर यह आरोप है कि उसने क्रान्ति के विचार को भुला दिया है, वह अब क्रान्तिकारी नहीं रहा, शान्ति और आर्थिक विकास पर बल देने लगा है। इसके विपरीत, रूस का मत है कि साम्यवाद लाने के लिए क्रान्ति के अतिरिक्त अन्य भी उपाय है। विभिन्न देशों की संसद के राजनीतिक दलों के साथ गठबन्धन करके भी साम्यवादी शासन स्थापित किये जा सकते हैं जैसा कि 1948 में चैकोस्लोवाकिया में हुआ था, इसके लिए गृह-युद्ध या क्रान्ति अनिवार्य नहीं है। दोनों देशों में व्यक्ति-पूजा (Personality Cult) के बारे में भी मतभेद रहा है। ख्रुश्चेव ने व्यक्ति-पूजा के स्थान पर सामूहिक नेतृत्व पर बल दिया और स्टालिन की निन्दा का आन्दोलन आरम्भ किया जबकि चीन इससे सहमत नहीं था, वह स्टालिन को वीर नेता मानता है। सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता (Dictatorship of the Proletariat) के बारे में भी दोनों देशों में मतभेद रहा है। चीन का यह कहना है कि सोवियत समाज का बुर्जुआकरण तथा उसका 'पतन' हो गया है क्योंकि वह उत्तम और उच्च जीवन-स्तर पर बल दे रहा है और उसके लिए प्रयत्न कर रहा है। ऐसा समाज क्रान्ति का नेता नहीं बन सकता। इसके विपरीत, रूस का यह कहना है कि क्रान्ति के लिए पेट पर पट्टी बांधना आवश्यक नहीं है। रूसी चीनियों के निम्न जीवन-स्तर पर कटाक्ष करते हुए कहते हैं: "रस्सियों का बना जूता पहनना और एक सामान्य प्याले में बहुत पतला शोरबा (Water soup) पीना ही साम्यवाद नहीं है। यदि कोई मजदूर अच्छा जीवन बिताता है तो वह पूंजीपति नहीं हो जाता है। इस प्रकार चीनी नेता सोवियत संघ को 'संशोधनवादी' तथा सोवियत नेता साम्यवादी चीन को 'कट्टरपन्थी' कहकर एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगाने लगे और दोनों देशों के बीच सैद्धान्तिक मतभेद उग्र होते गये।।

2. **नेतृत्व का प्रश्न**—चीन और रूस में मतभेद का एक महत्वपूर्ण कारण नेतृत्व की होड़ है। जब तक साम्यवादी चीन अपने शैशवकाल में था और उसे अपने को शक्तिशाली बनाने के लिए सोवियत सहयोग की आवश्यकता थी, तब तक उसने साम्यवादी जगत के नेतृत्व की महत्वाकांक्षा को छिपाये रखा। परन्तु ज्यों ही चीन ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महाशक्ति के रूप में अपने को स्थापित कर लिया त्यों ही वह रूस का प्रतिस्पर्द्धी बन गया। उसमें रूसी नेतृत्व को चुनौती देने की प्रबल महत्वाकांक्षा जाग्रत हो गयी। चीन की धारणा है कि रूस मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्तों से भटक गया है। चीन अपने आपको ही मार्क्सवाद-लेनिनवाद का सच्चा अनुयायी मानता है। फिर चीनी सभ्यता अति प्राचीन है, जनसंख्या की दृष्टि से चीन दुनिया का सबसे बड़ा देश है और स्टालिन की मृत्यु के बाद माओ-त्से-तुंग समाजवादी जगत के बुजुर्ग नेता के रूप में मार्गदर्शक की भूमिका का निर्वाह करने की क्षमता रखते थे। अतः चीन के मन में साम्यवादी जगत पर एकमात्र नेतृत्व प्राप्त करने की अभिलाषा है। एशिया में सोवियत संघ के प्रभाव का विस्तार देखकर चीन को सोवियत संघ के प्रति कुछ सन्देह होने लगा और इसके कारण भी दोनों के बीच मतभेद बढ़ने लगा। चीन की बढ़ती हुई महत्वाकांक्षा उसे सदैव ही एशिया का नेतृत्व करने के लिए प्रेरित करती रही परन्तु अमरीका और सोवियत संघ के कारण उसे अपने इस उद्देश्य में सफलता नहीं मिली, अतः संघर्ष अवश्यम्भावी था।

3. **भूमध्य सागर का प्रश्न**—चीन भूमध्य सागर पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का उत्सुक है। भूमध्य सागर रूस और चीन के तनाव का एक केन्द्र है। रूस और अमरीका के जहाज तो भूमध्य सागर में घूमते ही है, चीन की पनडुब्बियों ने भी भूमध्य सागर में घूमना शुरू कर दिया है। भूमध्य सागर में चीन की कुछ सैनिक और राजनीतिक आकांक्षाएँ है। चीन चाहता है कि भूमध्यसागरीय देशो पर उसकी बात का वजन रहे; अल्बानिया जैसे जिन साम्यवादी देशों को चीन ने अपने प्रभाव में ले लिया है, उन पर नियन्त्रण बनाये रखा जाय; चीन ने प्रक्षेपास्त्रों से सुसज्जित जिन पनडुब्बियों का विकास किया है, उसकी सैनिक गतिविधियों का क्षेत्र भी निर्धारित कर लिया जाय जिससे कि अमरीका व रूस के मुख्य क्षेत्र उसकी मार में आ सकें। इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखकर भूमध्य सागर में चीन ने सोवियत संघ की चुनौती देना शुरू किया, जिसके परिणामस्वरूप दोनों देशों में तनाव बढ़ा।

4. **रूसी नीतियों के प्रति चीन की शिकायतें**—चीन को रूस से कई शिकायतें है। चीन की शिकायत थी कि रूस चीन को अणु-आयुध प्रदान नहीं करता। उसे अणु बम का रहस्य नहीं बताया। चीन की यह भी शिकायत है कि रूस ने अत्याचारी जारों के शासन में साम्राज्यवादी नीति द्वारा चीन के कुछ प्रदेश अन्यायपूर्ण सन्धियों द्वारा दबा लिये है, जिन्हें वह नहीं लौटाता। चीन की यह भी शिकायत है कि रूस अपने साम्यवादी भाई की सहायता उतनी उदारता और तत्परता से नहीं करता जितनी अपने मित्र असंलग्न रहने वाले भारत, संयुक्त अरब गणराज्य आदि देशों की कर रहा है। जुलाई 1960 में चीन की विभिन्न विकास योजनाओं और कारखानों के निर्माण में लगे सभी सोवियत वैज्ञानिकों, इन्जीनियरों और विशेषज्ञों को तीन दिन के नोटिस पर मास्को ने चीन से रूस वापस बुला लिया। वे लौटते हुए इनके नक्शे भी अपने साथ लेते गये और रूस ने उनके लिए पहले से तय की गयी सामग्री और मशीनें देना बिल्कुल बन्द कर दिया। चीन की आर्थिक प्रगति को मझधार में छोड़कर जाने वाले मास्को के प्रति पीकिंग का रोष स्वाभाविक है।

रूस अपने नेतृत्व में साम्यवाद के विस्तार की कल्पना करता है, किन्तु दूसरी ओर चीन राष्ट्रीय साम्यवाद में विश्वास करता है। माओ-त्से-तुंग की मान्यता थी कि, 'सैकड़ों फूलों को एक साथ खिलने दो।' इसी कारण हंगरी और चैकोस्लोवाकिया में रूसी हस्तक्षेप चीन ने पसन्द नहीं किया बल्कि 1968 में रूस ने जब चैकोस्लोवाकिया में हस्तक्षेप किया तो चीन ने सोवियत संघ की कटु आलोचना की।

5. **निःशस्त्रीकरण का प्रश्न**—चीन निःशस्त्रीकरण का विरोधी है। रूस द्वारा की गयी अणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि का कटु आलोचक है, जबकि रूस यह समझता है कि अणु शस्त्रों का निर्माण मानव जाति के विनाश के लिए है, इन पर होने वाले भावी आर्थिक व्यय के भार से जनता दबी जा रही है। यदि निःशस्त्रीकरण पर समझौता हो जाय तो यह सारी धनराशि जनता के जीवनस्तर को ऊँचा करने में लगायी जा सकती है।

6. **सीमा विवाद**—रूस और चीन का सीमा-विवाद काफी पुराना है। चीन और रूस के सीमा-विवाद के तीन क्षेत्र : मंचूरिया, सिक्यांग और वाह्य मंगोलिया है। 1957 में पहली बार पीकिंग में चीन के इतिहास की रूपरेखा नामक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमें चीनी शासकों ने पश्चिम और उत्तर-पूर्व में रूस के कई लाख वर्गमील क्षेत्र पर अपना दावा प्रस्तुत करते हुए 1689, 1858, 1860, 1884 और 1894 की सन्धियों को रूस के जार शासकों द्वारा चीन पर बलपूर्वक थोपी हुई सन्धियाँ बताया और स्पष्ट रूस से इस बात का उल्लेख किया कि उपर्युक्त सन्धियों के अन्तर्गत जो चीनी प्रदेश रूस के अधिकार में चला गया है, उसे वापस लेना चीन का लक्ष्य है। 1958 में रूस के प्रधानमन्त्री खुश्चेव जब पीकिंग गये तब सीमा-विवाद का मामला उठाया गया। 1964 मे रूस के सरकारी मुखपत्र प्रावदा ने लिखा। "कोई इस बात से इन्कार नहीं करता कि रूसी जारों ने

विस्तारवादी नीति अपनायी थी, ठीक वैसे ही जैसे चीनी सम्राटों ने मनमाने ढंग से अपनी सीमाओं का विस्तार किया था। लेकिन वर्तमान सीमाएँ इतिहास तथा दैनिक जीवन से मजबूत हो चुकी हैं उन्हें बदला नहीं जा सकता।" तव से रूसी सीमाओं पर भारी तनाव रहा है। मार्च 1969 में रूस और चीन के सैनिकों में उसूरी नदी के टापू दम्शिक को लेकर भिड़न्त हो गयी। मार्च 1969 को इस टापू के रक्षकों पर चीनियों ने हमला कर दिया और रूसियों के साथ उनकी जमकर लड़ाई हुई। सफेद वर्फ वाली उसूरी नदी दो साम्यवादी देशों के सैनिकों के रक्त से रंजित हो गयी।

वस्तुतः चीन आक्रामक, साम्राज्यवादी और विस्तारवादी नीति का अनुसरण कर रहा है। उसे अपनी जनसंख्या के पुनर्वास के लिए क्षेत्र की आवश्यकता है। अतः रूसी मंगोलिया, जिसे स्वतन्त्र मंगोलिया जनतन्त्र कहते हैं और जो रूस के प्रभाव में है, चीन की विस्तारवादी नीति का शिकार है। इस क्षेत्र के खनिज पदार्थों पर चीन की नजर है। जब तक चीन और रूस में यह समवर्ती विवाद विद्यमान है तव तक दोनों में संघर्ष की स्थिति रहना स्वाभाविक है।

7. **अमरीकी कूटनीतिक चाल**—अमरीका भी रूस और चीन के मतभेदों को उकसाने के लिए उत्तरदायी है। जव 1969 के वाद रूस-चीन सीमा पर पर झड़पें हुईं तो अमरीकी समाचार-पत्रों में बताया गया कि रूसी सैनिक अधिकारी इस वात पर विचार कर रहे थे कि चीन पर आकस्मिक हमला किया जाये ताकि उसकी परमाणु शक्ति समाप्त हो जाये। वास्तव में, अमरीका यह तो नहीं चाहेगा कि रूस और चीन में वड़े पैमाने पर परमाणु युद्ध हो जाये क्योंकि इसके वड़े दूरगामी परिणाम होंगे। मगर अमरीका यह जरूर चाहता है कि दोनों देशों के वीच इस प्रकार का तनाव वना रहे जिससे विश्व राजनीति में अमरीका को अप्रत्यक्ष लाभ प्राप्त हो।

8. **शक्ति संघर्ष**—मार्गेन्थाऊ के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति के लिए संघर्ष है। चीन और रूस के मतभेद इसी शक्ति संघर्ष की अभिव्यक्ति है। आज चीन रूस की न तो अधीनता स्वीकार करना चाहता है और न उसका पिछलग्गू ही बनना चाहता है। यह रूसी प्रभुत्व को चुनौती दे रहा है। वह सोवियत संघ से झड़प करके अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहता है।

चीन में कहावत है, "आकाश में दो सूर्य नहीं हो सकते।" रूस-चीन में अव मात्र विवाद की वात नहीं रह गयी है, वे खुल्लम-खुल्ला एक-दूसरे के शत्रु हैं। इस वैमनस्य का विप राजनीतिक टीकाओं तक सीमित नहीं रह गया है। वह वहीं से रिसकर साहित्य के आधारभूत स्तर तक पहुँच गया है।

चीन और रूस : कितने पास, कितने दूर
अथवा
रूस-चीन सम्बन्ध : संवाद के बावजूद
(SINO-SOVIET RELATIONS : INSPITE OF DIALOGUE)

सोवियत-चीन सीमा-विवाद को हल करने के लिए कुछ राजनीतिक साधनों का भी प्रयोग किया गया। 27 मार्च, 1969 को सोवियत संघ ने चीन को यह पत्र लिखा कि सीमा-विवादों को युद्ध द्वारा हल नहीं किया जा सकता है अतएव उसूरी नदी के क्षेत्र में सीमा-विवाद का समाधान करने के लिए दोनों देशों के अधिकारियों के वीच निकट में वार्ता होनी चाहिए। उल्लेखनीय है कि सोवियत संघ ने चीन से लगी अपनी सीमा को भी विवादास्पद नहीं माना और न इस पत्र में कोई संकेत दिया बल्कि पत्र में चीन पर पड़ोसी देशों के साथ सीमा-विवाद खड़ा करने का आरोप लगाया।

उत्तर वियतनाम के राष्ट्रपति होची-मिन्ह की अन्त्येष्टि में भाग लेने के वाद 11 सितम्बर, 1969 को जव सोवियत प्रधानमन्त्री कोसीगिन चीन के प्रधानमन्त्री चाऊ ऐन लाई से वातचीत करने के लिए पीकिंग गये तो यह अनुमान लगाया गया कि दोनों पक्ष आये-दिन के सीमा संघर्ष

को टालने के लिए किसी समझौते पर पहुँचना चाहते है, किन्तु बातचीत के एक सप्ताह के भीतर ही जब दोनों ने एक-दूसरे के विरुद्ध पूर्ववत् प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया तो लगा कि वार्ता विफल रही। फिर भी वार्ता के क्रम को जारी रखने के लिए अक्टूबर 1969 में एक सोवियत प्रतिनिधि दल पीकिंग पहुँचा और 20 अक्टूबर से उनके बीच वार्ताएँ शुरू हुई। इन वार्ताओं का उद्देश्य दोनों देशों की सेनाओं का सीमा से पीछे हटना और साथ ही दोनों पक्षों के बीच व्यापारिक वार्ता आरम्भ करना था, लेकिन यह वार्ता भी असफल रही। कुछ दिनो की चुप्पी के बाद सोवियत संघ ने फिर चीन विरोधी प्रचार अभियान छेड़ दिया।

अगस्त 1974 में इस विवाद को तय करने के लिए सोवियत उपविदेश मन्त्री शलियोनिद इलिवे ने पीकिंग की यात्रा की। लेकिन इसका भी कोई परिणाम नही निकला। 24 फरवरी, 1978 को सोवियत संघ की प्रेसीडियम ने चीन की राष्ट्रीय कांग्रेस को एक सन्देश भेजा था जिसमे परस्पर सम्बन्धों का जायजा लेने का आग्रह किया गया था। सोवियत संघ ने इसके लिए एक उच्च-स्तरीय बैठक आयोजित करने का प्रस्ताव भी रखा था। लेकिन चीन ने इसको 'थोथा प्रस्ताव' कहकर ठुकरा दिया। चीन चाहता था कि जब तक सोवियत सेना एक निश्चित क्षेत्र से नहीं हटती तब तक समझौता सम्भव नही।

रूस और चीन की बातचीत का दूसरा दौर (अप्रैल 1982) मास्को में समाप्त हुआ। इससे पहले दोनों प्रतिनिधि अक्टूबर 1981 में बीजिंग मे मिले थे। मास्को वार्ता के बाद चीन के उपविदेश मन्त्री कियान कीचेन ने कहा कि कोई नयी बात नहीं हुई और हमारे मतभेद पूर्ववत् है।

टोक्यो विश्वविद्यालय के प्रो० नकाजीया का कहना है कि दोनों देशों के बीच उच्च-स्तरीय बातचीत के साथ ऐसी कई बातें हुई जिनसे पता चलता है कि दोनों समझौते की दिशा में बढ़ रहे है। रूस की अपेक्षा चीन समझौते के लिए अधिक उत्सुक जान पड़ता है। चीन पिछले लगभग दो दशक से कहता आ रहा था कि पिछली सदी में रूस के जार शासकों ने चीन पर जबरदस्ती जो सन्धियाँ लादीं और लगभग 10 लाख वर्ग किलोमीटर का जो चीनी क्षेत्र हड़प लिया उसे लौटाये बिना समझौता नही हो सकता। बाद मे चीन-रूस सीमा पर रूसी सेना का जमाव कम करने और अफगानिस्तान तथा कम्पूचिया से क्रमशः रूसी और वियतनामी सेनाओं की वापसी की बात और जुड़ गयी। इस प्रकार इस दशक के आरम्भ में चीन की शर्त यह थी कि इन चार बातों को रूस पहले पूरा करे, तब उसके साथ दोस्ती होगी।

अब यांगसी और वोल्गा में बहुत-सा गँदला पानी बह गया है। पानी इतना साफ हो गया है कि चेहरे साफ नजर आते है। 24 मार्च, 1982 को राष्ट्रपति ब्रेझनेव की अपील पर कान देकर चीन ने रूस से समझौता वार्ता नहीं शुरू की वरन् चारों शर्तें भी प्रायः छोड़ दीं। वार्ता का मास्को दौर आरम्भ होने से पूर्व चीन की पत्रिका 'शिजी झिशी' में प्रकाशित लेख में कहा गया, "रूस पर न तो चीन का कोई दावा है और न वह यह कह रहा है कि जारशाही रूस को चीन का जो इलाका सौंपा गया उसे चीन को लौटाया जाये। बात यह हुई कि रूसी पत्रिका 'न्यू टाइम्स' में आरोप लगाया था कि लेख और नक्शे बाँटकर चीन पुराने क्षेत्रीय झगड़े को फिर भड़का रहा है। चीन ने इसी का जवाब दिया। हो सकता है कि 'न्यू टाइम्स' के माध्यम से रूस ने ऐसी स्थिति पैदा की कि चीन को बोलना पड़े। इस प्रकार 'शिजी झिशी' के माध्यम से चीन ने अपनी बात उगल दी। 'शिन हुआ' ने कहा कि चीन तो पिछली सन्धियों और वर्तमान के आधार पर शान्ति से बातचीत करके समस्या हल करना चाहता है। बाद में 'पीकिंग रिव्यू' ने स्थिति को कुछ और स्पष्ट करते हुए कहा कि रूस के मध्य एशिया क्षेत्र मे पामीर पर्वतमाला के पास और आमूर तथा उसूरी के द्वीपों को लेकर कुछ विवाद है, पर इसे शान्ति से हल किया जा सकता है। रूस-चीन

सीमा फौजी दवाव कम करने के बारे में चीन ने कहा कि दोनों पक्ष मिलकर इसे कम कर सकते हैं।

अफगानिस्तान से रूस सेनाओं की पूर्ण वापसी की शर्त को चीन ने छोड़ दिया। अक्टूबर 1981 में पश्चिम जर्मनी के राष्ट्रपति कार्ल कार्स्टेन्स की चीन यात्रा के समय डेंग श्याओ पिंग ने सिर्फ इतना कहा था कि रूस ने जो कुछ किया चीन उसके खिलाफ है। कम्यूचिया के सवाल पर मास्को वार्ता शुभ होने से पूर्व, चीन ने अपने उस पाँच-सूत्री प्रस्ताव को प्रसारित कर दिया जो उसने वीजिंग वार्ता के समय रूस को दिया था। इस पांच-सूत्री प्रस्ताव में कहा है कि कम्पूचिया से वियतनामी सेनाओं की पूर्ण वापसी का कार्यक्रम वियतनाम घोषित कर दे। इसके वाद चीन वियतनाम से वात करने को तैयार होगा। चीन कम्पूचिया की गुट-निरपेक्षता और अपनी व्यवस्था आप चुनने के अधिकार की गारण्टी करने को तैयार है। अक्टूबर 1981 में वीजिंग वार्ता के समय जब चीन ने रूस को यह प्रस्ताव दिया था, तव रूस ने चीन से कहा था कि इसे हनोई तक पहुँचा दिया जायेगा।

किन्तु यह कहना वड़ा कठिन है कि दोनों देशों में पुराने मतभेद किस हद तक हल हो सकते हैं। अफगानिस्तान, हिन्दचीन, अफ्रीका में मास्को द्वारा प्रभाव वृद्धि के प्रयास, नौसेना को सुदृढ़ वनाना, हनोई और क्यूवा के माध्यम से गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों में प्रभाव का प्रसार, रूस-चीनी सीमा पर दस लाख शस्त्र सुसज्जित सैनिकों की उपस्थिति पीकिंग के लिए मास्को की विश्व पर प्रभुता का विस्तार करने की रणनीति हैं। इन सव क्षेत्रों में चीन अमरीका के साथ है और रूस का कट्टर विरोधी है।

फिर भी दोनों देशों में विरोध कम होने का कारण चीन की आन्तरिक परिस्थितयाँ हो सकती हैं। इस समय वहाँ डेंग तथा उसके साथियों का पक्ष प्रबल है। अव चीन में माओवाद के स्थान पर डेंगवाद प्रवल होने लगा है। डेंग चीन का आधुनिकीकरण करना चाहते हैं। उन्हें विज्ञापन प्रतियोगिता आदि पूँजीवादी पद्धतियों को अपनाने में और चीन के विश्व वैंक में प्रवेश पर आपत्ति नहीं है। उनका यह विचार है कि पश्चिमी देशों के साथ पूर्णरूप से एकता और मैत्री रखने के स्थान पर यूगोस्लाविया की भाँति दोनों से समान दूरी रखने तथा गुट-निरपेक्षता की नीति अपनाने में पीकिंग को अधिक लाभ होगा। अतः रूस के साथ उग्र विरोध की नीति श्रेयस्कर नहीं है। अतः चीन और रूस के वीच साम्यवाद के दूसरे दौर से ऐसा आभास मिल रहा है जैसे वरसों की दूरी भुलाकर दोनों देश गले मिलने को तैयार हों।

हाल ही में चीन के उप-प्रधानमन्त्री ली पेंग मास्को में गोर्वाच्योव से मिले और उन्हें चीनी साम्यवादी पार्टी के महासचिव हुयाओ वांग की ओर से हार्दिक वधाई और शुभकामनाएँ दीं। दिसम्वर 1984 में रूस के प्रथम उप-प्रधानमन्त्री इवान आखिपोव पेइचिंग गये थे। वे पिछले 15 वर्षों में चीन जाने वाले सवसे वड़े रूसी अधिकारी थे। उनकी यात्रा के दौरान दोनों पक्ष इस वात पर सहमत हुए कि 1986-90 की अवधि के लिए व्यापार समझौता किया जाये और व्यापारिक, आर्थिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी सहयोग वढ़ाने के लिए संयुक्त आयोग की नियुक्ति की जाय। चीन की राष्ट्रीय जन कांग्रेस (संसद) का प्रतिनिधिमण्डल 3 से 15 मार्च, 1985 तक रूस में था। दोनों देशों में फूट पड़ने के वाद यह इस प्रकार का पहला आदान-प्रदान है। रूसी प्रतिनिधिमण्डल ने भी चीन जाने का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। दिसम्वर 1985 में चीन द्वारा सोवियत संघ के अपहृत विमान के यात्री और चालकदल के सदस्य सुरक्षित सोवियत संघ को लौटा दिये गये जिसके उत्तर में सोवियत संघ ने चीन को धन्यवाद ज्ञापित किया। अगस्त 1986 में गोर्वाच्योव ने कहा कि उसूरी नदी के क्षेत्रों में रूस सीमा के निर्धारण पर चीन से वार्ता के लिए तैयार है। रूस ने यह भी कहा कि रूस चीन से लगती सीमा से अपनी सेना हटाने को भी तैयार है।

फरवरी 1987 के मध्य में सोवियत संघ व चीन के बीच मास्को में सीमा के प्रश्न पर वार्ता हुई। बातचीत उसूरी और आमूर नदियों से लगे द्वीपों और जलमार्ग पर केन्द्रित रही। 21 अगस्त, 1987 को मास्को व पीकिंग में एक साथ घोषणा की गयी कि पूर्ववर्ती सीमान्त क्षेत्र की वास्तविक हदबन्दी का कार्य पूरा करने के लिए दोनों सरकारें विशेषज्ञों का एक कार्यकारी दल नियुक्त करेंगी।

15 मई, 1989 को सोवियत संघ के राष्ट्रपति गोर्बाच्योव ने अपनी 4-दिवसीय चीन की सरकारी यात्रा प्रारम्भ की। 1959 में ख्रुश्चेव तथा माओ की भेंट वार्ता के बाद गोर्बाच्योव की यात्रा किसी भी सोवियत नेता की यह प्रथम यात्रा है। गोर्बाच्योव की इस यात्रा से दोनों देशों के मध्य तनाव कम हुआ और सोवियत संघ ने सीमा से हजारों सैनिकों को हटाने की घोषणा की। यात्रा की समाप्ति पर दोनों देशों के बीच कई महत्वपूर्ण समझौते हुए।

सोवियत संघ की सेनाओं का अफगानिस्तान से हटने का निर्णय, कम्बोडिया की वियतनाम से मुक्ति तथा रूस-चीन सीमा पर से सोवियत सेनाओं का हटाया जाना आदि ऐसी घटनाएँ हैं जिनका चीन ने दिल खोलकर स्वागत किया है। इस तरह स्पष्ट है कि रूस के बारे में चीन का दृष्टिकोण बदल रहा है।[1] ऐसा लगता है कि रूस एक ओर चीन को अमरीका से अलग करना चाहता है और दूसरी ओर चीन से अपने देश के व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाना चाहता है।

चीन-रूस संघर्ष के परिणाम
(THE SINO-SOVIET CONFLICT : ITS IMPACT)

चीन और रूस संघर्ष के कतिपय प्रभाव इस प्रकार हैं: (1) इससे साम्यवादी जगत की एकजुटता को आघात पहुँचा। (2) इसने साम्यवादी विचारधारा में बहुकेन्द्रवाद (Polycentrism) को जन्म दिया। (3) इसके कारण राष्ट्रीय साम्यवाद की भावना को बल मिला। (4) साम्यवादी विश्व पर सोवियत संघ का एकाधिकार समाप्त हो गया। (5) पश्चिमी यूरोपीय देशों व चीन के बीच व्यापारिक सम्बन्ध कायम हो सके। (6) अमरीका और चीन एक-दूसरे के निकट आने लगे तथा उनके बीच सम्बन्धों में सुधार का मार्ग प्रशस्त हुआ।

इससे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में संयुक्त राज्य अमरीका, रूस और चीन के सम्बन्धों में, चीन ने एक नवीन त्रिकोणात्मक संघर्ष उत्पन्न कर दिया है। इससे न केवल साम्यवादी देशों की एकता को गहरा धक्का पहुँचा है अपितु उपर्युक्त तीनों देशों के सम्बन्धों में एक नवीन स्थिति उत्पन्न हो गयी है। अब तक रूस और चीन दोनों एक-दूसरे पर यह आरोप लगा रहे थे कि वे अमरीकी साम्राज्यवादियों के साथ मिले हुए है। यह दोषारोपण दो उद्देश्यों से किया जा रहा था। पहला उद्देश्य साम्यवादी जगत मे अपने विरोधी को बदनाम करना था व दूसरा अपनी विदेश नीति को नया मोड़ देना था। दूसरे उद्देश्य का यह परिणाम हुआ कि जो साम्यवादी देश पहले संयुक्त राज्य अमरीका को अपना सबसे बड़ा शत्रु समझते थे, वे उसके स्थान पर अब एक-दूसरे को ऐसा समझने लगे।

कुछ लोगों के मतानुसार अब सोवियत संघ और चीन का भावी सशस्त्र संघर्ष अनिवार्य है। यद्यपि दोनों पक्षों ने अपनी सीमान्त सीमाओं का भारी जमाव रखा है; फिर भी निम्नलिखित कारणों से दोनों देशों में बड़े पैमाने पर युद्ध छेड़े जाने की कोई सम्भावना प्रतीत नहीं होती।

चीन ऐसा युद्ध इस समय कई कारणों से नहीं छेड़ना चाहता है। सबसे बड़ा कारण यह है कि इस समय वह ऐसी स्थिति में नहीं है कि युद्ध छेड़कर सफलता प्राप्त कर सके। इस समय

1 पी० के० हरिवंश, क्या चीन-रूस निकट आ रहे है?—**राजस्थान पत्रिका,** 11 सितम्बर, 1986।

में असाधारण वृद्धि हुई। यदि इसमें पूर्वी यूरोप के सोवियत पक्षपाती राज्यों—पूर्वी जर्मनी, उत्तरी कोरिया, वाह्य मंगोलिया को सम्मिलित किया जाय, तो सोवियत गुट के पास 94 करोड़ 94 लाख जनसंख्य तथा 1,35,19,259 वर्गमील का क्षेत्रफल हो जाता है। इससे विश्व का शक्ति सन्तुलन जो पहले जनसंख्या और क्षेत्रफल की दृष्टि से संयुक्त राज्य अमरीका के गुट के पक्ष में था वह अव सोवियत्त गुट के पक्ष में हो गया।

3. **अमरीकी नीति की विफलता**—साम्यवादी चीन की सफलता सुदूर-पूर्व में संयुक्त राज्य अमरीका की कूटनीति की वहुत बड़ी विफलता है। वार्शिगटन ने च्यांग काई शेक को वनाये रखने के लिए पानी की तरह धन वहाया। जापान की विजय के बाद उसने इसे 14 करोड़ 15 लाख डालर के जहाज दिये, 70 करोड़ डालर उधार पट्टे के अन्तर्गत तथा 1948 के 'चीन कानून' के अनुसार 12½ करोड़ डालर का अनुदान दिया। किन्तु इतनी अधिक सहायता के बाद भी वह च्यांग द्वारा कम्युनिस्टों को नहीं हरा सका, अपितु राष्ट्रवादी चीन के सेनापतियों की अयोग्यता के कारण संघर्ष में वहुत-सी सैनिक सामग्री, लड़ाई की लूट के रूप में साम्यवादी चीन को प्राप्त हुई।

4. **पश्चिमी गुट की नीति में बुनियादी परिवर्तन**—इससे पश्चिमी गुट की नीति व परिस्थिति में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए, जैसे (i) एशिया में कम्युनिज्म के प्रसार को रोकने के लिए अमरीका ने सैनिक सन्धियाँ करने तथा 'सीटो' बनाने की नीति स्वीकार की; (ii) अमरीका ने फारमोसा में च्यांग सरकार की रक्षा को अपना उत्तरदायित्व मान लिया; (iii) इसके अभ्युत्थान ने संयुक्त राज्य अमरीका को भारत तथा जापान के उद्योग-धन्धों के विकास के लिए तथा पूर्व में इन्हें लोकतन्त्र का दुर्ग बनाने के लिए बड़े परिमाण में सहायता देने को बाधित किया है; (iv) अमरीका ने यह भी निश्चय कर लिया कि आवश्यकता पड़ने पर वह स्वयं अपने सैनिक साधनों से भी प्रत्यक्ष रूप से साम्यवादी प्रसार का विरोध करेगा। इसी निश्चय के फलस्वरूप उसने 1950 में दक्षिण कोरिया की रक्षा के लिए अपनी सेनाएँ भेजीं।

5. **सोवियत संघ के लिए वरदान या अभिशाप**—सोवियत संघ के लिए चीन में साम्यवादियों की विजय एक वरदान और अभिशाप दोनों ही थीं। यह एक वरदान थी क्योंकि इससे साम्यवादी गुट की जनसंख्या, साधन स्रोतों और शक्ति में अत्यधिक वृद्धि हुई। परन्तु साथ ही इसमें रूस के लिए भावी कठिनाइयों के बीज भी निहित थे। चीन में साम्यवादियों की विजय से यह सम्भावना बन गयी कि चीन साम्यवादी गुट के नेतृत्व के लिए सोवियत रूस का प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध हो सकता था और ऐसा हुआ भी। आज सोवियत संघ और साम्यवादी चीन के बीच गम्भीर मतभेद हैं।

6. **सम्पूर्ण एशिया पर क्रान्तिकारी प्रभाव**—पामर और परकिन्स के शब्दों में, "चीन में साम्यवादी क्रान्ति का सम्पूर्ण एशिया पर क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ना निश्चित है।" चीन की साम्यवादी क्रान्ति ने एक ओर एशिया और अफ्रीका में राष्ट्रवादी शक्तियों को प्रोत्साहित किया है तो दूसरी ओर एशियाई विकास के मार्ग को अवरुद्ध किया हैं। चीन भारत को अपना प्रतिद्वन्द्वी मानकर एशिया और अफ्रीका में भारत विरोधी वातावरण उत्पन्न करने का सतत् प्रयत्न करता रहा है।

7. **नवीन अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का उत्पन्न होना**—साम्यवादी चीन की स्थापना से नयी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं। इनमें दो उल्लेखनीय हैं—पहली समस्या साम्यवादी चीन को मान्यता (recognition) तथा उसके प्रतिनिधि को संयुक्त राष्ट्र संघ में विठाने की थी। इस प्रश्न पर अमरीका तथा ब्रिटेन में गम्भीर मतभेद रहे। अमरीका के प्रवल विरोध के कारण 1971 तक साम्यवादी चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य वनाने के सभी प्रयत्न विफल हो गये।

दूसरी समस्या फारमोसा की है। चीन से भागने के बाद 7 सितम्बर, 1949 को च्यांग काई शेक ने फारमोसा टापू पर शरण ली तथा ताईपे नगर को चीनी गणराज्य की राजधानी घोषित किया। 13,857 वर्गमील का यह टापू चीन के तट से 115 मील है। इसके पश्चिम में फारमोसा जलडमरूमध्य में पेस्काडोर्स के 48 छोटे द्वीप तथा चीन के तट से 12 मील दूर किमोय और मात्सु के टापू हैं। इस समय इन सब पर च्यांग का अधिकार है किन्तु साम्यवादी चीन इन्हें चीन का हिस्सा समझता है और इन सब पर अपना अधिकार करना चाहता है। उसका यह कहना है कि इन पर संयुक्त राज्य अमरीका की नौ सेना की सहायता से च्यांग का शासन उनके लिए बहुत बड़ा खतरा है। इन टापुओं को हस्तगत करने के उसके प्रयत्नों ने पिछले कई वर्षों में महान अन्तर्राष्ट्रीय संकट उत्पन्न किये हैं।

8. **पूर्वी और दक्षिणी-पूर्वी एशिया की राजनीति पर प्रभाव**—पूर्वी और दक्षिणी-पूर्वी एशिया की राजनीति पर क्रान्ति का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। के० एम० पणिक्कर के शब्दों में, "चीन एक महाशक्ति बन गया और इस रूप में मान्यता प्रदान किये जाने पर जोर दे रहा है। इस प्रकार की मान्यता जिन सामंजस्यों की माँग करती है वे सरल नहीं हैं और सुदूर-पूर्व में जो संघर्ष है वह इस प्रतिवाद का परिणाम है।" वस्तुतः द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद पूर्वी और दक्षिणी-पूर्वी एशिया में चीन-अमरीका एक-दूसरे के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी बन गये जिससे यह प्रदेश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का संकट क्षेत्र (crisis area) बन गया।

संक्षेप में, चीन की साम्यवादी क्रान्ति के फलस्वरूप शीत-युद्ध में और अधिक तीव्रता आ गयी। जनरल स्मट्स ने 1921 में जो बात कही थी कि "रंगमंच अब यूरोप से दूर पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर में पहुँच गया है" वह 1949 के बाद सत्य सिद्ध हुई। डॉ० हरीश कपूर के शब्दों में, "विश्व राजनीति में शक्ति सम्पन्न देश के रूप में चीन का अभ्युदय एक रोमांचकारी घटना है।"[1]

साम्यवादी चीन की विदेश नीति के उद्देश्य
(THE OBJECTS OF CHINA'S FOREIGN POLICY)

चीनी विदेश नीति के लक्ष्यों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—(i) राष्ट्रीय हित या स्वार्थ; (ii) विश्वव्यापी क्रान्ति का दूरवर्ती लक्ष्य। पीकिंग का राष्ट्रीय हित अपने देश के सभी पुराने प्रदेशों को साम्यवादी शासन के अन्तर्गत लाना है। दूसरा मौलिक राष्ट्रीय हित राष्ट्रीय सुरक्षा का है। इस दृष्टि से साम्यवादी चीन एशिया से सभी पश्चिमी शक्तियों को निकालना चाहता है और जापान या भारत जैसे किसी अन्य एशियाई राष्ट्र को सुदृढ़ सैनिक शक्ति नहीं बनने देना चाहता। उत्तरी कोरिया तथा वियतनाम को अपने देश की रक्षा के लिए बहुत आवश्यक समझता है और यहाँ किसी शक्ति का अड्डा नहीं बनने देना चाहता।

संक्षेप में, चीन की साम्यवादी सरकार ने अपनी विदेश नीति के निम्नांकित लक्ष्य निर्धारित किये हैं :

(i) चीन की स्वतन्त्रता और अखण्डता की रक्षा करना;

---

1 "In the post world war II era, the emergence of China as an united, strong and influential members of the world power system has been a very consequential development. This phenomenon cannot be explained in simplistic terms. To understand this it is essential to look at the whole spectrum of China's foreign policy, her successes and setback ...."
—Harish Kapur, *China in World Politics.*

2 "We need to point out that China's foreign policy is invariable shaped by a number of factors; among the most important are her geography, history, political ideology, the flow and ebb in her internal politics and the exertion of international pressures at any given moment.
—James, C. F. Wang, *Contemporary Chinese Politics* (second edition, 1985), p. 271.

(ii) चीन को एक महाशक्ति, तीसरी बड़ी शक्ति के रूप में पुनः स्थापित करना;
(iii) एशिया में अपना प्रभुत्व स्थापित करना;
(iv) एशिया और अफ्रीका में साम्यवादी जगत का नेतृत्व करना और साम्यवादी शक्तियों, विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका के विरुद्ध संघर्ष में साम्यवादी देशों का सहयोग करना;
(v) प्रवासी चीनियों के हितों, अधिकारों, परिवार और सम्पत्ति की रक्षा करना; आदि
(vi) चीनी सीमाओं का विस्तार करना;
(vii) रूसी प्रभाव क्षेत्र को काटना;
(viii) चीनी राष्ट्र की सैनिक शक्ति में वृद्धि करना।

चीनी विदेश नीति के आधारभूत निर्माणक तत्व
(DETERMINING FACTORS OR BASES OF CHINA'S FOREIGN POLICY)

चीन की विदेश नीति कई तत्वों से प्रभावित है। इनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व हैं—उसकी भौगोलिक स्थिति, ऐतिहासिक परम्पराएँ, राजनैतिक विचारधारा, आन्तरिक राजनीति के उतार-चढ़ाव और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं एवं परिस्थितियों के दबाव।[2] साम्यवादी चीन की विदेश नीति पर माओ की विचारधारा का विशेष प्रभाव रहा है। चीनी विदेश नीति का **पहला प्रेरणा स्रोत** उनके नेताओं का यह अगाध विश्वास है कि चीन विश्व की महाशक्ति है और उसे महाशक्ति की भूमिका अदा करनी है (Playing the role of a big power)। चाऊ एन लाई ने यह दावा किया था कि किसी भी महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय विवाद के समाधान में चीन की बात अवश्य सुनी जानी चाहिए। चीनी विचारधारा के अनुसार, "किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय विशेषतः एशिया से सम्बन्ध रखने वाली समस्या का समाधान तब तक सम्भव नहीं है जब तक चीनी गणराज्य इसमें भाग न ले।" **दूसरा प्रेरक तत्व** उग्र राष्ट्रीयता का तत्व है। चीनी शासक चंगेजखाँ और कुबलायखाँ भी विस्तारवादी नीति के पोषक थे। उनका अपनी राष्ट्रीय सीमा का कोई स्पष्ट मानचित्र नहीं है। स्वराष्ट्र की श्रेष्ठता, परराष्ट्र विरोधी परम्परागत भावना और वृहत् चीनी साम्राज्य की महत्वाकांक्षा उसे उग्र राष्ट्रवादी बना देती है। **तीसरा प्रेरक तत्व** राष्ट्रीय हित हैं। यद्यपि चीन साम्यवाद में विश्वास करता है परन्तु उसकी नीति का वास्तविक निर्धारण सैद्धान्तिक धारणाओं के आधार पर नहीं वरन् राष्ट्रीय हित के आधार पर होता है। अमरीका से शत्रुता उसकी विदेश नीति की सबसे अधिक स्थायी विशेषता रही है, परन्तु इस विरोध का वास्तविक कारण सैद्धान्तिक नहीं था वरन् दोनों देशों के राष्ट्रीय हित एशिया, खासतौर से दक्षिणी-पूर्वी एशिया में अपना-अपना नेतृत्व स्थापित करने के लिए टकराते हैं। **चौथा प्रेरक तत्व परम्परागत प्रवृत्तियों** तथा आधुनिक राष्ट्रवाद का है। चीनी सभ्यता और इतिहास कई हजार वर्ष पुराना है, पिछले दो हजार वर्षों में चीन ने शक्तिशाली होने पर सुदूर-पूर्व, मध्य एशिया और दक्षिणी-पूर्वी एशिया में विशाल साम्राज्य स्थापित किये थे। प्राचीन चीनी अपने देश को सभ्यता का केन्द्र समझते थे और इसीलिए उसे सभ्य जगत का मध्य-बिन्दु मानते थे। 19वीं शती में यूरोप की महाशक्तियों ने उसे परास्त कर, उनसे जबरदस्ती अनेक अपमानजनक सन्धियाँ स्वीकार कराके उनकी भावनाओं को गहरी ठेस पहुँचायी। राष्ट्रीयता के रूप में चीन में उसकी प्रबल प्रतिक्रिया हुई और साम्यवादी शासन इस राष्ट्रीय अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए चीन को विश्व की महान शक्ति बनाकर पश्चिमी शक्तियों तथा जापान के प्रभाव, प्रभुत्व और बर्चस्व का समूलोन्मूलन करना चाहता है। माओ ने 1949 में कहा था कि "हमारा राष्ट्र अब कभी अपमानित राष्ट्र नहीं होगा, हम उठ खड़े हुए हैं।" विदेश नीति का **पाँचवाँ प्रेरक तत्व** साम्यवादी विचारधारा है। चीनी नेताओं का यह दृढ़ विश्वास है कि इस समय साम्यवाद और पूँजीवाद में विश्व-व्यापी क्रान्तिकारी संघर्ष चल

रहा है, इसमें अन्तिम विजय साम्यवाद की होगी। इसे शीघ्र लाने के लिए उनका यह पवित्र कर्तव्य है कि वे साम्यवाद और लेनिनवाद के सिद्धान्तों का प्रसार करें, विश्व की क्रान्ति को सफल बनाने का प्रयत्न करें और साम्यवादी शासन के राजनीतिक क्षेत्र को बढ़ाने का प्रयास करें। चीन के साम्यवाद में कई विचारधाराओं का संगम हुआ है जिसमें मार्क्स, लेनिन, स्टालिन और माओ की विचारधाराएँ हैं। चीनियों का यह दावा है कि माओ के मार्क्सवाद और लेनिनवाद को अपने नवीन विचारों के योगदान से समृद्ध किया। माओ शक्ति के दर्शन में विश्वास करते थे। वे सैनिक और राजनीतिक शक्ति में घनिष्ठ सम्बन्ध मानते थे। उनका कहना था कि "राजनीतिक शक्ति बन्दूक की नली में से उत्पन्न होती है, बन्दूक से कोई भी वस्तु उत्पन्न की जा सकती है।" वे समूचे विश्व को दो वर्गों में बाँटते थे और तटस्थ राष्ट्रों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते थे। माओ ने विदेश नीति के लचकीलेपन पर बड़ा बल दिया है। माओ के शब्दों में, "शत्रु आगे बढ़ता है, हम पीछे हटते हैं। शत्रु खाई खोदता है, हम उसे परेशान करते हैं। वह थकता है, हम उस पर हमला करते हैं। वह पीछे हटता है, हम उसका पीछा करते हैं।" माओ ने यह भी लिखा है कि "किसी घटना या विकास की प्रक्रिया का अनिवार्य अंग इस प्रकार की बातें हैं—हमला करने के लिए रक्षा करना, आगे बढ़ने के लिए पीछे हटना, सामने की स्थिति लेने के लिए घेरा डालने की स्थिति ग्रहण करना, सीधा जाने के लिए टेढ़ा-मेढ़ा चलना।"

चीनी विदेश नीति के शासन
(THE INSTRUMENTS OR MEANS OF CHINA'S FOREIGN POLICY)

अपनी विदेश नीति के उपर्युक्त उद्देश्यों एवं लक्ष्यों को पूरा करने के लिए चीन अनेक प्रकार के साधनों का प्रयोग करता है। इसमें प्रमुख सैनिक शक्ति का दबाव, राजनीतिक कार्य, कूटनीति, प्रचारात्मक मनोवैज्ञानिक युद्ध, आर्थिक प्रतियोगिता और मूलोच्छेद है। इनमें से सभी साधनों का प्रयोग एक साथ सम्भव नहीं है, विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार इन साधनों का उपयोग किया जाता है। इन साधनों के प्रयोग के समय चीन को अपने देश की आन्तरिक परिस्थिति को भी ध्यान में रखना पड़ता है, इसे दृष्टि में रखते हुए ही वह अपने प्रादेशिक दावों, राष्ट्रीय सुरक्षा तथा एशिया में चीनी तथा साम्यवादी प्रभाव की वृद्धि के लक्ष्यों को पूरा करता है।

चीन की विदेश नीति के साधनों में सैनिक शक्ति और मूलोच्छेद (subversion) महत्वपूर्ण हैं। एशिया में चीन का प्रभाव बढ़ने का एक बड़ा कारण उसकी प्रबल सैनिक शक्ति है। चीन इस समय अपने चार मौलिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपनी सैनिक शक्ति का विकास बड़ी तीव्र गति से कर रहा है। पहला उद्देश्य चीन को साम्यवादी आर्थिक पद्धति के साथ महान् राजनीतिक तथा भयावह एवं प्रचण्ड सैनिक शक्ति बनाना है। दूसरा उद्देश्य अपनी इस प्रचण्ड शक्ति द्वारा एशिया महाद्वीप में प्रमुख शक्ति बनना और यहाँ अपना सर्वोपरि प्रभाव स्थापित करना है। तीसरा उद्देश्य एशिया, अफ्रीका तथा दक्षिणी अमरीका में साम्यवादी आन्दोलन का नेतृत्व ग्रहण करना है। चौथा उद्देश्य चीनी नेताओं का दावा है कि 'वे समूचे विश्व में पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध होने वाली क्रान्तियों के प्रबल पोषक हैं तथा क्रान्तिकारी युद्ध में प्रत्येक देश की जनता को सहायता देने के लिए सदैव प्रस्तुत हैं।' चीनी सैनिक शक्ति का मेरुदण्ड जनमुक्ति फौज है जिसकी संख्या 27 लाख है। इस समय चीन अणु बमों, आणविक आयुधों तथा प्रक्षेपास्त्रों के विकास में अपनी समूची शक्ति लगा रहा है। चीन के विदेश मन्त्री ने यह घोषणा की थी कि "यदि हमारे पास पतलून खरीदने का पैसा भी न हो, हमें नंगा नहाना पड़े, फिर भी हम अणु बम बनायेंगे।"

सैनिक शक्ति के अतिरिक्त चीनियों का अपने उद्देश्यों की प्राप्ति का दूसरा साधन मूलोच्छेद है। मूलोच्छेद का अर्थ है प्रच्छन्न या गुप्त रूप से अन्दर ही अन्दर विरोध से देश की शक्ति की जड़ों को खोखला करना। यह सैनिक और राजनीतिक दो प्रकार का है। राजनीतिक मूलोच्छेद के प्रमुख

तत्व हैं—प्रचारात्मक साधन, सहानुभूति रखने वाले संगठनों का निर्माण, सांस्कृतिक शिष्टमण्डल, कम्युनिस्ट पार्टियाँ, असन्तुष्ट नेता और आर्थिक सहायता। इन सब साधनों का प्रयोग ऐसी कुशलता से किया जाता है कि विदेशों में साम्यवाद का विरोध करने वाली सरकारों की जड़ें भीतर ही भीतर खोखली हो जायें, वहाँ साम्यवाद तथा साम्यवादी चीन के अनुकूल वातावरण उत्पन्न करके साम्यवादी शासन स्थापित किया जा सके।

चीनी विदेश नीति : विकास के चरण
(CHINA'S FOREIGN POLICY : THE STAGES OF ITS EVOLUTION)

चीनी विदेश नीति को चार चरणों में विभाजित करके हम उसका अध्ययन कर सकते हैं:

(i) उग्र नीति का युग, 1949–53;

(ii) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति, 1954-57;

(iii) नयी आक्रामक युद्धवादी नीति का युग, 1957–69;

(iv) यूआन कूटनीति, 1969 से अब तक।

(i) **उग्र नीति का युग** (1949–53)—अक्टूबर 1949 में चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना हुई। दिसम्बर, 1949 में चीन ने सोवियत संघ से दौत्य सम्बन्ध स्थापित किये। फरवरी 1950 में मित्रता सन्धि और पारस्परिक सहायता की चीन-सोवियत सन्धि हुई। नवम्बर 1950 में ट्रेड यूनियनों के विश्व संघ के तत्वावधान में पीकिंग में एशिया तथा आस्ट्रेलिया के देशों का ट्रेड यूनियन सम्मेलन बुलाया गया। सम्मेलन में लिङ शाओ च्ची ने यह घोषणा की कि 'हमारे सम्मेलन को समूचे एशिया में राष्ट्रीय मुक्ति के युद्धों का समर्थन करना चाहिए।' वियतनाम, बर्मा, इण्डोनेशिया, मलाया, फिलीपाइन्स के मुक्ति संघर्षों का वर्णन करते हुए उसने कहा कि 'चीनी जनता के पथ का अनुसरण करते हुए सशस्त्र संघर्ष द्वारा एशिया के अधिकांश भाग में क्रान्ति का विकास किया जाना चाहिए।' 1949 में चीनी साम्यवादियों ने दो उद्देश्यों पर बल दिया—(i) चीन में से विदेशी प्रभाव को बिल्कुल समाप्त कर दिया जाये; (ii) चीन का एकीकरण करके सब चीनी प्रदेशों को साम्यवादी शासन में लाया जाये। 1950 में चीन ने युद्ध-विराम के सब प्रस्तावों को ठुकराते हुए कोरिया युद्ध में बड़े उत्साह से भाग लिया। कोरिया पर आक्रमण के साथ ही चीन ने दूसरी शक्तियों के विरोध की परवाह न करते हुए तिब्बत में अपनी सेनाएँ भेज दीं तथा 24 अक्टूबर, 1950 की पीकिंग रेडियो ने घोषण की कि तिब्बत को मुक्त करने का आदेश दे दिया गया है। 1952 के उत्तरार्द्ध में चीन ने कतिपय कारणों से युद्ध की नीति में परिवर्तन वांछनीय समझा। ये कारण थे : (i) व्यापारिक प्रतिबन्धों के कारण होने वाली आर्थिक कठिनाइयाँ। (ii) 1952 में स्टालिन की यह घोषणा कि 'पूंजीवाद और साम्यवाद का शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व सम्भव है।' (iii) चीन द्वारा अनुभव करना कि संयुक्त राज्य अमरीका एशिया में अपनी शक्ति निरन्तर बढ़ा रहा है। (iv) घरेलू कारण जैसे कोरिया के युद्ध ने चीन की अर्थ-व्यवस्था पर भारी प्रभाव डाला। इस समय चीन अपनी पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ कर रहा था। इस योजना को सफलतापूर्वक चलाने के लिए दूसरे देशों का सहयोग आवश्यक था, इसके लिए उनके प्रति मृदु विदेश नीति अपनाना आवश्यक था।

(ii) **शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति** (1954–57)—अब चीन ने उदार और मृदु नीति अपनाना प्रारम्भ कर दिया था। 1952 में चीन ने श्रीलंका के साथ चावल के बदले रबड़ का समझौता किया। पीकिंग में अक्टूबर 1952 में एशियन तथा पेसिफिक शान्ति सम्मेलन आयोजित किया गया। इसने संयुक्त राष्ट्र संघ से अनुरोध किया कि यह वियतनाम, मलाया तथा अन्य देशों में युद्ध समाप्त करके सन्धिवार्ता द्वारा न्यायपूर्ण समझौता करवाये। जून 1953 में कोरिया

की युद्ध विराम सन्धि हुई। अप्रैल 1954 में चीन ने तिब्बत के बारे में भारत से सन्धि की तथा इसमें पंचशील के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। चाऊ एन लाई ने शान्तिपूर्ण इरादों का विश्वास कराने के लिए नयी दिल्ली में घोषणा की कि "संसार के सभी देश चाहे छोटे हों या बड़े, निर्बल हों या बलवान—विभिन्न सामाजिक पद्धतियों के बावजूद शान्तिपूर्ण रीति से रह सकते हैं।" चीन ने बाण्डुंग सम्मेलन में भाग लिया। इस अवसर पर चाऊ ऐन लाई ने दो कार्यों से अपने को शान्तिप्रिय सिद्ध किया : (i) प्रवासी चीनियों के सम्बन्ध में इण्डोनेशिया से सन्धि करके उसने ऐसे चीनियों की आकांक्षाओं से संत्रस्त एशियाई देशों को आस्वस्त किया। (ii) ताईवान क्षेत्र में तनाव कम करने के लिए उसने सन्धिवार्ता का प्रस्ताव किया। इस समय सर्वत्र चीन की प्रशंसा होने लगी और शान्तिवाद पर बल देने वाली प्रवृत्ति बाण्डुंग भावना की खूब चर्चा की जाने लगी। इसके बाद 1957 तक चीन ने शान्ति की नीति पर बल दिया।

(iii) **नयी आक्रामक युद्धवादी नीति का युग** (1957–69)—1957 के बाद चीनी नीति में कठोरता और आक्रामकता के लक्षण परिलक्षित होते हैं। पश्चिमी देशों के साथ व्यवहार में वह कड़ा रुख अपनाने लगा। एशियाई देशों के प्रति भी बाण्डुंग भावना लुप्त होती हुई नजर आने लगी। इस नीति को अपनाने के कई कारण थे : पहला कारण रूस द्वारा पहला स्पूतनिक उड़ाकर तथा अन्त:महाद्वीपीय प्रक्षेप्रास्त्र बनाकर अपनी सैनिक तथा वैज्ञानिक उन्नति की उत्कृष्टता की धाक बिठाना था। दूसरा कारण था सोवियत गुट के देशों की विलक्षण आर्थिक उन्नति। तीसरा कारण यह था कि 1956 के हंगरी के विद्रोह के बाद पूर्वी यूरोप के कुछ देशों में साम्यवाद की नीति में कुछ संशोधनों की माँग हो रही थी। अत: चीन ने इसका प्रबल प्रतिरोध करते हुए नयी आक्रामक नीति का श्रीगणेश किया। 1958 के लेबनान के संकट में, चीन के तट के पास वाले टापुओं के संकट में, बर्लिन संकट तथा 1959 के लाओस के संकट में चीन ने कड़ा रुख अपनाया। इसी समय से चीन भारत के साथ विवाद में कठोर नीति अपनाने लगा, तिब्बत में भी उसने कड़ी नीति बरतनी शुरू की, 1959 में भारतीय सीमा पर चीन के अतिक्रमण बढ़ने लगे और उसने अक्टूबर 1962 मे भारी तैयारी और विशाल सेनाओं के साथ भारत पर सशस्त्र सैनिक आक्रमण आरम्भ कर दिया।

अपनी नवीन उग्र नीति के कारण चीन ने दिसम्बर 1963 से एक नवीन कूटनीतिक अभियान आरम्भ किया। चीन का यह विश्वास था कि अफ्रीका का महाद्वीप क्रान्ति के लिए बिलकुल तैयार है, वहाँ अपने प्रभाव का विस्तार तीव्र गति से करना चाहिए। दिसम्बर 1963 से चाऊ ऐन लाई अफ्रीका महाद्वीप के विभिन्न देशों की आठ सप्ताह तक चलने वाली यात्रा के लिए रवाना हुए। किन्तु 1965 के अन्त तक होने वाली अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि चीन का यह कूटनीतिक अभियान सफल नहीं हुआ। जनवरी 1966 में मध्य अफ्रीका गणराज्य में हुए विद्रोह के बाद चीनी राजदूत को उसके कार्यकर्ताओं को तथा चीन के कृषि विशेषज्ञों को 24 घण्टे के भीतर देश छोड़ने का नोटिस दिया गया। इससे 22 दिसम्बर, 1965 को दमोही में एक सैनिक क्रान्ति हुई तथा उसने साम्यवादी चीन से अपने कूटनीतिक सम्बन्ध भंग किये।

(iv) **यूआन कूटनीति** (1969 से)—चीन-रूस संघर्ष के कारण 1969 के बाद से चीन की विदेश नीति में आमूल-चूल परिवर्तन हुआ है। 1968 में रूस द्वारा चैकोस्लोवाकिया पर आक्रमण तथा 1969 में रूस के साथ सशस्त्र संघर्ष के बाद चीन ने रूस को अपना प्रधान शत्रु समझने तथा इससे रक्षा के लिए अमरीका को अपना मित्र बनाने, रूस के समर्थक लिन पियाओ जैसे नेताओं का सफाया करने की नीति अपनायी। चार हजार मील लम्बी सीमा पर 10 लाख

सेनाओं के जमाव ने तथा जापान की नयी आर्थिक महाशक्ति ने पीकिंग को चाऊ. ऐन-लाई द्वारा प्रस्ताविन नयी विदेश नीति का अनुसरण करने के लिए बाधित किया। उसकी विशेषताएँ हैं व्यावहारिकता और वास्तविकता। अमरीका जैसे गैर-साम्यवादी देशों से सम्वन्ध वनाना, तोड़-फोड़ की नीति को छोड़ना, तटस्थ देशों को मित्र वनाना तथा उन पर अपना प्रभाव वढ़ाने के लिए वडे पैमाने पर आर्थिक सहायता देना। अमरीका की 'डालर कूटनीति' की भाँति, अव चीन ने अपनी मुद्रा युआन के रूप में दूसरे देशों को प्रचुर मात्रा में आर्थिक सहायता देना प्रारम्भ किया है, अतः इसे युआन कूटनीति (Yuan Diplomacy) कहा जाता है। एक रूसी पत्र के अनुसार 1971 में चीन ने एशिया तथा अफ्रीका के विभिन्न देशों को 2 अरव डालर के मूल्य की सहायता दी। यह सहायता अधिक सुगम शर्तों पर 5 से 10 वर्ष बाद, 10 से 30 वर्ष की बड़ी लम्बी अवधि में चुकाये जा सकने वाले विना सूद के ऋणों, मशीनी माल तथा तकनीकी विशेषज्ञों के रूप में दी जाती है। इस समय वीस हजार चीनी तकनीकी व्यक्ति एशिया तथा अफ्रीका के विभिन्न देशों में काम कर रहे हैं। इस प्रकार चीन ने 'गोलियों और बन्दूकों' की पुरानी नीति के स्थान पर 'सहायता और व्यापार' की नयी नीति अपनायी है। चीन रूस के प्रभाव को कम करने के लिए अन्य देशों से कितना सम्पर्क बढ़ा रहा है, यह इसी से स्पष्ट है कि 1972 के प्रथम नौ महीनों में 30 देशों के राष्ट्र मन्त्रियों तथा विदेश मन्त्रियों तथा 90 देशों के अन्य प्रतिनिधियों ने चीन की यात्रा की। इस अवधि में चीन ने 50 देशों में अपने खेलकूद के, व्यापार के तथा सद्भावना के सांस्कृतिक शिष्टमण्डल भेजे। अब चीन शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व में विश्वास रखने लगा है।

इस काल में चीन ने विभिन्न देशों के साथ संवाद की नीति शुरू की। जुलाई '71 में अमरीकी विदेश सचिव हेनरी किसिंजर ने चीन की यात्रा की और फरवरी '72 में राष्ट्रपति निक्सन ने चीन की यात्रा की। 16 अक्टूबर, '71 को चीन संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बन गया। 1975 में तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति फोर्ड ने और अगस्त 1977 में अमरीकी विदेश मन्त्री साइरस वैन्स ने पीकिंग की यात्रा की। जनवरी 1979 में अमरीका ने चीन को राजनयिक मान्यता दे दी। फरवरी 1979 में अमरीका-चीन में व्यापारिक, सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक समझौते भी हुए हैं। चीन और जापान में 20 अरव डालर के व्यापारिक समझौते हुए हैं। चीन जाने वाले जापानी सैलानियों की संख्या जो 1972 में आठ हजार थी वह 1977 में तीस हजार तक पहुँच गयी थी। अफ्रीका में चीन ने 14 जुलाई, 1976 को दुरूह रेलमार्ग पूरा करके जाम्विया और तंजानिया की जनता को समर्पित कर दिया। यह रेलमार्ग 1,162 मील लम्बा है। फरवरी 1979 में भारत के विदेश मन्त्री वाजपेयी ने चीन की यात्रा की। चीन के विदेश मन्त्री हुआंग हुआ ने 1981 में भारत की यात्रा की। विश्व में सोवियत विस्तारवाद को रोकने के लिए चीन ने अमरीका के साथ 13-14 जून, 1971 को समझौता भी किया। 1978 के वियतनाम-चीन युद्ध ने चीन को यह भी अहसास करा दिया कि समानता के आधार पर ही राष्ट्रों में सम्बन्धों को वनाये रखा जा सकता है, राजनीतिक या सैनिक दवाव द्वारा नहीं। संक्षेप में, इस काल में चीनी विदेश नीति की विशेपता है—अमरीका से पक्की दोस्ती और भारत से संवाद की शुरूआत।

चीनी विदेश नीति की प्रमुख विशेषता : आक्रामकता
(CHINA'S FOREIGH POLICY : POLICY OF EXPANSION)

आक्रामकता चीन का स्वभाव है, आक्रामकता का मतलव प्रहार या हमला ही नहीं, किसी न किसी तरीके से दूसरे देशों या अपने देश में भी इसी तरह की स्थितियाँ पैदा करने की कोशिश

करना है, जिनसे तनाव बनता है और बढ़ता है। तनाव बढ़ने की यह प्रवृत्ति कभी-कभी हमले का स्वरूप अख्तियार कर लेती है, जैसा कि 1950 में कोरिया और 1962 में भारत के साथ हुआ था। 1969 में सोवियत संघ और 1979 में वियतनाम के साथ भी चीन ने इसी आक्रामकता का परिचय दिया। इसी तरह प्रहार का तात्पर्य अपने प्रभाव, प्रभुत्व और दादागिरी का प्रसार करना है। चीन शायद यही चाहता है। उसका मानना भी है कि इस तरह की गतिविधियों से केवल इतिहास के पन्नों में ही उसका स्थान स्थायी न हो बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी उसका दबदबा बढ़े। मोटे तौर पर दूसरे को आतंकित करने की नीति ही शायद उसका स्वभाव बन चुका है।[1]

अक्टूबर 1949 में वर्तमान चीन की स्थापना हुई और 1950 में वह कोरिया में उलझ गया। कोरिया युद्ध में चीन ने बड़े पैमाने पर भाग लिया। अपनी नियमित सेना के हजारों सैनिक इस युद्ध में झौंक दिये। उसका मकसद तब अमरीका के प्रभाव को कम करना था। एक बार चीन का उलझाव हुआ तो वह बढ़ता ही चला गया। कोरिया के बाद हिन्दचीन, तिब्बत, इण्डोनेशिया, मलेशिया आदि स्थानों में उसका प्रभाव बढ़ना शुरू हो गया। 7 फरवरी, 1963 को थाई देश के प्रतिरक्षा मन्त्री जनरल थानम कीर्त्तिकाचरण ने भी चीनियों की घुसपैठ और सीमा पर पर्वतीय कबाइलियों को उकसाने का आरोप लगाया। 1956 में बर्मा ने आम चुनावों में चीन द्वारा उसके आन्तरिक मामलों मे हस्तक्षेप करने पर विरोध व्यक्त किया। बर्मा ने आरोप लगाया कि चीनी बर्मा सरकार विरोधी संगठनों को धन और हथियारों से सहायता कर रहे हैं। बर्मा के अल्पसंख्यको—खास तौर पर कोचिन—को भड़काने मे भी चीनियों का हाथ है।

इस प्रकार का आरोप 1958 में जापान ने भी लगाया। तत्कालीन प्रधानमन्त्री क़िशी ने चुनाव प्रचार के दौरान कहा कि चीन कुछ सरकार विरोधी मोर्चो को सक्रिय सहयोग दे रहा है। 1950-54 में इण्डोनेशिया ने चीन के द्वारा उसके आन्तरिक मामलों में दिलचस्पी और हस्तक्षेप का आरोप लगाया। इण्डोनेशिया में एक समय तो ऐसा लगने लगा कि वहाँ पर चीनियों का ही शासन है। यदि राष्ट्रपति जनरल सुहर्त समय पर कदम न उठाते तो नामुमकिन नहीं कि इस समय वहाँ पर कम्युनिस्ट पार्टी के ही शासक होते। नव इण्डोनेशिया के स्कूलों, सरकार तथा सभी स्थानो पर चीनियों की घुसपैठ हो गयी थी। 1960 में नैपाल में भी चीनियों ने एक चौकी पर हमला कर नैपाली अफसर को मार डाला और कुछ नैपाली सैनिकों को गिरफ्तार कर लिया। उसी समय के आसपास चीन ने पूरे एवरेस्ट पर अधिकार जताया। 2 अप्रैल, 1953 को तत्कालीन पाकिस्तानी विदेशमन्त्री जफरुल्ला खान ने संसद में यह घोषणा की कि चीन ने उसकी सीमा का अतिक्रमण कर कुछ हिस्से पर अधिकार कर लिया। उसका दबाव पकिस्तान पर इतना बढ़ा कि सभी अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों और मान्यताओ को ताक पर रख पाकिस्तान ने दो हजार वर्गमील का इलाका चीन-पाकिस्तान समझौते के अन्तर्गत दे दिया। यह इलाका तथाकथित आजाद कश्मीर का है। इसी इलाके से होकर कराकुर्रम राजपथ का निर्माण हुआ जो चीन और पाकिस्तान को जोड़ता है। एक सर्वेक्षण के अनुसार चीन अपने पड़ौसी देशों में अपनी अहमियत जताने की गर्ज से व्यापारियों के रूप में घुसपैठ करता है। इस समय मलयेशिया, फिलीपीन, थाई देश, सिंगापुर आदि स्थानों पर चीनी व्यापारियों की भरमार है। माना जाता है कि डेढ़ से दो करोड़ चीनी दक्षिण-पूर्व एशिया में फैले हुए हैं।

1960 तक चीन ने सोवियत संघ के किसी इलाके पर अपना दावा नहीं जताया था।

---

1 दिनमान, 4-10 मार्च, 1979, पृ० 35।

लेकिन 1964 में उसने कुछ नक्शे प्रकाशित कर चीन और सोवियत संघ की सीमा से लगे कुछ क्षेत्रों को विवादग्रस्त क्षेत्र घोषित किया। इसी विवादग्रस्त क्षेत्र में 1969 में चीनी सेनाओं ने संगठित तौर पर हमला किया। उन्होंने उसूरी नदी के तम्नास्की द्वीप तथा कजाकिस्तान के जलांशकोल के काफी बड़े इलाके पर अपना दावा जताया था। इस तनाव ने बाद में युद्ध का रूप अख्तियार कर लिया। दोनों देशों की सीमाओं पर दो युद्ध (मार्च 1969 में पहला युद्ध) हुए जिसमें काफी बड़ी तादाद में चीनी मारे गये। इस समय भी लाखों तादाद में चीनी सैनिक इस सीमा पर डटे हुए हैं।

चीन दक्षिण सागर पर भी अपना एकमात्र अधिकार मानता है। पिछले दिनों उसने पार्सेल और स्पार्टले द्वीपों पर अपना अधिकार जतलाकर अच्छा-खासा तनाव पैदा कर दिया था। तेनकाकू द्वीप (जापान) पर भी चीन अपना अधिकार जताता रहा है।

भारत और चीन के बीच 1962 में युद्ध का कारण दोनों देशों की सीमा का ही झगड़ा था। 20 अक्टूबर, 1962 को चीनी सेनाओं ने भारत के पूर्वी और पश्चिमी क्षेत्रों पर जोरदार हमला कर दिया। उन्होंने लद्दाख तथा नेफा के बहुत-से ठिकानों पर कब्जा कर लिया। उस समय से लगभग ढाई हजार वर्ग मील का भारतीय इलाका चीनी कब्जे में है।

चीन और वियतनाम में दो हजार साल पुराने सम्बन्ध माने जाते हैं। 1930 में हिन्द-चीन में कम्युनिस्ट पार्टी के अस्तित्व से पहले चीनी और वियतनाम क्रान्तिकारियों में घनिष्ठ सम्पर्क था। 1925 से हो-ची-मिह्न चीन में रहते हुए अपनी राजनीतिक गतिविधियों का प्रसार करते और बहुत-से चीनी क्रान्तिकारी वियतनाम में रहते हुए इस तरह की योजनाएँ बनाया करते थे। कई ऐसे अवसर भी आये जब चीनी कम्युनिस्टों ने वियतनामियों को संरक्षण दिया। 1954 में चीनी क्रान्तिकारियों ने वियतनाम में आश्रय लिया और वहाँ से युद्ध करके कुओमिताङ सेना को पराजित किया। लेकिन वियतनाम अमरीकी उलझाव के बाद स्थितियाँ बदलती चली गयीं। इसका प्रमुख कारण वियतना की सोवियत संघ से मित्रता थी। क्योंकि सोवियत संघ और चीन में पिछले दस वर्ष से तनावपूर्ण सम्बन्ध रहे हैं, लिहाजा सोवियत संघ के किसी मित्र को अपना मित्र समझने के लिए वह तैयार नहीं। वियतनाम जब स्वाधीनता युद्ध में संलग्न था तब भी चीन ने उसकी सहायता के स्थान पर उसके मार्ग में अड़चनें ही पैदा कीं। दोनों में परस्पर अविश्वास की भावना के फलस्वरूप ही फरवरी 1979 में ही युद्ध ने वास्तविक शक्ल अख्तियार कर ली। इसे भी चीन की विस्तारवादी नीति का द्योतक माना जाता है।

एशियाई देशों के अलावा चीन समय-समय पर अफ्रीका, यूरोप तथा लैटिन अमरीकी देशों में कई तरह की घुसपैठ के प्रयास करता रहा है। अफ्रीका के कुछ देशों में चीनियों के हाथ में खासा व्यापार है। कैरिबियाई द्वीप के देशों में भी चीनी खासे फैले हुए हैं। जाम्बिया और तंजानिया में तानजाम रेलवे निर्माण के समय भी चीनियों की घुसपैठ हुई है। यद्यपि इस रेलवे का निर्माण कार्य अब समाप्त है तथापि चीनी वहाँ बने हुए हैं। सोवियत संघ से जब उसकी अनबन हुई थी तो अल्बानिया ही उसका एकमात्र मित्र यूरोप में बचा था लेकिन पिछले दिनों उससे भी उसकी अनबन हो गयी। इसका कारण अल्बानिया में चीन द्वारा आक्रामक स्थितियाँ पैदा करने का प्रयास था। जब अल्बानिया ने इसका विरोध किया तो चीन ने अल्बानिया से सभी चीनी विशेषज्ञ वापस बुला लिये और चीन में रहने वाले सभी अल्बानियों को देश छोड़ देने का आदेश दिया।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि चीन किसी न किसी रूप में अपने आक्रामक स्वभाव का इस्तेमाल करना चाहता है, चाहे वह देश कैसा ही और उससे कितनी ही दूर क्यों न हो।

चीनी विदेश नीति : बदलाव के मार्ग पर
(CHINA'S FOREIGN POLICY : THE DIRECTION OF CHANGE)

80-वर्षीय देंगस्याओपिंग के राष्ट्रपतिकाल में चीन की राजनीति और विदेश नीति में निर्णायक व मूलभूत परिवर्तन आ रहे हैं। 1979 के बाद क्रमशः चीनी साम्यवादी दल ने पहले माओ की बदनाम सांस्कृतिक क्रान्ति व बाद में धीरे-धीरे मार्क्सवाद व लेनिनवाद से भी प्रस्थना करना प्रारम्भ कर दिया। धीरे-धीरे मूल अर्थव्यवस्था की नीतियों को क्रियान्वित करते हुए, चीनी नेता अब खुले तौर पर यह भी कहते हैं कि मार्क्स की महानता का हमें आदर करना चाहिए लेकिन मार्क्स व मार्क्सवाद के साथ धार्मिक पूज्यता का सा सम्बन्ध जोड़ना गलत है। आज चीनी व्यापार में आठ अरब डालर विदेशी पूँजी का विनियोग हुआ है जबकि माओ का सिद्धान्त था 'न दुनिया से सहायता लेना, न दुनिया के व्यापारियों को चीन में घुसने देना।' आधुनिक विज्ञान व तकनीकी का भारी आयात हो रहा है। 1978 के बाद करीब 33 हजार से भी ज्यादा विद्यार्थी विज्ञान व तकनीकी शिक्षा के लिए पश्चिमी देशों में भेजे गये हैं। चीन में तीन दशकों के साम्यवादी शासन में ऐसा पहली बार हुआ।

माओ-त्से-तुंग ने न कभी विदेश यात्रा की तथा न वे विदेशी अतिथियों से मिलते ही थे, चाऊ ऐन लाई ही सामान्यतः विदेशियों का स्वागत करते थे। किन्तु देंग स्वयं भी विदेश यात्रा करते रहे हैं। प्रधानमन्त्री व अन्य सरकारी अधिकारी भी खूब विदेश यात्राएँ करते हैं। चीन ने एक ओर तो अमरीका से दोस्ती कर रखी है तथा दूसरी ओर पूर्वी यूरोप के देशों की सघन यात्राएँ की जा रही हैं। शक्ति व सम्पदा बढ़ाकर देंग पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों को रूस के प्रभाव से अलग करने की कोशिश में हैं।

चीन और दक्षिण-पूर्वी एशिया
(CHINA AND SOUTH-EAST ASIA)

दक्षिण-पूर्वी एशिया हमेशा से चीन की रुचि का प्रमुख केन्द्र रहा है। दक्षिण-पूर्वी एशिया में जहाँ करोड़ों चीनी लोग बसे हुए हैं, चीन से प्रभावित प्रदेश समझा जाता रहा है। चीन अपनी भाषा में इसे नानायांग (बादल आच्छादित प्रदेश) कहता है। अपनी प्राचीन घनिष्ठता के कारण चीन यह गवारा नहीं कर सकता कि उसके प्रभाव से इस क्षेत्र का उससे विच्छेद कर दिया जाये। उसको यह भी पसन्द नहीं है कि यह क्षेत्र पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो जाये। यही कारण है कि जब वियतनाम पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होकर चीन तथा रूस के साथ अपनी आवश्यकताओं के अनुसार, सामान्य व्यवहार करने लगा तो चीन के नेता अप्रसन्न हो गये। उन्हें आशा थी कि स्वतन्त्र होने पर वियतनाम अपने निकटवर्ती देश के और करीब हो जायेगा और रूस विरोधी संघर्ष में उसकी सहायता करेगा। लेकिन जब वियतनाम अपनी आर्थिक आवश्यकताओं तथा अन्य कारणों से रूस से सामीप्य बनाये रहा तो चीन रुष्ट होकर वियतनाम को दक्षिण-पूर्व का क्यूबा या रूस का दक्षिण-पूर्वी एजेण्ट कहने लगा।

1965 तक चीन के इण्डोनेशिया से सम्बन्ध इतने अच्छे थे कि पीकिंग-जाकार्ता-पिण्डी धुरी की चर्चा की जाती थी। परन्तु बाद में दक्षिण-पूर्वी एशिया के पाँच गैर-साम्यवादी देश—इण्डोनेशिया, मलयेशिया, फिलीपीन, सिंगापुर और थाईदेश चीन से भयभीत रहने लगे तथा उसके प्रभाव को बढ़ने से रोकना चाहते हैं।

चीन ने यह कोशिश भी की कि अपने प्रभाव का इस्तेमाल कर दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों का रूस विरोधी एक मोर्चा बनाया जाये। इस प्रयास में चीन के उप-प्रधानमन्त्री तेंगसियाओपिङ थाईलैण्ड, मलयेशिया तथा सिंगापुर की यात्रा पर 5 से 4 नवम्बर (1979) तक निकले थे। अपने दक्षिण-पूर्वी एशिया के दौरे के समय थाईदेश, मलयेशिया तथा सिंगापुर के प्रधानमन्त्रियों

से तेंग ने कहा कि रूस सबसे खतरनाक दुश्मन है और वह वियतनाम के साथ मिलकर दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपना आधिपत्य जमाना चाहता है। उसकी साजिशों का मुकाबला करने के लिए एक संयुक्त मोर्चे की आवश्यकता है। चीन की इस माँग ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के नेताओं को असमंजस में डाल दिया।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के गैर-साम्यवादी 'एशियान' (ASEAN) देशों से चीन के सम्बन्ध मधुर नहीं हैं। 1975 के बाद इस क्षेत्र के साम्यवादी देशों से भी उनके सम्बन्ध बिगड़ने लगे और इन देशों ने चीन के स्थान पर सोवियत संघ से मैत्री को हितकर माना। जनवरी 1979 में कम्पूचिया में हेंग सामरिन की सरकार बन गयी जो कि रूस और वियतनाम समर्थित थी। 17 फरवरी, 1979 को चीन ने वियतनार पर आक्रमण कर दिया। परन्तु वियतनाम इससे भयभीत नहीं हुआ और चीन को एकतरफा युद्ध-विराम की घोषणा करनी पड़ी।

चीन और संयुक्त राज्य अमरीका
(CHINA AND THE UNITED STATES)

चीन में साम्यवादी क्रान्ति की सफलता अमरीकी राजनय की पराजय थी। चीन में साम्यवादी क्रान्ति के बाद अमरीका ने चीन के बहिष्कार की नीति अपनायी। चीन से अमरीकी राजदूत को बुला लिया गया और चीन को मान्यता देने से इन्कार कर दिया। अमरीका फारमोसा स्थित च्यांग काई शेक की सरकार को चीन की वास्तविक सरकार मानता रहा। फारमोसा की सुरक्षा के लिए ताईवान जलडमरूमध्य में अमरीका ने अमरीकी सप्तम बेड़े को तैनात कर दिया। 1954 में अमरीका ने ताईवान से एक सुरक्षा सन्धि भी की और ताईवान में अमरीकी सैनिक अड्डे भी स्थापित किये। ताईवान ही अमरीकी-चीन सम्बन्धों में तनाव का प्रधान कारण रहा है। 1950 में कोरिया युद्ध ने चीन-अमरीकी सम्बन्धों को अत्यधिक उग्र बना दिया। अमरीका ने चीन को घेरने के लिए सीटो सन्धि का सहारा लिया। वियतनाम युद्ध में अमरीका जितना उलझता गया, चीन-अमरीका सम्बन्धों में उतना ही तनाव बढ़ता गया। ताईवान और वियतनाम में अमरीकी हस्तक्षेप अमरीका की साम्यवाद परिरोधन की नीति का ही एक अंग है।

दिसम्बर 1968 में चीन की ओर से यह प्रस्ताव रखा गया था कि वह संयुक्त राज्य अमरीका से विभिन्न विषयों पर प्रत्यक्ष वार्ता करने के लिए तैयार है, बशर्ते अमरीकी सरकार इस बात का आश्वासन दे कि वह ताईवान से अपनी सेनाएँ हटाकर सैनिक अड्डों को समाप्त कर देगी। चीन और अमरीका के बीच राजदूत स्तर पर 1955 से 1969 तक 300 से अधिक बार गुप्त बैठकें हो चुकी थीं।

निक्सन प्रशासन के समय चीन-अमरीकी दितान्त की शुरूआत हुई। इसका मूल कारण यह था कि अमरीका बातचीत द्वारा वियतनाम युद्ध से बाहर निकलना चाहता था। निक्सन प्रशासन के समय अमरीका ने चीन के बहिष्कार की नीति एवं दो चीन सिद्धान्त का परित्याग कर दिया था। पीकिंग सरकार को चीन की एकमात्र सरकार स्वीकार कर लिया, संयुक्त राष्ट्र संघ में साम्यवादी चीन के प्रवेश के विरोध की नीति का परित्याग कर दिया, ताईवान से अपनी सशस्त्र सेनाओं को वापस बुलाने का आश्वासन दिया, वियतनाम में समझौता वार्ताओं के बाद अमरीकी सेनाएँ हटाने का आश्वासन दिया। इस तरह चीन की शर्तों पर अमरीका उसके साथ सम्बन्धों को सुधारने के लिए तैयार हो गया। यह चीनी राजनय की विजय और अमरीकी राजनय की पराजय थी।

21 फरवरी, 1972 को अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन ने पीकिंग की यात्रा की। फरवरी 1973 में कीसिंगर ने पीकिंग की यात्रा की। चीन-अमरीकी सम्बन्धों में सुधार लाने हेतु राष्ट्रपति फोर्ड ने 1975 में चीन की यात्रा और अगस्त 1977 में अमरीकी विदेश सचिव साइरस वैंस ने

पीकिंग की यात्रा की। जनवरी 1979 में अमरीका ने राजनयिक मान्यता प्रदान कर दी। 28 जनवरी, 1979 को चीन के तत्कालीन उप-प्रधानमन्त्री तेंग सिआओ पिंग ने अमरीका की यात्रा की। अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप ने दोनों देशों को एक-दूसरे के और अधिक निकट ला दिया। अमरीका के विदेश सचिव अलेक्जेण्डर हेग और चीन के विदेश मन्त्री हुआंग हुआ की 13-14 जून, 1981 को पीकिंग में हुई वार्ताओं के फलस्वरूप 'विश्व में सोवियत विस्तारवाद को रोकने के लिए, दोनों देशों में एक समझौता हुआ।'

चीन के प्रधानमन्त्री झाओ जियांग ने 17 फरवरी, 1984 को अपनी 9-दिवसीय यात्रा सम्पन्न की। यह उनकी पहली अमरीका यात्रा थी। अपनी यात्रा के दौरान झाओ ने अमरीका के साथ सभी प्रकार के सम्बन्ध बढ़ाने पर बल दिया। उन्होंने कहा कि चीन अमरीका के साथ रूस के विरुद्ध कोई गठबन्धन नहीं करेगा, परन्तु रूस को अफगानिस्तान में सेनाओं के प्रश्न पर, कम्पूचिया में वियतनाम के हस्तक्षेप के सम्बन्ध में अमरीका और चीन का समान दृष्टिकोण है। उन्होंने आशा व्यक्त की कि एशिया में रूसी विस्तारवाद को रोकने में अमरीका चीन के साथ सहयोग करेगा। झाओ ने अमरीका से अपील की कि वह ताईवान के प्रश्न पर व्यावहारिक रवैया अपनाये। अमरीका को चीन व ताईवान के एकीकरण में बाधा नहीं डालनी चाहिए।

अप्रैल 1984 में राष्ट्रपति रीगन ने चीन की यात्रा की। रीगन ने वहाँ एक समारोह में कहा कि अमरीका को चीन के साथ अपने सम्बन्धों पर गर्व है। इस यात्रा के दौरान अरबों डालर मूल्य के परमाणु रियेक्टर अमरीका चीन को देने को सहमत हो गया। रीगन की यात्रा का एक अन्य उद्देश्य चीन में अमरीकी उत्पादों की खपत को बढ़ाना है।

चीन के राष्ट्रपति ली सियेन नियेन ने जुलाई 1985 में अमरीका की यात्रा की। यह किसी चीनी राष्ट्रपति की प्रथम अमरीका यात्रा थी। उनका ह्वाइट हाउस में गर्मजोशी से स्वागत हुआ। अमरीकी पूँजीपति चीन के विशाल बाजारों को ललचाई नजरों से देखते हैं, चीन को भी अमरीकी पूँजी निवेश की आवश्यकता है; इसलिए रीगन व चीनी राष्ट्रपति के बीच राजनीतिक प्रश्नों पर मतभेद बना रहा परन्तु दोनों देश आर्थिक व सांस्कृतिक सम्बन्ध बढ़ाने को सहमत हो गये। दोनों देशों ने एक परमाणु समझौते पर भी हस्ताक्षर किये जिसके अन्तर्गत चीन अमरीका से परमाणु रियेक्टर खरीद सकेगा। 26 फरवरी, 1989 को अमरीकी राष्ट्रपति जार्ज बुश ने चीन की यात्रा की और प्रधानमन्त्री ली को आश्वस्त किया कि अमरीका 'एक चीन की नीति' पर कायम रहेगा।

चीन और भारत
(CHINA AND INDIA)

चीन भारत की मित्रता का हृदय से इच्छुक कभी नहीं रहा। चीन के प्रति भारत का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही मित्रतापूर्ण रहा है। अक्टूबर 1949 में चीन में साम्यवादी क्रान्ति का भारत ने स्वागत किया। भारत ने गैर-साम्यवादी देशों में सबसे पहले चीन को राजनयिक मान्यता दी। अमरीका की नाराजगी की कीमत पर भी भारत ने कोरियाई युद्ध में चीन का समर्थन किया। संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन को मान्यता दिलाने का भारत ने भरसक प्रयास किया। 29 जून, 1954 को दोनों देशों के बीच एक 8-वर्षीय व्यापारिक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत भारत ने तिब्बत से अपने 'अतिरिक्त देशीय अधिकारों' को चीन को सौंप दिया। इस व्यापारिक समझौते की प्रस्तावना में ही पंचशील के सिद्धान्तों की रचना की गयी थी। भारत ने चीन की प्रभुसत्ता को तिब्बत में स्वीकार कर लिया। अक्टूबर 1954 में पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने भी चीन की यात्रा की। अप्रैल 1955 में बाण्डुंग सम्मेलन में नेहरू और चाऊ ऐन लाई ने पूर्ण सहयोग के साथ कार्य किया। गोआ के प्रश्न पर चीन ने भारत का साथ दिया और क्यूमाये तथा मातसू

टापुओं पर भारत ने चीन का समर्थन किया। भारत-चीन सम्बन्धों की दृष्टि से यह काल 'प्रमोद काल' था। किन्तु इस प्रमोद काल में भी भारत और चीन में कुछ मतभेद विद्यमान थे। मित्रता और हिन्दी-चीनी भाई-भाई के नशे में भारत को उनका आभास नहीं हुआ। भारत-चीन सम्बन्धों में तनाव के विषय थे—तिब्बत समस्या एवं सीमा विवाद।

20 अक्टूबर, 1962 को चीन ने भारत पर बड़े सुनियोजित ढंग से आक्रमण कर दिया। उत्कृष्ट तैयारी, कुशल कूटनीति, बढ़िया तथा हल्के शस्त्र, अनुकूल भौगोलिक परिस्थिति, विशाल सैनिक संख्या के कारण चीनियों को सफलता मिली। इस विजय के बाद चीनियों ने यह घोषणा की कि 20 नवम्बर की मध्यरात्रि के बाद वे युद्ध बन्द कर देंगे। चीन द्वारा भारत पर आक्रमण के कई कारण थे—पहला, चीन विस्तारवादी है, चीन जब कभी शक्तिशाली होता है तो वह अपने साम्राज्य का विस्तार करता है। दूसरा कारण चीन की यह इच्छा थी कि वह भारत को लोकतन्त्रात्मक प्रणाली से उन्नति करने में सफल न होने दे, इसलिए वह युद्ध द्वारा भारत पर सैनिक तैयारियों का इतना बोझ डाल देना चाहता था कि भारत सफल न हो सके। तीसरा कारण तिब्बत के प्रति भारतीय नीति से चीन रुष्ट था, वह नहीं चाहता था कि भारत दलाई लामा को शरण दे।

1962 के बाद दीर्घकाल तक भारत-चीन सम्बन्ध मधुर नहीं बन सके। 1970 के आस-पास एक ऐसा समय आया जब चीन और भारत दोनों देशों को लगा कि तनाव में शिथिलता लायी जानी चाहिए। पीकिंग और नयी दिल्ली में राजदूतों की नियुक्ति तथा व्यापारिक लेन-देन की शुरूआत हुई। फरवरी 1979 में विदेशमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी ने चीन की यात्रा की। किन्तु चीन द्वारा वियतनाम पर हमले से हतप्रभ वाजपेयी अपनी यात्रा अधूरी छोड़कर वापस लौट आये। श्रीमती गांधी चीनी नेताओं से अप्रैल-मई 1980 में साल्सबरी तथा बेलग्रेड में मिलीं। अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप के बाद 1981 से चीन के भारत के प्रति दृष्टिकोण में कुछ परिवर्तन नजर आता है। इसके संकेत इस बात से मिलते हैं कि जो चीन कश्मीर के प्रश्न पर हाल तक पाकिस्तानी दृष्टिकोण का समर्थक रहा है वह अब इसे 'भारत का आपसी मामला' बताने लगा। दूसरा, चीनी नेता चीन और भारत को एशिया की दो बड़ी शक्तियाँ करार देने लगे हैं जिन्हें अपने सम्बन्धों में सुधार करके शान्तिपूर्ण ढंग से रहना चाहिए। तीसरा, चीन के प्रधानमन्त्री चाओ च्यांग ने जून 1981 की नेपाल यात्रा के दौरान लेन-देन (पैकेज डील) के आधार पर भारत-चीन सीमा विवाद निपटाये जाने की सम्भावना का उल्लेख किया। चौथा, भारत-चीन सम्बन्धों में गतिरोध को दूर करने और 'मैत्री के बाद कपाट' खोलने के लिए चीन के विदेश मन्त्री हुआंग हुआ ने 21 वर्ष बाद जून 1981 में भारत की यात्रा की। इस यात्रा से यह लाभ हुआ कि इसने सीमा-समस्या पर बातचीत करने के मार्ग को खोल दिया। अधिकारियों के स्तर पर वार्ता का पहला दौर दिसम्बर 1981 में चीन की राजधानी बीजिंग में हुआ था। चीन का एक प्रतिनिधि-मण्डल श्री फूहाओ के नेतृत्व में भारत-चीन सीमा-विवाद पर वार्ता के लिए 16 मई, 1982 को दिल्ली पहुँचा। अक्टूबर 1985 में राजीव गांधी न्यूयार्क में चीन के प्रधानमन्त्री चाओ चियांग से मिले। नवम्बर 1985 में वार्ता का छठा दौर सम्पन्न हुआ। 23 नवम्बर, 1985 को भारत व चीन के बीच एक व्यापारिक समझौते पर हस्ताक्षर किये गये। इसके अन्तर्गत वर्ष 1986 के दौरान दोनों देशों में 10 से 14 करोड़ डालर का व्यापार होगा। जुलाई 1986 में भारत-चीन वार्ताओं का सातवाँ दौर और नवम्बर 1987 में आठवाँ दौर सम्पन्न हुआ। इन वार्ताओं की सबसे बड़ी कमजोरी यह रही कि दोनों देश अपने कोई स्पष्ट प्रस्ताव या शर्तें रखने में असफल रहे है। वार्ता तभी सफल हो सकती है जब भारत या चीन समाधान की स्पष्ट राज-

नीतिक इच्छा रखें। इसके लिए यह आवश्यक है कि चीन अपना प्रस्ताव स्पष्ट शब्दों में रखे और भारत उस पर विचार करे।

चीन ने भारतीय संसद द्वारा हाल ही में अरुणाचल प्रदेश को राज्य का दर्जा दिये जाने का विधेयक पारित करने को गैर-कानूनी बताया और चेतावनी दी कि इसके गम्भीर परिणाम हो सकते हैं। इससे भारत-चीन सीमा-विवाद और उलझा और समझौते की दिशा में रुकावटें खड़ी हुई।[1] दिसम्बर 1988 में भारत के प्रधानमन्त्री राजीव गांधी ने चीन की यात्रा की और चीन के शीर्ष नेता देंग से लम्बी बातचीत की। भारत व चीन ने एक संयुक्त कार्यालय का गठन किया जो सीमा-विवाद का सर्वमान्य समाधान निकालेगा। दोनों देशों के बीच नागरिक उड्डयन सेवाओं तथा विज्ञान व प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में उच्चस्तरीय सहयोग व सांस्कृतिक आदान-प्रदान के लिए कतिपय समझौतों पर भी हस्ताक्षर हुए।

चीन और पाकिस्तान
(CHINA AND PAKISTAN)

1950 के बाद भारत-चीन सम्बन्धों की मधुरता के कारण 'पाक-चीन' सम्बन्धों में कोई विशेष प्रेमालाप शुरू नही हुआ। चीन प्रारम्भ में पाकिस्तान को अमरीकी गुट का राष्ट्र समझकर उसकी उपेक्षा करता था। 1954 में पाकिस्तान बगदाद पैक्ट और सीटो का सदस्य बन गया तो चीन ने उसकी कटु आलोचना की थी। पाकिस्तान के प्रति चीन का सम्वाद 1956 में प्रारम्भ हुआ। 1956 में ढाका में एक पाक-चीन सांस्कृतिक केन्द्र की स्थापना की गयी। 1962 मे जब भारत पर चीन ने आक्रमण किया तब से पाकिस्तान ने चीन की मित्रता पाने का विशेष प्रयत्न किया। 1963 में चीन-पाकिस्तान मे एक समझौता हुआ जिसमें सिकियांग और पाक-अधिकृत कश्मीर के मध्य सीमा-निर्धारण की व्यवस्था थी। इस समझौते के अन्तर्गत पाकिस्तान ने अधिकृत कश्मीर के 2,050 वर्ग मील का क्षेत्र अवैध रूप से चीन को दे दिया। दोनों ने मिलकर एक सड़क का निर्माण किया जिसे 'कराकोरम राजपथ' कहते हैं। 1963 के बाद जब अमरीका-पाकिस्तान में अलगाव शुरू हुआ तो चीन ने पाकिस्तान को आर्थिक और सैनिक सहायता देना शुरू किया। 1965 के भारत-पाक युद्ध में चीन ने प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नही किया तथापि भारत को भयभीत करने के लिए तीन-दिवसीय अल्टीमेटम दिया। 1968 में चीन ने पाकिस्तान को 7·5 मिलियन पाउण्ड की सहायता दी और पाकिस्तान-चीन के मध्य 'बार्टर समझौता' हुआ। 1971 के भारत-पाक युद्ध में चीन भारत को धमकी देता रहा पर पाक-भारत युद्ध में कूदने की उसकी हिम्मत न हुई। 1978 में चीन ने पाकिस्तान को करांची के निकट एक टैंक फैक्ट्री के निर्माण में सहायता देने का वचन दिया। पाकिस्तान व भारत की सेनाओं के बीच सियाचिन ग्लेशियर पर झड़पें बनी हुई है। चीन चाहता है कि पाकिस्तान उस पर कब्जा करके उसे दे दे।

चीन और सोवियत संघ
(CHINA AND THE SOVIET UNION)

चीनी विदेश नीति की मुख्य विशेषता सोवियत संघ के साथ उसके बढ़ते हुए मतभेद और विवाद है। वैसे दोनों देश साम्यवादी है, दोनों का उद्देश्य पूंजीवाद का समूलोन्मूलन करना है तथापि 1960 में दोनों देशो में विभिन्न प्रश्नों पर सैद्धान्तिक मतभेद बढ़ने लगे। क्यूबा के संकट में अपनायी गयी रूसी नीति ने चीनियों को बहुत रुष्ट किया और भारत पर चीनी आक्रमण के सम्बन्ध में अपनायी गयी मास्को की नीति से पीकिंग बहुत अप्रसन्न हुआ। 14 जून, 1963 को चीन के साम्यवादी दल ने रूसी साम्यवादी दल के नाम लिखे पत्र में ख्रुश्चेव के राजनीतिक

1 राजस्थान पत्रिका, 13 दिसम्बर, 1986।

सिद्धान्तों पर बड़े आक्षेप किये। दोनों देशों के मतभेदों के समाधान के लिए 5 से 20 जुलाई, 1963 तक मास्को में बातचीत भी होती रही, किन्तु इसका कोई सन्तोषजनक हल नहीं निकल सका। ये मतभेद अप्रैल 1964 में बड़े उग्र रूप में प्रकट हुए। चीन को रूस से कई शिकायतें हैं : (1) रूस ने चीन को अणुआयुध का रहस्य नहीं बताया। (2) रूस ने जारों के शासनकाल में चीन की हजारों वर्ग मील भूमि दबा ली जिसे चीन वापस लेना चाहता है। (3) रूस अपने साम्यवादी भाई चीन की सहायता उतनी उदारता और तत्परता से नहीं करता जितनी अपने मित्र तटस्थ देशों की कर रहा है। (4) भारत-चीन सीमा-विवाद के समय मास्को ने चीन का साथ नहीं दिया। (5) चीन का यह भी कहना है कि मास्को पश्चिम के साथ कड़ी नीति नही अपना रहा है, उसके साथ उसने शान्तिपूर्ण सहयोग की नीति अपनायी है। (6) चीन का कहना है कि क्यूबा संकट के समय रूस ने शुरू से ही गलत नीति अपनायी। इससे साम्यवादी जगत की बदनामी हुई।

चीन ने रूस के साथ अपने विवाद को सैद्धान्तिक रूप दिया है क्योंकि दो साम्यवादी देशों में केवल ऐसा ही संघर्ष सम्भव है। दोनों देशों में युद्ध की अनिवार्यता, आणविक युद्ध के फलस्वरूप शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति, पूँजीवाद के साथ शान्तिमय प्रतियोगिता, क्रान्ति के सिद्धान्त, निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता, व्यक्ति पूजा के दृष्टिकोण के बारे में मतभेद रहा है।

रूस और चीन के सैद्धान्तिक मतभेद 1960 से बढ़ने लगे थे, किन्तु मार्च 1969 में इन दोनों का मतभेद सशस्त्र सीमा-संघर्ष में परिणत हो गया। जिस प्रकार चीन भारत के एक विशाल प्रदेश पर दावा करता है, उसी प्रकार वह रूस के भी बहुत बड़े प्रदेश को अपना समझता है। सीमा को लेकर दोनों देशों में कई बार सैनिक मुठभेड़ें भी हो चुकी हैं।

चीन और रूस का संघर्ष वास्तव में साम्यवादी जगत के नेतृत्व की अभिलाषा को लेकर है। चीन रूस की अधीनता स्वीकार करना नहीं चाहता अपितु उसके नेतृत्व को चुनौती दे रहा है। एशिया में वह अपना एकाधिकार चाहता है। आज स्थिति यह है कि रूस और चीन एक-दूसरे के विरोध में संयुक्त मोर्चा बनाना चाहते हैं। चीन ने इस बात का बीड़ा उठा लिया है कि रूस जिस-जिस के साथ होगा वह उस-उस के विरोध में अवश्य उठ खड़ा होगा चाहे उस व्यक्ति या शक्ति का 'वर्ग चरित्र' कुछ भी क्यों न हो। संक्षेप में, जब तक चीन और रूस में सीमा विवाद का विद्यमान है तब तक दोनों में तनाव की स्थिति रहना स्वाभाविक है।[1]

चीन की विदेश नीति का मूल्यांकन
(AN ESTIMATE OF CHINA'S FOREIGN POLICY)

साम्यवादी चीन की विदेश नीति सफलता-असफलता, सरलता और जटिलता, एकरूपता और प्रतिकूलता का विचित्र मिश्रण है। चीनी नेताओं की चालें इतनी अस्पष्ट और अविश्वसनीय होती हैं कि उनके आधार पर कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। वे कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं। 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' के नारे लगाकर चीन ने एकाएक भारत पर आक्रमण कर दिया और एकतरफा युद्ध-विराम की घोषणा भी कर दी। सोवियत संघ से 1950 में मित्रता की सन्धि की और 1969 के बाद उसे अपना एक नम्बर का शत्रु मानने लग गया। 1950 में अमरीका उसका सबसे बड़ा शत्रु था और आज चीन का परम मित्र है। वियतनाम पर आक्रमण भी चीन ने कर दिया। वियतनाम के विदेशमन्त्री न्गुफन थैंच के शब्दों में "चीन कभी शत्रु बन जाता है तो कभी दोस्त और कभी-कभी आधा दुश्मन आधा दोस्त। चीन की गुमराह करने वाली

---

1 चीन-रूस सम्बन्धों पर इसी पुस्तक में पृथक् से एक विस्तृत अध्याय (अध्याय 23) दिया गया है—कृपया उस अध्याय को अवश्य देखिए।

चाले हैं। कभी वे एशिया में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की बात करते हैं तो कभी कहते हैं कि बन्दूक में ही दम है। पहले वे कहते थे कि अमरीकी साम्राज्यवाद ही विश्व का सबसे बड़ा शत्रु है············लेकिन आज अमरीका चीन का सबसे अभिन्न मित्र बन गया है ········।"

आजकल चीन की विदेश नीति में सौम्यता के लक्षण परिलक्षित हो रहे हैं। अमरीका, जापान, भारत आदि देशों से चीन के सम्बन्ध मधुर होते जा रहे हैं। चीन तथा सोवियत संघ में अपने सम्बन्धों को सामान्य बनाने के लिए मार्च 1983 में मास्को में दूसरे दौर का परामर्श हो चुका है और 1987 में सीमा सम्बन्धी आंशिक समझौता भी हुआ है।

फिर भी वियतनाम, भारत, उत्तरी कोरिया आदि देशों से चीन के सम्बन्ध मधुर नहीं हैं। जब तक अमरीका ताईवान (फारमोसा) से नहीं हट जाता तब तक उसके अमरीका के साथ, और जब तक साम्यवादी जगत का नेतृत्व रूस के हाथ से निकलकर उसके हाथ में नहीं आ जाता तब तक सोवियत संघ के साथ चीन के सम्बन्धों में किसी सुधार की आशा नहीं करनी चाहिए। जहाँ तक विश्व में उसकी नीति के प्रभाव का सम्बन्ध है, तीसरी दुनिया के विकासशील देशों के साम्यवादी दलों पर अपना प्रभाव जमाने में वह अवश्य सफल हुई है, पर उन देशों की मित्रता प्राप्त करने में नहीं। एशियाई नक्शे में शायद ही ऐसा कोई देश हो जिसे पीकिंग अपना मित्र कह सकता हो (हाँ पाकिस्तान इसका अपवाद हो सकता है) चीन को उसके पड़ोसी देश सन्दिग्ध दृष्टि से देखते हैं। वियतनाम पर चीनी आक्रमण (1979) ने उनकी शंका को और पुख्ता कर दिया है। पामर और परकिन्स के अनुसार, "चीन की विदेश नीति चारा और छड़ी (Carrot and Stick Policy) की रही है अर्थात् मीठे शब्दों और मैत्रीपूर्ण संकेतों के साथ प्रबल तरीकों और अपशब्दों के प्रयोग की रही है।"

विदेश नीति के सन्दर्भ में आज चीन अमरीकावादी बनता जा रहा है। शायद सोवियत संघ के प्रति विद्वेष की यह प्रतिक्रियात्मक परिणति है। अब रूस अमरीका के स्थान पर चीन को अपना शत्रु मानने लगा है। संसार में साम्यवादी धड़े को कमजोर करने तथा एशियाई नव-स्वतन्त्र राष्ट्रों में शक्ति-सन्तुलन बिगाड़ने के लिए चीन ने साम्राज्यवादी अमरीका को आधार भूमि प्रदान कर दी।

अब चीनी विदेश नीति का कोई सैद्धान्तिक आधार नहीं रहा है। अमरीका, अल्जीरिया, इण्डोनेशिया आदि देशों में चीन के बचकाने व्यवहार से अन्ततः इन देशों के साम्यवादी आन्दोलनों को हानि हुई। आज चीन का सबसे बड़ा एशियाई मित्र राष्ट्र पाकिस्तान है, जो एक लम्बे समय तक एशिया में अमरीकी साम्राज्यवाद का शस्त्रागार, मजहबी राजनीति का सरताज, सैनिक तानाशाही का धनी तथा स्वयं पाकिस्तानी जनवाद का भी शत्रु रहा है। विदेश नीति के क्षेत्र में चीन की लक्ष्यहीयता एवं जुनूनी प्रतिक्रिया का यह बड़ा विचित्र पक्ष है।

लेकिन एक बात सर्वविदित है कि पिछले 40 वर्षों में चीन ने अनुकरणीय प्रगति की है। वह आज विश्व की एक महाशक्ति बन गया है। जून 1987 में चीन ने एक बहुत शक्तिवाला भूमिगत परीक्षण किया। चीन अब तक 33 परमाणु परीक्षण कर चुका है। इस बात के स्पष्ट प्रमाण मिले हैं कि चीन अपनी सैनिक व्यवस्था को आत्मनिर्भर बनाने के लिए उच्च सैन्य प्रौद्योगिकी जुटाने में लगा है। चीन की इस प्रगति का श्रेय उसकी व्यावहारिक नीतियों को है।

प्रश्न

1. साम्यवादी चीन की विदेश नीति की विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
   Discuss the main features of Communist China's foreign policy.
2. 1949 में साम्यवादी चीन के प्रादुर्भाव के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।

Discuss critically the impact of the emergence of the Communist China upon international politics since 1949.

3. चीन-रूस संघर्ष के स्वरूप का विश्लेषण कीजिए और बताइए कि मतभेद के मुख्य क्षेत्र क्या हैं ?

Analyse the nature of the Sino-Soviet conflict and discuss the principal areas of disagreement.

4. दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रति चीन की नीति का विवेचन-विश्लेषण कीजिए।

Discuss China's policy towards South-East Asia.

5. 1962 के पश्चात् एशिया के राष्ट्रों (पाकिस्तान, नेपाल और भूटान) के प्रति चीन की विदेश नीति का परीक्षण कीजिए।

Examine China's foreign policy towards Asian nations (Pakistan, Nepal & Bhutan) since 1962.

6. 1949 से साम्यवादी चीन की विदेश नीति की मुख्य विशेषताओं का विवेचन कीजिए।

Discuss the main features of the foreign policy of the Communist China since 1949.

25

भारत की विदेश नीति

[THE FOREIGN POLICY OF INDIA]

वर्तमान युग 'अन्तर्राष्ट्रीयता का युग' है। विज्ञान के द्रुत विकास ने समस्त विश्व को एक सूत्र में जोड़ दिया है। आज प्रत्येक देश को अन्य दूसरे देशों के साथ सम्यक् सम्बन्ध स्थापित करने पड़ते हैं तभी वह अपने अस्तित्व की रक्षा कर सकता है और विकास की दिशा में आगे बढ़ सकता है। अतः प्रत्येक देश अपनी घरेलू नीतियों के साथ-साथ वैदेशिक नीति का भी निर्धारण करता है। विश्व की राजनीति का संचालन विभिन्न देशों की वैदेशिक नीतियों से होता है। भारत विश्व में एक विस्तृत भूभाग और विशाल जनसंख्या वाला देश है। अतः इसकी विदेश नीति का विश्व की राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। स्वतन्त्रता से पूर्व भारत की कोई विदेश नीति नहीं थी; क्योंकि भारत ब्रिटिश सत्ता के अधीन था, परन्तु विश्व मामलों में भारत की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। इसका सांस्कृतिक अतीत अत्यन्त गौरवमय रहा है। न केवल पड़ौसी देशों के साथ, अपितु दूर-दूर स्थित देशों के साथ भी भारत का सांस्कृतिक एवं व्यापारिक आदान-प्रदान होता रहा है। आज भी अनेक पड़ौसी देशों पर उसकी सांस्कृतिक छाप स्पष्ट दिखायी पड़ती है।

भारत की विदेश नीति के आदर्श (उद्देश्य)
(OBJECTS OF INDIAN FOREIGN POLICY)

भारत की विदेश नीति की रूपरेखा स्पष्ट करते हुए श्री जवाहरलाल नेहरू ने सितम्बर 1946 में एक प्रेस सम्मेलन में कहा था "वैदेशिक सम्बन्धों के क्षेत्र में भारत एक स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करेगा और गुट की खींचतान से दूर रहते हुए संसार के समस्त पराधीन देशों को आत्म-निर्णय का अधिकार प्रदान कराने तथा जातीय भेदभाव की नीति का दृढ़तापूर्वक उन्मूलन कराने का प्रयत्न करेगा। साथ ही वह दुनिया के शान्तिप्रिय राष्ट्रों के साथ मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावना के प्रसार के लिए भी निरन्तर प्रयत्नशील रहेगा।" नेहरू का यह कथन आज भी भारत की विदेश नीति का आधार-स्तम्भ है। भारत की विदेश नीति की मूल बातों का समावेश हमारे संविधान के अनुच्छेद 51 में कर दिया गया है, जिसके अनुसार राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बढ़ावा देगा, राज्य राष्ट्रों के मध्य न्याय और सम्मानपूर्वक सम्बन्धों को बनाये रखने का प्रयास करेगा, राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों तथा सन्धियों का सम्मान करेगा तथा राज्य अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को पंच फैसलों द्वारा निपटाने की रीति को बढ़ावा देगा। कुल मिलाकर भारत की विदेश नीति के प्रमुख आदर्श एवं उद्देश्य (Objects) निम्नलिखित हैं :

(1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करना।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को मध्यस्थता द्वारा निपटाये जाने की नीति को प्रत्येक सम्भव तरीके से प्रोत्साहन देना।

(3) सभी राज्यों और राष्ट्रों के बीच परस्पर सम्मानपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखना।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति और विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों में सन्धियों के पालन के प्रति आस्था बनाये रखना।

(5) सैनिक गुटबन्दियों और सैनिक समझौतों से अपने आपको पृथक् रखना तथा ऐसी गुटबन्दी को निरुत्साहित करना।

(6) उपनिवेशवाद का, चाहे वह कहीं भी किसी भी रूप में हो, उग्र विरोध करना।

(7) प्रत्येक प्रकार की साम्राज्यवादी भावना को निरुत्साहित करना।

(8) उन देशों की जनता की सक्रिय सहायता करना जो उपनिवेशवाद, जातिवाद और साम्राज्यवाद से पीड़ित हों।

उपर्युक्त उद्देश्यों से यह बात स्पष्ट होती है कि भारत की विदेश नीति में मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों शान्ति एवं समानता के सिद्धान्तों को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। भारत ने न्याय के आधार पर सभी के साथ सहयोग एवं सद्भावना की नीति पर चलने का निश्चय किया है। इसी परिप्रेक्ष्य में भारत की विदेश नीति के प्रमुख निर्माता जवाहरलाल नेहरू ने भारत की विदेश नीति के तीन आधार स्तम्भ बनाये—शान्ति, मित्रता और समानता।

भारतीय विदेश नीति का प्रमुख आधार : राष्ट्रीय हित
(THE CARDINAL BASIS OF INDIAN FOREIGN POLICY : NATIONAL INTEREST)

भारत ही क्या किसी भी देश की विदेश नीति का मूल्यांकन अथवा उसकी वास्तविक दिशा मात्र उद्घोषित सिद्धान्तों अथवा आदर्शों पर सम्भव नहीं होती। हर प्रश्न अथवा प्रसंग के कई पहलू होते हैं जिनका समुचित विवेचन कर निर्णय लेते समय राष्ट्रीय हित को प्रधानता देनी होती है। भारतीय विदेश नीति के निर्माताओं द्वारा उद्भापित उपर्युक्त उद्देश्यों में कहीं भी राष्ट्रीय हित का उल्लेख नहीं मिलता। इससे महज यह भ्रम होने की सम्भावना है कि ये उद्घोषित उद्देश्य आदर्शों का पुल मात्र है। लेकिन विदेश नीति का गम्भीर विद्यार्थी इस तथ्य से अवगत है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का आधार आदर्शवाद न होकर ठोस राष्ट्रीय हित होते हैं जिनके इर्द-गिर्द कूटनीति का व्यूह रचा जाता है। भारत इसका अपवाद नहीं। भारतीय नेताओं द्वारा घोषित इन उद्देश्यों की यदि सही व्याख्या की जाय तो यह वास्तविकता समझते हुए देर नहीं लगेगी कि ये पारलौकिक जगत के लिए नहीं, बल्कि राष्ट्रीय हित की जीवन्त समस्याओं को अपने समूचे परिवेश के सन्दर्भ में देखने का प्रयास है। इन सिद्धान्तों में नीति निर्धारकों ने न केवल राष्ट्रीय हित के प्रभावी स्वरूप को स्वीकार किया है अपितु उन्हें सर्वाधिक महत्व देते हुए आधार रूप माना है।

4 दिसम्बर, 1947 को संविधान सभा में जवाहरलाल नेहरू ने 'राष्ट्रीय हित' को प्रबलतम आधार स्वीकार करते हुए कहा था,

"हम चाहे कोई भी नीति निर्धारित करें देश की वैदेशिक नीति से सम्बन्धित व्यक्ति की होशियारी राष्ट्र-हित को सुरक्षित रखने में ही निहित है। हम अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सद्भावना की बात करें और अपनी आस्थाओं पर पूरी निष्ठा रखें, लेकिन वास्तविकता यह है कि हर एक सरकार अपने राष्ट्रीय हितों को ही प्राथमिकता और सर्वोपरिता देगी। कोई भी सरकार ऐसे आचरण का खतरा नहीं उठा सकती जो राष्ट्रीय हित के प्रतिकूल हो अतः किसी भी राष्ट्र का चाहे वह राष्ट्र साम्राज्यवादी हो, समाजवादी अथवा साम्यवादी हो, विदेश मन्त्री अपनी नीति आचरण में निरन्तर राष्ट्रीय हितों को ही प्राथमिकता देगा।"[1]

1 जवाहरलाल नेहरू, **इण्डियन फॉरेन पॉलिसी**, पृ० 18।

देश और विदेश के अध्येयता एवं पर्यवेक्षक भारत की विदेश नीति की आदर्श प्रधान और स्वहित प्रधान कम मानते हैं। इस भ्रम का मुख्य कारण पण्डित जवाहरलाल नेहरू की वैचारिक पृष्ठभूमि है जो लचीली होने के साथ-साथ विशाल ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और व्यापकत्व लिये है। किन्तु गहराई से देखा जाये तो प्रतीत होगा कि विदेश नीति के इन आधारों की नींव राष्ट्रीय हित पर ही रखी गयी थी चाहे वह इण्डोनेशिया की स्वतन्त्रता का प्रश्न हो अथवा स्वेज नहर का विवाद, कांगो का हो अथवा हंगरी का विद्रोह—भारत की भूमिका विशुद्ध रूप से राष्ट्रीय हित को लेकर ही थी। उसका मूल लक्ष्य भारत के स्वतन्त्र स्तर को घोषित करना तथा उसके दीर्घकालीन हितों की रक्षा करना था। श्री नेहरू के शब्दों में, "भारत के लिए उसके दूरगामी हित देखते हुए यही हितकर होगा कि हम बिना किसी को नाराज किये लाखों लोगों की सहानुभूति प्राप्त करते हैं। स्वेज नहर के विवाद में भारत का अरब गणराज्य को समर्थन इस देश के आर्थिक और व्यापारिक हितों को लेकर था। दक्षिण अफ्रीका में रंग-भेद की नीति का विरोध और उसके लिए किये गये प्रयत्नों में भी उसका हित निहित रहा है। 'सीटो' और 'सेण्टो' जैसी सन्धियों का विरोध आदर्शवाद के धरातल पर न होकर भारत की सुरक्षा और एशियाई क्षेत्र की शान्ति को लेकर था, क्योंकि इन सन्धियों ने तो एक तरह से संघर्ष को भारत ही के दरवाजे पर लाकर खड़ा कर दिया था। हंगरी के प्रश्न पर भारत के रवैये की पश्चिमी देशों में सबसे अधिक आलोचना हुई। प्रो० ब्रेशर का कहना है कि "हंगरी विद्रोह (1956) के मामले में भारत की प्रतिक्रिया बड़ी धीमी एवं कष्ट-दायक थी। पर्यवेक्षकों का यह भी कहना था कि भारत ने इण्डोनेशिया की स्वतन्त्रता और स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के समय फ्रांस, इंगलैण्ड और इजराइल की कार्यवाही पर जिस आक्रामक भाषा का प्रयोग किया वह हंगरी के लोगों के दमन पर नदारद थी।" वस्तुत: हंगरी में रूस के हस्तक्षेप की भर्त्सना अभियान में भारत का रवैया उसके अपने हितों के परिप्रेक्ष्य में समझना चाहिए। इससे सिद्धान्तों की धुन्ध हटकर वस्तुस्थिति का पता लग जाता है। कश्मीर और स्वेज नहर विवाद में सोवियत रूस की भूमिका भारत के पक्ष में रही थी और पश्चिमी देशों का रवैया उसके विरुद्ध। फिर भारत सोवियत रूस को नाराज क्यों करता? केवल इसलिए कि अमरीका और पश्चिमी देश ऐसा चाहते थे। कश्मीर पर पाकिस्तान के नग्न आक्रमण की घटना को पश्चिमी देश अगर सहजता से पचा सकते हैं तो भारत सहज सिद्धान्तों के नाम पर अपनी मित्रता को दाँव पर कैसे लगा सकता था? जो लोग भारत की विदेश नीति के आधारभूत सिद्धान्तों को राष्ट्रीय हित से अलग-अलग रखकर विवेचन करते हैं उन्हें निराशा होनी स्वाभाविक है। नेहरू ने स्वयं कहा था कि "मैंने स्वाभाविक रूप में भारत के हितों को देखा, क्योंकि यह मेरा पहला कर्तव्य है।"

भारत की गोआ मुक्ति के लिए की गयी सैनिक कार्यवाही पुर्तगाल और पुर्तगाली साम्राज्यवाद के मित्रों को अच्छी नहीं लगी। अमरीका के एक पत्रकार ने उस समय के प्रतिरक्षा मन्त्री श्री कृष्ण मेनन से पूछा कि अहिंसा की वकालत करने वाले देश की यह कार्यवाही कहाँ तक न्यायसंगत है। कुशाग्र बुद्धि मेनन ने कहा, 'क्या आप कोई ऐसा दस्तावेज या उदाहरण बता सकते हैं जिसमें भारत ने शस्त्र न उठाने की शपथ ली हो।'

अगस्त 1968 में सुरक्षा परिषद के सामने जब चेकोस्लोवाकिया के सम्बन्ध में 7 राष्ट्रों के प्रस्ताव में रूस की निन्दा की गयी तो भारत ने उसका विरोध किया। सोवियत रूस के प्रति उदार रुख अपनाकर श्रीमती गांधी ने कूटनीतिक बुद्धिमत्ता का परिचय दिया क्योंकि वे चेकोस्लोवाकिया की घटनाओं के कारण भारत के सम्बन्ध सोवियत संघ तथा उसके साथी देशों से खराब करना नहीं चाहती थीं। पश्चिमी एशिया में अरब राष्ट्रों के समर्थन के पीछे भी भारत का राष्ट्रीय हित ही निर्णायक कारक रहा है। आर्थिक हितों को ध्यान में रखते हुए ही श्रीमती गांधी ने यह उचित

नहीं समझा कि केवल भावनाओं में बहकर 13 अरब राष्ट्रों की उपेक्षा करके इजाराइल से व्यापारिक एवं कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये जायें। 1971 की भारत-रूस सन्धि का मुख्य कारण भी भारत की सुरक्षा और राष्ट्रीय हितों का परिप्रेक्ष्य ही था। यह सन्धि स्पष्ट रूप से पाकिस्तान की धमकियों के विरुद्ध भारत की सुरक्षा को सुदृढ़ बनाने के लिए की गयी है। सन्धि के दूरगामी प्रभाव की समीक्षा करते हुए एक समय पाकिस्तान में कार्यवाहक राजदूत रहे श्री शंकर मैत्र के शब्दों में, "इस सन्धि की वास्तविक उपयोगिता उस समय सिद्ध होगी जब हम पाकिस्तान से अपनी रक्षा कर लेते हैं और बंगला देश के संकट को अपनी सन्तुष्टि के अनुसार हल कर लेते हैं।"

श्री एम० एम० रहमान ने अपनी पुस्तक 'द पॉलिटिक्स ऑफ नॉन-एलायनमेण्ट' में भारतीय विदेश नीति के आधारभूत सिद्धान्त और राष्ट्रीय हित की विशद् विवेचना की है। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि रंगभेद और उपनिवेशवाद का विशेष विरोध तथा एफ्रोएशियाई देशों के स्वतन्त्रता-संग्राम का समर्थन विदेश नीति का साध्य नहीं बल्कि साधन है। गुटनिरपेक्षता भी लेखक के अभिमत में राष्ट्र की सुरक्षा और विकास का माध्यम है। भारत और अरब गणराज्य की नीति की विस्तारपूर्वक व्याख्या करते हुए लेखक ने इस बात पर जोर दिया है कि इन देशों ने उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद अथवा अन्य किसी शक्ति का विरोध अपनी सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए ही किया है। अतः इन लक्ष्यों को सुरक्षा तथा आर्थिक लाभ के हितों को परिपोषित करने का माध्यम माना जाना चाहिए।[1]

संक्षेप में, भारत की विदेश नीति के आधारों का उल्लेख मात्र आदर्श अथवा कोरे मानववादी दृष्टिकोण को लेकर नहीं बल्कि सुनिश्चित राष्ट्रीय हित के विभिन्न पहलुओं को दृष्टि में रखकर ही किया गया है। कोई भी देश, चाहे वह कितना ही शक्ति-सम्पन्न क्यों न हो वह अपनी सुरक्षा, अखण्डता और आर्थिक हितों को नजर-अन्दाज नहीं कर सकता। यही उसकी विदेश नीति का प्रारम्भिक केन्द्र-बिन्दु तथा सफलता की अन्तिम कसौटी है। राष्ट्रीय हित के सम्बन्ध में यह तथ्य भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि वह एक गत्यात्मक तत्व है। इसलिए विदेश नीति में समय एवं परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन स्वाभाविक है।

भारत की विदेश नीति के निर्माणक तत्व
(DETERMINING FACTORS OF INDIA'S FOREIGN POLICY)

डॉ० वी० पी० दत्त के अनुसार, "ऐतिहासिक परम्पराओं, भौगोलिक स्थिति और भूतकालीन अनुभव भारतीय विदेश नीति के निर्माण में प्रभावक तत्व रहे हैं।"[2]

भारत की विदेश नीति के निर्माण में जिन तत्वों का विशिष्ट महत्व रहा है, वे निम्नलिखित हैं :

1. **भौगोलिक तत्व**—किसी भी विदेश नीति के निर्माण में उस देश की भौगोलिक परिस्थितियाँ प्रमुख और निर्णायिक महत्व की होती हैं। के० एम० पणिक्कर के अनुसार, "जब नीतियों का लक्ष्य प्रादेशिक सुरक्षा होता है तो उनका निर्धारण मुख्य रूप से भौगोलिक तत्व से ही हुआ करता है।" एक अन्य स्थान पर पणिक्कर लिखते हैं कि "यह समझना कठिन नहीं है कि भूगोल का सुरक्षा से कितना गहरा सम्बन्ध है। चूँकि हर देश की भौगोलिक विशेपताओं में मूलतः कोई परिवर्तन नहीं आता, इसलिए प्रत्येक देश की वैदेशिक नीति के कुछ स्थायी पहलू होते हैं। वास्तव में यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि वैदेशिक नीति भूगोल द्वारा निर्धारित होती है।"

---

1 M. M. Rehman, *The Politics of Non-aligment*, pp. 173-75.

2 "The compulsions of history, geography and past experience thus were important formative influences on the formation of India's foreign policy."
—V. P. Dutt, *India's Foreign Policy* (New Delhi, 1989), p. 3.

नेपोलियन वोनापार्ट ने भी कहा था कि "किसी देश की विदेश नीति उसके भूगोल द्वारा निर्धारित होती है।" डॉ० एयर्स का मत भी है कि "समझौते तोड़े जा सकते हैं, सन्धियाँ भी एकतरफा समाप्त की जा सकती हैं, परन्तु भूगोल अपने शिकार को कसकर पकड़े रहता है।" भारत के सन्दर्भ में उपर्युक्त बातें सही हैं। भारत की विदेश नीति के निर्धारण में भारत के आकार, एशिया में उसकी विशेष स्थिति तथा दूर-दूर तक फैली हुई भारत की सामुद्रिक और पर्वतीय सीमाओं का विशेष स्थान रहा है। भारत उत्तर में साम्यवादी गुट के दो प्रमुख देशों—सोवियत संघ और चीन के विल्कुल समीप है। भारत के एक छोर पर पाकिस्तान है तो दूसरे छोर पर उसकी सीमा समुद्रों से घिरी हुई है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के वाद अपनी लम्बी सीमाओं की सुरक्षा भारत के लिए मुख्य चिन्ता का विषय था। यदि भारत साम्यवादी गुट में सम्मिलित हो जाता है तो उसकी समुद्री सीमा पर खतरा उत्पन्न हो जाता क्योंकि पश्चिमी गुट का अपनी नौ-शक्ति के कारण हिन्द महासागर पर दवदवा था। यदि भारत पश्चिमी गुट में सम्मिलित होता है तो उत्तरी सीमा पर साम्यवादी राष्ट्र उसके लिए स्थायी खतरा उत्पन्न कर सकते थे। इन भौगोलिक परिस्थितियों में विदेश नीति की दृष्टि से भारत के लिए यह उचित है कि वह दक्षिण में समुद्री सीमा सुरक्षित वनाये रखने के लिए ब्रिटेन से मैत्री सम्बन्ध वनाये रखे और उत्तर में अपनी स्थिति सुरक्षित रखने के लिए साम्यवादी देशों से अनुकूल सम्बन्ध वनाये रखने की चेष्टा करे।

हिन्द महासागर में भारत का सबसे वड़ा हित यह है कि वह 'स्वतन्त्र एवं शान्ति का क्षेत्र' वना रहे। भारत इस वात को स्वीकार नहीं करता कि ब्रिटेन के इस क्षेत्र से हट जाने से किसी प्रकार की 'शक्ति शून्यता' की स्थिति पैदा हो गयी है। भारत की यही धारणा है कि यदि कोई शून्यता उत्पन्न हो भी गयी है तो हिन्द महासागर के तटवर्ती राज्य इस शून्यता को पूरा कर सकने की क्षमता रखते हैं। अतः भारत डियागोगार्शिया में अमरीकी सैनिक अड्डों का उतना ही विरोधी है जितना कि वह इस क्षेत्र में वढ़ते हुए सोवियत प्रभाव का विरोधी है। भारत की धारणा है कि इस क्षेत्र में महाशक्तियों की गतिविधियाँ वढ़ जानें से उसकी सीमाओं एवं व्यापार को खतरा उत्पन्न हो सकता है। "भारत भविष्य में कभी भी हिमालय पर्वत और हिन्द महासागर व अन्य दो पूर्वी-पश्चिमी समुद्रों की उपेक्षा नहीं कर सकता क्योंकि भारतीय परिवहन, व्यापार व विशेष रूप से भारतीय सुरक्षा इन्हीं पर निर्भर करती है।"

2. <u>गुटबन्दियाँ</u>—जव भारत स्वाधीन हुआ तो विश्व दो गुटों में विभाजित था। अमरीका और सोवियत संघ में मनमुटाव इतना अधिक वढ़ गया कि यह मनमुटाव 'शीत-युद्ध' के रूप में परिवर्तित हो गया। शीत-युद्ध की इस राजनीति में भारत क्या करता ? या तो वह गुटों से पृथक् रहता। भारत ने गुटों से पृथक् रहना ही ठीक समझा क्योंकि वह दोनों गुटों के वीच सेतुवन्ध का कार्य करना चाहता था। भारत द्वारा तटस्थता और असंलग्नता की नीति अपनाने का प्रधान कारण यही है कि विश्व के दोनों गुटों में किसी के भी साथ न वँधने से भारत को कोई हानि नहीं है। उसका हित दोनों गुटों के मध्य तनाव में कमी होने में निहित है, क्योंकि एक विश्व-युद्ध भारतीय अर्थ-व्यवस्था को अस्तव्यस्त कर देगा और उसका आर्थिक स्वर्ण युग की प्राप्ति का स्वप्न छिन्न-भिन्न हो जायेगा। असंलग्नता की स्थिति उसे दोनों गुटों के मध्य मध्यस्थ का कार्य कर अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करने से सहायता देने के योग्य वनाती हैं।

3. <u>विचारधाराओं का प्रभाव</u>—भारत की विदेश नीति के निर्धारण में शान्ति और अहिंसा पर आधारित गांधीवादी विचारधारा का भी गहरा प्रभाव रहा है। इस विचारधारा से प्रभावित होकर ही संविधान के अनुच्छेद 51 में राज्य नीति के निर्देशक तत्वों के अन्तर्गत विश्व शान्ति की चर्चा की गयी। हडसन लिखते हैं कि "गांधी के शान्तिवाद ने देश को यह भरोसा दिलाया कि

विश्व में शान्ति 'समझौतों' से ही स्थापित हो सकती है, न कि रक्षात्मक संगठन वनाने से। भारत का यह कर्तव्य है कि वह विरोधी पक्षों से अलग रहे और उनमें मध्यस्थ का कार्य करे।"

बुद्ध द्वारा प्रतिपादित तथा अशोक द्वारा प्रचारित अहिंसा की संकल्पना और अकवर व शिवाजी द्वारा प्रदर्शित सहिष्णुता की भावना ने भारत की विदेश नीति को वरावर प्रभावित किया है। भारतीय विदेश नीति अरविन्द, टैगोर तथा एम० एन० राय के मानवतावादी विचारों को भी प्रतिविम्बित करती है। भारतीय झण्डे में अशोक चक्र इस वात का सूचक है कि भारत संसार में शान्ति व मित्रता स्थापित करना चाहता है।

4. **आर्थिक तत्व**—भारत की आर्थिक उन्नति तभी सम्भव थी जव अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति वनी रहे। आर्थिक दृष्टि से भारत का अधिकांश व्यापार पाश्चात्य देशों के साथ था और पाश्चात्य देश भारत का शोषण कर सकते थे। भारत अपने विकास के लिए अधिकतम विदेशी सहायता का भी इच्छुक था। इस दृष्टिकोण से भारत के लिए सभी देशों के साथ मैत्री का वर्ताव रखना आवश्यक था और वह किसी भी एक गुट से वँध नहीं सकता था। गुटवन्दी से अलग रहने के कारण उसे दोनों ही गुटों से आर्थिक एवं तकनीकी सहायता मिलती रही है क्योंकि कोई भी गुट नहीं चाहता कि भारत दूसरे गुट के प्रभाव-क्षेत्र में आ जाये।

जे० वन्द्योपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'दि मेकिंग ऑफ इण्डियाज फॉरेन पॉलिसी' में भारतीय विदेश नीति के आर्थिक आयाम वताये हैं जिसके तीन प्रमुख सूचक हैं : सुरक्षा, विदेशी सहायता तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार।

5. **सैनिक तत्व**—सैनिक दृष्टि से भारत शक्तिशाली राष्ट्र नहीं था। अपनी रक्षा के लिए अनेक दृष्टियों से वह पूरी तरह विदेशों पर निर्भर था। भारत की दुर्वल सैनिक स्थिति उसे इस वात के लिए वाध्य करती रही है कि विश्व की सभी महत्वपूर्ण शक्तियों के साथ मैत्री वनाये रखी जाय। प्रारम्भ से ही भारत राष्ट्रमण्डल का सदस्य वना रहा, उसका भी यही राज था कि सैनिक दृष्टि से भारत व्रिटेन पर ही निर्भर था।

6. **श्री नेहरू का व्यक्तित्व**—श्री जवाहरलाल नेहरू न केवल भारत के प्रधानमन्त्री के अपितु विदेशमन्त्री भी थे। उनके व्यक्तित्व की छाप विदेश नीति के हर पहलू पर झलकती है। वे साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और फासिस्टवाद के विरोधी थे। वे सभी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण उपायों से सुलझाने के प्रबल समर्थक थे। वे महाशक्तियों के संघर्ष में भारत के लिए असंलग्नता की नीति को सर्वोत्तम मानते थे। अपने इन्हीं विचारों के अनुरूप उन्होंने भारत की विदेश नीति को ढाला और आज इसका जो कुछ भी रूप है वह पं० नेहरू के विचारों का ही मूर्त रूप है।

लेकिन स्वयं नेहरू इसे नहीं मानते थे। उन्होंने एक वार कहा था कि "भारत की विदेश नीति को नेहरू नीति कहना सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। यह इसलिए गलत है कि मैंने केवल इस नीति का शब्दों में प्रतिपादन किया है, मैंने इसका आविष्कार नहीं किया। यह भारतीय परिस्थितियों की उपज है। वैयक्तिक रूप से मुझे यह विश्वास है कि भारत के वैदेशिक मामलों की वागडोर यदि किसी अन्य व्यक्ति या दल के हाथ में होती तो उसकी नीति वर्तमान नीति से वहुत भिन्न न होती।"

विदेश नीति के निर्माण में राष्ट्रीय नेतृत्व का वहुत प्रभाव पड़ता है। नेहरू का यह वड़प्पन था कि वह भारतीय विदेश नीति को नेहरू की नीति के नाम से पुकारा जाना नापसन्द करते थे, लेकिन यह तथ्य है कि भारतीय विदेश नीति नेहरू की ही नीति है। प्रो० सच्चिदानन्द मूर्ति ने लिखा है कि यदि राष्ट्र का नेतृत्व नेहरू के हाथ में नहीं होता तो दूसरे प्रकार की विदेश नीति की पर्याप्त सम्भावना थी, जैसा कि कुछ दूसरे दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों और पाकिस्तान के उदाहरण से भी स्पष्ट है जिन्होंने भिन्न विदेश नीतियाँ अपनायी थीं। जहाँ तक विदेश नीति के निर्माण में

दूसरे नेताओं के प्रभाव का प्रश्न है, एस० के० पाटिल ने लिखा था कि "नेहरू हमारी सबसे बड़ी सम्पत्ति है, क्योंकि वह एक वट वृक्ष की भाँति है जिसकी छाया में लाखों आश्रय लेते हैं; तथापि वह हमारा सबसे बड़ा उत्तरदायित्व है, क्योंकि वट वृक्ष की छाँव में जीव वैज्ञानिक रूप से कोई चीज पैदा नहीं होती।

7. **राष्ट्रीय हित**—पं० नेहरू ने संविधान सभा मे स्पष्ट कहा था, "किसी भी देश की विदेश नीति की आधारशिला उसके राष्ट्रीय हित की सुरक्षा होती है और भारत की विदेश नीति का भी ध्येय यही है। भारत का राष्ट्रीय हित क्या है? यह निर्धारण करना आसान नहीं है। भारत के दो प्रकार के राष्ट्रीय हित हैं—स्थायी राष्ट्रीय हित, जैसे देश की अखण्डता और सुरक्षा तथा अस्थायी राष्ट्रीय हित जैसे खाद्यान्न, विदेश पूंजी, तकनीकी विकास आदि। यदा-कदा भारत की विदेश नीति में विरोधाभास दिखायी देता है, वह इस बात को सिद्ध करता है कि भारत की विदेश नीति में राष्ट्रीय हितों का सबसे बड़ा स्थान है। राष्ट्रीय हितों के सन्दर्भ में ही भारत ने पश्चिमी एशिया के संकट में इजराइल के बजाय अरब राष्ट्रों का सदैव समर्थन किया। गुट निरपेक्ष होते हुए भी 9 अगस्त, 1971 को सोवियत संघ के साथ एक 20-वर्षीय सन्धि की। भारत की विदेश नीति दूसरे देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप के विरुद्ध है, परन्तु अपने राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए ही भारत ने अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप की भर्त्सना आज तक नहीं की। भारत ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के 14 जनवरी, 1980 के उस प्रस्ताव पर मतदान में हिस्सा नहीं लिया जिसमें अफगानिस्तान से विदेश सेनाओं के तत्काल बिना शर्त और पूर्ण वापसी की बात कही गयी थी। भारत ने 5 जून, 1987 को मानवीय आधार पर श्रीलंका में जाफना की पीड़ित जनता के लिए हवाई मार्ग से राहत सामग्री पहुँचायी। स्वतन्त्रता के बाद के इतिहास में यह पहला अवसर है जब भारत ने किसी देश की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा का उल्लंघन किया।

8. **ऐतिहासिक परम्पराएँ**—भारत की विदेश नीति के निर्धारण में ऐतिहासिक परम्पराओं का भी बड़ा योगदान रहा है। प्राचीनकाल से भी भारत की नीति शान्तिप्रिय रही है। भारत ने किसी भी देश पर प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया। भारत की यह परम्परा वर्तमान विदेश नीति में स्पष्ट दिखायी देती है।

हिन्दू सभ्यता का चरित्र और उसकी विशेषताएँ—जैसे शान्ति, समन्वय और सहिष्णुता की भावनाएँ हमारी विदेश नीति का बहुत बड़ा आधार है। तीन सौ वर्षों के अंग्रेजी शासन का भी हमारी विदेश नीति के निर्धारण में योग रहा है। देश में संसदीय प्रणाली, उदारवाद, अंग्रेजी भाषा का प्रयोग, प्रशासनिक ढाँचा आदि इसका प्रमाण है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद का हमारा कटु अनुभव इसके मूल में है। पाकिस्तान के साथ शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध और दक्षिण-पूर्व एशियाई राष्ट्रों के साथ सांस्कृतिक व आध्यात्मिक सम्बन्ध भी ऐतिहासिक अनुभवों के परिणाम हैं।

भारत का शान्तिवाद भारतीय दर्शन की सहिष्णुता, उदारता और मानवतावादी दृष्टि पर आधारित है। चीन और पाकिस्तान के आक्रमणों का सामना करते हुए भी भारत ने अपने आक्रमणकारियों के प्रति सहिष्णुता और मित्रता का हाथ बढ़ाया है। जातीय रंगभेद की नीति का विरोध भारतीय मानवतावादी विचार से प्रभावित है, पंचशील के सिद्धान्तों पर गांधी की अहिंसा और बुद्ध के अष्टमार्ग का प्रभाव है।

9. **आन्तरिक शक्तियों और दबावों का प्रभाव**—किसी देश की आन्तरिक शक्तियों और दबाव समूह भी विदेश नीति के निर्धारण में प्रभावक भूमिका निभाते हैं। जब राष्ट्र आन्तरिक दृष्टि से अधिक सुदृढ़ और मनोवैज्ञानिक रूप से एकता के सूत्र में गुँथा होता है तो राष्ट्र की विदेश नीति भी अधिक स्पष्ट, सुदृढ़ और प्रभावशाली होती है परन्तु जब राष्ट्र आन्तरिक फूट (मतभेदों) के कारण विभक्त होता है और राजनीतिक अस्थिरता पायी जाती है तो विदेश नीति प्रायः शिथिल

अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर प्राय: निष्क्रिय और प्रभावहीन होती है। भारत की विदेश नीति भी इसका अपवाद नहीं है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के 17 वर्षों तक भारत आर्थिक और सैनिक दृष्टि से निर्बल होने पर भी विश्व राजनीति में इस कारण अधिक योगदान दे सका कि नेहरू का व्यक्तित्व अधिक प्रभावशाली था। परन्तु उनकी मृत्यु के बाद भारतीय विदेश नीति अन्तर्राष्ट्रीय स्थल पर शिथिल पड़ गयी। 1971–77 तथा पुन: 1980 में श्रीमती गांधी का व्यक्तित्व उभरकर सामने आया तो कम-से-कम इस उपमहाद्वीप में उनके व्यक्तित्व का निर्णायक प्रभाव पड़ने लगा। 1971 में बंगला देश की स्वतन्त्रता, 1974 में अणुबम का विस्फोट, 1975 में आर्यभट्ट, 1979 में भास्कर, 1981 में ऐपल और 1983 में इन्सेट-1 बी के अन्तरिक्ष में फेंके जाने से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत की प्रतिष्ठा और प्रभाव का निरन्तर विकास हुआ। दूसरी ओर आन्तरिक दृष्टि से कमजोर होने और भ्रष्टाचार के आरोपों से घिर जाने के कारण राजीव गांधी (1986-89) का राजनय कम-से-कम श्रीलंका, पाकिस्तान, नेपाल और अमरीका के सन्दर्भ में प्रभावशाली नहीं रहा।

भारत की विदेश-नीति की प्रमुख विशेषताएँ

अथवा

भारतीय विदेश-नीति के मूल तत्व या सिद्धान्त

(BASIC PRINCIPLES OR FEATURES OF INDAI'S FOREIGN POLICY)

सितम्बर 1946 में अन्तरिम सरकार की स्थापना के बाद से ही भारतीय विदेश नीति विकसित होने लगी। पं० नेहरू ने स्पष्ट कहा कि स्वतन्त्र भारत अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक स्वतन्त्र नीति का अवलम्बन करेगा और किसी गुट में सम्मिलित नहीं होगा। भारत संसार से किसी भी भाग में उपनिवेशवाद और प्रजातीय विभेद का विरोध करेगा और विश्व शान्ति के समर्थक देशों के साथ सहयोग करेगा। पं० नेहरू ने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाने पर भी जोर दिया। यदि स्वाधीन भारत की विदेश नीति का समीक्षात्मक विश्लेषण करें तो निम्नांकित विशेषताएँ हमारे सामने प्रकट होती हैं :

1. गुटनिरपेक्षता की नीति
(THE POLICY OF NON-ALIGNMENT)

विश्व राजनीति में भारतीय दृष्टिकोण मुख्यतया असंलग्नता अथवा गुट-निरपेक्षता का रहा है। इसे भारतीय विदेश नीति का सार तत्व कहा जाता है। गुटनिरपेक्षता गुटों की पूर्व उपस्थिति का संकेत कर देती है। जब भारत स्वाधीन हुआ तो उसने पाया कि विश्व की राजनीति दो विरोधी गुटों में बँट चुकी है। एक गुट का नेता संयुक्त राज्य अमरीका और दूसरे का सोवियत संघ था। विश्व के अधिकांश राष्ट्र दो विरोधी खेमों में विभाजित हो गये और भीषण शीत-युद्ध प्रारम्भ हो गया। शीत-युद्ध का क्षेत्र विस्तृत होने लगा और इसके साथ-साथ एक तीसरे महासमर की तैयारी होने लगी। स्वतन्त्र भारत के लिए यह एक विकट समस्या थी कि इस स्थिति में वह क्या करे ? ऐसी स्थिति में भारत या तो दोनों में से किसी एक का साथ पकड़ सकता था अथवा दोनों से पृथक् रह सकता था। भारत के नीति निर्धारक कहने लगे कि वे संसार के किसी भी गुट में सम्मिलित नहीं होंगे। गुटबन्दी में शामिल होना न तो भारत के हित में था न संसार के। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सभी प्रश्नों पर वे गुटनिरपेक्षता की नीति का अवलम्बन करेंगे। भारत ने दोनों गुटों से पृथक् रहने की जो नीति अपनायी उसे **'गुट-निरपेक्षता'** की नीति के नाम से जाना जाता है।

इस नीति का आशय है कि भारत वर्तमान विश्व राजनीति के दोनों गुटों में से किसी गुट में भी शामिल नहीं होगा, किन्तु गुटों से अलग रहते हुए भी उनसे मैत्री सम्बन्ध कायम रखने की चेष्टा करेगा और उनकी बिना शर्त सहायता से अपने विकास में तत्पर रहेगा। भारत की गुट-निरपेक्षता एक विधेयात्मक, सक्रिय और रचनात्मक नीति है। इसका ध्येय किसी दूसरे

गुट का निर्माण करना नहीं वरन् दो विरोधी गुटों के बीच सन्तुलन का निर्माण करना है। असंलग्नता की यह नीति सैनिक गुटों से अपने आपको दूर रखती है किन्तु पड़ोसी व अन्य राष्ट्रों के बीच अन्य सब प्रकार के सहयोग को प्रोत्साहन देती है। यह गुट-निरपेक्षता नकारात्मक तटस्थता, अप्रगतिशीलता अथवा उपदेशात्मक नीति नहीं है। इसका अर्थ सकारात्मक है अर्थात् जो सही और न्यायसंगत है उसकी सहायता और समर्थन करना तथा जो अनीतिपूर्ण एवं अन्यायसंगत है उसकी आलोचना एवं निन्दा करना। अमरीकी सीनेट में बोलते हुए नेहरू ने स्पष्ट कहा था, "यदि स्वतन्त्रता का हनन होगा, न्याय की हत्या होगी अथवा कहीं आक्रमण होगा तो वहाँ हम न तो आज तटस्थ रह सकते हैं और न भविष्य में तटस्थ रहेंगे।" कृष्णमेनन ने भी संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में भारतीय विदेश नीति का विश्लेषण करते हुए कहा था कि "हम तटस्थ देश नहीं है" हम युद्ध और शान्ति के सन्दर्भ में तटस्थ नहीं है। हम साम्राज्यवादियों अथवा अन्य देशों द्वारा आधिपत्य स्थापित करने के सन्दर्भ में भी तटस्थ नहीं हैं। हम नैतिक मूल्यों के सम्बन्ध में तटस्थ नहीं हैं। हम उन बड़ी आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं के सन्दर्भ में तटस्थ नहीं हैं जिनका कभी भी उदय हो सकता है ······हमारी स्थिति यह है कि हम शीत-युद्ध के सन्दर्भ में गुट निरपेक्ष तथा अप्रतिबद्ध है। इसी सन्दर्भ में अप्पादोराई ने कहा है कि "यह स्वतन्त्र विदेश नीति एवं तटस्थता एक ही बात नहीं है। यदि कभी कहीं युद्ध होता है तो इस नीति की माँग होगी कि अपने स्वतन्त्रता एवं शान्ति के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए भारत स्वतन्त्र राष्ट्रों का साथ दे। यह एक नकारात्मक नीति नहीं है, यह सकारात्मक है, जिसका उद्देश्य समविचारवादी राष्ट्रों के साथ मिलकर शान्ति, स्वतन्त्रता और मैत्री के उद्देश्य प्राप्त करना और अपना तथा अन्य अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों का आर्थिक विकास करना है ····।

गुट-निरपेक्षता का अर्थ है विश्व के किसी भी गुट के साथ जुड़ा हुआ न होना, अर्थात् नाटो, सीटो या वारसा संगठनों जैसे किसी सैनिक गठबन्धन में शामिल न होना। यह ऐसी नीति है जो विश्व में स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करती है और हर समस्या पर अपने विचारों को प्रकट करने और अपने दृष्टिकोण अपनाने के लिए स्वतन्त्र समझती है। यह किन्हीं पूर्वाग्रहों के आधार पर कार्य नहीं करती। यह समस्याओं पर वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण अपनाती है, व्यक्तिनिष्ठ नहीं।

भारत की गुट-निरपेक्षता स्विट्जरलैण्ड या आस्ट्रिया की तटस्थता के समान नहीं है और न यह एक स्थायी तटस्थता है। इसका सरल अर्थ केवल यह है कि इन दोनों शक्तिशाली गुटों द्वारा उत्पन्न समस्याओं से हम सामान्यतया किसी का भी पक्ष लेना नहीं चाहते और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में नहीं पड़ना चाहते। गुट-निरपेक्षता का अर्थ है : **प्रथम**, गुटों से पृथक् रहना; **द्वितीय**, शीत-युद्ध में भाग न लेना; **तृतीय**, यह तटस्थता नहीं है; **चतुर्थ**, प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या पर गुण-दोषों के आधार पर निर्णय लेना और **पंचम**, विरोधी गुटों के बीच सन्तुलन बनाये रखना। पंडित नेहरू ने स्पष्ट कहा था कि किसी गुट में सम्मिलित होने का अर्थ क्या है। इसका केवल एक ही अर्थ है—"किसी एक विशेष प्रश्न पर आप अपने विचार का परित्याग कर दें और दूसरे को खुश करने तथा उसकी सदिच्छा प्राप्त करने के लिए उसके विचारों को मान लें।" भारत के लिए ऐसी स्थिति असह्य थी। वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्र रहना चाहता था और किसी गुट में शामिल होकर इस स्वतन्त्रता को कायम नहीं रखा जा सकता था।

भारत की यह गुट-निरपेक्षता पलायनवाद की नीति भी नहीं है। एशिया के प्रमुख राष्ट्र के रूप में भारत अपने उत्तरदायित्व से कभी भी बचना नहीं चाहता। किसी भी विवाद के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए भारत की मध्यस्थता की सेवाएँ सदैव उपलब्ध रही है। कोरिया, हिन्दचीन, मिस्र एवं इजराइल के विवाद इसके उदाहरण हैं। भारतीय गुट-निरपेक्षता का अर्थ पृथकतावाद भी नहीं है। विश्व की सामान्य समस्याओं में तो क्या उसे युद्ध में भी भाग लेना पड

सकता है जैसा भारत के साथ हुआ भी। भारत निःसंगतता में विश्वास नहीं रखता जिसका उदाहरण यह है कि भारत न केवल राष्ट्रमण्डल एवं संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य है बल्कि अन्य अनेकों राष्ट्र के साथ उसके कूटनीति तथा मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध हैं। भारत ने गुट-निरपेक्षता की विदेश नीति क्यों अपनायी ? इसके कई सशक्त कारण है :

(1) **प्रथम,** किसी भी गुट में शामिल होकर अकारण ही भारत विश्व में तनाव की स्थिति पैदा करना उपयुक्त नहीं मानता।

(2) **द्वितीय,** भारत अपनी विचार प्रकट करने की स्वाधीनता का वनाये रखना चाहता है। उसने किसी गुट विशेष को अपना लिया तो उसे गुट के नेताओं का दृष्टिकोण अपनाना पड़ेगा।

(3) **तृतीय,** भारत अपने आर्थिक विकास के कार्यक्रमों को और अपनी योजनाओं की सिद्धि के लिए विदेशी सहायता पर बहुत कुछ निर्भर है। गुट-निरपेक्षता की नीति से सोवियत रूस तथा अमरीका दोनों से एक ही साथ सहायता मिल पा रही है।

(4) **चतुर्थ,** भारत की भौगोलिक स्थिति गुट-निरपेक्षता की नीति अपनाने को वाध्य करती है। साम्यवादी देशों से हमारी सीमाएँ टकराती हैं। अतः पश्चिमी देशों के साथ गुटवन्दी करना विवेक-सम्मत नहीं। पश्चिमी देशों से विशाल आर्थिक सहायता मिलती है। अतः साम्यवादी गुट में सम्मिलित होना भी बुद्धिमानी नहीं। पं० नेहरू ने स्पष्ट कहा था कि "किसी गुट के साथ सैनिक सन्धियों में बँध जाने के कारण सदा उसके इशारे पर नाचना पड़ता है और साथ ही अपनी स्वतन्त्रता बिल्कुल नष्ट हो जाती है। जब हम असंलग्नता का विचार छोड़ते हैं तो हम अपना लंगर छोड़कर वहने लगते हैं। किसी देश में बँधना आत्म-सम्मान खोना है, यह वहुमूल्य निधि का विनाश है।'

यदि गुट-निरपेक्षता की नीति का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया जाये तो यह कहा जा सकता है कि इसकी यात्रा के कई पड़ाव रहे हैं और यह एक गतिशील नीति (dynamic foreign policy) सिद्ध हुई है। इसके विभिन्न चरण इस प्रकार हैं :

1. **1947 से 1950 तक**—अपने प्रारम्भिक वर्षों में गुट-निरपेक्षता की भारतीय नीति अस्पष्ट थी। कई लोग इसे 'तटस्थता' का पर्यायवाची मानते थे और स्वयं नेहरू इसे 'सकारात्मक तटस्थता' कहकर पुकारते थे। इस काल में भारत की प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में पश्चिमी गुट की तरफ झुकी हुई थी। पश्चिमी गुट की तरफ भारतीय झुकाव के कई कारण थे। सुरक्षा के मामले में भारत पश्चिमी गुट पर निर्भर था। भारतीय सेना का संगठन ब्रिटिश पद्धति पर आधारित था और इसलिए हम ब्रिटेन के साथ इस मामले में पूरी तरह सम्वद्ध थे। हमारी शिक्षा, पद्धति पश्चिमी शिक्षा प्रणाली पर आधारित थी और भारत के उच्च-शिक्षित वर्ग पर पाश्चात्य देशों का प्रभाव था। इस काल में भारत का व्यापारिक सम्बन्ध केवल पश्चिमी राष्ट्रों से था। भारत का लगभग 97% विदेशी व्यापार पश्चिम मे होता था। ब्रिटेन एवं अमरीका से ही खासतौर से भारत को आर्थिक एवं तकनीकी सहायता मिल रही थी। इस समय सोवियत संघ आर्थिक और सैनिक दृष्टि से भारत को सहायता देने की स्थिति में नहीं था। अतः भारत का झुकाव पश्चिमी देशों की तरफ अधिक रहा। इसी कारण भारत ने पश्चिमी जर्मनी को मान्यता दे दी क्योंकि उसका सम्वन्ध पश्चिमी गुट से था, जवकि पूर्वी जर्मनी को मान्यता प्रदान नहीं की। कोरिया युद्ध के प्रारम्भ से ही भारत ने पश्चिमी गुट का पक्ष लिया और उत्तरी कोरिया को आक्रामक घोषित कर दिया।

2. **1950 से 1957 तक**—1950 से 1957 के काल में सोवियत संघ के प्रति भारत के दृष्टिकोण में कुछ परिवर्तन आया। इसका कारण यह था कि 1953 में स्टालिन की मृत्यु के वाद भारत के प्रति सोवियत दृष्टिकोण काफी उदार होने लगा था। इस काल में अमरीका के

साथ भारत के सम्बन्धों में कटुता आने लगी क्योंकि 1954 में अमरीका और पाकिस्तान के मध्य एक सैनिक सन्धि हुई जिसके अनुसार अमरीका ने पुर्तगाल का समर्थन किया जबकि सोवियत संघ ने भारतीय नीति का हमेशा समर्थन किया। इस काल में भारत के प्रधानमन्त्री नेहरू ने रूस की यात्रा की तथा रूसी नेताओं ने भारत की सद्‌भावना यात्राएँ कीं। भारत और रूस के बीच व्यापार बढ़ा और भारत को रूस से पर्याप्त आर्थिक सहायता मिलने लगी। रूस ने भारत को भिलाई इस्पात कारखाने के लिए आर्थिक व तकनीकी सहायता भी दी। 1956 में स्वेज संकट उत्पन्न होने पर भारत ने रूस की भाँति ब्रिटेन और फ्रांस के आक्रमण की निन्दा की। हंगरी की समस्या पर भी भारत की नीति रूस का समर्थन करती रही। संयुक्त राष्ट्र में जब हंगरी की समस्या पर विचार हुआ तो भारतीय प्रतिनिधि ने सोवियत हस्तक्षेप की कटु आलोचना नहीं की।

3. **1957 से 1962 तक**—ऐसा कहा जाता है कि 1957 के बाद भारत की नीति पुनः पश्चिमी गुट की ओर झुकने लगी। इसके कई कारण थे। 1957 के आम चुनाव में भारत के केरल राज्य में साम्यवादियों की विजय हुई। भारत में इस समय गम्भीर आर्थिक संकट विद्यमान था, देश में खाद्यान्न तथा विदेशी मुद्रा की कमी ने भारत को बाध्य कर दिया कि वह पश्चिमी गुट के देशों के साथ मेल-जोल बढ़ाये। इस काल में नेहरू ने अमरीका की सद्‌भावना यात्रा की तथा भारत पश्चिमी साम्राज्यवाद का विरोध दबी जबान से करने लगा।

4. **1962 का चीनी आक्रमण तथा भारतीय गुट-निरपेक्षता**—नवम्बर 1962 में चीनी आक्रमण के समय गुट-निरपेक्षता की अग्नि परीक्षा हुई। अनेक आलोचकों ने भारत की असंलग्नता की नीति की कटु आलोचना की। यह कहा गया कि भारत की निर्गुट नीति राष्ट्रीय हितों की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ रही है। ए० डी० गोरवाला के शब्दों में 'विदेश नीति का लक्ष्य राष्ट्र की अखण्डता है और इसमें हमारी नीति विफल सिद्ध हुई है।' दूसरी आलोचना यह थी कि अपनी रक्षा के लिए पश्चिमी राष्ट्रों के साथ सैनिक गठबन्धन में शामिल न होकर भारत ने भारी भूल की है। यदि भारत पश्चिमी देशों के साथ मिलकर किसी सैनिक संगठन का सदस्य होता तो चीन उस पर हमला करने की हिम्मत ही नहीं करता। यह भी कहा गया कि गुट-निरपेक्षता की नीति पंचशील के शान्तिवादी सिद्धान्तों पर आधारित है और इसी कारण हमने देश की प्रतिरक्षा के लिए आवश्यक तैयारी करने में घोर उपेक्षा की है, जिसके कारण हमें भारी पराजय और क्षति उठानी पड़ी। यह भी कहा गया कि निर्गुट नीति के कारण हम अपने मित्रों की वृद्धि नहीं कर पाये। हमने एशिया और अफ्रीका के नवीन राज्यों की स्वतन्त्रता का समर्थन किया किन्तु जब चीन ने हम पर हमला किया तो किसी ने हमारा साथ नहीं दिया। इसके विपरीत, पश्चिमी देशों अमरीका, इंगलैण्ड, कनाडा, पश्चिमी जर्मनी ने हमें तत्काल भारी मात्रा में हवाई जहाजों द्वारा रण-सामग्री पहुँचायी। आलोचकों ने यह भी कहा कि हमारी नीति गुट-निरपेक्षता की कही जाती है, किन्तु जब हम साम्यवादी गुट से सम्बन्धित एक बड़े सदस्य से लड़ रहे हैं और दूसरे गुट के पश्चिमी देश हमें प्रचुर मात्रा में आर्थिक सहायता दे रहे हैं तो क्या हमारी नीति को निर्गुट कहा जा सकता है। इन आलोचनाओं के उत्तर में पं० नेहरू का कहना था कि चीन का मुकाबला करने के लिए भारत ने जो भी शस्त्रास्त्र की सहायता ली है उसके साथ किसी प्रकार की शर्त नहीं लगी है और बिना शर्त सहायता लेने से असंलग्नता की नीति से दूर हटना नहीं कहा जा सकता। चीनी हमले के बाद 6 नवम्बर, 1962 को भारत में तत्कालीन अमरीकी राजदूत गॉलब्रेथ ने स्पष्ट कहा कि, "सैनिक सहायता देकर हम भारत को पश्चिमी देशों के सैनिक गुट में शामिल नहीं करना चाहते और न हम भारत की असंलग्नता की नीति को बदलने के ही समर्थक हैं। अमरीकी राष्ट्रपति कैनेडी कई बार कह चुके हैं कि "अमरीका भारत की तटस्थ नीति का स्वागत करता है।" चीनी आक्रमण के समय अमरीकी वायु सेना ने 90 घण्टे के भीतर 1

हजार टन रण-सामग्री को अमरीका से भारत पहुँचा दिया। दूसरी ओर सोवियत रूस ने भी अपने मिग-विमान देने का तथा इनका कारखाना बना देने का वचन दिया। किसी एक गुट का सदस्य बन जाने पर भारत को दोनों महाशक्तियों से लाभ प्राप्त नहीं हो सकता था। अमरीकी विदेश सचिव डीन रस्क ने स्वयं कहा था कि वर्तमान परिस्थिति में असंलग्नता की नीति भारत के लिए सर्वोत्तम है। यदि असंलग्नता की नीति को छोड़कर भारत अमरीकी गुट में शामिल हो जाता तो भारत-चीन सीमा-संघर्ष शीत-युद्ध का एक अंग बन जाता। इसलिए पं० नेहरू ने स्पष्ट कर दिया कि भारत अपनी रक्षा के लिए सभी मित्र राज्यों से सहायता लेगा लेकिन असंलग्नता की नीति का परित्याग नहीं करेगा। नेहरू के शब्दों में, "हम अपनी वर्तमान कठिनाई के कारण अपने मूल सिद्धान्तों को छोड़ने नहीं जा रहे।" उनका कहना था और यह सत्य सिद्ध हुआ, कि अमरीकी गुट में शामिल होने से भारत-चीन सीमा विवाद का समाधान नहीं होगा बल्कि वह शीत-युद्ध के अखाड़े में फँस जायेगा। उन्होंने इस बात को दोहराया कि अमरीकी सहायता के बावजूद आज तक न तो कोरिया और जर्मनी का एकीकरण हुआ और न जनवादी चीन का अन्त और न ही पाकिस्तान को कश्मीर मिल सका। उनका मत था कि गुट में मिलने का अर्थ है 'अपना लंगर छोड़ना' आत्म सम्मान खोना अर्थात् बहुमूल्य निधि (राष्ट्रीय स्वतन्त्रता) का विनाश करना। अतः राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए गुट-निरपेक्ष नीति ही सर्वोत्तम नीति है।

भारत-पाक युद्ध (1965) और गुट-निरपेक्षता—1963 में सोवियत संघ द्वारा भारत-चीन सीमा-विवाद पर भारत का स्पष्ट रूप से खुला समर्थन किया गया। यह घटना भारत की निर्गुट नीति की एक शानदार सफलता है। 1965 के भारत-पाक संघर्ष के समय पाकिस्तान के बहुत बड़े समर्थक अमरीका ने भारत और पाकिस्तान दोनों पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगा दिये और यह घोषणा की कि जब तक दोनों पक्ष युद्ध बन्द नहीं कर देते तब तक उन्हें किसी तरह की सैनिक सहायता नहीं दी जायेगी। इससे स्पष्ट हो गया कि गुटों में सम्मिलित होने पर भी पाकिस्तान को कोई लाभ नहीं पहुँचा। 1971 की भारत-रूस सन्धि तथा गुट-निरपेक्षता बंगला देश की क्रान्ति और तत्कालीन सैनिक शासन की दमनकारी नीति के परिणामस्वरूप दक्षिणी एशिया में उत्पन्न संकट के समय 'भारत-रूस मैत्री सन्धि' भारतीय हितों की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना कही जा सकती है। अमरीका और चीन के बीच भारत जैसे राज्य के हितों की कीमत पर विकसित देतान्त के सन्दर्भ में भारत और रूस की यह साझेदारी एक वरदान सिद्ध हुई है। गुट-निरपेक्षता की पवित्रता की दुहाई देने वाले भी यह स्वीकार करेंगे कि 1971 के भारत-पाक संघर्ष में यह सन्धि भारत को नया विश्वास, आत्म-सम्मान और इस भू-भाग में अपनी हैसियत का अहसास कराने में सहायक सिद्ध हुई है। भारत-रूस मैत्री सन्धि ने दक्षिण एशिया की वस्तु-स्थिति को निर्णायक मोड़ देते हुए तत्कालीन परिस्थितियों में भारत की सुरक्षा में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। भारत-रूस मैत्री सन्धि के सम्बन्ध में कतिपय क्षेत्रों में यह सन्देह हो गया था कि भारत अब गुट-निरपेक्ष नहीं रहा। कई जगह तो यह भी कहा जाने लगा कि नयी दिल्ली मास्को की कठपुतली मात्र है और स्वतन्त्र निर्णय के अधिकार को खो चुकी है किन्तु ऐसे आरोप निराधार सिद्ध हुए। भारत कुछ समय के लिए रूस के अति निकट अवश्य हो गया था या यों कहें कि परिस्थितियों ने उसे रूस की गोद में धकेल दिया था किन्तु उसने 'स्वतन्त्र निर्णय' को समर्पित कर दिया हो ऐसा कहना सही नहीं है। उदाहरण के लिए, भारत ने ब्रेझनेव द्वारा प्रतिपादित एशिया की सामूहिक सुरक्षा अवधारणा का खुला विरोध किया। वस्तुतः भारत-रूस सन्धि संकट के समय के लिए 'मित्र' उत्पन्न करती है, 'सैनिक गठबन्धन नहीं' और मित्रों की खोज करना गुट-निरपेक्ष नीति का निषेध नहीं। 1975 का 'आर्यभट्ट' और 1979 का 'भास्कर' और 1981 का 'ऐपल' जहाँ भारत-रूस की मित्रता के प्रतीक है वहाँ

वे भारत के अन्तरिक्ष में स्वतन्त्र नीति के द्योतक भी हैं। भारत ने हिन्द महासागर को केवल अमरीकी हस्तक्षेप से ही नहीं बल्कि रूसी हस्तक्षेप से भी मुक्त रखने पर बल दिया है। भारत ने अफगानिस्तान मे सोवियत हस्तक्षेप की भर्त्सना नहीं की, परन्तु भारत की नीति निश्चित ही विदेशी हस्तक्षेप के विरुद्ध है और वह अफगानिस्तान से सोवियत सेनाओं की वापसी का समर्थक रहा है।

असली गुट-निरपेक्षता (1977 से 1979)—जनता पार्टी के घोषणा-पत्र में 'असली गुट निरपेक्षता' की बात कही गयी थी। मोरारजी देसाई का कहना था कि इन्दिरा गाँधी के जमाने में विदेश-नीति एक तरफ झुक गयी थी। इस झुकाव को दूर करना ही असली गुट-निरपेक्षता है। विदेश मन्त्री वाजपेयी के शब्दों में, "भारत को न केवल गुट-निरपेक्ष रहना चाहिए बल्कि वैसा दिखायी भी पड़ना चाहिए। उनके अनुसार, असंलग्नता का मतलब है सर्व-संलग्नता अर्थात् सबके साथ जुड़ना, सबके साथ गठबन्धन करना। जनता सरकार ने सोवियत संघ तथा अमरीका के साथ अपने सम्बन्धों को काफी दक्षतापूर्ण ढंग से निभाया और श्रीमती इन्दिरा गाँधी के आखिरी दिनों में रूस के प्रति दिखने वाले झुकाव को ठीक करने का प्रयत्न किया। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि जनता सरकार ने रूस के साथ रिश्ते बिगाड़ लिये या अमरीका के साथ 'नया अध्याय' शुरू कर दिया।

1980 **के बाद गुट-निरपेक्षता**—जनवरी 1980 में जब श्रीमती गाँधी को पुनः भारत के प्रधानमन्त्री का पद सम्हालने का अवसर मिला तो भारत की विदेश नीति में जो गति आयी उसका प्रभाव सर्वत्र प्रकट होने लगा। न्यूयार्क में 1980 के अन्तिम दिनों में भारत ने असंलग्न गुट के मध्य बहुत सक्रिय होकर प्रधान एवं विदेश मन्त्रियों को आपस मे विचार-विमर्श करने हेतु प्रेरित किया एवं उनसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में गिरते हुए मूल्यों को पुनर्स्थापित करने का अनुरोध किया। 1981 में भारत ने 98 असंलग्न राष्ट्रों के विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन नयी दिल्ली में बुलाकर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रमुख बिन्दुओं पर विचार-विमर्श करने का महत्वपूर्ण अवसर उपलब्ध कराया। भारत ने 77 देशों के समूह के अध्यक्ष के रूप में अन्य राष्ट्रों के सहयोग से 1980 से लगातार इस बात का प्रयास किया है कि विश्व के आर्थिक क्षेत्र में व्याप्त संरचनात्मक एवं मौलिक असन्तुलन के अभिशाप को अविलम्ब दूर किया जाये।

मार्च 1983 में नयी दिल्ली में निर्गुट देशों का सातवाँ शिखर सम्मेलन आयोजित करके भारत विश्व स्तर पर निर्गुट आन्दोलन का प्रमुख प्रवक्ता बन गया। इस सम्मेलन में 101 राष्ट्रों ने भाग लिया और उन्होंने भारतीय प्रधानमन्त्री श्रीमती गाँधी को अगले तीन वर्ष के लिए निर्गुट आन्दोलन का अध्यक्ष निर्वाचित किया। भारत की गुट-निरपेक्ष विदेश नीति के लिए यह घटना शानदार उपलब्धि थी। श्रीमती गाँधी की हत्या के बाद युवा प्रधानमन्त्री श्री राजीव गाँधी गुट निरपेक्ष आन्दोलन के लगभग एक वर्ष तक अध्यक्ष रहे। संयुक्त राष्ट्र के मुख्यालय में गुट-निरपेक्ष देशों के तैयारी सत्र मे अध्यक्ष के नाते राजीव गाँधी का भाषण (22 अक्टूबर, 1985) निर्गुट आन्दोलन की विश्वशान्ति की दिशा में दिलचस्पी को उजागर करता है।

आलोचना : गुट-निरपेक्षता काफी नहीं—डॉ० वेदप्रताप वैदिक गुट-निरपेक्ष नीति के प्रखर आलोचक है। अपनी बहु-चर्चित पुस्तक "भारतीय विदेश नीति : नये दिशा संकेत"[1] में वे लिखते है :

---

1 डॉ० वेदप्रताप वैदिक, **भारतीय विदेश नीति : नये दिशा संकेत**, 1980, नई दिल्ली, अध्याय 9।

(1) शीत-युद्ध के वातावरण में नवोदित भारत के लिए गुट-निरपेक्षता की नीति का वरण शायद तात्कालिक दृष्टि से उचित रहा हो किन्तु भारत जैसे विशाल देश के लिए गुट-निरपेक्षता की नीति को शाश्वत नीति का रूप देना न तर्कसंगत है और न ही यह दृष्टिकोण यथार्थ की कसौटी पर खरा उतरता है।[1]

(2) विदेश नीति का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसे गुट-निरपेक्षता की परिधि में बांधा नहीं जा सकता। गुट-निरपेक्षता का दायरा बहुत सीमित है। गुटों से बाहर क्रियाशील होने की कल्पना इस अवधारणा में है ही नहीं। सारी नीति गुटों की राजनीति के आस-पास घूमती है। महाशक्ति-गुटों की राजनीति पर प्रतिक्रिया करते रहना ही इस नीति का मुख्य लक्ष्य बन जाता है।[2]

(3) गुट-निरपेक्षता ऊर्ध्वमूल नीति रही है। ऐसी नीति, जिसकी जड़ें ऊपर हैं, नीचे नहीं। राष्ट्रहित उसके केन्द्र में नहीं है। उससे राष्ट्रहित हो जाये, यह एक अलग बात है। उसके केन्द्र में नेतागिरी की भावना रही है। मोर का नाच। पाँव कितने ही कमजोर हों, गन्दे भी, लेकिन पंख फैलाकर नाच होना चाहिए। दुनिया के मंचों पर नेतागिरी चमकनी चाहिए।[3]

(4) भारत पर जब चीन का हमला हुआ तो भारत के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने में भी तथाकथित गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों ने कोताही की। ब्रिटेन और अमरीका ने हथियार दिये। विदेश नीति जोर का झटका खा गयी।[4]

(5) भारत ने गुट-निरपेक्षता की नीति का वरण अपनी शक्तिहीनता की विवशता को छिपाने के लिए किया। एक सीमा तक नेहरू को इस विलक्षण कार्य में सफलता भी मिली। दुनिया के शक्तिशाली देशों के नेताओं के साथ नेहरू का नाम भी अखबारों में छपने लगा। लेकिन इससे भारत को क्या लाभ हुआ। इससे दो प्रमुख हानियाँ हुईं : एक तो भारत अपने आस-पास के वातावरण से लगभग बेखबर हो गया। पड़ौसी देशों की उपेक्षा ही नहीं हुई, अपनी सुरक्षा के लिए जो मुस्तैदी आवश्यक होती है, उसके प्रति भी भारत उदासीन हो गया। कौटिल्य अपनी विदेश नीति का प्रारम्भ दूर से या ऊपर से नहीं करता; पास से और नीचे से करता है।

उसकी नीति ऊर्ध्वमूल नहीं, अधोमूल है। नेहरू नीति ऊर्ध्वमूल रही। वह केवल ऊपर की ओर देखती थी, इसलिये नीचे ठोकर खाती थी। गुट-निरपेक्षता की नीति को विदेश नीति का लक्ष्य या पर्याय मान बैठने का दूसरा परिणाम यह हुआ कि भारत के पास अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में चलाने के लिए विचारधारा का कोई सिक्का नहीं रहा।[5]

(6) सच्चे अर्थों में गुट-निरपेक्ष होना तो केवल शक्तिशाली राष्ट्र के लिए सम्भव है .... गुट-निरपेक्षता के स्थान पर हमें 'स्वतन्त्र' शब्द का प्रयोग करना चाहिए। गुट-निरपेक्षता की नीति में धुरी 'गुट' है, जबकि 'स्वतन्त्र' नीति में धुरी 'स्व' है याने 'राष्ट्र' हैं। विदेश नीति ऊर्ध्वमूल नहीं, राष्ट्रमूलक हो। हमारी नीति का मूल आधार शक्ति-गुटों के बदलते तेवर नहीं स्थायी राष्ट्रीय हित हों।[6]

इन आलोचनाओं के बावजूद यह एक सच्चाई है कि 'श्रीमती गाँधी ने गुटनिरपेक्ष नीति

---

1 वही, पृष्ठ 122।
2 वही।
3 वही, पृ० 124।
4 वही, पृ० 124।
5 वही, पृ० 130।
6 वही, पृ० 132।

को आदर्श के मायाजाल से निकालकर उसे राष्ट्रीय हित के यथार्थ की धरोहर प्रदान की।' डॉ० वी० पी० दत्त ने हाल ही में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'इण्डियाज फॉरेन पॉलिसी' में लिखा है कि 'गुटनिरपेक्षता का सिद्धान्त विदेश नीति का दिशा सूचक रहा है क्योंकि इससे राष्ट्रीय हितों का संवर्द्धन हुआ है।'[1] आज गुटबन्दी में लिप्त राज्य भी गुट-निरपेक्षता के मार्ग पर चलने लगे हैं। पाकिस्तान का गुट-निरपेक्ष आन्दोलन में शामिल हो जाना यह सिद्ध कर देता है कि नीति सही और ठोस है।

2. शान्ति की विदेश नीति
(POLICY OF PEACE)

भारत की विदेश नीति सदैव ही विश्व-शान्ति की समर्थक रही है। भारत ने प्रारम्भ से ही यह महसूस किया है कि युद्ध और संघर्ष नवोदित भारत के आर्थिक और राजनीतिक विकास को अवरुद्ध करने वाला है। अगस्त 1954 में पणिक्कर ने कहा था, "भारत को इस बात की बड़ी चिन्ता है कि उसकी प्रगति को तथा सामान्य रूप से मानव-जाति की उन्नति को संकट में डालने वाला कोई युद्ध न हो।" 1956 के स्वेज नहर के संकट के कारण भारत की आर्थिक योजनाएँ अत्यधिक प्रभावित हुईं। 1967 के अरब-इजराइल युद्ध के कारण भारतीय अर्थ-व्यवस्था बुरी तरह लड़खड़ाने लगी। शान्तिवादी नीति की घोषणा करते हुए पं० नेहरू ने कहा था कि "हमारी पहली नीति तो यह होनी चाहिए कि हम ऐसे भीषण आपत्ति को घटित होने से रोकें, दूसरी नीति इससे बचने की होनी चाहिए और तीसरी नीति भी स्थिति बचाने की होनी चाहिए कि यदि युद्ध छिड़ जाय तो हम रोकने में समर्थ हो सकें।" अतः अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निपटारे के लिए भारत शान्तिमय साधनों, द्विपक्षीय या त्रिपक्षीय वार्ताओं व समझौतों, मध्यस्थता, पंच निर्णय या विवाचन आदि पर बल देता है। उदाहरणतः स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से नदियों के पानी पर चल रहे भारत-पाक विवाद के कारण जो दोनों देशों में तनाव था उसे 1960 में 'सिन्धु जल सन्धि' द्वारा हल किया गया। कच्छ के प्रश्न को लेकर जब 1965 में पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया तो भारत ने समस्या के शान्तिपूर्ण हल के लिए एक त्रिसदस्यीय ट्रिब्यूनल स्थापित करना स्वीकार कर लिया और भारतीय जनता के कड़े विरोध के बाद भी भारत सरकार ने राजनीतिक कारणों से प्रेरित होकर और सम्बन्धों को सुधारने हेतु ट्रिब्यूनल द्वारा दिये गये निर्णय को स्वीकार कर लिया। 1966 में ताशकन्द समझौते में भी भारत ने पाकिस्तान को वे क्षेत्र लौटा दिये जो भारत की सुरक्षा के लिए आवश्यक थे। 1971 के युद्ध के बाद भी भारत ने पाकिस्तान के प्रति सद्भावना का दृष्टिकोण अपनाया और 1972 में शिमला में द्विपक्षीय वार्ताओं पर बल दिया। अप्रैल 1974 के त्रिपक्षीय समझौते द्वारा युद्ध-बन्दियों को लौटा दिया गया, उन 145 युद्ध-बन्दियों को भी लौटा दिया जिन पर बंगला देश अमानुषिक हत्याओं के मुकदमे चलाना चाहता था। यह शान्तिपूर्ण सहजीवन की नीति का प्रतीक है कि भारत ने राष्ट्रीय हितों के बलिदान पर भी सितम्बर 1977 के फरक्का समझौते द्वारा पानी की कमी वाले दिनों में बंगलादेश को गंगा का अधिक पानी देना स्वीकार कर लिया।

भारत ने अन्य पड़ौसी देशों के साथ भी विवादों का निपटारा शान्तिमय साधनों से किया है। श्रीलंका से चल रहे विवादों को शान्तिमय तरीकों से हल किया गया है। श्रीलंका में रहने वाले भारतीयों के सम्बन्ध में 1954, 1964 और 1974 में समझौते हुए। 1987 के राजीव-जयवर्द्धने समझौते के अन्तर्गत भारतीय शान्ति सेना को भारत ने श्रीलंका भेजा। बंगलादेश के

---

1 ....Non-alignment is one of the guide posts which has survived because it has advanced the national interests of country.
—V. P. Dutt, India's Foreign Policy, *Vikas*, New Delhi, 1984, pp. 1-24.

साथ भी सीमा सम्बन्धी मतभेदों को पारस्परिक समझौतों द्वारा हल किया गया। गंगा के पानी के बँटवारे के लिए भारत और बंगलादेश में 29 सितम्बर, 1977 को फरक्का समझौता हुआ। भारत चीन के साथ भी विवादों को पारस्परिक वार्ताओं से निपटाना चाहता है।

भारत शुरू से ही विश्व शान्ति के लिए शस्त्रीकरण को परम आवश्यक मानता था। यही कारण है कि जब 1963 में आणविक परीक्षण रोक सन्धि हुई तो भारत वह पहला देश था जिसने अविलम्ब इस सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। परन्तु भारत ने 1968 की परमाणु अस्त्र विस्तार सन्धि पर इसलिए हस्ताक्षर नहीं किये थे कि महाशक्तियाँ इस प्रकार की सन्धि द्वारा विश्व में परमाणु शक्ति पर अपना एकाधिकार स्थापित करना चाहती हैं और छोटे और अल्पविकसित राष्ट्रों को उनकी दया पर निर्भर बनाना चाहती है। निसन्देह 1974 में भारत ने अणु शक्ति परीक्षण कर लिया परन्तु भारत ने यह परीक्षण शान्तिमय कार्यों के लिए किया।

भारत ने ऊर्जा के संकट की समस्या के लिए अणुशक्ति का परीक्षण किया है। भारत ने अपने साम्राज्य की स्थापना या पड़ौसी राज्यों को आतंकित करने या अणु एवं परमाणु अस्त्रों का निर्माण करने के लिए उसका परीक्षण नहीं किया। 28 जनवरी, 1985 को नई दिल्ली में छह राष्ट्रों का एक अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन के लिए नई दिल्ली का चयन, शान्ति काम में भारत की प्रतिष्ठा को बढ़ाने वाला है। सम्मेलन ने अपील जारी की कि अणुशक्ति सम्पन्न राष्ट्र शीघ्र अपने नित नवीन अणु परीक्षण, आयुध उत्पादन, दुनिया के विभिन्न हिस्सों में आयुध संस्थापन तथा अपनी अणु हस्तान्तरण व्यवस्था को निरस्त करें।

3. मैत्री और सह-अस्तित्व की नीति
(POLICY OF FRIENDSHIP AND PEACEFUL CO-EXISTENCE)

भारत की विदेश नीति मैत्री और सह-अस्तित्व पर जोर देती है। भारत की धारणा रही है कि विश्व में परस्पर विरोधी विचारधाराओं में सह-अस्तित्व की भावना पैदा हो। यदि सह-अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जाता तो आणविक शस्त्रों से समूची दुनिया का ही विनाश हो जायेगा। इसी कारण भारत ने अधिक से अधिक देशों के साथ मैत्री सन्धियाँ और व्यापारिक समझौते किये। इन सन्धियों में—भारत नैपाल सन्धि, भारत-इराक मैत्री सन्धि, भारत-जापान शान्ति सन्धि, भारत-मिस्र शान्ति सन्धि, भारत-रूस मैत्री सन्धि, भारत-बंगला देश मैत्री सन्धि उल्लेखनीय है। पं० नेहरू ने स्पष्ट कहा था कि "विश्व में आज अलगाव के लिए कोई स्थान नहीं है। हम दूसरों से अलग रहकर जिन्दा नहीं रह सकते। हमें या तो सहयोग करना चाहिए अथवा युद्ध। हम शान्ति चाहते हैं। अपना वश चलते हम दूसरे राष्ट्र के साथ लड़ाई नहीं चाहते।"

4. विरोधी गुटों के बीच सेतुबन्ध बनाने की नीति
(POLICY TO ACT AS A MEDIATOR BETWEEN POWER BLOCS)

भारत अपनी विदेश नीति द्वारा विश्व में परस्पर विरोधी गुटों के मध्य सेतुबन्ध का कार्य करता रहा है। अपनी गुट-निरपेक्ष नीति के कारण भारत दोनों गुटों के बीच उनको मिलाने वाली कड़ी के रूप में कार्य कर सकने की एक विशिष्ट स्थिति में रहा है। दोनों गुटों के मुकाबले में भारत की आर्थिक स्थिति और सैनिक स्थिति काफी कमजोर रही है किन्तु दोनों गुटों में शक्ति सन्तुलन होने के कारण उन दोनों के बीच विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान में मध्यस्थ का कार्य करने की दृष्टि से भारत की स्थिति बहुत उपयुक्त रही है। अपनी इस स्थिति के कारण अब तक उसने कोरिया, हिन्दचीन, कांगो आदि समस्याओं के समाधान में महत्वपूर्ण योगदान दिया है और दोनों गुटों को समीप लाकर, विश्व-शान्ति का आसन्न खतरा दूर किया है।

5. साधनों की पवित्रता की नीति
(POLICY OF PEACEFUL MEANS)

भारत की नीति अवसरवादी और अनैतिक नहीं रही है। भारत साधनों की पवित्रता में विश्वास

करता रहा है। भारत की विदेश नीति महात्मा गांधी के इस मत से बहुत प्रभावित है कि न केवल उद्देश्य वरन् उसकी प्राप्ति के साधन भी पवित्र होने चाहिए। यद्यपि उनके सत्य और अहिंसा के साधनों को पूरी तरह नहीं अपनाया जा सकता है, फिर भी भारत निरन्तर इस बात का प्रयत्न करता रहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान शान्तिपूर्ण उपायों से किया जाये, हिंसात्मक साधनों से नहीं। स्वयं भारतीय संविधान में कहा गया है कि :

"राज्य" (i) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा का, (ii) राष्ट्रों के बीच न्यायपूर्ण और सम्मानपूर्ण सम्बन्धों को बनाये रखने का, (iii) संगठित लोगों के, एक-दूसरे से व्यवहारों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि और सन्धि बन्धनों के प्रति आदर बढ़ाने का; (iv) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को मध्यस्थता द्वारा निपटारे के लिए प्रोत्साहन देने, इत्यादि का प्रयत्न करेगा।" यदि साधनों की श्रेष्ठता में भारत का विश्वास न होता तो 1965 का 'ताशकन्द समझौता' एवं 1972 का 'शिमला समझौता' कभी नहीं किया जाता। भारत ने केवल पाकिस्तान के युद्ध-बन्दी ही लौटा दिये अपितु युद्ध में जीती हुई भूमि भी लौटा दी। भारत हथियारों का प्रयोग केवल आत्म-रक्षा में ही करना उपयुक्त मानता है। भारत मानता है कि साधन अच्छा है तो साध्य भी निश्चित रूप से अच्छा ही होगा।

6. 'पंचशील' पर जोर देने वाली नीति
(POLICY TO ADHERE PANCHSHEELA)

'पंचशील' के पाँच सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी भारत की शान्तिप्रियता का द्योतक है। 1954 के बाद से भारत की नीति को 'पंचशील' के सिद्धान्तों ने एक नयी दिशा प्रदान की। 'पंचशील' से अभिप्राय है—'आचरण के पाँच सिद्धान्त'। जिस प्रकार बौद्ध धर्म में ये व्रत एक व्यक्ति के लिए होते हैं उसी प्रकार आधुनिक पंचशील के सिद्धान्तों द्वारा राष्ट्रों के लिए दूसरे के साथ आचरण के सम्बन्ध निश्चित किये गये। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :

(1) एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और सर्वोच्च सत्ता के लिए पारस्परिक सम्मान की भावना,

(2) अनाक्रमण,

(3) एक-दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना,

(4) समानता एवं पारस्परिक लाभ, तथा

(5) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर 'पंचशील' के इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन सर्वप्रथम 29 अप्रैल, 1954 को तिब्बत के सम्बन्ध में भारत और चीन के बीच हुए एक समझौते में किया गया था। 28 जून, 1954 को चीन के प्रधानमन्त्री चाऊ-ऐन-लाई तथा भारत के प्रधानमन्त्री नेहरू ने 'पंचशील' में अपने विश्वास को दोहराया। एशिया के प्रायः सभी देशों ने 'पंचशील' के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया। अप्रैल 1955 में 'बाण्डुंग सम्मेलन' में इन 'पंचशील' के सिद्धान्तों को पुनः विस्तृत रूप दिया गया। 'बाण्डुंग सम्मेलन' के बाद विश्व के अधिसंख्य राष्ट्रों ने 'पंचशील' सिद्धान्त को मान्यता दी और उसमें आस्था प्रकट की। 2 अप्रैल 1955 तक बर्मा, लाओस, नेपाल, वियतनाम, यूगोस्लाविया और कम्बोडिया ने इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। सन् 1955 में आस्ट्रिया, रूस, पोलैण्ड, संयुक्त राज्य अमरीका और आस्ट्रेलिया ने भी पंचशील को मान्यता दी। 14 दिसम्बर, 1959 को 82 राष्ट्रों की संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने भारत द्वारा उपस्थित किये गये 'पंचशील' के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार पंचशील को सम्पूर्ण विश्व की मान्यता प्राप्त हो गयी। 'पंचशील' के सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के लिए निःसन्देह आदर्श भूमिका का निर्माण करते हैं। 'पंचशील' के सिद्धान्त आपसी विश्वासों के सिद्धान्त है। पं० नेहरू ने स्पष्ट कहा

था कि "यदि इन सिद्धान्तों को सभी देश मान्यता दे दें तो आधुनिक विश्व की अनेक समस्याओं का निदान मिल जायेगा। 'पंचशील' के सिद्धान्त आदर्श हैं जिन्हें यथार्थ जीवन में उतारा जाना चाहिए। इनसे हमें नैतिक शक्ति मिलती है और नैतिकता के बल पर हम न्याय और आक्रमण का प्रतिकार कर सकते है।" पंचशील के सिद्धान्त की कुछ समय तक सर्वत्र भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी थी। श्री परदेशी का मत है कि "इस पंचसूत्रीय सिद्धान्त ने शीतयुद्ध के कुहरे को हटा दिया और विश्व जनता ने शान्ति की साँस ली। इस प्रकार पंचशिला जो भारतीय इतिहास और संस्कृति की अपूर्व देन है विश्व के वर्तमान और भावी की आधारशिला बन गयी।" स्वयं प्रधानमन्त्री नेहरू ने 17 सितम्बर, 1955 को लोकसभा में कहा था कि "भारत के योगदान को सम्भवत: एक या दो शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है—पंचशील।"

परन्तु पंचशील के सम्बन्ध में इतिहास का निर्णय कुछ दूसरे ही प्रकार का है। यद्यपि यह सत्य है कि "पंचशील के सिद्धान्त अत्यन्त, उच्च और श्रेष्ठ आदर्श हैं। परन्तु वे अव्यावहारिक और भारतीय कूटनीति की हार सिद्ध हुए हैं।" पंचशील में इसके सिद्धान्तों का पालन करवाने के लिए किसी उपयुक्त व्यवस्था या संस्था का विधान नहीं था। इस सम्बन्ध में पंचशील बहुत कुछ सन् 1928 के केलॉन ब्रीआं पैक्ट के समान था। कैलॉन ब्रीआं पैक्ट द्वारा संसार के अधिकांश राज्यों ने युद्ध के परित्याग की घोषणा की थी। परन्तु उन्होंने व्यवहार में अपने वचन का पालन नहीं किया। इसी प्रकार पंचशील को स्वीकार करने वाले राज्यों ने भी व्यवहार में उन्हें 'पवित्र आकांक्षाएँ' ही समझा और उनका अनेक बार उल्लंघन किया। स्वयं चीन के प्रधानमन्त्री जिस समय इन सिद्धान्तों की घोषणा कर रहे थे, उस समय भी चीन भारतीय क्षेत्र पर अधिकार करके पंचशील के सिद्धान्तों का उल्लंघन कर रहा था। रूस ने इस सिद्धान्त को मान्यता देने के बावजूद हंगरी में हस्तक्षेप किया। इण्डोनेशिया ने पंचशील के प्रति अपनी निष्ठा की घोषणा के बावजूद मलेशिया के प्रति आक्रमण की नीति अपनायी।

प्रारम्भ में पंचशील को भारतीय विदेश नीति की महान उपलब्धि माना जाता था। परन्तु बाद की घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि पंचशील एक भ्रान्ति और भारतीय कूटनीति की एक महान पराजय था। आलोचकों का कहना है कि भारत-चीन सम्बन्धों की पृष्ठभूमि में 'पंचशील' एक अत्यन्त असफल सिद्धान्त साबित हुआ। इसके द्वारा भारत ने तिब्बत में चीन की सर्वोत्तम सत्ता को स्वीकार करके तिब्बत की स्वायत्तता के अपहरण में चीन का समर्थन किया था। अक्टूबर 1962 में चीन ने भारत पर एक भयंकर आक्रमण प्रारम्भ कर दिया। पंचशील की मोहनिद्रा में सोया हुआ भारत इस प्रकार से चौंक कर उठा बैठा। उसने पाया कि पंचशील वास्तविकता नहीं भ्रान्ति थी, भारत की सफलता नहीं कूटनीतिक भूल थी।

इसकी आलोचना करते हुए आचार्य कृपलानी ने कहा था कि—"यह महान सिद्धान्त पापपूर्ण परिस्थितयों की उपज है, क्योंकि यह आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रूप से सम्बद्ध एक प्राचीन राष्ट्र (तिब्बत) के विनाश पर हमारी स्वीकृति पाने के लिए प्रचारित किया गया था।"

7. साम्राज्यवाद और प्रजातीय विभेद का विरोध
(POLICY TO OPPOSE IMPERIALISM AND RACIALISM)

भारत साम्राज्यवान के दुष्परिणामों का स्वयं भुक्तभोगी रहा है, अत: उसके लिए साम्राज्यवाद का विरोध करना अत्यन्त स्वाभाविक है। प्रजातीय विभेद के कारण भी अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण दूषित होता है और युद्ध के कारण उत्पन्न होते हैं। अतएव, भारत इन दोनों का विरोध करता रहा। यही कारण था कि विश्व में जहाँ कहीं भी राष्ट्रवादी आन्दोलन विदेशी दासता से मुक्ति पाने के लिए हुए, भारत ने खुलकर उसका समर्थन किया। इण्डोनेशिया पर जब हॉलैण्ड ने द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद पुन: अपनी सत्ता स्थापित करने का प्रयास किया तो भारत ने इसका घोर विरोध किया। इसके लिए उसने एशियाई देशों को संगठित किया और संयुक्त राष्ट्र संघ में

इस मामले को पेश किया। 1956 में इंगलैण्ड और फ्रांस ने मिलकर मिस्र पर आक्रमण कर दिया। वे स्वेज नहर को हड़प लेना चाहते थे। भारत ने इस नवीन साम्राज्यवाद का घोर विरोध किया। इसी प्रकार भारत ने लीबिया, ट्यूनीशिया, मोरक्को, मलाया, अल्जीरिया आदि देशों के स्वतन्त्रता संग्राम का पूरा समर्थन किया। पश्चिमी एशिया में भारत ने डॉलर साम्राज्यवाद का सर्वदा विरोध किया है और अरब राष्ट्रों का साथ दिया। भारत फिलिस्तीनी जनता को अपने अधिकार दिलाने के लिए सर्वदा प्रयत्नशील रहा है। हिन्दचीन (वियतनाम, कम्पूचिया, आलोस) में अमरीकी हस्तक्षेप का भारत ने सर्वदा विरोध किया है। भारत सैनिक गुटों (नाटो, सीटो, वारसा पैक्ट) का सर्वदा विरोधी रहा है। भारत की नजर में ये संगठन राष्ट्रों की स्वतन्त्रता के लिए घातक हैं। बंगला देश की स्वतन्त्रता में तो भारत की भूमिका एक 'मुक्तिदाता' के रूप में रही है। भारत संयुक्त राष्ट्र संघ में उपनिवेशवाद के विरुद्ध आवाज उठाता रहा। संयुक्त राष्ट्र संघ की न्यास परिषद् में भी भारत ने सक्रिय भूमिका निभायी है और इस बात पर बल दिया है कि स्वशासन न करने वाले प्रदेशों का शासन चार्टर के सिद्धान्तों के अनुसार किया जाना चाहिए। दक्षिणी अफ्रीका और रोडेशिया में प्रजातीय विभेद आज भी अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है। वहाँ की गोरी सरकार काली चमड़ी वाले लोगों पर प्रजाति के आधार पर घोर अत्याचार करती है। भारत इस नीति का जोरदार विरोध करता रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत बराबर यह प्रश्न उठाता रहा है। भारत प्रजाति विभेद का इतना घोर विरोधी है कि उसने दक्षिणी अफ्रीका के साथ अपना दौत्य सम्बन्ध भी विच्छेद कर लिया है।

8. संयुक्त राष्ट्र संघ का समर्थन करने वाली नीति
(POLICY TO SUPPORT THE UNITED NATIONS)

भारत संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना करने वाला एक संस्थापक सदस्य है। भारत संयुक्त राष्ट्र संघ को विश्व-शान्ति स्थापित करने वाला एक सहारा मानता है। भारत के लिए संघ राष्ट्रीय हितों की पूर्ति का एक प्रमुख प्रभावशाली एवं न्यायोचित मार्ग है। भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ के विभिन्न अंगों और विशेष अभिकरणों में सक्रिय रूप से भाग लेकर महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। भारत ने आज तक कभी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन नहीं किया और संयुक्त राष्ट्र संघ के आदेशों का यथोचित सम्मान किया है। कोरिया और हिन्दचीन में शान्ति स्थापित करने के लिए भारत ने संघ की सहायता की। भारत ने संयुक्त राष्ट्र के आह्वान पर कांगो में शान्ति स्थापना हेतु अपनी सेनाएँ भेजीं जिन्होंने उस देश की एकता को सुरक्षित किया। संयुक्त राष्ट्र संघ को भारत ने जो सहयोग दिया उसी के कारण 1984 में वह चौथी बार सुरक्षा परिषद् का अस्थायी सदस्य चुना गया। 1968 में 'अंकटाड' का द्वितीय सम्मेलन बुलाकर भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति अपनी निष्ठा प्रदर्शित की। भारत के बी० एन० राव ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में न्यायाधीश के रूप में कार्य किया तथा डॉ० नगेन्द्रसिंह ने मुख्य न्यायाधीश के रूप में कार्य किया। आजकल भारत के आर० एस० पाठक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में न्यायाधीश के रूप में कार्यरत हैं। डॉ० राधाकृष्णन् यूनेस्को के सर्वोच्च पद पर रह चुके है। भारतीय प्रतिनिधि श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित साधारण सभा का सभापतित्व कर चुकी हैं। पण्डित नेहरू ने स्पष्ट स्वीकार किया था कि "हम संयुक्त राष्ट्र संघ के बिना आधुनिक विश्व की कल्पना नहीं कर सकते।" संक्षेप में, संयुक्त राष्ट्र संघ का समर्थन करने में भारत ने जितना सहयोग किया है, उतना दुनिया के बहुत कम देशों ने किया है। आज भी संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत का अटूट विश्वास है और उसकी यह नीति है कि दुनिया के अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने में विश्व संस्था का अधिकाधिक प्रयोग किया जाय।

9. अफ्रेशियाई एकता

भारत की विदेश नीति जहाँ साम्राज्यवाद के चंगुल से स्वतन्त्र होने वाले देशों की स्वतन्त्रता को स्थायी बनाने की रही है, वहाँ उसकी यह इच्छा भी रही है कि ये देश पारस्परिक सहयोग द्वारा अपना आर्थिक और तकनीकी विकास भी करें।

एशियाई-अफ्रीकी एकता को ठोस रूप देने के लिए भारत द्वारा मार्च 1947 में दिल्ली में एक एशियाई सम्मेलन का आयोजन किया गया। दूसरा सम्मेलन इण्डोनेशिया के प्रश्न पर जनवरी 1949 में दिल्ली में आयोजित किया गया। 18 अप्रैल, 1955 को इण्डोनेशिया के नगर बाण्डुंग में अफ्रेशियाई देशों ने हिस्सा लिया जिसमें उपनिवेशवाद का विरोध किया गया, पंचशील के सिद्धान्तों में आस्था व्यक्त करते हुए उनकी विस्तार किया गया और एक-दूसरे के साथ सहयोग के वचन दिये गये। वर्तमान समय में भारत की पहल पर संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्दर एशियाई-अफ्रीकी एकता ने एक ठोस रूप ले लिया है और यह स्पष्ट कर दिया है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन महाशक्तियों के संकेतों पर नहीं चल सकता।

भारत की विदेश नीति का विकास
(EVOLUTION OF INDIA'S FOREIGN POLICY)

भारत एक प्राचीन देश है जिसकी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परम्परा रही है। 15 अगस्त, 1947 से पूर्व भी विश्व राजनीति में भारत की महत्वपूर्ण स्थिति रही है। मौर्य और गुप्त युग से भारत के अन्य देशों से व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध थे। भारत में फाह्यान, ह्वानसांग और मैगस्थनीज जैसे विदेशी यात्री आये थे जिन्होंने भारत की महानता और समृद्धि की तस्वीर दुनिया के दूसरे राष्ट्रों के समक्ष रखकर भारत को अन्तर्राष्ट्रीय महत्व प्रदान किया। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य ने यूनानी सेनापति सेल्यूकस की पुत्री से विवाह करके अन्तर्राष्ट्रीय वैवाहिक सम्वन्ध स्थापित कर विदेशों से भारत के सामाजिक सम्बन्धों की नींव डाली। अशोक ने अपने पुत्र और पुत्री को बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए श्रीलंका भेजकर धार्मिक सम्वन्धों की नींव डाली। गुप्तकाल में भारत का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार काफी विकसित था। जावा, मलाया, सुमात्रा से हमारे प्राचीन सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध थे। चोल राजाओं ने जल सेना के महत्व को समझा और समुद्र विजय की नीति का अनुसरण किया। उन्होंने न केवल सुमात्रा और जावा जैसे सुदूरवर्ती टापुओं पर विजय प्राप्त की बल्कि श्रीलंका पर भी अपना सुदृढ़ शासन स्थापित किया और उसे अपने साम्राज्य का अंग बनाया था।

भारतीय विदेश नीति : विकास की परम्परा
(INDIAN FOREIGN POLICY : TRADITION OF ITS EVOLUTION)

अंग्रेजी शासन काल में भारत का विश्व राजनीति में कोई उल्लेखनीय स्थान नहीं रह गया था। पराधीन देश के रूप में उसकी कोई विदेश नीति अथवा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रभावक भूमिका नहीं थी। पराधीन भारत की विदेश नीति का निर्धारण लन्दन में 1858 में स्थापित इण्डिया ऑफिस से होता था। अंग्रेज ही विश्व को राजनीतिक घटनाओं में भारत का प्रतिनिधित्व करते थे। भारत की देशी रियासतें भी इस विषय में स्वतन्त्र नहीं थीं। भारतीय नेता यदि विश्व की राजनीतिक घटनाओं पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त भी करते थे तो वह केवल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में प्रस्तावों के रूप में व्यक्त होकर रह जाती थी। उदाहरणार्थ, 1892 में कांग्रेस द्वारा साम्राज्यवादी स्वार्थों की रक्षा के लिए बढ़ते हुए सैनिक व्यय की आलोचना की गयी थी।

अनेक अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने भारत के स्वाधीनता संघर्ष को गति प्रदान की। 1982 में अबीसीनिया द्वारा इटली को पराजित करने की घटना से भारतीयों को बड़ा उत्साह प्राप्त

हुआ। 1904-5 में जापान के हाथों रूस की पराजय से भारतीयों को संघर्ष की प्रेरणा हुई। 1908 की युवा तुर्क क्रान्ति और 1911 में सनयात सेन के नेतृत्व में चीनी क्रान्ति ने भारत में राष्ट्रवाद को और तेज किया। दक्षिणी अफ्रीका में गोरी सरकार के विरुद्ध गांधी के सत्याग्रह ने भारतीयों को प्रोत्साहित किया। 1917 की इम्पीरियल कॉन्फ्रेंस में भारत को प्रतिनिधित्व भारत सरकार को प्राप्त था न कि भारतीय जनता को। कांग्रेस तिलक को शान्ति सम्मेलन में भेजना चाहती थी पर ब्रिटिश सरकार यह पसन्द नहीं करती थी। तिलक ने फ्रांस के प्रधानमन्त्री क्लेमेन्शो के नाम भारत की ओर से एक पत्र भेजा जिसमें भारत को 'आत्मनिर्णय का अधिकार' देने की माँग रखी। राष्ट्रपति विल्सन ने पेरिस शान्ति सम्मेलन में भारत के आत्मनिर्णय के प्रश्न को नही उठाया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस प्रश्न को अमरीका की सीनेट में उठवाने का प्रयत्न किया। 29 अगस्त, 1919 को अमरीका की सीनेट के एक सदस्य डूडले फील्ड मेलोने ने सीनेट की वैदेशिक मामलों की समिति के समक्ष इस प्रश्न को उठाया। उसने कहा कि 'विल्सन के आत्मनिर्णय के अधिकार को भारत पर क्यों लागू नहीं किया गया, अतः इस सन्धि को सीनेट मान्यता न दे।'

सन् 1920 के बाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अभिरुचि विदेश नीति और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की ओर बढ़ी। सन् 1920 में उसने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के कुछ सिद्धान्त निश्चित किये, जो इस प्रकार है :

1. भारत का अन्य राष्ट्रों से सहयोग।
2. भारत सभी पराधीन व दलित राष्ट्रों को उनके स्वतन्त्रता आन्दोलन में सहायता देगा।
3. भारत प्रजातीय भेदभाव (racial discrimination) की निन्दा करेगा।
4. भारत साम्राज्यवादी युद्धों का विरोध करेगा तथा विश्व शान्ति के लिए प्रयत्न करेगा।

कांग्रेस ने 1920 में प्रस्ताव पारित करके आयरलैण्ड के स्वतन्त्रता संग्राम का समर्थन किया। 1921 में कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पारित करके दुनिया को सूचित किया कि भारत सरकार अपनी विदेश नीति में भारतीय जनता के दृष्टिकोण का कोई प्रतिनिधित्व नहीं करती है। अँग्रेज सरकार ने भारत के पड़ोसी देशों पर जो सन्धियाँ थोपी हैं, कांग्रेस उनका विरोध करती है। भारत सरकार अपना साम्राज्य विस्तार भारतीय सेना और धन की सहायता से कर रही थी। अतः कांग्रेस ने विश्व को यह साफ बता दिया कि भारत सरकार की साम्राज्यवादी नीति, भारतीय भावनाओं के विपरीत है, उसमें भारतीय जनता का कोई सहयोग नही। भारत चाहता है कि वह स्वयं स्वतन्त्र हो और विश्व के अन्य देशों को भी स्वतन्त्र होता देखे।

1922 में डॉ० एम० ए० अन्सारी ने कांग्रेस के सभापति पद से भाषण देते हुए कहा था एक एशियाई संघ की स्थापना होनी चाहिए। 1923 मे मौलाना आजाद ने अपने अध्यक्षीय भाषण मे कहा कि 'पराधीन और शोषित एशियाई देशों की समस्याओं के साथ भारतीय समस्याओं का एकीकरण होना चाहिए। भारत को तत्काल मिस्र, सीरिया, फिलिस्तीन, मोरक्को आदि के राष्ट्रीय आन्दोलनों के प्रति सहानुभूति व्यक्त करनी चाहिए।' 1926 में एस० श्रीनिवास आयंगर ने कहा था कि 'अब समय आ गया है कि भारत सभी एशियाई देशों के कल्याण के लिए एक एशियाई संगठन कायम करने की बात सोचे।' महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 1921 में अपने विश्वविद्यालय 'विश्व भारती' में चीन के बारे में अध्ययन करने के लिए भारत-चीन अध्ययन विभाग खोलकर एक प्रशंसनीय कार्य किया। 1923 में महाकवि ने चीन की यात्रा भी की थी। वे जापान, ईरान एवं मिस्र भी गये। इन यात्राओं का वहुत प्रभाव पड़ा और भारत ने इन देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की नींव रखी।

सन् 1920 तथा 1927 में एशियाई देशों में सम्मेलन हुए जिनमें भारत ने भी भाग

लिया। एशियाई सम्मेलनों का एक ही उद्देश्य था कि उपनिवेशवाद का अन्त हो और एशिया से यूरोपीय साम्राज्यवादी शासन समाप्त हो।

10 जनवरी, 1927 को वेल्जियम की राजधानी ब्रुसेल्स में पददलित राष्ट्रों का सम्मेलन प्रारम्भ हुआ जिसमें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में पं० जवाहरलाल नेहरू ने भाग लिया। इस सम्मेलन के आयोजन का समर्थन इंगलैण्ड के मजदूर दल, जर्मनी, पश्चिमी यूरोप के साम्यवादी दलों, दक्षिणी अमरीका, भारत एवं चीन के राष्ट्रीय नेताओं ने किया। नेहरू ने इस सम्मेलन में कहा था कि "भारत की स्वतन्त्रता की समस्या केवल राष्ट्रीय समस्या ही नहीं है अपितु वह एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या है, क्योंकि भारतीय स्वतन्त्रता के साथ कई देशों का भाग्य जुड़ा हुआ है। संसार के शोषितों के लिए भारतीय स्वतन्त्रता आवश्यक है।'

नेहरू ने अपने भाषण में यह स्वीकार किया कि ब्रिटिश सरकार ने भारत को बदनाम कर रखा है क्योंकि वह भारतीय साधनों का प्रयोग साम्राज्य बढ़ाने में कर रही है तथा विभिन्न स्थानों में स्वतन्त्रता आन्दोलन को कुचलने के लिए भारतीय धन एवं सेना का खुलकर प्रयोग कर रही है। चीन के प्रतिनिधियों का ध्यान करते हुए पं० नेहरू ने कहा कि "हमारे लिए यह बड़े अपमान और शर्म की बात है कि भारतीय सेना का प्रयोग चीन के राष्ट्रवादियों को कुचलने के लिए किया जा रहा ह। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इसका घोर विरोध किया है और भारतीय लेजिस्लेटिव असेम्बली में भी यह प्रश्न कई बार उठाया है............अन्तर्राष्ट्रीय मंच से हम घोषणा करते हैं कि इस ब्रिटिश नीति से हम पृथक् रहेंगे।"

ब्रुसेल्स सम्मेलन में पं० नेहरू के भाषणों से सभी प्रतिनिधि प्रभावित हुए और भारत के प्रति उनकी सहानुभूति उमड़ पड़ी। अतः सम्मेलन ने सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पास किया कि "यह कांग्रेस (सम्मेलन) भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को अपना पूर्ण समर्थन प्रदान करती है और यह विचार व्यक्त करती है कि संसार के पददलित राष्ट्रों की स्वतन्त्रता के लिए विदेशी आधिपत्य (Foreign domination) और सब प्रकार के शोषणों से भारत की मुक्ति एक आवश्यक कदम है।"

1930 में कांग्रेस ने विदेश नीति से सम्बन्धित एक पृथक् विभाग ही बना लिया जिसके संचालक जवाहरलाल नेहरू थे। कांग्रेस ने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर अपनी स्वतन्त्र प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया। 1931 में जब जापान ने चीन पर आक्रमण किया तो उसने जापान की निन्दा की। 1930 से ही युद्ध-विरोधी प्रस्ताव पारित किये जाने लगे और यह स्पष्ट कर दिया गया कि किसी भी भावी साम्राज्यवादी युद्ध में भारत सहायता नहीं देगा। 1935 में कांग्रेस ने फासीवाद व नाजीवाद के प्रति विरोध प्रकट किया। 1935 में इटली के अबीसीनिया पर आक्रमण के विरोध में कांग्रेस के 1936 के लखनऊ अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित करके अबीसीनिया के प्रति सहानुभूति प्रकट की गयी। जब हिटलर ने 1938 में चैकोस्लोवाकिया पर आक्रमण किया तो कांग्रेस ने आक्रमण की निन्दा करते हुए म्यूनिख समझौते की आलोचना की। कांग्रेस के हरिपुर अधिवेशन में घोषित किया गया था कि "भारतवासी अपने पड़ौसी एवं अन्य देशों के साथ शान्ति और मित्रता से रहना चाहते हैं। अपनी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करते हुए वे अन्य देशों की स्वतन्त्रता का भी सम्मान करते है। भारतवासी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं सद्भावना के आधार पर ही अपनी शक्ति बढ़ाना चाहते हैं। स्वतन्त्र भारत भी सदैव निरस्त्रीकरण एवं सामूहिक सुरक्षा का समर्थक रहेगा। विश्व सहयोग तब तक असम्भव है जब तक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को समाप्त नहीं किया जाता। यदि विश्व शान्ति की स्थापना करनी है तो साम्राज्यवाद एवं एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण समाप्त करना ही होगा।" 1939 में जब द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ हुआ तो कांग्रेस ने इसमें सहयोग देने से इन्कार कर दिया। परन्तु फिर भी भारतीय लोकमत के विरुद्ध

ब्रिटिश सरकार ने भारत को युद्ध में सम्मिलित घोषित कर दिया। संक्षेप में, भारतीय स्वाधीनता से पूर्व वैदेशिक युद्धों पर कांग्रेस के दृष्टिकोण से भारत की विदेश नीति की पृष्ठभूमि को समझने में बड़ी सहायता मिलती है।

स्वतन्त्र भारत की विदेश नीति का विकास
(EVOLUTION OF INDPENDENT INDIA'S FOREIGN POLICY)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत की विदेश नीति स्वतन्त्र दृष्टिकोण और गुटनिरपेक्षता की रही है। उसके उद्देश्य हैं—विश्व शान्ति को बनाये रखना, युद्ध की सम्भावनाओं को टालना, विवादों का मध्यस्थता या पंचनिर्णय द्वारा निपटारा करना, जातिभेद, रंगभेद और साम्राज्यवाद का विरोध करना तथा राष्ट्रीय हितों की रक्षा करना। भारत की विदेश नीति के सम्बन्ध में पं० नेहरू ने सितम्बर 1946 में कहा था कि "भारत वैदेशिक सम्बन्धों के क्षेत्र में एक स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करेगा और गुटों की खींचतान से दूर रहते हुए विश्व के समस्त पराधीन देशों के लिए आत्मनिर्णय का अधिकार प्रदान करने तथा जातीय भेदभाव की नीति का दृढ़तापूर्वक उन्मूलन करने का प्रयास करेगा। साथ में वह विश्व के अन्य स्वतन्त्रता प्रेमी और शान्तिप्रिय राष्ट्रों के साथ मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावनाओं के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहेगा।"

भारत की विदेश नीति का निरन्तर विकास हुआ है। यह एक गतिहीन विदेश नीति न होकर गतिशील (dynamic) विदेश नीति है। जैसे-जैसे भारत के राष्ट्रीय हितों में अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में परिवर्तन आया, विदेश नीति का स्वरूप भी बदलता गया। नेहरू के समय भारत 'तटस्थता' और गुटनिरपेक्षता को अत्यधिक महत्व देता था तो श्रीमती इन्दिरा गांधी के समय भारत ने सोवियत रूस से सन्धि करना उचित समझा। जनता शासन में 'असली गुट निरपेक्षता' पर जोर दिया जाने लगा तो राजीव गांधी ने श्रीलंका में भारतीय शान्ति सेना को भेजकर विदेश नीति को नया आयाम देने की चेष्टा की।

स्वतन्त्र भारत की विदेश नीति का विकास निम्न चरणों में विभाजित किया जा सकता है :

(1) भारतीय विदेश नीति—'नेहरू युग' (1947–1964)
(2) भारतीय विदेश नीति—'शास्त्री युग' (1964–जनवरी 1966)
(3) भारतीय विदेश नीति—'इंदिरा युग' (1966–1977)
(4) भारतीय विदेश नीति—'जनता सरकार का युग' (1977–1979)
(5) भारतीय विदेश नीति—'इंदिरा युग' (1980–1984)
(6) भारतीय विदेश नीति—'राजीव युग' (अक्टूबर 1984 से 1989)
(7) भारतीय विदेश नीति—'वी० पी० युग' (दिसम्बर 1989 से....)

भारतीय विदेश नीति—'नेहरू युग'
(INDIAN FOREIGN POLICY—THE NEHRU ERA)

जवाहरलाल नेहरू को भारतीय विदेश नीति का प्रधान निर्माता कहा जा सकता है। वे न केवल स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री और 17 वर्ष तक विदेश मन्त्री रहे, वरन् उससे पूर्व भी वे लगभग 25 वर्षों से अखिल भारतीय कांग्रेस के विदेशी मामलों में प्रमुख प्रवक्ता भी थे। वे अन्तर्राष्ट्रीयता और अखिल एशियावाद के समर्थक थे। वे साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और फासीवाद के विरोधी थे। वे चाहते थे कि सभी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को, जहाँ तक हो सके, शान्तिपूर्ण उपायों से सुलझाया जाये, यद्यपि वे साम्राज्यवादी और फासीवादी आक्रमणों को रोकने के लिए शक्ति के प्रयोग को भी अनुचित नहीं मानते थे। वे रूस और चीन के प्रति विशेष रूप से सहानुभूति रखते थे क्योंकि उनका विश्वास था कि ये देश साम्राज्यवाद के शत्रु हैं। महाशक्तियों के संघर्ष में वे भारत के लिए तटस्थता और समानता की नीति के प्रबल प्रतिपादक हैं।

नेहरू स्वतन्त्र भारत के प्रधानमन्त्री होने के साथ-साथ प्रथम विदेश मन्त्री भी थे।

भारत अमरीका, रूस और चीन के बाद स्पष्टतः चौथी महाशक्ति है। पं० नेहरू ने स्वयं कहा कि "दुनिया चाहे हमारा सम्मान करे या हमसे घृणा करे, हम दुनिया के नक्शे से मिट नहीं सकते। हम चाहें या न चाहें हमारी एक निर्धारक एवं निर्णायक भूमिका है और दक्षिण एशिया तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में नेतृत्व की यह भूमिका हमें निभानी ही होगी।"

4. **पंचशील**—नेहरू ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 'पंचशील' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और इस कारण उन्हें आदर्शवादी कहा जाता था। किन्तु वस्तुतः यह उनकी यथार्थवादी कूटनीतिक चाल थी। वे चीन को 'पंचशील' सिद्धान्तों में उलझाये रखना चाहते थे ताकि कोई बड़ा संघर्ष टाला जा सके। तिब्बत के प्रश्न पर हमने जो कुछ भी किया उसे एक निरी मजबूरी कहा जा सकता है। हमारे सामने सभी विकल्प द्वार बन्द हो चुके थे। हिमालय का प्रांगण रणनीति की दृष्टि से उपयुक्त नहीं था। ब्रिटेन ने एक समुद्री शक्ति होने के कारण कोई विशेष उत्साहप्रद समर्थन नहीं दिया। फिर देश के विकास की आन्तरिक प्रगति इतनी धीमी थी कि कोई भी व्यवहार कुशल प्रधानमन्त्री ऐसे आदर्शवादी निर्णय कैसे ले सकता था जिसमें राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा होती हो।

5. **अफ्रेशियाई एकता**—नेहरू एशिया और अफ्रीका के नवस्वतन्त्र राष्ट्रों की एकता के प्रबल समर्थक थे। एशियाई राष्ट्रों की एकता बनाये रखने के लिए उनकी पहल पर मार्च 1947 में नई दिल्ली में एक एशियाई सम्मेलन का आयोजन किया गया। दूसरा सम्मेलन इण्डोनेशिया के प्रश्न पर जनवरी 1949 में दिल्ली में आयोजित किया गया। नेहरू ने 1955 के बाण्डुंग सम्मेलन में भाग लिया और वे चाहते थे कि इस सम्मेलन के द्वारा एशियाई देशों के बीच सहयोग और मित्रता की भावना को और मजबूत किया जाये।

6. **भारत-चीन युद्ध**—जब भारत-चीन युद्ध शुरू हुआ तो देश के कई भागों में इस बात की माँग होने लगी कि असंलग्नता की नीति पूर्णतया असफल हो चुकी है और देश के हित में इसका जल्द से जल्द परित्याग होना चाहिए। परन्तु 20 अक्टूबर, 1962 को रेडियो से राष्ट्र के नाम सन्देश देते हुए पं० जवाहरलाल नेहरू ने स्पष्ट कर दिया कि भारत अपनी असंलग्नता की नीति का अनुकरण करता रहेगा। इसके बाद चीन तथा भारत का युद्ध जारी रहा तथा नेफा में भारतीय सेना की पराजय हुई। युद्ध की स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गयी और भारत की सुरक्षा अत्यधिक खतरे में पड़ गयी। इस हालात में भारत सरकार ने पश्चिमी राष्ट्रों से सैनिक सहायता के लिए अपील की। अमरीका और ब्रिटेन ने भारत को सहायता देने का निर्णय किया और इन देशों से बहुत बड़ी मात्रा में शस्त्रास्त्र भारत पहुँचाये गये। नेहरू मानते थे कि असंलग्नता की नीति को छोड़कर अमरीकी गुट में शामिल हो जाने के फलस्वरूप भारत-चीन सीमा संघर्ष शीत-युद्ध का एक अंग बन जाता। नेहरू ने व्यवहारवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए निर्णय लिया कि भारत अपनी रक्षा के लिए सभी मित्र राज्यों से सहायता लेगा, लेकिन असंलग्नता की नीति का परित्याग नहीं करेगा।

7. **गोआ पर अधिकार**—पं० नेहरू के जीवनकाल में गोआ के प्रश्न पर भारत ने शक्ति का प्रयोग किया और पुर्तगाली अत्याचारों से गोआ को मुक्ति दिलायी।

संक्षेप में, नेहरू की विदेश नीति की दो विशेषताएँ हैं—(i) विश्व शान्ति की स्थापना के नए प्रयत्न करना, और (ii) अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में भारत के स्वतन्त्र दृष्टिकोण को अभिव्यक्त रना।[1]

"The basic features of Nehru's foreign policy are : World settlement of international disputes through negotiation and by peaceful means; steady reduction of armaments; internatioaal agreement or a ban on the use of nuclear power and weapons of mass destruction; strengthening of the ideal, purpose and organisation of the United Nations, moral support for the ideal of a democratic world as a loose confederation, ending of colonial rule; removal of racial discrimination in the social as well as political sphere; non-alignment with regard to military pacts or defences, alliances; freedom and independence in judging world issues or international conflicts; respect for each-other's territiorial integrity and sovereignty; non-aggression; non-interference in each other's affairs and recognition of each other's equlity on the principles of "Peaceful Co-existence", irrespective of racial, political or ideological differences. These are the main ingredients of the policy which Nehru initated and passionately pleated on behalf of India."
—M. S. Mehta. "*India's Foreign Policy*", A. Appadorai (ed.) India—Studies in Social and Political Development, pp. 215-216.

नेहरू की विदेश नीति की आलोचना—अनेक विचारकों का मत है कि हमारी विदेश नीति सामान्य रूप से सफल होते हुए भी कुछ अंशों मे अपने उद्देश्यो को पूर्ण रूप से प्राप्त करने में सफल नहीं हुई थी। नेहरू की विदेश नीति विश्वव्यापी स्तर (Global Level) पर तो सफल हुई किन्तु प्रादेशिक स्तर (Regional Level) पर उतनी सफल नही हो पायी। भारत की विदेश नीति कोरिया, हिन्दचीन और स्वेज के मामलो मे सफल हुई। विश्व में शान्ति का अग्रदूत बना रहने वाला भारत अपने पड़ोसी पाकिस्तान और चीन के साथ शान्ति सम्बन्ध नही बनाये रख सका। 1962 मे चीन द्वारा भारत पर आक्रमण होने के समय यद्यपि विश्वव्यापी स्तर पर हमारी नीति के सफल होने के कारण हमे दोनो गुटों के देशों—अमरीका, ब्रिटेन तथा रूस—से पूरी सहायता मिली किन्तु हमारी सीमा के साथ लगे देशो—पाकिस्तान, नेपाल, बर्मा, श्रीलंका आदि ने हमारा समर्थन किया, पश्चिमी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के सभी देश (मलाया के अतिरिक्त) मौन रहे। नेहरू की विदेश नीति का दूसरा दोष यह बताया जाता है कि उसने सभी आवश्यक परिस्थितियों तथा सम्भावनाओं का ध्यान नही रखा और अनेक सम्भावित तथ्यों की उपेक्षा की। 1954 में भारत ने चीन की विस्तारवादी प्रवृत्ति को भली-भाँति जानते हुए भी तिब्बत पर उसकी प्रभुसत्ता स्वीकार की किन्तु इसके बदले में अपने देश के हजारों मील लम्बे सीमान्त को स्पष्ट रूप से निर्धारित नही कराया और वह केवल पंचशील के सिद्धान्तों की घोषणा मात्र से सन्तुष्ट हो गया।

एक अर्थशास्त्री और विदेशी मामलों के विशेषज्ञ डॉ० जे० डी० सेठी ने हाल ही में अपने एक लेख में नेहरू की विदेश नीति की आलोचना करते हुए लिखा है—"जवाहरलाल नेहरू ने विदेश नीति के सिलसिले में तीन गलतियाँ की : पहली गलती यह थी कि उन्होंने उस समय गुट-निरपेक्ष परिधि से निकलकर अधिक व्यापक दायरे में विश्व की समस्याओं में उलझना उचित समझा; जिस समय इन समस्याओ से निबटने के लिए भारत के पास पर्याप्त क्षमता नही थी। सार्वभौमिक सक्रियता के उत्साह में उन्होने क्षेत्रीय हितो को नजर-अन्दाज करने की दूसरी भूल की और इसी सन्दर्भ मे उन्होने क्षेत्रीय वास्तविकताओं को नजर-अन्दाज करने के कारण देश की प्रतिरक्षा क्षमता को बढ़ाने के प्रति उदासीनता का व्यवहार किया। इस सन्दर्भ मे प्रतिरक्षा विकास और आर्थिक विकास के बीच सही तालमेल पैदा न करना उनकी तीसरी भूल थी।"[1]

स्वतन्त्र पार्टी के नेता सी० राजगोपालाचारी और मीनू मसानी ने नेहरू नीति की कटु आलोचना की है। उनके अनुसार, "इन नीतियो में सबसे अधिक दुखदायी और विनाशकारी धारणा थी—गुटनिरपेक्षता की, जिसके कारण (विदेश नीति मे) दोहरे मानदण्ड उत्पन्न हुए; कम्यु-निस्ट चीन का निरन्तर तुष्टीकरण, दक्षिण और दक्षिण-पूर्व एशिया के अपने पड़ौसी देशों के प्रति बेरुखी, 1950 में चीनी साम्यवादी साम्राज्यवाद के आगे तिब्बत की बलि, 1956 में हंगरी की क्रान्ति को दबाने के सोवियत कदम का संयुक्त राष्ट्र में समर्थन तथा इजरायल के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने से निरन्तर इन्कार आदि दोहरे मानदण्डों के उदाहरण है।

नेहरू नीति की निम्नलिखित आलोचनाएँ की जाती है :

1. यह अत्यधिक आदर्शवादी और भावना प्रधान है। 'शान्तिदूत' की प्रतिष्ठा पाने के लिए नेहरू ने राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा की। तिब्बत सम्बन्धी नीति भारतीय विदेश नीति की आदर्श-वादिता और असफलता का उदाहरण है।

2. इस नीति के कारण विश्व का एक भी राज्य हमारा पक्का मित्र नही बन पाया जबकि हमारे दो शक्तिशाली शत्रु—चीन और पाकिस्तान—हमें ललकारने लग गये।

---

[1] **दिनमान**, 17-23 नवम्बर, 1985, पृ० 16-17।

द्वारा आपसी समस्याओं को सुलझाकर अफगानिस्तान, नेपाल, श्रीलंका और बर्मा आदि अपने अत्यन्त निकट के पड़ौसी देशों के साथ घनिष्ठ और मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये। पारस्परिकता और आपसी लाभ के सिद्धान्त के अनुसार अफगानिस्तान और नेपाल के साथ घनिष्ट आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध बने हैं। मार्च 1967 में वर्मा के साथ समझौता किया और जून 1974 में श्रीलंका के साथ पाक जलडमरूमध्य के पानी के विभाजन के बारे में एक समझौता हुआ जिससे कच्छा-टिबू का मसला भी शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझ गया। ये दोनों समझौते द्वि-पक्षीय बातचीत के आधार पर पड़ौसियों के साथ उलझे हुए मसलों को सुलझाने की नीति के परिचायक हैं। विदेश नीति की दृष्टि से श्रीमती गांधी ने दो दृष्टियों से विशेष योगदान दिया : **पहली** तो यह कि भारत के विश्व सम्बन्धी दृष्टिकोण में उपमहाद्वीप मसले को सबसे अधिक महत्व दिया गया और **दूसरी** यह कि जैसी स्थिति हो, उसके अनुसार सहयोग की नीतियों द्वारा महाद्वीप में सम्बन्धो का विकास किया जाये।

2. **उपमहाद्वीप**—जहाँ तक हमारे निकटतम पड़ौसी पाकिस्तान के साथ हमारे सम्बन्धों का सवाल है, इस दशक के आरम्भ में परिस्थितियाँ काफी अच्छी थीं। उसी समय ताशकन्द की जो घोषणा हुई थी, उसने दोनों देशों की समस्याओं को अच्छी तरह समझने का रास्ता खोला था। यदि इसे अच्छी भावना के साथ अमल में लाया जाता तो इससे भविष्य में भाई-चारे तथा शान्ति की आशा थी। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, वह हमेशा की तरह पाकिस्तान के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाना चाहता था। लेकिन पाकिस्तान की मनोवृत्ति और रवैये में विकृति पैदा हो गयी और फिर बाद की वे सब घटनाएँ घटी जिनका दिसम्बर 1971 में सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण सैनिक युद्ध में अन्त हुआ। इस युद्ध में भारत की सशस्त्र सेनाओं को गौरवपूर्ण विजय प्राप्त हुई। इस सैनिक विजय ने भी भारत को विचलित नहीं किया और भारत ने स्वयं युद्ध-विराम की घोषणा कर दी और 1971 के संघर्ष के दौरान विजित क्षेत्रों से अपनी सेनाएँ लौटाने को तैयार हो गया। जुलाई 1972 में शिमला समझौते पर हस्ताक्षर, शान्ति के प्रति भारत की प्रतिबद्धता का एक दूसरा प्रमाण था। अप्रैल 1974 में दोनों देशों ने 1971 के युद्ध के पहले एक-दूसरे देश देश के वन्दी बनाकर रखे हुए सभी नागरिकों को वापस भेज देना स्वीकार किया। सितम्बर 1974 में डाक और तार के संचार सम्बन्ध स्थापित करने के बारे में एक समझौता हुआ। इसके बाद दिसम्बर 1974 में एक व्यापार समझौता हुआ और जनवरी 1975 में जहाजरानी समझौता हुआ।

बंगला देश के साथ घनिष्ठ राजनीतिक और आर्थिक सम्बन्ध स्थापित किये गये। मार्च 1972 में उस समय की ढाका सरकार के साथ शान्ति, मैत्री और सहयोग की एक 25-वर्षीय सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये। बंगला देश के बाद की परिवर्तित परिस्थितियों मे भी नयी सरकार के प्रतिनिधियो से तुरन्त बातचीत आरम्भ की गयी।

3. **एशियाई सम्बन्ध**—भारत ने समानता और आपसी हित के आधार पर दक्षिण-पूर्वी एशिया और पश्चिमी एशिया के देशों के साथ मैत्री और सहयोग का हाथ बढ़ाया। उसने 'एसीन' के तत्वावधान में इस क्षेत्र के देशों के बीच प्रादेशिक सहयोग का स्वागत किया और दक्षिण-पूर्वी एशिया को शान्ति, स्वाधीनता और तटस्थता के एक क्षेत्र के रूप में विकसित करने की उनकी भावना का समर्थन किया। अगस्त 1974 में इण्डोनेशिया के साथ महाद्वीपीय समुद्र सीमा के पुनः-निर्धारण के सम्बन्ध में एक समझौता हुआ। इण्डोचायना के सम्बन्ध में भारत ने हमेशा इस मत का समर्थन किया कि वहाँ की समस्या का कोई सैनिक समाधान नहीं हो सकका। वियतनाम और कम्बोडिया में राष्ट्रीय शक्तियों की विजय से यह सही सिद्ध हो गया कि इस सम्बन्ध में

वहाँ की विजय से यह सही सिद्ध हो गया कि सम्बन्ध में भारत का रवैया ठीक था पश्चिमी एशिया में भारत ने लगातार अरब-इजराइली संघर्ष में अरब के पक्ष का समर्थन किया। पेट्रोल के मूल्य में वृद्धि हो जाने के कारण पैदा होने वाले उर्जा संकट के बाद अरब देशों के साथ आर्थिक सम्बन्धों को और अधिक महत्व दिया गया। दिसम्बर 1975 में भारत-कुवैत सन्धि हुई और 1974 में ईरान के साथ घनिष्ठ आर्थिक सहयोग हेतु एक कमीशन स्थापित किया गया।

4. **अमरीका**—भारत की जाति-भेद और उपनिवेशवाद-विरोधी नीति और अफ्रीकी देशों के स्वाधीनता आन्दोलन के समर्थन के कारण उसका अफ्रीकी देशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ। भारत ने कई अफ्रीकी देशों के साथ तकनीकी, आर्थिक और व्यापारिक करार भी किये। पुर्तगाल की नयी सरकार द्वारा गोआ, दमन, दीव और नगर हवेली को भारत का अंग स्वीकार कर लेने से दोनों देशों के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया।

5. **गुट-निरपेक्षता**—दस वर्ष की इस अवधि में गुट-निरपेक्षता के सिद्धान्त को और अधिक व्यापक रूप से स्वीकार किया गया जबकि अक्टूबर 1964 मे हुए दूसरे गुट-निरपेक्ष सम्मेलन ने 47 देशों और 10 पर्यवेक्षकों ने भाग लिया, वहाँ 1970 में लूसाका में हुए तीसरे सम्मेलन में 54 देशों और 11 पर्यवेक्षकों ने भाग लिया और दिसम्बर 1973 में अल्जीयर्स में हुए शिखर सम्मेलन में 75 देशों और 24 पर्यवेक्षकों ने भाग लिया। इन सम्मेलनो में भारत ने यह प्रयास किया कि इन गुट-निरपेक्ष देशों की एकता और पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता पर बल दिया जाये।

6. **रूस और पूर्वी यूरोप**—भारत और सोवियत संघ के सम्बन्धों की विशेष बात यह है कि 1971 में सोवियत संघ और भारत के बीच शान्ति, मैत्री और सहयोग के बारे में एक सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये। इस सन्धि से भारतीय उपमहाद्वीप में स्थिरता और शान्ति स्थापित होने मे बड़ी मदद मिली। इससे भारत के विरुद्ध किसी आक्रमण के खतरे की अवस्था में सोवियत संघ की सहायता का आश्वासन भी प्राप्त हुआ। दिसम्बर 1970 में भारत और रूस के बीच एक पाँच-वर्षीय व्यापार समझौता हो जाने से भारतीय अर्थ-व्यवस्था के बुनियादी क्षेत्रों में दोनों देशों के बीच सहयोग की व्यवस्था की गयी। इसक अतिरिक्त, भारत तथा रूस क बीच व्यापार की मात्रा 1973 मे 412 करोड़ रु० से बढ़कर 1974 में 750 करोड़ रु० हो गयी। सोवियत संघ के साथ घनिष्ठ सम्बन्धों के अलावा पूर्वी यूरोप के देशों के साथ भारत के सहयोग में भी महत्वपूर्ण प्रगति हुई। चैकोस्लोवाकिया के साथ 1966 में, रूमानिया तथा जर्मन प्रजातन्त्रीय गणराज्य के साथ 1974 में एक संयुक्त कमीशन की स्थापना में यह स्पष्ट हो गया कि भारत इन देशों के साथ घनिष्ठ सहयोग विकसित करने को कितना महत्व देता है। दिसम्बर 1975 में भारत तथा जर्मन प्रजातन्त्रीय गणराज्य के बीच हुए कौंसली सम्मेलन का उद्देश्य दोनों देशों के बीच वाणिज्य सम्बन्धों को नियमित करना है।

7. **अमरीका**—श्रीमती गाँधी ने अमरीका के प्रति अपनी नीति में कभी भी भ्रान्तियों का सहारा नहीं लिया। उन्होंने राष्ट्रीय स्वाभिमान को कभी भी आँच नहीं आने दी। श्रीमती गाँधी अपने शान्तिपूर्ण दृष्टिकोण के कारण उत्तर वियतनाम पर अमरीकी बम वर्षा बन्द कर देने एवं शान्ति स्थापना के लिए रचनात्मक कार्य किये जाने की इच्छुक थीं। 1970 के आरम्भ में भारत सरकार ने उत्तर वियतनाम की राजधानी हेनोई में भारतीय कार्यालय के दर्जे को ऊँचा करने का निश्चय किया। मई 1970 में दिल्ली को छोड़कर भारत में अन्य पाँच स्थानों में अमरीकी सूचना केन्द्रों को बन्द कर दिया गया। श्रीमती गाँधी ने हिन्द महासागर में अमरीका

और ब्रिटेन द्वारा परमाणु अड्डा कायम करने के निर्णय की भर्त्सना की और उसे विश्व शान्ति के लिए खतरा बताया।

8. **चीन**—भारत निरन्तर इसी पर अमल कर रहा है कि चीन के साथ सम्बन्ध अच्छे बनाये जायें, 1976 में पेकिंग में भारतीय राजदूत की नियुक्ति भारत और चीन के सम्बन्धों की दुनिया में एक नयी शुरूआत थी। चीन में राजदूत की नियुक्ति का फैसला भारत सरकार की विदेश नीति के घोषित सिद्धान्तों के आदर्शों के अनुरूप था।

यद्यपि इन्दिरा गाँधी को अपने प्रथम कार्यकाल में चीन से सम्बन्ध सुधारने की जो आशा थी, उसमें सफलता नहीं मिली फिर भी उनके कार्यकाल की इस सफलता को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता कि भारत और चीन के बीच न कोई बड़ा संघर्ष हुआ न ही दोनों ने एक-दूसरे को अपना शत्रु समझा।

9. **हिन्द महासागर क्षेत्र**—बड़े राष्ट्रों में जिस प्रकार सद्भाव बढ़ रहा है उसी प्रकार विश्व के विभिन्न हिस्सों में बड़े राष्ट्रों में प्रतिस्पर्द्धा और अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने के यत्न किये जा रहे हैं। इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण यह बात है कि नौसैनिक गतिविधियों के परिणामस्वरूप हिन्द महासागर क्षेत्र में इन बड़े राष्ट्रों की प्रतिस्पर्द्धा बढ़ रही है। हिन्द महासागर में जो स्थिति बन रही है उसको देखते हुए अपने लम्बे समुद्री तट के कारण भारत को अपनी सुरक्षा के बारे में चिंतित होना स्वाभाविक है। भारत ने लगातार माँग की कि हिन्द महासागर क्षेत्र को बड़े राष्ट्रों की प्रतिस्पर्द्धा से मुक्त रखना चाहिए, उसे विदेशी अड्डों और परमाणु अस्त्रों से भी अछूता रखना चाहिए। इसलिए संयुक्त राष्ट्र महासभा में सभी देशों द्वारा भारत की इस इच्छा का समर्थन और स्वागत किया गया।

10. **आर्थिक सहयोग पर बल**—इस दशक में भारत की विदेश नीति का एक महत्वपूर्ण पहलू—आर्थिक सहयोग पर ज्यादा-से-ज्यादा बल देना, विभिन्न देशों के साथ आर्थिक सहयोग के लिए स्थापित संयुक्त कमीशन, भारतीय तकनीकी और आर्थिक सहयोग कार्यक्रमों का विकास, खासतौर पर एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के विकासशील देशों के लिए तथा प्रादेशिक अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर आर्थिक सहयोग का समर्थन—इन बातों से यह अच्छी तरह पता चलता है कि भारतीय विदेश नीति में आर्थिक सहयोग को कितना महत्व दिया गया है। विभिन्न गुट-निरपेक्ष सम्मेलनों में पारित प्रस्तावों में, अप्रैल-मई 1975 में हुई राष्ट्रमण्डलीय सरकारों के अध्यक्षों की अन्तिम बैठक में स्वीकृत विज्ञप्ति में, 'अंकटाड' की बैठक में, संयुक्त राष्ट्र की आर्थिक समस्याओं पर होने वाले विशेष विचार-विमर्श में, खासतौर पर कच्चे माल और विकास के बारे संयुक्त राष्ट्र महासभा में हुए विचार-विमर्श में इस बात पर और अधिक बल दिया गया।

11. **अणु विस्फोट**—श्रीमती गाँधी ने महाशक्तियों की भ्रान्तियों को दूर करने के लिए भारत को एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में कूटनीतिक मंच पर प्रस्तुत करने लिए के विश्व में एक नयी स्थिति पैदा करने का निर्णय किया। महाशक्तियों के भ्रम और आशंकाओं को दूर करने के लिए भारत के वैज्ञानिकों ने 18 मई, 1974 को प्रथम परमाणु विस्फोट करके विश्व राजनीति में भारत को एक महाशक्ति के रूप में खड़ा कर दिया। सफल भूगर्भीय परीक्षण ने भारत को एक शक्तिशाली राष्ट्र बना दिया। यह विस्फोट अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति सन्तुलन की शतरंज के लिए एक मोहरा था। परमाणु विस्फोट से एक सीमित अर्थ में स्थिति में परिवर्तन हुआ। इस विस्फोट से अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अमरीकन कूटनीति का रुख भारत के प्रति बदला। चीन को भी यह अहसास हुआ कि उसे तनाव की राजनीति छोड़कर भारत के नजदीक जाना होगा।

श्रीमती गाँधी के प्रथम कार्यकाल में भारतीय विदेश नीति की विशेषताएँ

1. **लचीलापन**—भारत की विदेश नीति लचीली रही है। गुट-निरपेक्षता हमारे लिए न

केवल साम्य है अपितु साधन भी है, न केवल सिद्धान्त मात्र है अपितु नीति भी है। 1971 में भारत-रूस सन्धि वर्तमान विदेश नीति के लचीले होने का सुन्दर उदाहरण है। गुट-निरपेक्ष होते हुए भी देश की सुरक्षा के लिए यदि किसी बड़ी शक्ति से मित्रता की जाये तो उससे गुट-निरपेक्षता टूट नहीं जाती।

2. **आदर्श और यथार्थ का सुन्दर समन्वय**—इन्दिराजी के शासनकाल में भारत ने जिस विदेश नीति का पालन किया उसमें आदर्शवाद के साथ-साथ गम्भीर यथार्थवाद का उपयुक्त पुट रहा है। जैसा कि श्रीमती गांधी ने कहा था कि कुछ अप्रत्यक्ष तत्व हमारी विदेश-नीति में अन्तर्निहित हैं। ये हैं अन्तर्राष्ट्रीय मामलों और घटनाओं के गहरे, पैने और धीर यथार्थवादी विश्लेषण के आधार पर विश्वास, साहस और राष्ट्रीय गौरव।' श्रीमती गांधी के अनुसार, उनकी नीति का अन्तर्निहित दर्शन है 'मौजूदा दोस्तियों को मजबूत करना, उदासीनता को मैत्री में बदलना और जहाँ-कहीं दुश्मनी कम हो उसको कम करना।' नेहरू के नेतृत्व में भारत ने 1963 की 'आणविक परीक्षण बन्द सन्धि' पर हस्ताक्षर कर दिये जबकि यथार्थवादी भूमि पर खड़े होकर भारत ने 1968 में 'अणु प्रसार निरोध सन्धि' पर हस्ताक्षर करने से साफ इन्कार कर दिया।[1]

3. **विदेश नीति का राष्ट्रीय शक्ति से ताल-मेल**—दुर्बल देशों की कूटनीति सफल नहीं होती। ऐसा कहा जाता है कि 'शक्ति-रहित कूटनीति बिना बाजे के संगीत के तुल्य है।' भारत ने श्रीमती गांधी के नेतृत्व में इस तथ्य को महसूस किया और इसी कारण सफल आणविक परीक्षण करके भारत की गणना आणविक राष्ट्रों में होने लग गयी। राष्ट्रीय गौरव और राष्ट्रीय शक्ति में यह अभूतपूर्व वृद्धि है। भारत के परमाणु विस्फोट पर भारत के प्रसिद्ध साप्ताहिक 'दिनमान' ने अपने सम्पादकीय में लिखा था कि "जो लोग श्रीमती गांधी को जानते हैं वह यह कह सकने की स्थिति में हैं कि श्रीमती गांधी किसी भी देश के साथ सम्बन्धों में अपनी शर्तों पर सुधार करती हैं, फिर चाहे वह चीन हो या रूस या अमरीका। परमाणु विस्फोट के फलस्वरूप आज भारत पहले से कहीं अधिक स्वतन्त्र है, कम से कम विदेश-नीति के क्षेत्र में।"[2]

4. **आर्थिक सहयोग पर बल**—भारत इस समय आर्थिक सहयोग और आदान-प्रदान पर अधिक ध्यान दे रहा है। इसी काल में अनेक व्यापारिक समझौते किये गये। इसी काल में भारत का श्रीलंका और अल्जीरिया के साथ व्यापारिक समझौता हुआ।

5. **छोटे देशों के साथ मधुर सम्बन्ध**—नेहरू के शासनकाल में भारत ने वाशिंगटन, मास्को और पेकिंग की ही तरफ अधिक ध्यान दिया किन्तु इस काल में एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के देशों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने के लिए भारत विशेष ध्यान देने लगा।

6. **विशेषज्ञों का महत्व**—पूर्व की अपेक्षा इस समय विदेश नीति के निर्माण में विशेषज्ञों की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण थी। श्रीमती गांधी ने विदेश-विभाग में नीति निर्माण हेतु, 'नीति नियोजन सीमिति' को विशिष्ट महत्व दिया। इसके चेयरमैन डी० पी० धर, पार्थसारथी आदि विख्यात कूटनीतिज्ञ रह चुके हैं।

संक्षेप में, विदेश नीति के क्षेत्र में 'भारत-रूस मैत्री सन्धि', 'शिमला समझौता' और 'परमाणु विस्फोट' श्रीमती गांधी के जीवन के गौरवशाली क्षण कहे जा सकते हैं। 'भारत-रूस मैत्री सन्धि'

---

1 एम० एस० राजन, 'इण्डिया इन वर्ल्ड पॉलिटिक्स इन दी पोस्ट-नेहरू ऐरा', के० पी० मिश्रा (सम्पादित), **स्टडीज इन फॉरेन पॉलिसी**, विकास, नई दिल्ली, 1969।

2 **दिनमान**, 23 जून, 1974, पृ० 20।

ने न केवल भारत और रूस के सम्बन्धों को, जो कि पहले से भी अच्छे थे और भी सुदृढ़ किया वल्कि दोनों देशों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को भी वढ़ाया। इस सन्धि के तुरन्त वाद भारत की सीमाओं पर दवाव वढ़ता गया, फलस्वरूप भारत और पाकिस्तान के वीच एक निर्णायक युद्ध हुआ। युद्ध के परिणामस्वरूप संसार के नक्शे पर एक नया देश उभरकर आया। इस देश का नाम था 'वंगला देश' जैसा कि एक संसद सदस्य ने उन दिनों कहा था, "न केवल इतिहास वल्कि भूगोल वदल गया।" पिछली कई शताब्दियों में भारत को इतना गौरव, इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हुई थी जितनी कि वंगला देश की आजादी के वाद प्राप्त हुई। इसके वाद 'शिमला समझौते' द्वारा भारत और पाकिस्तान के वीच वहुत सी समस्याओं का निवटारा हुआ। यदि आज भारत और पाकिस्तान के वीच पहले से कम तनाव है, तो इसका श्रेय 'शिमला समझौते' को है। 'शिमला समझौते' ने भारत के दृष्टिकोण को प्रमाणित किया कि भारत अपने पड़ौसियों के साथ अच्छे सम्वन्ध रखना चाहता है।

मधु लिमये लिखते हैं : "इन्दिरा गाँधी ने अपने पड़ौसियों के साथ भारत के सम्वन्धों में किसी भी तीसरी ताकत का हस्तक्षेप वरदाश्त नहीं करने का निर्णय किया। इन्दिरा गाँधी को सवसे पहले वंगला देश की चुनौती का सामना करना पड़ा। एक ओर निक्सन और किसिंजर इस वात पर जोर दे रहे थे कि भारत द्वारा वंगला देश के शरणार्थियों की समस्या का हल निकालने के लिए वल प्रयोग नहीं होना चाहिए दूसरी ओर भारतीय लोकमत वंगला देश की स्वतन्त्रता को मान्यता देकर इस प्रश्न को सुलझाने के लिए शीघ्र फौजी कार्यवाही का आग्रह कर रहा था। तीसरी ओर चीन भारत विरोधी रुख अख्तियार कर पाकिस्तान कर खुलकर साथ दे रहा था। इस कठिन समय में इन्दिरा गाँधी ने वहुत सावधानी और चतुराई से काम किया, इनमें कोई सन्देह नहीं।

सबसे पहले उन्होंने संकल्पशक्ति के साथ अमरीकी दवाव का डटकर मुकावला किया। फिर मास्को के साथ, अपने दूत की मारफत, सोवियत-भारत सन्धि की तथा चीन और अमरीका के विरोध का जवाव देने के लिए उपयुक्त व्यूहरचना की। भारत का लोकमत का दवाव वंगला देश के पक्ष में वढ़ता चला जा रहा था, लेकिन चीन के सम्भावित फौजी हस्तक्षेप के खतरे को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता था। इसलिए फौजी कार्यवाही के लिए तारीख मुकर्रर करते समय उन्होंने इस वात का भी ख्याल रखा कि उत्तर में भारत और चीन की सीमाओं पर स्थित घाटियाँ दिसम्वर में वर्फ से ढँक जाती हैं और उसके वाद सेनाओं के लिए उन घाटियों को लाँघकर भारत की ओर वढ़ना असम्भव हो जाता है···· इस तरह समुचित अन्तर्राष्ट्रीय व्यूहरचना और पूरी सैनिक तैयारी के साथ इन्दिरा गाँधी ने वंगला देश में फौजी हस्तक्षेप किया।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में इन्दिरा गाँधी सदैव इस वात पर अटल रहीं कि भारत अपनी विदेश नीति का निर्माण करने में अपने ही विवेक से काम लेने के लिए स्वतन्त्र है। उन्होंने गतिशील, सकारात्मक और संघटनकारी नीति का अनुसरण किया।

जनता सरकार एवं भारतीय विदेश नीति : कितनी निरन्तरता कैसा परिवर्तन
(JANTA PARTY GOVERNMENT AND INDIA'S FOREIGN POLICY : CONTINUITY AND CHANGE)

मार्च 1977 में आयोजित भारतीय लोकसभा के आम चुनावों में 30 वर्षों जितने लम्बे समय के वाद केन्द्रीय स्तर पर सत्ताधारी दल में परिवर्तन हुआ था। इसमें विदेश नीति प्रतिस्पर्द्धी कांग्रेस एवं जनता पार्टी के बीच विवाद का मुख्य विषय नहीं रही। फिर भी, जनता पार्टी में ऐसे कई नेता थे, जिन्होंने पहले कांग्रेसी सरकारों की विदेश नीति पर आलोचनात्मक रुख अपनाया

1 रविवार, 27 अक्टूबर-2 नवम्बर, 1985, पृ० 32।

था। यही नहीं, स्वयं जनता पार्टी के चुनाव घोषणा-पत्र में 'विशुद्ध गुट-निरपेक्षता' तथा किसी महाशक्ति की ओर 'झुकाव को सही करने' जैसी कांग्रेस से भिन्न बातें कही गयीं। इस कारण अनेक भारतीय एवं विदेशी समीक्षकों द्वारा जनता सरकार के अधीन भावी भारतीय विदेश नीति के बारे में अटकलें लगाने का आधार बिल्कुल अस्वाभाविक या गलत नहीं था। कुछ लोगों के मतानुसार जनता सरकार के अधीन देश की विदेश नीति में मूलभूत परिवर्तन हुए। दूसरों के अभिमत में जनता तथा विगत कांग्रेसी सरकारों द्वारा अपनायी गयी विदेश नीति के स्वरूप में निरन्तरता है कोई मूलभूत अन्तर नहीं।

मूलभूत परिवर्तन क्यों नहीं हुआ—जनता सरकार के अधीन देश की विदेश नीति में मूलभूत परिवर्तन न होने के अनेक कारण हैं :

हमारे देश की विदेश नीति का मुख्य आधार गुट-निरपेक्ष नीति का पालन करना तथा रंगभेद, जातिभेद, उपनिवेशवाद, नव-उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद का विरोध करना रहा है। इसका चरम लक्ष्य विश्व-शान्ति एवं सुरक्षा के साथ ही देश की सीमाओं की सुरक्षा तथा आन्तरिक आर्थिक विकास है। भारतीय विदेश नीति की रूपरेखा तैयार करते समय उसमें इन राष्ट्रीय हितों का समावेश स्वतन्त्रता-संग्राम में अग्रणी नेताओं द्वारा पं० नेहरू के नेतृत्व में सुदृढ सैद्धान्तिक आधार पर किया गया। इससे उत्तराधिकारी शासक या दल द्वारा उसमें मूलभूत परिवर्तन करना अनावश्यक ही था। श्री शास्त्री, श्रीमती गांधी तथा जनता सरकार इसके अपवाद नहीं रहे।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भारतीय विदेश नीति जड़ रही है। राष्ट्रीय, क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में परिवर्तन आने के कारण श्री शास्त्री तथा श्रीमती गांधी के युग में किन्हीं देशों के प्रति विशेष सहानुभूति का रुख पाया गया। उदाहरणार्थ, 1971 में भारत ने सोवियत संघ से मैत्री एवं सहयोग सन्धि की, जो बदलते सन्दर्भ की आवश्यकता थी। मार्च 1977 में जनता सरकार बनने के बाद देश की विदेश नीति में मूलभूत परिवर्तन नहीं करने का कारण क्षेत्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक समाज का न्यूनाधिक वही स्वरूप रहना है।

इसका एक और कारण जनता पार्टी की संरचना है। इसमें विलीन पाँच घटकों में से दो घटक—संगठन कांग्रेस और कांग्रेस फार डेमोक्रेसी—के नेताओं ने विगत कांग्रेसी नेहरू, शास्त्री एवं श्रीमती गांधी की सरकारों की विदेश नीति का पूर्ण समर्थन किया था, क्योंकि वे पहले कांग्रेस में ही थे। तीसरे घटक, भारतीय लोकदल ने देश की विदेश नीति के बारे में कभी ठोस कार्यक्रम रखा ही नहीं। समाजवादी दल ने स्वर्गीय डॉ० राम मनोहर लोहिया के समय भारत के वैदेशिक मामलों में विशेष रुचि दिखायी थी किन्तु उनके निधन के पश्चात् दल की शक्ति एवं प्रभाव में कमी आ गयी तथा उसके नेताओं ने विदेश नीति में अधिक रुचि नहीं ली। केवल जनसंघ ही ऐसा दल था जिसने राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में निरन्तर तथा सन्तुलित रूप से ध्यान दिया किन्तु उसने भारत द्वारा गुट-निरपेक्ष नीति अपनाने तथा जातिभेद, रंगभेद, उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद का विरोध करने के सम्बन्ध में कभी सैद्धान्तिक मतभेद प्रकट नहीं किया। उसका मुख्य विरोध चीन एवं पाकिस्तानी द्वारा हड़पी गयी भारतीय भूमि के बारे में विगत सरकारों की ढुलमुल नीति, इजराइल को यथोचित कूटनीतिक मान्यता न देने तथा अरब देशों को आवश्यकता से अधिक महत्व देने से सम्बन्धित था। श्रीमती गांधी के काल में उसने देश को सोवियत संघ की ओर झुकाने का आरोप लगाया। मार्च 1977 के आम चुनावों के पूर्व जनता पार्टी के गठन में जनसंघ ने विलीन होने के साथ भारत के वैदेशिक मामलों में ही नहीं, अपितु घरेलू नीति के बारे में भी अपना दृष्टिकोण बदला था। राष्ट्रीय सन्दर्भ में उसने गांधीवादी समाज की परिकल्पना की बात जनता पार्टी के चुनाव घोषणा-पत्र को अंगीकार कर मान ली थी।

अमरीका जैसे दो-दलीय प्रजातान्त्रिक देश में सत्ताधारी दल के परिवर्तन के साथ वहाँ के

विदेश मन्त्रालय की नौकरशाही में भी परिवर्तन होता है। नया सत्ताधारी दल अपने लोगों को उसमें नियुक्त करता है तथा वे मिलकर राष्ट्रीय हितों को अपनी समझ के अनुसार परिभाषित करते हैं। किन्तु भारत जैसे लोकतान्त्रिक देश की स्थिति इससे भिन्न है। यहाँ सत्ताधारी दल बदलने से नौकरशाही नहीं बदलती, केवल बदलाव उन पर राजनीतिक आदेश चलाने वाले राजनीतिज्ञों या नेतृत्व प्रदान करने वालों का होता है। इस तरह पार्टी के राज में आने के बाद विदेश नीति सलाहकार तो वही रहे। इस कारण भी मूलभूत परिवर्तन नहीं हुआ।

कैसे परिवर्तन ? कितनी निरन्तरता—नव-स्थापित जनता सरकार के प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई ने अपनी पहली प्रेस कान्फ्रेंस में विशुद्ध गुट-निरपेक्ष नीति अपनाने, भारत-सोवियत मैत्री-सन्धि को कायम रखने, पड़ोसी देशों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने, अरब देशों को परम्परागत समर्थन जारी रखने तथा रंगभेद, जातिभेद, उपनिवेशवाद, नव-उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद का विरोध करने की बातें कहीं।

जब प्रधानमन्त्री श्री देसाई ने अक्टूबर 1977 में रूस की यात्रा की तो उसके बाद संयुक्त घोषणा में दोनों देशों में 'भिन्न राजनीतिक एवं आर्थिक तन्त्र होने के उपरान्त भी मित्रता' जैसे तथ्य का समावेश किया गया। ऐसी खरी एवं सपाट बातों का उल्लेख भारत-सोवियत सम्बन्धों में पहले नहीं होता था।' कम्पूचिया की हेंग सामरिन सरकार की मान्यता के बारे में भारत ने स्पष्ट कहा कि नयी सरकार का स्थिति पर पूर्ण नियन्त्रण नहीं है और जब तक वैसा नहीं हो जाता हम कम्पूचिया को मान्यता नहीं दे सकते। जनता सरकार के शासनकाल में भारत तथा सोवियत संघ के बीच रुपया-रूबल विवाद का औचित्यपूर्ण निपटारा हुआ। श्रीमती गांधी के समय में अमरीका तथा चीन को अधिक रुष्ट न करते हुए सोवियत संघ के साथ उष्ण उत्साह के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किये गये, किन्तु जनता सरकार के समय में घनिष्ठ सोवियत सम्बन्धों को स्थिर रखते हुए अमरीका तथा चीन से अच्छे सम्बन्ध बनाने का प्रयास किया जाने लगा।

मोरारजी देसाई ने अमरीकी राष्ट्रपति कार्टर को यह बता दिया कि भारत केवल तारापुर और राजस्थान परमाणु संयन्त्रों के लिए पूर्व सहमत निगरानी शर्तों को ही मान सकता है लेकिन ये शर्तें वह अन्य संयन्त्रों के बारे में नहीं मानेगा। इसी प्रकार भारत अपने संयन्त्रों पर न तो अन्तर्राष्ट्रीय निगरानी स्वीकार करेगा और न ही वह परमाणु अप्रसार सन्धि पर दस्तखत करेगा। कार्टर की भारत यात्रा समाप्त होने के (जनवरी 1978) दो दिन बाद श्री देसाई ने अमरीकी सिटनेरों के एक प्रतिनिधि मण्डल को दो टूक शब्दों में कहा कि यदि भारत को परिशोधित यूरेनियम न मिला तो बहुत कठिनाई होगी। लेकिन वह इस कठिनाई को सत्याग्रह की भावना से झेलेगा तथा कुछ दूसरा प्रबन्ध भी करेगा। कुल मिलाकर यह स्पष्ट हो गया कि यदि 'सच्ची' गुट-निरपेक्षता का मतलब भारतीय परामाणु संयन्त्रों को अमरीकी निगरानी में रख देना लगाया जा रहा था तो ऐसी सच्ची गुट-निरपेक्षता को जनता सरकार ने ठुकरा दिया। जनता सरकार की इस दृढ़ता की प्रशंसा भारतीय साम्यवादी पार्टी ने भी की।

दूसरा परिवर्तन भारतीय विदेश नीति में उसके पड़ोसी देशों के प्रति सम्बन्धों में आया। पं० नेहरू के नेतृत्व में भारत की पड़ौसी देशों के साथ समस्याएँ उनके अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण उपागम से सुलझाने की आदत थी। यद्यपि श्रीमती गांधी ने उनके साथ सम्बन्ध मधुर करने में क्षेत्रीय दृष्टिकोण/उपागम का प्रयोग किया। फिर भी बंगला देश की मुक्ति और सिक्किम का भारत में विलय छोटे देशों के लिए चिन्ता का विषय बने। कुल मिलाकर श्रीमती गांधी के समय में पड़ोसी देशों के साथ समस्याएँ निपटाने में ध्यान केन्द्रित किया गया, किन्तु विदेश नीति के संचालन में अपेक्षाकृत कम खुलापन होने से इन देशों ने भूमि एवं जनसंख्या की दृष्टि से विशाल

भारत को सदैव शंका की दृष्टि से देखा। जनता सरकार की विदेश नीति में अपेक्षाकृत अधिक खुलापन होने से अब वे देश अपने रुख को बदलने लगे। नयी सरकार ने उदारतापूर्वक नेपाल के साथ तीन नयी सन्धियाँ कीं, बंगला देश के साथ फरक्का विवाद को सुलझाया, भारत के विदेश मन्त्री श्री वाजपेयी ने पाक यात्रा की तथा चीन के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध घनिष्ट करने की राजनीतिक इच्छा व्यवहार मे दिखाकर उन्हें प्रभावित किया।

श्री वाजपेयी ने चीन की यात्रा की। उनका कहना था कि इस यात्रा से भारत को चीन के विचार जानने का अवसर मिलेगा। किन्तु वाजपेयी की चीन की यात्रा की विफलता से जनता सरकार की विदेश नीति की आभा मद्धिम पड़ने लगी। चीन द्वारा वियतनाम पर आक्रमण कर देने से वाजपेयी को अपनी यात्रा बीच में ही भंग करनी पड़ी।

तीसरा परिवर्तन देश की विदेश नीति के निर्धारण एवं संचालन में प्रधान मन्त्री, विदेश मन्त्री तथा विदेश मन्त्रालय की नौकरशाही की भूमिका के सम्बन्ध में आया। विगत कांग्रेसी सरकारों के प्रधानमन्त्री विदेश मन्त्रालय की नौकरशाही से परामर्श कर हावी रहते थे तथा विदेश मन्त्री सदैव उनका मुँह ताका करते थे। जनता सरकार के अधीन प्रधानमन्त्री देसाई ने विदेश मन्त्री वाजपेयी को देश के वैदेशिक मामलों के नेतृत्व करने का पूर्ण अवसर दिया जो एक स्वस्थ परम्परा थी। संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के 32वें अधिवेशन में विदेश मन्त्री श्री वाजपेयी ही पहले भारतीय थे जो देश की राष्ट्र-भाषा हिन्दी में बोले।

इस प्रकार भारतीय विदेश नीति की विषय-वस्तु में कोई आधारभूत अन्तर नहीं आया। जनता सरकार की आचरण शैली में भिन्नता होने के कारण देश की विदेश नीति की विषय-वस्तु अधिक प्रभावशाली एवं अर्थपूर्ण बनी। पड़ोसी देशों तथा विश्व की दृष्टि में भारत की छवि निखरी। वैदेशिक मामलों में जनता सरकार की यही सबसे बड़ी विशिष्ट सफलता है।

भारतीय विदेश नीति : इन्दिरा युग (1980 से 1984)
(INDIAN FOREIGN POLICY : INDIRA ERA, 1980-1984)

जनवरी 1980 में श्रीमती इन्दिरा गाँधी पुनः प्रधानमन्त्री पद पर आसीन हुईं। इसके बाद 31 अक्टूबर, 1984 तक (श्रीमती गाँधी की हत्या) भारतीय विदेश नीति के प्रमुख आयाम निम्नलिखित हैं :

1. **अफगानिस्तान संकट पर भारतीय दृष्टिकोण**—अफगानिस्तान मे सोवियत संघ के हस्तक्षेप ने शीत-युद्ध हमारे बहुत समीप ला दिया। श्रीमती गाँधी ने चुनाव जीतने के तुरन्त बाद संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत के प्रतिनिधि को अफगान समस्या के सन्दर्भ में जो निर्देश दिये वे इस प्रकार हैं—(1) सोवियत संघ ने अफगानिस्तान सरकार के आग्रह पर अपनी सैनिक टुकड़ी भेजी है। (2) भारत किसी भी देश में बाहरी सेना की उपस्थिति को अनुचित मानता है। (3) सोवियत संघ ने भारत को आश्वासन दिया है कि अफगानिस्तान सरकार के आग्रह पर उनके सैनिक वापस बुला लिये जायेंगे। भारत को सोवियत संघ द्वारा दिये गये आश्वासन पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है। (4) भारत यह आशा करता है कि सोवियत संघ अफगानिस्तान की स्वतन्त्रता का उल्लंघन नहीं करेगा एवं सोवियत सैनिक आवश्यकता से अधिक एक भी दिन अफगानिस्तान में नहीं रहेंगे। (5) भारत अफगानिस्तान में अशान्ति एवं बिखराव फैलाने वाली बाहरी शक्तियों के कार्य का विरोध करता है। (6) अफगानिस्तान के निकट के क्षेत्र में (अर्थात् पाकिस्तान में) सैनिक अड्डों की स्थापना एवं भारी मात्रा में सैनिक सामान पहुँचने से भारत की सुरक्षा के लिए गम्भीर खतरा उत्पन्न हो गया है।

सोवियत संघ से परम्परागत मैत्री के सन्दर्भ में भारत ने अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप का विरोध करने में बहुत संयम से काम लिया है। भारत यह कैसे भूल सकता है कि

अमरीका 1950 से लगातार आज तक पाकिस्तान का सैन्यीकरण कर रहा है तथा चीन भी 1950 से पाकिस्तान को सामग्री पहुँचा रहा है। 1971 में बंगला देश के निर्माण के बाद चीन तथा अमरीका बहुत निकट आ गये हैं। भारत चाहता है कि सोवियत सैनिक अफगानिस्तान से वापस चले जायें किन्तु भारत यह भी नहीं चाहता कि अमरीका पाकिस्तान को अफगानिस्तान एवं सोवियत संघ की ओर से आक्रमण का भय दिखाकर बहुत अधिक मात्रा में सैनिक सामान पाकिस्तान में एकत्रित करे।

2. **कम्पूचिया की हेंग सामरिन सरकार को मान्यता**—भारत ने 1980 में कम्पूचिया की हेंग सामरिन सरकार को मान्यता दे दी। स्मरणीय है कि कम्पूचिया को कूटनीतिक मान्यता देने के लिए भारत की यह कहकर आलोचना की गयी थी कि भारत का उक्त कदम सोवियत संघ को अनुचित समर्थन देने की दृष्टि से उठाया गया था।

3. **सातवें गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन का आयोजन**—मार्च 1983 में नयी दिल्ली में 7वें गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन का सफल आयोजन किया गया। श्रीमती इन्दिरा गाँधी तीन वर्ष के लिए गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की अध्यक्ष निर्वाचित हुईं। इससे न केवल तीसरी दुनिया के देशों में अपितु विश्व-व्यापी स्तर पर भारतीय विदेश नीति के नये आयाम उद्घाटित हुए।

4. **एशियाई खेलों का सफल आयोजन**—भारत ने नवम्बर 1982 में नयी दिल्ली में एशियाई खेलों का सफल और शानदार आयोजन करके एशियाई देशों में भारतीय क्षमता और आत्मविश्वास का नया प्रभाव छोड़ा। खेलों के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विकास का भारतीय विदेश नीति में यह एक नवीन तत्व है।

5. **भारत-चीन सम्बन्ध**—जनवरी 1981 से भारत तथा चीन के मध्य उच्च-स्तरीय वार्ता का क्रम प्रारम्भ हुआ ताकि आपसी हित की समस्याओं का निदान निकाला जा सके। प्रधानमन्त्री श्रीमती गाँधी ने सेलेसबरी तथा बेलग्रेड में चीनी नेताओं से आपसी हितों के प्रश्न पर चर्चा प्रारम्भ की थी। जनवादी चीन के उप-प्रधानमन्त्री एवं विदेशमन्त्री हुआंग हुआ ने 26 जून से 30 जून, 1981 तक भारत की यात्रा की। 28 जनवरी, 1983 को भारत का एक उच्चस्तरीय प्रतिनिधिमण्डल कूटनीतिक वार्ता के लिए चीन गया।

चीन के साथ सीमा-विवाद पर वार्ता के दौर होने के बाद भारत यह महसूस करने लगा कि यदि बातचीत में कोई सफलता नहीं मिलती है तो राजनीतिक स्तर पर दोनों देशों की बैठकें आयोजित की जायें। यद्यपि इस सम्बन्ध में कोई औपचारिक सुझाव नहीं दिया गया किन्तु भारत सरकार यह निष्कर्ष अवश्य निकाल चुकी थी कि अधिकारी स्तर की फलहीन वार्ता की शृंखला से कुछ भी परिणाम नहीं निकलेगा। वार्ता में भाग लेने वाले भारतीय अधिकारियों ने भारत सरकार को यह बता दिया कि दोनों देशों के अधिकारियों की वार्ता के तीन दौर हो जाने के बाद विदेश मन्त्रालय यह स्वीकार करने में नहीं हिचकिचाता कि अभी तक वार्ता की प्रगति नगण्य ही रही है।

भारत-चीन अधिकारी स्तर की प्रथम वार्ता बीजिंग में, द्वितीय वार्ता नयी दिल्ली में तथा तीसरी वार्ता पुनः बीजिंग में हुई थी। दोनों पक्ष वार्ता का सतही आधार ले रहे थे। चीनी अधिकारी केवल पैकेज समझौते की बातचीत के परे नहीं जा पाये तथा उन्होंने इन समझौतों का आवरण हटाने का प्रयास भी नहीं किया।

6. **भारत-अमरीकी सम्बन्ध**—25 जुलाई, 1982 को श्रीमती गाँधी अमरीकी की 9-दिवसीय यात्रा पर नयी दिल्ली से वाशिंगटन के लिए रवाना हुईं। यह यात्रा राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन के निमन्त्रण पर की गयी। इससे पूर्व केनकुन सम्मेलन में श्रीमती गाँधी श्री रीगन से मिल चुकी थीं। उल्लेखनीय है कि यह यात्रा श्रीमती गाँधी ने 11 वर्ष के अन्तराल के बाद की। इस

लम्बी यात्रा से भारत व अमरीका के आपसी सम्बन्ध स्थिर व लाभदायी हुए। दोनों देशों के प्रेक्षकों का मत था कि श्रीमती गांधी के दौरे से दोनों पक्षों को एक-दूसरे को समझने व गलत-फहमियों को दूर करने का मौका मिला। ऐसा कहा जाता है कि श्रीमती गांधी अमरीका, तारापुर के लिए परमाणु ईंधन एवं विश्व मुद्रा कोष से ऋण प्राप्त करने के मामलों में उसके विरोध को समाप्त करने वाशिंगटन गयी थीं और इन दोनों बातों में उन्हें सफलता मिली।

7. **लन्दन में भारत महोत्सव**—1982 में लन्दन में भारत उत्सव (8 मार्च, 1982 से शुरू) हुआ। आठ महीने की लम्बी अवधि तक चलने वाले इस अनोखे उत्सव पर भारत व ब्रिटेन की सरकारों और अनेक अन्य संस्थाओं के लगभग सवा चार करोड़ रुपये खर्च हुए। श्रीमती गांधी की लगभग एक सप्ताह की ब्रिटेन की यात्रा प्रमुखतः सांस्कृतिक उद्देश्यों के लिए घोषित की की गयी थी। इस उत्सव के माध्यम से भारतीय संस्कृति एवं कला का दिग्दर्शन कराया गया। 14 नवम्बर को भारत महोत्सव की समाप्ति पर ब्रितानी प्रधानमन्त्री श्रीमती मारग्रेट थैचर ने कहा, "इस महोत्सव की अनन्यतम प्रदर्शनियों और सांस्कृतिक कार्यक्रमों से भारत और ब्रिटेन अधिक नजदीक आये है।"

8. **भारत और फ्रांस में यूरेनियम की सप्लाई पर समझौता**—27 नवम्बर, 1982 को फ्रांस के राष्ट्रपति मित्तरां भारत की चार-दिवसीय यात्रा पर आये। उन्होंने भारतीय नेताओं से आपसी हितों के मामलों पर लम्बी बातचीत की। इन बातचीतों के परिणामस्वरूप आपसी सहयोग के विस्तार तथा तारपुर पर समझौता हो गया। फ्रांस की सरकार ने तारापुर परमाणु बिजलीघर की पूरी क्षमता से संचालन के लिए हल्के परिष्कृत यूरेनियम की सप्लाई शीघ्र ही शुरू करना मंजूर कर लिया। समझौते के अन्तर्गत फ्रांस से प्राप्त यूरेनियम ईंधन के उपयोग के बाद पुनः शोधन का भारत को पूरा अधिकार हो गया। इस प्रकार से तारापुर के लिए ईंधन की सप्लाई पर बहु-चर्चित विवाद समाप्त हो गया है। इस समझौते के परिणामस्वरूप अब तारापुर संयन्त्र पूरी क्षमता से कार्य कर सकेगा।

9. **राष्ट्रकुल सम्मेलन**—नवम्बर 1983 में नयी दिल्ली में राष्ट्रकुल सम्मेलन का आयोजन हुआ। इसमें 48 देशों ने भाग लिया। लगभग 97 करोड़ की जनसंख्या वाला यह राष्ट्रकुल विश्व की एक-चौथाई मानवता का संगठन है, जो उसके चौथाई भू-भाग पर रहते हैं और उनमें आपस आपस में विश्व का चौथाई व्यापार होता है।

सातवाँ गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन : विदेश नीति की महत्वपूर्ण उपलब्धि
(THE SEVENTH NON-ALIGNED CONFERENCE : THE ACHIEVEMENT OF FOREIGN POLICY)

भारत को जितनी प्रतिष्ठा निर्गुट शिखर सम्मेलन के आयोजन (7-12 मार्च, 1983 : नयी दिल्ली) से मिली उतनी निकट अतीत में किसी अन्य घटना से नहीं मिली। गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन की बदौलत भारत की छवि पहले से कहीं अधिक तेजस्वी हो गयी और उसमें भाग लेने वाले 101 राष्ट्रों की ही नही, बल्कि विश्व के समस्त देशों की यह आकांक्षा जाग गयी कि भारत विश्व शान्ति, सौहार्द्र और सद्भावना बढ़ाने की दिशा में सक्रिय रहेगा और गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के माध्यम से संसार के गति चक्र का थोड़ा-बहुत दिशा-दर्शन भी कर सकेगा। श्रीमती गांधी विश्व की महान नेता के रूप में फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन के यासिर अराफात के शब्दों में "हमारी नेता—गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की नेता" उभरकर सामने आयी। बहुत-से विदेशी विशेषज्ञ मानते हैं कि इस सम्मेलन से भारतीय विदेश नीति के सन्दर्भ सकारात्मक परिणाम निकलेंगे। कई प्रेक्षक यह भी मानते हैं कि नेहरू के बाद पहली बार भारत क्षेत्रीय स्तर से निकलकर विश्व स्तर पर आ गया क्योंकि श्रीमती गांधी इतने बड़े आन्दोलन की नेता चुनी गयीं और संयुक्त राष्ट्र महासभा में आन्दोलन का प्रतिनिधित्व करेंगी।

भारतीय विदेश नीति : राजीव गाँधी युग (अक्टूबर 1984 से)

श्रीमती इन्दिरा गाँधी के वाद श्री राजीव गाँधी नये प्रधानमन्त्री निर्वाचित हुए। राजीव गाँधी का 22वीं सदी का आह्वान तथा आधुनिकता की ओर रुझान में परम्परागत भारतीय नीति में परिवर्तन के वीज दिखायी दे रहे थे। मोटे रूप से राजीव गाँधी की विदेश नीति में चार वातों पर विशेष जोर दिया गया—निःशस्त्रीकरण (Disarmament), उपनिपेशवाद उन्मूलन (Dicolonisation), विकास (Development), तथा शान्ति की कूटनीति (Diplomacy of Peace)। ये चारों ही शब्द अंग्रेजी वर्णमाला के अक्षर 'डी' से शुरू होते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि राजीव गाँधी की विदेश नीति की नवीन दिशाएँ मुख्यतः '4 डी' के समन्वित कार्यक्रम पर आधारित थीं।

श्री राजीव गाँधी के नेतृत्व में भारतीय विदेश नीति को निम्नलिखित विन्दुओं के परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है।

1. **निःशस्त्रीकरण और परमाणु बम**—राजीव गाँधी ने राष्ट्र के नाम पहले प्रसारण में परमाणु युद्ध खतरे को वर्तमान समय की 'सवसे वड़ी चुनौती' वताया। जनवरी 1985 में निःशस्त्रीकरण की वर्तमान समस्याओं पर विचार करने के लिए छः राज्यों (भारत, अर्जेण्टाइना, स्वीडन, यूनान, मैक्सिको और तंजानिया) का शिखर सम्मेलन नयी दिल्ली में सयोजित किया जिसमें परमाणु अस्त्रों को सदा के लिए खत्म कर देने की सिफारिश की गयी। अमरीकी कांग्रेस में भाषण करते हुए उन्होंने युद्ध मुक्त अन्तरिक्ष की वात कही। पाकिस्तान द्वारा निर्मित परमाणु योजना के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने कहा कि "भारत के पास पिछले 10 वर्षों से परमाणु वम वनाने की क्षमता है, लेकिन हमने अपने सिद्धान्तों के कारण ही वम के विकास की दिशा में कोई काम नहीं किया है।"

2. **राष्ट्रमण्डल**—16 से 21 अक्टूवर तक वहामा में राष्ट्रकुल देशों के राष्ट्राध्यक्षों के सम्मेलन में श्री गाँधी ने भाग लिया। सम्मेलन में वोलते हुए श्री गाँधी ने राष्ट्रकुल के अपने सहयोगियों से अपील की कि वे द० अफ्रीका से रंगभेद प्रणाली उखाड़ फेंकने का जोरदार अभियान चलायें।

3. **संयुक्त राष्ट्र संघ**—संयुक्त राष्ट्र की 40वीं वर्षगाँठ पर भाषण करते हुए राजीव गाँधी ने मुख्यतः तीन मुद्दों की चर्चा की—सैन्य प्रतिस्पर्द्धा, विकासशील देशों में वढ़ता आर्थिक संकट, दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद व नामीविया की स्वतन्त्रता।

4. **भारत-जापान सम्वन्ध**—28 नवम्वर, 1985 को श्री राजीव गाँधी जापान पहुँचे जहाँ उन्होंने प्रधानमन्त्री नाकासोने से भेंट की। जापान 30 अरव येन अर्थात् लगभग 160 करोड़ रुपये का ऋण भारत को देगा। इस राशि का उपयोग असम में टर्वाइन टेक्नालॉजी से द्वारा गैस विद्युत पैदा करने में किया जायेगा। भारत और जापान ने विज्ञान प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में व्यापक सहयोग पर एक समझौता किया जिससे प्रौद्योगिकी के हस्तान्तरण का मार्ग प्रशस्त हुआ। अप्रैल 1988 में भी भारत के प्रधानमन्त्री ने जापान की यात्रा की और आर्थिक क्षेत्र में भारत-जापान सहयोग बढ़ाने की इच्छा प्रकट की।

5. **पड़ौसी देश**—श्री राजीव गाँधी ने एक वर्ष की अल्पावधि में चीन के प्रधानमन्त्री झियाँ झियांग, पाक राष्ट्रपति जनरल जिया और वंगला देश के राष्ट्रपति जनरल इरशाद से मुलाकात की। वंगला देश में आये भीषण तूफान के दौरान वे मई 1985 में स्वयं ढाका पहुँचे। अक्टूवर 1985 में भारत और वंगला देश के वीच गंगा नदी के पानी के वँटवारे को लेकर नसाऊ में एक समझौता हुआ। 16 दिसम्वर, 1985 को पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल जिया भारत आये और दोनों के मध्य एक छः-सूत्री समझौता हुआ जिसमें तय किया गया कि वे एक-दूसरे के परमाणु ठिकानों पर हमला नहीं करेंगे। 4 नवम्वर, 1985 को नई दिल्ली में भारत व चीन के वीच छठे दौर

की वार्ता सम्पन्न हुई। श्रीलंका की तमिल समस्या के समाधान में थिम्पू वार्ता के माध्यम से भारत ने राजनयिक सहयोग प्रदान किया। 29 जुलाई, 1987 को कोलम्वो में राजीव-जयवर्द्धने समझौता हुआ। यह समझौता श्रीलंका में वर्षों से चली आ रही तमिल समस्या का समाधान करता है। समझौते के तहत श्रीलंका में भारतीय शान्ति सेना भेजी गयी।

6. **निर्गुट आन्दोलन**—श्रीमती गांधी की मृत्यु के वाद राजीव गांधी गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के अध्यक्ष वने और अगस्त 1986 तक वे निर्गुट आन्दोलन का नेतृत्व करते रहे। उन्हीं की प्रेरणा से नवम्वर 1985 में नई दिल्ली में गुट-निरपेक्ष युवा सम्मेलन सम्पन्न हुआ।

7. **सार्क**—अपने प्रथम प्रसारण में भारतीय विदेश नीति पर इंगित करते हुए राजीव गांधी ने दक्षिण एशिया का अलग से उल्लेख किया। 'सार्क' के वनने में उनकी भूमिका प्रशंसनीय है। राजीव गांधी ने उपमहाद्वीप के दूसरे देशों में भारत के रवैये को लेकर विश्वास पैदा किया। उनके अनुसार सहयोग के इस नये मंच से दक्षिण एशिया को शान्ति और विकास का क्षेत्र वनाने में मदद मिलेगी।

8. **महाशक्तियाँ**—14 अक्टूवर, 1985 को राजीव गांधी ब्रिटेन की यात्रा पर पहुँचे। इस यात्रा की सवसे उल्लेखनीय वात यह थी कि श्रीमती थ्रेचर पुरानी परम्पराओं को तोड़ते हुए श्री गांधी की आगवानी करने स्वयं हवाई अड्डे पर आयीं। 21 अक्टूवर को श्री गांधी ने हवाना में क्यूवा के राष्ट्रपति फिडेल कास्त्रो से भेंट की। 24 अक्टूवर को श्री गांधी न्यूयार्क से एक दिन की हालैण्ड यात्रा पर हेग पहुँचे। 26 अक्टूवर, 1985 को श्री गांधी एम्सटर्डम से सीधे नई दिल्ली न लौटकर सोवियत संघ की राजधानी मास्को पहुँचे। प्रधानमन्त्री का यह अचानक मास्को जाना देश-विदेश में अटकलों का वाजार गर्म कर गया। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की शतरंज को ठीक से समझने वाले जानते हैं कि दो-दो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों से लौटने के वाद खासतौर पर संयुक्त राष्ट्र संघ में रेगन की अड़ियल निराशाजनक वातचीत और महासभा में दिये गये उनके भाषण के वाद मास्को अपने एक मित्र देश भारत की प्रतिक्रिया जानने को उत्सुक था। रेगन से वातचीत के वाद जव यह यह स्पष्ट हो गया कि अमरीका पाकिस्तान के परमाणु कार्यक्रम के माध्यम से ब्लेकमेल करना चाहता है तो ऐसे वक्त में भारत का सोवियत संघ से विचार-विमर्श करना एक कूटनीतिक दाँवपेच ही कहा जायेगा। वस्तुतः राजीव गांधी ने समस्याओं को समझकर तुरन्त समाधान करने की अपनी आदत का उदाहरण ही पेश किया। राजीव गांधी ने रेगन को उनकी हर हरकत का जवाव कूटनीतिक दृष्टि से दिया है।

राजीव गांधी के राजनय की विशेषता थी—अधिक से अधिक टकराव के विन्दुओं को टालने का प्रयत्न। उस समय भले ही रेगन सरकार भारत की अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों से उतनी ही असहमत थी जितनी कि वह इन्दिरा गांधी की नीतियों से थी, फिर भी प्रत्यक्ष रूप से वह टकराव की स्थिति में नहीं आयी। इसी प्रकार दक्षिणी अफ्रीका के मामले में यद्यपि भारत ने अपनी चिरपरिचित विरोधी नीति को ही दोहराया है, फिर भी इसमें व्यावहारिकता के अनेक विन्दु दिखायी देते हैं। उदाहरण के लिए, वहामा में राष्ट्रकुल सम्मेलन में दक्षिण अफ्रीका के सिलसिले में जो प्रस्ताव पारित हुए उसमें उग्रवादी अफ्रीकी देशों और नरम नीति वाले देशों के वीच सामंजस्य स्थापित करने का काम प्रधानमन्त्री राजीव गांधी ने किया।

राष्ट्रीय प्राथमिकताओं और क्षेत्रीय प्राथमिकता को लगभग समान धरातल पर लाने का भी प्रधानमन्त्री ने प्रयास किया है। यह कल्पना करना अव्यावहारिक होगा कि भारत अपने निकट पड़ोसियों के साथ सम्वन्ध विना सुधारे सार्वभौमिक मामले में क्षेत्रीय तालमेल का सफल नेतृत्व कर सकेगा। इसलिए अपने निकट के पड़ोसियों के साथ लगातार सम्वन्ध सुधारने का अभियान सत्ता में आने के वाद से तुरन्त चालू किया गया।

राजीव की नीति में स्पष्टवादिता का पुट अधिक था। अफगानिस्तान के बारे में उन्होंने कहा कि भारत 'हस्तक्षेप' और अड़ंगेबाजी दोनों के खिलाफ है। वाशिंगटन को भी संकेत दिया गया कि वह परमाणु बम के बारे में पाकिस्तान के साथ कड़ाई से पेश आये।

भारतीय विदेश नीति : वी० पी० युग (दिसम्बर 1989 से)
(INDIAN FOREIGN POLICY : V. P. EAR FROM DECMBER 1989)

राष्ट्रीय मोर्चे के नेता निर्वाचित होने के बाद राष्ट्रपति ने 2 दिसम्बर, 1989 को श्री वी० पी० सिंह को भारत के सातवें प्रधानमन्त्री की शपथ दिलायी। श्री वी० पी० सिंह राजीव सरकार में वित्त एवं रक्षा मन्त्री जैसे पदों पर कार्य कर चुके थे। उन्होंने श्री इन्द्रकुमार गुजराल को विदेश मन्त्री नियुक्त किया। श्री गुजराज श्रीमती इंदिरा गांधी के समय सोवियत संघ में भारत के राजदूत रह चुके हैं। श्री गुजराल की नियुक्ति से स्पष्ट हो गया कि राष्ट्रीय मोर्चा सरकार की विदेश नीति क्या होगी।

अपनी प्राथमिकताओं के बारे में श्री गुजराल कहते हैं : "हमारी पार्टी के घोषणापत्र मे श्रीलंका और नेपाल जैसे पड़ौसी देशों से रिश्ते सुधारने पर जोर दिया गया है, इस मामले मे हमें कुछ परिस्थितियाँ विरासत में मिली है, हम इतिहास को उलट नहीं सकते .... हम चाहते हैं कि पाकिस्तान से हमारे रिश्ते गर्मजोशी वाले हों, चीन से भी रिश्ते सुधारने की पर्याप्त सम्भावनाएँ हैं, फिर हम अफगानिस्तान को स्वतन्त्र लोकतांत्रिक और निर्गुट राष्ट्र के रूप में देखना चाहते हैं .... सोवियत संघ हमारा भरोसेमन्द दोस्त रहा है, अमेरिका से भी रिश्ते सुधारने के लिए हम अपने दरवाजे खोलना चाहेंगे।"

वी० पी० की विदेश नीति के स्वरूप का संकेत 20 दिसम्बर 1989 को राष्ट्रपति के अभिभाषण में मिलता है जिसमें कहा गया है—1. भारत गुटनिरपेक्ष नीति पर चलना रहेगा; 2. वह फिलिस्तीनी लोगों के अधिकारों का समर्थक है; 3. भारत महाशक्तियों के साथ सम्बन्धों को मजबूत बनायेगा; 4. पड़ौसी राज्यों से सम्बन्धों को सुधारेगा; 5. चीन के साथ सम्बन्ध सुधारने की जो प्रक्रिया आरम्भ हुई है, वह जारी रहेगी।

भारत और उसके पड़ौसी
(INDIA AND HER NEIGHBOURS)

भारत के लिए आज सबसे बड़ी चुनौती पड़ौसियों के बिगड़े तेवर सुधारने की है। चीन से सम्बन्धों के सामान्यीकरण का दारोमदार सीमा विवाद के हल पर अधिक निर्भर है। पाकिस्तानी परमाणविक कार्यक्रम तथा अमरीका द्वारा दी जाने वाली शस्त्र सहायता चिन्ता का मामला है। इसे विडम्बना ही समझा जा सकता है कि आज पाकिस्तान और बंगला देश के पारस्परिक सम्बन्ध भारत-बंगला देश सम्बन्धों की अपेक्षा मधुर हैं। श्रीलंका के तेवर चढ़े हुए हैं और हर बार रियायतें देने के बावजूद नेपाल की ओर से भारत को आक्रामक राजनय बर्दाश्त करनी पड़ती है।

भारत-पाकिस्तान सम्बन्ध
(INDO-PAK RELATIONS)

एशिया महाद्वीप में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की समाप्ति के साथ एक नये संघर्ष की शुरूआत हुई जिसके परिणामस्वरूप इस क्षेत्र से 'शान्ति' शब्द का लोप ही हो गया। यह संघर्ष है दो पड़ौसी देशों का संघर्ष—जिसे भारत-पाक संघर्ष के नाम से जाना जाता है। भारत विभाजन के समय की घृणा और अविश्वास ने दोनों ही देशों को आज तक युद्ध की तैयारी में लगाये रखा। प्रारम्भ से ही दोनों देशों की सेनाएँ एक-दूसरे के आमने-सामने न केवल तैनात रहीं अपितु तीन बड़े युद्ध हुए और एक छोटी-सी चिनगारी से किसी भी दिन चौथा युद्ध शुरू हो जाये तो आश्चर्य नहीं। पाकिस्तान की विदेश नीति का आधार भारत विरोध रहा है। पाकिस्तान मुस्लिम लीग की हिन्दुओं के प्रति घृणा की नीति का फल है। इसलिए पाकिस्तान के शासकों के लिए यह आवश्यक

हो गया कि वे भारत विरोध की नीति अपनायें क्योंकि यदि वे ऐसा नहीं करते हैं तो उसके जन्म का आधार ही नष्ट हो जाता है। कश्मीर का प्रश्न इस नीति की प्रमुख अभिव्यक्ति है। कश्मीर को प्राप्त करने के लिए कभी अमरीका और ब्रिटेन का पिछलग्गू बने रहने की नीति तो कभी चीन की चापलूसी यही संकेत देती है कि उसका भारत विरोध हमेशा बना रहेगा।

भारत-पाक संघर्ष की प्रकृति को सही रूप से समझने के लिए भारत विभाजन में निहित तथ्यों का वस्तुनिष्ठ अध्ययन अपरिहार्य है। विभाजन की घटना ने दो समुदायों के बीच घृणा, अविश्वास और वैमनस्य को क्रूरतर ढंग से उजागर किया है। विभाजन के बाद सभी समस्याओं के स्वतः ही सुलझ जाने का सपना देखने वालों ने जब वास्तविकता पर नजर दौड़ाई तो उन्हें घोर निराशा हुई। पाकिस्तान के जन्म से समस्याएँ सुलझने की अपेक्षा अधिक उलझ गयीं और इस महाद्वीप में नये संघर्ष का सूत्रपात हुआ जो अपनी प्रकृति से कहीं अधिक गहरा और पेचीदा था। कुलदीप नैय्यर के शब्दों में, "विभाजन के लिए आप किसी को भी दोषी ठहरायें वास्तविकता यह है कि इस पागलपन ने दो समुदायों और दो देशों के बीच दो पीढ़ियों से भी अधिक समय तक के लिए सम्बन्धों में कड़वाहट उत्पन्न कर दी। दोनों देशों में हर विषय और हर कदम पर मतभेद बढ़ता गया और छोटी से छोटी बात ने बड़े विवाद का रूप धारण कर लिया।" माइकल ब्रेशर ने ठीक ही लिखा है, "भारत और पाकिस्तान हमेशा अघोषित युद्ध की स्थिति में रहे है।" भारत-पाक सम्बन्धों की चर्चा करते हुए पं० नेहरू ने भारतीय संसद में स्पष्ट कहा कि, "लोगों में यह भ्रान्तिपूर्ण धारणा है कि कश्मीर विवाद ही दोनों देशों के संघर्ष का कारण है। ..... हमारी मूलभूत विचारधारा ही भिन्न है। हम धर्मनिरपेक्षवाद में विश्वास करते हैं किन्तु पाकिस्तान इस्लामवाद और द्विराष्ट्र सिद्धान्त में विश्वास करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार कश्मीर में मुसलमानों का बहुमत पाकिस्तान के लिए एक असहनीय तथ्य है। भारत के प्रति शत्रुता का विचार पाकिस्तान की धार्मिक राजनीति का एक अनिवार्य अंग बन गया है।"

भारत-पाक सम्बन्धों को प्रभावित करने वाली समस्याएँ
(PROBLEMS OR ISSUES CREATING INDO-PAK DISCORD)

भारत-पाक सम्बन्धों को प्रभावित करने वाली समस्याएँ मुख्यतः तीन प्रकार की है—

1. विभाजन से उत्पन्न होने वाली समस्याएँ,

2. भारत विरोधी नीति अर्थात 'जिहाद' (धार्मिक युद्ध) की नीति से उत्पन्न होने वाली समस्याएँ,

3. पाकिस्तान की सीटो, सेण्टों की सदस्यता तथा भारत की किलेबन्दी से उत्पन्न होने वाली समस्या।

1. विभाजन से उत्पन्न होने वाली समस्याएँ

भारतीय नेताओं को आशा थी कि देश के विभाजन से शान्ति और आपसी मेल-जोल को बढ़ावा मिलेगा और देश शान्ति, सद्भावना और सहयोग के वातावरण में आर्थिक विकास के लम्बे और कठिन कार्य में जुट जायेंगे। लेकिन पाकिस्तान के जन्म के साथ ही कुछ ऐसी समस्याएँ उत्पन्न हो गयीं, जिनके कारण प्रारम्भ से ही दोनों देशों के मध्य सम्बन्धों में कटुता आ गयी। ये समस्याएँ थीं : 1. हैदराबाद विवाद; 2. जूनागढ़ विवाद; 3. ऋण की अदायगी का प्रश्न; 4. नहरी पानी विवाद; 5. शरणार्थियों का प्रश्न; और 6. कश्मीर विवाद।

1. हैदराबाद विवाद

हैदराबाद भौगोलिक दृष्टि से भारत के अन्तर्गत ही मिल सकता था। रियासत के निजाम का रवैया बहुत ही अस्पष्ट और अनिश्चयात्मक था। पाकिस्तान ने हैदराबाद को एक भ्रम में रखा कि मुसीबत के समय वह उसके साथ है। हैदराबाद का निजाम एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये जाने का स्वप्न सँजोये था। किन्तु भ्रम बनाये रखने के लिए वह भारत के साथ विलय की बात-

चौथ भी करता रहा। निजाम का मूल लक्ष्य दक्षिणी भारत में मुस्लिम वर्चस्व स्थापित करना था। पाकिस्तान के सहयोग और निजाम के आशीर्वाद से रज़ाकारों ने मारकाट, लूटमार और हत्याओं के माध्यम से इस क्षेत्र में भयावह स्थिति उत्पन्न कर दी। परिणामस्वरूप भारत को सैनिक कार्यवाही करनी पड़ी। हैदराबाद रियासत को भारत में मिला लिया गया और निजाम को 50 लाख रुपये प्रिवीपर्स के रूप में देना तय किया। पाकिस्तान ने इस प्रश्न को तीनवार संयुक्त राष्ट्र संघ में उठाया किन्तु अमरीका के सिवाय उसमें किसी ने भी दिलचस्पी नहीं ली।

2. जूनागढ़ विवाद

जूनागढ़ काठियावाड़ की एक छोटी सी रियासत थी, जिसका शासक मुस्लिम था। उसने रियासत को पाकिस्तान में सम्मिलित करने की घोषणा कर दी और पाकिस्तान ने उसका सम्मिलन स्वीकार कर लिया जबकि वहाँ की अधिकांश जनसंख्या हिन्दू थी। रियासत की जनता ने नवाब को पाकिस्तान भागने के लिए बाध्य कर दिया और नवम्बर 1947 में मुस्लिम दीवान को बाध्य होकर भारत सरकार को हस्तक्षेप के लिए आमन्त्रित करना पड़ा। लोगों की इच्छा को ध्यान में रखते हुए जनमत संग्रह के बाद जूनागढ़ भारत में सम्मिलित कर लिया गया। पाकिस्तान ने जूनागढ़ के मसले को लेकर भारत विरोधी प्रचार प्रारम्भ किया।

3. ऋण की अदायगी का प्रश्न

विभाजन के उपरान्त भारत और पाकिस्तान के बीच कई आर्थिक समस्याएँ थीं। दोनों देशों के बीच आमदनी और कर्ज का बँटवारा एवं लागत धन के बीच सन्तोषजनक बँटवारा करना था। मुद्रा के सम्बन्ध में निर्णय लेना था। व्यापारिक सम्बन्ध में तनातनी शुरू हुई क्योंकि पाकिस्तान ने तुरन्त ही जूट के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया। आर्थिक समस्याओं में सबसे कठिन विस्थापितों की सम्पत्ति की समस्या थी। जो हिन्दू शरणार्थी पाकिस्तान में अपनी सम्पत्ति छोड़कर आये थे उसका मूल्य 3 हजार करोड़ था जबकि जो मुसलमान भारत में अपनी सम्पत्ति छोड़कर गये थे उसका मूल्य 300 करोड़ था। 1950 में नेहरू-लियाकतअली समझौते द्वारा इस समस्या का समाधान किया गया।

विभाजन के बाद भारत और पाकिस्तान दोनों सरकारों में दायित्व और लेनदारी को समान अनुपात में बाँटा जाना चाहिए था परन्तु सौजन्यवश भारत सरकार ने ब्रिटिश सरकार के सारे ऋण भार को स्वीकार किया। इसके उपलक्ष में भारत को 300 करोड़ रुपया प्रतिवर्ष पाकिस्तान सरकार से मिलना था और यह 5 वर्ष बाद दिया जाना तय हुआ। परन्तु पाकिस्तान सरकार इस ऋण को देने में टालमटोल करने लगी। दूसरी तरफ भारत को 55 करोड़ रुपया रक्षा संग्रह का पाकिस्तान को देना था। गाँधीजी ने दोनों देशों में मधुर सम्बन्ध बनाने हेतु यह रुपया भारत सरकार से पाकिनस्तान को दिलवा दिया जबकि नेहरू और पटेल का मत था कि यह रुपया पाकिस्तान को नहीं दिया जाना चाहिए। उस समय कश्मीर में युद्ध चल रहा था और नेहरू व पटेल का विचार था कि इस धन का उपयोग पाकिस्तान और अधिक हथियार खरीदकर युद्ध को तेज करने के लिए करेगा।

4. नहरी पानी विवाद

पंजाब के राजनीतिक विभाजन के कारण यह नहरी पानी विवाद उठ खड़ा हुआ। ये नहरें आर्थिक दृष्टिकोण से उस समय बनायी गयी थीं जब विभाजन का विचार तक किसी के मस्तिष्क में न था। विभाजन के कारण नहरों के पानी का असुन्तलित विभाजन हो गया। पंजाब की पाँच नदियों में सतलज और रावी दोनों देशों के मध्य से बहती हैं। झेलम और चिनाब पाकिस्तान के मध्य से और व्यास पूर्णतया भारत में बहती है। परन्तु भारत के नियन्त्रण में वे तीनों मुख्यालय आ गये जिनसे दोनों देशों की नहरों को पानी की पूर्ति की जाती थी। पाकिस्तान का पंजाब और

सिन्ध प्रदेश सिंचाई के लिए इन नहरों पर ही आश्रित है। पाकिस्तान को यह आशंका प्रारम्भ से ही हो गयी थी कि भारत जब चाहे पानी बन्द करके उसकी जनता को भूखा मार सकता है। अतएव विभाजन के तुरन्त पश्चात् से ही नहरी पानी को लेकर दोनों देशों में विवाद उत्पन्न हो गया।

1949 में एक अमरीकी विशेषज्ञ डेविड लिलियेन्थल ने इस समस्या को राजनीतिक स्तर से हटाकर टेकनिकल एवं व्यापारिक स्तर पर सुलझाने की सलाह दी और इसके लिए विश्व बैंक (World Bank) से मदद लेने की सिफारिश की। सितम्बर 1951 में इस बैंक के अध्यक्ष यूजीन ब्लेक ने मध्यस्थता करना स्वीकार कर लिया। यूजीन ब्लेक और उसके बाद मि० इलिक के सहयोग से वर्षों तक बात चलने के उपरान्त 19 सितम्बर, 1960 को भारत और पाकिस्तान के बीच जल के प्रश्न पर एक समझौता हो गया। इसको 1960 का सिन्धु-जल सन्धि (Indus Water Treaty) कहते हैं जिस पर प्रधानमन्त्री नेहरू और राष्ट्रपति अयूब खाँ ने स्वयं रावलपिंडी में हस्ताक्षर किये। 12 जनवरी, 1961 को इस सन्धि की शर्तें लागू कर दी गयीं और इस प्रकार दोनों देशों के बीच का एक बहुत बड़ा झगड़ा शान्त हुआ।

5. शरणार्थियों का प्रश्न

विभाजन के बाद मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान में साम्प्रदायिक दंगे करवाये जिससे हजारों की संख्या में शरणार्थी भारत भागकर आ गये। पाकिस्तान में हिन्दुओं का जीवन और इज्जत सुरक्षित नहीं थी। हजारों व्यक्ति वहाँ मौत के घाट उतार दिये गये। हजारों महिलाओं के साथ बलात्कार हुआ जिसकी भारत में भी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। यहाँ भी कई स्थानों पर दंगे हुए और मुसलमान भागने लगे। भारत की धर्मनिरपेक्ष सरकार उनकी रक्षा करती थी, परन्तु पाकिस्तान की सरकार हिन्दुओं की रक्षा नहीं करती थी। इसलिए जितनी बड़ी संख्या में विस्थापित पाकिस्तान से आये उतनी बड़ी संख्या में भारत से पाकिस्तान नहीं गये। बाद में भी पाकिस्तान से हिन्दू शरणार्थी अनवरत आते रहे। ये शरणार्थी पाकिस्तान में अपनी जमीन और सम्पत्ति छोड़ आये थे। भारत ने पाकिस्तान से क्षतिपूर्ति माँगी जिसे वह देने में आनाकानी करता रहा। शरणार्थियों की समस्या आज भी बनी हुई है। जब भी पाकिस्तान में साम्प्रदायिक अत्याचार होते हैं तो हिन्दू अल्पसंख्यक भारत की ओर भाग खड़े होते हैं।

6. कश्मीर विवाद

कश्मीर की समस्या दोनों देशों के बीच एक ऐसे ज्वालामुखी की तरह है जो समय-समय पर लावा उगलती रहती है। अलाप माईकल के शब्दों में, "कश्मीर समस्या अनिवार्यतः भूमि या पानी की समस्या नहीं, यह लोगों और प्रतिष्ठा की समस्या है।"

कश्मीर की समस्या भारत और पाकिस्तान के बीच सबसे उलझी हुई समस्या है। स्वतन्त्रता के बाद जहाँ भारत और पाकिस्तान दो नये राज्य बने वहाँ देशी रियासतें एक प्रकार से स्वतन्त्र हो गयीं। ब्रिटिश सरकार ने घोषणा कर दी थी कि देशी रियासतें अपनी इच्छानुसार भारत अथवा पाकिस्तान में विलय हो सकती हैं। अधिकांश रियासतें भारत अथवा पाकिस्तान में मिल गयीं और उनकी कोई समस्या उत्पन्न नहीं हुई। भारत के लिए हैदराबाद और जूनागढ़ ने अवश्य समस्या उत्पन्न कर दी थी परन्तु वह शीघ्र ही हल कर ली गयी। कश्मीर की स्थिति कुछ विशेष प्रकार की थी। भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर स्थित यह राज्य भारत अथवा पाकिस्तान दोनों को जोड़ता है। यहाँ की जनसंख्या का बहुसंख्यक भाग मुस्लिम धर्मी था परन्तु यहाँ का आनुवांशिक शासक एक हिन्दू राजा था। अगस्त 1947 में कश्मीर के शासक ने अपने विलय के विषय में कोई तात्कालिक निर्णय नहीं लिया। पाकिस्तान इसे अपने साथ मिलाना चाहता था। 22 अक्टूबर, 1947 को उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त के कबायलियों ने एवं अनेकों पाकिस्तानियों ने कश्मीर पर आक्रमण कर दिया। पाकिस्तान ने अपनी सीमा पर भी सेना का जमाव कर लिया।

4 दिनों के भीतर ही हमलावर आक्रमणकारी श्रीनगर से 25 मील दूर बारामूला तक जा पहुँचे। 26 अक्टूबर को कश्मीर के शासक ने आक्रमणकारियों से अपने राज्य को बचाने के लिए भारत सरकार से सैनिक सहायता की माँग की और साथ ही कश्मीर को भारत में सम्मिलित करने की प्रार्थना भी की। भारत सरकार ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। 27 अक्टूबर को भारतीय सेनाएँ कश्मीर भेज दी गयीं तथा युद्ध समाप्ति पर जनमत संग्रह की शर्त के साथ कश्मीर को भारत का अंग मान लिया गया।

भारत द्वारा कश्मीर की सुरक्षा के निर्णय के कारण और उधर पाकिस्तान द्वारा आक्रमणकारियों को सहायता देने की नीति के कारण कश्मीर दोनों राष्ट्रों के बीच युद्ध का क्षेत्र बन गया। प्रारम्भ में भारत सरकार ने पाकिस्तान सरकार से प्रार्थना की कि कबायलियों का मार्ग बन्द कर दें, परन्तु जब इस बात के प्रमाण मिलने लगे कि पाकिस्तान सरकार स्वयं इन कबायलियों की सहायता कर रही है तो 1 जनवरी, 1948 को भारत सरकार ने सुरक्षा परिषद में यह शिकायत की कि पाकिस्तान से सहायता प्राप्त करके कबायलियों ने भारत के एक अंग कश्मीर पर आक्रमण कर दिया है, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को खतरा है। दूसरी तरफ पाकिस्तान ने भारत पर आरोप लगाया कि कश्मीर का भारत में विलय अवैधानिक है। सुरक्षा परिषद ने इस समस्या का समाधान करने के लिए 5 राष्ट्रों चेकोस्लोवाकिया, अर्जेण्टाइना, अमरीका, कोलम्बिया और बेलजियम को सदस्य नियुक्त कर मौके पर स्थिति का अवलोकन करके समझौता कराने के उद्देश्य से संयुक्त राष्ट्र आयोग की नियुक्ति की।

संयुक्त राष्ट्र आयोग के कार्य—संयुक्त राष्ट्र आयोग ने तुरन्त अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया और मौके पर स्थिति का अध्ययन कर 13 अगस्त, 1948 को दोनों पक्षों से युद्ध बन्द करने औ समझौता करने हेतु निम्नांकित आधार प्रस्तुत किये :

(1) पाकिस्तान अपनी सेनाएँ कश्मीर से हटाने तथा कबायलियों और सामान्य रूप से कश्मीर में न रहने वाले विदेशियों को भी वहाँ से हटाने का प्रयत्न करे।

(2) सेनाओं द्वारा खाली किये गये प्रदेश का शासन प्रबन्ध स्थानीय अधिकारी आयोग के निरीक्षण में करें।

(3) जब आयोग भारत को पाकिस्तान द्वारा उपर्युक्त वर्णित शर्तों को पूरा करने की सूचना दे तो भारत भी समझौते के अनुसार अपनी सेनाओं का अधिकांश भाग वहाँ से हटा ले।

(4) अन्तिम समझौता होने तक सरकार युद्ध विराम के अन्दर उतनी ही सेनाएँ रखे जितनी कि इस प्रदेश में कानून और व्यवस्था बनाने के कार्य में स्थानीय अधिकारियों को सहायता देने के लिए वांछनीय हो।

इस सिद्धान्त के आधार पर दोनों पक्ष एक लम्बी वार्ता के बाद 1 जनवरी, 1949 को युद्ध विराम के लिए सहमत हो गये। कश्मीर के विलय का अन्तिम फैसला जनमत संग्रह के माध्यम से किया जाना था। जनमत संग्रह की शर्तों को पूरा करने के लिए अमरीकी नागरिक एडमिरल चेस्टर निमित्ज को प्रशासक नियुक्त किया गया। उन्होंने जनमत संग्रह के सम्बन्ध में दोनों पक्षों से बातचीत की, किन्तु कोई परिणाम नहीं निकला। अन्त में उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया।

युद्ध-विराम रेखा निर्धारित हो जाने पर पाकिस्तान के हाथ में कश्मीर का 32,000 वर्गमील क्षेत्रफल रह गया। इसकी जनसंख्या 7 लाख थी। पाकिस्तान ने इस क्षेत्र को 'आजाद कश्मीर' कहा। युद्ध-विराम रेखा के इस पार भारत के अधिकार में 53,000 वर्गमील क्षेत्रफल था, जिसकी जनसंख्या 33 लाख थी।

नेहरू जनमत संग्रह के लिए तैयार थे। संयुक्त राष्ट्र संघ ने यह शर्त लगा दी थी कि पाकिस्तान द्वारा हस्तगत क्षेत्र से जब पाकिस्तानी एवं कबायली पूर्णतया हट जायेंगे, तभी जनमत

संग्रह होगा। पाकिस्तान 'आजाद कश्मीर' से अपनी सेनाएँ हटाने के लिए तैयार न था और विना सेनाएँ हटाये जनमत संग्रह हो नहीं सकता था। पाकिस्तान ने अमरीका से 1954 में सैनिक सन्धि कर ली। वह 1955 मे वगदाद पैक्ट (सेण्टो) का भी सदस्य हो गया। उसने अपने कुछ अड्डे अमरीका को दे दिये। इससे भारत ने खतरा अनुभव किया। भारत का मत था कि पाकिस्तान कश्मीर लेने के लिए अपनी सैनिक शक्ति वढ़ा रहा है। अतः परिवर्तित अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में जवाहरलाल नेहरू ने अपनी कश्मीर नीति में परिवर्तन कर लिया। उन्होंने निश्चय कर लिया कि अव कश्मीर में जनमत संग्रह कराना सम्भव नहीं है। इसी समय सोवियत संघ का कश्मीर के प्रश्न पर भारत को समर्थन मिल गया जिससे भारत की स्थिति मजवूत हो गयी। उसका भी अन्तर्राष्ट्रीय जगत तथा सुरक्षा परिषद में एक शक्तिशाली मित्र हो गया। 1950 में पण्डित नेहरू ने पाकिस्तान से 'युद्ध-वर्जन सन्धि' (No War Pact) करने का प्रस्ताव रखा था परन्तु पाकिस्तान ने उसे ठुकरा दिया। 6 फरवरी, 1954 को कश्मीर की संविधान सभा ने एक प्रस्ताव पास कर जम्मू-कश्मीर राज्य का विलय भारत में होने की पुष्टि कर दी। भारत सरकार ने भारतीय संविधान में संशोधन कर 14 मई, 1954 को अनुच्छेद 370 के अन्तर्गत कश्मीर को विशेष दर्जा दे दिया। 26 फरवरी, 1957 को जम्मू-कश्मीर का संविधान लागू हो गया। उसके साथ ही जम्मू-कश्मीर भारतीय संघ का एक अभिन्न अंग वन गया।

इसके वाद भी पाकिस्तान वार-वार कश्मीर का प्रश्न उठाता रहा है। 2 जनवरी, 1957 को सुरक्षा परिषद में इस प्रश्न को उठाया गया। ब्रिटेन, फ्रांस और अमरीका ने सुरक्षा परिषद में पाकिस्तान का समर्थन करते हुए कहा कि कश्मीर में संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में जनमत संग्रह कराया जाय और संयुक्त राष्ट्र संघ की आपात् सेना वहाँ भेजी जाय। भारत ने इस प्रस्ताव का घोर विरोध किया। भारत के समर्थन में रूस ने इस प्रस्ताव पर अपने निषेधाधिकार का प्रयास किया। भारतीय प्रतिनिधि कृष्णा मेनन ने अपने 7 घण्टे 48 मिनट तक के लम्वे ऐतिहासिक भाषण में कहा कि, 'मूल प्रश्न यह नहीं कि जम्मू-कश्मीर में संविधान लागू हो या न हो। मूल समस्या यह है कि जम्मू-कश्मीर से पाकिस्तानी सेनाएँ अभी तक क्यों नहीं निकलीं। 1962 में सुरक्षा परिषद में पाकिस्तान ने कश्मीर में आत्म-निर्णय की माँग दोहरायी, इस प्रस्ताव को रूस ने वीटो द्वारा समाप्त कर दिया। जव-जव मौका मिलता है पाकिस्तान कश्मीर प्रश्न को उठाता रहता है। अप्रैल 1982 में जनरल जिया ने कहा कि कश्मीर एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दा है। मार्च 1983 में नयी दिल्ली में आयोजित सातवें गुट-निरपेक्ष सम्मेलन में भी जनरल जिया ने कश्मीर को एक विवादास्पद मुद्दा वताया।

वस्तुतः भारत पाकिस्तान के वीच कश्मीर तनाव का मुख्य कारण है। वह कश्मीर को अव भी एक समस्या मानता है। एक पाकिस्तानी पत्रकार के अनुसार, 'हमारी भावनाएँ अव भी कश्मीर के वारे में वैसी ही हैं जैसी कि पहले थीं, परन्तु एक वात याद रखनी चाहिए कि हमने 1972 में शिमला सम्मेलन के दौरान भी कश्मीर देना स्वीकार नहीं किया था।' भारत का मत है कि पाकिस्तान कश्मीर तथा अन्य कोई द्वि-पक्षीय मुद्दा संयुक्त राष्ट्र संघ के मंच से नहीं उठा सकता लेकिन पाकिस्तान इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करता।

हाल ही में (1990) भारत ने कश्मीर में पाकिस्तान के निरंतर हस्तक्षेप पर गहरी चिंता व्यक्त की है। पाकिस्तान कश्मीर में अलगाववादियों एवं आतंकवादियों को निरन्तर सहायता कर रहा है। पाक सूचना एवं प्रसारण मन्त्री के अनुसार वह कश्मीर में स्वतन्त्रता आन्दोलन को अपना समर्थन देना जारी रखेगा।

1965 में भारत-पाक युद्ध—अप्रैल 1965 में कच्छ के रन को लेकर भारत एवं पाकिस्तान के वीच संघर्ष हो गया। पाकिस्तानी सेना की दो टुकड़ियाँ भारतीय क्षेत्र में घुसीं और कच्छ

के कई भागों पर अधिकार कर लिया। कच्छ के रन में उत्पात से साथ-साथ पाकिस्तान ने कश्मीर में भी घुसपैठ प्रारम्भ कर दी थी। यह घुसपैठ पूर्ण योजनाबद्ध थी। चीन की सहायता से हजारों पाकिस्तानी सैनिकों को छापामार युद्ध में प्रशिक्षित किया गया था। योजना के अनुसार छापामार दस्ता शस्त्रों से सज्जित होकर असैनिक वेश में कश्मीर में घुसने वाला था। कश्मीर में आन्तरिक रूप से उपद्रव एवं तोड़-फोड़ द्वारा ऐसी स्थिति उत्पन्न करने की योजना थी जिससे भारतीय सेना को कश्मीर से भागना पड़े। पाकिस्तान का विश्वास था कि कश्मीर की मुस्लिम जनता छापामारों का साथ देगी। किन्तु यह विश्वास अन्त में असत्य प्रमाणित हुआ। 4 तथा 5 अगस्त 1965 को हजारों पाकिस्तानी छापामार सैनिक कश्मीर में घुस आये। पाकिस्तनी घुसपैठ को सदैव के लिए रोकने के विचार से भारत सरकार ने उन स्थानों पर अधिकार करने का निर्णय किया जहाँ से होकर पाकिस्तानी घुसपैठिये कश्मीर के भारतीय हिस्से में आते थे। इसी बीच पाकिस्तान की नियमित सेना ने अन्तर्राष्ट्रीय सीमा रेखा को पार करके भारतीय भू-भाग पर आक्रमण कर दिया और पूर्ण रूप से युद्ध प्रारम्भ हो गया। 4 सितम्बर, 1965 को सुरक्षा परिषद् ने एक प्रस्ताव पास कर भारत और पाकिस्तान दोनों से अपील की कि वे युद्ध-विराम करें। 22 सितम्बर, 1965 को दोनों देशों में युद्ध बन्द हो गया। भारत को युद्ध में 750 वर्ग मील भूमि मिली जबकि पाकिस्तान को 210 वर्ग मील भूमि मिली। यह युद्ध भारत-पाकिस्तान के कटु सम्बन्धों की अन्तिम परिणति थी।

ताशकन्द समझौता—सोवियत प्रधानमन्त्री ने पाकिस्तान के राष्ट्रपति अय्यूब खाँ और भारत के प्रधानमन्त्री लालबहादुर शास्त्री को वार्ता के लिए ताशकन्द में आमन्त्रित किया। 4 जनवरी, 1966 को यह प्रसिद्ध सम्मेलन प्रारम्भ हुआ और सोवियत रूस के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप 10 जनवरी, 1966 को प्रसिद्ध ताशकन्द सम्मेलन पर हस्ताक्षर हुए। समझौते के अन्तर्गत भारतीय प्रधानमन्त्री एवं पाकिस्तान के राष्ट्रपति सहमत हुए कि—

(1) भारत के प्रधानमन्त्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति इस बात पर सहमत हैं कि दोनों पक्ष जोरदार प्रयत्न करेंगे कि संयुक्त घोषणा पत्र के अनुसार भारत और पाकिस्तान में अच्छे पड़ौसियों का सम्बन्ध निर्मित हो। वे राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र के अन्तर्गत पुनः दुहराते हैं कि बल-प्रयोग का सहारा न लेंगे और अपने विवाद को शान्तिपूर्ण तरीकों से सुलझायेंगे।

(2) दोनों देशों के सभी सशस्त्र सैनिक 25 फरवरी, 1966 के पूर्व उस स्थान पर वापस चले जायेंगे जहाँ वे 5 अगस्त, 1965 के पूर्व थे और दोनों पक्ष युद्ध-विराम की शर्तों का पालन करेंगे।

(3) दोनों देशों के परस्पर सम्बन्ध एक-दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति पर आधारित रहेंगे।

(4) दोनों देश एक-दूसरे के विरुद्ध होने वाले प्रचार को निरुत्साहित करेंगे और दोनों देशों के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की वृद्धि करने वाले प्रचार को प्रोत्साहन देंगे।

(5) दोनों देशों के मध्य राजनयिक सम्बन्ध पुनः सामान्य रूप से स्थापित किये जायेंगे। दोनों देशों में एक-दूसरे के उच्चायुक्त अपने पदों पर वापस जायेंगे।

(6) दोनों देशों के मध्य आर्थिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध पुनः सामान्य रूप से स्थापित किये जायेंगे।

(7) दोनों देश युद्ध-वन्दियों का प्रत्यावर्तन करेंगे। एक-दूसरे की हस्तगत की हुई सम्पत्ति की वापसी पर भी विचार करेंगे।

(8) दोनों देश सन्धि से सम्बन्धित मामलों पर विचार करने के लिए सर्वोच्च स्तर पर एवं अन्य स्तरों पर आपस में मिलते रहेंगे।

यद्यपि इस समझौते के कारण भारत को वह सब प्रदेश पाकिस्तान को वापस देना पड़ा जो उसने अपार धन एवं जन की हानि उठाकर प्राप्त किया था तथापि यह समझौता निश्चित रूप से भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धों में एक शान्तिपूर्ण मोड़ आने का प्रतीक बन गया।

भारत-पाक युद्ध, 1971 तथा शिमला समझौता—पूर्वी पाकिस्तान (बंगला देश) में असन्तोष बढ़ता जा रहा था। शेख मुजीब के नेतृत्व में बंगला देश में स्वायत्तता का आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। पूर्वी पाकिस्तान पूर्णतया मुजीब के साथ था। याहिया खाँ ने बंगालियों पर अत्याचार करना प्रारम्भ कर दिया। पूर्वी बंगाल के घोर अत्याचारों से घबराकर बंगाली घरबार, सामान छोड़ जान बचाने हेतु भारत की सीमा में प्रवेश करने लगे। 10 हजार शरणार्थी प्रतिदिन भारत आने लगे। शरणार्थियों की संख्या भारत में 1 करोड़ तक पहुँच गयी। इसी समय 2 दिसम्बर, 1971 को पाकिस्तानी वायुयानों ने भारत के हवाई अड्डों पर भीषण बमबारी कर दी। 4 दिसम्बर, 1971 को भारतीय सेना ने जवाबी हमला किया। भारत के विमानों ने पाकिस्तान के महत्वपूर्ण हवाई अड्डों पर बम वर्षा की। 16 दिसम्बर, 1971 को ढाका में एक सैनिक समारोह में जनरल नियाजी ने भारत के ले० जनरल जगजीतसिंह अरोरा के सम्मुख आत्म-समर्पण कर दिया। उनके साथ 93 हजार सैनिकों ने भी हथियार डाल दिये और उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। बंगला देश स्वतन्त्र हो गया तथा भारत ने एक-तरफा युद्ध-विराम कर दिया। भारत ने इस युद्ध में पाकिस्तान की 6 हजार वर्ग मील भूमि पर अधिकार कर लिया। पाकिस्तान में जनरल याहिया खाँ के स्थान पर सत्ता जुल्फिकार अली भुट्टो के हाथ में आ गयी। भुट्टो और श्रीमती गाँधी में पत्र-व्यवहार हुआ और 28 जून, 1972 को शिमला में दोनों देशों के मध्य वार्ता होना तय हुआ। 3 जुलाई, 1972 को दोनों देशों के बीच एक समझौता हो गया। इस समझौते के निम्नलिखित मुख्य उपबन्ध थे :

(1) दोनों सरकारों ने यह निश्चय किया कि दोनों देश परस्पर संघर्ष को समाप्त करते हैं; जिससे दोनों देशों के सम्बन्धों में बिगाड़ उत्पन्न हुआ था।

(2) दोनों ही सरकारें अपनी सामर्थ्य के अनुसार एक-दूसरे के प्रति घृणित प्रचार नहीं करेंगी।

(3) आपसी सम्बन्धों में सामान्यता लाने की दृष्टि से (क) दोनों राष्ट्रों के बीच डाक-तार सेवा, जल, थल, वायुमार्गों द्वारा पुनः संचार व्यवस्था स्थापित की जायेगी। (ख) एक-दूसरे देश के नागरिक और निकट आयें इसलिए नागरिकों को आने-जाने की सुविधाएँ दी जायेंगी। (ग) जहाँ तक सम्भव हो सके व्यापारिक एवं आर्थिक मामलों में सहयोग का सिलसिला जल्द से जल्द शुरू हो। (घ) विज्ञान एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में आदान-प्रदान बढ़ाया जायगा।

(4) स्थायी शान्ति कायम करने की प्रक्रिया का सिलसिला आरम्भ करने के लिए दोनों सरकारें सहमत हैं कि (क) भारत और पाकिस्तान की सेनाएँ अपनी अन्तर्राष्ट्रीय सीमा में लौट जायेंगी। (ख) दोनों देश बिना एक-दूसरे की स्थिति को क्षति पहुँचाये जम्मू-कश्मीर में 17 दिसम्बर, 1971 को हुए युद्ध-विराम के फलस्वरूप नियन्त्रण रेखा को मान्य रखेंगे। (ग) सेनाओं की वापसी इस समझौते के लागू होने के 30 दिन के भीतर पूरी हो जायेगी।

(5) शिमला समझौते के क्रियान्वयन के लिए दोनों देशों के शासनाध्यक्ष परस्पर मिलते रहेंगे।

शिमला समझौते के आलोचकों का कहना है कि यह भारत का पाकिस्तान के समक्ष आत्म-समर्पण था। भारत के सैनिकों ने जिसे युद्ध के मैदान में जीता था उसे भारत की कूटनीति ने शिमला में खो दिया। आलोचकों का कहना है कि कश्मीर समस्या का स्थायी हल ढूंढ़े बिना पाकिस्तान के 5,139 वर्ग मील क्षेत्र को लौटाना राजनीतिक सफलता नहीं कहा जा सकता।

दूसरे शब्दों में, आलोचकों का कहना है कि शिमला समझौते ने कश्मीर पर पाकिस्तान से सौदेबाजी करने का अवसर हाथ से खो दिया।

2. भारत विरोधी नीति अर्थात 'जिहाद' (धार्मिक युद्ध) की नीति से उत्पन्न होने वाली समस्याएँ

भारत-पाक सम्बन्धों में कटुता और वैमनस्य कई बार पाकिस्तान के साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से उत्पन्न हो जाता है। धार्मिक और साम्प्रदायिक वैमनस्य को पाकिस्तान के शासक जान-बूझकर बनाये रखना चाहते हैं। वे साम्प्रदायिक विष को अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों और संगठनों में भी अभिव्यक्त करते रहे। सितम्बर 1963 में हजरत बाल-काण्ड को लेकर पाकिस्तान ने कश्मीर में साम्प्रदायिक दंगे कराने का प्रयास किया। 1965 में बड़े पैमाने पर कश्मीर में घुसपैठियों को भेजना शुरू कर दिया और विद्रोह भड़काने के लिए साम्प्रदायिक विष का सहारा लिया। 1969 में रबात मुस्लिम शिखर सम्मेलन के समय तत्कालीन पाकिस्तानी राष्ट्रपति याह्या खाँ ने भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के साथ बैठने से इन्कार कर दिया।

3. पाकिस्तान की सीटो, सैण्टो की सदस्यता तथा भारत की किलेबन्दी से उत्पन्न होने वाली समस्या

भारत-पाक सम्बन्धों में कटुता पैदा करने वाली एक प्रमुख समस्या पाकिस्तान की गुटीय और शस्त्रों की होड़ की नीति है। वस्तुतः पाकिस्तान ने सीटो (1955) और सेण्टो (1955) जैसे सैनिक संगठनों का सदस्य बनकर शीत-युद्ध को भारत के दरवाजे पर लाकर खड़ा कर दिया। दूसरे, पाकिस्तान ने अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने के लिए, भारत विरोधी प्रचार का सहारा लेकर, अमरीका से ही नहीं बल्कि सेण्टो शक्तियों, विशेषकर ईरान से प्रचुर मात्रा में सैनिक सहायता प्राप्त की। भारत-चीन सम्बन्धों में बिगाड़ आने से पाकिस्तान ने चीन की हमदर्दी प्राप्त करने की कोशिश की और उससे अस्त्र-शस्त्रों को प्राप्त किया। पश्चिमी शक्तियाँ भी इस उप-महाद्वीप में पाकिस्तान को भारत के बराबर बनाये रखना चाहती हैं। वे समझती हैं कि यदि भारत को शान्ति का समय मिल गया तो वह एक महान शक्ति बन जायेगा। अतः अमरीका ने भारत के विरोध पर भी पाकिस्तान को अस्त्र-शस्त्र दिये।

वर्तमान समय में पाकिस्तान सोवियत आक्रमण के भय की आड़ में अमरीका और चीन से सैनिक माल दबोच रहा है। अमरीका और चीन भी दक्षिण एशिया में सोवियत विस्तारवाद को रोकने के बहाने पाकिस्तान को सुदृढ़ और शक्तिशाली बनाने के लिए आधुनिकतम टैंकतोड़क मिसाइलें, धरती से धरती और आकाश में मार करने वाली मिसाइलें, एफ-15, एफ-16, एफ-16 सी जैसे विध्वंसक वायुयानों और अवाक्स की सप्लाई कर रहे हैं। महाशक्तियों द्वारा पाकिस्तान की किलेबन्दी और उसका इस्लामिक बम निर्माण के लिए दुराग्रह भारत के लिए गम्भीर चिन्ता का विषय है। पाकिस्तान अपने जन्मकाल से ही ब्रिटेन, अमरीका और चीन के हाथों का खिलौना बना है और भारत के लिए परेशानियाँ पैदा करता रहा है।

भारत-पाक सम्बन्ध : रिश्तों को सुधारने के प्रयत्न
(INDO-PAK RELATIONS : EFFORTS FOR IMPROVING THE RELATIONS)

भारत-पाक सम्बन्धों को सामान्य बनाने के भी प्रयत्न किये जाते रहे हैं। ताशकन्द समझौता तथा शिमला समझौता कुछ इसी प्रकार के प्रयत्न थे। 1974 में जो त्रि-पक्षीय समझौता हुआ उससे युद्ध-बन्दियों की समस्या का समाधान हुआ। नवम्बर 1974 में दोनों देशों में डाक, तार, यात्रा आदि विषयों के बारे में समझौता हुआ। नवम्बर 1974 में व्यापार समझौता हुआ, 1976 में दोनों देशों ने कूटनीतिक सम्बन्धों को पुनः स्थापित करने का निश्चय किया। 14 अप्रैल, 1978 को सलाल जल विद्युत परियोजना के सम्बन्ध में भारत और पाकिस्तान में एक

सन्धि हुई जो सलाल जल सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। जब 1979 में पाकिस्तान ने सेण्टो की सदस्यता त्याग दी तो उसे सितम्बर 1979 में हवाना शिखर सम्मेलन में गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की सदस्यता प्रदान कर दी गयी और भारत ने उसका विरोध नही किया। 17 दिसम्बर, 1985 को प्रधानमन्त्री राजीव गांधी और राष्ट्रपति जिया उल हक के मध्य एक छः-सूत्री समझौता हुआ जिसमें तय किया गया कि वे एक-दूसरे के परमाणु ठिकानों पर हमला नहीं करेंगे। 10 जनवरी, 1986 को भारत और पाकिस्तान के आपसी आर्थिक सम्बन्धों में एक नये युग की शुरूआत हुई। दोनों देशों के बीच मुक्त व्यापार पुनः शुरू करने के अलावा सार्वजनिक क्षेत्र के व्यापार को दुगुना करने, दोनों देशों के बीच सीधी डायल सेवा शुरू करने व वायु सेवा सुविधा बढ़ाने पर सहमति हुई।

पाकिस्तान में लोकतान्त्रिक सरकार और भारत-पाक सम्बन्धों में नये दिशा संकेत

दिसम्बर 1988 में पाकिस्तान में बेनजीर भुट्टो के नेतृत्व में लोकतान्त्रिक सरकार की स्थापना हुई है। बेनजीर ने भारत के साथ युद्ध-वर्जन सन्धि के प्रस्ताव को ठुकराते हुए कश्मीर समस्या सहित अन्य विवादों के निपटारे के लिए शिमला समझौते के महत्व को स्वीकार किया। बेनजीर के शब्दों में, "भारत और पाकिस्तान शिमला समझौते की भावना से कश्मीर सहित अपनी सभी आपसी समस्याएँ हल कर सकते हैं।" ऐसे संकेत हैं कि पाकिस्तान का निर्वाचित नेतृत्व भारत के साथ मधुर सम्बन्धों की शुरूआत करने की दिशा में आगे बढ़ेगा।

परमाणु संयन्त्रों पर हमला न करने सहित भारत-पाक में तीन समझौते

आठ वर्षों के अन्तराल के बाद 31 दिसम्बर, 1988 को भारत व पाकिस्तान के मध्य तीन समझौतों पर हस्ताक्षर हुए। भारत के प्रधानमन्त्री राजीव गांधी और पाकिस्तान की प्रधान-मन्त्री बेगम बेनजीर इन समझौतों पर हस्ताक्षर करते समय मौजूद थे। इनमें सबसे महत्वपूर्ण समझौता दोनों देशों के बीच एक-दूसरे के परमाणु संस्थानों पर हमला नही करने से सम्बद्ध है। इस समझौते में यह व्यवस्था है कि दोनों देशों को हर वर्ष एक जनवरी को यह बताना होगा कि उसके परमाणु संयन्त्र किस अक्षांश और देशान्तर में स्थित है। इसके अलावा यदि कोई भी देश अपने किसी परमाणु संयन्त्रों को कहीं और स्थापित करता है तो भी उसे इसकी जानकारी दूसरे देश को देनी होगी।

सांस्कृतिक आदान-प्रदान सम्बन्धी समझौता तीन वर्ष के लिए हुआ है। इसमें एक-दूसरे के देश में सांस्कृतिक केन्द्र स्थापित करने का प्रावधान है। इसके अलावा समझौते में कला, संस्कृति, पुरातत्व, शिक्षा, जन संचार और खेल जैसे क्षेत्रों में सहयोग बढ़ाने की भी व्यवस्था है।

इस समझौते के तहत् दोनों देशों के शिक्षाविद् एक-दूसरे देश की यात्रा करेंगे। दोनों देशों के कलाकार, लेखक और संगीतकार एक-दूसरे के देश में अपने कार्यक्रम पेश करेंगे। तीसरा समझौता दोहरी कर नीति समाप्त करने के बारे में है।

भारत पाक सम्बन्ध : वर्तमान स्थिति
(INDO-PAK RELATIONS : PRESENT POSITION)

कुलदीप नैय्यर के अनुसार आज भी भारत और पाकिस्तान 'दूर के पड़ौसी' हैं। पाकिस्तानी प्रेस भारत विरोधी प्रचार में निरन्तर लगा रहता है। द्वि-पक्षीय मुद्दों को पाकिस्तान अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर उछालता रहता है। अमरीका से सैनिक सामान, घातक एफ-16 विमान, हार्पून नामक जहाज आदि खरीद रहा है। इन दिनों लद्दाख क्षेत्र में सियाचिन ग्लेशियर के मामले को लेकर चलने वाला संघर्ष भी दोनों ओर कटुता को ही बढ़ावा दे रहा है। पिछले पाँच-छः वर्षों में इस विवाद को लेकर दोनों देशों की सेनाओं के बीच भी कई छोटी-बड़ी झड़पें पैदा हो चुकी हैं। भारत में अस्थिरता पैदा करने के लिए पाकिस्तान सिक्ख आतंकवादियों को प्रेरणा, सहायता और प्रशिक्षण दे रहा है। नवम्बर 1986 में पाकिस्तान ने सैनिक अभ्यास के बहाने भारत से लगी

सीमा पर भारी संख्या में सेना को तैनात कर दिया था। उसके परिणामस्वरूप दोनों देशों में तनाव के हालात पैदा हो गये। सौभाग्य से दोनों देशों के विदेश सचिवों के मध्य 5 दिन की बातचीत के बाद 4 फरवरी, 1987 को एक समझौता हो गया और युद्ध का खतरा टल गया। पाकिस्तान द्वारा एटम-बम बनाने का प्रयत्न भारतीय महाद्वीप में शान्ति और सुरक्षा के लिए एक नया खतरा उपस्थित कर रहा है। रीगन प्रशासन ने पाकिस्तान को पहले 1982-87 के पाँच वर्षों के लिए 329 करोड़ डॉलर और अब आगामी 1987-93 के 6 वर्षों के लिए 402 करोड़ डालर की आर्थिक और सैनिक सहायता का ऐलान किया। अमरीका द्वारा पाकिस्तान को परिष्कृत हथियार दिया जाना भारतीय उपमहाद्वीप में तनावपूर्ण स्थिति को और अधिक विस्फोटक बनाना है।

संक्षेप में, दोनों देश आज भी एक-दूसरे को अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। पाकिस्तान अपनी सैनिक शक्ति निरन्तर बढ़ाता जा रहा है, जिससे भारत का परेशान होना स्वाभाविक है। गहन अविश्वास और परस्पर सन्देह के कारण भारत-पाक सम्बन्धों में भीषण कटुता आ गयी है। पाकिस्तान ने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाने के हर प्रयास का स्वागत किया जाना चाहिए और चीन तथा पाकिस्तान में से प्राथमिकता पाकिस्तान को ही मिलनी चाहिए। पाकिस्तान को भी चाहिए कि वह कश्मीर और पंजाब में अपने आपको न उलझाए।

भारत-श्रीलंका का सम्बन्ध
(INDO-CEYLON RELATIONS)

श्रीलंका भारत के दक्षिण में स्थित एक छोटा द्वीप है जिसका क्षेत्रफल 25,332 वर्ग मील तथा जनसंख्या 1,70,24,507 है। सांस्कृतिक दृष्टि से श्रीलंका भारत के साथ जुड़ा हुआ है। यहाँ पर रहने वाले भारतीय तमिलनाडु के मूल निवासी हैं। श्रीलंका के अधिकांश निवासी बौद्ध धर्मावलम्वी हैं। हिन्द महासागर में भारत के समीप होने के कारण सैनिक एवं सामरिक दृष्टि से श्रीलंका का भारत के लिए अत्यधिक महत्व है।

भारत और श्रीलंका एक-दूसरे के पड़ौसी देश हैं किन्तु उनके सम्बन्ध में पड़ौसियों के सम्बन्धों से अधिक गहरे हैं। श्रीलंका भारतीय उपमहाद्वीप का ही एक अंग है, अतः इसका राजनीतिक महत्व ही नहीं बल्कि औद्योगिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक महत्व भी है। भारत से श्रीलंका की दूरी पाक जलडमरूमध्य पार करके बहुत कम समय में तय की जा सकती है। आधा घण्टे से कम की उड़ान में कोई भी भारत से श्रीलंका पहुँच सकता है अथवा श्रीलंका से भारत आ सकता है। किन्तु वहाँ पहुँचकर उसे ऐसा नहीं लगता कि वह किसी अन्य देश में पहुँच गया है। दक्षिण भारत की जलवायु एवं संस्कृति की बहुत-सी विशेषताएँ वहाँ पर दिखायी देती हैं। वैसे भी भारत एवं श्रीलंका के सम्बन्ध सदियों पुराने हैं। मौर्य सम्राट अशोक के युग में ही श्रीलंका और भारत के बीच गहरे सम्बन्ध थे। अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अपने ही पुत्र को श्रीलंका भेजा था और इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह बौद्ध धर्म की सुदृढ़ नींव श्रीलंका में रखने में सफल हुआ था। आज भी श्रीलंका के अधिकतर लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं और वे प्राचीन भारत के ऋषियों के कृत्यों से प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

17 मिलियन जनसंख्या का यह देश भारत से दक्षिण में पाक जलडमरूमध्य से पृथक् होता है। इसके पश्चिम में पाक जलडमरूमध्य एवं मन्नार की खाड़ी है। पूर्व एवं उत्तर में बंगाल की खाड़ी एवं दक्षिण में हिन्द महासागर है। दुनिया के इस भू-भाग के अन्य देशों की तरह श्रीलंका भी उपनिवेशीकरण का शिकार हुआ और 150 वर्ष से भी अधिक समय तक विदेशी शक्तियों के प्रभुत्व में रहा। सर्वप्रथम पुर्तगालियों ने इस देश पर अपना अधिकार किया, उसके बाद डच लोगों ने; किन्तु कालान्तर में इनका स्थान अंग्रेजों ने ले लिया। अंग्रेजों ने अपनी विश्व-प्रसिद्ध नीति 'फूट डालो और शासन करो' का यहाँ भी उपयोग किया और वे श्रीलंका की जनसंख्या के दो बड़े

समूहों में आपस में वैमनस्य बनाये रखने में सफल रहे। यहाँ पर बहुमत सिंहली भाषा-भाषियों का है, किन्तु तमिल भाषा-भाषी लोग भी अल्पमत में होते हुए भी काफी प्रभाव रखते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में श्रीलंका का विशिष्ट महत्व है। हिन्द महासागर से गुजरने वाले सभी जलमार्गों का यह केन्द्र है। इसी सामरिक स्थिति के कारण अंग्रेज इसे छोड़ना नहीं चाहते थे।

भारत-श्रीलंका सम्बन्ध

भारत और श्रीलंका औपनिवेशिक दासता के एक लम्बे समय तक शिकार रहे। दोनों ही देश लगभग साथ-साथ स्वाधीन हुए। श्रीलंका के राष्ट्रीय स्वाधीनता के आन्दोलन को भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रेरणा मिली। श्रीलंका की सरकार ने भी भारत सरकार के समान गुट निरपेक्षता की नीति को स्वीकार किया। भारत की भाँति श्रीलंका की नीति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शान्तिवाद, गुट-निरपेक्षता, सह-अस्तित्व और दूसरे देशों से मित्रतापूर्ण सम्बन्धों की रही। भारत की भाँति श्रीलंका भी राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना। कोलम्बो योजना के अन्तर्गत, जिसकी रचना 1950 में कोलम्बो में राष्ट्रमण्डलीय प्रधानमन्त्रियों के सम्मेलन में की गयी थी, दोनों देशों ने आर्थिक क्षेत्र में पूर्ण सहयोग किया है।

भारत और श्रीलंका में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध होने पर भी समय-समय पर कुछ ऐसी घटनाएँ घटित होती रही हैं जिससे दोनों देशों के बीच मतभेद उभरकर सामने आये।

भारतीय प्रवासियों की समस्या—भारत और श्रीलंका के मध्य विवाद का प्रमुख मसला भारतीय प्रवासियों को लेकर उत्पन्न हुआ। श्रीलंका के अधिकांश भारतीय प्रवासी (लगभग 10 लाख) चाय और रबर की खेती पर काम करवाने के लिए लाये गये थे। ये श्रमिक सस्ते थे और इनमें से अधिकांश दक्षिण भारत से ले जाये गये थे। 1948 में श्रीलंका के स्वतन्त्र होने तक यह ब्रिटिश नागरिकों के रूप में समान अधिकारों एवं मताधिकार का लाभ उठाते थे परन्तु शीघ्र ही 1948 के सीलोन नागरिकता अधिनियम एवं सीलोन संसदीय अधिनियम (1949) के द्वारा इन्हें मताधिकार से वंचित कर दिया गया। नागरिकता प्राप्त करने के लिए उन्हें यह प्रमाणित करना पड़ता था कि उनके माता-पिता या वे स्वयं श्रीलंका में जन्मे थे और 1939 से लगातार श्रीलंका में ही निवास कर रहे थे। इस प्रकार श्रीलंका सरकार का विचार सम्भवत: यह था कि कम से कम भारतीयों को श्रीलंका की नागरिकता प्राप्त हो सके। इसके पीछे मुख्य कारण थे : (i) बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण श्रीलंका में आर्थिक दबाव अनुभव होने लगा था और सिंहली लोग चाहते थे कि प्रवासी भारतीय यहाँ से चले जायें तो उनको रोजगार के अधिक अवसर प्राप्त होने लगें; (ii) प्रवासी भारतीय अपनी कमाई का बड़ा भाग भारत भेज देते थे। श्रीलंका के विदेशी विनिमय पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता था। (iii) भारतीय प्रवासी वर्षों से श्रीलंका में रहने के बाद भी भारत को ही अपना देश मानते थे। (iv) प्रवासी भारतीयों की बड़ी संख्या चुनावों को अत्यधिक प्रभावित करती थी। इसीलिए 1949 के निर्वाचन कानून द्वारा उन्हें मताधिकार से वंचित कर दिया गया।

उपर्युक्त कारणों के बावजूद भी प्रवासी भारतीयों के प्रति श्रीलंका सरकार का व्यवहार आपत्तिजनक और अन्यायपूर्ण था। प्रवासी भारतीय श्रमिकों को, जिनके श्रम से श्रीलंका ने आर्थिक उन्नति की और यूरोपीय पूँजीपतियों के कोष भरे, अब श्रीलंका से बहिष्कृत करने का प्रयास किया जा रहा था। समस्या और भी अधिक गम्भीर तब हो गयी जब श्रीलंका सरकार ने प्लाण्टेशन लेबर एवं विदेशी व्यावसायिक संगठनों का राष्ट्रीयकरण करने की नीति प्रकट की। अशिक्षित भारतीय श्रमिकों के साथ यह अन्याय था अतएव भारत सरकार के लिए हस्तक्षेप करना आवश्यक हो गया।

इस समस्या के समाधान के लिए भारत सरकार ने श्रीलंका सरकार से वार्ता प्रारम्भ की।

लम्बी वार्ता के परिणामस्वरूप जनवरी 1954 में जान कोटेलवाला नई दिल्ली आये और नेहरू के साथ उनका एक समझौता हुआ, जिसे नेहरू-कोटेलवाला समझौता कहते हैं। इसकी शर्तें निम्न प्रकार थीं :

1. श्रीलंका की सरकार उन सभी भारतीय मूल के लोगों के नाम रजिस्टर करेगी जो श्रीलंका में स्थायी रूप से रहने के इच्छुक हैं।

2. जो श्रीलंका की नागरिकता नहीं चाहते, उन्हें भारत वापस भेज दिया जायेगा।

3. भारत से श्रीलंका को अवैध अप्रवास सख्तीपूर्वक रोका जायेगा।

4. नागरिकता प्राप्त करने के लिए दो वर्षों से जो आवेदन पत्र पड़े है उनका निर्णय सरकार जल्द करेगी।

5. भारतीयों के लिए श्रीलंका में एक अलग चुनाव रजिस्टर बनेगा जिसके आधार पर वे निश्चित संख्या में अपने प्रतिनिधि चुनेंगे।

6. जिन भारतवासियों को श्रीलंका में नागरिकता नहीं दी जा सकेगी उन्हें विदेशी के रूप में रहने की सुविधा दी जायेगी।

श्रीलंका की सरकार ने इस समझौते का ईमानदारी से पालन नहीं किया, और भारतीय मूल के बहुत सारे व्यक्तियों को नागरिकताविहीन बना दिया। मार्च 1954 में श्रीलंका सरकार ने भारतीय मूल के नागरिकों के 'निवास आज्ञा पत्रों' (रेजीडेन्स परमिट्स) का नवीनीकरण स्थगित करने की आज्ञा दे दी और इस प्रकार श्रीलंका में वर्षों से बसे हुए नागरिकों को अवैध निवासी बना दिया। यह सब दिल्ली समझौते की भावना के विरुद्ध था। इसके उत्तर में भारत सरकार ने भी 1 जुलाई, 1954 से श्रीलंका से भारत आने के लिए वीसा प्राप्त करना आवश्यक कर दिया। इसके पूर्व वीसा प्राप्त करना आवश्यक नहीं था। भारत सरकार की ओर से भारतीय उच्चायुक्त ने श्रीलंका को चेतावनी दी कि भारत सरकार केवल उन्हीं व्यक्तियों को भारतीय नागरिकों के रूप में स्वीकार करेगी, जिन्होंने स्वेच्छा से इसके लिए आवेदन किया है और ऐसे व्यक्तियों को फिर श्रीलंका के बगीचों एवं अन्य खेतियों पर भी काम करने की अनुमति नहीं दी जायेगी।

राज्यविहीन नागरिकों की स्थिति पर दोनों सरकारों में मूलभूत अन्तर था। श्रीलंका सरकार इन्हें तब तक भारतीय नागरिक कहती थी जब तक वह उन्हें अपना नागरिक न मान ले। भारत सरकार के दृष्टिकोण से केवल वे ही व्यक्ति भारतीय नागरिक थे, जिनके पास सदैव से भारतीय पासपोर्ट अथवा अनुमति पत्र थे और जिन्होंनें भारतीय उच्चायुक्त के ऑफिस में अपने को पंजीकृत करा लिया था, शेष व्यक्ति राज्यविहीन थे। इसी प्रकार बड़ी संख्या में राज्यविहीन व्यक्तियों की समस्या उत्पन्न हो गयी। इससे भारत और श्रीलंका के सम्बन्धों में कटुता उत्पन्न हो गयी। 1956 के भाषा विवाद से यह कटुता और बढ़ गयी। श्रीलंका सरकार ने यह आरोप लगाया कि इन दंगों के पीछे भारत का हाथ था। परन्तु भण्डारनायके के प्रधानमन्त्रित्व (1956-59) में भारत और श्रीलंका सम्बन्धों में सुधार हुआ। भण्डारनायके नेहरू के प्रशंसक और मित्र थे, वे गुट-निरपेक्षता की नीति में विश्वास करते थे और भारत को श्रीलंका का एक बड़ा मित्र राष्ट्र मानते थे। उनकी हत्या के बाद श्रीमती भण्डारनायके (1960-77) के कार्यकाल में भी भारत-श्रीलंका सम्बन्ध मधुर रहे। इसी कारण अक्टूबर 1964 में भारतीय प्रधानमन्त्री लाल बहादुर शास्त्री और श्रीमती भण्डारनायके के बीच एक समझौता हुआ, जिसमें निम्न बातें मुख्य थीं :

1. श्रीलंका में रह रहे वे सभी भारतीय जो अभी तक किसी भी देश के नागरिक नहीं हैं वे भारत तथा श्रीलंका में से किसी भी देश की नागरिकता अपनायें।

2. यह अनुमान था कि श्रीलंका में ऐसे 9,75,000 व्यक्ति हैं जो राष्ट्रीयताहीन हैं। समझौते के अनुसार यह तय किया गया कि इनमें से 5,25,000 व्यक्तियों को भारत और

3,00,000 व्यक्तियों को श्रीलंका अपनी नागरिकता प्रदान करें और 1,50,000 व्यक्तियों को नागरिकता की समस्या को एक अन्य समझौते द्वारा सुलझा दिया जायेगा।

3. आने वाले 25 वर्षों में यह कार्य पूरा कर लिया जाये।

4. भारत आने वाले प्रवासियों को वे सभी सुविधाएँ प्राप्त होंगी जो किसी भी अन्य विदेशी को प्राप्त होती हैं लेकिन उन्हें विदेशों में धन भेजने की सुविधा नहीं होगी।

5. भारतीय अपनी कमाई हुई पूँजी को भारत ले जा सकेंगे लेकिन उसकी सीमा चार हजार से कम नहीं होनी चाहिए।

इस समझौते में एक कमी यह रह गयी कि 1,50,000 राष्ट्रीयताहीन व्यक्तियों की नागरिकता का सन्तोषपूर्ण फैसला नहीं हो पाया। लेकिन जनवरी 1974 में जब श्रीलंका की प्रधानमन्त्री श्रीमती भण्डारनायके भारत आयीं तो शेष 1,50,000 राष्ट्रीयताहीन व्यक्तियों की नागरिकता का भी फैसला हो गया। एक समझौते के अनुसार दोनों देशों ने आधे-आधे यानी 75-75 हजार व्यक्तियों को अपनी-अपनी नागरिकता देना स्वीकार कर लिया।

कच्छदीव टापू का मसला—भारत-श्रीलंका के बीच दूसरा मसला कच्छदीव से सम्बन्धित रहा है। कच्छदीव भारत और श्रीलंका के समुद्री तटों के बीच 200 एकड़ का एक छोटा सा द्वीप है जीसमें नागफनी के अतिरिक्त और कुछ नहीं उगता। यहाँ आवादी नहीं के बराबर है और आस-पास मछुआरे मछली जरूर पकड़ते है। दोनों देश इस भूखण्ड पर अपना आधिपत्य जताते थे। विवाद इसलिए और भी बढ़ गया क्योंकि इस द्वीप के आस-पास तेल के काफी वड़ भण्डार होने की आशा की जाती थी। भारत ने एक महान पड़ोसी देश की परम्परा का निर्वाह करते हुए इस छोटे से द्वीप के कारण दोनों देशों के बीच विवाद को लम्बा खींचना उपयुक्त नही समझा। 28 जून, 1974 को दोनों देशों में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार कच्छदीव टापू पर भारत ने श्रीलंका की प्रभुसत्ता को स्वीकार कर लिया।

जनता सरकार और भारत-श्रीलंका सम्बन्ध—जनता सरकार ने श्रीलंका से सम्वन्ध बढ़ाने के लिए ईमानदारी भरा प्रयत्न किया। श्रीलंका के विदेशमन्त्री हमीद अप्रैल 1978 में भारत आये और उसके बाद अक्टूबर 1978 में जयवर्द्धने ने स्वयं भारत की यात्रा की। उन्होंने प्रवासी भारतीयों की समस्या शीघ्र सुलझाने का आश्वासन दिया किन्तु 35 करोड़ रुपये के भुगतान असन्तुलन पर चिन्ता भी व्यक्त की। उन्होंने भारतीय पूँजी के विनियोग का स्वागत किया तथा दोनों देशों के सर्वविध आर्थिक सहयोग की कामना की। मुक्त व्यापार क्षेत्र स्थापित करने के प्रस्ताव पर भी ध्यान दिया गया। दोनों देशों की विदेश नीति का विश्व मामलों के बारे में लगभग समान दृष्टिकोण था, हालांकि कैम्प डेविड समझौते के बारे में जयवर्द्धने ने सरकार का रुख भारत की तरह आलोचनात्मक नहीं था। फरवरी 1978 में मोरारजी देसाई ने श्रीलंका की यात्रा की तथा प्रवासी भारतीयों की नागरिकता से सम्बन्धित प्रक्रिया की स्वयं जाकर देखभाल की। मोरार जी की इस श्रीलंका यात्रा से दोनों देशों में मधुरता का संचार हुआ इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु श्रीलंका के तमिलों की समस्या के बारे में कटुता ज्यों की त्यों बनी रही। मोरारजी ने श्रीलंका के तमिलों को यह सलाह दी कि वे अलगाववाद को छोड़े और सिंहलियों के साथ मिल-जुलकर रहें। जनता सरकार की इतनी बड़ी उदारता के बाद भी संयुक्त राष्ट्र महासभा में श्रीलंका का वोट पाकिस्तान के 'परमाणु मुक्त क्षेत्र' प्रस्ताव के पक्ष में पड़ता है।

श्रीलंका की जातीय (तमिल) समस्या एवं भारत-श्रीलंका सम्बन्ध—1982-90 में भारत-श्रीलंका सम्बन्धों को प्रभावित करने वाला मुख्य मुद्दा श्रीलंका का तमिल अल्पसंख्यक समुदाय है। श्रीलंका की डेढ़ करोड़ की आवादी में 74% सिंहली, 14% श्रीलंका के तमिल, 6% भारत मूल

के तमिल और शेष अन्य लोग हैं। तमिल श्रीलंका के उत्तर में जाफना जिले में रहते हैं। तमिल लोग धर्म से हिन्दू कहलाते हैं और सिंहली बौद्ध।

अनेक कारणों से श्रीलंका के तमिलों में असुरक्षा, अविश्वास और आतंक की भावना विद्यमान रही है। जयवर्द्धने की सरकार ने तमिलों के विरुद्ध घोर भेदभावपूर्ण नीतियाँ अपनायीं, आतंकवादियों के दमन के नाम पर निर्दोष लोगों की सामूहिक हत्या की जाने लगी। 1977 के बाद चार बड़े दंगे एवं 1983-85 का नरसंहार आदि ने तमिल नृवंशियों को बाध्य कर दिया कि या तो वे समुद्र में कूद पड़ें या समुद्र पार कर भारत चले जायें।

श्रीलंका के तमिलों के वर्तमान आन्दोलन का मूल कारण बहुसंख्यक सिंहलियों द्वारा की गयी भेदभाव की नीति है। एक तरफ देश के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में सिंहली शासक वर्ग का एकाधिकार है और दूसरी तरफ बौद्ध धर्म को देश का राष्ट्रीय धर्म बना दिया गया है और सिंहली भाषा को राष्ट्रीय भाषा का दर्जा दिया गया है दूसरी तरफ तमिलों की निम्नलिखित शिकायतें हैं : (i) सरकारी नौकरियों में भर्ती के वक्त तथा विश्वविद्यालयों में प्रवेश के वक्त उनके साथ भेदभाव किया जाता है; (ii) सरकार तमिल इलाकों में सिंहली किसानों को जानबूझकर बसा रही है ताकि तमिल लोग 'घर' में ही अल्पसंख्यक हो जायें; (iii) तमिलों के संगठन की शक्ति को तोड़ने के लिए सरकार तमिल अल्पसंख्यकों को देश के दूसरे हिस्सों में जबर्दस्ती बिखेर रही है; (iv) उग्रवादियों का सफाया करने के बहाने सरकार 'सरकारी आतंकवाद' फैला रही है।

श्रीलंका के तमिल समुदाय ने अपने आपको तुल्फ (TULF) 'तमिल यूनाइटेड लिबरेशन फ्रण्ट' नाम के राजनीतिक संगठन कर रखा है और इसके माध्यम से समय-समय पर वह अपने असन्तोष को अभिव्यक्त भी करता रहता है। तमिलों के कुछ उग्रवादी संगठन 'ईलम' (ऐलाम—Ealam) नाम के एक पृथक् राष्ट्र के निर्माण की बात करते हैं; परन्तु तमिलों का प्रमुख संगठन 'तुल्फ' (TULF) स्वायत्तता की ही माँग करता है। यह संगठन श्रीलंका को विभाजित नहीं करना चाहता परन्तु यह तमिलों के लिए एक स्वतन्त्र देश के नागरिकों की तरह सम्मानित जीवन अवश्य प्राप्त करना चाहता हैं। यही मुद्दा तमिल आन्दोलन का मूल आधार है।

श्रीलंका की घटनाओं से भारत के चिन्तित होने के कारण—श्रीलंका के तमिल अल्पसंख्यक समुदाय की समस्या उसका आन्तरिक मामला है और भारत श्रीलंका के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप नहीं करना चाहता। भारत 'ईलम' (पृथक् तमिल राज्य) की धारणा का समर्थक नहीं है, वह संगठित और अखण्ड श्रीलंका ही बनाये रखना चाहता है तथापि अनेक कारणों से वहाँ पर होने वाली घटनाओं के प्रति भारत का चिन्तित होना स्वाभाविक है। भारत की चिन्ता के निम्नलिखित कारण हैं : (i) श्रीलंका की घटनाएँ, तमिलों पर अत्याचार भारत के तमिल समुदाय (दक्षिणी राज्यों) को उत्तेजित करते हैं। (ii) भारत का उन घटनाओं से चिंतित होना स्वाभाविक है जब सिंहली बहुसंख्यक श्रीलंका के तमिल अल्पसंख्यक समुदाय की आर्थिक और व्यापारिक सम्पन्नता को नष्ट-भ्रष्ट कर उन्हें विपन्न बनाने का प्रयास करता है। (iii) जब नरसंहार से बचने के लिए एक लाख शरणार्थी भारत में शरण लेते हैं। (iv) जब जयवर्द्धने सरकार तमिल समस्या को अलस्टर, पंजाब या कश्मीर की समस्याओं से जोड़ने का प्रयास करती है। (v) जब श्रीलंका सरकार तमिल उग्रवादियों को सबक सिखाने के लिए इजराइल की खुफिया संस्थाओं 'शिनवेत' और 'मोसाद' को श्रीलंका की सेनाओं और पुलिस को प्रशिक्षण देने के लिए भाड़े पर रखती है। (vi) जब श्रीलंका सरकार निर्गुट नीति को ताक पर रखकर अमरीका को प्रसन्न करने के लिए इजराइल से राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करती है। (vii) जब श्रीलंका सरकार भारत को डराने के लिए त्रिकोमल्ली बन्दरगाह में अमरीकी नौसेना, जहाजों और युद्धपोतों को सुविधाएँ देने के लिए वार्ताएँ करती है।

जयवर्द्धने की सरकार ने तमिलों के विरुद्ध घोर भेदभावपूर्ण नीतियाँ अपनायीं, आतंकवादियों के दमन के नाम पर निर्दोष लोगों की सामूहिक हत्या की जाने लगी। जुलाई 1983 में तमिल आतंकवादियों ने 13 सैनिक मार डाले। इस पर श्रीलंका की सिंहली सेना, पागल हो उठी और सैकड़ों निर्दोष तमिलों को गोली से भून डाला। सरकारी जेलों में वन्दी तमिलों की नृशंस हत्या कर दी गयी। उनके घर और दुकानें जला दी गयीं। श्रीलंका के ये अत्याचार इतने भयंकर थे कि स्वयं श्रीलंका को यह आशंका होने लगी कि भारत उस पर आक्रमण कर सकता है। उसने इसके विरुद्ध अमरीका, ब्रिटेन, पाकिस्तान और बंगलादेश से सैनिक सहायता का आश्वासन माँगा जबकि भारत की इस प्रकार की कोई कार्यवाही करने की इच्छा नहीं रही। स्व० श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने तो 'श्रीलंका से दूर रहने का सिद्धान्त' (Hands off Sri Lanka) प्रतिपादित किया था।

तमिल समस्या के समाधान में भारतीय सहयोग—तमिल समस्या का समाधान करने हेतु भारत शुरू से ही बातचीत का रास्ता अपनाता रहा है। जुलाई 1983 से जी० पार्थसारथी भारतीय प्रधानमन्त्री के विशेष दूत के रूप में कोलम्बो मे बातचीत करते रहे हैं। श्रीलंका के राष्ट्रपति जयवर्द्धने जून 1984 और जून 1985 में दिल्ली में भारतीय प्रधानमन्त्री के साथ शिखर वार्ताएँ कर चुके हैं। भूटान की राजधानी थिम्पू में श्रीलंका की समस्या के शान्तिमय हल के लिए पहली बार 8 जुलाई से और पुन: 12 अगस्त से वार्ताएँ हुईं। परन्तु ये वार्ताएँ विफल रहीं।

श्रीलंका सरकार समस्या का समाधान सैनिक शक्ति के बल पर निकालने का प्रयत्न करती रही जबकि भारत बातचीत के जरिये समस्या के हल करने की सलाह देता है। श्रीलका ने भारत पर यह भी आरोप लगाया कि आतंकवादी चुनौती तमिलनाडु सरकार द्वारा समर्थित आन्दोलन से शुरू होती है। इससे सद्प्रयास कमजोर होते हैं और विश्वसनीयता घटती है।

श्रीलंका सरकार ने तमिल विद्रोहियों का सफाया करने के लिए जनवरी 1987 में जाफना की आर्थिक नाकेबन्दी की, मई 1987 में श्रीलका की सेना ने जाफना पर चौतरफा हमले भी किये। भारत ने तमिल नरसंहार पर 'दुख' जाहिर किया और 'जातीय संहार' की भर्त्सना की। भारतीय कूटनीति अचानक संघर्ष की मुद्रा में आ गयी और भारत ने 1 जून, 1987 को मानवीय आधार पर जाफना की पीड़ित जनता के लिए राहत सामग्री भेजने की घोषणा की। भारतीय नौकाएँ भारतीय रेडक्रास के झण्डे के नीचे राहत सामग्री लेकर 3 जून, 1987 को जाफना की ओर रवाना हुई। परन्तु श्रीलंका के नौ सैनिक बेड़े ने नौकाओं को श्रीलंका की जल सीमा में घुसने नहीं दिया। यह भारत के लिए प्रतिष्ठा का प्रश्न वन गया। अत: भारत ने 5 जून, 1987 को खाद्य सामग्री और दवाएँ जाफना प्रायद्वीप पर विमान से गिराने का फैसला किया। इन विमानों की चौकसी के लिए जंगी विमान (मिराज-2000) गये। कोलम्बो ने इन विमानों का प्रतिरोध नहीं किया और विमान राहत सामग्री पहुँचाकर वापस भारत लौट आये। श्रीलंका ने भारत की हवाई राहत की तीखी आलोचना की। इसे श्रीलंका की सीमा और सम्प्रभुता तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के खुले उल्लंघन की सज्ञा दी। हवाई राहत का एक गम्भीर परिणाम यह निकला कि इसने श्रीलका की जातीय समस्या को भारत-श्रीलंका समस्या में परिवर्तित कर दिया।

राजीव-जयवर्द्धने समझौता : 29 जुलाई, 1987—भारत के प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी और श्रीलंका के राष्ट्रपति जयवर्द्धने के बीच कोलम्बो में 29 जुलाई, 1987 को एक 18-सूत्री समझौता हुआ। चूँकि यह समझौता कोलम्बो में हुआ इसीलिए इसे 'कोलम्बो समझौता' भी कहते हैं। इस समझौते की मुख्य शर्तें निम्न हैं :

1. उपद्रवग्रस्त उत्तरी प्रान्त में 48 घण्टों के भीतर युद्ध विराम;
2. तमिल उग्रवादियों द्वारा 72 घण्टों में हथियार डालना;
3. उत्तरी प्रान्त में एक 'द्विपक्षीय शान्ति सेना' की स्थापना;

4. पूर्वी प्रान्त में यह तय करने के लिए कि क्या लोग उत्तरी प्रान्त के साथ विलय चाहते हैं, वर्ष के अन्त तक जनमत संग्रह कराना; जनमत संग्रह के समय भारतीय निर्वाचन आयोग का एक सदस्य उपस्थित रहेगा।

5. प्रान्तीय परिषदों के लिए अगले तीन माह में चुनाव और हर हालत में दिसम्बर तक चुनाव;

6. एकीकृत उत्तर-पूर्वी प्रान्तीय परिषद के चुनावों के लिए भारतीय पर्यवेक्षक आमन्त्रित किये जायेंगे;

7. उत्तरी-पूर्वी प्रान्त के लिए एक गवर्नर, मन्त्रि परिषद व विधान परिषद का गठन;

8. भारत सरकार इस समझौते के कार्यान्वयन की गारण्टी देगी। भारतीय क्षेत्र का प्रयोग किसी ऐसी गतिविधि के लिए नहीं किया जायगा, जो श्रीलंका की एकता व अखण्डता को हानि पहुँचाने वाली हों;

9. भारतीय नौसेना और तटरक्षक दल श्रीलंका के अधिकारियों के साथ इस बात के लिए सहयोग करेंगे कि तमिल उग्रवादियों की गतिविधियों को किसी प्रकार प्रभावित नहीं करें;

10. भारत, श्रीलंका के उन नागरिकों को वापस भेज देगा, जो आतंकवादी गतिविधियों में लिप्त पाये जायेंगे।

11. भारत में श्रीलंका के शरणार्थियों को श्रीलंका सरकार वापस ले लेगी।

12. श्रीलंका में गिरफ्तार राजनीतिक लोगों को छोड़ दिया जायेगा और उन्हें क्षमा कर दिया जायेगा।

13. भारत, श्रीलंका की सेनाओं को इस समझौते के कार्यान्वयन हेतु, जब कभी आवश्यक हो, प्रशिक्षण सुविधाएँ तथा सैनिक साज-सामान देगा।

14. इजराइल, ब्रिटेन, अमरीका और पाकिस्तान के सैनिक तथा खुफिया एसोसियेशन की द्वीप में उपस्थिति का पता लगाने के लिए संयुक्त सलाहकार मशीनरी की स्थापना होगी।

15. श्रीलंका विदेशी प्रसारण निगमों से अपने सम्बन्धों को यह सुनिश्चित करने के लिए समीक्षा करेगा कि उन्हें प्रदान की गयी सुविधाएँ सैनिक अथवा गुप्तचर कार्यों के लिए नहीं प्रयोग की जायें।

राजीव जयवर्द्धने समझौते को 'बेमिसाल' और 'ऐतिहासिक' समझौता कहा गया। राजीव गांधी के अनुसार यह '20वीं सदी का सबसे बड़ा समझौता' है। फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन के अध्यक्ष यासर आराफत ने समझौते को 'एशिया की महत्वपूर्ण घटनाओं में से' एक बताया। यह समझौता श्रीलंका की एकता और अखण्डता की गारण्टी देता है। समझौता तमिल होमलैण्ड का जिक्र किये बिना पूर्वी और उत्तरी प्रान्तों को तमिलों के 'आवर्तन आवास' का क्षेत्र स्वीकार करता है जहाँ उनकी अपनी निर्वाचित प्रान्तीय परिषद होगी, अपना गवर्नर, मुख्यमन्त्री और मन्त्रिमण्डल होगा। समझौता दक्षिण एशिया में शान्ति स्थापित करने और विदेशी हस्तक्षेप को नेस्तनाबूद करने का प्रयत्न है। इससे भारत-श्रीलंका के सम्बन्धों में सुधार होगा तथा समझौते ने भारत को इस महाद्वीप की एक बड़ी शक्ति सिद्ध कर दिया है।

श्रीलंका की बहुसंख्यक सिंहली जनता ने समझौते का तीव्र विरोध किया है। प्रधानमन्त्री प्रेमदास व आन्तरिक सुरक्षा मन्त्री अतुलत मुदाली ने इससे अपने को पूर्णतः अलग रखा। राजीव गाँधी की कोलम्बो यात्रा के समय वहाँ करफ्यू लगा हुआ था। बाद में भी कई जगह हिंसक वारदातों द्वारा सिंहली लोगों ने समझौते के विरुद्ध आक्रोश प्रकट किया। आलोचकों ने इसे श्रीलंका की सार्वभौमिकता के विरुद्ध एवं असम्मानजनक समझौता कहा। आलोचकों के अनुसार समझौता भारत और श्रीलंका सरकारों के बीच हुआ है—अलग तमिल राज्य की लड़ाई लड़ने वाले तमिल

कट्टरपन्थी संगठनों के साथ नहीं। ईलम पीपुल्स रिवोल्यूशनरी फ्रण्ट के अधिकृत प्रवक्ता कन्नीस्वरन के अनुसार, "सिर्फ समझौते पर दस्तखत होने भर से समस्या हल हो जायेगी, इसमें सन्देह है।'[1] इसी तरह ईलम रिवोल्यूशनरी आर्गेनाइजेशन के बी० बालाकुमार ने कहा, 'हमसे कहा गया है कि भारत यह समझौता चाहता है और वह इस पर कायम रहेगा, लेकिन समझौता सिर्फ भारत और श्रीलंका के बीच हुआ है, हमारी इसमें कोई भागीदारी नहीं है...।'[2]

फिर भी, इस समझौते को दोनों देशों के नेताओं के साहस और सूझबूझ का परिणाम कहना समीचीन है। समझौता भारत की कूटनीतिक सफलता है। इसने श्रीलंका का, कम से कम राष्ट्रपति जयवर्द्धने का, पाकिस्तान व पश्चिम की ओर झुकाव खत्म कर उन्हें भारतीय प्रभामण्डल में खींच लिया।[3]

श्री लंका में भारतीय शान्ति सेनाएँ—राजीव-जयवर्द्धन समझौते के अन्तर्गत 'भारतीय शान्ति सेनाएँ' श्रीलंका भेजी गयीं। भारतीय सेना के चौथे और 54वें डिवीज़न के 50 हजार जवान जाफना में फैल गये। शान्ति सेना का उद्देश्य तमिल मुक्ति चीतों के गढ़ जाफना को घेरकर उन्हें आत्मसमर्पण के लिए बाध्य करना था। मुक्ति चीतों ने राजीव-जयवर्द्धने समझौता स्वीकार नहीं किया। जाफना को मुक्त कराने में आयी तमाम मुश्किलों के बावजूद इस उपलब्धि को शान्ति सेना के एक अधिकारी ने 'एक वाहियात लड़ाई और वह भी दूसरों के लिए लड़ी गयी' बताया।[4] भाजपा नेता जसवन्तसिंह के अनुसार पहली बार भारतीय फौजों को एक ऐसी कार्यवाही में लगा दिया गया जहाँ उन्हें पता ही नहीं चल रहा है कि वे अपनी जान का जोखिम क्यों उठा उठा रही हैं। अब तक 1,100 जवान और अधिकारी मारे जा चुके हैं और तीस हजार घायल हुए हैं। भारतीय जवानों का मानना है कि वह एक शान्ति सेना न होकर विद्रोहियों (Insorgency) से लड़ने वाली सेना दिखायी पड़ने लगी है। जयवर्द्धन ने अपनी कूटनीति से भारतीय सेना को तमिल उग्रवादियों से भिड़ा दिया। भारतीय उन्हीं लोगों को मार रहे हैं। जिनका भारत से खून का रिश्ता है। भारत श्रीलंका के राष्ट्रपति जयवर्द्धन की गन्दगी साफ करने में लगा हुआ है। श्रीलंका के सैनिक अपने ठिकानों पर आराम कर रहे हैं।[5] दक्षिण कमान के प्रमुख ले० जनरल देपिन्द्रसिंह ने स्वीकार किया है कि "जहाँ तक भारतीय सेना का सवाल है, छापामार युद्ध से उसका पाला पहली बार पड़ा।[6] आलोचकों का कहना है कि "भारत श्रीलंका में उलझ गया है, कहीं यह भारत का 'वियतनाम' सिद्ध न हो।"· श्रीलंका में अपनी सेनाएँ भेजकर भारत ने बहुत बड़ा कदम उठाया है, एक तरह से यह जरूरी भी था, क्योंकि भारत पहल न करता तो भारत विरोधी ताकतें जयवर्द्धन की 'मदद' के लिए तैयार बैठी थीं। भारत ने हिम्मत करके शेर की सवारी का फैसला किया तो उसके जोखिम भी गले लगाने होंगे।"[7]

श्रीलंका में भेजी गयी भारतीय सेनाओं की तुलना अफगानिस्तान में भेजी गयी रूसी सेनाओं या ग्रेनाडा में उतारी गयीं अमरीकी सेनाओं से नहीं की जा सकती। भारत ने अपनी

---

1 इण्डिया टुडे, 15 अगस्त, 1987, पृ० 83।

2 वही।

3 वही, पृ० 86।

4 'Our relations feel that they are fighting a distant battle for a cause they are not aware of. Some of them are critical of even the acronyous IPKF, since it is not a peace keeping force, its task is to fight an insurgency in a foreign country.'

—*The Indian Express*, April 12, 1988, p. 8.

5 *Ibid.*,

6 इण्डिया टुडे, 15 नवम्बर, 1987, पृ० 48।

7 दिनमान, 9 नवम्बर, 1987, पृ० 16।

सेनाएँ द्विपक्षीय रजामन्दी के बाद भेजी हैं तथा भारतीय सेनाएँ श्रीलंका के राष्ट्रपति के निर्देश पर ही काम कर रही हैं। भारतीय सेनाएँ श्रीलंका में उस दिन तक रहेंगी जब तक वहाँ की सरकार उनकी जरूरत समझती है। भारतीय शान्ति सेनाओं का उद्देश्य श्रीलंका में शान्ति का माहौल बनाने एवं तनाव दूर करने में सहायता करना है। नवभारत टाइम्स के सम्पादक राजेन्द्र माथुर के अनुसार "श्रीलंका की किस्मत सँवारने के लिए जैसा रचनात्मक दखल भारत ने दिया है वैसा 1947 के बाद भारत ने इस उपमहाद्वीप में और कहीं नहीं दिया।"

प्रेमदास ने राष्ट्रपति बनने के साथ ही भारत सरकार से शान्ति सेना की वापसी का अनुरोध किया। अतः जनवरी 1989 से भारतीय शान्ति सेना की वापसी श्रीलंका से शुरू हो गयी। यह वापसी कई चरणों में होगी। हाल ही में श्रीलंका के राष्ट्रपति रणसिंघे प्रेमदास ने श्रीलंका से 29 जुलाई 89 तक सम्पूर्ण शांति सेना (45 हजार) की वापसी की माँग करके भारत और श्रीलंका के मध्य गंभीर राजनयिक मतभेद को जन्म दिया है। प्रेमदास ने शांति सेना की वापसी के मसले पर विचार-विमर्श करने के राजीव गाँधी के प्रस्ताव को एकदम ठुकरा दिया। राजीव के अनुसार भारत ने श्रीलंका में शांति स्थापित करने की गारण्टी दे रखी है, यानी शांति कायम हुए बिना शांति सेना वहाँ से नहीं हटेगी। भारतीय सेना को श्रीलंका की आन्तरिक समस्याओं पर काबू पाने के लिए जाना चाहिए था या नहीं, इस पर दो मत हो सकते हैं लेकिन इतना तो हुआ ही है कि श्रीलंका में लोकतान्त्रिक प्रक्रिया शुरू हुई है और उसमें भारतीय सेना का योगदान भी रहा है।

प्रेमदास इस मुद्दे को क्षेत्रीय रूप दे चुके हैं। श्रीलंका ने यहाँ तक घोषणा की कि वह भारतीय रवैये के विरोध में अगले महीने दक्षेस देशों के विदेश मंत्रियों की बैठक में भाग नहीं लेगा। हाल के एक भाषण में उन्होंने कहा, 'अगर कोई विदेशी सेना किसी देश में उसकी इच्छा के विपरीत घुसती है तो इसे आक्रमण माना जाना चाहिये।' भारत की मुख्य चिंता यह है कि शान्ति सेना की वापसी से कहीं श्रीलंका के तमिल फिर वहाँ की सेना के हमलों के शिकार न होने लगें।

शान्ति सेना की वापिसी पर समझौता—18 सितम्बर, 1989 को कोलम्बो में भारत और श्रीलंका के मध्य हुए समझौते के तहत शान्ति सेना ने अपनी आक्रामक फौजी कार्यवाई को स्थगित कर दिया तथा भारतीय शान्ति सेना के 45 हजार सैनिक शीघ्र भारत वापिस लौट आयेंगे। समझौते के अनुसार शान्ति सेना की अन्तिम टुकड़ी मार्च 90 में स्वदेश वापिस लौट आयी।

निष्कर्ष—भारत-श्रीलंका सम्बन्ध अभी भी सामान्य नहीं हैं। जयवर्द्धने ने आरोप लगाया कि तमिलनाडु में तमिल उग्रवादियों को प्रशिक्षण की सुविधा तथा उन्हें धन से मदद की जा रही है भारत-श्रीलंका समझौता लागू करने के मार्ग में तमिल उग्रवादी तथा सिंहली उग्रवादी दोनों ही बाधक बने हुए हैं। भारत-श्रीलंका के कई मन्त्री व सांसद भी इस समझौते के विरुद्ध हैं, अतः आगामी महीनों में इस समझौते को लागू करने में और भी कठिनाइयाँ आ सकती हैं। जब तक तमिल समस्या का समाधान नहीं हो जाता है, तब तक भारत और श्रीलंका के सम्बन्धों का मैत्रीपूर्ण होना कठिन है। श्रीलंका तथा भारत दोनों देशों में तमिलों को यह भरोसा दिलाने की जरूरत है कि भारत की लिट्टे के साथ युद्ध जारी रखने की कोई मंशा नहीं है।

भारत-बंगला देश सम्बन्ध
(INDO-BANGLA DESH RELATIONS)

बंगला देश के उद्भव के समय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विकसित 'अमरीकी-चीन' देतांत ने

---

1 **प्रतियोगिता दर्पण**, जनवरी, 1988, पृ० 522।

2 **इण्डिया टुडे**, 15 जुलाई, 1989।

भारत के समक्ष बड़ी समस्या उत्पन्न कर दी थी। एक ओर पाकिस्तान, चीन और अमरीका की साँठगाँठ से दक्षिण एशिया में शक्ति सन्तुलन अस्त-व्यस्त हो रहा था, तो दूसरी ओर पाकिस्तान के दो सम्भागों के बीच झगड़े का सीधा प्रभाव भारत पर आ पड़ा था। पूर्वी बंगाल में पाकिस्तान की सैनिक कार्यवाही के परिणामस्वरूप लाखों लोगों को अपना वतन छोड़कर भारत में आना पड़ा। धीरे-धीरे शरणार्थियों की संख्या बढ़कर एक करोड़ हो गयी। संसार में इतनी बड़ी जनसंख्या का दूसरे देश में आगमन पहली घटना थी। इस विशाल जनसमुदाय के खान-पान, रहन-सहन और स्वास्थ्य सम्बन्धी देखभाल का भार भारत पर था। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात भारत की सुरक्षा, अखण्डता और सार्वभौमिकता को अक्षुण्ण बनाये रखने की थी। विश्व के अधिकांश देश इस प्रसंग पर तटस्थ थे क्योंकि वे इस भाग की लपट से वहुत दूर थे। किन्तु पूर्वी बंगाल में जो कुछ भी घटित हो रहा था, उससे देखते हुए भारत न तो तटस्थ दृष्टा रह सकता था और न विरक्त ही। देश की संसद, अखवार, राजनीतिक दल और प्रबुद्ध जन, सभी बंगला की जनता और उसके नेताओं को समर्थन देने की माँग कर रहे थे। भूतपूर्व विदेशमन्त्री एम० सी० छागला का कहना था राजनीतिक, वैधानिक और नैतिकता की दृष्टि से बंगला देश को मान्यता देना न्यायोचित है। भारतीय हितों के परिप्रेक्ष्य में विवेचना करते हुए उन्होंने कहा कि, "बंगला देश का उद्भव हमारे अच्छे पड़ौसी की दृष्टि से स्वागत योग्य है। इसके साथ हमारे सांस्कृतिक, राजनीतिक और व्यापारिक सम्बन्ध होगे। यह पड़ौसी पाकिस्तान से भिन्न होगा। क्या हम अपने पूर्वी भाग में मित्र-पड़ौसी नहीं चाहते?" प्रसिद्ध पत्रकार अजित भट्टाचार्य का अभिमत था कि—"भूगोल, इतिहास, संस्कृति और आर्थिक हितों की दृष्टि से इस संघर्ष की परिणति भारत के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शरणार्थियों के आगमन से स्थिति और भी गम्भीर हो गयी है। इन सव वातों को देखते हुए भारत के लिए यह आवश्यक है कि इस लड़ाई का अन्त बांगला देश के पक्ष में हो। सन् 1962 और 1965 में जितनी जोखिम थी उतनी ही इसमें विद्यमान है। इसमें हमें निश्चय ही लाभ होगे। वे इस प्रकार हैं: (अ) हमारी सीमाओं के दोनों ओर एक सशक्त दुश्मन की जगह एक मित्र और दूसरा, कमजोर दुश्मन ही रह जायेगा; (ब) कश्मीर की समस्या का समाधान भी सरल हो जायेगा; (स) धर्मनिरपेक्ष राज्य की महत्ता बढ़ेगी और धर्मतन्त्रीय राष्ट्रवाद की मिथ उजागर हो जायेगी।"

पाकिस्तान ने धीरे-धीरे पूर्वी बंगाल में अपनी स्थिति और भी सुदृढ़ कर ली। पश्चिमी सीमान्त पर पाकिस्तानी सेना के जमाव ने स्थिति को और भी विस्फोटक बना दिया। युद्ध भारत के दरवाजे पर दस्तक दे रहा था। निक्सन माओ से मिलने जा रहे थे और भारत यह समझने लगा कि दो शक्तियों का यह मिलन भारत के लिए खतरनाक हो सकता है। जव 3 दिसम्बर, 1971 को पाकिस्तान ने पठानकोट, अमृतसर, जोधपुर, आगरा और श्रीनगर पर बमबारी कर इस उपमहाद्वीप में युद्ध छेड़ दिया तो दो सप्ताह की घमासान लड़ाई के वाद बंगला देश की मुक्ति-वाहिनी और भारतीय सेना के समक्ष पाकिस्तान को शस्त्र डालने पड़े। बंगला देश आजाद हुआ और शेख मुजीबुर्रहमान रिहा कर दिये गये। अपनी रिहाई के बाद ढाका जाते समय वे भारत रुके। उनके स्वागत समारोह में भारत की भूमिका को दोहराते हुए प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने जो कहा वह उल्लेखनीय है:

"मैंने कहा था कि ये शरणार्थी अपने घर पुनः लौटेंगे। हम मुक्तिवाहिनी और बंगलाजन की हर तरह से सहायता करेंगे। हमने शेख साहब को मुक्त कराने का भी व्रत लिया था। ये तीनों ही वायदे पूरे कर दिये गये हैं।"[1]

---

1 डॉ० बिमला प्रसाद : इण्डो-सोवियत रिलेशन्स, पृ० 518.

संक्षेप में, बंगला देश के निर्माण में भारत की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। बंगला देश का निर्माण भारत-पाक युद्ध के दौरान 15 दिसम्बर, 1971 को हुआ। भारत ही सबसे पहला देश है जिसने 6 दिसम्बर, 1971 को बंगला देश को मान्यता दे दी। भारत की सेनाओं ने बंगला देश की मुक्तिवाहिनी से मिलकर 16 दिसम्बर, 1971 को स्वतन्त्र बंगला देश की स्थापना करायी।

भारत-बंगला देश सम्बन्ध (1971 से 1975)
(INDO-BANGLA DESH RELATIONS, 1971-1975)

6 दिसम्बर, 1971 को भारत ने बंगला देश को मान्यता दे दी। 10 दिसम्बर, 1971 को प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी और बंगला देश के तत्कालीन कार्यवाहक राष्ट्रपति नजरुल इस्लाम के मध्य एक सन्धि हुई जिसके अनुसार भारतीय सेनापति की मध्यक्षता में एक संयुक्त कमान का निर्माण किया गया। जब 16 दिसम्बर, 1971 को बंगला देश में पाकिस्तानी सेना के कमाण्डर जनरल नियाजी ने हथियार डाल दिये तो स्वतन्त्र बंगला देश का निर्माण हो गया। भारत के प्रयासों से 9 जनवरी, 1972 को शेख मुखीव को पाकिस्तानी जेल से रिहा कर दिया गया और 10 जनवरी, 1972 को भारत पहुँचने पर शेख ने भारत के प्रति अपने आभार को व्यक्त किया। शेख मुजीव ने कहा' "भारत-बंगला देश एक असीम भाई-चारे में बँध गये हैं; उनका कृतज्ञ राष्ट्र भारत की सहायता भुला नहीं सकेगा।"

स्वतन्त्र बंगला देश के निर्माण के समय से लेकर 1975 तक भारत-बंगला देश सम्बन्ध घनिष्ठ मित्रता के रहे। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति दोनों देशों के दृष्टिकोणों और विचारों में काफी समानता रही। दोनों ही देश धर्मनिरपेक्षता, पंचशील और गुटनिरपेक्षता की नीति में विश्वास करते रहे। दोनों हिन्द महासागर को शान्ति का क्षेत्र बनाये रखना चाहते थे। बंगला देश को मान्यता दिलाने में भारत की कूटनीति अत्यधिक सक्रिय रही। शेख मुजीव के कार्यकाल, में भारत बंगला देश के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को सुदृढ़ करने के लिए निम्नलिखित सन्धियाँ और समझौते किये गये :

(i) **19 मार्च, 1972 की मैत्री सन्धि**—फरवरी 1972 में शेख मुजीब भारत की यात्रा पर आये और मार्च 1972 में श्रीमती गाँधी बंगला देश गयीं।

19 मार्च, 1972 को भारत और बंगला देश के बीच एक मैत्री सन्धि हुई जिसकी अवधि 25 वर्ष की थी। इस सन्धि के द्वारा दोनों देशों ने एक-दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने, एक-दूसरे की सीमाओं का आदर करने, एक-दूसरे के विरुद्ध किसी अन्य देश की सहायता नहीं करने, विश्व शान्ति और सुरक्षा को दृढ़ बनाने आदि का संकल्प किया। सन्धि में यह व्यवस्था भी की गयी कि यदि दोनों देशों में कोई मतभेद हो जायेगा तो उसे आपसी बातचीत द्वारा हल करने की कोशिश करेंगे।

(ii) **व्यापार समझौता**—भारत-बंगला देश के बीच 25 मार्च, 1972 को एक व्यापार समझौता हुआ जिसके अनुसार सीमाओं के दोनों तरफ सोलह-सोलह किलोमीटर तक स्वतन्त्र व्यापार की व्यवस्था थी। इसमें आयात-निर्यात और विनिमय सम्बन्धी कोई नियन्त्रण नही था।

(iii) **आर्थिक सहायता**—बंगला देश के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए भारत ने 25 करोड़ रुपये मूल्य का माल और सेवाएँ प्रदान करने का वचन दिया। भारत ने बंगला देश को 50 लाख पौण्ड की विदेशी मुद्रा का ऋण देने का भी निश्चय किया।

(iv) **सांस्कृतिक समझौता**—30 दिसम्बर, 1972 को दोनों देशों के बीच एक सांस्कृतिक समझौता हुआ जिसने दोनों के सम्बन्धों को और भी मजबूत किया।

पाकिस्तान के साथ 3 जुलाई, 1972 को शिमला समझौता और 18 अगस्त, 1973 को युद्धबन्दी समझौता करते समय भी भारत ने बंगला देश से परामर्श किया। अप्रैल 1974 में भारत,

पाकिस्तान और बंगला देश के मध्य एक त्रिपक्षीय समझौता हुआ जिसके अनुसार सभी पाकिस्तानी युद्ध-वन्दी मुक्त कर दिये गये। मई 1974 में बंगला देश और भारत के बीच सीमांकन सम्बन्धी समझौता हुआ जिसके अनुसार भारत ने दाहग्राम और अमरकोट का क्षेत्र बंगला देश को दे दिया और बंगला देश ने बेरूबाड़ी पर भारतीय अधिकार स्वीकार कर लिया। मई 1974 में भारत ने बंगला देश को 40 करोड़ रुपये का ऋण देना भी स्वीकार किया। इस ऋण का उपयोग बंगला देश रेल के डिब्बे और अन्य उपकरण, सीमेण्ट, मशीनें तथा कृषि उपकरण खरीदने के लिए करेगा।

संक्षेप में, शेख मुजीब के कार्यकाल में भारत-बंगला देश सम्बन्ध मधुर रहे।

शेख मुजीब के बाद भारत-बंगला देश सम्बन्ध (1975–1983)

भारत-बंगला देश सम्बन्ध (1975–1982)

15 अगस्त, 1975 को शेख मुजीब की हत्या कर दी गयी। पहले खोदकर मुश्ताक अहमद और फिर 6 नवम्बर, 1976 को जस्टिस आबू सादात सयाम राष्ट्रपति बने। 30 जनवरी, 1976 को मेजर जनरल जिया-उर-रहमान ने मुख्य मार्शल लॉ प्रशासक बनकर सत्ता पर अधिकार कर लिया। मई 1981 में जिया-उर-रहमान की हत्या कर दी गयी। 24 मार्च, 1982 को राष्ट्रपति अब्दुल सत्तार के असैनिक शासन का तख्ता पलट कर लेफ्टीनेण्ट जनरल एच० एम० इरशाद मुख्य मार्शल लॉ प्रशासक बन गये।

शेख मुजीब की हत्या के बाद बंगला देश के शासकों ने भारत विरोधी और पाक समर्थक नीति अपनायी। यद्यपि इरशाद के काल (1982 से) में भारत विरोधी स्वर कुछ हलका पड़ा परन्तु फिर भी भारत-बंगला देश सम्बन्ध उतने मधुर नही कहे जा सकते जितने शेख मुजीब के युग मे थे। वस्तुतः शेख मुजीब की हत्या के बाद बंगला देश में जो नयी सरकारें बनी उनका भारत के प्रति कठोर रुख था।

1975-1982 की कालावधि में भारत-बंगला देश के मध्य सम्बन्धों को प्रभावित करने वाले निम्नलिखित मुद्दे प्रमुख थे :

1. **फरक्का समस्या**—बंगला देश ने गंगा के पानी के बँटवारे की समस्या (फरक्का विवाद) को अन्तर्राष्ट्रीय रूप देने का प्रयत्न किया और संयुक्त राष्ट्र संघ व अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर उछालने का प्रयास किया। भारत ने बंगला देश को इस जल विवाद को अन्तर्राष्ट्रीय रूप न देने के लिए सहमत कर लिया और ढाका व दिल्ली में वार्ताओं के बाद दोनों देशों ने 29 सितम्बर, 1977 को एक समझौता किया। यही समझौता फरक्का समझौता कहलाता है।

फरक्का समझौता 5 नवम्बर, 1977 को लागू हुआ। इसमें दो व्यवस्थाएँ की गयीं—

(i) **अल्पकालीन व्यवस्था**—इस व्यवस्था के अनुसार 12 अप्रैल से 30 अप्रैल तक जबकि पानी की बहुत कमी रहती है भारत को 20,800 क्यूसेक और बंगला देश को 34,700 क्यूसेक पानी मिलेगा और इसके तुरन्त बाद भारत को मिलने वाले पानी की मात्रा बढ़ती जायेगी और जल्दी ही 40,000 क्यूसेक तक पहुँच जायेगी। अल्पकालीन व्यवस्था में यह बात भी रखी गयी कि अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए भारत फरक्का के नीचे से भी कुछ मात्रा में पानी ले सकता है। इस व्यवस्था में यह कहा गया कि यह समझौता 5 वर्ष के लिए है और 3 वर्ष बाद इस पर पुनर्विचार किया जायेगा।

(ii) **दीर्घकालीन व्यवस्था**—इसके अन्तर्गत दोनों देशों ने अपने ऊपर गंगा के प्रवाह को तेज करने की जिम्मेदारी ली और 1972 में स्थापित संयुक्त आयोग इस सम्बन्ध में दोनों पक्षों के प्रस्तावों की जाँच करके यह बतायेगा कि उनके प्रस्ताव व्यावहारिक और मितव्ययी हैं या नहीं और ये सिफारिशें दोनों को लगभग पाँच वर्ष के भीतर विचार के लिए मिल जायेगी।

भारत में इस समझौते पर तीखी प्रतिक्रियाएँ हुई। आलोचकों के अनुसार गंगा मुख्य रूप

से भारतीय नदी है क्योंकि इसकी 80 प्रतिशत धारा भारत में है। दूसरा, 40,000 क्यूसेक से कम पानी मिलने पर कलकत्ता की हालत खराब होने का अंदेशा था, जबकि फरक्का का निर्माण कलकत्ता बन्दरगाह के लिए ही हुआ था। तीसरा, पानी की कमी के समय भारत को केवल 20,800 क्यूसेक पानी ही मिलेगा जो इसकी आवश्यकता से लगभग 20,000 क्यूसेक कम होगा और बंगला देश को अपनी आवश्यकता से 5,000 क्यूसेक अधिक पानी मिलेगा। वस्तुतः बंगाल और त्रिपुरा की जनता को नाराज करके फरक्का समझौता किया गया। डॉ० वेद प्रताप वैदिक के अनुसार "फरक्का समझौते के अन्तर्गत बंगला देश को रियायतें देने के लिए जनता सरकार ने भारत द्वारा प्रस्तुत पुराने सभी तर्कों को दरकिनार कर दिया। हो सकता है कि कांग्रेस सरकार कलकत्ता बन्दरगाह को बचाने के नाम पर जरूरत से ज्यादा पानी मांगने की बात करती रही है और जनता सरकार ने उचित उदारता का परिचय दिया हो किन्तु उसका नतीजा क्या हुआ? उदारता बांझ ही साबित हुई।" फरक्का समझौता गंगा के पानी के बँटवारे की समस्या का स्थायी समाधान नहीं था। अतः इसे 1982 के समझौते (स्मरण पत्र) द्वारा रद्द कर दिया गया।

(ii) **फरक्का समझौते की दीर्घकालीन व्यवस्था पर आनाकानी**—गंगा के पानी के बँटवारे की समस्या को हल करने के लिए भारत ने सितम्बर 1977 में अपने हितों को अनदेखा करते हुए बंगला देश के साथ इसलिए फरक्का समझौता किया था कि इससे गंगा के प्रवाह को तेज किया जा सकेगा और दोनों देशों की वार्ताओं से समस्या का स्थायी समाधान हो सकेगा। लेकिन बंगला देश 1977 के अन्तरिम समझौते को अन्तिम समझौता मानता रहा और उसके द्वारा प्राप्त रियायतों को निरन्तर बनाये रखना चाहता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि बंगला देश फरक्का समझौते से केवल प्रारम्भिक लाभ उठाना चाहता है, वह इसके स्थायी समाधान के प्रति बिल्कुल उत्सुक नहीं है।

(iii) **द्विपक्षीय समस्याओं को अन्तर्राष्ट्रीय रूप देने का प्रयत्न**—बंगला देश ने गंगा जल वितरण की समस्या को, जो द्विपक्षीय समस्या है, बहुपक्षीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दिशा देने का प्रयास किया है। बंगला देश ने नेपाल, चीन, भूटान और विश्व बैंक को भी इस समस्या में घसीटने का प्रयास किया है।

(iv) **अल्पसंख्यकों की समस्या**—बंगला देश के हिन्दू और बिहारी मुसलमान अपने आप को सुरक्षित महसूस नहीं करते हैं, परिणामस्वरूप वे अवैध रूप से भारत में आते हैं जिससे भारत के सीमावर्ती प्रदेशों त्रिपुरा, असम, बंगाल और मिजोरम आदि में स्थिति बिगड़ जाती है।

(v) **मुहरी नदी सीमा विवाद**—1974 के समझौते के अनुसार मुहरी नदी के पानी की मध्य रेखा ही भारत बंगला देश की सीमा रेखा है। बंगला देश रायफल के अधिकारियों ने इस समझौते का उल्लंघन करके 1979 में भारतीय जमीन पर अपना दावा पेश किया और भारतीय किसानों पर गोलियाँ चलायीं। यह विवाद 44-45 एकड़ (24 हैक्टेयर) जमीन के बारे में है जो त्रिपुरा राज्य के बेलोनिया कस्बे के पास मुहरी नदी के भारतीय तट पर है।

(vi) **नवमूर द्वीप विवाद**—नवमूर द्वीप बंगाल की खाड़ी में उभरा एक नया द्वीप है। इसका क्षेत्रफल केवल 12 वर्ग किलोमीटर है। बंगला देश इसे दक्षिण 'तलपती' कहता है और भारत इसे 'पुरबाशा' की संज्ञा देता है। यह द्वीप भारतीय सीमाओं में है फिर भी बंगला देश इस पर अपना दावा करता है। अगस्त 1981 में बंगला देश के आठ युद्धपोतों ने इस पर कब्जा करने का विफल प्रयास किया। वर्तमान में यह द्वीप भारत के अधिकार में है। बंगला देश इस मामले को भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर लाना चाहता है।

(vii) **'चकमा' शरणार्थियों की समस्या**—'चकमा' शरणार्थियों की समस्या ने भी दोनों

देशों में उत्तेजना पैदा की है। यद्यपि बंगला देश ने चकमा शरणार्थियों को वापस लेने का वायदा किया है परन्तु भय के कारण चकमा शरणार्थी बंगला देश जाना नहीं चाहते।

भारत-बंगला देश सम्बन्ध (1982-90)—अप्रैल 1982 में जनरल इरशाद के सत्तारूढ़ होने के बाद भारत-बंगला देश सम्बन्धों में कुछ सुधार हुआ। 'भारत-बंगला देश सम्बन्धों की दृष्टि से निम्नलिखित बिन्दु उल्लेखनीय हैं :

बंगला देश के राष्ट्रपति जनरल इरशाद ने अक्टूबर 1982 में भारत की यात्रा की और 'स्मरण पत्र' पर हस्ताक्षर किये जिसके अनुसार 1977 के फरक्का समझौते को रद्द कर दिया और संयुक्त नदी आयोग को अगले 18 महीने में गंगा जल के बहाव पर अध्ययन करने को कहा गया। दोनों देशों के बीच एक अन्य समझौते के अन्तर्गत भारत ने बंगला देश को भारत के कूच बिहार में स्थित दाहाग्राम और अंगरपोटा के दो अन्तःक्षेत्रों (enclaves) को बंगला देश की मुख्य भूमि से जोड़ने के लिए स्थायी पट्टे पर एक तीन बीघा गलियारा प्रदान कर दिया। यह गलियारा 1·71 × 85 मीटर है। इस गलियारे पर भारत की सम्प्रभुता रहेगी परन्तु भारत बंगला देश से जो एक टका किराये के रूप में लेता था उसे समाप्त कर दिया है। दोनों देशों में आर्थिक और तकनीकी क्षेत्रों में सहयोग बढ़ाने के लिए एक संयुक्त आर्थिक आयोग की स्थापना की गयी है।

30 जुलाई, 1983 को दोनों देशों में तीस्ता जल समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार भारत और बंगला देश सूखे मौसम के दौरान तीस्ता नदी के पानी के तदर्थ आधार पर बँटवारे पर सहमत हो गये। इस समझौते के अन्तर्गत भारत को 39% पानी मिलेगा और बंगला देश को 36% पानी उपलब्ध होगा, शेष 25% पानी किसी को आवंटित नहीं किया जायेगा। फरक्का में गंगा नदी के जल के बँटवारे पर भारत व बंगला देश के बीच सहमति के समझौते पर 22 नवम्बर, 1985 को नई दिल्ली में हस्ताक्षर हुए। जुलाई 1986 में जनरल इरशाद ने तीन-दिवसीय भारत की सद्भाव यात्रा की और भारतीय नेताओं के साथ द्विपक्षीय प्रश्नों पर बातचीत की।

इन समझौतों के बावजूद भी कतिपय मुद्दों को लेकर दोनों देशों में मतभेद बने हुए हैं। गंगा-ब्रह्मपुत्र नहर बनाने के प्रश्न पर दोनों देशो में मतभेद बने हुए हैं। जहाँ बंगला देश इसके लिए नेपाल में बड़े-बड़े जलाशय के निर्माण पर बल देकर नेपाल को इस समस्या के साथ जोड़ना चाहता है वहाँ भारत इसका विरोध करता है। काँटेदार बाड़ का मुद्दा भी दोनों देशों में विवाद का एक कारण है। भारत-बंगला देश सीमा 3,200 किलोमीटर लम्बी है। इस सीमा से बंगला देश से आने वाले शरणार्थी भारत में गैर-कानूनी तौर पर प्रवेश करते हैं और भारत के असम व त्रिपुरा के सीमावर्ती राज्यों में आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याएँ पैदा करते हैं। भारत के असम आन्दोलन के मूल में इन 'विदेशी आगन्तुकों' की समस्या है। अतः असम समस्या के समाधान और विदेशियों के भारत में गैर-कानूनी तौर पर प्रवेश को रोकने के लिए भारत ने सीमाओं पर काँटेदार तार लगाने का निर्णय लिया। बंगला देश ने भारत के इस निर्णय का विरोध किया और इसे 'घेराबन्दी' की संज्ञा दी। भारत द्वारा पूर्वी सीमा पर बाड़ लगाने का मसला इतना उग्र हो गया कि बंगला देश जैसे छोटे देश ने अप्रैल 1984 में भारत की सीमा में गोलाबारी तक कर दी। अप्रैल 1986 में भारत-बंगला देश सीमा पर मुहरी नदी पर तटबाँध बनाने के भारत के कार्य को लेकर दोनों देशों में तनाव पैदा हो गया। बंगला देश ने अपने अर्द्ध-सैनिक बल की सहायता के लिए कई सैनिक यूनिटों को तैनात कर दिया और दोनों देशों के अर्द्ध-सैनिकों के बीच कई बार मुठभेड़ हुई। बंगला देश ने भारत द्वारा 12 किमी० लम्बे तटबाँध के निर्माण पर विरोध प्रकट किया। चकमा आदिवासियों की वापसी के प्रश्न को लेकर भी दोनों देशों में मतभेद बने हुए हैं। भारत में चकमा आदिवासियों की बाढ़ सी आ गयी है और बंगला देश उन्हें लेने में आनाकानी कर रहा है।

बंगला देश में आये भीषण तूफान (मई 1985) के दौरान भारतीय प्रधानमन्त्री की बंगला देश यात्रा वहाँ के जनमानस में भारत की छवि को सुधारने का एक अच्छा प्रयास था। 18 अक्टूबर, 1985 को भारत और बंगला देश से बीच गंगा के पानी के बँटवारे को लेकर नसाऊ (बहामा) में एक समझौता हुआ जो तीन वर्ष तक लागू रहेगा। भारत ने सितम्बर 1988 में बंगलादेश में विनाशकारी बाढ़ से हुई क्षति से निपटने के लिए, जिसमें बंगला देश का बहुत बड़ा भू-भाग जलमग्न हो गया था, अन्तर्राष्ट्रीय सहायता के लिए बंगला देश की अपील पर तत्काल कार्यवाही की। बंगला देश की इस बाढ़ ने हमें यह सोचने पर भी मजबूर कर दिया कि, ब्रह्मपुत्र के पानी का सदुपयोग करने के सिलसिले में भारत की ओर से बहुत पहले प्रस्तुत प्रस्ताव आज भी कितना संगत है। भारत के इस प्रस्ताव में बाढ़ से बचने और ब्रह्मपुत्र के जल का सिंचाई के लिए लाभ उठाने का प्रस्ताव है। भारत ने बंगला देश के समक्ष अपनी यह तत्परता पुनः व्यक्त की कि बाढ़ नियन्त्रण के क्षेत्र में नदी जल के अधिकतम उपयोग के लिए द्विपक्षीय आधार पर सहयोग करने के लिए वह आज भी तैयार है।

निष्कर्ष—बंगला देश इस मानस से पीड़ित है कि वह एक बड़े देश का छोटा पड़ोसी है। इसी मानस के कारण बंगला देश क्षेत्रातीत सम्बन्धों पर बल देता है जिससे क्षेत्र में महाशक्तियों को हस्तक्षेप करने का अवसर मिलता है। एक असंलग्न राष्ट्र होते हुए भी बंगला देश पश्चिम की ओर अधिक झुका हुआ है। चीन और अमरीका से बंगलादेश के सम्बन्ध मधुर हैं। भारत ने बंगला देश की स्वतन्त्रता में विशेष योग दिया था फिर भी आज वे 'दूर के पड़ोसी' लगते हैं। बंगला देश से आने वाले शरणार्थियों का ताँता ज्यों-का-त्यों बना हुआ है, तस्करी पर कोई रोक नहीं लगी है, और मुजीब की हत्या के बाद पारस्परिक अविश्वास की जो भित्ति खड़ी हो गयी थी, वह अभी तक नहीं ढही है। भारत बांगला समुद्री सीमा का मामला भी अधर में लटका हुआ है। बंगला देश के राजनीतिज्ञ और अनेक अखबार भारत-विरोधी प्रचार में जुटे हुए हैं। 'सार्क' जैसे संगठन से हो सकता है कि आपसी सहयोग और विश्वास के नये दिशा संकेत उचित हों।

भारत-चीन सम्बन्ध
(SINO-INDIAN RELATIONS)

स्वतन्त्रता के बाद भारत और चीन के सम्बन्धों की कहानी भारतीय नेताओं की आदर्शवादिता, स्वप्नदर्शिता और अदूरदर्शिता तथा चीनी विश्वासघात की कहानी है। भारत की चीन सम्बन्धी नीति निम्नलिखित तत्वों पर आधारित रही है—**प्रथम,** यह विश्वास था कि प्राचीन काल से ही भारत और चीन के मध्य घनिष्ठ सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान थे। बौद्ध धर्म की जन्मभूमि भारत-चीन का एक प्रकार से धर्म गुरु है और चीन उसका सम्मान करेगा। **दूसरे,** चीन को अपनी स्वतन्त्रता और अखण्डता की रक्षा के लिए पाश्चात्य और जापानी साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक भीषण और दीर्घ संघर्ष करना पड़ा था। इससे भारत में उसके प्रति गहरी सहानुभूति उत्पन्न हो गयी थी। **तीसरे,** यह माना जाता था कि चीन ने भारत पर कभी आक्रमण नहीं किया है और न कभी करेगा; और वह कभी आक्रमण करना भी चाहेगा तो उत्तर की दुर्गम हिमालय पर्वतमाला उसे कभी ऐसा नहीं करने देगी। **चौथे,** भारतीय विदेश नीति के प्रधान निर्माता पण्डित नेहरू और उनके विश्वस्त परामर्शदाता रक्षामन्त्री कृष्ण मेनन चीन—विशेषतः साम्यवादी चीन—के प्रति गहरी सहानुभूति रखते थे और चीन के चीन साथ मैत्री को असंलग्नता की नीति की आधारशिला मानते थे।

भारत और चीन न केवल पड़ोसी राष्ट्र हैं अपितु उनमें प्राचीन काल से ही सांस्कृतिक सम्बन्ध चले आ रहे थे जिसका इतिहास साक्षी है। जब दोनों देश विदेशी आधिपत्य में चले गये तो इनके ये सम्बन्ध टूट गये। 1947 में भारत स्वतन्त्र हुआ और उधर 1948 में कोमिन्तांग

सरकार के पतन के बाद चीन में साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई। साम्यवादी शासन की स्थापना के बाद ही यह महसूस किया गया कि चीन के साथ भारत के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना का मार्ग अनेक कठिनाइयों से भरा हुआ है।

भारत-चीन मैत्री के मार्ग में कठिनाइयाँ—भारत-चीन मैत्री के मार्ग में निम्नलिखित कठिनाइयाँ महसूस की गयीं—**प्रथम**, भारत की राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्थाएँ तथा संस्थाएँ चीनी साम्यवादी प्रणाली और उसकी संस्थाओं से भिन्न हैं। **द्वितीय**, भारत की विदेश नीति शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व एवं पंचशील के सिद्धान्तों पर आधारित है। भारत की नीति साम्राज्यवादी या विस्तारवादी नहीं है। भारत अपनी शक्ति से किसी को आतंकित नहीं करना चाहता। दूसरी ओर, साम्यवादी चीन के इरादे आक्रामक, साम्राज्यवादी और विस्तारवादी हैं। इसकी इच्छाएँ एशिया में एकाधिकार की हैं और उसके 'तोड़-फोड़, आतंक, क्रान्ति, कपट और हिंसा हैं। माओ नीति शक्ति को 'बन्दूक की नली' से प्राप्त करती है। **तृतीय**, एशिया में भारत जनसंख्या, शक्ति और प्राकृतिक साधनों में चीन का प्रतिद्वन्द्वी बनने की क्षमता रखता है। चीन को यह पसन्द नहीं है कि भारत उसका प्रतिद्वन्द्वी बने। वह दुनिया को यह बताना चाहता है कि भारत एशिया का एक कमजोर देश है और उसकी स्थिति दूसरे दर्जे की है। भारत का शक्ति के रूप में उभरना, उसका आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होना और राजनीतिक सुदृढ़ता प्राप्त करना चीन के लिए ईर्ष्या, द्वेष और वैमनस्य का कारण है।

भारत-चीन सम्बन्धों का इतिहास

भारत-चीन सम्बन्धों के इतिहास को सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा जा सकता है :

1. भारत-चीन सम्बन्ध—प्रमोदकाल (Honeymoon Period)
2. भारत-चीन सम्बन्ध—टकराव और तनाव का काल (The Period of Conflict)
3. भारत-चीन सम्बन्ध—संवाद काल (The Period of Dialogue)

1. भारत-चीन सम्बन्ध—प्रमोद काल (1949–57)

चीन के प्रति भारत का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही मित्रतापूर्ण रहा है। हमारे स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों से ही नेहरू भारत और चीन की मित्रता पर बल देते रहे थे। सन् 1942 में च्यांग काई शेक ने भारत की यात्रा की थी, जिससे भारत में चीन के जापानी साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष के प्रति सहानुभूति की एक लहर फैल गयी। चीन में साम्यवादियों की विजय के बाद भारत-चीन सम्बन्ध और भी घनिष्ठ हो गये। अक्टूबर 1949 में चीन में साम्यवादी क्रान्ति का भारत ने स्वागत किया। गैर-साम्यवादी देशों में भारत ही पहला देश था जिसने चीन को राजनयिक मान्यता प्रदान की। अमरीका की नाराजगी की कीमत पर भी भारत ने कोरिया युद्ध में चीन का समर्थन किया। यू० एन० ओ० में भारत ने उस प्रस्ताव का विरोध किया जिसमें चीन को आक्रान्ता घोषित किया गया था। सितम्बर 1950 में सेनफ्रांसिसको 49 राष्ट्रों के साथ होने वाली जापानी सन्धि में भारत इसलिए शामिल नहीं हुआ क्योंकि चीन को उसमें शामिल नहीं किया गया था। संयुक्त राष्ट्रसंघ में चीन को मान्यता दिलाने का भारत ने भरसक प्रयत्न किया। भारत ने उस समय भी चीन को मान्यता दिलाने का प्रयास किया जब चीन का भारत के प्रति दृष्टिकोण शत्रुतापूर्ण था। भारत ने अमरीका की उन नीतियों की सर्वदा आलोचना की जो चीन को अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों या संस्थाओं में 'उचित स्थान' दिलाने में बाधा उत्पन्न करती थी।

सन् 1954–57 का काल भारत-चीन सम्बन्धों में प्रमोद काल कहलाता है। 29 जून, 1954 को दोनों राष्ट्रों के मध्य एक 8-वर्षीय व्यापारिक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत भारत ने तिब्बत से अपने 'अतिरिक्त देशीय अधिकारों' को चीन को सौंप दिया। इस व्यापारिक समझौते की

प्रस्तावना में ही पंचशील के सिद्धान्तों की रचना की गयी थी। भारत ने तिब्बत में चीन की प्रभुसत्ता को स्वीकार कर लिया। जून 1954 में जब चीन के तत्कालीन प्रधानमन्त्री चाऊ-एन-लाई भारत आये तो संयुक्त विज्ञप्ति में पंचशील के सिद्धान्तों पर बल दिया गया। अक्टूबर 1954 में पण्डित नेहरू ने भी चीन की यात्रा की। अप्रैल 1955 में बाण्डुंग सम्मेलन में नेहरू और चाऊ-एन-लाई ने पूर्ण सहयोग के साथ कार्य किया। बाद में गोआ के प्रश्न पर भी चीन ने भारत का साथ दिया और क्यूमाये और मातसू टापुओं पर भारत ने चीन का समर्थन किया।' पामर के शब्दों में, "साम्यवादी चीन के प्रति नेहरू और उनके सहयोगियों का दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से तुष्टिकारी था।" विन्सेंण्ट शौयब के अनुसार, "चीन के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम करने का जितना प्रयास नेहरू ने किया, सम्भवतः विश्व में उतना किसी ने भी नहीं किया।" स्वतन्त्र भारत में 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' का नारा बहुत लोकप्रिय रहा।

2. भारत-चीन सम्बन्ध : टकराव और तनाव का काल (1957–1978)

पंचशील और बाण्डुंग सम्मेलन को भारतीय कूटनीति की महान सफलताएँ माना गया था परन्तु वस्तुतः वे भारतीय कूटनीति की पराजय सिद्ध हुई। तथ्य तो यह है कि भारत की चीन सम्बन्धी नीति जिन धारणाओं पर आधारित थी वे धारणाएँ ही शान्तिपूर्ण सिद्ध हुई। भारत और चीन के प्राचीन सम्बन्धों की घनिष्टता को अत्यधिक बढ़ा-चढ़ाकर देखा गया था। साम्राज्यवाद के विरुद्ध उसके संघर्ष के प्रति सहानुभूति प्रवाह में बहकर यह भुला दिया गया था कि चीनी लोग प्राचीन काल से ही चीन को विश्व सभ्यता का केन्द्र मानते आये हैं और एक प्रसारवादी नीति में विश्वास करते रहे हैं। भारत पर उनके भूतकाल में आक्रमण न करने का कारण उनकी शान्तिप्रियता नहीं वरन् हिमालय की दुर्गम पर्वतमालाएँ थीं। परन्तु 20वीं शताब्दी में एक ओर तो विज्ञान की प्रगति ने उनकी अगमता को काफी कम कर दिया और दूसरी ओर तिब्बत को चीन को सौंप देने की गलती कर भारत ने भारत पर चीन के हमले को सरल बना दिया। इसके अतिरिक्त भारतीय विदेश नीति के निर्माता यह भूल गये कि द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् एशिया और अफ्रीका के जागरण से उत्पन्न हुई परिस्थितियों में भारत और चीन के मध्य एशिया और अफ्रीका के जागरण से उत्पन्न हुई परिस्थितियों में भारत और चीन के मध्य एशिया और अफ्रीका विशेषतः दक्षिण-पूर्व एशिया के नेतृत्व के लिए संघर्ष होना अनिवार्य ही था।

तिब्वत-समस्या—तिब्वत भारत का पड़ोसी राज्य है। इसके उत्तर में चीनी सिक्यांग स्थित है। भारत अंग्रेजों से तिब्वत के सम्बन्ध में निम्न अधिकार उत्तराधिकार में मिले—(i) ल्हासा में एक भारतीय राजनीतिक एजेण्ट रख सकना, (ii) ग्यान्तसे, गंगटोक और यातुंग में व्यापारिक एजेन्सी स्थापित रख सकना, (iii) ग्यान्तसे के व्यापार मार्ग पर डाक एवं तार के दफ्तर रखना, तथा (iv) ग्यान्तसे में एक छोटा-सा सैनिक दस्ता रखना जो व्यापार मार्ग की रक्षा कर सके।

चीन सदियों से तिब्वत पर अपना अधिकार जताता आ रहा था। चीन की नयी साम्यवादी सरकार ने स्थापना के साथ ही तिव्वत पर अपना अधिकार घोषित कर दिया और तिब्बत को अपने राज्य का अंग बताया। 1 जनवरी, 1950 को चीन सरकार ने तिब्वत को स्वतन्त्र कराने की घोषणा कर दी। भारत सरकार ने परिवर्तित स्थितियों में चीन से वार्ता कर लेना ही उचित समझा। दिसम्बर 1953 में यह वार्ता प्रारम्भ हुई। पंचशील के आधार पर एक समझौता दोनों देशों के बीच कर लिया गया। इसके अन्तर्गत भारत को तिब्बत में व्यापार एजेन्सियां स्थापित करने का और तीर्थ-यात्राओं तथा अन्य नागरिकों द्वारा तिब्वत की यात्रा कर सकना मुख्य रूप से निश्चित किया गया। भारत सरकार यातुंग एवं ग्यान्तसे से अपने सैनिक हटाने के लिए सहमत हो गयी। तिब्बत पर चीन की सार्वभौमिकता स्वीकार करने की भारतीय नीति की संसद

में कटु आलोचना हुई जबकि प्रधानमन्त्री नेहरू ने इसे पूर्णतया उचित ठहराया। उनके मतानुसार तिब्बत पर पहले से ही चीन का सार्वभौमिक अधिकार था और ब्रिटिश शासन तक ने इसे चुनौती नहीं दी थी। जब तक चीन दुर्बल और अविकसित था तब तक उसने अधिकार का उपयोग नहीं किया, पर एक नयी महाशक्ति के रूप में उभरने के पश्चात् वह कैसे किसी अन्य देश (भारत) की सेनाएँ तिब्बत में रहना सहन कर सकता था ? अतएव सम्मानपूर्वक हट जाना ही उचित था।

25 जून, 1954 को चीन के प्रधानमन्त्री जेनेवा से पेकिंग जाते समय भारत पधारे। भारत और चीन के प्रधानमन्त्रियों ने अपनी संयुक्त घोषणा में पंचशील के प्रति दुबारा अपना विश्वास प्रकट किया। 18 अक्टूबर, 1954 को नेहरू पेकिंग की यात्रा पर गये। इसके बाद 28 नवम्बर, 1956 से 10 दिसम्बर, 1956 तक चाऊ-एन-लाई ने भारत की यात्रा की। उन्होंने भारतीय संसद को सम्बोधित किया तथा बार-बार भारत चीन की मित्रता का उल्लेख किया। एक बार पुनः चीन के प्रधानमन्त्री ने पंचशील में विश्वास करने के साथ अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए शक्ति प्रयोग करने की निन्दा की। इस प्रकार 1956 तक भारत एवं चीन के बीच उत्तम राजनीतिक सम्बन्ध थे। इसी वर्ष तिब्बत के खम्पा क्षेत्र में बड़े पैमाने पर चीन शासन के विरुद्ध विद्रोह हो गया जो 1959 तक चलता रहा। इस विद्रोह को दलाईलामा का समर्थन प्राप्त था। चीन सरकार ने कठोरता के साथ इस विद्रोह को कुचल डाला। 31 मार्च, 1959 को दलाईलामा ने 7 व्यक्तियों के दल के साथ भारत में राजनीतिक शरण ली। इसके पश्चात् एक बड़ी संख्या में तिब्बती शरणार्थी भारत आये। इन सबको मसूरी के पास बसा दिया गया। चीन की सरकार ने इसे शत्रुतापूर्ण कार्य बताया। वस्तुतः इसी समय से भारत और चीन के सम्बन्ध कुछ-कुछ बिगड़ना प्रारम्भ हो गये।

भारत-चीन सीमा-विवाद—इधर दूसरी तरफ भारत और चीन के मध्य सीमा को लेकर कटु विवाद प्रारम्भ हो चुका था। 1950-51 में साम्यवादी चीन के नक्शे में भारत के एक बड़े भाग को चीन का अंग दिखाया गया था। जब भारत सरकार ने चीन का ध्यान इस ओर दिलाया तो यह कहकर मामला टाल दिया गया कि ये नक्शे कोमिन्तांग सरकार के पुराने नक्शे हैं। चीन की नयी सरकार को इतना समय नहीं मिला है कि वह इनमें उपयुक्त संशोधन कर सके। समय मिलते ही इन नक्शों को ठीक कर दिया जायगा। जून 1954 में भारत एवं चीन के मध्य तिब्बत को लेकर समझौता हुआ तब वार्ता हेतु चुने गये विषयों में सीमा विवाद का कहीं प्रश्न ही न था। भारत में यही समझा गया कि समस्त विवाद हल हो चुके हैं। परन्तु शीघ्र ही 17 जुलाई, 1954 को चीन ने एक पत्र द्वारा भारत पर आरोप लगाया कि भारतीय सेना ने बूजे नामक चीनी स्थान पर अवैध अधिकार कर लिया है। बूजे भारत में बड़ाहोती के नाम से प्रसिद्ध था। चीन के विरोध-पत्र का उत्तर देते हुए भारत सरकार ने लिख दिया कि, "यह स्थान भारतीय प्रदेश में है और यहाँ भारतीय सीमा सुरक्षा सेना की चौकी है।" 1954 से ही चीन ने सीमा के विभिन्न भारतीय प्रदेशों में अपने सैनिक दस्ते और टुकड़ियाँ भेजनी आरम्भ कीं। 23 जनवरी, 1959 के पत्र में चीनी सरकार ने लिखा कि भारत और चीन के मध्य कभी भी सीमाओं का निर्धारण नहीं हुआ है और तथाकथित सीमाएँ चीन के विरुद्ध किये गये साम्राज्यवादी षड्यन्त्र का परिणाम मात्र हैं।

भारत पर चीन का आक्रमण—अक्टूबर 1962 में भारत पर साम्यवादी चीन ने बड़े पैमाने पर आक्रमण कर दिया। इससे पूर्व 12 जुलाई, 1962 को लद्दाख में गलवान नदी की घाटी की भारतीय चौकी को चीनियों ने अपने घेरे में ले लिया। 8 सितम्बर को चीनी सेनाओं ने मेकमहोन रेखा पार करके भारतीय सीमा में प्रवेश किया। 20 अक्टूबर, 1962 को चीनी सेनाओं ने उत्तर-पूर्वी सीमान्त तथा लद्दाख के मोर्चे पर एक साथ बड़े पैमाने पर आक्रमण किया। टिड्डी

दल की भाँति वे भारतीय चौकियों पर टूट बड़े। 21 नवम्बर, 1962 को चीन ने एकाएक अपनी ओर से एकपक्षीय युद्ध-विराम की घोषणा कर दी और युद्ध समाप्त हो गया। चीन ने जीते हुए भारतीय प्रदेशों को भी खाली करना प्रारम्भ कर दिया और भारत के कुछ सैनिक साजो-सामान को भी वापस कर दिया।

चीन द्वारा भारत पर आक्रमण के कारण

डॉ० वी० पी० दत्त के अनुसार चीन के भारत पर आक्रमण के दो उद्देश्य थे—(i) अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना, (ii) भारत की निर्बलता को प्रदर्शित करना तथा उसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपमानित करना।

संक्षेप में, चीन द्वारा भारत पर आक्रमण के निम्नलिखित कारण थे :

(1) चीन विस्तारवाद की नीति का प्रदर्शन करना चाहता था।

(2) चीन की इच्छा थी कि वह भारत को लोकतन्त्रात्मक पद्धति से उन्नति करने में सफल न होने दे, उस पर युद्ध का बोझ डाल दे।

(3) तिब्बत के प्रति भारतीय नीति से चीन नाराज था। दलाईलामा को शरण देने के कारण उसे हमसे रोष था।

(4) उसका उद्देश्य भारत को वदनाम करना था, एशिया में चीन को सर्वोच्च शक्ति बनने की आकांक्षा तथा भारत को नीचा दिखाने की इच्छा थी।

"भारत पर चीन का आक्रमण बड़े सुविचारित और क्रूर विचारों से किया गया, इसके निम्न उद्देश्य थे—हिमालय में पेकिंग की शक्ति और अधिकार को स्थापित करना, भारत की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचाना, नेहरू को नीचा दिखाना, चीन को एशिया में बड़ी वास्तविक शक्ति सिद्ध करना, चीनी भाइयों के स्थान में नेहरू के नेतृत्व में भारतीय प्रतिक्रियावादियों को सहायता देने वाले ख्रुश्चेव को पाठ पढ़ाना और संसार की शक्तियों को यह सूचना देना कि दुनिया में तब तक शान्ति नहीं रह सकती, जब तक कि चीन को महाशक्ति के रूप में स्वीकार न किया जाये और उससे ऐसा व्यवहार न हो।"

चीन को यह आशा थी कि युद्ध की स्थिति में रूसी साम्यवादी भाई उसका साथ देगा और भारत में आन्तरिक दंगे होंगे। परन्तु चीन की ये कामनाएँ सफल नहीं हो सकीं। अमरीका, ब्रिटेन और उसके बाद फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, आस्ट्रेलिया और कनाडा ने तेजी से भारत को सैनिक सहायता दी; रूस प्राय: तटस्थ रहा और उसने चीन पर युद्ध बन्द करने का दबाव डाला। मिस्र, यूगोस्लाविया और घाना जैसे गुट-निरपेक्ष राज्यों का दृष्टिकोण बड़ा ही निराशाजनक रहा। आक्रमण की निन्दा करना तो दूर उन्होंने आक्रमण के समय चुप्पी ठान ली। पाकिस्तान ने चीनी आक्रमण का लाभ उठाते हुए भारत की निन्दा करना शुरू कर दिया। पाकिस्तान ने चीनी आक्रमण को 'सामान्य स्थानीय मामले' का रूप देने का प्रयास किया।

चीन के एक-पक्षीय युद्ध-विराम के कारण—चीन ने एक-पक्षीय युद्ध-विराम की घोषणा करके सबको स्तब्ध कर दिया। युद्ध बन्द कर देने के कारणों के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। फिर भी मोटे तौर से निम्नलिखित कारण हो सकते हैं :

(1) चीन अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी सद्भावना प्रकट करना चाहता था कि चीन युद्ध प्रेमी नहीं बल्कि उसे बाध्य होकर लड़ाई लड़नी पड़ी थी।

(2) चीन को अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में सफलता मिल गयी थी। सैनिक दृष्टि से चीन ने भारत को हराकर भारतीय प्रतिष्ठा को धूल में मिला दिया था और भारत की निर्बलता जग-प्रसिद्ध हो गयी।

(3) सर्दी बढ़ जाने से सैनिकों को सामान पहुँचाने के लम्बे मार्ग पार करना कठिन होता जा रहा था, जिससे चीन अधिक समय तक युद्ध जारी नहीं रख सकता था।

(4) भारत को अमरीका और ब्रिटेन से भारी मात्रा में सैनिक सहायता तेजी से प्राप्त होने लगी थी।

(5) सोवियत रूस चीन के इस आक्रमण को उचित नही समझता था।

(6) चीन इस तथ्य से परिचित था कि भारत पर प्रभुत्व जमाना आसान नहीं है। वह केवल अपनी शक्ति प्रदर्शित करके एशिया में अपने नेतृत्व का दावा प्रमाणित करना चाहता था।

भारत की पराजय के कारण—इस युद्ध में भारत की पराजय के निम्नलिखित कारण हैं—(1) भौगोलिक स्थिति चीन के पक्ष में थी। चीनी, तिब्बत के ऊँचे पठार तथा चोटियों से आक्रमण करते थे जबकि भारतीयों को निचली घाटियों से हिमालय की ऊँची चोटियों तक चढ़कर अपने मोर्चों की रक्षा करने का कठिन काम करना पड़ा। (2) चीनियों ने इस युद्ध की तैयारी बहुत समय पूर्व से कर रखी-थी जबकि भारत इसके लिए तैयार ही न था।

कोलम्बो प्रस्ताव—भारत और चीन के इस युद्ध से एशिया और अफ्रीका के कुछ मित्र राज्यों ने दोनों देशों के सीमा विवाद को हल करवाना चाहा। इन देशों ने श्रीलंका की राजधानी कोलम्बो में 10 दिसम्बर से 12 दिसम्बर, 1962 तक एक सम्मेलन किया। इस सम्मेलन में बर्मा, कम्बोडिया, श्रीलंका, घाना, इण्डोनेशिया तथा संयुक्त अरब गणराज्य के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। भारत ने इन प्रस्तावों के बारे में कोई स्पष्ट प्रक्रिया व्यक्त नहीं की। कोलम्बो प्रस्ताव के छः सूत्र इस प्रकार हैं :

(1) वर्तमान नियन्त्रण रेखा भारत-चीन विवाद के समाधान का आधार मानी जाय।

(2) अ—पश्चिमी क्षेत्र में चीन वर्तमान रेखा से 20 किलोमीटर पीछे अपनी सैनिक चौकियाँ हटा ले, जैसा कि चाऊ-एन-लाई स्वयं श्री नेहरू को अपने 21 तथा 23 नवम्बर के पत्र में लिख चुके हैं। **ब**—भारत इस क्षेत्र में अपनी वर्तमान स्थिति को बनाये रखे। **स**—समस्या के अन्तिम समाधान होने तक भारत और चीन इस क्षेत्र को विसैन्यीकृत रखें और इस क्षेत्र का निरीक्षण दोनों देशों के असैनिक अधिकारी करें।

(3) पूर्वी क्षेत्र मे वर्तमान नियन्त्रण रेखा को युद्ध-विराम रेखा माना जाय।

(4) मध्य क्षेत्र में सीमा का निश्चय शान्तिपूर्ण साधनों से किया जाय।

(5) इन प्रस्तावों की स्वीकृति से दोनों देशों के बीच परस्पर वार्ता के द्वारा निर्णय ले सकते हैं।

चीन-पाकिस्तान सम्बन्ध—1962 के भारत-चीन युद्ध का जो भी परिणाम समक्ष आया उसमें सबसे महत्वपूर्ण चीन और पाकिस्तान का सम्बन्ध रहा। पाकिस्तान ने भारत के अव्वल दर्जे के शत्रु की हैसियत से चीन से हाथ मिलाया और उसने कराकोरम क्षेत्र में चीन को स्थायी रूप से बसा दिया। पाकिस्तान ने पाक अधिकृत कश्मीर का लगभग 2,600 वर्गमील का भू-भाग चीन को सौंप दिया। इसके बाद से चीन और पाकिस्तान की दोस्ती बहुत ही प्रगाढ़ हो गयी। चीन ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता दी। चीन के आणविक वैज्ञानिक पाकिस्तान के लिए क्वेटा अणु संयन्त्र में काम करते रहे। 16 सितम्बर, 1965 को चीनी सरकार ने भारत सरकार को अल्टीमेटम दिया। बंगला देश संकट के समय भी चीन भारत को लगातार धमकियाँ देता रहा।

3. भारत-चीन सम्बन्ध : संवादकाल (1978–89)

भारत में जनता सरकार के सत्तारूढ़ होने और चीन में माओत्तर नेताओं द्वारा बागडोर सम्भाले जाने के बाद दोनों देशों ने विगत बातों को भूलकर नये सिरे से मधुर सम्बन्ध स्थापित करने की दिशा में प्रयास किये। अनेक कूटनीतिक माध्यमों से भारत को पेकिंग से इस बात के

संकेत मिले कि वह भारत के साथ सम्बन्ध सुधारने का इच्छुक है। 1975 में टेबिल-टेनिस की प्रतियोगिता कलकत्ता में हुई, जिसमें चीनी खिलाड़ियों के एक दल ने भाग लिया। जनवरी 1978 में वांग-पिंग-नान के नेतृत्व में एक उच्च-स्तरीय चीनी प्रतिनिधि मण्डल भारत आया। इसके बाद व्यापार-वाणिज्य प्रतिनिधि मण्डलों का दौरा हुआ और दोनों देशों के बीच 1978 में 1 करोड़ 20 लाख का व्यापार हुआ। सितम्बर 1978 में चीन के कृषि वैज्ञानिकों ने भारत की यात्रा की और न्यूयार्क में विदेशमन्त्री वाजपेयी ने चीनी विदेशमन्त्री ह्वांग हुआ से भेंट की। 1 अक्टूबर, 1978 को चीन की स्थापना की 21वीं वर्षगांठ को उपराष्ट्रपति बी० डी० जत्थी उपस्थित थे। इसी माह संसद सदस्य सुब्रह्मण्यम स्वामी तथा मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के एक प्रतिनिधि मण्डल ने चीन की यात्रा की। नवम्बर 1978 में मृणालिनी साराभाई के नेतृत्व में भारतीय नृत्य मण्डली का चीन में भव्य स्वागत किया गया। 12 फरवरी, 1979 से प्रारम्भ होने वाली अपनी चीन यात्रा को विदेश मन्त्री वाजपेयी ने 'टोही मिशन' की संज्ञा दी थी। उन्होंने कहा कि इससे एशिया में नये शक्ति-सन्तुलन की शुरूआत हो सकती है। विदेशमन्त्री वाजपेयी के अनुसार उनकी पीकिंग यात्रा का उद्देश्य लेन-देन करना नहीं अपितु यह जानना था कि इतने वर्षों के बिगड़े सम्बन्ध के बाद आज चीन में हवा क्या है? वाजपेयी और चीनी विदेश मन्त्री इस बात से सहमत थे कि दोनों देशों को सहयोग के क्षेत्रों का पता लगाने में जुटे रहना चाहिए। दोनों पक्षों में यह आम सहमति थी कि सीमा-विवाद दोनों देशों के भविष्य में सम्बन्ध का आधार है। वाजपेयी की चीन यात्रा में सीमा-विवाद का हल नहीं ढूँढ़ा जा सका, क्योंकि यह पेचीदा मामला था। वाजपेयी को चीन आने का निमन्त्रण देकर चीन ने जहाँ भारत को पुचकारने का प्रयास किया, वहाँ यात्रा के समय को वियतनाम पर आक्रमण के लिए चुनकर उसने भारत को परोक्ष धमकी भी दे दी और उसे 1962 के आक्रमण की याद भी दिला दी। चीन द्वारा 17 फरवरी, 1979 को वियतनाम पर आक्रमण किये जाने से वाजपेयी अपनी चीन यात्रा को अधूरी छोड़कर स्वदेश आये। वाजपेयी की चीन यात्रा से यह स्पष्ट हो गया कि जब तक सीमा सम्बन्धी मामले और कश्मीर से सम्बन्धित कुछ प्रश्नों पर सन्तोषजनक समझौता नहीं हो जाता तब तक चीन के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से भी चीन के साथ फिर से बातचीत शुरू करने के कई कारण दिखायी देते हैं। चीन एक बड़ा पड़ौसी एशियाई देश है। उसके साथ सदा तनाव बने रहने की स्थिति दोनों देशों के लिए अप्रिय और अहितकर है। अगर दोनों मिल बैठें तो विश्व राजनीति में एशिया का प्रभाव बढ़ना अवश्यम्भावी है। इसके अतिरिक्त, तनाव की स्थिति में सैनिक तैयारी पर जो व्यय होता है वह मेलजोल बढ़ने पर काफी कम हो जायेगा। दूसरी ओर भारत की यह मांग है कि दुनिया में तनाव कम करने की दिशा में जो कार्यवाही हो रही है वह तब तक कारगर नहीं होगी जब तक उसमें चीन जैसे बड़े एशियाई देशों को यथेष्ट स्थान नहीं दिया जायेगा। जब भारत अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासों में चीन को यथोचित स्थान दिलाने का पक्षधर है तो उसका स्वयं चीन से मुँह फेरे खड़ा रहना प्रत्यक्षतः असंगत होगा।

उधर चीन भारत की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाने के लिए अनेक आन्तरिक और बाह्य कारणों से विवश है। चीन में ऐसे आसार दिखायी दे रहे हैं कि पुराने माओवादी रवैया से हटकर कुछ नये विकल्पों को आजमाया जाये। इसी सन्दर्भ में चीन ने अपनी विदेश नीति के क्षेत्र में भी पुनर्विचार करना आवश्यक समझा। चीन जानता है कि भारत प्रभाव क्षेत्रों की राजनीति और महाशक्तियों के प्रसार का विरोधी है, इसलिए भारत के साथ मिलकर ही एक सक्षम एशियाई व्यक्तित्व का निर्माण हो सकता है जिससे कि एशिया में बड़ी शक्तियों के प्रसार और प्रतिस्पर्द्धा

को रोका जा सकता है। इसलिए भारत के साथ सम्बन्धों को सुधारने की कार्यवाही चीन के राष्ट्रीय हित में है।[1]

मार्शल टीटो की अन्त्येष्टि के अवसर पर श्रीमती गांधी ने चीन के विदेश मन्त्री हुआ कुआ फेंग से वार्ता की। फेंग ने जून 1981 में भारत की यात्रा की और विवाद सहित सभी प्रकार के सम्बन्धों के सामान्यीकरण हेतु वे वार्ता के लिए राजी हो गये। चीन की सरकार ने भारतीय यात्रियों को मानसरोवर तथा कैलाश पर्वत जाने की अनुमति भी दे दी। चीन का एक प्रतिनिधि मण्डल श्री फूहाओ के नेतृत्व में भारत-चीन सीमा-विवाद पर वार्ता के लिए 16 मई, 1982 को नई दिल्ली पहुँचा। दोनों पक्षों ने यह विश्वास प्रकट किया कि 40 करोड़ रुपये के आपसी व्यापार में कई गुना वृद्धि की गुन्जाइश है। भारत में आयोजित एशियाई खेलों में चीनी दल ने भाग लिया। भारत-चीन वार्ता का तीसरा दौर 29 जनवरी, 1983 में बीजिंग में शुरू हुआ। तीसरी वार्ता की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि दोनों देश अपने-अपने कोई स्पष्ट प्रस्ताव या शर्तें रखने में असफल रहे थे।

सीमा विवाद के हल पर 24 अक्टूबर, 1983 को भारत और चीन के वरिष्ठ अधिकारियों के बीच नई दिल्ली में वार्ता का चौथा दौर सम्पन्न हुआ। 30 अक्टूबर तक चली इस वार्ता को कोई ठोस परिणाम नहीं निकला। सीमा-विवाद पर भारत के क्षेत्रवार विचार किये जाने के प्रस्ताव को चीन द्वारा स्वीकार कर लिया गया। दोनों देशों के नेताओं ने वार्ता की अब तक की प्रगति पर सन्तोष व्यक्त किया। क्षेत्रवार विचार करने के प्रस्ताव व समान सिद्धान्तों की बातचीत के लिए आधार स्वरूप स्वीकार किया जाना यह प्रमाणित करता है कि वार्ता पिछले क्रम से आगे बढ़ी है। दोनों देश यह स्वीकार करते हैं कि अन्य क्षेत्रों में सहयोग स्थापित करने और उसे बढ़ावा देने से सीमा-विवाद को बाधक नहीं बनने दिया जाना चाहिए।

17 सितम्बर से 22 सितम्बर, 1984 को इस क्रम में प्रारम्भ हुई वार्ता का पाँचवाँ दौर चीन की राजधानी बीजिंग में सम्पन्न हुआ। 4 नवम्बर, 1985 को भारत व चीन के बीच छठे दौर की वार्ता नई दिल्ली में सम्पन्न हुई। पूर्वी क्षेत्र में सीमा निर्धारण के प्रश्न पर कुछ प्रगति हुई परन्तु पश्चिमी क्षेत्र में ऐसा कुछ नहीं हुआ।

1980 में चीन की ओर से यह बात अवश्य सामने आयी थी कि लद्दाख में अक्साईचिन में चीन द्वारा छीन ली गयी 37,000 वर्ग किलोमीटर भूमि पर भारत चीन का अधिकार मान ले तो चीन पूर्वी क्षेत्र में मेकमहोन रेखा स्वीकार करने को तैयार है। उसके तत्काल बाद 1981 में जब राष्ट्र संघ नियन्त्रित जनसंख्या सम्मेलन में भारत के संसदीय प्रतिनिधि-मण्डल में अरुणांचल प्रदेश के स्पीकर का नाम शामिल किया गया तो चीन ने इन्कार कर दिया। बाद में उन्हें वीसा दे दिया गया और उसके बाद भारत-चीन वार्ता के पहले और दूसरे दौर में सम्पन्न हो गये। लेकिन दिसम्बर 1982 में नवें एशियाई खेलों के समापन पर चीन ने पुनः तहलका मचाया कि समापन समारोह में अरुणांचल प्रदेश के नर्तक दल क्यों सम्मिलित किये? इस बार भारत के विरोध का भी चीन ने कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया। भारत ने इस पर 11 दिसम्बर, 1982 को कोटनीस समारोह में जाने वाले भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल की यात्रा भी रद्द कर दी।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि चीन द्वारा पूर्व में मेकमहोन रेखा को स्वीकार करने का मतलब यही निकलता था कि नेफा अर्थात् अरुणांचल में वह भारत के दावे को मानता है। स्मरण रहे कि 1962 में चीन ने इस क्षेत्र पर आक्रमण किया था व अपना दावा जताया था। भारत ने

1 डॉ० सुरेशचन्द्र मंगल, विदेशमन्त्री को चीन यात्रा : उद्देश्य और सम्भावनाएँ, **नवभारत टाइम्स**, 28-10-1978।

उसके बाद 1972 में अरुणांचल को अपना राज्य (केन्द्र शासित प्रदेश) का दर्जा प्रदान किया था। यदि चीन मेकमहोन रेखा को स्वीकार करने को तैयार है तो अरुणांचल के प्रश्न को लेकर बार-बार क्यों तूफान मचा रहा है।

इधर भारत के लिए स्थिति बुरी है। 1982 में प्रकाशित चीनी मानचित्रों में भी उन सभी भारतीय प्रदेशों को चीनी प्रदेश में बताया गया है जिन पर चीन अपना निराधार दावा करता रहा है। इस क्रम में सिक्किम को भी वह भारतीय प्रदेश नहीं मानता। चीन, सिक्किम, कश्मीर या सीमा विवाद पर अपनी पूर्व नीति बदले बिना ही भारत से सम्बन्ध सुधारना चाहता है। वह इस प्रक्रिया में कहीं भी प्रतिबद्ध नहीं होना चाहता है।

दोनों देशों के बीच 19 जुलाई, 1986 को बीजिंग में वार्ता का सातवां दौर शुरू हुआ। इस वार्ता में चीन द्वारा 30 जून, 1986 को भारतीय सीमा में की गयी घुसपैठ पर चिन्ता व्यक्त की गयी। अगस्त 1986 में विदेश-राज्यमन्त्री के० आर० नारायण ने राज्यसभा को बताया कि चीन ने भारतीय क्षेत्र समदुरोंग छु घाटी (Sumdurong Chu Valley) में एक हेलीपेड का निर्माण किया है। कुछ हेलीकाप्टर यहाँ आकर रुके। चीन ने जिन स्थानों पर अतिक्रमण कर रखा है वहाँ झोंपड़ियाँ आदि बनाने की गतिविधियाँ जारी हैं। श्री नारायण ने स्पष्ट किया कि वार्ता के सातवें दौर में दोनों देशों की सीमाओं के सम्बन्ध में जो गतिरोध है, उसमें बहुत कम प्रगति हुई है। चीन ने न्यूनाधिक तौर पर यह तो स्वीकार कर लिया है कि मेकमहोन रेखा वास्तविक नियन्त्रण रेखा है किन्तु भारत का कथन है कि यह रेखा दोनों देशों के बीच सीमा रेखा है।

20 फरवरी, 1987 को भारत ने जब अरुणांचल प्रदेश को भारतीय संघ का 24वां राज्य घोषित किया तो 21 फरवरी, 1987 को चीनी विदेश मन्त्रालय के एक प्रवक्ता ने कहा कि भारत की इस कार्यवाही से चीन की प्रादेशिक अखण्डता और प्रभुसत्ता का गम्भीर उल्लंघन हुआ है। दूसरी तरफ भारत ने चीन के इस विरोध को भारत के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप की संज्ञा दी।

भारत व चीन के बीच सीमावार्ता का आठवाँ दौर 17 नवम्बर, 1987 को नई दिल्ली में समाप्त हुआ। वार्ता में चीन के दल का नेतृत्व वहाँ के उप-विदेशमन्त्री ल्यू शू पिंग ने, तथा भारतीय दल का नेतृत्व विदेश सचिव के० पी० एस० मेनन ने किया। वार्ता समाप्ति के बाद जारी विज्ञप्ति में कहा गया है कि जहाँ तक सीमा के प्रश्न का सम्बन्ध है दोनों पक्षों के बीच यथास्थिति बनी हुई है। पूर्व की भाँति दोनों पक्ष इस बात पर सहमत थे कि इस समस्या का हल शान्ति से किया जाय और कोई ऐसा कार्य न हो जिससे दोनों के बीच तनाव पैदा हो।

प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी की चीन यात्रा (दिसम्बर 1988) और सीमा विवाद हल करने के लिए संयुक्त कार्यदल का गठन—19–23 दिसम्बर, 1988 को भारत के प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी ने 5 दिन के लिए चीन की यात्रा की। पिछले 34 वर्ष में भारत के किसी प्रधानमन्त्री की यह पहली चीन यात्रा है। राजीव गाँधी की चीन के राष्ट्रपति यांग शानकुन, चीन के प्रधानमन्त्री लिंग पेंग तथा चीन के शीर्ष नेता देंग शियाओपिंग से लम्बी बातचीत हुई। देंग ने प्रधानमन्त्री गाँधी से कहा कि "आपकी बीजिंग यात्रा से अब हमें अतीत भूलकर आपसी सम्बन्धों में एक नयी शुरूआत करनी चाहिए।" राजीव गाँधी के अनुसार "हमने चीन के साथ अपने सम्बन्धों को नये सिरे से शुरू करके मैत्री को सुदृढ़ करने का निश्चय किया है।"

राजीव गाँधी की यात्रा के बाद दोनों देशों की ओर से जारी संयुक्त विज्ञप्ति में कहा गया कि : "राजीव गाँधी की चीनी नेताओं से हुई बातचीत मैत्रीपूर्ण, स्पष्टवादिता तथा आपसी समझबूझ के माहौल में हुई।" भारत व चीन ने एक संयुक्त कार्यदल का गठन किया है जो सीमा

विवाद का सर्वमान्य समाधान निकालेगा। इस कार्यदल द्वारा दो वर्ष की अवधि में रिपोर्ट को अन्तिम रूप दिये जाने की सम्भावना है।

प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी की चीन यात्रा की एक और बड़ी उपलब्धि आर्थिक, वैज्ञानिक, तकनीकी व सांस्कृतिक सहयोग बढ़ाने के लिए संयुक्त आयोग का गठन है। इसे भारत-चीन सम्बन्धों के सुधार में एक महत्वपूर्ण कदम माना जा रहा है। दोनों देशों के बीच एक संयुक्त समिति भी गठित करने का फैसला किया गया जो कि विज्ञान-प्रौद्योगिकी तथा आर्थिक क्षेत्र में दोनों देशों के बीच सहयोग की सम्भावनाओं का पता लगायेगी।

दोनों देशों के बीच नागरिक उड्डयन सेवाओं तथा विज्ञान व प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में उच्चस्तरीय सहयोग व सांस्कृतिक आदान-प्रदान के लिए कतिपय समझौतों पर भी हस्ताक्षर हुए। वायु सेवाओं के सम्बन्ध में किये गये समझौते के अन्तर्गत दोनों देश नई दिल्ली और पेकिंग के बीच सीधी विमान सेवाएँ शुरू करने के मुद्दे पर सिद्धान्त रूप से सहमत हो गये। सांस्कृतिक समझौते के अन्तर्गत नृत्य-संगीत दलों, कलाकारों तथा लेखकों का एक-दूसरे के देशों में आना-जाना, एक-दूसरे के देशों पर कला प्रदर्शनियाँ आयोजित करना, फिल्म सप्ताह आयोजित करना, छात्रों तथा विद्वानों का एक-दूसरे के देशों में आना-जाना तथा एक-दूसरे देश के साहित्य का अनुवाद तथा प्रकाशन शामिल है। दोनों देशों के बीच सीधी टेलीफोन सेवा भी इस ऐतिहासिक यात्रा के अवसर पर शुरू हो गयी है।

संक्षेप में, एशिया के इन दोनों महान देशों के सम्बन्धों में सुधार की दृष्टि से राजीव गाँधी की चीन यात्रा लाभकारी होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

भारत-चीन सम्बन्ध : संवाद के बावजूद

भारत और चीन दोनों एशिया महाद्वीप की बड़ी शक्तियाँ है। पिछले दो दशक से भी अधिक समय से दोनों के सम्बन्ध खराब है। सम्बन्ध सुधारने और सामान्य बनाने में सीमा-विवाद सबसे बड़ी बाधा है। बीजिंग में अधिकारी स्तर की वार्ता में दोनों पक्षों ने सीमा विवाद पर अपनी-अपनी स्थिति को दोहराया था। परन्तु चीन के नेताओं ने एक भारतीय पत्रकार दल के सम्मुख अनौपचारिक सुझाव रखा था कि यदि भारत लद्दाख क्षेत्र में चीन के दावे को स्वीकार कर ले, तो पूर्वी क्षेत्र में वह वर्तमान नियन्त्रक रेखा को अन्तर्राष्ट्रीय सीमा मान लेगा। भारत अनौपचारिक रूप से अपना दृष्टिकोण बता चुका है कि ऐसा कोई 'पैकेज डील' उसे स्वीकार नहीं है, क्योंकि पूर्व में मैकमहोन रेखा बहुत विवादास्पद नही है। समस्या मुख्य रूप से अक्साईचिन की है, जिस पर चीन ने चुपके में कब्जा कर लिया था। यह स्पष्ट है कि उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में केवल मैकमहोन रेखा को चीन द्वारा मान्यता देने की कीमत भारत अक्साईचिन क्षेत्र को देकर नही चुका सकता है। चीन के सीक्यांग प्रान्त और मध्य तिब्बत को जोड़ने वाली सड़क भी भारतीय प्रदेशों में होकर बनायी गयी है। यदि उस क्षेत्र में चीन के कोई हित हैं, तो उसकी रक्षा की गारण्टी भारत दे सकता है। हिमालय सीमा के बारे में चीन के दावे कल्पित और एकतरफा प्रभावों पर आधारित हैं। परम्परागत सीमा को ही अन्तर्राष्ट्रीय सीमा के रूप में मान्यता देना ही समस्या का हल हो सकता है।

भारत ने सीमा विवाद को हल करने के लिए कोलम्बो प्रस्ताव लागू करने का सुझाव दिया, किन्तु यह चीन को स्वीकार नहीं है। एक सम्भावना यह हो सकती है कि भारत अक्साईचिन का वह क्षेत्र चीन का मान ले, जहाँ उसने सड़क बना ली है। इसके बदले में इसी लद्दाखी क्षेत्र में अक्साईचिन अतिरिक्त जितनी भी जमीन है—सोडा, लिंग जी ताँग, चांग चेनमो घाटी, दीपसांग तथा लानक ला और दूमजोर ला के आस-पास का क्षेत्र, वह भारत को वापस लौटा दे। इसी प्रकार पूर्वी क्षेत्र में चुम्बी घाटी पर भारत का प्रभावी अधिकार रहा है। उसका प्रशासन भारत

को लौटा दिया जाय और मेकमहोन रेखा को चीन वैधानिक सीमा रेखा की मान्यता दे दे, इस आधार पर समझौते का प्रयास किया जा सकता है। भारत-चीन सीमा विवाद को सुलझाने के लिए सम्मानपूर्ण हल के लिए प्रयास जारी हैं।

चीनी प्रतिनिधि-मण्डल के नेता फू हाओ ने दोनों देशों के बीच ऐतिहासिक और परम्परागत कड़ियों का जिक्र करते हुए कहा कि ये ऐसे आधार हैं जो एक-दूसरे को प्रेरणा दे सकते हैं तथा भविष्य के लिए ठोस आधार बन सकते हैं। यद्यपि दोनों देशों के बीच सीमा के प्रश्न पर व्यापक मतभेद कायम हैं, किन्तु दोनों पक्ष वार्ता जारी रखने के पक्ष में हैं। दोनों देशों के बीच आर्थिक, तकनीकी और सांस्कृतिक क्षेत्रों में सहयोग बढ़ाने का संकल्प किया गया है। यह भी निश्चय किया गया है कि तेलोत्खनन, रेल और कृषि के विशेषज्ञ चीन की यात्रा करेंगे, गेहूँ बीज का उत्पादन और डेयरी विकास आदि के चीनी विशेषज्ञ भारत आयेंगे।

दोनों पक्षों ने यह विश्वास व्यक्त किया कि 40 करोड़ रुपये के आपसी व्यापार में कई गुना वृद्धि की गुंजाइश है। भारत चीन को बिजली का सामान, कृषि यन्त्र, चावल निकालने की मशीन, शक्कर और कपड़ा बनाने की मिलें, स्कूटर की मशीनरी आदि कई चीजें निर्यात कर सकता है और उससे रेशम, पारा, विभिन्न रसायन आदि आयात कर सकता है। एक सुझाव यह भी था कि चीन खनिज तेल भी दे। गोबर गैस के क्षेत्र में चीन की सफलताओं से भारत लाभ उठा सकता है। भारत अपनी उन्नत तकनीक के सहारे चीन में अनेक कारखाने भी लगा सकता है।

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि यदि भारत और चीन का सीमा समझौता हो जाये तो निःसन्देह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और क्षेत्रीय राजनीति पर उसका गम्भीर असर होगा और इसके व्यापक एवं दूरगामी परिणाम होंगे।

भारत-नेपाल सम्बन्ध
(INDO-NEPAL RELATIONS)

नेपाल हिमालय की उपत्यकाओं में बसा हुआ एक छोटा-सा देश है। यह भारत और तिब्बत के बीच स्थित है और अब तिब्बत पर चीन के आधिपत्य के बाद भारत व चीन के बीच एक बफर स्टेट (Buffer State) का कार्य करता है। यह विश्व का एकमात्र हिन्दू राज्य है। इसकी स्थापना पृथ्वी नारायण शाह (1723–1774) ने 1769 में की। आधुनिक नेपाल के निर्माता पृथ्वी नारायण शाह ने नेपाल की विदेश नीति का निर्धारण करते हुए कहा, "यह देश दो चट्टानों के बीच खिले हुए फूल के समान है। हमें चीनी सम्राट के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखने चाहिए तथा हमारे सम्बन्ध दक्षिणी सागरों के सम्राट से भी मधुर होने चाहिए। पर वह बहुत चालाक है।" अपने दोनों पड़ौसियों में से वह भारत को खतरे का अधिक बड़ा स्रोत मानता था। पिछले 200 वर्षों के इतिहास में नेपाल की विदेश नीति की प्रधान विशेषता यह रही है कि दोनों पड़ौसियों में से जो ज्यादा बलवान हो उसे खुश रखो।

भारत के उत्तर-पूर्व में स्थित नेपाल सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। चीन द्वारा तिब्बत को हस्तगत कर लेने के बाद भारत-चीन सम्बन्धों में नेपाल की सामरिक स्थिति का राजनीतिक महत्व बढ़ गया है। उत्तर में भारत की सुरक्षा आज एक बड़ी सीमा तक नेपाल की सुरक्षा पर निर्भर करती है। पं० नेहरू ने 17 मार्च, 1950 को कहा था, "जहाँ तक कुछ एशियाई गतिविधियों का सम्बन्ध है, भारत तथा नेपाल के बीच किसी प्रकार का सैन्य समझौता नहीं है लेकिन नेपाल पर किये जाने वाले किसी भी आक्रमण को भारत सहन नहीं कर सकता। नेपाल पर कोई भी सम्भावित आक्रमण निश्चित रूप से भारतीय सुरक्षा के लिए खतरा होगा। अक्टूबर 1956 में डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी नेपाल यात्रा के दौरान कहा था कि नेपाल की शान्ति और

सुरक्षा के लिए कोई भी खतरा भारतीय शान्ति और सुरक्षा के लिए खतरा है। नेपाल के मित्र हमारे मित्र हैं और नेपाल के शत्रु हमारे शत्रु हैं।

भारत-नेपाल सम्बन्ध (1947–1962)

भारत में ब्रिटिश शासन के समय यद्यपि नेपाल औपचारिक रूप से एक स्वतन्त्र देश था तथापि नेपाल की राजनीति में ब्रिटिश शासकों का हस्तक्षेप बहुत अधिक था। स्वतन्त्र भारत सरकार साम्राज्यवादी नीति की पोषक न होने के बावजूद सामरिक महत्व के कारण नेपाल की अवहेलना नहीं कर सकती थी। इसके अतिरिक्त साम्यवादी चीन का तिब्बत में प्रभाव बढ़ जाने से यह प्रारम्भ में ही स्पष्ट हो गया था कि साम्यवादी चीन तिब्बत पर अपना अधिकार जमा लेगा और इस प्रकार नेपाल एवं चीन की सीमाएँ बिल्कुल मिल जायेंगी। संयुक्त राज्य अमरीका भी इसी कारण नेपाल की राजनीति में रुचि लेने लगा। इस प्रकार नेपाल बड़ी अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों के बीच टक्कर होने की स्थिति उत्पन्न हो गयी और ऐसा प्रतीत होने लगा कि नेपाल शीतयुद्ध का क्षेत्र बन जायेगा। अपनी सुरक्षा की दृष्टि से भारत सरकार ऐसी स्थिति में नेपाल की राजनीति से उदासीन नहीं रह सकती थी। अतएव प्रारम्भ से ही भारत सरकार ने नेपाल की राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति दृढ़ करने की नीति अपनायी।

1947 में नेपाल के प्रधानमन्त्री की माँग कर भारत सरकार ने एक वरिष्ठ भारतीय राजनीतिज्ञ श्री श्रीप्रकाश को नेपाल भेजा जिससे नेपाल का संविधान तैयार कराने में सहायता दी जा सके। जो संविधान बना वह राजशाही की निरंकुशता का अन्त करने वाला था, अतएव उसे राजाओं ने कार्यान्वित नहीं होने दिया।

भारत सरकार नेपाल के साथ एक नयी सन्धि भी करना चाहती थी। 1949 में सन्धि का एक मसविदा भी तैयार किया गया परन्तु इसका कोई अन्तिम निष्कर्ष नहीं निकला क्योंकि नेपाल सरकार भारत के प्रति शंकित थी। सन्धि की महत्वपूर्ण शर्त यह थी कि नेपाल में लोकतान्त्रिक प्रणाली स्थापित हो। चूँकि नेपाल के प्रधानमन्त्री राणा मोहन शमशेर जंग नेपाल के परम्परागत प्रधानमन्त्रियों के प्रसिद्ध वंश राणा परिवार के थे और राजा की सम्पूर्ण सत्ता वर्षों से इस राणा परिवार के हाथ में थी, अतएव राणा मोहन शमशेर जंग बहादुर लोकतान्त्रिक पद्धति का समर्थन कैसे कर सकते थे ?

तिब्बत में चीन की गतिविधियाँ बढ़ने से नेपाल की सुरक्षा के बारे में भारत की चिन्ता बढ़ गयी और 17 मार्च, 1950 को प्रधानमन्त्री नेहरू से संसद में कहा कि नेपाल पर कोई भी सम्भावित आक्रमण निश्चित रूप से भारत की सुरक्षा के लिए खतरा होगा। अप्रैल 1950 में जनरल विजय शमशेर और एन० एम० दीक्षित ने नेपाल सरकार के प्रतिनिधि के रूप में भारत की यात्रा की और 30 जुलाई, 1950 को दोनों देशों के मध्य एक सन्धि हुई पर इसी बीच नेपाल में घटित घटनाओं के कारण भारत सरकार और नेपाल की राणा सरकार के सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न हो गया।

इसी समय 1950 में राणाशाही से मुक्ति के लिए प्रयास शुरू हुआ। 6 नवम्बर, 1950 को नेपाल के महाराजा त्रिभुवन ने राज परिवार के 14 सदस्यों के साथ अपने राजमहल का परित्याग कर भारत में शरण ली। राणा शमशेर के विरुद्ध गृहयुद्ध शुरू हो गया। यह विद्रोह भारत के भूभाग से ही संचालित किया गया। भारत के सहयोग से ही भारत में राणाशाही का अन्त हुआ और नेपाल के महाराणा वास्तविक शासक बने तथा लोकतन्त्र की स्थापना हुई। इस समय पण्डित नेहरू ने कहा, "नेपाल की स्वतन्त्रता का सम्मान करते हुए भी हम नेपाल में कोई अव्यवस्था सहन नहीं कर सकते क्योंकि इससे हमारी सीमा सुरक्षा कमजोर हो जाती है ......।"

भारत ने बार-बार संयुक्त राष्ट्र संघ में नेपाल की सदस्यता की वकालत की और 1955

में उसके सदस्य बन जाने पर प्रसन्नता प्रकट की। नेपाल के विदेश मन्त्री ने फरवरी, 1955 के एक भाषण में कहा कि नेपाल किसी भी दशा में भारत के विरुद्ध नहीं जायेगा। भारत ने नेपाल को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त करने में बड़ी सहायता दी है और वह नेपाल का सबसे बड़ा मित्र है। इसके कुछ समय पश्चात् भारत की लोकसभा में बोलते हुए नेहरू ने विदेश नीति पर एक-दूसरे से परामर्श करने की उस धारा की पुष्टि की जो भारत-नेपाल की मित्रता सन्धि (1950) में दी गयी थी। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि भारत का इरादा नेपाल के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का नहीं है किन्तु नेपाल की घटनाओं का भारत पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। अतएव भारत का नेपाल के विषय में चिन्ता करना एवं सतर्क रहना स्वाभाविक है।

अनेक कारणों से 1953-54 में भारत के प्रति नेपाली जनता का आक्रोश उभरकर सामने आया। वहाँ के लोगों को यह भ्रम हुआ कि भारत उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करता था। दूसरा, भारत में बहकर आने वाली कोसी नदी पर नेपाली भूमि मे बाँध बना था। तीसरे, भारतीय सेना नेपाल में थी और भारतीय तकनीकी विशेषज्ञ भी वहाँ थे। चौथा, व्यापार समझौते में कुछ प्रतिबन्ध भारत की ओर से लगे हुए थे। इन्हीं सब कारणों से 1954 में जब भारतीय सद्भावना मण्डल नेपाल पहुँचा तो कुछ लोगों ने काले झण्डे दिखाकर प्रदर्शन किया था।

नेपाल के प्रधानमन्त्री टंका प्रसाद ने इसे असन्तुष्ट विरोधी दलों का प्रदर्शन कहते हुए स्पष्ट किया कि नेपाल की अपनी प्रार्थनाओं पर भारतीय सेना आयोग 1951 में नेपाल की सेना को संगठित करने और प्रशिक्षण देने आया था। नेपाल सरकार में कोई भारतीय परामर्शदाता नहीं था और जो थोड़े-से भारतीय परामर्शदाता थे वे तकनीकी सहायता संचालक के अन्तर्गत थे। कोसी बाँध के कारण नेपाल का भी लाभ था और यहाँ भूमि भारत ने क्रय की थी और इससे नेपाल की सार्वभौमिकता पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता था। नेपाल ने स्वयं भी रेलवे के लिए बिहार में भूमि खरीदी थी। स्थिति को और भी स्पष्ट करते हुए भारतीय राजदूतों ने कहा कि नेपाल को दी जाने वाली भारतीय सहायता में कोई भी शर्त नहीं जोड़ी गयी है और यह सहायता नेपाल सरकार की प्रार्थना पर दी गयी है। भारतीय सैनिक एवं अन्य विशेषज्ञ पूर्णरूप से परामर्शदाता के रूप में हैं, उनकी कोई राजनीतिक स्थिति नही है और ये नेपाल सरकार के निमन्त्रण पर आये हैं। कोसी बाँध पर भारत ने 37 करोड़ रुपया व्यय किया है तथा नेपाल से कुछ नहीं लिया है, जबकि नेपाल को इस बाँध के कारण बिजली एवं सिंचाई की सुविधा मिलेगी।

1955-56 के बीच भारत एवं नेपाल के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध नेपाल के महाराजा की भारत यात्रा (नवम्बर 1955) एवं भारतीय राष्ट्रपति की नेपाल यात्रा (अक्टूबर 1956) से और भी घनिष्ठ हो गये। काठमांडू लौटकर नेपाल के महाराजा ने एक नागरिक सभा में कहा कि नेहरू को उन्होंने नेपाल का सबसे अच्छा मित्र पाया। भारत के राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद ने कहा कि भारत की नेपाल में कोई क्षेत्रीय महत्वाकांक्षाएँ नहीं हैं......हमारे मित्र आपके मित्र हैं, और आपके मित्र हमारे।

इधर 1955 से चीन नेपाल में सक्रिय होने लगा। 1956 में नेपाली प्रधानमन्त्री ने चीन की यात्रा की और 20 सितम्बर, 1956 को नेपाल-चीन मैत्री सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। जनवरी 1957 में चीन के प्रधानमन्त्री चाऊ-एन-लाई नेपाल आये। अपने भाषणों में उन्होंने नेपाल की स्वतन्त्रता और सार्वभौमिकता को अक्षुण्ण रखने में यथाशक्ति सहायता का आश्वासन ऐसे ढंग से दिया जिससे प्रतीत हुआ कि नेपाल की स्वतन्त्रता को भारत से खतरा है। उन्होंने यह भी कहा कि नेपालियों और चीनियों की एक ही प्रजाति है। चीन ने नेपाल को 6 करोड़ रुपयों की सहायता देने का भी वचन दिया। नेपाल का चीन के प्रति अधिक झुकाव होना एवं भारत से दूर हटना स्वाभाविक था। 1959 में नेपाल के प्रधानमन्त्री कोइराला ने चीन की यात्रा की और चाऊ-एन-

लाई को पुनः नेपाल आने के लिए आमन्त्रित किया। चीन एवं नेपाल के मध्य एवरेस्ट पर्वत शिखर के बारे में एक समझौता भी हुआ जिसकी भारत में कड़ी आलोचना हुई।

कोइराला मन्त्रिमण्डल कुछ ही समय बाद भंग कर दिया गया और नेपाली कांग्रेस के अनेक नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया, किन्तु इनमें से कुछ व्यक्ति भागकर भारत चले आये और यहीं से नेपाल में जन आन्दोलन को संचालित करने तथा सफल बनाने का प्रयत्न करने लगे। नेपाल में यह समझा गया कि भारत द्वारा नेपाल नरेश विरोधी कार्य को प्रश्रय दिया जा रहा है। इससे दोनों देशों के आपसी सम्बन्धों में कटुता आ गयी जो 1961 तक बराबर बनी रही।

भारत की अनेक चेतावनियों को अनसुनी करके महाराजा महेन्द्र ने काठमांडू-ल्हासा मार्ग बनाने के सम्बन्ध में चीन से समझौता करके भारत के लिए खतरा उत्पन्न कर दिया। महाराजा महेन्द्र चीन यात्रा पर गये। उन्होंने भारत के ऐतिहासिक और अटूट सम्बन्धों का जिक्र किया किन्तु साथ ही चीन के साथ पुरातन सम्बन्धों की चर्चा की जो पुनर्स्थापित हो रहे थे। भारत के प्रति उन्होंने उदासीनता का रुख अपनाया। जब 1962 में भारत-चीन युद्ध प्रारम्भ हुआ तब नेपाल ने तटस्थता की नीति अपनायी जिसे भारत ने पसन्द नहीं किया।

भारत-नेपाल सम्बन्ध (1962–1977)

1962 में यद्यपि नेपाल भारत-चीन युद्ध में तटस्थ अवश्य रहा किन्तु चीनी आक्रमण से नेपाल चौकन्ना अवश्य हो गया। चीनी आक्रमण के बाद भारत के लिए नेपाल में अपनी स्थिति दृढ़ करना भी आवश्यक हो गया। तत्कालीन गृहमन्त्री लालबहादुर शास्त्री ने नेपाल की यात्रा की और अपनी सरल सौम्य नीति से नेपाल के अनेक सन्देह भी दूर किये। इसके बाद ही नेपाल नरेश 13 दिन की भारत यात्रा पर आये एवं डॉ० राधाकृष्णन ने नेपाल की यात्रा की। इस समय नेपाल सरकार ने आश्वासन दिया कि नेपाल के मार्ग से भारत पर कोई आक्रमण नहीं हो सकेगा।

23 सितम्बर, 1964 को भारत के विदेशमन्त्री सरदार स्वर्णसिंह ने नेपाल की यात्रा की। इस समय नेपाल और भारत के मध्य एक समझौता हुआ। इसके अनुसार भारत ने नेपाल के लिए 9 करोड़ रुपयों की लागत से सीमावर्ती कस्बे सुगोली और मध्यपूर्वी नेपाल में ओखरा घाटी के बीच 138 मील लम्बी सड़क का निर्माण करने का निश्चय किया। काठमांडू से लेकर भारतीय सीमा में रक्सौल को जोड़ने वाली एक अन्य सड़क योजना भी बनी। कोसी योजना भी बनी। कोसी योजना पूर्ण करने का निश्चय किया गया। कोसी योजना का उद्देश्य नेपाल को बाढ़ से बचाना, बिजली पूर्ति करना एवं सिंचाई से लाभ पहुँचाना था'।

दिसम्बर 1965 में नेपाल नरेश ने पुनः भारत की यात्रा की। इस यात्रा के अन्त में भारतीय प्रधानमन्त्री लालबहादुर शास्त्री एवं नेपाल नरेश की संयुक्त विज्ञप्ति में नेपाल नरेश ने स्वीकार किया कि भारत की सहायता से नेपाल में चल रहे विकास कार्यों की प्रगति सन्तोषपूर्ण ढंग से हुई। भारतीय प्रधानमन्त्री ने विश्वास दिलाया कि नेपाल की पंचवर्षीय योजना में भारत अधिकतम सहयोग देगा।

जनवरी 1966 में सूर्यबहादुर थापा नये प्रधानमन्त्री बने। वे मार्च 1966 में भारत आये। भारत और नेपाल के सम्बन्धों में इससे कुछ सुधार हुआ। परन्तु शीघ्र ही साढ़े चार वर्गमील के सुस्ता क्षेत्र को लेकर दोनों देशों में सीमा विवाद उठ खड़ा हुआ।

अक्टूबर 1966 में श्रीमती इन्दिरा गांधी ने नेपाल की यात्रा की। उन्होंने नेपाल के पंचायती लोकतन्त्र की सराहना की और महाराजा महेन्द्र को दार्शनिक शासक कहकर पुकारा। जून 1969 में चीन के दबाव में आकर नेपाली प्रधानमन्त्री के० एन० विष्ट ने भारत से नेपाल की उत्तरी सीमा पर काम करने वाले तकनीशियनों को वापस बुलाने और अपनी सैनिक चौकियाँ हटा लेने की माँग की। इससे भारत में काफी कटुता उत्पन्न हुई। 1971 के भारत-पाक युद्ध से भारत की

विजय का नेपाल पर काफी प्रभाव पड़ा। नेपाल ने समझ लिया कि भारत एक दुर्बल पड़ोसी नहीं है।

1972 में राजा महेन्द्र के निधन के बाद वीरेन्द्र नेपाल के राजा बने। उन्होंने नेपाल के विकास कार्यक्रमों में सहायता देने में भारत की उदारता की सराहना की। 1974-75 में सिक्किम के भारत में विलय की घटना की नेपाल में प्रतिक्रिया हुई किन्तु भारत ने इस बात का आश्वासन दिया कि नेपाल और सिक्किम की स्थिति भिन्न है। अक्टूबर 1975 में महाराजा वीरेन्द्र भारत आये और भारत ने नेपाल को आश्वासन दिया कि वह उसकी पंचवर्षीय योजनाओं में भरपूर सहायता देगा। अप्रैल 1976 में नेपाल के प्रधानमन्त्री तुलसीगिरि भारत आये तो उन्होंने 'समदूरी' सिद्धान्त (भारत और चीन से समदूरी) पर बल दिया। लेकिन भारत सरकार इस बात पर बल देती रही कि नेपाल के भारत से विशिष्ट सम्बन्ध हैं, अतः उसका समदूरी सिद्धान्त अनुचित है।

जनता सरकार की विदेश नीति और भारत-नेपाल सम्बन्ध (1977–1979)

जनता पार्टी सरकार ने नेपाल से मधुर सम्बन्ध स्थापित करने के लिए पुरजोर प्रयत्न किये। 1976 से अधर में लटकी हुई व्यापार और आवागमन सन्धि को बिलकुल उसी तरह सम्पन्न किया जैसाकि नेपाल चाहता था। मार्च 1978 में एक के बजाय दो सन्धियाँ की गयीं। दोनों में रियायतों का अम्बार लगा दिया गया। नेपाली उद्योग के विकास का जिम्मा भारत ने अपने कन्धों पर लिया तथा नेपाल द्वारा विनिर्मित लगभग 60 वस्तुओं पर से तटकर हटा लिया। नेपाल को 16 आवश्यक वस्तुएँ नियमित देते रहने का दायित्व भी भारत ने सम्हाला। पारगमन सन्धि के अन्तर्गत भूवेष्टित नेपाल को बंगला देश तक सामान ले जाने के लिए भारत ने थलमार्ग की सुविधा देने का वायदा किया तथा कुल मिलाकर नेपाल को वे सुविधाएँ दीं जो अफगानिस्तान तथा स्विट्जरलैण्ड जैसे भूवेष्टित देशों को भी प्राप्त नहीं हैं। भारत-नेपाल सम्बन्धों को सुधारने के लिए विदेशमन्त्री ने दो वर्ष में काठमांडू की अनेक यात्राएँ कीं। श्री देसाई भी नेपाल गये। इस बीच नेपाल के नरेश तथा प्रधानमन्त्री भी भारत यात्रा पर आये।

भारत-नेपाल सम्बन्ध (1980–90)—सितम्बर 1985 में नेपाल नरेश ने भारत की यात्रा की और नेपाल के विकास कार्यों में भारत के सहयोग की प्रशंसा की। दोनों देशों के बीच पारगमन सन्धि को मार्च 1989 तक बढ़ा दिया गया।

भारत-नेपाल आर्थिक तकनीकी सम्बन्ध—नेपाल के विकास कार्यों में सबसे अधिक धन भारत का ही लगा हुआ है। नेपाल को भारत से हर तरह का प्रशिक्षण—तकनीकी और गैर-तकनीकी—भी मिलता है। कोलम्बो योजना के अन्तर्गत भी भारत ने अनेक नेपाली नागरिकों को प्रशिक्षण दिया है। भारत ने नेपाल की जिन परियोजनाओं के लिए सहायता दी है, उनमें प्रमुख हैं—(i) देवी घाट, त्रिशूल, करनाली, पंचेश्वर जल विद्युत योजनाएँ; (ii) त्रिभुवन गणपथ, काठमाण्डू-त्रिशूली मार्ग, त्रिभुवन हवाई अड्डा; (iii) काठमाण्डू, रक्सौल टेलीफोन संयन्त्र; (iv) चत्र नहर परियोजना, कोसी और गंडक परियोजना; (v) भूवैज्ञानिक अनुसन्धान तथा खनिज खोजबीन का काम; (vi) वीरगंज और हितौदा रेल निर्माण; (vii) काठमाण्डू घाटी के एक उपनगर पाटन में एक औद्योगिक वस्ती की स्थापना।

भारत-नेपाल सम्बन्ध : समीक्षात्मक मूल्यांकन

भारत और नेपाल के सुरक्षा सम्बन्धी हित समान होने पर भी उनके सम्बन्धों में अत्यधिक उतार-चढ़ाव रहा है। अनेक बार भारतीय हितों की उपेक्षा करते हुए अर्थात् भारतीय हितों के विरुद्ध नेपाल ने साम्यवादी चीन के साथ समझौते किये हैं। भारत और नेपाल में गलतफहमियाँ विद्यमान रही हैं और वस्तुओं के लिए पारगमन की सुविधाओं और व्यापार संचालन के सम्बन्ध में मतभेद रहे हैं। नेपाल में चीन की गतिविधियाँ भारत विरोधी और ध्वंसात्मक रही हैं। नेपाल

द्वारा काठमाण्डू-ल्हासा सड़क मार्ग बनाने के सम्बन्ध में चीन के समझौता स्पष्टतः भारत विरोधी कदम था। एवरेस्ट पर्वत के सम्बन्ध में नेपाल-चीन में प्रारम्भिक समझौता भारत के प्रति विश्वास-घात था। आजकल नेपाल का आग्रह है कि नेपाल को शान्ति क्षेत्र घोषित किया जाये। भारत सरकार का दृष्टिकोण यह है कि केवल नेपाल ही क्यों सम्पूर्ण उपमहाद्वीप को 'शान्ति क्षेत्र' घोषित किया जाये। चीन, पाकिस्तान, श्रीलंका और बंगला देश ने नेपाल के दृष्टिकोण का समर्थन किया है। 1983 में राष्ट्रपति रीगन ने भी 'नेपाल को शान्ति क्षेत्र घोषित करने' की माँग को समर्थन दिया था। आलोचक इसे भारत विरोधी प्रस्ताव मानते हैं। उनके अनुसार यह अप्रत्यक्ष रूप से भारत पर एक प्रकार का दोषारोपण है कि भारत नेपाल के लिए खतरा है। सम्भवतः नेपाल को 'शान्ति क्षेत्र' घोषित कराने के पीछे नेपाल का प्रधान उद्देश्य भारत के प्रभाव और विशिष्ट स्थिति को नकारना है जिसे वह अपने राष्ट्रीय व्यक्तित्व की खोज में बाधक मानता है। यह उसकी भारत और चीन के मध्य ऐतिहासिक सन्तुलनकारी भूमिका का एक रूप भी हो सकता है, नेपाल इस प्रस्ताव को भारत से अधिकाधिक आर्थिक सहायता पाने के लिए एक सौदेबाजी के आधार के रूप में भी उपयोग करना चाहता है।

संक्षेप में, नेपाल भारत के सन्दर्भ में जूनियर भागीदार के मनोविज्ञान से ग्रसित है तथा दक्षिण के पड़ौसी के आधिपत्य की आशंका का भूत उसे सताता रहता है। नेपाल भारत और चीन के साथ समदूरी सिद्धान्त के आधार पर सम्बन्ध विकसित करता चाहता है जिससे चीन को भी सन्तुष्ट किया जा सके। परन्तु भारत समदूरी सिद्धान्त को नहीं मानता, वह तो नेपाल के साथ विशिष्ट सम्बन्ध चाहता है, उसका कहना है कि नेपाल एक आन्तरिक देश है अतः उसके साथ भारत के विशिष्ट सम्बन्ध रहना स्वाभाविक है।

भारत नेपाल सम्बन्ध : द्विपक्षीय सन्धि की समाप्ति के बाद बिगड़ता मामला

23 मार्च, 1989 को भारत और नेपाल के मध्य द्विपक्षीय आपसी व्यापार व अभिवहन सन्धि की तारीख समाप्त होने के बाद दोनों देशों के बीच छोटे-छोटे मतभेदों से शुरू हुआ मामला गहरे मनमुटाव में बदलने लगा।

सन्धियों का कार्यकाल समाप्त होने का परिणाम यह हुआ कि पर्वतों से घिरे इस देश की राजधानी काठमाण्डू और दूसरे शहरों में अभाव का माहौल बन गया। भारत क सीमावर्ती नेपाली शहरों में लोगों का गुस्सा भारतीय व्यापारियो और दुकानदारों के खिलाफ भड़क उठा। लखनऊ में राज्य सरकार के एक प्रवक्ता ने बताया कि 728 किलोमीटर लम्बी उत्तर प्रदेश-नेपाल सीमा के 12 बाजारों के 5,500 भारतीय व्यापारियों में से 4,000 व्यापारी अपनी दुकान बन्द करके भारतीय क्षेत्र में आ गये। भारतीय मूल के दुकानदारों पर हमला किया गया जिसमें कई लोग घायल हो गये। भारतीय नागरिकों और उनकी जायदाद पर हुए हमलों से भारतीय विदेश मन्त्रालय चिन्तित हो उठा।

भारत चाहता है कि नेपाल सरकार 1950 की शान्ति व मैत्री सन्धि की पाबन्दियों का सम्मान करे या द्विपक्षीय रिश्तों का ताना-बाना फिर तैयार करे। सन् 1950 की सन्धि वह आधार है जिस पर भारत-नेपाल सम्बन्धों की नींव रखी गयी थी। मसलन इसके अनुच्छेद 7 के अनुसार इस बात पर सहमति थी कि "एक देश के नागरिकों को दूसरे देश में निवास, जायदाद की मिल्कियत, उद्योग-व्यापार में भागीदारी व घूमने-फिरने के समान अधिकार पारस्परिक आधार पर दिये जायेंगे।" परिणामस्वरूप, नेपाली नागरिकों को भारत में रहने, घूमने-फिरने, काम-धन्धा करने और आई० ए० एस०, आई० एफ० एस० व आई० पी० एस० को छोड़कर सभी सरकारी नौकरियाँ करने की छूट है। नेपाल में भी भारतीयो को 1967 तक ऐसे ही अधिकार मिले थे।

इसके बाद उनके लिए वर्क परमिट लेने की शर्त लगा दी गयी। उसी साल नेपाल ने भारत से आयात पर 50 फीसदी सीमा शुल्क और 55 फीसदी अतिरिक्त सीमा शुल्क लगा दिया।

भारत के अनुसार इन दोनों कदमों से भारतीय नागरिकों व भारतीय सामान के साथ विशेष व्यवहार की शर्त का उल्लंघन हुआ। नेपाल ने ये प्रतिबन्ध लगाने से पहले भारत से मशविरा भी नहीं किया था। नई दिल्ली में नेपाल की राजदूत भिडाशाह के अनुसार 'नेपाल में काम कर रहे भारतीयों के साथ कोई भेदभाव नहीं किया जाता, वर्क परमिट तो सभी विदेशियों को लेना पड़ता है।' भारतीय विदेश मन्त्रालय के अभिमत में 'सवाल दूसरे विदेशियों के मुकाबले भारतीयों से भेदभाव का नहीं है। मुद्दा यह है कि सन्धि के हिसाब से नेपाल अपने नागरिकों और भारतीयों के बीच भेदभाव नहीं कर सकता। भारत ने अपने यहाँ रह रहे करीब 50 लाख नेपालियों पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया।'

वस्तुतः भारत-नेपाल सम्बन्धों में तनाव का मूल कारण व्यापार व पारगमन सन्धि के अतिरिक्त राजनीतिक अधिक है। भारत को यह बात अनुचित लगी है कि नेपाल भारत की जानकारी के बिना चीन से हथियार खरीदे। भारत आपसी व्यापार और पारगमन की एकीकृत सन्धि के लिए अड़ा हुआ है।

भारत और नेपाल के सम्बन्ध वर्षों से सौहार्द्रपूर्ण रहे हैं उनमें अचानक जो कटुता आई है उसे चिन्ताजनक ही माना जायेगा। नेपाल की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि भारत के साथ तनावपूर्ण व्यवहार उसके हित में नहीं हो सकते। भारत-नेपाल सम्बन्धों में आये बिगाड़ का 'सार्क' आन्दोलन पर भी असर पड़े बिना नहीं रह सकता।

भारत-भूटान सम्बन्ध
(INDO-BHUTAN RELATIONS)

भूटान पूर्वी हिमालय में स्थित एक छोटा-सा स्वतन्त्र राज्य है। इसके पश्चिम में भारत का सिक्किम प्रान्त तथा बंगाल का दार्जिलिंग जिला इसे नेपाल से अलग करता है। इसकी उत्तरी तथा उत्तरी-पूर्वी सीमा पर तिब्बत और इसके पूर्व तथा दक्षिण में भारत का असम प्रान्त है।

भूटान एक पर्वतीय राज्य है और पर्वतों के बीच घाटियों में बसा हुआ है। इसका क्षेत्रफल 18,000 वर्गमील और जनसंख्या लगभग 8 लाख है। यहाँ अधिकतर भूटिया जाति के लोग रहते हैं। भूटान के लोग बौद्ध धर्मावलम्बी हैं।

भारत की प्रतिरक्षा में भूटान का अत्यधिक महत्व है। भारत की उत्तरी प्रतिरक्षा व्यवस्था में भूटान को भेद्यांग (Achilles heel) की संज्ञा दी जाती है। चुम्बी घाटी से चीन की सीमाएँ केवल 80 मील हैं। यदि चीन विस्तारवादी इरादों से इस क्षेत्र में घुसपैठ करे तो वह न केवल भूटान को बल्कि उत्तरी बंगाल, असम और अरुणांचल प्रदेश को भारत से काट सकता है। चीन ने भूटान-तिब्बत की वर्तमान प्राकृतिक सीमाओं को कभी स्वीकार नहीं किया। सौभाग्य से भारत-भूटान सम्बन्ध मित्रतापूर्ण रहे हैं और उनमें कोई प्रमुख समस्या नहीं है।

भारत भूटान को एक स्वतन्त्र देश के रूप में बनाये रखना चाहता है। भारत की पहल पर ही भूटान 1971 में संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बना, 1973 में वह निर्गुट आन्दोलन में शामिल हुआ, 1977 में भारत ने भूटान के राजदूतावास का नई दिल्ली में दर्जा बढ़ा दिया। भूटान 'सार्क' का भी सदस्य है और उसकी दक्षिण एशिया में डाक सेवाओं में सहयोग सम्बन्धी समिति का अध्यक्ष है।

भारत-भूटान सम्बन्ध : संक्षिप्त इतिहास
(INDO-BHUTAN RELATIONS : A BRIEF HISTORY)

आज से लगभग 500 वर्ष पूर्व तिब्बत के खामा प्रान्त के लोग यहाँ आकर बस गये और

धीरे-धीरे उन्होंने इस पर कब्जा कर लिया। आगे चलकर वर्तमान महाराजा के पूर्वजों ने लामाओं के प्रभुत्व को समाप्त कर दिया और भूटान पर अपना आधिपत्य जमा लिया। भारत-भूटान सम्बन्धों की शुरूआत 1865 की सन्धि (सिनचुला सन्धि) जो कि भारत की ब्रिटिश सरकार और भूटान के मध्य हुई थी, के द्वारा भूटान को भारतीय रियासत का रूप प्रदान किया गया था। उसके बाद 1910 में पुनरवा सन्धि द्वारा इन सम्बन्धों को सुदृढ़ किया गया। इस सन्धि के अन्तर्गत तत्कालीन ब्रिटिश भारत सरकार ने भूटान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने और भूटान के विदेशी मामलों में भारत से निर्देशित (नियन्त्रित) होना स्वीकार कर लिया।

भारत-भूटान सन्धि, 1949

अगस्त 1949 में भूटान सरकार ने स्वतन्त्र भारत की सरकार से एक नई सन्धि की जिसमें पुनरवा सन्धि की अनेक धाराओं का उल्लेख किया गया। इसमें दोनों देशों ने 'चिरस्थायी शान्ति और मित्रता' को सुनिश्चित करने का आश्वासन दिया। इस सन्धि के अनुसार भूटान और भारत का सम्बन्ध पूर्ववत् बनाये रखने का निश्चय किया गया। भारत ने भूटान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया। सन्धि के अनुच्छेद 2 में कहा गया कि भूटान सरकार विदेशी मामलों में भारत सरकार की सलाह को मार्गदर्शक के नाते मानने के लिए सहमत है। यह भी व्यवस्था की गयी कि भारत 5 लाख रुपये वार्षिक सहायता देगा। सिक्किम ने सन्धि के जरिये उसका वैदेशिक सम्बन्ध और प्रतिरक्षा का भार भारत को सौंप दिया था। लेकिन भूटान ने इस सन्धि के द्वारा केवल विदेशी नीति का भार ही भारत को सौंपा था। भारत-चीन युद्ध के बाद भूटान ने प्रतिरक्षा का भार भी भारत को सौंप दिया।

नेहरू और इन्दिरा गाँधी के युग में भारत-भूटान सम्बन्ध (1947–1977)

नेहरू और श्रीमती इन्दिरा गाँधी के प्रधानमन्त्रित्व काल में भारत और भूटान के सम्बन्ध बहुत मधुर रहे। भारत ने भूटान के विकास में सक्रिय रुचि ली और उसे आर्थिक सहायता दी। 30 करोड़ रुपये की लागत से भारतीय सीमा सड़क संगठन ने भूटान में 1,000 किलोमीटर लम्बी सड़क का निर्माण किया। चीन भूटान के 300 वर्गमील क्षेत्र पर दावा करता है, इस क्षेत्र में भी एक सड़क बनायी गयी। भूटानी विद्यार्थी भारत में शिक्षा ग्रहण करने आने लगे। भारत ने भूटान में हवाई पट्टियाँ भी बनायीं, जिन पर हेलीकोप्टर उड़ सकते हैं। भारत के सहयोग से ही भूटान की नयी राजधानी थिम्पू का निर्माण किया गया। भूटान के दूसरे महत्वपूर्ण नगर पारो का विकास भी भारत के सहयोग से हुआ। भारत ने भूटान में विद्यालय और अस्पताल बनवाये।

1970 में भूटान ने संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनने के लिए प्रार्थनापत्र दिया जिसका भारत ने समर्थन किया। सितम्बर 1971 में भूटान संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बन गया। बंगला देश के संकट के समय भूटान ने भारत को नैतिक समर्थन प्रदान किया तथा भूटान ने भारत के तुरन्त बाद बंगला देश को मान्यता दे दी। 13-14 अगस्त, 1976 को भूटान नरेश गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के शिखर सम्मेलन में भाग लेने जाते हुए दिल्ली रुके। इस गुटनिरपेक्ष सम्मेलन में भूटान ने भारत की अच्छे पड़ोसी की नीति की प्रशंसा की।

सन् 1973 में सिक्किम के भारत विलय की घटना ने भूटान पर गहरा प्रभाव डाला और भूटान ने बड़ी बारीकी के साथ अन्य देशों से मेल-मिलाप बढ़ाने का अभियान छेड़ा। 1974 में भूटान नरेश के राज्यारोहण के अवसर पर भूटान ने 1949 की सन्धि की धारा 2 की व्याख्या का प्रश्न उठाया। भूटान ने इसकी यह व्याख्या करने का प्रश्न किया कि भूटान वैदेशिक सम्बन्धों के मामले में भारत के परामर्श को मानने के लिए बाध्य नही है।

भारत में जनता पार्टी शासन और भारत-भूटान सम्बन्ध

भारत और भूटान के सम्बन्धों में प्रकट रूप से कोई तनाव नहीं था किन्तु जनता पार्टी के

शासन के दौरान दो छोटी-छोटी समस्याओं का समाधान हुआ। एक तो 1972 के व्यापार समझौते की धारा 5 के अनुसार भूटानियों पर भी विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में वे ही कानून-कायदे लागू होते थे जो कि भारतीय व्यापारियों पर होते थे। भूटान की माँग थी कि इस अड़चन को हटाया जाये। विदेश मन्त्री वाजपेयी की भूटान यात्रा के दौरान इस समस्या का समाधान हुआ। दूसरा, भूटान की इस पुरानी माँग को भी स्वीकार किया गया कि उसे नई दिल्ली में राजदूतावास खोलने दिया जाये। जनता शासन ने भूटानी मिशन को न केवल राजदूतावास का दर्जा दिया अपितु उसे बंगला देश से भी राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने की सुविधा दी गयी। दोनों देशों के सम्बन्धों को घनिष्ठ बनाने के लिए भूटान के युवा नरेश जिग्मे सिग्ये वांगचुक ने दो बार भारत की यात्रा की तथा भारतीय विदेश मन्त्री वाजपेयी भी एक बार भूटान गये। वाजपेयी ने दावा किया कि भारत और भूटान के सम्बन्ध अत्यन्त उत्तम हैं तथा जो कुछ छोटी-मोटी अड़चनें थीं, उन्हें दूर कर दिया गया है।

मार्च 1978 में भूटान नरेश भारत आये तो भारत ने भूटान को चौथी पंचवर्षीय योजना के लिए 70 करोड़ का अनुदान स्वीकार किया। यह योजना कुल 77 करोड़ की थी। इस अवसर पर भूटान नरेश वांग्चुक ने कहा था कि "भूटान को भारत की मित्रता पर भरोसा है।"

भारत-भूटान सम्बन्ध (1980–1990)

जून 1981 में विदेश मन्त्री पी० वी० नरसिंहराव थिम्पू की सद्भावना यात्रा पर गये। भारत ने भूटान की पाँचवीं विकास योजना (1981–87) के लिए 139 करोड़ रुपये देने का प्रस्ताव किया। भूटान को पारो से कलकत्ता तक अन्तर्राष्ट्रीय विमान सेवा प्रारम्भ करने की अनुमति दी गयी। असम-पश्चिमी बंगाल के साथ सीमा निर्धारण के लिए खम्भे लगाये गये और भारत ने भूटान में रहने वाले 1,500 तिब्बती शरणार्थियों को लेना स्वीकार कर लिया। भारत और भूटान के बीच 10 दिसम्बर, 1983 को एक व्यापारिक समझौता हुआ। इसमें भारत ने वायदा किया कि भारत भूटान के व्यापार को अन्य बाहरी देशों के साथ बढ़ाने में मदद करेगा। सन् 1984 में भारत और भूटान के बीच दूर संचार और माइक्रोवेव की व्यवस्था की गयी है। भारत और भूटान के बीच सम्बन्धों को पुख्ता करने के लिए प्रधानमन्त्री राजीव गांधी ने 29 सितम्बर, 1985 से 1 अक्टूबर, 1985 तक भूटान की यात्रा की। इससे पूर्व फरवरी 1985 में भूटान नरेश ने भारत की यात्रा की।

भारत-भूटान आर्थिक सम्बन्ध

आर्थिक क्षेत्र में भारत ने भूटान की धन और जन से अधिक सहायता की है। भूटान की कृषि, सिंचाई, सड़क परियोजनाओं में भारत ने निरन्तर सहयोग दिया है। जिन प्रमुख परियोजनाओं में भारत भूटान की सहायता कर रहा है उनमें प्रमुख हैं—चुखा हाईडिल परियोजना और पेनडेना सीमेण्ट संयन्त्र। भारत ने पेनडेना में सीमेण्ट कारखाना खोलने के लिए 1275 करोड़ रुपये की सहायता दी। भारत ने भूटान के सचिवालय के निर्माण तथा पुराने मठों व बिहारों के जीर्णोद्धार के लिए आर्थिक सहायता दी है। भारत भूटान के छात्रों को भी छात्रवृत्तियाँ देता है। कोलम्बो योजना के तहत् भारत ने भूटान को आर्थिक तकनीकी सहायता दी है।

भारत और भूटान के बीच मतभेद के मुद्दे

भारत और भूटान के बीच कुछ मनमुटाव 1949 की भारत-भूटान मैत्री सन्धि की धारा 2 की व्याख्या को लेकर है। इस धारा में कहा गया है कि भारत भूटान के आन्तरिक मामलों में कोई दखल नहीं देगा लेकिन विदेशी मामलों में भूटान को भारत की सलाह-मशविरा से ही चलना पड़ेगा। भूटान का मत है कि इस धारा की मनचाही व्याख्या नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त भूटान का कहना है कि 1949 से समय बहुत बदल चुका है अतः इस धारा में संशोधन

करना अति आवश्यक है। भारत का मत है कि 1949 की सन्धि के तहत् भारत भूटान की रक्षा के लिए बाध्य है। भूटान इस प्रकार की व्याख्या का खण्डन करता है। कामचलाऊ सरकार (1979-80) के समय वांगचुक ने 1949 की सन्धि की धारा 2 पर पुनर्विचार की बात कही थी।

भारत-भूटान सम्बन्धों में कतिपय गौण मुद्दों को लेकर भी उत्तेजना पैदा होती रही है। ये हैं—(i) भूटान के आयात-निर्यात पर भारत के कानूनों का लागू होना। 1972 के व्यापार समझौते की धारा पाँच में इसकी व्यवस्था है। नवम्बर 1977 में भारत के तत्कालीन विदेश मन्त्री वाजपेयी ने अपनी भूटान यात्रा के दौरान उसे आश्वासन दिया था कि ये नियम अब भूटान के माल पर लागू नहीं होंगे। (ii) पर्यटकों के लिए आन्तरिक रेखा परमिट व्यवस्था। भूटान का मत है कि विदेशी पर्यटकों को भूटान आने में परमिट न मिलने से उसे राजस्व की हानि होती है, अतः इसमें भारत को उदार नीति अपनानी चाहिए।

विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों पर भी भूटान ने भारतीय दृष्टिकोण से भिन्न नीति अपनायी है। हवाना गुटनिरपेक्ष सम्मेलन (1979) में जहाँ भारत बहुसंख्यक निर्गुट देशों के साथ कम्पूचिया की सीट को खाली रखने के पक्ष में था वहाँ भूटान ने कम्पूचिया की सीट पोलपोत समूह को देने की वकालत की। भारत जहाँ परमाणु अप्रसार सन्धि को पक्षपातपूर्ण मानता है वहाँ भूटान इस सन्धि के पक्ष में है। जून 1981 में भूटानी विदेश मन्त्री ने राष्ट्रीय असेम्बली में घोषणा की कि भूटान चीन के साथ सीधे द्विपक्षीय वार्ता करना चाहता है ताकि भूटान-चीन सीमा को चिन्हित किया जा सके।

चीन की भूटान में घुसपैठ निश्चित ही भारत की चिन्ता का कारण है। चीन ने हाल ही में पशुओं (भेड़ों) को चराने के बहाने भूटान की सीमाओं का अतिक्रमण किया है। तिब्बती काफी अन्दर तक भूटान की सीमाओं में चले आये। दूसरा, भारत की चिन्ता का कारण भूटान में रह रहे वे 4,000 तिब्बती शरणार्थी हैं जो 1959 से वहाँ रह रहे हैं और जिन्हें भूटान की राष्ट्रीय असेम्बली ने 1979 में एक प्रस्ताव पास कर कहा है कि वे या तो भूटान की नागरिकता स्वीकार करें और भूटान समाज में घुलमिल जायें या फिर उन्हें निकाल बाहर किया जाये अर्थात् उन्हें तिब्बत वापस भेज दिया जाये। इस चेतावनी के पीछे चीन का हाथ है जो भारत के राष्ट्रीय हित और आदर्श के विपरीत है। यदि तिब्बती शारणार्थी भूटान, नेपाल या भारत की नागरिकता ग्रहण कर लेते हैं तो फिर तिब्बत की स्वाधीनता का मसला ही समाप्त हो जाता है।

निष्कर्ष—भूटान की सामरिक अवस्थिति का लाभ उठाने के लिए चीन ही नहीं, अमरीका, रूस तथा अन्य यूरोपीय-राष्ट्र भी लालायित है। यदि भूटान को एकदम खोल दिया जाये तो वह भारतीय सुरक्षा के लिए भी खतरनाक सिद्ध हो सकता है। लेकिन एक सार्वभौम राष्ट्र को, जो कि संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य है, भारत एक सन्धि के आधार पर कितना नियन्त्रित कर सकता है, यह प्रश्न भी विचारणीय है।[1]

अभी तक भूटान अपनी विदेश नीति का संचालन भारत के मार्ग निर्देशन करता रहा है। पर धीरे-धीरे भूटान के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व का विकास हो रहा है। वह संयुक्त राष्ट्र का सदस्य बन गया है। भारत और बंगला देश में उसके दूतावास खुल गये हैं। नेपाल, हांगकांग, सिंगापुर और कुवैत में भी भूटान ने अपने प्रतिनिधि तैयार कर दिये हैं। चीन भूटान के राजनीतिज्ञों को धन और पद का लालच देकर अपने पक्ष में करने की चेष्टा में लगा हुआ है। भविष्य में भूटान के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध इस बात पर निर्भर करेंगे कि भारत-भूटान के सम्बन्ध आपस में कितने सहयोगपूर्ण रह पाते हैं तथा भूटान कहाँ तक अपने को चीन के प्रभाव से मुक्त रख पाता है।

---

1 डॉ० वेदप्रताप वैदिक : भारतीय विदेश नीति, नये दिशा संकेत, पृ० 36।

भारत और महाशक्तियाँ
[INDIA AND SUPER POWERS]

भारत और संयुक्त राज्य अमरीका
(INDIA AND THE U.S.A.)

भारत और संयुक्त राज्य अमरीका के सम्बन्धों का युद्धोत्तर इतिहास अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक ऐसा दुखद प्रसंग है जिसे किसी परम्परागत मुहावरे में अभिव्यक्त करना कठिन है। दोनों देशों के बीच सम्बन्धों का रेखाचित्र मित्रता की चाह, कटुता, तनाव, अलगाव और अविश्वास के दायरे में निरन्तर चढ़ता-उतरता रहा है। सहजता और मैत्री के क्षण तो वर्षा ऋतु में बादलों से घिरे आकाश में यदा-कदा दृश्यमान प्रकाश की किरण की तरह क्षणिक ही रहे हैं। सहज सम्बन्ध बनाने की चाह का आधार भावनाओं और मनोकामनाओं तक ही सीमित रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय महत्व के प्रसंगों पर विचार और व्यवहार में मतभेद ही अधिक उजागर हुआ है। स्वेज नहर और कांगो विवाद के मसलों के अतिरिक्त समान दृष्टिकोण तथा सहयोग का सर्वथा अभाव देखा गया है। समय के साथ दोनों देशों में मतभेद के दायरे अधिक गहरे होते गये। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए डॉ० बलदेव राज नायर लिखते हैं, "अमरीकी विदेश नीति संसार के हर देश को प्रभावित करती है। इसके क्रियान्वयन में मित्रों और सहयोगी राष्ट्रों के सम्बन्ध में संयुक्त राज्य अमरीका काफी दृढ़ और शत्रुता के साथ निर्मम तथा क्रूर रहा है। तटस्थ राष्ट्रों के प्रति उसका रवैया घृणास्पद और कठोर रहा है। भारत को अक्सर इस विश्वव्यापी रणनीति का आक्रोश सहना पड़ा है……भारत में अमरीकी विदेश नीति का प्रबल विरोध हुआ है क्योंकि भारतीय अपने को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक बड़ी शक्ति मानते हैं।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत का सन्दर्भ बिन्दु पाकिस्तान नहीं, अपितु बड़ी शक्तियाँ हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत की सामर्थ्यकर्ता बनने की—अर्थात् एक ऐसी स्वतन्त्र शक्ति बनने की जो अप्रिय निर्णयों का प्रतिरोध कर सके, अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति संरचना का अंग बनने की, तथा प्रमुख विश्व शक्तियों के साथ विश्व को प्रभावित करने वाले निर्णयों में पूरा भागीदार बनने की महत्वाकांक्षा है, जबकि संयुक्त राज्य अमरीका की सुनिश्चित नीति रही है, विशेषतः द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद, कि मित्र या विपक्षी, कोई भी नया 'शक्तिकेन्द्र' न बनने पाये। उनका अस्तित्व ही अमरीका के प्रभाव को घटा देगा और इस प्रकार अमरीका के उन स्वार्थों और हितों को आघात लगेगा जिनके साथ अमरीका ने अपनी अखण्डता और कल्याण जोड़ रखा है……।"[2]

भारत अमरीका सम्बन्धों को दो मौलिक परन्तु परस्पर विरोधी प्रेरणा स्रोतों की गत्यात्मक अन्तर्क्रिया के सन्दर्भ में समझना चाहिये। एक ओर तो भारत की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सशक्त अभिकर्ता के रूप में उदित होने की सतत् महत्वाकांक्षा है जबकि उसके लायक सामर्थ्य उसमें नहीं है; और दूसरी ओर अमरीका का अपनी सुरक्षा के लिए दूसरे राष्ट्रों का उपयोग करने का लक्ष्य है। भारत-अमरीकी पारस्परिक सम्बन्धों को समझने की कुन्जी इसी में मिलेगी, न कि उस व्यक्तिगत सहानुभूति या आक्रोश में जो भारत के प्रति अमरीकी नेता विशेष के हृदय में अथवा किसी राजदूत के व्यक्तित्व में है।

---

1 बलदेव राज नायर, **'अमरीका और भारत : संघर्ष की जड़ें'**, (स०) काशी प्रसाद मिश्र, **भारत की विदेश नीति, विकास**, 1977, पृ० 319।

2 **वही**, पृ० 321।

भारत-अमरीका सम्बन्ध : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

स्वाधीनता से पूर्व भारत और अमरीका में कोई विशेष सम्पर्क नहीं था, क्योंकि ये देश बहुत दूर स्थित हैं और फिर भारत के अंग्रेज शासक जान-बूझकर भारत को दूसरे देशों के सम्पर्क में नही आने देना चाहते थे। अमरीका स्वयं द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व तक विश्व राजनीति में पार्थक्यवादी नीति का अनुसरण करता आ रहा था। बहुत कम संख्या में अमरीकी यात्री भारत आते थे क्योंकि एक तो अमरीका को उस समय चीन और जापान को छोड़कर किसी एशियाई देश में रुचि नहीं थी; दूसरे भारत की गरीबी, अशिक्षा, अन्धविश्वास आदि को लेकर विचित्र कहानियाँ अमरीका में प्रचलित थीं।

यह सच है कि स्वतन्त्रता के पूर्व कुछ अमरीकी पत्रकार तथा लेखक भारत आये थे और उन्होंने भारत की गरीबी और पिछड़ेपन को चित्रित करने का प्रयास भी किया था। मिस मेयो द्वारा लिखित पुस्तक 'मदर इण्डिया' इसका प्रमाण है। तथापि सत्य यह है कि दोनों के सांस्कृतिक, सामाजिक सम्बन्ध भी नाममात्र के थे। भारतीय विद्यार्थियों को भी अमरीका मे अध्ययन के लिए हतोत्साहित किया जाता था। संयुक्त राज्य अमरीका का आप्रवास नियम प्रत्यक्ष रूप से भारत विरोधी था। इस नियम ने नागरिक के रूप में अमरीका में बसने से भारतीयों पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ ने अमरीका जाकर अपने भाषणों द्वारा भारतीय धर्म तथा संस्कृति के बारे में फैली अनेक भ्रान्तियों को दूर किया। 1893 में स्वामी विवेकानन्द अमरीका गये जहाँ शिकागो में उन्होंने सर्वधर्म सम्मेलन में भाषण दिया। शिकागो सर्वधर्म सम्मेलन से पूर्व उनकी भेंट हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के विख्यात प्रोफेसर जॉन हेनरी राइट से हुई। प्रो० राइट ने स्वामीजी को सर्वधर्म सम्मेलन के सभापति के नाम एक परिचय पत्र दिया। इस पत्र में डॉ० राइट ने यह लिखा था, "यहाँ एक ऐसा व्यक्ति है जो अपने यहाँ के सारे विद्वान प्रोफेसरों की इकट्ठी विद्वत्ता से भी कहीं अधिक विद्वान है।" विवेकानन्द का भाषण भारत की सार्वदेशिकता और विशाल हृदयता से ओत-प्रोत था जिसने वहाँ के हर श्रोताओं को मुग्ध कर दिया।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद भारत और अमरीका एक-दूसरे के सम्पर्क में आने लगे। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के कई नेता अमरीका को लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता का महान समर्थक समझते थे। 1911 में लाला हरदयाल ने अमरीका में गदर पार्टी की स्थापना की। 1917 में अमरीका में निवास करने वाले कतिपय भारतीयों ने एक इण्डियन होम रूल लीग की स्थापना की। 1927 में कुछ भारतीयों ने इण्डिया लीग नामक एक दूसरी संस्था संयुक्त राज्य अमरीका में स्थापित की थी। 1943 में भारतीय स्वाधीनता राष्ट्रीय समिति की स्थापना वाशिंगटन में हुई थी। 1929 में सी० एफ० एण्ड्रूज तथा श्रीमती सरोजनी नायडू ने भारतीय समस्या के प्रति अमरीकी जनता से सहानुभूति प्राप्त करने के लिए अमरीका का दौरा भी किया। ऐसा कहा जाता है कि उनकी यात्रा के परिणामस्वरूप भारतीय मामलों में अमरीकी जनता की अभिरुचि बढ़ी।

भारत अमरीका को अब तक लोकतन्त्र और राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के समर्थक राष्ट्र के रूप में देखता था, किन्तु 1927 में ब्रुसेल्स सम्मेलन में भारत का भ्रम टूट गया। लेटिन अमरीकी देशों से आये प्रतिनिधियों ने जवाहरलाल नेहरू को बतलाया कि लेटिन अमरीका मे संयुक्त राज्य अमरीका साम्राज्यवादी नीति का ही सहारा लिये हुए है। भारत लौटने के बाद राष्ट्रीय कांग्रेस को दिये गये प्रतिवेदन में नेहरू ने लिखा "भविष्य की सबसे गम्भीर समस्या अमरीकी साम्राज्यवाद होने जा रहा है, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दिन अब लद चुके हैं।"

भारत के कतिपय क्षेत्रों में यह धारणा प्रचलित है कि अमरीका के राष्ट्रपति स्वर्गीय रूजवेल्ट ने भारत को स्वतन्त्रता दिलाने में इंगलैण्ड पर दबाव डालकर महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। अमरीका की इस तथाकथित भूमिका को यदाकदा गौरवान्वित भी किया गया है। किन्तु

वास्तव में देखा जाये तो यह धारणा निरे भ्रम पर आधारित है। भारत की आजादी की लड़ाई में अमरीकी प्रशासन ने कोई ऐसा रचनात्मक योगदान नहीं दिया जिसे भारतीय इतिहास में गौरवमय स्थान दिया जा सकता हो।

स्वर्गीय राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने भारत को बहुत सीमित औपनिवेशिक स्वराज देने की बात कही थी। सीमित दायरे में इसलिए कि अमरीकी नेताओं का मन्तव्य इने-गिने भारतीयों को प्रशासन का भागीदार बनाकर ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति अधिक वफादार बनाने से था। इसके अतिरिक्त उन्हें कोई सरोकार नहीं था। रूजवेल्ट ने यह भी कहा था कि, "भगवान के लिए मुझे इस विवाद में मत धकेलो। यह मेरा काम नहीं है।" लुई फिशर का तो यहाँ तक कहना था कि 'स्वर्गीय राष्ट्रपति ने चर्चिल को जो पत्र लिखा था वह कभी प्रेषित ही नहीं किया गया।' इससे पूर्व भी अमरीकी प्रशासन ने भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के प्रति महानुभूति दर्शाई हो, इसका उल्लेख नहीं मिलता। बल्कि इसके विपरीत उनका यह दृष्टिकोण था कि इंगलैण्ड के लोग इस पिछड़े हुए भू-भाग को सभ्य बनाने में जुटे हुए हैं। गैर-सरकारी क्षेत्र में कपितय बुद्धिजीवियों ने भारत की स्वतन्त्रता की समस्या पर अवश्य दिलचस्पी दिखायी थी लेकिन वहाँ के प्रशासन ने इस भू-भाग की राजनीतिक उथल-पुथल के प्रति सदा अनभिज्ञ रहना ही उचित समझा। सन् 1942 में 'भारत छोड़ो आन्दोलन' (भारतीय क्रान्ति) को कुचलने के लिए ब्रिटिश सरकार ने अमरीकी फौजों का उपयोग किया, तो अमरीकी सरकार ने इसका विरोध नहीं किया। इससे भारतीय नेताओं को बड़ी निराशा हुई। 1945 के सेनफ्रांसिस्को सम्मेलन में जहाँ सोवियत विदेशमन्त्री ने स्पष्ट रूप से भारत को स्वतन्त्रता दिये जाने का समर्थन किया वहाँ अमरीकन प्रतिनिधि ने कुछ भी नहीं कहा।

भारत में सन् 1943 के महाकाल की घटना भी अमरीकी बेरुखी का ज्वलन्त उदाहरण है। यह महाकाल भारतीय इतिहास की एक प्रलयंकारी घटना थी जिसमें लगभग तीस लाख लोगों को खाद्यान्न के अभाव में अपने प्राण गँवाने पड़े। लेकिन इन संकट की घड़ियों में अमरीकी प्रशासन ने भारत को किसी भी तरह की सहायता देना उचित नहीं समझा। अमरीकी प्रशासन के इस बेरुखीपूर्ण रवैये के पीछे कारण स्पष्ट था। वह अपने मित्र इंगलैण्ड को अप्रसन्न करना अथवा पशोपेश में डालना नहीं चाहता था। सन् 1946 में भारत को लगभग ऐसी ही स्थिति का पुनः सामना करना पड़ा। संकट की इन घड़ियों में भी ट्रूमैन प्रशासन का रवैया सहयोग का न होकर बेपरवाही का था। भारतीय खाद्यान्न प्रतिनिधि मण्डल के अध्यक्ष रामास्वामी के बार-बार अनुनय-विनय के उपरान्त भी अमरीका की ओर से सहायता उपलब्ध नहीं हुई। सन् 1943-44 की दर्दनाक स्थिति का उल्लेख करते हुए मुदालियर का कहना था कि, "जहाँ भारत में तीस लाख लोग भूख से मरे वहाँ इटली, जर्मनी और पोलैण्ड के युद्धबन्दियों को किसी तरह का अभाव नहीं रहा।"[1] चौथे दशक के प्रारम्भ में अमरीकी नीति के परिणामस्वरूप भारत के प्रति बहुत ही विकृत तस्वीर बनी जो कुछ रूप भी विद्यमान है। 'न्यूयार्क टाइम्स' के संवाददाता ने अगस्त 1943 में अपने प्रतिवेदन में लिखा था कि, "भारत के लोग अमरीकियों को धन के लोभी, अधार्मिक, अनैतिक तथा संसार को नेतृत्व देने में अयोग्य मानते हैं।"

अन्तरिम सरकार के गठन (1946) के तुरन्त पश्चात् भारत के प्रधानमन्त्री नेहरू ने अपने रेडियो भाषण में अमरीका के लोगों को बधाई सन्देश देते हुए यह आशा व्यक्त की थी कि अमरीका अन्तर्राष्ट्रीय जगत में जिसे नियति ने प्रमुख स्थान दिया है, अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा।

---

1 टी० वी० कुन्हीकृष्ण : अनफ्रेण्डली फ्रेण्ड्स : इण्डिया एण्ड अमरीका से उद्धृत, पृ० 113।
2 वही।

इतना ही नहीं, नेहरू ने भारत की संविधान-निर्मात्री सभा में अमरीकी लोकतन्त्र और शासन व्यवस्था की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। भारत के साथ सहयोग और मैत्री की चाह अमरीकी क्षेत्र में विद्यमान थी। साम्यवादी चीन के उद्भव के पश्चात् भारत जैसे महादेश को मित्र बनाना अमरीका के लिए भी महत्वपूर्ण था। सन् 1950 में न्यूयार्क टाइम्स ने एशिया में साम्यवादी ज्वारभाटे को प्रतिबन्धित करने में भारत को एकमात्र नियन्त्रक शक्ति के रूप में देखा था। पत्र ने लिखा था कि, "एशिया विद्यमान संघर्ष में नेहरू का समर्थन कई सैनिक डिवीजनों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।"

उपर्युक्त पृष्ठभूमि में भारत-अमरीकी सम्बन्धों का ढाँचा खड़ा करने का प्रयत्न किया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद भारत-अमरीकी सम्बन्धों को सामान्य एवं मधुर बनाने की इच्छा दोनों ही देशों की नीति-निर्माताओं के मन में होने के बावजूद अनेक मुद्दों पर मतभेद उभरकर सामने आने लगे। एशिया की राजनीति में अमरीका की घुसपैठ और कतिपय देशों के साथ सैनिक प्रतिबद्धताओं के परिणामस्वरूप जो तस्वीर उजागर हुई है वह भी बहुत उजली नहीं कही जा सकती। इस 'तीसरी दुनिया' के भूभाग में अमरीकी नीति अधिकांशत: गैर-प्रजातन्त्रवादी फासिस्ट और सैनिक तानाशाही की समर्थक रही है। पाकिस्तान, दक्षिण कोरिया, दक्षिण वियतनाम आदि देशों के साथ उसके गठबन्धन ने प्रजातन्त्रीय दुनिया के लोगों के मन में उसकी नीति के प्रति सन्देह ही उत्पन्न किया है। विशेषकर भारत में अमरीका के प्रति रोष और विरोध अधिक प्रकट हुआ है। सैनिक सन्धियों और अस्त्र-शस्त्रों की सहायता के कारण सामान्य जन में यह अवधारणा बनी है कि अमरीका जनतन्त्रीय मूल्यों के प्रति इतना कृतसंकल्प नहीं जितना वह अपने राष्ट्रीय और विश्वव्यापी हितों के प्रति है। ले-देकर उसकी साम्राज्यवादी आकांक्षा और छवि ही अधिक प्रस्फुटित हुई है। आर्थिक क्षेत्र में अपार सहायता को भी तीसरी दुनिया में अमरीकी हितों के परिपोषण का साधन ही माना गया है।

भारत-अमरीकी सम्बन्धों का विकास

1947 के बाद भारत-अमरीकी सम्बन्धों की विकास यात्रा को निम्न प्रकार से अध्ययन करना अधिक सुविधाजनक होगा :

1. नेहरू युग और भारत-अमरीका सम्बन्ध।
2. लालबहादुर शास्त्री और भारत-अमरीका सम्बन्ध।
3. श्रीमती इन्दिरा गांधी और भारत-अमरीका सम्बन्ध।
4. जनता सरकार और भारत-अमरीका सम्बन्ध।
5. राजीव गांधी और भारत-अमरीका सम्बन्ध।

1. नेहरू युग और भारत-अमरीका सम्बन्ध (1947-1964)

नेहरू युग में भारत-अमरीकी सम्बन्धों की नींव पड़ी। नेहरू का व्यक्तित्व और दर्शन अमरीकी नीति-निर्माताओं की समझ से परे रहा। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर उनकी समझ व्हाइट हाउस और पेण्टागन से भिन्न थी अत: ट्रूमैन, आइजनहावर, डलेस, केनेडी और जॉनसन के लिए वे पेचीदा व्यक्तित्व ही बने रहे। नेहरू के बारे में आइजनहॉवर ने लिखा भी था कि, "पंडित नेहरू का व्यक्तित्व दुर्बोध और उपनिवेशवादी है।" नेहरू को उन्होंने एक बुद्धिजीवी, कुलीन और आत्मश्लाघी में रूप के ही देखा, भारत और एशिया की उभरती आकांक्षाओं के प्रतीक रूप में नहीं।

द्वितीय महायुद्ध के बाद वस्तुत: दुनिया के इन दो लोकतान्त्रिक देशों के बीच एक-दूसरे के मानस को समझने और तदनुसार नये परिप्रेक्ष्य में एक-दूसरे की भूमिका को स्वीकार करने की मनोवृत्ति का अभाव रहा। स्वतन्त्र भारत की गटनिरपेक्ष नीति प्रारम्भिक काल में अमरीका

शासकों की समझ से परे रही तो दूसरी ओर तीसरी दुनिया में अमरीका की महत्वाकांक्षी भूमिका भारत के लिए स्वीकार करना कठिन था। नेहरू के जीवनी लेखक डॉ० एस० गोपाल ने सन् 1949 में नेहरू द्वारा की गयी अमरीकी यात्रा के उपरान्त उनकी मनोव्यथा को व्यक्त करते हुए उन्हें उद्धृत किया है—"उन्होंने हर तरह मेरा स्वागत किया मगर वे मुझसे कृतज्ञता और सद्भाव से अधिक 'कुछ' चाहते थे और यह 'कुछ' में उन्हें नहीं दे सकता था। यह 'कुछ' न पाकर अमरीका को बड़ा क्षोभ हुआ। उसकी स्वार्थपूर्ण सहानुभूति का जादू भारत से अपनी नीतियों की सौदेबाजी नही करा सका था।"

नेहरू युग में भारत-अमरीकी मतभेद निम्न प्रश्नों (मुद्दों) पर उभरकर सामने आये :

1. **साम्यवाद एवं साम्यवादी गुट**—साम्यवाद एवं साम्यवादी गुट के प्रति दोनों देशों के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न थे। वस्तुतः युद्धोत्तर काल में अमरीकी विदेश नीति का मूल आधार ही 'साम्यवाद के प्रसार को रोकना' रहा है। साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए अमरीका ने युद्धोत्तर काल में उन्हीं फासीवादी और तानाशाही शासनों का समर्थन किया जिनके विरुद्ध उसने द्वितीय महायुद्ध में भाग लिया था। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अमरीका ने अपने आपको 'विश्व का पहरेदार' बना लिया और सन्धियों व नाटो जैसे संगठनों के निर्माण द्वारा साम्यवाद के प्रसार को रोकने का प्रयास किया। जो राष्ट्र समझौतों या सैनिक संगठनों के माध्यम से अमरीका से सम्बद्ध नहीं हुआ उसे 'विरोधी' या 'शत्रु' या 'रूस का पिछलग्गू' की संज्ञा दी गयी। जॉन फोस्टर डलेस ने स्पष्ट कहा था कि 'जो हमारे साथ नहीं वह हमारे विरुद्ध है।' दूसरी ओर, भारत न तो स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय और न उसके बाद साम्यवादी हाथी से भयभीत है। भारत के लिए 'साम्यवादी हौआ' चिन्ता का इतना अधिक विषय नहीं जितना कि उसके लिए आर्थिक विकास का मुद्दा है। अपने आर्थिक विकास के लिए भारत को न केवल विदेशी आर्थिक सहायता की आवश्यकता है अपितु यन्त्रों और तकनीशियनों की भी आवश्यकता है। अतः भारत दोनों महाशक्तियों से मैत्री चाहता है, दोनों से आर्थिक सहायता चाहता है।

भारत ने अपनी निर्गुट नीति के कारण साम्यवाद के विरुद्ध अमरीका की भाँति कभी कठोर दृष्टिकोण नहीं अपनाया। यद्यपि भारत ने अनेक बार साम्यवाद की आलोचना की परन्तु उसने इसे संसार की एकमात्र चुनौतीपूर्ण समस्या नहीं माना। भारत में तो साम्यवादी दल भी है जिसे अन्य दलों के समान स्वतन्त्रता प्राप्त है।

2. **उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद**—द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद भारत की विदेश नीति की एक प्रमुख विशेषता उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद एवं रंगभेद की कटु आलोचना करना रहा है। इसके विपरीत, अमरीका ने औपनिवेशिक शक्तियों का समर्थक बनकर तीसरी दुनिया के राष्ट्रों में अपनी छवि को धूमिल कर दिया। उसकी सारी राजनीति और हित ब्रिटेन, फ्रांस, पुर्तगाल, स्पेन, हालैण्ड जैसे पूर्व-साम्राज्यवादी राष्ट्रों के साथ जुड़े हुए हैं। वस्तुतः लगभग सभी यूरोपीय साम्राज्यवादी उसके मित्र थे और साम्यवाद के विरुद्ध उसके सहायक थे।

3. **गुट निरपेक्षता**—नेहरू के नेतृत्व में भारत ने गुट निरपेक्षता की नीति का वरण किया। भारत ने एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों को संगठित करने का प्रयत्न किया और वह गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का नेतृत्व करने में सफल हो गया। अमरीकी विदेश नीति निर्धारकों को भारत की यह भूमिका कुछ रुचिकर नहीं लगी और वे इसको शंका की दृष्टि से देखने लगे। अमरीका को भारत एक जबरदस्त प्रतिरोधी के रूप में नजर आने लगा जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अमरीका से टक्कर लेने लगा था। तात्कालिक उपराष्ट्रपति निक्सन ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने के लिए इसी बुनियाद पर जोरदार सिफारिश की थी कि 'उससे जवाहरलाल नेहरू के भारत के सुदृढ़ तटस्थतावाद का मुकाबला हो सकेगा।' तटस्थतावाद को कम से कम एक प्रमुख अमरीकी नेता ने

अनैतिक घोषित किया था। पाकिस्तान को सैनिक सहायता देकर अमरीका ने तटस्थतावाद के तत्कालीन प्रमुख प्रवक्ता भारत को निरस्त्र करने के लिए बड़ा कदम उठाया था।

4. **सैनिक गुटबन्दियाँ**—अमरीका ने शीतयुद्ध की राजनीति में साम्यवाद के परिशोधन हेतु द्विपक्षीय अथवा बहुपक्षीय सुरक्षा व्यवस्थाओं तथा सैनिक सन्धियों एवं मैत्रियों का निर्माण किया। इनमे प्रमुख हैं—रीओ सन्धि, नाटो सन्धि, एन्जस सन्धि, सीटो सन्धि आदि। इन सैनिक संगठनों तथा सन्धियों का मूल उद्देश्य सोवियत गुट को इस बात की चुनौती देना है कि हस्ताक्षरकर्ताओं में से किसी एक पर आक्रमण सब पर आक्रमण समझा जायेगा। पामर व पर्किन्स के अनुसार "साम्यवाद को रोकने के लिए अमरीका ने अपने आपको न केवल परम्परागत तथा नवीनतम शस्त्रों से सुसज्जित किया बल्कि अन्य राष्ट्रों को प्रत्येक प्रकार की सहायता देकर, सैनिक अड्डे स्थापित करके, सैनिक संगठन बनाकर एवं समझौते करके 'स्वतन्त्र संसार' की स्थापना की जिसकी सहायता से वह साम्यवादी गुट से टक्कर ले सके एवं शीतयुद्ध मे उसकी स्थिति दृढ़ हो सके।" इसके विपरीत, भारत हर प्रकार के युद्ध का विरोधी है चाहे वह गर्म युद्ध हो चाहे शीत युद्ध। इसीलिए भारत ने सैनिक अड्डों की स्थापना का, सैनिक समझौतों का एवं बड़ी शक्तियों द्वारा छोटे राष्ट्रों को सैनिक सहायता दिये जाने का विरोध किया। 29 मार्च, 1956 को इन सैनिक सन्धियों की आलोचना करते हुए पण्डित नेहरू ने लोकसभा में कहा था, "यह स्पष्ट है कि बगदाद पैक्ट और सीटो जैसी सैनिक सन्धियों की धारणा एक गलत और खतरनाक धारणा है, यह एक नुकसानदेह धारणा भी है। इससे सभी गलत प्रवृत्तियों को बल मिलता है तथा अच्छी प्रवृत्तियाँ अवरुद्ध होती हैं।" भारतीय दृष्टिकोण से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गुटों का निर्माण विश्व शान्ति एवं सुरक्षा के लिए हानिकारक है। यह गुटबन्दी उस विश्व राष्ट्र समाज (World Community) के निर्माण में भारी बाधा है जिसका संगठन समस्त राष्ट्रों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों द्वारा ही किया जा सकता है। अतएव नेहरू के नेतृत्व में भारत ने प्रयत्न किया कि किसी भी प्रकार के गुट मे सम्मिलित न हो। गुटनिरपेक्षता की नीति को अपने एशियाई-अफ्रीकी पड़ोसी राष्ट्रों तक विस्तृत करें और उनकी सहायता से एक शान्ति क्षेत्र की स्थापना करें ताकि विश्वशान्ति की स्थापना हो सके। एशियाई-अफ्रीकी राष्ट्रों से मित्रता रखने के साथ भारत ने साम्यवादी राष्ट्रों से भी मित्रता की और पंचशील को आधार बनाकर राष्ट्रों के सहअस्तित्व के सिद्धान्त को कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया। अमरीका को भारत की यह नीति अच्छी नहीं लगी और प्रारम्भ में उसने गुटनिरपेक्षता को व्यर्थ का ढकोसला समझा।

5. **कश्मीर**—दिसम्बर 1947 में भारत ने कश्मीर विवाद संयुक्त राष्ट्र संघ के समाधान के लिए प्रस्तुत किया तो अमरीका ने भारत के विरुद्ध पाकिस्तान के पक्ष का समर्थन किया। प्रारम्भ में अमरीकी प्रतिनिधि ने संयुक्त राष्ट्र संघ में स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया था कि कश्मीर का भारत में विलय पूर्ण तथा विधिवत है। परन्तु बाद में अमरीका सहित पश्चिमी देशों ने सुरक्षा परिषद में भारत विरोधी प्रस्ताव पारित कराने का प्रयत्न किया। अमरीका ने कश्मीर समस्या की तुलना जूनागढ़ से कर इसे हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष कहकर और भी उलझन में डाल दिया। यह कदम अमरीका ने अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर उठाया क्योंकि सोवियत संघ को घेरने के लिए पाकिस्तान में वह सैनिक अड्डे स्थापित करना चाहता था। डॉ० एम० एस० राजन के अनुसार, "कश्मीर प्रश्न पर अमरीका ने आक्रान्ता को आक्रान्ता के साथ मिलाने का प्रयास किया है.......और भारत की आर्थिक, विशेषकर खाद्यान्नों की, समस्या का लाभ उठाते हुए भारत पर यह प्रभाव डालने का प्रयास किया है कि कश्मीर समस्या का राजनीतिक समाधान किया जाये। अमरीका से भारत की नाराजगी का यह मुख्य कारण है।"

कश्मीर के पूर्व हैदराबाद राज्य के प्रसंग को लेकर भी अमरीका ने काफी कानूनी फसाद

खड़ा किया था। हैदराबाद के निजाम ने पाकिस्तान के उकसाने पर उसे स्वतन्त्र राज्य घोषित करने के सपने संजोये थे। भारत ने समय रहते जब पुलिस कार्यवाही कर हैदराबाद का प्रश्न हमेशा के लिए सुलझा दिया तो अमरीका ने इसे विवाद बनाने का भरसक प्रयत्न किया। उसका कहना था कि हैदराबाद एक राजनीतिक मामला है और शक्ति का प्रयोग उसकी कानूनी हैसियत को समाप्त नहीं कर सकता। भारत का प्रत्युत्तर बहुत ही सटीक था। उसका कहना था कि चूँकि हैदराबाद सार्वभौमिक राज्य नहीं है अतः उसे यहाँ शिकायता करने का अधिकार नहीं है।

6. **चीन में साम्यवादी क्रान्ति और भारत द्वारा मान्यता**—1949 ने चीन में साम्यवादी क्रान्ति हो गयी जो कि अमरीका की बहुत बड़ी कूटनीतिक हार थी। अमरीका चीन को साम्यवादी बनने मे न रोक सका। अमरीका ने यह कोशिश की कि भारत चीन को मान्यता प्रदान नहीं करे, परन्तु भारत के तत्कालीन प्रधानमन्त्री पं० नेहरू ने अपनी असंलग्नता की नीति और स्वतन्त्र निर्णय लेने की क्षमता का परिचय देते हुए दिसम्बर 1949 में ही साम्यवादी चीन को मान्यता प्रदान कर दी। इसके साथ ही अमरीका की इच्छा के विपरीत जनवादी चीन को संयुक्त राष्ट्र की समस्यता दिलाने के लिए भी भारत ने प्रतिवर्ष प्रस्ताव लाना आरम्भ कर दिया।

7. **कोरिया युद्ध**—कोरिया युद्ध (1950) के दौरान भारत ने प्रारम्भ में तो उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित किया और सुरक्षा परिषद में अमरीकन प्रस्ताव का समर्थन भी किया। लेकिन अमरीका की आशा के विपरीत भारत ने इस कार्यवाही के लिए अपना सैनिक दस्ता देने से इन्कार कर दिया क्योंकि वह युद्ध को और भड़काना नहीं चाहता था। जब अमरीकन कमान के नेतृत्व में संयुक्त राष्ट्र संघ की सेना ने 38° अक्षांश रेखा को पार कर उत्तरी कोरिया पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया तब भारत ने अमरीका के इस कुप्रयास की भर्त्सना की। सुरक्षा परिषद से चीन को आक्रमणकारी घोषित करने के अमरीकी प्रस्ताव का भारत ने विरोध किया।

8. **जापान के साथ सन्धि**—द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् जापान के साथ सन्धि के प्रश्न पर भी दोनों देश सहमत नहीं हो सके। 20 जुलाई, 1951 में अमरीका ने जापान के विरुद्ध युद्ध में भाग लेने वाले राज्यों को जापान के साथ की जाने वाली सन्धि का प्रारूप भेजा और इस पर विचार-विमर्श करने के लिए सेनफ्रांसिस्को में होने वाले एक सम्मेलन में उन्हें निमन्त्रित भी किया। भारत ने इस प्रारूप को अत्यन्त कठोर और अपमानजनक वतलाते हुए 30 जुलाई को एक पत्र अमरीका भेजा। भारत ने इस पत्र में बोनिन तथा रयुकू द्वीपों पर अमरीकन संरक्षण का विरोध किया। इन्हें जापान को वापस करने और जापान से विदेशी सेना हटाने का भी प्रस्ताव रखा। जब अमरीका ने ये प्रस्ताव स्वीकार नहीं किये तब भारत ने सेनफ्रांसिस्को सम्मेलन में सम्मिलित न होने का तथा जापान से एक पृथक् सन्धि करने का निर्णय लिया। 9 जून, 1952 को भारत ने जापान से पृथक् सन्धि भी कर ली जिससे अमरीका ने असन्तोष का अनुभव किया।

9. **हिन्दचीन**—हिन्दचीन की समस्या पर भी दोनों देशों में मतभेद तीव्रता से प्रकट हुए। जहाँ भारत इस समस्या को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने के पक्ष में था वहीं अमरीका सैनिक शक्ति का प्रयोग करना चाहता था। प्रारम्भ में फ्रांस सरकार ने हिन्दचीन में अपना उपनिवेश बनाये रखने के लिए अमरीका की सहायता माँगी थी। साम्यवादियों से इस प्रदेश को बचाये रखने के लिए अमरीका ने तुरन्त यह सहायता देना स्वीकार कर लिया। भारत ने इसका विरोध किया। नेहरू ने तत्काल युद्ध बन्द कर देने का सुझाव देते हुए समझौते के लिए एक छः-सूत्री प्रस्ताव रखा। अमरीका इसके लिए सहमत नही हुआ। कुछ समय पश्चात् हिन्दचीन में युद्ध विराम सन्धि हुई। समस्या के समाधान के लिए जेनेवा में एक सम्मेलन हुआ। भारत के प्रतिनिधि ने इसमें महत्वपूर्ण

काम किया और हिन्दचीन के सम्बन्ध में अमरीका की अनिच्छा के बावजूद भी एक समझौता हो गया।

10. **भारत-पाक सम्बन्ध और अमरीकी दृष्टिकोण**—भारत और अमरीका के बीच सम्बन्धों में मई 1954 में उस समय अत्यधिक कटुता उत्पन्न हो गयी, जब अमरीका ने भारत के पड़ौसी देश पाकिस्तान के साथ एक सैनिक समझौता करके उसे बहुत अधिक मात्रा में सैन्य सामग्री देना शुरू कर दिया, जबकि भारत-पाक सम्बन्ध पहले से ही तनावपूर्ण स्थिति में थे। भारत द्वारा अमरीका की इस कार्यवाही का विरोध किये जाने पर अमरीका ने यह कहना शुरू कर दिया कि पाकिस्तान द्वारा इन हथियारों का प्रयोग साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए किया जायेगा। परन्तु 1965 व 1971 भारत-पाक युद्धों में भारत के विरुद्ध अमरीका द्वारा प्रदत्त इन शस्त्रास्त्रों का प्रयोग किया गया जिसके कारण अमरीका के मनसूबों का पर्दाफाश हो गया और भविष्य की घटनाओं ने यह प्रमाणित कर दिया कि अमरीका ने पाकिस्तान को भारत से युद्ध के समय प्रयोग में लाने के लिए इन हथियारों को दिया था। इस सन्दर्भ में अमरीका के भूतपूर्व राजदूत चेस्टर बोल्स का कहना था कि—"पिछले 15 वर्षों में यूरोप के बाहर अमरीका द्वारा अधिकांश सैनिक सहायता नयी सरकारों को इसी उद्देश्य से दी गयी है कि वे अमरीकन वैदेशिक नीति का समर्थन करें।" इतना ही नहीं, अमरीका ने 1954 में पाकिस्तान को सीटो और सेण्टो जैसे प्रादेशिक सैनिक संगठनों का सदस्य भी बना लिया। आइजनहावर-डलेस नीति का स्वयं अमरीका में विरोध हुआ। 2 मार्च, 1945 को सीनेटर फुलब्राइट ने सीनेट में इस सम्बन्ध में कहा था, "मैं पाक-अमरीकी सैनिक सन्धि का विरोध करता हूँ और मैं चाहता हूँ, कि मेरे विरोध को साफ-साफ रिकार्ड किया जाये। क्योंकि भविष्य में इस नीति के परिणाम होंगे, तब यह स्पष्ट हो जायेगा कि उत्तरदायित्व किसका है ?" अन्य सीनेटरों ने भी डलेस नीति का विरोध किया था। सीनेटर फुलब्राइट ने भारत-पाक सम्बन्धों पर इस नीति के प्रभाव की चेतावनी देते हुए कहा था, मैं भारत और पाकिस्तान दोनों देशों की जनता का आदर करता हूँ। दोनों देशों में जो परस्पर तनाव है उसके कारण कई बार संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हुई है। हम पाकिस्तान को शस्त्र सहायता देकर इस संघर्ष को तीव्र कर रहे हैं, इसकी जिम्मेदारी राष्ट्रपति आइजनहावर पर होगी।[1]

11. **तिब्बत के बारे में**—तिब्बत के सम्बन्ध में भारत ने चीन से जो सन्धि की, उसे भी अमरीका ने अनुचित समझा और इसे भारत का साम्यवाद के प्रति समर्पण माना। इसी प्रकार 1955 में जब रूसी नेताओं ने भारत की यात्रा की तब भी अमरीकन समाचार-पत्रों ने इस आशय के विचार प्रकट किये थे कि भारत सच्चे अर्थों में असंलग्न या गुटनिरपेक्ष नहीं है और उसने गुप्त रीति से अपने को साम्यवादी गुट से मिला लिया है। अमरीका के प्रसिद्ध समाचार-पत्र न्यूयार्क टाइम्स ने 15 दिसम्बर, 1955 के सम्पादकीय में स्पष्ट रूप से यही लिखा था।[2]

12. **गोआ का प्रश्न**—1961 में गोआ के मामले पर भी दोनो देशों के सम्बन्धों में विकृति आयी। भारत सरकार अपने इस क्षेत्र को पुर्तगाल की अधीनता से स्वतन्त्र कराने के लिए अत्यधिक प्रयत्नशील रही। भारत के लिए गोआ को पुर्तगाली उपनिवेशवाद से मुक्त कराना उसके एकीकरण और राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से सर्वाधिक महत्व का प्रश्न था। भारत इसका समाधान मैत्रीपूर्ण वार्ता के द्वारा ही करना चाहता था किन्तु पुर्तगाल सरकार ने कोई सहयोग नहीं दिया। इस विषय में अमरीका का दृष्टिकोण विचित्र रूप से भारत के विरुद्ध रहा। गोआ का स्वतन्त्रता आन्दोलन अमरीका में बड़ी आलोचना का विषय बना। इसका मुख्य कारण यही था कि पुर्तगाल

---

1 Venkata Raman : *America's Military Alliance with Pakistan*", International Studies, July-Oct., 1956, p. 73.

2 M. S. Rajan : *India in World Affairs* (1954-56), p. 258.

नाटो का सदस्य था और अमरीका अपने मित्र को नाराज नहीं करना चाहता था। अमरीकी समाचार-पत्रों में यहाँ तक कहा गया कि 'गोआ निवासी स्वयं पुर्तगाल का स्वामित्व पसन्द करते हैं। भारत को ही हिंसा एवं खून-खराबी की स्थिति उत्पन्न करने के लिए उत्तरदायी ठहराया गया।' अमरीका के प्रतिनिधि एडलर्स स्टेवंसन ने गोआ पर भारत की कार्यवाही को आक्रमण की संज्ञा दी थी। संयुक्त राष्ट्र संघ में उनका भाषण अत्यन्त कटु और भारत पर तीव्र प्रहार से परिपूर्ण था। अमरीकी विदेश सचिव जॉन फोस्टर डलेस ने तो गोआ को 'पुर्तगाल के एक प्रान्त' की संज्ञा दी। इससे भारतीय भावनाओं को अत्यन्त ठेस पहुँची।

13. भारत रंगभेद नीति का सर्वदा विरोधी रहा जबकि अमरीका ने रंगभेद नीति का समर्थन किया।

भारत और अमरीका के मध्य सहयोग के आधार—नेहरू युग में कई सारे मसलों पर भारत और अमरीका में मतभेद के बावजूद कतिपय क्षेत्रों में पर्याप्त सहयोग का आधार मौजूद था। इस सम्बन्ध में नेहरू का स्पष्ट मत था कि 'दोनों देश लोकतान्त्रिक संस्थाओं और लोकतान्त्रिक जीवन पद्धति के प्रति समान विश्वास रखते है और शान्ति एवं स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए कृतसंकल्प है। ऐसी स्थिति में इन दोनों के बीच मैत्री और पारस्परिक सहयोग होना अत्यन्त स्वाभाविक है।'

नेहरू युग में दोनों देशों के नागरिकों का सम्पर्क सर्वदा बना रहा है। हजारों की संख्या में भारतीय नागरिक कार्यों के लिए, शिक्षा या प्रशिक्षण के लिए, व्यापार या भ्रमण के लिए अमरीका जाते रहे हैं और इसी प्रकार अमरीका के नागरिक भी भारत आते रहे हैं। अनेक भारतीय विश्वविद्यालयों में अमरीकी विषयों का अध्ययन शुरू हुआ तथा अमरीकी विश्वविद्यालयों में भारतीय विषयों का अध्ययन-अध्यापन दिलचस्पी से प्रारम्भ हुआ।

अक्टूबर 1949 में पं० जवाहर लाल नेहरू ने अमरीका की यात्रा की, वहाँ उनका भावभीना स्वागत हुआ। 1951 में चेस्टर वोलस अमरीकी राजदूत बनकर भारत आये और 1951 से 1954 तक दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्धों में पर्याप्त सुधार हुआ। अमरीका ने भारत को आर्थिक सहायता देना शुरू किया और भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना की सफलता की कामना की।

सन् 1956 में स्वेज संकट के समय अमरीका द्वारा अपनायी गयी नीति का भारत ने समर्थन किया। सन् 1956 में नेहरू ने अपनी दूसरी अमरीका यात्रा की। नेहरू का सर्वत्र अमरीका में स्वागत हुआ। इसके तीन वर्ष बाद (1959) अमरीकी राष्ट्रपति आइजनहॉवर भारत यात्रा पर आये। भारतीय जनता के आतिथ्य-सत्कार से वे अत्यधिक प्रभावित होकर अपने देश लौटे और यह अनुमान लगाया जाने लगा कि दोनों देशों के बीच सहयोग का एक नया अध्याय प्रारम्भ होगा। भारत और अमरीका के बीच मई 1960 में चार वर्ष की अवधि के लिए पी० एल० 480 नामक एक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत अमरीका ने भारत को पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्न भेजने का आश्वासन दिया। 1961 में नेहरू ने अपनी तीसरी अमरीका यात्रा की।

नवम्बर 1960 में जान एफ० कैनेडी अमरीका के राष्ट्रपति बने और उनके नेतृत्व में अमरीका ने अपनी विदेश नीति में अत्यन्त साहसपूर्ण और दूरगामी परिवर्तन किये। उनसे पूर्व अमरीका यह बात मानने के लिए तैयार नहीं था कि कोई राष्ट्र साम्यवाद और लोकतन्त्र के संघर्ष में तटस्थ रह सकता है। कैनेडी ने निर्गुटता को मान्यता दी और भारत-अमरीकी सम्बन्धों को मधुरिमा प्रदान की। कांग्रेस के सम्मुख अपने प्रथम भाषण में कैनेडी ने नेहरू के उच्च आदर्शवाद की सार्वजनिक प्रशंसा की। राष्ट्रपति बनने के पूर्व ही, कैनेडी भारत समर्थक थे। उन्होंने सीनेटर के रूप में अमरीका द्वारा पाकिस्तान को दी जाने वाली सैनिक सहायता का तीव्र विरोध किया था।

अक्टूबर 1962 में जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया तब भारत के अनुरोध पर कैनेडी ने बिना किसी शर्त के पर्याप्त मात्रा में भारत को युद्ध सामग्री भेजी। कैनेडी का स्पष्ट मत था कि "हम चाहते हैं कि लाल चीन और भारत की इस प्रतिस्पर्द्धा में भारत विजयी हो। हम चाहते हैं कि मुक्त और उभरते हुए एशिया का नेतृत्व मुक्त और उभरता हुआ भारत करे।"

निष्कर्षत: नेहरू युग में अमरीका ने भारत के साथ दोहरी नीति अपनायी—एक तरफ तो भारत के साथ दबाव की नीति अपनायी तो दूसरी ओर भारत के साथ विभिन्न क्षेत्रों में सहयोग भी किया। अमरीका की इस दोहरी नीति के पीछे अमरीकन राजनीतिज्ञों का मूल उद्देश्य भारत को किसी ढंग से अपने खेमे में लाना था। ट्रूमैन और आइजनहावर काल को भारत-अमरीकी मैत्रीकाल नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इस युग में अमरीका की विदेश नीति का वास्तविक संचालन विदेशमन्त्री मार्शल और डलेस कर रहे थे जो पूर्णत: भारत विरोधी थे। वस्तुत: भारत-अमरीकी सम्बन्धों में आये अनेक उतार-चढ़ावों के बावजूद भारत अपनी गुट निरपेक्षता की नीति पर डटा रहा।

2. लाल बहादुर शास्त्री और भारत-अमरीका सम्बन्ध (1964-65)

7 दिसम्बर, 1964 को भारत एवं अमरीका के बीच नई दिल्ली में एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार अमरीका ने भारत को तारापुर में आणविक शक्ति का संयन्त्र स्थापित करने के लिए आठ करोड़ डालर दिये। 1964 में भारत के विभिन्न भागों में भारत, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया और अमरीका के वायु सैनिको ने सम्मिलित रूप से शैक्षणिक अभ्यास किये। 1964 में भारत में खाद्यान्न का विकट संकट उपस्थित होने पर भी पी० एल० 480 के अन्तर्गत अमरीका ने बड़ी मात्रा में खाद्यान्नों की पूर्ति की। किन्तु 1965 में भारत-अमरीकी सम्बन्धों में तनाव आया।

लाल बहादुर शास्त्री के नेतृत्व में भारत ने गुट निरपेक्षता की नीति का दृढ़ता के साथ पालन किया और इसी नीति को उन्होंने अपेक्षाकृत अधिक यथार्थवादी स्वरूप प्रदान किया। इसी नीति का अनुसरण करते हुए जब शास्त्री युग में अमरीका ने उत्तरी वियतनाम पर भारी मात्रा मे बम वर्षा करना शुरू कर दिया तो भारत ने इसकी कटु आलोचना की, जिसके कारण अमरीका में भारत के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई।

इस अमरीकी प्रतिक्रिया का स्पष्ट प्रमाण था शास्त्री को दिया गया अमरीकी यात्रा का आमन्त्रण वापस लेकर। अमरीकी राष्ट्रपति जॉनसन से निमन्त्रण पाकर शास्त्री ने मई 1965 में संयुक्त राज्य की यात्रा का कार्यक्रम बनाया था। पर वियतनाम युद्ध के अधिक व्यापक रूप धारण कर लेने पर भारत अपनी आलोचनात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करने से अपने आपको नही रोक पाया। फलत: जॉनसन प्रशासन ने, जो इस विषय पर अत्यधिक संवेदनशील था, भारतीय प्रधानमन्त्री को दिया गया आमन्त्रण वापस ले लिया। भारत के लिए यह एक बहुत बड़ा राष्ट्रीय अपमान था।

1965 में भारत-पाक युद्ध के दौरान पाकिस्तान द्वारा भारत के विरुद्ध अमरीकन शस्त्रास्त्रों के प्रयोग के कारण भी भारत-अमरीकी सम्बन्धों में उग्रता पैदा हो गयी। इस युद्ध के दौरान अमरीका का रुख भारत विरोधी रहा। यह उल्लेखनीय है कि 1965 में अमरीका द्वारा भारत-पाक युद्ध के दौरान 6 जहाजों में भारत के लिए जो सामग्री भेजी गयी थी उसे अमरीका ने भारतीय तट से केवल 15 किलोमीटर दूरी से वापस बुला लिया। इतना ही नहीं, जब पाकिस्तान ने अमरीकन शस्त्रास्त्रों का भारत के विरुद्ध प्रयोग किया तो अमरीका ने पाकिस्ता की इस कार्यवाही पर कोई आपत्ति नहीं की। इसके साथ ही दोनों देशों (भारत, पाकिस्तान) को सैनिक साज-सामान और आर्थिक सहायता भी स्थगित करने का निर्णय लिया। उस समय भारत में खाद्यान्नों का भारी संकट उत्पन्न हो रहा था। इस परिप्रेक्ष्य में अमरीकी सहायता के अन्तर्गत खाद्यान्नों की आपूर्ति बन्द करने की धमकी हर दृष्टि से कठोर एवं निर्मम थी।

संक्षेप में, 1965 के भारत-पाक युद्ध में भारत-अमरीकी सम्बन्ध तनावपूर्ण हो गये थे, यद्यपि अमरीका तटस्थ था परन्तु उसने भारत के साथ तटस्थता तथा पाकिस्तान के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार किया।

3. श्रीमती इन्दिरा गांधी और भारत-अमरीकी सम्बन्ध (1966–77 तथा 1980–84)

10 जून, 1966 को लाल बहादुर शास्त्री के देहान्त के बाद श्रीमती इन्दिरा गांधी भारत की प्रधानमन्त्री बनीं। इन्दिरा गांधी युग में अमरीका के साथ भारत के सम्बन्ध नफरत भरी मुहब्बत की विशेष भावना से प्रेरित रहे हैं। राष्ट्रपति जॉनसन ने भारत-अमरीकी सम्बन्धों में सुधार की दृष्टि से श्रीमती गांधी से अमरीका यात्रा का अनुरोध किया जिसे स्वीकार कर 18 मार्च, 1967 को भारतीय प्रधानमन्त्री ने अमरीका की यात्रा की। भारतीय प्रधानमन्त्री की इस यात्रा से यह आशा की जाती थी कि दोनों देशों के बीच सहयोग का एक नया अध्याय शुरू होगा, किन्तु अमरीका की दबाव नीति के कारण कोई अनुकूल परिणाम नहीं निकला। अमरीकन दबाव के कारण भारत को रुपये का अवमूल्यन करना पड़ा। भारत-पाक युद्ध के बाद अमरीका ने बन्द की गयी आर्थिक सहायता को पुनः आरम्भ किया किन्तु भारत को अमरीका द्वारा दी जाने वाली यह आर्थिक सहायता नगण्य थी। उल्लेखनीय है कि सन् 1968 में अमरीका ने भारत को जो आर्थिक सहायता स्वीकृत की वह पिछले 20 वर्षों की तुलना में सबसे कम थी, जिसके कारण भारत की योजनाओं पर प्रतिकूल असर पड़ा। अप्रैल 1967 में नागा विद्रोही फीजो को अमरीका में आश्रय दिया गया और 1967 में यह रहस्य पता चला कि भारत में अनेक संगठनों के माध्यम से सी० आई० ए० भारत विरोधी कार्यवाही में संलग्न है। पश्चिमी एशिया संघर्ष (1967) तथा वियतनाम युद्ध के मुद्दों पर भारत-अमरीकी दृष्टिकोणों में व्यापक अन्तर उभर कर सामने आया। भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ में अरब राष्ट्रों के पक्ष का समर्थन किया जबकि अमरीका ने इजरायल को प्रबल समर्थन दिया। 1967-70 में वियतनाम के प्रश्न को लेकर दोनों देशों के बीच तनाव काफी बढ़ गया।[1] यद्यपि 1979 में राष्ट्रपति निक्सन भारत आये किन्तु भारत की वियतनाम नीति में वे कोई परिवर्तन नहीं कर पाये। भारत उत्तर वियतनाम पर अमरीकी बमवर्षा का विरोधी रहा। 1970 में भारत ने उत्तरी वियतनाम (हनोई) के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये जबकि दक्षिण वियतनाम (सैगॉन) के विषय में ऐसा निर्णय नहीं लिया गया। 1970 में भारत सरकार द्वारा भारत में त्रिवेन्द्रम एवं लखनऊ में स्थित अमरीकन सांस्कृतिक केन्द्र बन्द करवा दिये गये क्योंकि ऐसी शंका थी कि इन केन्द्रों के माध्यम से कुछ अवांछित कार्य किये जाते हैं। स्वाभाविक रूप से अमरीकन सरकार इससे अप्रसन्न हुई। इसी समय में कम्बोडिया में अमरीकन फौजों के प्रवेश का भारत ने विरोध किया। इस प्रकार दोनों देशों के बीच मतभेद बढ़ते गये।

अमरीकन सरकार द्वारा प्रकाशित भारत के नक्शों ने भारतीय संसद एवं लोकमत को क्रोधित कर दिया। भारत स्थित अमरीकन सूचना केन्द्र के एक प्रकाशन 'संयुक्त राष्ट्र के बीस वर्ष' (United Nations at 20) में भारत का क्षेत्रफल 30,46,232 वर्ग किलोमीटर बताया गया था। इस क्षेत्रफल में जम्मू एवं कश्मीर का भाग सम्मिलित नहीं किया गया था। संयुक्त राष्ट्र सांख्यिकी वार्षिक पत्रिका 1965 (U. N. Statistical Year Book 1965) में भी ऐसा ही प्रकाशित किया गया था। भारतीय सर्वेक्षण के अनुसार भारत का क्षेत्रफल 1 जनवरी, 1966

---

1 She did not see eye to eye with the USA in respect of the conflict in West Asia (1967) or in respect of Vietnam. On the former, India supported the Arab countries in the United Nations on the ground that—Israel had taken the initial step in opening armed conflict; in respect of Vietnam, India's view that the USA must unconditionally halt the bombing of North Vietnam has been, to say the least, embarassing to the USA."
—A. Appadorai, *Essays in Indian Politics and Foreign Policy*, 1971, p. 173.

को 32,68,090 वर्ग किलोमीटर था। 5 अगस्त, 1970 को इस विषय पर भारत सरकार का ध्यान संसद में आकर्षित किया गया और इस प्रकाशन पर आपत्ति प्रकट की गयी; प्रत्युत्तर में विदेश उपमन्त्री दिनेशसिंह ने कहा कि अमरीकन सरकार को इस सम्बन्ध में विरोध-पत्र भेजा जा चुका है। अमरीका का यह कार्य भारतीय मैत्री के विरोध में ही था।

बंगला देश संकट और अमरीकी भूमिका—1971 में बंगला देश संकट एवं भारत-पाक युद्ध में अमरीकी भूमिका विचित्र रही। 25 मार्च, 1971 को पाकिस्तान की याह्या खाँ सरकार के आदेश से पाकिस्तानी आतंक से पीड़ित पूर्वी पाकिस्तान के लगभग एक करोड़ शरणार्थियों के भरण-पोषण का भार भारत पर आ पड़ा। भारत ने अमरीका से शिकायत की कि पाकिस्तान अमरीकी हथियारों का दुरुपयोग कर रहा है, भारत ने अमरीका से आग्रह किया कि पाकिस्तान अमरीका के प्रभाव क्षेत्र में है, इसलिए निक्सन सरकार पाकिस्तान पर दबाव डाले कि वह बंगला देश में अत्याचार बन्द करे ताकि बंगला देश के शरणार्थियों का भारत में आना बन्द हो। अमरीका ने इसे पाकिस्तान का आन्तरिक मामला बताकर टाल दिया और पाकिस्तान को सैनिक एवं अन्य सहायता मिलती रही। भारतीय दृष्टिकोण को समझाने हेतु 6 नवम्बर, 1947 को प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी अमरीका गयी किन्तु राष्ट्रपति निक्सन ने इन्दिरा गांधी के तर्कों को गम्भीरता से नहीं लिया। अगस्त 1971 में भारत-रूस के बीच मैत्री सन्धि हो जाने पर अमरीकन विदेश नीति को एक गहरा आघात लगा।

3 दिसम्बर, 1971 को भारत एवं पाकिस्तान के मध्य युद्ध प्रारम्भ हो गया। युद्ध प्रारम्भ होने के बाद अमरीका ने युद्ध प्रारम्भ करने का सम्पूर्ण दोष भारत पर लगाते हुए आर्थिक सहायता बन्द करने की धमकी दी जबकि पाकिस्तान को दी जाने वाली सहायता जारी रही। इस समय अमरीका ने सुरक्षा परिषद में भारत विरोधी प्रस्ताव प्रस्तुत किये किन्तु सोवियत रूस के वीटो के कारण वे निरस्त हो गये। अमरीका ने न केवल पाकिस्तान को राजनयिक समर्थन प्रदान किया वरन् भारत के विरुद्ध 'युद्धपोत राजनय' (Gun boat diplomacy) का प्रयोग करते हुए सातवाँ जहाजी बेड़ा बंगाल की खाड़ी में भेजकर भारत को प्रत्यक्षतः धमकी दी। 15 दिसम्बर, 1971 को अणु शस्त्र सम्पन्न यह बेड़ा टोंकिन खाड़ी से बंगाल की खाड़ी में आया। भारतीय राजदूत एल० के० झा ने अमरीका को चेतावनी देते हुए कहा कि 'पूर्वी पाकिस्तान से पश्चिमी पाकिस्तान की सेनाओं को इस बेड़े के द्वारा निकालने का प्रयास शत्रुतापूर्व कार्य माना जायेगा क्योंकि यही सेना पश्चिमी मोर्चे पर भारत के विरुद्ध लड़ेगी।' हिन्द महासागर में रूस के नौ-सैनिक बेड़े की उपस्थिति ने अमरीका के युद्धपोत राजनय को असफल बना दिया। इस प्रकार बंगला देश संकट के समय पाकिस्तान का खुला समर्थन करके, सुरक्षा परिषद में भारत विरोधी नीति अपनाकर तथा सातवाँ बेड़ा भेजकर अमरीका ने भारत-अमरीकी सम्बन्धों में तनाव पैदा किया।

बंगला देश युद्ध के बाद भारत द्वारा वियतनाम के दूतावास का दर्जा ऊँचा करने से भी अमरीकी नाराज हो गया। 1972 के प्रारम्भ में ऐण्डरसन पेपर्स के प्रकाशित होने से भारत-अमरीकी सम्बन्धों को एक और धक्का लगा क्योंकि निक्सन के भारत विरोधी पूर्वाग्रहों और विरोध का पर्दाफाश किया गया था।

चीन-अमरीकी साँठगाँठ—राष्ट्रपति निक्सन के पदारूढ़ होने के बाद (1969) चीन से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने के अमरीकी निर्णय से भारत में चीन के प्रभाव को कम करने के लिए भारत को अमरीकी सहायता का प्रश्न स्वतः ही समाप्त हो गया। इसके विपरीत, अमरीका ने शीघ्र ही चीन को दक्षिण एशिया में एक प्रभुत्वपूर्ण सत्ता के रूप में स्वीकार कर लिया। अमरीका ने चीन द्वारा पाकिस्तान को सहायता देकर भारत के प्रभाव को कम करने की चेष्टा का समर्थन ही किया। बंगला देश संकट के समय हेनरी किसिंजर ने अमरीका स्थित भारतीय राजदूत एल०

के० झा को स्पष्ट रूप से बताया कि यदि चीन ने इस्लामाबाद की तरफ से किसी भी भारत-पाक युद्ध में हस्तक्षेप किया तो भारत को अमरीकी सहायता की तनिक भी आशा नहीं रखनी चाहिए।

फरवरी 1972 में निक्सन चीन गये। निक्सन ने वहाँ भारत की आलोचना की। निक्सन-चाऊ वार्ता पर श्रीमती गांधी ने चेतावनी दी कि अमरीका और चीन ने मिलकर एशिया के भविष्य के बारे में कोई निर्णय किया तो अन्य एशियाई राष्ट्र उसे स्वीकार नहीं करेंगे। निक्सन की यात्रा की समाप्ति पर जारी की गयी संयुक्त विज्ञप्ति में पाक क्षेत्र से भारतीय सेनाओं की वापसी और जम्मू-कश्मीर की जनता को आत्मनिर्णय का अधिकार देने की मांग की। भारत ने इसे अपने आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप की संज्ञा देकर इसका कड़ा विरोध किया।

ईरान को हथियारों की आपूर्ति—15 मार्च, 1973 को अमरीका ने पाकिस्तान को पुनः सैनिक सहायता देने का निर्णय कर लिया। इस पर भारत के तत्कालीन विदेशमन्त्री स्वर्णसिंह ने लोकसभा में घोषणा की कि, "पाकिस्तान को शस्त्रों की पूर्ति पुनः शुरू करना भारत-अमरीकी सम्बन्धों के सामान्यीकरण में बाधक होगा।"

मई 1973 में अमरीका ने ईरान को बड़े पैमाने पर शस्त्रास्त्र देने की योजना बनायी। भारत के लिए यह चिन्ता का विषय था, क्योंकि 1971 के भारत-पाक युद्ध के बाद पाकिस्तान ने ईरान के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढ़ाने शुरू कर दिये और ईरान ने पाकिस्तान को हर सम्भव सहायता देने का वायदा भी किया था।

डियागो गार्शिया में अमरीकी अड्डा—डियागो गार्शिया हिन्द महासागर में एक छोटा सा टापू है जो कि ब्रिटेन के अधिकार में था। बाद में इसे अमरीका ने खरीद लिया। 1974 में अमरीका ने इस द्वीप में अपना एक अत्यधिक आधुनिक नौ-सैनिक अड्डा बनाने का निश्चय किया। इससे भारत की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो गया और भारत-अमरीकी सम्बन्धों में कटुता आ गयी। 8 फरवरी, 1974 को श्रीमती गांधी ने कहा—"हिन्द महासागर में परमाणु अड्डे की स्थापना संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रस्तावों के विरुद्ध है। इस प्रकार के कदमों में आमतौर पर संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है।"

मई 1974 में भारत ने पोकरण में आणविक परीक्षण कर अपना नाम अणु-शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों की श्रेणी में लिखा दिया तो अमरीका में इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। फरवरी 1975 में अमरीका ने पाकिस्तान को मिसाइल्स, बमवर्षक विमान व अन्य शस्त्रास्त्र देने का निर्णय किया, जिसके कारण भारत में अमरीका के प्रति तीव्र रोष उत्पन्न हुआ।

फिर भी ऐसा लगता है कि 1972 के बाद भारत-अमरीकी सम्बन्धों को सुधारने के प्रयत्न हुए। अक्टूबर 1972 में विदेश मन्त्री स्वर्णसिंह ने अमरीका की यात्रा की और राज्य सचिव विलियम रोजर्स से लम्बी बातचीत की। जनवरी 1973 में प्रसिद्ध बुद्धिजीवी डेनियल पैट्रिक मोयनिहन को भारत में अमरीकी राजदूत नियुक्त किया गया। इसी समय एक अन्य कार्य से भी अमरीकी सद्भावना का परिचय मिला। 18 फरवरी, 1974 को पी० एल० 480 की जो अमरीकी धनराशि भारत में बकाया थी उसके सम्बन्ध में समझौता करते हुए अमरीका ने भारत को 1664 करोड़ रुपये की धनराशि अनुदान के रूप में दे दी। अक्टूबर 1974 में अमरीकी विदेश सचिव डॉ० किसिंगर ने भारत की यात्रा की।

जनता शासन के बाद श्रीमती गांधी 1980 में पुनः प्रधानमन्त्री बनीं। अमरीका ने मार्च 1980 में पाकिस्तान को 40 करोड़ डॉलर मूल्य के हथियारों की आपूर्ति का निश्चय किया जिसे भारत ने दक्षिण एशिया में तनाव बढ़ाने वाली कार्यवाही कहा।

जून 1980 में अमरीकी राष्ट्रपति कार्टर ने तारापुर परमाणु बिजलीघर के लिए समृद्ध यूरेनियम की आपूर्ति करने के सरकारी आदेश पर हस्ताक्षर कर दिये किन्तु अमरीकी सीनेट,

प्रतिनिधि सभा की विदेश सम्बन्ध समितियों ने भारत को 38 टन यूरेनियम देने से इन्कार कर दिया। अमरीकी कांग्रेस की यह कार्यवाही भारत के प्रति अमैत्रीपूर्ण तथा अमरीका व भारत के बीच 1963 में हुई सन्धि के विपरीत थी।

अमरीकी राष्ट्रपति रीगन के निमन्त्रण पर 27 जुलाई, 1982 को श्रीमती इन्दिरा गांधी 9 दिन की अमरीका यात्रा पर गयीं। श्रीमती गांधी की इस यात्रा से दोनों देशों के सम्बन्धों में कुछ नरमी आ गयी। इस यात्रा के परिणामस्वरूप अमरीका इस बात से सहमत हो गया कि भारत अपनी तारापुर परमाणु भट्टी के लिए ईंधन फ्रांस से ले सकता है। श्रीमती गांधी ने राष्ट्रपति रीगन को पाकिस्तान को अमरीकी हथियारों की आपूर्ति, अफगानिस्तान और पश्चिमी एशिया संकट आदि मुद्दों पर भारत के दृष्टिकोण के पीछे निहित कारणों की विस्तृत जानकारी दी। श्रीमती गांधी ने यह भ्रम दूर करने का प्रयास किया कि भारत का झुकाव रूस की ओर है और यह देश अमरीका विरोधी है। सन् 1981-82 की घटनाओं ने यह साबित कर दिया था कि भारत रूस का पिछलग्गू नहीं है। भारत ने अफगान प्रश्न पर रूस की भर्त्सना नहीं की लेकिन उसने रूसी फौजों के वहाँ अनन्त काल तक पड़े रहने की वकालत भी नहीं की। इसी प्रकार कम्पूचिया की हेंग सामरिन सरकार को मान्यता अवश्य दी किन्तु वियतनामी फौजों की वापसी की भी माँग की। शस्त्रास्त्र की आपूर्ति के लिए भारत ने फ्रांसीसी मिराज, जर्मन पनडुब्बियों तथा ब्रिटिश जगुआर का सौदा करके यह स्पष्ट कर दिया कि भारत किसी एक ही देश की सैन्य सहायता पर निर्भर नहीं है। चीन से रूस की नाराजगी के बावजूद श्रीमती गांधी ने सम्बन्ध सुधारने की पेशकश की और पाकिस्तान के साथ अयुद्ध सन्धि वार्ताएँ कीं।

इस पृष्ठभूमि में जून 1983 में भारत-अमरीका संयुक्त आयोग की बैठक हुई जिसमें पारस्परिक सहयोग के विस्तार पर विचार किया गया। 15 मई, 1984 को अमरीकी उपराष्ट्रपति जार्ज बुश ने भारत की चार-दिवसीय यात्रा की। जार्ज बुश ने स्वीकार किया कि अनेक मुद्दों पर भारत व अमरीका के बीच मतभेद है, इसके बावजूद आर्थिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक और तकनीकी क्षेत्रों में सहयोग बढ़ रहा है।

जनता सरकार और भारत-अमरीका सम्बन्ध—जनता पार्टी के घटकों की पुरानी राजनीति को देखते हुए ऐसा लगता था कि यदि जनता पार्टी सत्तारूढ़ हुई तो अमरीका के साथ भारत के सम्बन्धों में गुणात्मक परिवर्तन होंगे। जब 1977 के चुनाव के दौरान जनता पार्टी के नेता 'असली' या 'सच्ची' गुट निरपेक्षता की बात करते तो उक्त सम्भावना अधिक पुष्ट होती थी। न्यूयार्क टाइम्स ने जनता पार्टी की जीत को दुनिया के सभी लोकतन्त्रों के लिए 'प्रेरणादायक' बताते हुए कहा कि अमरीका के प्रति सत्तारूढ़ दल का रुख 'मैत्रीपूर्ण' होगा तथा सोवियत संघ के प्रति उसका रुख ठण्डा पड़ जायेगा। प्रधानमन्त्री पद के लिए मोरारजी के नाम की घोषणा होते ही भारत के प्रति अमरीकी उत्साह में पहले से भी अधिक वृद्धि हुई।[1] राष्ट्रपति कार्टर ने मोरारजी को बधाई सन्देश भेजते हुए कहा—"हम दोनों मिलकर विश्व शान्ति, न्याय तथा आर्थिक प्रगति के समान लक्ष्यों को पूरा करने के लिए, बहुत कुछ कर सकते हैं।"[2] अमरीका के नीति-निर्माताओं के बीच यह माना जाने लगा कि कार्टर और देसाई के स्वभाव इतने मिलते-जुलते हैं कि दोनों देशों के सम्बन्धों में अपूर्व वृद्धि होगी।

पिछले कई वर्षों से श्रीमती इन्दिरा गांधी और अमरीकी प्रशासन के जैसे रिश्ते रहे थे, उनकी तुलना में मोरारजी के लिए जैसा उत्साह प्रदर्शित किया जा रहा था, उसके प्रकाश में यह

---

1 *Times of India*, 23 March, 1977.

2 *The Statesman*, 26 March, 1976.

आसानी से कहा जा सकता था कि जनता सरकार 'सच्ची' गुट निरपेक्षता के नाम पर अमरीका-परस्त नीति चलायेगी लेकिन उत्साह का यह दौर एक हफ्ते भी न चला होगा कि अमरीकी नीति-निर्माताओं को यह पता चल गया कि अमरीकी सहायता प्राप्त करने के लिए भारत पहले की तरह लालायित नहीं है तथा परमाणु अप्रसार सन्धि के मामले में भी भारत की राय को बदलवा पाना आसान नहीं है।

कार्टर प्रशासन ने भारत में जन्मे अमरीकी विद्वान डॉ० रॉबर्ट गोहीन को तथा जनता सरकार ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता के प्रसिद्ध पक्षधर नानी पालखीवाला को अपना राजदूत बनाकर भेजा; लेकिन इसके परिणामस्वरूप दोनों देशों के राजनीतिक सम्बन्धों में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

1 जनवरी, 1978 को राष्ट्रपति कार्टर भारत आये। कार्टर ने अपनी माँ श्रीमती लिलियन कार्टर के भारत प्रवास को याद करते हुए इस देश के प्रति विशेष आत्मीयता प्रकट की तथा दोनों देशों के पारस्परिक विश्वासों, मान्यताओं तथा दायित्वों के आधार पर सम्बन्धों को प्रगाढ़तर बनाने की अपील की। इसमें सन्देह नहीं कि कार्टर, देसाई और संजीव रेड्डी के भाषणों में दोनों देशों के लिए जो उद्‌गार प्रकट हुए थे, वे सच्चे ही थे किन्तु 2 जनवरी के दिन मोरारजी से बातचीत करने के बाद कार्टर ने अपने विदेश मन्त्री वैन्स के कान में जो कुछ फुसफुसाया, उसने कार्टर की भारत यात्रा का मजा किरकिरा कर दिया तथा यह बता दिया कि कोमल भावनाओं और मधुर शब्दों से राष्ट्रों के सम्बन्धों के बीच खड़े यथार्थों को ढहाना आसान नहीं है।

कार्टर ने वैन्स से कहा कि "मैंने उनको (श्री देसाई को) कहा था कि अब मैं परमाणु ईंधन भेजने की अनुमति दे दूंगा। ऐसा लगता है कि इस बात का उन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। अमरीका पहुँचकर, मैं सोचता हूँ कि हमें उन्हें एक पत्र और लिख देना चाहिए, सरल और बिल्कुल दो टूक।" यह बात कार्टर ने वैन्स के कान में फुसफुसायी थी लेकिन एक अमरीकन रिपोर्टर के टेप रेकार्डर ने इसे फीते में कैद कर लिया। जब यह बात सार्वजनिक तौर पर फैल गयी तो कार्टर और देसाई ने अपने-अपने तरीके से लीपापोती करने की कोशिश की।[1] सच्चाई यह है कि मोरारजी ने कार्टर को यह बता दिया था कि भारत केवल तारापुर और राजस्थान के परमाणु संयन्त्रों के लिए पूर्व सहमत निगरानी शर्तों को ही मान सकता है लेकिन ये शर्तें वह अन्य संयन्त्रों के बारे में नहीं मानेगा। इसी प्रकार भारत अपने संयन्त्रों पर न तो अन्तर्राष्ट्रीय निगरानी स्वीकार करेगा और न ही वह परमाणु अप्रसार सन्धि पर दस्तखत करेगा। कार्टर की भारत यात्रा समाप्त होने के दो दिन बाद ही मोरारजी ने अमरीकी सीनेटरों के एक प्रतिनिधि मण्डल को दो टूक शब्दों में कहा कि यदि भारत को परिशोधित यूरेनियम नहीं मिला तो बहुत कठिनाई होगी लेकिन वह इस कठिनाई को सत्याग्रह की भावना से झेलेगा तथा कुछ वैकल्पिक प्रबन्ध भी करेगा।[2]

डॉ० वेदप्रताप वैदिक के शब्दों में, "कुल मिलाकर यह स्पष्ट हो गया कि यदि 'सच्ची' गुट निरपेक्षता का मतलब भारतीय परमाणु संयन्त्रों को अमरीकी निगरानी में रख देना लगाया जा रहा था तो ऐसी सच्ची गुट-निरपेक्षता को जनता सरकार ने ठुकरा दिया।"[3] जनता सरकार की इस दृढ़ता की प्रशंसा भारतीय साम्यवादी दल ने भी की।[4]

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कार्टर की भारत यात्रा सर्वथा निष्फल रही। जहाँ तक दोनों देशों में सहयोग का प्रश्न है, कार्टर के प्रवास के दौरान ही भारत-अमरीकी संयुक्त आयोग की

---

1 *The Statesman*, 3 January, 1978.
2 *The Times of India*, 6 January, 1978.
3 डॉ० वेद प्रताप वैदिक : भारतीय विदेश नीति : नये दिशा संकेत, पृ० 81।
4 *The Times of India*, 14 January, 1978.

बैठक हुई जिसमें तीन क्षेत्रों—आर्थिक और व्यापारिक, विज्ञान और तकनीक तथा शिक्षा और संस्कृति—में सहयोग बढ़ाने के निर्णय हुए। अमरीका ने अपने लैण्डसेट उपग्रह की सुविधाएँ भारत को प्रदान करने का वायदा किया। पूर्वी नदियों की जलशक्ति के दोहन में सहायता करने का आश्वासन दिया तथा अन्तरिक्ष प्रयोगों के लिए 'नासा' की अनेक सुविधाएँ देने का संकल्प प्रकट किया। उद्योग, कृषि तथा शिक्षा क्षेत्र में भी सहयोग की अनेक नयी योजनाएँ स्वीकृत हुईं। भारत को 6 करोड़ डालर की सहायता देने का प्रस्ताव कांग्रेस पहले ही पारित कर चुकी थी।

जून 1978 में प्रधानमन्त्री तथा विदेश मन्त्री वाजपेयी ने अमरीका की यात्रा की। इस यात्रा के दौरान यह स्पष्ट हो गया कि जनता सरकार भारत की परम्परागत गुट-निरपेक्षता की नीति को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। सेनफ्रांसिसको में 'वर्ल्ड अफेयर्स कौंसिल' को सम्बोधित करते हुए श्री देसाई ने कहा—"हमारी गुट-निरपेक्षता सिर्फ नीति ही नहीं है, यह एक धर्म है। इसके द्वारा हमें अन्तर्राष्ट्रीय मामलों को गुण-दोष के आधार पर परखने में सहायता मिलती है।" श्री वाजपेयी ने एक दूसरी सभा को सम्बोधित करते हुए कहा कि भारत न पश्चिम समर्थक है न पूर्व समर्थक, लेकिन वह भारत समर्थक है।

दोनों भारतीय नेताओं ने अमरीकी जनता को यह बताने का प्रयत्न किया कि भारत की परमाणु नीति शान्तिपूर्ण है किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि वह परमाणु अप्रसार सन्धि पर दस्तखत करने के लिए तैयार हो जायेगा। मोरारजी ने एक दूरदर्शन भेंट वार्ता में कहा कि "यह सन्धि भेदभावपूर्ण है तथा हमारे आत्मसम्मान के विरुद्ध है।" यदि अमरीकी कांग्रेस अमरीका के सारे परमाणु संयन्त्रों को अन्तर्राष्ट्रीय निगरानी के लिए खोल दे तो हम भी अपने संयन्त्रों को खोल देंगे। कार्टर ने मोरार जी को स्पष्ट रूप से आश्वस्त किया कि 'अमरीकी कानून के तहत वे तारापुर संयन्त्र को परमाणु ईंधन देते रहने तथा भारत के साथ परमाणु सहयोग जारी रखने का भरसक प्रयत्न करेंगे।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि परमाणु प्रश्न पर दोनों पक्षों में केवल कामचलाऊ सहमति ही हुई। न भारत ने अपना दृष्टिकोण बदला और न अमरीका ने 'नया अध्याय शुरू' किया।

मोरारजी देसाई ने विभिन्न अवसरों पर अपनी स्पष्टवादिता के द्वारा यह बता दिया कि जनता सरकार अमरीका की हर बात को उचित नहीं मानती। हिन्द-महासागर क्षेत्र में से फौजी अड्डे हटाने की बात श्री देसाई ने जोरदार ढंग से कही तो जाइर तथा अन्य अफ्रीकी देशों के मामले में साफ-साफ कहा कि यदि वहाँ रूसी और क्यूबाई हस्तक्षेप की बात ठीक है तो पश्चिमी देशों के हस्तक्षेप का रूसी आरोप भी ठीक ही है। अफ्रीका को दोनों तरफ के हस्तक्षेप से मुक्त किया जाना चाहिए। इसी प्रकार अफगानिस्तान में हुई खल्की क्रान्ति के बारे में अमरीका की हाँ में हाँ मिलाने के बजाय श्री देसाई ने उसे अफगानिस्तान का आन्तरिक मामला बताया तथा भारत-अफगान सम्बन्धों के सामान्य रहने पर बल दिया। उत्तर-दक्षिण संवाद तथा नयी विश्व अर्थ-व्यवस्था के प्रश्न पर भी श्री देसाई के समृद्ध राष्ट्रों के उपभोक्तावाद तथा लालची रवैये की कड़ी आलोचना की। उन्होंने सोवियत संघ में मानव अधिकारों के प्रश्न पर कार्टर की राय को केवल सैद्धान्तिक तौर पर सही माना लेकिन व्यवहार में अनुपयोगी बताया। इसी प्रकार श्री देसाई ने सितम्बर 1978 में कैम्प डेविड में हुए मिस्र-इजराइल समझौते का स्वागत जरूर किया किन्तु कार्टर और सादात को लिखे जवाबी पत्रों में उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि जब तक फिलिस्तीनियों के अधिकारों को मान्यता नहीं मिलती तथा इजराइल सारी अधिकृत अरब जमीन खाली नहीं करता, पश्चिमी एशिया में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती।

संक्षेप में, जनता सरकार की विदेश नीति अमरीका-परस्त नहीं कही जा सकती।

राजीव गांधी और भारत-अमरीका सम्बन्ध—अक्टूबर 1984 में राजीव गांधी भारत के

प्रधानमन्त्री बने। राजीव गाँधी चाहते थे कि भारत और अमरीका के बीच पुराने मतभेद समाप्त हों और सकारात्मक सहयोग स्थापित हो। नवम्बर 1984 में भारत और अमरीका में उच्च तकनीकी हस्तान्तरण सम्बन्धी एक समझौता हुआ। इस समझौते में पहली बार अमरीका ने भारत की यह शर्त स्वीकार की कि अगर भारत अमरीका से कोई तकनीक खरीदकर अपने देश में ले आता है तो वह किसी भी विदेशी जाँच-पड़ताल को बर्दाश्त नहीं करेगा। अमरीकी प्रशासन ने भारत को तीन महत्वपूर्ण क्षेत्रों में संवेदनशील सैनिक तकनीक जारी करने का निर्णय किया। इस प्रकार जारी की गयी तकनीक में भारतीय सशस्त्र सेना के लिए सुपर कम्प्यूटर, भारतीय नौसेना के फ्रिगेटों के लिए डेटा डिस्ट्रीब्यूशन सिस्टम तथा भारतीय वायुसेना के हल्के युद्धक विमान के लिए जनरल इलेक्ट्रिक 404 इंजन शामिल हैं। जून 1985 में प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी ने अमरीका की यात्रा की। रीगन ने राजीव गाँधी का स्वागत करते हुए उनकी यात्रा को सन् 1949 में जवाहरलाल नेहरू की 'खोज यात्रा' से जोड़ा। श्री गाँधी ने राष्ट्रपति रीगन से अनुरोध किया कि वे पाकिस्तान पर अपने परमाणु कार्यक्रम को रोकने के लिए दबाव डालें। इसके उत्तर में रीगन ने कहा कि अमरीका को भी पाकिस्तान के परमाणु कार्यक्रम से चिन्ता है। 13 जून को श्री गाँधी ने कांग्रेस के संयुक्त अधिवेशन को सम्बोधित करते हुए हिन्द महासागर के सैनिकीकरण और पड़ोसी देशों को की जाने वाली हथियारों की आपूर्ति से उत्पन्न होने वाले खतरों की चर्चा की। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि अमरीकी कांग्रेस के संयुक्त अधिवेशन को सम्बोधित करने का विशेषाधिकार प्राप्त करने वाले श्री गाँधी द्वितीय भारतीय नेता थे। प्रथम नेता श्री जवाहरलाल नेहरू थे। इसी भाषण में श्री गाँधी ने अमरीका के 'स्टारवार' कार्यक्रम की कटु आलोचना की थी। श्री गाँधी ने अमरीका में 'भारत महोत्सव' का उद्घाटन किया और द्विपक्षीय व्यापार एवं प्रौद्योगिकी में सहयोग बढ़ाने के लिए यथेष्ट सम्भावना के प्रति आशा व्यक्त की। श्री गाँधी की इस यात्रा के पश्चात् दोनों के मध्य उच्चस्तरीय शिष्टमण्डलों का आदान-प्रदान भी किया गया। संयुक्त राष्ट्र संघ की 40वीं वर्षगाँठ के अवसर पर श्री गाँधी ने 21 अक्टूबर, 1985 से अमरीका की यात्रा की। 23 अक्टूबर को जब श्री गाँधी की राष्ट्रपति रीगन से भेंट हुई तो उन्होंने पाकिस्तान के परमाणु अस्त्र बनाने के कार्यक्रम पर अपने देश की चिन्ता बतायी। साथ ही उन्होंने अमरीका द्वारा पाकिस्तान को निरन्तर दी जा रही अमरीकी हथियारों की आपूर्ति के विषय में भी भारत की चिन्ता से उन्हें अवगत कराया। 18 जुलाई, 1986 को अमरीकी विदेश विभाग के एक प्रवक्ता ने कहा कि अमरीका खालिस्तान की माँग का समर्थन नहीं करता। 1987 में अमरीकी संसद की विदेश मामलों की समिति ने स्वीकृत विदेशी सहायता विधेयक के अन्तर्गत भारत को अमरीकी सहायता में लगभग आधी कटौती कर दी। भारत को दी जाने वाली 6 करोड़ डॉलर की सहायता लगभग 3·5 करोड़ डॉलर कर दी गयी। यही नहीं, भारत से कहा गया कि वह इजराइल से सम्बन्ध सुधारे। इधर राजीव गाँधी व इंका अमरीका की खुलकर आलोचना कर रहे थे। राजीव गाँधी का कहना था कि अमरीका भारत में राजनीतिक अस्थिरता पैदा करने का प्रयास कर रहा है। इंका सांसदों ने सी० आई० ए० पर आरोप लगाया कि वह देश में गड़बड़ करा रही है।

अमरीका-भारत सम्बन्धों में पाकिस्तान का शस्त्रीकरण और उसका परमाणु कार्यक्रम सबसे बड़ी अड़चन है। रीगन प्रशासन ने पाकिस्तान को 1982–87 के पाँच वर्षों के लिए पहले 320 करोड़ डालर की सहायता दी थी और अब आगामी छह वर्षों (1987–93) के लिए 402 करोड़ डालर की सहायता का ऐलान किया है। अमरीकी प्रशासन भारत के इस नजरिये की तरफदारी नहीं करता कि, पाकिस्तान को ऊँची तकनीक के हथियारों की सप्लाई, विशेषकर अवाक्स की सप्लाई, भारतीय उपमहाद्वीप की पहले से ही तनावपूर्ण स्थिति को विस्फोटक बना देगी।

9 सितम्बर, 1987 को नई दिल्ली में अमरीकी राजदूत गुन्थर डीन्स व विदेश सचिव के० पी० एस० मेनन ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। इसके अन्तर्गत अमरीका कुछ शर्तों पर भारत को सुपर कम्प्यूटर देगा। समझा जाता है कि अमरीका अभी भी भारत को उन्नत किस्म का कम्प्यूटर नहीं दे रहा है, जो कम्प्यूटर दिया जा रहा है, वह दूसरे दर्जे का कम्प्यूटर माना जाता है। अक्टूबर 1987 मे प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी ने अमरीका की यात्रा की और राष्ट्रपति रीगन व रक्षा सचिव वाइन वर्जर आदि अमरीकी नेताओं से भेंट की। बातचीत में पाकिस्तान द्वारा बनाये जा रहे परमाणु बम व अमरीकी सैन्य सहायता आदि मुद्दों पर बातचीत हुई। हाल में विदेशी मामलों पर अमरीकी सीनेट की विनियोग उप-समिति ने एक महत्वपूर्ण फैसला लेकर आणविक मसले पर भारत व पाकिस्तान को एक ही श्रेणी में रख दिया तथा एक संशोधन स्वीकार कर दोनों देशों को उच्च प्रौद्योगिकीकरण के हस्तान्तरण तथा अमरीकी बहुउद्देश्यीय सहायता पर प्रतिबन्ध लगा दिया। यह प्रतिबन्ध इस नतीजे पर पहुँचने के बाद लगाया गया है कि दोनों देश आणविक शस्त्र बनाने का सामान एकत्र कर रहे हैं और यह अमरीकी विदेश सहायता कानून का उल्लंघन है। भारत के अमरीका में राजदूत ने रीगन प्रशासन से इस प्रस्तावित संशोधन के बारे में कड़ा विरोध प्रकट किया और इसे भारत विरोधी कार्यवाही कहा। भारत का कहना है कि उसका परमाणु कार्यक्रम शान्तिपूर्ण उद्देश्य के लिए है जबकि पाकिस्तान की तैयारी परमाणु बम बनाने की दिशा में चल रही है। ऐसी स्थिति में पाकिस्तान व भारत को बराबरी का दर्जा देना भारत के साथ अन्याय है।[1]

विदेश मन्त्रालय की 1986-87 की वार्षिक रिपोर्ट में भारत-अमरीकी सम्बन्धों की चर्चा की गयी है। भारत और अमरीका के मध्य आर्थिक और व्यापारिक क्षेत्रों, वैज्ञानिक सहयोग एवं प्रौद्योगिकी आदि में द्विपक्षीय सम्बन्धो मे अच्छी प्रगति आंकी गयी है। वर्ष 1986 मे भारत ने अमरीका के साथ व्यापार का एक सकारात्मक सन्तुलन बनाये रखा। अमरीका को भारत का निर्यात 2,478·3 मिलियन डालर तथा आयात 1,641·9 मिलियन डालर का हुआ। फरवरी 1987 में संसद में प्रस्तुत आर्थिक सर्वेक्षण के अनुसार 1985-86 के मध्य अमरीका से आयात में 22·7% वृद्धि हुई जबकि सोवियत संघ से 6 5% कमी दर्ज की गयी। इसी अवधि मे अमरीका को निर्यात 13% बढ़ा जबकि सोवियत संघ को केवल 3·1% वृद्धि हुई।

आर्थिक क्षेत्र में अमरीकी-भारतीय अन्तर्विरोध—अमरीकी विदेशी आर्थिक नीति में भारत, जो दुनिया के सबसे बड़े देशों में एक है तथा जिसके पास बड़ी मात्रा मे कच्चे माल के संसाधन उपलब्ध हैं, का विशिष्ट स्थान है। 1943 मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के प्रसिद्ध अमरीकी विशेषज्ञ जार्ज केनन ने अमरीकी विदेश विभाग के आग्रह पर अमरीकी विदेश नीति के लक्ष्यों पर एक दस्तावेज तैयार किया था जिसमें कहा गया : 'एशिया, खासकर दक्षिण-पूर्व एशिया कई मूलभूत वस्तुओं (जो युद्ध की स्थिति में अमरीका के बहुत काम आ सकती है) के उत्पादक है जिनका अमरीकी सुरक्षा के उद्देश्यों की दृष्टि से बहुत योगदान हो सकता है।' अमरीका के लिए आर्थिक क्षेत्र में भारत के महत्व का कारण भी यह है कि वह अमरीका के अतिरिक्त कृषि उत्पाद का उपभोक्ता है तथा भारत के पास समुचित मात्रा में उच्चस्तरीय खनिज लोहा, अलौह धातुओं, बॉक्साइट तथा कोयला के भण्डार हैं तथा अमरीका उससे बेरिलियम, क्रोमियम, खनिज लोहा, मैंगनीज तथा थोरियम का आयात करता है। भारत में तेल तथा प्राकृतिक गैस के भण्डार भी हैं।

भारत-अमरीकी सम्बन्धों में आर्थिक 'सहायता' का प्रश्न प्रमुख बन गया है क्योंकि 1947–1980 की अवधि के दौरान भारत को प्राप्त कुल सहायता का एक-तिहाई हिस्सा (35·1 अरब

---

1 प्रतियोगिता दर्पण, फरवरी 1988, पृ० 661।

डालर में से 11·7 अरब डालर) अमरीका से ही प्राप्त हुआ। हालांकि उक्त राशि काफी बड़ी लगती है तथापि भारत को दी गयी अमरीकी 'सहायता' का मूल्यांकन करते समय इस बात को ध्यान में रखा जाना चाहिए कि समग्र संकेतक काफी हद तक सापेक्ष होते हैं। प्रति व्यक्ति आंकड़े अधिक प्रतिनिधिक होते हैं। 1950 व 1960 के दशकों में भी जबकि भारत को मिलने वाली अमरीकी सहायता सर्वाधिक थी, भारत का नम्बर 60वाँ था। यह ध्यान देने योग्य है कि प्रति व्यक्ति दृष्टि से 1950–1973 के दौरान पाकिस्तान को मिली अमरीकी 'सहायता' तीन गुना अधिक थी। आज भी स्थिति वैसी ही बनी हुई है तथा कहीं अधिक नकारात्मक प्रवृत्तियाँ प्रदर्शित करती है। यही नहीं, अगर इस बात पर भी गौर किया जाये कि भारत प्रतिवर्ष अमरीका को बड़ी राशियों का भुगतान कर्जो की दुरुस्तगी तथा कर्जों पर ब्याज के रूप में करता है, तो पायेंगे कि इस देश को कुल अमरीकी 'सहायता' अधिकृत आँकड़ों की आधी ही रह जाती है। इस प्रकार 1946–1980 की अवधि में यह 'सहायता' सिर्फ 5 अरब डॉलर रह जाती है।

वित्तीय वर्ष 1983 में भारत को प्राप्त अमरीकी 'सहायता' की कुल राशि 20·3 करोड़ डॉलर थी जिसमें से 1·16 करोड़ डॉलर की राशि नियम 480 के तहत अमरीका से खरीदे जाते वाले खाद्य के लिए थी, 7·8 करोड़ डॉलर की राशि विकास सहायता के नाम पर थी।

भारत को मिलने वाली अमरीकी आर्थिक 'सहायता' का प्रमुख रूप खाद्यान्न हस्तान्तरण है। वाशिंगटन पोस्ट जैसे प्रभावशाली समाचारपत्र को यह मानना पड़ा है कि 'खाद्यान्न सहायता' कार्यक्रम एक ओर तो अमरीकी किसानों को आर्थिक सहायता देने का तरीका है और दूसरी ओर अमरीकी विदेश नीति का उपकरण बन गये हैं।

अमरीका ने भारत के सन्दर्भ में अमरीकी खाद्यान्न सहायता तथा आर्थिक सहायता को उस जादू की छड़ी के रूप में काम में लिया है जो अभी छड़ी है और थोड़ी देर बाद गाजर बन जाती है (छड़ी और गाजर दण्ड और पुरस्कार के प्रतीकात्मक पर्याय बन गये हैं)। उदाहरण के लिए, दिसम्बर 1971 में भारत तथा पाकिस्तान के बीच युद्ध छिड़ जाने के बाद अमरीका ने सहायता पर रोक लगा दी। तब से अमरीका ने भारत को दी जाने वाली विकास 'सहायता' स्थगित कर रखी है। उसने भारत को खाद्यान्न की खरीद के लिए कुछ ऋणों के अलावा कुछ भी स्वीकृत नहीं किया तथा अमरीकी स्वैच्छिक संगठनों के मार्फत कुछ मात्रा में खाद्य सामग्री मुफ्त उपलब्ध करायी है। अगस्त 1978 के बाद ही जबकि भारत-पाक सम्बन्धों में सुधार आ गया था, भारत को विकास सहायता देना शुरू किया गया।

भारत को दी जाने वाली 'सहायता' की प्रकृति भी पूरी तरह बदल गयी है। हाल ही के वर्षों में मुफ्त भेजे जाने वाले सामान का आकार काफी सिकुड़ गया है। इस प्रकार 1980-81 में यह भारत को मिली समस्त अमरीकी 'विकास' सहायता का 7 प्रतिशत रह गयी जबकि 1969-70 में यह 18 प्रतिशत थी।

एक अन्य समस्या भारत को अमरीका से मिले पिछले ऋणों के भुगतान न किये जाने से बड़ी राशियों की देनदारी बनी हुई है। इस देनदारी के भुगतान को स्थगित करने सम्बन्धी भारत के बार-बार अनुरोध को अमरीका ने ठुकरा दिया।

दोनों देशों के बीच द्विपक्षीय आर्थिक एवं व्यापारिक सम्बन्धों को लेकर भी गम्भीर मतभेद बने हुए हैं। अमरीका भारत का प्रमुख व्यापारिक साझेदार है। वित्तीय वर्ष 1980-81 में व्यापारिक कारोबार 2·7 अरब डॉलर तक पहुँच गया था। अमरीका भारत को अनाज, भारी वाहन उपकरण, हवाई जहाज तथा बिजली उपकरण का निर्यात करता है जबकि जूट उत्पादों, वस्त्र, चाय, सुपारी, हीरे-जवाहरात, चमड़ा तथा उससे बनी वस्तुओं, रेजीन, वार्निश, कम्बलों तथा पम्पों, कम्प्रेसरों, स्टील पाइपों आदि का आयात करता है।

दोनों देशों के व्यापार सम्बन्धों का एक विशिष्ट लक्षण भुगतान सन्तुलन में भारत की स्थिति असाध्य रूप से घाटे की रही है यानी अमरीका द्वारा भारत को किये गये निर्यात का मूल्य वहाँ से किये गये आयात के मूल्य से अनिवार्य रूप से अधिक होता है। वित्तीय वर्ष 1980-81 में भारत को किये गये अमरीकी निर्यात का मूल्य 1·4 अरब डॉलर था जबकि आयात का मूल्य 1 अरब डॉलर था। अमरीका के कुल आयात में भारत का हिस्सा धीरे-धीरे सिकुड़ रहा है। यदि 1951 में यह 2·65 प्रतिशत था तो 1970 के दशक के अन्तिम वर्षों में यह सिर्फ 0·53 प्रतिशत ही रह गया। इसका प्रमुख कारण वे अनेक प्रतिबन्ध हैं जो अमरीका ने भारतीय निर्यात पर लगा रखे हैं। वाशिंगटन ने जानबूझकर भारत से आयात बढ़ाने पर पाबन्दियाँ लगा रखी हैं जबकि भारत अमरीका को निर्यात की वस्तुओं के दायरे को विस्तृत करने में सक्षम है।

आर्थिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी सहयोग के सम्बन्ध में 1974 में स्थापित संयुक्त अमरीकी-भारतीय आयोग की बैठकों में भारतीय पक्ष ने अमरीका द्वारा 1976 में लागू आम प्राथमिकता प्रणाली की समीक्षा करने की आवश्यकता पर बार-बार जोर दिया है। इस प्रणाली के तहत विकासमान देशों को अमरीका को अनेक वस्तुओं का सीमाशुल्क निर्यात करने का अधिकार दिया गया था। तथापि, भारत की बहुत-सी निर्यात वस्तुएँ (जो कि इस देश से अमरीका की आयात सूची में प्रमुख स्थान रखती हैं जैसे, सिले हुए वस्त्र, कई प्रकार के कपड़े, जूते) इस प्रणाली के दायरे से बाहर रख दी गयी हैं। 1976-77 तथा 1978 में आयोजित वार्ताओं (जो काफी लम्बी खिंची थी) के दौरान भारत वाशिंगटन से छोटी-छोटी रियायतें ले पाने में ही सफल हुआ। अगस्त 1978 में हस्ताक्षरित समझौते की शर्तों के तहत अमरीका भारतीय अभ्रक, कुछेक उष्ण कटिबन्धीय फसलों के उत्पादों, जूट तथा अन्य वानस्पतिक रेशों, कम्बलों तथा मारफीन पर आयात कर में थोड़ी-सी कटौती करने को तैयार हो गया। भारत भी अमरीका मे बनी वस्तुओ जिनमें मशीन, औजार, मोटरगाड़ियाँ, दवाइयाँ तथा रासायनिक उत्पाद शामिल थे, के सम्बन्ध मे आयात लाइसेंस प्रक्रिया विधि को सरल बनाने पर सहमत हो गया। सन् 1980 में अमरीका ने अपनी वचनबद्धता को भंग करते हुए कुछ खास भारतीय औद्योगिक सामान (कपड़ा, चमड़े के जूतों, आधारभूत लोहे का सामान) पर सीमा शुल्क बढ़ा दिया। परिणामस्वरूप बहुत-सी संविदाएं रद्द हो गयीं तथा सम्बन्धित भारतीय कम्पनियों को भारी क्षति पहुँची। क्या इन उपायों को भारत के सार्वजनिक क्षेत्र के भीतर बढते हुए सामान बनाने वाले उद्योग को निशाना बनाकर ही लागू नहीं किया गया है ? इस प्रकार के व्यापारिक दबाव में राजनीतिक मंतव्य स्पष्ट दिखलायी देता है क्योंकि पाकिस्तान द्वारा निर्यातित इसी तरह के सामान पर सीमाकर सम्बन्धी प्रतिबन्ध लागू नहीं होते।

कुछ समय पहले तक, तारापुर अणु बिजली संयन्त्र के लिए परिशोधित यूरेनियम की अमरीका द्वारा आपूर्ति के प्रश्न ने दोनों देशों के बीच, आर्थिक एवं राजनीतिक सम्बन्धों की सबसे तीखी समस्या का रूप धारण कर लिया था। 1962 के समझौते के अन्तर्गत अमरीका ने इस बिजलीघर को 1992 तक नियमित रूप से नाभिकीय ईंधन उपलब्ध कराते रहने का वचन दिया था। तथापि अप्रैल 1967 में अमरीकी कांग्रेस में लम्बी खिंची बहसों के बाद, भारत को यूरेनियम की आपूर्ति स्थगित कर दी गयी। ऐसा करने को उचित ठहराने के लिए उस विशेष कानून का उल्लेख किया गया जिसके तहत उन देशों को यूरेनियम की आपूर्ति न करने का प्रावधान कर दिया गया था जो कि अपने आणविक संयन्त्रों के अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण की अनुमति देने को राजी न हों।

भारत सिर्फ उन बिजलीघरों के निरीक्षण की अनुमति देने पर सहमत हुआ जहाँ कि आयातित नाभिकीय ईंधन का इस्तेमाल किया जा रहा था। वह नाभिकीय ईंधन के संपोषण की समूची प्रक्रिया पर नियन्त्रण की अनुमति देने को राजी नहीं हुआ। दिल्ली की दृष्टि में, भारतीय

आणविक कार्यक्रम पर नियन्त्रण बढ़ाने के अमरीकी प्रयत्नों का अर्थ दरअसल यह है कि अमरीका की आकांक्षा भारत की समूची प्रौद्योगिक क्षमता पर नियन्त्रण करने की है।

भारत को यूरेनियम आपूर्ति के सम्बन्ध में अमरीका की स्थिति विरोधाभासपूर्ण है। अमरीका जब अपनी नीति के अनुकूल पाये तो 'गाजर' के रूप में यूरेनियम उपलब्ध कराये और जब वह भारत सरकार पर दबाव डालना चाहे तो आपूर्ति स्थगित करके 'छड़ी' दिखा दे।

सन् 1983 में तारापुर सम्बन्धी हुए समझौते का उल्लंघन करते हुए अमरीका ने इस आणविक बिजलीघर के लिए भारत को पुर्जे बेचने से इंकार कर दिया। ऐसा करके अमरीका ने पुर्जों की बिक्री के मामले को बिजलीघर पर और खासकर खर्च किये गये नाभिकीय ईंधन के भारत द्वारा इस्तेमाल पर और अधिक कड़े अमरीकी नियन्त्रण की समस्या के साथ जोड़ने का ही प्रयास किया। इसका परिणाम यह हुआ कि वहाँ सामान्य कामकाज ठप्प हो गया।

भारत में स्थित अमरीकी बहुराष्ट्रीय निगमों का भी दोनों देशों के सम्बन्धों को बिगाड़ने में योगदान रहा है। ये निगम भारत के सर्वाधिक लाभदायक एवं उदीयमान उद्योगों में घुसपैठ करने की कोशिश कर रहे हैं। रासायनिक उद्योग में तो उन्होंने अपनी जड़ें गहरी जमा ली हैं, इलेक्ट्रोनिक तथा औषधि उद्योगों में भी वे अपनी पकड़ को सुदृढ़ बनाने के प्रयास कर रहे हैं, खाद्य उद्योग तथा कपड़ा, धातु व चमड़ा उत्पाद उद्योगों में भी उनकी सक्रियता निरन्तर बढ़ रही है।

भारत अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संगठनों में अमरीका द्वारा अपनाये जाने वाले रुख से भी चिन्तित है। अमरीका ने युद्धोत्तर काल में विश्व बैंक द्वारा भारत को दिये जाने वाले ऋणों का 25 बार सरकारी स्तर पर विरोध किया है। सन् 1982 में अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक ने अमरीकी दबाव में आकर भारत को सापेक्षतया अनुकूल शर्तों पर स्वीकृत ऋणों को लगभग आधा कर देने की कार्यवाही ने भारत में तीखी नकारात्मक प्रतिक्रिया को जन्म दिया। अमरीका की अड़ंगेबाजी नीति के कारण विकास आवश्यकताओं के लिए सामान्य शर्तों पर धन उपलब्ध कराने वाले बहुपक्षीय वित्तीय संगठनों तक भी भारत की पहुँच नहीं हो पाती है। एशियाई विकास बैंक द्वारा भारत को 2 अरब डॉलर का ऋण स्वीकृत किये जाने का अमरीका द्वारा किया गया विरोध ऐसा उदाहरण है जो कहने को कुछ भी बाकी नहीं छोड़ता।

संक्षेप में, आर्थिक सहायता अमरीकी विदेश नीति का अस्त्र है। द्विपक्षीय आर्थिक सम्बन्धों, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संगठनों में अपने प्रभाव तथा बड़ी स्वदेशी और प्रमुखतया पश्चिमी इजारेदार पूँजी पर भारत की बढ़ती हुई निर्भरता का इस्तेमाल करके अमरीका भारत की अर्थव्यवस्था को पश्चिमी प्रणाली से अटकाना चाहता है। के० बर्ड तथा डी० मेक हेनरी जैसे अमरीकी अर्थशास्त्रियों का ठीक ही कहना है कि 'सहायता और हथियारों का हस्तान्तरण एक जैसे सामरिक एवं राजनीतिक लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक होते हैं।'

निष्कर्ष—भारत-अमरीकी सम्बन्धों का इतिहास असहमति और तनावों से भरपूर रहा है। वर्ष 1987-88 के लिए विदेश मन्त्रालय की वार्षिक रिपोर्ट में इस बात पर भारत ने गहरा खेद प्रकट किया है कि इस्लामाबाद के परमाणु कार्यक्रम के गैर-शान्तिपूर्ण होने के बावजूद अमरीका ने खुद के कानून बदलकर पाकिस्तान को सहायता दी है। रिपोर्ट में कहा गया है कि अमरीका पाकिस्तान के खातिर अपने ही परमाणु अप्रसार कानूनों को ताक पर रख रहा है। वर्ष 1988-89 की वार्षिक रिपोर्ट में कहा गया है कि 'इस वर्ष भारत और अमरीका के बीच राजनीतिक और आधिकारिक स्तर पर जो एक-दूसरे देश की यात्रा की गयी है उनसे इस बात का पता चलता है कि भारत और अमरीका के सम्बन्धों में सुधार हो रहा है।[1]

---

1 वार्षिक रिपोर्ट, 1988-89, विदेश मन्त्रालय, भारत सरकार, पृ० 40।

भारत-अमरीकी सम्बन्धों पर टिप्पणी करते हुए भारत स्थित अमरीका के भूतपूर्व राजदूत पैट्रिक मोयनीहन ने ठीक ही कहा है कि, "हम एक-दूसरे को पसन्द तो करते हैं किन्तु यह चाह तथ्यहीन है। विगत दशकों में हमारे सम्बन्ध सारहीन और अस्थायी रहे हैं तथा आज हम एक पठार पर पहुँच गये हैं।" संक्षेप में, भारत-अमरीकी सम्बन्ध कटुता-मित्रता के अद्वितीय उदाहरण हैं।

भारत और सोवियत संघ
(INDIA AND THE U.S.S.R.)

भारत और सोवियत संघ विगत कुछ वर्षों से घनिष्ठ मित्र हैं। भारत-सोवियत मैत्री की चाह इस देश के नीति-निर्धारकों में स्वाधीनता आन्दोलन से ही प्रबल रही है, अतः स्वतन्त्र भारत की तत्कालीन सरकार ने साम्यवादी रूस के प्रति मित्रता की जो नीति अपनायी वह निरन्तरता की एक कड़ी है। युद्धोपरान्त काल के प्रारम्भिक वर्ष सन्देह और पूर्वाग्रहों से आच्छादित अवश्य रहे किन्तु यह अवस्था अधिक स्थायी नहीं रही। समय की आवश्यकता के साथ संशय के बादल छँटने शुरू हुए तो छँटते ही चले गये। 1950 के कोरिया विवाद के पश्चात् भारत के अन्तर्राष्ट्रीय रुख से रूसी नेतृत्व आश्वस्त होता गया कि इस महादेश को केवल पश्चिम या अमरीका का पिट्ठू मानकर चलना बुद्धिमानी नहीं है।

भारत के गुटनिरपेक्ष नीति के स्वरूप को समझने तथा परखने के उपरान्त विविध क्षेत्रों में सहयोग का जो दौर प्रारम्भ हुआ वह निरन्तर गतिशील रहा। वर्तमान में आर्थिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक और राजनयिक क्षेत्रों में उन्मुक्त आदान-प्रदान दोनों महादेशों के बीच सुदृढ़ मैत्री का प्रतीक है। इस ओर संकेत करते हुए सन् 1961 में पण्डित नेहरू ने कहा भी था कि, "सोवियत रूस ने हमें कई मूल्यवान भेंट दी हैं जिनमें सर्वाधिक मूल्यवान भेंट है 'भारत-रूस मैत्री'। साम्यवादी पार्टी के महासचिव ब्रेझनेव ने इसे 'समय-परीक्षित मैत्री' (time tested friendship) की संज्ञा दी है।

स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू दोनों महादेशों के बीच मैत्री और सक्रिय सहयोग के मुख्य अभियन्ता थे। राष्ट्रीय हित के व्यापक परिप्रेक्ष्य में उन्होंने ही इस मैत्री की आधारशिला रखी थी।

उन्हीं के शासनकाल में यह मैत्री दिनोंदिन विकसित हुई। सन् 1946 में भारत की अन्तरिम सरकार द्वारा सोवियत रूस के साथ राजनयिक सम्बन्धों की स्थापना उनकी चिराकांक्षित अभिलाषा को साकार रूप प्रदान करने की ओर महत्वपूर्ण कदम था। अपने बधाई सन्देश में सम्बन्धों की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा था कि, "पड़ौसी होने के नाते हमें अनेक समान महत्व के प्रसंगों पर साथ-साथ चलना है तथा पारस्परिक हितों के लिए आदान-प्रदान अपरिहार्य है।" दोनों देशों की भू-राजनीतिक परिस्थितियों को देखते हुए उनका यह स्पष्ट मत था कि, "रूस के साथ या तो मित्रता हो सकती है अथवा दुश्मनी, उदासीन रहने का प्रश्न ही नहीं उठता।" श्री नेहरू ने रूस के साथ मैत्री का मार्ग चुना।

भारत-रूस सम्बन्धों की एक लम्बी तथा विस्तृत भौगोलिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक पृष्ठभूमि है जिसने दोनों देशों के वर्तमान सम्बन्धों को बहुत अधिक प्रभावित किया है। भारत का काश्मीर नामक राज्य भौगोलिक दृष्टि से सोवियत संघ के बिल्कुल निकट है और ऐतिहासिक दृष्टि से भी भारत सोवियत संघ से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। दोनों ही देशों का इतिहास शोषण के विरुद्ध संघर्ष का इतिहास है। जार के अधीन रूस की स्थिति गुलाम भारत से किसी भी रूप में अच्छी नहीं थी। वैचारिक दृष्टि से भी दोनों देश निकट लगते हैं। सोवियत संघ मार्क्सवाद का अनुयायी है जो शोषण के विरुद्ध एक महान दर्शन है और भारत गाँधीवाद का अनुयायी है जो एक शोषणमुक्त समाज की स्थापना करना चाहता है। भारत को

आर्थिक-सामाजिल दशा सोवियत संघ की आर्थिक-सामाजिक दशा से मिलती-जुलती है। भारत और सोवियत रूस दोनों ही कृषि प्रधान देश हैं। नियोजित और मिश्रित अर्थ-व्यवस्था अपनाने के कारण सोवियत संघ भारत की आर्थिक दृष्टि से प्रेरणा भूमि रहा है।

जवाहरलाल नेहरू भारत की विचारधारा को सोवियत रूस की विचारधारा के निकट लाये। 1928 में ही उन्होंने भारत के सामने सोवियत रूस की झांकी प्रस्तुत की थी। इसके बाद अपनी रचनाओं के द्वारा वे भारत को निरन्तर सोवियत रूस के निकट लाते रहे। इस प्रकार नेहरू के नेतृत्व में राजनीतिक विचारों की दृष्टि से भारत और सोवियत संघ एक-दूसरे के निकट आये। यह वैचारिक खिंचाव एकतरफा नहीं था। नेहरू ने सोवियत रूस की विचारधारा को भी बदला और ख्रुश्चेव की शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति पर नेहरू का बहुत अधिक प्रभाव था।

भारत-रूस सम्बन्धों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारत-रूस सम्बन्धों की नींव काफी पुख्ता है। 15वीं शताब्दी में अफनासी निकितन, एफ० एस० येफरेमोव जैसे रूसी विद्वानों ने भारत की यात्रा की। 1857 के प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के बारे में रूस के प्रगतिशील तबके में अनुकूल प्रतिक्रिया हुई। भारत की ब्रिटिश हुकूमत ने जब भारतीयों को रूसी आक्रमण और प्रसारवाद से भयभीत करने का प्रयत्न किया तो कांग्रेस और महात्मा गांधी ने भी इस 'रूसी हौआ' को कभी स्वीकार नहीं किया। दक्षिण अफ्रीका में संघर्षरत गांधी टालस्टाय से बहुत प्रभावित हुए थे। उन्होंने टालस्टाय को अपना गुरु स्वीकार किया था। मेक्सम गोर्की, जो अपने समय का न केवल क्रान्तिकारी लेखक बल्कि स्वयं क्रान्तिकर्मी भी था ने भारतीय समस्याओं और स्वातन्त्र्य की लड़ाई में गहरी दिलचस्पी दिखाकर इस देश के राष्ट्रवादी और क्रान्तिधर्मियों को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित किया था। प्रो० हीरेन मुखर्जी के शब्दों में, "गोर्की की ऐतिहासिक कृति 'मदर' (माँ) ने बंगाल के कितने ही आतंकवादियों को साम्यवादी विचारधारा का समर्थक बनाया था। बाल गंगाधर तिलक और महात्मा गांधी जैसे व्यक्तियों ने 1905 की हड़ताल की सफलता पर प्रसन्नता प्रकट की थी। रूस की अक्टूबर क्रान्ति भारतीय स्वतन्त्रता संग्रामियों के लिए उत्प्रेरक मानी जा सकती है। लेनिन के क्रान्तिकारी जीवन से प्रेरित भारतीय क्रान्तिकारियों में शहीद भगतसिंह का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लाहौर की अदालत के कठघरे में खड़े होकर उन्होंने 'समाजवादी क्रान्ति अमर रहे! अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद जिंदाबाद! लेनिन अमर रहे। साम्राज्यवाद मुर्दाबाद!' के नारों से न्यायालय भवन को गुंजा दिया था।" भारत के लब्धप्रतिष्ठ कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 1930 में रूस की यात्रा की थी और उनका कहना था कि 'रूसी जीवन के हर पहलू ने मुझे आश्चर्य में डाल दिया है।' स्वर्गीय नेहरू फासीवाद के सख्त विरोधी और साम्यवाद के साधनों से असहमत होते हुए भी इस नये सूरज के प्रशंसक थे। 1936 में अपने अध्यक्षीय भाषण में कांग्रेसजनों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा, "दो स्पष्ट शिविरों में बँटी हुई दुनिया में हमारा झुकाव किधर है? हम जो एक स्वतन्त्र भारत के लिए संघर्ष कर रहे हैं अनिवार्यतः प्रगतिशील तत्वों का समर्थन करेंगे जो फासीवाद और साम्राज्यवाद का विरोध करते हैं।"

ब्रिटिश शासन ने रूसी खतरे को बड़ा भयंकर बना रखा था। जवाहरलाल नेहरू की यह मान्यता थी कि भारत को रूस से कोई खतरा नहीं है। यह पहल ब्रिटिश साम्राज्यवाद का प्रचार मात्र है। उनका कहना था कि संघर्ष ग्रेट ब्रिटेन और रूस के बीच में है न कि भारत और रूस के बीच। सन् 1936 में कांग्रेस के अध्यक्ष पद से बोलते हुए नेहरू ने कहा......."इस (रूसी) नयी सभ्यता और व्यवस्था में आशा की किरण दिखायी देती है। 'उज्ज्वल भविष्य की एकमात्र आशा सोवियत रूस में हो रहे परिवर्तन पर निर्भर करती है और अगर कोई अप्रत्याशित घटना

इस प्रक्रिया में रुकावट न डाले तो मुझे विश्वास है कि यह नयी सभ्यता अन्य भूभागों में भी प्रसारित होगी और युद्ध, संघर्ष तथा तनाव समाप्त होंगे जिन पर पूंजीवाद टिका हुआ है।"

स्टालिनवादी रूस और भारत-सोवियत संघ सम्बन्ध

भारत के स्वाधीनता संघर्ष के दौरान जन-जीवन और राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं में रूस के प्रति स्पष्ट रुझान तथा उसके साथ सुदृढ़ सम्बन्ध बनाये जाने की इच्छा होते हुए भी दोनों के बीच मैत्री स्वत: ही अवतरित नहीं हुई अपितु वह समय और आवश्यकता के परिणामस्वरूप विकसित हुई है। युद्धोपरान्त भारत-रूस सम्बन्धों की प्रक्रिया दो भिन्न कालों से गुजरी है। के० पी० एस० मेनन जैसे व्याख्याकारों ने भारत-रूस सम्बन्धों के प्रारम्भिक काल को निष्क्रिय काल (1947–1955) और उत्तरार्द्ध को सक्रिय मैत्री का काल कहा है।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्तिम चरण में स्टालिनवादी रूस का दृष्टिकोण भारतीय नेतृत्व के प्रति एकपक्षीय, अविश्वास और पूर्वाग्रही था। उन्होने अपने ठण्डे रुख को छिपाया भी नहीं। सोवियत संघ में भारत की प्रथम राजदूत श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित की नियुक्ति पर रूस ने कोई उत्साह नहीं दिखाया। स्टालिन ने जवाहरलाल नेहरू की बहिन और भारत की प्रथम महिला राजदूत से मुलाकात करना भी आवश्यक नहीं समझा। एक वर्ष के अपने सोवियत आवास के पश्चात् स्वदेश लौटने पर निराश राजदूत ने कहा भी : "मैंने उन्हें एक बार भी नहीं देखा।" भारत के प्रति रूखे सोवियत दृष्टिकोण का हवाला देते हुए श्रीमती पंडित का कहना था कि, "सोवियत रूस के साथ सम्बन्ध बढ़ाये जाने की अदम्य उत्कंठा और उसके लिए हमारे प्रयत्नों को वहाँ के शासकों ने कभी गम्भीरतापूर्वक नहीं लिया। वे अब भी हमें इंगलैण्ड के अनुगामी ही समझते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारतीय नेताओं द्वारा रचित 'स्वतन्त्र विदेश नीति' को भी वे महत्व नहीं देते।"

द्वितीय विश्व युद्धोत्तर सोवियत रूस के नेतृत्व ने भारत की गुट निरपेक्षता को प्रारम्भ में सन्देह की दृष्टि से देखा था। ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में बने रहने सम्बन्धी भारत के निर्णय ने उनकी इस धारणा को और भी पुख्ता कर दिया कि भारत की गुट निरपेक्षता एक प्रकार का छलावा है। नेहरू के भारत को आंग्ल-अमरीकी जगत का ही एक अंग समझा गया। भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की भूमिका और उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में 'सोवियत विश्वकोष' में जो व्याख्या की गयी थी वह भारत के सामयिक नेतृत्व पर बड़ा तीखा प्रहार था। गांधी को वहाँ एक प्रतिक्रियावादी और ब्रिटिश साम्राज्यवाद का घोर समर्थक समझा गया था। इंगलैण्ड और भारत के बीच विविध क्षेत्रों में निकटता के कारण सोवियत नेताओं ने भारत की गुट-निरपेक्षता को कतई गम्भीरता से नहीं लिया। अपने पूर्वाग्रहों और भारतीय नेतृत्व की वर्ग चरित्र सम्बन्धी व्याख्या के कारण स्टालिनवादी रूस ने भारत के 'गुटनिरपेक्षतावाद' को अस्वीकार कर दिया।

यह सन्देह, पूर्वाग्रह और अविश्वास एकपक्षीय ही नहीं था। नवोदित भारत के कतिपय महत्वपूर्ण क्षेत्रों में सोवियत रूस के प्रति अविश्वास, अन्तर्राष्ट्रीय मार्क्सवादी विचारधारा से भय तथा उसकी निरंकुश एकदलीय व्यवस्था से वितृष्णा विद्यमान थी। रूस के भय का हौवा ब्रिटिश शासन ने बहुत ही सुनियोजित ढंग से विकसित किया था जिसे उनकी स्वामिभक्त अंग्रेजपरस्त नौकरशाही ने स्वतन्त्रता के बाद भी यथावत् बनाये रखने का निरन्तर प्रयत्न किया। कांग्रेस के वरिष्ठ नेताओं में राजगोपालाचारी, सरदार वल्लभ भाई पटेल तथा पट्टाभि सीतारमैया के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिन्होंने 'सोवियत रूस से सावधान' का आह्वान किया था। राजगोपालाचारी का तो यहाँ तक कहना था कि, "हमें रूस के झूठे बहकावे में कतई नहीं आना चाहिए। वह भारतीय स्वाधीनता के प्रश्न को उलझाये रखना चाहता है।" पट्टाभि सीतारमैया ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एशिया में उत्पन्न हुई नयी स्थिति के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट कहा कि "ब्रिटेन

की रवानगी से उत्पन्न शक्तिशून्यता की पूर्ति हम स्वयं करेंगे। हम भारत राष्ट्र के साथ कटिबद्ध हैं, न कि रूस के साथ।" कांग्रेस के इन वरिष्ठ नेताओं में सरदार पटेल भी ऐसे व्यक्ति थे जो सोवियत रूस के प्रति अविश्वास का रुख अपनाये हुए थे। इसीलिए उनके मन्त्रालय ने दोनों देशों के बीच विद्यार्थियों के आदान-प्रदान की योजना को कार्यान्वित ही नहीं होने दिया और एक सांस्कृतिक प्रतिनिधिमण्डल के पाँच सदस्यों को मास्को जाने की आज्ञा भी नहीं दी गयी।

नव स्वतन्त्र भारत की अफसरशाही भी साम्यवादी शैली की सोवियत सभ्यता से बड़ी आशंकित थी। उनमें यह धारणा घर किये हुए थी कि रूस के साथ किसी तरह का खुला सम्पर्क सुरक्षा और व्यवस्था की दृष्टि से बड़ा भारी खतरा है। सोवियत रूस में भारत के भूतपूर्व राजदूत के० पी० एस० मेनन ने अपने लेख 'इण्डिया एण्ड सोवियत यूनियन' में तत्कालीन वरिष्ठ अधिकारियों में सोवियत संघ के प्रति व्याप्त भय और अविश्वास सम्बन्धी निजी अनुभव की चर्चा करते हुए लिखा है :

"देश के प्रबुद्ध वर्ग में भी सोवियत रूस के प्रति कितनी भ्रान्ति थी इसका एक उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ। मैं जब विदेश सचिव था तब पहली बार दोनों देशों के बीच व्यापारिक समझौता हुआ। उस समझौते का प्रारूप सभी मन्त्रालयों में भेजा गया; इस प्रारूप में तकनीकी विशेषज्ञों के आदान-प्रदान का भी प्रावधान था। तत्कालीन गृह सचिव एच० वी० आयंगर मेरे कक्ष में आये और कहा : 'के० पी० एस०, यह तुम क्या कर रहे हो ? रूस के साथ तकनीकी विशेषज्ञों का आदान-प्रदान, इस प्रावधान की आड़ में कितने ही सोवियत गुप्तचर आकर हमारे अर्थतन्त्र को तहस-नहस कर देंगे।' मैंने उन्हें आश्वस्त किया कि उनका यह भय निराधार है।"

सन् 1951 के पश्चात् भारत-रूस सम्बन्धों में नये युग का सूत्रपात होने लगता है जिसका आभास हमें रूस की नयी कूटनीतिक गतिविधियों से मिलता है। 1946-47 में उपनिवेशवाद, प्रजातीय विभेद, निरस्त्रीकरण आदि अनेक प्रश्नों पर दोनों में मतैक्य रहा। स्टालिन द्वारा तत्कालीन भारतीय राजदूत डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् और अन्य प्रतिनिधियों को साक्षात्कार परिवर्तन भंगिमा का प्रतीक कहा जाना चाहिए। अपनी मृत्यु से पूर्व स्टालिन ने पाँच में से तीन भेंट भारतीय प्रतिनिधियों को दी थीं। सोवियत रूस के इस परिवर्तित रुख के लिए विश्व की कतिपय समस्याओं पर भारत द्वारा अपनाया गया उन्मुक्त दृष्टिकोण बड़ा सहायक हुआ। सन् 1949 में ही दोनों देशों के बीच एक व्यापारिक समझौता हुआ और जिसके अनुसार सोवियत रूस ने चाय और कच्चे जूट के बदले एक लाख बीस हजार टन गेहूँ और मक्का देना स्वीकार किया। भारत द्वारा साम्यवादी चीन को मान्यता प्रदान करने, उसे संयुक्त राष्ट्र संघ में यथोचित स्थान देने, अमरीका और जापान की शान्ति सन्धि का विरोध और कोरिया विवाद में स्वतन्त्र रुख अपनाये जाने सम्बन्धी प्रसंगों ने रूस को अपने ही दायरे से बाहर झाँककर देखने और अपनी विदेश नीति का पुनर्मूल्यांकन करने को बाध्य किया।

कोरिया युद्ध के प्रारम्भ में भारत सरकार ने अमरीकी गुट का समर्थन किया और कोरिया के युद्ध में उत्तर कोरिया को आक्रामक कहा जिसका सोवियत रूस ने बुरा माना; परन्तु कोरिया समस्या के उत्तरार्द्ध में जब भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ की सेनाओं से 38वीं अक्षांश रेखा को पार न करने का आग्रह किया तो सोवियत सरकार ने भारत के शान्ति प्रयत्नों की प्रशंसा की। इसी समय जापानी शान्ति सन्धि के प्रश्न पर भारत ने सोवियत संघ के दृष्टिकोण का समर्थन किया और अमरीका द्वारा आयोजित सेनफ्रांसिस्को सम्मेलन में जाने से भी इंकार कर दिया। जापानी शान्ति सन्धि (1951) पर भी भारत ने सोवियत संघ के समान हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया क्योंकि दोनों के मतानुसार यह जापान को साम्राज्यवादी अधीनता में ले लेने का प्रयत्न था। अप्रैल 1952 में स्टालिन ने भारतीय राजदूत डॉ० राधाकृष्णन से भेंट की और उनके सद् प्रयत्नों

से दोनों देशों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास होने लगा। अब स्टालिन ने यह महसूस किया कि भारत जैसे गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक नियति अथवा शुद्ध 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी व्याख्या' से परे हटकर देखना अधिक तर्कसंगत होगा।

भारत के प्रधानमन्त्री स्व० जवाहरलाल नेहरू ने मतभेदों की गहराई और गरिमा को समझते हुए भी भारत-रूस के बीच सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्धों की उपादेयता पर जोर दिया। जवाहरलाल नेहरू चाहे यौवनावस्था की भावुकता, रूस का कायापलट अथवा मार्क्सवादी विचारधारा के प्रति सम्मोहन जो भी महत्वपूर्ण घटक रहा हो दूरगामी भारतीय राष्ट्रीय हितों ही दृष्टि से इस मैत्री को महत्वपूर्ण मानते थे। अपनी पुस्तक 'डोमेस्टिक कम्पलसंस एण्ड फॉरेन पॉलिसी' में अश्विनी कुमार रे ने ठीक ही लिखा है कि गैर-साम्यवादी संसार में नेहरू की सम्भवतः पहले कूटनीतिज्ञ थे जिन्होंने नवजाग्रत राष्ट्रों और साम्यवादी दुनिया के बीच सह-अस्तित्व की सम्भावनाएँ देखी थीं।[1]

भारत की विदेश नीति के विभिन्न पहलुओं में जवाहरलाल नेहरू ने सोवियत संघ के साथ मधुर सम्बन्धों पर जोर दिया। भारत की स्वाधीनता की घोषणा से लगभग एक वर्ष पहले, 7 सितम्बर, 1946 को रेडियो पर बोलते हुए उन्होंने स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भारत की विदेश नीति के मूल सिद्धान्त बताये।

उन्होंने कहा कि भारत आपसी प्रतिस्पर्द्धा में डटे राज्यों के गुटों से अलग रहने का इरादा रखता है। वह सभी देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश करेगा। इसके साथ ही उन्होंने घोषणा की, "हम वर्तमान संसार के एक और महान देश, सोवियत संघ का अभिनन्दन करते हैं ......एशिया में वह हमारा पड़ोसी है और हमें लाजिमी तौर पर बहुत-सी समान समस्याओं को हल करना पड़ेगा और एक-दूसरे से वास्ता रखना पड़ेगा।"[2] बाद में 13 दिसम्बर, 1946 को संविधान निर्मात्री सभा में भाषण देते हुए उन्होंने यही विचार दोहराया : "मुझे काफी बाद का इंकलाब याद आता है जिसने एक नये नमूने का राज्य पैदा किया। यह रूस का इंकलाब था जिसके नतीजे में सोवियत समाजवादी प्रजातन्त्र संघ कायम हुआ। यह दूसरा बहुत ताकतवर मुल्क है जो दुनिया में जबर्दस्त भूमिका अदा कर रहा है और यह सिर्फ ताकतवर मुल्क ही नहीं, हिन्दुस्तान का पड़ोसी है।"[3]

भारत की विदेश नीति के सिद्धान्त के ऐसे विकास का तर्कसंगत परिणाम यह फैसला था जो जवाहरलाल नेहरू की पहल पर अन्तरिम सरकार ने 13 अप्रैल, 1947 को, यानी देश की स्वाधीनता की घोषणा से चार महीने पहले किया। यह भारत और सोवियत संघ के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने का फैसला था। यह ऐतिहासिक महत्व की कार्यवाही थी। उसने स्वाधीन भारत की विदेश नीति के आम स्वरूप को निर्धारित किया और सोवियत संघ के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने तथा बहुमुखी सहयोग का विकास करने के लिए विशाल सम्भावनाओं के द्वार खोल दिये।

संक्षेप में, स्वतन्त्र भारत के प्रति काफी समय तक साम्यवादी गुट, विशेषकर चीन और रूस, का दृष्टिकोण मैत्रीपूर्ण नहीं था। स्टालिन भारत जैसे गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों को 'पश्चिम के

---

1 अश्विनी कुमार रे : **डॉमेस्टिक कम्पलसंस एण्ड फॉरेन पॉलिसी**, पृ० 27।

2 जवाहरलाल नेहरू : **भारत की विदेश नीति**, राजनीतिक प्रकाशन गृह, मास्को, पृ० 32।

3 **वही**, पृ० 3।

पिछलग्गू' समझता था। वस्तुतः 1954 तक भारत और रूस में बहुत कम और औपचारिक सम्बन्ध थे।[1]

भारत-रूस सम्बन्ध : सक्रिय सहयोग का युग

सन् 1954 के बाद भारत-रूस सम्बन्धों में परिवर्तन आने लगा, इसके निम्नलिखित कारण थे : **प्रथम**, स्टालिन की मृत्यु के बाद रूसी नेता शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति में विश्वास करने लगे थे और लौह आवरण की नीति में परिवर्तन आने लगा था। **द्वितीय**, रूसी नेताओं को अपनी भारत यात्रा के मध्य यह विश्वास हो गया कि भारत का साम्यवादी गुट के प्रति भी मैत्री-भाव था और नीतियों की भिन्नता के बावजूद भी ये देश मित्र बने रह सकते थे। **तृतीय**, विश्व राजनीति में भारत के कार्यों ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारत वास्तव में गुट-निरपेक्षता की नीति का समर्थक था और किसी भी राष्ट्र अथवा गुट का अनुयायी नहीं था। **चतुर्थ**, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की परिवर्तित अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में सोवियत रूस एशियाई राष्ट्रों—उनमें भी विशेषकर भारत के महत्व की अवहेलना नहीं कर सकता था। भारत की असंलग्नता की नीति के अनुयायी क्रमशः अनेक अफ्रीकी-एशियाई राष्ट्र बनते जा रहे थे और इस प्रकार दोनों गुट के बाहर शीत-युद्ध के विरोध में एक नया गुट ही बनता जा रहा था। भारत यदि इनका नेता नहीं तो अगुवा अवश्य ही था। **पंचम**, भारत और रूस अनेकों अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर समान विचार रखते थे। दोनों ही उपनिवेशवाद के विरोधी थे, दोनों ही व्यक्तियों को आत्मनिर्णय का अधिकार देने के पक्ष में थे। दोनों ही प्रजातिवाद एवं एशिया और विश्व समस्याओं के फोरम में अफ्रीकी-एशियाई राष्ट्रों को महत्वपूर्ण स्थान दिलवाने के पक्ष में थे ताकि इस क्षेत्र में पश्चिमी गुट का प्रभाव कम हो सके।

भारत ने भी सोवियत रूस के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना उचित समझा, जिसके निम्न कारण थे—**प्रथम**, पश्चिमी गुट भारत की निर्गुट नीति के प्रति पूर्ण सहानुभूति नहीं रखता था। अमरीका ने पाकिस्तान को अस्त्र देकर शीतयुद्ध बिल्कुल भारत की सीमा पर लाकर छोड़ दिया था। **द्वितीय**, गोआ के प्रश्न पर सोवियत रूस ने तटस्थता का दृष्टिकोण अपनाया था और अमरीका के समान पुर्तगाल अथवा पाकिस्तान का पक्ष नहीं लिया था। इसी प्रकार कश्मीर के प्रश्न पर तो उसने भारत का पूर्ण समर्थन नहीं किया था। **तृतीय**, रूस से अपने सम्बन्ध मधुर बनाकर भारत दोनों गुटों के मध्य तनाव कम करने एवं मैत्री बढ़ाने का कार्य अधिक भली प्रकार कर सकता था। **चतुर्थ**, अपने आर्थिक विकास के लिए भारत को सोवियत संघ से तकनीकी और आर्थिक सहायता मिल सकती थी।

नेहरू-ख्रुश्चेव युग और भारत-रूस सम्बन्ध

1953 में स्टालिन की मृत्यु हो गयी और ख्रुश्चेव के हाथों में सत्ता की बागडोर आयी। ख्रुश्चेव ने मार्क्स के सिद्धान्तों की पुनर्व्याख्या की और उन्हें आणविक युग की वास्तविकताओं के अनुकूल बनाया। सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की 20वीं कांग्रेस में उसने खुले शब्दों में घोषणा की कि 'युद्ध' इस युग में मार्क्सवाद का मूल सिद्धान्त नहीं होना चाहिए। ख्रुश्चेव का सबसे क्रान्तिकारी कदम स्टालिन की व्यक्ति पूजा और उसकी दमन नीति की भर्त्सना करना था। उसने न केवल निर्गुट राष्ट्रों के महत्व को स्वीकार किया अपितु उनके साथ मृदु नीति अपनायी। ख्रुश्चेव के काल में ही भारत-रूस मैत्री पुख्ता हुई।

---

[1] "India's independent foreign policy and non-alignment were looked upon by the Soviet Union as "Only a mask to cover collaboration with Anglo-American imperialism." However, the first five years of India's independence convinced the Soviet Union and her athics that India was keen to pressure her independence in international affiars. By 1953, the Soviet Union realised that India's non-alignment was a useful factor working not in favour of peace but also helping in the elimination of foreign domination in Asia."
—*Foreign Policy of India*, Lok Sabha Secretariat, New Delhi, 1987, p. 45.

इस समय भारत की विदेश नीति के निर्माण और क्रियान्वयन की बागडोर जवाहरलाल नेहरू के हाथों में थी। नेहरू नीति का सबसे महत्वपूर्ण तत्व था भारत और सोवियत संघ का मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध और समान आधार पर उनके बीच सहयोग।

नेहरू-ख्रुश्चेव युग में भारत-रूस सम्बन्धों की घनिष्टता दोनों देशों के नेताओं द्वारा एक-दूसरे के देश की सद्भावना यात्रा के कारण हुई। जून 1955 में जब सोवियत रूस के निमन्त्रण पर नेहरू ने रूस की यात्रा की तब दोनों देशों में स्थिति बहुत परिवर्तित हो चुकी थी। इस यात्रा के पूर्व ही नेहरू ने स्पष्ट कर दिया था कि वे किसी राजनीतिक उद्देश्य से नहीं बल्कि मात्र सद्-भावना की दृष्टि से और परस्पर हित की विश्व समस्याओं पर विचार-विनिमय के लिए जा रहे हैं। फिर भी पश्चिमी राष्ट्रों में इसे एक राजनीतिक यात्रा ही समझा गया और अनेक प्रकार की आलोचना की गयी।

7 जून, 1955 को नेहरू मास्को पहुँचे। महत्व और परिणामों को देखते हुए वह यात्रा ऐतिहासिक रही। जवाहरलाल नेहरू अच्छी तरह समझते थे कि स्वाधीन भारत की सामाजिक प्रगति के लिए विश्वशान्ति अत्यावश्यक है। साम्राज्यवाद व नवउपनिवेशवाद की शैतानी साजिशों के खिलाफ, शान्ति को बनाये रखने व सुदृढ़ बनाने के लिए, सभी विवादग्रस्त अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को शान्तिपूर्वक सुलझाने के लिए और राष्ट्रों के सम्बन्धों में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व, पारस्परिक समझ और सहयोग व मैत्री के सिद्धान्तों को विजयी बनाने के लिए संघर्ष में उन्होंने सोवियत संघ को जबरदस्त ताकत माना।

नेहरूजी का यह भी विश्वास था कि मातृभूमि की आर्थिक खुशहाली सिर्फ समाजवाद के आधार पर प्राप्त की जा सकती है। इसलिए उनकी सोवियत संघ यात्रा से कुछ महीने पहले राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने अवाड़ी अधिवेशन में 'समाजवादी नमूने के समाज' का निर्माण करने का कार्यक्रम स्वीकार किया। यात्रा पर रवाना होते हुए पण्डित नेहरू को जरा भी शक नहीं था कि सोवियत संघ भारतीय जनता को निःस्वार्थ और अत्यन्त कारगर सहायता देगा ताकि वह नयी ऐतिहासिक परिस्थितियों में सामने आने वाली महत्वपूर्ण तात्कालिक समस्याओं को हल कर सके।

इसलिए जवाहरलाल नेहरू की जून 1955 की सोवियत यात्रा को शान्ति और मैत्री का मिशन ठीक ही माना जाता है। रास्ते में, 5 जून को वह काहिरा में कुछ समय के लिए ठहरे तो उन्होंने पत्रकारों से कहा : "भारत और सोवियत संघ को शान्ति में दिलचस्पी है और हम इसी सवाल पर विचार करेंगे।" उन्होंने यह भी कहा कि सोवियत नेताओं के साथ वार्ता के दौरान आर्थिक और व्यापारिक समस्याओं की ओर बड़ा ध्यान दिया जायेगा। "इसके अलावा मैं नियोजन के कुछ सवालों पर बात करना चाहूँगा क्योंकि हमारी पंचवर्षीय योजना पूरी हो रही है और हम नयी योजना बनाने जा रहे हैं।"[1]

महान भारतीय जनता के प्रतिनिधि जवाहरलाल का मास्को में हार्दिक शानदार स्वागत किया गया। हवाई अड्डे से क्रेमलिन तक, जहाँ अतिथियों को ठहराया गया, रास्ते भर दसियों हजार मास्कोवासियों ने सड़क पर निकलकर उनकी जयजयकार की। "हिन्दी-रूसी भाई-भाई"—यह नारा जिसके बाद में पंख लग गये, उन्हीं दिनों पहली बार गूँजा था।

जवाहरलाल नेहरू और उनकी सुपुत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी 16 दिन सोवियत संघ में रहे। अनेकानेक सार्वजनिक कार्यक्रमों का आयोजन हुआ और अनुभव अविस्मरणीय रहे। उन्होंने वोलगोग्राद, क्रीमिया, टिबलीसी, अशखाबाद, ताशकन्द, रूबत्सोव्स्क, मागनितोगोर्स्क और लेनिनग्राद का भ्रमण किया। मजदूरों और सामूहिक किसानों के जीवन व कार्यों का उन्होंने परिचय

---

1 प्राव्दा, 7 जून, 1955।

पाया, सोवियत संघ के विज्ञान व कला, शिक्षा व खेलकूद में उन्होंने दिलचस्पी ली। अछूती जमीन को काश्त लायक बनाने के तरीकों की ओर ध्यान दिया और मध्य एशियाई प्रजातन्त्रों की कामयाबियों को देखकर वे दंग रह गये।

भारत और सोवियत संघ के बीच आर्थिक सहयोग पर वार्ता के समय भारत में सोवियत संघ की सहायता से कुछ औद्योगिक ठिकानों के निर्माण के बारे में सहमति प्राप्त हुई। भिलाई के पास अत्यन्त महत्वपूर्ण इस्पात कारखाने के निर्माण का समझौता पहले ही हो चुका था। अपनी पूरी क्षमता से काम करने वाला यह विशाल इस्पात कारखाना आज भारतीय और सोवियत जनता की मैत्री का प्रतीक बन गया है।

सोवियत संघ की कृषि व्यवस्था, विशेष रूप से अछूती जमीन को खेती लायक बनाने के काम में पण्डित नेहरू ने बड़ी दिलचस्पी ली। प्राप्त हुए अनुभव का बाद में, सूरतगढ़ में राजकीय कृषि फार्म की स्थापना के समय उपयोग किया गया।

अपने एक भाषण में नेहरू ने कहा : "जहाँ भी मैं गया, हर जगह खुशी के साथ दिल खोलकर हमारा स्वागत किया गया। इस मुलाकात से मुझे ऐसा महसूस होता है, मानो हमारे देश की जनता और सोवियत जनता भाई-भाई हैं.......।"[1] मास्को में भारत-सोवियत मैत्री सभा में बोलते हुए उन्होंने कहा "भारत के आम लोग बहुत से क्षेत्रों में आपके साथ सहयोग करना चाहते हैं। इससे हमारे दोनों देशों को फायदा होगा।"[2]

शान्तिदूत के रूप में नेहरू को सोवियत संघ में अभूतपूर्व सम्मान मिला। रूस द्वारा अन्य गैर-साम्यवादी देश को इस प्रकार मैत्रीपूर्ण दृष्टि से नहीं देखा गया था। भारतीय राजदूत के० पी० एस० मैनन के शब्दों में नेहरू का स्वागत हर तरह से अद्वितीय था। और क्यों न हो? नेहरू क्रेमलिन के विशेष मेहमान थे। उन्हें एशिया का कान और आँख समझा गया था। न्यूयार्क टाइम्स ने अपनी टिप्पणी में लिखा—'सोवियत रूस भारतीय मेहमान के लिए बहुत ही कीमती गलीचा बिछा रहा है। अन्य कूटनीतिज्ञों की तुलना में यह मेहमान वहाँ की साम्यवादी पार्टी और सरकार के लिए बहुत महत्वपूर्ण व्यक्ति है।' रूस सरकार ने अपना अत्यधिक गुप्त आणविक केन्द्र भी नेहरू को दिखाया जो कि किसी गैर-साम्यवादी देश के नेता को कभी नहीं दिखाया गया था।

नेहरू ने इस यात्रा के दौरान बुल्गानिन तथा अन्य रूसी नेताओं से अनेक विषयों पर वार्ता की जिनमें मुख्य विषय निरस्त्रीकरण, पूर्व एशिया की स्थिति तथा इण्डोचीन पर जेनेवा सम्मेलन के निर्णय लागू करने थे। इस यात्रा के पश्चात् प्रकाशित दोनों नेताओं की संयुक्त विज्ञप्ति में कहा गया कि भारत और रूस के सम्बन्ध पंचशील के सिद्धान्तों के अनुसार संचालित होते रहेंगे।

सोवियत रूस की चहुंमुखी प्रगति से अभिभूत नेहरू ने अपनी वापसी पर रूसियों को कहा था : "मैं यहाँ पर अपने दिल का हिस्सा छोड़े जा रहा हूँ।" इस यात्रा ने सचमुच दोनों देशों की दूरी कम कर कतिपय क्षेत्रों में उन्हें काफी निकट लाकर खड़ा कर दिया।

नेहरू की यह यात्रा एक और मायने में महत्वपूर्ण रही। इससे दो देशों के राजकीय नेताओं द्वारा एक-दूसरे के देशों की यात्राओं की शुभ परम्परा शुरू हो गयी। 1955 के दिसम्बर में बुल्गानिन और ख्रुश्चेव की भारत यात्रा ने भारतवासियों पर मनोवांछित प्रभाव छोड़ा। 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद यह प्रथम अवसर था, जब रूस के प्रधानमन्त्री देश के बाहर सद्भावना यात्रा पर निकले। 'हिन्दी-रूसी भाई-भाई' का नारा इन नेताओं ने अपने भाषणों में

---

1 प्राव्दा, 14 जून, 1955।

2 जवाहरलाल नेहरू, भारत की विदेश नीति, पृ० 156।

अनेक बार दोहराया। भारत में रूसी नेताओं का भव्य स्वागत हुआ। इस अवसर पर बुलगानिन ने कहा : "भारत-सोवियत मैत्री की रचना पंचशील के विश्वसनीय तथा स्थायी आधार स्तम्भों पर की जा रही है।" भारतीय संसद में बोलते हुए बुलगानिन ने कहा : "हम अपने आर्थिक तथा वैज्ञानिक अनुभव को आपके साथ बाँटने के लिए तैयार हैं।" रूसी नेताओं ने यह भी कहा कि "हम अपनी रोटी का आखिरी टुकड़ा भी आपके साथ बाँटकर खायेंगे।"

विश्व समस्याओं के प्रति भारत एवं रूस के मतैक्य का वर्णन करते हुए रूसी नेताओं ने विश्व शान्ति और सुरक्षा के प्रयत्नों के लिए भारत की प्रशंसा की। सोवियत नेताओं ने कश्मीर को भारत का अभिन्न अंग स्वीकार किया और कहा कि किसी भी अन्य बाहरी शक्ति को इसमें हस्तक्षेप का अधिकार नहीं है। भारत के विभाजन पर खेद प्रकट करते हुए ख्रुश्चेव ने कहा कि विभाजन धार्मिक मतभेद के कारण नहीं बल्कि कुछ बाह्य साम्राज्यवादी शक्तियों की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति के कारण हुआ, जिसमें धार्मिक भावनाओं का दुरुपयोग किया गया। ख्रुश्चेव ने भारत को आश्वासन दिया कि "आपको जब भी आवश्यकता पड़े, पहाड़ की चोटी पर खड़े होकर पुकार लीजिये, हम आपकी सहायता के लिए दौड़े चले आयेंगे।" प्रावदा ने बुलगानिन और ख्रुश्चेव की इस यात्रा का विस्तृत वर्णन किया और इसे अविस्मरणीय और ऐतिहासिक बताया।

1955 में ही साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और रंगभेद के प्रश्नों पर दोनों देशों द्वारा अपनाये गये समान दृष्टिकोण ने भी दोनों को और भी प्रगाढ़ मित्र बना दिया।

1955 में हंगरी में सोवियत सैनिक कार्यवाही का भारत द्वारा विरोध किये जाने पर दोनों देशों के सम्बन्धों में कुछ तनाव आया, परन्तु यह तनाव क्षणिक ही रहा। 1955 के बाद दोनों देशों के मध्य आर्थिक सम्बन्ध अनवरत रूप से विकसित होते रहे। कश्मीर के मामले में जहाँ अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन ने पाकिस्तान का समर्थन किया, वहाँ सोवियत रूस ने स्पष्ट तौर पर भारत का समर्थन कर उसके हितों की रक्षा की। ग्रेट ब्रिटेन और अमरीका द्वारा बार-बार कश्मीर के प्रश्न को उठाकर उलझाने, संयुक्त राष्ट्र संघ की आड़ में हस्तक्षेप करने के षड्यन्त्र को उजागर करते हुए 24 जनवरी, 1957 को सोवियत प्रतिनिधि ने खुले तौर पर भारत का पक्ष लिया था। इस प्रश्न पर सोवियत रूस की नीति का खुलासा करते हुए सोवियत प्रतिनिधि ने कहा, "सोवियत रूस कश्मीर के प्रश्न पर निरन्तर निष्पक्ष एवं वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण रखता आया है। हमारा यह प्रयत्न रहा है कि इस क्षेत्र के निवासियों के बीच मैत्रीभाव बना रहे तथा प्रजातन्त्रीय मूल्यों की रक्षा हो। कश्मीर समस्या वहाँ के लोगों की उपज नहीं अपितु नौ वर्ष पूर्व उन शक्तियों की देन है जो इस क्षेत्र के नवजाग्रत राष्ट्रों में मेल-मिलाप नहीं होने देना चाहतीं। इन शक्तियों का दृष्टिकोण कश्मीर, भारत और पाकिस्तान के हित में नहीं है। वे मूलतः अपने हितों की रक्षा और इस क्षेत्र में अपना प्रभुत्व बनाये रखना चाहते हैं।"

17 नवम्बर, 1956 में कश्मीर की संविधान सभा द्वारा भारत गणराज्य का अभिन्न अंग बन जाने के निर्णय का हवाला देते हुए सोवियत प्रतिनिधि ने यह कहा था कि, "कश्मीर का प्रश्न वहाँ के जनसमुदाय ने ही तय कर दिया है जो अपने को भारतीय गणराज्य का अविभाज्य अंग मानते हैं। सुरक्षा परिषद् इन तथ्यों को अस्वीकार नहीं कर सकती।"[1]

गोआ की समस्या भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् भी पुर्तगाली शासकों की हठधर्मी के कारण ज्यों-की-त्यों बनी हुई थी। वहाँ आतंक के शासन को समाप्त करने हेतु भारत ने सन्

---

1 कश्मीर पर सोवियत प्रतिनिधि का सुरक्षा परिषद में भाषण—24 जनवरी, 1957, डॉ० बिमला प्रसाद की पुस्तक 'इंडो-सोवियत रिलेशंस', पृ० 152-153 से उद्धृत।

1961 में शक्ति का प्रयोग कर उसे पुर्तगाली उपनिवेशवाद के चंगुल से मुक्त करवा लिया। भारत की इस कार्यवाही पर अमरीका और उसके 'नाटो समुदाय' के मित्र खिन्न हो उठे। अमरीका के प्रतिनिधि स्टेवेन्सन ने संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत की इस कार्यवाही की भर्त्सना करते हुए उसे आक्रमणकारी करार दिया। सोवियत संघ के प्रतिनिधि ने अमरीका और उसके पिछलग्गुओं को आड़े हाथों लिया। सोवियत रूस के प्रतिनिधि ने अमरीका द्वारा अपनाये गये दोहरे मापदण्ड पर सदस्यों का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा, "अंगोला में जब पुर्तगाली शासकों ने दमनचक्र चलाकर हजारों नागरिकों को मौत के घाट उतार दिया तब अमरीका और इंगलैण्ड ने उसकी भर्त्सना नहीं की। क्या यह संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर का हनन नहीं था? क्या यह आक्रामक कार्यवाही नहीं थी? लेकिन जब भारत अपने ही लोगों को अन्याय और दमन से मुक्ति दिलाने से लिए सहायता करता है तो लोग अपनी ऊँची आवाज में चार्टर की दुहाई देकर कार्यवाही रोकने और सेना वापस बुलाये जाने की बात करते हैं। जहाँ तक हमारा प्रश्न है हम खुले तौर पर यह घोषित करते हैं कि हम भारत और गोआ के लोगों के साथ हैं जो पुर्तगाली उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं·······हम उपनिवेशवादियों और औपनिवेशिक शक्तियों के सशक्त विरोधी हैं जो संयुक्त राष्ट्र संघ की स्पष्ट उद्घोषणा के उपरान्त भी अपना अस्तित्व बनाये रखना चाहते हैं।"[1]

जवाहरलाल नेहरू ने सितम्बर 1961 में सोवियत संघ की दूसरी और आखिरी अधिकृत यात्रा की। यह यात्रा पिछली यात्रा जितनी लम्बी न होते हुए भी उससे कम लाभप्रद नहीं रही। इस समय तक भारत को प्राप्त होने वाली सारी विदेशी सहायता पश्चिमी देशों से आती थी। पश्चिम पर भारत की निर्भरता को घटाने के लिए अभूतपूर्व सोवियत अभियान शुरू हुआ। इस अभियान का परिणाम यह हुआ कि दोनों देशों के बीच व्यापार के परिमाण में व्यापक वृद्धि हुई। 81 लाख रुपये की राशि से शुरू होकर भारत-रूस व्यापार 1961 में 71 करोड़ 97 लाख रुपये तक तथा 1965 में 175 करोड़ 36 लाख रुपयों तक पहुँच गया। इस समय जवाहरलाल नेहरू ने विशेष चिन्ता भारत और सोवियत संघ के आर्थिक सहयोग की ही की थी।

उनके जीवनकाल में ही सोवियत संघ ने भारत को 40 से अधिक बड़े कल-कारखानों और दूसरे ठिकानों के निर्माण में सहायता दी जिनमें भिलाई का इस्पात कारखाना, बम्बई की टेक्नोलोजी इंस्टीट्यूट, अंकलेश्वर के तेल कुएँ, राँची का भारी मशीन निर्माण कारखाना प्रमुख हैं।

1962 में जब चीन ने भारत पर आक्रमण कर दिया तो भारत एवं रूस की मैत्री की परीक्षा की घड़ी उपस्थित हो गयी। युद्ध के प्रारम्भिक दिनों में सोवियत रूस चुप ही रहा जिससे भारत को बड़ी निराशा हुई। ख्रुश्चेव ने अपने एक पत्र में प्रधानमन्त्री नेहरू को सन्धि वार्ता करने का सुझाव दिया। परन्तु 5 नवम्बर, 1962 के बाद रूस की नीति में तटस्थता का भाव दिखायी देने लगा। दिसम्बर, 1962 में सुप्रीम सोवियत में ख्रुश्चेव ने भारत पर चीन के आक्रमण की निन्दा की। 1963 में चीन द्वारा कोलम्बो प्रस्ताव अस्वीकृत किये जाने पर भी सोवियत नेताओं ने चीन की कड़ी आलोचना की। उसने भारत को मिग विमान भी दिये और भारत को मिग विमान का कारखाना स्थापित करने में सहयोग दिया।

जुलाई 1963 में भारत सरकार की ओर से बूथालिंगम के नेतृत्व में भी एक मिशन सैनिक सहायता प्राप्त करने के लिए मास्को गया। इस वर्ष भारत को रूस से बड़ी मात्रा में युद्ध सम्बन्धी और आर्थिक सहायता मिली। मिग विमान कारखाने के लिए ही लगभग पच्चीस करोड़ रुपये की

---

1 डॉ० बिमला प्रसाद : **इंडो-सोवियत रिलेशंस**, पृ० 231 से उद्धृत—सुरक्षा परिषद में सोवियत प्रतिनिधि का भाषण, 18 दिसम्बर, 1961।

पूँजी की सहायता दी गयी। तेल एवं गैस का पता लगाने के लिए 1963 के समझौते के अनुसार रूसी तकनीकी विशेषज्ञ भारत भेजे गये।

संक्षेप में, जवाहरलाल नेहरू और ख्रुश्चेव-बुलगानिन की यात्राओं ने हमारे दो महान शान्ति प्रेमी देशों के बीच बन्धुत्वपूर्ण, अच्छे पड़ोसियों की प्रक्रिया को बढ़ाने और मजबूत बनाने में योग दिया।

लालबहादुर शास्त्री और भारत-रूस सम्बन्ध

नेहरू के देहान्त के बाद लालबहादुर शास्त्री प्रधानमन्त्री बने। अपने अल्पकाल (मई 1964—जनवरी 1966) में भी शास्त्री भारत-रूस मैत्री को पुख्ता कर गये। 1964 में भारत व सोवियत संघ के बीच एक सांस्कृतिक विनिमय कार्यक्रम के लिए समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत दोनों देशों के बीच वैज्ञानिकों, विद्वानों व कलाकारों के आदान-प्रदान का निर्णय लिया गया। अक्टूबर 1964 में रूस से एक व्यापारिक शिष्टमण्डल भारत आया व दोनों देशों के बीच 1965-66 में व्यापार में डेढ़ गुना वृद्धि करने का निश्चय किया। रूस के सहयोग से भारत में बोकारो इस्पात कारखाना स्थापित हो सका।

सितम्बर 1965 में भारत-पाक संघर्ष के दौरान सोवियत संघ की नीति किसी न किसी रूप से इस संघर्ष को शान्त करने की रही। रूस ने इस दौरान जो भी कूटनीतिक चालें चलीं उसमें उसने भारत को अपना समर्थन दिया। जब एंग्लो-अमरीकन गुट ने भारत को आक्रमणकारी घोषित करवाने अथवा कश्मीर में संयुक्त राष्ट्र संघ की सेना भेजने का प्रयत्न किया तो रूस ने निषेधाधिकार का प्रयोग कर इस कार्यवाही पर रोक लगा दी। इसी प्रकार जब 16 सितम्बर, 1965 को चीन ने भारत को चेतावनी दी कि वह अपनी आक्रामक कार्यवाही बन्द कर दे अन्यथा चीन युद्ध में कूद सकता है। इसके साथ ही चीन ने भारतीय सीमा पर अपनी सैनिक गतिविधियाँ भी बढ़ा दीं तब सोवियत संघ ने चेतावनी दी कि विदेशी शक्तियाँ भारत और पाकिस्तान के मामले में हस्तक्षेप करके स्थिति को और बिगाड़ने का प्रयास नहीं करें। ब्रेझनेव का स्पष्ट इशारा चीन की ओर था। भारत-पाक युद्ध के बाद रूस ने दोनों देशों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने व पाकिस्तान को चीनी प्रभाव से मुक्त करने की नीति अपनायी। रूस ने इस बात का भी भरसक प्रयास किया कि पाकिस्तान भारत विरोधी रुख त्याग दे। सोवियत संघ के प्रयासों से ही जनवरी 1966 में ताशकन्द समझौता हो सका।

श्रीमती इन्दिरा गांधी-ब्रेझनेव युग और भारत-रूस सम्बन्ध

श्रीमती इन्दिरा गांधी सन् 1966 से मार्च 1977 तक तथा दिसम्बर 1980 से 1984 तक प्रधानमन्त्री रहीं और उनकी विदेश नीति की सबसे बड़ी विशेषता थी भारतीय विदेश नीति का रूस की तरफ स्पष्ट झुकाव। जवाहरलाल नेहरू की पुत्री होने के नाते सोवियत संघ के प्रति विशेष लगाव उन्हें विरासत में प्राप्त हुआ था। उनके विशेष सोवियत लगाव का प्रथम प्रमाण भारत में 1967 में सोवियत क्रान्ति की 50वीं वर्षगांठ थी। यह स्वर्ण जयन्ती भारत में बड़ी धूम-धाम से मनायी गयी। सोवियत रूस में तत्सम्बन्धी समारोह में भाग लेने के लिए प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी 7 नवम्बर, 1967 को विशेष रूप से मास्को गयीं। रूस में इस अवसर पर केवल 2 गैर-साम्यवादी देशों के प्रतिनिधि आमन्त्रित किये गये थे, उनमें एक भारत था।

ताशकन्द समझौते के बाद सोवियत नीति भारत और पाकिस्तान, दोनों से मधुर सम्बन्ध स्थापित करने की रही। भारत को इससे परेशान होने की कोई आवश्यकता नहीं थी, परन्तु दोनों के सम्बन्धों में थोड़ा-सा तनाव तब आया, जब रूस ने पाकिस्तान को हथियार देने का निश्चय किया क्योंकि सोवियत राजनय की यह नयी दिशा भारत के सुरक्षा सम्बन्धी हितों पर विपरीत प्रभाव डालने वाली थी। जुलाई 1968 में पाकिस्तान को सैनिक सहायता का निर्णय करते समय

रूस ने भारत को अमरीका की भाँति यह आश्वासन देने की चेष्टा की कि पाकिस्तान को दिये गये रूसी हथियारों का प्रयोग भारत के विरुद्ध नहीं किया जायेगा। भारत के लिए इस प्रकार के आश्वासन नये नहीं थे। अमरीका वर्षों से उसे ऐसे ही आश्वासन देता चला आ रहा था। इन आश्वासनों का कोई मूल्य इसलिए भी नहीं था, क्योंकि सोवियत रूस यह भलीभाँति जानता था कि पाकिस्तान को किसके विरुद्ध हथियारों की जरूरत है? 1965 से 1970 तक पाकिस्तान के राष्ट्रपति ने तीन बार सोवियत संघ की यात्रा की। इस बीच दो बार सोवियत प्रधानमन्त्री भी पाकिस्तान गये। दोनों देशों ने कई व्यापारिक और आर्थिक समझौते किये। पाक-सोवियत सहयोग के निम्नलिखित कारण थे : (1) सोवियत रूस में अमरीका की तरह व्यावसायिक पैमाने पर हथियारों का उत्पादन होने लगा था, उसके लिए बाजार चाहिए था; (2) सोवियत रूस पाकिस्तान स्थित अमरीका के पेशावर अड्डे को समाप्त करना चाहता था; (3) रूस पाकिस्तान की चीन-अमरीकी निर्भरता कम करना चाहता था।

सोवियत संघ के इस निर्णय का भारत में तीव्र विरोध हुआ। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा कि पाकिस्तान इन हथियारों का इस्तेमाल भारत के खिलाफ करेगा। उन्होंने इस सम्बन्ध में लोकसभा में वक्तव्य देते हुए कहा कि "पाकिस्तान की फौजी ताकत को और अधिक बढ़ाये जाने से हमें अवश्य ही चिन्ता होगी। इसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि उपमहाद्वीप में तनाव बढ़ेगा और अपने देश की सुरक्षा के बारे में हमारी जिम्मेदारियाँ और बढ़ जायेंगी। इससे पाकिस्तान की अकड़ और बढ़ जायेगी। हम सोवियत संघ के इरादे और सद्भावना पर सन्देह नहीं करते, लेकिन हमें इस बात का पूरा विश्वास है कि इस घटना से उपमहाद्वीप में शान्ति और स्थिरता के उद्देश्य को बल नहीं मिलता।" भारत में सोवियत रूस की जो आलोचना हुई उसके परिणामस्वरूप रूस ने पाकिस्तान को घातक हथियार देने से इंकार कर दिया और सोवियत संघ के दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए रूसी प्रधानमन्त्री कोसीजिन भारत आये और उन्होंने कहा कि रूस भारत से अपने विशिष्ट सम्बन्ध बनाये रखना चाहता है।

20 अगस्त, 1968 को सोवियत संघ, पूर्वी जर्मनी, हंगरी और बल्गारिया की सेनाओं ने चेकोस्लोवाकिया में वारसा सन्धि के अन्तर्गत हस्तक्षेप किया और चेकोस्लोवाकिया के सभी बड़े नगरों पर कब्जा कर लिया। राजधानी प्राग पर भी वारसा देशों की सेनाओं का आधिपत्य हो गया। महासचिव डुब चैक बन्दी बना लिये गये और अधिकांश संसद सदस्य गिरफ्तार कर लिये गये। चैक जनता ने थोड़ा प्रतिरोध किया परन्तु इन विशाल सेनाओं का मुकाबला सम्भव नहीं था। इस अवसर पर ब्रेझनेव ने सीमित सम्प्रभुता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसका तात्पर्य यह था कि साम्यवादी देशों की सम्प्रभुता सीमित होती है। यदि कोई साम्यवादी देश साम्यवादी सिद्धान्त से विमुख होने लगे, तो अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद से सिद्धान्त के अनुकूल अन्य साम्यवादी देशों का यह अधिकार होता है कि वे उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप कर अन्ततः साम्यवाद की रक्षा करें।

भारतीय संसद के सभी गैर-साम्यवादी दलों ने सरकार से इस प्रश्न पर अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करने की माँग की। चूँकि भारत की निरन्तर यह नीति रही है कि किसी भी देश की सेनाएँ दूसरे देश में नहीं जानी चाहिए, अतः इसी नीति के अनुकूल 21 अगस्त, 1968 को प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी ने चेकोस्लोवाकिया घटना पर टिप्पणी करते हुए कहा, "भारत के सोवियत संघ, पोलैण्ड, हंगरी तथा बल्गारिया से घनिष्ठ सम्बन्ध हैं परन्तु हम चेकोस्लोवाकिया की घटनाओं पर व्यथा और गहन दुःख प्रकट किये बिना नहीं रह सकते।" ......"भारत संयुक्त राष्ट्र संघ में चेकोस्लोवाकिया के अधिकारों का समर्थन करेगा। हम चेकोस्लोवाकिया के नेताओं की सुरक्षा, उस देश

की प्रभुसत्ता तथा अखण्डता के बारे में चिन्तित है। हमें इस बारे में चिन्ता है कि वहाँ कब्जा करने वाली बाहर की सेनाएँ कैसे निकलें।"[1]

भारत सरकार के इस वक्तव्य से विरोधी दल के सदस्यों को सन्तोष नहीं हुआ। जनसंघ की ओर से माँग की गयी कि सोवियत आक्रमण की निन्दा की जाये और यदि चेक नेताओं द्वारा विस्थापित सरकार बनायी जाये तो उसे मान्यता भी दी जाये। 23 अगस्त, 1968 को संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद में सोवियत कार्यवाही की निन्दा करने के लिए प्रस्ताव रखा गया। भारत भी इस समय सुरक्षा परिषद का सदस्य था। भारतीय प्रतिनिधि ने 'निन्दा' शब्द को हटाकर 'भर्त्सना' शब्द रखने का आग्रह किया। जब यह परिवर्तन नहीं किया गया तो भारतीय प्रतिनिधि ने मतदान में भाग नहीं लिया। इस कार्यवाही की भी भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में कड़ी आलोचना हुई, परन्तु सम्भवतः रूस से अपने सम्बन्ध न बिगाड़ने की दृष्टि से ही भारत सरकार ने ऐसा दृष्टिकोण अपनाया।

1970 में सोवियत विश्वकोष का तीसरा संस्करण प्रकाशित हुआ जिसमें नेफा और अक्षय चीन को चीन का हिस्सा बतलाया गया। सितम्बर 1979 में भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति वी० वी० गिरि ने रूस की यात्रा की और उन्होंने सोवियत नेताओं का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। सोवियत नेताओं ने अनुशासन दिया कि अगले संस्करणों में गलती सुधार ली जायेगी। दुःख एवं आश्चर्य की बात यह थी कि यह विश्वकोष स्वयं सोवियत सरकार की मन्त्रिपरिषद एवं साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति के तत्वावधान में प्रकाशित किया गया था।

रूस एवं चीन के सीमा विवाद में भी भारत ने रूस का पक्ष लिया। जुलाई 1969 में सोवियत संघ में एशियाई देशों के लिए सामूहिक सुरक्षा का प्रस्ताव रखा जिस पर भारत सरकार ने किसी तरह के उत्साह का प्रदर्शन नहीं किया।

भारत-सोवियत मैत्री सन्धि, 1971
(THE INDO-SOVIET TREATY, 1971)

9 अगस्त, 1971 को भारत तथा सोवियत संघ के मध्य एक 20-वर्षीय सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। यह सन्धि तात्कालिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटनाचक्र का परिणाम थी। बंगला देश में हो रहे भीषण नर संहार के कारण भारत में शरणार्थियों की बाढ़ आ गयी। इसके कारण भारत पर आर्थिक बोझ बढ़ गया और भारतीय सुरक्षा को भी खतरा उत्पन्न हो गया। पाकिस्तान अपने देश की असन्तुष्ट जनता का ध्यान बँटाने के लिए भारत पर आक्रमण की योजना बना रहा था। चीन-पाक गठबन्धन के परिणामस्वरूप चीन पाकिस्तान को सहयोग देना चाहता था।

अमरीका के डॉ० कीसिंगर के माध्यम से चीन को खुश करने का प्रयत्न कर रहा था, चीन में गुप्त वार्ताओं के बाद निक्सन की पीकिंग यात्रा की घोषणा की गयी थी। इस समय वाशिंगटन-पीकिंग-पिण्डी गठबन्धन की रचना की सम्भावना थी। पश्चिमी शक्तियों विशेषकर अमरीका, ने बंगलादेश की समस्या को भारत-पाकिस्तान की समस्या बनाने का षड्यन्त्र रचा था। महाशक्तियों ने बंगलादेश में हो रहे नर-संहार और अत्याचारों के प्रति आँख मूँद ली थीं। संक्षेप में, भारत-रूस सन्धि के लिए निम्नलिखित घटनाएँ उत्तरदायी हैं :

1. **चीन को खुश करने की अमरीकी नीति**—इस समय अमरीका चीन को रिझाने की नीति अपना रहा था। अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन ने चीन के साथ सम्बन्धों में सुधार करने के लिए अपने विशेष दूत डॉ० किसिंगर को चीन यात्रा पर भेजा। चीन में गुप्त वार्ताओं के बाद निक्सन की पीकिंग यात्रा की नाटकीय घोषणा की गयी।

---
[1] नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली, 22 अगस्त, 1968।

2. **वाशिंगटन-पीकिंग-पिण्डी गठबन्धन की सम्भावना**—चीन के साथ अमरीकी सम्बन्धों के सुधार में पाकिस्तान ने मुख्य भूमिका निभायी थी। अतः ऐसी सम्भावना थी कि वाशिंगटन-पीकिंग-पिण्डी गठबन्धन की रचना की जायेगी। अमरीका और चीन दोनों पाकिस्तान को एक सैनिक शक्ति बनाये रखने के समर्थक थे। हथियारों से लदे जहाज पद्मा और सुन्दरवन अमरीकी बन्दरगाहों से रवाना हो चुके थे।

3. **बंगला-देश की समस्या के सम्बन्ध में महाशक्तियों की चुप्पी**—भारतीय प्रधानमन्त्री श्रीमती गाँधी की विदेश यात्राओं के बाद भी महाशक्तियों ने बंगलादेश में हो रहे नर-संहार और अत्याचारों के प्रति आँखें मूंद ली थीं। लाखों की संख्या में लोग शरणार्थियों के रूप में भारत में रह रहे थे। समस्या के निकट भविष्य में समाधान की कोई सम्भावना नहीं थी। शरणार्थियों के आने से भारतीय अर्थव्यवस्था और विकास कार्यों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना शुरू हो गया था। भारत में व्यावसायिक, सामाजिक और साम्प्रदायिक समस्याएँ उत्पन्न होने लग गयी थीं।

4. **अरब राज्यों का विरोधी रुख**—अरब राज्य बंगलादेश की समस्या को समझने में असफल रहे थे। वे तानाशाह याह्या खाँ को सैनिक सहायता देकर नर-संहार और युद्ध का वातावरण उत्पन्न कर रहे थे।

5. **अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का भारत के विरुद्ध प्रयोग**—पश्चिमी शक्तियों ने, विशेषकर अमरीका ने, बंगलादेश की समस्या को भारत-पाकिस्तान की समस्या बनाने का षड्यन्त्र रचा था। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रेक्षकों की नियुक्ति के अमरीकी प्रस्ताव का यही उद्देश्य था। संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्कालीन महासचिव ऊ थांट का दृष्टिकोण भी पक्षपातपूर्ण था। उसने समस्या पर चुप्पी ठानकर अप्रत्यक्ष रूप से नर-संहार में अपना सहयोग दिया था।

इस समय चीन और अमरीका द्वारा पाकिस्तान के समर्थन ने भारत को एक चिन्ताजनक कूटनीतिक पार्थक्य (Diplomatic Isolation) की स्थिति में डाल दिया था। दूसरी ओर सोवियत संघ भी यह अनुभव करने लगा था कि चीन-अमरीकी गठबन्धन रूस को विश्व राजनीति में नीचा दिखाने, हिन्दचीन को हड़पने तथा एशिया में रूस के प्रभाव क्षेत्र को कम करने की दोहरी तलवार थी। इन सब कारणों से रूस और भारत ने अपने मित्रतापूर्ण सम्बन्धों को सुदृढ़ करने, इस उप-महाद्वीप में शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने तथा अपनी सीमाओं, प्रभुसत्ता, अखण्डता और स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए 9 अगस्त, 1971 को एक 20-वर्षीय सन्धि पर हस्ताक्षर किये। इस सन्धि पर भारत के तत्कालीन विदेशमन्त्री सरदार स्वर्ण सिंह तथा रूस की ओर से विदेशमन्त्री आन्द्रे ग्रोमिको ने हस्ताक्षर किये। भारतीय विदेश नीति के क्षेत्र में यह सन्धि एक नया आयाम थी। रूसी राजनीतिज्ञों के अनुसार यह सन्धि भारत-रूस मैत्री और सहयोग की दिशा में एक नये चरण का प्रतीक है।

भारत-रूस सन्धि की धाराओं का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :

1. शान्ति और मित्रता में वृद्धि करना एवं सम्प्रभुता और प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा करना।

2. एशिया और विश्व में शान्ति बनाये रखना तथा निःशस्त्रीकरण पर बल देना।

3. साम्राज्यवाद तथा प्रजातिवाद का विरोध करना और इसकी समाप्ति के लिए प्रयत्न करना।

4. शान्ति की नीति में विश्वास रखना और गुटनिरपेक्षता की नीति का सम्मान करना।

5. विश्व शान्ति और सुरक्षा को सुनिश्चित करने सम्बन्धी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए निरन्तर सम्पर्क व सहयोग करना।

6. व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में सहयोग एवं सुविधाएँ उपलब्ध कराना।

7. विज्ञान, कला, साहित्य, शिक्षा, जन स्वास्थ्य, खेल आदि विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों में आपसी सम्बन्ध एवं सम्पर्क को अधिक विकसित करना ।

8. दोनों देशों के बीच विद्यमान परम्परागत मित्रता के अनुसार प्रत्येक पक्ष निष्ठापूर्वक घोषित करता है कि वह किसी भी ऐसे गठबन्धन में, जो दूसरे पक्ष के विरुद्ध हो, न सम्मिलित होगा और न भाग लेगा ।

प्रत्येक पक्ष वचनबद्ध है कि वह दूसरे पक्ष पर किसी प्रकार का आक्रमण नहीं करेगा तथा अपने क्षेत्र में किसी प्रकार के ऐसे कार्य को नहीं होने देगा जिससे दूसरे पक्ष को सैनिक क्षति होने की आशंका हो ।

9. प्रत्येक पक्ष वचनबद्ध है कि किसी तीसरे पक्ष को जो दोनों पक्षों में से किसी एक के साथ सशस्त्र संघर्ष कर रहा हो, किसी प्रकार की सहायता नहीं देगा । दोनों में से किसी पक्ष पर आक्रमण होने या आक्रमण का खतरा उपस्थित होने पर दोनों पक्ष शीघ्र ही परस्पर विचार-विमर्श करेंगे ताकि ऐसे खतरे को समाप्त किया जाये तथा अन्य देशों की शान्ति और सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए समुचित प्रभावकारी कदम उठाये जायें ।

10. प्रत्येक पक्ष निष्ठापूर्वक यह घोषित करता है कि किसी भी एक या एक से अधिक राज्यों के साथ कोई भी गुप्त या प्रकट दायित्व अपने ऊपर नही लेगा जो इस सन्धि के प्रतिकूल हों । प्रत्येक पक्ष यह भी घोषित करता है कि उसका किसी राज्य या राज्यों के साथ न कोई ऐसा वर्तमान दायित्व है और न वह भविष्य में ऐसा कोई दायित्व लेगा जिससे दूसरे पक्ष को किसी प्रकार की सैनिक हानि हो ।

11. यह सन्धि 20 वर्ष की अवधि के लिए होगी । उसके बाद पाँच-पाँच वर्ष की अवधि के लिए अपने आप बढ़ती जायेगी जब तक कि कोई पक्ष सन्धि तोड़ने की इच्छा व्यक्त नहीं करता। यदि कोई पक्ष सन्धि तोड़ना चाहेगा तो उसे अवधि समाप्त होने से 12 महीने पहले दूसरे पक्ष को इसकी सूचना देनी होगी ।

12. इस सन्धि के मतभेदों को आपसी सहयोग तथा शान्तिपूर्ण तरीकों से दूर किया जायेगा ।

सन्धि का स्वागत—भारत-सोवियत सन्धि का अनेक क्षेत्रों में उत्साहपूर्ण स्वागत किया गया । इस सन्धि को भारत-रूस सम्बन्धों के इतिहास में 'महत्वपूर्ण सीमा चिन्ह' की संज्ञा दी गयी । यह कहा गया कि मनोवैज्ञानिक रूप से इस सन्धि ने किसीगर राजनय से उत्पन्न वाशिंगटन-पीकिंग-पिंडी धुरी की सम्भावना के त्रास से भारतीय मानस को मुक्त कर दिया तथा व्यावहारिक रूप में 'एक ठोस फायदा भारत सरकार को हुआ है कि पाकिस्तान से पाकिस्तान की शर्तों पर युद्ध और अनन्तर अमरीका आदि की शर्तों पर समझौता करने से वह बच गयी है ।' स्वर्ण सिंह ने इसे भारत-रूस सम्बन्धों के मार्ग में 'महत्वपूर्ण पत्थर' की संज्ञा दी है । मार्क्सवादी साम्यवादी दल के नेता ए० के० गोपालन के अनुसार 'यह भारत की पश्चिम पर निर्भरता को समाप्त कर देगी ।' साम्यवादी दल के नेता प्रो० हिरेन मुखर्जी ने इसे 'समकालीन इतिहास में एक महत्वपूर्ण चिन्ह' की संज्ञा दी । वी० के० कृष्णमेनन ने इसे 'गुट निरपेक्ष विदेश नीति के अनुरूप' और भारतीय विदेश नीति का 'स्वस्थ विकास' की संज्ञा दी । जनसंघ नेता अटल बिहारी वाजपेयी ने कहा था कि—"मैं इस सन्धि का स्वागत करता हूँ क्योंकि इसके द्वारा भारत को एक मित्र प्राप्त हो गया है—एक मित्र जिसका विश्वास किया जा सकता है और जो संकटकाल में हमारा साथ दे सकता है। इस सन्धि से पाकिस्तान के युद्ध इरादों को धक्का लगेगा । चीन भारत के विरुद्ध शरारत नही कर सकेगा ...... असंलग्नता की नीति कोई सिद्धान्त अथवा धर्म नहीं है । एक देश की विदेश नीति सर्वदा उसके हित में होनी चाहिए ... संसार की बदलती हुई परिस्थितियों में भारत की

विदेश नीति में भी परिवर्तन होना चाहिए। असंलग्नता की नीति एक साध्य नहीं थी अपितु एक साधन थी।" एस० एस० सहोटा के शब्दों में "This Treaty changed the balance of Power in the world and proved to be a master stroke of diplomacy." इस सन्धि का विश्व शक्ति सन्तुलन में भी विशिष्ट महत्व है। "इस सन्धि से भारत के आगे अपनी आर्थिक आत्मनिर्भरता को सुदृढ़ बनाने और आम जनता के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के लिए सोवियत संघ की आर्थिक और वैज्ञानिक सहायता का उपयोग करने के वास्ते नयी, विशाल सम्भावनाएँ पैदा हो गयीं। भारत के सभी भागों में आम लोगों ने इस सन्धि से गहरा सन्तोष प्रगट किया।"[1]

भारत-सोवियत सन्धि की आलोचना—भारत-सोवियत सन्धि की देश-विदेशों मे तीव्र प्रतिक्रिया हुई। आलोचकों ने यहाँ तक कहा कि यह सन्धि असंलग्नता की नीति के परित्याग की घोषणा थी; कि यह एक 'घबराहट भरा कदम' (Panicky measure of expediency) था जिसने बंगलादेश के सम्बन्ध मे भारत की इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता को सीमित कर दिया और भारत को रूस का पिछलग्गू राष्ट्र बना दिया। परिमल कुमार दास ने तो यहाँ तक लिखा कि, "इस सन्धि ने भारत के हाथ बाँध दिये हैं। यह एक असमान सन्धि है। इसी कारण इसके सभी फायदे रूस को और नुकसान भारत को भुगतने पड़ेंगे।" सन्धि की आलोचना में निम्न तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं :

1. **सन्धि भारत की गुटनिरपेक्षता नीति के विरुद्ध है**—आलोचकों की मान्यता है कि भारत-सोवियत सन्धि मित्रता, समानता और सहयोग पर आधारित नहीं है अपितु एक 'सुरक्षात्मक सन्धि' है जिसके कारण भारत को परम्परागत निर्गुट नीति का स्वतः ही परित्याग हो जाता है। एक आलोचक का मत है कि भारत ने अपनी विदेश नीति के 'मूल बिन्दु की कब्र खोद दी है।' हिन्दुस्तान टाइम्स ने सन्धि पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए लिखा था : 'अब इसमें सन्देह नहीं रह गया है कि भारत ने दो महाशक्तियों में से एक के साथ सुरक्षा समझौता करके गुटनिरपेक्षता की नीति को त्याग दिया है तथा रूस के साथ संलग्न हो गया है। आलोचकों का कहना था कि अब भारत विश्व राजनीति में पहले की भाँति न तो स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सकता है और न पूर्व-पश्चिम के गतिरोध में सेतुबन्ध का कार्य कर सकता है। अमरीकी सीनेटर पर्सी के शब्दों में 'यह सन्धि बहुत समय से चली आ रही भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति का उल्लंघन है……इस सन्धि से भारत की गुट निरपेक्षता की नीति बहुत कुछ बदल गयी है।' आलोचकों का कहना है कि अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप के प्रश्न पर भारत द्वारा अपनायी गयी नीति भारत-रूस सन्धि की प्रगाढ़ता को अभिव्यक्त करती है। इसी तरह भारत-चीन सम्बन्धों में सुधार लाने के प्रयत्नों के मार्ग में इस सन्धि को एक बाधा समझा जाता है।

2. **भारत को रूसी उपग्रह बनाने का प्रयत्न**—एक आलोचक के अनुसार यह सन्धि एक हाथी के साथ विस्तर पर लेटने के समान है। बलराज मधोक जैसे आलोचकों का कथन था कि इससे भविष्य में भारत की सम्प्रभुता पर प्रहार हो सकता है। यह भी कहा गया कि रूस अपनी स्थिति से लाभ उठाते हुए भारत के सामाजिक और आर्थिक ढाँचे को परिवर्तित करने का प्रयास करे। बलराज मधोक के अनुसार यह सन्धि कहीं 'भारत की गर्दन के इर्द-गिर्द एक पत्थर न हो जाये।' मीनू मसानी ने इस सन्धि को सोवियत उपग्रहवाद की नीति की संज्ञा दी। आलोचकों का कहना था कि रूस भारत में अपने पिट्ठुओं की सहायता से साम्यवाद का प्रसार करने का प्रयास करेगा।

---

1 ग्रे चेलिशेव, अ० लीतमान : *सोवियत-भारतीय मैत्री के स्रोत*, पृ० 178।

3. **भारत-अमरीकी सम्बन्धों पर प्रतिकूल प्रभाव**—आलोचकों के अनुसार इस सन्धि के बाद अमरीकी लोकमत का वह भाग हतोत्साहित होगा जो भारत से अच्छे सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। इस सन्धि के कारण अमरीका के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की सम्भावना कम हो गयी है क्योंकि भारत अब सोवियत संघ की गोद में चला गया है।

4. **भारत के शत्रुओं को निकट लाने में सहायक**—इस सन्धि के प्रतिक्रियास्वरूप भारत के शत्रु विशेषकर पाकिस्तान और चीन तथा चीन और अमरीका को निकट आने का स्वाभाविक अवसर मिलेगा। क्या भारत एक साथ चीन, पाकिस्तान और अमरीका की शत्रुता मोल ले सकेगा? दूसरे शब्दों में, यह सन्धि भारत को चीन-रूस-अमरीका के त्रिकोणीय शीत-युद्ध में घसीटती है।

5. **अप्रत्यक्ष रूप से यह एक सैनिक सन्धि है**—आलोचकों के अनुसार यह सन्धि 'वारसा समझौते' की तरह है। यद्यपि सन्धि को 'शान्ति, मित्रता और सहयोग की सन्धि' कहा गया है तथापि सन्धि की 9वीं धारा में उल्लेखित शब्द आक्रमण की स्थिति में तत्काल पारस्परिक 'विचार-विमर्श' और 'आवश्यक प्रभावकारी कदमों का' जिक्र किस ओर संकेत करते है? यह आक्रमण से बचाव की सन्धि है और आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए सैनिक सहायता की आवश्यकता होती है। डॉ० जे० डी० सेठी के अनुसार 'यह सन्धि सैनिक सन्धि है और अन्य सैनिक सन्धियों की भाँति असमान पक्षों में सन्धि है।'

6. **जल्दबाजी में की गयी सन्धि**—आलोचकों के अनुसार यह एक जल्दबाजी में की गयी सन्धि है जिसकी आवश्यकता नहीं थी। आचार्य कृपलानी के अनुसार 'सन्धि की आवश्यकता नहीं थी। इसे जल्दबाजी में बनाया गया है। इसके पक्ष में व्यक्त किये गये विचार उतने ही उतावले है जितने कि सन्धि पर किये गये हस्ताक्षर।'

इतिहास का निर्णय भारत-रूस सन्धि के पक्ष में रहा है। इसमें सन्देह नही कि इस सन्धि से गुट निरपेक्षता की मूर्ति खण्डित हुई है। परन्तु गुट निरपेक्षता अपने आप में कोई लक्ष्य नही है। वह एक साधन मात्र है, जिसे कभी भी बदला जा सकता है। भारत की शान्ति की नीति भीरुता की नीति नहीं है। भारत अपने हितों की रक्षा हेतु मित्रो की खोज कर सकता है और यह सन्धि रूस के रूप में एक ठोस मित्र को उत्पन्न करती है। इसने यह सिद्ध कर दिया है कि गुटनिरपेक्ष नीति राष्ट्रीय उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए साधन मात्र है, यह कोई धर्म नही जिसकी शपथ ली जाती है।

इस सन्धि को ठीक ही रक्षा कवच की संज्ञा दी गयी है। इस सन्धि के बाद भारत-पाकिस्तान विवादों में किसी महाशक्ति का हस्तक्षेप तृतीय युद्ध को जन्म दे सकता है और कोई महाशक्ति विश्वयुद्ध का खतरा मोल नहीं ले सकती। यह सन्धि सम्भावित वाशिंगटन-पीकिंग-पिण्डी धुरी के विरुद्ध चेतावनी है। बंगलादेश के परिप्रेक्ष्य में पिछली घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि इस सन्धि ने भारत के राष्ट्रीय हितों की रक्षा में मूल्यवान सहयोग दिया है।

दिसम्बर 1971 में बंगला देश के प्रश्न तथा भारत-पाक युद्ध में सोवियत संघ ने सुरक्षा परिषद् में तथा बाहर भारत का पूरा समर्थन किया। इस युद्ध के दौरान जब अमरीका का सातवाँ बेड़ा बंगाल की खाड़ी की ओर रवाना हुआ तो सोवियत युद्धपोत हिन्द महासागर की ओर बढ़ा। इस प्रकार सोवियत चुनौती के कारण अमरीका का भारत के विरुद्ध 'युद्धपोत राजनय' (Gunboat diplomacy) व्यर्थ हो गया तथा अमरीका भारत के विरुद्ध हस्तक्षेप की नीति नहीं अपना सका।

संक्षेप में, भारत-सोवियत सन्धि के बाद दोनों देशों के बीच सम्बन्ध काफी सुदृढ़ हो गये और सहयोग का क्षेत्र काफी विकसित हो गया।

भारत-रूस सम्बन्ध (1972-मार्च 1977)—सन् 1971 की सोवियत-भारत मैत्री सन्धि

की रचना के बाद से भारत और सोवियत संघ के मध्य सामान्य रूप से मधुर और घनिष्ठ सम्बन्ध विकसित होने लगे। अगस्त 1972 में सुरक्षा परिषद में बंगला देश को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनाने के प्रश्न पर विचार हुआ तो भारत व सोवियत संघ ने इसका समर्थन किया, परन्तु चीन द्वारा वीटो के प्रयोग के कारण उस समय बंगला देश को सदस्यता नहीं मिल सकी। 2 अक्टूबर, 1972 को भारत और सोवियत संघ ने वैज्ञानिक और तकनीकी सहयोग के एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। 26 नवम्बर, 1973 से 30 नवम्बर, 1973 के मध्य सोवियत साम्यवादी दल के प्रथम सचिव ब्रेझनेव ने भारत की यात्रा की तथा इस अवसर पर दोनों देशों के मध्य व्यापार, नियोजन और वाणिज्यदूतीय सम्बन्धी तीन समझौते किये गये। 29 नवम्बर, 1973 को भारत और रूस के बीच 15 वर्ष के लिए एक व्यापार समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत 1980 तक व्यापार में 150 से 200 प्रतिशत तक वृद्धि करने, कृषि, बिजली, उद्योग, तकनीकी प्रशिक्षण आदि अनेक क्षेत्रों में सहयोग देने का निर्णय लिया गया। 18 मई, 1974 को पोकरन में भारत द्वारा परमाणु विस्फोट किये जाने का सोवियत संघ ने स्वागत किया। भारत-सोवियत सहयोग की एक महान उपलब्धि 1975 में सामने आयी जब 19 अप्रैल, 1975 को भारत ने एक सोवियत प्रक्षेपण यन्त्र (Cosmodrons) के माध्यम से अपना पहला भू-उपग्रह 'आर्यभट्ट' अन्तरिक्ष में भेजा। जून 1976 में इन्दिरा गाँधी ने सोवियत संघ की 6 दिन की यात्रा की।

भारत-रूस सम्बन्ध (1980–1984)—श्रीमती गांधी की वापसी से बाद 11 फरवरी, 1980 को सोवियत विदेशमन्त्री ग्रोमिको अपनी तीन-दिवसीय यात्रा पर नई दिल्ली आये तथा भारतीय नेताओं के साथ अफगानिस्तान, पाकिस्तान व ईरान की घटनाओं पर विचार-विमर्श किया। दोनों देशों के बीच 11 फरवरी, 1980 को कृषि के क्षेत्र में वैज्ञानिक एवं तकनीकी सहयोग के समझौते पर भी हस्ताक्षर किये गये।[1] 20 मार्च, 1980 को सोवियत संघ व भारत के बीच 3 वर्षों के लिए विज्ञान एवं तकनीकी सहायता का एक समझौता हुआ।[2] मई 1980 में भारत व सोवियत संघ के बीच एक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत सोवियत संघ ने भारत को 13,000 करोड़ रुपये मूल्य की सैन्य सामग्री भेजना स्वीकार किया।[3] 8 दिसम्बर, 1980 को सोवियत राष्ट्रपति ब्रेझनेव 3-दिवसीय भारत यात्रा पर आये। दोनों देशों के नेताओं ने 11 दिसम्बर, 1980 को एक संयुक्त विज्ञप्ति पर हस्ताक्षर किये जिसमें दक्षिणी-पश्चिमी एशिया के देशों के आन्तरिक मामलों में बाहरी हस्तक्षेप की निन्दा की गयी। इस अवसर पर भारत व सोवियत संघ के बीच (i) आर्थिक व तकनीकी सहयोग, (ii) 1981-85 के लिए व्यापारिक समझौता, (iii) 1981-82 के लिए सांस्कृतिक, वैज्ञानिक व शैक्षणिक आदान-प्रदान समझौते पर हस्ताक्षर किये गये।[4] 20 सितम्बर, 1982 को भारतीय प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी 7-दिवसीय सोवियत संघ की यात्रा पर गयीं। इस यात्रा के परिणामस्वरूप भारत की सुरक्षा, पड़ोसी देशों से सम्बन्ध, एशियाई महाद्वीप में स्थायित्व व शान्ति, पश्चिमी एशिया व हिन्द महासागर के अतिरिक्त भारत की सुरक्षा, औद्योगिक विकास, तकनीकी आवश्यकता, व्यापार वृद्धि आदि प्रश्नों पर दोनों देशों के बीच आपसी समझ एवं सहयोग की सम्भावनाएँ बढ़ीं। सोवियत संघ ने भारत को न केवल विज्ञान; प्रौद्योगिकी, संस्कृति और कृषि आदि क्षेत्रों में सहयोग के निरन्तर विकास का आश्वासन दिया बल्कि हिन्द महासागर को शान्ति का क्षेत्र बनाने, अन्य देशों के मामलों में सब प्रकार का बाहरी हस्तक्षेप समाप्त करने और आपसी मतभेदों को वार्ता द्वारा हल करने पर भी जोर दिया।

---

1 *Asian Recorder*, March 11-16, 1980, p. 15356.
2 *Ibid.*, May 2-June 27, 1980, p. 15475.
3 *Ibid.*, July 8-14, 1980, p. 15545.
4 *Ibid.*, January, 8-18. 1981, pp. 15827-28.

ब्रेझनेव के निधन के बाद सोवियत साम्यवादी पार्टी के नये महासचिव यूरी आन्द्रोपोव ने भारतीय प्रधानमन्त्री को विश्वास दिलाया कि ब्रेझनेव द्वारा शुरू की गयी भारत के निकट सहयोग की नीति जारी रखी जायेगी। ज्ञातव्य है कि मई 1983 में भारत और सोवियत संघ ने आर्थिक, औद्योगिक तथा विज्ञान व तकनीकी क्षेत्र में आपसी सहयोग और विस्तार करने पर सहमति प्रकट की थी। खनिज तेल की खोज व खुदाई, कोयला खानों के विकास, परमाणु तथा ताप बिजलीघरों के निर्माण तथा उड़ीसा में एक नये इस्पात कारखाने के निर्माण में रूस ने सहयोग देने का प्रस्ताव किया था। जनवरी 1984 में दोनों देशों के बीच विज्ञान व तकनीकी क्षेत्र में सहयोग के लिए 3 वर्ष के लिए समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत सोवियत संघ ने भारत को ताप नाभिकीय ऊर्जा के क्षेत्र में सहायता देना स्वीकार किया। मार्च 1984 में सोवियत रक्षा मन्त्री मार्शल उस्तिनोव 5-दिवसीय यात्रा पर एक बड़े दल के साथ भारत आये। उन्होंने भारत की रक्षा आवश्यकताओं की पूर्ति का आश्वासन दिया। तदनुसार सोवियत संघ ने भारत को अत्याधुनिक लड़ाकू विमानों, प्रक्षेपास्त्रों, नवीनतम इलेक्ट्रोनिक जवाबी आक्रमण प्रणालियों, आधुनिक हथियारों तथा आधुनिक युद्धपोतों की आपूर्ति करने का निश्चय किया।

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि ब्रेझनेव के शासनकाल में भारत-रूस के बीच शान्ति और मैत्री सन्धि हुई, जो अपने आप में आपसी सहयोग का सरल आधार बन गयी। अफगानिस्तान में रूसी आधिपत्य को लेकर दोनों देशों के बीच पहली बार खुले तौर पर मतभेद उत्पन्न हुए, फिर भी आपसी सम्बन्धों में किसी भी तरह दोनों देशों के नेताओं ने कटुता पैदा न होने दी बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर अफगानिस्तान के प्रश्न पर रूस की आलोचना के मामले में भारत ने सदैव संयम बरतने पर बल दिया जिसकी ब्रेझनेव ने सराहना की। ब्रेझनेव के बाद आन्द्रोपोव तथा उसके बाद चेरनेंको के राष्ट्रपति बन जाने के बाद भी भारत-सोवियत सम्बन्धों में बराबर प्रगाढ़ता आयी।

जनता सरकार और भारत-रूस सम्बन्ध

जनतापार्टी के घोषणा पत्र में कहा गया था कि वह 'असली' गुट-निरपेक्षता की नीति का पालन करेगी। सत्तारूढ़ होने के बाद मोरारजी देसाई ने कहा था कि इन्दिरा गांधी के जमाने में विदेश नीति एक तरफ झुक गयी थी, इस 'झुकाव' को दूर करना ही 'असली' गुटनिरपेक्षता होगी।

29 जून, 1977 को लोकसभा में विदेश मन्त्री वाजपेयी ने कहा—"भारत को न केवल गुट-निरपेक्ष रहना चाहिए बल्कि वैसा दिखायी भी पड़ना चाहिए।" यह माना जाता था कि इन्दिराजी की नीति रूस की तरफ झुकी हुई दिखायी पड़ती थी और इस 'झुकाव' को ठीक करना ही 'असली' गुट निरपेक्षता है। रूसियों ने आपात-काल तथा इन्दिरा शासन का डटकर समर्थन किया था जो कि बाहरी राष्ट्र द्वारा किया गया अवांछित कार्य ही माना जायेगा।

कतिपय पश्चिमी अखबार यह अनुमान लगा रहे थे कि जनता सरकार सोवियत संघ की ओर से विमुख हो जायेगी, लेकिन सोवियत प्रधानमन्त्री कोसीगिन ने जनता पार्टी के नव नियुक्त प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई को न केवल बधाई का सन्देश भेजा अपितु दोनों देशों के सम्बन्धों में उत्तरोत्तर वृद्धि की आशा की। मार्च 1977 में जनता सरकार बनी और अप्रैल 1977 में सोवियत विदेशमन्त्री आन्द्रेई ग्रोमीको के भारत आने की भी घोषणा की गयी। ग्रोमीको ने जनता सरकार को न केवल दोस्ती के गुलदस्ते थमाये बल्कि भारत-सोवियत सम्बन्धों में प्रगाढ़तर होने की भी आशा की। भारत के विदेशमन्त्री वाजपेयी ने कहा कि भारत-सोवियत सम्बन्धों का भविष्य किसी व्यक्ति या पार्टी के भविष्य पर निर्भर नहीं है। ग्रोमीको ने भारत को 225 करोड़ रुपये का ऋण देने की भी घोषणा की। जून 1977 में अपनी पत्रकार परिषद् में मोरारजी देसाई ने दो टूक शब्दों में कह दिया कि भारत-सोवियत सन्धि को 'क्यों समाप्त किया जाये? उससे आपका क्या नुकसान है?' विदेशमन्त्री वाजपेयी ने लन्दन में रायल कामनवेल्थ सोसायटी को सम्बोधित

करते हुए कहा कि भारत-सोवियत सन्धि "किसी भी रूप में भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति के विरुद्ध नहीं है।"

प्रधानमन्त्री देसाई और विदेशमन्त्री वाजपेयी की अक्टूबर 1977 में सम्पन्न हुई मास्को यात्रा ने वह स्पष्ट कर दिया कि जनता सरकार सोवियत संघ में न केवल अपने सम्बन्ध सामान्य बनाये रखना चाहती है बल्कि उन्हें एक ऊँचे धरातल पर भी ले जाना चाहती है। क्रेमलिन के नेताओं ने प्रोटोकोल को दर किनार करके भारतीय नेताओं का इतना भावभीना स्वागत किया कि रहा-सहा मलाल भी धुल गया। ब्रेझनेव ने न तो सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त को थोपने की कोशिश की और न ही यह चाहा कि रूस के अन्तर्राष्ट्रीय नजरिये को भारत ज्यों-का-त्यों निगल ले। ब्रेझनेव ने आश्वस्त किया कि "सोवियत संघ इस बात का भरसक प्रयत्न करेगा कि हर दिशा में भारत से दोस्ती बढ़े। इस यात्रा के दौरान राजनीतिक मामलों में भी ज्यादा आर्थिक मामलों पर विचार-विमर्श हुआ और सहयोग के नये निर्णय हुए।"

प्रधानमन्त्री देसाई की मास्को यात्रा के बाद दोनों देशों के सम्बन्धों में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। न केवल रक्षा मन्त्री जगजीवनराम मास्को गये और उन्होंने सैन्य सहयोग बढ़ाने के बारे में रूसी नेताओं से बातचीत की बल्कि सितम्बर 1978 में विदेशमन्त्री वाजपेयी भी मास्को गये। वाजपेयी मास्को इसलिए गये कि नवम्बर में वे चीन जाने वाले थे। वाजपेयी ने रूसी नेताओं को आश्वस्त किया कि भारत-सोवियत मैत्री को चोट पहुँचाकर वे चीन से दोस्ती नहीं करेंगे।

वाजपेयी की इस यात्रा से स्पष्ट हो गया कि भारत को रूस का कितना ज्यादा ध्यान रखना पड़ रहा था। "वास्तव में 1978 के अन्तिम चरण में पहुँचते-पहुँचते जनता सरकार की नीतियों से यह स्पष्ट हो गया कि वह रूस के प्रति 'झुकाव' को ठीक करने की कितनी ही कोशिश करे उसे अन्य राष्ट्रों की तुलना में रूस को 'अति विशिष्ट' महत्व देना ही पड़ता है।"

यह सच है कि रूस को खुश करने के लिए भारत ने कम्पूचिया की हेंग सामरिन सरकार को मान्यता नहीं दी। कोसीगिन की भारत यात्रा के बाद जारी संयुक्त विज्ञप्ति में वियतनाम पर चीनी आक्रमण की आलोचना उतनी मात्रा में ही थी जितनी कि भारत पहले कर चुका था। इसके अलावा उन दिनों सोवियत नेता अफ्रीकी देशों को दी जा रही क्यूबाई सैन्य मदद की बात के लिए सर्वत्र समर्थन जुटाते फिर रहे थे लेकिन जनता सरकार ने अफ्रीका के मुक्ति संग्राम के समर्थन के बावजूद सैन्य कार्यवाही के बारे में संयुक्त विज्ञप्ति में एक शब्द भी नहीं कहा। इसी प्रकार अफगानिस्तान की क्रान्ति के बारे में भी संयुक्त विज्ञप्ति मौन ही रही। यों भी सितम्बर में वाजपेयी की काबुल यात्रा के दौरान यह स्पष्ट हो गया था कि दिल्ली-काबुल धुरी जैसी किसी धारणा का भारत समर्थन नहीं करता है।

यह ठीक है कि प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय मसले पर भारत रूस की हाँ में हाँ नहीं मिला सका, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि रूस के साथ भारत के रिश्तों में किसी प्रकार की शिथिलता आ गयी थी। वास्तव में कोसीगिन की यात्रा (मार्च 1979) के दौरान सांस्कृतिक, आर्थिक, वैज्ञानिक तथा तकनीकी सहयोग के पाँच समझौतों पर दस्तखत किये गये। रूस ने भारत को छह लाख टन तेल देने का वायदा भी किया तथा संयुक्त विज्ञप्ति में कहा गया कि दोनों पक्षों ने "दोनों देशों की जनता के हित में भारत-सोवियत सहयोग को और अधिक गहन बनाने का संकल्प किया।" 1000 करोड़ रुपये के भारत-सोवियत व्यापार को 1985 तक 3000 करोड़ रुपये तक बढ़ाने की योजना तथा जनवरी 1979 में सम्पन्न पारस्परिक शान्तिपूर्ण परमाणु सहयोग के समझौते से यह स्पष्ट हो जाता है कि जनता सरकार भारत-सोवियत सम्बन्धों को उस मुकाम से कहीं आगे बढ़ा ले गयी जहाँ इन्दिरा सरकार ने छोड़ा था।

मार्च 1979 में कोसीगिन भारत आये ही थे और फिर जून 1979 में ही मोरारजी अपने विदेश मन्त्री सहित फिर से मास्को पहुँच गये। ब्रेझनेव ने प्रोटोकोल को दरकिनार कर देसाई का भावभीना स्वागत किया। उन्हें 'एशिया का विशिष्ट राजनीतिज्ञ' कहा गया। उनके सामने प्रस्ताव रखा कि अगले दशक में भारत-सोवियत अन्तरिक्ष सहयोग कार्यक्रम के अन्तर्गत सोवियत के साथ-साथ एक भारतीय अन्तरिक्ष यात्री भी उड़े। विशाखापत्तनम में 30 लाख टन की क्षमता का इस्पात कारखाना खोलने के लिए रूस ने लगभग 25 करोड़ रूबल का ऋण देने की घोषणा की तथा बोकारो और भिलाई कारखानों की क्षमता बढ़ाने का भी समझौता हुआ। पहले ही 'आर्यभट्ट' और 'भास्कर' उपग्रहों को पारस्परिक सहयोग से अन्तरिक्ष में भेजा गया था तथा व्यापार की मात्रा में अपूर्व वृद्धि का लक्ष्य बनाया गया था। अब सोवियत संघ ने भारत को पहले से भी ज्यादा सहायता देने का संकल्प प्रकट किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि अफगानिस्तान के मामले में जनता सरकार सोवियत दृष्टिकोण के अत्यधिक निकट पहुँच गयी। भारत सरकार उन सरकारों में से थी जिन्होंने 'खल्की' सरकार को तुरन्त मान्यता दी थी और सितम्बर 1978 में अपने विदेश मन्त्री को काबुल भेजा था। 'खल्की' सरकार के बारे में सोवियत संघ के स्वर में स्वर मिलाना क्या इस बात का सबूत नहीं है कि जनता सरकार, इन्दिरा सरकार की भाँति अपने अन्तिम दिनों में रूस की तरफ झुकती-सी दिखायी पड़ने लगी थी? डॉ० वेदप्रताप वैदिक लिखते हैं, "इसका मतलब यह नहीं कि जनता सरकार गुटनिरपेक्षता के मार्ग से विचलित हो गयी थी। यहाँ मुझे केवल यही कहना है कि उसकी गुटनिरपेक्षता और इन्दिरा सरकार की गुटनिरपेक्षता में कोई खास अन्तर नहीं था।"[1]

राजीव गाँधी और भारत-रूस सम्बन्ध—युवा प्रधानमन्त्री राजीव गांधी भारत-रूस सम्बन्धों की प्रगाढ़ता में विश्वास करते हैं। प्रधानमन्त्री बनने के बाद मई 1985 में उन्होंने गोर्बाच्योव के निमन्त्रण पर 6 दिन की सोवियत संघ की यात्रा की। इस यात्रा के परिणामस्वरूप भारत और सोवियत संघ की परम्परागत मैत्री सुदृढ़ हुई। इस अवसर पर जारी संयुक्त विज्ञप्ति में दोनों नेताओं ने मानवता को आणविक विनाश से बचाने के लिए आणविक अस्त्रों को पूरी तरह नष्ट करने और बाह्य अन्तरिक्ष का, सैन्यीकरण तुरन्त रोकने की अपील की। दोनों पक्षों ने हिन्द महासागर से सभी सैनिक अड्डे हटाने का समर्थन और दक्षिणी-पश्चिमी, पूर्व एशिया में सभी तरह के बाहरी हस्तक्षेप का विरोध किया। रंगभेद की नीति के लिए दक्षिण अफ्रीका सरकार की भर्त्सना करते हुए दोनों देशों ने नामीबिया की स्वतन्त्रता का समर्थन किया। अक्टूबर 1985 में प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी ने अचानक हॉलैण्ड से मास्को की यात्रा की। अचानक मास्को यात्रा से देश-विदेश में अटकलों का बाजार जरूर गर्म हुआ किन्तु इससे रूस के साथ हमारी अनौपचारिक राजनय की गहराई का संकेत मिलता है। दिसम्बर 1986 में गोर्बाच्योव की भारत यात्रा कई अर्थों में एक ऐतिहासिक घटना कही जायेगी। इससे दोनों देशों के मैत्री सम्बन्ध और अधिक मजबूत हुए। 'दिल्ली घोषणापत्र' में निम्नलिखित बातें सम्मिलित थीं:

1. रूस भारत के लिए उच्च तकनीकी व वैज्ञानिक अनुसन्धान के क्षेत्र में अपने सभी दरवाजे खोल देगा।
2. भारत में अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र स्थापित करने में रूस पूरी मदद देगा।
3. 'अवाक्स' की टक्कर के नये सोवियत लड़ाकू विमान भारतीय वायुसेना को मिलेंगे, साथ ही अन्य आधुनिक पनडुब्बियाँ तथा हथियार भी जल्दी दिये जायेंगे।

---

[1] डॉ० वेदप्रताप वैदिक : **भारतीय विदेश नीति**, 1980, पृ० 75।

4. सोवियत संघ 20 अरब रुपये की नई आर्थिक मदद देगा और छह वर्षों में भारत के साथ अपना व्यापार चौगुना बढ़ायेगा। इस कर्ज का सबसे बड़ा आकर्षण यह है कि व्याज की दर केवल ढाई प्रतिशत होगी और इसका भुगतान 17 वर्षों में किया जायेगा।

सोवियत संघ भारत को परमाणु ईंधन से चालित अत्याधुनिक पनडुब्बियाँ और अत्यन्त शक्तिशाली एवं नवीनतम लड़ाकू विमान मिग-31 देने को तैयार हो गया। भारत तीसरी दुनिया का पहला देश होगा, जिसे परमाणु ईंधन चालित नवीनतम पनडुब्बियाँ प्राप्त हो सकेंगी।

21 नवम्बर, 1987 को रूस व भारत के प्रधानमन्त्रियों की उपस्थिति में नई दिल्ली में रंगारंग सोवियत महोत्सव आरम्भ हुआ। भारत में एक वर्ष चलने वाले सोवियत महोत्सव के दौरान 2,400 से अधिक कलाकारों ने 57 टोलियों में करीब 162 शहरों का दौरा किया।

सोवियत समारोह के सिलसिले में रूसी प्रधानमन्त्री एन० आई० रिझकोव की भारत यात्रा के समय भारत और सोवियत संघ के बीच आर्थिक, वैज्ञानिक व सांस्कृतिक सहयोग को और व्यापक बनाने पर ध्यान दिया गया। कई नये समझौते हुए जिनमें आर्थिक और तकनीकी सहयोग के लिए भी एक समझौता शामिल था जिस पर प्रधानमन्त्री राजीव गांधी व सोवियत प्रधानमन्त्री ने हस्ताक्षर किये थे। इस समझौते के अन्तर्गत भारत को सोवियत संघ से 1150 करोड़ रुपये का ऋण प्राप्त होगा। दोनों देशों के अधिकारियों के बीच जो व्यापार समझौता हुआ उसमें कहा गया कि सन् 1988 में दोनों देशों के बीच व्यापार 4 हजार करोड़ के बजाय 5 हजार करोड़ का होगा।

शिक्षा के क्षेत्र में नया सहयोग हुआ है हालांकि यह मामूली स्तर का है। दोनों देशों के बीच एक-दूसरे की शिक्षण संस्थाओं की डिग्रियों व डिप्लोमा को मान्यता देने का फैसला स्वागत योग्य है। इस समझौते की वजह से दोनों देशों के छात्रों व विद्वानों के आदान-प्रदान में मदद मिलेगी और सांस्कृतिक व तकनीकी क्षेत्र में आपसी सहयोग को बढ़ावा मिलेगा।

सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाच्योव की भारत यात्रा (नवम्बर 1988) और आर्थिक रिश्तों पर जोर

नवम्बर 1988 में सोवियत राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाच्योव की तीन दिन की नई दिल्ली यात्रा से दोनों देशों को अपने वर्षों पुराने सम्बन्ध मजबूत बनाने और आपसी सहयोग बढ़ाने का एक और अवसर मिला। गोर्बाच्योव को भारत की ओर से 'इन्दिरा गांधी शान्ति पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। गोर्बाच्योव की इस यात्रा से एक बात जरूर स्पष्ट हुई है कि भारत-सोवियत रिश्तों में हल्का-सा बदलाव आ चुका है। ये सम्बन्ध आज की वास्तविकताओं और तेजी से बदल रहे अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य पर आधारित हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि राजनैतिक रिश्ते तो यथावत् रहेंगे, अब ज्यादा जोर आर्थिक मामलों पर दिया जायेगा।

इस यात्रा में हुए व्यापक आर्थिक समझौतों से इसकी झलक मिलती है। रूसियों ने भारत को अब तक का सबसे ज्यादा कर्ज (3·2 अरब रूबल) दिया है। मुख्य ध्यान अब परम्परागत क्षेत्रों के बजाय परमाणु व तापीय ऊर्जा, अन्तरिक्ष विज्ञान, तकनीक, नागरिक उड्डयन और पेट्रो रसायन के क्षेत्रों में सहयोग पर दिया जा रहा है। एक अधिकारी का कहना है, "भारत को आत्मनिर्भर बनाने के लिए रूसी दृढ़संकल्प दिखते हैं।"

गोर्बाच्योव की इस यात्रा के दौरान सोवियत संघ 1,000 मेगावाट के दो भीमकाय परमाणु ऊर्जा संयन्त्र भारत में लगाने पर भी सहमत हो गया है।

भारत-रूस व्यापार की समस्या

भारत और सोवियत संघ के बीच व्यापार की दिशा में कई बाधाएँ आयी हैं। सोवियत संघ से भारत की परियोजनाओं के निर्यात में बहुत कमी आने की वजह से व्यापार सन्तुलन भारत

के पक्ष में रहा है। रुपयों में भुगतान के आधार पर दोनों देशों के बीच होने वाले व्यापार का सन्तुलन हर वर्ष भारत, सोवियत संघ को व्याज मुक्त ऋण देकर करता है। भारत जैसे गरीब और अर्द्ध-विकसित देश और एक विकसित व समाजवादी देश सोवियत संघ के बीच ऐसे व्यापारिक सम्बन्ध स्वीकार नहीं किये जा सकते हैं। भारतीय कृषि से सम्बन्धित कच्चे माल व नये उद्योगों के उत्पादन को सोवियत संघ को निर्यात करने से हालात और बिगड़े ही है।

सत्तर के दशक के शुरू में विश्वव्यापी तेल संकट की वजह से हुई क्रूड आयल व उसके उत्पादों के भावों में वृद्धि नहीं हुई होती तो भारत-सोवियत व्यापार में बिल्कुल ही बढ़ोत्तरी नही होती। पिछले दो वर्षों में तेल की कीमतों में आयी भारी गिरावट से हालात और बिगड़े हैं। में हाल ही तेल के मूल्यों में पुन: जो उछाला आया है उससे भारत-सोवियत व्यापार में कुछ सुधार हो सकता है। इसके बावजूद दोनों देशों के बीच व्यापार में कमी आयी है। 3 वर्ष पूर्व दोनों देशों के बीच 4 हजार करोड़ रुपये का व्यापार होता था वह 1986 में कम होकर 3600 करोड़ रुपये रह गया। सोवियत संघ में भारत से निर्यात, आयात के मुकाबले 600 करोड़ रुपये ज्यादा था। यह भी इसलिए हुआ कि भारत भुगतान असन्तुलन को अपने पक्ष में कम करना चाहता था और इसलिए उसने देश में उर्वरक के उत्पादन को कम करके सोवियत संघ से ज्यादा आयात किया। लेकिन सोवियत संघ ने भारत से आयात में कटौती करने में थोड़ी भी झिझक नहीं की और नतीजा यह निकला कि सोवियत संघ को निर्यात के लिए जिन चीजों के कारखाने भारत ने स्थापित किये थे उन्हें बन्द करना पड़ा।

भारत-सोवियत आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देने के लिए पिछले कई वर्षों से यह चर्चाएँ होती रही हैं कि जो चीज जिस देश में सुलभ है और दूसरे देश को भेजी जा सकती है उसका उत्पादन वहीं किया जाय। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से और तीसरी दुनिया के देशों के हित मे ऐसा श्रम विभाजन फायदेमन्द हो सकता है। लेकिन इस दिशा में कोई प्रगति नहीं हो पायी है।

जहाँ तक भारत को 1150 करोड़ रुपये के ऋण की घोषणा का सवाल है यह ऋण पिछले दो दशकों में घोषित 4000 रुपये के ऋण के अलावा है। इसमें से भी भारत केवल अब तक 800 करोड़ रुपये का ही उपभोग कर पाया है। रूबल में मिले ऋण से केवल सोवियत रूस में बनी वस्तुएँ ही खरीदी जा सकती हैं और वह भी विशेषकर ऐसी परियोजनाओं के लिए जो बड़े आकार की होती हैं। इन ऋणों का उद्देश्य निर्यात सम्वर्द्धन है। निर्यात सम्वर्द्धन के लिए दिये गये ऋणों से उन्हें प्राप्त करने वाले देश की सौदेबाजी की क्षमता कम होती है। आवश्यकता इस बात की है कि तेजी के साथ वर्तमान व्यापार को भारत और सोवियत संघ सन्तुलित करने का प्रयास करें ताकि दोनों देशों को लाभ हो सके। इस सन्दर्भ मे ऐसे रास्ते खोजना आवश्यक है ताकि दोनों देशों के बीच रुपये के आधार पर चल रहा व्यापार सन्तुलित रहे।

शुरू-शुरू में सोवियत रूस के ऋणों की भूमिका सकारात्मक थी और आर्थिक दृष्टि से भारत-सोवियत व्यापार एक-दूसरे का पूरक था। पचास के दशक में भारत में औद्योगीकरण का युग शुरू ही हुआ था, उस समय भारत आयात के मुकाबले निर्यात नहीं कर सकता था। तब सोवियत रूस की मदद से उत्पादन क्षमताएँ बढ़ायी गयीं, खास तौर से भारी इंजीनियरिंग के क्षेत्र में काफी प्रगति हुई, लेकिन उसके बाद हालात बहुत बदल गये हैं। भारी मशीनरी और उपकरणों का सोवियत रूस से आयात अब भारत के लिए उपयोगी नहीं रह गया है, इसलिए भारत-सोवियत व्यापार के स्वरूप और भुगतान सन्तुलन में भी परिवर्तन आया है।

सोवियत संघ को भारतीय वस्तुओं का निर्यात काफी बढ़ा है और भुगतान सन्तुलन भारत के पक्ष में हो गया है। भारत-सोवियत व्यापार के समक्ष अब जो प्रमुख समस्या है उसे ऋणों का प्रस्ताव देकर दरगुजर नहीं किया जा सकता। सन् 1987 में सोवियत संघ ने भारत के साथ

अपना व्यापार सन्तुलित करने के लिए भारतीय निर्यात को कम करने में ही योगदान किया; लेकिन भारत अब ऐसी स्थिति में है कि वह सोवियत रूस के साथ आयात-निर्यात व्यापार को सन्तुलित रख सके। भारत-सोवियत व्यापार को बहुपक्षीय बनाना होगा। सोवियत रूस भी भारत के साथ व्यापार की समस्याओं से परिचित है और वह भारत की प्रगति को भी समझता है। इस सन्दर्भ में सोवियत रूस के प्रधानमन्त्री की भारत के औद्योगिक और व्यावसायिक संगठनों के प्रतिनिधियों से बातचीत बहुत ही उपयोगी रही। उन्होंने साफ-साफ यह बता दिया कि भारत को सोवियत-रूस से अधिक आयात करना पड़ेगा ताकि दोनों देशों के बीच व्यापार सन्तुलित हो जाय। लेकिन सोवियत-रूस द्वारा भारत में अपनी भारी इंजीनियरिंग मशीनों के लिए बाजार की तलाश के कारण भारत में भी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। सोवियत-रूस पूरे के पूरे संयन्त्र निर्यात करता है जिनकी गुणवत्ता, मूल्य और विपणन की अपनी समस्याएँ हैं। सोवियत रूस के वाणिज्यिक अधिकारियों को अब यह बात समझनी होगी कि भारतीय बाजार में प्रतिस्पर्द्धा के आधार पर ही वे अपने माल का निर्यात कर पायेंगे।

भारत-रूस सम्बन्धों की विशेषताएँ

जवाहरलाल नेहरू से वी० पी० सिंह तक और उधर स्टालिन से लेकर गोर्बाच्योव तक भारत-रूस सम्बन्धों का वस्तुगत विश्लेषण करने पर निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—

1. **निरन्तर मित्रता**—भारत-रूस सम्बन्धों का इतिहास कतिपय छुट-पुट घटनाओं को छोड़कर निरन्तर मित्रता और घनिष्ठता का रहा है। क्या उद्योग, क्या व्यापार, क्या विज्ञान, क्या अन्तरिक्ष, क्या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति सभी क्षेत्रों में दोनों देशों के सम्बन्ध अटूट मित्रता के बनते चले जा रहे हैं। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने ठीक ही कहा था कि 'भारत-सोवियत सम्बन्ध अवसरवादी नहीं हैं। उनका आधार है हम दोनों की यह स्पष्ट और यथार्थवादी समझ कि हम दोनों के लिए हितकर क्या है।' भूतपूर्व प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई के अनुसार "मैत्री सम्बन्धों का स्थायी चरित्र यही है कि हम बराबरी के आधार पर एक-दूसरे के नजदीक आये हैं।'

2. **समान दृष्टिकोण**—भारत और रूस में विभिन्न शासन पद्धतियों एवं भिन्न विचारधारा के बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर उनके दृष्टिकोण में अनूठी समानता पायी जाती है। उदाहरणार्थ, उपनिवेशवाद के उन्मूलन, नस्लवाद की समाप्ति, निरस्त्रीकरण, आणविक शस्त्रों, निषेधाधिकार आदि के प्रश्नों पर दोनों के विचार प्रायः समान हैं। दोनों देश अमरीका के 'स्टार वार्स' कार्यक्रम और अन्तरिक्ष के सैन्यीकरण के विरोधी हैं।

3. **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों पर भिन्न दृष्टिकोण आपसी सम्बन्धों में कटुता उत्पन्न नहीं करते**—ऐसी भी नहीं है कि समस्त अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं और मुद्दों पर भारत व रूस के विचार मिलते हों। दोनों देशों के घनिष्ठ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के बावजूद कतिपय समस्याओं पर दोनों के विचार एकदम भिन्न हैं। उदाहरणार्थ, जब 1950 में कोरिया के प्रश्न पर पश्चिमी शक्तियों की भांति भारत ने उत्तरी कोरिया को आक्रामक घोषित किया; जब 1956 में हंगरी और 1968 में चेकोस्लोवाकिया में रूसी हस्तक्षेप की भारत ने निन्दा की; जब 1968 में रूस ने पाकिस्तान को हथियार देने का निश्चय किया और जब 1970 में सोवियत विश्वकोष में छपे नक्शों में नेफा और अकसाई चीन को चीन का हिस्सा बताया गया तो दोनों देशों में विचारों की भिन्नता हुई। परन्तु दृष्टिकोणों की इस भिन्नता ने दोनों के सम्बन्धों को कभी दूषित नहीं किया।

4. **संकट का साथी**—सोवियत रूस भारत का संकट का साथी है और उसकी दोस्ती परखी हुई दोस्ती है। चाहे कश्मीर का प्रश्न रहा हो या गोआ का प्रश्न, चाहे तेल संकट से उबरने का हो या आर्थिक विकास का, सभी स्थितियों में सोवियत संघ ने भारत का साथ दिया है। सन् 1962 में चीनी आक्रमण के समय रूस ने दोस्त भारत की सहायता हेतु साम्यवादी बिरादरी

के सदस्य चीन पर युद्ध बन्द करने के लिए दबाव ही नहीं डाला बल्कि भारत को मिग विमान भी प्रदान किये और उनके निर्माण के लिए भारत में एक कारखाना स्थापित करने के लिए आर्थिक और तकनीकी सहायता भी प्रदान की। 1965 के भारत-पाक युद्ध के समय जब चीन ने 16 सितम्बर, 1965 को भारत को तीन दिन की 'अन्तिम चेतावनी' दी तो सोवियत संघ ने उसे चेतावनी दी कि वह भारत-पाकिस्तान विवाद में हस्तक्षेप करके स्थिति को बिगाड़ने का प्रयास न करे। 1971 में जब सहायतार्थ हेतु अमरीकी सप्तम बेड़ा बंगाल की खाड़ी की ओर रवाना हुआ तो प्रक्षेपास्त्रों से युक्त रूसी युद्धपोतों को भी हिन्द महासागर की ओर बढ़ने के आदेश दे दिये गये। संक्षेप में, रूस ने संकटकाल में हमेशा भारत का साथ दिया है।

5. **आर्थिक-तकनीकी सहयोग**—रूस ने भारत के औद्योगिक विकास में आर्थिक और तकनीकी सहायता दी है। तीसरी दुनिया के देशों में स्थापित 870 प्रमुख परियोजनाओं में से, जिनके लिए रूस सहायता दे रहा है, 80 परियोजनाएँ भारत में स्थित हैं। सोवियत सहायता से स्थापित परियोजनाओं में हमारी विद्युत शक्ति का 20 प्रतिशत, इस्पात का 30 प्रतिशत, तेल रिफायनरी का 35 प्रतिशत, तेल निष्कर्षण का 60 प्रतिशत और तेल (भारी) मशीनरी का 80 प्रतिशत उत्पादन होता है। भारत के मूल उद्योगों में भिलाई इस्पात का कारखाना रूस के सहयोग का प्रतीक है, बोकारो इस्पात कारखाने में भी रूस ने सहयोग प्रदान किया है। रांची का भारी मशीन कारखाना, हरिद्वार का भारी बिजली का कारखाना, ऋषिकेश और हैदराबाद में स्थापित ऐण्टीबायटिक कारखाने, राजस्थान की सूरतगढ़ फार्म की यान्त्रिक खेती रूसी सहयोग के अन्य उदाहरण हैं।

नवम्बर 1986 में गोर्बाच्योव की भारत यात्रा ने भारत-सोवियत आर्थिक रिश्तों में एक नया आयाम जोड़ा है। अभी तक सोवियत संघ केवल सरकारी क्षेत्र में ही दखल करता था। अब वह बड़े पैमाने पर भारतीय निजी क्षेत्र से हाथ मिलाने को तैयार है। भारत-रूस व्यापार में भी निरन्तर वृद्धि होती रही है। हाल ही में दोनों देशों में द्विपक्षीय व्यापार बहुत तेजी से बढ़ा और 1988 में यह 5200 करोड़ रुपये तक पहुँच गया। वर्ष 1989 की व्यापार योजना में 7000 करोड़ का लक्ष्य निर्धारित किया गया था।

भारत-रूस सम्बन्धों में मतभेद के बिन्दु

यह कहा जाता है कि भारतीय विदेश नीति रूस की ओर झुकी हुई है और इस मान्यता के समर्थन में प्रायः संयुक्त राष्ट्र में हुए उन मतदानों की गिनती का उल्लेख किया जाता है जब भारत ने सोवियत संघ के साथ मतदान किया था। लेकिन यह नहीं बताया जाता कि वे कौन से मामले थे जिन पर भारत ने रूस के साथ मतदान किया। वे मामले इस प्रकार थे—दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद, पुर्तगाली उपनिवेशवाद, विदेशी सैनिक अड्डे समाप्त करना, इजराइल की आक्रामक नीति पर लगाम लगाना, निरस्त्रीकरण, परमाणु परीक्षण रोकना आदि। इन सभी मामलों पर यदि भारत की नीति रूसी दृष्टिकोण से मेल खाती है तो इससे भारत रूस का पिछलग्गू नहीं हो जाता है।

भारत-रूस सम्बन्धों की विशेषता यह है कि सोवियत रूस से सभी प्रकार की सहायता लेते हुए भी भारत ने अपनी सम्प्रभुता एवं हितों को कभी भी दाँव पर नहीं लगाया। भारत ने अनेक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों पर अपनी स्वतन्त्र नीति का अनुसरण किया। उदाहरणार्थ, प्रथम, 1974 का अणु परीक्षण भारतीय नीति की स्वतन्त्रता का द्योतक है; द्वितीय, ब्रेझनेव द्वारा प्रतिपादित एशियाई सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा को भारत ने अंगीकार नहीं किया; तृतीय, भारत ने संयुक्त राष्ट्र महासचिव पद के लिए रूस के ट्रोइका प्रस्ताव को कभी स्वीकार नहीं किया; चतुर्थ, रुपया-रूबल विनिमय दर को लेकर भी दोनों देशों में मतभेद रहे; पंचम, भारत सरकार ने

अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप को कभी पसन्द नहीं किया। भारत चाहता था कि रूसी सेनाएँ अफगानिस्तान से वापस लौट जायें; इसी प्रकार भारत ने गोर्बाच्योव के 22 जुलाई, 1986 के एशिया-प्रशान्त सुरक्षा प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया।

संक्षेप में, भारत सोवियत संघ की मित्रता का प्रशंसक होते हुए भी वह उस पर अपनी निर्भरता को कम करना चाहता है। इसी कारण भारत ने रूस के अतिरिक्त अन्य यूरोपीय देशों से हथियार खरीदने का निर्णय लिया और साथ ही रक्षा के क्षेत्र में आत्मनिर्भर होने का लक्ष्य निर्धारित किया। इसी परिप्रेक्ष्य में भारत ने ब्रिटेन से जगुआर विमान, फ्रांस से मिराज, जर्मनी से पनडुब्बियाँ और स्वीडन से बोफोर्स तोपें लेने का प्रयास किया। आजकल भारत चीन से भी सम्बन्धों को सामान्य बनाने के लिए प्रयत्नशील है।

भारत की परमाणु नीति
(INDIA'S NUCLEAR POLICY)

परमाणु निःशस्त्रीकरण की दिशा में सन् 1968 की 'अणु प्रसार सन्धि' (Non-Proliferation Treaty) एक महत्वपूर्ण दस्तावेज मानी जाती है। लेकिन भारत ने इस अप्रधुरण (नॉन-प्रोलिफरेशन) सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। इसके लिए भारत ने दो मुख्य तर्कों को अपना आधार बनाया, पहला तर्क यह था कि इस सन्धि में इस बात को कोई व्यवस्था नहीं की गयी है कि चीन की परमाणु शक्ति से भारत की सुरक्षा किस प्रकार सुनिश्चित हो सकेगी और दूसरा तर्क यह था कि इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने का अर्थ यह होता है कि भारत अपने विकसित परमाणु अनुसन्धान के आधार पर परमाणु शक्ति का शान्तिपूर्ण उपयोग नहीं कर सकता था। दूसरे तर्क का यह महत्व 18 मई, 1974 को और भी खुलकर हमारे सामने आया, जबकि भारत ने शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए एक भूमिगत परमाणु परीक्षण (पोकरण) किया। यह परमाणु विस्फोट इसलिए किया था कि भारत को यह जानकारी हो सके कि परमाणु शक्ति के क्या-क्या शान्तिपूर्ण उपयोग हो सकते हैं और परमाणु शक्ति की सहायता से भारत अपने विकास कार्यों को किस प्रकार आगे बढ़ा सकता है? इस विस्फोट से भारत के किसी भी उस वचन का खण्डन नहीं हुआ जो भारत समय-समय पर परमाणु शक्ति के उपयोग के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय को देता है। पहली बात तो यह है कि मास्को परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि (1963) में भी भूमिगत परीक्षणों पर कोई रोक नहीं लगायी है और इसलिए भारत को इस बात के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता कि उसने मास्को सन्धि पर हस्ताक्षर करके भी उस सन्धि का अतिक्रमण किया है। दूसरी बात यह है कि परमाणु परीक्षण करने के बाद भारत ने यह बात बिल्कुल साफ कर दी थी कि भारत अपनी परमाणु शक्ति का उपयोग परमाणु अस्त्र बनाने में कभी नहीं करेगा।

फिर भी भारत के परमाणु विस्फोट के विरुद्ध पाकिस्तान जैसे कुछ गिने-चुने देशों ने रोष प्रकट किया। परन्तु सोवियत संघ, यूगोस्लाविया, फ्रांस और अनेक विकासशील देशों ने अलग-अलग कारणों से भारत के परमाणु विस्फोट का स्वागत किया।

भारतीय विस्फोट का सबसे बड़ा महत्व यह है कि इससे परमाणु शक्ति पर वर्षों से चले आ रहे महाशक्तियों के एकाधिकार को आघात पहुँचा। इसके अतिरिक्त, इस विस्फोट का यह महत्व भी है कि भारत के परमाणु समुदाय में दाखिल होने से परमाणु राष्ट्र की एक नयी श्रेणी का जन्म हुआ। अब तक जो परमाणु देश रहे उन सभी देशों ने विध्वंसक हथियारों का निर्माण करने में अपनी शक्ति का उपयोग किया परन्तु भारत किसी भी स्थिति में शस्त्र निर्माण के लिए परमाणु शक्ति का उपयोग करने के पक्ष में नहीं है। यह सच है कि महाशक्तियाँ भी समय-समय पर परमाणु ऊर्जा के शान्तिपूर्ण उपयोग की आवश्यकता पर जोर देती रही हैं। उनकी यह प्रवृत्ति रही है कि परमाणु ऊर्जा के क्षेत्र में किये जाने वाले अनुसन्धान की सम्पूर्ण प्रक्रिया पर उनका

एकाधिकार बना रहे ताकि यदि विकासशील देश शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए परमाणु शक्ति का उपयोग करना चाहें तो भी उन्हें महाशक्तियों पर आश्रित रहना पड़े।

यह कहना कठिन है कि शस्त्र निर्माण के लिए परमाणु ऊर्जा का उपयोग न करके अपने वचन पर भारत कब तक ज़मा रहेगा? परन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत द्वारा परमाणु अस्त्र न बनाने के निर्णय से अप्रचुरण सन्धि के मूल उद्देश्यों की वास्तविक रूप में सिद्धि की सम्भावना बढ़ जाती है। यदि हम परमाणु ऊर्जा के शान्तिपूर्ण और गैर-शान्तिपूर्ण उपयोग के भेद को ध्यान में रखें तो यह बात और भी अच्छी तरह समझी जा सकती है। जब हम अप्रचुरण की बात करते हैं तो हमारा आशय यह होता है कि परमाणु ऊर्जा के गैर-शांन्तिपूर्ण उपयोग पर रोक लगायी जाये। भारत ने जो परमाणु विस्फोट किया उससे विश्व समाज के सामने निरस्त्रीकरण की समस्या का एक नया आयाम उभर कर आया है और वह यह है कि यदि हम परमाणु अनुसन्धान केवल शान्तिपूर्ण उद्देश्यों को ही ध्यान में रखकर करें तो शस्त्र नियन्त्रण और अप्रचुरण की समस्या स्वतः हल हो जायेगी। अप्रचुरण का अर्थ यह नहीं है कि महाशक्तियों के अतिरिक्त किसी अन्य देश को परमाणु ऊर्जा के बारे में कोई जानकारी नहीं होनी चाहिए। अप्रचुरण का वास्तविक अर्थ यह है कि किसी देश के पास परमाणु अस्त्रों का कोई भण्डार न हो। अतएव यह कहा जा सकता है कि यद्यपि भारत ने अप्रचुरण सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किये हैं, परन्तु फिर भी उसने इस सन्धि के मुख्य उद्देश्य को इस आधार पर बढ़ावा दिया है कि परमाणु अनुसन्धान का प्रयोग केवल शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए ही करना चाहिए।[1]

भारत को अणु बमों का निर्माण करना ही चाहिये। बमधारी भारत यदि निरस्त्रीकरण की मुहिम चलायेगा तो उसकी आवाज में ज्यादा ताकत होगी। पोखरन अन्तःविस्फोट ने ही भारत की छवि इतनी चमका दी तो बम के राजनीतिक लाभ कितने होंगे, कहने की जरूरत नहीं है। बम वह अकेली कुंजी है जो विदेश नीति के अनेक तालों को एक साथ खोल देगी। पड़ोसी देशों के लिए बम शान्ति और सद्भाव का सन्देशवाहक सिद्ध होगा, क्योंकि वह भारत की वैज्ञानिक और तकनीकी क्षमता का नगाड़ा पीट देगा। यह वह क्षमता है, जिसके कारण हजारों भारतीय विशेषज्ञ अफ्रो-एशियाई देशों में ससम्मान आमन्त्रित किये जायेंगे। संयुक्त राष्ट्र-संघ, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन, राष्ट्रकुल आदि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में भी भारत का ओहदा रातों-रात ऊँचा उठ जायेगा।[2]

वस्तुतः भारत को अणुबम के निर्माण के प्रति अपनी नीति स्पष्ट करनी चाहिए, जो पाकिस्तान के अणुबम बनाने से स्वतन्त्र हो। चीन ने 1964 में अणुबम का प्रथम विस्फोट किया और आज दो दशक बाद उसने हाइड्रोजन बम और प्रक्षेपास्त्र भी बना लिये हैं। फिर भी भारत सरकार ने चीन के अणुबम बनाने पर कोई आवाज नहीं उठायी और उठायी भी तो धीमे स्वर में। चाहे भारत अणुबम बनाने का फैसला करे या हमेशा के लिए इस इरादे को छोड़ दे, दोनों ही हालत में उस निर्णय को पाकिस्तान से जोड़ना बन्द करना चाहिए। अगर भारत सरकार को चीन के आणविक हथियारों से सम्पन्न होने के बावजूद बम बनाने की आवश्यकता महसूस नहीं हुई तो पाकिस्तान के कारण तो और भी नहीं होनी चाहिए।[3]

---

1 महेन्द्र कुमार, **अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष** (आगरा, 1984), पृ० 469-70।

2 वेद प्रताप वैदिक, **भारतीय विदेश नीति** (नई दिल्ली, 1980), पृ० 100-112।

3 डॉ० परिमलकुमार दास, 'हमारी विदेश नीति अभी वयस्क नहीं हुई है', **दिनमान**, 17-23 नवम्बर, 1985, पृ० 12।

भारतीय विदेश नीति का मूल्यांकन
(EVALUATION OF INDIA'S FOREIGN POLICY)

भारत की विदेश नीति प्रारम्भ से ही आलोचना और निन्दा का शिकार रही है। इसके प्रशंसकों ने जहाँ इसे सैनिक और आर्थिक दृष्टि से कमजोर होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत का गौरव और प्रतिष्ठा बढ़ाने वाली और राष्ट्रीय हितों को पूर्ण करने वाली बताया है वहाँ पर इसके आलोचकों ने इसे निरा शान्ति का ढोंग करने वाली बताकर उसे राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल चित्रित किया है। निम्नलिखित तर्कों के आधार पर हमारी विदेश नीति की आलोचना की जा सकती है :

1. **राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा में असफल**—ए० डी० गोरवाला का कथन है कि "विदेश-नीति का लक्ष्य राष्ट्रीय हितों को सुरक्षित करना और बढ़ाना है। सबसे बड़ा हित राष्ट्र की अखण्डता की रक्षा करना है। इसमें हमारी विदेश नीति विफल सिद्ध हुई है।" हमारी विदेश नीति हमारे स्थायी और दूरगामी राष्ट्रीय हितों—जैसे देश की सीमाओं की रक्षा करने में समर्थ सिद्ध नहीं हुई है। आज भी चीन और पाकिस्तान ने हमारा सैकड़ों वर्ग मील का प्रदेश दबा रखा है और हमारी विदेश नीति उसे मुक्त नहीं करा सकी है।

2. **गुट-निरपेक्षता एक दिखावा है**—कतिपय आलोचकों का कहना है कि भारत की गुट-निरपेक्षता कोरा ढोंग है। वस्तुतः हम कभी अमरीका और पश्चिमी देशों की तरफ अधिक झुके हैं तो कभी साम्यवादी देशों की तरफ। स्वाधीनता के तुरन्त बाद हमारा झुकाव पश्चिमी गुट की तरफ था तो इन्दिरा युग में हमारा झुकाव सोवियत रूस की तरफ अधिक था। डॉ० वेदप्रताप वैदिक के शब्दों में, 'या तो गुटों के आपसी झगड़ों में पंच बनने की कोशिश करना या दोनों से अलग रहते हुए एक के केवल इतने समीप जाने का प्रयत्न करना कि दूसरा बुरा न माने और यदि दूसरे के बुरा मानने का डर हो तो पहले से नाप-तोल कर दूर हटना या बारी-बारी से पास जाना या दूर हटना—यही 'गुटनिरपेक्षता की शैली रही है।'

3. **दितां की विश्व-राजनीति**—आलोचकों का कहना है कि शीत-युद्ध की विश्व राजनीति में गुटनिरपेक्षता का महत्व हो सकता है किन्तु आज तो शीत-युद्ध शिथिल हो चुका है, गुटों की राजनीति पिघल चुकी है और दितां (Detente) की विश्व-राजनीति का चलन हुआ है। जब गुट ही नहीं रहे तो गुटनिरपेक्षता क्या महत्व हो सकता है ?

4. **भारत-रूस सन्धि**—अगस्त 1971 की भारत-रूस सन्धि भारत की विदेश नीति में महत्वपूर्ण मोड़ का सूचक है। आलोचकों का कहना है कि भारत की गुटनिरपेक्ष नीति का इस सन्धि ने अन्त कर दिया है। गुटनिरपेक्षता की नीति का मतलब महाशक्तियों के फौजी संघर्ष एवं तनावों से अपने को दूर रखना होता है, लेकिन एक महाशक्ति के साथ सन्धि करके भारत अब अपने को इस संघर्ष तथा तनावों से दूर नहीं रख सकता।

5. **मित्र और शत्रु को परखने में असफल**—ऐसा कहा जाता है कि भारतीय विदेश नीति अपने मित्र और शत्रु को परखने में भी असफल रही है। इजराइल ने प्रत्येक स्तर पर हमारा समर्थन किया है फिर भी पश्चिमी एशिया में हमारी नीति इजराइल विरोधी रही है।

6. **विदेशी आक्रमणों का शिकार**—हमारी विदेश नीति विदेशी आक्रमणों का प्रतिकार करने में असमर्थ रही है। 1962 में चीन ने और 1948, 1965 तथा 1971 में पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण करने का दुस्साहस किया।

7. **प्रवासी भारतीयों की उपेक्षा**—ऐसा कहते हैं कि आज दुनियाँ में 60-70 लाख से अधिक प्रवासी भारतीय होंगे। भारत का प्रत्येक प्रवासी एक राजदूत के बराबर सिद्ध हो सकता है

तथा भारत के राष्ट्रीय हितों में आत्म-नियुक्त सैनिक की तरह हो सकता है। लेकिन भारत सरकार उनके प्रति उदासीन रही है। भारत सरकार की निर्ममता के कारण ही बर्मा, श्रीलंका; उगाण्डा और केनिया के भारतीयों को नारकीय अभिनय से गुजरना पड़ा। आज भी अनेक देशों में 100-100 वर्षों के प्रवास के बावजूद उन्हें सम्पत्ति खरीदने का, मुक्त रूप से व्यापार करने का, राजनीति में भाग लेने का समान अधिकार प्राप्त नहीं है। जो भेदभाव भारतीयों के साथ फिजी, केन्या, उगाण्डा, गुयाना आदि देशों में किया गया है या किया जाता है, वह यदि चीनियों के साथ वियतनाम, मलेशिया या सिंगापुर में किया जाये तो साम्यवादी होते हुए भी चीनी सरकार सारी दुनिया में हाय-तोबा मचा देती।

8. **सांस्कृतिक उदासीनता के शिकार अफ्रीका, लेटिन अमरीका**—गोरे देशों के प्रति हमारी सांस्कृतिक हीनता की भावना के कारण ही हमने अफ्रीका, लेटिन अमरीका तथा आग्नेय (द० पू० एशिया) एशिया की भारी राजनीतिक उपेक्षा भी की। 1961 में पहली बार श्री नेहरू केवल मेक्सिको गये तथा 1968 में श्रीमती इन्दिरा गांधी 9 लेटिन अमरीकी देशों में उड़ान भर आयीं। इन दोनों यात्राओं के दौरान भी हमारी आँखों पर मुनरो सिद्धान्त का अमरीकी चश्मा चढ़ा रहा। न तो हमने क्यूबा के महत्व को रेखांकित किया और न ही इन दबे-पिसे देशों की जनता पर हो रहे साम्राज्यवादी अत्याचारों का विरोध करके उनकी हठधर्मी जीतने की कोशिश की। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जहाँ संयुक्त राष्ट्र संघ तथा अन्य विश्व संस्थाओं में इन देशों के संख्या बल का महत्व है, वहाँ ब्राजील और अर्जेण्टाइना वे देश हैं जो परमाणु-स्वातन्त्र्य का युद्ध लड़ रहे है। भारत इन देशों में न केवल सांस्कृतिक-स्वातन्त्र्य का प्रचण्ड अभियान चला सकता है अपितु अनेक देशों को अपनी ओर आकर्षित भी कर सकता है।

9. **नीति निर्माण की दोषपूर्ण प्रक्रिया**—नीति निर्माण की प्रक्रिया भी दोषपूर्ण है। हमारे पास सारी दुनिया की सूचना जमा करने का एकमात्र माध्यम अंग्रेजी है। यह कैसी विडम्बना की बात है कि यूरोप, अफ्रीका या ईरान में घटनाएँ हमारे राजदूतों के नाक के नीचे घटती हैं और उनका विश्लेषण करने के लिए वे लन्दन या न्यूयार्क के अखबारों पर निर्भर रहते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि दुनिया के तीन-चौथाई देशों के बारे में भारत सरकार के पास जो सूचनाएँ आती हैं वे इंगलैण्ड और अमरीका के चश्मे में से छनकर आती हैं। इसीलिए हमें स्वतन्त्र और निष्पक्ष राय बनाने में तो दिक्कत होती ही है, कभी-कभी हम बुरी तरह से फिसल भी जाते हैं। 1968 में सूचना की कमी के कारण ही प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी को लातीनी अमरीका की यात्रा बीच में ही तोड़नी पड़ी (पेरू में क्रान्ति हो गयी)। मार्च 1978 में हमने दाऊद के लिए भारत में लाल गलीचे बिछाये और अप्रैल में ही उनका पत्ता साफ हो गया, अटलजी को चीन से उल्टे पाँव लौटना पड़ा (उसने वियतनाम पर हमला बोल दिया)। ईरान हमारा पड़ोसी है लेकिन एक साल के लम्बे जन-आन्दोलन के बावजूद हमारे अधिकारी यह अन्दाज नहीं लगा सके कि खुमैनी सत्तारूढ़ हो जायेंगे।

10. **भारत की घेराबन्दी**—अन्तर्राष्ट्रीय समीकरणों में आज भारत अमरीका व चीन से घिर गया है, पाकिस्तान व श्रीलंका से तनाव बढ़ रहे हैं, अमरीका व चीन इनकी पीठ ठोंक रहे हैं। बंगला देश भी भारत से खतरे का हौव्वा खड़ा कर चीन व अमरीका को आमन्त्रित कर रहा है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद भारत की विदेश नीति की निम्नलिखित उपलब्धियाँ हैं, जिन्हें नकारा नहीं जा सकता :

(1) दोनों ही शक्तिशाली गुटों ने भारतीय विदेश नीति की प्रशंसा की है।

(2) भारत दोनों ही गुटों से सहायता प्राप्त करने में सफल रहा है।

(3) भारत की निर्गुट नीति विश्व शान्ति के हित में है।

(4) नयी दिल्ली में आयोजित सातवें गुट-निरपेक्ष सम्मेलन ने दुनिया के राष्ट्रों पर भारत के प्रवन्ध कौशल का सिक्का तो जमा ही दिया है। शिखर सम्मेलन में हमेशा सर्वसम्मति बनी रही जिसका श्रेय भारत की धीर-गम्भीर कूटनीति को अवश्य मिलना चाहिए जिसने हर देश को यह महसूस कराया कि किसी भी मामले में भारत की अपनी राय चाहे जो हो, वह विरोधी राय का पूरा सम्मान करेगा और सर्व-सम्मत राय के अनुसार ही काम करेगा।

निष्कर्ष—डॉ० वेद प्रताप वैदिक ने अपनी पुस्तक 'भारतीय विदेश नीति—नये दिशा-संकेत' में भारत के लिए एक सांस्कृतिक विदेश नीति अपनाने की सिफारिश की है।[1] अनेक ऐसे देश हैं जहाँ वर्षों पहले भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार हुआ था। दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों में भारतीय सांस्कृतिक दूतावास की स्थापना की जानी चाहिए। इन दूतावासों का काम उन देशों में भारतीय भाषा, भूषा, भोजन, भजन और भेषज की कूटनीति चलाना होना चाहिए। विदेशों में भारतीय भोजन काफी लोकप्रिय है। विदेश मन्त्रालय भारतीय रेस्तरां की एक श्रृंखला सारी दुनिया में स्थापित कर सके तो भारत करोड़ों डॉलर विदेशी मुद्रा अर्जित कर सकता है। भारतीय संगीतज्ञों को सुनने के लिए अमरीका में इतनी भीड़ जुटती है जितनी कि वहाँ के राष्ट्रपति को सुनने के लिए भी नहीं जुटती। इसी प्रकार भारतीय साड़ी के प्रति पश्चिम की महिलाओं में अदम्य आकर्षण है। भारतीय 'भजन' (रिकार्ड) और 'भूषा' सिर्फ डॉलर कमाने के ही साधन नहीं हैं, वे भी सन्देश-वाहक हैं। इसी प्रकार भारतीय 'भेषज'—जड़ी-बूटियाँ तीसरी दुनिया के गरीब लोगों के लिए वरदान साबित हो सकती हैं। यदि इन सस्ती दवाइयों को तीसरी दुनिया के देशों में लोकप्रिय बनाने का अभियान चलाया जाय तो अनेक बहु-राष्ट्रीय निगमों का जाल कट जायेगा।[2]

प्रश्न

1. भारत की विदेश नीति के विकास का संक्षिप्त विवेचन कीजिए।
   Discuss the evolution of the foreign policy of India.
2. भारत के लिए एक सुगठित और स्थायी महत्व की परराष्ट्र नीति विकसित करने में पं० नेहरू द्वारा किये गये योगदान की समीक्षा संक्षेप में कीजिए।
   Discuss in brief the Chief Contributions made by Pandit Nehru in building up a viable and lasting foreign policy for India.
3. क्या श्रीमती इन्दिरा गाँधी की विदेश नीति पं० नेहरू की विदेश नीति से भिन्न थी? इस कथन की विवेचना करते हुए श्रीमती गाँधी की विदेश नीति का वर्णन कीजिए।
   Was Mrs. Gandhi's Foreign Policy different from Pt. Nehru's Policy? Discuss this question and describe Mrs. Gandhi's foreign policy.
4. भारत में जनता सरकार की विदेश नीति में परिवर्तन तथा निरन्तरता के तत्वों की विवेचना कीजिए।
   Discuss the elements of change and continuity in the foreign policy of Janta Government in India.
5. प्रधानमन्त्री नेहरू के काल में भारत की वैदेशिक नीति की उपलब्धियों एवं विफलताओं की समीक्षा कीजिए।

---

1 वेद प्रताप वैदिक, **भारतीय विदेश नीति**, पृ० 118।

2 वही, पृ० 119।

Summarise the achievements and failures of the Foreign Policy of India during the period of Prime Minister Nehru.

6. भारत और पाकिस्तान के बीच विवाद के प्रमुख मुद्दों का विवेचन कीजिए।
   Discuss the major issues of discord between India and Pakistan.
7. भारत-श्रीलंका सम्बन्धों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
   Examine critically the Indo-Srilanka relations.
8. श्रीलंका में भारतीय शान्ति सेना की भूमिका की विवेचना कीजिए।
   Discuss the role of the Indian Peace-keeping Army (IPKA) in Srilanka.
9. भारत-बंगलादेश सम्बन्धों का विवेचन कीजिए।
   Disuss Indo-Bangla Desh relations.
10. चीन और भारत के परराष्ट्र नीति सम्बन्धी मतभेदों का उल्लेख कीजिए। आज ये सम्बन्ध किस स्थिति में हैं ?
    Discuss chief points of disagreement between China and India on foreign policy matters. How things stand today ?
11. भारत-नेपाल सम्बन्धों की समीक्षा कीजिए।
    Critically examine Indo-Nepal relations.
12. भारत-अमरीकी सम्बन्धों के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए।
    Trace the conclusion of Indo-American relations.
13. स्टालिन के बाद के वर्षों में भारत व सोवियत संघ के सम्बन्धों को विवेचना कीजिए।
    Examine the Indo-Soviet relationship in the post-Stalin era.
14. उन परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए जिनमें 1971 में भारत और सोवियत संघ के बीच एक सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये। क्या आप यह मानते हैं कि उसके कारण भारत की असंलग्नता की नीति पर आघात पहुँचता है ?
    Describe the circumstances leading the signing of the Indo-Soviet Treaty of 1971. Do you think it has compromised India's policy of non-alignment in any way ?
15. अपने पड़ोसियों के साथ अच्छे पड़ोसी की नीति के विकास में भारत को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है ? इसकी विवेचना कीजिए।
    What obstacles come in the way of India's striving for a good neighbourly policy in relation to its immediate neighbours ? Discuss.
16. भारत की परमाणु नीति की विवेचना कीजिए।
    Discuss India's nuclear policy.
17. 'एशिया के परिवर्तित होते हुए राजनीतिक वातावरण के सन्दर्भ में भारत को विदेश नीति क नये विकल्पों की खोज करने की आवश्यकता है।' समीक्षा कीजिए।
    'In the context of changing political scene in Asia, India needs a search for new foreign policy options'. Comment.
18. भारत की विदेश नीति के मुख्य सिद्धान्तों का परीक्षण कीजिए।
    Examine the main principles of Indian Foreign Policy.
19. सन् 1970 के पश्चात् भारत-रूस सम्बन्धों का मूल्यांकन कीजिए।
    Evaluate India's relations with the Soviet Union since 1970.
20. सन् 1964 से भारत-श्रीलंका सम्बन्धों की विवेचना कीजिए।
    Discuss Indo-Srilanka relations since 1964.

21. 1970 से भारत-श्रीलंका सम्बन्धों की विवेचना कीजिए।
Discuss Indo-Srilanka relations since 1970.

22. पड़ोसी देशों के प्रति भारत की विदेश नीति का परीक्षण कीजिए।
Examine the Indian Foreign Policy towards neighbouring countries.

23. सन् 1960 से भारत के पाकिस्तान के साथ सम्बन्धों का परीक्षण कीजिए। क्या हाल में उनमें कोई परिवर्तन आया है ?
Examine India's relations with Pakistan since 1960. Has there been a shift recently ?

24. क्या भारत की विदेश नीति तीव्रता से बदलती हुई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अनुरूप स्वयं को ढाल सकी है ? अपने उत्तर के समर्थन में तर्क प्रस्तुत कीजिए।
Has the Indian Foreign Policy Stood the test of a fast changing world order ? Give arguments in support of your answer.

26

भारत और राष्ट्रमण्डल

[INDIA AND THE COMMONWEALTH]

राष्ट्रमण्डल एक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है जिसके प्रस्तावों और निर्णयों का विश्व राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ा है। राष्ट्रों के बीच यह स्वेच्छापूर्ण सहयोग का एक प्रतीक है और अन्तर्राष्ट्रीय जगत की एक महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली यथार्थता है। यह एक ऐसा मंच है जिस पर विश्व के कुछ देश समय-समय पर एकत्रित होते है, एक-दूसरे के विचारों को जानने की चेष्टा करते है और जिन बातों पर सहमत होते है उनमें पारस्परिक सहयोग के लिए कार्यक्रम बनाते है और उसे कार्यान्वित करते हैं।

राष्ट्रमण्डल अब 'श्वेत पश्चिमोन्मुख ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल' नहीं बल्कि सही मायने में 'विश्वव्यापी आधुनिक राष्ट्रमण्डल' है और बहुजातीय स्वरूप वाले इस विशाल संगठन के सदस्य केवल 'डोमिनियन' राष्ट्र ही नहीं बल्कि प्रभुतासम्पन्न गणतन्त्रीय राष्ट्र हैं। यही नहीं, राष्ट्रमण्डल के 49 सदस्य राष्ट्र विश्व के सभी महाद्वीपों एवं महासागरीय क्षेत्रों में स्थित है। यदि गणना करें तो दुनिया के लगभग एक-तिहाई देश और विश्व की आबादी का एक-चौथाई हिस्सा अब राष्ट्र-मण्डल में शामिल है।

ब्रिटेन राष्ट्रमण्डल का जन्मदाता अवश्य है, किन्तु पिछले कई सम्मेलनों से यह स्पष्ट हो गया है कि वह राष्ट्रमण्डल का कर्ताधर्ता नहीं है।

राष्ट्रमण्डल का स्वरूप
(NATURE OF THE COMMONWEALTH)

'ब्रिटिश साम्राज्य', 'ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल' और 'राष्ट्रमण्डल' शब्द लगभग समानार्थक हैं और विकल्पानुसार प्रयोग में लाये जाते है। किन्तु आजकल 'राष्ट्रमण्डल' शब्द का ही अधिकाधिक प्रयोग किया जाता है।

'राष्ट्रमण्डल' आज उन देशों का संगठन है जो कभी ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन थे और जिन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ब्रिटेन के साथ लगभग बराबरी के सम्बन्ध स्थापित रखते हुए ब्रिटिश परम्परा से एक परिवार जैसा सम्बन्ध रखने का निश्चय किया है।

वस्तुतः यह एक विचित्र प्रकार का संगठन या सम्पर्क सूत्र है जिसे न तो प्रादेशिक संगठन कहा जा सकता है और न राज्य (State) की संज्ञा ही दी जा सकती है। यह न राष्ट्र है, न मैत्री-सन्धि और न संघ ही है। इसे राज्योपरि संस्था भी नहीं कहा जा सकता है। राष्ट्रमण्डल के स्वरूप पर टिप्पणी करते हुए 10 जनवरी, 1951 को कनाडा के तत्कालीन प्रधानमन्त्री लॉरेन ने कहा था : "राष्ट्रमण्डल को एक राजनीतिक इकाई नहीं माना जा सकता। वह एक सन्धि व्यवस्था भी नहीं है। उसकी कोई सामान्य नीति नहीं है। विश्व राजनीति की समस्याओं के

सम्बन्ध में राष्ट्रमण्डल के सदस्य राष्ट्र पृथक्-पृथक् सोचते और निर्णय करते हैं और उसका कोई भी सदस्य स्वतन्त्र निर्णय के अपने एकाधिकार का परित्याग करने को तैयार नहीं है।"

राष्ट्रमण्डल एक प्रादेशिक संगठन और सन्धि इसलिए नहीं है कि वह अत्यधिक बिखरा हुआ है और इसकी चालक शक्ति कभी-कभी व्यावहारिक कम लेकिन भावनात्मक अधिक होती है। जो सूत्र इसके सदस्यों को बाँधते हैं वे एक साथ ही अत्यन्त अशक्त और अनौपचारिक तथा अत्यधिक गहरी जड़ों वाले और परम्परागत हैं। राष्ट्रमण्डल के स्वरूप के सम्बन्ध में इकॉनॉमिस्ट ने लिखा था : "ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल राष्ट्रों का एक अव्यवस्थित संग्रह से अधिक कुछ नहीं है। इसमें विश्व के मामलों में परस्पर संगति रखने की कोई कार्यपद्धति नहीं है और न किसी प्रकार के सामान्य उत्तरदायित्व हैं। इसमें कई राष्ट्र एक-दूसरे से झगड़ा भी करते रहते हैं। ये राष्ट्र मिलकर एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय पद्धति उपस्थित करते हैं जिसे 'राष्ट्रमण्डल' कहना इस शब्द का उपहास करना होगा।"

इस प्रकार राष्ट्रमण्डल उन राष्ट्रों का संगठन है, जो कभी ब्रिटेन के उपनिवेश थे। अतः उनमें आपसी सम्बन्ध काफी अरसे से थे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् उनकी अधिकांश समस्याएँ ब्रिटेन से जुड़ी हुई थीं तथा ब्रिटेन अपने माल की खपत हेतु इन पर निर्भरता को आपसी सहयोग में बदलने हेतु ये राष्ट्रमण्डल के झण्डे तले एकत्र हुए। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् रूस व अमरीका महाशक्तियों के रूप में उदित हुए तथा ब्रिटेन के प्रभाव में उत्तरोत्तर कमी आती गयी। अतः उसने राष्ट्रमण्डल को राजनीतिक जामा पहनाने का प्रयत्न किया। पराधीनता के कटु अनुभव ने सदस्य राष्ट्रों को काफी नजदीक ला दिया तथा यह संगठन एक राजनीतिक मंच के रूप में विकसित होने लगा। प्रारम्भ में ये वाद-विवाद द्वारा राजनीतिक समस्याओं की सैद्धान्तिक विवेचना करते थे। धीरे-धीरे सदस्य राष्ट्रों में यह भावना जोर पकड़ने लगी कि केवल सिद्धान्तों का प्रतिपादन अर्थहीन है। अतः क्रियात्मक पहलू पर विचार करना चाहिए। इसकी चरम सीमा पिछले नसाऊ सम्मेलन में देखने को मिली जहाँ सदस्यों की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हुए भारत के प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी ने कहा : "आइये हम राष्ट्रमण्डल पर कायरता का आरोप न लगने दें।" दक्षिण अफ्रीका की जाति-भेद नीति पर सक्रिय कदम उठाने की अपील की गयी। इस अपील का ब्रिटेन के विरोध के बावजूद व्यापक समर्थन हुआ और नसाऊ सम्मेलन में पहली बार दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने की माँग की गयी। यह एक क्रान्तिकारी कदम था, जिसका ब्रिटेन को छोड़कर राष्ट्रमण्डल के सभी देशों ने व्यापक स्वागत किया।

राष्ट्रमण्डल का उद्भव और विकास
(ORIGIN AND EVOLUTION OF THE COMMONWEALTH)

राष्ट्रमण्डल के उद्भव का इतिहास लार्ड डरहम के इस प्रतिवेदन में खोजा जा सकता है जो उन्होंने 1839 में कनाडा के उपनिवेशों में व्याप्त असन्तोष के कारणों के बारे में ब्रिटिश सरकार के समक्ष प्रस्तुत किया था। इस प्रतिवेदन में उन्होंने कहा था कि भविष्य में गवर्नर को ऐसे मन्त्री नियुक्त करने चाहिए जिन्हें स्थानीय जनता का विश्वास प्राप्त हो अन्यथा ये उपनिवेश भी अमरीकी उपनिवेशों का रास्ता अपना सकते हैं। लार्ड डरहम की सिफारिशों को ब्रिटिश सरकार ने महत्व दिया और 1847 में कनाडा में उत्तरदारी सरकार की स्थापना कर दी गयी। उसके तुरन्त बाद आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, उत्तरी अमरीका के उपनिवेश और दक्षिणी अफ्रीका में भी यह व्यवस्था लागू की गयी। इस प्रकार स्वशासी उपनिवेशों (Self-governing colonies) की स्थापना हुई। इन स्वशासी उपनिवेशों की स्थापना के बाद ऐसे माध्यम की आवश्यकता का अनुभव किया गया जो ब्रिटिश सरकार के साथ इनके सम्बन्धों की देखभाल कर सके।

1887 में साम्राज्ञी विक्टोरिया की जुबली के अवसर पर स्वशासी उपनिवेशों के प्रधानमन्त्री लन्दन में एकत्र हुए। इस अवसर का लाभ उठाकर स्वशासी उपनिवेशों तथा साम्राज्य के कुछ बड़े उपनिवेशों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन आयोजित किया गया। यह प्रथम औपनिवेशिक सम्मेलन (Colonial conference) कहलाया और यहीं से राष्ट्रकुल के विचार का जन्म हुआ। सात वर्ष बाद एक दूसरा अनौपचारिक औपनिवेशिक सम्मेलन ओटावा में हुआ। सन् 1897 में साम्राज्ञी विक्टोरिया की हीरक जयन्ती के हेतु औपनिवेशिक प्रधानमन्त्रियों के आगमन का लाभ उठाकर द्वितीय औपनिवेशिक सम्मेलन लन्दन में किया गया। सन् 1902 में सम्राट अष्टम एडवर्ड के राज्यारोहण के अवसर पर औपनिवेशिक सम्मेलन का तीसरा सम्मेलन हुआ। चौथा औपनिवेशिक सम्मेलन सन् 1907 में हुआ जिसमें यह निर्णय लिया गया कि इसका नाम 'औपनिवेशिक सम्मेलन' (Colonial Conference) से बदलकर 'इम्पीरियल कान्फ्रेंस' (Imperial Conference) रख दिया जाये और इसका अधिवेशन प्रत्येक चौथे वर्ष किया जायेगा।

अत: 'इम्पीरियल कान्फ्रेंस' का प्रथम सम्मेलन सन् 1911 में हुआ। इसमें सम्मेलन के संगठन, उपनिवेश कार्यालय के पुनर्गठन, डोमिनियनों से परामर्श के सम्बन्ध में कार्यवाही आदि के बारे में निर्णय लिये गये। विश्वयुद्ध के कारण 1915 में होने वाला इम्पीरियल कान्फ्रेंस नहीं हो सका। 4 अप्रैल 1917 को इम्पीरियल कान्फ्रेंस ने एक प्रस्ताव स्वीकार करके भारत को स्थायी रूप में अथवा सदस्य बना लिया। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रमण्डल का स्वरूप निखरने लगा। डोमिनियनों को पृथक् रूप से पेरिस के शान्ति सम्मेलन में भाग लेने का अधिकार मिला और उनके प्रतिनिधियों ने स्वतन्त्र रूप से वर्साय सन्धि एवं अन्य शान्ति सन्धियों पर हस्ताक्षर किये। ये राष्ट्रसंघ के सदस्य भी बनाये गये। पेरिस के शान्ति सम्मेलन के उपरान्त डोमिनियनों को तेजी से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वतन्त्र देशों का दर्जा दिया जाने लगा। डोमिनियन सरकारें अब विदेशों में अपने राजनयिक तथा वाणिज्य प्रतिनिधि भेजने लगीं। 1926 के इम्पीरियल कान्फ्रेंस में ब्रिटेन और डोमिनियनों का ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत बराबर दर्जा स्वीकार किया गया और उन्हें घरेलू तथा वैदेशिक दोनों ही मामलों में स्वतन्त्र राष्ट्र मान लिया गया। साथ ही वे आपस में बराबरी के सदस्यों के रूप में बँधे हुए थे। बालफोर घोषणा (Balfour Declaration) में कहा गया था कि "डोमिनियन ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वतन्त्रता प्राप्त राष्ट्र है जो अपनी स्थिति में पूर्णतया समान तथा घरेलू या विदेशनीति में किसी भी तरह अधीन नहीं है। सम्राट के प्रति सामूहिक वफादारी के आधार पर वे संयुक्त है और ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के सहारे एक-दूसरे से सम्बद्ध है।"

सन् 1931 में जो स्टेच्यूट ऑफ वेस्टमिनिस्टर (Statute of Westminister) स्वीकार हुआ उसमें राष्ट्रमण्डल को एक वैधानिक रूप प्रदान किया गया। इस अधिनियम में डोमिनियमों के सम्बन्ध में कहा गया कि ये राष्ट्र (डोमिनियन) "ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वशासी जनसमुदाय हैं, जो दर्जे में समान है, किसी भी प्रकार कोई एक सदस्य अपने आन्तरिक और वैदेशिक मामलों में दूसरे के अधीन नहीं हैं यद्यपि ये सब ब्रिटिश क्राउन के प्रति समान निष्ठा से आबद्ध हैं और स्वेच्छा से ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में सम्मिलित है।" उल्लेखनीय है कि वेस्टमिनिस्टर स्टेच्यूट की स्वीकृति के पूर्व ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल की व्यवस्था 'औपनिवेशिक विविध मान्यता अधिनियम' के अनुसार की जाती थी जिससे उपनिवेशों पर तरह-तरह के वैधानिक प्रतिबन्ध लगे हुए थे। 1865 में बने इस अधिनियम के अनुसार डोमिनियनों द्वारा बनाया जाने वाला प्रत्येक नियम अवैधानिक माना जाता था जो ब्रिटिश संसद द्वारा पारित नियमों के विरुद्ध हों। दूसरे शब्दों में, डोमोनियनों की संसदें ब्रिटिश संसद की अधीनस्थ मानी जाती थी। स्टेच्यूट ऑफ वेस्टमिनिस्टर ने डोमिनियन संसदों को इस बन्धन से मुक्त कर दिया।

डोमिनियनों की स्वतन्त्र और विशिष्ट स्थिति की मान्यता का प्रमाण द्वितीय विश्व युद्ध के शुरू होने पर हुआ। अब यह स्पष्ट हो गया कि राष्ट्रमण्डल के सदस्य राज्यों को स्वतन्त्र रूप से निर्णय करने का अधिकार है कि वे युद्ध में भाग लेना चाहते हैं या नहीं। प्रथम विश्वयुद्ध के समय डोमिनियनों को यह अधिकार नहीं था।

राष्ट्रमण्डल का वर्तमान स्वरूप (Present day Nature of the Commonwealth)—द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त तक राष्ट्रमण्डल मुख्यतः श्वेत देशों की संस्था थी, लेकिन युद्धोपरान्त इसने एक नये युग में प्रवेश किया। युद्ध के बाद एशिया और अफ्रीका के कई ब्रिटिश उपनिवेश स्वतन्त्र हो गये और उन्होंने राष्ट्रमण्डल में बने रहने का निश्चय किया। राष्ट्रमण्डल का वर्तमान स्वरूप 1947 में भारतीय उपमहाद्वीप की स्वाधीनता के बाद सामने आया। सन् 1950 में गणराज्य बन जाने पर भी भारत ने राष्ट्रमण्डल से अलग न होने का फैसला किया और ब्रिटिश सम्राट को राष्ट्रमण्डल के प्रधान के रूप में स्वीकार किया। इस कारण 'ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल' के स्थान पर इसे केवल 'राष्ट्रमण्डल' कहने का निश्चय किया गया।

राष्ट्रमण्डल विविधताओं से परिपूर्ण एक संस्था है जिसमें विविध प्रजाति, धर्म, क्षेत्र, भाषा और संस्कृति के देश शामिल हैं। इसके सदस्य राज्य राजनीतिक एकता के सूत्र में बँधे हुए नहीं हैं। इसके सभी सदस्य राष्ट्र स्वतन्त्र और समान हैं। इसमें ब्रिटिश सम्राट या साम्राज्ञी के प्रति किसी प्रकार की राजभक्ति होना आवश्यक नहीं है। इसके सदस्य राज्य एक-दूसरे के साथ अपने पारस्परिक सम्बन्धों में पूर्णतया स्वतन्त्र और सार्वभौम हैं, लेकिन उनसे यह आशा रखी जाती है कि वे आपस में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखेंगे।

वर्तमान में राष्ट्रमण्डल कोई निश्चित उत्तरदायित्वों वाला कठोर वैधानिक या सैनिक संगठन नहीं है, वरन् मैत्री, विश्वास और स्वेच्छा और सद्भाव पर आधारित ऐसा मानवीय संगठन है जो अपने सदस्य राज्यों को कतिपय विशेषाधिकार और सुविधाएँ (Privileges) प्रदान करता है। यह एक ऐसा संगठन है जिसकी स्थापना किसी चार्टर, संविधान या सन्धि के द्वारा नहीं हुई है तथा इसका अपना लिखित संविधान नहीं है। राष्ट्रमण्डल के राज्यों की पहचान यह है कि इसके राजदूत एक-दूसरे के देश में 'उच्चायुक्त' (High Commissioner) कहे जाते हैं। इसके अतिरिक्त, राष्टमण्डल के देश एक-दूसरे के नागरिकों को अपने यहाँ विशिष्ट प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करते हैं। राष्ट्रमण्डल के सभी सदस्य राष्ट्र स्वतन्त्र व समान हैं।

राष्ट्रमण्डल के सदस्य राष्ट्र
(MEMBERS OF THE COMMONWEALTH)

राष्ट्रमण्डल के इस वक्त 49 सदस्य देश हैं, फिजी के सदस्यता स्वीकार न करने के कारण अब 48 राज्य ही सदस्य रह गये हैं। इनमें मुख्य निम्न हैं—ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, उत्तरी आयरलैण्ड, भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, मलेशिया, सिंगापुर, घाना, जाम्बिया, मलावी, केनिया, नाइजीरिया, तंजानिया, सियेरालियोन, गेम्बिया, युगाण्डा, जंजीबार, साइप्रस, माल्टा, जमैका, ट्रिनीडाड, टेबेगो, बंगलादेश।

इस प्रकार आज राष्ट्रमण्डल में छोटे-बड़े कुल मिलाकर 48 देश हैं। यह सभी (ब्रिटेन को छोड़कर) कभी न कभी ब्रिटेन के अधीन रहे थे। 19 सितम्बर, 1983 को केरेबियन में स्थित दो पथरीले द्वीप सेण्ट क्राइस्टोफर नेविस ब्रिटेन के अधिकार से मुक्त हुए। यह राष्ट्रमण्डल का नवीनतम सदस्य है। सेण्ट क्रिट्स नेविस नाम के यह द्वीप राष्ट्रमण्डल के सदस्यों में क्षेत्र की दृष्टि से अत्यन्त छोटा है। इसका क्षेत्रफल 261·6 वर्ग किमी० और आबादी मात्र 50,000 है। परन्तु राष्ट्रमण्डल में और भी बहुत छोटे देश शामिल हैं। मध्य प्रशान्त महासागर में स्थित नीरू का क्षेत्रफल केवल 2·1 वर्ग किमी० और आबादी 7,125 है। यह 1968 में राष्ट्रमण्डल में ब्रिटेन से मुक्त होने पर शामिल हुआ था। एक अन्य प्रशान्त महासागर के दक्षिण-पश्चिम में स्थित द्वीपों का समूह है जो

तुवलू के नाम से जान जाता है, इसका क्षेत्रफल 28 वर्ग किमी० व आबादी मात्र 8,000 है। इसकी पुलिस में केवल 31 व्यक्ति हैं।

सबसे अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि राष्ट्रमण्डल के 48 सदस्य देशों में 26 देश ऐसे हैं जिनकी जनसंख्या 10 लाख से कम है। इन 26 में से 8 की जनसंख्या 1 लाख से कम है। निश्चय ही आबादी की दृष्टि से राष्ट्रमण्डल में भारत सबसे बड़ा देश है, शेष 47 देशों की संयुक्त जनसंख्या भारत की जनसंख्या की आधी भी नहीं है। राष्ट्रमण्डल के आबादी की दृष्टि से बड़े देशों में बांगला देश (9 करोड़); नाइजीरिया (8·4 करोड़); ब्रिटेन (5·5 करोड़) और कनाडा (2·3 करोड़) का नाम लिया जा सकता है।

भौगोलिक दृष्टि से राष्ट्रमण्डलीय देशों में सबसे बड़ा देश कनाडा है जिसका क्षेत्रफल 99 लाख वर्ग किमी० है। इसके बाद आस्ट्रेलिया का स्थान जिसका क्षेत्रफल 70 लाख वर्ग किमी० है। तीसरे स्थान पर भारत है। 15 देश ऐसे हैं जिनका क्षेत्रफल एक हजार वर्ग किमी० से कम है।

1947 में भारत और पाकिस्तान को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई और दोनों ही राष्ट्रमण्डल में शामिल हो गये। अब तक राष्ट्रमण्डल में केवल श्वेत राज्य ही थे। भारत और पाकिस्तान इसमें शामिल होने वाले अश्वेत राज्य थे। पाकिस्तान बाद में राष्ट्रमण्डल से अलग हो गया और दक्षिणी अफ्रीका को अपनी रंगभेद नीति के कारण हटना पड़ा। अक्टूबर 1989 में 27वें राष्ट्रकुल शिखर सम्मेलन (मलेशिया की राजधानी कुआलालम्पुर) में 17 वर्ष बाद पाकिस्तान पुनः सम्मिलित हुआ। राष्ट्रमण्डल की अध्यक्ष ब्रिटेन की महारानी ने पाकिस्तान को इस संगठन का 49वाँ सदस्य बनने पर बधाई दी। 17 वर्ष पहले जब राष्ट्रमण्डल ने बंगलादेश को एक नये राष्ट्र के रूप में मान्यता दी थी, तब तत्कालीन प्रधानमन्त्री जुल्फिकार अली भुट्टो ने राष्ट्रमण्डल से पाकिस्तान को अलग कर लिया था।

ब्रिटेन के साम्राज्य का पतन 1947 से आरम्भ हुआ जबकि भारत और पाकिस्तान को स्वतन्त्रता प्रदान की गयी। परन्तु इस विउपनिवेशीकरण को गति 1960 व 1970 के दशक में मिली। 1960 से 1983 के बीच राष्ट्रमण्डल में 40 देश सम्मिलित हुए। यह देश अफ्रीका, एशिया व कैरेबियन में स्थित थे।

राष्ट्रमण्डल के 48 पूर्ण सदस्य हैं। इसके अतिरिक्त इसमें एक सह राज्य व 17 पराधीन देश हैं जो उपनिवेश हैं। एक मात्र सह-राज्य बुनी है जो दक्षिण-पूर्वी एशिया में स्थित है। 17 पराधीन क्षेत्रों या उपनिवेशों में मुख्य हांगकांग, जिब्राल्टर, फॉकलैण्ड, बेरमुदा व नॉरफॉक द्वीप हैं।

1981 में किये गये एक अध्ययन के अनुसार राष्ट्रमण्डल के 30 प्रतिशत देश अल्प आय वर्ग में आते हैं। इनका जी० एन० पी० औसत 500 डालर से कम है। 32 प्रतिशत देश मध्य आय वर्ग के हैं, इनका जी० एन० पी० औसत 1000 डालर या अधिक है। भारत का स्थान अल्प आय वर्ग में है। राष्ट्रमण्डल में वास्तव में केवल चार देश ही सम्पन्न वर्ग के हैं। ये हैं—कनाडा, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया व न्यूजीलैण्ड। इनका 1980 के आंकड़ों के आधार पर जी० एन० पी० औसत 7,000 से 10,000 डालर था। इस प्रकार आर्थिक दृष्टि से राष्ट्रमण्डल में 4 देश ही सम्पन्न हैं, शेष देश आर्थिक दृष्टि से कम या बहुत पिछड़े हैं।

आज राष्ट्रमण्डल में अश्वेत राष्ट्रों का बहुमत है। कभी इसमें श्वेत राष्ट्रों का बहुमत था। सन् 1961 में दक्षिणी अफ्रीका को इससे निष्कासित कर दिया गया है।

राष्ट्रमण्डल के उद्देश्य
(OBJECTIVES OF THE COMMONWEALTH)

राष्ट्रमण्डल के निम्नलिखित उद्देश्य हैं :

1. अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सदस्य राष्ट्रों के बीच मैत्री पूर्ण सम्बन्ध बनाना;

2. अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक और मानव कल्याण सम्वन्धी समस्याओं को हल करना;

3. लोकतन्त्र के आदर्शों तथा मानवीय अधिकारों एवं मौलिक स्वतन्त्रताओं के प्रति सम्मान वढ़ाने में सहयोग देगा ।

राष्ट्रमण्डल से सम्बन्धित संस्थाएँ और संगठन
(INSTITUTIONS & ORGANISATION RELATED WITH THE COMMONWEALTH)

जुलाई 1925 तक ब्रिटिश साम्राज्य के उपनिवेशों के मामलात औपनिवेशिक कार्यालय से सम्वद्ध थे । 1925 में ब्रिटेन तथा राष्ट्रमण्डल के स्वाधीन सदस्यों के सम्बन्धों के लिए (डोमियन के लिए) एक अलग मन्त्री की नियुक्ति की गयी । जुलाई 1947 में डोमिनियन मामलों के मन्त्री और कार्यालय के नाम बदल कर क्रमश: राष्ट्रमण्डल मन्त्री,' और 'राष्ट्रमण्डल सम्वन्धी कार्यालय' रख दिये गये । अगस्त 1966 में औपनिवेशिक कार्यालय का राष्ट्रमण्डल कार्यालय में विलयन कर दिया गया और राष्ट्रमण्डल कार्यालय की स्थापना कर दी गयी । 17 अक्टूबर, 1968 को ब्रिटेन के विदेश मन्त्रालय (Foreign Office) में राष्ट्रमण्डल कार्यालय को भी मिला दिया गया । जून 1965 में राष्ट्रमण्डल सचिवालय की स्थापना के प्रस्ताव स्वीकार किये गये जिसके फलस्वरूप राष्ट्रमण्डल सचिवालय का विधिवत् गठन हुआ । कनाडा के अर्नोल्ड स्मिथ राष्ट्रमण्डल के पहले महासचिव वनाये गये जिन्होंने 17 अगस्त, 1968 को कार्यभार सम्भाला । श्रीदत्त रामफल लम्वे समय तक राष्ट्रमण्डल के महासचिव रहे । 27वें राष्ट्रकुल सम्मेलन (1989) में नाइजीरिया के श्री एमेका अन्याडकु को श्रीदत्त रामफल का उत्तराधिकारी चुना गया जो अपने 15 वर्ष के सफलतम कार्यकाल के पश्चात् जुलाई 1990 में पदमुक्त हो रहे हैं ।

ब्रिटिश क्राउन राष्ट्रमण्डल का प्रमुख अंग है जिसे सभी सदस्य राज्य राष्ट्रमण्डल के प्रधान के रूप में स्वीकार करते हैं; यद्यपि इसको सदस्य राज्यों के सम्वन्ध में कोई वैधानिक शक्ति प्राप्त नहीं है । ताज अथवा साम्राज्ञी को केवल प्रतीक के रूप में राष्ट्रमण्डल का अध्यक्ष माना जाता है ।

राष्ट्रमण्डल का एक अन्य और सर्वाधिक प्रभावशाली अंग राष्ट्रमण्डलीय शासनाध्यक्षों का सम्मेलन (CHOGM—Commonwealth Heads of Governments Meet) है । यह सम्मेलन समय-समय पर लन्दन या किसी अन्य जगह वहाँ के शासनाध्यक्ष (प्रधानमन्त्री) की अध्यक्षता में होता है । 1944 से 1973 तक इस तरह के बीस सम्मेलन हुए । अव तक कुल मिलाकर 27 सम्मेलन हो चुके हैं । सन् 1983 में भारत में, 1987 में वेंकूवर (कनाडा) में और अक्टूवर 1989 में कुआलालम्पुर (मलेशिया) में ऐसा ही सम्मेलन सम्पन्न हुआ । इन सम्मेलनों में राजनीतिक और आर्थिक मसले चर्चा के मुख्य विषय रहते हैं । सम्मेलन सामयिक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं और घटनाओं पर विचार करता है ।

इसके अतिरिक्त, सदस्य राज्यों के पारस्परिक सहयोग के लिए कुछ स्थायी संस्थाएँ भी कार्य करती हैं । इन संस्थाओं में निम्नलिखित विशेष महत्व की हैं : (i) राष्ट्रमण्डलीय संसदीय संघ जिसके तत्वावधान में राष्ट्रमण्डल के सदस्य राज्यों के संसद सदस्यों के सम्मेलन होते हैं । (ii) राष्ट्रमण्डलीय कृषि व्यूरो—जो सदस्य राज्यों को उन्नत कृषि सम्वन्धी सूचनाएँ और परामर्श देता है । (iii) राष्ट्रमण्डलीय आर्थिक सलाहकार परिषद—जो सदस्य राज्यों की आर्थिक उन्नति से सम्वन्धित विषयों पर महत्वपूर्ण परामर्श देती है ।

भारत और राष्ट्रमण्डल
(INDIA AND THE COMMONWEALTH)

1887 में जव 'औपनिवेशिक सम्मेलन' की स्थापना हुई तवसे 1916 तक भारत को न तो औपनिवेशिक सम्मेलन में और न इम्पीरियल कॉन्फ्रेन्स में भाग लेने का अवसर दिया गया । कभी-कभी भारत सचिव या इण्डिया ऑफिस के किसी वरिष्ठ पदाधिकारी को प्रेक्षक के रूप में

बैठने के लिए अवश्य आमन्त्रित कर दिया जाता था, लेकिन औपचारिक रूप से इस काल में भारत कभी भी सम्मेलन के सदस्य के रूप में शामित नहीं हुआ। पर भारत शुरू से ही सम्मेलन में प्रवेश पाने का इच्छुक था। चूंकि औपनिवेशिक सम्मेलन या इम्पीरियल कान्फ्रेंस में कई ऐसी बातों पर विवाद होता था जिनका प्रत्यक्ष रूप से भारत का सम्बन्ध था—जैसे डोमिनियनों में प्रवासी भारतीयों की समस्या, भारत के व्यापारिक हित आदि। इसलिए भारत सरकार या भारत लोकमत सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधित्व के लिए उत्सुक था, लेकिन ब्रिटिश सरकार और विशेषकर डोमिनियनों की सरकारें भारत के प्रवेश के पक्ष में न थीं। डोमिनियन सरकारों का कहना था कि इम्पीरियल कान्फ्रेंस स्वशासी राज्यों का संगठन है और भारत की जो राजनीतिक स्थिति (Political Status) है उसके अनुरूप वह सम्मेलन में प्रवेश पाने का अधिकारी नहीं है।

प्रथम विश्वयुद्ध में ब्रिटिश सरकार के आदेशानुसार भारत भी युद्ध में शामिल हुआ और युद्ध में उसने सक्रिय रूप से भाग लिया। युद्ध प्रयासों में वह डोमिनियनों से किसी तरह कम नहीं था। इस परिस्थिति में भारत में पुनः इम्पीरियल कान्फ्रेंस में प्रवेश पाने की बात उठायी। 22 सितम्बर, 1915 को इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौन्सिल में एक प्रस्ताव पेश हुआ जिसके द्वारा भारत के लिए इम्पीरियल कान्फ्रेंस की सदस्यता की माँग की गयी। प्रस्ताव पर बोलते हुए गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिन्ज ने आश्वासन दिया कि भारत को इम्पीरियल कान्फ्रेंस की सदस्यता दिलाने के लिए सरकार यथेष्ट प्रयास करेगी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी इस आशय के प्रस्ताव पारित किये। भारतीयों की इस माँग को ब्रिटिश राजनीतिज्ञों, विशेषकर राउण्ड टेबुल ग्रुप का समर्थन प्राप्त हुआ। विश्वयुद्ध में भारतीयों का बलिदान देखकर डोमिनियनों का विरोध भी मन्द पड़ने लगा।

इन्हीं परिस्थितियों में लार्ड हार्डिन्ज ने भारत सचिव पर दबाव डालना शुरू किया कि वे भारत को इम्पीरियल कान्फ्रेंस की सदस्यता दिलाने का प्रयास करें। हार्डिन्ज के उत्तराधिकारी लार्ड चेम्सफोर्ड ने इस प्रयास को जारी रखा। इसी बीच 1916 में प्रधानमन्त्री लायड जार्ज ने इम्पीरियल वार केबिनेट तथा इम्पीरियल वार कान्फ्रेन्स को बुलाने की घोषणा में भारत का कोई उल्लेख नहीं किया गया था। भारत सचिव आस्टिन चैम्बरलेन ने निरन्तर प्रयास करके प्रधान-मन्त्री को इस बात पर राजी कर लिया कि इम्पीरियल वार कान्फ्रेंस में शामिल होने के लिए भारत को भी आमन्त्रित किया जाये, अतः तय हुआ कि भारत सरकार द्वारा मनोनीत प्रतिनिधि इन सम्मेलनों में सम्मिलित हों।

4 अप्रैल, 1917 को इम्पीरियल कान्फ्रेंस ने एक प्रस्ताव स्वीकार करके भारत को स्थायी रूप में अपना सदस्य बना लिया। इसके बाद भारत प्रत्येक इम्पीरियल कान्फ्रेंस के सम्मेलनों में नियमित ढंग तथा सदस्य के रूप में भाग लेता रहा। भारत के इतिहास में यह एक महत्वपूर्ण घटना थी। यह निर्णय इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि भारत को डोमिनियन की स्थिति प्राप्त करने की आकांक्षाओं को पहली बार स्वीकृति मिली और स्वशासी अधिराज्य हुए बिना कुछ अंशों में उसको डोमिनियन का दर्जा मिल गया।

भारत की स्वतन्त्रता और राष्ट्रमण्डल की सदस्यता
(INDEPENDENCE OF INDIA AND MEMBERSHIP OF THE COMMONWEALTH)

15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतन्त्र हुआ और स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि स्वतन्त्र भारत किस प्रकार ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का सदस्य रह सकता है ? ब्रिटिश सरकार चाहती थी कि भारत स्वतन्त्रता के बाद ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहे परन्तु भारत गणतन्त्रात्मक शासन प्रणाली के लिए प्रतिबद्ध था। 15 अगस्त, 1947 से लेकर 26 जनवरी, 1950 तक भारत की स्थिति एक डोमिनियन की थी। उस समय भारत का राष्ट्रमण्डल में रहना

सम्भव था, परन्तु असली समस्या 26 जनवरी, 1950 से उत्पन्न होने वाली थी, जबकि भारत को नये संविधान के अनुसार 'गणतन्त्र' बनना था। पंडित नेहरू और सरदार पटेल जैसे भारतीय नेता इस बात पर राजी हो गये थे कि यदि गणतन्त्र रहते हुए कोई ऐसा रास्ता निकल आये, जिससे भारत राष्ट्रमण्डल में बना रह सके, तो इसमें कोई आपत्ति जैसी बात नहीं थी। यह एक जटिल प्रश्न था क्योंकि राष्ट्रमण्डल के सभी देश अभी तक स्वशासी अधिराज्य (डोमिनियन स्टेट्स) प्राप्त राज्य ही होते थे।

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का पहला अधिवेशन जो उसका 55वां अधिवेशन था, दिसम्बर 1948 में जयपुर में हुआ था। इस अधिवेशन में पास किये गये प्रस्ताव का हवाला देते हुए पण्डित नेहरू ने 8 मार्च, 1949 को संविधान सभा था कि "यह स्वाभाविक और अनिवार्य है कि भारत कुछ महीनों में ही स्वतन्त्र गणराज्य बन जायेगा" और यद्यपि वह किसी चीज को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था जिससे कि उसे थोड़ा भी किसी बाहरी सत्ता पर निर्भर होना पड़ता, लेकिन वह राष्ट्रमण्डल के साथ अनवरत सहयोग बनाये रखने के लिए तैयार था।

27-28 अप्रैल, 1949 को लन्दन में राष्ट्रमण्डलीय देशों के प्रधानमन्त्रियों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें इस प्रश्न पर विचार किया गया कि भारत प्रभुतासम्पन्न स्वतन्त्र गणराज्य बने रहने के साथ-साथ राष्ट्रमण्डल का सदस्य भी किस प्रकार बने रह सकता है। सम्मेलन में निर्णय हुआ कि भारत प्रभुतासम्पन्न गणराज्य बने रहने के साथ राष्ट्रमण्डल का भी पूरा सदस्य बना रहेगा। वह राजमुकुट को राष्ट्रमण्डल के स्वतन्त्र सदस्य देशों के ऐच्छिक सहयोग के प्रतीक के रूप में और इस प्रकार राष्ट्रमण्डल के प्रधान के रूप में स्वीकार करेगा।

16 मई, 1949 को पण्डित नेहरू ने संविधान सभा में एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसमें संविधान सभा से सरकार के इस निर्णय की पुष्टि करने के लिए कहा गया था कि भारत राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहेगा। प्रस्ताव में कहा गया था :

"निश्चय किया जाता है कि यह सभा एतद्द्वारा, राष्ट्रमण्डल में भारत की अनवरत सदस्यता के बारे में भारत के प्रधानमन्त्री द्वारा सहमत उस घोषणा की पुष्टि करती है जिसका 27 अप्रैल, 1949 को लन्दन में राष्ट्रमण्डलीय प्रधानमन्त्रियों के सम्मेलन की समाप्ति पर जारी किये गये अधिकारिक वक्तव्य में निरूपण किया गया है।"

पंडित नेहरू ने इस प्रस्ताव तथा निर्णय के निहितार्थों की व्याख्या करते हुए कहा कि राष्ट्रमण्डल स्वैच्छिक संगठन था तथा उसे इच्छानुसार समाप्त किया जा सकता था। राजमुकुट का कोई कार्य नहीं होगा। वह इस संगठन का प्रतीक मात्र होगा तथा इस बात का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था कि भारत गणराज्य के किसी नागरिक की राजमुकुट के प्रति निष्ठा होगी। संविधान सभा में प्रस्ताव पर दो संशोधन उपस्थित किये गये। एक संशोधन में तो यह कहा गया था कि मूल प्रस्ताव में इस आशय का एक परन्तुक जोड़ दिया जाये कि राष्ट्रमण्डल आस्ट्रेलिया और दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के विरुद्ध किसी प्रकार का पक्षपात नहीं होने देगा और सभी सदस्य राष्ट्रों के साथ समानता के आधार पर सामाजिक और राजनीतिक न्याय करेगा। दूसरे संशोधन में इस बात पर सन्देह प्रकट किया गया था कि स्वतन्त्र प्रभुतासम्पन्न भारतीय गणराज्य किस प्रकार राष्ट्रमण्डल का सदस्य बने रह सकता है। संशोधन में प्रस्ताव किया गया था कि जब तक नई संसद का निर्वाचन न हो जाय तथा जनता की इच्छा ज्ञात न हो जाये तब तक राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के प्रश्न को टाल दिया जाय। लेकिन ये दोनों ही संशोधन व्यर्थ सिद्ध हुए। एक को तो उसके प्रस्तावक ने वापस ले लिया तथा दूसरे को सदन ने अस्वीकार कर दिया।

राष्ट्रमण्डल में भारत की सदस्यता को व्यावहारिक बनाने के लिए 'राष्ट्रमण्डल' के आगे से 'ब्रिटिश' शब्द को हटा दिया गया, क्योंकि भारत सरकार की ऐसी मंशा थी।

भारत द्वारा राष्ट्रमण्डल का सदस्य बने रहने के कारण

यह एक विचारणीय प्रश्न है कि भारत ने राष्ट्रमण्डल का सदस्य बने रहना क्यों स्वीकार किया ? सन् 1929 में कांग्रेस के अध्यक्ष पद से बोलते हुए जवाहर लाल नेहरू ने कहा था कि भारत पूर्ण स्वराज्य की माँग करता है और इस पूर्ण स्वराज्य का अर्थ होगा कि वह ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल से किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं रखेगा। पण्डित नेहरू का कहना था कि ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के साथ यदि अपना सम्बन्ध बनाये रखेगा तो उसको ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समर्थन करना पड़ेगा। स्वतन्त्र भारत के प्रधानमन्त्री बनने के उपरान्त लाहौर कांग्रेस की अध्यक्षता करने वाले उसी नेहरू की सरकार ने निश्चय किया कि भरत राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहेगा। अपनी इस परिवर्तित मनोवृत्ति को उचित ठहराते हुए नेहरू ने कहा—"वर्तमान विश्व जबकि अनेक विध्वंसकारी शक्तियाँ सक्रिय हैं और हम प्रायः युद्ध के कगार पर खड़े हैं, मैं सोचता हूँ कि किसी समुदाय से सम्बन्ध विच्छेद करना अच्छा है जो वर्तमान विश्व में कुछ हितकारी कार्य कर सकता है ······· राष्ट्रमण्डल की सदस्यता भारत के और सम्पूर्ण विश्व के लिए लाभ-दायक है। इससे भारत को लक्ष्यों की प्राप्ति में सहयोग मिलेगा।"

संक्षेप में, भारत ने निम्नलिखित कारणों से राष्ट्रमण्डल में बने रहना स्वीकार किया :

1. **भारतीय प्रवासियों के हितों की रक्षा**—अंग्रेज लाखों की संख्या में भारतीयों को ब्रिटिश उपनिवेशों में मजदूरी के लिए ले गये थे। इनके हितों की रक्षा भारत का नैतिक कर्तव्य था। यह कर्तव्य भारत राष्ट्रमण्डल में रहकर भलीभाँति पूरा कर सकता था।

2. **आर्थिक एवं व्यापारिक लाभ**—भारत ने राष्ट्रमण्डल में रहना इसलिए स्वीकार किया था क्योंकि इसमें बने रहने से भारत का आर्थिक और व्यापारिक हित था। भारत का अधिकांश व्यापार आजादी के तुरन्त बाद ब्रिटेन से ही होता था। आज भी भारत का अधिक व्यापार राष्ट्र-मण्डलीय देशों से ही होता है।

3. **सैनिक एवं सुरक्षा सम्बन्धी कारण**—सैनिक एवं सुरक्षा सम्बन्धी कारणों से भी भारत का राष्ट्रमण्डल में बने रहना आवश्यक था, क्योंकि भारत की सेनाएँ ब्रिटिश प्रणाली पर संगठित थीं। सैनिक दृष्टि से भारत ब्रिटेन पर ही निर्भर था, हिन्द महासार की सुरक्षा और हमारी जल सेना की संगठन पद्धति हमें राष्ट्रमण्डल की सदस्यता बनाये रखने को मजबूर करती थी।

4. **पाकिस्तान द्वारा राष्ट्रमण्डल में बने रहने का निर्णय**—स्वतन्त्रता के बाद पाकिस्तान ने राष्ट्रमण्डल की सदस्यता स्वीकार कर ली थी। पाकिस्तानी प्रचारतन्त्र को कमजोर करने के लिए भारत का भी राष्ट्रमण्डल में बने रहना आवश्यक हो गया था।

5. **लार्ड माउण्टबेटन का प्रभाव**—मौलाना आजाद ने लिखा है कि भारत के अन्तिम गवर्नर जनरल लार्ड माउण्टबेटन ने पंडित नेहरू को राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के लिए मानसिक रूप से तैयार कर लिया था।

6. **भारत मित्रविहीन और अकेला न पड़ जाये**—स्वाधीनता के बाद भारत ने गुट निरपेक्ष विदेश नीति अपनायी किन्तु नेहरू का दृष्टिकोण पृथकतावादी नहीं था। नेहरू के सामने अन्य उद्देश्यों के साथ शायद राष्ट्रमण्डलीय सदस्यता के पीछे एक अन्य उद्देश्य यह भी था कि इस मंच के द्वारा भारत नवोदित अफ्रीकी-एशियाई देशों का सरगना बन सकता है।

ब्रिटेन भी इस बात के लिए उत्सुक था कि भारत राष्ट्रमण्डल की सदस्यता ग्रहण करे। कहा जाता है कि जब नेहरू लन्दन गये और उन्होंने चर्चिल को भारत का राष्ट्रमण्डल में बने रहने का निर्णय बताया तो वृद्ध चर्चिल के गालों पर खुशी के आँसू मोती बनकर लुढ़क पड़े। वस्तुतः राष्ट्र-

मण्डल में भारत के बने रहने का निर्णय जवाहरलाल नेहरू की विदेश नीति का क्रान्तिकारी पक्ष था। गणतन्त्र बनने के बाद नेहरू ने भारत के राष्ट्रमण्डल में बने रहने का जो निर्णय किया उससे प्रभावित होकर ही ब्रिटेन के अन्य उपनिवेश स्वाधीन होने के बाद राष्ट्रमण्डल में शामिल हुए और उसे विशाल संगठन का रूप दिया। इसी कारण जवाहरलाल नेहरू को आधुनिक राष्ट्रमण्डल का पिता माना जाता है।

भारत के लिए राष्ट्रमण्डल की उपादेयता : आलोचकों की दृष्टि में
(UTILITY OF THE COMMONWEALTH FOR INDIA : VIEWS OF THE CRITICS)

यह सच है कि राष्ट्रमण्डल में रहने से भारत की स्वतन्त्रता पर कोई आँच नहीं आती और अपनी नीति के निर्धारण में वह पूर्णतया स्वतन्त्र है। भारत में राष्ट्रमण्डल को छोड़ने की माँग नेहरू के जीवन काल से ही अनेक बार उठती रही है परन्तु उनके व्यक्तित्व के प्रभाव के कारण यह सदस्यता बनी रही। राष्ट्रमण्डल के प्रति भारत में असन्तोष की भावना पाये जाने के निम्नलिखित कारण हैं :

यद्यपि अब राष्ट्रमण्डल में अनेक एशियाई एवं अफ्रीकी राष्ट्र सम्मिलित हैं तथापि यह मूलतः एक ब्रिटिश संस्था है और औपचारिक रूप में ही सही परन्तु राष्ट्रमण्डल का नेता ग्रेट ब्रिटेन ही है। ऐसा देखने में आया है कि भारतीय राष्ट्रीय हित सम्बन्धी अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में ग्रेट ब्रिटेन का रुख भारत के प्रति अमैत्रीपूर्ण रहा है। भारत-पाक विवादों के सन्दर्भ में यह बात विशेष रूप से सत्य है। कश्मीर के प्रकरण में एक बात बिल्कुल स्पष्ट थी कि पाकिस्तान आक्रमणकारी था, परन्तु राष्ट्रमण्डलीय देशों ने दोनों को समान स्तर पर रखकर व्यवहार किया। इस सम्बन्ध में ब्रिटेन, कनाडा और आस्ट्रेलिया जैसे गोरे राष्ट्रों ने भारत विरोधी रुख अपनाया। कश्मीर के विषय में ब्रिटेन ने हमेशा पाकिस्तान का ही पक्ष लिया। यद्यपि ब्रिटेन के लिए राष्ट्रमण्डल के सदस्य होने के नाते भारत एवं पाकिस्तान दोनों ही समान थे। ब्रिटेन के इस पक्षपाती रुख का भारत में काफी विरोध हुआ और सन् 1953 में भारतीय संसद में एक प्रस्ताव पेश हुआ कि भारत को राष्ट्रमण्डल छोड़ देना चाहिए। इस समय संसद में राष्ट्रमण्डल की उपयोगिता और ब्रिटेन की नीति पर तीव्र प्रहार हुए। अक्टूबर 1962 में चीन ने भारत पर आक्रमण किया। यद्यपि इस आक्रमण के समय इंगलैण्ड, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड ने भारत के प्रति सहानुभूति बतायी और सैनिक सहायता दी परन्तु राष्ट्रमण्डल के तटस्थ देशों ने उदासीनता बरती और चीन को आक्रमणकारी भी नहीं कहा। पाकिस्तान और घाना ने तो तो ब्रिटिश सहायता का विरोध भी किया।

सन् 1965 में पाकिस्तान ने कश्मीर में अपने घुसपैठिये भेजकर छापामार युद्ध शुरू कर दिया। जब भारत ने उनका सफाया शुरू कर दिया तो 1 सितम्बर, 1965 को पाकिस्तान ने अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पार कर भारत पर नग्न आक्रमण कर दिया। पाकिस्तान, स्पष्ट रूप से आक्रमणकारी था फिर भी ब्रिटेन व राष्ट्रमण्डल के कुछ अन्य सदस्यों ने स्पष्ट रूप से पाकिस्तान का पक्ष लिया। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री विल्सन ने 6 सितम्बर, 1965 को भारत को आक्रमण के लिए दोषी ठहराया। बी० बी० सी० ने अपने प्रचारतन्त्र द्वारा कई दिनों तक भारत के विरुद्ध जहर उगला। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप 24 सितम्बर 1965 को भारतीय लोकसभा में कांग्रेसी सांसद भागवत झा आजाद ने राष्ट्रमण्डल की सदस्यता त्यागने का प्रस्ताव रखा। यह प्रस्ताव तो स्वीकृत नहीं हुआ परन्तु राष्ट्रमण्डल और उसके देशों की, खासकर ब्रिटेन की, कटु आलोचना हुई। राष्ट्रमण्डल से निकलने के स्थान पर अब यह निश्चित किया गया कि राष्ट्रमण्डल से ब्रिटिश वर्चस्व समाप्त किया जाये।

केन्या के प्रवासी भारतीयों की समस्या को लेकर 1968 के प्रारम्भ में ब्रिटेन और भारत

के सम्बन्धों में पुनः तनाव उत्पन्न हुआ और भारत में राष्ट्रमण्डल के परित्याग की बात उठने लगी। 1963 में जब केन्या स्वतन्त्र हुआ उस समय वहाँ 25 हजार के लगभग भारतीय निवास करते थे। केन्या की स्वतन्त्रता के अवसर पर भारतीयों के समक्ष एक विकट समस्या उत्पन्न हो गयी। यह समस्या उनकी नागरिकता से सम्बन्धित थी। उस समय भारत सरकार ने 4 हजार भारतीयों को पासपोर्ट दिया और शेष भारतीय ब्रिटेन के पासपोर्ट पर ब्रिटेन में रहने लगे। फरवरी 1968 में केन्या की सरकार ने यह निश्चय किया कि ऐसे एशियाई लोगों, जो वहाँ के नागरिक नहीं हैं, के साथ केन्या में गैर-नागरिक जैसा व्यवहार किया जाये। केन्या सरकार के इस निर्णय से प्रवासी भारतीयों में तहलका मच गया। 1963 में केन्या की स्वाधीनता के समय ब्रिटिश पासपोर्ट प्राप्त करके भारतीय प्रवासी ब्रिटिश नागरिक बन चुके थे। अतः यह उम्मीद की जा सकती थी कि ब्रिटेन इन लोगों के प्रति अपनी जिम्मेदारी का निर्वाह करेगा। लेकिन जब केन्या के भारतीय मूल के ब्रिटिश नागरिक अपने को वहाँ असुरक्षित अनुभव करके ब्रिटेन भागने लगे तो ब्रिटेन ने 'एशियाई बाढ़' को रोकने के उद्देश्य से संसद में एक विधेयक पेश किया। इस विधेयक का उद्देश्य 1 मार्च, 1968 के बाद केन्याई भारतीयों को ब्रिटेन में प्रवेश से रोकना था। ब्रिटिश संसद ने इस विधेयक को पारित कर दिया। ब्रिटेन के इस कानून के मुताबिक उस पासपोर्ट की कोई कीमत नहीं रही जो ब्रिटेन ने दिये थे तथा केन्या के भारतीय अब ब्रिटेन में जाकर नहीं बस सकते थे।

इस घटना ने भारत और ब्रिटेन के सम्बन्ध में तनाव उत्पन्न कर दिया। केन्या के भारतीय मूल के ब्रिटिश नागरिकों की जिम्मेदारी स्पष्टतः ब्रिटेन पर थी, लेकिन ब्रिटेन ने इस जिम्मेदारी को निभाने से मुँह मोड़ लिया। भारत में ब्रिटेन के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई। अखिल भारतीय कांग्रेस की संसदीय पार्टी में यह सुझाव दिया गया कि ब्रिटिश सरकार से बदला लेने के लिए राष्ट्रमण्डल छोड़ दिया जाये और भारत में ब्रिटिश सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण किया जाये। यद्यपि प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी ने इन सुझावों को अव्यावहारिक बतलाया, फिर भी भारत सरकार ने ब्रिटिश हाई कमिश्नर जॉन फ्रीमन को यह बतला दिया कि एशियाइयों के ब्रिटेन प्रवेश से रोकने वाले अधिनियम का भारत और ब्रिटेन के सम्बन्धों पर सांघातिक असर पड़ेगा। ब्रिटिश सरकार पर इस विरोध का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और 29 फरवरी, 1968 को उक्त विधेयक स्वीकार करके केन्या के प्रवासी भारतीयों के ब्रिटिश प्रवेश को रोक दिया गया।

केन्या के बाद युगांडा के ईदी अमीन ने अपने देश से भारतीयों को भगाना आरम्भ किया। अमीन ने भारतीयों की तमाम सम्पत्ति छीनी और उनकी जमा पूंजी भी जब्त कर ली। मार्च-अप्रैल 1976 में इंगलैण्ड में गोरे और एशियाइयों में दंगे हो गये। फलस्वरूप अब इंगलैण्ड में भी प्रवासी भारतीयों का रहना कठिन होता जा रहा है। अतः प्रवासी भारतीयों के सन्दर्भ में राष्ट्रमण्डल विफल रहा है।

ब्रिटेन में पहले राष्ट्रमण्डलीय देशों के नागरिकों को विशेष सुविधा दी जाती थी। परन्तु 1962 में ब्रिटेन ने राष्ट्रमण्डलीय देशों के नागरिकों की विशेष स्थिति समाप्त कर उन्हें लगभग सामान्य विदेशियों की स्थिति में ला दिया है।

यूरोपियन साझा बाजार में शामिल होने की इच्छा के कारण ब्रिटेन ने राष्ट्रमण्डल की स्थिति को अधिक लचीला बना दिया है। साझा बाजार की सदस्यता का राष्ट्रमण्डल के देशों पर सीधा प्रभाव पड़ने वाला था, क्योंकि अब तक राष्ट्रमण्डल के देशों को परस्पर व्यापार करने में कई तरह की सुविधाएँ आपस में प्राप्त थीं। उनकी वस्तुओं पर निर्यात शुल्क कम लगता था। 26 अक्टूबर, 1964 से ही ब्रिटिश सरकार ने खाद्य पदार्थों आदि को छोड़कर लगभग सभी आयातित वस्तुओं पर, चाहे वे राष्ट्रमण्डलीय देशों से आयातित हों अथवा अन्य देशों से, उनके मूल्य का लगभग 15 प्रतिशत कर लगा दिया जिसके कारण राष्ट्रमण्डलीय देशों को मिलने वाला व्यापारिक लाभ एक बड़ी

सीमा तक नष्ट हो गया। सन् 1967 में ब्रिटेन द्वारा यूरोपीय साझा बाजार की सदस्यता ग्रहण करने के साथ ही राष्ट्रमण्डलीय देशों को व्यापारिक क्षेत्र में मिलने वाली सुविधाएँ धीरे-धीरे कम होने लगीं। इससे एक बात स्पष्ट हो गयी कि स्वयं ब्रिटेन को राष्ट्रमण्डल के अस्तित्व में उतनी दिलचस्पी नहीं है जितनी कि अपने आर्थिक हितों के संवर्द्धन की।

जनवरी 1969 में लन्दन में हो रहे राष्ट्रमण्डलीय प्रधान मन्त्रियों के सम्मेलन में भाग लेने के लिए रवाना होने के पूर्व प्रधानमन्त्री स्व० इन्दिरा गांधी ने यहाँ तक कहा कि 'कुल मिलाकर राष्ट्रमण्डल एक विचार विनिमय मंच से अधिक नहीं है।' उन्होंने यह भी कहा कि आवश्यकता पड़ने पर भारत राष्ट्रमण्डल से अलग हो सकता है, लेकिन इस सम्बन्ध में उन्होंने एक शर्त जोड़ दी। श्रीमती गांधी ने कहा : "1944 से चले आ रहे इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के दफनाने की जिम्मेदारी हम नहीं लेना चाहते, लेकिन यदि अफ्रेशियाई देशों को यह महसूस होने लगता है कि इसकी उपयोगिता खत्म हो चुकी है तो भारत सरकार इसमें बने रहना भी नहीं चाहेगी।"

जनवरी 1971 में पहली बार राष्ट्रमण्डल के देशों का सम्मेलन ब्रिटेन से बाहर आयोजित किया गया और वह भी एशिया के एक छोटे से देश सिंगापुर में। इस सम्मेलन की विषय थे : ब्रिटेन द्वारा दक्षिण अफ्रीका के गोरे जातिवादी शासकों को हथियार देने का निश्चय और हिन्द महासागर में डियागो गार्शिया द्वीप में ब्रिटेन और अमरीका का सैनिक अड्डा बनाने का निश्चय। अफ्रीका के देश और भारत सरकार ब्रिटेन के इन दोनों निश्चयों को अफ्रीका तथा हिन्द महासागर की शान्ति के खिलाफ मानते थे। अतः सिंगापुर राष्ट्रमण्डल सम्मेलन अत्यन्त तनावपूर्ण वातावरण में प्रारम्भ हुआ। सम्मेलन प्रारम्भ होने से पूर्व यह आशंका व्यक्त की जा रही थी कि यदि ब्रिटिश प्रधानमन्त्री एडवर्ड हीथ ने दक्षिण अफ्रीका को हथियार देने का अपना निर्णय नहीं बदला तो तंजानिया, जाम्बिया और उगांडा सम्मेलन का बहिष्कार करेंगे। यद्यपि भारतीय प्रधानमन्त्री इस सम्मेलन में स्वयं सम्मिलित नहीं हो सकीं लेकिन भारतीय प्रतिनिधि ने हिन्द महासागर, ब्रिटेन द्वारा यूरोपीय साझा बाजार की सदस्यता और दक्षिणी अफ्रीका को हथियार दिये जाने के मसलों पर बड़ा ही कड़ा रुख अपनाया। भारतीय प्रतिनिधि ने एक वक्तव्य में तो यह भी कहा कि केवल दक्षिण अफ्रीका के साथ ही नहीं बल्कि रोडेशिया और पुर्तगाल के साथ भी राष्ट्रमण्डल को कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए।

अगस्त 1973 में राष्ट्रमण्डल का उन्नीसवाँ सम्मेलन कनाडा की राजधानी ओटावा में हुआ। इस बीच राष्ट्रमण्डल की सदस्यता में कुछ परिवर्तन हो चुके थे। पाकिस्तान इससे निकल गया था। बंगला देश नया सदस्य बन गया था। ओटावा सम्मेलन में यह उजागर हो गया था कि ब्रिटेन की दृष्टि में राष्ट्रमण्डल देशों की मित्रता की तुलना में यूरोपीय आर्थिक समुदाय ज्यादा महत्वपूर्ण है। राष्ट्रमण्डल के अधिसंख्य देशों के प्रबल आग्रह के बावजूद ब्रिटिश प्रधानमन्त्री दक्षिण प्रशान्त महासागर में परमाणु परीक्षण करने के निमित्त फ्रांस की निन्दा करने के लिए भी सहमत नहीं हुए। रोडेशिया के प्रश्न पर भी इस सम्मेलन में कोई निर्णय नहीं हुआ, क्योंकि एडवर्ड हीथ ने साफ कह दिया कि "रोडेशिया का मामला निपटाना राष्ट्रमण्डल का काम नहीं ब्रिटेन का उत्तरदायित्व है।"

इस प्रकार सन् 1980 से पूर्व राष्ट्रमण्डल की भूमिका का भारतीय विदेश नीति से सम्बन्धित मूल्यों और मुद्दों के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन करते हुए यह माँग की जाती रही है कि भारत को राष्ट्रमण्डल की सदस्यता त्याग देनी चाहिए। भारत द्वारा राष्ट्रमण्डल त्यागने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते रहे हैं :

1. **ब्रिटेन का भारत विरोधी दृष्टिकोण**—भारतीय हितों से सम्बन्धित मुद्दों जैसे कश्मीर, गोआ, भारत-पाक संघर्ष आदि पर ब्रिटेन का रुख भारत विरोधी रहा है।

2. **आर्थिक हितों की पूर्ति अब सम्भव नहीं**—राष्ट्रमण्डल का सदस्य होने के नाते भारत को जो आर्थिक लाभ प्राप्त थे, वे भी अब ब्रिटेन द्वारा यूरोपीय साझा बाजार में सम्मिलित हो जाने से समाप्त हो गये।

3. **स्वतन्त्र विदेश नीति की धारणा के प्रतिकूल**—कतिपय आलोचकों के अनुसार राष्ट्रमण्डल की सदस्यता भारत की स्वतन्त्र और सच्ची गुटनिरपेक्षता की नीति के मार्ग में एक अवरोधक है।

4. **दासता की मनोवृत्ति का परिचायक**—आलोचकों का कहना है कि राष्ट्रमण्डल की सदस्यता से वस्तुगत लाभ कुछ भी नहीं है, यह सदस्यता तो हमारी पुरानी ब्रिटिश दासता और पराधीनता की मनोवृत्ति का प्रतीक है। जिस देश ने हमें एक लम्बे समय तक गुलाम बनाये रखा, हमारा शोषण किया, उसकी ही अध्यक्षता में स्थापित राष्ट्रकुल की सदस्यता किस प्रकार उचित हो सकती है ?

5. **प्रवासियों के हितों की रक्षा असम्भव**—राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के बावजूद हम ब्रिटेन और अन्य राष्ट्रमण्डलीय देशों में प्रवासी भारतीयों के हितों की रक्षा करने में असमर्थ रहे हैं। राष्ट्रमण्डल के काले देश रोडेशिया में बहुमत शासन की एक लम्बे समय तक स्थापना नहीं करा सके और दक्षिणी अफ्रीका पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रयास विफल रहा। भारत और राष्ट्रमण्डल, ब्रिटेन में बढ़ रहे पावेलवाद को नहीं रोक सके, जो ब्रिटिश रंगभेद नीति का नग्न रूप है।

राष्ट्रमण्डल का बदलता परिप्रेक्ष्य और भारत की भूमिका
(EMERGING NEW CONTEXT OF THE COMMONWEALTH AND INDIA'S ROLE)

सन् 1980 के बाद के दशक में राष्ट्रमण्डल में भारत की भूमिका में काफी परिवर्तन आया है और भारत राष्ट्रमण्डल के मंच से विभिन्न मुद्दों को इस ढंग से उठाने का प्रयत्न कर रहा है कि अब यह संस्था ब्रिटेन की बपौती बनकर नही रह गयी है। 1980 में श्रीमती गांधी की वापसी के बाद भारतीय प्रवासियों की समस्या को दृढ़ता से उठाया गया। अक्टूबर 1981 में आस्ट्रेलिया की राजधानी मेलबोर्न में राष्ट्रमण्डलीय देशों के राष्ट्राध्यक्षों का सम्मेलन हुआ। श्रीमती थेचर चाहती थीं कि पाकिस्तान को फिर से राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना लिया जाये। भारत ने इसका सख्त विरोध किया। अन्त मे श्रीमती थेचर को अपना प्रस्ताव वापस लेना पड़ा। इस अधिवेशन में अफगानिस्तान और कम्पूचिया प्रश्नों पर भी भारत और ब्रिटेन में मतभेद था। ब्रिटेन अफगानिस्तान के प्रश्न पर रूस की निन्दा के लिए इस मंच का उपयोग करना चाहता था। भारत ने उसे ऐसा नहीं करने दिया। सम्मेलन की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि इससे राष्ट्रमण्डलीय देशों के बीच आर्थिक सहयोग के कार्यक्रम को विस्तार प्रदान किया गया।

राष्ट्रमण्डलीय देशों के शासनाध्यक्षों का सातवाँ सम्मेलन नई दिल्ली में 23 नवम्बर से 29 नवम्बर, 1983 तक चला। भारत में पहली बार हुए शिखर सम्मेलन में राष्ट्रमण्डल के 48 देशों से 41 देशों में के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। मेजबान देश होने के कारण भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने इसकी अध्यक्षता की। अपने उद्घाटन भाषण में श्रीमती गांधी ने बड़े राष्ट्रों के बीच हथियारों विशेषकर विनाशक परमाणु हथियारों की होड़ पर गम्भीर चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा कि इससे विश्व शान्ति खतरे में पड़ गयी। उन्होंने राष्ट्रमण्डल देशों से अपील की कि वे मानवता के प्रति बढ़ते खतरे और शीतयुद्ध की स्थिति को समाप्त कराने में अपने प्रभाव का उपयोग करें। श्रीमती गांधी ने अपने उद्घाटन भाषण में नामीबिया, साइप्रस व ग्रेनाडा की स्थिति का भी उल्लेख किया। उन्होंने कहा कि नामीबिया की स्वतन्त्रता का प्रश्न अधिक दिनों तक नहीं टाला जा सकता। ग्रेनाडा का जिक्र करते हुए उन्होंने कहा कि बड़े राज्यों को हस्तक्षेप की नीति से दूर रहना चाहिए, अमरीका के ग्रेनाडा पर आक्रमण का कोई औचित्य नहीं था।

गोवा घोषणापत्र में राष्ट्रमण्डल नेताओं ने पूर्ण आश्वासन दिया कि भय और अविश्वास समाप्त करके अन्तर्राष्ट्रीय समझ की भावना के विकास में दोनों महाशक्तियों को उत्साहित करने के कार्य में राष्ट्रमण्डल व्यावहारिक योगदान प्रदान करेगा। गोवा घोषणापत्र में दोनों महाशक्तियों के नेतृत्व वाले सैनिक संगठनों (नाटो और वारसा पैक्ट) के बीच टकराव का खतरा बढ़ने पर गम्भीर चिन्ता व्यक्त की गयी। छोटे देशों की सुरक्षा की चर्चा करते हुए घोषणा पत्र में राष्ट्र-मण्डलीय नेताओं ने कहा कि "हम छोटे देशों पर वाहरी आक्रमण तथा उनके आन्तरिक मामलों में वाहरी हस्तक्षेप" से विशेष रूप से चिन्तित हैं। उल्लेखनीय है कि राष्ट्रमण्डल ने पहली बार छोटे देशों की सुरक्षा पर ध्यान दिया।

विज्ञप्ति में नामीबिया की स्वतन्त्रता की माँग का पुरजोर समर्थन किया गया तथा उसे अंगोला में क्यूबाई सेना की वापसी के प्रश्न से न जोड़ने की बात कही गयी। राष्ट्रमण्डल देशों के शासनाध्यक्षों ने अनुभव किया कि रंगभेद उन्मूलन तथा बहुमत के शासन से ही दक्षिणी अफ्रीका की समस्या का न्यायोचित व शाश्वत हल सम्भव है।

उल्लेखनीय है कि राष्ट्रमण्डल शासनाध्यक्षों में यद्यपि अनेक मुद्दों पर मतभेद था तथापि एक ऐसी विज्ञप्ति तैयार की जा सकी जिस पर सब सहमत थे।

अक्टूबर 1985 में राष्ट्रमण्डलीय देशों के शासनाध्यक्षों का सम्मेलन नसाऊ (वहामा) में हुआ। इस सम्मेलन में ब्रिटेन की प्रधानमन्त्री मार्गरेट थेचर के अड़ियल रुख के कारण दक्षिणी अफ्रीका की रंगभेद नीति के विरुद्ध प्रतिबन्ध लगाने का प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हो सका। श्रीमती थेचर व अन्य सदस्यों के मध्य तालमेल स्थापित करने के लिए एक समिति का गठन किया गया। नसाऊ सम्मेलन में पारित एक प्रस्ताव के अनुसार राष्ट्रमण्डलीय देशों का सात-सदस्यीय एमिनेन्ट पर्सन्स ग्रुप गठित किया गया था[1] जो दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद समस्या की समाप्ति के लिए सभी सम्बन्धित पक्षों के बीच वार्तालाप का वातावरण बनाने का प्रयास करने वाला था। 1986 के प्रारम्भ में इस प्रतिनिधिमण्डल ने दक्षिण अफ्रीका के सभी गैर-सरकारी पक्षों से बातचीत के आधार पर एक प्रस्ताव तैयार किया जिसके आधार पर दक्षिण अफ्रीका की बोथा सरकार से बातचीत की जा सके। बोथा ने उन्हें आमन्त्रित भी कर लिया था किन्तु 19 मई, 1986 को जब प्रतिनिधिमण्डल जोहान्सबर्ग पहुँचा तो उसी समय दक्षिण अफ्रीका ने अपने तीन पड़ोसी राष्ट्रमण्डलीय सदस्यों बोत्सवाना, जाम्बिया और जिम्बाब्वे पर आक्रमण कर प्रतिनिधिमण्डल के मुँह पर करारा तमाचा जड़ दिया।

नसाऊ सम्मेलन में दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद नीति पर गरमा-गरम बहस हुई और भारत के प्रधानमन्त्री राजीव गांधी के नेतृत्व में बहुसंख्यक सदस्यों ने दक्षिणी अफ्रीका के ऊपर व्यापक आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने की माँग की और कहा "विश्व के सभी देशों को तीन बातों की चिन्ता है, विश्व निर्धनता को चुनौती, परमाणु युद्ध को टालना तथा नस्लवाद की समाप्ति। हमारी सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि हमने इन तीनों के प्रति अपना क्या योगदान दिया है।" ब्रिटेन के भारी विरोध के बावजूद दक्षिण अफ्रीका के ऊपर आर्थिक प्रतिबन्धों की घोषणा को मसविदे में सम्मिलित कर लिया गया तथा अगस्त 1986 में लन्दन में हुए राष्ट्राध्यक्ष समीक्षा सम्मेलन में आर्थिक दण्डात्मक उपायों की घोषणा की गयी थी। इनके अनुसार दक्षिण अफ्रीका से किसी भी प्रकार आयात-निर्यात, पूंजीनिवेश, व्यापारिक संस्थानों से सम्पर्क, हवाई उड़ानों पर तथा ऋणों की स्वीकृति तथा उनकी वसूली पर रोक लगायी गयी।

वेंकूवर सम्मेलन (1987) में भारत की दृष्टि से महत्वपूर्ण मसले थे—दक्षिणी अफ्रीका

1 भारत के प्रधानमन्त्री राजीव गांधी भी इसके सदस्य थे।

की रंगभेद नीति, फिजी की सदस्यता का प्रश्न, पाकिस्तान को राष्ट्रमण्डल में पुनः प्रवेश देने का मसला और भारत-श्रीलंका समझौता। दक्षिण अफ्रीका की रंग-भेद की समस्या पर भारत का दृष्टिकोण सर्वविदित है। राष्ट्रमण्डलीय प्रतिनिधमण्डल के साथ अफ्रीका द्वारा किये गये अपमानजनक व्यवहार के बाद भारत चाहता था कि उसके विरुद्ध सख्त प्रतिबन्ध लगाये जायें। भारतीय प्रयासों के फलस्वरूप पाकिस्तान का राष्ट्रमण्डल में पुनः प्रवेश का मामला वेंकूवर सम्मेलन के समक्ष विचारणीय मुद्दा ही नहीं बन पाया। फिजी के प्रश्न पर प्रधानमन्त्री राजीव गांधी और विदेश राज्य मन्त्री नटवरसिंह ने विभिन्न देशों के नेताओं से भारतीय दृष्टिकोण से सहमति बनाने का काफी प्रयास किया। राजीव गांधी ने फिजी की नवीन सरकार को सदस्यता देने के किसी भी प्रस्ताव का विरोध किया। उन्होंने माँग की कि राष्ट्रमण्डल को फिजी में लोकतन्त्र की बहाली के प्रयास करने चाहिए। लेकिन कुछ देश फिजी के मसले को उसकी आन्तरिक समस्या मानते थे। सम्मेलन में फिजी की सदस्यता के प्रश्न पर एक नया मोड़ तब आया जब महारानी एलिजाबेथ ने फिजी के गवर्नर जनरल पेनिआ गनीलाऊ का इस्तीफा स्वीकार करने की घोषणा की। इस घोषणा से ब्रिटिश सरकार का कर्नल राबुका की सैनिक सरकार को अप्रत्यक्ष समर्थन स्पष्ट हो जाता है। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्रीमती थेचर फिजी की सदस्यता जारी रखने के पक्ष में थीं। उन्होंने कहा कि राष्ट्रमण्डल देशों में पाँच सैनिक शासन भी हैं और वह फिजी के सैनिक शासन में कोई अनुचित बात नहीं देखतीं। अन्त में तकनीकी आधार पर फिजी को सदस्यता से वंचित रखा गया। सम्मेलन के अध्यक्ष कनाडा के प्रधानमन्त्री ब्रायन मुलरोनी ने अपनी घोषणा में कहा कि "राष्ट्रमण्डल फिजी में हुई घटनाओं के प्रति अपना दुख व्यक्त करता है और आशा व्यक्त करता है कि इस प्रायद्वीप की समस्याओं का समाधान राष्ट्रमण्डलीय देशों द्वारा स्वीकृत मान्यताओं के आधार पर किया जायेगा।" श्रीलंका में भारतीय सैनिकों द्वारा की जा रही कार्यवाही के विरोध में एकाध स्वर उठा किन्तु श्रीलंका के राष्ट्रपति जयवर्द्धन द्वारा सम्मेलन के नाम भेजे गये सन्देश के बाद यह विरोध बिल्कुल ही समाप्त हो गया। जयवर्द्धने ने अपने सन्देश में इस समझौते को दो सदस्य देशों के मध्य एक महान उपलब्धि कहा। भारत ने तत्काल इस सन्देश को सम्मेलन के दस्तावेज में सम्मिलित किये जाने का प्रस्ताव किया तथा उसे सिंगापुर के प्रधानमन्त्री के अनुमोदन के साथ स्वीकार कर लिया गया।

ब्रिटेन के भारी विरोध के बावजूद इस सम्मेलन के अन्य सदस्यों ने दक्षिणी अफ्रीका के प्रति प्रस्तावित दण्डात्मक प्रतिबन्धों का समर्थन किया तथा उन्हें लागू करने का निश्चय किया। इससे सिद्ध होता है कि राष्ट्रमण्डल अब ब्रिटेन की नीतियों के विरुद्ध अपने स्वतन्त्र विचार भी बना सकता है।

इस प्रकार वेंकूवर सम्मेलन में ये चार मुद्दे भारत की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे जिन पर अपनी राय के पक्ष में आम सहमति जुटा पाना ही उसकी कूटनीति की सफलता का परिचायक है।

ब्रिटेन के भारी विरोध के बावजूद बहुमत से निर्णय लेने की जिस परम्परा की शुरुआत पिछले वेंकूवर सम्मेलन से हुई थी, कुआलालम्पुर (अक्टूबर 1989 : 27वां राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलन) में उसकी चरम परिणति देखने को मिली। हालांकि राष्ट्रमण्डल देशों के इस 27वें शिखर सम्मेलन में अनेक महत्वपूर्ण निर्णय लिये गये किन्तु सही मायने में दक्षिण अफ्रीका की रंगभेदी व जातिभेदी सरकार के खिलाफ मौजूदा प्रतिबन्धों को और ज्यादा कड़ा करने एवं नये प्रतिबन्ध लगाने का फैसला ही कुआलालम्पुर अधिवेशन की एकमात्र ऐतिहासिक उपलब्धि है। ऐतिहासिक इसलिए है कि दक्षिण अफ्रीका के खिलाफ राष्ट्रमण्डल बिरादरी का यह दस्तावेज अब तक की घोषणाओं में सर्वाधिक सरल है और इसे पारित करवाने में आस्ट्रेलिया एवं कनाडा ने जो अन्यथा ब्रिटेन के

नजदीक है, अग्रणी भूमिका निभाई है। दक्षिण अफ्रीका पर ऐतिहासिक दस्तावेज के अतिरिक्त पर्यावरण संरक्षण के लिए सोलह-सूत्री कार्यक्रम अपनाकर जिसमें 'पृथ्वी रक्षा कोष' का भारतीय प्रस्ताव भी शामिल है, राष्ट्रमण्डल देशों के इस शिखर सम्मेलन ने विश्व को एक और सार्थक चेतावनी दी है-कि प्रकृति का जो विनाश अनियन्त्रित भौतिक उपभोग के लिए किया जा रहा है उसे यदि अब रोका न गया तो सम्पूर्ण मानव जाति को विलुप्त होने में ज्यादा समय नहीं लगेगा।

सन् 1980-90 के दशक में इस धारणा को बल मिला है कि (i) राष्ट्रमण्डल एक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक मंच के रूप में भारत के लिए उपादेय है; (ii) आज भी भारत का काफी मात्रा में विदेशी व्यापार राष्ट्रमण्डलीय देशों से होता है; (iii) राष्ट्रमण्डल छोड़ने की बात हम ब्रिटेन से नाराज होकर करते हैं, जबकि आज ब्रिटेन का राष्ट्रमण्डल में वर्चस्व नहीं रहा है। आज राष्ट्रमण्डल में ब्रिटेन विरोधी प्रस्ताव पारित होने लगे हैं। ऐसी स्थिति में अफ्रीकी-एशियाई राज्य ब्रिटेन की हठधर्मितापूर्ण नीति के कारण राष्ट्रमण्डल क्यों छोड़ें ?

निष्कर्ष—राष्ट्रमण्डल की स्थापना का उद्देश्य मूल रूप से ब्रिटेन और उसके उपनिवेशों में सम्बन्ध बनाये रखना था। ब्रिटिश उपनिवेश स्वतन्त्रता के बाद आत्मनिर्भरता की ओर ज्यों-ज्यों बढ़ते गये राष्ट्रमण्डल में उनके स्वर मुखर हो गये। स्वेज के प्रश्न पर। यूरोपीय साझा बाजार की सदस्यता, दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद नीति के प्रति उनकी नीतियों ने राष्ट्रमण्डल के वास्तविक रूप को उजागर कर दिया। यद्यपि ब्रिटेन राष्ट्रमण्डल का जन्मदाता है तथापि पिछले कई सम्मेलनों ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह राष्ट्रमण्डल का कर्ताधर्ता नहीं है। यह सच है कि ब्रिटेन राष्ट्रमण्डल देशों की प्रमुख आर्थिक सहायता करने वाला देश है जैसाकि श्रीमती थेचर ने अपने एक संवाददाता सम्मेलन में कहा था—"यद्यपि बहुत से देश ब्रिटेन की नीतियों की आलोचना करते हैं पर उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि उनमें से अधिकांश देश अपने विकास के लिए ब्रिटेन की भारी आर्थिक सहायता के लिए इच्छुक है और कृतज्ञ है।" यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि राष्ट्रमण्डल में ब्रिटेन का अब एकाधिकार नहीं रहा और न ही राष्ट्रमण्डल अब ब्रिटेन की नीतियों का प्रवक्ता है।

धीरे-धीरे यदि राष्ट्रमण्डल को एक राजनीतिक मंच के साथ-साथ आर्थिक, सामाजिक और शैक्षणिक सहयोग के मंच के रूप में परिवर्तित कर दिया जाये तो यह एक महान उपलब्धि होगी। कोलम्बो योजना राष्ट्रमण्डल की सबसे बड़ी आर्थिक-सामाजिक उपलब्धि है। यह 1 जुलाई, 1951 से प्रारम्भ होने वाली एक 6-वर्षीय योजना थी जिसकी सफलता देखकर बाद में इसक कार्यकाल बढ़ाया जाता रहा। 1956 तक उत्तरी वियतनाम को छोड़कर दक्षिण-पूर्वी एशिया के सभी देश इसमें सम्मिलित हो गये। बाद में जापान और संयुक्त राज्य अमरीका ने भी इस योजना से अपना सम्बन्ध जोड़ लिया। कोलम्बो योजना के अन्तर्गत योजना में सम्मिलित 27 देशों में कृषिभूमि को कृषि योग्य बनाना, सिंचाई की व्यवस्था, खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ाना, विद्युत उत्पन्न करना आदि कार्यक्रम हाथ में लिये गये। प्रथम योजना का व्यय 1868 मिलियन डालर निश्चित किया गया था जिसका 75% भारत, 15% पाकिस्तान, 5% श्रीलंका और 5% मलाया तथा उत्तरी बोर्नियो में खर्च किया जाना था।

कोलम्बो योजना के परिणाम उत्साहवर्द्धक रहे। योजना के अन्तर्गत मूल खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि हुई। चाय तथा रबड़ के उत्पादन में नवीन रिकार्ड स्थापित हुए। योजना की विशेषता यह है कि इसके अन्तर्गत पारस्परिक सहायता पर ही अधिक जोर दिया जाता है। उदाहरण के लिए, पाकिस्तान में एक बाँध बनाने के लिए कनाडा ने 6 करोड़ 62 लाख रुपये दिये; ब्रिटेन ने भारत में दुर्गापुर इस्पात कारखाने के लिए 9 करोड़ 50 लाख डालर दिये। भारत ने नेपाल, बर्मा और श्रीलंका में विकास कार्यों में सहायता दी।

भारत ने ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल को वर्तमान राष्ट्रमण्डल का स्वरूप देने में मुख्य भूमिका

निभाई है। भारत ने नव-स्वतन्त्रता प्राप्त देशों में स्थायित्व और प्रगति को प्रोत्साहन देने में प्रत्यक्ष आर्थिक सहयोग तथा राष्ट्रमण्डल जैसे संगठनों के माध्यम से सक्रिय रुचि दिखायी। वर्मा ने यद्यपि राष्ट्रमण्डल की सदस्यता त्याग दी थी फिर भी राष्ट्रमण्डल ने उसे 6,000,000 पौंड की सहायता दी। इतना ही नहीं, भारत ने अन्य देशों से भी अनुरोध किया कि वे वर्मा को इसी प्रकार की सहायता दें। भारत की इस पहल ने वाद में कोलम्वो योजना तैयार करने में सहायता दी। इस क्षेत्र के आर्थिक विकास में इस योजना की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।[1]

राष्ट्रमण्डल के कार्यों से न केवल भारत में असन्तोष है, वल्कि कुछ अन्य देश, जिनमें अधिकतर कैरेबियन अफ्रीकी देश है, भी असन्तुष्ट है। यदि यह असन्तोष इसी प्रकार वना रहा तो राष्ट्रमण्डल की स्थापना का उद्देश्य ही नष्ट हो जायेगा। प्रजातीय असहिष्णुता, नवपृथकतावाद और धनी तथा निर्धन देशों के बीच बढ़ती हुई ऐसी समस्याएँ हैं जो राष्ट्रमण्डल की बुनियाद को ही खोखला वना रही हैं। ब्रिटेन ने अब तक राष्ट्रमण्डल के प्रति अपने दायित्वों को भली प्रकार नहीं निभाया है और उसके रवैये के कारण ही कई देश असन्तुष्ट हैं। यह ठीक है कि राष्ट्रमण्डल अब ब्रिटेन की बपौती संस्था नहीं रह गयी है और न इसको 'केवल श्वेतों का क्लब' ही माना जा सकता है। किन्तु इस सच्चाई के उजागर हो जाने के पश्चात् भी आज ब्रिटेन इस वास्तविकता से समझौता नहीं कर पा रहा है, और मार्ग्रेट थैचर के मस्तिष्क में यह भ्रम छाया हुआ है कि ब्रिटेन के बिना राष्ट्रमण्डल का कोई अस्तित्व ही नहीं है। अपनी इसी संकीर्ण सोच के कारण ब्रिटेन पहले वेंकूवर सम्मेलन (1987) में और अब कुआलालम्पुर के राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलन (1989) में अलग-थलग पड़ा रहा। फिर भी यह एक वास्तविकता है कि आज भी ब्रिटेन का ताज राष्ट्रमण्डल का प्रधान माना जाता है और इस दृष्टि से राष्ट्रमण्डल की समस्याओं के निराकरण में ब्रिटेन का ही दायित्व सबसे अधिक है। ब्रिटेन इस दायित्व को कहाँ तक और किस प्रकार निभाता है इस पर राष्ट्रमण्डल का भविष्य निर्भर करता है।

प्रश्न

1. राष्ट्रमण्डमल से आप क्या समझते है ? क्या इसकी सदस्यता से भारत को कोई लाभ है ?
   What do you understand by the Commonwealth ? What are the advantages of its membership to India ?
2. राष्ट्रमण्डल में भारत की भूमिका की विवेचना कीजिए।
   Discuss India's role in the Commonwealth.
3. भारत का राष्ट्रमण्डल में बने रहने का औचित्य बताइए।
   Examine the Causes of India's membership to the Commonwealth.
4. राष्ट्रमण्डल मे भारत के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।
   Evaluate India's Contribution to the Commonwealth of Nations.

1 *India*, 1986, pp. 604-5.

27

उत्तर-दक्षिण संवाद एवं नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था

[NORTH-SOUTH DIALOGUE AND NEW INTERNATIONAL ECONOMIC ORDER]

मानव जाति का विकास 'उत्पादन के साधनों' एवं 'उत्पादित वस्तुओं के आधिक्य' पर निर्भर करता है। मानव समाज की उन्नति 'शान्तिपूर्ण परिस्थितियों' पर निर्भर करती है। शान्ति के लिए संघर्ष, 'विविध सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था' वाले देशों के मध्य शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व पूर्ण निःशस्त्रीकरण आदि आधुनिक विश्व समाज की बुनियादी आवश्यकताएँ हैं।

युद्धों ने मानव जाति का बहुत अधिक नुकसान किया है। 'यदि आप शान्ति चाहते हैं तो युद्ध के लिए तैयार रहिए।' जैसी उक्ति ने शस्त्रीकरण जैसी होड़ प्रारम्भ करके मानवता को अपार हानि पहुँचायी है। एक स्विस समाज वैज्ञानिक के अनुसार मानव सभ्यता के 5,500 वर्षों के काल में 14,531 छोटे-बड़े युद्ध लड़े गये जिनमें 3,640,000,000 लोग मारे गये। ऐसी दुनिया में जहाँ राज्यों के आपसी सम्बन्ध 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' कहावत के आधार पर संचालित होते हों वहाँ समानता की अवधारणा पर आधारित 'अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों' की कल्पना नहीं की जा सकती।

शताब्दियों से एक प्रकार के 'सामाजिक-आर्थिक ढाँचे' का स्थान दूसरा 'सामाजिक-आर्थिक ढाँचा' लेता रहा है परन्तु समानता की अवधारणा पर आधारित विश्व सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन आज तक एक समस्या बना हुआ है। आज 20वीं सदी में इस दृष्टि से क्या कोई बुनियादी परिवर्तन हो रहा है? नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की माँग आज एक अनिवार्य तथ्य क्यों मानी जा रही है?

समकालीन 20वीं शताब्दी में अनेक ऐसी घटनाएँ घटित हुई हैं जिनके कारण समानता, आपसी सहयोग और एक-दूसरे के प्रति सम्मान की भावना के आधार पर विश्व समुदाय के आर्थिक सम्बन्धों का पुनर्निर्धारण महत्वपूर्ण माना जाता है। ऐसी प्रथम घटना है, सोवियत संघ में सन् 1917 में समाजवादी क्रान्ति का होना। सोवियत संघ की समाजवादी क्रान्ति ने नूतन युग का श्रीगणेश किया; साम्राज्यवाद और पूँजीवाद की स्थापित शोषण व्यवस्था के स्थान पर समता और न्याय की अवधारणाओं पर आधारित व्यवस्था का निर्णय किया। द्वितीय घटना है, सन् 1940–50 की अवधि में समाजवादी राज्यों की संख्या में वृद्धि; विश्व में समाजवादी दुनिया का विस्तार। ये समाजवादी देश उपनिवेश विरोधी, विश्व व्यापार एवं आर्थिक सम्बन्धों में समानता के सिद्धान्त पर जोर देने वाले हैं; तीसरी घटना है, राज्यों के आपसी सम्बन्धों में देतान्त (detente)

अर्थात् तनाव शैथिल्यता का अभ्युदय, विविध राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था वाले राज्यों में मधुरता के तत्व का अभ्युदय।

इन घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में अब इस बात पर जोर दिया जाने लगा है कि आर्थिक सम्बन्धों का निर्धारण न्याय और लोकतान्त्रिक आदर्शों पर किया जाना चाहिए। 1960 में विकासोन्मुख देशों की विकास समस्या अध्ययन का केन्द्र-विन्दु हो गयी। वास्तव में युद्धोपरान्त, उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद के बन्धन कमजोर पड़ते जा रहे थे और अल्पविकसित देश राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ ही आर्थिक स्वतन्त्रता भी प्राप्त करना चाहते थे। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और अर्थशास्त्र की शब्दावली में 1970 के दशक में एक नयी अवधारणा का प्रचलन हुआ जिसे "नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था" (The New International Economic Order) के नाम से जाना जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के दस्तावेजों और अन्य प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय दस्तावेजों में इस अवधारणा का बराबर प्रयोग किया जा रहा है।

नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था : अर्थ

(THE NEW INTERNATIONAL ECONOMIC ORDER : MEANING)

'नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था' अवधारणा से अभिप्राय है—नवोदित विकासशील देशों के मन में इस बात की उत्कण्ठा कि उनका आर्थिक विकास पूँजीवादी देशों की स्वेच्छा पर निर्भर न रहे, बहुराष्ट्रीय निगम उन्हें कच्चा माल उत्पन्न करने वाले उपनिवेश न मानें।[1] विश्व आर्थिक व्यवस्था का संचालन एक-दूसरे की सम्प्रभुता का समादर, अहस्तक्षेप तथा कच्चे माल पर उत्पादक राष्ट्र का पूर्णाधिकार आदि सिद्धान्तों पर हो।[2]

वस्तुतः, ये सिद्धान्त विकासशील राष्ट्रों के राष्ट्रीय हितों के अनुकूल हैं चूँकि विश्व के आधे से भी अधिक कच्चे माल पर उनका क्षेत्राधिकार है। औचित्यपूर्ण आर्थिक स्वाधीनता की स्थापना के लिए तीसरी दुनिया के राष्ट्रों ने नूतन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के निर्माण की माँग की है।[3] विकासशील देशों को नयी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के निर्माण की काफी आशाएँ हैं चूँकि निवर्तमान विश्व आर्थिक व्यवस्था का पुनर्निर्धारण उनके हितों के अनुकूल होने की सम्भावना है।[4]

नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के बुनियादी सिद्धान्त अग्र प्रकार हैं :[5]

---

1 "This reflects something more than the legitimate desire of the newly independent countries to end a situation where their economic development is totally dependent on the whims of the imperialist powers and multinational corporations which continue to see the Third World as their raw-material appendage."
—Lev Komlev, *The New International Economic Order* (Sterling, New Delhi, 1981), p. viii.

2 "More and more countries are coming to realise the need for a radical restructuring of the world economic order on the priniciples of respect for the sovereignty of the nations, inadmissibility of the seizure of territory, non-interference in the internal affairs of one-another and the guaranteed and unrestricted right of each state to dispose of its natural resources."
—*Ibid*., p. ix.

3 The Third World countries have demanded the establishment of a new world economic order in an attempt to secure favourable terms of external economic relations necessary for achieving genuine economic independence.
—*Ibid*, p. ix.

4 "The developing countries are pinning great hopes on the introduction of a new world economic order which could make possible at least partial restructuring of the present pattern of world economic relations in their favour."
—*Ibid*., p. ix.

5 The fundamental principle of a new world economic order inclde : (i) establishment of full national sovereignty over mineral resources and all kinds of economic activity; (ii) elimination of price fluctuations for raw materials and narrowing the gap between the price for raw materials and manufactures goods, (iii) extension of prefernces in trade with developed countries, (iv) normalization of the world monetary system, (v) stimulation of industrial exports from developing countries, (vi) adoption of comprehensive measures to narrow the technological gap between developing countries, (vii) alleviation of the burden of financial debt and increasing the inflow of real resources from developed countries, (viii) regimentation and control over the activities of multi-national corporations.
—*Ibid*., p. ix & x.

(1) खनिज पदार्थों और समस्त प्रकार के आर्थिक क्रियाकलापों पर किसी राष्ट्र की सम्प्रभुता की स्थापना करना;

(2) कच्चे माल की कीमत को घटाने-बढ़ाने की प्रवृत्ति का निरोध तथा कच्चे माल और तैयार माल की कीमतों में ज्यादा अन्तर न होना;

(3) विकसित देशों के साथ व्यापार की वरीयता का विस्तार;

(4) विश्व मुद्रा व्यवस्था में सामान्यीकरण करना;

(5) विशासशील देशों द्वारा उत्पादित औद्योगिक माल के निर्यात को प्रोत्साहन देना;

(6) विकासशील देशों और विकसित देशों के मध्य तकनीकी उत्थान की खाई को पाटना;

(7) विकासशील देशों पर वित्तीय ऋणों के भार को कम करना;

(8) बहुराष्ट्रीय निगमों की गतिविधियों पर समुचित नियन्त्रण लगाना।

उपर्युक्त सभी माँगें विश्वव्यापी हैं और विकासशील तीसरी दुनिया के राष्ट्रों के हितों के के अनुकूल हैं।

नवीन आर्थिक व्यवस्था की माँग सबसे पहले डॉ० कुर्तवाल्डाहिम ने उस समय रखी जन्न 1974 में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के विशेप अधिवेशन में उद्घाटन भाषण देते हुए उन्होंने कहा कि इस समय संसार में जो अर्थव्यवस्था है वह घोर वैपम्य पर आधारित है""नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था कतिपय निदेशक तत्वों का ऐसा समूह है जिस पर अमल करने से विकासशील देशों को अधिकाधिक सुविधा प्राप्त हो सके। इसका समग्र केन्द्र-बिन्दु है—आर्थिक शक्ति का न्यायोचित वितरण एवं कच्चे माल एवं उत्पादन का वितरण""। संयुक्त राष्ट्र महासभा ने मई 1974 में अपने विशेष अधिवेशन में 'नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था' की स्थापना हेतु पारित घोषणा एवं कार्यक्रम (The Declaration and the Programme of Action on the Establishment of a New International Economic Order) में वर्तमान प्रचलित आर्थिक व्यवस्था का नूतन ढाँचा प्रस्तुत किया। 'नूतन आर्थिक व्यवस्था' की स्थापना की माँग साम्राज्यवाद विरोधी ऐसी माँग है जिससे एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के अधिकांश राष्ट्र सहमत हैं। समाजवादी खेमे के राष्ट्रों ने इन माँगों का समर्थन किया है।

तालिका 1, 2, 3, 4 में प्रदत्त आँकड़ों से यह स्पष्ट होता है कि विकासशील राष्ट्रों की जनसंख्या विश्व की कुल जनसंख्या का 73·6% है जिसका हिस्सा विश्व की कुल उत्पत्ति से मात्र 21·5% है जबकि विकसित राष्ट्रों की आबादी दुनिया की कुल आबादी का महज 26·4% है जो विश्व की कुल उत्पत्ति के 78·5% का भागी है। संयुक्त राज्य अमरीका की कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति के प्रतिशत रूप में प्रचलित मूल्यों पर विकासशील राष्ट्रों की प्रति व्यक्ति आय है 6·4%, जबकि विकसित राष्ट्र के सन्दर्भ में यह 92·8% है। पूरे विश्व के सन्दर्भ में यह औसत 21·7% है। विकासशील राष्ट्रों की प्रति व्यक्ति आय 730 डॉलर है जबकि विकसित राष्ट्रों की प्रति व्यक्ति आय 10,720 डॉलर; पूरे विश्व के सन्दर्भ में तत्सम्बन्धी आँकड़ा 2510 डॉलर है।

तालिका 2 और 3 के आँकड़े यह प्रदर्शित करते हैं कि 1950–75 की अवधि में धनी एवं गरीब देशों के बीच प्रति व्यक्ति आय की विषमता बढ़ती गयी और अस्सी वाले दशक के पूर्वार्द्ध में और बढ़ने की सम्भावना है।

इन तालिकाओं में प्रदत्त साक्ष्य विद्यमान अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत निरन्तर वृद्धिमान विषमताओं को इंगित करते हैं तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा द्वारा एक नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था सम्बन्धी उद्घोषणा के पीछे औचित्य को सम्पुष्ट करते हैं।

तालिका 1—जनसंख्या, कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति एवं प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय उत्पत्ति : हिस्सा, सम्बन्ध और विकास, 1955–80

राष्ट्र समूह	विश्व जनसंख्या में हिस्सा (प्रतिशत)		विश्व जी० एन० पी० में हिस्सा (प्रतिशत)		संयुक्त राज्य जी० एन० पी० के० प्रतिशत रूप में प्रचलित मूल्यों पर प्रति व्यक्ति जी० एन० पी०		1980 के स्थायी डालर में प्रति व्यक्ति जी० एन० पी०	
	1950	1980	1955	1980	1955	1980	1955	1980
निम्न आय राष्ट्र	44·7	47·1	8·1	4·8	2·7	2·2	160	260
मध्य आय राष्ट्र	23·4	26·5	12·6	16·7	8·1	13·7	700	1580
सभी विकासशील राष्ट्र	68·1	73·6	20·7	21·5	4·5	6·4	340	730
सभी विकसित राष्ट्र	31·9	26·4	79·3	78·5	65·1	92·8	4640	10720
कुल (विश्व)	100·0	100·0	100·0	100·0	100·0	100·0	1320	2510

स्रोत : वर्ल्ड डेवलपमेण्ट रिपोर्ट, 1982, विश्व बैंक, पृ० 22 ।

तालिका 2—जनसंख्या एवं कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति का विवरण : 1950–85

राष्ट्र समूह	जनसंख्या का प्रतिशत		कुल जी० एन० पी० (बिलियन डालर)		वृद्धिमान आय का हिस्सा (प्रतिशत)		प्रति व्यक्ति आय (डालर)			प्रति व्यक्ति आय की औसत वृद्धि	
	1975	1950	1975	1985	1950–75	1976–85	1950	1975	1985	'50–75	'76–85
निम्न आय राष्ट्र	43	69	175	286	3	4	104	150	195	2	5
मध्य आय राष्ट्र	33	208	873	1543	21	25	454	957	1327	20	37
सभी विकास० राष्ट्र	76	277	1048	1829	24	29	—	अप्राप्य	—	....	....
सभी विकसित राष्ट्र	24	1341	3841	5795	76	71	2615	5883	8316	121	243
कुल (विश्व)	100	1618	4885	7624	100	100					

स्रोत : विश्व बैंक के तत्कालीन अध्यक्ष रॉबर्ट एस० मैकनमारा का बोर्ड ऑफ गवर्नर्स के समक्ष वार्षिक अभिभाषण, 1978

तालिका 3

सापेक्षित आय अन्तर : विकसित राष्ट्रों की आय के प्रतिशत के रूप में विकासशील राष्ट्रों की प्रति व्यक्ति आय

राष्ट्र समूह	1950	1960	1975
विकासशील राष्ट्र :			
सबसे गरीब राष्ट्र	6·1	4·0	2·6
मध्य आय राष्ट्र	20·8	18·3	17·0
तेल निर्यातक राष्ट्र	अप्राप्य	16·1	22·6
सभी विकासशील राष्ट्र	11·9	9·7	9·2

तालिका 4

निरपेक्ष निर्धनता के अनुमानित स्तर : 1975–2000 ई०

राष्ट्र समूह	संख्या (मिलियन मे)			कुल जनसंख्या का प्रतिशत		
	1975	1985	2000	1975	1985	2000
निम्न आय राष्ट्र	630	575	540	52	39	27
मध्य आय राष्ट्र	140	140	60	16	12	4
सभी विकास० राष्ट्र	770	715	600	37	27	17

स्रोत : विश्व बैंक, 1978 ।

निवर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था : अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों की विदेशी व्यापार सम्बन्धी समस्याएँ

(THE PRESENS INTERNATIONAL ECONOMIC ORDER : TRADE PROBLEMS OF UNDER-DEVELOPED COUNTRIES)

आगे दी गयी तालिका 5 एवं 6 से स्पष्ट है कि विकासोन्मुख देशों के विश्व व्यापार के प्रतिशत से तीव्रगति से कमी हुई है । 1948 में इन देशों का प्रतिशत विश्व आयात तथा निर्यात में 31·5 तथा 32·0% था । 1960 में यह घटकर 25·3% आयात तथा 24·2% निर्यात में हो गया । 1972 में आयात-निर्यात का प्रतिशत क्रमश: 18·6 एवं 20·0 हो गया । इस प्रकार बढ़ते हुए विश्व व्यापार में, विकासोन्मुख देशों का योगदान क्रमश: घट रहा है । दूसरे शब्दों में, यह भी कहा जा सकता है कि विकसित देशों का व्यापार अपेक्षाकृत तेजी से बढ़ा है । विकसित देशों के 1948 में आयात 4100 करोड़ डॉलर से बढ़कर 1970 में 23,610 करोड़ डॉलर और 1972 में 31,260 करोड़ डॉलर हो गये । निर्यात 6,350 करोड़ डालर से (1948 में) बढ़कर 22,390 करोड़ डॉलर (1970 में) हो गया । 1972 में निर्यात 29,870 करोड़ डालर थे । इस प्रकार आयात तथा निर्यात में लगभग 6 गुनी वृद्धि हुई । 1970, 1974 और 1975 के आँकड़े, पिछले आँकड़ों से कुछ भिन्न हैं । 1974 में विकासोन्मुख देशों के व्यापार प्रतिशत में हुई । 1974 में आयात तथा निर्यात का प्रतिशत क्रमश: 20·5 तथा 28·9 था । 1965 में आयात का प्रतिशत बढ़कर 28 हो गया । इस प्रकार हाल के वर्षों के विकान्सोमुख देशों के व्यापार में कुछ अधिक वृद्धि हुई है । 1975 में विकसित देशों के आयात तथा निर्यात, 1948 की तुलना में 15 तथा 16 गुना अधिक थे जबकि विकासोन्मुख देशों में यह वृद्धि क्रमश: 10 और 12 गुना थी । यदि केवल 1973-74 की वृद्धि देखें तो विकासोन्मुख देशों के व्यापार में 1975 में 1973 की तुलना में विकसित देशों से अधिक हुई है ।

तालिका 5 एवं 6
विकसित एवं विकासोन्मुख देशों का व्यापार प्रतिशत

राष्ट्र	1948 आयात	1948 निर्यात	1960 आयात	1960 निर्यात	1970 आयात	1970 निर्यात
विकसित	(68·5)	(68·0)	(74·7)	(75·8)	(80·0)	(80·0)
विकासोन्मुख	(31·5)	(32·0)	(25·3)	(24·2)	(20·0)	(20·0)

राष्ट्र	1972 आयात	1972 निर्यात	1973 आयात	1973 निर्यात	1974 आयात	1974 निर्यात	1975 आयात	1975 निर्यात
विकसित	(81·4)	(80·0)	(81·6)	(78·5)	(79·5)	(71·1)	(77·0)	(73·4)
विकासोन्मुख	(18·6)	(20·0)	(18·4)	(21·5)	(20·5)	(28·9)	(23·0)	(26·6)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की धीमी वृद्धि के कारण, विकासोन्मुख देशों में गरीबी के दुश्चक्र के अतिरिक्त व्यापारिक क्षेत्र में भी एक दुश्चक्र बन जाता है। अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों के लिए विदेशी व्यापार का बहुत अधिक महत्व है। परन्तु इन राष्ट्रों को विदेशी व्यापार का विस्तार करने में जिन समस्याओं को वहन करना पड़ता है, वे निम्नलिखित है :

(1) **निर्यात सम्वर्द्धन सम्बन्धी समस्याएँ**—अर्द्ध-विकसित देशों में निर्यात सम्वर्द्धन (प्रोत्साहन) को अधिक से अधिक महत्व दिया जा रहा है जिससे घरेलू विनियोग की मात्रा में वृद्धि की जा सके। परन्तु इन राष्ट्रों में कुल निर्यात आय का बहुत थोड़ा भाग ही पूँजी-निर्माण के लिए उपलब्ध होता है। क्योंकि चालू निर्यात से प्राप्त आय का बड़ा भाग आयात एवं विदेशी ऋणों के मूलधन एवं व्याज के भुगतान में ही उपयोग हो जाता है। ऐसी परिस्थितियों में इन देशों के निर्यात में पर्याप्त वृद्धि करना बहुत आवश्यक हो जाता है ताकि पूंजी-निर्माण में वृद्धि की जा सके। परन्तु निर्यात में इन राष्ट्रों के समक्ष बहुत-सी समस्याएँ हैं, जैसे—

(क) **आय के अनुरूप निर्यात में वृद्धि नहीं**—अर्द्ध-विकसित देशों की आय में वृद्धि होने के साथ-साथ मशीनें, प्लाण्ट, पूँजीगत सामानों एवं विलासिता की वस्तुओं की मांग बढ़ती है, जबकि विकसित राष्ट्रों में खाद्यान्न एवं कच्चे मालों का ही आयात किया जाता है। परन्तु विकसित राष्ट्रों में आय की वृद्धि के साथ-साथ खाद्य-पदार्थों एवं कच्चे माल की मांग में आय वृद्धि के अनुपात में वृद्धि नहीं होती। इस प्रकार विकास के व्यापक वातावरण में अर्द्ध-विकसित देशों के आयात में तीव्र गति से वृद्धि होती है परन्तु निर्यात में उसके अनुरूप वृद्धि नहीं हो पाती है।

(ख) **चक्रीय परिवर्तन**—अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों का विदेशी व्यापार चक्रीय परिवर्तनों से प्रभावित रहता है जबकि औद्योगिक अर्थव्यवस्था वाले देशों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। इसका मुख्य कारण यह है कि अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था निर्यात पर ही अधिक केन्द्रित रहती है और उनकी कुल राष्ट्रीय आय का बहुत बड़ा भाग निर्यात से ही प्राप्त होता है। साथ ही अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों के निर्यातों का केन्द्रीयकरण कुछ ही विकसित राष्ट्रों में होता है और इन देशों के निर्यातों की प्रवृत्ति ऐसी है कि इनके निर्यात में सम्मिलित होने वाली वस्तुओं की संख्या बहुत कम और निश्चित होती है। उदाहरण के लिए, ईरान अपनी कुल विदेशी मुद्रा के उपार्जन का 90% तेल के निर्यात से, मिस्र 90% रुई के निर्यात से प्राप्त करता है। इसी प्रकार मलाया अपनी कुल विदेशी मुद्रा का 75% रबड़ के निर्यात से प्राप्त करता है। इन परिस्थितियों में अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों का निर्यात प्राप्त करने वाले देशों में इनकी वस्तुओं की मांग में जब कमी आती है तो वहीं उसका प्रतिकूल प्रभाव अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों पर पड़ता है। अधिक स्पष्ट शब्दों में, कुछ ही वस्तुओं के निर्यात पर अत्यधिक निर्भरता के कारण अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्था में व्यापक-चक्र का

आगमन आसानी से हो जाता है, क्योंकि विदेशों में मन्दगी के फलस्वरूप इन देशों की वस्तुओं की माँग कम हो जाती है। माँग की कमी आ जाने के कारण उन वस्तुओं का निर्यात कम हो जाता है, उत्पादन कम होने लगता है, बेकारी बढ़ने लगती है और लोगों की आय कम हो जाती है। इस प्रकार अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों के विदेशी व्यापार पर विकसित अर्थव्यवस्था की आय में होने वाले चक्रीय परिवर्तनों का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है।

(ग) **औद्योगिक उत्पादन के प्रकार में परिवर्तन**—विकसित और अर्द्ध-विकसित देशों के औद्योगिक उत्पादन के प्रकार में परिवर्तन हो रहा है जिसके कारण भी अर्द्ध-विकसित देशों के निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। विकसित राष्ट्रों में प्राथमिक कच्चे माल की आवश्यकता कम होती जा रही है क्योंकि वहाँ उपभोक्ता उद्योगों के स्थान पर इंजीनियरिंग और रसायन जैसे भारी उद्योगों को महत्व दिया जा रहा है, जबकि विकासोन्मुख देशों में औद्योगीकरण को बढ़ावा दिये जाने के कारण द्वितीयक उद्योगों का विस्तार हुआ है। ये उद्योग उन कच्चे मालों का उपयोग करने लगे हैं जो निर्यात के लिए उपलब्ध होते थे। इसका परिणाम यह हुआ है कि विकासोन्मुख देशों के पास निर्यात में माँगी जाने वाली वस्तुओं की पर्याप्त पूर्ति नहीं है और अधिक विदेशी मुद्रा प्राप्त करना कठिन हो गया है जिसके परिणामस्वरूप आवश्यक आयात को भी कम करना पड़ता है, जो विकास की गति को अवरुद्ध कर देता है।

(घ) **विकसित देशों से प्रतिस्पर्द्धा**—विकासोन्मुख देशों में कच्चे माल व प्राथमिक वस्तुओं के निर्यात में कमी हो जाने पर अन्य वस्तुओं, जैसे हल्की इंजीनियरिंग वस्तुएँ, टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुएँ आदि के निर्यात को बढ़ाने के प्रयास किये जाते हैं। परन्तु आरम्भिक अवस्था में विकासशील देश अधिक निर्यात नहीं कर पाते क्योंकि इन राष्ट्रों को विकसित राष्ट्रों के साथ प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ती है चूंकि अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों द्वारा बनायी गयी वस्तुएँ अपेक्षाकृत निकृष्ट किस्म की व महँगी होती हैं इसलिए ये राष्ट्र विकसित राष्ट्रों के साथ प्रतिस्पर्द्धा में नहीं टिक पाते।

(2) **यातायात सम्बन्धी समस्याएँ**—एक विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था को, जो औद्योगीकरण करने के लिए प्रयत्नशील है, बड़ी मात्रा में आयात की आवश्यकता होती है। मोटे रूप से निम्नलिखित वस्तुओं के आयात की आवश्यकता होती है—पूंजीगत वस्तुएँ जैसे मशीनरी तथा अन्य साज-सामान; औद्योगिक कच्चा माल, तकनीकी ज्ञान, इन देशों में पूंजी का भी अभाव रहता है, इसलिए इन्हें विदेश से ऋण लेने पड़ते हैं। विकास के प्रारम्भिक वर्षों में आयात में तीव्र गति से वृद्धि होती है जिनका भुगतान देश में उपलब्ध साधनों से करना सम्भव नहीं होता। अतः उन आयातों के भुगतान की अधिकाधिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए निर्यात बढ़ाना आवश्यक होता है अन्यथा भुगतान की कठिन समस्या उत्पन्न हो जाती है और विकास के मार्ग में बाधा उपस्थित होने लगती है।

(3) **व्यापार की शर्तें**—किसी भी देश की निर्यात से प्राप्त होने होने वाली आय केवल निर्यात की मात्रा पर निर्भर नहीं होती बल्कि उसके मूल्य पर निर्भर रहती है। इस प्रकार विदेशी व्यापार से लाभ की गणना करने में व्यापार की शर्तों का अधिक महत्व होता है। व्यापार की शर्तें उस दर से सम्बन्धित हैं जिस पर किसी देश के निर्यात और आयात से विनिमय होता है। व्यापार की शर्तों के अनुकूल होने पर निर्यात से अधिक विदेशी मुद्रा मिलती है और आयात के बदले में कम विदेशी विनिमय का भुगतान करना पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप देश को विदेशी व्यापार से काफी लाभ आर्थिक विकास हेतु प्राप्त हो जाता है। इसके विपरीत, जब व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होती हैं तो आयात की तुलना में निर्यात की मात्रा अधिक होने पर भी लाभ की मात्रा नगण्य होती है।

वस्तुतः, विदेशी व्यापार से मिलने वाले आर्थिक विकास के लिए योगदान व्यापार की

शर्तों पर निर्भर रहता है। परन्तु दुर्भाग्यवश विदेशी व्यापार से निर्धन राष्ट्रों की व्यापार शर्तों में दीर्घकाल तक प्रतिकूलता रहने से उनकी आय का अधिकांश भाग विकसित राष्ट्रों को जाता रहता है जिससे अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों के कार्यक्रम में बाधा उपस्थित होती है।

व्यापार बनाम आर्थिक सहायता
(TRADE *vs*. ECONOMIC AID)

पिछले कुछ वर्षों से विकासशील देशों को भी यह अनुभव होने लगा है कि आर्थिक सहायता के नाम पर बड़े देश की उनकी सहायता नहीं करते अपितु एक एसा व्यूह तैयार कर देते हैं जिसमें उत्तरोत्तर विकासशील देशों पर ऋण बढ़ता जाता है। साथ ही यह भी अनुभव किया जा रहा है कि विकसित देश आर्थिक सहायता के माध्यम से अपने बाजारों का विस्तार करते हैं जबकि स्वयं उन्होंने विकासशील देशों से निर्यातित वस्तुओं के आगमन पर कठोर प्रतिबन्ध लगाये हुए हैं। इन प्रतिबन्धों के कारण विकासशील देशों के निर्यात कम हुए हैं। अस्तु, एक ओर आर्थिक सहायता की प्रतिकूल शर्तों के कारण इन देशों पर ऋण का भार बढ़ा है, दूसरी ओर इनके निर्यातों में कमी होने के कारण इन देशों पर ऋण का भुगतान करने की क्षमता भी कम हुई हैं। उदाहरण के लिए, 1950–62 के बीच खनिज तेल के निर्यात के अतिरिक्त विकासशील देशों के अन्य निर्यातों में 12% की कमी हुई। इसके फलस्वरूप इन देशों को 1200 करोड़ डालर का विदेशी विनिमय खोना पड़ा। यदि इसके विपरीत विकासशील देशों की व्यापार शर्तें 1950 के स्तर पर रहतीं तो 1962 से 1950 की अपेक्षा 2300 करोड़ डॉलर का विदेशी विनिमय अधिक प्राप्त किया जा सकता था।[1]

1964 से 1967 तक व्यापार एवं प्रशुल्क पर हुए सामान्य समझौते (GATT) के अन्तर्गत विकसित एवं विकासशील देशों के बीच विचार-विमर्श होता रहा परन्तु विकासशील देशों के निर्यात व्यापार के विस्तार हेतु कोई ठोस सुझाव स्वीकार नहीं किये गये। विकासशील देशों में से कुछ ने तो यहाँ तक कहना प्रारम्भ कर दिया कि वे आर्थिक सहायता की अपेक्षा निर्यात वृद्धि हेतु विकसित देशों से रियायतें प्राप्त करना अधिक उपयुक्त मानते हैं। इन देशों की यह शिकायत थी कि व्यापार एवं प्रशुल्क पर वे समझौते (GATT) के अन्तर्गत आयोजित मन्त्रणाओं पर धनी एवं विकसित देशों का वर्चस्व रहता है और ये देश विकासशील देशों से आने वाली वस्तुओं पर विद्यमान प्रतिबन्धों में किसी प्रकार की रियायत करने को तैयार नहीं हैं।

यद्यपि कुछ विकसित देशों, जैसे अमरीका व ब्रिटेन ने विकासशील देशों के साथ होने वाले व्यापार में कुछ रियायतें प्रदान कर दीं परन्तु वे पर्याप्त नहीं समझी गयीं। इसके अतिरिक्त, अन्य विकसित देशों के साथ हुई वार्ताएँ लगभग असफल ही सिद्ध हुई। यह उल्लेखनीय है कि यूरोपियन आर्थिक समुदाय विकासशील देशो से 30% वस्तुएँ आयात करता है, परन्तु समुदाय का दृष्टिकोण इन देशों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नहीं रहा है।

विकसित देशों के उदासीनतापूर्ण दृष्टिकोण के कारण विकासशील देशों की व्यापार शर्तें प्रतिकूल होती गयीं तथा विश्व के कुल व्यापार में उनका सापेक्ष भाग कम होता चला गया। जहाँ 1950 में विश्व के कुल निर्यात का 20% विकासशील देशों से प्राप्त होता था, 1975 तक यह अनुपात गिरकर 11 प्रतिशत रह गया। यहाँ तक कि प्राथमिक वस्तुओं के निर्यात में भी इन देशों का अंश 1950 व 75 के बीच 54 प्रतिशत से घटकर 34 प्रतिशत रह गया। उपरोक्त अवधि में विश्व के कुल निर्यात में विकसित देशों का अंश 61% से बढ़कर 67% हो गया। यह उल्लेखनीय

---

[1] Pierre Jelee, *The Pillage of the Third World* (Translated from French by Mary Klopper), New York, Modern Paperback (1963), p. 47.

है कि विकासशील देशों में तेल निर्यातक देशों की स्थिति पिछले चार वर्षों में काफी अनुकूल हुई है जबकि शेष विकासशील देशों की स्थिति इस अवधि में प्रतिकूल होती गयी है।

पिछले दो दशकों में अमरीका, ब्रिटेन व कुछ यूरोपियन देशों द्वारा विकासशील देशों को दी गयी रियायतों के कारण इन (विकासशील) देशों से निर्मित वस्तुओं के निर्यात में 10·0% की दर से वृद्धि हुई (1950 से 1975 के बीच)। इसके पश्चात् आज भी विकासशील देशों से निर्यात की जाने वाली निर्मित वस्तुओं का अनुपात उनके कुल निर्यात के 20% से भी कम है। दूसरी ओर, इन देशों से कृषिजन्य निर्यात उक्त अवधि से लगभग स्थिर रहे हैं।

अधिकांश विकासशील देश प्राथमिक वस्तुओं का निर्यात करते हैं जबकि उन आयातों में औद्योगिक कच्चे माल, मशीनों, निर्मित वस्तुओं तथा खाद्यान्नों का प्रमुख स्थान है। अधिकांश प्राथमिक वस्तुओं विशेष रूप से कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में पिछले कुछ वर्षों में काफी अधिक उतार-चढ़ाव हुए हैं। विकासशील देशों में तेल निर्यातक देशों के अतिरिक्त शेष को प्राथमिक वस्तुओं के मूल्य में होने वाले उतार-चढ़ावों से भारी हानि उठानी पड़ रही है। 'GATT' द्वारा किये गये एक सर्वेक्षण के अनुसार पाँच वस्तुओं—चाय, जूट, लोहा, तम्बाकू तथा केलों की व्यापार शर्तें 1972-73 के समृद्धि काल में भी प्रतिकूल हो गयी थीं। यह उल्लेखनीय है कि 17 विकासशील देशों को इनमें से कम से कम एक वस्तु के निर्यात से कुल निर्यात आय का 50 प्रतिशत अधिक भाग प्राप्त होता है। 1975 के प्रथम तीन महीनों में 10 अन्य वस्तुओं की व्यापार शर्तों के लिए प्रतिकूल हो गयीं। ये वस्तुएँ थीं—तांबा, रबर, कॉफी, नारियल का तेल, खालें व चमड़ा, खोपरा, कपास, पॉम आयल, पॉम कर्नल आयल तथा खली। 26 विकासशील देशों की निर्यात आय का 20 से 50 प्रतिशत इनमें से कम से कम एक वस्तु से प्राप्त होता है जबकि 16 अन्य विकासशील देश इनमें से कम से कम एक वस्तु के निर्यात द्वारा 50 प्रतिशत से अधिक निर्यात आय प्राप्त करते हैं। GATT के सर्वेक्षण के अनुसार विकासशील देशों द्वारा निर्यातित प्राथमिक वस्तुओं की बढ़ती हुई व्यापार शर्तों के कारण 1975 के 6 माह में इनमें सुरक्षित कोषों में 60 करोड़ डॉलर की कमी हो गयी।[1]

1973 के अन्त में पैट्रोल के मूल्यों में हुई अप्रत्याशित वृद्धि के फलस्वरूप बड़े औद्योगिक देशों का उत्पादन 1974 में कम हो गया। इसके फलस्वरूप 1975 में विकासशील देशों से आयात की जाने वाली वस्तुओं की माँग व इनकी कीमतों में भी कमी हुई। कॉफी तथा खोपरे के निर्यात मूल्यों में 70 प्रतिशत की, शक्कर की कीमत में 66 प्रतिशत की, कोको के बीजों में 50% की, प्राकृतिक रबर की कीमतों में 40 प्रतिशत की, जूट में 30 प्रतिशत की तथा कपास की कीमतों में 16 प्रतिशत की कमी हुई। इसके विपरीत, इन देशों द्वारा आयात की जाने वाली वस्तुओं विशेषतः पैट्रोल एवं उससे निर्मित वस्तुओं, कागज, इस्पात, मशीनों, खाद्यान्नों व अन्य आवश्यक वस्तुओं की कीमतें बढ़ गयीं। इनके फलस्वरूप इन देशों के विदेशी व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो गयीं।

एक ओर विकसित देशों के महत्वपूर्ण उद्योगों में विद्यमान अवस्फीति और दूसरी ओर औद्योगिक वस्तुओं के बढ़ते हुए मूल्यों ने विकासशील देशों की स्थिति को काफी संकटपूर्ण बना दिया है। एक ओर उनके आयातों के मूल्य व परिमाण में लगातार वृद्धि हुई है, वहीं दूसरी ओर प्राथमिक वस्तुओं के मूल्यों की अनिश्चितता ने उनके व्यापार के घाटे को काफी बढ़ा दिया है। कुछ वर्षों में प्राथमिक वस्तुओं के मूल्यों में कुल मिलाकर 20 से 60 प्रतिशत तक वृद्धि हुई है, जबकि औद्योगिक वस्तुओं के मूल्य में 200 से 300 प्रतिशत तक वृद्धि हुई है।

---

1 T. C. Nair, "Problems of Trade and Transfer of Resources" *The Economic Times*, May 3 & 4, 1976.

एक ओर प्रतिकूल व्यापार की शर्तें और दूसरी ओर बढ़ता हुआ ऋण प्रभाव इन दोनों ने विकासशील देशों के भुगतान-संतुलन को प्रतिकूल बना दिया है। 1973 में गैर-तेल निर्यातक विकासशील देशों की ऋणात्मक भुगतान बाकी 900 करोड़ डॉलर थी जो 1974 एवं 1975 में क्रमशः 2800 करोड़ डॉलर तथा 3500 करोड़ डॉलर हो गयी। इस अवधि में तेल-निर्यातक देशों के चालू खातों की अनुकूल बाकी 600 करोड़ डॉलर (1973) से बढ़कर 4500 करोड़ डॉलर (1975) हो गयी।

व्यापार सन्तुलन की दृष्टि से 1972 एवं 1973 के अतिरिक्त 1964 से 1973 के मध्य गैर-तेल निर्यातक विकासशील देशों की प्रतिकूल बाकी 1054 करोड़ डॉलर की थी। 1974 व 1976 के बीच इन देशों की प्रतिकूल बाकी 10,559 करोड़ डॉलर के लगभग थी। एक अनुमान के अनुसार, यदि विकासशील देशों के निर्यातों के मूल्य में उतनी ही वृद्धि होती जितनी कि विकसित देशों के मूल्यों में हुई थी, तो इन दस वर्षों में विकासशील देशों का अनुकूल व्यापार सन्तुलन 600 करोड़ डॉलर होता है। जापान को छोड़कर एशिया के प्रमुख देशों का विदेशी व्यापर का घाटा 1973 में 321·4 करोड़ था, परन्तु 1976 तक यह बढ़कर 529 करोड़ डॉलर तक पहुँच गया।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि विगत एक दशक में गैर-तेल-निर्यातक विकासशील देशों का व्यापार असन्तुलन गम्भीर रूप से प्रतिकूल हो गया है, तथा उन्हें अपनी आय का एक बड़ा अंश विकसित देशों को हस्तान्तरित करना पड़ रहा है।

विदेशी आर्थिक सहायता के राजनीतिक प्रभाव

आज विकासशील देश इस बात के लिए दबाव डाल रहे हैं कि विकसित देश उन्हें व्यापार रियायतें देकर उनके विद्यमान घाटे को न्यूनतम करने में सहायता दें। आज विकासशील देशों में से अधिकांश आर्थिक सहायता की अपेक्षा व्यापार रियायतों को प्राथमिकता देना पसन्द करते हैं। इन बढ़ती हुई प्राथमिकताओं के पीछे निम्न विचारधाराएँ सक्रिय प्रतीत होती हैं : (i) आर्थिक सहायता के फलस्वरूप विकासशील देशों पर ब्याज के भार में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। (ii) भविष्य में प्राप्त होने वाली सहायता की राशि इससे सम्बद्ध शर्तें अनिश्चित हैं। विकसित देशों की जनता या वहाँ के जन-प्रतिनिधि भी इस पक्ष में नहीं हैं. कि देश विकासशील देशों को लम्बे समय तक आर्थिक सहायता प्रदान करें। उधर विकासशील देश भी यह जानते हैं कि राजनीतिक व अन्य कारणों से अधिक उपयुक्त यही होगा कि विदेशी सहायता पर अपनी निर्भरता को कम करते जायें। (iii) विदेशी सहायता से देश आत्मनिर्भर नहीं बन सकता और आर्थिक तथा तकनीकी दृष्टि से परमुखापेक्षी हो जाता है। (iv) विदेशी सहायता से होने वाले तात्कालिक लाभ के फेर में देश पर कर्ज का भारी बोझ आ जाता है जिसको चुकाते-चुकाते नाक में दम आने लगती है। (v) विकासशील देशों के नेता यह मानते हैं कि आर्थिक सहायता प्राप्त करने पर उनकी राजनीतिक स्वतन्त्रता कम हो जाती है। अतः "सहायता नहीं, व्यापार" (Trade, not aid) का नारा प्रचलित हुआ है।

निष्कर्षतः, आज विकासशील देशों—विशेष रूप से तेल अनिर्यातक देशों—के समक्ष बढ़ते ऋण प्रभार की गम्भीर समस्या है। दूसरी ओर, विकसित देशों की नीतियों के कारण विकासशील देशों की व्यापार शर्तें तथा व्यापार की बाकी शर्तें उत्तरोत्तर प्रतिकूल होती जा रही हैं। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि विकासशील तथा विकसित देशों में परस्पर सौहार्द्र एवं विश्वास की जो भावना होनी चाहिए उसका निरन्तर अभाव अनुभव किया जा रहा है। व्यापारिक रियायतों के साथ-साथ उदार शर्तों पर आर्थिक सहायता देने पर ही विकासशील देशों की समस्याओं का निदान सम्भव है।

विकासशील देशों की ऋण वृद्धि : विषम मसला

एक अन्य मसला है विकासशील देशों पर बढ़ता हुआ ऋण का दबाव। 1980 में विकासशील देशों पर 63,400 करोड़ अमरीकी डॉलरों के बराबर कर्ज था जो उनके द्वारा कुल निर्यात की जाने वाली वस्तुओं व सेवाओं के 20 प्रतिशत के बराबर था। 1986 मे यह कर्जा 1,10,000 करोड़ अमरीकी डॉलर हो गया और यह ऋण भार इनके कुल निर्यातों का 169 प्रतिशत हो गया। 1988 के प्रारम्भ तक इन ऋणों की राशि बढ़कर 1,27,000 करोड़ अमरीकी डॉलर हो गयी। दक्षिण अमरीकी देशों की स्थिति बेहद खराब है क्योंकि उन पर ऋणों का बोझ उनके कुल वार्षिक निर्यातों के तीन गुने से भी अधिक हो गया। 1980 में विकासशील देशो के ऋणों का 13 प्रतिशत भाग ऋणों व उन पर ब्याज की वार्षिक अदायगी के लिए प्रयोग किया जा रहा था परन्तु 1986 तक ऋणों व ब्याज की वार्षिक अदायगी की राशि ऋणों की 50 प्रतिशत के बराबर हो गयी। कई देश तो वर्ष-प्रतिवर्ष केवल इसीलिए विदेशी ऋण ले रहे हैं जिससे वे ब्याज व ऋणों की वार्षिक अदायगी का भुगतान कर सकें।

व्यापार और विकास के लिए संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन : अंकटाड
(UNITED NATIONS CONFERENCE ON TRADE AND DEVELOPMENT : UNCTAD)

अंकटाड अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ के व्यापार एवं आर्थिक विकास पर हुए अधिवेशन से पूर्व विदेशी व्यापार तथा सहायता सम्बन्धी समस्याओं पर प्रशुल्क दरों एवं व्यापार पर हुए सामान्य समझौते (GATT) के अन्तर्गत विचार किया जाता था। उक्त "सामान्य समझौते" का अल्पविकसित देशों के आशानुरूप लाभ नहीं मिल सका था। इसी कारण अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग हेतु एक नवीन कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया जिसका प्रयोजन अल्पविकसित देशों के विद्यमान अन्तर (Trade gap) में कमी करना था। इसी कार्यक्रम को अंकटाड की संज्ञा दी गयी। अंकटाड की स्थापना संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के एक स्थायी अंग के रूप में 30 दिसम्बर, 1964 को हुई। यह अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों में एक नया मोड़-बिन्दु है और इसने विश्व-व्यापार के विकास को एक नयी दिशा प्रदान की है क्योंकि विकासशील देशों के विशेष सन्दर्भ में यह अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों के अध्ययन का प्रथम बड़ा प्रयास है।

अब तक अंकटाड के सात सम्मेलन हो चुके हैं, जिसका संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है :

(1) **अंकटाड प्रथम** (UNCTAD-I)—अंकटाड का प्रथम सम्मेलन 23 मार्च, 1964 को जेनेवा में आरम्भ हुआ। अंकटाड प्रथम विश्व-व्यापार को विकसित करने और अर्द्ध-विकसित देशों के निवासियों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने की दिशा में महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का एक महत्वपूर्ण प्रयास है। इस सम्मेलन में यह अनुभव किया गया कि अर्द्ध-विकसित देशों के आर्थिक विकास की दर को निर्धारित करने में विदेशी व्यापार और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों की भूमिका महत्वपूर्ण है और विकासशील देशों के विकास का अन्तिम दायित्व उन्हीं के कन्धों पर है। इस सम्मेलन के प्रमुख सुझाव निम्नलिखित हैं—(1) सम्मेलन ने यह सुझाव दिया कि विकासशील देशों के निर्यात के हित में विकसित देशों को यह चाहिए कि वे व्यापार में किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित न करें तथा प्रशुल्क की मात्रा में और अधिक वृद्धि न करें। साथ ही विकासशील देशों को चाहिए कि वे निर्यात सम्वर्द्धन के सम्बन्ध में प्रयास करें। (2) विकासशील देशों को अपनी अर्थव्यवस्था में विविधता लानी चाहिए अर्थात् प्रारम्भिक उत्पादन के स्थान पर औद्योगिक उत्पादन को प्राथमिकता देनी चाहिए। (3) प्रादेशिक संगठनों के माध्यम से आयात प्रतिस्थापन को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। विकसित देशों को चाहिए कि वे अपनी वास्तविक आय का कम से कम 1% भाग विदेशी सहायता के रूप में विकासशील देशों को दें। (5) विकासशील देशों चाहिए कि वे अपने अदृश्य व्यापार को जहाजरानी, पर्यटन आदि के माध्यम से उन्नत करें।

(5) विभिन्न देशों के बीच व्यापारिक एवं आर्थिक सम्बन्ध सम्प्रभुता और राज्यों की समानता के सिद्धान्त पर आधारित होने चाहिए। उपर्युक्त सुझावों के अनुसार सभी विकासशील देशों में औद्योगिक विकास लाने के उद्देश्य से संयुक्त राष्ट्र संघ के एक नये संस्थान राष्ट्र औद्योगिक विकास संगठन (United Nations Industrial Development Organisation—UNIDO) की स्थापना की गयी जिसका प्रमुख उद्देश्य विकासशील देशों के औद्योगीकरण में सहायता पहुँचाना था।[1]

(2) **अंकटाड द्वितीय** (UNCTAD-II)—नई दिल्ली में 1 फरवरी से 28 मार्च, 1968 तक अंकटाड द्वितीय का सम्मेलन चला जिसमें 12 देशों ने भाग लिया। इस सम्मेलन द्वारा विकसित देशों के उत्तरदायित्वों और विकासशील देशों की कठिनाइयों के पारस्परिक महत्व को समझाने की दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया गया। इस अधिवेशन में निम्नलिखित महत्वपूर्ण विषयों पर विचार-विमर्श किया गया—जैसे, विकासशील राष्ट्रों की निर्मित और अर्द्ध-निर्मित वस्तुओं में निर्यात को अधिक व्यापक बनाना, परिवहन और अदृश्य निर्यातों की समस्या, बाह्यांकित और सहायता, वस्तुओं की समस्याएं और नीतियां, जहाजरानी और समुद्री किराया आदि। यह महसूस किया गया कि विकासशील राष्ट्रों के विकास के मार्ग में खाद्य-सामग्री एक बड़ी बाधा है, अतः विकसित राष्ट्रों को इस सम्बन्ध में सहायता करनी चाहिए।

इस सम्मेलन में इस बात की पुनरावृत्ति की गयी कि सम्पूर्ण विश्व की समृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि अर्द्ध-विकसित देशों के पक्ष में एक सामान्य, विभेद-रहित व पारस्परिकता रहित प्राथमिकता की प्रणाली को शीघ्रता से कार्यान्वित किया जाये ताकि इन देशों के द्रुत आर्थिक विकास में इनका योगदान हो सके। विकसित देशों को स्वतन्त्र एवं उदारतापूर्ण व्यापारिक नीति का अनुसरण करना चाहिए और अर्द्ध-विकसित देशों के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक वित्तीय और तकनीकी सहायता उपलब्ध करनी चाहिए। सम्मेलन में विकासशील देशों ने यह निवेदन किया कि विकसित देशों को चाहिए कि वे अपने बाजारों से सभी प्रकार के अवरोधों को हटा दें ताकि अर्द्ध-विकसित देशों की वस्तुएँ विकसित देशों के बाजारों में बिक सकें। विकसित देशों ने यह स्वीकार किया कि वे अर्द्ध-विकसित देशों को दी जाने वाली ऋण की शर्तों में और उदारता लायेंगे।

अंकटाड द्वितीय की भी उपलब्धियाँ बहुत महत्वपूर्ण और सन्तोषजनक नहीं रही हैं। प्राथमिकताओं के समानीकृत कार्यक्रम के अन्तर्गत यूरोप के देशों ने कुछ सुविधाएं प्रदान कीं परन्तु अमरीका ने इस सम्बन्ध में कुछ नहीं किया। इसके विपरीत, अमरीका ने 1971 में डालर को संकट से बचाने के लिए आयातों पर 10% का अतिरिक्त कर लगाया जिससे विकासशील देशों द्वारा संयुक्त राज्य अमरीका को किये गये निर्यातों पर हानि उठानी पड़ी। स्वयं सम्मेलन के महासचिव डॉ० पॉल प्रेविश भी सम्मेलन के परिणामों से सन्तुष्ट नहीं थे।

(3) **अंकटाड तृतीय** (UNCTAD-III)—अंकटाड तृतीय से पूर्व 1971 में "77 देशों के समूह" की मन्त्रिस्तर की वार्ता बैठक हुई। इस बैठक में वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संकट एवं इससे विकासशील देशों की वित्तीय एवं व्यापार की स्थिति पर होने वाले प्रभावों के विषय में विस्तृत चर्चा हुई। एशियाई देश के नेताओं ने इस बैठक में मौद्रिक संकट तथा विकसित देशों में बढ़ती हुई संरक्षण की प्रवृत्ति के विरुद्ध चेतावनी देते हुए कहा था कि इनके कारण न केवल विकासशील देशों के निर्यात व्यापार पर ही प्रतिकूल प्रभाव होंगे अपितु अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के

[1] अंकटाड प्रथम में 77 विकासशील देशों ने भाग लिया जिन्हें "77 का समूह" (Group of 77) कहा जाता है। इन 77 देशों ने संयुक्त रूप से उनकी विदेशी व्यापार सम्बन्धी गम्भीर कठिनाइयों को प्रस्तुत किया तथा यह भी बताया कि किस प्रकार विकसित देशों की दोषपूर्ण नीतियों के कारण ये समस्याएँ और अधिक विकट रूप धारण कर रही हैं।

आधार को भी क्षति पहुँचेगी। इन बातों का दृष्टिकोण रखते हुए उन्होंने एक घोषणा की जिसे "संघर्ष के कार्यक्रम" (Programme of Acrion) की संज्ञा दी जाती है। इस कार्यक्रम में उन सब उपायों का विवरण है जो व्यापार एवं आर्थिक विकास के विस्तार हेतु प्रयुक्त किये जाने चाहिए।

अंकटाड तृतीय के अवसर पर 140 देशों के 3,000 राजनीतिज्ञों एवं अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न मन्त्रणाओं में भाग लिया। यह अधिवेशन 13 अप्रैल, 1972 से मई 1972 तक चिली की राजधानी सैण्टियागो में हुआ। इस अधिवेशन में मुख्य रूप से धनी एवं निर्धन देशों के बीच बढ़ते हुए अन्तर के सम्बन्ध में विचार किया गया। राबर्ट मैक्नामारा ने विश्व के विभिन्न देशों की प्रति व्यक्ति आय में विद्यमान अन्तर को कम करने पर बल दिया।

काफी लम्बी मन्त्रणाओं के पश्चात् अंकटाड तृतीय में निम्नलिखित निर्णयों पर सहमति व्यक्त की गयी—(1) विकसित देशों को विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था के विविधीकरण (Diversification) हेतु सहायता जारी रखनी चाहिए। (2) वस्तु-समझौता पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। (3) जहाजरानी एवं बन्दरगाहों की सुविधाओं पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए ताकि विकासशील देशों में परिवहन की लागतें कम की जा सकें। (4) विकासशील देशों के निर्यात बढ़ाने हेतु विशेष कदम उठाये जायें; तथा (5) विश्व बैंक को अपने साधनों का अधिक भाग विकासशील देशों की सहायतार्थ देना चाहिए।

अधिवेशन में सर्वसम्मति से यह निर्णय लिया गया कि विश्व के 25% निर्धनतम देशों को प्राथमिकता के आधार पर सहायता दी जाये।

अंकटाड तृतीय भी अर्द्ध-विकसित देशों की आवश्यक समस्याओं का समाधान करने में सर्वथा असफल रहा है। वस्तुतः विश्व में आज विकसित कहे जाने वाले राष्ट्र यह नहीं चाहते कि उनके अधिकारों में किसी प्रकार की कटौती की जाये।

(4) **अंकटाड चतुर्थ (UNCTAD-IV)**—अंकटाड का चतुर्थ सम्मेलन केन्या की राजधानी नैरोबी में 5 मई, 1976 से 5 जून, 1976 तक हुआ जिसमें 153 राष्ट्रों के 2,000 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए केन्या के राष्ट्रपति केन्याता ने कहा कि "विकासशील देशों का सबसे बड़ा संकट यह है कि इनकी बढ़ती हुई आकांक्षाओं के पूरा होने की गति धीमी पड़ती जा रही है।" उन्होंने कहा कि सम्मेलन के समक्ष निम्नलिखित तीन प्रमुख कार्य हैं—(i) विकासशील देशों को तकनीकी ज्ञान हस्तान्तरित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समझौता करना; (ii) विकासशील देशों के बीच परस्पर व्यापार बढ़ाने के लिए बाह्य सहायता दिलाना; (iii) कच्चे माल की बिक्री में कीमतों के उच्चावचनों को नियन्त्रित करना।

सम्मेलन में यह निर्णय लिया गया कि विकासशील देशों के समक्ष जो समस्याएं हैं उनके समाधान के लिए आर्थिक दृष्टि से बुद्धिमानी और राजनीतिक सद्भावना की अपेक्षा है। यह भी प्रस्तावित किया गया कि विश्व से जितनी जल्दी हो सके उपनिवेशवाद को समाप्त कर दिया जाय क्योंकि अर्द्ध-विकसित देशों के आर्थिक विकास में यह सबसे बड़ी बाधा है। सम्मेलन के महासचिव डॉ० गमानी कोरिया ने अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय को चेतावनी दी कि संगठित तीसरी दुनिया के देशों की न्यायोचित और वास्तविक माँगों की वह अवहेलना नहीं कर सकता। यह सर्वथा अनुचित है कि विकसित देश अपनी सम्पन्नता पर गर्व करते रहें और जनसंख्या का एक बड़ा भाग अभाव में जीता रहे। विकासशील देशों के मूल उत्पादों के व्यापार को संचालित करने के लिए एक नया ढांचा इस व्यवस्था में आवश्यक है। इस प्रकार एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था पर जोर दिया गया।

नैरोबी सम्मेलन में 77 देशों का एक गुट गरीब देशों का है। इन देशों ने फरवरी 1976 में मनीला में अपना सम्मेलन किया परन्तु ये देश इस बात पर एकमत नहीं हो पाये थे कि इन वस्तुओं को संरक्षण की आवश्यकता है। इनके दो गुट हो गये थे : एक गुट तेल उत्पादक देशों का

और दूसरा गुट तेलहीन देशों का। ठोस बात यह है कि तेल उत्पादक देशों के गुट के साथ अमीर दुनिया के हित जुड़े है। ये अमीर देश अपने हित की सुरक्षा के लिए कुछ भी कर सकते हैं। उदाहरण के लिए जनवरी 1975 में डॉ० हेनरी किसिन्जर ने तेल उत्पादक देशों को यह धमकी दे दी थी कि यदि स्थिति गम्भीर हो गयी तो उनके विरुद्ध बल प्रयोग किया सकता है। नैरोबी सम्मेलन में पुनः डॉ० किसिन्जर ने यह धमकी दी थी कि यदि विकासशील राष्ट्र आर्थिक युद्ध छेड़ते हैं तो स्वयं ही चोट खायेंगे।

अंकटाड के चतुर्थ सम्मेलन में विकासशील और विकसित देशों के स्पष्ट मतभेद उभर कर सामने आ गये। इस सम्मेलन में यह बात स्पष्ट हो गयी कि विकासशील राष्ट्रों की ओर से जो नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की मांग उठायी जा रही है उसका पूंजीवादी पश्चिमी देश विरोध करते हैं ? इस प्रकार विषमता की खाई बढ़ती ही जायेगी। विकसित देशों ने अपनी कुल राष्ट्रीय आय का एक प्रतिशत सहायता के रूप में देने का वचन दिया था, यह घटकर 0·25 प्रतिशत ही रह गयी है।

(5) **अंकटाड पंचम** (UNCTAD-V)—व्यापार तथा विकास सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्र अधिवेशन का पाँचवाँ सम्मेलन 5 मई, 1979 से 3 जून, 1979 तक मनीला में हुआ। अंकटाड 5 की सूची में बहुत से विषय शामिल थे। उनमें वस्तुतः व्यापार तथा विकास के क्षेत्र में विकासशील देशों के सभी प्रमुख विषय शामिल थे यद्यपि कार्यसूची की महत्वपूर्ण शर्त पर विकासशील देशों की नकारात्मक प्रतिक्रिया के कारण अंकटाड के 5 परिणाम निराशाजनक रहे।

(6) **अंकटाड षष्ठ** (UNCTAD-VI)—अंकटाड के तत्वावधान में आयोजित अमीर-गरीब देशों का संवाद 1-14 सितम्बर, 1981 तक पेरिस में चला।[1] नतीजे के नाम पर केवल यही हासिल हुआ कि पूंजी और प्रौद्योगिकी में अग्रणी देश सबसे गरीब देशों के आर्थिक विकास के लिए —यानी उनको अपने माल का बेहतर बाजार बनाने के लिए भी सहायता (वस्तुतः कर्ज) की राशि में बढ़ोत्तरी या खास रियासत देने के लिए तैयार नहीं हैं। उनका ख्याल था कि उनकी पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था अपने ही देशवासियों को पूरा रोजगार नहीं दे पा रही है तो वह दूसरों की 'सहायता' के लिए कमर कैसे कसें। कुल मिलाकर यह तय पाया गया कि कुछ विकसित देश 1985 तक सहायता राशि दूनी कर देंगे और कुछ देशों ने कहा कि वे विकासशील देशों को अपने सकल राष्ट्रीय उत्पादन का 0·15 प्रतिशत भाग तक सहायता देने का लक्ष्य स्वीकार करते हैं। फ्रांस, हालैण्ड, नार्वे और स्वीडन ने निर्धारित लक्ष्य के अनुरूप सहायता देने का वायदा किया, जबकि अमरीका और जापान ने कोई राशि या लक्ष्य मुकर्रर किये जाने का विरोध किया।

(7) **अंकटाड सप्तम** (UNCTAD-VII)—जेनेवा में 7वाँ अंकटाड सम्मेलन 3 अगस्त, 1987 को समाप्त हुआ। अधिवेशन में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जिन्स और कम विकसित देशों की समस्याओं के बारे में कुछ प्रस्तावों पर सहमति हुई, परन्तु तीसरी दुनिया के देशों को ऋण के बारे में सहमति नहीं हो सकी। सम्मेलन में भारत ने आग्रह किया कि अंकटाड को व्यापार एवं सेवाओं की चर्चा तक ही सीमित नहीं किया जाये जिसके लिए औद्योगिक देश प्रयास कर रहे है। औद्योगिक देशों ने अंकटाड को मात्र तकनीकी सहायता का मंच बनाने का प्रयास किया था, परन्तु भारत ने ऐसा नही होने दिया।

कैनकुन सम्मेलन (उत्तर-दक्षिण शिखर सम्मेलन) (North-South Dialogue)

गरीब-अमीर लघु शिखर सम्मेलन मैक्सिको के कैनकुन में 24 अक्टूबर, 1981 को समाप्त हो गया। सम्मेलन की समाप्ति पर नयी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के सन्दर्भ में कोई घोषणा

---

[1] **दिनमान**, 27 सितम्बर-3 अक्टूबर, 1981, पृ० 31।

नहीं की गयी। विकसित और विकाशील देशों के बीच विश्व वार्ता के अगले कदम के सम्बन्ध में नेताओं के बीच सहमति नहीं थी। लेकिन यह खींचतान श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा प्रस्तुत इस समझौतावादी सुझाव के स्वीकार करने से समाप्त हो गयी कि यह वार्ता तात्कालिक महत्व की भावना से हो। विकासमान देशों के नेता विश्व वार्ता को सन् 1982 के प्रारम्भ में चाहते थे—जिसका दृढ़ विरोध अमरीका और अन्य पश्चिमी देशों ने किया। सम्मेलन में जो विश्वव्यापी बातचीत का आधार तैयार किया गया, वह इस सम्मेलन से कुछ सप्ताह पूर्व पश्चिमी देशों व अमरीकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन और विकासशील देशों द्वारा ओटावा में जारी विज्ञप्ति का मिश्रण है।

विकासशील देशों ने इस बात पर जोर दिया कि विश्व बैंक व अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के ढाँचे में व्यापक परिवर्तन किया जाय ताकि बदलती परिस्थितियों में वे अपने दायित्व का अच्छी तरह पालन कर सकें। इस प्रस्ताव का अमीर देशों ने कड़ा विरोध किया और प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। अमीर देशों का कहना था कि इन दोनों संगठनों के ढाँचे के परिवर्तन में संयुक्त राष्ट्र संघ का निर्णय अन्तिम हो। अमीर देश अपने मताधिकार में परिवर्तन नहीं चाहते, न तो वे यह चाहते हैं कि विश्व बैंक व अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के संविधान में कोई परिवर्तन किया जाय जो उनके भारी पक्ष में है। वर्तमान व्यवस्था यह है कि विश्व बैंक का अध्यक्ष हमेशा अमरीकी नागरिक होगा और मुद्रा कोष का डायरेक्टर जनरल पश्चिमी यूरोप का नागरिक होगा। कुछ पश्चिमी देशों के पास इन दोनों संस्थाओं के निर्णय पर वीटो के प्रयोग का भी अधिकार है। इसी कारण वे दोनों संस्थाओं पर से अपना नियन्त्रण हटाने को सहमत नहीं हैं। इस शिखर वार्ता में खाद्यान्न, भुखमरी, कृषि विकास, व्यापार व ऊर्जा पर भी विस्तार से विचार किया गया।

विकासशील देशों के निर्यात से जुड़ी समस्याओं के सन्दर्भ में भारत की ओर से एक पाँच-सूत्री योजना इस शिखर सम्मेलन में प्रस्तुत की गयी। यह सम्मेलन के दस्तावेजों में सम्मिलित तो कर ली गयी, लेकिन विकासशील देशों के दृष्टिकोण से ऊपर का दर्जा नहीं पा सकी। ये पाँच सूत्र निम्नलिखित हैं—(i) जिन्सों के आयात-निर्यात के बारे में नये सिरे से समझौते किये जायें; (ii) जिन्सों के भाव स्थिर करने के लिए अंकटाड के तत्वावधान में साझा कोष बनाने की प्रक्रिया को तुरन्त गतिशील बनाया जाय; (iii) विकासशील देशों में निर्यात वस्तुओं के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने की प्रवृत्ति को रोका और घटाया जाये; (iv) रेशों सम्बन्धी समझौते के नवीनीकरण के लिए बातचीत जल्द शुरू की जाये; (v) विकासशील देशों के निर्यात पर विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्धों की समीक्षा का बन्दोबस्त हो और उन्हें एक निर्धारित अवधि में क्रमशः समाप्त किया जाये।

दक्षिण-दक्षिण सम्वाद (South-south Dialogue)

आज आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में विश्व दो भागों में बँट गया है। ये दो भाग हैं—'उत्तर' और 'दक्षिण'। 'उत्तर' अमीर देशों का प्रतीक है जबकि दक्षिण में गरीब यानी विकासशील देश आते हैं। 'उत्तर' के देशों में अमरीका, जापान, आस्ट्रेलिया, कनाडा, यूरोप आते हैं जबकि दक्षिण देशों में एशिया, अमरीका, अरब देश आते हैं। मैक्सिको भी दक्षिण के देशों में शुमार है।

इन देशों और उनकी समस्याओं के लिए कई प्रकार के मंच हैं लेकिन इनके विचारों और दृष्टिकोणों में मतभेद इतने व्यापक हैं कि समस्याएँ सिकुड़ने के स्थान पर बढ़ती ही चली जाती हैं। अक्टूबर 1981 में कानकुन (मैक्सिको) में उत्तर और दक्षिण के जो 22 देश जुड़े थे उनमें अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग के स्थान पर असहयोग की भावना ही अधिक देखने को मिली। उसी समय कुछ विकासशील देशों के नेताओं ने नयी अर्थव्यवस्था के बारे में सोचना शुरू कर दिया था क्योंकि इस समय विकासशील देशों की संख्या 122 है और इन्हीं में से 77 देशों का गुट पहले से ही अस्तित्व में है।

नई दिल्ली में 22 फरवरी से 24 फरवरी, 1982 की अवधि में 44 देशों का एक सम्मेलन हुआ जिसे 'दक्षिण-दक्षिण सम्वाद' का नाम दिया गया। इस सम्मेलन का उद्घाटन श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने किया। सम्मेलन में औद्योगीकृत उत्तर और विकासशील दक्षिण मुद्दों के अतिरिक्त दक्षिण-दक्षिण विषयों पर भी विचार-विमर्श हुआ। उत्तर पर निर्भरता कम करने की ही दृष्टि से और दक्षिण-दक्षिण में परस्पर सहयोग स्थापित करने के लिए यह सम्मेलन बुलाया गया था। इस सम्मेलन में सऊदी अरब, कुवैत, संयुक्त अरब अमीरात जैसे अमीर देश भी आमन्त्रित थे। उनसे यह आशा थी कि वे अपने गरीब भाइयों की मदद के लिए आगे आयेंगे। यदि ये तेल सम्पन्न देश अपने धन को विकासशील देशों में लगाना स्वीकार कर लें, तो बेशक दक्षिण का आर्थिक चेहरा बदल सकता है।

गुटनिरपेक्ष देशों के हरारे सम्मेलन (1986) ने उत्तर-दक्षिण में बातचीत के स्थान पर दक्षिण-दक्षिण में बातचीत अर्थात् परस्पर आर्थिक सहयोग पर बल दिया। रॉबर्ट मुगाबे ने तो स्पष्ट कहा था कि "दक्षिण-दक्षिण सहयोग और सामूहिक आत्मनिर्भरता को अपनाये बिना अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों में सुधार लाना सम्भव नहीं।" दक्षिण-दक्षिण में सहयोग को बढ़ावा देने के लिए उत्तरी कोरिया में विकासशील देशों के वित्त मन्त्रियों की बैठक का निर्णय लिया गया। यह बैठक उत्तरी कोरिया की राजधानी प्योंगयांग (Pyongyang) में 9 जून, 1987 को शुरू हुई। प्योंगयांग घोषणा और कार्य योजना में दक्षिण-दक्षिण सहयोग और सामूहिक आत्मनिर्भरता पर बल दिया गया।

यूरोपीय शिखर सम्मेलन (European Summit Conference)

विश्व के सात बड़े औद्योगिक देशों के वर्सेलीज शिखर सम्मेलन में[1] यह मान लिया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक तथा गैर-संस्थाओं को बड़े देशों के प्रभाव से मुक्त अधिकाधिक स्वायत्त संस्थाओं की तरह काम करना चाहिए। वर्सेलीज शिखर सम्मेलन के बाद प्रकाशित विज्ञप्ति से स्पष्ट होता है कि विकासशील देशों को सहायता के प्रश्न पर इन बड़े औद्योगिक देशों के विचारों में काफी समानता है। बड़े देश विकासशील देशों के माल की बिक्री के लिए अपनी मण्डियाँ खोलने को तैयार हैं। विकासशील देशों के साथ आर्थिक सहयोग बढ़ाने पर भी शिखर सम्मेलन में सम्मिलित देश काफी हद तक सहमत थे। तीसरी दुनिया के देशों के साथ सहयोग बढ़ाने पर सबसे अधिक जोर फ्रांस और कनाडा ने दिया था।

निष्कर्ष : नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के लिए तर्कसंगत आवश्यकता (Conclusion : Logical Need for New International Economic Order)

विश्व के सबसे गरीब 30 देश आर्थिक गतिरोध के ऐसे दौर से गुजर रहे है कि उन्हें अगले 10 वर्ष तक कम ब्याज पर हर साल 15 अरब डॉलर की सहायता मिलती रहे तभी उनकी अर्थरचनाएँ मजबूत बन सकती हैं। दुनिया के 122 विकासशील देशों में 30 देशों को स्वल्पविकसित की संज्ञा दी गयी है।[2] 'स्वल्प-विकसित' की पहचान के लिए 3 कसौटियाँ निर्धारित की गयी हैं : 1968 में सकल राष्ट्रीय उत्पादन प्रति व्यक्ति 100 डॉलर कम हो; राष्ट्रीय उत्पादन के दसवें

1 **दिनमान**, 13–19 जून, 1982, पृ० 35।

2 ये देश हैं—हाइटी, गिनी बसाऊ, माली, अपर वोल्टा, बंगलादेश, नाइजर, चैड, सूडान, इथयोपिया, सोमालिया, लेसोथो, उगाण्डा, उरुण्डी, तन्जानिया, मलावी, बोत्सवाना, बेनिन, मालदीव, अफगानिस्तान, नेपाल, केप वर्दे, भूटान, लाओस, पश्चिमी समोआ, उत्तरी यमन, दक्षिणी-यमन, मध्य अफ्रीका गणराज्य, कोमोरो और गांबिया।

हिस्से से भी कम राशि उद्योगों में लग रही हो और वयस्क आबादी में 100 पीछे 20 से भी कम साक्षर हों।

गुट निरपेक्ष देशों के नई दिल्ली सम्मेलन (1983) में नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना अर्थात् वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन एवं पुनर्गठन की माँग की गयी। हरारे (1986) सम्मेलन में अनुचित अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को गुट निरपेक्ष देशों की सुरक्षा और स्वतन्त्रता के लिए खतरा बताते हुए सम्मेलन ने तीसरी दुनिया के विरुद्ध संरक्षणवाद, व्यापार में गिरावट, ब्याज की ऊँची दरों और बढ़ते हुए ऋण पर रोक लगाने का आग्रह किया।

नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के लिए गरीब और स्वल्प-विकसित देशों का यह संघर्ष है। इस संघर्ष में धीरे-धीरे तीसरी दुनिया के राष्ट्र संगठित होते जा रहे हैं और उपनिवेशवाद विरोधी रुख अपना रहे हैं। इस संघर्ष में विकासशील देशों को यह आशा है कि औद्योगिक दृष्टि से विकसित देश उन्हें कई प्रकार की रियायतें देने के लिए मजबूर होंगे और दुनिया के धन का वितरण इस प्रकार से होने लगेगा कि जिसका लाभ उनके पक्ष में होने लगेगा।

इस आन्दोलन की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि यह पूँजीवाद की आधारशिला को ठुकराये बिना, छोटे-मोटे सुधार अर्थव्यवस्था में करना चाहता हैं (जैसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में परिवर्तन लाना आदि); जबकि सारी कठिनाइयों की जड़ पुरातन पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का प्रचलित ढाँचा है। संक्षेप में, नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की खोज की अवधारणा अभी शैशवावस्था में है, इसके आयामों ने निश्चित स्वरूप धारण नहीं किया है।

प्रश्न

1. नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की माँग से आप क्या समझते हैं? पिछले कुछ वर्षों में इस दिशा में क्या प्रयास किये गये हैं?
   What do you understand by the demands for New International Economic order ? What attempts have been make in this direction during the last few years ?

28

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उभरती हुई नई प्रवृत्तियाँ तथा मुद्दे

[CONTEMPORARY TRENDS AND ISSUES IN INTERNATIONAL POLITICS]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था निरन्तर वदलती जा रही है। द्वितीय महायुद्ध के वाद पारस्परिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था ध्वस्त-सी हो गयी और सभी ओर से इस वात के प्रयास किये जाने लगे कि नयी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का निर्माण हो। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के पतन ने तीसरी दुनिया में अनेक स्वतन्त्र राष्ट्रों को जन्म दिया। राष्ट्रवाद लोकतन्त्र, राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त, संयुक्त संघ के प्रति आस्था इन नवोदित राष्ट्रों में सम्मुख आदर्श वनकर उपस्थित हुए। इन स्वतन्त्र राज्यों के उदय ने कालान्तर में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप एवं क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिये। संक्षेप में, (1980–1990) के दशक में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उभरती हुई नयी प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित है :

1. **नव शीत-युद्ध**—अगस्त 1975 के हेलसिंकी सम्मेलन के द्वारा शीत-युद्ध को समाप्त मान लिया गया था; किन्तु आजकल उसके पुनः प्रारम्भ होने की चर्चा की जाने लगी है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विभिन्न क्षेत्र और मंच एक वार फिर रूस-अमरीकी प्रतिद्वन्द्विता के अखाड़े सिद्ध होने लगे और यह कहा जाने लगा कि एक नव शीत-युद्ध प्रारम्भ हो गया है। अफगानिस्तान में सोवियत सैनिक हस्तक्षेप ने अमरीकी-रूसी तनाव-शैथिल्य को गहरा धक्का पहुँचाया।

2. **बहुकेन्द्रवाद**—द्वितीय विश्वयुद्ध के वाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप द्विध्रुवीय था, जवकि आज विश्व राजनीति को वहु-ध्रुवीय शक्ति केन्द्रों से संचालित व्यवस्था की संज्ञा दी जा सकती है। चीन तीसरी महाशक्ति के रूप में निरन्तर अपना विकास करता जा रहा है। जर्मनी, जापान और फ्रांस सैनिक शक्ति की दृष्टि से भले ही उतने विकसित नहीं हुए हों, किन्तु सुदृढ़ अर्थ-व्यवस्था एवं तकनीकी विकास के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करने की स्थिति में आ गये हैं।

3. **तीसरे विश्व का बढ़ता हुआ महत्व**—एक समय ऐसा था जवकि एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के विकासशील देशों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था किन्तु आज तीसरे विश्व के नवोदित राष्ट्र अविकसित और छोटे होने के वावजूद अपनी संख्यात्मक शक्ति के कारण संयुक्त राष्ट्र संघ में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। महासभा में अपने संख्या-वल के कारण विकासशील देश निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने की स्थिति में हैं।

4. **नव-उपनिवेशवाद**—आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नव-उपनिवेशवाद की जोरों से चर्चा चल पड़ी है। विकसित और समृद्ध देश ऐसी आर्थिक नीतियों का अनुसरण करने लगे है कि विकासशील देशों का अनवरत आर्थिक शोषण करते रहे। पश्चिमी देशों का साम्राज्य आज मरणोन्मुख है, परन्तु शोषण का एक नया रूप नव-उपनिवेशवाद के रूप में विकसित हो गया है।

5. **उत्तर बनाम दक्षिण संघर्ष**—आज विश्व में उत्तर बनाम दक्षिण का संघर्ष शुरू हो चुका हे। यदि उत्तरी ध्रुव को केन्द्र मान लें तो केन्द्र के निकटतम प्रदेश समृद्ध और औद्योगिक राष्ट्र है और परिधिस्थ प्रदेश औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े राष्ट्र है। केन्द्रीय अथवा पृथ्वी के उत्तरी अर्द्ध-भाग के देशों का दणिणी अर्द्ध-भाग के देशों पर आर्थिक प्रभाव है। आर्थिक शोषण का यह नया संघर्ष उत्तर-दक्षिण संघर्ष है।

6. **संयुक्त राष्ट्र—बढ़ता हुआ परिवार**—1945 में संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों की संख्या 50 थी और आज यह संख्या 159 हो गयी है। आज न केवल संयुक्त राष्ट्र की सदस्य संख्या में वृद्धि हुई वरन् अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसकी सक्रियता भी बढ़ी है।

7. **अमरीका की धमकी से संयुक्त राष्ट्र के अस्तित्व को खतरा**—संयुक्त राज्य अमरीका ने धमकी दी है कि यदि अगले साल तक 'वजनी मतदान प्रणाली' लागू नहीं की गयी तो वह संयुक्त राष्ट्र के खर्चे का 20 प्रतिशत से ज्यादा वित्तीय अंशदान नहीं देगा। अभी अमरीका 45 प्रतिशत से ज्यादा अंशदान करता है। इस समय हर सदस्य देश का एक वोट होता है चाहे वह कितना भी अंशदान करे। अमरीका यूनेस्को से पहले ही अलग हो चुका है तथा ब्रिटेन भी ऐसा कर चुका है। इन देशों की दलील है कि यूनेस्को अपना उद्देश्य पूरा करने में विफल रहा है।

8. **निर्गुट राष्ट्रों का आर्थिक सहयोग**—निर्गुट राष्ट्रों के सातवें सम्मेलन में अब बजाय उत्तरी ध्रुव के देशों से अधिकाधिक मांगें करने व उन्हें कोसने के इस बात पर बल देने में बुद्धिमानी समझी गयी है कि दक्षिणी ध्रुव के देश, जिनकी अपनी परिस्थितियां एकसी हैं, पारस्परिक आर्थिक सहयोग तो कायम कर लें। इसे दक्षिण-दक्षिण के बीच सहयोग या सामूहिक आत्मनिर्भरता की संज्ञा दी गयी है जिसके अन्तर्गत सदस्य निर्गुट राष्ट्र अधिकाधिक क्षेत्रीय या द्विपक्षीय बैठकों के जरिये अपने मतभेदों का निपटारा करने पर अधिक बल दें। 'दक्षिण सहयोग' निर्गुट आन्दोलन की सफलता का पहला चरण है।

9. **सैनिक संगठनों का घटता महत्व**—द्वितीय महायुद्ध के बाद नाटो, सीएटो, वारसाउ पैक्ट आदि सैनिक संगठन अस्तित्व में आये। आज इन सैनिक संगठनों का महत्व घटता जा रहा है, उनमें फूट और टूटन की प्रक्रिया दिखायी दे रही है।

10. **निर्गुट आन्दोलन का आन्तरिक संकट**—गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के सदस्य राष्ट्रों की बढ़ने के बावजूद इसका प्रभाव घट रहा है। यदि आन्दोलन के सदस्य राष्ट्र अपनी आपसी कलह को समाप्त नहीं कर सकते एवं आन्दोलन द्वारा स्वीकृत आदर्शों का पालन नहीं करते तो, आन्दोलन द्वारा अब तक अर्जित सम्मान व प्रभाव कम होता चला जायेगा। युद्धरत इराक व ईरान को लम्बे *समय तक रोक पाना असम्भव-सा रहा। लीबिया एवं सूडान में निरन्तर तनाव बना हुआ है।* ग्रेनाडा पर हुई सैनिक कार्यवाही व निकारागुआ में बढ़ते अमरीकी हस्तक्षेप के सन्दर्भ में भी आन्दोलन की भूमिका निस्तेज ही है। फिलिस्तीनियों को कोई गृहराज्य नहीं प्राप्त हो रहा है। दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद नीति पर कोई अंकुश नहीं लगा पा रहा है। इन सब मुद्दों पर आन्दोलन के सदस्य राष्ट्र बुरी तरह विभक्त हैं।

आज गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के 102 सदस्यों में कम से कम 50 देश तो अमरीकी गुट से जुड़े हुए है। 20-22 देश सोवियत रूस से अभिन्न सम्बद्धता रखते है। मध्य अमरीका में क्यूबा जो गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का नेतृत्व करता है, वह हर दृष्टि से गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का नहीं वरन्

सोवियत साम्यवादी गुट का प्रतिनिधित्व करता है, इसी प्रकार भारतीय उपमहाद्वीप में पाकिस्तान, अमरीका व अफगानिस्तान रूस से हर व्यावहारिक अर्थ में 'गुटवादी' के रूप में ही जुड़े हुए हैं।

11. **परमाणु युद्ध की चिन्ता**—परमाणु युद्ध इसी साल क्या, किसी भी क्षण हो सकता है। यह जरूरी नहीं है कि यह जान-बूझकर शुरू किया जाये, वह अचानक भी शुरू हो सकता है, यह भी जरूरी नहीं कि उसकी शुरूआत वाशिंगटन या मास्को से हो। दुनिया के 200 से भी अधिक ठिकानों पर परमाणु शस्त्रास्त्र तैनात हैं। अगर किसी स्थानीय कमाण्डर से कोई गलत फैसला हो जाये तो वह तैश में आ जाये या तकनीकी गड़बड़ी के कारण दुश्मन का प्रक्षेपास्त्र आता दीख पड़े, तो भी परमाणु युद्ध छिड़ सकता है। एक जगह से एक बार अस्त्र छूटे, तो जवाबी अस्त्र कहाँ-कहाँ से एक साथ छूटेंगे, कुछ पता नहीं। सिर्फ एक भूल विश्वव्यापी युद्ध का कारण बन सकती है। इस प्रकार की स्थिति अब तक तीन बार आते-आते टल गयी। सन् 1973, 1979 और 1980 में अमरीका में 'परमाणु अलार्म' बज गया था। दो बार तो कम्प्यूटर की भूल के कारण ही बजा।

परमाणु युद्ध का मतलब वे युद्ध नहीं हैं, जिन्हें दुनिया ने आज तक जाना है। पिछले 5 हजार वर्ष में छोटे-बड़े हजारों युद्ध हुए हैं और हर युद्ध मे हमेशा एक पक्ष जीता और दूसरा हारा लेकिन अगर परमाणु युद्ध हुआ तो ऐसा होगा कि इसमें न हारने वाला बचेगा और न ही जीतने वाला। इतना ही नहीं, जिनका उस युद्ध से कुछ लेना-देना नहीं और जो युद्ध केन्द्रों से हजारों किलोमीटर दूर अवस्थित हैं, उन देशों का भी नामोनिशान हमेशा के लिए मिट जायेगा।

राजनीतिक और आर्थिक उथल-पुथल से भरा वर्ष 1989 इतिहास के पन्नों में जिन घटनाओं के लिए स्वर्णाक्षरों में दर्ज किया जाने वाला है, उनमें पूर्वी यूरोप में हुए क्रान्तिकारी परिवर्तनों और विश्व की दोनों महाशक्तियों के बीच सृजनात्मक सहयोग के नवयुग की शुरूआत को सबसे ऊपर रखा जायेगा।

दोनों महाशक्तियों के बीच सहयोग की शुरूआत से विश्व के राजनीतिक पटल पर लम्बे समय से फैला शीतयुद्ध का कोहरा छँटने लगा है तथा दोनों महाशक्तियों के बीच पिछले कई वर्षों से जारी परमाणु हथियारों की होड़ से उत्पन्न होने वाले खतरे टल गये प्रतीत होते हैं।

सोवियत संघ में लागू पेरेस्त्रोइका (पुनर्निमाण) और ग्लासनोस्त जैसे क्रान्तिकारी सुधारों का विश्वभर में स्वागत हुआ जिसने सोवियत संघ के साथ पूरे पूर्वी यूरोप में व्यापक बदलाव का सूत्रपात किया।

पूर्व और पश्चिम जर्मनी को विभाजित करने वाली ऐतिहासिक बर्लिन दीवार को गिराया जाना हाल ही की अविस्मरणीय घटना है, जिसमें पूर्वी यूरोप में हुए व्यापक परिवर्तनों की झलक पायी जा सकती है। पिछले 40 वर्षों के इतिहास में यह पहला मौका था जब पूर्व और पश्चिम जर्मनी दोनों देशों के नागरिकों को 'वीसा' के बगैर एक-दूसरे देश में यात्रा करने की छूट देने पर राजी हो गये। दोनों जर्मन राष्ट्रों में आये इस बदलाव से 'एकीकृत जर्मनी' की अवधारणा एक बार फिर प्रबल हो गयी, परन्तु इस विचार से न तो विश्व की दोनों महाशक्तियाँ और न ही पश्चिम यूरोप के देश सहमत हुए।

इन बदलावों का 'नाटो' और 'वारसा' सन्धि के कामकाज पर दीर्घकालिक असर पड़ना तय है। इन दो जर्मन राष्ट्रों के अलावा पूर्वी यूरोप के कुछ और देशों में भी परिवर्तन की आँधी उठी इनमें चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, रोमानिया, बुल्गारिया और पोलैण्ड प्रमुख हैं।

वर्ष 1989 में विश्व घटनाओं में सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाच्योव की चीन यात्रा और तीस साल के इतिहास में प्रथम 'सोवियत-चीन समझौते' का महत्वपूर्ण स्थान है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उभरते हुए मुद्दे
(CONTEMPORARY ISSUES IN INTERNATIONAL POLITICS)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उभरते हुए प्रमुख मुद्दे और समस्याएँ निम्नलिखित हैं :

(1) अफगान संकट
(AFGHANISTAN CRISIS)

27 दिसम्बर, 1979 को अफगानिस्तान में सोवियत सैनिकों के प्रवेश से अफगान संकट उत्पन्न हुआ। इसका तात्कालिक परिणाम जहाँ एक ओर दूसरे शीत-युद्ध की शुरूआत था वहीं दक्षिण एशिया में भारत और पाकिस्तान के मध्य हथियारों की होड़ को तीव्रतम करना था।

अफगानिस्तान में रूस-अमरीकी प्रतिस्पर्द्धा

शीत-युद्ध के वैमनस्यपूर्ण वातावरण में केवल अफगानिस्तान ही एकमात्र ऐसा देश था, जहाँ महाशक्तियाँ एक-दूसरे की जड़ें काटने के बजाय कन्धे से कन्धा मिलाकर पारस्परिक सहयोग करने के लिए प्रयत्नशील थीं। सहयोग की प्रतिस्पर्द्धा का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि श्रीलंका, बर्मा और नेपाल को एक अवधि में महाशक्तियों ने कुल मिलाकर जितनी आर्थिक सहायता दी, उससे कहीं अधिक सहायता अकेले अफगानिस्तान ने ही प्राप्त कर ली।[1]

द्वितीय महायुद्ध के तत्काल बाद यद्यपि अफगानिस्तान के प्रति सोवियत मन में कोई निश्चित कटुता नहीं थी किन्तु स्टालिन काल में सोवियत रूस द्वारा अफगानिस्तान के प्रति विभिन्न क्षेत्रों में अमैत्रीपूर्ण अभिमतों की अभिव्यक्ति को टाला नहीं जा सका। विशेषकर उत्तरी अफगानिस्तान में संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में तेलोत्खनन करने वाले अमरीकी तकनीशियों की उपस्थिति पर सोवियत संघ ने आपत्ति की। अफगानिस्तान ने एक चतुर मध्यवर्ती और लघुशक्ति राज्य की तरह इस सोवियत आपत्ति को एक उपकरण के रूप में इस्तेमाल करने का प्रयत्न किया। उसने अपनी सम्प्रभुता का प्रदर्शन करते हुए यद्यपि सोवियत आपत्ति-पत्र को निरस्त कर दिया किन्तु सोवियत आक्रमण की सम्भावना का आधार दिखाकर अमरीका से सैनिक सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया। अमरीका अफगानिस्तान के लिए सोवियत संघ से भिड़ने के लिए तैयार नहीं था अतः उसने सैनिक सहायता की माँग को अस्वीकार कर दिया। अफगानिस्तान ने अमरीकी तकनीशियों को आखिरकार हटा लिया। लघु-शक्तियों की यह सामान्य प्रवृत्ति अफगान व्यवहार में परिलक्षित होती है कि आत्म-रक्षा का सामर्थ्य स्वयं में नहीं होता, अतः आत्म-रक्षा के लिए, चाहे उसकी आवश्यकता वास्तविक हो या काल्पनिक, उसे किसी महाशक्ति पर अवलम्बित होना पड़ता है, इस मूल भूत दुर्बलता के बावजूद लघु-शक्तियाँ महाशक्तियों के साथ समान स्तर पर व्यवहार करना चाहती हैं। इसीलिए सोवियत आपत्ति पत्र को निरस्त करने के बावजूद अफगानिस्तान अमरीकी तकनीशियों को सोवियत सीमान्तों के पास से हटा लेने के लिए विवश हो गया। शाह महमूद काल में अफगान शासकों को यह पता चला कि अमरीका केवल उस सीमा तक अफगानिस्तान के साथ है जब तक कि अफगानिस्तान के कारण उसका सीधे रूस से मुकाबला नहीं होता और रूस केवल उस सीमा तक अफगानिस्तान के साथ है, जब तक कि वह 'साथ' रूसी सुरक्षा के मन्तव्य को सिद्ध करता है।

1953 में शाह महमूद खान के पद-त्याग और प्रधानमन्त्री पद पर सरदार दाऊद खान के आसीन होने पर अफगान विदेश नीति के समक्ष नयी चुनौतियाँ उपस्थित हुईं। मास्को में स्टालिन के स्थान पर मलन्कोव-ख्रुश्चेव नेतृत्व आया और वाशिंगटन में ट्रूमैन प्रशासन को बदला आइजनहॉवर-डलेस प्रशासन ने दोनों महाशक्तियों का ध्यान एशिया की ओर आकर्षित हुआ और अब एशिया भी शीत-युद्ध के प्रांगण के रूप में बदलने लगा। आइजनहॉवर प्रशासन ने जब सैनिक

---

[1] डॉ॰ वेदप्रताप वैदिक, **अफगानिस्तान में सोवियत-अमरीकी प्रतिस्पर्द्धा** (नेशनल, नयी दिल्ली, 1973), पृ॰ 237।

गठबन्धनों की नीति अपनायी तो स्पष्ट ही था कि जो देश उनसे असं
एचीमन के शब्दों में अपने 'कन्धों पर बिठाने के लिए' तैयार नहीं था
अस्तित्व' की नीति का प्रतिपादक नया सोवियत नेतृत्व एशियाई देश
किये बिना भी आर्थिक सहायता और राजनीतिक समर्थन देने के लिए
अफगानिस्तान को जहाँ सोवियत सहायता और समर्थन प्राप्त करना था वहीं पर यह भी देखना था कि वह अपने उत्तरी पड़ोसी पर अत्यधिक निर्भर नहीं हो जाये। अतः उसकी केन्द्रीय समस्या सोवियत संघ से प्रचुर आर्थिक सहायता स्वीकार करते हुए अनेकों राजनीतिक प्रश्नों पर एकमत होते हुए भी अमरीका से ऐसे सम्बन्धों का निर्माण करना था जिनके द्वारा अफगान-सोवियत सामीप्य को सन्तुलित किया जा सके। लघु-शक्ति और मध्यवर्ती राज्यों की शास्त्रीय नीति प्रायः समदूरी (इक्वी-डिस्टेंस) की नीति होती है। महाशक्तियों के साथ समदूरी रखना इसलिए आवश्यक था कि एक महाशक्ति को कुछ रियायतें दी जायें तो दूसरी महाशक्ति को भी रियायतें देना आवश्यक हो जाता था और उसका परिणाम अमीर अब्दुल रहमान के शब्दों में 'भालू और सिंह के बीच बकरी का सफाया' होना आवश्यक हो सकता था।

अफगानिस्तान में सम-सामीप्य की प्रक्रिया विविधरूपा रही। अमरीका ने ज्योंही पाकिस्तान को सैनिक सहायता देना प्रारम्भ किया, अफगानिस्तान को अपनी प्रतिरक्षा की चिन्ता सताने लगी। पख्तूनिस्तान के विवाद को लेकर पाकिस्तान से बड़े पैमाने पर कभी भी युद्ध छिड़ सकता था। अतः जो अफगानिस्तान कल तक अमरीका से शस्त्र माँग रहा था, वही अफगानिस्तान अब आर्थिक और सैनिक सहायता के लिए सोवियत संघ की ओर अभिमुख हुआ। सोवियत संघ इस स्थिति का पहले से ही लाभ उठाना चाहता था। उसने न केवल पख्तून प्रश्न पर खुलकर अफगानिस्तान का समर्थन किया बल्कि आर्थिक सहायता के पर्याप्त कल्पनाशील और प्रदर्शनात्मक कार्यक्रम शुरू कर दिये। सोवियत नेताओं ने अपनी प्रथम काबुल यात्रा में 70 करोड़ डॉलर का ऋण देने की घोषणा करके सोवियत-अफगान मैत्री का सम्मोहक वातावरण तैयार कर दिया था। इस सोवियत-अफगान सामीप्य के बढ़ते हुए 'खतरे' को अमरीका उत्साहवर्द्धक देख रहा था, किन्तु उसके पास इस मुकाबले में कोई सक्षम विकल्प नहीं था। अमरीकियों को विश्वास था कि अफगानिस्तान को अपनी स्वतन्त्रता उतनी ही प्रिय है जितना कि आर्थिक विकास। सोवियत संघ के साथ अभूतपूर्व घनिष्ठता बढ़ाते हुए भी सरदार दाऊद ने सदा यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया कि घनिष्ठता का अभिप्राय अनन्यता नहीं है। यदि अन्य महाशक्तियाँ अफगानिस्तान की सहायता करना चाहे तो उनका स्वागत है। वास्तव में, अफगान-सोवियत सामीप्य को अफगान शासकों ने जिस सावधानीपूर्ण नाटकीयता के साथ विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया उनसे यह अनुमान भी लगाया जा सकता है कि अफगान शासक अमरीका को अफगानिस्तान में रुचि दिखाने के लिए उत्तेजित करने का प्रयत्न कर रहे थे।

एक बहुत बड़ी सीमा तक अफगान राजनीति सफल भी हुई। अमरीकी नीति-निर्माताओं ने विचार किया कि यदि अफगानिस्तान में एकछत्र सोवियत वर्चस्व हो गया तो अमरीका की सुरक्षा-शृंखला की एक महत्वपूर्ण कड़ी टूट जायेगी, अतः सोवियत सहायता के मुकाबले में अमरीकी सहायता-कार्यक्रम भी प्रभावशाली ढंग से चलने लगा। अमरीकी सहायता-कार्यक्रमों में भी राजनीतिक व्यावहारिकता और चमत्कारोत्पादकता के तत्व का सन्निवेश होने लगा। दस करोड़ डॉलर के सोवियत ऋण की घोषणा होने के तत्काल बाद अफगानिस्तान को दी जाने वाली अमरीकी आर्थिक सहायता नौ गुना बढ़ गयी और उसमें अब घोंघागति से चलने वाली हेलमन्द घाटी प्रायोजना को सफल करने का ही उद्देश्य नहीं था बल्कि यातायात, वायु संचार, शिक्षा, कृषि एवं सिंचाई, तकनीकी प्रशिक्षण तथा सांस्कृतिक प्रभाव आदि सभी क्षेत्रों में सोवियत प्रभाव का मुकाबला करने की एक सुनिश्चित इच्छा दिखायी देने लगी। इस प्रतिस्पर्द्धा की विशेषता यह थी कि अमरीका न तो

.वियत प्रयत्नों को विफल करना चाहता था और न ही सोवियत संघ अमरीकी प्रयत्नों को विफल करना चाहता था । बल्कि एक ही क्षेत्र के आधे-आधे भागों को पूर्ण करने के लिए दोनों महाशक्तियों में एक स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा देखी जा सकती थी । उदाहरण के लिए, यदि सम्पूर्ण अफगानिस्तान की वृत्ताकार सड़क के उत्तरी हिस्से का निर्माण सोवियत संघ करता है तो उसी सड़क के दक्षिणी हिस्से का निर्माण अमरीका करता है । यदि अमरीका दक्षिण-पश्चिमी अफगानिस्तान में कृषि, सिंचाई तथा अन्य विकास कार्यों में संलग्न है तो रूस उत्तरी और पूर्वी अफगानिस्तान में इसी प्रकार के कार्यों में संलग्न है । यदि रूस ने काबुल के हवाई अड्डे का नवीनीकरण करके उसे आकर्षक बना दिया तो अमरीका ने कन्धार में एक विशाल और अधुनातन हवाई अड्डे का निर्माण कर दिया । 1961–63 में अफगान-पाक सीमाबन्दी के समय यदि सोवियत संघ ने अफगान माल को हवाई जहाजों में लदवाकर भेजने की विशिष्ट अनुकम्पा प्रदर्शित की तो अमरीका ने दस लाख डालर खर्च करके माल ले जाने के लिए ईरान होकर रास्ता बनाने का असाधारण कदम उठाया । इस प्रकार की सहयोगात्मक गतिविधियाँ न केवल आर्थिक और शैक्षणिक क्षेत्रों में प्रकट हुईं बल्कि दाऊद शासन के अन्तिम दिनों में सैनिक क्षेत्र में भी इसी प्रकार के लक्षण प्राप्त हुए । अफगानिस्तान की सैन्य व्यवस्था को, जिसका पर्याप्त मात्रा में रूसीकरण हो चुका था, पश्चिमाभिमुख करने के लिए अमरीकियों ने सैनिक प्रशिक्षण के कार्यक्रम भी शुरू कर दिये । यहाँ रोचक बात यह है कि सोवियत विमानों को चलाने के लिए अमरीकी प्रशिक्षण दे रहे थे । इसी प्रकार विभिन्न अफगान मन्त्रालयों में सोवियत और अमरीकी विशेषज्ञ अनेक मामलों पर अफगानिस्तान के अधिकारियों को संयुक्त रूप में परामर्श देते थे । मिस्र में अस्वान बाँध तथा भारत में बोकारो कारखाने को लेकर महाशक्तियों में जिस प्रकार की आक्रामक प्रतिस्पर्द्धा दिखायी दी उसी प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा अफगानिस्तान में दिखायी नहीं पड़ती । सोवियत संघ ने अपनी गतिविधियों को मुख्य रूप से उत्तरी अफगानिस्तान में तथा अमरीका ने अपनी गतिविधियों को दक्षिणी अफगानिस्तान में केंद्रित रखा । यह प्रवृत्ति दोनों महाशक्तियों के लक्ष्यों की पूर्ति के लिए भी पर्याप्त अनुकूल थी, क्योंकि उत्तरी हिस्से में अपनी गतिविधियों को केन्द्रित करके सोवियत संघ अमरीका को न केवल अपने सीमान्तों से परे रख सकता था बल्कि अफगास्तिान से अपने आर्थिक सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने के लिए परम्परागत तत्वों का इस्तेमाल कर सकता था जबकि दक्षिणी हिस्से में सक्रिय होकर अमरीका सोवियत संघ को न केवल हिन्द महासागर और अपनी सुरक्षा श्रृंखला से एक निश्चित दूरी पर रख सकता था बल्कि 'मुक्त विश्व' के साथ अफगानिस्तान के आर्थिक और राजनीतिक सम्बन्धों को अच्छा बनाने का प्रयत्न कर सकता था ।

अन्य कारणों के अलावा अफगानिस्तान की भौगोलिक अवस्थिति के कारण इस छोटे से देश में जिस स्तर पर महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धात्मक रुचि जाग्रत हुई, वह बेमिसाल है। उदाहरणार्थ, अधुनातन आँकड़ों के अनुसार, श्रीलंका और नेपाल को कुल मिलाकर जितनी अमरीकी सहायता मिली, उससे कहीं अधिक सहायता अकेले अफगानिस्तान को उसी अवधि में मिली । इसी प्रकार इन तीन देशों को कुल जितनी सोवियत सहायता मिली, उसकी तुलना में अकेले अफगानिस्तान को लगभग छः गुनी आर्थिक सहायता मिली । दूसरी ओर अफगानिस्तान में महाशक्तियों के इतने कर्मचारी कार्यरत थे कि उनकी संख्या की बराबरी में तुर्की, पाकिस्तान, ईरान, नेपाल तथा भारत भी पीछे रह जाता है । इस प्रकार, शीत-युद्ध के वैमनस्यपूर्ण वातारण में महाशक्तियों द्वारा अफगानिस्तान में कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य करना एक ऐसी विलक्षण प्रवृत्ति थी जिसे छोटे पैमाने पर 'विश्व दितान्त' का दूर्व दर्शन कह सकते है ।

अफगान संकट : नये शीतयुद्ध की दस्तक

अफगानिस्तान को हड़पने का रूसी मंसूबा नया नहीं है । बहुत लम्बे समय तक ब्रिटिश सरकार ने जार सल्तनत को हिन्दुकुश के दक्षिण में प्रवेश करने से रोके रखा था । तब अफगा-

निस्तान के उत्तर में हिन्दुकुश पर्वत को एक ऐसा अवरोधक समझा जाता था जिसे लाँघना आसान नहीं था। 19वीं और 20वीं सदी के आरम्भ में यही ब्रिटिश और ब्रिटिश-भारतीय सैनिकों की खूँख्वार और दबंग कबाइलियों से तीन बार लड़ाइयाँ हुईं। एक समकालीन प्रेक्षक के अनुसार, 'इसका उद्देश्य अफगान ऊँट को रूसी भालू से बचाना था।" इस दौरे में अफगानिस्तान एक ऐसा कमजोर लेकिन कामचलाऊ मध्यवर्ती राज्य (बफर स्टेट) था जिसका मकसद ईरान एवं भारत-पाक उप-महाद्वीपों में जार सैनिक की पेशकदमी को रोकना था।[1]

दूसरे विश्व-युद्ध के बाद सोवियत सरकार की दक्षिण-पश्चिमी एशिया में विस्तारवादी नीतियों पर अंकुश रखने की ब्रिटिश भूमिका अमरीका ने निभानी शुरू कर दी। कुछ समय तक मुकाबले की होड़ बराबर रही। रूसियों ने काबुल में एक हवाई अड्डा बनाया तो अमरीकियों ने कन्धार में। रूसियों में काबुल में विशाल अन्न भण्डार बनाया तो अमरीकियों ने उसमें गेहूँ भर दिया। रूसियों ने सलांग राजमार्ग का निर्माण किया तो अमरीकियों ने अफगानिस्तान को राष्ट्रीय विमान सेवा के लिए सहायता देकर जवाबी कार्यवाही कर दी।

लेकिन पर्याप्त अमरीकी योगदान के बावजूद साठादि दशक के अन्तिम दौर में रूस का प्रभाव बढ़ने लगा। चूँकि उस समय अमरीका वियतनाम की जंग में उलझा था, इसलिए उसने आर्थिक सहायता में कमी कर दी। लेकिन सत्तरादि दशक के अन्त तक रूस ने काबुल को दी जाने वाली आर्थिक सहायता बढ़ाकर 15 अरब डॉलर तक कर दी। रूस ने होनहार अफगान अधिकारियों को सोवियत संघ में प्रशिक्षण देना आरम्भ किया। अफगानिस्तान से कम्युनिस्टों ने पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी (P.D.P.) संगठित की और सशस्त्र सेनाओं में भी अपना प्रभाव बढ़ाया। पी०डी० पी० नेता और तत्कालीन विदेशमन्त्री हफीजुल्ला अमीन ने 1978 में सीना तानकर कहा था, "मैं 1966 से सेना के भीतर गुप्त रूप से काम कर रहा था,····1973 के शुरू से ही मैं थल सेना और वायु सेना में तीन-सदस्यीय कम्युनिस्ट इकाइयों को संगठित करने में लगा था।"

अप्रैल 1978 में इन प्रयत्नों का सुपरिणाम सामने आया। अमीन के नेतृत्व में हुई क्रान्ति के जरिये काबुल के रेडियो स्टेशन और राष्ट्रपति भवन पर कब्जा कर लिया गया और राष्ट्रपति मोहम्मद दाऊद की तटस्थ सरकार का तख्ता उलट दिया गया। अमीन के नेतृत्व में पी० डी० पी० सरकार ने सत्ता सम्भाल ली और नूर मोहम्मद तराकी को राष्ट्रपति बना दिया गया।

अमीन ने अफगानों पर मार्क्सवाद थोपने के नाम पर बेरहमी से आतंक बरसाना शुरू कर दिया। अप्रैल 1978 और नवम्बर 1979 के दौरान काबुल की जेलों में ही करीब 12,000 अफगानों की मृत्यु हो गयी। जो बच गये उन्होंने बताया कि किस प्रकार बिजली के नंगे तारों को छुआकर और शिकंजे (पेंचलगी-धातु की दो चादरें जिनका इस्तेमाल लोगों के हाथ-पैर कुचल डालने के लिए किया जाता है) का इस्तेमाल करके आतंक बरसाया गया, बन्दियों को उन्हीं के मल-मूत्र में डुबो दिया गया। जब अफगानों को नयी सरकार के असली रंग-ढंग का पता चला तो सारे देश में मुजाहिद विशेष उठ खड़े हुए। ऐसा लगता था कि बढ़ती अव्यवस्था से चिन्तित होकर सोवियत शासकों ने पहले तो यह चाहा कि अमीन से तराकी छुटकारा पा ले लेकिन सितम्बर, 1979 में खुद तराकी को मार दिया गया और अमीन ने अपने को राष्ट्रपति एवं प्रधानमन्त्री घोषित कर दिया।

इस बीच ग्रामीण क्षेत्र मे पी० डी० पी० का नियन्त्रण तेजी से खोने लगा। मुजाहिदों ने प्रमुख शहरों के बीच मुख्य मार्गों से होने वाले सम्पर्क को भंग करना शुरू कर दिया। 1979 के अन्तिम

---

1 एंटनी पाल, 'अफगानिस्तान की दर्दभरी दास्तान', **सर्वोत्तम**, अप्रैल 1981, पृ० 27।

दिनों में सरकार देश के 29 प्रान्तों में से केवल छः में प्रशासन चलाने का दावा करने की स्थिति में थी।

ऐसा लगा कि सोवियत शासकों ने यह तय किया कि अमीन को रास्ते से हटा दिया जाये। भूतपूर्व वकील बबराक करमाल के नेतृत्व में पी० डी० पी० के अमीन विरोधी गुट से मिलकर सोवियत शासकों ने 20 महीनों में तीसरी बार काबुल में कम्युनिस्ट क्रान्ति के लिए षड्यन्त्र रचा।

24 दिसम्बर, 1979 को काबुल का आकाश सोवियत विमानों से भर गया और हवाई अड्डे पर सैनिक उतारे गये। काबुलवासियों को बताया गया कि मुजाहिदों के खिलाफ सरकार की सहायता करने के लिए रूसी आ रहे हैं। ठीक इसी समय अनेक सशस्त्र सैनिक टुकड़ियाँ सीमा पर आ पहुँचीं।

निश्चित दिन 27 दिसम्बर, 1979 था। सुबह के सात बजे सोवियत सैनिकों ने राष्ट्रपति भवन, हवाई अड्डे, रेडियो स्टेशन और अन्य प्रमुख केन्द्रों पर हमले कर दिये। मशीनों से लैस चार पैदल और बख्तरबन्द डिवीजनों का सोवियत सीमा से भीषण गर्जन सुनाई दिया, जिन्होंने चन्द दिनों में ही सभी प्रमुख नगरों और कस्बों पर कब्जा कर लिया। वस्तुतः सोवियत संघ ने अफगानिस्तान में सैनिक हस्तक्षेप करके नये युद्ध की प्रक्रिया को तीव्र गति प्रदान कर दी। अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप के मूलतः दो कारण है—(i) प्रथम, गरम पानी के बन्दरगाहों की तलाश, और (ii) द्वितीय, टर्की, ईरान एवं अफगानिस्तान से लगने वाली सीमाओं की सुरक्षा।

राष्ट्रपति अमीन की सपरिवार हत्या कर दी गयी और उसके स्थान पर बबराक करमाल राष्ट्रपति बना दिये गये। 28 दिसम्बर, 1979 को सोवियत प्रवक्ताओं ने यह दलील पेश की कि अफगान सरकार ने अफगान-सोवियत मैत्री सन्धि के आधार पर सोवियत सरकार से सहायता, जिसमें सैनिक सहायता भी सम्मिलित है, की अपील की है और सोवियत सरकार ने उस अपील को स्वीकार कर लिया है।

अफगान संकट को जन्म देने वाले कारण

27 दिसम्बर, 1979 को अफगानिस्तान में सोवियत सेनाओं का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप तथा उनका वहाँ निरन्तर बने रहना अफगान संकट को जन्म देता है, जिसके मुख्य कारण निम्न हैं :

1. **अफगान साम्यवादी दल (P.D.P.) में गुटीय-प्रतिस्पर्द्धा**—जनवरी 1965 में अफगानिस्तान में अफगान जनवादी जनतान्त्रिक दल की स्थापना हुई, परन्तु 2 वर्ष बाद ही यह दल 'खल्की' तथा 'परचम' गुटों में विभाजित हो गया। 'खल्क' गुट के नेता नूर मोहम्मद तराकी तथा 'परचम' गुट के नेता बबराक करमाल थे। अप्रैल 1978 की क्रान्ति के समय दोनों गुट एक हो गये थे परन्तु बाद में दोनों एक-दूसरे के खून के प्यासे हो गये। बबराक करमाल को उपप्रधानमन्त्री के पद से हटाकर चेकोस्लावाकिया में राजदूत नियुक्त कर दिया गया। गुटबन्दी की इस अफगान राष्ट्रीय राजनीति के परिणामस्वरूप विदेशी हस्तक्षेप का मार्ग प्रशस्त हुआ।

दिनमान की टिप्पणी के अनुसार, जब अप्रैल 1978 में खल्की पार्टी के नेता नूर मुहम्मद तराकी सत्तारूढ़ हुए थे तब दूसरे महत्वपूर्ण व्यक्ति बबराक करमाल ही थे; अमीन नहीं। ये दोनों ही गुट—परचम और खल्की—कम्युनिस्ट पार्टी के अंग हैं। लेकिन 50-वर्षीय बबराक करमाल 30 साल से अधिक समय से मार्क्सवाद के सिद्धान्तों के प्रशंसक रहे है। मार्क्सवाद को समझने में जितनी पैनी दृष्टि बबराक करमाल की है उतनी न तराकी की और न ही अमीन की। धीरे-धीरे करमाल ने तराकी को अपनी नीतियों से प्रभावित करना शुरू किया। भीतर ही भीतर इसका विरोध हुआ और मुखर विरोधियों में हफीजुल्लाह अमीन थे। अमीन चाहते थे कि तराकी के स्थान

1 शायद सोवियत नेताओं को यह शंका हुई कि कहीं अमीन मिस्र के राष्ट्रपति सादात की तरह अमरीका के पक्ष में न चले जायें।

पर सत्ता की बागडोर वह स्वयं सम्भालें। इसका मुख्य कारण सोवियत संघ की दिन-व-दिन वढ़ने वाली दखलन्दाजी थी जबकि करमाल सत्ता पर अपनी आँखें जमाये बैठे थे। अमीन ने कुछ ऐसी गोटियाँ बिठायीं कि परचम गुट के लोगों को धीरे-धीरे कर सत्ता से अलग किया गया। इसके फलस्वरूप करमाल को चेकोस्लोवाकिया में राजदूत नियुक्त कर प्राग भेज दिया गया। वहीं रहते हुए उन्होंने सम्भवतः सोवियत संघ के नेताओं से अपनी गोटियाँ बिठायीं। इसका सुराग भी शायद अमीन को लग गया था, जिसके फलस्वरूप उन्होंने अपनी राजनीति जल्दी से तय की—एक तो करमाल को राजदूत के पद से हटा दिया गया, दूसरे तराकी के खिलाफ वगावत कर दी गयी। ववराक करमाल के हाथ से पहल निकल गयी। लेकिन अमीन भी सत्ता के सूत्रों को समेटकर नहीं रख सके। उनकी न केवल रूसी सलाहकारों से अनवन हो गयी वल्कि सोवियत राजदूत को भी अफगानिस्तान छोड़ने का आदेश दिया। सोवियत नेताओं से यह सीधा टकराव था जिसे रूसियों ने अपना अपमान महसूस किया। अमीन को सत्ता से हटाने के उपाय ढूँढ़े जाने लगे। इस बीच पूर्व यूरोपीय देशों में बबराक करमाल के साथ रूसी योजनाएँ वनाते रहे जिसके फलस्वरूप अमीन को सत्ताच्युत किया गया।"[1]

2. **अफगान सरकारों के जनाधार का अभाव**—अप्रैल 1978 की क्रान्ति के समय से अफगानिस्तान में कोई ऐसी सरकार सत्तारूढ़ नहीं हुई जिसे जनसमर्थन प्राप्त हो। अप्रैल 1978 के वाद बनने वाली अफगान सरकारों का अस्तित्व सैनिक अफसरों के सहयोग पर टिका हुआ था। इन्हें सोवियत संघ का समर्थन प्राप्त था। इस प्रकार विदेशी सहायता पर टिकी हुई सरकार जन सहयोग के अभाव में अधिक समय तक चल नहीं सकती थी।

3. **अमीन की रूस विरोधी गतिविधियाँ**—सितम्बर 1979 में नूर मोहम्मद तराकी को अपदस्थ करने के वाद हफीज उल्लाह अमीन अफगानिस्तान के नये राष्ट्रपति बने। ऐसा कहा जाता है कि अमीन कतिपय ऐसी नीतियाँ अपनाते जा रहे थे, जो यदि 2-3 वर्ष तक जारी रह जातीं तो निश्चय ही अफगानिस्तान सोवियत संघ के प्रभाव क्षेत्र से वाहर निकल जाता। लेकिन सोवियत संघ को इसका आभास हो गया। इसलिए कुछ विचारकों की यह मान्यता है कि अफगानिस्तान में समाजवाद की रक्षा के लिए सोवियत संघ ने 27 दिसम्बर, 1979 को सैनिक हस्तक्षेप किया था।

4. **अफगानिस्तान में अनिश्चय और अस्थिरता का वातावरण**—अफगानिस्तान में अस्थिरता और अनिश्चय के वातावरण के परिणामस्वरूप 20 माह की अल्प अवधि में तीन क्रान्तियाँ हो गयीं। पहली क्रान्ति 6 सितम्बर, 1979 को हुई जिसमें तराकी का तख्ता पलटकर हफीज उल्लाह अमीन राष्ट्रपति बने। तीसरी क्रान्ति 27 दिसम्बर, 1979 को हुई, जिसमें अमीन की हत्या कर दी गयी और परचम नेता ववराक करमाल राष्ट्रपति वने। वस्तुतः तीसरी क्रान्ति अफगान सैनिकों ने नहीं की, बल्कि सोवियत संघ ने प्रत्यक्ष सैनिक हस्तक्षेप करके ववराक करमाल को काबुल की गद्दी पर बिठाया।

5. **अफगानिस्तान-सोवियत प्रभाव क्षेत्र**—अफगान शासक तथा पश्चिमी शक्तियाँ दोनों ही अफगानिस्तान को सोवियत प्रभाव क्षेत्र स्वीकार करती रही हैं। अफगान शासक अपनी विदेश नीति को रूसी आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तित करते रहे हैं। अफगानिस्तान ने रूस की इस भावना का सदा आदर किया है कि उसके उत्तरी भाग में कोई दूसरा देश अपनी गतिविधियाँ जारी न रखे। दाउद ने रूस के साथ विशिष्ट सम्बन्ध रखते हुए भी अफगानिस्तान की परम्परागत तटस्थता को बनाये रखा किन्तु तराकी और अमीन ने अफगानिस्तान की स्वतन्त्र हैसियत को नष्ट कर दिया और उसे चेकोस्लोवाकिया या हंगरी बना दिया। अफगानिस्तान के नेताओं ने सौर क्रान्ति

---

[1] **दिनमान** 13-19 जनवरी, 1980, पृ० 37।

(1978) को अक्टूबर क्रान्ति (रूसी क्रान्ति) का ही विस्तार माना। अफगान नेताओं की इस मनोवृत्ति ने सोवियत संघ को प्रत्यक्ष सैनिक हस्तक्षेप के लिए प्रेरित किया।

6. अफगानिस्तान में सोवियत. विशेषज्ञों एवं सलाहकारों का जमाव—1978 की सौर क्रान्ति के बाद अफगानिस्तान में सोवियत तकनीशियनों एवं सलाहकारों का प्रभाव एवं जमाव इतना अधिक हो गया था कि उनकी राय के बिना कोई कार्य करना सम्भव नहीं था। सोवियत विशेषज्ञ एवं सलाहकार अफगानिस्तान के विविध विभागों और प्रतिष्ठानों में कार्यरत थे जिसके परिणामस्वरूप सोवियत संघ को प्रत्यक्ष हस्तक्षेप करने का सुअवसर प्राप्त हो गया।

7. गर्म पानी का बन्दरगाह प्राप्त करने की लालसा—अफगानिस्तान में सोवियत संघ के हस्तक्षेप का एक विशेष कारण यह भी था कि इसके द्वारा वह गर्म पानी का बन्दरगाह प्राप्त करना चाहता था।

8. सोवियत सुरक्षा का प्रश्न—सोवियत संघ ने प्रत्यक्ष सैनिक हस्तक्षेप का निर्णय विशुद्ध राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर किया जिससे कि अमरीका और चीन सोवियत संघ विरोधी अभियान में अफगानिस्तान को अड्डा नहीं बना सकें।

अफगान संकट और संयुक्त राष्ट्र संघ

अमरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति कार्टर ने अफगानिस्तान में रूसी सेनाओं के प्रवेश तथा हस्तक्षेप की कड़ी निन्दा करते हुए मास्को से अपनी फौजें तुरन्त वापस बुलाने के लिए कहा, और उसके ऐसा न करने पर उसने इस प्रश्न को सुरक्षा परिषद् में उठाया। यद्यपि सुरक्षा परिषद् ने एक प्रस्ताव द्वारा सोवियत संघ से अफगानिस्तान में अपनी गतिविधियाँ समाप्त करने और सैनिकों को वापस बुलाने की माँग की; परन्तु रूस ने वीटो के अधिकार का प्रयोग करके इस प्रस्ताव को प्रभावहीन बना दिया। महासभा ने अपने आपातकालीन अधिवेशन के दौरान 15 जनवरी, 1980 को एक प्रस्ताव द्वारा माँग की कि अफगानिस्तान से तत्काल विदेशी सेनाएँ हटायी जायें।

सुरक्षा परिषद् में करमाल सरकार के विदेशमन्त्री शाह मोहम्मद दोस्त ने रूसी फौजों की वापसी के प्रस्ताव पर प्रबल आपत्ति करते हुए कहा कि, "यह अफगानिस्तान का विशुद्ध रूप से घरेलू मामला है। इस कार्यवाही से इस प्रदेश में शान्ति को कोई खतरा नहीं है। प्रत्येक राज्य को आत्मरक्षा करने का अधिकार है और इसमे वह किसी भी देश से सहायता ले सकता है। अफगानिस्तान ने मास्को के साथ 1978 की सन्धि के आधार पर सहायता माँगी है और उसकी प्रार्थना पर रूसी सेनाएँ काबुल आयी हैं।"

चीनी प्रतिनिधि चेन चू ने अफगान प्रतिनिधि के कथन का खण्डन करते हुए यह कहा कि रूस को अफगान सरकार द्वारा सेनाएँ भेजने का कोई नियन्त्रण नहीं मिला है। यह कहना गलत है कि इसे अमीन की सरकार ने निमन्त्रित किया है, क्योंकि इस क्रान्ति में मारे गये अमीन इतने मूर्ख नहीं थे कि वे अपने विरोधी को अपना सफाया करने के लिए खुद बुलाते। वर्तमान राष्ट्रपति करमाल भी रूसियों को निमन्त्रण नहीं दे सकते थे, क्योंकि वे इस समय पूर्वी यूरोप में थे। वस्तुतः रूस का यह कार्य उसकी विस्तारवादी नीति का एक अंग और दक्षिण में हिन्द महासागर की ओर बढ़ने, समुद्री मार्गों और सामरिक अड्डों को नियन्त्रित करने, यूरोप को घेरने, एशिया को संकट में डालने और विश्व पर छा जाने का प्रयास है।

अफगानिस्तान की समस्या के राजनीतिक हल के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव ने सम्बन्धित देशों को एक चार-सूत्री योजना प्रस्तुत की। इस योजना पर बातचीत करने के लिए मार्च 1983 में महासचिव कुइलर एवं उनके प्रतिनिधि श्री कोरदोवेज ने मास्को की यात्रा की थी एवं सोवियत नेताओं से बातचीत की। इस योजना के अन्तर्गत एक नियत अवधि में अफगानिस्तान से सभी सोवियत सैनिक हटाये जाने की व्यवस्था की गयी। इसके अतिरिक्त सोवियत संघ, संयुक्त

राज्य अमरीका तथा चीन की ओर से अफगानिस्तान की स्वतन्त्रता, सार्वभौमिकता तथा निर्गुटता की गारण्टी दिये जाने का प्रस्ताव था। साथ ही पाकिस्तान तथा ईरान को भी अफगानिस्तान के मामले में किसी प्रकार के हस्तक्षेप न करने का आश्वासन देना पड़ेगा। इस सम्बन्ध में रूस व अमरीका भी सहयोग देंगे। इसी प्रकार अफगानिस्तान भी यह वचन देगा कि वह अफगानिस्तान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव कुइलर के प्रस्ताव में आगे कहा गया है कि रूसी हस्तक्षेप के बाद जो अफगान नागरिक पाकिस्तान, भारत तथा अन्य देशों में शरणार्थी के रूप में रह रहे हैं, उनके स्वदेश लौटने की व्यवस्था की जायेगी। साथ ही स्वदेश लौटने पर उन्हें निवास, अपने जीविकोपार्जन की पूरी स्वतन्त्रता तथा सुविधा प्रदान की जायेगी।

संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 14 नवम्बर, 1985 को एक नया प्रस्ताव पारित कर अफगानिस्तान से विदेशी फौजें हटाने का अनुरोध किया है। गत पाँच वर्षों में सातवीं बार महासभा ने यह प्रस्ताव पास किया है। इसके पक्ष में 122 तथा विपक्ष में 9 वोट पड़े। भारत सहित 12 देशों ने मतदान में भाग नहीं लिया। 10 नवम्बर, 1987 को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 123 मतों से यह प्रस्ताव पारित किया कि सोवियत संघ को अविलम्ब अफगानिस्तान से अपनी फौजें हटा लेनी चाहिए। प्रस्ताव के विपक्ष में 19 मत पड़े।

4 नवम्बर, 1988 को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने अफगानिस्तान सम्बन्धी प्रस्ताव में कहा कि 15 फरवरी, 1989 से पूर्व सभी सैनिकों को वहीं से हटा लिया जाये। प्रस्ताव में यह भी कहा गया है कि अफगानिस्तान समस्या से सम्बद्ध सभी पक्षों से वार्ता करके अफगानिस्तान में एक सर्वदलीय सरकार स्थापित की जानी चाहिए। इस प्रस्ताव का समर्थन 122 देशों ने किया। सोवियत संघ तथा वियतनाम सहित 19 देशों ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। भारत सहित 13 देशों ने मतदान में भाग नहीं लिया।

अफगान संकट और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और दूरगामी परिणाम हुए हैं। भवानी सेन गुप्ता लिखते हैं, "अफगानिस्तान तीसरे विश्व की राजनीतिक स्थिति में सोवियत हस्तक्षेप का प्रथम मामला नहीं है। परन्तु यह तीसरे विश्व में तथा पूर्वी यूरोप में सोवियत गुट को छोड़कर विश्व में अन्य कहीं प्रथम प्रत्यक्ष सोवियत सैनिक हस्तक्षेप है। यह पूर्वी यूरोप में सोवियत गुट के बाहर एक मार्क्सवादी शासन की रक्षा के लिए प्रथम प्रत्यक्ष सोवियत सैनिक हस्तक्षेप है, यद्यपि यह सोवियत संघ से लगा हुआ क्षेत्र है। इससे भी अधिक, पहला सोवियत हस्तक्षेप है जिसके विरुद्ध अमरीका ने जोरदार विरोध प्रकट किया है तथा जिसने एशिया और अफ्रीका के अनेक देशों को, जिनमें से कुछ मास्को मैत्री सम्बन्धों से बँधे हैं, वास्तविक रूप से चिन्तित कर दिया है।"[1]

डी० के० पी० मिश्र के शब्दों में, "सोवियत संघ ने अर्थात् एक महाशक्ति ने अफगानिस्तान में 'प्रमुखता अधिकार' (hegemonistic right) के आधार पर हस्तक्षेप किया है जिसने दक्षिण एशिया के सभी राष्ट्रों की स्वतन्त्रता और अखण्डता पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया है।"

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में अफगान संकट के सम्भावित प्रभाव अग्रलिखित हैं:

---

[1] "Afganistan is not the first case of Soviet intervention in a third political situation but it is the first direct Soviet military intervention in the third world and also anywhere outside the Soviet bloc in Eastern Eurpoe. It is also the first direct Soviet military intervention to protect a Marxist regime outside the bloc, although adjacent to the U. S. S. R. Furthermore, it is the first Soviet intervention to invite vigorous American retaliation as well as genuine concern in many Asian and African countries, some of them friendship bound to Moscow."

—*Bhabani Sen Gupta*

1. **तनाव-शैथिल्य को गहरा धक्का**—अफगानिस्तान में सोवियत सैनिक हस्तक्षेप ने अमरीकी-रूसी तनाव शैथिल्य को एक गहरा धक्का पहुँचाया।

2. **नव-शीत युद्ध की शुरूआत**—अफगान संकट के कारण शीत-युद्ध की पुनः शुरूआत हो गयी। दक्षिणी एशिया पुनः तनाव का केन्द्र बन गया और हिन्द महासागर में महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा बढ़ गयी। डॉ० वेदप्रताप वैदिक के शब्दों में, "अफगानिस्तान के संकट ने विश्व की राजनीति पर एक बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव यह डाला है कि मास्को तथा वाशिंगटन में शीत-युद्ध उग्र हो गया है। पिछले दो दशकों में दोनों देशों में तनाव-शैथिल्य (Detents) तथा मधुर मिलन हो रहा था, दोनों देशों ने हथियारों की होड़ कम करने के लिए दो सामरिक अस्त्र परिसीमन वार्ता (SALT I & II) की दो सन्धियों पर हस्ताक्षर किये थे। किन्तु काबुल में 80 हजार रूसी सेनाओं की उपस्थिति तथा अफगान सीमा पर 25-30 हजार सैनिकों के जमाव से दोनों देशों का तनाव चरमशिखर पर पहुँच गया है। उसने रूस को गेहूँ तथा तकनीकी जानकारी भेजने पर पाबन्दी लगा दी है, मास्को में होने वाले ओलम्पिक खेलों का बहिष्कार किया है ······।"[1]

2. **पाकिस्तान की बढ़ती हुई चिन्ता**—अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप ने उसके पड़ोसी राष्ट्रों ईरान और पाकिस्तान में गहरी चिन्ता उत्पन्न कर दी क्योंकि इससे दक्षिणी-पश्चिमी एशिया में तीस वर्ष से चला आया भू-राजनीतिक सन्तुलन अस्त-व्यस्त हो गया। पाकिस्तान में लगभग 5 लाख अफगान शरणार्थियों ने शरण ली। पाकिस्तान ने अपने को किसी सम्भावित बदले की सोवियत कार्यवाही का सामना करने में अक्षम पाया। वह अपनी सुरक्षा के लिए अमरीका के और भी निकट आ गया। अमरीका ने पाकिस्तान को भारी सैनिक सहायता देने का निर्णय किया, इससे भारत की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो गया है। चूंकि जब-जब अमरीका ने रूस के साम्यवाद का प्रसार रोकने के लिए पाकिस्तान को हथियार दिये हैं तो उसने इसका प्रयोग 1965 और 1971 की लड़ाइयों में भारत के विरुद्ध किया है।

4. **अमरीकी-चीनी गठजोड़ को बढ़ावा**—अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप ने अमरीका-चीन गठबन्धन को और अधिक मजबूत बनाने के लिए प्रेरित किया क्योंकि अमरीका और चीन दोनों ही सोवियत संघ की शक्ति और प्रयास के विस्तार को अपने लिए घातक मानते हैं तथा सोवियत संघ को विश्व समस्याओं के समाधान में बाधक समझते हैं।

5. **भारत की दुविधापूर्ण स्थिति**—अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप ने भारत को अत्यन्त दुविधापूर्ण स्थिति में डाल दिया। ऐसा कहा जाता है कि भारत ने अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप के मुद्दे पर वही नीति अपनायी जो नेहरू ने हंगरी में सोवियत हस्तक्षेप के सम्बन्ध में तथा श्रीमती गांधी ने चैकोस्लोवाकिया में सोवियत हस्तक्षेप के सम्बन्ज में अपनायी थी।

जबकि वास्तविकता यह है कि भारत इस बार पहले से कहीं अधिक चिन्तित रहा। हंगरी और चैकोस्लोवाकिया भारत से सात हजार किलोमीटर दूर थे, जबकि अफगानिस्ताव भारत का पड़ौसी है और भू-राजनीति की दृष्टि से भारतीय उपमहाद्वीप का अंग है।

अब तक रूस और भारत के बीच पाकिस्तान और अफगानिस्तान दो मध्यवर्ती राज्य थे। किन्तु अफगानिस्तान पर प्रभाव कायम हो जाने से रूस भारत के काफी निकट आ गया। अफगानिस्तान में पैर जमाकर सोवियत संघ एक ऐसी एशियाई शक्ति बन जाता है जो ईरान और पाकिस्तान पर दबाव डाल सकती है। इससे शीत-युद्ध भारत के दरवाजे पर दस्तक देने लगा। अमरीका द्वारा पाकिस्तान को 4 अरब डालर की सैनिक सहायता का प्रस्ताव पाकिस्तान को एक अमरीकी

1 वेद प्रताप वैदिक, 'रूसी मदद से पश्चिमी इंकलाब, **धर्मयुग**, 20 जनवरी, 1980, पृ० 74।

अग्रिम आधार शिविर बन जाने की सम्भावना प्रकट करता है। इससे भारत को न चाहते हुए भी शीत युद्ध के जाल में उलझना पड़ सकता है।

अफगान संकट से भारत की चिन्ता के तीन कारण उभरते हैं—(i) भारत को ऐसे युद्ध में शामिल होना पड़ सकता है जिसका उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। (ii) रूस भारत की सीमाओं के निकट आ गया है जिससे भारत के लिए भविष्य में खतरा हो सकता है। (iii) 1971 की भारत-रूस सन्धि का सहरा लेकर भारत में अफगानिस्तान जैसी स्थिति पैदा की जा सकती है।

6. गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को विभाजित करने का मुद्दा—गुट-निरपेक्ष आन्दोलन भी अफगान संकट का शिकार होते-होते बच गया। अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप के प्रश्न पर कुछ देशों ने जिनमें पाकिस्तान प्रमुख था, वगैर लिहाज के सोवियत संघ की नयी दिल्ली शिखर सम्मेलन में निन्दा की। मिस्र और ईरान रूसी कार्यवाही की पहले ही निन्दा कर चुके थे।

7. पाकिस्तान और अफगानिस्तान की सीमा पर नया खतरा—अफगान नागरिक निरन्तर पाकिस्तान की ओर भागने लगे। यद्यपि अफगान विस्थापितों की संख्या 40 हजार के आस-पास बतायी जाती है लेकिन पाकिस्तान के राष्ट्रपति जिया उल हक ने यह संख्या 4 लाख से भी अधिक कूती है। अफगान विस्थापितों की सहायता के लिए विदेशों से धन की अपील की गयी जिसके फलस्वरूप यह धन वहाँ पहुँचना शुरू हो गया। लेकिन अफगान नागरिकों के पलायन से पाकिस्तान और अफगानिस्तान की सीमा पर एक नये प्रकार का खतरा पैदा होने की आशंका उत्पन्न हो गयी है। एक समाचार के अनुसार अफगान सैनिक पाकिस्तान की सीमा तक पहुँच गये है। पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिमी भाग के पख्तूनों का वहाँ की सरकार से सदैव विरोध रहा है, इसलिए नामुमकिन नहीं कि पाकिस्तान, ईरान और अफगानिस्तान के पख्तून और बलूच एक स्थान पर इकट्ठा होकर अलग राज्य की माँग करें। यदि ऐसा होता है तो पाकिस्तान के भीतर एक नयी प्रकार की विभाजन रेखा उत्पन्न होगी और ईरान में इस समय जो संकट व्याप्त है उसमें भी बढ़ोत्तरी होगी। लन्दन में निर्वासित जीवन व्यतीत करने वाले खान वली खाँ पाकिस्तान लौटकर इस आन्दोलन को अपना नेतृत्व प्रदान कर सकते है। कुर्दों ने पहले ही ईरान की समस्या को गहरा रखा है। यदि एक नया राज्य अस्तित्व में आता है तो स्थिति खासी उलझावपूर्ण हो सकती है। दूसरे यह कि इस नव-निर्मित राष्ट्र को कौन-सी महाशक्ति इतना सहयोग और समर्थन देती है और उसका विश्व राजनीति पर कहाँ तक प्रभाव पड़ता है यह जरूर एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। यदि अस्तित्व में आने वाले इस राज्य का पोषण सोवियत संघ करता है तो उससे उत्पन्न खतरे की चिनगारी भारत, पाकिस्तान, ईरान और चीन कहीं भी पहुँच सकती है। शायद यही कारण है कि अफगानिस्तान की वर्तमान स्थिति को **'सोवियत संघ का वियतनाम'** कहा जा सकता है।

अफगानिस्तान रूसी वियतनाम नहीं ?

प्रेक्षक अफगानिस्तान को सोवियत संघ का वियतनाम नहीं मानते। उनके तर्क है: सोवियत संघ और अफगानिस्तान की सीमा में अधिक दूरी नहीं। रूस वहाँ तुरन्त रसद और साज-सामान पहुँचा सकता है जबकि अमरीका के लिए वियतनाम तक पहुँचने में खासा समय लगता था, विमानों से या हांनोलूलू से होकर लाल सागर आने तक उसे कई दिन लग जाते थे। अमरीका का दुश्मन वियतनाम दृढ़संकल्पी और अनुशासित था जबकि अफगानिस्तान के विभिन्न गुटों के अलग-अलग और अपने-अपने स्वार्थ है। वहाँ नेताओं का नितान्त अभाव है। वियतनाम के जंगल छापामारों के लिए बेहतर मृगवन और आश्रयस्थल थे जबकि अफगानिस्तान की खुश्क पहाड़ियाँ छापामारों को उस तरह की शरण नहीं दे सकतीं। उत्तर वियतनाम और कंबुजिया वियतनामी छापामारों को यथेष्ट सहायता करते थे जबकि पाकिस्तान में अपनी गुरबत और अस्थिरता के कारण उस तरह का

पड़ोस नहीं है। वियतनाम युद्ध का जहाँ रेडियो-टेलीविजन और समाचार-पत्रों द्वारा खूब प्रचार हुआ वहीं वर्तमान संघर्ष में उस तरह के प्रचार माध्यमों का उपयोग नहीं हो रहा है।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि सोवियत संघ अफगानिस्तान में अपने मंसूबों में सफल हो जायेगा। सोवियत आक्रमण के प्रारम्भिक दिनों में अनेक पश्चिमी प्रेक्षकों ने भविष्यवाणी की थी कि इस महाशक्ति के सैनिक अफगानिस्तान में तेजी से छा जायेंगे। लेकिन अफगान लोगों ने अपने प्रतिरोध से सोवियत आक्रमण का सामना करने की आश्चर्यजनक क्षमता का परिचय दिया है। मुजाहिदों ने सम्पूर्ण अफगानिस्तान में सोवियत सैनिकों को अपने छापामार हमलों से उलझा रखा। वे अब तक कैसे मुकाबला कर पाये हैं ?

मुख्य कारण मुजाहिदों का धर्म है। 85 प्रतिशत से अधिक अफगान सुन्नी मुसलमान हैं जो अन्य इस्लामी देशों में भी अपनी कट्टरता और धार्मिक निष्ठा के लिए विख्यात हैं। अप्रैल 1978 की क्रान्ति के बाद अफगानिस्तान के मुल्लाओं ने साम्यवाद के खिलाफ जिहाद का ऐलान कर दिया। यह माना जाता है कि ऐसी लड़ाई में भाग लेने वाला निश्चित रूप से अमरत्व को प्राप्त होता है। काबुल का रहने वाला 28-वर्षीय नईम मजरूह पहले कैमीकल इन्जीनियर था, वह अब मुजाहिद है, उसका कहना है, "अगर मैं किसी रूसी को मौत के घाट उतार दूं तो लोग मुझे गाजी कहेंगे, पर जिहाद में मारा गया तो शहीद कहलाऊँगा।"

अफगानों के रहन-सहन का ढंग भी उन्हें दुर्घर्ष योद्धा बना देता है। लगभग 90 प्रतिशत अफगानी कबाइली ग्रामीण या खानाबदोश हैं। पारिवारिक और कबीले के आपसी झगड़ों के कारण आत्म-रक्षा के लिए उनका अस्तित्व प्रायः पुरुषों की क्षमता पर निर्भर करता है।

अफगान सेना सोवियत संघ के लिए एक बड़ा बोझ बन गयी है। उसमें मुजाहिदों के एजेण्टों की मौजूदगी रूस के लिए सिरदर्द बन गयी। लड़ाई में हार के कारण अफगान सेना का मनोबल गिर चुका है और पिछले तीन वर्षों में कम से कम चार बड़ी संख्या में उसके अधिकारियों की छँटनी की जा चुकी है। तब शुरू-शुरू में सोवियत आक्रमण हुआ तो अफगानों की पूरी की पूरी टुकड़ियाँ मुजाहिदों से जा मिलीं। सैनिक अपने साथ हथियार भी लेते गये। शरणार्थियों का कहना है कि सैनिक लड़ाई में लगने वाले गोला-बारूद की मात्रा बढ़ा-चढ़ाकर बताते हैं, मगर अतिरिक्त गोला-बारूद छापामारों के हवाले कर देते हैं। प्रत्यक्ष रूप से रूस के वफादार अफगान सैनिक परोक्ष रूप से छापामारों की सहायता करते हैं। 37-वर्षीय भूतपूर्व मेजर मूसा शफीक सामरिक महत्व के काबुल-पेशावर हाईवे पर जलालाबाद में तैनात था, उसका कहना है, "हम मुजाहिदों को बता देते थे कि रूसी सैनिक अमुक स्थान पर डेरा डाले पड़े हैं, उन्हें हमला कर देना चाहिए। जब लड़ाई शुरू हो जाती तो हम भी अपनी बन्दूकों का रुख चुपके से रूसियों की तरफ कर देते थे।"

अफगानों के चोरी-छिपे हथियार बनाने के ढंग को देखकर लगता है कि सोवियत संघ के खिलाफ भड़की विद्रोह की आग जल्दी बुझने वाली नहीं है। अफगानों के दृढ़ प्रतिरोध ने सोवियत कमान को विवश कर दिया है कि करमाल सरकार को सत्ता में बनाये रखने के लिए वह अपने सैनिकों की संख्या न घटाये।

करमाल अफगानिस्तान को स्थायी व वास्तविक नेतृत्व देने की हालत में नहीं है। करमाल सरकार के आपसी झगड़े व अक्षमता से सोवियत कूटनीतिज्ञ बहुत परेशान हैं। अफगानिस्तान की आर्थिक दशा भी दिन-ब-दिन बिगड़ती जा रही है। अफगानिस्तान के बाजार में सन्तुलन बनाये रखने एवं दैनिक उपयोग की चीजों की कमी न आने देने, मँहगाई न बढ़ने देने के लिए रूस को अपनी गाँठ से खर्च करना पड़ रहा है। अफगानिस्तान का विदेश व्यापार बहुत आहत हुआ है। पर्यटन मरणासन्न अवस्था में जा रहा है। हालात ऐसे बनते जा रहे हैं कि सोवियत कूटनीतिज्ञ हर अफगान की निष्ठा को शंका की नजर से देखता है तथा हर अफगान सोवियतों को घृणा की नजर

से देखता है। कहीं यह न हो कि अफगानिस्तान रूस का चेकोस्लोवाकिया सिद्ध होने के बजाय अमरीका का वियतनाम सिद्ध हो।

अन्तर्राष्ट्रीय दबाव

अफगानिस्तान से सोवियत सैनिकों की वापसी को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय दबाव निरन्तर बढ़ने लगा। केवल अमरीका और पश्चिमी देश ही सोवियत संघ से अफगानिस्तान से हटने के लिए जोर नहीं डाल रहे थे बल्कि अरब, एशिया, अफ्रीका आदि देशों का दबाव भी बढ़ता जा रहा था। अमरीका ने पाकिस्तान को अस्त्रों से लैस करने का फैसला किया तो चीन ने भी पाकिस्तान को इस तरह की सहायता देने का विश्वास दिलाया। अरब देशों ने भी सोवियत सैनिकों के अफगानिस्तान में हस्तक्षेप करने का, सिवाय दक्षिणी यमन के, विरोध किया। यहाँ तक कि इराक जिसे सोवियत संघ से खासी सहायता मिलती है, उसने भी रूस की इस कार्यवाही की निन्दा की। इराक की निन्दा के पीछे शायद कुर्द हैं जो ईरान-इराक की सीमा को सदैव गर्म किये रहते हैं। अमरीकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने सीनेट में सामरिक अस्त्र प्रसार विरोधी सन्धि (साल्ट-2) पर बहस स्थगित करने का आदेश दिया था। सोवियत नेताओं से कार्टर ने 'हॉट लाइन' पर काफी कड़े शब्दों का इस्तेमाल किया। अमरीका ने सोवियत संघ को अनाज देने तथा आधुनिक प्रविधि से जानकारी देने के अपने फैसले को बदलकर सोवियत संघ की कार्यवाही का विरोध किया। गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के नई दिल्ली शिखर सम्मेलन (1983) में कहा गया कि दूसरों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्त के अनुरूप अफगानिस्तान से विदेशी फौजें हटाने के आधार पर कोई राजनीतिक हल निकाला जाये।

अफगान संकट : राजनीतिक हल

अमरीका से हथियार प्राप्त करते हुए भी पाकिस्तान चूंकि यह कहता आया था कि वह अफगानिस्तान संकट का राजनीतिक हल चाहता है, अतः संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में वह अफगान सरकार के साथ अप्रत्यक्ष बातचीत करने को सहमत हुआ तथा पहले दौर की बातचीत जून 1982 में हुई तथा संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा तैयार किये गये जिस चार-सूत्री फार्मूले पर भाग लेने वाले सभी पक्ष सहमत थे, वह निम्न प्रकार था : (i) अफगानिस्तान से विदेशी सेनाओं की वापसी, (ii) पाकिस्तान और अफगानिस्तान में बाहरी ताकतों का अहस्तक्षेप, (iii) ऐसे हस्तक्षेप के खिलाफ सम्भवतः सुरक्षा परिषद के पाँच स्थाई सदस्यों की अन्तर्राष्ट्रीय गारण्टी, और (iv) अफगान शरणार्थियों का अपने देश को लौटना, अफगानिस्तान लौटने पर अपनी पसन्द की सरकार का निर्माण तथा अफगानिस्तान का गुटनिरपेक्ष स्वरूप। जिनेवा वार्ता के सभी पहले असफल रहे क्योंकि पाकिस्तान का कहना था कि पहले सोवियत संघ को सैनिकों की वापसी की समय-सारिणी बनानी चाहिए।

श्री बबरक करमाल के त्याग-पत्र देने के पश्चात् डा० नजीबुल्ला ने शान्ति कार्यवाही की पहल की। उन्होंने अपने पहले ही वक्तव्य में खून-खराबा समाप्त करने की अपील की तथा शरणार्थियों से वापस आने को कहा और 15 जनवरी, 1987 को इकतरफा युद्ध विराम की घोषणा की। यद्यपि विद्रोही ग्रुपों ने इस पेशकश को ठुकरा दिया तथापि अपने प्रयत्नों को जारी रखते हुए नजीबुल्ला सरकार ने जनवरी 1987 में जेलों में बन्द विद्रोहियों के लिए आम माफी की घोषणा की तथा राष्ट्रीय सुलह सफाई की अपील की।

अफगान संकट के हल के सन्दर्भ में वर्ष 1988 का प्रारम्भ अच्छा सिद्ध हुआ। सोवियत विदेश मन्त्री शेवर्दनाद्ज़े ने जनवरी 1988 के पहले सप्ताह में काबुल का दौरा किया तथा व्यापक आधार पर मिली-जुली सरकार बनाने की कोशिश करने की योजनाओं की घोषणा की। श्री गोर्बाचोव

ने भी घोषणा की कि सोवियत सैनिकों का पूरी तरह हटना 15 मई, 88 से शुरू हो जायेगा, यदि जिनेवा में 15 मार्च तक समझौता हो जाये।

अफगान समझौता—संयुक्त राष्ट्र संघ की मध्यस्थता में 14 अप्रैल, 1988 को साढ़े आठ साल पुराने संकट को खत्म करने के ऐतिहासिक समझौते पर हस्ताक्षर हुए। अमेरिका और सोवियत संघ गारण्टीकर्ता बने। अमेरिका की ओर से विदेश सचिव जार्ज शुल्ज और सोवियत संघ की ओर से विदेश मन्त्री शेवरनात्जे, अफगानिस्तान की ओर से विदेश मन्त्री अब्दुल वकील और पाकिस्तान की ओर से विदेश राज्य मन्त्री जैन नूरानी ने हस्ताक्षर किये। समझौते की मुख्य व्यवस्थाएँ निम्न प्रकार हैं :

1. 15 मई, 1988 से 9 माह के भीतर संयुक्त राष्ट्र पर्यवेक्षकों की देखरेख में रूसी सैनिकों की वापसी।
2. अफगानिस्तान में रूस-अमरीका द्वारा हस्तक्षेप व प्रवेश न किये जाने के प्रति वचनबद्धता।
3. विविध अफगान दलों व गुटों को रूस व अमरीका द्वारा किसी प्रकार की सहायता न दिये जाने का आश्वासन।
4. अफगानिस्तान की सम्प्रभुता व क्षेत्रीय अखण्डता व गुट निरपेक्षता की सभी देशों द्वारा मान्यता तथा रूस व अमरीका द्वारा उसकी प्रत्याभूति।
5. पाकिस्तान से अफगान शरणार्थियों की वापसी।
6. समझौते के उल्लंघन व मतभेद की दशा में संयुक्त राष्ट्र प्रतिनिधि की उपस्थिति में पाक-अफगान वार्ता व समाधान की व्यवस्था।

अफगानिस्तान के राष्ट्रपति डॉ. मोहम्मद नजीब उल्लाह ने कहा है कि अफगान समस्या के समाधान के लिए उनकी सरकार अफगान मुजाहिदीन (विद्रोहियों) से वातचीत का सिलसिला शुरू करेगी। नजीब उल्लाह का यह निर्णय वास्तव में सराहनीय है। यदि अफगान विद्रोहियों से वातचीत करके उनको सन्तुष्ट करने की कोशिश की जाये तो अफगान संकट का समाधान हो सकता है। अमरीका अफगान विद्रोहियों को लगातार हथियार देता रहा है और सोवियत संघ अफगान सरकार की पीठ पर हाथ रखे हुए है। ये दोनों महाशक्तियाँ यदि अफगानिस्तान में दखलन्दाजी वन्द कर दें तो समस्या का समाधान आसानी से हो सकता है।

पाकिस्तान के राष्ट्रपति जिया उल हक ने जिनेवा शान्ति समझौते को ऐतिहासिक वताते हुए कहा था कि यह 20वीं सदी का एक करिश्मा है। भारत ने आशा व्यक्त की कि इस समझौते के फलस्वरूप क्षेत्र में तनाव कम होगा और क्षेत्र में अत्याधुनिक हथियार जमा करने का वहाना समाप्त होने के कारण इन हथियारों को हटाने का काम भी शुरू होगा।

अफगानिस्तान से सोवियत सेनाओं के हटने के बाद 2 नवम्बर, 1989 को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने अपनी सामान्य बैठक में सभी सम्बद्ध पक्षों से अफगानिस्तान में तुरन्त युद्ध वन्द करने का आह्वान किया। महासभा में सोवियत संघ तथा पाकिस्तान ने मिलकर प्रस्ताव रखा जिसमें अफगानिस्तान में युद्धरत सभी पक्षों से युद्ध वन्द करने की अपील की गयी। महासभा में यह मत भी व्यक्त किया कि अफगानिस्तान की अखण्डता, प्रभुता, राजनीतिक स्वाधीनता, गुट निरपेक्षता तथा इस्लामिक पद्धति को बनाये रखते हुए ही इस समस्या का शान्तिपूर्वक समाधान हो पायेगा। महासभा में शरणार्थियों को द्रुतगति से अफगानिस्तान वापस भेजने के लिए कदम उठाने की भी अपील की तथा उनके पुनर्वास में सहायता करने का वचन दिया।

यदि अमरीका और पाकिस्तान अफगान विद्रोहियों को मदद जारी रखने पर अड़े रहते हैं, तो अफगानिस्तान में शान्ति स्थापित होने की आशा मृगतृष्णा ही सिद्ध हो सकती है।

(2) कम्पूचिया समस्या
(KAMPUCHEAN PROBLEM)

सन् 1970 के दशक से कम्पूचिया अमेरिका, सोवियत संघ व चीन के बीच की राजनीति का शिकार बनकर विनाश के कगार पर खड़ा हुआ है।

कम्पूचिया में, जिसे पूर्व में कम्बोडिया भी कहा जाता था, पिछले 13 वर्षों से प्रमुख चार गुटों पोल पोट की खमेर रूज गुरिल्ला टुकड़ियाँ, लोकतान्त्रिक कम्पूचिया प्रतिरोध गुट (सिंहानुक मोर्चा), खमेर राष्ट्रीय जनमुक्ति मोर्चा (के० पी० एन० एल० पी०) तथा जनवादी हेंग सेमरिन सरकार की सेना में लगातार सत्ता का संघर्ष जारी है।

प्राचीन काल में कम्बोडिया कम्बुज के नाम से विख्यात था। हिन्दचीन के नाम से जाने गये क्षेत्र के तीन राज्यों—लाओस, कम्बोडिया व वियतनाम—में से कम्बोडिया मैकांग नदी के कारण सबसे अधिक उपजाऊ है। इसी राज्य में दक्षिणी-पूर्वी एशिया की सबसे विशाल झील—टोनलेसैप विद्यमान है। कम्बोडिया का क्षेत्रफल 66 हजार 600 वर्गमील है तथा 1978 में यहाँ की कुल जनसंख्या 78,88,000 थी। इसमें से 53,34,000 खेमरस्, 2,18,000 चीनी शेष अन्य लोग है। यहाँ की अधिकांश जनसंख्या बौद्ध धर्म को मानने वाली है। यह थाईलैण्ड, लाओस व वियतनाम से घिरा हुआ है। इसके दक्षिण में श्याम की खाड़ी स्थित है।

फ्रांस के लोग सबसे पहले यहाँ धर्म-प्रचार करने के लिए आये थे। द्वितीय विश्व-युद्ध तक कम्बोडिया के लोग स्वतन्त्रता के प्रति इतने उदासीन थे कि 75 वर्ष के फ्रांसीसी प्रभुत्व के काल में एक बार भी उन्होने स्वाधीनता की बात को लेकर विद्रोह नहीं किया। द्वितीय महायुद्ध के दौरान जब जापान हिन्दचीन के क्षेत्र की ओर पैर पसारने लगा तब कम्बोडिया के लोगों की आँखे खुलीं और उन्होंने महसूस किया कि फ्रांस भी कितना निर्बल है। जब फ्रांस की दुर्बलता उनके सम्मुख स्पष्ट हुई तो उन्होने शासन में परिवर्तन की बात पर विचार करना प्रारम्भ किया। मार्च 1945 में जब फ्रांस के शासन से मुक्त होकर जापान के संरक्षण में कम्बोडिया स्वतन्त्र हुआ तो राजा को शासन का असीमित अधिकार प्राप्त हो गया। जापान के आत्मसमर्पण के बाद फ्रांस के शासक कम्बोडिया में फिर पहुँच गये। परिणाम यह हुआ कि 1953 तक कम्बोडिया फ्रांस के शिकंजों में जकड़ा ही रहा। कम्बोडिया की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न आरम्भ हुए और 9 नवम्बर, 1953 को उसे पूर्ण स्वतन्त्रता दी गयी। 1953 से 17 मार्च, 1970 तक यहाँ राजकुमार नरोत्तम सिंहुक का शासन था। सिंहनुक राज्य प्रमुख व सम्राट होने के साथ-साथ शासन का प्रमुख भी बन गया। अगस्त 1969 मे जनरल लोननोल का प्रधानमन्त्री और राजकुमार विशुवत् का उप-प्रधानमन्त्री बनना कम्बोडिया की राजनीति में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन का प्रारम्भ सिद्ध हुआ। उन दोनो ने शासन की शक्ति को अपने हाथों में केन्द्रित करना प्रारम्भ कर दिया। सिंहनुक का झुकाव भले ही चीन की ओर था, जनवरी 1970 में सिंहनुक चिकित्सा के लिए देश के बाहर गये। षड्यन्त्रकारियों को अनुकूल अवसर प्राप्त हो गया और उन्होंने सिंहनुक का तख्ता पलट दिया। सिंहनुक भागकर पीकिंग चले गये जहाँ उन्होने कम्पूचिया की निर्वासित सरकार की स्थापना की।

चीन में सैनिक सहायता प्राप्त करके पोलपोट के नेतृत्व में मार्च 1975 में लोननोल का तख्ता पलट दिया गया। दिसम्बर 1975 से अप्रैल 1976 तक सिंहनुक कम्बुजिया के संवैधानिक अध्यक्ष रहे। 14 अप्रैल, 1975 को रिवउसफान राष्ट्रपति बनाये गये किन्तु सारी शक्ति प्रधान-मन्त्री पोलपोट के हाथों में केन्द्रित होती गयी। पोलपोट ने नाममात्र के लिए सिंहनुक को राष्ट्राध्यक्ष बना दिया तथा वास्तविक राज्य सत्ता अपने हाथों मे रखी। ज्ञातव्य है कि सिंहानुक को राष्ट्राध्यक्ष बनाने के बावजूद भी उन्हें उनके महल के अन्दर ही एक वर्ष तक बन्दी बनाकर रखा गया, जिससे

चिढ़कर उन्होंने राष्ट्राध्यक्ष पद से भी त्यागपत्र दे दिया। पोलपोट ने आम नागरिकों पर काफी अत्याचार किये। ऐसा कहा जाता है कि उसने कम्पूचिया की सांस्कृतिक क्रान्ति में 70 लाख की कुल आबादी में से 30 लाख लोगों को मौत के घाट उतार दिया। उसे एशिया का 'ईदी अमीन' कहा जाने लगा। कम्पूचिया एक यातना शिविर बनकर रह गया।

पोलपोट के अत्याचारों के फलस्वरूप लगभग $1\frac{1}{2}$ लाख कम्बुजियावासी वियतनाम और थाईलैण्ड की तरफ कूच कर गये। इन्होंने ही हेंग सामरिन के नेतृत्व में राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे का निर्माण किया। हेंग सामरिन ने वियतनाम में शरण ले ली। इधर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तेजी से परिवर्तन आ रहा था। 1975 में ज्यों ही वियतनाम के एकीकरण की घोषणा की गयी चीन से उसके सम्बन्ध बिगड़ गये, क्योंकि वियतनाम की पीठ पर सोवियत संघ का हाथ था। दूसरी तरफ चीन कम्पूचियाई मामले पर दोनों महाशक्तियों के सैनिक हस्तक्षेप को एकदम निष्प्रभावी करना चाहता था। इसी उद्देश्य से चीनी नेताओं ने पोलपोट को युद्ध के लिए भड़का दिया और उसकी गुरिल्ला टुकड़ियों को भरपूर सामरिक सहायता मुहैया करायी। दूसरे, चीन के कहने पर पोलपोट ने वियतनाम की दक्षिण-पश्चिम सीमा पर उपद्रव मचाना शुरू किया। उधर उत्तरी सीमा पर वियतनाम चीन से उलझ रहा था। आखिरकार 31 दिसम्बर 1977 को पोलपोट सरकार ने वियतनाम से कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ने की घोषणा कर दी और उसके एक वर्ष बाद 25 दिसम्बर, 1978 को वियतनाम की सेना कम्पूचिया में घुस गयी। वियतनामों की सहायता से हेंग सामरिन 7 जनवरी, सन् 1979 को राजधानी नेम पेन्ह पर अधिकार करने में सफल हो गया। वियतनाम ने कम्पूचिया में सैनिक हस्तक्षेप करके समानान्तर सरकार स्थापित करवायी। हेंग समरिन भी पहले पूर्वी कम्पूचिया में खमेर रूज सेना के कमाण्डर थे, मगर उनके अत्याचारों से चिढ़कर वे अलग हो गये थे। वियतनामी सेना की मदद से उन्हें सत्तारूढ़ होने में कामयाबी हासिल हुई और पोलपोट देश छोड़कर थाईलैण्ड चले गये, जहाँ छापामारों ने नई हेंग सेमरिन सरकार के खिलाफ संघर्ष छेड़ रखा था। 1975 में थाईलैण्ड ने चीन के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध कायम किये और उसी समय से यह देश वियतनाम के खिलाफ चीन तथा अमरीकी मुहिम का अड्डा बना हुआ है, क्योंकि कम्पूचिया को मिल रहे वियतनामी समर्थन के पीछे सोवियत संघ का हाथ है। कुछ लोगों की धारणा है कि कम्पूचिया में वियतनाम की भूमिका ठीक उसी प्रकार की रही है जिस प्रकार की भारत की भूमिका 1971 में पूर्वी पाकिस्तान में रही।

अमरीका और चीन कम्पूचिया की पोलपोट सरकार को मान्यता देते रहे जबकि भारत सहित कई देशों ने हेंग सामरिन सरकार को मान्यता दी है।

कम्पूचिया में हेंग सामरिन सरकार ने 1981 में निर्वाचन भी कराये किन्तु उसे अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति नहीं मिल पायी। देश के अधिकांश भाग पर हेंग सामरिन का अधिकार है परन्तु थाईलैण्ड से लगने वाली सीमाओं पास अंगकोरवाट के मन्दिरों में पोलपोट की सेनाएँ भी सक्रिय रही हैं। यहीं से वे छापामार हमले करते रहे हैं।

हेंग सामरिन सरकार को सोवियत संघ, वियतनाम, अफगानिस्तान, लाओस, पूर्वी जर्मनी, हंगरी और बल्गारिया ने राजनयिक मान्यता दे दी किन्तु पश्चिमी शक्तियाँ पोलपोट सरकार को ही कम्पूचिया की वैध सरकार मानती रही हैं। गुटनिरपेक्ष देशों के हवाना शिखर सम्मेलन (1979) तथा नई दिल्ली शिखर सम्मेलन (1982) ने कम्पूचिया के स्थान को रिक्त रखना ही उचित समझा। यहाँ तक कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रमुख राज्यों—इण्डोनेशिया, मलयेशिया, फिलीपाइन, सिंगापुर और थाईलैण्ड ने भी कम्पूचिया की हेंग सामरिन सरकार को मान्यता प्रदान नहीं की है। संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् ने जनवरी 1979 में एक प्रस्ताव पारित कर यह माँग की कि कम्पूचिया से सभी विदेशी सेनाएँ हटायी जायें। किन्तु रूस द्वारा इस प्रस्ताव को वीटो

कर दिया गया। अक्टूबर 1980 में महासभा ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें पोलपोट के प्रतिनिधि को ही महासभा में स्थान देते रहने को स्वीकार किया। 14 नवम्बर, 1980 को महासभा ने एक अन्य प्रस्ताव पारित किया जिसमें निम्नलिखित बातों का उल्लेख था—(क) कम्पूचिया मे सभी विदेशी सेनाओं को तत्काल हटाया जाय; (ख) कम्पूचिया के आन्तरिक मामलों में सभी हस्तक्षेप समाप्त किये जायें; (ग) कम्पूचिया में संयुक्त राष्ट्र की देखरेख में चुनाव कराये जायें; (घ) महासचिव कम्पूचिया के प्रश्न पर एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने की सम्भावनाओं का पता लगायें।

जुलाई 1981 में न्यूयार्क में महासचिव डॉ० कुर्त वाल्डाइम ने कम्पूचिया समस्या के समाधान के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन में तीन बातों पर जोर दिया गया : (i) कम्पूचिया मे युद्धविराम; (ii) जितनी जल्दी हो सके सेनाओं की वापसी तथा (iii) संयुक्त राष्ट्र की देखरेख मे चुनाव।

महाशक्तियों के हस्तक्षेप के कारण कम्पूचिया की समस्या आज भी जटिल और उलझनकारी बनी हुई है।

राजकुमार सिहानुक द्वारा निर्वासित सरकार का गठन

सन् 1982 में थाईलैण्ड में राजकुमार सिहनुक के नेतृत्व मे निर्वासित मिली-जुली कम्पूचिया सरकार का गठन किया गया और तभी से हेंग सामरिन सरकार को उखाड़ फेंकने की कोशिश जारी है। निर्वासित सरकार मे राजकुमार के अलावा पोलपोट, ख्यू सम्पन और गैर-साम्यवादी खमेर राष्ट्रीय जन मुक्ति मोर्चे (के० पी० एन० एल० एफ०) के नेता सोन सान भी शामिल थे।

राजकुमार सिहानुक उसके अध्यक्ष बने और खमेर रूज नेता ख्यू सम्पन उपाध्यक्ष। इसके बाद सिहानुक लम्बे समय तक चीन की राजधानी बीजिंग में रहते रहे और उनकी तथाकथित सरकार की गुरिल्ला सेना थाईलैण्ड की सीमा के भीतर से कम्पूचिया पर हमले करती रही।

कम्पूचिया में हेंग सामरिन जनवादी सरकार वियतनाम की मदद और भारत सहित विश्व के अधिसंख्य देशों की मान्यता के आधार पर सुदृढ़ बनी रही है। प्रधानमन्त्री हुनसेन सहित अन्य राजनीतिक नेताओं को यह पक्का विश्वास हो गया है कि देश के प्रमुख चार गुटों में सत्ता संघर्ष छिड़े रहने के कारण कम्पूचिया की सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक दशा एकदम चौपट होती जा रही है। अतः ऐसे नाजुक समय में सभी राजनीतिक दलों के नेताओं की यह आम राय है कि वर्तमान स्थिति को लम्बे समय तक जारी नही रखा जा सकता है। उनका ख्याल है कि किसी न किसी प्रकार राष्ट्रीय सहमति के आधार पर देश की राजनीति में स्थिरता लानी होगी, ताकि देश की गिरती आर्थिक स्थिति तेजी से सम्भाली जा सके।

कम्पूचिया में महाशक्तियों का हस्तक्षेप

कम्बोडिया ने गुट-निरपेक्षता की नीति को अपने वैदेशिक सम्बन्धों का आधार बनाया है। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के 30 वर्ष बाद भी कम्बोडिया आश्वस्त नही हुआ कि उसके ऊपर से सारे संकट टल चुके है। उसको आज भी यह सन्देह है कि विदेशी लोग उसकी आजादी का हरण करना चाहते हैं। थाईलैण्ड और वियतनाम, जो उसके निकटतम पड़ोसी हैं, उसके पुराने शत्रु हैं। उसकी भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि वह सदैव दूसरे देश के आक्रमण के लिए खुला हुआ है। उसके पास इतनी सैन्य शक्ति भी नहीं है जो वह अपनी सीमाओ की सम्भावित शत्रुओं से रक्षा कर सके। इसीलिए कम्बोडिया ने असंलग्न व तटस्थ रहना ही सबसे अधिक व्यावहारिक समझा। कम्बोडिया को अपनी इस नीति के कारण ही देश में चल रही विकास योजनाओं के लिए दोनों गुटों से आर्थिक व तकनीकी सहायता प्राप्त होती रही। चीन, संयुक्त राज्य अमरीका तथा सोवि-

यत संघ ने कम्बोडिया को सहायता दी । सहायता ग्रहण करते हुए भी कम्बोडिया चीन की विस्तारवादी नीति को भूला नहीं है और वह इस ओर भी सचेत है कि दोनों गुट उसको अपनी ओर मिलाने का भरसक प्रयत्न करते रहे हैं ।

तटस्थता के विषय में 11 सितम्बर, 1957 को कम्बोडिया की राष्ट्रीय सभा ने एक अधिनियम पारित किया । इस अधिनियम द्वारा कम्बोडिया की तटस्थता को राज्य के कानूनों का एक अंग बना दिया गया । अपने इसी अधिनियम के अनुसार कम्बोडिया न तो चीन व रूस से और न अमरीका से ही सैनिक सहायता प्राप्त करने को तैयार हुआ । लाओस के गृह-युद्ध के विषय में कम्बोडिया ने तटस्थता का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए विदेशी शक्तियों से अपने हाथ खींच लेने का अनुरोध किया । 1970 के प्रारम्भ में सिंहानुक के अपदस्थ होने के साथ कम्बोडिया की तटस्थता का युग समाप्त हो गया । सिंहानुक ने अपने समय में व्यक्तिगत प्रभाव से कम्बोडिया की तटस्थता को कायम रखा । मार्च 1970 में जनरल लोननोल का अभ्युदय अमरीका द्वारा प्रेरित था । अमरीका के राष्ट्रपति निक्सन ने अमरीकी सैनिकों को कम्बोडिया में घुसने की अनुमति देने की घोषणा कर दी । 1970 में अपदस्थ होने के बाद राजकुमार सिंहानुक ने चीन में शरण ली । चीन से समर्थन और सहायता प्राप्त करके ही ख्मेर ने मार्च 1975 में लोननोल का तख्ता पलट दिया । परन्तु सिंहानुक भी वहाँ बहुत दिनों तक सत्तारूढ़ नहीं रह सके । उन्हें चीन समर्थक पोलपोट के लिए अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा । स्वतन्त्र वियतनाम का उदय चीन के गले नहीं उतरा । अतः चीन के इशारे पर पोलपोट की सरकार ने वियतनाम के साथ सीमाओं पर सैनिक मुठभेड़ें आरम्भ कर दीं । परन्तु इसकी प्रतिक्रिया स्वयं कम्पूचिया मे अनुकूल नहीं हो सकती थी परिणामतः उसके विरुद्ध एक व्यापक विद्रोह उठ खड़ा हुआ जिसकी परिणति जनवरी 1979 में पोलपोट के पतन तथा सामरिन के नेतृत्व में नये शासन के उदय के द्वारा हुई । हेंग सामरिन को वियतनाम ने भरपूर सहायता एवं सहयोग दिया । चीन में सुरक्षा परिषद् में यहाँ तक कहा कि वियतनाम और सोवियत संघ के सक्रिय सहयोग से कम्पूचिया पर हेंग सामरिन जैसे विद्रोहियों का शासन स्थापित हुआ है । सिंहानुक ने कहा कि वियतनाम को बिना शर्त कम्पूचिया से हट जाना चाहिए । यह सच है कि वियतनामी सैनिकों ने कम्पूचिया में हस्तक्षेप किया और वियतनाम को पाठ सिखाने के लिए चीन ने (फरवरी 1979) उस पर आक्रमण कर दिया ।

महाशक्तियों के हस्तक्षेप के कारण कम्पूचिया की समस्या जटिल और उलझनकारी है । चीन और वियतनाम दोनों ही नहीं चाहते कि कम्पूचिया अपने आप को स्वतन्त्र और तटस्थ महसूस करे । चीन पोलपोट को चाहता है । हेंग सामरिन की ओर में वियतनामी विस्तारवादी आग्नेय एशिया में अपना फन फैला रहा है । सोवियत का हस्तक्षेप प्रत्यक्ष नहीं रहा बल्कि वियतनाम के माध्यम से अप्रत्यक्ष रहा है । अमरीका से प्रेरणा पाकर ही वियतनाम को सबक सिखाने के उद्देश्य से चीन ने 17 फरवरी, 1979 को उस पर आक्रमण किया था । कम्पूचिया में निरन्तर युद्ध स्थिति के कारण थाईलैण्ड की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो गया है, परिणामस्वरूप आज थाईलैण्ड विदेशी शक्तियों, विशेषकर अमरीका, का अड्डा बना हुआ है । उसके माध्यम से ही पोलपोट सरकार के बचे-खुचे लोगों को आर्थिक सैनिक सहायता मिल रही है ।

ऐसा कहा जाता है कि रूस कम्पूचिया में चल रहे संघर्ष में दो से लेकर तीन अरब डॉलर प्रति वर्ष के हिसाब से झोंक रहा है जो उसकी अपनी अर्थव्यवस्था पर बड़ा भार है । पिछले दो साल से वे वियतनाम से गुप्त वार्ताओं में यह कह रहे हैं कि वह कम्पूचिया से सेना बुला ले । यह रूसी दबाव का प्रतिफल है कि वियतनाम ने कम्पूचिया से सेना हटाने का वादा किया है और यह लगने लगा है कि 1990 तक कम्पूचिया की समस्या हल हो जायेगी । वियतनामी विदेशमन्त्री गुयुन को थाच ने भी कहा है कि इस साल के अन्त तक कम्पूचिया में मौजूद सवा लाख वियतनामी

सैनिकों में से लगभग 50 हजार तो अवश्य ही वापस आ जायेंगे। ज्ञातव्य है कि वियतनाम नवम्बर 1989 में कम्पूचिया से लगभग एक लाख वियतनामी सैनिकों को वापस बुला चुका है।

संयुक्त राष्ट्र संघ और कम्पूचिया समस्या

दिसम्बर 1978 में गणतन्त्रवादी कम्पूचिया और वियतनाम के बीच लड़ाई छिड़ जाने के बाद कम्पूचिया की स्थिति और दक्षिण-पूर्वी एशिया में सापेक्ष विकासों पर सुरक्षा परिषद् द्वारा 1979 के पूर्वार्द्ध में विचार किया गया था। जनवरी में सुरक्षा परिषद् की बैठक गणतन्त्रवादी कम्पूचिया, जिसने वियतनाम पर आक्रमण करने का आरोप लगाया था, के अनुरोध पर हुई। सुरक्षा परिषद् ने उस प्रारूप संकल्प पर विचार किया जिसने राज्यों के आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप के सिद्धान्त के कठोरता से पालन किये जाने की माँग होती और सभी विदेशी सेनाओं को घेराबन्दी का पालन करने, दुश्मनी समाप्त करने और गणतन्त्रवादी कम्पूचिया से हटने की माँग की होती। उस प्रारूप-संकल्प और उसी के समान अन्य पर परिषद् द्वारा मार्च में दुबारा विचार किया गया था परन्तु उसके एक स्थायी सदस्य (सोवियत संघ) के नकारात्मक मत (veto) के कारण स्वीकृत नहीं किया जा सका।

बाद में पाँच एशियाई राज्यों—इण्डोनेशिया, मलेशिया, फिलीपीस, सिंगापुर और थाईलैण्ड—के अनुरोध पर सन् 1979 के अपने नियमित सत्र में कम्पूचिया प्रश्न पर महासभा द्वारा विचार किया गया था। महासभा ने एक संकल्प स्वीकृत किया जिससे संघर्ष से सम्बन्धित सभी पक्षों को उसी समय से संघर्ष समाप्त करने को प्रवृत किया गया था—कम्पूचिया से सभी विदेशी सेनाओं के हट जाने की माँग की, कम्पूचिया के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने से अलग रहने की अपील सभी राज्यों से की और संकल्प लिया कि कम्पूचिया के लोगों को बाह्य हस्तक्षेप, तोड़-फोड़ या बल प्रयोग की कार्यवाही बिना गणतन्त्रात्मक रूप से अपनी खुद की सरकार चुनने में समर्थ बनाया जाये। महासभा ने तमाम राज्यों और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से कम्पूचिया की नागरिक जनसंख्या को मानवतावादी सहायता देने की अपील की।

महासभा के 1980 के एक निर्णय द्वारा जुलाई 1981 में न्यूयार्क में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन ने कम्पूचिया पर एक घोषणा स्वीकृत की जिसने राजनीतिक निबटारे के बुनियादी सिद्धान्त को पुनः पुष्ट किया और ऐसे निबटारे के तत्व निर्धारित किये। सम्मेलन ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें : (क) कम्पूचिया मे युद्धविराम, (ख) जितनी जल्दी हो सके सभी सेनाओं की वापसी; (ग) संयुक्त राष्ट्र की देखरेख में चुनाव की बात कही गयी थी।

बाद में 1981 अपने नियमित सत्र में महासभा ने घोषणा स्वीकृत की और महासचिव से विशद राजनीतिक निबटारे के लिए अपनी पद-शक्ति का उपयोग करने अनुरोध किया।

अक्टूबर 1982 में महासभा को प्रतिवेदित करते हुए महासचिव ने कहा कि उसने अपनी पदशक्ति के प्रयोग में प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित राज्यो से परामर्श किये थे और उनके विशेष प्रतिनिधि ने भी क्षेत्रीय सरकारों से वार्ताएँ की थी परन्तु अभी भी सम्बद्ध पक्षो के बीच समस्या के प्रकार और शान्तिपूर्ण समाधान के तरीकों, दोनो के बारे में बड़े अन्तर विद्यमान है। उन्होने बताया कि वे अपनी पद शक्ति का उपयोग जारी रखने और शान्तिपूर्ण समाधान की खोज में लगे सभी पक्षों की सहायता करने के लिए कृत निश्चय हे।

4 नवम्बर, 1988 को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने कम्पूचिया से वियतनामी सेना की वापसी सम्बन्धी एक प्रस्ताव पारित किया। प्रस्ताव में माँग की गयी कि कम्पूचिया से सभी विदेशी सेनाएँ अन्तर्राष्ट्रीय एजेन्सी की निगरानी में हटा ली जायँ।

कम्पूचिया समस्या और भारतीय दृष्टिकोण

वियतनामियो की सहायता से हेंग सामरिन ने 7 जनवरी, 1979 को कम्पूचिया की राज-

धानी नेमपेन्ह पर अधिकार कर लिया, हेंग सामरिन सरकार को सोवियत संघ, वियतनाम, अफगानिस्तान, लाओस, पूर्वी जर्मनी आदि ने मान्यता दे दी। किन्तु पश्चिमी शक्तियाँ पोलपोट सरकार को ही कम्पूचिया की वैध सरकार मानती रहीं। वियतनाम और सोवियत संघ ने भारत से हेंग सामरिन सरकार को मान्यता देने का आग्रह किया। किन्तु मोरारजी सरकार ने परम्परागत नीति के अनुसार भारत की स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा—"हम अभी स्थिति का मूल्यांकन कर रहे हैं, और ज्यों ही कम्पूचिया में जनजीवन सामान्य हो जायेगा, राज्य पर सरकार का पूरा नियन्त्रण हो जायेगा, भारत कम्पूचिया को तुरन्त मान्यता प्रदान कर देगा।

अत्याचारी पोलपोट सरकार को मार भगाने वाली हेंग सामरिन सरकार को भारत ने इसलिए मान्यता नहीं दी कि पोलपोट का आका चीन नाराज हो जायेगा। पोलपोट की सरकार विदेशमन्त्री वाजपेयी के चीन जाने के कुछ हफ्ते पहले जनवरी 1979 में ही गिरी थी। यदि हेंग सामरिन सरकार को मान्यता दे दी जाती तो शुभ यात्रा के समय अपशकुन जो हो जाता। प्रधानमन्त्री देसाई ने कहा था कि यदि हेंग सामरिन मान्यता माँगे तो दे देंगे। उन्होंने माँग मान ली। अब भारत सरकार ने पैंतरा बदला और कहा कि किसी भी सरकार को मान्यता देने के पहले यह देखना चाहिए कि सारे राष्ट्र पर उसका प्रभावी अधिकार है या नहीं। क्योंकि पोलपोट की कुछ फौजें अब भी मुक्ति मोर्चे से भिड़ी हुई थीं, इसलिए मान्यता का मामला टाल दिया गया। अब यह भी कहा गया कि रूसी खेमे के अतिरिक्त प्रमुख गुट-निरपेक्ष देशों ने हेंग सामरिन सरकार को मान्यता दी है। इसलिए भी भारत मान्यता नहीं दे रहा है।

लेकिन असलियत यह थी कि पोलपोट और हेंग सामरिन तो केवल दस्ताने थे। उनके नीचे क्रमशः चीन और वियतनाम के घूंसे एक-दूसरे पर चल रहे थे। इसीलिए भारत चीन को नाराज नहीं करना चाहता था।

जुलाई 1980 में भारत की नयी सरकार (श्रीमती गाँधी) ने कम्पूचिया की हेंग सामरिन सरकार को मान्यता दे दी। निस्सन्देह भारत किसी देश को राजनयिक मान्यता देने के लिए स्वतन्त्र है परन्तु वियतनामी सेनाओं के कम्पूचिया में रहते हेंग सामरिन की सरकार को जुलाई 1980 में मान्यता देकर उसने अपनी स्वतन्त्र विदेश नीति का परिचय दिया है, न गुटनिरपेक्ष सिद्धान्तों को पुष्ट किया है और न उस दक्षिण-पूर्व एशिया में अपने नेतृत्व को निखारा है। 'एशियान' देश भारत को शंका की दृष्टि से देखने लगे है और कुछ भारत को 'रूसी हितों का रक्षक' मानने लगे हैं। आलोचकों का कहना है कि भारत ने रूसी दबाव में आकर ही कम्पूचिया की हेंग सामरिन सरकार को मान्यता दी है।

आजकल भारत और कम्पूचिया के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण हैं। निर्गुट देशों में भारत ही पहला देश है जिसने हेंग सामरिन को 1980 में मान्यता दे दी। वियतनाम को छोड़कर दक्षिणी-पूर्वी एशिया के किसी अन्य देश ने हेंग सारिन की सरकार को मान्यता नहीं दी। यहाँ तक कि संयुक्त राष्ट्र संघ में पोलपोट को ही मान्यता प्राप्त है।

16 नवम्बर, 1988 को कम्पूचिया के प्रधान मन्त्री हुनसेन ने भारत की चार-दिवसीय राजकीय यात्रा की। श्री सेन की भारत यात्रा का उद्देश्य कम्पूचिया समस्या के राजनैनिक समाधान के अन्तिम प्रयासों से भारतीय नेताओं को अवगत कराना व सलाह-मशविरा करना था।

कम्पूचिया के प्रधानमन्त्री व सिंहानुक के बीच समझौता

कम्पूचिया के भूतपूर्व राष्ट्राध्यक्ष नरोत्तम सिंहानुक और वहाँ के प्रधानमन्त्री हुनसेन के बीच फ्रांस में 4 दिसम्बर 1987 को एक समझौता हुआ। कम्पूचिया में नौ वर्ष पहले गठित कम्युनिस्ट सरकार के प्रधानमन्त्री और सरकार विरोधी गुट के बीच यह पहली बातचीत थी। संयुक्त विज्ञप्ति में दोनों नेताओं ने इस बात पर सहमति व्यक्त की कि कम्पूचिया समस्या का समा-

धान राजनीतिक होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उन्होंने समस्या के समाधान के लिए सभी गुटों के बीच सीधी वार्ता की आवश्यकता पर बल दिया ताकि कम्पूचिया को शान्तिपूर्ण स्वतन्त्र जनतान्त्रिक सम्प्रभुता सम्पन्न गुट निरपेक्ष देश बनाया जा सके। विज्ञप्ति के अनुसार देश में संघर्षरत सभी गुटों के बीच जब समझौता हो जायगा तब समझौते को सुनिश्चित करने के लिए कम्पूचिया की स्वतन्त्रता और दक्षिणपूर्व एशिया में शान्ति और स्थायित्व की गारण्टी के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया जायगा।

वार्ता का दूसरा चक्र दोनों नेताओं के बीच 22 जनवरी, 1988 को फ्रांस में समाप्त हुआ जिसमें उन्होंने कम्पूचिया के अन्य दो प्रमुख विपक्षी संगठनों को भी वार्ता में शामिल होने के लिए विशेष रूप से आमन्त्रित किया। इसी सन्दर्भ में वार्ता का तीसरा दौर उत्तर कोरिया की राजधानी प्योंगयांग में अप्रैल 1988 में चला जिसमें दोनों पक्षों ने महत्वपूर्ण फैसलों पर अपनी सहमति व्यक्त की।

कम्पूचिया समस्या का हल ढूंढ़ने के लिए 22 से 28 जुलाई 88 तक वार्ता का चौथा दौर बोगोर (इण्डोनेशिया) में सम्पन्न हुआ। लेकिन यह बैठक कोई ठोस मुद्दा सामने नहीं ला सकी। इस बैठक की सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि इस वार्ता में कम्पूचिया से सम्बन्धित सभी प्रतिनिधि मौजूद थे। पाँचवें दौर की वार्ता अक्टूबर 1988 में जकार्ता में हुई जिसमें सभी पक्ष कम्पूचिया में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति सेना के तैनात करने पर एकमत नहीं हो सके। इसके अलावा राजकुमार सिंहानुक क्रूर अत्याचारी पोलपोट की सत्ता की भागीदारी के एकदम विरुद्ध हैं जबकि चीन व अमरीका सदैव से इसकी जोरदार वकालत करते रहे हैं।

राजकुमार सिंहानुक के अनुसार कम्पूचिया में संयुक्त राष्ट्र की देखरेख में अमन-चैन लाना सम्भव है, मगर सबसे पहले वियतनामी सेना की वापसी जरूरी है।

कम्पूचिया के मामलों में राजकुमार सिंहानुक ऐसी धुरी है, जिनकी उपेक्षा करके वहाँ सामान्य स्थिति लाने की बात सोची भी नही जा सकती। मगर श्री नरोत्तम सिंहानुक के प्रस्ताव हेंग सामरिन सरकार को मान्य होंगे, इसकी उम्मीद बहुत कम है। उन्होंने सीधे-सीधे संयुक्त राष्ट्र महासचिव की देखरेख में नॉम्पेन्ह से तमाम विदेशी फौजों की वापसी, इस मामले पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने और निष्पक्ष चुनाव कराने की माँग की है।

27 जुलाई, 1988 को नरोत्तम सिंहानुक ने कम्पूचिया में जारी लड़ाई को समाप्त करने के लिए चार पार्टियों की एक सरकार बनाने का प्रस्ताव रखा। उन्होंने वियतनामी सेना की अविलम्ब वापसी तथा इस समस्या के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने पर भी जोर दिया। ज्ञातव्य है कि पिछले कुछ समय से छह एसियान राष्ट्र (इण्डोनेशिया, थाईलैण्ड, सिंगापुर, फिलीपीन, ब्रुनेई तथा मलेशिया) भी वियतनामी सेना की वापसी की माँग करते रहे हैं।

वियतनामी फौजों की वापसी

2 मई, 1989 को जकार्ता में कम्बोडिया के प्रधानमन्त्री हुनसेन तथा राजकुमार सिंहानुक के बीच एक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत दोनों नेता इस बात पर सहमत हो गये कि कम्बोडिया में एक सर्वोच्च परिषद् गठित की जायेगी और इसके अध्यक्ष राजकुमार सिंहानुक होंगे। वियतनामी फौजों का अन्तिम दस्ता 26 सितम्बर, 1989 को कम्बोडिया सीमा चौकी को पार कर वियतनाम पहुँचा। इसके साथ ही औपचारिक रूप से कम्बोडिया में वियतनामी फौजों की उपस्थिति समाप्त हो गयी।

सन् 1985 में गोर्बाच्योव के सत्ता में आने के बाद कम्पूचिया की समस्या के प्रति सोवियत संघ के बदलते रुख को देखकर अब अमरीका, चीन व थाईलैण्ड भी इस समस्या के प्रति अपने

दृष्टिकोणों में परिवर्तन ला रहे हैं। इस समस्या से सम्बद्ध पक्षों के दृष्टिकोण में आया यह परिवर्तन यदि जारी रह सका, तो यह आशा की जा सकती है कि कम्पूचिया शान्ति की ओर बढ़ सके।

(3) हिन्द महासागर
(THE INDIAN OCEAN)

वर्तमान समय में हिन्द महासागर विश्व का ऐसा क्षेत्र है जो अस्थिर और अशान्त है। राजनीतिक हलचल और महाशक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता इस क्षेत्र की मूल विशेषताएँ हैं। जब से नौसैनिक शक्ति के महत्व को समझा जाने लगा है, विशेषकर द्वितीय महायुद्ध के बाद से, तब से यह क्षेत्र संघर्ष, तनाव और टकराव का केन्द्र बन गया है।[1] अपना नौसैनिक वर्चस्व स्थापित करने के लिए विश्व की महाशक्तियाँ विशेषकर अमरीका व सोवियत संघ, हिन्द महासागर में अपनी उपस्थिति बढ़ाती जा रही हैं, और यह क्रम वर्तमान समय में जारी है।

हिन्द महासागर : भौगोलिक स्थित एवं महत्व
(THE INDIAN OCEAN : GEOGRAPHICAL POSITION AND ITS SIGNIFICANCE)

हिन्द महासागर का महत्व उसके जल मार्गों और उसके क्षेत्र में उपलब्ध कच्चे माल के कारण अत्यधिक है। इसके जल मार्ग पश्चिम और जापान के लिए जीवन रेखाएँ हैं जिनके बन्द होने या जिन पर विरोधी का प्रभुत्व स्थापित होने से उनके लिए जीवन-मरण का प्रश्न पैदा हो जाता है। इसके गर्भ में उपलब्ध कच्चे माल के भण्डार महाशक्तियों में प्रतिद्वन्द्विता के कारण हैं। विश्व का 37% तेल, 90% रबर, 70% टिन, 79% सोना, 28% मैंगनीज, 27% क्रोमियम, 16% लोहा, 12·5% सिक्का, 11·5% टंगस्टन, 11% निकल, 10% जिंक, 98% हीरे, 60% यूरेनियम इसमें पाये जाने की आशा है। इसकी समुद्री सतह पर उपलब्ध होने वाले स्रोतों, विशेषकर ऊर्जा स्रोतों की कोई कमी नहीं। सोवियत लेखक येग्गेनी रूम्यांत्सेव ने अपनी पुस्तक 'हिन्द महासागर : शान्ति और सुरक्षा की समस्याएँ' में लिखा है—"संयुक्त राज्य अमरीका यहाँ से 40 तरह का कच्चा माल ले जाता है जिसमें यूरेनियम, लिथियम, वेरीलियम इत्यादि सैनिक महत्व का कच्चा माल भी होता है। जापान अपनी तेल की प्रायः शत-प्रतिशत माँग फारस की खाड़ी के तेल से पूरी करता है हिन्द महासागर क्षेत्र के देशों से ही वह 75 प्रतिशत लौह अयस्क, 35 प्रतिशत कोक कोयले, 90 प्रतिशत वाक्साइटों, जिंक और प्राकृतिक रबड़ का आयात करता है।[2]

हिन्द महासागर विश्व का तीसरा बड़ा महासागर है। यह 10,400 किलोमीटर लम्बा, 9,600 किलोमीटर चौड़ा है। यह संसार के 20% समुद्री क्षेत्र में फैला हुआ है और 47 राज्य उसके तटों को छूते हैं। पूर्व से पश्चिम की दिशा में यह आस्ट्रेलिया से अफ्रीका तक, उत्तर से दक्षिण में यह केप कोमोरिन से अटलांटिक महाद्वीप तक फैला हुआ है। इसका जल आस्ट्रेलिया, एशिया और अफ्रीका के तीन महाद्वीपों को छूता है। मलक्का जलडमरूमध्य तथा स्वेज नहर के बीच से यह क्रमशः प्रशान्त महासागर तथा अन्ध महासागर से जुड़ा है। तीसरी दुनिया के अधिकांश राष्ट्र इसके तट पर स्थित हैं या इसके भीतरी प्रदेश में हैं। इसके 36 तटवर्ती और 11 भीतरी देश हैं। इस विशाल जल क्षेत्र में सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण द्वीप और प्रवालद्वीप हैं। आस्ट्रेलिया द्वीप तो पूरा महाद्वीप ही है। संसार में क्षेत्रफल की दृष्टि से पाँचवाँ द्वीप मैडागास्कर भी यहीं पर स्थित है। इसके अलावा श्रीलंका, सुमात्रा और जावा जैसे बड़े द्वीप समूह तथा सारे महासागर में फैले अनेक छोटे-छोटे द्वीप हैं।

---

1 Brajendra Nath Banerjee, *Indian Ocean—A Whirlpool of Unrest*, New Delhi, 1984, p. 10.

2 येग्गेनी रूम्यांत्सेव, हिन्द महासागर—शान्ति और सुरक्षा की समस्याएँ (1986), पृ० 11।

एक परिवहन मार्ग के नाते हिन्द महासागर का महत्व अपार है। यूरोप, पूर्वी अफ्रीका, पश्चिमी, दक्षिणी और दक्षिणी पूर्वी एशिया, सुदूर पूर्व, आस्ट्रेलिया तथा ओशियाना को जोड़ने वाले जल एवं वायु मार्ग यहा गुजरते हैं। हिन्द महासागर अटलांटिक और प्रशान्त महासागरों को जोड़ता है। जल मार्गों का जाल यहाँ सबसे घना है। उदाहरणार्थ, संसार में टैंकरों द्वारा ढोये जाने वाले खनिज तेल का 57 प्रतिशत ओर्मुज जलडमरूमध्य से होकर जाता है। हर ग्यारह मिनट में एक जहाज यहाँ से गुजरता है। हिन्द महासागर के ऊपर से जाने वाले वायु मार्गों का महत्व भी इधर बहुत बढ़ गया है। इनकी कुल लम्बाई दस लाख किलोमीटर से अधिक है। अन्तर-महाद्वीपीय वायुमार्गों की सेवाएं प्रदान करने वाले संसार के 240 हवाई अड्डों में से लगभग एक-तिहाई हिन्द महासागर क्षेत्र के देशों में हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस क्षेत्र में शान्ति और सहयोग का वातावरण बनाना तथा ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करना कितना आवश्यक है जिसमें सभी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुरूप हिन्द महासागर का निर्बाध उपयोग कर सकें।

हिन्द महासागर के महत्व को प्रतिपादित करते हुए अल्फ्रेड महान ने कहा था कि, जो भी देश हिन्द महासागर को नियन्त्रित करता है वह एशिया पर वर्चस्व स्थापित करेगा। यह समुद्र सात समुद्रों की कुंजी है। 21वीं शताब्दी में विश्व का भाग्य इसके जल में निर्धारित किया जायेगा।

हिन्द महासागर : महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा का केन्द्र
(THE INDIAN OCEAN : THE CENTRE OF SUPER POWER RIVALRY)

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व हिन्द महासागर के अधिकांश तटवर्ती क्षेत्रों पर ब्रिटेन का नियन्त्रण था तथा हिन्द महासागर को ब्रिटेन की झील के नाम से पुकारा जाता था। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के साथ हिन्द महासागर के तटवर्ती क्षेत्रों से ब्रिटेन का प्रभुत्व समाप्त होने लगा; 1956 में ब्रिटेन ने स्वेज से पूर्व में स्थित अपने नौ-सैनिक अड्डों को धीरे-धीरे समाप्त करने की घोषणा कर दी। इससे यह क्षेत्र महाशक्तियों की राजनीति का एक प्रधान अखाड़ा बन गया। इस सम्बन्ध में तीन दृष्टिकोण प्रचलित है—**प्रथम,** यह कहा जाता है कि हिन्द महासागर में अमरीकी हित उसकी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं से प्रेरित है, तथा वह जानबूझ कर सोवियत प्रसारवाद का भूत खड़ा कर रहा है। **द्वितीय,** कतिपय विद्वानों का मत है कि महाशक्तियों की हिन्द महसागर में रुचि शीत युद्ध का एक विस्तार है जिसने इस क्षेत्र में अति शक्ति प्रतिद्वन्द्विता को जन्म दिया है। **तृतीय,** कतिपय चीनी और अमरीकी कूटनीतिज्ञ किसिंगर आदि यह मानते है कि सोवियत संघ इस क्षेत्र में अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहता है।

भारत और आस्ट्रेलिया को छोड़कर किसी तटवर्ती देश के पास बड़ी नौ-सेना नही है और भारत और आस्ट्रेलिया की नौ सेनाएँ भी बाहरी शक्तियों की नौ-सेनाओं की तुलना में बहुत साधारण हैं। बाहरी शक्तियों के हस्तक्षेप की स्थिति में महासागरीय क्षेत्र कमजोर और असुरक्षित होता है।

1960 के दशक के अन्तिम वर्षों में ब्रिटिश नौ-सेना ने इस क्षेत्र से हटना प्रारम्भ कर दिया। ईससे इस महासागर में अन्य शक्तियों की गतिविधियाँ प्रारम्भ हो गयीं। इन शक्तियों के इस क्षेत्र में रुचि के अनेक कारण हैं—व्यापारिक, राजनीतिक, सामरिक। इस समय इस महासागर में भारतीय नौ सैनिक बेड़ा है, अमरीका का सातवाँ नौ सैनिक बेड़ा है, सोवियत संघ की पनडुब्बियाँ और लड़ाकू जहाज हैं; ब्रिटेन और फ्रांस के घटते हुए पर महत्वपूर्ण नौ सैनिक हित हैं तथा चीन और जापान की उभरती हुई नौ सैनिक उपस्थिति है। इस समय कुल मिलाकर हिन्द महा-

सागर में 181 विदेशी युद्धपोत तैनात हैं। इनमें से अमरीका के 77, सोवियत संघ के 40, ब्रिटेन के 18 और फ्रांस के 33 युद्धपोत शामिल हैं।[1]

हिन्द महासागर में अमरीकी उपस्थिति—हिन्द महासागर में अमरीकी उपस्थिति सन् 1949 के बाद से ही देखी जा सकती है जब उसने साम्यवाद के प्रतिरोध की रीति अपना ली थी। अमरीका ने हिन्द महासागर क्षेत्र में अपनी उपस्थिति का विस्तार उस समय करना प्रारम्भ किया जब ब्रिटेन ने संकेत दिया कि वह हिन्द महासागर क्षेत्र से हटने की मजबूरी में है। विचारकों का मत था कि हिन्द महासागर क्षेत्र से ब्रिटिश वापसी से वहाँ एक शक्ति शून्य उत्पन्न हो जायेगा जिसका भरा जाना आवश्यक है। अगस्त 1964 में आंग्ल-अमरीकी दल ने सैनिक अड्डों के लिए द्वीपों के चुनाव के निमित्त हिन्द महासागर का संयुक्त सर्वेक्षण किया। 1970 के दशक में अमरीका का हिन्द महासागर के मुख्य प्रवेश द्वारों पर नियन्त्रण हो गया। उसने सामन्स टाउन पर अर्थात् हिन्द महासागर में अटलाण्टिक महासागर से कैप मार्ग द्वारा प्रवेश पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया मसीरा पर अर्थात् रक्त सागर और फारस की खाड़ी से प्रवेश पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया; दियागो गार्शिया पर अर्थात् मध्यवर्ती हिन्द महासागर और दक्षिण भाग से हिन्द महासागर प्रवेश पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया; कोकबर्न साउण्ड और कैप उत्तर-पश्चिम पर अर्थात् प्रशान्त महासागर के द० भाग से हिन्द महासागर में प्रवेश पर नियन्त्रण कर लिया। अमरीका ने आसियन (ASEAN) देशों के साथ मधुर सम्बन्ध स्थापित करके मलक्का जलडमरूमध्य पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया। कहा जाता है कि अमरीका अब हिन्द महासागर के सभी प्रवेश पथों को नियन्त्रित करता है और उसने हिन्द महसागर को एक अमरीकन झील में परिवर्तित कर लिया है।

हिन्द महासागरीय क्षेत्र में अमरीका के न्यस्त आर्थिक हित बड़े महत्वपूर्ण हैं। अर्थशास्त्रियों की गणनाओं के अनुसार हिन्द महासागर क्षेत्र के देशों की अर्थव्यवस्था में अमरीका का सीधा पूंजी-निवेश दस अरब डालर से अधिक का है। विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था में लगाये गये हर डालर से अमरीका 4·25 डालर का लाभ पाता है। जिन देशों से यह लाभ पाया जाता है, उनमें अधिसंख्य हिन्द महासगर क्षेत्र में ही स्थित हैं।

हिन्द महासागर में अमरीका की उपस्थिति का अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि इसमें उसके न केवल स्थायी सैनिक अड्डे हैं बल्कि उसे अनेक देशों की हवाई पट्टियों और बन्दरगाहों के प्रयोग की सुविधाएँ भी उपलब्ध हैं। उसके परमाणु अस्त्रों से लैस युद्धपोत इसमें निरन्तर गश्त लगाते हैं। अमरीका का 'निमितज' नामक विमान वाहक जहाज भी यहाँ विद्यमान है। दियागो गार्शिया उसका एकमात्र बन्दरगाह बन गया है। जिन देशों में अमरीका को हवाई पट्टियों या बन्दरगाहों की सुविधाएँ उपलब्ध है उनमें प्रमुख ये हैं—मिस्र में एट्ज्योन का हवाई सैनिक अड्डा, शर्म अल शेख का नौ-सैनिक अड्डा तथा रस बानस का अड्डा, सोमालिया में बरबेरा; पाकिस्तान में करांची के पश्चिम में ग्वादर का बन्दरगाह, कीनिया में मोम्बासा, ओमान में मसीरा हवाई अड्डा आदि। इसके अतिरिक्त बहरैन, जिबूती और सऊदी अरब में अमरीका के पास स्थायी अड्डे हैं।

अमरीका के हिन्द महासागरीय अड्डों में दियागो गार्शिया सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इस अड्डे का संचार नेटवर्क आणविक पनडुब्बियों से प्रक्षेपित सामरिक प्रक्षेपास्त्रों की दिशा निर्धारण करने की क्षमता रखता है। इस अड्डे का तेजी से विस्तार किया जा रहा है। इस अड्डे को नये-नये शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित किया जा रहा है। यहाँ नाभिकीय और रासायनिक अस्त्र रखे गये हैं। भण्डार पोतों को यहाँ स्थायी लंगर डालकर खड़ा किया गया है। दियागो गार्शिया पर अपनी

[1] प्रतियोगिता दर्पण, जुलाई 1988, पृ० 1083।

सैनिक शक्ति को सुदृढ़ करके अमरीका एशिया और अफ्रीका के महाद्वीपों पर अपने प्रभाव का विस्तार करना चाहता है और सोवियत संघ के नौ सैनिक रास्तों पर नजर रख सकता है।

हिन्दमहासागर में सोवियत उपस्थिति

सोवियत संघ भी अपनी सुरक्षा के नाम पर हिन्दमहासागर क्षेत्र में सक्रिय है। 1967 में ब्रिटेन द्वारा स्वेजपूर्व के नौ सैनिक अड्डों को छोड़ देने की घोषणा के बाद हिन्द महासगर में प्रथम बार सोवियत नौ सैनिक गतिविधियों की शुरूआत हुई। मार्च 1968 में पाँच युद्धपोतों का एक सोवियत नौ सैनिक स्क्वेड्रन दक्षिण एशिया, अरब सागर, फारस की खाड़ी, लालसागर और पूर्वी अफ्रीका के बन्दरगाहों में पहुँचा। उसके बाद अनेक वर्षो तक सोवियत संघ का एक नौसैनिक स्क्वेड्रन हिन्दमहासागर की यात्रा करता रहा। 1979 से सोवियत संघ ने हिन्द महासागर में अधिक संख्या और अधिक बार युद्धपोत भेजना प्रारम्भ कर दिया। लगभग 20 से 40 सोवियत जहाज इस क्षेत्र में लगातार उपस्थित रहने लगे। बाद में सोवियत संघ ने सोकोतरा द्वीप, अदन, होदेदा, सिचेलेस और कम्पूचिया में कुछ सुविधाएँ प्राप्त की हैं, परन्तु अमरीका के समान कोई स्थायी सैनिक या नौसैनिक अड्डा प्राप्त नहीं किया है।

सोवियत संघ के अनुसार अपनी सुरक्षा की खातिर ही उसे हिन्दमहासगर में युद्धपोत रखने पड़ रहे हैं। सोवियत संघ के यहाँ कभी कोई अड्डे नहीं रहे और न ही वह कोई अड्डा बनाने का इरादा रखता है।

री यूनियत द्वीप पर फ्रांस का अधिकार है, इसलिए फ्रांस भी कभी-कभी इस क्षेत्र में घुसपैठ करता रहता है। हाल ही में चीन भी हिन्द महासागर में रुचि लेने लगा है। चीन हिन्द महासागर में सोवियत संघ का प्रतिद्वन्द्वी बनना चाहता है। इस प्रकार इसे महाशक्तियों की सोनाजोरी ही कहा जायेगा कि वे तटवर्ती देशों की माँग की उपेक्षा करके हिन्ह महासागर के शान्त जल को अशान्त बनाने पर तुली हैं। महाशक्तियाँ हिन्द महासागर को अपने शक्ति-प्रदर्शन का अखाड़ा बना सकती हैं, इस सम्भावना को ध्यान में रखते हुए ही भारत ने 1975 में हिन्दमहासागर को 'शान्त क्षेत्र' घोषित किये जाने की माँग उठायी थी।

हिन्द महासागर की समस्या और भारतीय दृष्टिकोण
(INDIA'S APPROACH TO THE PROBLEM OF THE INDIAN OCEAN)

भारत दक्षिणी एशिया का न केवल प्रमुख देश है अपितु गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का अगुआ भी है। भारत सारे संसार में ही और, बेशक एशिया में भी, शान्ति और सुरक्षा के लिए संघर्ष में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। एशिया में आधिपत्यवादी ध्येयों की पूर्ति और विश्व प्रभुत्व की स्थापना की साम्राज्यवादी देशों की नीति के कारण यहाँ तनाव में वृद्धि पर भारत गम्भीर चिन्ता व्यक्त करता है। भारत के विदेश मन्त्रालय की 1981-82 की वार्षिक रिपोर्ट में हिन्दमहासागर में महाशक्तियों द्वारा नये अड्डों की खोज को एक प्रमुख कारण बताया गया है।

एशिया महाद्वीप में सामान्य स्थिति में उत्पन्न जटिलता को देखते हुए भारत अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा तभी सुनिश्चित कर सकता है, जबकि न केवल उसकी सीमाओं से लगे भागों में, बल्कि सारे एशिया में तनाव में शिथिलता आये, शान्ति और स्थिरता का वातावरण बने। यही कारण है कि भारतीय नेता दक्षिणी एशिया में तनाव बढ़ाये जाने और हिन्द महासागर का सैन्यीकरण करने के विरोध को, दक्षिण-पूर्वी और दक्षिण-पश्चिमी एशिया तथा सुदूर-पूर्व में राजनीतिक नियमन लाने में सहयोग को देश की विदेश नीति के प्रमुख कार्यभारों में गिनते हैं।

हिन्द महासागर के बढ़ते सैन्यीकरण पर भारत में उचित ही चिन्ता व्याप्त हो रही है। इस सैन्यीकरण का भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा के हितों पर सीधा प्रभाव जो पड़ता है। वस्तुतः भारत के व्यापक राष्ट्रीय, सुरक्षात्मक और आर्थिक हित इसके शान्त बने रहने पर निर्भर करते हैं।

प्रथम, हिन्द महासागर का जल भारत को तीन दिशाओं से छूता है। इसके शान्त और स्थिर रहने से उसकी समुद्री सीमाएँ सुरक्षित हैं। **द्वितीय,** भारत की सीमाएँ हिन्द महासागर में सैकड़ों मील दूर तक चली गयी हैं। उसमें स्थित सैकड़ों द्वीपों की सुरक्षा इसके शान्त बने रहने पर ही निर्भर करती है। उदाहरणार्थ, केवल बंगाल की खाड़ी में उसके 667 द्वीप हैं और अरब सागर में 508 द्वीप हैं। अण्डमान निकोबार द्वीपों की सुरक्षा, जो भारतीय तट से क्रमशः 500 और 700 मील दूर हैं, इसके साथ रहने पर ही निर्भर करती है। **तृतीय,** भारत को दूसरे क्षेत्रों और महाद्वीपों से जोड़ने वाले समुद्री और वायुमार्ग यहाँ से गुजरते हैं। इन मार्गों की सुरक्षा उनके लिए बुनियादी महत्व का प्रश्न है। यह बात देश की 6 हजार किलोमीटर से अधिक लम्बी समुद्री सीमा के लिए भी सही है और देश के प्रमुख औद्योगिक एवं सांस्कृतिक केन्द्रों के लिए भी, क्योंकि वे मुख्यतः सागर तट पर या उससे थोड़ी दूर ही स्थित हैं। **चतुर्थ,** हिन्द महासागर के अनेक द्वीपों में जैसाकि श्रीलंका, मालदीव, मारीशस, सेशेल्स आदि में भारतीय मूल के अनेक लोग निवास करते हैं। उनके हितों और अधिकारों की रक्षा की आवश्यकता है। **पंचम,** तेल और दूसरे खनिज भण्डारों के दोहन की, मत्स्य पालन के विकास की भारत की व्यापक योजनाएँ भी सागर से जुड़ी हुई हैं। स्पष्ट ही है कि ये योजनाएँ शान्तिपूर्ण हैं। इनका ध्येय देश की आर्थिक उन्नति करना, जनता की खुशहाली बढ़ाना है। इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि अमरीका द्वारा हिन्द महासागर के सैन्यीकरण से भारत की सुरक्षा के लिए खतरा है। भारतीय विद्वान जेड़ इमाम ने चिन्ता व्यक्त करते हुए पैट्रियट में लिखा है—"दियागो गार्शिया अड्डे से छोड़े गये नाभिकीय अस्त्रयुक्त प्रक्षेपास्त्र कुछ मिनटों में ही नई दिल्ली पहुँच सकते हैं।" अतः हिन्द महासागर के परिप्रेक्ष्य में भारत इस समूचे क्षेत्र को 'शान्ति क्षेत्र' घोषित करने तथा इस प्रश्न पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने के समर्थन में अपनी आवाज बुलन्द करता आया है।

हिन्द महागर में शान्ति क्षेत्र के प्रश्न का अपना इतिहास है। 1964 में यह विचार रखा गया था कि इस महासागर को "शान्ति और चैन" का क्षेत्र घोषित करने सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय समझौता किया जाय। ऐसा प्रस्ताव काहिरा में हो रहे गुटनिरपेक्ष देशों के दूसरे सम्मेलन में श्रीलंका ने रखा था। एशिया और अफ्रीका के गुटनिरपेक्ष देशों ने इस पहल का समर्थन किया। परिणामस्वरूप, काहिरा सम्मेलन के प्रस्ताव में यह परामर्श प्रकट हुआ कि सर्वप्रथम उन महासागरों को परमाणु अस्त्र-रहित क्षेत्र घोषित किया जाये, जहाँ अभी ऐसे अस्त्र नहीं पहुँचे हैं। हिन्द महासागर में फौजी अड्डे बनाने के साम्राज्यवादी राज्यों के इरादे की भर्त्सना की गयी।

सातवें और आठवें दशक में हिन्द महासागर को परमाणु अस्त्र-रहित क्षेत्र घोषित करने का विचार अधिसंख्य तटवर्ती देशों के लिए अपर्याप्त हो गया था। वे अब अपना लक्ष्य यह मानते थे कि इस महासगर में न केवल नाभिकीय अस्त्रों को न आने दिया जाये, बल्कि यहाँ साम्राज्यवादी ताकतों की सैनिक उपस्थिति को ही रोका जाये। इस प्रकार उपरोक्त विचार का आगे विकास हुआ और हिन्द महासागर को शान्ति-क्षेत्र घोषित करने का प्रश्न अधिकाधिक सक्रिय रूप से उठाया जाने लगा।

1970 में लुसाका में हुए गुटनिरपेक्ष देशों के लिए तीसरे शिखर सम्मेलन में श्रीलंका ने यह प्रस्ताव रखा कि संयुक्त राष्ट्र संघ में हिन्दमहासागर को शान्ति क्षेत्र बनाने सम्बन्धी पेशकश की जाये। इस सम्मेलन में स्वीकृत 'संयुक्त राष्ट्र के बारे में प्रस्ताव' में सम्मेलन के सहभागियों ने एक ऐसा घोषणा-पत्र तैयार करने का समर्थन किया, जिससे सभी देशों से आह्वान किया जाये कि वे हिन्दमहासागर को शान्ति क्षेत्र मानें, वहाँ थलसेना, नौ सेना या वायुसेना-किसी का भी कोई विदेशी अड्डा न हो और साथ ही इस क्षेत्र में नाभिकीय अस्त्र न लगाये जायें।

संयुक्त राष्ट्र महासभा के 26वें अधिवेशन में 16 दिसम्बर, 1971 को हिन्द महासागर को

शान्ति क्षेत्र घोषित करने सम्बन्धी घोषणा-पत्र स्वीकार किया गया। इसका मसौदा निम्न 13 देशों से तैयार किया—इराक, ईरान, कीनिया, जाम्बिया, तंजानिया, बुरूडी, भारत, यमन, युगांडा, यूगोस्लाविया, श्रीलंका, सोमाली और स्वाजीलैण्ड। इस घोषणा-पत्र में कहा गया था कि संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा यह विश्वास रखते हुए कि विशाल भौगोलिक क्षेत्र में शान्ति-क्षेत्र की स्थापना समानता और न्याय के आधार पर सार्विक शान्ति लाने पर सुप्रभाव डाल सकती है, संयुक्त राष्ट्र संघ के ध्येयों और सिद्धान्तों के अनुरूप—

"घोषणा करती है कि हिन्द महासागर को उन सीमाओं में, जिन्हें निर्धारित किया जाना है, उसके ऊपर फैले आकाशीय क्षेत्र तथा उसके समुद्र तल सहित इस प्रस्ताव द्वारा चिरकाल के लिए शान्ति-क्षेत्र घोषित किया जाता है।"

घोषणा-पत्र में बड़े देशों से आह्वान किया गया कि वे हिन्द महासागर में सैनिक उपस्थिति का विस्तार रोकने, यहाँ से अपने सभी फौजी अड्डे, फौजी ठिकाने, नाभिकीय संयन्त्र और जन-संहार के शस्त्रास्त्र हटाने तथा अपनी सैनिक उपस्थिति का प्रदर्शन समाप्त करने के उद्देश्य से तट-वर्ती देशों, इस क्षेत्र के निकटवर्ती देशों, सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य देशों का भी आह्वान किया गया कि वे इस बात की आवश्यक प्रत्याभूति दें कि हिन्द महासागर के इलाके में जो युद्धपोत और वायुसैनिक टुकड़ियाँ हैं वे बल प्रयोग का खतरा पैदा नहीं करेंगी, हिन्द महासागर के तटवर्ती या निकटवर्ती किसी देश की सम्प्रभुता, क्षेत्रीय अखण्डता या स्वतन्त्रता को खतरे में न डालें।

26वें अधिवेशन में इस प्रस्ताव के पक्ष में 61 देशों ने मत दिया और 55 ने मतदान में भाग नहीं लिया। इसके विरुद्ध किसी ने मत नहीं दिया।

संक्षेप में, भारत हिन्द महासागर क्षेत्र की लगभग आधी जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करता है, अतः इस क्षेत्र में मुख्य भूमिका निभाने के लिए प्रयत्नशील है। भारत इस बात का समर्थन करता है कि—

हिन्द महासागर शान्ति-क्षेत्र घोषित किया जाय; सभी विदेशी अड्डों का उन्मूलन हो; यहाँ नाभिकीय शस्त्रास्त्र तथा जनसंहार के दूसरे शस्त्रास्त्र न लगाये जायें; तटवर्ती और तटेतर देशों के विरुद्ध नाभिकीय अस्त्रों का उपयोग न हो और सभी नाभिकीय राष्ट्र तत्सम्बन्धी दायित्व ग्रहण कर लें; यहाँ ऐसी सशस्त्र सेनाएँ और शस्त्रास्त्र न रखे जायें जो इस क्षेत्र के देशों की सम्प्रभुता, क्षेत्रीय अखण्डता और स्वतन्त्रता के लिए खतरा पेश करें। भारत की इन प्रस्थापनाओं की पूर्ति से हिन्द महासागर वास्तव में ही शान्ति-क्षेत्र बन सकता है। मार्च 1983 में दिल्ली में हुए गुटनिरपेक्ष देशों के सातवें शिखर सम्मेलन में हिन्द महासागर के प्रश्न की ओर विशेष ध्यान दिया गया।

आलोचना—बड़े राष्ट्र हिन्दमहासागर को शान्ति-क्षेत्र बनाने के भारतीय दृष्टिकोण से सहमत नहीं है। वे भारत जैसे देशों की इस माँग को भी टालते रहे हैं कि हिन्द महासागर में शान्ति-स्थापना के लिए तटवर्ती तथा दूसरे सम्बद्ध राष्ट्रों का एक विश्व सम्मेलन बुलाया जाये। आज सभी यह देख रहे हैं कि हिन्द महासागर के शान्तिमय जल विस्तार और उसके ऊपर निरभ्र आकाश के लिए संघर्ष में एक खेमे में वे राष्ट्र हैं जो वास्तव में इस ध्येय के लिए संघर्ष कर रहे है तथा दूसरे खेमे में वे राष्ट्र है जो खुले आम इसका विरोध करते है। पहले खेमे में इस क्षेत्र के विकासशील देश हैं जो हिन्द महासागर क्षेत्र में शान्ति-क्षेत्र के विचार का समर्थन कर रहे हैं, सोवियत संघ और दूसरे समाजवादी देश हैं। उधर दूसरे खेमे में है अमरीका, नाटो गुट के सदस्य तथा वे राज्य जो आँख मूंदकर वाशिंगटन की आधिपत्यवादी नीति का अनुसरण करते है।

(4) रंगभेद की नीति
(THE POLICY OF APARTHEID)

अफ्रीका में यूरोपीय उपनिवेशवाद की स्थापना के साथ रंगभेद या नस्लभेद की नीति का

उदय हुआ। यूरोप की श्वेत जातियाँ अपने आपको श्रेष्ठ और सभ्य मानती हैं जबकि अफ्रीका की अश्वेत जातियों को असभ्य, जंगली और पशु मानती हैं। सन् 1910 में ब्रिटेन से स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद भी दक्षिण अफ्रीका के श्वेत अल्पमत शासकों ने रंगभेद की परम्परा को बनाये रखा। वर्तमान समय में दक्षिणी अफ्रीका में दो प्रकार के राष्ट्रवाद विद्यमान हैं—एक तो यूरोपीय श्वेत जातियों का राष्ट्रवाद अल्पमत में होते हुए भी शक्तिशाली और सत्तारूढ़ है जबकि अफ्रीकी अश्वेत जातियों का राष्ट्रवाद बहुमत में होते हुए भी शक्तिविहीन और सत्ताविहीन है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अफ्रीकी देशों की अल्पसंख्यक श्वेत सरकारों और उनकी रंगभेद नीति के विरुद्ध विश्व लोकमत निरन्तर सुदृढ़ होता जा रहा है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में निहित सिद्धान्तों एवं आदर्शों और 1948 की मानव अधिकारों की घोषणा से भी रंगभेद का विरोध करने वाले आन्दोलनों और देशों को बल मिला है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने अनेक प्रस्तावों द्वारा काले नेताओं के उत्पीड़न और रंगभेद की नीति की निन्दा एवं भर्त्सना की है।

रंगभेद की नीति का सबसे घृणित और भयंकर पहलू यह है कि इसकी प्रकृति और क्षेत्र सीमित नहीं। यह ऐसा विषय है जो सर्वत्र व्याप्त है। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, वाणिज्य, सांस्कृतिक या अन्य कोई क्षेत्र इसके विष से अछूते नहीं। यह आवासी रंगभेद है, यह विवाह रंगभेद है, यह बस रंगभेद है, यह ट्रेन रंगभेद है, यह खेल-कूद रंगभेद है। अपने ही देश में चलने-फिरने के लिए नीग्रो लोगों को पासपोर्ट की आवश्यकता है, रेल यात्रा के लिए पहचान पत्र की आवश्यकता है।

1974 की जनगणना के अनुसार दक्षिणी अफ्रीका की 2 करोड़ 49 लाख 23 हजार की आबादी में गोरों की संख्या महज 23 लाख 6 हजार है। लेकिन देश की 87% धरती को गोरे शासकों ने श्वेत क्षेत्र घोषित कर रखा है और शेष 13% धरती में आबादी का विशाल भाग किसी तरह जीवन बसर करता है।

रंगभेद की नीति को कार्यान्वित करने के लिए दक्षिण अफ्रीकी सरकारों ने समय-समय पर जो कानून पारित किये, उनमें प्रमुख हैं : (i) **पारपत्र कानून**—इसका उद्देश्य कालों के देहातों से नगरों में प्रवेश पर रोक लगाना है। (ii) **एशियाई पट्टेदारी अधिनियम**—इस अधिनियम द्वारा श्वेत क्षेत्रों में भारतीयों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। (iii) **मतदाताओं के पृथक् प्रतिनिधित्व सम्बन्धी अधिनियम**—इस अधिनियम द्वारा केप प्रान्त के अश्वेत लोगों के लिए सम्पत्ति और शैक्षणिक योग्यता के आधार पर पृथक् मतदान की व्यवस्था की गयी।

दुराचार अधिनियम और मिश्रित विवाह निषेध अधिनियम अन्तरजाति विवाहों को रोकते हैं, सामूहिक क्षेत्र अधिनियम के अन्तर्गत हर नस्ल के लिए अलग बस्तियाँ हैं, हर जाति के लिए अलग स्कूल और विश्वविद्यालयों के अलग-अलग किस्म के अवसर हैं।

रंगभेद नीति के उद्देश्य—वर्तमान में दक्षिण अफ्रीका और दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका (नामीबिया) रंगभेद नीति के गढ़ हैं। रंगभेद नीति को निरन्तर बनाये रखने के निम्न उद्देश्य हैं : (i) इन क्षेत्रों में गोरे शासन को बनाये रखा जाये; (ii) काले बहुमत शासन की स्थापना को टाला जाय, (iii) दक्षिणी अफ्रीका में रहने वाली विविध जातियों को विभक्त रखा जाय, (iv) उत्पादन के साधनों पर गोरों का स्वामित्व रहे ताकि काली श्रम का शोषण करते रहें।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में रंगभेद नीति का मूल्यांकन

दक्षिणी अफ्रीका की रंगभेद नीति आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को आलोकित कर रही है जिसे निम्न रूपों में दर्शाया जा सकता है :

1. **विश्व शान्ति और सुरक्षा से खतरा**—रंगभेद नीति अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए गम्भीर खतरा है। इसने अश्वेतों में घृणा, रोष और प्रतिकार की भावनाएँ पैदा कर दी

हैं। छापामार युद्ध इसका प्रत्यक्ष परिणाम है। इसने जहाँ श्वेत और अश्वेत जातियों के सह-अस्तित्व को कठिन बना दिया है वहाँ अफ्रीका की अन्य महत्वपूर्ण समस्याओं के समाधान में बाधा प्रस्तुत की है तथा राष्ट्रीय सहयोग को दूषित कर दिया है। जॉन गून्थर के शब्दों में, "सब चीजों से ऊपर यह रंगभेद ही है जो अफ्रीका में असन्तोष तथा विद्वेष उत्पन्न करता है.......यदि श्वेत और अश्वेत साथ-साथ रहना सीख जाते है तो अफ्रीका बच जायेगा, यदि नही तो वह अव्य-वस्था, गृहयुद्ध और साम्यवाद की लपेट में आ जायेगा।"

2 **आर्थिक हानि**—रंगभेद नीति जहाँ दक्षिणी अफ्रीका के लिए आर्थिक दृष्टि से हानि-कारक है वहीं अन्य पड़ोसी अग्रगामी मोर्चा राज्यों के लिए भी नुकसानदायक है।

3. **संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा निन्दा**—संयुक्त राष्ट्र महासभा ने प्रायः प्रत्येक अधिवेशन में दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद नीति पर विचार-विमर्श किया है और अपने प्रस्तावों द्वारा उसकी निन्दा एवं भर्त्सना की है। संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 1978 के वर्ष को रंगभेद विरोधी वर्ष के रूप में मानने की घोषणा की। रंगभेद नीति के कारण द० अफ्रीका को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I. L. O.) तथा विश्व स्वास्थ्य संगठन (W. H. O.) से निष्कासित कर दिया गया है।

4. **दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध आर्थिक अनुशक्तियाँ**—संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने सदस्य देशों को यह सुझाव दिया कि वे दक्षिणी अफ्रीका के खिलाफ व्यापार आदि क्षेत्रों में प्रतिबन्ध (Sanctions) को लागू करें जिससे उस पर अमानवीय नीति को छोड़ने के लिए दबाव पड़ सके। 17 दिसम्बर, 1985 को महासभा ने 131 मतों से एक प्रस्ताव पास कर सुरक्षा परिषद् से माँग की कि दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद नीति के विरुद्ध निर्देशात्मक प्रतिबन्धों को लगाये। राष्ट्रमण्डल शिखर सम्मेलन (1986 एवं 1987) तथा निर्गुट शिखर सम्मेलन (1986 एवं 1987) में भी दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध कारगर आर्थिक प्रतिबन्धों की माँग की गयी। परन्तु अमरीका व ब्रिटेन जैसे कुछ स्वार्थी व साम्राज्यवादी देश दक्षिण अफ्रीका का पक्ष लेते रहे हैं। 28 अक्टूबर, 1986 को अमरीकी राष्ट्रपति रीगन ने दक्षिण अफ्रीका के खिलाफ आर्थिक प्रतिबन्ध लागू करने की घोषणा की। इसी प्रकार यूरोपीय समुदाय के 12 देश भी एक मुश्त आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने के विवादास्पद हिस्से को लागू करने पर सहमत हो गये। किन्तु यह कितने आश्चर्य की बात है कि 20 फरवरी को संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् में दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध अनिवार्य प्रतिबन्ध लगाने के प्रश्न पर अमरीका व ब्रिटेन द्वारा वीटो का प्रयोग किया गया।

निष्कर्ष—दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध लगाये गये आर्थिक प्रतिबन्ध व्यावहारिक सिद्ध नहीं हो रहे हैं। ये प्रतिबन्ध सर्वव्यापक नही है। पश्चिमी देशों की अरबों डॉलर की पूँजी दक्षिण अफ्रीका के उद्योगों में लगी हुई है। वे अपने आर्थिक हितों की कीमत पर संयुक्त राष्ट्र के आर्थिक प्रतिबन्धों सम्बन्धी प्रस्तावों को सच्चे अर्थो में लागू नही होने देते।

(5) इराक-ईरान युद्ध
(WAR BETWEEN IRAQ AND IRAN)

इराक और ईरान मध्य पूर्व के दो प्रमुख देश है। ये दोनों इस्लामी देश हैं और रणनीति के आधार पर पश्चिमी एशिया में बड़े महत्वपूर्ण हैं। 22 सितम्बर, 1980 से शुरू होने वाला इराक-ईरान युद्ध किसी तत्कालीन घटना का परिणाम न होकर मुस्लिम सम्प्रदायों के पारस्परिक वैर (शिया-सुन्नी शत्रुता), सीमा-विवाद, कुर्द समस्या, शत-अल-अरब जल मार्ग तथा मार्च 1975 के अपमानजनक समझौते को पलट देने की इराकी इच्छा का परिणाम है।

इराक : परिचय

इराक, जिसे प्रथम महायुद्ध तक मेसोपोटेमिया के नाम से जाना जाता था, एक उपजाऊ प्रदेश है, जो तिग्रिस और यूफ्रेट्स नदियों के बीच स्थित है। इसके उत्तर में तुर्की, पश्चिम में

सीरिया और जोर्डन, दक्षिण में सऊदी अरब, दक्षिण-पूर्व में कुवैत और फारस की खाड़ी के तट का एक छोटा सा भाग तथा पूर्व में ईरान है। इसका क्षेत्रफल 1,67,568, वर्गमील जनसंख्या 83,38,000 है। इराक की राजधानी बगदाद है तथा उसका धर्म इस्लाम एवं भाषा अरबी है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व इराक तुर्क साम्राज्य का एक अंग था। तुर्की के पतन के बाद इसे राष्ट्र संघ की 'मैण्डेट' व्यवस्था के अन्तर्गत ब्रिटेन के संरक्षण में रखा गया। 1922 में मैण्डेट की समाप्ति के उपरान्त इराक एक स्वतन्त्र राज्य बना।

1932 से 1958 तक इराक में संवैधानिक राजतन्त्र था और हशमी वंश के राजाओं का वहाँ वंशानुक्रमानुगत शासन था। 14 फरवरी, 1958 को शाह फैजल द्वितीय ने इराक को जोर्डन के साथ मिलाकर एक अरब संघ बनाया। 14 जुलाई, 1958 को इराक में सैनिक क्रान्ति हो गयी। शाह फैजल और प्रधानमन्त्री नूरी सईद मारे गये। अब्दुल करीम कासिम नये प्रधानमन्त्री बने और इराक को एक 'गणराज्य' बना दिया गया। कासिम की सरकार को अनेक संकट झेलने पड़े, जिनमें कुर्द की समस्या प्रमुख थी। उत्तरी इराक में लगभग 10 लाख कुर्द जाति के लोग रहते हैं, जो कुर्दिस्तान के नाम से एक पूर्णतः स्वतन्त्र राज्य स्थापित करना चाहते थे। फरवरी 1963 में इराक में फिर सैनिक क्रान्ति हो गयी और कासिम की हत्या कर दी गयी। जून 1966 में इराक की सरकार ने कुर्द लोगों को स्वायत्त अधिकार देने की बात मान ली। विदेश नीति के मामले में इराक का झुकाव पश्चिमी गुट की तरफ रहा। 1958 में राजतन्त्र के पतन के बाद लम्बे समय तक इराक में तानाशाही रही। 1979 में जनरल अलबकर से सद्दाम हुसैन ने कार्यभार सँभाला और 22 जून, 1980 को असेम्बली के चुनाव कराकर वहाँ के नागरिकों को लोकतान्त्रिक अधिकारों के उपयोग का अवसर दिया।

ईरान : परिचय

पहले फारस के नाम से जाना जाने वाला ईरान भौगोलिक दृष्टि से उत्तर में कैस्पियन सागर एवं रूस, दक्षिण में फारस एवं उमान की खाड़ी, पूर्व में रूस, अफगानिस्तान और बिलोचिस्तान तथा पश्चिम में इराक और तुर्की से घिरा हुआ है। ईरान का क्षेत्रफल 6,36,367 वर्गमील तथा जनसंख्या 2,57,81,090 है। इस देश की राजधानी तेहरान और यहाँ का प्रमुख धर्म इस्लाम है। पश्चिमी एशिया का यह पहला देश है जहाँ तेल की खोज हुई और यूरोप में उसका निर्यात शुरू हुआ।

आंग्ल अमरीका तेल विवाद के समाधान के उपरान्त ईरान की विदेश नीति ने एक निश्चित दिशा ग्रहण कर ली। ईरान पश्चिमी गुट में शामिल हो गया। 3 नवम्बर, 1955 को उसने बगदाद सन्धि की सदस्यता स्वीकार की। 1978 में ईरान में शाह का विरोध बहुत अधिक बढ़ गया और कट्टरपंथी इस्लामी नेता अयातुल्ला खुमैनी के नेतृत्व में इस्लामी क्रान्ति की लहर उठी और शाह को मजबूरन सत्ता छोड़नी पड़ी। ईरानी क्रान्ति के पश्चात् ईरान में हिंसा और अस्थिरता का सिलसिला चला। इस स्थिति का इराक ने फायदा उठाना चाहा और 22 सितम्बर, 1980 में स्पष्ट रूप से युद्ध इराक द्वारा प्रारम्भ किया गया था और इसका तत्कालीन कारण था 1975 में ईरान के साथ किये गये समझौते को इराक के नये राष्ट्रपति द्वारा रद्द किया जाना।

इरान-ईराक युद्ध के कारण—इरान-ईराक युद्ध के निम्नलिखित कारण हैं :

1. **शत-अल-अरब विवाद**—शत-अल-अरब का जलमार्ग दोनों के मध्य विवाद का कारण रहा है। शत-अल-अरब का क्षेत्र दोनों देशों के लिए सामरिक दृष्टि से महत्व का है। पश्चिम में तेल आयात करने वाले देशों से सम्बन्धों के सन्दर्भ में भी इस क्षेत्र का महत्व है। 1959 में इराक ने शत-अल-अरब पर अपने अधिकार का दावा किया जिसे ईरान ने स्वीकार कर लिया। 1969 में

अन्तर्राष्ट्रीय वर्षों तक दरिद्रता में रहना होगा और आर्थिक पुनर्निर्माण

पुनः इसके कारण दोनों देशों में विवाद उत्पन्न।
जलमार्ग से जहाजों के आने-जाने का अधिकार में तेल के उत्पादन में निरन्तर कमी होना, परिणामतः
1975 में किये गये इस समझौते को इराक अपमा प्रभाव पड़ेगा।
खाड़ी में अपना वर्चस्व स्थापित करने में सफलता नि अलग करने में लगा है तो दूसरी तरफ इराक
ही शत-अल-अरब जलमार्ग पर अपना दावा किया था। ईरान-इराक युद्ध से इजराइल की स्थिति
2. शिया-सुन्नी वैर—इराक-ईरान लड़ाई वस्तुत की सहायता नहीं कर पाये, जिसके कारण
और सुन्नी की दुश्मनी है। धर्मान्धता के कारण इराक और विश्व के लिए यह स्थिति बहुत खतरनाक
और तेहरान का झगड़ा शिया-सुन्नी संघर्ष का रूप लेता गया। द्धि होना।
मुसलमानों ने सुन्नी नियन्त्रित बाथ सरकार के विरुद्ध प्रदर्शन इससे अरब-इजराइली समस्या के
नेता इराक से निकाल दिये गये। यह अरबी भाषाई इराक का

3. सीमा विवाद—दोनों देशों के बीच 1,440 किमी० क बाँट दिया है।
के एक समझौते के अनुसार सीमाओं पर निशान लगा दिये गये थे पर । सीरिया, लीबिया, यमन,
चले गये और सीमा स्पष्ट नहीं रही। पारस्परिक आशंका को दूर करने मिस्र, सोमालिया, ओमान,
सीमाओं पर रुक-रुककर झड़पें होने लगीं। इराकी सेना ने सीमा पर कार्य वैदिक के शब्दों में, "इस
अल-कोस क्षेत्र पर कब्जा कर लिया। इराक का यह कहना था कि 1975
के शाह और इराक के वर्तमान राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन ने जिस सीमा समझौते
थे और जिसके अधीन इराक ने पूरे शत-अल-अरव पर अपना दावा छोड़कर बी त, सोवियत संघ
लागू करना स्वीकार कर लिया था, जिसे ईरान ने मानने से इंकार कर दिया। लिए प्रयत्नशील
अधिकारियों ने 1975 के सीमा समझौते को कभी न स्वीकार करने की बात कही
राष्ट्रपति ने भी इसे रद्द करने की घोषणा कर दी। इन्हीं कारणों से दोनों देशों के बी की सेनाएँ
होने वाली छोटी-छोटी झड़पें युद्ध का रूप धारण कर गयीं जिसमें दोनों ओर से भारी अ क सीमा-
विमानों और प्रक्षेपास्त्रों का प्रयोग किया गया। कराने

4. कुर्द समस्या—उत्तरी इराक में लगभग दस लाख कुर्द जाति के लोग निवास कर -साथ
कुर्द कबीला इराक और ईरान के बीच 'सैण्डविच्ड' है। 1923 में लोसाने की सन्धि द्वारा कु की
स्तान को तुर्की, इराक और ईरान के मध्य बाँट दिया गया। उसी समय से कुर्द लोग कुर्दिस्तान
नामक एक पृथक् स्वतन्त्र राज्य बनाने हेतु विद्रोह करते रहे हैं। कुर्दों की भाषा एवं साहित्य अरब
भाषा एवं साहित्य से भिन्न है। इसी प्रकार ईरान में भी लगभग 40 लाख कुर्द निवास करते हैं
और अपनी स्वायत्तता के लिए आन्दोलन करते रहते हैं। स्थिति उस समय गम्भीर हो जाती है,
जब दोनों देश अपने यहाँ के कुर्दों का दमन करते हैं और दूसरे के कुर्दों को बगावत करने के लिए
उकसाते हैं। 1979 में इराक और ईरान के नये शासकों पर आरोप लगाया कि वे ईराकी कुर्दों
को बगदाद के विरुद्ध भड़का रहे हैं।

5. वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं का टकराव—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इस प्रकार परिवर्तन आया कि कैम्प-डेविड समझौते के बाद अरब जगत पर मिस्र का प्रभाव समाप्त हो गया। ईरान के पतन के बाद न केवल पश्चिमी एशिया में अपितु समस्त मुस्लिम जगत में एक बड़े नेता का अभाव-सा प्रतीत होने लगा। इराक के राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन ने, जो कि एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति रहे हैं, इस क्षेत्र में अपनी धाक जमाने का प्रयास किया है। सद्दाम हुसैन ने अयातुल्ला खुमैनी के नेतृत्व में हुई ईरानी क्रान्ति को क्रान्ति मानने ने इंकार कर दिया और उसे इस्लाम विरोधी फारसी नस्लवाद की संज्ञा दी। उसने ईरान में खुमैनी विरोधी भवनाओं को प्रोत्साहन देने का प्रयास किया। दूसरी तरफ अयातुल्ला खुमैनी ने इस्लामी क्रान्ति का नारा देकर पूरे मुस्लिम क्षेत्र

का एकमात्र नेता बनने का का प्रयास किया। खुमैनी ने सद्दाम हुसैन के विरुद्ध यह आरोप लगाया कि वह अमरीकी एजेण्ट है।

6. **खाड़ी स्थित द्वीपों को लेकर विवाद**—खाड़ी पर नियन्त्रण की दृष्टि से खाड़ी तीन द्वीपों—वृहद और लघु थुम्ब तथा आबू मूसा का विशेष महत्व है। इन द्वीपों पर को लेकर इराक और ईरान में तनाव उत्पन्न होता रहा है। 1971 में ईरान ने इन पर कब्जा कर लिया था, अब इराक इन्हें हथियाना चाहता है।

7. **ईरान की अव्यवस्था एवं दुर्बल स्थिति**—इराक ने ईरान को पराजित करने का यह समय ठीक समझा। ईरानी क्रान्ति के पश्चात् ईरान में हिंसा और हत्याओं का दौर जारी रहा। शाह के पतन के बाद अराजकता, अयातुल्ला खुमैनी की धार्मिक कट्टरता, बड़े-बड़े सैनिक अधिकारियों को फांसी और उनमें अविश्वास के कारण रक्षातन्त्र में अव्यवस्था और अमरीका से सम्बन्ध वहुत खराब होने के कारण विमानों और टैंकों के चालन के लिए पुर्जों और प्रशिक्षण का अभाव रहा। इराक का सोचना था कि महाशक्तियों से सम्बन्धों के सन्दर्भ में ईरान अकेला पड़ गया था और अरब देश या तो इराक का साथ देंगे या तटस्थ रहेंगे। इन परिस्थितियों में इराक का शायद यह दृष्टिकोण था कि ईरान को पराजित करके 1975 के अपमान का बदला लिया जा सकता है

इराक की मांगें—युद्ध के प्रारम्भ में इराक ने युद्ध-विराम की निम्न शर्तें रखी थीं :

1. संपूर्ण शत-अल-अरब मार्ग पर इराकी प्रभुसत्ता को स्वीकार किया जाय।
2. मुसियान के पास 230 वर्ग मील क्षेत्र पर इराक का अधिकार स्वीकार किया जाय क्योंकि इराक इसे अपना क्षेत्र मानता है।
3. होर्मुज जलडमरूमध्य के पास अबूमूसा और थुम्ब द्वीपों की वापिसी क्योंकि ये परम्परा से अरब शासकों के पास रहे हैं।

ईरान की मांगें—ईरान की मांगें निम्नांकित हैं :

1. ईरान की मांग है कि उसे 14 खरब रुपया हर्जाना दिया जाये।
2. लगभग सवा लाख इराकियों को, जिन्होंने ईरान में शरण ले रखी है, पुनः इराक में बसाया जाये।
3. इराक के राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन को हटाया जाये।

युद्ध का लम्बा दौर—22 सितम्बर, 1980 से शुरू हुआ यह युद्ध 9 अगस्त, 1988 क विराम की स्थिति में आया। इस युद्ध से न केवल दोनों पक्षों को भयंकर आर्थिक क्षति उठानी पड़ी अपितु इसके राजनीतिक और आर्थिक परिणाम भी बहुत खतरनाक हो सकते हैं। इस युद्ध में अब तक 10 लाख लोग मारे जा चुके हैं और दोनों देशों को 60 अरब डालर की क्षति हुई है। यह जानकारी रक्षा अनुसन्धान एवं विश्लेषण संस्थान द्वारा प्रकाशित पुस्तक *Iran-Iraq War* में दी गयी है। पुस्तक में बताया गया है कि युद्ध आरम्भ होने के समय लोगों का विचार था कि युद्ध में इराक की विजय होगी क्योंकि खुमैनी क्रान्ति के बाद ईरान अस्त-व्यस्त हो गया था, परन्तु ऐस नहीं हुआ। हां, युद्ध में ईरान के लोग अवश्य अधिक मरे हैं।

प्रारम्भ में युद्ध भूमि तक ही सीमित रहा परन्तु समय बीतने के साथ इसमें वायु व नौ सेनाएँ भी शामिल हो गयीं। दोनों ने एक-दूसरे के तेल व सैनिक प्रतिष्ठानों पर हमले शुरू कर दिये। बाद में तो प्रक्षेपास्त्रों का भी प्रयोग हुआ जिसने रिहायशी क्षेत्रों में भीषण तबाही मचा दी। युद्ध के दौरान खाड़ी क्षेत्र में अन्य देशों के तेलवाहक जहाजों पर भी आक्रमण किये गये, इस कारण अमरीका आदि देशों के युद्धपोतों ने खाड़ी में अपनी नौ सैनिक शक्ति में वृद्धि कर दी।

इराक-ईरान युद्ध के परिणाम—इस युद्ध के प्रमुख परिणाम निम्नलिखित हैं :

(1) इस युद्ध के कारण दोनों देशों की अर्थ-व्यवस्थाएँ छिन्न-भिन्न हो गयी हैं, परिणामस्व-

स्वरूप दोनो देशों के लोगों को भविष्य में वर्षों तक दरिद्रता मे रहना होगा और आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए महाशक्तियों पर निर्भर रहना होगा।

(2) दोनों प्रमुख तेल निर्यातक देशों में तेल के उत्पादन में निरन्तर कमी होना, परिणामतः विकासशील राष्ट्रों की अर्थ-व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

(3) एक तरफ ईरान, इराक को अरबों से अलग करने में लगा है तो दूसरी तरफ इराक का आरोप है कि खुमैनी इजराइल से मिला हुआ है। ईरान-इराक युद्ध से इजराइल की स्थिति मजबूत हो गयी और अरब देश फिलिस्तीनियों की सहायता नही कर पाये, जिसके कारण फिलिस्तीनी अरबो से बहुत नाराज भी हैं। अरबों के भविष्य के लिए यह स्थिति बहुत खतरनाक सिद्ध हो सकती है।

(4) फारस की खाड़ी के क्षेत्र में तनावों में तीव्र वृद्धि होना।

(5) अरब देशों में तनाव और फूट को प्रोत्साहन जिससे अरब-इजराइली समस्या के सन्दर्भ में भी अरब एकता पर बुरा असर पड़ा।

(6) इस युद्ध ने इस्लामी दुनिया को शिया-सुन्नी खेमों में बाँट दिया है।

(7) इराक-ईरान युद्ध ने अरब देशों को दो गुटों में बाँट दिया। सीरिया, लीबिया, यमन, अल्जीरिया, फिलीस्तीनी मुक्ति मोर्चे का-ईरान को समर्थन प्राप्त है और मिस्र, सोमालिया, ओमान, जोर्डन तथा सऊदी अरब का इराक को समर्थन प्राप्त है। डॉ० वेदप्रताप वैदिक के शब्दों में, "इस युद्ध ने सारी अरब राजनीति को ही शीर्षासन करा दिया है।"

इराक-ईरान युद्ध समाप्त कराने के अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास

संयुक्त राष्ट्र संघ, इस्लामी सम्मेलन, गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन, भारत, सोवियत संघ तथा विश्व के अन्य कई गुट-निरपेक्ष देश इराक-ईरान युद्ध को समाप्त कराने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् में भी इस बारे में बहस हुई।

गुट-निरपेक्ष देशों के एक शान्ति प्रस्ताव के अनुसार युद्ध बढ़ने के बाद इराकी सेनाएँ 1975 के अल्जीयर्स समझौते के द्वारा निर्धारित सीमा तक लौट जायें, लेकिन वास्तविक सीमा-निर्धारण का कार्य दोनों देश मिलकर करें। मार्च 1981 में इराक-ईरान युद्ध को समाप्त कराने के लिए इस्लामी शिष्टमण्डल ने फार्मूला तैयार किया जिसमें युद्ध-विराम की व्यवस्था के साथ-साथ इराकी सेनाओं की वापसी, युद्धरत दोनों पक्षों द्वारा एक-दूसरे की प्रभुसत्ता का आदर करने की बात कही गयी थी। सातवें गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन (मार्च 1983) मे श्रीमती गांधी ने ईरान व इराक दोनों से अपील की कि वे 30 महीने पुराना युद्ध तत्काल समाप्त कर दे और स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए बातचीत करें। युद्ध समाप्त करने के अब तक के सभी प्रयास विशेषतः ईरान की हठधर्मिता के कारण सफल नही हो सके। 25 फरवरी, 1986 को सुरक्षा परिषद् ने एक सर्वसम्मत प्रस्ताव पास कर दोनों पक्षों से युद्ध समाप्त करने और युद्ध-पूर्व की स्थिति को स्थापित करने की अपील की, परन्तु ईरान ने उसे ठुकरा दिया।

ऊपर से ऐसा लगता था कि महाशक्तियाँ इस युद्ध के सन्दर्भ में तटस्थ हैं। किन्तु वस्तुतः युद्ध क्षेत्र के किनारे महाशक्तियों के बैठे होने से स्थिति और भी विषम बन सकती है।[1] हाल ही मे यह तथ्य उजागर हुआ है कि ईरान के साथ राष्ट्रपति रीगन ने गुप्त समझौता कर, उसे शस्त्र प्रदान किये। जहाँ सयुक्त राष्ट्र संघ, राष्ट्रमण्डल, गुट-निरपेक्ष आन्दोलन तथा अरब-लीग, इराक व ईरान में युद्ध बन्द कराने का प्रयत्न कर रहे हैं, वहीं अमरीका द्वारा इस युद्ध को अनैतिक रूप से बढ़ाने वाला व्यवहार, बहुत ही निन्दा का पात्र बना हुआ है।

---

[1] अमरीका इराक का साथ दे रहा है और रूस ईरान का :

क्षेत्र में भली-भाँति लागू नहीं कर सके थे। 1945 से ही मित्र राष्ट्रों ने मार्क (जर्मनी की कागजी मुद्रा) छापने प्रारम्भ कर दिये थे और उनका प्रयोग जर्मनी के चारों भागों में किया जा रहा था। पश्चिमी देश मार्क को कंजूसी से खर्च करते थे, लेकिन रूस का व्यवहार इससे भिन्न था। उसने काफी संख्या में मार्क छाप लिये थे और उनसे मनचाही वस्तुएँ खरीदकर जर्मनी से ले जाने लगा था। इससे मार्क के मूल्यहीन होने का भय पैदा हो गया। पाश्चात्य शक्तियों ने यह प्रस्ताव किया कि जर्मनी को एक इकाई बनाकर आयात-निर्यात का एक सामान्य कार्यक्रम बनाया जाये लेकिन सोवियत संघ ने इसे ठुकरा दिया। अतः संयुक्त राज्य अमेरिका ने यह सुझाव रखा कि जब तक जर्मनी के आर्थिक एकीकरण के सम्बन्ध ने समझौता न हो जाये तब तक तीनों पश्चिमी क्षेत्रों को मिलाकर एक कर दिया जाये, जिसकी चर्चा की जा चुकी है। इसके उपरान्त जर्मनी के आर्थिक पुनरुत्थान के लिए पश्चिमी शक्तियों ने मुद्रा संशोधन का एक प्रस्ताव रखा, जिसे सोवियत संघ ने लागू करने से इन्कार कर दिया। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि पश्चिमी राष्ट्र बर्लिन में रीखमार्क (पुरानी मुद्रा) को इस शर्त पर चालू रखने के लिए सहमत हैं कि जो मुद्रा छापी जाये, उसमें उन्हें उचित भाग का नियन्त्रण प्राप्त हो। सोवियत अधिकारियों ने इस नियन्त्रण का अधिकार देने से इन्कार कर दिया। पश्चिमी राष्ट्रों ने विवश होकर एक नया डी-मार्क (D-Mark) चालू कर दिया। पश्चिमी राष्ट्रों के इस कदम से क्षुब्ध होकर 24 जून, 1948 को सोवियत संघ ने पश्चिम बर्लिन की नाकेबन्दी कर दी। उसने बर्लिन से पश्चिमी राष्ट्रों के सम्पर्क को, समुद्र और भूमि के मार्गों से, विच्छिन्न करने का प्रयत्न किया जिसके प्रत्युत्तर में पश्चिमी राष्ट्रों ने लाखों टन सामान हवाई जहाजों के द्वारा बर्लिन भेजना शुरू किया। सोवियत संघ का तर्क था कि अपने क्षेत्र में मुद्रा सुधार के लिए उसने यह कदम उठाया है तथा पश्चिमी राष्ट्रों ने अपनी नीति द्वारा बर्लिन के प्रशासन में अपना अधिकार खो दिया है क्योंकि बर्लिन रूस के क्षेत्र का एक भाग है। दस महीने बाद 12 मई, 1949 को रूस द्वारा बर्लिन की नाकेबन्दी उठा ली गयी।

दो जर्मन राज्यों का निर्माण

21 सितम्बर, 1949 को पश्चिम जर्मन संघीय गणराज्य (Federal Republic of Germany) अस्तित्व में आया जिसकी राजधानी बॉन बनी। 1949 में वह यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन, 1951 में यूरोप की परिषद् का सदस्य, 1952 में यूरोपीय कोयला और इस्पात समुदाय का सदस्य तथा बाद में यूरोपीय साझा बाजार का सदस्य बना। 9 मई, 1955 को वह नाटो संगठन का सदस्य भी बन गया। पेरिस समझौते के फलस्वरूप 5 मई, 1955 को जर्मन संघीय गणराज्य विधिवत् स्वतन्त्र घोषित किया गया। स्वतन्त्र पश्चिम जर्मन गणराज्य ने पिछले 35 वर्षों में जो प्रगति की है उसे देखकर आश्चर्य होता है। आज यह आर्थिक दृष्टि से यूरोपीय देशों को पछाड़ चुका है।

जिन दिनों पश्चिमी जर्मनी में लोकतान्त्रिक सरकार का निर्माण किया जा रहा था उन्हीं दिनों पूर्वी जर्मनी में भी 'लोकवादी जनतन्त्र' के सिद्धान्त के आधार पर एक संविधान तैयार किया जा रहा था। नये संविधान के अन्तर्गत पूर्वी जर्मनी में एक पृथक् जर्मन सरकार की स्थापना की गयी और 7 अक्टूबर, 1949 को एक नया राज्य **जर्मन जनतान्त्रिक गणराज्य** (G. D. R.) अस्तित्व में आया। नये राज्य की राजधानी बर्लिन रखी गयी। जर्मन जनतान्त्रिक गणराज्य ने स्टालिन की प्रगतिशील नीतियों को अपनाया। 1955 में जर्मन जनतान्त्रिक गणराज्य की स्वतन्त्रता की भी विधिवत् घोषणा की गयी।

बर्लिन दीवार

अब दुनिया में दो जर्मन राज्य अस्तित्व में आ गये। पूर्वी जर्मनी एक साम्यवादी देश था, जहाँ के नागरिकों को लौह आवरण (Iron Curtain) के अन्तर्गत रहना होता था। अतः

पूर्वी जर्मनी से पश्चिम जर्मनी की ओर जाने वाले लोगों की संख्या में वृद्धि होने लगी। पूर्वी जर्मनी ने इस पर रोक लगाने के लिए सुरक्षात्मक उपाय के रूप में पूर्वी और पश्चिमी बर्लिन के मध्य आवागमन के सभी साधनों को बन्द कर दिया। 13 अगस्त, 1961 को सीमाओं पर काँटेदार तार और बाद में दीवार खड़ी कर दी गयी। बर्लिन दीवार के निर्माता एरिक होनेकर थे। यह दीवार 112 किलोमीटर लम्बी सीमेण्ट कंक्रीट और 56 किलोमीटर लम्बी लोहे की ऊँची बाड़ से निर्मित हुई है। बर्लिन दीवार के अलावा पूर्वी जर्मनी ने पश्चिम जर्मनी के साथ वाली अपनी सीमा को भी 1393 किलो मीटर लम्बी कँटीली बाड़ और विस्फोटक सुरंगों वाली भू-पट्टी से रूँध रखा है।

जर्मनी के एकीकरण की समस्या

स्टालिन की मृत्यु (1953) के बाद शीतयुद्ध में कमी आयी तथा पूर्व और पश्चिम के मध्य शिखर वार्ता का उपयुक्त अवसर समझा गया। परिणामस्वरूप 25 जनवरी, 1954 को चार बड़े राष्ट्रों के विदेश मन्त्री बर्लिन में जर्मनी के एकीकरण के प्रश्न पर विचार करने के लिए एकत्रित हुए। जर्मनी के एकीकरण की इस वार्ता में पश्चिमी राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने सुझाव दिया कि स्वतन्त्र निर्वाचन की प्रक्रिया से एकीकरण का कार्य पूरा हो तथा एकीकृत राष्ट्र को, पूर्व या पश्चिम, किसी भी गुट के साथ अपने आपको सम्बद्ध करने की स्वतन्त्रता हो। सोवियत विदेश मन्त्री मोलोतोव ने इसके विपरीत यह प्रस्ताव रखा कि विद्यमान दोनों जर्मनी को मिलाकर एक अल्पकालिक (Provisional) सर्व-जर्मन सरकार की स्थापना की जाये जो निर्वाचन विधि का निर्माण करके आम चुनाव की व्यवस्था करे। आम चुनाव द्वारा स्थापित सरकार एक शान्ति सन्धि करके जर्मनी के भविष्य का निर्णय करे तथा शीतयुद्ध में अपने आपको किसी भी गुट के साथ सम्बद्ध न करे। पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा रखे गये प्रस्ताव में मूल भावना यह थी कि स्वतन्त्र निर्वाचन के आधार पर एकीकृत जर्मनी की जनता बहुमत से पश्चिम का समर्थन करेगी और एकीकृत जर्मनी 'नाटो' का सदस्य होगा। सोवियत संघ पश्चिमी राष्ट्रों की इस चालबाजी को समझता था और इसलिए पूर्वी जर्मनी पर अपने अधिकार को छोड़ने के लिए तैयार नहीं था। अतः जैसा स्पष्ट था 18 फरवरी, 1954 को विदेश मन्त्रियों का यह सम्मेलन बिना किसी निर्णय पर पहुँचे समाप्त हो गया।

18 जुलाई, 1955 को जेनेवा में जर्मनी के एकीकरण के प्रश्न को सुलझाने के लिए पुनः शिखर वार्ता प्रारम्भ हुई, जो असफल रही। अक्टूबर 1955 में एकीकरण के प्रश्न पर विचार करने के लिए मन्त्रिमण्डलीय स्तर की वार्ता हुई जिसमें परस्पर विरोधी प्रस्ताव रखे गये।

1969 का बर्लिन संकट—सन् 1969 में पश्चिमी जर्मनी ने राष्ट्रपति के चुनावों को पश्चिम बर्लिन से सम्पन्न करने का निर्णय लिया जिससे गम्भीर संकट उत्पन्न हो गया। रूस ने इसका घोर विरोध किया और पश्चिम बर्लिन जाने वाले मार्गों को बन्द कर दिया।

दो जर्मनी : एक वास्तविकता—दो जर्मनी अब एक वास्तविकता बन चुके हैं। स्वयं जर्मन इस वास्तविकता को स्वीकार करते हैं। वे जर्मनी के एकीकरण की हृदय से कामना करते हैं, परन्तु उनका विवेक कहता है कि निकट भविष्य में जर्मनी के पुनः एकीकृत होने की कोई सम्भावना नहीं है।

आज जर्मन समस्या गम्भीर संकट उत्पन्न नहीं करती क्योंकि शीतयुद्ध में नमी आ गयी है। 12 अगस्त, 1970 को मास्को-बोन समझौता हुआ जिसने शीत-युद्ध को शिथिल किया। इसके बाद 3 सितम्बर, 1971 को बर्लिन समझौता हुआ जिसने परोक्ष रूप से जर्मन जनवादी गणराज्य को मान्यता दे दी। 8 नवम्बर, 1972 को दोनों जर्मन राज्यों में एक सन्धि हुई। 1973 में दोनों जर्मन राज्यों को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बना दिया गया।

बर्लिन दीवार का पतन

9 नवम्बर, 1989 को एक युगान्तरकारी घटना हुई जब पूर्वी जर्मनी ने अपने नागरिकों को पश्चिम जर्मनी के साथ की अपनी सीमा पार करने की खुली छूट देकर अपने ही हाथों बनायी बर्लिन दीवार और जानलेवा सीमान्त बाड़ को अर्थहीन बना दिया। तब से न केवल एक विभाजित देश की अविभाज्य जनता का भावभीना पुनर्मिलन हो रहा है, मध्य यूरोप के चेहरे पर से शीतयुद्ध का सबसे कलुषित कलंक भी धुलने लगा है।

बर्लिन दीवार के निर्माता होनेकर को अक्टूबर 1989 में पूर्व जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी के नेता पद से अपदस्थ कर दिया गया था। होनेकर के पतन के तीन सप्ताह के अन्दर बर्लिन दीवार का भी पतन हो गया।

बर्लिन दीवार जब बनी थी, उस समय हर वर्ष लगभग दो लाख पूर्व जर्मनवासी पश्चिम की तरफ भाग रहे थे। यह भी क्या संयोग है कि 1961 के बाद 1989 ऐसा पहला वर्ष है, जब एक ही वर्ष में दो लाख से अधिक पूर्व जर्मन नागरिक पश्चिम जर्मनी चले गये। देश पलायन को रोकने के लिए बनी बर्लिन दीवार को 28 वर्ष बाद देश पलायन ही ले डूबा। इस दीवार को 8 जगहों पर तोड़कर सीमा पारगमन की नयी चौकियाँ बनायी गयीं। लगभग 5 लाख पूर्व जर्मनवासियों ने 11 नवम्बर को सीमा पार के पश्चिम जर्मनी के नगरों की यात्रा की। जर्मनवासियों का यह पुनर्मिलन था। दोस्त-मित्र और रिश्तेदार ही नहीं, अपरिचित लोग भी गले मिले, मिलकर रोने या गाने लगे। 1945 में युद्ध के अन्त के बाद से जर्मनी मे ऐसी भावुकता कभी नहीं देखी गयी थी।

जर्मन एकीरकण : सम्भावनाएँ और आशंकाएँ

पूर्वी जर्मनी में होनेकर के सत्ता से हटने, बर्लिन दीवार के ढहने और एगोन क्रेंज के कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व सम्भाल कर उनके हटने के बाद वहाँ हेन्समोड्रो के नेतृत्व में बहुदलीय सरकार कायम हो गयी है। इस क्रान्तिकारी बदलाव के कारण पूरे विश्व में दोनों जर्मन राज्यों के एकीकरण के सम्बन्ध में अटकलें लगायी जाने लगीं। पश्चिम जर्मनी के प्रधानमन्त्री हेलमट कोल ने नवम्बर 1989 में दोनों जर्मन राज्यों के एकीकरण की एक दस-सूत्रीय योजना संसद में प्रस्तुत की। इस योजना के प्रारम्भिक चरण में यद्यपि दोनों जर्मन राज्यों को मिलाकर एक राज्य मण्डल या ढीलाढाला परिसंघ कायम करने का सुझाव दिया गया है, फिर भी उसका अन्तिम उद्देश्य दोनों जर्मन राज्यों का एकीकरण करना ही है।

यह सच है कि नवम्बर 1989 के घटनाचक्र से जर्मनी के एकीकरण की सम्भावनाएँ अधिक बलवती हुई हैं, फिर भी दोनों जर्मन राज्यों की सीमाओं से बाहर की अनेक शक्तियाँ उसमें आज भी बाधक बनी हुई हैं। इसका कारण यह है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विजेता राष्ट्रों में हुई आपसी सन्धियों की व्यवस्था के आधार पर जर्मन राज्यों के किसी भी एकीकरण के लिए इन विजेता देशों की मंजूरी मिलनी आवश्यक है। यह स्वीकृति तुरन्त मिल सकेगी, यह कह पाना कठिन है।

यद्यपि सोवियत संघ का दृष्टिकोण है कि जर्मनी के एकीकरण का मामला तय करने की जिम्मेदारी दोनों जर्मन राज्यों की है तथापि 29 नवम्बर, 1989 को पोलैण्ड के गैर-कम्युनिस्ट प्रधानमन्त्री माजोविरेस्की की सोवियत संघ यात्रा की समाप्ति पर जारी की गयी संयुक्त विज्ञप्ति में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद निर्धारित की गयी राज्यों की सीमाओं में फेर-बदल न करने को पूरे यूरोप की सुरक्षा, स्थिरता और शान्ति के लिए अनिवार्य बताया गया है। इसी तथ्य को 2 व 3 दिसम्बर, 1989 को जार्ज बुश-गोर्बाच्योव शिखर वार्ता के बाद वारसा सन्धि देशों में एक-दिवसीय सम्मेलन में भी दुहराया गया है। इसका अर्थ यह है कि सोवियत संघ दो जर्मन राज्यों के अस्तित्व

को बनाये रखने का समर्थक है। दूसरे शब्दों में, जर्मन एकीकरण में सबसे बड़ी बाधा पूर्वी यूरोप के देश हैं जिन्हें यह भय सता रहा है कि एकीकृत जर्मन राज्य के कायम हो जाने पर उनकी आजादी फिर खतरे में पड़ जायेगी। कमोवेश यही हालत पश्चिमी देशों की भी है। जर्मनी के एकीकरण के सम्बन्ध में कोल प्रस्तावों पर पश्चिमी यूरोप के देशों की रहस्यमय चुप्पी का कारण भी यही है। यद्यपि फ्रांस के राष्ट्रपति मित्तरां तथा अमरीकी राष्ट्रपति जार्ज बुश ने यूरोपीय राजनीति में आये इस मोड़ का स्वागत करते हुए जर्मनी के एकीकरण के प्रति अनुकूल प्रतिक्रिया व्यक्त की थी, फिर भी सोवियत राष्ट्रपति गोर्वाच्योव से माल्टा में शिखर वार्ता के वाद उत्तर अटलाण्टिक सन्धि देशों के शिखर सम्मेलन ने जर्मन एकीकरण का स्वागत नहीं किया।

संक्षेप में, जर्मनी का इतिहास एक वार फिर करवट ले रहा है। दोनों जर्मन राज्यों का एकीकरण होना नियति की एक प्रक्रिया दिखायी दे रही है। अतः उसके एकीकरण में उतार-चढ़ाव आकर कुछ समय तो लग सकता है लेकिन इतिहास के चक्र की गति को बदला नहीं जा सकता।

प्रश्न

1. अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप की प्रकृति की विवेचना कीजिए। इस समस्या के सुलझाने के लिए पिछले कुछ वर्षों में किये गये प्रयत्नों का उल्लेख कीजिए।
   Discuss the nature of Soviet intervention in Afganistan and examine the attempts that have been made in recent year to solve the problem.
2. ईरान और इराक के मध्य संघर्ष के मुख्य कारणों और प्रभावों का विवेचन कीजिए।
   Discuss the main causes and effects of the conflict between Iran and Iraq.
3. निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :
   (i) कम्पूचिया की समस्या
   (ii) हिन्द महासागर की राजनीति
   (iii) जर्मन एकीकरण की समस्या
   Write short notes on any two of the following :
   (i) Kampuchean Problem
   (ii) Politics of the Indian Ocean
   (iii) The Problem of German Unification